॥ श्रीसीताराम ॥

मानस-पीयूष

(श्रीरामचरितमानसका संसारमें सबसे बड़ा तिलक)

[श्रीरामावतार-प्रकरणसे विवाह-प्रकरण, दोहा १८८ (७) से दोहा ३६१ (काण्डकी समाप्तितक)]

सर्वसिद्धान्तसमन्वित तिलक

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीकी 'रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी पं० श्रीरामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी एवं श्रीमानसी वंदन पाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिन्धुजी महाराज), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, श्रीकाष्ठजिह्व श्रीदेवतीर्थ स्वामीजी, बाबा हरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, श्रीपांडे रामबख्शजी, (मुं० रोशनलालकृत टीका), पं० श्रीशिवलालजी पाठक, श्रीबैजनाथजी, संत उन्मनी श्रीगुरुसहायलालजी आदि पूर्वमानसाचार्यों, टीकाकारोंके भाव, मानसराजहंस पं० विजयानन्दजी त्रिपाठीकी अप्रकाशित एवं प्रकाशित टिप्पणियाँ, श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीकी अप्रकाशित टिप्पणियाँ; आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम्० एस्-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनागाबाबा परमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी) और बाबा जयरामदासजी 'दीन' आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुन्दर संग्रह।

सम्पादक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

तृतीय संस्करणके सम्बन्धमें 'दो शब्द'

अनन्त श्रीगुरुदेवजीकी कृपासे आज यह दास बालकाण्ड भाग ३ (क) (श्रीरामावतार-प्रसङ्गसे लेकर धनुष-यज्ञ-प्रकरणतक) का तृतीय संस्करण प्रेमी पाठकोंकी सेवामें भेंट कर रहा है। यह संस्करण पिछले (द्वितीय) संस्करणकी अपेक्षा बहुत सुन्दर और अधिक शुद्ध छपा है।

'मानस-पीयूष' का प्रारम्भसे ही उद्देश्य यही रहा है कि समस्त टीकाकारों, प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रामायणियों, साहित्यज्ञों आदिने जो कुछ भी श्रीरामचरितमानसपर लिखा या कहा है वह एकत्र कर दिया जाय। दूसरे शब्दोंमें श्रीरामचरितमानसका इनसाइक्लोपीडिया (Encyclopedia) तैयार करना उद्देश्य रहा है और अब भी है। अतएव प्रत्येक संस्करणमें कुछ-न-कुछ नये विचारोंका उल्लेख अवश्य ही बढ़ ही जानेमें आश्चर्य ही क्या? जिस संस्करणके समयतक जो सामग्री नयी अनायास प्राप्त हो जाती है, वह बढ़ा दी जाती है। अतएव इस संस्करणमें श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके तथा श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीके कुछ भाव उनकी विजया टीकासे हमने उन-उनके नामोंसे दे दिये हैं, जैसा इनसाइक्लोपीडियाका एवं 'मानस-पीयूष' का नियम है।

जिसके जो भाव हैं वे अलग-अलग सिलसिलेसे पढ़े जायँ तो उनका सामंजस्य बैठ जाता है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों दृष्टिकोणके भावार्थ इसमें मिलेंगे। पाश्चात्यशिक्षाप्राप्त प्रेमियोंको प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ तथा श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजीके लेख विशेषरूपसे आनन्द देंगे। कथावाचकोंका तो यह तिलक सर्वस्व ही है।

'मानस-पीयूष' की विशेषता यह है कि इसमें किसी भी मतावलम्बीके जो भाव हैं उनमें काट-छाँट नहीं की गयी है। किसी-किसी महानुभावको यह भले ही न रुचे पर विद्वत्समाजको तो यह अवश्य ही रुचिकर प्रतीत हुआ है, क्योंकि प्रत्येक पक्षपातीको दूसरे पक्षका मत जान लेनेसे अपने मतकी पुष्टि करनेमें अधिक सहायता मिलेगी।

इस प्रकार यह तिलक विद्यार्थियों, तत्त्वान्वेषियों (Students of Shri Ramcharitamanas in all its aspects), खोजियों (Research Scholars), कथावाचकों और as a Reference Book तो सभी मानसप्रेमियोंके अत्यन्त कामका है।

हमने मानसविज्ञोंके विचार उनके काल-क्रमसे न देकर जैसा अपनेको समुचित जान पड़ा उस प्रकार आगे-पीछे दिया है। इससे खोजियों (Research Scholars) को इसमें यह त्रुटि अवश्य मिलेगी कि वे यह नहीं जान सकेंगे कि किस टीकाकारने किसकी चोरी की है या किसकी छाया लेकर टीका लिखी है। इस न्यूनताको दूर करनेके लिये यही उपाय विचारमें आया है कि टीकाकारों तथा रामायणियोंका समय यथाशक्ति जहाँतक ज्ञात हो सके आगे छपनेवाले भागोंमेंसे किसीमें दे दिया जाय।

'मानस-पीयूष' के प्रकाशनमें जो कठिनाइयाँ अनेक अभावोंके कारण पड़ीं और पड़ती हैं उनका अनुभव प्रेमी पाठक नहीं कर सकते। संपादक श्रीअयोध्याजीसे बाहर जाता नहीं। पुस्तकें काशीजीमें छपती हैं, प्रेसवाले कभी वचनका पालन नहीं करते। दो-दो सौ पृष्ठ छपते ही प्रायः छपाईका बिल आता है और देना पड़ता है, परन्तु पुस्तक पूरी छप जानेपर हमें पूरी संख्या मिलती नहीं, प्रेसोंमें ही कितनी ही पुस्तकें दीमककी भेंट हो जाती हैं, और इस बातको वे लोग छिपानेका पूरा प्रयत्न करते हैं। दैव-योगसे ही यह कपट खुला और हम रही-सही पुस्तकोंको चेक कराके जितनी पुस्तकें बन सकती हैं बनवा रहे हैं। दाम तो पूरे लगे और पुस्तकें मिलती हैं कम। इसी प्रकार द्रव्याभाव होनेसे जो कोई जो भी

खण्ड माँगता था वह उसको बेच दिया जाता रहा है, इससे भी बालकाण्डकी लगभग २५० प्रतियाँ खण्डित हो गयीं। अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। इतनेसे प्रेमी पाठक हमारी परिस्थिति समझ लें।

इतना मूल्य होनेपर भी तथा हमारे पास प्रचारका किंचित् भी साधन न होनेपर मानसप्रेमी जनताने इसे कैसा अपनाया यह इससे स्पष्ट है कि सातों काण्डोंका तिलक पूरा होते-होते हमें बालकाण्ड आदिके पुनः संस्करणकी आवश्यकता पड़ गयी और भाग १, भाग २ (क), भाग ३ (क) छपकर तैयार भी हो गये।

हम द्वितीय संस्करणके प्रेमी स्थायी ग्राहकों तथा उन प्रेमी महानुभावोंको जिन्होंने हमें आर्थिक सहायता इसके प्रकाशनमें दी, बारंबार धन्यवाद देते हैं, क्योंकि श्रीसीतारामकृपाने उनकी सहायता दिला-कर इस सेवाको आखिर पूरा करा लिया। और उसीके प्रभावसे तीसरे संस्करणका श्रीगणेश हो गया।

अन्तमें जिन रामायणरत्नों, मानसविज्ञों तथा टीकाकारों आदिके नाम इस ग्रन्थमें आये हैं उनसे प्रार्थना है कि वे अपने-अपने भावोंसहित इस शिशुके हृदयमें निवास करें, और 'मानसपीयूष' के प्रेमी पाठकोंसहित हृदयसे आशीर्वाद दें कि श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंमें इस शिशुका अनन्य अविरल अमल सहज प्रेम हो।

दासानुदास—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण

छठे संस्करणका निवेदन

पू० श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी महाराजने मानस-पीयूषके अधिक प्रचारकी इच्छासे अपना वर्तमान पूरा स्टाक तथा उसके पुनर्मुद्रण तथा विक्रय आदिके सर्वाधिकार स्वेच्छापूर्वक गीताप्रेस, गोरखपुरको प्रदान कर दिये। जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। जो-जो खण्ड जैसे-जैसे समाप्त होते जायँगे, वैसे-वैसे ही उनके पुनर्मुद्रणकी व्यवस्था करनेकी बात है। इसीके अनुसार यह छठा संस्करण प्रकाशित किया गया है।

प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर

सर्ववेदान्तदर्शनोंका संक्षिप्त परिचय

तथा

उनका समन्वय

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीके 'श्रीरामचरितमानस' में दार्शनिक सिद्धान्त, जो उनके समयमें प्रचलित थे, ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें बराबर पाये जाते हैं, जिनके आधारपर किसीने उनको अद्वैती, किसीने विशिष्टाद्वैती और किसीने केवलाद्वैती माना है। यह दीन (सम्पादक 'मानस-पीयूष') दर्शनशास्त्रसे अनभिज्ञ था और यह चाहता था कि दर्शनशास्त्रनिष्णात कोई महापुरुष इसपर लेख देते तो 'मानस-पीयूष' में प्रेमी पाठकोंके लिये प्रकाशित कर देता। इस विचारसे कतिपय वेदान्ताचार्योंसे मिला भी, कितनोंहीने लिखनेका वचन दिया, किन्तु किसीने लिखनेका कष्ट न किया।

सौभाग्यवश श्रीलक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजीके वर्तमान आचार्य पण्डित श्रीसीतारामशरणजी महाराज, श्रीमणिरामजीकी छावनीके व्यासजीसे यह चर्चा चली और उन्होंने सहर्ष इस कार्यको करनेका वचन दिया और शीघ्र ही लेख लिखकर 'मानस-पीयूष' में प्रकाशित करनेके लिये भेज दिया। यह दीन उस लेखको उनके नामसे यहाँ दे रहा है। यह बहुत सुन्दर लेख है, सब इसे समझ सकते हैं। थोड़ेहीमें इससे समस्त दर्शनशास्त्रका परिचय मिल जाता है। 'मानस' के दार्शनिक वाक्योंको समझनेमें यह लेख सहायक होगा।

इसके पश्चात् मानसके प्राचीन टीकाकारोंकी टीकाओंके काल आदिका संक्षिप्त परिचय भी मानसप्रेमियोंकी जानकारीके लिये दे दिया है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा शङ्कर मत

[लेखक—अनन्त श्रीविभूषित रसिकाचार्य स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजद्वारा संस्थापित आचार्य-पीठ श्रीलक्ष्मणकिलाके वर्तमान आचार्य पण्डित श्रीसीतारामशरणजी महाराज]

विशिष्टाद्वैत वेदान्तमें पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। 'चित्' भोक्ता जीवको कहते हैं। 'अचित्' भोग्य जगत्को एवं 'ईश्वर' सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरकको कहते हैं। श्रुति कहती है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १। १२।

भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जड वर्ग) और प्रेरक (प्रभु) इन तीनोंको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इन तीन भेदोंमें बताया हुआ ही ब्रह्म है।

जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा पृथक् पदार्थ हैं। किन्तु अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर दोनोंके भीतर विराजमान रहता है। इसलिये चित् तथा अचित् ईश्वरके शरीर माने जाते हैं। जिस प्रकार जीवात्माका शरीर आत्माके लिये ही है, उसी प्रकार चित्-अचित् ये दोनों नियमतः ईश्वरके लिये ही हैं। शरीरको आत्मा धारण करता है, नियमन करता है। तथा अपने स्वार्थ साधनके लिये कार्यमें प्रवृत्त करता है, ईश्वर भी चित्-अचित्को अपनी इच्छानुसार कार्यमें प्रवृत्त करता है। ईश्वर नियामक तथा विशेष्य है, चित्-अचित् ईश्वरके नियाम्य तथा विशेषण हैं। विशेषण विशेष्यके साथ सर्वदा सम्बद्ध रहता है। अतः विशेषणोंसे युक्त विशेष्यकी एकता युक्तियुक्त है, शरीरभूत चित्-अचित्की सत्ता अङ्गी ईश्वरसे पृथक् सिद्ध नहीं होती। विशिष्टाद्वैत नामकरणका यही अभिप्राय है।

विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टे विशिष्टयोः अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्।

इस व्युत्पत्तिके अनुसार दो विशिष्टोंका अद्वैत (अभेद) अर्थात् सूक्ष्म चित्-अचित् विशिष्ट ब्रह्मके साथ स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मका अद्वैत (अभेद) को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं।

यही ब्रह्म समस्त जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ईश्वर अपनी इच्छासे जगत्की रचना करता है, व्यापार न तो कर्मप्रेरित है और न अन्यप्रेरित ही है। बालक जिस प्रकार अनेक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार परम-कौतुकी भगवान् भी जगत् उत्पन्न कर क्रीडा किया करते हैं।

संहार दशामें भी लीलाका विराम नहीं होता, क्योंकि संहार भी भगवान्की एक लीला ही है।

सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। छा० ६। २। १।

हे सौम्य! सृष्टिके पहले यह समस्त जड-चेतन 'सत्' ही था। इस श्रुतिमें 'सत्' शब्दसे अद्वैतवादी सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य ब्रह्मकी सत्ता स्वीकार करते हैं, किंतु विशिष्टाद्वैतवादी आचार्योंने नामरूप विभागके अयोग्य कारणावस्थास्थित सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्मको ही 'सत्' शब्दसे स्वीकार किया है। सृष्टिके पूर्व सूक्ष्मरूपसे जड-चेतन दोनों तत्त्व विद्यमान थे। क्योंकि श्रुतिमें स्पष्ट है कि—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते। (बृ० १। ४। ७)

(भगवान् कहते हैं), पूर्वमें नाम-रूप विभागरहितको नामरूप विभाग करता हूँ।

उपसंहार वाक्यमें भी—

'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'। (छां० ६। ३। २)

अर्थात्—जीव शरीरसे प्रविष्ट होकर नामरूपका विभाग करता हूँ, ऐसा कहा गया है।

जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। तब ब्रह्मका कार्य जगत् विकारयुक्त है, परिणामी है, अतः इस कार्यगत दोषसे ब्रह्म कैसे बचता है? इस संशयका समाधान अत्यन्त सुन्दर एवं अकाट्य युक्तियोंसे विशिष्टाद्वैती आचार्योंने किया है। इस सिद्धान्तमें केवल ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है किंतु चित्-अचित्सहित ब्रह्म कारण है। परिणाम ब्रह्मके शरीरभूत चित्-अचित् अंशमें होता है; अतः ब्रह्म निर्दोष है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म कारण-कार्य दोनों अवस्थाओंमें विशुद्ध ज्ञानघन एवं अविद्यासम्बन्धी दोषोंसे असंस्पृष्ट रहता है। सच्चिदानन्द भगवान्के सर्वदा एकरस ज्ञानानन्दैक विग्रह रहते हैं। श्रुति भी स्पष्ट कहती है—एक ही शरीररूपी वृक्षमें जीव ईश्वररूपी पक्षी निवास करता है। इन दोनोंमें एक जीवरूपी पक्षी अज्ञानवश कर्मफलोंको स्वादपूर्वक भोगता है, किंतु परमात्मारूपी पक्षी कर्म-फलोंको न भोगकर केवल प्रकाश देता रहता है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ मु० ३। १॥

इससे स्पष्ट हुआ कि ईश्वर अचित्के विकारोंसे सर्वथा रहित है। विष्णुपुराणमें महर्षि श्रीपराशरजीने भगवान्को समस्त मायिक विकारोंसे रहित एवं निखिल कल्याण गुणगणनिलय बतलाया है।

स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने व्यतीतः।
अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद्भुवनान्तराले॥ (वि० पु० ६। ५। ८३)

हे मुने! वह ईश्वर समस्त प्रकृतिके विकारोंसे रहित है, गुणमय दोषोंसे अतीत है। मायिक आवरणोंसे वह अखिल-आत्मा आवृत नहीं है। वही समस्त भुवनोंमें व्याप्त है। भगवान् समस्त कल्याण गुणगण निलय हैं—

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितो यः॥ (वि० पु० ६। ५। ८४)

वह ईश्वर समस्त कल्याण गुणोंसे परिपूर्ण है, उसने अपनी शक्तिलेशसे समग्र भूतसर्गको धारण किया है, अपनी इच्छासे वह अनेकों अवतार धारण करता है तथा जगत्का कल्याण करता है। अद्वैतवादी आचार्योंके मतमें केवल निर्विशेष-चिन्मात्र ब्रह्म ही यथार्थ तत्त्व है। इसके अतिरिक्त दृश्यमान समस्त प्रपञ्च मिथ्या है, ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेदोंसे शून्य है। यही निर्विशेष ब्रह्म जब मायासे युक्त होकर सगुण या सविशेष रूपको धारण करता है तब उसको ईश्वर कहते हैं। किंतु विशिष्टाद्वैती आचार्योंने अद्वैत मतके विपरीत इस विषयमें समीचीन विचार किया है, विशिष्टाद्वैतमें ब्रह्म सजातीय

विजातीय भेदशून्य होनेपर भी स्वगत भेदशून्य नहीं है, क्योंकि ईश्वरके सदृश सजातीय-विजातीय वस्तुओंकी सत्ता नहीं है, अतः ब्रह्म इन दो प्रकारके भेदोंसे शून्य है, किंतु चित्-अचित् ईश्वरके शरीर हैं— विशेषण हैं जिसमें चिदंश-अचिदंशसे सर्वथा भिन्न रहता है। अतः ईश्वर स्वगतभेदसे शून्य नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्म और ईश्वर एक ही है। इसके शरीरभूत जीव तथा जगत् ब्रह्मसे भिन्न हैं तथा नित्य हैं। अतः विशिष्टाद्वैतमें पदार्थ तीन हैं एक नहीं।

अपने प्रिय भक्तोंपर विशेष अनुग्रहके लिये तथा जगत्की रक्षाके उद्देश्यसे भगवान् पाँच प्रकारके पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चावताररूपोंको धारण करते हैं। इन पाँचोंमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।

जिस तरह प्रकाश अन्धकारका तथा गरुड सर्पका विरोधी है, उसी तरह विकार दोषोंके भगवान् विरोधी हैं। अखिल हेय प्रत्यनीकका यही अभिप्राय है। देश-काल-वस्तु-परिच्छेद-शून्य होनेसे भगवान् अनन्त कहलाते हैं, अर्थात् समस्त चेतन-अचेतनकी अपेक्षा व्यापक एवं विभु होनेसे इस देशमें हैं, इस देशमें नहीं हैं, इस प्रकार देश-परिच्छेदसे भगवान् शून्य हैं। नित्य होनेसे इस कालमें हैं इस कालमें नहीं हैं, इस प्रकार काल-परिच्छेदसे भी भगवान् रहित हैं, तथा सबके अन्तर्यामी होनेसे एवं सबके शरीरी होनेसे अमुक वस्तुमें हैं अमुक वस्तुमें नहीं हैं, ऐसे वस्तु-परिच्छेदसे भी भगवान् रहित हैं। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा', 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्', 'यस्यात्मा शरीरम्, यस्य पृथिवी शरीरम्'। इत्यादि श्रुतियाँ उपर्युक्त विवेचनमें प्रमाण हैं।

भगवान्के वात्सल्य सौशील्य सौलभ्य आदि गुणोंके अधिकारी आश्रित वर्ग हैं। शौर्य पराक्रम आदिके अधिकारी आश्रित-विरोधी वर्ग हैं। इसी प्रकार ज्ञान अज्ञोंके, शक्ति अशक्तोंके, क्षमा अपराधियोंके, कृपा दुखियोंके, वात्सल्य दोषयुक्तोंके, शील नीचोंके, आर्जव कुटिलोंके, सौहार्द दुष्ट हृदयवालोंके, मार्दव विश्लेष भीरुओंके लिये, (अर्थात् मार्दव गुणके कारण भगवान् आश्रितोंके विरह सहनेमें असमर्थ हैं, अतः इस गुणके चिन्तनसे भगवद् वियोग-दुःखसे आश्रित मुक्त हो जाते हैं)। एवं सौलभ्यगुण दर्शनकी आशा रखनेवाले भक्तोंके उपयोगी हैं। भगवान् मन-बुद्धि-वाणीसे अगोचर हैं; सौलभ्य गुणके कारण ही वे सर्व साधारण चेतनोंके नयनगोचर होते हैं।

विशिष्टाद्वैतमें अवतारका अर्थ है—अपने अजहत् (न त्यागने योग्य) स्वभावसे ही रूपान्तरका परिग्रह करना—

अवतारो नामाजहत्स्वभावस्यैव रूपान्तरपरिग्रहः।

श्रीमद्भागवत ५। १९। ५ (वीर राघव)

अवतारका मुख्य प्रयोजन साधुपरित्राण है—'परित्राणाय साधूनां'— गीता। साधु-परित्राणका अर्थ भगवान्के साथ शयन-आसन अटन-भोजन करनेवाले अनन्य आश्रित जो कि भगवान्के बिना एक क्षणको एक कल्प-समान मानते हैं, ऐसे आश्रितोंको अपने दर्शन-स्पर्श-भाषणसे सुखी करनेको परित्राण कहते हैं—टीका वीर राघव श्रीमद्भागवत ५। १९। ५। धर्मकी स्थापना तथा असुरोंका विनाश तो संकल्प मात्रसे भी हो सकता था, अतः केवल भक्तोंको प्रेमदानके लिये अवतार होता है। इस विषयमें प्रायः सभी वैष्णवाचार्योंका एकमत है। श्रीमद्भागवतमें इस श्लोकके ऊपर सभी आचार्योंकी विस्तृत व्याख्या है।

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य— ५। १९। ५।

भागवतके इस श्लोकके व्याख्यानमें आचार्योंके अनेक विचार प्राप्त होते हैं। अद्वैती श्रीधर स्वामीने मर्त्यशिक्षणका अर्थ 'दुःखमय संसार है' यही शिक्षा भगवान् दुःखी होकर देते हैं'—ऐसा कहा है। विशिष्टाद्वैतवादी श्रीवीरराघवाचार्यका भी यही मत है। 'संसारे स्त्रीसङ्गादिकृतं दुःखं दुर्वारमिति मर्त्यानां शिक्षणम्'—श्रीधर स्वामी। 'संसारदोषज्ञापनेन शिक्षणम्' वीर राघवाचार्य।

किंतु अचिन्त्य भेदाभेदवादी श्रीजीवगोस्वामीको उपर्युक्त शुष्क अर्थ स्वीकार नहीं है। इनका अभिप्राय है कि मर्त्यशिक्षणका अर्थ है मानवको सभी तरहसे शिक्षा देना। बहिर्मुख जीवोंके लिये भले ही विषयसे वैराग्य करानेके लिये स्त्रीसङ्गसे दुःख आवश्यक है यह शिक्षा देते हों, किंतु परम भक्तोंको तो प्रेमकी ही शिक्षा देते हैं अर्थात् भगवान् श्रीराघवेन्द्र संयोग-

वियोगमय निज लीलाओंसे लीला-माधुर्यका प्रकाशन करते हैं तथा इस रसमयी लीलाद्वारा भक्तिरस रसिकोंके चित्तको आर्द्र (सरस) करते हैं—

मर्त्येषु शिक्षणं तत्तदर्थप्रकाशनं यत्तन्मयमपि तत्र बहिर्मुखेषु विषयासङ्गदुर्वारता-प्रकाशनमानुषङ्गिकमुद्देश्यन्तु स्वभक्तिवासनेषु चित्तार्द्रताकरविरहसंयोगमय-निजलीलाविशेषमाधुर्यप्रकाशनम् । (श्रीजीवगोस्वामीकृत वैष्णवतोषिणी ५ । १९ । ५)

श्रीचैतन्यमतानुयायी रसिकशिरोमणि आचार्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीने सबसे पृथक् अपना भाव व्यक्त किया है। भक्तिरसकी उत्कृष्टतासे आकृष्ट होकर कभी-कभी ये स्वतन्त्ररूपसे विवेचन करते हैं। अपने पूर्ववर्ती आचार्य श्रीजीवगोस्वामी प्रभृतिसे भी कभी-कभी इनके विचारोंमें पार्थक्य प्रतीत होता है।

प्रस्तुत श्लोकका विलक्षण भाव इनका है—इनका कथन है कि मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—एक धर्मयुक्त, दूसरे प्रेमयुक्त। धर्मयुक्त मानवोंको धर्म-शिक्षा एवं प्रेमयुक्त मानवोंको प्रेमकी शिक्षा भगवान् देते हैं। धार्मिकोंके सामने अपनेको परम धार्मिक सिद्ध करते हैं, तथा प्रेमी भक्तोंके सामने अपनेको प्रेमवश्य सिद्ध करते हैं। धार्मिकोंको चाहिये कि वे अपनी सती-साध्वी भार्याकी उपेक्षा न करें। आश्रितके वियोगमें दुखी होना चाहिये। इसीलिये श्रीरघुनन्दनने दुखी होकर धार्मिकोंको यह शिक्षा दी। दूसरे पक्षमें प्रेमियोंको प्रेम-रसकी शिक्षा दी गयी है। अर्थात् संयोग-वियोग-लीलाद्वारा भगवान् स्वयं भी आनन्द प्राप्त करते हैं तथा द्रुतचित्तके प्रेमी भक्तोंको भी आनन्द देते हैं। अन्यथा आत्मारामत्व-तथा दुखी होना एक कालमें कैसे सम्भव हो सकते हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने एक विलक्षण विचार यहाँ किया है—

न च सीतायां रममाणस्य कुतः आत्मारामत्वमिति वाच्यं सीतायाः स्वरूपशक्तित्वेनात्मभूतत्वात् ।

—(विश्वनाथकृत सारार्थदर्शिनी ५ । १९ । ५) । श्रीसीताजीके साथ रमण करनेसे आत्मारामत्वमें सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि श्रीसीताजी स्वरूपशक्ति हैं। अर्थात् ह्लादिनीसार हैं।

एक ही परमतत्त्व सदासे दो रूपोंमें विभक्त होकर स्थित है। 'एक तत्त्व आनन्दके लिये दो हुआ' वह सिद्धान्त मान्य नहीं है। किंतु सदासे श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण आदि युगलरूप विद्यमान हैं। एक ह्लाद षडैश्वर्यमय, दूसरा केवल ह्लादमय। प्रथम तत्त्व भगवत्तत्त्व है, दूसरा तत्त्व श्रीतत्त्व (भक्ति) तत्त्व है। पुनः वही चित्-शक्तिके वृत्तिभेदसे महासार प्रेमद्वारा दूसरा तत्त्व चित्-शक्तिके चार वृत्तियोंद्वारा दूसरे तत्त्वको दास्य-सख्य-वात्सल्य-शृङ्गाररूपोंमें विभक्त होकर प्रथम तत्त्वको इन भावोंसे सेवाका विषय होता है। प्राकृत जीवमें भी भक्ति-साधनाके बाद स्वयं प्रकट होकर इन चारों भावोंका विषय बनता है। पुनः स्वयं स्थायी भाव प्राप्त होकर अपनी शक्तिसे ही विभाव-अनुभाव आदि रस-सामग्रियोंके साथ वही युगल (श्रीसीता-राम) तत्त्व विषयालम्बन, आश्रयावलम्बन बनकर संयोग-वियोगद्वारा सुखी-दुखी होकर अपने असाधारण माधुर्यका आस्वादन करता है। इस रसका रसास्वादन तो केवल भगवत्कृपापात्र रसवेत्ता महानुभाव ही कर सकते हैं, बहिर्मुखी तो यही समझता है कि राम-कृष्ण आदिको भी दुखी होना पड़ा किंतु ऐसा कथन केवल व्यामोहमात्र है—द्रष्टव्य सारार्थदर्शिनी ५ । १९ । ५ । अवतारवादका इस प्रकार विवेचन अन्यत्र नितान्त दुर्लभ है, वैष्णवाचार्योंकी सबसे बड़ी विशेषता यही है। इसी विशेषताके कारण अवतार-रहस्यका उत्तरोत्तर विकाश अद्यावधि अक्षुण्ण है।

अद्वैत वेदान्तमें जीव-तत्त्व स्वतन्त्र नित्य तत्त्व नहीं है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको ही जीव कहते हैं। ब्रह्म ही उपाधिवश जीवभावको स्वीकार करता है। उपाधिनाश होते ही जीव-भाव नष्ट हो जाता है, केवल विशुद्ध निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। जबतक उपाधि है तभीतक शरीर, इन्द्रिय आदिके स्वामी और शुभाशुभ कर्मफलके भोक्ता आत्माको ही जीव कहते हैं। स्वामी शङ्कराचार्यने अपने भाष्यमें स्पष्ट कहा है—'अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी' शां० भा० २ । ३ । १७ । आचार्यने आत्माको विभु माना है तथा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, इन पाँच कोशोंसे सर्वथा परे विशुद्ध चैतन्यको ही आत्मा स्वीकार किया है।

विशिष्टाद्वैती आचार्योंने अद्वैत मतके विपरीत जीवतत्त्वको इस प्रकार स्वीकार किया है—

जीवतत्त्व ईश्वरसे पृथक नित्यतत्त्व है तथा ब्रह्मसे जीव नितान्त भिन्न है। जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है, ईश्वर ईश है

जीव अनीश है, दोनों अज हैं—'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ । १ । ९ ।' ईश्वर चेतनके भीतर प्रविष्ट होकर शासन करता है—'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'।

जो आत्माके भीतर बैठा हुआ आत्मासे पृथक् है तथा आत्मा जिसको नहीं जानता है, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्माके भीतर संचरण करता है—नियमन करता है, वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है—

'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'—बृह० ३ । ७ । २३ ।

इस प्रकार ब्रह्मका शरीर जीव है, तथा ब्रह्म जीवका अन्तर्यामी, नियामक और प्रेरक आदि है।

विशिष्टाद्वैतमें जीव अणु है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

(श्वेता० ५ । ९)

इस श्रुतिके आधारपर समस्त श्रीवैष्णवाचार्योंने जीवको अणु माना है। आत्माको विभु माननेमें अनेकों दोष उद्भावित किये जाते हैं—

जीव हृदय प्रदेशमें निवास करता है। विभुका निवास एक देशमें नहीं हो सकता है। आत्मा शरीरसे निकलकर अन्य किसी देश विशेषमें जाता है, विभुका आना-जाना नहीं होता है।

'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।'

(बृ० ४ । ४ । २)

इस श्रुतिमें नेत्र, मस्तक एवं शरीरके किसी देशसे आत्माका निष्क्रमण (निकलना) कहा गया है।

जीव अणु होनेपर भी सर्वत्र शरीरमें व्याप्त होकर सुख-दुःखका अनुभव उसी प्रकार करता है जिस प्रकार मणि द्युमणि-दीपक आदि प्रकाशक पदार्थ एक देशमें स्थित होकर भी अपनी प्रभासे सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। आत्माका ज्ञान व्यापक है अतः सुख-दुःख भोगनेमें कोई विरोध नहीं है। एक कालमें ही सौभरि प्रभृति ऋषियोंको अनेक शरीर धारण करना ज्ञानकी व्याप्तिसे ही सम्भव है—लोकाचार्य तत्त्वत्रय पृ० ११। इस सिद्धान्तमें पञ्चकोशके भीतर ही 'विज्ञानमय' से आत्माका ग्रहण एवं 'आनन्दमय' से परमात्माका ग्रहण किया जाता है। क्योंकि 'विज्ञानमय'को क्रियाका आश्रय कर्ता कहा गया है—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि च तनुतेऽपि च' (तै० २ । ५ । यहाँ 'तनुते' इस क्रियाका आश्रय कोई चेतन होगा। अतः 'विज्ञानं' से विज्ञानका आश्रय आत्माको ही लेना चाहिये, बुद्धिको नहीं। 'तनुते' क्रियाका आश्रय बुद्धि नहीं हो सकती है। 'विज्ञानमय' में मयट् प्रत्ययसे भी स्पष्ट व्यतिरेक प्रतीत होता है; अतः विज्ञानमयसे विज्ञानाश्रय जीवको ही लेना चाहिये।

इस प्रकार विज्ञानमयसे पृथक् ब्रह्म आनन्दमय है—'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तै० २ । ५-२)। ब्रह्म ही निरतिशय आनन्दका आश्रय है जीव नहीं; क्योंकि सर्वत्र श्रुतियोंमें ब्रह्मके विषयमें ही आनन्दका प्रयोग अभ्यासद्वारा किया गया है—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १ । १ । १२)

स्वामी रामानुजाचार्यजीने इस सूत्रके भाष्यमें प्रबल श्रुति प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियोंद्वारा उपर्युक्त विषयका विशद विवेचन किया है।

आचार्यने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च', 'निरवद्यं निरञ्जनं' आदि निर्गुण श्रुतियोंका एवं 'यस्सर्वज्ञस्स सर्ववित्, स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' आदि सगुण श्रुतियोंका समन्वय एक ही ब्रह्ममें अत्यन्त सुन्दर ढंगसे किया है—'निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यन्ते'। अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः' इति हेयगुणान् प्रतिषिध्य 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति कल्याणगुणान् विदधतीयं श्रुतिरेवान्यत्र सामान्येनावगतं गुणनिषेधं हेयगुणविषयं व्यवस्थापयति। श्रीभाष्य पृ० १०७।

अर्थात् परब्रह्ममें दूषित-मायिक गुण न होनेके कारण वह निर्गुण कहा जाता है। क्योंकि श्रुतियोंमें 'वह निष्पाप है, जरा, मरण, शोक, क्षुधा और पिपासारहित है' इस प्रकार त्याज्य (त्यागनेयोग्य) गुणोंको निषेध करके उनमें सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि दिव्य-कल्याणमय गुणोंका विधान किया गया है।

अतः सामान्यरूपसे अवगत निर्गुण श्रुति केवल हेय गुणोंको निषेध करती हुई कल्याण-गुणोंकी व्यवस्था परमात्मामें करती है। इससे निश्चय हुआ कि परमात्मा अखिलहेयप्रत्यनीक, अनन्तकल्याण गुणसम्पन्न, सगुण-सविशेष है, निर्गुण नहीं है। आचार्यने स्पष्ट कहा है कि—निर्गुण वाक्य हेयगुणोंके निषेधपरक होनेसे तथा सगुण वाक्य दिव्य कल्याणगुण विधानपरक होनेसे भिन्न-भिन्न विषयके कारण इन दोनोंमेंसे किसी एकके लिये मिथ्याकी कल्पना नहीं हो सकती, ऐसी कल्पना व्यर्थ है—

सगुणनिर्गुणवाक्ययोर्विरोधाभावादन्यतरस्य मिथ्याविषमताश्रयणमपि नाशङ्कनीयम्।

(श्रीभाष्य पृ० ५७।)

अद्वैत वेदान्तमें 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका अर्थ अभिधावृत्तिसे न होनेके कारण अगत्या (लाचारी) लक्षणाके सहारे किया गया है। (वे० प० पृ० १२०-१२४)

लक्षणा तीन तरहकी मानी जाती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा। 'तत्त्वमसि' में दो लक्षणा घटित नहीं होती हैं अतः अगत्या तीसरी लक्षणा स्वीकार की गयी है—'तत्' पदका अर्थ है परोक्षकालविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वं' पदका अर्थ है अपरोक्षकाल विशिष्ट चैतन्य। यद्यपि यहाँ चैतन्यांश मात्रमें कोई विरोध नहीं है किंतु परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशोंमें अवश्य विरोध है।

अतः इन विरुद्ध अंशोंके परित्यागके कारण 'जहत्' तथा अखण्ड चैतन्य अंशके ग्रहण 'अजहत्' के कारण इस लक्षणाका नाम जहत्-अजहत्-लक्षणा हुआ। परोक्षत्व अपरोक्षत्व एक भाग त्यागनेके कारण इसका नाम भागवृत्ति भी है। स्वामी शंकराचार्यने ब्रह्मसू० ४।१।२। के स्वकीयभाष्यमें इस महावाक्यपर विशद विवेचन किया है। विशिष्ट द्वैती आचार्योंने 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका अर्थ अभिधावृत्तिसे ही किया है। क्योंकि जब अभिधावृत्तिसे अर्थ सुलभ हो सकता है तब लक्षणाका आश्रय लेना गौणपक्ष है।

श्रीरामानुजाचार्यने 'तत्त्वमसि' का अर्थ अत्यन्त विलक्षण एवं स्पृहणीय किया है—'तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति। तदैक्षत बहु स्याम्॥ (छां० ६।२।३।') इत्यादिपु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत्समानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद् विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति॥ प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्तिनिमित्तभेदासम्भवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्' (श्रीभाष्य पृ० ९८)। अर्थात् 'तत्' पदसे सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, जगत्कारण 'ईश्वर' कहा जाता है; क्योंकि 'उसने बहुत होनेकी इच्छा की' इस श्रुतिमें सविशेष ब्रह्मका ही प्रस्ताव है। तथा 'त्वं' पदसे अचिद् विशिष्ट जीव शरीरवाला ब्रह्मका प्रतिपादन है। क्योंकि विभिन्न प्रकार पदार्थोंका एकार्थ बोधन करना ही समानाधिकरण कहा गया है।

'तत्' और 'त्वं' पदोंमें यदि प्रकारगत भेद न माना जाय तब तो प्रवृत्ति-निमित्तका भेद न होनेके कारण दोनों पदोंका समानाधिकरण ही न बन सकेगा। मुख्यार्थकी सम्भावनामें लक्षणाको स्वीकार करना दोष है।

अद्वैत वेदान्तमें 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका लौकिक उदाहरण 'सोऽयं देवदत्तः' है, इसका अर्थ है—गतदिवस काशीमें देखा गया देवदत्त यही है। इस वाक्यका तात्पर्य कालिक विरोधको छोड़कर देवदत्तकी एकता स्थापित करनेमें है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तमें 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यमें लक्षणाका गन्ध भी नहीं है क्योंकि विरोधका अभाव है, अर्थात् अतीतका सम्बन्ध देशान्तरसे है तथा वर्तमानका सम्बन्ध सन्निहित देशसे है। अतः देशद्वयसम्बन्धका विरोध कालभेदके कारण नहीं है 'जो देवदत्त कल काशीमें था वही आज अयोध्यामें है' इस वाक्यमें कालभेदसे कोई विरोध नहीं है, एक कालमें दोनों स्थानोंमें एक व्यक्तिकी स्थिति अयुक्त होनेपर भी कालभेदसे युक्तियुक्त है। इस प्रकार अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत वेदान्तमें अनेकों भेद प्रतीत होते हैं।

अद्वैती आचार्योंने ब्रह्मस्वरूपके वास्तविक निर्णयमें दो प्रकारके लक्षणोंको स्वीकार किया है—एक स्वरूपलक्षण तथा दूसरा तटस्थ-लक्षण। स्वरूप-लक्षण वस्तुका वास्तविक स्वरूप बतलाता है तथा तटस्थ-लक्षण कुछ काल टिकनेवाला आगन्तुक गुणोंका स्वरूप बतलाता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० ३।९।२८) इस प्रकार श्रुतियाँ ब्रह्मके स्वरूपप्रतिपादक हैं। तथा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' यह श्रुति ब्रह्मका तटस्थ लक्षण

प्रतिपादन करती है। किंतु विशिष्टाद्वैती आचार्योंके मतमें इस प्रकार द्विविध लक्षणसम्पन्न ब्रह्म नहीं है, प्रत्युत एक ही ब्रह्मको निर्गुण-सगुण वाक्य निरूपण करता है अखिलहेयप्रत्यनीक—अनन्तकल्याणगुणगणसम्पन्न विशेषणोंका यही रहस्य है।

अद्वैत सिद्धान्तमें अविद्याकी निवृत्तिका ही नाम मोक्ष है। अर्थात् जब आचार्यद्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके उपदेश होनेपर अज्ञानजन्य औपाधिक भेदकी निवृत्ति हो जाती है तब प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। इसीका नाम जीवन्मुक्ति है। मुक्त होनेपर आत्माका ब्रह्मके साथ अभेद हो जाता है।

परंतु विशिष्टाद्वैतमें आत्मा मुक्त होनेपर भी ब्रह्मके समान ही होता है किंतु अभिन्न नहीं। इस प्रकार मुक्तावस्थामें जीव अप्राकृत शरीर धारणकर ब्रह्मका अनुभव करता है। अतः जीवतत्त्व बद्ध-मुक्त सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌से भिन्न ही रहता है अभिन्न नहीं।

अद्वैत वेदान्तमें माया कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है। भगवान्‌की अव्यक्त शक्तिका ही नाम माया है जो त्रिगुणात्मिका है तथा अविद्या-स्वरूपा है, यही माया जगत्‌को उत्पन्न करती है—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥

(विवेकचूडामणि श्लोक ११० ।)

यह माया ब्रह्मज्ञानसे बाधित होनेके कारण 'सत्' नहीं है तथा प्रतीति होनेके कारण 'असत्' भी नहीं कह सकते हैं। अतः सत्-असत् दोनोंसे अनिर्वचनीय है।

जिस प्रकार अन्धकार सूर्यको नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचारको नहीं सह सकती है।

वह भ्रान्तिस्वरूपा है। आवरण-विक्षेप—इन दो शक्तियोंके सहारे अज्ञानी जीवको तत्त्वके विषयमें मोह उत्पन्न कराती रहती है।

आवरण शक्तिसे माया ब्रह्मके शुद्ध स्वरूपको ढक लेती है तथा विक्षेपशक्तिसे उस निर्विशेष ब्रह्ममें आकाश आदि प्रपञ्चोंको उत्पन्न कर देती है। विशुद्ध ज्ञानोदय होनेपर मायाकी निवृत्ति हो जाती है।

विशिष्टाद्वैती आचार्यने अद्वैतमतके विपरीत अचित्-तत्त्वको इस प्रकार स्वीकार किया है—ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तुको 'अचित्' कहते हैं। यह शुद्धसत्त्व मिश्रसत्त्व एवं सत्त्वशून्य-भेदसे तीन प्रकारके हैं। श्रुतिमें अचित्‌को भोग्य शब्दसे कहा गया है।

शुद्ध सत्त्वका ही नाम है त्रिपादविभूति वैकुण्ठ अयोध्या आदि। यह शुद्ध सत्त्व, रज और तमसे रहित है तथा ज्ञान आनन्दका जनक है। यह चतुर्विंशतितत्त्व रूपसे परिणत विविध भोग्य-भोगोपकरण-भोगस्थान रूपमें स्थित प्रकृति-तत्त्व नहीं है जो चेतनोंके कर्मानुसार प्राप्त होता है। यह नित्यविभूति तो केवल भगवान्‌की इच्छासे विमान-गोपुर-मण्डप-प्रासाद आदि रूपमें विद्यमान है, निरवधिक तेजःसम्पन्न, नित्यमुक्त पार्षद एवं भगवान्‌से भी जिसका परिच्छेद न हो सके ऐसे चमत्कारपूर्ण विलक्षण वस्तुको ही शुद्धसत्त्व अथवा भगवद्धाम कहते हैं। (—लोकाचार्य तत्त्वत्रय पृ० ३४)

शुद्धसत्त्व नित्य विभूतिको कुछ विद्वान् जड़तत्त्व मानते हैं किंतु वेदान्तदेशिक स्वामी एवं श्रीनिवासाचार्य प्रभृति आचार्योंने उसे चित्-तत्त्व ही माना है। श्रीनिवासाचार्यने यतीन्द्रमतदीपिकामें नित्य विभूतिका निरूपण करते हुए इसे अजड़तत्त्व एवं स्वयंप्रकाश माना है—

'अजडत्वं नाम स्वयंप्रकाशत्वम्'—(यतीन्द्रमत दीपिका पृ० ५१)

श्रीवेदान्तदेशिकस्वामीने भी स्वयंप्रकाश एवं अजड़तत्त्व तत्त्वमुक्ताकलाप (१। ६) में स्वीकार किया है—

नित्या भूतिर्मतिश्चेत्यपरमपि जडामादिमां केचिदाहुः।

स्वयंप्रकाश होनेपर भी आत्मा एवं ज्ञानसे नित्य विभूतिमें भेद है, क्योंकि इसका अहं रूपसे भान नहीं होता है तथा शरीर आदि रूपसे परिणाम भी होता है। धर्मभूतज्ञानका संकोच विकासरूप परिणाम होनेपर भी शरीर आदि रूपसे परिणाम नहीं होता है। अतः आत्मा एवं ज्ञानसे शुद्धसत्त्वमें भेद स्पष्ट है। अद्वैती आचार्योंके साधन-मार्ग भी वैष्णवाचार्योंसे भिन्न हैं।

स्वामी शङ्कराचार्यने ब्रह्मविचार करनेके पूर्व अधिकारीको साधनचतुष्टयसम्पन्न होना स्वीकार किया है—नित्य अनित्य

वस्तुका विवेक, लौकिक एवं पारलौकिक विषय भोगोंके प्रति वैराग्य, शम-दम आदि साधन सम्पत्ति एवं चौथा मुमुक्षुत्व (मोक्षकी इच्छा)। (ब्र० सू० १।१)। मल विक्षेप आवरण निवृत्तिके लिये क्रमशः निष्काम कर्म उपासना ज्ञानका विधान है।

परवर्ती विद्वानोंमें परस्पर कुछ वैमत्य होनेपर भी शङ्कराचार्यके मतमें केवल ज्ञानसे ही मुक्तिका विधान है, किंतु विशिष्टाद्वैती आचार्योंने शङ्कर मतका खण्डन प्रबल युक्तियोंसे किया है। वैष्णवाचार्योंका कथन है कि नित्य तथा अनित्य वस्तुका विवेक हो जानेपर ब्रह्म जिज्ञासाकी क्या आवश्यकता ? वस्तु विवेकके लिये ही तो जिज्ञासा है। जब विवेक प्राप्त हो गया तब जिज्ञासा नहीं हो सकती। श्रीबलदेवविद्याभूषणने भी गोविन्दभाष्यमें कहा है कि तत्त्वज्ञ महापुरुषोंके सङ्गके पूर्व साधनचतुष्टय लाभ असम्भव है किंतु सत्सङ्गके पश्चात् यह साधन सम्पत्तिका लाभ सम्भव है, अतः अद्वैतवादीका साधन चतुष्टयके पश्चात् ब्रह्मविचारका सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है—(ब्र० सू० गोविन्दभाष्य पृ० ६)। विशिष्टाद्वैती आचार्योंने भक्ति-प्रपत्तिको ही भगवत्-प्राप्तिमें अन्तरङ्ग साधन माना है। श्रीरामानुजाचार्यने ज्ञान-ध्यान-उपासना आदि शब्दोंको एकार्थक माना है, तैलधाराके सदृश निरन्तर स्मृति सन्ततिको ही भक्ति स्वीकार किया है—(श्रीभाष्य ४।१।१)

अनन्त कल्याण गुणगणनिलय भगवान्‌की अहैतुकी कृपा अनन्य आश्रितोंपर ही होती है। वेदान्तदेशिक स्वामीने स्पष्ट कहा है कि भगवान् प्रपन्नोंके अतिरिक्त अन्य किसीको अपना पद नहीं देते हैं—'प्रपन्नादन्येषां दिशति न मुकुन्दो निजपदम्'—'न्यासविंशति'। प्रपन्नको समस्त नित्य नैमित्तिक कर्मोंको भगवत्कैङ्कर्य बुद्धिसे करना चाहिये। प्रपन्नके लिये प्राप्य प्रापक अर्थात् साधनसाध्य भगवान् हैं। वेदान्त देशिकस्वामीने एक ही श्लोकमें प्रपत्तिका रहस्य अत्यन्त समीचीन ढंगसे वर्णन किया है—

प्रारब्धेतरपूर्वपापमखिलं प्रामादिकं चोत्तरं—न्यासेन क्षपयन्ननभ्युपगतप्रारब्धखण्डं च नः।
धीपूर्वोत्तरपाप्मनामजननाज्ञातेऽपि तन्निष्कृतेः कौटिल्ये सति शिक्षयाप्यनघयन् क्रोडीकरोति प्रभुः॥

सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण भेदसे कर्मके तीन भेद हैं—सञ्चित (प्राचीन) कर्म तथा क्रियमाण (भविष्य) कर्म ज्ञान भक्ति प्रपत्ति आदिसे नष्ट होते हैं किंतु प्रारब्धका नाश भोगसे ही होता है—(ब्रह्मसूत्र ४।१।१३—१९)। प्रारब्धके भी दो भेद हैं—एक अभ्युपगत, दूसरा अनभ्युपगत। इसी शरीरसे अनुभव करने योग्य प्रारब्धको अभ्युपगत प्रारब्ध कहते हैं तथा शरीरान्तरसे अनुभवके योग्य प्रारब्धको अनभ्युपगत प्रारब्ध कहते हैं। प्रपन्नका अभ्युपगत प्रारब्ध भी भगवान् नष्ट कर देते हैं। प्रपन्न बुद्धिपूर्वक पाप नहीं कर सकता है, यदि कथञ्चित् संस्कारवश ऐसा पाप हुआ भी तो उसकी निष्कृति ग्लानिपश्चात्तापद्वारा प्रपन्न कर लेता है। किंतु कुटिलतापूर्वक बार-बार अपराध करनेपर दण्डद्वारा शिक्षा देकर भगवान् शुद्ध करके अन्तमें प्रपन्नको अपना लेते हैं।

भगवान् श्रीराघवेन्द्रके विभीषणके प्रति अभयसूचक वचन उपर्युक्त कथनमें प्रमाण हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मी० ६।१८।३४)

अर्थात् एक ही बार प्रपन्न होकर मैं आपका हूँ, इस प्रकार जो याचना करता है उस प्रपन्नको मैं सभी भूतोंसे अभय कर देता हूँ।—रहस्यत्रयमें श्रीअग्रस्वामीने 'सर्वभूतेभ्यः' वाक्यमें चतुर्थी एवं पञ्चमी दोनों पक्ष स्वीकार किया है। चतुर्थीका अभिप्राय यह है कि केवल विभीषणके ही लिये नहीं किंतु सभी चेतनोंके लिये अभय देता हूँ। तथा पञ्चमीका अभिप्राय स्वप्राप्ति विरोधी एवं नरक आदिके दुःखोंको दूर करनेमें है। श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंका यह श्लोक चरम मन्त्र है। यह इतना व्यापक भगवद्वचन है कि श्रीयामुनाचार्यने आलवन्दार स्तोत्रमें भगवान्‌को इस वचनका स्मरण दिलाया है—

ननु प्रपन्नः सकृदेव नाथ तवाहमस्मीति च याचमानः।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्जं किमिदं व्रतं ते॥ (आल०)

इस प्रकार भक्ति प्रपत्तिसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है। भगवत्प्राप्तिके पश्चात् केवल भगवदनुभव ही अवशिष्ट रहता है।

अद्वैत मतमें आत्माका ब्रह्मके साथ अभेद हो जाता है, किंतु विशिष्टाद्वैतमें जीवात्मा ब्रह्मके समान हो जाता है—

'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'—(मु० ३ । १ । ३) अर्थात् पुण्य-पापसे मुक्त होकर निर्मल जीव ब्रह्मके साथ परम समता-को पाता है । गीतामें भगवान्ने कहा कि इस ज्ञानको पाकर जीव मेरे साधर्म्यको प्राप्त करता है—'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः' (१४ । २) । ब्रह्मके अपहतपाप्मासे सत्यसंकल्पपर्यन्त आठ गुण मुक्त जीवमें आ जाते हैं । इस प्रकार दिव्य शरीर धारणकर अष्ट गुणोंसे युक्त होकर जीवात्मा भगवत्स्वरूपका अनुभव करता है (श्रीभाष्य ४ । ४ । ५-७) ।

आत्मा स्वराट् एवं अनन्य अधिपति होकर केवल ब्रह्मानुभवका अधिकारी है । जगत्का नियमन ब्रह्मके ही अधीन रहता है ।

ब्रह्मका असाधारण लक्षण जगत् कर्तृत्व ही है । सर्वत्र ब्रह्मका लक्षण श्रुतियोंमें चराचर जगत्का नियमन रूप ही कहा गया है । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'—तै० भृ० १ । अतः परमात्माके साथ जीवात्माका भेद मुक्तावस्थामें भी सुस्पष्ट है । द्रष्टव्य—'जगद् व्यापारवर्जं' (श्रीभाष्य ४ । ४ । १७ ।)

श्रीरामानुजाचार्य प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंमें भी मान्य है, अतः श्रीरामानन्दीय वैष्णव भी विशिष्टाद्वैतवादी माने जाते हैं । भेद केवल इतना ही है कि श्रीरामानुजीय मतमें श्रीलक्ष्मीपति नारायण प्राप्य हैं किंतु श्रीरामानन्दीय मतमें वेदान्तवेद्यतत्त्व श्रीसीतापति श्रीराम हैं । (द्रष्टव्य—स्वामी हरिदासकृत रामस्तवराज भाष्य) । इसके अतिरिक्त श्रीरामानुजीय मतमें कतिपय आचार्य श्रीतत्त्वको जीव मानते हैं किंतु श्रीरामानन्दीय मतमें श्रीतत्त्वको सभी आचार्योंने ब्रह्मतत्त्व ही माना है ।

इस प्रकार उपासना क्षेत्रमें कतिपय भेद होनेपर भी सिद्धान्तका भेद प्रायः नहीं हैं । अतएव भक्तमालरचयिता श्रीनाभास्वामीने श्रीरामानन्दाचार्यको श्रीरामानुजाचार्यकी पद्धतिका प्रचारक कहा है ।

भक्तिके विरोधी होनेके कारण अद्वैतमतका खण्डन दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपसे है ।

स्वामी श्रीरामानुजाचार्यने अपने भाष्यमें भगवान् बोधायनका नाम अत्यन्त आदरसे लिया है । विंशति अध्यायी मीमांसा दर्शनपर भगवान् श्रीबोधायनकी वृत्ति थी । इनका ही दूसरा नाम श्रीपुरुषोत्तमाचार्य था । श्रीराममन्त्रकी परम्परामें इनका नाम श्रीशुकदेव मुनिके पश्चात् है । श्रीशुकके यह शिष्य थे । श्रीरामानुजाचार्यने श्रीभाष्यकी रचना इनकी वृत्तिके आधारपर ही की है—'भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते'—श्रीभाष्य पृ० २ । अर्थात् भगवान् श्रीबोधायनकृत विस्तृत ब्रह्मसूत्र वृत्तिको पूर्वाचार्योंने संक्षिप्त किया । उन्हीं (बोधायन) के मतानुसार हम सूत्रोंके अक्षरोंका व्याख्यान करेंगे । इससे सिद्ध हुआ कि दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्धान्तगत भेद नहीं है ।

श्रीमाध्वाचार्यका द्वैतवाद

ब्रह्मसम्प्रदायके अन्तर्गत श्रीमाध्वाचार्य हुए । उनका ही दूसरा नाम आनन्दतीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ हुआ । इन्होंने ब्रह्मसूत्र भाष्य एवं अनुव्याख्यान आदि ग्रन्थोंमें श्रुति-स्मृति पुराण पञ्चरात्र आदि प्रमाणोंके द्वारा केवल द्वैतवादका प्रति-पादन किया है ।

इनके मतमें अनन्त कल्याण गुण-गणपरिपूर्ण विष्णु ही भगवान् हैं । भगवान् जीवसे तथा जड़वर्गसे सर्वथा विलक्षण हैं । उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध तथा मोक्षके कर्ता परमात्मा ही हैं । वे एक होकर भी अनेकों रूप धारण किया करते हैं । भगवान्के सभी अवतार पूर्ण हैं—'अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः'—मा० बृ० भाष्य । भगवान् तथा भगवान्के अवतारोंमें भेदभाव रखना अत्यन्त अनुचित है ।

भगवान्में अचिन्त्य शक्ति सदा रहती है, अतएव भगवान्में विलक्षण-विचित्र कार्य करनेका अलौकिक सामर्थ्य विद्यमान रहता है । अचिन्त्य शक्तिके कारण ही भगवान्में विषमगुणोंकी स्थिति सदा रहती है ।

माध्वमतमें 'लक्ष्मीतत्त्व' के विषयमें अन्य वैष्णव मतोंकी अपेक्षा कुछ भिन्न धारणा है । लक्ष्मी भगवान्की शक्ति हैं । वे भगवान्के केवल अधीन रहती हैं, अतः उनसे भिन्न हैं—'परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः'—म० सि० सा० पृ० २६ ।

श्रीलक्ष्मीजी भगवान्की अपेक्षा गुणोंमें कुछ न्यून हैं जिस प्रकार भगवान् अप्राकृत दिव्य विग्रह सम्पन्न हैं, उसी प्रकार

लक्ष्मी भी अप्राकृत दिव्य शरीरसम्पन्ना हैं। ब्रह्मा आदि अन्य देवतागण देहके नाश होनेके कारण 'क्षर' नामवाले हैं; किंतु नित्य शरीरवाली लक्ष्मी अक्षरा हैं—'लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः'—मध्वकृत ऐतरेय भाष्य। आचार्यने 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' में भी इस विषयमें समीचीन विचार किया है।

जीव अज्ञान आदिसे युक्त प्रधान रूपसे तीन प्रकारके होते हैं—मुक्तिके अधिकारी, नित्यसंसारी, तमोयोग्य।

मुक्तिके अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती एवं उत्तम मनुष्यरूपसे पाँच प्रकारके होते हैं। नित्य संसारी जीव अपने कर्मानुसार ऊँच-नीच अनेक गतिको प्राप्त कर सुख-दुःखके साथ मिश्रित रहता है। 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' के अनुसार इस प्रकारका जीव मध्यम मनुष्य कहलाता है। दैत्य-राक्षस आदि जीव तमोयोग्य माने जाते हैं।

आचार्यके मतमें जीव भगवान्‌से सर्वथा भिन्न हैं तथा मुक्तावस्थामें भी भगवान्‌के साथ केवल चैतन्यांशको लेकर ही अभेद प्रतिपादन किया जाता है, किंतु जीवके समस्त गुणोंपर विचार करनेपर तो भगवान्‌के साथ आत्माका भेद सुतरां सिद्ध है। माध्वमतमें केवल बद्धावस्थामें ही जीवोंके परस्पर भेद नहीं होते हैं किंतु मुक्तावस्थामें भी जीवोंमें तारतम्य रहता है—'मानुषादिविरिञ्चान्तं तारतम्यं विमुक्तिगम्'—ईशावास्य भाष्य।

मुक्त होकर जीव जब आनन्दका अनुभव करता है उस आनन्दानुभवमें भी परस्पर तारतम्य रहता है। माध्वमतमें शुद्ध सत्त्वका लीलामय विग्रह जीवोंके लिये माना गया है। जीवको पञ्चभेद ज्ञानका सम्पादन करना आवश्यक है—१—भगवान्‌का जीवसे भेद, २—भगवान्‌का जड़से भेद, ३—जीवका जड़से भेद, ४—जीवका दूसरे जीवसे भेद, ५—एक जड़ पदार्थका दूसरे जड़ पदार्थसे भेद, (सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ५४)। यही पञ्चभेदका ज्ञान मुक्तिका साधन है। जीव-समूह श्रीहरिका नित्य अनुचर है, अस्वतन्त्र है। प्रपञ्च सत्य तथा अनादि सिद्ध है। जीव और जगत् दोनों भगवान्‌के अधीन हैं, इन दोनोंसे भगवान् पृथक् स्वतन्त्र हैं। मध्व-मतमें प्रलयकालमें भी रात्रिमें वनमें लीन विहंगकी भाँति नित्य भेद रहता है। भगवान्‌की अहैतुकी कृपाके बिना परतन्त्र जीव साधारण कार्योंका भी सम्पादन नहीं कर सकता है, मुक्तिकी कथा तो दूर रही।

अतः लोक-परलोक दोनोंकी प्राप्ति भगवान्‌के अधीन है।

इनके मतमें सायुज्य मुक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है जो कि भगवान्‌में प्रवेश कर उन्हींके शरीरसे आनन्द भोग करना है।

भक्तिके विरोधी होनेके कारण शंकरमतका खण्डन इन्होंने भी प्रबल युक्तियोंसे किया है।

श्रीनिम्बार्क तथा द्वैताद्वैतवाद

श्रीनिम्बार्कमतमें चित्-अचित् ब्रह्म भेदसे तत्त्व तीन प्रकारके हैं। चित्-अचित् ब्रह्मसे भिन्न होनेपर भी अभिन्न हैं। आचार्यके मतमें ईश्वर समस्त प्राकृत-दोषोंसे रहित एवं अशेष कल्याण गुणोंका निधान है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥ (दशश्लोकी ४)

चराचर विश्व ईश्वरके अधीन है। जो भी कुछ इस जगत्‌में दृष्टिगोचर अथवा श्रुतिगोचर है भगवान् सबके भीतर विद्यमान हैं। इनके मतमें भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं।

जीव ईश्वरके सदा नियम्य है, अणु एवं नाना है और भगवान्‌का अंश है।

इसीके आधारपर भेदाभेद सिद्धान्तकी पुष्टि की गयी है। निम्बार्काचार्यने 'वेदान्त-पारिजातसौरभ' में इस विषयपर विशद विवेचन किया है। यह जीव भगवान्‌का अंश है। अंशका अर्थ खण्ड नहीं है किंतु (अंशो ही शक्तिरूपो ग्राह्यः) अंशका अर्थ है शक्ति। भगवान् शक्तिमान् हैं, जीव शक्ति है। जीव स्वरूपसे भिन्न होकर भी ईश्वराधीन प्रवृत्ति निमित्त होनेसे अभिन्न भी है। केवल भेद स्वीकार करनेपर 'तत्त्वमसि' आदि अभेद श्रुतियोंका समन्वय नहीं होता तथा केवल अभेद माननेपर 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' इत्यादि भेद श्रुतियोंका समन्वय नहीं होगा।

अतः भेद-अभेद श्रुतियोंके समन्वयके लिये भेदाभेद सिद्धान्त स्वीकार करना युक्तियुक्त है। (ब्र० सू० २। ३। ४२)। भगवान्‌की शरणागति स्वीकार करनेपर ही जीवोंपर भगवान्‌की कृपा होती है। भगवत्-कृपासे अनुराग-स्वरूपा भक्ति उत्पन्न होती है, तब जीव भगवान्‌का साक्षात्कार करता है। मुक्त होनेपर जीव अपहतपाप्मा आदि विशेषणोंसे युक्त होकर अपने स्व-

रूपसे ही विद्यमान रहता है—(वेदान्त-पारिजात-सौरभ ४ । ४ । ७) । मुक्तावस्थामें भी उपासनाका प्रतिपादन 'शान्त उपासीत' 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' इत्यादि श्रुतियाँ करती हैं, अतः मुक्तावस्थामें भी जीवका कर्तृत्व अक्षुण्ण रहता है—(ब्रह्मसूत्र २ । ३ । ३२ पर वे० पा० सौ०) ।

आचार्यने 'दशश्लोकी' में अचित् तत्त्वको तीन संज्ञाएँ दी हैं—प्राकृत, अप्राकृत, काल । पाञ्चभौतिक जगत्को प्राकृत कहते हैं, प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित भगवद् धामको अप्राकृत कहते हैं तथा जगत्के नियामक कालको भी अचेतन ही स्वीकार किया है । यद्यपि काल जगत्का नियामक है किंतु भगवान्के लिये नियम्य ही है । नित्य-अनित्यभेदसे काल दो प्रकारके होते हैं । स्वरूपसे नित्य तथा कार्यसे अनित्य—

'अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्'—(दशश्लोकी ३) ।

ब्रह्मसूत्रपर निम्बार्काचार्यका भाष्य तो अत्यन्त स्वल्प है किंतु श्रीनिवासाचार्यका भाष्य 'वेदान्तकौस्तुभ' पारिजात सौरभके गूढ़ रहस्योंका विस्तारक है ।

श्रीनिम्बार्कका मत भेदाभेद होनेपर भी श्रीरामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतसे बहुत अंशोंमें प्रायः अभिन्न है ।

श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद

स्वामी श्रीवल्लभाचार्यने अपने अणुभाष्यमें प्रबल प्रमाणोंसे शुद्धाद्वैतकी स्थापना की है । महाराज विजयनगराध्यक्ष श्रीकृष्णरायके दरबारमें अद्वैतियोंको परास्तकर उन्होंने अपने अलौकिक पाण्डित्यका समीचीन परिचय दिया है श्रीवल्लभाचार्य श्रीचैतन्यके समकालीन थे । इनके मतमें ब्रह्म निर्गुण होता हुआ भी सगुण है, निराकार होता हुआ भी साकार है । भगवान् सच्चिदानन्द सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् हैं । अद्वैत मतके अनुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही मायाके सम्पर्कसे सविशेष प्रतीत होता है, ईश्वर जीव दोनों अविद्यायुक्त हैं, इत्यादि । इस प्रकार अद्वैतवादियोंका यह कथन वल्लभाचार्य नहीं स्वीकार करते हैं । माध्व मतानुसार इनके मतमें भी परब्रह्म अचिन्त्य महिमामण्डित होनेके कारण परस्परविरोधी गुणोंसे युक्त है । 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' श्रुति भगवान्को अणुसे भी लघु एवं महत्पदार्थसे भी महत्तर बतलाती है । 'व्रीहेर्वा यवाद् वा श्यामकाद् वा श्यामाकतण्डुलाद् वा' धान, यव, शामा आदिसे लघु कहकर 'पृथिव्याः ज्यायान् अन्तरिक्षाज्ज्यायान् आकाशाज्ज्यायान् एभ्यः सर्वेभ्यो लोकेभ्यो ज्यायान्' अर्थात् समस्त लोकोंसे बड़ा श्रुति बतलाती है । इनके मतमें जीव भगवान्का अंश अलक्षित रहता है । मुक्त होनेपर आनन्द अंश होनेपर भी अभिन्न है । सत्-चित्-आनन्दरूप ब्रह्मके सत् अंशसे प्रकृति-जडतत्त्वकी अभिव्यक्ति तथा चिद् अंशसे जीव तत्त्वकी अभिव्यक्ति है । जीवमें ब्रह्मसे निर्गमन कालमें आनन्द अंश अलक्षित रहता है । मुक्त होनेपर आनन्द अंश प्रकट हो जाता है अभेद है ।

आचार्यके मतमें जगत् भी भगवान्के सत् अंशसे निकलनेके कारण विकारी नहीं है किंतु ब्रह्म जीवके सदृश ही नित्य अविकृत तत्त्व है । वैष्णव दर्शनोंमें श्रीवल्लभाचार्यकी यह कल्पना स्वतन्त्र है ।

विशिष्टाद्वैतके अनुसार ही जीवको ये अणु मानते हैं किंतु जगत्को हेय नहीं मानते । क्षर, अक्षर पुरुषोत्तमको उत्तरोत्तर श्रेष्ठ तो मानते हैं किंतु क्षरको भी भगवान्के सद् अंश होनेके कारण शुद्ध नित्य मानते हैं । इसीलिये इनका मत शुद्ध अद्वैत है अर्थात् जगत्, जीव एवं ब्रह्म तीनों शुद्धतत्त्वोंका अभेद ही शुद्धाद्वैत है ।

आचार्यने श्रीमद्भागवतकी सुबोधिनी टीकामें अपने सिद्धान्तके समस्त पदार्थोंका विशद विवेचन किया है । श्रीवल्लभमतानुयायी वैष्णवगणमें 'सुबोधिनी' की महती प्रतिष्ठा है । अणुभाष्यसे भी सुबोधिनीका अधिक गौरव है । आचार्यके मतमें मर्यादा भक्तिकी अपेक्षा पुष्टि भक्तिका अवलम्बन ही श्रेष्ठ माना गया है । मर्यादा भक्तिमें ज्ञानकी अपेक्षा होती है किंतु पुष्टि भक्तिमें ज्ञानकी एवं वर्ण, जाति आदिकी अपेक्षा नहीं होती है । अनुग्रहको पुष्टि कहते हैं—'पोषणं तदनुग्रहः' सुबोधिनी । २ । १० । इनके मतमें ज्ञानसे अक्षर ब्रह्म (जीवात्मा) की प्राप्ति होती है किंतु भगवान्की प्राप्ति तो अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है ।

अत्यन्त सरल पुष्टिमार्गके आश्रयणद्वारा आनन्दसिन्धु भगवान्का अधरामृतका पान करना ही जीवका चरम फल है ।

भगवान्का अवतार केवल परमानन्द देनेके लिये ही होता है, भू-भारका हरण तो बिना अवतारके भी सम्भव था सुबोधिनी । १० । २९ । १४ । जीवमें आनन्दका तिरोभाव है किंतु भगवान्में एकरस अखण्ड आनन्द है, अतः 'भगवान्में

आनन्द है या नहीं अथवा भगवान् कौन हैं ?' यह शंका भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'भगवान्के अवतार-चरित्र मात्रके श्रवण करनेपर भी ऐसा आनन्द होता है जिससे विचारक अवतार कथा प्रेमीगण कभी-कभी परमानन्द प्रदाता मोक्षको भी नहीं चाहते हैं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।'

एक और भी प्रमाण यह है कि कुछ लोग भगवत्-कथा श्रवणकर घर-बार छोड़ देते हैं। सभी संसारी यह जानते हैं कि घरमें लौकिक सुखकी प्रचुरता है; अतः ऐसे गृहमें विद्यमान सुखका परित्याग सत्संगी छोड़ देते हैं। यदि भगवान्में तनिक भी आनन्दका सन्देह होता तो कोई भी संसारी पुरुष घरका विद्यमान सुख क्यों छोड़ता ? अतः भगवान्में आनन्दका संदेह नहीं करना चाहिये। सुबोधिनी वेदस्तुति श्लोक। ८।

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्यका विशुद्धाद्वैत शङ्करके अद्वैतसे सर्वथा भिन्न है। आचार्यके ग्रन्थोंमें शङ्करमतका खण्डन सर्वत्र उपलब्ध होता है।

श्रीचैतन्यदर्शन

प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुका अवतार चेतनोंको प्रेमदानके लिये हुआ था। अतः महाप्रभुने स्वयं किसी भी ग्रन्थकी रचना नहीं की। उनके मतसे केवल भगवन्नाम एवं भगवद्-भक्तिद्वारा मानव भगवत् प्रेमको पा सकता है। नाम संकीर्तन करनेवाले अपनेको तृणसे भी नीच, वृक्षसे भी सहनशील, सभीका सम्मान करनेवाले एवं अपने आपको अमानी समझें 'तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः।' महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको ही अपना सिद्धान्त ग्रन्थके रूपमें स्वीकार किया। किंतु महाप्रभुके पश्चात् उनके अनुयायी जीव गोस्वामी प्रभृतियोंने चैतन्यमतके आधारपर अचिन्त्यभेदाभेदवादकी स्थापना की। भगवान्में मूर्तत्व अमूर्तत्व, परिच्छिन्नत्व-विभुत्व, आदि परस्पर विरोधी भाव एक साथ ही निवास करते हैं, यह भगवान्की अद्भुत अचिन्त्य शक्तिका प्रभाव है। भगवत्तत्त्व अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न होनेके कारण अचिन्त्यभेदाभेदसिद्धान्त इस मतमें सुसंगत है 'स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव, अचिन्त्यशक्तिमयत्वात्' श्रीजीव गो० सर्वसंवादिनी।

श्रीसनातन गोस्वामीने बृहत् भागवतामृतमें इस सिद्धान्तका समीचीन विवेचन किया है जिस प्रकार समुद्रके एक देशमें उठी हुई तरङ्गें एक देशमें विलीन हो जाती हैं। जलमय गुणके द्वारा समुद्रसे अभिन्न होनेपर भी गाम्भीर्य, रत्नाकरत्व आदि समुद्रके विशेष गुणोंके अभावके कारण तरङ्ग-समूह समुद्रसे भिन्न भी है। उसी प्रकार चिदंश जीव अनन्त सच्चिदानन्द परब्रह्मसे चिदंशमें अभिन्न होनेपर भी अनन्त अचिन्त्य कल्याण गुणोंके अंशमें भिन्न भी है। मुक्तावस्थामें भी ब्रह्मके साथ जीवका चिदंशके योगसे अभेद, तथा परिच्छिन्न होनेके कारण भेद सुसंगत हैं— बृहद् भागवतामृत।

अचिन्त्य भाव विशिष्ट भगवान्की अनन्त शक्तियोंमें तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं—१ स्वरूप शक्ति, २ तटस्थ शक्ति, ३ माया शक्ति। स्वरूप शक्तिको चित् शक्ति तथा अन्तरङ्गा शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यह भगवत्-स्वरूपा है, भगवान्के धाम आदि अन्तरङ्गा शक्तिकी ही वृत्ति है, जिसको त्रिपाद विभूति कहते हैं। जीवशक्तिको तटस्थ शक्ति कहते हैं—

तट जिस प्रकार नदीके भीतर नहीं होता है, तथा तीर भूमिके भीतर भी नहीं होता है, उसी प्रकार जीव स्वरूप-शक्ति भी नहीं है तथा मायाशक्ति भी नहीं है किंतु तटस्थ शक्ति है।

माया शक्तिको बहिरङ्गा शक्ति भी कहते हैं। इसीके द्वारा जगत्का निर्माण होता है। अथवा भगवान् स्वरूप-शक्तिसे जगत्के निमित्तकारण तथा माया-जीव शक्तियोंसे उपादान कारण हैं—

चिच्छक्ति स्वरूप शक्ति अन्तरङ्गा—नाम।
ताहार वैभव अनन्त वैकुण्ठादि धाम॥
माया शक्ति बहिरङ्गा जगत् कारण।
ताहार वैभव अनन्त ब्रह्माण्डेर गण॥
जीव शक्ति तटस्थाख्य नाहि जार अन्त।
मुख्य तीन शक्ति तार विभेद अनन्त॥

—(श्रीचैतन्य चरितामृत)

चैतन्यमतमें यह शक्तित्रयकी कल्पना विष्णुपुराणके निम्न श्लोकके आधारपर है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस सिद्धान्तकी पुष्टि 'गीता (७। ४—७) की टीका 'सारार्थदर्शिनी'में भी की है। इनके मतमें कार्य-कारण, शक्ति-शक्तिमान्का अभेद ग्राह्य है। श्रीजीवगोस्वामीने भी भगवत्-संदर्भकी 'सर्व संवादिनी' टीकामें भेदाभेदका समर्थन इस प्रकार किया है—

स्वरूपसे अभिन्नरूपमें शक्तिका चिन्तन नहीं किया जा सकता है। अतः भेद प्रतीत होता है। तथा भिन्नरूपसे चिन्तन न होनेके कारण अभेद भी है; इसलिये शक्ति-शक्तिमान्का भेदाभेद ही सिद्ध होता है, ये दोनों ही अचिन्त्य शक्तिमय होनेके कारण अचिन्त्य हैं।

अतः स्वमतमें अचिन्त्य भेदाभेद ही ग्राह्य है—'स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदावेवाङ्गीकृतौ, तौ च अचिन्त्यौ इति स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।'

चैतन्यमतके अनुसार जगत् सत्य वस्तु है; क्योंकि सत्य संकल्प भगवान्की बहिरङ्गा शक्तिका विलास है। श्रुति-स्मृति एक स्वरसे जगत्का नित्यत्व घोषित कर रही है—'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाते शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।' ईशावास्य मं० ८। 'प्रकृतिं पुरुषश्चैव विद्ध्यनादी उभावपि'—गीता १३। १९। जीव श्रीहरिका नित्यदास है, यह जीव तटस्थ शक्तिरूप भेदाभेदप्रकाशविशिष्ट है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास। कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश। (चै० च०)

जीव अपने निज स्वामीको भूलकर अनादिकालसे बहिर्मुख होकर मायाके द्वारा संसारके सुख-दुःखोंको भोग रहा है। भगवत्-रसिक सन्तों एवं सत्-शास्त्रोंकी कृपासे जब श्रीकृष्णके उन्मुख होता है तब माया छूट जाती है और जीव अपने दास्यस्वरूपको प्राप्तकर अपने निज स्वामीको प्राप्त कर लेता है—'कृष्ण भूलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख। अतएव माया तारे देय संसार दुःख। साधु-शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय। सेइ जीव निस्तरे माया ताहारे छाडय।' (चै० च०)

चैतन्यमतमें भगवान्को अपने वशमें करनेका एकमात्र साधन भक्ति ही है। अन्य अभिलाषाओंसे शून्य, ज्ञान-कर्मरूप आवरणसे रहित, दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुर रसमें किसी एक भावसे श्रीकृष्णका अनुशीलन भक्ति है—'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।' (भ० र० सि० १। ११)। नारदपञ्चरात्रमें भी इसी प्रकार भक्तिका स्वरूप कहा गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेश हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

दुर्गम सङ्गमनी टीकाकार श्रीजीव गोस्वामीजीने कहा है कि 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' में ज्ञानसे अभेद ब्रह्मका अनुसंधानरूप ज्ञान ही भक्तिका आवरक (विरोधी) है। भजनीय स्वरूप भगवत्तत्त्वका अनुसंधानरूप ज्ञान भक्ति विरोधी नहीं है। इसी प्रकार कर्मसे केवल नित्य-नैमित्तिक कर्म ही भक्तिका आवरक (विरोधी) है। भगवान्की सेवा-पूजारूप कर्म भक्तिविरोधी नहीं है।

ज्ञानमत्र निर्भेदब्रह्मानुसन्धानं न तु भजनीयत्वानुसन्धानमपि तस्यावश्यापेक्षणीयत्वात्।
कर्मस्मृत्याद्युक्तं नित्यनैमित्तिकादि न तु भजनीयपरिचर्यादि तस्य तदनुशीलनरूपत्वात्।
आदि शब्देन वैराग्य-योग-सांख्याभ्यासादयः। (दुर्गमसङ्गमनी १। ११)

सत्-चित् आनन्दके कारण भगवान्की स्वरूप-शक्ति एक होनेपर भी तीन भागोंमें विभक्त होती है—१ सन्धिनी २ संवित् ३ ह्लादिनी। सन्धिनी शक्तिद्वारा भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं और दूसरोंको सत्ता प्रदान भी करते हैं। संवित् शक्तिद्वारा स्वयं जानते हैं और दूसरोंको ज्ञान प्रदान करते हैं। ह्लादिनीद्वारा भगवान् स्वयं आनन्दपूर्ण रहते हैं और अन्यको भी आनन्द प्रदान करते हैं। श्रीराधिकाजी ह्लादिनीकी मूर्ति हैं। क्योंकि ह्लादिनीका सार प्रेम है तथा प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है। श्रीराधा मादनाख्य महाभावस्वरूपिणी हैं। चैतन्यमतमें भक्तितत्त्व भी ह्लादिनी शक्ति ही है अर्थात् भगवान्की स्वरूप-शक्ति है, तभी सर्वसमर्थ भगवान्को भी अपने वशमें कर लेती है—'भगवत्प्रीतिरूपा वृत्तिर्मायादिमयी न

भवति, किं तर्हि स्वरूपशक्त्यानन्दरूपा, यदानन्दपराधीनः श्रीभगवानपीति'—श्रीजीव गोस्वामीकृत प्रीतिसन्दर्भ पृ० ७२४।

अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें तीन अत्यन्त क्षुद्र होनेसे विवेकीके लिये ग्राह्य नहीं है, चतुर्थ मोक्षरूप पुरुषार्थ अक्षय आनन्दप्रद है; किंतु वह आनन्द केवल सत्तामात्र है, प्रतिक्षण नवनवायमान आस्वादन वैचित्री उसमें नहीं है; क्योंकि अव्यक्त शक्तिसम्पन्न ब्रह्ममें स्वरूपशक्तिका विलास न होनेके कारण उसमें रसवैचित्री नहीं है। जहाँ शक्तिका न्यूनतम विकाश है वहाँ रसका भी न्यूनतम ही विकाश है। श्रीकृष्णमें शक्तिका असमोर्ध्वविकाश होनेसे रसवैचित्रीका भी पूर्ण विकाश है। ब्रह्मानन्दसे कोटि-कोटि गुण अधिक आनन्द भगवत्-माधुर्य आस्वादनमें है। इसीलिये आत्माराम जीवन्मुक्त ब्रह्मानन्दमें निमग्न महामुनि भी भगवत्-माधुर्यकी कथा सुनते ही उनके उस माधुर्य आस्वादनके लिये लालायित होकर प्रेमप्राप्तिके लिये भगवत्-भजन करते हैं, यथा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥ (श्रीमद्भागवत १। ७। १०)

स्वामी शङ्कराचार्यने भी नृसिंहतापनी भाष्यमें कहा है कि मुक्तलोग भी स्वेच्छासे शरीर धारण करके भगवान्का भजन करते हैं—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते'—(शांकरभाष्य २। ५। १६)। जिस प्रकार पित्तनाशके लिये पित्तग्रस्त मनुष्य मिश्रीका सेवन करता है किन्तु पित्तका नाश हो जानेपर भी मिश्रीकी मधुरिमासे आकृष्ट होकर मिश्री भक्षण करता ही रहता है, उसी प्रकार अविद्यानिवृत्तिके पश्चात् मुक्त हो जानेपर भी भगवत्-माधुर्यसे आकृष्ट होकर मुक्त लोग भगवद्भजन करते रहते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मानन्दसे प्रेमरस अनन्तगुण श्रेष्ठ है। श्रीरूपगोस्वामीने कहा है कि ब्रह्माकी आयुसे पचास वर्षपर्यन्त किसीने समाधिमें ब्रह्मानन्दका अनुभव किया हो किंतु भक्तिसुख-समुद्रके लघुतम परमाणुके बराबर भी—वह पुञ्जीभूत ब्रह्मानन्द कथमपि तुलनीय नहीं हो सकता—'ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्ति सुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि' (हरिभक्तिर० सि० १। १९)

अतः यह भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ वह है जो मोक्षसे भी अत्यधिक श्रेष्ठ है, चैतन्यचरितामृतमें प्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ कहा है तथा श्रीकृष्ण-माधुर्य-रसास्वादनमें एकमात्र उपाय प्रेमको ही कहा गया है—'पञ्चम पुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन कृष्णेर माधुर्यरस कराय आस्वादन' (चै० च०)।

भक्ति दो प्रकारकी है—एक साधना भक्ति, दूसरी सिद्धा भक्ति। श्रीमद्भागवतमें भी 'भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्' में साधना भक्तिसे सिद्धा भक्तिकी प्राप्ति कही गयी है। साधना भक्तिमें शास्त्रीय उपायोंका आश्रयण कुछ कालतक आवश्यक है किंतु रागात्मिकामें समस्त शास्त्रीय बन्धन शिथिल हो जाते हैं।

चैतन्यमतमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये भी नवधा भक्तिका सेवन ही उपादेय है। आरम्भमें कर्ममिश्रा ज्ञानमिश्रा भक्तिका सेवन करनेवाले भी अन्तमें केवला भक्तिके अधिकारी हो जाते हैं। कर्मांश तथा ज्ञानांश आगे चलकर क्षीण हो जाते हैं, स्वरूपशक्ति होनेसे भक्तिकी वृद्धि होती है, क्षीण नहीं होती है।

इनके मतमें मधुरा रति ही अन्तिम साध्य तत्त्व है। भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम भूमिका श्रद्धा है। श्रद्धाके बाद साधु-संग है, सन्तोंके संगसे भजन-क्रिया चलने लगती है—नवधाका सेवन होता है। तब काम-क्रोध आदि अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। पश्चात् क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति एवं भावकी प्राप्ति होती है। साधकोंके लिये प्रेम-प्राप्तिमें यही पूर्वोक्त क्रम है—

'आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः। अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदर्चनात्। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(हरिभक्तिरसामृतसिन्धु ४। ६-७)

भजनद्वारा जब साधकके हृदयमें भगवत्प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न होता है तब अनेकों दिव्य गुण उत्पन्न हो जाते हैं। क्षमा, भजन-चिन्तनके बिना व्यर्थ काल नहीं बिताना, वैराग्य, मानशून्यता, भगवत्-प्राप्तिकी दृढ़ आशा, भगवत्-मिलनकी तीव्र उत्कण्ठा, श्रीनाम-गानमें सदा रुचि, गुण-कथनमें आसक्ति एवं भगवद्धाममें रति आदि सद्गुण साधकमें आ जाते हैं—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता । आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदारुचिः ॥
आसक्तिस्तद् गुणाख्याने प्रीतिस्तद् वसतिस्थले । इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ॥
(हरिभक्ति० र० सि० ३ । १२-१३)

भगवत्-प्रेमकी भी अनेक भूमिकाएँ हैं । भक्तिका स्थायीभाव 'रति' है । जब मधुर रसानुकूल यह रति होती है तब इसका नाम 'मधुरारति' होता है ।

साधारणी, समञ्जसा, समर्थाके भेदसे 'रति' तीन प्रकारकी होती है ।

नाति सान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शनसम्भवा । सम्भोगेच्छा निदानेयं रतिः साधारणी मता ॥
(उ० नी० म० स्थायी० भा० ३९ ।)

अर्थात् जो रति अतिशय गाढ़ नहीं हो, जो प्रायः श्रीकृष्ण-दर्शनसे ही उत्पन्न हो, एवं सम्भोगेच्छा ही जिसका हेतु हो उसको 'साधारणी रति' कहते हैं ।

यद्यपि स्वसुख-वासनासे रहित श्रीकृष्ण-सुख-वासनाको ही रति कहते हैं किंतु साधारणी रतिमें स्वसुख-वासनाके साथ श्रीकृष्ण-सुख-वासना भी विद्यमान है । स्वसुख-वासना अत्यन्त क्षीण होनेपर श्रीकृष्ण-सुख-वासना भी क्षीण हो जाती है । यह रति कुब्जा आदिमें रहती है ।

पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा । क्वचिद् भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा ॥
(उ० नी० म० स्था० भा० ४२)

जो रति श्रीकृष्णके गुण आदि श्रवणसे उत्पन्न हो, जिसमें पत्नी-भावका अभिमान हो, जिसमें कभी-कभी संभोग तृष्णा भी उत्पन्न हो, उस गाढ़ रतिको 'समञ्जसा रति' कहते हैं । यह रति महिषीवृन्दमें पायी जाती है ।

कञ्चिद्विशेषमायान्त्या संभोगेच्छा ययाभितः । रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते ॥
(स्था० भा० ४६)

पूर्वोक्त दो रतियोंकी अपेक्षा अनिर्वचनीय, श्रवणादिके बिना उत्पन्न श्रीकृष्ण संभोगेच्छा प्रधान, समस्त कुल, धर्म, धैर्य, लोक, लज्जा आदिको विस्मरण करानेमें सर्वसमर्थ रतिको 'समर्था रति' कहते हैं । यह समर्था रति व्रजाङ्गनाओंमें ही पायी जाती है ।

यही 'रति' जब महाभाव दशाको प्राप्त होती है तब इसकी कामना मुक्त एवं श्रेष्ठ भक्तगण भी करते रहते हैं—

इयमेव रतिः प्रौढा महाभावदशां व्रजेत् । या मृग्या स्याद् विमुक्तानां भक्तानाञ्च वरीयसाम् ॥
(उ० नी० म० ४३)

जिस प्रकार ऊखका बीज ही क्रमशः ऊख, रस, गुड़, खाँड़, चीनी, मिश्री एवं ओलाकन्दपर्यन्त परिपाक एवं विकारभेदसे अवस्थान्तरको प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह 'रति' क्रमशः परिपाकभेदसे प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव-पर्यन्त अवस्थाओंको प्राप्त होती है—

स्याद्दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन्स्नेहः क्रमादयम् । स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि ।
बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः । स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला ।
(उ० नी० म० ५३-५४)

इस प्रकार महाभावके भी अनेक रसभेद हैं । रूढ़, अधिरूढ़, मोदन । मोदनभाव वियोग-अवस्थामें मोहन कहा जाता है । अन्तमें समस्त रस-स्तरोंका एकमात्र आश्रय मादन है । मादनाख्य महाभाव स्थायी 'रति' की सीमा है । यह एकरस श्रीराधिकाजीमें ही विद्यमान रहता है ।

इस प्रकार अचिन्त्यभेदाभेदवाद माध्वमतसे कुछ अंशोंमें अभिन्न होनेपर भी स्वतन्त्र एवं सर्वांशमें भिन्न है ।

श्रीचैतन्यके परवर्ती आचार्योंने जो भक्तितत्त्व एवं रसतत्त्वका वर्णन किया है, वह अत्यन्त ही पाण्डित्यपूर्ण है । रस-स्तरोंकी कल्पना इस मतमें अपना विशेष स्थान रखता है ।

समन्वय

तत्तु समन्वयात् । ब्र० सू० १ । १ । ४ ।

इस वेदान्त सूत्रके अनुसार समस्त वेदान्तवाक्योंका पुरुषार्थरूपसे ब्रह्ममें ही यथार्थ अन्वय है । भारतीय दर्शनकी उदारताने विश्वके समस्त विचारकोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है । विश्वके सभी मनीषीगण अपनी-अपनी ज्ञान-पिपासाको शान्त करनेके लिये भारतीय दर्शनका आश्रयण सदासे करते आये हैं । पाश्चात्त्य विचारधाराके लोगोंकी यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है कि भारतीय-दर्शन-शास्त्रोंमें अनेकता है तथा साम्प्रदायिकता है । निष्पक्ष भावसे विचार करनेपर यह स्पष्ट है कि दर्शन शास्त्रोंकी व्यापकताने सभी विचारकोंको विचार करनेका अवसर दिया । अपनी-अपनी दृष्टिसे अपेक्षित सामग्रियाँ सभी विचारकोंको मिली हैं ।

परमत-खण्डनपूर्वक स्वमतकी स्थापना केवल स्वसिद्धान्तकी अभिव्यक्तिके लिये ही है । ब्रह्मसूत्रमें भी ऐसे विचार मिलते हैं जिससे परपक्षका खण्डन प्रतीत होता है । चतुःसूत्रीके बाद जहाँसे वेदान्त शास्त्रका प्रारम्भ माना जाता है वहाँ सर्वप्रथम सूत्रसे सांख्यमतका खण्डन स्पष्ट है—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१ । १ । ५ ।' अर्थात् जगत्का कारण प्रकृति नहीं हो सकती है, क्योंकि कारणमें ईक्षण (इच्छा) करना सिद्ध है । 'तदैक्षत बहु स्याम्' इस श्रुतिमें कारणने बहुत होनेकी इच्छा की । अतः इच्छा करना चेतनका धर्म है जड़का नहीं । प्रकृति जड़ है अतः जगत्कारण नहीं हो सकती है । जगत् कारण कोई चेतन होगा, इत्यादि समस्त अधिकरणमें ब्रह्मके जगत्कारणत्वका प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार मूलसूत्रोंद्वारा अनेकों वेदान्त-विरुद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन ब्रह्मसूत्रमें वेदव्यासने किया है । किंतु समन्वय दृष्टिसे अपेक्षित अंश सबसे ग्रहण करना ही वेदान्तका तात्पर्य है । सांख्यकी तत्त्वविवेचन शैली नितान्त मनोरम है, अतः सभी दार्शनिकोंने इतने अंशको उपादेय माना है ।

इसी प्रकार अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतमें भी पर्याप्त खण्डन-मण्डन उपलब्ध होता है । जिस प्रकार बौद्धमतका खण्डन कर स्वामी शङ्कराचार्यने स्वमतकी स्थापना की । शङ्कर मतके विरोधी भी आचार्य शङ्करके बौद्धमत-खण्डनका आदर करते हैं ।

उसी प्रकार समस्त वैष्णव दार्शनिकोंने अद्वैतमतके खण्डनमें श्रीरामानुजाचार्यका आभार स्वीकार किया है । भक्तिके विरोधी होनेके कारण अद्वैतमतका खण्डन सभी वैष्णव दार्शनिकोंने समान रूपसे किया है ।

पूर्वोक्त महापुरुषोंमें ऐसे एक भी नहीं हैं जिनको भ्रान्त कहा जा सकता है । अतः श्रुति भगवतीने जिनको जिस प्रकार अर्थ प्रदान किया, उसी प्रकार अपने-अपने विचार सबने व्यक्त किये । आचार्य पुष्पदन्तने कहा है—

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥'

अर्थात् जिस प्रकार सीधे-टेढ़े मार्गसे बहनेवाली नदियोंका आश्रय अन्तमें समुद्र ही होता है उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचिकी विचित्रतासे सरल कुटिल मार्गानुयायी मानवोंके लिये अन्तमें आप (परमात्मा) ही आश्रय हैं ।

अविद्याकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति ही मानवमात्रका मुख्य लक्ष्य है । अपने-अपने अधिकारके अनुसार किसी एक मार्गको अपना कर मानवको अपने कल्याणके साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये ।

श्रीमद्भागवत एकादशमें स्पष्टरूपसे भगवान्ने त्रिविध अधिकारियोंके लिये क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगका अवलम्बन बतलाया है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु । तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २० । ६—८)

भगवान्ने उद्धवसे कहा—मैंने ही वेदोंमें मानवोंका कल्याण करनेके लिये अधिकारि-भेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है । वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति । कल्याणके लिये और कोई उपाय कहीं नहीं है ।

जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञान-योगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों एवं फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे सकाम मनुष्य कर्मयोगके अधिकारी हैं।

जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके पुण्योदयसे सौभाग्यवश मेरी लीला-कथामें एवं नवधा आदिमें उनकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है।

उसे भक्तियोगके द्वारा ही परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार अधिकारीके भेदसे साधनामें भेद प्रतीत होता है, किंतु साध्य परमानन्दमें भेद नहीं है।

सत्, चित्, आनन्दके भेदसे एक ही ब्रह्म तीन भागोंमें विभक्त है। सत् अंशका प्राकट्य कर्मसे, चित् अंशका प्राकट्य ज्ञानसे एवं आनन्द-अंशका प्राकट्य भक्तिसे होता है। अतः शास्त्रोंमें भी त्रिविध साधनोंका विभाग सुतरां सङ्गत है। इसमें भी किसी महानुभावने केवल सत्-अंशका आस्वादन किया, किसीने चित्-अंशका एवं किसीने केवल आनन्द अंशका ही आस्वादन किया है। किसीने तीनों अंशोंका आस्वादन किया। इसलिये इन तीनों अंशोंमें किसीको न्यून नहीं कहा जा सकता है।

भागवतके सिद्धान्तानुसार एक ही भगवद्भजनसे कर्म, ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति कही गयी है—

जिस प्रकार भोजन करनेवालोंको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने परमप्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी प्राप्ति एक साथ ही होती जाती है। श्रीमद्भागवत ११। २। ४२। इस विवेचनसे भी परस्पर साधनोंमें समन्वय सिद्ध होता है।

इसी समन्वयकी भावनासे कविकुल-कैरवकलापकलाधर पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी महाराजने अपने श्रीरामचरितमानसमें स्थल-स्थलपर सभीका समन्वय किया है।

'ब्रह्म निरूपण धर्म बिधि बरनहिं तत्व बिभाग। कहहिं भगति भगवन्तकै संयुत ज्ञान बिराग॥'

'संयम नियम फूल-फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥'

आदि पंक्तियाँ समन्वयसूचक हैं।

श्रीसीतारामचरणानुरागी महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजीने मुझसे आग्रह किया कि 'अद्वैतसे लेकर समस्त वैष्णव दर्शनोंपर एक विशद विवेचन हमें चाहिये। इसके लिये सम्प्रदायके शीर्षस्थ विद्वानोंके पास हम गये किंतु यह कार्य नहीं हो सका। आप इस कार्यका सम्पादन कर दें तो हम मानस-पीयूषमें उस लेखको प्रकाशित करें।' इत्यादि। सर्वदर्शनसंग्रह तथा भारतीय दर्शनमें इसका संग्रह समीचीन है किंतु साधारणके लिये वह कठिन है। पूर्वोक्त ग्रन्थोंकी अपेक्षा इस लेखमें वर्ण्यविषय कहीं-कहीं विशद एवं नवीन भी है।

महात्माजीका आग्रह मैंने स्वीकार किया तथा यथामति उपर्युक्त सभी मतोंपर यत्किञ्चित्-विवेचन किया। यद्यपि यह निबन्ध सम्प्रदाय-सिद्धान्तोंकी विपुलताकी दृष्टिसे अत्यन्त अल्प है। फिर भी सभी सिद्धान्तोंका संकेत पाठकोंको मिलेगा।

यद्यपि इस अल्प संग्रहसे विद्वानोंकी जिज्ञासा नहीं शमन होगी, किंतु साधारण जिज्ञासुओंके लिये यह अवश्य उपादेय होगा।

श्रीसीतारामजीकी अहैतुकी अनुकम्पासे जो भी कुछ हो सका है पाठकोंके समक्ष है। समयाभावके कारण सभी सिद्धान्तोंका विस्तृत विवेचन मैं नहीं कर सका। यदि प्रभु चाहेंगे तो कभी विस्तृत विवेचन भी जिज्ञासुओंकी सेवामें अर्पित किया जायगा।

—०—

बालकाण्ड खण्ड ३ के प्रकरणोंकी सूची

श्रीसीतारामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये

खण्ड ३ में आये हुए ग्रन्थोंके नाम

(प्रायः औरोंके नाम पूर्व आ गये हैं)

अभिनय शाकुन्तल्य
अनेकार्थ
अत्रि-स्मृति
आह्निक-सूत्र
उत्तर रामचरित (नाटक)
कुवलयानन्द
गर्गसंहिता
गर्भोपनिषद्दीपिका
गूढार्थप्रकाश
गोभिल-सूत्र
जिज्ञासा-पञ्चक
ज्योतिःप्रकाश
तत्त्वबोध
धर्मनौका
धर्मसिन्धु
नामकरणपद्धति
नारदपञ्चरात्र
निर्णयसिन्धु
पाण्डवगीता
पारस्करगृह्य-सूत्र
पिण्डसिद्धि
पुरोहितदर्पण
प्रसन्नराघव
बृहज्ज्योतिःसार
भोजप्रबध
मार्कण्डेयपुराण
माघ
मानस तत्त्वप्रकाश
माघवीय तथा वैष्णवधर्मसंहिता
मायादर्श रा०
मानस हंस
मुहूर्त सिंधु
मुहूर्तचिन्तामणि
मेदिनीकेश
मेरुतन्त्र
मंगलकोश
रत्नमाला (श्रीपति)
श्रीरामरंग
श्रीरामरत्नाकर रामायण
श्रीरामपटल
श्रीरामरसायन
श्रीरामार्चनचन्द्रिका
श्रीजानकीरहस्य
श्रौतपदार्थ निर्वचन ग्रन्थ
वायुनन्दनमिश्रकृत विवाहपद्धति
बृहज्ज्योतिःसार
बृहद्विष्णुपुराणान्तर्गत मिथिलामाहात्म्य
शङ्खस्मृति
शकुन्तला नाटक
शुक्ल यजुः शाकीय कर्मकाण्ड-प्रदीप (निर्णयसागर)
श्रुतबोध
संस्कार-कौस्तुभ
संस्कारभास्कर
साकेत-रहस्य
सुभाषित रत्नभाण्डागार
सूरभ्रमरगीतसार
स्कन्दपुराण

संकेताक्षरोंकी तालिका

संकेताक्षर	विवरण
अ०	अयोध्याकाण्ड, अध्याय
अ० २०५, २ । २०५	अयोध्याकाण्डका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
अ० दी० च०	अभिप्रायदीपक चक्षु
अ० रा०	अध्यात्म रामायण
अमर०	अमरकोश
आ० रा०	आनन्द रामायण
आ०	अरण्यकाण्ड
आ० २, १ । २	अरण्यकाण्डका दूसरा दोहा या उसकी चौ०
उ०	उत्तरकाण्ड; उत्तर खण्ड (पुराणोंका); उत्तरार्ध; उपनिषद्;
उ० ११५; ७ । ११५	उत्तरकाण्डका दोहा ११५ या उसकी चौ०
क०	कवितावली
क० ७	कवितावलीका सातवाँ (उत्तर) काण्ड
कठ०	कठोपनिषद्
करु० श्रीकरुणासिंधुजी	श्री १०८ रामचरणदासजीकी 'आनन्द लहरी' टीका
कल्याण	गीताप्रेसकी मासिक पत्रिका
का०, १७०४	काशिराजके यहाँकी प्रति
काष्ठजिह्वा स्वामी	रामायणपरिचर्याकार श्रीदेवतीर्थ स्वामी
कि० १० । ४ । १०	किष्किन्धाकाण्ड दोहा १० या उसकी चौ०
को० रा०	कोदोरामजीकी गुटका
खर्रा	पं० रामकुमारजीके प्रथमावस्थाकी लिखी टिप्पणी
गी०	गीतावली
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गौड़जी	प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ (स्वर्गीय)
चौ०	चौपाई (अर्धाली)
छ०	लाला छक्कनलालकी पोथी
छाँ० ३ । ११ । ७	छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३ खंड ११ मंत्र ७
टिप्पणी	श्रीपं० रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण जो स्वर्गीय पुरुषोत्तमदत्तजीसे प्राप्त हुए थे।
तैत्ति० (तै०) २ । ४	तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनुवाक ४
दीनजी	लाला भगवानदीनजी (स्वर्गीय)
दो०	दोहावली; दोहा;
नं० प०, श्रीनंगे परमहंसजी	बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी, बाँध गुफा, प्रयाग ।
ना० प्र०	नागरीप्रचारिणी सभाका मूल पाठ
नोट	इसमें जहाँ किसीका नाम कोष्ठकमें नहीं है वह लेख प्रायः सम्पादकीय है
प० प० प्र०	श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी
पं०, पंजाबीजी	श्रीसंतसिंह पंजाबीजीके 'भाव प्रकाश' टीकाके भाव ।
प० पु०	पद्म पुराण
पाँ०, पाण्डेजी	मुं० रोशनलालकी टीका जिसमें पं० श्रीरामबख्श पाण्डेजीके भाव हैं ।
पू०	पूर्वार्ध; पूर्व
प्र० रा०	प्रसन्न राघव नाटक
प्र० सं०	मानस-पीयूषका प्रथम संस्करण (१९२३–१९३४)
बं० पा०	श्रीवन्दनपाठकजीके हस्तलिखित टिप्पण
बा० ३; १ । ३	बालकाण्ड दोहा ३ या उसकी चौपाई ।
वि०, विनय	विनयपत्रिकाका पद
बृह० आ०, बृह०, बृ०	बृहदारण्यक
भक्तमाल	श्रीनाभास्वामी रचित भक्तमाल
भ० गु० द०	भगवद्गुणदर्पण (बैजनाथजीकी टीकासे)
भा० ९ । ९०	श्रीमद्भागवतस्कन्ध ९ अध्याय १०
भा० दा०	श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित पोथी
भक्तिरसबोधिनी	भक्तमालकी टीका श्रीप्रियादासजीकृत
मं०	मंगलाचरण
मं० श्लो०	मंगलाचरण श्लोक
मनु०	मनुस्मृति
मयंक, मा० म०	मानस-मयंककी टीका
मा० सं०	मानस-पीयूषका सम्पादक

संकेताक्षर	विवरण
मा० हं०	श्रीयादवशंकरजी रिटायर्ड सबजजकृत तुलसी-रहस्य 'मानसहंस'
मुण्डक १ । २ । १२	मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुण्डक द्वितीय खण्ड, द्वादशमन्त्र
यजु० ३१।१९।१	यजुर्वेद संहिता अध्याय ३१ कण्डिका १९ मन्त्र १
(पं०) रा० गु० द्वि०	पं० रामगुलाम द्विवेदीका गुटका (१९४५ ई० का छपा)
रा० ता०	श्रीरामतापनीयोपनिषद्
पं० रा० व० श० पं०	श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकी-घाट, श्रीअयोध्याजी)
रा० प्र०	रामायणपरिचर्यापरिशिष्टप्रकाश
श्रीरूपकलाजी	वैष्णवरत्न अखिल भारतीय श्रीहरिनाम-यशसंकीर्तनसम्मेलनके संचालक, भक्त-माल तथा भक्तिरसबोधिनी टीकाके प्रसिद्ध टीकाकार अनन्त श्रीसीतारामशरण भग-वान् प्रसादजी।
लं० १०३।७।१०२	लंकाकाण्ड दोहा १०३ या उसकी चौपाई
वाल्मी०	वाल्मीकीय रामायण
वि० टी०	श्रीविनायकरावकृत विनायकी टीका
वि० त्रि०	पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी
वि० पु० ६ । ५	विष्णुपुराण अंश ६ अध्याय ५
वि० सा० राम०	विश्व-साहित्यमें रामचरितमानस
वीर, वीरकवि	पं० महावीरप्रसादमालवीयकी टीका
वे० भू०	वेदान्तभूषण पं० श्रीरामकुमारदास
वै०	श्रीवैजनाथदासकृत 'मानस-भूषण' तिलक
श० सा०	नागरी प्रचारिणी सभाद्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्दोंका कोश प्रथम संस्करण
शीला०, शिला०	बाबा हरिदासजीकी टीका 'शीलावृत्त'
श्लो०	श्लोक
श्वे०, श्वे० श्व०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सं०	संहिता, संवत्, संस्कृत
स०	सर्ग
सत्यो०	सत्योपाख्यान
सि० ति०	'सिद्धान्ततिलक' नामकी टीका जिसे पं० श्रीकान्तशरणसे लिखवाकर श्रीरामलोचन-शरणजीने पुस्तकभण्डार लहरियासराय व पटनासे प्रकाशित किया, जिसका छपना तथा प्रकाशन जुलाई १९४७ से तथा पटना हाईकोर्टके ११ मई १९५१ के एवं डिस्ट्रिक्ट जज फैजाबादके फैसलेसे जुर्म करार दिया गया है।
सुं० १०।५।१०	सुन्दरकाण्ड दोहा १० या उसकी चौपाई
हनु०, हनु० ना०	श्रीहनुमन्नाटक
१६६१, १७०४, १७२१, १७६२	इन संवतोंकी हस्तलिखित प्रतियोंका पाठ
[ ] ( )	*कोष्ठकान्तर्गत लेख प्रायः संपादकीय हैं* जहाँ किसीका नाम नहीं है।

स्मरण रहे कि—(१) बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तर काण्डोंके लिये क्रमसे १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

(२) किसी भी काण्डकी टीकामें जब उसी काण्डका उद्धरण उदाहरणमें दिया गया है तो प्रायः उस काण्डका सांकेतिक चिह्न (बा०, अ०, आ० आदि वा १, २, ३ आदि) न देकर हमने केवल दोहे चौपाईकी संख्या-मात्र दे दी है। जैसे, उत्तरकाण्डमें ११० । ५ का तात्पर्य है उत्तरकाण्डके दोहा ११० की चौपाई ५। बालकाण्डमें ३३ । २ = बालकाण्डके दोहा ३३ की चौपाई २। इत्यादि।

(३) प्रत्येक पृष्ठके ऊपर दोहा और उसकी चौपाइयों-का नम्बर दिया गया है। जिससे पाठकको देखते ही विदित हो जाय कि उस पृष्ठमें उन चौपाइयोंकी व्याख्या है।

बालकाण्ड खण्ड ३ के कुछ शब्दों और कामके विषयोंकी अनुक्रमणिका

परिशिष्ट सूची

श्रीगुरवे नमः

'मानस' के कुछ टीकाकारोंकी टीकाओंके काल आदिका संक्षिप्त परिचय

टीकाका नाम	टीकाकार	प्रकाशनकाल व लेखनकाल	प्रकाशक व प्रेस
मानस सुबोधिनी	श्रीकिशोरीदत्तजी	ये ग्रन्थ प्रायः १८७५ संवत्के पूर्व लिखे गये थे पर अप्राप्य हो गये। जो कोई खर्रा मिला था वह 'मा० पीयूष' में उद्धृत कर दिया गया था।	
मानस कल्लोलिनी	योगीन्द्र अल्पदत्तजी		
मानसरस विहारिणी	परमहंस रामप्रसाददासजी		
मानस दीपिका	श्रीरघुनाथदास वैष्णव सिंधी	सं० १९०९ (सन् १८५३)	राजाबाजार, काशी।
मानस भूषण (बासठ चौपाइयोंके पाँच-पाँच अर्थ)	महन्त राधेरामजी, काशी	सं० १९१९	गोपीनाथ बुक्सेलर, कचौड़ी गली, बनारस
मानसहंस भूषण (सारे ग्रन्थमें इन्होंने काट-छाँटकर प्रत्येक दोहेमें आठ ही आठ चौपाइयाँ रक्खी हैं)	पं० शुकदेवलाल	सन् १८६७ १८८८ ई० जुलाई चौथी बार	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
मानसभाव प्रदीपिका	पं० रामबख्श पांडे	सं० १९३५ (प्रकाशक मुं० रोशनलाल	मुं० रोशनलालके नूरुल अबसार प्रेस, इलाहाबाद
मानस परिचारिका	बाबा जानकीदासजी	सं० १९४०, सं० १९३२	नवल किशोर प्रेस
आनन्द लहरी	महन्त श्रीरामचरणदास करुणासिंधुजी	सन् १८८४ प्रथम बार, सं० १८७८ (लेखनकाल)	नवल किशोर प्रेस
मानस भूषण	श्रीबैजनाथजी	सन् १८९० ई०	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
संजीवनी टीका	पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र	सं० १९४६	खेमराज श्रीकृष्ण-दास श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई
रामायण परिचर्या	श्रीदेवतीर्थ स्वामी काष्ठजिह्वाजी,	सन् १८९८	खड्गविलास प्रेस,
परिशिष्ट प्रकाश	राजा श्रीईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह तथा श्रीसीतारामीय हरिहर प्रसादजी	सं० १९५५	बाँकीपुर, पटना
मानस भाव प्रकाश	श्रीसंतसिंहजी पंजाबी	सन् १९०१। चैत्र कृष्ण ५ सं० १८८८ में पूर्ति	खड्गविलास प्रेस, पटना
मानसमयङ्क, मयूख (श्रीइन्द्रदेव नारायण सिंहकी टीकासहित) १९६८ दोहे	पं० शिवलाल पाठक	सन् १९०४। सं० १८७५, टीका सन् १९०१	खड्गविलास प्रेस, पटना

'पीयूष-धारा'	पं० रामेश्वर भट्ट		निर्णयसागर, बम्बई
विनायकी टीका	श्रीविनायकराव पेंशनर ट्रेनिङ्ग इन्सटीट्युशन नार्मल-स्कूल, जबलपुर	सं० १९७१ से १९७८ तक	Union Press, Hitkari Press, लहरी प्रेस, जबलपुरमें छपी
ना० प्र० सभाकी टीका	बा० श्यामसुन्दरदास	सन् १९१६ (सं० १९७३)	
शीलावृत्त	बाबा हरिदासजी	प्र० सं० सं० १९७४ के पूर्व द्वि० सं० सन् १९३५ में	दूसरा सं० गौरीशंकर साहने शुक्ला प्रिं० प्रे० लखनऊमें छपाया
मानसतत्त्वभास्कर किष्किन्धाकाण्ड	स्वर्गीय पं० रामकुमारजी		
मानसतत्त्व सुधार्णवीया व्याख्यासहित मानस तत्त्वभास्कर सुन्दरकाण्ड	परमहंस कल्याणराम रामानुजदास, पं० जनार्दनजी व्यास, महात्मा रामसेवकदासजी	सं० १९७५	एक्सप्रेस प्रेस, बाँकीपुर, पटना
दीनहितकारिणी टीका अरण्य,किष्किन्धा, सुन्दर काण्डोंकी	मानस-प्रचारक बाबा रामप्रसाद शरण 'दीन'	सं० १९७५	भारतभूषण प्रेस, लखनऊ
	पं० महावीर प्रसाद मालवीय वीरकवि	सं० १९७९	बेलवीडियर प्रेस, प्रयाग
अयोध्याकाण्डकी टीका	प्रो० लाला भगवान दीनजी	प्र०सं०सं० १९८५के पूर्व	साहित्य सेवक कार्यालय, काशी, प्रकाशक। श्रीसीताराम प्रेस, काशीमें छपा।
उपमा, समता, अलंकारकी टीका	श्रीअवधविहारीदास (नागा परमहंस) जी, बाँधगुफा, प्रयाग	सं० १९८९	
मानसांक	श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	सन् १९३९	
मानसमार्तण्ड (बालकाण्डके प्रथम ४३ दोहोंपर)	श्रीजानकीशरण नेहलताजी	सन् १९३९ के लगभग	
अभिप्राय दीपकचक्षु (यत्र-तत्र चौपाइयोंकी व्याख्या)	श्रीजानकीशरण नेहलताजी	सं० २००३	सुलेमानी प्रेस, काशी। प्रकाशक स्वयं टीकाकार
मानसरहस्य	श्रीजयरामदास 'दीन'	सं० १९९९	गीताप्रेस, गोरखपुर
सिद्धान्ततिलक	पं० श्रीकान्तशरण, अयोध्या		पुस्तक-भण्डार लहरिया सराय व पटना
विजया टीका	मानस राजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी, काशी	सं० २०११, सन् १९५५	

रामजी पालनेमें
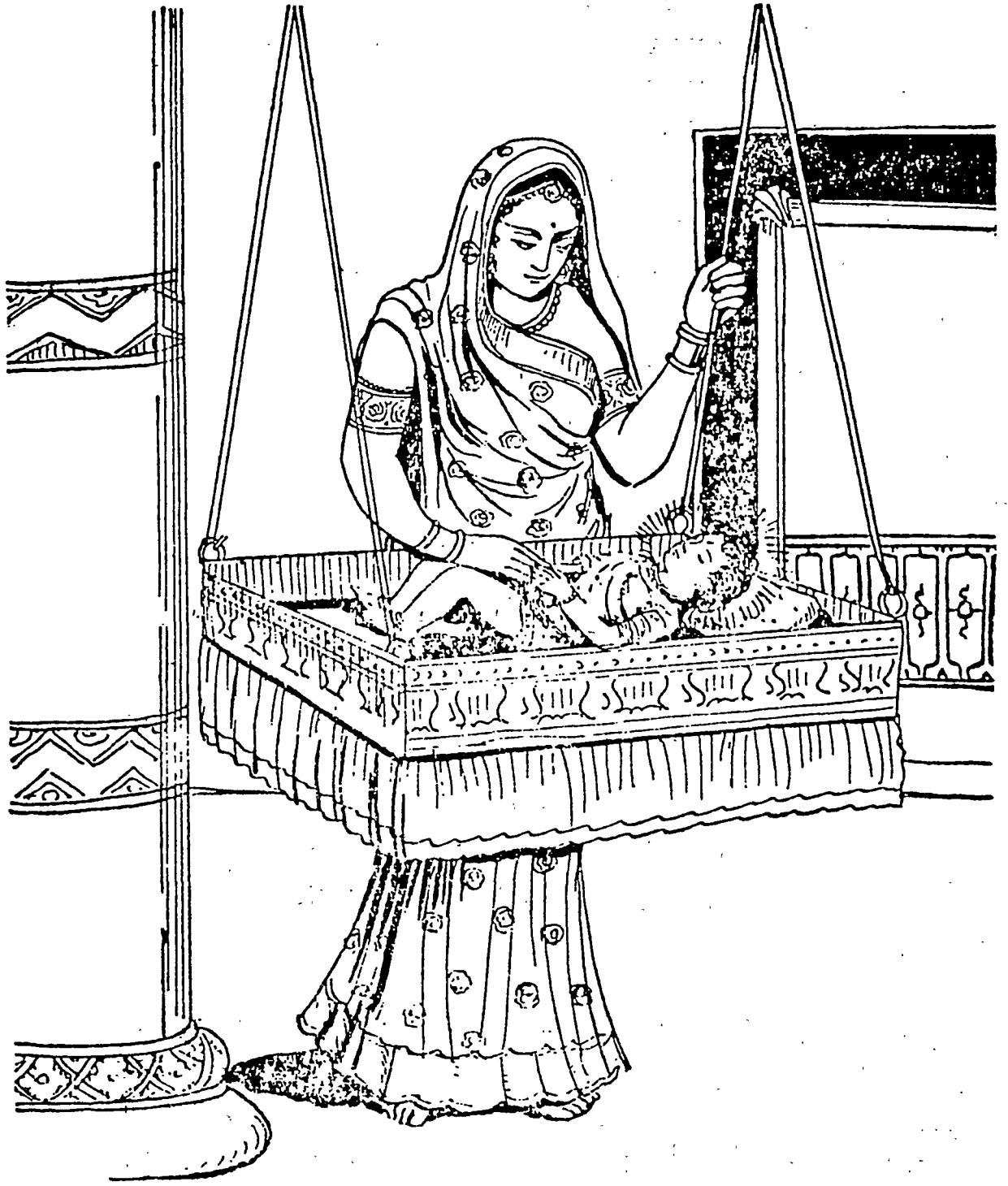
एक बार जननीं अन्हवाए । करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए ॥

❀ श्रीः ❀

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये
गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय श्रीसीतारामपद-
प्रेमपराभक्तिप्रदाय शरणागतवत्सलाय सर्वविघ्नविनाशकाय श्रीहनुमते ।
जगद्गुर्वानन्तश्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः ।
ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै ।

श्रीगुरुचरन सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि ।
बरनउँ रघुबर बिमल जस जो दायक फल चारि ॥

श्रीरामचरितमानस

प्रथम सोपान (बालकाण्ड खण्ड ३)

मानस-पीयूष

श्रीरामावतार और बालचरित-प्रकरण

अवध पुरी रघुकुलमनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ ॥ ७ ॥
धर्मधुरंधर गुननिधि ग्यानी । हृदय भगति मति सारँगपानी ॥ ८ ॥

दो०—कौसल्यादि नारि प्रिय* सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत ॥ १८८ ॥

अर्थ—श्रीअवधपुरीके राजा जो रघुकुलमें शिरोमणि (सिरमौर, भूषणरूप, सर्वश्रेष्ठ) और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, उनका श्रीदशरथजी नाम है ॥ ७ ॥ वे धर्मधुरंधर (धर्मरूपी भारके धारण करनेवाले), दिव्यगुणोंके निधान (समुद्र, खजाना वा भण्डार) और ज्ञानी थे । उनके हृदयमें शार्ङ्गपाणि (हाथमें शार्ङ्ग धनुष-बाण धारण करनेवाले) श्रीरामजीकी भक्ति थी और उन्हीं (शार्ङ्गपाणि) में उनकी बुद्धि लगी रहती थी अर्थात् उनको दृढ़ निश्चय था कि शार्ङ्गपाणि ही ब्रह्म हैं ॥ ८ ॥ श्रीकौसल्याजी आदि सब प्रिय स्त्रियोंके आचरण पवित्र थे । वे पतिकी आज्ञाकारिणी थीं और (पतिमें) उनका प्रेम दृढ़ था । वे भगवान्‌के चरणकमलोंमें विशेष नम्रतापूर्वक दृढ़ प्रेम रखती थीं ॥ १८८ ॥

टिप्पणी—१ 'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ···' इति । (क) आकाशवाणीद्वारा श्रीदशरथमहाराजका जन्म और विवाह वर्णन किया; यथा—'ते दसरथ कौसल्या रूपा । कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा ॥ १८७ । ४ ।' अब राजाकी बड़ाई कहते हैं कि अवधपुरीके राजा हैं, अर्थात् जो सब पुरियोंमें श्रेष्ठ है वह श्रीअवधपुरी जिनकी राजधानी है, यथा 'अयोध्यापुरी मस्तके' राजघरानोंमें सबसे श्रेष्ठ रघुकुल है, उसके मणि हैं । ('रघुकुलमनि' शब्द देकर वाल्मी० १, ६ और ७ में जो कुछ लिखा है वह सब सूचित कर दिया । अर्थात् राजा वेदज्ञ, तेजस्वी, प्रजाके प्रिय, महान् वीर, जितेन्द्रिय, राजर्षि, महर्षियोंके समान तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध, ऐश्वर्यमें इन्द्र और कुबेरके समान, लोकके रक्षक, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, चरित्रवान्, धर्मधुरंधर, मनुके समान पुरीके रक्षक, पापहीन, अधर्मका नाश करनेवाले, उदार दाता, ब्रह्मण्य, शत्रुहीन, महान् प्रतापी और पराक्रमी थे । इन्द्र भी उनकी सहायता लिया करता था और उनको अपने साथ सिंहासनपर बिठाया करता था । इत्यादि) । (मणिके

* पाठान्तर—सब प्रिय ।

चार गुण होते हैं—सुजाति, शुचि, अमोल और सब भाँति सुन्दर। ये चारों गुण यहाँ दिखाये गये हैं। 'रघुकुल' से सुजाति कहा, 'धर्मधुरंधर' से शुचि कहा, 'गुननिधि' से अमोल कहा और 'ज्ञानी' तथा 'हृदय भगति मति सारँग पानी' से सब भाँति सुन्दर कहा। वि० त्रि०) (ख) **'बेद बिदित'** इति। वेद महावाक्य है, ब्रह्मवाणी है, अतः सबसे श्रेष्ठ है। वही वेद महाराज दशरथका यश गाता है। [अथर्ववेदकी रामतापिनी उपनिषद्में तथा वाल्मीकीय रामायणमें जो वेदतुल्य माना जाता है, इनका नाम आया है, यथा—**'चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः॥** १। १ (रा० पू०)। ऋग्वेदमें भी नाम आया है; यथा—**'चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणीं नयन्ति।** २। १। ११।' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'षडङ्गयुत चारों वेद मूर्तिमान् होनेसे दशरथ नाम विदित है'। अतः **'बेद बिदित'** कहा। 'दशरथ' नाम इससे रक्खा गया कि ये ऐसे प्रतापी होंगे कि इनका रथ दशों दिशाओंमें बेरोक जा सकेगा और ऐसा हुआ भी। देवासुर-संग्राममें तथा शनैश्चरसे युद्ध करनेका विचार करके ये ऊर्ध्व दिशामें रथसमेत गये ही थे।] (ग) **'दसरथ नाऊ'** कथनका भाव कि अवधपुरीमें सब राजा रघुकुलमणि हुए हैं, अतः संदेह-निवृत्त्यर्थ इनका नाम कहा।

वि० त्रि०—**'बेद बिदित'** से अधिकारी कहा। वेदमें व्यक्तिका नाम नहीं होता, पदका नाम होता है। जो पदके योग्य होगा वह दशरथ होगा। जय-विजय, रुद्रगण और जलन्धरवाले कल्पोंमें भगवान् कश्यपने दशरथ पदको अलंकृत किया था और भानुप्रताप-रावणवाले कल्पमें साक्षात् ब्रह्मने अवतार धारण किया था, उसमें भगवान् स्वायम्भू मनु दशरथ हुए। इसलिये कहते हैं कि दशरथ नाम वेद विदित है।

टिप्पणी—२ **'धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी।'''** इति। (क) यहाँ दिखाते हैं कि राजा कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे युक्त हैं। धर्मधुरन्धर अर्थात् धर्मकी धुरी वा धर्मरूपी भारके धारण करनेवाले हैं, इससे 'कर्म' कहा। 'ज्ञानी' शब्दसे ज्ञानयुक्त कहा और **'हृदय भगति'''** से भक्ति वा उपासना कही। (ख) धर्मसे गुण आये। यम, नियम, आसन, प्राणायामादि गुणोंसे ज्ञान हुआ, और ज्ञानसे भक्ति प्राप्त हुई; यथा—**'संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥'** अतः 'धर्मधुरंधर', 'गुननिधि', 'ज्ञानी' आदि क्रमसे कहे। (ग) **'हृदय भगति मति सारँगपानी'**—हृदयमें शार्ङ्गपाणिकी भक्ति है और मतिमें शार्ङ्गपाणि है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि जो मनुरूपमें धनुर्धारी श्रीरामजीका दर्शन हुआ है वही रूप हृदयमें बस रहा है और उन्हींकी भक्ति हृदयमें बस रही है। बिना भक्तिके श्रीरामजी हृदयमें नहीं बसते; इसीसे दोनोंका वास कहा। (घ) **'मति सारँगपानी'** अर्थात् जिनका निश्चय है कि ब्रह्म शार्ङ्गपाणि है—**'निश्चयात्मिका बुद्धिः'**। बुद्धिका काम निश्चय करनेका है। [मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि **'हृदय भगति मति सारँगपानी'** का भाव यह है कि धनुर्धारी श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति बनी रही, क्योंकि इन्हींके लिये मनुशरीरमें तप किया था और इन्हींने प्रकट होकर वर दिया था। (पां०)]

टिप्पणी—३ **'कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत'''** इति। (क) श्रीकौसल्याजी, श्रीकैकेयीजी और श्रीसुमित्राजी ही 'प्रिय नारि' हैं। यथा—**'तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं॥** १९०। १' जिन रानियोंसे अवतार होनेको है उन्हींका वर्णन यहाँ करते हैं। श्रीकौसल्याजी सबसे बड़ी हैं और प्रथम विवाहिता रानी हैं; इससे उनको प्रथम कहा। (ख) **'सब आचरन पुनीत'** अर्थात् गुरु-गौ-विप्र-साधु-सुर-सेवी हैं। यथा—**'तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥** २९४। ४।' 'पुनीत' कहनेका भाव कि वैदिक धर्माचरण उनको प्रिय है, उसीमें लगी रहती हैं। [पुनः, ये तीनों रानियाँ श्री, ह्री और कीर्तिके समान हैं, यथा—**'अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च।** वाल्मी० १। १५। २०।'—ऐसा देवताओंका मत है, अतः 'पुनीत' कहा। कौसल्याजी भानुमंतजीकी कन्या हैं। जो दक्षिण कोसलके राजा थे। सुमित्राजी मगधदेशके राजाकी कन्या हैं। सत्यो० पू० अ० २८, ४७ में उनको 'मागधी' कहा है, यथा—**'नित्यं नित्यं तु चोत्थाय प्रातःकाले तु मागधी। लक्ष्मणं रामसांनिध्यं शत्रुघ्नं भरतस्य तु॥'** आनन्दरामा० सार काण्ड सर्ग १ में भी कहा है—**'विवाहेनाकरोत् पत्नीं सुमित्रां मगधेशजाम्'**। और कैकेयीजी केकयवंशके राजा अश्वपतिकी कन्या हैं। इनको 'केकयराज' और 'केकय' भी कहा गया है। यथा—**'सत्कृत्य केकयो राजा भरताय ददौ धनम्।** वाल्मी० २। ७०। १९।' **'ददावश्वपतिः शीघ्रं भरतायानुयायिनः॥ २२॥'** 'पुत्रेष्टि-यज्ञमें राजाके तीनों श्वशुरोंको निमन्त्रण भेजा गया है। वहाँ सबके नाम वसिष्ठजीने कहे हैं। यथा—**'तथा कोसलराजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम्। मगधाधिपतिं शूरं**

सर्वशास्त्रविशारदम्। १। १३। २६।', 'तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम्।''''२४।' बंगलाके कृत्तिवास रामायणकी सुमित्राजी सिंहलराज्यके राजा सुमित्रकी कन्या हैं—'सिंहलराज्येर ये सुमित्र महीपति। सुमित्रा तनया तार अति रूपवति॥'] रानियोंके सब आचरण पुनीत हैं यह कहकर आगे आचरण दिखाते हैं। (ग) 'पति अनुकूल प्रेम दृढ़''''' इति। पतिके अनुकूल होना तथा विनीत होना पतिव्रताका धर्म है; यथा—'पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता॥ ७। २४।' माता-पिताकी शुद्धता कहकर तब आगे अवतारका होना वर्णन करते हैं—पिता धर्मधुरंधर हैं, माता पति-अनुकूल हैं। स्त्रीका यही धर्म है; यथा—'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥ ३। ५। १०।' पिताके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है और माताओंका हरिपदकमलमें दृढ़ प्रेम है; यथा—'हृदय भगति मति''''' और 'प्रेम दृढ़ हरिपद कमल''''' । पिता गुणनिधि हैं और माताएँ विनीत हैं, पिता ज्ञानी हैं और माताएँ सब आचरन पुनीत हैं। कौसल्यादि माताएँ अपने पतिको प्रिय हैं और स्वयं पतिके अनुकूल हैं—इस प्रकार राजा और रानियोंका अन्योन्य प्रेम कहा। ('प्रिय' से दक्षिण नायक कहा। 'प्रेम दृढ़ हरिपद कमल' से पतिके कल्याणके लिये ईश्वराराधन कहा। वि० त्रि०)।

नोट—१ 'हरिपद' अर्थात् जिनके लिये मनुशतरूपाजीने तपस्या की थी; यथा—'पुनि हरि हेतु करन तप लागे। १४४। २।' अर्थात् द्विभुजधनुर्धारी श्रीरामजी और जो उनके सामने प्रकट हुए थे, यथा—'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। १४८। ५।', 'रामाख्यमीशं हरिम्'—(पां०); उनके चरणोंमें। (ख) हमने 'प्रेम दृढ़' को देहलीदीपक माना है। पं० रामकुमारजी आदिने इसे 'हरिपद' के साथ अन्वित किया है।

२ 'श्रीमद्गोस्वामीजीके मतानुसार महाराज श्रीदशरथजीके ७०० रानियाँ थीं। 'दसरथ राउ सहित सब रानी' में देखिये। रानियाँ चार प्रकारकी होती हैं—महिषी, जिससे प्रथम विवाह वा सिंदूरदान हुआ हो। परिव्राता, जिससे पीछे विवाह हुआ। बावाता जिसको बेव्याहे अङ्गीकार कर लिया हो। और पालाकली, जो दासीभावसे रहती हो। यज्ञमें महिषी और परिव्राताहीको अधिकार है। वाल्मीकीयमें ३५० और महारामायणमें ३६० रानियाँ राजा दशरथजीकी कही गयी हैं। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि राजाकी महिषी और परिव्राता दो ही प्रकारकी रानियाँ थीं।' (प्र० सं०)

☞ पद्मपुराणमें स्पष्ट उल्लेख तीन ही विवाहोंका है। १९० (१-४) नोट ३ देखिये। श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'कहीं और संकेत है मगर मानसमें इतनी रानियोंका संकेत नहीं है। याद रहे कि गोस्वामीजीने मानसमें कथाका बहुत ही संशोधितरूप दिया है।' प्रथम संस्करणमें गीतावलीके 'पालागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासुसतसाता। देहिं असीस ते बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता॥ १। १०८। २।' के तथा वाल्मीकीयके आधारपर वह नोट लिखा गया था; परंतु दोहा १६। ६ के तीसरे संस्करणके मा० पी० तिलकके लिखते समय वह विचार शिथिल जान पड़ा। परंतु टीकाकारोंने मा० पी० के उस नोटको अपनी टीकामें सहर्ष उतार दिया है, इसलिये वह भी दे दिया गया। मानसकाव्य आदर्शकाव्य रचा गया, इसी कारण इसमें आदर्श चरितोंका वर्णन है। इस ग्रन्थभरमें केवल तीन ही रानियोंके नाम और उन्हींकी चर्चा की गयी है। तीन स्त्रियोंका होना भी आदर्श नहीं है तथापि इनके बिना कथानक पूरा नहीं हो सकता था। इसपर प० प० प्र० का नोट १९३ (१) में देखिये।

एक बार भूपति मन माहीं। भै गलानि मोरे सुत नाहीं॥ १॥
गुरगृह गए तुरत महिपाला। चरन लागि करि बिनय बिसाला॥ २॥
निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ। कहि बसिष्ठ बहुबिधि समुझायउ॥ ३॥

शब्दार्थ—गलानि (ग्लानि)=खेद। मनकी एक वृत्ति जिसमें किसी अपने कार्यकी बुराई, दोष वा कमी आदिको देखकर मनमें अनुत्साह, अरुचि और खिन्नता उत्पन्न होती है। चरण लगना=चरणोंका स्पर्श करना, चरण छूना, चरणोंमें पड़कर प्रणाम करना।

अर्थ—एक बार राजाके मनमें ग्लानि हुई कि मेरे पुत्र नहीं है॥ १॥ राजा तुरत गुरुजीके घर गये और चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करके बहुत बड़ी विनय करके अपना सारा दुःख-सुख गुरुको सुनाया॥ श्रीवसिष्ठजीने बहुत प्रकारसे कहकर समझाया॥ २-३॥

टिप्पणी—१ 'एक बार भूपति मन माहीं।''''' इति। (क) 'एक बार' अर्थात् जब भगवान्‌के अवतारका समय

आया तब ईश्वरकी प्रेरणासे राजाके मनमें ग्लानि हुई। तीन पन बीत चुके, अब राजाका चौथा पन है। यथा—'**चौथे पन पाएउँ सुत चारी।** २०८। २।' पुत्रबिना वंशका नाश है जिससे आगे राज्यका अन्त है, पितृकी तृप्ति बिना पुत्रके नहीं होती और न गृहस्थाश्रमकी शोभा ही हो, इसीसे ग्लानि हुई। [पुत्र बिना नरकसे उद्धार कैसे होगा ? यथा—'**पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः**' इति मनुः। हमारी आयु बीती जा रही है, वनमें जाकर भजन करनेका समय हो गया; राज्य किसको दें ? ऐसे ही चल दें तो प्रजा दुखी होगी जिससे हमें नरकमें पड़ना होगा, यथा—'**जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी** ॥ अ० ७१।' इससे कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करें।] '**मोरे सुत नाहीं**' का भाव कि औरोंके हैं, हम ही एक निपुत्री हैं [वा, और सब सुख हैं पर पुत्र नहीं है। पुत्रके बिना सब धन, ऐश्वर्य, राज्य आदि सुख व्यर्थ हैं। यथा—'पुत्रहीनस्य मे राज्यं सर्वं दुःखाय कल्पते। अ० रा० १। ३। ३।' अर्थात् बिना पुत्रके यह सम्पूर्ण राज्य मुझे दुःखरूप हो रहा है] (ख) '**मैं गलानि**''''' ' । यथा—ब्रह्मांडे—'**नरस्य पुत्रहीनस्य नास्ति वै जन्मतः फलम्। अपुत्रस्य गृहं शून्यं हृदयं दुःखितं सदा ॥ १ ॥ पितृदेवमनुष्याणां नानृणत्वं सुतं विना। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सुतमुत्पादयेन्नरः ॥ २ ॥**'—(खर्रा)। अर्थात् पुत्रहीन मनुष्यकी जन्मका फल कुछ नहीं है। अपुत्रका घर शून्य लगता है जिससे उसका हृदय सदा दुखी रहता है। पितर, देव और ऋषियोंके ऋणसे पुत्रके बिना उद्धार नहीं होता। इसलिये मनुष्यको पुत्रोत्पत्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

२ '**गुरगृह गये तुरत महिपाला।**''''' इति। (क) गुरुके घर जानेका भाव कि यदि राजकाजका कुछ काम होता तो अन्य मन्त्रियोंको सुनाते पर इस कार्यके करनेका सामर्थ्य वसिष्ठजीको ही है, अतएव उन्हींके पास गये कि जो उपाय वे बतावें वह हम करें। (वाल्मीकीय आदिमें गुरु आदिको अपने यहाँ बुलाना लिखा है)। (ख) '**गए तुरत**' तुरत जानेके कुछ कारण ये हैं कि मेरा भुलक्कड़ स्वभाव है, कहीं भूल न जाऊँ; यथा—'**बिसरि गयो मोहि भोर सुभाऊ।** २। २८।' पुनः, इस समय गुरुसे अपना दुःख कहनेके लिये अच्छा अवसर था, गुरुजी एकान्तमें होंगे, उन्हें अवकाश होगा। अथवा, इस समय ऐसी तीव्र ग्लानि हुई कि बिना गये और कहे रहा न गया, अतः 'तुरत गये'। [(ग) '**महिपाला**' का भाव कि इस कार्यसे पृथ्वीका पालन होगा, प्रजाको सुख होगा। पुनः भाव कि चक्रवर्ती राजा होकर स्वयं वसिष्ठजीके पास गये क्योंकि 'महिपाल' हैं, इन्हें पृथ्वीके पालनकी अत्यन्त चिन्ता है। ये राजा हैं और वसिष्ठजी गुरु हैं; गुरुके सम्बन्धसे उनके यहाँ गये, मन्त्रीके सम्बन्धसे नहीं। अतः राजाके जानेमें 'गुरगृह' शब्द दिये। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'महिपाला' का भाव यह है कि पृथ्वीका पालन तो वेदरीतिसे करते ही हैं, कुछ पृथ्वी धन-धामकी कमी नहीं है, इनके लिये नहीं गये, चित्तमें पुत्रकी चिन्ता है इसलिये गये।]

२ '**चरन लागि करि बिनय बिसाला**' इति। (क) चरणोंमें पड़कर तब विनय करे यह गुरुस्तुति करनेकी विधि है; यथा '**सीस नवहिं सुरगुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी।** २। १२९।' विशेष विनय करनी चाहिये। अतः यहाँ भी '**बिसाल बिनय**' पद दिया। ['**बिनय बिसाला**'—जैसे कि 'जब-जब रघुवंशियोंको संकट पड़े आपहीने मिटाकर सुख दिया, आप समर्थ हैं, हमारा भी मनोरथ पूर्ण कर सकते हैं। यथा '**भानुबंस भए भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे ॥ जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता ॥ दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना ॥ सो गोसाइँ बिधि गति जेहिं छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी ॥** २। २५५ ॥'—यह श्रीभरतजीने श्रीवसिष्ठजीसे कहा है। वैसा ही यहाँ समझिये। विशेष २। २५५। ५। ८ में देखिये। (ख) मिलानका श्लोक, यथा '**अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च। अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम्** ॥ वाल्मी० १। १३। २।' अर्थात् वसिष्ठजीको उन्होंने प्रणाम किया और उनकी पूजा की और पुत्रप्राप्तिहेतु विनययुक्त वचन बोले।] वसिष्ठजीसे राजाने कहा कि आप मेरे परम स्नेही हैं, मित्र हैं तथा गुरु हैं, अतः आप यज्ञका भार लें और मेरा दुःख दूर करें। '**भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान्।**''''वाल्मी० १। १३। ४।'

३ '**निज दुख सुख सब गुरहि सुनाएउ।**''''' इति। (क) इस समय पुत्र न होनेका दुःख बहुत व्याप रहा है; इसीसे प्रथम दुःख सुनाये, पीछे सुख। सुख यह सुनाया कि धन-धान्य राज्य-प्रजा आदि सभी सुख आपहीकी कृपासे हुए और ऐसे हुए कि इन्द्रादि भी तरसते हैं, उनको भी वैसा ऐश्वर्य प्राप्त नहीं है। '**दुख सुनाया**' अर्थात् पुत्र न होनेकी ग्लानि

सब कहकर अन्तमें यह कहा कि यह दुःख आप ही दूर करें, यथा—'दलि दुख सजै सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना।' [दुःख-सुख साथ बोलनेका मुहावरा भी है। पुनः, राजाको इस समय पुत्रहीन होनेसे सब सुख भी दुःखरूप हो रहे हैं, यह सारा राज्य, कोश, ऐश्वर्य व्यर्थ है, जब इसका भोगनेवाला अपना कोई पुत्र नहीं है, इत्यादि। इसीसे दुःख शब्द प्रथम कहा गया।] दुःख प्रकट कहा है कि पितर हमारे हाथका जल नहीं लेते, कहते हैं कि 'तुम्हारा अर्पित जल हमको तप्त लगता है, तुम कुलमें ऐसे अभागी हुए कि कुलहीको निर्मूल कर डाला, तुम निपुत्र हुए, आगे हमें जल कौन देगा?' ऐसी करुणामयी वाणी कहकर पितृगण हमारी निन्दा कर रहे हैं जिससे हमको बड़ा दुःख है। [वाल्मीकीयमें उन्होंने यह कहा है कि मैं पुत्रके लिये बहुत दुखी हूँ, मुझे सुख नहीं है, मैं पुत्रके लिये अश्वमेधयज्ञ करना चाहता हूँ। यथा—'धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्। मम तातप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम्।'''वाल्मी० १। १२। ८।'] (ख) 'कहि बसिष्ट बहु बिधि समुझाएउ' इति। 'बिनय बिसाला' के सम्बन्धसे 'बहुबिधि समुझाएउ' कहा। समझाया कि हम उपाय करते हैं, धीरज धरो, इत्यादि, जैसा आगे कहते हैं।

नोट—१ बाबा हरीदासजी 'बहुबिधि' समझाना यह कहते हैं—'एक यह कि वेद-पुराणमें जो यह लिखा है और नारद-सनकादिक इत्यादि ऋषि कहते हैं कि दशरथके चार भक्तभयहारी पुत्र होंगे सो वृथा नहीं हो सकता। दूसरी विधि यह कि भूतकालमें कश्यप-अदिति दशरथ-कौसल्या हुए और वर्तमानमें आप राजा मनुके अवतार हुए और कौसल्या शतरूपा हैं सो आपके यहाँ भगवान्‌ने अंशोंसहित अवतार लेनेको कहा है। तीसरी विधि यह कि युगके अन्तमें चौथे चरणमें अवतार होता है, अब चौथा चरण है; अतः अब देर नहीं है। चौथी विधि कि रावणने भारी तप करके वर पाया है कि दशरथके वीर्यसे पुत्र न हो इससे परम विरक्त शृङ्गी ऋषिद्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराइये, उसके पिण्डाद्वारा पुत्र होंगे।

२ पंजाबीजीके मतानुसार समझाया कि 'जिस पापसे अबतक संतान न हुई वह अब निवृत्त हो गया।'

३ विजयदोहावलीमें कहा है कि 'पूरब ही बर जो मिलेउ रहेउ अंधरिषि साप। तुलसी गुरुहि सुनाइयो देवनको संताप॥' इसके अनुसार समझाना यह है कि जो तुमको अन्धे ऋषिका शाप था वह तुम वरदान समझो, पुत्रके शोकमें मरण होनेका शाप है; यथा—'पुत्रशोकेन मरणं प्राप्स्यसे वचनान्मम। अ० रा० २। ७। ४५।' पुनश्च यथा—'पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्। एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि॥ वाल्मी० २। ६४। ५४।'—अर्थात् पुत्रके मरणसे जैसा मुझे इस समय शोक हो रहा है वैसा ही पुत्रका शोक तुमको होगा। तो पुत्र बिना हुए कब शाप सच्चा हो सकता है और शाप व्यर्थ होनेका नहीं; अतएव पुत्र अवश्य ही होगा, चिन्ता न करो। इत्यादि। [यह शाप श्रवण मुनिके पिता यज्ञदत्तने दिया था ऐसा व्रजरत्नभट्टाचार्यने हनुमन्नाटकमें 'श्रवणमुनिपितुः। ३, १।' की टीकामें लिखा है]

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी॥ ४॥
शृङ्गी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्र काम सुभ जग्य करावा॥ ५॥

शब्दार्थ—पुत्र काम यज्ञ=पुत्रकी कामनासे जो यज्ञ हो; पुत्रकामेष्टियज्ञ; पुत्रेष्टि यज्ञ। पुत्रकाम=पुत्रकी कामनाका संकल्प करके।

अर्थ—धैर्य धरो, तुम्हारे चार पुत्र होंगे जो त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध, भक्तोंके भय हरनेवाले होंगे॥ ४॥ (फिर) वसिष्ठजीने शृङ्गी ऋषिको बुलवाया और पुत्रकी शुभकामनासे शुभ पुत्रकामेष्टि-यज्ञ कराया॥ ५॥

नोट—'धरहु धीर' अर्थात् पुत्रकी कामनासे व्यग्र न हो, मनको स्थिर रक्खो। 'होइहहिं सुत चारी' अर्थात् तुम्हें एकहीके लाले पड़े हैं और होंगे तुम्हारे चार।

टिप्पणी—१ 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।''' ' इति। (क) 'सुत चारी' का भाव कि आकाशवाणीने चार पुत्रोंका होना कहा है, यथा—'तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई॥ १८७। ५।' वसिष्ठजी ब्रह्माजीके पुत्र हैं, ब्रह्मर्षि हैं, मुनि हैं, उनकी यह बात जानी हुई है, इसीसे उन्होंने राजासे ऐसा कहा कि त्रिभुवनविदित चार सुत होंगे। ☞ राजाको यह सब बात समझा दी, इसीसे श्रीरामजन्मके समय राजाको ऐश्वर्यका ज्ञान बना रहा, यथा—'जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरें गृह आवा प्रभु सोई॥ १९३। ५।' (ख) 'त्रिभुवन बिदित' इति। भक्तोंका भय हरण करनेसे अर्थात् राक्षसोंका वध करनेसे पातालमें (दैत्य-राक्षसों इत्यादिको) विदित हुए, देवताओंकी रक्षा होनेसे

बंदीखानेसे लोकपालोंकी रिहाई होनेसे स्वर्गलोकोंमें विदित हुए और साधु, ब्राह्मण आदिकी रक्षा होनेसे मर्त्यलोकमें विदित हुए। (ग) 'भगतभयहारी' कहा क्योंकि आकाशवाणी है कि 'निर्भय होहु देव समुदाई॥ १८७। ७।' और भगवान्‌का यह विरद है, यथा—'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।' [पुनः, धनुर्भंगसे भी तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हुए; क्योंकि धनुषयज्ञमें तीनों लोकोंके निवासी आये थे, यथा—'देव दनुज धरि मनुजसरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥' 'महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥' पर यहाँ भक्तभयहरण मुख्य है, आकाशवाणीमें 'निर्भय होहु' यह घोषणा है; अतः उसीको कहा। जनक महाराजकी चिन्ता मिटी, वे प्रधान द्वादश भक्तोंमेंसे हैं। पुनः, 'भगतभयहारी' कहकर इनके (दशरथजीके) यहाँ भगवान्‌का आविर्भाव कहा। यहाँतक एक प्रकारसे समझाना हुआ, दूसरी 'विधि' आगे कहते हैं कि हम तुरंत शृङ्गी ऋषिको बुलाते हैं इत्यादि। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'सुत चारी त्रिभुवनविदित…' से मनुशरीरमें जो वरदान प्रभुने दिया था उसका उनको स्मरण कराया—'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥' भाव यह कि तीन अंशोंके सहित अंशी प्रभु अवतार लेकर चरित करेंगे जिनसे त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध होंगे, भक्तोंको सुख होगा, अतएव 'भक्तभयहारी कहा।' 'त्रिभुवन विदित' से यह भी जनाया कि चारों पुत्र महान् पराक्रमी, तेजस्वी, प्रतापी, अतुलित बली, शीलवान्, ज्ञानी, सत्यप्रतिज्ञ आदि गुणविशिष्ट होंगे। उनसे वंशकी प्रतिष्ठा होगी, इत्यादि। —'पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः। वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वभूतेषु विश्रुताः॥ वाल्मी० १। ११। १०।']

२ 'शृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा…।' इति। (क) वसिष्ठजीने बुलाया, इसमें भाव यह है कि शृङ्गीजी राजाके बुलानेसे न आते, वसिष्ठजीके संकोचसे वे आये। प्रथम 'बहु बिधि समुझायउ' लिखकर फिर शृङ्गीजीका बुलाना कहकर जनाया कि वसिष्ठजीने पुत्र होनेका उपाय भी बताया (प्रथम पुत्र होना कहा, फिर उपाय बताया) और शृङ्गीजी क्योंकर आवेंगे यह भी बताया। उस उपायसे बुलाया।

नोट—१ ऋष्यशृङ्ग क्योंकर लाये गये इसमें कल्पभेदसे कथामें भेद है॥ वाल्मी० १। ११ में सुमन्त्रजीने सनत्कुमारजीकी कही हुई कथा कहकर राजासे स्वयं जाकर लानेको कहा और राजाने श्रीवसिष्ठजीकी अनुमति लेकर ऐसा ही किया। यथा—'सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः।' अर्थात् अपनी रानियों और मन्त्रियोंको साथ लिये वहाँ गये जहाँ ऋषि थे। वैजनाथजी वीरसिंह बन्धुवर्गको भेजकर बुलाना लिखते हैं। यहाँ गोस्वामीजीने वसिष्ठजीका बुलवाना लिखकर सबके मतकी रक्षा कर दी। उन्होंने जिसे उचित समझा उसे भेजा। अ० रा० में वसिष्ठजीने राजासे स्पष्ट कहा है कि 'शान्ताभर्तारमानीय ऋष्यशृङ्गं तपोधनम्। अस्माभिः सहितः पुत्रकामेष्टिं शीघ्रमाचर॥ १। ३। ५।' अर्थात् शान्ताके पति तपोधन ऋष्यशृङ्गको लाकर हम लोगोंको साथ लेकर पुत्रेष्टियज्ञका अनुष्ठान करो।

अङ्गनरेश रोमपादजी राजा दशरथके मित्र थे, यथा—'अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति। वाल्मी० १। ११। ३।' इससे राजा वहाँ स्वयं गये। रोमपादजीने मित्रभावसे उनका आदर-सत्कार किया और ऋष्यशृङ्गसे उन्होंने दशरथजीके साथ अपनी मित्रता होनेका वृत्तान्त कहा। कुछ दिन ठहरनेके पश्चात् दशरथजीने अपना अभीष्ट कहा। अङ्गनरेशने ऋषिसे शान्तासहित उनके साथ जानेको कहा। वे राजी हो गये और उनके साथ श्रीअयोध्याजी आये। (सर्ग ११)। कोई कहते हैं कि रोमपादका नाम दशरथ भी था, इस भेदको न जानकर लोग उन्हें अवधनरेशकी कन्या कह देते हैं। परंतु स्कन्दपुराण नागरखण्डमें लिखा है कि मझली रानी श्रीसुमित्राजीसे एक सुन्दरी कन्या भी उत्पन्न हुई जिसे श्रीदशरथजी महाराजने पुत्रहीन राजा लोमपादको दत्तक पुत्रीके रूपमें दे दिया।

नोट—२ ☞ कथाका संशोधित रूप फिर देखिये। वाल्मीकीयमें दो यज्ञोंका होना लिखा है परंतु पुत्रेष्टियज्ञ ही संगत है। (दोहा १८८ भी देखिये)। (लमगोड़ाजी)।

वाल्मीकीयके श्रीदशरथजी महाराजने अश्वमेधयज्ञका निश्चय किया और पुरोहितोंसे उसीके करानेके लिये कहा भी। प्रथम अश्वमेध यज्ञ हुआ, फिर ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित् आदि नामके यज्ञ कराये गये। तत्पश्चात् राजाने ऋष्यशृङ्गसे पुत्रेष्टियज्ञ करानेको कहा, यथा—'ततोऽब्रवीदृष्यशृङ्गं राजा दशरथस्तदा॥ ५८॥ कुलस्य वर्धनं त्वं तु कर्तुमर्हसि सुव्रत॥ वाल्मी० १। १४।' मानसकी कथा अ० रा० से मिलती है। उसमें भी केवल पुत्रेष्टियज्ञ ही कराया गया है।

३ 'सुभ जग्य करावा' इति। ऋष्यशृङ्गसे पुत्रेष्टि-यज्ञ कराया गया; क्योंकि ये उस यज्ञमें परम प्रवीण हैं इसीसे वसिष्ठादि प्रमुख ब्राह्मणोंने उन्हींको इस यज्ञमें अपना नेता बनाया; यथा—'ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः। ऋष्यशृङ्गं

पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा । वाल्मी० १ । १३ । ४० ।'—जैसे बड़े-बड़े कालीन ऋषियोंके होते हुए भी श्रीशुकदेवजीने ही राजा परीक्षित्‌को श्रीमद्भागवत सुनाया । अथवा, यही भगवद्विधान था । सनत्कुमारजीने हजारों वर्ष पहले ही यह विधान ऋषियोंसे कह रक्खा था । वसिष्ठजी जानते थे और सुमन्त्रजी भी कि यह यज्ञ उन्हींके द्वारा होना है अतः उनसे यज्ञ कराया गया।

४ शृङ्गी ऋषि (ऋष्यशृङ्ग) इति । वाल्मीकीयमें श्रीसुमन्त्रजीने राजा दशरथजीसे कहा है कि श्रीसनत्कुमारजीने आपके संतानके सम्बन्धमें ऋषियोंसे जो कहा था वह मैं आपको सुनाता हूँ । उसमें उन्होंने ऋष्यशृङ्गकी पूरी कथा कही है। ऋष्यशृङ्ग कश्यपपुत्र* विभाण्डक ऋषिके पुत्र हैं । ये सदा वनमें अपने पिताके पास रहनेके कारण किसी स्त्री वा पुरुषको नहीं जानते थे । इस तरह ब्रह्मचर्यसे रहते अग्नि और पिताकी सेवा करते बहुत काल बीत गया । उसी समय अङ्गदेशमें रोमपाद नामक प्रतापी राजा हुआ । उसके राज्यमें बड़ा भयानक दुर्भिक्ष पड़ा, जिससे प्रजा भयभीत हो गयी । राजाने सुविज्ञ वेदज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने कर्मोंका (जिनके कारण वर्षा नहीं हुई) प्रायश्चित्त पूछा । उन ब्राह्मणोंने राजाको यह उपाय बताया कि आप जैसे बने वैसे विभाण्डक मुनिके पुत्रको यहाँ ले आइये और उनका सत्कार करके यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ताका विवाह कर दीजिये । राजा चिन्तित हुए कि कैसे ऋषिको यहाँ लावें । बहुत सोच-विचारकर उन्होंने अपने पुरोहित और मन्त्रियोंसे कहा कि आप लोग जाकर ले आवें, परंतु उन लोगोंने निवेदन किया कि हमलोग वहाँ जानेमें विभाण्डक ऋषिके शापसे डरते हैं, हम लोग वहाँ स्वयं न जाकर किसी अन्य उपायसे ऋष्यशृङ्गको यहाँ ले आयेंगे जिससे हमको दोष न लगे। (सर्ग ९) । मन्त्री और पुरोहितने निर्विघ्न कृतकार्य होनेका यह उपाय बताया कि रूपवती वेश्याएँ सत्कारपूर्वक भेजी जायँ, वे तरह-तरहके प्रलोभन दिखाकर ले आवेंगी । राजाने वैसा ही उपाय करनेको कहा । वेश्याएँ भेजी गयीं । आश्रमके निकट पहुँचकर वे धीर ऋषिपुत्रके दर्शनका प्रयत्न करने लगीं । ऋष्यशृङ्गने आजतक स्त्री, पुरुष, नगर वा राज्यके अन्य जीवोंको कभी नहीं देखा था । दैवयोगसे वे एक दिन उस जगह पहुँचे जहाँ वेश्याएँ टिकी थीं । तब मधुर स्वरसे गाती हुई वे सब उनके पास जाकर बोलीं कि आप कौन हैं और किसलिये इस निर्जन वनमें अकेले फिरते हैं । उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया और उनको अपने आश्रमपर लिवा ले जाकर अर्घ्य-पाद्य, फल-मूलसे उनका सत्कार किया । वेश्याओंने उनको तरह-तरहकी मिठाइयाँ यह कहकर खिलायीं कि ये हमारे यहाँके फल हैं इनको चखिये । फिर उनका आलिङ्गन कर वे विभाण्डकजीके भयसे झूठ-मूठ व्रतका बहाना कर वहाँसे चली आयीं । वेश्याओंके लौट जानेसे ऋष्यशृङ्गजी दुःखके मारे उदास हो गये । दूसरे दिन वे फिर वहीं पहुँचे जहाँ पहले दिन मनको मोहनेवाली उन वेश्याओंसे भेंट हुई थी । इनको देखकर वेश्याएँ प्रसन्न हुईं और इनसे बोलीं कि आइये, आप हमारा भी आश्रम देखिये, यहाँकी अपेक्षा वहाँ इससे भी उत्तम फल मिलेंगे और अधिक उत्तम सत्कार होगा । ये वचन सुनकर वे साथ चलनेको राजी हो गये और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आयीं । उन महात्माके राज्यमें आते ही सहसा राज्यमें जलकी पुष्कल वर्षा हो गयी, जिससे प्रजा सुखी हुई । वर्षा होनेसे राजा जान गये कि मुनि आ गये । राजाने उनके पास जाकर दण्ड-प्रणाम कर उनका अर्घ्य-पाद्यादि-द्वारा यथाविधि पूजन किया और उनसे वर माँगा जिससे वे एवं उनके पिता (राजापर छलसे लाये जानेके कारण) कोप न करें । फिर राजा उन्हें अपने रनवासमें ले गये और शान्ताका विवाह उनके साथ कर दिया । (सर्ग १०) । ऋष्यशृङ्ग वहीं शान्ताके साथ रहने लगे ।

ऋष्यशृङ्गके जन्मकी कथा इस प्रकार है कि एक बार विभाण्डक मुनि एक कुण्डमें समाधि लगाये बैठे थे, उसी समय उर्वशी अप्सरा उधर आ पड़ी । उसे देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया, जिसे जलके साथ एक मृगी पी गयी । उस मृगीसे इनका जन्म हुआ । माताके समान इनके सिरपर भी सींग निकल आनेकी सम्भावनासे मुनिने इनका नाम ऋष्यशृङ्ग रक्खा ।

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे । प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥ ६ ॥
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा । सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—आहुति=होमद्रव्यकी वह सामग्री जो एक बार यज्ञकुण्डमें डाली जाय ।=हवनमें डालनेकी सामग्री । आहुति देना=मन्त्र पढ़कर देवताके लिये होमकी सामग्री अग्निकुण्डमें डालना । चरू (सं० चरु)=हव्यान्न, हविष्यान्न पायस, क्षीरान्न ।—'चरु भांडे च हव्यान्ने' इति विश्वप्रकाशः । (खर्रा) ।

अर्थ—मुनिने श्रद्धा और अत्यन्त अनुरागपूर्वक आहुतियाँ दीं । अग्निदेव हाथमें पायस लिये हुए प्रकट हुए ॥ ६ ॥ (और बोले) वसिष्ठजीने जो कुछ हृदयमें विचारा था, तुम्हारा वह सब कार्य सिद्ध हो गया ॥ ७ ॥

---

* द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीका पाठ 'कश्यपस्य तु पुत्रोऽस्ति विभाण्डक' है और चन्द्रशेखर शास्त्रीका पाठ 'काश्यपस्य''''' है।

टिप्पणी—१ (क) **'भगति सहित'** का भाव कि भगवान्‌के अवतारका हेतु भक्ति है, यथा—**'भगतहेतु भगवान प्रभु लीन्ह मनुज अवतार'**, **'सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद'**। भक्तिका अर्थ श्रद्धा, विश्वास और अति अनुराग है। प्रेमसे भगवान् प्रकट होते हैं। प्रेमसे आहुति दी, अतः अग्नि भगवान् प्रकट हो गये। आहुतियाँ अथर्ववेदके मन्त्रोंसे दी गयीं। यथा **'अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः। वाल्मी० १। १५। २।'** ऋष्यशृङ्गके ये वचन हैं और वसिष्ठजी भी अथर्वणी हैं। (ख) **'चरू कर लीन्हे'** से पाया गया कि अग्निदेव नराकार प्रकट हुए। पुत्रकी कामनासे यज्ञ किया गया, इसीसे हाथमें (रानियोंके खिलानेके लिये) खीर लेकर प्रकट हुए। [**'कर लीन्हे'**—वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह देवता दोनों हाथोंसे स्वर्णपात्रको पकड़े हुए था। यथा **'दिव्यपायससम्पूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम्। प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव ॥ १। १६। १५ ॥'**]

नोट—१ **'प्रगटे अगिनि…'** इति। वाल्मीकीय बालकाण्ड सर्ग १६ में यज्ञाग्निसे जो पुरुष निकला उसका वर्णन यों है—'बड़ा तेजस्वी, महाबली, पराक्रमी, लाल वस्त्र पहिने और लाल मुँहवाला था। सिंहके बालके समान दाढ़ी और सिरके केश थे। पर्वत-सदृश विशाल, सूर्यसम तेजवान्, जलती हुई अग्निके समान असह्य प्रकाशवाला हाथमें उत्तम स्वर्ण-पात्रमें दिव्य पायस लिये हुए।' गोस्वामीजी यहाँ साक्षात् अग्निदेवका प्रकट होना कहते हैं। करुणासिंधुजी और बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि 'परब्रह्मने अग्निद्वारा पायस भेजा, मानो यह राजा दशरथके यहाँ अपना प्रस्थान भेजा'। और वाल्मीकीयमें अग्निदेवने कहा है कि 'मैं प्रजापति ब्रह्माजीके यहाँसे आया हूँ। यह पायस देवताओंका बनाया हुआ है। इससे पुत्र होगा।' (प्र० सं०)। ☞ अ० रा० १। ३ में इस चौपाईसे मिलता हुआ श्लोक यह है—**'श्रद्धया हूयमानेऽग्नौ तप्तजम्बूनदप्रभः। पायसं स्वर्णपात्रस्थं गृहीत्वोवाच हव्यवाट् ॥ ७ ॥'** अर्थात् यज्ञानुष्ठानके समय अग्निमें श्रद्धापूर्वक आहुति देनेपर तप्तस्वर्णके समान दीप्तिमान् हव्यवाहन भगवान् अग्नि एक स्वर्णपात्रमें पायस लेकर प्रकट हुए और बोले। ऐसा ही मानसमें है।

२ यह यज्ञ श्रीसरयूजीके उत्तरतटपर हुआ था; यथा 'सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्। वाल्मी० १ १२। ४।' मनोरमा नदीके दक्षिणतटपर यह यज्ञशाला पड़ता है और श्रीसरयूजीके उसपार उत्तरमें है।

टिप्पणी—२ (क) **'जो बसिष्ठ कछु…'** का भाव कि वसिष्ठजीके हृदयका विचार राजा जानते हैं; क्योंकि वे राजासे सब कह चुके हैं; यथा **'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी॥'** इसीसे प्रकट न कहा। (ख) **'सकल काजु…'** इति। कार्य तो एक ही है—पुत्रकी प्राप्ति, यथा—'पुत्र काम सुभ जग्य करावा'; तब **'सकल काज' कैसे कहा**? उत्तर यह है कि 'सकल' का अर्थ यहाँ बहुत नहीं है किन्तु 'सम्पूर्ण' है, 'काज' एक ही है। यह सम्पूर्ण कार्य तुम्हारा सिद्ध हुआ अर्थात् उस कार्यमें न्यूनता न होगी, चार पुत्र होंगे। यदि 'सकल' का अर्थ 'बहुत' होता तो **'सकल काज भे सिद्ध तुम्हारे'** पाठ होता। [बाबा हरीदासजीका मत है कि 'काज तो एक रामजन्म है; सकलसे तात्पर्य यह कि 'जिस उत्तम पूजासे वसिष्ठजीने अनेक विधि गुणनिधान, ऐश्वर्यवान् पुत्र विचारे थे वह सकल काज सिद्ध हुआ।' वैजनाथजीका मत है कि 'अग्निदेवने वसिष्ठजीको सम्बोधन किया, उन्हींसे कहा कि आपने जो हृदयमें विचारा है वह सब कार्य सिद्ध हुआ और वसिष्ठहीको पायस दिया।' पर यह अर्थ संगत नहीं जान पड़ता। वाल्मीकीय आदिमें भी राजाहीको सम्बोधन करना लिखा है और यहाँ भी सीधा अर्थ यही होता है।]

नोट—२ यहाँ लोग शंका करते हैं कि 'यह यज्ञ सालभर हुआ। रावणके रहते हुए वह कैसे पूर्ण हुआ?' इसका समाधान यह है कि एक तो भगवान्‌की लीला अपरम्पार है। उनकी माया बड़ी प्रबल है। शिव-विरंचि आदि भी मोहित हो जाते हैं तब रावण कौन चीज है? **'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'** देखिये श्रीकृष्णजन्म-पर सब पहरेदार सो गये, बन्दीगृहके द्वार खुल गये, वसुदेवजी भगवान्‌को नन्दजीके यहाँ पहुँचा आये, इत्यादि-इत्यादि; और किसीको भी कुछ मर्म न मालूम हुआ। महाभारत-युद्धके समय द्रोण-भीष्मादिके सामने अर्जुनने रथसे उतरकर बाणसे जलकी धारा निकाल घोड़ोंको जल पिलाया, इत्यादि। द्रोणादि सब मायासे मोहित खड़े देखते रह गये। अर्जुनको उस समय न मार लिया, इत्यादि। दूसरे यह यज्ञ श्रीवसिष्ठजी और ऋष्यशृङ्ग आदि महर्षियोंसे सुरक्षित था। ब्रह्मा और शिवजी भी यज्ञमें आये थे और वसिष्ठजी ब्रह्माके पुत्र ही हैं। तब यहाँ रावण विघ्न कैसे कर सकता था? तीसरे, रावणको सूर्यवंशके राजाओंकी बराबर

परीक्षा मिलती गयी थी। रघुमहाराजसे ब्रह्माजीने उसकी मित्रता करा दी थी। राजा दिलीपने उसके देखते-देखते यज्ञमें बैठे हुए ही आचमनका जल पीछे फेंककर वनमें व्याघ्रसे गौकी रक्षा की, इत्यादि; जिसे जानकर वह भयभीत हो गया था। रावणने ब्रह्माजीसे यह जानकर कि कौसल्याके पुत्रद्वारा उसकी मृत्यु होगी उसने कौसल्याजीका हरणकर उन्हें एक मञ्जूषामें बन्दकर राघव मत्स्यको सौंप दिया था कि न विवाह होगा न पुत्र ही। दैवयोगसे दशरथ महाराज नावके टूटनेसे पतवारके सहारे बहते हुए समुद्रमें उसी जगह पहुँचे जहाँ वह मञ्जूषा थी। उसमें सुन्दर स्त्री देख वे भी उसीमें सो रहे। इधर रावण ब्रह्माजीसे डींग मारने लगा तब सनकादिने उसे ललकारा। ललकारे जानेपर वह उस मंजूषाको ले आया और खोला तो उसमें राजा दशरथको भी देख उसने उनको मार डालनेका विचार किया। ब्रह्माजीने डाँट दिया कि प्रह्लाद और हिरण्यकशिपुकी कथाको याद कर। यदि अभी मृत्यु चाहता है तो हाथ उठा; नहीं तो जाकर अभी कुछ दिन और सुख भोग ले; इसी डरसे वह विघ्न न कर सका।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि मानस और वाल्मीकीयमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि पुत्रेष्टि यज्ञ एक वर्षतक होता रहा। पुत्रकामेष्टि तीन प्रकारकी है—एक तो श्रौताग्निमान् यजमानकी, दूसरी गृह्याग्निमान् यजमानकी और तीसरी लौकिकाग्निसे निरग्नि यजमानके लिये। श्रीदशरथजी श्रौताग्निमान् यजमान थे। श्रौताग्निपर जो पुत्रकामयज्ञ किया जाता है, उसका यज्ञकार्य केवल दो दिनका है। इसके पूर्व ऋत्विज, यजमान और यजमान-पत्नीको १२ दिन पयोव्रत करना पड़ता है, गृह्याग्निसाध्य पुत्रकामेष्टिके पूर्व यजमान और उसकी पत्नीको १२ दिन पयोव्रत करना पड़ता है, किन्तु यज्ञकार्य केवल एक दिनका है। (श्रौतपदार्थ निर्वचन ग्रन्थ)। लौकिकाग्निसाध्य इष्टि अपत्यहीन यजमानके लिये नहीं है। यह उसके ही लिये है, जिसके कन्या ही होती हैं, पुत्र नहीं होता। यह एक दिनमें होता है। (धर्मसिंधु परिच्छेद ३)।—अतएव ऐसी शंकाके लिये स्थान ही नहीं है।

यदि एक वर्षतक होना मान भी लें, तो शंकाका समाधान शंकाके आधारवाले छन्द—'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा। १८३ छंद।' के रेखांकित शब्दोंसे ही हो जाता है। दशशीशके श्रवणतक यह बात नहीं जा पायी।

यह हवि बाँटि देहु नृप जाई। जथा जोग जेहि भाग बनाई॥ ८॥

शब्दार्थ—हवि=पायस। हविष्यान्न।

अर्थ—हे नृप जाकर इस पायसके यथायोग्य भाग बनाकर जिसको जैसा योग्य अर्थात् उचित हो उसको वैसा बाँट दीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '**बाँटि देहु नृप जाई**' से पाया जाता है कि रानियाँ यज्ञशालामें नहीं आयी थीं, आगे लिखते भी हैं कि '**तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं॥**' यज्ञशालामें न जानेका कारण यह है कि यज्ञ शृङ्गीऋषीजीने किया, यथा—'**शृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥ भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे।**', यदि राजा यज्ञ करते तो रानियाँ यज्ञमें अवश्य आतीं, राजाके समीप ही होतीं, उनका बुलाया जाना आगे न लिखा जाता। [वाल्मीकीयमें राजाका महलमें जाकर रानियोंको हविष्यान्न देना कहा है। यथा—'**सोऽन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत्। पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः॥ १। १६। २६।**' अर्थात् रनवासमें जाकर राजा महारानी कौसल्याजीसे बोले—'यह पायस लो। इससे तुमको पुत्रकी प्राप्ति होगी।—अतः '**जाई**' कहा।] (ख) जथा जोग जेहि=जिसे जैसा उचित हो। ☞ यहाँ अग्निदेवने यह नहीं बताया कि भाग कैसे बनाये जायँ, कारण कि वसिष्ठजी राजासे यह सब कह चुके हैं और राजा जानते हैं कि चार भाग होंगे, यथा—'**धरहु धीर होइहहिं सुत चारी**'। पूर्व जो कहा है कि '**कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायउ**' इसके '**बहु बिधि**' समझानेमें यह समझाना भी कह दिया गया कि हम शृङ्गीऋषिको बुलाकर यज्ञ करवाते हैं, अग्निदेव खीर लेकर प्रकट होंगे, आठ आनेमें (अर्थात् आधेमें) ज्येष्ठ पुत्र होगा, चार आनेमें (चतुर्थमें) मध्य पुत्र होगा और शेष चार आनेमें दो छोटे पुत्र होंगे। इसीसे राजाने हविष्यान्न पानेपर भाग करनेकी रीति गुरुसे न पूछी, अपने मनसे भाग कर दिये। अग्निके '**जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा**' इस कथनसे हविके विभागकी संख्या हो गयी। वसिष्ठजीका विचार ऊपर कह ही आये कि '**धरहु**…'।—(चरुके भागके सम्बन्धमें वसिष्ठजीका कथन वाल्मीकीय और अध्यात्ममें नहीं है)।

**दो०—तब अदृस्य भए पावक सकल सभहि समुझाइ ।
परमानंद मगन नृप हरष न हृदय समाइ ॥ १८९ ॥**

शब्दार्थ—अदृस्य (अदृश्य)=अन्तर्धान । आँखोंसे ओझल ।

अर्थ—तब अग्निदेव सब सभाको समझाकर अन्तर्धान हो गये । राजा परमानन्दमें मग्न हो गये, हृदयमें हर्ष (आनन्द) नहीं समाता ॥ १८९ ॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व अग्निका प्रकट होना कहा—'**प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे**', इसीसे उनका अन्तर्धान होना भी कहा । (ख) '**सकल सभहि समुझाइ**' इति । सम्पूर्ण सभाको समझानेका भाव कि वसिष्ठजीने राजाको एकान्तमें समझाया था,—'**धरहु धीर'''**' इत्यादि, इसीसे राजाको सम्बोधन करते हुए अग्निदेवने इतना ही कहा कि '**जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा । सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा ॥**' स्पष्ट न कहा क्योंकि राजा वसिष्ठजीके बतलानेसे जानते थे । यह बात सभावाले नहीं जानते थे, अतएव उनको समझाकर कहा कि त्रिभुवनमें विदित भक्तभयहारी ऐसे चार पुत्र राजाके होंगे । (ग) सभाको समझानेका भाव कि सभावालोंने यज्ञ देखा, साक्षात् अग्निभगवान्‌के दर्शन किये, इसीसे अग्निदेवने विचारा कि हमारा दर्शन अमोघ है, दर्शनका फल इनको भी प्राप्त होना चाहिये, भगवान्‌के आविर्भावका समाचार मिलनेसे ये भी सुखी होंगे, अतएव इनको समझाकर कहा जिससे सबको सुख हुआ ।

नोट—राजाको गुरुजी सब बता चुके थे इससे वे तो अग्नि-वाक्य समझ गये, परंतु सभावाले कुछ न समझ पाये, इससे चकित हो देख रहे थे । अतएव अग्निदेवने वही बात उनको समझाकर कह दी । बाबा हरिदासजीका मत है कि अग्निदेव राजासे कहकर अदृश्य हो गये तब राजाने उनके वचनोंका आशय सभाको समझाया और परमानन्दमें मग्न हो गये । वे लिखते हैं कि अग्निदेवने इससे समझाना न चाहा कि यदि ये जानेंगे कि अग्निदेवकी पूजासे रामजी पुत्र हो प्रकट होते हैं तो ये सब रामहेतु ही अग्निपूजा करने लग जायँगे ।

टिप्पणी—२ (क) '**अदृस्य भए**'का भाव कि वह पुरुष अग्निसे ही निकलकर कहीं गया नहीं क्योंकि वह तो स्वयं अग्नि ही है, अग्निमें रहा, लोगोंके आँखोंसे अदृश्य हो गया । यथा—'**संवर्तयित्वा तत्कर्म तत्रैवान्तरधीयत ।** वाल्मी० १ । १६ । २४ ।', '**इत्युक्त्वा पायसं दत्त्वा राज्ञे सोऽन्तर्दधेऽनलः** । अ० रा० १ । ३ । ९ ।' (ख) '**परमानंद मगन नृप**' से जनाया कि सभाके लोग समाचार पाकर आनन्दमें मग्न हो गये और राजा परमानन्दमें मग्न हो गये । अर्थात् आनन्द तो सभीको हुआ पर राजाको सबसे अधिक आनन्द (परमानन्द) हुआ, क्योंकि भगवान्‌का अवतार राजाके यहाँ ही होगा । दूसरे गुरु और अग्निदेव दोनोंके वचन एकसे निकले, यह भी हर्षका कारण है ।

श्रीलमगोड़ाजी—१ देवताओंका व्यक्तित्व तो हक्सले Huxley और सर ओलिवरलाज Sir Oliver Lodge जैसे वैज्ञानिकोंने भी सम्भव माना है । लाज महोदय तो उनका हमारा सहायक होना भी मानते हैं । स्वामी दर्शनानन्दजीने अपने वेदान्तभाष्यमें यह माना है कि व्यासजी देवताओंका व्यक्तित्व मानते हैं तो फिर देवताओंका मानना वेदविरुद्ध नहीं हो सकता, यह और बात है कि कोई ऋषि या मुनि न भी मानते रहे हों । श्रीजयदेवजीकी सामवेदसंहिताकी भूमिकामें यास्कमुनिका देवसम्बन्धी सिद्धान्त लिखते समय जहाँ यह लिखा है कि एक तो महान् आत्माके पृथक् नाम ही कर्मानुसार कहे गये हैं वहाँ यह भी लिखा है कि जहाँ पृथक्-पृथक् होनेसे देवता पृथक्-पृथक् हैं वहाँ जिस प्रकार कर्म करनेवाले एक ही कामको आपसमें बाँटकर कार्य करते हैं उसी प्रकार वे भी रहते हैं । वे एक दूसरेके उपकारक भी हो जाते हैं । इनकी व्यवस्था नरराष्ट्रके समान ही समझनी चाहिये ।' (पृष्ठ २४-२५) । स्वामी दयानन्दसरस्वतीने भी सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है कि मुक्त पुरुषका इच्छामात्र ही शरीर होता है और वह लोक-लोकान्तरमें विचरता है । इन्जील और कुरानमें तो दिव्ययोनिवालोंको ही देवदूत कहा है—लड़ाई केवल वाद-विवाद और शब्दोंकी रह जाती है, नहीं तो दिव्ययोनियोंका होना किसी-न-किसी रूपमें सब ही मानते हैं ।

☞ कलाकी दृष्टिसे यह याद रहे कि तुलसीदासजी कभी भी उस बातका विस्तृत वर्णन नहीं करते जो कलाके लिये अनावश्यक है । अन्य रामायणोंमें यज्ञका बड़ा विस्तृत वर्णन है ।

तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं ॥ १ ॥
[अर्द्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा ॥ २ ॥
कैकेयी कहँ नृप सो दयऊ। रह्यो सो उभय भाग पुनि भयऊ ॥ ३ ॥
कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि ॥ ४ ॥

☞ (क) [' से आगे आयी हुई ']' तक सं० १६६१ का नहीं है, वरंच नया पन्ना है जिसमें 'शिवलाल पाठकसे पाठ लिया गया' कहा जाता है।

अर्थ—उसी समय राजाने अपनी प्रिय स्त्रियोंको बुलाया। श्रीकौसल्या आदि रानियाँ वहाँ चली आयीं। १। राजाने पायसका आधाभाग कौसल्याजीको दिया (फिर) आधेके दो भाग किये। २। (और) वह (अर्थात् इसमेंसे एक भाग) कैकेयीजीको दिया (और) जो बच रहा उसके फिर दो भाग हुए। ३। श्रीकौसल्या और कैकेयीजीके हाथोंमें (एक-एक भाग) रखकर और मनको प्रसन्न करके (वे दोनों भाग) श्रीसुमित्राजीको दिये। ४।

टिप्पणी—१ (क) '**तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं** ।…' इति। अग्निदेवने राजासे कहा था कि जाकर यह हवि बाँट दो। यहाँ जाना न कहकर बुलाकर बाँटना कहा। इतनेहीसे जना दिया कि राजा मारे आनन्दके तुरत महलमें पहुँचे और अपनी प्रिय रानियोंको वहाँ बुला भेजा। (शीघ्रता दिखानेके लिये महलको जाना वा महलमें पहुँचना न कहा। प्रियनारीको बुलाना कहकर दोनों बातें जना दीं)। '**प्रिय नारि**' कहकर जनाया कि '**कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत**' जिनको पूर्व कह आये, उन्हींको बुलाया। आगे कौसल्या, कैकेयी और सुमित्राजीका आना दिखाकर जनाया कि ये ही '**प्रिय नारि**' हैं और इन्हींको राजाने बुलाया। जब ये तीनों आ गयीं तब खीरके भाग बनाये। ['**तहाँ चलि आईं**' से यह भी भाव निकलता है कि रानियाँ यज्ञशालामें ही थीं, पर राजाके पास न थीं। राजाने उन्हें अपने पास बुला लिया। (प्र० सं०)

नोट—१ वाल्मीकीयमें हविष्यान्नके बाँटमें भेद है। उसमें कौसल्याजीको आधा पायस देनेके पश्चात् शेष आधेके दो भाग किये गये जिसमेंसे एक भाग सुमित्राजीको दिया गया। तत्पश्चात् बचे हुए भागका आधा कैकेयीजीको दिया गया। अब जो पूरे हविका आठवाँ भाग बचा उसे कुछ सोचकर राजाने फिर सुमित्राजीको दिया। (वाल्मी० १। १६। २७-२९)।

अ० रा० में की बाँट मानससे किञ्चित् मिलती है। उसमें सुमित्राजीको दो भाग मिलनेका कारण कहा गया है। अ० रा० में वसिष्ठजी और ऋष्यशृङ्गजीकी आज्ञासे राजाने वह हवि श्रीकौसल्या और कैकेयीजीमें आधी-आधी बाँट दी। तदनन्तर सुमित्राजी भी चरुको लेनेकी इच्छासे वहाँ पहुँच गयीं। तब कौसल्याजीने प्रसन्नतापूर्वक अपनेमेंसे आधा उन्हें दे दिया। कैकेयीजीने भी प्रीतिपूर्वक अपनेमेंसे आधा उन्हें दिया। यथा—'**कौसल्यायै सकैकेय्यै अर्धमर्धं प्रयत्नतः । १० । ततः सुमित्रा संप्राप्ता जगृध्नुः पौत्रिकं चरुम् । कौसल्या तु स्वभागार्धं ददौ तस्यै मुदान्विता । कैकेयी च स्वभागार्धं ददौ प्रीतिसमन्विता ॥** १। ३। १२।' इस प्रकार वाल्मीकीयके मतसे कौसल्याजीको पूरे पायसके आठ भागोंमेंसे चार भाग, कैकेयीजीको एक और सुमित्राजीको तीन भाग मिले। और अ० रा० के मतसे पायसके चार भागमें एक-एक भाग कौसल्याजी और कैकेयीजीको मिला और दो भाग सुमित्राजीको मिले।

रघुवंशमें सुमित्राजीको कौसल्या-कैकेयीजीने अपना-अपना आधा भाग दिया है, यथा—'**ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः । चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥** सर्ग १०। ५६।' अर्थात् अपने पति सर्वज्ञ राजाके भावको जाननेवाली दोनों रानियोंने अपने चरुका आधा-आधा सुमित्राजीको दिया। (राजाने दोनोंको आधा-आधा दिया था। इन दोनोंने अपना आधा-आधा दे दिया। इस तरह कौसल्याजी और कैकेयीजीको चतुर्थ, चतुर्थ भाग मिला और सुमित्राजीको दो चतुर्थभाग मिले। इस प्रकार चारों भाई चतुर्थ-चतुर्थ अंशसे हुए। यही मत अ० रा० का है। पद्म-पुराणसे यह मत लिया गया जान पड़ता है)। नारसिंह पु० में लिखा है कि चरुको खाते समय कौसल्या-कैकेयीने अपने पिण्डोंसे थोड़ा-थोड़ा सुमित्राजीको दिया। यथा—'**ते पिण्डप्राशने काले सुमित्रायै महीपतेः । पिण्डाभ्यामल्पमल्पं तु स्वभगिन्यै प्रयच्छतः ॥**'

मानसका बाँट इन सबोंसे विलक्षण है। इसमें कौसल्याजीको आधा, कैकेयीजीको चतुर्थ और सुमित्राजीको दो बार आठवाँ, आठवाँ मिलनेसे चतुर्थ मिला। बड़ाई-छोटाईके अनुसार यह बाँट सर्वोत्तम है।—इसका रहस्य महानुभावोंने अपने-अपने मतानुसार लिखा है—

(क) वसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं। ब्रह्माजीने उनसे स्वयं भी कहा था कि '**परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा ॥ ७ । ४८ ।**' वे जानते हैं कि ब्रह्मका अवतार अंशोंसहित होगा। कौन अंश किस रानीके द्वारा प्रकट होगा और किस प्रकार हविष्यान्नके भाग बनाये और बाँटे जायँगे यह सब वे जानते हैं। '**अर्द्धभाग कौसल्यहि दीन्हा।**' इस कथनसे पाया जाता है कि गुरु वसिष्ठजीने इस प्रकार विभाग करना बताया था। इसीसे राजाने वैसा विभाग किया। यदि गुरुजीने न बताया होता तो राजा उनसे अवश्य पूछते कि '**जथा जोग जेहि भाग बनाई**' का क्या अभिप्राय है? किस प्रकार भाग किये जायँ? (करु०, पं० रामकुमारजी)

(ख) कौसल्याजीको आधा भाग दिया, इसीसे इनके पुत्र (श्रीरामजी) ज्येष्ठ पुत्र हुए। '**उभय भाग आधे कर कीन्हा**' इससे स्पष्ट हो गया कि दूसरा भाग श्रीरामजीकी बराबर नहीं रह गया, यह भाग रामजीवाले भागके पीछे कैकेयीजीको दिया गया, इससे भरतजी श्रीरामजीसे पीछे और उनसे छोटे हुए। भरतजी चतुर्थ भागमें हुए। '**रहेउ सो उभय भाग पुनि भएऊ**' कैकेयीजीको भरतवाला भाग दे चुकनेपर तब शेष चतुर्थके दो भाग बराबर-बराबर हुए। इस प्रकार लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी दो-दो आने (आठवें-आठवें भाग) में हुए। भरतजीके पीछे ये दोनों भाग दिये गये, अतः ये दोनों भाई भरतजीसे छोटे हुए। प्रथम कौसल्याजीने सुमित्राजीको दिया, तब कैकेयीजीने, इसीसे कौसल्या शब्द प्रथम दिया—'**कौसल्या कैकेई हाथ धरि**'। इसीसे श्रीरामानुगामी श्रीलक्ष्मणजी प्रथम हुए और शत्रुघ्नजी पीछे। इस रीतिसे सब भाई छोटे-बड़े हुए। बड़े भागसे श्रीरामजी बड़ी रानीसे हुए, मध्य भागसे भरतजी मँझली रानीसे हुए और छोटे भागसे लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी छोटी रानीसे हुए—(पं० रामकुमारजी)।

(ग) मानसकारके मतसे तीनों रानियाँ वहाँ आ गयीं तब पायसके भाग किये गये। यह चौपाइयोंके क्रमसे स्पष्ट है। बाँटमें वैषम्यका भाव यह है कि कौसल्याजी पटरानी हैं, सबसे बड़ी हैं। इनके पुत्र राज्याधिकारी हैं और कैकेयीजीके पुत्र भी राज्याधिकारी हैं, क्योंकि विवाह इसी शर्तपर हुआ था। यथा '**कैकेय्यां मम कन्यायां यस्तु पुत्रो भविष्यति। १३। तस्मै राज्यं ददात्वेवं गृह्णातु मम कन्यकाम्। अनेन समयेनापि विवाहं कुरु भूमिप ॥ १४ ॥ हृदि निश्चित्य राजा च वसिष्ठादिभिरात्मवान्। निश्चयं चात्मनः कृत्वा गर्गमाह कृताञ्जलिः ॥ १९ ॥ यथा वदसि भो विप्र तत्तथा करवाण्यहम्।**…**२०।**' (सत्योपाख्यान पू० अ० ८) अर्थात् काश्मीरके राजाका संदेशा गर्गजीने दशरथमहाराजसे कहा है कि 'हमारी कन्या कैकेयीसे जो पुत्र उत्पन्न हो उसको यदि आप राज्य देनेकी प्रतिज्ञा करें तो मैं अपनी कन्या आपको ब्याह दूँ। इसी प्रतिज्ञापर विवाह हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः आप प्रतिज्ञा करें।' दशरथजी महाराजने स्वयं वशिष्ठादिके साथ विचारकर यह प्रतिज्ञा की कि जैसा आप कहते हैं वैसा ही हम करेंगे।' श्रीकौसल्याजी ज्येष्ठा हैं और कैकेयीजी कनिष्ठा होनेपर भी अत्यन्त प्रिय हैं, इसलिये कौसल्याजीके पश्चात् सुमित्राजीसे पहले कैकेयीजीको दिया गया।

(घ) कौसल्याजी शतरूपाजी हैं। उनको श्रीरामजी वर दे चुके हैं कि हम तुम्हारे पुत्र होंगे। इसीसे वसिष्ठजीके आदेशानुसार पायसका अर्धभाग उनको दिया गया। और प्रथम ही दिया गया। तब कैकेयीजीको दिया गया। श्रीरामजीने वर देते हुए कहा है कि '**अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता ॥ १५२। २।**' इस तरह अर्द्धभागसे स्वयं प्रकट होकर अपनेको अंशी प्रकट किया है।

(ङ) राजाने श्रीकौसल्या-कैकेयीजीको तो अपने हाथसे स्वयं दिया, पर सुमित्राजीको अपने हाथसे न देकर श्रीकौसल्या-कैकेयीजीके हाथसे दिलाया, इसीसे '**अनुगामी भाव**' सिद्ध हुआ जो भाग कौसल्याजीके हाथसे दिलाया था उससे लक्ष्मणजी श्रीरामजीके अनुगामी हुए और जो कैकेयीजीके हाथसे दिलाया था, उससे शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीके अनुगामी हुए। यथा—'**बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी ॥ भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥ १९८। ३-४।**' इसीसे श्रीलक्ष्मणजी 'रामानुज' और श्रीशत्रुघ्नजी 'भरतानुज' कहलाये। सब भाग कौसल्याजीका उच्छिष्ट (अवशिष्ट) है। अर्थात् जो कौसल्याजीसे बचा उसीमें तीन भाग हुए। इसीसे स्वामी-सेवक, शेषी-शेष, अंशी-अंश भाव हुआ। श्रीरामजी स्वामी हैं और सब भाई सेवक हैं। कैकेयीजीका अवशिष्ट सुमित्राजीको मिला, इसीसे भरतजीके सेवक श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हैं। (पं० रामकुमारजी)।

☞ उपर्युक्त भाव देवतीर्थ स्वामीजीके शब्दोंमें इस प्रकार है—'**अर्धभाग कौसल्यहि दीन्हा, सो पूरन अनुपम कर्तार। अपर अर्द्ध जूठन तब बनिगो स्वामी-सेवक भाव उदार।**' (रामसुधाग्रन्थसे। रा० प्र०)

(च) रघुवंशमें कहा है कि कौशल्याजी श्रेष्ठ पटरानी हैं और कैकेयीजी प्रिय हैं; अतः राजाने इन दोनोंके द्वारा सुमित्राजीका सत्कार करना चाहा। यथा—'अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा। अतः सम्भाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः॥ ५५॥ (सर्ग १०)। इसीसे 'कौसल्या कैकेई हाथ धरि' देना कहा।

(छ) पंजाबीजीका मत है कि श्रीकौसल्या और कैकेयीजी राजाको बहुत प्रिय थीं, इसीसे राजाने पायसके दो भाग किये और आधा कौसल्याजीको दिया, तदनन्तर सुमित्राजी भी आ गयीं। तब राजाने सोचा कि इनको न देंगे तो इनका अपमान होगा। इस असमंजसमें पड़कर राजाने बचे हुए आधेके दो भाग किये। एक भाग कैकेयीजीको दिया। फिर विचारा कि दूसरा भाग सुमित्राजीको देंगे तो कैकेयीजी ईर्षा करेंगी। (उनको बुरा लगेगा कि सुमित्राको हमारे बराबर दिया), अतएव उन्होंने बचे हुए चतुर्थभागके दो भाग किये और कौसल्या और कैकेयी दोनोंके हाथोंमें एक-एक भाग रखकर कहा कि इन्हें भी कुछ दे दो क्योंकि ये भी आ गयी हैं। तब दोनोंने कहा कि जो यह भाग (आठवाँ, आठवाँ) आपने अभी हमें दिया है, वह आप इन्हें दे दें। इस तरह दोनोंकी प्रसन्नतापूर्वक वे दोनों भाग राजाने उनके हाथोंसे लेकर सुमित्राजीको दिया।

(ज) श्रीसुमित्राजीके भागके दो भाग करनेका कारण यह भी है कि ब्रह्मवाणीने कहा था कि 'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई। १८६। ५।' गुरुजीने भी यह कहा था कि 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी' और यहाँ रानियाँ तीन ही थीं, चार भाग करना आवश्यक था जिसमें एक-एक भागसे एक-एक पुत्र हो। अतएव श्रीसुमित्राजीके भागके दो भाग किये गये जिसमें दो पुत्र हों।

(झ) श्रीपं०रामचरणमिश्रजीका मत है कि श्रीचक्रवर्तीजीने अपने हाथसे श्रीसुमित्राजीको नहीं दिया, अतः वे खेदयुक्त बैठी थीं और उनके हृदयमें मान आ गया था [क्योंकि कैकेयीजी सुमित्राजीसे छोटी थीं। राजाने उनको पहले दिया। अतएव उन्होंने अपनेको अपमानित जाना। (प्र० सं०)] इस मान और खेदको मिटानेके लिये श्रीकौसल्या और कैकेयीजीने उनका हाथ पकड़कर (क्योंकि जब कोई रिसा जाता है तब हाथ पकड़कर मनाया जाता है) और उनके मनको प्रसन्न कर (अर्थात् उनसे यह कहकर कि लो हम दोनों तुम्हें एक-एक भाग देती हैं, तुम्हारे दो पुत्र होंगे, यह अनुकूल वार्ता सुनकर सुमित्राजीका मन प्रसन्न हो गया) वह भाग उनको दे दिये।

☞ इस तरह 'कौसल्या कैकेयी हाथ धरि' का अर्थ 'कौसल्या और कैकेयीजीने (सुमित्राजीका) हाथ पकड़कर' ऐसा किया है।

'राजाने अपने हाथ क्यों न दिया?' इसका समाधान वे यह करते हैं कि मुख्य भाग तो कौसल्याजीका ही है, क्योंकि वे साभिषेका पटरानी हैं और पूर्वजन्मसे उनका सम्बन्ध है। परंतु राजा केकयसे वचनबद्ध होनेके कारण कैकेयीजीको भी पायसमें भाग देना पड़ा। और, सुमित्राजीके लिये राजाने यह विलक्षण चतुरता की कि उनके भागके दो भाग करके उन्होंने कौसल्या और कैकेयीजीको दे दिया। इन दोनोंने राजाका हार्दिक भाव पहचानकर वे भाग सुमित्राजी को दिये। ऐसा करनेसे राजाकी ओरसे (श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नका) गर्भाधान कौसल्या और कैकेयीमें ही हुआ। इसी आशयसे लंकाकाण्डमें लक्ष्मणजीको सहोदर भ्राता कहा गया।—'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता। ६। ६०।'

(ञ) श्रीनंगे परमहंसजी 'हाथ धरि' का अर्थ 'हाथपर रखकर अर्थात् उनकी अनुमति लेकर' इस प्रकार लिखते हैं।

नोट—२ ☞ 'मन प्रसन्न करि' सबमें लग सकता है। कौसल्या-कैकेयीजीका मन प्रसन्न हुआ क्योंकि उनके हाथमें रखकर उनसे सुमित्राजीको दिलाया गया; अथवा उनके हाथोंमें रखकर उनकी अनुमतिसे राजाने सुमित्राजीको दिया। दोनोंकी प्रसन्नता सुमित्राजीको देनेमें जानकर राजा भी प्रसन्न हुए। कैकेयीजी सुमित्राजीसे छोटी हैं पर कैकेयीजीको प्रथम दिया गया; इसलिये राजाने उनको दो भाग देकर उनका मन प्रसन्न किया कि तुम्हारे दो पुत्र होंगे। लो, कौसल्याजी तुमको प्रसाद और कैकेयीजी भेंट देती हैं। (प्र० सं०)।

नोट—३ पं० रामकुमारजीने श्रीकैकेयीजीको मझली रानी कहा और प्रायः अन्य सबोंने श्रीसुमित्राजीको मझली और कैकेयीजीको छोटी कहा है। कैकेयीजीको जो मध्यमा कहा गया है वह सम्भवतः वाल्मी० ३। १६। ३७ 'न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।' इस वचनसे और पायसभागके बाँटनेके क्रमके आधारपर कहा गया। 'उत्तररामचरित' (नाटक) मेंके 'अये मध्यमाम्बा वृत्तान्तोऽन्तरित आर्येण। १। २१।' लक्ष्मणजीके इस वाक्यमें भी उनके लिये 'मध्यमा' शब्द आया है। बंगलाके कृत्तिवासी रामायणमें कैकेयीजीका विवाह सुमित्राजीसे पहले है।

सुमित्राजीको मध्यमा और कैकेयीजीको कनिष्ठा कहनेके प्रमाण ये हैं—'कच्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या। शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा। वाल्मी० २। ७०। ९।' (भरतवाक्य), 'रामं समुद्यतो द्रष्टो यौवराज्येऽभिषेचितुम्। यज्ज्ञात्वा कैकेयी देवी राज्ञः प्रेष्ठा कनीयसी ॥ २४ ॥ सन्निवार्य हठात् तस्य पुत्रस्य तदरोचत।' (नारदपु० उ० अ० ७५)।

वाल्मीकीयके सभी प्राचीन टीकाकारोंने कैकेयीजीको कनिष्ठा ही माना है और वाल्मी० ३। १६। ३७ के 'मध्यमा' शब्दके विषयमें श्रीगोविन्दराजजीने यह लिखा है कि अन्य रानियोंकी अपेक्षा उनको मध्यमा कहा है। [कैकेयीजीके पश्चात् भी जिनका राजाने ग्रहण किया है चाहे वे अविवाहिता ही क्यों न हों उनमें भी श्रीरामजी माता-भाव ही रखते थे इसीसे उन्होंने उन्हें मध्यमा कहा।]

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें बहुत ही स्पष्टरूपसे पायस भागके समय बड़ी, छोटी और मध्यमाका निर्णय पाया जाता है। यथा—'स राजा तत्र दृष्ट्वा च पत्नीं ज्येष्ठां कनीयसीम्। विभज्य पायसं दिव्यं प्रददौ सुसमाहितः ॥ ५९ ॥ एतस्मिन्नन्तरे पत्नी सुमित्रा तस्य मध्यमा। तत्समीपं प्रयाता सा पुत्रकामा सुलोचना ॥ ६० ॥ तां दृष्ट्वा तत्र कौसल्या कैकेयी च सुमध्यमा। अर्द्धमर्द्धं प्रददतुस्ते तस्यै पायसं स्वकम् ॥ ६१ ॥ अ० २४२।' अर्थात् श्रीशिवजी कहते हैं कि दशरथजीने अपनी ज्येष्ठा और कनिष्ठा स्त्रीको देखकर पायसका आधा-आधा भाग उन दोनोंको दे दिया। इसी बीचमें उनकी मध्यमा स्त्री श्रीसुमित्राजी भी उनके समीप पुत्रकामनासे आ गयीं। उनको देखकर श्रीकौसल्याजी और सुन्दर कटिवाली श्रीकैकेयीजीने अपने-अपनेसे आधा-आधा उनको दे दिया। यहाँ 'ज्येष्ठा' और 'कनीयसी' कहकर फिर उनके नाम कौसल्या और कैकेयी आगे स्पष्ट कर दिये और सुमित्राजीको स्पष्टरूपसे 'मध्यमा' कहा है।

इसी अध्यायमें श्रीदशरथजीके विवाहोंका भी उल्लेख है जिससे फिर मध्यमा और कनिष्ठामें संदेह रह ही नहीं जाता। यथा—'कोसलस्य नृपस्याथ पुत्री सर्वाङ्गशोभना। कौसल्या नाम तां कन्यामुपयेमे स पार्थिवः। ३७। मागधस्य नृपस्याथ तनया च शुचिस्मिता। सुमित्रा नाम नाम्ना च द्वितीया तस्य भामिनी। ३८। तृतीया केकयस्याथ नृपतेर्दुहिता तथा। भार्याभूत्पद्मपत्राक्षी कैकेयीनाम नामतः। ३९। ताभिः स्म राजा भार्याभिस्तिसृभिर्धर्मसंयुताः…' इस उद्धरणमें सुमित्राजीको द्वितीया और कैकेयीजीको तृतीया कहा है। और यह कहकर आगे 'तिसृभिः' कहनेसे अनुमान होता है कि ये ही तीन विवाहिता स्त्रियाँ थीं।

स्कन्दपुराण नागरखण्डमें भी स्पष्ट लिखा है कि राजाकी सबसे छोटी रानी कैकेयीने भरत नामक पुत्र उत्पन्न किया और मझली रानी सुमित्राने दो महाबली पुत्रोंको जन्म दिया। यथा—'कौसल्यानामविख्याता तस्य भार्या सुशोभना। ज्येष्ठा तस्यां सुतो जज्ञे रामाख्यः प्रथमः सुतः। १९। तथान्या कैकेयी नाम तस्य भार्या कनिष्ठिका। भरतो नाम विख्यातस्तस्याः पुत्रो भवत्यसौ। २०। सुमित्राख्या तथा चान्या पत्नी या मध्यमा स्थिता। शत्रुघ्नलक्ष्मणौ पुत्रौ तस्यां जातौ महाबलौ। २१। तथान्या कन्यका चैका बभूव वरवर्णिनी। ददौ यां पुत्रहीनस्य लोमपादस्य भूपतेः। २२।' (स्कं० पु० नागरखण्ड ९८)।

गौड़जी—मानसमें कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी यमज थे और दोनों सुमित्राजीके ही पुत्र थे। एक महात्मासे यह सुननेमें आया कि परात्परवाले अवतारमें भरत-शत्रुघ्न यमज थे और कैकेयीके पुत्र थे। कैकेयीहीकी पहली सन्तान शान्ता हुई थी जो राजा रोमपादको दे दी गयी थी और पीछे शृङ्गी ऋषिसे ब्याही गयी थी। कैकेयीजीके इस प्रकार तीन संतानें हुईं। इसीलिये इनका बड़ा आदर था। भगवान् रामचन्द्र सबसे बड़े कौसल्याजीसे सभी अवतारोंमें हुए। श्रीसाकेतविहारीके अवतारमें भरत कैकेयीसे हुए परंतु लक्ष्मणजीसे पहले हुए। फिर सुमित्राजीसे लक्ष्मणजी हुए। फिर कैकेयीजीसे शत्रुघ्नजी हुए। तीसरे दिन लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजीकी उत्पत्ति हुई। इसी क्रमसे छठी और बरहीके उत्सव बराबर तीन-तीन दिनतक होते रहे।

इस कथासे भरत-शत्रुघ्नके साथ ही ननिहाल जानेकी, दोनों भाइयोंकी साजिशवाला लक्ष्मणजीका संदेह, ('आए दल बटोरि दोउ भाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई।…सानुज निदरि निपातहुँ खेता') 'निज जननी के एक कुमारा' वाली शंका सबका स्पष्टीकरण हो जाता है। कई कल्पोंकी कथामें भेद होनेके कारण ही मानसमें यमजवाले प्रश्नपर गोस्वामीजी वा स्वयं भगवान् शंकर चुप हैं।

नोट—यद्यपि पायस-भागके क्रमसे स्पष्ट है कि सुमित्राजीके दो पुत्र लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हुए। परन्तु स्पष्टरूपसे ग्रन्थमें यह बात नहीं आयी है, इसीसे कुछ लोग शक्तिके प्रसंगको लगानेके लिये यह कहते हैं कि लक्ष्मणजी एकलौता पुत्र थे। वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणोंसे स्पष्ट है कि लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी श्रीसुमित्राजीके यमज पुत्र हैं।

ग्रन्थकारका मत यदि एक जगह स्पष्ट न हो तो उसके अन्य ग्रन्थोंको प्रमाण मानना चाहिये। शक्ति लगनेपर जब श्रीहनुमान्‌जी अयोध्या आये और शक्तिका समाचार सुनाया तब श्रीसुमित्राजीने कहा है—'**रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं। तात! जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं॥** गी० ६। १३।' विनयपत्रिकामें और भी स्पष्ट है। श्रीशत्रुघ्नजीकी स्तुतिमें गोस्वामीजी कहते हैं—'**जयति सर्वांग सुंदर सुमित्रा-सुवन भुवन-बिख्यात भरता-नुगामी।** पद ४०।' श्रीरामाशाप्रश्न सर्ग ७ में वे लिखते हैं—'**सुमिरि सुमित्रा नाम जग जे तिय लेहिं सुनेम। सुवन लषन रिपुदवन से पावहिं पति पद प्रेम।** १८।' इन उपर्युक्त उद्धरणोंसे श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजीका श्रीसुमित्राजीके पुत्र होना ग्रन्थकारका स्पष्ट मत सिद्ध है। फिर भी ग्रन्थकारने १९५। १ '**कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भैं ओऊ**' मैंने 'दोऊ' को 'सुमित्रा' और 'सुंदरसुत जनमत भैं' के बीचमें देकर यह भी प्रकट कर दिया है कि श्रीसुमित्राजीने 'लक्ष्मण, शत्रुघ्न' दोनों पुत्रोंको जन्म दिया। अब मानसके ही उद्धरण लीजिये जिनसे लक्ष्मण और शत्रुघ्नजीका सहोदर भ्राता होना पाया जाता है। (१) 'भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई॥ २। १६५। २।' भरतजी अयोध्यामें कैकेयीजीके पाससे होकर जब श्रीकौसल्याजीके पास जाते हैं तब कवि माताका '**लषन लघु भाई**' से भेंट करना लिखते हैं। यहाँ कोई और कारण ऐसा लिखनेका नहीं जान पड़ता, सिवाय इसके कि शत्रुघ्नजी वस्तुतः लक्ष्मणजीके सगे भाई हैं। ऐसा न होता तो यहाँ 'भरत लघु भाई' ही कहना सर्वथा उचित था। (२) '**भेंटेउ लषन ललकि लघु भाई।** २। २४२। १।' में लक्ष्मणजीका (अपने) छोटे भाईसे मिलना कहा है। और भी चौपाइयाँ हैं जिनमें लक्ष्मणजीका लघुभाई उनको कहा है, पर उनमें गुणसम्बन्धी अर्थ लिया जा सकता है।

मानस आदिमें शत्रुघ्नजीके लिये जो 'भरतानुज' शब्दका प्रयोग हुआ है वह केवल भरतानुगामी होनेसे। इसी तरह 'रामानुज' शब्द प्रायः श्रीलक्ष्मणजीके लिये रूढ़ि हो गया है क्योंकि वे श्रीरामानुगामी हैं। ऐसा न मानें तो लक्ष्मणजीको श्रीरामजीका सहोदर भ्राता अर्थात् कौसल्याजीका पुत्र कहना पड़ेगा जो सर्वथा असत्य है।

एहि बिधि गर्भ सहित सब नारी। भईं हृदय हरषित सुख भारी॥ ५॥
जा दिन तें हरि गर्भहि आए। सकल लोक सुख संपति छाए॥ ६॥

अर्थ—इस प्रकार सब स्त्रियाँ गर्भसहित अर्थात् गर्भवती हुईं। भारी सुख होनेसे हृदयमें हर्षित—आनन्दित हुईं॥ ५॥ जिस दिनसे हरि गर्भमें आये उसी दिनसे समस्त लोक सुख और संपत्तिसे छा गये॥ ६॥

टिप्पणी— (क) '**एहि बिधि**' अर्थात् पायस-भाग खा-खाकर। यह कहकर इनका गर्भाधान रज-वीर्यसे रहित जनाया। (स्मरण रहे कि स्त्रीके रज और पुरुषके वीर्यके संयोगसे गर्भकी स्थिति होती है, पर भगवान् गर्भमें नहीं आते। उनका जन्म पिण्डविधिसे, रज-वीर्यसे नहीं होता, यह बात प्रकट करनेके लिये ही 'एहि बिधि' कहा। भगवान्‌का शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है वरंच चिदानन्दमय, नित्य, दिव्य और देही-देह-विभागरहित है; यथा—'**चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥**' तब 'गर्भसहित' कहनेका क्या भाव? भाव यह कि भगवान्‌का आविर्भाव जिसके द्वारा होना होता है उसके सब लक्षण गर्भवतीके-से हो जाते हैं, उसे यही जान पड़ता है कि मेरे गर्भमें बच्चा है या मैं गर्भिणी हूँ। गर्भ=पेटके भीतरका बच्चा; हमल; यथा—'चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुररवनी॥') (ख) 'भईं' शब्द दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है। (ग) 'सुख भारी' का भाव कि सुख तो तीनों लोकोंको हुआ पर रानियोंको सबसे अधिक सुख हुआ।

२ '**जा दिन तें हरि गर्भहि आए**' इति। 'हरि' गर्भमें नहीं आते और वहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं कि हरि गर्भमें आये। यह कैसा? समाधान यह है कि यहाँ गर्भमें भगवान्‌का आना वैसा नहीं है जैसा कि जीवका। जीव कर्मोंके वश गर्भमें आता है, भगवान् कर्मके अधीन नहीं हैं, यथा—'**कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।** १३७। ४।'; वे अपनी इच्छासे आते हैं। जैसे वे सबके हृदयमें बसते हैं, यथा—'**सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ**' वैसे ही गर्भमें बसते हैं। [यथा—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। शुक्ल यजुर्वेद। ३१। १९।' अर्थात् सर्वेश्वर ब्रह्म सबके अन्तःकरणमें रहते हुए भी गर्भमें आता है और अनेक रूपोंसे जन्म लेता है। उसके जन्म लेनेके कारणको ज्ञानी लोग ही जानते हैं कि उसीमें समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है फिर भी वह क्यों गर्भमेंसे जन्म लेता है। (वे० भू०)] पुनः, दूसरा समाधान यह है कि 'वायु' गर्भमें आकर प्रतीति कराता है, यथा-'तस्या एवाष्टमो गर्भो वायुपूर्णो बभूव ह' (अर्थात् देवकीजीका आठवाँ गर्भ वायुसे पूर्ण हुआ), **'यथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ॥'**

'जा दिन तें हरि गर्भहि आए' इति।

पं० रामकुमारजीका मत टिप्पणीमें दिया गया। औरोंके मत ये हैं—

१ पंजाबीजी लिखते हैं कि 'अजन्माका गर्भमें आना शास्त्रविरुद्ध है। इसलिये **'हरि गर्भहि आए'** का अर्थ यों होगा कि गर्भयोनिके हरनेवाले हरि अर्थात् भक्तोंके गर्भ-संकट जन्म-मरणको छुड़ानेवाले प्रभु आये अर्थात् अवतार लेनेकी इच्छा की।' इतना लिखकर फिर वे यह प्रश्न करते हुए कि 'प्रभु गर्भमें न आये तो माताने क्योंकर जाना कि गर्भमें पुत्र है ?' इसका उत्तर यह देते हैं कि 'जब अवतारकी इच्छा होती है तब पवनदेव उदरमें गर्भाधानवत् प्रतीति करा देते हैं। (प्रमाणमें वे ब्रह्मवैवर्त कृष्णखण्डका उद्धरण देते हैं जो टिप्पणीमें आ चुका है)। इसकी पुष्टि प्रकट होनेके समयके प्रसंगसे होती है कि पहले और रूपसे प्रकट हुए, फिर माताकी प्रार्थनासे बालकरूप हो गये।…'

२ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'वास्तवमें बात वही है जो भगवान् कृष्णने गीतामें कही है कि **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**। जो उन्हें न समझकर उन्हें भी साधारण मनुष्यकी तरह देहधारी मानते हैं उन्हें मूर्ख ही कहा है। लेकिन उनकी विद्यारूपी लीलाशक्ति (जो मायाका उत्तम रूप है) सारी लीला ऐसी रचती है कि सब अनुभव करा देती है। **'भये प्रगट कृपाला'** से ज्ञात होगा कि भगवान् केवल 'प्रकट हुए' जन्में नहीं, लेकिन पहले कौसल्याजीको यही अनुभव होता रहा कि 'गर्भ' है। हाँ! जब ज्ञान हुआ तब उन्हें प्रतीत हुआ कि **'ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया रोमरोम प्रति बेद कहै। सो मम उर बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥'** और तब तो **'प्रभु मुसुकाना'** वाली बातसे भगवान्‌ने अपनी लीलावाली बातका बोध कराकर फिर बालचरित प्रारम्भ किया—**'रोदन ठाना'**।

इन दोनों रहस्योंको न समझनेसे संसारमें भ्रम फैला है, नहीं तो कुरानवाली बात भी ठीक है कि 'न उससे कोई जन्मता है, न वह किसीसे जन्मता है' (लमयलिद व लमयलद) और फिर उसी कुरानमें भगवान् ईसाका दिव्य दूतद्वारा दिव्य जन्म लिखा है और इन्जीलमें स्वयं भगवान्‌का ही दिव्य पुत्ररूप जन्म हजरत ईसाका माना है—हमारे यहाँ रामायणमें दोनों सिद्धान्तोंका ठीक एकीकरण है।…'

३ कुछ लोगोंका यह भी मत है कि जो सर्वव्यापक है उसे गर्भमें आनेकी वा उसमें अपनी प्रतीति करा देनेका भी सामर्थ्य है, अतएव संदेह नहीं है।

४ संत श्रीगुरुसहायलालजी भी गीताके श्रीधरभाष्य और ब्रह्मवैवर्तादि ग्रन्थोंके प्रमाण देते हुए **'हरि गर्भहि आए'** का भाव यही कहते हैं कि 'उदर महावायुसे परिपूर्ण हुआ जिससे भगवान्‌की प्रतीति हुई। गर्भाधानकी, अवतारके समय यही रीति है। हरि=वायु, यथा—**'वैश्वानरेऽप्यथ हरिर्दिवाकरसमीरयोः इति हेमकोशः'**।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'भगवान् जन्मसमय 'कौसल्याजीके आगे खड़े हुए हैं तब उदरवास क्योंकर घटित हो ? सो यहाँ बात यह है कि **'हरिरूप कारण हवि जानों'**। भगवान् कौसल्याके उदरमें तेजोमय प्रकाशवत् पवनरूप अंशमात्र ही रहे। हरि पवनका नाम है।'

५ श्रीदेवतीर्थस्वामीजी लिखते हैं—**'रामचरित कहौं काहि लखाय मुनिमतिहू भरमाय॥ त्रिभुवन भावहि प्रगट होइ कै राघवजन्म कहाय। भावनहू को राम प्रकासत ये तो पद ठहराय॥ १॥ कोप मुनिनको सियारूप धरि प्रगटि जनकपुर जाय। रामप्रिया बनि काज साधि पुनि बनमें गयो समाय॥ २॥ रामसियाको जन्मकर्म नहि नित्यहि उदित सुभाय। ते कैसे जनिहहिं जे मदिरा अचै रहे बउराय॥ ३॥ देवभाव बानर भालू तन धरि कै भए सहाय। त्रिभुवन भावहि त्रिभुवनपति बनि रहा अवधमें छाय॥ ४॥ इति रामरंगग्रन्थे॥** (पं० रा० कु०)।

६ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि कोई-कोई संसारी बालकोंका दृष्टान्त देकर भगवान्‌को गर्भमें आना अर्थ नहीं करते। संसारी जीवकी समतामें भगवान्‌को लगाना भारी भूल है। देखिये, संसारी स्त्री जब गर्भवती होती है तब वह बदशक्ल और तेजहीन हो जाती है पर माता कौसल्याको देखिये कि जब भगवान् उनके गर्भमें आये तब उनकी शोभा, तेज तथा शील बढ़ गया, यथा—'**मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेजकी खानी॥**' भगवान् अपने तेज-प्रतापके सहित कौसल्याजीके गर्भमें आये थे, उनके शरीरको वैकुण्ठ बना दिया था। जैसे पराशरजीने मत्स्यगन्धाको योजनसुगन्ध बना दिया था [अर्थात् जिसमें मछलीकी गन्ध आती थी उस 'मत्स्यगंधा' को योजनभरतक सुगन्ध देनेवाली अर्थात् अपने अनुकूल बना लिया था। जिसको सत्यवती कहते हैं और जो व्यासजीकी माता थीं। भगवान् केवल अङ्गुष्ठमात्रका शरीर गर्भमें धारण किये थे, बाहर विस्तार किये। प्राकृतिक स्त्रियोंकी तरह प्रसव आदिका कष्ट कौसल्या माताको नहीं हुआ। अतः गर्भमें आना यथार्थ है।

७ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि गर्भाधानमात्र भगवान्‌का आवेश होता है। चरु वस्तुतः भगवान्‌की महिमा है जो अग्निद्वारा प्रकट हुई और वह अग्नि वस्तुतः अग्नि नहीं है किंतु प्रणव-तत्त्व है जैसा ब्रह्मबिन्दूपनिषत्‌की दीपिकामें कहा है और गर्भकी प्रतीति इस हेतुके सूचनका नाटकमात्र है। प्रणवतत्त्वके वर्ण ही चारों पुत्र हैं, यथा—'**अकारा क्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः।**....' (रा० ता० उप०) पुनः, अग्निको ओषधियों, वृक्षों, समस्त प्राणियों और जलका गर्भ शुक्ल यजुर्वेद अध्याय १२ में कहा गया है। अग्नि गर्भरूप है तब तत्रस्थ वस्तु भी गर्भ है। अतः गर्भसहित होना कहा।

८ रघुवंशमें कहा है कि वैष्णवतेज ही चरुरूपमें था, यथा—'**स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम्। द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम्।** १०। ५४।' अर्थात् राजाने उस चरुरूप वैष्णवतेजको अपनी दो पत्नियोंमें बाँटा, जैसे सूर्य अपने नवीन तेजको आकाश और पृथ्वीको बाँट देता है। इस तरह भी गर्भाधान आवेशमात्र हैं। पद्मपुराणमें स्पष्ट उल्लेख है कि तीनों माताओंको भगवान्‌के आयुधादिका स्वप्नमें दर्शन होने लगा था।

नोट—१ गर्भवती होना वाल्मीकि आदिने भी लिखा है। यथा—'**ततस्तु ताः प्राश्य तमुत्तमस्त्रियो महीपतेरुत्तमपायसं पृथक्। हुताशनादित्यसमानतेजसोऽचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा।** वाल्मी० १। १६। ३१।' (अर्थात् महाराजकी पृथक्-पृथक् दी हुई हवि खाकर उन उत्तम रानियोंने अग्नि और सूर्यके समान तेजवाले गर्भ शीघ्र धारण किये)। पुनश्च यथा—'**उपभुज्य चरुं सर्वाः स्त्रियो गर्भसमन्विताः।** १२। अ० रा० १। ३।' अर्थात् सभी रानियाँ पायसको खाकर गर्भवती हुईं। शुक्ल यजुर्वेदका प्रमाण भी टिप्पणी २ में दिया जा चुका है।

वेदान्तभूषणजीने वेदका प्रमाण भी मुझे यह दिया है—'**य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥** ऋग्वेद १। १६४। ३२, अथर्ववेद ९। १०। १०। निरुक्त २। ८।' अर्थात् जिस ब्रह्मने इस सारे विश्वकी रचना अपने मनसे (योगमायाद्वारा) संकल्पमात्रसे किया है, वह परमात्मा इस संसारके वृद्धि-विनाशजन्य दुःख-सुखकी भावनाको नहीं प्राप्त करता। और, जो परमात्मा इस सारे विश्वको सर्वप्रकारेण देखता है, (अर्थात् सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापक है), तो भी इस सारे प्रपञ्चसे निश्चितरूपेण पृथक् है, निर्लिप्त है; वह परमात्मा माताके गर्भके मध्यमें जरायुसे वेष्टित होकर पृथ्वीपर आया। वह यहाँ आकर कैसे रहा, तो बहुत बड़ी प्रजा समस्त भूमण्डलका पालक होकर रहा—'**सप्त भूमि सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥**'

नोट—२ '**सकल लोक सुख संपति छाये**' इति। भाव कि रावणके उपद्रवसे सब लोक दुखी हो गये थे, उनकी सब सम्पत्ति हर ली गयी थी। जिससे सुख जाता रहा था, यथा—'**भए सकल सुर संपति रीते।**' वह सब फिर भरपूर हो गयी। मानो सुख-सम्पत्तिने यहाँ छावनी डाल दी। बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'सुलक्षणी पुत्र जब माताके गर्भमें आता है तब घरमें मङ्गल होता है यह प्रत्यक्ष संसारमें देखा जाता है। यहाँ त्रैलोक्य रामजीका घर है इसीसे त्रैलोक्यमें सुखसम्पत्ति छा गयी।'

मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानी॥ ७॥
सुख जुत कछुक काल चलि गयऊ। जेहिं प्रभु प्रगट सो अवसर भएऊ॥ ८॥

अर्थ—सब रानियाँ महलमें सुशोभित हो रही हैं, सब शोभा, शील और तेजकी खानि हैं॥ ७॥ (इस प्रकार) कुछ समय सुखपूर्वक बीता और वह अवसर आ गया जिसमें प्रभुको प्रकट होना था॥ ८॥

प० प० प्र०—'**मंदिर**' इति। मानसमें यह शब्द ३५ बार आया है। इस शब्दका प्रयोग विशिष्ट हेतुसे किया गया

है। गोस्वामीजीके इष्ट हरि-हर और हनुमान्‌जी हैं। अन्य देवताओंके स्थानके लिये मानसमें 'मंदिर' शब्द कहीं भी नहीं है। कौसल्याजीके गर्भमें श्रीरामजी हैं, अतः जिस महलमें वे हैं वह राममन्दिर बना। इसी प्रकार सुमित्राजीके गर्भमें श्रीमन्नारायण और शिवजी और कैकेयीजीके गर्भमें विष्णु भगवान्‌के होनेसे उनके भवन भी मन्दिर हो गये। भवानी-भवन, गिरिजागृह और गौरिनिकेत जो कहा है वह इसी हेतुसे। देखिये, जिस महलमें रामावतार हुआ उसको मन्दिर कहा पर जिस राजप्रासादमें श्रीदशरथजी हैं उसको गृह कहा है, यथा—'मंदिर मनिसमूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा॥' जब श्रीरामजी अजिरबिहारी हो दशरथमहलमें आने-जाने लगे तब उसे 'मन्दिर' कहा है, यथा—'नृपमंदिर सुंदर सब भाँती। ७। ७६। २)' इस नियममें अपवाद नहीं है। [स्वामीजीने जो सुमित्रासदन और कैकेयीभवनको मन्दिर बनाया, वह सम्भवतः 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना। १४४।६।' के आधारपर हो।]

टिप्पणी—१ (क) 'सोभा सील तेज की खानी' इति। खानि=उत्पत्तिस्थान=वह जिसमें या जहाँ कोई वस्तु अधिकतासे हो। चारों भाई शोभा, शील और तेजयुक्त हैं, यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा' और ये उन शोभा-शील-तेजमय पुत्रोंकी जननी हैं, उनको उत्पन्न करनेवाली हैं, अतएव इनको शोभा, शील और तेजकी खान कहा। [पुनः, पाण्डेजी इन विशेषणोंको क्रमसे श्रीकौशल्याजी, कैकेयीजी और सुमित्राजीमें लगाते हैं। उनके मतसे कौशल्याजी शोभाखानि हैं, कैकेयीजी शीलखानि हैं और सुमित्राजी तेजखानि हैं। यथा—'सोभाधाम राम अस नामा' 'देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥' 'भरत सील गुन बिनय बड़ाई' 'धन्य भरत जीवनु जगमाहीं। सील सनेहु सराहत जाहीं' 'भरत सनेहु सील सुचि साँचा।' 'राजन राम अतुल बल जैसे। तेजनिधान लखन पुनि तैसे॥' श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ ऐश्वर्य गुप्त और माधुर्य प्रकट कहा गया है, शोभारूपरत्न श्रीराम कौशल्याजीके उदरमें हैं, अतएव वे शोभाकी खानि हैं। शीलरूप भरतजी और तेजरूप शत्रुघ्नजी और गुणरूप लक्ष्मणजी हैं, अतएव कैकेयीजी शीलकी और सुमित्राजी तेज और गुणकी खानि कही गयीं' (नोट—बैजनाथजी 'तेज गुन खानी' पाठ देते हैं इसीसे गुण-को लक्ष्मणजीमें लगाते हैं)। बाबा हरीदासजी और पाण्डेजीका एक मत है। वे लिखते हैं कि लक्ष्मणजी तेजनिधान हैं और तेज ही गुण शत्रुघ्नजीमें जानिये; क्योंकि 'जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥' और रिपुका नाश तेजहीसे होता है, एक उदरमें वास एवं यमज होनेसे तेजगुण दोनोंमें है। प० प० प्र० पाण्डेजीसे सहमत हैं।] (ख) पुनः शोभा आदिकी खानि कहकर जनाया कि जिनकी शोभासे तीनों लोक शोभित हुए वे ही मन्दिरमें शोभित होती हैं, तात्पर्य कि तब उनकी एवं उस मन्दिरकी शोभाका वर्णन कौन कर सकता है? 'राजहिं रानी' यथा अध्यात्मे—'देवता इव रेजुस्ताः स्वभासा राजमन्दिरे। १। ३। १३।' अर्थात् रानियाँ अपनी कान्तिसे देवताओंके समान शोभा पाने लगीं।

२ (क) 'सुखजुत कछुक काल''' इति। 'सुखजुत' कहनेका भाव कि गर्भधारणमें क्लेश होता है, वह क्लेश इनको न हुआ, सब समय सुखसे बीता। (ख) 'कछुक काल' इति। गर्भ तो बारह मास (वाल्मीकीय मतसे) अथवा नवमास (अध्यात्मके मतसे) रहा, यथा—'ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः। ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ। वाल्मी० १। १८। ८।' (अर्थात् यज्ञ समाप्त होनेसे जब छः ऋतुएँ बीत चुकीं और बारहवाँ मास लगा तब चैत्र मासकी नवमीको), 'दशमे मासि कौसल्या सुषुवे पुत्रमद्भुतम्। अ० रा० १। ३। १३।' अर्थात् दसवाँ महीना लगनेपर कौशल्याजीने एक अद्भुत बालकको जन्म दिया। तब 'कछुक काल' कैसे कहा? इस प्रश्नका उत्तर प्रथम ही 'सुख जुत' शब्दसे जना दिया। सुखका समय थोड़ा ही जान पड़ता है, इसीसे उतने समयको 'कछुक' ही कहा, यथा—'कछुक दिवस बीते एहि भाँती। जात न जानिअ दिन अरु राती॥ १९७। १।' 'कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई॥ २०३। २।' 'नित नूतन मंगल पुर माहीं। निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं॥ ३३०। १।' सुखके दिन जाते जान नहीं पड़ते। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी कुछ दिन भी तो नहीं हुए। (ग) 'जेहि प्रभु प्रकट सो अवसर''' यहाँसे 'सुअवसर बिरंचि जब जाना' तक 'अवसर' का वर्णन है। [प्रभुका अवतार त्रेतायुगके तीन चरण अर्थात् नौ लाख बहत्तर हजार वर्ष बीत जानेपर जब चतुर्थ चरण लगा तब 'प्रभव' नामक संवत्सरमें हुआ। (वै०) किस कल्पके त्रेतायुगमें हुआ इसमें मतभेद है। जिस कल्पमें भी हो उसके बहत्तर चतुर्युगीके त्रेतामें यह अवतार हुआ। बैजनाथजीके मतानुसार यह प्रथम कल्पकी कथा है।]

दो०—जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल॥ १९०॥

शब्दार्थ—जोग (योग)=फलित ज्योतिषमें कुछ विशिष्ट काल या अवसर जो सूर्य और चन्द्रमाके कुछ विशिष्ट स्थानोंमें आनेके कारण होते हैं और जिनकी संख्या सत्ताईस (२७) है। इनके नाम ये हैं—विष्कंभ, प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, अतिगंड, सुकर्मा, धृति, शूल, गंड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्ध, व्यतीपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्मा, ऐन्द्र और वैधृति। लगन (लग्न)=ज्योतिषमें दिनका उतना अंश जितनेमें किसी एक राशिका उदय होता है। एक दिन-रातमें जितने समयतक पृथ्वी एक राशिपर रहती है, उतने समयतक उस राशिका 'लग्न' कहलाता है। राशि बारह हैं—मेष (यह भेड़के समान है और इसमें छयासठ तारे हैं), वृष (यह एक सौ एकतालीस ताराओंका समूह बैलके आकारका है), मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन। प्रत्येक तारासमूहकी आकृतिके अनुसार ही उसका नाम है। ग्रह=वे नौ तारे जिनकी गति, उदय और अस्तकाल आदिका पता प्राचीन ज्योतिषियोंने लगा लिया था। उनके नाम ये हैं—सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। बार=दिन। तिथि=चन्द्रमाकी कलाके घटने या बढ़नेके क्रमके अनुसार गिने जानेवाले महीनेके दिन, जिनके नाम संख्याके अनुसार होते हैं। पक्षोंके अनुसार तिथियाँ भी दो प्रकारकी होती हैं। प्रत्येक पक्षमें पंद्रह तिथियाँ होती हैं—प्रतिपदा, द्वितीया आदि। कृष्णपक्षकी अन्तिम तिथि अमावस्या और शुक्लकी पूर्णिमा कहलाती है। इनके पाँच वर्ग किये गये हैं—प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशीका नाम 'नंदा' है, द्वितीया, सप्तमी और द्वादशीका नाम 'भद्रा' है, तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशीका नाम 'जया' है; चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशीका नाम 'रिक्ता' है और पञ्चमी, दशमी और पूर्णिमा या अमावस्याका नाम 'पूर्णा' है।

अर्थ—योग, लग्न, ग्रह, दिन और तिथि सभी अनुकूल हो गये। जड़ और चेतन (चराचरमात्र) हर्षसे भर गये (क्योंकि) श्रीरामजन्म सुखका मूल है। १९०।

टिप्पणी—१ (क) '**सकल भए अनुकूल**' का भाव यह है कि योग, लग्न और ग्रह आदि ये सब-के-सब एक ही कालमें अनुकूल नहीं होते, अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही रहते हैं। तात्पर्य कि जो योगादि प्रतिकूल भी थे वह भी उस समय सब अनुकूल हो गये। इसका कारण बताया कि '**रामजनम सुखमूल**' है।

(ख) 'अनुकूल' हुए अर्थात् सब शुभदायक हुए, यथा—'**मास पाख तिथि बार नखत ग्रह योग लगन सुभ ठानी।** गी० १। ४।' (ग) '**चर अरु अचर हर्षजुत**' इति। यहाँतक '**भईं हृदय हरषित सुख भारी**', '**सकल लोक सुख संपति छाए**' और '**चर अरु अचर हर्षजुत**' इन सबों (रानियोंका, त्रैलोक्यका और जड़ एवं चेतन सभी) का सुख कहकर तब अन्तमें सबके सुखका कारण रामजन्म बताया। श्रीरामजन्म सुखमूल है, इसीसे सबको सुख हुआ।

नोट—१ श्रीरामजीके अवतारके समय सुकर्मा योग [वा, प्रीतियोग—(मा० म०, वै०)], कर्क लग्न, मेषके सूर्य, मकरका मंगल, तुलाके शनिश्चर, कर्कके बृहस्पति, और मीनके शुक्र इन पाँच परमोच्च ग्रहोंका योग हुआ। यह मण्डलेश्वर योग है। मंगलवार, नवमी तिथि थी। विशेष १९१ (१-२) में देखिये। योग, लग्न, ग्रह आदिका एक धर्म 'अनुकूल होना' वर्णन '**प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार**' है।

२ यहाँ योगादिक पाँचके नाम देकर सूचित किया कि पञ्चाङ्गमें जो उत्तम विधि है वह सभी अनुकूल हुए। ३—अचरका हर्ष कहकर तेज, वायु, पृथ्वी, जल, आकाश इन पाँचों तत्त्वोंका प्रभुकी सेवामें तत्पर होना जनाया, जैसा आगे स्वयं ग्रन्थकार लिखते हैं।—'**मध्यदिवस अति सीत न घामा**' में घामसे तेज, '**सीतल मंद सुरभि बह बाऊ**' से वायु, '**बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा**' से पृथ्वी और '**गगन बिमल**' से आकाश-तत्त्वकी सेवा सूचित करते हैं। (प्र० सं०)। विशेष व्याख्या १९१। ५-६ टि० २ में देखिये।

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता॥ १॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा॥ २॥

शब्दार्थ—मधुमास=चैत्र मास। अभिजित्—नीचे नोटमें देखिये।

अर्थ—नवमी तिथि, पवित्र चैत्रका महीना, शुक्लपक्ष और भगवान्‌का प्रिय अभिजित् नक्षत्र (मुहूर्त) था॥ १॥ दिनका मध्य अर्थात् दोपहरका समय था। न तो बहुत सरदी थी और न बहुत घाम (गरमी) थी। लोगोंको विश्राम देनेवाला पवित्र समय था॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) **'नौमी तिथि'''** इति। **'जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल'** कहकर अब उसीका विवरण करते हैं कि नवमी तिथि थी, इत्यादि। प्रथम **'नवमी तिथि'** कहनेका भाव कि भगवान्‌के अवतारमें तिथि प्रधान है, तिथि ही जयन्ती कहलाती है, तिथिको 'व्रत' होता है। इसीसे प्रथम 'तिथि' कहा। 'वार' प्रगट न कहा क्योंकि 'वार' के सम्बन्धमें अनेक मत हैं—मेरुतन्त्रमें सोमवार है, वही देवतीर्थ स्वामीजी लिखते हैं, यथा—**'अंक अवधि नौमी शशि बासर नखत पुनर्वसु प्रकृति चरे'**। श्रीसूरदासजी अपने रामायणमें बुध लिखते हैं और गोस्वामीजीका मत मंगल है, यथा—**'नवमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥ जेहि दिन रामजन्म श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥ बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा।'** इस तरह ग्रन्थकुण्डली रामकुण्डलीसे मिलाकर युक्तिसे 'वार' कह दिया। गीतावलीमें भी इसी प्रकार युक्तिसे कहा है, यथा—**'चैत चारु नौमी तिथि सित पख मध्य गगन गत भानु। नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोद निधानु॥ गी० १। २॥'** (वाल्मीकीय और अध्यात्ममें दिन नहीं लिखा है, केवल तिथि है। वैसे ही मानसमें इस स्थलपर दिनका नाम नहीं है)। (ख) मधुमास अर्थात् चैत्रमास। यह सब मासोंमें पुनीत है ऐसा पुराणोंमें लिखा है। [अध्यात्मरा० में जन्मके नक्षत्र आदि इस प्रकार कहे हैं—**'मधुमासे सिते पक्षे नवम्यां कर्कटे शुभे। पुनर्वस्वृक्षसहिते उच्चस्थे ग्रहपञ्चके॥ १४॥ मेषं पूषणि संप्राप्ते पुष्पवृष्टिसमाकुले। आविरासीज्जगन्नाथः परमात्मा सनातनः॥ १५॥'** (१। ३)। अर्थात् चैत्रमासके शुक्लपक्षकी नवमीके दिन शुभ कर्कलग्नमें पुनर्वसुनक्षत्रके समय जब कि पाँच ग्रह उच्च स्थान तथा सूर्य मेषराशिपर थे तब सनातन परमात्मा जगन्नाथका आविर्भाव हुआ। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि मेषराशिस्थित सूर्यके कारण 'पुनीत' कहा है] (ग) मासमें दो पक्ष होते हैं, अतः पक्षका नाम दिया कि शुक्लपक्षमें जन्म हुआ।

नोट—१ 'अभिजित' इति। 'अभिजित' का अर्थ है 'विजयी'। इस नक्षत्रमें तीन तारे मिलकर सिंघाड़ेके आकारके होते हैं। यह मुहूर्त ठीक मध्याह्न-समय आता है। बृहज्ज्योतिःसार (नवलकिशोरप्रेस, लखनऊ) में अभिजित् मुहूर्त दो प्रकारका बताया गया है। उनमेंसे एक यों है—**'अङ्गुल्याविंशतिः सूर्ये शङ्कुः सोमे च षोडश। कुजे पञ्चदशाङ्गुल्यो बुधवारे चतुर्दश॥ १॥ त्रयोदश गुरोर्वारे द्वादशार्कजशुक्रयोः। शङ्कुमूले यदा छाया मध्याह्ने च प्रजायते॥ २॥ तत्राभिजित्तदाख्यातो घटिकैका स्मृता बुधैः।'** अर्थात् रविबारके दिन बीस अंगुलका शंकु, सोमवारको सोलह अंगुलका, मंगलको पन्द्रह अंगुलका, बुधको चौदह, बृहस्पतिको तेरह, शुक्र और शनिको बारह अंगुलका शंकु (मेख वा खूँटा आदि) घाममें खड़ा करे। जब छाया शंकुमूलके बराबर (अर्थात् अत्यन्त अल्प) हो तबसे एक घड़ीपर्यन्त 'अभिजित्' मुहूर्त होता है।

दूसरे प्रकारके अभिजित् मुहूर्तका उल्लेख मुहूर्तचिन्तामणिमें भी है जो इस प्रकार है—**'गिरिशभुजगमित्राः पित्र्यवस्वम्बुविश्वेऽभिजिदथ च विधातापीन्द्र इन्द्रानलौ च। निर्ऋतिरुदकनाथोऽप्यर्यमाथो भगः स्युः क्रमश इह मुहूर्ता वासरे बाणचन्द्राः॥ ५०॥'** (विवाहप्रकरण)। अर्थात् दिनमानके पंद्रह भाग करनेपर लगभग दो-दो दण्डका एक-एक भाग होता है। इस प्रकार सूर्योदयसे प्रारम्भ करके जो दो-दो दण्डके एक-एक मुहूर्त होते हैं उनके क्रमशः नाम ये हैं—आर्द्रा (जिनका देवता गिरिश है), आश्लेषा (भुजग देवता), अनुराधा (मित्र), मघा (पितृ देवता), धनिष्ठा (वसु), पूर्वाषाढ़ा (अंबु), उत्तराषाढ़ा (विश्वे), अभिजित् रोहिणी (विधाता), ज्येष्ठा (इन्द्र), विशाखा (इन्द्रानल), मूल (निर्ऋति), शततारका (वरुण), उत्तराफाल्गुनी (अर्यमा) और पूर्वाफाल्गुनी (भग)।—इस प्रकार भी प्रायः चौदह दण्डके बाद मध्याह्नसमयमें 'अभिजित् मुहूर्त' होता है। अभिजित् मुहूर्त लिखनेका भाव यह है कि इस मुहूर्तमें जन्म होनेसे मनुष्य राजा होता है—'जातोऽभिजित् राजा स्यात्।'

२ **'हरि प्रीता'** इति। इस शब्दके अर्थमें मतभेद है। (१) साधारण अर्थ तो है—'जो हरिको प्रिय है'। यह

मुहूर्त भगवान्‌को प्रिय है इसीसे वे सदा इसी मुहूर्तमें अवतरते हैं। (पं०)। (२) हरि=पुनर्वसु नक्षत्र। प्रीता=प्रीति नामक योगमें। (मा० म०, मा० त० वि०)। वाल्मीकीय और अध्यात्म आदि रामायणोंसे यह स्पष्ट है कि श्रीरामावतार सदा पुनर्वसु नक्षत्रमें होता है, यह अवतारका एक प्रधान नक्षत्र माना जाता है। सम्भवतः इससे 'हरि' शब्दसे पुनर्वसु नक्षत्रका अर्थ लिया गया हो। परंतु ज्योतिषके पण्डितोंसे पूछनेसे यह ज्ञात हुआ कि 'हरि' शब्दसे ज्योतिष शास्त्रमें श्रवण नक्षत्र ही अभिप्रेत होता है। 'प्रीतियोग' चैत्र शुक्लमें प्रायः द्वितीया वा तृतीयाको आता है और अधिक-से-अधिक षष्ठी और क्वचित् सप्तमीके आगे देखने या सुननेमें नहीं आता। सुकर्मा योग प्रायः श्रीरामनवमीको रहता है। ☞ तब यह प्रश्न होता है कि फिर 'हरि प्रीता' का अर्थ क्या है ? उत्तर यह हो सकता है कि दो नक्षत्र मिलकर अभिजित् नक्षत्र वा मुहूर्त होता है। उत्तराषाढ़ाका चतुर्थ चरण और श्रवणका प्रथम पंद्रहवाँ भाग मिलकर अभिजित् होता है। यथा '**वैश्वप्रान्त्याङ्घ्रि श्रुतितिथिभागतोऽभिजित्स्यात्।** ५३।' (मुहूर्तचिन्तामणि विवाहप्रकरण)। जन्मके समय इस मुहूर्तका अन्तिम अंश (अर्थात् श्रवणका अंश) रहता है। श्रवणनक्षत्रका देवता हरि अर्थात् विष्णु हैं; अतः '**हरि प्रीता**' से श्रवण-नक्षत्रका ग्रहण हुआ। इस तरह '**अभिजित हरिप्रीता**' का अर्थ है कि 'अभिजित् मुहूर्तके हरिप्रीता अर्थात् श्रवणांशमें जन्म हुआ अथवा, (३) '**हरि प्रीता**' श्लेषार्थी है। नवमी तिथि आदि सबके साथ भी यह लग सकता है। अर्थात् नवमी तिथि, मधुमास, शुक्लपक्ष और अभिजित् मुहूर्त ये सब हरिको प्रिय हैं। क्योंकि जब-जब श्रीरामावतार होता है तब-तब इसी योगमें होता है। अथवा, (४) हिरण्यकशिपु जो किसीसे जीता नहीं जा सकता था उसे भगवान्‌ने इसी मुहूर्तमें मारा इससे इस मुहूर्तको हरिका प्रिय कहा। अथवा, हरि=चन्द्रमा। हरिप्रीता=जो चन्द्रमाको प्रिय है उस कर्कलग्नमें। (वै०)। वा (५) हरि अर्थात् चन्द्रहोरा भौमवार और प्रीता अर्थात् बालवकरण। चन्द्रहोराका फल है कि शीलवान् होंगे। भौमवारका फल है कि स्वरूपवान् होंगे और बालवकरणका फल है कि अतुलबलसींव होंगे। (वै०)। (६) हरि= सिंहलग्न। प्रीता=प्रीति योग। (शीलावृत्त)। और भी कुछ लोगोंने सिंहराशिमें जन्म लिखा है; परंतु कर्क ही प्रायः अन्य सबोंके मतसे निश्चित है।

टिप्पणी—२ '**मध्य दिवस**···'इति। (क) अब इष्टकाल लिखते हैं अभिजित् मुहूर्त ठीक मध्याह्नमें होता है। (ख) '**अति सीत न घामा**' इति। भाव कि शीत भी कम है, घाम भी कम है। '**अति शीत घाम**' से दुःख होता है। (ग) '**पावन काल**' में जन्म कहकर जनाया कि सबको पवित्र करेंगे। (घ) लोक=लोग, यथा—'**लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः।**' विश्रामकालमें जन्म कहनेका भाव कि सबको विश्राम देंगे। पुनः अति शीत घाम नहीं है इसीसे यह काल सबको विश्रामदाता है। कालकी पावनता आगे लिखते हैं। पुनः '**मध्य दिवस**' कहकर '**अति सीत न घामा**' कहनेका भाव कि मध्याह्नकाल है इससे '**अति शीत**' नहीं है और '**अति घाम**' नहीं है इसका कारण आगे लिखते हैं कि '**सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।**' शीतल वायु चलती है, अतएव गरमी नहीं है।

वि० त्रि०—'**मध्य दिवस**···' इति। उजालेकी परकाष्ठा दोपहरका समय। प्रातःकाल होता तो शीत अधिक होता जाड़ेका शीत सह्य है पर चैत्रका शीत असह्य होता है, और मध्याह्नोत्तर गर्मी बढ़ जाती है। मध्याह्नका समय पवित्र है। इसमें संसार विश्राम करता है और प्रभु '**अखिल लोक दायक बिश्रामा**' हैं, अतः उनका जन्मकाल भी विश्रामदायक होना ही चाहिये।

नोट—३ श्रीदेवतीर्थस्वामीजी लिखते हैं—'**मंगलमय प्रभु जन्म समयमें अति उत्तम दस जोग परे। अपने-अपने नाम सदृश फल दसौ जनावत खरे-खरे ॥ १ ॥ ऋतुपति ऋतु पुनि आदि मास मधु शुक्लपक्ष नित धर्म मरे। अंक अवधि नवमी ससिबासर नखत पुनर्वसु प्रकृति चरे ॥ २ ॥ जोग सुकर्म समय मध्यं दिन रवि प्रताप जहँ अति पसरे। जयदाता अभिजित मुहूर्त बर परम उच्च ग्रह पाँच ठरे ॥ ३ ॥ नवमि पुनर्वसु परम उच्च रवि कबहुँ न तीनो संग अरे। एहि ते देवरूप कछु लखिये गाय गाय गुन पतित तरे ॥ ४ ॥**' (रामसुधायोगग्रन्थे)। अर्थात् मंगलमय श्रीरामजन्मसमयमें दस उत्तम योग पड़े थे। ये सब योग अपने-अपने नामके सदृश फल जना रहे हैं। इस तरह कि—(१) ऋतुपति वसन्त सब ऋतुओंका स्वामी वा राजा है और उसमें सर्दी-गर्मी समान रहती है। इससे जनाते हैं कि आप समस्त ब्रह्माण्डोंके राजा और सबको सम हैं, विषम किसीको नहीं। यथा—'**बैरिहु राम बड़ाई करहीं।**' (२) मधुमास अर्थात् चैत्रमास संवत्सरका आदि मास है, इसीसे संवत्का प्रारम्भ होता है। इससे जनाया कि काल, कर्म, गुण, स्वभाव, माया और ईश्वर जो जगत्‌के आदि हैं उन सबोंके भी ये आदि हैं। (अर्थात् ये आदिपुरुष हैं)। (३) शुक्लपक्ष स्वच्छ होता है। इससे जनाया कि आपके

मातृ-पितृ दोनों पक्ष अथवा आपके निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूप स्वच्छ हैं, स्वच्छ धर्मसे पूर्ण हैं। (४) 'नवमी'से जनाया कि जैसे 'नव' का अंक अंकोंकी सीमा है, इसके आगे कोई अंक नहीं, वैसे ही श्रीरामजी सबकी हद हैं, सीमा हैं, सबसे परे हैं, आपसे परे कोई नहीं है। (५) **'ससि बासर'** (अर्थात् चन्द्रवार। श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीके मतसे जन्म सोमवारको हुआ। मेरुतन्त्रका यही मत है)। चन्द्रवारका भाव कि जैसे चन्द्र आह्लादकारक, प्रकाशक और ओषधादिका पोषक है वैसे ही प्रभु सबके आनन्ददाता, प्रकाशक आदि हैं, यथा—**'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।', 'आनँदहू के आनँद दाता।'** (६) 'पुनर्वसु' नक्षत्रका भाव कि यह पुनः धन-सम्पत्तिका देनेवाला अथवा पुनः बसानेवाला है; वैसे ही श्रीरामजीके द्वारा देवताओंकी सम्पत्ति बहुरैगी और सुग्रीवादि उजड़े हुए पुनः बसेंगे। **'प्रकृति चरे'** का भाव कि पुनर्वसु नक्षत्र अपने प्रकृतिसे चर अर्थात् विचरणशील प्रकृतिका है; वैसे ही श्रीरामजी विचर-विचरकर लोगोंको सुख देंगे। विश्वामित्रके साथ फिरते हुए उनको सुखी करेंगे, दण्डकारण्यमें विचरकर ऋषियों आदिको सुख देंगे—**'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइजाइ सुख दीन्ह। ३। ९।'** इसी तरह लंकातक फिरेंगे और जलचर, थलचर, नभचर सभीको सुखी करेंगे। (७) **'सुकर्म योग'** से जनाया कि ये दुष्टोंका नाश करके सद्धर्मका प्रचार करेंगे, सदा सत्कर्ममें रत रहेंगे। अथवा जो इनको भजेगा वह सुकर्ममें लगेगा। (८) **'मध्य दिन रवि प्रताप जहँ अति पसरे'** अर्थात् मध्याह्नकालमें सूर्यका प्रताप पूर्ण फैला रहता है। वैसे ही आपका प्रताप ब्रह्माण्डभरमें प्रसरित रहेगा। (९) अभिजित् मुहूर्त अत्यन्त जयदाता है, वैसे ही आप विजयी होंगे और अपने भक्तोंको सदा जय प्राप्त कराते रहेंगे। (१०) **'परम उच्च ग्रह पाँच रहे'** इति। परम उच्च पाँच ग्रहोंके पड़नेका भाव यह है कि इनके नाम, रूप, लीला, गुण और धाम-ये पाँचों परम उच्च हैं। (उच्च ग्रहोंके नाम दोहा १९० में दिये जा चुके हैं)।

दस योगसे जनाया कि जो दसों दिशाओंमें व्याप्त है तथा चारों वेद और छओं शास्त्र जिसका यश गाते हैं, यह उन्हींका अवतार है। नवमी तिथि, पुनर्वसु और मेषके सूर्य कभी एकत्र नहीं होते। (इसका विशेष विवरण दोहा १९५ में देखिये)। यह योग श्रीरामजन्मके अवसरहीपर एकत्र हुए थे और कभी नहीं। इस योगसे प्रभुका **'अघटित घटना-पटीयसी'** होना सिद्ध हुआ और यह निश्चित हुआ कि इनके गुण गा-गाकर पतित तरे, तरते हैं और तरेंगे। (रा० प्र०)।

वैजनाथजी लिखते हैं कि श्रीरामजन्ममें षोडश योग पड़े हैं—(१) प्रभवनामक संवत्सर (जिसका फल है कि 'लोककी उत्पत्ति-पालन करनेवाला होगा')। (२) उत्तरायण (जिसका फल है—'सहज मुक्तिदायक होनेवाला')। (३-७) नवमी, चैत्र, शुक्लपक्ष, अभिजित्, वसन्त (ऋतुराज)। (८) भौमवार। (९) चन्द्रहोरा। (१०) बालवकरण। (११-१३) पुनर्वसु, सुकर्मयोग, मध्याह्नकाल। (१४) मेषके सूर्य (जिसका फल है वीरोंमें शिरोमणि होना)। (१५) कर्कलग्न। (१६) पञ्चग्रह परमोच्च (फल मण्डलेश्वर होना है)।—षोडश योगसे जनाया कि पूर्ण षोडशकलाके अवतार हैं।

वाल्मीकीय भूषण टीकामें श्रीरामजन्मपर जो उच्च ग्रह पड़े थे उनके फल इस प्रकार लिखे हैं—

जिसका एक ग्रह उच्चस्थानमें है उसके सर्व अरिष्टोंका नाश होता है। जिसके दो ग्रह उच्च हों वह सामन्त, तीन उच्च ग्रहोंवाला महीपति, चारवाला सम्राट् और जिसके पाँच ग्रह उच्च हों वह त्रैलोक्यनायक होता है। यथा—**'एकग्रहोच्चे जातस्य सर्वारिष्टविनाशनम्। द्विग्रहोच्चे तु सामान्तस्त्रिग्रहोच्चे महीपतिः॥ चतुर्ग्रहोच्चे सम्राट् स्यात् पञ्चोच्चे लोकनायकः।'** श्रीरामजन्मपर सूर्य, मंगल, गुरु, शुक्र और शनि-ये पाँच ग्रह उच्चके पड़े थे। सूर्यके उच्च होनेसे मनुष्य सेनापति होता है, मङ्गल उच्च होनेसे वनमें राजा, गुरु उच्च होनेसे धनी और राज्याधिपति, शुक्र उच्च होनेसे राजश्रीको प्राप्त और शनिके उच्च होनेसे राजाके तुल्य होता है। जन्मके समय गुरु-चन्द्र-योग और रवि-बुध-योग पड़े हैं। प्रथम योगका फल है कि मनुष्य दृढ़ सौहृदवाला, विनीत, बन्धुवर्गका सम्मान करनेवाला, धनेश, गुणवान्, शीलवान् और देवता तथा ब्राह्मणोंका माननेवाला होता है। रवि-बुध-योगका फल है कि वेदान्तवेत्ता, स्थिर सम्पत्तिवाला, यशस्वी, आर्य, राजाओं तथा सज्जनोंको प्रिय, रूपवान् और विद्यावान् होता है। चैत्रमासमें जन्म होनेसे मधुरभाषी और अहंकार सुखान्वित होता है। नवमीका फल है कि भुविख्याता, इन्द्रियजित्, शूर, पण्डित, सर्वभूतोंसे निर्भय हो। पुनर्वसुका फल है कि सहिष्णु (सहनशील), गूढ़वृत्ति (गम्भीर स्वभाव), लीला-प्रिय, निर्लोभ, अल्पमें संतोष और शीघ्र चलनेवाला हो। पुनर्वसुके चतुर्थ चरणमें जन्म होनेसे अत्यन्त रूपवान्, सज्जन, प्रियदर्शन, लक्ष्मीवान् और प्रियवादी होता है। लग्नमें गुरु पड़नेसे कवि, गवैया, प्रियदर्शन, सुखी, दाता, भोक्ता, राजाओंसे पूजित, पवित्रात्मा और देवद्विजाराधनमें तत्पर होता है। (सर्ग १८ श्लोक ८)।
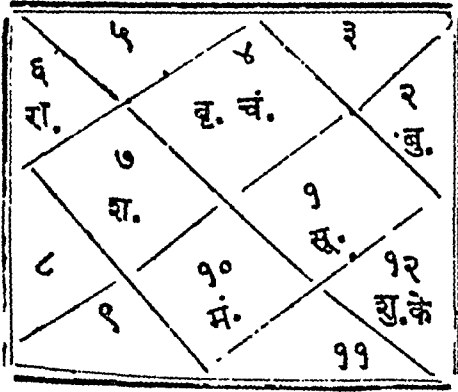
जन्मकुण्डली (वै०) (पं० ज्वालाप्रसाद)
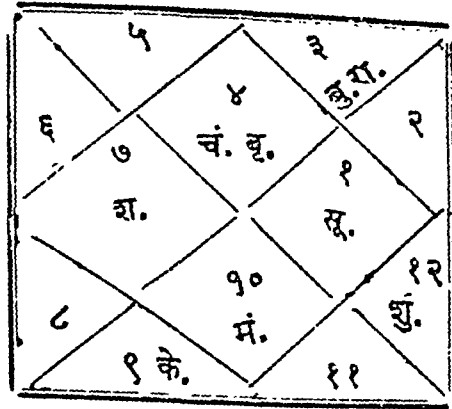
इन कुण्डलियोंसे पुष्य नक्षत्रमें जन्म होना चाहिये पर पुनर्वसु नक्षत्र ही वाल्मीकि आदिमें लिखा है। प्रभुकी कुण्डली भी अघटितघटनापटीयसी वसिष्ठजीने ही बनायी होगी, आजके ज्योतिषीके सामर्थ्यसे बाहरकी बात है। परंतु जो कुण्डलियाँ लोगोंने दी हैं वह हमने उद्धृत कर दी हैं।

प० प० प्र०—१ अभिजित् नक्षत्र चैत्रशुक्ल ९ को नहीं आ सकता, अतएव 'अभिजित मुहूर्त' ही यहाँ समझना चाहिये। यह १५ मुहूर्तोंमेंसे एक है। यथा—'वैरागनामा विजयः सिताख्यः सावित्रमैत्रौ अभिजित् बलश्च। सर्वार्थ-सिद्ध्यै कथिता मुहूर्ता मौहूर्तिकैरत्र पुराणविद्भिः (मुहूर्तसिन्धौ)॥ ये मुहूर्त्त सर्वकार्योंके लिये शुभ हैं। २—श्रीरामजन्म-कालीन ग्रहादि योग। पुनर्वसु नक्षत्र, कर्कराशिस्थ सूर्य, नवमी तिथि और शुक्लपक्ष इत्यादि उल्लेख अनेक रामायणोंमें हैं पर आजकल जिस पद्धतिसे तिथि आदिकी गणना करते हैं, उससे इन चार बातोंका एक समय अस्तित्व असम्भव है।

एक तिथि १२ अंशोंकी होती है। सूर्य और चन्द्रमें १२ अंशोंका अन्तर होनेपर एक तिथि पूर्ण होती है। सूर्य और चन्द्रमें जब बिलकुल अंशकला विकलात्मक अन्तर नहीं रहता तब अमावस्या पूर्ण होती है। अतः अष्टमीके पूर्ण होनेके लिये सूर्यके आगे ९६° अंश चन्द्रमा चाहिये, तत्पश्चात् नवमीका आरम्भ होगा। सूर्य मेषराशिके पहले अंशमें हैं, ऐसा माना जाय तो भी १+९६=९७ अंशमें चन्द्रमा होगा तब नवमीका आरम्भ हो सकता है, पर चन्द्र पुनर्वसु नक्षत्रमें कर्कराशिका है। मेष + वृषभ + मिथुन=९०° अंश हुए। अश्विनीसे पुनर्वसुके तीन चरण=९०° अंश होते हैं। पुनर्वसुके अन्तिम कलामें चन्द्र है, ऐसा माना जाय तो भी ९०° + ३-२०=९३ अंश २० कला ही अन्तर पड़ता है; नवमीका आरम्भ नहीं हो सकता है। यह तब शक्य हो सकता है जब राशिविभागों और ग्रहोंकी गणना सायन पद्धतिसे की जाय और नक्षत्र-गणना नक्षत्र-विभागके अनुसार हो। यह शङ्का 'केसरी' पत्रमें एक बार इस दासने प्रकट की थी पर किसीने भी समाधान नहीं किया। हिन्दी ज्योतिषी इसपर विचार करके समाधान करनेका प्रयत्न करें तो अच्छा होगा।

वि० त्रि०—श्रीरामावतार क्या है, यह रामायणोंसे ही नहीं मालूम होता, जो कि उनके गुणानुवादके लिये बने ही हैं; बल्कि वह अलौकिकी ग्रहस्थिति बतलाती है जिसका फलादेश महर्षि भृगुने किया है। पाठकोंकी जानकारीके लिये हिन्दी अनुवाद सहित फलादेश निम्नलिखित है—

अथ वेदसागरस्तवः

(पूर्णत्रिंशत्क्षेपा च) कर्कटे चन्द्रवाक्पती। कन्यायां सिंहिकापुत्रस्तुलास्थो रविनन्दनः॥ १॥
पाताले मेदिनीपुत्रो वृषस्थश्चन्द्रमासुतः। आकाशे मेषभे सूर्यः झषस्थौ केतुभार्गवौ॥ २॥
सर्वग्रहानुमानेन योगोऽयं वेदसागरः। वेदसागरके जातः पूर्वजन्मनि भार्गव॥ ३॥
पूर्णब्रह्म स्वयं कर्ता सप्रकाशो निरञ्जनः। निर्गुणो निर्विकल्पश्च निरीहः सच्चिदात्मकः॥ ४॥
गिरा ज्ञानं च गोतीत इच्छाकारी स्वरूपधृक्। विना घ्राणं सदाघ्राणी विना नेत्रे च वीक्षकः॥ ५॥
अकर्णेन श्रुतं सर्वं गिरा हीनं च भाषितम्। करहीनं कृतं सर्वं कर्मादिकं शुभाशुभम्॥ ६॥
पदहीना गतिः सर्वा कुशला सकला क्रिया। स्वरूपे रूपहीनश्च समर्थः सर्वकर्मसु॥ ७॥
त्रैविद्यस्त्रिगुणः कालस्त्रिलोकी सचराचरः। महेन्द्रो देवताः सर्वा नागकिन्नरपन्नगाः॥ ८॥
सिद्धविद्याधरो यक्षा गन्धर्वाः सकलाः कवे। राक्षसा दानवाः सर्वे मानवा वानराण्डजाः॥ ९॥

सागराश्च खगा वृक्षाः पशुकीटादयस्तथा । शैला नद्यः कलाः सर्वा मोहमायादिकाः क्रियाः ॥ १० ॥
इच्छा माया त्रिवेदाश्च निर्मिता विविधाः क्रियाः । शरण्यः सर्वदा शान्तः अलक्ष्यो लक्षकः सदा ॥ ११ ॥
जरामरणहीनश्च महाकालस्य चान्तकः । सर्वं सर्वेण हीनोऽपि सचराचरदर्शकः ॥ १२ ॥
पूर्वापरक्रिया ज्ञानी शृणु शुक्र न चान्यथा । प्रेरितः सर्वदेवैश्च कालान्तरगते कवे ॥ १३ ॥
धरित्री ब्रह्मणो लोको जगाम दुःखपीडिता । शिवो ब्रह्मा सुराः सर्वे प्रार्थयाञ्चक्रुर्मुहुः ॥ १४ ॥
सुदुःखं वचनं श्रुत्वा देववाणी भवेत् कवे । धैर्य्यमाध्वं सुराः सर्वे प्रार्थना सफला भवेत् ॥ १५ ॥
श्रुत्वा हृष्टाः सुराः सर्वे जगाम क्षितिमण्डले । नरवानररूपं च धृत्वा ब्रह्मेच्छया कवे ॥ १६ ॥
यत्र तत्र सुराः सर्वे हरिदर्शनमानसाः । अधर्मनिरतान् लोकान् दृष्ट्वा कष्टेन पीडितान् ॥ १७ ॥
तत इच्छा प्रभावेण गोब्राह्मणसुरार्थकम् । मायामानुषरूपेण जगदानन्दहेतवे ॥ १८ ॥
आजगाम धरापृष्ठे कोशलाख्ये महापुरे । इक्ष्वाकुवंशे भो शुक्र भूत्वा मानुषरूपधृक् ॥ १९ ॥
सरय्वा दक्षिणे भागे महापुण्ये च क्षेत्रके । मधुमासे च धवले नवम्यां भौमवासरे ॥ २० ॥
पुनर्वसौ च सौभाग्ये मातृगर्भात्समुद्भवः । मन्मथानां च कोटीनां सुन्दरः सागरोपमः ॥ २१ ॥
श्यामाङ्गं मेघवर्णाभं मृगाक्षं कान्तिमत्परम् । भव्याङ्गं भव्यवर्णं च सर्वसौन्दर्यसागरम् ॥ २२ ॥
सर्वाङ्गेषु मनोहरमतिबलं शान्तमूर्तिं प्रशान्तम् । वन्दे लोकाभिरामं मुनिजनसहितं सेव्यमानं शरण्यम् २३
कोटिवाक्पतिश्रीमांश्च कोटिभास्करभास्वरः । दयाकोटिसागरोऽसौ यशःशीलपराक्रमी ॥ २४ ॥
सर्वसारः सदा शान्तः वेदसारो हि भार्गव । दशवर्षसहस्राणि भूतले स्थितिमानसौ ॥ २५ ॥
चतुर्दशसमाः शुक्र अभ्रमच्च वने वने । राक्षसानां वधार्थाय दुष्टानां निग्रहाय च ॥ २६ ॥
प्रादुर्भूतो जगन्नाथो मायामानुषवत्कवे । अयोध्यानगरे शुक्र वहुवत्सरसहस्रकम् ॥ २७ ॥
नानामुनिगणैर्युक्तो विहरन् धर्मवत्सलः । सर्वे साकं स्वमायाभिरन्तर्धानमियात्कवे ॥ २८ ॥
इच्छया लीलया युक्तः स्वीये लोके वसेत्सदा । मायाक्रीडा पुनर्भूयात् काले काले युगे युगे ॥ २९ ॥
लोकानां च हितार्थाय कलौ चैव विशेषतः । पठनाच्छ्रवणात्पुण्यं कल्याणं सततं भवेत् ॥ ३० ॥
निर्भयं नात्र सन्देहः सत्यं सत्यं न संशयः । श्रीभृगुसंहितायां श्रीभृगुशुक्रसंवादे षट्त्रिंशतिक्षेपान्तरे वेदसागरफलं समाप्तम् ।

वेदसागरस्तवका हिन्दी-अनुवाद—कर्कके चन्द्र और गुरु, कन्याके राहु, तुलाके शनि, मकरके मङ्गल, वृषके बुध, मेषके सूर्य्य, मीनके शुक्र और केतु—यह वेदसागरयोग है । हे भार्गव ! वेदसागरसें उत्पन्न होनेवाला, पूर्वजन्ममें पूर्णब्रह्म, स्वयं कर्ता, स्वप्रकाश, निरंजन, निर्गुण, निर्विकल्प, निरीह, सच्चिदात्मा, गिराज्ञानगोऽतीत, इच्छानुकूल स्वरूप धारण करनेवाला था । बिना घ्राणके सूँघता था, बिना पैरके चलता था । स्वरूपसे रूपहीन होनेपर भी सब कार्योंमें समर्थ था । वही वेदत्रयीरूप था, त्रिगुण था, कालरूप भी वही था । चर और अचर तीनों लोकरूप भी वही था । महेन्द्र, देवता, नाग, किन्नर, पन्नग, सिद्ध, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्वरूप भी वही था । राक्षस, दानव, मनुष्य, बन्दर, अण्डज, सागर, पक्षी, वृक्ष, पशु, कीटादिक, पर्वत, नदी—सब उसकी कला है, मोहादिक क्रियाएँ हैं । उसने इच्छा, माया, तीनों वेदों और क्रियाकलापको बनाया ।

वह सदा शान्त, शरण्य, अलक्ष्य होनेपर भी सदा लक्षक है । वह जरा-मरण-विहीन है और महाकालका भी काल है । सबसे हीन होनेपर भी सब कुछ है, चराचरका दर्शक है । हे शुक्रजी ! सुनो ! वह पहिली-पिछली क्रियाओंको जानता है, इसमें सन्देह नहीं । हे कवि ! पूर्वकालमें सब देवताओंसे प्रेरित होकर दुखी पृथ्वी ब्रह्मलोकको गयी । शिव, ब्रह्मा तथा सब देवताओंने बार-बार प्रार्थना की । हे कवि ! आर्तवाणी सुनकर देववाणी हुई—हे देवताओ ! धैर्य धारण करो, तुम लोगोंकी प्रार्थना सफल हुई ! यह सुनकर देवतालोग प्रसन्न होकर पृथ्वीमण्डलमें गये । ब्रह्माजीकी इच्छासे सबने वानरका रूप धारण किया और जहाँ-तहाँ हरिदर्शनकी लालसासे ठहरे ।

संसारमें अधर्ममें लगे हुए लोगोंको कष्टसे पीड़ित देखकर इच्छाके प्रभावसे गो, ब्राह्मण और देवताके लिये मायासे मनुष्य-रूप धारण करके जगत्के आनन्दके लिये पृथ्वीपर-कोशलपुरमें, हे शुक्र ! इक्ष्वाकुवंशमें सरयूके दक्षिण भागमें अवतीर्ण हुए । चैत्र सुदी नवमीको मङ्गलवार, पुनर्वसु नक्षत्रमें उत्पन्न हुए—कोटिकामन्सी सुन्दरता, मेघवर्ण, श्यामाङ्ग, मृगाक्ष, परम

कान्तिमान्, भव्याङ्ग, भव्यवर्ण, सभी सुन्दरताओंके समुद्र, उनके सभी अङ्गोंमें मनोहरता थी, अति बलवान् थे, शान्त, अति प्रसन्न, लोकको सुख देनेवाले मुनिजनके सहित, सेव्यमान और शरण्यकी मैं वन्दना करता हूँ। वे करोड़ों वाक्पतिके समान श्रीमान् हैं, करोड़ों सूर्यके भी सूर्य हैं, करोड़ों दयाके समुद्रोंके समान हैं, बड़े यशस्वी, शीलवान् और पराक्रमी हैं। हे भार्गव! वे सर्वसार, सदा शान्त और वेदसार हैं। दस सहस्र वर्षतक पृथ्वीपर थे। हे शुक्र! चौदह वर्षोंतक वन-वनमें घूमते रहे। राक्षसोंके वध और दुष्टोंके निग्रहके लिये मायामानुषरूपसे जगन्नाथका प्रादुर्भाव हुआ था। अनेक सहस्र वर्षोंतक वे धर्मवत्सल मुनिलोगोंके साथ विहार करते थे। हे कवि! तत्पश्चात् सबके साथ अपनी मायासे अन्तर्धान हो गये। इच्छासे लीलायुक्त होकर अपने लोकमें सदा बसते हैं। लीला मायासे फिर काल पाकर युग-युगमें लोकके हितके लिये विशेषतः कलियुगमें फिर होवेंगे।—इसके पढ़नेसे, सुननेसे सदा पुण्य और कल्याण होता है, निर्भयता प्राप्त होती है। यह सत्य है, सत्य है, इसमें संशय नहीं।

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन मन चाऊ॥ ३॥
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। स्रवहिं सकल सरितामृतधारा॥ ४॥

शब्दार्थ—सुरभि=सुगन्धित। बाऊ=वायु। चाऊ=चाव, उत्साह। मनिआरा (मणि-आकर)=मणियोंकी खानोंसे युक्त। कुसुमित=पुष्पित, फूलोंसे युक्त, फूले हुए। स्रवना=बहाना। अमृत=मधुर जल।

अर्थ—(सब लोगोंका विश्रामदाता पावन काल है यह कहकर अब वह विश्राम कहते हैं कि) शीतल, मन्द (धीमी) और सुगन्धित वायु चल रही है। देवता हर्षित (प्रसन्न एवं आनन्दित) हैं। सन्तोंके मनमें आनन्द उमँग रहा है॥३॥ वन फूले हुए हैं, पर्वतोंके समूह मणियोंकी खानों एवं मणियोंसे युक्त हो गये। अर्थात् पर्वतोंपर मणियोंकी खानें प्रकट हो गयीं (जिससे पर्वत भी जगमगाने लगे हैं)। सभी नदियाँ अमृतकी धारा बहा रही हैं॥ ४॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी '**स्रवहिं सकल सरितामृतधारा**' का अर्थ करते हैं—'सब पर्वत अमृत अर्थात् मधुर जलकी नदी स्रवते हैं।' अमृत=मधुर जल, यथा—'**अमृतं मधुरं जलम् इत्यनेकार्थे**।' २—'मनिआरा' का अर्थ शब्दसागरमें 'देदीप्यमान, शोभायुक्त, सुहावना, चमकीला' दिया है। पर यहाँ यह अर्थ ठीक नहीं जँचते। मनिआरा शब्द मणि + आरा प्रत्ययसे मिलकर बना है। इस प्रकार, मणिआरा=मणियुक्त, मणिवाला। अथवा मणिआर=मणिआकर वा मणिआकरयुक्त—यह अर्थ इस प्रसङ्गकी जोड़वाले श्रीगिरिजा जन्म प्रसङ्गसे मिलान करनेसे ठीक जान पड़ते हैं। वहाँ जो कहा है कि '**प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाँति**' वही भाव '**गिरिगन मनिआरा**' का है।

टिप्पणी—१ (क) ऊपर जो कहा था कि '**पावन काल लोक बिश्रामा**' और '**चर अरु अचर हर्ष जुत**' उन्हींका यहाँ विवरण करते हैं। शीतल, मन्द और सुगन्धित वायुका चलना विश्राम और शान्तिका देनेवाला होता है। सुर और संत विशेष दुखी थे, यथा—'**सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका**' '**मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा**' '**निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥**' सो वे सब सुखी हुए। चाऊ (चाव)=प्रसन्नता, आनन्द, हर्ष, उमङ्ग, अनुराग। दोहेमें प्रथम चर शब्द है तब अचर; उसी क्रमसे यहाँ प्रथम सुर और सन्तोंका सुख कहा। ये 'चर' हैं। आगे '**बन कुसुमित**⋯' यह अचरका हर्ष कहते हैं। (ख) सुर और सन्तोंके मनमें हर्ष है, इस कथनका तात्पर्य यह है कि सुरके विपर्ययमें असुर और सन्तके विपर्ययमें खल, ये दुखी हुए; यथा—'**सुखी भए सुर-संत-भूमिसुर खलगन मन मलिनाई। सबइ सुमन बिकसत रबि निकसत कुमुद बिपिन बिलखाई॥ गी० १।१।**' '**अमर-नाग-मुनि मनुज सपरिजन बिगत बिषाद गलानी। मिलेहि माँझ रावन रजनीचर (रजधानी ?) लंक संक अकुलानी। गी० १।४।**' [अथवा सुर हर्षित हुए क्योंकि राक्षसोंके नाशक प्रभु प्रकट हुए, अब रावणजनित क्लेश मिटेगा और सन्तोंके मनमें आनन्दकी वृद्धि हुई कि जिसको शिवादि ध्यानमें नहीं पाते उनके प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। (वै०, रा० प्र०)] (ग) यहाँ प्रथम '**सीतल मंद सुरभि बह बाऊ**' लिखकर तब तीसरे चरणमें जाकर '**बन कुसुमित गिरिगन**⋯' इत्यादि लिखकर जनाया कि पवनके शीतल, मन्द और सुगन्धित होनेके कारण '**बन कुसुमित**' और '**सरितामृत धारा**' नहीं हैं अर्थात् यहाँ जो पवन चल रहा है वह वनकी आड़मेंसे आनेके कारण मन्द हो यह बात यहाँ नहीं है और न फूलोंका स्पर्श होनेसे वह सुगन्धयुक्त है तथा नदियोंके जलके स्पर्शसे उसमें शीतलता हो सो भी बात नहीं है; यह वायु स्वाभाविक

ही शीतल, मन्द और सुगन्धित थी, किसी कारणसे शीतल आदि नहीं है। प्रभुकी सेवाके लिये वन कुसुमित हो गये, शीतल मन्द-सुगन्धित वायु चलने लगी, इत्यादि।

प० प० प्र०—१ 'शीतल मंद सुरभि वायु और वन कुसुमित' यह तो वसन्त ऋतुका सामान्य लक्षण है। इसमें अवतारका वैशिष्ट्य ही क्या है ?' इस शंकाका समाधान 'संतन मन चाऊ' से कहा है। वसन्त तो 'काम कृशानु बढ़ावनिहारा' होता है, उससे संतोंके मनमें चाव नहीं होता, कामियोंमें चाव होता है। इस समय संतोंको ऐसा अनुभव हो रहा है कि 'शीतल मंद सुगन्ध वायु' भक्तिरसको बढ़ानेवाला है अतः वायुका स्वभाव रामजन्मपर बदल गया है। २ कामदेवनिर्मित वसन्तवर्णनमें वृक्षोंका कुसुमित होना कहा गया है, यथा—'कुसुमित नव तरु राजि बिराजा'। १। ८६। ६।', इसी तरह अरण्यकाण्डमें भी वसन्त-वर्णनमें 'बिबिध भाँति फूले तरु नाना'। ३। ३८। ३।' कहा गया है। किन्तु यहाँ 'तरु कुसुमित' न कहकर 'बन कुसुमित' कहा गया। यह भेद करके जनाया कि वनके सभी वृक्ष फूलोंसे ऐसे लद गये हैं कि वृक्षादि कुछ देखनेहीमें नहीं आते, वनमें केवल फूल-ही-फूल दीखते हैं।

वि० त्रि०—'हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ' से दैव सर्गका आनन्दोद्रेक कहा, आसुरका नहीं। 'चर अरु अचर हर्षयुत' से सृष्टिमात्रका सत्वोद्रेक कहा।

टिप्पणी—२ (क) 'बन कुसुमित·····' इति। 'बन' कथनसे अनेक जातिके वृक्षोंका ग्रहण हुआ। 'बन कुसुमित' अर्थात् नाना जातिके वृक्ष फूले हैं, यथा—'सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति। १।६५।' (ख) 'स्रवहिं सकल सरितामृतधारा' इति। पहाड़से नदीकी उत्पत्ति है, इसीसे पहाड़को कहकर तब नदीकी उत्पत्ति कही; यथा—'भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥ रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहँ आई। २१।', 'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ पाप पहार प्रगट भइ सोई। २। ३४।', 'प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाँति। सरिता सब पुनीत जलु बहहीं। १। ६५।', 'स्रवहिं सयल जलु निर्झर भारी। सोनित सर कादर भयकारी॥ ६। ८६।' इत्यादि,—तथा यहाँ क्रमसे वर्णन किया। (ग) 'बन कुसुमित' कहकर 'गिरिगन मनिआरा' कहनेका भाव कि पर्वतोंपर वृक्षोंके ऊपर फूल फूले हैं और वृक्षोंके नीचे पहाड़पर मणियाँ बिथर रही हैं तथा पहाड़के नीचे अमृतधारा नदी बह रही है। (घ) [पुनः 'गिरिगन मनिआरा' कहनेका भाव कि मणियोंके खानोंके प्रकट हो जानेसे सब लोग धनवान् हो गये और नदियोंमें अमृतजल बहनेसे सब स्नान-पानसे सुखी हुए। (वै०)। अथवा, पुष्पाञ्जलि देनेके लिये वन कुसुमित हुए, श्रीरघुनाथजीको नजर-भेंट देनेके लिये गिरिगण मणिखानियुक्त हुए और अर्घ्य, आचमन आदि देनेके लिये नदियाँ अमृतसमान जल बहने लगीं। (रा० प्र०)] (ङ) यहाँ प्रथम उल्लास अलंकार है।

प० प० प्र०—३ इन सबोंमें वायु ही बड़भागी है, यह सूतिकागृहतक पहुँचेगा। वन और सरित स्थावर हैं। वायु मन्द-मन्द चल रही है, इसलिये वे पुष्पोंको वहाँतक नहीं पहुँचा सकते, अतः वनने सुगन्ध भेंटमें भेज दिया और सरिताने अपने जलकी शीतलताको वायुके साथ प्रभुकी सेवामें भेज दिया।

४ वसन्तवर्णनमें प्रथम कुसुमित वृक्षोंका वर्णन होता है तब त्रिविध वायुका। १-८६-६, १। १२६। २-३, ३। ४०। ७-८ देखिये। पर यहाँ क्रमभंग है और बीचमें सुर-संतोंका वर्णन है। इससे जनाया कि ब्रह्मलोकसे त्रिविध वायु तथा इन्द्रलोक और नन्दनवनकी वायु जब नीचेकी तरफ बहने लगी तब ब्रह्मलोकसे इन्द्रलोकतकके सुरोंने जान लिया कि भगवान्‌के प्राकट्यका अवसर आ गया। अतः उनको हर्ष हुआ, केवल त्रिविध वायुसे हर्ष नहीं हुआ क्योंकि वह तो वहाँ सदा सुखद बहता ही है। जब वह वायु श्रीअयोध्याजीमें पहुँचा और भक्तिरस बढ़ानेवाला ठहरा तब संतोंने जान लिया जिससे उनके मनमें उत्साह बढ़ा।

सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥ ५॥
गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्ब बरूथा॥ ६॥

अर्थ—जब ब्रह्माजीने वह (प्रभुके प्रकट होनेका) अवसर जाना तब (वे और उनके साथ) समस्त देवता विमान सजा-सजाकर चले॥ ५॥ निर्मल आकाश देवसमाजोंसे भर गया, गन्धर्वोंके दल गुणगान करने लगे॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक प्रभुके प्रगट होनेका अवसर कहा। 'जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ' उपक्रम है और

'सो अवसर बिरंचि' उपसंहार है। (ख) 'बिरंचि जब जाना' का भाव कि ब्रह्माजीके जाननेसे ही वह अवसर निश्चित हुआ। 'सकल सुर' कहनेका भाव कि सभी देवता भगवान्‌के सेवक हैं। (ग) 'सो अवसर' अर्थात् जिसका उल्लेख ऊपर करते आ रहे हैं। अर्थात् जिस अवसरमें काल, पंचतत्त्व, और चराचरमात्र प्रभुकी सेवा करने लगते हैं, उस अवसरमें उनका आविर्भाव होता है। इस समय ये सब सेवामें तत्पर हैं।—'जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल। १९०।' यह कालकी सेवा कही, आगे टिप्पणी २ में पंचतत्त्वकी सेवा दिखायी है। 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।' से लेकर 'सरितामृतधारा।' तक चराचरकी सेवा कही, इत्यादि—उस समयकी विलक्षणतासे विरञ्चि समझ गये कि प्रभु प्रकट होनेको हैं, उनके ही प्रकट होनेके समय यह सब बातें होती हैं। (घ) 'चले' अर्थात् देवलोकसे श्रीअवधको चले। (ङ) 'सकल सुर साजि बिमाना' इति। इससे देवताओंके मनका परम उत्साह दिखाया। (च) 'साजि' कहकर जनाया कि विमानोंको पताका, माला आदिसे आभूषित किया, अपनी-अपनी सेवाकी वस्तुएँ उनमें रख लीं, गन्धर्वोंने गानेके बाजे साथ ले लिये, फूल बरसाने वालोंने फूल रख लिये, नगाड़े बजानेवालोंने नगाड़े रख लिये। इत्यादि। (च) 'सकल सुर चले' इसीसे 'गगन संकुल सुर' कहा।

२ (क) 'योग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल' से पाँचों तत्त्वोंका अनुकूल होना कहा। 'मध्य दिवस अति सीत न घामा' इसमें अग्नि वा तेज तत्त्वका अनुकूल होना कहा। 'घाम' अर्थात् तेज अत्यन्त नहीं है परंच सुखद हो गया। 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ' से पवन तत्त्वकी; 'बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा' से पृथ्वीतत्त्वकी, (क्योंकि गिरि पृथ्वीतत्त्व है); 'स्रवहिं सकल सरितामृतधारा' से जलतत्त्व और 'गगन बिमल…' से आकाशतत्त्वकी अनुकूलता कही। पंचतत्त्व अनुकूल हुए; यथा गीतावली ग्रन्थे 'ब्योम पवन पावक जल थल दिसि दसहु सुमंगल मूल। १। २।' (ख) संकुल=व्याप्त=संकीर्ण=भरा हुआ। निर्मल आकाश सुरयूथोंसे व्याप्त है, यह कहकर आगे इनकी सेवा कहते हैं। गन्धर्वोंके दल गुण गाते हैं, कोई फूल बरसाते हैं, कोई नगाड़ा बजाते हैं, कोई स्तुति कर रहे हैं। प्रथम गन्धर्वोंका गाना लिखा, क्योंकि समस्त सेवाओंमें भगवत्-गुणगान विशेष सेवा है। वरूथ-के-वरूथ गा रहे हैं, यह कहकर जनाया कि सभी सेवा कर रहे हैं; यही आगे कहते भी हैं—'बहु बिधि लावहिं निज-निज सेवा।' इस समय सब भगवान्‌की स्तुति करने आये हैं इसीसे भगवान्‌के गुण गाते हैं। (ग) 'गगन बिमल' यह आकाशकी शोभा कही। 'संकुल सुरजूथा' यह भी आकाशकी शोभा है। (घ) 'गगन बिमल संकुल…' इति। तात्पर्य कि देवलोकोंसे देवता चलकर श्रीअयोध्याजीके ऊपर आये, तब भारी भीड़ हो गयी, अवधके ऊपर जितना आकाश है वह सब भर गया। (आकाशके) बीचमें व्याप्त होना नहीं कहा क्योंकि बीचमें आकाश बहुत है और देववरूथ बराबर चले आ रहे हैं। अयोध्याजीके ऊपर आकाश कम है और सब देवताओंके विमान वहाँ ठहर गये हैं, इसीसे भारी भीड़ हो गयी, अतः 'गगन संकुल' कहा। जब श्रीअयोध्याजीके ऊपर आये तब गन्धर्वगण गुणगान करने, पुष्प बरसाने, नगाड़े बजाने और स्तुति करने लगे। [गीतावलीमें भी कहा है—'सुर दुंदुभी बजावहिं गावहिं हरषहिं बरषहिं फूल। १। २।']

प० प० प्र०—प्रारम्भमें विरञ्चि और अन्तमें गन्धर्वोंको कहकर जनाया कि ब्रह्मलोकसे लेकर गन्धर्वलोकतकके सब देवगण उपस्थित हुए। गन्धर्वलोक समस्त सुरलोकोंके नीचे है, यह तैत्ति० उ० ब्रह्मानन्दवल्लीसे ज्ञात होता है। नीचेसे ऊपरको क्रमशः लोक इस प्रकार हैं—मनुष्यलोक, मनुष्यगन्धर्वलोक, देवगन्धर्वलोक, पितृलोक, आजान देवलोक, कर्मदेवलोक, सूर्यादि और दिक्‌पाललोक, बृहस्पतिलोक, ब्रह्मलोक। अभीतक नागों और मुनियोंका उल्लेख न होनेसे सूचित हुआ कि इनको समाचार पीछे मिला।

बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी॥ ७॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा॥ ८॥

शब्दार्थ—गहगह=बड़ी प्रफुल्लता वा आनन्दके साथ, घमाघम, धूमधामसे, बहुत अच्छी तरह। लावहिं=लगाते हैं। लाना व लावना=लगाना।=करना। यथा—'तजि हरिचरन सरोज सुधारस रबिकर जल लय लायो।' (वि० १९९), 'गई न निजपर बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लायो।' (वि० २०१), 'इहै जानि चरनन्ह चित लायो।' (वि० २४३), 'बिषय बबूर बाग मन लायो।' (वि० २४४।

अर्थ—सुन्दर अञ्जलियोंमें फूलोंको सज-सजाकर पुष्पोंकी वर्षा करते हैं। आकाशमें नगाड़े घमाघम बज रहे हैं। ७। नाग, मुनि और देवता स्तुति कर रहे हैं और बहुत प्रकारसे अपनी-अपनी सेवा लगाते हैं। ८।

टिप्पणी—१ (क) '**बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी**' इति। 'बरषहिं' से जनाया कि निरन्तर पुष्पवृष्टि कर रहे हैं, अन्तर नहीं पड़ने पाता। 'गहगह' से जनाया कि जोर-जोरसे बजा रहे हैं। 'साजी' का भाव कि जो फूल भारी हैं या कठोर हैं। उनकी कली बनाकर बरसाते हैं जिसमें किसीके लगे नहीं। '**सुअंजुलि साजी**'से जनाया कि विधिपूर्वक पुष्पकी वृष्टि करते हैं। फूलोंकी पाँखुरी अलग-अलग करके हाथोंकी अञ्जलियोंमें भर-भरकर बरसाना देवविधि है जिसे 'पुष्पाञ्जलि' कहते हैं। पुष्पवृष्टिद्वारा अपने हर्ष और मांगलिक समयकी सूचना दे रहे हैं। (ख) '**अस्तुति करहिं**''''' इति। प्रथम स्वर्गवासी देवताओंका आगमन कहा और अब पातालवासी नाग देवताओंका स्तुति करना कहते हैं; इसका तात्पर्य यह है कि आनेमें दोनोंका साथ न था। ब्रह्माजीके साथ जो देवता चले वे स्वर्गसे आये, पुष्पवृष्टि करने तथा नगाड़े बजाने लगे, इतनेहीमें नाग पातालसे आ गये; अतः स्तुति करते समय सबका संग और समागम हो गया था; इसीसे वहाँ नाग, मुनि और स्वर्गके देवता सबको साथ लिखते हैं।

वि० त्रि०—जबतक देवतालोग मार्गमें रहे तबतक प्रभु प्रकट नहीं हुए। जब देवता अपने-अपने लोकोंमें पहुँच गये तब प्रकटे, अर्थात् उनके भी विश्राम पानेपर प्रकटे। '**जगनिवास**' का प्रकट होना मायाका पर्दा हटनेपर ही सम्भव है।

नोट—१ अभी तो प्रभु प्रकट नहीं हुए तब स्तुति अभीसे कैसी? यह शंका उठाकर उसका समाधान भी लोगोंने कई प्रकारसे किया है। सन्त उन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि 'देवताओंने देखा कि नौ माससे अधिक हो गये, प्रभु अभीतक प्रकट न हुए, अतएव घबराकर वे पुनः गर्भस्तुतिमें उद्यत हुए। इस प्रकार भगवान्‌को सुरति करा रहे हैं। यद्वा आश्चर्य प्रभावका उदय देख अपने कार्यके होनेकी प्रतीति हुई तो मारे हर्षके अवतारसे पहिले ही स्तुति करने लगे। तीसरा समाधान यह किया जाता है कि यह सनातन रीति है कि जब-जब श्रीरामावतार होता है तब-तब प्रथम स्तुति होती है तब भगवान् प्रकट होते हैं।

२ '**बहु बिधि लावहिं निज-निज सेवा**' इति। '**बहु बिधि**' अर्थात् फूल बरसाकर, नाच-गाकर, स्तुति करके, इत्यादि। यही सेवा है जो उपहाररूपसे स्वामीकी भेंटमें लगा रहे हैं।

दोहा—सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम।
जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम॥१९१॥

शब्दार्थ—जगनिवास=जिनका विश्वमात्रमें और जिनमें विश्वमात्रका निवास है।

अर्थ—समूह देवता अर्थात् समस्त देववृन्द विनती कर-करके अपने-अपने धाममें पहुँचे। जगत्-मात्रमें जिनका निवास है, जो समस्त लोकोंके विश्रामदाता हैं वे प्रभु प्रकट हो गये*। १९१।

टिप्पणी—१ पूर्व सब देवताओंका आगमन लिखा—'**चले सकल सुर साजि बिमाना।**' इसीसे अब उनका जाना लिखते हैं,—'**पहुँचे निज निज धाम**'। पूर्व लिखा था कि '**सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले**'''' जिससे यह समझा जाता है कि ब्रह्मलोकके सब देवता आये, अन्यत्रके नहीं; यह संदेह निवारण करनेके लिये यहाँ '**पहुँचे निज निज धाम**' लिखा। अर्थात् समस्त देवलोकोंके देवता आये थे। ब्रह्मलोक सब लोकोंके ऊपर है, जब ब्रह्माजी श्रीअवधको चले तब सब लोक बीचमें पड़े। ब्रह्माजी सब लोकोंके देवताओंको साथ लेते हुए अवधपुरीके ऊपर आये।

२ (क) '**जगनिवास प्रभु प्रगटे**' इति। अर्थात् प्रभु कहींसे आये नहीं, वे तो जगत्‌में सर्वत्र पूर्ण (रूपेण) हैं; यथा—'**देशकाल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।** १८५। ६।' तात्पर्य कि वहींसे प्रकट हो गये। श्रीरामजी ब्रह्मके अवतार स्वयं ब्रह्म हैं, यथा—'**जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥**', इसीसे उनका कहींसे आना न लिखा, ब्रह्म कहींसे आता नहीं। [(ख) मनु-शतरूपाजीके सामने प्रकट होनेपर कहा था कि

* अर्थान्तर—जब जगन्निवास अखिललोक विश्रामदाता प्रभु प्रकट हुए तब सब देवसमूह विनती करके अपने-अपने धाममें पहुँचे। (पं०)।

भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥ १४६। ८।' वही प्रभु इस समय प्रकट हुए हैं यह निश्चय करानेके लिये यहाँ भी **'जगनिवास प्रभु प्रगटे'** कहा। विश्ववास और जगनिवास पर्याय शब्द हैं। इसी प्रकार मंदोदरीने **'बिस्वरूप रघुबंसमनि। ६। १४।' 'जगमय प्रभु'** और **'बास सचराचर रूप राम भगवान। ६। १५।'** कहा है। (ग) 'जगनिवास' का प्रकट होना 'विधि' अलंकार है। 'प्रगटे' शब्दमें ईश्वरप्रतिपादनकी 'लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग' है कि भगवान् जन्मे नहीं, स्वतः प्रकट हुए। (वीरकवि)] (घ) **'अखिल लोक बिश्राम'** का भाव कि प्रभुके आविर्भावका समय लोक-विश्रामदाता है, यथा—**'पावन काल लोक बिश्रामा।'** और स्वयं प्रभु 'अखिल लोक विश्रामदाता' हैं। [पुनः, भाव कि विश्वमें तो प्रभुका सदा निवास रहता ही है, गुप्त भावसे प्रत्यक्ष भावमें प्राप्त हुए जिसमें सम्पूर्ण लोकोंको भी विश्राम हो। (मा० त० वि०)]

नोट—१ यहाँ देवताओंका चला जाना कहते हैं और आगे १९६ (२) में पुनः कहते हैं कि **'देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥'**, बीचमें कहीं दुबारा आना वर्णन नहीं किया गया। तब दुबारा घर जाना कैसे कहा गया?' इस शंकाके समाधानके लिये कुछ लोग इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'देववृन्द अपने-अपने धाम (लोक) से बिनती करते हुए (श्रीअयोध्या) पहुँचे (उसी समय) जगनिवास प्रभु प्रकट हुए।' और किसीका मत है कि सब नहीं चले गये थे, जो विशेष वैभववाले थे वे स्तुति करके चले गये, वैभव त्यागकर याचक बनकर निछावर लेनेके लिये शीघ्र ही फिर आवेंगे और सबोंके साथ मिलकर उत्सव देखेंगे। यथा—**'राम निछावरि लेन हित हठि होहिं भिखारी।'** (वै०)। जो सामान्य थे वे रह गये थे, उनका जाना दूसरी जगह कहा; क्योंकि आनेपर लिखा था कि **'चले सकल सुर'** और यहाँ केवल **'सुर समूह'** पद देते हैं। मा० त० वि० कार स्तुति करके चले जानेका कारण यह लिखते हैं कि इतनेहीमें रावणके खबर पानेका भय मानकर चल दिये और पाँड़ेजीका मत है कि प्रभुका अवतार प्रकट न हो जाय इस विचारसे (विशेष विभववाले) देवता चले गये। जैसा पूर्व कहा भी है, **'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ। ४८।'**

श्रीरामदास गौड़जी—'टीकाकारोंने लिखा है कि देवता अपने-अपने लोकको चले गये। परंतु क्या देवताओंके चले जानेका यह मौका है? कौन अभागा ऐसे अनुपम अवसरपर अवधसे चला जायगा? 'सरकारके शरीरके एक-एक परमाणु देवताओं और पार्षदोंके ही बने हैं। यह अवसर प्रकट होनेका है। **'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना।'** फिर सब देवता बिनती करते हैं कि हमें शीघ्र ही अपने-अपने धामपर पहुँचनेकी आज्ञा हो, फिर आज्ञा पाते ही उस दिव्य शरीरके सभी अवयव निज-निज धामपर पहुँच जाते हैं। यही दिव्य शरीरका प्रकट होना है। **'जगनिवास'** और **'अखिल लोकबिश्राम'** साभिप्राय शब्द हैं, जो प्रकट होनेकी विधि बताते हैं और विराट् प्रभुके विचित्र विग्रहका पता देते हैं। इस तरह **'निज निज धाम'**='सरकार (प्रभु) के अङ्ग-अङ्गमें।'

प० प० प्र०—प्रोफ० गौड़जीने जो लिखा है वह सत्य है। **'सर्वदेवमयो हरिः'** जिनके रोम-रोममें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं उन प्रभुके प्रकट होनेवाले विग्रहमें देवोंने अपने-अपने अंशसे अपने-अपने धाम (स्थान) में प्रवेश किया। चन्द्र मनमें, आदित्य नेत्रोंमें, शिव अहंकारमें, ब्रह्मा बुद्धिमें, इन्द्र पाणिमें, वायु त्वचामें, वरुण जिह्वामें और अग्नि वाणीमें—इस प्रकार निज-निज धाम पहुँचे। मानसमें ही प्रमाण है। यथा—**'लोक-कल्पना बेद कर अँग-अँग प्रति जासु।' 'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।'** 'पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अंग-अंग बिश्रामा॥—'यहाँ 'धाम' शब्द ही है। जिस-जिस अंगमें जिस-जिस धामको विश्राम है, उस-उस धामके देवता पहुँचे। ब्रह्मधामसे लेकर पाताल-तकके सभी धाम भगवान्‌के विग्रहमें हैं। भा० १०। १४। ३३। ब्रह्मस्तुतिपर श्रीधरी टीका देखिये।

प० प० प्र०—इस दोहेके आगे एक भी चौपाई नहीं है। दोहा १९२ का प्रारम्भ छन्दसे ही हुआ है। मानसमें ऐसे स्थान १३ हैं—दोहा १८६ ब्रह्मस्तुति, दो० १९२ कौसल्यास्तुति, दोहा २११ अहल्या-स्तुति, अरण्य दोहा ४ अत्रि-स्तुति, अरण्य दो० २० खरदूषणयुद्ध तथा वध, लं० १०१ रावण युद्ध तथा वध, लं० १११ ब्रह्मस्तुति लं० ११२ इन्द्रस्तुति, उत्तर १३ वेदस्तुति, उ० १४ शिवस्तुति, उ० १०१ कलिवर्णन; उ० १०२ कलिवर्णन और रुद्राष्टक दो० १८०। ☞ अहल्यास्तुति और लं० ११५ में जो शिवकृत स्तुति है वह चौपाई छंदमें है, इससे उसे इस गणनामें नहीं लिया। इन स्थानोंमें चौपाई एक भी नहीं होनेका कारण पाठकोंकी बुद्धिपर छोड़ता हूँ।

छंद—भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥ १॥

अर्थ—दीनोंपर दया करनेवाले, कौसल्याजीके हितकारी, कृपालु प्रभु प्रकट हुए। मुनियोंके मनको हरनेवाले उनके अद्भुत रूपको विचारकर माता हर्षित हो रही हैं।

टिप्पणी—१ (क) '**भए प्रगट**' इति। प्रभुने प्रथम ही मनुजीसे 'प्रकट' होनेका एकरार किया था, यथा—'**होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे**। १५२। २।'; अतएव 'प्रगट' हुए। (ख) '*कृपाला*' का भाव कि अवतारका मुख्य कारण कृपा है, कृपा करके ही अवतार लेते हैं, यथा—'**मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्**' (शाण्डिल्य सूत्र ४९), '**हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा** १। १२१।', '**कृपासिंधु मानुष तनु धारी**। ५। ३९।', '**कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं**। १।१२२।', '**सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद अगजग मोहई**।' इत्यादि। १। १३। ५ देखिये। (ग) '**कृपाला दीनदयाला**' इति। भाव कि सब लोग रावणके अत्याचारसे दीन और दुखी हैं, अतः सब लोगोंको आनन्द देनेके लिये कृपा करके प्रकट हुए, यथा—'**प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्रामा**।' [पुनः भाव कि प्रभु कृपाल हैं, 'सबके ऊपर समताका पालन करनेवाले हैं' अर्थात् सबको समान भावसे देखते हैं, वे ही दीनोंपर दया करके प्रकट हुए। (पां०)। वा, जो समस्त लोकोंपर कृपालु हैं तथापि दीनोंपर विशेष दयालु हैं वे प्रकट हुए। (रा० प्र०)। अथवा, '**कृपाला दीनदयाला**' कौसल्याजीके विशेषण हैं। (रा० प्र०)]।

पाठान्तर—रा० प०, पं० भागवतदासजीका पाठ 'परमदयाला' है, पर १६६१ वाली पोथीमें 'दीनदयाला' पाठ है। 'परमदयाला' पाठमें भाव यह होगा कि अखिल लोकपर दया की और इनपर 'परम' दयालु हुए। दर्शन देनेको प्रकट हुए, यह 'परम' दया है। गौड़जीका मत है कि 'परम दयाला' पाठ उत्तम है, क्योंकि कौसल्याजीको विवेक देनेका वादा है, उसे पूरा कर रहे हैं, इसीलिये यहाँ उन्हींके हितकारी भी हैं। 'दीनदयाला' में कौसल्याके लिये कोई विशेषता नहीं है। कौसल्याको दीन कौन कहेगा? '**दसरथघरनि राममहतारी**', '**कीरति जासु सकल जग माची**' इत्यादि प्रमाण हैं। श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि मेरी समझमें कृपाला और दीनदयाला शब्दोंका सम्बन्ध सारे विश्वसे है, कौसल्याजीके सम्बन्ध-वाला 'हितकारी' शब्द आगे मौजूद है। त्रिपाठीजी कहते हैं कि ब्रह्मदेवने जो स्तुति की थी '**जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना**', उनकी उस प्रार्थनानुसार दीनोंपर दया करके कौसल्या हितकारी, कौसल्याकी कीर्ति दिगन्त-व्यापिनी करने तथा वात्सल्य प्रकट करनेके लिये प्रकट हुए।

बैजनाथजी लिखते हैं कि जैसे ब्रह्माजीकी स्तुतिमें चारों कल्पोंका परिचय है, वैसे ही यहाँ भी चारों अवतारोंका हेतु जनाया गया है। प्रथम वैकुण्ठवासीके दोनों अवतारोंका हेतु कहते हैं। क्योंकि ब्रह्माजीकी स्तुतिमें भी '**कृपाला**' 'दीनदयाला' यही दोनों शब्द आये हैं, यथा—'**जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई**। १८६।' उन दोनों अवतारोंमें अदितिजी कौसल्यामाता हुईं। दोनोंमें (अर्थात् जब जलंधर रावण हुआ और जब जय-विजय रावण-कुम्भकर्ण हुए, दोनों समय) देवता दीन दुःखी थे। उनपर कृपा करके प्रकट हुए।

टिप्पणी—२ '**कौसल्या हितकारी**' इति। (क) '**कौसल्या हितकारी**' का अर्थ आगे स्पष्ट किया है। '**करुना-सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता। सो मम हित लागी जन अनुरागी प्रगट भए श्रीकंता**॥'—यही हित है। कृपा करके सूतिकागार (सौरी) में ही दर्शन देनेके लिये प्रकट हुए जहाँ केवल श्रीकौसल्याजी ही थीं। इस रूपका दर्शन केवल इन्हींको हुआ। [पुनः, (ख) माताका हित पुत्रद्वारा विशेषकर होता है। अथवा, पूर्व शतरूपा-शरीरमें अलौकिक विवेकका वरदान प्रभुने दिया ही है, इसीसे 'कौसल्याजीके हितकारी' कहा। (पं०)। अथवा, कौसल्याजीका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उनके कहते ही बालकरूप होनेको उद्यत हो गये इससे उनका हितकारी कहा। वा, कौसल्याजी कैकेयीजीके सवत भावसे सदा क्लिष्ट रहीं जैसा उन्होंने वाल्मीकीयमें दशरथजीसे कहा है, आजहीसे उन्हें उस क्लेशसे निवृत्त करनेवाले हुए, अतः हितकारी कहा। वा, जिस रूपके विषयमें भगवान्‌ने नारदसे कहा कि '**सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि**' और अर्जुनसे भी कहा कि '**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा**। गीता ११।८।' उस रूपको एक स्त्रीको अनिच्छित स्वयं ही दृष्टिगोचर करानेसे हितकारी कहा। (मा० त० वि०)। अथवा, रावणने कौसल्याजीके जन्मसे ही उनके मरणके अनेक उपाय

किये जैसा विश्रामसागर आदि ग्रन्थोंसे सिद्ध है, पर आप बराबर परोक्ष रहकर रक्षा करते आये और अब उनके लिये पुत्र-भाव ग्रहण किया, अतः **'कौसल्या हितकारी'** कहा। (मा० त० वि०)। (ग) यहाँ कौसल्या हितकारी कहा, दशरथ-हितकारी क्यों न कहा ? इसका कारण यह है कि पितासे माताको बाल-सुख विशेष होता है। अथवा श्रीकौसल्याजीने सूतिकागारमें चतुर्भुजरूप देखा, फिर कुलदेव श्रीरङ्गजीकी पूजा-समयमें युगल शिशुलीला भी देखी और फिर विराट्‌रूपका भी दर्शन किया। इस तरह तावड़तोड़ थोड़े ही दिनोंमें इनको तीन बार ऐश्वर्य रूपसे दर्शन दे प्रभुने इनके अलौकिक विवेकको दृढ़ किया जिससे ये जन्मभर ईश्वर-भाव और पुत्र-भाव दोनों सुखोंका आनन्द लूटेंगी और श्रीदशरथजी पुत्रभावमें ही मग्न रहेंगे, साथ ही इनको थोड़े ही कालतक श्रीरामजीका साथ होगा और कौसल्याजीको बहुत कालतक पुत्रसुख मिलेगा। अतएव **'कौसल्या हितकारी'** कहा। (बाबा हरिदासजी)। ज्ञानी भक्तोंमें प्रथम कौसल्याजीका हित किया। इसी किशोररूपसे ज्ञानी लोगोंके पास जा-जाकर उनका हित करेंगे। हितका अर्थ प्रीति कर लें तो शंका-समाधानकी आवश्यकता ही न रहेगी (प० प० प्र०)। (पर मेरी समझमें 'हितकारी' का अर्थ प्रीतिकारी करना खींचतान होगा। ऐसा प्रयोग इस प्रमाणमें नहीं पाया जाता)। १। १४६। ८ में जो 'भगतबछल' कहा है वही यहाँ 'हितकारी' शब्दमें दिखाया। (प० प० प्र०)]

३ (क) **'जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भएऊ'**। १९०। ८।' पर प्रसङ्ग छोड़ा था। बीचमें 'अवसर' का वर्णन करने लगे, देवताओंकी सेवा और गर्भस्तुति कही, अब प्रभुका प्रकट होना कहते हैं। (ख) **'हरषित महतारी मुनि-मन हारी·····'** का भाव कि जिस रूपका ध्यान मुनि मनसे करते हैं, उसी रूपको श्रीकौसल्या अम्बा प्रत्यक्ष देख रही हैं। (ग) यह रूप मुनियों अर्थात् मननशीलों, स्वाभाविक ही उदासीन, विषयरसरूखे महानुभावोंके भी मनको हरण कर लेता है, *यथा*—**'सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद अगजग मोहई'**, इसीसे 'अद्भुत' कहा। तात्पर्य कि ऐसा सुषमानिधान कमनीय रूप दूसरा नहीं है। अथवा, आयुधादि धारण किये हुए प्रकट हुए, इससे 'अद्भुत' कहा। (घ) रा० प्र० कार कहते हैं कि जो सबके पिता कहलाते हैं वे हमारे पुत्र हुए, यह विचारकर हर्षित हैं। अ० रा० में भी 'अद्भुत' शब्द आया है, यथा—**'दशमे मासि कौसल्या सुषुवे पुत्रमद्भुतम्**। १। ३। १३।' अर्थात् कौशल्याजीने एक अद्भुत बालकको जन्म दिया। प्र० स्वामी लिखते हैं कि श्रीकौसल्याजी समझी थीं कि उनके उदरसे शिशुका जन्म होगा सो न होकर एक किशोरावस्थाका धनुर्बाणधारी (वा, शङ्खचक्रगदाम्बुजधारी) रूप ही सामने देखा, तब बड़ा आश्चर्य हुआ। वे स्तम्भित चकित हो गयीं। इससे अद्भुत कहा। यह तो अलौकिक आश्चर्यकारक घटना ही है कि प्रसूतिके समय बच्चा हुआ ही नहीं और ऐसा रूप प्रकट हुआ।]

पाठान्तर—'बिचारी' का पाठान्तर 'निहारी' है। सं १६६१, १७०४ और भा० दा० की प्रतियोंमें बिचारी है। **यही पाठ उत्तम है** क्योंकि विचारका उनकी दयासे उदय हुआ और मुनिमनहारी अद्भुत रूप 'विचार' करके उन्होंने परात्परकी स्तुति की। 'निहारी' पाठमें 'बिचारी' का-सा चमत्कार नहीं है। (गौड़जी)।

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी॥
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी॥ २॥

नोट—'अर्धभाग कौसिल्यहि दीन्हा' (१९०। १) से **'नयन बिसाला सो'** तक १६६१ की प्रतिमें नया पन्ना है।

अर्थ—नेत्रोंको आनन्द देनेवाला श्याम मेघोंके समान श्याम शरीर है। भुजाओंमें अपने आयुध धारण किये हुए (वा, चारों भुजाओंमें अपने आयुध लिये हुए) हैं, भूषण और वनमाला पहिने हैं, बड़े-बड़े नेत्र हैं, शोभाके समुद्र और खरके शत्रु हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) **'लोचन अभिरामा'** कहकर जनाया कि भगवान्‌का अद्भुतरूप देखकर कौसल्याजीके नेत्रोंको अभिराम मिला। आगे **'तन घनस्यामा'** से रूपका वर्णन है। घनश्याम शरीर नेत्रोंको अभिरामदाता है, यह कहकर जनाया कि शरीर 'मेघ' है, नेत्र 'चातक' हैं, यथा—**'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे**। २।१२८।' [पुनः, **'लोचन अभिरामा'** का भाव कि सभीके नेत्रोंको सुखी करनेवाले हैं, यथा—'चले लोक लोचन सुखदाता। २१९। १।', **'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ**। २१८।' **'कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्'** के अनुसार यहाँ **'लोचन अभिरामा'** और **'नयन बिसाला'** कहा गया है। पं० रामचरणमिश्र लिखते हैं कि 'मन आदिको त्यागकर नेत्रहीको अभिराम क्यों कहा ? उत्तर—मेघवत् श्यामतनके सजातीय भावसे निजरूपकी राशि देखकर नेत्र आनन्दित हुए। भाव यह है कि

इसी श्याम राशिमेंसे तिलमात्र श्यामता पाकर हम (नेत्र) सबको देखते हैं। दूसरे, दर्शन-क्रियाका आनन्द नेत्र ही जान सकते हैं। यह श्यामरूप ही नेत्रोंकी 'निज निधि' है, इसका अणुमात्र भाग पाकर नेत्रोंको देखनेकी शक्ति है। १३२।४। 'हरषे जनु निज निधि पहिचाने।' में देखिये। (ख) **'घन स्यामा'** इति। यहाँ मणि वा कमलकी उपमा न देकर घन-सदृश श्याम कहनेमें भाव यह है कि मणि और नील-कमल सबको प्राप्त नहीं हो सकते और मेघ सबको स्वयं आकर प्राप्त होते हैं। पुनः, मेघ शत्रु-मित्र, भले-बुरे सबको एक-सा देखते हैं। अमृत और विष दोनों प्रकारकी औषधको जल पहुँचाते हैं। इसी प्रकार प्रभुकी सबपर बराबर दया है, यथा—**'सब पर मोहि बराबरि दाया। ७। ८७।'** उन्होंने कृपा करके **'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह'** और शत्रुको भी वही मुक्ति दी जो शरभंगादि ऋषियोंको दी थी।]

'निज आयुध भुज चारी' इति।

मयंककार इसका यह अर्थ करते हैं कि 'धनुष बाण और दोनों भुजाएँ ये चारों शोभायमान हैं।' श्रीशतरूपाजीको द्विभुजरूपका दर्शन हुआ, अतएव यदि उनके सामने चतुर्भुजरूप प्रकट होता तो परतम प्रभुका वचन अविश्वसनीय हो जाता और वे व्याकुल हो जातीं जैसे सुतीक्ष्णजीके हृदयमें चतुर्भुजरूप आते ही वे व्याकुल हो गये थे। कौसल्याजीके प्रतीतिहीके लिये द्विभुजरूपसे प्रकट होना आवश्यक था। और पं० रामकुमारजी आदि कुछ महानुभावोंका मत है कि 'जैसे ब्रह्म-स्तुति और आकाशवाणीमें चार कल्पका प्रसंग है वैसे ही यहाँ भी चार कल्पोंकी स्तुति है। तीन कल्पके अवतार चतुर्भुजीसे द्विभुजी हुए। उनमें चतुर्भुजरूप प्रकट हुए। क्योंकि कश्यप-अदितिको इन्हींने वरदान दिया था। उनके सम्बन्धमें 'चारों भुजाओंमें चार आयुध शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये', ऐसा अर्थ होगा। और, साकेतबिहारी परतमप्रभुका नित्य द्विभुज षोडश वर्षका स्वरूप है जिसका दर्शन मनु-शतरूपाजीको हुआ था, इनके सम्बन्धमें निज आयुध धनुषबाण हैं जो भुजाओंमें प्राप्त हैं।' शब्दसागरमें 'चारी' का अर्थ इस प्रकार दिया है—'वि० [सं० चारिन्] (१) चलनेवाला। जैसे, आकाशचारी। (२) आचरण करनेवाला। व्यवहार करनेवाला। जैसे, स्वेच्छाचारी। विशेष—इस शब्दका प्रयोग हिंदीमें प्रायः समासहीमें रहता है।' इनके अतिरिक्त और भी अर्थ दिये हैं। कोई इसका अर्थ 'प्राप्त हैं' ऐसा करते हैं। और, करुणासिंधुजी लिखते हैं कि **'चर गतिभक्षणयोः धातु'** है, अर्थात् भुजाओंमें प्राप्त हैं यह अर्थ है। यहाँ ऐसे क्लिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया गया है जो चारों कल्पोंके प्रसंगमें घट सकें। पं० रामकुमारजीने भी द्विभुज धनुर्धारी भगवान्‌के अवतारवाले कल्पमें 'चारी' का अर्थ 'प्राप्त है' किया है। और पाँडेजी 'भुजचारी'का अर्थ 'निज आयुध धनुषको भुजा जिनकी खींचे हुए हैं' ऐसा करते हैं।

श्रीगौड़जी लिखते हैं कि 'आयुध समेत चारों भुजाओंका दर्शन इसलिये हुआ कि भगवान् साकेतविहारीजीका प्रथम आविर्भाव नारायण और सृष्टिके रक्षार्थ विष्णुरूपमें है जिस विग्रहमें दो भुजाएँ अधिक हैं और अधिक पार्षदोंको सायुज्य होनेका गौरव मिलता है। ऐसे अवसरपर सबका हौसला रखना है, और साथ-ही नारायण, विष्णु और परात्पर ब्रह्मका अभेद भी दिखाना है, वस्तुतः कौसल्याजीको। क्यों? इसलिये कि सतरूपाने अन्तिम तपस्या तो परात्परके दर्शनोंके लिये की थी और वासुदेव नारायणके लिये तप करके फिर परात्परके लिये तप किया था। विधि-हरि-हरमें और परात्पर ब्रह्ममें भेद समझा। उनकी खुशामदमें नहीं आये सरकारको और जगज्जननीको बुलाके ही छोड़ा। परंतु वर माँगनेमें शतरूपाने 'विवेक' भी माँगा। इसीलिये चारों भुजाओंमें आयुध धारण किये अभेद दिखाने, श्रुतिके प्रमाण **'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'** को सार्थक करने और कौसल्याको इस अभेदता, पूर्व वर और अवतारका प्रयोजन बतानेके लिये भगवान् इस प्रकार प्रकट हुए'। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि गौड़जीके अर्थसे मैं भी सहमत हूँ। अन्य अर्थोंमें भुजचारीकी खींचातानी हो जाती है।

म० त० वि०—कार लिखते हैं कि—(१) अथवा, माताकी परीक्षाके लिये चार भुजाएँ दिखायीं। भाव यह कि द्विभुजमें वरदान दिया था, अब चतुर्भुज होनेपर पहचानती हैं या नहीं। अथवा, इससे सूचित करते हैं कि हे माता! तुम्हारे इष्टदेव जो चतुर्भुज श्रीरङ्गजी हैं वह मैं ही हूँ। अथवा, (२) इस ग्रन्थमें गुप्तचरित है, यथा—**'रामचरितसर गुप्त सुहावा। ७। ११३।'** अतः गर्भ और जन्मलीलासे विश्वामित्रागमनतक कश्यप-अदिति दशरथ-कौसल्या रहे जहाँ विष्णु-भगवान्‌का वरदान था। अतः **'कोसलपुरी प्रगट नरभूपा'** गगन-गिरा है। विवाहसे वनगमनतक स्वायम्भुव मनु-शतरूपा दशरथ-कौसल्यारूप परिकर रहे, क्योंकि युगल-स्वरूप देखकर पुत्र होनेका वरदान चाहा था।' इत्यादि।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'चर' का अर्थ 'गमन' है। इस प्रकार अर्थ है कि 'निज आयुध धनुष-बाण दोनों हाथोंमें फेरते और मन्द-मन्द मुसकाते प्रकट हुए'। फेरनेकी बान सदासे है ही, यथा—**'कर कमलन्हि धनु सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।'** **'दुहुँ कर कमल सुधारत बाना।'** अथवा **'भुज पालनाभ्यवहारयोः'** अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारोंकी जो भोगे वह भुजचारी।' पुनः धामपरत्व, रूपपरत्व, यशपरत्व और नामपरत्व इन चारों परत्वोंसे जो जगत्‌को पाले वह 'भुजचारी' है। अगले चरणमें **'सोमासिंधु खरारी'** कहा है। खरारि विशेषण श्रीरामचन्द्रजीका है। इस गुणविशिष्ट नामसे द्विभुजका प्रकट होना निश्चय किया। विष्णुभगवान्‌के नाममें मुरारिके सिवा खरारि विशेषण कहीं नहीं है। (मानस अ० दीपक)।

अ० रा० में श्रीमन्नारायण वा विष्णुभगवान्‌के अवतारकी कथा है उससे भगवान् माताके सामने प्रथम चतुर्भुज-रूपसे प्रकट हुए हैं, यथा—**'पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥ १६ ॥''''शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविराजितः ॥ १ । ३ । १७ ॥'** वाल्मीकिजी **'कौसल्याजनयद्रामम् ॥ १ । १८ । १० ॥'** लिखते हैं अर्थात् कौसल्याजीने रामको जन्म दिया, जिससे द्विभुजरूपहीका प्रकट होना पाया जाता है।

किसीका मत है कि वस्तुतः यहाँ 'चारी' पाठ लोगोंने बना दिया है। सं० १६६१ की पोथीका यह पन्ना नया है। 'धारी' को 'चारी' पढ़कर लिखा गया है। 'धारी'के अर्थसे शङ्का नहीं उठती। परंतु यह पाठ किसी पोथीमें सुना नहीं गया है जिसके आधारपर ऐसा अनुमान किया जाय। किसीका मत है कि 'चारी' को 'धारी' बनानेकी चेष्टा की गयी है।

नोट—१ **'निज आयुध'** कहनेमें भाव यह है कि 'यदि शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म कहें तो केवल विष्णुका बोध होता है और ग्रन्थकार द्विभुज परात्परको भी कहा चाहते हैं। यदि धनुष-बाण कहें तो केवल परात्परका बोध होता है और ग्रन्थकार केवल परात्परको भी नहीं कहा चाहते। इसी हेतु दोनोंका प्रबोधक 'निज आयुध' पद दिया। इससे दोनों काम बन गये। (पं० रामकुमारजी)

पं० रामकुमारजीके भाव अरण्यकाण्ड ३२ (१) में देखिये। वहाँ छप चुके हैं अतः यहाँ नहीं दुहराये जाते।

२ पंजाबीजी यह शङ्का उठाकर कि 'चक्र और गदा तो आयुध हैं पर शङ्ख और पद्मको आयुध कैसे कहा ?' उसका समाधान यह करते हैं कि इनको आयुध कहकर जनाया कि ये अन्तर्मुखी शत्रु (कामादि) के नाशक हैं, जैसे चक्र और गदा बाहरके शत्रुओंके। शङ्खके दर्शनसे मायाका बल जाता रहता है और कमलके प्रभावसे अविद्याका नाश होकर ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है। (मा० त० वि०, भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमाल)।

टिप्पणी—२ (क) **'भूषन बनमाला'** इति। रूप कहकर अब आभूषण कहते हैं। 'भूषण' शब्दसे आभूषणोंका ग्रहण हुआ। यदि कुछ नाम गिनाते तो उतनेहीका ग्रहण होता, इसीसे केवल 'भूषण' शब्द दिया। 'वनमाल' कई प्रकारके फूलों तथा तुलसीमंजरी आदिसे बनाया हुआ है, यथा—**'सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका-प्रसून रचित बिबिधबिधि बनाई ॥** गीतावली।' [अ० रा० में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—**'''''वनमाला-विराजितः ॥ १७ ॥ करुणारससम्पूर्णविशालोत्पललोचनः। श्रीवत्सहारकेयूरनूपुरादिविभूषणः** ॥ १ । ३ । १८ ।' अर्थात् करुणरसपूर्ण कमलदलके समान विशाल हैं तथा जो श्रीवत्स, हार, केयूर और नूपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित हैं। वनमाला विराजमान है।] (ख) **'सोभासिंधु खरारी'** का भाव कि आपके शोभा-समुद्रमें खर भी डूब गया था अर्थात् शत्रु भी मोहित हो गया था। यथा—**'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई** ॥ ३ । १९ ।' तीन कल्पोंमें जिनमें चतुर्भुज भगवान्‌का अवतार है उनमें 'खरारी'=खल वा 'दुष्टों'के अरि। और द्विभुज धनुर्धारी भगवान्‌के अवतारमें 'खरारी' का अर्थ **'खरदूषण के अरि'** है। 'ल' की ठौर 'र' का प्रयोग बहुत जगह ग्रन्थकारने किया है; यथा—**'बिनु जर जारि करै सोइ छारा ॥' 'अस्थि सैल सरिता नस जारा** ॥ ६ । १५ । ७ ॥'

नोट—☞ अत्यधिक शोभा वा सुन्दरताको लक्ष्य कराना यहाँ अभिप्रेत है; अतएव शोभासिंधुके साथ ही 'खरारी' शब्द दिया गया। 'खरारी' शब्दमें 'भाविक अलंकार' है, क्योंकि अभी 'खर' राक्षसका वध नहीं हुआ किंतु अभीसे भविष्यकी बात कह दी गयी। (वीरकवि)। अथवा, उन्होंने भगवान्‌से विवेकका वरदान माँगा था; यथा—**'सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु** ॥ १ । १५० ॥' और भगवान्‌ने उनको अलौकिक विवेक दिया भी; यथा—**'मातु**

विवेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥ १५१। ३।' प्रभुकी कृपासे कौसल्याजीको अलौकिक विवेक है, अतएव भविष्य बात यहाँ स्तुतिमें कहती हैं। जब कि ये जानती ही हैं कि ये परतम प्रभु हैं जो भक्तोंके लिये लीला-तन धारण किया करते हैं, तब तो वे यह भी अवश्य समझती हैं कि पूर्व जब-जब रामावतार हुआ है तब-तब खरदूषण इनकी शोभासे मोहित हुए हैं। इस अवतारमें भी आगे चलकर उनको मोहित कर लेंगे; और इनका युद्धमें वध भी करेंगे; यह भविष्य जानती हैं और यह भी जान गयी हैं कि इन्हींका नाम सत्ययुग-त्रेतामें प्रह्लादने गाया था। यदि ये पहिलेसे 'खरारी' न थे तो इनका 'राम' नाम कैसे पूर्वहीसे जपा जाता था ?

☞ 'खरारी' में कोई असंगति नहीं है। खरदूषणादिके वधके समय भगवान्‌ने अनुपम मोहन रूप धारण किया था। इस रूपका जहाँ कहीं निर्देश है वहाँ कवि 'खरारी' शब्दका प्रयोग करता है। असंगति समझनेवाले (खर + अरि=) 'कोमल, मंजु' इस तरह अर्थ कर सकते हैं। मिलान कीजिये—'**सखर सुकोमल मंजु दोषरहित दूषनसहित ॥**' यह भी स्मरण रहे कि भगवान्‌के समस्त नाम अनादि हैं—'**कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि** ॥ १। १०० ॥' पं० रामकुमारजी खर्रेमें यह भी लिखते हैं कि जहाँ-जहाँ अनेक रूप धारण करते हैं वहाँ-वहाँ 'खरारी' शब्दका प्रयोग प्रायः किया गया है। यहाँ चतुर्भुजसे द्विभुज हुए, अतः 'खरारी' कहा।

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता।
मायागुनग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता ॥ ३ ॥
करुनासुखसागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भए प्रगट श्रीकंता ॥ ४ ॥

अर्थ—दोनों हाथ जोड़कर बोलीं—'हे अनन्त ! मैं आपकी स्तुति किस विधिसे (प्रकार) करूँ। वेद-पुराण आपको माया, गुण और ज्ञानसे परे, और परिमाणरहित कहते हैं ॥ ३ ॥ जिसकी श्रुति और सन्त करुणा और सुखका समुद्र तथा समस्त गुणोंका धाम (घर) कहते हैं वही अपने भक्तोंपर अनुराग करनेवाले 'श्री'जीके पति आप मेरे हितार्थ प्रकट हुए हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**केहि बिधि करौं अनंता**' अर्थात् आप 'अनन्त हैं, जब आपका अन्त ही नहीं है तब स्तुति किस विधिसे बन सकती है, किसी भी विधिसे तो नहीं बन सकती; यथा—'**कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करौं कवनि बिधि तोरी ॥ महिमा अमित मोरि मति थोरी** ॥ ३। ११।' (ख) '**माया-गुन-ज्ञानातीत अमाना**' यह निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप है। उसीका अवतार और अवतारका हेतु आगे कहते हैं। माया आदिसे परे हैं, यथा—'**ज्ञान गिरा गोतीत अज मायागुनगोपार। सोइ सच्चिदानंदघन कर नर चरित अपार** ॥' मायासे भिन्न कहनेसे ही तन-मनसे परे हो चुके, क्योंकि मनहीतक माया है, यथा—'**गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई** ॥ ३।१५।३॥' [(ग) अमाना= मानरहित; अर्थात् '**मीन कमठ सूकर नरहरी**' इत्यादि, ऐसे रूप भी धारण कर लेते हैं, उसमें किंचित् अपनी प्रतिष्ठाहीनता की पर्वा नहीं करते। साकेत वा वैकुण्ठादि लोकोंसे उतरकर पृथ्वीपर आकर नरवत् लीला करते हैं, यह भी भगवान्‌के लिये हीनताकी बात है। पुनः, अमाना=मान (अर्थात् परिमाण) रहित, अतुलित, जिसका माप, अन्दाज, वा तोल न हो। अनंत=जिसका अन्त न हो। भनंत=कहते हैं।] (घ) '**करुना-सुख-सागर**·····' यह सगुण स्वरूप है। करुणा अवतारका हेतु है—'**मुख्यं तस्य हि कारुण्यं**' इति शाण्डिल्यसूत्रे। सुखसागर हैं, अतः अपने भक्तोंको सुख देनेके लिये अवतार लेते हैं। '**सब गुन आगर**' हैं, अतः भक्तोंके लिये जगत्‌में प्रकट होकर अपने गुणोंको प्रकट करते हैं—'**सोइ जसु गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं** ॥' प्रथम मायागुणज्ञानातीत कहा। जबतक निर्गुण हैं तबतक गुणोंसे परे हैं, जब सगुण हुए तब करुणा आदि दिव्य गुणोंके आगार हैं। निर्गुण ब्रह्ममें गुण नहीं हैं; इसीसे '**माया गुन ज्ञानातीत अमाना**' इतना ही वेद कहते हैं। सगुण ब्रह्ममें गुण हैं, वाणीका प्रवेश है, इसीसे श्रुति और संत सगुण ब्रह्मके गुण गाते हैं—'**करुना**·····**गावहिं श्रुति संता**।' 'श्रुति संत' कहनेसे श्रुति और स्मृति सूचित हुए, क्योंकि स्मृतियाँ सन्तोंकी बनायी हैं। पुनः, [(ङ) भगवान्‌में अनेक गुण हैं; यहाँ केवल करुणासागर, सुखसागर और गुण-आगार विशेषण देनेमें भाव यह है कि जो गुण श्रीकौसल्याजीने दर्शन पानेपर स्वयं अनुभव किये, 'अपने (हृदय) में देखे' उन्हींको वे कहती हैं। जैसे कि—कौसल्याजीपर श्रीरामजीने बड़ी करुणा की, इसीसे करुणासागर कहा। दर्शन देकर बड़ा सुख दिया, इसीसे सुखसागर कहा और कौसल्या-

जीको प्रभुने दिव्य गुण दिये अतएव गुन-आगर कहा। (च) माया-गुण-ज्ञानातीत=कार्यकारण माया, रज-तम-सत्त्वादि गुणों और विवेक-वैराग्यषट्सम्पत्ति मुमुक्षुतादि ज्ञानसे परे। (वै०) ।=त्रिगुणात्मिका मायाजनित ज्ञानसे परे। (रा० प्र०)]

टिप्पणी—२ 'श्रीकंत' पद भी चारों कल्पोंके प्रसङ्गोंमें घटित होता है। श्रीरामतापिनी उपनिषद्, श्रीजानकी-सहस्रनाम और अध्यात्मरामायणादिमें सीताजीका एक नाम 'श्री' भी है। वाल्मीकिजी भी यह नाम देते हैं और आनन्दरामायणमें तो यह लिखा है कि यह नाम सीताजीका ही है, लक्ष्मीजीको यह नाम पीछे मिला। गोस्वामीजीने भी बहुत स्थानोंपर श्रीजानकीजीके अर्थमें ही 'श्री' शब्दका प्रयोग किया है, यथा—'**उभय बीच श्री सोहइ कैसी** ।३।७।', '**श्रीसहित दिनकरबंस-भूषन काम बहु छबि सोहई** । ७ ।१२ ।', 'तदपि **अनुज श्री सहित खरारी । बसतु मनसि मम काननचारी** । ३ । ११ । १८ ।' इत्यादि।

☞३ (क) माताको अलौकिक विवेक है, यथा—'**मातु बिबेक अलौकिक तोरें । कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें** ॥' इसीसे वेद-पुराण-श्रुति-स्मृतिका प्रमाण देकर उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की। यथा—'**मायागुन ज्ञानातीत अमाना बेदपुरान मनंता**', '**करुनासुखसागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता**' और '**ब्रह्मांड निकाया निरमित माया रोम रोम प्रति बेद कहै** ।' (ख) यहाँ कौसल्याजीकी मन-तन और वचनसे भक्ति दिखायी है। मूर्ति देखकर हर्षित हुई,—'**हरषित महतारी मुनिमनहारी अदभुत रूप बिचारी**', यह मनकी भक्ति है। दोनों हाथ जोड़ना यह तनकी भक्ति है। और '**कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं**' यह वचनकी भक्ति है।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि '**बेद पुरान मनंता**' तक वैकुण्ठवासी भगवान्‌के जो दो अवतार हुए उनकी स्तुति अदितिरूप कौसल्याद्वारा कही गयी। आगे '**करुना सुख सागर**·····' यह स्तुति हरगण रावणके लिये जो क्षीरशायी भगवान्‌का अवतार हुआ उसकी है।

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै ।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ॥ ५ ॥
उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ।
कहि कथा सुहाइ मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—उर=कोख; गोद। (मंगलकोश) ।=उदर। उरबासी=पुत्रभावसे प्राप्त होनेवाले।

अर्थ—वेद कहते हैं कि मायाके रचे हुए समूह ब्रह्माण्ड आपके रोम-रोममें है। वही आप मेरे उरमें रहे, यह उपहास (हँसी) की बात है। यह सुनकर 'धीर बुद्धि' थिर नहीं रहती ॥ ५ ॥ जब (माताको) ज्ञान उत्पन्न हुआ तब प्रभु मुस्कुराये (क्योंकि वे तो) बहुत प्रकारके चरित किया चाहते हैं। (उन्होंने) सुन्दर कथा कहकर माताको समझाया कि जिस प्रकारसे वह पुत्रका प्रेम प्राप्त करे अर्थात् जिससे वह पुत्रभावसे प्रेम करे और वात्सल्यसुख लूटे ॥ ६ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—'उपहास' भाव हास्यरसका वह भाव है जिसे हास्यचरित्र स्वयं अनुभव करके अपने ऊपर भी हँसता है। इसीको Sense of Humour कहते हैं। आलोचनाओं और शङ्कासमाधानोंमें बहुधा यह देखा जाता है कि हास्यरसको नीचा समझा जाता है। तुलसीदासजीने ऐसा नहीं समझा। देखिये, प्रकट होनेके समयसे ही हास्यरस भी मौजूद है और 'प्रभु मुसुकाए' में और भी साफ है।

टिप्पणी—१ (क) '**ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया**···' इति। अर्थात् आपका ऐसा सूक्ष्म रूप है कि कोई जान नहीं सकता, सो आप मुझे दर्शन देनेके लिये प्रकट हुए। पुनः, आपका इतना भारी स्वरूप है कि करोड़ों ब्रह्माण्ड एक-एक रोममें हैं सो मेरे उदरमें बसे। तात्पर्य कि मुझपर कृपा करके मुझको दर्शन देनेके लिये सूक्ष्मातिसूक्ष्मसे बड़े हुए और मेरे उदरमें निवास करनेके लिये बड़ेसे सूक्ष्म हुए। (ख) पूर्व कहा कि आप मायासे भिन्न हैं,—'**मायागुन-ज्ञानातीत**·····'। और यहाँ मायाके कार्यसे भी पृथक् होना कहा अर्थात् मायाके बनाये हुए ब्रह्माण्डोंमें आप नहीं हैं, वरञ्च ब्रह्माण्ड आपमें हैं। ['**ब्रह्मांड निकाया**·····' कहकर आपको अनेक विराटोंका कारण जनाया। (रा० प्र०)]

२ (क) '**मम उर सो बासी यह उपहासी**·····' इति। भाव कि जो सुनेगा वह यही कहेगा कि कौसल्याका उदर कितना भारी था कि जिसमें इतना बड़ा ब्रह्म रह सका, एवं इतना बड़ा ब्रह्म कैसे अति छोटा होकर कौसल्याके गर्भमें रहा?

(ख) 'धीर मति थिर न रहै' इति। यहाँ 'न रहै' यह वर्तमान क्रिया कैसे दी, भविष्यक्रिया देनी थी कि 'न रही' अर्थात् सुनकर धीरोंकी मति स्थिर न रहेगी ?' इस शंकाका समाधान यह है कि यहाँ कौसल्याजी अपनेको कहती हैं कि करोड़ों ब्रह्माण्ड आपके रोम-रोममें हैं यह सुनते ही मेरी धीर बुद्धि स्थिर नहीं रह जाती अर्थात् चलायमान होती है कि करोड़ों ब्रह्माण्डोंको धारण करनेवाले मेरे उदरमें कैसे रहे। [पर, पंजाबीजी, पाँड़ेजी, बैजनाथजी और सन्त श्रीगुरुसहायलालजी 'धीर मति' से 'अन्य धीरों धैर्यवानों) की बुद्धि' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् उनकी बुद्धि डगमगा जाती है, जैसे सतीजी भ्रममें पड़ गयी थीं कि **'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नृप जाहि न जानत बेद'**। संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'अजन्मा ब्रह्मके प्राकृतवत् उत्पन्न होनेसे उपहास होगा इसका भाव यह है कि आप तो मेरे लिये केवल प्रकटमात्र हुए हैं पर कहलायेंगे कि अजन्मा होकर कौसल्यागर्भसंभूत हुए, इससे आपकी निन्दा होगी। यहाँतक कि धीर लोगोंकी भी बुद्धि बिगड़ जायगी। अर्थात् वे नास्तिक हो जायँगे। कहेंगे कि अज होकर वह प्राकृतोंके समान स्त्रीके मर्मस्थानका विषय होकर कैसे जन्म ले सकता है ? वे इस बातको असत्य ठहरायेंगे अथवा ऐसा कहनेवालोंको शाप देने लगेंगे।

नोट—१ इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—**जठरे तव दृश्यन्ते ब्रह्माण्डाः परमाणवः ॥ २५ ॥ त्वं ममोदरसम्भूत इति लोकान्विडम्बसे। भक्तेषु पारवश्यं ते दृष्टं मेऽद्य रघूत्तम ॥ २६ ॥** (अ० रा० १। ३)। अर्थात् आपके उदरमें अनेकों ब्रह्माण्ड परमाणुओंके समान दिखायी देते हैं। तथापि आपने मेरे उदरसे जन्म लिया ऐसा जो आप लोगोंमें प्रकटकर उन्हें मोहित कर रहे हैं उससे मैंने आपकी भक्तवत्सलता देख ली।

२ यह श्रीसाकेतविहारीके अवतारवाले कल्पकी स्तुति है जो शतरूपा-कौसल्याजीने की है। (वै०)

टिप्पणी—३ 'उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना' इति। (क) 'प्रभु' का भाव कि समर्थ हैं जब जैसा चाहें वैसा बना दें, ज्ञानीको मूढ़, मूढ़को ज्ञानी। यथा—**'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। १३७। २',....'ग्यानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ ॥ १२४।', 'मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'** (ख) हास्य आपकी माया है। यथा—**'माया हास। ६। १५।', 'बोले बिहसि चराचरराया। १२८। ६।'** देखिये।—**'हासो जनोन्मादकरी च माया'**। आप तो अनेक नरनाट्य करनेको हैं, ज्ञान बना रहेगा तो माधुर्य लीलामें विघ्न होगा, अतएव हँसकर इनपर माया डाल दी, ज्ञानको ढक दिया, यथा—**'स्वालोऽयं मे हरिः साक्षादिति ज्ञानमयी स्वभूत्। तदा जहास श्रीकृष्णो मोहयन्निव मायया'** इति गर्गसंहितायाम्'।

ज्ञानीके निकट चरित्रकी शोभा नहीं रहती, जैसे स्वाँगके जाननेवालेके निकट स्वाँगकी शोभा नहीं रहती। इसीसे ज्ञान न रहने पाया। 'बहुत बिधि' अर्थात् जन्मसे लेकर परधामयात्रातकके समस्त चरित्र। [पुनः 'मुसुकाना' का भाव कि अभी तो ज्ञान बघारती हो, आगे जब वात्सल्यरसमें पगोगी तब यह सब भूल जाओगी। बैजनाथजी लिखते हैं कि यह मुस्कान दयादृष्टिमय है। विद्यामायाके वशसे शान्तरसमय रूक्ष ज्ञान मिटाकर वात्सल्यरसमय-बुद्धि कर दी।]

४ (क) **'कथा सुहाई....'** इति। तीन कल्पोंमें यह कथा सुनायी कि तुम पूर्वजन्ममें कश्यप अदिति थीं और चौथे कल्पमें सुनायी कि तुम मनु-शतरूपा थीं। तुमने हमारे लिये तप किया। हम तुम्हारे पुत्र हों यह वर तुमने माँगा और हमने दिया। अतएव हम तुम्हारे पुत्र हुए। तुमको पुत्रसुख देनेको प्रकट हुआ हूँ। तुम वह सुख लूटो। (ख) किसी कथाका नाम न दिया जिसमें सब कल्पोंकी कथाओंका ग्रहण हो जाय। (ग) तपसे भगवान् प्रसन्न होकर पुत्र हुए, इसीसे कथाको 'सुहाई' कहा। (घ) 'बुझाई' से जनाया कि माताको पूर्वजन्मकी सुध नहीं रह गयी थी। (ङ) ज्ञान उपजा तब मुस्कुराकर उसे दबा दिया और 'सुहाई' कथा कहकर अपनेमें माताको प्रेम कराया, क्योंकि प्रेमीके निकट लीला बनती है, ज्ञानीके निकट नहीं।

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसु लीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा ॥ ७ ॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—डोली=फिर गयी, डिग गयी, चलायमान हुई, चलती हुई। 'सीला' (शील)=शुद्ध पवित्र आचरण, स्वभाव, व्यवहार, यथा—**'शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः।'** दोहा १९८ (६) भी देखिये।

अर्थ—(जब) माताकी वह (ज्ञान) बुद्धि डिग गयी, (तब) वह पुनः (यों) बोली—हे तात ! यह रूप छोड़िये और अत्यन्त प्रियशील बालचरित कीजिये (क्योंकि) यह सुख परम अनुपम है ॥ ७ ॥ माताके वचन सुनकर वे सुजान देवताओंके स्वामी बालक (रूप) होकर रोने लगे । इस चरितको जो लोग गाते हैं वे संसाररूपी कूएँमें नहीं पड़ते, हरिपद प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'माता पुनि बोली'** इति । भाव कि प्रथम बोली थीं, यथा—**'कह दुइ कर जोरी'**, पर भगवान्ने हँसकर उनका ज्ञान हटा दिया । माताको सुन्दर कथा सुनाने लगे थे तब वह चुप हो गयी थीं, जब भगवान् बोल चुके, तब पुनः बोलीं । (ख) **'सो मति डोली'** इति । पूर्व इतना ही कहा था कि **'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना'** और अब कहते हैं कि—**'सो मति डोली'**, इससे जनाया कि **'हास'** और **'बुझाना'** तथा **'कथा सुहाइ'** कथन करना, यह सब ज्ञानको अपहरण करनेके निमित्त था । अब ज्ञान दूर हो गया और पुत्रभाव प्राप्त हो गया, इसीसे वह रूप तज देनेको कहती हैं, अब बाललीला देखना चाहती हैं । सुतभाव प्राप्त हुआ इसीसे **'तात'** सम्बोधन करती हैं । पूर्व ईश्वरभाव था तब **'श्रीकंत' 'अनंत'** इत्यादि कहकर सम्बोधन किया था । [(ग) शिशुलीलाको **'अति प्रियशीला'** कहा क्योंकि यह महा-महा-अलभ्य सुख है, ब्रह्मादि देवता इसके लिये तरसते हैं । यथा—**'बिधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंबुद ओट दिये । गी० १ । ७'**, **'जा सुखकी लालसा लटू सिवसुकसनकादि उदासी । तुलसी तेहि सुखसिंधु कौसिला मगन पै प्रेम पियासी ॥ गी० १ । ८ ।'** उसमें मग्न रहनेपर भी तृप्ति नहीं होती, अतः **'अति प्रियशीला'** कहा] पुनः, **'अति प्रियसीला'** का भाव कि प्रियशील तो ऐश्वर्य भी है पर माधुर्य्यलीला अति-प्रियशील है **'परम अनूपा'** का भाव कि अनुपम सुख आपके रूपमें है, और परम अनुपम सुख आपकी बाललीलामें है, यथा—**'सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ । ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति'**, **'सोउ जानेकर फल यह लीला ।'** रूप त्यागकर चरित करनेको कहा क्योंकि भक्तोंको हरिसे अधिक हरिचरित प्रिय है । [पाँड़ेजी लिखते हैं कि यह परम अनूप सुख है, इसलिये कि आपको बाललीलाका सुख हो और हमको माता होनेका सुख मिले । **'परम अनूपा'** क्योंकि ऐसा सुख किसी औरको नहीं प्राप्त हुआ और जिन्होंने इन चरितोंको देखा अथवा जो चरितोंको सुनेंगे वे सब समस्त सुकृतोंके पात्र हो जायेंगे । यथा—**'तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तो पायो न बिये । गी० १ । ७ ।'**, **'ह्वै हैं सकल सुकृत सुख भाजन, लोचन लाहु लुटैया । अनायास पाइहैं जन्म फल तोतरे बचन सुनैया ॥ भरत राम रिपुदवन लषनके चरित सरित अन्हवैया । तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे रघुबर नगर बसैया ॥ गी० १ । ९ ।'**]

नोट—इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—**'उपसंहार विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् । दर्शयस्व महानन्दबालभावं सुकोमलम् ॥…'** (अ० रा० १ । ३ । २९) । अर्थात् हे विश्वात्मन् ! आप अपने इस अलौकिक रूपका उपसंहार कीजिये और परम आनन्ददायक सुकोमल बालभावका सुख दीजिये । अतिप्रियशीला' में **'महानन्दबालभावं सुकोमलम्'** का भी भाव है ।

टिप्पणी—२ **'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना…'** इति । (क) **'सुजाना'** का भाव कि प्रेम पहिचाननेमें आप **'सुजान'** हैं,—(**'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ । कोउ न राम सम जान जथारथ'**, **'जानसिरोमनि कोसलराऊ'**) । प्रथम माताको समझाकर प्रेम प्राप्त किया, यथा—**'कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै'** । प्रेम प्राप्त होनेपर उस प्रेमको पहिचाना, अन्तःकरणका सुतविषयक प्रेम देखा, अतएव **'सुजान'** कहा । यथा **'अंतर प्रेम तासु पहिचाना । मुनि दुरलभ गति दीन्हि सुजाना ॥ आ० २७'**, **'देखि दयाल दसा सबही की । राम सुजान जानि जन जी की ॥ २ । ३०४ ।'**, **'स्वामि सुजान जान सबही की । रुचि लालसा रहनि जन जी की ॥ २ । ३१४ ।'** (ख) **'रोदन ठाना होइ बालक'** इति । माताके वचन हैं कि यह रूप तजकर बाललीला कीजिये, अतएव बालक होकर रुदन करने लगे, क्योंकि जब बालक उत्पन्न होता है तब रोने लगता है । [श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'ठाना' शब्दमें एक ओर हास्यरस है तो दूसरी ओर **'जस काछिय तस चाहिय नाचा'** वाली लीलाका प्रारम्भ है ।] (ग) **'सुरभूप'** अर्थात् सुरोंके रक्षक हैं । सुररक्षानिमित्त ही बालक हुए हैं, क्योंकि रावणकी मृत्यु नरके हाथ है, यथा—**'नरके कर आपन बध बाँची ।'** और बालककी प्रथम लीला रुदन है, अतः रोने लगे हैं । इस तरह **'सुजान'** कहकर यह भी जनाया कि लीला करनेमें परम चतुर हैं, कब क्या करना चाहिये यह सब जानते हैं । अतएव अत्यन्त प्रिय वाणीसे रुदन करने लगे जैसा आगे स्पष्ट कहते हैं । [बाबा

हरीदासजी लिखते हैं कि सुजान होते हुए अजानकी तरह रोने लगे, इसीसे 'सुरभूप' कहा। सुरभूप हैं अर्थात् मायावी देवताओंके राजा हैं। 'रोदन ठाना' इस लीलासे पुत्रके प्रसव होनेका सबको निश्चय कराया।]

प्र० सं०—**'होइ बालक सुरभूपा'** इति। **'होइ बालक'** से स्पष्ट है कि षोडशवर्षके नित्य किशोररूपसे आपने माताको दर्शन दिया था, अब नित्यकिशोररूप छोड़कर बालक बन गये। इसके साथ 'सुरभूपा' का भाव यह है कि आपके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, देवता रूप बदल सकते हैं और आप तो देवताओंके भी स्वामी हैं। पुनः भाव कि आप प्राकृत बालक नहीं हैं। किन्तु प्रकृति पार हैं। प्राकृत बालक 'नरभूप' होते हैं, न कि सुरभूप। देवता दिव्य होते हैं और ये देवभूप हैं, इनका शरीर दिव्य चिदानन्दमय है।

टिप्पणी—३ **'यह चरित जे गावहिं'** इति। (क) स्तुतिके अन्तमें ग्रन्थकार उसका फल वा माहात्म्य कहते हैं कि श्रीरामजीके जन्मचरित्र गान करनेसे पुनर्जन्म नहीं होता, यथा—**'जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सियसमेत दोउ भाइ। भव मग अगम अनंदु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ॥** २। १२३।' पथिकके दर्शनसे भवमार्ग दूर हुआ। जैसा चरित्र है वैसा ही विकार दूर करता है। (☞ यह स्तुति प्रायः सभी वैष्णवमन्दिरोंमें आरतीके समय प्रातःकाल गायी जाती है। (ख) **'ते न परहिं भवकूपा'** का भाव कि यद्यपि उन्होंने भवकूपमें पड़ने योग्य कर्म किये हैं तथापि इस चरित्रके गानसे वे भवकूपमें नहीं पड़ते परं च हरिपद पाते हैं।)

नोट—इसी तरह अ० रा० में भी यहाँपर माहात्म्य कहा है। यथा—**'संवादमावयोर्यस्तु पठेद्वा शृणुयादपि। स याति मम सारूप्यं मरणे मत्स्मृतिं लभेत्॥** १। ३। ३४।' अर्थात् जो इस संवादको पढ़े या सुनेगा वह मेरी सारूप्य मुक्ति पावेगा और मरणकालमें उसे मेरी स्मृति बनी रहेगी।

वीरकवि—१ यहाँ दो असम वाक्योंका समतासूचक भाव **'प्रथम निदर्शना अलंकार'** है। २—'ठाना' शब्दसे लक्ष्य-क्रम विवक्षितवाच्यध्वनि है जिसमें सबको बालकोत्पत्तिकी एक साथ ही सूचना हो जाय।

दोहा—बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥ १९२॥

अर्थ—ब्राह्मण, गऊ, देवता और संतोंके हितार्थ (प्रभुने) मनुष्य अवतार लिया। शरीर स्वेच्छारचित है, माया, (सत्त्व, रज, तम तीनों) गुणों और इन्द्रियोंसे परे है। १९२।

टिप्पणी—१ विप्र आदिके हितार्थ अवतारकथनमें तात्पर्य यह है कि ये सब राक्षसोंद्वारा पीड़ित हैं, यथा—**'करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ तब-तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥** १। १२१।' [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि ब्राह्मण समीचीन शुभकर्मका स्थापन करते हैं, (धेनु यज्ञ तथा पूजनहेतु दूध, दही, घृत आदि देती है। गाय बछड़ा और दूध-घीसे संसारका हित करती है, उसके दूध, मूत्र, गोबर आदिसे पञ्चगव्य बनता है), सुर सेवा-पूजा लेकर जगत्की रक्षा करते हैं और संत तो सहज-स्वभावसे ही परहितनिरत होते ही हैं। अतएव इनके हितार्थ अवतार लेना कहा। पुनः धेनुसे धेनुरूप पृथ्वीका भी ग्रहण है क्योंकि अवतारहेतुमें यह मुख्य है]

२ विप्र-धेनु-सुर-संत हित अवतार लिया पर अवतारसे कुछ इन्हींका हित नहीं हुआ वरं च सबका हित है। पूर्व कह आये हैं कि **'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिललोक बिश्राम'**। विप्रको प्रथम कहा क्योंकि अवतार लेते ही इन्हींका प्रथम हित हुआ कि असंख्य द्रव्य मिला, यथा—**'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।** १९३।' मनुजसे यह भी भाव निकल सकता है कि यह अवतार 'मनु' दशरथके लिये है।

३ 'निज इच्छा निर्मित तनु ··', शरीर स्वेच्छारचित है *अर्थात् यह शरीर कर्मोंके सम्बन्धका नहीं है जैसा कि मनुष्यों*का होता है, यथा—'जेहि जेहि जोनि **करमबस भ्रमहीं**'। जीवोंके शरीर माया-गुण-इन्द्रियमय होते हैं और प्रभुका शरीर इन तीनोंसे परे है—'चिदानंदमय देह तुम्हारी' एवं 'अवतरेउ अपने भगत हित निज-तंत्र नित रघुकुलमनी'। भगवान्‌ने श्रीमनुशतरूपाजीसे कहा था कि **'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥** १५२। १।' वही 'इच्छामय' तन बनाकर प्रकट हुए। मनुज-अवतार लिया क्योंकि विप्रधेनु-सुरसंतहित मनुज-तनसे ही हो सकेगा,—**'रावन मरन मनुज कर जाचा'**।

मनुजके भाव पूर्व आ चुके हैं। ['निज इच्छा' अर्थात् अपने संकल्पमात्रसे, प्राकृत पुरुषोंकी तरह नहीं। 'माया-गुन-गोपार' कहनेका भाव कि परम ऐश्वर्य त्यागे हुए नहीं है। यहाँ शङ्का होती है कि इच्छा वा संकल्पमात्रसे तो चराचरमात्र सभी रूप हुए, यथा—श्रुतिः 'एकोऽहं बहु स्याम्' तब यहाँ 'मनुज अवतार' लेनेमें 'निज इच्छा' कहा सो क्यों? मनुष्य अवतार क्यों हुआ? इस शङ्काके निवारणार्थ कहा कि 'बिप्र धेनु सुर संत हित···' अर्थात् इन्होंने रावणके वधके लिये अवतार लेनेकी प्रार्थना की थी, और उसको वर था कि नरके हाथ मरेगा। (मा० त० वि०)]

नोट—१ पूर्वार्द्धमें साधारण बात कहकर उत्तरार्द्धमें उसीका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करनेका भाव 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। २ श्रीबैजनाथजी यह शङ्का उठाकर कि 'गरीबके घर ऐसे अवसरपर ऐसी अवस्थामें दो-एक स्त्रियाँ अवश्य रहती हैं और यहाँ तो चक्रवर्तीमहाराजकी पटरानियाँ हैं फिर भला कैसे सम्भव है कि यहाँ (सूतिकागारमें और उसके निकट) कोई और न था? तो फिर भी किसी औरने न जाना, किसीने स्तुति करते न सुना, दर्शन केवल कौसल्याजीको हुए यह कैसे मान लें?' उसका समाधान करते हैं कि यह भगवत्-लीला है—"सो जानइ जेहि देहु जनाई।' (भगवान् श्रीकृष्णके जन्मसमय भी देखिये कितने पहरेदार वहाँ थे। माता-पिता बन्धनमें थे। तो भी उस समय सब सो गये। इनकी बेड़ियाँ खुल गयीं, इत्यादि। 'अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोग'। भगवान् जिसपर कृपा किया चाहें उसपर लाखोंके बीचमें भी कृपा कर देते हैं और दूसरेको कुछ भी पता नहीं चलता। यह बात तो अनुभवी भगवत्कृपापात्र ही जानते-बूझते हैं दूसरोंकी समझके बाहर है।)

ब्रह्मस्तुति (दोहा १८६ छंद) और कौसल्यास्तुति (प० प० प्र०)

श्रीब्रह्माजी		श्रीकौसल्याजी		श्रीब्रह्माजी		श्रीकौसल्याजी
सुरनायक	छंद १	१ सुरभूपा	छंद ४	ब्यापक	छंद २	१४ अमाना (अप्रमेय)
जनसुखदायक	,,	२ जन अनुरागी	,, २	चरित पुनीत	,,	१५ यह चरित जे गावहिं····
असुरारी	,,	३ खरारी	,, १	मुकुंदा, भवभयभंजन		१६ ते न परहिं भवकूपा
सिंधुसुता प्रियकंता	,,	४ श्रीकंता	,, २	बिगतमोहमुनि	छंद २	१७ मुनिमनहारी (सगुनरूप)
गोद्विजहितकारी	,,	५ बिप्रधेनुसुर····' हितकारी		बृंदा···ध्यावहिं		
अद्भुतकरनी	,,	६ अद्भुतरूप	छंद १	जेहि सृष्टि उपाई	छंद ३	१८ ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया
मरम न जानै कोई	,,	७ मम उर सो बासी, थिर न रहै		अतिअनुरागी	२	१९ जन अनुरागी
सहज कृपाला दीन दयाला		८ प्रगटकृपाला दीनदयाला		भगवाना		२० प्रभु
करहु अनुग्रह	,,	९ तजहु तात यह रूपा परम अनूपा		जाकहँ कोउ नहिं जाना		२१ ज्ञानातीत
अबिनासी	,, २	१० अनंता		बेद पुकारे		२२ जेहि गावहिं श्रुति
गोतीतं	,,	११ गोपार, गुन (इन्द्रिय) अतीता		गुनमंदिर		२३ सब गुन आगर
मायारहित	,,	१२ मायातीता		सब बिधि सुंदर		२४ सोभासिंधु
परमानंदा	छंद २	१३ यह सुख परम अनूपा		सुखपुंजा		२५ सुखसागर

☞ मनुशतरूपाको जो दर्शन हुआ है, उससे भी पाठक मिलान कर लें। शब्दोंके भाव स्पष्ट हो जायँगे। प० प० प्र०—कौसल्या-स्तुति भरणी नक्षत्र है। साम्य इस प्रकार है—(१) यह दूसरी स्तुति है और भरणी दूसरा नक्षत्र है। (२) इस स्तुतिसे ही रामकथाका आरम्भ है। 'राम कथा कलिपन्नग भरनी' कहा ही गया है। सकल विश्व आनन्द और उत्साहसे भर गया है और 'भ्रियते अनया इति भरणी'। (३) भरणी नक्षत्रमें तीन तारे हैं। यहाँ 'मायागुनज्ञानातीत अमान बेद पुरान भनंता', 'करुनासुखसागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता' और 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति बेद कहै', ये तीन तारे हैं। भाव यह कि रामकथारूपिणी भरणी वेद-पुराण-श्रुति-संतोंके वचनोंको लक्ष्य करके ही कही है। (४) भरणी नक्षत्रका आकार योनिसदृश है; तीनों तारे एक ही प्रतिके (4th. dimention) हैं। वेद, पुराण और संतोंके वचन समान महतीके हैं यह जनाया। योनि=जन्मस्थान, कारण। और यह स्तुति अजन्माके जन्मका कारण है। (५) भरणीका देवता यम है और यह स्तुति दुष्टोंका शमन, संयमन करनेवाले प्रभुकी ही है। 'यमो दण्डधरः कालः' और 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता' ऐसे जो प्रभु हैं उनकी यह स्तुति है। यमका अर्थ विष्णु भी है। (६)

'दानि मुकुति धन धरम धामके' यह नक्षत्रकी फलश्रुति है और स्तुतिकी फलश्रुति है—'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं' (अर्थात् धाम पाते हैं) और 'ते न परहि भवकूपा' अर्थात् मुक्त हो जाते हैं)। बिना धर्मके मुक्ति वा हरिपद नहीं मिलता, और 'मुनिधन जन सर्बस' तो इस स्तुतिमें ही सबको साक्षात् दिया है। इसकी फलश्रुति है 'दानि मुकुति धन धरम धामके'। सो 'खरारि' कहकर प्रभु द्वारा धर्मस्थापन कहा 'श्रीकंत' कहकर धनदाता कहा, 'हरिपद' से धाम और 'न परै भव कूपा' से मुक्ति कही। (वि० त्रि०)]

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥ १॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनंद मगन सकल पुरबासी॥ २॥

शब्दार्थ—संभ्रम=आतुरतासे। शीघ्रतासे। हर्षकी त्वरासे। यथा—'संभ्रमोऽसाध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि इति मेदिनी', 'सहित सभा संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु॥ २। २७४॥'

अर्थ—बच्चेके रोनेका परम प्रिय शब्द सुनकर सब रानियाँ आतुरतासे वहाँ चली आयीं॥ १॥ दासियाँ हर्षित होकर जहाँ-तहाँ दौड़ी गयीं। सभी पुरवासी आनन्दमें मग्न हो गये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'सिसुरुदन' पर प्रसंग छोड़ा था, यथा—'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक····।' बीचमें इस चरितके गानका माहात्म्य कहने लगे; यथा—'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा।' फिर अवतारका हेतु कहा—'बिप्र धेनु सुर संत हित····।' अब पुनः उसी जगहसे प्रसंग उठाते हैं—'सुनि सिसुरुदन ···।' (ख) 'सिसुरुदन' को 'परमप्रियबानी' कहनेका भाव कि पूर्व बाललीलाको 'अति प्रियसीला' कहा था—'कीजै सिसुलीला अति-प्रियसीला····।' शिशुरुदन बाललीला है। अतएव उसे परमप्रिय कहा। संभ्रम अर्थात् जल्दी आनेसे सब रानियोंका हर्षित होना सूचित किया। सब रानियाँ 'चलि आईं' इससे जनाया कि प्रथम वहाँ कोई नहीं था। एकान्तमें भगवान्‌ने कौसल्याजीको दर्शन दिये। ['सुनि' और 'चलि आईं' इन शब्दोंसे प्रतीत होता है कि सबको यही जान पड़ा कि बालक हमारे निकट ही रो रहा है। यह भगवत्-लीला है कि सबको अपने-अपने महलोंमें या जो जहाँ थीं वहीं रुदनका शब्द सुनायी पड़ा। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'संभ्रमस्त्रयमिच्छति भयमुद्वेगमादरम्' अर्थात् संभ्रम पद तीनकी इच्छा करता है—भय, उद्वेग और आदर। जहाँ जैसा देश-काल हो वैसा, अर्थ जानना चाहिये। यहाँ आदर और प्रीतिका देश है। बैजनाथजी 'संभ्रम' का भाव यह लिखते हैं कि सबको अत्यन्त चाह थी कि राजाके पुत्र हो इससे पुत्रकी रोदन-वाणी अत्यन्त प्रिय लगी, अतएव वात्सल्यरस वश हर्षके मारे विह्वलतासे उनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी इससे वे सूतिका-गृहमें ही चली आयीं। सब रानियोंने रोना सुना, इस कथनसे यह भी सूचित होता है कि गर्भाधानके समयसे सब दिन गिनती रहीं, सबको मालूम था कि आज-कलमें पुत्रजन्म होने ही वाला है, सबका ध्यान उसी ओर था, इसीसे सर्वप्रथम उन्होंने रोना सुना और सबने सुना।]

वि० त्रि० सब महलोंतक वाणी (रुदन) पहुँची और फिर भी परम प्रिय है। परम उत्कण्ठा है, अतः रानियाँ स्वयं चली आ रही हैं, दासी भेजकर कोई समाचार नहीं पुछवा रही हैं। पहिलेसे प्रसवकालकी वेदनाका कोई समाचार नहीं मिला। एकाएक शिशुरुदन ही सुनायी पड़ा।

२ (क) '**हरषित जहँतहँ धाईं दासी**' इति। जब सब रानियाँ आयीं तब उनके साथ-ही-साथ दासियाँ भी आयीं। दासियोंको काम करनेकी आज्ञा हुई, तब वे जहाँ-तहाँ दौड़ी गयीं। इन्हींके द्वारा पुरवासियोंको खबर मिली। दासियाँ हर्षित हैं। उनके हर्षका कारण पुरवासी उनसे पूछते हैं, यथा—'कहु कारन निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन।' [दासियाँ हर्षसे फूली हुई उस समयके आवश्यक व्यवहारियोंको बुलानेके लिये दौड़ी चली जा रही हैं, लोग इस तरह जाते हुए देख पूछते भी हैं और स्वयं भी जहाँ-तहाँ कहती हैं। राजाके पुत्र न होनेसे सब दुखी थे; अग्निदेवके वाक्यसे सबको आशा लगी थी, वह सफल हुई। अतएव सभी आनन्दमें मग्न हो गये हैं] (ख) '**आनँद मगन सकल पुरबासी**' इति। यह कहकर जनाया कि सब पुरवासी आनन्दमें मग्न होकर जन्मोत्सव करने लगे; जैसे राजाने सुननेपर आनन्दमग्न हो जन्मोत्सव किया, यथा—'परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥' तथा 'सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार। दल-फल-फूल दूब दधि रोचन घर घर मंगलचार॥ गी०। १। २॥' (ग) [रोना सुनकर रानियों दासियों, पुरवासियों सभीका आनन्दमग्न होना अर्थात् कारण कार्य्यका एक संग होना 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है]

प० प० प्र०—जैसे मानसमें केवल तीन रानियोंके नाम हैं वैसे ही गीतावली, वाल्मी० रा०, अ० रा० और पद्मपुराण आदिमें हैं। मानसमें तीनसे अधिक रानियोंका उल्लेख कम-से-कम ३० बार मिलता है। भेद इतना ही है कि सर्वमत संग्रह-हेतु ३५०, ७००, ७५० इत्यादि कोई निश्चित संख्या मानसमें नहीं दी। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।—(१) 'प्रथम राम भेंटी कैकेई। भेंटी रघुबर मातु सब। २। २४४। 'गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका॥ पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे पेम ब्याकुल सब गाता॥ २। २४५-४॥'—यहाँ कैकेयी, रघुबर-मातु सब, सुमित्रा और (राम) जननी (कौसल्या) सबका स्पष्ट उल्लेख है। (२) 'सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥ १। १९३। १।' कौसल्याजी इन रानियोंमें नहीं हैं। यदि केवल तीन ही रानियाँ होतीं तो 'सब' दो ही रही थीं, अतः कह सकते थे कि 'चलि आईं दुइ रानी' पर कहा 'सब'। इससे सिद्ध हुआ कि और अनेक रानियाँ थीं। (३) 'पूछिहहिं दीन दुखित सब माता।···पूछिहि जबहिं लखन महतारी। कहिहउँ कवन सँदेस सुखारी॥ रामजननि जब आइहि धाई। २। १४६। १-३।'—यहाँ 'सब माता', 'सुमित्रा' और 'कौसल्या'जीका स्पष्ट निर्देश है।

प्र० स्वामीके विचार पूर्व दोहा १८८ के नोट २ (प्र० सं०) को पुष्ट और उसके अन्तिम विचारोंका खण्डन करते हैं। पृष्ठ ३-४ देखिये।

दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥ ३॥
परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥ ४॥

अर्थ—श्रीदशरथजी पुत्रका जन्म कानोंसे सुनकर मानो ब्रह्मानन्दमें समा गये॥ ३॥ मनमें परम प्रेम है, शरीर पुलकित (रोमाञ्चको प्राप्त) है, बुद्धिको धीरज देकर उठना चाहते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'पुत्रजनम सुनि' इति। 'हरषित जहँ-तहँ धाईं दासी' जो पूर्व कह आये, उन्हींमेंसे कुछ दासियोंने राजाको खबर दी। जो प्रथम खबर देगा वही विशेष कृपाका पात्र होगा। बखशीशके लिये तुरत दासियोंने खबर दी। (ख) 'ब्रह्मानंद समाना' इति। अर्थात् ऐसा भारी आनन्द हुआ जैसा 'ब्रह्मानंदमग्न' को होता है। अथवा, यह कहें कि पुत्र-जन्मका शब्द जो कानमें पड़ा वह मानो शब्द नहीं है वरंच ब्रह्मानन्द ही है जो कानोंमें समा गया है। जब श्रीरामजीके जन्म-का सन्देश ब्रह्मानन्दके समान है, तब श्रीरामजीकी प्राप्तिके आनन्दको क्या कहा जाय? खीर (हविष्यान्न)से भगवान्‌की प्राप्ति हुई, इसीसे हविकी प्राप्तिमें ब्रह्मानन्द हुआ था, यथा—'परमानंद मगन नृप हरष न हृदय समाइ॥ १८९॥' वही आनन्द जन्म सुनकर हुआ...'मानहु ब्रह्मानंद समाना' ब्रह्मानन्द और परमानन्द एक ही हैं।

नोट—१ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'सच है, सगुणसाकाररूपका आनन्द ऐसा ही है। मुसलमान कवि सर मुहम्मद इकबालसे भी न रहा गया। वे कहते हैं—'कभी ऐ हकीकते मुन्तज़र नज़र आ लिबासे मजाज़में। कि हज़ारों सिजदे तड़प रहे हैं मेरे जबीन नियाज़में।' अर्थात् ओ असीम सत्ता! जिसकी तीव्र प्रतीक्षा हो रही है, कभी तो भौतिक आवरणमें प्रकट हो, हजारों सिजदे मेरी पेशानीमें तेरे चरणोंपर अर्पित होनेके लिये तड़प रहे हैं।—यह तो एक रूप है। वेदकी १६०० श्रुतियोंमें उपासनाके उतने रूप दिखाये और भक्तिने 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार भक्तके लिये 'प्रभु मूरति' वैसी प्रकट कर दी, फिर भी किसीने पार न पाया। बात वही है जो मौलाना रूमके इस पदसे प्रकट है—'बनामे आं कि ऊ नामे न दारद। बहर नामे कि ख्वानी सर बरआरद॥' अर्थात् मैं उसके नामसे प्रारम्भ करता हूँ जिसका कोई नाम नहीं है, पर जिस भी नामसे उसे पुकारो वह प्रकट हो जाता है।'

२ श्रीबैजनाथजी इस प्रकार भी अर्थ करते हैं कि 'मानो ब्रह्मानन्द कानोंके द्वारा आकर हृदयमें समा गया।' और श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'रामचन्द्रजी ब्रह्म ही हैं परंतु राजाका उनमें पुत्रभाव भी है इसलिये यहाँ उत्प्रेक्षा की गयी'। श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'पुत्र होनेका सुख प्रवृत्तिमार्ग है और ब्रह्मानन्द निवृत्तिमार्ग है। पुत्र होना लौकिक विषयी सवासिक सुख है पर यहाँ यह बात नहीं है। राजा निर्वासिक श्रीरामप्रेमानन्दमें मग्न है पर यहाँ प्रत्यक्ष प्रेमानन्द न कहा, क्योंकि प्रेममें उमंग उठती-बैठती है जैसे जलमें लहर और यहाँ एकरस थिर प्रेम है। पुनः (वह प्रेम) वासनारहित है। अतएव कहा कि ऐसा सुख हुआ मानो ब्रह्मानन्दमें डूब गये।' कुछ लोग 'समाना' का अर्थ 'सामान्य' करते हुए यह भाव कहते हैं कि जन्मका सन्देशा ऐसा है कि उसके आगे ब्रह्मानन्द सामान्य जान पड़ने लगा, यथा—'जेहि सुख लागि पुरारि

असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन। ७। ८८।' अथवा, 'ब्रह्मानन्द लज्जावश समुद्रादिमें समा गया' (रा० प्र०)।

३ योगी जब ब्रह्मानन्दमें मग्न हो जाते हैं तब उनको शरीरकी सुधबुध नहीं रह जाती, वैसी ही राजाकी दशा है। प्रेम और हर्षमें उनके सारे अङ्ग शिथिल हो गये, इसीसे वे उठ नहीं पाते। यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। बाबा हरादासजीका मत है कि श्रीदशरथजी महाराज दधिकाँदोके लिये धीरज धरकर उठना चाहते हैं। और, पंजाबीजी तथा पं० रा० कु० जीका मत है कि पुत्रके दर्शनके लिये मतिको धीर कर रहे हैं कि प्रभुका दर्शन अवश्य चलकर करना चाहिये। बैजनाथजीका मत है कि 'दर्शनके लिये बार-बार उठना चाहते हैं पर लोकलज्जासे मतिको धीर करके रह जाते हैं। (मेरी समझमें पं० रामकुमारजीका मत ठीक है)। अब आगे क्या करना है इस निश्चयके लिये बुद्धिको स्थिर कर रहे हैं। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ (क) 'परम प्रेम मन…' इति। यहाँ राजाके तन, मन और वचन तीनोंका व्यवहार वर्णन किया है। बालकके लिये मनमें 'परम प्रेम' है, तनमें पुलकावली हो रही है, वचनसे बाजा बजानेको कहा—'कहा बोलाइ बजावहु बाजा'। (ख) ब्रह्मानन्दको प्राप्त हुए, इसीसे 'परम प्रेम' हुआ कि चलकर बालकको देखें, इसीसे उठना चाहते हैं और बालकके 'विषे' लिये बुद्धिको धीर अर्थात् स्थिर करते हैं जैसा आगे लिखते हैं,—'जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई'। जैसे ब्रह्मानन्द नहीं कहते बनता, वैसे ही परम प्रेम भी कहते नहीं बनता, यथा—'पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना। १०२। ७।'इसीसे दोनोंकी 'समता' कही। (ग) पुनः, 'चाहत उठन…' अर्थात् नांदीमुखश्राद्धादि कृत्य कर्म करनेके लिये उठना चाहते हैं, बुद्धिको धीर करते हैं, इस कथनसे पाया गया कि बुद्धि ब्रह्मानन्दमें मग्न है, कहती है कि 'सुनकर जो ब्रह्मानन्द हुआ उसे भोगिये, कहाँ जाइयेगा' और उठने नहीं पाते।

नोट—४ मिलता हुआ श्लोक यह है—'अथ राजा दशरथः श्रुत्वा पुत्रोद्भवोत्सवम्। आनन्दार्णवमग्नोऽसावाययौ गुरुणा सह। अ० रा० १। ३।२६।' अर्थात् श्रीदशरथजीने पुत्रोत्पत्तिरूप उत्सवका शुभ समाचार सुना तो वे मानो आनन्दसमुद्रमें डूब गये और गुरु वसिष्ठके साथ वे राजभवनमें आये। अ० रा०में भी यह नहीं बताया कि किससे सुना, वैसे ही मानसमें भी नहीं लिखा है। परंतु रानियोंका सुनना कहकर दासियोंका इधर-उधर जाना कहकर उसके पश्चात् दशरथजीका सुनना कहनेसे अनुमान हुआ कि किसी दासीने कहा होगा। 'सुनि काना'—क्या सुना? 'पुत्रजन्म'। यहाँ 'सिसु रुदन' सुनना नहीं कहते हैं, इससे दासी आदिसे सुनना पाया जाता है। वे० भू० जीका मत है कि 'जब कोई उत्तम समाचार किसीके द्वारा मिलता है तब उसको बखशीश दी जाती है, यदि दासीसे सुना होता तो बखशीश देना भी लिखा जाता, अतः यहाँ 'सुनि काना' का भाव यही है कि शिशुका रुदन सुनकर ही पुत्रजन्मका निश्चय किया और परमानन्दसे भर गये, तब परिचारिकाओंको 'कहा बुलाइ बजावहु बाजा'। खबर देने कोई गया होता तो उसे पुरस्कार देते और उसीसे बाजा बजवानेके सम्बन्धमें आज्ञा देते।' यह भी हो सकता है। और यह भी कि सुननेवालेका जब नाम नहीं दिया तब पुरस्कार देना कैसे लिखते! दासीने सुननेपर सेवकोंको बुलाकर बाजाके सम्बन्धमें आज्ञा दी हो यह भी हो सकता है। अथवा, 'जहँ तहँ धाईं दासी' वे दौड़ती जा रही हैं जो मिलते हैं उनसे शुभसंवाद कहती जाती हैं (कि बड़ी महारानीके पुत्र हुआ)। यही शब्द राजाके कानमें पड़ा। अतः पुत्रजन्म सुनि काना' कहा।

जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥ ५॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥ ६॥

अर्थ—जिसका नाम सुनते ही मंगल-कल्याण होता है, वही प्रभु मेरे घर आये हैं॥ ५॥ राजाका मन परमानन्दसे परिपूर्ण हो गया। उन्होंने बाजेवालोंको बुलाकर कहा कि बाजे बजाओ। (वा, उन्होंने कहा कि बाजेवालोंको बुलाकर बाजे बजवाओ)॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'जाकर नाम सुनत सुभ होई।…' इति। राजाने तो मनु-तनमें वर माँगा था कि 'सुत बिषयक तव पद रति होऊ। १५१। ५।' तब यहाँ ऐश्वर्यका ज्ञान कैसे हुआ? इसमें बात यह है कि वसिष्ठजीने राजाको ऐश्वर्यवान् कराया था कि 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगतभयहारी। १८९। ४।' 'कहि बसिष्ठ बहुबिधि समुझायउ। १८९। ३।' में भी पूर्व वरदान आदि कहकर समझाना पाया जाता है। इसीसे अभी राजाको

वह ऐश्वर्यशान बना हुआ है, आगे पुत्रके दर्शनके पश्चात् न रह जायगा। (ख) 'सुनत सुभ होई', यथा—'जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥' शङ्करजी नाम सुनाकर मुक्ति देते हैं। इस प्रकार 'सुभ' का अर्थ यहाँ मुक्ति है। (ग) राजाके चतुष्टय अन्तःकरण भगवान्‌में लगे यह इस प्रसङ्गमें दिखाया है—'परम प्रेम मन पुलक सरीरा' सुनकर मनमें प्रेम हुआ, चित्तसे दर्शनार्थ 'चाहत उठन', बुद्धि भगवान्‌में स्थिर कर रहे हैं—'करत मति धीरा' और 'मोरे गृह आवा प्रभु सोई' वही प्रभु मेरे घर आया यह अहंकार है। [(घ) 'मोरे गृह आवा' अर्थात् पुत्रभावसे प्राप्त हुआ। अतः चलकर दर्शन करना चाहिये। (वै० रा० प्र०)]

२ (क) 'परमानंद पूरि मन राजा' इति। प्रथम तो कानोंमें ब्रह्मानन्द समाया, अब ब्रह्मानन्दसे मन परिपूर्ण हो गया। (ख) कहा बोलाइ बजावहु बाजा' इति। बाजा बजनेसे सबको जाहिरी होती है, सबको सूचना हो जाती है, दूसरे मंगल अवसरपर बाजे बजाये ही जाते हैं। यह आनन्दोत्सवका द्योतक है, इसीसे प्रथम बाजा बजानेकी आज्ञा दी तब वसिष्ठजी और विप्रवृन्दके बुलानेको कहा, उसी क्रमसे कह रहे हैं। (ग) पुरवासियोंके सम्बन्धमें 'आनंद मगन सकल पुरबासी' और राजाके सम्बन्धमें 'परमानंद पूरि मन राजा' कहकर जनाया कि राजाको सबसे अधिक सुख हुआ। (घ) [श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'परमानन्दमें मन-कर्म-वचनके व्यवहार स्थिर हो जाते हैं फिर बजानेकी आज्ञा क्योंकर दी? उत्तर—व्यवहारके दो भेद हैं—स्वार्थिक और पारमार्थिक। स्वार्थिक व्यवहार विषयानन्दमय है और पारमार्थिक परमानन्दमय। राजा दशरथका व्यवहार परमानन्दहीमें है।'] (ज्ञानीको ब्रह्मानन्द होता है और भक्तको परमानन्द होता है। राजाको क्रमसे दोनों हुए। पहले ब्रह्मानन्दमें डूबा-डूब हो गये, जब अपनेको सँभाला, मतिधीर किया तो परमानन्दसे पूर्ण हो उठे।—वि० त्रि०)

गुर बसिष्ठ कहँ गएउ हँकारा। आए द्विजन सहित नृपद्वारा॥७॥
अनुपम बालक देखिन्हि जाई। रूप रासि गुन कहि न सिराई॥८॥

शब्दार्थ—हंकारना=बुलाना, यथा—'आराम रम्य पिकादि खग-रव जनु पथिक हंकारहीं॥७।२९॥' त्रिपाठीजी लिखते हैं कि राजाके यहाँ किसी आनन्दमें सम्मिलित होनेके लिये जब बुलाहट आती है तो उसे आज भी 'हँकार' कहते हैं।

अर्थ—गुरु वसिष्ठजीको बुलावा गया। वे ब्राह्मणोंसहित राजद्वारपर आये॥ ७॥ उन्होंने जाकर उपमारहित बालकको देखा, जो रूपकी राशि है और जिसके गुण कहनेसे नहीं चुक सकते अर्थात् जो अनन्त गुणवाला है॥८॥

टिप्पणी—१ (क) वसिष्ठजी पुरोहित हैं। जो पुरोहितका काम है वही करनेके लिये बुलाये गये हैं। (ख) 'आए द्विजनसहित नृपद्वारा' नृपद्वारपर आना कहकर जनाया कि आकर प्रथम उन्होंने राजासे भेंट की। तत्पश्चात् राजाके साथ सब लोग भीतर गये। राजाने तो वसिष्ठजीको बुलवाया पर वे ब्राह्मणसहित आये, यह कहकर जनाया कि धर्मके काम सब वसिष्ठजीके ही अधीन हैं, जो वे चाहें सो करें, इसीसे राजाका ब्राह्मणोंको बुलाना नहीं लिखा। वसिष्ठजी सबको बुलाकर साथ लेते आये। श्राद्धादि कर्मोंके अन्तमें दान देना पड़ता है। यदि साथ न लाते तो फिर बुलवाना पड़ता, कार्यमें विलम्ब होता। गुरुदेव सब रीति जानते हैं, अतः साथ लाये। आगे दक्षिणा देनेका उल्लेख स्वयं कविने किया है—'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।' यथा—'अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाईं॥ सुनि गुर करि महिपाल बड़ाई। पुनि पठए मुनिबृंद बोलाई॥' इत्यादि।

२ (क) 'अनुपम बालक देखिन्हि जाई' इति। गुरुको बुलावा गया और वे आये। आनेके साथ ही पहला काम उन्होंने यही किया कि जाकर बालकके दर्शन किये, इससे सूचित हुआ कि उनको भी बालकके दर्शनकी बड़ी उत्कण्ठा है, क्योंकि वे जानते हैं कि स्वयं भगवान् अवतरे हैं। रूपकी राशि हैं और रूपकी कोई उपमा नहीं है, इसीसे 'अनुपम' कहा। (ख) 'रूपरासि गुन कहि न सिराई' यहाँ यह शङ्का होती है कि अभी तो बच्चा जन्मा है (उसके कोई गुण प्रकट होनेका अवसर भी नहीं आया तब) बालकमें कौन गुण हैं जो कहे नहीं चुकते। समाधान यह है कि यहाँ 'गुण, से 'लक्षण' अभिप्रेत हैं। 'सूती' के बालकमें अनेक लक्षण हैं। यथा—'कहहु सुताके दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि॥ ६६॥ 'सब लच्छन संपन्न कुमारी॥ ६७। ३॥' 'सैल सुलच्छनि सुता तुम्हारी॥ ६७। ७॥' ['देखिन्ह जाई' यह देखना ऐश्वर्य-सम्बन्धमें है] (ग) रूपराशि अर्थात् यहाँ सौंदर्यका ढेर है, इसी खलियानके दाने जो इधर-उधर कुछ छिटके उसीसे संसारकी सुन्दरता है। [बिना भूषणके ही भूषितवत् देख पड़े उसे 'रूप' कहते हैं। यथा—'अङ्गानि भूषितान्येव निष्काद्यैश्च

विभूषणैः। येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते॥' उस रूपकी ये राशि हैं। रूपराशिमें द्युति, लावण्य, सौन्दर्य, रमणीयता, कान्ति, माधुरी और सुकुमारतादि गुण, अथवा उदारता, सुशीलतादि अनेक गुण हैं। (वै०)]

दो०—नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥१९३॥

अर्थ—तब राजाने नान्दीमुखश्राद्ध करके सब जातकर्म संस्कार किये और ब्राह्मणोंको स्वर्ण, गऊ, वस्त्र और मणि दिये॥ १९३॥

टिप्पणी—१ नान्दीमुखश्राद्ध करके तब जातकर्म किया जाता है। जातकर्मके पश्चात् दान दिया, यथा—'जातकर्म करि कनक बसन मनि भूषित सुरभि समूह दये। गी० १। ३।' 'जातकरम करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन्ह दान। गी० १। २॥'

'नान्दीमुखश्राद्ध।' 'जातकर्म'

जीवकी सद्गतिके लिये दश कर्म कहे गये हैं—गर्भाधान, सीमन्तक, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह और मृतककर्म। जातकर्मसे लेकर विवाहतक सब कर्मोंके आदिमें आभ्युदयिक नामक प्रसिद्ध नान्दीमुखश्राद्धका अधिकार है। जन्मपर जातकर्म होता है, उसके आदिमें नान्दीमुखश्राद्ध चाहिये। (बैजनाथजी)। निर्णय-सिंधुमें लिखा है कि जन्म, यज्ञोपवीत इत्यादिपर यह श्राद्ध पहले पहरमें होता है, परन्तु पुत्रजन्ममें समयका नियम नहीं है। यह श्राद्ध माङ्गलिक है; इसलिये पिताको पूर्वमुख बिठाकर वेदिकापर दूब बिछाकर चौरीठा, हरदी, तिल, दही और बेरीके फल मिलाकर इनके नौ पिण्ड बनाकर पिण्डदान कराया जाता है, फिर दक्षिणा दी जाती है। (बैजनाथजी)। 'नान्दीमुख' नामका कारण यह है कि पितृगण इस पिण्डको लेनेके लिये नाँदकी भाँति मुख फैलाये रहते हैं।—(करुणासिन्धुजी)।

☞ 'जातकर्म।' इस संस्कारमें बालकके जन्मका समाचार सुनते ही पिता मना कर देता है कि अभी बालककी नाल न काटी जाय। तदुपरान्त वह पहने हुए कपड़ोंसहित स्नान करके कुछ विशेष पूजन वृद्ध-श्राद्ध आदि करता है। इसके अनन्तर ब्रह्मचारी, कुमारी, गर्भवती या विद्वान् ब्राह्मणद्वारा धोई हुई सिलपर लोहेसे पीसे हुए चावल और जौके चूर्णको अँगूठे और अनामिकासे लेकर मन्त्र पढ़ता हुआ बालककी जीभपर मलता है। फिर मधु और घृत मिलाकर पिता उसे चार बार सोनेके पात्रसे बालककी जीभपर लगाता है। फिर कुश और जलसे बालकका प्रोक्षण करके आचार्य दहिने कानमें आठों कण्डिकाएँ सुनाते हैं। माता दहिना स्तन धोकर नाल और बालकपर डालती है। गणेशादिका पूजन करके वेदी बनाकर सरसों, पीपल और घीकी आहुति देते हैं, शिवमन्त्रसे सूत बाँधा जाता है, फिर छुरेका पूजन करके नाल काटा जाता है।

☞ ये दोनों कर्म सूतिकागारहीमें होते हैं, पर आजकल प्रायः देखनेमें नहीं आते। सूतिकागृहमें जाकर देखनेकी भी रीति अब प्रचलित नहीं है।

श्राद्ध=शास्त्रके विधानके अनुसार जो कृत्य पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक किया जाता है। जैसे तर्पण, पिण्डदान, विप्रभोजन, होम, दान इत्यादि। श्राद्ध शुभकार्योंके आरम्भमें भी होता है और पिता आदिके मरणतिथिपर भी। श्राद्ध ५ वा १२ प्रकारके माने गये हैं। 'नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि, पार्वण, सपिण्डन, गोष्ठी, शुद्ध्यर्थ, कर्मांग, दैविक, यात्रार्थ और पुष्ट्यर्थ'—(श० सा०)।

नोट—१ जातकर्म, नालच्छेदन और उस समयके दानके सम्बन्धमें 'शुक्ल-यजुः शाखीय कर्मकाण्ड प्रदीप' (निर्णय-सागर) में 'जातकर्म निर्णय' प्रकरणमें यह विधान लिखा है कि सन्तानका जन्म सुनते ही पिता आदि कर्म करनेवाला वस्त्रसहित स्नान करके नालच्छेदनके पूर्व अथवा यदि उस समय न हो सका हो तो नामकरणके समय जातकर्म करे। चाहे रात्रिमें प्रसव हो चाहे दिनमें, चाहे ग्रहणमें, मृताशौचमें, जननाशौचमें ही जन्म क्यों न हो, जातकर्म करना चाहिये। यथा—'श्रुत्वा पुत्रं जातमात्रं सचैलं स्नात्वा कुर्याज्जातकर्मास्य तातः। नालच्छेदात्पूर्वमेवाथवा स्यान्नाम्नायुक्तं पुत्रिकाया अपीदम्॥ रात्रौ शावाशौचके जात्यशौचे कार्यं चैतन्मात्र पूजादियुक्तम्।' इति धर्मनौकायाम्।

जातकर्मके पश्चात् दानका विधान इस प्रकार है। सुवर्ण, भूमि, गौ, अश्व, छत्र, छाग, वस्त्र, माल्य, शैय्या, आसन, गृह, धान्य, गुड़, तिल, घृत और भी जो घरमें द्रव्य आदि हो वह दानमें दिया जाय। पुत्रजन्मके समय घरमें पितर

और देवता आते हैं, इसलिये वह दिन पवित्र माना जाता है, ऐसा महाभारतके आदिपर्वमें कहा है। दान और प्रतिग्रह नालच्छेदनके पूर्व अथवा उस दिनभर करे, ऐसा मनुस्मृति और शङ्खस्मृतिमें कहा है। यथा—'अन्नं दद्यात्सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं तथा छत्रं छागं वस्त्रमाल्यं शयनं चासनं गृहम्। धान्यं गुडतिलं सर्पिरन्यच्चास्ति गृहे वसु। आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति॥ तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि॥ दानं प्रतिग्रहं नाभ्यामच्छिन्नायां तदह्नि वा॥ कुर्यादित्याहतुः शङ्खमनू इति।'

नालच्छेदन और सूतकके सम्बन्धमें शास्त्र कहता है कि जबतक नाल काटा नहीं जाता तबतक सूतक प्रारम्भ नहीं होता। काटनेके पश्चात् सूतक लगता है। यथा—'यावन्न छिद्यते नालस्तावन्नाप्नोति सूतकम्। छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते॥ (स्कन्द पु० अ० ११। ३१)।' जन्मसे छः मुहूर्त अर्थात् लगभग पाँच घंटेके भीतर और संकटकालमें आठ मुहूर्त अर्थात् लगभग छः घंटेके भीतर नालच्छेदन हो जाना चाहिये। इसके पश्चात् तो सूतक लगेगा ही। चाहे नालच्छेदन हो या नहीं हो। यथा—'कालप्रतीक्षा बालस्य नालच्छेदनकर्मणि। षण्मुहूर्त्तात्परं कार्यं संकटेऽष्टमुहूर्तके॥ तदूर्ध्वं छेद्यमच्छेद्यं पित्रादिः सूतकी भवेत्। (संस्कारभास्कर 'जातकर्म-निर्णय' प्रकरण)।

नोट—२ यहाँ जो विप्रोंको दान दिया गया वह जातकर्मके पश्चात् और नालच्छेदनके पूर्व दिया गया। इस दानका शास्त्रोंमें बड़ा फल कहा गया है। शास्त्रमें सुवर्ण, भूमि, गऊ आदि दानमें गिनाये गये हैं वैसे ही यहाँ 'हाटक धेनु' आदि कुछ गिनाये हैं।

३ मिलता हुआ श्लोक यह है—'तथा ग्रामसहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो मुदा ददौ। सुवर्णानि च रत्नानि वासांसि सुरभीः शुभाः॥ अ० रा० १। ३। ३९।' इस श्लोकके उत्तरार्धमें भी दोहेके उत्तरार्धके चारों प्रकारके दान हैं।

त्रि० त्रि०—'सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू' कहा है, सो यह उछाह शिशिर ऋतुके प्रथम माघ सुदी पञ्चमीसे उपमित है, जिसे श्रीपञ्चमी या वसन्त पञ्चमी कहते हैं। पञ्चमीमें पाँच कार्य हुए—१. रानियाँ आयीं, २. दासियाँ धायीं, ३. दशरथजीको समाचार मिला, ४. वसिष्ठजी बुलाये गये और ५. जातकर्म किया गया।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा॥१॥
सुमन बृष्टि अकास तें होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई॥२॥
बृंद-बृंद मिलि चलीं लोगाईं। सहज सिंगार किएँ उठि धाईं॥३॥

अर्थ—ध्वजा, पताका और बन्दनवारोंसे नगर छा गया है। जिस प्रकार पुर सजा-धजा हुआ है वह कहा नहीं जा सकता। अर्थात् ध्वजा, पताका और वन्दनवारोंकी शोभा कहते नहीं बनती तब पुरके सज-धजकी शोभा कौन कह सके एवं ध्वजा, पताका और बन्दनवारोंका बनाव जिस प्रकारसे है वह भी नहीं कहते बनता॥ १॥ आकाशसे फूलोंकी वृष्टि हो रही है। सब लोग ब्रह्मानन्दमें मग्न हैं॥२॥ स्त्रियाँ झुण्ड-की-झुण्ड मिलकर चलीं। साधारण ही शृङ्गार किये हुए वे उठ दौड़ीं॥३॥

टिप्पणी—१ (क) राजाका कृत्य कह चुके कि पुत्रजन्म सुनकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हुए और जन्मोत्सव करने लगे। अब पुरवासियोंका कृत्य कहते हैं कि ये भी जन्म सुनकर आनन्दमें मग्न हुए—'आनंदमगन सकल पुरवासी'। तब ये क्या करने लगे? ये भी उत्सव मनाने लगे—'ध्वजपताक ''' इत्यादि। पुनः यथा—'मनि तोरन बहु केतु पताकनि पुरी रुचिर करि छाई। गी० १। १।' आगे देवताओंका कृत्य कहते हैं। (ख) [ध्वजा ५ हाथकी और पताका ७ हाथकी होती है ध्वजा सचिह्न होती है,। गोस्वामीजीने ध्वजाकी केलेसे उपमा दी है और पताकाकी ताड़से। इससे कह सकते हैं कि ध्वजा ऊँचाईमें देशी कदली वृक्षके समान और पताका ताड़वृक्षके समान होता था। यथा—'कदलि ताल बर धुजा पताका। ३। ३८। २।' बैजनाथजी तोरणका अर्थ 'बहिर्द्वार' करते हैं—'तोरणन्तु बहिर्द्वारमित्यमरः'। शब्दसागरमें दोनों अर्थ दिये हैं 'बहिर्द्वार, विशेषतः वह द्वार जिसका ऊपरी भाग मंडपाकार तथा मालाओं और पताकाओंसे सजाया गया हो। घर या नगरका बाहरी फाटक।' और 'वे मालाएँ आदि जो सजावटके लिये खम्भों और दीवारों आदिमें बाँधकर लटकाई जाती हैं। बन्दनवार'] (ग) 'सुमनबृष्टि अकास ते होई' इति। देवताओंने स्तुतिके समय स्तुति की, यथा—'सुरसमूह बिनती करी पहुँचे निज-निज धाम'। अब पुष्पवृष्टि करनेका समय है, अतः अब फूल बरसाते हैं; यथा—'सजि सजि यान अमर किंनर मुनि जानि समय सुरगन ठए। नाचहिं नभ अपसरा मुदित मन पुनि पुनि बरषत सुमन चए॥ गी० १।३।'

[वृष्टि=झड़ी, वर्षा ।=ऊपरसे बहुतसी चीजोंका एक साथ गिरना या गिराया जाना । यह शब्द लगातार कुछ समयतक इस कृत्यका होना सूचित करता है ।] (घ) प्रथम राजाका ब्रह्मानन्दमें मग्न होना कहा, अब सब लोगोंका ब्रह्मानंदमें मग्न होना कहते हैं—'**ब्रह्मानंद मगन सब लोई**' और आगे स्त्रियोंका आनन्द वर्णन करते हैं । लोई=लोग । [ब्रह्मके आविर्भावसे सम्पूर्ण प्रजामें ब्रह्मानन्दका आविर्भाव हुआ, क्योंकि सबको प्रभुके चरणोंमें प्रीति थी । यथा—'**ब्रह्मानन्द मगन कपि सबके प्रभु पद प्रीति** ।' (वि० त्रि०)]

२ (क) '**बृंदबृंद मिलि चलीं लोगाईं**' इति । पुत्रजन्म सुनकर सब स्त्रियोंको आनन्द हुआ । बस सबकी सब एकसाथ एक ही समय घरसे निकलीं और एक-संग होकर चलीं, इसीसे वृन्द-वृन्द हो गयीं । पुनः, '**वृन्दवृन्द मिलि चलीं**' कहकर जनाया कि गलियोंमें भारी भीड़ हो गयी है, यथा—'**दल फल फूल दूब दधि रोचन युवतिन्ह भरि-भरि थार लये । गावत चलीं भीर भइ बीथिन्ह बंदिन्ह बाँकुरे बिरद बये** ॥ गी० १ । ३ ।' (पुनः, वृन्दवृन्द=अपनी अपनी टोलियाँ बनाकर चलीं । अपने-अपने मेलके, जोड़के इत्यादि पृथक्-पृथक् वृन्द हैं) । (ख)—'**सहज सिंगार किये**...' इति । भाव कि उस समय विशेष शृंगार करके जाना चाहिये था क्योंकि एक तो मङ्गलका अवसर है, दूसरे राजमहलमें जा रही हैं, पर मारे आनन्दके साधारण स्वाभाविक शृङ्गार जो किये थीं वैसी ही चल दीं, (शीघ्र आनन्दमें सम्मिलित होकर जन्म सफल करें इस विचारसे) विशेष शृङ्गारकी पर्वा न की । '**ब्रह्मानंद मगन सब लोई**' कहकर यह ब्रह्मानन्दमग्नका स्वरूप दिखाया । उसके आगे बाहरके शृंगारमें कौन समय खोवे । [(ग) यहाँ पहले 'चलीं लोगाईं' कहा और फिर 'उठि धाईं' कहते हैं । इसका भाव यह कहा जाता है कि पहले जो गयीं उनके विषयमें 'चलीं' कहा और जो पिछड़ गयीं उनका उठ दौड़ना कहा गया । ये सोचती हैं कि कहीं ऐसा न हो कि पीछे पहुँचनेसे भीड़ हो जानेके कारण हम भीतर न पहुँच सकें, अतएव दौड़ीं । वा वृन्द-वृन्द होकर चलना कहा और एकत्र होकर उठ दौड़ना कहा । वा घरमें जो बैठी हुई थीं, वे घरसे उठकर दौड़ीं, जब बाहर आयीं तो औरोंका भी साथ हुआ तब वृन्दवृन्द मिलकर चलना कहा गया ।]

नोट—☞ 'तुलसीदासजीके कलाकी शैली है कि एक वृंदका नमूनेकी तरह वर्णन कर दिया । सब उसी वृन्दका वर्णन है । 'सहज सिंगार किये उठि धाईं' में दूसरा वृन्द न समझना चाहिये । आशय यह है कि जल्दी उठ दौड़ीं, विशेष शृङ्गारकी परवा नहीं । इसी नमूनेपर और वृन्दोंको भी समझ लेना चाहिये ।' (लमगोड़ाजी) ।

कनक कलस मंगल भरि थारा । गावत पैठहिं भूप दुआरा ॥४॥
करि आरति नेवछावरि करहीं । बार बार सिसु चरनन्हि परहीं ॥५॥

शब्दार्थ—निछावर=एक उपचार या टोटका जिसमें किसीकी रक्षाके लिये कुछ द्रव्य या वस्तु उसके सिर या सारे अंगोंके ऊपरसे घुमाकर दान कर देते हैं या डाल देते हैं । इसका अभिप्राय यह होता है कि जो देवता शरीरको कष्ट देनेवाले हों वे शरीर और अङ्गोंके बदलेमें द्रव्य आदि पाकर सन्तुष्ट हो जायँ ।

अर्थ—सोनेके कलशों और थालोंमें मंगल भरभरकर गाती हुई राजद्वारमें प्रवेश करती हैं ॥ ४ ॥ आरती करके न्योछावर करती हैं और बच्चेके चरणोंपर बारंबार पड़ती हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**कनककलस**...' इति । कलश सिरपर धरे हैं और सोनेके थारमें अनेक मङ्गल द्रव्य भरकर हाथमें लिये हैं । 'कनक' शब्द कलश और थार दोनोंके साथ है । यथा—'**दधि दुर्बा रोचन फल-फूला । नव तुलसीदल मंगलमूला ॥ भरि-भरि हेम-थार भामिनी । गावत चलि सिंधुरगामिनी** ॥ ७ । ३ ।' [यही दधि दूब आदि मङ्गलद्रव्य हैं । कलशमें शुद्ध श्रीसरयूजल, आमके पत्ते, दूब, अंकुर और उसके ऊपर यव और दीपक मङ्गलसूचक द्रव्य हैं ।] (ख) पुरुष राजाके द्वारपर आये यथा—'**गुर बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा । आए द्विजन सहित नृपद्वारा**' ॥ और स्त्रियाँ राजद्वारमें प्रवेश कर रही हैं; जैसा कायदा है वैसा ही लिखते हैं ।

२ (क) **करि आरति नेवछावरि करहीं** ।...' इति । आरती करके शिशुके चरणोंपर पड़ती हैं, यह कहकर जनाया कि स्त्रियोंको भी ऐश्वर्यका ज्ञान है । अग्निदेवने सब सभाको समझाया था कि राजाके यहाँ भगवान्का अवतार होगा । सभाके लोगोंने अपने-अपने घरमें यह बात कही । इस प्रकार स्त्रियोंको भी ऐश्वर्यका ज्ञान हुआ । जैसे पुरुषोंने जाकर दर्शन किया, वैसे ही स्त्रियोंने जाकर चरणोंमें प्रणाम किया । बार-बार शिशुके चरणोंमें पड़ना मारे प्रेमके है, यथा—**पद अबुंज गहि बारहि**

बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा ॥' एवं प्रेममगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पदसरोज सिरु नावा ॥' इत्यादि।

नोट—१ शिशुके चरणोंमें पड़नेकी रीति अब देखने-सुननेमें नहीं आती, पर यहाँ श्रीरामजन्मपर ऐसा हुआ। पं० रामकुमारजीका मत ऊपर दिया गया है कि स्त्रियोंको ऐश्वर्यका ज्ञान है। श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि प्रणाम करना ईश्वरभाव वा अति सुन्दर मूर्ति देखकर वा ज्येष्ठ राजपुत्र जानकर'। श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं मनुजीको वरदान देनेके पश्चात् प्रभुने परिकरोंको आज्ञा दी कि अवधमें जाकर रहो, हम भी आते हैं। ये पुरवासी सब पार्षद ही हैं और इन्हें जानते हैं कि ये ब्रह्म हैं। पुनः, यह भी कारण हो सकता है कि राजा ईश्वरका अंश माना जाता है, अतएव पूजनीय है। राजाके पुत्र न होनेसे प्रजा दुखी थी कि न जाने आगे कौन राजा हो, अब उनकी अभिलाषा पूर्ण हुई। पं० श्रीराजारामशरण-लमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'भगवान्के सुन्दर बालकरूपका चमत्कार ही है कि जो रीति नहीं है वह हो पड़ी। अब तो छठी इत्यादिमें बालकको कृष्ण वा राम मानकर आरती करनेकी रीति (जहाँ-तहाँ) चल पड़ी है। घर-घरसे आटेकी बनी आरती कुछ अनाज और निछावरके साथ छठीके दिन साथ आती है।

२ पुरवासिनियोंकी भीड़ है। सब आरती करती हैं और चरणोंपर पड़ती हैं, यह दोनों प्रकारसे हो सकता है। एक तो यह कि जो जहाँतक पहुँच सकी है वह वहींसे उस दिशामें भावना करके आरती करती है और भावसे ही पैरों पड़ती है। अथवा, भगवान् यहाँ सबको प्रत्यक्ष देख पड़ रहे हैं, इसीसे 'चरनन्हि परहीं' कहा।

वे० भू० जीका मत है कि नंदीमुख श्राद्ध और जातकर्म आँगनमें हो रहा है। राजा पुत्रको गोदमें लिये बैठे हैं, पुरवासिनियाँ उसी समय आरती लिये हुए वहाँ पहुँचीं, इसीसे बच्चेके चरणोंमें पड़ने, आरती और निछावर करनेका अधिकार सबको प्राप्त हो रहा है।

मागध सूत बंदिगन* गायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥ ६ ॥
सर्बस दान दीन्ह सब काहूँ। जेहिं पावा राखा नहिं ताहूँ ॥ ७ ॥

अर्थ—मागध (वंशके प्रशंसक) सूत (पौराणिक) बंदी (विरुदावली कहनेवाले भाट) और गान करनेवालोंके समूह रघुकुलके स्वामी श्रीदशरथजीके पावन गुण गाते हैं। ६। सबने सर्वस्व दान दिये। जिसने पाया उसने भी न रक्खा अर्थात् उसने भी दान कर दिया वा दे डाला। ७।

टिप्पणी—१ (क) **मागध-सूत-बंदिगन गायक।...'** इति। [मागध=वैश्य पिता और क्षत्रिया मातासे उत्पन्न संतान। ये राजाकी वंशपरम्परासे जीविका पाते हैं, राग-तालमें कीर्ति गान करते हैं। सूत=क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे उत्पन्न संतान। ये पौराणिक कहलाते हैं और श्लोकोंमें वंशका यश वर्णन करते हैं। वंदी=भाट। ये कवित्तोंमें विरुदावली वर्णन करते हैं। गायक=गवैये। जैसे कि—ढाढ़ी, कलावत, विदूषक (भाँड़), कत्थक, नट इत्यादि।] (ख)—'**पावन गुण**' का भाव कि दशरथजीके सब गुण पवित्र हैं, कोई भी निन्द्य कर्म उनने नहीं किये। उनके गुणोंको देवता गाते हैं, यथा—'**बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुनगाथा। २। १७३।**' भीतरका हाल पहले कहकर तब यह बाहरका हाल कहते हैं। मागधादि सब बाहर द्वारपर ही हैं; यथा—'**मागध-सूत द्वार बंदीजन जहँ तहँ करत बढ़ाई। गी० १। १।**'

२ '**सरबस दान दीन्ह सब काहू।...'** इति। (क) सबने सर्वस्व दान दिया। यथा—'**पुरवासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज निज संपदा लुटाई। गी० १। १।**' जिसने पाया उसने भी दान कर दिया, यथा—'**पाइ अघाइ असीसत निकसत जाचकजन भए दानी। गी० १। ४।**' **उमँगि चलेउ आनँद लोक तिहु देत सबनि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरेइ देखियत रामकृपा चितवनि चितये। गी० १। ३।**' (ख) 'सरबस' सर्वस्वका अपभ्रंश है। स्व=धन यथा—'**स्वो ज्ञाता-वात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वो स्त्रियां धने। अमर ३। ३। २११।**' अर्थात् 'स्व' का अर्थ जाति, आत्मा, आत्मीय और धन है। सर्वस्व=सब धन। सबने अपना सब धन लुटा दिया। राजाने अपना भण्डार लुटा दिया; यथा—'**रानिन्ह दिये बसन मनि भूषन राजा सहन भंडार। गी० १। २।**' पुरवासियोंने अपनी सब संपदा लुटा दी। मंगनोंने जो पाया सो उन्होंने भी लुटा दिया। तात्पर्य कि राजासे लेकर भिक्षुकतक सबकी एकरस उदारता यहाँ (देखी जा रही) है। जैसे राजा देते हैं

* पाठान्तर—गुनगायक। नंगेपरमहंसजी 'गुनगायक' को मागधादिका विशेषण मानते हैं।

तैसे ही पुरवासी देते हैं। जैसे रानियाँ देती हैं वैसे ही पुरवासिनियाँ देती हैं, यथा—'**बारहिं मुक्ता रतन राजमहिषी पुर सुमुखि समान। गी० १। २।**' जैसे पुरवासी देते हैं, वैसे ही भिक्षुक देते हैं। (ग) यहाँ क्रमसे तीन प्रकारके दानका वर्णन किया गया। प्रथम राजाका दान कहा—'**हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह**', तब प्रजाका दान कहा—'**सर्बस दान दीन्ह सब काहू**'। '**सब काहू**' से प्रजा अभिप्रेत है। तत्पश्चात् भिक्षुकोंका दान कहा—'**जेहि पावा राखा नहिं ताहू**'। '**जेहि पावा**' से भिक्षुक अभिप्रेत हैं।

जातकर्मके समय राजाने विप्रोंको दिया जो उस संस्कारके लिये आये थे। पुरवासिनी स्त्रियाँ जो आयीं वे '**करि आरति नेवछावरि करहीं**'। निछावर किसने पायी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। पर तुरत ही इसके आगे मागधादिके गुण-गान करनेका उल्लेख होनेसे अनुमान होता है कि निछावर इन्हींको दी गयी। अथवा इन्हींमें लुटा दी गयी। यहाँतक दो ही लोगोंका दान कहा गया। राजा और पुरस्त्रियोंका। तो यह शंका होती है कि क्या मागधादि याचकोंको राजा, रानियाँ, मन्त्री आदिने कुछ नहीं दिया? इसका उत्तर '**सरबस दान दीन्ह सब काहू**' में मिलता है। अर्थात् सभीने मागधादि सब याचकोंको दान दिया। प्रजा, पुरस्त्रियाँ, मन्त्री आदिने तो दिया ही, राजा और रानी आदि सूतकाधिकारी लोगोंने भी दिया। दोहेमें नान्दीमुख श्राद्धादि करनेपर दानका उल्लेख किया गया। वहाँसे लेकर '**सरबस दान**...' तक दानका उल्लेख हुआ। इससे सूचित किया कि यह सब नालोच्छेदनके पूर्व हुआ और जातकर्मके पश्चात्।

नोट—१ यहाँ '**सब काहू**' का अर्थ 'सब किसीने' इस विचारसे ठीक ही है कि प्रसंगानुकूल यहाँ तीन प्रकारके दान कहे गये हैं—एक तो राजदान जो दोहा १९३ में लिखा गया। दूसरा पुरवासियोंका दान, यह सर्वस्व दान इन्हींका है। और तीसरा याचकदान। तीनोंका वर्णन ऊपर टिप्पणीमें आ गया है।

२ सर्बस=सब कुछ। सर्वस्व=सब तरहका अर्थात् मणि, वस्त्र, गौ, अन्न, गज, रथ, घोड़े इत्यादि। सर्वस्वका अर्थ गीतावलीके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। यथा—'**पुरबासिन्ह प्रिय नाथहेतु निज निज संपदा लुटाई।**', '**अमित धेनु गज तुरग बसन मनि जातरूप अधिकाई। देत भूप अनुरूप जाहि जोइ सकल सिद्धि गृह आई।**', **बारहिं मुकुता रतनराज महिषी पुर सुमुखि समान। बगरे नगर निछावरि मनिगन जनु जुवारि यव धान। गी० १। २।**', '**अष्टसिद्धि नवनिद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहीं।**', '**उमगि चलेउ आनंद लोक तिहुँ देत सबनि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरेइ देखियत रामकृपा चितवनि चितये।**', '**राम निछावर लेनको (देव) हठि होत भिखारी। बहुरि देत तेइ देखिये मानहु धनधारी। गी० १। ६। १२।**'

☞ सर्वस्वदानके विषयमें जो शंकाएँ लोग किया करते हैं उनका समाधान उपर्युक्त उद्धृत उदाहरणोंसे हो जाता है। अधिक विस्तृत व्याख्याकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। '**जेहि पावा राखा नहिं ताहू**' अर्थात् उन्होंने भी दे डाला, लुटा दिया कि जो चाहे ले ले। यह सब नगरभरमें बिथरे पड़े हैं—'**बगरे नगर निछावरि**...।' अन्तमें किसके पास रहा, यह प्रश्न ही इस प्रमाणके आगे नहीं रह जाता। यह श्रीरामजन्ममहोत्सव है, अतएव गोस्वामीजीने '**राखा नहिं ताहू**' कहकर दानकी इति नहीं की। इस समय रघुकुल और पुरवासियोंकी अतिशय उदारता दिखा रहे हैं। यह '**अत्युक्ति**' अलंकार है।

प० प० प्र०—'**सर्बस दान दीन्ह सब काहू**' इति। इसपर बहुत मत-मतान्तर हैं तथापि मानसमें दान देना केवल विप्रोंको ही सर्वत्र पाया जाता है, दूसरोंको जब कुछ दिया जाता है तब देना, बकसीस देना, निछावर देना शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है। यथा—'**दिये दान आनंद समेता। चले बिप्रबर आसिष देता॥ १। २८५। ८।**' '**दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दानमान परिपूरन कीन्हे॥ १। ३३९। ६।**' '**दिये दान बिप्रन्ह बिपुल**...३४५।' '**सादर सकल माँगने टेरे। भूषन बसन बाजि गज दीन्हे॥ ३४०। १—२।**', '**जाचक लिये हँकारि दीन्हि निछावरि कोटि बिधि। २९५।**', '**प्रेम समेत राय सबु लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥ १। ३०६। ३।**'—इत्यादि उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि यहाँ '**सर्वस्व दान**' विप्रोंके सम्बन्धमें ही आया है। क्षत्रियों-वैश्योंने अपना सर्वस्व विप्रोंको दानमें दिया। [यह मत बाबा हरिदासजीका है। नोट ४ (४) देखिये]

'**जेहि पावा राखा नहिं ताहू**' इति। इसमें दान देना नहीं कहा। जिन्हें मिला उन्होंने उसे रक्खा नहीं। सीधा-सीधा अर्थ है तब चक्रापत्तिमें गिरनेकी आवश्यकता ही क्या है? स्मरण रहे कि यहाँ यह नहीं कहा गया है कि समस्त ब्राह्मणोंको दान

मिला। जिनको नहीं मिला था उनको दान लेनेवाले विप्रोंने दिया। कोई-कोई ब्राह्मण प्रतिग्रह (दान) नहीं लेते, उनको वैसा ही दिया। जो बचा उसे ब्राह्मणोंने बंदी-मागधादिको दे दिया।

यहाँ गूढ़ भाव यह है कि रामजन्मनिमित्त जो दान राजाने अल्पकालमें ब्राह्मणोंको दिया, वह तो थोड़े ही ब्राह्मणोंको मिला, अतः क्षत्रिय और वैश्योंने अन्य ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दानमें दिया। राजाके अल्प दानकी समता करनेके लिये क्षत्रियों और वैश्योंको अपना सर्वस्व देना पड़ा। यह मुख्यतः यहाँ बताया है। शूद्रप्रतिग्रह तो अच्छे ब्राह्मण अब भी नहीं लेते हैं अतः क्षत्रियों और वैश्योंने सर्वस्व दान दिया।

नोट—३ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'मैं जब अपनी अवस्थाका निरीक्षण करता हूँ तो भगवान्के द्वारका केवल मंगन जान पड़ता हूँ। यह भी माँग, वह भी माँग। यह सत्य है कि वहाँ 'सर्व वस्तुका दान' भगवान्की ओरसे होता है। परंतु शर्त यह है कि स्वार्थके निमित्त माँग न हो वरंच 'जिन्ह पावा राखा नाहिं ताहू' अर्थात् परोपकारके निमित्त हो। आहा! यदि ऐसा मंगन भी हो जा!!'

४ हम टीकाकारोंके मत पाठकोंके निमित्त लिखे देते हैं, जिसको जो भाव या समाधान भावे ग्रहण करे।

(१) श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रथम ब्रह्मादिक आये उन्होंने पाया, इतनेमें याचक जुटे तब इन्होंने मिला हुआ सब दान याचकोंको लुटा दिया।' (२) किसीका मत है कि अवधवासी सब लुटाते गये और देवता जो भिक्षुक बनकर आये थे वे लेते गये—'राम निछावर लेन कहुँ हठि होत भिखारी।' (३) विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'सब काहू कों' अर्थात् जो लोग वहाँ उपस्थित थे उनको राजाने दिया और इन्होंने पाये हुए दानको लुटा दिया। बस यहीं तक देनेकी हद है। पुनः दूसरा अर्थ—'पहिले जो आये उनको अनेक वस्तुएँ दीं। परंतु वे आनन्दके कारण बैठे ही रहे, इतनेमें जो और बहुतसे लोग आये उनके साथ पहिले आये हुए लोगोंको भी फिरसे और वस्तुएँ दे दीं, उन्हें 'राखा नहिं' अर्थात् दुबारा देनेमें संकोच न रक्खा। पुनः, जिन्हें वह दान मिला उनके पास वह बात न रह गयी जिसके लिये दान दिया जाता है अर्थात् दारिद्रय न रह गया। 'धनद तुल्य भे रंका' (४) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'सब काहू' अर्थात् सब अवधवासी परिजन महाजन सभीने दिया। दानके अधिकारी ब्राह्मण ही होते हैं! अतएव ब्राह्मणोंको सबने दिया। और जिन ब्राह्मणोंने पाया उन्होंने याचकोंको लुटा दिया। श्रीरामजन्मके अवसरपर देवता याचक बने हैं— 'इंद्र बरुन यम धनप सुर सब नरतनधारी। रामनिछावरि लेनको हठि होत भिखारि॥' (५) कोई-कोई शङ्कानिवारणार्थ 'सरबस' का अर्थ मोक्ष करते हैं अर्थात् राजाने सबको मोक्षका दान किया। जिसने पाया उसने उसे भक्तिके आगे तुच्छ मानकर दे डाला। पर—यह अर्थ प्रसङ्गानुकूल नहीं है। (६) पुराने खर्रेमें पं० रा० कु० जीने लिखा है कि यह शङ्का व्यर्थ है क्योंकि यहाँ एकको देना और एकका पाना लिखते हैं। (पर यह भाव टिप्पणीसे विरुद्ध है)। (७) श्रीगौड़जी लिखते हैं कि 'इसमें शङ्का व्यर्थ है। द्वारपर जो-जो आते गये लेते गये। वे भी इतने लदे कि जाते-जाते जो-जो मिला उसे देते गये। क्या सारे संसारके लोग आये? या संसारमें आदमी ही न रहे? चौपाई साफ है। (८) श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'इसमें जो यह शङ्का करते हैं कि जो पाता गया वह दूसरेको देता गया तो अन्तमें वह दान क्या हुआ? (उत्तर) ग्रन्थमें ऐसा कोई शब्द नहीं है कि जिससे यह सूचित हो कि जो पाता गया वह दूसरेको देता गया, किन्तु शब्द तो मूलमें यह है कि 'जेहिं पावा' अर्थात् जिसने पाया। किसने पाया? मागध, सूत, बन्दियोंने पाया। 'ताहू नहिं राखा' अर्थात् उसने नहीं रक्खा। किसने नहीं रक्खा? मागध, सूत, बन्दियोंने नहीं रक्खा। फिर क्या? दूसरेको दे दिया। बस मूल शब्द खतम हुआ। जब मूलका कोई शब्द ही नहीं है तब दानकी क्रिया आगेको कैसे बढ़ सकती है? अतः बिना शब्दके अपनी तरफसे शङ्का उठाना वृथा है।' (९) किसीका मत है कि श्रीरामजी सबके सर्वस्व हैं यथा—'मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहिं सुख माना॥ १९८। २।' श्रीरामजीकोही राजाने दूसरोंको दिया, दूसरेने तीसरेको, इस तरह सब एक दूसरेको देते गये। वे० भू० जीका मत भी इसी पक्षमें है। वे कहते हैं कि 'यहाँ 'हाटक धेनु बसन मनि' आदिका ग्रहण 'सर्वस्व' शब्दसे नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो दातव्य वस्तुओंका नाम लिया जाता। अथवा, 'रुचि बिचारि पहिरावन दीन्हा।', 'दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा।' आदिकी तरह कहा जाता। अतः यहाँ अर्थ है कि राजाने 'अपने सर्वस्व' राजपुत्रको राजमहलमें जुटे हुए सब लोगोंको दान दे दिया। अर्थात् यह सब आपका होकर जीवे। सबकी गोदमें दिया किंवा समष्टिरूपसे सबको दिया कि यह आप सब पञ्चोंका पुत्र है, लीजिये। जिनको दिया 'राखा नहि ताहूँ' अर्थात् उसने भी आशीर्वाद देकर लौटा दिया इसीसे

राजाने गुरुसे कहा है 'सबहिं राम प्रिय जेहि बिधि मोहीं।' प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'नवजात शिशुका दान दिया' ऐसा कहना अनुचित है। दान दी हुई वस्तुपर दाताका स्वामित्व नहीं रहता है और दान शास्त्रविधिपूर्वक दक्षिणायुक्त देना पड़ता है। प्रथम दस दिन तो नवजात शिशुको सूतिकागृहके बाहर नहीं निकाला जाता है। हाँ, पालकारोहणके दिन बालक एक दूसरेके हाथमें इस प्रकार दिया-लिया जाता है, पर वह दान देना नहीं है।

वि० त्रि०—सबने सर्वस्वदान दिया, जिसने पाया उसने भी नहीं रक्खा। इस भाँति सम्पत्तिका हेर-फेर अवधमें हो गया। किसी समय सोमवती अमावस्या लगी, सब मुनियोंकी इच्छा हुई कि गोदान करें। मुनि सौ थे और एकहीके पास गौ थी। जिसके पास गौ थी उसने किसीको दान दिया, उसने भी दान कर दिया। इस भाँति वह गौ दान होती गयी। अन्तमें फिर वह उसी मुनिके पास पहुँच गयी। जिसकी पहले थी और गोदानका फल सबको हो गया। लालच किसीको नहीं और देनेकी इच्छा सबको। ऐसी अवस्थामें सम्पत्ति घूम-फिरकर जहाँ-की-तहाँ आ जाती है। (पर इस समाधानमें भी अनेक शङ्काएँ उठेंगी क्योंकि वहाँ तो मुनि-ही-मुनि थे सबको गोदान लेनेका अधिकार था। और यहाँ नहीं है।)

मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥ ८॥

दो०—गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा कंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद॥ १९४॥

अर्थ—मृगमद (कस्तूरी), चन्दन और कुंकुम (केसर) का कीचड़ समस्त गलियोंके बीच-बीच अर्थात् गलियोंमें हो रहा है॥ ८॥ घर-घर मङ्गल बधाइयाँ बज रही हैं, मङ्गलाचार हो रहा है, (क्योंकि) परम शोभाके कंद (मूल, समूह वा मेघ) प्रभु प्रकट हुए हैं। नगरके स्त्री-पुरुषोंके वृन्द जहाँ-तहाँ सभी हर्षको प्राप्त हैं॥ १९४॥

टिप्पणी—१ 'मृगमद चंदन…' इति। यहाँ 'बिच-बीचा' का अर्थ मध्य नहीं है वरंच 'में' है। महोत्सवमें कस्तूरी, चन्दन और केसर इत्यादि घोल-घोलकर एक दूसरेपर छिड़कते हैं। ऊपरसे गुलाल और अबीर डालते हैं। यथा—'**कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर। गी० १। २।**' इसीसे गलियोंमें कीच हो गयी है। यथा—'**बिथिन्ह कुंकुम कीच अरगजा अगर अबीर उड़ाई॥ गी० १। १॥**' यहाँ मृगमद, चन्दन और कुंकुम कहे गये, अगर और अबीर नहीं कहे। क्योंकि आगे इनको कहना है, यथा—'**अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहु अरुनारी। १९५। ५।**' [महोत्सवमें अरगजा अर्थात् चन्दन, कस्तूरी, केसर इत्यादि मिलाकर परस्पर लोग एक दूसरेपर छिड़कते तो हैं ही, साथ ही गलियाँ भी इन वस्तुओंसे सींची जानेकी रसम पायी जाती है; यथा—'**गली सकल अरगजा सिंचाई॥ ३४४। ५॥**']

२ 'गृहगृह बाज बधाव सुभ…।' (क) घर-घर बधावे बजनेमें भाव यह है कि जैसे श्रीरामजन्मसे राजा-रानीको हर्ष हुआ, वैसे ही सबको हर्ष है। यथा—'**ज्यों हुलास रनिवास नरेसहिं त्यों जनपद रजधानी। गी० १। ४।**' इसीसे घर-घर मङ्गलचार और दान होता है, बधाई बजती है। यथा—'**सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार। दल फल फूल दूब दधि रोचन घरघर मंगलचार। गी० १। २। ५।**' [(ख) '**प्रगटे सुखमाकंद**' इति। यह पाठ १६६१ की प्रतिका है। '**प्रगटेउ प्रभु सुखकंद**' '**प्रभु प्रगटे सुखकंद**' और '**प्रगट भए सुषकंद**' (पं० रा० कु०), पाठान्तर हैं। 'सुखमाकंद' सबसे प्राचीन और उत्तम पाठ है। इसलिये कि ऊपरकी आठ पंक्तियोंमें सबकी परमाशोभाका वर्णन है। 'ध्वज पताक' से 'बीचा' तक नगर, नागर, नागरी, दानी, पात्र तथा दान इन सबोंकी शोभाका वर्णन है। यह परमाशोभाकी वर्षा है, इसलिये परमाशोभाका मेघ (सुषमाकंद) कहा। सुखकंदसे सुषमाकंदमें अधिक चमत्कार है।] कौसल्याजीके यहाँ प्रकट हुए, यह पूर्व कह चुके, यथा—'**भये प्रगट कृपाला**…।' अब पुनः प्रकट होना कहकर जनाया कि श्रीरामजन्मसे सबको ऐसा सुख हुआ कि मानो श्रीरामजी घर-घरमें प्रकट हुए। कंद=मूल। यथा—'**चर अरु अचर हरषजुत रामजनम सुखमूल।**' सबको सुख प्राप्त हुआ, इसीसे 'सुषकंद' कहा। कौसल्याजीके यहाँ भगवान् साक्षात् प्रकट हुए, इसीसे चराचरको हर्ष हुआ। सबके घर-घर भावसे प्रकट हुए, इसीसे नारिनरवृन्दको हर्ष होना कहा। तात्पर्य कि साक्षात्का प्रभाव विशेष है, पुत्रजन्मका आनन्द प्रथम स्त्रीको प्राप्त होता है, इसीसे प्रथम 'नारि' कहा तब 'नर'। (पुनः नारिवृन्दको प्रथम कहा क्योंकि ये भीतर गयी थीं।)

कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भैं ओऊ॥१॥
वह सुख संपति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा॥२॥

अर्थ—राजा केकयकी कन्या श्रीकैकेयीजी और श्रीसुमित्राजी इन दोनोंने भी सुन्दर पुत्रोंको जन्म दिया॥ १॥ उस आनन्द ऐश्वर्य, समय और समाजको सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते॥ २॥

नोट—१ यहाँ 'दोऊ' शब्द देहली-दीपक न्यायसे दोनों ओर लग सकता है। इस प्रकार अन्वय होगा—'**कैकेयी सुंदर सुत जनमत भई। ओऊ सुमित्रा दोऊ सुंदर सुत जनमत भई।**' इस तरह यहाँ सूक्ष्मरीतिसे सुमित्राजीके दो पुत्र कहे गये। (श्रीनंगे परमहंसजी)।

टिप्पणी—१ (क) कैकयसुताको प्रथम कहकर जनाया कि प्रथम कैकेयीजीके पुत्र हुआ तब सुमित्राजीके। जिस क्रमसे पायस दिया गया, उसी क्रमसे जन्म वर्णन करते हैं। इन दोनों रानियोंको एक सङ्ग लिखकर जनाया कि दोनोंने एक समयमें पुत्र जनमे। यथा—'**तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भए मंगलमुद कल्यान॥** गी० १। २।' 'ओऊ' कहनेका भाव कि जैसे कौसल्याजीने सुन्दर पुत्र जनमा वैसे ही इन दोनोंने भी सुन्दर पुत्र जनमे, यथा—'**चारिउ सील रूप गुन धामा।**' (ख) '**वह सुख संपति समय समाजा।**···' इति। श्रीरामजन्ममें सुख वर्णन किया, यथा—'**सुमन बृष्टि अकास तें होइ। ब्रह्मानंद मगन सब लोई।**' '**हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद।**' यह सब सुख है। '**हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।**' इत्यादि सम्पत्तिका द्योतक है। '**सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल**···' इत्यादि अवसर है। और '**गुर बसिष्ठ कहँ गयेउ हँकारा। आए द्विजन्ह सहित नृप द्वारा।**' यह समाज है। पुनश्च '**अष्टसिद्धि नवनिद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहिं। समउ समाज राज दसरथको लोकप सकल सिहाहिं॥** गी० १। २। २३।' (बैजनाथजीका मत है कि चौथेपन एक ही पुत्रसे परम सुख हुआ। उस उत्सवके होते ही दूसरा पुत्र हुआ, फिर दो और हुए। अतः समय और सुख अपूर्व हो गये। ब्रह्मा-शिवादि देवता, सिद्ध, मुनि सब एकत्र हैं, अतः समाज भी अपूर्व है। ऋद्धि-सिद्धि परिपूर्ण हैं इससे 'संपत्ति' भी अपूर्व है। (ग) 'वह सुख' कहनेका भाव कि यह सुख त्रेतायुगमें राम-जन्मके समयमें हुआ और वक्ता लोग उसका वर्णन वर्तमान कालमें अपने-अपने श्रोताओंसे कर रहे हैं।

'**कहि न सकइ सारद अहिराजा**' इति। शारदा स्वर्गकी वक्ता हैं और शेषजी पातालके। जब ये ही नहीं कह सकते तब मर्त्यलोकमें तो कोई वक्ता इनके समान है ही नहीं जो कह सके। इसीसे इस लोकके किसी भी वक्ताका नाम न कहा। पुनः भाव कि जब शेष-शारदा नहीं कह सकते तब हम कैसे कह सकते हैं? यथा—'**जो सुखसिंधु सकृत सीकर तें शिव बिरंचि प्रभुताई। सोइ सुख अवध उमगि रहेउ दस दिसि कवन जतन कहौं गाई॥** गी० १। १। ११।' '**आनँद महँ आनँद अवध आनंद बधावन होई।**' यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है। (वीरकवि)

नोट—२ चौथेपनमें एक ही पुत्रसे न जाने कितना सुख होता है और यहाँ तो एकदमसे चार पुत्र हुए फिर उस परम सुखको कौन कह सके—'**सोइ सुख उमगि रहेउ दस दिसि**···।' ☞ गोस्वामीजीके मतसे चारों भाई एक ही दिन हुए, ऐसा कई उद्धरणोंसे प्रमाणित होता है, यथा—'**जनमे एक संग सब भाई**' '**पूत सपूत कौसिला जायो अचल भयउ कुलराज॥ चैत चारु नौमी तिथि सित पख मध्य गगन-गत भानु**···॥ २॥ **सुनि सानंद उठे दसस्यंदन सकल समाज समेत। लिये बोलि गुरु सचिव भूमिसुर प्रमुदित चले निकेत॥ ६॥ जातकर्म करि पूजि पितर-सुर दिये महिदेवन दान। तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भये मंगल मुद कल्यान॥ ७॥ आनँद महँ आनँद अवध आनंद बधावन होइ। उपमा कहौं चारि फलकी मोको भलो न कहै कबि कोइ॥** गी०। १। २।' '**आजु महामंगल कोसलपुर सुनि नृपके सुत चारि भए॥ १॥ अति सुख बेगि बोलि गुर भूसुर भूपति भीतर भवन गए। जातकर्म करि कनक बसन मनि भूषित सुरभि समूह दये॥ ३॥ दल फलफूल दूब दधि रोचन युवतिन्ह भरि-भरि थार लये। गावत चलीं भीर भइ बीथिन्ह बंदिन्ह बाँकुरे बिरद बए॥ ४॥ कनककलस चामर पताक ध्वज जहँ तहँ बंदनवार नये।**···' इत्यादि। (गी० ३)

गी० बा० पद ३ से यह जान पड़ता है कि एक ही दिन किञ्चित् आगे-पीछे चारों भाइयोंका जन्म हुआ, तत्पश्चात् नगरमें बधायी, उत्सवादि हुए। मानसके क्रमसे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामजन्म होनेपर गुरु बुलाये गये, जातकर्म-संस्कार हुआ, दान दिया जा रहा है, उसी समय कैकेयीजी और सुमित्राजीके पुत्र हुए। अथवा, यह भी हो सकता है कि मुख्य

तो श्रीरामजन्म है इससे उनके जन्मपर जो हुआ सो कहा गया, तब भाइयोंका जन्म कहा गया। हुए सब एक ही दिन।—पर किसीका मत है कि भरतादिका जन्म कहकर तब 'वह सुख…' से पूर्वदिवसका सुख फिर कहने लगे, इससे भरतादिका जन्म दूसरे दिन जनाया। और, गी० बा० ४ से जान पड़ता है कि दशमीको तीन पुत्र हुए। यथा—'दिन दूसरे भूप भामिनि दोउ भईं सुमंगलखानी। भयो सोहिलो सों जनु सृष्टि सोहिलो सानी' ॥ और पद ५ के 'ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागरन होहिंगे नेवते दिये।', इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि दशमीको भरतजी और एकादशीको श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हुए। उसी हिसाबसे एक-एक दिन पीछे इनकी छठियाँ होती गयीं। तीन पदोंमें तीन बातें लिखी गयीं, क्योंकि इस विषयमें मतभेद है। उपर्युक्त पद्योंसे समय और सुख तथा समाज और सम्पत्ति इन चारोंका अपूर्व और अनुपम होना स्पष्ट है।

अध्यात्मरामायणका मत है कि जब गुरुजीद्वारा श्रीरामजीके जातकर्म आदि आवश्यक संस्कार हो गये तब कैकेयीजी और सुमित्राजीके पुत्र हुए। यथा—'गुरुणा जातकर्माणि कर्तव्यानि चकार सः ॥ ३७ ॥ कैकेयी चाथ भरतं असूत कमलेक्षणा। सुमित्रायां यमौ जातौ पूर्णेन्दुसदृशाननौ ॥ ३८ ॥ अ० रा० १। ३।' अ० रा० का यह प्रसङ्ग मानससे मिलता-जुलता-सा है जैसा मैं ऊपरसे दिखाता आ रहा हूँ। वाल्मीकीय सर्ग १८ में अन्य तीनों भाइयोंके जन्मके नक्षत्र दिये हैं; यथा—'भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः। १३…। अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ।…१४ पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः। सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ॥ १५ ॥' अर्थात् कैकेयीजीने श्रीभरतको उत्पन्न किया और सुमित्राजीने श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नको उत्पन्न किया। भरतजी पुष्य नक्षत्र और मीन लग्नमें उत्पन्न हुए और श्रीलक्ष्मण शत्रुघ्नजी आश्लेषा नक्षत्रमें हुए, जब कि सूर्य कर्कट लग्नमें उदित हुए थे। इससे जान पड़ता है कि दूसरे दिन दशमीको कुछ रात रहे श्रीभरतजी और मध्याह्नमें श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हुए।—'भरतजननस्य उदयात्पूर्वत्वज्ञापनाया त्रोदित इत्युक्तम्, यद्वा उदिते प्रवृद्धे मध्याह्नकाले इत्यर्थः। रामस्य पुनर्वसुनक्षत्रं तिथिर्नवमी भरतस्य पुष्यनक्षत्रं दशमी सौमित्र्योश्च दशमी आश्लेषातारेति विशेषः ॥ १४ ।' (श्रीगोविन्दराजीय टीका)

प्र० स्वामीजी लिखते हैं—'मा० पी० 'नोटमें 'सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ'। सार्प=अश्लेषा-नक्षत्र, कुलीरे (चन्द्रे) कर्कराशिमें चन्द्र और मध्याह्नकालमें हुआ सूर्य मेषराशिमें है, यह रामजन्मकालकथनमें स्पष्ट कहा है। 'जब सूर्य कर्कटलग्नमें उदित हुए थे' यह अर्थ बड़ी भूल और अनर्थ है। चैत्रमें नवमीको सूर्य जब मेषराशिमें है तब सूर्यका कर्कटराशिमें उदय आषाढ़मासमें ही होगा। यह भूल मा० पी० में असावधानीके कारण हुई है। जब मेषराशिमें सूर्य हैं तब मीन लग्न सूर्योदयके पूर्व ही आयेगा। अतः भरतजीका जन्म दशमी मानना ही पड़ता है। नवमीको पुनर्वसु है, दशमीको सूर्योदय पूर्वकालमें पुष्यनक्षत्र है और आश्लेषामें लक्ष्मणशत्रुघ्नका जन्म मध्याह्नकालमें कहा। अतः एकादशी मानना ज्योतिषशास्त्रानुसार ही सयुक्तिक है और वही गोविन्दराजीयटीकामें साररूपमें लिखा है। (मा० सं० न संस्कृत जाने न ज्योतिष जैसा टीकाओंमें पाया लिख दिया है।)

☞ मानसमें श्रीभरतादि भाइयोंका जन्म सूर्यके (श्रीरामनवमीके दिन) ठहरे रहते ही कहा गया है। संध्याका रूपक और सूर्यका अस्त होना इसके पश्चात् है। इससे स्पष्टरूपसे मानसकल्पकी कथामें चारों भाइयोंका एक ही दिन प्रादुर्भाव सूचित कर दिया गया है।

अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती ॥ ३ ॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी ॥ ४ ॥

अर्थ—अवधपुरी इस प्रकार सुशोभित हो रही है मानो रात्रि प्रभुसे मिलने आयी है ॥ ३ ॥ सूर्यको देखकर मानो मनमें सकुचा गयी। तथापि संध्याके अनुमान बन गयी। [तो भी मनमें विचार करके संध्या बनकर वहाँ रह गयी। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—१ 'अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती।…' इति। (क) मध्याह्नकाल (दोपहरका समय) संध्याकाल-सा हो गया, इसीसे रात्रिका रूपक करते हैं। मास-दिवसका दिन हो गया तब मानो रात भी मिलने आयी है। यथा—'देखन हेतु राम बैदेही। कहौ लालसा होइ न केही ॥' 'प्रभु' हैं, इनके निकट रात्रि और दिन दोनों इकट्ठा हो सकते हैं। उनके लिये कोई बात असम्भव नहीं है। (ख) 'आई जनु राती' का भाव कि श्रीरामजन्म मध्याह्नमें हुआ, उस समय दिन था, रात न थी, अतएव रात आयी। (ग) 'अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती' देहरीदीपक है, पूर्वापर दोनोंसे इसका सम्बन्ध है। पहले रामजन्ममें दिन रहा इसीसे प्रथम दिनकी शोभा कही। जब लोगोंने धूप की (अर्थात् जलायी), अबीर उड़ायी और वेद-

ध्वनि होने लगी तब रात्रिके आगमनकी-सी शोभा हुई। रात्रिका स्वरूप अयोध्याजीके स्वरूपसे दिखाते हैं क्योंकि बिना साक्षात् रात्रि आये रात्रिका स्वरूप नहीं दिखाते बनता।—'अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती' का यही भाव है।

नोट—रात्रिका मिलने आना क्यों कहा ? यह प्रश्न उठाकर दो एक महानुभावोंने इसका उत्तर भी दिया है। जैसे कि—(१) यहाँ रात्रिसे रात्रिके अभिमानी देवतासे तात्पर्य है। वह मिलने क्यों आया ? इसलिये कि मैं चन्द्रलोकाभिमुख हूँ। चन्द्रज्योतिसे उपलक्षित स्वर्गके दिव्य भोगोंको भोगकर पुनः लौटना पड़ता है, यह समझकर अनावृत मार्गके लोग मुझे अङ्गीकार नहीं करते। अतः मैं आपकी शरण हूँ। इसीसे भगवान्‌ने 'चन्द्र' पद अपने नाममें ग्रहण किया। अथवा, (२) रात्रिसे रात्रिरूप कुम्भक अभिप्रेत है। वह मिलने आयी। भाव कि मेरा साफल्य आपके राजयोगके ग्रहणमें है। इसीसे वसिष्ठजीके द्वारा वासिष्ठयोग (योगवासिष्ठ) में राजयोगकी सफलता की। अथवा भाव कि अवतार सूर्यवंशमें सूर्यदेवके समय (दिन) में हुआ, अतः मैं आकर मिली हूँ कि अब मुझे भी तो अपने दिव्य जन्म-कर्मसे सफल बनाना उचित है। अतः भगवान्‌ने कृष्णावतारमें अर्द्धरात्रिकी जन्म लेकर उसे सफल किया और रास-रहस्य भी रात्रिमें किये। अथवा, भगवान्‌के '**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्**।' इस वाक्यको स्मरणकर उनका अवतार जान पहले ही मिलनेको आयी कि कहीं ऐसा न हो कि मुझे भी निशाचरोंका मेली समझकर मेरी भी दुर्दशा करें। अथवा, इससे मिलने आयी कि जैसे अपने दिव्य जन्मद्वारा दिवसाभिमानी देवताको आपने सफल किया, वैसे ही विवाहके समय मुझे कृतार्थ कीजिये। अतः भगवान्‌ने उसे कृतार्थ किया, यथा—'पुरी बिराजति राजति रजनी। रानी कहहिं बिलोकहु सजनी॥ **सुंदर बधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई**। ३५८। ३-४।' (मा० त० वि०)। अथवा, श्रीरामचन्द्रजी समाधि-निशाके पति हैं यह समझकर रात्रि मिलने आयी। (रा० प्र०)।

(२) वस्तुतः यह कविकी कल्पनामात्र है। न रात्रि मिलने आयी और न मिलना कहा ही गया। केवल उत्प्रेक्षा की गयी है। मध्याह्नसमयमें अबीरसे आकाशपर अरुणाई छा गयी और बहुत धूपसे धुआँ भी छाया हुआ है जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानो संध्या हो गयी। कविने केवल सन्ध्यासमान दृश्यको लक्षित करके उत्प्रेक्षा की है; किन्तु टीकाकार महोदयोंने उसमें भावोंकी भावना भी दर्शित की।

टिप्पणी—२ '**देखि भानु जनु मन सकुचानी**।....' इति। (क) सूर्य हैं, इससे रात नहीं हो सकती। सूर्यको देखकर रात्रि मनमें सकुचाती हुई आयी, इसीसे दिन नहीं रह सकता। दोनोंकी संधि है, इसीसे संध्याका रूपक करते हैं। (ख) '**बनी संध्या अनुमानी**' का भाव कि संध्या नहीं है, दिन है, सन्ध्याकी नाईं बन गयी है। यदि साक्षात् संध्या होती तो '**संध्या भई**' कहते। दिन, रात और संध्या तीन काल हैं, ये तीनों श्रीरामजन्ममें हाजिर हैं, यथा—'**काल बिलोकत ईस रुख**...' (ग) 'तदपि' का भाव कि सूर्यके रहते रात्रि नहीं होती तथापि संध्याके अनुमान हुई। (घ) सकुचानेका भाव कि सूर्य पुरुष हैं, रात्रि स्त्री है; अतः देखकर सकुचना कहा। सकुचकर चली नहीं गयी, संध्याके अनुमान बन गयी। [रात्रिका पति चन्द्रमा (निशापति) है, उसके लिये सूर्य पर-पुरुष है। अतः सकुचना उचित ही है]।

नोट—२ नगरमें अबीर और अगरका धुआँ छाया हुआ है। यही उत्प्रेक्षाका विषय है। रात्रि जड़ है। उसे मिलनेके लिये दोपहरमें आनेको कहना कविकी कल्पनामात्र है। अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। रात्रिका संकोचवश संध्या बन जाना अहेतुको हेतु ठहराना 'असिद्धास्पदहेतूत्प्रेक्षा' है।

पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि 'अवधपुरीका बालरूप रामसे मिलनेका रूपक कवि बाँधना चाहते थे। पर रामजीसे पुरीका वियोग कदापि नहीं होता, यह सोचकर वे रूपक बदलते हैं।'

'**देखि भानु जनु मन सकुचानी**।....' इति। 'अर्थात् रात्रि भानुकुलभानु श्रीरामको देखकर सकुची। किन्तु सुर-नर-नागोंकी उत्सुकता देख रात्रिरूपा अवधपुरी भी दौड़ी पर वहाँ अपने सनातन संगीहीको देखकर संकुचित हुई कि यह सर्वस्व धन तो मेरा ही है, मुझसे अलग नहीं। यह समझ समस्त अपने रात्रिरूपी रूपको न हटा सकी। जहाँ सूर्य है वहाँ रात्रि नहीं फबती, अतः उस समय सूर्यरूप रामबालके संयोगसे सन्ध्याका अनुहार धारण कर लिया। 'यहाँ अयोध्याका रूपक प्रथम रात्रिसे क्यों बाँधा और फिर रूपक बदलकर सन्ध्याका अनुमान क्यों कराया ? उत्तर—'राति (ददाति) सर्वं सुखं या सा रात्रिः।' अर्थात् रात्रि सब जीवोंको विश्राम देनेवाली है; वैसे ही सब जीवोंकी विश्रामस्थली अयोध्याजीको समझकर प्रथम रात्रिसे रूपक दिया। रात्रिमें सुषुप्तावस्था होती है और श्रीअयोध्याजी सदा जाग्रत् अवस्थामें रहती हैं, रामकार्य्यसे समाहित

चित्त है। अतः सन्ध्याका रूपक बाँधा। जिस वेलामें मनुष्य भलीभाँति श्रीरामजीका ध्यान करते हैं, उसे 'सन्ध्या' कहते हैं। सन्ध्यारूपा अयोध्यामें सदा श्रीसीतारामका ध्यान और जागरूकता रहती है। सन्ध्या तीन हैं—सायं, मध्याह्न और प्रातः। यहाँ प्रातः सन्ध्याका रूपक जानना चाहिये। क्योंकि आगे वेदध्वनिका वर्णन है; वेदपाठ सायंकालमें वर्जित है क्योंकि अनध्यायका समय है। वेदपाठ प्रभातहीमें सुशोभित है। पुनः, आगेकी चौपाई 'कौतुक देखि पतंग भुलाना''''से सम्बन्ध भी मिलता है। यदि सायं-सन्ध्याका रूपक रखते हैं तो सूर्यास्तके अनन्तर—'मंदिर मनि समूह जनु तारा' यह चौपाई घटित होगी, फिर 'कौतुक देखि पतंग भुलाना''''', इसको कैसे घटित करेंगे? सायंसन्ध्याके रूपकमें अनेक दूषण उपस्थित होते हैं (पं० रा० च० मिश्र)

☞श्रीमिश्रजीके मतसे यहाँ प्रातःसन्ध्याका रूपक है। सायंसन्ध्याके पक्षमें भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। जन्म मध्याह्नमें हुआ और रात्रि दिनके बाद आती है, पीछेसे नहीं। यहाँ प्रत्यक्ष वेदध्वनि हो रही है; उसीपर पक्षियोंकी बोलीकी उत्प्रेक्षा की गयी है। यदि सन्ध्याके अनुसार वेदध्वनिका रूपक किसी दूसरे शब्दपर किया जाता तो यह दोष आ सकता था। रहा—'कौतुक देखि पतंग भुलाना' इसको तो इस उत्प्रेक्षासे पृथक् ही मानना पड़ेगा क्योंकि मध्याह्न कालके सूर्य किसीभी सन्ध्याके वर्णनके अनुकूल नहीं हो सकते।

अगर धूप बहु जनु अँधिआरी। उड़ै अबीर मनहुँ अरुनारी॥ ५॥
मंदिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा॥ ६॥

शब्दार्थ—अगर=एक सुगन्धयुक्त लकड़ी जिसको पूजनके समय जलाते हैं जिससे सुगन्ध उड़ती है। धूप=चंदन, गुग्गुल, राल, अगर आदिके जलानेसे जो धुआँ उठता है। अरुनारी=अरुणाई, ललायी, लाल रङ्ग। अबीर=गुलाल। रङ्गीन बुकनी जिसे लोग होलीके दिनोंमें अपने इष्ट-मित्रोंपर डालते हैं। यह प्रायः लाल रङ्गकी होती और सिंघाड़ेके आटेमें हलदी और चूना मिलाकर बनती है। अब आरारोट और विलायती बुकनियोंसे तैयार की जाती है।

अर्थ—अगरकी बहुत-सी धूपका बहुत-सा धुआँ (जो हुआ वही) मानो सन्ध्याके समयका-सा अँधेरा है जो अबीर उड़ रहा है वही मानो (सन्ध्यासमयकी) अरुणाई है॥ ५॥ (समस्त) मन्दिरोंके मणि-समूह मानो तारागण हैं। राजमहलका कलश ही उदार (पूर्ण) चन्द्रमा है॥ ६॥

टिप्पणी— 'अगर धूप बहु जनु अँधियारी।''''' इति। (क) अष्टगंधके आदिमें अगर है अतएव 'अगर शब्द प्रथम रखकर 'अगरधूप' से अष्टगन्ध धूप सूचित कर दिया है। नगर बड़ा भारी है। अगरकी धूप बहुत हुई, तब कुछ अन्धकार सन्ध्याका-सा हुआ। (ख) 'उड़ै अबीर''''' इति। अटारियाँ बहुत ऊँची हैं, महल कई-कई खण्डके हैं। ऊपरसे लोग अबीर छोड़ते हैं, वही दिशाओंकी ललाई है। सन्ध्याकी ललाईकी (उत्प्रेक्षा) है इसीसे 'मनहुँ अरुनारी' कहते हैं। प्रथम अरुणता होती है तब तारागण देख पड़ते हैं इसीसे प्रथम 'अँधिआरी' कहकर तब तारागण कहते हैं।

२ 'मंदिर मनि समूह जनु तारा।''''', इति। (क) ऊपर 'अवधपुरी सोहइ एहि भाँती।'''' में अवधकी शोभा कहकर रात्रिकी शोभा कही। रात्रिकी शोभा चन्द्रमा और तारागणसे है; यथा—'ससिसमाज मिलि मनहु सुराती।' इसीसे रात्रिकी शोभा कहनेमें चन्द्रमा और तारागणका वर्णन किया। मन्दिर बहुत ऊँचे हैं, मन्दिरोंमें ऊपर जो मणि लगे हैं तारागण हैं। (ख) 'इंदु उदारा' का भाव कि नवमी तिथिका चन्द्र खण्डित होता है 'उदार' कहकर पूर्णचन्द्र सूचित किया। पूर्णचन्द्रकी उपमासे जनाया कि कलश बहुत ऊँचा है यथा—'धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रबि ससि दुति निंदत॥' पूर्णमासी पूर्णतिथि है उसीमें पूर्णचन्द्र होता है। पूर्णचन्द्रकी उपमा देकर जनाया कि राजाका महल पूर्ण (मासी) है और महलका पूर्णकलश पूर्णचन्द्र है पुनः, (ग) नृपगृह कलस सो इंदु उदारा कहनेका भाव कि राजाके गृहमें बहुत कलश हैं, इनमेंसे जो उदार अर्थात् जो सबसे बड़ा भारी (उदारो दातृमहतः) कलश है वही पूर्णचन्द्र है। (घ) पूर्णिमाको सन्ध्याहीमें चन्द्रोदय होता है, इसीसे संध्याके रूपकमें पूर्णचन्द्र वर्णन किया गया।

नोट— प० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि 'अरुणोदयमें बड़े ही तारे दिखायी देते हैं, छोटे नहीं, ऐसे ही छोटे मुक्ता आदि रत्न नहीं दिखायी देते, किन्तु मणिसमूह ही बड़े तारागण दिखायी देते हैं। राजभवनके कलशको उदार चन्द्रमा कहा। जो अपना सर्वस्व देनेको उद्यत हो उसे 'उदार' कहते हैं। यहाँ चन्द्रमा अपना सर्वस्व सूर्यके लिये देनेको उद्यत है।'— [कलशके सम्बन्धसे यहाँ 'उदार' से पूर्णका बोध होगा यद्यपि पूर्णिमा नहीं है। वा उदार=श्रेष्ठ उत्तम (प्र० सं)]

भवन बेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी ॥७॥
कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइँ जात न जाना ॥८॥

शब्दार्थ—सानी=मिली हुई। मुखर=शब्द। पतंग=सूर्य। तेइँ=उसने।

अर्थ—राजभवनमें अत्यन्त कोमल वाणीसे (जो) वेदध्वनि हो रही है (वही) मानो समयमें मिली हुई अर्थात् समयानुकूल; सन्ध्यासमयकी-सी। सन्ध्यासमयमें बहुत पक्षी एक संग बोलते हैं, बड़ा शब्द होता है। वैसे ही यहाँ बहुतसे ब्राह्मण मिलकर वेद-ध्वनि कर रहे हैं। अतः कहा कि 'समय जनु सानी' पक्षियोंकी वाणी (अर्थात् चहचहाहट) है ॥ ७ ॥ (यह) कौतुक देखकर सूर्य (भी) भुलावेमें पड़ गये वा भूल गये अर्थात् उनको अपनी सुधबुध न रह गयी। (इसीसे) उनको एक मासका व्यतीत हो जाना न जान पड़ा ॥ ८ ॥

नोट— **भवन बेद धुनि** इति। सन्ध्यासमय बहुतसे पक्षी एक साथ बोलते हैं जिससे बड़ा शब्द होता है वैसे ही बहुत ब्राह्मण मिलकर, वेद पढ़ते हैं। यहाँ अगणित ब्राह्मणोंके मिलकर वेदध्वनि करनेसे जो शब्द हो रहा है उसकी उत्प्रेक्षा पक्षियोंकी सन्ध्यासमयानुकूल सुहावनी बोलीसे की गयी है। वेदपाठ अत्यन्त मृदु वाणीसे हो रहा है, इसीसे पक्षियोंकी वाणीकी उपमा दी गयी। पक्षियोंकी वाणी अति मृदु होती है। (पं० रामकुमार)। "पक्षियोंके शब्दका अर्थ नहीं समझ पड़ता, पर उनकी बोली प्रिय लगती है, जैसे वेदकी ऋचाओंका उच्चारण अर्थ न जाननेपर भी कैसा भला लगता है। (श्रीजानकीशरणजी)। २—सन्त उन्मनीटीकाकार 'समय जनु सानी' में के 'जनु' का अर्थ 'उद्भव' कहते हैं अर्थात् समयके उद्भवसे सनी हुई खगरागिनी-सी जान पड़ती है। भाव यह कि इस समय जो आनन्द आ रहा है, जो सुख उत्पन्न हुआ है उस समय-जन्य सुखसे सनी हुई पक्षियोंकी बोली है। ऊपर जो अर्थमें लिखा गया वह पं० रामकुमारजीके मतानुसार अर्थ है। पांडेजी 'समय सुख सानी' पाठ देते हैं और अर्थ करते हैं कि 'जैसे पक्षी बसेरेमें आके सुखसानी वाणी बोली बोलते हैं।'

टिप्पणी— (क) पक्षीगण सन्ध्यासमय सघन वृक्षमें बोलते हैं। यहाँ राजाका भवन कल्पवृक्ष है, जहाँ चारों भाई अर्थ धर्म काम और मोक्षरूप विराजते हैं। यथा—'**जनु पाये महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि ॥ ३२५॥**' (ख) इस प्रसङ्गमें आठ बार उपमा (उत्प्रेक्षा) कही गयी—'**प्रभुहि मिलन आई जनु राती**' '**देखि भानु जन मन सकुचानी**' '**अगर धूप बहु जनु अँधिआरी**' '**उड़ै अबीर मनहु अरुनारी**' '**मंदिरमनि-समूह जनु तारा**' '**नृपगृहकलस सो इंदु उदारा**' '**जनु खगमुखर**' और '**समय जनु सानी।**' आठ बार कहकर आठ प्रकारकी लुप्तोपमा यहाँ जनायी। [यह पं० रामकुमारजीका मत है। परन्तु लाला भगवानदीन एवं पं० महावीरप्रसाद मालवीयके मतानुसार 'जनु' 'मनहु' आदि शब्द उत्प्रेक्षा अलंकारमें होते हैं। अर्धाली ५, ६, ७ में अगरधूप, अबीर, मन्दिरमें जड़े हुए मणिगृह, महलके शिखरका कलश और घरमेंकी वेदध्वनि उत्प्रेक्षाके विषय प्रथम कहे गये तब उत्प्रेक्षा की गयी। अतएव इनमें 'उक्त-विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।]

२ '**कौतुक देखि पतंग भुलाना**' इति। कौतुक एक तो जो कुतूहल हो रहा है वह। दूसरा कौतुक यह कि सूर्यने रात्रि कभी नहीं देखी थी सो रामजन्मोत्सवमें देख ली—यह भाव दरसानेके लिये प्रथम रात्रिका वर्णन करके तब '**कौतुक देखि पतंग भुलाना**' कहते हैं।

नोट—बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'यहाँ 'पतंग' नाम सहेतुक है कि बड़े उड़ने-चलनेवाले थे सो भी श्रीराम-जन्ममहोत्सव देखकर अपने चलनेकी मर्यादा ही भूल गये, तब भला और लोगोंको यदि तन-मन-धनकी विस्मृति हो गयी तो आश्चर्य क्या ? सूर्यका रथ हमेशा पुरीके ऊपर जब मध्याह्नमें आता है, तब घड़ी भर थम जाता है। सूर्यको बस यही बोध रहा (कि इतनी ही देर ठहरे)। हमेशा जब अन्य समय रामोत्सव होता है तब सूर्य मनुष्यरूप धरकर पृथ्वीपर उतर आते हैं और मुख्यरूपसे संसारका कार्य मर्यादापूर्वक वैसे ही होता रहता है। पर इस समय रथसमेत थम गये। यहाँ देह धरकर नहीं आये, क्योंकि इस कुलके आदि-पुरुष हैं, कपटवेषसे आते तो प्रेममें कहीं असली रूप प्रकट हो जाता जिससे भगवान्‌का अवतार प्रकट हो जाता तब रावण वध न होता। दूसरे, आकाशसे उत्सवका दर्शन अधिक अच्छा हो रहा है।'

दोहा—मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोइ।
रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ ॥ १९५ ॥

अर्थ—(सूर्य एक मास व्यतीत होना न जान पाये इसीसे) महीने दिन (अर्थात् ३० दिन) का एक दिन हो गया। इस मर्म (भेद, रहस्य) को कोई नहीं जानता। सूर्य अपने रथसहित ठहरे रह गये (तब) रात कैसे होती ? । १९५।

टिप्पणी—१ 'मास दिवस कर दिवस भा·····' अर्थात् महीना भर नवमीहीका दिन बना रह गया। २ '**रथ समेत रबि थाकेउ**' अर्थात् सूर्यके घोड़े, सारथी, वेदोंके पाठ करनेवाले और जितने सूर्यके साथ रहनेवाले थे वे सब 'थाके' अर्थात् ठहर गये। थाकेउ=ठहर गये, यह बंगाल प्रान्तकी भाषा है। [पुनः '**रथ समेत**' का भाव कि रथी सूर्य, घोड़े और सारथी अरुण तीनों ही आनन्दमें निमग्न थे। एकको भी चेत होता तो रथ चलता।] और प्रसिद्ध अर्थ यह है कि जन्मोत्सवकी शोभा देखकर सूर्य थक गये (अर्थात् शिथिल हो गये)। जब महीने भरका दिन हो गया तो महीनेभर सन्ध्या ही बनी रह गयी। तात्पर्य कि न किसीने भोजन किया, न शयन और न और ही कोई नित्यके कृत्य किये, सारा दिन जन्मोत्सव करते ही व्यतीत हो गया। ३—'**मरम न जानै कोइ**' इति। भाव कि जब सूर्य ही '**कौतुक देखि भुलाना**' जो 'दिनकर' हैं, दिनके करनेवाले हैं, जब उन्होंने मर्म न जाना तब और कौन जान पाता ? इसीसे प्रथम सूर्यका भुलाना कहकर तब अन्य सबका न जानना कहा। ४—'**निसा कवन बिधि होइ** इति। भाव कि जब प्रभुको मिलनेके लिये रात्रि आयी तो रात्रि हो जानी चाहिये थी सो न हुई, क्योंकि '**रथ समेत रबि थाकेउ**'।

'मास दिवस कर दिवस भा' इति।

जिस राशिपर सूर्य रहते हैं उसीपर चन्द्रमा अमावस्याको होता है। मेषके सूर्यके योगसे अमावस्याको अश्विनी चाहिये। अश्विनीसे पुनर्वसु सातवाँ है। अतएव अश्विनी अमावस्याको हो तो पुनर्वसु नवमीको नहीं पड़ सकता किंतु मघा पड़ेगा जो दसवाँ है। पुनर्वसु नवमीको तभी पड़ सकता है जब अमावस्याको पूर्वाभाद्रपदा हो, पर अमावस्याको पूर्वाभाद्रपदा होनेसे मेषके सूर्य नहीं हो सकते थे। और श्रीरामजन्मपर ये तीनों अर्थात् मेषके सूर्य, पुनर्वसु और शुक्ला नवमी पड़े यह प्रामाणिक बात है।

इस असङ्गतिका मिलान किसीने इस प्रकारसे किया है कि 'नवमीको मीनके दश अंशपर सूर्य थे। बीस दिनतक तो मीनहीके सूर्य और रहने चाहिये तब मेषके सूर्य आते हैं। मेषका दसवाँ अंश परम उच्च होता है, यह दसवें दिन पड़ना चाहिये। अब यह तो निश्चित और सर्वमान्य है ही कि पुनर्वसु और नवमी थी जिसके योगसे यह मानना पड़ेगा कि नवमीको मीनके सूर्य दसवें अंशपर थे और उसी दिन दोपहरसे मेषके दसवेंपर आ गये। श्रीमद्गोस्वामीजीकी सम्मतिमें यह बात तबतक सम्भव नहीं जबतक सूर्यदेव एक मासतक वहाँ उपस्थित न रहे हों। इसी विचारसे कहा गया कि '**मास दिवस कर दिवस भा**।'

परंतु इस उपर्युक्त कथनमें यह बाधा पड़ती है कि हमलोग जो प्रतिदिन सूर्यको उदय होकर अस्ताचलकी ओर जाते हुए देखते हैं यह उनकी अपनी निजकी गति नहीं है; किंतु एक वायुमण्डल है जो सूर्य, चन्द्र, तारागण आदिको पृथ्वीके ऊपर-नीचे घुमाता रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जब वायुमण्डल रुकेगा तभी सूर्य भी रुकेंगे और उनके साथ ही चन्द्र, तारागण आदि भी रुक जायँगे। जब सब नक्षत्र और सूर्य दोनों ही रुक गये तब राशिका परिवर्तन कैसे सम्भव हो सकता है ? जो राशि, नक्षत्र, आदि उस समय हैं वे ही एक मासतक बने रह जायँगे। इसीका समर्थन प्रायः दूसरे ढंगसे श्रीमान् गौड़जीके आगेके लेखसे भी होता है।

☞ यह पूर्ण परतम ब्रह्मके आविर्भावका समय है, उनकी अघटित घटना है, इसमें क्या आश्चर्य है ? जो परमेश्वरको सर्वशक्तिमान् न मानते हों उन्हींको आश्चर्य हो सकता है। रघुकुलमें आविर्भाव है। असम्भवका सम्भव कर देना प्रभुके अवतारका द्योतक है। सूर्य परमानन्दमें मग्न हो गये। उन्हें स्वयं न जान पड़ा कि हमें यहाँ एक मास हो गया

त्रिपाठीजीका मत है कि सूर्यनारायण एक मासतक ठहरे रह गये, शेष ग्रहगण बराबर चलते रहे। एक मासमें स्वाभाविक स्थितिपर पहुँचे, तब सूर्यनारायण भी चले। अतः कहते हैं। 'मास दिवस·····'।

वि० त्रि०—यह भी नहीं कह सकते कि 'सूर्यदेवका रुकना या आगे बढ़ जाना नितान्त असम्भव है और इसका कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता', क्योंकि विभिन्न पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं। स्वयं वाल्मी० रा० में अनुसूयाजी-के दश रात्रियोंकी एक रात्रि कर देनेका वर्णन है। यथा—'**देवकार्य्यनिमित्तं च यया सम्त्वरमाणया। दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ**॥ २। ११७। १२।' (अर्थात् हे अनघ रामचन्द्रजी ! देवताओंके कार्यके लिये जिस अनुसूयाने

दश रात्रिकी एक रात्रि बना दी, वह यह तुम्हारी माताके तुल्य है)। तब क्या दश रात्रिको एक रात्रि बिना सूर्यके रुके हो गयी और ग्रहमण्डलमें यथोचित स्थान पानेके लिये सूर्यकी गतिमें कोई विशेषता न हुई] और यहाँ तो साक्षात् पूर्णब्रह्मका अवतार होनेवाला था।

'मरम न जानै कोइ' इति।

जो ऐसे तीन नक्षत्रोंको एकत्र कर सकता है जिनका एकत्र होना असम्भव है, उसकी लीलाको कौन समझ सकता है ?—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। २। १२७।' महर्षियोंने अपनी-अपनी रामायणोंमें इन नक्षत्रोंके नाम दिये हैं। पर पूज्यपाद गोस्वामीजीने 'सकल भये अनुकूल', 'पुनीत' और 'सुभ' कहकर छोड़ दिया था। यहाँ 'मास दिवस कर दिवस भा' इस अघटित घटनाको लिखकर उन्होंने अन्य ग्रन्थोक्त असम्भव ग्रहादिके योगोंका सम्भव होना जना दिया।

श्रीनंगे परमहंसजी 'मास दिवस' का '३६० घंटे' का एक दिन' ऐसा अर्थ लिखते हैं। इसमें 'दिवस' से केवल दिन (रात नहीं) का अर्थ लिखा गया है और दिनका साधारण मान १२ घंटा होता है। इस तरह मास दिवसमें ३६० घंटे हुए।

'मास दिवस' शब्द कई स्थलोंपर आया है। सर्वत्र इसका अर्थ सभी टीकाकारोंने 'एक मास' 'तीस दिन' ही किया है और परमहंसजीने भी 'मास दिवस तहँ रहेउ खरारी॥ ४। ६। ७।' और 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा॥ ५। २७॥' में 'महीनाभर' और 'एक माह' अर्थ लिखा है।

जब किसीने न जाना तो कविने कैसे जाना ? उन्हीं सूत्रधर प्रभुकी कृपासे। पहले ही कह चुके हैं—'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥' अतः कवि जान गये। बड़ा दिन होनेसे किसीका मन क्यों न घबड़ाया, क्योंकि दुःख-सुखका अनुभव करनेवाला मन है; यथा—'बिनु मन तन दुख-सुख सुधि केही॥' और मनके प्रेरक श्रीरामजी हैं; यथा—'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन।' पुनः श्रीरामजन्मोत्सवके कौतुकमें सूर्यदेव भूल गये थे। उनकी भूलको श्रीरामजीको सँभालना पड़ा, क्योंकि उन्हींके उत्सवमें भूले थे। अतः किसीका मन नहीं घबड़ाया और न किसीको मर्म जान पड़ा। (नंगे परमहंसजी)

श्रीरामदास गौड़जी—कालका मान 'देश' के विविध पिण्डोंकी सापेक्ष गतिपर अवलम्बित है। इस वैवस्वत ब्रह्माण्डमें भगवान् दिवाकर ही इसके नियामक हैं। यदि उनकी गति रुक जाय या घट जाय तो उसी निष्पत्तिसे पृथ्वी, चन्द्रमा, मङ्गल, गुरु आदि सभी ग्रहोपग्रहोंकी गति भी सापेक्ष रीतिसे रुक जाय या घट जाय। अतः जब कभी परात्पर अवतरित होते हैं, भुवन-भास्कर रुक जाते हैं और अखिल ब्रह्माण्डोंके नियामककी अद्भुत लीला देखनेमें भूल जाते हैं इनके साथ ही जगत् (चलनेवाला), संसार (संसरण करनेवाला), ग्रह, उपग्रह तो क्या, सारी सृष्टिकी गति रुक जाती है। यथा—जो अङ्कुर चौबीस घण्टेमें निकलता वह महीनेभरमें निकलता है, जो भोजन दो पहरमें पचता वह साठ पहरमें पचता है, जितनी साँस चौबीस घण्टेमें चलती उतनी ही महीनेभरमें चलती है, जितना नाड़ीका थपकन चौबीस घण्टोंमें होता महीनेभरमें होता है। घड़ीकी सुई जो बारह घण्टोंमें घूम जाती वह पन्द्रह दिनोंमें घूम जाती है।

प्रकृतिके परमाणु-परमाणुसे लेकर बड़े-से-बड़े पिण्डकी गति सापेक्ष होती है। अतः ज्योतिषियोंके लिये भी, जो कालका मान सापेक्ष गतिसे लगाते हैं, सूर्यके रुकने या सुस्त हो जानेका हाल जानना असम्भव है। इस विपर्ययका हाल कोई वैज्ञानिक भी नहीं जान सकता। इसीलिये 'मरमु न जानइ कोइ।' 'पतंग' (पतं + गम्) इसीलिये कहा कि गिरने वा बैठनेके लिये (अस्त होनेके लिये) चलता है। सो वही पतङ्ग अपना अस्त होना भूल गया। 'पतंग'का प्रयोग साभिप्राय है।

विज्ञानकी अधूरी शिक्षा होनेके कारण यह बातें कम लोग जानते हैं कि जैसे पृथ्वी चलती है वैसे ही सूर्य भी बड़े वेगसे चलता है। जिस दिशाको सूर्य चलता है, उसीकी गतिके अनुसार बढ़ती हुई पृथ्वी उसका परिक्रमण करती है। उसी तरह तेहरी चालसे बढ़ते हुए चन्द्रमा पृथ्वीका परिक्रमण करता है। यदि सूर्यकी गति घटे तो अपेक्षाकृत सबका वेग घटेगा, नहीं तो तुरन्त ही सारा ब्रह्माण्ड छिन्न-भिन्न हो जायगा। यह पिण्डोंकी प्रत्यक्ष गतिका वर्णन है। इन पिण्डोंके अभिमानी देवता भगवान् भास्कर, भगवती धरित्री, भगवान् चन्द्रमा अपनी-अपनी सापेक्ष गतिके नियामक हैं, यह हमारा हिन्दूशास्त्र कहता है। ऊपर जो 'मरमु न जानइ कोइ' की हमने व्याख्या की है वह आज पर्यन्तके विज्ञानसे सिद्ध व्याख्या है। आजकल हम लोगोंकी उलटी बुद्धि आसुर शास्त्रोंका अधिक प्रमाण मानती है। इसलिये मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि अभिनव

शुक्राचार्य जर्मनीके प्रोफेसर एन्स्टैन (Einstein) का सापेक्षवाद (Theory of Relativity) मेरी उपर्युक्त व्याख्याका समर्थक है। यह व्याख्या मैंने नये जर्मन सापेक्षवादके प्रकाशित होनेके कई वर्ष पहले की थी। कालकी सापेक्षता 'वैज्ञानिक अद्वैतवाद' में भी दिखायी गयी है। सापेक्षवाद भारतवर्षके लिये कोई नई चीज नहीं है।

प्रोफे० दीनजी—हमारे विचारसे **'मास दिवस कर दिवस भा'** इससे यह लक्षित कराया गया है कि जब श्रीरामजीका जन्म हुआ उस समय **'अधिक चैत्र मास'** था। इसलिये अशुद्ध चैत्रमें कोई शुभ कृत्य नहीं हुआ। एक मास बाद जब अशुद्ध चैत्र बीत गया तब कृत्य किये गये। अधिक मास शुद्धमासके बीचमें रहता है। चैत्र अधिक होनेसे दोनों मास इस प्रकार रहेंगे—शुद्ध चैत्र कृष्ण + अशुद्ध चैत्र शुक्ल + अशुद्ध चैत्र कृष्ण + शुद्ध चैत्र शुक्ल। अधिक मासकी जिस तिथिको सन्तानोत्पत्ति होती है शुद्धकी वही तिथि मानी जाती है। सुतराम् इस प्रकार श्रीरामजीका जन्म अशुद्ध चैत्र शुक्ल ९ को हुआ और उनकी जन्मतिथिका मान हुआ शुद्ध चैत्र शुक्ल ९ से। इस प्रकार पूरा एक मास बट्टे खातेमें चला गया और अशुद्ध चैत्र शुक्ल ९ से शुद्ध शुक्ल ९ तक एक मासकी गणना एक दिन हुई। इस अनुमानमें सत्यता कहाँतक है वह हम नहीं बता सकते। ('आज' से उद्धृत। श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र)।

पं० श्रीशुकदेवलालजी—'श्रीराम-होरिलके जन्ममहोत्सवपर जो परमानन्द हुआ उसी कारणसे अबतक ग्राम और नगरवासी चैत्रको, होरिल-महोत्सव-सम्बन्धसे, महापावन जानकर अपने-अपने घरोंके कूड़े-कर्कटको फाल्गुनके अन्तमें नगरके बाहर जलाकर उड़ा देते हैं और नवीन लेपन करके घरोंको शुद्ध करते हैं, नाना प्रकारके पकान्न मिष्टान्न बनाते हैं, अबीर-गुलाल-अरगजादि परस्पर छिड़कते हैं, नृत्य-वादित्र करते हैं, नवीन वस्त्राभूषण स्रक् गन्ध धारण करते हैं और महामङ्गल परम-पावन जानकर मृतकोंके शोकको विसर्जन करते हैं, आनन्द मनाते हैं। परंतु अज्ञानतावश उसको होरी-होरी कहते हैं। होरी पद होरिलका अपभ्रंश है और होरिल झड़ूले बालको कहते हैं।'

प० प० प्र०—यह रामजन्मका दिवस है। **'सुनि सिसुरुदन परमप्रिय बानी।'**…। १९३। १॥' से दो० १९५ तक गिननेसे ३० पंक्तियाँ होती हैं। मासके दिन भी तीस होते हैं। इस दोहेके साथ प्रथम दिन पूरा हुआ। इस हिसाबसे आगे गणना कीजिये तो **'नामकरन कर अवसर जानी।'**…' बारहवीं पंक्तिमें पड़ता है। इस तरह नामकरणका १२ वें दिन होना सूचित किया। शास्त्रानुसार पुत्रका नामकरण १२ वें दिन ही विहित है। ☞ इसी तरह **'रामचरितमानस एहि नामा'** श्रीरामचरितमानसका नामकरण भी चरितके प्रकाशमें आनेसे अर्थात् **'जेहि दिन रामजनम श्रुति गावहिं।'**…। ३४। ६॥' से १२ वीं पंक्तिमें हुआ। चरित्र पुत्र है। ☞ कन्याका नामकरण १३ वें दिन होता है। यह भी मानसकी परम अद्भुत संकेत कलामें देख लीजिये। कविता-सरिताका जन्म **'चली सुभग कविता सरिता सो।'**…। ३९। ११॥' में कहा और उसका नामकरण १३ वें शब्दपर कहा है। शब्द-संख्यासे 'नाम' १३ वाँ शब्द पड़ता है—'चली १ सुभग २ कविता ३ सरिता ४ सो ५। राम ६ बिमल ७ जस ८ जल ९ भरिता १० सो ११। सरजू १२ नाम १३ …॥'

यह रहस्य काहू नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुन गाना॥ १॥
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥ २॥

शब्दार्थ—दिनमनि=दिनके प्रकाशक=सूर्य। रहस्य=वह गुप्त विषय जिसका तत्त्व सबको समझमें न आ सके=गुप्त चरित।

अर्थ—यह गुप्त चरित्र किसीने भी न जाना। सूर्य गुणगान करते हुए चले॥ १॥ सुर, मुनि और नागदेव महोत्सव देखकर अपने-अपने भाग्यकी बड़ाई करते हुए अपने-अपने घरको चले॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि **'मरमु न जानै कोइ'** और अब यहाँ फिर कहते हैं कि **'यह रहस्य काहू नहिं जाना।'** इससे पुनरुक्ति दोष आता है? नहीं; पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ दो बातें कही गयी हैं। एक तो यह कि **'मास दिवस कर दिवस भा'** यह मर्म किसीने न जाना। दूसरी यह कि **'रथ समेत रबि थाकेउ'** यह रहस्य भी किसीने न जाना। दो बातोंके लिये दो बार कहा। (ख) 'दिनमणि' का भाव कि सूर्यसे दिनका प्रकाश होता है जब वे यहाँ मासभर थँभे रहे तब मासभरके दिनोंका प्रकाश (अनुभव) न हुआ। अर्थात् न जाने गये। जब चले तब 'दिनमनि' नाम देकर जनाते हैं कि सब दिन न्यारे-न्यारे जाने गये। [बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'दिनमणि नाम तो रविका उलटा है; क्योंकि रविका मणि दिन है न कि दिनका मणि रवि। जो जिससे उत्पन्न वा प्रकट होता है वह उसका मणि कहलाता है। जैसे, अहिमणि, गजमणि। 'दिनमणि' नाम सहेतुक है। क्योंकि पुत्रके नामसे पिताका नाम होता है और कहीं पिताके नामसे पुत्रका नाम होता है। सो आजका दिन ऐसा ही है कि पुत्रके नामसे पिताका नाम होगा। जिस दिन श्रीरामजन्म हुआ वह दिन धन्य है।]'

(ग) 'चले करत गुनगाना' इति। पूर्व 'रवि थाकेउ' कहा था, अतः अब उनका चलना कहते हैं। श्रीरामगुणगान करते चले; यथा—'करहिं राम कल कीरति गाना।'

२ (क) 'देखि महोत्सव सुर मुनि नागा।' इति। प्रथम सूर्यका चलना कहकर तब इनका चलना कहा। तात्पर्य कि सूर्यके चलनेसे काल बदला तब सबको चलनेकी इच्छा हुई। (ख) 'चले भवन बरनत निज भागा' इति। तात्पर्य कि श्रीरामजन्मोत्सव बड़े भाग्यसे मिलता है, इसीसे देवता, मुनि, नाग प्रत्येक रामनवमीको अयोध्याजीमें आकर जन्मोत्सव रचते हैं। 'असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं पदपंकज सेवा॥ जन्म महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना॥' सब श्रीरामजन्मोत्सव देखनेसे अपने भाग्य मानते हैं।

वि० त्रि०—'सुर मुनि नागा···बरनत निज भागा' इति। एक कल्पमें एक ही रामावतार होता है और वह वैवस्वत मन्वन्तरमें होता है, तो तेरह मन्वन्तर खाली रह जाते हैं। इन्द्रादि देवोंकी आयु एक मन्वन्तरकी होती है। अतः सुर-मुनि-नाग रामावतारोत्सव देखनेमें अपने भाग्यकी सराहना करते हैं। तेरह मन्वन्तरके सुर-मुनि-नागोंके भाग्यमें यह सुख नहीं था।

वि० त्रि०—प्रभुके जन्मोत्सवको शिशिर ऋतु कहा है। इस ऋतुमें दो मास माघ और फाल्गुन होते हैं। सो ऊपरके दो दोहोंमें १९३-१९४ में माघ मास वसंत पञ्चमी आदिका उत्सव कहा। फिर दो दोहोंमें फाल्गुनोत्सव कहा। फाल्गुनमें होली होती है, रंग चलता है, अबीर लगायी जाती है, होलीमें लड़के-लड़की चोरी करते हैं, इत्यादि सब प्रसङ्ग यहाँ कहे गये हैं। यथा—'मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥' 'उड़इ अबीर' सूर्यने एक मासकी चोरी की, शङ्करजी और भुशुण्डिजीने अपने रूपकी चोरी की 'औरो एक कहौं निज चोरी' होलीमें चोरी बुरी नहीं समझी जाती। शङ्करजी अपनी चोरीको 'शुभचरित' कहते हैं। यथा—'यह सुभ चरित जानपै सोई···।'

औरो एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥ ३॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहिं कोऊ॥ ४॥
परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥ ५॥

अर्थ—हे गिरिजे! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त दृढ़ है (इससे) मैं एक और भी रहस्य अर्थात् अपनी चोरी तुमसे कहता हूँ, सुनो॥ ३॥ काकभुशुण्डि और हम, दोनों (प्राणी) साथ-साथ मनुष्यरूप धारण किये हुए जिसमें कोई जाने नहीं, परमानन्द, प्रेम और सुखसे फूले (अर्थात् पूर्ण) और मनमें मग्न अपनेको भूले हुए गलियोंमें फिरते रहे॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ 'औरो एक कहौं निज चोरी' इति। (क) 'औरो एक' का भाव कि 'मास दिवस कर दिवस भा···' इत्यादि गुप्त रहस्य मैंने तुमसे कहा। अब और भी एक गुप्त बात तुमसे कहता हूँ, जो अपने सम्बन्धकी है। अर्थात् अपनी गुप्त बात कहता हूँ। (ख) 'निज चोरी' पदसे जनाया कि श्रीपार्वतीजी साथमें न थीं, शिवजी इनसे चुराके मनुजरूपसे भगवान्के दर्शनार्थ गये थे। [गोस्वामीजीका काव्यकौशल देखिये। चोर प्रायः रातमें ही चोरी करते हैं इसीसे शङ्करजीकी चोरीकी बात भी सूर्यके चले जानेपर कही। सूर्य दिनमें चोरी करते हैं, यथा—'बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ। तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु सो होइ॥ दो० १०८।']

नोट—१ 'औरो···निज चोरी' का दूसरा भाव कि सूर्यादिकी चोरी तो सुनायी ही कि उन्होंने 'मासदिवसकी' चोरी की, अब अपनी भी चोरी सुनाता हूँ कि तुमसे भी छिपाके मैं वहाँ किस वेषसे गया था। अतएव 'औरो एक' और 'निज चोरी' पद दिये। चोरी=चुराई व छिपाई हुई बात, गुप्त बात। पार्वतीजीने अपने प्रश्नोंके अन्तमें यह प्रार्थना की 'जो प्रभु मैं पूछा नहीं होई। सोउ दयालु राखहु जनि गोई॥ १११। ४॥' यहाँ उसी प्रश्नका उत्तर देते हैं।

२ पं० रामचरणमिश्रजी कहते हैं कि 'सूर्यने समयकी चोरी की, समय सूर्यका ही स्वरूप है। यह सूर्यकी 'निज' अर्थात् अपने स्वरूपकी चोरी हमने तुमसे कही, अब दूसरी हमारी 'निज' चोरी सुनो। अतएव 'औरो एक' कहा। शङ्करजीने सोचा कि जब रामजीके पुरखा ही चोरी किये हुए उत्सवमें सम्मिलित हैं तो हम भी चोरी ही द्वारा क्यों न सम्मिलित हों।

३ ☞ 'रामावतार गुप्त ही अधिक है। इसीसे इन चोरियोंका हास्यरस और आनन्द विचारणीय है'— (लमगोड़ाजी)।

४ 'सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी' इति। (क) 'अति दृढ़ मति' के सम्बन्धसे यहाँ 'गिरिजा' नाम दिया।

भाव कि श्रीरामजीके सम्बन्धमें संशय करनेसे तुमने अति कष्ट झेले, फिर भी तुमने प्रश्न किया और श्रीरामचरित सुने बिना तुमसे न रहा गया। जब तुम इतनी दृढ़ भक्ता हो तब तो तुम अवश्य किसी अनधिकारीसे यह रहस्य न कहोगी; अतएव तुमसे कहता हूँ। पर्वत अचल है, उसकी कन्या क्यों न दृढ़ मति हो ? (पं०)। पुनः, (ख) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'आजतक यह बात चुराये रहे, न कही। क्योंकि तुमको साथ ले जाते तो तुम स्त्रियोंके सङ्ग होकर भीतर चली जातीं और रामरूप देख प्रेमवश तुम्हारा कपट नारिवेष छूट जाता तो भेद खुल जाता कि राम ब्रह्म हैं कि जिनके दर्शनको उमाजी आयी हैं और प्रभु रावणवधार्थ गुप्तरूपसे अवतरे हैं, वधमें बाधा पड़ती। पुनः तुमसे इसलिये न कही कि तुमको सुनते ही रोष आ जाता, तुम कहतीं कि बाल-उत्सवमें तो स्त्रियोंका बड़ा काम रहता है, तुम पुरुष होते हुए गये हमको न ले गये। तुम्हारा मन हमसे व्यग्र हो जाता जैसा कि स्वाभाविक है। पर, तुम 'गिरिजा' हो, तुम्हारी बुद्धि मेरी भक्तिमें अति दृढ़ है, अतः तुमसे अब कहता हूँ।' पुनः, भाव कि—(ग) यह चरित बिना श्रीरामकृपाके कोई जान नहीं सकता; यथा—'**यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जा पर होई॥**' श्रोता 'सुमति' हो तब उससे कहना चाहिये। तुम '**अति दृढ़मति**' वाली हो इससे तुमसे कहता हूँ। (पं० रामकुमारजी)। पुनः, (घ) '**अति दृढ़ मति**' अर्थात् तुम्हारी बुद्धि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें तथा उनकी कथामें अत्यन्त दृढ़ है।

नोट—५ (क) '**कागभुसुंडि संग**' का भाव कि श्रीभुशुण्डिजीपर श्रीरामजीकी बड़ी कृपा है। वे इस चरितके जानकार हैं; यथा—'**जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भगतहेतु लीला बहु करहीं॥ तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥ जन्म महोत्सव देखौं जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई॥** ७। ७५॥' जानकारके सङ्गमें अधिक सुख होता है। (पं० रामकुमारजी) (ख) '**काकभुसुंडि संग हम दोऊ**' का अर्थ इस प्रकार भी करते हैं कि 'काकभुशुण्डिजीके साथ हम थे। दोनों'। भुशुण्डिजीके सङ्गके और कारण ये भी हैं कि—वे आपके शिष्य हैं, उन्होंने आपसे ही रामचरित पाया है। दूसरे आप दोनों बालरूप रामके अनन्य उपासक हैं; यथा—'**बंदउँ बालरूप सोइ रामू।**' (शिवजी) '**इष्टदेव मम बालक रामा।**' (भुशुण्डिजी) उत्सवका पूर्णानन्द तभी मिलता है जब भेदी साथ हो और ये भेदी हैं ही। ☞ गीतावलीमें नामकरण-संस्कारके पश्चात् श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डिजीका वर्णन आया है जो इस प्रसङ्गकी जोड़का है। यथा—'**अवध आजु आगमी एक आयो। करतल निरखि कहत सब गुनगन बहुतन परिचो पायो। बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुनायो। सँग सिसु सिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो॥ पाँय पखारि पूजि दियो आसन असन बसन पहिरायो। मेले चरन चारु चारों सुत माथे हाथ दिवायो॥ नखसिख बाल बिलोकि बिप्रतनु पुलक नयन जल छायो। लै लै गोद कमल कर निरखत उर प्रमोद अनमायो॥ जन्मप्रसंग कहेउ कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो। राम भरत रिपुदवन लखनको जय सुख सुजस सुनायो॥ तुलसिदास रनिवास रहसबस भयो सबको मन भायो। सनमान्यो महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो॥** गी० १। १४।'

६ '**कागभुसुंडि संग**' इति। यहाँ श्रीकाकभुशुण्डिजीका नाम प्रथम देकर उनको प्रधान रक्खा और अपनेको गौण। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि शिवजीने कहा है कि मैं तुमको वह कथा सुनाता हूँ जो भुशुण्डिजीने गरुड़जीको सुनायी थी; यथा—'**कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़।** १२०।' '**उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥** ७। ५२।' और फिर श्रीपार्वतीजीके पूछनेपर कि आपने इनका संवाद कब और कहाँ तथा कैसे सुना ? उन्होंने उत्तरमें कहा है कि '**मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि॥** ७। ५६। १।··· **तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास। सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास।** ५७।' इस प्रकार शिवजीने श्रीभुशुण्डिजीसे कथाका सुनना बताया है। अतः प्रथम कहकर उनको सम्मान देना योग्य ही है। यह भी भगवान् शंकरकी शालीनता और निर्ममता, अमानता '**सबहि मानप्रद आपु अमानी।**' का नमूना है, उदाहरण है।

७ '**मनुजरूप**' इति। नररूपसे क्यों गये ? यह प्रश्न उठाकर लोगोंने उसका उत्तर यों दिया है—(१) प्रसिद्ध तनसे वह सुख न मिलता। (२) देवरूपसे प्रत्यक्ष जानेसे प्रभुका ऐश्वर्य प्रकट हो जाता—'**गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ।** ४८।' (३) जिस देश जिस समाजमें जाकर वहाँका पूर्ण रसास्वाद लेना हो, वहाँ उसी समाजके अनुकूल तद्रूप होकर सम्मिलित होनेसे वह रस मिल सकता है। (४) दोनोंके परम उपास्य श्रीरामचन्द्रजीहीने मनुष्य-शरीर धारण किया, अतएव इन्होंने भी मनुष्यरूप धारण किया और जूठन और दर्शनका योग तो आज है ही नहीं; इसलिये पुरवासियोंके साथ

मिलकर उत्सवका आनन्द लूटने लगे। (मा० म०)। (५) प्रेमरस चुरानेके लिये मनुजरूप धरकर गये वह प्रेमरस पाकर परमानन्दसे फूल गये (पाँड़ेजी)। (६) मेरी समझमें तो इसका उत्तर गोस्वामीजीने स्वयं दे दिया है कि 'जानइ नहिं कोई' फिर बात यह भी है कि इस रूपसे सूतिकागृहतक पहुँच सकनेकी आशा है। वे ताकमें हैं कि कब और कैसे दर्शनानन्द-दान मिले।

८ 'श्रीपार्वतीजीसे चुराकर क्यों गये ?—इसके कारण नोट ४ में लिखे गये हैं। एक कारण यह भी है कि स्त्रियोंका साथ होनेसे पूर्ण आनन्द न ले सकते। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ **'परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं····'** इति। (क) 'फिरहिं'=फिरते हैं; यह वर्तमान कालवाचक क्रिया है। कहना तो भूतकाल चाहिये था अर्थात् गलियोंमें फिरते रहे थे, सो न कहा। इसमें तात्पर्य यह है कि जैसा सुख रामजन्म देखनेसे हुआ वैसा ही सुख वह चरित कहनेसे हुआ; यह भाव दरसानेके लिये वर्तमान क्रियाका प्रयोग किया गया। (ख) जो सुख सबको हुआ वही शिवजी और भुशुण्डिजीको हुआ; यथा—**'परमानंद पूरि मन राजा', 'ब्रह्मानंद मगन सब लोई'** तथा यहाँ **'परमानंद प्रेम सुख फूले'**। (ग) [पं० रामचरणमिश्रजी यह भाव कहते हैं कि 'योगिराज शंकरजीके हृदयका ब्रह्मानन्द भी वहाँसे निकलकर साकार ब्रह्मके प्रेमके सुखसे फूला हुआ और मन भूला अर्थात् विचारको भूल (मन, ज्ञान और विचारको भी कहते हैं) आनन्दमें डूबा अवधकी गलियोंमें फिर रहा है। जब ब्रह्मानन्द ही यहाँ मारा-मारा फिर रहा है तब ब्रह्मज्ञानियोंकी कौन कहे।' यह भाव इस अर्धालीको आगेके **'यह सुभ चरित जान पै सोई····'** के साथ लेकर कहा गया है।]

नोट—९ **'बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले'** इति। मनका व्यवहार संकल्प-विकल्प है, वह चंचल है। सो वह महोत्सवमें ऐसा मग्न हो गया कि अपना स्वभाव ही भूल गया, जिससे प्रेममें सुध-बुध न रह गयी कि कहाँ किस ओर जा रहे हैं, इत्यादि। 'बीथिन्ह' में फिरनेके भाव ये कहे जाते हैं—(१) नगरमें सर्वत्र एक समान उत्सव हो रहा है। जैसे राजाके यहाँ उत्सव है वैसे ही समस्त नगरमें है। इसीसे वीथियोंमें फिरते हैं। (पं० रा० कु०)। (२) पुरवासिनी स्त्रियाँ गलियोंमें होकर राजमन्दिर और महलोंको जा रही हैं। और महलकी दासियाँ एवं जो-जो स्त्रियाँ दर्शन करके लौट रही हैं, वे परस्पर शिशुके रूप गुण कहती-सुनती चली आ रही हैं। उनके श्रवणका आनन्द गलियोंमें ही है। (मा० म०)। (३) घर-घर बधावे बज रहे हैं, राजमार्गपर बड़ी भीड़ है कि कानसे लगकर कोई बोले तभी सुनायी दे, अन्यथा नहीं; यथा—**'निकसत पैठत लोग परस्पर बोलत लगि-लगि कान**। गी० १। १।' दोनों अनन्य सेवक हैं। राजद्वारपर दान बट रहा है। यदि वहाँ जाते हैं तो अनन्य व्रतमें बट्टा लगता है क्योंकि प्रभुको छोड़ दूसरेके हाथसे दान कैसे लें ? और, वहाँ जाकर दान न लें तो प्रभुका अपमान ही है। महोत्सवका आनन्द तो जैसा राजद्वारपर है वैसा ही गलियोंमें भी देख रहे हैं। गलियोंमें देख लेनेसे राजद्वारपर जानेकी आवश्यकता ही न रही और अपने धर्मका निर्वाह भी हो गया। अथवा (५) बीथिन्हका अर्थ मार्ग, रास्ता, गली, सड़क सभी है। इस प्रकार यह शंका ही नहीं रह जाती। सभी ठौर आनन्द लूटते थे। **'मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥'** से स्पष्ट है कि 'बीथिन्ह' का अर्थ मार्ग, सड़क, गली सभी है। गलियोंमें अरगजाका कीच हो और सड़कें अरगजासे न सींची गयी हों, यह कब सम्भव है ?

यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई॥ ६॥
तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहिं मन भावा॥ ७॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा॥ ८॥

अर्थ—पर यह शुभ चरित वही जानता है जिसपर श्रीरामजीकी कृपा होती है॥ ६॥ उस अवसरपर जो जिस प्रकार आया, राजाने उसको वही दिया जो उसके मनको भाया। अर्थात् मनभावता दान सबको दिया गया॥ ७॥ गज, रथ, घोड़े, सोना, गौ, हीरा और अनेक प्रकारके वस्त्र राजाने दिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) **'यह सुभ चरित'** अर्थात् जिस चरितमें शिवजी और भुशुण्डिजी मग्न रहे और अपनेको भूले हुए गलियोंमें फिरते रहे वह चरित श्रीरामकृपासे ही जाननेको मिलता है, अन्यथा नहीं। ['यह सुभ चरित' से जनाया कि यह चरित मंगल-कल्याणकारी है। यह चरित='जिस बातके लिये हम चोरी करने गये वह चरित'। (पं०) ।=जिसको हम चोरीसे देखने गये वह श्रीरामजन्म-चरित। अथवा, महीनेभरका एक दिन हो जाना और देवताओंका मनुजरूपसे उत्सव

देखना इत्यादि शुभ चरित। (वै०)।] जो चरित वे किसीको न जनाना चाहें उसे कोई जान नहीं सकता। **'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोइ', 'रथ समेत रबि थाकेउ०····'।' 'यह रहस्य काहू नहिं जाना'** और **'मनुजरूप जानै नहिं कोई'**—ये सब चरित किसीको न जनाया क्योंकि जाननेसे ऐश्वर्य खुल जाता। शिवजी और भुशुण्डिजी इत्यादि ऐश्वर्यके ज्ञाता हैं। इन्हींको प्रभुने जनाया है। जिस चरितमें सूर्य, शिव और भुशुण्डिजी मग्न हुए, अपनेको भूल गये—उसका जानना और उस सुखका होना यह श्रीरामकृपासे है। (ख) **'जान पै सोई'** का भाव जिसे प्राप्त हुआ वही जानता है और केवल जानता ही भर है, कह नहीं सकता; यथा—**'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।'** [(ग) **'कृपा राम कै जापर होई'**—भाव कि रहस्यका जानना केवल श्रीरामकृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं है। पुनः भाव कि अन्य पदार्थ अन्य साधनोंसे मिल सकते हैं पर यह नहीं मिल सकता। (रा० प्र०)]

२ **'तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा····'** इति। (क) अर्थात् देवता भिखारी बनकर आये,—**'राम निछावर लेन हित देव हठि होत भिखारी।** गी० १। ६।' गन्धर्व गायक बनकर आये, वेद वंदीरूपसे आये। इत्यादि। (ख) **'दीन्ह भूप····'**—भाव कि रामजन्ममें दान वर्णन किया; यथा—**'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।** १९३।' इत्यादि। अब भरतादिक तीनों भाइयोंके जन्ममें दान कहते हैं कि **'दीन्ह भूप जा कहँ जोइ भावा'**। [**'दीन्ह भूप'** से यह भी जनाया कि राजाने देवताओंको जान लिया। यथा—**'भूमिदेव देव देखि कै नरदेव सुखारी।'** इसीसे **'बोलि सचिव सेवक सखा पटधारि भंडारी'** कहा कि **'देहु जाहि जोइ चाहिए सनमानि सँभारी।····'** गी० १। ६। ११-१२।' पं० रामकुमारजीने जो लिखा है कि यह भरतादिके जन्मका दान है वह इससे कि याचकोंने 'चारों पुत्रोंके चिरजीवी होनेका आशीर्वाद दिया है।'] (ग) **'गज रथ तुरग····'** इति। ऊपर जो कहा कि 'जोइ भावा' उसीका अर्थ यहाँ स्पष्ट करते हैं। गज और तुरंगके बीचमें रथ कहकर जनाया कि गज-रथ दिये और तुरंगरथ दिये। हाथी या घोड़े जुते हुए रथ दिये (एवं हाथी और घोड़े भी दिये)। इसी तरह गौको हेम और हीराके बीचमें देकर जनाया कि हेम और हीरा तो दिया ही और जो गौएँ दीं वे हेम और हीरासे अलंकृत थीं। यथा—**'सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही॥** ३३१। ३॥' गोदानका यही विधान है, न कि जैसा आजकल कि ।~) वा १) में गोदान कराया जाता है। (घ) **'नाना बिधि चीरा'** अर्थात् सूती, ऊनी, रेशमी, कौषेय इत्यादि बहुमूल्य कपड़े।

वे० भू० जीका मत है कि 'श्रीरामजीका जातकर्म संस्कार आँगनमें हुआ। तत्पश्चात् राजपुत्र सूतिकागृहमें भेजा गया। तदुपरान्त नालोच्छेदन हुआ और तभीसे जननाशौच लग गया। इसी कारण दूसरे और तीसरे दिन महारानी श्रीकैकेयी और श्रीसुमित्राजीके पुत्र होनेपर नान्दीमुखश्राद्ध, जातकर्म एवं दान-मान आदि नहीं हो सकते थे और शास्त्र-विरुद्ध दान उस धर्मयुगमें लेता ही कौन! श्रीरामजीकी बरही हो जानेपर उसी दिन अन्य तीनों राजकुमारोंका भी सूतक निवृत्त हो गया। यथा—**'जनने जननं चेत्स्यान्मरणे मरणं तथा। पूर्वशेषेण शुद्धिः स्यादुत्तराशौचवर्जितम्॥'** (माधवीये तथा वैष्णवधर्मसंहितायाम्। सूतकके कारण बरहीके पूर्व भाइयोंकी निछावरें लोग न पा सके थे। इसीसे आज बरहीके उपलक्ष्यमें **'तेहि अवसर···भावा।'**

दासकी समझमें **'तेहि अवसर'** उसी दिन नवमीको सूर्यके चलनेपर तीनों भाइयोंका जातकर्म संस्कार समाप्त हुआ। उसी समय यह दान दिया गया। दोहा १९३ में शास्त्रीय प्रमाण लिखे जा चुके हैं जिनसे सिद्ध होता है कि दूसरे पुत्रके जन्मपर पहलेका जननाशौच बाधक नहीं होता। जातकर्म संस्कार किया जाना विधि है (यदि दूसरा पुत्र सूतकमें पैदा हो तो भी) और दान उसका एक अङ्ग है। और दासकी समझमें तो मानसकल्पमें तो चारों भाई एक ही दिन हुए। इस दशामें तो दिनभर दान तो नालच्छेदनके पश्चात् भी हो सकता है। दोहा १९३ में देखिये।

दोहा—मन संतोषे सबन्हि के जहँ तहँ देहिं असीस।
सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदास के ईस॥ १९६॥

अर्थ—सबके मनमें सन्तोष है। जो जहाँ है वहींसे आशीर्वाद दे रहा है 'तुलसिदासके ईश (स्वामी) सब (चारों) पुत्र बहुत काल जीवें (दीर्घायु हों, चिरजीवी हों)'॥ १९६॥

टिप्पणी—१ (क) **'मन संतोषे'** क्योंकि सबने मनभावता दान पाया है, नहीं तो मन कभी नहीं भरता चाहे घर

भले ही भर जाय। (ख) 'जहँ तहँ' अर्थात् साक्षात् (प्रत्यक्ष) में और परोक्षमें। (तथा जहँ तहँ=जहाँ तहाँ=जो जहाँ है वहीं)। (ग) 'देहिं असीस'। क्या आसिष देते हैं यह उत्तरार्द्धमें ग्रन्थकार स्वयं लिख रहे हैं—'सकल तनय चिरजीवहु' (घ) 'सकल तनय चिरजीवहु' से सूचित हुआ कि सब भाई एक ही समयमें जनमे हैं; यथा—'तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भए', 'जनमें एक संग सब भाई',। इसीसे धन पाकर सब भाइयोंको आशीर्वाद दे रहे हैं। [(ग) गीतावलीमें आशीर्वाद इस प्रकार है,—'असही दुसही मरहु मनहि मन बैरिन्ह बढ़हु बिषाद। नृप सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद ॥ गी० १। २। १७ ॥' पर यह बधावे लिये हुए स्त्रियोंके आशीर्वाद हैं।]

नोट—१ ☞ 'तुलसिदास के ईस' इति। यह कविकी उक्ति है। उनका हृदय इस समय परमानन्दमें मग्न है। वे इस महोत्सवके अवसरपर पुरवासियों एवं सभी दान लेनेवालोंके मुखोंसे अपना भविष्य दासत्व निश्चय करा लेना चाहते हैं, यह उनकी चतुरता है। कविका अपना भविष्य दूसरोंसे कहलाना 'भाविक' अलङ्कार है। 'तुलसिदास के ईस' यह वचन सबके मुखोंसे कहलाकर वे श्रीरामजीमें अपना स्वामी-सेवक भाव पुष्ट करते हैं। पुनः, यह भी कह सकते हैं कि कवि इस महोत्सवको लिखते-लिखते परमानन्दमें स्वयं ऐसे मग्न हो गये कि आप भी मनसे पुरवासियों और याचकोंमें जा मिले हैं, मंगन बनकर मँगतोंके साथ स्वयं भी आशीर्वाद देने लगे कि 'हे हमारे स्वामी! आप चिरजीवी हों! पंजाबीजीका मत है कि याचकोंके साथ अपना नाम भी देनेका भाव यह है कि आपने औरोंको 'जो जेहिं भावा' अर्थात् उसका मनोवांछित पदार्थ दिया, मुझको भक्ति दीजिये; चारों भाई मुझे अनन्यदास बना लें।

पं० रामचरणमिश्रजीका मत है कि 'इस महान् उत्सवमें सुर-नर-नाग आदि सम्मिलित होकर आनन्दमें मग्न हैं। इस रसको वर्णन करते-करते कविका भी चिच्छक्तिरूप आत्मा वहीं उपस्थित हुआ। और अन्य लोगोंकी दृष्टि बालभावहीकी है परंच कविपर भाव सेव्य-सेवकका आरूढ़ है। अतः कवि स्वामिभाव-दृष्टिसे ईश्वरता स्मरण करते हुए यहाँ कहते हैं—'तुलसिदास के ईस!' अथवा कविने सोचा कि यह वात्सल्यरसका प्रकरण है, ऐसा न हो कि कहते-कहते मेरा मन भी वात्सल्यरसमें डूबकर ईश्वरता भूल जाय। अतः अपने मनको सावधान करते हुए ईश्वरताको स्मरण करते हैं।'

२ 'सकल तनय···' इति। यहाँ राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न नाम न कहकर 'सकल तनय चिरजीवहु' कहा क्योंकि अभी जन्म हुआ है, नामकरण अभी नहीं हुआ है, तब नाम कैसे लिखें?

३ इस दोहेसे जन्मोत्सवकी इति लगायी।

नोट—४ श्रीरघुनाथजीके जन्ममहोत्सवानन्दको मानस प्रकरणमें 'भँवर तरंग···' कहा गया है। यथा—'रघुवर जन्म अनंद बधाई। भँवर तरंग मनोहरताई ॥ ४७। ८ ॥' वह यहाँ चरितार्थ देखिये। यथा—'आनँद मगन सकल पुरबासी', 'दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहु ब्रह्मानंद समाना ॥ परम प्रेम मन पुलकसरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा', 'परमानंद पूरि मन राजा', 'ब्रह्मानंद मगन सब लोई', कौतुक देखि पतंग भुलाना', 'काक भुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ ॥ परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥' भँवरमें मनुष्य डूबता है, वैसे ही सब आनन्द में मग्न (डूबे) हैं।

कछुक दिवस बीते येहिं भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती ॥ १ ॥
नाम-करन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी ॥ २ ॥
करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा ॥ ३ ॥

अर्थ—कुछ दिन इस प्रकार बीते। दिन-रात बीतते जान नहीं पड़े ॥ १ ॥ नामकरणका अवसर जानकर राजाने ज्ञानी मुनि श्रीवसिष्ठजीको बुला भेजा ॥ २ ॥ उनकी पूजा करके राजा यों बोले—'हे मुनि! जो नाम आपने विचार रक्खे हैं सो धरिये ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कछुक दिवस बीते···' इस अर्धालीमें छठीका वर्णन लक्षित कराया गया। छठीमें रातको जागरण होता है। गीतावलीमें तीन रात छठीका जागरण और उत्सव कहा गया है। सुखके दिन पलके समान बीत जाते हैं। 'रात दिन जाते न जान पड़े' यह कहकर जनाया कि ये कुछ दिन सुखमें बीते। (ख) 'कछुक' अर्थात् दस ग्यारह। क्योंकि नामकरण पाँचवाँ संस्कार है जो जन्मसे ग्यारहवें या बारहवें दिन होता है। यथा—'एकादशे द्वादशकेऽपि श्रेयः।

[ग्यारहवाँ दिन इस संस्कारके लिये बहुत अच्छा है, न हो सके तब बारहवें दिन होना चाहिये। गोभिल गृह्यसूत्रमें ऐसी ही व्यवस्था है। स्मृतियोंमें वर्णानुसार व्यवस्था मिलती है। जैसे क्षत्रियके लिये १३ वें, वैश्यके लिये १६ वें और शूद्रके लिये २२ वें दिन।] (ग) **'नामकरन कर अवसरजानी'** इति। 'जब दिन-रात जाते न जाने तो नामकरणका अवसर कैसे जाना ?' इसका उत्तर यह है कि 'दिनका होना, रातका होना तो जाना गया, उनका बीत जाना न जान पड़ा। अर्थात् सुखके दिन थे, इससे जल्दी बीत गये। प्रथम तो एक मासका दिन हो गया था, जो बीतता ही न था, जब प्रमाणके दिन हुए तब बीतने लगे। सो कुछ दिन इस भाँतिसे बीते कि रात न होती थी सो होने लगी। अब रात भी होती है। पुनः भाव कि प्रथम महीने भरका दिन हुआ सो न जान पड़ा और अब रात और दिनका जाना नहीं जान पड़ा—ऐसा सुख हुआ।

२ (क) 'अवसरु जानी' कहकर जनाया कि राजा पण्डित हैं, इसीसे उन्होंने समय जानकर गुरुको बुलवा भेजा है। सब संस्कार गुरुहीने किये हैं। यथा—**'गुरु बसिष्ठ कहँ गएउ हँकारा'** (जन्मपर), 'भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी' (यहाँ), **'चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। २०३। ३।'**, 'दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता। २०४। ३।', **'गुरु गृह पढ़न गए रघुराई। २०४। ४।'** सब कार्योंमें 'गुरु' प्रधान हैं। (ख) **'मुनि ज्ञानी'** इति। यहाँ गुरुको 'मुनि ज्ञानी' कहा; क्योंकि नामकरण संस्कारमें बड़े ज्ञानका काम है, अन्य सब संस्कारोंसे विशेष ज्ञानका प्रयोजन नहीं है। आगे **'इनके नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥'** इन वचनोंसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है। [कर्णवेध, चूड़ाकरण, अन्नप्राशन इत्यादिमें विशेष विचारका काम नहीं पड़ता, केवल मन्त्रोच्चारण करना पड़ता है। पुनः, 'ज्ञानी' विशेषण दिया क्योंकि ये इनके यथार्थ स्वरूपके ज्ञाता हैं, वैसा ही नाम भी रक्खेंगे।]

नोट—१ नामकरण जिस विधिसे हुआ उसका कुछ उल्लेख गीतावलीमें है; यथा—**'''जल दल फल मनिमूलिका कुलि काज लिखाए॥ १॥ गनप गौरि हरि पूजिकै गोबृंद दुहाए। घर-घर मुद मंगल महा गुन गान सुहाए॥'''॥ २॥ गृह आँगन चौहट गली बाजार बनाए। कलस चँवर तोमर ध्वजा सुबितान तनाए॥ चित्र चारु चौके रचीं लिखि नाम जनाए। भरि-भरि सरबर बापिका अरगजा सनाए॥ ३॥''' बरे बिप्र चहु बेदके रबिकुल गरु ज्ञानी। आपु बसिष्ठ अथर्वनी महिमा जग जानी॥ लोक रीति बिधि देवकी करि कह्यो सुबानी। सिसु समेत बेगि बोलिय कौसिल्या रानी॥ ५॥ सुनत सुआसिनिं लै चलीं गावत बड़भागी'''॥ ६॥ चारु चौक बैठत भईं भूपभामिनी सोहैं। गोद मोद मूरति लिये सुकृतीजन जोहैं॥'''७॥ लगे पढ़न रच्छा ऋचा ऋषिराज बिराजे।'**—**'मुनि ज्ञानी'** का भाव इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है।

गोभिलगृह्यसूत्र और नामकरण-पद्धतिमें विधानमें भेद है। पहलेमें यह विधान है कि बच्चेको वस्त्राभूषण पहनाकर चौकपर बैठकर माता उसे वामभागमें बैठे हुए पिताकी गोदमें दे। फिर उसकी पीठकी ओरसे परिक्रमा करती हुई उसके सामने आ खड़ी हो। तब पति वेदमन्त्रका पाठ करके बच्चेको फिर माताकी गोदमें दे दे। फिर होम आदि करके नाम रक्खा जाय। दूसरेमें यह विधान है कि पिता गौरी, षोडश-मातृका आदिका पूजन और वृद्धिश्राद्ध करके अपनी पत्नीको वामभागमें बैठावें, फिर पत्थरकी पटरीपर दो रेखाएँ खींचे, फिर दीपक जलाकर पुत्रके कानके पास 'अमुक०' इत्यादि कहकर नाम-करण करें।' (श० सा०)

२ (क) **'करि पूजा'''''** इति। पूजा करके तब नाम धरनेको कहा जिसमें पुत्रोंका मङ्गल-कल्याण हो। (त्रिपाठीजी 'पूजा' से 'नाम-करणकी अंगभूत पूजा तथा मुनिकी पूजा' ऐसा अर्थ करते हैं) (ख) **'मुनि गुनि राखा'** इति। भाव यह कि वे ज्ञानी हैं, जानते हैं कि अमुक दिन नामकरण होगा, इसलिये पहलेसे ही विचार कर रक्खा होगा विचारवाले काम तुरत-के-तुरत प्रायः ठीक नहीं होते। इसीसे 'मुनि' विशेषण दिया, अर्थात् आप मननशील हैं, नामकरणमें मननका काम है सो आप मनन कर ही चुके होंगे। धरिये=रखिये। नाम धरना-नामकरण करना। नामकरणमें नाम कहा नहीं जाता वरञ्च धरा वा रक्खा जाता है, इसीसे 'कहिअ नाम' न कहा। भगवत्-नामकी प्राप्ति गुरुके द्वारा चाहिये। (पं० रामकुमारजी)।

१ नामकरण वैशाख कृ० ५ को अनुराधा नक्षत्रमें हुआ। (वै०)

इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥ ४॥
जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ ५॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥ ६॥

शब्दार्थ—सीकर (शीकर)=जलके बूँदका एक कणमात्र। सुपासी=सुखी करनेवाले।

अर्थ—(श्रीवसिष्ठजी बोले—) हे राजन्! इनके नाम अनेक और अनुपम हैं। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहूँगा ॥ ४ ॥ जो आनन्दके समुद्र और सुखकी राशि हैं, जिस (आनन्दसिन्धु) के एक कणसे त्रैलोक्य सुखी होता है ॥ ५ ॥ वह सुखधाम है उनका राम ऐसा नाम है जो समस्त लोकोंको विश्राम देनेवाला है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ **'इन्ह के नाम अनेक'''** इति। (क) 'इन्हके' से सूचित हुआ कि रानियाँ चारों पुत्रोंको लेकर चौकमें समीप ही बैठी हैं, इसीसे मुनि अंगुल्यानिर्देश करके कहते हैं कि इनके नाम अनेक हैं। (ख) 'अनूप' कहकर नामकी सुन्दरता दर्शित की। और, 'अनेक' कहकर जनाया कि आप इनका एक नाम धरनेको कहते हैं पर इनके नाम अनन्त हैं, और अनूप हैं, अर्थात् अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर सब नाम हैं, वैसे नाम क्या कोई धर सकता है? जैसे इनके अनेक सुन्दर नाम हैं, वैसे हम कहनेको समर्थ नहीं हैं, इसीसे कहते हैं कि **'मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा'** अर्थात् अपनी बुद्धि ही भर हम कहेंगे।

नोट—१ **'जो आनंदसिंधु सुखरासी।'''** इति। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'नामीमें तीन विशेषण दिये—आनन्दसिन्धु, सुखराशि और सुखधाम। नाममें तीन मात्राएँ हैं जो तीनों सुखरूप हैं। **'सो सुखधाम राम अस नामा'''॥'** यह नामका अर्थ है। नामीका धर्म है **'सीकर ते त्रैलोक सुपासी।'** और, नामका धर्म है **'अखिल लोक दायक बिश्रामा।'** यथा—**'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म यस्य मात्रामुपादायान्यानि भूतानि उपजीवन्ति इति श्रुतिः'**, **'विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानाम्'** इति हनुमन्नाटके।' पुनः **'सो सुखधाम राम अस नामा।''''** का दूसरा अर्थ कि 'वह सुखका धाम राम ऐसा नाम है' अर्थात् जिसको प्रथम आनन्दसिन्धु सुखराशि कह आये वही ब्रह्म रामनाम है, नामी सुखराशि है, नाम सुखधाम है। तात्पर्य कि नाम-नामी दोनों एक ही वस्तु हैं। ब्रह्मके दो विशेषण आनन्दसिंधु और सुखराशि कहनेका भाव यह है कि रामनाममें दो अक्षर हैं। इसीसे ब्रह्मके दो विशेषण दिये। और यह जनाया कि वही ब्रह्म राम-नाम है। रामजी ब्रह्म हैं; यथा—**'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा॥'** (पं० रामकुमार)।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'आनन्दसिंधु, सुखराशि और सुखधाम तीनों लगभग एक ही अर्थ देते हैं, तब यह तीनों क्यों लिखे?' और स्वयं उत्तर देते हैं कि ज्ञान, कर्म और उपासनाके विचारसे तीन विशेषण दिये गये। ज्ञानीको आनन्दकी पिपासा (प्यास) रहती है, उसके लिये आनन्दसिंधु कहा। कर्मकाण्डी यज्ञादिक करके स्वर्गादिका सुख चाहते हैं उनके लिये सुखराशि कहा। और, उपासक सुखमय अविचल धाम चाहते हैं, उनके लिये सुखधाम कहा। यथा—**'मुख्य रुचि होति बसिबेकी पुर रावरे।'** वि० २१०।'

मा० म० कार लिखते हैं कि 'यहाँ समष्टि और व्यष्टि दोनों शोभित हैं। आनन्दसिंधुके सुखकी राशि जो समष्टि ब्रह्म और जिस सुखराशिके सीकरांशसे त्रैलोक्य सुखी होता है यह व्यष्टिका स्वरूप है। इन दोनों (सुखों) का मुख्यधाम (श्रीरामचन्द्रजी) जो सम्पूर्ण लोकोंका विश्रामदायक है, ऐसे पुत्रका नाम 'राम' होगा। वा, 'आनन्दसिंधु' यह रूपपरत्वकी अपार महिमा है और **'सो सुख धाम'** यह नामकी महिमा है। अर्थात् परस्वरूप आनन्दसिंधु और सुखराशि है। पुनः, उसका अखिललोकको सुख देनेवाला राम ऐसा नाम है।'

बाबा हरिदासजीका मत है कि 'रामोपासकोंके लिये रामनाम सुखसिंधु है, ज्ञानियोंको सुखराशि और कर्मकाण्डियोंको सुखधाम है। अथवा, रकार सुखसिन्धु है, अकार सुखराशि है, मकार सुखधाम है, इसीसे यहाँ तीन सुखवाचक विशेषण दिये।'

२ (क) मुनि ज्ञानी हैं। उन्होंने ऐश्वर्यसूचक नाम रक्खे। 'आनन्दसिंधु' अर्थात् जैसे सब जलका अधिष्ठान समुद्र वैसे ही आनन्दके अधिष्ठान ये हैं, यथा—'आनँदहू के आनँददाता।' मिलान कीजिये गीतावलीके **'सुमको सुम मोद मोदको 'रामनाम' सुनायो। आलबाल कल कौसिला दल बरन सोहायो॥ कंद सकल आनन्दको जनु अंकुर आयो॥** इस पद ६ से। (ख) **'सीकर तें त्रैलोक सुपासी'** इति। यथा—'जो सुखसिंधु सकृत सीकरतें सिव बिरंचि प्रभुताई। गी० १। १।' अर्थात् संसारमें ब्रह्म और शिवजीके अमित वरदानसे जो प्रभुता देखी-सुनी जाती है वह उस सुखसिन्धुका एक कणमात्र है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि सींकको जलमें डुबाकर पृथ्वीपर पटकनेसे जो उड़े वह कण वा सीकर है।

३ (क) शुकदेवलालजी 'सीकर तें त्रैलोक सुपासी' का अर्थ यों करते हैं कि 'सीकरसे त्रैलोक्यपर्य्यन्तका प्रकाशक है। अर्थात् सबमें रम रहा है और जिसमें सब रम रहे हैं।' (ख) **'इन्हके नाम अनेक अनूपा'** कहकर प्रथम अपनी

अयोग्यता ठहरायी कि इनके नाम वर्णन नहीं किये जा सकते और फिर कहा कि '**मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा**'। अतः यह 'निषेधापेक्ष अलंकार' है। (वीर)

वैजनाथजी लिखते हैं कि चार प्रकारके नाम होते हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। यहाँ क्रिया नाम कहा। अर्थात् 'दयादृष्टि (से) सबमें रमत (रमते) हैं। अथवा शोभामय अपने रूपमें सबको रमाते हैं। इससे 'राम' कहा। [यह भाव अ० रा० के '**यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्ययाज्ञानविप्लवे। तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि॥ १। ३। ४०।**' इस श्लोकमें है। अर्थात् विद्या (विज्ञान) के द्वारा अज्ञानके नष्ट हो जानेपर मुनि लोग जिनमें रमण करते हैं अथवा जो अपनी सुन्दरतासे भक्तोंके चित्तोंको रमाते अर्थात् आनन्दमें मग्न करते हैं, उनका गुरुने 'राम' नाम रक्खा।] इनका जन्म पुनर्वसुके चौथे चरणमें हुआ; इससे इनके राशिका नाम हिरण्यगर्भ अथवा हिरण्यनाभ होना चाहिये।

४ त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'आनन्द सिंधुसे परिपूर्णानन्द', आनन्दमात्रका मूल निधान तथा देशतः कालतः वस्तुतः अपरिच्छिन्न कहा। 'आनन्द' कहनेसे ही सत् चित्का आपसे आप ही ग्रहण हो जाता है। सुखराशिसे व्यावहारिक आनन्दका मूल स्रोत कहा। '**एष ह्येवानन्दयतीति श्रुतेः**।' अतः स्वरूपसे सिन्धु, चरित करनेमें राशि। यथा—'**नित नव चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी।**' अखिल लोक विश्रामदायक होनेसे 'सुखधाम' कहा। सुखसिंधु, सुखराशि और सुखधाम कहनेसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण द्योतित किया। (यथा— '**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जीवन्ति आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति**')।

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥ ७॥
जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥ ८॥

दो०—लच्छनधाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥ १९७॥

शब्दार्थ—भरन (भरण)=पालन। पोषन (पोषण)=पालन करके वृद्धि और पुष्टि करना।

अर्थ—जो संसारभरका भरण-पोषण करता है उसका 'भरत' ऐसा नाम होगा॥ ७॥ जिसके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है उसका नाम शत्रुघ्न वेदोंमें प्रसिद्ध है॥ ८॥ जो सुलक्षणोंके धाम, श्रीरामजीके प्रिय और सारे जगत्के आधार-भूत हैं गुरु वसिष्ठजीने उनका लक्ष्मण (ऐसा) श्रेष्ठ नाम रक्खा॥ १९७॥

टिप्पणी—१ (क) '**बिस्व भरन पोषन कर जोई**' से जनाया कि भरतजी विष्णुके अवतार हैं। भरण-पोषण करना विष्णु भगवान्का धर्म है। (ख) तीन कल्पोंमें विष्णुका अवतार है। विष्णु-अवतार होनेपर नामकरण इस प्रकार किया कि 'जो आनन्दसिन्धु सुखराशि सुखधाम हैं अर्थात् विष्णु, उनका राम ऐसा नाम है और विश्वभरण पोषणकर्ता जो विष्णु हैं उनके 'कर' में जो है अर्थात् शंख, उसका नाम भरत है। जिसके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है अर्थात् चक्र, उसका शत्रुघ्न नाम है। सकल जगत्का आधार जो शेषजी हैं उनका लक्ष्मण नाम है।' और मनुके कल्पमें ऐसा नाम धरा कि जो आनन्दसिंधु सुखराशि सुखधाम अर्थात् ब्रह्म है, उनका 'राम' नाम है। विश्वभरणपोषणकर्ता विष्णुका नाम 'भरत' है। जिसके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है अर्थात् शिव उनका 'शत्रुघ्न' नाम है और सकल जगत्के आधार जो ब्रह्माजी हैं उनका नाम 'लक्ष्मण' है। अर्थात् तीनों भाई त्रिदेवके अवतार हैं। प्रमाण, यथा '**संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥**' १४४। ६।' जिनके अंशसे उत्पन्न हैं वे ही कहते हैं कि '**अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥ १५१। २।**' [वे० भू० रा० कु० का मत है कि ये तीन अंश त्रिदेवावतार नहीं हैं। त्रिदेव तो ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न होते हैं न कि अंश हैं। '**उपजहिं जासु अंस तें**' शब्द हैं। इस विषयपर विस्तृत लेख दोहा १८७ (२) '**अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं**...' में है।]

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि—(१) 'भरत' नाम भी क्रिया-नाम है। कैकेयीजी क्रिया-शक्ति हैं, उनका फल धर्मरूप भरतजी हैं। इनका जन्म पुष्यनक्षत्रके दूसरे चरणमें हुआ। अतः इनके राशिका नाम '**हेमनिधि**' होना चाहिये। (२) शत्रुघ्न भी क्रियानाम है। इनका जन्म आश्लेषाके प्रथम चरणमें हुआ; इससे 'डील तेजनिधि' राशिका नाम होना चाहिये। (३) लक्ष्मणजी यमज हैं। इनके राशिका नाम 'डील धराधर' होना चाहिये।

२ चारों भाइयोंका अवतार जगत्‌हितार्थ हुआ, यह बात उनके विशेषणोंसे सूचित कर दी गयी है। 'उदार' कहा क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं, जीवोंको कल्याण मार्गपर चलाते हैं, भक्ति प्रदान करते हैं। कलियुगमें श्रीरामानुजाचार्य आपहीके अवतार हैं।' (बाबा हरिदासजी)

३ अ० रा० में नामकरणका मिलता हुआ श्लोक यह है—'भरणाद् भरतो नाम लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्। शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेवं गुरुरभाषत ॥ ४१ ॥' मानसमें 'बिस्व भरन पोषन कर', 'लच्छनधाम' और 'रिपुनासा' की जगह उसके पर्याय 'भरणाद्', 'लक्षणान्वितम्' और 'शत्रुहन्तारं' शब्द श्लोकमें हैं।

टिप्पणी—२ 'विश्वके आनन्ददाता राम, विश्वके भरणपोषणकर्त्ता भरत, विश्वके शत्रुनाशकर्ता शत्रुघ्न और विश्वके धारणकर्ता लक्ष्मणजी हैं। अर्थात् विश्वके उपकारार्थ चतुर्व्यूह अवतार है। ब्रह्मके स्वरूपका राम नाम है और भाइयोंके गौण नाम हैं। ब्रह्ममें गुण नहीं हैं, इसीसे श्रीरामजीका गौण नाम नहीं धरा।'

प० प० प्र०—'लच्छन' शब्द शुद्ध संस्कृत भाषाका है (अमर व्याख्या-सुधा देखिये)। श्रीलक्ष्मणजीको ही रामप्रिय, सकल जगत आधार, और उदार क्यों कहा ? मानसमें श्रीभरतजी ही श्रीरामजीको सबसे अधिक प्रिय हैं और श्रीरामजी भरतजीको ?—यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ये सब वचन वेदतत्त्व विचारसे ही कहे गये हैं, अतः इस शङ्काका समाधान भी आध्यात्मिक विचारसे ही करना आवश्यक है।

विश्वात्मा, विश्व-विभु लक्ष्मण है, वह जाग्रदवस्थाका अभिमानी है। कोई भी जीव जाग्रत् अवस्थासे ही तुरीया-समाधि-अवस्थामें वेदतत्त्वसे एकरूप हो सकता है, वेदतत्त्वको मिलता है। तैजस और प्राज्ञको, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें, अपनी-अपनी अवस्थासे तुरीयमें प्रवेश करना असम्भव है। सुषुप्ति तो अज्ञानावृत अवस्था है और स्वप्न अज्ञान और विपरीत-ज्ञान-युक्त होता है। जाग्रत्‌का अभिमानी अपनी अवस्थाका त्याग करके तुरीयामें जा सकता है, स्वप्नाभिमानी और सुषुप्त्याभिमानी ऐसा नहीं कर सकता। विशेष ३२५ छन्दमें देखिये।

'सकल जगत आधार'—जब ब्रह्मावतार राम होते हैं। तब शेषशायी नारायण लक्ष्मण होते हैं। श्रीमन्नारायणसे ही ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई, अतः आधिदैविक विचारसे 'सकल जगत-आधार' उचित ही है। अध्यात्मदृष्टिसे शेषका अर्थ है उच्छिष्ट ब्रह्म। ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके अनन्तर जो मायायुक्त ब्रह्म शेष रहा वही उच्छिष्ट ब्रह्म है। अथर्ववेद ११। ७। १-२८ देखियेगा। इस उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर ही ब्रह्माण्ड टिक रहा है। जगत्‌का देह अर्थ करनेपर भी यही बात सिद्ध होती है। देहमें भी शेषजी अंशरूपसे रहते हैं। कन्दके ऊपर और मूलाधारके नीचे बीचमें उनका स्थान है। वहाँ कुण्डलाकार नाड़ीमें इनका निवास होता है। पिण्डकी रचना करके जो शेष रहता है वह पिण्डका आधार होता है। पिण्डमें इस शेषजीको कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। जगत्‌का देह अर्थमें प्रयोग भागवतब्रह्मस्तुतिमें मिलता है।

'उदार'—जो सर्वस्वका त्याग करता है, 'अपनी' कहनेके लिये कुछ भी नहीं रखता, अपना व्यक्तित्व भी त्याग देता है, वही सच्चा उदार है। जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका त्याग करेगा वही उदार है। उर्मिला, श्रुतिकीर्ति और माण्डवी तीन अवस्थाएँ हैं। लक्ष्मणजी वनगमन समय उर्मिलाजीसे मिलने भी न गये, १२ वर्षतक आहार और निद्राका त्यागकर श्रीरामसेवामें निरत रहे। अपने सम्बन्धमें तो उन्होंने कभी स्वप्नमें भी कुछ विचारा नहीं, श्रीरामजीको सुख मिले यही अपना कर्तव्य समझते थे। वे केवल रामसेवामूर्ति हैं। श्रीरामलक्ष्मणजीका समान विशेषणोंसे कविने 'कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ·····' में वर्णन किया है और उनको भक्तिप्रद कहा है।

नोट—४ 'लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजीके नामकरणमें क्रमभंग हुआ है' अर्थात् लक्ष्मणजी भरतजीसे छोटे और शत्रुघ्नजीसे बड़े हैं; उनका नामकरण शत्रुघ्नजीके पीछे कैसे हुआ ? यह शंका यहाँ उठाकर लोगोंने उसका समाधान कई प्रकारसे किया है—

(१) मनुवरदान तथा आकाशवाणी देखिये, ब्रह्म अपने अंशोंसहित अवतीर्ण हुआ है। गुरुजीने चारों पुत्रोंको 'वेदतत्त्व' कहा है। प्रणव (ओंकार) वेदतत्त्व है। प्रणवकी मात्राओंके सम्बन्धमें वेदोंमें निम्न वाक्य हैं—

माण्डूक्योपनिषद्‌में बताया गया है कि प्रणवकी तीन मात्राएँ वा पाद अकार, उकार और मकार हैं। जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्वके कारण प्रणवकी पहली मात्रा अकार है। यथा—'जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः

प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति'''। माण्डू० ९ ।' स्वप्न जिसका स्थान है वह तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्वके कारण ओंकारकी द्वितीय मात्रा उकार है, यथा—'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति''''' माण्डू० १० ।' सुषुप्तिस्थानवाला प्राज्ञ मान और लयके कारण तीसरी मात्रा मकार है; यथा—'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति''''! माण्डू० ११ ।' और मात्रारहित ओंकार तुरीय है, यथा—'अमात्रश्चतुर्थो'''। १२ ।'

श्रीरामोत्तरतापिनी उपनिषद्में बताया है कि प्रणवमें षडक्षर हैं। प्रथम अक्षर अकार है, दूसरा उकार, तीसरा मकार, चौथा अर्धमात्रा, पाँचवाँ अनुस्वार (विन्दु) और छठा अक्षर नाद है। यथा—'अकारः प्रथमाक्षरो भवति। उकारो द्वितीयाक्षरो भवति ॥ मकारस्तृतीयाक्षरो भवति। अर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति ॥ विन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति। नादः षष्ठाक्षरो भवति '' ॥' फिर यह भी बताया है कि श्रीसुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणजी अकाराक्षरसे प्रादुर्भूत हुए हैं। ये (जाग्रत्के अभिमानी) 'विश्व' के रूपमें भावना करने योग्य हैं। श्रीशत्रुघ्नजीका आविर्भाव प्रणवके 'उकार' अक्षरसे हुआ है। ये (स्वप्नके अभिमानी) 'तैजस' रूप हैं। श्रीभरतजी (सुषुप्तिके अभिमानी) 'प्राज्ञ' रूप हैं। ये प्रणवके 'मकार' अक्षरसे प्रकट हुए हैं। श्रीरामजी प्रणवकी अर्धमात्रारूप हैं। (ये ही तुरीय पुरुषोत्तम हैं)। ब्रह्मानन्द ही इनका एकमात्र विग्रह है। यथा—'अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥ प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः। अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥'

उपर्युक्त श्रुतियोंसे स्पष्ट है कि वेदतत्त्व प्रणवकी मात्राएँ, अक्षर वा पाद अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके वाचक वा रूप हैं। श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न, श्रीभरत और श्रीरामजी क्रमसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयरूप हैं। और 'अ', 'उ', 'म' से क्रमशः श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न, श्रीभरतका प्रादुर्भाव हुआ है तथा श्रीरामजी अर्धमात्रारूप हैं—

श्रुतियोंमें प्रणवकी व्याख्या की है, इसीसे उनमें अकारादि क्रम लिया है क्योंकि प्रणवकी मात्राएँ क्रमसे 'अ उ म अर्द्धमात्रा' हैं; और इसीसे उनमें उनके वाचक श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न, श्रीभरत और श्रीराम इस क्रमसे आये हैं।

यहाँ (मानसमें) नामकरणसंस्कारमें गुरु वसिष्ठजीने उपर्युक्त क्रमको उलट दिया है। (अर्थात् 'अ' 'उ' 'म' 'अर्द्धमात्रा' को उलटकर अर्द्धमात्रा, 'म', 'उ', 'अ' यह क्रम लिया); क्योंकि रामचरितमें श्रीरामजी मुख्य हैं। उन्होंने प्रथम तुरीयके पति ब्रह्म श्रीरामसे नामकरण प्रारम्भ किया। तो उनके पश्चात् सुषुप्तिके स्वामी प्राज्ञरूप (मकार) श्रीभरतजी, फिर स्वप्नके अभिमानी तैजसरूप (उकार) शत्रुघ्नजी और अन्तमें जाग्रत्के स्वामी विश्वरूप (अकार) श्रीलक्ष्मणजीके नाम क्रमसे आये।

गुरु वसिष्ठको नामकरणके प्रारम्भमें 'ज्ञानी' विशेषण दे आये हैं, यथा—'नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी ॥ १९७। २ ॥' वे ज्ञानी हैं, इसीसे तो उन्होंने वेदोंमें जैसा उत्पत्तिका क्रम है उसीके अनुसार नामकरण किया, केवल भेद इतना किया कि पूर्ण ब्रह्मसे प्रारम्भ किया, अंशसे नहीं।

(यही मत प्रायः पं० रामकुमारजी, रा० प्र०, मा० त० वि०, वै०, प० प० प्र० का है)।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सुषुप्तिके विभुका नाम भरत रखकर स्वप्नके विभुका नाम शत्रुघ्न रक्खा क्योंकि सुषुप्तिसे स्वप्न अलग नहीं किया जा सकता।

(२) अथवा, उत्पत्ति क्रमके अनुसार नामकरण किया गया। यमज पुत्रोंकी उत्पत्तिके विषयमें हमारे शास्त्रोंमें बताया है कि जब वीर्य द्विधा अर्थात् दो भाग होकर रजमें प्रवेश करता है तब दो गर्भ होते हैं। परंतु प्रसूति (अर्थात् जन्म) प्रवेशके विपरीत होती है। अर्थात् जिस भागका प्रवेश प्रथम होता है उसकी प्रसूति पीछे होती है और जिसका प्रवेश पीछे होता है उसकी प्रसूति पहले होती है। यथा—'यदा विशेद्द्विधाभूतं बीजं पुष्पं परिक्षरत्। द्वौ तदा भवतो गर्भौ सूतिर्वेशविपर्ययात् ॥' (इति पिण्डसिद्धिस्मरणात्। श्रीधरीटीका)। इसका उदाहरण भागवतमें मिलता है। कश्यपजीने जुड़वा दो पुत्रोंमेंसे जो अपनी देहसे प्रथम हुआ उसका नाम हिरण्यकशिपु रक्खा और दितिने जिसको प्रथम जन्म दिया उसका हिरण्याक्ष नाम रक्खा। यथा—'प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत। तं वै हिरण्यं कशिपुं विदुः प्रजा यस्तं हिरण्याक्षमसूतसाग्रजः ॥ भा० ३। १७। १८ ॥' 'हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य। १९।', 'जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ। हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः ॥ भा० ७। १। ३९ ॥' हिरण्याक्ष प्रथम पैदा हुआ फिर भी उसको आधानके

क्रमसे छोटा कहा गया। और हिरण्यकशिपुको जो पीछे उत्पन्न हुआ बड़ा कहा। इसी प्रकार यहाँ कौसल्याजीको दिये हुए चरुसे लक्ष्मणजी हुए हैं जिसका भक्षण प्रथम होनेसे उसका आधान भी प्रथम हुआ था। कैकेयीजीके दिये हुए चरुसे शत्रुघ्नजीका आधान पीछे हुआ। उपर्युक्त शास्त्रके नियमसे शत्रुघ्नजीकी उत्पत्ति प्रथम होनेपर भी आधानके क्रमसे वे छोटे माने गये और लक्ष्मणजी बड़े। अतः उत्पत्ति क्रमसे नामकरण होनेसे शत्रुघ्नजीका नामकरण प्रथम हुआ।

(३) रा० प्र० का मत है कि 'युग्म बालकमें जो पीछे होता है उसका गर्भाधान प्रथम होता है। अतः शत्रुघ्नजीका नामकरण प्रथम हुआ।' परंतु यदि इनके कथनानुसार शत्रुघ्नजीका आधान प्रथम हुआ है तो इसमें दो विरोध उत्पन्न होते हैं। एक तो कैकेयीजीके दिये हुए चरुका भक्षण प्रथम मानना पड़ेगा, दूसरे ऊपर (२) में दिये हुए शास्त्रके नियमानुसार उनको लक्ष्मणजीसे बड़ा मानना पड़ेगा जो मानसका मत नहीं है और बड़ा मानते हैं तब तो प्रथम नामकरणमें शंका ही नहीं हो सकती।

(४) पं० विश्वनाथमिश्रजी लिखते हैं कि 'हमारे विचारसे कौसल्या, कैकेयी और सुमित्राजी अपनी-अपनी गोदमें पुत्रोंको लिये बैठी थीं और वसिष्ठजी नामकरण कर रहे थे। पहले कौसल्याजी श्रीरामजीको लिये बैठी थीं; फिर कैकेयी और उनके पश्चात् सुमित्राजी थीं। मारे दुलारके सुमित्राजीने शत्रुघ्नको दाहिनी ओर ले रक्खा था और लक्ष्मणको बायीं ओर। छोटा होनेके कारण शत्रुघ्नको दाहिनी ओर रखना मातृत्वस्वभावसिद्ध बात है। हमारे विचारसे नामकरणमें भरतका नामकरण कर लेनेपर शत्रुघ्न पहले पड़े तो उनका नामकरण न कर लक्ष्मणका नामकरण करने लगना भी अनुचित होता। यही कारण था कि शत्रुघ्नका नामकरण पहले हुआ। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जो प्रथम उत्पन्न होगा उसका गर्भाधान भी प्रथम होगा। अतएव शत्रुघ्नको बड़ा कहनेसे इस शंकाका समाधान नहीं हो सकता।' (प० प० प्र० इससे सहमत हैं)।

(५) पंजाबीजी कहते हैं कि—(क) कविताके क्रमसे कदाचित् आगे-पीछे हुआ हो इससे इसमें दोष नहीं है। अथवा, (ख) श्रीरामजी सबके आदि हैं और लक्ष्मणजी संकर्षण हैं अर्थात् सर्वसृष्टिके आकर्षण करनेवाले हैं, इससे उन्हें पीछे कहा। अथवा, (ग) श्रीरामजी आदि हैं और लक्ष्मणजी अन्त, ये संपुटके समान हैं। भरत-शत्रुघ्नजी मध्यमें रत्नवत् हैं। अर्थात् जैसे सम्पुट रत्नकी रक्षा करता है वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मणजी श्रीभरत-शत्रुघ्नरूपी रत्नोंकी रक्षा वनके दुःखोंमें तथा कैकेयीके कलङ्कोंसे करते हैं।

(६) पाण्डेजीका मत है कि 'शत्रुघ्नजीके पीछे श्रीलक्ष्मणजीके नामकरण करनेका आशय यह है कि श्रीराम, भरत और शत्रुघ्नजीके लिये एक-एक लक्षण—'अखिललोक दायक बिश्रामा', 'बिश्वभरनपोषन' और 'सुमिरन ते रिपुनासा' जो क्रमसे कहे गये हैं उन सब लक्षणोंकी एकत्र श्रीलक्ष्मणजीमें दिखाना था। अतएव उन तीनोंका नामकरण करके तब लक्ष्मणजीका नामकरण 'लच्छनधाम' विशेषण प्रथम देकर करते हुए जनाया कि श्रीरामजीका विश्वको विश्राम देना, श्रीभरतजीका विश्वको भरणपोषण करना और श्रीशत्रुघ्नजीका शत्रुसे रक्षा करना, ये तीनों गुण भी श्रीलक्ष्मणजीमें हैं और इनके अतिरिक्त 'रामप्रिय' अर्थात् रामके प्यारे एवं राम जिनको प्यारे हैं, और 'सम्पूर्ण जगत्के आधारभूत', ये गुण-विशेष हैं। इसीसे गुरुवसिष्ठने इनके नामको 'उदार' अर्थात् परिपूर्ण विशेषण दिया।'

(७) श्रीस्नेहलताजीका मत है कि यहाँ गोस्वामीजीने ऐश्वर्य-सूचक नाम दिये हैं, इसलिये यहाँ छोटे बड़ेका विचार नहीं है। माधुर्य नाम दिये जाते तो उसमें बड़े-छोटेका विचार अवश्य करते।

(८) किसीका मत है कि 'भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ी एक साथ कही और आदि-अन्तके योगसे रामलक्ष्मणकी जोड़ी कही।'

(९) गौड़जी भरत-शत्रुघ्नको यमज मानकर दोनोंका नामकरण साथ होनेका कारण उनका एक कल्पमें यमज होना कहते हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—'नामकरण' इति। (सं० १९९५ भाद्रपदवाली 'सुधा' के पृष्ठ २२३)—'गुरु वशिष्ठने नामकरण संस्कारके समय ही चारों भाइयोंके नामोंकी स्पष्ट व्याख्या कर दी है। उन्होंने रामको 'सकल लोक दायक बिश्रामा' कहा है तो भरतको 'विश्व भरण पोषण' करनेवाला। शत्रुघ्नको दैवीसत्ताका वह अंश बताया है, जिसके 'सुमिरन तें' रिपुका नाश होता है। लक्ष्मणजीको 'सकल जगत आधार' कहा है और यह बता दिया है कि चारों भाई वेदतत्त्वके अवतार हैं, न कि किसी देवताके। सरोजनी नायडूजीने सृष्टिरचनाके उस पौराणिक कलापूर्ण चित्रणका नवीन प्रकटीकरण किया है, जिसमें शेषशायी भगवान् क्षीरसागरमें योगनिद्रामें मगन हैं, और लक्ष्मीजी पायँते बैठी हुई पैर दबा रही हैं। कमलको सम्बोधित करते हुए 'जीवन और मृत्युके अधिपतियोंका समकालीन' कहा है। (Crenal with the Lords of

life & Death) उभय प्रसङ्गोंके पाठसे स्पष्ट हो जायगा कि कवयित्रीजीवाले दो व्यक्तियोंके ही रूपान्तर वशिष्ठजीकी चार व्यक्तियाँ हैं। राम और भरत जीवनाधिपतिके दो रूप। एक वह जो शान्ति एवं आनन्दमय है, परंतु (विशेषतः) सृष्टिसे बाहर, जिससे सृष्टि निकलकर फिर उसीमें विश्राम पा जाती है, और दूसरा विश्वभरण-पोषण करनेवाला रूप, जो सृष्टिके अंदर काम करता है। यदि एक व्यापक विष्णुरूप तो दूसरा पालक विष्णुरूप।

'इसी प्रकार मृत्युके अधिपतिके भी दो रूप हैं। एक शेषरूप, जो मानो सृष्टिसे बाहर रहकर 'कृतान्तभक्षक' भी है और 'जगदाधार अनन्त' रूपमें 'जनत्राता' भी और दूसरा सृष्टिके भीतर रहनेवाला वह रूप जिसके स्मरणसे रिपुका नाश होता है। गीतामें भी दैवी शक्तिके ये ही दो रूप माने गये हैं, एक वह, जिससे साधुओंका परित्राण होता है, और दूसरेसे दुष्टोंका विनाश। परंतु यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह तत्त्व उसी तरह पृथक्-पृथक् नहीं पाये जाते जैसे, सत्, रज और तम। जिस व्यक्तिमें जो तत्त्व प्रधान होता है, वैसा ही उसका नामकरण।''''वस्तुतः यह व्यक्तियाँ वेदतत्त्व है या नहीं इसमें मत-भेद हो सकता है, पर ये नाम किसी-न-किसी रूपमें वेदमें आये अवश्य हैं। श्री पं० जयदेव शर्मा-कृत सामवेद भाष्यके पृष्ठ ४६०–४६१ पर निम्नलिखित मन्त्र अर्थसहित पाया जाता है—**'यो जानाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य, स पवस्व सहस्रजित्'**। [जो स्वयं जीत लेता है और दूसरेसे जीता नहीं जाता, तथा सम्मुख आकर शत्रुको नाश करता है, वह हजारोंको जीतनेवाला बलस्वरूप तू हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो।] 'शत्रुघ्न' की कैसी सुन्दर व्याख्या है।

'अब उसी पुस्तकके पृष्ठ ४३८ पर देखिये तो आपको निम्नलिखित मन्त्र अर्थसहित मिलेगा—**'तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवे दिवे। पुरूणि बभ्रो विचरन्ति मामव परिधीरिति ताइहि॥'** [हे परमात्मन्! सारे संसारके भरण-पोषण करनेवाले! रातमें तेरे और दिनमें भी तेरे ही रसमय कोशमें मैं रस प्राप्त करता हूँ। पक्षियों या रश्मियोंके समान हम दीप्तिसे जाज्वल्यमान सूर्यके समान सर्वाधार परम देव आपके पास कर्मबन्धनको पार करके प्राप्त होते हैं] 'भरत' की कैसी सुन्दर व्याख्या है? ('जगदाधार' भी मौजूद और 'जगत प्रकाश्य प्रकाशक राम' भी)''''पाठकोंको बड़ा आनन्द आयेगा यदि वे उपर्युक्त विचार शैलीके आधारपर राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ियोंपर विचार करेंगे—यह सोचते हुए कि भरत रामके और शत्रुघ्न लक्ष्मणके रूपान्तर हैं, [एक जोड़ी अयोध्याका आन्तरिक प्रबन्ध करती है तो दूसरी अन्तर राष्ट्रीय गुत्थियाँ सुलझाती है। इस दृष्टिकोणसे 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥' बहुत ही बढ़ जाता है। मिल्टनकी भाषामें एक जोड़ी Cosmes (सृजित सृष्टि) को संचालित करती है तो दूसरी Chaos (असृजित अंश) को विजय करके सुधारती है। शैतानके राज्यको हटाकर स्वर्गका राज्य (Kingdom of Heaven) स्थापित करती है। एक पैराडाइजके दोषोंको तप और त्यागद्वारा हटाती है तो दूसरी पैराडाइजकी सीमामें वह अंश वापस लाती है जो दैवी शासनसे मानो बाहर निकल गया था—महाकाव्यकलामें अयोध्या और लंकाके ऐसे ही अर्थ हो सकते हैं।

धरे नाम गुर हृदय बिचारी। बेदतत्व नृप तव सुत चारी॥ १॥
मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहिं सुख माना॥ २॥

अर्थ—गुरुजीने हृदयमें विचारकर नाम रक्खे अर्थात् नामकरण किया (फिर कहा—) हे राजन्! तुम्हारे चारों पुत्र वेदके तत्त्व हैं॥ १॥ जो मुनियोंके धन, भक्तोंके सर्वस्व और शिवजीके प्राण हैं, उन्होंने बालक्रीड़ा-रसमें सुख माना है। अर्थात् वे ही बालक-रूप होकर बालकोंकी-सी क्रीड़ा कर रहे हैं॥ २॥*

टिप्पणी—१ (क) राजाने मुनिसे जो कहा था कि 'धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा' उसको यहाँ चरितार्थ किया।

* 'बालकेलि रस तेहिं सुख माना' का अर्थ बैजनाथजी यह करते हैं—(मुनि, हरिजन और शिव आदि) 'यावत् रामसनेही हैं सब बालकेलिरसास्वादनमें सुख मानकर श्रवण कीर्तन करते हैं।' परंतु यदि ऐसा अर्थ अभिप्रेत होता तो 'तिन्ह' पाठ होता। इन्होंने ही भक्तिवश बालविनोदमें सुख माना यह आगे प्रसङ्गभरसे स्पष्ट है। अ० रा० में भी कहा है—'रामस्तु लक्ष्मणेनाथ विचरन्बाललीलया। रमयामास पितरौ चेष्टितैर्मुग्धभाषितैः॥ ४३॥ सर्ग ३।' अर्थात् लक्ष्मणजीके साथ विचरते हुए श्रीरामजी अपनी बाललीलाओं, चेष्टाओं और भोलीभाली बातोंसे माता-पिताको आनन्दित करने लगे।

'धरिअ नाम' उपक्रम है और 'धरे नाम गुर हृदय बिचारी' उपसंहार है। (ख) 'बेद तत्त्व' हैं अर्थात् वेद इन्हींका गुण गान करते हैं; वेदका सिद्धान्त ये ही हैं। 'बेदतत्व' होनेके प्रमाण ऊपर दोहा १९७ में दिये जा चुके हैं। ☞यहाँतक नामकरणका उल्लेख हुआ, जो सब वसिष्ठजीकी उक्ति है। (ग) 'बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी' का भाव कि नामकरण करके बताया कि हमने इनको वेदोंका तत्त्व समझकर नामकरण किया है। यह प्रमाण दिया है। तात्पर्य कि जैसा जगत्में नाम धरने (नामकरण करने) की रीति है वह रीति हमने नहीं बरती, उसके अनुसार हमने नामकरण नहीं किया। जिस नक्षत्रके जिस चरणमें जन्म होता है वही (उसीका प्रथम) अक्षर नामके आदिमें रक्खा जाता है सो हमने नहीं किया वरंच जैसा वेद कहते हैं वैसा नाम धरा है।

नोट—१ नामकरणके विषयमें ज्योतिषशास्त्रमें यह नियम है कि प्रत्येक नक्षत्रके चार चरणोंके पृथक्-पृथक् चार अक्षर जो निश्चित किये गये हैं, उनमेंसे जो अक्षर जिस नामके आरम्भमें हो वही नाम उस चरणमें जन्म लेनेवालेका धरा जाता है। जैसे कि "चू चे चो ला अश्विनी' अर्थात् अश्विनीनक्षत्रके चार अक्षर चू, चे, चो और ला हैं। अतएव अश्विनीके प्रथम चरणमें जन्म लेनेवालेका नाम वही रक्खा जायगा जिसका प्रथम अक्षर 'चू' हो। अर्थात् चूड़ामणि, इत्यादि। इसके अनुसार इन चारोंका नामकरण नहीं हुआ। पुनर्वसुके चार चरणके "के को हा ही" ये अक्षर हैं, इनमें 'रा' अक्षर नहीं है, परन्तु नाम 'राम' रक्खा गया।

मा० त० वि०—'बेदतत्व नृप तव सुत चारी' का भाव कि "वेदतत्त्व प्रणव एकाक्षर ब्रह्म है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म (गीता ८, १३), परन्तु वह 'अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा द्वारा ख्यात है, इसीसे वही चारों वर्ण चारों पुत्र हैं। वेदतत्त्व तुम्हारे चारों पुत्र हुए हैं इस कथनका भाव यह है कि आपकी भक्ति-समाधिका फलरूप पुत्रभावमें गोचर हुआ है। यथा "अतीन्द्रियरामसुखं नराणां सतां मुनीनां सुगोचरोऽपि। इमे हि तद्भक्तिसमाधिनेत्रे इतीन्द्रियं चाप्यवलोकयन्ति। इति कोशलखण्डरामायणे।"

टिप्पणी—२ **'मुनि-धन जन सरबस सिव प्राना।'** इति। यहाँ मुनि, जन और शिव तीनोंका, क्रमशः एकसे दूसरेका, उत्तरोत्तर अधिक प्रियत्व तथा प्रेम दिखानेके लिये तीनोंके लिये क्रमशः विशेष प्रियत्व तथा प्रेम-बोधक धन, सर्वस्व और प्राण विशेषण दिये गये हैं। मुनिसे जन विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं, और जनसे शिवजी विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं, क्योंकि 'धन' से सर्वस्व विशेष है और 'सर्वस्व, से प्राणविशेष (अधिक) हैं। यथा 'माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥ देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥ २०८। ४-५॥' (इसमें क्रमसे धन, सर्वस्व और प्राणका देना इसी भावसे कहा गया है) शिवजीसे अवधवासी विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं तभी तो भगवान् उनको सुख देनेके लिये बालकेलि करते हैं। यथा 'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महुँ संतत मगन। ७। ८८।,' 'प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल। २०४।' (अवधवासियोंको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं)।

नोट—२ (क) **'मुनि धन'** का भाव यह भी है कि वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि मुनियोंको ऐसे प्रिय हैं जैसे लोभीको धन। लोभीका चित्त सदा धनके उपार्जन, वृद्धि और रक्षामें संलग्न रहता है। उसके अतिरिक्त उसे कुछ नहीं सूझता, यहाँतक कि मृत्युके समय भी उसका ध्यान धनही में रहता है। विश्वामित्रजीके सम्बन्धमें तो स्पष्ट ही कहा है—'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई। २०९। ३।' पुनः भाव कि जैसे 'परम कृपन कर सोना। २५९। २।' अर्थात् जैसे कृपणका ध्यान निरन्तर गड़े हुए धनपर रहता है, वह सदा उसको सँभालता रहता है, इत्यादि, वैसे ही ये मुनियोंको प्रिय हैं। विशेष 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम। ७। १३०।' और २५९। २ में देखिये। (ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि अगस्त्य, नारद, पराशर और वाल्मीकि आदि मुनियोंके 'धन' कहनेका तात्पर्य यह है कि अगस्त्यजीने संहिता, रामायण आदि रामचरित ही गाया, श्रीनारदजी रामभक्तिका उपदेश करते हैं और पराशर तथा वाल्मीकिजीने भी रामचरित ही गाया। अतः उनका 'धन' कहा।

२ **'जन सरबस'** इति। जन=भक्त; हरिजन। हरिभक्तोंके आप सर्वस्व अर्थात् सब कुछ हैं, यथा 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥' पाण्डवगीताके इस श्लोकमें

भी यही कहा है कि संसारमें यावत् प्रेमके नाते हैं वे सब एकमात्र श्रीरामजी ही हैं। भक्त अन्य किसीको अपना करके नहीं जानते-मानते। यथा 'स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात। २। १३०।', 'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। २। १'''। ५', 'राम हैं मातु पिता गुर बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही। राम की सौंह भरोसो है राम को रामरँग्यो रुचि राच्यो न केही॥ जीयत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही।'''। क० ७। ३६।', 'राम मातु पितु बंधु सुजन गुर पूज्य परमहित। साहिब सखा सहाय नेह नाते पुनीतचित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति॥ परमारथ स्वारथ सुयश सुलभ राम ते सकल फल। कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल॥ क० ७। ११०।' पुनः; यथा शिवसंहितायाम् श्रीहनुमद्वचनम्—'पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवद्भ्रातृवत्सदा। श्यालवद्रामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥ पुत्रीवत्पौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्। यः प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रामे सीतापतावेव निधिविहिता मुने:॥' (यह श्लोक वैजनाथजीने दिया है)।

३ 'सिव प्राना' इति। शिवजी निरन्तर श्रीरामजीके नाम, रूप, चरित आदिमें लगे रहते हैं। मानस उन्हींका संवाद है। अतः उनका प्राण कहा। (वै०)

वीरकविजी—हिन्दी नवरत्नके लेखकोंने १९५ वें पृष्ठपर गोस्वामीजीकी हँसी उड़ाई है कि 'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम प्रभु मम उर अंतर।' यह गोस्वामीजीने महादेवजीसे कहवाया है। सो क्या महादेवजी लक्ष्मणका भी ध्यान करते थे? पर उसमें भालु-कीशोंको निकाल दिया, यही उनका बड़ा अनुग्रह हुआ इत्यादि।" यहाँपर लेखक महोदय देखें कि चारों पुत्र वेदतत्त्व (ब्रह्म) कहे गहे हैं। ऐसी अवस्थामें उनकी समालोचना कहाँतक स्तुत्य कही जा सकती है।

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ ३॥
भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई*॥ ४॥
स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥ ५॥

शब्दार्थ—बारे=बालपन, थोड़े ही दिनोंकी अवस्था। पति=स्वामी। 'मानी'—मानना=स्वीकार वा अंगीकार करना, ध्यानमें लाना, संकल्प करना। पुनः मानी=अभिमानी। (पं० रा० कु०)। रति मानी=प्रेमपन ठाना, अनुरक्त हो गये। प्रेमके अभिमानी हुए, यथा 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।' 'तृन तोरी'—तिनका तोड़ना लोकोक्ति है, मुहावरा है। सुन्दर वस्तुको देखकर बुरी नजरसे बचानेके लिये तिनका तोड़नेकी रीति है। तिनकेकी ओट लेकर वा उसको तोड़कर देखती हैं कि नजरका प्रभाव उसीपर पड़े, बच्चेको नजर न लगे। यथा 'सुंदर तनु सिसु बसन बिभूषन नखसिख निरखि निकैया। दलि तृन प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया। गी० १। ९। २।'

अर्थ—बालपनेहीसे अपना हितैषी और स्वामी जानकर श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम किया अर्थात् रामचरणानुरागी हुए (एवं रामप्रेमाभिमानी हुए)॥ ३॥ श्रीभरत-शत्रुघ्न दोनों भाइयोंमें स्वामी-सेवकमें जिस प्रीतिकी प्रशंसा है वैसी प्रीति हुई॥ ४॥ श्याम गौर दोनों सुन्दर जोड़ियोंकी छबिको माताएँ तिनका तोड़-तोड़कर देखती हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'बारेहि ते निज हित''''', यह स्वाभाविकी भक्ति है, साधनसे नहीं हुई है। 'लछिमन रामचरन रति मानी' अर्थात् श्रीरामजीके सेवक हुए। चरणमें अनुराग होना सेवक-भावका द्योतक है। पायस-भागके अनुसार यह भाव उनमें हुआ। 'कौसल्या कैकेयी हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि॥ १९०। ४।' इस अर्धालीका भाव यहाँ चरितार्थ करते हैं। अर्थात् यहाँ पायसके भागोंका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं कि कौसल्याजी और कैकेयीजीके हाथोंपर धरकर तब सुमित्राजीको दो भाग क्यों दिये गये थे। विशेष १९०। ४ में लिखा जा चुका है। (ख) 'प्रभु सेवक जसि।'''''

* बड़ाई—१६६१, १७०४ (रा० प०)। बढ़ाई-पं०, वं०; भा० दा०। 'बढ़ाई' पाठसे अर्थ सुगमतासे लग जाता है।—'प्रभु और सेवकमें जैसी प्रीति होनी चाहिये वैसी प्रीति बढ़ाई।' 'जसि 'जसि प्रीति बड़ाई' का अर्थ रा० प्र० में इस प्रकार है—'प्रभु सेवकमें जैसी प्रीति (और) बड़ाई चाहिये वैसी हुई।' श्लिष्ट शब्दद्वारा कविजी एक और अर्थ प्रकट करते हैं कि 'भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई 'प्रभु' श्रीरामचन्द्रजीके वैसे ही सेवक हैं जैसे सेवककी प्रीतिकी बड़ाई है।,' इस तरह यहाँ "विवृतोक्ति अलंकार" है पर उदाहरणका भङ्गी है। (वीर)।

अर्थात् शत्रुघ्नजीने बचपनसे ही भरतजीको अपना स्वामी जानकर प्रीति की। चारों चरणोंका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजी श्रीरामजीके पास खेलते हैं और शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीके पास खेलते हैं। जब माता उनको उनके स्वामीके पास कर देती हैं तब किलकारी मारते, प्रसन्न होते हैं।—यह भाव 'बारेहि ते''''का है। ['बारेहि ते निज हित पति जानी' दोनों अर्धालियोंके साथ है।]

नोट—१ (क) अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—'**लक्ष्मणो रामचन्द्रेण शत्रुघ्नो भरतेन च। द्वन्द्वीभूय चरन्तौ तौ पायसांशानुसारतः॥ १। ३। ४२।**' अर्थात् पायसांशोंके अनुसार लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजीके और शत्रुघ्नजी भरतजीके जोड़ीदार होकर रहने लगे। पुनः, यथा वाल्मीकीये—'**बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः। १। १८। २८''''भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः॥ ३२॥' प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत्तथा प्रियः।''''३३।'** अर्थात् लक्ष्मणजी बाल्यावस्थासे ही श्रीरामजीके अनुगत थे।''''लक्ष्मणजीके छोटे भाई शत्रुघ्नजी भरतजीको प्राणोंके समान प्रिय थे और भरतजी शत्रुघ्नजीको प्राणप्रिय थे। पुनश्च, यथा '**लक्ष्मणस्तु सदा राममनुगच्छति सादरम्॥ ६१॥ सेव्य-सेवकभावेन शत्रुघ्नो भरतं तथा॥'' ६२॥ अ० रा० १। ३।**'—'प्रभु-सेवक-जसि' का भाव इससे स्पष्ट है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि दूसरी बात यह है कि तुरीयके विभु और जाग्रत्के विभुका सदा साथ है, क्योंकि तुरीयकी प्राप्ति जब होगी तब जाग्रत्से ही होगी, सुषुप्ति या स्वप्नसे नहीं हो सकती। इसी भाँति सुषुप्ति और स्वप्नका साथ है; अतः दोनोंके विभुओंका भी साथ स्वाभाविक है।

(ख) ☞ प्रायः लोग प्रश्न करते हैं कि बचपनसे प्रीति कैसे जानी गयी? इसका एक उत्तर तो ऊपर टिप्पणीमें आ ही गया। दूसरा प्रमाण सत्योपाख्यान अ० २८ में इसका मिलता है। उसमें कथा इस प्रकार है कि एक बारकी बात है कि कौसल्याजीकी दासी किसी कारणसे श्रीसुमित्राजीके महलमें गयी तो वहाँ उसने दोनों पुत्रों (श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी) को राजाकी गोदमें खेलते देखा और वहाँसे कौसल्याजीके महलमें आयी तो यहाँ भी उसने उन दोनोंको देखा। संदेह होनेसे वह बीसों बार कौसल्या-भवनसे सुमित्रा-भवनमें और सुमित्रा-भवनसे कौसल्या-भवनमें गयी-आयी। यह देख राजाने उससे हठ करके पूछा कि तेरा चित्त कैसा मोह-भ्रममें पड़ा हुआ है, क्या बात है जो तू बीसों बार इधरसे उधर जाती-आती है? तब उसने बताया कि यहाँ श्रीसुमित्राजीके दोनों पुत्रोंको श्रीरामजीके निकट देखती हूँ और वहाँ दोनोंको आपकी गोदमें बैठे पाती हूँ; इससे मैं परम संदेहमें पड़ रही हूँ।—'**इमौ च बालकौ राजन् शत्रुसूदनलक्ष्मणौ। कौसल्याङ्के मया दृष्टौ रामस्य निकटे स्थितौ॥ १८॥ अत्रैव तव चाङ्के वै वर्त्तेते सुमनोहरौ। तत्र गच्छामि तत्रैव चात्र ह्यायामि अत्र वै॥१९॥**' राजा यह सोचकर कि यह क्या बक रही है, शीघ्र कौसल्याजीके भवनमें गये और वहाँ श्रीरामके साथ लक्ष्मण-शत्रुघ्नको बालक्रीड़ा करते देखा, फिर कौसल्या-भवनके झरोखेसे सुमित्रा-भवनमें दोनों पुत्रोंको माताके पास देखा तब तो राजा परमाश्चर्यको प्राप्त हो कुछ निर्णय न कर सके। यथा—'**ययौ शीघ्रं तया सार्द्धं कौसल्याभवनं नृपः॥ २१॥''''तत्र गत्वा नरेशोऽपि चात्मनो ददृशे सुतौ॥ २२॥ क्रीडन्तौ रामचन्द्रेण सुमित्रातनयौ तु तौ। तस्मिन्काले स्मितं चक्रे कौशल्या यत्र तिष्ठति॥ २३॥ गवाक्षे च मुखं कृत्वा सुमित्राभवने नृपः। विलोकयामास सुतौ क्रीडन्तौ जननीयुतौ॥ २४॥ '''यदा तु निर्णयं कर्तुं न शशाक महीपतिः॥ २६॥**' तब गुरु वसिष्ठ बुलाये गये और उनसे सब वृत्तान्त कहा गया। उन्होंने क्षणभर ध्यानकर विचार किया कि यह इनकी बालक्रीड़ा है। ये एक क्या दस-बीस, हजार तथा करोड़ों असंख्यों रूप धारण कर सकते हैं, इसमें संशय क्या, किंतु राजाको यह बताना उचित नहीं, नहीं तो उनको वात्सल्यरसका सुख न मिलेगा, इत्यादि। उन्होंने कहा कि यह गन्धर्वकी माया है, हम उपाय करते हैं, अब यह माया न होगी और अन्तमें राजासे कहा कि जैसा मैं कहता हूँ वैसा आप करें। लक्ष्मणजी सदा रामजीके महलमें उनके साथ खेलें और शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ रहें तो आगे ऐसी माया फिर न होगी। यथा '**यथाब्रवीमि राजेन्द्र तथा कुरु नरोत्तम। रामस्तु लक्ष्मणेनापि सदा क्रीडतु मन्दिरे॥ ३९॥ भरतो रिपुहन्ता च वयसोशानुसारतः। न कदाचिद्भ्रमस्त्वेवं तव राजन्भविष्यति॥ ४०॥**' राजाने यह बात सुमित्राजीसे कही और उन्होंने वैसा ही किया। नित्य ही प्रातःकालमें वे लक्ष्मणजीको उठाकर श्रीरामजीके पास और शत्रुघ्नजीको भरतजीके पास पहुँचा देती थीं।

उपर्युक्त चरितसे यह सिद्ध हुआ कि चारों भाई अलग-अलग रहते थे। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके साथ और शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें रहना चाहते थे। यह कैसे हो; उसके लिये यह लीला रची गयी। वसिष्ठजीने उनका आशय जानकर वैसा ही उपाय कर दिया। इस चरितसे स्पष्ट है कि बालपनेसे ही श्रीलक्ष्मणजीका प्रेम श्रीरामजीमें और शत्रुघ्नजीका श्रीभरतजीमें था।

टिप्पणी—२ 'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी।''''' इति। लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी अपने-अपने स्वामीके पास रहनेसे प्रसन्न रहते हैं। अतः माता लक्ष्मणजीको रामजीके पास और शत्रुघ्नजीको भरतजीके पास रख देती हैं। इस प्रकार (स्याम-

गौरकी) दो जोड़ियाँ हो जानेसे अधिक शोभा हो जाती है। इसीसे जोड़ीकी छवि देखती हैं। यथा 'दीन्हि असीस देखि भल जोटा। २६९। ७।', 'स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥ २२९। २।' [इन दोनोंमें श्याम-गौरकी एक जोड़ी है। आगे भी कहा है—'सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा ॥ ३११। ३।' इत्यादि। 'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी' का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि राम-भरत दोनों श्यामकी एक जोड़ी और लक्ष्मण-शत्रुघ्न दोनों गौरकी एक जोड़ी। पर एक श्याम और एक गौर अर्थात् राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ी ही प्रसंगानुकूल है। अ० रा० में भी श्याम-गौरकी एक जोड़ी कहा है।]

चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥ ६ ॥
हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—'शील'=शुद्ध पवित्र आचरण, चरित, स्वभाव। यथा—'शुचौ तु चरिते शीलं' इत्यमरे। पुनः शील, **यथा भगवद्गुणदर्पणे—'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रं संश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥'** अर्थात् हीन, दीन, मलिन, बीभत्स और कुत्सित ऐसे मनुष्यके साथ भी बड़ोंके निष्कपट प्रेम वा व्यवहारको सुशीलता कहा है। रूप=जिस सौन्दर्यके कारण शरीर बिना भूषणके ही भूषित-सरीखा जान पड़े उसे रूप कहते हैं। यथा—**'अंगान्यभूषितान्येव वलयाद्यैर्विभूषणैः। येन भूषितवद्भान्ति तद्रूपमिति कथ्यते ॥'** (श्रीगोविन्दराजीय टीका वाल्मी० ३। १। १३)।=वह सौन्दर्य जिससे अलङ्कारादि भी सुशोभित होते हैं।

अर्थ—(यों तो) चारों भाई शील, रूप और गुणोंके धाम हैं तथापि श्रीरामजी अधिक सुखसागर हैं एवं सुख-सागर श्रीरामजी (सबसे) अधिक हैं ॥ ६ ॥ (उनके) हृदयमें कृपारूपी चन्द्रमा प्रकाशित है। (उनकी) मनको हरनेवाली मुस्कान (उस कृपाचन्द्रकी) किरणोंको सूचित करती है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तदपि अधिक' का भाव कि यद्यपि ऐसी शोभा सभीकी हो रही है कि सभी शोभाके धाम हैं तथापि श्रीरामजी सबसे अधिक हैं। (ख) 'अधिक सुखसागर रामा' का भाव कि 'सब भाइयोंके दर्शनसे सुख होता है पर श्रीरामजीके दर्शनसे सुखका समुद्र होता है (अर्थात् सुखसमुद्र हृदयमें उमड़ आता है) पुनः भाव कि तीनों भाई शील, रूप, गुण और सुखके धाम हैं और श्रीरामजी शील, रूप, गुणके समुद्र हैं एवं सुखके समुद्र हैं। धामसे समुद्र अधिक है। [गीतावलीमें भी ऐसा ही कहा है। यथा 'या सिसुके गुन नाम बड़ाई। को कहि सकै सुनहु नरपति श्रीपति समान प्रभुताई ॥ जद्यपि बुधि बय रूप सील गुन समय (सम ये) चारु चारिउ भाई। तदपि लोक लोचन चकोर ससि राम भगत सुखदाई ॥ २ ॥ सुर नर मुनि करि अभय दनुज हति हरिहि धरनि गरुआई। कीरति बिमल बिश्व अघ मोचनि रहिहि सकल जग छाई ॥ ३ ॥ याके चरन सरोज कपट तजि जो भजिहैं मन लाई। सो कुल-युगल सहित तरिहैं भव, यह न कछू अधिकाई ॥ ४ ॥ सुनि गुरुवचन पुलक तन दंपति हरष न हृदय समाई। तुलसिदास अवलोकि मातु मुख प्रभु मन में मुसुकाई ॥ पद १६ ॥' (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि शीलसे ऐश्वर्य और रूपसे माधुर्यगुणोंके धाम सूचित किये। (घ) पहले चारोंको शीलादिका धाम कहकर फिर भेद प्रकट करना 'विशेषक' अलंकार है।]

२ (क) 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा' इति। श्रीरामजीको सुखसागर कहा। माताओंको छवि दिखाकर सुख देते हैं, यह पूर्व कह आये। यथा—'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छवि जननी तृन तोरी ॥' भाइयोंको अनुग्रह करके सुख देते हैं यह यहाँ बताया। क्योंकि सब भाई सेवक-भावसे प्रीति करते हैं। (ख) 'सूचत किरन' का भाव कि अनुग्रह-रूपी चन्द्रमा देख नहीं पड़ता, मनोहर हासके द्वारा सूचित होता है। [इस भावके अनुसार अर्थ होगा कि 'मनोहर हास (रूपी) किरण (उस चन्द्रमाको) जनाता है।'—यही अर्थ रा० प्र० और पंजाबीजीने दिया है। पाण्डेजी अर्थ करते हैं कि 'उस (अनुग्रहरूपी चन्द्रमा) की किरण मनोहर हँसनिमें देख पड़ती है।' यहाँ अनुग्रह चन्द्रमा है, हास किरण है और हृदय आकाश है। प्रभुकी यह अनुग्रहकी सुन्दर हँसी भक्तोंके हृदयकी जलनको मिटाती है। यथा—'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत। २। २३९। ८।' यहाँ 'परंपरित रूपक अलंकार' है।]

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना ॥ ८ ॥

दो०—ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥ १९८॥

शब्दार्थ—'पलना' (पालना, पल्यंक)=रस्सियोंके सहारे टँगा हुआ एक प्रकारका गहरा खटोला या बिस्तरा जिसपर बच्चोंको सुलाकर झुलाते हैं; हिंडोला। 'दुलारहिं=दुलार लाड़प्यार करती हैं; बहलाकर प्यार करती हैं। प्रेमके कारण बच्चोंको प्रसन्न करनेके लिये उनके साथ अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ की जाती हैं, वे सब इस शब्दमें आ जाती हैं। 'ललना'=बच्चोंके प्यारके नाम। यथा—'**आछरु छबीलो छौना छगन मगन मेरे कहत मल्हाइ मल्हाई', 'ललन लोने लैरुआ बलि मैया। सुख सोइए नींद बेरिया भई चारु चरित चारिउ मैया॥ कहति मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया।**…गी० १। १७।'

अर्थ—कभी गोदमें और कभी उत्तम पालनेमें माताएँ प्यारे लालन (इत्यादि प्यारके नाम) कह-कहकर उनका लाड़-प्यार करती हैं॥ ८॥ जो ब्रह्म व्यापक, निर्दोष और मायासे निर्लिप्त वा मायासे रहित, सत्त्व, रज और तम तीनों मायिक गुणोंसे परे त्रिगुणातीत, क्रीड़ारहित और अजन्मा है वही प्रेमाभक्ति वा प्रेम और भक्तिके वश कौसल्याजीकी गोदमें है। १९८॥

टिप्पणी—१ (क) '**कबहुँ उछंग**…' इति। इस अर्धालीमें सूक्ष्मरीतिसे दोलारोहण वा दोलोत्सवका वर्णन है। यह माताओंका उत्साह है कि कभी गोदमें ले लेती हैं और कभी पालनेमें झुलाती हैं। गीतावली पद १५ और १८ से २१ तक इस सम्बन्धमें पढ़ने योग्य हैं। इस उत्सवमें बच्चेको शृङ्गार करके पालनेपर लिटाकर गान किया जाता है। (ख) '**कबहुँ उछंग**' अर्थात् गोदमें लेकर हलराती हैं। '**कबहुँ बर पलना**' अर्थात् पलनेपर लिटाकर झुलाती हैं। यथा—'**लै उछंग कबहूँ हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥**' (ग) 'बर' कहकर पालनेके बनावकी सुन्दरता कही। यथा—'**कनक रतन मय पालनो रच्यो मनहुँ मारसुतहार। बिबिध खिलौना किंकिनी लागे मंजुल मुक्ताहार। रघुकुलमंडन रामलला॥ १॥ जननि उबटि अन्हवाइ कै मनि भूषन सजि लियो गोद। पौढ़ाए पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद। दसरथ-नन्दन रामलला॥** गी० १। १९।'

२ (क) '**ब्यापक ब्रह्म**…' इति। तात्पर्य कि प्रेम-भक्तिके वश होकर परमेश्वरने अपनी मर्यादा छोड़ दी। जो सर्वत्र व्यापक है वह ही एक जगह आ प्रकट हुआ। जो ब्रह्म अर्थात् बृहत् है वही छोटा हो गया, राजाका लड़का बना अर्थात् जीव कहलाया और इतना छोटा हो गया कि कौसल्याजी उसे गोदमें लिये हैं। (यहाँ 'द्वितीय अधिक अलंकार' है) जो निरञ्जन (मायारहित) है वह मायारचित पृथ्वीपर लीला करते देखनेमें आया। जो निर्गुण है उसने गुण धारण किये वा जो अव्यक्त है वह व्यक्त हुआ। जो बिनोद-बिगत है वह विनोद कर रहा है। यथा—'**एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा।**' जो अजन्मा है उसने जन्म लिया और माताकी गोदमें है।—यह सब क्यों? केवल 'प्रेम भगति वश'। मनु-शतरूपाजीके प्रेम और भक्तिके वश होकर वे प्रभु आज मर्यादा त्यागकर वात्सल्य-सुख दे रहे हैं। तथा—'**देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥**…**नृप तव तनय होब मैं आई।**', '**होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।**' (ख) '**कौसल्या कें गोद**' इति। यहाँ (अर्थात् जबतक माताकी गोदमें हैं तब) तक विशेष सुख माता-हीको है, इसीसे माताका नाम यहाँ दिया। पुनः, भाव कि जो योगियोंके मनमें नहीं आते वे ही कौसल्याकी गोदमें आ गये, यह प्रेमकी प्रबलता है, प्रेमकी महिमा है।

नोट—१ गोस्वामीजीकी यह शैली है कि जब माधुर्यका वर्णन होता है तब उसके साथ ऐश्वर्यका टाँका लगा देते हैं जिसमें पाठक मोहमें न पड़ जायँ। कलाकी भाषामें इसीको नाटकीय और महाकाव्यकलाके एकीकरणकी युक्ति कहते हैं।

२ श्रीबैजनाथजीका मत है कि इस दोहेमें सूर्यावलोकनोत्सव सूचित कर दिया है। कौसल्याजी आज ज्येष्ठ शु० ११ को शिशुको गोदमें लेकर आँगनमें निकली हैं। इसीसे यहाँ सर्वाङ्गकी माधुरीका वर्णन करेंगे, क्योंकि अब सबोंने प्रभुका दर्शन किया। गोदका ध्यान आगे देते हैं।

प० प० प्र० का मत है कि यहाँ गोदुग्धप्राशनविधि सूचित किया है जो शास्त्रानुसार जन्मनक्षत्रमें एकतीसवें दिन

होता है। 'कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना।…' यह दो० १९५ के बादसे अट्ठाइसवीं पंक्ति है। विशेष विस्तार मराठी गूढ़ार्थचन्द्रिकामें किया है जो छपनेवाली है।

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥ १॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥ २॥

अर्थ—नील कमल और जलसे भरे हुए बरसनेवाले गम्भीर मेघोंके समान श्याम शरीरमें करोड़ों कामदेवोंकी छबि है॥ १॥ लाल-लाल चरणकमलोंके नखोंकी ज्योति (चमक, द्युति ऐसी जान पड़ती है मानो कमलदलोंपर मोती बैठे हैं (अर्थात् जड़े हुए हैं)॥ २॥

☞ पांड़ेजी प्रथम अर्धालीका अर्थ यह करते हैं—'श्रीरामजीके श्याम शरीरमें करोड़ों कामदेवों, करोड़ों नील-कमलों और करोड़ों गम्भीर नीले बादलोंकी छबि है।'

टिप्पणी—१ (क) **'काम कोटि छबि…'** इति। नाम कहकर अब रूप कहते हैं। कामदेव श्याम है और छबि-मान् भी। [पुनः, सृष्टिमात्रमें कामदेव सबसे अधिक सुन्दर माना गया है, यथा—'**काम से रूप**…। क० ७। ४३।' अतएव उसकी उपमा दी कि करोड़ों ऐसे कामदेवोंके एकत्र होनेपर जैसी छबि हो वैसी छबि श्रीरामजीके श्याम शरीरकी है। पुनः, भाव कि एक कामदेवसे त्रैलोक्य मोहित हो जाता है तब जिसमें असंख्यों कामदेवकी छबि है उसका दर्शन कर भला ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा है जो न मोहित हो? (रा० प्र०)।] (ख) कामकी 'छबि' और मेघकी 'गंभीरता' धर्म कहे, पर नीलकंजके धर्म न कहे, क्योंकि इसके धर्म स्पष्ट हैं, सब जानते हैं कि नीलकमलमें श्यामता और कोमलता धर्म हैं, यथा—'**नीलाम्बुज-श्यामल-कोमलांगं**…। अ० मं० श्लो० ३।' बारिद=जल देनेवाला सजल मेघ। (ग) निर्गुण ब्रह्मके विशेषण व्यापक, निरंजन, अज आदि ऊपर कह आये। वही ब्रह्म जब सगुण रूपसे मनु-शतरूपाजीके सामने आया तब उसके स्वरूपमें तीन प्रकारकी नीलता (नीलापन) कही है,—'**नील-सरोरुह नील-मनि नील-नीरधर स्याम**'। वही तीनों नीलिमाएँ कौसल्याजीके यहाँ आनेपर कही हैं। '**नीलकंज बारिद गंभीरा**' ये दो यहाँ कहीं और नीलमणिको उत्तर-काण्डमें कहा है, यथा—'**मरकत मृदुल कलेवर स्यामा**। ७। ७। ५।' [यहाँ नीलमणिकी उपमा न दी, क्योंकि अभी प्रभुकी शैशवावस्था है जिसमें सब अङ्ग अत्यन्त कोमल होते हैं। जब 'अजिरबिहारी' होंगे तब मर्कतमणिकी उपमा देंगे। मणि पुष्ट और कठोर होता है। उत्तरकाण्डमें महलके आँगनमें खेलते समयका ध्यान है; यथा—'**बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥ मरकत मृदुल**…। ७। ७६।' और मनु-शतरूपाके सामने किशोरावस्थासे प्रभुने दर्शन दिये हैं; इससे वहाँ 'नीलमणि' की भी उपमा दी गयी।

२ (क) '**अरुन चरन पंकज**…' इति। यहाँ नखशिख वर्णन करते हैं इसीसे चरणसे प्रारम्भ किया। [वात्सल्य रसका प्रसंग होनेसे यहाँ चरणसे ध्यानका वर्णन उठाया। (वै०)। चरणोंको अरुण कहकर यहाँ तलवोंका वर्णन जनाया। चरण-तल अरुण हैं। चरणोंके ऊपरका भाग श्याम है सो ऊपर '**काम कोटि छबि स्याम सरीरा**' में कह चुके हैं। पदपीठ नीलकंज और पद-तल अरुण-कमलके समान है। प्रथम सारे शरीरकी शोभा कहकर, अब पृथक्-पृथक् सब अङ्गोंकी शोभा कहते हैं। (ख) '**कमल दलन्हि बैठे जनु मोती**' इति। लक्ष्मीजीका वास कमलमें है। वही यहाँ कहते हैं। मोती लक्ष्मी है सो कमलदलमें बैठी है। लक्ष्मीजी चरणसेविका हैं। अतएव मोतीका कमलदलोंपर बैठना कहकर जनाया कि लक्ष्मीजी ही कमलमें भगवान्‌की चरण-सेवाके लिये ही आ बैठी हैं।

नोट—१ कमलदलपर मोती रुक नहीं सकता, अतएव 'बैठे' पद देकर उत्प्रेक्षा की कि मानो मोती उसपर जमाये वा जड़े गये हैं वा आकर स्थिर हो गये हैं। यहाँ मोतियोंने अपना रंग त्यागकर अरुण कमलका रंग ग्रहण किया है। नखोंमें तलवोंकी अरुणता झलक रही है। मिलान कीजिये—'**स्याम बरन पदपीठ अरुन तल लसत बिसद नखश्रेनी। जनु रबि-सुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी॥**' गी० ७। १५।', 'पदुमराग रुचि मृदु पदतल ध्वज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति। रही आनि चहुँ बिधि भगतन्हि की जनु अनुरागभरी अंतरगति॥ गी० ७। १७। २।' (२) 'काम कोटि…गंभीरा' में 'वाचक लुप्तोपमा' है और 'कमलदलन्हि…' में 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है॥ (वीर)।

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥ ३॥

अर्थ—(दाहिने चरणके तलवेमें) वज्र, ध्वजा और अंकुश चिह्न शोभित हैं। नूपुर (घुँघुरू, पैजनी, पाजेब) की ध्वनि (शब्द) सुनकर मुनियोंका मन मोहित हो जाता है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) [श्रीरामजीके चरणमें अड़तालीस (प्रत्येक चरणमें चौबीस-चौबीस) चिह्न वा रेखाएँ कही गयी हैं। परंतु ऋषियोंने ध्यानके लिये, किसीने २२, किसीने १३, किसीने ९ इत्यादि विशेष उपयोगी समझकर उतनेहीका वर्णन किया है। भक्तिसुधास्वादतिलक भक्तमाल (श्री १०८ सीतारामशरण भगवान्प्रसाद श्रीरूपकलाजीकृत), लाला भगवान्दीनजीके 'रामचरणचिह्न', मुं० तपस्वी रामसीतारामीयजीके भक्तमाल और महारामायण इत्यादिमें इनका विस्तृत वर्णन है। श्रीमद्गोस्वामिपादने प्रायः चार चिह्नोंको विशेष उपयोगी जानकर उन्हींका अंकित होना वर्णन किया है। सब चिह्नोंका ध्यान भी कठिन है। भक्तिरसबोधिनीटीकामें श्रीप्रियादासजीने इन चारोंके ध्यानके फल यों कहे हैं—'**मनही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताके लिये अंकुस लै धार्यो हिये ध्याइए। ऐसे ही कुलिस पापपर्वतके फोरिबे कों भक्तिनिधि जोरिबेको कंज मन ल्याइए ॥**', '**छिनमें समीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सो विशेष जानो अभयको बिस्वास है।**']

(ख) यहाँ तीन ही रेखाएँ लिखीं। चौथीका नाम उत्तरकाण्डमें दिया है, यथा—'**ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।** ७। १३। ४।' एक जगह चार रेखाओंके नाम कहकर सर्वत्र उन चारोंको जना दिया है; बारंबार सबका उल्लेख नहीं करते।—यह गोस्वामीजीकी शैली सर्वत्र ग्रन्थभरमें देखी जाती है; यथा—'**ललित अंक कुलिसादिक चारी।** ७। ७६।' इसीसे यहाँ 'कमल' की रेखा नहीं कही गयी।

नोट—१ पंजाबीजीका मत है कि यहाँ तीनहीसे सब चिह्न समझ लेना चाहिये। (पर गोस्वामीजीने 'चारी' शब्द देकर चार ही विशेषोपकारी चिह्नोंका ही उल्लेख मानसमें किया है।)

२ बैजनाथजीका मत है कि वज्र दक्षिण पदके अँगूठेके और अंकुश तथा ध्वजा एँड़ीके निकट होनेसे प्रसिद्ध देख पड़ते हैं इससे वही तीन कहे। अथवा, पापका नाश, मनका वश करना और कामादि शत्रुओंसे विजयका ही प्रयोजन था इससे वही तीन कहे। अथवा, तीन ही कहे कि इन्हें सुनकर लोग और चिह्नोंको भी समझ लेंगे। त्रिपाठीजीका भी मत है कि यहाँ तीनका वर्णन है; क्योंकि अभी अत्यन्त शिशु हैं, इससे रेखाएँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, तीन स्पष्ट हैं, कमल-रेखा अभी स्पष्ट नहीं है, बड़े होनेपर स्पष्ट होगी।

टिप्पणी—२ (क) '**नूपुर धुनि सुनि मुनिमन मोहे**' इति। मुनिमनका मोहित होना कहकर नूपुरके शब्दका अतिशय मधुर, मनोहर और आह्लादवर्द्धक होना जनाया। यथा—'**नूपुर चारु मधुर रवकारी।** ७। ७६। ७।' यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। मुनिके मन 'विषयरसरूखे' होते हैं, सांसारिक विषयोंमें कदापि नहीं जाते, सो जब वे भी मोहित हो जाते हैं तब तो यह निश्चय है कि शब्द अवश्य 'अप्राकृत' होगा। (ख) नूपुर ध्वनि यहाँ कहा। यह शब्द क्यों होता है, यह आगे '**जानु पानि बिचरनि मोहि भाई**' में कहा है। अर्थात् घुटने और हाथोंके बलसे विचरते हैं तब नूपुर बजते हैं।

कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जिहिं देखा ॥ ४ ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हिय हरि नख अति सोभा रूरी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—किंकिनी (किंकिणी=करधनी, कटिसूत्र, क्षुद्रघंटिका, जेहर। हरिनख=बघनहाँ; बघनखा; बाघ या सिंहका नख (नाखुन)। यह एक आभूषण है जिसमें बाघके नाखुन चाँदी या सोनेमें मढ़े होते हैं जो गलेमें तागेमें गूँथकर पहिना जाता है। यथा—'कठुला कंठ बघनहां नीके। नयन सरोज अयन सरसीके ॥ गी० १। २८।' प्रायः बच्चोंको यह इसलिये पहिनाते हैं कि वे वीर हों और डरें नहीं। जुत=युत-युक्त। भूरी=बहुत, समूह। रूरी=उत्तम, सुन्दर, अच्छी, श्रेष्ठ, निराली।

अर्थ—कमरमें किंकिणी और पेटपर त्रिबली है। नाभि (तोंदी, तुन्दी, ढोंढी) गहरी है। उसकी गहराईको तो वही जाने जिसने देखा है ॥ ४ ॥ बहुत-से आभूषणोंसे युक्त (आजानु; घुटनेपर्यन्त) लम्बी-लम्बी भुजाएँ हैं। हृदयपर बघनखाकी छटा अत्यन्त निराली है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(क) १ 'नूपुर धुनि····' के पश्चात् 'कटि किंकिनी····' को कहकर सूचित किया कि किंकिणीमें भी मधुर ध्वनि होती है। यथा—'कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई। ७। ७६। ८।' ['त्रयरेखा'=त्रिबली अर्थात् वह तीन बल

जो पेटपर पड़ते हैं। इन बलोंकी गणना सौन्दर्यमें होती है। यथा—'रुचिर नितंब नाभि रोमावलि त्रिबलि बलित उपमा कछु आव न। गी० ७। १६।' दोहा १४७ 'उदर रेख बर तीनि।' में भी देखिये। रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'त्रिरेखा सूचित करती है कि त्रिदेव इसी चिह्नसे उत्पन्न हुए हैं।'] (ख) 'नाभि गँभीर जानि जिहिं देखा' इति। गंभीरता नाभिकी शोभा है। 'जान जिहिं देखा' अर्थात् जिसने देखा वही जानता है, पर कह वह भी नहीं सकता तब हम क्या कहें? यहाँ शृङ्गारके वर्णनमें बीभत्स वर्णन करना रसाभास है, इसीसे गुप्ताङ्गोंका वर्णन नहीं किया गया।

'जान जिहिं देखा' इति।

पं० रामकुमारजीका मत है कि 'नाभिकी गम्भीरता कौसल्याजीने देखी है, सो वे ही जानें, कह वे भी नहीं सकतीं। 'जिहिं देखा' एकवचन है। एक वचन देकर जनाया कि रूपके देखनेवाले बहुत नहीं हैं, इसीसे 'जिन्ह देखा' ऐसा बहुवचन नहीं कहा।'

प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंका यह मत है कि यहाँ ब्रह्माजीकी ओर इशारा है। भगवान्‌ने जब सृष्टिकी उत्पत्ति करनी चाही तब प्रथम जल उत्पन्न करके 'नारायण' नाम-रूपसे उसमें शयन किया, फिर उनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्माजी। ब्रह्माजीने जब इधर-उधर कुछ न देखा तब वे कमलनालमें प्रवेशकर उसके आधारका पता लगाने चले। सौ वर्षतक इसी खोजमें फिरते रह गये, पर पता न लगा। नाभिकमलका अन्त न पाया तब वे समाधिस्थ हो गये। सौ वर्ष बीतनेपर भगवान्‌ने दर्शन दिया। (भा० स्क० ३ अ० ८)। यहाँ गोस्वामीजी उन्हींकी साक्षी देते हैं कि उसकी गहराईकी थाह वे तो पा ही न सके तब दूसरे किस गिनती में हैं।

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'कुरानशरीफमें भी लिखा है कि भगवान्‌का सिंहासन जलपर है।'

'Whose throne is on the waters' (Yusuf Ali's translation of the Queen)

☞ राजारामशरण लमगोड़ा—तुलसीदासजीके नखशिखवर्णन ऐसे सुन्दर हैं और उनमें देश, काल, पात्र, अवस्था और अवसरका इतना सूक्ष्म विचार है कि यदि श्रीरामजीके सभी ऐसे वर्णन एकत्रित करके रक्खे जायँ तो उनके जीवनकी सारी अवस्थाओंका बड़ा ही सुन्दर कलापूर्ण चित्रण हो जावेगा। चित्रकारी-कलाके भी वे बड़े सुन्दर शाब्दिक नमूने हैं।

टिप्पणी—२ (क) किंकिणीके बाद 'भुज बिसाल भूषनजुत भूरी' कहकर सूचित करते हैं कि हाथमेंके कंकण भी बज रहे हैं। कंकणमें शब्द होता है, यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि'। इस प्रकार कंकण, किंकिणी और नूपुर तीनोंकी ध्वनि कही। (ख) यहाँ हृदयमें हरिनखकी अति शोभा कहते हैं और (आगेके चरणमें) उरमें मणियोंके हारकी शोभा कहते हैं, यह भेद कहकर जनाया कि मणि तारागण हैं और हरिनख चन्द्रमा है। तारागणसे चन्द्रमाकी शोभा अधिक है। (ग) ['भुज बिसाल' अर्थात् आजानुबाहु हैं। बड़े भाग्यशालियोंके ऐसे विशाल बाहु होते हैं। महात्मा श्री (राम) नारायणदासजी रत्नसागर श्रीजनकपुर और पं० श्रीजानकीवरशरणजी महाराज श्रीअयोध्याजी आजानुबाहु थे। इनकी कीर्ति विख्यात है। विशाल कहकर जनाया कि जनकी रक्षामें सदा सर्वत्र तत्पर हैं। इनकी विशालता भुशुण्डिजीने जानी है। यथा 'सप्त आवरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि। गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि॥' पुनः यथा—'जहाँ जमजातना घोर नदी भट कोटि जलच्चर दंत टेवैया। जहँ धार भयंकर वार न पार न बोहित नाव न नीक खेवैया। तुलसी जहँ मातु पिता न सखा नहिं कोउ कहूँ अवलंब देवैया॥ तहाँ बिनु कारन राम कृपाल बिसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया। क० ७। ५२।' (घ) कुछ लोगोंने शोभा और रूरीका एक ही अर्थ मानकर पुनरुक्तिके भयसे 'रूरी' को 'हिय' का विशेषण मान लिया है। रूरी=सुन्दर।]

नोट—१ 'भूषन जुत भूरी' इति। भूषणोंके नाम न दिये जिसमें भावुक समयके अनुसार जो चाहें लगा लें। २—जनके मोहरूपी हाथीको डरवानेके लिये हरिनख धारण किया है। (रा० प्र०)

उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा॥ ६॥

शब्दार्थ—पदिक=चन्द्रपट्ट, चौकी, धुकधुकी। 'पदिकहार भूषन मनि जाला' १४७ (६) देखिये। अयोध्याबिन्दु (देवतीर्थस्वामीकृत) में लिखा है—'पदिकहार रघुबरकंठनमें सात मणिनको झलकि रहा। मोहनमाला जाहि कहत हैं अधिक छाँवनमें छलकि रहा। भावी रामचरित जनु सातो काण्डनसे हिय हलकि रहा। स्ववरण-सूतनसे ग्रन्थित लखि देवहुको मन ललकि रहा।'

अर्थ—वक्षःस्थलपर मणियोंका हार और पदिककी शोभा हो रही है। भृगुलता देखते ही मन लुभा जाता है॥६॥

टिप्पणी—१ (क) **'उर मनिहार'** इति। यहाँ किसी मणिका नाम न देकर जनाया कि हारमें सब प्रकारके उत्तम मांगलिक मणि हैं। मणिहार और पदिककी शोभा एक साथ कहकर सूचित करते हैं कि मणिहार और पदिक दोनों मिलकर शोभित हो रहे हैं। यथा—**'गज मनि माल बीच भ्राजत कहि जात न पदिक निकाई। जनु उड़गन मंडल वारिद पर नवग्रह रची अथाई।** वि० ६२।' (ख) **'बिप्र चरन देखत मन लोभा'** इति। विप्रचरण आभूषणकी तरह शोभित है, इसीसे आभूषण-वर्णनके बीचमें विप्रचरणको भी वर्णन किया। [यह चिह्न भगवान्‌के वक्षःस्थलकी कोमलता और हृदयकी क्षमाको प्रकट कर रहा है। ऐसा कोमल है कि उसपर भृगुजीके चरणका चिह्न आजतक विराजमान है। यथा—**'उर बिसाल भृगुचरन चारु अति सूचत कोमलताई।** वि० ६२।' भगवान् क्षमाशील ऐसे हैं कि उल्टे अपना ही अपराध मान लिया। भृगुजीने सबकी परीक्षा ली पर क्षमावान् एक आप ही ठहरे। भृगुचरण देखकर स्मरण हो आता है कि **'ऐसा क्षमावान् स्वामी दूसरा कौन है?'** कोई भी तो नहीं, बस, यह स्मरण होते ही मन लुब्ध हो जाता है कि उपासना योग्य ये ही हैं। पाण्डेजी) इसीसे **'देखत मन लोभा'** कहा।]

नोट—१ यहाँ भृगुलताका वर्णन है। मनु-शतरूपा-प्रकरणमें इसका वर्णन नहीं है। इसके विषयमें कुछ तो **'उर श्रीवत्स'**''' । १४७। ६।' में लिखा गया है। कुछ लोगोंके भाव यहाँ भी लिखे जाते हैं।—(१) पंजाबीजी लिखते हैं कि यह 'चरणचिह्न अवतारोंका लक्षण है।' (२) रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'व्यूह' विभु, अर्चा और अन्तर्यामी समस्त रूप इसी रूपसे हैं। इसलिये उन रूपोंका चिह्न भी इस रूपमें रहता है।' (३) कोई लिखते हैं कि यहाँ अंशी और अंशमें अभेद दिखाया है। देवता आर्त हैं, जानते हैं कि विष्णु भगवान् भक्तोंके हितार्थ अवतार लिया करते हैं। अतः उनकी प्रतीतिके लिये प्रभु यह चिह्न आविर्भाव होनेपर ग्रहण कर लेते हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'नवाहीके परमहंस श्री १०८ श्रीस्वामी रामशरणजी महाराज कहते थे कि श्रीगोस्वामीजीका मानस उनके और ग्रन्थोंसे निराला है, उसमें तीन ही जगह विप्रचरणकी चर्चा है। १-यहाँ, २-**'उर धरासुर पद लस्यो'** (लं० दो० ८६); ३—**'विप्रपादाब्जचिह्नम्'** (उ० मं०)। तीनों जगह भृगुका नाम नहीं है। अतः यह विप्र-चरण श्रीवसिष्ठजीका चरण-चिह्न है। गी० बा० १२ वें पदके अनुसार झड़वानेके पीछे कौशल्याजीने प्रार्थना की कि बच्चेके वक्षःस्थलपर आप अपना चरण रख दें जिससे यह कभी डरे एवं चौंके नहीं। गुरुजीने वैसा ही किया, वह चिह्न है। श्रीपरमहंसजी श्रीरामजीकी रूपनिष्ठाकी अनन्यतामें प्रसिद्ध थे।'

इसमें संदेह नहीं कि परमहंसजी महाराज परम अनन्य निष्ठावाले थे। इसीसे उन्होंने 'विप्र' से वसिष्ठजीका अर्थ लिया है। परंतु गीतावलीका जो प्रमाण दिया गया है उसमें स्पष्ट शब्द ये हैं—**'बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के। सुनत आइ रिषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़ जो सुमिरत भय भी के। जासु नाम सर्बस सदासिव पार्वती के। ताहि झरावति कौसिला, यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के। माथे हाथ रिषि जब दियो राम किलकन लागे।''' निरखि मातु हरषी हिये आली ओट कहति मृदु बचन प्रेम के से पागे॥ तुम्ह सुरतरु रघुबंसके, देत अभिमत माँगे। मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे॥ अमिय बिलोकनि करि कृपा मुनिबर जब जोए। तब तें राम अरु भरत लषन रिपुदवन सुमुख सखि! सकल सुवन सुख सोए।'**; इससे वक्षःस्थलपर चरण रखनेकी प्रार्थना और चरणका रखना केवल कल्पना सिद्ध होती है। फिर यदि चरण रखा होता तो चारों भाइयोंके यह चिह्न होता।

अन्य कतिपय महात्माओंका मत है कि जिन वसिष्ठजीसे हाथ जोड़कर कविने श्रीरामजीकी प्रार्थना मानसमें करायी है; यथा—**'राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी॥** ७। ४८।' उनसे वक्षःस्थलपर चरण कभी न रखवायेंगे। यदि नरनाट्यके अनुसार चरणका स्पर्श हुआ भी हो तो स्पर्शमात्रसे चिह्न बन जाना असंभव जान पड़ता है। भृगुजीने तो बलपूर्वक आघात किया था अतः उससे चिह्न हो जाना उपयुक्त ही है।

२ 'बिप्र-चरण' इति। 'भृगुचरण' के सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० ८९ में यह कथा है कि एक समय जब सरस्वती नदीके तटपर ऋषिगण एकत्र हो यज्ञ कर रहे थे तब वहीं यह तर्क उपस्थित हुआ कि 'त्रिदेवमेंसे कौन श्रेष्ठ है?' जब वे आपसमें निर्णय न कर सके तब समाजने ब्रह्माके पुत्र महर्षि भृगुको इस विषयकी परीक्षा करनेके लिये भेजा। वे प्रथम

ब्रह्मलोक ब्रह्माकी सभामें गये और उनके सत्त्वकी परीक्षाके लिये उनको दण्डप्रणाम-स्तुति न की। पुत्रकी इस धृष्टतापर ब्रह्माजी अत्यन्त कुपित हुए। तब मुनि कैलाशको गये। श्रीशिवजी भाईसे मिलनेको आनन्दपूर्वक उठे, परन्तु उन्होंने यह कहकर कि 'तुम कुमार्गगामी हो, मैं तुमसे नहीं मिलना चाहता' उनका तिरस्कार किया। इसपर शिवजीने अत्यन्त कुपित हो उनपर त्रिशूल उठाया, परन्तु जगदम्बा श्रीपार्वतीजीने उनको शान्त कर दिया। वहाँसे चलकर ऋषि वैकुण्ठ पहुँचे जहाँ देव जनार्दन श्रीजीकी गोदमें लेटे थे। भगवान्‌को लक्ष्मीकी गोदमें सिर रक्खे हुए शयन करते देख भृगुजीने उनकी छातीमें एक लात मारी। भगवान् तुरत लक्ष्मीसहित पर्यंकपरसे उतर मुनिको प्रणामकर कोमल मीठी वाणीसे बोले—'ब्रह्मन्! आपको आनेमें कोई कष्ट तो नहीं हुआ? पर्यंकपर विराजिये, विश्राम कर लीजिये। प्रभो! मैंने आपका आगमन न जाना, मेरे अपराधको क्षमा कीजिये। भगवन्! आपके कोमल चरणोंमें मेरे कठोर वक्षःस्थलमे चोट लग गयी होगी (कहनेके साथ ही उनके चरणको सोहराने लगे)—तीर्थोंको भी पावन करनेवाले अपने चरणामृतसे हमें पवित्र कीजिये। मेरे लोकके सहित मुझे तथा मुझमें स्थित लोकपालोंको पवित्र कीजिये।—'**पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्। पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ ११ ॥**' यह आपका चरण-चिह्न शोभाका एकमात्र आश्रय है, इसे मैं सदैव आभूषणवत् धारण किये रहूँगा। भृगुजी अवाक् रह गये। उनका हृदय भर आया और नेत्रोंसे प्रेमानन्दाश्रु बहने लगे। लौटकर भृगुजीने सब वृत्तान्त और अपना अनुभव ऋषिसमाजको सुनाया। इस प्रकार सिद्धान्त स्थित करके सब उन्हीं सत्यमूर्तिका भजन करने लगे।

कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई ॥ ७ ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—पारे=पार पा सके। समर्थ हो सके। वा, पारना=सकना, यथा—'**प्रभु सनमुख कछु कहइ न पारें**', '**सोक बिकल कछु कहै न पारा**' एवं '**बाली रिपुबल सहै न पारा**'।

अर्थ—कण्ठ शङ्खके समान (त्रिरेखायुक्त) और ठोढ़ी बहुत ही सुहावनी है। मुखपर असंख्यों कामदेवोंकी छवि छा रही है ॥ ७ ॥ दो-दो दाँत (ऊपर-नीचे) हैं, लाल-लाल ओंठ हैं। नासिका और तिलकका वर्णन कौन कर सकता है? (कोई भी नहीं) ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कंबु कंठ'। शङ्ख समान कहकर जनाया कि त्रिरेखायुक्त है और मानो त्रैलोक्यसुषमाकी सीमा है। यथा—'**रेखें रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवाँ ॥** २४३। ८।' तीनों लोकोंकी शोभा कण्ठमें है। नीचेकी रेखामें पातालकी, मध्यरेखामें मर्त्यलोककी और ऊपरकी रेखामें स्वर्गलोककी शोभा है। विशेष १४७ (१) में देखिये। [त्रिरेखायुक्त होनेके और भाव ये कहे जाते हैं—(१) त्रिपाद्विभूतिके ये ही स्वामी हैं। (रा० प्र०)। (२) तीनों लोकोंके कर्ता हरि इन्हींके गले पड़े हैं। (रा० प्र०)। (३) मानो तीनों लोकोंकी शोभा वा त्रिपाद्-विभूति है। (वै०)। पंजाबीजीकी टीकामें 'कंबु' का भाव 'त्रिरेखायुत और 'सतखण्ड' लिखा है।]

(ख) '**कंबु कंठ**' अर्थात् कण्ठ त्रिभुवनकी शोभाकी सीमा है, यह कहकर 'अति चिबुक सुहाई' और '**आनन अमित मदन छबि छाई**' कहनेका भाव कि कण्ठ त्रिभुवन शोभाकी अवधि है और चिबुक इसके ऊपर है (अतः इसकी शोभा अधिक है, यह अत्यन्त शोभित है) और मुख इसके भी ऊपर है (अर्थात् ऊपर होनेसे चिबुकसे भी अधिक शोभा इसकी है। इसीसे इसकी शोभाके विषयमें '**अमित मदन छबि लाई**' कहा। (उत्तरोत्तर अधिक शोभा दिखायी)। (ग) '**आनन अमित**....' इति। शरीरमें कोटि कामकी छवि कही,—'**काम कोटि छबि स्याम सरीरा**', और मुखमें अमित कामदेवोंकी छवि कहते हैं। वहाँ 'कोटि' और यहाँ 'अमित' शब्द देकर जनाया कि समस्त शरीरकी छविसे मुखकी शोभा अधिक है, यथा—'**राम देखि मुनि देह बिसारी। भए मगन देखत मुख सोभा**। २०७। ४-५।' समस्त शरीर देखकर विश्वामित्रका वैराग्य भूल गया और मुखकी शोभा देख वे अपनी सुधि ही भूल गये (शोभासमुद्रमें डूब ही गये। पं० रामकुमारजीके खर्रेमें 'देह' शब्द छूट गया है। संभवतः '**बिरति बिसारी**' पाठसे उपर्युक्त भाव कहा गया है)।

नोट—१ जान पड़ता है कि प्रथम समष्टि छवि कहकर जब नखशिख वर्णन करने लगे तब चरणोंसे ध्यानका वर्णन करते हुए ऊपरकी ओर आये। जब मुखारविन्दपर दृष्टि पड़ी तब सोचे कि इसके सामने तो अनन्त कामदेवोंकी शोभा भी धूलिके बराबर है; अतएव यहाँ अमित विशेषण दिया। (प्र० सं०)।

२ श्रीनंगे परमहंसजी 'आनन' का अर्थ 'आँख' करते हैं और उसकी पुष्टिमें कहते हैं कि 'यदि आननका अर्थ मुँह किया जाय तो अनर्थ हो जायगा क्योंकि नेत्रके लिये दूसरा कोई शब्द ही नहीं है कि जिसका अर्थ नेत्र किया जाय। और

नेत्र मुँहका प्रधान अंग है।'''नेत्रके बिना मुँहकी शोभा हो ही नहीं सकती'''और यहाँ शोभाका प्रसंग है। अतः आननका अर्थ आँख होगा। यदि कहिये कि ग्रन्थकारने मुँह नहीं लिखा, आठों अंग लिखे हैं तो चिबुक, नेत्र, दाँत, ओष्ठ, नाक, ललाट, कपोल और कान यही आठ अंग मुँह कहलाता है, मुँह कोई दूसरी चीज नहीं है।''''नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ **साँझ सरसीरुह सोना॥**' में 'बदन' का अर्थ आँख ही होगा, क्योंकि प्रसंग नींदका है।''''मुखके लिये लाल कमलकी उपमा नहीं दी जाती। '**कंध बालकेहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सीवा॥ नील कंज लोचन भव मोचन।**' में आनन और नेत्र दोनों कहे गये हैं, इसलिये वहाँ आननका अर्थ मुँह किया जायगा। पर जहाँ आनन एक ही शब्द लिखा गया है और नेत्रोंके लिये दूसरा शब्द नहीं है वहाँ आननका अर्थ आँख ही होगा।' ['आनन' का अर्थ 'नेत्र' प्रचलित कोशोंमें कहीं सुना नहीं जाता। यदि कविको नेत्र कहना था तो वे 'आनन' की जगह 'नयनन' और बदनकी जगह 'नयन' लिख सकते थे। यदि यह अर्थ कहीं मिलता तो भी प्रसंगके अनुकूल यहाँ यह अर्थ है या नहीं इसपर विचार किया जाता।]

श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि नेत्रका वर्णन यहाँ जान-बूझकर कविने नहीं किया, क्योंकि 'आज सूर्यावलोकनोत्सव है। शिशु राम अभी सूर्यके सामने नेत्र नहीं खोल सकते। इससे नेत्र बंद हैं। नेत्र खुले होते तो उनकी शोभाका वर्णन किया जाता।' उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजीसे क्रीड़ा करते समयका ध्यान है, वहाँ नेत्र खुले हैं, इससे वहाँ नेत्रोंका भी वर्णन है। जैसे उत्तरकाण्डमें क्रमसे 'दर ग्रीवा'; 'चारु चिबुक' और 'आनन छबि' शब्द आये हैं वैसे ही यहाँ भी 'कंबु कंठ', '**चिबुक सुहाई**' और '**आनन**''''छबि' पद हैं। इस तरह दोनों जगह एक ही अर्थ माना जायगा। इसी तरह किशोरावस्थाके ध्यानमें भी मुख और नेत्र दोनोंका वर्णन है। यथा—'**सरद मयंक बदन छबि सींवा।**'''''''**नव अंबुज अंबक छबि नीकी॥ १४७। १–३।**'

प्र० स्वामीका मत है कि नेत्रोंका वर्णन यहाँ भी है। 'बिप्रचरन देखत' में वे 'देखत' क्रियासे बालक रामजीका देखना अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'बालक रामजी अब बैठने लगे हैं और बैठे हुए विप्रचरण देखते हैं। उनका मन विप्रचरण देखनेमें लुब्ध हो गया है। बैठे हैं इसका प्रमाण यह है कि कविने चरणोंसे हृदयतक यथाक्रम वर्णन किया, इसके बाद कण्ठका वर्णन चाहिये था, पर प्रभु इस समय मुख नीचे किये हुए भृगुचरणोंको देख रहे हैं जिससे कण्ठ दिखायी नहीं पड़ा, जब देखना बंद हुआ तब कण्ठ दीखने लगा और चिबुक भी। इस प्रकार उनका देखना कहकर नेत्रोंका वर्णन उसीमें जना दिया। सूर्यावलोकन विधि तीसरे महीनेमें विहित है, उस समय 'दुइ दुइ दसन' नहीं होते। ('देखत' श्रीराममें लग सकता है या नहीं पाठक स्वयं विचार करें)।

पं० रामकुमारजीने इसका समाधान दूसरी प्रकार किया है जो १९९ (१२) में दिया गया है।

टिप्पणी—२ (क) '**दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे**' इति। तात्पर्य कि अधरकी अरुणता दाँतोंमें आ गयी है, इससे दाँत कुछ लाल हैं। दो-दो दाँत कहकर जनाया कि छः मासके हो चुके, दाँत जम आये हैं। (ख) '**नासा तिलक को बरनै पारे**' इति। भगवान्‌की नासा अश्विनीकुमार हैं, यथा—'**जासु घ्रान अश्विनीकुमारा**'। अश्विनीकुमार सब देवताओंसे सुन्दर हैं। 'तिलक', यथा—'**तिलक रेख सोभा जनु चाकी**' १४७ (४) देखिये।

नोट—'**नासा तिलक**' इति। श्रीत्रिपाठीजीका मत है कि 'आज मास तिलक नहीं है, बच्चोंकी नासा तिलक ही दिया जाता है। बालगोपालके उपासक आज भी नासा तिलक धारण करते हैं।

सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥ ९॥ *

---

* इसके बाद "नीलकमल दोउ नयन बिसाला। बिकट भृकुटि लटकनि बर माला॥"

यह अर्द्धाली पाण्डेजी, पंजाबीजी, शुकदेवलालजी (जिन्होंने मूल मानस रामचरितकी भी न जाने कितनी चौपाइयाँ रामायणमेंसे काट-छाँट डाली हैं) और विनायकी टीकाकारने भी दी है। परंतु काशिराज, श्रावण-कुञ्ज, छक्कनलालजी इत्यादिवाली प्राचीन प्रतियोंमें यह अर्द्धाली कहीं नहीं पायी जाती। नागरी-प्रचारिणी सभा एवं श्रीरामदासजी गौड़ और पं० शिवलाल पाठक भी इसे क्षेपक ही मानते हैं। रामायणी सन्तोंका भी यही मत है। श्रीयुत जानकीशरणजी (स्नेहलताजी) कहते हैं कि इस प्रसंगमें नेत्रका वर्णन नहीं है। यह चौपाई लोगोंने और ठौर इसका वर्णन होनेके कारण यहाँ भी मिला दी है। वस्तुतः यह सूर्यावलोकनका समय है। अभी श्रीराम-शिशु तीन महीनेके हैं। तीन मासका बच्चा सूर्यके सामने नेत्र कैसे खोल सके? अतएव नेत्र खुले नहीं हैं न उनका यहाँ वर्णन है। यहाँ केवल सूर्यावलोकन समयका ध्यान वर्णन किया गया है। वे०, भू० पं० रा० कु० दास यहाँ लेखकका प्रमाद मानते हैं और कहते हैं कि भूलसे छूट गयी है।

चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥ १०॥
पीत झगुलिया तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥ ११॥

शब्दार्थ—तोतरे (तोतले)=रुक-रुककर टूटे-फूटे अस्पष्ट शब्द जो बच्चोंके मुखसे निकलते हैं। चिक्कन=चिकने। कच=बाल। कुंचित=घुँघराले। गभुआरे=गर्भवाले; जो जन्मसे ही रक्खे हुए हैं। झँगुलिया=अंगरखी; छोटे बच्चोंके पहननेका ढीला कुरता। जानु पानि=बकैयाँ, बकयाँ; दोनों हाथों और दोनों पैरोंको पृथ्वीपर टेककर बच्चे चलते हैं वह चाल।=हाथ और घुटनेके बल। वा, 'जाँघपर हाथ धरकर'—(स्नेहलताजी)।

अर्थ—सुन्दर कान हैं, अत्यन्त सुन्दर गाल हैं, सुन्दर तोतले वचन बड़े ही मधुर और बड़े ही प्रिय लगते हैं॥ ९॥ जन्मके समयसे ही रक्खे हुए चिकने और घुँघराले बाल हैं। माताने बहुत प्रकारसे रचकर उनको सँवार दिया है॥ १०॥ पीली अँगरखी देहपर पहिनायी है। घुटनों और हाथोंके बल चलना मुझे बहुत ही प्यारा लगता है॥ ११॥

टिप्पणी—१ (क) **'सुंदर श्रवन सुचारु कपोला'** इति। अभी कर्णवेध संस्कार नहीं हुआ है, इसीसे कानोंका भूषण नहीं वर्णन किया गया। विशेष १४७ (१। ५) में देखिये। (ख) **'अति प्रिय मधुर'''** इति। भाव कि **'तोतरे बोल'** तो सभी बालकोंके प्रिय और मधुर होते हैं पर श्रीरामजीके तोतले वचन अति प्रिय और अति मधुर हैं। अति मधुर हैं। इसीसे अतिप्रिय हैं (ग) मुखकी शोभा ऊपर कह चुके—'आनन अमित'''।' अब यहाँ मुखके बोलकी शोभा कहते हैं।

२—**'बहु प्रकार रचि मातु सँवारे'**—भाव कि केश एक तो अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं, अच्छे हैं, चिकने हैं, घुँघराले हैं, काले हैं, उसपर भी माताने बहुत प्रकारसे रचकर उन्हें सँवारा है। अतर-फुलेल लगाकर ऐंछा है, इससे चिक्कन हैं और सँवारा है इससे कुञ्चित हैं।

३ (क) **'पीत झँगुलिया तनु पहिराई'** से पाया जाता है कि गर्मीके दिन हैं। चैत्रमें जन्म हुआ। भादों, कुआर छठा महीना है। छठे महीने बालक बकैयाँ (घुटनों और हाथोंके बल) चलता है। 'तनु पहिराई' का भाव कि श्याम तनु पाकर पीत झँगुलीकी शोभा हुई है, यथा—'पीत झीनि झगुली तनु सोही। ७। ७७।' (ख) 'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई' इति। भाव कि जो जानु-पाणिसे मुझको पकड़नेको दौड़ते थे यथा—'जानु पानि धाए मोहि धरना। ७। ७९।' वह शोभा मेरे हृदयमें बस गयी है, मुझे भाती है, पर कहते नहीं बनती। (परंतु आगेके **'तिन्हकी यह गति प्रगट भवानी। २००। २।'** यह शिवजीका कथन सिद्ध होता है)। पुनः भाव कि जानु-पाणिसे विचरनेमें चरण उलट जाते हैं, तलवोंके अड़तालीसों चिह्नोंका दर्शन होता है और हाथोंको पृथ्वी कमलके फूलोंका आसन देती है। [(ग) ☞ इस अर्धालीमें सूक्ष्म रीतिसे **'भूमि उपवेशन'** उत्सव जनाया है। भाद्रपद कृ० १३ को पुष्य नक्षत्रमें प्रथम-प्रथम आँगनमें शिशुको भूमिपर बिठलानेकी रस्म बरती गयी। उसीका ध्यान यहाँ वर्णन किया है।] सर्वाङ्ग शृङ्गारसहित जरतार रेशमी पीत झँगुली तनमें पहनाकर माताओंने बच्चोंको भूमिपर बैठाया है। (वै०)। (घ) **'मोहि भाई'** कहकर जनाया कि जानु-पाणि-विचरण देखकर चंचल मन स्थिर हो जाता है। (रा० प्र०)। (ङ) मिलानका श्लोक—**'जानुभ्यां सहपाणिभ्यां प्राङ्गणे विचचार ह। क्वचिच्च वेगतो याति क्वचिद्याति शनैः शनैः॥'** सत्योपाख्याने अ० २५। ६)]

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानै सपनेहु जेहि देखा॥ १२॥

दो०—सुख संदोह मोहपर ग्यान गिरा गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥ १९९॥

अर्थ—रूपका वर्णन तो वेद और शेष भी नहीं कर सकते। वही जाने जिसने स्वप्नमें भी देखा हो॥ १२॥ सुखके समूह अर्थात् आनन्दघन, मोहसे परे, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे (जो श्रीराम ब्रह्म हैं वही) दम्पति (राजा-रानी) के परम प्रेमके वश पवित्र बाल-चरित्र कर रहे हैं॥ १९९॥

टिप्पणी—१ (क) 'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा' इति। भाव कि जितनी शोभा हमने कही, उतनी ही नहीं है, वरंच बहुत है, उसे शेष और श्रुति भी नहीं कह सकते। (ख) ☞ भगवान्‌का नखशिख वर्णन किया गया; सब अङ्गोंका वर्णन किया पर नेत्रोंका वर्णन नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि भुशुण्डिजीने रूपको साक्षात् देखकर

(उत्तरकाण्डमें) गरुड़जीसे वर्णन किया। उसी रूपको गुरुमुखसे सुनकर हमने वर्णन किया। पर भुशुण्डिजीने रूपको देखकर उसका वर्णन किया, इसीसे वहाँ नेत्रका वर्णन है, हमने बिना देखे वर्णन किया इसीसे हमारे यहाँ नेत्रका वर्णन नहीं है। अथवा, श्रीरामजीका ऐसा अद्भुत रूप है कि श्रुति-शेष भी ठीक-ठीक नहीं कह सकते, वर्णन करनेमें सबसे कुछ-न-कुछ बाकी ही रह जाता है। भुशुण्डिजीसे भी भृगुचरणचिह्न कहनेमें रह गया। वैसे ही यहाँ नेत्रका वर्णन रह गया। (विशेष १९९। ७-८ में देखिये)।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि **'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा'** कहकर **'सो जानइ सपनेहु जिन्ह देखा'** कहनेमें भाव यह है कि रूप यद्यपि सर्वथा अवर्णनीय है फिर भी अज्ञेय नहीं है, सपनेमें भी जिसने देखा है वह इस बातको जानता है कि वह महासौन्दर्य सर्वथा वाणीसे परे है। श्रीगोस्वामीजीने स्वप्नमें इस प्रकार दर्शन किया था, इसलिये ऐसा कहते हैं। यहाँ गोस्वामीजीने नेत्रका वर्णन नहीं किया; क्योंकि याद नहीं है। स्वप्नकी बात पूरी-पूरी याद नहीं रहती एकाध बातकी भूल पड़ जाया करती है।'

प० प० प्र०—शिवजी कहते हैं **'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा'**। इससे अनुमान होता है कि शिवजीने यह लीला देखी है। कब और कैसे देखी इसका संकेत भुशुण्डिजीकी मोहकथामें है जो **'जानुपानि धाए मोहि धरना ॥ ७। ७९। ६।'** से शुरू हुई। मोहनिवृत्तिके पश्चात् भुशुण्डीजीने कहा है कि **'लगे करन सिसु कौतुक तेई ॥ ७। ८८। ५।'** **'तेई'** से **'जानुपानि धाए मोहि धरना'** इत्यादिको ही सूचित किया है। इसके अनन्तर सोरठेमें कहा है—**'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महँ संतत मगन ॥ ८८ ॥'** अर्थात् उस सुखके लिये शिवजीको अशिव वेष लेना पड़ा। भुशुण्डिजीने इस सुखके लिये **'लघु बायस बेष'** लिया। काक-देह अमंगल है। इससे सिद्ध हुआ कि भुशुण्डिजीके साथ शिवजी भी लघु वायस वेषमें **'जानु पानि बिचरनि'** देखते थे; अतः कहा कि **'मोहि भाई'**। जब शिवजी विप्रवेषमें आये तब भुशुण्डिजी भी विप्रवेषमें आये थे, और जब भुशुण्डिजी लघुवायसरूपसे शिशु-चरित देखते तब शिवजी भी उनके साथ लघुवायसरूपमें ही रहे, पर शिवजीको मोह नहीं हुआ।

टिप्पणी—२ **'सुख संदोह मोहपर'** इति। (क) सुखके पात्र हैं, मोहसे परे हैं; यथा—**'नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा ॥ ११६। ५।'** इतने विशेषण देकर तब **'दंपति परम प्रेम बस'''** कहनेमें भाव यह है कि जो ब्रह्म इतना अगम्य है, वही प्रेमके वश होकर इतना सुगम हो गया कि शिशु बनकर चरित कर रहा है। श्रीमनु-शतरूपाके प्रेमवश उनके बालक हुए और उनको वात्सल्यसुख देनेके लिये शिशुचरित करते हैं। (ख) 'पुनीत' अर्थात् ऐसे पवित्र हैं कि अधमाधम प्राणी भी इन्हें सुननेसे ही पवित्र हो जाते हैं। (ग) ☞ जबतक माता-पिताकी गोदमें रहे तबतक माता-पिताको ही विशेष सुख रहा। जब गोदसे उतरकर आँगनमें खेलने लगे तब माता-पिता (दोनों) को सुख होने लगा, इसीसे यहाँ **'दंपति प्रेम बस'** कहा और पूर्व केवल **'कौसल्याके गोद'** कहा था। जानु-पानि-विचरण होने लगा तब पिता भी गोदमें लेने लगे। और आगे बाहर निकलनेपर सभी कोसलपुरवासियोंका सुख लिखते हैं; **'एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता ॥'**—**'सुखसंदोह'** हैं, अतः सबको सुख देते हैं।

खर्रा—१ इस दोहेमें भगवान्के सब अंगोंका वर्णन है, नेत्रोंका वर्णन नहीं है और देखनेवालोंका तीन बार वर्णन है। यथा—**'बिप्रचरन देखत मन लोभा'**, **'नाभि गँभीर जान जिहिं देखा'**, **'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा'**। २—यहाँ नाम, रूप, लीला और धाम क्रमसे कहे गये। प्रथम नामकरणसे नाम कहा, **'काम कोटि छबि स्याम सरीरा'** से लेकर **'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा'** तक १२ अर्धालियोंमें रूपका वर्णन हुआ, **'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई'** और **'कर सिसुचरित पुनीत'** इत्यादि लीला है। और, आगे **'कोसलपुर बासिन्ह'''** से धाम कहा। ३—बाललीलाप्रकरणमें तीन दोहे एक ही प्रकारके हैं।—**'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥'**, **'सुख संदोह मोह पर ग्यान गिरा गोतीत। दंपति परम प्रेमबस कर सिसु चरित पुनीत ॥'** और **'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगति हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप ॥ २०५ ॥'** तीनोंमें ऐश्वर्य वर्णित है। प्रथममें कौसल्याजीका, दूसरेमें पुरवासियोंका भी प्रेम क्रमसे पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। ४—**'एहि बिधि राम जगत पितु माता'** के आगे ५ अर्धालियोंमें उपदेश है।

प० प० प्र०—इस दोहेके अंगभूत १२ चौपाइयाँ हैं। यही **'सतपंच चौपाईं मनोहर'** हैं जो **'उर धरने'** अर्थात्

ध्यानके योग्य हैं। १२ चौपाई अन्यत्र नहीं हैं। इन चौपाइयोंमें सूर्यावलोकन, निष्क्रमण, भूम्युपवेशन और अन्नप्राशन आदि बारह मासोंमें करने योग्य सब विधियाँ शास्त्रानुकूल समयमें ही की गयीं यह अत्यन्त गूढ़ रीतिसे कहा है। मराठी 'गूढ़ार्थचन्द्रिका' में विस्तारसे लिखा है—

एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता॥ १॥
जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी॥ २॥

अर्थ—जगत्के माता-पिता श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार (अवधमें जन्म लेकर बाललीला करके) कोशलपुरवासियोंको सुख देनेवाले हुए॥ १॥ हे भवानी! श्रीरामजीके चरणोंमें जिन्होंने प्रेमपन ठाना, अनुराग किया (अर्थात् जो श्रीरामपदप्रेमाभिमानी हैं) उन (उपासकों) की यह गति प्रकट है। (तात्पर्य की आज इस कलिकालमें, वर्तमान कालमें भी जो रामचरणमें रतिमान हैं, रामचरणानुरक्त हैं उनको भी उस समयके कोशलपुरवासियोंकी भाँति वे सुख देते हैं)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'जगत पितु माता' अर्थात् संसारके उत्पन्न-पालनकर्ता जो भगवान् हैं, एवं जो भगवान् माता-पिताके समान जगत्के सुखदाता हैं। जो राम सारे जगत्के माता-पिता हैं वे कोसलपुरवासियोंको सुखदाता हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत्को जिसने उत्पन्न किया वह स्वयं ही अवधमें आकर पुरवासियोंको सुख देनेके लिये (पुत्ररूपसे) उत्पन्न हुआ। एवं जो जगत् सुखदाता है वह एक पुरको सुख दे रहा है, यह कैसी विचित्र बात है! पुनः भाव कि जब वह स्वयं ही इनको सुख देने आया और दे रहा है, तब उनके सुखका वर्णन कौन कर सकता है? (ख) 'कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता' का भाव कि कोशलपुरमें निवास होनेसे उनपर बड़ा ममत्व है; यथा—'**अतिप्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥**' [(ग) 'एहि बिधि राम जगत पितु माता' यह चरण सूत्ररूप है। 'जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह' तीन नाम इसमें दिये। इन तीनोंको सुख दिया। प्रथम माताको, फिर माता-पिता दोनोंको, फिर कोसलपुरवासी एवं जगत्को।—(स्नेहलताजी)]।

२ (क) 'जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी' इति। प्रथम अर्धालीमें केवल कोसलपुरवासियोंको सुख देना कहा, इसीसे अब 'जिन्ह रति मानी' कहकर जगत्भरके उपासकोंको सुख देना कहते हैं। (ख) यहाँ गोस्वामीजीने ऐश्वर्यसूचक नाम न देकर 'रघुपति', 'रघुराई' इत्यादि माधुर्य नाम दिये हैं। इसमें भाव यह है कि प्रभुके सगुण रूपमें, उनके अवतारमें, जिनका प्रेम है, उन्हींको ये सुख मिल सकते हैं, दूसरोंको नहीं। (ग) 'तिन्हकी यह गति प्रगट' का भाव कि बात पुष्ट करनेके लिये वेदशास्त्रादिका प्रमाण दिया जाता है सो यहाँ प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। उपासकोंकी गति प्रकट है, आँखसे देख लो, प्रमाणका काम नहीं। [(घ) पुनः, भाव यह कि पूर्वकालमें श्रीमनु-शतरूपाजीने अनन्य प्रेमपन निबाहा इसीसे आज प्रभु उनको प्रत्यक्ष बालचरितका आनन्द (रूप फल) दे रहे हैं। इसी तरह जो कोई भी प्रभुसे अनन्य प्रेम करेगा उसकी भी गति अवधवासियोंकी-सी होगी, उनको भी प्रभु ऐसा ही मनोवाञ्छित सुख देंगे। (प्र० सं०)। अवधवासियोंका प्रेम वियोगके समय प्रत्यक्ष देखा गया है। प्रभु तो उनके प्रेमको प्रथमसे ही जानते हैं, इसीसे उनको सुख दिया है।

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भव बंधन छोरी॥ ३॥
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥ ४॥

शब्दार्थ—बिमुख=जिसको प्रेम न हो, जो मन न लगाये, प्रतिकूल। कोरी=कोरियों, बीसों, करोड़ों। =खाली खाली, व्यर्थ। भाखे=बोलती है, संभाषण करती है। भय भाखे=भयपूर्वक संभाषण करती है। बोलते डरती है। भय खाती है।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीसे विमुख (रहकर मनुष्य चाहे) कोरियों (वा, व्यर्थ कितने ही) उपाय (क्यों न) करें, उनका संसार-बंधन कौन छुड़ा सकता है?॥ ३॥ जिस मायाने चर-अचर सभी जीवोंको अपने वशमें कर रक्खा है, वह भी प्रभुसे भय खाती है॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'रघुपति बिमुख जतन कर कोरी।....' इति। (क) उपासकोंकी गति ऊपर कही। अब जो उपासनाका निरादर करते हैं, जो रामविमुख हैं, उनकी गति कहते हैं। 'जतन कर कोरी' का भाव कि यज्ञ, ज्ञान, तप, जप आदि

१. 'करि'—पाठान्तर।

करोड़ों यत्नोंसे भी भव-बन्धन नहीं छूट सकता; यथा—'जे ज्ञान मान विमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुरलभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥ ७ । १३ ॥' तात्पर्य कि ज्ञानादि करोड़ों यत्नोंसे श्रीरामभक्ति श्रेष्ठ है। (ख) 'कवन सकै भवबंधन छोरी', रघुपतिविमुखका भवबन्धन कौन छोड़ सकता है, इस कथनका तात्पर्य यह है कि रघुपतिकी भक्ति यदि करे तो भक्ति भवबन्धनको छुड़ा देती है; यथा—'देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही ॥ २०२ । ४ ।' (ग) [☞ प्रमाण यथा—'जप जोग बिराग महामख साधन दान दया दम कोटि करै। मुनि सिद्ध सुरेस गनेस महेश से सेवत जन्म अनेक मरै ॥ निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानलमें जुगपुंज जरै ॥ मन सों पन रोपि कहै तुलसी. रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ॥ क० ७ । ५५ ॥' पुनश्च, यथा—'विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते। यूयं धन्या महाभागा येषां प्रीतिस्तु राघवे ॥' (सत्योपाख्याने)। पुनश्च, 'ये नराधमा लोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखाः। जपं तपं दया-शौचं शास्त्राणामवगाहनम्। सर्वं वृथा विना येन शृणु त्वं पार्वति प्रिये ॥' (रुद्रयामले। वै०)। अर्थात् बिना भक्तिके मुक्ति नहीं होती यह हम हाथ उठाकर कहते हैं, जिनकी प्रीति श्रीरघुनाथजीमें है वे आप लोग धन्य हैं। हे प्रिय पार्वती! सुनो। जो अधम मनुष्य श्रीरामभक्तिसे विमुख हैं उनके जप, तप, दान आदि सब व्यर्थ हैं]।

नोट—श्रीभुशुण्डिजीने जो 'बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल ॥ ७ । १२२ ॥' कहा है वही भाव यहाँके 'रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भवबंधन छोरी ॥' का है। वहाँ 'कमठ पीठ जामहिं बरु बारा', 'बंध्यासुत बरु काहुहि मारा', 'फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला,' 'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना', बरु जामहिं सस सीस बिषाना', 'अंधकारु बरु रबिहि नसावै', हिम ते अनल प्रगट बरु होई', 'बारि मथें घृत होइ बरु' और 'सिकता तें बरु तेल' इन नौ असम्भव दृष्टान्तोंको देते हुए उनके आदि, मध्य और अन्तमें यही सिद्धान्त अटल बताया गया है। श्रुति-पुराण आदि सब ग्रन्थोंकी साक्षी दी गयी है। उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार तीनोंमें यही सिद्धान्त किया गया है।

टिप्पणी—२ (क) 'जीव चराचर बस कै राखे।''' इति। अब भवबन्धनका स्वरूप कहते हैं। मायाने चराचरको वश कर रक्खा है। यही भवबन्धन है। 'बस कै राखे', वश करके रक्खा है अर्थात् भवबन्धन नहीं छोड़ने देती। (ख) 'सो माया प्रभु सों भय भाखे', यही माया प्रभुके सामने ढीठ होकर नहीं बोल सकती, डरती रहती है। भाव कि वह प्रभुके अधीन है, प्रभुकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी करनेका साहस वह नहीं कर सकती। इससे जनाया कि जिनसे वह डरती है, उन्हीं प्रभुकी शरण हो जानेसे मायासे छुटकारा मिल जाता है; यथा—'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ गीता ७ । १४ ॥' [(ग) यहाँ दो असम्भव वाक्योंकी समताका भावसूचक 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है। (वीर)]

भृकुटि बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही ॥ ५ ॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) उस मायाको अपनी भौंहके इशारेपर नचाते हैं। ऐसे प्रभुको छोड़कर भला कहिये तो सही कि किसका भजन किया जाय? (अर्थात् और कोई भी भजने योग्य नहीं है; सभी तो मायाके वशीभूत हैं) ॥५॥ मन, कर्म और वचनसे चतुराई (चालाकी, छल, कपट) छोड़कर भजन करते ही श्रीरघुनाथजी कृपा करेंगे ॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'भृकुटि-बिलास नचावै ताही' इति। यथा—'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा ॥ सो प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा ॥ ७ । ७२ ।' अर्थात् जो माया चराचरमात्रको नचाती है वही प्रभुके भ्रू विलासपर नाचती है। 'नचावै' पदसे पाया जाता है कि श्रीरामजीके सामने माया मूर्तिमान् खड़ी रहती है, यथा—'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ॥ २०२ । ३ ।' प्रथम कहा कि 'सो माया प्रभु सों भय भाखे' अर्थात् माया प्रभुसे डरते हुए (बड़े अदबसे) बोलती है और यहाँ 'भृकुटि बिलास नचावै ताही' से जनाया कि वह बोलती है पर प्रभु उससे नहीं बोलते, भौंहके इशारेहीसे उसे नचाते हैं। पुनः 'नचावै' से जनाया कि माया नटी है; यथा—'नाच नटी इव सहित समाजा। ७ । ७२ ।', 'माया खलु नर्तकी बिचारी। ७ । ११६ ।'

नोट—१ 'अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही' इति। 'अस' अर्थात् जिसको माया डरती है और जिसके इशारेपर माया नाचती है, ऐसे समर्थ स्वामी। प्रभु=समर्थ स्वामी। 'भजिय कहु काही' क्योंकि और सभी तो 'माया बिबस बिचारे'

हैं। भाव कि जो स्वयं मायावश है वह दूसरेको मायासे कैसे छुड़ा सकता है ? जिसको माया डरती हो, जिसके वह अधीन हो, जो उसके स्वामी हों, वे ही उससे छुड़ा सकते हैं। श्रीरामजी ही एकमात्र ऐसे हैं, अतएव उन्हींका भजन करना चाहिये। उनकी भक्ति करनेसे माया डरती रहेगी। यथा—'माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिवर्ग जानै सब कोऊ॥ पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥ भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। ७। ११६।' एवं 'हरि-मायाकृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं।' रामभजन करनेसे वह अपना प्रभाव न डाल सकेगी।

टिप्पणी—२ (क) 'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई।…' इति। प्रथम 'जीव चराचर बस कै राखे' यह मायाका प्राबल्य कहा। फिर मायासे छूटनेका उपाय कहा—'अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही' अर्थात् प्रभु श्रीरामकी कृपा ही उपाय है। अब श्रीरामकृपाप्राप्तिका साधन बताते हैं कि भजन करे। 'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई भजत' यह इस साधन (भजन) की सिद्धिका उपाय बताया। उदाहरण यथा—'मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा। १८६।' देवता चतुराई छोड़कर शरणमें गये, अतएव तुरंत आकाशवाणी हुई,—'गगन गिरा गंभीर भै हरन सोक संदेह। १८६।'

नोट—२ मन अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, यथा—'नाम गरीबनिवाजको राजु देत जन जानि। तुलसी मन परिहरत नहिं घुरबिनिया की बानि॥ दोहावली। १३।' इसे सत्संगमें लगा देनेसे, इसपर प्रथम नियमका भार इतना डाल देनेसे कि उससे उसे छुट्टी ही न मिले (क्योंकि खाली बैठनेसे वह अवश्य विषयोंका चिन्तन करेगा), श्रीरामनाम और श्रीरामचरितका प्रभाव जानकर उनमें उसे लगा देनेसे, वह धीरे-धीरे विषयोंसे हटकर इधर लग जायगा तब प्रभु अवश्य कृपा विशेष करेंगे। देखिये, देवताओंके मन, वचन, कर्मसे शरण होनेपर ही ब्रह्मवाणी हुई थी।

३ 'छाड़ि चतुराई' इति। चतुराई क्या है ? चालाकी, छल, कपट ही चतुराई है। स्वार्थ छल है; यथा—'छल स्वारथ फल चारि बिहाई।' कपट प्रभुको नहीं भाता; यथा—'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।' इसीसे श्रीभरतजी कहते हैं कि प्रभुके न आनेका कारण यही जान पड़ता है, यथा—'कारन कवन नाथ नहिं आएउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ॥…कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥ ७। १।' स्वार्थ और छल छोड़कर प्रभुहीसे नाता जोड़ना, उन्हींको उपाय और उपेय जानकर उन्हींका एकमात्र अपने सब कार्योंमें आशा-भरोसा रखना,—दम्भ-कपटसे नहीं वरंच शुद्ध अन्तःकरणसे यही 'छाँड़ि चतुराई' का भाव है। यथा "जानकीजीवनकी बलि जैहौं। चित कहै रामसीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥ उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभुपद बिमुख न पैहौं। मन समेत या तनके बासिन्ह इहै सिखावनु दैहौं॥ श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं। रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईसही नैहौं॥ नातो नेह नाथ सों करि सब नाते नेह बहैहौं। यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥ विनय १०४।", बस यही जीवन अपना बनाना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। गीतावलीमें प्रभुने भी यही लक्षण विभीषणजीसे कहे हैं जिससे वे अपनाते हैं; यथा 'सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जाको कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं न तजौं तिहि यह जानत रिषिराउ॥ जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ।…नहि कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ। ५। ४५।'

४ 'कृपा करिहहिं रघुराई' का भाव कि उनकी कृपासे ही मायाकी निवृत्ति होगी; यथा 'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा॥ ४। ३। २।'

एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥ ७॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥ ८॥

दो०—प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥२००॥

अर्थ—इस प्रकार प्रभु (जगत्-पितु-माता श्रीरामचन्द्रजी) ने बालक्रीड़ा की और समस्त पुरवासियोंको सुख दिया॥ ७॥ प्रेममें डूबी हुई माता कौसल्याजी उन्हें कभी (तो) गोदमें लेकर हिलाती-डुलाती और कभी पालनेमें लिटाकर

झुलाती हैं ॥ ८ ॥ (इस तरह प्रेममें डूबी हुई) रात-दिन जाते नहीं जानतीं। पुत्रके प्रेमवश माता उसके बालचरित गाया करती हैं ॥ २०० ॥

टिप्पणी—१ (क) "पूर्व कह आये कि 'एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुरबासिन्ह सुख दाता।' और यहाँ पुनः कहते हैं कि 'एहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा ॥' यह पुनरुक्ति है", यह शङ्का लोग करते हैं। पर यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि पूर्वकी चौपाई 'एहि बिधि राम जगत पितु माता।···' इत्यादि उपदेशके सम्बन्धमें है कि उनका ऐसा प्रेम है कि जो जगत्मात्रके माता-पिता हैं, उन्होंने इनको अपना माता-पिता बनाया और स्वयं पुत्र होकर उनको सुख दिया। और 'एहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा' इत्यादि कथाके सम्बन्धमें है। जैसे कि किष्किन्धाकाण्डमें 'बरषा-बिगत सरद रितु आई।' और 'बरषागत निर्मल रितु आई।' में एक ऋतुवर्णनके सम्बन्धमें कहा गया और दूसरा लीलावर्णनके सम्बन्धमें। (ख) शिशुविनोद गीतावलीमें स्पष्ट है कि कभी हाथ पसारते हैं, कभी किलकारी मारते हैं, कभी रिसा जाते हैं, इत्यादि। [यथा 'आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके। रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावतहूँ, रोवत राम मेरो सो सोच सबही के ॥ देव पितर ग्रह पूजिये तुला तौलिये घीके। तदपि कबहुँक सखि ऐसेहि आरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के ॥ बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के। सुनत आइ रिषि कुस हरे नरसिंहमंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के ॥ जासु नाम सरबस सदा सिव पारबती के। ताहि झरावति कौसिला यह रीति प्रीतिकी हिय हुलसत तुलसी के ॥ गी० १२।', 'माथे हाथ रिषि जब दियो राम किलकन लागे। महिमा समुझि लीला बिलोकि गुरु सजल नयन तनु पुलक रोम-रोम जागे ॥ लिये गोद धाए गोद ते मोद मुनि-मन अनुरागे। निरखि मातु हरषी हिये आली ओट कहत मृदु बचन प्रेम के से पागे ॥ तुम सुरतरु रघुबंसके देत अभिमत माँगे। मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे ॥ गी० १२ ॥'; 'गहि मनिखंभ डिंभ डगि डोलत। कलबल बचन तोतरे बोलत ॥ ४ ॥ किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि ॥ गी० २८ ॥'; 'नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि।··· परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि-गिरि परनि ॥ २ ॥ झुकनि झाँकनि छाँह सों किलकनि नटनि हठि लरनि। तोतरि बोलनि बिलोकनि मोहनी मनहरनि ॥ ३ ॥ सखिबचन सुनि कौसिला लखि सुढर पाँसे ढरनि। लेत भरि भरि अंक सैंतति पैंत जनु दुहुँ करनि ॥ गी० २५ ॥']

२ 'लै उछंग कबहुँक हलरावै।···' इति। यह कौसल्याजीके चित्तका उत्साह है, कभी गोदसे उतारकर नीचे बिठा देती हैं तब बकैयाँ चलने लगते हैं,—'जानु पानि-बिचरनि मोहि भाई'। कभी गोदमें लेकर हिलाती-डुलाती हैं, कभी पालनेमें लिटाकर झुलाती हैं और बालचरित गान करती हैं। ☞'कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना ॥ १९८। ८।' पर कथाका प्रकरण छोड़कर बीचमें श्रीरामरूपका वर्णन करने लगे थे, फिर भक्ति और मायाकी महिमा कही। अब पुनः कथाका प्रसङ्ग वहींसे उठाते हैं—'लै···उछंग०'। [उछंग (सं० उत्संग)=गोद, कौरा। उछंग लेना=गोदमें लेना; हृदयसे लगाना।]

३ 'प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन···' इति। (क) प्रथम लिख आये कि 'सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद' अर्थात् कौसल्याजीके प्रेम और भक्तिके वश होकर ब्रह्म कौसल्याजीकी गोदमें आया। और अब यहाँ कौसल्याजी-का प्रेम वर्णन करते हैं। (ख) 'निसि दिन जात न जान' अर्थात् दिन-रात इतने सुखसे बीते कि पता ही न चला। सुखके दिन जाते जान नहीं पड़ते। 'निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं', 'पुरजन नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती ॥ अ० २५२।', 'सुख समेत संबत दुइ साता। पलसम होहिं न जनिअहिं जाता ॥ अ० २८०।' (ग) 'सुत सनेह बस' यहाँ कहकर दिखाया कि जैसे उधर भगवान् कौसल्याजीके प्रेमके वश हुए वैसे ही कौसल्याजी भी पुत्रके स्नेहके वश हैं। इस प्रकार माता और पुत्रका अन्योन्य प्रेम दिखाया। सुत-स्नेह-वश हैं, इसीसे सुतका चरित्र गाती हैं। [बालचरित-का गान गीतावलीमें स्पष्ट है। यहाँ दो एक पद उद्धृत किये जाते हैं। यथा—(१) 'सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये।···बालकेलि गावति हलरावति पुलकति प्रेम-पियूष पिये ॥ २ ॥···गी० १। ७।'; (२) 'ह्वै हौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया। रामलखन भावते भरत रिपुदवन चारु चारिउ भैया ॥ १ ॥ बाल बिभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं। सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं ॥ २ ॥ छगन मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुक ठुमुक कब धैहौ। कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि माँ मोहि बुलैहौ ॥ ३ ॥ पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली।

लैहैं लोचन लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ बेली ॥ ४ ॥ जा सुख की लालसा लटू सिव सुक सनकादि उदासी। तुलसी तेहिं सुखसिंधु कौसिला मगन पै प्रेम पियासी। गी० ६।' (३) 'छोटी छोटी गोड़ियाँ अंगुरियाँ छबीली छोटी नख जोति मोती मानो कमल दलनि पर। ललित आँगन खेलैं ठुमकु ठुमकु चलैं झुंझुनु झुंझुनु पायँ पैजनी मृदु मुखर। किंकिनी कलित कटि हाटक जटित मनि मंजु कर कंजनि पहुचियाँ रुचिरतर। पियरी झीनी झंगुली साँवरे सरीर खुली, बालक दामिनी ओढ़ी मानों बारे वारिधर ॥ १ ॥ उर बघनहा कंठ कठुला झडूले केस, मेढ़ी लटकन मसिबिंदु मुनि मनहर। अंजन रंजित नैन चित्त चोरै चितवनि मुख सोभा पर वारों अमित असमसर। चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता, बालकेलि गावति मल्हावति सुप्रेम भरि। किलकि किलकि हँसैं दुइ दुइ दँतुरियाँ लसैं, तुलसीके मन बसैं तोतरे बचन बर ॥ गी० ३०।' (प्र० सं०)]

नोट—१ यहाँ माताका पुत्रविषयक स्नेह रति भाव है। श्रीरामजी आलम्बन विभाव हैं। उनकी मृदु मुसुकानि उद्दीपन विभाव है। माताका गोदमें लेकर हलराना, पालनेमें झुलाना आदि अनुभाव हैं। हर्षादि संचारी भावोंसे विस्तृत हो व्यक्त हुआ है। (वीर)

२. 'सुत सनेह बस···' इति। जब भगवान् सूतिकागारमें किशोर रूपसे प्रकट हुए तब कौसल्याजीको ऐश्वर्यका ज्ञान उत्पन्न हो गया था। प्रभुने उस समय यह सोचकर कि हमें तो अभी बहुत तरहके चरित करना है और ये ऐश्वर्यमें मग्न हैं, हँसकर पूर्वजन्म, तप और वरदानकी बात कही जिसमें माता सुतविषयक प्रेम करे। प्रभुके वचन और हँसीरूपी मायासे उनकी मति बदल गयी और उन्होंने वह रूप छोड़कर शिशुलीला करनेकी प्रार्थना की, बस भगवान् तुरत शिशु हो शिशुचरित करने लगे—'रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा'। 'प्रेम मगन कौसल्या·····' यहाँतक माताको सुख देनेके लिये शिशुचरित हुए। अब यह देखकर कि ये नितान्त 'सुत स्नेह' में मग्न हैं, ऐश्वर्य सर्वथा भूल गयी हैं, इनको फिर ऐश्वर्यका ज्ञान दिलानेके लिये अद्भुतरूप दिखावेंगे, क्योंकि ये पूर्वजन्ममें वर पा चुकी हैं कि 'अलौकिक विवेक कभी न मिटे' (१५१। ३)। भगवान्को यज्ञरक्षाके लिये मुनिके साथ और फिर चौदह वर्षके लिये वनमें जाना है, यदि 'सुत स्नेह' में ही ये मग्न रहीं तो उन लीलाओंके समय उनको भी बहुत क्लेश होगा और वे यहीं शरीर त्याग दें तो पूर्वका वरदान व्यर्थ हो जायगा। ये सब बातें यहाँ बीजरूपसे 'सुतसनेह-बस···' से जना दी हैं। दोहा २०२ भी देखिये।

प० प० प्र०—दोहेके प्रथम और तीसरे चरणमें एक-एक मात्रा न्यून है, और उनके अन्त्याक्षर दीर्घ होनेसे उच्चारणमें १२-१२ मात्राएँ ही हैं। छन्दोभंग-दोषद्वारा कौसल्याजीका अत्यन्त प्रेमविवश होना सूचित किया। बालचरित गान करनेमें बार-बार गद्गद कण्ठ हो जाती हैं, कुछ कहा नहीं जाता। ऐसी दशामें बीच-बीचमें उनकी वाणी रुक जाती है।

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाए ॥ १ ॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना ॥ २ ॥

अर्थ—एक बार माताने (श्रीराम-शिशुको) स्नान कराया और शृङ्गार करके पालनेमें लिटा दिया ॥ १ ॥ (फिर) अपने कुलके इष्टदेव भगवान्की पूजाके लिये स्नान किया ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) नहला देनेसे बालकको निद्रा आ जाती है, इसलिये स्नान करा दिया और पालनेमें लिटा दिया जिससे लिटाते ही बालक रामजी सो गये, जैसा आगे स्पष्ट है,—'देखा बाल तहाँ पुनि सूता' (ख) 'करि सिंगार'। शृङ्गार तो पूर्व वर्णन कर चुके हैं, स्नानके समय झँगुली, आभूषण आदि सब उतारे गये थे, यह बात 'अन्हवाए' से ही सूचित कर दी, अतएव अब पुनः शृङ्गार करना लिखा गया। शृङ्गार वही है जो पूर्व लिख आये। (ग) 'निज कुल इष्टदेव भगवाना' इति। 'अपने कुलके इष्टदेव भगवान्' कहकर जनाया कि भगवान्हीको कुलदेवके भावसे पूजती हैं। इसीसे आगे नैवेद्यका 'चढ़ाना' लिखते हैं। यदि केवल भगवान्-भावसे पूजतीं तो नैवेद्यका 'लगाना' लिखते। 'कुल इष्टदेव' से कुलदेवता सूचित किये। इष्टदेव और कुलदेव दो पृथक्-पृथक् बातें हैं। 'कुल इष्टदेव' कहकर तब उनका नाम बताया कि 'भगवान्' उनका नाम है। 'निज' पद दिया क्योंकि अपने-अपने कुलके देवता पृथक्-पृथक् होते हैं।

नोट—१ 'निज कुल इष्टदेव भगवाना' इति। रघुकुलके कुलदेवता श्रीरङ्गजी हैं। 'भगवान्' कहकर जनाया कि और कोई देवी-देवता इस कुलके इष्ट नहीं हैं, स्वयं भगवान् विष्णु ही इष्टदेव हैं। रघुवंशी वैष्णव हैं। वाल्मीकिजीने इनके कुल-

इसको 'जगत नाथ' नामसे लिखा है। 'श्रीरङ्गक्षेत्र-माहात्म्यमें श्रीरङ्गजीका विस्तृत वर्णन है। जब सृष्टिके आदिमें भगवान्ने चतुर्भुजरूप हो जलमें शयन किया और उनकी नाभिकमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए एवं ब्रह्माको सृष्टि रचनेकी आज्ञा हुई तब उन्होंने प्रार्थना की कि इसमें पड़कर मैं संसारमें लिप्त न हो जाऊँ। भगवान्ने आज्ञा दी कि हमारा स्मरण-भजन करते रहना, इससे संसार-बन्धनमें न पड़ोगे। उस समय ब्रह्माजीने भगवद्-आराधनकी विधि पूछकर फिर प्रार्थना की कि जिससे हमारी उत्पत्ति हुई है इसी स्वरूपका ध्यान मुझे दीजिये। भगवान्ने उस समय यह विमान उनको दिया था। 'रङ्ग' नाम विमानका है जो प्रणवाकार है। उसीमें भगवान्का अर्चाविग्रह भी विराजमान था। जो ध्यान और आराधन ब्रह्माजीको बताया गया वही 'पञ्चरात्र' नामसे ख्यात है। राजा इक्ष्वाकुने जब मनु महाराजसे इसे पढ़ा तब उनको इसका पता लगा; उनकी लालसा हुई कि भगवदाराधनके लिये उस विग्रहको प्राप्त करें। अतः तप करके ब्रह्माजीको प्रसन्न करके वे उसे माँग लाये। परधामयात्राके समय विभीषणजीको श्रीरामचन्द्रजीने यह विग्रह देकर कहा कि ये इस कुलके देवता जगन्नाथ हैं—'आराधय जगन्नाथं इक्ष्वाकुकुलदैवतम्'। तुम इनका आराधन करना परंतु मार्गमें कहीं रखना नहीं, पृथ्वीपर रख दोगे तो ये फिर वहाँसे न हटेंगे। विभीषणजी कावेरी-तटपर चन्द्रपुष्करणी क्षेत्रमें पहुँचे तो उनको लघुशंका लगी तब इन्होंने विमान वहाँ रख दिया, फिर विमान वहाँसे न उठा। (कहा जाता है कि आजतक विभीषणजी वहाँ पूजन करने आते हैं। लगभग ८ वर्षकी बात है कि वह सरकारी तौरपर परस्पर वाद-विवाद होनेके कारण बंद रहा था, खुलनेपर उसके भीतर दीपक जलता और पूजन किया हुआ पाया गया)।—(वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्य, वृन्दावन)।

२ (क) 'पूजा हेतु कीन्ह असनाना' से जना दिया कि श्रीरामजीको बिना स्नान किये ही नहलाया था, क्योंकि इनको अपना पुत्र समझती हैं। देवताके लिये स्नान किया। अथवा, प्रथम प्रातःकाल जो स्नान शरीरशुद्धि और नित्य नियम करनेके लिये किया जाता है सो कर चुकी थीं। अब भगवान्की पूजाके निमित्त पुनः स्नान किया, क्योंकि लड़केको तेल-उबटन आदि लगाकर स्नान कराया है, घरका काम किया है, इससे अशुद्ध हो गयी हैं। (यह माधुर्यमें कर रही हैं)।

नोट—३ यहाँ गोस्वामीजी सूक्ष्म रीतिसे अन्नप्राशन (पसनी) उत्सवका वर्णन कर रहे हैं। आज बालक रामको प्रथम-प्रथम अन्न चटानेका मुहूर्त और तिथि है। इसीलिये माताने प्रभुको स्नान कराकर वस्त्रभूषणादिसे शृङ्गार करके पालनेमें लिटा दिया। प्रायः स्नानसे बच्चेको नींद आ जाती है, वही यहाँ हुआ। राम शिशु सो गये। तब माताने जाकर स्नान और पूजन किया। माधुर्यमें मग्न होनेके कारण सोचा कि अपने कुलदेवता भगवान्को भोग लगाकर बच्चेको प्रसाद पवावें (खिलावें)। अतएव भगवान्के आगे पकान्नका थाल रखकर भगवान्को निवेदित किया।

करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा॥ ३॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई॥ ४॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता॥ ५॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयँ कंप मन धीर न होई॥ ६॥

शब्दार्थ—नैवेद्य (नैवेद्य)=वह भोजनकी सामग्री जो देवताको चढ़ायी या निवेदित की जा सके।=भोग (घी, चीनी, श्वेतान्न, दधि, फल इत्यादि नैवेद्य द्रव्य कहे गये हैं। नैवेद्य देवताके दक्षिण भागमें रखना चाहिये। कुछ ग्रन्थोंका मत है कि पक्व नैवेद्य बाएँ और कच्चा दहिने रखना चाहिये)। पाक=पक्वान्न, रसोई। सूता=सोता हुआ।

अर्थ—पूजा करके उन्होंने नैवेद्य चढ़ाया। फिर स्वयं वहाँ गयीं जहाँ पकान्न बनाया गया था। अर्थात् रसोईमें गयीं॥ ३॥ वहाँसे माता चलकर फिर वहीं (श्रीरङ्गमन्दिरमें) आयीं। पुत्र वहाँ जाकर भोजन कर रहा है यह देखकर (या, वहाँ जाकर पुत्रको भोजन करते देख)॥ ४॥ माता भयभीत होकर (अपने) शिशुके पास गयी (जहाँ उसे सुलाकर आयी थीं) तो वहाँ बालकको फिर भी सोता हुआ देखा॥ ५॥ फिर (श्रीरङ्गमन्दिरमें) आकर (यहाँ भी) उसी पुत्रको देखा। [वा, जो पुत्र भोजन करता था उसीको फिर देखा। (पं० रामकुमार)]। उनका हृदय काँपने (धड़कने) लगा। मनमें धैर्य नहीं होता॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'आपु गई'। नैवेद्य अर्पण करके वहाँसे हट जाना होता है। भोग लगते समय पर्दा डाल दिया जाता है कि देवता उसे ग्रहण करें। इसीसे माता नैवेद्य चढ़ाकर स्वयं पाकशालामें चली गयी। 'पाक' के दर्शनका माहात्म्य है, इसी-

से वहाँ गयीं और पाकका दर्शन किया। [इसलिये भी जाना हो सकता है कि देख लें कोई भोगका पदार्थ रह तो नहीं गया। रसोई (पक्वान्न) ले जाकर भगवान्‌को अर्पण कर दी, पश्चात् आकर पाकका दर्शन करनेका भाव अपने समझमें नहीं आता और न उसका विधान वा प्रमाण ही मालूम है।

नोट—१ नैवेद्य चढ़ाना=भोग लगाना। यह मुहावरा है। देवताको खानेके पदार्थ सामने रखकर निवेदन करना कि यह नैवेद्य आपको अर्पण है, आप इसे स्वीकार करें, भोग लगायें, खायँ, कृतार्थ करें। पुनः यह भी रीति है कि देवताके हाथ, कंधे, शीश और मुखपर नैवेद्य रख देते हैं, अतएव 'चढ़ाना' कहा जाता है। इस शब्दसे दोनों मतोंकी रक्षा होती है। पं० रामकुमारजीका मत ऊपर लिखा जा चुका है कि भगवान्‌को कुलदेवके भावसे पूजा करनेसे 'चढ़ावा' कहा, भगवान् भावसे पूजतीं तो 'लगावा' कहते।

टिप्पणी—१ (क) **'बहुरि मातु तहवाँ चलि आई'**। अर्थात् जब समझ लिया कि अब भोग लग चुका, भगवान् पा (खा) चुके, तब उनको आचमन करानेके लिये आयीं। 'तहवाँ' अर्थात् जहाँ नैवेद्य चढ़ाया था। (ख) **'भोजन करत देखि सुत जाई'** इति। श्रीरामजी भोजन करने लगे, इससे जनाया कि इनके कुलदेव भगवान् श्रीरामजी ही हैं क्योंकि यदि भगवान् रामचन्द्रजीको छोड़ कोई और कुलदेव होता तो श्रीरामजी दूसरेका भाग न खाते।

२ (क) **'गै जननी सिसु पहिं भयभीता'** इति। शिशुके लिये चिन्तित हो भयभीत हो गयीं कि मेरे बालकको कुछ हो तो नहीं गया। मैं तो बच्चेको पालनेपर सुला आयी थी, यहाँ कैसे आया? यहाँ किसने लाकर बिठा दिया? इत्यादि। 'जननी' का भाव कि जिस पुत्रको उन्होंने जन्म दिया था उसके पास गयीं, जो बालक भोजन कर रहा है यह कौन है इसमें सन्देह है।

(ख) **'पुनि सूता'**। भाव कि एक बार उसे सोता हुआ देखकर तब स्नान, पूजा और रसोईके लिये गयी थीं, अब जब फिर गयीं तब भी वहाँ बच्चेको ज्यों-का-त्यों सोता हुआ पाया। 'सूता' अवधप्रान्तकी बोली है। (ग) **'बहुरि आइ देखा सुत सोई।....'** इति 'सोई' वही पुत्र जिसको प्रथम भोजन करते देख गयी थीं। [वा, जिसे पालनेपर सोता छोड़ आयी थीं। (घ) एक ही बालक श्रीरामको पालनेमें सोते और रङ्गमन्दिरमें भोजन करते वर्णन करना 'तृतीय विशेषण अलंकार है। (वीर)]

(ङ) **'हृदय कंप....'**। प्रथम जब भोजन करते देखा था तब भयभीत हुई थीं। जब यहाँ और वहाँ दो बालक निश्चित हो गये तब हृदय कम्पित हुआ अर्थात् विशेष भय हो गया। यही दशा सतीजीकी हुई थी, यथा—**'हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मग माहीं॥** ५५। ६॥ (च) **'मन धीर न होई'** अर्थात् धैर्य धारण करना चाहती हैं पर धीरज होता नहीं। कारण आगे कहते हैं—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा॥ ७॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥ ८॥

शब्दार्थ—बिसेष=भेद।=खास बात। आन=दूसरी, अन्य। मुसुकानी=मुस्कान।

अर्थ—(मनमें सोच रही हैं कि मैंने) यहाँ और वहाँ दो बालक देखे। यह मेरी बुद्धिका भ्रम है या कोई और विशेष (खास कारण वा बात) है॥ ७॥ प्रभु श्रीरामचन्द्रजी माताको व्याकुल देखकर मधुर (मन्द मीठी) मुस्कानसे हँस दिये॥ ८॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी 'आन बिसेषा' का अर्थ 'विशेष दूसरा बालक है' ऐसा करते हैं। सुत जो भोजन कर रहा है उसके निकट खड़ी हैं, इसीसे 'इहाँ' कहती हैं और जहाँ बालक पालनेमें सो रहा है उसके लिये 'उहाँ' कहा। यह बात निश्चय करना चाहती हैं कि बात क्या है पर निश्चय नहीं होता। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि **'आन बिसेषा'** अर्थात् कोई और खास बात है, ऐसा तो नहीं है कि कुलदेवने ही यह माया रची हो। (मेरे पुत्रका रूप धरकर भोजन करने लगे हों)। शङ्का-निवारणार्थ विचार करती हैं, यह 'वितर्क संचारी भाव' है।

टिप्पणी—१ **'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी'** इति। माताकी व्याकुलता दूर करनेके लिये हँसे, यथा—**'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।** २। २३९।' और हँसकर मायाका विस्तार किया जैसा आगे कहते हैं;—**'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।'** मधुर मुस्कानसे हँसनेका भाव कि ठट्ठा मारकर हँसनेसे माता अधिक भयभीत हो जाती, अतः जैसे सदा

माताकी ओर देखकर हँसा करते थे वैसे ही मंद मुस्कानसे हँस दिये। इसी प्रकार जब सतीजी दुःखित हुई थीं तब उनको अपना कुछ प्रभाव दिखाया था—'जाना राम सती दुख पावा। निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा॥'

नोट—२ (क) जननी अकुला उठी, अर्थात् अद्भुतरससे भयानकरस हो जाने ही चाहता है यह देखकर प्रभु हँस दिये। 'कौसल्याजीमें भय स्थायी था। हास्यरस दर्शित करके प्रभुने उसको शान्त कर दिया। जब विस्मयमात्र स्थायी रह गया तब अपना अर्थात् अद्भुत रूप दिखाते हैं।' (वै०)। (ख) यहाँ 'हास्यकलाकी बड़ी ही सुन्दर युक्ति है कि भ्रम उत्पन्न कर दिया जाय। हास्यचरित्र जब भयभीत हो जाय तब हँसकर उसका परिहास हो। यह युक्ति यहाँ बड़े कोमलरूपमें प्रयुक्त हुई है। (लमगोड़ाजी)। (ग) कुछ लोगोंने यहाँ शङ्का उठाकर कि 'हँसि' और 'मुसुकानी' में पुनरुक्ति है', उसका समाधान यों किया है कि हँसकर माया डाली और मधुर मुस्कान तो उनका सहज स्वभाव ही है। परंतु हमारी समझमें तो 'मधुर मुसुकानी' से हँसीका प्रकार बताया है। इसमें पुनरुक्ति है ही नहीं। (घ) बाबा हरिदासजीका मत है कि 'माताको घबड़ायी हुई देख श्रीरामजी हँस दिये कि हमने तो सूतिकागारहीमें प्रकट होकर जना दिया था कि हम ईश्वर हैं जिन्होंने तुम्हें वर दिया था तब क्यों भूलमें पड़ रही हो। तब माता भी मुस्करा दीं कि हाँ ठीक है, आपकी माया प्रबल है। प्रथम यह बात जनाकर तब विराटरूप दिखाया, नहीं तो और अधिक घबड़ा जातीं।' इस तरह वे 'मधुर मुसुकानी' को मातामें लगाते हैं।

दो०—देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥ २०१॥*

अर्थ—(प्रभुने) माताको अपना अद्भुत अखण्ड रूप दिखलाया जिसके रोम-रोममें करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं॥ २०१॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ भगवान्‌के रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड देख पड़े और भुशुण्डिजीको भगवान्‌के पेटमें करोड़ों ब्रह्माण्ड देख पड़े थे; यथा—'उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥ ७। ८०।' इससे सूचित हुआ कि भगवान्‌के भीतर-बाहर असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं। (ख) 'देखरावा' इति बिना दिखाये रूप नहीं देख पड़ता; अतएव 'देखरावा' कहा। [वैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ 'दिखावा' सकर्मार्थक क्रिया न देकर 'देखरावा' कहा जो प्रेरणार्थक क्रिया है। इसका भाव यह है कि आपने न दिखाया, अपने दूसरे रूपसे 'देखरावा'। दोनों रूप वर्तमान हैं। जिस रूपसे शयन किये हुए हैं वह नैमित्त्य (नैमित्तिक) है। उसमें प्रथम शिशु हुए। फिर प्रतिदिन उस रूपकी वृद्धि होती गयी। दाँत निकले, बकैयाँ चले, इत्यादि। आगे यज्ञोपवीत, विद्यारम्भसंस्कार, पौगण्ड, कुमार और किशोरादि होंगे। इत्यादि। इस नैमित्तिक रूपसे नरनाट्य करते हुए पृथ्वीका भार उतारेंगे। इस रूपसे ऐश्वर्य नहीं दिखायेंगे, माधुर्य लीला ही करेंगे। और, जिस रूपसे श्रीरंगमन्दिरमें भोजन करते हैं वह प्रभुका नित्य बालरूप है जिसका स्मरण-ध्यान शान्त वा वात्सल्यरसवाले भुशुण्डि, सनकादि और लोमशादि मुनि करते हैं। उस नित्य रूपसे यह अद्भुतरूप दिखाया। अर्थात् जो ऐश्वर्य गुप्त रक्खे हुए थे उसे प्रकट कर दिया।'] (ग) 'अद्भुत रूप'—अर्थात् जिसे न कभी सुना था न देखा, यथा 'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥ ७। ८॥' 'निज' का भाव कि मत्स्य, कमठ आदि अवतारोंके रूप धारण करनेसे हैं और यह रूप स्वतः है, धारण करनेसे नहीं। (घ) 'अखंड' का भाव कि यह रूप सदा एकरस रहता है, इसके खण्डन होनेसे समस्त ब्रह्माण्डोंका नाश है।

नोट—१ ☞ कौसल्याजीने सोया हुआ रूप देखा, भोजन करता हुआ रूप देखा और विराट्‌रूप देखा। इसमें बात यह है कि जब कौसल्याजीने श्रीरामजीकी स्तुति की तब तीन रूपोंका वर्णन किया। निर्गुण, सगुण और विराट्। यथा—'माया-गुन-ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता' यह निर्गुणरूप है। इसीसे सोया हुआ रूप देखा जो गुणोंसे रहित और जगत्‌के व्यवहारसे भिन्न है। दूसरे 'करुना-सुखसागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता', यह स्तुतिमें सगुणरूपका वर्णन है। अतएव जागता हुआ रूप देखा जो करुणा, सुख और दिव्य गुणोंका सागर है। तीसरे 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित

---

* 'रोम-रोम प्रति लागे' इस चरणमें १२ मात्राएँ हैं, अन्त्याक्षर दीर्घ है। मात्राकी न्यूनताद्वारा जनाया कि माता आश्चर्य और भयसे स्तम्भित एवं चकित हो गयी हैं। अकुलानी तो पहलेसे ही हैं, अब शरीर काँपने लगा॥ प० प० प्र०॥

माया रोम रोम प्रति बेद कहै', यह विराट् रूपका वर्णन है जो उस स्तुतिमें ही है। इसीसे विराट्रूपका भी दर्शन कराया गया—'देखरावा मातहि'''रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड।' (पाँड़ेजी)

२ यह अद्भुत रूप इस समय दिखानेका क्या प्रयोजन था ? उत्तर-(क) प्रभुने अलौकिक ज्ञान देनेका वचन दिया है। यथा-'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें ॥ १५१ । ३ ।' इस समय उस अनुग्रहका उचित अवसर है, क्योंकि माता वात्सल्यरसकी अधिकतामें आपका ऐश्वर्य भूल गयी हैं। कहाँ तो यह अनन्यता पूर्व जन्ममें कि 'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा ॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥' और लालसा भी उन्हींके दर्शनोंकी थीं; यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥' फिर दर्शन होनेपर उन्हींको पुत्ररूपसे माँग लिया। अब जब पुत्ररूप हो घरमें वर्तमान हैं तो उनको भूलकर इनसे भिन्न दूसरेको अपना इष्टदेव मानकर उनका प्रसाद प्रभुको देना चाहती थीं। प्रभुने अपने रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड जिनमेंसे प्रत्येकमें एक-एक ब्रह्मा-विष्णु-महेश-नारायण आदि थे, दिखाकर ज्ञान दिया कि 'हम ही तुम्हारे इष्टदेव हैं जिनको तुमने वरमें पुत्र-भावसे माँगा था और ये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और देवता हमारे अंशसे हैं। हमहीमें सब हैं, हमसे पृथक् कुछ नहीं; हमारे विद्यमान रहते तुम अन्यकी भावना क्यों करती हो, रङ्गजीने कभी प्रकट होकर भोजन न पाया हम साक्षात् पा रहे हैं। इस स्वरूपके देखते ही उनको ज्ञान हो गया कि 'जगत पिता मैं सुत कर माना'; बस यही ज्ञान देना था। (ख) इसका एक उत्तर 'सुत सनेह बस माता' दोहा २०० के नोटमें लिखा गया है। (ग) 'यहाँ कौसल्या अम्बाको रोम-रोममें अमित ब्रह्माण्ड दिखाये परन्तु श्रीभुशुण्डिजी, यशोदाजी और अर्जुनजीको मुखके भीतर यही सब दिखाया था न कि बाहर ?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने यह दिया है कि 'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।' माताने प्रथम सूतिकागारमें दर्शन होनेपर स्तुतिमें कहा था कि 'ब्रह्मांडनिकाया निरमित माया रोम रोम प्रति बेद कहै' जिससे यही माताका निश्चित विश्वास प्रकट होता है। अतएव भगवान्‌ने उसी प्रकारका रूप दिखाया कि जिसमें वे उसीमें और दृढ़ हो जायँ और उनको विश्वास हो जाय कि ये वही भगवान् हैं। (इस विराट् दर्शनका मिलान भुशुण्डिवाले विराट् दर्शनसे कर लें जो ७। ८०। २ से लेकर दोहा ८२ तकमें वर्णित है)। (घ) मानसी वंदनपाठकजी यह प्रश्न करते हुए कि 'माताको तो पूर्व अलौकिक विवेक दे चुके थे फिर उस रूपके भूलने और विश्वरूपके दर्शनमें क्या हेतु है ?' उसका उत्तर यह देते हैं कि 'ग्रन्थकारका संकल्प है कि 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥' व्यासजीने गीतामें विश्वरूपदर्शन अर्जुनजीके हेतुसे कहा है और श्रीमद्भागवतमें माताको मुख दिखानेके हेतुसे विराट दर्शन कहा, वैसे ही यहाँ माताद्वारा विश्वरूपका दर्शन कराना सिद्ध है।'

नोट—श्रीदीनजी यहाँ 'अल्पालंकार' और वीरकविजी 'द्वितीय अधिक अलंकार' मानते हैं।

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥ १ ॥
काल कर्म गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥ २ ॥
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ॥ ३ ॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही ॥ ४ ॥

अर्थ—अगणित (बे गिनती, असंख्य) सूर्य, चन्द्रमा, शिव और ब्रह्मा, बहुतसे पर्वत, नदियाँ, समुद्र, पृथ्वी, वन ॥ १ ॥ काल, कर्म, गुण, ज्ञान और स्वभाव, एवं और भी पदार्थ देखे जो कभी सुने भी न थे ॥ २ ॥ जो सब प्रकार प्रबल है, उस मायाको देखा कि (भगवान्‌के सामने) अत्यन्त भयभीत हाथ जोड़े हुए खड़ी है ॥ ३ ॥ जीवको देखा जिसे वह (माया) नचाती है और भक्तिको देखा जो उसे (जीवको) छुड़ाती वा छोड़ देती है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'अगनित रबि ससि''' इति। रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें सूर्य-चन्द्रमा, शिव और ब्रह्मा भिन्न-भिन्न हैं, इसीसे इन सबोंको अगणित कहा। (ख) 'बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन' इति। पर्वतसे नदी निकली है, नदीसे समुद्र है (समुद्रमें नदियाँ जाती हैं एवं समुद्र सरित्पति है), समुद्रसे पृथ्वी है, यथा 'अद्भ्यः पृथ्वी संभूता', और पृथ्वीसे वन होते हैं। अतएव गिरिसे प्रारम्भकर क्रमसे सरित आदि कहे गये। प्रथम यह कहकर कि रोम-रोममें असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं, यहाँ ब्रह्माण्डोंके भीतरका हाल लिखते हैं। 'अगनित रबि''' इत्यादि ब्रह्माण्डके अभ्यन्तरके

पद हैं। (ग) एक ही समयमें रवि और शशि दोनोंका देखना कैसे सम्भव है ? उत्तर यह है कि दोनोंको एक साथ कहकर जनाते हैं कि किसी ब्रह्माण्डमें रात है और किसीमें उसी समय दिन है। (अथवा, यह भी अद्भुतता है जो रूपमें देखी)।

२ (क) **'काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ'** इति। [भागवतदासजीका पाठ **'गुन दोष सुभाऊ'** है और पं० रा० कु० जीने उसी पाठपर भाव कहे हैं*। ऐसी ही उत्तरकाण्डमें एक अर्धाली है; यथा **'काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ ॥** ७। ११४।' (लोमशवचन भुशुण्डिप्रति)। पिछले चरणका 'बहु' इन सबोंका भी विशेषण है। अर्थात् काल-कर्मादिके बहुत रूप देखे। सुभाऊ (स्वभाव)=जीवोंकी प्रकृति। [लव, निमेष, दण्ड, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर आदि 'काल'; शुभाशुभ कर्म जैसे तप, यज्ञ, हिंसा, चोरी आदि; शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वभाव बनता है जो जन्मसे ही होता है। गुण सत्त्व, रज, तम। अथवा, स्वरूपधारी कालका रूप, कर्मरूप पुरुष, ज्ञान, परोक्ष और अपरोक्ष आदि और स्वभाव इन सबोंको रूपवान् (मूर्तिमान्) देखा। (रा० प्र०)]। काल कर्म, गुण स्वभाव चक्षुके विषय नहीं हैं। इनका योगज प्रत्यक्ष होता है। योगज प्रत्यक्ष होना ही इनका देखा जाना है, सो माता कौसल्याको इन सबका प्रत्यक्ष हुआ। एक ब्रह्माण्डका जीव उसीकी व्यवस्थाको थोड़ा बहुत जानता है, दूसरेके विषयमें वह कुछ नहीं जानता। दूसरे ब्रह्माण्डोंमें ऐसी बातें हैं जिन्हें लोगोंने न देखा है न सुना। उन सब अनन्त विशेषताओंका प्रत्यक्ष माता कौशल्याको हुआ। अर्जुनको केवल इस ब्रह्माण्डके विश्वरूपका दर्शन हुआ था। यों कौशल्याके प्रत्यक्षसे उसकी तुलना ही नहीं। (वि० त्रि०) (ख) **'सोउ देखा जो सुना न काऊ'**, यथा—**'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ ॥** ७। ८०।' जो कभी सुना भी न था सो देखा, इसका कारण यह है कि भगवान्के उदरमें सब प्रपंच अन्य-ही-अन्य भाँतिका है, यथा—**'देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती ॥ महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनै आना ॥'** ७। ८१।'—ये सब न सुने थे सो भी देखे।

३ (क) **'देखी माया सब बिधि गाढ़ी'** इति। सब विधि गाढ़ी अर्थात् दृढ़ है, प्रबल है। सब प्रकार अर्थात् रूपसे, सेनासे और स्वभावादि सभी तरह। ['गाढ़ी' अर्थात् जिसका बन्धन बड़ा कठिन है। इस विशेषणको देकर सूचित किया कि उसकी प्रचण्ड सेनासहित उसको देखा। **'माया कटक प्रचंड'** का वर्णन ७। ७० (६)-७१ में देखिये। वैजनाथजी 'सब बिधिकी माया अर्थात् आह्लादिनी, संदीपनी, संधिनी, विद्या, अविद्या इत्यादि सब प्रकारकी दुस्तर माया' ऐसा अर्थ करते हैं। (ख) **'अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी'** इति। तात्पर्य कि मारे डरके बैठती नहीं। शिशुलीलाप्रसंगमें मायाके सम्बन्धमें तीन बार उल्लेख हुआ।—**'जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥'**, **'भृकुटि-बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही'** और **'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ॥'** तात्पर्य कि 'माया प्रथम श्रीरामजीसे भयसहित बोलती रही, तब पूछकर नाचने लगी, और जब नाच चुकी तब हाथ जोड़े खड़ी है।' ['अति सभीत हाथ जोड़े' खड़ी होनेका भाव यह भी कहा जाता है कि 'उसने कुछ अपराध अवश्य किया है जिससे वह हाथ जोड़े भयभीत खड़ी है। वह अपराध क्या है ? वह यह है कि भक्तिके अधिकारी जीवको उसने बाँध रक्खा था। भक्ति उसे छोड़ रही है। छूटनेका लक्षण यह है कि वह जीव प्रेमसे भगवत्-यश-श्रवण-कीर्तन करता है।] (ग) ब्रह्माण्ड कहकर माया कही क्योंकि ब्रह्माण्डोंकी रचयिता माया ही है, यथा—**'लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया ॥'** २२५। ४। अतएव कार्य कहकर कारण भी कहा।

४ (क) **'देखा जीव नचावै जाही'**''' इति। काल, कर्म, गुण, दोष, स्वभाव—ये ही जीवके दुःखदाता हैं; यथा—**'काल करम गुन सुभाउ सबके सीस तपत'** (विनय०), **'काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुखु तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ ॥** ७। ११४।' जीवको बाँधनेवाली माया देखी, जीवको छुड़ानेवाली भक्ति देखी, यह कहकर जनाया कि ये सब मूर्तिमान् देख पड़े। माया जीवको वशमें किये है; यथा—**'जीव चराचर बस कै राखे'**; इसीसे उसको नट-मर्कट-नाईं जो

---

* प० प० प्र० भी 'दोष' पाठके पक्षमें हैं। कालानुसार कर्म होता है, कर्मानुसार सत्त्वादि गुण बढ़ते हैं। गुणोंका कार्य दोष, दोषसे दुःख। गुण-दोष मायाकृत हैं और ज्ञान तो माया तथा संचितादि कर्मोंका निरास करता है। काल-कर्म-गुण-स्वभाव सुख-दुःखदायक हैं और ज्ञान-मोह-विनाशक तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त करनेवाला है। अतः गुन और सुभाऊ के बीचमें 'ज्ञान' को रखना उचित नहीं। (प० प० प्र०)

चाहती है, वही नाच नचाती है। श्रीरामजी मायाको वश किये हैं, वह सदा अत्यन्त सभीत हाथ जोड़े खड़ी रहती है, जैसा चाहते हैं उसे नचाते हैं,—'भृकुटि बिलास नचावै ताही'। तात्पर्य कि जैसे मायाके आगे जीव असमर्थ हैं, वैसे ही श्रीरामजीके आगे माया असमर्थ है। और कोई उस जीवको बन्धनसे छोड़ देना चाहे तो माया उसे छोड़ने नहीं देती, यथा—'छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया॥ ७। ११८।' जब भक्ति छोड़ती है तब माया विघ्न नहीं करती, क्योंकि वह भक्तिसे डरती है; यथा—'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ ७। ११६।' ['छोरै' अर्थात् छोड़ देती है; इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि भक्ति स्वतन्त्र है, वह जीवको बन्धनसे छोड़ देनेको समर्थ है। यह कहते हुए कि इस दुष्टा मायाने बेचारे भोले-भाले जीवको बन्धनमें डाल रक्खा है, वह उस बन्धनको काटकर उसे छोड़ देती है। पुनः, 'छोड़ती है' अर्थात् काल-कर्म-स्वभावादिकी गति रोककर, सत्त्व-रज-तम गुणोंके फंदेको तोड़कर, श्रवण-कीर्तनादिकी गतिमें लगाकर जीवको प्रभुके सम्मुख कर देती है। (वै०)। 'जीव चराचर बस करि राखे। सो माया प्रभु सों भय भाषे॥ भृकुटि बिलास नचावै ताही।' यह वाक्य यहाँ चरितार्थ किया (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—कौसल्याजीको पुत्र-मोहसे छुड़ाने और अपनी मायासे मुक्त करनेके लिये ही यह विश्वरूप-दर्शनकी लीला है। कौसल्याजीने सब मर्म इस घटनासे जान लिया और 'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि' ऐसा वर माँग लिया। माया तो सारे जगत्‌को नचाती है, यथा—'जो माया सब जगहि नचावा॥··· ७। ७२।', 'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया। ३। १५। २।' तब यहाँ 'जीव' एकवचनका प्रयोग क्यों? उत्तर—एकवचनसे जनाया कि कौसल्याजीने देखा कि अपने (मेरे) जीवको माया नचाती है और यह भी देखा कि भक्ति उसे मायाबन्धनसे छोड़ रही है। राम भगवान् परमात्मा हैं, यह इतने दिन भूल गयी थीं, यही उनके जीवको नचाना है। प्रभुने स्पष्ट दिखा दिया कि तू अज्ञानी बनकर मोहमें फँस गयी थी पर मेरी भक्ति करती है इसीसे मैंने भक्तिको आज्ञा दी कि तुझको मोहबन्धनसे छुड़ा दे। मायाने तुझे मोहमें डाला था इसीसे वह मेरे सामने नाचती और क्षमा चाहती है।

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूदि चरननि सिरु नावा॥ ५॥
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥ ६॥
अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगत पिता मैं सुत करि जाना॥ ७॥

शब्दार्थ—बिसमयवंत=आश्चर्ययुक्त, डरी हुई। बहुरि=फिरसे, दुबारा, पुनः।

अर्थ—शरीर पुलकित हो गया (रोएँ खड़े हो गये), मुखसे वचन नहीं निकलता। (माताने) आँखें बन्दकर चरणोंमें सिर नवाया॥ ५॥ माताको भयभीत देख खरके शत्रु श्रीरामजी फिर शिशुरूप हो गये॥ ६॥ स्तुति नहीं करते बनती, डर गयी हैं कि (अरे!) जगत्पिताको मैंने पुत्र ही समझ लिया था॥ ७॥

नोट—१ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि भक्ति अर्थात् विद्यामायाके देखते ही माताकी आँखें खुल गयीं। बाल-चरितमें भूली हुई थीं सो भक्तिको देखते ही थाह-सी पा गयीं। प्रभुके प्रभावका, उनके ऐश्वर्यका, स्मरण हो आया, इसीसे 'तन पुलकित' हो गया।

टिप्पणी—१ (क) पुलक प्रेमसे भी होता है और भयसे भी, पर यहाँ डरसे ही रोंगटे खड़े हो गये हैं, जैसा आगे स्पष्ट है—'अस्तुति करि न जाइ भय माना।' भयसे वचन मुँहसे नहीं निकलते और भारी व्याकुलता होनेपर आँखें मुँद जाती ही हैं; यथा—'मूदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ। ७। ८०।', 'नयन मूदि बैठीं मग माहीं। ५५। ६।' तथा यहाँ 'नयन मूदि चरननि सिरु नावा'। (ख) पुनः 'मुख बचन न आवा' का भाव कि बोलना चाहती हैं, कुछ कहनेकी स्तुति करनेकी, इच्छा होती है पर वचन नहीं निकलता। (ग) 'बिसमयवंत देखि महतारी' इति। विराट्‌रूप देख माता-को विस्मय हुआ और जब वे पुनः शिशुरूप हो गये तब भय माना कि 'जगतपिता मैं सुत करि जाना।' माताको विस्मित देख शिशुरूप हो गये, इससे जनाया कि माताका दुःख न देख सके, करुणा आ गयी; यथा—'करुनामय रघुनाथ गुसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥' (घ) 'भए बहुरि सिसुरूप खरारी' इति। 'खरारी' नाम साभिप्राय है। इससे जनाया कि (खरादि राक्षसों वा) खलोंको मारना है इसीसे ऐश्वर्य छिपाते हैं और इसीसे पुनः शिशुरूप हो गये। 'बहुरि' का भाव कि प्रथम माताकी जन्म-समयकी स्तुति सुनकर वे शिशुरूप हुए थे, यहाँ शिशुरूप छोड़ विराट्‌रूप हो गये थे, अब पुनः शिशुरूप हो गये।

नोट—२ 'शिशुरूप' हो गये, इस कथनसे स्पष्ट कर दिया कि माताको मुखारविन्दके भीतर विराट्‌रूपका दर्शन नहीं कराया था वरंच साक्षात् विराट्‌रूप धारण कर लिया था। खरके वधमें अनेक रूप धारण किये थे। वहाँ यह कौतुक किया था कि सभी एक दूसरेको रामरूप ही देखने लगे थे। यहाँ भी कौतुक किया है। जब-जब भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं तब-तब प्रायः इस नामका प्रयोग होता है। यह शब्द अतिशय सौन्दर्य भी प्रकट करनेके लिये प्रयुक्त होता है। पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि 'खर' पद केवल उपलक्षणमात्र है। देवताओंके सर्वनाम और सर्व विशेषण सर्वकालमें दिये जाते हैं। यथा—'कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जियँ जानि। १००।' विशेष 'सोमासिंधु खरारी। १९२।' में देखिये।

३ यहाँ प्रभुका विराट्‌रूप देखकर माताका आश्चर्य स्थायीभाव है। श्रीरामजी आलम्बन विभाव हैं। रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्डों तथा शिव-ब्रह्मादिके दर्शन उद्दीपन विभाव हैं। हृत्कम्प, स्तम्भ आदि अनुभावोंद्वारा व्यक्त होकर शंका आदि संचारी भावोंकी सहायतासे 'अद्भुत रस' हुआ है।

टिप्पणी—२ (क) 'अस्तुति करि न जाइ भय माना' इति। ईश्वरको पुत्र मानना यह भयकी बात है; यथा—'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥ अस समुझत मन संसय होई। १५०। ६, ७।' (ख) 'अस्तुति करि न जाइ' का भाव कि प्रथम बार जब अद्भुतरूप देखा था तब स्तुति की थी, यथा—'हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी। १९२।' अब पुनः अद्भुतरूप देखा,—'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।' इस रूपको भी देखकर स्तुति करना चाहती हैं पर भयके कारण स्तुति नहीं कर सकतीं। (ग) 'भय माना' इति। भाव कि श्रीरामजीकी ओरसे माताको कुछ भी भय नहीं है फिर भी माताने अपने मनसे भय मान लिया है। (घ) 'जगतपिता मैं सुत करि जाना' इति। पिताको पुत्र मान लेना पाप एवं भारी धृष्टता है। (ङ०) जन्मसमयके अद्भुतदर्शनपर भगवान्‌की अनन्तता विचारकर सोचती थीं कि स्तुति कैसे करें; यथा—'कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता।' और यहाँ भयके कारण स्तुति नहीं कर सकतीं। [(च) जगत्‌पिताको पुत्र समझा यह अपराध विभाव, कम्पादि अनुभाव, दीनता संचारी और भय स्थायी होनेसे 'भयानकरस' आ गया। (वै०)। यहाँ 'द्वितीय असंगति अलंकार' की ध्वनि है। (वीर)]

हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥ ८॥

दो०—बार बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥ २०२॥

शब्दार्थ—ब्यापै=फैले, असर करे, मोहित करे, सतावे, व्याप्त हो। जनि=मत, नहीं। माई=माता।

अर्थ—भगवान्‌ने माताको बहुत तरहसे समझाकर कहा—हे माता! सुनो, यह बात कभी कहीं न कहना॥ ८॥ कौसल्याजी हाथ जोड़कर बारंबार विनती करती हैं कि 'हे प्रभो! मुझे आपकी माया अब कभी भी न व्यापै।' २०२।

टिप्पणी—१ (क) 'हरि जननिहि बहु बिधि समुझाई' इति। [यहाँ 'हरि' नाम दिया क्योंकि समझाकर माताका विस्मय हरण किया है] (ख) जब माताको विस्मय हुआ तब भगवान्‌ने शिशुरूप होकर समझाया जैसे जन्मसमय समझाया था; यथा—'कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।' समझाकर तब ऐश्वर्य प्रगट करनेको मना किया। (ग) 'बहु बिधि' यह कि तुम भय न मानो कि हमने जगत्-पिताको पुत्र करके माना। तुम पूर्व अदिति रही हो, कश्यपजीके साथ तुमने तीन कल्पोंमें तप किया था और इसी तरह स्वायम्भुव मनुके साथ शतरूपा रही हो। वहाँ भी तुमने मनुजीके साथ तप किया था। दोनों रूपोंमें तुमने हमसे यही वर माँगा था कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँ। इसीसे हम तुम्हारे पुत्र हुए हैं। [पुनः, समझाया कि तुमने हमसे यह भी वर माँगा था कि 'हमारा विवेक बना रहे, हम वात्सल्यमें बिलकुल भूल न जायँ; आपके ऐश्वर्यका ज्ञान, आपका स्वरूप कभी ध्यानसे जाता न रहे; जो सुख, जो भक्ति, जो अनन्य प्रेम, जो विवेक और जो रहनी आपके 'निज भक्त' चाहते हैं वह सब हमें मिले। इस समय तुम वात्सल्यमें मग्न होकर हमारा स्वरूप भूल गयी थीं, हमको इष्टदेवसे भिन्न बालक ही समझने लगी थीं। तुम्हारे इष्टदेव तो हम ही हैं। शतरूपारूपमें जिनके दर्शनके लिये तुमने तप किया था, यथा—'देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥ नेति नेति

जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥ १४४। ३। ६।', हम वही हैं। तुम्हारे प्रेमके वश वात्सल्यसुख देनेके लिये बालकरूपसे तुम्हारे यहाँ क्रीड़ा कर रहे हैं। इत्यादि। इसी कारण विराट्-दर्शनमें ईश्वर-जीवका भेद भी दर्शित कराया है। यह रूप राजाको कभी न दिखाया क्योंकि वे माधुर्यके उपासक हैं, उन्होंने वर माँगा था कि 'सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥ १५१। ५।' इस रूपके दर्शनका सौभाग्य तुम्हींको प्राप्त हुआ है। इस दिव्यरूपका दर्शन पूर्वकी तपस्याके फलसे ही तुमको हुआ है इत्यादि। 'रूपमेतत्त्वया दृष्टं प्राक्तनं तपसः फलम्॥ अ० रा० १। ३। ३३।' (अ० रा० में जन्म-समयके दर्शन-समयका यह श्लोक है)। दोहा २०० 'सुत सनेह बस' पर नोट देखिये। (घ) 'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई' इति। ऐश्वर्य प्रकट हो जानेसे ब्रह्माका वचन मिथ्या हो जायगा। रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथ है। अतः ऐश्वर्य प्रकट न करना। [पुनः पिताजीसे भी न कहना क्योंकि हमने उनको पुत्रभावमें दृढ़रूपसे टिकने (स्थिर रहने) का वर दिया है, ऐश्वर्य खुलनेसे मेरा वचन झूठा हो जायगा। (हरीदासजी)] 'सुनु माई' का भाव कि मैंने स्वयं माता मान रक्खा है तब तू पुत्र माननेमें क्यों डरती है। वि० त्रि०)

२ (क) 'बार बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि' इति। मायाका स्वरूप देखकर डर गयी हैं, यथा—'देखी माया सब बिधि गाढ़ी।' इसीसे विनय करती है कि माया न व्यापे। बारंबार विनय करना अत्यन्त भयका सूचक है। माताको ज्ञान हुआ इसीसे उन्होंने अब हाथ जोड़े और 'प्रभु' सम्बोधन किया,—'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि'। माताका वात्सल्यभाव शिथिल हो गया पर श्रीरामजीका भाव उनके प्रति पुष्ट है। वे उनको माता ही माने हुए हैं। इसीसे 'जननी' और 'माई' कहते हैं—'हरि जननी बहुबिधि समुझाई' तथा 'कहसि जनि माई।'

नोट—१ (क) प्रभुने मातासे कहा कि इस अद्भुत दर्शन और प्रसंगकी चर्चा किसीसे न करना, उसपर वे कहती हैं कि मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हूँ परंतु आप भी मेरी बात मानें कि आपकी माया मुझे कभी न सतावे। इसमें व्यंग्य यह है कि तुम न मानोगे तो मैं इस बातको प्रकट कर दूँगी, सबसे कह दूँगी कि मेरा बेटा बड़ा मायावी है। (रा० प्र०)। (ख) अ० रा० में जन्म-समय माताकी यही प्रार्थना है, यथा—'आवृणोतु न मां माया तव विश्वविमोहिनी। १। ३। २८।' (ग) इसके पश्चात् माताका ज्ञान बराबर बना रहा।

बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥ १॥
कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई॥ २॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥ ३॥

अर्थ—भगवान्ने बहुत प्रकारके बालचरित किये और दासोंको अत्यन्त आनन्द दिया॥ १॥ कुछ समय बीत जानेपर सब (चारों) भाई बड़े होकर कुटुम्बियोंको सुख देनेवाले हुए॥ २॥ गुरुने जाकर चूड़ाकरण-संस्कार किया। ब्राह्मणोंने फिर बहुत दक्षिणा पायी॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'बहु बिधि कीन्हा' कथनका भाव कि जितना हमने कहा है इतना ही न समझिये वरंच बहुत तरहके बालचरित किये जो लिखे नहीं जा सकते। दूसरे चरणमें 'अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा' कहनेसे स्पष्ट हुआ कि ये बहुत विधिके चरित्र दासोंको आनन्द देनेके लिये किये गये थे।

नोट—१ (क) ☞ बालचरितके रसास्वादनके इच्छुकोंको गीतावली और सत्योपाख्यान अवश्य पढ़ने-सुनने चाहिये। कभी रोना-धोना; कभी जँभाना, अलसाना; कभी अनखाना, अनरसे हो जाना; कभी हँसना, खेलना, किलकारी मारना; कभी बंदरको देख डरना; कभी बंदरके बिना रोने लगना; कभी कौएको पूआ दिखाना और कभी उसे पकड़ने दौड़ना; कभी अपना प्रतिबिम्ब खम्भों आदिमें देख नाचने लगना इत्यादि बहुत प्रकारके चरित हैं जो माता-पिता, परिजन आदिके आनन्दके लिये प्रभुने किये। यथा—'रोवनि धोवनि अनखानि अनरसनि डिठि मुठि निठुर नसाइहौं। हँसनि खेलनि किलकनि आनंदनि भूपति भवन बसाइहौं॥····रानी राउ सहित सुत परिजन निरखि नयन फल पाइहौं। चारु चरित रघुबंसतिलक के तहँ तुलसी मिलि गाइहौं॥' (गी० १। १८ में लालसाद्वारा ये चरित बताये गये हैं); 'किलकनि चितवनि भावति मोही॥ रूपरासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥ मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।····

किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप देखावहिं ॥ आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं। जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं ॥ ७ । ७७ ॥' (यह निज दास भुशुण्डिजीको तथा घरभरको सुख देनेकी क्रीड़ा था), 'सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा ॥ देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई ॥'''' ७ । ८८ ॥' इत्यादि । (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि अब वर्ष समाप्त हो गया, इसीसे कवि कहते हैं कि (जन्म, छठी, बरही, सूर्यावलोकन, भूम्युपवेशन, दोलारोहण, अन्नप्राशनसे लेकर वर्षगाँठपर्यन्त) बहुत प्रकारके चरित किये। इनके उत्सवोंद्वारा सकल पुरवासियोंको अत्यन्त आनन्द दिया]।

टिप्पणी—२ 'कछुक काल बीते सब भाई।''''' इति । सुखके दिन जल्दी बीत जाते हैं, जान ही नहीं पड़ते; यथा—'जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति ॥ ७ । १५ ॥' अतएव 'कछुक' कहा। 'सब भाई बड़े हुए' यह कहकर जनाया कि सबका चूड़ाकरण-संस्कार एक ही साथ, एक ही दिन करनेको हैं। बालचरित देखकर दासों और परिजनों दोनोंको सुख हुआ, इसीसे दोनोंके नाम लिखे—'अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा' और 'भए परिजन सुखदाई।'

नोट—२ (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'जबतक वर्ष पूरा नहीं होता तबतक मासकी गिनती होती है। वर्ष पूर्ण होनेपर वर्षकी गणना होनी चाहिये। अतः 'कछुक काल' कहकर जनाया कि दो वर्ष बीत गये, अब तीसरा लगा। 'बड़े भए' अर्थात् पैरोंसे चलने लगे तब परिजन आदिको सुखदाता हुए। भाव कि जो ही बुलाता उसके पास 'चले जाते' और उसके भावानुकूल उसे सुख देते। (ख) 'परिजन सुखदाई' में 'लक्षणामूलक गुणीभूत व्यंग' है कि अत्यन्त बाल्यावस्थाका आनन्द केवल रनवासको प्राप्त था। (वीरकवि)।

३ (क) 'चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई' इति । 'चूड़ाकरण'—चूड़ा=चोटी, शिखा। जन्मसे तीसरे या पाँचवें वर्ष यह संस्कार होता है जिसमें 'गभुआरे' बाल पहले-पहल मुड़वाये जाते हैं और चोटी रखायी जाती है। हिन्दुओंके १६ संस्कारोंमेंसे यह भी एक संस्कार है। चूड़ाकरण=मुण्डन। (श० सा०)। परंतु मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'चक्रवर्ती राजाओंके सिरपर छुरा लगानेकी रीति नहीं पायी जाती, इससे चूड़ा पहिनावनेका अर्थ सम्भवित होता है।' (पांडेजी)। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि चक्रवर्ती राजा होनेपर अर्थात् राज्याभिषेक होनेके पश्चात् फिर छुरा सिरपर नहीं छुलाया जाता। यह बात चूड़ाकरण-संस्कारके समयके लिये नहीं है। इस कालमें छुरा लगानेकी रीति न माननेसे षोडश संस्कारोंमेंसे एक संस्कार ही जाता रहेगा।' प्र० स्वामी बताते हैं कि शास्त्रोंमें उपनयन तथा चूड़ाकरण दोनोंमें मुण्डन आवश्यक है। जहाँ प्रायश्चित्तांग क्षौर कहा है वहाँ दुगुना प्रायश्चित्त करनेपर क्षत्रिय राजाओंको क्षौरकी आवश्यकता नहीं है; तथापि चौल, उपनयन, महानाम्न्यादिव्रतचतुष्टय, समावर्तन, ज्योतिष्टोमादि, अध्वरदीक्षा और माता-पितृ-मरणनिमित्त क्षौर मुण्डन राजाओंके लिये भी आवश्यक है; ऐसा धर्मशास्त्र ग्रन्थोंमें कहा है। (ख) 'कीन्ह गुर जाई' इति। सब कार्योंमें गुरुजी ही प्रधान हैं, यथा—'गुर बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा ॥ १९३ । ७ ॥', 'नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी ॥ १९७ । २ ॥', 'दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥ २०४ । ३ ॥'; वैसे ही यहाँ 'चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई।' 'जाई' शब्दसे सूचित होता है कि किसी देवताके स्थानमें मुण्डन होता रहा है, क्योंकि यदि घरमें होता तो 'जाई' न कहकर 'चूड़ाकरन कीन्ह गुर आई' ऐसा कहते जैसा कि पूर्व जन्मसमय कहा है—'आए द्विजन्ह सहित नृपद्वारा।' (पं० रा० कु०)। अथवा, बाललीलाओंमें मग्न होनेसे माता-पिता आदिको चूड़ाकरणके अवसरकी सुध ही न रही, यह देख गुरुजी स्वयं ही राजमहलमें गये। (प० प० प्र०)। (ग) 'बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई' इति। 'पुनि' के दो भाव होते हैं। एक यह कि जब चूड़ाकरण हो गया तब दक्षिणा दी गयी। पुनि=तत्पश्चात्, तब। दूसरा यह कि चूड़ाकरणमें अब पुनः दक्षिणा पायी। इस कथनसे जनाया कि नामकरणसंस्कारमें भी ब्राह्मणोंको दक्षिणा मिली थी, यद्यपि उसका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया था और अब फिर मिली। (पं० रा० कु०)। [अथवा, 'पुनि' से जनाया कि प्रथम जन्म-समय दक्षिणा पायी थी; यथा—'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।' अब पुनः पाई। वा, 'पुनि' शब्दका कोई अर्थ नहीं है। बुंदेलखण्ड प्रान्तमें बहुत जगह यह शब्द बिना अर्थके ही बोला जाता है। यथा—'मैं पुनि गएउँ बंधु सँग लागा ॥ ४ । ६ ।', 'मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। २ । ५९ ।' इत्यादिमें। (प्र० सं०)। ग्रन्थकार ब्राह्मण शब्दका प्रयोग बहुत कम करते हैं, विप्र शब्दका ही प्रयोग देखनेमें आता है। 'वेदपाठी भवेद्विप्रः'। अर्थात् तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दी गयीं। वसिष्ठजीने वेदविहीन ब्राह्मणको शोच्य बतलाया है। यथा—'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरम बिषय लय लीना ॥' (वि० त्रि०)

(घ) यहाँ चूड़ाकरण-संस्कारमें गुरु प्रधान हैं। गुरु बड़े दानी हैं। जैसे जन्म-समयमें राजाने दान दिया वैसे ही यहाँ वसिष्ठजीने दान दिया। (पं० रा० कु०)। [यहाँ राजारानीका नाम नहीं देनेसे यह भाव सम्भवतः कहा गया है। 'पाई' शब्दसे औरोंका भी वहाँ होना अनुमान किया जा सकता है। पर प्रधानता गुरुजीकी ही है। इन्हींके द्वारा दी गयी यह हो सकता है]। (ङ) चूड़ाकरण ज्येष्ठशुक्ल दशमी भृगुवार हस्तनक्षत्र कन्यालग्नमें हुआ। (वै०)। पर ज्येष्ठपुत्रका चूड़ाकरण और उपनयन-संस्कार ज्येष्ठमासमें तथा जन्ममासमें निषिद्ध है। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—'पुनि दछिना बहु पाई' इति। (क) चूड़ाकरणके पूर्व कर्णवेध-संस्कार होता है, उसकी चर्चा बालकाण्डमें नहीं है पर अयोध्याकाण्डके 'करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥' इस श्रीमुखवाक्यसे उस संस्कारका होना सिद्ध होता है। कर्णवेधका काल तीन सालतक है। इसके लिये चैत्र, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और ज्येष्ठ विहित हैं। चूड़ाकरणके लिये माघ, फाल्गुन, वैशाख और ज्येष्ठ विहित हैं। पर ज्येष्ठ पुत्रके लिये ज्येष्ठ मास निषिद्ध है। अतः दोनों संस्कार एक ही दिन करनेके लिये फाल्गुन मास ही रह जाता है। इससे निश्चित होता है कि तीसरे वर्षके फाल्गुन मासमें प्रथम कर्णवेध हुआ। उसकी दक्षिणा विप्रोंने पायी। तत्पश्चात् चूड़ाकरण हुआ तब विप्रोंने पुनः दक्षिणा पायी। यह 'पुनि' से जना दिया।

परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥ ४॥
मन क्रम बचन अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई॥ ५॥
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥ ६॥

शब्दार्थ—अगोचर=जो इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इन्द्रियोंसे जिसका अनुभव नहीं हो सकता।

अर्थ—चारों सुन्दर राजकुमार अगणित परम मनोहर (मनके हरनेवाले सुन्दर) चरित करते फिरते हैं॥ ४॥ मन, कर्म और वचनसे जिनका अनुभव नहीं हो सकता वही प्रभु दशरथजीके आँगनेमें विचर रहे हैं॥ ५॥ भोजन करतेमें जब राजा बुलाते हैं तब बालसखाओंका समाज छोड़कर नहीं आते॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत···' इति। जब छोटे थे तब 'जानुपाणि' से विचरते थे, अब बड़े होनेपर पैरोंसे चलते हैं, यह बात 'करत फिरत' से जनायी। 'परम मनोहर' से जनाया कि कोई बुरे खेल नहीं खेलते, कोई दुःखदायी चरित्र नहीं करते, वरंच सुखदाता चरित्र करते हैं। इसीसे ग्रन्थकार बारम्बार चरित्रोंकी प्रशंसा करते हैं। यथा—'बालचरित अति सरल सुहाए' इत्यादि। ['परम मनोहर'=मनको अत्यन्त हरनेवाले। अर्थात् शील-सहित सरल स्वभाव, प्रसन्नमुख, स्मितपूर्वक सबसे भाषण, परस्पर प्रीतिसहित क्रीड़ा; इत्यादि। (वै०)] 'अपार' का भाव कि लड़कोंके साथ अनेक खेल खेलते हैं। 'चारिउ सुकुमारा' से जनाया कि चारों भाई सङ्ग रहते हैं।

२ (क) 'मन क्रम बचन अगोचर जोई', यथा—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २। ४), 'मन समेत जेहि जान न बानी। ३४१। ७।', 'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु···। २। १३६।' प्रथम कहा कि चारों सुकुमार चरित करते-फिरते हैं और अब बताते हैं कि ये चरित कहाँ करते हैं—'दसरथ अजिर'। (ख) 'दसरथ अजिर बिचर' से जनाया कि अभी राजभवनके बाहर नहीं निकलते, अभी छोटे हैं। बाहर जानेका सामर्थ्य अभी नहीं है। ये अपार चरित्र आँगनके ही हैं। पुनः, (ग) 'दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई' का भाव कि पहिले कौसल्याजीके प्रेमसे 'प्रभु' का प्रकट होना कहा था; यथा—'सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद'। अब 'दसरथ अजिर' कहकर उन्हीं प्रभुका दशरथजीके प्रेमसे प्रकट होना कहते हैं। इस तरह यहाँ राजा और रानी दोनोंका प्रेम पृथक्-पृथक् कहा। कहीं-कहीं एकहीमें दोनोंका प्रेम कहते हैं, यथा—'दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत'। [(घ) 'प्रभु सोई' अर्थात् जो ऐसा समर्थ स्वामी है कि मन, कर्म और वचनका विषय नहीं हो सकता, इनसे जाना नहीं जा सकता, वही दशरथ-अजिर-विहारी हो रहा है, यह अघटित घटना है। वे समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। 'अघटित-घटना-पटीयसी।' (ङ) 'बिचर' शब्द बड़ा अनूठा है। इसमें चलना, फिरना, क्रीड़ा करना, आनन्द विहार करना सभी भावोंका समावेश हो जाता है।]

३ 'भोजन करत बोल जब राजा।···' इति। राजा इनको भोजन करानेके लिये बुलाते हैं पर ये बालसमाजको छोड़कर नहीं आते, इससे जनाया कि—(क) श्रीरामजीका बालकोंमें बड़ा प्रेम है, इसीसे उनका संग नहीं छोड़ते। (अपने

वर्गमें सबका प्रेम होता ही है। किसी फारसी कविने कहा भी है—'कुनद हमजिंस बा हमजिन्स परवाज। कबूतर बा कबूतर बाज बा बाज॥' अर्थात् एक वर्गवाले अपने वर्गके साथ उड़ते हैं, कबूतर कबूतरके साथ, बाज बाजके साथ उड़ता है। और अपने यहाँ भी कहा है कि 'स्ववर्गे परमा प्रीतिः।')। ये सब आपके बालसखा हैं, अतएव बहुत प्रिय हैं। (ख) अवधवासियोंके बालक राजमहलमें आकर श्रीरामजीके साथ खेलते हैं। (ग) राजा जहाँ भोजन करने बैठे हैं, उसीके पास आँगनमें सब खेल रहे हैं; इसीसे राजा वहींसे बुला रहे हैं। [(घ) बालकोंके साथ खेलमें मग्न होनेसे भूख-प्यास भूली हुई है, इसीसे समाज छोड़कर नहीं आते। (वै०)]

नोट— अ० रा० १। ३ में मिलानेके श्लोक ये हैं—'अङ्गणे रिङ्गमाणं तं तर्णकाननु सर्वतः। ४६। दृष्ट्वा दशरथो राजा कौसल्या मुमुदे तदा। भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहीति चासकृत्॥ ४७॥ आह्वयत्यतिहर्षेण प्रेम्णा नायाति लीलया।' अर्थात् आँगनमें बछड़ेके पीछे-पीछे सब ओर बालगतिसे दौड़ते देख राजा और कौसल्या अति आनन्दित होते थे। भोजन करनेके समय जब राजा उन्हें 'राम! आओ' ऐसा कहकर अत्यन्त हर्ष और प्रेमसे बारम्बार बुलाते तब खेलमें लगे रहनेके कारण वे न आते थे।

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥ ७॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥ ८॥
धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए॥ ९॥

शब्दार्थ—बोलन=बुलाने। 'ठुमुकु'—जल्दी-जल्दी थोड़ी-थोड़ी दूरपर पैर पटकते हुए बच्चोंका चलना; फुदक-फुदककर रह-रहकर कूदते हुए चलना; 'छोटे पद घन पैंगिया, कटि मटकाते, हाथ हिलाते, नूपुर बजाते इत्यादि रीतिसे चलना' ठुमुककर चलना कहलाता है। (बैजनाथजी)। पराई=भागकर। धरै=धर पकड़नेके लिये। धूसर=धूर लपेटे हुए; लगी हुई धूलिसे भरे; यथा—'बाल बिभूषन बसन बर धूरि धूसरित अंग'।=खाकी; मटीली; यथा—'धूसरस्तु सितः पीत लेशवान्बकुलच्छविरिति शब्दार्णवे', 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः।' (अमरे. १। ५। १३। भानुदीक्षितकृत टीका)। अर्थात् किञ्चित् श्वेत और पीत मिला रंग; श्वेत, किंचित् पीत और मौलसिरीके पुष्पकी कान्तिमिश्रित रंग।

अर्थ—जब कौसल्याजी बुलाने जातीं तब प्रभु ठुमुक-ठुमुककर भाग चलते हैं॥ ७॥ जिनको वेद नेति-नेति कहते हैं (अर्थात् इनकी इति नहीं है, इतना ही नहीं है) और शिवजीने जिनका अन्त नहीं पाया, माता उन्हींको पकड़नेके लिये हठ करके दौड़ती हैं॥ ८॥ धूल भरे हुए धूसर तनसे वा शरीरभरमें धूल लपेटे हुए आये। राजाने हँसकर गोदमें बिठा लिया॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) 'कौसल्या जब बोलन जाई' से जनाया कि जहाँ बालकोंके समाजमें श्रीरामजी खेल रहे हैं वहीं माता कौसल्या बुलाने गयीं (और राजा खाने बैठ गये थे इससे उन्होंने वहींसे बुलाया था।) इसीसे वे माताको देखकर भाग चले। (ख) 'ठुमुक ठुमुक प्रभु चलत पराई' इति। इससे जनाया कि अभी जल्दी-जल्दी भागने नहीं आता। 'प्रभु' कहनेका भाव कि जो असम्भवको सम्भव करनेवाले हैं, जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' प्रभु हैं, वे ही भक्तके प्रेमवश समर्थ होते हुए भी यह चरित कर रहे हैं कि भाग नहीं पाते, धीरे-धीरे भागते हैं, मानो भाग ही नहीं सकते।

नोट—१ 'कौसल्या जब बोलन जाई' इति। ☞ इससे जान पड़ता है कि राजाका नियम था कि जबतक वे श्रीरामजीको न खिला लेते तबतक आप नहीं खाते थे। यही कारण है कि जब उनके बुलानेसे नहीं आते तब परम सती कौसल्याजी स्वयं या राजाके कहनेसे उनको बुलाने जाती हैं, जिससे राजा उनको भोजन कराके आप भी भोजन करें। माधुर्य-रसमें भी उपासनाका कैसा निर्वाह किया है!

टिप्पणी—२ 'निगम नेति सिव अंत न पावा।…' इति। (क) प्रथम जो कहा था कि 'मन क्रम बचन अगोचर जोई' उसीका यहाँ अर्थ करते हैं कि शिवजीके मनको अगोचर हैं और वेदके वचनको अगोचर हैं। 'सिव अंत न पावा' कहकर 'नेति' शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि वेद 'नेति' कहते हैं अर्थात् अन्त नहीं पाते। (ख) 'ताहि धरै जननी हठि धावा' इति। 'ताहि' अर्थात् जो शिवके मन और वेदकी वाणीको अगोचर है, उसीको माता तनसे पकड़नेके लिये दौड़ती हैं। [पुनः, 'ताहि धरै' का भाव कि जबतक वे निकट नहीं पहुँचतीं तबतक ठुमुक-ठुमुक चलते, जब वे पास आ जातीं तब भाग चलते। तब माता हठ करके दौड़तीं कि देखें कहाँतक भागोगे।] (ग) 'जननी' के साथ 'धाई' स्त्रीलिङ्ग क्रिया

चाहिये थी सो न देकर पुँल्लिंग क्रिया 'धावा' लिखी। भाव यह कि यहाँ माताका पुरुषार्थ दिखाते हैं कि ईश्वरको पुरुषार्थ करके पकड़ लायीं। जैसा काम किया वैसा शब्द दिया। पुरुषार्थ किया अतएव पुँल्लिंग क्रिया दी।

नोट—२ 'सिव अंत न पावा' का भाव यह भी है कि 'जिन शिवजीका अन्त ब्रह्मादिने न पाया वे शिवजी भी श्रीरामजीकी महिमाका अन्त न पा सके तब और दूसरा कब पा सकता है ? यथा—'**जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा** कीरति गुन नाना॥ ११४। ४॥' (शिववाक्य है)। शिवजीकी साक्षी इससे दी कि उनका इष्ट यही बालकरूप है, इसी स्वरूपका उन्होंने स्वाभाविक मङ्गलाचरण किया है—'**बंदौं बालरूप सोइ रामू।** ११२। ३।', '**ग्रवौं सो दसरथ अजिर** बिहारी। ११२। ४।' दशरथ अजिर विहारीकी अनन्तताके लिये 'दसरथ अजिर बिहारी' के ही उपासककी साक्षी तो युक्तियुक्त ही है।

टिप्पणी—१ '**धूसर धूरि भरे तन आये।**....' इति। (क) वेद और शिव जिनका अन्त न पा सके, उन्हें जननी पकड़ लायी। इस चरितसे यह दिखाया कि भक्तिसे भगवान् पकड़े मिलते हैं। कौसल्याजी भक्तिरूपा हैं, यथा—'**पंथ जात सोहहिं मतिधीरा। ग्यान भगति जनु धरे सरीरा॥ १४३। ४।**' ज्ञानरूप राजाके बुलानेसे रामजी नहीं आते—'नहिं आवत तजि बालसमाजा'; उनको भक्ति महारानी पकड़ लायीं। (ख) [किसीका मत है कि '**मर्कट न्याय**' ज्ञानदेशका है। बंदरका बच्चा उचका-उचका फिरता है, अपनी ओरसे माँको पकड़ता है, गिरा तो गया। और भक्तिका मार्जारदेश है, बिल्ली स्वयं अपने बच्चेको पकड़कर चपटा लेती है। ये दोनों देश यहाँ दिखाये हैं।

नोट—३ 'धूसर धूरि भरे तन आए' का यह भी भाव हो सकता है कि माता दौड़कर पकड़ने चली, पर आप भाग चले, माता न पकड़ पायी, थककर बैठ गयी, तब आप हँसते हुए पास आ गये, माताने पकड़ लिया। यथा—'धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम्। प्रहसन्स्वयमायाति कर्दमाङ्कितपाणिना॥ अ० रा० १। ३। ४९।' माताने पकड़ लिया यह भाव अ० रा० के '**कौसल्या धावमानापि प्रस्खलन्ती पदे पदे। ५६। रघुनाथं करे धृत्वा किञ्चिन्नोवाच भामिनी॥**' इस श्लोकमें है। अर्थात् कौशल्याजी दौड़ीं पर पग-पगमें फिसलने लगीं। अन्तमें उन्होंने श्रीरामजीको पकड़ लिया किंतु कहा कुछ नहीं।

४ '**भूपति बिहँसि गोद बैठाए**' इति। शरीरमें धूल लपेटे हुए हैं, यह देख राजा हँसे। ☞ 'यह हास्यरसका बड़ा ही सुन्दर रूप है। एक अंग्रेजी हास्यरसके मर्मज्ञने ठीक कहा है कि सर्वोत्तम हास्यरस वही है जिसमें हास्यचरित्रके प्रति हमारा प्रेम और बढ़ जावे।' (लमगोड़ाजी)। यद्यपि राजा वात्सल्यरसमें मग्न हैं तथापि यहाँ हास्यरस प्रबल हो गया। धूसर तन विभाव, मुखविकास अनुभाव, हर्ष संचारी होनेसे हास्यरस हुआ। (वै०)

दो०—भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥ २०३॥

शब्दार्थ—चपल=चंचल। इत उत=इधर-उधर। किलकत-'किलकनि, किलकारी' भरते वा मारते हुए। किलकारी= गंभीर और अस्पष्ट स्वर जिसे लोग आनन्द-उत्साहके समय मुँहसे निकालते हैं; हर्षध्वनि; आनन्दसूचक शब्द। ओदन= भात, पका हुआ चावल। दधि=दही।

अर्थ—(श्रीरामजी गोदमें बैठे) भोजन कर रहे हैं, (परंतु माता उन्हें बालकोंके समाजसे पकड़ लायी हैं, वे समाज छोड़ना न चाहते थे, इसीसे उनका) चित्त चञ्चल है, इधर-उधर मौका पाकर किलकारी मारते हुए मुँहमें दही-भात लपटाये हुए भाग चले॥ २०३॥

नोट—१ 'इत उत' के अर्थ कई प्रकारसे किये गये हैं। (१) 'चित इत चित उत'=इधर राजाके दिये हुए ग्रासके खानेमें चित्त है; उधर बालकोंमें चित्त है; बालकसमाजमें खेलनेके लिये मौका पाकर भाग जानेकी ताकमें हैं। (पं० रा० कु०)। इसीसे चित्तको चञ्चल कहा। (२) 'इत उत' (देखते हैं)' (पं० रा० कु०)। अर्थात् चित्त इधर-उधर है कि किधरसे कैसे मौका भागनेका लगे, क्योंकि राजा गोदमें लिये हैं, हाथ लगाये हैं, छूटनेका अवकाश नहीं है। (३) 'अवसरु पाइ इत उत भाजि चले'=मौका पाकर इधर-उधर भाग चले। वा, (४) '**इत उत**' अर्थात् माता-पिता दोनोंकी

और देखते हैं कि दोनोंकी दृष्टि बचाकर निकल भागें। ऐसा अवसर जल पीने के समय प्रायः मिल जाता है। (५) 'इत उत अवसर पाइ'=इधर (पिता) उधराँ (माता; दोनोंकी ओरसे मौका पाकर भाग चले)।

टिप्पणी—१ 'अवसरु पाइ' अर्थात् जैसे ही राजाका बायाँ हाथ, जिससे वे आपको पकड़े हुए थे, अलग हुआ और दाहिना हाथ कौर साननेमें लगा, वैसे ही भागनेका मौका मिल गया। 'किलकत'—छूटनेसे प्रसन्न हुए, इसीसे किलकारी मारते भागे और इस प्रकार और सखाओंको दूरसे ही आगमन जना दिया। २—यह प्रभुका स्वभाव दिखाते हैं कि वे सबका प्रेम रखते हैं, सबको मान देते हैं। पकड़ लानेमें माताका मान रक्खा, भोजन किया इस तरह पिताका मान रक्खा। और बालसखाओंको छोड़कर आना पड़ा था सो इस तरह बिना आचमन किये भागकर पुनः उनके पास जानेसे उनका मान रक्खा।

नोट—२ 'मुख दधि ओदन लपटाइ' इति। बालपनमें दही-भातमें रुचि अधिक होती है; अतएव दही-भात लिपटाना कहा। दही-भात खाया है सो इधर-उधर लिपटा हुआ है, बस, वैसे ही बिना मुँह धोये भाग गये। वा, 'महाराजके मुख, दाढ़ी आदिमें लगाकर भागे।' (रा० प्र०)। अपने ही मुखमें लपटानेवाली बाललीलासे परिजन, मित्र आदि सभीको हास्यरसास्वाद मनमाना मिलेगा। पिताके मुँहमें लपटानेसे तो केवल घरहीमें हास्यरसकी नदियाँ बहतीं। (प० प० प्र०)। दही वा दाल-भात भी मुँहमें लपटाये हुए भागना बालकस्वभाव तो है ही, पर यह भी चरित कृपागुणसे खाली नहीं है। वे यही जूठन आँगनमें भुशुण्डिजीके लिये गिरायेंगे; क्योंकि वे इसके अधिकारी हैं; यथा—'लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ। जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ। ७। ७५।'

प० प० प्र०—बालकाण्ड दो० १८८ से अयोध्याकाण्डकी समाप्तितक प्रत्येक दोहेमें ८ चौपाइयाँ (अर्धालियाँ) हैं। यह सामान्य नियम है जहाँ कहीं न्यूनाधिक हैं वहाँ कुछ-न-कुछ हेतु है। गूढ़-चन्द्रिकामें ऐसे अपवादभूत स्थानोंमें हेतु स्पष्ट किये गये हैं। इस दोहेमें ९ चौपाइयाँ देकर सूचित किया कि ऐसी नव नवीन बाललीला करते हैं और यह कि अब अवस्था नौ सालकी हुई, उपनयनकाल समीप आ गया। तत्पश्चात् ऐसी लीलाएँ देखनेमें न आयेंगी।

बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥ १॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥ २॥

अर्थ—(भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके) बालचरित बहुत ही सरल (भोले-भाले) और सुहावने मनभावने हैं। शारदा, शेष, शङ्करजी और श्रुतियोंने इन चरित्रोंको गाया है॥ १॥ जिनका मन इनमें अनुरक्त नहीं हुआ अर्थात् जिन्होंने श्रीरामजी एवं उनके इन चरित्रोंसे प्रेम नहीं किया, उन लोगोंको ब्रह्माने ठग लिया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'बालचरित अति सरल....' इति। यहाँतक कुछ बालचरित गाये। अब बताते हैं कि वे चरित अति सरल और सुहाए हैं। [सरल हैं अर्थात् अटपट नहीं हैं; जैसे स्वाभाविक सीधे बच्चोंके होते हैं वैसे हैं। सीधे-सादे। सुहावने=सुन्दर। (रा० प्र०)। वा, 'सरल सुहाए'=कुटिलता और दोषोंसे रहित। 'अति सरल सुहाए' का भाव कि बाल्यावस्थामें सभी बच्चोंके चरित सरल और सुहावने होते हैं पर इनके बालचरित 'अति सरल....' हैं। (पंजाबीजी)।] पुनः भाव कि शिशुचरित सरल है और बालचरित सरल है। शिशुचरितमें तो ऐश्वर्यप्रदर्शन भी हुआ। माताको विश्वरूपका दर्शन हुआ, परंतु बालचरितमें केवल माधुर्य दिखलाया, इसलिये इसे अति सरल और सुहावना कहा (वि० त्रि०) शारदादिका प्रमाण देते हैं। (ख) 'सारद सेष संभु श्रुति गाए' इति। शारदाने शारदारामायणमें, शेषने शेषरामायणमें, शम्भुने अध्यात्मरामायण वा मानस-रामायण वा महारामायणमें और वेदोंने वेदरामायणमें विस्तारसे बालचरित्र वर्णन किये हैं। तात्पर्य कि इन्हींके प्रमाणसे हमने बालचरित्र वर्णन किया।

नोट—१ 'बालचरित' इति। यथा—'कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं। कबहूँ करताल बजाइके नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥ कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं। अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिरमें बिहरैं॥ क० १। ४।'; 'रामलषन इक ओर भरतरिपुदवनलाल इक ओर भए। सरयुतीर सम सुखद भूमिथल गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥ कंदुक केलि कुसल हय चढ़ि चढ़ि मन कसि कसि ठोकि ठोकि खये। कर कमलनि बिचित्र चौगानैं खेलन लगे खेल रिझये॥ २॥....एक लै बढ़त एक फेरत सब प्रेम प्रमोद बिनोदमए। एक कहत भइ हार रामजूकी एक कहत भइया भरत जए॥ ४॥ प्रभु बकसत

गज बाजि बसन मनि जय धुनि गगन निसान हये। पाइ सखा सेवक भरि जनम न दूसर द्वारि गये ॥ ५ ॥ '''हारे हरष होत हिय भरतहि जिते सकुचि सिर नयन नये। तुलसी सुमिरि सुभाव सील सुकृती तेइ जे एहि रंग रये। ७। गी० ४३।', 'बाल बिभूषन बसन बर धूर धूसरित अंग। बालकेलि रघुबर करत बाल बंधु सब संग ॥ ११७ ॥ राज अजिर राजत रुचिर कोसलपालके बाल। जानु पानि चर चरित बर सगुन सुमंगल माल ॥ ११९।' (दोहावली)।

टिप्पणी—२ (क) 'जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता।''' इति। भाव कि शारदा-शेषादिने इनमें प्रीति की और इनके बालचरित्र गाते हैं, तब तो सभीको इनसे प्रेम करना आवश्यक है, जीवन तभी सफल है जब इनमें मन लगे। (ख) 'ते जन वंचित किये बिधाता'—भाव कि भगवान्‌में मन न लगकर संसारके पदार्थोंमें मन लगा तो समझ लो कि ठगे गये। क्योंकि अन्य सब पदार्थ भक्तिके बाधक हैं, यथा—'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥ ए सब रामभगतिके बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक ॥ ४। ७। १६-१७।'

नोट—२ रातना=अनुरक्त होना, लगना। वंचित=ठगा हुआ, छला हुआ, विमुख। रा० प्र० कार कहते हैं कि प्राकृतमें 'वंचित' शब्द व्यर्थका अर्थ भी देता है। 'बंचित किये'=व्यर्थ ही पैदा किया। 'ते जनु बंचित किये बिधाता', यथा—'नर ते खर सूकर स्वान समान कहो जगमें फल कौन जिये', 'जेहि देह सनेह न रावरे सों असि देह धराइ के जाय जियैं। क० ७। ३८।' यही विधाताका ठगना है। खर, सूकर और श्वान तीनों अमंगलकर्ता हैं, वैसे ही ये विमुख हैं, केवल पेट भरना जानें। कवितावलीमें कहा है—'पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिये। नव नील कलेवर पीत झगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये ॥ अरबिंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये। मनमों न बसेउ ऐसो बालक जो तुलसी जगमें फल कौन जिये ॥ क० १। २।' ☞ मिलान कीजिये—'मानुषं जन्म संप्राप्य रामं न भजते हि यः। वञ्चितः कर्मणा पाप इति जानीहि बुद्धिमान् ॥ इति सत्योपाख्याने।'

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥ ३ ॥
गुर गृह गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई ॥ ४ ॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्यों ही सब भाई कौमार-अवस्थाके हुए त्यों ही गुरु, पिता और माताने उन्हें जनेऊ दिया अर्थात् उनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया ॥ ३ ॥ रघुराई श्रीरामचन्द्रजी (भाइयोंसहित) गुरुजीके घर विद्या पढ़ने गये। थोड़े ही कालमें उनको सब विद्याएँ आ गयीं ॥ ४ ॥ चारों वेद जिसकी स्वाभाविक श्वास हैं वे भगवान् पढ़ें यह बड़ा भारी कौतुक (तमाशा, आश्चर्य) है ॥ ५ ॥

नोट—१ 'भए कुमार' इति। पुराणों तथा अन्य ग्रन्थोंमें 'कौमार' शब्द भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त देखनेमें आता है। युवावस्थाके पूर्व किसीने एक ही अवस्था मानी है (बाल्य अथवा कौमार), किसीने तीन और किसीने चार (बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर)। स्मृतिके अनुसार मनुष्य-जीवन की आठ अवस्थाएँ हैं—कौमार, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, बाल, वृद्ध और वर्षीयान्। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णजीके सम्बन्धमें कुमार और पौगण्ड अवस्थाओंका उल्लेख आया है। यथा—'एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्मा हि मोक्षणम्। मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥ १०। १२। ३७।' इसकी टीकामें श्रीधरस्वामीजीने 'कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम् ॥' यह व्याख्या की है। अर्थात् पाँचके अन्ततक कौमार, दसतक पौगण्ड, पंद्रह वर्षतक कैशोर और उसके आगे युवावस्था है। अ० रा० में मानससे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'अथ कालेन ते सर्वे कौमारं प्रतिपेदिरे। ५९। उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदाः। धनुर्वेदे च निरताः सर्वशास्त्रार्थवेदिनः ॥ ६० ॥ बभूवुर्जगतां नाथा'''' अर्थात् कुछ काल बीतनेपर वे सब भाई कौमार अवस्थामें प्राप्त हुए। तब वसिष्ठजीने उनका उपनयन-संस्कार किया। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी समस्त शास्त्रोंके मर्मके ज्ञाता और धनुर्वेद आदि सम्पूर्ण विद्याओंके पारगामी हो गये। अ० रा० के प्राचीन टीकाकार नागेश भट्टके शिष्य श्रीरामवर्माजीने 'कौमारं प्रतिपेदिरे' का अर्थ किया है 'कौमारं पञ्चवर्षाधिकत्वम्' अर्थात् पाँच वर्षसे अधिक अवस्थाके हुए। इन प्रमाणोंके अनुसार 'भए कुमार' का अर्थ है—'पूर्ण कौमारावस्थाको प्राप्त हुए' अर्थात् पाँच वर्षके हो चुके, छठा लगा।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ । ६ में श्रीप्रह्लादजीके वचन हैं—'**मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः ॥ ७ ॥**' 'अन्वितार्थप्रकाशिकामें इनकी टीका इस प्रकार है कि मूढ़ अवस्थामें बाल्यकालमें दस वर्ष बीते और कौमारमें खेलते हुए दस वर्ष बीते। इस तरह ग्यारहवें वर्षसे बीस वर्षतककी अवस्थाको कौमार कहा गया। और तन्त्रमतमें सोलह वर्षकी अवस्था तकको 'कौमार' कहा गया है। इन प्रमाणोंके अनुसार '**भए कुमार**' का अर्थ होगा—'जब कौमार अवस्थामें प्रवेश किया। अर्थात् दस वर्षके हो चुके, ग्यारहवाँ वर्ष लगा।'

यहाँपर उपनयन-संस्कारमें भी ये दोनों अर्थ लग सकते हैं।

यज्ञोपवीत-संस्कार तब होता है जब बालकको विद्या पढ़नेके लिये गुरुके पास भेजा जाता है। इस संस्कारके उपरान्त बालकको स्नातक होनेतक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ता था और भिक्षावृत्तिसे अपना तथा अपने गुरुका निर्वाह करना पड़ता था। इस संस्कारका ब्राह्मणके लिये प्रायः आठवें, क्षत्रियके लिये ग्यारहवें और वैश्यके लिये बारहवें वर्ष करनेका विधान है। यथा—'**अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमे वैकादशवर्षं राजन्यं द्वादशवर्षं वैश्यं ॥ ३ ॥**' (पारस्कर गृह्यसूत्र द्वितीय काण्ड)। छन्दावलीरामायणमें भी ग्यारहवें वर्ष उपवीत होना कहा है; यथा—'**ग्यारह वर्ष के राम भए जब। बोलि गुरु उपवीत दिये तब ॥**' बैजनाथजी ग्यारहवें वर्ष वैशाख शु० १० गुरुवार उत्तराफाल्गुनी वृषलग्नमें उपनयनका होना लिखते हैं। उपर्युक्त गृह्यसूत्रके अनुसार ग्यारहवें वर्ष उपनयन हो सकता है।

☞ शास्त्र यह भी कहता है कि यदि बालक बहुत होनहार कुशाग्रबुद्धि हो तो ब्राह्मणका पाँचवें, क्षत्रियका छठे और वैश्यका आठवें वर्षमें उपनयन-संस्कार कर दिया जाय। यथा—'**ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥** मनु० २। ३७।' इसके अनुसार कौमारावस्था पूर्ण होते ही छठे वर्ष उपनयन हुआ हो इसमें भी आश्चर्यकी कोई बात नहीं। जिनके लिये '**अलप काल बिद्या सब आई**' कहा है, उनके लिये मनुके इस वाक्यानुसार छठे वर्ष उपवीत-संस्कारका होना ही अधिक उपयुक्त है।

प्र० स्वामी ग्यारहवें वा बारहवें वर्षके पक्षमें हैं और लिखते हैं कि 'छठा वर्ष भी अपवादभूत क्यों न हो मान्य है; पर यह विचारणीय है कि ऐसे प्रियतम बालकोंको छठे वर्ष गुरुगृह भेजनेको दशरथजी और माताके तैयार होनेका सम्भव कहाँतक है। फिर बाललीलाका प्रमोद किस प्रकार मिलता? १९३ (१) में जन्म हुआ, २०४ (३) में उपनयनका उल्लेख है। ११ दोहे बीचमें हैं, यह भी एक काल संकेत मानना अनुचित नहीं है। इससे मानना पड़ेगा कि उपनयन बारहवें वर्षके फाल्गुनमें हुआ। उस फाल्गुनमें भी कर्कमें गुरुका होना सम्भाव्य है। ग्यारहवें या बारहवेंमें फाल्गुन कृ० ५ या शु० १० को हुआ। शुक्ल दशमीको गुरुचन्द्र युति रहेगी और कृ० ५ को गुरुचन्द्र रवि त्रिकोण योग होगा। बैजनाथजीने वैशाखमें लिखा है। वैशाखमें तो रवि वृषभमें होता है और उन्होंने कोई आधार भी नहीं दिया है। वैशाखमें तो १२ वाँ गुरु निषिद्ध है। हाँ, ग्यारहवें वर्षके फाल्गुनमें मीनराशिमें रवि और कर्कराशिमें गुरुका होना सम्भाव्य है। मीनका रवि और कर्कका गुरु यह नव पञ्चम त्रिकोणयोग और धनु वृश्चिकका चन्द्र उत्तमोत्तम त्रिकोणयोग होता है। कृ० ५ का दिन होगा।'

टिप्पणी—१ (क) '**सब भ्राता**' कहकर जनाया कि सब भाइयोंका 'व्रतबन्ध' (यज्ञोपवीतसंस्कार) एक साथ हुआ; यथा—'**करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥** २। १० ॥' [(ख) 'दीन्ह जनेऊ'—जनेऊ हाथमें पकड़कर पहनाते हैं, अतएव 'दीन्ह' कहा] (ग) 'गुरु पितु माता' इति। यज्ञोपवीत-संस्कारमें यही क्रम है। प्रथम गुरुजी आते हैं (संस्कार करानेमें ये अग्रगण्य हैं), तब पिता संकल्प करते हैं, तत्पश्चात् माता भिक्षा देती है। (घ) '**गुरु गृहँ गए पढ़न रघुराई**' इति। [उपनयन होनेपर ही मनुष्य द्विजातीय कहलाता है और तभी वेदादिके पढ़ने तथा कर्मकाण्ड (संध्या आदि) में प्रवृत्त होनेका अधिकार प्राप्त होता है। उपनयन होनेपर विद्या पढ़नी चाहिये; इसीसे उपनयन कहकर विद्याध्ययन करनेको गये, यह कहा] 'गए' पदसे जनाया कि श्रीरामजी गुरुजीके आश्रममें जाकर रहे। यही प्राचीन कालकी विद्याध्ययनकी रीति है कि जबतक विद्या पढ़े तबतक गुरुके स्थानमें रहे, गुरुकी शुश्रूषा करे और विद्या पढ़े। (ङ) 'अल्पकाल' अर्थात् आठ दिनमें। (पं०)।

नोट—२ (क) '**सब बिद्या**' इति। अर्थात् चौदहों विद्याएँ। विशेष दोहा ९। ८ मा० पी० भाग १ पृष्ठ २०४ देखिये। मुण्डकोपनिषद्में कहा है कि मनुष्यके जानने योग्य दो विद्याएँ हैं—एक परा दूसरी अपरा। उनमेंसे (जिसके द्वारा

लोक और परलोकसम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंका ज्ञान होता है वे) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद शिक्षा (जिसमें वेदोंके पाठकी विधिका उपदेश है), कल्प (जिसमें यज्ञादिके विधिका वर्णन है), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दोंका कोष), छन्द (वैदिक छन्दोंकी जाति और भेदका जिससे ज्ञान होता है) और ज्योतिष, इन दसका नाम 'अपरा' है। और जिसके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होता है वह 'परा' विद्या है। (यह भी वेदोंमें ही है। इस अंशको छोड़कर शेष सब 'अपरा' विद्या है)। यथा—**'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥'** (प्रथम मुण्डक प्रथम खण्ड)।—इसके अनुसार 'सब विद्या' से परा और अपरा दोनों विद्याएँ अभिप्रेत हैं। (मा० त० वि०)। (ख)—'सब विद्या' का अर्थ श्रीरामजीके सम्बन्धमें क्या है यह भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है, 'गीर्वाणवाणीनिपुणो रामस्तैः प्रणतां सदा। रामस्सरस्वती जिह्वो ब्रह्मोक्तोऽमरपूजितः ॥ दैत्यदानवनागानां भाषाभिज्ञो रघूद्वहः। भूतप्रेतपिशाचानां भाषाविद्राघवः प्रभुः ॥ अन्योन्यदेशभाषाभिस्तत्रैव व्यवहारकः। सर्वत्र चतुरो रामः फ़ारसीमपि पेठिवान् ॥ काशानां भाषया रामः कीशेषु व्यपदेशिकः। ऋक्षराक्षसपक्षिषु तेषां गीर्भिस्तथैव सः। यावन्तः शिल्पिनो लोके ये च विद्योपजीविनः। तेषामाचार्यतां प्राप्तो रामो दाशरथिर्गुणैः ॥ इत्यादि।' (वै०)। अर्थात् देववाणी (संस्कृत) में निपुण, वेद जिनको कण्ठस्थ हैं और सरस्वती (अर्थात् समस्त शास्त्र-पुराणादि) जिनकी जिह्वापर हैं, दैत्यों, दानवों, नागों, भूत-प्रेत-पिशाचों तथा अन्य-अन्य देशोंकी भाषाओं और व्यवहारोंके ज्ञाता, फारसी, काशों और कीशों तथा रीछ, राक्षस, पक्षी आदिकी भाषाके पण्डित, जितने लोग चित्रकारी, तन्तुकारी, शिल्पकारी आदि कलाओंके ज्ञाता और उसीसे निर्वाह करनेवाले हैं अपने गुणोंसे उनके आचार्यताको प्राप्त थे।

३ अल्पकालमें सब विद्या कैसे आ गयी ? इसका समाधान आगे करते हैं—**'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी।'** वेदादि ब्रह्मके निःश्वास हैं ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् द्वितीय अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवादमें बताया गया है। यथा—**'स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि ॥ १० ॥'** अर्थात् जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धुआँ निकलता है, हे मैत्रेयि ! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब परमात्माके ही निःश्वास हैं ॥ १० ॥

वेद अपौरुषेय हैं, यह समस्त ऋषियों और आचार्योंका निर्णय है। 'श्वास' कहनेसे तो वे 'पौरुषेय' हो जायँगे ? इसका समाधान यह है कि प्रभुका शरीर सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः श्वास भी सच्चिदानन्द है। श्वास और जिसका श्वास दोनों एक ही हुए।

टिप्पणी—२ 'सहज श्वास···' इति। लंकाकाण्डमें मंदोदरीने रावणसे श्रीरघुवंशमणिका विश्वरूप कहा है। वहाँ **'मारुत श्वास निगम निज बानी'** कहा है और यहाँ **'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी'** कहते हैं। दोनों बातें ठीक हैं। ईश्वरमें अज्ञान तीनों कालमें नहीं है (उसका अखण्डैकरस ज्ञान सर्वकालोंमें है, उनका श्वास भी सच्चिदानन्दरूप है कि जो चारों वेदोंके रूपमें है)। ईश्वर अज्ञानी बनकर पढ़ता है, यह कैसा ? इसीपर कहते हैं यह **'भारी कौतुक'** है, बड़ा भारी नरनाट्य है। 'भारी' से जनाया कि उनकी सभी लीलाएँ 'कौतुक' हैं, पर अखण्ड ज्ञान होते हुए अज्ञानी बनना यह सबसे 'भारी कौतुक' है।

नोट—४ 'कौतुक' शब्दसे वही बात हास्यरसरूपसे जनायी है कि जो बाल्मीकिजीने कही है—**'जस काछिय तस चाहिय नाचा।'** (लमगोड़ाजी)।

विद्या बिनय निपुन गुन सीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला ॥ ६ ॥
करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा ॥ ७ ॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरैं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥ ८ ॥

अर्थ—विद्या, नम्रता, गुण और शीलमें निपुण (पूर्ण) हैं। वे नृपलीलाके अर्थात् राज्यसम्बन्धी सब खेल खेला करते हैं ॥ ६ ॥ हाथोंमें धनुष-बाण बड़ी शोभा दे रहे हैं। रूप देखते ही चर-अचर (सभी जीव) मोहित हो जाते हैं ॥ ७ ॥ जिन

गलियों मार्गोंमें सब भाई विहार करते निकलते हैं, वहाँके सभी स्त्री-पुरुष ठिठककर देखते रह जाते, स्नेहसे शिथिल हो जाते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**विद्या बिनय निपुन गुन सीला**' इति। विद्याकी शोभा विनयसे है, इसीसे इन दोनोंको एक साथ रक्खा; यथा—'**विद्याविनयसंपन्ने ।**' [विद्या पाकर भी किञ्चित् अभिमान नहीं है वरंच विशेष नम्रता है। विद्या पाकर विनम्रता न हुई तो विद्या व्यर्थ है; यथा—'**जथा नवहिं बुध बिद्या पाए । ४ । १४ ।**', '**पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ । ३ । ४० ।**' गुण और शीलमें निपुण, यथा—'**सीलसिंधु सुनि गुर आगमनू ।**''''**चले सबेग राम तेहि काला । २ । २४३ ।**' '**तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान । १ । २९ ।**' '**बिनय सील करुना गुन सागर । जयति बचन रचना अति नागर । २८५ । ३ ।**' वाल्मीकिजीने जो लिखा है कि 'वे ज्ञानसम्पन्न हुए, गुणोंसे युक्त हुए, लोकापवादसे डरनेवाले, मर्यादाका पालन करनेवाले, सब विषयोंकी जानकारी रखनेवाले और भूत, भविष्यके जानकार हुए', यथा—'**ते यदा ज्ञानसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः । ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः ॥ १ । १८ । ३३ ।**', ये सब भाव '**विद्या बिनय**''''में आ जाते हैं।] (ख) '**खेलहिं खेल सकल नृप लीला**' इति। अर्थात् सेनाका व्यूह बनाते हैं, सेनापति नियुक्त करते हैं, सेना खड़ी करके कवायद कराते हैं। बालसखाओंकी सेना बनाते हैं और आप राजा बनते हैं। सबका न्याय करते हैं, राजसभा करते हैं, बालसखाओंमेंसे मन्त्री आदि बनाते हैं। इत्यादि सब नृपलीलाके खेल हैं। [कवि आगे स्वयं लिखते हैं कि क्या नृपलीलाके खेल खेलते हैं। 'विद्या, विनय आदि आचरण तो शान्तरसके हैं तब नीतिरसकी वीरता कैसे होगी जो राजकुमारोंमें होना आवश्यक है ?' इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि '**खेलहिं खेल सकल नृपलीला ।**' (वै०)] (ग) ☞ ऊपर जो कहा था कि '**अल्पकाल सब बिद्या आई**' वह अल्पकाल यहाँ दिखाते हैं कि सब विद्या पढ़ चुके फिर भी खेलनेकी अवस्था बनी ही रह गयी। इतनी जल्दी सब पढ़ लिया। २—[श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि 'किसीने खूब कहा है कि 'अदनासे झुके तो सबसे आलाजह है'। अर्थात् छोटेके साथ भी नम्र व्यवहार करे तो बड़प्पन है। टैगोरजीने गीताञ्जलिमें ठीक लिखा है कि 'तेरा प्रणाम भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, कारण कि तू अपने मस्तकको भगवान्‌के चरणोंपर नहीं नवाता, जो चरण वहाँ हैं जहाँ सबसे गरीब, सबसे दीन और सबसे गये-बीते लोग हैं।']

३ '**करतल बान धनुष अति सोहा**' इति। '**अति सोहा**' का भाव कि धनुष-बाण तो स्वयं ही शोभित हैं, पर करतलके सम्बन्धसे वे 'अति' शोभित हुए, उनकी शोभा बहुत बढ़ गयी। 'सोहा' क्रिया एकवचन है और धनुष-बाण दो हैं 'सोहे' कहना चाहिये था सो न कहकर 'सोहा' कैसे कहा ? उत्तर यह है कि एक करतलमें बाण शोभित है, दूसरेमें धनुष शोभित है—यह दिखानेके विचारसे एकवचन क्रिया दी। '**अति सोहा**' का स्वरूप दूसरे चरणमें दिखाते हैं कि इतना शोभित है कि रूप देखकर चराचर मोहित हो जाता है।

नोट—१ '**देखत रूप चराचर मोहा**' इति। रूपका एक लक्षण हम पूर्व दोहा १९८ (६-७) में लिख आये कि बिना भूषणादि शृङ्गारके भी जो भूषितवत् जान पड़े उसे रूप कहते हैं। सौन्दर्यका लक्षण यह है कि क्षण-क्षणपर उनका सौन्दर्य नवीन ही मालूम होता था; तथा '**क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः । (शिशुपालवध ४ । १७) ।**' यही रमणीयता श्रीरामजीके रूपमें थी। जब भगवान् श्रीराम दण्डकारण्यमें वनवासी वेषमें गये थे, तब वहाँके लाखों वर्षके तपस्वी ऋषियोंके मन, उनके सौन्दर्यको देखकर ऐसे आसक्त हो गये कि उन्होंने यह भावना की कि हम स्त्रियाँ होतीं और ये हमारे पति; उसीकी पूर्ति भगवान्‌ने कृष्णावतारमें की। अर्थात् वे सब स्त्रियाँ हुईं और रासक्रीड़ाके सम्बन्धसे उनकी इच्छाकी पूर्ति की गयी। यह बात निम्न श्लोकसे सिद्ध होती है।—'**पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः । दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम् ॥ १६४ ॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले । हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥ १६५ ॥ पद्मपु० उ० २४५ ।**'

स्त्रियोंका पुरुषके सौन्दर्यपर आसक्त होना तो सर्वत्र सुना जाता है; परंतु पुरुषोंका और वह भी विषयरसरूखे लाखों वर्षके बूढ़े ऋषियोंका पुरुषपर इस भावसे आसक्त होना कल्पनातीत है, प्रकृतिके प्रतिकूल है, इससे श्रीरामका सौन्दर्य कैसा होगा इसका अनुमान पाठक स्वयं कर लें। ऐसा सौन्दर्य किसी और अवतारमें सुननेमें नहीं आता। अतः '**देखत रूप चराचर मोहा**' कहा।

२ (क) '**थकित होहिं सब लोग लुगाई**' अर्थात् सब स्त्री-पुरुष घरसे निकलकर खड़े हो जाते हैं, भीड़ लग जाती है। थकित होते हैं; यथा '**थके नारि नर प्रेम पियासे । मनहुँ मृगी मृग देखि दियासे ॥**' थकित होनेका कारण प्रथम

लिख आये कि 'देखत रूप चराचर मोहा' और इस अर्धालीमें मोहित हो जानेवालोंकी दशा लिखते हैं कि रूप देखकर थक जाते हैं, देहसुध नहीं रह जाती। 'पुनः, 'थकित होंहि' अर्थात् मोहित होकर अचल हो जाते हैं, टकटकी लगाये मुग्ध देखते रह जाते हैं, अंग शिथिल पड़ जाते हैं। यथा 'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी॥ २३२। ५-६।', 'देखि तुलसीदास प्रभु-छबि रहे सब पल रोकि। थकित निकर चकोर मानहु सरद इंदु बिलोकि॥ गी० १। ३८।', 'सुभग सकल अंग अनुज बालक संग देखे नर-नारि रहें ज्यों कुरंग दियरे। गी० १। ४१।', इत्यादि। (ख) गलियोंमें विचरें तो दशरथनन्दन और थकें देखनेवाले। कारण कहीं, कार्य कहीं। इसका क्या कारण है, यह आगे दोहेमें कहते हैं कि ये सबको प्राणोंसे भी प्रिय हैं, इन्हें देखकर शिथिल हो जाते हैं, मानो अपने प्राण इनपर निछावर कर दिये हैं। यहाँ 'प्रथम असंगति अलंकार' है।

३ 'करतल बान····जिन्ह बीथिन्ह····', यथा कवित्तरामायणे—'पदकंजनि मंजु बनी पनहीं धनुही सर पंकज-पानि लिये। लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिये॥···। १। ६॥' 'चौहट हाट हिये' यही 'बीथिन्ह' का भाव है। पुनः, यथा पाद्मे 'वीथिं वीथिं जगामाथ क्रीडार्थं रघुसत्तमः। अजडाश्च जडाश्चैव सप्राणा इव तेऽभवन्॥ (पं० रा० कु०)।' पुनः भाव कि मुण्डकोपनिषद् २। २। ४। में ब्रह्मके वाचक प्रणवको धनुष और जीवात्माको बाण कहा गया है, यथा 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म····', इसीसे ये मुक्तिदाता हैं और अति शोभित हैं (मा० त० वि०)।

दो०—कोसल पुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥ २०४॥

अर्थ—अवधपुरवासी स्त्री-पुरुष बुड्ढेसे लेकर बच्चेतक सभीको दयालु श्रीरामचन्द्रजी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय लगते हैं॥ २०४॥

टिप्पणी—१ पूर्णावस्थावाले वृद्धोंको कहकर फिर बालकोंको कहा। इस प्रकार आदि-अन्तके ग्रहणसे मध्यका ग्रहण हो गया। अर्थात् बीचकी युवा, कौमारादि अवस्थावालोंको भी इतनेहीसे जना दिया। २—'प्रानहुँ ते प्रिय लागत'। भाव कि प्राण बहुत प्रिय है, यथा 'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।', उससे भी अधिक ये प्रिय हैं। ३—'राम कृपाल' का भाव कि सबपर कृपा करके गली-गलीमें विचरते हैं, जिसमें सबको दर्शन हो जाय। यथा 'जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा'॥ २०५। ५॥' सब लोगोंको सुखी करते हैं इसीसे 'कृपानिधि' कहा। अयोध्यावासी श्रीरामजीकी कृपाको खूब समझते हैं, वे भली प्रकार जानते हैं कि हमपर कृपा करके हमको दर्शन देनेके लिये ही गलियोंमें विचरते हैं। (बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रानहु ते प्रिय लागत' का भाव यह है कि ये सब श्रीरामस्नेहको ब्रह्मज्ञानसे अधिक मानते हैं। इससे पुरवासियोंको नित्य परिकर जनाया, नहीं तो सबकी एक रीति न होती)।

वि० त्रि०—'बिद्या बिनय निपुन' कहकर तब निपुणता भी दिखाते हैं। 'खेलहिं खेल सकल नृप लीला' से नाट्य-शास्त्रकी निपुणता कही। शिवि, हरिश्चन्द्र आदिकी लीलाओंका नाट्य करते हैं। 'करतल बान धनुष अति सोहा' से धनुर्वेदमें अत्यन्त परायण कहा। विद्या प्रेमके कारण विहारमें भी धनुष-बाण नहीं छूटता। 'प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल' से शासनकी योग्यता दिखलायी।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥ १॥
पावन मृग मारहिं जियँ जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी॥ २॥
जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥ ३॥

अर्थ—भाइयों और सखाओंको बुलाकर साथ ले लेते हैं और प्रतिदिन वनमें शिकार खेलने जाते हैं॥ १॥ जी-से जानकर पवित्र मृगोंको मारते हैं और प्रत्येक दिन लाकर राजाको दिखाते हैं॥ २॥ जो 'मृग' श्रीरामजीके बाणसे मारे गये वे अपना मृगतन छोड़ देवलोकको चले गये॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम श्रीरामजी श्रीकौसल्याजीकी गोदमें रहे—'सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या कें गोद।'

फिर 'जानुपाणिसे' विचरने लगे। उसके बाद पैरों चलने लगे,—'ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई'। पहले दशरथ-अजिरमें खेलते रहे, फिर बाहर खेलने लगे थे,—'जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई।' और अब 'बंधु सखा सँग लेहि बोलाई।…' (ख) प्रथम बन्धुको कहकर सखाको कहा। इससे बुलानेका क्रम बताया कि प्रथम भाइयोंको बुलाते हैं, तब सखाओंको। (ग) 'संग लेहिं' कहकर शिकारमें श्रीरामजीकी प्रधानता कही। पूर्व कहा था कि नृपलीला खेल खेलते हैं। वनमृगया भी नृप-लीला है और राजधर्म भी है, इसीसे वनमें शिकार खेलते हैं। ['खेलहिं खेल सकल नृपलीला'का यहाँ भी निर्वाह है। स्वामी हैं, सबसे बड़े हैं, इसीसे सबसे पहले शिकारके लिये तैयार हो गये। राजाको फुर्ती चाहिये ही। कवितावलीमें मृगयाका अच्छा वर्णन है; यथा, 'सरयू बर तीरहि तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै।' गोमतीतटपर वनमें शिकारको जाते हैं। (घ) श्रीरामजीके सखाओंके नाम ये हैं—प्रतापी, शत्रुनाश, प्रतापाग्र्य, युधिष्ठिर, सुकर्मा, सुष्ठुरूप, जय, विजय, सुकंठ, दीर्घबाहू, (चंद्रचारु) चारुचंद्र, भानु (चंद्रभानु), रिपुवार, अरिजित्, शील, सुशील, गजगामी, सबलाश्व, हरिदश्व, नीलरत्न, वीरभद्र, भद्राश्व, जयंत, सुबाहु इत्यादि। विशेष चौ० ४ में देखिये। ये सब शिकारमें साथ जाया करते थे]। (ङ) 'नित खेलहिं जाई' क्योंकि अभी लड़के हैं। लड़कोंका मन खेलमें बहुत लगता है। 'मृगया' खेल है, इसीसे नित्य खेलते हैं। वनमें जाकर शिकार खेलते हैं, इस कथनसे जनाया कि श्रीअयोध्याजीके बाहर समीपमें जो वन और उपवन हैं उनमेंके मृग नहीं मारते; वे मृग केवल दर्शनार्थ हैं। बाहरके वनोंमें जाकर शिकार करते हैं।

नोट—१ 'पावन मृग मारहिं जिय जानी।…' इति। पं० रामकुमारजीका मत है कि जिनको सुकृती समझते हैं, जिनको जानते हैं कि इन्होंने पूर्व जन्ममें सुकृत किये हैं, स्वर्ग जानेके योग्य हैं, उनको मारकर स्वर्ग पहुँचा देते हैं जैसा आगे वक्ता स्वयं कहते हैं—'ते तनु तजि सुरलोक सिधारे।' जो वध करने योग्य नहीं हैं उन्हें नहीं मारते।' और अर्थ ये कहे जाते हैं—'पावन' अर्थात् कृष्णसार, कस्तूरीवाले मृग, काले मृग। इनके घुटने नहीं होते, इनका बैठना असम्भव-सा है, बैठनेमें इनको बहुत दुःख होता है। (वै०, रा० प्र०)। अथवा, जो ऋषिशापसे मृगयोनिमें आ गये हैं, जिनका उद्धार आवश्यक है। सत्योपाख्यानमें ऐसे अनेक मृगोंकी चर्चा आयी है। (वै०)।

'मृग' शब्द सभी पशुओंकी संज्ञा है। इसी ग्रन्थमें 'मृग' शब्द सूकरके लिये भी प्रयुक्त हुआ है; यथा **'चलेउ बराह मरुतगति भाजी॥ १॥…प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा॥…तदपि न मृग मग तजै नरेसू॥ १॥ १५७। ६।'** यहाँपर भी 'मृग' शब्द सिंह, हाथी, मगर, भैंसा आदि सभी हिंसक जीवोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि सत्योपाख्यान अ० ४१ से स्पष्ट और सिद्ध है। अ० ४१ में विल्वनामक गन्धर्वका शापसे अरना भैंसा होना लिखा है जिसे रघुनाथजीने मारा। पुनः अध्याय ४६ में सूकर, सिंह आदिके शिकारके कई प्रमाण हैं। एक सिंह, एक हाथी और एक मगर, इत्यादिके शरीर मरनेपर दिव्य हो गये थे। विस्तृत कथाएँ सत्योपाख्यानमें हैं, पाठक वहाँ पढ़ सकते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीका भी यही मत है, हमारे मतसे कुछ ही अन्तर है। वे लिखते हैं कि 'चित्रकूटके किरातोंका यह कहना कि **'बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा। तहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब। सर निर्झर मल ठाउँ देखाउब॥ २। १३६।'** स्पष्ट इस बातका प्रमाण है कि सिंह, गैंडा आदिका ही शिकार होता था, क्योंकि वनके बेहड़ थलोंमें तथा पर्वतकी कन्दराओं-खोहोंमें सिंह ही आदि हिंसक भयानक मृग रहते हैं, कुछ हिरनों या भेड़-बकरियोंके लिये 'कंदर-खोहा' नहीं कहा गया है।' वे यह लिखते हैं कि 'शिकारके प्रसङ्गमें मृगका अर्थ हिरन नहीं हो सकता है।' दासकी समझमें यहाँ केवल वनका उल्लेख है, पर्वत-कंदरा आदिका नहीं। वनमें हिरन भी झुण्ड-के-झुण्ड रहते हैं और इनका शिकार भी किया ही जाता है। मृगमें सिंह, मगर, हाथी, गैंडा, अरना भैंसा आदि तो हैं ही पर साथ-ही-साथ हिरन भी आ जाते हैं। मृगयाके समय सत्योपाख्यानमें मृगयूथोंका सामने आना और उनपर लक्ष्य करना पाया जाता है। इस मृगयूथमें कृष्णसार और मृगीका बच्चोंके साथ होना भी लिखा है। कृष्णसार हिरन होते हैं। अतः उस झुंडमें सब हिरन ही हिरनका होना सिद्ध होता है।—इससे भी सिद्ध होता है कि 'मृग' से 'हिरन' अर्थ भी लिया जा सकता है। इसी प्रसङ्गमें गुहने कहा है कि मृगयूथको मारनेमें क्या वीरताका लाभ होगा, हम लोग सिंह और गजादिका शिकार करें। यथा **'मृगयूथवधेनैव ह्यस्माकं किं भविष्यति। सिंहानां च गजानां च मृगया क्रीयतां वने॥ सत्यो० ४६। १४।'**

पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि इस चौपाईमें 'पावन' और 'जिय जानी' ये दो शब्द बड़े विलक्षण पड़े हैं जो

कविके हृदयके अगाध आशयको सूचित कर रहे हैं। चौपाईका अर्थ है—'श्रीरामजी जिन मृगोंको अपने जियमें जानते हैं कि ये पावन हैं उन्हींको मारते हैं। अथवा, जिन मृगोंके जिय (जीवात्मा) को पावन (शुद्ध स्वरूप) मोक्षाधिकारी जानते हैं उनको मारते हैं।' ये मारे जानेपर मृगशरीर छोड़कर सुरलोकको प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ अभिप्राय यह है कि 'बद्ध आत्माको स्थूल शरीरसे पृथक्‌कर मुक्तस्वरूपमें करनेको हिंसा नहीं कहते, अनेक जन्मोंसे संसारवेदनाओंको भोग करनेवाले जीव श्रीरामजीके कर-तीर्थसे स्थूल देहका नाता त्यागें तो यह बड़े सुकृतका परिणाम है। देखिये, मारीचने क्या सोचा था? यही न कि रावणके हाथसे मरनेसे भवबन्धन न छूटेगा, इससे श्रीरामजीके ही हाथोंसे क्यों न मरकर मुक्त हो जाऊँ।—'उभय भाँति देखेसि निज मरना। तब ताकेसि रघुनायक सरना॥' इससे यहाँ क्षत्रियका सामान्य धर्म पालनकर विशेष धर्म (अहिंसा) का भी निर्वाह किया है। और श्रीरामजीका अवतार सामान्य मृगोंके मारनेके लिये नहीं है, किंतु धर्मबाधक खलरूप मृगोंके मारनेके अर्थ है; यथा 'हम छत्री मृगया वन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं॥ ३। १९।' कोई-कोई कहते हैं कि महारामायणसे पता चलता है कि रावणने राक्षसोंको मृगरूपसे भेजे थे, जैसे कंसके भेजे दैत्य अनेक रूपोंमें भगवान् श्रीकृष्णजीके पास आये थे। इसीसे 'जिय जानी' पद दिया। अर्थात् वे जान लेते थे कि ये राक्षस हैं, अब इनका 'पूर्वज' सुकृत इन्हें हमारे पास लाया है; अतः पावन हैं। उक्त कथनका भाव यह है कि सदय हृदयसे आत्माके सुधारके अर्थ जो निग्रह किया जाता है वह निग्रह नहीं किंतु अनुग्रह है। और, जो निर्दय हृदयसे आत्माके दुःखार्थ निग्रह है वही निग्रह हिंसा है। [☞'पावन मृग जिय जानी' कहकर जना दिया है कि जो ऐसे समर्थ, त्रिकालज्ञ और सदय हृदय नहीं हैं, किन्तु जो अपनी उदरपूर्ति मांस-भक्षण अथवा क्रीड़ाके विचारसे जीवोंका वध करते-कराते हैं वे क्षम्य नहीं, वे महापापके भागी हो नरकमें पड़ेंगे।]

श्रीत्रिपाठीजी 'पावन मृग' से मेध्य पशु अर्थ करते हैं 'जिनके चर्म-शृङ्गादिका धर्मकार्यमें प्रयोजन पड़ता है। व्याघ्रादि दुष्ट जन्तुओंका चर्म पवित्र माना गया है। अतः मनसे यह निश्चय करके कि यह दुष्ट जन्तु है तब उसका वध करते थे।'

नोट—२ मिलान कीजिये—'अश्वारूढो वनं याति मृगयायै सलक्ष्मणः। हत्वा दुष्टमृगान्सर्वान्पित्रे सर्वं न्यवेदयत्॥ अ० रा० १। ३। ६३।' अर्थात् भगवान् राम नित्यप्रति श्रीलक्ष्मणसहित धनुष, बाण और तरकश धारण कर घोड़ेपर सवार हो मृगयाके लिये वनको जाते और वहाँ हिंसक पशुओंको मारकर उन सबोंको पिताजीके अर्पण कर देते थे।

३ 'दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी' इति। (क) पूर्व कहा था कि 'बन मृगया नित खेलहिं जाई' इसीसे यहाँ 'दिन प्रति' शिकार लाकर दिखाना कहा। इससे जनाया कि नित्य शिकार खेलने जाते थे, किसी दिन भी शिकार खाली न जाता था, और यह कि वन इतनी दूर था कि नित्य वहाँसे लौटकर आ जाते थे। (ख) 'नृपहिं देखावहिं' इसलिये कि राजाको मालूम हो जाय कि अब बाणका लक्ष्य ठीक होने लगा है क्योंकि आगे विश्वामित्रजीके साथ वनको जाना है। अतः हस्तलाघवता दिखानेका प्रयोजन है। राजा देखकर बहुत प्रसन्न भी होंगे। प्र० स्वामीका मत है कि दिखानेमें हेतु यह है कि शास्त्रविरुद्ध तथा कानून-विरुद्ध शिकार नहीं खेलते यह पिताजी देख लें।

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि किसी फारसी कविने खूब कहा है—'हमा आहुवाने सहरा सरे खुद निहादा बर कफ, ब उमीद आँ कि रोजे ब-शिकार ख्वाही आमद।' अर्थात् जंगलके सब हिरन अपना सिर हथेलीपर लिये इस उमीदपर हैं कि किसी दिन तू शिकारको आवेगा।—धन्य है यह इश्क (प्रेम) की कुर्बानी (बलिदान)!!

४ 'जे मृग रामबान के मारे।…' इति। (क) 'रामबाणके मारे' कहनेका भाव कि और वीरोंके हाथ मरनेसे स्वर्ग होता है, पर तत्क्षण नहीं और श्रीरामजीके बाणोंसे मृत्यु होनेसे तुरत दिव्यरूप हो स्वर्गको प्राप्त हो जाते हैं। 'सिधारे' शब्द भी यह बात जना रहा है। यथा 'तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥' (पं० रा० कु०)। (ख) यहाँ 'सुरलोक' शब्द दिया गया क्योंकि एक तो विशेषकर गन्धर्वादि शापसे 'मृग' हुए थे, वे बाणसे मारे जानेपर अपना पूर्व दिव्यरूप पाकर अपने-अपने लोकको गये। उनका शापोद्धार हो गया, जहाँ वे जाना चाहते थे वहीं भेज दिये गये। दूसरे जो विशेष सुकृती थे वे हरिपद साकेतको प्राप्त हुए। इसका पर्याप्त प्रमाण सत्योपाख्यानमें मिलता है। इस शब्दसे सब कथाओं एवं सब कल्पोंके श्रीरामावतारोंके चरितों तथा सभी ऋषियोंके वचनोंका निर्वाह हो जाता है। 'सुरलोक' में स्वर्ग, वैकुण्ठ, क्षीरसागर, साकेत, गन्धर्वलोक, यक्षलोक इत्यादि सभीका ग्रहण प्रसंगानुकूल हो सकता है।

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥ ४॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥ ५॥

शब्दार्थ—संजोग = समागम, जोड़-तोड़ या योग (लग जाना, भिड़ जाना)।

अर्थ—भाइयों और सखाओंके संग भोजन करते हैं। माता-पिताकी आज्ञा पालन करते हैं ॥ ४ ॥ जिस प्रकार श्रीअयोध्यापुरीके रहनेवाले सुखी हों, दयासागर श्रीरामजी वही योग प्राप्त कर देते हैं ॥ ५ ॥

'अनुज सखा सँग भोजन करहीं' इति।—

शिकारगाहके पीछे इस चरणके होनेसे किसी-किसी महानुभावने यह भाव कहा है कि शिकारगाहहीमें सब बैठकर शिकारका मांस भोजन करते थे। हमारी समझमें यह अर्थ करना महा अनर्थ है, महापाप है। यह अर्थ प्रायः मांसभक्षक, निर्दयी जीवहिंसक, परायी आत्माको दुखानेमें प्रसन्न होनेवाले या शाक्त लोग ही करते होंगे। यह अर्थ और भाव मानसके विज्ञ, मानसके मर्मज्ञ, मानसको गुरुसे पढ़े हुए कदापि नहीं करते। एक महानुभावने 'मांसभक्षण' सिद्ध करनेके लिये यहाँतक लिख डाला है कि 'ग्रन्थकार वैष्णव हैं, साक्षात् रामजीका मृगमांस भोजन करना कहीं नहीं लिखते। पर आशयसे यहाँ सूचित कर दिया है कि मृगादिको ले आते हैं और मृगमांस भोजन करते हैं'। शोक है कि उन्होंने यह विचार न किया कि पूर्व कह आये हैं कि रघुवंशी वैष्णव हैं, उनके कुलके इष्टदेव भगवान् हैं।—'**निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना॥**' भला वैष्णवोंका कहीं यह अभक्ष्य आसुरी भोजन करना पाया जाता है? फिर कुछ अवैष्णव एक प्रामाणिक टीकाकारका हवाला (प्रमाण) देते हैं कि उन्होंने ऐसा अर्थ किया है। हमें एक तो इसमें संदेह है कि उनकी हस्तलिखित टीकामें ऐसा भाव लिखा हो। संदेहका कारण भी है। उनकी टीकामें कुल सात काण्ड हैं पर जो नवलकिशोर प्रेसने छापा है उसमें आठ काण्ड हैं। इसी तरह उसमें और अनेक बातें हैं जो प्रथम संस्करणमें नहीं हैं। क्या जाने प्रेसवालोंकी कृपासे जहाँ-तहाँ भाव भी अपने मनके उसमें ठूँस दिये गये हों। दूसरे, वह टीका १२ पण्डितोंकी सहायतासे लिखी गयी थी। वे पण्डित एक राजाकी तरफसे वेतन पाते थे। संभव है कि किसी शाक्त पण्डितने उसमें यह भाव चुपचाप घुसेड़ दिया हो। तीसरे, यदि यह भाव उनका ही हो तो भी हम उसको स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं, सम्मानपूर्वक उनके मतसे सहमत नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्व प्रसंगसे इस भावसे पूर्ण विरोध है।

गोस्वामीजीके समस्त ग्रन्थोंमें कहीं भी मृगमांस भोजन करना नहीं पाया जाता। इसलिये भी वह भाव यहाँ नहीं लगाया जा सकता। फिर '**देखावहिं आनी**' भी हमारे मतकी पुष्टि कर रहा है कि इनको खाते नहीं। खाते तो लाकर दिखाते कैसे?

हमारी समझमें यहाँ उनकी (श्रीरामजीकी) दिनचर्या वर्णन करते हैं। सबेरे उठकर नित्य क्रिया करके भाइयों और सखाओंको साथ लेकर वनको जाते हैं, शिकारको लाकर पिताको दिखाते हैं। इतनेमें भोजनका समय आ जाता है और वे सब भाइयों और सखाओंसहित एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। सखाओं और भाइयोंको साथ भोजन कराना नीति है। ऐसे सेवक फिर कभी विरोधी नहीं होते।

यह दास श्रीनंगे परमहंसजीके मतसे भी सहानुभूति प्रकट करता है। वे लिखते हैं कि 'यह प्रसंग श्रीरामजीके पृथक्-पृथक् गुणवर्णनका है। श्रीरामजी भाइयों और सखाओंको संग लेकर नित्य शिकारको वनमें जाते हैं। जो पुण्यात्मा जीव शाप वा वरके कारण मृगयोनिको प्राप्त होकर प्रभुके हाथ मुक्त होनेकी आशा जोह रहे थे उनका जियमें जान करके, शिकार करते....'। अब दूसरा गुण श्रीरामजीका यह वर्णन किया गया है कि यद्यपि आप बड़े हैं, चक्रवर्ती राज्यके उत्तराधिकारी हैं तथापि कोई विशेषता न ग्रहण करके, भोजन प्रसाद भी छोटे भ्राताओं और सखाओंको संग ही लेकर करते हैं। अब देखा जाय कि भोजनके इस अनुपम प्रसंगको शिकारके प्रसंगके साथ जोड़कर यह अनर्थ कर देना कि उन्हीं शिकारोंका मांस भाइयों और सखाओंके संग खाते थे, महा-अयोग्य है। वह शिकार तो राजाको दिखानेहीके निमित्त लाना कहा गया है और इसीसे ध्वनित भी है कि शेर गैंडा इत्यादिके हिंसक मृगोंका शिकार होता था जिसको दिखानेसे चक्रवर्तीकुमारकी शूरताका परिचय हो। सिंहादिका शिकार मांसाहारी भी खानेके लिये नहीं करते, न उनका मांस खाया ही जाता है।

फिर दूसरे चरणमें लिखते हैं कि '**मातु पिता अज्ञा अनुसरहीं**'। इससे भी निश्चय है कि यह तीसरा गुण वर्णन करते हैं। शिकार करके आये, भोजन तैयार है, पिता-माताका वात्सल्य ही यही है कि वे तुरत उनको भोजन कराते हैं। आज्ञा दी कि चलो, अब सब भोजन कर लो, बस, तुरत भोजन करने चले गये। भाई-सखा सब साथ आये ही हैं, साथ ही भोजन करने लगे।

नोट—१ (क) '**अनुज सखा सँग भोजन करहीं**'। प्रथम अनुजको फिर सखाओंको कहकर पंक्तिका क्रम भी दिखा

दिया है। पासमें पहले भाई बैठे हैं तब सखा। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि आज शिकारमें कुछ विलम्ब हो गया है, इससे आते ही भोजन करना वर्णन किया। (ख) 'अज्ञा अनुसरहीं'। 'क्या आज्ञा पालन करते हैं यह आगे लिखते हैं—'आयसु माँगि करहिं पुरकाजा'।' (पं० रा० कु०)। शिकारगाहके पीछे यह चरण होनेसे यह भाव भी कहा जाता है कि वहीं शिकारगाहमें भोजन करते थे, घरसे पकवान बनकर साथ जाया करता था।

श्रीत्रिपाठीजी इसका भाव यह कहते हैं कि सुखमें अनुज और सखाओंका स्मरण करते थे और आज्ञा-पालनमें स्वयं प्रस्तुत रहते थे, अनुज और सखाको नहीं कहते थे कि जो आज्ञा मुझे हुई है उसे तुम जाकर कर दो।

२ श्रीरघुनाथजीके सखाओंके नाम; यथा—'सखायो रामचन्द्रस्य बहवः सन्ति शौनक। शत्रुघ्नो भरतश्चैव लक्ष्मणः परवीरहा॥ १॥ प्रतापी शत्रुनाशश्च प्रतापाढ्यो युधिष्ठिरः। सुकर्मा सुष्ठुरूपश्च जयश्च विजयस्तथा॥ सुकण्ठो दीर्घबाहुश्च सुशिराश्चातिविक्रमी। चारुचन्द्रश्च भानुश्च रिपुवारस्तथारिजित्॥ ३॥ तथा शीलः सुशीलश्च गजगामी मनोहरः। सबलाश्वो हरिदश्वो तथान्ये च सहस्रशः॥ ४॥' (सत्यो० पू० ३८)। पुनश्च यथा—'प्रतापाग्रयं नीलरत्नं वीरभद्रं महाबलम्॥ २॥ सबलाश्वं हरिदश्वं शोणाश्वं हरिदश्वकम्। चन्द्रसानुं चन्द्रचारुं रिपुवारं रिपुञ्जयम्॥ ३॥ भद्राश्वं च जयन्तं च सुबाहुं च महामतिम्। अन्यानपि महावीरान् मृगयासिद्धिकारकान्॥ ४॥' (सत्यो० पू० ४३)।

टिप्पणी—१ 'जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा।....' इति। [यह चौथा गुण वर्णन करते हैं।] जो बड़े हैं उनकी आज्ञानुसार चलते हैं। जो बराबरके हैं उनके साथ भोजन करते हैं। अब जो छोटे हैं उनके साथका बर्ताव (आचरण, व्यवहार) कहते हैं। प्रजा अपने सेवक हैं अतः छोटे हैं, उनको सुख देनेके लिये उचित संयोग जुटा देते हैं। पुरवासी बहुत हैं, सबकी रुचि रखते हैं, सबको सुख देते हैं, अतएव सुखकी विधियाँ बहुत हैं, कहाँतक लिखें; इसीसे कहते हैं कि वही संयोग अर्थात् उपाय करते हैं। तात्पर्य कि जो जिस विधिसे सुखी हो सकता है उसी विधिसे उसे सुखी करते हैं। भाइयों-सखाओंको साथमें लेकर शिकारको जाते हैं, साथमें भोजन करते हैं, इस तरह उनको सुखी करते हैं। माता-पिताकी आज्ञा पालन कर उनको सुख देते हैं। बड़े, बराबरके और छोटे सबके साथ यथार्थ व्यवहार बर्तते हैं। सबको सुखी करते हैं; इसीसे 'कृपानिधि' विशेषण दिया।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥ ६॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥ ७॥
आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषै मन राजा॥ ८॥

अर्थ—मन लगाकर वेद-पुराण सुनते हैं। (जो बात कठिन है वह) आप स्वयं भाइयोंसे समझाकर कहते हैं॥ ६॥ श्रीरघुनाथजी प्रातःकाल उठकर माता, पिता और गुरुजीको प्रणाम करते हैं, मस्तक नवाते हैं॥ ७॥ और, आज्ञा माँगकर नगरका काम करते हैं। चरित देख-देखकर राजा मनमें प्रसन्न होते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'बेद पुरान सुनहिं' क्योंकि आप वेदपुराणोक्त धर्मके संस्थापनकर्ता हैं। स्वयं आचरण करके सबको उपदेश करते हैं कि वेदपुराण मन लगाकर सुनने चाहिये। (ख) 'मन लाई' क्योंकि जो मन लगाकर न सुने वह कथा सुनने-सुनानेका अधिकारी नहीं है; यथा—'यह न कहिय सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥' (ग) 'आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई'। भाई सब ज्ञाता हैं परंतु 'सुनी चहहिं प्रभु-मुख कै बानी। ७। ३६।' अतएव जो बातें कठिन हैं उनको वे पूछते हैं और प्रभु समझाते हैं। प्रभुके समझानेमें श्रीरामजीका भाइयोंपर वात्सल्य दिखाया। भाई प्रभुके मुखसे सुनना चाहते हैं क्योंकि उनके वचनसे भ्रम दूर होता है,—'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी॥ ७। ३६॥' [कथा सुनकर उसका अनुमोदन करना चाहिये, यथा—'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं'। भाइयोंको समझानेमें अनुमोदनका भाव भी आ गया। ☞ यह चौथा गुण कहा। 'समुझाई' से जनाया कि विस्तृत व्याख्या करते हैं।

चार प्रकारसे विद्या अभीष्ट फलदानमें समर्थ होती है। आगमकालसे, स्वाध्यायकालसे, प्रवचनकालसे और व्यवहार-कालसे। इनमेंसे दोको कह चुके।—'गुर गृह गए पढ़न रघुराई। अल्पकाल बिद्या सब आई॥', 'बेद पुरान सुनहिं मन लाई', अब प्रवचनकाल और व्यवहारकाल कहते हैं—'आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई', 'प्रातकाल उठिकै....'।

नोट—१ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों भाइयोंको समझाते हैं कि देखो वेद पयसिंधुरूप हैं। इनमें जो ज्ञान, कर्म, उपासना आदि अनेक भेद हैं वे ही उत्तम रत्न हैं और जो केवल ईश्वरकी कथा है वही अमृतरूप है, भवरोगका नाश करती है, मृतकरूप ईश्वरविमुख जीवोंको ईश्वरसन्मुखकर जीवन प्रदान करती है। और जो उसमें भक्ति है वही मधुरतारूप है जो सर्वोत्तम है।' यथा—'**ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं। कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥ ७। १२०॥**'

टिप्पणी—२ '**प्रातकाल उठि कै रघुनाथा।**''' इति (क) वेद-पुराण सुनते हैं, भाइयोंको समझाते हैं, और जो वेद-पुराण कहते हैं उनको करते हैं। (जो उपदेश करे उसपर स्वयं चले यह परम आवश्यक है—'**पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥ ६। ७७॥**' ☞ यह पाँचवाँ गुण कहा। प्रातःकाल उठकर गुरुजनोंको प्रणाम करना विधि है, अतः इसे करते हैं)। (ख)—'**प्रातकाल**' अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें। '**मातु पिता गुरु नावहिं माथा**' इति। जैसे-जैसे क्रमसे माथा नवाते हैं वैसा ही लिखते हैं। [माताके पास सोते हैं; अतः उठनेपर प्रथम माताका ही दर्शन होता है तब पिताका और बाहर जानेपर गुरुका। अथवा] प्रथम माताको, तब पिताको, तब गुरुको क्योंकि माता पितासे बड़ी है और पिता गुरुसे बड़े हैं, यथा—'**उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥** इति मनुः॥ २। १४५॥' यह भी दिखाया कि माता, पिता और गुरुसे पहले सोकर उठते हैं, यथा—'**गुर ते पहिले जगतपति जागे राम सुजान॥**'

३ '**आयसु माँगि करहिं पुरकाजा।**''' इति। (क) प्रथम जो कहा था कि '**मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं**' उसीको स्पष्ट करते हैं। जो माता-पिता आज्ञा देते हैं वही करते हैं (यह '**आज्ञा अनुसरहीं**' का भाव है) और अपनी ओरसे आज्ञा माँगते हैं इतनी श्रद्धा माता-पितामें है। अपनी ओरसे आज्ञा क्यों माँगते हैं? इसका उत्तर '**जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥**' से ध्वनित होता है। उसीका भावार्थ '**आयसु माँगि**''' में स्पष्ट किया है। पुरका कार्य स्वयं करते हैं जिसमें पुरवासियोंको सुख मिले, उन्हींको सुख देनेका संयोग आज्ञाद्वारा उपस्थित कर देते हैं। (ख) पुत्रको राज्यकार्य करते देख पिताको हर्ष हुआ ही चाहे, अतः पुरकाज करनेपर '**हरषै मन राजा**' कहा। ☞ इस तरह माता, पिता, गुरु तीनोंको सुख देना दिखाया। [भोजन करानेमें माताको सुख; यथा—'**अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥ ७। २६॥**' पुरकाजसे पिताको सुख और प्रणामसे तथा कथाश्रवणसे गुरुको सुख। पुनः, '**पुरकाज**' करनेसे राजाको हर्ष होता था, इस कथनसे जनाया कि श्रीरामजी बड़े नीतिज्ञ थे। यथा—'**नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥**' पुरकाज करनेमें ये चारों देखे गये]

नोट—२ ☞ प्रतिदिनके ये नियम बड़े महत्त्वके हैं। अब छूट गये हैं, इसीसे तो समाजका संयम नष्ट हो गया है। कोई माता, पिता और गुरुको मानता ही नहीं। (अब तो लड़के कहते हैं कि माताका हमपर क्या उपकार, वह तो अपनी अग्नि बुझानेमें लगी थी, हम उससे निकल पड़े। बापको कहते हैं कि ये मूर्ख हैं, हम साइन्स आदि पढ़े हैं, अपटूडेट हैं, यह गँवार बुड्ढा बोदी अक्लका है, इसकी आज्ञा हम कैसे मानें, यह हमारी आज्ञामें चले। गुरुको गुरुडम और पोपिज्म कहकर उसका बायकाट किया जाता है। मन्त्र पुस्तकोंमें लिखे हैं, हम स्वयं पढ़ सकते हैं, गुरुकी क्या जरूरत। इत्यादि-इत्यादि)। स्वतन्त्रताकी मादकतामें गति यह है कि '**बापै पूत पढ़ावै १६ दूनी ८**'। ठीक है उल्टी शिक्षा तो होगी ही। (लमगोड़ाजी)।

३ समानार्थी श्लोक ये हैं—'**प्रातरुत्थाय सुस्नातः पितरावभिवाद्य च। पौरकार्याणि सर्वाणि करोति विनयान्वितः॥ ६४॥ बन्धुभिः सहितो नित्यं भुक्त्वा मुनिभिरन्वहम्। धर्मशास्त्ररहस्यानि शृणोति व्याकरोति च॥ ६५॥**' (अ० रा० १। ३)। मानसमें क्रम उल्टा है। '**बेद पुरान सुनहिं**''' प्रथम है और '**प्रातःकाल**''' पीछे। क्रम उलटकर यह भी जनाया है कि कथा तीसरे पहर अथवा रात्रिको होती है। उसके पश्चात् शयन करते हैं और सवेरे सबसे पहले उठते हैं। मानसमें 'गुरु' को भी प्रणाम करना कहकर गुरुमें भी वैसी ही श्रद्धा दिखायी।

दो०—ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥ २०५॥

शब्दार्थ—व्यापक, अनीह, अज, नाम न रूप—दोहा १ । १३ । ३-४ मा० पी० भाग १ पृष्ठ २१७, २१८, २१९, २२० देखिये । अकल—कलारहित, अव्यवहरित, सर्वाङ्गपूर्ण । अकल, अनीह, अज—दोहा ५० मा० पी० भाग २ देखिये। निर्गुण—१ । २१ । ८, १ । २३ । १, १ । २३ मा० पी० भाग १ पृष्ठ ३४०-३४१, ३५६-३५७ देखिये ।

अर्थ—जो व्यापक है, कलारहित है, प्राकृत चेष्टा वा इच्छारहित है, अजन्मा है, अव्यक्त एवं मायिक गुणोंसे परे है, प्राकृत नाम-रूपरहित है, वही भक्तोंके लिये अनेक प्रकारके सुन्दर उपमारहित चरित्र कर रहा है ॥ २०५ ॥

टिप्पणी—१ भाव कि जो व्यापक है वह एक देशमें (प्रकट देख पड़ रहा है), जो पूर्ण है वह खण्डित देख पड़ता है, जो चेष्टारहित है वह चेष्टा करता हुआ देख पड़ता है । ☞ यहाँतक तीन दोहोंमें (१९८, १९९ और यहाँ २०५ में) प्रायः एक ही बात कही है और एकसे ही विशेषण दिये हैं । १९८ में माताका ही नाम लिखा, क्योंकि तब माताकी गोदमें रहनेसे माताको ही विशेष सुख मिला था । १९९ में पिताको भी कहा (क्योंकि अब आँगनमें विचरने लगे थे) और जब महलसे निकलने लगे तब पुरवासियों, भक्तोंको सुख मिला; इसीसे बाहर निकलनेपर दोहा २०५ में उसी ब्रह्मका भक्तोंको सुख देना कहा । इस तरह तीन दोहे तीन व्यक्तियोंके विचारसे पृथक्-पृथक् लिखे गये ।

नोट—भक्तोंके लिये अवतार लेते हैं; यथा—'**अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी**' '**भक्त भूमि भूसुर सुरभि**''''' ।' भक्तोंके लिये चरित्र करते हैं, यथा—'**सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं** ॥' अतः भक्तोंको भी सुख देना लिखा ।

☞ '**बालचरित पुनि कहहु उदारा**' इस प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ । '**यह सब चरित कहा मैं गाई । आगिलि कथा सुनहु मन लाई** ॥ २०६ (१) ॥'

अवतार और बालकेलि-प्रकरण समाप्त हुआ ।

विश्वामित्रयज्ञरक्षा एवं अहल्योद्धार-प्रकरण

यह सब चरित कहा मैं गाई । आगिलि कथा सुनहु मन लाई ॥ १ ॥

अर्थ—मैंने यह सब चरित गाकर कहा (अब) आगेकी कथा मन लगाकर सुनो ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ (क) '**यह सब रुचिर चरित मैं भाषा । १८८ । ६ ।**' इसपर अवतारहेतुकी इति लगायी थी ।' '**यह सब चरित कहा मैं गाई ।**' यहाँ बालचरितकी इति लगायी । पहले पृथक्-पृथक् कहा, यहाँ सबको एकत्र कर दिया । यथा—'**यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा । १९२ । ६ ।**', '**बालचरित अति सरल सुहाये । सारद सेष संभु श्रुति गाए । २०४ । १ ।** तथा '**यह सब चरित कहा मैं गाई ।**' '**सब**' में उपर्युक्त दोनों भी आ गये । (ख) '**सुनहु मन लाई**' कहकर आगेकी कथाकी सुन्दरताका परिचय दे रहे हैं । इन शब्दोंसे जनाते हैं कि अगली कथा बहुत सुन्दर है । मन लगाकर सुनने योग्य है । (ग) ☞ सभी कथाओंको भी सुन्दर कह आये हैं; यथा—'**यह सब रुचिर चरित मैं भाषा**', ''**बालचरित अति सरल सुहाए ।**' इसीसे आगेकी कथाको भी सुन्दर कहा । (घ) '**आगिलि कथा सुनहु**' अर्थात् यह कथा समाप्त हुई ।

२ बाल (अर्थात् शिशु, कुमार और पौगण्ड अवस्थाओंके चरित) समाप्तकर अब किशोरावस्थाके चरित कहते हैं । यहाँसे विवाहकी भूमिका है । बालचरितका प्रश्न करके पार्वतीजीने विवाहका प्रश्न किया है; यथा—'**बालचरित पुनि कहहु उदारा । कहहु जथा जानकी बिवाही ॥ ११० । ५-६ ।**'; अतएव यहाँसे श्रीपार्वतीजीके चतुर्थ प्रश्न '**कहहु जथा जानकी बिवाही**' का उत्तर चला । इससे श्रीभुशुण्डिजीके मूल रामायणके इस अंशका वर्णन है—'**रिषि आगमन कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिवाह ।**' इस समय श्रीरामजी चौदह वर्षके हो चुके, पंद्रहवाँ चल रहा है, जैसा वाल्मीकीयमें दशरथजीके वचनोंसे स्पष्ट है । यथा—'**ऊनषोडश वर्षो मे रामो राजीवलोचनः । १ । २० । २ ।**' अर्थात् मेरा कमलनयन राम अभी सोलह वर्षसे भी कम अर्थात् पंद्रह वर्षका है । मायादर्श रामायणमें और भी स्पष्ट है, यथा—'**श्रीरामेण यदा स्वयं शिवधनुर्भक्त्वा जितो जानकी ह्यासीत्पञ्चदशाब्दिकेन वयसा षड्वार्षिकी मैथिली ॥**'

❀ 'मन लाई' के भाव ❀

पं० रा० कु०—बिना मन लगाये चरित समझमें न आयेगा, इसीसे सर्वत्र मन लगानेको कहा है।

बैजनाथजी—विवाह आदि अगला चरित शृङ्गारसहित माधुर्यलीला है, इससे मन लगाना कहा।

पंजाबीजी—आगे विश्वामित्रजीका राजाके पास जाना कहेंगे। राजा उनसे वचनबद्ध होनेपर भी कहेंगे कि राम मुझे प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं ? इससे उनमें मोह या अज्ञानका आरोपण न कर बैठना, किंतु यह समझना कि ऐसा प्रेम है तभी तो प्रभुका आविर्भाव इनके यहाँ हुआ। ताड़का सुबाहु आदिकी कथा भी मोहित करनेवाली है, उससे यह न समझ लेना कि प्रभुमें क्रोधादि विकार हैं, वे तो यह क्रीड़ा सन्तों और देवताओंकी रक्षा और राक्षसोंकी मुक्तिके निमित्त कर रहे हैं। पुनः यह न संशय करना कि मुनि भी तो मनुष्य हैं, इनसे राजा क्यों डरे ? मुनिकी उत्तम करनीका यह प्रभाव है कि राजा भी उनसे डरते हैं, अतः हमको भी उत्तम करनी करना चाहिये, यह उपदेश यहाँ है।

रा० प्र०—'बिना मन लगाये मनमें इसका आना कठिन है। वा, '**प्रभुतन आधा सीता रानी। रूप अगाध सील गुन खानी॥**' ये जो हैं उनका संयोग आगे वर्णित है'; अतएव 'मन लाई' कहा।

वि० त्रि०—'मन लाई' अर्थात् सप्रेम सुननेको कहा, क्योंकि इसके सप्रेम सुननेका फल विशेष कहा है। यथा—'**सिय रघुबीर बिवाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहुँ सदा उछाह मंगलायतन राम जस॥**'

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥ २॥

अर्थ—महामुनि और महाज्ञानी विश्वामित्रजी (सिद्धाश्रमको) शुभ आश्रम जानकर वनमें निवास करते हैं॥ २॥

नोट—१ '**महामुनि ज्ञानी**' अर्थात् समस्त मुनियोंमें और समस्त ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं। 'महामुनि' कहा, क्योंकि तपस्याके बलसे क्षत्रियसे ब्राह्मण हुए, ऐसा कोई दूसरा नहीं हुआ। यथा—'**मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥ ३५९। ६।**'

पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'विश्वामित्र (नाम), महामुनि और ज्ञानी ये तीनों पद सहेतुक और परस्पर एक-एकके भावको पुष्ट कर रहे हैं। विश्वामित्र = विश्व + अमित्र। अर्थात् आपके सत्संगसे संसारका अभाव हो जाता है। वा, आपने संसारके पदार्थोंको नश्वर समझ उनसे ममत्व हटा लिया है। वा, संसारको शत्रु समझकर आपने अपने अनादि-कालके परममित्र श्रीरामजीकी खोज की, ऋषियोंके आचरण स्वीकार किये। अतएव आगे 'महामुनि' कहा। वेदशास्त्रके तत्त्वके पारदर्शीको 'मुनि' कहते हैं और जो उस तत्त्वका स्वरूप ही बनकर तदाकार हो जाय वह 'महामुनि' है। तत्त्वका रूप होनेसे 'ज्ञानी' कहा।' इन तीनोंके गुणोंसे संयुक्त हैं इसीसे तो यह जानते थे कि यह आश्रम शुभ है।'

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'ज्ञानी' विशेषण दिया गया, क्योंकि इन्होंने अपने आश्रमसे ही प्रभुका प्रादुर्भाव जान लिया।

२ '**बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।**' (क) इस वनका नाम 'चरितवन' है। पुनः, आश्रम तो बस्ती आदिमें भी रहता है, परंतु वहाँ उपाधि भी रहती है। निरुपाधिके विचारसे 'बिपिन' कहा। और विपिनमें निवास कहकर वैराग्य दिखाया। (रा० कु०)। (ख) '**सुभ आश्रम जानी**' इति। 'शुभ' का भाव कि यहाँ अनुष्ठान शीघ्र सिद्ध होते हैं, यह आश्रम सिद्धपीठ है, परब्रह्मपरमात्मा श्रीरामजी इसे अपने चरणकमलोंसे पवित्र और सुशोभित करेंगे। इस आश्रमका नाम सिद्धाश्रम है जो गंगाजीके दक्षिण तटपर स्थित है और आजकल 'बक्सर' नामसे विहार-प्रान्तमें प्रसिद्ध है। (ग) पुनः, 'शुभ' का भाव कि आश्रम '**परम पावन**' है।' सब मुनि शुभ अर्थात् परम पावन आश्रम जानकर ही बसा करते हैं; इसीसे ऋषियोंके आश्रमोंको यह (परमपावन) विशेषण दिया जाता है; यथा—'**भरद्वाज आश्रम अति पावन**', '**देखि परम पावन तव आश्रम। गयेउ मोह संसय नाना भ्रम॥**' (घ) सब मुनि शुभ आश्रम जानकर बसा करते हैं यथा—'**तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधिदाता॥ बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा। १४३। २-३।**' इत्यादि। यहाँ जप, योग, यज्ञ सिद्ध होते हैं, अतः शुभ जानकर यहाँ बसे। (पं० रा० कु०)। (ङ) यह आश्रम गंगातटपर चण्डीदेवीके स्थानके पास है। श्रीअयोध्याजीसे ६४ कोशपर माना जाता है। इस आश्रमपर महातपस्वी विष्णुभगवान्‌ने सैकड़ों युगोंतक तपस्या करनेके लिये निवास किया था और वामन भगवान्‌का यह पूर्वाश्रम है। महातपस्वी विष्णु यहीं सिद्ध हुए थे। अतः इसका नाम सिद्धाश्रम है। यथा—'**इह राम महाबाहो विष्णुर्देवनमस्कृतः। वर्षाणि सुबहूनीह तथा युगशतानि च॥ २॥ तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः। एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः॥ ३॥ सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः।** वाल्मी० १। २९।'; अतः '**शुभ आश्रम जानी**' कहा। ऐसा जानकर ही विश्वामित्रजी यहाँ यज्ञ करनेके लिये कौशिकीतट छोड़कर आये

थे। विश्वामित्रने श्रीरामजीसे यह भी कहा है कि महात्मा वामनने यहाँ निवास किया। उनके प्रति मेरी भक्ति होनेसे मैं वहाँ रहता हूँ—'मयापि भक्त्या तस्यैष वामनस्योपभुज्यते १। २९। २२।' अतः 'शुभ जानी' कहा।

३ 'विश्वामित्र' इति। विश्वामित्रजीने श्रीरामजीके पूछनेपर बताया है कि 'ब्रह्मपुत्र राजा कुशके चार पुत्रोंमेंसे 'कुशनाभ' दूसरा पुत्र था। राजा कुशनाभने पुत्रप्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ किया, जिसके फलस्वरूप 'गाधि' नामका परम धार्मिक पुत्र पैदा हुआ। यही महात्मा गाधि मेरे पिता हैं। कुशवंशमें उत्पन्न होनेसे 'कौशिक' कहा जाता हूँ। (वाल्मी० १। ३३। ३, १। ३४। १, ५, ६)। मेरी बड़ी बहिनका नाम 'सत्यवती' था जो महर्षि ऋचीकको ब्याही गयी थी जो इस शरीरसे ही स्वर्गको गयी और उसके नामसे कौशिकी नामकी एक महानदी बही। इसीसे मैं हिमवान्‌की तराईमें उसके तटपर सुखपूर्वक निवास करता हूँ। यज्ञ करनेके लिये मैं वहाँसे यहाँ सिद्धाश्रममें आया और तुम्हारे पराक्रमसे मुझे सिद्धि मिली।—'अहं हि नियमाद्राम हित्वा तां समुपागतः। सिद्धाश्रममनुप्राप्तः सिद्धोऽस्मि तव तेजसा॥ वाल्मी० १। ३४। १९॥'

इनका नाम 'विश्वरथ' था। ब्रह्म-ऋषित्व प्राप्त होनेपर 'विश्वामित्र' नाम हुआ। इनके जन्मकी कथा इस प्रकार है,—एक बार श्रीसत्यवतीजी और उनकी माताने श्रीऋचीकजीके पास पुत्रकामनासे जाकर उसके लिये प्रार्थना की। ऋषिने दो प्रकारके मन्त्रोंसे चरुको सिद्ध करके उनको बताकर कि अमुक चरु तुम (सत्यवती) खा लेना और अमुक तुम्हारी माता खा लें। यह कहकर वे स्नानको चले गये। माताने सत्यवतीके चरुको श्रेष्ठ समझकर उससे उसका चरु माँग लिया और अपना उसको दे दिया। यथा—'स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया। श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः॥ तावत्सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती। श्रेष्ठं मत्वा तयाऽयच्छन्मात्रे मातुरदत्स्वयम्॥ भा० ९। १५। ८-९॥'

विष्णुपुराणमें इसको और स्पष्ट करके लिखा है कि 'ऋचीकजीने दो चरु सत्यवतीको दिये और बता दिया कि यह तुम्हारे लिये है और यह तुम्हारी माँके लिये। इनका तुम यथोचित उपयोग करना' यह कहकर वे वनको चले गये। उपयोग करनेके समय माताने कहा—'बेटी! सभी लोग अपने ही लिये सबसे अधिक गुणवान् पुत्र चाहते हैं, अपनी पत्नीके भाईके गुणोंमें किसीकी भी विशेष रुचि नहीं होती। अतः तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू ले ले, क्योंकि मेरे पुत्रको तो सम्पूर्ण भूमण्डलका पालन करना होगा और ब्राह्मणकुमारको तो बल, वीर्य तथा सम्पत्ति आदिसे लेना ही क्या है? ऐसा कहनेपर सत्यवतीने अपना चरु माताको दे दिया। यथा—'पुत्रि सर्व एवात्मपुत्रमतिगुणमभिलषति नात्मजायाभ्रातृगुणेष्वतीवादृतो भवतीति॥ २१॥ अतोऽर्हसि ममात्मीयं चरुं दातुं मदीयं चरुमात्मनोपयोक्तुम्॥ २२॥ मत्पुत्रेण हि सकलभूमण्डलपरिपालनं कार्यं कियद्वा ब्राह्मणस्य बलवीर्यसम्पदेत्युक्ता सा स्वचरुं मात्रे दत्तवती॥ २३॥' (वि० पु० ४। ७)।

जब ऋषिको यह बात ज्ञात हुई तब उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा कि तुमने यह बड़ा अनुचित किया। ऐसा हो जानेसे अब तुम्हारा पुत्र घोर योद्धा होगा और तुम्हारा भाई ब्रह्मवेत्ता होगा। सत्यवतीके बहुत प्रार्थना करनेपर कि मेरा पुत्र ऐसा न हो, उन्होंने कहा कि अच्छा, पुत्र तो वैसा न होगा किंतु पौत्र उस स्वभावका होगा। राजा गाधिकी स्त्रीने जो चरु खाया उसके प्रभावसे विश्वामित्रजी हुए जो क्षत्रिय होते हुए भी तपस्वी और ब्रह्मर्षि हुए।

इनके सौ पुत्र हुए। इससे इनके कौशिकवंशकी बहुत अधिक वृद्धि हुई। ये बड़े क्रोधी थे। शाप दे दिया करते थे। राजा हरिश्चन्द्रके सत्यकी सुप्रसिद्ध परीक्षा लेनेवाले भी यही हैं। ऋग्वेदके अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके द्रष्टा ये या इनके वंशज माने जाते हैं। ब्रह्मगायत्रीके ये ऋषि हुए। ये बड़े तेजस्वी हुए। इन्होंने तपके प्रभावसे क्षत्रियत्वको छोड़कर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। इसकी संक्षिप्त कथा यों है कि एक बार ये बड़ी सेना-समाज लेकर शिकारको गये। मार्गमें वशिष्ठजीके आश्रमपर ठहरे। मुनिके पास एक कामधेनु थी जिसकी सहायतासे उन्होंने राजाका सेनासहित बड़ा आदर-सत्कार किया। विश्वामित्रको जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने वह गऊ उनसे माँगी। देना स्वीकार न करनेपर राजा उसे बलात्कार ले जाने लगे; परन्तु इसमें वे सफल न हुए। फिर बड़ी भारी सेना लाकर उन्होंने उसे छीनना चाहा, पर उनकी सब सेना और पुत्र मारे गये। एक पुत्र बचा उसे राज्य दे इन्होंने कठिन तपस्या करके शिवजीसे अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये और उनके बलपर फिर वशिष्ठजीसे गऊ छीनने आये, परंतु इनके ब्रह्मदण्डके आगे उन सब अस्त्र-शस्त्रोंका तेज नष्ट हो गया। लज्जित होकर ब्रह्मत्व प्राप्त करनेके उद्देश्यसे इन्होंने कठिन तप किये। ब्रह्मादि देवताओंने इन्हें तब ब्रह्मर्षि पद दिया। ये वशिष्ठजीके ऐसे परम शत्रु हो गये थे कि उनके पुत्रोंको शाप देकर इन्होंने भस्म कर दिया था। वाल्मीकीय (सर्ग ५१ से ६५ तक) में विस्तृत कथा है। ३५९ (६) में और भी देखिये।

जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥ ३॥
देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥ ४॥

अर्थ—जहाँ मुनि जप, यज्ञ और योग करते हैं। मारीच और सुबाहुको अत्यन्त डरते हैं॥ ३॥ यज्ञ देखते ही निशाचर दौड़ पड़ते (धावा करते) और उपद्रव (उत्पात) करते हैं जिससे मुनिको दुःख होता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) ['जहँ' (जहाँ) अर्थात् उस सिद्धाश्रमपर। 'जहँ' का सम्बन्ध पूर्वकी अर्धालीसे है। किसी-किसीका मत है कि, 'जहँ'=जहाँ कहीं भी आश्रममें।] (ख) **'जप जोग जग्य'** इति। 'जप' को प्रथम कहनेका भाव कि जपयज्ञ भगवान्‌का स्वरूप है, अतः सबमें श्रेष्ठ है; यथा—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'**। श्रेष्ठकी गणना प्रथम होनी ही चाहिये। पुनः, क्रमका भाव कि जप उपासना है, यथा—**'मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा'**। योग ज्ञान है, यथा—'नाम जीह जपि जागहिं जोगी'। यज्ञ कर्म है, यथा—**'त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं'** (इस तरह कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंमें मुनिको तत्पर दिखाया।)

२ **'अति मारीच सुबाहुहि डरहीं'** इति। (क) भाव कि राक्षस जप, योग और यज्ञ नहीं करने देते; यथा—'जप **जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा॥'** इसीसे डरते रहते हैं कि वह सुनते ही आकर उपद्रव मचावेगा। यथा—**'सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाइ धावा मुनिद्रोही॥'** (ख) **'मारीच सुबाहुहि'** में मारीचका नाम प्रथम देकर जनाया कि मारीच ज्येष्ठ भ्राता है और सुबाहु लघु है। यथा—**'नाम राम लछिमन दोउ भाई' 'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई'** और **'भरत सत्रुहन दूनौ भाई'**, इत्यादि (ग) **'मारीच सुबाहुहि डरहीं'** कहकर जनाया कि रावणने पृथ्वीभरमें जहाँ-तहाँ राक्षसोंकी चौकी बिठा दी है जो राक्षसोंके राज्य और उनके नीतिकी रक्षा करते हैं। जो राक्षसों वा रावणकी नीतिके विरुद्ध काम करते हैं उनको सताते हैं। इस देशके रखवाले मारीच और सुबाहु हैं। इसीसे उनसे डरना कहा गया। मारीच और सुबाहुकी कथा १। २४। ४ में देखिये।

नोट—१ **'अति डरहीं'** के भाव—(क) डरते तो सब दिन हैं पर जप, यज्ञादि करते 'अति' डरते हैं, क्योंकि जपादि करनेसे राक्षस वैर मान लेते हैं। इनका करना उनसे वैर ठानना है। (पं० रा० कु०)। (ख) बलसे किसीको जीत नहीं सकते, यह डर सदा रहता है। और यह समझकर कि 'वे शापसे राक्षस हुए हैं, उसमें अब दूसरेका शाप लग नहीं सकता' उनका डर और अधिक हो गया है; इसीसे 'अति डरहीं' कहा। (वै०)। (ग) डरते तो सभी राक्षसोंसे थे, पर इनसे बहुत डरते थे। इसका कारण आगे स्वयं कहते हैं कि **'देखत जग्य निसाचर धावहिं'**। (घ) किसीका मत है कि 'जप और योग' के समय तो साधारण डर रहता था और यज्ञ करनेमें 'अति' डरते थे क्योंकि धुआँ निकलते ही निशाचरोंको पता लग जाता था और वे तुरत दौड़ पड़ते थे। (ङ) *'मारीच' बड़ा क्रोधी और मुनिका द्रोही भी है,* इसीसे 'अति' डरते हैं। क्रोधी वैरी भयंकर होता है।

टिप्पणी—३ देवता राक्षसोंके वैरी हैं,—**'हमरे बैरी बिबुध बरूथा'** यज्ञसे देवता प्रबल होते हैं, इसीसे राक्षस यज्ञ-विध्वंस करते हैं। 'धावहिं' शब्द देकर जनाया कि यज्ञके नष्ट करनेमें बड़े सावधान हैं, शीघ्र ही नष्ट कर डालते हैं, समाचार मिलते ही तुरत धावा बोल देते हैं, स्वयं भी दौड़ते जाते हैं। यथा—**'आपुन उठि धावै रहै न पावै'**····' (रावण), 'सुनि **मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनि द्रोही॥'** तथा यहाँ **'देखत जग्य निसाचर धावहिं'**। 'देखत' पदसे जनाया कि निशाचर यज्ञकी खोजमें बराबर लगे रहते हैं। ['देखत' से जनाया कि धुआँ उठता हुआ देख जान जाते हैं कि यज्ञ होता है। ताकमें तो रहते ही हैं। कभी नियमके प्रारम्भ होते ही विघ्न करते हैं और कभी यज्ञपूर्तिके समय; जभी वे देख पाते हैं, ये दोनों बातें 'देखत' शब्दसे जना दीं जो वाल्मीकीयमें कही हैं। यथा—**'अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ। तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ॥ ४॥ व्रते मे बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ॥ १। १९। ४-५॥'**

४ **'करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं'** इति। (क) उपद्रव=उत्पात। विष्ठा, मांस, रुधिर आदि वहाँ बरसाते, यज्ञकी सामग्री खराब करते, साधारण ब्राह्मणोंको मार डालते हैं, इत्यादि सभी बातोंका ग्रहण इस शब्दसे हो गया। यथा—'तां **मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम्॥** वाल्मी० १। १९। ६।' (ख) मुनि दुःख पाते हैं, शापसे राक्षसोंका नाश इससे नहीं करते कि शापसे पापका डर है और कुछ न बोलनेसे, दण्ड न देनेसे, वे खल निरादर करते हैं। जैसा कि गीतावली पद ४५ में कहा है—**'चहत महामुनि जाग जयो। नीच निसाचर देत दुसह दुख कृस तनु ताप तयो। श्रापे पाप, नये**

निदरत खल, तव यह मंत्र ठ्यो।' पुनश्च यथा—प्रीतिके न पातकी, दिएहूँ साप पाप बड़ो॥ गी० १। ६४।' [पुनः, शाप न देनेका दूसरा कारण यह भी है कि शापसे इनकी मृत्यु होनेमें भी संदेह है, इसीसे दुःख सहते हैं, शाप नहीं देते, जैसा कि आगे लिखते हैं—'हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी'। अर्थात् इनकी मृत्यु भगवान्‌के ही हाथसे होनी है। शाप व्यर्थ हो जानेसे वे और भी निरादर करेंगे। पुनः यज्ञकी दीक्षा लेकर बैठनेपर क्रोध करना वर्जित है, और वे यज्ञारम्भके पश्चात् ही विघ्न करते हैं। इससे शाप दे नहीं सकते। यथा—'न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव॥ तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते॥ वाल्मी० १। १९॥' 'मुनि दुख पावहिं'—विष्ठा-मांसादिकी वृष्टिसे दुःख होता ही है, साथ ही यज्ञ नष्ट हो जानेसे वे निरुत्साहित हो जाते हैं, यह भी दुःख ही है।]

गाधितनय मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥ ५॥
तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥ ६॥

अर्थ—राजा गाधिके पुत्र श्रीविश्वामित्रजीके मनमें चिन्ता छा गयी कि ये पापी निशिचर बिना भगवान्‌के न मरेंगे॥ ५॥ तब मुनिश्रेष्ठने मनमें विचार किया कि प्रभुने पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतार लिया है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'गाधितनय मन चिंता ब्यापी' इति। आश्रमके शुभ होने तथा इस भविष्यका ज्ञान होनेसे कि यहाँ एक दिन परतम प्रभु पधारेंगे एवं वनमें निवास करने और अद्वितीय पराक्रमी पुरुषार्थी तपोधन महात्मा ब्रह्मर्षि होनेसे इनको प्रथम 'महामुनि' और 'महाज्ञानी' कहा था। अब कहते हैं कि उनको चिंता व्याप गयी है। मुनियों और ज्ञानियोंके मन निर्मल होते हैं। उनको चिन्ता आदि कुछ भी कभी छू नहीं जाते इसीसे चिन्ताके सम्बन्धसे यहाँ मुनि आदि न कहकर 'गाधितनय' कहा। सज्जनका दुःख दूर करना, पापियोंको दण्ड देना और मारना यह राजाका धर्म है। सो विश्वामित्रजीने सज्जनोंका दुःख दूर करने और पापी निशाचरोंके नाश करनेकी चिन्ता इस समय की। अतः 'गाधितनय' नाम युक्तियुक्त ही है। शत्रुनाशकी चिंता राजाओंको स्वाभाविक होती ही है। [पुनः 'गाधितनय' कहकर इनका पूर्वपरिचय दिया गया कि ये पराक्रमी राजाके पुत्र हैं, अस्त्र-शस्त्र विद्यामें निपुण हैं, निशाचरोंको स्वयं मार सकते थे, परंतु इन्होंने ऐसा न किया क्योंकि 'मुनिवर' और ज्ञानी हैं, जानते हैं कि हरिहीके हाथसे मरेंगे। दूसरे, इनपर अस्त्र-शस्त्र विद्याका प्रयोग करनेसे मेरा बड़े दुःखसे कमाया हुआ ब्रह्मत्व नष्ट हो जायगा। चिन्तामें विचार नहीं रह जाता और मुनि विचारवान् होते हैं। इसलिये संकल्प-विकल्पसे 'गाधितनय' और आगे 'विचार' के सम्बन्धसे 'मुनिवर' कहा गया।' (रा० च० मिश्र)।] ☞ चिन्ताब्यापी अर्थात् चिन्ताग्रस्त हो गये कि क्या उपाय करें जिससे यज्ञ सिद्ध हो, क्या करें जिससे ये दुष्ट उपद्रव न करें। सोचते हैं कि बिना इनके मरे कार्य न होगा। ये मरें कैसे? शाप दे नहीं सकते, दबनेसे निरादर करते हैं इत्यादि।

नोट—१ 'अब चिन्ता क्यों ब्यापी? यहाँ तो वर्षोंसे रहते हैं?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—(१) सब कार्य समयपर ही प्रभुकी इच्छा एवं प्रेरणासे होते हैं। जब भगवान्‌की इस लीलाका समय आया तब भगवत्प्रेरणासे मनमें चिन्ता व्यापी। श्रीरामजी घरसे अब बाहर निकलने लगे हैं, वनमें जाकर हिंसक जीवोंका शिकार भी करने लगे हैं। राजाको भी इनके अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें कुशल हो जानेका विश्वास हो चुका है जैसा कि 'प्रतिदिन नृपहि देखावहिं आनी' में बता आये हैं। इसके पूर्व चिन्तासे कार्य नहीं चल सकता था। पुनः, (२) सत्योपाख्यान उ० ४ में इस सम्बन्धमें यह लिखा है कि शिवजीने स्वप्नमें मुनिको इस समय आज्ञा दी कि श्रीअवध जाकर श्रीरामजीको ले आओ। यथा—'महेश्वरेण चाज्ञप्तो विश्वामित्रो महामुनिः। सिद्धाश्रमाच्चचालाशु रामार्थं मुनिपुंगवः॥ १॥' इसीसे अब ऐसे विचारोंका उदय हुआ।

टिप्पणी—२ 'हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी' इति। (क) भक्तोंके क्लेशोंको हरेंगे, राक्षसोंको मारेंगे, इसी विचारसे 'हरि' नाम दिया गया। यथा—'भक्तानां क्लेशं हरतीति हरिः।' (ख) 'हरि बिनु मरहिं न' इस कथनसे पाया गया कि मारीच, सुबाहु आदिकी मृत्यु हरिके ही हाथ है। (ग) निसिचर पापी हैं; भगवान् पापियोंको मारते हैं। राक्षसोंको 'पापी' कहनेका भाव कि पापी पृथ्वीका भार हैं और भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतार लेते हैं, जैसा कि आगे कहते हैं। अतः इनको मारकर भार उतारेंगे।

३ 'तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा।...' इति (क) जब मनमें चिन्ता व्यापी तब मनमें विचार किया। मनन करना, विचार करना, मुनियोंका काम ही है। विचार करनेसे चिन्ता दूर होती है और मन सावधान हो जाता है। अतः

विचार करके मनको सावधान किया। इति भावः। (ख) 'प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा' इति। पृथ्वीका भार हरण करनेको समर्थ हैं, अतः 'प्रभु' कहा। राक्षस पृथ्वीके भार हैं, उनके लिये भगवान्‌ने अवतार लिया है, इस कथनमें तात्पर्य यह है कि संयोग हम मिला दें। मनमें जो विचार किया वह भगवान् स्वयं कह चुके हैं, उसे मुनि जानते हैं। यथा—'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥' [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वर' विशेषण दिया क्योंकि त्रिकालज्ञ हैं, विचारवान् हैं, उन्होंने विचारकर जान लिया कि इस आश्रमपर भगवान्‌के आगमनका समय आ गया। रा० प्र० कार लिखते हैं कि प्रभुके अवतारका निश्चय किया, इससे मुनिवर कहा (सत्योपाख्यानमें भी श्रीरामजीके लेने जानेके सम्बन्धमें 'महामुनि' और 'मुनिपुंगव' विशेषण आये हैं। 'तब मुनिबर''' महि भारा' से यह भी जनाया कि इस विचारके साथ ही उनकी चिन्ता दूर हो गयी। यथा—'सापे पाप नये निदरत खल, तब यह मंत्र ठयो। विप्र साधु सुर धेनु धरनि हित हरि अवतार लयो॥ सुमिरत श्रीसारंगपानि छनमें सब सोच गयो। गी० १। ४५।']

एहूँ मिस देखौं पद जाई*। करि बिनती आनौं दोउ भाई॥ ७॥
ग्यान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥ ८॥

अर्थ—इसी बहानेसे भगवान्‌के चरणोंका जाकर दर्शन करूँ और विनती करके दोनों भाइयोंको ले आऊँ॥ ७॥ जो प्रभु ज्ञान, वैराग्य और समस्त गुणोंके स्थान हैं, उनको मैं भर नेत्र देखूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'एहूँ मिस' अर्थात् यज्ञरक्षाके बहाने। बहानेसे दर्शन करनेमें भाव यह है कि साक्षात् दर्शन करनेमें भगवान्‌का ऐश्वर्य खुल जायगा, यह संकोच है। यथा—'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ। ४८।' (ख) 'देखौं पद जाई'—इस कथनसे भगवान्‌के चरणोंमें विश्वामित्रजीकी भक्ति दिखायी। आगे माधुर्यके अनुकूल भगवान्‌से चरणसेवा लेंगे (करायेंगे)। (ग) 'करि बिनती' इति। तात्पर्य कि अपने कार्यके बहानेसे ले आऊँ। (घ) 'दोउ भाई' कहकर जनाया कि विश्वामित्रजी जानते हैं कि श्रीरामलक्ष्मणका सदा सङ्ग रहता है। लक्ष्मणजी श्रीरामजीके अनुगामी हैं। यथा—'बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥' अथवा 'प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा' यह प्रथम विचार करना कह आये। पृथ्वीका भार हरन करनेके लिये प्रभु श्रीरामजीका अवतार है, यथा—'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुबिभार॥', 'जय हरन धरनी भार महिमा उदार अपार' इति इन्द्रस्तुतिः, 'जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार। की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार॥' (कि०), इत्यादि। और श्रीलक्ष्मणजीका अवतार भी भारहरणके लिये है, यथा—'सेष सहस्रसीस जग कारन। सो अवतरेउ भूमि भय टारन॥' इत्यादि। इसीसे श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंको लाना कहा। (ङ) 'करि बिनती आनौं दोउ भाई' कहनेसे सूचित हुआ कि राजासे मिलनेमें सन्देह नहीं है, श्रीराम-लक्ष्मणजीके आनेमें सन्देह है कि पिताको त्यागकर कैसे आवेंगे। [पंजाबीजीका यही मत है। वे लिखते हैं कि 'यह पद प्रभुके निमित्त है क्योंकि उनसे तो विनय ही कर सकते हैं कि चलकर सबको कृतार्थ कीजिये और राजाको तो त्रास दिखावेंगे।' विश्वामित्रजीको सन्देह हो रहा है कि राजा तो दे देंगे क्योंकि ब्रह्मण्य हैं, पर न जाने प्रभु मातापिताको त्यागकर आवेंगे या नहीं, अतएव सोचते हैं कि उनकी विनती करेंगे। विनय करनेसे वे अवश्य आवेंगे; क्योंकि वे तो 'ज्ञान विराग सकल गुणोंके धाम' हैं। इसीसे आगे जब प्रभु साथ हो गये तब मुनि कहते हैं कि 'प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥'; परंतु श्रीबैजनाथजी आदि राजासे विनती करनेका अर्थ करते हैं, क्योंकि प्राणप्रिय पुत्रको देना कठिन है, याचक बनकर माँगना विनती है। गीतावली पद ४८ से, इस दीनकी समझमें, राजासे ही विनती करना सिद्ध होता है। यथा—'राजन रामलखन जौ दीजै। जस रावरो लाभ ढोटनिहूँ मुनि सनाथ सब कीजै॥' राजा न देना चाहेंगे इसका कारण आगे राजाके उत्तरहीमें स्पष्ट है।]

नोट—१ 'एहूँ मिस देखौं पद जाई' तथा 'सो प्रभु मैं देखब भरि नयना' दो बार देखनेकी लालसासे सूचित करते हैं कि मुनि प्रभुके अनुरागमें भरे हुए हैं और उनका लक्ष्य प्रभुका दर्शन है जिससे वे कृतार्थ होना चाहते हैं, यज्ञरक्षा एक बहानामात्र है। यथा—'द्रष्टुं रामं परमात्मानं जातं ज्ञात्वा स्वमायया॥ अ० रा० १। ४। १॥ अर्थात् श्रीरामजी अपनी इच्छासे नररूपसे प्रकट हुए हैं यह जानकर विश्वामित्रजी उनका दर्शन करनेके लिये श्रीअयोध्यापुरीमें आये। गीतावलीके पद

* एहि मिस देखौ प्रभु पद जाई। को० रा०।

४५, ४६ से भी इस भावकी पुष्टि होती है। दोहा २०६ देखिये। जनकमहाराजसे भी मुनिने यही कहा है; यथा—'मख मिस मेरो तय अवध गवनु भो।' गी० १। ६४।'

टिप्पणी—२ 'ज्ञान बिराग सकल गुन अयना।···' इति। भाव कि—(क) मुनियोंका धर्म है कि ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त गुणोंको (धारण) करें। श्रीरामजी ज्ञान वैराग्य समस्त गुणोंके धाम हैं, अतः उनको भर नेत्र देख लेनेसे हमारे वह धर्म पूर्ण हो जायँगे। उनका दर्शन कर लिया तो ज्ञान, वैराग्य आदि सभी कर चुके। [कथनका भाव कि ज्ञान वैराग्यादि सभी कर्मोंका फल भगवान् रामजीका दर्शन है; यथा—'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥ २। १०७।' (भरद्वाजवाक्य)। दर्शन होनेपर इनका करना बाकी नहीं रह जाता। दर्शनसे हमारे ज्ञान, वैराग्य समस्त सद्‍गुण सिद्ध हो गये], यथा—'तुम्हरे दरस आस सब पूजी। २। १०७।' पुनः, (ख) जो ज्ञानके धाम हैं वे भी ज्ञानसे इन्हींको देखते हैं, यथा—'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥ विरागके अयन हैं, इसीसे वैरागी सब प्रपञ्चसे वैराग्य करके इन्हींको ग्रहण करते हैं। सद्‍गुणोंके अयन हैं अर्थात् समस्त सद्‍गुण इन्हींके (प्राप्त्यर्थ) किये जाते हैं। पुनः, (ग) मुनि ज्ञान, वैराग्य सकल गुणोंको धारण किये हुए हैं; अतः अपनी भावनाके अनुसार उन्होंने भगवान्‌को इन सबोंका स्थान कहा। यथा—'जिन्हकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥' पुनः, [(घ) ज्ञानके अयन हैं, अतः ज्ञानसे हमारे अभीष्टको जानेंगे। वैराग्य-अयन हैं, अतः माता-पिताका त्याग करेंगे। गुणअयन हैं, युद्धकलामें कुशल हैं; अतः उनको निशिचरोंका भय नहीं है, वे उनका वध करेंगे। (बाबा रामदासजी)। पुनः, (ङ) मुनिके मनमें सन्देह था कि आवें या न आवें, उसका निवारण वे स्वयं कर रहे हैं कि वे अवश्य आवेंगे क्योंकि वे 'ज्ञान बिराग सकल गुन अयन' हैं।]

नोट—२ 'सो प्रभु मैं देखब भरि नयना' का भाव कि अभीतक ध्यानमें देखते रहे हैं, भर नेत्र देखनेको नहीं मिले, किंतु आज उनको इन नेत्रोंसे भरपूर देखूँगा। देखनेकी अति उत्कण्ठा है; इसीसे देखना दो बार कहा। ☞ इससे प्रकट है कि मुख्य श्रीरामदर्शन है, राक्षसोंका वध गौण है। ☞ यहाँ अपने आचरणसे उपदेश देते हैं कि जहाँ जिस तीर्थमें जाय वहाँ भगवान्‌का दर्शन मुख्य रक्खे और जो कुछ कार्य हो उसे सामान्य समझे। (पं० रामकुमारजी)।

दो०—बहु बिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरजू* जल गये भूप दरबार॥ २०६॥

अर्थ—बहुत प्रकारसे मनोरथ करते चले जाते हैं, (इसीसे) पहुँचते देर न लगी। श्रीसरयूजलमें स्नान करके राजद्वारपर गये॥ २०६॥

टिप्पणी—१ (क) 'बहु बिधि करत मनोरथ' इति। बहु बिधिके मनोरथ ऊपर कह आये। 'एहूँ मिस देखौं पद जाई', करि बिनती आनौं दोउ भाई', 'ज्ञान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना' ये ही 'बहु बिधि' के मनोरथ हैं। [नोट—इतने मनोरथ कहकर तब 'बहु बिधि' पद देकर अन्य भी बहुत प्रकारके मनोरथ जना दिये, जो अन्य ग्रन्थोंमें हैं। यथा—'आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुख की सींव अवधि आनंद की, अवध बिलोकि हौं पाइहौं॥ सुतन्हि समेत दसरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइहौं। रामचंद्र मुखचंद्रसुधा छवि नयन चकोरनि प्याइहौं॥ सादर समाचार नृप बूझिहैं हौं सब कथा सुनाइहौं। तुलसी होइ कृतकृत्य आश्रमहिं राम लखन लै आइहौं॥ गीतावली ४६॥']
(ख) 'जात लागि नहिं बार' इति। मुनि मनोरथोंके आनन्दमें मग्न हैं, शरीर पुलकायमान हो रहा है। अतएव रास्ता कुछ भी जान न पड़ा; वे शीघ्र पहुँच गये। यथा—'करत मनोरथ जात पुलकि प्रगटत आनंद नयो। तुलसी प्रभु अनुराग उमगि मग मङ्गलमूल भयो॥ गी० १। ४५।' ☞ विचारोंकी धुनमें मार्ग जान नहीं पड़ता यह देखा ही जाता है; यथा-'एहि विधि करत सप्रेम विचारा। आएउ सपदि सिंधु एहि पारा॥ ५। ४३।' [कुछ लोग 'बार' का अर्थ दिन करते हैं। अर्थात् एक दिन भी न लगा। श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि आश्विन कृ० ६ को सिद्धाश्रमसे चले और चौथे दिन नवमी-को प्रातःकाल श्रीअवध पहुँचे। इस तरह श्रीरामजी इस समय चौदह वर्ष, पाँच मास, पन्द्रह दिनके हैं।]

* सरजू—१७०४, १७२१, छ०। सरयू—को० रा०। सरऊ—१६६१, १७६२।

२ 'करि मज्जन सरजू जल' इति । शास्त्राज्ञा है कि तीर्थमें जाय तो जाते ही तीर्थस्नान करे; यथा—'करि तड़ाग मज्जन जलपाना । बट तर गएउ हृदय हरषाना ॥ ७ । ६३ ॥', 'मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा । पूजि जथा-बिधि तीरथ देवा ॥ तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए ॥ २ । १०६ ॥' [पुनः, इसी पार सरयूजीमें स्नान करनेका भाव—(१) प्रातःकाल पहुँचे, इससे नित्य क्रियासे निवृत्त हो लिये । वा, (२) 'वेदाज्ञा है कि तीर्थ मिलनेपर उसमें प्रथम स्नान किये बिना उसका उल्लंघन न करे । (वै०) वा, (३) श्रमनिवृत्यर्थ स्नान किया । (पं०) । वा, (४) किसीके घर जाना हो तो प्रथम ही स्नान पूजन आदि नित्य क्रियासे निवृत्त हो लेना उचित है, क्योंकि न जाने वहाँ पहुँचनेपर अवसर मिले या न मिले । अतएव स्नान करके गये ।]

३ 'गए भूप दरबार' इति । दरबार=द्वार ।='वह द्वार वा फाटक जहाँपर' डेवढ़ी लगती है, बिना इत्तला और आज्ञाके कोई भीतर जाने नहीं पाता । (मा० त० वि०) । यथा 'प्रमुदित पुरनरनारि सब सजहिं सुमंगलचार । एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार ॥' (अ० २३); अर्थात् राजद्वारपर इतनी भीड़ है कि एक ही एक करके लोग भीतर जा या बाहर निकल सकते थे । पुनः यथा 'गएउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज ॥ ६ । १८ । तुरत निसाचर एक पठावा । समाचार रावनहि जनावा ॥ सुनत बिहँसि बोला दससीसा । आनहु बोलि कहाँ कर कीसा ॥ लं० १९ ॥' अर्थात् सभाके द्वारपर अंगदने पहुँचकर ड्योढ़ीदारको भेजा कि रावणको खबर कर दो । यही अर्थ सत्योपाख्यान और वाल्मीकीय आदि ग्रन्थोंसे भी पुष्ट होता है । सत्योपाख्यान उ० ४ में लिखा है कि 'साकेतनगरं दृष्ट्वा मुमुदे कौशिको मुनिः । राजद्वारं समागत्य ददर्श महतीं श्रियम् ॥ २ ॥ द्वारपालः समागत्य प्रणेमुः शिरसा मुनिम् । मुनिना प्रेषिताः सर्वे राजानां च विजिज्ञपुः ॥ ३ ॥ राजा दशरथः श्रुत्वा वसिष्ठादिभिरन्वितः ।' अर्थात् राजद्वारपर मुनि आये, द्वारपालोंने प्रणाम किया और जाकर राजाको खबर दी, तब राजा वशिष्ठादि सहित लेने आये । वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि 'अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः । स राज्ञो दर्शनाकांक्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ।' अर्थात् द्वारपालोंसे राजाके दर्शनकी आकांक्षा प्रकट की । और, नीति भी यही है, सनातन परिपाटी यही है कि द्वारपालसे बिना खबर कराये भीतर नहीं जाना चाहिये । उसी नीतिका पालन मुनिने यहाँ किया । पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'सरयूजलमें स्नान करके मुनि राजाके दरबारमें गये', यह अर्थ कहनेमें अगली चौपाईसे शङ्का होती है कि 'जब दरबारमें गये तो राजाको देखना चाहिये था, सुननेका प्रयोजन नहीं है । इसलिये वे ऐसा अर्थ करते हैं कि पहले पदमें विश्वामित्रका वर्णन है और दूसरेमें यह कि राजा जिस समय सरयूजीमें स्नान करके दरबारमें पहुँचे तब मुनिके आगमनको सुना ।' पं० ज्वालाप्रसादजीने भी यह अर्थ लिखा है । परन्तु यह अर्थ असङ्गत है और 'दरबार' का अर्थ न समझनेके कारण किया गया है । ऋषिके आगमनके प्रसङ्गमें राजाके प्रसंगका अर्थ अयोग्य है । इसी प्रकार कुछ लोगोंने यह अर्थ किया है कि 'दरबारकी ओर चले' । परन्तु उपर्युक्त प्रमाणोंसे ऐसे अर्थोंकी आवश्यकता ही नहीं रहती ।

मुनि आगमन सुना जब राजा । मिलन गएउ लै बिप्र समाजा ॥ १ ॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी । निज आसन बैठारेन्हि आनी ॥ २ ॥

अर्थ—राजाने जब मुनिका आगमन (आना) सुना तब विप्रसमाजको साथ लेकर मिलने गये ॥ १ ॥ दण्डवत् प्रणाम करके मुनिका आदर-सत्कार करते हुए उन्हें लाकर अपने आसनपर बिठाया ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'मुनि आगमन सुना जब राजा ।···' इति । (क) विश्वामित्रजीके द्वारपर ठहरनेका एक कारण यह भी है कि राजा द्वारपर उनको आदरपूर्वक ले जानेके लिये आवें, जिसमें राजाकी भक्ति (कायम) रहे, उनके भक्तिकी प्रशंसा हो और ऋषिका उचित सम्मान हो, द्वारपालपर क्रोध न हो । (ख) 'लै बिप्र समाजा' इति । विश्वामित्रजी विप्र हैं, ब्रह्मर्षि हैं, इसीसे राजा विप्रसमाजको साथ लेकर मिलने गये । यथा 'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ज्ञाति । चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ एहि भाँति ॥ २१४ ॥' श्रीजनकजी महाराजके यहाँ जब मुनि मिलने गये तब विश्वामित्रजी अकेले न थे । उनके साथ राजकुमार श्रीरामलक्ष्मणजी भी थे । इसीसे वहाँ श्रीजनकजी महाराज मन्त्रियों, ब्राह्मणों, सुभटों और अपने ज्ञातिवर्गके लोगोंको भी साथ लेकर मिलने गये । यहाँ केवल मुनि हैं, अतएव केवल विप्रसमाजको साथ लेकर राजा मिले । (किसीका मत है कि 'उस समय राजा पूजामें थे जब आगमन सुना, उस समय वहाँ विप्रमण्डली उपस्थित

थी, अतः उसीको साथ ले लिया।' वाल्मीकीयके अनुसार राजा उस समय राजभवनमें गुरु वसिष्ठ मन्त्रियों और कुटुम्बियोंसे पुत्रोंके विवाहकी सलाह कर रहे थे कि विश्वामित्रजीने आकर द्वारपालोंसे अपने आगमनकी सूचना भेजवायी। (सर्ग १८। ३६—३९)। यह तो अवश्य ही है कि एक जातिवाला अपने सजातीयको देखकर अति प्रसन्न होता है, मुनिके आदर और प्रसन्नताके लिये मुनिसमाजका लेना योग्य ही है।

२ 'करि दंडवत मुनिहि सनमानी।....' इति। (क) 'दंडवत्' शब्द देकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम सूचित किया। दण्डवत् करना भी सम्मान है और भी सम्मान आगे कहते हैं। 'निज आसन बैठारेन्हि आनी', यह भी सम्मान है। यथा 'सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी॥' तथा यहाँ दण्डवत्से सम्मान किया। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राजा प्रसन्नतापूर्वक उनकी आगवानीको चले, जैसे ब्रह्माकी अगवानी इन्द्र कर रहे हों। राजा देखकर प्रसन्न हुए और मुनिको अर्घ्य दिया—'प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्। १। १८। ४४।'—ये सब भाव 'सनमानी' से सूचित कर दिये गये]। (ख) 'निज आसन' (अर्थात् राज्यसिंहासन) पर बैठानेका दूसरा भाव यह है कि यह समस्त राज्य आपका ही है, हम आपके सेवक हैं। विवाहके बाद बिदाईके समय जो कहा है 'नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी॥' वही भाव यहाँ 'निज आसन बैठारेन्हि' मात्र कहकर सूचित कर दिया है।

चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥ ३॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिबर हृदय हरष अति पावा॥ ४॥
पुनि चरननि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥ ५॥

शब्दार्थ—मेलना=डालना, रखना। यथा 'मेली कंठ सुमन की माला', 'पदसरोज मेले दोउ भाई॥'

अर्थ—चरणोंको धोकर उनकी बहुत अर्थात् भलीभाँति षोडशोपचाररीतिसे पूजा की (और कहा—) मेरे समान भाग्यवान् पुण्यवान् वा सुकृती आज दूसरा कोई नहीं है॥ ३॥ (उन्हें) अनेक प्रकारके भोजन कराये। मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने हृदयमें बहुत हर्ष प्राप्त किया॥ ४॥ फिर राजाने चारों पुत्रोंको (मुनिके) चरणोंपर डाल दिया अर्थात् प्रणाम कराया। रामचन्द्रजीको देखकर मुनि देहकी सुध भूल गये॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'अति पूजा' इति। षोडश प्रकारसे पूजा की। उसके कुछ अंग यहाँ लिखे अर्थात् 'आनी' से आवाहन, 'आसन बैठारेन्हि' से आसन, 'चरन पखारि', से पाद्य, 'भोजन करवावा' से नैवेद्य; ये चार अङ्ग यहाँ कहे गये। शेष सब अङ्ग 'अति पूजा' पदसे जना दिये। महामुनि स्वयं कृपा करके दर्शन देने आये हैं, यह अपना महत्भाग्य समझ 'अति पूजा की। ४५ (५-६) भी देखिये।

२ 'मो सम आजु धन्य नहिं दूजा' इति। (क) 'आजु' और 'न दूजा' से जनाया कि मुनि इसके पहले आजतक किसी राजाके यहाँ न गये थे और न चक्रवर्ती महाराजके यहाँ ही कभी आये थे जैसा राजाके 'मुनि अस कृपा न कीन्हिउ काऊ' इन वचनोंसे स्पष्ट है। आज ही प्रथम-प्रथम आये हैं इसीसे 'आजु धन्य....' कहा। (ख) साधुके आगमनसे, साधु-सेवा इत्यादिसे गृहस्थ धन्य होते ही हैं, यथा 'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह॥' (श्रीभुशुण्डिजी), 'बड़े भाग पाइय सतसंगा।' और फिर महामुनि ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजीका आगमन! इस भाग्यकी बड़ाई कौन कर सकता है!! [(ग) 'नहिं दूजा' इति। श्रीजानकीमङ्गलमें भी ऐसा ही कहा है। यथा 'कहेउ भूप मोहि सरिस-सुकृत किए काहु न॥ ९॥ काहु न कीन्हेउ सुकृत सुनि मुनि मुदित नृपहि बखानहीं।' 'नहिं दूजा' कहनेका भाव कि जो विश्वामित्रजी किसीके यहाँ नहीं जाते वे ही आज श्रीराम-लक्ष्मणजीको लेनेके लिये दशरथजीके यहाँ आये और जनकमहाराजके यहाँ जायँगे सो भी रामकार्यहीके लिये। ☞ इस प्रकार कथनकी शिष्ट पुरुषोंमें रीति भी है। गीतावलीमें भी ऐसा ही कहा है, यथा—'देखि मुनि! रावरे पद आज। भयउँ प्रथम गनती महँ अब ते हौं जहँ लौं साधुसमाज।' (पद ४९)। पुनः, 'मोसम आजु धन्य नहिं दूजा' का भाव कि मेरा जन्म आज सफल हो गया और मेरा जीवन धन्य हुआ क्योंकि आज मैंने उस महात्माका दर्शन पाया है जो प्रथम राजर्षि थे और जिन्होंने तपस्याद्वारा अपना गौरव फैलाया, ब्रह्मर्षि पदवीको प्राप्त किया। आपका पवित्र आगमन मेरे लिये एक आश्चर्य है। आपके शुभदर्शनसे मैं और यह स्थान पुण्यतीर्थ क्षेत्र हो गये। यथा 'अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम्। पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः।

ब्रह्मर्षिस्त्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया ॥ तदद्भुतमभूद्विप्र पवित्रं परमं मम । शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात्प्रभो ॥' (वाल्मी० १ । १८ । ५२-५४) ।' पुनश्च यथा 'कृतार्थोऽस्मि मुनीन्द्राहं त्वदागमनकारणात् ॥ ३ ॥ त्वद्विधा यद्गृहं यान्ति तत्रैवायान्ति सम्पदः ।' (अ० रा० १ । ४ ।', 'यथामृतस्य सम्प्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥ ५० ॥ यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै । प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः ॥ ५१ ॥ तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ॥ वाल्मी० १ । १८ ।' अर्थात् आप ऐसे महात्मा जहाँ जाते हैं वहाँ सब सम्पत्तियाँ आ जाती हैं, अतः मैं आज कृतकृत्य हो गया; जैसे किसीको अमृत मिल जाय, सूखे देशमें पानी पड़ जाय, पुत्रहीनको पुत्र मिल जाय, खोई हुई वस्तु मिल जाय और जैसे पुत्रविवाह आदिमें हर्ष होता है, मैं आपका आगमन वैसा ही समझता हूँ । ये सब भाव यहाँ जना दिये ।]

३ (क) 'बिबिध भाँति' अर्थात् भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य चारों प्रकारके भोजन । यथा 'चारि भाँति भोजन श्रुति गाई । एक एक बिधि बरनि न जाई ॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती । एक एक रस अगनित भाँती ॥' (ख) 'मुनिबर हृदय हरष अति पावा' इति । हर्ष कहकर जनाया कि भोजन बहुत अच्छे बने हैं । पुनः दूसरा भाव कि राजा विप्रसमाज लेकर उनका स्वागत करने आये, उनके योग्य उनका पूजन-सत्कार किया, अन्तःपुरमें आसन दिया, षट्रस चारों प्रकारके भोजन कराये, इत्यादिसे राजाका प्रेम और श्रद्धा अपने प्रति देखकर उनको अपने मनोरथकी पूर्ति, अपने कार्यकी सिद्धिमें विश्वास हुआ; अतः हर्षित हुए । (ग) भोजनकी प्रशंसा मुखसे न की क्योंकि शास्त्रमें व्यंजनकी प्रशंसा करना मना है ।

४ (क) 'पुनि चरनन्हि मेले सुत···' यहाँ राजाकी चतुरता दिखाते हैं कि जब मुनिके हृदयमें अत्यन्त हर्ष हुआ तभी पुत्रोंको लाकर प्रणाम कराया जिसमें इसी आनन्द-प्रसन्नतामें पुत्रोंको शुभाशीर्वाद दे दें । 'पुनि' अर्थात् भोजनके बाद प्रसन्न देखकर । (ख) 'राम देखि मुनि देह बिसारी' इति । भाव कि श्रीरामजी सब भाइयोंमें अधिक सुन्दर हैं, यथा 'चारिउ सील रूप गुन धामा । तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥' ☞ देह बिसारनेका स्वरूप कवि आगे प्रत्यक्ष दिखाते हैं कि प्रणाम करनेपर पुत्रोंको आशीर्वाद देना चाहिये था, (यथा 'दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती । चले न प्रीति रीति कहि जाती ॥ ३६० । ९ ।') और जो बहुत तरहके मनोरथ प्रथम करते आये थे कि 'सुतन्ह सहित दसरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइहौं', सो कुछ न किया, क्योंकि देहकी खबर ही नहीं है । [पाँडेजी लिखते हैं 'बिरति बिसारी' अर्थात् 'वैराग्यको बिसराके रागी हो गये । अर्थात् रामको देखकर गृहस्थाश्रमको धन्य माना ।']

नोट—१ (क) यहाँ वात्सल्यरसमें मग्न होना दिखाया है, क्योंकि इस रसका मुख्य स्थान मुख ही है, यथा 'जननीं सादर बदन निहारे ।' श्रीजानकीमङ्गलमें गोस्वामीजीने इस दशाका वर्णन यों किया है—'रामहि भाइन्ह सहित जबहि मुनि जोहेउ । नयन नीर तनु पुलक रूप मन मोहेउ ॥ ११ ॥ परसि कमल कर सीस हरषि हिय लावहिं । प्रेम पयोधि मगन मुनि पार न पावहिं ॥ मधुर मनोहर मूरति सादर चाहहिं । बार बार दसरथ के सुकृत सराहहिं ॥ १२ ॥'—ये सब भाव 'देह बिसारी····', 'भए मगन' से सूचित किये । (ख) 'राम देखि···बिसारी' में भाव यह है कि देखा चारोंको पर श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नको देखकर आनन्द हुआ और श्रीरामजीको देखा तब प्रेमावेश आ गया । (वै०) । अथवा, तीनों भाइयोंको देखनेपर परमानन्द प्राप्त हुआ, पर श्रीरामजीको देखनेपर अभ्यास भी जाता रहा । (रा० प्र०) ।

भए मगन देखत मुख सोभा । जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥ ६ ॥
तब मन हरषि बचन कह राऊ । मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ ॥ ७ ॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा । कहहु सो करत न लावौं बारा ॥ ८ ॥

अर्थ—मुखकी शोभा देखते ही (उसमें ऐसे) मग्न हो गये मानो चकोर पूर्णचन्द्रको देखकर लुभा गया हो ॥ ६ ॥ तब राजाने मनमें प्रसन्न होकर (ये) वचन कहे—'हे मुनि ! ऐसी कृपा (तो) आपने कभी एवं किसीपर भी नहीं की (जैसी आज मुझपर की) ॥ ७ ॥ किस कारणसे आपका आगमन हुआ ? कहिये, उसे (पूरा) करनेमें देर न लगाऊँगा ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भए मगन देखत मुख सोभा ।' भाव कि मुखकी शोभा अत्यन्त भारी है, यथा 'मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं । जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥' इसीसे देखकर मग्न हो गये । (ख) 'जनु चकोर पूरन ससि लोभा' इति । चकोरकी उपमा देकर जनाया कि एकटक टकटकी लगाये देख रहे हैं; यथा 'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा ।

रामचंद मुखचंद्र चकोरा ॥' (ग) श्रीरामचन्द्रमुखकी उपमा पूर्णशशिकी है, खण्डित चन्द्रकी नहीं। जैसे चकोर नेत्रद्वारा अमृत पान करता है, वैसे ही श्रीरामजीके मुखचन्द्रकी शोभारूपी अमृतका मुनि अपने नेत्रोंद्वारा पान करते हैं; यथा '**रामचंद्र मुखचंद्र छबि लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल प्रेम प्रमोद न थोर ॥**' (घ) ☞ गीतावलीमें कहे हुए '**रामचंद्र मुखचंद्र सुधाछबि नयन चकोरन्ह प्याइहौं**' इस मनोरथको यहाँ चरितार्थ किया है।

२ '**तब मन हरषि बचन कह राऊ।**....' इति। (क) तब अर्थात् पूजन, भोजन और पुत्रोंके प्रणाम और श्रीरामदर्शनके बाद आगमनका कारण पूछा। उत्तम लोगोंकी यही रीति है। यथा '**गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा ॥ सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥ गहे चरन सियसहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी ॥**...**आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवक लहइ स्वामि सेवकाईं ॥ २। ९।**' (ख) '**मन हरषि**' का भाव कि जिस उत्साहसे पूजन किया—'**चरन पखारि कीन्हि अति पूजा**' जिस उत्साहसे भोजन कराया, उसी उत्साहसे हर्षपूर्वक कार्य करनेको कहते हैं (वा, अपने पुत्रोंपर कृपादृष्टि और अनुराग देख हर्ष)। (ग) '**मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ**' इस कथनसे पाया गया कि राजा ऐसी कृपाके सदा अभिलाषी रहते हैं जैसा कि विश्वामित्रजीकी बिदाईके समयके वचन से स्पष्ट है; यथा '**करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसन देत रहब मुनि मोहू ॥ १। ३६०।**'

३ '**केहि कारन आगमन तुम्हारा**' इति। मुनि पूर्व कभी नहीं आये, अब जो आये हैं तो अवश्य किसी कारणसे ही आये होंगे, यही समझकर कारण पूछा। पुनः, कारण पूछनेका और भाव कि राजाने विचार किया कि इनको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं हो सकती, ये पूर्णकाम हैं, अतएव जिस कारणसे आये हों वही उनसे पूछकर करना मुझे उचित है। (यह भाव श्रीजानकीमङ्गलसे पुष्ट होता है। यथा '**तुम्ह प्रभु पूरनकाम चारि फलदायक। तेहिते बूझत काजु डरौं मुनिनायक ॥ १३ ॥**') वे जानते हैं कि विश्वामित्र मंगन नहीं हैं; इसीसे माँगनेको न कहकर आगमनका कारण पूछा। और, जब विश्वामित्रजीने कहा कि मैं याचने आया हूँ तब राजाने माँगनेको कहा; यथा '**माँगहु भूमि धेनु धन कोसा**....।' (ख) '**कहहु सो**....' अर्थात् आपके कहने भरकी देरी है, करनेमें देर न लगेगी। (ग) ☞ यहाँतक राजाको मन, वचन और कर्म तीनोंसे कार्य करनेमें अनुकूल वा तत्पर दिखाया। मनमें हर्ष हुआ, वचनसे आगमनका कारण पूछा और विलम्बरहित कार्य करनेको कहा।

नोट—१ मिलानके श्लोक—'यदर्थमागतोऽसि त्वं ब्रूहि सत्यं करोमि तत् ॥ अ० रा० । १ । ४ । ४ ॥' '**ब्रूहि यत् प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति।**...**कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि कौशिक। कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान्मम ॥** वाल्मी० १ । १८ ॥' अर्थात् आप जिस कामके लिये पधारे हों वह बतलाइये। आप किसी बातका संकोच न करें। मैं आपके सब कार्य करूँगा क्योंकि आप मेरे देवता हैं। 'करत न लावौं बारा' में वाल्मीकीय और अ० रा० के भाव आ गये कि मैं सत्य कहता हूँ, प्रतिज्ञा करता हूँ, आप किंचित् संकोच न करें, देवता जिसमें प्रसन्न हों वही उपासकका कर्तव्य है, अतएव जिसमें आपकी प्रसन्नता होगी वही मैं करूँगा। इत्यादि।

असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आएउँ नृप तोही ॥ ९ ॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—जाचन (याचना)=प्राप्त करनेके लिये विनती करना; प्रार्थना करना; माँगना। सनाथ=कृतार्थ, यथा—'**कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ। जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ॥ ४ । ७ ॥**'

अर्थ—(मुनि बोले—) हे राजन्! मुझे निशाचरवृन्द सताते हैं। (इसलिये) मैं तुमसे (कुछ) याचना करने आया हूँ ॥ ९ ॥ छोटे भाई (लक्ष्मण) सहित रघुनाथ श्रीरामचन्द्रजीको मुझे दो। निशाचरोंके मारे जानेसे मैं सनाथ हो जाऊँगा ॥ १० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'असुर समूह सतावहिं' कहकर अत्यन्त दुःखका होना सूचित किया। ['**करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥ २०६ । ४ ॥**' के सब भाव 'सतावहिं' में हैं।] 'सतावहिं मोही' का भाव कि यद्यपि राक्षसोंके सतानेसे सभी मुनियोंको दुःख होता है; यथा—'देखत जज्ञ निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥ तथापि सब मुनियोंके दुःखको विश्वामित्रजी अपना दुःख मानते हैं, क्योंकि ये महामुनि हैं, मुनिवर्य हैं, मुनिराज हैं, इसीसे 'मोही' कहा। (ख) 'जाचन आएउँ'। दानी लोग याचकको 'नहीं' नहीं करते, इसीसे कहा कि याचना करने आया हूँ; यथा—'**सकल कामप्रद**

तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ॥ माँगौं भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करै कुकरमू॥ अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी॥ २। २०४॥' (ग) 'नृप' संबोधनका भाव कि गरीबके यहाँसे चाहे याचक विमुख लौट जाय पर राजाके यहाँसे तो कदापि विमुख न जाना चाहिये। पुनः, भाव कि हमारा यज्ञ सिद्ध कराके नरोंका पालन करो। यज्ञसे मनुष्योंका पालन इस तरह होता है कि यज्ञसे मेघ बनते हैं जिससे वर्षा होती है, फिर जलसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा पलती है। यथा—'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ गीता ३। १४॥' (घ) ☞ यहाँ अपने लिये 'मैं' और राजाके लिये 'तोही' एक वचन शब्दोंका प्रयोग करके जनाया कि मुझ-सा याचक तुमको न मिला होगा और न मिलेगा कि जिसने कभी किसीसे याचना न की हो और सुकृती दाताओंमें भी तुम एक ही हो, तुम्हारी समताको कोई पहुँच नहीं सकता कि जिसके यहाँ मैं याचक बनकर आया। [यथा—'भली कही भूपति त्रिभुवनमें को सुकृती सिर ताज॥ गी० १। ४७॥', 'सदृशं राजशार्दूल तवैव भुवि नान्यतः (वाल्मी० १। १९। २)]

२ (क) 'अनुज समेत देहु' इति। अनुज तो भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों ही हैं परंतु (पायसके भागोंके बाँटे जानेके क्रमसे श्रीकौसल्याजीके हाथसे दिये हुए पायससे होनेके कारण श्रीलक्ष्मणजीको अनुज प्रायः सर्वत्र कहा गया है। इसी प्रकार श्रीशत्रुघ्नजीको प्रायः सर्वत्र भरतानुज कहा गया।) 'अनुज' शब्द श्रीलक्ष्मणजीमें रूढ़ि है, इसीसे इससे यहाँ लक्ष्मणजीका बोध होगा। (ख) लक्ष्मणसहित रामजीको माँगनेका भाव यह है कि इन्हीं दोनों भाइयोंके हाथसे इन राक्षसोंकी मृत्यु है। और, मुनि त्रिकालज्ञ हैं, जानते हैं कि हमारे यज्ञकी रक्षा सब कल्पोंमें श्रीरामजी लक्ष्मणसमेत करते आये हैं। अतः दोनोंको माँगा। [और कुछ लोगोंके मतसे लक्ष्मणजीको माँगनेके कारण ये हैं कि 'लक्ष्मणजी भी भूमि-भार उतारनेके लिये अवतरे हैं, यथा—'सेष सहस्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमिभय टारन॥ १७। ७॥' वा, मारीच भी अनुजसमेत है, वा दोहीसे काम चल जायगा अतः इन्हीं दोको माँगा।] सेना नहीं माँगी, क्योंकि जानते हैं कि सेना राक्षसोंके हाथ मार डाली जायेगी, हमको उसका पाप लगेगा। (ग) 'निसिचर बध⋯' । मुनिको निश्चय है कि निशाचरोंका वध होगा, इसीसे उनका वध होना कहा। वधसे यज्ञ सिद्ध होगा। और यज्ञकी सिद्धिसे मुनि अपनेको कृतार्थ मानते हैं। ['सनाथ' होनेमें दूसरा भाव यह है कि अबतक मैं अनाथ था, कोई मेरी रक्षा करनेवाला न था, ये जाकर असुर-समूहको मारेंगे तब और भी सब रावणके भेजे हुए राक्षस समझ जायँगे कि हमारा (विश्वामित्रका) भी कोई भारी सहायक स्वामी है, अतएव फिर कोई न सतायेगा। बिना रक्षकके अनाथ जानकर मुझे सताते हैं।]

दो०—देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान॥ २०७॥

शब्दार्थ—मोह=स्नेह; यथा—'साँचेहु उनके मोह न माया'।=वैचित्य, अन्यमनस्कता, चित्तकी भ्राँति।

अर्थ—राजन्! प्रसन्न मनसे दो, मोह और अज्ञानको छोड़ो। तुमको धर्म, सुयश और प्रभुता वा ऐश्वर्य प्राप्त होगा और इनका परम कल्याण होगा॥ २०७॥

नोट—१ 'देहु भूप मन हरषित⋯' इति। इन वचनोंसे स्पष्ट बोध होता है कि 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' यह सुनते ही राजाके मुखकी द्युति कुम्हला गयी। राजाकी दशा गीतावलीमें इस प्रकार वर्णित है—'रहे ठगसे नृपति सुनि मुनिवरके बयन। कहि न सकत कछु रामप्रेमबस पुलक गात भरे नीर नयन॥' (पद ४९)। यह चेष्टा देख मुनि प्रथम ही, उनके 'नहीं' करनेके पूर्व ही कहने लगे कि दानमें हर्ष होना चाहिये, यथा—'तुलसी जे मन हरष नहिं ते जग जीवत जाय'। 'देहु हरषित' अर्थात् जैसे हर्षित मनसे तुमने देनेको कहा था, यथा—'तब मन हरषि बचन कह राऊ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउ बारा॥' वैसे ही हर्षित मनसे दो।

२ 'तजहु मोह अज्ञान' अर्थात् तुम इनका स्वरूप नहीं जानते, इनका ऐश्वर्य नहीं जानते; इसीसे तुमको मोह है, स्नेह और ममत्ववश होकर समझते हो कि ये राक्षसोंके सामने कैसे जायँगे, इत्यादि। गीतावली पद ४८ से इसका भाव स्पष्ट

१. कौं—१७२१, छ०, १७०४। कहँ—को० रा०। कौं—१६६१, १७६२।

हो जाता है, यथा—'डरपत हौं साँचे सनेह बस सुतप्रभाव बिनु जाने। बूझिये बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने ॥ रिपु रन दलि मख राखि कुसल अति अलप दिनन्हि घर ऐहैं। तुलसिदास रघुबंसतिलक की कबिकुल कीरति गैहैं ॥' यह मोह और अज्ञान आगेकी चौपाइयोंसे भी स्पष्ट है।

३ 'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं।' इति। अर्थात् हर्षपूर्वक इनको देनेसे तुम्हारे धर्मकी प्रशंसा होगी, कि राजा बड़े ही धर्मज्ञ हैं, धर्मात्मा हैं, बातके धनी हैं, अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रोंको दे दिया। [यथा—'यदि ते धर्मकामं तु यशश्च परमं भुवि। स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि ॥ वाल्मी० १। १९ ॥'] पुनः मुनियोंकी रक्षा और यज्ञादि धर्मके कार्य हैं, इनसे धर्मकी रक्षा और प्रचार तथा देवताओंका उपकार होगा।—यह धर्मकी प्राप्ति होगी। पुनः, 'धर्म सुयश' अर्थात् स्वार्थ-परमार्थ दोनों सिद्ध होंगे। याचकको संतुष्ट किया, अपने वचनका पालन किया, ऐसे पुरुष संसारमें विरले ही कोई होते हैं, यह यश होगा। 'मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं' यह यहाँ चरितार्थ होगा।

पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि 'जबसे राजा दशरथने शब्दवेधी बाणसे श्रवणका वध किया तबसे उनके यशमें धब्बा लग गया था। इसीसे जनकजीने इनको निमन्त्रित न किया। मुनिके साथ जानेसे राजकुमारोंको सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और धनुषके टूटनेपर चक्रवर्ती महाराज भी सादर बुलाये जायँगे। पूर्वका कुयश मिटकर त्रैलोक्यमें सुयश फैलेगा।'

स्वयंवरमें राजाओंको बुलानेकी क्या रीति थी यह जाने बिना यह मान लेना कि निमन्त्रण नहीं गया था कुछ उचित नहीं जान पड़ता। प्रथम तो यह प्रमाण होना चाहिये कि औरोंको निमन्त्रण गया था, इनको नहीं गया। तब न जानेका कारण देखना चाहिये। सत्योपाख्यानमें कहा है कि राजा जनकने पृथ्वीभरके सब राजाओं तथा सब लोकोंमें अपनी प्रतिज्ञा घोषित कर दी थी। यथा—'जनकस्तु तदा राजा श्रावयामास स्वं पणम् ॥ ३५ ॥ पृथिव्यां सर्वलोकेषु नरदेवेषु भूरिशः ॥' यह घोषणा सुनकर बहुत-से राजा जनकपुर आये। यथा—'तच्छ्रुत्वा भूभुजः सर्वे ह्याजग्मुर्मिथिलां पुरीम् ॥ ३६ ॥ (सत्य० उ० २)। श्रीविश्वामित्रजीसे जानकर कि श्रीराम-लक्ष्मणजी चक्रवर्ती महाराजके पुत्र हैं, राजा जनकने अपनेको परम धन्य माना है, इक्ष्वाकुकुलमें इनका जन्म जानकर इनको इक्ष्वाकुमहाराजके समान जाना और वे बोले कि ये लोग इक्ष्वाकुकुलके हैं और हम लोग उस कुलके किंकर हैं, ये हमारे पूज्य हैं, यह घर उन्हींका है। इत्यादि। यथा, 'इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशाविमौ। कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः ॥ ९ ॥''' इक्ष्वाकूणां गृहं चैतत् वयं तेषां च किंकराः ॥''' १७ ॥' (सत्य० उ० ६)। इससे स्पष्ट है कि यदि दशरथजी कलंकित होते तो 'राजाधिराज' दशरथजीके पुत्र जानकर कभी जनकजी ऐसे आनन्दमें मग्न न होते। अभी तो उन्होंने इनके गुण जाने भी नहीं हैं, केवल इतना ही जाना था कि राजाधिराजके पुत्र हैं। मानसमें भी निमन्त्रणकी बात कहीं नहीं कही गयी। उसमें भी यही कहा है कि 'दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना ॥ २५१। ७ ॥'

वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है कि पुत्रेष्टि यज्ञमें श्रीजनकमहाराज तथा श्रीरोमपादजी आदि सब निमन्त्रित थे और सब उस यज्ञमें श्रीदशरथजीके यहाँ आये थे। यदि कलंककी बात होती तो ये लोग क्यों जाते ? फिर जो कलंक कहा जाता है वह भी बे-सिर-पैरका है, श्रवणने स्वयं बताया था कि 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मेरी माता शूद्रा है और पिता वैश्य। आप ब्रह्महत्याका भय न करें। यथा—'ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम्।''' शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप ॥ वाल्मी० २। ६३। ५०, ५१ ॥'

प्र० स्वामी भी मेरे उपर्युक्त विचारोंसे सहमत हैं और कहते हैं कि जनकमहाराजने किसीको निमन्त्रण नहीं दिया, यह मानसके 'दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना ॥' इस वाक्यसे भी सिद्ध होता है। जो प्रण ठाना था उसे सुनकर राजा लोग आये। यदि निमन्त्रण होता तो 'सुनि' न कहते। इससे सिद्ध होता है कि डुगडुगी, डौंडी फिरवाकर या और किसी प्रकार सर्वत्र प्रकट कर दिया था।

श्रीदशरथजी क्यों न गये ? अब यह प्रश्न रह जाता है। इसका उत्तर यह हो सकता है कि राजा परम धर्मात्मा हैं। पुत्रके लिये व्याह किया जाता है कि पितृ प्रसन्न हों, राज्य नष्ट न हो। अब चार पुत्र हैं ही, और साठ हजार वर्षकी अपनी आयु हो चुकी है, अतः अब उनकी कोई अभिलाषा रह न गयी। अतः न गये। दूसरे राजा जनक अपने मित्र हैं, उनकी कन्या अपनी कन्याके तुल्य है, अतः न गये कि धनुष तोड़नेसे पापका भागी होना पड़ेगा। इत्यादि। (और लड़के कोमलाङ्ग हैं तथा उनकी भावनानुसार धनुष तोड़नेमें असमर्थ हैं, यह जानकर उनको भी न भेजा।)

४ 'प्रभु' इति । यज्ञरक्षा, अहल्योद्धार, ताड़का-सुबाहु आदिके वध, धनुष-भङ्ग और परशुरामगर्वदलनसे राजाकी महिमा बढ़ेगी । इसी 'प्रभुत्व' की ओर यहाँ लक्ष्य है । पं० रामकुमारजी 'प्रभु' को भी सम्बोधन मानते हैं । मुनि 'प्रभु' सम्बोधन करेंगे इसमें संदेह करके अधिक टीकाकारोंने उसका अर्थ 'ऐश्वर्य' किया है । प० प० प्र० पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं । वे भी प्रभुका अर्थ नृप, स्वामी ही लेते हैं—'स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता । अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृदोऽधिपः' इत्यमरे ।

५ 'इन्ह कहँ अति कल्यान' इति । अर्थात् आपके धर्मसे इनका परम कल्याण होगा,-'बाढ़ै पूत पिताके धर्मैं' । विजय, कीर्त्ति और विवाह आदि सभी प्राप्त हो जायँगे । (पं० रा० कु०) । पुनः ऐसा भी कहा जाता है कि राजाके सम्मुख मुनि बैठे हुए उन्हींको 'भूप' सम्बोधन देकर कह रहे हैं कि 'तुम्ह कों' अर्थात् तुमको तो धर्मादि प्राप्त होंगे और अँगुली या नेत्रके विलाससे चारों पुत्रोंकी ओर देखते हुए (क्योंकि चारों वहीं विद्यमान हैं) कहते हैं कि 'इन्ह कहँ अति कल्यान' होगा । तात्पर्य कि हमारे साथ तो दो ही जायँगे, इनका विवाह तो होगा ही पर शेष दो जो यहाँ रह जायँगे उनका भी विवाह हो जायगा । किसीकी चिन्ता तुम्हें न करनी पड़ेगी । रामायणोंसे पता चलता है कि राजकुमारोंके बड़े होनेपर राजाको चिन्ता हुई थी कि इनका विवाह कैसे हो । चक्रवर्ती राजा कहीं याचना करने नहीं जाते । वाल्मीकीय अ० १८ में स्पष्ट ही कहा है कि राजा उस समय पुरोहितों और बन्धुवर्ग तथा मन्त्रियोंके साथ पुत्रोंके विवाहके सम्बन्धमें विचार कर रहे थे—'अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥ ३७ ॥ चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः ।') वाल्मी० में मुनिने कहा है कि मैं इनका बहुत प्रकारसे कल्याण करूँगा—'श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ॥ १ । १९ । १० ॥' ☞ उस कल्याणसे इनकी ख्याति तीनों लोकोंमें होगी । अतः 'अति कल्यान' पद दिया ।

सुनि राजा अति अप्रिय बानी । हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी ॥ १ ॥
चौथें पन पाएउँ सुत चारी । बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी ॥ २ ॥

अर्थ—मुनिके अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर राजाका हृदय काँप उठा और उनके मुखकी कान्ति मलिन पड़ गयी ॥ १ ॥ (वे बोले—) हे विप्र ! मैंने चौथेपनमें चार पुत्र पाये हैं, आपने विचारकर वचन नहीं कहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'सुनि राजा अति अप्रिय बानी ।···' इति । (क) 'अति अप्रिय' का भाव कि 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' ये वियोगमात्रके वचन 'अप्रिय' लगे, उसपर 'निसिचर बध मैं होब सनाथा' (अर्थात् निशाचरोंसे युद्ध करनेकी बात जो कही उससे ये और वे दोनों वचन) 'अति अप्रिय' लगे । (ख) प्रथम राजाके मन, वचन और कर्म तीनों शोभित थे, तीनोंमें प्रसन्नता प्रकट दिख रही थी; यथा—'तब मन हरषि बचन कह राऊ । मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा । कहहु सो करत न लावौं बारा ॥' ये तीनों अब मलिन हो गये । 'देहु भूप मन हरषित' से मनकी मलिनता स्पष्ट है तभी तो मुनिने कहा कि 'हर्षित मन' से दो, राजाके मनका हर्ष जाता रहा था । 'मुख दुति कुमुलानी' यह तन वा कर्मकी मलिनता है और, 'राम देत नहिं बनै' यह वचनकी मलिनता है । वचनको झूठा कर देना, वचनका पालन न करना, यह वचनकी मलिनता है । (पुनः, 'हृदय कंप' यह मनकी मलिनता है । (प्र० सं०) । (ग) 'अति अप्रिय' से जनाया कि ये वचन हृदय और मनको विदारित करनेवाले थे; यथा—'हृदयमनोविदारणं मुनिवचनं···· ॥ वाल्मी० १ । १९ । २२ ॥' इसीसे तो 'हृदय कंप···' यह दशा हुई]

२ 'चौथें पन पाएउँ सुत चारी ।····' इति । (क) अवस्थाएँ चार हैं—बाल्य, युवा, मध्य और जरा । यथा—'लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय । जौबन ज्वर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय ॥ मध्य बयस धन हेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय । अब सोचत मनि बिनु भुअंग जिमि बिकल अंग दले जरा धाय ॥' इति विनये । (ख) 'चौथे पन' कहनेका भाव कि हमको पुत्र दुर्लभ थे, उपायसे प्राप्त हुए हैं, दुर्लभ वस्तु देनेमें बड़ा कष्ट होता है । [चौथे पनमें जो संतान होती है वह अति प्रिय होती है । तरुणावस्थामें पुत्रके होनेकी आशा रहती है । श्रीदशरथजीकी वह पूर्ण अवस्था बीत गयी थी साठ हजार वर्षकी अवस्था हो जानेपर ये पुत्र हुए थे; यथा—'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ॥ वाल्मी० १ २० । १० ॥' यह दशरथजीने स्वयं मुनिसे कहा है । अतएव यह भी भाव है कि यद्यपि मेरे चार पुत्र हैं और एक भी पुत्र जीवित रहे तो वंश चल सकता है पर ये चारों मेरे बुढ़ापेके पुत्र हैं, इससे चारों अत्यन्त प्रिय हैं ।

अत्यन्त प्रिय वस्तु माँगना न चाहिये। (ग) 'विप्र' का भाव कि आप वेदवेत्ता हैं—'वेदपाठी भवेद्विप्रः' (मनु०), निरक्षर नहीं हैं; आपको विचारपूर्वक वचन कहना चाहिये था। (हरिदासजी)। (घ) 'बचन नहिं कहेहु बिचारी' अर्थात् आपने इसका विचार न किया कि वृद्धावस्थामें संतानका वियोग कैसे सहन होगा, फिर आप जरावस्थाके छोटे-छोटे अत्यन्त सुकुमार पुत्रोंको राक्षसोंसे युद्ध करनेके लिये माँगते हैं। 'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥' भला ये राक्षसोंसे युद्ध करने योग्य हैं? यह भी आपने न विचारा। [पुनः 'बचन न कहेउ बिचारी' का दूसरा भाव कि पुत्र माँगनेकी वस्तु नहीं। भूमि, धन आदि माँगनेकी चीजें हैं सो माँगनी चाहिये थीं, जैसा आगे कहते हैं]

रा० च० मिश्रजी—राजा वात्सल्यरसमें मग्न हैं, प्रेमान्ध हो रहे हैं, इसीसे मुनिके गूढ़ अभिप्रायसे भरे हुए 'धर्म सुजस' इन वचनोंका आशय नहीं समझे। वियोग और निशिचरका सामना इन्हीं दोनोंने इनके हृदयको आच्छादित कर लिया है। इसीसे ये कातर हो रहे हैं। यह श्रीरामप्रेमकी महिमाका उत्कर्ष है।

प० प० प्र०—'बिप्र बचन नहिं कहेउ बिचारी' इति। यहाँ महामुनि विश्वामित्रजी अविचारी विप्र हो गये! ऐसा क्यों? ☞ यहाँ गोस्वामीजीकी भावनिदर्शनकलाका कमाल दृष्टिगोचर हो रहा है। देखते चलिये—पहले विश्वामित्र महामुनि थे, यथा—'बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥ २०६। २।' पर, विश्वकल्याणके ही लिये क्यों न हो जब क्षत्रिय राजाके पास जाकर याचना करनेका विचार मनमें करने लगे तब महामुनिसे कविने उनको मुनिवर बना दिया, महामुनि न रह गये। यथा—'तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा।...करि बिनती आनौं दोउ भाई। २०६। ६-७।' और जब याचना करनेके लिये राजद्वारपर पहुँच ही गये, तब 'मुनिवर' पदवीसे गिरकर वे 'मुनि' मात्र रह गये। यथा—'मुनि आगमन सुना जब राजा। २०७। १।' 'करि दंडवत मुनिहि सनमानी।', 'राम देखि मुनि देहु बिसारी', 'मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ (२०७। २, ५, ७)। जब राजासे विनय करके याचना की तब तो विश्वामित्रजी मुनि भी न रह गये, अविचारी विप्र हो गये। क्षत्रिय राजाके पास जाकर कुछ याचना करना मुनियोंके लिये उचित नहीं है। ऐसा करनेसे मान, तेज और निस्पृहताकी हानि होती है। आगे भी मुनि वा विप्र ही कहा है। जब जनकपुर अमराईमें ठहरे, राजद्वारपर नहीं गये तब वे फिर महामुनि पदको प्राप्त हुए। (☞ ऐसे ही भावनिदर्शन अगणित स्थलोंमें आये हैं। यत्र-तत्र उनका उल्लेख भी मा० पी० के संस्करणोंमें हुआ है। इस प्रसंगमें भी है ही। केवल बीचमें एक बार मुनि शब्दोंके बीचमें 'मुनिवर' भी आया है। यथा—'बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिबर हृदय हरष अति पावा॥ २०७। ४।' इसपर स्वामीजीकी दृष्टि नहीं पड़ी, अतः उस अपवादके सम्बन्धमें कुछ विचार नहीं लिखे)।

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥ ३॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥ ४॥

अर्थ—हे मुनि! पृथ्वी, गौ, धन, खजाना माँगिये। मैं हर्ष और उत्साहपूर्वक आज सर्वस्व सभी कुछ दे डालूँगा॥ ३॥ देह और प्राणसे अधिक प्रिय कुछ भी नहीं होता सो भी, हे मुनि! मैं आपको पलमात्रमें दे डालूँगा॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'माँगहु भूमि धेनु धन कोसा।....' इति। (क) विश्वामित्रजीके 'देहु भूप मन हरषित' इन वचनोंके उत्तरमें राजाके ये वचन हैं कि भूमि आदि माँगिये, हम सब हर्षपूर्वक देंगे। प्रथम देनेको कहा था—'कहहु सो करत न लावौं बारा', अब नहीं करनेसे मुनि कहेंगे कि तुम्हें नहीं देना था तो प्रतिज्ञा क्यों की थी? अतः कहते हैं कि 'माँगहु भूमि.... सहरोसा', जिसमें 'नहीं' न ठहरे, बात झूठी न पड़े और लड़कोंको देना भी न पड़े। (ख) राजाने प्रथम आगमनका कारण पूछा, माँगनेको नहीं कहा, क्योंकि विश्वामित्र माँगनेवाले महर्षियोंमें नहीं हैं। कारण पूछनेपर जब उन्होंने कहा कि 'मैं जाचन आयउँ नृप तोही' तब उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'माँगहु...'। (ग) राजाके लिये भूमि मुख्य है, सदा राज्य बढ़ानेकी ही इच्छा उसे रहती है, इसीसे प्रथम 'भूमि' को कहा। [मुनियोंको गौओंकी आवश्यकता रहती है, उनको यज्ञादिके लिये धनकी जरूरत होती है, अतः उसे माँगनेको कहा। और राजाके प्रधान अङ्गोंमेंसे एक अंग कोष भी है; अतः उसे भी देदेनेको कहते हैं।] (घ) 'सर्बस देउँ आजु' इति। 'आजु' का भाव कि सर्वस्व दान कर देनेकी सब दिन श्रद्धा नहीं रहती, सदा उत्साह एकरस नहीं बना रहता, आज उत्साह है, क्योंकि आप ऐसे महामुनि याचक बनकर आये हैं। हमारा भाग्य क्या इससे बढ़कर हो सकता है? इस परमानन्दमें आज सर्वस्व दे सकता हूँ।

नोट—'सहरोसा' इति। सहरोसा=सहर्ष, हर्षपूर्वक। पं० रामकुमारजी, काष्ठजिह्वास्वामीजी इत्यादि महात्माओंने यही अर्थ लिखा है और यही ठीक और संगत है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'वाल्मीकिजीने 'हरस' शब्दको 'हरस' किया और गोस्वामीजीने अनुप्रासके लिये उसको 'हरोस' कर दिया—'**हरोसेन सहितः सहरोसः।**' यथा—'**सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ ३। ४३।**'

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'विरोध लक्षणासे 'रोष' का अर्थ 'हर्ष' जानना चाहिये; पुनः, प्राकृतमें 'सहरोस' शब्द हर्षवाची है।' अरण्यकाण्डमें भी यही शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा—'**सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्हकै रखवारी।**' यहाँ तो किसी प्रकार दूसरा अर्थ लगाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि नारदजीपर कदापि क्रोध नहीं; वे तो आपको बड़े ही प्रिय हैं और फिर यहाँ तो क्रोधका कोई कारण ही नहीं। इसी प्रकार यहाँ दानकी प्रतिज्ञा एक महामुनि, ब्रह्मर्षिसे कर रहे हैं; दान हर्षपूर्वक दिया जाता है, नहीं तो वह दान व्यर्थ और हानिकारक हो जाता है। छन्द बैठानेके लिये 'हरसा' का 'हरोसा' (हरोषा) हो गया। ऐसे उदाहरण सूरदास तथा केशवदासजीके ग्रन्थोंमें बहुत मिलते हैं; यथा—'**कीधौं नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही**' (यहाँ 'बरही' का '**बरोही**' बनाया गया) '**कलिकाल महाबीर महाराज महिमेवाने**' (यहाँ 'महिमावान' का 'महिमेवाने' हुआ)। पुनः, रामायणी संत इसका ऐसा भी अर्थ करते हैं कि—सहरोसा=सह=रोषा। और 'रोष' का अर्थ उमंग, सूरता, हर्ष करते हैं जैसा '**बंदौं खल जस सेष सरोषा। ४, ८।**' में सरोषाका अर्थ शेषजीके सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। 'रोस' का एक अर्थ शब्द-सागरमें भी 'जोश, उमंग' दिया है; यथा—'**विगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत**'—(हरिश्चन्द्र)।

कुछ टीकाकारोंने '**क्रोध सहन कर**' वा 'अपने ऊपर क्रोध करके हठपूर्वक' ऐसा अर्थ किया है पर ये अर्थ असंगत हैं। दानमें इसका प्रयोजन कैसा? ऐसी कल्पना भोंडी होगी।

टिप्पणी—२ '**देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।....**' इति। (क) राजा दानी हैं, इसीसे उन्होंने भूमि और धन देनेको कहा और शूरवीर हैं इससे देह और प्राण देनेको कहा। तात्पर्य कि दानीको धनका छोह (ममत्व) नहीं रहता और शूरवीरको देह और प्राणका मोह नहीं होता। यथा—'**दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई॥ २। ३५॥**' (ख) '**तें प्रिय कछु नाहीं**' कहकर जनाया कि भूमि, कोष और सर्वस्व आदि सब पदार्थ प्रिय होते हैं, पर देह और प्राण परम प्रिय होते हैं, यथा—'**सबकें देह परम प्रिय स्वामी। ५। २२।**' (ग) देह और प्राण देनेको कहनेमें आशय यह है कि राक्षसोंसे युद्ध करनेमें देह और प्राणोंका काम है, सो आज्ञा हो तो मैं साथ चलकर राक्षसोंसे युद्ध करूँ। (घ) '**सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं**' इति। भाव कि देह और प्राण जल्दी नहीं दिये जाते, पर मैं उसे माँगते ही निमिषमात्रमें दे दूँगा। माँगकर देख लीजिये। ☞भूमि आदिके देनेमें '**देउँ आजु सहरोसा**' और देह और प्राण देनेमें '**देउँ निमिष एक माहीं**' कहा। भेदमें भाव यह है कि भूमि, कोष और सर्वस्व देनेमें प्रायः हर्ष नहीं रहता, विस्मयकी प्राप्ति हो जाती है। अतः उसके देनेमें 'हर्ष' कहा और देह और प्राण देनेमें प्रायः संकोच और विलम्ब होता है, इसीसे इनके देनेमें '**निमिष एक माहीं**' कहा। जैसे दधीचिजीने प्राण दे दिये और जैसे निषादराजने कहा था कि '**तजौं प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे॥**' वैसे ही राजा श्रीरघुनाथजीके बदले अपने प्राण देनेको तैयार हैं। राजा प्राण देनेको कहते हैं, पुत्रोंको देनेको नहीं कहते, क्योंकि वे सोचते हैं कि पुत्रोंको दे देनेसे हमारे प्राण चले जायँगे, राक्षस हमारे पुत्रोंको मार डालेंगे। और, हमारे प्राण देनेसे हमारे ही प्राण जायँगे, हमारे पुत्र तो बचे रह जायँगे। [वाल्मीकीयमें कहा है कि मुनिसे यह जानकर कि मारीचादिका स्वामी रावण है राजाने कहा कि मैं भी उसके अथवा उसकी सेनाके साथ युद्ध करनेको समर्थ नहीं हूँ तब इन बालकोंको उनसे युद्ध करने क्योंकर भेज दूँ। '**तेन चाहं न शक्नोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः।...१। २०। २०।**' वाल्मीकीयके इस भावको गोस्वामीजीने कितनी उत्तम रीतिसे '**देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।....**' कहकर निबाहा है। भाव कि युद्धमें मैं प्राण रहते पीछे न हटूँगा, जीत न भी सकूँ तो क्या?

सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनै गोसाईं॥ ५॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा॥ ६॥

---

१ 'प्रिय प्रान की नाईं'—१६६१ की प्रतिमें है। १७०४, १७६२ में भी है। उपर्युक्त पाठ १७२१, छ० भा० दा० का है। को० रा० में 'मोहि प्रिय' पाठ है।

अर्थ—सब पुत्र मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं। (उनमें भी) हे गुसाईं (स्वामिन्)! रामको (तो किसी प्रकार) देते नहीं बनता ॥ ५ ॥ कहाँ तो अत्यन्त भयानक और कठोर (निर्दयी) राक्षस और कहाँ ये परम किशोर अवस्थाके सुन्दर बालक! ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं।....' इति। (क) सब पुत्र प्राणके समान प्रिय हैं, भाव कि पुत्रोंके देनेमें संकोच है, राम-लक्ष्मणकी कौन कहे भरत-शत्रुघ्नको भी नहीं दे सकते। पुनः भाव कि पुत्रके समान देह और प्राण हैं सो देह और प्राण उनके बदलेमें देनेको कहते हैं। इस प्रकारके कथनसे 'नहीं' करना न ठहरा। (ख) 'राम देत नहिं बनै' इति। विश्वामित्रजीने मुख्य रामजीहीको माँगा है, इसीसे प्रथम चारों पुत्रोंको कहकर अब उनसे पृथक् दूसरे चरणमें कहते हैं कि रामको देते नहीं बनता। सब पुत्रोंको प्राणप्रिय कहकर तब 'राम देत नहिं बनै' कहनेसे सूचित हुआ कि रामजी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। सबको प्राणप्रिय न कहकर यदि राम-लक्ष्मणको ही ऐसा कहते तो मुनि न जाने भरत-शत्रुघ्नको ही माँग लेते। अतः प्रथम सभीको देना अस्वीकार किया। 'देत नहिं बनै' से जनाया कि इनके वियोगसे दुःसह दुःख होगा; यथा—'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे ॥ २ । ३०८ ॥' इनका विरह मरणसे अधिक दुःखदायी है; यथा—'मागु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही ॥ २ । ३४ ॥'

नोट—१ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'माँगहु भूमि धेनु....' इत्यादि कहनेपर भी जब मुनि प्रसन्न न हुए, उदास ही बने रहे तब कहा 'देह प्रान तें....'। इतनेपर भी प्रसन्न न हुए, तब विचार किया कि हमने प्राणतक देनेको कहा तब भी उदास ही बने रहे; इसमें क्या कारण? सोचनेपर यह बात चित्तमें आयी कि देहका देना तो ठीक है पर प्राण तो पवनरूप है उसे कैसे देंगे? यह बात हमारी असत्य है। अतएव कहा कि 'सब सुत मोहि प्रान की नाईं।....' अर्थात् तीन सुत हमारे प्राणसमान हैं उन्हें दे सकते हैं पर श्रीरामजीको देते नहीं बनता, क्योंकि ये 'गोसाईं' हैं; इनके देनेमें इन्द्रियोंमें शक्ति न रह जायगी।

पंजाबीजी तथा बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'यहाँ यह व्यंजित किया कि कदाचित् और किसी पुत्रको माँगें तो क्लेश सहकर मैं दे भी दूँ, पर श्रीरामजीको नहीं दे सकता अर्थात् अपना 'जीवन राम दरस आधीन' बताया। वा, ज्येष्ठ पुत्र पिताको अधिक प्रिय होता है, इससे 'देत नहिं बनै'।'

पं० रामचरणमिश्रजी यही प्रश्न उठाकर कि 'जब सब प्राण की नाईं हैं तो रामको पृथक् करके क्यों कहा?' उसका उत्तर यह देते हैं कि 'सब पुत्र प्राणके समान हैं और श्रीरामजी प्राणके भी प्राण हैं; यथा—'प्रान प्रान के जीवके जिव सुखके सुख राम। २ । २९० ।' मूर्छादिकोंकी किसी-किसी दशामें प्राणवायु पृथक् भी हो जाती है परंच यदि प्राणकी चेतयिता पृथक् नहीं हुई तो प्राणी फिर भी जीवित हो जाता है और यदि विलग हो गयी तो फिर जीवित नहीं हो सकता। श्रीरामजी प्राणके चेतयिता हैं। अतएव रामको देते नहीं बनता। क्योंकि रामजी 'गोसाईं' अर्थात् इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं, सब प्राणसम हैं, पर राम अधिक हैं, इसमें 'विशेषक अलंकार' की ध्वनि है।

२ वाल्मी० १ । २ । ११-१२ में भी कहा है 'चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम। ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च....॥' अर्थात् यद्यपि मेरे चार पुत्र हैं तथापि मेरी सबसे अधिक प्रीति ज्येष्ठ पुत्रमें है। अ० रा० में राजाके वचन हैं '....रामं त्यक्तुं नोत्सहते मनः। बहुवर्षसहस्रान्ते कष्टेनोत्पादिताः सुताः ॥ ९ ॥ चत्वारोऽमरतुल्यास्ते तेषां रामोऽतिवल्लभः। रामस्त्वितो गच्छति चेन्न जीवामि कथञ्चन ॥ १ । ४ । १० ॥' पर ये वचन इसी प्रसंगमें वहाँ गुरु वसिष्ठसे सम्मति लेनेमें कहे गये हैं। मानससे ये वचन मिलते-जुलते हैं।

टिप्पणी—२ 'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।' इति। (क) रामजीको देते नहीं बनता, इसका अब हेतु दो वाक्योंसे देकर श्रीरामजी और निशाचरोंमें महदन्तर सूचित करते हैं। निशिचर 'अति घोर कठोर' हैं अर्थात् उनकी ओर ताकते भय लगता है, वे देखे जाने योग्य नहीं; वे अनेक शस्त्रास्त्र सह सकते हैं। और, पुत्र परम सुन्दर हैं, परम किशोर हैं, अर्थात् दर्शनयोग्य हैं, इनको सदा देखते ही रहें यही जी चाहेगा (जैसे आप एकटक देखते ही रह गये थे), इनके शरीर अत्यन्त कोमल हैं। अभी परम किशोर हैं अर्थात् अभी किशोरावस्थाका प्रारम्भ हुआ है, शस्त्रास्त्र सह नहीं सकते, यथा—कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥' 'अति' घोर और कठोर दोनोंका विशेषण है। इसी तरह परम सुन्दर और किशोर दोनोंसे सम्बन्ध रखता है। (ख) विश्वामित्रजीने राजामें मोह और अज्ञान कहे। वे दोनों यहाँ राजाके वचनोंमें देखे जा रहे हैं। 'राम देत नहिं बनै' तक मोह कहा और 'कहँ निसिचर' यह अज्ञान है। श्रीरामजीके प्रभावको

नहीं जानते, यही अज्ञान है। ['कहँ निसिचर···' में 'प्रथम विषमालंकार' है। 'परम किसोर' हैं अर्थात् समर कभी देखा नहीं, तब निशिचरोंसे समर कैसे करेंगे ? उन्हें देखकर ये डर जायँगे। (हरीदासजी)]

सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ग्यानी॥ ७॥
तब बसिष्ट बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥ ८॥

अर्थ—प्रेमरसमें सनी हुई राजाकी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनिने हृदयमें आनन्द माना॥ ७॥ तब वसिष्ठजीने राजाको बहुत प्रकारसे समझाया (जिससे) राजाका संदेह दूर हो गया॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'नहीं' सुनकर क्रोध होना चाहिये था, सो न हुआ, क्योंकि मुनि ज्ञानी हैं। ज्ञानीके क्रोध नहीं होता। वाल्मीकीयमें लिखा है कि मुनिको क्रोध हुआ। यह भाव गोस्वामीजी 'हृदय हरष माना' इन शब्दोंसे दिखाते हैं। तात्पर्य कि ऊपरसे क्रोध किया पर भीतरसे प्रेमरससानी वाणी सुन प्रसन्न हुए। श्रीरामजीमें प्रेम होना हर्षकी बात है। इससे विश्वामित्रजीके ज्ञानकी शोभा कहते हैं; यथा 'सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू। करन धार बिनु जिमि जलजानू॥ (ख)—'तब बसिष्ट बहु बिधि समुझावा' इति। वाल्मीकीय और अध्यात्मादि अनेक रामायणोंमें ऋषियोंने अनेक प्रकारसे समझाना लिखा है। इसीसे ग्रन्थकारने उन समस्त विधियोंके ग्रहणार्थ यहाँ कोई विधि न लिखी। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि समझानेकी विधि न लिखनेका कारण यह भी हो सकता है कि ग्रन्थकारका चित्त बहुत कोमल है, विधि कहनेमें देर लगती तबतक विश्वामित्रके चित्तकी विरसताको कवि न सह सके। अतएव इस पदसे समझानेकी विधि निकाल झट 'अति आदर दोउ तनय बोलाए' पुत्रोंके समर्पण करनेका प्रसङ्ग लगा दिया। दूसरे, रघुकुलके अमल यशमें मैल आते देख राजाके हृदयमें आयी हुई कृपणताके निकालनेमें शीघ्रताके कारण 'बहु बिधि समुझावा' कह झट दानियोंकी उदारताका प्रसङ्ग लगा दिया।]

नोट—१ यहाँ गोस्वामीजीके शब्द कैसे उत्कृष्ट हैं। राजाके इन वचनोंसे मुनिके कार्यमें बाधा-सी दिख रही है तो भी हृदयमें खेद न हुआ। 'हृदय हरष' कहकर गोस्वामीजीने वाल्मीकीय आदि कुछ रामायणोंमें वर्णित रोषका समाधान भी कर दिया और साथ ही गुप्तरीतिसे इन शब्दों तथा 'बसिष्ट बहु बिधि समुझावा' से ऊपरकी रुखायी भी जना दी। खेद न होनेका कारण रामप्रेमकी महिमा है। पं० रामचरणमिश्रजी कहते हैं कि 'हृदय हरष' के साथ 'मुनि ग्यानी' विशेषण देकर जनाया कि 'ये विचारमान् हैं, जानते हैं कि यदि ऊपर भी हर्षके चिह्न देख पड़े तो काम बिगड़ जायगा। अतएव प्रेमका उद्गार जो ऊपरको उमड़ा आ रहा था उसे दबाया।'

२ ऐसे-ऐसे प्रसङ्ग गोस्वामीजी दो-एक शब्दोंहीमें विस्तारके भयसे समाप्त कर देते हैं, वसिष्ठजीका राजाको एकान्तमें समझाना आगेकी चौपाईसे सिद्ध होता है कि 'अति आदर दोउ तनय बोलाए'। चारों पुत्र मुनिके समीप थे। जब राजाने मुनिके चरणोंपर डालकर पुत्रोंसे प्रणाम कराया था तबसे वे वहीं बने रहे, वहाँसे उनका जाना वर्णन नहीं किया गया। यदि गुरुने राजाको विश्वामित्रके समीप ही समझाया होता तो पुत्रोंका बुलाया जाना यहाँ न कहा जाता। राजाको एकान्तमें ले जाकर समझानेका कारण एक तो यह भी है कि उनको श्रीरामजीके ऐश्वर्यका ज्ञान कराना है जो श्रीरामजीके सामने नहीं करा सकते थे, क्योंकि श्रीरामजीकी इच्छा नहीं है कि उनका ऐश्वर्य खुले। यथा—'हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥ २०२। ८।', 'एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन। अ० रा० १। ४। १९।' (यह राजासे वसिष्ठजीने कहा है कि यह अत्यन्त गोप्य बात है किसीसे कहियेगा नहीं)।

३ क्यों समझाना पड़ा ? इसका एक कारण तो गीतावली एवं अ० रा० में यह मिलता है कि मुनिने कहा था कि 'बरपत हौं साँचेहु सनेह बस सुतप्रभाव बिनु जाने। बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने॥ पद ४८॥', 'वसिष्ठेन सहामन्त्र्य दीयतां यदि रोचते। पप्रच्छ गुरुमेकान्ते राजा चिन्तापरायणः॥ १। ४। ८।' अतएव राजाने गुरुकी सलाह ली। दूसरे, गीतावलीके 'रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बयन। कहि न सकत कछु रामप्रेमबस पुलक गात भरे नीर नयन॥ गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो॥ पद ४९॥' इस उद्धरणसे यह ज्ञात होता है कि राजाको प्रेमसे विह्वल देखकर गुरुने स्वयं उन्हें एकान्तमें ले जाकर समझाया। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुरुने यह देखकर कि विश्वामित्रजीको बड़ा क्रोध आ गया है, जैसा कि वाल्मीकीयसे स्पष्ट है क्योंकि वहाँ उन्होंने क्रोधावेशमें आकर राजासे कहा है कि 'प्रतिज्ञा करके नहीं देते हो तो लो हम जाते हैं, तुम मिथ्यावादी होकर जियो।', और इनके कोपसे पृथ्वी हिलने लगी है, राजाको समझाया।

४ 'बहु बिधि समुझावा' इति। सब रामायणोंमें समझाना एक-सा नहीं देखा। किसी ऋषिने कुछ लिखा किसीने कुछ। सबका पक्ष रखनेके विचारसे भी ग्रन्थकारने इस प्रसङ्गको दो ही शब्दोंमें समाप्त कर दिया। 'बहु बिधि'; यथा— (क) तुम्हारे कुलकी उदारता प्रसिद्ध है कि 'प्रान जाहु बरु बचनु न जाई। २। २८॥', 'मंगल लहहिं न जिन्हके नाहीं' प्रतिज्ञाके उल्लङ्घनसे कुलके अमल यशमें कलङ्कका दाग लग जायगा। राजन्! धर्मपर स्थित रहिये। (ख) 'जो कोई किसीको कुछ देनेको कहकर फिर नहीं देता उसका तेज, धर्म, ज्ञान, तप, सत्य, शोभा और श्री सबके सबका नाश हो जाता है और वह अन्तमें यमलोकको प्राप्त होता है। तुमने प्रथम कहा था कि 'कहहु सो करत न लावौं बारा' और अब बदल गये, यह अनुचित है।' (शीलावृत्ति)। (ग) विश्वामित्र बड़े क्रोधी हैं। देखो, हमारे सौ पुत्रोंको शाप देकर भस्म कर दिया, वे तुम्हारे कुलको नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। (घ) स्नेह और ममताके वश पुत्रोंकी सुकुमारतासे भयभीत न हो। विश्वामित्र साधारण ऋषि नहीं हैं, तपस्याके प्रतापसे सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रविद्याका उनमें निवास है, वे यह सब विद्या राजकुमारोंको दे देंगे और अपने तेजसे इनकी रक्षा करेंगे। उनके प्रतापसे ये सब निशिचरोंको मारेंगे और उनके द्वारा त्रैलोक्यमें इनका यश फैल जायगा। राजन्! तुम अभी-अभी उनके विवाहकी चिन्ता कर रहे थे। श्रीशिवजीने उसी चिन्ताके निवारणार्थ विश्वामित्रजीको यहाँ उन्हें लेनेके लिये भेजा है। वे इनका विवाह करा देंगे और इनका ही नहीं वरंच भरत-शत्रुघ्नके भी विवाह इन्हींके कारण होंगे। (ङ) विश्वामित्रजी त्रिकालज्ञ हैं, वे भविष्य जानते हैं। इनके द्वारा कुछ अपूर्व कार्य होना है। (च) ये दोनों राजकुमार महिभार उतारनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं। तुम माधुर्यमें भूले हुए हो, इसीसे कातर हो रहे हो। ये मनुष्य नहीं हैं वरंच सनातन परमात्मा हैं। पूर्व जन्ममें आपने वर माँगा था कि आप हमारे पुत्र हों, ये रामचन्द्र वही परब्रह्म परमात्मा हैं। विश्वामित्र यज्ञ-रक्षाके बहाने आदिशक्तिसे इनका सम्बन्ध करावेंगे। (अध्यात्म रा० १। ४। १२—२०)। गीतावलीमें भी कहा है 'गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष सयन ॥ पद ४९॥' श्रीजानकीमङ्गलमें भी कहा है—'कहि गाधि सुत तप तेज कछु रघुपति प्रभाउ जनायऊ ॥ १५॥'

५ 'नृप संदेह नास कहँ पावा' इति। राजा ऐश्वर्य भूल गये हैं, माधुर्यमें मग्न हैं, इसीसे श्रीरामरूपमें सन्देह है। 'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥' यह सन्देह था, सो मिट गया।

अति आदर दोउ तनय बोलाए। हृदय लाइ बहु भाँति सिखाए॥ ९॥
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥१०॥

अर्थ—(उन्होंने) अत्यन्त आदरसे दोनों पुत्रोंको बुलाया और हृदयसे लगाकर बहुत प्रकारसे उनको शिक्षा दी॥९॥ (फिर मुनिसे बोले) हे नाथ! ये दोनों पुत्र मेरे प्राण एवं प्राणनाथ हैं। हे मुनि! (अब) आप ही इनके पिता (अर्थात् रक्षा करनेवाले) हैं और कोई (इनकी रक्षा करनेवाला अब) नहीं है (वा, आप और कुछ नहीं हैं, पिता ही हैं)॥ १०॥

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—यह कुल प्रसङ्ग महाकाव्यकलाकी दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है। महाकाव्यकलाके तीन विभाग होते हैं—१ आध्यात्मिक, २ आधिदैविक, ३ आधिभौतिक (सृष्टीय)। रामचरितमानसमें तीनोंका वर्णन है; परंतु प्रथमका संकेतमात्ररूपमें कथन 'नामकी महिमा-प्रसङ्गमें' है। उदाहरणके तौरपर देखिये—'राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥' (मानो अहल्या हमारी पत्थर बनी हुई जड़ मति ही है। विनयमें भी कहा है— 'सहससिला ते अति जड़ मति भई है')। पुनः, 'भंजेउ राम आप भवचापू। भवभयभंजन नाम प्रतापू॥' (मानो धनुष 'भवभय' ही है)। दूसरा पक्ष (आधिदैविक) तो बहुत ही स्पष्ट लिखा हुआ है और आधिभौतिक पक्ष भी कम नहीं। केवल अन्तर यह है कि नारदजीने वाल्मीकीयकी मूल कथा ब्रह्मलोकमें कही थी जहाँ सब आधिदैविक रूप जानते थे और इसलिये यह जाननेको उत्कण्ठित थे कि नटराजने आधिभौतिकरूप 'काँछ कर' कैसा नाचा। इसीलिये वहाँ आधिभौतिक रूपका ही अधिक वर्णन है, परन्तु तुलसीदासजीकी कथाका मूल शिव-पार्वती-संवाद है। जहाँ आधिभौतिक नाच देखकर ही सन्देह वा भ्रम उत्पन्न हुआ था और पार्वतीजी आधिदैविक रहस्य जानना चाहती थीं। इसी कारणसे इसी पक्षपर जोर है। विस्तारसे ('रामचरितमानस एक नाटकी महाकाव्य' नामक पुस्तकमें लिखा जा रहा है जिसका कुछ अंश लेखोंके रूपमें 'चाँद' में प्रकाशित हो चुका है)।

यहाँ इस प्रसङ्गका राष्ट्रीयरूप दिखाना है जो बड़ा ही शिक्षाप्रद है—१ विश्वामित्र वह ब्रह्मशक्ति है जो सारे विश्वका कल्याण चाहती है (मित्र), परन्तु स्वयं बलका प्रयोग नहीं करती। २—लेकिन क्षात्रशक्तिसे याचना करती है कि विश्व

विघ्ननिवारणके लिये बलका प्रयोग करे। ३—राष्ट्रके लिये इन दोनों ही क्या, सभी श्रेणीकी शक्तियोंका सहयोग होना चाहिये।—परशुरामके विश्वनेतृत्वमें श्रेणीयुद्ध था, इसीसे रावणकी अनार्यशक्ति बढ़ रही थी। रामके नेतृत्वमें परस्पर सहयोग हुआ (राष्ट्रीय नेता विचार करें)। ४—राष्ट्रकी युवकशक्तिके प्रतिनिधि ही राम और लक्ष्मण हैं जिनको 'स्वयं सेवक' के रूपमें माँगा गया। ५—लेकिन माँगा गया पितासे ही। यह नहीं किया गया कि 'पिता, माता और गुरु' की आज्ञाका अवलङ्घन कराया जावे। देखिये न, हमारे देशमें युवकशक्ति अब कितनी अमर्यादित हो रही है कि राष्ट्रीय नेताओंका भी कहना नहीं मानती। यह आज्ञा-भङ्ग शिक्षाका फल है।

महाराज दशरथजी राष्ट्रकी वृद्ध 'पिता' शक्तिके प्रतिनिधि हैं जो मोहके कारण युवकशक्तिका दान नहीं करना चाहती। वसिष्ठजी उस शिक्षाशक्तिके प्रतिनिधि हैं जो राष्ट्रके बसानेमें इष्ट है और ठीक उपदेश देकर युवक-शक्तिका दान राष्ट्रके कल्याणके लिये कराती है।

'बल', 'विवेक', 'दम' और 'परहित' का सुन्दर प्रयोग होकर ही राष्ट्रका रथ आगे बढ़ता है और ताड़का सुबाहुरूप आसुरी-शक्तिका निवारण होता है। राष्ट्र और गृहस्थीकी मर्यादा भी बनी रही और काम भी बन गया।

टिप्पणी—१ **'अति आदर दोउ तनय बोलाए।''''** इति। (क) **'अति आदर'** का भाव कि आदर तो सदा सब दिन ही करते रहे पर आज वियोगका दिन है, आज अपने समीपसे उनको बिदा करना चाहते हैं, अतएव आज 'अति आदर' किया। [वा, वसिष्ठजीसे उनके ऐश्वर्यका बोध अभी-अभी हुआ है, इससे 'अति आदर''''। वा, भाव कि आदर तो सभी पुत्रोंका करते हैं पर ये ऐसे हैं कि विश्वामित्र ऐसे मुनि इनके लिये याचक बनकर आये, अतएव 'अति आदर'''' कहा।] (ख) **'हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये'** इति। वियोग समक्ष स्नेहवश हुए, इसीसे हृदयमें लगाया। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि अब यह प्रश्न होता है कि 'ऐश्वर्य जान गये थे तो फिर 'हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये'—शिक्षा कैसी ? उत्तर यह है कि गुरुके समझानेसे राजाका बुलाते समय अवश्य ईश्वरीयभाव रहा पर उनका मुख देखते ही वे पुनः माधुर्यमें मग्न हो गये, गुरुदत्त ज्ञान चलता हुआ। वियोगका समय था, अतः वात्सल्यरससे हृदयमें लगा लिया और शिक्षा देने लगे। हृदयमें लगानेका एक भाव यह भी है कि शरीरसे तो वियोग होता है पर मेरे हृदयमें बने रहना।] (ग) **'बहु भाँति''''** कहा क्योंकि शिक्षाके सम्बन्धमें भी अनेक मत हैं। [इन्हींको माता, पिता और गुरु समझना, इनकी सेवा करना, इनकी सेवासे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है, इनके वचनोंका कभी तिरस्कार न करना, इनकी आज्ञाओंका पालन करना। यथा **'अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना। पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः॥** वाल्मी० १। २६। ३।'' (यह बात श्रीरामजीने ताटकावनके समीप विश्वामित्रजीसे स्वयं कही थी)]।

२ **'मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।''''** इति। (क) प्राण हैं अर्थात् इनके वियोगसे हमारे प्राणोंका वियोग है; यथा **'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक शरीर प्रान जनु भेंटे॥** २। ३०८।' आप पिता हैं। 'पातीति पिता' जो रक्षा करे वह पिता है। तात्पर्य कि आप ही अब इनके रक्षक हैं, इनकी रक्षासे हमारे प्राणोंकी रक्षा होगी। अतएव इनकी रक्षा आप स्वयं करते रहियेगा। (ख) ☞ अपने प्राण बचानेके लिये राजाने अपना पितृत्वधर्म ऋषिमें स्थापित कर दिया, इससे पिता-पुत्रका संयोग बना रह गया। इसीसे राजाकी मृत्यु वियोगसे न हुई, नहीं तो जीवित न रहते। क्योंकि पूर्वजन्ममें इन्होंने वर माँगा था कि **'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहिं अधीना॥'** (ग) ☞ पुत्रोंके प्रिय होनेमें **'प्रान की नाईं'** कहा था; यथा **'सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं'**। और, वियोगमें उनको प्राण कहते हैं—**'मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ'**। इस भेदको दिखाकर सूचित किया कि राजाका स्नेह उत्तरोत्तर अधिक होता गया। प्रथम स्नेह था तब प्राणकी नाईं कहा और सौंपते समय जब स्नेह अधिक हो गया तब कहते हैं कि दोनों पुत्र हमारे प्राण हैं। **'आन नहिं कोऊ'** अर्थात् हमने आपको इनका पिता कहकर सौंप दिया है, अब आप इनके पिता ही हैं और कुछ नहीं हैं। [**'अन्नदाता भयत्राता यश्च विद्यां प्रयच्छति। जनिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः॥'** अन्नदाता, भयसे रक्षा करनेवाला, विद्यादाता, पैदा करनेवाला (जनक) और उपनयनकर्ता इन पाँचोंको पिता कहते हैं। राजा दशरथने इनमेंसे प्रथम तीन प्रकारका पितृत्व विश्वामित्रको सौंपा। जनिता और उपनेता दशरथजी ही हैं। (प० प० प्र०)]

नोट—१ श्रीजानकीमंगलमें 'तुम्ह मुनि पिता'''' के स्थानपर ये वचन हैं—'करुणानिधान सुजान प्रभु सों उचित नहिं बिनती घनी॥ १५॥ नाथ मोहि बालकन्ह सहित पुर परिजन। राखनहार तुम्हार अनुग्रह घर बन॥''''। वि० त्रि०

का मत है कि 'माँसे कुछ कहा नहीं प्रणाम करके चल दिये, यह सोचकर कि असुरसे युद्ध करना कहेंगे तो वह नहीं जाने देंगी।

पं० रा० च० मिश्र—'दोनों पुत्र मेरे प्राणनाथ हैं' यह अर्थ है। भाव कि प्राणहीके बिलग होनेसे शरीर नहीं रहता तब भला 'प्राणोंके नाथ' के बिलग होनेसे कैसे रह सकेगा? रामजीके साहचर्यसे लक्ष्मणजीको भी प्राणनाथ कहा। इनके जानेसे शरीरका विश्वास नहीं, इस कारण, हे मुनीश्वर! आप ही पिता हैं और कोई नहीं। यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलङ्कार' है। [☞ इसीसे फिर राजाने पुत्रोंकी खबर न ली, क्योंकि जब मुनि ही पिता हैं तब यदि खबर लेते तो उनका यह कथन ही असत्य ठहरता। सेना-सेवक आदि भी साथमें इसी भावसे न दिये। विशेष दो० २०८ नोट ५ में देखिये]

प० प० प्र०—इस प्रसङ्गका आध्यात्मिक रूप देखिये। राम=विमल ज्ञान। लक्ष्मण=परम बिराग (परवैराग्य)। विश्वामित्र=सत्संग। विश्वामित्रयज्ञ=ब्रह्मसत्र, ज्ञानसत्र—'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः। गीता १८। ७०।' ताटका=स्थूल-देह-बुद्धि। मारीच=लिंगदेह। सुबाहु=कारणदेह। भवचाप=संसृति। सीता=ब्रह्मविद्या। जानकी=पराभक्ति। भवचापभंग=भवभंग। भवभंग विमलज्ञान ही कर सकता है। अन्य साधनरूपी भूपोंसे यह नहीं हो सकता।

राष्ट्रीयदृष्टिसे श्रीयुत लमगोड़ाजीने ठीक ही लिखा है। महाराष्ट्रने इस बातका अनुभव भारतके इतिहासमें अमर कर दिया है। शिवाजी महाराज और श्रीरामदास समर्थ इन दोनोंके सहयोगसे ही दक्षिणमें धर्मराज्यकी स्थापना हो गयी। क्षात्रतेज और ब्रह्मतेजका जब सहयोग हुआ तब मुगलसत्ता, मुसलमानोंकी सत्ता, अधर्मकी सत्ता नामशेष हो गयी।

प० प० प्र०—दोहा २०७ और दोहा २०८ में उनके अङ्गभूत १०-१० चौपाइयाँ हैं। इससे दोहा २०७ में विश्वामित्रजीने श्रीरामप्रभुकी याचना की। श्रीरामजी पूर्णाङ्क '१' हैं, यदि वे न मिले और संसारकी सारी सम्पदा मिल जाय तो भी विश्वामित्रके लिये उसकी कीमत शून्य (०) है। 'यदि रामरूपी पूर्णाङ्क मुझे मिल जाय तो मेरे पास जो साधन-सामर्थ्य है उसकी इसके होनेसे दस-दस गुणी वृद्धि होगी' यह विश्वामित्रजीकी भावना इस १० अङ्कसे सूचित की। दो० २०८ में श्रीदशरथजीकी भी ऐसी ही भावना १० चौपाइयाँ देकर दिखायी हैं। भावना यह है कि 'राम पूर्णाङ्कके दे देनेसे मेरा सब ऐश्वर्यादि शून्यवत् रहेगा और मेरी देह भी शून्यवत् हो जायगी। एक इस अंकके रहनेसे इसके आधारपर सब प्रकारके सुख दिन-प्रति-दिन दशगुने बढ़ते जायँगे।' श्रीरामजीको दे देनेपर श्रीदशरथजी मृतक-समान ही रह गये, यह आगे स्पष्ट कहा है जब पुनर्मिलन हुआ, यथा—'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।'

दो०—सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥
सो०—पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भयहरन।
कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥ २०८॥

अर्थ—बहुत तरहसे आशीर्वाद देकर राजाने पुत्रोंको ऋषिके सुपुर्द कर दिया। प्रभु माताके महलमें गये और चरणोंमें माथा नवाकर चल दिये। पुरुषोंमें सिंहरूप अर्थात् श्रेष्ठ, कृपाके समुद्र, धीरबुद्धि, समस्त ब्रह्माण्डोंके कारण और करण एवं कारणके भी कारण दोनों वीर भाई मुनिका भय दूर करनेके लिये हर्ष, (प्रसन्नता और उत्साह) पूर्वक चले। २०८।

टिप्पणी—१ 'सौंपे भूप रिषिहि सुत···' इति। (क) प्रथम राजा मुनिसे कह चुके कि 'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ' इसीसे सौंपना' कहा। जो वस्तु जिसकी होती है, उसीको सौंपी जाती है। मुनि इनके पिता हैं, अतः ये उनके हवाले कर दिये गये। पुनः 'सौंपे' से जनाया कि पुत्रोंका हाथ पकड़कर मुनिके हाथमें पकड़ा दिया। (ख) मुनियोंने अपनी-अपनी रामायणोंमें अनेक आशीर्वाद लिखे हैं। इसीसे 'बहु बिधि' लिखकर ग्रन्थकारने उन सबोंका ग्रहण किया।*

---

* 'राममाहूय विधिवल्लक्ष्मणेन समन्वितम्॥ १२॥ मुनये चार्पयामास ह्याशिषा सह भूमिपः॥ १३॥ पितुराज्ञाकरौ तौ च पादयोः पेततुस्तदा। प्रवत्स्यतोश्च मूर्द्धानौ न्यपतन्नश्रुबिन्दवः॥ १४॥ नेत्राभ्यां राजराजस्य चचाल मुनिसत्तमः। लक्ष्मणानुचरं रामं परिगृह्य मुदान्वितः॥ १५॥ आशिषं युयुजे राजा वाहिनीं न च रक्षिणः। आशीरेव क्षमा तत्र वाहिन्या न प्रयोजनम्॥ १६॥ मातृपादान्प्रणम्याथ जग्मतुः पुरुषर्षभौ॥ १९॥ इति सत्योपाख्याने उत्तरार्द्धे चतुर्थोऽध्यायः।' —अर्थात् श्रीरामलक्ष्मणजीको प्रेमपूर्वक बुलाकर आशीर्वाद देकर राजाने मुनिको अर्पण कर दिया। आज्ञाकारी दोनों पुत्रोंने पिताके चरणोंपर मस्तक नवाया तब राजाके नेत्रोंसे

(ग) 'जननी भवन गये प्रभु' इति । माताके महलमें जाना और वहाँसे चल देना कहकर श्रीरामलक्ष्मणजीकी पिताका वचन पालन करने और मुनिके साथ जानेमें श्रद्धा जनायी । मातासे मिलकर बहुत शीघ्र चले आये, विलम्ब न किया, जिसमें लोग यह न समझें कि मुनिके साथ जानेका मन नहीं है । (घ) 'प्रभु चले' । यहाँ 'प्रभु'से दोनों भाइयोंका ग्रहण है, दोनोंने प्रणाम किया और दोनों चले । गोस्वामीजीने 'प्रभु' शब्द लक्ष्मणजीके लिये अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है; यथा—'तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई । २ । ७५ ।', 'जय अनंत जय जगदाधारा । तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा ॥ ६ । ७६ ।' इत्यादि । (ङ) ☞ राजाका आशीर्वाद देना लिखा गया परंतु दोनों भाइयोंका राजाको प्रणाम करना न लिखा गया और माताको प्रणाम करना ही लिखा गया, माताका आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया । यहाँ दोनोंका अनुवर्तन है, 'बहु बिधि देइ असीस' और 'नाइ पद सीस' दोनोंको दोनों ही जगह अर्थ करते समय लगा लेना चाहिये । यह ग्रन्थकारकी शैली है और काव्यका एक गुण है । यहाँका आशिष वहाँ भी समझा जायगा और वहाँका प्रणाम यहाँ भी समझना चाहिये । गीतावली और जानकीमंगलसे इस भावकी पुष्टि भी होती है । यथा—'रिषि सँग हरषि चले दोउ भाई । पितु पद बंदि सीस लियो आयसु सुनि सिष आसिष पाई ॥ गी० ५० ।', 'ईस मनाइ असीसहि जय जस पावहु । न्हात खसै जनि बार''''' । जा० मं० १८ ।'

नोट—१ राजा तो अत्यन्त विह्वल हो गये थे, पर माताकी ऐसी चेष्टा नहीं कही गयी । शीघ्र यहाँसे चल दिये, माताने कुछ न कहा ? इसका कारण है । गीतावलीमें स्पष्ट इसका उल्लेख है । आगमीद्वारा इनको ज्ञात हो गया था कि मुनिके द्वारा इनके विवाह होंगे । अतएव वे प्रसन्न हैं । दूसरे, इनको प्रभुसे अलौकिक ज्ञानका वरदान मिल चुका है और अन्नप्राशनके समय प्रभु दुबारा अपने ऐश्वर्यका बोध करा चुके हैं । (मा० त० वि०) । अभी तो माता प्रसन्न हैं पर जब कुछ दिन बीत जायँगे और पुत्रोंकी सुध न मिलेगी तब वे बड़ी ही चिन्तित होंगी । यथा—'गीतावल्याम्—'मेरे बालक कैसे धौं मग निबहैंगे । भूख पियास सीत श्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहैंगे ॥ को भोर ही उबटि अन्हवैहै काढ़ि कलेऊ दैहै । को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख लैहैं ॥ नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु परिजन महतारी । ते पठये रिषि साथ निसाचर मारन मखरखवारी ॥ सुंदर सुठि सुकुमार सुकोमल काकपक्ष धर दोऊ । तुलसी निरखि हरषि उर लैहौं बिधि होइहहिं दिन सोऊ ॥ पद ९७ ।', रिषि नृप सीस ठगौरी डारी । कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी ॥ सिरिस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी । पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनुधारी ॥ अति सनेह कातरि माता कहै''''' । पद ९८ ।'

२—'जननी भवन' से कौसल्या और सुमित्रा दोनोंके यहाँ जाना भी हो सकता है । श्रीसुमित्राजी लक्ष्मणजीकी जननी हैं ।

टिप्पणी—२ (क) 'पुरुष सिंह दोउ' अर्थात् दोनों भारी सामर्थ्यवान् हैं, जैसे सिंह निर्भय निशंक अकेले ही हाथियोंके समूहमें घुसकर उनके मस्तकोंको विदीर्ण कर डालता है, वैसे ही ये दोनों बिना सेना सहायकके ही 'असुर समूह' जो मुनिको सताते हैं (जैसा मुनिने राजासे कहा था—'असुर समूह सतावहिं मोही') उन्हींका नाश करने चले हैं और करेंगे । यथा—'अवध नृपति दसरथके जाये । पुरुष सिंह बन खेलन आये ॥ समुझि परी मोहि उन्हकै करनी । रहित निसाचर करिहहिं धरनी ॥ आ० २२ ।' 'पुरुष सिंह' इति । वाल्मी० ३ । ३१ में इस रूपकको मारीचने खूब निबाहा है । वह रावणसे कहता है कि यह मनुष्यसिंह सो रहा है । इसको जगाना अच्छा नहीं है । पुरुषोंमें सिंह इस रामचन्द्रका रणस्थलमें अवस्थान करना ही (इस सिंहके) संधि और बाल हैं । रणकुशल राक्षसगणरूपी गजेन्द्रोंका यह सिंह नाश करनेवाला है । यह शररूपी अङ्गोंसे परिपूर्ण है और तीक्ष्ण असि ही इसके दाँत हैं । यथा—'असौ रणान्तः स्थितिसन्धिवालो विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः । सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ।'] (ख) 'दोउ बीर' अर्थात् ये संग्राममें सम्मुख लड़ाई करके राक्षसोंका वध करेंगे, छल आदिसे नहीं । (ग) 'हरषि चले' से जनाया कि मुनिका

अश्रुविन्दु उनपर पड़े । तत्पश्चात् मुनि प्रसन्नतापूर्वक दोनोंको लेकर चले । (१२-१५) । राजाने साथमें सेना या रक्षक कुछ नहीं दिये, केवल आशीर्वाद दिया । उन्होंने यही सोचा कि आशीर्वाद ही इनका रक्षक है, सेना आदिका क्या प्रयोजन है ?. सब माताओंको प्रणाम करके दोनों पुरुषश्रेष्ठ मुनिके साथ चल दिये । वाल्मीकिजी लिखते हैं कि माता-पिताने स्वस्तिवाचन किया, गुरुने माङ्गलिक मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किया । राजाने सिर सूँघा ।' यथा—'कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च । पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम् ॥ वाल्मी० १ । २२ । २ । स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा ।' यह आशीर्वाद ही है ।

भय हरण करनेमें दोनोंको उत्साह है। यात्रासमय मनमें हर्ष होना शकुन है, यथा—'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा। चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा॥', 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर सुभ नाना॥' इत्यादि। (घ) 'चले मुनि भय हरन' इति। ☞यज्ञरक्षा और असुरसमूहके वधके हेतु दोनों भ्राता मुनिके साथ चले हैं, मुनिका भय दूर करने जा रहे हैं। ये कार्य वीरोंके हैं। इसीसे यहाँ 'वीर' और 'कृपासिंधु' विशेषण दिये हैं। शत्रुका वध करनेमें बल और बुद्धि चाहिये। यहाँ वीरसे बल और मतिधीरसे बुद्धि दो विशेषणोंमें ही दोनों गुण दरसा दिये। यथा—'ताहि मारि मारुत सुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥' (ङ) 'अखिल बिस्व कारन करन' जो सकल विश्वके कारण हैं और करनेवाले भी हैं अर्थात् विश्वके उपादान और निमित्त दोनों कारण आप ही हैं जैसे घटका उपादान कारण पृथ्वी (मृत्तिका) है और निमित्त कारण कुलाल है। ये विशेषण देकर जनाया कि ऐसे भी जो प्रभु हैं वह अपने भक्तोंपर कृपा करके भक्तका भय हरने चले। तात्पर्य कि भक्तोंहीके लिये भगवान्‌का अवतार है, यथा—'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगतहेतु लीला तनु गहई॥' [बाबा रामदासजी लिखते हैं कि कारण दो प्रकारका है, नित्य और नैमित्तिक। पंचभूत, काल, कर्म, गुण, स्वभाव और माया इत्यादि नैमित्तिक कारण हैं। इन सबोंके कर्त्ता श्रीरामजी नित्य कारण हैं। इतने बड़े होकर भी वे भक्तोंके अधीन हैं। अथवा, 'अखिल विश्वकारण' वैकुण्ठ भगवान् हैं, उनके भी आप कारण हैं यह जनाया। यथा—'रावन सो राजरोग बाढ़ेउ बिराट उर…' (क०)। मं० श्लो० ६ 'अशेषकारणपरं' देखिये। (अथवा, सम्पूर्ण विश्वके जो कारण हैं, उनके भी आप करनेवाले हैं। 'करण' का एक अर्थ 'अत्यन्त निकट साधक' भी है; यथा—'करणं साधकतमं क्रियासिद्धौ प्रकृष्टो हेतुः' अर्थात् क्रियासिद्धिमें जो एक अत्यन्त हेतु हो उसे करण कहते हैं।)] [अथवा, अखिल विश्व-कारण प्रकृति है उसके भी अधिकरण हैं, आश्रय हैं। (वि० त्रि०)]

नोट—१ यहाँके सब विशेषण साभिप्राय हैं। 'पुरुषसिंह' अर्थात् पुरुषोंमें शेर बबर वा नरशेर हैं। असुरसमूह इनके सामने हाथीके समान हैं 'वीर' हैं, अतः सेना सहायककी आवश्यकता नहीं। मुनि-भय हरने जाते हैं, क्योंकि 'कृपासिंधु' हैं; यथा—'अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥ निसिचर हीन करौं महि भुज उठाय पन कीन्ह। सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥ ३। ९।' पुनः, भाव कि मुनिने अपनेको राजासे अनाथ सूचित किया था, यथा—'निसिचर बध मैं होब सनाथा', अतएव उनपर समुद्रवत् कृपा करके उनको सनाथ करेंगे। 'हरषि चले' क्योंकि युद्धमें राक्षसन्वधमें उत्साह है। माता-पिताके वियोगमें किञ्चित् क्लेश न हुआ। अतः 'मतिधीर' कहा। इनके लिये असुरोंका वध कौन बड़ी बात है? क्योंकि ये तो 'अखिल विश्वकारन करन' हैं जो 'त्रिभुवन सक मारि जिआई।' (रा० प्र० वै०)

४—वीरता पाँच प्रकारकी कही गयी है। वह पाचों यहाँ प्रभुमें दिखायी गयी हैं। यथा—'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्म्मवीरः सदास्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुबीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥' त्यागवीर हैं, अतः 'मतिधीर' कहा। माता-पिताके वियोगका किञ्चित् भी दुःख न हुआ। दयावीर हैं, अतएव 'कृपासिंधु मुनिभय हरन चले' कहा। 'हरषि चले' तथा 'पुरुषसिंह' से पराक्रम महावीर जनाया। मुनि-भयहरण एवं यज्ञरक्षा धर्मके कार्य हैं, अतएव इनसे धर्मवीर जनाया। विद्यावीर तो पूर्व ही कह आये हैं कि 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।…' इत्यादि, और आगे बाणविद्यामें निपुणता दिखाते हैं कि एक ही बाणसे ताड़काका वध कर डाला; पुनः अखिल विश्वके कारण एवं करण हैं इससे 'विद्यावीर' हुए।

५ सेना और सेवक साथ क्यों न भेजे? इसका एक कारण यह कहा जाता है कि ताड़का, मारीच और सुबाहुको किसी मुनिका शाप था कि बालक विरथियोंके हाथोंसे निरादरपूर्वक तुम्हारी मृत्यु होगी। और कारण यह है—(२) प्रभुका प्रताप और ऐश्वर्य गुप्त रखनेके विचारसे मुनि इनको पैदल ले गये। (३) सेना और रथ साथ होनेसे सम्भव था कि निशिचर युद्ध करने न आते (तो भी मुनिका प्रयोजन सिद्ध न होता) और इनका वध आवश्यक था। अतएव बिना सेना इत्यादिके गये। (४) पूर्व लिख आये हैं कि सेनासे इनका वध हो न सकता था, सेना मारी जाती, व्यर्थका पाप मुनिको होता। अतः सेना न ली। रामजी मुनिके साथ हैं, जैसे मुनि रहते हैं वैसे ही ये भी रहेंगे। मुनिके साथ रहकर किसीसे सेवा कराते न बनेगी, इसीसे सेवक न लिये। मुनि पनही (जूती, पदत्राण) नहीं पहिनते, सवारीपर नहीं चढ़ते, इसीसे आपने भी सवारी न ली, न पदत्राण पहिने। (पं० रा० कु०)। (६) इस लीलाका विधान कल्प-कल्पमें ही रहता है। (७) जब मुनिको पितृत्व सौंप दिया तब सेना आदि साथ करना अयोग्य था; क्योंकि इससे यह सिद्ध होता कि अभी उन्होंने पितृत्व नहीं दिया, तभी

तो पुत्रोंकी रक्षाका उपाय स्वयं कर रहे हैं, मुनिपर विश्वास नहीं है। (८) सत्योपाख्यानके पूर्वोक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि राजाने आशीर्वादमात्रको उनका रक्षक समझकर सेना आदि साथ न दी।

नोट—६ यहाँ वीररसका स्वरूप वर्णन किया गया। जबतक निशिचरोंका वध और मुनिके यज्ञकी रक्षा निर्विघ्न न हो जायगी तथा अहल्योद्धार कर जबतक जनकपुर न पहुँचेंगे तबतक ग्रन्थकार युगल सरकारोंके लिये शृङ्गार या वात्सल्यके पद—जैसे—राजकिशोर, किशोर, राजकुमार, कुँवर, सुत, बाल इत्यादिका निर्देश न करेंगे। क्योंकि वनमें वीरताका काम है, माधुर्यका नहीं। हाँ! मुनिके हृदयमें महाराजा दशरथके संयोगसे, वात्सल्यरसकी छाया जम गयी है। जबतक दोनों भाई मुनिके साथ वनमें रहेंगे तबतक कवि रघुराया, प्रभु, रघुवीर और रघुपति आदि वीरता और ऐश्वर्यसूचक शब्दोंसे निर्देश करेंगे।' (पं० रा० च० मिश्र)।

७ विश्वामित्रजी नवमीको आये और द्वादशीको श्रीअयोध्याजीसे गये।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलज तनु स्याम तमाला॥ १॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा॥ २॥

अर्थ—नेत्र लाल हैं। छाती (वक्षःस्थल) चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं। नील कमल और श्याम तमाल वृक्षका-सा श्याम शरीर है॥ १॥ कमरमें पीताम्बर है जिसमें श्रेष्ठ तरकश कसे हुए हैं। दोनों हाथोंमें सुन्दर धनुष-बाण (धारण किये) हैं॥ २॥

☞ यह ध्यान वीररसका है। इसीसे इसमें नेत्रोंकी अरुणतासे उठाकर कटितकका वर्णन है। वीररसका वर्णन कटिसे शिर-तक या सिरसे कटितक होता है। मुनिकी सहायता करने चले हैं, इसीसे वीररूपका वर्णन करते हैं। यह प्रथम-दिग्विजयकी यात्रा है।

टिप्पणी—१ (क) लाल नेत्र, विशाल हृदय और विशाल भुजाएँ शत्रुको भयदायक हैं। श्यामगात भक्तोंका भय मोचन करनेवाला है; यथा—'स्यामलगात प्रनत भय मोचन॥ ५। ४५॥' [पं० रामकुमारजी 'नील जलद' पाठको उत्तम मानते हैं। वे लिखते हैं कि भगवान् परोपकार करने चले हैं, इसीसे मेघ और वृक्ष परोपकारियोंकी उपमाएँ यहाँ दी गयीं। नील मेघकी गम्भीरता और तमालकी श्यामता यहाँ कही गयी।]

नोट—'तमाल'—यह सुन्दर सदाबहार वृक्ष पंद्रह-बीस हाथ ऊँचा होता है और अधिकतर पर्वतोंपर और जहाँ-तहाँ यमुनातटपर पाया जाता है। यह दो प्रकारका होता है, एक साधारण दूसरा श्याम। श्याम तमालकी लकड़ी आबनूसकी-सी होती है, पर यह कम मिलता है। इसके फूल लाल, पत्ते गहरे हरे शरीफेके पत्तेसे मिलते-जुलते होते हैं। इस नामका एक वृक्ष हिमालय और दक्षिण भारतमें भी होता है। (श० सा०)।

टिप्पणी—२ (क) 'कटि पट पीत''' इति। पीतवस्त्र वीरोंका बाना है। (पुनः, भगवान्‌को पीताम्बर प्रिय है। पीताम्बर उनका एक नाम भी है। इसीसे जहाँ ध्यानका वर्णन होता है वहाँ पीताम्बरको भी कहते हैं।) 'बर भाथा' कहकर अक्षय तूणीर सूचित किया। तरकशकी श्रेष्ठता यही है कि कितने ही बाण उसमेंसे निकाले जायँ वह कभी चुके नहीं, खाली न हो। 'रुचिर चाप सायक'—धनुष और बाण सुन्दर हैं। धनुषकी सुन्दरता यह है कि शत्रुके काटे न कटे और बाणकी सुन्दरता यह है कि किसी भी शस्त्रास्त्रसे न रुके और निष्फल वा व्यर्थ न जाय, अमोघ और अचूक हो। यथा—'जिमि अमोघ रघुपति के बाना'। हनु० अंक ७ श्लोक ८ 'सुवर्णपुंखाः सुभटाः सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमनः प्रवेगाः।' (अर्थात् सुवर्णके पुंखों-वाले, अमोघ, अत्यन्त तीक्ष्ण वज्रके सदृश, पवन और मनके तुल्य वेगवाले) के सब विशेषण 'रुचिर' सायक कहकर जना दिये। पुनः, रुचिरता यह भी है कि इनसे मारे हुए जीव सद्गतिको प्राप्त होते हैं; यथा—'जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥ २०५। ३॥', 'रघुबीर सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहैं सही। ५। ३।' 'दुहुँ हाथा' अर्थात् दक्षिण हाथमें बाण है और वाममें धनुष है। धनुष-बाण हाथोंमें लिये कहकर सावधान सजग जनाया।]

नोट—जहाँ-जहाँ शत्रुपर चढ़ाईका वर्णन है प्रायः वहाँ ऐसा ही ध्यान वर्णन किया गया है, यथा—'आयसु माँगि राम पहिं अंगदादि कपि साथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ॥ ६। ५१। छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तन कछु यक लाला॥' तथा यहाँ 'अरुन नयन उर बाहु बिसाला।'''रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा।'''। इत्यादि।—यह वीर रूपका वर्णन है। ६। ५१ में लक्ष्मणजीका ध्यान है; इससे वहाँ 'हिम गिरि निभ तनु' अर्थात् गौर वर्ण कहा गया पर साथ ही 'कछु यक लाला' कहा जो वीररसके कारण है।

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई ॥ ३ ॥
प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति[1] पिता तजेउ भगवाना ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—ब्रह्मण्यदेव=ब्राह्मण ही हैं देवता जिनके; निर्हेतु ब्राह्मणोंको माननेवाले। निति=लिये। यह 'निमित्त' का अपभ्रंश है।

अर्थ—एक श्याम, दूसरे गौर, दोनों सुन्दर भाइयोंको पाकर विश्वामित्रजी (मानो) महानिधि पा गये ॥ ३ ॥ (वे मन-ही-मन सोचते हैं कि) मैंने निश्चय जान लिया कि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं। मेरे लिये भगवान्‌ने अपने पिताको भी छोड़ दिया ॥ ४ ॥

पं० राजारामशरण लमगोड़ाजी—याद रहे कि हर सभ्यतामें कोई-न-कोई मुख्य गुण पूज्य माना जाता है। जैसे—अमेरिकामें 'डालर' (Dollar) द्रव्य, इंग्लैंडमें 'वाक्‌शक्ति'। (पारलियामेंटका अर्थ ही है 'वक्तृताका स्थान') पाश्चात्य सभी देशोंमें पशुबल 'बल' (Brute force) पूज्य है और उसका फल भी सामने है। आर्यसभ्यतामें ब्राह्मणशक्ति (Spiritual power) ही पूज्य थी। यहाँ उस शक्तिको न तो अलग (करके) निष्फल ही किया था (no Vaticanizing) और न राज्य और ब्राह्मण्य शक्तियोंको मिलाकर गड़बड़ किया गया था (no Khilafat); बल्कि क्षात्रशक्ति शासन करती थी पर ब्राह्मण्यशक्तिके उपदेशोंके अनुसार। डाक्टर भगवानदासजी ठीक कहते हैं कि कानून बनानेवाले (Legislators) किन्हीं व्यक्तिसमूहोंके स्वार्थके प्रतिनिधि (Representatives of particular interests) न होने चाहियें बल्कि उनका निःस्वार्थ (Disinterested) होना ही ठीक है। (विस्तारसे देखना हो तो डाक्टर भगवानदासजीके ग्रन्थ देखिये)।

ब्राह्मण संसारके निष्काम सेवक थे, इसीसे उनकी शिक्षा भी वैसी ही होती थी। (गुरुकुल कांगड़ीके एक अभिनन्दन-पत्रमें उन्हें (Selfless Servants of Humanity) कहा गया था और ठीक कहा गया था। श्रीजवाहरलालजीने भी अपनी आत्मकथामें ब्राह्मणत्वका कुछ ऐसा ही आभास दिखाया है।) जब वे द्रव्योपार्जन नहीं करते थे, तो क्या राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिका दानद्वारा उनकी सेवा करना धर्म नहीं ? फिर दान लेकर वे दानहीमेंसे तो दे डालते थे। यदि ऋषियोंको कभी भी यह खयाल होता कि अकृतज्ञ राष्ट्रमें आगे उनकी संतान भूखों मरेगी तो इतने धर्मग्रन्थ शास्त्र इत्यादि लिखनेमें कदाचित् उनका मन न लगता। यदि कोई तनिक आविष्कार करता है तो उसे राष्ट्र पेटेन्ट देकर कृतज्ञता दिखाता है तो फिर ब्राह्मणोंका पालन और पूजन क्यों न हो, जिन्होंने सारी विद्याओंके आविष्कार किये, ग्रन्थ रचे और शिक्षा-दीक्षाका भार अपने ऊपर रक्खा। कुछ विस्तारसे लिखनेका प्रयोजन यह है कि फिर बारम्बार न कहना पड़े। क्योंकि रामराज्यमें 'कवच अभेद्य (अभेद) विप्र गुर-पूजा' ही माना गया है।

टिप्पणी—१ (क) 'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई' इति। यहाँतक दो अर्धालियोंमें केवल श्रीरामजीका वर्णन करके इस अर्धालीमें श्रीलक्ष्मणजीका रङ्गमात्र वर्णन किया। इससे यह जनाया कि जो वर्णन श्रीरामजीका है—'**अरुन नयन उर बाहु बिसाला। कटि पट पीत कसे बर माथा। रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा॥**' वही वर्णन श्रीलक्ष्मणजीका भी है, पर उनका रंग पृथक् है, इसीसे रंगको पृथक् वर्णन किया। श्रीरामजीकी श्यामता दो बार वर्णन की,—'**नील जलज तन स्याम तमाला**' और '**स्याम गौर सुंदर दोउ भाई।**' प्रथम रूपवर्णनमें तनकी श्यामता कही और दूसरी बार श्याम-गौर दोनोंके एकत्र होनेकी शोभा कही। (ख) दोनों भाइयोंका श्याम-गौर वर्ण कहकर महानिधिका पाना कहा। कारण कि नवनिधियोंमेंसे दो निधियाँ श्याम-गौर हैं—नील और शङ्ख। श्रीरामजी नीलनिधि हैं और श्रीलक्ष्मणजी शङ्खनिधि हैं। नवनिधियाँ, यथा—'**महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलश्च खर्वश्च निधयो नव ॥**' (विशेष दोहा २२० । २ देखिये)। (ग) निधि राजाके यहाँ होती है। श्रीराम-लक्ष्मणजी भी राजाके यहाँ थे, राजासे मुनिको प्राप्त हुए; इसीसे '**निधि पाई**' निधिका पाना कहा। राजाने निधि देनेको कहा था; यथा—'माँगहु भूमि धेनु धन कोषा।' यह कहकर फिर राजाका देना कहा, यथा—'सौंपे भूपति रिषिहि सुत...'। और अब मुनिका पाना कहते हैं,—'**बिस्वामित्र महानिधि पाई**'। साधुओंके धन भगवान् ही हैं इसीसे भगवान्‌के पानेपर 'महानिधि' का पाना कहा। [(घ) निधियाँ जड़ हैं, अनित्य हैं और भगवान् नित्य हैं, सच्चिदानन्दघन हैं। निधियोंसे अत्यन्त अधिक हैं, उन्हींसे सब निधियाँ हैं। अतएव उनको 'महानिधि' कहा। (ङ) बैजनाथजी लिखते हैं कि विश्वामित्र पूर्णकाम हो गये मानो संख्यारहित धन पा गये]

१. हित=को० रा०। निति—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ० 'निति' अवधप्रान्तकी बोली है।

टिप्पणी—२ (क) 'मोहि निति पिता तजेउ……' इति। जैसे पिता दशरथजी श्रीरामजीको नहीं त्याग करते थे, वसिष्ठजीके समझानेपर ही पुत्रोंको मुनिके सुपुर्द किया था; वैसे ही श्रीरामजी पिताको प्राणसमान जानकर न त्याग करते, क्योंकि भगवान्‌का वचन है कि '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'। पर भगवान्‌ने ऐसा न किया। [इन वचनोंसे ज्ञात होता है कि मुनिको संदेह था कि भगवान् साथ आवेंगे या न आवेंगे। वे सोचते हैं कि 'यद्यपि राजाने दे दिया था तथापि वे कह सकते थे कि हम अभी युद्धके लायक नहीं हैं, हम न जायेंगे, तो हमारा कौन वश था ? पर कैसी प्रसन्नताके साथ माता-पिताको त्यागकर वे हमारे साथ चले आये।'] ये अवश्य ही ब्रह्मण्यदेव हैं। इसमें अब किञ्चित् संदेह नहीं। मुझ ब्राह्मणके लिये तुरत प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो गये। [पुनः, 'ब्रह्मण्यदेव' कहकर अपने ब्राह्मणत्वका अहंकार जनाते हैं। (रा० च० मिश्र)]। इसपर प्रश्न हो सकता है कि श्रीरामजी साथ जानेसे इनकार करते तो राजा क्या अप्रसन्न न होते कि हमारी आज्ञा न मानी ? इसका उत्तर यह होगा कि राजा बहुत प्रसन्न होते। क्योंकि जिनके प्रेमके लिये राजाने उन्हें देनेमें 'नहीं' कर दिया वे स्वयं यदि राजाके प्रेमके कारण न जाते तब राजा अप्रसन्न क्यों होते ? इनके मनकी ही हो जाती, इससे वे अत्यन्त प्रसन्न होते। यथा—'**बचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु**। २। ४४।' इसीसे मुनि सोचते हैं कि 'मोहि निति पिता तजेउ'। निति=निमित्त। यहाँ मध्यम अक्षरका लोप है। (ख) 'भगवान्' कहकर जनाया कि ये केवल पिताके भेजनेसे नहीं आये वरंच मेरी हार्दिक इच्छा जानकर अपने मनसे आये। 'भगवान्' हैं अर्थात् समग्र ऐश्वर्यसे परिपूर्ण हैं, अतएव वे किसी अटकसे नहीं आये, कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो उनके पास न हो, जिसकी उन्हें जरूरत हो। वे तो पूर्णकाम हैं। किसीकी अपेक्षा करके हमारे साथ आये हों यह बात नहीं है। [पुनः, भगवान्‌का भाव कि षडैश्वर्य सम्पन्न होकर भी सब सुख छोड़ हमारे साथ कष्ट उठा रहे हैं। जंगली-मार्गमें पैदल चल रहे हैं। (रा० च० मिश्र)]।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥ ५॥

अर्थ—मार्गमें जाते हुए मुनिने ताड़काको दिखा दिया। सुनते ही वह क्रोध करके दौड़ी॥ ५॥

नोट—१ वाल्मीकीयमें कहा है कि मुनिके साथ जब दोनों भाई एक भयानक वनमें पहुँचे तब उन्होंने उस वनका नाम आदि पूछा। मुनिने बताया कि पूर्व वे बड़े हरे-भरे मलद और कारूष देश थे। तांटका राक्षसी जो यहाँसे आधे योजनपर निवास करती है, उसने इन देशोंको उखाड़ डाला; तबसे ये भयानक वन हो गये। हम लोग ताटका-वनसे होकर चलें। तुम उसका वध करो। (और, अ० रा० में ताटका-वनमें पहुँचनेपर श्रीरामजीसे कहना लिखा है)। मुनिके वचन सुनकर उन्होंने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर तीव्र टंकार किया जिससे सब दिशाएँ गूँज उठीं। इस शब्दको सुनकर ताड़का क्रोधित और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठ दौड़ी। (वाल्मी० १। २४। १३ से १। २६। ८ तक। अ० रा० १। ४। २६-२८)। वाल्मीकीयमें ताटकाका अनेक माया करना भी लिखा है और अ० रा० में ताड़काके आते ही श्रीरामजीका उसे एक ही बाणसे मार डालना कहा है जो मानसके मतसे मिलता है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंमें 'ताटकाको दिखाना' नहीं कहा गया है, किन्तु टंकार सुनकर उसका आना और मारा जाना कहा है। और, मानसमें '**सुनि दीन्हि देखाई**' कहकर तुरत '**सुनि ताड़का**' शब्द कहे गये हैं। 'चले जात' से सूचित करते हैं कि ताड़का मार्गमें मिली। ताटका वनमें ताटकाका निवास और उसका तथा उसकी दुष्टताका परिचय पूर्व ही करा दिया गया था, यह बात '**दीन्हि देखाई**' के साथ ही '**सुनि ताड़का**' का उल्लेख करके जना दी गयी। यह दिखाना केवल अपनी आज्ञामें तत्पर करनेके लिये है। 'सुनि' शब्दसे यहाँ प्रसंगानुकूल यही बोध होता है कि मुनिने केवल दिखाया ही नहीं किन्तु और भी कुछ कहा जो ताड़काने सुना। क्योंकि दिखानेके बाद टंकारको सुनना उपयुक्त नहीं जँचता। '**दीन्हि देखाई**' से उसका बहुत निकट होना सूचित होता है। 'सुनि' से जनाया कि मुनिने उसकी ओर अङ्गुल्यानिर्देश करते हुए कहा कि देखो, यही वह ताड़का है, इसपर दया न कीजिये। यही सुनकर वह बड़े क्रोधसे दौड़ी। (पं०, वै०, रा० प्र० का भी यही मत है)।

संत श्रीगुरुसहायलालजी नृसिंहपुराणका प्रमाण देकर लिखते हैं कि मुनिने यह कहा—'हे राम! हे राम! हे महाबाहो! ताड़का राक्षसी रावणकी आज्ञासे इस वनमें रहती है। इसने बहुत-से मनुष्यों, मुनिपुत्रोंको मार खाया है, इसे आप मारिये।' यथा—'राम राम महाबाहो ताटका नाम राक्षसी। रावणस्य नियोगेन वसत्यस्मिन्महावने॥ तथा मनुष्या बहवो मुनिपुत्रा मृगास्तथा। निहिता भक्षिताश्चैव तस्मात्त्वं जहि सत्तम॥' इस प्रकार उसका दिखा देना सुनकर ताड़का क्रुद्ध हो दौड़ी। 'दीन्हि देखाई' के पीछे 'सुनि……' शब्द देकर गोस्वामीजीने पिता एवं गुरुकी मर्यादाका पालन किया है।

आपने प्रश्नोत्तरका प्रसङ्ग ही दूर करके गुरु-आज्ञा-पालनकी मर्यादाका निर्वाह कैसा विचित्र किया है ! साथ ही इन्हीं शब्दोंमें वाल्मीकि आदि ऋषियोंकी वाणीकी भी रक्षा कर दी गयी है।

पं० रामचरण मिश्रजीका मत है कि, 'चले जात' से मुनिकी भयभीतता सूचित होती है। यह भाव 'एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा' को भी पुष्ट कर रहा है। प्रत्यञ्चाकी टंकारका शब्द सुनकर क्रोधकर धायी हुई 'ताड़काको मुनिं दिखा दीन्ह' इस प्रकार अन्वय करनेसे शंका नहीं रहती। यह बात अन्य रामायणोंसे सिद्ध है कि वनमें प्राप्त होते ही प्रभुने प्रत्यञ्चा चढ़ाया, उसकी टंकार वनभरमें गूँज उठी। उसीको सुनकर ताड़का दौड़ी आयी। 'दीन्हि देखाई' केवल उसके मारनेके लिये। यहाँ प्रश्नोत्तरका मौका ही नहीं है। दिखा देना ही वधकी आज्ञासूचक है। सत्योपाख्यानमें भी टंकार सुनकर आना लिखा है। (उत्तरार्ध ४। ४४)।

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीरामजीने एक ही बाणसे उसके प्राण हर लिये और दीन जानकर उसको 'निजपद' दिया ॥ ६ ॥

टिप्पणी— (क) 'एकहि बान' इति। जब भगवान् क्रीड़ा करते हैं तब अनेक बाण चलाते हैं, नहीं तो एक ही बाणसे काम लेते हैं; यथा—'द्विशरं नाभिसंधत्ते द्विस्थापयति नाश्रिताम्। हनु० ना० १। ४८॥' अर्थात् श्रीरामजी दो बाण नहीं चलाते और अपने आश्रितको दो बार स्थापित नहीं करते। पुनः, 'एकहि बान' का भाव कि ताड़का एक बाणसे मरनेवाली न थी, अनेक बाणोंसे मारे जानेपर कहीं मरती तो मरती। श्रीरामजीने उसे एक ही बाणसे मार डाला। इस कथनसे रामबाणकी प्रबलता दिखायी। [☞ मुनिजी बहुत डरे हुए हैं, इससे निशिचरोंको अपने अत्यन्त पराक्रमकी सूचना देने एवं गुरुकी आज्ञामें अपना अनुराग और तत्परता जनाने तथा मुनिका भय हरण करनेके लिये, एक ही बाणसे उसको समाप्त किया। अथवा, यह सोचकर कि कहीं वह स्त्रीवधका दूषण न कहने लगे जिससे उस दुष्टासे सम्भाषणकी नौबत आवे, वा, कहीं वात्सल्यवश मुनिको सन्देह न हो, उसे सद्यः एक ही बाणसे मार डाला। वाल्मीकीय तथा नृसिंहपुराणसे स्पष्ट है कि श्रीरामजीने शंका की थी कि स्त्रीवध कैसे करें, यह महापाप है। उसपर मुनिने कहा कि इससे सब प्राणी व्याकुल हैं अतः इसके वधसे पुण्य होगा। यथा—'अस्यास्तु निधनाद्राम जनाः सर्वे निराकुलाः। भवन्ति सततं तस्मात् तस्याः पुण्यप्रदो वधः॥' (नृ० पु०, मा० त० वि०)। अथवा, देरतक रणक्रीड़ा करते रहनेसे कदाचित् वह शरणमें आ जाय तो उसको फिर मार न सकेंगे और उसका वध आवश्यक है क्योंकि गुरुकी आज्ञा है। अतः एक ही बाणसे मारा। अथवा स्त्री है इसको बहुत बाणों-द्वारा पीड़ित करना ठीक नहीं उसपर दया करके एक ही बाणसे मारा। (पं०)। (ख) 'दीन जानि'—यह यक्षिणी थी। [अगस्त्यजीके शापसे पिशाचिनी और दुष्टा हो गयी थी। पिशाचिनी अपना पद पानेमें दीन है। शापित होनेसे उसे दीन जाना। (मा० त० वि०)। पुनः, अबला और विधवा दीन होती हैं, यह दोनों है अतएव 'दीन' कहा। (पं०)। वा, परलोकपथसाधनमें सर्वथा हीन है इसमें शुभकर्मोंका लेश भी नहीं है, यह केवल पापरूपिणी है, हमको छोड़ इसकी मुक्तिका अवलम्ब और कुछ भी नहीं है, इस प्रकार दीन जानकर गति दी। (बाबा हरीदास)।] (ग) 'निज पद दीन्हा' इति। अर्थात् वह पूर्वानुसार परम सुन्दरी यक्षिणी हो गयी। यथा—'ततोऽति सुन्दरी यक्षी सर्वाभरणभूषिता। शापात्पिशाचतां प्राप्ता मुक्ता रामप्रसादतः॥ अ० रा० १। ४। ३१॥' पुनः, 'निज पद' पाना रामबाणका माहात्म्य ही है। अतः 'निजपद दीन्हा' कहा। [गोस्वामीजीने यहाँ 'निजपद' देकर सब मतोंकी रक्षा की है। परब्रह्म परमात्मा रामजीके बाणसे फिर भव नहीं रह जाता। मुक्ति हो जाती है। उस अवतारमें अर्थ होगा कि मरते हुए दिव्य रूप धारण कर परधामको प्राप्त हुई। निजपद=हरिपद, हरिधाम। अन्य रामावतारोंमें, 'निज पद'=यक्षिणीरूप। जो अध्यात्म आदिका मत है। सत्योपाख्यानमें स्वर्गकी प्राप्ति कही है—'देहं त्यक्त्वा च स्वर्गता। उत्तरार्ध अ० ४। ४९)

नोट—१ स्त्री अवध्य है। शास्त्रकी आज्ञा है कि न तो उसको मारे, न उसका अङ्ग-भङ्ग करे। तब यहाँ ताड़काका वध क्यों किया ?' पं० रामकुमारजी आदि अनेक टीकाकारोंने यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया है कि गुरु आदिका वचन श्रेष्ठ है परम धर्म है। यथा—'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥ ७७। ३-४॥' (शङ्कर वाक्य), 'गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी॥ उचित कि अनुचित

करें बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू ॥ अ० १७ ॥' गुरुवचन मानकर स्त्रीका वध किया। (पं० रा० कु०)। परंतु इसमें फिर यह शंका करके कि शूर्पणखाके नाक-कान काटनेमें तो किसीकी आज्ञा न थी, वहाँ यह उत्तर काम न देगा? उसका समाधान यह करते हैं कि आततायीका वध उचित है। आततायी छः प्रकारके हैं। उनमेंसे एक स्त्री-अपहरण करनेवाला भी है; यथा—'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः।' वह राजकुमारीको खाने दौड़ी थी। सत्योपाख्यानसे भी यही बात सिद्ध होती है कि गुरुकी आज्ञासे मारा, यथा—'कौशिकेन समाज्ञप्तः शरं धनुरुपाददे। घृणया स तदा बाणं मुमोच ताडकोरसि। उत्तरार्द्ध अ० ४। ४८।' वाल्मी० १। २६ में श्रीरामजीने स्वयं मुनिसे कहा है कि मेरे पिताने मुझे यही उपदेश किया था कि विश्वामित्रके वचनोंका कभी तिरस्कार न करना, उनकी आज्ञाका पालन करना। आप ब्रह्मवादी हैं। मैं आपकी आज्ञासे उसका वध करूँगा। इससे भी गुरुकी आज्ञा मुख्य है।

२ (क) वाल्मीकीयमें श्रीरामजीके संकोच करनेपर विश्वामित्रजीका विस्तृत समाधान है। 'नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम। चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना। १। २५। १७।' पुनः, नृसिंहपुराणे यथा—'इत्येवमुक्तो मुनिना रामः सस्मितमब्रवीत्। कथं तु स्त्रीवधं कुर्यामहमद्य महामुने। स्त्रीवधे तु महत्पापं प्रवदन्ति मनीषिणः। इति रामवचः श्रुत्वा विश्वामित्र उवाच तम्। अस्यास्तु निधनाद्राम जनाः सर्वे निराकुलाः। भवन्ति सततं तस्मादस्याः पुण्यप्रदो वधः।'—सारांश यह कि जब किसी दुष्टा स्त्रीके वधसे चारों वर्णोंका हित हो तो उसका वध करना राजाका कर्तव्य है; इसने बहुतेरे मनुष्यों, मुनियों आदिको मार खाया है, इसके वधसे सदाके लिये लोग दुःखसे छूट जायँगे और तुमको पुण्य होगा। (ख) जो कोई भी अस्त्र-शस्त्र लेकर सम्मुख आकर आक्रमण करे और जिससे प्रजापालनमें विघ्न होता हो उसका वध उचित है, चाहे वह मित्र, गुरु आदि ही क्यों न हो। अतएव ताड़काका वध किया गया। यथा—'मित्रं वा बान्धवो वापि पिता वा यदि वा गुरुः। प्रजापालनविघ्नाय यो हन्तव्यः स भूभृता।' (मार्क० पु०, पं०)। (ग) इसके वधसे अन्य सब दुष्टोंको भय होगा कि जब इन्होंने अवध्याको न छोड़ा तब हमपर दया कब करने लगे। (पं०)। (घ) अधमा नारीसे अधम ही पैदा होंगे, यह सोचकर वध किया। (रा० प्र०)

नोट—३ (क) 'निशिचरोंसे युद्धका यहाँसे अथश्री वा श्रीगणेश हुआ, पहले स्त्रीपर हाथ चलाना अमङ्गल है?' यह शंका उठाकर पंजाबीजी तथा हरिहरप्रसादजीने उसका समाधान यह किया है कि 'अविद्याके नाशसे कामादिक नष्ट हो जाते हैं, प्रथम अविद्याका नाश करना जरूरी है। ताड़का अविद्यारूपिणी है। नामवन्दनामें ताड़काको दुराशासे रूपक दिया है;—'सहित दोष दुख दास दुरासा।' इसके वधसे और निशिचरोंका भी वध होना सिद्ध किया।' क्योंकि दुराशाके नाशसे कामादि शेष आसुर-सम्पत्तिका नाश सुगमतासे हो जाता है।

(ख) ☞ बिना तामसी वृत्तिका संहार किये कोई पुरुष वीर नहीं कहला सकता। सम्भवतः यही कारण है कि संसारके सर्वश्रेष्ठ वीरोंने पहले दुष्टा स्त्रियोंपर ही हाथ साफ किया। इन्हींसे दुष्टदलनका श्रीगणेश किया। श्रीरामजीने ताटकाका, श्रीहनुमान्‌जीने सिंहिकाका और श्रीकृष्णजीने पूतनाका वध किया।

प० प० प्र०—ताटका और पूतना दोनों स्थूलदेहबुद्धिके प्रतीक हैं। जबतक स्थूलदेहबुद्धिका विनाश नहीं होता तबतक उसके पुत्र-पौत्र-परिवारादिका विनाश असम्भव है। कारणदेह (अज्ञान) का तो संहार ही करना पड़ता है और वह ज्ञानरूपी पवित्र बाणसे ही हो सकता है। अतः 'पावक सर सुबाहु पुनि मारा।—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥ गीता ४। ३८ ॥', 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥ गीता ५। १६ ॥' मारीच सूक्ष्म वा लिंग देह है। इसका विनाश तो प्रारब्धक्षय होनेपर ही होता है, अतः उसको मारा नहीं जाता। अन्तःकरणको ब्रह्माकार, रामाकार बनाना ही इसका नाश है। सूक्ष्म देहके सहारेसे ज्ञानोत्तर भक्तिकी और भजनकी सम्भावना रहती है। अतः इसको दूर फेंक दिया। इसके मनको रामाकार बना दिया है। ऐसे आध्यात्मिक अर्थोंके श्रीमानसमें जैसे भरपूर और शास्त्रशुद्ध आधार मिलते हैं, वैसे वाल्मी०, अ० रा० आदिमें नहीं हैं। श्रीरामने ताटकाका सुत, परिवार, सेनासहित विनाश किया और गति दी, वैसे ही श्रीकृष्णने पूतनाका शरीर नाश किया और गति दी।

तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ॥ ७ ॥
जाते लाग न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा ॥ ८ ॥

अर्थ—तब ऋषिने जीसे अपने स्वामीको पहिचानकर उन विद्यासागरको (वह) विद्या दी ॥ ७ ॥ जिससे भूख-प्यास न लगे और शरीरमें अमित बल और तेजका प्रकाश हो ॥ ८ ॥

नोट—१ मुनिके पूर्व वाक्य ये हैं। 'प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा', 'प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना।' इनसे मुनिका प्रभुको जानना स्पष्ट है। तो अब 'तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही' किस भावसे कहा गया? इस शंकाको उठाकर महानुभावोंने उसका समाधान यह किया है—(१) प्रथम दोनों चौपाइयोंमें जो जानना कहा गया वह विष्णुबुद्धिसे और अब 'निज नाथहि चीन्ही' जो कहा गया वह परब्रह्मभावसे कहा गया। अर्थात् अब जाना कि ये परात्पर परब्रह्म हैं। (रा० प्र०)। (२) विश्वामित्रको ईश्वरत्वज्ञान पहले तो यथार्थ था, परंतु जब श्रीदशरथजीने पुत्रोंको सौंपकर कहा कि 'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ' तबसे वात्सल्य-रसकी अधिकता हो गयी; इस कारण मुनि इनके वात्सल्यमें ऐश्वर्य भूल गये जिसका प्रमाण गीतावलीमें है। यथा—'पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि चितवत, खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बोलाई।' (५०), 'खेलत चलत करत मग कौतुक बिलमत सरित सरोवर तीर। तोरत लता सुमन सरसीरुह पियत सुधासम सीतल नीर॥ ३॥ बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर पुनि पुनि बरनत छाँह समीर। देखत नटत केकि कल गावत मधुप मराल कोकिला कीर।' (५२)। फिर जब एक ही बाणसे ताड़काका प्राण हर लिया तब फिर ऐश्वर्यकी स्मृति हो आयी कि ये ईश्वर हैं। (वन्दनपाठकजी)। (३) यहाँ वात्सल्यरस प्रधान है क्योंकि इस रसके उदय होते ही ऐश्वर्यका आभास मिट जाता है। जैसे श्रीमद्भागवतमें अक्रूरजी यमुनामें निमग्न होके ऐश्वर्य देखनेपर भी रथारूढ़ कृष्णके वात्सल्यसे ऐश्वर्य भूल गये। ऐसे ही भुशुण्डि और लोमश आदि भी भूल गये। (रा० च० मिश्र)। (४) माधुर्य लीला देखकर मुनिको भ्रम था, वह भ्रम अब ताड़कावधसे दूर हो गया, क्योंकि ताड़काका मारना 'अमानुष' कर्म है। यथा—कौसल्यावाक्ये—'मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥'''३५६॥''' 'सकल अमानुष करम तुम्हारे।' माधुर्यलीलामें भ्रम हो जाना आश्चर्य नहीं है; यथा—'निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥ ७। ७३॥' पुनः 'जिय चीन्ही' का भाव कि पूर्व वेद-पुराणादिसे जानते थे, सुने थे, पर जब ताड़काको एक बाणसे मार डाला तब 'जियमें चीन्हे'। (पं० रामकुमार)। (५) पहले 'जगत्‌का नाथ' जानते थे अब 'निज नाथ' जाना—यह भेद पहले और अबके जाननेमें है। (६) 'मार्गमें चलते हुए दोनों भाई बालकेलि करने लगे, उसीसे मुनि ऐश्वर्य भूल गये जैसा गीतावलीके उद्धरणमें दिखा आये हैं। मुनिको बड़ा ज्ञानी जान उनको भुला दिया। जब दीन अधीन हुए, तब शीघ्र ताड़कावधसे ऐश्वर्य जना दिया। पहले मुनिको ज्ञान, तपोबल और अस्त्र-शस्त्र आदिका मनमें अभिमान था, वह नष्ट हुआ और प्रभुमें विश्वास हुआ तब सब समर्पण कर दिया। (शीलावृत्त)। (७) 'अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचरबध मैं होब सनाथा।' जाननेपर भी यह शंका थी कि इस सुकुमार शरीरसे और इस अवस्थामें निशाचरवध कर सकेंगे या नहीं। जब प्रत्यक्ष ही देखा कि केवल केलि-धनुहीसे एक ही बाणसे ताटकावध कर डाला, तब यह जान लिया कि अब निशाचरवध होगा और मैं सनाथ हो जाऊँगा। जबतक निशाचरवध न होगा तबतक मैं तपः सामर्थ्य सम्पन्न होता हुआ भी अनाथ ही हूँ। सनाथ होनेमें अब सन्देह नहीं रह गया। अब प्रभु श्रीरामजीके कारण मैं सनाथ हूँ ऐसा पूर्ण विश्वास और मनमें सेव्य-सेवक-भावसे प्रेम उत्पन्न हुआ।—'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।' भगवान् हैं यह पहले जाना, पीछे उनके प्रभावकी प्रतीति ताटकावधसे मिली, तब प्रतीतिने प्रीतिको जन्म दिया।' (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ 'बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही' इति। जबतक नदी आदिका जल समुद्रसे पृथक् नदीमें ही रहता है तबतक वह छोटा (थोड़ा) रहता है, पर जब वह समुद्रमें जाकर समुद्रमें मिल जाता है तब वह बड़ा हो जाता है, वैसे ही यहाँ जानो। जबतक विद्या मुनिके पास रही तबतक उसकी बड़ाई न थी पर जब वही विद्या विद्यानिधिके यहाँ आयी तब उसने बड़ाई पायी। यथा—'बिद्या दई जानि बिद्यानिधि बिद्यहु लही बड़ाई।' (गी० ५३)। पुनः, विद्यानिधिको विद्या देना ऐसा ही है जैसा कि समुद्रका अञ्जलि भर जल लेकर समुद्रको ही अञ्जलि देना। भाव कि एक अञ्जलि जलसे समुद्र न तो कुछ बढ़ ही गया न घट, पर अञ्जलि देनेवालेकी बड़ाई होती है; यथा—'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।' वैसे ही इस समर्पणसे मुनि और उनकी विद्याको बड़ाई मिली। वाल्मीकीयमें मुनिने कहा है कि 'यद्यपि ये सब गुण

आपमें विद्यमान हैं तथापि इन्हें ग्रहण करो'। पुनः, 'विद्यानिधि कहँ' का भाव कि कुछ अज्ञानी जानकर नहीं पढ़ाया वरंच यह जानकर कि ये विद्यानिधि हैं, इनको पढ़ाया।

नोट—२ 'विद्या दीन्ही' इति। बला और अतिबला नामक अस्त्रविद्याके मन्त्र मुनिने दिये। इस विद्याके प्रभावसे न तो शारीरिक परिश्रम कुछ जान पड़ता है, न कोई मानसिक कष्ट ही होता है और न रूपमें किसी प्रकारका परिवर्तन होता है। मुनिने और भी प्रभाव यह बताया है कि 'इससे सोते या असावधान किसी भी अवस्थामें राक्षस तुम्हारा अपकार नहीं कर सकते, तुम्हारे समान बलवान् पृथिवीमें एवं तीनों लोकोंमें कोई न होगा। क्योंकि ये विद्याएँ सब प्रकारके ज्ञानोंकी जननी हैं। ये ब्रह्माकी पुत्री हैं और बड़ी तेजस्विनी हैं। इनसे बड़े-बड़े लाभ होंगे। इत्यादि। यथा='न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥ १३ ॥ न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः। न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥ १४ ॥ त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत्सदृशस्तव ॥…१५ ॥…बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ॥ १७ ॥…पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजः समन्विते ॥ १९ ॥…' (वाल्मी० १। २२)

३—वाल्मीकीय और अ० रा० के कल्पोंमें बला और अतिबला अस्त्रविद्याएँ ताटकावधके पहले ही दी गयी हैं और मानसके कल्पमें ताटकावधके पश्चात्।

***टिप्पणी*—२ 'जाते लाग न छुधा पिपासा'** यह कहकर फिर 'अतुलित बल तनु तेज प्रकासा' कहनेका तात्पर्य यह है कि भूख प्यास बन्द होनेसे शरीरका बल और तेज-प्रकाश जाता रहता है; पर इस विद्याको पढ़ लेनेसे भूख-प्यास न रहनेपर भी बल, तेज और प्रकाश बढ़ता ही जाता है। इन दोनों विद्याओंका नाम बला और अतिबला है; यथा—अध्यात्मे 'बलां चातिबलां विद्ये द्वे देवनिर्मिते। ययोर्ग्रहणमात्रेण क्षुत्क्षामादि न जायते ॥ १। ४। २५ ॥' [इस विद्याके देनेका अभिप्राय यह है कि निशिचरसमूहसे युद्ध करना होगा, यज्ञमें कई दिन लगते हैं, न जाने युद्धमें भोजनका अवसर मिले या न मिले; क्योंकि निशिचर बड़े घोर और बलवान् होते हैं, वे कई दिनतक बराबर लड़ सकते हैं। वाल्मी० १। ३०। ५। में कहा है कि दोनों भाइयोंने छः दिन-रात बिना सोये यज्ञकी रक्षा की। इन विद्याओंके सम्बन्धमें वाल्मी० १। २२ में भी कहा है 'क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ॥ १८ ॥' 'क्षुत्पिपासे' मानसका क्षुधा पिपासा है। और उपर्युक्त नोटमेंके उद्धरणमें जो 'न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यां…त्रिषु लोकेषु', और 'न रूपस्य विपर्ययः' कहा है वही क्रमशः मानसके 'अतुलित बल तनु' और 'तेज प्रकासा' हैं।] बला और अतिबलाकी प्राप्ति कहकर आगे और भी विद्याओंकी प्राप्ति कहते हैं। आगे दोहेमें भी देखिये।

प० प० प्र०—'विद्यानिधि…पिपासा' इति। इस विद्याका मन्त्र सावित्र्युपनिषद्में दिया है। ऋषि, छन्द, देवता और न्यास आदि सब वहाँ दिये हैं और 'क्षुधादि निरसने विनियोगः।' इसका मुख्य हेतु क्षुधातृषादि षडूर्मियोंको जीतना है। इस विद्याको 'चतुर्विधपुरुषार्थप्रदा' भी मन्त्रमें ही कहा है। इस मन्त्रका प्रतिदिन १००० जप ४० दिनतक करनेसे एक अनुष्ठान होता है और ऐसे चार अनुष्ठान करनेपर अधिकारीको मन्त्रसिद्धिकी अनुभूति होती है, ऐसा श्रीगुरुमहाराजका वचन इस दासने सुना है और अल्प प्रमाणमें इस मन्त्रका अनुभव भी देखा है। इस मन्त्रको अस्त्रविद्याका मन्त्र गुरुमहाराजने नहीं कहा और न उपनिषद्में ही ऐसा उल्लेख है। इस मन्त्रमें मुख्य है गायत्री मन्त्र।

दोहा—आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति* हित जानि ॥ २०९ ॥

शब्दार्थ—निज आश्रम—यह आश्रम सिद्धाश्रम नामसे प्रसिद्ध है। यहीं भगवान्‌ने वामन अवतार लेकर देवकार्य्य किया था, यथा—सत्योपाख्याने—'सिद्धाश्रमं समागत्य सिद्ध्यर्थं कौशिकस्य च। उत्कण्ठितो बभूवात्र तापसोऽश्रमवत्पुरा।' (उ० ४। ५२।) पुनश्च 'एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः। वाल्मी० १। २९। ३।' 'अद्यापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते। २२।' हित=हितैषी, हितू। प्रिय।

अर्थ—समस्त अस्त्र-शस्त्र समर्पण करके प्रभुको अपने आश्रममें लाकर उन्हें परम हितैषी (वा, इनको भक्ति प्रिय है। यह) जानकर भक्तिपूर्वक कन्द-मूल-फल भोजन समर्पण किया। २०९।

* भगति—१६६१, पं०। भगत—रा० प्र०।

पं० रा० च० मिश्रजी—मुनिके हृदयमें जो ब्राह्मणत्वका अहङ्कार था (जैसा 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना' से स्पष्ट है) वह उन्होंने विद्या समर्पण करके दूर किया—यह समझकर कि 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।' रहा क्षत्रियत्वका अहंकार, उसे आयुध समर्पण करके छुड़ायेंगे। क्योंकि आत्मा जबतक निरहंकार नहीं हो जाता तबतक शुद्धबुद्ध मुक्तस्वरूप नहीं हो सकता। पुनः, दूसरा भाव यह है कि यहाँ वात्सल्यरसने फिर ऐश्वर्यको दबा दिया है तभी तो प्रभुको विद्या देने लगे। जब राजासे इनको माँगने गये थे तब इनपर ऐश्वर्य्य सवार था और राजापर वात्सल्य; और जब राजाने इनको पिता बना दिया तबसे इनमें वात्सल्य प्रधान हो गया। ताड़कावधपर ऐश्वर्य्यका स्मरण हो आया था, परंतु फिर वात्सल्यने आ घेरा। मुनिने सोचा कि वनमें न जाने भूख-प्याससे दुर्बल हो जायँ तो इनके माता-पिता क्या कहेंगे, अतएव माधुर्य-पक्षमें इनको विद्या दी और शस्त्रास्त्र दिये।

नोट—१ इस दोहेसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'सर्वास्त्रजालं सरहस्यमन्त्रं प्रीत्याभिरामाय ददौ मुनीन्द्रः। अ० रा० १। ४। ३३।'

२ 'सर्व आयुध' से वह समस्त दिव्यास्त्र और उनके संहार जना दिये जिनका विस्तृत वर्णन वाल्मी० १। २७। ४—२१, १। २८। ४—१२ में है। वे ये हैं—दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, वज्रास्त्र, शिवजीका श्रेष्ठ शूल, ब्रह्मशिर, ऐषीक, ब्रह्मास्त्र, मोदकी और शिखरी नामकी गदाएँ, कालपाश, धर्मपाश, वरुणपाश, दो अशनी (एक शुष्क, दूसरी आर्द्र), शिवास्त्र और नारायणास्त्र, अग्निका प्रिय अस्त्र शिखर, वायव्य, हयशिर, क्रौञ्च, दो शक्तियाँ, कङ्काल, मूशल, कपाल, किंकिणी, नन्दन, गन्धर्वोंका मोहनास्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन, वर्षण, शोषण, सन्तापन और विलापन गुणवाले अस्त्र कामदेवका दुर्धर्ष मादन मानव; मोहन, तामस, सौमन, संवर्त और मौसल, सत्य और मायामय 'सूर्यका तेज; प्रभु अस्त्र; चन्द्रका शिशिर, दारुण त्वाष्ट्र और शीतेषु नामक अस्त्र।'—ये सब कामरूपी हैं, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, बड़े बली और मनोरथ सिद्ध करनेवाले हैं। अस्त्रोंके संहारमन्त्रोंके नाम इसी तरह वाल्मी० १। २८। ४-१२ में दिये हैं।

३ 'समर्पि कै' इति। आयुधोंका समर्पण इस प्रकार किया कि पूर्व ओर मुख करके बैठे और श्रीरामजीको समस्त आयुधोंके सब मन्त्र दिये। मुनिके जप करते ही वे सब आयुध श्रीरामजीके पास आ गये। सब आयुधोंके देवता सामने हाथ जोड़कर बोले कि हम आपके दास हैं, आप जो आज्ञा दें वह हम करें। यथा—'स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम्॥ २२॥....' जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः। उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम्॥ २४॥ ऊचुश्च मुदिता रामं सर्वे प्राञ्जलयस्तदा। इमे च परमोदारकिंकरास्तव राघव॥ २५॥ (वाल्मी० १। २७)। सब आयुध कामरूप हैं। जब जिसका स्मरण किया जाता है, वह समीप आ जाता है।

४ 'आयुध सर्व समर्पि कै' कहकर तब 'निज आश्रम आनि' लिखकर शब्दोंके क्रमसे ही जना दिया कि आयुध समर्पित करनेके पश्चात् आश्रममें ले गये। इससे सूचित हुआ कि ताटकावधसे मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए और आनन्दके मारे उन्होंने ताटकावनमें ही तुरत विद्या और आयुध समर्पण कर दिये। यथा—'प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुरस्वरम्॥ १॥ परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः। प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः॥ २॥ वाल्मी० १। २७॥'. 'स्याम हनी ताड़का देखि रिषि देत असीस अघाई॥ गी० ५३॥' 'सुन्दस्त्रीदमनप्रमोद मुदितादास्थाय विद्योदयं....। हनु० १। ७॥' अर्थात् ताड़कावधके आनन्दसे प्रसन्न हुए मुनिसे विद्याओंको ग्रहण कर।

५ ये सब अस्त्र मुनिने तपस्याद्वारा महादेवजीकी प्रसन्नतासे प्राप्त किये थे।

६ 'कंद मूल फल भोजन....' इति। भक्तोंके यहाँ जो कुछ रहता है वही प्रभु प्रेमपूर्वक अङ्गीकार करते हैं। इसीसे कहते हैं कि कन्दमूल फल जो उनके आश्रममें थे सो ही दिये। राजा समझकर कन्दादि नहीं दिये; क्योंकि राजाओंके योग्य यह भोजन नहीं है। उनके योग्य सामग्री वनमें कहाँ? जो यह कहो कि ये मुनि तो बड़े समर्थ हैं, ऋद्धि-सिद्धि इनके आश्रित हैं, इन्होंने तो स्वर्गकी रचना की थी, फिर इन्होंने राजाओंके योग्य भोजन-पदार्थ क्यों न दिये?' तो इसीके निवारणार्थ कविने यह पद रक्खा है—'भगतिहित जानि।' इनको भक्ति प्रिय है, भक्तिसे जो कुछ भी अर्पण किया जाता है उसे अङ्गीकार करते हैं। यथा—'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ गीता ९। २६। विश्वामित्रने यह विचार किया कि ये भक्तहितकारी हैं, हमारे साथ रहनेसे हमारेसे आचरण ग्रहण किये हुए हैं। अर्थात् जैसे हम नंगे पैर वैसे ये भी हमारे साथ बिना सवारी सेवकके और हम सब कन्दमूल भोजन करते हैं तो ये

अन्य पदार्थ कैसे अङ्गीकार करेंगे; अतएव कन्द-मूल-फल दिये। पुनः, प्रथम कहा कि वह विद्या दी जिससे भूख-प्यास न लगे तो फिर कन्द-मूल-फल देनेका प्रयोजन ही क्या रह गया? इसलिये सन्देह निवारणार्थ 'सगतिहित जानि' कहा, यह हेतुसूचक बात कहना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

आश्विनकी अमावस्याको सिद्धाश्रममें पहुँचे थे।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥ १॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख की रखवारी॥ २॥

शब्दार्थ—झारी=झुण्डके झुण्ड; सब। रखवारी=रखवाली, रक्षा।

अर्थ—प्रातःकाल (होते ही) श्रीरघुनाथजीने मुनिसे कहा कि आप जाकर निडर हो यज्ञ करें॥ १॥ सब मुनि (जाकर) होम करने लगे और आप यज्ञकी रखवालीपर रहे॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'प्रात कहा मुनि सन रघुराई' कहकर जनाया कि श्रीरामजी सब कृत्योंका समय जानते हैं। वह समय मुनियोंके यज्ञ करनेका है यह भी जानते हैं; इसीसे 'प्रात कहा' लिखा। [श्रीराम-लक्ष्मणजी देशकालके उचित कर्त्तव्यके जाननेवाले हैं, शत्रुओंके संहारक और देशकालोचित वचन बोलनेवाले हैं। यथा—'अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिंदमौ। देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः। वाल्मी० १। ३०। १॥'] यह भी जनाया कि श्रीरामजी गुरुसेवामें कैसे तत्पर हैं। ये उत्तम सेवक हैं, इसीसे मुनिको कहना न पड़ा कि हम यज्ञ करेंगे तुम रक्षा करना, इन्होंने अपनी ही ओरसे मुनिसे यज्ञ करनेको कहा। आगे भी समय जानकर आपका सेवा करना पाया जाता है; यथा—'समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥ २२७। २॥' इत्यादि। (ख) 'रघुराई' का भाव कि रघुवंशी ब्राह्मणोंके अभयदाता होते आये हैं और ये तो रघुवंशके राजा हैं, इसीसे मुनिसे 'निर्भय' होनेको कहा। (ग) 'निर्भय यज्ञ करहु' कहा क्योंकि मुनियोंको मारीच और सुबाहु आदि राक्षसोंका भय था, यथा—'जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥ २०६। ३॥' 'असुर समूह सतावहिं मोहीं। २०७। ९॥' (घ) 'करहु तुम्ह जाई' से जनाया कि यज्ञशाला आश्रमसे कुछ दूरीपर अलग बना हुआ था। यह भी जनाया कि जाइये, हम यहाँ रक्षाके लिये खड़े हैं। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'ताड़कावधसे मुनि ऐश्वर्य जान गये थे, फिर रामजीने इनसे निर्भय होनेको क्यों कहा? तात्पर्य यह है कि मुनिके ऐश्वर्यज्ञानको फिर वात्सल्यने दबा लिया था। इससे फिर प्रभुने अपने ऐश्वर्यका स्मरण कराया। 'जाई' पदसे भी भय सूचित होता है। मुनि इनका साथ नहीं छोड़ते। इतने भयभीत हैं कि राजकुमारोंका सान्निध्य नहीं छोड़ सकते। अतः 'निर्भय' से ऐश्वर्य स्मरण कराते हुए फिर 'तुम्ह जाई' पद दिया।]

२ (क) 'होम करन लागे मुनि झारी' इति। श्रीरघुनाथजीके कहनेपर सब मुनि यज्ञशालामें जाकर होमके पूर्वकी सब विधि करके होम करने लगे अर्थात् यज्ञकुण्डमें आहुति देने लगे। यज्ञमें होम ही मुख्य है, इसीसे होम करना ही लिखा और विधियों क्रियाओंका उल्लेख नहीं किया। पुनः भाव कि और विधियाँ तो किसी तरह निबह भी जाती थीं पर होम नहीं निबह पाता था, इससे 'होम' हीको कहा। (ख) 'मुनि झारी' से जनाया कि इसके पूर्व केवल वही मुनि होम करने बैठते थे कि जो समर्थ थे, असमर्थ मुनि नहीं बैठते थे, परंतु इस समय श्रीरामजीका बलभरोसा पाकर समस्त मुनिगण होम करने लगे। वा सब मुनि इसलिये एकदमसे बैठ गये जिसमें यज्ञ जल्दी पूर्ण हो जाय, मारीच-सुबाहु आदि न आने पावें। (इस भावसे मुनिके हृदयमें अब भी भय भरा हुआ देख पड़ता है)। (ग) 'आपु रहे मखकी रखवारी' से जनाया कि धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। ('करहु तुम्ह जाई' और 'आपु रहे…' से जनाया कि मुनि यज्ञशालामें यज्ञ करने गये और आप बाहर खड़े होकर रक्षामें तत्पर हुए। 'रखवारी' से जनाया कि तरकश पीतपटसे कसे हाथोंमें धनुष बाण लिये, रोदा चढ़ाये रखवाली करने लगे)।

नोट—अ० रा० में ऐसा ही कहा है—'श्रीरामः कौशिकं प्राह मुने दीक्षां प्रविश्यताम्॥ ३॥…तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह॥ ४॥ अ० रा० १। ५॥' यह यज्ञ छः दिन-रातका था। यथा—'अद्यप्रभृति षड्रात्रं रक्षतं राघवौ युवाम् वाल्मी० १। ३०। ४॥' अर्थात् आजसे छः रात्रितक आप दोनों राघव यज्ञकी रक्षा करें॥

सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥ ३॥

बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ ४॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा*। अनुज निसाचर कटकु संघारा॥ ५॥

शब्दार्थ—सहाय=सेना, कटक, यथा—'अनुज निसाचर कटकु संघारा'। फर=फल, अनी, बाणका अग्रभाग जो लोहेका और नोकीला होता है जिससे आघात किया जाता है।

अर्थ—(यज्ञ-समाचार वा स्वाहा शब्द) सुनकर मुनियोंका द्रोही (शत्रु) क्रोधी राक्षस मारीच सेना लेकर दौड़ा॥ ३॥ श्रीरामजीने बिना फलवाला बाण उसपर चलाया जिससे वह सौ योजन (४०० कोस) वाले समुद्रके पार जा गिरा॥ ४॥ फिर अग्निबाणसे सुबाहुको मारा। (इधर) भाई लक्ष्मणजीने निशाचर-सेनाका नाश किया॥ ५॥

नोट—'सुनि मारीच' इति। पूर्व २०६ (४) में कहा था कि 'देखत जग्य निसाचर धावहिं' और यहाँ कहते हैं कि 'सुनि मारीच···धावा मुनिद्रोही'। दो जगह दो बातें लिखनेका भाव यह है कि इसके पूर्व मुनि लोग भयके मारे छिपकर यज्ञ किया करते थे, शब्द नहीं होने देते थे; तब निशाचर धुआँ देखकर धावा करते थे। इसीसे पूर्व 'देखत जग्य निसाचर धावहिं' लिखा था और, इस समय रघुनाथजीके बल-भरोसेपर यज्ञ करने बैठे हैं और मुनि भी बहुत-से हैं, सब आहुति देते हुए 'स्वाहा' शब्द जोर-जोर उच्चारण कर रहे हैं जिससे शब्द वनभरमें गूँज उठा है, यह शब्द सुनकर मारीच ने धावा किया। पुनः, दो जगह पृथक्-पृथक् दो शब्द देकर जनाया कि मारीच सुनकर भी यज्ञ नष्ट करता है और देखकर भी। (पं० रामकुमार)। किसी-किसी रामायणमें ऐसा लिखा है कि इन्होंने दूतोंसे अपनी माँका वध और बड़े भारी यज्ञकी तैयारीकी खबर पायी थी। वाल्मीकीयमें विश्वामित्रजीका राजासे यह कथन है कि मारीच सुबाहु यज्ञकी पूर्तिके समय आकर उपद्रव करते हैं; पर मानसका मत यह जान पड़ता है कि होमका प्रारम्भ होते ही कुछ देरमें मारीच आ पहुँचा। यहाँ 'होम करन लागे' शब्द हैं यही मत अ० रा० का है, यथा—'तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह॥ ४॥ मध्याह्ने ददृशाते तौ राक्षसौ कामरूपिणौ। मारीचश्च सुबाहुश्च···'॥ ५॥ (सर्ग ५)।' अर्थात् विश्वामित्रजीने मुनियोंके साथ यज्ञ करना आरम्भ कर दिया। मध्याह्नसमय मारीच-सुबाहु दोनों राक्षस दिखायी दिये। हनुमन्नाटकमें भी यज्ञ प्रारम्भ होनेपर ही राक्षसोंका आना लिखा है,—'वल्गते कौशिकनन्दनेन च मखे तत्रागतान् राक्षसान्। हत्वा···'। १। ७।' अर्थात् विश्वामित्रके पवित्र यज्ञका आरम्भ करनेपर वहाँ आये हुए राक्षसोंको मारा।

टिप्पणी—१ (क) 'निसाचर क्रोही' का भाव कि मारीच स्वाभाविक ही क्रोधी है और यहाँ तो क्रोधका हेतु भी उपस्थित है तब क्योंकर न क्रोध करता। तात्पर्य कि क्रोध करके उसने धावा किया। (ख) 'लै सहाय'। सहायक सेना साथ लेकर धावा करनेका कारण यह है कि श्रीरामजीने ताड़काको एक ही बाणसे मार डाला था। अतएव वे समझते हैं कि राजकुमार भारी बलवान् हैं। पुनः, भाव कि इसके पूर्व केवल सेना और नायकोंसे काम लेता रहा था; यथा—'असुरसमूह सतावहिं मोहीं'; मारीचको स्वयं यज्ञविध्वंस करने नहीं जाना पड़ता था, पर अबकी शत्रुको परम सबल जानकर वह स्वयं आया और सेना भी साथ लाया।] (ग) 'मुनि द्रोही' कहा क्योंकि मुनियोंको अपना धर्म-कर्म न करने देते थे, यथा—'जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥ २०६। ३।'

नोट—'बिनु फर बान' इति। तीरके नोकपर लोहा लगा रहता है जिसे अनी भी कहते हैं, यही नोकीला लोहा फर (फल) है। इसे निकाल लेनेसे थोथा तीर रह जाता है। जब प्राण लेना अभिप्रेत नहीं होता तब बिना फलका बाण चलाया जाता है। बिना फलका बाण क्यों चलाया? उसे जीता क्यों छोड़ दिया? क्योंकि इससे आगे काम लेना है। अरण्यकाण्डकी लीलामें इसका काम है, यह बड़ा सुन्दर कपट-मृग बन सकता है, श्रीसीताहरणलीला और रावणवधका यह कारण बनेगा, लीलामें सहायक होगा। इससे श्रीरामजीका त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ और भगवान् होना सिद्ध होता है। यथा—'हत्वाऽसूमुचदा भाविविदसौ मारीचमुग्राकृतिम्॥ (हनु० १। ७)। अर्थात् होनेवाली बातको तत्काल जाननेवाले श्रीरामजीने भयानक आकृतिवाले मारीचको छोड़ दिया अर्थात् मारा नहीं। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि रामरत्नाकर रामायणमें लिखा है कि देवगण डर रहे थे कि मारीचवध होनेसे सीताहरण असम्भव हो जायगा—'बिनु मारीच न सीताहरण। तेहि बिनु का दशानन मरन॥' अतएव उनके मनकी गति जानकर उसे न मारा। मुं० जगबहादुरसिंह (बाबा जयरामदास) मानसहंस

*—जारा १७२१, १७६२, छं० को० रा०। मारा—१६६१, १७०४।

मोचनमें एक भाव यह लिखते हैं कि मारीच 'श्रीराम-लक्ष्मणसीता तीनों रूपोंका ध्यान करता था, यथा—'श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं' । अतएव जब तीनों इकट्ठा होंगे तब उसे मारेंगे ।'

'सत जोजन गा सागर पारा' इति ।

पं० रामकुमारजी 'पार' का अर्थ 'तट' करते हैं । वे लिखते हैं कि 'सत योजनका जो समुद्र है उसके पार अर्थात् तटपर गिरा । मारीच समुद्रके इसी पार रहा है, यथा—अध्यात्मे (३ । ६ । २) 'ययौ मारीचसदनं परं पारमुदन्वतः' । पुनश्च, 'सत जोजन आयेउँ छिन माहीं' बक्सरसे समुद्र सौ योजन है । (पर इसमें संदेह है) । 'शतयोजन सागर' कहकर यह निश्चित किया कि किस समुद्रके पार मारीच जाकर गिरा क्योंकि सागर तो बहुत हैं । ये शब्द न होते तो सन्देह बना रहता कि न जाने किस समुद्रके पार गिरा । [भारतवर्ष और लंकाके बीचमें जो समुद्र है वह सौ योजनका है । किष्किन्धाकाण्डमें इसका प्रमाण है; यथा—'जो नाँघै सतजोजन सागर । करै सो रामकाज मति आगर । ४ । २९ । १ ।' इसीसे 'सतजोजन' को सागरका विशेषण मानकर ही अर्थ करना अधिक संगत जान पड़ता है ।- यदि 'सागरके पार सौ योजनपर गिरा' ऐसा अर्थ करें तो भी उपर्युक्त संदेह बना ही रहता है कि किस समुद्रके पार गिरा । और इस अर्थका प्रमाण भी कहीं नहीं मिलता । अध्यात्मरामायणमें कहा है कि 'तयोरेकस्तु मारीचं भ्रामयञ्छतयोजनम् । पातयामास जलधौ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १ । ५ । ७ । अर्थात् एक बाणने मारीचको आकाशमें घुमाते हुए सौ योजनकी दूरीपर समुद्रमें गिरा दिया । वाल्मी० रा० में भी यही है—'संपूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसंप्लवे । १ । ३० । १८ ।', 'तेनाहं ताडितः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥ १९ ॥ पातितोऽहं तदा तेन गंभीरे सागराम्भसि । प्राप्य संज्ञां चिरात्तात लंकां प्रतिगतः पुरीम् । ३ । ३८ । २१ ।']

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'समुद्रके इस पारके कोशों (अर्थात् बक्सरसे समुद्रके इस तटतक) का प्रमाण न लिखा । समुद्रके पार जाना लिखनेसे ही इधरका प्रमाण जना दिया । शतयोजनपर समुद्रमें जो लंका है उसमें गिरा ।' पं० रामकुमारजी प्रथम ऊपर दिया हुआ अर्थ लिखकर फिर 'अथवा' लिखकर दूसरा अर्थ यह भी लिखते हैं—'सौ योजनका जो समुद्र उसके उस पार गया ।' अधिक लोगोंका मत यही है और यही अर्थ संगत है । उस पार समुद्रतटपर गिरा, पीछे इस पार चला आया होगा । वाल्मी० ३ । ३८ । २१ में उसने स्पष्ट कहा है कि समुद्रमें गिरा था, वहाँसे लंकामें आया । अ० रा० में कहा है कि तबसे इस निर्भय स्थानमें रहता हूँ । यथा—'···पतितोऽस्मि सागरे । तत्प्रभृत्यहमिदं समाश्रितः स्थानमूर्जितमिदं भयार्दितः । ३ । ६ । २१ ।' 'शतयोजनवाले समुद्र पार गया' इससे पाया गया कि वायव्यास्त्रका प्रयोग किया गया । यहाँ 'द्वितीयविभावना' अलंकार है क्योंकि बिना फलके बाण अर्थात् अपूर्ण कारणसे पूरा कार्य हुआ । कारण-कार्य एक साथ होनेसे 'अक्रमातिशयोक्ति' भी है ।

अब यह प्रश्न होता है कि 'जब वह लंकामें जा गिरा तो उसने रावणसे क्यों न निवेदन किया ? इसका उत्तर यह है कि दैवयोगसे तथा उस बाणके प्रभावसे उसके मनमें भय और भ्रान्ति हो गयी जिससे उसने लज्जित होकर न तो रावणहीसे कुछ कहा और न अपने आश्रमपर ही लौटकर आया, जैसा कि उसके वचनोंसे प्रमाणित होता है,—'मुनि मख राखन गयउ कुमारा । बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥ सतजोजन आएउँ छन माहीं । तिन्ह सन बयरु किए भल नाहीं ॥ भइ मम कीट भृंगकी नाईं । जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई । ३ । २५ ।'

टिप्पणी—१ 'पावक सर सुबाहु पुनि मारा ।''''' इति । (क) प्रथम मारीचपर बाण चलाया गया फिर सुबाहु मारा गया, तब सेना । ऐसा लिखकर यह भी जना दिया गया कि इसी क्रमसे ये निशाचर आगे-पीछे थे । मारीच ज्येष्ठ भाई आगे था, उसके पीछे सुबाहु रहा और उसके पीछे सेना थी । अतः इसी क्रमसे वध आदि हुआ । मारीच और सुबाहु मुख्य थे, अतः इनको श्रीरामजीने स्वयं मारा और अनुचरोंको लक्ष्मणजीने मारा । (ख) पावकास्त्रसे सुबाहुको मारा, कहकर जनाया कि वायु (वायव्य) अस्त्रसे मारीचको उड़ाया । वायुसे अग्नि है सो अग्निबाणसे सुबाहुको मारा । अग्निसे जल है और जलके स्वामी वरुण हैं । वरुणास्त्रसे कटकका संहार किया ।

नोट—वाल्मीकीयमें लिखा है कि 'मारीच-सुबाहु आदि राक्षस आकाशमें दिखायी दिये । वे शीघ्रतापूर्वक दौड़े आ रहे हैं, यह देखकर श्रीरामजीने मनु-निर्मित शीतेषु नामक मानवास्त्र मारीचपर चलाया जिसके लगनेसे वह समुद्रमें सौ योजन-पर जा गिरा । वह चक्कर खाने लगा, मूर्छित और भ्रमितबुद्धि हो गया । बाणके वेगने ही उसे अचेतन कर दिया । मानवास्त्रने उसे इस तरह उड़ाया जैसे वायु मेघको ।' यथा—'मानवास्त्रसमाधूतानिलेन यथा घनान् । १५ ।'''विचेतनं विघूर्णन्तं

प्रीतेष्वध्वर्युषु [illegible]तिम्। १९।' परंतु अ० रा० में इस बाणका नाम नहीं दिया है। वैसे ही मानसमें नाम नहीं दिया है। मानसके राममें विशेषता यह है कि यह बाण बिना फलके चलाया गया।

यह प्रसङ्ग अ० रा० से मिलता है। इसमें निशाचर-सेनाको लक्ष्मणजीने मारा है, यथा—'अपरे लक्ष्मणेनाशु हतास्तदनुयायिनः। १। ५। ८।'—यही मानसका मत है। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने ही सेनाको भी मारा।

मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥ ६॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥ ७॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥ ८॥

अर्थ—निशिचरोंको मारकर ब्राह्मणोंको निर्भय करनेवाले श्रीरामजीकी स्तुति सारे देवता और मुनि करने लगे॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीने वहाँ कुछ दिन और रहकर ब्राह्मणोंपर दया की॥ ७॥ भक्तिके कारण मुनिने बहुत-सी प्राचीन वा पुराणोंकी कथाएँ कहीं, यद्यपि प्रभु उन्हें जानते थे॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'अस्तुति करहिं देव मुनि झारी।....' इति। मुनि निर्भय हुए, उनके यज्ञकी रक्षा हुई, सदाके लिये कंटक दूर हुआ। अतः उनकी स्तुति करना उचित ही है; पर देवताओंने क्यों स्तुति की? यहाँ स्तुति करनेमें देवको ही प्रधान रक्खा गया, यह क्यों? क्योंकि देवता सदासे राक्षसोंके वैरी हैं, यथा—'हमरे बैरी बिबुध बरूथा' (रावणवाक्य)। दूसरे, यज्ञकी रक्षासे देवगण भी अपने-अपने भागकी रक्षासे निर्भय हुए, उनके भाग उनको मिले। मुनिलोग यज्ञ करके देवताओंको उनका भाग देते हैं जिसे पाकर वे बलवान् होते हैं, इसीसे राक्षस देवता और मुनि दोनोंको दुःख देते हैं; यथा—'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा॥ १६९। २।' अब दोनों निर्भय हुए। देवता अपना वैर स्मरणकर प्रसन्न हुए, अतः उन्होंने आकर स्तुति की। [(ख) देवताओंको प्रथम कहनेका भाव—(१) देवताओंको हजारों वर्षोंपर आज यज्ञभाग मिला। जिसे पाकर आज वे तृप्त हुए। अतएव वे प्रथम ही स्तुति करने आ पहुँचे। (२) यज्ञकी समाप्तिपर ऋषिगण प्रभुकी भुजाओंका पूजन करने लगे, यथा—'जे पूजी कौसिकमख रिषयन्हि। गी० ७। १३।' पूजनके बाद स्तुति होती है सो देवताओंने प्रथम ही स्तुति प्रारम्भ कर दी, अतएव मुनियोंको पीछे कहा। अ० रा० में भी देवताओंका स्तुति करना और विश्वामित्रका श्रीरामजीका पूजन करना कहा गया है, वैसे ही यहाँ।] (ग) द्विजोंके लिये राक्षसोंको मारा, इसीसे द्विज निर्भयकारी कहा।

२ 'कछुक दिवस' इति। (क) अध्यात्ममें तीन दिन ठहरना लिखा है, यथा—'पुराणवाक्यैर्मधुरैर्निनाय दिवसत्रयम्। ११। चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते कौशिको राममब्रवीत्। १। ५।' अर्थात् पुराण और इतिहासादिकी मधुर कथाएँ सुनाते हुए तीन दिन बिताये। चौथा दिन आनेपर मुनिने श्रीरामजीसे कहा। वाल्मीकीयमें यज्ञ छः दिन हुआ और दूसरे ही दिन वहाँसे सब जनकपुर गये। कितने दिन और रहे? इसमें मतभेद है। कोई ३, कोई ५, कोई ७ दिन लिखते हैं। अतः गोस्वामीजीने 'कछुक दिवस' लिखकर सबके मतोंकी रक्षा की है। (ख) 'पुनि' का भाव कि यज्ञरक्षाके लिये मुनि माँगकर लाये थे, अबतक यज्ञरक्षार्थ रहे और यज्ञरक्षा कर चुकनेपर भी कुछ दिन और रह गये। 'पुनि' के यहाँ दोनों अर्थ हैं—'फिर' एवं 'और'। (ग) 'कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया' इति। विप्रोंपर क्या दया की? सुनिये। यज्ञरक्षाके निमित्त मुनि ले आये थे, सो यज्ञरक्षाका कार्य तो हो चुका, यज्ञकी पूर्ति हो गयी और असुरसमूहका नाश भी हो गया, अब अयोध्यापुरीको लौट जाना चाहिये था, सो न गये। ब्राह्मणोंकी इच्छा देख उनपर कृपा करके रह गये। तात्पर्य कि अनुपम मूर्त्तिका दर्शन पाकर ऋषियोंको यह लालसा हुई कि कुछ काल इसी प्रकार हमको और दर्शनानन्द मिले। उनके हृदयकी जानकर रह गये। [पंजाबीजीका मत है कि कुछ दिन और इससे रह गये कि ऐसा न हो कि मारीचके और कोई साथी-सहायक शेष हों जो मुनियोंको आकर सतावें।] (घ) दया करनेके सम्बन्धसे 'रघुराया' कहा, क्योंकि रघुवंशी सदा द्विजरक्षक होते आये हैं। रघुरायासे जनाया कि द्विजरक्षा करनेमें ये सबोंसे श्रेष्ठ हैं।

४ 'भगति हेतु बहु कथा पुराना' इति। (क) यथा—'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥ ७। २६।' 'भगति हेतु' का भाव कि यह कथाएँ प्रभुको उपदेश देने या ज्ञान प्राप्त करानेके लिये नहीं कहते, किंतु अपनी भक्ति (जो प्रभुमें है उसके) कारण कथा सुनाते हैं। कथा सुनाना भक्ति है। श्रीरामजी विप्रोंपर दया करके यहाँ ठहर गये, अतएव उनको कथा सुनाते हैं, उनकी भक्ति करते हैं, यथा—'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति

कथा प्रसंसा ॥ ३ । ३५ । ८ ।' अर्थात् अपनी भक्ति इस प्रकार जना रहे हैं ।— दोनोंमें अन्योन्य प्रीति वर्णन की। ☞ यह 'विप्र' शब्द विश्वामित्रजीके लिये प्रयुक्त हुआ है । [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मुनि कथा-पुराण इसलिये कहते हैं कि जैसा बड़े करते हैं वैसा ही फिर और लोग करने लगते हैं । अतः भक्तिके प्रचार हेतु कहते हैं और प्रभु सुनते हैं।'] (ग) 'बहु कथा पुराना' कहकर जनाया कि कथा सुननेमें श्रीरामजीकी अत्यन्त श्रद्धा है । इसीसे पहुनायी कम की, कंदमूलफल भोजनको दिये । (घ) 'पाँच-सात दिनमें 'बहुत कथा पुरान' कैसे सम्भव है ? इसका समाधान यह है कि इससे कवि सूचित कर रहे हैं कि कथा तीनों कालों (प्रातः, मध्याह्न और रात्रि) में होती थी । त्रिकाल कथाके प्रमाण,— प्रातःसे मध्याह्नतक, यथा—'वेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं । सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं ॥' पुनः, मध्याह्नसे सायङ्कालतक, यथा—'करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी । लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥ २६७ । ५ ।' पुनः सायङ्कालसे आधी राततक, यथा—'कहत कथा इतिहास पुरानी । रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥ २२६ । २ ।' (ङ) ☞ भगवान् जैसा कथामें प्रसन्न होते हैं वैसा पहुनाईमें नहीं होते । मुनिने भक्तिको प्रधान रक्खा । 'भगति हित' जानकर भोजन दिया था, यथा— 'कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति हित जानि ।', और भक्तिहीके हेतु कथा कही ।

तब मुनि सादर कहा बुझाई । चरित एक प्रभु देखिअ जाई ॥ ९ ॥
धनुषजग्य सुनि* रघुकुल नाथा । हरषि चले मुनिबर के साथा ॥ १० ॥

अर्थ—तब (अर्थात् कुछ दिनोंके पश्चात्) मुनिने आदरपूर्वक समझाकर कहा—हे प्रभो ! चलकर एक चरित देखिये ॥ ९ ॥ रघुकुलके स्वामी श्रीरामजी धनुषयज्ञ सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रके साथ हर्षपूर्वक चले ॥ १० ॥

नोट—१ 'तब' इति । (क) ऊपर जो कहा है कि 'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया ।···रहे' उन्हीं कुछ दिनोंके पश्चात् कुछ दिनोंके बाद कब कहनेका अवसर आया यह सत्योपाख्यानसे जाना जाता है । अर्थात् श्रीजनक महाराजका निमन्त्रण मुनिको आया, यथा—'तस्मिन्काले नरेशस्य जनकस्य महात्मनः । प्रतिहारो महाबुद्धिराजगाम महामतिः ॥ १ ॥ प्रणम्य च मुनीन्सर्वान् यज्ञार्थं च विजिज्ञपन् । दूत उवाच । जनकस्य गृहे राज्ञो धनुर्यज्ञो हि वर्तते ॥ २ ॥ भवद्भिर्गम्यतां शीघ्रं दया च यदि क्रियते । तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे कुमाराभ्यां समन्विताः ॥ ३ ॥ जग्मुश्च मिथिलां तूर्णं विश्वामित्रपुरःसराः । कथाप्रसङ्गं शृण्वन्तौ देशानप्युपवर्णनम् ॥ ४ ॥ आपतुः परमं हर्षं मुनिभ्यो रामलक्ष्मणौ । अध्याय ५ ।' अर्थात् उसी समय महात्मा जनकके महाबुद्धिमान् कर्मचारीने आकर और सब मुनियोंको प्रणाम करके यज्ञमें चलनेकी इस तरह प्रार्थना की कि राजा जनकजीके यहाँ धनुर्यज्ञ हो रहा है, उसमें आप दया करके शीघ्र चलें । यह सुनकर सभी मुनि राजकुमारोंसहित विश्वामित्रजीको आगे करके चले । रास्तेमें देश, उपवन आदिकी सुन्दर कथाएँ सुनकर सब मुनि और राम-लक्ष्मण परम हर्षको प्राप्त हुए । (ख) 'तब मुनि सादर' के 'तब'—शब्दसे यह सूचित होता है कि कथा-प्रसंगके बीचमें ही श्रीजनकमहाराजका भेजा हुआ निमन्त्रण आया था । इसीसे यह चौपाई 'भगति हेतु बहु कथा पुराना । कहे···' के बाद ही लिखी गयी है ।

टिप्पणी—१ (क) 'सादर' इति । विश्वामित्रजीकी इच्छा है कि श्रीरामजी जनकपुर चलें, इसीसे उन्होंने आदरपूर्वक समझाकर कहा जिसमें उनका उत्साह बढ़े और वे स्वयं जनकपुर चलनेको राजी हो जायँ; क्योंकि बिना उनकी इच्छाके उनको दबाकर नहीं कह सकते कि चलो । यह भक्तिके विरुद्ध होगा । (ख) 'सादर' अर्थात् बड़ी सुन्दर रीतिसे उनके मनको जोहते हुए और धनुर्यज्ञकी कथामें रुचि बढ़ाते हुए ।

नोट—२ 'तब कहा···बुझाई' इति । वाल्मी० १ । ३१ में कहा है कि प्रातःकालके सब कृत्य समाप्त करके दोनों भाई मुनिके पास आये । श्रीरामजीके कहनेपर कि हमलोग सेवाके लिये उपस्थित हैं जो आज्ञा हो उसका हम पालन करें, मुनिने कहा कि मिथिलाके राजा जनकका शुद्ध धार्मिक यज्ञ हो रहा है, हम लोग वहाँ जायँगे । तुम भी चलो । वह धनुष बड़ा ही अपूर्व है । देवताओंने जनकके किसी पूर्वजको वह धनुष उनके एक यज्ञकी समाप्तिपर यज्ञके फलमें दिया था । उसमें बड़ा बल है, वह बड़ा ही घोर और चमकीला है । देवता, गंधर्व, असुर, राक्षस आदि कोई भी उसपर प्रत्यंचा नहीं चढ़ा सके । राजा जनक उसकी पूजा करते हैं । वह यज्ञस्थानमें ही रक्खा हुआ है । वहाँ हम लोगोंके साथ चलकर तुम उस धनुषको और उस विलक्षण यज्ञको देखोगे । (श्लोक ४—१३) । अ० रा० में मुनिने कहा है कि राजा जनकके यहाँ महेशजीका धरोहररूपमें

* करि—१७०४ । कह—१७६२, सुनि १६६१, १७२१, छ०, को० रा० ।

रक्खा हुआ एक बड़ा भारी धनुष है। उस सुदृढ़ धनुषको तुम देखोगे और महाराज तुम्हारा बड़ा ही सत्कार करेंगे।—'तत्र माहेश्वरं चापमस्ति न्यस्तं पिनाकिना ॥ १३ ॥ द्रक्ष्यसि त्वं महासत्त्वं पूज्यसे जनकेन च। १।५।१५।' यह भी कहा है कि हम लोग वहाँ जाते हैं। वत्स! तुम भी यज्ञको देखकर फिर अयोध्यापुरीको लौट सकते हो।—'दृष्ट्वा क्रतुवरं पश्चादयोध्यां गन्तुमर्हसि। अ० रा० १।६।२।' उपर्युक्त सब बातें 'कहा बुझाई' से जना दीं। और भी जो अन्य रामायणोंमें कहा हो वह भी इसमें आ गया।

३ 'चरित' देहलीदीपक है। 'सादर कहा बुझाई एक चरित' और 'चरित एक देखिअ·····'।

टिप्पणी—२ 'चरित एक प्रभु देखिअ जाई' इति। (क) कौन चरित है वह यहाँ स्पष्ट नहीं है। आगेकी अर्धालीमें स्पष्ट कर दिया है कि वह चरित 'धनुषयज्ञ' है। समझाकर यह चरित कहा अर्थात् बताया कि किस तरह राजा जनकको धनुष प्राप्त हुआ, क्यों और किस प्रकार उन्होंने धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा की, धनुषयज्ञकी रचना और धनुषयज्ञमें देश-देशके राजाओं, देवों, दैत्यों, राक्षसोंका श्रीसीताजीके लिये आना और धनुष तोड़नेवालेको त्रिभुवन विजयरूपी यशकी प्राप्ति इत्यादि सब बातें विस्तारसे कहीं। (ख) 'प्रभु' सम्बोधनका भाव कि आप समर्थ हैं, (यह विजय प्राप्त करनेयोग्य है)। (ग) 'देखिअ जाई' अर्थात् यह चरित आपके देखने योग्य है, इसीसे मैं कहता हूँ कि चलकर देखिये, नहीं तो न कहता। ['प्रभु' शब्दमें 'भाविक अलंकार' से सूचित करते हैं कि इस अद्भुत चरितके प्रधान पुरुष एक आप ही हैं; अतएव 'चरित एक प्रभु' कहा। जैसे यह चरित एक ही (अनुपम) है वैसे ही आप ही इसके लिये एक हैं, दूसरा नहीं। (रा० च० मिश्र)]

टिप्पणी—३ 'धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा।·····' इति। (क) 'रघुकुलनाथ' का भाव कि सभी रघुवंशी वीर होते आये और हैं, यथा—'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई ॥' कि 'अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी ॥ २५२। ३ ॥' और श्रीरामजी तो रघुकुलके नाथ हैं अर्थात् वीरशिरोमणि हैं, यथा—'कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी ॥ २५३। २ ॥' (ख) 'हरषि चले'। वीरताका काम सुनकर वीरको हर्ष होता ही है। धनुष तोड़नेमें वीरताका काम है। इसीसे धनुषयज्ञ सम्बन्धी चरित सुनकर उत्साह बढ़ा और हर्षपूर्वक साथ चले। (फिर गुरुकी आज्ञा भी है कि चलो)। यात्रामें हर्ष शकुनका द्योतक भी है। (ग) 'मुनिबरके साथा' कहकर मुनिको मुख्य रक्खा। मुनिको निमन्त्रण आया था, इसीसे उनके साथ श्रीरामजीका जाना कहा।

नोट—४ विश्वामित्रजीने राजासे कहा था कि 'धर्म सुजस प्रभु तुम्हकौं इन्ह कहँ अति कल्यान ॥ २०७ ॥' अब उसी 'अति कल्यान' के लिये जनकपुर लिये जाते हैं। मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'यज्ञरक्षाका केवल बहाना था। शिवजीकी आज्ञासे मुनि इन्हें माँग लाये थे कि इनकी शक्तिसे इनको मिला दें। प्रमाण—'गत्वाऽयोध्यां पुरीं दिव्यां रामं नीत्वा ततः पुरः। प्रापय मिथिलां तत्र सीतया सह योजय। मया दत्तान्यस्त्रशस्त्राणि देहि रामाय माचिरम्। रामं पुत्रं ययाचे तं गोपयित्वा स्वयंवरम्।·····रक्षाव्याजेन यागस्य रामं तत्र निनीषति' इति कोशलखण्डे।' अर्थात् दिव्य पुरी श्रीअयोध्यामें जाकर वहाँसे श्रीरामजीको मिथिलामें ले जाकर सीताजीके साथ मिला दो। जो अस्त्रशस्त्र मैंने दिये हैं उन्हें श्रीरामजीको अर्पण कर दो। विश्वामित्रजीने जाकर स्वयंवरकी बात गुप्त रखकर यज्ञरक्षाके बहाने श्रीरामजीकी याचना की और ले जानेकी इच्छा कर रहे हैं। यह भी स्मरण रहे कि राजाने अपना पितृत्व-धर्म मुनिको सौंप दिया था, इसलिये मुनिको दुबारा उनकी आज्ञा लेनेकी कोई आवश्यकता न थी।

आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं ॥ ११ ॥
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा बिसेषी ॥ १२ ॥

अर्थ—मार्गमें एक आश्रम देखा। वहाँ पक्षी, पशु, जीव-जन्तु (कुछ भी) न थे ॥ ११ ॥ पत्थरकी शिला देखकर प्रभुने मुनिसे पूछा तब मुनिने विस्तारपूर्वक अच्छी तरहसे सब कथा कही ॥ १२ ॥

टिप्पणी—१ 'आश्रम एक दीख मग माहीं।·····' इति। (क) मार्गमें एक आश्रम देखा, यह कहकर जनाया कि विश्वामित्रजी अहल्योद्धार करानेके लिये उसी रास्तेसे और जहाँ शिला पड़ी थी वहींसे होकर प्रभुको लिये जा रहे हैं। (ख) 'खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं' इति। यह आश्रम वनमें है, वनके वृक्ष-समूहोंके आश्रित रहनेवालोंमें खग और मृग प्रधान हैं; इसीसे इनको कहकर तब जीव-जन्तुको कहा। 'जीव' शब्द बड़ोंके लिये और 'जंतु' छोटे जीवोंके लिये प्रयुक्त होता है।

यथा—'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना॥ ३। १३॥' 'जीव जंतु'—बड़े-छोटे सब प्रकारके जीव। (ग) खगमृग भी तो जीवजंतुमें आ गये, तब इनको जीवजन्तुसे पृथक् क्यों कहा गया? इसका कारण यह है कि फूले-फले वनोंमें खग-मृगका निवास अवश्य रहता है, यथा—'नाना तरु फल फूल सुहाए। खग मृग बृंद देखि मन भाए', 'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥ कूजहिं खगमृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥ ७। २३॥' (इति अवधवनम्), 'खगमृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥ २। १२४॥' (वाल्मीकि-आश्रमः), तथा—खगमृगबृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं॥ ३। १४॥' (दण्डकारण्यं)। अतएव प्रथम पशु-पक्षी वनमें अवश्य दिखायी देते, उनके लिये चारों ओर दृष्टि डाली। जब वे न देख पड़े तब अन्य जीव-जन्तुओंको देखने लगे, पर और भी कोई जीव न दिखायी पड़े, तब मुनिने पूछा] यथा—'मृगपक्षिगणैर्हीनं नानाजन्तुविवर्जितम्। दृष्ट्वोवाच मुनिं श्रीमान् रामो राजीवलोचनः॥ अ० रा० १। ५। १६॥' अ० रा० में भी खग, मृग और जन्तु शब्द आये हैं। इसीसे प्रथम खगमृग कहा, तब जीव-जन्तु और तत्पश्चात् पूछना कहा। (घ) जीव-जन्तु पशु-पक्षी विहीन होनेका कारण गौतम ऋषिका शाप है। यथा—'नानाजन्तुविहीनोऽयमाश्रमो मे भविष्यति' इति अध्यात्मे॥ १। ५। २९॥' [(ङ) मानसके मतसे यह आश्रम गङ्गाजीके इसी तरफ था और यही मत अ० रा० का है यथा—'इत्युक्त्वा मुनिभिस्ताभ्यां ययौ गङ्गासमीपगम्॥ १४॥ गौतमस्याश्रमं पुण्यं यत्राहल्यास्थिता तपः॥ १। ५॥' वहाँ भी अहल्योद्धारके पश्चात् गङ्गा-पार जानेके लिये तटपर गये हैं। (अ० रा० १। ६। १)।

वाल्मीकीयके मतानुसार यह आश्रम गङ्गाके उस पार मिथिला प्रान्तमें है। यथा—'मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः। पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्॥ १। ४८। ११॥' अर्थात् मिथिलाके उपवनमें एक पुराना निर्जन पर रमणीय आश्रम देखकर श्रीरामजीने मुनिश्रेष्ठसे पूछा। उनके मतानुसार यह आश्रम तिरहुतमें कमतोल स्टेशनके पास है जहाँ श्रीरामा पण्डितने अहल्या-आश्रम बनवाया है। परंतु गोस्वामीजीके मतसे यह आश्रम सिद्धाश्रमसे पूर्व अहिरौली ग्राममें या उसके निकट है जहाँसे गङ्गाघाट उतरकर जनकपुर प्रान्त मिलता है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि भोजपुरमें यह बात प्रसिद्ध भी है कि कल्पभेद इसमें समझना चाहिये। यह प्रसंग अ० रा० से बहुत कुछ मिलता है।]

२ 'पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी।…' इति। (क) प्रथम आश्रम देखा फिर शिला देखी। अतः देखना दो बार कहा। 'पूछा मुनिहि' देहलीदीपक है। सुन्दर आश्रम देखकर पूछा कि ऐसे फूले-फले वनमें जीवजन्तु न होनेका क्या कारण है? और पत्थरकी स्त्री देखकर उसका हाल पूछा कि यह शिला कैसी पड़ी है? (ख) 'सकल कथा मुनि कही बिसेषी' इति। वनके निर्जन तथा पशु-पक्षी जीव-जन्तु विहीन होनेका जिस प्रकार गौतमजीका शाप था वह सब कथा मुनिने कह सुनायी और दूसरे प्रश्नका उत्तर दोहेमें देते हैं कि यह गौतमकी स्त्री अहल्या है। (ग) 'बिसेषी' कहकर जनाया कि सब कथा तो अध्यात्म आदि अनेक रामायणोंमें भी है, पर विस्तारसे नहीं है। जैसा वाल्मीकीयमें विस्तारसे वर्णन है वैसा कहा, यह बात दिखानेके लिये 'बिसेषी' कहा। विस्तारसे कहनेमें भाव यह है कि जिसमें सब बात समझकर श्रीरामजी अहल्यापर कृपा करें कि हजारों वर्षोंसे क्लेश सहकर हमारा स्मरण करती रही है। मुनिकी इच्छा है कि प्रभु उसपर कृपा करें जैसा आगेके मुनिके वचनोंसे स्पष्ट है—'चरन कमल रज चाहती कृपा करहु रघुबीर।' इसीसे विस्तारसे अहल्याकी कथा कही, जैसे भगवान्‌ने गिरिजाकी करनी विस्तारसे शिवजीसे कही थी जिसमें शिवजी उनपर प्रसन्न होकर उनको ब्याह लावें। यथा—'अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥'

नोट—'सकल कथा मुनि कही बिसेषी' इति। कथा यह कही कि इस आश्रममें जगद्विख्यात मुनिवर गौतमजी तपस्या-द्वारा भगवान्‌की उपासना करते थे। यह देवाश्रमके समान दिव्य था। देवता भी इसकी प्रशंसा करते थे। (वाल्मी० १।४८।१५) ब्रह्माजीने एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न की जिनका नाम अहल्या रक्खा। समस्त देवगण उसके रूपपर मोहित थे। यह देख ब्रह्माजीने कहा कि सबसे पहले तीनों लोकोंकी परिक्रमा करके आवेगा उसको यह लोक-सुन्दरी कन्या ब्याही जायगी। इन्द्रादि समस्त देवता अपने-अपने वाहनोंपर चले। गौतमजीकी अपने शालग्राममें अनन्य निष्ठा थी। इन्होंने अपने शाल-ग्रामजीकी परिक्रमा कर ली और ब्रह्माके पास गये। इधर देवगण जहाँ जाते वहाँ आगे महर्षि गौतमको देखते थे। सबने इनका आगे होना स्वीकार किया। अतः वह कन्या गौतमजीको मिली। (यह कथा हमने पद्म या किसी पुराणमें पढ़ी है)।

दूसरी कथा इस प्रकार है कि ब्रह्माजीने इस कन्याको महर्षि गौतमके पास थाती (धरोहर) रक्खी। बहुत काल बीत जानेपर जब ब्रह्माजी पुनः इनके पास आये तो इनका परम वैराग्य देखकर उनके ब्रह्मचर्यसे सन्तुष्ट होकर वह लोकसुन्दरी सेवापरायण कन्या तापसप्रवर गौतमजीको ही दे दी।—'तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम्। ब्रह्मचर्येण सन्तुष्टः शुश्रूषणपरायणम्। अ० रा० १। ५। २०।' इन्द्रको बहुत बुरा लगा, क्योंकि वह तो उसे अपनी ही सोचे बैठा था, समझता था कि हमें छोड़ यह दूसरेको नहीं मिल सकती, हम देवराज हैं। उसके रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर वह नित्यप्रति उसके साथ रमण करनेका अवसर ताकता रहा।

एक दिन मुनिवरके बाहर चले जानेपर वह गौतमजीका रूप धारणकर आश्रममें आया। (वाल्मी० रा० में विश्वामित्रजीने यह भी कहा है कि मुनिवेषधारी इन्द्रने अहल्यासे कहा कि प्रार्थी ऋतुकालकी प्रतीक्षा नहीं करता, मैं तुम्हारे साथ संगम चाहता हूँ। अहल्याने समझ लिया कि यह मुनिके वेषमें इन्द्र है, फिर भी उस मूर्खाने देवराजके प्रति कुतूहल होनेके कारण उसने उनकी बात स्वीकार की।—'मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलम्॥ १। ४८। १९॥' पुनः कृतार्थ मनसे उसने इन्द्रसे कहा—हे देवराज! मैं कृतार्थ हुई। आप शीघ्र यहाँसे जाइये। गौतमसे अपनी और मेरी सब तरहसे रक्षा कीजियेगा।—'कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो। २०।')। अहल्याके साथ रमणकर वह शीघ्रतासे वहाँसे चल दिये। आश्रमसे शीघ्र बाहर निकल जानेकी चिन्तामें इन्द्र अपना रूप पुनः धारण करनेको भूल गया। इसी समय मुनि भी वहाँ लौट आये। आश्रमसे अपना रूप धारण किये हुए पुरुषको बाहर निकलते देख मुनिने कुपित होकर पूछा—'रे दुष्टात्मन्! रे अधम! मेरे रूपको धारण करनेवाला तू कौन है?' 'पप्रच्छ कस्त्वं दुष्टात्मन्ममरूपधरोऽधमः। अ० रा० १। ५। २३।' 'सच-सच बता नहीं तो मैं तुझे अभी भस्म कर दूँगा।' तब इन्द्रने कहा—'मैं कामके वशीभूत देवराज इन्द्र हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। मैंने बड़ा घृणित कार्य किया है।' तब महर्षिने क्रोधसे उसको शाप दिया कि 'हे दुष्टात्मन्! तू योनिलम्पट है। इसलिये तेरे शरीरमें सहस्र भग हो जायँ।' 'योनिलंपट दुष्टात्मन् सहस्रभगवान्भव। अ० रा० १। ५। २६।'—यही शाप मानसका मत है जैसा—'रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥ ३१७। ६।' से स्पष्ट है। वाल्मीकीयमें श्राप दूसरे प्रकारका है।

देवराजको शाप देकर मुनि आश्रममें आये। देखा कि अहल्या भयसे काँपती हुई हाथ जोड़े खड़ी है। महर्षिने उसको शाप दिया कि 'दुष्टे! तू मेरे आश्रममें शिलामें निवास कर। यहाँ तू निराहार रहकर आतप, वर्षा और वायुको सहती हुई तपस्या कर और एकाग्रचित्तसे श्रीरामका ध्यान कर। यह आश्रम सब जीव-जन्तुओंसे रहित हो जायगा। हजारों वर्षोंके बाद श्रीराम जब आकर तेरी आश्रयभूत शिलापर अपने चरण रक्खेंगे तब तू पापमुक्त हो जायगी और उनकी पूजा, स्तुति आदि करनेपर तू शापसे मुक्त होकर फिर मेरी सेवा पायेगी। यथा—'दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम। २७।'''यदा त्वदाश्रयशिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति। तदैव धूतपापा त्वं रामं संपूज्य भक्तितः। ३१। परिक्रम्य नमस्कृत्य स्तुत्वा शापाद्विमोक्ष्यसे॥'''३२॥ अ० रा० १। ५।' (वाल्मी० रा० में शिलामें निवास और श्रीरामपदस्पर्शकी चर्चा नहीं है। यह सब प्रसङ्ग अ० रा० के अनुसार है)। शाप देकर मुनि हिमालयके उस शिखरपर चले गये जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं।—'इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते। हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः। वाल्मी० १। ४८। ३३॥' अहल्या तबसे शिलामें निवास करती हुई तप कर रही है।

प० प० प्र०—इस दोहेमें १२ चौपाइयाँ देकर जनाया कि आश्विन शुक्ल १२ को सबेरे ही सिद्धाश्रमसे निकले।

दो०—गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥ २१०॥

अर्थ—हे रघुवीर धीर! महर्षि गौतमकी स्त्री शापके कारण पत्थरकी देह (तथा धीरज) धरे हुए आपके चरणकमलोंकी रज चाहती है। इसपर कृपा कीजिये॥ २१०॥

टिप्पणी—१ आश्रमका वृत्तान्त पूछा, अतः उसकी कथा विस्तारसे कही। शिलाका हाल पूछा, उसे अब कहते हैं। २ 'श्रापबस' कहनेका भाव कि कर्मके वश देह धारण करनी पड़ती है, यथा—'जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं' 'जेहि जोनि जनमौं कर्मबस'''।' वैसे ही मुनिपत्नीने शापवश पत्थरकी देह धारण की है। [श्रीबैजनाथजी 'उपल देह धरि धीर'

का अर्थ यह लिखते हैं कि धीरज धरे हुए है। अर्थात् एक दिन आपके दर्शन पाकर कृतार्थ हो जाऊँगी।' 'उपल देह धरि' में अ० रा० तथा वाल्मीकीयका यह भाव आ जाता है कि सब प्राणियोंसे अलक्षिता रहकर कठोर तपस्यामें दिन बिता रही है।] ३ 'चरन कमल रज चाहती' अर्थात् मुनिका वचन है कि 'श्रीरामजी यहाँ आवेंगे। उनके चरण-स्पर्शसे तुम पवित्र हो जाओगी। यथा—'यदा त्वदाश्रयशिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति। तदैव धूतपापा त्वं…' इति अध्यात्मे। इसीसे चरणकमलरज चाहती है, यथा—'तव पादरजःस्पर्शं कांक्षते पवनाशना। अ० रा० १। ५। ३४॥' ४—'कृपा करहु' अर्थात् अहल्याको पवित्र कीजिये, यथा—'आस्तेऽद्यापि रघुश्रेष्ठ तपो दुष्करमास्थिता॥ ३४॥ पावयस्व मुनेर्भार्यामहल्यां ब्रह्मणः सुताम्।' अ० रा० १। ५॥' ५—'रघुबीर' का भाव कि आप कृपा करनेमें भी वीर हैं। वीरमें कई भेद हैं— युद्धवीर, दयावीर, दानवीर, विद्यावीर और पराक्रमवीर। यहाँ दयावीरके विचारसे 'रघुबीर धीर' कहा। 'राम' नाम वसिष्ठजीने दिया और आज 'रघुवीर' नामका नामकरण भी दूसरे गुरु विश्वामित्र मुनिद्वारा हुआ।

प० प० प्र०—मानसमें श्रीरामावतारकालसे अबतक 'रघुबीर' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ था। विश्वामित्रजीने अनेक रघुवंशी वीरोंके चरित देखे थे और उन्होंने स्वयं पुरुषसिंह वीर रघुनाथजीका चरित्र भी इतने दिनोंके साथमें देख लिया। तब उन्होंने मानो यह नयी पदवी उनको दे दी। दूसरी बार भी उन्होंने ही रघुबीर कहा है, यथा—'इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना।' जब प्रथम 'रघुबीर' सम्बोधित किया तब वहाँ केवल उनके अनुयायी मुनिगण ही थे। जन-समाजमें यह नाम प्रसिद्ध करनेकी इच्छासे जनकपुरीके समीप अमराईमें 'रघुबीर' सम्बोधित किया। तबसे यह नाम प्रसिद्ध हुआ। जनकजीकी पत्रिका जब अवधमें आयी तबसे अवधपुरीमें भी 'रघुबीर' शब्दका बहुत प्रयोग हुआ है।

विश्वामित्रजीने छः प्रकारकी अलौकिक वीरता इनमें देखी। (दोहा २०८ नोट ४ में पञ्चवीरता दिखा आये हैं, वहाँ भी देखिये)। पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके 'हरषि चले मुनि भय हरन' इसमें धर्मवीरता, माता-पिता आदिके त्यागमें त्यागवीरता, केवल एक बाणसे ताटकावध करनेमें धनुर्वेद विद्या तथा 'विद्यानिधि' से विद्यावीरता, 'दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा' तथा 'कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया' में दयावीरता, मारीचको बिना फलके बाणसे शतयोजन दूरीपर फेंकने और सुबाहुको एक ही बाणसे मारने तथा यज्ञशालामें एक बूँद रक्त न आने देने इत्यादिमें पराक्रमवीरता देखी। छठी ऋजुतावीरता है। श्रीअवधसे जबसे चले तबसे सरलता तो बराबर देखते ही रहे पर 'प्रात कहा मुनिसन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई' में विशेष देख पड़ी। आगे पुष्पवाटिका प्रसङ्गमें तो यह ऋजुता पाठकोंको स्पष्ट दीखती है। 'गईबहोरि, गरीबनेवाजू[२], सरल, सबल, साहिब[३], रघुराजू[१]' में गोस्वामीजीने छः प्रकारकी वीरता सूचित की है।

छंद—परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोर रही॥

शब्दार्थ—सही—फारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'सचमुच' 'ठीक-ठीक' 'निश्चय।'

अर्थ—पवित्र और शोकके नाश करनेवाले (श्रीरामजीके) चरणोंका स्पर्श करते वा होते ही सचमुच (निश्चय ही) तपकी पुञ्ज तपस्विनी (तपोमूर्तिसम प्रकाशमय) अहल्या प्रकट हो गयी। जनोंको सुख देनेवाले, रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीको देखते ही सम्मुख होकर हाथ जोड़े रह गयी। अर्थात् उसको देहकी सुध न रह गयी वा एकटक टकटकी लगाये देखती ही रह गयी।

नोट—१ 'परसत पद पावन'—ऐसा ही अ० रा० में है, यथा—'रामः शिलां पदा स्पृष्ट्वा तां चापश्यत्तपोधनाम्। १। ५। ३६॥' अर्थात् अपने चरणसे उस शिलाको स्पर्शकर तपस्विनी अहल्याको देखा।

टिप्पणी—१ (क) चरणोंमें तो अनेक गुण हैं परंतु यहाँ 'पावन' और 'शोकनशावन' दो ही गुण लिखे, क्योंकि यहाँ इन्हीं दोका प्रयोजन था। अहल्या परपुरुषगमनरूपी पापसे अपावन हो गयी थी, उसको पावन किया और पतिके त्यागसे, शापजनित पतिवियोगसे शोकयुक्त थी, उसे शोकरहित किया, इसीसे 'पावन सोक नसावन' दो विशेषण दिये। यथा—'प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपा सुधा सिंचि बिबुधबेलि ज्यों फिरि सुख फरनि फरी। गी० १। ५५॥' पुनः (ख) 'पावन सोकनसावन' का भाव कि पद पावन हैं, पापके नाशक हैं। पापका फल शोक है, यथा—'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोगा' सो आपके चरण उस शोकके भी नाशक हैं। तात्पर्य कि कार्य और कारण दोनोंका नाश करते हैं। पावनगुणसे पापका और शोकनसावनगुणसे शोकका नाश हुआ। (ग) 'प्रगट भई' अर्थात् पाषाणशरीर

त्यागकर अपने पूर्व सुन्दर रूपको प्राप्त हुई। यथा—'रिषितिय तुरत त्यागि पाहनतनु छबि मय देह धरी। गी० १।५५।'
(घ) 'तपपुंज।' भाव कि अहल्याने हजारों वर्ष तप किया। श्रीरामपदस्पर्शसे तपका फल उदय हुआ। पुनः भाव कि मलिन थी सो तेजसे युक्त होकर प्रकट हुई। तपसे तेज होता है, यथा—'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।'

नोट—२ 'तपपुञ्ज सही' इति। वाल्मी० रा० में विश्वामित्रजीने कहा है कि अहल्याके साथ महर्षि गौतमने अनेक वर्षोंतक इस आश्रममें तपस्या की थी—'स चात्र तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा। वर्षपूगान्यनेकानि···। १। ४८। १६॥' अहल्याको शाप देकर फिर शापसे मुक्तिका समय और उपाय बताते हुए गौतमजीने कहा कि जब तू श्रीरामजीका आतिथ्य-सत्कार करेगी तब तुझे अपना पहला सौन्दर्य पुनः प्राप्त हो जायगा।—'तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता। मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि॥ ३२॥' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब इन लोगोंने आश्रममें प्रवेश किया तो देखा कि महाभागा अहल्याकी तपस्याकी ज्योति चारों ओर फैली थी। देवता, असुर आदि मिलकर भी उस तेजस्विनीको नहीं देख सकते थे। ऐसा जान पड़ता था कि ब्रह्माजीने बड़े प्रयत्नसे उस दिव्य स्त्रीकी मायामयीके समान बनाया था। वह इस समय धूमसे घिरी हुई अग्निशिखाके अथवा कोहरेसे छिपी हुई पूर्णमासीके चन्द्रमाकी स्वच्छ प्रभाके, वा जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिम्बके समान देख पड़ती थी।—ऐसी दिव्य अहल्या गौतमके शापवश तीनों लोकोंके जीवोंके न देखने योग्य हो गयी थी। यथा—'ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।·· प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव। धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥ सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव। मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥ सा हि गौतम-वाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह। वाल्मी० १। ४९। १३-१६॥' श्रीरामजीके चरणस्पर्शसे वही तेजोमय पूर्वरूप प्रकट हो गया। अतः 'तपपुंज सही' विशेषण दिया।

पंजाबीजी 'तपपुंज' से गौतमऋषिका अर्थ करते हैं और 'सही' का अर्थ 'सखी' करते हैं। वे कहते हैं कि व्यभि-चारिणीको तपस्विनी कैसे कह सकते हैं? परंतु गीतावलीसे यह विशेषण अहल्याहीके लिये सिद्ध होता है। बैजनाथजीके मतानुसार 'तपपुंज=तपोधनसे भरी जैसे पूर्व थी वैसी ही।' मिलान कीजिये गीतावली पद ५६ और ६५ से। यथा—'परसत पदपंकज रिषिरवनी। भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि मानो त्रिभुवन छबि-छवनी॥ देखि बड़ो आचरज पुलकितनु कहत मुदित मुनि-भवनी। जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहि अवनी॥ परसि जो पाय पुनीत सुरसरी सोहै तीनि पथ गवनी। तुलसिदास तेहि चरनरेनु की महिमा कहै मति कवनी॥' सिलाछोर छुअत अहल्या भई दिव्यदेह गुन पेखे पारस के पंकरुह पाँय के।'—यह चरणरजका प्रताप है। पुनः सत्योपाख्याने यथा—'सुन्दरी साभवत् क्षिप्रं रामचन्द्रप्रसादतः। उ० ५। ९॥' इस तरह 'तपपुंज' का अर्थ 'प्रकाशमय, तेजोमय, अति दिव्य' है। पं० रा० च० मिश्र 'सही' का अर्थ सहगामिनी अर्थात् 'स्त्री' करते हैं और लिखते हैं कि 'सही' शब्द देकर गौतमजीके तपके आधिक्यकी साक्षी दे रहे हैं जिसके प्रभावसे अचेतन पत्थरमें भी चेतनत्वका आवेश बना रहा। [यह मात्रिक त्रिभङ्गी छन्द है। इसके चारों चरणोंमें ३२, ३२ मात्राएँ होती हैं। प्रथम १० मात्राओंपर फिर ८, ८ पर और अन्तमें ६ पर विश्राम होता है। चरणान्तका अक्षर गुरु होता है]

टिप्पणी—२ (क) 'जनसुखदायक' का भाव कि इस रूपका सुख निज जन ही पाते हैं, प्रभु अपने जनको दर्शन देते हैं। 'सनमुख होइ' क्योंकि सामनेसे दर्शन अच्छी तरह होता है। दर्शनसे अहल्याको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ, अतः 'जनसुखदायक' कहा। (ख) 'सनमुख होइ कर जोरि रही' इति। यथा—'निगम-अगम-मूरति महेस-मति-जुवति बराय बरी। सोइ मूरति भइ जानि नयनपथ एकटक तें न टरी। गी० १। ५५॥' अर्थात् वेदोंको भी अगम जिस मूर्तिको शिवजीकी बुद्धिरूपिणी स्त्रीने अन्य सब रूपोंको बराकर बरबस वरण किया वही मूर्ति हमारे दृष्टिगोचर हुई, यह जानकर एकटक देखती रह गयी। पुनः भाव कि स्तुति करनी चाहिये थी सो करते नहीं बनती, क्योंकि मारे प्रेमके अधीर हो गयी है जैसा आगे कहते हैं। पुनः भाव कि हाथ जोड़े रह गयी जिसमें रघुनाथजी प्रसन्न होवें। यथा—'अंजली परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी॥'

अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल* नयन जलधार बही॥ १॥

* पहले 'जुग नयनन्हि' पाठ था। 'न्हि' पर हरताल देकर हाशिये पर 'ल' बनाया गया है।

अर्थ—अत्यन्त (निर्भर) प्रेमके कारण धैर्य जाता रहा, शरीर पुलकायमान हो गया, मुखसे वचन नहीं निकलते अर्थात् कण्ठ गद्‌गद हो गया। वह अतिशय बड़भागिनी अहल्या प्रभुके चरणोंमें लगी (अर्थात् प्रणाम कर रही है) और उसके दोनों नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धारा बह रही है ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ 'अति प्रेम अधीरा····' इति। (क) अर्थात् उसके तन, मन और वचन तीनों प्रेमसे शिथिल हो गये। यथा—'पुलकाङ्कितसर्वाङ्गा गिरा गद्‌गदयैलत। अ० रा० १। ५। ४२॥' 'अति प्रेम' से मन, 'पुलक सरीरा' से तन और 'मुख नहिं आवै बचन कही' से वचनकी अधीरता कही। प्रेम कहकर ये सब प्रेमकी दशाएँ कहीं कि तन पुलकित है, प्रेमाश्रु बह रहे हैं, स्तुतिके लिये मुखमेंसे वचन नहीं निकलते। (ख) 'अति प्रेम' का भाव कि मस्तकपर चरण धरनेका प्रेम है; यथा—'सोई पदपंकज जेहि पूजित अज मम सिर धरेउ कृपालु हरी।' फिर दर्शनकी प्राप्तिका प्रेम है, यथा—'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना।' (दोनों बातोंको विचार-विचारकर कृतकृत्य हो रही है।)

२ (क) 'अतिसय बड़भागी' का भाव कि ज्ञान, वैराग्य, जप, तप आदि धर्म करनेवाले 'भागी' (भाग्यवान्) हैं और चरणसेवक बड़भागी हैं, पर अहल्या 'अतिसय बड़भागिनी' है; क्योंकि इसके शीशपर भगवान्‌ने अपना चरण रक्खा और इसने भगवान्‌के चरणोंपर अपना सिर रक्खा। यथा—'जे गुरुपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकै भरत कर भागू॥ २। २५९॥' तात्पर्य कि भरतजी अति बड़भागी हैं। 'अति' के लिये यही जगह (अर्थात् चरण) खाली है [☞ यों भी कह सकते हैं कि श्रीरामचरणानुरागी 'बड़भागी' हैं और जिनपर प्रभु स्वयं कृपा करें वे 'अतिसय बड़भागी' हैं]। (ख) 'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई····' इसीसे चरणोंमें लगी, और 'देखत रघुनायक जन सुखदायक' के सम्बन्धसे 'जुगलनयन जलधार बही' और 'अति प्रेम अधीरा···' है अतएव 'धीरज मन कीन्हा।' प्रेम होनेपर नेत्रोंसे अश्रुपात और शरीरमें पुलक होता है, इसीसे प्रथम 'अति प्रेम' कहा तब उसका उमगना कहा; यथा—'उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू' तब 'जुगल नयन जलधार बही।' (ग) अ० रा० १। ५। ४१ में भी ऐसा ही है—'हर्षाश्रुजलनेत्रान्ता दण्डवत्प्रणिपत्य सा॥'

नोट—प्रभुके चरणोंमें अनुराग करनेवालोंको ग्रन्थकारने सातों काण्डोंमें बड़भागी कहा है; यथा—'ते पद पखारत भाग्यभाजन जनकु जय जय सब कहैं॥ १। ३२४।' 'नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भाग भाजन जन लेखें॥ २। ८८। ५॥' 'भूरि-भाग-भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥ २।७४॥' 'परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिबर बड़भागी॥ ३। १०। २१॥' 'सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥ ४। २३। ७॥' 'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन-ब्रह्म अनुरागी॥ ४। २६। १३॥ 'अहो भाग्य मम अमित अति रामकृपा-सुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पदकंज॥५।४७॥' 'बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चाँपत बिधि नाना॥६।११।७॥' 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंद अनुरागी॥'—

धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा रघुपति कृपा भगति पाई।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई॥

अर्थ—मनमें धीरज (धारण) किया, प्रभुको पहिचाना और रघुनाथजीकी कृपासे भक्ति पायी। अत्यन्त निर्मल वाणीसे स्तुति करने लगी—'ज्ञानसे जाने जानेयोग्य श्रीरघुनाथजी! आपकी जय!'

नोट—जब रघुनाथजीने कृपा की और भक्ति दी तब मनको धीरज हुआ जिससे उसने प्रभुको पहचाना और चरणोंको पकड़ लिया, उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह निकली। इस दशाके प्राप्त होनेपर वक्तालोग उसके भाग्यकी प्रशंसा करते हैं कि अतिशय बड़भागिनी है। अर्थात् इसके भाग्यकी प्रशंसा किससे की जा सकती है? (प्र० सं०)।

टिप्पणी—१ (क) 'धीरजु मन कीन्हा।' पूर्व 'अति प्रेम' से अधीर होना कहा था, अब धैर्य धारण करना कहा। श्रीरामरूप ऐसा ही है उसे देखते ही धैर्य जाता रहता है, मन-तन कुछ वशमें नहीं रह जाते। श्रीजनकमहाराज, रानियों और हनुमान्‌जी इत्यादिकी यही दशा हुई थी। ☞ उन्होंने भी पीछे धैर्य धारण किया तब कुछ कह सके; यथा—'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ प्रेममगन मन जानि नृप करि बिबेकु धरि धीर। बोलेउ मुनिपद नाइ

सिर गदगद गिरा गँभीर ॥ २१५ ॥' 'मंजु मधुर मूरति उर आनी । भई सनेह सिथिल सब रानी ॥ पुनि धीरजु धरि कुँअरि हँकारी ॥ ३३७ । ५-६ ॥' 'पुलकित तन मुख आव न बचना । देखत रुचिर बेष कै रचना ॥ पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही ॥ ४ । २ ॥' इत्यादि । (ख) 'प्रभु कहुँ चीन्हा ।' गौतमजीके वचनोंको स्मरणकर प्रभुको पहचाना । यथा—'गौतमस्य वचः स्मृत्वा ज्ञात्वा नारायणं परम् ॥ अ० रा० १ । ५ । ४० ॥' 'स्मरन्ती गौतमवचः ॥ वाल्मी० १ । ४९ । १७ ॥' गौतमजीका वचन है कि श्रीरामजी यहाँ आवेंगे, चरणसे स्पर्श करेंगे, तब तुम पवित्र हो जाओगी । अतएव जब चरणके स्पर्शसे दिव्य देह प्राप्त हुई तब उसने जान लिया कि ये ही प्रभु श्रीरामजी हैं । (ग) 'रघुपति कृपा भगति पाई' इति । विश्वामित्रजीका वचन है कि इसपर कृपा कीजिये, यह चरणकमलरज चाहती है । अतएव गुरुकी आज्ञासे श्रीरामजीने अहल्यापर कृपा की, उसको चरणसे स्पर्श किया जिससे उसको अपना दिव्य रूप मिल गया । कृपाका फल भक्ति है, यह श्रीरामजीने उसको अपनी ओरसे दी; यथा 'अब करि कृपा देहु बर एहू । निज पद सरसिज सहज सनेहू ॥ २ । १०७ ॥' (भरद्वाजः), 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजनु करौं दिन राती ॥ ४ । ७ ॥' (सुग्रीवः), 'नाथ भगति अति सुखदायनी । देहु कृपा करि अनपायनी ॥ ५ । ३४ ॥' (हनुमान्), 'नाथ एक बर माँगउँ राम कृपा करि देहु । जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु ॥ ७ । ४९ ॥' (वसिष्ठः) । इत्यादि । तात्पर्य कि बिना कृपा भक्तिकी प्राप्ति नहीं है, प्रभुकी कृपाहीसे वह मिलती है । जिसपर कृपा होती है उसे भक्ति भी मिल जाती है । (घ) पुनः भाव कि प्रभुको पहचानना ज्ञान है । प्रभुको पहचाना अर्थात् उसे ज्ञानकी प्राप्ति हुई; इसीसे उसने प्रथम ज्ञानकी बात कही कि 'ज्ञानगम्य जय रघुराई ।' पहचाननेके बाद भक्तिकी प्राप्ति कही—'रघुपति कृपा भगति पाई ।' इसीसे ज्ञानके बाद भक्तिकी बात कहती है कि 'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन…।' [(ङ) 'रघुपति कृपा' दीपदेहली है । भगवान्‌को पहिचानना भी उन्हींकी कृपासे होता है, यथा—'सोइ जानै जेहि देहु जनाई ।…तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानत भगत…॥ २ । १२७ ॥']

टिप्पणी—२ (क) 'अति निर्मल बानी…' प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिसे वाणी निर्मल हो गयी, यथा—'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभिअंतर मल कबहुँ न जाई ॥ ७ । ४९ । ६ ॥' अति प्रेमसे अधीर थी । उस प्रेमधारासे वाणी निर्मल हो गयी । वाणीके अठारह दोष हैं वे ही मल हैं, यथा—'बोले बचन बिगत सब दूषन । मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन ॥' उन सब दोषोंसे रहित होनेसे 'अति निर्मल' कहा । [पुनः 'अति निर्मल' का भाव कि श्रीरामपदके स्पर्शसे निर्मल हुई और भक्तिकी प्राप्तिसे 'अति निर्मल' हो गयी । इससे जनाया कि इसकी सब वाणी प्रेमभक्तिमय है । (प्र० सं०)] (ख) 'अस्तुति ठानी' 'ठानी' शब्दसे सूचित किया कि बहुत देरतक बहुत भारी विस्तारकी स्तुति की । अध्यात्मादिमें बड़ी भारी स्तुति है । (अ० रा० में अठारह श्लोकोंमें स्तुति है ।) । (ग) 'ज्ञानगम्य' अर्थात् जो ज्ञानी हैं वही आपको जानते हैं और ज्ञानविहीन लोग तो आपके आचरण देखकर मोहित हो जाते हैं, यथा—'अहो विचित्रं तव राम चेष्टितं मनुष्यभावेन विमोहितं जगत् । अ० रा० १ । ५ । ४४ ॥' इससे पाया गया कि अहल्याको ज्ञान और भक्ति दोनों ही प्राप्त हुए । अध्यात्ममें भी ज्ञानभक्तिमिश्रित स्तुति है । गोस्वामीजीने भी वही बात यहाँ जनायी है । [पुनः भाव कि आप ज्ञानसे जाने जाते हैं और मैं अपावन और अज्ञानी स्त्री हूँ, आपको क्योंकर जान सकती हूँ, यथा—'सती हृदय अनुमान किय सबु जानेउ सर्बग्य । कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ ।' जब आपकी कृपा हुई तब मैं आपको पहचान सकी । यथा—'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानत भगत भगत उर चंदन ॥ २ । १२७ ॥' (घ) 'रघुराई' कहकर रघुवंशकी और रघुवंशियोंमें भी आपकी उत्कृष्टता जनायी] ।

☞ पहले अहल्याजीके मन, तन और वचनकी शिथिलता लिखी, यथा—'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा…।' अब तीनोंका व्यापार कहते हैं । जो मन प्रेमसे अधीर था वह अब धीर हुआ—'धीरज मन कीन्हा…' इत्यादि । धीरज धरना, पहचानना और भक्तिका पाना ये सब मनके धर्म हैं । शरीर पुलकित था सो अब चरणोंमें लगा है—'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही' चरणोंमें लगना, आँसूका गिराना, यह शरीरका व्यापार है । मुखसे वाणी नहीं निकलती थी सो अब स्तुति करने लगी । स्तुति करना वाणीका धर्म है । इस तरह दिखाया कि अब मन, तन और वचन तीनोंकी अधीरता निवृत्त हो गयी है ।

मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावनरिपु जन सुखदाई ।
राजीव बिलोचन भव-भय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई ॥ २ ॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं अपवित्र स्त्री हूँ और आप जगत्‌को पावन करनेवाले हैं, रावणके शत्रु और जनोंके सुखदाता हैं। हे कमलनयन! हे संसारके भयके छुड़ानेवाले! मैं शरणमें आयी हूँ, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'मैं नारि अपावन···' अर्थात् एक तो मैं स्त्री हूँ जो सहज ही जड़, अज्ञ और अपावनी होती है, यथा—'सहज अपावनि नारि···॥ ३। ५॥' उसपर भी मैं धर्महीना हूँ। तात्पर्य कि अपनेको पवित्र नहीं कर सकती और आप जगत्‌मात्रको पवित्र करनेमें समर्थ हैं, तब मुझ एक अपवित्र स्त्रीको पवित्र कर देना आपके लिये कौन बड़ी बात है? आपने मुझको पवित्र करके सुख दिया। (ख) 'रावनरिपु जन सुखदाई' इति। अर्थात् रावणको मारकर अपने भक्तोंको सुख दीजियेगा और यश विस्तारकर जगत्‌को पवित्र कीजियेगा। ☞ 'रावणरिपु' से सूचित होता है कि श्रीरामजीके दर्शनसे अहल्याको भविष्यका ज्ञान हो गया। अथवा, भविष्य रामायण सुने रही हो, (चाहे गौतमजीने ही शापानुग्रह करते समय कहा हो), यथा—'रामु जाइ बन करि सुर काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥ अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥ यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाषा॥ २। २८५॥' (जैसे याज्ञवल्क्यजीने सुनयनाजी आदिसे कहा ऐसे ही गौतमजीने इनसे कहा)। इत्यादि। पुनः रावण-रिपुसे लंकाकाण्ड और जनसुखदाईसे उत्तरकाण्डका चरित कहा, क्योंकि रावणका वध करके अवधमें आकर राज्यपर बैठ अवधपुरवासियों एवं जगत्‌मात्रको सुख दिया है। [रावणरिपुमें भविष्य बात पहले ही कहो जानेसे 'भाविक अलंकार' है। 'अपावनि' और 'जगपावन'का यथायोग्य सङ्ग 'प्रथम सम' अलंकार है]

२ (क) 'राजीव बिलोचन' इति। कृपादृष्टिसे देखनेमें नेत्रोंको कमलका विशेषण देते हैं, यथा—'देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजिवनैना॥ ५। ३५॥' 'राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥ १८। १०॥' 'तब निज भुजबल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥ ४। ३०॥' 'मैं देखौं खल-बल-दलहिं बोले राजिवनयन॥ ६। ६६॥' राक्षसोंके वधमें कृपादृष्टि है, यथा—'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर-भाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कपाल को कहहु भवानी॥ ६। ४४॥' 'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा।' अतएव 'राजीव बिलोचन भवभय-मोचन···' का भाव यह हुआ कि कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखकर मेरी रक्षा कीजिये। दोहा १८। १० भी देखिये। (ख) 'पाहि···' अर्थात् कृपादृष्टि करके भवभय छुड़ाइये। 'पाहि पाहि' यह रक्षामें विश्वास करना तृतीय शरणागति है। यही शरणमें आना है। 'सरनहिं आई' का भाव कि भगवान्‌को शरणार्थी प्रिय है, यथा—'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई॥ ५। ४४॥' (ग) ☞ [अहल्या तो जहाँ-की-तहाँ खड़ी हैं, एक पग भी उसे चलना नहीं पड़ा; तब 'आई' कैसे और कहाँसे? उत्तर यह है कि षट्‌शरणागतिमेंसे 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' 'रक्षामें प्रतीति आना वा होना' है। यहाँ 'शरण आई' उस प्रतीतिके आनेके लिये प्रयुक्त हुआ है। (प्र० सं०) 'शरण आना' मुहावरा है, 'शरणागत होना, शरण हूँ।' इसके पर्याय हैं। शरण होनेके लिये कहीं आने-जानेकी जरूरत नहीं। भगवान् सर्वत्र हैं। जो जहाँ है वहीं कह सकता है कि शरणमें आया हूँ, जिसका अभिप्राय यह है कि अबतक आपसे विमुख रहा, संसारमें भटकता रहा, अब आपको ही एकमात्र रक्षक और स्वामी जानकर आपके आश्रित हूँ।]

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना॥

अर्थ—मुनिने जो शाप दिया बहुत ही अच्छा (एवं यह मेरा अत्यन्त भला) किया, मैं उसे परम अनुग्रह मानती हूँ (उसीका फलस्वरूप आज) मैंने भवके छुड़ानेवाले, क्लेशोंके हरनेवाले आपको नेत्रोंभर (अघाकर) देखा। इसीको (ही) शंकरजी परम लाभ समझते हैं।

टिप्पणी—१ (क) शापसे भगवान् मिले इसीसे 'अति भल' और 'परम अनुग्रह' माना, यथा—'बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा। ४। ७। १९।', 'रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परमहित माना। ३१७। ६।' क्या 'अति भल' किया सो आगे कहती हैं कि 'देखेउँ भरि लोचन···'। 'अति'के योगसे (अनुग्रहके साथ भी) 'परम' पदका प्रयोग किया। 'अति भल' किया इसीसे 'परम अनुग्रह' माना। अर्थात् शापको आशीर्वाद माना। (ख) 'परम अनुग्रह' इति। भाव कि पतिप्रतिकूला स्त्री भगवान्‌को प्रिय नहीं है, इसीसे पतिका उपकार, पतिका अनुग्रह

अपने ऊपर कहती हैं। [(ग) 'अति मल' और 'परम अनुग्रह' का और भाव कि शाप दे भला किया और दर्शनका आशीर्वाद (शापानुग्रहमें) दिया यह 'अति' भल किया। शापसे छुड़ाया यह अनुग्रह है और 'देखेउँ भरि' यह परम अनुग्रह है, जो उस शापके ही बदौलत (कारण) हुआ।] (घ) 'मैं माना' का भाव कि जो उपकार नहीं मानता वह कृतघ्न होता है। उपकार न मानना सम्भव है, उसके न माननेका कारण है क्योंकि मुनिने तो क्रोध करके शाप ही दिया (भगवान्की कृपासे) शापसे उपकार हो गया। प्रत्यक्ष उपकार तो मुनिने किया नहीं। अतएव उपकार 'मान' लेना कहा। यदि अहल्या ऐसा न कहती तो पाया जाता कि मुनिने शाप दिया इसीसे अहल्याका मन उन (गौतम मुनि) की ओरसे मलिन है; पर 'परम अनुग्रह मैं माना' कथनसे उसकी सफाई हो गयी। [शापको अनुग्रह मानना अर्थात् दोषका गुण हो जाना 'अनुज्ञा' अलंकार है। पं० रा० कु० जी इसे 'लेशालंकार' कहते हैं।]

२ (क) 'देखेउँ भरि लोचन' अर्थात् जो मूर्ति अनुभवमें नहीं आती वह मैं नेत्र भरकर देख रही हूँ। (ख) पहले कहा कि **'राजीव बिलोचन भव-भय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई'** और अब कहती हैं कि **'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन'**, इसका तात्पर्य यह है कि जिसको भगवान् कृपा करके देखें अथवा जो भगवान्को देखे दोनोंहीका एवं दोनों ही प्रकारसे भवमोचन होता है। यथा—**'जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भए परम पद जोगू।'**

[पुनः भाव कि पूर्व **'राजीवबिलोचन....'** कहकर जो भवभयसे रक्षाकी प्रार्थना की थी उसीको यहाँ **'देखेउँ हरि-भवमोचन....'** में चरितार्थ कर दिखाया है। अर्थात् आपके दर्शनसे मेरा भवसे छुटकारा हो गया, दर्शनसे मुझे अपना सहज स्वरूप प्राप्त हो गया।] (ग) **'इहै लाभ संकर जाना'** भाव कि जब शंकरजी इसीको लाभ मानते हैं और किसी चीजको नहीं तब तो इस लाभसे अधिक कोई लाभ नहीं है। दर्शन-लाभ ही परम लाभ एवं लाभकी अवधि है। यथा—**'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी। २। १०७।'** (घ) 'संकर जाना' यथा—**'संकर हृदिपुंडरीक निवसत हरि चंचरीक निर्ब्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई। गी० ७। ३।'**, **'संकर मानस राजमराला'**, **'ये दोउ बंधु संभु उर बासी। २४६। ४।'** इत्यादि। [इस लाभको शंकरजी जानते हैं, इसीसे वे कर्म और ज्ञानको छोड़ आपके ध्यानमें लगे रहते हैं। पुनः **'इहै लाभ 'संकर' जाना'**। अर्थात् इसी लाभको हमने कल्याणकारक जाना है। (रा० प्र०)] (ङ) दर्शनको लाभ कहनेका भाव कि आपके दर्शनसे हमारे सब मनोरथ पूरे हो गये। इसीसे आगे कहती हैं कि मैं और कुछ वर नहीं माँगती। [(च) अ० रा० यथा—**'भवभयहरमेकं....कमलविशदनेत्रं सानुजं राममीडे। १। ५। ६०।'**]

विनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागौं बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ॥ ३ ॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं बुद्धिकी बहुत भोली (भोंडी, बोदी) हूँ, अर्थात् बुद्धिहीना हूँ, मेरी (यह) विनती है (सो सुन लीजिये)। हे नाथ! मैं और कोई वर नहीं माँगती। (केवल यही चाहती हूँ, यही विनय करती हूँ कि) आपके चरणकमलकी पराग (रज) में मेरा मनरूप भौंरा अनुराग करे और उसके मकरन्दरसको पान करता रहे ॥ ३ ॥

☞ यह अर्थ पं० रामकुमारजीकृत है। 'पदकमल परागा (में) अनुराग करै रस पान करै।' कुछ लोग इस प्रकार अन्वय करते हैं—'पदकमलपरागा और अनुरागरूपी रस पान करै' वा 'पदकमलपरागा (के) अनुरागरूपी रसका पान करे'।

टिप्पणी—१ (क) 'विनती मोरी' का भाव कि आपके दर्शनका लाभ पतिके वचनसे हुआ। अब मेरी विनती है (अर्थात् यह मैं अपनी ओरसे माँगती हूँ)। वा, अभीतक जो आपने कृपा की वह तो आपने गौतम मुनि तथा गुरु विश्वामित्रजीका कहा किया, अब मेरी विनती सुनिये। (ख) 'मति भोरी' अर्थात् मुझे झूठ-सच कुछ भी समझ नहीं पड़ता; यथा—**'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परै झूठ का साँचा। ३। ११।'** इसीसे और वर नहीं माँगती। पुनः भाव कि वेद-शास्त्रादि तो मैंने पढ़े नहीं कि जिससे विचारकर कुछ और उत्तम वर माँगूँ, इससे जो आपने दिया है—'रघुपति कृपा भगति पाई'—वही मैं फिर भी माँगती हूँ, 'आन' कुछ नहीं चाहती। अर्थात् जो आपने दिया है **वही एकरस** प्राप्त रहे। पुनः, **'न बर माँगौं आना'** का भाव कि आपके दर्शनसे सब मनोरथ पूर्ण हो गये, इसीसे अब कुछ माँगना नहीं है। अथवा इस प्रकार अर्थ कर लें कि हे प्रभो! मेरी यह विनती है कि मैं मतिभोरी हूँ। चरणकमलकी रजमें प्रीति छोड़कर मैं अन्य कोई वर न माँगूँ।' (ग) 'प्रभु' अर्थात् आप 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' हैं। और मैं मतिकी भोरी

हूँ, अर्थात् आपकी स्तुति करनेयोग्य मुझमें बुद्धि नहीं है; यथा—'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी॥ महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सनमुख खद्योत अँजोरी॥ ३। ११। २।' (घ) ☞ अन्य वर नहीं माँगती हूँ, इसमें आशय यह भी है कि यदि अन्य वर माँगें तो जो वचन प्रथम कहे थे कि जो लाभ हमको हुआ उस लाभको शंकरजीने ही जाना है, वे मिथ्या हो जायँगे। भारी लाभकी प्राप्ति होनेपर अन्य लाभका माँगा जाना जनाता है कि माँगनेवाला भारी लाभको लाभ नहीं समझ रहा है। भक्त लोग भक्ति पाकर अन्य वर नहीं माँगते। (ङ) चरणमें प्रेम होना 'पादसेवन' अर्थात् चतुर्थ भक्ति है।—'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।'

२ 'पद कमल परागा रस अनुरागा····' इति। (क) प्रथम जो कहा था कि मैं मतिभोरी हूँ उसीको पुष्ट करती हैं कि मैं कुछ नहीं जानती, इतना भर जानती हूँ कि आपके चरण-रजसे मेरा उद्धार हुआ, पत्थरसे मैं दिव्य स्त्री हो गयी, मुझमें ज्ञान उत्पन्न हो गया और भक्ति प्राप्त हुई। रजका यह सब प्रभाव मैंने आँखों देखा है। इसीसे रजमें अनुराग चाहती हूँ। पदपरागमें मेरा मन अनुराग करे, यथा—'बंदौं गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥' अथवा, पदकमल-परागा और रसरूपी अनुरागको मेरा मन-मधुप पान करे। मनका चरणोंमें लगना पान करना है। भौंरा परागको खाता है (उसमें लोटता है) और रस पीता है। अर्थात् पराग और रस दोनोंमें उसका अनुराग रहता है। इसीसे पराग और रस दोनों कहे। तात्पर्य कि इसी प्रकार मेरा मन रजसमेत चरणोंमें लगा रहे। उसको कभी छोड़े नहीं। [रा० प्र० का मत है कि रजमें अनुराग हो अर्थात् उसे चाटे, उसमें लोटे और उसका रस अर्थात् चरणामृत पान करे। भाव कि भ्रमरकी तरह मन लुब्ध रहे, चाहे परागमें लोटे, चाहे मकरन्द पान करे। अ० रा० में चरणकमलोंकी आसक्तिपूर्ण भक्ति माँगी है, यथा—'देव मे यत्र कुत्रापि स्थिताया अपि सर्वदा। त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे। १। ५। ५८।']

जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥

अर्थ—जिस चरणसे परम पवित्र गङ्गाजी प्रकट हुईं (जिन्हें) शिवजीने सिरपर धारण किया, और जिस चरण-कमलकी ब्रह्माजी पूजा करते हैं, वही चरणकमल, हे कृपालु हरि! आपने मेरे सिरपर रक्खा।

टिप्पणी—१ (क) जिन चरणकमलोंका अनुराग ऊपर माँगा है उन्हींका अब माहात्म्य कहती हैं। इन चरणोंसे आप स्वयं पावन हुईं, इसीसे चरणकी पावनता (प्रथम) कहती हैं। चरण ऐसे पावन हैं कि वहाँसे जो सुरसरि प्रगट हुईं वह परम पुनीत हैं, चरणका प्रक्षालन समझकर उन परमपुनीत गङ्गाको शिवजीने सिरपर धारण कर लिया तब उन चरणोंकी पावनताको कौन वर्णन कर सकता है? गङ्गा साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं सो आपके चरणसे पैदा हैं। चरणकी यही बड़ाई है कि ब्रह्म (ब्रह्मद्रवरूपसे) आपके चरणोंसे पैदा हुआ है। (ख) 'परम पुनीत' यथा—'मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुरबर नई'। पुनः भाव कि और सब नदियाँ पुनीत वा अति पुनीत हैं, किंतु सुरसरि परम पुनीत हैं। पुनः, भाव कि यह ब्रह्मा और शिवादिको पवित्र करनेवाली है जो स्वयं पावन हैं, और 'सुरसरि' है इससे देवता लोग पवित्र होते हैं। (ग) 'सोई पदपंकज जेहि पूजत अज' अर्थात् आपके चरणोंको ब्रह्माजीने पूजा अर्थात् उनका प्रक्षालन किया उसी प्रक्षालन (चरणामृत) को शिवजीने सिरपर धारण किया। साक्षात् वही चरण मेरे सिरपर आपने कृपा करके रक्खा। इस कथनका तात्पर्य यह है कि मेरा भाग्य शिवजी और ब्रह्माजीसे भी अधिक बड़ा है। 'सोई' दीपदेहली है अर्थात् ब्रह्मा और शिवजीसे पूजित और आदरित। (घ) 'सिर धरेउ कृपालु हरी' का भाव कि आपने अपनी अहैतुकी कृपासे मेरे शीशपर अपना चरण रक्खा कुछ मेरे सुकृतोंसे नहीं, मेरे ऐसे सुकृत कहाँ थे? चरणोंसे क्लेश हर लिये अतः 'हरि' सम्बोधन किया। 'क्लेशं हरतीति हरिः' (ङ) ☞ चरणस्पर्श और दर्शनसे जो उपकार हुआ वह यहाँतक कहा। 'परसत पद पावन····' का उपकार 'सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपालु हरी' यह कहा और 'देखत रघुनायक ····' का उपकार 'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना' यह कहा। हरिचरणोंसे उद्धार हुआ इसीसे बारंबार हरिचरणमें पड़ती हैं।

नोट—अ० रा० में इस प्रकार कहा है—'अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्। स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभिर्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा॥ १। ५। ४३। यत्पादपङ्कजपरागपवित्रगात्रा भागीरथी भवविरिञ्चिमुखान्पुनाति। साक्षात्स एव मम दृग्विषयो यदास्ते किं वर्ण्यते मम पुराकृतभागधेयम्॥ ४५।' अर्थात् आपके जिन पादार

विन्दोंका ब्रह्मा-शम्भु आदि सर्वदा एकाग्रचित्तसे अनुसंधान किया करते हैं उन्हींके रज-कणका स्पर्शकर आज मैं कृतार्थ हो रही हूँ। जिन चरणकमलोंके परागसे पवित्र हुई श्रीभागीरथीजी शिव-विरञ्चि आदिको भी पवित्र कर रही हैं उन्हींका आज साक्षात् मुझे दर्शन हो रहा है।

एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पति लोक अनंद भरी॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार महर्षि गौतमकी पत्नी (अर्थात् दिव्यरूप होकर, भगवान्‌की स्तुति करके और) श्रीहरिके चरणोंमें बारंबार पड़-पड़कर चलती हुई। जो अत्यन्त मनको भाया था वही वरदान उसने पाया और आनन्दमें भरी हुई अपने पतिके लोकको गयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'बार बार हरि चरन परी' इति। हरिचरणोंसे उद्धार हुआ, इसीसे उपकार मानकर बारंबार चरणोंमें पड़ी, पुनः भक्ति पायी है, अतः बार-बार चरणोंपर पड़ी; भक्तलोग भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना बारंबार करते ही हैं। २ ☞ उपक्रममें भगवान्‌ने अपना चरण अहल्याके सिरपर धरा—**'परसत पदपावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही'**—उद्धार करना यह स्वामीका धर्म है। उपसंहारमें अहल्या भगवान्‌के चरणोंमें अपना शीश बारंबार धरती है,—यह सेवकधर्म है। जब स्तुति करने लगी तब चरणोंमें पड़ी—'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही'। और जब चलने लगी तब बारंबार चरणोंमें पड़ी।—तात्पर्य कि चरणका प्रभाव कहकर चरणोंको प्रणाम किया, फिर जब चलने लगी तब चलनेके हेतुसे (विदा होनेके समय) प्रणाम किया। स्तुतिके पश्चात् प्रणाम करना चाहिये, इससे स्तुति कर चुकनेपर प्रणाम किया। पुनः, चरणोंकी भक्तिका वर मिला इससे चरणोंमें प्रणाम किया। इत्यादि कारणोंसे अपनी कृतज्ञता जनानेके लिये बारंबार प्रणाम करती हैं,—**'मो पहिं होइ न प्रत्युपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥ ७। १२५।'**

३ (क) 'जो अति मन भावा सो बरु पावा' इति। यह वर प्रथम ही कह आये हैं; यथा—**'नाथ न बर माँगउ आना। पदकमलपरागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना'**॥ 'अति मन भावा' क्योंकि इसका प्रभाव स्वयं आँखों देख लिया है। (ख) 'बर पावा' इति। अहल्याका वर माँगना तो स्पष्ट है पर श्रीरामजीका वर देना स्पष्ट नहीं किया गया। क्योंकि गुरुजी समीप ही खड़े हैं। उनके संकोचसे प्रकट रूपसे 'एवमस्तु' न कह सके। (प्रत्यक्ष कहनेसे मर्यादाको हानि पहुँचती। अतएव मुखसे कुछ न कहा पर उसको मनोवाञ्छित वर दे दिया इस तरह कि) उसके हृदयमें श्रीरामजी प्राप्त हो गये। यही वर पाना है। जब मूर्ति हृदयमें आयी तब पदकमलपरागको मन-मधुप पान करने लगा। भक्तलोग मूर्तिसहित चरणोंमें मन लगाते हैं, मूर्तिसे पृथक् चरणोंका ध्यान नहीं करते। जब आनन्दमूर्ति हृदयमें आयी तब आनन्दसे भरी पतिलोकको गयी। (नोट—वक्तालोग औरोंके सन्देहनिवारणार्थ स्वयं इस बातको इस प्रकार प्रकट कर रहे हैं कि उसने मनोवाञ्छित वर पा लिया इसीसे आनन्दमें भरी हुई है)। (ग) 'अनंद भरी'। भक्तिका वर मिला जो अत्यन्त दुर्लभ है, यथा—**'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही'**॥ दुर्लभ वस्तुकी प्राप्तिसे अति आनन्द हुआ ही चाहे। पुनः भाव कि पहले दुःखसे भरी थी अब आनन्द-पर-आनन्द है—एक तो चरणस्पर्शका आनन्द, दूसरे दर्शनका आनन्द, तीसरे मन भये वरकी प्राप्तिका आनन्द, चौथे पतिकी प्राप्तिका आनन्द, इत्यादि बहुत प्रकारके आनन्दकी प्राप्ति होनेसे आनन्दसे भर गयी। यहाँ **'प्रथम प्रहर्षण अलंकार'** है।

[☞ कहा जाता है कि गौतमजी भी इस समय वहाँ आ पहुँचे थे और अहल्याको साथ लेकर चले गये। यथा—'संस्तूय रघुनाथं सा पत्या सह गता पुनः।' इति सत्योपाख्याने। पुनः, यथा—**'रामके प्रसाद गुरु गौतम खसम भए रावरेहू सतानंद पूत भए मायके। गी० १। ६५।'**, **'करि बहु बिनय राखि उर मूरति मंगल-मोद-मई। तुलसी ह्वै बिसोक पतिलोकहि प्रभु गुन गनत गई॥ गी० १। ५७।'**

प० प० प्र०—अहल्याकृत स्तुति और कृत्तिकानक्षत्रका साम्य। (१) अनुक्रम—यह तीसरी स्तुति है और कृत्तिका तीसरा नक्षत्र है। (२) नामसाम्य—कृत्तिका='कृत्तिः कृत्यते इति कृत्तिः कृती छेदने' (अमर व्या० सु०)=छेदन करनेवाली। इस स्तुतिने सकल घोर पापों और भवखेदका छेदन कर डाला। (३) तारा संख्या-साम्य—**षड्भिः क्षुराभम्।** (पं० रघुनाथशास्त्रीकृत धुनाके) नक्षत्रोंके नकशेमें सात तारे दिखाये हैं, पर खाली आँखोंसे छः ही देखे जा सकते

हैं, दूरबीनसे सात देख पड़ते होंगे। वैसे ही इस स्तुतिमें 'रघुनायक, रघुपति, रघुराई, प्रभु जग पावन, हरिभवमोचन, कृपाल हरी' ये छः हैं, साँतवाँ गिनना हो तो 'हरिचरन' है ही। (४) आकारसाम्य—नक्षत्राकार 'खुराम' है। अर्थात् टापके सदृश वा उत्तरा, छुराके समान कहा है पर अश्वकी टापके समान ही दीखता है। टापमें ऊपर और नीचेका, ऐसे दो भाग होते हैं। ऊपरका भाग सहज ही देखनेमें आता है, वैसे ही यहाँ रघुनायक, रघुपति, रघुराई ऊपरसे सहज ही जाने जाते हैं और ये शब्द पूर्वार्धमें ही हैं। 'प्रभु' टापके नीचेके मध्यभागके समान मध्यमें है, गुप्त है, पहिचानना दुष्कर है। 'हरिभवमोचन', 'कृपाल हरि' यह भी किसी बड़भागीको ही सूझ पड़ता है। 'हरिचरन' का अर्थ घोड़ेका चरण भी होता ही है। (५) देवता साम्य—नक्षत्रका देवता अग्नि है। और इधर गौतमजीका क्रोधाग्नि और शापाग्नि ही इसका मूल कारण है। (६) फलश्रुतिसाम्य—'सद्गुरु ज्ञान बिराग जोग के। १। ३२३। फलश्रुति है। इधर रामकृपासे अहल्याजीको प्रभुका ज्ञान हुआ। उससे केवल भक्ति ही माँगी और कुछ न माँगा। मोक्षादिसे भी विराग ही रहा। पतिवियोग हुआ था सो पतियोग हुआ ही 'गई पतिलोक अनंदभरी'।

दोहा—अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि* प्रभु छाँड़ि कपट जंजाल॥ २११॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ऐसे दीनबन्धु और कारणरहित कृपा करनेवाले हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि हे शठ (मन)! कपट-जंजाल छोड़कर उन्हींका भजन कर॥ २११॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस' अर्थात् जैसा ऊपर दिखा आये कि अधमा, अपावनी, पतिसे त्यक्ता, जड़ पाषाण हुई पड़ी, सर्वसाधनहीना अहल्याका निःस्वार्थ उद्धार किया। (ख) 'दीनबंधु' हैं अर्थात् दीनोंकी सदा सहायता करते हैं, यथा—'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहुके घाए॥ २। ३०६।' जैसे उत्तम श्रेष्ठ भाई क्लेशमें, कुअवसरमें, काम आते हैं वैसे ही प्रभु दीनोंके क्लेशमें, संकटमें सुबन्धुसे भी अधिक सहायक होते हैं। (ग) 'कारन-रहित दयाल' हैं, दीनोंपर कारणरहित दया करते हैं। भाव कि अहल्यापर दया करनेका कोई भी कारण न था। पतिवंचक स्त्रीपर दया कैसी? [(घ) ☞ शिलासे दिव्य स्त्री बना दी। दीनकी सहायता करनेमें समर्थ होनेसे 'प्रभु' और पतिवियोग तथा निज पापजनित शोकको बिना कारण अपनी दयासे नाश करनेसे, दया करके क्लेश हरनेसे 'हरि' कहा। स्वयं वहाँ जाकर कृपा की। पाप और शाप दोनोंसे मुक्त किया। यथा—'ऐसे राम दीन हितकारी। अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन परउपकारी॥ साधनहीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर श्राप ते तारी॥' विनय० १६६।' पुनश्च 'राम भलाई आपनी भल कियो न काको। हरयो पाप आपु जाइकै संताप सिलाको॥ विनय० १५२।']

नोट—'अस प्रभु' से सूचित होता है कि अहल्याके प्रकरणको कहते हुए कविका मन स्तुतिमें तद्रूप हो गया है। अतः आप भी सम्मिलित होकर कहते हैं कि 'अस प्रभु'। इस दोहेके पूर्वार्द्धमें अपनेको गुप्तालंकारसे छिपाया परंच उत्तरार्द्धमें प्रेमोद्‌गारने उन्हें प्रकट कर दिया।—'तुलसीदास'। (रा० च० मिश्र)। 'कारनरहित दयाल' यथा—'लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथहित, नीके देखे देवता देवैया घने गथ के…। औ भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के॥ क० । ७ । २४।', 'हरिहुँ और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई। लै चिउरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बालमिताई॥ विनय० १६३।'

टिप्पणी—२ (क) 'तुलसिदास सठ ताहि भजु…' इति। भगवान्‌को ऐसा जानकर भी नहीं भजता, इसीसे गोस्वामीजी अपने मनको शठ कहते हैं। यहाँ गोसाईंजीका नाम है, इसीसे मनका अध्याहार है। गोस्वामीजी अपनेको शठ न कहेंगे, अपने मनको शठ कहते हैं। यथा—'तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना॥ ५। ६०।', 'पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना। ७। १३०।' इत्यादि। अथवा, अपनेको शठ कहते हैं, यथा—'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु। १। २८।', 'कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि रामसनमुख करत को। २। ३२६।' तथा यहाँ 'तुलसिदास सठ…' इत्यादि। मनको शठ कहनेमें भाव यह है कि तू पत्थरसे अधिक जड़ नहीं है, तब

* ताहि—को० रा०। तेहि—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०

तू भजनमें क्यों नहीं तत्पर होता ? देख, शिला तो दिव्य मूर्ति हो गयी तब तू क्या उससे भी गया-गुजरा है कि तेरा उद्धार न होगा ! गोस्वामीजी अपने मनको धिक्कारते हैं और उसे (तथा उसके द्वारा दूसरोंको) उपदेश देते हैं कि कपट-जंजाल छोड़कर भगवद्भजन करो] (ख) 'छाँड़ि कपट जंजाल' । 'कपट-जंजाल' भजनके बाधक हैं, यथा—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥ ५ । ४४ ।', 'गृह कारज नाना जंजाला । तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥ १८ । ८ ।' कपट छोड़ना भीतरकी सफाई है, जंजाल छोड़ना बाहरकी सफाई है । भीतर-बाहर दोनोंकी सफाईके लिये कपट और जंजाल दोनोंको कहा । ['छाँड़ि' का भाव कि यह छोड़नेसे ही छूटता है, यथा—'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन । हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥ बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥' जंजाल यथा—'जोग बियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥ 'जनम मरन जहँ लगि जगजाल ॥'—यही सब जंजाल है । (वि० त्रि०)]

यज्ञरक्षा और अहल्योद्धार-प्रकरण समाप्त हुआ ।

(श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु । श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये । श्रीमते रामचन्द्राय नमः)

प्रेमडगरिया मिथिला नगरिया

(नगर-दर्शन-प्रकरण)

श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी)—श्रीरामचरितमानस एक नाटकीय महाकाव्य है । अंग्रेजी साहित्यमें यह धारणा है कि महाकाव्य (Epic) की उड़ान ऊपरको (Vertical) और नाटक (Drama) का फैलाव बराबरपर (Horizontal) होता है । इससे इन दोनों कलाओंका एकीकरण नहीं हो सकता । फारसी भाषाकी भी धारणा है कि 'रज्म' (Epic) अर्थात् रौद्र और वीररसप्रधान कविता), 'बज्म' (Drama or Lyric अर्थात् शृङ्गार और हास्य रसोंकी कविता) और 'पंद व नसायह' (अर्थात् शान्त-रसकी शिक्षाप्रद कविता) एक नहीं हो सकतीं ।—(विस्तारसे इस विषयका लेख चाँदमें प्रकाशित हो चुका है); मगर कवि मुश्किल-पसन्द होते हैं । स्पेन्सर (Spencer) ने प्रयत्न किया, किंतु फिर 'फेयरी क्वीन' (Fairy Queen) को महाकाव्यका रूप ही दे डाला । दोनों कलाओंके संमिश्रणमें वह सफल न हुआ । मिलटनने तो महाकाव्यसम्बन्धी नाटकके ऐक्ट और सीन सब 'ढाँचा पैराडाइज लास्ट' (Paradise Lost) के लिये बना लिया और सूर्यदेवके लिये प्रारम्भिक स्तुति भी लिखी, लेकिन फिर उनकी हिम्मत टूट गयी । टेनिसन (Tennyson) ने फिर उद्योग किया तो कुछ दृश्य 'आइडल्स आफ़ दि किंग' (Idylls of the King) लिख सके । फारसीमें सिकन्दर-नामा और शाहनामा अच्छे महाकाव्य हैं, परंतु उनकी उड़ान अधिकतर भौतिक ही है । उनमें आधिदैविक कला बहुत कम है और आध्यात्मिक तो कुछ भी नहीं है । फिर उपर्युक्त किसी भी महाकाव्यमें विज्ञान, ज्ञान, योग, दर्शन, भक्ति, कथा, नीति और व्यवहारसम्बन्धी रहस्य भी पूर्ण नहीं हैं ।—ये तो भारतवर्षके पुराण और इतिहासरूपी महाकाव्योंमें ही ठीक तरह मिलते हैं । हाँ, डैण्टी (Dante) के 'डिवाइन कामेडी' (Divine Comedy दैवी सुखान्तक काव्य) में कुछ रहस्य हैं, किंतु वहाँ महाकाव्यका ओज गुण नहीं है । होमर (Homer) के 'इलियड (Ileod) और ओडेसी' आधिदैविक हैं किंतु उपर्युक्त रहस्योंकी चर्चा वहाँ नहीं है । इसीसे तो 'अर्नेस्टवुड' (Ernest Wood) ने लिखा है कि तुलसीकृत रामायण लेटिन और ग्रीक भाषाके महाकाव्योंसे बढ़ा-चढ़ा हुआ है । और फ्रेजर (Frazer) ने लिखा है कि तुलसीदास मिलटन और स्पेन्सरसे पीछे नहीं हैं । सर जार्ज ग्रियरसन (Sir George Grierson) मानते हैं कि तुलसीदास एशियाके छः बड़े (महान्) लेखकोंमें हैं ।

यदि बालकाण्डके प्रारम्भिक भागको प्रस्तावना कहा जाय और उत्तरके अन्तको उपसंहार, तो बीचका हिस्सा बड़े ही सुन्दर नाटकोंकी शृङ्खलावाला महाकाव्य रह जाता है । चित्रकूटतक नाटकी-कला प्रधान है, तो उसके उपरान्त महाकाव्य कला, तथापि दोनों कलाओंका साथ कभी नहीं छूटा ।

☞ तनिक विस्तारसे लिखनेका प्रयोजन यह बताना है कि अब हम बड़े सुन्दर सुखान्त नाटकीय कलाके अंशमें प्रवेश कर रहे हैं और यहाँ 'मानस-पीयूषकार' का शीर्षक भी बड़ा ही सुन्दर है*। याद रहे कि विश्वामित्रके प्रसङ्गमें महाकाव्यकला प्रधान थी। मगर नाटकीय कलाके संकेत उसमें भी मौजूद हैं। उदाहरणार्थ—दशरथ-विश्वामित्र-वसिष्ठ-संवाद थोड़े ही उद्योगसे नाटकीय बनाया जा सकता है, जिसमें भविष्यसूचक 'इन्ह कहँ अति कल्यान' वाली बात मौजूद है। फिर ताड़कावध और अहल्योद्धारमें उस आधिदैविक और नैतिक रहस्यका प्रकटीकरण है जो आगेके नाटककी जान है। हाँ! विश्वामित्राश्रममें ही मानो नाटकके दूसरे ऐक्टका संकेत है।—'तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई॥ धनुष जग्य सुनि…'।'

जब इस बातका प्रमाण कि ये उस प्रेमके नाटकके अंश हैं सखियोंकी वार्ता 'सुने जे मुनिसँग आये काली।…' इत्यादि तकमें भी है। तब फिर जनक-स्वागत इत्यादिमें क्यों न हो। रामका यश श्रीरामजीसे पहले पहुँच गया था। हाँ, यह स्मरण रहे कि यहाँ कविने महाकाव्यकला ही प्रधान रक्खी है; इससे बहुधा ये अंश संक्षेपमें ही खेले जाते हैं।

नाटकीय कलामें यह अंश दृश्य प्रधान है। जैसे 'हैमलेट' और 'टेम्पेस्ट' नामक शैक्सपियरके नाटकोंके प्रारंभमें। शैक्सपियर और तुलसीके समयमें वर्तमान नाटकोंके-से रंगमंच नहीं होते थे, इससे तुलसीदासजी नाटकका परदा भी शब्दोंमें ही तैयार करते हैं। फिल्म-कला निस्सन्देह इन दृश्योंको ठीक-ठीक दिखा सकती है।

अब हम नाटकीय कलाके विकासकी ओर बढ़ रहे हैं। इस प्रेमके नाटककी सूक्ष्मता समझानेके लिये फारसीका यह पद मुझे बहुत काम देता है—'चुँ याबद बूय गुल ख्वाहद कि बीनद। चुँ बीनद रूय गुल ख्वाहद कि चीनद॥' जब फूलकी सुगन्ध मिलती है तो जी चाहता है कि देखें; जब देखता है तो जी चाहता है कि चुन लें।

देखिये प्रेमके विकासकी श्रेणियाँ, 'प्रेमडगरिया' की मंजिलें—(१) फूल (प्रेमी व प्रेमिका) की सुगन्ध मिलना। (२) दर्शनकी अभिलाषा। (३) उद्योग। (४) साक्षात्कार। (५) संयोगकी इच्छा। (६) उद्योग और कठिनाइयोंसे प्रेमकी परख और (७) संयोग।—यही सुखान्तक नाटक यहाँसे विवाहतक है।

तुलसीदासजीकी नाटकीय कलामें कवि साथ है। वह हमारा मित्र, दार्शनिक शिक्षक और पथप्रदर्शक (Friend, philosopher and guide) है और इसीलिये व्यक्तियों, परिस्थितियों और वक्ताओंका आलोचक है। मगर वर्नार्ड शाकी तरह उसकी भूमिका, उपसंहार और आलोचना शुष्क और गद्यात्मक नहीं बल्कि सरसता और काव्यकलासे ओत-प्रोत है।

☞ पाठकोंसे निवेदन है कि इन्हीं दृष्टिकोणोंसे कला-सम्बन्धी अंशका विचार करेंगे तो उन्हें बड़ा आनन्द मिलेगा। इसीसे पहले ही कुछ विस्तारसे निवेदन किया है।

चले राम लछिमन मुनि संगा। गए जहाँ जग पावनि गंगा॥ १॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ २॥

अर्थ—श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनिके साथ चले। जहाँ जगत्को पवित्र करनेवाली गङ्गाजी हैं वहाँ गये॥ १॥ राजा गाधिके पुत्र विश्वामित्रजीने सब कथा सुनायी जिस प्रकार देवनदी गङ्गाजी पृथ्वीपर आयीं॥ २॥

टिप्पणी—१ 'चले राम लछिमन…'इति। (क) 'चले'—अहल्याको कृतार्थ करनेके लिये खड़े हो गये थे, अब पुनः चले। ☞ जब-जब कहीं रुकना पड़ता है तब-तब वहाँसे चलते समय 'चले' अर्थात् चलना कहते हैं। यथा—'जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस…। २०८।'; माताके पास विदा होने गये थे। वहाँ रुके, अतः वहाँसे चलना कहा। वहाँसे मुनिके पास आये, जब मुनिके साथ अयोध्याजीसे चले तब फिर कहा—'पुरुषसिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि भय हरन। २०८।' पुनः यथा—'धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा। २१०। १०।' सिद्धाश्रममें आनेपर ठहरे थे यहाँ मुनिको निर्भयकर अब धनुषयज्ञ देखने चले। पुनः यथा—'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर नियराया॥ २१२। ४।' गंगातटपर रुके थे, स्नानादि करनेपर फिर वहाँसे 'चले'। तथा यहाँ अहल्योद्धार

* यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यह शीर्षक मेरे गुरुदेवजी महाराज अनंत श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद श्रीरूपकलाजीका लिखाया हुआ है, इसमें दासकी कोई करामात नहीं है। यह बड़ाई उन्हीं श्रीगुरुदेवजीकी है, जिन्होंने 'मानस-पीयूष' लिखवा लिया।

करनेको रुके थे, जब यह स्तुतिकर पतिलोकको चली गयी तब फिर 'चले राम···' कहा। (ख) 'चले राम लछिमन मुनि संगा' इति। मुनिके संग श्रीराम-लक्ष्मणजी चले यह कहकर चलनेका क्रम दिखाया कि मुनि आगे-आगे हैं उनके पीछे श्रीरामजी और श्रीरामजीके पीछे श्रीलक्ष्मणजी हैं। [(ग) यहाँ यह शंका की जाती है कि 'जहाँ-जहाँ चलना कहा गया है, वहाँ-वहाँ हर्ष भी लिखा गया है, यथा—'हरषि चले मुनि भय हरन। २०५।', 'हरषि चले मुनिबर के साथा', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया', पर यहाँ 'चलेके साथ 'हरषि' शब्द नहीं है, यह क्यों ?' और इसका समाधान यह किया जाता है कि अहल्या ब्राह्मणी और ऋषि-पत्नी है। उसको चरणसे स्पर्श करना पड़ा। आपका मर्यादापुरुषोत्तम अवतार है। क्षत्रिय होनेसे आपके मनमें इसकी बड़ी ग्लानि है। आप सोचते हैं कि हमसे बड़ा अपराध हुआ, इससे मनमें बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। यथा—'सिला पाप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरषु हिय चरन छुएको पछिताउ। विनय० १००।' हृदयमें हर्ष नहीं है, इसीसे चलते समय 'हरषि चले' नहीं लिखा गया। (प्र० सं०)]। (घ) 'गए जहाँ जगपावनि गंगा' इति। उपर्युक्त शंका और समाधानके सम्बन्धसे एक भाव यह है कि अहल्याजीके सिर-पर अपना चरण धरनेसे मनमें पश्चात्ताप हो रहा था कि हमसे बड़ा अपराध हुआ वह सोच 'जगपावनी गंगाजी' को देखकर जाता रहा। 'जगपावनि' का भाव कि हमारा सब पाप गंगाजीमें स्नान करनेसे नष्ट हो जायगा, क्योंकि ये जगपावनी हैं, हम पवित्र हो जायँगे—यह भाव माधुर्यमें है। दूसरा भाव यह है कि आप जगपावन हैं, यथा—'तीरथ अमित कोटि सम पावन', 'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन···', और गङ्गाजी भी जगपावनी हैं, इसीसे गङ्गाजीको देखकर बड़ा हर्ष हुआ जैसा अयोध्याकाण्डमें कहा है—'उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेषी। २। ८७।' [पुनः, 'जगपावनि' विशेषणका भाव कि श्रीरघुनाथजीने एक अहल्याको पावन किया और गङ्गा जगत्‌को पावन करनेवाली हैं (पां०)]।

नोट—१ 'गाधिसूनु सब कथा सुनाई···' इति। वाल्मीकीयमें लिखा है कि श्रीरामजीने विश्वामित्रजीसे प्रश्न किया कि 'यह त्रिपथगा (तीन धारावाली गङ्गा) किस प्रकार तीनों लोकोंमें घूमकर समुद्रसे मिली' (१। ३५। ११)। उनके वचनसे प्रेरित हो मुनिने गङ्गाके जन्म और वृद्धिका वृत्तान्त कहा। जो संक्षेपसे यह है—सुमेरुकी कन्या हिमाचलकी स्त्री मेनाकी बड़ी कन्या गङ्गा हुई। देवकार्यकी सिद्धिके लिये देवताओंने इस कन्याको हिमवान्‌से माँग लिया और उन्हें लेकर देवलोकको चले गये। (वाल्मी० १। ३५। १३-१८)।

यह कथा सुनकर फिर उन्होंने गङ्गाजीकी स्वर्गसे मृत्युलोकमें आनेकी कथा पूछी और यह भी पूछा कि गङ्गा तीन धाराओंसे क्यों बहती हैं और उनका नाम त्रिपथगा क्यों पड़ा ?'—इन प्रश्नोंके उत्तरमें सर्ग ३६, ३७ में कार्तिकेय-जन्म-सम्बन्धी गङ्गाकी कथा कही। फिर सर्ग ३८ में राजा सगरकी कथा कही जो संक्षेपसे इस प्रकार है—इक्ष्वाकुवंश (रघुकुल) में एक राजा सगर अयोध्यामें धर्मात्मा और पराक्रमशील राजा हुए। उनकी दो रानियाँ केशिनी और सुमति थीं। (महाभारत वनपर्वमें इनके नाम शैब्या और वैदर्भी हैं। वाल्मी० १। ३८। ३ में केशिनीको विदर्भराजकी कन्या कहा है। इससे संभव है कि ये नाम पिताके सम्बन्धके हैं। सुमति गरुड़की बहिन थीं, ऐसा सर्ग ४१ श्लोक १६ में कहा है।) दोनों रानियों और राजाने हिमालय पर्वतपर जाकर भृगुऋषिके सोनेवाले पर्वतपर सौ वर्ष तपस्या की। भृगुजीने प्रसन्न होकर वर दिया कि एक रानीके वंश बढ़ानेवाला एक ही पुत्र होगा और दूसरीके साठ हजार बली, कीर्तिमान् और उत्साही पुत्र होंगे। जो एक पुत्र उत्पन्न करना चाहे वह एक उत्पन्न करे और जो बहुत चाहे वह बहुत उत्पन्न करे। केशिनीने एक माँगा और सुमतिने साठ हजार।—(पद्मपुराण और महाभारतमें यहाँकी कथासे भेद है। पद्मपुराणमें और्व ऋषिका और महाभारतमें शंकरजीका वरदान देना कहा है *। श्रीमद्भागवत और महाभारत वनपर्वकी कथाएँ मिलती-जुलती हैं)। केशिनीके

* पद्मपु० उत्तरखण्डमें महादेवजीने नारदजीसे कहा है कि 'सुबाहुके पुत्र 'गर' हुए। शत्रुओंने इनका राज्य छीन लिया तब ये परिवारसहित भृगुनन्दन और्वके आश्रमपर चले गये। और्वने उनकी रक्षा की। सगर वहीं पैदा हुए और बढ़े। और्वने अस्त्र-शस्त्र तथा वेद-विद्याका भी अभ्यास करा दिया। सगरके दो रानियाँ थीं। वे दोनों ही तपस्याके द्वारा अपने पाप दग्ध कर चुकी थीं। इससे प्रसन्न होकर और्वने उन्हें वरदान दिया। एकने साठ हजार पुत्र माँगे और दूसरीने एक ही ऐसे पुत्रके लिये प्रार्थना की जो वंश चलानेवाला हो।' ('कल्याण'से)।

महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि दोनों (राजा और रानियों) ने कैलासपर जाकर कठिन तप किया। शंकरजी प्रकट हुए और

असमंजस नामक एक दिव्य बालक उत्पन्न हुआ और सुमतिके गर्भसे एक तुम्बी उत्पन्न हुई । [राजाने तुम्बीको फेंकनेका विचार किया । उसी समय गंभीर स्वरसे आकाशवाणी हुई कि ऐसा साहस न करो । इस तरह पुत्रोंका परित्याग करना उचित नहीं है । इस तुम्बीके बीज निकालकर उन्हें कुछ-कुछ घीसे भरे हुए घड़ोंमें पृथक्-पृथक् रख दो । इससे तुम्हें साठ हजार पुत्र होंगे ।' (महाभारत वनपर्व)] । घीसे भरे घड़ोंमें रखकर, धात्रियोंने उनका पालन किया । उस तुम्बीसे इस प्रकार साठ हजार अतुलित तेजस्वी घोर प्रकृतिके और क्रूर कर्म करनेवाले एवं आकाशमें उड़कर चलनेवाले पुत्र उत्पन्न हुए । दूसरी रानीका पुत्र असमंजस अपने पुरवासियोंके दुर्बल बालकोंका गला पकड़कर सरयूमें डाल देता था और जब वे डूबने लगते तब हँसता था । सब पुरवासी भय और शोकसे व्याकुल रहने लगे । एक दिन राजासे सबने आकर प्रार्थना की कि असमंजससे हमारी रक्षा कीजिये । महात्मा सगरने पुरवासियोंके हितार्थ अपने पुत्रको नगरसे निकाल दिया । राजा हो तो ऐसा हो ! प्रजाकी प्राणोंसे रक्षा करना राजाका धर्म था न कि प्रजाहीका सत्यानाश करना !! असमंजसके एक पराक्रमी पुत्र अंशुमान् थे जो सबको प्रिय थे ।

बहुत काल बीतनेपर राजा सगरने हिमालय और विन्ध्याचलके बीचमें एक अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली । घोड़ा छोड़ा गया । (वह घूमता-घूमता जलहीन समुद्रके पास पहुँचा तब वह अदृश्य हो गया ।) इन्द्रने राक्षसका वेष धरकर उसे चुराकर भगवान् कपिलदेवके आश्रममें बाँध दिया । सगरके साठ हजार राजकुमारोंने समुद्र, द्वीप, वन, पर्वत, नदी, नद और कन्दराएँ सभी स्थान छान डाले परंतु पता न लगा । तब लौटकर उन्होंने सब समाचार राजासे कह दिया । राजाने क्रोधमें आकर आज्ञा दी कि उसे जाकर खोजो, खाली हाथ लौटकर न आना । ये लोग फिर खोजने लगे । एक जगह पृथ्वी कुछ फटी देख पड़ी जिसमें एक छिद्र भी था, उन्होंने उसे पातालतक खोद डाला । वहाँ घोड़ेको उन्होंने घूमते और चरते हुए देखा । उसके पास महात्मा कपिलदेव भी दीख पड़े । मुनि ध्यानमें थे । कालवश ये राजकुमार क्रोधसे भर गये और कहने लगे कि देखो, 'कैसा चोर है ? घोड़ा चुराकर यहाँ मुनिवेष बनाकर बैठा है ।' 'अरे मूर्ख ! तूने हमारे यज्ञका घोड़ा चुराया है । हमलोग सगरके पुत्र तुझे दंड देनेको आ गये, यह तू जान ले ।' इस कोलाहलसे मुनिकी आँखें खुल गयीं और उन्होंने बड़े क्रोधसे हुंकार किया जिससे सब राजकुमार उनके तेजसे भस्म हो गये । (वाल्मी० १ सर्ग ३९, ४० । भा०) । महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि नारदने सब समाचार राजासे कहा । देखिये महात्माके अपमानका फल ! अब एकमात्र अंशुमान् ही राज्यमें थे । राजाने उनको बुलाकर और समझाकर भाइयों और यज्ञके घोड़ेको ढूँढ़नेको भेजा । ये अपने चाचाओंकी खोदी हुई पृथ्वीके रास्तेपर पहुँचे । सब दिग्गजोंको प्रणाम किया और उनसे आशीर्वाद पाकर उस स्थानपर पहुँचे जहाँ सगरके पुत्रोंकी भस्म पड़ी हुई थी । उन्होंने सबको जलांजलि देनी चाही पर कहीं जल न मिला । तब गरुड़ने आकर अंशुमान्‌से कहा कि ये कपिलजीके क्रोधसे भस्म हुए हैं, साधारण जलसे इनको लाभ नहीं होनेका । इनको गंगाजलसे जलांजलि देना । घोड़ा लेकर जाओ ! (वाल्मी० १ । ४१ । १६—२१ ।); परंतु वनपर्वमें लोमशजीने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि अंशुमान् कपिलदेवजीके आश्रमपर गये और उनकी स्तुति की । उन्होंने वर माँगनेको कहा । उन्होंने यज्ञ-अश्व माँगा और अपने पितरोंके उद्धारकी प्रार्थना की । उन्होंने प्रसन्नतासे घोड़ा दिया और वर दिया कि तुम्हारा पौत्र भगीरथ गंगाजीको लाकर इन सबका उद्धार करेगा । घोड़ा लाकर अंशुमान्‌ने राजाको दिया और यज्ञ पूरा किया गया । सगरके पश्चात् अंशुमान् राजा हुए । उन्होंने अन्तमें अपने धर्मात्मा पुत्र दिलीपको राज्य सौंपकर गंगाजीके लिये तप किया । दिलीपने भी गंगाजीके लिये बहुत प्रयत्न किया । उनके पुत्र भगीरथजी अपने पितरोंका वृत्तान्त सुनकर बहुत दुखी हुए और मन्त्रियोंको राज्य सौंपकर वे हिमालयपर तपस्या करने लगे । इन्होंने राज्याभिषेक होते हुए राज्य छोड़ दिया और एक हजार वर्षतक घोर तपस्या की । तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी देवताओं-सहित वहाँ आये और वर माँगनेको कहा । उन्होंने गंगाजीके लिये और एक पुत्रके लिये प्रार्थना की । उन्होंने मनोरथ पूर्ण होनेका वर दिया पर साथ ही यह भी कहा कि गंगाजीके वेगको पृथ्वी न सह सकेगी । उसको धारण करनेकी शक्ति शिवजीको छोड़ किसीमें नहीं है, अतः तुम उनको प्रसन्न करो । यह कहकर और गंगाजीको भगीरथजीका मनोरथ पूर्ण करनेकी आज्ञा देकर

दोनोंने प्रणामकर उनसे पुत्रके लिये प्रार्थना की । शंकरजीने कहा कि 'जिस मुहूर्तमें तुमने वर माँगा है, उसके प्रभावसे एक रानीसे अत्यन्त गर्वीले और शूरवीर साठ हजार पुत्र होंगे किंतु वे सब एक साथ ही नष्ट हो जायँगे । दूसरी रानीसे वंशको चलानेवाला केवल एक ही पुत्र होगा ।'—ऐसा कहकर शंकरजी अन्तर्धान हो गये ।

ब्रह्माजी स्वर्गको गये। (वाल्मी० १। ४२। १४-२५)। [वनपर्वमें लोमशजीने कहा है कि गंगाजीने ही तपस्यासे प्रसन्न होकर दिव्यरूपसे भगीरथ महाराजको दर्शन दिया और कहा कि जो कहो मैं वही करूँ। * भगीरथजीने कहा कि 'मेरे पितृगण महाराज सगरके साठ हजार पुत्रोंको कपिलदेवजीने भस्म कर यमलोकको भेज दिया। जबतक आप अपने जलसे उनका अभिषेक न करेंगी, तबतक उनकी सद्गति नहीं हो सकती। उनके उद्धारके लिये ही आपसे प्रार्थना है।' गंगाजीने कहा कि मैं तुम्हारा कथन पूरा करूँगी। परंतु जिस समय मैं आकाशसे पृथ्वीपर गिरूँगी उस समय मेरे वेगको रोकनेवाला कोई न होनेसे मैं रसातलको चली जाऊँगी। तुम उसका उपाय करो' (भा० ९। ९। ३-५)। 'तीनों लोकोंमें भगवान् शंकरको छोड़ कोई ऐसा नहीं जो मुझे धारण कर सके। अतएव तुम उनको प्रसन्न कर लो जिसमें मैं गिरूँ तो वे मुझे मस्तकपर धारण कर लें।' (महाभारत)] भगीरथजीने तब पुनः तीव्र तपस्या की और महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे गंगाजीको धारण करनेका वर प्राप्त कर लिया। शंकरजी हिमालयपर आकर खड़े हो गये। भगीरथजी गंगाजीका ध्यान करने लगे। इन्हें देखकर गंगाजी स्वर्गसे धाराप्रवाहरूपसे चलीं और शिवजीके मस्तकपर इस प्रकार आकर गिरीं मानो कोई स्वच्छ मोतियोंकी माला हो। शंकर दस हजार वर्षोंतक उन्हें अपनी जटाओंमें धरे रह गये। भगीरथजीने पुनः तपस्या करके शंकरजीको प्रसन्न किया। तब उन्होंने गंगाजीको जटाओंसे छोड़ा। † गंगाजीने राजासे कहा कि मैं तुम्हारे लिये पृथ्वीपर आयी हूँ, अतः बताओ मैं किस मार्गसे चलूँ?' यह सुनकर आगे-आगे राजा रथपर और पीछे-पीछे गङ्गाजी इस तरह कपिलजीके आश्रमपर, जहाँ सगरपुत्रोंकी राख पड़ी थी, वे गङ्गाजीको ले गये। जलके स्पर्शसे उनका उद्धार हो गया। गङ्गाजी सहस्रधारा होकर कपिलजीके आश्रमपर गयीं। समुद्र उनके जलसे तत्काल भर गया। राजा भगीरथने उनको पुत्री मान लिया और पितरोंको गङ्गाजलसे उन्होंने जलाञ्जलि दी। उस जलके स्पर्शसे सगरपुत्रोंका उद्धार हुआ।

☞ यह नदी गङ्गोत्तरीसे निकलती है और 'मन्दाकिनी तथा अलकनन्दासे मिलकर हरिद्वारके पास पथरीले मैदानमें उतरती है।

दूसरी कथा श्रीमद्भागवत ५। १७ में है। उसमें श्रीशुकदेवजीने गङ्गाजीका विवरण इस प्रकार दिया है कि जब भगवान्‌ने त्रिलोकको नापनेके लिये अपना पैर फैलाया तो उनके बाएँ पैरके अँगूठेके नखसे ब्रह्माण्डकटाहके ऊपरका भाग फट गया। उस छिद्रमें होकर जो ब्रह्माण्डसे बाहरके जलकी धारा आयी, वह उस चरणकमलको धोनेसे उसमें लगे हुए केसरके मिलनेसे लाल हो गयी। उस निर्मल धाराका स्पर्श होते ही संसारके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, किंतु वह सर्वथा निर्मल ही रहती है। पहले किसी और नामसे न पुकारकर उसे 'भगवत्पदी' ही कहते थे। वह धारा हजारों युग बीतनेपर स्वर्गके शिरोभागमें स्थित हुई, फिर ध्रुवलोकमें उतरी, जिसे 'विष्णुपद' भी कहते हैं। ध्रुवलोकमें आज भी ध्रुवजी नित्यप्रति बढ़ते हुए भक्तिभावसे 'यह हमारे कुलदेवताका चरणोदक है' ऐसा मानकर उसे बड़े आदरसे सिरपर चढ़ाते हैं। और फिर सप्तर्षिगण 'यही तपस्याकी आत्यन्तिक सिद्धि है' ऐसा मानकर उसे जटाजूटपर धारण करते हैं। वहाँसे गङ्गाजी आकाशमें होकर चन्द्रमण्डलको आप्लावित करती हुई मेरुशिखरपर ब्रह्मपुरीमें गिरती हैं। वहाँसे सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नामसे चार धाराओंमें विभक्त हो जाती हैं। उनमें सीता ब्रह्मपुरीसे गिरकर केसराचलोंके सर्वोच्च शिखरोंमें होकर नीचेकी ओर बहती गन्धमादनके शिखरोंपर गिरती है और भद्राश्ववर्षको प्लावित कर पूर्वकी ओर खारे समुद्रमें मिल जाती है। इसी प्रकार 'चक्षु' माल्यवान्‌के शिखरपर पहुँचकर वहाँसे केतुमाल वर्षमें बह

---

* पद्मपु० उत्तरखण्डमें कहा है कि दस हजार वर्ष तपस्या करनेपर विष्णु भगवान् प्रसन्न हुए। उनके आदेशसे गंगाजी आकाशसे चलीं।

† शिवजीने बिन्दुसरमें गंगाको छोड़ा। वहाँसे उनकी सात धाराएँ हुईं। ह्लादिनी, पावनी और नलिनी पूर्व दिशाकी ओर गयीं। सुचक्षु, सीता और सिन्धु ये तीन पश्चिमको गयीं। और सातवीं धारा भगीरथके पीछे-पीछे गयी (वाल्मी० १।४३।११-१४)। जह्नु ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उनकी यज्ञसामग्री गङ्गाजीने बहा दी, इससे क्रोधमें आकर वे गङ्गाजीका सब जल पी गये। देवताओंने उनको प्रसन्न किया और कहा कि गङ्गा आपकी कन्याके नामसे प्रसिद्ध होगी। तब मुनिने उन्हें कानके मार्गसे निकाल दिया और भगीरथजीके पीछे-पीछे वे फिर चलीं। (वाल्मी० १। ४३। ३४-३९)। भगीरथके मनोरथके लिये वे रसातलमें गयीं। तीन धाराओंमें बहनेसे उनका त्रिपथगा नाम हुआ। वाल्मी० १। ४। ४६।)।

पश्चिमकी ओर क्षीरसमुद्रमें जा मिलती है। 'भद्रा' मेरुपर्वतके शिखरसे उत्तरकी ओर गिरती है तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर जाती हुई अन्तमें शृङ्गवान्‌के शिखरसे गिरकर उत्तर कुरुदेशमें होकर उत्तरकी ओर बहती हुई समुद्रमें मिल जाती है। 'अलकनन्दा' ब्रह्मपुरीसे दक्षिणकी ओर गिरकर अनेकों गिरिशिखरोंको लाँघती हुई हेमकूट पर्वतपर पहुँचती है। वहाँसे अत्यन्त तीव्र वेगसे हिमालयके शिखरोंको चीरती हुई भारतवर्षमें आती है और फिर दक्षिणकी ओर समुद्रमें जा मिलती है। इसमें स्नान करनेके लिये आनेवालोंको पद-पदपर अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं। (श्लोक २ से १० तक)

तीसरी कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भगवान् व्यासने ब्राह्मणोंके पूछनेपर कि 'गङ्गाजी कैसे इस रूपमें प्रकट हुईं ? उनका स्वरूप क्या है ? वे क्यों अत्यन्त पावनी मानी जाती हैं ?' उनसे गङ्गाजीकी कथा विस्तारसे कही है, जिसका संक्षिप्त विवरण यह है। ब्रह्माजीने नारदजीके पूछनेपर कहा था कि पूर्वकालमें सृष्टिका आरम्भ करते समय मैंने मूर्तिमती प्रकृतिसे कहा कि 'देवि ! तुम सम्पूर्ण लोकोंका आदिकारण बनो। मैं तुमसे ही संसारकी सृष्टि करूँगा।' यह सुनकर परा-प्रकृति सात स्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुई। वे सात स्वरूप ये हैं। (१) गायत्री (जिससे समस्त वेद, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा और दीक्षाकी उत्पत्ति मानी जाती है)। (२) वाग्देवी भारती वा सरस्वती (जो सबके मुख और हृदयमें स्थित है और समस्त शास्त्रोंमें धर्मका उपदेश करती है)। (३) लक्ष्मी (जिससे वस्त्र और आभूषणकी राशि प्रकट हुई। सुख और त्रिभुवनका राज्य इन्हींकी देन है। ये विष्णु भगवान्‌की प्रियतमा हैं)। (४) उमा (जिनके द्वारा शङ्करजीके स्वरूपका ज्ञान होता है। यह ज्ञानकी जननी और शङ्करजीकी अर्धाङ्गिनी हैं)। (५) शक्तिबीजा (जो अत्यन्त उग्र, संसारको मोहमें डालनेवाली, जगत्‌का पालन और संहार करनेवाली है)। (६) तपस्विनी (जो तपस्याकी अधिष्ठात्री है)। (७) धर्मद्रवा (जो सब धर्मोंमें प्रतिष्ठित है)। धर्मद्रवाको सर्वश्रेष्ठ जानकर मैंने कमण्डलुमें रख लिया। जब वामनावतार लेकर बलिके यज्ञमें भगवान्‌ने चरण बढ़ाया तब एक चरण आकाश और ब्रह्माण्डको भेदकर मेरे सामने उपस्थित हुआ। मैंने कमण्डलुके जलसे उस चरणका पूजन किया। उस चरणको धोकर जब उसका पूजन कर चुका, तब उसका धोवन हेमकूट पर्वतपर गिरा। वहाँसे शङ्करजीके पास पहुँचकर वह जल गङ्गाके रूपमें उनकी जटाओंमें स्थित हुआ। वे बहुत काल जटाओंमें भ्रमती रहीं। वहाँसे भगीरथजी उन्हें पृथ्वीपर लाये।'

☞ इस प्रकार एक कथाके अनुसार यह जल ब्रह्माण्डकटाहके बाहरका जल है जो भगवान्‌के चरणनखकी ठोकर लगनेसे वहाँसे इस ब्रह्माण्डके भीतर भगवान्‌के चरणको धोता हुआ वह निकला। दूसरी कथाके अनुसार परा-प्रकृति ही जो धर्मद्रवा नामसे जलरूपमें ब्रह्माके कमण्डलुमें थीं उसीसे भगवान्‌का चरण जब धोया गया तो वह धोवन ही गङ्गा नामसे विख्यात हुआ। भगवान्‌के चरणका धोवन होनेसे 'विष्णुपदसरोजजा' और 'विष्णुपदकंजमकरंद' आदि नाम हुए।

चौथी कथा भा० ४। १। १२-१४ में यह लिखी है कि महर्षि मरीचिजीके कर्दमजीकी पुत्री कलासे दो पुत्र कश्यप और पूर्णिमा हुए। पूर्णिमाकी कन्या देवकुल्या हुई। यही कन्या दूसरे जन्ममें श्रीहरिचरणकी धोवनसे गङ्गारूपमें प्रकट हुई।

टिप्पणी—२ 'गाधि सूनु सब कथा सुनाई····' इति। (क) 'सब' कहकर जनाया कि श्रीरामजीकी भक्ति देख विस्तारसे गङ्गाजीकी सब कथा कही। कौन कथा सुनायी, यह अगले चरणमें बताते हैं—'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।' (ख) विश्वामित्रजी 'भक्तिहेतु' श्रीरामजीको कथा सुनाया करते थे। यथा—'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥ २१०। ८॥' वैसे ही यहाँ भी बिना श्रीरामजीके पूछे सुरसरिकी कथा कहने लगे। गीतावलीमें पूछनेपर मुनिने सुरसरिकी कथा कही है, यथा—'बूझत प्रभु सुरसरि प्रसंग कहि निज कुल कथा सुनाई। गाधिसुवन सनेह-सुख-संपति उर आश्रम न समाई। गी० १। ५३॥' इस भेदका समाधान 'कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। ३३। ७॥' है। किसी कल्पमें पूछनेसे कही और किसीमें बिना पूछे कही। (गीतावलीकी कथा प्रायः वाल्मीकीयसे मिलती है। मानस और गीतावलीके कथा-प्रसङ्गोंमें जहाँ-तहाँ बहुत भेद है। वाल्मीकीयमें बीचमें शोणनदके तटपर एक रात निवास हुआ है। वहाँ श्रीरामजीने उस देशका वृत्तान्त पूछा। वह देश कौशिकजीके पूर्वज कुशके पुत्र राजा वसुकी राजधानी थी। इस सम्बन्धसे विश्वामित्रजीने अपने वंशकी कथा सुनायी थी। सर्ग ३१ में प्रश्न है और सर्ग ३२, ३३, ३४ में कथा है। आगे जब गङ्गातटपर पहुँचे तब सुरसरि-प्रसङ्ग पूछा है। मानसमें गङ्गातटपर रुके हैं। गीतावलीमें 'सुरसरिप्रसंग' और 'निज कुल कथा' दोनोंका सुनाना वाल्मीकीयके अनुसार है)। (ग) 'सब' कथा विस्तारसे सुनाना कहा, 'सब' से विस्तार सूचित कर दिया,

पर अपने ग्रन्थमें उसका विस्तार न किया; यह ग्रन्थकारकी बुद्धिमानी है। (घ) 'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई' इति। 'सुरसरि' और 'महि आई' शब्दोंसे जनाया कि ये देवनदी हैं, स्वर्गसे पृथ्वीपर आयी हैं। स्वर्गसे यहाँ क्यों और किस प्रकार आयीं, यह सब कथा कही। (ङ) पूर्व गङ्गाजीको 'जगपावनि' कहा—'गये जहाँ जगपावनि गंगा।' अब यहाँ बताते हैं कि वे जगपावनी कैसे हैं—सुरसरि पृथ्वीपर आयीं, इसीसे जगत् पवित्र हुआ। स्वर्गमें रहनेसे केवल देवलोकपावनी थीं। (च) कथा सुनायी और गङ्गाजीकी महिमाका वर्णन किया; क्योंकि गाधिराजा बड़े प्रतिष्ठित थे, ये उनके पुत्र हैं। गाधि धातुका अर्थ प्रतिष्ठा है—'गाधि प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च'। [प्र० सं० में हमने लिखा था कि श्रीरामजीके पूछनेपर कथा कही। गीतावलीके अनुसार 'गाधिसूनु' से यह भाव ले सकते हैं कि 'निज कुल कथा' भी सुनायी है, इसीसे 'गाधिसूनु' नाम दिया। परंतु 'जेहि प्रकार' से उसका निषेध होता है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'गाधिसूनु' नाम देकर जनाया कि बहुत कालीन हैं, गङ्गाजी इनके सामने आयी हैं। (रा० प्र०)]

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। बिबिध दान महिदेवन्हि पाए॥ ३॥
हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया॥ ४॥

शब्दार्थ—सहाया= सहायक। निअराना=निकट पहुँचाना; निकट आना या जाना=पास होना।

अर्थ—तब प्रभुने ऋषियोंसमेत स्नान किया। ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके दान पाये॥ ३॥ मुनिवृन्दके सहायक श्रीरामजी हर्षपूर्वक चले। शीघ्र ही विदेह राजाका नगर निकट आ गया। (अर्थात् जनकपुरके निकट पहुँच गये)॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'तब प्रभु रिषिन्ह···' इति। (क) 'तब' अर्थात् गुरुमुखसे गंगाजीकी महिमा सुनकर (तब स्नान किया)। माहात्म्य सुनकर स्नान करनेमें भाव यह है कि महिमा सुननेसे तीर्थमें श्रद्धा होती है और स्नानकी विधि बनती है।—[श्रद्धासे मनोरथ सफल होता है। कथा सुननेसे विधि मालूम होती है। (प्र० सं०)। पुनः, 'तब' का भाव कि मुनिसे कथाद्वारा जानकर कि गङ्गाजी हमारे पूर्वजोंके उद्धारहेतु स्वर्गसे पृथ्वीपर आयी हैं, 'प्रभु' होते हुए भी उन्होंने गङ्गामें स्नानकर अपनेको पवित्र माना। (प्र० सं०)]। (ख) ☞श्रीरामजी तो सब जानते हैं। वे अपने आचरण-द्वारा जगत्के समस्त प्राणियोंको उपदेश देते हैं कि तीर्थमें जाय तो तीर्थकी महिमा सुनकर तब विधिपूर्वक उसमें स्नान करे। यथा—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः॥ भा० ५। १९। ५॥' अर्थात् 'आपका यह मनुष्यावतार केवल राक्षसोंका वध करनेके लिये ही नहीं हुआ, किंतु मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये हुआ है।' अयोध्याकाण्डमें आपका, गङ्गाजीकी महिमा कहकर तब श्रीसीता अनुजसमेत स्नान करना लिखा है, यथा 'सचिवहिं अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुधनदी महिमा अधिकाई॥ मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। २।८७।'; इससे स्पष्ट है कि गङ्गाजीमें आपकी बड़ी भक्ति है। इसीसे आप गङ्गाजीका माहात्म्य कहते भी हैं और सुनते भी हैं। (ग) 'रिषिन्ह समेत नहाए', इति। ऋषियोंसहित स्नानसे जनाया कि श्रीरामजीकी ऋषियोंमें अत्यन्त भक्ति है, इसीसे वे सब काम ऋषियोंसमेत करते हैं। यथा—'तब प्रभु ऋषिन्ह समेत नहाए', 'हरषि चले मुनिबृन्द सहाया', 'चलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनिबृंद समेता॥ २१४। ७।', 'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजनु बिश्रामु। २१७।', 'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुषमखसाला॥ २४०। ४॥', इत्यादि। अयोध्याकाण्डमें आपने मातासे कहा है कि 'मुनिगन मिलनु बिसेष बन सबहि भाँति हित मोर। २। ४१।' पुनः यथा—'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया॥'—ये सब उदाहरण श्रीरामजीकी भक्तिके प्रमाण हैं। (घ) गङ्गाको उतरकर उस पार स्नान करना अन्य प्रमाणोंके अनुसार यहाँ भी समझना चाहिये। यथा—'तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥ २। १०३॥', 'करि मज्जन सरयू जल गए भूप दरबार। २०६।' यहाँ गङ्गा उतरने, पार करनेका प्रसंग कुछ नहीं लिखते क्योंकि अयोध्याकाण्डमें इसे विस्तारसे लिखना है।

२ 'बिबिध दान महिदेवन्हि पाए' इति। (क) बहुत प्रकारका दान अर्थात् अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, मणि, गऊ, हाथी, घोड़े, पालकी, आभूषण इत्यादि। (ख) 'महिदेवन्हि पाए'—यहाँ ब्राह्मणोंका दान पाना लिखते हैं, दानका देना नहीं लिखते। कारण यह है कि यहाँ श्रीरामजीके पास कुछ भी द्रव्य नहीं है और वैरागियोंका साथ है, इसलिये यहाँ उन्होंने संकल्पमात्र कर दिया (और कह दिया कि श्रीअयोध्याजीमें आकर ले लेना)। बड़े-बड़े राजाओं और रईसोंमें अब भी यह रीति प्रचलित है, अतः यहाँ साक्षात् पदार्थोंका देना न लिखा केवल पाना लिखा। जहाँ साक्षात् पदार्थ दानमें दिया जाता

है, वहाँ देना लिखते हैं। जैसे लङ्कासे लौटनेपर प्रयागमें दान देना लिखा है। यथा—'पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह। कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ दान बिबिध बिधि दीन्ह ॥ ६ । ११९ ॥', क्योंकि यहाँ पुष्पक-विमानपर दानके सब पदार्थ साथ हैं। इसी प्रकार श्रीभरतजीका त्रिवेणी-स्नान-समय दान देना लिखा है, यथा—'सविधि सितासित नीर नहाने। दिये दान महिसुर सनमाने ॥ २ । २०४ ॥' क्योंकि भरतजीके साथ सब सामग्री मौजूद थी। जैसे यहाँ ऋषियोंके साथमें श्रीरामजीके पास कुछ न था, वैसे ही वनयात्रामें 'तापस बेष बिसेषि उदासी' होनेसे उस समय भी श्रीरामजी खाली हाथ थे, इसीसे उस समय प्रयागमें स्नान करनेपर दानका देना नहीं लिखा गया; यथा—'मुदित नहाइ कीन्ह सिव सेवा'। [और न शृङ्गवेरपुरसे चलकर पार उतरनेपर दानका उल्लेख हुआ, यथा—'तब मज्जन करि रघुकुल नाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा ॥ २ । १०३ ॥' ☞ यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'वनयात्रामें दान देना लिखा सो ठीक है, पर जैसे यहाँ 'बिबिध दान महिदेवन्ह पाए' अर्थात् विप्रोंका दान 'पाना' लिखा है, वैसे ही वहाँ 'पाना' भी तो नहीं लिखा है ?, इसका समाधान यह है कि इस समय श्रीरामजी श्रीविश्वामित्रजीके साथ राजकुमारकी हैसियतसे हैं, पिताने उनको मुनिके साथ भेजा है। अतः इस समय राजकुमारोंको संकल्प करनेका अधिकार है। और वनयात्रामें उनको अयोध्याके कोषपर कोई अधिकार न था; क्योंकि वह राज्य तो, कैकेयीजीके वरदानके अनुसार भरतजीका हो चुका था। दूसरे] उस समय अयोध्यामें उपद्रव था, ये तो आप ही वहाँसे निकाल दिये गये थे (तब सङ्कल्प कैसे करते ? अतः न देना ही लिखा गया और न पाना ही)। (रा० प्र० कारका मत है कि विश्वामित्र तो सिद्ध मुनि हैं, ऋद्धि-सिद्धि उनकी दासी हैं। उन्होंने अपने तपोबलके सम्बन्धसे हाथी, द्रव्य आदि सभी वहाँ उपस्थित कर दिये, इसीसे 'महिदेवन्हि पाए' लिखा गया। अथवा, घोड़ा, हाथी आदिका मूल्य श्रीरामजीने अपने बहुमूल्य आभूषणद्वारा दे दिया। अथवा, मारीच-सुबाहु आदिका संहार करनेपर बहुत-सा लूटका माल मिला था, उसीसे यहाँ दान दिया गया)। (ग) 'रिषिन्ह समेत नहाए' कहकर सूचित करते हैं कि विविध दान भी ऋषियोंके समेत किया। प्रभुने दान दिया और ऋषियोंसे भी दान कराया। यथा 'कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ दान बिबिध बिधि दीन्ह। ६। ११९।' (जब पशुओंके साथ स्नान करनेपर उनसे दान कराया तब भला ऋषियोंसहित नहानेपर ऋषियोंसहित दान देनेमें सन्देह ही क्या हो सकता है ?)। [पात्रे दानम्। दान पात्रको देना चाहिये, अतः पृथ्वीके देवताओं 'ब्राह्मणों' को दान दिया। ब्राह्मणब्रुव (जो केवल ब्राह्मण कहलानेवाले हैं) का ग्रहण न हो इसलिये महिदेव कहा। दानसामग्रीके विषयमें शङ्का न हो। इसलिये 'प्रभु' कहा। उन्हें सब सामर्थ्य है। (वि० त्रि०)]

३ 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया····।' इति। (क) हर्ष होना स्नानका गुण है। स्नान किया, इससे मन प्रसन्न हुआ और यात्रामें हर्षका होना शकुन है। यात्रामें शकुन बारम्बार हर्षद्वारा जनाया है, यथा—'धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा ॥ २१० । १० ॥', 'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भयहरन ॥ २०८ ॥'; तथा यहाँ। [पुनः हर्ष इससे कि जनकपुर पहुँचकर श्रीराजकिशोरीजी और उनकी परिकरियोंको जो परम-शोभा सम्पन्न हैं देखेंगे। (रा० प्र०)] (ख) 'मुनिबृंद सहाया' कहकर जनाया कि मुनिवृंदको साथमें लेकर चले। यथा—'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला ॥ २४० । ४ ॥' (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'सहाय' शब्द सेनाके अर्थमें बराबर प्रयुक्त होता है। यथा—'लै सहाय धावा मुनिद्रोही' 'निदरे राम जानि असहाई' 'मुनिबृंद सहाया' का अर्थ है कि ये दोनों भाई मुनिवृन्दकी सेना हैं। जैसे राजाओंकी जीत सैन्यबलसे होती है वैसे ही मुनिवृन्दकी जीत इन्हीं दोनों भाइयोंद्वारा होती है, अतः 'मुनिबृंद सहाया' कहा)। (ग) 'बेगि' से सूचित होता है कि गङ्गाजीसे जनकपुर निकट ही है। (पुनः 'बेगि' का सम्बन्ध पूर्वार्द्धसे भी है। चलनेमें भी शीघ्रता है क्योंकि राजा जनकके दूतोंने कहा था कि शीघ्र ही चलिये। मार्गमें दो जगह ठहरना पड़ा था, अतएव शीघ्रतासे चले। बैजनाथजीका मत है कि श्रीजानकीजीके दर्शनकी उत्कण्ठासे शीघ्रतासे चले।) । (घ) 'बिदेह नगर' कहकर नगरकी अद्भुतता दिखायी। जैसे विदेह राजा अद्भुत हैं, देह धारण किये हुए भी विदेह हैं, वैसे ही उनका नगर भी अद्भुत है; यथा—'बिधिहि भयेहु आचरज बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी। ३१४ । ८ ।' [(ङ) यहाँ 'प्रथम हेतु अलंकार' है। चलना कारण और विदेहनगरके समीप पहुँचना कार्य दोनों एक साथ कहे गये हैं। (वीर)]

पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी ॥ ५ ॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—रम्यता=रमणीयता, सुंदरता, शोभा। साहित्यदर्पणके अनुसार वह माधुर्य जो सब अवस्थाओंमें बना रहे, या क्षण-क्षणमें नवीन रूप धारण किया करे। बापी=बावली।

अर्थ—जब श्रीरामजीने नगरकी रमणीयता देखी तब (वे) भाई (लक्ष्मण) सहित अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ ५॥ अनेकों बावलियाँ, कुएँ, नदियाँ और तालाब (देखे) जिनमें अमृतसमान (मधुर) जल और मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'पुररम्यता…' इति। [(क) श्रीरामजी अब प्रसन्न हैं, उनकी प्रसन्नताके सम्बन्धसे 'पुररम्यता' की प्रशंसा की। यथा—'परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत। २२७।' (प्र० सं०)] (ख) **'हरषे अनुज समेत बिसेषी'** से पाया गया कि पुर अत्यन्त रमणीय है। पुरकी विशेष शोभा है, इसीसे विशेष शोभा देखकर विशेष हर्ष हुआ। यथा—**'बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत। २२७।'** (वि० त्रि० का मत है कि 'सभीको उसे देखनेसे हर्ष हुआ, परंतु सबके देखने और दोनों भाइयोंके देखनेमें अन्तर था। ये दोनों राजकुमार हैं, नगर-निर्माण-विज्ञानके पण्डित हैं। रत्नको सभी लोग देखते और उसकी रमणीयतापर मुग्ध भी होते हैं पर उसके वास्तविक गुण तो जौहरी ही देखते हैं। श्रीराम-लक्ष्मणजी नगर-व्यवस्थापन-कलाके जौहरी थे, अतः इन्हें विशेष हर्ष हुआ)। [अथवा स्नान करके चले तब हर्ष हुआ और जब पुररम्यता देखी तब विशेष हर्ष हुआ। अथवा, धनुष-यज्ञ सुना तब हर्ष हुआ था, यथा—**'धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले'**…। २१०। १०।' जब नगरकी शोभा देखी तब यह समझकर विशेष हर्ष हुआ कि जब बाहरकी यह शोभा है तो भीतर तो कुछ अपूर्व ही शोभा होगी। अथवा, विशेष हर्ष आगे कुछ विशेष मंगल होनेका द्योतक है। प्रवेशके समय हर्षका होना शकुन है, इसके फलस्वरूप श्रीराजकिशोरीजीकी प्राप्ति होगी। (वै०, रा० प्र०)] (ग) यहाँ यह शंका होती है कि और सब कृत्य तो मुनियोंके साथ वर्णन करते आये हैं, जैसे कि चलना, स्नान करना, दान देना, भोजन करना इत्यादि, परन्तु यहाँ मुनियों वा ऋषियोंसहित न कहकर 'अनुज समेत' कहते हैं। यह क्यों? इसका समाधान यह है कि मुनि सात्त्विकी होते हैं, वे रजोगुणी वस्तुओंको देखकर नहीं प्रसन्न होते वरंच श्रीरामसम्बन्धी सत्त्वगुणी पदार्थोंमें प्रसन्नता मानते हैं, जैसे, श्रीहनुमान्‌जी जब लंकामें गये तब वहाँके बड़े-बड़े दिव्य रत्नजटित स्थानों और महलोंको देखकर उन्हें प्रसन्नता न हुई और वहाँ जब विभीषणजीका सत्त्वगुणी स्थान देखा, विभीषणजीके मुखसे 'राम-राम' सुना और उनसे मिले तब प्रसन्न हुए। यथा—**'रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ। नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।** ५। ५।', वैसे ही यहाँ पुरकी रमणीयतासे ऋषियोंको हर्ष न हुआ। राजकुमारोंको राजसी पदार्थ देखकर हर्ष होना योग्य ही है। अतएव 'मुनि समेत' न कहकर 'अनुज समेत' हर्षित होना कहा गया।

प० प० प्र०—मिथिलापुरी देखकर मुनियोंको हर्ष नहीं हुआ। पर श्रीअयोध्याजीका सौन्दर्य आदि देखते ही मुनियोंकी क्या दशा हो जाती है यह उत्तरकाण्डमें देखिये। यथा—**'नारदादि सनकादि मुनीसा।…दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥…महि बहु रंग रचित गज काँचा। जो बिलोकि मुनिवर मन नाचा।** ७। २७। १–६।'

अब कहिये जनकपुरी श्रेष्ठ है या अवध? धनुर्भंगोत्सवके लिये सजायी हुई जनकपुरीको देखनेसे सानुज रघुनाथजीको हर्ष हुआ, यह ठीक है, पर वास्तविक कारण हर्षका क्या है यह निश्चित करनेके लिये यह बात ध्यानमें अवश्य रखकर विचार करना चाहिये कि जो सम्राट्‌कुमार अवधसरीखे परम रमणीय नगरमें रहते थे, उन्होंने १५–२० दिनोंतक किसी भी नगर आदिकी शोभा देखी नहीं, कुछ दिन तो घने काननमें और कुछ दिन मुनि-आश्रममें रहनेके पश्चात् आज रम्य जनकपुरी देखी, इससे उनको हर्ष होना बाल-स्वभाव-निदर्शक है। ☞ दोनों पुरियोंका मिलान दोहा २१४ (३–४) में देखिये।

टिप्पणी—२ 'बापी कूप…' इति। (क) सब जलाशयोंमें सीढ़ियाँ हैं। बावलियोंमें नीचे उतरनेकी, कुओंमें कुएँकी जगतपर चढ़नेकी, नदियों और तालाबोंमें बँधे हुए पक्के घाटोंपर उतरनेके लिये सीढ़ियाँ हैं। [(ख) **'सुधा सम'** अर्थात् मधुर, मनोहर, मंगलकारी, सुशीतल, रोगहारक इत्यादि। 'नाना' कहा क्योंकि जनकपुरमें बड़े-बड़े बहुत तालाब थे, अब भी रत्नसागर, विहारकुण्ड, अग्निकुण्ड आदि बड़े-बड़े तालाब और कमला, विमला, दूधमती, लक्ष्मणा, रातो आदि अनेक छोटी-छोटी नदियाँ हैं]

गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥ ७॥

बरन बरन बिकसे बनजाता । त्रिबिध समीर सदा सुखदाता ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कूजना=मधुर शब्द करना; चहचहाना । बनजाता । बन (=जल)+जाता=कमल ।

अर्थ—मकरन्दरस पीकर मतवाले भौंरे सुन्दर गुंजार कर रहे हैं। बहुत रंग-विरंगके पक्षी सुन्दर मधुर शब्द कर रहे हैं ॥ ७ ॥ रंग-विरंगके कमल खिले हैं । शीतल, मन्द और सुगन्धित तीन प्रकारकी वायु सदा सुख दे रही है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'गुंजत मंजु····' इति । (क) जलाशयों (वापी, कूप, सरित, सर) का वर्णन करके पक्षियोंका वर्णन करते हैं, इससे पाया गया कि ये जलाशयके पक्षी, जलकुक्कुट और कलहंस आदि हैं। यथा—'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। ३ । ४० । २ ।' (यह पम्पासरपरका वर्णन है) । (ख) 'मंजु' कहनेका भाव कि भ्रमर गुंजार करते हुए छबि पा रहे हैं, यथा—'मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं ।' (ग) 'मत्तरस भृंगा' भ्रमरोंको यहाँ रससे मतवाले कहकर आगे उस रसका वर्णन करते हैं कि कहाँसे मिला, 'बरन बरन बिकसे बनजाता ।' 'मत्तरस' कहकर जनाया कि कमल फूले हुए हैं । भ्रमर और पक्षी कमलके स्नेही हैं, इसीसे भ्रमरोंका गुंजार और पक्षियोंकी कूज कहकर आगे कमलका फूलना कहते हैं । [मत्तरस= रसके मतवाले । (पां०)]

२ (क) 'बरन बरन बिकसे बनजाता' इति । यथा—'सोह बहु रंग कमल कुल सोहा ।' तथा 'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहु रंग ।' दोहा ३७ (५) भाग १ तथा दोहा ४० भाग १ देखिये। (ख) 'त्रिबिध समीर सदा सुखदाता' इति । नदी और तालाबोंके जलके स्पर्शसे वायु शीतल है, सुमन-वाटिका और कमलोंके स्पर्शमें सुगन्धित है और वन-बागकी आड़से आती है इससे मन्द है । सदा त्रिबिध समीर चलती रहती है, इससे पाया गया कि कमल और पुष्प-वाटिकाएँ सदा फूली रहती हैं अर्थात् वसन्त यहाँ सदा बना रहता है, इसीसे 'सदा सुखदाता' कहा । (वसन्त सुखदायक होता ही है)। (ग) ☞ यहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका सुख वर्णन करते हैं । 'बापी कूप सरित सर नाना । सलिल सुधा सम मनि सोपाना ॥' से जिह्वा इन्द्रियका, 'गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा । कूजत कल बहु बरन बिहंगा ॥' से श्रवणेन्द्रियका, 'बरन बरन बिकसे बनजाता' से नेत्रेन्द्रियका (फूले हुए कमलोंको देखकर नेत्रोंको सुख मिलता है) और 'त्रिबिध समीर सदा सुखदाता' से नासिका और त्वचाका सुख कहा । सुगन्ध नासिकाका विषय है और स्पर्श त्वचाका । [यहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय प्राप्त हैं । 'सलिल सुधासम' यह जिह्वाका विषय रस है, 'गुंजत····कूजत कल' यह पक्षियों आदिका शब्द श्रवणका विषय है, 'त्रिबिध समीर' में सुगन्ध और स्पर्श नासिका और त्वचाके विषय कहे गये और रंग-विरंगके कमल यह नेत्रोंका विषयरूप प्राप्त है। (प्र० सं०)]

दोहा—सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास ।
फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास ॥ २१२ ॥

अर्थ—पुष्पवाटिका (फुलवारी), बाग और वन, जिनमें बहुत-से पक्षियोंका निवास है, फूलते, फलते और सुन्दर पत्तोंसे लदे हुए नगरके चारों ओर सुशोभित हैं ॥ २१२ ॥

श्रीराजारामशरणजी—हमने पहिले भी कहा है कि कवि चित्रपट (परदा) भी शब्दरूपमें वर्णन कर देता है कि एक ओर नाटकके परदे बनानेवालेको सहायता मिले और दूसरी ओर केवल पढ़नेवालेके सामने पूरा चित्र आ जावे । यहाँके और आगेके वर्णनोंमें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

१ प्राकृतिक सौन्दर्य वाटिका, बाग और वन तथा उनके अंदरके पुष्प इत्यादिमें है ।

२ मानवीय कलाका भी सुन्दर वर्णन है ।—(क) 'मनिसोपान'—'चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे' इत्यादिमें पच्चीकारी और मीनाकारीका संकेत है । (ख) कोट और महलोंके वर्णनमें शिल्पकला । (ग) पुरट पट और कुलिशकपाट इत्यादिमें सुवर्णकारी और जड़ियोंकी कला । (घ) सारे वर्णनमें 'नगर-रचना' (Town Planning) की कला ।—मैंने अपने एक वैदिक मेगज़ीन (Vedic Magazine) में प्रकाशित लेखमें तुलसीदासजीकी Designing Art डिजाइनिंग कलाका विस्तारसे वर्णन किया है। जनकपुर और अयोध्याके वर्णनोंमें 'नगररचनाकला' का पूर्ण विकास है। (ङ) चित्र सूना और चुप नहीं है । वहाँ मानवी प्रगतियाँ चुहिल-पुहिल, 'त्रिबिधि बयारि' कलरव इत्यादि भी हैं । किसीने ठीक कहा है

कि फ़िल्मकलाकारका प्रकटीकरण चित्रोंद्वारा ही होता है। हमने देखा है और देख रहे हैं कि तुलसीदासजीकी चित्रण-कला भी वैसी ही है।

नोट—मैं तो जब 'ताज' और आगरा एवं दिल्लीके महल इत्यादि और उनकी शिल्प पच्चीकारी व मीनाकारीको देखता हूँ और यह स्मरण करता हूँ कि 'मानस' की रचना शाहजहाँसे पहिले हो चुकी थी और यह समझता हूँ कि तुलसीदासजीका सम्बन्ध रहीम खाँ व खानखाना इत्यादिसे था तो यह अवश्य निश्चय होता है कि मूल कारीगरोंपर हमारे कविका प्रभाव निश्चय ही पड़ा है। (फुलवारी, गिरिजामन्दिर और सीताविवाहमण्डपको साथ-साथ विचारिये और यहाँके वर्णनके साथ देखिये।)

३ हाँ, यह याद रहे कि यहाँ एक परदा नहीं किंतु अनेक परदे हैं। यह भी याद रहे कि आगेकी नाटकीय कला-वाली वार्ताओंमें यथासमय हमको इन्हीं परदोंमेंसे उचित परदेकी उपस्थिति समझ लेनी चाहिये। कविने इसीलिये एक जगह लिख दिया है कि वार्ताओंके बीचमें अड़चन न हो।

४ गान्धीजीने एक बार ठीक लिखा था कि 'विहार' प्रान्तका नाम ही प्रकट करता है कि प्रकृतिमाताका वह विहार-स्थान है। 'सियनिवास' होना भी उसी ओर संकेत करता है। आज भी संसारके सबसे घने वासस्थलोंमें चीन और विहार ही समझे जाते हैं। विहारके लिये किसीने ठीक कहा है कि सारा सूबा ही प्राकृतिक सम्पत्ति और सुन्दरताके साथ एक ही बस्ती-सी है।

महाकाव्यकलामें जहाँ प्रकृतिमाताका पूर्ण विकास है वही 'रम्यता' है और इसीलिये रामरूप पुरुष वहीं आकर रमता है—'**गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं**…॥' प्रकृतिमाता और पुरुष-पिताका आकर्षण एक दूसरेकी ओर फिर उनका सम्मिलन ही एक ओर महाकाव्यका दृश्य है तो दूसरी ओर शुद्ध शृङ्गारके नाटकीय कलाका भी।

नोट—प्रारम्भमें विस्तृत नोटका आशय ही यह है कि इस दृष्टिकोणसे विचार करते चलें तो कलाका मर्म और उसकी सुन्दरताका विशेष अनुभव होगा।

५ कैसी सुन्दरतासे ऐसे दृश्य दिखाकर राम और लक्ष्मणमें Æstetic Faculty सौन्दर्यानुभवकी शक्तिका विकास कुशल कवि कराता है, नहीं तो अबतक तो शान्त और वीर रसोंका ही विकास उनमें था—'**पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी॥**'

टिप्पणी—१ (क) 'सुमनबाटिका, बाग, बन, फूलत, फलत, सुपल्लवत' में 'यथासंख्य अलंकार' है। पुष्पवाटिका फूलती है, बाग फलते हैं और वन सुन्दर पत्तोंसे सुशोभित रहते हैं। (ख) 'बिपुल बिहंग निवास' इति। पूर्व जो पक्षी कहे गये वे जलके आश्रित रहनेवाले पक्षी अर्थात् जलपक्षी थे और ये वन-बाग-वाटिकाके पक्षी हैं, इसीसे उनसे पृथक् यहाँ पुनः 'विहंग' का वर्णन हुआ। भ्रमरोंको ऊपर कहा-'**गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा**' पर यहाँ न कहा; ये भी तो दोनों जगह, जल और थलमें होते हैं। इसका उत्तर यह है कि भ्रमर वाटिका आदिमें भी अवश्य होते हैं इसमें सन्देह नहीं, परंतु भ्रमर न्यारे-न्यारे नहीं हैं, वही भौंरा जलके आश्रित फूलोंपर और वही वाटिकाके फूलोंपर बैठता है; इससे दोनोंके भौंरोंको एक ही जगह कहकर एक ही जनाया। (ग) '**सोहत पुर चहुँ पास**' इति। जिस प्रकार ये सब पुरके चारों ओर सोह रहे हैं वह क्रमसे दिखाते चले आ रहे हैं। इस तरह कि पुरके बाहर प्रथम '**बापी कूप सरित सर**' हैं, तब सुमनवाटिका हैं, फिर बाग हैं, अन्तमें वन हैं। यथा—'**बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।** ५। ३।' यहाँ लङ्कामें पुरके बाहरसे पुरतकका वर्णन किया है। ऐसा ही क्रम अयोध्याके वर्णनमें है जब पुरके बाहरसे पुरतकका वर्णन किया गया है। यथा—'**बाहेर नगर परम रुचिराई। देखत पुरी अखिल अघ भागा॥ बन उपबन बाटिका तड़ागा॥ बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं॥ बहुरंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं। आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं॥** ७। २९।' और यहाँ जनकपुरमें '**सोहत पुर चहुँ पास**' और आदिमें '**पुर रम्यता राम जब देखी**' पद देकर जना दिया कि पुरके पाससे बाहेर वनतकका वर्णन यहाँ उठाया है। (घ) ☞ यहाँ पुरकी और वापीकूपादिकी अन्योन्य शोभा कहते हैं। पुरकी शोभा वापीकूपादिसे है और वापीकूपादिकी शोभा पुरके पास चारों ओर होनेसे है।

बनै न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाब मन तहँ लोभाई॥ १॥

चारु बजारु बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि*जनु स्वकर सँवारी॥ २॥

शब्दार्थ—निकाई=शोभा, सुन्दरता। अँबारी=छज्जा। (श० सा०)।=रविश। (श० सा०)।=तिदरी दूकान। (पश्चिमदेशोंमें)।=दोनों तरफकी दूकानें=दूकानोंकी कतार (पंक्ति) की कतार। (रा० प्र०)।=दूकानोंके सामनेके मार्ग या पटरी। (गौड़जी)। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि नीचेके मंजिलकी दूकानोंकी पंक्तिको बाजार, ऊपरके मंजिलके कमरोंको अंबारी (जिनमें कोठियाँ चलती हैं) और सर्वोपरि मंजिलकी अटारी संज्ञा है। स्वकर=अपने हाथसे।

अर्थ—नगरकी शोभा सुन्दरताका वर्णन नहीं करते बनता। मन जहाँ जाता है वहीं लुभा जाता है॥ १॥ सुन्दर बाजार है। मणिजटित वा मणिकी ही विचित्र 'अँबारी' है मानो ब्रह्माजीने अपने हाथोंसे सजकर बनायी है॥ २॥

नोट—१ पुरके चारों ओरकी शोभा कहकर अब पुरके भीतरकी शोभा कहते हैं। पुरके बाहरकी शोभा इतनी भारी है कि उसने दोनों भाइयोंको विशेष हर्षित कर दिया, अर्थात् लुभा लिया, यथा—'हरषे अनुज समेत बिसेषी'। तब पुरके भीतरकी शोभा कौन कह सकता है? यथा—'पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई॥ ७। २९।' अतः कहा कि 'बनै न बरनत नगर निकाई'।

टिप्पणी—१ 'बनै न बरनत·····' इति। (क) 'बनै न बरनत नगर निकाई' का भाव कि हमने पुरके बाहरका वर्णन किया, किंतु भीतरका नहीं कर सकते। पुनः, भाव कि पुरके भीतरकी शोभाका वर्णन करनेको जी तो चाहता है पर उसका वर्णन करते नहीं बनता। क्यों नहीं करते बनता, इसका कारण दूसरे चरणमें देते हैं—'जहाँ जाइ मन·····' मन ही लुब्ध हो जाता है (जो इन्द्रियोंका राजा है) तब वर्णन कैसे हो? मन सावधान हो तब तो कुछ कहा जा सके, यथा—'सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥ ५। ३३।' जब कारण ही नहीं तो कार्य कैसे हो? वर्णन करनेमें मन ही तो मुख्य है, वाक् आदि इन्द्रिय तो उसीके अधीन कार्य करते हैं। (ख) 'जहाँ जाइ मन तहँ लोभाई' कहकर जनाया कि पुरकी शोभा अपार है। [(ग) शंका—'निकाई' का वर्णन नहीं हो सकता तो आगे उसका वर्णन कैसे किया?' समाधान—आगेका वर्णन कुछ अंशोंका दिग्दर्शनमात्र है। 'निकाई' के कुछ ही अंशों वा अङ्गोंका वर्णन आगे है, न कि 'निकाई' का (घ) 'नगर निकाई' के और भाव—(१) 'कोई नगर किसी वस्तुका होता है, यह नगर 'निज निकाई' का है। (पा०)। अथवा, (२) जैसे देवनगर, गन्धर्वनगर इत्यादि, वैसे ही यह 'निकाई-नगर' है। अर्थात् सुन्दरताका निवासस्थान है, (जो 'सुंदरता कहँ सुंदर करई' उन श्रीसीताजीका यहाँ निवास है), इसीसे 'बनै न बरनत'। (रा० प्र०)]

नोट—२ यहाँ एक शङ्का यह की जाती है कि 'अभी तो श्रीरामजीने नगरमें प्रवेश नहीं किया, अभी तो वहाँकी शोभा उनके देखनेमें नहीं आयी। बिना नगरमें प्रवेश किये उनको नगरकी शोभा कैसे देख पड़ी जो आपने अभीसे शोभाका वर्णन प्रारम्भ कर दिया? जब वे नगरमें प्रवेश करते और उसे देखते चलते तब उसका वर्णन योग्य था?'। समाधान यह है कि यह वर्णन वक्ताओंका है। वे ही भीतरकी शोभा कह रहे हैं। श्रीरामजीने अभी पुरके बाहरकी शोभा देखी है, (इसीसे पुरके बाहर उनका देखना कह आये; यथा—'पुररम्यता राम जब देखी'। पुरके भीतरकी शोभा अभी उन्होंने नहीं देखी, इसीसे भीतरके वर्णनमें उनका देखना नहीं कहा)। आगे पुरके भीतरकी शोभा देखने जायँगे तब उसको लिखना था, पर उस समय पुरवासिनियोंकी प्रीति और सखियोंकी वार्तालाप लिखनी है। (उस समय पुरकी शोभाका वर्णन करनेमें अड़चन पड़ेगी, वहाँ नगरका वर्णन करनेसे संवादमें नीरसता आ जानेका भय है, वहाँ पुरकी शोभाके वर्णनका मौका न होगा)। इसलिये वक्ता लोगोंने नगरकी शोभाका दिग्दर्शन यहीं करा दिया। आगे नगरमें यही वर्णन समझ लेना चाहिये।

३ करुणासिंधुजी यहाँ 'नगर' से कोटका भाव लेते हैं और लिखते हैं कि बाहर 'चहुँ फेर नगर' देखकर पश्चिम दरवाजेसे नगरमें प्रवेश किया। यहाँ 'बाजार' आदिक हैं। बैजनाथजी भी यही लिखते हैं।

परंच यहाँ राजकुमारोंका नगर-प्रवेश करना गौरवताके विरुद्ध है क्योंकि आगे केवल राजकुमारोंके अपरिचित प्रवेशमें कहर मच गया, जब परिचित विश्वामित्रके साथ प्रवेश होता तो क्या चुपचाप निकलकर अमराईको निकल जाते? इससे यहाँ नगरके निकट पहुँचनेपर राजकुमारोंका बाहरी शोभाका अवलोकन हुआ और यहाँ समयगत नगर-वर्णन कविकी ओरसे है। और राजकुमारोंके सम्मानार्थ 'कौसिक कहेउ मोर मन माना·····' से रघुवीरको सुजान विशेषण देकर ऐश्वर्य-विभूतिका लक्ष्य

* जनु बिधि—१७२१, १७६२, को० रा०। बिधि जनु—१६६१, १७०४, छ०।

फराकर अमराईमें निवास कराया। जब जनकजी स्वयं आकर ऐश्वर्यमें मुग्ध होके इनको ले गये तब पुरप्रवेश उचित है; अतएव कविने पुरकी बाहरकी शोभासे उपक्रम किया और 'पुरबाहिर सरसरित समीपा।'''। २१४। ४।' से अन्तमें उपसंहारकर अमराईका वास लिखा। (रा० च० मिश्र)।

टिप्पणी—२ 'चारु बजार बिचित्र अँबारी' इति। (क) प्रथम नगरकी समष्टि शोभा कही, 'बनै न बरनत नगर निकाई'। अब पृथक्-पृथक् बाजार इत्यादिकी शोभा कहते हैं। क्रमसे पुरका वर्णन करते हैं—प्रथम पुरके बाहरकी शोभा कही, फिर बाजारकी तब पुरवासियोंके निवासस्थानोंकी, तत्पश्चात् राजा जनक और उनके मन्त्रियों आदिके स्थानोंकी शोभा कही। (ख) सब वस्तुओंको सुन्दर कहते हैं, विस्तारसे वर्णन किसीका नहीं करते। ऐसा करके 'बनै न बरनत नगर निकाई' इस वचनको सिद्ध रक्खा। [(ग) 'बिचित्र' से जनाया कि रङ्ग-बिरङ्गकी मणियोंसे जटित हैं। अथवा, मणियोंकी ही बनी हैं, इसीसे अनोखी हैं। अथवा, दूकानोंमें चित्र-विचित्र पदार्थ रक्खे होनेसे ये भी विचित्र हैं। अथवा, उनमें अनेक चित्र बने हैं, चित्रसारी होनेसे विचित्र कहा] (घ) 'मनिमय' कहकर वस्तुसे मकानकी शोभा कही और 'बिधि जनु स्वकर सँवारी' से दूकानोंके बनावकी शोभा कही। ब्रह्मा सृष्टिकी रचना मनके संकल्पमात्रसे करते हैं। यहाँ 'स्वकर सँवारी' कहकर ब्रह्माकृत बनावकी उत्कृष्टता कही। जो ब्रह्मा ब्रह्माण्डकी रचना अपनी इच्छा (संकल्पमात्र) से कर सकता है, उसने जनकपुरको अपने हाथसे बनाया और वह भी सँवारकर। [तात्पर्य कि जनकपुरकी शोभा ऐसी है कि ब्रह्माकी सृष्टिमें किसी नगरकी नहीं है। इसीसे कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो ब्रह्माने इसमें अपना तन-मन दोनों लगा दिया। 'जनु' शब्दसे सूचित होता है कि मिथिलापुरी स्वतः सिद्ध है और ब्रह्माकी रचनासे बाहर है।]

धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना॥ ३॥
चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई॥ ४॥
मंगलमय मंदिर सब केरें। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें॥ ५॥

शब्दार्थ—चौहट=चौक जहाँ शहरपनाहके चारों फाटकोंसे जो राजमार्ग आये हैं वे मिले हैं; प्रायः जौहरी और बड़े महाजन यहीं बैठते हैं। चितेरे=चित्रकार, तसवीर बनानेवाले, यथा—'मनहुँ चितेरे लिखि लिखि काढ़ी' (सूर)।

अर्थ—श्रेष्ठ कुबेरके समान अनेकों श्रेष्ठ धनाढ्य बनिये (व्यापार करनेवाले) सभी तरहकी (बेचनेकी) अनेक वस्तुएँ लेकर (दुकानोंमें) बैठे हैं॥ ३॥ सुन्दर चौकें और सुहावनी गलियाँ हैं जो निरन्तर (अरगजा आदि) सुगन्धसे सिंचायी हुई रहती हैं॥ ४॥ सबके घर मङ्गलमय हैं। उनमें चित्र कढ़े हुए हैं मानो कामदेवरूपी चित्रकारने उनको बनाया है। अर्थात् अत्यन्त सुन्दर चित्र बने हुए हैं॥ ५॥

नोट—'बर धनद' कहकर इनको कुबेरसे अधिक धनाढ्य जनाया।

टिप्पणी—१ 'धनिक बनिक बर धनद समाना।' इति। (क) ☞ बाजार कहकर अब बाजारमें बैठनेवालोंको कहते हैं। (ख) 'बर धनद समाना' का भाव कि कोई-कोई कुबेरके समान हैं और कोई-कोई कुबेरसे 'बर' अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अधिक, सम और कम तीन संज्ञाएँ होती हैं। इनमेंसे जनकपुरके वणिक् कुबेरसे या तो अधिक धनाढ्य हैं या कुबेरके समान हैं, कुबेरसे कम कोई नहीं है। धनिक 'बनिक' का विशेषण है; क्योंकि जिसके धन हो वही 'धनिक' कहलाता है, और वस्तु बेचना सबका धर्म नहीं है, वैश्यहीका धर्म वस्तु बेचना है। यह बाजार है, यहाँ वणिककी ही दुकानें हो सकती हैं जो व्यापार करते हैं, अन्य धनी लोग यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। अथवा, 'बर धनद समाना'=धनी वणिक् कुबेरके समान श्रेष्ठ हैं।* (ग) 'बैठे सकल बस्तु लै नाना' इति। 'बर धनद समाना' कहकर 'बैठे सकल''' कहनेका भाव कि यद्यपि कुबेरके समान हैं, तब भी बाजारमें वस्तु लेकर बेचनेके लिये बैठे हैं। तात्पर्य कि धनाढ्य होनेपर भी अपने धर्ममें तत्पर हैं, उसे त्यागा नहीं। 'सकल' अर्थात् बजाज, सराफ इत्यादि सभी वैश्य हैं, यथा—'बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहु कुबेर ते।' ['सकल' वस्तुका विशेषण भी हो सकता है। भाव यह कि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो उनके पास न हो।

* करुणासिंधुजी धनिकसे सर्राफ और वणिक्से 'अन्य पदार्थ बेचनेवाले' ऐसा अर्थ करते हैं। और पांडेजीके मतानुसार 'धनिक'=बेचनेवाले और 'बनिक'=मोल लेनेवाले; दोनों कुबेरके समान हैं अर्थात् न उनकी वस्तु चुके, न उनका धन चुके। पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं 'वणिक कुबेरके समान धनिक और कुबेरसे श्रेष्ठ हैं।'

(प्र० सं०)] । (घ) 'चौहट सुंदर गली सुहाई ।' इति । बाजारके आगे चौक है, अब उस चौककी शोभा कहते हैं। बाजार, चौक और गलियाँ सभी सुन्दर हैं, इसीसे सबमें सुन्दरतावाचक विशेषण दिये । चारु बजारु, सुन्दर चौहट, सुहाई गली । (ङ) 'संतत रहहिं सुगंध सिंचाई' इति । यथा—'मृग मद चंदन कुंकुम कीचा । मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥' 'गली सकल अरगजा सिंचाई ।' 'संतत' कहनेका भाव कि अन्यत्र उत्सवोंमें गलियाँ सींची जाती हैं और यहाँ निरन्तर सुगन्धसे सींची जाती हैं । [चौक, बाजार, गलियोंकी सफाई, शुद्धता और अरगजासे सिंचाई देखकर अनुमान होता है कि यह सब सफाई आदि स्वयंवरके कारण हुई है, इसका निराकरण करनेके लिये 'संतत' शब्द दिया । राजाका प्रताप इससे प्रकट होता है । (पं०) । ☞ इस सम्बन्धमें यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जनकपुरमें 'अरगजाकुण्ड' भी है ।]

२ 'मंगलमय मंदिर सब केरे ।....' इति । (क) 'मंगलमय' अर्थात् बंदनवार, पताका, अक्षत, अङ्कुर, दूब, दधि इत्यादि मङ्गलवस्तुओंसे सब पूर्ण हैं; यथा—'बंदनवार पताका केतू । सबन्हि बनाये मंगल हेतू ॥ ७ । ९ ॥' 'कनककलस तोरन मनिजाला । हरद दूब दधि अक्षत माला ॥ मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ ॥' 'हरद दूब दधि पल्लव फूला । पान पूगफल मंगलमूला । अच्छत अंकुर रोचन लाजा । मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा ॥' पुनः भाव कि मङ्गलकारक मङ्गलदाता श्रीगणेशादि देवताओंकी प्रतिमाएँ वा चित्र घर-घर बाहर कढ़े हुए हैं, यथा—'सुरप्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं । मंगलद्रव्य लिये सब ठाढ़ीं ॥ २८८ । ७ ॥' ☞ स्मरण रहे कि बाजार, राजाके महल और पुरवासियोंके मन्दिर सभी मणिमय हैं, यथा—'चारु बजारु बिचित्र अँबारी । मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी ॥' 'धवलधाम मनि-पुरट-पटु सुघटित नाना भाँति ॥ २१३ ॥' और 'नृपगृह सरिस सदन सब केरे ॥ २१४ । ३ ॥' इस सम्बन्धसे 'मंगलमय मंदिर' से सूचित करते हैं कि सबके घरोंमें मणियोंके बन्दनवार हैं, मणिमय कदलीके खम्भे हैं, मणिमय कमलके फूल हैं और मणियोंहीकी सुर-प्रतिमाएँ दीवारों और द्वारोंपर कढ़ी हुई हैं तथा सभी मङ्गलद्रव्य मणिमयी ही हैं। प्रमाण, यथा—'मंजुल मनिमय बंदनवारे । मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे ॥' 'बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा । बिरचे कनककदलि के खंभा । मानिक मरकत कुलिस पिरोजा । चीर कोरि पचि रचे सरोजा ॥ सुर प्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं । मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं ॥' इत्यादि । जैसे विवाहके समय मण्डपादिकी रचनामें ये सब मङ्गल मणिमय बनाये गये, वैसे ही घर-घर मङ्गलद्रव्य मणिमय मन्दिरोंके साथ-ही-साथ बनाये हुए हैं । [नोट—'अभी तो विवाहादिका प्रसङ्ग कुछ भी नहीं है, अभीसे बन्दनवारादि मङ्गल-रचनाएँ क्यों की गयीं ? इस सम्भवित शङ्काका समाधान टिप्पणीसे हो गया कि यहाँ सबके घरोंमें ये मणिमय स्वतः बने हुए हैं जो सदा एकरस बने रहते हैं, यह बनाव कुछ इस समय नहीं किया गया है । दूसरा समाधान श्रीसंतशरण पंजाबीजीकृत यह है कि 'ऐसा भी हो सकता है कि धनुषयज्ञके लिये अनेकों राजा आये हुए हैं, अतएव नगर सजाया गया है ।'] (ख) 'सब केरे' कहकर जनाया कि सबोंके मन्दिर एक प्रकारके हैं। बाजारकी दूकानें सब मणिमय हैं और एक ही प्रकारकी हैं । बनिक सब एक ही प्रकारके हैं । कुबेरके समान हैं । चौकें और गलियाँ सब एक प्रकारकी और सदा सुगन्धसे सींची हुई रहती हैं । सबके मन्दिर मङ्गलमय चित्रित एक ही प्रकारके हैं । पुर-नर-नारि सब एक ही प्रकारके अर्थात् सुभग, शुचि, सन्त धर्मशील, ज्ञानी और गुणवान् हैं । जनकजी और सूर, सचिव, सेनप सभीके स्थान एकहीसे हैं ।—सबको समान दिखाकर जनाते हैं कि राजा जनककी दृष्टि सबपर समान है, इसीसे सबको (अपने) समान बनाये हैं ।

नोट—'चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे' इति । कामदेव शृङ्गाररसका देवता है, इससे वह जो चित्रकारी करेगा वह अवश्य अति सुन्दर होगी । अतएव यहाँकी अति सुन्दरता जनानेके लिये उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो कामदेवहीने चित्रकार (मुसव्विर) का रूप धरकर मङ्गल पदार्थोंकी चित्रसारी की है । यहाँ 'असिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा' अलंकार है ।

पुर नर नारि सुभग सुचि संता । धरमसील ग्यानी गुनवंता ॥ ६ ॥
अति अनूप जहँ जनक निवासू । बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू ॥ ७ ॥
होत चकित चित कोट बिलोकी । सकल भुवन सोभा जनु रोकी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बिथकहिं=बहुत ही दंग रह जाते हैं । स्तब्ध, मुग्ध वा मोहित होकर देखते रह जाते हैं, वहाँसे हटनेको जी नहीं चाहता ।

अर्थ—नगरके स्त्री और पुरुष सब सुन्दर, पवित्र, संतस्वभाव, धर्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् हैं ॥ ६ ॥ जहाँ जनक महाराजका निवासस्थान है वह (तो) अत्यन्त अनुपम है। वहाँके ऐश्वर्य एवं शोभाको देखकर देवता भी विशेष चकित हो जाते हैं ॥७॥ किलेको देखकर चित्त चकित हो जाता है मानो उसने सब लोकोंकी शोभाको रोक रक्खा है*॥८॥

☞'पुर नर नारि सुभग सुचि संता…।' से मिलता-जुलता वर्णन आगे भी है, यथा—'नगर नारि नर रूप-निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना ॥ ३१४ । ६ ॥'

टिप्पणी—१ (क) मन्दिरोंकी शोभा कहकर अब उनमें रहनेवालोंकी शोभा कहते हैं। (ख) 'संत धर्मसील ज्ञानी' कहकर जनकपुरवासियोंको कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे युक्त जनाया। संतसे उपासक, धर्मशीलसे कर्मपथमें आरूढ़ और ज्ञानीसे ज्ञानकाण्डयुक्त कहा। सुभग (सुन्दर) और शुचि (पवित्र) शरीरसे। पुनः, संतसे भगवान्‌के दास और साधुलक्षणोंसे युक्त जनाया, वेषधारी नहीं। और ज्ञानीसे पदार्थऔर समयके जाननेवाले भी जनाया। (ग) 'पुर नर नारि' कहकर 'सुभग सुचि संत' इत्यादि सब लक्षण चारों वर्णों और चारों आश्रमोंमें दिखाये। इसीसे किसी एक वर्ण या आश्रमका नाम नहीं लिखा। ये छः गुण सबोंमें हैं, क्या नीच, क्या ऊँच, क्या स्त्री, क्या पुरुष! (घ) प्रथम 'सुभग' गुण देनेका भाव कि शरीर सबका अधिष्ठान है इसीसे प्रथम शरीरकी सुन्दरता कही। शरीर सुन्दर है और उसको वे सदा 'शुचि' अर्थात् पवित्र रखते हैं।†

२ (क) 'अति अनूप' इति। जनकनिवासको 'अति अनूप' कहकर पूर्व कहे हुए सब स्थानोंको 'अनुपम' जना दिया। 'जनक निवासू' कहनेमें भाव यह है कि राजाओंके अनेक स्थान और महल होते हैं, सब पुर भी जनकजीका ही है पर उससे यहाँ तात्पर्य नहीं है, जो उनका खास निवासस्थान है, जिसमें वे रहते हैं, वह 'अति अनुपम' है। (ख) 'बिथकहिं' का भाव कि सभी पुरवासियोंके स्थान अनुपम हैं, उन्हींको देखकर देवता थक जाते हैं, यथा—'देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे ॥ ३१४ । ४ ॥' और जनकजीका स्थान 'अति' अनुपम है इससे इसको देखकर 'विशेष थक' जाते हैं। (ग) 'बिथकहिं बिबुध' का भाव कि जब बड़े-बड़े पण्डित देवता दंग रह जाते हैं तब औरोंकी गिनती ही क्या? देवताओंके पास बड़ा ऐश्वर्य है सो उनका यह हाल है कि 'जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥' तब जनकजीकी सम्पदा देखकर देवता 'थक' गये तो आश्चर्य ही क्या? पुनः 'जेहि तिरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लगहिं भुवन दसचारी ॥ २८९ । ७ ॥' तब भला राजाके स्थानकी शोभा कहाँतक कहें।

३—'होत चकित चित कोट बिलोकी।…' इति। (क) प्रथम जनकमहाराजके स्थानका ठिकाना न लिखा, इतना ही कहा कि 'अति अनूप' है। अब उसका ठिकाना बताते हैं कि कोटके भीतर है। (ख) नगरके विषयमें कहा था कि 'जहाँ जाइ मन तहँई लोभाई।' पुरकी शोभामें मन लुब्ध हो गया और कोटकी शोभा देखकर यहाँ 'चित' 'चकित' हो गया, आश्चर्यमें डूब गया, क्योंकि 'सकल भुवन' की शोभा एकत्रित हुई है। (ग) ☞किसी-किसी राजाका नगर कोटके भीतर रहता है, जैसे कि अयोध्याका, यथा—'पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर।' परंतु जनकपुर कोटके बाहर है, इसीसे जनकपुरको पृथक् कहा और कोटको उससे पृथक् अब कह रहे हैं। [(घ) 'भुवन सोभा जनु रोकी' अर्थात् ब्रह्माण्डभरकी शोभा अपनेमें धारण कर ली है। (पं०)]

रा० च० मिश्रजी—जनक-भवनका वर्णन करते समय प्रथम कविका चित्त भवन कोटपर पड़ा। इसीके वर्णनसे कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि सम्पूर्ण भुवनोंकी शोभारूपिणी श्रीजनकतनयाको 'जनु' अपने अंदर रोक रक्खा है। 'जनु' पद इसलिये दिया है कि श्रीकिशोरीजीकी शोभा रोकी नहीं रह सकती। अतएव आगे दोहेके पूर्वार्द्धमें भवनद्वारको लक्ष्यकर कहते हैं कि जहाँ सीताजीका स्वयं निवास ही है उस सुन्दर सदनकी शोभा कैसे कही जा सकती है।

नोट—रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'कोटकी आड़में सकल भुवनकी शोभा पड़ गयी है (अर्थात् इसके आगे उसे कोई देख ही नहीं सकता)। वा, सकल भुवनकी शोभाको रोककर उसपर इसने अपना दखल कर लिया है।' श्रीबैजनाथजी

---

* अर्थान्तर—'मानो सकल भुवनकी शोभा कोटके भीतर रोकी है।' (पं० रामकुमार)।

† पाण्डेजी—'सुभग=सुन्दर ऐश्वर्य (से पूर्ण)। शुचि=पवित्र शान्तरससे युक्त।' 'शुचि' से भीतर-बाहर दोनोंकी पवित्रता जनायी। पवित्र मन और पवित्र आचरण।

इस प्रकार अर्थ करते हैं कि सब लोकोंकी शोभाको बटोरकर किलारूपी सीमा खींचकर रोक ली है।' और कुछ लोग यह भाव कहते हैं कि सब भुवनोंकी शोभा प्राकृतिमय है और कोटके भीतरकी अप्राकृत है इससे मानो वह उन सबोंको भीतर नहीं आने देता। इत्यादि।

दो०—धवल धाम मनि पुरट पट सुघटित नाना भाँति।
सिय निवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति॥ २१३॥

शब्दार्थ—धवल=उज्ज्वल, स्वच्छ। पुरट=सोना, सुवर्ण। पट=किवाड़े। परदे (रा० प्र०)। वस्त्र। (पं० रा० कु०) 'मनि पुरट पट'=मणिजटित सुवर्णके किवाड़े।=जरकशीके परदे जिनमें मणि, मुक्ता आदि गुँथे हुए हैं। सुघटित= सुन्दर रीतिसे गढ़े, रचे वा बनाये हुए।

अर्थ—स्वच्छ उज्ज्वल महलोंमें मणिजटित स्वर्णके किवाड़े लगे एवं मणिमुक्ता गुँथे हुए जरकशीके परदे पड़े हैं जो अनेक प्रकारसे सुन्दर रीतिसे बने हुए हैं। (साक्षात्) श्रीसीताजीके निवासवाले सुन्दर महलकी शोभा (भला) कैसे कही जा सकती है ? ॥ २१३ ॥

नोट—१ (क) 'धवल' से जनाया कि स्फटिकमणि, हीरे आदिकी श्वेत दीवारें हैं। (ख) 'मनि पुरट पट' इति। वैजनाथजी और पंजाबीजी 'पट' का अर्थ 'किंवाड़े' लिखते हैं। ये खिड़कियों और झरोखोंके किंवाड़े हैं। (वै० रा० प्र०)। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'मणिजटित सोनेकी खिड़कियोंकी किवाड़ियाँ, अथवा खिड़कियोंके रत्न लगे सुनहले तास आदिके परदे हैं। पाँड़ेजी 'पट' का अर्थ पटली करते हुए लिखते हैं कि 'उज्ज्वल घर है। उसपर सोनेकी पटली नाना भाँतिके मणियोंसे सुन्दर जड़ी हुई लगी है। और पण्डित रामकुमारजी पूर्वार्धका यह अर्थ लिखते हैं— 'उज्ज्वल स्थान है। मणि, स्वर्ण और वस्त्रोंसे नाना भाँतिसे सुघटित है। अर्थात् सोनेके मकान मणि और मुक्तासे जटित हैं, परदे पड़े हैं, इसीसे धाम धवल है।' आगे 'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा' में 'कपाट' की चर्चा है, इसीसे 'पट' का अर्थ किवाड़ा लेनेमें अड़चनें पड़ती हैं। (ग) बाबा हरिदासजी 'सुघटित' का अर्थ 'मङ्गलमय अर्थात् सूर्यवेधी आदि दोषोंसे रहित' लिखते हैं।

टिप्पणी—१ 'सोभा किमि कहि जाति' इति। 'जनक महाराजके स्थानकी शोभा बहुत बढ़ाकर कह चुके, अब उस अत्युक्तिकी समाप्ति करते हैं' (अर्थात् बताते हैं कि इसमें अत्युक्ति नहीं है; यह कथन यथार्थ है)—'सिय निवास··· जाति' अर्थात् इसमें श्रीसीताजीका निवास है, तब इसकी शोभा कौन कह सकनेको समर्थ है ? इसी प्रकारका वर्णन आगे भी है। यथा—'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुरकी सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥ २८९॥' और इसी प्रकार श्रीदशरथभवनके विषयमें आगे कहा है, यथा—'सोभा दसरथ भवन कै को कबि बरनै पार। जहाँ सकल सुर सीसमनि राम लीन्ह अवतार॥ २९७॥'

नोट—पहले चारों ओरकी पुष्पवाटिका बाग-वन आदिकी अत्यन्त शोभा कही। फिर पुरकी रमणीयता कही, जिसे देखकर श्रीराम-लक्ष्मणजी हर्षित हुए। फिर उससे विशेष श्रीजनक महाराजके निवास-स्थानको 'अति अनूप' कहा। श्रीसीताजीके निवासके महलकी शोभा कहनेमें अपनेको असमर्थ जनाया। (इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर एकसे दूसरेकी शोभा अधिक दिखायी)। (रा० प्र०)। इसके अनुसार श्रीसीताजीका महल अलग है। श्रीकरुणासिंधुजी तथा वैजनाथजीका मत है कि श्रीसीताजीके निवासका मन्दिर राजमन्दिरसे मिला हुआ अलग है। परंतु कुछ लोगोंका मत है कि यहाँ राजमहल (रनवास) की समष्टि शोभाका वर्णन है। श्रीसीताजीकी अवस्था अभी छः वर्षकी है, वे भी राज-महलमें अपनी माताके साथ रहती हैं। बिलग भवन करनेमें माता-पिताके वात्सल्यमें बाधा पड़ती है, त्रुटि आती है और यह लोक-विरुद्ध भी है। अतः रनवाससे पृथक् इनका भवन नहीं हो सकता। कहा जाता है कि बाणासुरकी कन्या ऊषाको छोड़ किसी अन्य राजकन्याका पृथक् सदन होनेका उल्लेख नहीं मिलता।

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥ १॥
बनी बिसाल बाजि गज साला। हय गय रथ संकुल सब काला॥ २॥

शब्दार्थ—कुलिस (कुलिश)=वज्र; हीरा। कपाट=किवाड़े। नट—टि० १ (घ) में देखिये। बिसाल (विशाल)=लम्बा, चौड़ा और ऊँचा। साला (शाला)=रहनेके स्थान वा घर। संकुल=परिपूर्ण; इतने कि कठिनतासे अट सकें।

अर्थ—सब दरवाजे सुन्दर हैं, सबमें वज्र (हीरे) के * किवाड़े लगे हैं। (द्वारपर) राजाओं, नटों, मागधों और भाटोंकी भीड़ लगी रहती है॥ १॥ घोड़े और हाथियोंके रहनेकी बड़ी विशाल शालाएँ अर्थात् बाजिशालाएँ (घुड़शाल) और गजशालाएँ बनी हैं जो सभी समय हाथी, घोड़ों और रथोंसे भरी रहती हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ **'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा।….'** इति। (क) धामकी शोभा कहकर अब धामके दरवाजोंकी शोभा कहते हैं। [पं० रामकुमारजीने दोहेमें 'पट' का अर्थ वस्त्र किया है, इसीसे उसी धामका दरवाजा और किंवाड़ा अब यहाँ कहते हैं। और जो लोग 'पट' का अर्थ किंवाड़े करते हैं उनके मतानुसार अब यहाँ राजद्वारका वर्णन है। यह कोटका वह द्वार है जहाँसे लोग राजमहलमें प्रवेश करते हैं।] (ख) सुभग अर्थात् अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं। (ग) **'भूप भीर नट मागध भाटा'**—यह द्वारकी दूसरी शोभा कही। राजाओं और याचकोंकी भीड़ लगी रहती है। यह राजद्वारकी शोभा है। 'भूपभीर' से जनक महाराजका ऐश्वर्य दिखाया कि सप्तद्वीपके राजा मिथिलेश महाराजके दर्शनों और भेंट देनेके निमित्त द्वारपर खड़े हैं। यथा—**'पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥'** एवं **'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनिमुकुट मिलित पद पीठा॥ २। ९८॥'** नट-मागधादि याचकोंकी भीड़से जनकजीकी उदारता दिखायी। तात्पर्य कि राजा ऐश्वर्यवान् और उदार हैं। [(घ) 'नट'—'पुराणानुसार एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति मालाकार पिता और शूद्रा मातासे मानी जाती है। वा, प्राचीन कालकी एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति शौचिकी स्त्री और शौंडिक पुरुषसे मानी गयी है, जिसका काम गाना-बजाना बतलाया गया है।' (श० सा०)।=कत्थक आदि। बाँस आदिपर खेल-तमाशा करनेवाले। **'भूप भीर नट मागध भाटा'** का दूसरा भाव कि राजाओंकी भीड़ नट आदि याचकोंकी तरह लगी रहती है (रा० प्र०)]

२ **'बनी बिसाल बाजि गज साला।….'** इति। (क) बिसाल अर्थात् बड़े ऊँचे, लम्बे-चौड़े जिसमें पर्वताकार हाथी बँधे हैं। 'विशाल' कहकर **'संकुल सब काला'** कहनेका भाव यह है कि गजशाला, हयशाला बहुत बड़ी बनी हैं, तब भी गँजी रहती हैं। हाथी-घोड़ोंकी बहुतायत दिखाते हैं कि इतने हैं कि अटते नहीं। पुनः, (ख) 'बनी' से बाजि-गज-शालाओंकी सुन्दरता कही। विशालसे जनाया कि हाथी-घोड़े बड़े-बड़े हैं, इसीसे शालाएँ ऊँची हैं। हाथी-घोड़े बहुत हैं, इसीसे शालाएँ लंबी हैं। और कई पंक्तियोंमें सब बँधे हुए हैं इसीसे शालाएँ चौड़ी हैं। विशाल शब्दसे ऊँचे, लम्बे और चौड़े तीनोंका बोध कराया। (ग) **'हय गय रथ संकुल सब काला'** इति। यहाँ हाथी, घोड़े और रथ कहे, आगे चौपाईमें पैदल भी कहते हैं, यथा—**'सूर सचिव सेनप बहुतेरे'**। जब सेनापति बहुत हैं तो पैदल सेना भी बहुत होगी। इस तरह चतुरंगिणी सेनाका होना सूचित किया। [हाथी-घोड़ोंके लिये तो बाजिगजशालाओंका होना कहा, पर उत्तरार्द्धमें 'हय गय' के साथ **'रथ'** को लिखनेका क्या प्रयोजन ? इस प्रश्नका एक उत्तर तो आ गया कि चतुरंगिणी सेना दिखानेके विचारसे **'रथ'** को लिखा। दूसरे इससे यह भी जनाया कि इनमें रथमें भी जुतनेवाले घोड़े-हाथी हैं, वे रथ भी इन्हीं शालाओंमें रहते हैं। चतुरंगिणी सेनाका विवरण दोहा १५४ (३) भाग २ में देखिये।]

वि० त्रि०—**'संकुल सब काला'**—भाव कि व्यवस्था ऐसी थी कि कभी वे हाथी, घोड़े और रथसे खाली नहीं रहते थे। यदि हाथी-घोड़े-रथ किसी कामपर गये तो भी यथेष्ट संख्यामें रथ, गज, बाजि बचे रहते थे, जिसमें वे शालाएँ भरी मालूम पड़ें। इतना बड़ा संग्रह था कि एक लक्ष घोड़े, दस हजार हाथी और पचीस हजार रथ तो दायजेमें दे दिये गये।

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥ ३॥
पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥ ४॥

शब्दार्थ—सूर (शूर)=वीर योद्धा। सेनप=सेनापति, फौजका नेता। केरे=के।

अर्थ—शूरवीर, मन्त्री और सेनापति बहुत-से हैं। सभीके घर राजसदनके-से हैं॥ ३॥ नगर बाहर नदी और तालाबोंके समीप (निकट, सामने और आसपास) जहाँ-तहाँ बहुत-से राजा उतरे हुए हैं॥ ४॥

* पंजाबीजी 'वज्रके समान दृढ़ किवाड़े' ऐसा अर्थ करते हैं।

टिप्पणी—१ **सूर सचिव सेनप बहुतेरे···**' इति। (क) अनेक जातिके हाथी, अनेक जातिके घोड़े, अनेक प्रकारके रथ और अनेक प्रकारके वरदीवाले पैदल हैं, इसीसे प्रत्येकके न्यारे-न्यारे सेनापति हैं। प्रत्येक सेनामें बहुत सुभट रहते हैं, इसीसे बहुत शूरवीर हैं। इन्तिजाम, माल, फौज, कोष, न्याय, राष्ट्र इत्यादि अनेक प्रकारके राजकीय कार्य हैं, इसीसे प्रत्येक कार्यके लिये पृथक्-पृथक् मन्त्री हैं जो अपने-अपने कार्यमें पूरे पण्डित हैं। (ख) '**नृपगृह सरिस सदन सब केरे**' इति। इससे मिथिलेशमहाराजकी नीतिनिपुणता दिखायी। मन्त्री आदिका वेतन इतना भारी है कि वे राजाके समान हो रहे हैं; इसीसे वे लोग राजाका सब काम अपना ही काम समझते हैं। [नोट—राजाके सात अङ्गोंमेंसे मन्त्री प्रधान अङ्ग है। सुग्रीवके पास यही एक अङ्ग रह गया था सो देखिये कि इसीसे उन्हें फिर राज्य प्राप्त हो गया। '**सूर सचिव सेनप बहुतेरे**' इस चरणमें शब्दोंके रखनेमें शब्दोंकी योजनामें महाकविने बड़ी बुद्धिमानी दिखायी है। आगे-पीछे शब्दोंके प्रयोगमात्रसे विना कुछ और कहे ही उन्होंने राजाकी नीति-निपुणता यहाँ दिखा दी है। नगरके घरोंका वर्णन हो रहा है। क्रमशः आगे-पीछे जैसे मकान बने हैं वैसा ही लिखा जा रहा है। राजा ऐसे चतुर हैं कि उन्होंने मन्त्रियोंकी रक्षाके लिये उनके महल 'सूर' और 'सेनापति' के बीचमें बनवाये हैं। अतएव यहाँ भी सूर और सेनपके बीचमें सचिवको लिखा गया। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि इससे राजाकी उदारता और भृत्योंपर प्रीति प्रकट हो रही है। पंजाबीजी लिखते हैं कि '**बनी बिसाल बाजि गजसाला···**।' मे राजाकी अति समृद्धता, '**सूर सचिव···केरे**' से राजाकी उदारता और अति सुहृदता तथा '**पुर बाहेर···**' से स्वयंवरका स्वरूप दिखाया।]

२ '**पुर बाहेर सर सरित समीपा।···**' इति (क) ☞ '**पुररम्यता राम जब देखी।** २१२। ५।' से '**फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास।** २१२।' तक श्रीरामजीका नगरके बाहरकी रमणीयताका देखना वर्णन किया गया था। उसके बाद '**नृप गृह सरिस सदन सब केरे**' तक बीचमें कवि पुरका वर्णन करने लगे, अब पुनः वहींसे कहते हैं। (ख) प्रथम कह आये हैं कि '**बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥**'; इनमेंसे बावली और कुओंसे राजाओंके दलका निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि उनके साथ हाथी, घोड़े, ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते हैं। वे कुएँ और बावलीमें जल कैसे पियेंगे! इसीसे '**बापी कूप समीप**' ठहरना नहीं लिखते। उतरे=टिके, ठहरे, डेरा या छावनी डाली। ☞ (ग) '**उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा**' इति। जहँ-तहँसे जनाया कि सब राजा पृथक्-पृथक् ठहरे हैं। '**बिपुल महीपा**' अर्थात् द्वीप-द्वीपके, देश-देशके, लोक-लोकके राजा आये हुए हैं; यथा—'**दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा।** २५१।' एवं '**छोनीमेंके छोनीपति छाजै जिन्हें छत्र छाया छोनी-छोनी छाए छिति आए निमिराजके।** कवितावली १। ८।' इस समय स्वयंवर सुनकर सब राजा आये हैं।

☞ जनकपुर श्रीजानकीजीकी जन्मभूमि है और अयोध्या श्रीरामजीकी। इसीसे गोसाईंजीने दोनों पुरोंकी शोभा एक-सी वर्णन की है। यथा—

श्रीजनकपुर		श्रीअयोध्याजी
पुररम्यता राम जब देखी। हरषे नगर बिलोकि बिसेषी॥	१	**पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥**
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥	२	**बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं।** ७। २९।
गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥	३	**बरन बरन बिकसे बनजाता। बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।** ७। २९।
त्रिबिध समीर सदा सुखदाता।	४	**मारुत त्रिबिध बह सुंदर।** ७। २८।
सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंगनिवास। फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥	५	'**सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंतकी नाई॥**', '**आराम रम्य पिकादि खगरव जनु पथिक हंकारहीं।** ७।२९। '**सुंदर उपबन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नये**'।७।३२।

श्रीजनकपुर		श्रीअयोध्याजी
बनै न बरनत नगर निकाई	६	पुर सोभा कछु बरनि न जाई । ७ । २९ ।
चारु बजार बिचित्र अँबारी मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी ॥	७	'बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए। ७। २८। 'मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची । ७ । २७ ।
धनिक बनिक बर धनद समाना । बैठे सकल बस्तु लै नाना ॥	८	बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते । ७ । २८ ।
चौहट सुंदर गली सुहाई ।	९	बीथीं चौहट रुचिर बजारू । ७ । २८ ।
संतत रहहिं सुगंध सिंचाई ।	१०	गली सकल अरगजा सिंचाई ।
मंगलमय मंदिर सब केरे ।	११	मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ । १ । २९६ ।
चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ।	१२	चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ ।
पुरनरनारि सुभग सुचि संता । धरमसील ज्ञानी गुनवंता ॥	१३	'रामभगतिरत नर अरु नारी । सकल परम गतिके अधिकारी ॥ अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुंदर सब बिरुज सरीरा ॥'''सब निर्दंभ धरमरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥ सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी । सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ॥ ७ । २१ ।'
अति अनूप जहँ जनकनिवासू । बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू ॥	१४	भूपभवन तेहि अवसर सोहा । रचना देखि मदन मन मोहा ॥
होत चकित चित कोट बिलोकी ।	१५	पुर चहुँ पास कोटि अति सुंदर । ७ । २७ ।
धवल धाम	१६	धवल धाम ऊपर नभ चुंबत । ७ । २७ ।
मनि पुरट पट सुघटित नाना भाँति ।	१७	मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनकमनि मरकत खची।७।२७।
सियनिवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति ॥	१८	सोभा दसरथ भवन कइ को कबि बरनै पार । जहाँ सकल सुरसीसमनि राम लीन्ह अवतार ॥७।२९७।
सुभगद्वार सब कुलिस कपाटा ।	१९	प्रतिहारद्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्ह खचे ।
भूपभीर नट मागध भाटा ॥	२०	'मागध सूत बंदि नट नागर । गावहिं जसु तिहुँलोक उजागर॥' 'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे । २ । २ ।'
बनी बिसाल बाजि गज साला । हय गय रथ संकुल सब काला ॥	२१	रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे । बरन बरन बर बाजि बिराजे॥ रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये । ध्वज पताक मनिभूषन लाए॥ कलित करिबरन्हि परी अँबारी । कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी ॥'
सूर सचिव सेनप बहुतेरे । नृप गृह सरिस सदन सब केरे ॥	२२	'अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज । सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज । ७ । २६ ।'

प० प० प्र०—'जनकपुरी और दशरथपुरीकी तुलना' इति । (क) धनुर्भंगोत्सवके लिये सजायी हुई जनकपुरीको देखकर सानुज रघुनाथजीको हर्ष हुआ । और उधर सुशोभित जनकपुरीके दूत जब राम-विरहाकुल (क्योंकि दोनों भाई विश्वामित्रजीके साथ गये हैं) दशरथपुरीमें आये तब 'हरषे नगर बिलोकि सुहावन । २९० । १ ।' (ख) जनकपुरीके भवनोंको मंगलमय बनानेके लिये मानो रतिनाथ चितेरेको हाजिर होना पड़ा, पर दशरथपुरीमें 'मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ ॥ १ । २९६ ।' (ग) 'जनकपुरीमें धनुर्भंगोत्सव कालमें भी 'बीथी सींची चतुर सम चौकैं चारु पुराइ । १ । २९६ ।' यह नहीं हुआ । (घ) श्रीजनकनिवासको देखकर इन्द्रादि देवता विशेष थकित होते हैं, पर 'भूपभवन किमि जाइ बखाना । बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना ॥ १ । २९७ । ४ ।' 'भूप भवन तेहि अवसर सोहा । रचना देखि

मदन मन मोहा ॥ १ । ३४५ । १ ।', जो कामदेव ब्रह्मादि समस्त देवोंको भी मोहित करता है वह भी दशरथपुरी अयोध्या-की शोभा आदि देखकर मोहित हो गया। जनकनिवासका कुछ वर्णन तो कविने किया ही, उसे 'अति अनूप' कहा, पर दशरथजीका भवन 'किमि जाइ बखाना।' (ङ) अयोध्याजीमें जैसे घोड़े हैं कि जलपर थलके समान चलते हैं और 'टाप न बूड़ बेग अधिकाई' 'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।' वैसे जनकपुरमें नहीं हैं।—इसी प्रकार अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे दशरथपुरी सभी बातोंमें जनकपुरीसे श्रेष्ठ सिद्ध होती है। उपर्युक्त तुलनामें उत्तरकाण्डके वाक्य नहीं लिये गये हैं। उनको तुलनामें लेना उचित नहीं है क्योंकि वह तो रामराज्यकी पुरी अयोध्या है।

देखि अनूप एक अँवराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई ॥ ५ ॥
कौसिक कहेउ मोर मनु माना। इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना ॥ ६ ॥
भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनिबृंद समेता ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सुपास=सुविधा, सुभीता। मन मानना=रुचना, मनको अच्छा लगना; पसंद होना। यथा—'ज्ञान नयन निरखत मन माना। २७। १।', 'मनु माना कछु तुम्हहिं निहारी। ३। १७। १०।'

अर्थ—एक अनुपम आमका बाग देखकर, जहाँ सब तरहकी सुखसुविधा थी और जो सब प्रकार सुन्दर था, श्रीविश्वामित्रजीने कहा—हे सुजान रघुवीर! मेरे मनको यह (बाग) रुचता है, (अतएव) यहीं ठहरिये ॥ ५-६ ॥ 'हे नाथ! बहुत अच्छा।' ऐसा कहकर कृपाके धाम श्रीरघुनाथजी मुनिसमाजसहित वहाँ उतरे ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ 'देखि अनूप एक अँबराई।...' इति। (क) 'सब सुपास' अर्थात् जल, थल, फल, फूल, छाया, इत्यादिका सुख, 'अति शीत अति ऊष्णतारहित' स्नान पूजन भजन एकान्त इत्यादिका सुख, वा ऋषियोंको सात्त्विक पदार्थोंका और राजकुमारोंको राजलीका सुख। ['सब सुपास' अर्थात् सुन्दर मन्दिर है, शीतल मिष्ट जल है, सुन्दर छाया है, मनोहर पुष्प हैं, फुहारे छूट रहे हैं। 'सब भाँति सुहाई' अर्थात् चारों ओर बड़ी हरियाली है, निकट कोई मार्ग नहीं है, इससे धूलसे सुरक्षित है। किसीका डेरा निकट नहीं है, इससे ऊँचे शब्दसे और मलिनतासे रहित है। नगरसे न तो अत्यन्त निकट है और न अत्यन्त दूर है—ऐसा सुन्दर यह रसाल-बाग है। (पं०)। रा० प्र० कार लिखते हैं कि पतझाड़के ऋतुमें अन्य वृक्षोंमें छाया नहीं रहती परंतु अमरायीमें तब भी छाया रहती है।] (ख) 'सब भाँति...' अर्थात् जलाशय, मकान, वृक्ष, लता, स्वच्छता, बनाव इत्यादि सब प्रकार सुन्दर है। इसीसे 'अनूप' कहा। 'अनूप' स्थानमें टिकनेका भाव यह है कि श्रीरामजी समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, इसीसे विश्वामित्रजी सबसे श्रेष्ठ स्थानमें टिके। इसी तरह राजा जनकने इनको सबमें श्रेष्ठ समझकर सबसे उत्तम मंचपर बिठाया था, यथा—'सब मंचन्ह तें मंच इक सुंदर बिसद बिसाल। मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल॥'

२ (क) 'कौसिक कहेउ मोर मनु माना' इति। पहले यह कहकर कि अमरायी अनूप है, सब भाँति सुन्दर है, अब उसी बातको चरितार्थ करते हैं कि जिन विश्वामित्रजीको सृष्टि रचनेका सामर्थ्य है वे भी इसे देखकर प्रसन्न हो गये, अतएव यह निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर है।* [यहाँ वंशका और क्षत्रिय राजाका सम्बन्ध-सूचक नाम दिया क्योंकि यहाँ ठहरनेका जो विचार किया गया वह राजनीतिदृष्टिसे ही, न कि मुनिकी दृष्टिसे। प० प० प्र०।] (ख) 'इहाँ रहिय रघुबीर सुजाना' इति। 'इहाँ' दीपदेहली है। 'मोर मनु माना इहाँ' और 'इहाँ रहिय'। 'मोर मनु माना' कहकर जनाया कि हमको पसंद है। और 'रघुबीर' सम्बोधन करके टिकनेको कहकर जनाया कि रघुवंशियोंके भी टिकने योग्य है। मुनि और राजा दोनोंके योग्य है। पुनः, 'रघुबीर' का भाव कि आप वीर हैं, वीरोंका वास पृथक् चाहिये, यथा—'कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग बिलग होइ छाये॥ ३। ३८।' (ग) 'सुजाना' का भाव कि आप सब जानते हैं कि यहाँ रहनेसे सब प्रकारका सुपास होगा। यहाँ रहनेसे आपकी प्रतिष्ठा होगी। हम अकेले होते तो सीधे राजद्वार या महलमें चाहे चले भी जाते; पर

* बैजनाथजी कहते हैं कि यह अमराई 'कौशिकी' नदीके तटपर थी, अतः 'मोर मन माना' कहा। इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया कि 'मुनि राजा दशरथके यहाँ कैसे सीधे राजद्वारपर चले गये थे, बीचमें न ठहरे थे?' दूसरा उत्तर इसका यह भी है कि वहाँ याचक बनकर गये थे, भिक्षुकको अभिमान कैसा? और यहाँ निमन्त्रित होकर आये हैं। (रा० प्र०)। इस भावकी पुष्टता 'उतरे तहँ' से होती है, क्योंकि इन शब्दोंमें प्रधानता विश्वामित्रजीकी नहीं रक्खी गयी है वरंच श्रीरघुनाथजीकी। (रा० प्र०)।

हमारे साथ आप दोनों चक्रवर्ती राजकुमार हैं, आपकी मर्यादा-प्रतिष्ठा भी रखनी उचित ही है। जबतक राजा स्वयं मिलने न आवें और सम्मानपूर्वक महलमें न ले जावें तबतक नगरके भीतर ठहरना उचित नहीं। जब आकर सादर ले चलेंगे तब चलेंगे। (पुनः, भाव कि आप जानते हैं कि जब-जब आपका अवतार होता है, तब-तब पहले बाहर असराईहीमें उतरना हुआ है।) ☞ यहाँ लोगोंके इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया कि 'मुनि राजा दशरथके यहाँ कैसे सीधे राजद्वारपर चले गये थे, बीचमें न ठहरे थे?' दूसरा उत्तर इसका यह भी है कि वहाँ याचक बनकर गये थे, भिक्षुकको अभिमान कैसा? और यहाँ निमन्त्रित होकर आये हैं। (रा० प्र०) । इस भावकी पुष्टता 'उतरे तहँ···' से होती है, क्योंकि इन शब्दोंमें प्रधानता विश्वामित्रजीकी नहीं रक्खी गयी है, वरंच श्रीरघुनाथजीकी। (रा० प्र०)]

३ 'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता।···' इति। (क) गुरुने आज्ञा दी कि 'इहाँ रहिये'। श्रीरामजीने 'भलेहि नाथ' कहकर आज्ञाको शिरोधार्य किया और 'भलेहि' कहकर यह भी जनाया कि यह स्थान हमारे मनका भी है। [पुनः भाव कि आप स्वामी हैं जैसी आपकी इच्छा। आप हमारे वंशकी बड़ाई-मान्यता रखना चाहते हैं, यह आपकी कृपा है। श्रीरघुवीरने जो सम्मति दी वह इस हेतुसे कि ये हमारे गुरु और (पिता-नातेसे) स्वामी हैं, इनका यथोचित मान-सम्मान होना आवश्यक है। बिना बुलाये राजद्वारपर जाना महामुनि गुरुजीके लिये उचित नहीं। प० प० प्र०।] (ख) 'कृपानिकेता' कहा क्योंकि मुनियोंपर कृपा करके यहाँ टहरे हैं। मुनि सब थके-प्यासे होंगे, तथा यहाँ उनको सब प्रकारका सुपास होगा, यहाँ विश्राम पावेंगे। यथा—'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर। जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर॥ ५। ३५।' (वहाँ वानरोंपर कृपा करके उतरे थे, इससे 'कृपानिधि' कहा था), पुनः, 'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥' [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'मुनिको बड़ाई देनेके लिये उन्हें 'नाथ' सम्बोधन देकर उनकी आज्ञाको प्रमाण किया। अतएव 'कृपानिकेता' कहा।']

श्रीराजारामशरणजी—इस वर्णनमें उपन्यास-कलाका पूर्णतः विकास है। मियर महोदयने नाटक और उपन्यास-कलाओंके गुण-दोषोंका निरीक्षण करके यह प्रश्न इस शताब्दीके प्रारम्भमें ही उठाया था कि भविष्य काव्यकलाका रूप क्या होगा? वे नाटकके ढाँचेको बहुत संकुचित समझते थे और उपन्यासोंकी भरमारसे ऊब गये थे। महाकाव्यकला विज्ञानके ठोकरसे उन्नीसवीं शताब्दीहीमें चुप हो गयी थी। बर्नार्ड शा Bernardshaw ने अपने नाटकोंमें कुछ उद्योग इन कलाओंके मिश्रण और नैतिक, वैज्ञानिक इत्यादि रहस्योंके प्रकटीकरणका किया है, मगर उनकी आलोचनाएँ और प्रस्तावनाएँ गद्यात्मक और मस्तिष्कीय उधेड़बुनके कारण शुष्क हैं। तुलसीका कमाल है कि सब चीजें मौजूद हैं फिर भी भावों-रसोंसे ओतप्रोत हैं। इसीसे तो मैं तुलसीदासको विश्वकवि कहता हूँ।

अब नाटकीय कलाकी ओर विकास प्रारम्भ होता है। याद रहे कि हमारा कवि केवल वार्ताएँ नहीं लिखता बल्कि सारी प्रगतियों इत्यादिका भी वर्णन कर देता है, जिससे नाटकीय अभिनेता और फिल्मकलाकारोंको बड़ी सहायता मिलती है और पढ़नेवालेके सामने तो जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाता है।

विश्वामित्र महामुनि आए। समाचार मिथिलापति पाए॥ ८॥

दोहा—संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ग्याति।
चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ येहि भाँति॥ २१४॥

शब्दार्थ—ग्याति (ज्ञाति)=एक ही गोत्र वा वंशके लोग; गोतिया; भाई-बन्धु।

अर्थ—महामुनि विश्वामित्रजी आये हैं (यह) समाचार (सूचना, खबर) मिथिलाके राजा श्रीजनकजीको मिला॥८॥ पवित्र निष्कपट मन्त्रियों, निश्छल सच्चे बहुतसे योद्धाओं, श्रेष्ठ (वेदपाठी) ब्राह्मणों, गुरु श्रीशतानन्दजी और अपने जातिके (श्रेष्ठ वा वृद्ध) लोगों-कुटुम्बियोंको साथमें लेकर और प्रसन्न होकर, इस प्रकार राजा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीसे मिलनेको चले॥ २१४॥

टिप्पणी—१ (क) 'महामुनि' अर्थात् भारी मुनि हैं—[२०६ (२) देखिये] इसीसे भारी तैयारीके साथ मिलने जाना चाहिये; अतः भारी तैयारी की, जैसा आगे कहते हैं। (ख) 'समाचार पाये'; किससे? अमराईके बागवानोंसे, क्योंकि

मुनि वहीं आकर टिके हैं*। (ग) 'मिथिलापति पाये' का भाव कि जो कुछ समाचार मिथिलापुरीमें होता है वह सब राजाको प्राप्त होता है। दूत और सेवक लगे हुए हैं जो क्षण-क्षणकी खबर देते हैं। [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'विदेहजीकी यथार्थ दृष्टिमें सेवक-स्वामी-भाव नहीं है, परंतु व्यावहारिक दृष्टिमें मिथिलापुरीके पति हैं और महामुनि इनके पुरमें आये हैं। अतएव सेवक बनकर उनके दर्शनको गये। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि वसिष्ठजीके शापसे जब निमिका 'शरीर पतन' हुआ और ऋषियोंने उनके शरीरको मथ करके पुत्र उत्पन्न किया तबसे इस वंशके सभी राजाओंको तीन उपाधियाँ मिलीं, एक तो 'मिथिलेश' क्योंकि प्रथम पूर्वज मथनसे उत्पन्न हुए। दूसरी, 'जनक' क्योंकि केवल पितासे हुए और तीसरी 'विदेह', क्योंकि इनकी उत्पत्ति मैथुनसे नहीं हुई। मुनियोंके आशीर्वादसे यह वंश योगी, ज्ञानी और भक्त रहा है।]

नोट—१ राजा निमिके कोई पुत्र न था। इसलिये ऋषियोंने उनके शरीरको मथा जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके 'जनन' होनेसे 'जनक', विदेहके लड़का होनेसे वैदेह और मन्थनसे पैदा होनेसे 'मिथि' ये तीन नाम प्रसिद्ध हुए। यथा—**'जननाज्जनकसंज्ञां चावाप। २२। अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः, मथनान्मिथिरिति। २३।'** (वि० पु० अंश ४ अ० ५)। इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं।

२—मिथिलाप्रदेश जिसे आजकल तिरहुत कहते हैं, उसके अन्तर्गत आजकल बिहार-प्रान्तके दो जिले मुजफ्फरपुर और दरभंगा हैं। 'जनकपुर' प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ इसकी राजधानी थी जो वर्तमानकालमें नेपालराज्यके अन्तर्गत है। यह सीतामढ़ीसे लगभग छः-सात कोशपर है। राजा जनकका नाम 'शीरध्वज' और उनके छोटे भाईका 'कुशध्वज' था। (प्र० सं०)।

३ 'महामुनिकी जोड़में इधर 'मिथिलापति' पद दिया। बड़े महात्माओंके मिलने और दर्शनोंको राजाधिराजका जाना योग्य ही है। 'महामुनि' से लोकोंसे परे-विभूतिका ऐश्वर्य जनाया और 'मिथिलापति' से लोक-विभूति सूचित की; अतएव मिथिलापतिको महामुनिसे मिलनेपर लोक-ऐश्वर्य और ज्ञान-विभूतिका, राजकुमारोंके दर्शनमें लय होना सूचित करेंगे—**'बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा', भयउ बिदेहु बिदेह बिसेषी।'** (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ **'संग सचिव सुचि…'** इति। (क) साथमें निष्कपट मन्त्री, बहुतसे योद्धा, ब्राह्मण, गुरु और बन्धु-वर्गके गुरुजनोंको लेकर नाना साभिप्राय है। [राजा जनकने स्वयंवर रचा है; उसमें धनुष-भङ्गकी प्रतिज्ञा है। सत्योपाख्यान अ० ५१, ५२ से विदित होता है कि धनुष-भङ्गकी प्रतिज्ञाके कारण काशिराज सुधन्वा और रावण आदि कई राजा जनकके शत्रु हो गये थे और सुधन्वासे तो एक सालतक बराबर युद्ध हुआ। (वाल्मी० १। ७१ में संकाश्य नगरीके राजा सुधन्वासे एक वर्ष युद्ध होना कहा है)। न जाने किस समय क्या काम पड़ जाय। अतएव मन्त्र (सलाह) लेनेके लिये निश्छल मन्त्रियोंको, दुष्ट राजाओंसे अपनी रक्षाके निमित्त शुचि-सुभट, और वह भी बहुतसे साथ लिये।] नगरके बाहर बहुत-से राजा आ-आकर जुटे (एकत्रित हुए) हैं; अतः **'भूरि भट'** सङ्ग लिये। जहाँ जैसा प्रयोजन पड़े वहाँ वैसा करे इस विचारसे मन्त्रियोंको साथ लिया। विश्वामित्र गुरु हैं, इसीसे गुरु शतानन्दजीको साथ लिया। बड़ोंसे सकुटुम्ब मिलना चाहिये इससे कुटुम्ब साथ है। (विश्वामित्रजी ऋषि हैं, वैसे ही श्रीशतानन्दजी भी गौतमऋषिके पुत्र हैं। मुनिके साथ विप्रमण्डली है, इसीसे 'भूसुर' ब्राह्मणोंको साथ लिया। मुनिके साथ राजकुमार हैं, अतः यहाँ बन्धुवर्ग हैं, वस्तुतः मुनिके सम्मानार्थ गुरु-ब्राह्मण आदिको साथ लेकर दर्शनको गये।) (ख) **'मुदित राउ'**—राजा उनका आगमन सुन बड़े प्रसन्न हुए अर्थात् उनके आगमनको अपने बड़े भाग्यका उदय माना। यथा—**'बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे।'**

३ राजा दशरथ जब विश्वामित्रजीसे मिलने गये तब केवल ब्राह्मणसमाज लेकर गये, यथा—**'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयेउ लै बिप्रसमाजा॥'** कारण कि वहाँ राजा निर्भय हैं, उनका कोई शत्रु नहीं है; अतः मन्त्री और सुभटका काम न था। पर गुरुको साथ क्यों न लिया? इसका उत्तर यह है कि वसिष्ठजी विश्वामित्रजीसे बड़े हैं, वे विश्वामित्रजीकी पेशवाई (अगवानी) में नहीं जा सकते। वसिष्ठजीके देनेसे विश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षिकी पदवी मिली है। जबतक उन्होंने इनको ब्रह्मर्षि नहीं कहा तबतक ये ब्रह्माके कह देनेपर भी अपनेको ब्रह्मर्षि नहीं मान पाये थे। अथवा श्रीरामजीके सम्मानार्थ राजा जनक सुभट, मन्त्री और निमिवंशी यह राजसी समाज लेकर गये और विश्वामित्रजी ब्राह्मण हैं, अतः उनके सम्मानार्थ ब्राह्मण और गुरुको साथ लिया। राजा दशरथजी विप्रसमाज साथ ले गये थे, उन्हींमें वसिष्ठजीको समझ लें, क्योंकि

* बैजनाथजीका मत है कि नगरके बीचमेंसे होकर अमराईमें गये हैं, इससे बहुत लोगोंने पहचान लिया था, उन्हीं लोगोंने राजाको समाचार दिया।

वाल्मीकीयमें वसिष्ठजीका भी साथ जाना लिखा है; यथा—'तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥ ४२ ॥'''वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः ॥ ४७ ॥' अर्थात् राजा द्वारपालोंकी बात सुनकर पुरोहितके साथ प्रसन्नतापूर्वक चले।''' मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने वसिष्ठजीके पास जाकर उनकी कुशल पूछी। (वाल्मी० १ । १८)।

कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा ॥१॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे ॥२॥
कुशल प्रश्न कहि बारहिं बारा। बिश्वामित्र नृपहि बैठारा ॥३॥

शब्दार्थ—कुशलप्रश्न=कुशल-मङ्गल (खैरो-आफियत) पूछना। कुशल=क्षेम, राजीखुशी।

अर्थ—(उन्होंने) चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया। मुनिराज विश्वामित्रजीने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया ॥ १ ॥ (मुनिके साथके) सब ब्राह्मणसमाजको राजाने आदरसहित प्रणाम किया और अपना बड़ा भाग्य समझकर प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ बारंबार कुशलप्रश्न करके विश्वामित्रजीने राजाको बिठाया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा।''' इति। (क) चरणोंपर सिर धरकर प्रणाम करना अत्यन्त आदर है, अत्यन्त भक्ति है, (यहीं आगे कहते हैं—'बिप्रबृंद सब सादर बंदे' वहाँ भी 'सादर' से यही समझ लेना चाहिये)। यथा—'गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायेउ माथा। २। ८॥' 'संबत सोरह सै एकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा ॥' इत्यादि। अत्यन्त नम्रतासे प्रणाम किया, इसीसे मुनि प्रसन्न हुए और 'दीन्हि असीस मुदित।' [पुनः भाव कि जिसकी दृष्टिमें जगत्‌की सत्ता ही नहीं, उसने चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणामकर ऋषियोंका मान किया यह देखकर मुदित हुए। अथवा यह सोचकर कि इनके मनोरथके पूर्ण करनेवालोंको हम साथ लाये हैं, प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया। (पं०)] (ख) ☞ चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करनेकी विधि है, यह मनुस्मृतिमें लिखा है। इसीसे श्रीरामजीने परशुरामजीसे कहा कि 'हमहि तुम्हहि सरबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा। २८२। ५ ॥' (ग) 'मुदित मुनिनाथा' इति। राजा मुनिसे मिलनेके लिये मुदित हैं, यह दोहेमें कह आये हैं, वैसे ही यहाँ मुनि राजाको मुदित होकर आशीर्वाद दे रहे हैं। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'''' के अनुसार। [विश्वामित्रजीको प्रणाम किया, उन्होंने आशीर्वाद दिया, विप्रवृन्दको भी प्रणाम किया। 'सादर' से वैसा ही प्रणाम यहाँ भी सूचित कर दिया जिसमें दुबारा उन्हीं शब्दोंको दुहराना न पड़े। तब क्या विप्रवृन्दने आशीर्वाद न दिया ? उसका उल्लेख यहाँ नहीं है ? इसका उत्तर 'मुनिनाथ' शब्दसे दे दिया है] मुनिनाथ कहकर जना दिया कि ये सब मुनियोंके स्वामी हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, इससे पहले इन्होंने आशीर्वाद दिया तब औरोंने भी पृथक्-पृथक् आशीर्वाद दिया। यह गोस्वामीजीकी अनूठी शैली है।

२ (क) 'बिप्रबृंद सब सादर बंदे' इति। इससे जनाया कि सबोंकी पृथक्-पृथक् वन्दना की। और 'सादर' कहकर सूचित किया कि इनको भी विश्वामित्रके समान ही मानकर वैसे ही प्रेमसे प्रणाम किया। (ख) 'जानि भाग्य बड़'—ब्राह्मणों-महात्माओंकी प्राप्ति बड़े भाग्यकी बात है; इसीसे बड़े लोगोंने सदा इसे बड़ा भाग्य माना है; यथा—'भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग बड़ि जानी। ३५२। २ ॥' इसीसे राजा आनन्दित हुए। (ग) 'सादर' और अनंदे' शब्दोंसे सूचित करते हैं कि पृथक्-पृथक् हर एकको प्रणाम करनेमें राजाने क्लेश नहीं माना, वरंच इसे अपना बड़ा भाग्य माना। 'अनंदे' से आशीर्वादकी प्राप्ति भी सूचित होती है।

नोट—आशीर्वादके सम्बन्धमें कुछ लोगोंका मत है कि १ 'समाजमें जो मुखिया होता है उसीको यथोचित दण्डप्रणाम किया जाता है, औरोंको केवल हाथ जोड़ना और सिर झुकाना ही काफी है। इसी प्रकार मुखियाके आशीर्वादसे सबका आशीर्वाद समझा जाता है। वैसा ही यहाँ हुआ। वा २—राजा जनक योगेश्वर हैं, बड़े-बड़े महर्षि इनके पास शिक्षाके लिये आते हैं; अतएव बिप्रवृन्दने अपनेको आशीर्वाद देने योग्य न समझा। वा ३—उन्होंने भी आशीर्वाद दिया, इसीसे राजा आनन्दित हुए। (☞ पृथक्-पृथक् सबकी वन्दना की और सबसे आशीर्वाद प्राप्त किया, यथा—'बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। मन भावती असीसैं पाई ॥' यह बात आगेके 'कुशल प्रश्न कहि' से भी अनुमानित होती है। नहीं तो मुनिनाथका आशीर्वाद देनेके बाद तुरत ही कुशल-प्रश्न करना लिखा जाता। जब सबको प्रणाम कर चुके तब कुशल पूछी)

टिप्पणी—३ 'कुसल प्रश्न कहि बारहि बारा।''' इति। (क) राजाने मुनिका बड़ा आदर किया वैसे ही मुनिने

राजाका बड़ा आदर किया। वारंबार कुशल पूछना और बिठाना आदर है। 'कहि' पाठसे जनाते हैं कि मुनिने वारंवार कुशल-प्रश्न किया और राजाने वारंवार कुशल कही। [बारंबार 'कही', यथा—'हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया' 'अब कुशल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो ॥ ७। ५ ॥' 'बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं। २। २७० ॥' श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'राजाके सम्मानके लिये कुशल-प्रश्न किया और ज्ञानवान् हैं, इससे अति सम्मान-हेतु वारंबार प्रश्न किया।' मिलान कीजिये (सत्योपाख्यान अ० ५४) 'कुशलं वर्तते राजन् ससस्वङ्गेषु तेऽधुना। येषां कुशलतो राजा वर्तते सर्वदा सुखी ॥ सर्वत्र कुशलं नाथ त्वयि तिष्ठति रक्षके। येषां कुशलकामोऽसि कुशलं तेषु नित्यशः। त्वं वै कुशलमूर्तिश्च तपसा दुष्करेण वै ॥' इससे यहाँ भाव निकाल सकते हैं कि पृथक्-पृथक् सातों राज्याङ्गोंका कुशल, परिवार, प्रजा आदिका कुशल-प्रश्न किया और वे प्रत्येकका उत्तर देते गये। अतः 'वारहिं वार' कहा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि विश्वामित्रजीने राजासे कुशल और उनके यज्ञकी निर्विघ्नताके सम्बन्धमें पूछा। यथा—'पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्। १। ५०। ९ ॥' पर मानसके 'बारहिं बारा' में अधिक प्रश्न और उत्तर अभिप्रेत हैं।] (ख) 'नृपहि बैठारे' इति। बिठायासे आसन देना नहीं पाया जाता। राजाके साथ बहुत ब्राह्मण हैं, मुनिके साथ भी बहुत हैं, जब सबके लिये आसन हो तब तो राजाको भी आसन दिया जाय। सबको छोड़कर राजा आसनपर नहीं बैठ सकते (क्योंकि राजा ब्रह्मण्यदेव हैं)। दूसरे कायदा है, शिष्टाचार है कि जो अपनेको सेवक मानता है, वह स्वामीके आगे आसनपर नहीं बैठता। अतएव आसन देना न कहा गया। [वाल्मी० १। ५० में लिखा है कि राजाने विश्वामित्रजीसे प्रार्थना की कि आप सब मुनियोंके साथ आसनपर बैठें और उनके बैठ जानेपर राजा भी सब मन्त्रियों आदिके साथ पृथक्-पृथक् आसनपर बैठे। यथा—'आसनेषु यथान्यायमुपविष्टाः समन्ततः ॥ १२ ॥']

नोट—महाराज दशरथके प्रणाम करनेपर विश्वामित्रजीने न तो आशीर्वाद दिया न कुशलप्रश्न किया। कारण कि इनसे राम-लक्ष्मणको लेना था। विश्वामित्रजी दाताके साथ सदा कठोरतम व्यवहार करके उसकी श्रद्धाकी परीक्षा लेते थे, हरिश्चन्द्रके साथ जो उनका व्यवहार हुआ वह जगत् जानता है। अतएव आशीर्वाद देकर न तो उनको निर्भय किया और न कुशलप्रश्न किया। जनकजीको तो कृतार्थ करने आये हैं अतः आशीर्वाद दिया। बार-बार कुशल पूछते हैं कि कुछ भी संकट हो तो बताओ, हमारे साथ सहाय मौजूद हैं। दूसरे जनकजी मुनियोंके गुरु हैं, इससे इनका विशेष सम्मान है (वि० त्रि०)।

तेहि अवसर आये दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई ॥ ४ ॥
स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्वचित चोरा ॥ ५ ॥
उठे सकल जब रघुपति आए। बिस्वामित्र निकट बैठाए ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बयस (वयस्) बीता हुआ जीवनकाल, अवस्था, उम्र। किसोर-बयस=किशोरावस्था, १६ वर्षके भीतरकी अवस्था।

☞ नाटकीय कलामें चरित्रोंके प्रवेशका अवसर बड़े मर्म और मार्केकी चीज है। श्रीराम-लक्ष्मणके प्रवेशका वर्णन और प्रभाव विचारणीय है। (लमगोड़ाजी)।

अर्थ—उसी अवसरपर दोनों भाई आये। वे फुलवारी देखने गये थे ॥ ४ ॥ (एक श्रीरामजी) श्याम (दूसरे श्रीलक्ष्मणजी) गौर (गोरे) दोनों कोमल शरीर और किशोर अवस्थाके, नेत्रोंको सुखदायक और विश्वमात्रके चित्तको चुरानेवाले हैं ॥ ५ ॥ जब रघुनाथजी आये, सभी उठकर खड़े हो गये। विश्वामित्रजीने उनको अपने पास बिठा लिया ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तेहिं अवसर आए' का भाव कि ये अवसरके जानकार हैं, (अपनी मर्यादाके अनुसार अवसर-पर ही आया करते हैं); यथा—'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि। उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि ॥ २४० ॥ राजकुँवर तेहि अवसर आए।' तथा यहाँ जब सब लोग बैठ गये तब आये। अभी कुछ वार्ता न प्रारम्भ होने पायी थी। वार्ताके बीचमें आनेसे एक तो वार्तामें विघ्न होता, दूसरे उस समय लोगोंका चित्त वार्तामें लगा होनेसे उठनेकी सन्धि, उठकर आदर करनेका मौका फिर न रह जाता। (ख) 'गए रहे देखन फुलवाई' इति। ऊपरसे तो दिखाया कि फुलवारी अनुपम है, सब भाँति सुन्दर है, अतः उसे देखने गये और भीतरी (गूढ़) अभिप्राय यह है कि राजा जनक आने

ही चाहते हैं, यदि यहाँ रहते हैं तो छोटे होनेके कारण उन्हें देखकर हमें उठकर खड़े होना पड़ेगा, क्योंकि बड़ेको अभ्युत्थान देना धर्म है। और ऐसा करनेसे चक्रवर्ती कुलकी अप्रतिष्ठा होगी। और राजा आदिके आकर बैठ जानेपर यदि हम आवेंगे तो सब हमको देखकर उठेंगे (जैसा आगे स्पष्ट है कि 'उठे सकल जब रघुपति आए')। अर्थात् लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये श्रीरघुनाथजीने ऐसा किया। वे लोक और वेद दोनोंकी मर्यादाके पालक और रक्षक हैं, वे न ऐसा करते तो कौन करता [(अथवा), फुलवारी देखनेके बहाने (मिष, व्याजसे) मुनिने प्रथम ही इनको हटा दिया था। अब सब बैठे हैं। इनके आनेपर सब खड़े होंगे, इससे कुलकी मर्यादा भी बनी रहेगी। (प्र० सं०) । बैजनाथजीका मत है कि फुलवारीसे ही श्रीमिथिलेशजीको आते देख आप भी चले आये।] (ग) यह फुलवारी इसी अमराईकी है जिसमें उतरे हैं, इसीसे यहाँ गुरुकी आज्ञाके माँगनेका उल्लेख नहीं है, क्योंकि यहाँ कहीं बाहर जाना नहीं है। [फुलवारी देखने जानेमें प्रयोजन भी है। प्रभुको गुरु-सेवाका बड़ा ख्याल है, सेवामें ही उनका ध्यान है। प्रातःकाल कहाँसे दल-फूल लाना होगा, कौन फुलवारी निकट है, इत्यादि विचारसे वे फुलवाड़ी देखने गये। (प्र० सं०)]

२ 'स्याम गौर मृदु बयस किसोरा।...' इति। (क) भगवान्के श्यामवर्णमें अत्यन्त सौन्दर्य है, इसीसे जहाँ सुन्दरता कहते हैं वहाँ 'श्याम गौर' कहकर सुन्दरता कहते हैं। यथा—'श्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिश्वामित्र महानिधि पाई।', 'श्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।', 'सुंदर श्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँददाता॥' इत्यादि। तथा यहाँ तात्पर्य कि जिसके वर्णमें ऐसी सुन्दरता है उसके अङ्गोंकी और शृङ्गारकी शोभा कौन कह सकता है ? भाव कि श्याम-गौर जोड़ी सौन्दर्यकी अवधि है। ☞ भगवान्के सब अङ्गोंमें 'श्याम गौरता' है, सब अङ्गोंमें मृदुता है और सभी अङ्गोंमें किशोरावस्था है। (ख) 'रूप' नेत्रोंका विषय है, इसीसे नेत्रोंको सुखदाता है। (ग) 'लोचन सुखद बिश्वचित चोरा' अर्थात् नेत्रोंको सुख देकर चित्तको चुरा लेते हैं। तात्पर्य कि रूप देखनेवालेका चित्त भगवान्के रूपमें सदा बना (लगा) रहता है, अपने पास नहीं आता। इसीसे चुराना कहा। पुनः भाव कि नेत्रोंके सामने चोर कभी चोरी नहीं करता। और ये लोचनोंको सुख देकर चित्तको चुराते हैं, चोर तो कहीं-कहीं ही चोरी कर पाते हैं और ये तो विश्वभरके चित्तको चुरा लेते हैं। (घ) ☞ भगवान्के सभी अङ्ग लोचनसुखद हैं और सभी चितचोर हैं, यथा—'गाथें महामुनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं'—यहाँ किसी अङ्गका वर्णन नहीं है, इसीसे सर्वाङ्गका ग्रहण है।

नोट—१ (क) पं० रामचरणमिश्रकी टिप्पणी 'लोचन अभिरामा तनु घनश्यामा' १९२ छंद पर देखिये। यहाँ जनकमिलनमें 'चोर' पद उपक्रम है और आगे सभामें 'राजत राज समाज' इस दोहेमें उसका उपसंहार है। अतः इसकी विशेष व्याख्या वहीं देखिये।

(ख) श्री पं० रामदासगौड़जी कहते हैं कि विश्वचित्तचोर बड़ा ही उपयुक्त विशेषण है। विश्वकी चेतना स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् हैं। इस लोचन सुखद श्याम-गौर मृदुकिशोर अवस्थाके रूपने अपने भीतर विश्वके चेतनको, सच्चिदानन्दघनको चुरा रक्खा है। क्योंकि यह मोहनरूप तो चोरोंका सरदार है, श्रुतिमें कहा भी है 'ॐ तस्कराणां पतये नमः।' [विश्वचित्त-केही भावसे फुलवारीमें जगदम्बा सीताजीके आभूषणोंकी ध्वनि सुनकर सरकार कहते हैं—'मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिश्वबिजय कहँ कीन्ही॥']

(ग) चोर आँख बचाकर चोरी करता है क्योंकि देख लिया जाय तो शस्त्रादिसे पीछा किया जाय, पर ये नेत्रोंके देखते-देखते सुख देकर चित्तको चुरा लेते हैं और अत्यन्त भीतरकी वस्तुको निकाल लेनेवाले हैं। (रा० प्र०, वै०)। पुनः, चोरको दण्ड दिया जाता है पर यदि वह चोर नेत्रोंको सुख देनेवाला हो तो उसे कौन अपना सर्वस्व न दे देगा ? अतः चोर कहते हुए भी 'लोचन सुखद' कहा। (अनुरागलताजी)।

टिप्पणी—३ 'उठे सकल जब रघुपति आए।'—इति। (क) इससे दोनों भाइयोंका भारी तेज, प्रताप और बड़ाई दिखायी। जिन रामजीके किंचित् प्रतापसे उनके एक छोटेसे दूत अङ्गदको देखकर महाप्रतापी रावणकी सारी सभा उठकर खड़ी हो गयी थी, यथा—'उठे सभासद कपि कहँ देखी॥ ६। १९॥', स्वयं उन्हींको साक्षात् देखकर राजा जनक इत्यादि सब खड़े हो गये तो आश्चर्य ही क्या ! यह तो उनके योग्य ही है। * (ख) उठकर सबने आपका आदर किया। उठनेसे

* पंजाबीजीका मत है कि 'मुनीश्वरोंका उठना विश्वामित्रजीकी इच्छासे हुआ और मुनियोंको देखकर तथा श्रीरामलक्ष्मणके तेजके कारण जनकके सब लोगोंका उठना हुआ।

श्रीरामजीकी बड़ाई हुई, बड़प्पन और प्रतिष्ठा हुई; इसीसे सबके उठनेका उल्लेख किया गया। विश्वामित्रजीने उनको अपने पास बिठा लिया, यह मुनिने उनका आदर किया। (ग) आना दो बार कहा गया,—'तेहि अवसर आये दोउ भाई।' और 'उठे सकल जब रघुपति आए।' यह दो प्रयोजनसे, प्रथम बार 'अवसर' जानकर समयसे आना कहा और दूसरी बार आते ही सबका उठना कहा। बीचमें यह कहने लगे थे कि कहाँ गये थे, कहाँसे आये, इसीसे फिर आनेकी बात कही गयी। (घ) भाइयोंको बिठाना कहा, क्योंकि इससे उनका मुनिके जीमें कैसा आदर है यह सबको दिखाना है; और सबोंका बैठना कथन करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है, इससे सबका बैठना न कहा। जब श्रीरामजी बैठ गये तब सभी बैठ गये। (ङ) निकट बैठाना वात्सल्यरसका प्यार है।

भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥ ७॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ ८॥

अर्थ—दोनों भाइयोंको देखकर सब सुखी हुए। (सबके) नेत्रोंमें जल (प्रेमाश्रु) भर आया और शरीर पुलकित (प्रेमसे प्रफुल्लित, रोमाञ्चित) हो गये॥ ७॥ मधुर मनोहर मूर्तिको देखकर विदेहराज विशेष विदेह हो गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम और सबोंका प्रेम कहकर तब विदेहराजका प्रेम कहेंगे, यह सूचीकटाह न्याय है। (ख) दोनों भाई लोचन-सुखद हैं, इसीसे देखकर सब सुखी हुए और सबको प्रेम हुआ। प्रेमकी दशा आगे कहते हैं।—'बारि बिलोचन....।' ☞ पूर्व जो 'लोचन सुखद विश्वचितचोरा' कहा था उसको यहाँ चरितार्थ करते हैं। प्रारम्भमें ही विश्वचित-चोर कहकर जना दिया कि यहाँ सब चित्त लगाये हुए देख रहे हैं, यथा—'राम लखन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥' (ग) 'बारि बिलोचन....' इति। नेत्रोंमें जल आनेका हेतु सुख है। सुख जल है जो नेत्रोंके द्वारा ऊपर देख पड़ा, यथा—'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी'।

२ 'मूरति मधुर मनोहर देखी।....' इति। (क) नेत्रोंको मधुर हैं क्योंकि रूप नेत्रका विषय है। दर्शनसे मन हर जाता है। इसीसे प्रथम 'मधुर' कहकर तब 'मनोहर' कहा। दो इन्द्रियाँ महाप्रबल हैं, एक नेत्र, दूसरी मन। 'मधुर मनोहर' से जनाया कि ये इन दोनोंको वशमें कर लेते हैं। बाहरकी इन्द्रियोंमें नेत्र सबसे प्रबल हैं और भीतर मन प्रबल है। इसीसे इन्हीं दो इन्द्रियोंका सुख कहा। (ख) 'मधुर मनोहर' इन दोनों शब्दोंको आगे चरितार्थ किया है। 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक' में 'मधुर' शब्दको और 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥' में 'मनोहर' शब्दको चरितार्थ किया है।

(स्मरण रहे कि दोनों भाइयोंकी मूर्ति मधुर और मनोहर है, क्योंकि आगे राजा स्वयं दोनों भाइयोंका देखना कहते हैं, यथा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥....' 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥' ☞ इस प्रसङ्गभरमें दोनों ही भाइयोंका वर्णन है। अतः इस अर्धालीको केवल श्रीरामजीमें न लगाकर दोनों भाइयोंमें लगाना चाहिये)।

'भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी' इति।

पं० रामकुमारजी—१ 'विशेष विदेह' हुए कहनेका तात्पर्य यह है कि साथके सब लोग विदेह हो गये थे, यथा—'तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भए। गी० ६१।' और, जनकजी सबसे विशेष ज्ञाता हैं, इसीसे वे विशेष विदेह हुए। पुनः, भाव कि जनकजी ब्रह्मसुखमें विदेह रहते थे सो श्रीरामदर्शनसे विशेष विदेह हो गये; क्योंकि ब्रह्मसुखसे श्रीरामजीके दर्शनका सुख विशेष है, यथा—'भए मगन सब देखनहारे। जनक समान अपान बिसारे॥' 'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥ ७। ८८।' 'अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन दिए। जानकीमंगल २५।' [☞ श्रीविदेहराजकी इस समयकी दशाका वर्णन गीतावलीमें विशेष रीतिसे वर्णित है। उससे 'विदेह विशेषी' का भाव भली प्रकार समझमें आ जायगा; इसीसे उसको हम यहाँ उद्धृत किये देते हैं। यथा—'देखे रामलषन निमेषैं बिथकित भईं प्रानहुँ ते पियारे लगे बिनु पहिचाने हैं। ब्रह्मसुख हृदय दरस-सुख लोयननि, अनुभये उभय सरस राम जाने हैं॥ तुलसी बिदेहकी सनेह की दसा सुमिरि मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं। पद

६१ ।' पुनश्च, 'सुखके निधान पाये, हियके पिधान लाए ठगकेसे लाड़ू खाये, प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथरहित परमारथी कहावत हैं, भे सनेह बिवस बिदेहता बिदाके हैं ॥ २ ॥ सील सुधाके अगार, सुखमाके पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं। लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे, एकरसरूप चित्त सकल सभा के हैं ॥ ३ ॥' (पद ६४) पुनश्च यथा—'देखि मनोहर मूरति मनु अनुरागेउ। बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ ॥' (श्रीजानकीमंगल २६)]

२ जैसे 'जनक बिशेष बिदेह हुए' यह कहकर जनाया कि और सब विदेह हो गये थे, वैसे ही सब लोगोंके 'बारि बिलोचन पुलकित गाता' कहकर जनक महाराजके भी नेत्रोंमें जल और शरीरमें पुलकावलीका होना बता दिया। यथा— 'भए बिदेह नेह बस देह दसा बिसराए। पुलक गात न समात हरष हिय सलिल सुलोचन छाए ॥ गी० १। ६३।'

पाँड़ेजी—'विदेह=देहाभासरहित। विदेहसे विदेह होना देही हो जाना है।'

प्रो० श्रीरामदास गौड़जी—राजा जनक विदेह निर्गुण उपासक थे, उन्हें तो संसारकी असारता और ब्रह्मकी नित्यताका ज्ञान निरन्तर बना रहता था। देहमें रहते भी वे देहरहित-से ही भावना रखते थे। परंतु परात्परके सगुणरूपके प्रत्यक्ष दर्शनसे उन्हें देहकी साधारण वृत्तियाँ भी भूल गयीं। अगोचर निर्गुण ब्रह्मकी कल्पना परबुद्धिसे ही हो सकती थी जिसमें ये सदा लीन रहते थे। इस समय वह परबुद्धि बरबस ब्रह्मकी कल्पनाको छोड़ इन्द्रियोंकी ओर प्रवृत्त हुई। इन्द्रियाँ सब विषयोंको छोड़ परात्परके सगुण रूपमें लीन हो गयीं। इस प्रकार पहले जो ब्रह्मज्ञान 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' इस धारणासे ब्रह्मकी ओर प्रवृत्त था 'इन्द्रियाणि रामे वर्तन्ते' यह तथ्य देखकर 'बरबस ब्रह्मसुखहिं त्यागा' जिस बातका वे स्वयं एकरार करते हैं।

पं० रामचरण मिश्र—यहाँ 'विशेष विदेह' से यह सूचित होता है कि पहले राजाका मन समाधिमें लय-विक्षेपको प्राप्त होता रहा था। अब इस मूर्त्तिके माधुर्यमें मन भी हाथसे जाता रहा, बेहाथ हो गया। अतः लय-विक्षेपका भय जाता रहा। अब देहका अध्यास और मनका भी अभ्यास जाता रहा, इससे 'विशेष विदेह' कहा। ☞ इस अर्धालीमें 'गोस्वामी-जीने उपासनाका तत्त्व कूट-कूटकर भर दिया है। राजा ब्रह्मज्ञानी हैं, ब्रह्मसुखमें निमग्न रहे, अब वह ब्रह्मसुख सरकार-सुखमें लय हो जानेसे अधिक सुखरूप हो गया, क्योंकि छोटी पूँजी ही बड़ीमें लीन होती है। ब्रह्मज्ञानके ध्यानमें जो प्रकाशरूप है वह श्रीसाकेतविहारीजीका आभासमात्र है, जब राजाको आभासका मूलाधार आश्रयस्वरूप नेत्रगोचर हुआ तब ब्रह्मके ध्यानका फल साक्षात्कार हुआ और यही कहना पड़ा कि 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा ॥'

पंजाबीजी—'मधुर' से बाह्य इन्द्रियोंको और 'मनोहर' से अन्तःकरणको प्रिय जनाया। राजा परम विदेही हो गये अर्थात् ज्ञानके बल विदेह तो थे ही अब प्रेमके बल विशेष विदेह हो गये।

बैजनाथजी—मधुर=जिसे देखकर तृप्ति न हो। पहले साधारण विदेह थे, अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंके विषय और मन आदिकी वासनाओंको विवेक-बलसे खींचकर आत्मदृष्टिसे ब्रह्मानन्दमें स्वाभाविक ही मग्न रहते थे। वह विदेहता ज्ञानबलके आश्रित थी, इससे साधारण थी। और यहाँ इन्द्रियोंकी वृत्तिको माधुरीने खींच लिया और मन आदिकी वृत्तिको मनो-हरताने अतः श्रीरामप्रेमानन्दके परवश हो स्वरूपमें जो दृष्टि थी वह परस्वरूप रामजीमें लग गयी।

रा० प्र०—ब्रह्मस्वरूपमें विदेह हो रहे थे, उन्हें माधुर्यकी भी प्राप्ति हुई, अतः द्विगुण तत्त्वकी प्राप्तिसे 'विशेष विदेह' कहा। अबतक देह-रहित थे, अब मनरहित भी हो गये, अतः 'विशेष विदेह' कहा। [यहाँ 'यमक' अलंकार है—प्रथम 'बिदेह' राजा जनकका वाचक है और दूसरा 'विदेह' देहाभासरहितके अर्थमें है।]

करुणासिंधुजी—राज्य विषयमें न लिप्त होनेसे ज्ञान-विदेह तो थे ही, अब देहविदेह भी हो गये क्योंकि इन्द्रियोंके व्यवहार रुक गये, अतएव 'विशेष' कहा।

मा० त० वि०—ब्रह्मस्वरूप तथा माधुर्य द्विगुणतत्त्वकी प्राप्तिसे विशेष विदेह हुए। अथवा, विदेहदशाकी शेखी (अभिमान) जो अहं ब्रह्मास्मि मानते थे वह बाकी न रह गयी, किंतु दासोऽहं भाव उपज आया। अतः **'बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा।'**

दोहा—प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर ॥२१५॥

शब्दार्थ—गदगद (गद्‌गद) गिरा=अधिक हर्ष-प्रेम और श्रद्धादिके कारण स्वरके रुक जानेसे रुक-रुककर वा असम्बद्ध वचन जो निकले ।=प्रेमसे विह्वल दशाके वचन। गंभीर=गहरी। एवं जिसका आशय समझना कठिन हो; गूढ़। बहुत आशय भरी हुई।

अर्थ—मनको प्रेममें मग्न (डूबा हुआ) जान ज्ञानसे धीरज धारणकर राजा मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर गद्‌गद और गम्भीर वाणीसे बोले ॥ २१५ ॥

टिप्पणी—१ 'करि बिबेक धरि धीर' इति। प्रेममें जब मन मग्न हो जाता है तब मुँहसे कुछ कहते-बोलते नहीं बनता, यथा—'कोउ किछु कहै न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा ॥ २। २४२।' राजा प्रेममें मग्न हैं अतः कुछ बोल न सकते थे। इसीसे उन्होंने मनको सावधानकर विवेक किया। विवेक करके धीरज धारण किया। धीरज धरकर तब आगे वचन कहते हैं। **'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक'** से लेकर **'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥'** तक विवेक कहा है।

नोट—पं० रामकुमारजीने दोनों अर्थ दिये हैं। एक तो यह कि 'विवेक करके, धीरज धरके और मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर···'। दूसरे यह कि 'विवेक करके, धीरज धारण किया और मुनिके···'। पर प्रधान अर्थ उनका प्रथम ही है; क्योंकि आगेकी व्याख्या उसीके अनुसार की है। श्रीरामदास गौड़जीका मत भी यही जान पड़ता है। वे लिखते हैं कि 'परात्पर ब्रह्म तो बुद्धि-विवेकादि सबसे परे है। **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'**। बुद्धि-विवेक संसारके अन्तर्गत हैं। यहाँ तो वह सामने है **'जेहि जाने जग जाइ हेराई।'** अतः बुद्धि-विवेक तो उसपर निछावर हो चुके थे। धैर्य धर विवेकको बटोरकर मुशकिलसे अकल ठिकाने करके बोले।'

रा० प्र०—**'करि बिबेक'** अर्थात् मनको समझाया कि तू इतनेहीमें क्यों तृप्त हो गया? अभी तो तूने एक छटामात्र देखी है, शोभामें डूब जानेसे आगे फिर और व्यवहार हँसी बोलचाल इत्यादि अनेक लीलाओंका रसास्वाद क्योंकर मिलेगा?

टिप्पणी—२ **'बोलेउ मुनिपद नाइ सिरु'** इति। श्रेष्ठ लोग, शिष्ट पुरुष बड़ोंको प्रणाम करके बोला करते हैं। यथा—**'करि प्रनामु मुनि मंडलिहि बोले गदगद बयन। २। २१०।'** (भरतः), **'गे नहाइ गुर पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई। २। २९०।'**, **'कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान। नाइ रामपदकमल सिरु बोले गिरा प्रमान ॥ १। २५२।'** (लक्ष्मणः)। इत्यादि। पुनः, भाव कि श्रीरामजीके स्वरूपको जानना चाहते हैं, इसीसे चरणोंमें मस्तक नवाकर पूछते हैं। जिज्ञासुको ऐसा ही चाहिये। [श्रीपार्वतीजी, श्रीभरद्वाजजी इत्यादिके उदाहरण इसी ग्रन्थमें मौजूद हैं। जिज्ञासु बनकर श्रीशङ्करजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी इत्यादिसे इसी तरह पूछा गया है।]

३ (क) **'गदगद गिरा गँभीर'** इति। मन प्रेममें मग्न था, इसीसे वाणी गद्‌गद है, वाणीका स्वर एवं उसका अर्थ गम्भीर है। (ख) यहाँ राजाके मन, वचन और कर्म तीनोंकी दशा कही, तीनों अनुरक्त हैं। **'प्रेम मगन मन जानि नृप'** यह मन, **'धरि धीर'** यह कर्म और **'बोले मुनिपद नाइ सिरु···'** यह वचन है। ['सिर नवाना' ('नाइ सिर') कर्म, वाणी (गद्‌गद गिरा) वचन है। मन, वचन और कर्म तीनों अनुरक्त हैं। तीनोंका उपराम ज्ञानसे कर रहे हैं।' (प्र० सं०)]

पं० दामोदरप्रसाद शर्मा—जब अत्यन्त भारी परिश्रमके पश्चात् जीवको आत्मानन्द मिलता है तो वह अपने ही सहज आत्मानन्दीय सुखमें डूबा रहता हुआ अपनी सारी संपत्तिको मुद्दा समझता है, इस समय हम उसे शुद्धात्मा कहते हैं। कारण कि उसमें संसारी विकार नहीं रहता, संसारकी वस्तुएँ उसे दुखी नहीं करतीं, उनके उदय-अस्तमें वह अपनी लाभ-हानि कुछ नहीं समझता, औरकी क्या चली वह अपने शरीर तकको भूल जाता है। ऐसे शुद्ध जीवको हम विदेह कहते हैं।

बस, राजा जनक इसी तरहके विदेह पुरुष थे। आत्मानन्दमें वे इतने छके रहते थे कि उन्हें उनकी चित्तवृत्ति संसारकी सुधा माधुरीकी ओर स्वप्नमें भी नहीं जाने देती थी। विष्णुभगवान्, महाविष्णुभगवान्, विराट् भगवान् और महाविराट् भगवान्‌को वे अपनी ही नाईं विदेह पुरुष मानते थे और इन्हें उसी आत्मानन्दके उपासक समझते थे। इन प्रभुओंमेंसे किसी एक भी प्रभुका जब आपको साक्षात्कार हुआ तब आपकी चित्तवृत्तिमें कभी फरक नहीं देखा गया। ब्रह्मा, विष्णु, महेशादिसे मिलना-जुलना और उनके साथ उठना-बैठना तो उनके जीवनके मामूली काम रहे हैं। ऐसे अवसरोंपर आत्मानन्दरूपी गम्भीर सागरमें आप डूबे हुए दिखे हैं। आपकी बराबरी आत्मानन्दमें करनेकी यदि कोई दम भरते थे तो सनकादिक ही थे। इनका भी यही हाल रहा है।···सारांश कहनेका यह कि ये भगवान् कोटिके पुरुष आत्मानन्दके सामने

किसी भी देवदेवादिको कोई माल नहीं गिनते थे। इस बातका Diploma (तमगा) इनके भुजदण्डोंपर सदैव लटकता ही रहता था।

वही जनक महाराज आज श्रीराम-लक्ष्मणजीकी अद्वितीय छविको देखकर बावले हो गये। आत्मज्ञान लापता हो गया। आत्मानन्द परमानन्दमें जा मिला। वे चकोरवत् देखते रह गये। ज्ञानका पता नहीं। अकथनीय आश्चर्यमें डूब गये और व्याकुल होकर मुनिसे इनका परिचय माँगने लगे। शृङ्खलाबद्ध प्रश्न-पर-प्रश्न होने शुरू हुए।

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि कुल तिलक कि नृपकुलपालक॥ १॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥ २॥

शब्दार्थ—'तिलक'—टीका मस्तकपर—ललाटपर होता है; इसीसे 'तिलक' का अर्थ है 'शिरमौर, शिरोमणि, भूषण, प्रकाशक इत्यादि।' उभय=दो।

***अर्थ*—हे नाथ! कहिये,** ये दोनों सुन्दर बालक मुनिकुलके भूषण हैं कि राजकुलके पालन करनेवाले हैं (अर्थात् **मुनिपुत्र हैं या कि राजकुमार हैं ?**) ॥ १ ॥ या कि जिस ब्रह्मको वेद नेति-नेति कहकर गाते हैं, वही दो वेष (रूप) **धारण करके आया है ?** ॥ २ ॥

प्रोफे० श्रीरामदास गौड़जी—विवेक और बुद्धिके प्रेरकने [उरप्रेरक रघुबंशबिभूषन। '**धियो यो नः प्रचोदयात्**'] प्रत्यक्षमें जनकजीकी वाणीको गड़बड़ा दिया। राजकुमारोंका रूप तो साफ कहे देता था कि '**नृपकुलतिलक**' और '**मुनिकुलपालक**' हैं; क्योंकि राजकुमारोंके मख-रखवारीकी कीर्ति तो कभीकी फैल चुकी थी। परंतु सरस्वतीको सच्ची परंतु अलौकिक बात मुँहसे निकलवानी थी। विवेकको धैर्यपूर्वक समेट लिया है, परंतु वागिन्द्रिय तो सरकारहीकी स्तुतिमें मग्न है। वह कहती है 'मुनिकुलतिलक' अर्थात् नर-नारायण हैं क्या ? अथवा 'नृपकुलपालक' इस ब्रह्माण्डके पालक परम्पराके रक्षक भगवान् विष्णु हैं क्या ? [द्विजकुलपालक परशुरामका अवतार हो चुका है। जनकजी जानते हैं। इसीलिये यहाँ नृपकुलपालक साभिप्राय है भगवान् विष्णुके लिये।] अथवा '**ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥**' [जनकजीने जो तीन प्रश्न किये वही तीन प्रश्न बटुरूप हनुमान्‌जी भी किष्किन्धाकाण्डमें करते हैं।] तीनों प्रश्नोंमें अन्तिमपर बड़ा जोर है, कारण, मेरा मन स्वभावसे ही नामरूपमय संसारसे विरक्त है, वह भी इस रूपपर ऐसा मोहित हो गया है, मेरी निगाहें इनपर ऐसी अटक गयी हैं जैसे चन्द्रमाके रूपपर चकोरकी। सिवा इसके जो मन कि ब्रह्मसुखमें निरन्तर डूबा रहता है वह आज बरबस ही ब्रह्मानन्दहीको छोड़ इस छबिके आनन्दमें डूब रहा है। इत्यादि।

श्रीलमगोड़ाजी—पं० श्री जयदेवशर्माजीके सामवेद-संहिताके भाषा-भाष्यके अध्ययनसे भी साफ पता लगता है कि कहीं तो ईश्वरीय सत्ताके हृदयमें प्रकट होनेकी प्रार्थना है और कहीं उसे बाहर भी प्रकट होना कहा है। स्वामी दर्शनानन्दजीने भी अपने उपनिषदोंके अनुवादमें लिखा है कि जीव भी जब ईश्वरमें लीन होता है तो आगमें लाल हुए लोहेके गोलेकी तरह अपनेको अग्नि (ईश्वर) ही मानता है। उन्होंने अपने वेदान्तभाष्यमें लिखा है कि जीवन्मुक्त आचार्योंने अपनेको 'स्व' (ब्रह्मरूप) कहा है। बात केवल दृष्टिकोणकी रह जाती है। कोई अवतार कहे कोई प्रकट होना।

नोट—अध्यात्मरामायणमें श्रीजनकजीके वचन हैं कि 'ये मेरे हृदयमें इस समय नर और नारायणके समान प्रीति उत्पन्न कर रहे हैं, यथा—'**मनःप्रीतिकरौ मेऽद्य नरनारायणाविव** ॥ १। ६। ९॥' इससे गौड़जीके भावकी भी पुष्टि होती है। और वाल्मीकीयमें कहा है कि ये दो देवता मालूम होते हैं जो अपनी इच्छासे देवलोकसे मर्त्यलोकमें आये हैं। (वाल्मी० १। ५०। १९)।

टिप्पणी—१ 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।…' इति। (क) प्रथम ही 'सुंदर दोउ' यह शब्द राजाके मुखसे निकलकर राजाके अन्तःकरणकी सौन्दर्यपर मुग्धताका परिचय दे रहा है। सुन्दरताने राजाके मनमें घर बना लिया, मनको हर लिया है। यथा—'**ए कौन कहाँ ते आए। नीलपीत पाथोज बरन मनहरन सुभाय सुहाए** ॥ गी० ६३ ॥' (ख) ['बालक' शब्द वात्सल्यस्नेहका द्योतक है। (पं०)]। (ग) 'मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक' इति। इससे पाया गया कि जब दोनों भाई फुलवाड़ी देखने गये तब धनुषबाण नहीं लिये थे, इसीसे राजाको संदेह हुआ कि ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय। मुनिके साथ हैं इससे मुनिपुत्र होनेका संदेह हुआ और अङ्गोंसे राज्यलक्षण देखकर राजपुत्र होनेका संदेह हुआ। [वा यह समझकर कि मुनिके कोई पूर्वके सम्बन्धी न हों 'नृपकुलपालक' कहा। (रा० प्र०) 'श्रीरघुवीरने अरण्यकाण्डमें

कहा है कि हम 'मुनिपालक खलसालक बालक' हैं। जनकजीकी वाणीमें गड़बड़ी उड़ गयी है, यह इस वचनसे सप्रमाण सिद्ध होता है' (प० प० प्र०)]। (घ) 'मुनिकुलतिलक…' कहनेका भाव कि यदि मुनिपुत्र होंगे तो समस्त मुनियोंमें श्रेष्ठ होंगे और यदि राजपुत्र होंगे तो राजकुलके पालक अर्थात् किसी चक्रवर्ती राजाके पुत्र होंगे। क्योंकि ब्रह्मका अवतार जहाँ भी होगा वहाँ सबसे ही श्रेष्ठ होगा। आगे ब्रह्मके अवतारका अनुमान करते हैं। [और त्रेतामें नररूपसे अवतार दो ही कुलोंमें होते हैं; या तो ब्रह्मकुलमें या क्षत्रियकुलमें। अतः यदि ब्रह्म हैं तो इन्हीं दोमेंसे एकमें होंगे]। (ङ) मुनिके साथ हैं इसीसे प्रथम मुनिकुलतिलक कहा। (च) प्रथम व्यवहारकी बात पूछकर तब परमार्थका प्रश्न करते हैं क्योंकि व्यवहारके अन्तमें परमार्थ है।

२ 'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।' इति। (क) मनके हरण हो जानेसे अब ब्रह्मके अवतारका अनुमान करते हैं, क्योंकि जनकजीका मन 'विरागरूप' है, वह ब्रह्मको छोड़ दूसरी जगह अनुराग नहीं कर सकता। (ख) 'नेति कहि गावा' अर्थात् वेद 'न इति' कहता है अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है, यह भी ब्रह्म नहीं है। तात्पर्य कि वेद यह निश्चय नहीं कर सकते कि यही है। (वा इनकी इति नहीं है, जो हमने कहा इतना ही नहीं है)। (ग) 'उभय बेष धरि की सोइ आवा' इस कथनसे पाया गया कि ब्रह्म सगुणरूप धारण करता है। (यह इतने बड़े योगेश्वर ब्रह्मज्ञानी श्रीजनकमहाराजका सिद्धान्त है)। यही श्रीशङ्करभगवान्‌का मत है, यथा—'जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुरभूपा। १४१। २।।' जिनका मत है कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता वे भ्रममें पड़े हुए हैं, यह मत उनके भ्रम और अज्ञानताका सूचक है। क्योंकि जहाँ सतीजीका अज्ञान और भ्रम कहा गया है वहाँ ऐसा लिखा है कि० ब्रह्म अवतार नहीं लेता, यथा—'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥ ५० ॥' (घ) 'आवा' इति। 'ब्रह्म तो सर्वत्र पूर्ण है आया कहाँसे ? 'आवा' कैसे कहा ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मका वेष धारण करना कहते हैं, तब उसका आना-जाना भी कहा जाता है। सगुणका आना और जाना दोनों होता है। हमारे यहाँ रूप धरकर आया। (वा श्रीअवधमें रूप धारण करके प्रकट हुआ और वहाँसे हमारे यहाँ आया)। [श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'राजा निरवयव ब्रह्मनिष्ठी हैं, इसलिये उन्होंने कहा कि ब्रह्म तो नहीं हैं जो दो स्वरूप धरकर आये हों। यह सावयव ब्रह्ममूर्ति अतएव संदेह किया।'] ☞आगे ब्रह्म अनुमान करनेका कारण बताते हैं कि 'सहज बिरागरूप…।' पुनः 'उभय बेष धरि…' का भाव कि जैसे ब्रह्म विलक्षण है, वैसा ही उसने विलक्षण रूप धरा है; एकसे दो हो गया।

नोट—१ गीतावलीमें बहुत तरहसे अनेक उपमाएँ देकर राजाका मुनिसे पूछना लिखा है जो पढ़ने योग्य है। यथा—'ए कौन कहाँ ते आए। मुनिसुत किधौं भूपबालक किधौं ब्रह्मजीव जग जाए। रूपजलधिके रतन सुछबि तिय लोचन ललित ललाए ॥ २ ॥ किधौं रबिसुवन मदन रितुपति किधौं हरिहरको बेप बनाये। किधौं आपने सुकृतसुरतरु के सुफल रावरेहि पाये ॥ ३ ॥ गी० १। ६३ ॥'

२ ☞श्रीराम-लक्ष्मणके प्रभावमें माधुर्य और ऐश्वर्यका मिश्रण विचारणीय है। महाकाव्यकला और नाटकीय कलाका एकीकरण बड़ा सुन्दर है, मगर मजा यह है कि ब्रह्मत्व माधुर्यपूर्ण शृङ्गारमें प्रकट हुआ है, इससे श्रीजनकजीको भ्रम-सा है कि ब्रह्मसुख छूट गया। बड़े लुत्फकी बात है कि अभी वह यह नहीं समझते कि ब्रह्मत्व ही प्रकट हुआ है और उनके मनकी दिशासूचक सुई इसलिये अपने ध्रुवपर जा लगी। (राजारामशरणजी)।

सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥ ३ ॥
ताते प्रभु पूछौं सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—थकित=मोहित, ठिठककर लगे रह जानेकी क्रिया। सति भाऊ=सद्भावसे।

अर्थ—मेरा मन जो स्वाभाविक ही वैराग्यका रूप (साक्षात् वैराग्यकी मूर्ति) ही है (इनको देखकर) इस तरह थकित हो रहा है जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर थकित होता है ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! इसीलिये मैं आपसे सच्चे भावसे पूछता हूँ। स्वामिन् ! कहिये, बताइये। छिपाव न कोजिये (कोई बात छिपाइयेगा नहीं ॥ ४ ॥

नोट—कदाचित् मुनि कहें कि अभी तो इन्हें राजकुमार कहते थे, अब ब्रह्म कैसे निश्चय करते हो; उसपर कहते हैं—'सहज…।'

टिप्पणी—१ 'सहज बिरागरूप मन मोरा।…' इति। (क) 'सहज बिरागरूप' अर्थात् बिना किसी साधनके स्वतः जन्मसे ही विषयोंसे वैराग्यवान् है, विषयोंमें लिप्त नहीं हुआ। ['विरागरूप' कहनेका भाव यह है कि मेरा मन मानो मूर्तिमान् वैराग्य ही है, क्योंकि यदि मन और वैराग्य पृथक्-पृथक् रहते (होते) तो मनसे वैराग्य कभी-कभी छूट भी जाता, उसको किसी पदार्थमें राग हो जाना सम्भव था; पर यहाँ ऐसी बात नहीं है, यहाँ मन वैराग्यका रूप हो गया, इसीसे वह वैराग्यसे पृथक् नहीं हो सकता। तात्पर्य कि मेरे मनमें सदा वैराग्य बना रहता है]। (ख) वैराग्यके साधन अरण्यकाण्डमें यों कहे हैं,—'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। ३। १६॥' जनकजीमें वैराग्यके ये सब साधन प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तब बिना साधन वैराग्यरूप कैसे कहा? 'बिना साधन' का भाव यही है कि बालपनेसे ही ये सब बातें हमारे मनमें अपनेसे ही मौजूद थीं, हमें जन्मके बाद कोई साधन वैराग्य-प्राप्तिके करने नहीं पड़े। यथा—'मुनिगन गुर धुरधीर जनक से। ग्यान अनल मन कसें कनक से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए। २। ३१७॥'

नोट—१ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'नटकृत कपट बिकट खगराया। नटसेवकहि न ब्यापइ माया॥' पुनः यथा—'मायावकेन भवतापिनि गुह्यमानं पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः॥' अर्थात् मत्स्यादि अवतारोंमें तो प्रभु भक्तोंसे छिप न सके तब यहाँ कैसे छिप सकते थे। २—'उभय बेष धरि की सोइ आवा' उसीकी पुष्टि यहाँ कर रहे हैं। या यह कहिये कि 'यह कैसे निर्णय किया कि ये ब्रह्म हैं?' इसका उत्तर यहाँ दे रहे हैं कि निर्विकल्प समाधिको छोड़कर मेरे मनने इनमें सुख माना है। 'मुझे विश्वास है कि मेरा मन कदापि प्राकृत पदार्थमें आसक्त नहीं हो सकता।'—(पंजाबीजी, रा० प्र०)।

३ ☞ स्मरण रखें कि ब्रह्मनिष्ठ अनुभवी महात्माओंके अनुभव सदा सत्य ही होते हैं। इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव ब्रह्मके साक्षात्कार होनेपर हुआ—'की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार।' इसी तरह अयोध्याकाण्डमें तापसके विषयमें जो कहा गया है कि 'मन्हु प्रेम परमारथ दोऊ', इनमेंसे श्रीरामजी तो 'ब्रह्म परमारथ रूपा' हैं ही, दूसरा सिवाय 'प्रेम' (मूर्तिमान्) के और कौन होगा? विचार करें। आगे प्रेमकी दशा दिखानी है, अतः वह स्वयं आकर दिखा रहा है।

टिप्पणी—२ 'थकित होत जिमि चंद चकोरा।' इति। (क) चन्द-चकोरकी उपमा देनेका भाव कि जैसे चकोर सबसे विरागी होकर चन्द्रमाकी छबिको देखकर थकित होता है, वैसे ही हमारा सबसे विरागी मन राजकुमारोंकी छबि देखकर थकित हुआ है। दोनों राजकुमारोंकी छबि देखकर जनकजी विशेष विदेह हो गये थे, इसीसे उन्होंने चन्द-चकोरकी उपमा दी। चन्द्रमाको देखकर चकोर विदेह हो जाता है। ☞ सगुण ब्रह्मके दर्शनमें भक्तोंको चकोरकी उपमा दी गयी है, यथा—'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई। ३। १७। ७।' उदाहरण यथा—'मुनि समूह महँ बैठे सनमुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर। ३। १२।' (ख) जनकजी अपने मनकी इसीसे इनको ब्रह्म निश्चय करते हैं, यथा—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।' शाकुन्तलानाटके १। १९।' (ग) चकोर पक्षी जड़ है, मूर्ख है। वह यह नहीं जानता कि चन्द्रमा कौन है? किसका पुत्र है? केवल उसकी सुन्दरतापर रीझता है। वैसे ही हम इनको नहीं जानते। जैसे चन्द्रमाको देख चकोर देह-सुध भूल जाता है, नेत्र नहीं फेरता, टकटकी लगाये रह जाता है, वैसी ही हमारे मनकी दशा हो रही है, वह वहीं स्थगित होकर रह गया है, इनको छोड़ता ही नहीं।—यहाँ उदाहरण अलंकार है। (प्र० सं०)]

३ 'तातें प्रभु पूछौं सतिभाऊ…' इति। [(क) तातें=इसलिये। अर्थात् अपने वैराग्यरूप मनकी अनुरक्त दशा देखकर मुझे सन्देह हो रहा है; मैं कुछ निर्णय नहीं कर सकता, इसलिये मैं पूछता हूँ। सम्भव है कि मुनि मनमें समझें कि राजा बड़े भारी योगेश्वर हैं, इन्होंने श्रीरघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान लिया, इनके यहाँ बड़े-बड़े योगेश्वर शिक्षा लेने आते हैं, ये अवश्य हमारी परीक्षा लेनेके लिये प्रश्न कर रहे हैं। अर्थात् इनके प्रश्नपर असद्भावका आरोपण हो सकता था; इसीसे ये प्रथम ही कह रहे हैं कि 'पूछौं सतिभाऊ' अर्थात् समीचीन भावसे, सच्चे भावसे सत्य ही अपने जाननेके लिये जिज्ञासु होकर पूछ रहा हूँ। यह न समझिये कि ये बड़े ज्ञाता हैं, हमसे किस भावसे पूछते हैं।] (ख) 'जनि करहु दुराऊ' इति। इस कपनका भी यही प्रयोजन था। दुराव करनेकी भी यहाँ जगह है क्योंकि श्रीरामजीको अपना ऐश्वर्य सुनकर अच्छा नहीं लगता,

यथा—'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। विनय० १६४।' वे अपने ऐश्वर्यको माधुर्यमें छिपाते हैं; इसीसे बड़े लोग ऐश्वर्यको नहीं खोलते और फिर उनके सामने ही उनका ऐश्वर्य प्रकट करें, इसमें तो अवश्य सन्देह है। अतः कहा कि छिपाइयेगा नहीं, स्पष्ट करके कहिये। भाव यह कि भगवान्‌के स्वरूपमें संशय न रखना चाहिये। संशय हो तो उसको तुरत साफ कर लेना चाहिये, संदेह मिटा लेना चाहिये, क्योंकि संशयके गये बिना रामस्वरूप नहीं समझ पड़ता, यथा—'तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ। १२०। २।' अतः मेरे संशयकी निवृत्ति कर दीजिये। ☞'सतिभाऊ' सच्चे भावमें दुराव नहीं होता, इसीसे कहते हैं कि दुराव न कीजिये, मैं सद्भावसे सच्चे भावसे पूछता हूँ।

नोट—४ पंजाबीजी लिखते हैं कि मुनीश्वरसे पूछनेमें राजाका भाव यह है कि जैसे कोई जौहरी अमूल्य रत्नको स्वयं परखता है और अपनी बुद्धिकी परीक्षाके निमित्त अन्य पारखियोंसे भी निर्णय कराता है वैसे ही यह अपने अनुभवको निश्चय करना चाहते हैं।

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥ ५॥

अर्थ—इन्हें देखते ही (मेरा) मन इनमें अत्यन्त अनुरक्त (आसक्त, प्रेममय, प्रेमरङ्गमें रँगा हुआ) हो गया, (वा, मेरा मन इन्हें अत्यन्त अनुरागसे देख रहा है), और उसने जबरदस्ती ब्रह्मसुखको छोड़ दिया है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिलोकत अति अनुरागा' का भाव कि मन अत्यन्त विरागी था सो इनके ऊपर अति अनुरागी हो गया। (ख) 'बरबस त्यागा' का भाव कि हम ब्रह्मसुखको त्याग करना नहीं चाहते पर हमारा मन उसे त्याग रहा है। इससे पाया जाता है कि ब्रह्मसुखसे सगुण सुख अधिक है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म जब सगुण होता है तभी उसकी शोभा अधिक होती है, यथा—'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा॥ ४। १७।' जैसी शोभा हुई वैसा ही सुख हुआ। (ग) 'ब्रह्मसुखहिं' कहनेका भाव कि योगी ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं, यथा—'ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा। २२। २।' (घ) ☞अर्धालीका भाव यह है कि मन ब्रह्मसुखको अनुभव करता है और इनको नेत्रोंद्वारा देख रहा है; इसीसे इनमें 'अति' अनुराग है। अनुभवसे साक्षात् दर्शन करनेमें अधिक सुख है, इसीसे मनने ब्रह्मसुखको बरबस त्याग दिया। ☞(ङ) 'प्रेम मगन मन जानि नृप'—मन प्रेममें मग्न है, अतः कहा कि 'सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥' और 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥' यथा—'जेहि सुख लागि पुरारि असिव बेष कृत सिव सुखद।....'

नोट—'अति' का भाव कि ब्रह्मसुखमें अनुराग था, इनमें अति अनुराग है। 'बरबस' का भाव भी इसी 'अति अनुरागा' से जना दिया है अर्थात् ब्रह्ममें सुख था और इनमें 'अति सुख' अनुभव कर रहा है (प्र० सं०)।

कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥ ६॥

शब्दार्थ—अलीका=मिथ्या, झूठा, मर्यादारहित, अप्रतिष्ठित, बेसिर-पैरका।

अर्थ—मुनिने हँसकर कहा कि राजन्! आपने अच्छा (अर्थात् यथार्थ ही) कहा। आपका वचन झूठा नहीं हो सकता॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका...' इति। (क) यह हँसी प्रसन्नताकी है। राजाकी पहुँचपर विश्वामित्रजी प्रसन्न हुए कि खूब समझे। मुनिने सोचा कि राजा बड़े चतुर हैं, इन्होंने श्रीरघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान लिया कि जिसमें हम भी भूल गये थे। (ख) 'कहेहु नीका' अर्थात् जो आपने कहा वह सत्य है, आपका वचन यथार्थ ही है। इन शब्दोंसे राजाके वचनोंकी प्रशंसा करके मुनिने उनके अनुमानको सही बताया, इतनेहीसे श्रीरामजीका ब्रह्म होना उनको निश्चय करा दिया। ☞यही मुनिका उत्तर देना है। इस उत्तरमें दोनों बात रहीं। राजाका उत्तर भी हो गया और स्पष्टरूपसे श्रीरघुनाथजीका ऐश्वर्य भी न खुला। इस तरह मुनिने राम और राजा दोनोंकी रुचि रक्खी। श्रीरघुनाथजीका ऐश्वर्य सूचनमात्र किया क्योंकि वे पास बैठे हैं, उनको ऐश्वर्यकथनसे संकोच होता है। आगे माधुर्य खोलकर विस्तारसे कहते हैं। [☞श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी) इस मौकेपर लिखते हैं कि 'यही ठीक है, मगर यहाँ हास्यरसका वह आनन्द भी है जो उस समय होता है जब कोई मित्र भेस बदलकर आवे और हम कुछ पहिचानें और कुछ भ्रम हो और एक तीसरे मित्रको सही करनी पड़े। भ्रम, पहिचान और सही तीनों यहाँ हास्यरसके अङ्ग हैं।'] (ग) राजाने जो कहा था कि 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥' यह बात मुनिको बहुत अच्छी लगी, इसीसे

वे उनकी सराहना करते हैं। 'नीक कहेहु' में राजाके अन्तिम वचनका भी उत्तर आ गया। तात्पर्य कि ये ब्रह्म ही हैं, इनमें ब्रह्मसुखसे अधिक सुख है, ब्रह्मसे ये अधिक प्रिय हैं—यही बात आगे कहते हैं।

नोट—१ हँसनेके और भाव ये हैं—(क) मुनि हँसे कि 'अभीतक निर्गुण ब्रह्महीमें सुख मानते थे, यथार्थ सुखका अनुभव आज हुआ।' (ख) अभीतक ज्ञानको सुख मानते थे, वह आज प्रेमकी एक ही चोटमें चूर्ण हो गया।' (वै०, रा० प्र०)। (ग) 'जैसे किसीके पास कोई अलभ्य पदार्थ छिपी हो और उसे देखकर कोई दूसरा तुरत पहिचान ले तो वह प्रथम मनुष्य प्रसन्न होता है, इसी तरह श्रीरामजीके वास्तविक स्वरूपकी पहिचानसे मुनि प्रसन्न हो हँसे।' (पं०)। (घ) अभी तो प्रश्न करते हैं और तुरत ही उनके बड़े संयोग (सम्बन्ध) और आनन्द होने हैं यह भावी विचारकर हँसे। (पं०)।

२ (क) 'राजाने प्रथम देहभावका प्रश्न किया—'मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक।' फिर आत्मभावका प्रश्न किया—'जो निगम नेति…।' मुनि आत्मभावके प्रश्नका उत्तर प्रथम दे रहे हैं।' (वै०)। (ख) 'न होइ अलीका' इति। ☞स्मरण रहे कि ब्रह्मज्ञानी, जिसको ब्रह्मका सदा Communioh साक्षात्कार-सा ही रहता है, जिसका मन सदा उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌के सन्निधिमें ही रहता है, जो सदा भगवान्‌से ही बातें करता रहता है, उसका अनुभव कभी असत्य नहीं होता। [श्री १०८ सीतारामशरण भगवान्‌प्रसाद (श्रीरूपकलाजी) इसके एक ज्वलन्त उदाहरण इस घोर कलिकालमें भी साक्षात् देखनेमें आये।] (ग) जहाँ संदेहालंकार होता है वहाँ ब्रह्मज्ञानीके मनमें जो अनुभव आता है, वह यथार्थ होता है'। (रा० कु०)।

ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी॥ ७॥

अर्थ—(संसारमें) जहाँतक (जितने भी) प्राणधारी जीव हैं उन सभीको ये प्रिय हैं। (मुनिके ये) वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी मनमें मुस्करा रहे हैं॥ ७॥

'* ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी' इति। *

नोट—१ इस एक छोटेसे पदमें वृहदारण्यकोपनिषद्‌के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवादका निचोड़ है। इससे विश्वामित्रजी-का इशारा परमात्माकी ओर है जो जनकजीके लिये स्पष्ट है, परंतु जगत्‌के लिये गूढ़ है। भगवान्‌के ऐश्वर्यको अपनी वाक् चातुरीसे बताया और छिपाया भी। इसपर भगवान् मन-ही-मन मुस्कराये। (गौड़जी)।

टिप्पणी—१ 'ये प्रिय सबहि…' इति। (क) 'ये प्रिय सबहि' अर्थात् कुछ आपहीको प्रिय नहीं हैं, ये तो सभीको प्रिय हैं। (ख) 'जहाँ लगि प्रानी' अर्थात् प्राणिमात्रको प्रिय हैं। 'प्रानी' शब्दमें भाव यह है कि जितने भी प्राणधारी हैं, उन सबोंके ये प्राण हैं। यथा—'प्रान प्रान के जीवन जी के।', 'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। २। २९०।' प्राण सबको प्रिय है, यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। २०८। ४।' और ये जहाँतक भी प्राणवाले हैं उन सबोंको प्रिय हैं अर्थात् उनके प्राणोंके भी प्राण हैं। 'सबको प्रिय होना' यह ब्रह्मका लक्षण है। यथा—'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥' [अर्थात् सत्, अस्ति, चित्—भाति और प्रिय आनन्द, ब्रह्मके इन तीन लक्षणोंमेंसे यहाँ केवल 'प्रिय' आनन्द यह लक्षण कहकर इनको ब्रह्म जना दिया। प्रथम संस्करणमें इसीको इस प्रकार लिखा गया था, कि ब्रह्म तीन गुणोंसे जाना जाता है—स्थिर, क्रान्ति और प्रिय। मुनिने इसमेंसे 'प्रिय' गुणद्वारा ब्रह्मका स्वरूप लक्षित कर दिया।'प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी', यथा—'येन प्राणः प्रणीयते' इति श्रुतिः। (मा० त० वि०)]

२ श्रीजनक महाराजने जो कहा था कि 'सहज विराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥' उसीपर मुनि कहते हैं कि 'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।' अर्थात् इनको देखकर जो दशा आपकी हुई है, वही दशा सब प्राणियोंकी होती है। आपका मन ब्रह्मसुखको छोड़कर इनमें अनुरक्त हो रहा है और जैसे आप इन्हें देखकर सुखमें, अति आनन्दमें, मग्न हुए हैं, इसी तरह सब प्राणियोंका मन विषयोंको छोड़कर इनमें अनुराग करता है और सब प्राणी मग्न होते हैं।' यथा—'भए मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे॥', 'खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही॥ २। १२१।' 'तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरिरूप निहारी॥ ६। ४॥' इत्यादि। (जलचर, थलचर और नभचर संसारमें यही तीन प्रकारके जीव हैं। तीनोंका एक-एक उदाहरण मानससे ही देकर जना दिया कि सभी प्रभुकी छबि देखकर मग्न हो जाते हैं) इस तरह 'सबहि' से जनाया कि इनके रूपमें ज्ञानी, अज्ञानी सभी बराबर (एक समान)

मोहित होते हैं, सभीको ब्रह्मानन्दसे अधिक आनन्द प्राप्त होता है। तात्पर्य कि इस अंशमें सब जीव तुम्हारे ही समान हैं। यह बात शब्दोंके अभिप्रायके अन्तर्गत है, स्पष्ट नहीं है।—यह समझकर श्रीरामजी मुस्कराये कि जनक महाराजके समान कोई नहीं है, किंतु मुनिने अपनी युक्तिसे सभी जीवोंको उनके समान कहा। इतने बड़े योगेश्वरको भी सबके समान कर दिया। [और भाव ये कहे जाते हैं—ये तो देहधारीमात्र यावत् चराचर जीव हैं उन सबोंको प्रिय हैं और आप तो 'चैतन्य तत्त्ववेत्ता हैं' तब आपको प्रिय लगे तो कौन आश्चर्यकी बात है ? (वै०)। जो ब्रह्मानन्द आपको प्रिय है वह सबको प्रिय नहीं है, यथा 'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥' और ये तो सभी चराचरको प्रिय हैं। (पं० रामकुमारजी)]

नोट—२ सब प्राणियोंके प्रिय कहकर संकेत किया कि ये प्राणोंके प्राण हैं, और प्राणोंके प्राण होनेसे ब्रह्म हैं। इस तरह उनका लक्ष्य श्रीजनकमहाराजको याज्ञवल्क्यजीके, 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्य ब्रह्म पुराणमग्र्यम्॥ बृ० ४। ४। १८॥' (अर्थात् जो उसे प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका मन मानते हैं; वे उस सनातन और मुख्य ब्रह्मको जानते हैं), इस उपदेशकी ओर हैं।

३ विश्वामित्रजीके 'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी' इस कथनका आशय यही जान पड़ता है कि समस्त प्राणिमात्रको ये प्रिय हैं। जो लोग इनको देखते या सुनते हैं उन्हींको ये प्रिय होते हैं, यह आशय उपर्युक्त वाक्यसे नहीं झलकता; किंतु जो इनको नहीं जानते हैं उनको भी ये प्रिय हैं और कभी भी किसीको अप्रिय नहीं हैं यही ध्वनि मुनिके वाक्यमें है।

इसपर शंका होती है कि 'नित्य हमारे अनुभवमें आ रहा है कि भगवान् प्रायः सबको प्रिय नहीं होते और यदि क्वचित् किसीको प्रिय भी हुए तो प्रायः स्वार्थका सम्बन्ध लेकर ही। तभी तो सब लोग दुखी हैं। यही आशय गोस्वामीजीके यत्र-तत्रके वाक्योंका है, यथा—'सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥ २। ४। ७॥' 'सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु। ताते भवभाजन भएउ सुनु अजहुँ सिखावन एहु॥ वि० ११०॥' इत्यादि। तब 'ये प्रिय सबहिं''' का तात्पर्य क्या है ?'

समाधान यह है कि प्रत्येक प्राणीको अविनाशी और अत्यन्त सुख ही प्रिय है, वह निरन्तर उसीके प्रयत्नमें लगा रहता है। वह अविनाशी सुख कहाँ है और कैसे प्राप्त हो सकता है यह यथार्थ न जाननेसे वह स्त्री-पुत्र, धन-धाम आदि विषयोंमें प्रेम करता है और वह सुख न प्राप्त होनेसे दुखी होता है। विनयमें भी कहा है, 'आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ मृग-भ्रम बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयउ सुख मानी॥ वि० १३६॥'

महर्षिजीका तात्पर्य यह है कि जो अविनाशी अत्यन्त सुख सब प्राणियोंको प्रिय है, वह ये 'श्रीरामजी' ही हैं, यथा—'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। १९७। ५-६।', 'ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी। १। २३। ६॥' 'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप। ७। ४७॥' 'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुख धाम। ७। ८४॥'

नोट—४ 'मन मुसुकाहिं रामु' के भाव—(क) कैसी गुप्त रीतिसे मुनीश्वरने मेरा यथार्थ स्वरूप राजाको लक्षित करा दिया, यह समझकर हँसे और हँसीको प्रकट न किया क्योंकि इससे गम्भीरतामें दोष आता। (पं०)। (ख) मनमें मुस्कुराये क्योंकि गम्भीर हैं। पुनः भाव कि जब मुनि ऐश्वर्य खोलने लगे तब श्रीरामजी मुस्कुराये। भगवान्‌की मुस्कान माया है। मुस्कुराये अर्थात् अपनी माया मुनिपर डाल दी। माया डाली जिसमें ऐश्वर्य न खुले। मायाका आवरण पड़ते ही मुनि ऐश्वर्य छोड़कर माधुर्यकी बात कहने लगे। मायाका यह प्रकट प्रभाव देख पड़ा कि कहाँ तो वे 'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी' यह ऐश्वर्य कह रहे थे और कहाँ 'रघुकुलमनि दसरथ के जाये' यह माधुर्य कहने लगे। (पं० रामकुमारजी। जितना रहस्य मुनिजीने खोल दिया इतनेसे ही जनकमहाराज अपने अनुभवानुसार जान गये हैं। अधिक खोलनेसे नरलीला नीरस हो जाती; अतः मनोमय मुस्कानसे मायाको प्रेरणा दी। (प० प० प्र०) । (ग) प्रकट मुस्कानेसे लोग समझेंगे कि अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न होते हैं। (अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना दोषमें दाखिल है, यह आत्मश्लाघा दोष कहलाता है)। श्रीरामजी अपनी प्रशंसा सुनकर संकोचको प्राप्त होते हैं, यथा—'सुनि मुनि बचन प्रेम-रससाने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने। २। १२८। १॥' 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३। ४६॥' यह सज्जनोंके लक्षण हैं। (पं० रामकुमारजी)। (घ) जैसे विश्वामित्रजी जनकजीके ठीक अनुभवसे, श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं यह जान लेनेसे, 'बिहँसे' थे, वैसे ही श्रीरामजी हँसे कि इन्होंने हमें जान लिया। कितना ही अपनेको हम क्यों न छिपावें अनुभवी प्रेमी भक्त जान ही लेते

हैं। (पं० रामकुमारजी)। (ङ) विश्वामित्रजीकी विलक्षण उक्तिकी वाणी सुनकर मनमें मुस्कुराये। इस तरह मुनिको जनाया कि इन वचनोंके अभिप्रायमें शुद्ध ऐश्वर्य दर्शित होता है, आप शुद्ध ऐश्वर्य न कहकर माधुर्य देशमें ऐश्वर्य कहिये। मुसुकानेका अभिप्राय समझकर मुनि राजाके प्रथम प्रश्नके उत्तरके व्याजसे माधुर्यदेशमें ऐश्वर्य कहने लगे। (वै०)। (च) यहाँ श्रीरामजीके मुस्कुरानेमें ऐश्वर्य न कथन करनेकी व्यंजनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है। यदि सचा भेद विश्वामित्रजी प्रकाश कर देंगे तो 'रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा॥' इस कार्यमें विघ्न उपस्थित होगा। श्रीरामचन्द्रजीके संकेतको समझकर मुनि लोकमर्यादाके अनुसार कहने लगे। यह 'सूक्ष्म अलंकार' है। (वीरकवि)। (छ) मुस्कुराये जिसमें लोग लड़का जानें। (रा० प०)। मनकी 'मुसक्यान' मुखचन्द्रकी झलकसे जाना। (रा० प० प०)। (ज) जनकजी और विश्वामित्रजी दोनोंकी वाणी सुनकर मुस्कराये, यह सूचित करनेके लिये 'मुसुकाहिं' बहुवचन क्रिया लिखी। (पं० रामकुमारजी)। (परंतु बड़े लोगोंके लिये बहुवचन क्रियाका प्रयोग साधारणतः किया ही जाता है)

रघुकुलमनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥ ८॥

दो०—राम लषनु दोउ बंधु बर रूप सील बल धाम।
मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥ २१६॥

अर्थ—ये रघुकुलमणि श्रीदशरथजी महाराजके पुत्र हैं। हमारे हितके लिये राजाने इन्हें भेजा है॥ ८॥ राम-लक्ष्मण (नाम हैं) दोनों श्रेष्ठ भाई रूप, शील और बलके धाम (स्थान) हैं। सारा जगत् साक्षी है कि इन्होंने राक्षसोंको संग्राममें जीतकर हमारे यज्ञकी रक्षा की॥ २१६॥

टिप्पणी—१ (क) राजाने बालकोंका कुल पूछा था—'मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक।' इस प्रश्नका उत्तर यहाँ देते हैं। प्रश्नमें 'कुल' शब्द है, वैसे ही यहाँ उत्तरमें 'कुल' शब्द है। रघुकुलमणि श्रीदशरथजी हैं। (ख) यहाँ मुनिके सङ्ग आनेसे मुनिपुत्र होनेका संदेह हुआ; इसीपर मुनि कहते हैं कि हमारे साथ ये राजाके भेजनेसे आये हैं। (ग) 'ममहित लागि' का भाव कि राजाने केवल हमारे हितार्थ, हमारे यज्ञरक्षार्थ ही भेजा था, यहाँ आनेको नहीं, यहाँ तो हम अपनी ओरसे लिवा लाये हैं। (घ) इतने ही शब्दोंमें मुनिने सारी बातें कह दीं। अर्थात् कुल कहा, पिताका नाम कहा, जाति कही ('नरेश' से क्षत्रिय वर्ण जनाया), ऐश्वर्य कहा (रघुकुलमणिसे रघुकुल और उसके मणि दशरथजीका ऐश्वर्य सूचित हुआ), ('ममहित लागि' से) आनेका प्रयोजन, दोनोंके नाम (राम-लषन) और छुटाई-बड़ाई (प्रथम ज्येष्ठ, दूसरा लघु), ('दोउ बंधु' से) दोनों बालकोंका परस्पर सम्बन्ध, दोनोंके गुण (रूप-शील बल-धाम) कहे। दशरथमहाराजका ब्रह्मण्य और उदारता कही। (रघुजी आदि सभी रघुवंशी ब्रह्मण्य और दानी होते आये, उनमें भी ये मणि हैं। तभी तो हमारे हितके लिये ऐसे प्राणप्रिय पुत्रोंको हमारे साथ कर दिया। पुनः 'रघुकुलमनि दशरथके जाये' कहकर इनको ब्रह्मका अवतार सूचित किया; यथा—'ते दसरथ कौसल्यारूपा। कौसलपुरी प्रगट नरभूपा॥ तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। १। १८७॥' और जनकजी यह बात जानते हैं कि दशरथजीके यहाँ ब्रह्म रामका अवतार होगा,—'यह सब जागयलिक कहि राखा। २। २८५॥' (ङ) 'मम हित लागि।' क्या हित किया, यह आगे कहते हैं—'मख राखेउ…' [☞ स्मरण रहे कि 'मम हित लागि' से मुनिने इनको यहाँ अपनी ओरसे लानेका सारा एहसान राजा जनकके ऊपर धर दिया, इसीसे तो राजा कृतार्थ होकर मुनिके चरणोंपर पड़ गये, यथा—'मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्य प्रभाऊ॥ २१७। १॥' (प्र० सं०)]

२ (क) 'राम लषन दोउ बंधु बर' इति। दोनों रूप, शील और बलके धाम हैं, इसीसे दोनोंको 'बर' कहा। ['बंधुबर' से यह भी जनाया कि ये दोनों सदा साथ रहते हैं, ये दोनों श्रेष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे भाई हैं] (ख) 'रूप-सील बलधाम' इति। (१) रूपके धाम हैं अर्थात् जो कोई इन्हें देखता है वह मोहित हो जाता है, हम भी मोहे, यथा—'पुनि चरनन्ह मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥ २०७। ५॥' आनेके सङ्गके सब लोग मोहित हो गये, यथा—'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता'॥), आप स्वयं मोहित हो गये, यथा—'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी। (२) 'शीलधाम' इति।

पिताको छोड़कर गुरु,विप्र वा साधुके सङ्ग आये और उनका मान रक्खा, इसीसे शीलधाम कहा, यथा—'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू । सीय समीप राखि रिपुदमनू ॥ चले सबेग राम तेहि काला ॥' (संग्राममें असुरोंको जीतनेसे बलधाम कहा। (ग) 'मख राखेउ सब साखि जग···' इति । दोनों भाई अति सुकुमार हैं और राक्षस महा घोर, भयावन और कठोर हैं। सुकुमार बालकोंका घोर निशाचरोंको मारना असम्भव प्रतीत होता है, यथा—'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा । कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ॥' इनकी सुकुमारता देख सभीको संदेह हो जानेकी सम्भावना है,माताओंने भी संदेह किया है, यथा—'देखि स्याम मृदु मंजुल गाता । कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥ मारग जात भयावनि भारी । केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥ घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु । मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु ॥ ३५६ ॥ मुनि-प्रसाद बलि तात तुम्हारी । ईस अनेक करवरें टारी ॥' इसीसे सब जगत्‌की साक्षी देते हैं। अर्थात् यह सब बात सत्य है, सारा जगत् जानता है, छिपी हुई नहीं है । मैं कुछ इनके उत्कर्षके लिये ऐसा नहीं कहता, यह बात मिथ्या नहीं है, सभी जानते हैं । (पंजाबीजी) ।] (घ) जिते असुर संग्राम' कहकर जनाया कि कुछ मन्त्र, यन्त्र, माया वा छलसे नहीं जीता वरंच सम्मुख संग्राम करके उनको मारा ।

नोट—यहाँ अवतार, नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका कथन हुआ । 'दशरथके जाये' से अवतार, 'रामलषन दोउ बंधु' से नाम और रूप, 'ममहित लागि नरेस पठाए' 'जिते असुर संग्राम' से लीला और 'रघुकुलमनि' से अवधधाम जो रघुकुलकी राजधानी है, कहा । (प्र० सं०)

नोट—गीतावलीसे मिलान कीजिये—'प्रीतिके न पातकी दियेहू साप पाप बड़ो, मख मिस मेरो तब अवध गवनु भो । प्रानहूँ ते प्यारे सुत माँगे दिये दसरथ, सत्यसिंधु सोच सहे, सूनो सो भवनु भो ॥ १ । ६४ ।' काकसिखा सिर कर केलि तून-धनु-सर, बालक बिनोद जातुधावनि सो रन भो ।', 'नाम राम घनस्याम लषन लघु नख-सिख अँग उजियारे ॥ निज-हित लागि माँगि आने मैं धर्मसेतु रखवारे । धीर बीर बिरुदैत बाँकुरे महाबाहु बल भारे ॥ २ ॥ एक तीर तकि हती ताड़का, किये सुर साधु सुखारे । जज्ञ राखि जग साखि तोषि रिषि निदरि निसाचर मारे ॥ ३ ॥ (पद ६६) ।

मुनि तव चरन देखि कह राऊ । कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ ॥ १ ॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता । आनँदहू के आनँद दाता ॥ २ ॥
इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि । कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ॥ ३ ॥

अर्थ—राजा बोले—हे मुनि ! आपके चरणोंके दर्शन पाकर मैं अपने पुण्योंके प्रभावको नहीं कह सकता (कि मेरा कितना पुण्य है कि जिसके प्रभावसे आपके चरणोंका दर्शन मुझे प्राप्त हुआ । और फिर आपके चरणोंके प्रभावसे ही दोनों भाइयोंके दर्शन हुए) ॥ १ ॥ ये श्याम-गौर सुन्दर दोनों भाई आनन्दको भी आनन्द देनेवाले हैं ॥ २ ॥ इनकी परस्परकी पवित्र प्रीति कही नहीं जा सकती, सुहावनी है, मन-ही-मन भाती है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'मुनि तव चरन देखि···कहि न सकौं ।···' इति । भाव कि (क) बहुत पुण्यसमूह जब एकत्रित होता है तब कहीं सन्तदर्शन होता है, यथा-'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता ।' [(ख) अपने सुकृतकी सराहनाद्वारा राजाने मुनिकी भी स्तुति-प्रशंसा की कि आपका शुभागमन ही मेरे पुण्योंके उदयको जना रहा है । न जाने कितना बड़ा पुण्य होगा कि आपने आकर दर्शन दिया । यही नहीं किंतु सगुण ब्रह्मका दर्शन कराया। अब मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी हो जानेका विश्वास हो गया—(प्र० सं०) । विश्वामित्रजीने शुद्ध ऐश्वर्य गुप्त रखनेके लिये माधुर्य देशमें ऐसा ऐश्वर्य सुनाया जिसमें राजाका मन स्वार्थ-देशमें आसक्त हो गया । अर्थात् चक्रवर्तीके ऐसे सुन्दर बलवान् बालक हैं तो धनुष अवश्य तोड़ेंगे, हमारी कन्याका जन्म सफल होगा—इस मनोरथसे परमार्थदेशी विचार समूल ही उड़ गया, अब ऐश्वर्य कौन विचारें, अब तो वे माधुर्यमें डूब गये । (वै०) । (ग) 'कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ' इति मिलान कीजिये—'भूमिदेव नरदेव सचिव परसपर, कहत हमहिं सुरतरु सिवधनु भो ॥ गी० १ । ६४ ।']

२ (क) 'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता···।' इति (क) राजा दोनों भाइयोंकी सुन्दरतापर मुग्ध और मग्न हो गये हैं, इसीसे बारंबार 'सुन्दर' कहते हैं, यथा—'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक' इत्यादि । (ख) 'आनँदहू के आनँददाता'—इनकी सुन्दरतासे साक्षात् आनन्दको भी आनन्द प्राप्त होता है। तात्पर्य कि मैं ब्रह्मानन्दका भोक्ता हूँ । आनन्दरूप हूँ, सदा

ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहता हूँ सो मुझको भी इनके दर्शनसे इनकी सुन्दरता देखकर आनन्द मिला। पुनः, भाव कि पुण्यसे आनन्द मिलता है। बड़े भारी पुण्यसे आनन्दके आनन्ददाता दोनों भाई मिले। सौन्दर्यकी प्रशंसा करके आगे दोनोंकी प्रीतिकी प्रशंसा करते हैं। ['आनँदहूँ के आनँददाता'के और भाव—(ग) यदि आनन्द स्वयं मूर्तिमान् होकर, रूप धारण करके आवे, तो वह भी इनके दर्शनसे आनन्द पावेगा। 'आनन्द' जो वस्तु है वह आपहीसे प्रकाशित है। (घ) ब्रह्मानन्दको भी आनन्द दिया। पुन, आनन्द जो विवाह स्वयंवर है, उसको भी आनन्द देंगे। हमारी प्रतिज्ञा पूर्ण करेंगे, इति भावार्थः। वा, आनन्दरूप जो मेरी कन्या है उसे भी आनन्द देंगे, इति व्यंग्यार्थः।' (बैजनाथजी)। (ङ) 'जैसे जगदम्बाके लिये सरकारने 'सुंदरता कहँ सुंदर करई' इत्यादि कहा, वैसे ही यहाँ जनकजीने 'आनँददाता' इस अभिप्रायसे कहा कि आनन्दको आनन्द बनानेवाले यही हैं। स्वामी रामतीर्थजीने जनकजीकी जिस उक्तिका अनुवाद '**अपने मजेकी खातिर गुल छोड़ही दिये जब। सारे जहाँके गुलशन अपने ही बन गये तब॥**' इत्यादि गजलमें किया है, उसका निचोड़ है '**आनँदहूँ के आनँददाता**'। (लमगोड़ाजी)। (च) इनके आगे राजाका ब्रह्मानन्द चलता हुआ, अतएव आनन्दके आनन्ददाता कहा, क्योंकि ब्रह्म भी आनन्द-स्वरूप है, यथा—'**आनँदसिंधु मध्य तव बासा।** विनय० १३६।' '**आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्।**' (तैत्ति० भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक)। अर्थात् भृगुने निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है। पुनः भाव यह है कि इन आनन्दमयके आनन्दका लेश पाकर ही सब प्राणी जी रहे हैं। बृहदारण्यक अ० ४ तृतीय ब्राह्मण श्रुति ३२ कहती है '**एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।**' अर्थात् यह उसकी परम गति है, परम सम्पत्ति है, परम लोक है, परमानन्द है। इस आनन्दकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं। (इसके आगे ब्रह्मासे लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी जीव जिस परमानन्दकी मात्रा अवयवके उपजीवी हैं उस मात्राके द्वारा उसके अंशी परमानन्दका बोध करनेवाली श्रुतियाँ हैं)]।

प० प० प्र०—'आनँददाता'—यह वचन सिद्धान्त है। श्रीरामजीका दर्शन जिनको हुआ, उन सबोंको आनन्द हुआ ही यह बात नहीं है। प्रभुकी इच्छा जब जिसको जितना आनन्द देनेकी होती है तब उसको उतना ही आनन्द मिलता है। दाताके इच्छानुसार ही लाभ होता है। लंकामें राक्षसोंको कितने दिनतक बार-बार दर्शन हुआ, पर किसी को आनन्द नहीं हुआ। खरदूषणको किंचिन्मात्रामें हुआ, पर प्रभुने अपनी मायासे उनमें रहने नहीं दिया। इसीसे तो मुनिराज आगे कहते हैं कि '**करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन दिखाइ**'। धनुर्यज्ञमण्डपमें अगणित भूपाल थे पर सबको आनन्द नहीं हुआ।

टिप्पणी—३ '**इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि।…**' इति। (क) भाई-भाईमें परस्पर प्रेम होना चाहिये वही अब कहते हैं। यथा—'**भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती॥** १५३।७।' '**नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई॥** ४।६।' (ख) 'पावनि अर्थात् छलरहित, यथा—'**कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।** ४।५।' प्रीतिकी प्रशंसा पवित्र होनेकी ही है, वह पवित्र ही होनी चाहिये। यथा—'**प्रीति पुनीत भरत कै देखी।** २९१।२।' '**सुमिरि सीय नारद-बचन उपजी प्रीति पुनीत।** २२९।' तथा यहाँ '**इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि।**' (ग) प्रीति तो भीतरकी वस्तु है इसे कैसे देखा? प्रीति अन्तःकरणकी वस्तु है, इसे अनुभवसे जाना, इसीसे कहते हैं कि '**कहि न जाइ मन भाव सुहावनि**'। मनमें भाती है, कहते नहीं बनती। स्मरण रहे कि जनकमहाराजने ब्रह्मका भी तो अनुभव मनहीसे किया था—'**इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा॥**' वैसे ही उन्होंने हृदयकी प्रीतिका भी मनसे अनुभव किया। [☞ जो अन्तःकरणकी वृत्ति अन्तःकरणका हाल महीनों भी साथ रहनेपर नहीं जाना जा सकता वह अनुभवी पुरुष देखते ही जान जाते हैं। पर भगवान्‌के सम्बन्धकी बात तो उनके परम प्यारे भक्त ही जान सकते हैं, अन्य नहीं। और वह भी भगवान्‌की कृपासे, उनके जनानेसे—'**सो जानै जेहि देहु जनाई।**' श्रीजनकमहाराज द्वादश प्रधान भक्तराजोंमेंसे हैं। तब भला इनसे कब परदा हो सकता था? भक्तराजों, योगेश्वरोंका अनुभव असत्य नहीं होता। अथवा, मुनिके वचनसे यह तो मालूम ही हो गया कि दोनों भाई हैं, इसीसे दोनोंको भ्राता कहा। और भाइयोंमें प्रीति होती है, इसीसे इनमें '**परस्पर प्रीति**' कही। प्रीतिकी प्रशंसा उसके पावनताकी होती है, अतः 'पावनि' कहा। रा० प्र० कार लिखते हैं कि '**ध्यान कला ते जोगी देखैं**' और जनक तो योगीराज हैं, यथा '**योगिनां जनकादयः।**' योगियोंमें भगवान् अपनेको 'जनक' कहते हैं, तब इनको यथार्थ पदार्थका अनुभव क्यों न होता? (घ) 'पावनि' से पाया जाता है कि कोई प्रीति अपावनी भी

होती है। दूध और जलकी प्रीतिको अपावनी कहा है, इससे उसकी उपमा नहीं दे सकते। यथा—'उपमा राम लषन की प्रीति की क्यों दीजै षीरै नीरै। गी० । ६ । १५।' क्योंकि औटनेपर उसका नाम 'खोआ' होता है। अर्थात् उसने मित्रको खो दिया। वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ एक गुप्त अर्थ दूसरा भी प्रकट हो रहा है कि इनका परस्परमें प्रेम अर्थात् जो इनसे प्रेम करते हैं उनपर ये भी वैसा ही प्रेम करते हैं 'विवृत्तोक्ति अलंकार' है।' (प्र० सं०)। (ङ) बैजनाथजी इस अर्धालीका अर्थ और भाव यह लिखते हैं—'इनकी आपसकी प्रीति पावनी है और जैसी सुहावनी है अर्थात् जैसी शोभामय मेरे मनको भाती है वह मुझसे कही नहीं जा सकती। भाव यह कि जैसे इन भाइयोंमें प्रीति है वैसे ही मेरी दोनों कन्याओंमें परस्पर प्रीति है। यदि इनका विवाह उनसे होवे तो इनकी प्रीति शोभामय होवे। यह मनमेंका भाव कैसे कहें। इति व्यंग्यः।']

सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥ ४॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥ ५॥

अर्थ—विदेहराज आनन्दमें भरकर (फिर) बोले—'हे नाथ! सुनिये। इनका प्रेम ब्रह्म और जीवके समान स्वाभाविक है॥ ४॥ राजा बारम्बार प्रभुको देख रहे हैं। उनके शरीरमें पुलक और हृदयमें विशेष उत्साह और आनन्द है॥५॥

श्रीराजारामशरणजी—महाकाव्यकलामें नाटकीयकलाका आनन्द देखा? तुलसीदासजीकी कलाका कमाल यह है कि जब माधुर्यरसपूर्ण नाटकीयकलामें अधिक विकास होगा तो यह महाकाव्यकी उड़ान छिप जायगी और हम राजकुँवररूप ही प्रधान पावेंगे और विश्वामित्रका संकेत है कि इसी रूपमें देखिये। ऊपरवाले नाटकके परदोंका बदलना इत्यादि समझ लेनेके और संकेत साफ हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'मुदित' इति। भाव कि सौन्दर्य देखकर मुदित हुए और प्रीति समझकर भी मुदित हुए। पुनः भाव कि परस्परकी प्रीति पहले कहते न बनती थी—'कहि न जाइ मन भाव···'। मनमें अब एक उपमा आ गयी, अतः कहनेके लिये 'मुदित' हुए। (ख) ☞ अपना स्नेह उनमें हो जानेसे दोनों भाइयोंको ब्रह्म कहा था,—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा। २१६। २।' क्योंकि भगवत्जनोंका स्नेह ब्रह्महीमें हो सकता है, अन्यमें नहीं। और दोनों भाइयोंमें परस्पर प्रीति होनेसे 'ब्रह्म जीव' दो कहे। तात्पर्य कि बिना दो हुए परस्पर प्रीति नहीं होती। इसीसे 'ब्रह्म जीव इव' कहा। इससे पूर्वका सिद्धान्त बना रहा कि दोनों भाई ब्रह्म हैं। जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं,—'जीवो ब्रह्मैव केवलम्', 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा'। [☞ इससे केवल यह जनाते हैं कि स्वाभाविक परस्पर प्रीति दोनोंमें कैसी है, न कि यह कि एक जीव है दूसरा ब्रह्म, या ब्रह्म और जीव एक ही हैं। जीव जीव ही है या ब्रह्म यह झगड़ा तो सम्प्रदायोंका चला आता है। श्रीरामनामके दोनों वर्णोंको श्रीराम-लक्ष्मण-की और दोनों वर्णोंके सहज-स्नेहको ब्रह्म-जीवके स्नेहकी उपमा पूर्व दी गयी है। यथा—'आखर मधुर मनोहर दोऊ।··· कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लषन सम प्रिय तुलसी के॥ बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती। २०। १,३,४।' वैसे ही यहाँ वही उपमा दी गयी। विशेष वहाँ देखिये।]

बैजनाथजी—'इनका स्नेह स्वाभाविक ही ब्रह्म-जीवके समान है। अर्थात् शुद्ध जीव और ब्रह्ममें जैसा स्वाभाविक ही स्नेह है वैसा इनका है। पर ब्रह्मजीवका स्नेह रूखा है क्योंकि जब ब्रह्म सशक्ति और जीव सभक्ति हो तब शोभामय होता है। वैसे ही ब्रह्म श्रीरघुनाथजी जब श्रीजानकीसहित हों और लक्ष्मणजी उर्मिलासहित हों तब इनकी भी प्रीति सुहावनी लगे। इति व्यंग्यः।' इसी मनोरथवश राजा पुनः-पुनः श्रीरघुनाथजीको देखते हैं।

टिप्पणी—२ 'पुनि पुनि चितव····' इति। (क) राजा श्रीरामजीकी शोभामें आसक्त हैं, इसीसे पुनः-पुनः चितवते हैं। पुनः-पुनः प्रभुको देखते हैं, अर्थात् देखनेसे तृप्ति नहीं होती, जी चाहता है कि देखते ही रहें। (ख) 'उर अधिक उछाहू'—भाव कि पुलकसे जो उत्साह बाहर देख पड़ता है, उससे भी अधिक उत्साह भीतर हृदयमें है। अथवा, भाव कि जितनी बार देखते हैं, उतनी बार पुलक और दर्शनके लिये अधिक उत्साह होता है। इसीसे पुनः-पुनः देखते हैं [अथवा, 'अपने मनोरथके वश राजा बारम्बार देखते हैं। प्रेमकी उमङ्गसे शरीर पुलकित है अर्थात् रोमाञ्च कण्ठावरोध अश्रु आदि प्रकट होते हैं। मनोरथकी पूर्णताके आश्रित उरमें उत्साह अधिक होता जाता है।' (वै०)। वा, बार-बार दर्शन करते हैं, मनमें सोचते हैं कि ये सौन्दर्यनिधान हैं, शीलसिंधु हैं, इनकी किशोरावस्था है और इनका कुल भी परम उत्तम है, यथा—'रूप सील बय बंस राम परिपूरन।' (जानकीमंगल २९), यदि इनसे विवाह हो जाय तो अत्युत्तम है। मानसमें यहाँ 'प्रभुहि

चितव' शब्द देकर जनाते हैं कि मानसकल्पवाले अवतारमें श्रीजनकमहाराज श्रीरामजीकी प्रभुताको विचारकर पुलकित हो रहे थे। और उनके हृदयमें उत्साह बढ़ता जाता था कि ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे, हम श्रीरामको सीता और लक्ष्मणको उर्मिला व्याह देंगे। विशेष आगे चौपाई ६ में देखिये। गीतावली और जानकीमंगलवाले कल्पोंमें जनकजी माधुर्यमें डूबे हुए हैं। उनको सोच है। यथा—'रूप सील बय बंस राम परिपूरन। समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन॥ २९॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनिकै। लै चले…।' (जानकीमंगल), 'सोचत सत्य सनेह बिबस निसि नृपहिं गनत गए तारे।' (गी० ६६), 'जनक बिलोकि बार बार रघुबर को।…सोचत सकोचत बिरंचि हरि हर को।…' इत्यादि। (गी० ६७)। एक टीकाकारने लिखा है कि राजा जनक इनमें प्रभुताका अनुभव करते हैं और प्रमाणमें जानकीमंगलका 'सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥ ३६।' यह उद्धरण देते हैं, पर यह कथन साधु राजाओंका है न कि जनकजीका। साधु राजालोग कुटिल राजाओंको सिखावन दे रहे हैं, यथा—'सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छवि देखन लगे। ४०।' (ग) 'मुदित' के सम्बन्धसे 'विदेह' नाम और 'चितव' के सम्बन्धसे 'नरनाहू' शब्द बड़े ही सार्थक हैं।]

मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लवाइ नगर अवनीसू॥ ६॥
सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहाँ बास लै दीन्ह भुआला॥ ७॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गएउ राउ गृह बिदा कराई॥ ८॥

शब्दार्थ—सेवकाई=नित्य निर्वाह, उपहारादिकी सुविधा, शुश्रूषा। सेवा।

अर्थ—मुनिकी प्रशंसा (बड़ाई) कर उनके चरणोंमें सिर नवाकर राजा उनको नगरको लिवा ले चले॥ ६॥ सुन्दर सदन (स्थान, महल) जो सब समयमें सुखप्रद था, उसमें राजाने इनको ले जाकर वास दिया (ठहराया)॥ ७॥ सब प्रकारसे मुनिकी पूजा-सेवा करके राजा विदा माँगकर (अपने) घर गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू…' इति। प्रशंसा यह कि आप धन्य हैं कि भगवान् आकर आपके सेवक बने। आपकी कृपासे यह दुर्लभ आनन्द हमको भी प्राप्त हो गया, आखिर आप विश्वके मित्र ही तो हैं, ऐसी कृपा करना आपके योग्य ही थी। 'कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा' उपक्रम है और 'नाइ पद सीसू' उपसंहार है। [प्रश्नका उत्तर मिला कृतज्ञ हैं, अतः चरणोंपर सिर रखकर कृतज्ञता जनायी। पुनः, मुनि विरक्त हैं, वनवासी हैं, वे नगरमें रहना कब पसंद करेंगे; अतएव चरणोंमें माथा नवाकर प्रार्थना की कि महलमें कृपया चलकर सबको कृतार्थ कीजिये। (प्र० सं०)। अन्य समस्त राजा राजसमाज ठाटसे हैं और इन राजकुमारोंके पास कुछ भी नहीं है, बाहर रहनेसे इनको कष्ट होगा। वैसे ही सब मुनि हैं, किसीके पास कुछ नहीं है। अतः नगरमें ले गये।]

नोट—१ यहाँ यह प्रश्न उठाकर कि 'अमराईमें ही क्यों न रहने दिया। यहीं सब रसद भेजकर सेवा करते?' इसका उत्तर यह देते हैं कि यहाँ सब ऋतुओंमें सुख नहीं मिल सकता, दूसरे यहाँ कैसी भी सेवा क्यों न हो कुछ-न-कुछ त्रुटि बनी ही रहेगी, नगरमें सब प्रकार सुख मिलेगा। पुनः राजाका प्रत्येक दिन इनके लिये अमराईमें पहुँचना कठिन है।

२ सत्योपाख्यानमें इसका कारण इस प्रकार वर्णित है—(१) राजा बोले कि आज हमारा जन्म, तप, राज्य, मिथिलापुरी और यज्ञ ये सब सफल हुए। आजकी रात्रि सुप्रभाता हुई कि जो आज इन चक्रवर्ती राजकुमारोंका हमारे यहाँ आगमन हुआ। (२) हमारे पूर्वज श्रीनिमिमहाराज इक्ष्वाकुके पुत्र हैं और उस (इक्ष्वाकु) कुलमें इनका जन्म होनेसे ये इक्ष्वाकुजीके तुल्य और पूजनीय हैं, इसमें संशय नहीं।… (श्लो० ६—९)। इस तरह कहते और रूपको देखते हुए श्रीजनकमहाराज मोहित हो गये। वे मनमें विचारने लगे कि हमने व्यर्थ प्रतिज्ञा की, हमारी प्रतिज्ञा रहे या न रहे इन्हींको सीता व्याह दें। फिर मनमें ही कहने लगे, नहीं-नहीं ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे और हमारी प्रतिज्ञा पूरी होगी। (३) फिर यह विचारकर कि परिवारको इनका दर्शन कराना चाहिये, विश्वामित्रजीसे बोले—'यहाँ इनका ठहरना उचित नहीं यह घर तो इक्ष्वाकुवंशहीका है, हम तो इनके एक दास हैं, वहीं चलकर ठहरिये। यथा—अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः॥ ६॥ अद्य मे सफलं राज्यं पुरीयं मिथिला पुनः। अद्य मे सफलो यज्ञः सुप्रभाता निशा मम॥ ७॥ यस्मादिमौ समायातौ राज राजकुमारकौ। निमिस्तु पूर्वजोऽस्माकमिक्ष्वाकुतनयोऽभवत्॥ ८॥ इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशा-

विप्रौ । कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः ॥ ९ ॥ रामरूपं समालोक्य मुमोह जनको नृपः ॥ १० ॥…धनुषश्च प्रतिज्ञेयं निरर्था च कृता मया । कन्या चास्मै प्रदेया मे पणस्तिष्ठतु या तु वा ॥ १२ ॥…गृहे मम नरा नार्य, पश्यन्तु रामलक्ष्मणौ । एवं विचार्य राजा तु हृदये मुनिमब्रवीत् ॥ १५ ॥ गम्यतां मद्गृहे स्वामिन् कुमाराभ्यां तपोधनैः ॥ १६ ॥ इक्ष्वाकूणां गृहं चैतद् वयं तेषां च किंकराः । भुज्यतां रमतां तत्र कृपां कृत्वा ममोपरि ॥ १७ ॥ उत्तरार्ध अ० ६ ॥' (४) रास्तेमें राजा सोचते हैं कि रामचन्द्रजीको जरूर सीताजीको व्याह देंगे और लक्ष्मणजीको उर्मिला ।—इससे 'मुदित' और 'पुलकगात उर अधिक उछाहू' इत्यादिके भावोंपर भी प्रकाश पड़ता है ।

३ 'बास लै दीन्ह' का भाव कि साथ ले जाकर उनको दिखाकर उनकी रुचि लेकर वहाँ वास दिया ।

टिप्पणी—२ (क) 'सुंदर सदन' अर्थात् स्थानकी बनावट और सजधज सुन्दर है । (किसी-किसीका मत है कि इस स्थानका नाम ही 'सुंदर सदन' है) । (ख) 'सुखद सब काला' इति । वर्षा, हिम और ग्रीष्म सभी ऋतुओंमें सुखदायक है । सुखद स्थानमें वास देनेसे राजाकी अत्यन्त श्रद्धा पायी गयी कि राजकुमारसहित मुनि हमारे यहाँ सदा बने रहें और हम सेवा करते रहें । ['यदि केवल शीत-निवारक धाममें विश्राम देते तो समझा जाता कि केवल इतने ही समय इनको वहाँ रखनेका विचार है । वा, शरद् ऋतु है इसमें कभी गर्म जगह और घाम आदिकी भी चाह होती है, इससे ऐसा स्थान दिया जहाँ सब कालका सुख प्राप्त है ।' (पं०)] अथवा, यह कार्तिकका महीना है, इसमें दिनमें कुछ गर्मी रहती है, रात्रिमें कुछ जाड़ा रहता है और वर्षाका भी कुछ अंश रहता है, यथा—'कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी ।' इस तरह इस महीनेमें तीनों ऋतुओंके धर्म कुछ-कुछ रहते हैं । इसीसे 'सब काल सुखद' स्थान दिया । (बैजनाथजी लिखते हैं कि आश्विन शुक्ल १२ को विश्वामित्रजी आये । इस तरह भी शरद् ऋतु है) ।

३ 'करि पूजा सब बिधि सेवकाई….।' इति । (क) विश्वामित्रजी प्रसिद्ध तेजस्वी एवं तपस्वी महात्मा हैं और अतिथि हैं। अतिथिकी पूजा करना उचित है, कर्तव्य है । अतः 'करि पूजा' कहा । 'सब विधि सेवकाई' सब प्रकारकी सेवा अर्थात् भोजनकी सामग्री, आसन, वस्त्र, भृत्य, पूजनकी सामग्री, हवनकी सामग्री, इत्यादि हजारों प्रकारकी सेवा 'सब बिधि' में कह दी गयी जो मनुष्य कर सकता है । महात्माओंको जो वस्तु दी जाती है वह 'सेवकाई' (सेवा) कहलाती है, इसीसे 'करि सेवकाई' कहा। वही जब किसी राजाको देते हैं तो उसे 'जियाफत' कहते हैं । ['सब विधि' दीपदेहली है । 'सब बिधि' की अर्थात् षोडशोपचार पूजन किया और सब विधिकी सेवा की, जितने प्रकारकी सेवा है सब की, कोई उठा न रक्खी ।] (ख) 'बिदा कराई' इति । बिना पूछे चले जानेसे सब सेवा नष्ट हो जाती है, व्यर्थ हो जाती है, इसीसे आज्ञा माँगकर गये । आज्ञा माँग लेनेसे मान रह जाता है और बिना पूछे चले जानेसे हृदयको दुःख पहुँचता है कि न जाने बिना मिले क्यों चले गये । इसीसे शिष्ट पुरुष इस शिष्टाचारको बर्तते आये हैं । यथा—'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी । चले भवन सँग दक्षकुमारी ॥' 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई । सीता सहित चले दोउ भाई ॥', 'जुगुति बिभीषन सकल सुनाई । चलेउ पवनसुत बिदा कराई ॥' इत्यादि ।

दोहा—रिषय संग रघुबंशमनि करि भोजनु बिश्रामु ।
बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवसु रहा भरि जामु ॥ २१७ ॥

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी ऋषियोंके साथ भोजन और विश्राम करके भाईसहित बैठे (तब) पहरभर दिन रह गया था ॥ २१७ ॥

टिप्पणी—१ (क) बड़ोंकी रीति है कि साथमें भोजन करते हैं । भोजन करनेकी यही शोभा है। साथके ऋषियोंके सङ्ग भोजन किया । इससे 'रघुबंशमणि' कहा । (भोजनके पश्चात् कथा वार्ता होती है सो यहाँ न लिखी, क्योंकि लक्ष्मणजीको नगर दिखाने ले जाना है) । 'बैठे प्रभु भ्राता सहित' इति । नगर देखनेकी इच्छा है, इसीसे भ्रातासहित बैठे, (नहीं तो ऋषियोंसहित बैठना कहते), भाईकी लालसा लखकर नगर देखने जायँगे । (ग) 'रहा दिवस भरि जाम' इति । भाव यह कि घूमने और नगरके बाजार आदि देखनेका उचित अवसर पहरभर दिन रहे अर्थात् चौथे पहर ही होता है, वही चौथे पहरका अन्न समय है । ☞ यहाँतक चारों पहरोंकी दिनचर्या कह दी—प्रथम प्रहरमें पूजा, दूसरेमें भोजन, तीसरेमें विश्राम और चौथेमें नगरदर्शन ।

नोट—१ यहाँ महाराज जनककी सेवा-निपुणता दिखाते हैं। आज ही मुनि अमराईमें जाकर ठहरे, राजा जाकर मिले, मुनिको साथ ले जाकर अन्तःपुरमें ठहराया''' फिर भी भोजन-विश्राम करनेपर एक पहर दिन बच रहा। २ नगर-दर्शनकी भूमिका यहाँसे उठायी गयी है। ३—पाण्डेजी लिखते हैं कि 'ऋषि यहाँ मुख्य हैं और रघुनाथजी गौण हैं—(औरोंके मतसे श्रीरामजी मुख्य हैं, ऋषय गौण हैं); अतः उनके साथ भोजन-विश्राम करना कहा। दूसरा अर्थ काकोक्तिसे यह होता है कि रघुवंशमणि होके ऋषिके सङ्ग भोजन और विश्राम किया। तीसरा अर्थ यह कि जबसे रघुनाथजीने यज्ञरक्षा करने और राक्षसोंको मारनेके निमित्त ऋषियोंका पक्ष लिया है तबसे ऋषियोंके संगमें भोजन-विश्राम करनेका अवसर अब मिला, सो करके लक्ष्मणसहित बैठे।' पुनः 'इस दोहेमें चार उपयोगी उपशास्त्रोंका उपयोग है, ऋषय-शब्द बहुवचन है और व्याकरणकी रीतिसे सिद्ध होता है—'ओत्वं लुक् च विसर्गस्य—इस सूत्रसे विसर्गका लोप हुआ (अतः 'ऋषय' से व्याकरण); दूसरे पद 'करि भोजन विश्राम' में वैद्यक शास्त्र क्योंकि भोजन करके विश्राम करनेमें आरोग्यता होती है; तीसरे पद 'बैठे प्रभु भ्राता सहित' में नीति और चौथे पद 'दिवस रहा भरि जाम' में ज्योतिष शास्त्रका उपयोग वा समावेश है।' (पाण्डेजी). ४—सत्योपाख्यानके अनुसार उस दिन मुनिसहित श्रीराजकुमारोंने महलमें भोजन किया था। ५—रा० प्र० ने 'रिषय' से केवल विश्वामित्रका अर्थ ग्रहण किया है।

लषन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी॥ १॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहि मुसुकाहीं॥ २॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें बड़ी लालसा है कि जाकर जनकपुर देख आवें॥ १॥ प्रभुका डर और फिर (उसपर भी) मुनिका संकोच है। मन-ही-मन मुस्करा रहे हैं, प्रत्यक्ष कहते नहीं हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ 'लखन हृदय लालसा''' इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें लालसा हुई। लक्ष्मणजी लड़के हैं, छोटे हैं। उनके हृदयमें नगरदर्शनकी लालसा होना योग्य ही है। लड़कोंको ऐसी लालसाका होना शोभा देता है। इसीसे लक्ष्मणजीके हृदयमें लालसाका होना कहा, श्रीरामजीमें नहीं। बाहरसे नगरकी (अर्थात् नगरके बाहरकी) शोभा देखी है और उससे विशेष हर्ष हुआ है, यथा—'पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी। २१२। ५।' विशेष हर्ष हुआ, इसीसे नगर (अन्तःपुर) के देखनेकी विशेष लालसा हुई। (बाहरकी इतनी शोभा है तो भीतरकी रमणीयता न जाने कैसी होगी, यह समझकर विशेष लालसा हुई)। पुनः, (ख) श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें 'विशेष' लालसा है, इस कथनसे यह भी इङ्गित किया कि श्रीरामजीके हृदयमें भी नगरदर्शनकी लालसा है, पर सामान्य है, साधारण है। पुनः [(ग) 'बिसेषी' शब्द आवश्यकता और आधिक्यको प्रकाशित करता है—इतनी उत्कट (उत्कृष्ट) इच्छा उठी कि लक्ष्मणजीके हृदयमें न रुकी, उमड़कर नेत्र, भौंह आदिमें झलक आयी, क्योंकि आगे कहते हैं कि 'राम अनुज मन की गति जानी'। मन निराकार है, उसकी गति ऊपरके अंग-भावसे ही पहचानी जाती है। यथा—'आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः॥' (सु० र० भा० राजनीति प्र० २२६) अर्थात् मनका भाव आकार, इङ्गित (इशारा), गति, चेष्टा (हाव-भाव), भाषण तथा नेत्र और मुखके विकारोंद्वारा जाना जाता है। (पं० रा० च० मिश्र)। (घ) 'पहले सामान्य देखा है अब विशेष देखनेकी लालसा है। अथवा, 'विशेष' का भाव कि अवश्य जाकर देख आवें।' (पा०)। पुनः, (ङ) 'नये नगरके देखनेकी लालसा सबको होती ही है, उसपर भी देश-देशके राजा आये हैं, उनके साथ अनेकों रंगके पदार्थ आये हैं, इससे विशेष लालसा होती है।' (रा० प्र०)। (च) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मिथिलानगर ऐसा मनोहर और सुखद है कि उसने रघुवंशियोंके मनको भी चञ्चल कर दिया। जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों ओर शोभावलोकनकी अभिलाषा हो वहाँ 'लालसा' कही जाती है, 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च सोऽत्यर्थंलालसा द्वयोरित्यमरः। लालसा द्वयोः स्त्रीपुंसयोरित्यर्थः।' (परंतु 'लालसा द्वयोः' का अर्थ यह है कि 'लालसा शब्द स्त्रीलिंग-पुँल्लिङ्गमें चलता है')। (छ) प्रभु किसी आचार-विचार या बहुत भजन आदिसे नहीं रीझते हैं। जनकपुरवासियोंके मनमें आपके दर्शनोंकी बड़ी लालसा है। उन्होंने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया है, लक्ष्मणजीकी लालसा तो केवल बहाना है। इसीलिये मुनि आगे कहते हैं कि जाओ और 'करहु सुफल सबके नयन।' (श्रीजानकीशरणजी)]

२ 'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।' इति। (क) कथाका समय है। कथा और ऋषियोंका सत्संग छोड़कर नगरका दर्शन करने जाना, यह संकोचकी बात है। इसीसे यहाँसे सब जगह 'सकुच' लिखते हैं। यथा—'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।' (यहाँ), 'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई। चौ० ४।', 'प्रभु सकोच डर

प्रगट न कहहीं । चौ० ५ ।', 'समय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ । २२५ ।' (श्रीरामजीने भी सकुचाते हुए कहा और यह संकोच नगरदर्शनके पश्चात् भी रहा) । (ख) प्रभुका भय कहा क्योंकि स्वामीका भय मानना ही चाहिये । और बड़ेका संकोच करना ही चाहिये इसीसे 'मुनिहि सकुचाहीं' कहा । [(ग) श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं । वे अपने कर्मद्वारा समस्त प्राणियोंको उपदेश दे रहे हैं कि स्वामीका भय सेवकको सदा एकरस रहना चाहिये, यथा—'सुत की प्रीति प्रतीति मीतकी, नृप ज्यों डर डरिहै । विनय २६८ ।' लक्ष्मणजीमें यह गुण बराबर दिखाया गया है, यथा—'कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान । २५२ ।', 'लषनु राम डर बोलि न सकहीं । २६७ । ८ ।' इत्यादि । (घ) प्रभु भय इससे कहा कि सेवक-सेव्य-भावकी मर्यादाका भार प्रबल है । (रा० च० मिश्र) (ङ) 'प्रभु-भय' से भ्रातृस्नेह दर्शित किया है । (च) बैजनाथजीका मत है कि उत्तम सेवक होकर धर्मधुरीण स्वामीसे असत् कामना कैसे कहें, यह प्रभुका भय है । (छ) 'मुनिहि सकुचाही' का भाव कि मुनि हमारी चपलतासे रुष्ट हो जायँगे और मुनि बड़े हैं, महात्मा हैं, गुरु हैं, उनका अदब करना ही चाहिये, अतः 'मुनिहि सकुचाहीं' कहा । (रा० च० मिश्र) । 'मुनिहि सकुचाहीं' कहकर इनकी गुरुभक्ति दर्शित की है । (पं०) । पुनः, (ज) प्रभुका भय कि कहीं डाँट न दें कि अयोध्याजीसे नजाराबाजी ही करनेके लिये यहाँ आये हो । और मुनिका संकोच कि वे यह न कहें कि तुम क्यों अपना स्वरूप दिखाने जाते हो, हम तो तुम्हारे ही मनोरथकी पूर्तिके लिये तुम्हें यहाँ लाये ही हैं । (रा० प्र०) ।] (झ) विशेष प्रभुका भय है (अर्थात् प्रभुका भय मुख्य है) इसीसे 'प्रभु भय' को प्रथम कहा । बहुरि=पुनः, फिर । मुनिका संकोच सामान्य है, इससे उसे पीछे कहा ।

३ 'प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं' इति । (क) 'प्रगट न कहहिं' अर्थात् वचनसे नहीं कहते । यहाँ दो बातें लिखते हैं—एक तो प्रकट कहते नहीं, दूसरे मनमें मुस्काते हैं । 'मन मुसुकाहीं' से जनाया कि प्रभुका इतना भय है कि मुस्कान भी प्रकट नहीं है । भय और संकोचवश प्रकट नहीं करते और मनका मनोरथ जनानेके लिये मनमें मुस्काते हैं । [मनहीमें मनोरथका वेग रोककर मुस्काकर रह जाते हैं । लाज और भयरूप संपुटमें वाणी बंद है । (वै०) । मनोविकाश ही वस्तुतः हास है, दन्तविकाश नहीं ।]

राम अनुज मनकी गति जानी । भगत बछलता हिय हुलसानी ॥ ३ ॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई । बोले गुरु अनुसासन पाई ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—भगतबछलता (भक्तवत्सलता)='आश्रितदोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन । आश्रितागस्तिरस्कारबुद्धिर्वात्सल्यमित्यपि ॥ वत्सः स्नेहगुणः [स्थेयांस्तद्वाता] वत्सलो हरिः । इति भगवद्गुणदर्पणे ।' (वै०) । तुरतके पैदा हुए बछड़े या बछियापर जो उसकी माता (गऊ) का स्नेह रहता है उसे वत्सलता वा वात्सल्य कहते हैं । वत्सका अर्थ है छोटा बछड़ा वा बच्चा । गाय अपने नये ब्याये हुए बच्चेके मल आदिको चाटकर उसे शुद्ध करती है । इसी प्रकार श्रीरामजी अपने आश्रित भक्तोंके दोषोंको स्वयं भोग लेते हैं अथवा उनके दोषोंपर दृष्टि न देकर उनके दोषोंको नष्टकर उनको शुद्ध कर लेते हैं; अथवा जैसे नेहवती गाय, तुरत ब्याये हुए बच्चेका संग नहीं छोड़ती वैसे ही प्रभु अपने स्नेही भक्तोंके संग लगे रहते हैं । यही भक्तवात्सल्य गुण है । हुलसाना=आनन्दसहित उमग वा उमड़ आना ।

अर्थ—श्रीरामजीने भाईके मनकी गति (दशा, हाल) जान ली । उनके हृदयमें भक्तवत्सलता उमड़ आयी ॥ ३ ॥ वे अत्यन्त नम्रतासे, सकुचाते हुए, मुस्कुराकर और गुरुजीकी आज्ञा पाकर बोले ॥ ४ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यरसमें हर्ष, लालसा और संकोचके संघर्षवाली मुस्कानकी सूक्ष्मताको विचारिये और कविकी कलाको सराहिये । प्राकृतिक सौन्दर्यानुभव, 'देखन फुलवारी' इत्यादिमें कराके अब कवि उसमें नागरिकताका विकाश कराना चाहता है ।

टिप्पणी—१ 'राम अनुज मनकी गति जानी ।…' इति । (क) 'राम' पद साभिप्राय है । रमत इति रामः । (जो सबमें रम रहा है, सबके हृदयमें बसता है, वह मनकी गति जानेगा ही, उसका जानना योग्य ही है) । 'स्वामि सुजान जान सबही की । रुचि लालसा रहनि जन जीकी । २ । ३१४ ।', 'सबको प्रभु सब मो बसै सबकी गति जान । विनय १०७ ।' ऐसे स्वामी श्रीरामजी हैं, इसीसे मनकी गति जान गये । क्या गति जानी ? यह आगे कहते हैं—'लखन पुर देखन चहहीं ।…' । (ख) 'भगतबछलता हिय हुलसानी' इति । श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें नगर-दर्शनकी लालसा हुई, अतः श्रीरामजीके हृदयमें

नगर दिखलानेकी इच्छा हुई; क्योंकि 'राम सदा सेवक रुचि राखी।' यही भक्तवत्सलता है जो हृदयमें हुलसी है। पुनः, 'श्रीलक्ष्मणजीके मनकी गति देखकर भक्तवत्सलता हुलसी' इस कथनमें तात्पर्य यह है कि (उनके मनकी इस समयकी गति ऐसी ही है कि जिससे भक्तवत्सल भगवान्‌को अपने परम भक्तका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये परमोत्साहपूर्वक मजबूर होना पड़ता है) उनके मनकी गति भक्तवत्सलताको हुलसानेवाली है। 'प्रभु भय' 'बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं' 'प्रगट न कहहिं' और 'मनहिं मुसुकाहीं।' (अर्थात् प्रभुका भय मानना, मुनिका संकोच करना इत्यादि) यही लक्ष्मणजीके मनकी गति और भक्ति प्रभुके भक्तवात्सल्यगुणको हुलसानेवाली हुई। हमारा इतना लिहाज, अदब, संकोच रखते हैं, कि प्रत्यक्ष नहीं कहते, यह समझकर प्रभुने सोचा कि इनका मनोरथ अवश्य पूर्ण करना चाहिये। [पुनः, 'भगतबछलता हुलसानी' का दूसरा भाव मिथिलापुरवासी भक्तवत्स (बछड़े) के समान हैं जो कर्मरूपी रस्सीमें बंधे श्रीरघुनाथजीके दर्शनरूपी दूधके अभिलाषी हैं, उनको भी तृप्त करनेकी इच्छा हृदयमें उमड़ी। (पां०)। इस भावार्थकी पुष्टि 'करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ। ११८।' से होती है]

टिप्पणी—२ 'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई।···' इति। (क) लक्ष्मणजीमें 'परम' शब्द नहीं दिया था, 'प्रभु-भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं' इतनामात्र कहा था और श्रीरामजीमें 'परम' पद देते हैं। तात्पर्य कि श्रीरामजीमें नम्रता, शील और संकोच आदि गुण सब भाइयोंसे अधिक हैं, यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा। १९८। ६।' (ख) श्रीलक्ष्मणजीका अभिप्राय उनके मनकी मुस्कानसे श्रीरामजी जान गये और श्रीरामजीका अभिप्राय उनके प्रकट मुस्कानसे मुनिने जाना। श्रीरामजी लक्ष्मणजीके मनकी गति जान गये पर रामजीके मनकी (एवं लक्ष्मणजीके मनकी भी) 'गति मुनि स्वतः न जान पाए' श्रीरामजीके कहनेसे जानी। [(ग) ☞ प्रभु लक्ष्मणजीके मनका भय, संकोच और मुस्कान तीनोंको जान गये, पर मुनि उनके हृदयकी न जान सके। इससे ईश्वर और जीवमें भेद दिखाया। इसी प्रकार सतीके कपट-वेष और हृदयकी गतिको श्रीरामजी स्वतः जान गये थे। और शंकरजी न जान पाये, जब ध्यान किया तब सतीजीने जो किया था उसे जान पाये थे। 'परम' विनीत और सकुचि दोनोंके साथ है। (घ) रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'तीनों वाणियोंकी विकृतिका भाव ऊपर अंगोंमें भासता है। मन तो निराकार पदार्थ है, उसका मुसुकाना कैसे ? उत्तर, मनकी प्रसन्नताका बाह्य अंग चेष्टामें विकास होना ही मुसुकाना है। लक्ष्मणजीका मन रामजीके पास रहता है, अतः 'राम अनुज मनकी गति जानी', किंतु मुनि नहीं जानी।' (टीक है, पर इसमें संदेह होता है कि जिनका मन रामजीके पास नहीं रहता, उनके मनकी रामजी न जानते होंगे। वे तो सदा सब हालतोंमें सबके मनकी जाननेवाले हैं।)। (ङ) मिश्रजीका मत है कि 'प्रभुके नम्रता, संकोच और मुस्क्यान—इन तीन प्रकारसे सूचना देनेपर भी मुनि उनके हृदयकी न जान सके, तब प्रभुने आज्ञा पाकर वचनद्वारा प्रकट किया।' (च) ये तीनों गुण सरकारमें सदा बसते हैं, पर आज जो भक्तवत्सलता हृदयमें हुलसी उसने तीनों गुणोंमें 'परम' यह विशेषण लगा दिया। अर्थात् और दिनोंसे आज ये तीनों अधिक हैं। (पांडेजी)। 'इसी चौपाईके उत्तरार्द्धसे सूचित होता है कि गुरुजीने इन तीनों गुणोंकी विशेषतासे मुग्ध होकर कहा है—'रामजी ! क्या कुछ इच्छा उठी है (तब सरकार बोले)।' (रा० च० मिश्र)। पुनः, (छ) 'परम बिनीत सकुचि···पाई' का भाव 'अति नम्र होकर अर्थात् दृष्टि नीचे करके मुस्कराये तब मुनिने कहा कि क्या मनमें आयी है जो मुसुकाते हो, तब रघुनाथजी बोले।' (रा० प्र०)। मुस्कुराहटका अर्थ ही है कि कुछ कहना चाहते हैं—'स्मितं पूर्वाभिभाषी च]

नाथ लषन पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥ ५॥
जौं राउर आयेसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥ ६॥

अर्थ—हे नाथ ! लक्ष्मणजी नगर देखना चाहते हैं। हे प्रभो ! (आपको) संकोच और डरसे प्रकट नहीं कहते ५॥ जो मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो मैं उनको शीघ्र नगर दिखाकर ले आऊँ॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'नाथ लषनु पुरु देखन चहहीं।···' इति। (क) लक्ष्मणजीने पुर देखनेकी इच्छा वचनद्वारा प्रकट नहीं की, अतः यह निश्चय हुआ कि 'पुर देखन चहहीं' यह उनके मनकी एक गति है जो प्रभुने जान ली। दूसरी गति जो जानी वह उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि 'प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं'। नगरदर्शनकी लालसा, भय और संकोच सभी जान गये। (ख) लक्ष्मणजीने तो प्रभुका भय माना था, यथा—'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं' परंतु श्रीरामजी भय और संकोच दोनोंको मुनिके प्रति ही लगाते हैं, अपना भय मानना नहीं कहते, इसमें भाव यह है कि अपना डर कहनेसे

अपनी बड़ाई सूचित होती, दूसरे अपना भय और गुरुका संकोच कहनेसे गुरुकी बराबरी होती है, इस तरह कि हम डरते हैं और आपका संकोच करते हैं (एक बात हमारे प्रति है और एक आपके प्रति है, यही बराबरीका दोष है)। लक्ष्मण-जीके भावसे यही पाया जाता है कि दोनोंको बराबर मानते हैं (उसमें भी रामजीको विशेष। इसीसे 'प्रभु-भय' प्रथम है)। अतः भय और संकोच दोनों गुरुके कहे, अपना न कहा।

नोट—१ पूर्व 'प्रभुभय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं' कहा, और यहाँ 'प्रभु संकोच डर' कहा। 'प्रभु' को संबोधन मान लेनेसे 'संकोच और डर' को दोनोंमें भी लगा सकते हैं। ऊपरसे तो यह अर्थ स्पष्ट है कि आपका संकोच और डर है और दूसरा अर्थ लक्ष्मणजीके मनकी गतिके अनुसार भी हो जाता है। यह शब्दोंके प्रयोग और योजनाका कमाल है। इस तरह 'प्रभु' का संकोच अर्थात् मुनिका संकोच और प्रभुका डर अर्थात् अपने स्वामीका डर भी आ गया। श्रीमिश्रजी लिखते हैं 'यहाँ 'प्रभु' शब्दसे रामजीने 'संकोच डर' दोनों मुनिपर घटाये और अपने प्रभुत्व और ऐश्वर्यको दबा लिया। पुनः, पहले प्रभुभय प्रधान, पीछे मुनिका संकोच सामान्य कह आये हैं और अब यहाँ उसका विपर्यय है, क्योंकि लक्ष्मणजीका भाव देख रामजी प्रसन्न हैं, अतः 'प्रभु भय' चला गया और 'मुनि संकोच' प्रधान और उन्हींका डर गौण हो गया।' श्रीबैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'प्रभो! आपके संकोच और हमारे डरसे नहीं कहते। २—रा० च० मिश्रका मत है कि 'यहाँ 'नाथ' शब्द श्लेषमें है। प्रथम तो गुरुजीके लिये सम्बोधन है, दूसरे, 'लषन' के साथ सम्बन्धित है कि 'नाथ के सहित लषन'।

श्रीराजारामशरणजी—भाव-विकासकी सरलतामें यह सोच-विचार नहीं होता। श्रीरामजीके सरल हृदयमें यही अनुभव होता है कि संकोच और डर गुरुका है। 'मुस्कराहट' की मानो श्रीरामजी यह व्याख्या करते हैं कि हमसे तो कोमल संकेत कर दिया मगर स्पष्ट नहीं कहा, इसका कारण गुरुका संकोच और डर है। दोनों ओरके भावोंका निरीक्षण कितना सुकुमार है। वास्तविकता और अनुमानका अन्तर ही नाटकीय कलाकी जान है। हाँ, सरलतामें शिष्टाचार आप ही निभ गया।

टिप्पणी—२ **'जौ राउर आयेसु मैं पावउँ।''''** इति। (क) श्रीरामजी सब काम श्रीगुरुजीकी आज्ञासे करते हैं यथा—**'निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्या बंदनु कीन्हा ॥ २२६। १।' 'बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥ २२६। ६।', 'समय जानि गुरु आयेसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई ॥ २२७। २।' 'बिगत दिवसु गुर आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई ॥ २३७। ६।' 'करि मुनिचरन सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा ॥ २३८। ५।'** इत्यादि। इसीसे यहाँ भी आज्ञा माँगते हैं। (ख) 'आयसु मैं पावउँ' 'तुरत लै आवउँ' से अपने लिये भी आज्ञाका माँगना पाया जाता है। अपने लिये आज्ञा माँगनेका कारण यह है कि लक्ष्मणजी लड़के हैं, उनको अकेले जानेकी आज्ञा नहीं हो सकती। अतः अपने सहित जानेकी आज्ञा माँगते हैं जिसमें आज्ञा मिल जाय। [देखिये, यहाँ कैसी युक्तिसे कहा कि गुरुको आज्ञा देते ही बने। सोचे कि यदि हम अपने लिये भी आज्ञा नहीं माँगते कि साथ जायँगे तो मुनि समझेंगे कि रामजीका मन नगरमें जानेका नहीं है, अतएव वे हमको जानेको न कहेंगे और बिना हमारे लक्ष्मणजीको अकेले जानेकी आज्ञा न होगी अतएव **'आयेसु मैं पावउँ'** इत्यादि कहा। फिर दिन थोड़ा है, नगर बड़ा है और विलक्षण है, देखनेमें विलम्ब हो जाना साधारण बात है। अतएव कहते हैं कि 'देखाइ तुरत लै आवउँ' अर्थात् दिखाकर शीघ्र ही लौट आवेंगे, देर न होगी। 'देखाइ' और 'लै आवउँ' से स्पष्ट जना दिया कि हम स्वयं ही साथ जाना चाहते हैं। 'नगर देखाइ' से विलम्ब सूचित होता है क्योंकि नगर बड़ा है; अतः 'तुरत लै आवउँ' कहा, जिसमें रोकें नहीं]

नोट—३ बैजनाथजी 'जौ राउर अनुसासन'''पावउँ' का भाव यह लिखते हैं कि 'यदि उनको अकेले भेजा जायगा तो बालस्वभावसे कहीं देर न लगा दें, जिससे आपको और मुझको चिन्ता हो जायगी, इससे आपकी आज्ञा हो तो मैं साथ चला जाऊँ'''।'

४ यहाँ लक्ष्मणजीकी इच्छाके बहाने आज्ञा माँग रहे हैं, यद्यपि उनकी स्वयं नगर देखनेकी इच्छा है। अतः यहाँ 'द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार' है। (वीरकवि) यथा—'मिस करि कारज साधिये जो हित चितहि सोहात।'

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती ॥ ७ ॥
धरमसेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता ॥ ८ ॥

अर्थ—(श्रीरामजीके वचन) सुनकर मुनिराजने प्रेमसहित (ये) वचन कहे—हे राम! तुम क्यों न नीतिकी रक्षा

करो ! ॥७॥ हे तात ! तुम धर्मकी मर्यादाके पालन करनेवाले हो। सेवकोंके प्रेमके विशेष वश हो, उनको सुख देनेवाले हो॥८॥

टिप्पणी—१ (क) ['मुनीस' का भाव कि अन्य मुनियोंको यह माधुर्यसुख प्राप्त नहीं है जो आज इनको प्राप्त है। (रा० च० मिश्र)] (ख) **'कह बचन सप्रीती'** इति। तात्पर्य कि श्रीरामजीके धर्मनीतिके वचनको सुनकर मुनिराज प्रेममें मग्न हो गये, अतः जो वचन उनके मुखसे निकले, वे प्रेमसे भरे हुए हैं। [अथवा, श्रीरघुनाथजीने नगरमें जानेकी आज्ञा माँगी है। उसमें कुछ कालका वियोग जानकर प्रीतिसे भर गये। अतः 'कह बचन सप्रीती।' (पाँ०)। वा, श्रीरामजीकी परम नम्रता देखकर अथवा उनका ऐश्वर्य विचारकर प्रीतिसहित बोले। (पं०) वा, श्रीरामजीकी भक्ति देखकर वात्सल्य-भाव उमड़ पड़ा, अतः 'प्रीति सहित' बोले। (पं० रामकुमार)। वा, श्रीरामजीके अनेक अभिप्रायमय वचन सुनकर त्रिकालज्ञ मुनि सब जान गये, अतः अभिप्रायमय वचन प्रीतिसहित बोले। (वै०)। श्रीरामजी नीति और धर्मयुक्त वचन बोले जैसा मुनि आगे कहते हैं, इसीसे मुनि सप्रेम बोले। यथा—**'धरम धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी॥ १। ६॥'** (ग) **'कस न राम तुम्ह राखहु नीती'** इति। भाव कि तुम नीतिके यथार्थ ज्ञाता हो, यथा—**'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥ २। २५४॥'** परम नम्रता, बड़ोंका संकोच और आज्ञा पाकर बोलना, यह सब नीति है। इस नीतिकी रक्षा की, इसीसे मुनिने श्रीरामजीकी प्रशंसा की। (घ) ☞ देखिये, श्रीलक्ष्मण-जीकी जैसी भक्ति देखकर श्रीरामजीके हृदयमें भक्तवत्सलता हुलसी, उसी प्रकारकी श्रीरामजीकी भक्तिको देखकर मुनि उनकी प्रशंसा करने लगे—

जैसे लक्ष्मणजीमें—'प्रभुभय', 'मुनिहि सकुचाहीं' और 'मुनिहि मुसुकाहीं' देख श्रीरामजी प्रसन्न हुए वैसे ही श्रीरामजीमें—'परम विनीत' और 'मुसुकाई' 'अनुसासन पाई बोले' देख मुनि प्रसन्न हुए।

२ 'धरमसेतु पालक तुम्ह ताता…।' इति। (क) गुरुकी आज्ञाका पालन करना धर्म है, यथा—**'सिय धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥ ७७। २॥'** तुम धर्मसेतुपालक हो अर्थात् सदा सनातनधर्मका पालन करते हो और तुम्हारे ऐसा करनेसे आगे भी धर्मका पालन होता रहेगा, सब लोग इस धर्मका पालन करते रहेंगे। यथा—**'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥ २। ३२३॥'** (यह श्रीवसिष्ठजीने भरतजीसे कहा है)। भाव यह कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं अन्य पुरुष भी उसीके अनुसार बर्तते हैं, यथा—**'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥** गीता ३। २१।' और श्रीरामजीका मर्यादापुरुषोत्तम अवतार ही लोककी शिक्षाके लिये हुआ, न कि केवल रावणवधके लिये। यथा—**'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः॥** भा० ५। १९। ५॥' इस श्रीहनुमद्वाक्यकी ओर संकेत करते हुए 'धर्मसेतुपालक' कहा।—यही धर्म-सेतुका पालन करना है। पुनः ['धर्मसेतुपालक' के और भाव कि—(ख) स्वतन्त्र होते हुए भी परतन्त्रता दिखाकर आज्ञा माँगी। (ग) मुनि अपनी त्रिकालज्ञतासे होनहार सूचित करा रहे हैं कि जिस पुरमें जा रहे हो उसमें कुछ अधर्म आ रहा है—राजाकी प्रतिज्ञा कोई राजकुमार नहीं पूरी कर सकेंगे, जिससे राजा असमंजससे धर्मसंकटमें पड़ेंगे, यथा—**'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥** २५२। ५॥' और आप धर्मसेतुपालक हैं, यह भार आपहीको सँभालना होगा। (पं० रा० च० मिश्र)। (घ) भवसागरके पार जानेका जो धर्मसेतु है उसके आप रक्षक हैं (वै०)। (ङ) ब्राह्मणों और सन्तोंको सदा बड़ाई देते आये हो, इसीसे हमको बड़ाई दे रहे हो। (रा० प्र०)। इसीसे मुनीश्वरोंका मान रखना तुम्हें योग्य ही है। (पं०)]

३ **'धरमसेतुपालक…प्रेमबिबस सेवकसुखदाता'** इति। ये सब विशेषण साभिप्राय हैं। भाव कि—(क) धर्मसेतु-पालक हो, इसीसे गुरुकी आज्ञाका पालन करते हो। प्रेमविवश हो इसीसे हृदयमें भक्तवत्सलता हुलसी, सेवकसुखदाता हो इसीसे लक्ष्मणजीके लिये प्रार्थना करते हो। (ख) **'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥'** यह नीति है; **'जौं राउर आयसु मैं पावउँ'** यह धर्म है; **'नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥'** यह प्रेमकी विवशता है (लक्ष्मणजीके प्रेमके वश हैं, इसीसे लक्ष्मणजीके लिये प्रार्थना करते हैं), और **'नगर देखाइ तुरत लै आवउँ।'** यह सेवक-सुखदातृत्व है। पुनः, (ग) धर्मसेतुपालक होनेके कारण आज्ञा माँगते हो और **'प्रेम बिबस सेवक-सुखदाता'** होनेसे लक्ष्मणजीके प्रेमवश होकर उनको सुख देना चाहते हो।

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि 'धर्मसेतुपालक हो अर्थात् भवसागर पार जानेके सेतुके रक्षक हो। प्रेमविवश हो अर्थात् जो निष्काम भक्त हैं उनके विशेष वश हो। सेवक सुखदाता हो अर्थात् जो आर्त्त-सेवक हैं उनको सुखरूप हो, उनके दुःख मिटाकर उन्हें सुखी करते हो और जो अर्थार्थी हैं उनको अर्थदायक दातारूप हो। अभिप्राय यह कि जब जनकजीके

मन्दिरमें भोजन करने गये तब राजकुमारोंके संग तो ऋषियोंका समाज था और वहाँ जनकादि गुरुजनोंका समाज था। उनकी लज्जावश पुरकी युवतियाँ प्यासी रह गयीं। अर्थात् हाव-भावमय वार्ता हास कटाक्षादि अवलोकन राजकुमारोंसे न कर पायीं, इसलिये रूप-रसकी प्याससे निज-निज निवास-स्थानमें प्रेम-बलसे पुनः मिलनेकी आशासे उदास बैठी हैं। उसी प्रेमकी डोरीसे जब अनेकों युवतियोंने खींचा तब प्रभु धैर्य न धर सके। पर धर्म-धुरीण ऋषियोंके संग कैसे जायँ। अतः श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें विशेष लालसा प्रकटकर आज जाना चाहते हैं, नहीं तो भला लक्ष्मणजीके हृदयमें लालसा कहाँ? यह तो केवल आपकी प्रेरणासे हुआ। आप आर्त नर-नारियोंके प्रेमवश उनको दर्शन देकर सुख देना चाहते हैं—यह अभिप्राय मुनि समझ गये। यह भाव 'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता' का है।' (यह भाव शृङ्गारियों रसिकोंके हैं)।

२ तीनों संज्ञाएँ साभिप्राय हैं। क्योंकि धर्ममर्यादाका रक्षक ही नम्रता दिखा सकता है। प्रेमविवश ही भक्तोंकी रुचिका पालन कर सकता है और सेवक-सुखदाता ही सेवकोंको सुखी कर सकता है। यह परिकरांकुर अलंकार है। (वीर)। 'धर्मसेतुपालक-सुखदाता' का भाव कि आज्ञा माँगना मुझे मान देना है।

३ पं० रामचरणमिश्रजी 'प्रेम विवश' को 'सेवक' का विशेषण मानते हैं। प्रेमविवश सेवक=जो सेवक प्रेमसे विवश अर्थात् बेकाबू हैं, प्रेमविभोर हैं। भाव यह कि लक्ष्मणजी आपके प्रेमाधीन हैं स्वतः कुछ नहीं कर सकते। अतः उनकी इच्छा पूर्ण करना आपका विशेष धर्म है।

दो०—जाइ देखि आवहु नगरु सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ॥ २१८॥

अर्थ—सुखनिधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुन्दर मुखारविन्दोंको दिखाकर सबके नेत्रोंको सुफल करो॥ २१८॥

श्रीलमगोड़ाजी—मुनि ऐश्वर्यके अंश ('धरमसेतुपालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता') को कहते-कहते सामयिक शृङ्गारपर ही आ जाते हैं। कविका संकेत है कि हम भी ऐश्वर्यको भूलकर राजकुँवरोंके 'सुंदर बदन' के माधुर्यपूर्ण शृङ्गारको देखें। 'बीनंद रूय गुल' की तैयारी है और नगरवासियों इत्यादिका 'सुंदर बदन' देखना ही श्रीसीताजीके लिये उस फूलकी सुगन्ध पानेका कारण बनेगा।

टिप्पणी—१ श्रीरामजीने आज्ञा माँगी—'जौ राउर आयेसु मैं पावउँ।…' इसीसे गुरुजी आज्ञा देते हैं—'जाइ देखि आवहु नगरु…।' श्रीरामजीने तो आज्ञा माँगी कि 'नगर देखाइ तुरत लै आवउँ' परंतु मुनि आज्ञा देते हैं कि 'जाइ देखि आवहु…दोउ भाइ।' मुनि दोनोंको नगर देखनेकी आज्ञा देते हैं जिसमें श्रीरामजी भी अच्छी तरह देख आवें, नहीं तो बिना आज्ञाके श्रीरामजी मन लगाकर न देखते, लक्ष्मणजीको शीघ्र दिखलाकर लौट आते।—[यहाँ शब्दोंकी योजनामें ही मुनिके वचनोंका 'सप्रीति'—('सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती') होना जना रहे हैं। 'जाइ देखि आवहु नगरु' कहा। प्रथम जाना, फिर नगर देखना और तब लौट आना क्रमसे कहना चाहिये था, ऐसा न करके 'जाइ देखि' के साथ 'आवहु' कहकर तब नगर पद अन्तमें दिया गया। भाव यह कि मुनि इन शब्दोंसे जना रहे हैं कि हम भी तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकते; इतना ही नहीं वरंच वचन-वियोग भी असह्य हो रहा है; अतः वियोग-वाचक शब्द 'जाइ' के साथ ही संयोगवाचक 'आवहु' शब्द कहा। पाण्डेजीका मत है कि 'जाइ' शब्दसे वियोगवश हो नगर कहना भूल गये। जब 'आवहु' शब्दसे 'संयोग' कर लिया तब 'नगर' कहनेकी सुध हुई।']

२ (क) 'सुखनिधान दोउ भाइ' इति। दोनों भाई सुखनिधान हैं, यथा—'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा। २१६। ५॥' (ख) 'सुखनिधान दोनों भाई जाओ' कहनेका भाव कि जाकर नगरको सुख दो। [तुम दोनोंके दर्शनोंसे नगरवासी सुखी होंगे। पुनः भाव कि प्रार्थना करके गुरुको सुख दिया, यथा—'सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती।' लक्ष्मणजीका मनोरथ पूर्ण करके लक्ष्मणजीको सुख दिया, यथा—'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता।' और आगे मुनिकी आज्ञा पाकर लोकको सुख देने जाते हैं। इसीसे 'सुखनिधान दोउ भाइ' कहा। श्रीलक्ष्मणजीकी कृपासे ही तो सबको सुख मिलेगा। पुनः (ग) 'सुखनिधान' का आशय यह है कि तुम्हारे जानेसे हमें दुःख होगा इससे शीघ्र आ जाना। पुनः भाव कि नगर तुम दोनों भाइयोंके सुखका निधान है; अर्थात् इस नगरमें श्रीजानकीजी और श्रीउर्मिलाजी

आदि हैं 'सुख-निधान' देहली-दीपक-न्यायसे 'नगर' और 'दोउ भाई' दोनोंके साथ लग सकता है। भाव यह है कि इसी नगरमें तुम दोनोंका ही नहीं किंतु चारों भाइयों एवं और रघुवंशी राजकुमारोंके विवाह होंगे, यह नगर सबको सुख देगा। यहीं तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी। विश्वामित्रजीने जो राजा दशरथसे कहा था कि 'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान ॥ २०७ ॥' उस सम्बन्धसे नगरको 'सुखनिधान' कहा। पुनः भाव कि तुम दोनों भाई नगरके (सुखके) निधान हो अर्थात् धनुषके टूटनेसे सबको सुख होगा। (पाँ०)]

टिप्पणी—२ 'करहु सुफल सब के नयन' ' इति। भाव कि तुम्हारे दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं, यथा—'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदनपंकज भवमोचन। ३। १०। ९ ॥' 'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं। ३। २६ ॥' 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी। ७। ७६। ६ ॥' अतः पुरवासियों-के नेत्र तुम्हारे दर्शन पाकर सुफल होंगे।

पाण्डेजी—'करहु सुफल सब के नयन' का भाव कि जो तुमने कहा कि हम नगर देख आवें (दिखला लावें) यह उल्टी बात है, आप अपने 'सुंदर बदन' को (दिखला आवें और) दिखाकर सबके नेत्र सफल करें। 'नेत्र सफल' करनेका एक तो साधारण भाव यह है ही कि सबको सुख दो, दूसरा भाव यह है कि अन्य अनेक सब राजाओंके मुँहका दर्शन निष्फल हुआ है तो तुम धनुषको तोड़कर अपने मुखारविन्दसे सफल करोगे।' अर्थात् तुम्हारा दर्शन उनको फलीभूत होकर मङ्गलदायक होगा।

पंजाबीजी—'देखना अपूर्व वस्तुका होता है सो तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपकी मायासे रचित है, पर आपका अवतार लोगोंको कृतार्थ करनेके निमित्त है। इसलिये 'सबके नेत्रोंको जाकर सफल करो' ऐसा कहा।

श्रीबजरंगबली अनुरागलताजी—इन चौपाइयोंमें यह भी भाव हैं कि—१ 'धर्मसेतुपालक' से सूचित किया कि आपका एकपत्नीव्रत धर्म है, पर जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ आपके दर्शनोंके लिये लालायित हो रही हैं, इससे आप यह न करें कि उनकी ओर न देखें। आप अपने 'प्रेमबिबस सेवक सुखदाता' गुणको काममें लाइये, शीघ्र लौटकर हमारे वियोगरूपी दुःखको दूरकर हमें सुख दीजिये और अपने मुखारविन्द अर्थात् कटाक्षयुत दर्शनसे जनकपुरकी स्त्रियोंको सुख देकर उनके नेत्रोंको सुफल कीजिये। आप भी अवश्य देखियेगा, आप न देखेंगे तो उनके नेत्र न सुफल होंगे। २—इस प्रसङ्गमें यह भी दिखा रहे हैं कि भक्तके लिये आचार्यका होना आवश्यक है, बिना आचार्यके प्रभु किसीको अङ्गीकार नहीं करते। इसीसे लक्ष्मणजीकी लालसा कहकर उनको, भक्तको भगवंतसे मिलानेमें आगे किया।

मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन सुखदाता ॥ १ ॥
बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—लोक=तीनों लोक; भुवनमात्र; जन, प्राणी; लोग। यथा—'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः।

अर्थ—समस्त लोकों वा प्राणियोंके नेत्रोंको सुख देनेवाले दोनों भाई मुनिके चरणकमलोंकी वन्दना करके चले ॥ १ ॥ (इनकी) अत्यन्त शोभा (सुन्दरता) देखकर बालकोंके झुण्ड साथ लग गये। उनके नेत्र और मन लुभा गये हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'मुनि पद कमल बंदि' इति। जब पुष्पवाटिका देखने गये थे, तब वन्दना नहीं की और यहाँ चरणोंकी वन्दना करते हैं। कारण यह है कि यहाँ न तो कुछ गुरुकार्य ही है और न देवकार्य ही, केवल कौतुक देखना है। इसीसे चरणोंमें प्रणाम करके गये और लौटकर भी प्रणाम किया जिसमें गुरुजी प्रसन्न रहें, नाराज न हों।—[अथवा, गुरुको प्रणाम करके जाना तो सदा ही धर्म है, चाहे वह गुरुकार्य हो, चाहे देवकार्य; अतएव समाधान यह है कि यहाँ एक जगह प्रणाम कहकर इसीसे सर्वत्र यही रीति जना दी। जब-जब जाना हुआ, तब-तब प्रणाम करके ही जाना हुआ, यह समझ लें, बार-बार लिखनेकी आवश्यकता नहीं]। (ख) 'चले लोक लोचन सुखदाता' इति। गुरुजीकी आज्ञा है 'करहु सुफल सबके नयन'; इसीसे प्रथम ही 'लोक लोचन सुखदाता' विशेषण देते हैं। 'लोक' अर्थात् 'जन' के सुखदाता हैं। [पाँडेजी लिखते हैं कि यहाँ 'भुवन' अर्थ नहीं है। यहाँ 'मिथिलापुरीके लोगोंको' यह अर्थ है।' बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'यह नगरकी यात्रा लोक (मात्रके) लोचन (को) सुखद है; विवाह भावी है, इसीसे सर्वलोचन-सुखदायी है।' मेरी समझमें 'लोक लोचन सुखदाता' विशेषण है। सभीके नेत्रोंको आपके दर्शनसे सुख होता है, अतः जनकपुरवासियोंको भी सुख होगा]

२ 'बालक बृंद देखि अति सोभा···' इति। (क) 'देखि अति सोभा' इति। जनकपुरके लोग देवताओं-से भी अधिक सुन्दर हैं, यथा—'नगर नारिनर रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना ॥ तिन्हहिं देखि

सब सुर सुरनारी । भये नखत जनु बिधु उजियारी ॥ ३१४ । ६-७ ।' (जिस नगरके लोगोंके सौन्दर्यशोभाके आगे देव-गणकी सुन्दरता मात है) उसी नगरके बालक हैं, (ये नित्य ही मारमदमोचन सौन्दर्यका दर्शन करते ही रहते हैं, अतएव नगरनिवासियोंकी-सी शोभा तो उन्हें मोहित ही नहीं कर सकती), जब उससे कहीं अधिक शोभा देखें तभी मोहित हो सकते हैं । अतएव 'देखि अति सोभा' कहा । ('अति सोभा' ही से सूचित कर दिया कि ये बालक एवं नगरनिवासी भी सुन्दर हैं, पर ये दोनों भाई अतिशय सुन्दर हैं) । (घ) 'लगे संग' से जनाया कि इनको देखकर सब इनमें अनुरक्त हो गये ऐसे कि संग हो लिये । 'लगे' से जनाया कि साथ नहीं छोड़ना चाहते । यथा 'रामहि देखि एक अनुरागे । चितवत चले जाहिं सँग लागे ॥ २ । ११४ । ७ ।' संग लगना कहकर आगे उसका कारण कहते हैं—'लोचन मनु लोभा' । (ङ) लोचन और मन दो वस्तुएँ हैं, तब 'लोचन मन लोभे' कहना था, 'लोभा' एक वचन कैसे कहा ? उत्तर यह है कि भाषामें एकवचन बहुवचनका विचार सब जगह नहीं रहता । जैसे यहाँ एक वचनका प्रयोग है, ऐसे ही अन्यत्र भी लिखा है । यथा 'मुदित नारि नर देखहिं सोभा । रूप अनूप नयन मन लोभा ॥' (च) 'लोचन मन लोभा' अर्थात् मन लगाकर देख रहे हैं । यथा 'राम लषन सिय सुंदरताई । सब चितवहिं चित मन मति लाई ॥ २ । ११६ । २ ।' प्रथम नेत्रेन्द्रिय लुब्ध हुई तब मन, अतः उसी क्रमसे कहा । मन इन्द्रियोंका राजा है । नेत्र दीवान है । दीवान जिसका आदर करे राजा उसके वश हो जाय—'दृग देवान जेहि आदरै मन तेहि हाथ बिकाय ।'

प० प० प्र०—श्रीराम-लक्ष्मणजीके अनुपम रूपसिंधुकी अद्भुत महिमा पहले विदेह जनकराज-सरीखे ब्रह्मलीन परम विरागी विज्ञानी, वृद्ध ब्राह्मण-क्षत्रियादिको भी मोहित करनेमें कैसी समर्थ हुई यह सुचारु रूपसे बताया गया है । अब समाजके दूसरे छोरकी दशा बताते हैं । एक तो बालक हैं । बालक ज्ञानी, विज्ञानी, विरागी नहीं हैं । इससे यह भी सिद्ध हुआ कि अज्ञानी अपढ़ बालक और विज्ञानी परम विरागी ब्रह्मलीन विदेहकी एक-सी ही दशा हुई । पर उन परम विरागी वृद्धोंसे भी ये बालक अधिक बड़भागी हैं, क्योंकि वे तो बिना कुछ सोच-विचार किये ही कठपुतलियोंके समान 'लगे संग' और आगे चलकर सम्भाषण, संस्पर्श, वार्तालापका सुख भी वे बालक ही लूटेंगे । यह सुख जनकपुरीमें और किसीको भी नहीं मिला । ☞ 'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥' यह वचन यहाँ चरितार्थ किया है । सुतीक्ष्णजीको भी यह सौभाग्य नहीं मिला । इस मिलानसे सूचित हुआ कि सबसे छोटा होना ही परम सुखद और परम हितकारक है ।

श्रीराजारामशरणजी—१ परदेका बदलना समझ लीजिये । २—फिल्म कलाकी सहायक प्रगतियाँ विचारणीय हैं । ३—नाटकीयकला । यवनदेश यूनान (Greece) के नाटकीय कलाकारोंने यह नियम निकाला था कि नाटकमें तीन प्रकारकी साम्यताओं (Uuities) के विचार रहने चाहिये—देश, काल और कार्यक्रम । जिसका मतलब यह था कि एक अंश और दूसरे अंशमें इन बातोंका इतना अन्तर न होना चाहिये कि हमारी कल्पनाशक्तिको बहुत धक्का लगे । किन्तु शेक्सपियर इत्यादिने केवल कार्य-क्रमकी साम्यताको ही माना है और इस प्रकार नाटकीय कलाकी संकुचितताको कम कर दिया है । कालिदासने भी कार्य-क्रमकी ही साम्यता मानी है ।

मगर कलाकार हमेशा मुशकिलपसंद होते हैं । टैगोरजी कहते हैं कि Joy expresses itself in law आनन्द अपना प्रकटीकरण नियममें ही करता है । शेक्सपियरने टेम्पेस्ट Tempest नामक नाटकमें तीनों साम्यताओंके निर्वाहका यत्न किया । मगर प्रेम-परीक्षाके लिये लट्ठे ढोलानेका-सा कृत्रिम और भोंडा काम राजपुत्र फर्डिनैन्डसे करवाना पड़ा । हमारे कविने यहाँके नाटकमें तीनों साम्यताओंको निबाहा है और प्रेम-परीक्षाके लिये धनुष-यज्ञकी जोड़का नाटकीय कलामें मिलना कठिन है । अन्तमें प्रेमकी वह दृढ़ अवस्था पहुँचा दी है कि—'जा पर जाकर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥' दो दिनमें यह कर देना कविका कमाल है ।

कुछ बातें इन दोनों नाटकोंमें और मिलती हैं ।—१ दोनों सुखान्तक हैं । २—दोनोंमें प्रारम्भ और अन्तमें दृश्य प्रधान । ३—दोनोंमें वानप्रस्थी युवक जीवनको (रामायणमें श्रीराम-लक्ष्मणको और टेम्पेस्टमें मिरैंडा लड़कीको) संयमित बनाया है । इस प्रकार संसारमें संयमित जीवनका विकास होता है । ४—दोनोंमें आसुरी जीवनको ताड़ित किया है; कारण कि वह संयमित नहीं बना—'मूरख हृदय न चेत' ।

परंतु कलाकी दृष्टिसे श्रीतुलसीदासजीके इस नाटकके सामने टेम्पेस्ट बच्चोंका खेल-सा जान पड़ता है; यद्यपि वहाँ

भी अमानुषिक व्यक्तियोंका प्रयोग है। टेम्पेस्टमें स्पष्ट एक जादूगरी है तो यहाँ विश्वका आधिदैविक रहस्य नाटकरूपमें है। ☞ (५) हमने जहाँ 'परदे' लिखा है वहाँ बहुधा 'सीन' समझना चाहिये। तुलसीदासका रंगमञ्च वर्तमान स्टेज नहीं है वरंच शेक्सपियरके समयके रंगमञ्चकी भाँति कुछ खुला और कुछ ढका हुआ अभिनय स्थान है जहाँ परदोंकी जगह छोटे सीन बना दिये जाते हैं। आज भी हम फुलवारी और धनुष-यज्ञ इसी प्रकार खेले जाते देखते हैं। इतना ही नहीं, बरात इत्यादिमें तो नगरका बाजार ही रंगमञ्च बन जाता है और जनक-बाजारमें बहुधा हर पेशेके प्रतिनिधि हिस्सा लेते हैं। इस प्रकार नाटकी और काव्यकलाका फैलाव साधारण जनतामें होता है।

पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥ ३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥ ४॥

शब्दार्थ—परिकर=कटिबन्धन; पटुका; फेंट। 'परिकरः कटिबन्धनम्' अनुहरत=अनुकूल, अनुसार, अनुरूप, उपयुक्त। सुचंदन=सु (सुन्दर, अच्छा)=चन्दन=केसर कस्तूरी कपूर आदिसे युक्त चन्दन (का अंगराग)। खोरी (खौर)—मस्तक आदिपर चन्दनका लेप करके उसपर उँगली या कंघीसे खरोचकर चिह्न बनाये जाते हैं। उसे खौर या खरौंटा कहते हैं। किसी-किसी टीकाकारने 'तिलक' अर्थ किया है, पर यहाँ यह अर्थ नहीं है। *

अर्थ—पीत वस्त्र (पीताम्बर) पहने हैं, कमरमें पटुका और (उससे बँधा हुआ) तरकश है और हाथोंमें सुन्दर धनुष-बाण शोभित हैं॥ ३॥ शरीरके (श्याम और गौर वर्णके) अनुकूल उपयोगी सुन्दर चन्दनकी खौर लगी है। साँवले और गौर रंगकी सुन्दर जोड़ी है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'पीत बसन' इति। पीत वस्त्र वीरोंका बाना है, दूसरे, भगवान्‌को पीत वस्त्र प्रिय है। इसीसे सर्वत्र पीत-वस्त्र धारण करना लिखा है, यथा 'कटि पट पीत कसे बर भाथा। २०९। २।' 'केहरि कटि पट-पीत-धर'''। २३३।', 'कटि तूनीर पीत-पट बाँधे। २४४। १।', 'तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा। ३१६। १।', 'पीत पुनीत मनोहर धोती।'''पिअर उपरना काँखा सोती। ३२७। ३, ७।', 'नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥ ७। १२।' तथा यहाँ 'पीत बसन परिकर''''', इत्यादि। (ख) 'पीत बसन' अर्थात् पीताम्बर कंधेमें (काँखा सोती पड़ा हुआ) है; परिकर अर्थात् कटिबंधन कटिमें है और तरकश कटिमें पीले पटुकासे कसा हुआ है। यदि यह अर्थ करें कि पीत-वस्त्र कटिमें है तो ऊपरका शरीर नंगा रह जाता है। ऊपर देहमें न अङ्गरखा है, न दुपट्टा, यह ठीक नहीं जान पड़ता। [हमारी समझमें पीताम्बर पहने हैं। कवि इतना बतला रहे हैं कि उनके वस्त्र पीत हैं, अङ्गरखा है या क्या है, या केवल पीताम्बरी ओढ़े हैं यह पाठक रुचि अनुकूल समझ लें। कटिमें भी पीतवस्त्रका ही फेंटा है। पं० रामचरणमिश्रजी कहते हैं कि 'पीतवस्त्रका कमर-फेंटा वीर बाना है। श्रीमद्भागवत रासपंचाध्यायीमें कहा है—'पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः। भा० १०। ३२। २।' अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर कामको जीता है। नगर-दर्शनमें वीरताका काम है। सबके हृदयकमलमें घुसकर मनको जीतना है। अतः वीररससे प्रसंग उठाया। वीररसका वर्णन कटिसे, शृङ्गारका शिरसे, शान्त और करुणाका पगसे कहा जाता है।"] (ग) 'चारु चाप सर सोहत हाथा।' इति। धनुष और बाण दोनों 'चारु' अर्थात् स्वतः सुन्दर हैं, सो वे भी हाथमें सोह रहे हैं—इस कथनका तात्पर्य यह है कि हाथ अत्यन्त सुन्दर हैं, सुन्दरको भी सुन्दर करते हैं। (बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'चारु' से सुन्दर और पवित्र पुण्यरूप जनाया। धनुष-बाण पापियोंको निर्वाणदायक हैं, अतः 'चारु' हैं, औरोंके धनुष पापरूप हैं)।

२ 'तनु अनुहरत सुचंदन खोरी।''' ' इति। (क) तन श्याम और गौर हैं, एक तरहके नहीं हैं। (श्रीरामजी श्याम हैं और लक्ष्मणजी गौरवर्ण हैं)। तनके अनुहरत चन्दन कहते हैं। इससे सूचित किया कि चन्दन भी दो तरहका है। तनके 'अनुहरत' चन्दन है, तन सुन्दर है अतः चन्दनको भी सुन्दर कहा—'सुचंदन'। 'सुचंदन' कहकर मलयागिरिचन्दन सूचित किया जिसकी प्रशंसा भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे की है; यथा 'संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार

* पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि "यहाँ खौर तिलक अर्थ असंगत है, क्योंकि तिलक लगाना सर्वत्र कहा है; खौरका लेख कहीं नहीं आया और फिर तिलकका वर्णन आगे भी है, 'तिलक रेख सोभा जनु चाकी'। यहाँ खौर तिलकका वर्णन नहीं है किन्तु अङ्गरागका वर्णन है। (क्योंकि यहाँ 'तनु' कहा) है।

चंदन आचरनी ॥ काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥ ताते सुर-सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड। ७। ३७।' (ख) माथेका तिलक आगे कवि स्वयं कहते हैं—'तिलक रेख सोभा जनु चाकी।' यहाँ अभी शरीरपर जो चन्दन लगा है उसका वर्णन है। कटि कहकर कटिके ऊपर कण्ठतक चन्दनका खौर कहा।

नोट—१ (क) 'सुचंदन खोरी' इति। 'चन्दन-खौर' में मतभेद है। कोई तो श्याम तनमें केसर कपूरमय पीले रंगके चन्दनका खौर और गौरवर्ण लक्ष्मणजीके तनपर अगर-मृगमदमय श्यामरङ्गका खौर लिखते हैं। (वै०, वि० त्रि०), कोई श्यामपर पीली और गौरपर लाल खौर होना लिखते हैं। (पं०) और कोई श्यामतनपर लाल और गौरपर श्वेत चन्दन केसरिया पीत रङ्गका खौर अङ्गराग लिखते हैं। (रा० च० मिश्र), इत्यादि। चन्दन और खौरके नाम और रंग न देकर कविने सभीके मतोंका पोषण किया है। अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल सब समझ लें। पाँड़ेजीका मत है कि "यहाँ किसी तिलकका नियम नहीं किया, इसलिये कि किसी-न-किसी मतके विरुद्ध पाया जायगा; परन्तु जब यह कहा कि श्यामगौर मनोहर जोड़ीके अनुहरत चन्दन है तो इससे लाल चन्दन पाया गया, क्योंकि वह श्याम और गौर दोनों अङ्गोंमें सुशोभित होता है और वाल्मीकिजीने लाल चन्दन स्पष्ट लिखा है।' अगर मिलानेसे चन्दनका रङ्ग श्याम हो जाता है।

२ 'मनोहर जोरी' इति। जोड़ी मनोहर है, यथा 'राम लषन दसरथके ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा ॥ २६९। ७।' (यहाँ शोभाका भी वर्णन वैसा ही है जैसा कि बालक ग्रहण कर सकते हैं। बालकोंसे घिरे हैं, इससे चरण नहीं देख पड़ते। अतः चरणका वर्णन नहीं किया। वि० त्रि०)।

केहरि कंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला ॥ ५ ॥

सुभग शोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक तापत्रय मोचन ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कंधर=कंधा, गरदन, गला। (श० सा०)। 'कं (मस्तकं) धरतीति कंधरः'। नाग=गज; सर्प; पर्वत। नागमणि=गजमुक्ता, सर्पमणि, हीरा-पन्ना-माणिक्यादि।

अर्थ—सिंहके-से कंधे और गर्दनके पृष्ठभाग हैं, भुजाएँ (आजानु, घुटनेतक) लंबी हैं। विशाल उर (वक्षःस्थल) पर अत्यन्त सुन्दर नागमणियोंकी माला है ॥ ५ ॥ सुन्दर लाल कमलके समान नेत्र हैं। मुखचन्द्र तीनों तापोंका छुड़ानेवाला है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'केहरि कंधर' अर्थात् ग्रीवा सिंहके समान पुष्ट, मांसल, मोटी और उन्नत है। 'बाहु बिसाला'—भुजाओंकी लम्बाई अन्यत्र लिखी है। यथा 'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा।' अर्थात् हाथीकी शुण्डके समान लम्बी, बलिष्ठ और पुष्ट भुजाएँ हैं, 'आजानु भुज सर चापधर संग्रामजित खरदूषनं। वि० ४५।' यहाँ सिंहकी-सी मोटी ग्रीव कही और फुलवारीमें सिंहकी-सी पतली क्षीण कटि कही है। ('कंधर'—१४७। ७ मा० पी० भाग २ देखिये)। (ख) 'उर अति रुचिर नाग-मनि-माला' इति। भाव कि वक्षःस्थल इतना सुन्दर है कि उससे समस्त भूषण रुचिर हो गये हैं। यथा 'उर आयत उरभूषन राजे।' नाग हाथी, सर्प और पर्वत तीनोंका वाचक है; यथा 'सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग। ४। ४। १०।' 'सर छाँड़इ होइ लागहिं नागा। ६। ७२।', 'नाग पास देवन्ह भय पायो। ६। ७२।' 'नगे भवः नागः।' नग (पर्वत) में जो उत्पन्न हो वह नाग (इस तरह 'नाग' से मणि, माणिक्य आदिका अर्थ भी लिया जा सकता है)। इस तरह 'नागमनि' शब्द देकर गजमुक्ताओं, सर्पमणियों और हीरा-पन्ना मणियों आदिकी माला पहने होना जनाया। ये सब पहने जाते हैं; यथा 'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥ १। ११। १।' पुनः (ग) 'सिंह और हाथीका सम्बन्ध है। इसीसे सिंहकी उपमा देकर नाग अर्थात् हाथीके मणिकी माला कही। 'केहरि कंधर' के सम्बन्धसे गजमुक्ताकी माला' कही। भुजा और सर्पका सम्बन्ध है, भुजाके लिये सर्पकी उपमा दी जाती है; यथा 'भुजग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई। विनय० ६२।', 'अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहिं भूष अहि लोभ अमी के ॥ ३२५। ९।' अतः 'बाहु बिसाला' के सम्बन्धसे नाग अर्थात् सर्पके मणियोंकी माला कही। उरको शैलकी उपमा दी जाती है, यथा 'सुंदर स्याम सरीर सैल ते धसि जनु जुग जमुना अवगाहैं। गीतावली ७। १३।' उरका शैलसे सम्बन्ध है, अतः 'उर अति रुचिर' के सम्बन्धसे 'नाग' अर्थात् पर्वतके मणिकी माला कही।

नोट—१ 'केहरि कंधर···' इति। यहाँ वाचक पद (सम, जिमि, आदि) नहीं हैं। इस तरह कहकर सिंहहीका रूप जनाया। सिंहके आगेवाले हाथ विशाल होते हैं, वैसे ही यहाँ भी विशाल हाथ कहे। केहरि कंधरमें वाचकधर्मलुप्तोपमा है। (प्र० सं०)। 'बिसाला' देहली-दीपक-न्यायसे 'उर' का भी विशेषण है। यथा 'उर बिसाल बृष कंध···' (जा० मं० ३३)। वीरोंके कंधे ऊँचे होते हैं, इसीसे उनकी उपमा वृषभ या सिंहके कंधेसे देते हैं। पूर्व इनको पुरुषसिंह कहा है इसीसे यहाँ सिंहके-से कंधे कहे।

प० प० प्र०—श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनि-भय-हरणार्थ जब महर्षि विश्वामित्रके साथ सहर्ष श्रीअवधसे निकले तभी वे 'पुरुषसिंह' हो गये और वहाँसे 'सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे। २३४। ३।' तक बराबर केहरि, सिंह आदि बने रहते हैं। 'पूछन जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजियारे॥ २९२। १।' तक इन पुरुषसिंहोंका दर्शन बार-बार होता है। यहाँसे फिर आगे अयोध्याकाण्डकी समाप्तितक वे पुरुषसिंह नहीं हैं। अरण्यमें तो सिंह रहते ही हैं। जहाँ खरदूषणादि दुर्धर गजराज निवास करते हैं वहाँ श्रीराम-लक्ष्मण-केसरी नहीं अपितु मृगराज बने और लङ्काकी समाप्तितक पुरुषसिंह, नर केहरि और मृगराज हैं। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि बालरूपके ध्यानमें 'केहरि' का नाम भी नहीं है।

नोट—२ 'सुभग सोन सरसीरुह लोचन···' इति। (क) ऊपर कह चुके हैं कि यहाँ वीररसका शृङ्गार वर्णन कर रहे हैं। वीररसके नेत्र लाल होते ही हैं। अतः नेत्र सुन्दर लाल कमलके समान हैं। कमलसे कमलदलके समान लम्बे दीर्घ और लाल डोरे पड़े हुए जनाया। (ख) सुन्दर कमल समान नेत्र हैं। कमलमें मकरन्द और पराग होता है, भ्रमर उसपर मड़राते हैं। यहाँ नेत्र-कमलमें शील मकरन्द है, कृपायुक्त चितवन पराग है, पुतलियाँ भ्रमर हैं। (रा० प्र०)। (ग) 'सुभग' से जनाया कि बड़े लम्बे रसीले पैने कटाक्षसहित नेत्र हैं, बड़ी-बड़ी बरुणी हैं। कटाक्षसहित देखते ही पैने कटाक्ष उरमें बरछेके समान गड़ जाते हैं। (वै०)।

टिप्पणी—२ 'ताप-त्रय मोचन' इति। (क) यह 'सरसीरुह लोचन' और 'बदन मयंक' दोनोंका विशेषण है। दोनों ही तीनों तापोंको हरते हैं। यथा—'स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन॥ ६। ६२।' (कुम्भकर्णवाक्य)। तथा यहाँ 'सरसीरुह लोचन। बदन मयंक ताप-त्रय मोचन।' है। चन्द्रमा शरदातपमात्रको हरता है और ये दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापोंको हरते हैं। दैहिक-तापके हरणका उदाहरण, यथा 'निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर। ३। ३०।' [(ख) यहाँ जनकपुरमें आपके आगमनसे तीनों ताप दूर भी होंगे।—प्रतिज्ञारूपी दैहिक ताप (क्योंकि प्रतिज्ञा शरीरसे होती है), खल नृपोंद्वारा उत्पन्न भौतिक ताप (क्योंकि ये धनुष टूटनेके पश्चात् लड़नेको कटिबद्ध होने लगे थे। भौतिक-ताप क्षुद्र जीवोंद्वारा होता है, वैसे ही ये दुष्ट राजा अति नीच हैं)। और परशुरामका गर्वसहित आगमन और रोष दैविक ताप (जो अकस्मात् एका-एक उत्पन्न हो गया)। (पाँ०)। ये तीनों ताप मिट गये। (ग) अथवा, भक्त चार प्रकारके हैं। उनमेंसे जो ज्ञानी भक्त हैं उनको तो कोई भय नहीं है। रहे तीन—आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु। इन तीनोंके तापोंको दूर करेंगे। यथा 'सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी।', 'जनक लहेउ सुख सोच बिहाई।', 'सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती॥' इत्यादि। (प्र० सं०)। अथवा, (घ) त्रय ताप अर्थात् अज्ञानी, जिज्ञासु और ज्ञानियों तीनोंके ताप हरते हैं। अज्ञानियोंको जिज्ञासा, जिज्ञासुओंको ज्ञान और ज्ञानियोंको जीवन्मुक्तिकी दृढ़ता कराते हैं।' (प०)। अथवा, इस समय शरद्ऋतु है। आज आश्विन शुक्ल चतुर्दशी युक्त पूर्णिमाका दिन है। धनुर्भङ्गकी चिन्तारूपी शरदातपसे विदेह जनकादि बड़े ज्ञानी विरागी तथा समस्त मिथिलावासी संतप्त हैं। ऐसे अवसरपर जनकपुरमें वदनमयंक उदित हुआ है। चन्द्रमा तो रातमें उदय होता है पर यह मृगाङ्क दिनमें ही उदित हुआ है और दिनके चौथे प्रहरमें जनकपुरीकी वीथियोंमें होकर चल रहा है। यह चारु शशि है (१। १६। ५)। राकाशशि है यह वन्दनामें ही कह रक्खा है। अतः यहाँ मयंक (=मृगाङ्क) शब्दसे कोई दुस्तर्क न करें। जनकपुरीके नर-नारी तथा जनक तीनोंका ताप मिटानेवाले हैं, यह 'ताप त्रय मोचनसे जनाया है।' (प० प० प्र०)]

कानन्हि कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं॥ ७॥

चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥ ८॥

शब्दार्थ—कनकफूल=झुमका वा कर्णफूल जो कमलके फूलकी कर्णिकाके समान होता है। कुण्डल कई प्रकारके होते

हैं—मीनाकृत, मकराकृत, मयूराकृत, पुष्पाकृत, भ्रमराकृत इत्यादि। यहाँ 'कनकफूल' से पुष्पाकृत कुण्डल सूचित किये। यह कनककली और लौंगके समान होता है *। बाँकी=टेढ़ी, तिरछी। चाँकी=चक्राङ्कित की, मुहर लगा दी। जब मालगुजारी खेतकी पैदावारके ही रूपमें दी जाती थी, तब राजाका अंश अन्नके ढेरोंमें 'चक्राङ्कित' कर दिया जाता था। (गौड़जी)। (२) खलियानमें अनाजकी राशिपर मिट्टी वा राखसे छापा लगाना, जिसमें, यदि अनाज निकाला जाय तो मालूम हो जाय। यथा 'तुलसी तिलोक की समृद्धि सौज संपदा सकेलि चाकि राखी रासि जाँगरु जहान भो।' (क० ५। ३२)। (श० सा०)।=छापा जो बिना बँटे हुए अनाजपर लगाया जाता है। (मा० त० वि०)। और अर्थ टिप्पणी आदिमें नीचे दिये गये हैं।

अर्थ—कानोंमें 'कनकफूल' (पुष्पाकृत कुण्डल) शोभा दे रहे हैं (भाव कि इनके कानोंमें पड़ जानेसे कनकफूलोंकी शोभा है)। देखते ही (देखनेवालेके) चित्तको मानो चुराये ही लेते हैं॥ ७॥ उनकी चितवन (अवलोकन, दृष्टि, नेत्रोंका कटाक्ष) मोहिनी है और भौंहें श्रेष्ठ, सुन्दर और टेढ़ी-तिरछी हैं। तिलककी रेखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं कि मानो 'शोभा' पर छाप या मुहर लगा दी गयी है॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'काननि्ह कनकफूल···' इति। (क) कानोंमें कनकफूल अत्यन्त शोभा दे रहे हैं। यह स्पष्ट अर्थ तो है ही, पर 'चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं' के सम्बन्धसे एक अर्थ इस प्रकार होता है—कानन=वन। कनक=धतूरा। यहाँ कान वन है (पाँड़ेजीके मतानुसार शरीर वन है), कनकफूल (जो कानमें पहने हैं) धतूरेका अमल है। धतूरेमें नशा है, यहाँ छबि नशा है। 'छबि देहीं'=छबि देते हैं। छबिको देकर चित्तको चुरा लेते हैं। [तात्पर्य कि जैसे वनमें धतूरेका अमल बटोहीको देकर ठग उसका सब धन चुरा लेते हैं, वैसे ही यहाँ कानरूपी वनमें कनफूलरूपी ठग छबिरूपी धतूरेका अमल देकर दर्शकरूपी बटोहीके चित्तरूप सब वित्तको चुरा लेते हैं। धतूरा बेहोश कर देता है, दर्शक तन-मन-वचनसे शिथिल हो जाते हैं। यथा—'एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥ २। ११४। ८।'—पाँड़ेजीके आधारपर यह भाव सम्भवतः सबने कुछ हेर-फेरसे लिखा है। रा० प्र० कार लिखते हैं कि कानोंमें जो धतूरेके समान (कनक) फूल हैं वे अपनी छबिसे देखनेवालेको उन्मत्त बना देते हैं जैसे विष देकर लोग बेहोश कर दिये जाते हैं। ये 'काननि्ह' का अर्थ 'वनमें' नहीं करते हैं। प्र० स्वामी कहते हैं कि 'काननि्ह' कान-शब्दकी सप्तमी विभक्तिका बहुवचन है, अतएव कानन शब्द लेकर वन आदि अर्थ करना खींचातानी है। कनकफूल=धतूरेके फूलके आकारका कुण्डल](ख) 'चोरि जनु लेहीं' अर्थात् चित्त कनकफूल (के देखने) में लग जाता है (उधरसे हटता नहीं)। यथा 'तुलसी तिन्ह फिर मन फेरि न पायो।', 'हेरत हृदय हरत नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने। तुलसी-प्रभु किधौं प्रभुको प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने॥ गीतावली २। २३।' (ग) चित्त कोई चुरानेकी वस्तु नहीं है। यह कविकी कल्पना मात्र 'अनुक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है। (वीर)

२ 'चितवनि चारु' इति। (क) नेत्र कह आये—'सुभग सोन सरसीरुह लोचन।', अब उनका व्यापार कहते हैं। चितवन नेत्रका व्यापार है। (ख) चितवन चारु है, यथा 'चितवनि चारु मार मनु हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥ २४३। ३।' पुनः, (ग) चारु=सुन्दर। ['अर्थात् चितवन सौम्य, तिरछी कटाक्षादि रहित है। यह स्थैर्यगुणकी मुद्रा है। भाव कि चित्त सदा स्थिर रहता है।' (वै०) पुनः, (घ) चितवनि अर्थात् कटाक्ष जो शृङ्गारका मूल है। यथा 'भावः कटाक्षानि हेतुः शृङ्गारे बीजमादिमम्। प्रेममानः प्रणयश्च स्नेहो रागोऽपि स स्मृतः॥ अनुरागः स एव स्यादङ्कुरः पल्लवस्तथा। कलिकाकुसुमानीति फलो भोगः स एव च। इति कोशलखण्डे।' कटाक्ष तीन प्रकारका है। यथा—'कटाक्षस्त्रिविधः श्यामः श्वेतश्यामस्तथाशितः।' (मा० त० वि०)]। नेत्र और चितवन दोनोंको कहकर जनाया कि केवल नेत्र ही नहीं सुन्दर हैं, चितवन भी सुन्दर है।

नोट—'भृकुटि बर बाँकी' इति। (क) भौंहकी टेढ़ाई उदासीनताकी मुद्रा है। उसमें 'बर' विशेषण लगाकर उत्तम उदासीनता जनायी। अर्थात् अपने लिये कुछ नहीं चाहते हैं पर याचक मात्रके लिये उदार दाता हैं।—यह ऐश्वर्य-देशीय

* 'कनकफूल' के और अर्थ—(१) पीतवर्णके फूल (कानमें खोंसे हैं)। (रा० प्र०)। वा, (२) कनक=धतूराके समान फूल (कानोंमें हैं)। (रा० प्र०)।

अर्थ हुआ । (वै०) । पुनः, (ख) 'वर' विशेषण देकर जनाया कि भृकुटि अपनी उपमासे श्रेष्ठ है । यथा—'भृकुटि मनोज चाप छबि हारी ।' (पं० रामकुमार) । भृकुटिका टेढ़ी होना ही उसकी शोभा है ।

※ 'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी' इति । ※

श्रीमान् गौड़जी और श० सा० के अर्थ शब्दार्थमें दिये गये । टीकाकारोंके अर्थ यहाँ दिये जाते हैं—

(१) पंजाबीजी—'तिलककी रेखा तो मानो शोभाको चाँकी अर्थात् छापा लगाया है । भाव यह है कि समस्त शोभाको माथेहीमें रोक रक्खी है ।'

(२) पाँड़ेजी—(क) मानो शोभाकी राशिको घेर लिया है । जिसमें डीठि (नजर, कुदृष्टि) और टोना न लगे । पुनः (ख) चाँकी—चकवक (चकित) हो गयी । आशय यह कि तिलक रेखा ऐसी है कि मानो शोभा स्वयं आके चकबक होकर खड़ी हो रही है ।

(३) वैजनाथजी—'माधुर्यमें अर्थ यह है कि सुन्दर चितवन तथा बाँकीकामधनुष-सी श्रेष्ठ भृकुटी हैं । इनके बीचमें काम-बाण-सी तिलककी रेखाएँ ऐसी शोभित हैं मानो द्युति, लावण्य, स्वरूपता, सुन्दरता, रमणीयता, कान्ति, माधुरी, मृदुता और सुकुमारता आदि अङ्गोंसहित शोभाकी राशि चाकी है अर्थात् छापा धरा है । भाव कि किसी अङ्गसे खण्डित नहीं है ।'

(४) बाबा हरिहरप्रसादजी—चाँकी अर्थात् कसौटीपर कसी हुई कनककी रेखा । (रा० प०) कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि तिलककी रेखने शोभाको चकित कर दिया अथवा दबा दिया है ।

(५) सन्त श्रीगुरुसहायलालजी—(क) यहाँ 'चाँक' मागधी बोली है । इसका अर्थ है 'सावधान करना या होना' । बोल-चालमें कहा जाता है कि 'मुझे तो उसीके बात करनेपर चाँक पड़ गया अर्थात् सावधानता आ गयी । 'तिलक रेख... चाँकी' अर्थात् तिलककी ऊर्ध्व रेखाओंने मानो सर्वाङ्गकी शोभाको 'सचग' (सजग) कर दिया है । भाव यह कि यह विदेह-नगर है, इसमें भावात्मक होकर देख पड़ना । अथवा, श्रेष्ठ बाँकी भृकुटी त्रिशूलाकार तिलक रेखद्वारा शोभाको मानो सावधान कर रही है । भाव यह कि यहाँ श्रीलाड़लीजीकी शोभाका मण्डल है, ऐसा न हो कि छक करके तुम फीके पड़ जाओ जिससे मुझे क्रोध आवे । अतः आगे अद्भुत शोभासे सखिगणकी दृष्टिमें चकाचौंध आ गया, यथा 'कहहिं परस्पर बचन सप्रीती । सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती ॥ सुर नर असुर नाग मुनि माहीं । सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं ॥'...। २२० ।' (ख) चाँकी = छापा जो बिना बँटे हुए गल्लेपर दिया जाता है । भाव कि यह तिलक नहीं है किन्तु मानो शोभारूपी ढेर (राशि) के लिये छापा दिया हुआ है ।

(६) पं० रामकुमारजी—(क) तिलककी रेखाओंने मानो शोभाको रोक दिया है । अर्थात् दो रेखाओंका तिलक है । दोनोंके बीचमें शोभा रुक गयी । अथवा (ख) तिलक रेखकी शोभा कैसी है मानो बिजली है । यथा—'कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई । अलप तड़ित जुग रेख इंदु महुँ रहि तजि चंचलताई ॥ विनय० ६२ ।' अथवा (ग) तिलक-रेख क्या है मानो शोभा है जो मुखकी शोभाको देखकर चकित हो गयी है ।—(वीरकवि और त्रिपाठीजीने भी 'चाकी' का अर्थ 'बिजली' किया है) ।

(७) श्रीनंगे परमहंसजी—मानो शोभाको घेरेमें कर लिया है ।

(८) एक महात्माने 'शोभा' का अर्थ 'श्री' करते हुए लिखा है कि 'तिलककी दो रेखाएँ पीत रंगकी हैं, बीचकी श्री लाल रंगकी है । 'श्री' का अर्थ शोभा भी होता है, शोभाका भी रंग लाल है । अतः बीचकी 'श्री' शोभा हुई, वह बगलकी दोनों रेखाओंसे घिरी है । यही चाकना है ।'

तिलकमें दो ऊर्ध्व-रेखाओंके बीचमें 'श्री' भी होती है यह प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंसे स्पष्ट है । 'श्री' के 'श्रीलक्ष्मीजी', 'श्रीजानकीजी', 'शोभा' और 'श्री' तिलक आदि अर्थ भी हैं; किन्तु 'श्री' (तिलक) और 'शोभा' पर्याय-शब्द नहीं हैं । यदि शोभाका अर्थ 'श्री' (तिलक) होता तो यह भाव विशेष सुन्दर होता । दूसरे, यदि कदाचित् 'शोभा' का अर्थ 'श्री'-तिलक हो भी, तो इस अर्थको लेनेसे 'जनु' शब्द व्यर्थ हो जाता है ।

(९) प्र० सं० में कुछ और भी अर्थ दिये गये थे—(क) मानो शोभा वहाँ वर्तमान वा स्थिर है । (ख) मानो शोभा चारों ओरसे गोठ, मढ़ या दाब दी गयी है, परिपूर्ण है ।

☞ मैं गौड़जी और श० सा० के अर्थको समीचीन समझता हूँ । वही अर्थ प्रथम संस्करणमें भी दिया गया था ।

अन्नकी जो राशि जमींदारका अंश होती थी, उसका प्रतिनिधि उसपर अपने हाथका चिह्न कर देता था। हाथकी छापको, चक्रकी छापको अथवा और किसी मुद्राकी छापको लगाकर किसी वस्तुको किसीके लिये अछूता या अंगौंगा करनेकी क्रियाका नाम 'चाँकना' है। तिलककी रेख क्या है, मानो शोभाकी मुहर है, पेटेन्ट है। अब दूसरेकी ऐसी शोभा हो ही नहीं सकती। नकल नाजायज होगी।—यह भाव है। (प्र० सं०)। सत्यके प्रमाणमें मुहर लगायी जाती है। भाव कि तिलकने मुहर दे दी कि यही सच्ची शोभा है (वि० त्रि०)।

दो०—रुचिर चौतनीं सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस ॥ २१९ ॥

शब्दार्थ—चौतनी = बच्चोंकी टोपी जिसमें चार बंद लगे रहते हैं। (श० सा०)। = चौगसी = चार तनों वा बन्दोंवाली क़ामदार टोपी या मुकुट जिसमें बंदोंका जोड़ा कुण्डलके पीछे हर-एक कानके पास बँधता था। = चौगोशिया। = चारों ओरसे तनी हुई। चार कोनोंकी। (पाँ०)। पंजाबीजी 'रंगीन चीरा' अर्थ करते हैं। मेचक = काले। कुंचित=घुँघराले= टेढ़े बल खाये हुए छल्लेदार। नखसिख=नखसे शिखा (चोटी) तकके सब अंग; सिरसे पैरतक; ऊपरसे नीचेतक। सुदेश= जहाँ जैसी चाहिये वैसी सुन्दर। =सुन्दर देश। 'सुन्दर', यथा—'लटकन चारु भृकुटिया टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए। गीतावली। १। २९।', 'सीय स्वयंबरु जनकपुर सुनि सुनि सकल नरेस। आए साज समाज सजि भूषन बसन सुदेस॥' (श० सा०)। =सुन्दर अङ्ग। (पं० रामकुमार)।

अर्थ—सुन्दर सिरपर सुन्दर चौगोशिया टोपी है। काले घुँघराले बाल हैं। दोनों भाई नख-शिखसे सुन्दर हैं। सम्पूर्ण शोभा जहाँ जिस अङ्गमें जैसी चाहिये वैसी ही है, (समस्त सुन्दर अङ्गोंमें शोभा है)। २१९।

टिप्पणी—१ [(क) 'रुचिर चौतनी' इति। 'रुचिर' से मणियुक्त डंकबीजा जरतारी विचित्र बनी हुई सूचित की। (वै०)। गीतावलीमें भी नगरमें प्रवेशके समय 'चौतनी' ही सिरपर पहने कहा गया है। यथा—'चौतनि सिरनि कनककली काननि कटि पट पीत सुहाए। १। ६०।', 'कल कुंडल चौतनी चारु अति चलत मत्त गज गौहैं। १। ६१।', पुनः, 'रुचिर' से दीप्तिमान्, प्रकाशमान, और 'सुभग' से ऐश्वर्यमान् जनाया। (पाँ०)] (ख) कटिसे शोभाका वर्णन प्रारम्भ किया और मस्तकपर समाप्त किया। अर्थात् कटिसे शिखापर्यन्त ध्यानका वर्णन किया गया, इससे सन्देह हो सकता था कि कटिके नीचेके अङ्ग सुन्दर न होंगे। इस दोष एवं सन्देहके निवृत्त्यर्थ कहते हैं—'नखसिख सुंदर', अर्थात् नखसे शिखातक सर्वाङ्ग सुन्दर है। यह दोहा १४७ तथा दोहा १९९ के वर्णनोंसे भी स्पष्ट है। अन्य अङ्गोंकी सुन्दरताका उल्लेख पाठक वहाँ देख सकते हैं। [स्मरण रहे कि यहाँ वीर-रसका ध्यान वर्णन किया गया है, अतः कटिसे सिरतकका ही वर्णन किया गया, इससे यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि नीचेके अङ्ग सुन्दर न होंगे। साहित्यके अनुसार वर्णन हुआ है। (ग) 'चितवनि' को चारु कहा। चितवन नेत्रका व्यापार है, नेत्रके पास भृकुटी है, भृकुटिके समीप तिलक है, तिलकसे सटी चौतनी, चौतनीसे सटा सिर, और सिरपर एवं सिरके समीप केश हैं—इस तरह क्रमसे शोभाका वर्णन किया गया। (घ) 'मेचक कुंचित केस' से यह भी जनाया कि काले घुँघराले बाल कपोलोंपर लहराते हैं। गीतावलीमें कुँचित केशोंकी शोभाका सुन्दर वर्णन है। यथा 'बिथुरित सिररुह बरूथ कुंचित बिच सुमन जूथ मनिजुत सिसु-फनि-अनीक ससि-समीप आई। ७। १।' (वै०)।]

२ 'नखसिख'''' इति। (क) जब कटिसे शिखातकका वर्णन किया तब सब देश (अङ्ग) वर्णन किये, पर जब नख-शिख वर्णन किया तब कोई देश (अङ्ग) वर्णन नहीं किये। इसीसे नख-शिखके वर्णनमें कहते हैं—सोभा सकल सुदेस' अर्थात् सकल सुदेशों (सुन्दर अङ्गों) में शोभा है। (ख) दोनों भाइयोंकी शोभा वर्णन की, इसीसे आदि और अन्त दोनोंमें 'शोभा' शब्द रक्खा। यथा—'बालकबृंद देखि अति सोभा। २१९। २।' (आदिमें), 'नखसिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस'।

नोट—'सोभा सकल सुदेस' के और भाव—(१) 'सकल सोभा' अर्थात् मूर्तिमान् शोभा औरोंके अङ्गोंमें मानो काल (अकाल, दुर्भिक्षग्रसित) देशोंमें (अर्थात् कुदेशमें) पड़ी हुई थी, वही इन दोनोंके अङ्गोंरूपी (धन-धान्यसे पूर्ण) सुन्दर देशमें आकर मोटी हो गयी। (पाँ०)। (२) सुदेशमें पड़ना इससे कहा कि प्राकृत, अङ्गोंमें एक-न-एक दिन

अकाल पड़ेगा। वहाँ यह शोभा सदा एकरस नहीं बनी रह सकती, (रोग, जरा आदि अनेक शत्रु उसको कब एक-सी रहने दे सकते हैं) और आपकी देह चिदानन्दमय है, इससे यहाँ सदा एकरस बनी रहेगी। अन्यत्र अकालमें पड़ी थी, यहाँ सुकाल पाकर हरी-भरी और सुखी हो गयी। (रा० च० मिश्र)। (३) 'नखशिखमें तो सभी अङ्ग आ गये। सभी अङ्गोंकी शोभाका वर्णन तो इन शब्दोंसे हो गया और कुछ अङ्गोंकी शोभाका वर्णन पहले ही कर चुके हैं, तब तो यहाँ पुनरुक्ति दोष आ जाता है ?'—इस प्रश्नको उठाकर उसका समाधान यह करते हैं कि जैसे कटिसे ऊपरके अङ्ग पृथक्-पृथक् कहे, वैसे ही 'सोभा सकल सुदेस' से कटिके नीचेके भी अङ्गोंको पृथक्-पृथक् जनाया। पुनः नखशिख सर्वाङ्ग सुन्दर है और शोभा अर्थात् शृङ्गार सकल सुदेश अर्थात् सम्पूर्ण अङ्गोंमें प्राप्त है, जहाँ जैसा चाहिये। मिलान कीजिये—'नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं। गी० १।७१।'

लमगोड़ाजी—इस नखशिख वर्णनमें शृङ्गार और वीररस प्रधान है मगर शान्तरस भी मौजूद है।

प० प० प्र०—रूपका वर्णन कटि प्रदेशसे शुरू किया और भाथा, सायक, चाप आदिका आरम्भमें ही उल्लेख करके वीररस प्रधानरूप जनाया और सिरतकके मुख्य-मुख्य अङ्गोंका ही वर्णन करके शृङ्गाररसमें पर्यवसान किया—'मेचक कुंचित केस'। इस तरह जनाया कि देखनेवालोंका मन पहले तो वीररसमें लगता है पर आखिर शृङ्गाररसमें ही सब डुबकी लगाते हैं। वीररसको देखते ही भवचाप भंगकी आशा होगी', पर शृङ्गारकी अतिसुकुमारतापर दृष्टि पड़ते ही आशारस भंग हो जायगा। और ऐसा हुआ ही है यह आगेके प्रसङ्गोंसे स्पष्ट है।

देखन नगर भूपसुत आए। समाचार पुरबासिन्ह पाए॥ १॥
धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥ २॥

शब्दार्थ—निधि—नोट ४ में देखिये।

अर्थ—श्रीदशरथजी महाराजके पुत्र नगर देखने आये हैं, (यह) खबर पुरवासियोंने पायी॥ १॥ सब घर और घरका सब काम-काज छोड़कर (ऐसे) दौड़े मानो दरिद्री कंगाल निधि लूटनेके लिये दौड़े हों॥ २॥

राजारामशरणजी—वर्तमानके स्टेजोंपर तो यह सीन दिखाया ही नहीं जा सकता। हाँ! फिल्म कलाका यह बड़ा ही सुन्दर नमूना है।

टिप्पणी—१ (क) 'समाचार पुरबासिन्ह पाए' इति। श्रीजनकजीके साथ मन्त्री, ब्राह्मण, ज्ञातिवर्ग इत्यादि बहुतसे लोग विश्वामित्रजीसे मिलने गये थे। 'समाचार पाए' कहनेसे पाया जाता है कि उन साथके समस्त लोगोंने आकर अपने-अपने घरमें तथा इष्ट-मित्रोंसे अवश्य कहा होगा कि ऐसे-ऐसे परम सुन्दर दो राजकुमार चक्रवर्ती महाराजके मुनिके साथ आये हैं, देखने ही योग्य हैं। इत्यादि। इस तरह थोड़ी ही देरमें दोनों राजकुमारोंके सौन्दर्यका शुहरा सारे शहरमें मच गया। सभी दर्शनाभिलाषी हो रहे हैं। दर्शनको लालायित हो रहे हैं और उधर विश्वामित्रजी कोटके भीतर महलमें टिके हैं। वहाँ पहरा लगा है कि एकान्तमें रहनेवाले महात्मा आये हैं, वहाँ भीड़ होनेसे मुनिको कष्ट होगा; अतः कोई बिना उनकी आज्ञाके वहाँ न जाने पाये। पुरवासी वहाँ जा न सकते थे। जब वे नगर देखने आये, तब दर्शनकी सुगमता हुई। बालकवृन्द संग लग गये और इतनेहीमें समस्त पुरवासियोंको खबर मिल गयी कि दोनों राजकुमार पैदल ही नगर-अवलोकनार्थ आ रहे हैं। ['आये' शब्द प्रभुकी कृपाकी सूचना दे रहा है कि इनके मनोरथोंको पूरा करनेके लिये स्वयं ही आ रहे हैं।] ☛ देखिये, ये नगर देखने आये और नगर इनको देखनेके लिये दौड़ा।

'धाए धाम काम सब त्यागी' इति।

२० प्र०—घरके सब काम छोड़कर दौड़नेका भाव कि पहले पहुँचनेसे भलीभाँति देख सकेंगे, देर होनेसे भीड़के पीछे पड़ जायँगे। अथवा, कहीं वे चले न जायँ कि हमें दर्शन न हो सके।

पं० रामकुमारजी—'धाम' छोड़कर भागे अर्थात् घरमें किवाड़े न लगाये, ताला न बंद किया। 'काम त्यागी' अर्थात् जो काम उस समय कर रहे थे वह वैसा ही छोड़कर चल दिये। [तात्पर्य कि इनके दर्शनरूपी निधिके आगे धाम और सब काम आदि निधियाँ तुच्छ हैं। जो इनको छोड़ धन-धामादिमें लगते हैं, विधाताको उनके प्रतिकूल समझना चाहिये] यथा 'परिहरि लषन रामु बैदेही। जेहि घरु भाव बाम बिधि तेही॥ २। २८०।', 'जरौ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ॥ २। १८५।' [धामको अरक्षित छोड़ा, काम

भी आधेमें छोड़ा, बिगड़ जाने दो; अतः 'त्यागी' कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—१ इस सम्बन्धमें भा० स्कन्ध १० अ० २९ पढ़ने योग्य ही है। शरद्पूनोकी रात्रिमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बाँसुरी बजाकर मधुर मनोहर गीत गाना प्रारम्भ किया; त्यों ही वे व्रजगोपिकाएँ कामोद्दीपक गानको सुनकर झटपट झपटती हुई चल दीं, मारे उतावलीके कोई किसीको नहीं बुलाती। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि वे इतनी वेगसे चली थीं कि उनके कानोंके हिलते हुए कुण्डल अब भी मुझे दीख-से रहे हैं। जो दूध दुह रही थी वह अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर वैसे ही चल पड़ी। कोई चूल्हेपर चढ़ा हुआ मोहनभोग, कोई उफनता हुआ दूध बिना आगपरसे उतारे ज्यों की-त्यों छोड़कर चल दी। जो पतिको भोजन करा रही थी वह परसना छोड़कर, जो गोदके बच्चोंको दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर, जो अपने शरीरमें अङ्गराग लेप रही थीं, जो चन्दन, उबटन या आँखोंमें अञ्जन लगा रही थीं वे सब अपना-अपना काम छोड़कर अपूर्ण शृङ्गारसे ही जैसे-तैसे उलटे-सीधे आधे-चौथाई भूषणवस्त्र पहिने बड़ी उतावलीसे भगवान् कृष्णके पास पहुँचनेके लिये दौड़ पड़ीं।

ठीक वैसी ही दशा यहाँ **'धाए धाम काम सब त्यागी'** पद देकर श्रीमद्गोस्वामिपादने दर्शित करायी है। भेद केवल इतना अवश्य है कि वहाँ रासविहारमें तो भगवान्‌की वंशीकी मधुर ध्वनि और उसपर भी कामोद्दीपक मधुर मनोहर गानने गोपियोंके मनको हरण किया था जिससे विह्वल होकर वे इस प्रकार उत्सुकतासे बिना किसी सार-सँभारके चल दीं और यही नहीं वरंच अपने पिता, पति, भ्रातादिके रोकनेपर भी न रुकी थीं। और यहाँ तो युगल श्रीराजकुमारोंके नगरदर्शनका समाचारमात्र ही सुनकर सब दौड़ उठे—**'समाचार पुरबासिन्ह पाए॥ धाए धाम काम सब त्यागी।'** इतना ही नहीं किन्तु वहाँ तो गोपिकाओंको लोगोंने रोका भी था और यहाँ तो रोकता ही कौन? सबके सब ही तो दर्शनके लिये बावले हो रहे थे, रोकनेवाले स्वयं ही उस प्रेमडगरियापर पग धर चुके थे, स्वयं ही भागे चले जा रहे थे।

२ ☞ उपदेश—इसी तरह जो वासनाओंको छोड़कर, निष्काम, धन-धामादिकी पर्वा न करके भगवान्‌की ओर 'धावते' हैं उनको 'प्रभु' अवश्य प्राप्त होते हैं—**'जरउ सो संपति सदन सुख'**…।

प० प० प्र०—'काम' शब्द मानसमें ८० बार आया है। इसका अर्थ 'काज', 'कार्य' कहीं नहीं है। अतः यहाँ और **'नगरबासी नर नारि सुनि धामकाम तजि धाइ। २। २२१।'** में 'धामको भूलकर और कामका त्याग करके 'धाए' ऐसा ही अर्थ करना उचित है। उदाहरण यथा—**'राम भजिय सब काम बिहाई। ४। २३। ६।'**, **'जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम। ५। ४६।'**, **'सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी॥ ६। ७। ५।'**, **'भजिअ राम तजि काम सब। ७। १०४।'** इत्यादि। (मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यहाँ 'धाम' के साथ 'काम' का अर्थ कार्य ही उचित है। धाम काममें अनुप्रास है। भागवतके उद्धरणके अनुकूल भी है)।

नोट—३ निधिके लिये उद्योग करना चाहिये, इसीसे धाए। यथा **'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः'**। **'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनमु फलु पाई॥ अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं॥ २। १२१।'**

४—निधियोंके नाम—पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्दक, नील और शङ्ख। यथा—**'यत्र पद्ममहापद्मौ तथा मकरकच्छपौ, मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः।'** (मार्क० पु० अ० ६५। ५)। (१) पद्म नामक निधि सत्त्वगुणका आधार है। इसके प्रभावसे मनुष्य सोने, चाँदी और ताँबे आदि धातुओंका अधिक मात्रामें संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है। धर्म, दान, यज्ञादि भी करता है (२) महापद्म भी सात्त्विक है। जो मनुष्य इसके आश्रित होता है वह पद्मराग आदि मणि, मोती और मूँगा आदिका संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है, योगियोंको दान देता है, और वह और उसके पुत्र-पौत्रादि उसी स्वभावके होते हैं। महापद्मनिधि सात पीढ़ियोंतक उसका त्याग नहीं करती। (३) मकर नामक निधि तमोगुणी होती है। उसकी दृष्टि पड़नेपर सुशील मनुष्य भी प्रायः तमोगुणी बन जाता है। वह बाण, खड्ग, धनुष, ढाल आदिका संग्रह करता, राजाओंसे मित्रता जोड़ता, शौर्यसे जीविका चलानेवाले क्षत्रियों तथा उनके प्रेमियोंको धन देता है। अस्त्र-शस्त्रोंके सिवा और किसी वस्तुके क्रय-विक्रयमें उसका मन नहीं लगता। ऐसा मनुष्य लुटेरोंके हाथसे अथवा संग्राममें मारा जाता है। (४) कच्छप निधिकी दृष्टि पड़नेपर भी मनुष्यमें तमोगुणकी प्रधानता होती है। इसके आश्रित मनुष्य पुण्यात्माओंके साथ व्यवहार करता है। यह सब ओरसे रत्नोंका संग्रह करता और उसकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है। यह धनको

गाड़कर रखता है, न दान करता है, न अपने उपभोगमें ही लाता है। (५) मुकुन्द नामकी निधि रजोगुणमयी है। जिसपर इसकी दृष्टि पड़ती है वह मनुष्य रजोगुणी होता है, वीणा-वेणु मृदङ्ग आदि वाद्योंका संग्रह करता है और नाचने-गानेवालोंहीको धन देता है। (६) नन्दक नामकी निधि रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे संयुक्त है। इसकी दृष्टि पड़नेपर मनुष्य अधिक जड़ताको प्राप्त होता है। यह समस्त धातुओं, रत्नों और पवित्र धान्य आदिका संग्रह तथा क्रय-विक्रय करता है, स्तुति करनेवालेको सब कुछ देता है। उसके बहुत-सी स्त्रियाँ होती हैं जो संतानवती और सुन्दरी होती हैं। वह सदा नवीन मित्रोंसे प्रेम करता है, दूरसे आये हुए बन्धु-बान्धवोंका भरण-पोषण करता है। (७) नील महानिधि सत्त्व और रजोगुणसे संयुक्त होती है। इसके आश्रित मनुष्य वस्त्र, कपास, धान्य, फल, फूल, मोती, मूँगा, शङ्ख, सीपी, काष्ठ तथा जलसे पैदा होनेवाली अन्यान्य वस्तुओंका संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है। यह मनुष्य तालाब, बावली आदि बनवाता, पुल बँधवाता, वृक्ष रोपता, चन्दन और फूल आदि भोगोंका उपभोग करके ख्याति लाभ करता है। यह निधि तीन पीढ़ियोंतक चलती है। आठवीं निधि जो शङ्ख नामकी है वह रजोगुण और तमोगुणसे युक्त होती है तथा अपने स्वामीको भी ऐसे ही गुणोंसे युक्त बना देती है! वह मनुष्य अपने कमाये हुए अन्न और वस्त्रका अकेला ही उपभोग करता है। उसके कुटुम्बी खराब अन्न खानेको और साधारण वस्त्र पहननेको पाते हैं।

पद्मिनी नामकी विद्या इन सब निधियोंकी अधिष्ठात्री वा स्वामिनी है और साक्षात् लक्ष्मीजीका स्वरूप है। ये सब निधियाँ मनुष्योंके अर्थकी अधिष्ठात्री देवी कहलाती हैं, इन सबका आधार पद्मिनी विद्या है। देवताओंकी कृपा तथा साधु-महात्माओंकी सेवासे प्रसन्न होकर जब ये निधियाँ कृपादृष्टि करती हैं तब मनुष्यको सदा धन प्राप्त होता है—(मार्कण्डेय-पुराणमें अष्टनिधियाँ बतायी गयी हैं। कोई-कोई 'महाशङ्ख' नामकी भी एक निधि कहते हैं। निधियाँ क्या हैं, यह किसीने नहीं लिखा। इसीसे हमने खोजकर उनका उल्लेख प्रमाणसहित कुछ विस्तारसे कर दिया है)।

'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी' इति।

पं० रामकुमारजी—१ लागी=निमित्त, लिये। यथा '**तुम्हहि लागि धरिहौं नरदेहा**', '**एक जनम तिन्हके हित लागी**'। 'मानो रंक निधि लूटने लगे' यह अर्थ नहीं है, क्योंकि अभी तो निधि तक पहुँचे ही नहीं हैं, लूटेंगे कैसे? लूटनेके लिये दौड़े। २—श्रीदशरथजी महाराजने मनु-शरीरसे तेईस हजार वर्ष तपस्या की तब यह निधि मिली। विश्वामित्रजी इस निधिको राजासे माँगकर ले आये, यथा—'**स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥**' [अर्थात् इस निधिके विश्वामित्र ऐसे महामुनि याचक बने थे, तब कहीं उनको मिली थी—'**मैं जाचन आएउँ नृप तोही**'। और वह भी कितनी कठिनतासे, वसिष्ठजीकी सिफारिशसे मिली थी। उसी निधिको जनकपुरवासी लूटनेको दौड़े। तात्पर्य कि ऐसी दुर्लभ निधि मिथिलावासियोंको लूटमें मिली। लूटनेका अभिप्राय यही है कि ऐसी निधि अपने ही आप, अपनी खुशीसे आ गयी, बाजारमें बिना मोलके मिल गयी, न तो तप ही करना पड़ा और न उसके लिये याचक ही बनना पड़ा; आपसे आप मिल गयी। [यहाँ माधुर्य-रस शृङ्गार आनन्द ही 'निधि' है, जिसे नेत्ररूपी हाथोंसे लूटकर सब आनन्दित हुए। दर्शनाभिलाषी पुरवासी रंक हैं, श्रीराम-लक्ष्मणजी निधि हैं, सुगमतासे दर्शन पा जाना लूटना है।]

पाँडेजी—यहाँ रंककी उत्प्रेक्षाका भाव यह है कि योगिराज राजा जनककी प्रजावर्ग रघुवंश ऐश्वर्यके दरिद्री थे।' [रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'राजा जनक निराकारके उपासक साकाररूप-धनके कँगले थे, तो उनकी प्रजा क्यों न कँगली हो! अतः अब साकार-धन पाकर लूटने लगे।' यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है]

रा० प्र०—भाव कि जैसे धन लूटनेमें कँगले धक्का आदिसे नहीं डरते वैसे ही ये सब धक्का सहते, धक्का देते दौड़े जा रहे हैं। [श्रीराम-लक्ष्मण दोनों यहाँ 'निधि' हैं, जैसा '**देखन नगर भूपसुत आए**' से सिद्ध है 'भूपसुत' 'आए' बहुवचन हैं। इनमेंसे श्रीरामजी तो श्रीसीताजीकी 'निज निधि' हैं; यथा '**देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥ २३२। ४।**', '**मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥ २४८। ८।**' परन्तु पुरवासी इस बातको अभी जानते नहीं हैं, इसीसे कँगलेकी तरह दौड़े हैं। दूसरे आज प्रथम दर्शन होनेको है, न जाने यहाँ कितने दिन ठहरें, फिर दर्शन हो या न हो, अतः '**धाए धाम**…']

निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई॥ ३॥

जुवतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥ ४॥

शब्दार्थ—झरोखा—दीवार आदिमें बनी हुई झँझरीदार (जालीदार वा छेदवाली) छोटी खिड़की या मोखा जिसे हवा और रोशनी आदि आनेके लिये बनाते हैं। झरोखन्हि=झरोखोंमें, झरोखोंसे।

अर्थ—सहज ही सुन्दर दोनों भाइयोंको देखकर नेत्रोंका फल पाकर सुखी होते हैं॥ ३॥ स्त्रियाँ घरके झरोखोंसे लगी हुई अनुरागपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीके रूपको देख रही हैं॥ ४॥

नोट—१ 'सहज सुंदर' इति। वनवासके समय इन दोनोंकी सहज सुन्दरताका प्रमाण मिलता है; क्योंकि उस समय वस्त्र-भूषण-रहित उदासी वेष है। उस समय इनका सौन्दर्य देख ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी सभी विस्मित हो गये और अनिमिष नेत्रोंसे देखते रह गये। यथा—'रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ १३॥ वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव। आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः। १४॥ वाल्मी० ३। १।' त्रिपाठीजी ठीक ही लिखते हैं कि शृङ्गारसे श्रीरामजीकी शोभामें आधिक्य नहीं होता, बल्कि शोभा ढक जाती है; इसलिये दोनों भाइयोंको सहज सुन्दर कहा।

टिप्पणी—१ (क) 'सहज सुंदर' इति। भाव कि इस समय दोनों भाई सामान्य शृङ्गारसे हैं, इसीसे कहते हैं कि शृङ्गारकी अपेक्षा कुछ नहीं है, दोनों भाई तो स्वाभाविक ही, जन्मसे ही, बिना बनाव-शृङ्गारकेही सुन्दर हैं। (ख) विश्वामित्र-जीने आज्ञा दी थी कि 'सुखनिधान दोउ भाइ। करहु सुफल सबके नयन,' उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं। 'तुम दोनों सुखनिधान हो, सबको सुख दो, ये वचन 'निरखि सहज सुंदर दोउ होहिं सुखी…' में चरितार्थ हैं और 'करहु सुफल' सबके नयन' 'लोचन फल पाई' में चरितार्थ हुए हैं। सब सुखी हुए और सबने लोचनका फल पाया। जिस क्रमसे गुरुने आज्ञा दी, उसी क्रमसे उनके वचन चरितार्थ हुए। प्रथम 'सुखनिधान' कहा पीछे 'करहु सुफल', वैसे ही यहाँ प्रथम 'होहिं सुखी'और पीछे 'लोचन फल' पाना कहा। [(ग) 'सहज' को दीपदेहली भी मान सकते हैं। क्योंकि जो 'जप तप' आदिसे भी ध्यानमें नहीं आ सकती वही सहज सुन्दर मूर्ति इनको सहज ही बिना किसी परिश्रमके देखनेको मिल गयी। (घ) साकार प्रभुके सौन्दर्यका दर्शन ही नेत्रोंका फल है। इस फलसे ये वञ्चित थे सो आज इन्हें प्राप्त हो गया। (रा० च० मिश्र)। यह सहज सुन्दरता ही निधि है जिसके लिये दौड़े थे।]

'जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं।…' इति।

पं० रामकुमारजी—(क) प्रथम सबका 'धावना' कहा— 'धाए धाम काम सब त्यागी'। अब उसकी व्याख्या करते हैं कि कौन कहाँको धाये। पुरुष गलियोंमें धाये और युवतियाँ झरोखोंमें जा लगीं। प्रथम बालकोंने देखा जो बाहर खेल रहे थे, तब पुरुषोंने देखा जो अपने-अपने स्थानके बाहर जा बैठे हैं, तत्पश्चात् स्त्रियोंने देखा जो घरके भीतर रहीं। इस तरह क्रमसे देखना लिखते हैं। अथवा, बालक और पुरुषोंका देखनामात्र लिखा है और, स्त्रियोंका संवाद लिखनेको हैं; इसीसे प्रथम बालक और पुरुषोंका देखना लिखकर पीछे सूचीकटाहन्यायसे स्त्रियोंका देखना लिखा। [☞ सहज काममें पहले हाथ लगाना तब कठिन काम करना, इसीके दृष्टान्तमें 'सूची-कटाहन्याय' कहा जाता है] (ख) रामरूप देखनेसे अनुराग होता है, यथा 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा'। जिनके रूपका वर्णन सुनकर अनुराग होता है उनके दर्शन करनेपर जो अनुराग होगा उसे कौन कह सकता है एवं उनको देखनेपर अनुराग होनेकी क्या कही जाय? (ग) पुरुष तो दोनों भाइयोंको देखते हैं 'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई'। परन्तु स्त्रियाँ केवल रामरूपको देखती हैं।—तात्पर्य यह है कि पुरुषोंकी भावना दोनों भाइयोंकी सुन्दरतामें है, यथा 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई। २४१। ८।' और स्त्रियोंकी भावना श्रीरामजीके रूपमें है, यथा 'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप। २४१।' श्रीरामजी शृङ्गारकी मूर्ति हैं—'श्यामो भवति शृङ्गारः'। ☞ यहाँ कवि स्त्रियोंकी भावनाभर दिखा रहे हैं; इसीसे 'निरखहिं राम रूप अनुरागी' कहा, नहीं तो उनका दोनों भाइयोंका देखना आगे उनके दोनों भाइयोंके सौन्दर्य वर्णनसे स्पष्ट ही है।

नोट—☞ २ (क) स्त्रियोंको शृङ्गार प्रिय होता है। शृङ्गारका रंग श्याम माना गया है और श्रीरामजी श्याम हैं। अतः स्त्रियाँ इन्हींको देख रही हैं। 'अनुरागी' कहकर जनाया कि देखा तो दोनों भाइयोंको, पर श्रीरामरूपको देखकर

उसपर अनुरक्त हो गयी हैं। वैजनाथजीका मत है कि केवल युवावस्थावाली नवयौवना स्त्रियाँ संकोचके कारण झरोखोंसे लगी देखती थीं। और, रा० च० मिश्रके मतानुसार भवनके झरोखोंमें लगी हुई जो स्त्रियाँ हैं उनमें कोई मध्या, कोई मुग्धा और कोई प्रौढ़ा आदि सभी प्रकारकी स्त्रियाँ थीं। (ख) श्रीरामरूपमें किस प्रकार कैसा अनुराग है यह सत्योपाख्यानमें वर्णित पुर-स्त्रियोंकी दशा जो वहाँ मुनिको जनकपुरके राजमहलमें लानेपर हुई थी उदाहरणमें दी जा सकती है। वह यह है कि श्री-लक्ष्मणजीसे सेव्यमान कोटि कामदेवोंके समान सुन्दर सदा मुस्काते हुए बोलनेवाले सौशील्यादि गुणोंसे युक्त श्रीरामजीको देख-कर स्त्रियाँ जामातसुखकी इच्छा करने लगीं कि ये दोनों हमारे जामाता हों और श्रीरामजीकी ओर बारंबार मुस्कुराकर देखती हुई उनको मोहित करनेके लिये (अर्थात् ये हमारी ओर किसी प्रकार देखें।) अनेक हाव-भाव करने लगीं। कोई तो श्रीरामजी-को देखकर उनके मुखारविन्दका ध्यान करती हुई लंबी श्वास छोड़ने लगीं। कोई देखकर कहती हैं कि ये मानो कामदेव ही रूप धरकर आये हैं, कोई अपने रत्नजटित नूपुर बाँधने लगीं, कोई अपने रंगीन दाँतोंको ही दर्पण लेकर देखने लगीं, कोई हाथमें कमल लेकर उसीको फाड़ने टुकड़े-टुकड़े करने लगीं। इत्यादि। यथा 'लक्ष्मणेनापि गौरेण भूषितेन तथैव च ॥ २९ ॥ सेव्यमानं सदा तेन'''। सौशील्यादिगुणैर्युक्तं'''। ३१। कोटिकन्दर्पलावण्यं स्मितपूर्वाभिभाषणम्। एवं पश्यन्ति ताः सर्वा जनकस्य पुरस्त्रियः ॥ ३२ ॥ रामं च लक्ष्मणं चैव जामातृसुखवाञ्छया। मुहू रामं निरीक्ष्यन्त्यः सस्मिताश्च वराननाः ॥ ३३ ॥ हावभावं च कुर्वन्त्यो राममोहाय सत्वरम्। काचिद्रामं निरीक्ष्यैव ध्यायमाना मुखाम्बुजम् ॥ ३४ ॥ मुहुर्मुहुश्च निःश्वासं मुञ्चमाना इतस्ततः। काचिदेवं ध्यायमाना मन्दं दृष्ट्वा मनोरमम् ॥ ३५ ॥ कामाकृतिः कुमारोऽयं'''''नूपुरं च बबन्धाथ पादयो रत्नशोभितम्। करादर्शे निरीक्षन्ती दन्तपंक्तिं सुरञ्जिताम् ॥ ४१ ॥ काचित्कमलपुष्पं च पाटयामास पाणिना''' ४२ एवं पश्यन्ति ताः सर्वाः किशोरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥ (उत्तरार्ध अ० ७) ।' पर रामचरितमानसपर श्रेष्ठ मर्यादा-चरित्रका आदर्श है, अतएव सत्योपाख्यानका उदाहरण केवल शृङ्गारियोंके कामका है, अन्यके लिये नहीं। मानसके जनकपुर-निवासी तो 'पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता ॥' हैं, यह पूर्व ही दोहा २१३। १ में कविने बताकर हमें सावधान कर दिया है।

कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती ॥ ५ ॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं ॥ ६ ॥

अर्थ—आपसमें एक दूसरेसे प्रेमसहित बातें कर रही हैं, कहती हैं—हे सखि! इन्होंने करोड़ों कामदेवोंकी छबिको जीत लिया है। अर्थात् इनमें करोड़ों कामदेवोंकी छबिसे भी अधिक छबि है ॥ ५ ॥ देवता, मनुष्य, दैत्य-दानव-राक्षस, नागदेव और मुनियोंमें (तो) ऐसी शोभा कहीं सुननेमें भी नहीं आती ॥ ६ ॥

नोट—१ 'निरखहिं राम रूप अनुरागी' कहकर 'कहहिं परस्पर''' कहनेका भाव कि अनुरागपूर्वक देखती जा रही हैं और दूसरोंसे छबिकी प्रशंसा भी करती जाती हैं। दृष्टि बराबर श्रीरामरूपमें ही डटी हुई है। पहले देखनेमें अनुराग कहा, अब उनके सौन्दर्यकी चर्चामें, उसके कथनमें भी अनुराग दिखाते हैं। सखी सखीसे हृदयकी बात अब खोलकर कहती है, यह 'कहहिं परस्पर' से जना दिया।

टिप्पणी—१ 'कहहिं परसपर बचन सप्रीती' अर्थात् जितनी भी बातें वे कह रही हैं, वे सब प्रीतिसहित कह रही हैं। ☞ प्रसंगभरका हाल यहाँ प्रारम्भमें कह दिया कि आगेकी सारी वार्ता प्रीतियुक्त है।

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'परस्पर' और 'सप्रीती' से ज्ञात होता है कि सब प्रेमोद्गारसे ऐसी भरी हुई हैं कि उनको कहनेके सिवा यह ज्ञान नहीं है कि वे किससे कहती हैं और कौन सुनता है। कोई सुनता भी है या नहीं, इसका तो किसीको भी ज्ञान नहीं, सभी कह रही हैं तो सुनेगा कौन? दासकी समझमें 'परस्पर' का भाव यह है कि सभी एक दूसरेसे आपस-में कहती-सुनती हैं। ऐसा न होता तो आगे यह कैसे कहते कि 'जो मैं सुना सो सुनहु सयानी', 'आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि।' इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि एक कहती है, दूसरी कुछ सखियाँ सुनती हैं।

३ (क) 'जो युवतियाँ भवनके झरोखोंमें लगी हुई अनुरागपूर्वक राम-रूपको देख रही थीं, उनकी वार्ता यहाँ समष्टि-रूपसे दिखाकर सबके वचनोंको प्रकट नहीं किया। आगे उत्तरार्धसे अष्ट सखियोंका संवाद व्यष्टिरूपसे प्रकट करते हैं। अष्ट सखियोंके नामादि 'श्रीजानकी-रहस्य' के सर्ग ८ में हैं। यथा—'लक्ष्मणा शुभशीला च भद्रा मानवती तथा। लीला श्यामा

च शान्ता च सुशीला ह्यष्टसंख्यकाः ॥ १ ॥ इमाः सीताप्रियाः सख्यो युवती मध्यगा स्थिताः । यथारुचि क्रमाद्वाक्यं जगदुस्तत्त्वसूचिकाः ॥ २ ॥ लक्ष्मणा वीरसेनस्य प्रिया भार्या प्रकीर्तिता । शुभ्रशीला सुभद्रस्य श्यामा सुन्दरवल्लभा ॥ ३ ॥ शान्ता वीरमणेर्भार्या शेषाः सख्यः कुमारिकाः । प्रवीणाः सकलाः सौम्या जानकीप्राणवल्लभाः ॥ ४ ॥' अर्थात् लक्ष्मणाजी, शुभ्रशीलाजी, भद्राजी, मानवतीजी, लीलाजी, श्यामाजी, शान्ताजी और सुशीलाजी अष्ट सखियाँ जो श्रीजानकीजीकी प्रिय थीं उन स्त्रियोंके मध्यमें थीं । वे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार तत्त्वसूचक बातें कहने लगीं । १-२ । लक्ष्मणाजी वीरसेनकी, शुभ्रशीलाजी सुभद्रजीकी, शान्ताजी वीरमणिजीकी स्त्री थीं । शेष सखियाँ कुँआरी थीं । (रा० च० मिश्र) ।

टिप्पणी—२ 'सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती ।' इति । (क) सब देवताओंमें काम सबसे अधिक सुन्दर है । इसीसे प्रथम उसीको लेकर कहती हैं कि कोटि-काम-छवि भी इनकी छविके सामने तुच्छ है । यथा—'सहज मनोहर मूरति दोऊ । कोटि काम उपमा लघु सोऊ ॥ २४३ । १ ।' (आगे स्वयं कहती हैं—'अंग अंग पर वारिअहिं कोटि-कोटि सत काम । २२० ।' गीतावलीमें भी पुरवासियोंके ऐसे ही वचन हैं, यथा—'रोम-रोम पर सोम काम सत कोटि वारि फेरि डारे । १ । ६६ ।' जानकी-मंगलमें भी कहा है—'गौर स्याम सतकोटि काम मद मोचन । ३१ ।'; मानसमें भी—'स्याम सरीरु सुभाय सुहावन । सोभा कोटि मनोज लजावन ॥ ३२७ । १ ।' इत्यादि) ।

नोट—४ 'कोटि काम छबि जीती' इति । (क) अर्थात् करोड़ों कामदेवोंको जीतकर उनकी समूह छविको ले लिया है । भाव यह कि जैसे शत्रुका पराजय होनेपर उसके यहाँ जो अमूल्य पदार्थ होते हैं उनको जयमान राजा छीनकर ले लेता है। वैसे ही असंख्यों कामदेवोंने अपने छविके गर्वमें आकर मानो श्रीरामजीका मुकाबला किया । (कामदेव भी श्याम है, द्विभुज और धनुर्धर है तथा वीर है, यथा—'जाकी प्रथम रेख जग माहीं । विनय ४ ।', 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे । सकल भुवन अपने बस कीन्हे ॥ २५७ । १ ।' उन असंख्यों कामदेवोंरूपी शत्रुओंका पराजय कर सबोंकी छवि-समूहको छीनकर इन्होंने अपने पास रख लिया। काम इनके आगे अब छबि-रूपी धनसे रहित हो गया । (ख) असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक कामदेव है, इस प्रकार सब मिलकर असंख्यों कामदेव हुए । (वै०) । यह अनुमानसे काव्यार्थापत्यालंकार है कि जब इन्होंने करोड़ों कामदेवोंको जीत लिया तब और देवताओंकी कौन बात है । (वै०) । वीरकविजी प्रतीप अलंकार कहते हैं । (ग) पुनः भाव कि 'इनकी छबिने करोड़ोंकी कामनाओंको जीत लिया है । पर युवा स्त्री ऐसा नहीं कह सकती कि हमारी कामनाको जीत लिया है किन्तु करोड़ोंके बहानेसे अपनी कामनाको प्रकट कर रही है ।'—(पाँ०) ।

टिप्पणी—२ (क) 'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं ।' इति । सुरसे स्वर्ग, नरसे मर्त्य, असुर और नागसे पाताल, इस तरह तीनों लोकोंके निवासियोंमें ऐसी शोभाका कहीं भी न होना जनाया । यथा—'नाग असुर सुर नर मुनि जेते । देखे जिते हते हम केते ॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई । देखी नहिं असि सुंदरताई ॥ ३ । १९ ।' (ख) 'सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं' इति । [रूपकी शोभा नेत्रका विषय है और कथा-वार्ता आदि सुनना श्रवणका विषय है, पर यहाँ कवि कहते हैं 'सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं' अर्थात् शोभाको यहाँ श्रवणका विषय कह रहे हैं । यह क्यों ?—यह गोसाईंजीका सँभाल है । देखनेसे सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ सर्वत्र घूमती फिरती रही हैं । अतः इस दूषणके निवारणार्थ उनका सुनना लिखा । 'सुनिअति नाहीं' कहकर सूचित करते हैं कि ये कुलवधुएँ हैं, घरके भीतरकी रहनेवाली हैं, इन्होंने पुराणादिकी कथाएँ सुनी हैं और आज इन दोनों भाइयोंको देखा है । देखिये, जब शूर्पणखाने कहा कि 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥' तब श्रीरामजीने 'देखेउँ' शब्दसे तुरत जान लिया कि यह स्त्री कुलटा है । इसी तरह खर-दूषण राक्षस सर्वत्र गये हैं, तीनों लोकोंमें घूमे-फिरे-लड़े हैं, उन्होंने तीनों लोकोंके पुरुषोंको देखा है, इसीसे उन्होंने सबको देखना कहा—'देखी नहिं असि सुंदरताई' ।] ये स्त्रियाँ परदेमें रहनेवाली हैं, इन्होंने आँखोंसे नहीं देखा है, (घरके पुरुषोंसे सुना भर है; इसीसे 'सुनिअति नाहीं' कहती हैं । (नोट☞ यह अर्धाली सूत्र-सी है । इसीकी व्याख्या आगे वे स्वयं ही कर रही हैं । यह भी सिद्ध होता है कि परदेका नियम प्राचीन कालमें भी था ।)

बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी । बिकट बेष मुख पंच पुरारी ॥ ७ ॥
अपर देउ अस कोउ न आही । यह छबि सखि पटतरिय जाही ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अपर=और, दूसरा, अन्य । आही=है । पटतर=समता, समानता, उपमा । पटतरिये=उपमा दीजिये, सदृश कहा जाय ।

अर्थ—विष्णु भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, ब्रह्माजीके चार मुख हैं और त्रिपुरदैत्यके शत्रु श्रीशंकरजीके पाँच मुख हैं और भयंकर वेष है ॥ ७ ॥ अन्य देवताओंमें ऐसा कोई नहीं है जिससे हे सखी ! इस छबिकी पूर्ण उपमा दी जा सके ॥ ८ ॥

श्रीराजारामशरणजी–शेक्सपियरसे भी बढ़कर इस नाटकीय युक्तिका प्रयोग तुलसीदासजीने किया है, जिसके द्वारा अनेक दृष्टिकोणोंसे बड़ी रोचकता और भावपूर्णताके साथ किसी व्यक्तिगत दृश्य या परिस्थितिकी आलोचना करायी जाती है। यहाँ सखियोंकी वार्तामें इसी युक्तिका बड़ा ही सुन्दर प्रयोग है। यदि प्रत्येक दृष्टिकोणका निरीक्षण किया जाय तो नोट बढ़ जायगा, लेकिन पाठकोंको आनन्द लूटनेके लिये मजा ले-लेकर पढ़ना चाहिये और सब दृष्टिकोणोंको विचारना चाहिये।

किस सुन्दरतासे रामरूपकी सुडौल मूर्तिको सब देवोंसे उत्तम प्रमाणित किया है। इसी प्रकार उधर श्रीसीताजीकी तुलनामें 'गिरा मुखर तन अरध भवानी' इत्यादि देव-शक्तियोंको उतार देंगे। परात्पर ब्रह्मरूप और आदि-शक्तिकी महानता महत्ताको किस रोचकतासे दिखाया है। शृङ्गारका आनन्द और शान्तरसका पुट सराहनीय है। महाकाव्यकला और नाटकी-कला एक होकर मनोरम बन गयी है।

नोट—१ ब्रह्माण्ड भरके अतिशय सुन्दर पुरुषोंको यहाँ गिनाया है। जब इन्हींमें कोई उपमान होनेके योग्य नहीं ठहरता तब दूसरा कौन है जिसकी उपमा दें। 'अपर देव' में कामदेव भी आ गया। वह भी उपमा योग्य नहीं, यह पूर्व ही कह चुकी हैं—'सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती'।

'बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी।' इति।

पंजाबीजी···भाव यह है कि 'किसीके हाथमें एक छठी अँगुली होती है तो बुरी लगती है और जहाँ दो भुजाएँ अधिक हों भला वहाँ शोभा कहाँ ? उसमें द्विभुज-शरीरकी-सी शोभा कहाँ ? पुनः, शरीरके प्रमाणसे यदि किसीका सिर या नासिका भारी होती है तो शरीरकी शोभा न्यून हो जाती है और एक शरीरपर चार-पाँच सिर हुए तो एक सिर-जैसी शोभा कहाँ हो सकती है ? पुनः, शरीर भी सुन्दर हो और वस्त्रादि न हुए तो भी शोभा पूर्ण नहीं होती फिर जहाँ बाघाम्बर, सर्प, विभूति और पाँच सिर हों वह पीताम्बर और दिव्य आभूषणोंसे संयुक्त शरीरकी छबि कैसे पा सकता है ?'

पं० रामकुमारजी—१ (क) बहुत अङ्ग होनेसे विराट्‌का-सा रूप हो जाता है; यथा 'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥ २४२ । १ ।' विराट्‌की गिनती शोभामें नहीं है। 'बिष्नु चारिभुज' कहकर जनाया कि उनमें शोभा न रह गयी। एक अँगुली बढ़ जानेसे शरीर अशोभित लगता है तब दो भुजाएँ अधिक होनेसे शोभा कहाँ ! चार भुजाओंसे अधिक अशोभा चार मुखकी है, इससे विष्णुको कहकर तब ब्रह्माको कहा और चार मुखसे अधिक अशोभा पंचमुखकी है, इससे पंचमुख शंकरजीको अन्तमें कहा। इस तरह यहाँ उत्तरोत्तर अशोभाकी अधिकता कहते हैं। (ख) चार मुख होनेसे चार ललाट, चार नासिकाएँ, चार मुँह, चार ठोढ़ी, आठ भृकुटी, आठ कपोल और आठ नेत्र हैं, अतएव इनके सामने वे कैसे भद्दे लगेंगे। और, शंकरजी तो इनसे भी भद्दे हैं, उसपर भी उनका विकट वेष है, अर्थात् नंगे, नृकपालमालाधारी, भस्म रमाये, सर्प लपेटे, इत्यादि भयंकर वेष है। विकट वेष भयदायक होता है। यथा 'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा। ९६। ४।' (ग) 'पुरारि' कहनेका भाव कि त्रिपुरके वधमें जैसा क्रोध हुआ था, वैसा ही क्रोधित (क्रुद्धमुख सदा रहता है।)

२ (क) 'अपर देउ अस कोउ···' इति। तीन देवताओंका सादृश्य कथन किया, उपमा दी, पर वे भी समता योग्य न ठहरे और जितने भी देवता हैं वे उपमामें दिये जानेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि देवता तो मिथिलापुरवासियोंके ही समान सुन्दर नहीं हैं, यथा 'तिन्हहिं देखि सब सुर-सुरनारी। भए नखत जनु बिधु उजियारी।', तब भला श्रीरामजीकी उपमाके योग्य कब हो सकते हैं ? (ख) यहाँ तक देवताओंकी सुन्दरता कही, उनमें उपमा ढूँढ़ी न मिली। तब असुर, नाग, नर और मुनिमें उपमा ढूँढ़नी और कहनी चाहिये थी सो न कही। कारण कि जब देवताओंमें कोई इतना सुन्दर नहीं है तब मनुष्यादि किस गिनतीमें हैं। तात्पर्य कि जब त्रिदेव ही समतामें न ठहरे तब अन्य देवताओंकी समता न दी और जब देवताओंकी ही समता न दी तब नर-नाग-असुर-मुनिका नाम ही न लिया। इनका नाम तक लेना व्यर्थ समझा। बिलकुल तुच्छ समझ इनको छोड़ ही दिया। [इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मनुष्य लोग केवल पाँच जातियोंमें ही शोभाका अनुभव कर सकते हैं। सुर, नर, असुर, नाग और मुनिको छोड़कर उनके मुग्ध होने योग्य शोभा कहीं नहीं है। (वि० त्रि०)।

नोट—भगवान् विष्णुकी सुन्दरता जगत्प्रसिद्ध है; यथा "अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जसु लीला। दूषनरहित सकल गुनरासी। १। ८०।' शिवजी भी परम सुन्दर हैं, यथा 'जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल। नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल। १०६।', 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा। १०६। ६।', 'कुंद इंदु दर गौर सुंदरं। ७ मं० श्लो०।' और, ब्रह्माजी सृष्टिके रचयिता हैं, श्रीमन्नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं, वे क्यों न सुन्दर होंगे ? अन्य समस्त देवताओंमें कामदेवसे बढ़कर सुन्दर कोई नहीं, वह श्यामसुन्दर भगवान् कृष्णका पुत्र ही तो है—'कृष्न तनय होइहि पति तोरा।' इसीसे इन्हींके नाम दिये।

प. प. प्र.—१ कामदेव तो रजोगुणी है और साधु संत योगी ज्ञानी आदिको शत्रु मानकर सतानेवाला है अतः तुलना योग्य न ठहरा। विष्णु सत्त्वगुणी हैं और चतुरानन रजोगुणी; इन दोनोंमें अधिकांश दोष है। पुरारिकी तो बात ही दूसरी है। ये तो पुरके अरि हैं और यहाँ तो जनकपुरमें रूपसिंधुके दर्शनसे आनन्दसिंधुकी बाढ़ आ गयी है।

२ **'यह छबि सखी पटतरिअ जाही'** इस चरणमें छन्दोभंग द्वारा जनाया कि युवतीका कंठ गद्गद हो गया, शब्दोंका उच्चार करनेमें गड़बड़ी हुई है। **'यह छबि सखी प'** पर विश्राम है पर 'टतरिअ जाहि' में 'टतरिअ' का ठीक उच्चारण करना कठिन है।

दो०—बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुखधाम।
अंग अंग पर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम॥२२०॥

शब्दार्थ—बारना=निछावर करना, उत्सर्ग वा कुर्बान करना।

अर्थ—किशोर अवस्था, परमा शोभाके घर, एक श्याम एक गोरे, (दोनों) सुखके धाम हैं। इनके अङ्ग-अङ्गपर करोड़ों अर्बों कामदेवोंको निछावर कर देना चाहिये॥ २२०॥

☞ पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि (जब) किशोरावस्था सुखमा (परमशोभा) की सदन है और श्याम गौर वर्ण सुखधाम है (तब अङ्गोंकी शोभा कौन कहे) एक-एक अङ्गपर सौ-सौ करोड़ कामदेव निछावर हैं॥ २२०॥

टिप्पणी—१ (क) कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती।' उपक्रम है और **'अंग अंगपर बारिअहिं कोटि-कोटि सतकाम'** उपसंहार है। कामदेवसे ही उपक्रम उपसंहार करनेमें तात्पर्य यह है कि वह सब देवताओं-से अधिक सुन्दर है। (ख) प्रथम कहा कि कोटि कामकी छबि जीत ली और अन्तमें कहती हैं कि सौ-सौ कोटि काम एक-एक अङ्गपर निछावर हैं, इस तरह उन्होंने अपने प्रथम वचनका खण्डन किया। अर्थात् कोटि कामका जीतना जो कहा वह ठीक नहीं है, कोटि-कोटि शत कामका एक-एक अङ्गपर निछावर करना ठीक है। यथा 'प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा॥··· **सियमुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक'**। अथवा, (ग) किशोर अवस्था है, सुखमाके सदन हैं, श्याम गौर हैं, सुखके धाम हैं। अर्थात् अवस्थासे शोभित हैं, सुन्दरतासे शोभित हैं, वर्णसे शोभित हैं (इस तरह) सर्वाङ्गकी शोभा एकट्ठा कही—किशोर अवस्था सर्वाङ्गमें है, शोभासदन सर्वाङ्ग हैं, श्याम गौर सर्वाङ्ग हैं। पृथक्-पृथक् अङ्गोंकी शोभा नहीं कहते बनती। इसीसे कहती हैं कि **'अंग अंगपर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम'**। तात्पर्य कि जिसकी इतनी न्योछावर है उसकी शोभा कौन कह सके।

नोट—१ भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और शिवजी एवं असंख्य कामदेवोंको श्रीराम-लक्ष्मणजीकी शोभाके योग्य उपमा न ठहराना 'चतुर्थ-प्रतीप' अलंकार है। (वीर)।

२ **'सुषमा सदन'** अर्थात् द्युति, लावण्य, रमणीयता, मधुरता, सुकुमारता, आदि जो शोभाके अङ्ग हैं उन सबोंके मन्दिर हैं। सुखधाम हैं अर्थात् सुखसे परिपूर्ण भरे हैं, भाव यह कि जिनके दर्शन मात्रसे नेत्र और मन सुखी हुए उनकी प्राप्ति होनेपर जो सुख होगा, उसे कौन कह सकता है। (वै०)।

३ ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें दोष दिखाये, कामदेवमें उसका अनंग (बिना अंगका) होना दोष यहाँ नहीं कहा, जैसे श्रीसीताजीके लिये उपमाओंकी लघुता दिखाते हुए कहा है—'रति अति दुखित अतनु पति जानी। २४७। ५।', इसका कारण यह है कि अशोभित वस्तुको निछावर करनेसे श्रीरामजीकी शोभाकी प्रशंसा ही क्या रह जाती! दूसरे यहाँ तनधारीकी ही उपमा दे रही हैं, जैसा आगे कहती हैं—**'कहहु सखी अस को तनुधारी।'** अतः 'अतन' का कहना संगत न होता।

४ प्र० सं०—'सखि इन्ह कामकोटि छबि जीती' यह यहाँकी छवि वर्णनका उपक्रम है और 'कोटि कोटि सतकाम' पर उपसंहार है। अर्थात् सखीने कोटि कामके छबिको जीतनेसे उपक्रम उठाया अर्थात् प्रारम्भ किया और 'कोटि कोटि सत' कामदेवोंको निछावरकर फेंक देनेमें उपसंहार अर्थात् समाप्ति की। 'जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ' इन वचनोंको चरितार्थ किया। यहाँ भी 'श्यामगौर' दोनों भाइयोंको 'सुखधाम' कहा है।

कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह येह* रूप निहारी ॥ १ ॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ॥ २ ॥

अर्थ—हे सखि! (भला) कहो तो, ऐसा कौन देहधारी है जो यह रूप देखकर मोहित न हो जाय (तात्पर्य कि यह रूप चराचरमात्रको मोह लेनेवाला है, ये चराचरमात्रमें सबसे अधिक सुन्दर हैं) ॥ १ ॥ कोई (दूसरी सखी) प्रेमसहित कोमल वाणीसे बोली—हे सयानी! जो मैंने सुना है, वह भी सुनो ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'कहहु सखी अस को तनुधारी'...इति। (क) श्रीरामलक्ष्मणजीकी अत्यन्त शोभाका वर्णन करके उसीको अब और पुष्ट करती हैं कि 'अस को तनुधारी जो न मोह...', ऐसा कौन है जो न मोहित हो जाय, इसीसे जाना जाता है कि ये सबसे सुंदर हैं। [इस कथनसे ज्ञात होता है कि इस सखीने इतनी देरमें दोनों भाइयोंकी शोभाको देख पाया। पूर्ण शोभापर दृष्टि पड़ते ही यह भी मोहित हो गयी, फिर और कुछ न कह सकी, यही शब्द कहती रह गयी कि 'अस को...'। (प्र० सं०)] (ख) 'तनु धारी' कहकर जनाया कि औरोंकी शोभाको देखकर चेतन ही मोहित होते हैं और इनकी शोभामें तो चर अचर जड़ और चेतन सभी मोहित हो जाते हैं। यथा—'करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥ २०४। ७।', 'हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे ॥ ३१७। ३।', 'खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोही ॥ २। १२३।', इत्यादि। [(ग) 'जो न मोह यह रूप निहारी' का भाव कि एक काम चराचरको मोहित कर लेता है, यथा—'सकल भुवन अपने बस कीन्हे ॥ २५७। २।,' और इनकी मोहनी तो ऐसी है कि अंग-अंगपर असंख्यों कामदेव निछावर कर दिये जायँ, तब चराचरमात्र क्यों न मोहित हो जायगा। (वै०)]

वि० त्रि०—'कहहु सखी...' इति। भाव कि यदि मैं मोहित हो गयी, तो इस रूपके देखनेपर सभी शरीरधारी मोहित हो जावेंगे, अतः आक्षेपार्थ प्रश्न करती है। 'यह रूप' से अंगुल्यानिर्देश करके रूपकी परमोत्कर्षता सूचित करती है। यह सखी अहङ्कार-तत्त्व है।

नोट—१ बैजनाथजी और हरिहरप्रसादजीका मत है कि यह श्रीजानकीजीकी मुख्य अष्टसखियोंका संवाद है। इनमेंसे बड़ी चारुशीलाजी हैं। इनकी माता चन्द्रकान्ती और पिता शत्रुञ्जित हैं। ये अष्ट सखियाँ श्रीमिथिलेशजीके विमातृ आठ भाइयोंकी कन्याएँ हैं। यहाँतक श्रीचारुशीलाजीके वचन हैं। (वै०)। विशेष दोहा २२३ में देखिये।

टिप्पणी—२ 'कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी।...' इति। [(क) 'सप्रेम' का भाव कि दोनों भाइयोंको देखकर प्रेम अन्तःकरणमें भर गया है, इसीसे सप्रेम वार्ता कर रही हैं। प्रेममें तो सभी मस्त हैं, मग्न हैं—'रामरूप अनुरागी' पूर्व कहा ही गया है। दूसरे 'सप्रेम...' से यह भी सूचित करते हैं कि प्रथम सखीकी वाणी सुनकर यह प्रसन्न हुई है]। (ख) सप्रेम बोली, इसीसे वचन मृदु, कोमल और मिष्ट हुआ ही चाहें। [पहली सखी भी प्रेमसे बोली थी, पर उसके बोलनेमें मृदुताकी मात्रा कम थी, अहंकारका पुट था। (वि० त्रि०)] (ग) 'जो मैं सुना सो सुनहु' इति। भाव कि जो तुमने सुना वह तुमने कहा, अब जो मैंने सुना है उसे सुनो। प्रथम सखीने भी सुनी बात कही थी, यथा—'सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं।' (घ) प्रथम सखीने सुंदरता वर्णन की और यह सखी दोनों भाइयोंका सब वृत्तान्त (अर्थात् जाति, ऐश्वर्य, चरित, इत्यादि) वर्णन करेगी। (ङ) 'सयानी' कहकर उसके वचनोंकी प्रशंसा की कि तुम बड़ी चतुर हो, तुमने बहुत अच्छा और ठीक ही कहा। 'सयानी' सम्बोधन देकर उसके वचनोंपर अपनी प्रसन्नता सूचित की। [पुनः भाव कि इसका कथन (सयानोंके) समझने योग्य है। (प्र० सं०)। पुनः 'सो सुनहु सयानी' का भाव कि तुम सयानी हो, जिसके ऊपर इतनी आसक्ति है, उसका परिचय भी जान लेना चाहिये, अतः परिचय मैं सुनाती हूँ। सम्भवतः पतिसे सुना है, इसीसे सुनानेवालेका नाम नहीं लेती। यह सखी 'आकाशतत्त्व' है (वि० त्रि०)]

* यह-१७२१, १७६२, को० रा०। येह—१६६१, १७०४। २२२ (१) और दो० २२२, २२३ (३) (६) में भी 'येह' पाठ है। अतः यह लेख प्रमाद नहीं जान पड़ता; सम्भवतः वचनपर जोर देनेके लिये ऐसा प्रयोग हुआ हो।

नोट—२ 'सुनी हुई बातमें कुछ सत्य और कुछ असत्य भी होता है। सत्यका उदाहरण तो सब है ही परंतु असत्यका उदाहरण भी इसमें है—वह है 'मग मुनिबधू उधारि। २२१।' मुनिवधूका उद्धार तो श्रीरामजीने किया और दोहेमें 'बंधु दोउ' कहा है। इसी प्रकार दशरथजी महाराजने कहा है—'जा दिन ते मुनि गए लवाई। तबतें आजु साँचि सुधि पाई॥ २९१।७।' अर्थात् सुध तो पायी थी पर बाजारू; आज सच्ची सुध पायी इसपर कोई महात्मा कहते हैं कि इसमें असत्यका मेल नहीं है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है। अर्थ करते समय 'मग मुनिबधू उधारि' को केवल श्रीरामजीमें लगाना होगा। जैसे 'सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु। लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु॥ २।१३।' में शाल रामजीकी कुशलसे है पर यहाँ लक्ष्मण; भरत और शत्रुघ्नके कुशलसे भी शाल कहा गया जो ठीक नहीं है। इसी तरह 'मग मुनिबधू उधारि' केवल श्रीरामजीके संबन्धमें समझना चाहिये। (रा० प्र०)।

३ बैजनाथजीका मत है कि यह लक्ष्मणाजीका वचन है। इनकी माताका नाम विदग्धा और पिताका यशशाली है। जनकपुरके तंबोलिनकी कन्या श्रीअयोध्याजीमें ब्याही थी, उसीसे इसने सुना। पं० रामकुमारजीका मत आगे चौ० ४ टि० २ में तथा दोहा २२३ में देखिये।

ए दोऊ दसरथके ढोटा। बाल मरालन्हि के कल जोटा॥ ३॥
मुनि कौसिक मख के रखवारे। जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे॥ ४॥

शब्दार्थ—ढोटा=पुत्र, बेटा। जोटा=जोड़ा। अजिर=आँगन।

अर्थ—ये दोनों श्रीदशरथजीके पुत्र हैं, बालहंसोंकी (सी) सुंदर जोड़ी है॥ ३॥* ये कौशिक मुनिके यज्ञके रक्षक हैं, जिन्होंने रणाङ्गणमें निशाचरोंको मारा है॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'ए दोऊ दसरथ के ढोटा।…' इति। (क) श्रीदशरथमहाराज प्रसिद्ध हैं, इसीसे अवधपति आदि तथा दोनों भाइयोंकी जाति और ऐश्वर्य न कहा। 'दसरथ के ढोटा' दशरथके पुत्र कहनेसे ही जाति और ऐश्वर्य दोनोंका कथन हो गया कि क्षत्रिय हैं, चक्रवर्ती हैं। (ख) 'बाल मरालन्हिके कल जोटा' अर्थात् सुंदर हैं। [पुनः, दशरथजीके पुत्र कहकर उत्तम उदार कुल भी जनाया और 'बाल मरालन्हि के कल जोटा' से गुण बताया कि बालकलहंसोंका-सा जोड़ा है अर्थात् लड़कपनसे ही ये धर्मव्रतधारी हैं, असत् त्यागकर सत्पदार्थका ग्रहण करते हैं। (वै०)। तथा दशरथजीको हंस जनाया। 'बाल मरालन्हि' से सम्पूर्ण बालचरित और 'कल' से सुंदरता कही। (प्र० सं०)। बाल मरालन्हि' और 'कल जोटा' दोनोंसे सुकुमारता सूचित होती है, यथा—बालमराल कि मंदर लेहीं'। इसीसे आगे कहती हैं कि 'मुनि कौसिक मख…']

२ 'मुनि कौसिक मख के रखवारे।'… इति। (क) भाव यह कि ये केवल सुंदर ही नहीं हैं किंतु कौशिक ऐसे मुनिके यज्ञके रक्षक हैं। अर्थात् महाबली हैं। यथा—'सुकुमारौ महाबलौ…।' तात्पर्य कि देखनेमें तो ये छोटे-छोटे सुंदर और सुकुमार बालक हैं पर इन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं; जैसे ये अतिशय सुंदर हैं वैसे ही अत्यन्त वीर भी हैं। (ख) विश्वामित्रजीने जो राजा जनकसे कहा था कि 'रघुकुलमनि दसरथ के जाये। मम हित लागि नरेस पठाए॥ रामु लषनु दोउ बंधु बर रूप-सील-बल-धाम। मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥ २१६॥' वही सब बात यह सखी कह रही है। इससे जान पड़ता है कि राजाके संगमें जो मंत्री, भट, भूसुर, गुरु और बंधुवर्ग गये थे उन्हींमेंसे किसीकी यह स्त्री है। अपने पतिसे सुना है। विश्वामित्रजीने यह नहीं कहा कि ये श्रीकौसल्या और सुमित्राजीके पुत्र हैं। यह बात उसके पतिकी जानी हुई है उसने अपनी तरफसे यह बात अपनी स्त्रीसे कही। २२१। ८ में देखिये। [(ग) यहाँ विश्वामित्र नाम न कहकर कुल सम्बन्धी 'कौशिक' नाम दिया क्योंकि कुश राजाके वंशमें उत्पन्न होनेसे इन्होंने राजहठवश अनेक दिव्यास्त्रोंको तप करके प्राप्त किया था। इस नामसे मुनिका अस्त्र-शस्त्रबल द्योतित किया। (वि० त्रि०)।] (घ) 'रन अजिर निसाचर मारे' इति। भाव कि जैसे लड़के आँगनमें खेलते हैं, वैसे ही खेल सरीखे इन्होंने रणमें बड़े-बड़े राक्षस मारे। और, सम्मुख लड़कर मारा। (ङ) यहाँतक दोनों भाइयोंका हाल साथ-साथ एकमें कहा, आगे पृथक्-पृथक् दोनोंका हाल और चरित्र कहती है।

स्याम गात कलकंज बिलोचन। जो मारीच सुभुज मदु मोचन॥ ५॥
कौसल्या सुत सो सुख खानी। नामु रामु धनु सायक पानी॥ ६॥

* अर्थान्तर—१ सुंदर बालहंसोंकी जोड़ी है। (पां०)। २ बाल कलहंसोंका जोड़ा है। (वै०)

शब्दार्थ—सुभुज=सुबाहु नामक निशाचर।

अर्थ—जिनका श्याम शरीर और सुन्दर कमल समान नेत्र हैं। जो मारीच और सुबाहुके मद (गर्व) के छुड़ानेवाले हैं॥ ५ ॥ वे सुखकी खान (श्रीरामजी) कौसल्याजीके पुत्र हैं। उनका नाम राम है। धनुष-बाण हाथोंमें लिये हुए हैं॥ ६ ॥

☞ श्रृङ्गारमें वीररसका मिलाप कितना सामयिक और सुन्दर है।

टिप्पणी—१ (क) 'श्याम गात कलकंज बिलोचन' यह श्रृङ्गार है और 'जो मारीच सुभुज मद मोचन' यह वीर है। श्रृङ्गार और वीर कहकर आगे 'सुख-खानी' कहनेका भाव यह है कि उन्होंने श्रृङ्गारसे मिथिलावासियोंको सुख दिया और मारीच-सुबाहुको मारकर सुर, नर और मुनियोंको सुख दिया। यथा—'मारि असुर द्विज निर्भय कारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥ २१० । ६ ।' (ख) पूर्व कहा कि 'जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे' अर्थात् दोनोंने निशाचर मारे और अब कहती हैं कि मारीच सुबाहुका गर्व श्रीरामजीने दूर किया। इससे पाया गया कि और सब निशाचरोंको लक्ष्मणजीने मारा। यथा 'सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥ बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटक संघारा॥ २१० । ३-५ ।' (ग) 'मद मोचन' का भाव कि इनको अपने बलका एवं युद्धका बड़ा अभिमान था सो चूर हो गया। ['मारा' न कहा क्योंकि मारीचका वध नहीं किया है। मारीचका गर्व छूट गया, यह उसके वचनोंसे स्पष्ट है जो उसने रावणसे कहे हैं; यथा 'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥ जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥ ३ । २५ ।']

२ 'कौसल्या सुत सो सुख खानी।…' इति। (क) पिछले दो चरणोंमें श्रृङ्गार और वीर कहकर अब 'सुख खानी' कहते हैं। श्रीरामजी सब प्रकारसे सुखकी खान हैं। [पुनः, श्रीकौसल्याजी भी सुखखानि हैं, क्योंकि इन्होंने सुखरूप श्रीरामको पैदा किया, यथा 'सुखस्वरूप रघुबंसमनि…।', 'कौसल्या सुत सो…'] 'स्याम गात कलकंज बिलोचन' होनेसे रूपसे सुख देते हैं, 'मारीच सुभुज मद मोचन' होनेसे अपनी लीलासे सुखदायक हैं। अपने 'राम' नामसे भी सुख देते हैं, यथा 'सो सुखधाम राम अस नामा। १९७ । ६ ।' धनुष बाण हाथमें लेकर सुख देते हैं, यथा 'करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥ २०४ । ७ ।' [पुनः 'सुखखानी' से सदा आनन्दरूप जनाया। (वै०)] (ख) यत् तत्का सम्बन्ध है। जो प्रथम कह आये—'स्याम गात कलकंज बिलोचन। जो…', उसका सम्बन्ध यहाँ 'सो कौसल्यासुत…' से है।

गौर किसोर बेषु बर काछें। कर सर चाप राम के पाछें॥ ७॥
लछिमनु नामु रामु लघु भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता॥ ८॥

शब्दार्थ—काछें-बनाये, सँवारे, धारण किये हुए; यथा 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा। २ । १२७ ।' 'चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पाछे। (गी० १ । ७२ । १)।

अर्थ—(जो) गौर वर्ण, किशोर अवस्था, सुन्दर वेष बनाये हुए, हाथोंमें धनुष बाण लिये हुए, श्रीरामजीके पीछे (हैं)॥ ७ ॥ (उनका) लक्ष्मण नाम है। ये श्रीरामजीके छोटे भाई हैं, हे सखी! सुनो। उनकी माता सुमित्रा हैं॥८॥

टिप्पणी—१ (क) दो अर्धालियोंमें श्रीरामजीका वर्णन हुआ; दोहीमें लक्ष्मणजीका वर्णन करती हैं। जैसे श्रीरामजीमें श्रृङ्गार और वीर (स्वरूप) वर्णन किया वैसे ही लक्ष्मणजीमें दोनों वर्णन करती हैं। 'गौर किसोर बेष बर काछें। कर सर चाप रामके पाछें॥' इस प्रथम अर्धालीमें शोभा कही। गौर वर्णसे, किशोर अवस्थासे, सुन्दर वेषसे, धनुष बाण धारण किये हुए होनेसे और श्रीरामजीके अनुग होनेसे, इस तरह सब प्रकारसे शोभित हैं। दोनों भाइयोंके हाथोंमें धनुष बाण कहकर जनाया कि दोनों धनुर्विद्यामें प्रवीण हैं, यथा 'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥ ६ । ४९ ।' जैसे श्रीरामजीको कमलनयन और सुखखानि कहा, वैसे ही लक्ष्मणजीमें ये दोनों बातें समझ लेनी चाहिये और जैसे लक्ष्मणजीको 'किशोर' और 'बेष बर काछें' कहा वैसे ही ये दोनों बातें श्रीरामजीमें भी समझ लेनी चाहिये। ['रामके पाछें' से उनके आज्ञाकारी जनाया। (वै०)। 'बेष बर काछें' का भाव कि श्रीरामजीकी रक्षाके लिये कसे-कसाये तैयार हैं। (वि० त्रि०)] (ख) 'लछिमन नाम राम लघु भ्राता' इति। 'राम लघुभ्राता' से पाया जाता है कि कौसल्याजीके पुत्र हैं,

इसीसे कहती हैं कि 'सासु सुमित्रा माता' अर्थात् श्रीरामजीके विमातृ लघु भाई हैं। (ग) ☞ विश्वामित्रजीने रानियोंके नाम नहीं कहे और स्त्रियाँ रानियोंके नाम कहती हैं। यह स्वाभाविक है, स्त्रीकी वार्ता स्त्री करती है और स्त्रियोंके संवादमें स्त्रियोंका नाम कहना सोहता भी है, इसीसे सखियोंके संवादमें रानियोंके नाम लिखे।

नोट—माताओंके नाम क्योंकर मालूम हुए, इस सम्बन्धमें पं० रामकुमारजीका उत्तर ऊपर २२१। ४। में लिखा जा चुका और लोगोंके उत्तर ये हैं—(१) राजा दशरथ चक्रवर्ती महाराज हैं और श्रीकौसल्या, कैकेयी और सुमित्राजी इनकी पटरानियाँ हैं। प्रायः इनके नाम विख्यात होते ही हैं। (२) अवधसे जनकपुर कुछ दूर नहीं है, इससे भी नामोंका जानना कठिन नहीं। (३) रसिक महानुभाव कहते हैं कि वशिष्ठा नामकी एक जनकपुरकी तमोलिन श्रीअवधमें ब्याही थी जो इस समय जनकपुरहीमें थी, उसीके ये वचन हैं, वा, उसीसे इन सबोंको मालूम हुआ। विजय दोहावलीमेंसे इसका प्रमाण देते हैं कि 'अवधपुरी ब्याही हुती जनकपुरीको आय। जाति तमोलिन की रही पान देत नित जाय॥' और कोई कोई कहते हैं कि अवधपुरीकी कोई स्त्री जनकपुरमें ब्याही थी उससे मालूम हुआ। (यह भी स्मरण रहे कि कौसल्या आदि नाम पिता वा देश सम्बन्धी हैं। प्रायः सभी देशोंके लोग जानते हैं कि राजा दशरथकी तीन विवाहिता रानियाँ हैं। एक कोसल-देशके राजाकी कन्या, एक सुमित्र राजाकी कन्या और एक केकयराजकी कन्या। वस्तुतः ये उनके असली नाम नहीं हैं। असली नाम प्रायः मायकेवाले ही जानते और लेते हैं।)

दो०—बिप्र काजु करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि।
आए देखन चाप मख सुनि हरषीं सब नारि॥ २२१॥

अर्थ—दोनों भाई विप्र (विश्वामित्र) का काम करके राहमें (गौतम) मुनिकी स्त्रीका उद्धारकर धनुषयज्ञ देखने आये हैं। यह सुनकर सब स्त्रियाँ हर्षित हुईं॥ २२१॥

☞ यहाँ शान्तरसका पुट केवल उतना है कि सँभाले रहे।

टिप्पणी—विप्रकाज करना वीरता है, मुनिवधूका उद्धार करना 'प्रताप' है। इस तरह 'विप्रकाज करि' 'मुनिबधू उधारि' से जनाया कि ऐसे वीर प्रतापी धनुषयज्ञ देखने आये हैं। यही सुन-समझकर सब स्त्रियोंको हर्ष हुआ कि ऐसे वीर और प्रतापी हैं तो अवश्य धनुष तोड़ेंगे। पुनः, 'मुनिबधू उधारि' यह वचन ऐश्वर्यका द्योतक है। ऐश्वर्यसे विश्वास होता है, विश्वास होनेसे हर्ष होता है; यथा—'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी। २२३। ४-६।' ☞ प्रारम्भमें जो इस सखीने प्रथम सखीको 'सयानी' विशेषण दिया था,—'जो मैं सुना सो सुनहु 'सयानी', वह सयानपन यहाँ सिद्ध हुआ कि सखीके वचनका अभिप्राय समझकर हर्षित हुईं। [शतानन्दजी राज-पुरोहित हैं, उन्हींके माता-पिता अहल्या और गौतम थे। अतः मुनिवधूके शापित होनेकी कथा जनकपुर-वासियोंमें विशेष रूपसे ख्यात थी। इसलिये नामसे परिचय न देकर 'मुनिबधू उधारि' इतना मात्र कहनेसे अहल्योद्धार सबने जान लिया। इससे परम प्रभुता और पावनता कही (वि० त्रि०)]।

नोट—हर्ष होनेके कारण और महानुभावोंने ये लिखे हैं—(१-३) हर्ष हुआ क्योंकि ये भी उत्तम कुलके हैं अतः श्रीजानकीजीके योग्य हैं। वा, सुबाहु आदिका वध किया, इससे बलवान् जान पड़ते हैं; अतः धनुष भी अवश्य तोड़ेंगे। अथवा, निशाचरोंका वध तो और भी कर सकते हैं, पर अहल्योद्धार दूसरेसे नहीं हो सकता था; इससे जान पड़ा कि ये अत्यन्त प्रतापी हैं, धनुष अवश्य तोड़ेंगे। (पं०)। (४) इन सखियोंने श्रीरघुनाथजीको स्त्रियोंका उपकार जाना; क्योंकि विश्वामित्रजीके यज्ञका नाम ब्रह्मेष्ठी है जो स्त्रीलिंग है, उसकी इन्होंने रक्षा की। पुनः, अहल्या स्त्री है, उसका उद्धार किया। इससे विश्वास है कि धनुषकी प्रतिज्ञामें उलझी हुई श्रीजानकीजीका भी उद्धार करनेको ही यहाँ आये हैं। (पाँ०)। पुनः, (५) भाव यह कि बली वीर हैं और शक्तिमान् समर्थ हैं, धनुष-यज्ञ देखने आये हैं, तो धनुषकी परीक्षा अवश्य करेंगे और उसे तोड़ेंगे भी। इसमें यह व्यंग्य विचारकर हर्षित हुईं कि हमारा भी मनोरथ सफल होगा। (वै०)। (६) 'विप्रकाज' आदि शब्दोंसे परोपकारी जनाया; अतः विश्वास है कि मिथिलापुरवासिनी स्त्रियोंका अवश्य उपकार करेंगे। (रा० प्र०)। (७) जड़का उद्धार करना आपका स्वभाव है। अहल्या गौतमके शापसे जड़ पाषाण हो गयी थी, उसका उद्धार इन्होंने

किया है। शिवचाप भी विष्णु भगवान्के हुंकारसे जड़ हो गया था तबसे वह जनकजीके यहाँ पड़ा है। ये धनुषयज्ञ देखने आये हैं, अतः निश्चय है कि ये अवश्य पुरुषार्थ करेंगे, उसको तोड़कर उसका उद्धार करेंगे। (धनुष जड़ है। यथा—'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। २५८। ७।') (रा० प्र०)। (८) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि यदि कोई कहे कि सुबाहुको तो बाण-विद्यासे मारा था। और धनुषमें तो हाथका बल चाहिये, उसीपर 'बिप्र काज करि' कहकर फिर मुनिवधूका उद्धार कह जनाती है कि ये बड़े शक्तिमान् हैं, देखो अहल्याके तारनेमें तो हाथका भी काम न था।

देखि राम छबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि यह बरु अहई॥ १॥
जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करै बिबाहू॥ २॥
कोउ कह ए भूपति पहिचानें। मुनि समेत सादर सनमाने॥ ३॥
सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई॥ ४॥

शब्दार्थ—जोगु=योग्य, (किसीके) उपयुक्त, लायक। अहई=है। पनु=प्रण, प्रतिज्ञा। भजई=भजेगा। भजना=सेवन वा सेवा करना; आश्रय लेना; आश्रित होना। कोउ एक=कोई एक; बहुतोंमेंसे ऐसा एक जो अनिर्दिष्ट हो।

अर्थ—श्रीरामजीकी छबि देखकर कोई एक (अन्य स्त्री) कहती है कि यह वर श्रीजानकीजीके योग्य है॥ १॥ हे सखी! यदि राजा इन्हें देख पावें तो हठपूर्वक प्रतिज्ञाको छोड़कर विवाह कर दें॥ २॥ (इसपर) कोई सखी कहती है कि ये राजाके जाने-पहचाने हुए हैं। मुनि-सहित इनका (राजाने) आदरपूर्वक सम्मान किया है॥ ३॥ पर हे सखि! राजा प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते। विधाताके वश (दैवात्, दैवाधीन) हठपूर्वक अविवेक का ही सेवन करते हैं। अर्थात् अविवेकहीको ग्रहण किये हुए हैं, अविवेकी कहलाना पसंद करते हैं, उनमें कुछ बुद्धिमानी रह ही नहीं गयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'देखि राम छबि कोउ एक कहई।…' इति। [(क) 'कोउ एक'—बैजनाथजीका मत है कि 'यह तीसरी सखी हेमा है। इसकी माताका नाम सुभद्रा और पिताका नाम अरिमर्दन है।' 'कोई एक' मुहावरा है, इससे बहुतोंमेंसे किसी एक अनिर्दिष्ट व्यक्तिको सूचित किया जाता है]। (ख) 'जोगु जानकिहि येह बरु अहई' इति। छबि देखकर श्रीजानकीजीके योग्य कहनेका तात्पर्य यह है कि छबिमें श्रीजानकीजीके योग्य है, पर धनुष तोड़ने योग्य नहीं है। यह स्त्री मिथिलापुरीकी है, इसीसे यह श्रीरामजीको श्रीजानकीजीके योग्य कहती है। यदि अयोध्यावासिनी होती तो 'श्रीरामजीके योग्य श्रीजानकीजी हैं' ऐसा कहती। नैहरमें कन्याकी प्रधानता रहती है। (ग) 'येह बरु अहई' इति। दूसरी सखी जो इसके पहले बोली थी उसने दोनों भाइयोंका वर्णन किया था; इसीसे तीसरी सखी अंगुल्यानिर्देश करके कहती है कि 'येह बरु' (इससे यह जान पड़ता है कि दोनों भाई अब सामने आ गये हैं)। पुनः भाव कि [सुन्दर तो दोनों कुमार अवश्य हैं, परन्तु श्रीजानकीजीके वर योग्य यह श्याम राजकुमार ही है (वै०)। रूप देखकर रूप देखनेका फल कहती है। यह तेजस्तत्त्व है। (वि० त्रि०)]।

नोट—१ जो बात दूसरी सखीने कही, उसीको यह सखी पुष्ट करती है। 'देखि छबि' से जनाया कि केवल श्रीराम-जानकीके छबिके मेलसे इसने श्रीरामजीको श्रीजानकीजीके योग्य बताया। मिथिलामें सुन्दरतामें सबसे श्रीजानकीजी विशेष हैं, प्रधान हैं, अतएव उनके योग्य कहा (प्र० सं०)। आगे एक सखीने भी इसी भावसे कहा है—'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥ २२३। ७।' अर्थात् जैसी सुन्दर श्रीसीताजी हैं वैसे ही सुन्दर श्यामवर्ण श्रीरामजी भी हैं, पुनश्च यथा—'सीय राम संयोग जानियत रच्यौ बिरंचि बनाइ कै। गी० १। ६८। ६।', 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहिं ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री॥ गी० १। ७७। ६।' गी० १। ८० में योग्यता दिखायी गयी है; यथा—'मिलो बरु सुंदर सुंदरि सीतहि लायक साँवरो सुभग सोभाहू को परम सिंगारु मनहू को मन मोहै उपमाको को है।'

२ वरकी योग्यताके सम्बन्धमें तीन बातें देखी जाती हैं—घर, वर, कुल। वर सुन्दर हो, घर भरा पूरा धनवान् हो, उत्तम कुल हो, कुल यशस्वी हो। यथा—'जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिवाहु सुता अनुरूपा॥ ७१। ३।', 'रूपहि दंपति मातु धन पिता नाम बिख्यात। उत्तम कुल बांधव चहहिं भोजन चहहिं बरात॥' (अज्ञात), 'कन्या सुंदर बर चहै मातु चहै धनवान। पिता कीर्तियुत स्वजन कुल अपर लोग मिष्टान॥ (अज्ञात)।—'जोगु जानकिहि…' कहकर श्रीरामजीमें सब प्रकारकी योग्यता दिखायी। (प्र० सं०)।

३ 'जौ सखि इन्हहि देख नरनाहू ।' इति । 'जौ सखि इन्हहि देख नरनाहू' से स्पष्ट है कि इसे नहीं मालूम है कि राजा मुनिके दर्शन करने गये थे और वहाँ इन्हें देख चुके हैं, फिर साथ ही इन्हें लाकर राजमहलमें ठहराया है । बैजनाथजी-का मत है कि यहाँ श्रीकीशोरीजीका मन्दिर जानकर श्रीरामजी यहाँ रुके हुए हैं । किशोरीजी तो स्वाभाविक ही देख रही हैं और अष्टसखी उनके निकट ही परस्पर वार्ता कर रही हैं ।' (यह मत कहाँतक ठीक है, पाठक स्वयं विचार कर लें) । सत्योपाख्यानके आधारपर उनका मत यह भी है कि जब श्रीरामजी ऋषियोंके साथ भोजन कर रहे थे, उस समय सब स्त्रियों-सहित रानियाँ इनकी माधुरी छबिका दर्शन कर रही थीं । वे इस शङ्काका कि 'फिर यह सखी यह कैसे कहती है कि 'जो सखि इन्हहि देख नरनाहू !' समाधान यह करते हैं कि 'जिस समय राजमन्दिरमें राजकुमार भोजन करने हेतु आये थे उस समय यह वहाँ नहीं थी । अथवा, विभ्रमहाव है, छबि-अवलोकनसे पूर्व सुधकी विस्मृति हो गयी है ।'

टिप्पणी—२ (क) दूसरी सखीने कहा था कि 'बिप्र काज करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि । आए देखन चापमख···॥' अर्थात् ये बड़े वीर हैं, बड़े प्रतापी हैं, धनुष अवश्य तोड़ेंगे । इसपर तीसरी कहती है कि इन्हें धनुष न तोड़ना पड़ेगा । राजा जैसे ही इनको देखेंगे, इनकी छबिपर मुग्ध होकर अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर इन्हींसे श्रीजानकीजीका विवाह कर देंगे । तात्पर्य कि श्रीरामजीकी अवस्था और सुकुमारता देखकर धनुषके तोड़नेकी प्रतीति हृदयमें नहीं ठहरती, इसीसे प्रणका छोड़ना कहती है । (ख) 'नरनाहू' का भाव कि राजाओंका अर्थसेवन मुख्य इष्ट है (अर्थात् अपना कार्य-साधन प्रिय होता है), अतः वे प्रण छोड़कर ब्याह कर देंगे । [राजा लोग अपने स्वार्थके लिये धर्मको नहीं मानते और ये राजा हैं । अतः ये प्रतिज्ञा छोड़ देंगे, उसका किंचित् भी विचार न करेंगे । (पां०)] । (ग) 'हठि' का भाव कि यदि ये कहेंगे भी कि हम धनुषको तोड़ेंगे तो भी राजा इन्हें तोड़ने न देंगे, अपना हठ छोड़कर इनके विवाहका हठ करेंगे, क्योंकि प्रण ही विवाहको रोकता है । ['हठि' देहली-दीपक-न्यायसे 'पन' और 'विवाह' दोनोंके साथ है । अर्थात् हठ करके प्रणको छोड़ देंगे और हठ करके विवाह कर देंगे । अर्थात् प्रतिज्ञामें हठ न करेंगे वरंच विवाहके लिये हठ करेंगे । (प्र० सं०)] 'पन परिहरि'—भाव कि प्रण छोड़ देंगे, इनको न छाड़ेंगे । जानकीमङ्गलमें राजाओंने भी यही कहा है; यथा—'पन परिहरि सिय देब जनक बरु स्यामहिं । बर दुलहिनि लगि जनक अपन पन खोइहि ॥' [प्रण और हठमें भेद दिखलाती है । प्रण छोड़ना अनुचित है और अनुचितके पक्षपातको ही हठ कहते हैं । (वि० त्रि०)] ।

श्रीलमगोड़ाजी—साधारण स्त्री-जनताका कैसा सुन्दर चित्र है । उन्हें प्रेममें नेम भी 'हठ' जान पड़ता है । उर्दू कविने खूब कहा है—'मूए आतशदीदा है हलका मेरी जंजीर का' (नियमकी शृङ्खला आगमें डाले हुए बालकी तरह खाक हो गयी है) । कविका कमाल यह है कि दृष्टिकोण दिखा दिया है किन्तु नैतिक स्वच्छन्दताको प्रयोगमें नहीं आने दिया और विश्वरचयिताके भी नियमपर श्रद्धाद्वारा ही बड़े मजेसे बचाया है, शुष्क उपदेश रूपमें नहीं ।

टिप्पणी—३ 'कोउ कह ए भूपति पहिचाने ।···' इति । (बैजनाथजीके मतानुसार इस सखीका नाम क्षेमा है । इनकी माता 'शोभावती' और पिता रिपुतापन हैं । वि० त्रि० जीका मत है कि यह सखी 'पृथ्वी तत्त्व' है) । (क) यह सखी पूर्वके वचनका खण्डन करती है । जो तीसरी सखीने कहा था कि 'जौ सखि इन्हहिं देखि नरनाहू', उसपर कहती है कि 'ए भूपति पहिचाने' और जो उसने कहा था कि 'पन परिहरि हठि करै बिबाहू' इसके उत्तरमें आगे कहती है कि 'पनु राउ न तजई । बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई ॥' (ख) 'मुनि समेत सादर सनमाने'—[अर्थात् अर्घ्य पाँवड़े देते हुए राजमहलमें लाकर सुन्दर उत्तम निवासस्थानमें जहाँ सब प्रकारका सुपास है ठहराकर भोजन कराया, फिर सब प्रकार विनय बड़ाई की । इत्यादि आदर सम्मान है । यथा—'नाइ सीस पगनि असीस पाइ प्रमुदित पाँवड़े अरघ देत आदर सो आने हैं । असन बसन बास कै सुपास सब बिधि, पूजि प्रिय पाहुने सुभाय सनमाने हैं । गी० १ । ५९ । २ ।'

४—'सखि परंतु पन राउ न तजई ।···' इति । (क) 'परंतु' का भाव कि यद्यपि वर सुन्दर है, वीर है, प्रतापी है और श्रीजानकीजीके योग्य है तब भी ।

नोट—४ 'पन राउ न तजई' का भाव कि राजहठ, बालहठ, त्रियाहठ प्रसिद्ध है, ये तीनों अपना हठ नहीं छोड़ते । प्रतिज्ञाको हठपूर्वक निर्वाह करना राजाओंका भूषण है, प्रतिज्ञा छोड़ देनेसे राजाकी शोभा नहीं रह जाती, उसके पुण्योंका नाश हो जाता है; यथा—'सुकृत जाइ जौ पनु परिहरऊँ । २५२ । ५ ।' 'एक कहहिं भल भूप देहु जनि दूषन । नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन ॥ ४१ ।' (जानकीमङ्गल), 'अंब करि पैज पंच महँ जो पन त्यागै । बिधिगति जानि

न जाइ अजसु जग लागै ॥ ४३ ।' (जानकीमङ्गल) । पुनः भाव कि राजाका प्रण वज्ररेखके समान है, यथा—'बज्र रेख गजदसन जनकपन बेद बिदित जग जान । गी० १ । ८७ ।'; अतः वे प्रतिज्ञा न छोड़ेंगे । श्रीजानकी-मङ्गलमें राजाका अपने कठिन पनके कारण चिंतित होना कहा है, उससे भी यही आशय निकलता है । यथा—'रूप सील बय बंस राम परिपूरन । समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन ॥ २९ ॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनि कै ।'

प० प० प्र०—यहाँ 'नरनाहू', राउ', 'भूपति' शब्दोंके प्रयोगमें भाव यह है कि वे सत्ताधीश हैं, उनमें दया वा मया कहाँ ? वे तो अपनी कीर्तिको ही देखेंगे, सीताजीके सुखदुःखका विचार वे कब करने लगे ? और हमलोग तो प्रजा हैं, उनसे प्रत्यक्ष कह नहीं सकतीं । यहाँ स्त्रियोंके उतावले चंचल स्वभावका दिग्दर्शन कराया गया है ।

टिप्पणी—५ 'बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई ।' इति । 'बिधिबस' कहनेका भाव कि राजा अपनेसे प्रतिज्ञामें हठ न करते, पर विधिके वश वे अज्ञानी हो रहे हैं । राजा बड़े चतुर हैं, पर अज्ञानमें चतुराई नहीं रह जाती, यथा—'भूप सयानप सकल सिरानी । सखि बिधि गति कछु जाति न जानी ॥ २५६ । ५ ।'—[यहाँ भी वही भाव है (जो २५६ । ५ का है) कि विधाताकी गति न्यारी है, न जाने उसे क्या करना है कि राजाका सयानपन चला गया, वे कुछ विचार नहीं करते । सब प्रकार श्रीसीताजीके योग्य, नेत्रोंका मानो फलस्वरूप और श्रीसीताजीके सुकृतोंका मानो सारस्वरूप ऐसा सुन्दर वर देखकर भी वे अपने पुराने प्रणपर टिके हुए हैं, प्रण और राजकुँवर दोनोंको प्रेमकी तुलापर तोलते तो अवश्य प्रण छोड़ देते, पर ऐसा नहीं करते, यह अविवेक है । यथा—'नैननिको फल कै धौं सियको सुकृत सारु ।'''ऐसिऔ मूरति देखि रह्यो पहिलो बिचारु ॥ गी० १ । ८० ।' इससे यह भी जनाया कि प्रण छोड़कर विवाह कर देते तो यह विवेककी बात होती । हानि-लाभ न समझना ही अविवेक है ।]

नोट—५ ज्ञानी होकर अविवेक क्यों धारण किये हैं ? इसका समाधान 'बिधि बस' से करती हैं । इससे यह भी भाव निकलता है कि ज्ञानीके सत्सङ्गसे अज्ञानीका अज्ञान दूर हो जाता है पर ज्ञानी अपना हठ दूसरेके कहने समझानेसे भी नहीं छोड़ता । ऐसा ही आगे श्रीजानकीजी कहती हैं, यथा—'अहह तात दारुनि हठ ठानी । समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥ २५८ । २ ।' करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ राजाको विवेकवान् ही ठहराया और पनको अविवेकवान् । (प्र० सं०) । ☞ यहाँ सखी स्नेहवश राजा वा राजाकी प्रणरक्षाको अविवेकी कह रही है । यथा—'पुर नर नारि निहारहिं रघुकुलदीपहिं । दोसु नेह बस देहिं बिदेह महीपहिं । (जानकीमङ्गल ४१) । [इसका तर्क यह है कि प्रण योग्य वरके लिये ही किया गया था; अतः योग्य वर मिल जानेपर प्रणपर अड़े रहना अनुचित है । यह उचित अनुचितका विचार अपनी रुचिके अनुसार करती है, तमोबहुल है । अविवेकको विवेक और विवेकको अविवेक समझती है । अतः यह पृथ्वीतत्त्व है । (वि० त्रि०)]

कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता । सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता ॥ ५ ॥
तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू । नाहिन आलि इहाँ संदेहू ॥ ६ ॥
जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू । तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू ॥ ७ ॥
सखि हमरें आरति अति तातें । कबहुँक ए आवहिं एहि नातें ॥ ८ ॥

दो०—नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसनु दूरि ।
येह संघटु तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि ॥ २२२ ॥

शब्दार्थ—संजोग (संयोग)=संगति, सम्बन्ध, योग, बनाव बनत, जोड़ । कृतकृत्य=कृतार्थ, सफल मनोरथ, सर्व-कामनापूर्ण ☞ यह शब्द प्रायः आदर सम्मान-श्रद्धा आदि सूचित करनेके लिये प्रयुक्त होता है । आरति (आर्ति)= बड़ी उत्कट लालसा, आकुलता । यथा 'आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान । २ । १८६ ।' नाते=सम्बन्धसे । पुराकृत=पुरा (पुराने समयमें, पूर्वकालमें) × कृत (किया हुआ)=पूर्व जन्मोंमें किया हुआ । संघटु=संयोग । भूरि= बहुत, समूह ।

अर्थ—कोई कहती है कि जो विधाता भले (अच्छे) हैं और सबको उचित फल देनेवाले सुने जाते हैं ॥ ५ ॥ तो श्रीजानकीजीको यही वर मिलेगा । हे सखी ! इसमें सन्देह नहीं ही है ॥ ६ ॥ जो दैववशात् ऐसा योग बन जाय तो सब लोग

कृतकृत्य हो जायँ ॥ ७ ॥ हे सखी! हमारे हृदयमें इससे बड़ी आतुरता हो रही है कि कभी तो ये इस नाते आवेंगे ॥ ८ ॥ नहीं तो हे सखी! सुनो' हमको इनका दर्शन दुर्लभ है। यह संयोग तो तभी हो सकता है जब पूर्व जन्मोंके समूह पुण्य एकत्र हों॥२२२॥

टिप्पणी—१. कोउ कह जो भल'''' इति। [(क) बैजनाथजीके मतानुसार यह पाँचवीं सखी वरारोहा है। इसकी माँ मोदिनी और पिता महिमंगल हैं।] (ख) 'बिधि बस अबिबेकहि भजई' यह सुनकर पाँचवींने कहा कि 'जौ भल—,'। यहाँ 'बिधि' का अर्थ 'विधाता' स्पष्ट कर दिया। 'जो भला है और उचित फलदाता है तो श्रीजानकीजीको यही वर मिलेगा', इस कथनका भाव यह है कि जानकीजीके लिये उचित वर यही है' इससे अच्छा दूसरा योग विधाताको कहीं भी नहीं मिल सकता। [यह सखी ब्रह्मदेवके भले-बुरेकी परख जानकीजीके योग्य वर मिलने न मिलनेमें कर रही है। इसे विधिका भरोसा है, वे विधि बैठा देंगे तो सबका मनोरथ पूर्ण होगा। इसे शुद्ध प्रेम कहते हैं। स्वयं मोहित है पर विवाह उनका जानकीजीसे चाहती है। (वि० त्रि०)]

२ (क) 'नाहिं न आलि इहाँ संदेहू' इति। 'इहाँ'=इस बातमें। अर्थात् विधाताके उचित फल देनेमें संदेह नहीं है। 'इसमें सन्देह नहीं है' इस कथनका भाव कि जनकजीके प्रण छोड़नेमें अवश्य सन्देह है पर विधाताके विषयमें सन्देह नहीं है। इसीसे आगे कहती हैं "जौ बिधि बस—"। [(ख) यहाँ 'आलि' शब्द बड़ा भावपूर्ण है। 'अलि' भ्रमरीको भी कहते हैं। इस शब्दसे जनाते हैं कि यह भ्रमरीकी तरह छविरूपी तालाबमें श्रीरामजीके मुखकमलके अनुरागरूपी मकरन्दरसको पान करती हुई परस्पर वचनरूपी गुंजार कर रही है। अथवा, मुखसरोजके छविरूपी मकरन्दका पान करती है; यथा 'मुख-सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान। २३१।' (ग) मिलान कीजिये—'कौसिक कथा एक एकनि सों कहत प्रभाउ जनाइ कै। सीय-राम-संजोग जानियत रच्यो बिरंचि बनाइ कै। गी० १। ६८।' 'मानि प्रतीति कहे मेरे तें कत संदेह बस करति हियो री। तौलौं है यह संभु सरासन श्रीरघुबर जौ लौं न लियो री। जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहि ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संयोग सियो री।" गी० १। ७७)]

३ 'जौ बिधिबस अस बनै सँजोगू—' इति। (क) पूर्व सखीने कहा था कि 'बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई' और यह सखी कहती है कि 'जौ बिधि बस अस बनै सँजोगू।' इस तरह जनाया कि बिगाड़ना और बनाना दोनों विधाताके अधीन हैं। राजा हठपूर्वक अविवेकको भजते हैं यह बिगाड़ना है और श्रीराम जानकीजीका विवाह होना बनना है। बननेमें सन्देह है इसीसे सन्देहवाचक पद 'जौ' दिया और बिगड़नेमें सन्देह नहीं, इससे उस सखीके वचनमें 'जौ' न कहा था। (ख) 'तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू' इति। 'सब लोगू'—भाव कि वर पाकर श्रीजानकीजी कृतकृत्य होंगी, (माता' पिता, बन्धुवर्ग, सभी स्त्री-पुरुष (तथा सुर, नर, मुनि सभी) कृतकृत्य होंगे। सबको कहकर आगे स्त्रियोंको पृथक् कहती है। [(ग) 'बिधि बस' का भाव कि राजा तो प्रण त्यागेंगे नहीं' 'हाँ, दैवयोगसे जो इनके हाथसे धनुष टूटे, इस तरह विधिवश संयोग हो जाय तो।। (वै०)]

४ 'सखि हमरे आरति अति—' इति। (क) 'अति आरति' का भाव कि इनके दर्शनों बिना सभी ही आर्त हैं, पर हम अति आर्त हैं, क्योंकि हमलोग स्त्री हैं, घरसे बाहर नहीं निकल सकतीं। पुरुष तो अयोध्यामें भी जाकर दर्शन कर आ सकते हैं। (ख) 'कबहुँक ए आवहिं एहि नाते' अर्थात् इनका विवाह यहाँ हो जाय, यह नाता (ससुरालका सम्बन्ध हो जाय और कभी ये इस सम्बन्धसे आवें तब हम इनके दर्शन पा सकती हैं, नहीं तो हमारे लिये इनका दर्शन दुर्लभ है' इसीसे हमें अत्यन्त आर्ति है। [मनोरथकी पूर्ति न होनेसे ब्रह्माको बुरा कहना, विवाह हो जानेसे सबको कृतकृत्य मानना, अति आरत होनेका लक्षण है। दर्शनके लिये आर्त होनेसे यह सखी 'जलतत्त्व' है— 'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे'। (वि० त्रि०)। (ग) 'आरति'=मानसी व्यथा (वै०)।=पीड़ा। (रा० प्र०)। इस उत्कण्ठासे इस सखीके हृदयमें दर्शनकी लगन जानना चाहिये। (वै०)। भाव यह है कि नाता न हुआ तो दर्शन होनेका नहीं। नाता हो जानेपर भी इनकी ही कृपासे दर्शनोंका संयोग हो सकता है, यह आशा है। श्रीजानकीजीके नाते ही हम भी इनको अपने यहाँ बुला सकेंगी। (पं०)। (घ) श्रीकरुणासिन्धुजीका मत है कि ये वचन युवावस्थाकी सखीके हैं, इससे 'अति आर्त' है और जो मुग्धा हैं, इस रसकी ज्ञाता नहीं, वे केवल आर्त हैं।]

५ "नाहि त हम कहुँ सुनहु''''" इति। (क) 'हम कहुँ' अर्थात् मिथिलावासिनी स्त्रीमात्रको। 'नहीं तो दर्शन दूर हैं' का भाव कि इस समय तो धनुर्यज्ञ देखने आ गये हैं, घर लौट जानेपर यहाँ आनेके लिये कोई कारण ही न

रह जायगा और हम लोग तो स्त्री होनेसे वहाँ जा नहीं सकतीं। पुनः 'दरसन दूरि' अर्थात् इस समय जैसे अत्यन्त निकट है, वैसे ही ब्याह न होनेसे अत्यन्त असम्भव हो जायगा। [इससे जनाया कि 'अति आरति' मानसी व्यथा है, इस व्यथा (पीड़ा या रोग) को ओषधि दर्शन है]। (ख) 'पुन्य पुराकृत भूरि' इति। भाव कि इस सम्बन्धका होना विधाताके हाथ है। विधाता कर्मफलका देनेवाला है, यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता।'

६ (क) ☞ इस सखीने क्रमसे इतनी बातें कहीं—(१) प्रथम श्रीजानकीजीको इस वरकी प्राप्ति कही, यथा 'तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू।' (२) प्राप्तिका संयोग बताया, यथा 'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू।' (३) उस संयोगको नाता कहा, यथा 'कबहुँक ए आवहिं एहि नाते।' (४) उस नातेका संघट (बनाव) कहा कि 'यह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि'। (ख) इस संयोगके प्राप्त हो जानेपर पुरवासियोंने अपनेको अत्यन्त सुकृती माना भी है। यथा 'हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी। जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी। ३१०। १-४।' [(ग) 'पुराकृत भूरि' का भाव कि सुकृती तो अब भी हैं, सुकृतसे ही इनका दर्शन हुआ है, यथा 'भूरि भाग हम धन्य आलि ए दिन ए खन। गी० १।७३।', 'बड़े भाग आए इत ए री। गी० १। ७६।' और यह विवाहका संयोग तो तब होगा जब सुकृत समूह होंगे। इसीसे तो सबने श्रीरामजीके हाथसे धनुष टूटनेके लिये अपने-अपने सुकृतोंको लगाया है। यथा 'सुकृत सँभारि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै। रघुबर कर धनु भंग चहत सब अपनो सो हितु चितु लाइ कै। गी० १। ६८।', 'बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे। जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे॥ तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहिं रामु गनेस गोसाईं। १। २५५।' सबका सुकृत मिलकर सुकृतसमूह हो गया और सभी भूरि सुकृती हैं। पुनः, 'पुन्य पुराकृत भूरि' का भाव कि पुण्यसमूह होनेसे हमें आगे भी इनके दर्शन होते रहेंगे। दर्शन किया, कर रही हैं और आगे भी करेंगी, यह पुण्यपुंजसे ही होता है। यथा 'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे। २। १२०।']

बोली अपर कहेहु सखि नीका। येहि बिआह अति हित सबही का॥ १॥
कोउ कह संकर चाप कठोरा। ए स्यामल मृदु गात किसोरा॥ २॥
सब असमंजस अहइ सयानी। येह सुनि अपर कहै मृदु बानी॥ ३॥

अर्थ—दूसरी और सखी बोली—हे सखी! तुमने बहुत भली (बहुत अच्छी) और ठीक ही बात कही। इस विवाहसे सभीका अत्यन्त हित है॥ १॥ कोई और बोली कि शंकरजीका धनुष कठोर है (और) ये साँवले (राजकुमार) कोमल शरीर और किशोर (अवस्थाके) हैं॥ २॥ हे सयानी! सब (प्रकार) असमंजस (दुविधा) ही है। यह सुनकर और दूसरी सखी कोमल वाणी बोली॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'बोली अपर' इति। (बैजनाथजीके मतसे यह पद्मगन्धा नामकी सखी है। इनकी माता 'शोभनांगी' और पिता 'बलाकर' हैं)। (ख) पाँचवीं सखीने जो कहा कि 'जो बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू॥' उस वचनका समर्थन छठी सखी करती है। 'कहेहु सखि नीका' यह उसके वचनकी प्रशंसा एवं समर्थन है। अर्थात् तुमने जो कहा वह सत्य है, अवश्य ही इस विवाहसे सभीका हित है। (पुनः 'नीका' से जनाया कि बात सबके मनको भाती है)। [(ग) 'अति हित' का भाव कि विवाहसे माता, पिता, परिजन इत्यादिका हित होता है और इस (अर्थात् श्रीराम-जानकीके) विवाहसे तो समस्त मिथिलावासियोंका, समस्त अवधवासियोंका, सुर, मुनि, विप्र, संत और पृथ्वी इत्यादिका सभीका हित है। इसीसे इसे 'अति हित' कहा। पुनः, 'अति हित', यथा—'कहहिं परसपर कोकिल बयनी। येहि बिआह बड़ लाभु सुनयनी॥ बड़े भाग बिधि बात बनाई। नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई॥ बारहि बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय। लेन आइहहिं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय॥ ३१०।' 'तब तब राम लषनहि निहारी। होइहहिं सब पुर लोग सुखारी॥' अथवा, योग्यता और ऐश्वर्य दोनोंकी समताके कारण 'अति हित' कहा। [वि० त्रि० के मतसे यह सखी 'वायु तत्त्व' है, क्योंकि यह सबमें 'अति हित' का संचार करती है]।

२ (क) 'कोउ कह'—(बैजनाथजीके मतसे यह सुलोचना नामकी सखी है जिसकी माताका नाम विलक्षा और पिताका तेजस है)। सातवीं सखीके वचन प्रतिकूल हैं। इसने शंकर-चापकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारता दरसाकर

जो हर्ष और सुख पाँचवीं और छठीने उत्पन्न किया था उसको संकुचित कर दिया, सबको असमंजसमें डाल दिया, सबको दुखी कर दिया, क्योंकि शिवचापकी कठोरता सभी जानती हैं। (ख)'संकर चाप कठोरा। ए स्यामल···' अर्थात् शंकरजीका धनुष वज्रसे भी अधिक कठोर है और ये अभी नितान्त सुकुमार बालक हैं; यथा—'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥···सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा ॥ २५८। ४-५।' (ये श्रीजानकीजीके वचन हैं); 'ए बालक असि हठ भलि नाहीं। रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥ सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं ॥ २५६। २-४।' (ये श्रीसुनयना अम्बाके वचन हैं), 'ए किसोर धनु घोर बहुत बिलखात बिलोकनिहारे। टरयो न चाप तिन्ह तें जिन्ह सुभटन्हि कौतुक कुधर उखारे ॥ गी० १। ६६।' (ये पुरवासियोंके वचन हैं), 'सोचत बिधिगति समुझि परसपर कहत बचन बिलखाइ कै। कुँवर किसोर कठोर सरासन असमंजस भयो आइ कै ॥ गी० १। ६८।', 'कुलिस कठोर कूर्मपीठि ते कठिन अति। क० १। १०।' अर्थात् वज्रसे तथा कछुएकी पीठसे भी अधिक 'कठोर'। [यह सखी संशय करती है, इसकी समझमें तो किसी भाँति सामंजस्य ही नहीं बैठता। अतः यह 'मनस्तत्व' है। (वि० त्रि०)]

१ (क) 'सब असमंजस अहइ सयानी' इति। भाव कि यद्यपि सब सयानी हैं तथापि यह वचन सुनकर सब अंदेशेमें पड़ गयीं, श्रीरामजीकी सुकुमारता और अवस्था देखकर धनुष तोड़नेकी प्रतीति किसीको नहीं होती। ☞ बड़े-बड़े सयाने माधुर्यमें भूल जाते हैं। ऐश्वर्य सुननेसे सबको प्रतीति होती है, इसीसे अब अगली सखी ऐश्वर्य कहकर सबका सन्देह दूर करती है और सबोंको विश्वास दिलाकर पुनः हर्षित कर देती है। असमंजसमें पड़ गयीं अर्थात् इसका उत्तर न दे सकीं। [मेरी समझमें यह अर्थ नहीं है कि सब असमंजसमें पड़ गयीं। किन्तु अर्थ यह है कि सब प्रकारसे असमंजस है। बैजनाथजीने भी यही भाव लिखा है जो पं० रामकुमारजीने लिखा है।] पुनः, ['सब असमंजस (अर्थात् दुविधा) यह कि जानकीजीके जयमाल पहनानेमें पिताका प्रण रोकता है और पिताके देनेमें उनकी (पिताकी) प्रतिज्ञा रोकती है तथा धनुष तोड़नेमें श्रीरामजीकी कोमलता असमंजस है, टूटे या न टूटे यह सन्देह है।'' (पाँ०)] (ख) 'येह सुनि अपर कही···' इति। (बैजनाथजीके मतसे यह 'सुभगा' नामकी सखी है जिसकी माता बिनीता और पिता महावीर्य है। 'मृदु बानी'—एक तो ये सभी मृदुभाषिणी हैं ही, उसपर भी यह वाणीको कोमल करके बोली। कोमल वाणीका प्रभाव घबड़ाये हुए व्यक्तियोंपर बहुत शीघ्र पड़ता है और पूरा पड़ता है)।

सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ॥ ४ ॥
परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥ ५ ॥
सो कि रहिहि बिनु सीव धनु तोरें। येहि प्रतीति परिहरिअ न भोरें ॥ ६ ॥

अर्थ—हे सखी! इनको कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये बड़े प्रभावशाली हैं, देखनेमें ही छोटे हैं ॥ ४ ॥ जिनके चरण-कमलकी धूलिका स्पर्श कर अहल्या तर गयी जिसने समूह पाप किये थे ॥ ५ ॥ भला वह शिवजीके धनुषको बिना तोड़े कब रह सकते हैं? यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ो ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कोउ कोउ अस कहहीं' इति। भाव यह कि श्रीरामजीके प्रभावके जानकार (ज्ञाता) सब नहीं होते, कोई-कोई ही होते हैं; इसीसे कहती है कि कोई-कोई ऐसा कहते हैं। यथा—'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः। गीता ७। ३।' [अथवा, 'कोउ कोउ' से जनाया कि जो राजाके साथ मुनिके दर्शनोंको गये थे और जिन्होंने मुनिके वचन सुने थे, वे ही इनके ऐश्वर्यको जानते थे और वे ही ऐसा कहते हैं। यथा—'मख राखेउ सब साखि जगु जिते असुर संग्राम। २१६।' (प्र० सं०)] (ख) 'बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं' इति। यथा—'रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु तिभुवन तम भागा ॥ २५६। ८।' आगे प्रभाव कहती है—'परसि···'।

नोट—१ 'परसि जासु पद···' इति। (अर्थात् बहुत और घोर पाप किये थे। घोर पापिनी थी। पतिवञ्चकता घोर पाप है, इसीसे 'अघ भूरी' कहा। यथा—'पतिबंचक पर पति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई ॥ छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥ ३। ५।' अहल्याने यह जानते हुए कि यह इन्द्र है उसके मनोरथको पूरा किया, और उसके साथ संभोग कर अपनेको कृतार्थ माना। यथा—'मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनंदन। मतिं

चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥ १९ ॥ अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना । कृतार्थोऽस्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २० ॥' (वाल्मी० १ । ४८) । अर्थात् विश्वामित्रजी कहते हैं कि हे रघुनन्दन ! मुनिवेष धारण किये हुए इन्द्रको पहचानकर भी उस दुष्टा अहल्याने प्रसन्नतापूर्वक इन्द्रकी बात स्वीकार कर ली । फिर कृतार्थ मनसे वह इन्द्रसे बोली कि मैं कृतार्थ हुई, अब तुम यहाँसे शीघ्र जाओ ।' श्रीविश्वामित्रजीने भी उसे 'दुष्टचारिणी' कहा है; यथा—'एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम् ॥ वाल्मी० १ । ४८ । ३३ ।' अतः 'अघभूरी' विशेषण दिया । पुनः अयोध्याबिन्दुमें लिखा है—'का तप तेज न रह्यो नारि में इंद्रहि डारत जारी ॥ २ ॥ येहि ते जाना मनकी पापिनि सिला करी मुनि नारी।' पुनः यथा—'गौतमकी तीय तारी मेटे अघ भूरि भारो ॥ क० १ । २१ ।'

टिप्पणी—२ 'सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें···' इति । (क) जो पूर्व सखीने कहा था कि '···संकर चाप कठोरा । ए स्यामल मृदुगात किसोरा ॥' उसीपर यह सखी कहती है कि भला ये धनुष तोड़े बिना कैसे रहेंगे ? भाव यह कि पतिवंचकतारूपी भारी पापका नाश करना धनुष तोड़नेसे अधिक कठिन काम है । धनुष तोड़ना उसके आगे कुछ भी नहीं है । [पुनः भाव कि जिनके चरण-रजका यह प्रभाव है, भला उनका प्रभाव कोई क्या कह सकता है ? 'सिलाछोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह, गुन पेखे पारसके पंकरुह पायके··· । गी० १।६५ ।' भाव कि जिनके चरणरजके प्रभावसे अहल्याकी जड़ता नष्ट हो गयी, वे धनुषकी जड़ता क्यों न नष्ट कर सकेंगे ? धनुषकी जड़ता ही उसकी गुरुता है, यथा 'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी । होउ हरुअ···' (वि० त्रि०) । पुनः भाव कि पतिवंचक स्त्रीको तीर्थ भी नहीं तार सकते, सो उसको भी इन्होंने तार दिया; 'जाको तारि सकत नहिं तीरथ गंग देउ श्रुति चारी । ताको रामचरनरज समरथ तारै हाँक हँकारी ।' (काष्ठजिह्वस्वामी)] (ख) 'येहि प्रतीति परिहरिअ न भोरें' इति । भाव यह कि 'बिप्र काज करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि । आए देखन चाप मख···' दूसरी सखीके ये वचन सुनकर सबको प्रतीति और हर्ष हुआ था जो पिछली सखीके 'संकर चाप कठोरा । ये स्यामल मृदुगात किसोरा' इस कथनसे जाता रहा था और सबको धनुषके तोड़नेमें सन्देह हो गया था; इसीपर यह सखी कहती है कि प्रतीति भूलकर भी न त्याग करिये । अर्थात् जैसे तुम लोगोंने एक सखीके इतने ही कथनसे, पूर्व जो विश्वास हो गया था उसे क्षणमात्रमें चलता कर दिया, वैसे ही जो विश्वास मैं दिला रही हूँ उसे भी कहीं न छोड़ देना। इस तरह 'परिहरिअ न भोरें' कहकर यह सबको सावधान कर रही है । इतना कहकर तब यह पाँचवीं सखीके '···जौं भल अहइ बिधाता । सब कहँ सुनिअ उचित फलदाता ॥ २२२।५ ॥' इन वचनोंकी पुष्टि करती है ।—'जेहि बिरंचि···'

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी । तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी ॥ ७ ॥
तासु बचन सुनि सब हरषानीं । ऐसइ होउ कहहिं मृदु बानीं ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस विरंचि (विधाता) ने श्रीजानकीजीको सँवारकर बनाया है, उसीने विचारकर (उसके लिये) श्यामल वरको भी बनाया है ॥७॥ उसके वचन सुनकर सब प्रसन्न हुईं और मीठी कोमल वाणीसे सब कहने लगीं कि 'ऐसा ही हो'॥८॥

☞ मिलान कीजिये—'मानि प्रतीति कहे मेरे तैं कत संदेह बस करति हियो री । तौ लौं है यह संभु सरासन श्रीरघुबर जौ लौं न छियो री ॥ २ ॥ जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहिं ऐसो रूप दियो री । तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री ॥ गी० १ । ७७ ॥'—यह सब भाव इस सखीके वचनोंमें हैं । 'रचि सँवारी' और 'रचेउ बिचारी' के सम्बन्धसे 'बिरंचि' नाम दिया । अर्थात् विशेष रचयिता ।

टिप्पणी—१ (क) 'जेहि बिरंचि···बिचारी' इस कथनसे पिछली सखीके 'संकर चाप कठोरा ।' इन वचनोंका खण्डन भी हो गया । (ख) 'ते स्यामल बरु रचेउ बिचारी'का भाव कि जिस वस्तुके बनानेमें बड़ी चतुराई और बड़े परिश्रमसे काम लिया जाता है यदि उसके अनुरूप जो-जो और वस्तु आवश्यक है वह न रची जाय तो उस वस्तुके बनानेमें जो चतुराई और परिश्रम किया गया तथा वह वस्तु भी व्यर्थ समझी जाती है । 'जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासू । कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू ॥ ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना । रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥ ए महि परहिं डासि कुस पाता । सुभग सेज कत सृजत बिधाता ॥ तरुबर बास इन्हहि बिधि दीन्हा । धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा ॥ जौं ए मुनिपटधर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार । बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किए करतार ॥ २।११९ ॥ जौं ए कंद मूल फल खाहीं । बादि सुधादि असन जग माहीं ।'' 'बिचारी' से जनाया कि श्रीसीताजीको बनानेका श्रम व्यर्थ न हो यह विचारकर श्यामल वर पहलेसे ही रच रक्खा है । [यह सखी निश्चय करती है अतः यह 'बुद्धितत्त्व' है । (वि० त्रि०)] ।

२ 'तासु बचन सुनि···' इति। भाव कि पूर्व सखीने जो कहा था कि 'सब असमंजस अहइ सयानी', वह सब असमंजस जाता रहा। सब असमंजसमें थीं, अब सब हर्षित हुईं। स्मरण रहे कि पूर्व भी ऐश्वर्य-कथनसे हर्ष हुआ था और अब भी ऐश्वर्यसूचक वचनोंसे ही हर्ष हुआ।—'परसि जासु पद पंकज धूरी···' यह ऐश्वर्यकथन है। पहले भी सब हर्षित हुई थीं और अब भी। उपक्रममें भी सुख कहा; यथा 'बिप्रकाजु करि···सुनि हरषीं सब नारि। २२१।' और उपसंहार-में भी सुख दिखाया—'सुनि सब हरषानीं। 'असेइ होउ' यह सबने कहा, जिसने असमंजसमें डाल दिया था वह भी एवमस्तु कहनेमें सम्मिलित हुई।

'दो बार हर्ष हुआ। दोनोंका मिलान'

(१) बिप्रकाजु करि बंधु दोउ मग मुनि बधू उधारि। आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि॥	परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। येह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी। असेइ होउ कहहिं मृदु बानी॥'

(२) दोनोंमें ऐश्वर्यकथन है, दोनोंमें 'सब' स्त्रियोंका हर्षित होना कहा गया है। 'सब' से जना दिया कि जिसने चापकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारताकी ओर ध्यान दिलाकर सबको असमंजसमें डाल दिया था, वह भी प्रसन्न हुई।

(३) पूर्व एक सखीके वचनकी प्रशंसा एकहीने की थी। यथा 'बोली अपर कहेउ सखि नीका। येहिं बिआह अति हित सबही का॥' और, इस सखीके वचनोंकी प्रशंसा सबने की, यथा 'असेइ होउ कहहिं मृदुबानी।' ☞ यहाँ मुख्य तात्पर्य विवाहसे है कि श्रीरामजानकीजीका विवाह हो जाय। इसके लिये चारों ओरसे विचार करती रहीं पर अवलम्ब कहीं न मिला। प्रथम श्रीजनकमहाराजका अवलम्ब लिया गया; यथा 'जो सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करै बिबाहू। २२२।२।' यह आश्रय दूसरेके वचनसे शिथिल हो गया, यथा 'सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई। २२२।४।' तब विधाताका आश्रय लिया गया, यथा 'कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता।···जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू। २२२।६–७।'—यह आशा भी शिथिल हुई, यथा 'नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसन दूरि। २२२।' तब भूरि पुण्योंका सहारा दैवयोगके लिये लिया, यथा 'येह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि। २२२।' यह भी आशा टूटी, क्योंकि कौन जाने पुण्य ऐसे हों या न हों। श्रीरामजीकी मधुर मूर्ति और भवचापकी कठोरताने इस अवलम्बको भी छुड़ा दिया। अन्तमें जब प्रभावमें मन गया तब प्रतीति हुई और सबको हर्ष हुआ।

☞ इस संवादसे हमें यह उपदेश मिल रहा है कि श्रीरामजीको छोड़, मनुष्यादिकी क्या कहनी, देवान्तरोंके भी आश्रित होनेसे कभी भी किसी प्रकार सुख नहीं प्राप्त हो सकता। श्रीरामाश्रित होकर उनका प्रभाव मनमें लानेसे ही जीव सम्यक् प्रकारसे सुखी हो सकता है और ऐसा करनेसे ही वह सबसे सराहनीय हो जाता है। श्रीरामजीकी आशा और उन्हींके भरोसेमें सुख है, अन्यके आशा-भरोसामें दुःखमात्र है।

दो०—हिय हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद॥२२३॥

अर्थ—सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके झुंड-के-झुंड मनमें हर्षित हो रहे हैं और फूल बरसा रहे हैं। जहाँ-जहाँ दोनों भाई जाते हैं वहाँ-वहाँ परम आनन्द हो रहा है॥ २२३॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ स्त्रियोंके तन, मन और वचन तीनोंका हाल कहा है। 'हिय हरषहिं' यह मन, 'बरषहिं सुमन' यह तन और 'असेइ होउ' यह वचनका हाल है। (ख) हर्ष बार-बार हुआ इसीसे कविने भी दो बार लिखा, एक तो 'तासु बचन सुनि सब हरषानी', दूसरे यहाँ 'हिय हरषहिं' में। (ग) 'हिय हरषहिं' का भाव कि प्रभाव सुनकर असमंजसका विवाद मिट गया और हृदयमें हर्ष हुआ। यथा—'बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिअ न रानी॥ कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा॥ रबिमंडल देखत लघु लागा।

उदय तासु तिभुवन तम भागा ॥'''। २५६ ।'''सखी बचन सुनि भै परतीती । मिटा बिषादु बढ़ी अति प्रीती ॥'— विषाद मिटा, प्रीति हुई, इसीसे खुशीमें फूलोंकी वर्षा करने लगीं ।

'हिय हरषहिं बरषहिं सुमन' के और भाव

रा० च० मिश्र—'हिय हरषहिं' का भाव कि हृदयके उपजे हुए हर्षको हृदयमें ही दबाती हैं, प्रकट नहीं करतीं क्योंकि जिस भावनाका हर्ष हो रहा है उसका बाधक अभी जनक महाराजका पन है ।

पां०—१ श्रीरघुनाथजीके चरण अत्यन्त कोमल हैं, वे पृथ्वीकी कठोरताको न सह सकेंगे । अतएव फूल बरसाकर मार्गको कोमल बना रही हैं कि इनपर होकर आवें ।

२ पुष्पोंकी वृष्टि मंगलकारी होती है । मंगलके समय मंगलके लिये की जाती है । यथा—'सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना । बर्षहिं सुमन ॥ ३१४ । १ ।' नगर-प्रवेश सुफल करनेके लिये पुष्पोंकी वर्षा करके मंगल जना और मना रही हैं।(पां०)

३ श्रीरघुनाथजी शान्तिपूर्वक बालकोंके साथ चले जा रहे हैं, वे ऊपरकी ओर दृष्टि नहीं डाल रहे हैं, उनकी दृष्टिको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये फूल बरसा रही हैं । फूल ऊपरसे गिरेंगे तो ये ऊपरको दृष्टि करेंगे तब हम इनके सुन्दर कटाक्षयुक्त वदनका दर्शन करेंगी, इस विचारसे फूल बरसाये ।

४ 'सुमन' अर्थात् अपने सुष्ठु सुन्दर मनोंको जो रघुनाथजीमें लगे हुए हैं, बरसा रही हैं । फूल भी इनके चरणोंको कठोर लगेगा, फूलोंको कोमल बनाना अपने बसकी बात नहीं है और हमारे मन हमारे वशमें हैं, इनको हम महान् कोमल बना सकती हैं; यह समझकर वें अपने सुन्दर परम कोमल मनोंको बिछा रही हैं कि इनपर इनके चरण पड़ें । (मन लगाने ही उनका बिछाना है)—'गड़ि न जाय पुष्पन की पाखुरी पायनि में' । (पां०) ।

वै०—१ अपने (सु-मन) अच्छे भावुक मनको उनके पास पहुँचाती हैं, निछावर करती हैं ।

२ पुष्पोंकी वर्षा क्रिया-चातुरी है । इस प्रकार संकेत कर रही हैं कि कल पुष्पवाटिकामें आइयेगा, वहाँ हम अपनी स्वामिनीजीके साथ मिलेंगी । ये विदग्धा हैं । (वै०) ।

☞ (नोट) यह रीति प्रायः सर्वत्र देखनेमें आती है कि जब कोई बड़े ऐश्वर्यवान् महानुभाव किसी नगरमें जाते हैं तो उस पुरके लोग आदर-सम्मान और अपना हर्ष जनानेके लिये उनका स्वागत फूल बरसाकर करते हैं ।

श्रीकरुणासिंधुजी आदि कई महात्मा (जो प्रायः शृङ्गारी हैं), इन स्त्रियोंको श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ कहते हैं। श्रीजानकीशरण (नेहलता) जी कहते हैं कि सखियाँ बहुत-सी हैं, उन्हींमेंसे ये भी हैं जो राजमहलके बाहर रहती हैं। वैजनाथजीका मत पूर्व लिखा जा चुका है कि ये आठों सखियाँ मिथिलेशजीके विमातृ आठ भाइयोंकी कन्याएँ हैं श्रीकिशोरीजीकी प्रधान सखियोंमें हैं । इनके नाम श्रीचारुशीलाजी, श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीहेमाजी, श्रीक्षेमाजी, श्रीवरारोहाजी, श्रीपद्मगधाजी, श्रीसुलोचनाजी और श्रीसुभगाजी हैं । और पं० श्रीरामचरण मिश्रजीका मत है कि इन अष्ट सखियोंके नाम क्रमसे ये हैं—श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीशुभ्रशीलाजी, श्रीभद्राजी, श्रीमानवतीजी, श्रीलीलाजी, श्रीश्यामाजी, श्रीशान्ताजी और श्रीसुशीलाजी । इनका मत है कि ये सब पुरवासिनी सखियाँ हैं ।

दूसरे कहते हैं कि प्रसङ्गमें 'कोउ सप्रेम बोली', 'कोउ एक कहई', 'कोउ कह ए भूपति पहिचानें', 'कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता', 'कोउ कह संकर चाप कठोरा' 'बोली अपर' और 'येह सुनि अपर कहइ' इत्यादिमें 'कोउ' और 'अपर' शब्दोंका प्रयोग किया गया है; पहली, दूसरी, तीसरी इत्यादि ऐसा नहीं कहा गया । इससे जान पड़ता है कि ये श्रीकिशोरीजीकी प्रधान सखियाँ नहीं हो सकतीं ।

☞ बाबा रामदासजी लिखते हैं कि 'कुछ लोग कहते हैं कि फूल बरसाकर सखियाँ पुष्पवाटिकाका संकेत जनाती हैं और यह कहते हैं कि ये श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ हैं ।—यह अर्थ पूर्वापर-प्रसङ्गसे अस्पष्ट है (विरुद्ध है, असङ्गत है); क्योंकि राजकुमारीकी सखियाँ कोटमें हैं और ये सब पुरवासिनी हैं । पुनः; कदापि ये ही श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ होतीं तो ये सब तो नेत्रोंसे देख रही हैं, पुष्पवाटिकामें भी ये अवश्य कहतीं कि हमने देखा है, परंतु ऐसा कहना कहीं पाया नहीं जाता । वे सुनना ही कहती हैं । यथा—'एक कहइ नृपसुत तेइ आली । सुने जे मुनि सँग आए काली ॥ २२९ । ४ ।' फिर 'देखन बाग कुअँर दुइ आए । बय किसोर सब भाँति सुहाए ॥ स्याम गौर किमि कहउँ बखानी ।''' इत्यादि वचन भी यही सूचित करते हैं कि साथकी सखियोंने दोनों राजकुमारोंको इसके पूर्व नहीं देखा था । (प्र० सं०) ।

पं० रामकुमारजी—यहाँ आठ ही सखियोंका संवाद वर्णन किया गया। कारण यह है कि प्रकृति आठ प्रकारकी कही गयी है; यथा—'आठहु आठ प्रकृति पर निर्विकार श्रीराम। विनय० २०३।', 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ गीता ७। ४।' यावत् पदार्थ हैं वे सब इन्हीं आठके भीतर आ जाते हैं। सब सखियोंकी उक्ति आठ प्रकारकी प्रकृतिके भीतर है। इसी भावका पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीने विस्तार किया है। वे लिखते हैं कि अपरा प्रकृतिका मोहित होना ही अष्ट सखियोंका संवाद है। राम ब्रह्मपर आठों प्रकृतियाँ मोहित हैं। अपरा प्रकृति सर्वत्र ही एक-सी है, अतः सर्वत्र ही एक-सी क्रिया हो रही है। यह सरकारके ऊपर पहली पुष्पवर्षा है। एक बार पहले जन्मके उपलक्षमें देवताओंद्वारा हुई थी, पर वह अयोध्यामें हुई थी, सरकारके ऊपर नहीं।

टिप्पणी—२ 'सुमुखि सुलोचनिबृंद' इति। ये विशेषण श्रीसीतारामजीके सम्बन्धसे दिये गये। ये मुखसे श्रीरामजीके रूप, यश, लीला और प्रताप प्रभावका वर्णन कर रही हैं, अतः इनको सुमुखी कहा और नेत्रोंसे उनका दर्शन कर रही हैं, अतः सुलोचनी कहा। पुनः, ये सब झरोखोंसे देख रही हैं इससे इन सबोंके नेत्र और मुख दो ही देख पड़ते हैं, इससे सुमुखी और सुलोचनी कहा। मिलान कीजिये 'लागि झरोखन्ह झाँकहिं भूपति भामिनि। कहत बचन रद लसहिं दमक जनु दामिनि॥ ४४।' (जानकीमङ्गल)।

श्रीलमगोड़ाजी—'जाहिं जहाँ जहँ····' इति। श्रीतुलसीदासजीकी कलाकी यह भी एक मुख्य बात है कि एक नमूना देकर पीछे यह कहकर कि इसी प्रकार बहुत-से समझ लिये जायँ, हमारी कल्पनाशक्तिको असीम विकासका अवसर दे दिया जाता है, वह संकुचित तो रह ही नहीं सकती।—यह ही कविताकी संकेत-कला (Suggestivenss of Poetry) है।

टिप्पणी—३ (क) 'जाहिं जहाँ···' इति। एक जगहका आनन्द वर्णन करके कवि कहते हैं कि इसी प्रकार सर्वत्र ही जहाँ ही राजकुमार पहुँचते हैं। ऐसा ही परमानन्द होता है; यथा—'गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरवचंदू॥ २। १२२।', कहाँतक लिखा जाय। हमने एक जगहका लिख दिया, इतनेसे ही सर्वत्रका समझ लें। (ख) श्रीजनकपुरमें निर्गुण ब्रह्मका आनन्द है। यथा राजा तथा प्रजा। अब निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्म एकत्र हुए हैं। निर्गुण ब्रह्मका सुख दोनों भाइयोंके सुखके पीछे-पीछे फिरता है। इन दोनोंको देखकर उस ब्रह्मानन्दको भी सुख मिला। यथा—'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहूके आनँद दाता॥ २१७। २।' [(ग) 'राजा जनकके हृदयमें जो परमानन्द अर्थात् ब्रह्मानन्द बसा था, वह साकार स्वरूपके हृदयंगत होनेसे निकल गया था। वही परमानन्द राजकुमारोंके पीछे-पीछे फिर रहा है। जब ब्रह्मानन्दकी यह दशा है तब सखियोंकी क्या कहें।' (रा० च० मिश्र)। (घ) 'तहँ तहँ परमानंद' का दूसरा अर्थ यह है कि दोनों भाई अपनेको परमानन्द जानते हैं परंतु यहाँ जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ गली-गलीमें श्रीजानकीजीके प्रभावसे परमानन्द भरा मिलता है। तीसरा अर्थ यह है कि परमहंस परमानन्द जो योगी जनककी पुरीमें बसता था वह श्रीरघुनाथजीके शृङ्गारानन्द (माधुर्यानन्दसे पराजित होकर जहाँ-जहाँ वे जाते हैं) उनके पीछे-पीछे फिरता है। (पाँ०)। (ङ) जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ परमानन्दको प्राप्त होते हैं। अर्थात् मिथिलावासिनी स्त्रियोंकी छवि-छटा देख-देखकर निहाल होते हैं। (रा० प्र०)]

प० प० प्र०—यह सब संवाद एक ही भवनमें बैठी हुई स्त्रियोंका समझना भूल है। क्योंकि ऐसा माननेसे यह मानना पड़ेगा कि युगल किशोर इतनी देरतक मर्यादाको छोड़कर एक ही जगह खड़े रहे हैं। दोनों भाई मार्गपर चल रहे हैं, दोनों तरफ पुरजनोंके भवन हैं। जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे ये आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे विविध भवनोंके झरोखोंमें लगी हुई युवतियाँ परस्पर इस प्रकार चर्चा कर रही हैं।

पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनुमख हित भूमि बनाई॥ १॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी॥ २॥
चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥ ३॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच मंडली बिलासा॥ ४॥
कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई॥ ५॥

शब्दार्थ—भूमि=रंगभूमि; वह स्थान जहाँ कोई उत्सव मनाया जावे। गच=चूना, सुरखी आदिमें पीटी हुई जमीन,

पक्का फर्श। (श० सा०)।=चूना, सुरखी आदिके मेलसे बने हुए मसालेसे बनाया हुआ पक्का फर्श; काँचका फर्श।(श० सा०)। यथा—'जातरूप मनि रचित अटारीं। नाना रंग रुचिर गच ढारीं॥ ७। २७। ३।', 'ज्यों गच काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की। टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की॥ वि० ९०।', 'मनि बहु रंग रचित गच काँचा। ७। २७। ६।' ढारी=बनी हुई; ढली हुई।=ढालुवाँ जिसमें जल न रुके।=ढाली वा बनायी गयी। गच ढारी=ढाली हुई गच। बेदिका=वेदी, किसी शुभ कार्यके लिये विशेषतः धार्मिक कार्यके लिये तैयार की हुई ऊँची भूमि। मंच=मचान, ऊँचा बना हुआ मण्डल जहाँ बैठकर लोग तमाशा आदि अच्छी तरह देख सकें, अथवा, जहाँ बैठकर सर्वसाधारणके सामने कुछ कार्य किया जा सके। बिलासा=विशेष रूपसे शोभित।

अर्थ—दोनों भाई नगरकी पूर्व दिशामें गये। जहाँ धनुष-यज्ञके लिये रंगभूमि बनायी गयी थी॥ १॥ बहुत लंबी-चौड़ी सुन्दर (काँचकी ढालुवाँ) गच बनायी गयी थी जिसपर निर्मल सुन्दर वेदी सजायी गयी थी॥ २॥ चारों ओर सोनेके बड़े मचान बनाये गये थे, जहाँ राजा लोग बैठेंगे॥ ३॥ उनके पीछे निकट ही चारों ओर दूसरा मचानोंका मण्डलाकार घेरा शोभित है॥ ४॥ जो कुछ ऊँचाईपर था और सब प्रकार सुन्दर था, जहाँ नगरके लोग जाकर बैठें॥ ५॥

वि० त्रि०—दोनों भाई मुनिके साथ पश्चिम दिशासे आये थे और रंगभूमि पूर्व दिशामें है अतः उसे देखनेके लिये पुरके पूर्व ओर गये। गच ढालनेकी विद्या पहले थी अब नहीं है। दक्षिणके मन्दिरोंमें ढाले हुए पत्थर लगे पाये जाते हैं।

नोट—१ **'अति बिस्तार चारु गच ढारी'…'** से जनाया कि सुन्दर विस्तृत चौकोर स्थान है। 'चारु' से जनाया कि मणि-माणिक्य आदिसे बनायी हुई है। 'गच' से जनाया कि पक्का चिकना चमकता हुआ फर्श है। पाँड़ेजीका मत है कि हरित मणिकी गच है। बड़ी विस्तृत गचके बीचमें वेदिका बनी है जिसपर धनुष रक्खा जायगा जिसके तोड़नेके लिये स्वयंवर रचा गया। 'बिमल' से चाँदी वा स्फटिक मणिकी जनायी जो बहुत शुभ्र और स्वच्छ है। 'रुचिर' से प्रकाशमान जनाया।

२—**'ता पाछे समीप चहुँ पासा।…'** इति। इससे जनाया कि यहाँ मचान सरोवरकी सीढ़ियोंकी तरह बने हुए हैं। पीछेके मंच आगेके मंचोंसे इतने ऊँचे हैं कि पीछे बैठनेवाले भी धनुष-यज्ञ अच्छी तरहसे देख सकें। या यह समझिये कि जैसे नाटक देखनेवालोंके लिये एक दिशामें बैठकें बनायी जाती हैं वैसे ही यहाँ चारों ओर मंच हैं। यह मंचमण्डली जो बनी है इसपर राजाओंके साथका समाज (अर्थात् मन्त्री, सुभट, चामर-छत्र-बरदार आदि) बैठेगा। यथा—'**राजा रंगभूमि आज बैठे जाइ जाइ कै। आपने आपने थल, आपने आपने समाज, आपनी-आपनी बर बानिक बनाइ कै॥** गी० १। ८२।'

तिन्ह के निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए॥ ६॥
जहँ बैठे देखहिं सब नारीं। जथाजोगु निज कुल अनुहारीं॥ ७॥
पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥ ८॥

दो०—सब सिसु येहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥ २२४॥

अर्थ—उनके पास बहुत लंबे-चौड़े विस्तृत सुन्दर स्वच्छ बहुत-से घर रंग-बिरंगके बनाये गये हैं॥ ६॥ जहाँ बैठकर सब स्त्रियाँ अपने-अपने कुलके अनुसार यथायोग्य रीतिसे (अर्थात् जहाँ जिसको जैसा उचित है उस रीतिसे) बैठकर देखें॥ ७॥ जनकपुरके बालक कोमल वचन कहकर आदरपूर्वक प्रभुको उसकी रचना दिखा रहे हैं॥ ८॥ सब बालक प्रेमके वश होकर इस बहाने (श्रीरघुनाथजीके) सुन्दर मनोहर शरीरको छूकर शरीरमें पुलकित होते हैं और दोनों भाइयोंको देख-देखकर उनके हृदयमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है॥ २२४॥

नोट—१ (क) 'धवल' से जनाया कि स्फटिक मणिके हैं। 'बहु बरन' से जनाया कि अनेक प्रकारके, अनेक रंगोंके भिन्न-भिन्न रचना-कलाके हैं। 'जथाजोग' से वर्ण, जाति, कुल, पद इत्यादिके अनुसार उत्तम, मध्यम, नीच, लघुका विचारकर बैठना जनाया; यथा—'**कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि। उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि॥ २४०।**' (ख) धवल धाम चारों वर्णोंकी स्त्रियोंके विचारसे चौमहला बना हुआ है, ऊपर ब्राह्मणी फिर

इमसे और सब जातिकी स्त्रियाँ। प्रत्येक वर्णके लिये पृथक्-पृथक् रंगसे ये धाम रँगे गये थे। (ग) 'मृदु बचना' क्योंकि इनको देखकर सब बालक लुभा गये हैं—'लगे संग लोचन मनु लोभा।' प्रेमके वचन मृदु होते ही हैं, चाहते हैं कि हमसे बोलें। (घ) 'प्रभुहि' कहकर जनाया कि यह रचना उनके लिये क्या है तो भी प्रेमके वस इनके कहनेपर वे देखते हैं, उनका मन रखते हैं।

श्रीराजारामशरणजी—गुरुकुल मेगजीन (काँगड़ी) के एक लेखमें मैंने तुलसीदासकी Designing अर्थात् रचना-कलाकी विस्तारसे व्याख्या की थी। देखिये, दरबार या रंगभूमिका यह ढाँचा कितना अच्छा है। सर जान हिवटने देहली दरबारके लिये सम्राट् जार्जपञ्चमके आगमनके समय इस बीसवीं शताब्दीमें भी कुछ ऐसा ही दरबार बनाया था। हाँ, एक अन्तर है कि हमारी सभ्यतामें परदा न था, मगर स्त्री-पुरुषोंका अनुचित और अनियमित मिश्रण भी न था। स्त्रियोंके लिये बैठनेका स्थान अलग है। अन्तिम पद बालकोंकी वार्ताके संकेतसे दृश्यको सजीव बना दिया गया है, मानो ऊपरका वर्णन उसी वार्ताका सारांश है।

नोट—२ **'सब सिसु येहि मिस प्रेम बस परसि'**'' इति। (क) सब **'परसि मनोहर गात'**, **'देखि देखि दोउ भ्रात'** और आगे **'निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥ २२५। २।'** इत्यादिसे स्पष्ट है कि यहाँ कुछ श्रीराम-रहस्य दर्शित कराया गया है। सभी प्रभुका स्पर्श कर रहे हैं, सभी उनको पकड़े हुए हैं, सभी दोनों भाइयोंको अपने ही साथ देख और समझ रहे हैं, सभी रंगभूमिके स्थान दिखाते हैं और अपने साथ ले चलते हैं, सभी मृदु वचन कहकर रचना दिखा रहे हैं। यही रहस्य है, कोई इस भेदको नहीं जानता। जैसे—**'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद चकोरा। २।११५।५।'**, **'मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर। ३।१२।'** **'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं॥ यह कछु नहिं प्रभु कै अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई। ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। ४।२२।'**, **'आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥ जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥ सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू॥ यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥ २।२४४।'** इत्यादि अवसरोंपर भी देखनेमें आता है। (प्र० सं०)। (ख) 'येहि मिस' इति। भाव कि यद्यपि सब शिशु प्रेमके वश हैं तथापि इनका तेज-प्रताप देख स्पर्श नहीं करते थे, परन्तु दिखानेके बहाने स्पर्श करते हैं। अर्थात् रचना दिखानेके बहाने हाथ पकड़-पकड़कर कहते हैं कि यह देखिये। रंगभूमिकी रचना दिखानेके बहाने अपना अभीष्ट साधन करना 'द्वितीय-पर्यायोक्ति अलंकार' है। 'शिशु' शब्दसे जनाते हैं कि जैसे माता-पिता बच्चेकी बातोंको सुनते हैं वैसे ही ये सुनते हैं, जैसे बच्चे माता-पिताके हाथ आदि पकड़कर उनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं वैसे ही ये बालक करते हैं इत्यादि। (ग) **'प्रेम बस'** कहनेका भाव कि यह सौभाग्य प्रेमियोंहीका है, वे ही प्रभुका स्पर्श कर सकते हैं, कर्मकाण्डियों, योगियों और ज्ञानियोंको यह अधिकार प्राप्त नहीं है, क्योंकि श्रीरामजीको प्रेम ही प्रिय है; यथा **'रामहि केवल प्रेमु पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा। २।१३७।१।'**, **'उमा जोग जप ज्ञान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम॥'** (प्र० सं०)। (घ) **'तन पुलकहिं अति हरषु हिय'**'' इति। प्रभुके अंगोंके स्पर्शका यही फल है, हृदयमें आनन्द छा जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है इत्यादि। यथा 'परसत पद पावन सोक नसावन'''॥ **अति प्रेमु अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही। अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगलनयन जलधार बही। १।२११।'** **'हरषि बंधु दोउ हृदय लगाए। पुलक अंग अंबक जल छाए। २०७।७।'** **'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली। १।३२४।'** **'अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥ '''पितर पार करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार। २।१०१।'** इत्यादि। (प्र० सं०)। (ङ) यहाँ यह भी दिखाते हैं कि बालक मन, वचन, कर्म तीनोंसे प्रभुमें लगे हुए हैं। **'अति हरष हिय'** से मन, **कहि कहि'''** से वचन और **'परसि मनोहर गात'** से कर्म दिखाया। (प्र० सं०)।

राजारामशरणजी—शृंगारके माधुर्यमें दर्शन और वार्ता थी, अब स्पर्श है। नवयुवकों और बालकोंकी आदत भी हाथ मिलाकर चलने और बोलने इत्यादिकी होती है। मजा तो देखिये। प्रभुको कविने बालकोंका साथी बना दिया। धन्य हैं ऐसे प्रभु कि प्रेममें बालकोंके साथ हिल-मिल गये।

सिसु सब राम प्रेम बस जानें। प्रीति समेत निकेत बखानें ॥ १ ॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई ॥ २ ॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब बालकोंको प्रेमके वश जानकर प्रीतिसहित (उनके दिखाये हुए रंगभूमिके) स्थानोंकी प्रशंसा की ॥ १ ॥ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सब दोनों भाइयोंको बुला लेते हैं। दोनों भाई प्रेमसहित जाते हैं ॥२॥

टिप्पणी—१ (क) 'सिसु सब राम प्रेम बस जानें।' इति। सब बालकोंके प्रेम है। उनका प्रेम पूर्व कह आये; यथा 'सब सिसु येहि मिस प्रेमबस'। इसीसे कहते हैं कि श्रीरामजीने सबको प्रेमवश जाना। (ख) 'प्रीति समेत निकेत बखानें' इति। मिथिलावासी बालकोंने रंगभूमिके स्थानोंकी रचना दिखायी, यथा 'पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना ॥' सब आदरपूर्वक मृदु वचन कहकर दिखाते हैं इसीसे श्रीरामजी उनके दिखाये हुए स्थानोंकी प्रेमसहित प्रशंसा करते हैं जिसमें बालक प्रसन्न हों। 'बखानें' अर्थात् कहा कि तुमने बहुत अच्छी रचना दिखायी, स्थान अत्यन्त शोभामय है। [(ग) श्रीरामजी प्रीतिकी रीति जानते हैं, प्रेमीसे प्रेम करते हैं, लड़के प्रेमवश हैं इसीसे श्रीरामजीने 'प्रीति सहित' बखान किया। 'प्रीति समेत निकेत बखानें' का सम्बन्ध 'पुर बालक कहि कहि मृदु बचना···' इस अर्धालीसे है।]

२ 'निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई।···' इति। (क) अर्थात् रुचिपूर्वक बुलाते हैं, इसीसे वे जाते हैं। यथा 'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी। २।२१९।', 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी। २।२४४।२।', (ख) 'सब लेहिं बोलाई' इति। सब बुला लेते हैं, क्योंकि सभी प्रेमवश हैं। श्रीरामजी सबकी रुचि, सबका प्रेम रखते हैं; इसीसे स्नेहसहित सबके साथ जाते हैं। यहाँ परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया। (ग) सभी स्पर्श करते हैं, सभी बुला लेते हैं और सभीके साथ दोनों भाई जाते हैं—इससे जनाया कि अनेक रूप धारण करके आपने सब बालकोंकी रुचि रक्खी। [यह दोनों भाइयोंका रहस्य कह रहे हैं। प्रत्येक बालकके साथ दोनों भाई हैं। (प्र० सं०)] (घ) 'सहित सनेह' देहली-दीपक है। सब स्नेहसहित बुलाते हैं (इसीसे दोनों भाई) स्नेहसहित जाते हैं। 'सहित सनेह जाहिं दोउ भाई' कहकर जनाया कि प्रभुने बालकोंको प्रेमवश जाना। इसीसे आप भी उनके प्रेमवश हो गये। स्नेह सहित साथ जाना, यही प्रेमवश होना है। लड़के प्रेमविभोर हैं, दूसरे अभी बालक ही हैं इससे वे यह नहीं समझते कि सबके बुलानेसे, सब जगह जानेसे इनको परिश्रम होगा। 'स्नेहसहित जाते हैं' कहकर यह भी जनाया कि दोनों भाई किंचित् भी परिश्रम नहीं मानते, क्योंकि ये स्नेह और शीलके ओर-निबाहक हैं। यथा 'को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा ॥ २।२४।' ☞ देखिये, एक ओर आदरसहित रचना दिखाना प्रेमवशता और प्रेमसहित बुलाना है; वैसे ही दूसरी ओर प्रीतिसहित बखान करना, प्रेमवशता और जहाँ-जहाँ बुलाते हैं वहाँ-वहाँ जाना है इसीसे कहा है कि 'पन्नगारि सुनु प्रेमसम भजन न दूसर आन।'

३ यहाँ दिखाया है कि सब बालकोंने अपने मन-तन-वचन श्रीरामजीमें लगा दिये। मृदु वचन कहकर रचना दिखाते हैं, तनसे पुलकित हो रहे हैं और मनसे हर्षित हैं। इसी तरह श्रीरामजी भी मन-तन-वचन बालकोंमें लगाये हुए हैं। 'प्रीति सहित'—यह मन (क्योंकि प्रेम होना मनका धर्म है), 'बखानें'—यह वचन और 'जाहिं दोउ भाई'—यह तन लगा (जहाँ-जहाँ जो बालक बुला ले जाता है वहाँ-वहाँ तनसे जाते हैं) ☞ इससे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस गीतावाक्यको चरितार्थ किया।

राम देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना ॥ ३ ॥
लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया ॥ ४ ॥
भगति हेतु सोइ दीन दयाला। चितवत चकित धनुष मखसाला ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रचना=बनावट, कारीगरी, चमत्कारी। लव निमेष—तीन परमाणुका एक त्रसरेणु कहा जाता है, जो झरोखोंमें होकर आयी हुई सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौगुना काल 'वेध' कहलाता है। तीन वेधका एक 'लव' तीन लवका एक निमेष और तीन निमेषका एक 'क्षण' होता है। यथा 'अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः। जालार्करश्-

म्यवगतः क्षमेवाणुस्तन्नगात् ॥ ५ ॥ त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः । शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ॥ ६ ॥ निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः । भा० ३।११ ।'

अर्थ—कोमल मीठे और मनोहर वचन कहकर श्रीरामचन्द्रजी भाईको (धनुर्यज्ञभूमिकी) रचना दिखाते हैं ॥ ३ ॥ जिनकी आज्ञासे लवनिमेष (पलक गिरनेके चौथाई अंश) में माया ब्रह्माण्डसमूह रच डालती है ॥ ४ ॥ वे ही दीनदयाल भक्तिके कारण धनुष-यज्ञशालाको चकित (आश्चर्ययुक्त) हो देख रहे हैं ॥ ५ ॥

नोट—☞ इस ग्रन्थभरमें पूज्य गोस्वामीजीका यह सँभाल है कि जहाँ माधुर्यकी विशेषता होती है वहाँ उसके पश्चात् तुरंत प्रभुका ऐश्वर्य कहकर संदेह और मोहको दूर कर देते हैं; यथा—'जासु नाम सुमिरत एक बारा । उतरहिं नर भवसिंधु अपारा ॥ सोइ कृपालु केवटहि निहोरा । जेहि जगु किय तिहुँ पगहु ते थोरा ॥ २ । १०१ ।', 'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई । केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ॥ लं० ११३ ।', 'गुनातीत सचराचर स्वामी । राम उमा सब अंतरजामी ॥ कामिन्ह कै दीनता देखाई । धीरन्हके मन बिरति दृढ़ाई ॥ ३ । ३९ ।', 'ब्यालपास बस भए खरारी । स्वबस अनंत एक अबिकारी ॥ नट इव कपट चरित कर नाना । सदा स्वतंत्र एक भगवाना ॥ लं० ७२ ।' इत्यादि, तथा यहाँ कहा कि 'लवनिमेष' 'जासु त्रास डर कहुँ डर होई ।'''' । ☞ इसीको कलाकी भाषामें महाकाव्य और नाटकीय कलाका मेल कहते हैं । कवि कितना उपयोगी है, शेक्सपियरकी कलामें यह नहीं है, इसी कारण बहुधा भ्रम हो जाता है । 'चितवन चकित' का आनन्द आपको तब अनुभव होगा जब उस समयका स्मरण करें कि जब आपके बालकने कोई अपनी बनायी चीज दिखायी हो और आपने उसको उत्साहित करनेके लिये उसकी प्रशंसा की हो । आगे 'त्रास' वाला अंश तो 'जस काछिय तस चाहिय नाचा' का और भी सुन्दर नमूना है । ☞ बहुधा प्रश्न होता है कि क्या यह अभिनय कृत्रिम नहीं ? नाटकी अभिनेताओंका उत्तर है कि अभिनयके समय उतनी देरका वही भाव होता है । यदि और भाव याद रहे तो खेल बिगड़ जाय । हम भी जब बालकोंके खेलमें सम्मिलित होते हैं तो अपने और व्यक्तित्वको गुप्त किये बिना मजा ही नहीं आता । (श्रीराजारामशरणजी)।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि दोनों भाई बालकोंके बुलानेसे जाते हैं । वहाँ जाकर क्या करते हैं यह अब बतलाते हैं कि 'देखावहिं अनुजहिं रचना' । जैसे पुरके बालक रामजीको सादर मृदु वचन कहकर रचना दिखाते हैं, वैसे ही रामजी भाईको मृदु मधुर मनोहर वचन कह-कहकर दिखाते हैं । यहाँ यह भी दिखाया कि बालकोंके वचन मृदु हैं और रामजीके वचनोंमें मधुरता और मनोहरता दो बातें अधिक हैं । श्रीरामजी बालकोंकी प्रसन्नताके लिये उनके वचन सुनकर रचना देखते हैं और लक्ष्मणजीकी प्रसन्नताके लिये मधुर मनोहर वचन कहकर उनको दिखाते हैं । ☞ यह भेद दिखाकर प्रभुका स्वभाव बताया कि भक्त जिस तरह प्रसन्न हों भगवान् वही करते हैं, वही कहते हैं, वही सुनते और वही देखते-दिखाते हैं । [सादर होनेसे मृदु, सरस होनेसे मधुर और सुस्वर होनेसे मनोहर कहा । (वि० त्रि०)] (ख) बालक बहुत-से हैं, इसीसे उनके सम्बन्धमें 'कहि कहि मृदु बचना' लिखा था अर्थात् दो बार 'कहि' शब्द लिखा था और श्रीरामजी दिखानेवाले एक ही हैं, इसलिये यहाँ 'कहि' एक ही बार लिखा । पुनः बालकोंकी इच्छा श्रीरामजीसे वार्ता करनेकी है इससे 'कहि कहि' अर्थात् दो बार 'कहि' शब्द लिखा और रामजीकी इच्छा रचना दिखानेकी है (वार्ता करनेकी नहीं) अतः यहाँ एक बार 'कहि' लिखा । (ग) पुनः, 'देखावहिं' का भाव कि लक्ष्मणजीके हृदयमें नगर देखनेकी इच्छा थी, यथा—'लषन हृदय लालसा बिसेषी । जाइ जनकपुर आइय देखी ॥' इसीसे 'राम देखावहिं अनुजहिं रचना ।' गुरुसे भी यही कहा था कि 'नगर देखाइ तुरत लै आवौं', उसको यहाँ चरितार्थ कर रहे हैं । [(घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'बालकोंके संतोषहेतु रचनाकी चमत्कारी दिखाते हैं । आनन्दवृद्धिके अर्थ प्रिय वचन और स्नेहवृद्धि-हेतु मधुर मनोहर वचन कहे ।']

२ (क) 'लव निमेष महँ भुवन निकाया' इति । कालके दो परिमाण लव और निमेष कहनेका भाव कि ब्रह्माण्ड बहुत हैं, किसीको लवमात्रमें बना डालती है और किसीको निमेषमात्रमें । तीन लवका एक निमेष होता है—'निमिषस्त्रिलवो ज्ञेयः' । [कोई लोग एक निमेषके साठवें भागको लव मानते हैं । कोई छः लवका एक निमेष कहते हैं और कोई ३६ लवका एक निमेष कहते हैं ।=दो काष्ठा । (श० सा०) । पलक गिरनेमात्रका समय निमिष कहलाता है । लवनिमेष=अत्यन्त अल्पकालमें । मेरी समझमें आता है कि 'समूह-के-समूह ब्रह्माण्ड' सब-के-सब अत्यन्त अल्पकालमें रच डालती है । वा, लव निमेष=लव और निमेषके अन्दर ही । इससे अधिक समय नहीं लगता ।] (ख) यहाँ, भुवन=ब्रह्माण्ड । यथा—'सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया । पाइ जासु बल बिरचति माया ॥ ५ । २१ ।', 'अवधपुरी प्रति भुवन निनारी । सरजू भिन्न

भिन्न नरनारी ॥ ७ । ८१ ।', 'ब्रह्मांड निकाया निरमित माया रोम रोम प्रति बेद कहै । १ । १९२ ।', 'ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥ ३ । १३ । ६ ।', सर्वत्र ब्रह्माण्डका ही रचना कहा गया है; अतः यहाँ भी वही समझना चाहिये । (ग) 'रचइ' का भाव कि यह न समझो कि अल्पकालमें जैसा-तैसा बना डालती होगी, वह समूह-के-समूह बना डालती है और रचनापूर्वक बनाती है, सामान्य कारीगरी नहीं किन्तु भारी कारीगरीके वे सब ब्रह्माण्ड होते हैं ।

वि० त्रि०—विकासवादका सिद्धान्त अत्यन्त संकीर्ण है । सृष्टि क्रमसे नहीं होती, युगवत् होती है, स्वप्नकी सृष्टिकी भाँति । रचनाके लिये काल चाहिये, सो पलक मारनेके पहले ही माया अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड रच डालती है ।

टिप्पणी—१ (क) 'भगतिहेतु सोइ दीनदयाला' इति । 'सोइ' अर्थात् जिसकी मायासमूह ब्रह्माण्डोंको लवमात्रमें रच डालती है । तात्पर्य कि मायाकी रचनासे यह रचना अधिक नहीं है तब भी उसे चकित हो आश्चर्यपूर्वक देख रहे हैं मानो ऐसी कारीगरी आजतक कहीं देखी ही नहीं ।—इसका हेतु क्या है, सो 'भगतिहेतु', 'दीनदयाल' पदोंसे बता दिया है । अर्थात् बालक भक्तिपूर्वक दिखाते हैं और भगवान् भक्तिके वश हो चकित चितवते हैं । ☞ प्रभु यहाँ भक्तिकी महिमा दिखा रहे हैं कि भक्तोंके प्रेमके वश हो भगवान् नर-नाट्य अङ्गीकार करते हैं] क्योंकि इससे बालक प्रसन्न होंगे कि हमने बहुत अच्छी-अच्छी रचना दिखायी है । 'दीनदयाल' कहकर जनाया कि बालक दीन हैं, कुछ भी सेवा नहीं कर सकते; 'सादर प्रभुहि देखावहिं रचना' इसको प्रभु उनकी सेवा मानकर उनपर प्रसन्न हो रहे हैं ।

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं । जानि बिलंबु त्रास मन माहीं ॥ ६ ॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई । भजन प्रभाउ देखावत सोई ॥ ७ ॥
कहि बातें मृदु मधुर सुहाई । किए बिदा बालक बरिआई ॥ ८ ॥

अर्थ—कौतुक देखकर (दोनों भाई) गुरुके पास चले । देर जानकर मनमें डर है ॥ ६ ॥ जिसके डरसे मूर्तिमान् डरको भी डर होता है, वही (भगवान् राम) भजनका प्रभाव दिखा रहे हैं ॥ ७ ॥ कोमल मीठी और सुन्दर बातें कहकर (श्रीरामजीने) बालकोंको जबरदस्ती बिदा किया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कौतुक देखि चले' इति । प्रभुने गुरुजीसे आज्ञा माँगी थी कि 'जौ राउर आयेसु मैं पावउँ । नगर देखाइ तुरत लै आवउँ ॥ २१८ । ६ ।' इसपर गुरुजीने दोनोंको नगर देखनेकी आज्ञा दी—'जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ । २१८ ।'; इसीसे श्रीरामजीका भी कौतुक देखना लिखा—'कौतुक देखि चले' । यदि मुनि केवल लक्ष्मणजीको नगर दिखानेकी आज्ञा देते तो ग्रन्थकार श्रीरामजीका कौतुक देखना न लिखते । लक्ष्मणजीको दिखाना ऊपर कहा गया—'राम देखावहिं अनुजहि रचना ।' और श्रीरामजीका भी देखना यहाँ कहा । ['कौतुक' अर्थात् रङ्ग-भूमिकी विचित्र रचना । पुनः, 'कौतुक' शब्दसे जनाया कि श्रीजनकमहाराजकी विशिष्ट रचना भी सरकारोंको कौतुकमात्र ही है । अर्थात् तमाशा है । (ख) 'चले गुरु पाहीं । जानि बिलंब···' इति । 'जानि बिलंब' देहली-दीपक है । भाव यह कि हम गुरुजीसे कहकर चले थे कि नगर दिखाकर शीघ्र ले आवेंगे सो हमको बहुत देर हो गयी, यह खयाल आते ही तुरत चल दिये और जल्दी-जल्दी चले]। जबतक कौतुकमें मन लगा रहा तबतक विलम्ब न जान पड़ा, जब कौतुक देखके चले (जब उधरसे मन अलग हुआ) तब देर जानकर त्रास हुआ । मन जबतक किसी काममें लगा रहता है तबतक स्वाभाविक ही दूसरी ओर ध्यान न जानेसे समय नहीं जान पड़ता) । (ग) 'त्रास मन माहीं' इति । डर यह कि गुरुजी नाराज (अप्रसन्न) न हों । ☞ इस लीलासे भगवान् अपनी भक्तपराधीनता दरसा रहे हैं, स्पष्ट दिखा रहे हैं कि हम भक्तोंके वशमें हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं । स्वतन्त्रता दोष है; यथा—'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई । भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई ॥ १३७ । १ ।' [डर यह है कि गुरुजी यह न पूछ बैठें कि क्यों इतनी देर हुई ।—यह माधुर्य है] ।

२ 'जासु त्रास डर कहुँ डर होई ।···' इति । [(क) अर्थात् मूर्तिमान् डर भी प्रभुको डरता है । इस कथनमें अत्युक्ति अलंकार है । पुनः भाव कि सबको कालका डर रहता है, वह काल भी प्रभुको डरता है । यथा—'ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥···ते फल भच्छक कठिन कराला । तव भय डरत सदा सोउ काला ॥ ३ । १३ ।' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'सेवकके लिये स्वामीमें, प्रजाके लिये राजामें, राजाको देवतामें और देवताओंको शिवादिमें, इत्यादि डरके स्थान हैं । ये सब श्रीरामजीका त्रास मानते हैं, इससे प्रभुको सर्वोपरि स्वतन्त्र रूप बताया ।'] इस कथनका तात्पर्य

यह है कि भला जिसको डर भी डरता है, (तब औरकी बात ही क्या ?), उसको डर कैसे सम्भव हो सकता है ? 'तब डरते क्या हैं ?'—इसका उत्तर उत्तरार्धमें देते हैं कि 'भजन प्रभाउ देखावत सोई'। भजनका प्रभाव दिखानेके लिये डरते हैं। [डरनेका नरनाट्य दिखा रहे हैं। अर्थात् देख लो, भजनका प्रभाव यह है; जो हमारा भजन करता है उसको हम ऐसा डरते हैं। (विश्वामित्रजीने ऐसा भजन किया कि हम उनके शिष्य बने और उन्हें डरते हैं)] (ख) 'देखावत' का भाव कि भजनका प्रभाव वेद-पुराण कहते हैं (यथा—'तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा ॥ १३ । २।') और भगवान् श्रीरामजी उस प्रभावको प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं। (देखी हुई बात सुनी हुई बातसे अधिक प्रामाणिक होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण है—'शुनीदा कै बुवद मानिंद दीदा' सुनी हुई बात देखी हुईके समान कब हो सकती है ?) । देखो, हम मुनिके कैसे वशमें हैं, यह प्रभाव देखकर हमारा भजन करो, प्रभु यह उपदेश आचरण-द्वारा दे रहे हैं।

नोट—'भजन प्रभाव देखावत' अर्थात् हम उसके अधीन हो जाते हैं, उसके पुत्र, सखा, शिष्य इत्यादि होकर उसको सुख देते हैं। 'भक्तिरसबोधिनी' में भी कहा है—'वही भगवंत संत प्रीति को विचार करें धरें दूरि ईशता हू पांडुन सों करी है। (कवित्त ९) । भक्तमालमें त्रिलोचन, सेन, धना, माधवदास, जगन्नाथी, रघुनाथ गोसाईं इत्यादिकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। भागवतमें भी भगवान्ने दुर्वासाजीसे कहा है—'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ भा० ९ । ४ । ६३ ।' अर्थात् मैं भक्तके पराधीन हूँ, जैसे कोई परतन्त्र मनुष्य होता है। भक्तोंने मेरा हृदय हर लिया है, इसीसे भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, मैं उनसे डरता रहता हूँ।

टिप्पणी—३ (क) 'कहि बातें मृदु मधुर सुहाई'। पूर्व कह आये हैं कि 'पुरबालक कहि कहि मृदु वचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना ॥' बालक मृदु वचन कह-कहकर दिखाते हैं, इसीसे श्रीरामजी भी मृदु मधुर सुहाई बातें उनसे कहते हैं। [☞स्मरण रहे कि प्रभुके वचन तो सदा ही 'मृदु मधुर सुहाये' होते हैं, कभी कड़ी बात नहीं सुनी गयी। इस समय बालकोंके प्रेममें आपके वचन प्रेम सने हुए होनेसे और भी सुहावने हैं] (ख) 'बिदा किये बालक बरिआई' इति। अर्थात् बालक प्रेमवश आपसे अलग होना नहीं चाहते थे। 'बरिआई', यथा 'किये धरम उपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे ॥ २ । ८५ ।' [अर्थात् आपने कहा कि देखो माता-पिता राह देखते होंगे, चिन्तित होंगे, इससे अब जाइये, बहुत देर हो गयी, कल फिर मिलेंगे। पुनः मिलनेकी बात मधुर और सुहावनी हुआ ही चाहे। शील स्नेह निबाहनेके हेतु 'मृदु मधुर सुहाई बातें' कही गयीं यथा—'को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा ॥ २ । २४ ।'] (ग) ☞भगवान् सब भक्तोंपर समान प्रीति करते हैं। देखिये, जैसे लक्ष्मणजीसे 'मृदु मधुर मनोहर' वचन कहे—'राम देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना ॥', वैसे ही बालकोंसे 'कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई।···'। [भगवान् सबसे ऐसे ही बोलते हैं, यह बात भी इसीसे प्रकट हो रही है।] (घ) कोटके बाहर निकलते ही बालक संग लग गये थे, 'बालकबृंद देख अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा ॥ २१९ । २ ।' वहाँतक बालक लौटते हुए फिर संग आये, वहींसे सब बिदा किये गये। नेत्र और मन दोनों ही शोभाके दर्शनमें लगे हैं; कैसे साथ छोड़े; इसीसे वे कोटतक साथ पिछुवाये चले आये, अतएव बिदा करना कहा गया। यह बालकोंका अतिशय प्रेम दिखाया। [बालक इनका डेरा देखनेके लिये साथ लगे रहे जिसमें वहाँ जा-जाकर फिर दर्शन कर सकें, परन्तु वे राजमहलके भीतर जानेसे रोके जावेंगे तथा मुनिके पास भीड़ होनेसे उनको अरुचिकर होगी, तीसरे अब संध्याका समय है, दोनों भाई अब संध्या करेंगे, इत्यादि कारणोंसे बालकोंको बरिआई बिदा किया गया।]

दो०—सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरु पद पंकज नाइ सिर बैठे आयेसु पाइ ॥ २२५ ॥

अर्थ—अत्यन्त भय, प्रेम, विनम्रता और संकोचके साथ दोनों भाई गुरुके चरणारविन्दोंमें मस्तक नवा आज्ञा पाकर बैठे ॥ २२५ ॥

टिप्पणी—१ 'सभय' क्योंकि देर हो गयी है, यथा—'जानि बिलंबु त्रास मन माहीं'। सप्रेम क्योंकि गुरु हैं, गुरु-चरणोंमें प्रेमसे प्रणाम करना चाहिये ही; यथा—'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तनु ते जग जीवत जाय ॥ दोहावली ४२ ।' 'विनीत' क्योंकि धर्मके रक्षक हैं। प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े रह गये। गुरुने

जब आज्ञा दी तब बैठे यह भी 'विनीत' से जनाया 'सकुच' इससे कि एक तो मुनियोंका संग, फिर कथाश्रवण और सत्सङ्गका लाभ छोड़कर नगर देखने गये, दूसरे आपका संकोची स्वभाव ही है; यथा—'कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची'; इसीसे संकोच आदि-अन्त दोनोंमें लिखा गया है। २ ☞ गुरुमें श्रीरामजीका भाव एकरस है यह भी इस प्रसंगमें दिखा दिया गया। उपक्रम और उपसंहारके मिलानसे यह भाव स्पष्ट देख पड़ रहा है—

उपक्रममें		उपसंहारमें
'परम बिनीत सकुचि मुसकाई। बोले गुर अनुसासन पाई। २१८। ४।'		'सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ। २२५।'
यहाँ 'परम बिनीत' और 'सकुचि'	१	यहाँ 'बिनीत अति' और 'सकुच सहित'
यहाँ 'गुरु अनुसासन पाइ'	२	यहाँ 'आयेसु पाइ'
यहाँ 'मुनिपद कमल बंदि दोउ भ्राता'	३	यहाँ 'गुरुपद पंकज नाइ सिर' 'दोउ भाइ'
यहाँ आज्ञा पाकर बोले, आज्ञा पाकर चले	४	यहाँ आज्ञा पाकर बैठे—'बैठे आयेसु पाइ'

यथा 'जाइ देखि आवहु नगर।...चले लोक लोचन सुखदाता॥'

आदिमें 'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई' और अन्तमें 'सभय' कहते हैं। क्योंकि विलम्ब होनेसे यहाँ भय हो गया है। कहा तो था कि 'नगर देखाइ तुरत लै आवौं'। २१८। ६।' भयमें मुस्कुराहट स्वाभाविक ही लोगोंकी जाती रहती है। वही नरनाट्य यहाँ है। इसीसे उपसंहारमें 'मुसुकाई' नहीं है; उसके बदले 'सभय' है।

प० प० प्र०—यहाँ शिष्य-धर्मका आदर्श चरित्र दिखाया है। परमार्थ-साधक शिष्योंको इससे उपदेश लेना उचित है।

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥ १॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥ २॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥ ३॥

शब्दार्थ—निसि-प्रवेस=सायंकाल, संध्याके समय। प्रवेस=पहुँच, आगमन। संध्याबंदनु—आर्योंकी एक विशिष्ट उपासना जो प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न और संध्याके समय होती है। इसमें स्नान और आचमन करके कुछ विशिष्ट मन्त्रोंका पाठ, अङ्गन्यास और गायत्रीका जप होता है। दिनका अन्तिम एक दण्ड और रात्रिका पहला दण्ड मिलकर साय-सन्ध्याकाल होता है। शयन=सोनेकी क्रिया। चापना=दबाना, मीड़ना।

अर्थ—रात आनेपर मुनिने आज्ञा दी, सभीने सन्ध्यावन्दन किया॥ १॥ पुराणी (पौराणिक) तथा प्राचीन इतिहासकी कथाएँ कहते-कहते दो पहर सुन्दर रात्रि बीत गयी॥ २॥ तब मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने जाकर शयन किया और दोनों भाई चरण दबाने लगे॥ ३॥

☞ *नोट*—१ आज जनकपुरमें पहली रात है। श्रीरामजीकी आजकी रात्रिचर्य्या विस्तारसे बखानकर सूचित करते हैं कि प्रत्येक रात्रिमें यही चर्य्या होती है। इसी प्रकार एक दिनकी दिनचर्या वर्णन करके उससे प्रत्येक दिनकी चर्य्या सूचित करेंगे जिनमें बारंबार न लिखना पड़े। इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजीकी चर्य्या एक-एक ठौर कही गयी है। जब उस चर्य्याके प्रतिकूल कहीं होगा तब उसको कह देंगे। अन्यथा नहीं। श्रीजानकीशरण (स्नेहलताजी) कहते हैं कि दिन और रातकी चर्य्याका वर्णन यहाँ इस अभिप्रायसे किया गया है कि आगे पुष्पवाटिका-चरित्रसे ये श्रीमजानकीजीके प्रेममें ऐसे विह्वल होंगे कि यह सब चर्य्या भूल जायेंगे। उस दशाको जाननेके लिये रात-दिनकी चर्य्याका वर्णन किया गया है।

प० प० प्र०—नगरदर्शन-प्रसङ्ग २१८ (१) पर शुरू और दोहा २२५ पर समाप्त हुआ। ८ दोहे इस नैमित्तिक कार्यके वर्णनमें हैं। अष्टधा प्रकृतिजनित सर्व दृश्य नैमित्तिक ही हैं, नित्य नहीं हैं।

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ाजी) कहते हैं कि—'राम रमापति कर धनु लेहू' पर मानो विश्वनेता पदका चार्ज-परिवर्तन होगा। इसके पहले श्रीरामजीके चरित्रका चित्रण मानो उस पूर्णताके विकासका है। हमें उनके निजी जीवनके वास्तविक रूपके देखनेका अवसर मिलता है। इस समय शिक्षा समाप्त करनेके बाद छुट्टीकी चर्य्या है, फिर भी कितनी संयमिता! सच है जिसने अपने ऊपर शासन करना (Selfdiscipline) सीखा है वही अच्छा शासक बन सकेगा। इस दृष्टिकोणसे

यदि आप देखें तो हमारे नवयुवकोंके लिये यह अंश बड़ा शिक्षाप्रद है।

टिप्पणी—१ (क) 'निसिप्रवेस' का भाव कि रात्रिभरकी चर्य्या (आचरण) कहना चाहते हैं, इसीसे रात्रिके प्रारम्भहीसे प्रसंग कहना प्रारम्भ किया। (ख) **'मुनि आयेसु दीन्हा'**—गुरुकी आज्ञासे ही पाससे उठ सकते हैं, धर्मकार्यमें गुरुका दृढ़ और कड़ा रहना बहुत आवश्यक है जिसमें शिष्यवर्ग नित्यके धर्मोंसे कभी विचलित न हों, अतः गुरुने आज्ञा दी। इससे मुनिकी सावधानता धर्मकार्यमें दिखायी। (ग) 'सबही' देहली दीपक है। सबको आज्ञा दी और सबने आज्ञाका पालन किया। सबने सन्ध्यावन्दन किया। सभोको आज्ञा दी जिसमें सभी इस कृत्यसे निवृत्त होकर कथा आकर सुनें। सन्ध्याके बाद ही कथाका समय है—यह बात यहाँ जना दी। 'सबही' अर्थात् दोनों राजकुमारोंको और सब मुनिवृन्दको जो साथमें आये थे, यथा—**'तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर नियराया', 'रिषय संग रघुबंस मनि करि भोजन बिश्रामु॥'** उत्तम सन्ध्याका समय सूर्यास्तके पूर्व माना गया है—२३७ (६) में नोट, देखिये। सन्ध्या कहाँ बैठकर की यह २३७ (६) में कहना है, इससे यहाँ नहीं लिखा। २३७ (६) टिप्पणी १ देखिये।

नोट—२ श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'पण्डितोंने एक मुहूर्त दिन रहते ही रात बतलायी है, यथा—**'मुहूर्तोनं दिनं नक्तं प्रवदन्ति मनीषिणः'**। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक मुहूर्त दिन रहते ही मुनिजीने सबको सन्ध्यावन्दनकी आज्ञा दी। सन्ध्यावन्दनका काल सूर्यास्तसे पहले है। मानसमें भी प्रमाण है, यथा—**'प्रभुहि मिलन आई जनु राती। देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥'** ब्रह्म जीवकी सन्धि सन्ध्या है। गुरुकी सेवा प्रधान है, सब उसीमें लगे हैं, अतः समय आते ही गुरुजीने आज्ञा दी।

प्र० स्वामीका मत है कि नगरदर्शनमें ही सूर्यास्त हो गया इसीसे आज रात्रि हो जानेपर सन्ध्या हुई। आज मध्यम कालमें सन्ध्या हुई। चौपाईके शब्द **'बैठे आयसु पाइ'** और 'सबहीं' शब्द त्रिपाठीजीके मतको पुष्ट करते हैं।

टिप्पणी—२ **'कहत कथा इतिहास पुरानी।'''** इति। (क) 'पुरानी कथा इतिहास' कहनेका भाव कि जो कथा कभी सुनी नहीं होती उसमें मन बहुत लगता है, सुनी हुई कथामें मन कम लगता है, इसीसे पुरानी कथाएँ सुनाते हैं। मुनिने ऐसी पुरानी कथाएँ सुनायीं कि उनमें मन ऐसा लगा कि दो पहर रात्रि बीत गयी, कुछ मालूम ही न हुआ। [अथवा, 'पुरानी' से जनाया कि पुराणकी कथाएँ और भारत आदि इतिहासकी कथाएँ। (रा० प्र , पां०)। 'पुरानी' का दूसरा भाव यह है कि इस समय श्रीरघुनाथजीके चित्तमें मिथिलापुरीका शृङ्गाररस भर गया है और मुनिने जो कथाएँ कहीं वह शान्त रसकी थीं, इससे वह कथाएँ पुरानी लगीं। (पां०)। ☞ विश्वामित्रजीको प्राचीन इतिहास बहुत मालूम हैं। वे चिरकालीन ऋषि हैं। इससे जहाँ कहीं अवसर आता है, वहाँ वे प्राचीन ही कथा सुनाते हैं, यथा—**'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥** २१० । ८ ।' **'कौसिक कहि कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥** २ । २७७ ।' राजा रघुराजसिंहजी 'सिय स्वयंवर' में इस समय राजा निमि और महर्षि वसिष्ठजीकी कथाका कहना कहते हैं। (मा० पी० प्र० सं०)। प्र० स्वामी लिखते हैं कि भक्तिविषयक कथा ही कही। **'कथा कहना'** भक्तिके साथ ही मानसमें मुख्यतः प्रयुक्त है—दोहा ४४ में देखिये)।] (ख) **'रुचिर रजनि'** इति। जो समय भगवत्-कथाके कहने-सुननेमें व्यतीत होता है वही सुन्दर है इसीसे दोपहर रात्रिको 'रुचिर' विशेषण दिया। [पुनः, 'रुचिर' विशेषण देकर सत्संगका महत्त्व दिखाया, यथा—**'धन्य घरी सोइ जब सतसंगा॥** ६ । १२७ ।' अथवा, आज आश्विन शुक्ला द्वादशी है, चाँदनी छिटकी हुई है, अतः 'रुचिर' कहा। यह शान्तरसका अर्थ है। और शृङ्गाररसका अर्थ यह है कि पुष्पोंकी वर्षाद्वारा सखियोंने सबेरे फुलवारीमें आनेका संकेत किया है। श्रीकिशोरीजीसे मिलनेकी रुचिमें रात्रि एक युगके समान बीत रही थी सो कथामें पहर भर (पहरके समान) बीत गयी।' (वै०) प्र स्वामीजी लिखते हैं कि आज सबेरेसे शामतक कथाके लिये अवसर ही नहीं मिला और आज आश्विन शुक्ला चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमाकी रात्रि है, इसीसे उसे 'रुचिर रजनी' कहा। आगे चन्द्रोदय-वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि आज रात्रिके समय पूर्ण चन्द्रोदय है। यह कोजागरी पूर्णिमा है, इसीसे मध्य रात्रितक कथा हुई। कोजागरीकी रात्रिमें गृहस्थोंको लक्ष्मीपूजन और क्षत्रियोंको अक्ष (द्यूत) क्रीड़ा करना शास्त्रमें कहा है। मध्यरात्रिके समय ही यह विहित है। पर यहाँ बताया है कि परमार्थविन्दक साधु सन्त साधकोंके लिये तो उस समय हरिकथा कथन-श्रवण करना ही उचित है। अथवा, श्रीअवधपुरी छोड़नेके पश्चात् आज मिथिला नगरमें प्रथम-प्रथम आये, इससे आजकी रात्रि रुचिर जान पड़ी। अवधसे निकलनेपर बक्सर आदिके वनमें ही समय बीता, मारीच आदि निशाचरोंके कारण रातें चिन्तामें बीतती

रहीं। (रा० प्र०)। इससे वनकी रात्रियाँ भयानक रहीं, आज नगरकी रात्रि होनेसे 'रुचिर' है। (रा० च० मिश्र)। अथवा, नगरके बालकोंसे सुन आये थे कि राजकुमारी प्रातःकाल गौरीपूजनके लिये जाया करती हैं। उनको देखनेकी अभिलाषामें शेष दो पहर रात्रि बहुत कठिन हो जायगी। उसकी अपेक्षामें कहते हैं कि यह दो पहर रात्रि कथा सुननेमें सुन्दर बीती। (पाँ०, पं० रा० च० मिश्र)। ☞ परंतु हमें पं० रामकुमारजीका भाव विशेष संगत जान पड़ता है। दोहा २३० में लमगोड़ाजीका नोट भी देखिये।] (ग) 'जगु जाम सिरानी' से कथाकी समाप्ति दिखायी और कितनी देर रात्रिमें कथा होती है यह बताया। अर्थात् इससे जनाया कि दो पहर रात्रितक कथाका समय है। इसके पश्चात् शयनका समय है। पुनः 'सिरानी' कहकर जनाया कि कथा कहते-सुनते दो पहर समय कुछ जान ही न पड़ा, बड़ी जल्दी बीत गया, यथा—'राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक सम बीती॥ २। २९०।', (इससे सूचित किया कि सब श्रोता बड़े प्रेमसे कथा सुनते रहे। ☞ कथामें इस तरह मन लगावे)।

३ 'मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई…' इति। (क) 'तब' अर्थात् कथा समाप्त होनेपर। 'जाई' से जनाया कि कथा-स्थानसे शयनागार कुछ दूरीपर अथवा पृथक् है। इससे यह भी जना दिया कि और सब श्रोता मुनि भी अपने-अपने आसनपर गये। जब मुनिवर जाकर सोये तब सब मुनि भी जाकर सोये। जबतक मुनिवर शयन न करें तबतक कोई भी शयन नहीं कर सकता।—यह रीति और बड़ेका आदर-सम्मान दिखाया। किसीका मत है कि 'सुंदर सदन' में जाकर सोये। उनके मतके अनुसार 'सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहाँ बासु लै दीन्ह भुआला॥ २१७। ७।' में जो 'सुन्दर सदन' कहा है वह उस सदनका नाम ही है)। (ख) 'लगे चरन चापन दोउ भाई।' इति। ☞ सब काम गुरुकी आज्ञासे करना कहते आये; यथा—'बोले गुरु अनुसासन पाई।', 'जौं राउर आयसु मैं पायउँ। २१८। ४-६।', 'गुरु-पद-पंकज नाइ सिर बैठे आयेसु पाइ। २२५।' तथा आगे भी 'समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥ २२७। २।', पर यहाँ गुरुचरण दबानेमें गुरुकी आज्ञा नहीं लिखी गयी। यह भी साभिप्राय है। यहाँ उत्तम सेवकका धर्म कहते हैं। चरणसेवा दोनों भाइयोंने अपनी ओरसे की और बार-बार आज्ञा दी जानेपर ही सेवा बंद की, जैसा कवि आगे स्वयं कहते हैं—'बार बार मुनि आज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥', यह उत्तम सेवककी रीति है। यथा—'उत्तमश्चरितं कार्यं प्रोक्तकारी च मध्यमः।' अर्थात् बिना कहे हुए स्वामीके चित्तमें आया हुआ कार्य करनेवाला उत्तम और कहनेपर करनेवाला मध्यम श्रेणीका सेवक है। (ऐसा ही पुत्रके विषयमें भी कहा गया है, यथा—'अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥ ६०॥ उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः। उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥ ६१॥' (अ० रा० २। ३)। अर्थात् जो बिना आज्ञाके ही पिताका कार्य करे वह उत्तम है, जो कहनेपर करे वह मध्यम और जो कहनेपर भी न करे वह मलतुल्य है।—और जो कार्य स्वामीके मनमें आया भी नहीं है पर सेवकके लिये उचित है, उसको करनेवालेके विषयमें क्या कहा जाय?)। पुनः भाव कि मुनिने सब काम करनेकी आज्ञा दी पर चरणसेवाकी आज्ञा न दी। क्योंकि वे जानते हैं कि ये हमारे नाथ हैं, यथा—'तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही। बिद्या-निधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥ २०९। ७।'; हाँ, साथ ही माधुर्यके अनुकूल दोनोंको सेवा करनेसे मना भी नहीं किया। [स्मरण रहे कि ईश्वरसे चरणसेवा करानेमें वात्सल्यभाव ही मुख्य कारण है। वात्सल्यभाववाले ऐश्वर्य नहीं देखते, वे तो माधुर्यमें बालकभाव ही मानते हैं। इससे सेवा करानेमें दोष नहीं। (वै०)]

नोट—३ काम करनेके लिये गुरुकी आज्ञा अवश्य लेनी चाहिये; परंतु सेवामें आज्ञाकी आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि चरणसेवा करनेकी आज्ञाका माँगना या देना यहाँ नहीं पाया जाता। कहा गया है कि तीन जगह गुरुकी आज्ञा मानना उचित नहीं है। अर्थात् सेवा, भोजन और दानमें आज्ञा न माननी चाहिये। (पाँ०)। यथा—'सेवा भोजन दानमें आज्ञा भंग न दोष। पुनि पुनि गुरुजन रोकहीं तऊ न कीजिय तोष॥' यही कारण है कि चरण चाँपनेकी आज्ञा नहीं ली गयी; चाँपने लग गये। सेवा, दान और भोजनके अतिरिक्त शयन करनेमें, दण्ड-प्रणाम करते समय उठनेमें, संग पहुँचाने जाते हुए लौटनेमें अनेक बार आज्ञा होना भूषण है। यथा—'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।' (लक्ष्मणजीसे बार-बार सोनेको कहते हैं), 'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥ ७। ५। (भरतजी साष्टाङ्ग पड़े हैं, उठानेसे उठते नहीं), 'बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं। जनकु प्रेमबस फिरै न चहहीं॥ पुनि कह भूपति बचन सुहाए। फिरिअ महीस दूरि बड़ि आए॥ ३४०। ४-५।' इत्यादि। स्वामीके कहनेपर सेवा करना उत्तम सेवककी रीति नहीं है।

(ग) चरणसेवा करना आज ही लिखा, सो क्यों ? उत्तर—मुनिका साथ छोड़ नगरमें जाकर विलम्ब करने और कथामें चित्त न देनेका अपराध क्षमा करानेके लिये चरण-सेवा करने लगे । (पाँ०) । अथवा, किसी भाँति रात्रि बीते इससे । वा, 'नगरदर्शन असत् कर्म है उसके उद्धारहेतु सत्कर्म करते हैं' । (वै०) वा, रास्ता चलकर आये हैं अतः थकावट निवारणार्थ प्रभु गुरुके चरण दबाने लगे । (वि० त्रि०) । ☞ वस्तुतः यहाँ आज रात्रिचर्याका वर्णन हो रहा है, यह भी एक रात्रिचर्या है, इससे इसे भी लिखा । ऐसा ही नित्य करते हैं ।

४ मानसमें सिद्धाश्रमसे जनकपुरको प्रस्थान करनेपर बीचमें रात्रिमें कहीं विश्राम करनेका उल्लेख नहीं है । अ० रा० में अहल्योद्धारके दूसरे दिन प्रातः जनकपुर पहुँचना कहा और वाल्मी० में प्रथम दिन शोणनदके तटपर, दूसरे दिन गङ्गा-तटपर, तीसरे दिन विशाला नगरीके राजाके यहाँ रातमें ठहरनेके पश्चात् चौथे दिन प्रातः अहल्यावाले वनमें पहुँचे जो मिथिलापुरीका ही उपवन है । अहल्योद्धार करके उसी दिन जनकपुर पहुँचे । अस्तु !—इससे सिद्ध हुआ कि कुछ कोस चलकर तब जनकपुर मध्याह्नकालके लगभग पहुँचे । अमराईमें ठहरकर तुरत ही दोनों राजकुमार फुलवारी देखने गये जहाँ से गुरुजीके लिये पुष्प आदि लाना होगा । महाराज जनक इसी बीचमें आये । दोनों राजकुमार फुलवारी देखकर आये, तब राजा ससमाज वहाँ उपस्थित ही थे । फिर महाराज सबको महलोंमें लाये, सुन्दर सदनमें निवास दिया । यहाँ भोजन-विश्राम करनेपर केवल एक पहर दिन रह गया तब नगरदर्शनको गये । वहाँ से 'निशिप्रवेश' पर लौटे, सन्ध्या-वन्दन किया । दिनभरके थके होनेपर भी अर्द्धरात्रितक प्रेमसे कथा सुनी । रात्रिमें भोजन भी नहीं । इतनेपर भी जाकर सोये नहीं, गुरुके चरण चाँपने लगे । मिलान कीजिये—'गुरु के प्रान अधार संग सेवकाई हैं । नीच ज्यों टहल करैं राखैं रुख अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं ॥ गी० १ । ६९ ।' ☞ यहाँ भगवान् राजकुमार हैं, वे अपने आचरणद्वारा जनमात्रको शिक्षा दे रहे हैं कि चक्रवर्ती ही क्यों न हो उसे गुरुकी सेवा इसी प्रकार करनी चाहिये । यह दिखलानेहीके लिये सर्वेश्वर होते हुए भी वे सेवा कर रहे हैं । क्योंकि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ गी० ३ । २१ ।' श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं । वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं । [मानसप्रेमी श्रोता और वक्ता इसपर विचार करें कि ऐसी दशामें परमार्थसाधक कितने श्रोता मन लगाकर मध्यरात्रितक श्रवण करते हैं । (प० प० प्र०)]

जिन्ह के चरन सरोरुह लागी । करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥ ४ ॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुर पद कमल पलोटत प्रीते ॥ ५ ॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पलोटना=दबाना । प्रीते=प्रीतिपूर्वक । अग्या=आज्ञा ।

अर्थ—जिनके चरणकमलोंके लिये वैराग्यवान् लोग अनेक प्रकारके जप-योग (वा, जप और योग) करते हैं ॥ ४ ॥ वे ही दोनों भाई मानो प्रेमसे जीते हुए (प्रेमाधीन होनेसे) प्रेमपूर्वक श्रीगुरुजीके चरणकमलोंको दबा रहे हैं ॥ ५ ॥ मुनिने बारंबार आज्ञा दी तब श्रीरघुनाथजीने जाकर शयन किया ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'जिन्ह के चरनसरोरुह लागी....' इति । [(क) चरणको सरोरुह कहकर वैरागियोंके मनको भ्रमर जनाया, यथा—'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं । १ । ३२४ ।'] (ख) 'करत बिबिध जप जोग'—भाव कि जप-योगादि समस्त साधन भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही किये जाते हैं, यथा—'करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं । ३ । ३२ ।' ये सब साधन हैं और श्रीरामचरणकी प्राप्ति फल है । उदाहरणार्थ भरद्वाजजीके वचन देखिये;—'आजु सुफल तप तीरथ त्यागू । आजु सुफल जप जोग बिरागू ॥ सफल सकल सुभ साधन साजू । राम तुम्हहि अवलोकत आजू । २ । १०७ ।' (ग) 'बिरागी' जपयोग करते हैं, इस कथनका अभिप्राय यह है कि प्रथम वैराग्यका साधन करते हैं, जब साधन करके वैरागी हो जाते हैं तब भगवत्प्राप्तिके लिये जप-योगादि करते हैं । वैराग्यवान् होना भी भगवत्प्राप्तिका एक साधन है । जो विरक्त नहीं है उसे प्रभुके चरणोंकी प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होती । (घ) यहाँ 'करत' अर्थात् करना लिखते हैं, मिलना नहीं लिखते । [भाव यह है कि वैराग्यवान् होकर जपयोगादि करनेपर भगवत्प्राप्ति हो ही जाय यह आवश्यक नहीं है, साधन करनेपर भी किसीहीको मिलते हैं । आगे दिखाते हैं कि प्रेमसे तुरत ही वश हो

दास ही बन जाते हैं। (प्र० सं०)। जप और योग दोनों कहनेका भाव कि नामका जप करते हैं, उससे थके तब ध्यान करते हैं; ध्यानसे थककर फिर जप करते हैं। इस प्रकार साधन करते हैं। (वि० त्रि०)]

२ 'तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते···' इति। (क) तात्पर्य कि सब प्रकारके भजनसे प्रेमरूपी भजन अधिक है, यथा 'खगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।' 'उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम।' जप-योगादिसे प्रेमका महत्त्व विशेष है। जप-योगादिसे प्रभु मिलते हैं तो प्रेमसे सेवक हो जाते हैं। विश्वामित्रजीने श्रीरामजीमें प्रेम किया। [उनका प्रेम भगवान्‌के लिये याचक बनकर श्रीअवधपुरीको जाते समय, धनुर्भंगके समय और श्रीअयोध्याजीसे विवाहके पश्चात् विदा होते समय कविने दिखाया है। यथा 'एहू मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई। ज्ञान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना। २०६। ७-८।' 'कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥ रामरूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी। २६२। २-३।, 'दीन्ह असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति रीति कहि जाती। ३६०। ९।'] इसीसे श्रीरामजी विश्वामित्रजीके सेवक बने। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' कहा ही है, उसीको यहाँ चरितार्थ किया। (ख) 'प्रेम जनु जीते' से सूचित किया कि विश्वामित्रजीको भगवान् अन्य किसी साधनसे नहीं मिले वरंच उनका प्रेम ही भगवान्‌को जीतकर यहाँ ले आया। इसीसे वे चरण मींड़ रहे हैं। 'जीते' कहकर जनाते हैं कि और किसी साधनसे जीते नहीं जा सकते, प्रेमहीसे जीते जाते हैं। (यथा 'भगति अबसहि बस करी')। (ग) 'पलोटत प्रीते' इति। प्रथम कहा कि ये जीतकर लाये गये हैं, इससे पाया जाता है कि मन लगाकर प्रेमसे सेवा न करते होंगे, उसीपर कहते हैं— 'पलोटत प्रीते'। प्रेमसे जीते गये हैं, इसीसे प्रेमसे सेवा करते हैं, यहाँ भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते·····' को चरितार्थ करते हैं। 'प्रीते' यहाँ कहकर आगे दोनों भाइयोंके प्रेमका स्वरूप दिखाते हैं कि 'बारबार···'।

'बार बार मुनि अज्ञा दीन्ही···' इति। (क) इससे सेवामें अत्यन्त प्रेम दिखाते हैं कि मुनिके कहनेसे भी सेवा नहीं छोड़ते। बारंबार आज्ञा देनेपर तब शयन किया। एक-दो बारकी आज्ञापर सेवा छोड़ देनेसे अश्रद्धा पायी जाती। [यदि सेवक एक ही बारके कहनेसे सेवा छोड़ दे तो समझा जायगा कि उसकी हार्दिक इच्छा सेवा करनेकी न थी। और यदि स्वामी आज्ञा न दे तो उसमें कठोरता पायी जावे। अतएव दोनों विचारोंसे यहाँ 'बार-बार' और आगे 'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता' कहना पड़ा। (प्र० सं०)]। बार-बार आज्ञा देनेसे सूचित हुआ कि जैसे श्रीरामजीकी प्रीति गुरुसेवामें है वैसे ही गुरुकी प्रीति श्रीरामजीमें है। [बार-बार आज्ञा मिलनेपर भी सेवा नहीं छोड़ी। कथाश्रवणमें ऐसी प्रीति कि अर्धरात्रितक प्रेमसे सुनते रहे और ऐसी गुरुभक्ति कि आज्ञा देनेपर भी सेवा नहीं छोड़ते। ऐसी सेवासे गुरुमहाराजको प्रसन्न कर लिया तभी तो 'सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे' ऐसा आशीर्वाद मिला। इससे दिखाया कि जो कोई साधक इस प्रकार गुरुका अनुगामी बनकर कथा श्रवण और सेवामें रत रहेगा वही भव-संसृति भंग करके शान्ति और भक्तिकी प्राप्ति कर सकेगा। प० प० प्र०]

(ख) 'रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही' इति। यहाँ 'रघुबर' से 'श्रीरामजी' अभिप्रेत हैं; श्रीलक्ष्मणजी अभी शयन नहीं करेंगे, क्योंकि इनको अभी अपने स्वामी श्रीरामजीकी सेवा करनी है। सेवाके पीछे उनका शयन करना कहेंगे। 'जाइ' से सूचित किया कि गुरुके शयन-स्थानसे श्रीरामजीका शयनागार पृथक् है। गुरुके सामने शयन करना निषेध है, तब श्रीरामजी वहाँ शयन कैसे करते? शयनागार पृथक् है यह आगे स्पष्ट है, यथा 'बिगत निसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे॥····बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने॥ नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए। २३८ (६)–२३९।' ['रघुबर जाइ' से जान पड़ता है कि सोनेकी आज्ञा लक्ष्मणजीको नहीं दी, क्योंकि ये श्रीरामजीके सेवक हैं। यथा 'आरेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी। १९८। ३।' यदि मुनि उन्हें आज्ञा देते तो उनकी सेवा भंग हो जाती और यदि आज्ञा देनेपर सेवा करते, जाकर सोते नहीं, तो गुरुकी आज्ञा भंग होती। (प्र० सं०)। इस तरह 'रघुबर' देहली-दीपक है। अथवा, 'रघुबर' से दोनों भाइयोंको जनाया। दोनोंको जानेकी आज्ञा दी, यदि लक्ष्मणजीको आज्ञा जानेकी न देते तो वे कैसे जाते। 'क्या आज्ञा दी?'—यह इसीसे स्पष्ट नहीं लिखा। प्रसंगके अनुसार लगा लेना चाहिये कि दोनोंको जानेकी आज्ञा दी और श्रीरामजीसे कहा कि जाओ अब शयन करो]

चापत चरन लषनु उर लाएँ। सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥ ७॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥ ८॥

शब्दार्थ—लाएँ=लगाये हुए। सचु=सुख, आनंद, यथा 'हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ। १३४। ५।' 'भोजनु करहिं सुर अति बिलंबु बिनोद सुनि सचु पावहीं। ९९।' जलजात=कमल।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके चरणोंको हृदयमें लगाये हुए डरते हुए, प्रेमसहित और परम आनन्द पाते हुए दबा रहे हैं॥ ७॥ प्रभु (श्रीरामजी) बार-बार कहते हैं—भैया! सो रहो। (तब वे) चरणकमलोंको हृदयमें रखकर पड़ रहे॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'उर लाएँ' इति। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामचरणानुरागी हैं यथा 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंदु अनुरागी। ७। १।' 'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी। १९८। ३।' इसीसे चरणोंको हृदयमें लगाकर मीड़ रहे हैं। प्रिय वस्तुको लोग हृदयमें लगाते ही हैं उससे उनका प्रेम सूचित होता है। 'उर लाएँ' से यहाँ चारों अन्तःकरणका लगाना सूचित करते हैं। (ख) 'सभय सप्रेम' इति। भयसहित दबाते हैं कि कहीं श्रीरामजीके चरणोंको दुःख (कष्ट) न हो। (प्रभुके चरण अत्यन्त कोमल हैं, हमारे हाथ कठोर हैं, कहीं हमारे हाथ चरणोंमें गड़ें न–यह भय है)। अथवा, प्रभुकी चरणसेवामें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे डरते हैं कि कहीं प्रभु सोनेकी आज्ञा न दे दें जो चरणसेवा छूट जाय, क्योंकि रात बहुत बीत चुकी है। अथवा, [भय यह है कि नींद न उचट जाय, हमारे कड़े हाथोंसे कोमल चरणोंमें कसक (करक) न पहुँच जाय। (पाँ०)। अथवा, सभय इससे कि डरते रहनेसे कार्य करनेमें चूक नहीं पड़ती। (वै०)। अथवा, ऐश्वर्य समझकर भय है। (पं०)] 'सप्रेम' का भाव 'उर लाएँ' में आ गया। अत्यन्त प्रेम है इसीसे हृदयमें लगाये हैं। [चरणसेवा मिलनेसे सप्रेम। (रा० प्र०)। वा, भ्रातृभावसे प्रेम है। (पं०) (ग) 'परम सचु पाएँ' इति। परम आनन्द पा रहे हैं, क्योंकि जानते हैं कि इन चरणोंकी सेवा ब्रह्मादिको भी दुर्लभ है, यथा 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई। ७। २२।' (ये सब चरण-सेवा चाहते हैं पर इनको भी मिलती नहीं) सो हमको प्राप्त है। [☞ सेवामें अपनेको अज्ञान मानना तथा दुर्लभ सेवाकी प्राप्तिमें अपनेको धन्य मानना उचित ही है। पुनः, 'परम सुख' पाया क्योंकि आज सेवामें कोई साझी नहीं है, आज सेवाका लाभ पूरा-पूरा मिला। घरपर यह सेवा और लोग भी बटा लेते थे, यथा 'सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई। ७। २५। १।' पर आज यह अधिकार अकेले ही अपनेको प्राप्त है। (प्र० सं०)]।

२—'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।....' इति। (क) जिस भावसे श्रीरामजीने मुनिकी सेवा की, उसी भावसे लक्ष्मणजी श्रीरामजीकी सेवा कर रहे हैं। मुनिने बार-बार आज्ञा दी तब श्रीरामजी सोये, वैसे ही जब श्रीरामजीने इनको बारंबार आज्ञा दी, तब ये लेटे। [(ख) 'पौढ़े' इति। 'मुनि' और 'रघुबर' के साथ 'सयन' पद दिया।—'मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई', 'रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही' और लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें 'पौढ़े' लिखा। इससे ज्ञात होता है कि ये जागते लेटे रहे, सोये नहीं। श्रीलक्ष्मणजी रामसेवामें ऐसे तत्पर हैं, ऐसे सावधान हैं कि अवधसे बाहर श्रीरामजीके साथमें रहनेपर इनका सोना ग्रन्थकारने कहीं नहीं दिखाया। यथा—'सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ। २। ८९। 'उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥ कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥', 'प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥ ६। ११। ८।' बाबा हरिहरप्रसाद और पंजाबीजीका मत है कि 'पौढ़े' में शयनका भाव है]। 'पौढ़े' पर विशेष अगले दोहेके टिप्पण देखिये। (ग) 'उर धरि पद जलजाता' इति। 'उर धरि' का भाव कि पहले उरके ऊपर चरणका संयोग रहा, उरमें लगाकर चरण दाबते रहे—'चापत चरन लषन उर लाएँ'। जब ऊपर चरणका संयोग न रहा तब चरणोंको उरके भीतर धरकर लेटे। पंजाबीजी दूसरा अर्थ यह भी लिखते हैं कि 'हृदयपर चरणकमल रखकर सोये'।)

इति श्रीनगरदर्शनप्रकरणं समाप्तम्।

प्रीतम-प्यारी श्रीजनक फुलवारी

अर्थात्

पुष्प-वाटिका-प्रकरण

नोट—१ इस प्रकरणमें शृङ्गाररसके रसज्ञ एवं अन्य कुछ महानुभावोंने बहुत भाव कहे हैं जिनमेंसे कुछ असंगत और क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होते हैं। परंतु रसिकसमाज और रामायणी लोगोंके प्रेमके कारण वे भाव भी दिये गये हैं।

दो-एक साहित्यज्ञ महात्माओंने प्रथम संस्करणका यह नोट पढ़कर मुझे लिखा था कि वे भाव अमर्यादित हैं, उनको इस ग्रन्थमें स्थान न देना चाहिये। परंतु 'मानस-पीयूष' तिलक रामचरितमानसका इनसाइक्लोपीडिया (Encyclopaedia of Shri Ram Charita Manas) है; इसलिये जो भाव अन्य टीकाकारों आदिने कहे हैं उनका भी संग्रह इसमें आवश्यक है। श्रीसीतारामीय व्रजेन्द्रप्रसाद, रिटायर्ड सब जज, बिहार (साकेतवासी) तथा श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, सम्पादक 'कल्याण कल्पतरु' की यह सम्मति थी। अतः इस संस्करणमें भी वे भाव ज्यों-के-त्यों दिये गये हैं।

२ पूर्व संस्करणमें हमने 'पुष्प-वाटिका-प्रकरण' दोहा २२६ के आगेकी प्रथम चौपाईसे प्रारम्भ किया था। परंतु इस बार पुनर्विचार करनेपर हमने दोहा २२६ को भी 'वाटिका-प्रकरण' में लेना उचित समझा, क्योंकि यहाँसे ही उस दिनकी चर्य्याका प्रारम्भ होता है।

३ दोहेका प्रारम्भ करनेके पहले मैं श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजीके कुछ नोट्स यहाँ देता हूँ—उन्होंने फुलवारी-लीलाकी साहित्यज्ञ शाब्दिक व्याख्या बहुत वर्ष हुए 'जमाना' (उर्दू अखबार, कानपुर) में की थी, जो फिर 'प्रभा' और 'तुलसी-ग्रन्थावली' में प्रकाशित हुई। उसके बादका कुछ अंश 'माधुरी' में छपा। वह पूरी शाब्दिक व्याख्या उन्होंने एक पुस्तक-रूपमें लिखी है, पर अप्रकाशित रह गयी। हम उसमेंसे यहाँ बहुत संक्षेपमें आलोचना-शैलीके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शनमात्र कराके कहीं-कहीं मुख्य शब्दोंकी व्याख्याका केवल संकेत देते जायँगे।

(१) "साहित्यमें शाब्दिक व्याख्याके सिद्धान्त"—रसकिनने ठीक कहा है कि कुशल कवि या लेखकके लेखोंको शब्दशः नहीं किंतु अक्षरशः विचारना चाहिये। इसी कसौटीपर रसकिन महोदयने मिल्टनके पाँच-सात पदोंकी व्याख्या करके यह दिखाया है कि प्रत्येक शब्द कितना विचार पूर्ण है। हम शब्द बदलना तो और बात है, बहुधा उसका स्थान भी नहीं बदल सकते।

गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानसपर भी यही बात लागू होती है।

जैसे अंकगणितमें किसी अंककी अपनी और स्थानीय कीमतें (मूल्य) होती हैं वैसे ही साहित्यमें शब्दकी अपनी स्थानीय कीमतें होती हैं। अंक १ अपनी जगह एक है, किंतु दहाईकी जगह दस हो जाता है, इत्यादि। हाँ! तो काव्य-कलामें शब्दकी कीमत किस प्रकार जाँची जाती है?

संक्षेपमें हमें तीन गुण देखने होते हैं—(क) 'शब्द (ध्वनि) गुण'। जैसा विषय वैसी ही 'ध्वनि' के शब्द। उदाहरण, जैसे भयानक—'**रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु गोहरावहिं॥**' माधुर्य और शृंगार—स, र, ल, म इत्यादि कोमल अक्षरोंकी बहुतायत सारे फुलवारी लीलामें विचारणीय है। दूसरे, (ख) चित्रशक्ति—किसी विचारको मूर्तिमान् करना—Iconography, Ideography चुप चित्र, यथा—'**नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट॥**' फिल्म (प्रगतियोंवाले) चित्र-स्थूल; यथा—'**रुंड प्रचंड**...' सूक्ष्म—'**माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥**' तीसरे, (ग) भाव शक्ति—टैगोरजीने ठीक कहा है कि कवि वही है जो भावकेन्द्र पर पहुँच जाय और अपने अनुभवको शब्दोंमें प्रकट करे। इसके बिना तो कोई पद काव्य हो ही नहीं सकता। अलगसे उदाहरण क्या दें। सभी पद उदाहरण हैं।

(२) कलाकी दृष्टिसे फुलवारी लीलामें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(क) शुद्ध शृङ्गारका विकास। शृङ्गार-रसमें कालिदास और सादी-जैसे कवियोंने भी मर्यादाका अवलम्बन किया है। विश्वसाहित्यमें (एक) यही (पुष्पवाटिकाका) सीन है, जिसमें शृङ्गारमें मर्यादाका अवलम्बन नहीं है और (फिर भी)

रोचकता बनी हुई है। 'जाने आलम' और 'रोशनआरा' की मुलाकातके बाग़का सीन 'फ़िसाना अजायब' में, और रोमियो-जूलियटकी मुलाक़ातवाला सीन शैक्सपियरमें बड़े सुन्दर हैं; मगर इस सीनके साथ तुलनामें वे हमें मैरी कोरेलीके इस सिद्धान्तकी याद दिलाते हैं कि एक ओर भौतिक शृङ्गारका तूफ़ान है तो दूसरी ओर चन्द्रछायाका किसी शान्त जलाशय-में आनन्द। मैं तो यह कहता हूँ कि 'अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार। जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि **चितवत एक बार॥'** इस प्रसिद्ध पदमें जो शृङ्गारके तीन अंश हैं, उनमेंसे हलाहल (जहर इश्क़) यहाँ नहीं है। हाँ, अमिय और मधुभरेका आनन्द ही यहाँ है।

(ख) हाँ, ऐसे शृङ्गारके सूक्ष्म अङ्गोंका वर्णन है।

(ग) यहाँ नयिका-भेद नहीं है, मगर प्रगतियोंका निरीक्षण बड़ा मार्मिक है।

(घ) कला नाटकीय है, मगर रंग-मंचके संकुचित न होनेके कारण फ़िल्मकलासे टकराती है। याद रहे कि महा-काव्यकला संकेतरूपमें बराबर कायम है।

(ङ) तुलसीदासजीके कलाका, विशेषतः काव्यकलाका, पूर्ण विकास नाटकीय कलाके रूपमें यहाँसे अयोध्याकाण्ड-के अन्ततक है। यहाँसे विवाहतक सुखमय है। (मैं सुखान्तक नहीं कहना चाहता क्योंकि हमारे यहाँ रसकी प्रधानता पर कलाका विभाजन है)। अयोध्यामें दुःखमय है (दुःखान्तक नहीं)।

(च) चरित्र संघर्ष और विकासका बहुत सुन्दर नमूना है।

चेतावनी—कुछ गुण पहले लिख चुके हैं जो यहाँ भी लागू हैं और कुछ जगह-जगहपर कम-से-कम संकेतरूपसे वर्णन किये जायँगे। इससे यह तालिका पूरी न समझनी चाहिये।

दो०—उठे लखन निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान॥ २२६॥

शब्दार्थ—बिगत=बीत जानेपर। अरुणशिखा=मुर्गा। इसीको आगे 'अरुणचूड़' कहा है। यथा—'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुणचूड़ बर बोलन लागे॥ ३५८। ५।' ❀

अर्थ—रात बीतनेपर मुर्गे (कुक्कुट) का शब्द कानोंसे सुनकर श्रीलक्ष्मणजी उठे। जगत्‌के स्वामी सुजान श्रीराम-चन्द्रजी गुरुसे पहले ही जगे॥ २२६॥

नोट—१ इस दोहेसे राजकुमारोंकी दिनचर्याका वर्णन प्रारम्भ हुआ है।

टिप्पणी—१ (क) सेव्य-सेवक-भावसे सबका शयन करना और जागना लिखते हैं। प्रथम गुरुजीने शयन किया; यथा—'मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई'। तब श्रीरामजीने शयन किया, यथा—'बारबार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥' तत्पश्चात् श्रीलक्ष्मणजी लेटे; यथा—'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥ २२६। ८।' जिस प्रकार स्वामी और सेवकका शयन करना चाहिये वैसा वर्णन करके अब दोहेमें जैसे उठना चाहिये वैसा कहते हैं। प्रथम सेवकको उठना चाहिये, वही यहाँ कहते हैं। प्रथम लक्ष्मणजी उठे (ये सबसे पीछे लेटे थे और सबसे पहले उठे)।

श्रीविश्वामित्रजी और श्रीरामजी क्रमसे सोये थे। पर उनके जागनेका क्रम उल्टा है। पहले श्रीरामजी जगे, फिर विश्वामित्रजी; यह 'गुर ते पहिलेहि जागे' से जना दिया। इसीमें दोनोंका जागना और जागनेका क्रम कह दिया। (विशेष मिश्रजीका टिप्पण देखिये)।

❀ कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ वेदध्वनि वा प्रातकालिक भजन भी किया है। मा० त० वि० कार 'मुर्गा' अर्थ देकर फिर लिखते हैं। यद्वा 'अरुण'—निःशब्द, शिखा—प्रधान। यथा—'अरुणोऽव्यक्तरागे स्यात्संध्यारागेऽर्कसारथौ। निःशब्दे इति विश्वः॥', 'शिखाग्रमात्रे चूडायां केकिचूडाप्रधानयोरिति हेमः।' अरुणशिखा—निःशब्द तत्त्वकी प्रधान ध्वनि जो ऋषियोंकी वेदध्वनि वा प्रातःकालिक भजन है। पं० रा० च० मिश्रजी दूसरा एक और अर्थ करते हैं। अरुणशिखा—लाल है चोटी जिसकी। और कहते हैं कि जिनका विन्दु नीचे नहीं खसता ऐसे ब्रह्मचारियोंके शिरके बाल लाल पड़ जाते हैं, ऐसे वेदपाठी ऋषियोंकी वेदध्वनि।—ये सब अर्थ सम्भवतः इस शंकासे किये गये हैं कि किसी-किसीने मुर्गोंकी बोलीसे जागनेकी रीति तथा मुर्गोंका पाला जाना मुसलमानी शासनके समयसे मान लिया है जो अनुमान अयथार्थ और अप्रा-माणिक है। नोट—२ देखिये॥

(ख) 'उठे लषन' इति। जैसे लक्ष्मणजीके लिये 'पौढ़े' कहा था, वैसे ही यहाँ उनके लिये 'उठे' कहते हैं और जैसे मुनि और श्रीरामजीके लिये 'शयन' करना कहा था वैसे ही उनके लिये 'जागे' कहा है। 'पौढ़ना' और 'उठना' कहकर जनाया कि श्रीलक्ष्मणजी सोये नहीं, बराबर जागते ही रहे। इसमें अभिप्राय यह है कि इस समय हमारे स्वामी श्रीरामजी शयन कर रहे हैं। कदाचित् गुरुको कोई काम पड़े तो वह गुरुसेवा मैं ही कर दूँ, श्रीरामजीको जागना न पड़े। (यदि मैं भी सो गया तो गुरुसेवामें न पहुँच सकनेसे श्रीरामजीको गुरुसेवा-विक्षेपजनित दुःख होगा। ☞ लक्ष्मणजी श्रीरामजीका दुःख किञ्चित् नहीं सह सकते। (प्र० सं०)। इसीसे ग्रन्थकारने उनका शयन करना अथवा जागना नहीं लिखा किंतु 'पौढ़ना' और 'उठना' लिखा। (विशेष पूर्व लिखा गया है)।

२—'सुनि अरुनसिखा धुनि कान' इति। मुर्गेकी बोली सुनकर जागना पुराणोंमें भी पाया जाता है।

नोट—२ अरुणचूड़ अण्डजयोनिवालोंमेंसे एक हैं। ये उस समय भी थे। रातमें इसकी बोली दूरतक सुनायी देती है। यह प्रातःकालमें ठीक समयपर ही नित्य बोलता है और किसी पक्षीका नित्य प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्तमें ठीक समयपर बोलना नहीं सुना जाता। अतः इसीका बोलना कहा गया। राजाओंके यहाँ विविध प्रकारके पक्षियोंके पालनेकी प्रथा सदासे चली आयी है। राजाओंके कौतुकके लिये तो ये होते ही हैं, पर साथ ही बहुतेरे पक्षी बड़े कामके होते हैं। कबूतर दूतों और हरकारोंके काममें भी आते हुए देखे और सुने गये हैं। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि चकोर, कबूतर और अरुणचूड़ोंद्वारा ही भोजनमें विषकी उत्तम रूपसे सफल परीक्षा होती है। विष्णुगुप्त चाणक्यने अपने 'कौटिलीय' अर्थशास्त्रमें 'विनपाधिकारिक' के अ० २१ में आत्मरक्षाप्रकरणमें राजाओंके लिये नियम लिखा है कि अग्नि और पक्षियोंद्वारा भोजनकी नित्य परीक्षा करके तब राजा कोई चीज खाय। यथा—'**तद्राजा तथैव प्रति भुञ्जीत पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।** १। २१। १८। ९।' मनुने भी राजाके लिये लिखा है—'**तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः। सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः**॥ (मनु० ७। २१७)। अर्थात् वहाँ (अन्तःपुरमें) राजा भोजनकालाभिज्ञ, दूसरों द्वारा अभेद्य, परम आत्मीय जनद्वारा प्रस्तुत, परीक्षित एवं विषनाशक वेदमन्त्रोंद्वारा विशोधित अन्न व्यंजनादि उत्तम भोजन करे।

३ पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि 'अरुणशिखा' पदसे नगरका वास जनाया। जबसे अयोध्या छूटी तबसे आज मुर्गेका शब्द सुननेको मिला। दूसरे, यह ग्राम्यपक्षी है, नियमित समय बोलनेसे ग्रामशोभा जनायी।' (प्र० सं०)।

टिप्पणी—३ 'गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे···' इति। (क) पूर्वार्धमें लक्ष्मणजीका उठना कहकर क्रमसे ही जना दिया कि ये श्रीरामजीसे पहले उठे। जैसे ये श्रीरामजीसे पहले उठे वैसे ही श्रीरामजी गुरुसे पहले। क्योंकि सेवकका यह धर्म है कि स्वामीसे पहले जागे। (ख) 'जगतपति जागे' इति। 'जागने' के सम्बन्धसे 'जगतपति' कहा। भाव कि ईश्वरके जागनेसे जगत्की 'पति' अर्थात् रक्षा होती है। ईश्वरके जागनेमें सब जगह, 'जगतपति' विशेषण देते हैं। यथा 'जानेउ सती जगतपति जागे।' बालकाण्ड दोहा ६० (३) देखिये। (ग) 'राम सुजान' का भाव कि श्रीरामजी धर्ममें बड़े सुजान हैं, इसीसे गुरुसे पहले जागे। श्रीलक्ष्मणजीने अरुणशिखाध्वनि सुनकर जाना कि रात बीत गयी, प्रातःकाल हो गया और श्रीरामजी स्वतः जानते हैं, किसी अवलम्बसे नहीं। यथा 'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे। ३५८। ५।' श्रीरामजी प्रथम जगे, पीछे अरुणचूड़ बोलने लगे। इसीसे 'सुजान' विशेषण दिया।

पं० रा० च० मिश्र—'जगतपति' अर्थात् ये जगन्मात्रके स्वामी हैं और समस्त संसार ही इनका सेवक है, यह विशेषण देकर भी 'सुजान' विशेषण देते हैं, क्योंकि 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥ २। २५४। ५।' श्रीरामजी यद्यपि जगत्पति हैं, फिर भी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उनका अवतार केवल राक्षसोंके वधके लिये नहीं हुआ (राक्षसोंका वध तो थोड़े ही वर्षों बाद हो गया था, पर वे पृथ्वीपर कम-से-कम उसके बाद ग्यारह हजार वर्षतक राज्य करते रहे) किंतु संसारको अपने आचरणद्वारा धर्मकी मर्यादाकी शिक्षा देनेके लिये हुआ; यथा '**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।** भा० ५। १९। ५।' जो गुरुसेवाकी मर्यादा है, यथा '**हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ इति मनुः।**' अर्थात् (गुरुके समीप साधारण भोजन, वस्त्र, वेषभूषासे रहे) गुरुसे पहले सोकर उठे और गुरुके सो जानेपर सोये, वही श्रीरामजीमें चरितार्थ है, घटित है। अतः 'जगतपति सुजान' विशेषण दिये गये।

नोट—४ पुनः 'जगत्पति' का भाव कि इनका सोना और जागना क्या ? ये तो जगत्-मात्रके स्वामी हैं, सोना और जागना यह तो नरनाट्यमात्र है। सेवामें कैसे सावधान हैं, यह गीतावली १। ६९ में खूब दरसाया है। यथा 'गुरु के प्रान अधार संग सेवकाई हैं। नीच ज्यों टहल करैं राखें रुख अनुसरें, कौसिक से कोही बस किये दुहूँ भाई हैं।' ऐसे सावधान होनेसे जगत्पति और सुजान कहे गये। (प्र० सं०)।

५ दिनचर्या प्रातरुत्थानसे चली। उठनेके बादकी दिनचर्या 'सकल सौच करि जाइ नहाए।…' से 'करि मुनि चरन सरोज प्रनामा। आयेसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥ २३८। ५।' तक है।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥ १॥
समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥ २॥

शब्दार्थ—सौच=वह कृत्य जो प्रातःकाल उठकर सबसे पहले किये जाते हैं। जैसे, पाखाने जाना (मल-मूत्र त्याग करना), मुँह-हाथ-पैर धोना, दंतधावन। हिन्दूशास्त्रानुसार अशौचावस्थामें संध्या-तर्पण आदि वैदिक कर्म नहीं किये जाते। पुनः, शौच=पवित्रता। शौच दो प्रकारका होता है, एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। (बाह्य शौच मिट्टी और जलादिसे होता है। आभ्यन्तर शौच ध्यान, धारणा-भगवत्स्मरण आदिसे होता है)। 'सकल सौच'—टिप्पणी १ देखिये। नित्य=वे धर्मसम्बन्धी कर्म जिनका प्रतिदिन करना आवश्यक ठहराया गया हो।=नित्यक्रिया। जैसे—संध्यावन्दन, अग्निहोत्र, पूजा-पाठ इत्यादि। निबाहना=पूरा करना, पालन करना। नित्य निबाहि=नित्य कर्म करके। प्रसून=फूल।

अर्थ—सब शौच-क्रिया करके जाकर स्नान किया और नित्य-कर्म पूरा करके मुनिको प्रणाम किया॥ १॥ समय जान गुरुकी आज्ञा पाकर दोनों भाई फूल लेने चले॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'सकल सौच' इति। मनुष्यके शरीरमें बारह मल होते हैं; यथा—'वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविड्घ्राणकर्णविट्। श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥' अर्थात् चर्बी, वीर्य, असृक् (रक्त) हड्डीके भीतरका गूदा, मूत्र, विष्ठा, नाकका मल, कानका खूँट, कफ, आँसू, आँखका कीचड़, पसीना ये बारह मल हैं। इसीसे 'सकल सौच' कहा। [एक महानुभावने प्र० सं० के शब्दार्थमें 'मल-मूत्र-त्याग' को अर्थमें देखकर यह मत प्रकट किया है कि श्रीरामजीके विषयमें ग्राम्य-धर्म नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उनका शरीर चिदानन्दमय है; यथा 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ २। १२७।' पर मेरी समझमें अवतार लेकर नर-नाट्यमें सभी कर्म किये जायँगे। यदि मल-मूत्र-त्याग आदिका नरनाट्य न होता तो कौसल्यादि माताओंको कितनी चिन्ता हो जाती, जब कि वे श्रीरामललाजीके 'अनरसे होने, दूध न पीने', उनको नजर लग जानेपर बेचैन (विकल) हो जाती थीं, तब भला मल-मूत्र-त्याग न देखकर वे चुप बैठी रह जातीं ? वैजनाथजीने भी 'सकल सौच' में दिशा-मैदान आदिको लिखा है। 'सकल सौच' में ये सब हैं, रह गया भावनाके अनुसार उपासक जैसा चाहें मान सकते हैं। चिदानन्द शरीरमें पसीना, श्रमबिन्दु, रक्तबिन्दु कहे गये हैं, पर यह सब भी चिदानन्दमय ही हैं, दिव्य हैं। 'सकल सौच' से बाह्य शुद्धि कही। आगे 'नित्य निबाहि' से अन्तर—(अन्तःकरणकी, भीतरकी) शुद्धि कहते हैं।] (ख) 'जाइ' से सूचित होता है कि बाहर नदी-स्नान करने गये। नदी-स्नान उत्तम माना गया है। [यथा 'प्रवाहे शतधेनुश्च तटाके दशधेनुकम्। कूपे वाप्यामेकधेनुर्गृहे स्नानं तु केवलम्॥ गृहाद्दशगुणं कूपं कूपाद्दशगुणं तटम्। तटाद्दशगुणं नद्यां गङ्गासंख्या न विद्यते॥' (श्रीरामपटल)। अर्थात् नदीमें स्नानसे सौ गोदानका, तड़ागमें स्नानसे दश गौका, कूप अथवा बावलीमें स्नानसे एक गौका फल होता है और घरमें स्नान करनेसे केवल शुद्धि होती है, फल नहीं होता। (ऐसा शास्त्र कहता है और अत्रिस्मृतिमें कहा है कि) घरसे दशगुणा फल कूपपर, कूपसे दशगुणा तड़ागमें, तड़ागसे दशगुणा नदीस्नानमें होता है। गङ्गाजीमें स्नानके फलकी संख्या नहीं कह सकते।] (ग) 'मुनिहि सिर नाए' इति। गुरुको शौचादिसे निवृत्त होकर प्रणाम करना, यह भी 'नित्यक्रिया' मेंसे एक है, यथा—'प्रातकाल उठिकै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥ २०५। ७।'

२ (क) 'समय जानि' इति। समय जानकर आज्ञा माँगी, क्योंकि उसका समय न होनेसे आज्ञा न मिलती। ['लेन प्रसून' के साहचर्यसे 'समय जानि' का भाव यह होगा कि गुरुजीकी पूजामें प्रातःकाल दल-फूलकी आवश्यकता होती है, इसलिये फूल लाने वा पूजनका समय निकट जानकर चले जिसमें पूजाके समयतक दल-फूल लाकर उपस्थित कर दें।

'समय जानि' के सम्बन्धमें रसिक महानुभावोंने बहुत-से भाव लिखे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—(१) समय=संकेत। यथा—'समयः शपथाचारसिद्धान्तेषु तथाविधि। क्रियाकारे च निर्देशे संकेते कालभाषयोः॥ इति मेदिनी।' भाव यह कि जैसे नगरदर्शनकी लालसा श्रीलक्ष्मणजीके मनकी जानकर गुरुकी आज्ञा पाकर गये थे, यथा 'राम अनुज मनकी गति जानी।'''' जौ राउर आयेसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥ २१८। ३-६।', वैसे ही श्रीमज्जानकीजीके पुष्पवाटिकामें ए.नेका संकेत जान गुरुकी आज्ञा पा सुमनके बहाने चले। (मा० त० वि०)। अथवा, (२) नगरदर्शन-समय सखियोंके परस्पर संवादमें सिद्धान्त-ऐश्वर्यसूचक वचन सुने थे, फिर सबोंने उस वचनपर विश्वास करके सुमनकी वृष्टि की थी; यथा 'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं।''''तासु बचन सुनि सब हरषानी। ऐसेइ होउ कहहिं मृदु बानी॥ हिय हरषहिं बरषहिं सुमन'''। २२३।'—इस सुमनवृष्टिमें आभ्यन्तरीय यह संकेत था कि यदि ये बड़े प्रभाववाले हैं तो सुमनके बहाने पुष्पवाटिकामें जाकर प्रथम मानसिक स्वयंवर करेंगे, फिर धनुर्भंगके लिये उद्यत होंगे। (मा० त० वि०। अवथा, (३) दर्शनीय वस्तुओंके देखनेके लिये राजाओंका समय बँधा रहता है। पुष्पवाटिकाके दर्शनार्थ दरवाजा खुलनेका समय आ पहुँचा, यह जानकर। (मा० त० वि०)। अथवा, (४) श्रीसरकारके गुप्त प्रकट सब चरित्र अपने-अपने अवसरोंपर हुआ करते हैं। उसीके अनुसार लीलापरिकरोंका प्राकट्य होता है। यथा—'स्वैर्लीलापरिकरैर्जनैर्दृश्यानि नापरैः। तत्तल्लीलाद्यवसरे प्रादुर्भावोचितानि हि॥' (भागवतामृतकर्णिका)। पुष्पवाटिका चरित्रका यही समय है, यह जानकर प्रसून ले आनेकी आज्ञासे इस चरित्रको प्रारम्भ किया। (मा० त० वि०)। अथवा, (५) सखियोंकी पुष्पवृष्टिक्रियासे बागमें मिलनेका संकेत पा प्रभुने बालकोंसे पूछा तो उन्होंने बताया कि याम भर दिन चढ़े श्रीकिशोरीजी गिरिजापूजनको जाती हैं, यह समय जानकर। (वै०)। अथवा, (६) मुनिने अबतक कभी कहीं जानेकी आज्ञा (अपनेसे) नहीं दी थी, आज प्रथम-प्रथम पुष्पवाटिकासे फूल लानेकी आज्ञा दी। इस आज्ञामें क्या सिद्धान्त है यह जानकर चले। अर्थात् मुनिने जो श्रीदशरथमहाराजसे कहा था—'इन कहँ अति कल्यान॥ २०७॥', न जाने उसीका समय आ गया, अतः शीघ्र चल दिये। (मा० त० वि०)। पर इसपर आगे पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी ३ और नोट २ (ख) देखिये। पं० रामचरणमिश्रका मत है कि 'फूल लेने एवं गिरिजापूजनका समय' ये दोनों भाव मुनि और श्रीरामजी दोनोंके जाननेमें घटित होते हैं।] (ख) यदि संध्या समयमें बाग देखने जाते तो केवल बाग देखना होता। प्रातःसमय जानेसे दोनों काम हुए, बाग-दर्शन और गुरुसेवा।

३ 'गुर आयेसु पाई' इति। (क) 'पाई' से पाया जाता है कि श्रीरामजीने गुरुसे पूजाके लिये फूल ले आनेकी आज्ञा माँगी और उन्होंने जब आज्ञा दे दी तब गये। (ख) समय जानना यहाँ श्रीरामजीका है और आज्ञा देना गुरुका कहा गया है। यदि गुरुका स्वयं समय जानकर आज्ञा देना कहना होता तो लिखते कि 'समय जानि गुर आयेसु दीन्हा'। [(ग) गुरुको कहना न पड़ा, उन्होंने स्वयं जाकर गुरुसे आज्ञा ली। यह उत्तम सेवक-धर्म है। (प्र० सं०)]

नोट—१ 'लेन प्रसून चले दोउ भाई' इति। (क) 'प्रसून' का सीधा और प्रसंगानुकूल अर्थ 'फूल' ही है। बैजनाथजी एक अर्थ यह लिखते हैं कि 'प्रसून=सुमन=सुन्दर मन। इस तरह 'प्रसून लेने चले' का भाव यह है कि सखियोंसहित श्रीजनककिशोरीजीका सुन्दर मन हर लेनेको चले।' भाव यह कि कल पुरवासियोंके मन हरे थे आज अन्तःपुरवासियोंके मन हरने चले। (रा० प्र०)। (ख) 'दोउ भाई'—दोनों भाई गये क्योंकि लक्ष्मणजी श्रीरामजीको अकेले नहीं छोड़ते। अथवा, ☞ पूजामें फूल बहुत लगते हैं अतः दोनों भाई गये। (वि० त्रि०)।

२ श्रीलमगोड़ाजी—(क) 'समय जानि'''चले' इति। पुरुषमें activity फुर्तीकी प्रधानता होती है और स्त्रीमें Passivity की। देखिये श्रीरामजी स्वयं गुरुपूजन (गुरुके पूजा) का समय जानकर गुरुसे आज्ञा लेकर फूल लेने जाते हैं। पर सीताजीके लिये कविने लिखा है कि 'गिरिजा पूजन जननि पठाई'। [गिरिजा, गौरीका पूजन प्रायः विवाह और सुहागके लिये होता है; इसलिये यह काम अपनेसे करनेमें कन्याएँ लज्जा मानती हैं। इससे भी माताका गौरीपूजनके लिये भेजना यहाँ उचित ही है। और यहाँ स्वयं आज्ञा लेकर जानेमें ही प्रशंसा है, औचित्य है]।

(ख) 'लेन प्रसून' स्पष्ट बता रहा है कि कोई कृत्रिम गुप्त मुलाकात (जैसा कि ऊपर टि० २ (क) के (१), (२), (५) में महानुभावोंके भावोंसे प्रकट होता है) के समय इत्यादिके अमर्यादित शृङ्गारका भाव नहीं है। सरल

राजकुँवर फूल लेने गये थे। हाँ ! 'सो सब कारन जान विधाता। २३१। ४।' वाली बात ही और है कि सृष्टिकर्ताका विधान 'संयोग' की रचना कर रहा था। श्रीसीताजी भी गिरिजापूजनरूपी कार्यके लिये गयी थीं। इस प्रकार दोनों ओर धार्मिक उद्देश्य थे जो शृङ्गारको मर्य्यादित किये रहेंगे। 'दोउ गाई' इधर और 'सखी लै आई' उधर। (२३१। २) और भी पुष्टि इस बातकी कर देते हैं कि कोई और बात नहीं है।

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥ ३॥
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥ ४॥

अर्थ—(उन्होंने) जाकर राजाका श्रेष्ठ बाग देखा, जहाँ वसन्त ऋतु लुभाकर रह गयी है॥ ३॥ अनेक प्रकारके मन हर लेनेवाले सुन्दर वृक्ष लगे हैं। रंग-बिरंगकी सुन्दर श्रेष्ठ बेलोंके वितान (अर्थात् लता-भवन बने हुए) हैं॥ ४॥

'भूप बागु बर' के भाव

पं० रामकुमारजी—'भूप बाग' कहकर बागका नाम जनाया कि इस बागका नाम 'भूप-बाग' है। (जैसे राजद्वार, राजमहल इत्यादि वैसे ही 'भूपबाग' अर्थात् 'राजबाग')। 'बर' का भाव कि राजा जनकके और भी बाग हैं पर यह बाग सबसे श्रेष्ठ है।

श्रीलमगोड़ाजी—(क) भाषाके मर्मज्ञोंका कहना है कि कोई दो शब्द बिलकुल एक अर्थके नहीं होते, कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होता है। हम समझते हैं कि 'भूप' और 'नृप' समान अर्थ प्रकट करते हैं किंतु तुलसीदास—जैसे सावधान कवि ऐसा नहीं समझते। देखिये, भूप=पृथ्वीका मालिक। यहाँ बागकी चर्चा है, इसलिये यहाँ यह शब्द कितना सुन्दर है। पृथ्वीमाताके उदरसे ही तो बागका जन्म है। आगे श्रीराम-लक्ष्मणजीकी चर्चा होगी तब नृप'—बालक लिखेंगे। यथा—'एक कहइ नृप-सुत तेइ आली। २२९। ४।', 'कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता। २३२। १।' अर्थात् नरपतिके बालक। नृपनय (Political Science) के ज्ञाताओंके लिये यह विचारणीय है कि जनकपुरमें Territorial Theory of Sovereignty प्रधान थी। वहाँका राजा भूपति होता था, इसीसे तो पहले जनक-महाराजका 'हल-चलाना' शुभ समझा जाता था। और, श्रीअयोध्याजीमें Personal Theory of Sovereignty प्रधान थी इससे वहाँका राजा नृप कहा जाता था। यही बात King of England और King or Queen of Scotts में अन्तर रूपसे अंग्रेजी पढ़नेवाले जानते ही हैं। 'प्रधान' शब्द मैंने इसलिये लिखा कि जिसमें बहुत खींचातानी न की जाय। (ख) 'बाग बर' का अर्थ सरल है। फिर भी संकेतकलाका प्रयोग विचारणीय है। 'बर' दुलहको कहते हैं और आगे बागमें 'बाग बर' और 'बसंतरितु' दुलहिनका व्याह भी रचा है। फिर श्रीसीता-रामजीका व्याह भी होना ही है। उर्दूमें यह कला 'नसीम' में उत्तम है, पर इतनी सरल नहीं है।

प० प० प्र०—लमगोड़ाजीने जो लिखा है कि 'जनकपुरमें Territorial Theory of Sovereignty प्रधान थी...' वह ठीक नहीं है क्योंकि श्रीदशरथजीको भी भूप, भूपति कहा है और जनकजीको नृप भी अनेक बार कहा है। यथा—'देखन नगर भूपसुत आए। २२०। १।', 'एक बार भूपति मन माहीं। भइ गलानि मोरें सुत नाहीं॥', 'गए भूप दरबार। १। २०६।', 'देहु भूप मन हरषित....॥ २०७॥', 'सौंपे भूप रिषिहि सुत....॥ २०८॥' इत्यादि; 'कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। २१६। ६।', 'भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। २४४। ८।' इत्यादि दोनोंके लिये 'नरेस', 'नरनाथ', 'भुआल' और 'राउ' आदिका भी प्रयोग हुआ है।

'बर' विशेषण 'बाग' और 'भूप' दोनोंका है और पृथक् भी है। 'बर भूप'=श्रेष्ठ राजा। राजाओंमें श्रेष्ठ जो श्रीजनक महाराज हैं। 'भूप' को 'बर' इससे कहा कि उनको पृथ्वीने अपना सच्चा पति ('भू-पति') समझकर उनको कन्या दी। (पां०)। पृथ्वीके श्रेष्ठ पति हैं क्योंकि पृथ्वीसे कन्या इन्हींने उत्पन्न की। यथा—'देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम साँचे तिरहुतिनाथ साखि देति मही है।' गी० १। ८५। ५।' (ग) पुनः, भूप बाग बर=श्रेष्ठ बागों (अर्थात् देवताओंके चैत्ररथ आदि उत्तम बागों) का राजा। (पां०, रा० प्र०)। वा, बर=बड़ा। (रा० प्र०)।

मा० त० वि० (क) '**बर बाग**' अर्थात् योग-विभूतिका बाग। भाव यह कि राजा जनकके योगबलसे यहाँ त्रिपाद्विभूतिका गम (प्रवेश वा आविर्भाव) हो रहा है। जनकजी योगी याज्ञवल्क्यजीके शिष्य हैं। गीतावलीमें भी कहा है—

'रागरु विराग भोग जोग जोगवत, जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है। १। ८५। ३।' (ख) 'भू' आधार शक्ति। प=प्रतीक्षा (मात्रिकाकोशे)। भूप=जहाँ भू-शक्ति प्रतीक्षारूप है और अर्थात् नित्य निकुंज नित्य विहारका (बाग जो अशोकवनिका संज्ञक है)। (मा० त० वि० ने इसी प्रकारके और भी भाव दिये हैं)।

टिप्पणी—१ (क) 'देखेउ जाई' से जनाया कि इसके देखनेकी इच्छा थी, सो जाकर देखा। **'लेन प्रसून** चले दोउ भाई' कहकर तुरत 'भूप बाग बर देखेउ जाई' कहनेसे सूचित हुआ कि बहुत शीघ्र गये, इसीसे बीचमें और कुछ वर्णन नहीं किया गया। (ख) 'जहँ बसंत रितु रही लोभाई' इति। अर्थात् जहाँ वसन्त-ऋतुका धर्म बारहों मास बना रहता है, जैसा आगे कहते हैं—'नव पल्लव फल सुमन सुहाए'। लताएँ और वृक्ष वसंतमें पुष्पित होते हैं, यथा—'लता ललित बहु जाति सुहाईं। फूलहिं सदा बसंत की नाईं॥ ७। २८। २।' (ग) इस बागमें ऋतुराज मानो सेनासमेत उतरा है। सेना आगे कहते हैं। जैसे सब राजा बाहर वन-बागादिमें उतरे हैं, वैसे ही ऋतुराज वसंत बागमें बसा है। राजा सर सरितके समीप उतरे, वैसे ही वसंत बागके सरके समीप उतरा है। (घ) वसन्त पुँल्लिङ्ग है और ऋतु स्त्रीलिङ्ग है। वसन्त कामका सहायक है, और कामको स्त्रीका बल है, यथा—**'एहि कें एक परम बल नारी**। ३। ३८। १२।' इस बागमें शृङ्गारका वर्णन है, इसीसे 'वसन्त' के साथ 'ऋतु' शब्द बढ़ाकर वसन्तको स्त्रीलिङ्ग बनाकर कहा। 'वसन्त रितु' स्त्रीलिङ्ग है। [(ङ) स्त्रीलिङ्ग क्रियाका प्रयोग इसलिये किया गया कि यहाँ श्रीकिशोरीजी नित्य आया करती हैं। यहाँ पुरुषको आनेकी आज्ञा नहीं है। अतः वसन्तने मानो स्त्रीका रूप-वेष धारण कर लिया, जिसमें यहाँ रहने पावे। अथवा परम नायक पुरुषोत्तम श्रीरामजीकी अवाई (अगवानी तथा आगमन) में वसन्त भी सखी-समाजमें आनन्द लूटनेको नायिका-रूप हो गया। (रा० च० मिश्र)। (च) 'रही लोभाई' अर्थात् और स्थानोंको छोड़कर यहीं निवास कर लिया है। (मा० त० वि०)। इससे जनाया कि यहाँ मानरहित पड़ी रहती है। (छ) वसन्तऋतु लुभाकर रह गयी। भाव यह कि इस समय शरद्ऋतु है, शरद्में भी वसन्त दिखायी पड़ रहा है, इससे सिद्ध है कि यहाँ सभी ऋतुओंमें वसन्तकी शोभा रहती है। अथवा पावस और हेमन्तका मध्यवर्ती शरद् और शिशिर-ग्रीष्मका मध्यवर्ती वसन्त भी वर्तमान है, इस तरह षट् ऋतुओंकी शोभा सदा बनी रहती है। (वै०)]

श्रीलमगोड़ाजी—संसारके बहुत कवियोंने 'सदा बहार' के विचार लिखे हैं; परन्तु किसीने इस सुन्दरता और सजीवितासे उसका कारण नहीं बताया। हमारे पूज्य कविका आशय यह है कि आयी तो वसन्त अपने समयपर थी। पर मुग्ध होकर रह गयी और इस समय शरद्ऋतुमें मौजूद है। (राजाओंके बागमें विशेष उद्योगोंद्वारा यह ठीक ही है कि वसन्तकी-सी बहार सदा बनी रहती है)।

नोट—वसन्तके साज, सेना, शोभा आदिका वर्णन ३। ३७। ३८ में और १। १२६। १। ६ में देखिये। **'रही लोभाई'** कहकर बागकी अतिशय बड़ाई प्रदर्शित करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। जब स्वयं वसन्त ऋतु ही लुभा गयी तब मनुष्योंकी क्या कही जाय।

टिप्पणी—२ 'लागे बिटप मनोहर नाना....' इति। (क) 'लागे बिटप'—यह बाग है, इसीसे प्रथम वृक्षोंका वर्णन करते हैं। बागमें वृक्षोंकी ही प्रधानता रहती है। मनोहर और नाना कहकर जनाया कि सब वृक्ष अपूर्व हैं, खोज-खोजकर यहाँ लगाये गये हैं। और ऐसे ही रंग-विरंगकी उत्तम-उत्तम वेलें लगायी गयी हैं, वितान बनाये गये हैं। (ख) पहले बागको श्रेष्ठ कहा—'बाग बर'। अब उसकी श्रेष्ठता दिखाते हैं। 'लागे बिटप मनोहर....' यह बागकी श्रेष्ठता है। (ग) मनोहर है, इसीसे उसने दोनों भाइयोंके मनको हर लिया; यथा—'बागु तड़ाग बिलोकि **प्रभु हरषे बंधु** समेत। २२७।' (घ) 'बिटप' को कहकर पीछे लताओंका वर्णन किया। इससे सूचित किया कि वृक्षोंपर लताएँ चढ़-चढ़कर उलझ गयी हैं, वही मानो वितान तने हैं; यथा—'बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥ ३। ३८। १।' (वेलें जब वृक्षोंपर फैलती हैं तब वे वितान-सरीखी देख पड़ती हैं)।

नोट—१ 'मनोहर नाना' देहली दीपक है। नाना मनोहर विटप हैं और नाना मनोहर रंग-विरंगकी वेलें और चँदोवे हैं। 'नाना मनोहर बिटप' का भाव कि बागका एक-एक वृक्ष मनको हर लेता है और यहाँ तो ऐसे विटप अनेक हैं। रंग-रंगके वृक्ष हैं जिस बागमें ऐसे नाना प्रकारके वृक्ष होंगे वहाँ वसन्त ऋतु क्यों न लुभा जायगी ? जिस वृक्षपर जिस रंगकी वेलि शोभित होती है वही उसपर छा रही है; जैसे कालेपर लाल, श्वेतपर काली, पीतपर हरी इत्यादि। [नाना रंगोंके वृक्षों-

पर उन्हींके अनुकूल रंग-विरंगकी वेलें उनपर छायी हैं, जैसे चम्पापर विष्णुकान्ता, चाँदनीपर इश्कपेच, आम्रपर कुन्द, तमालपर हेमलता इत्यादि, क्यारी-क्यारीके बीच एक-एक रंग, इस प्रकार भाँति-भाँतिके अनेकों कुञ्ज बने हैं। (वै०)।] यहाँ शृङ्गाररसकी अधिकता शान्तरसके भीतर कही है। शृङ्गारके समय नायिका नायकपर प्रबल रहती है, वैसे ही यहाँ बेलिरूपी नायिका विटपरूपी नायकपर लिपट गयी है, नायिकाने नायकको लपेट लिया है। (पाँ० । प्र० सं०)। 'वर' विशेषण दिया क्योंकि इनके नीचे नाना चरित्र होने हैं। (मा० त० वि०)।

२ 'मनोहर नाना···बेलि बिताना' के और भाव ये हैं—(क) बागमें जो विटप लगे हैं वे विटप नहीं हैं किन्तु 'मनो' (मानो) 'हर' हैं जो अनेक रूपसे यहाँ विराजमान हैं। इसमें आश्चर्य ही क्या ? क्योंकि यह गिरिजा बाग है। [अथवा श्रीराम रस-माधुर्य-हेतु यहाँ स्थित हैं। (वै०)] 'बरन बरन बर बेलि बिताना' अर्थात् बेलोंसे वितान (वा बेलोंके वितान) कहते हैं कि 'वर' वृक्षरूप शिवका यश का वर्णन करो, वर्णन करो ! (रा० प्र०)। अथवा (ख) बागको श्रेष्ठ बागोंका राजा कहा है, उसके अनुकूल यहाँ यह अर्थ व्यञ्जित होता है कि राजाओंके चँदोवा तंबू आदि होता है, सो सब यहाँ लता वितान हैं। (रा० प्र०)।

नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥ ५॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥ ६॥

शब्दार्थ—पल्लव=पत्ते, कोंपल। संपति=धन, ऐश्वर्य। रूख (प्रा० रुक्ख)=वृक्ष। यथा–'रूख कलप तरु सागर खारा। तेहि पठए बन राजकुमारा॥ २। ११९। ४।' नटत=नाचता है। लजाना=लज्जित करना।

अर्थ—नवीन (नये-नये) सुहावने पल्लव, फल और फूल (रूपी) निज संपत्तिसे कल्पवृक्षको लज्जित कर दिया है॥ ५॥ चातक (पपीहा), कोयल, तोते और चकोर आदि पक्षी बोल रहे हैं, सुन्दर मोर नाच रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'नव पल्लव फल सुमन सुहाए।···' इति। [(क) 'नव और 'सुहाये' पल्लव, फल और सुमन तीनोंके विशेषण हैं। 'नव' का दूसरा अर्थ है—'नम्र हो गये वा झुक गये हैं। वा, नम्र, झुके हुए।' इस तरह अर्थ होगा-सुन्दर पत्तों, फल और फूलोंसे वृक्षकी शाखाएँ झुकी हुई हैं। वा 'पल्लव, फल और फूलके भारसे झुके हुए सुहावने लगते हैं। पाँ०, रा० प्र०)] (ख) पल्लव, फल और सुमन तीनोंको कहकर सूचित किया कि इस राज-बागमें उपवन, बाग और वन तीनों हैं यथा—'भूप बाग वर देखेउ जाई' (यहाँ बाग कहा), 'परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत। २२७।' (यहाँ उपवन कहा। आराम=उपवन, यथा 'आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमवनमेव तत्। अमर २। ४। २।') और, 'एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥ २२८। ७॥' तथा 'करत प्रकासु फिरहि फुलवाई। २३१। २।' (यहाँ वाटिका कहा)। (ग) वाटिका फूलती है, बाग फलते हैं और उपवन पल्लवित होते हैं। यथा—'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥ २१२॥', 'सुंदर उपबन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नए॥ ७। ३२। २॥' ☞ इसीसे यह बाग पार्क Park की तरहका था, जिसमें 'देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि-बहोरि। २३४।' की गुंजाइश (समायी थी। (लमगोड़ाजी)]

नोट—१ (क) 'नव' संख्याकी हद है। 'नव पल्लव' कहकर शोभा-सुन्दरताकी अवधि पल्लव जनाये। (रा० प्र०)। वास्तवमें वसन्तका यहाँ लुब्ध होकर रहना कहा है। वसन्तमें नवीन कोंपलें निकलती हैं, वही भाव यहाँ 'नव' का है। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ शृङ्गाररस वर्णन करेंगे, उसमें प्रथम उद्दीपन विभाव कह रहे हैं। बाग तड़ागकी शोभा उद्दीपन विभाव है जो रसका बीज है। इसे देखकर अनुभावरूप शृङ्गाररस उत्पन्न हुआ, इसीसे आगे 'जो रामहि सुख देत' कहा है। बागमें आज श्रीजनकनन्दिनी रघुनन्दन-मिलापका प्रथम दिन है। वात्सल्य, सख्य, दासादि भाववालों-को प्रसिद्ध देखनेका अधिकार नहीं है, पर उनको भी देखनेकी अभिलाषा है; इसलिये वे वृक्ष, गुल्म, लता आदिके शाखा, पल्लव, फल-फूलादिके रूपमें आ विराजे हैं। ये सब श्रीरामप्रेमरसके भरे रसीले हैं। इसीसे सबको 'सुहाए' कहा।

टिप्पणी—२ 'निज संपति सुररूख लजाए।' इति। (क) वृक्षोंकी सम्पत्ति फल, फूल, पत्ते हैं; यथा—'फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि नियराइ। पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥ ३। ४०॥', (पत्ते, फूल और फल तीनों एक साथ वृक्षोंमें हैं यह विलक्षणता है), दूसरे यहाँ श्रीराम-जानकीजी आये हैं; यह सौभाग्य कल्पवृक्षको कहाँ नसीब ? उसके यह भाग्य कहाँ ? इसीसे वह लज्जित है। यथा—'जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥ २।

११३ ॥' [(ख) 'लजाए' इति। क्योंकि सुरतरु अपकारकी वस्तुको भी देकर नाश करनेवाला है और यहाँ तो सदा परोपकार ही सिद्ध है। पुनः, वह माँगनेपर देता है, वह भी नाशवान् पदार्थ। और यह स्वतः देता है और अक्षय पदार्थ देता है। पुनः, वह अर्थ, धर्म, और काम देता है और यह मोक्षसहित अमित फल देता है। पुनः वह लौकिक या प्राकृत फल देता है और यह अलौकिक, अप्राकृत दर्शनमात्रसे रामानुरागरूपी फलकी प्राप्ति कर देता है। (मा० त० वि०)। पुनः, ये सब वृक्ष पृथ्वीसे उत्पन्न हैं और श्रीजानकीजी भी भूमिजा हैं। यह सब विभूति अनादि है। अतः 'निज संपति' श्रीजानकीजीके विहारसे सुरतरुको लज्जित करते हैं। (रा० च० मिश्र)। पुनः, कल्पवृक्ष और इस बागके वृक्षोंको दो पलड़ोंमें रक्खा गया तो यहाँके वृक्ष श्रीजानकीजीके नित्य दर्शनरूपी सम्पत्तिकी गुरुतासे यहीं रह गये, इनका पलड़ा न उठा, और कल्पवृक्षका पलड़ा इतना हल्का पड़ा कि आकाशको चला गया। अथवा, लजाके मारे स्वर्गमें जा छिपा। (रा० प्र०)] (ग) 'सुररूख लजाए' का भाव यह है कि इस बागके वृक्ष कल्पवृक्षसे सुन्दर हैं। 'निज संपति' का भाव यह है कि अपने पत्तों, फूलों और फलोंसे देववृक्षको लज्जित करते हैं। (कल्पवृक्षमें भी फूल, फल और पत्ते होते हैं पर वे ऐसे सुन्दर नहीं हैं)। यहाँ कल्पवृक्षके फल देनेसे तात्पर्य नहीं है वरंच उसकी शोभा-सुन्दरतासे तात्पर्य है। [यह वेद-वादका भाग है। 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥' (वि० त्रि०)]

नोट—२ 'रूख' शब्द यहाँ बड़ा अनूठा है। देशी भाषा, देहाती बोलीमें 'रूख' वृक्षको कहते हैं। सुरतरुका लज्जित होना कह ही नहीं रहे हैं वरंच अपने शब्दोंसे कवि उसे दिखा भी रहे हैं। 'रूख' का अर्थ 'सूखा' भी है। 'सुररूख' शब्द देकर जनाते हैं कि कल्पवृक्ष इनके सामने अपनेको उनके सदृश न पाकर लज्जाके मारे रूखा पड़ गया है वा सूखी लकड़ीके समान हो गया है।

श्रीलमगोड़ाजी—कितना सजीव बना दिया है। यहाँके वृक्षोंको अपने सौन्दर्यका अनुभव है और इन्होंने मानो कल्पवृक्षको भी लज्जित कर दिया है। 'Personification' निर्जीवको सजीव करना यह है। कलाकी दृष्टिसे 'सुरतरु' पाठ अच्छा है। हमें संकेतकलासे यह भासित होता है कि देववृक्ष तरावटके होते हुए भी लजा गया, कारण कि यहाँ उससे भी अधिक तरावट है। 'रूख' पाठसे यह समझना चाहिये कि लज्जासे रूखा (सूखा) हो गया, क्योंकि यदि रूख था ही तो लजानेमें कलाका कोई चमत्कार नहीं रहता।

☞ प्राकृतिक दृश्यचित्रणकी बात याद रहे कि तुलसीके परदे केवल चुप नाटकीय परदे नहीं और न केवल हमारी भावनाओं और विचारोंके उत्तेजक हैं वरंच स्वयं भी सजीव हैं, मानवी प्रकृतिसे हिलमिल जाते हैं। फिर सजीवता बड़ी सरल है, कृत्रिम नहीं।

यहाँ मानो 'बाग' वर और वसन्तऋतुके विवाहोत्सवकी महफिल बनायी गयी है—सुन्दर वृक्ष खम्भे, एक वृक्षसे दूसरे वृक्ष तक फैली हुई रंग-विरंगकी बेलोंका ही वितान है और नव पल्लव फल सुमन ही सजावट है। विश्वसाहित्यके सम्बन्धसे तुलसीदासजीकी संकेतकलाकी महत्ता देखिये। वे हमारी कल्पनाशक्तिको उत्तेजित करके स्वतन्त्र छोड़ देते हैं, उसे जकड़बंद नहीं करते। देखिये, यहाँ किसी विशेष वृक्ष या बेलिका नाम नहीं लिया। समयके परिवर्तनसे रुचि बदलती है। इसीसे 'गुलजारे नसीम' के सौसन, नरगिस, लाला इत्यादिका बाग अब किसीको नहीं भाता और पुराना हो गया, किंतु तुलसीकी फुलवारी वैसी ही बनी है। हाँ, वृक्ष मनोहर और नाना रंगके समझने चाहिये, न कि एक ही तरहके या खराब और इसी तरह बेल भी 'बर' और वर्ण-वर्णकी हैं।

नोट—३ 'चातक कोकिल·····' इति। बागमें पक्षी तो बहुत किस्म (प्रकार) के हैं पर यहाँ चातक, कोकिल, कीर, चकोर और मोर इन पाँचका ही नाम दिया है। कारण कि—

(क) यहाँ बागकी शोभा वर्णन कर रहे हैं। ये बागकी शोभा बढ़ानेवाले पक्षी हैं। वन-बागादिकी शोभाके वर्णनके साथ इन पक्षियोंका भी वर्णन किया गया है; यथा—'नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर। भाँति भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चित चोर ॥ २। १३७ ॥', 'चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन ॥ अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ॥ २। २३५ ॥'—(भृङ्ग एक ही सर्वत्र रहता है), 'कूजत पिक मानहु गज माते।··· मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी।···चातक बंदी गुनगन बरना ३। ३८।' (प्र० सं०)।

(ख) यहाँ शरद्-सेवी, वसन्त-सेवी और वर्षा-सेवी तीनों ऋतुओंमें आनन्द लेनेवाले पक्षियोंको गिनाया है। ये सब

एक साथ इस बागमें विहार कर रहे हैं, यह दिखाकर जनाते हैं कि इस बागमें सर्व ऋतुओंसे विलक्षण ऋतु है जो अकथनीय है। (रा० प्र०)।

(ग) चातक और चकोर शरद्सेवी हैं। इस समय शरद् ऋतु विद्यमान है और चातक शरद्का मुख्य सेवी है, इसीसे 'चातक' को प्रथम कहा। कोकिल और कीर वसन्तसेवी हैं, (और यहाँ वसन्त लुभाकर रह ही गयी है, अतएव वसन्तसेवी इन पक्षियोंको भी कहा) शरद्में कुछ वर्षाका भी अंश है। (आश्विनमें वर्षा होती ही है। चतुर्मासामें आश्विन भी है)। इसीसे मोरको भी कहा। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि वेलिवितानसे चातकको मेघमण्डलका भ्रम हुआ, नवपल्लवसे कोकिलको वसन्तका भ्रम हो रहा है, नवफलसे शुकको ग्रीष्मका भ्रम हुआ और नवकुसुमनसे चकोरको छिटकी हुई चाँदनीका भ्रम हुआ। अतः ये सब बोल रहे हैं। ये चारों तालधारीकी भाँति कूज रहे हैं। मोर लतावितानको मेघमण्डल मानकर नृत्य कर रहा है)। श्रीरामजीको देखकर सब पक्षी बोलने लगे, मोर नाचने लगे, यथा—'देखे राम पथिक नाचत मुदित मोर मानत मनहु सतड़ित कलित घन धनु सुरधनु गरजनि टँकोर।' (श्रीराम-घनश्यामको देखकर उसे मेघोंका भ्रम हो रहा है। पीताम्बरमें बिजलीका भ्रम है। धनुषकी टंकोर मेघोंका गर्जन है) चकोर मुखचन्द्र देख रहा है, यथा—'सघन छाँह तम रुचिर रजनि बदन चंद चितवत चकोर सरद रितु है।' पपीहा श्रीरामजीको मेघ जानकर बोलता है, जलकी आशा कर रहा है। और कोकिल मानो गा रहा है, यथा—'गावत कल कोकिल किसोर।' (भरतजीको भी देखकर इसी तरह पक्षी बोले हैं, यथा—'मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी॥ २। ३११।' (पं० रामकुमारजी)।

(घ) यहाँ शृङ्गाररस वर्णन करना है। ये पाँचों पक्षी शृङ्गाररसके उद्दीपक हैं, रसग्राही हैं; इससे इन्हींके नाम लिखे, नहीं तो यह तो प्रथम ही कह आये हैं कि यहाँ 'बिपुल बिहंग निवास। २१२।' है। दूसरे ये पाँचों वसन्त, वर्षा और शरद् तीनों ऋतुओंके भोगी (भोक्ता) हैं। अपने-अपने ऋतुके भ्रमसे ये पाँचों इस बागमें सदा बसे रहते हैं। अर्थात् इस बागमें तीनों ऋतुएँ सदा बनी रहती हैं। इस तरह कि वसन्त ऋतु तो विद्यमान है ही; वह तो यहाँ आकर लुभाकर रह गयी है, इससे उसके भोगी कीर और कोकिल इसमें सदा रहते हैं। वर्षा और शरद् ऋतु माननेमें चातक-चकोरोंकी भ्रान्ति रूपककी ध्वनि है। वर्षाका इसमें सदा रहना इस प्रकारसे है कि वृक्षोंके पुराने काले-काले (गहरे हरे सघन) पत्ते काली घटाके समान हैं और उनमें श्वेतपुष्पोंकी पंक्ति (वा गुच्छे) बगलोंकी पंक्तिके समान हैं, पीले फूलोंकी पंक्ति (पुष्पजाल) का वायुके सञ्चारसे लहराना बिजलीका चमकना है। लाल, पीले, हरे पुष्पोंकी पंक्तिका मेल (वा, कतार) इन्द्र-धनुष है। कुञ्जोंमें पवनके प्रवेशसे शब्दका होना मेघोंका गर्जन है। पुष्परसका सदैव टपकना जलवृष्टिकी भ्रान्ति उत्पन्न करता है, जिसके कारण मयूर सदा सुन्दर नृत्य करता रहता है। श्यामदलोंकी सघनतामें निर्मल श्याम आकाशकी, अनेक रङ्गके (वा, श्वेत) फूलोंमें नक्षत्रों-तारागणोंकी, और श्रीजनककिशोरीजीके मुखचन्द्रमण्डलमें शरद्पूनोंके चन्द्रमाकी भ्रान्ति होनेसे शरद् ऋतुकी रात्रिका अनुमानकर शरद्सेवी चकोर आनन्दित है। (पाँड़ेजी)। 'करत प्रकास फिरत फुलवाई' यह उस चन्द्रका प्रकाश है। छोटी-छोटी लाल रङ्गकी कलियाँ जो भूमिपर फैली पड़ी हैं वे बीरबहूटी हैं (रा० प्र०)।

(ङ) नवीन पल्लव और बहुरङ्गके फूल फूले देख कोकिल और कीर वसन्त मानते हैं। किसी-किसी वृक्षपर जो श्वेत-वर्णलताका वितान है वह निर्मल आकाश है। (परंतु इससे आकाश श्वेतरङ्गका हो जायगा। मेरी समझमें पाँड़ेजीका मत विशेष सङ्गत है)। सहचरियोंसहित श्रीजानकीजीका मुख तारागणसहित निर्मल चन्द्रमा है। इससे चकोर शरद् समझता है। श्रीराम-श्यामघनका आगमन जानकर मोर नाचता है। अथवा, नित्य ही सखियोंकी छबिकी बिजली-सी छटा देख आनन्दसे नाचता रहता है। अथवा, यहाँ चैत्ररथ, नन्दन, कैलास और वैकुण्ठादिके पक्षीगण आये हैं, जो अपने-अपने बागका बखान कर रहे हैं, उसे सुनकर मोर 'नटत' अर्थात् 'न, न' नहीं-नहीं करता है। भाव कि ऐसा नहीं है (रा० प्र०)।

(च) पाँच पक्षी कहे क्योंकि भक्त पाँच प्रकारके कहे गये हैं; यथा—'आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। गीता ७। १६।' ('च' से पाँचवाँ प्रेमी भक्त कहा गया है) ये पाँचों पक्षी नहीं हैं वरंच मानो पाँचों भक्त हैं जो श्रीराम-जानकीका मिलन देखनेके लिये रूपान्तरसे बागमें आये हैं। जिस क्रमसे श्लोकमें भक्तोंके नाम आये हैं, उसी क्रमसे यहाँ पक्षियोंके नाम हैं। चातक आर्तभक्त है। चातक पी-पी रटा करता है, आर्त कष्टनिवारणार्थ पुकारता है)। कोकिल जिज्ञासु है। ('कुहूकुहू कोकिल धुनि करहीं। ३। ४०)।' कीर अर्थार्थी है, चकोर ज्ञानी है और मोर प्रेमी। (प्रेमी प्रेममें नाचता है)। (पं० रामकुमार)। बैजनाथजीके मतसे चातक अर्थार्थी है; कीर ज्ञानी है, चकोर आर्त है। ये सब पक्षीरूप धरकर

अपने-अपने भावोंको प्रकट कर रहे हैं। (क्यों न हो? विनयमें कहा ही है—'खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम होइ रहिहौं।')

(छ) चातकादिका कूजना कहकर जनाया कि ये मानो गाते-बजाते हैं और मोर सुन्दर गतिसे नाचता है। (इस तरह यहाँ गाने और नाचनेवाले दोनों कहे) (वै०, रा० प्र०)।

४ ऊपर 'भूप बाग बर' कहा। राजाके सेना भट इत्यादि होते हैं, बागको राजा कहकर अब उसकी सेना कहते हैं। वसन्तका यहाँ लुभाकर रह जाना कहा था, अब वसन्तका साज वर्णन करते हैं। और बागको जो 'वर' कहा था वह वरपन, वह श्रेष्ठता यहाँ दिखाते आ रहे हैं कि यहाँ नये पत्ते-फूल-फल सदा ही बने रहते हैं, यही नहीं किंतु फूल-फल-पत्ते तीनों एक साथ यह अद्भुत सम्पत्तिविभूति देखिये; और भी देखिये कि चातक, कोकिल, कीर, चकोरादि सभी यहाँ अपने-अपने ऋतुओंका आनन्द सब दिन पाते हैं। इन सबोंका एक ही साथ यहाँ विहार कहकर सब ऋतुओंमें इस बागको विलक्षण ठहराया (प्र० सं०)।

५ ऊपर कह आये हैं कि यहाँ बाग-राजाकी सेना कहते हैं? वह सेना क्या है सो सुनिये—

नाना प्रकारके विटप नाना प्रकारकी वरदीवाले भट, ध्वजा और पताका हैं, यथा—'कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए॥ कदलि ताल बर ध्वजा पताका। ३। ३८।'; बेलें शामियाने हैं; यथा—'बिटप बिलग्न लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥ ३। ३८। १।' फूल (वा, फूलोंसे सुशोभित वृक्ष) बाने बंद हैं; यथा—'बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥ ३। ३८। ३।' अब नाच रङ्गका सामान चाहिये सो यहाँ पक्षी हैं, यथा—'अलिगन गावत नाचत मोरा।', 'चातक बंदी गुनगन बरना। ३। ३८। ८।' वा, हाथी-घोड़े आदि चाहिये सो यहाँ ये पक्षी हैं, यथा—'कूजत पिक मानहुँ गज माते।' 'मोर चकोर कीर बर बाजी।''''चातक बंदी गुनगन बरना॥' चातक भाट आदि हैं। (३। ३८)।

६ श्रीराजारामशरणजी—महफिलमें गायकोंका समूह है। शब्दगुण यह है कि पक्षियोंका 'च' और 'क' प्रधान् चहकना साफ सुनायी पड़ता है और उनके नामके नाम आ गये। सब ऋतुओंके पक्षी मौजूद हैं, यह कोई आश्चर्यकी बात राजाओंके बागमें नहीं है। सब ऋतुओंका लुत्फ है, यही तो वसन्तऋतुके लुभाकर रह जानेका कारण है, नहीं तो एक ऋतुको दूसरे ऋतुका मजा ही कहाँ मिल सकता है—देखा आपने कलाका चमत्कार!

'बिहङ्ग' का शब्दगुण देखिये। 'कूजत' की गूँज साफ है। 'नटत कल मोरा'—नाचनेवाला 'कत्थक' भी मानो महफिलमें 'मोर' रूपमें मौजूद है। 'रा' से नाचनेमें घूम जाना और 'नचत' में मानो नाचनेवालेके पैरकी थाप ही चित्रित है। 'कल' शब्दमें 'मोर' के सुन्दर पेशवाजका संकेत है।

मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनि सोपान बिचित्र बनावा॥ ७॥
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥ ८॥

अर्थ—बागके बीचोंबीच सुन्दर तालाब सुशोभित है। मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं। रङ्ग-बिरङ्गकी विलक्षण बनावट है (अर्थात् अनेक प्रकारकी मणियाँ रङ्ग-रङ्गकी उसमें लगी हैं॥ ७॥ जल निर्मल है, बहुत रङ्गोंके कमल (उसमें फूले हुए) हैं, जलपक्षी कूज रहे हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं॥ ८॥

श्रीराजारामशरणजी—१ 'सर सोह सुहावा' का अनुप्रास कितना रसपूर्ण है? २—'मनि सोपान' इति। जहाँ सरोवरकी सीढ़ियाँ मणियोंकी पच्चीकारीकी हैं, वहाँके मन्दिरकी बनावटका क्या कहना? संकेतकला विचारणीय है। राजकुँअर फूल लेने आये थे इससे मन्दिरमें गये ही नहीं और श्रीसीताजी पूजाकी भावनासे आयी थीं, इससे मन्दिरकी कलाकी ओर इस समय किसीका ध्यान ही नहीं है। कवि भी 'सर समीप गिरिजागृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥' कहकर इसीलिये छोड़ देगा। हाँ, कलाका आनन्द सियरघुबीर-विवाह-मण्डपमें देखिये और कुछ वैसा ही यहाँ भी समझ लीजिये। ३—'सरसिज' इति। कविकी सावधानी देखिये। यदि 'पंकज' लिखते तो 'बिमल' न निभता, कारण कि पंककी ओर ध्यान अवश्य जाता। [इसी तरह पम्पासरोवरके जलके विषयमें 'संत हृदय जस निर्मल बारी' जब कहा तब 'बिकसे सरसिज नाना रंगा' कहा है।] ४—'गुंजत भृंगा' इति। कैसी सुन्दर गुणकी गूँज है और 'भृंग' शब्द भी कितना उचित?

टिप्पणी—१ (क) 'मध्य बाग सर सोह''''' इति। सरकी शोभा कई प्रकारसे दिखाते हैं। तड़ागकी शोभा एक तो

बागके मध्यमें होनेसे है, दूसरे वह अपने स्वरूपसे सुन्दर है—मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं, कमल अनेक रंगके फूले हुए हैं और जल निर्मल है। दो प्रकारकी सुन्दरता दिखानेके लिये 'सोह' और 'सुहावा' दो पद दिये। [पांडेजी यह शंका उठाकर कि 'यहाँ दो शब्द एक अर्थके होनेसे पुनरुक्ति दोष आता है ?' उसका समाधान यह करते हैं कि यहाँ कवि 'बाग सर' और 'सोह सुहावा' एक पंक्तिमें रखकर अन्योन्यालङ्कारका अर्थ सूचित करते हैं। 'सोह' का सम्बन्ध 'सर' से और 'सुहावा' का बागसे है। आशय यह है कि 'बागका शोभित करनेवाला सर मध्यबागमें सोहता है। तात्पर्य कि 'बाग बिना सरके और सर बिना बागके नहीं सोहता। यहाँ दोनों हैं। बागकी शोभासे सर सुहावा और सरकी शोभासे बाग।' (रा० च० मिश्र)। वस्तुतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, 'सुहावा' विशेषण है और 'सोह' क्रिया है।] (ख) ☞ बागका वर्णन कर चुके, अब सरकी शोभा कहते हैं। जैसे-जैसे श्रीरामजी बागके समीप (उसके भीतर विटप आदिके समीप) जाते हैं तैसे-तैसे बागका वर्णन कवि करते जाते हैं। पहले बागका समष्टिरूप उन्होंने देखा, इसीसे कहा कि 'भूप बाग बर देखेउ जाई।' आगे चलनेपर क्रमसे विटप, बेलि, फल-फूल और पक्षी देख पड़े—'लागे बिटप…', 'बरन बरन बर बेलि बिताना', 'नव पल्लव फल सुमन सुहाए', 'चातक कोकिल…'। मध्यबागमें पहुँचे तब तड़ागकी शोभा देखी। [(ग) 'बिचित्र बनावा', एक तो रंग-बिरंगकी मणियोंसे बना इससे विचित्र, दूसरे बनावट भी बड़ी कारीगरी और कलाकी है। तीसरे, 'विचित्रता यह कि सीढ़ियोंपर लता, वृक्ष और जलका आभास पड़ रहा है और जलमें भी लता, वृक्ष और सीढ़ियाँ भासित हो रही हैं। अतः जलमें थल और थलमें जलकी प्रतीति होती है।' (मिश्रजी)। गीतावलीमें चित्रकूटकी शोभा कहते हुए भी कुछ ऐसा ही कहा है; यथा—'जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग। गी० २। ५०। ५।' पुनः, विचित्र बनाव यह कि श्वेतमणिकी भूमिका, नीलमणिकी डालें, हरितमणिके पत्र, पीतमणि पीरोजाके फूल, लालमणिके फल, इत्यादिसे उनमें बेलें इत्यादि बनी हैं यह विचित्रता है। (वै०)। जिसमें विशेष रचना हो उसे 'विचित्र' कहते हैं, अथवा, जिसमें विजातीय आश्चर्य हो वह विचित्र है। (रा० प्र०)। (घ) सर बागके मध्यमें बनानेका भाव कि बागका जीवन जल है और शरीरका जीवन प्राणवायु है जो हृदयमें (शरीरके मध्यमें) रहता है। इसीसे बागके जीवन सरको भी मध्यमें स्थान दिया। अथवा, नाभिको सर कहा जाता है, नाभि शरीरके बीचमें है इससे बागके बीचमें सरको रक्खा। (रा० प्र०)।]

नोट—१ 'बिमल सलिल…' इति। 'बिमल' कहकर जनाया कि स्फटिकमणिके समान स्वच्छ अगाध जल है। 'सरसिज बहुरंगा' से पाया गया कि सर सघन पुरइनसे परिपूर्ण आच्छादित है। इन पुरैनियोंके बीच-बीच श्याम, श्वेत, पीत और अरुण कमल हैं, जिनमेंसे कुछ फूले हैं, कुछ अधफूले हैं और कुछमें अभी कली निकली हैं। (वै०)। जनकपुरके वर्णनमें 'सलिल सुधा सम मनि सोपाना' कहकर पुरके सभी सरोवरोंका वर्णन कर चुके हैं—२१२ (५) देखिये। इस सरकी विशेषता यह है कि यहाँके मणिसोपानकी कारीगरी विचित्र है, अनेक रंगोंके कमल इस एक तालाबमें हैं। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—२ (क) 'सरसिज बहु रंगा' इति। कमलोंका फूलना आशयसे जना दिया। जलपक्षी बोलते हैं, भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। शरद्ऋतु है; इसीसे जलका विमल होना और कमलका फूलना कहा। बिना कमलके फूले भ्रमर गुञ्जार न करते। (ख) भ्रमर और जलपक्षी दोनों कमलके स्नेही हैं, यथा—'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग। नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग॥ ४०।' इसीसे कमलोंका प्रफुल्लित होना कहकर तब इन दोनोंका बोलना लिखा। (ग) बागके और जलके पक्षी पृथक्-पृथक् लिखे और दोनों (बाग और तड़ागके वर्णन) के अन्तमें भृङ्गको कहा, क्योंकि भृङ्ग बाग और तड़ागके सब एक ही हैं, पृथक्-पृथक् नहीं हैं। (घ) 'बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा', यह शरद्का धर्म वर्णन किया, क्योंकि वर्तमान कालमें शरद् है।

नोट—२ ऐसा ही जनकपुरके वर्णनमें कहा है,—'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥ गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा॥ बरन बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥ २१२। ६-८।' यहाँतक जलाशयके पक्षी कहे। 'सुमनबाटिका बाग बन…। २१२।' यहाँतक वाटिका, बाग, वन कहे। फिर वाटिका, बाग, वनमेंके पक्षी कहे,—'बिपुल बिहंग निवास। २१२।' परंतु भ्रमर एक ही जगह कहा था, फिर न कहा; क्योंकि भ्रमरमें भेद नहीं है। वह सर्वत्र एक है। (पं० रामकुमार)। २—'बहुरंगा' देहलीदीपक है। कमल भी बहुरङ्गके (पीत, श्याम, श्वेत, अरुण) और जलपक्षी भी बहुरङ्गके। पाँड़ेजी कहते हैं कि 'बहुरंगा' सरसिज, जलखग, कूजत, गुंजत और भृङ्ग सभीमें लगता है। कमलों और पक्षियोंका बहुरंग होना तो प्रत्यक्ष ही है, पक्षियोंकी बोली 'कूज' भी बहुरंगकी हुई। और भृङ्ग

बहुरंग इससे हुए कि जिस रंगके कमलपर बैठे उसी रंगके हो गये। 'बहुरंग कमल' ३७ (५) में देखिये। अन्यत्र कहीं पीत जीरेसे भर जानेसे भृङ्गको पीत रंगका कहा गया है। ३— 'जलखग कूजत गुंजत भृंगा' इति। जलपक्षीके कूजनेका भाव कि ये श्रीरामघनश्यामको देखकर बोल उठे। भ्रमरके गुञ्जारका भाव कि सब लोग श्याम होनेके कारण हमारा निरादर करते थे सो आज वे सब श्याम ही पर लट्टू हो जायँगे वा श्यामपर निछावर होंगे। (रा० प्र०)।

दो०—बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत।
परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत॥ २२७॥

अर्थ—बाग और तालाबको देखकर भाईसहित श्रीरामजी प्रसन्न हुए। यह बाग परम रमणीक है कि जो श्रीरामजीको सुख दे रहा है॥ २२७॥

श्रीराजारामशरणजी—१ 'हरषे'। कविने किस सुन्दरतासे शृङ्गारके माधुर्यको पैदा कर दिया? प्रातःकालका समय, बागकी सैर और वहाँ प्रकृतिमें भी वसन्तके विवाहकी रचना और फिर यहाँ सरोवरमें शिल्पकलाका सौन्दर्य सब मिलकर सौन्दर्यानुभवकी शक्ति (Æsthetic Faculty) का विकास कर देते हैं जहाँतक इसका सम्बन्ध है वहाँतक 'बंधुसमेत' ही सब कार्य होंगे; लेकिन जहाँ इससे ऊपर उठेंगे वहाँ कवि सूक्ष्मताके साथ श्रीरामके अनुभवको अलग कर देगा। 'फ़न्फ़न.....'

२—रम्य, आराम और राममें कलाकी वह युक्ति है कि एक धातुसे निकले हुए शब्दोंको एक जगह प्रयोग करनेमें अलङ्कार बन जाता है।

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक बाग और तड़ाग दोनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करके अब दोनोंको एकत्र करते हैं कि ऐसे बाग और तड़ागको देखकर प्रभु हर्षित हुए। प्रथम बाग देखा, पीछे तालाब। उसी क्रमसे यहाँ प्रथम 'बाग' लिखा तब तड़ाग। (ख) दोनोंको देख लेनेपर हर्ष लिखनेसे पाया गया कि अब बागकी पूर्ण शोभा देखनेमें आयी। [(ग) पुनः, 'बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु' का दूसरा अर्थ यह है कि 'तड़ागमें बागको देखकर प्रभु प्रसन्न हुए।' अर्थात् वृक्षों, लताओं, फूल, फल, पत्ते आदिकी परछाईं मणियोंकी सीढ़ियों और निर्मल जलमें देखकर हर्ष हुआ। (पाँड़ेजी, रा० प्र०)]। (घ) 'परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत।' इति। भाव कि श्रीरामजी अपनी शोभासे सबको सुख देते हैं और यह बाग स्वयं श्रीरामजीको सुख देता है। पुनः भाव कि जो श्रीरामजी स्वतः सुखस्वरूप हैं उनको भी इसने सुख दिया। यथा—'अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख सागर रघुबर सुख पावा॥ २। १०६। २।'

वि० त्रि०—'परम रम्य' इति। रम्य नगरको देखकर ही विशेष हर्षित हुए थे। यथा—'पुररम्यता राम जब देखी। हरषे बंधु समेत बिसेषी॥' अब उससे भी अधिक हर्ष है, क्योंकि यह 'परमरम्य' है। पर्वतोंमें कैलास, धरणीमें सेतुबन्धकी भूमि, (आश्रमोंमें भरद्वाजाश्रम) और बागोंमें श्रीजनकमहाराजका बाग परम रम्य है। यथा—'परम रम्य गिरिवरकैलासू', 'परम रम्य उत्तम यह धरनी', 'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन॥' रम्यतासे हर्ष और परम रम्यतासे सुख होता है।

नोट—१ 'परम रम्य आराम ...रामहि सुख देत' इति। भाव कि 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' तथा जो जगत्को अपनेमें रमानेवाला है, जो स्वयं आनन्दकन्द, आनन्द-निधान, आनन्दरूप है, जो 'आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक्य-सुपासी॥' है, जब उसको भी इस बागसे सुख हो रहा है तो यह 'परम रम्य' क्यों न हो? अवश्य ही होना चाहिये। 'परम रम्य' का अर्थ इस युक्तिसे सिद्ध करना 'काव्यलिङ्ग' अलंकार है। २ पाँड़ेजी लिखते हैं कि—(क) 'दूसरा अर्थ यह है कि 'परम रम्य' जो वस्तु है उसका यह बाग आराम देनेवाला है अर्थात् वह वस्तु इसमें विश्राम करती है। ['परम रम्य'='मूर्तिमती परम रमणीयता वा=परम रम्य जो जानकीजी उनका यह 'आराम' (बाग अथवा विश्रामस्थान) है। अतः 'रामहि सुख देत'। (ख) 'देत' शब्द तीनों कालोंका बोधक है। 'बाग बिलोकि...हरषे' यह भूतकाल, 'लगे लेन दल फूल मुदित' यह वर्तमान और 'तेहि अवसर सीता तहँ आई' यह भविष्यकाल हुआ। [अथवा वर्तमानमें 'सुख देत' और भविष्यमें 'देखि सीय सोभा सुख पावा। २३०। ५।' (प्र० सं०)]

३ मा० त० वि० 'परम रम्य' इति। 'जो श्रीरामजीका नित्य सुखदायक केलिकुंज है, यह वही 'परम रम्य आराम' है। या यहाँका सुख राम ही जानते हैं, औरकी ऐसी दृष्टि कहाँ कि श्रीजानकीजीवन-तत्त्वके प्रादुर्भावको यहाँ जान सके।'

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥ १ ॥

अर्थ—चारों ओर दृष्टि डालकर (देखकर) और मालियोंसे पूछकर प्रसन्न मनसे दल-फूल लेने लगे ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ 'चहुँ दिसि चितइ' इति। (क) इससे जनाया कि चारों दिशाओंमें बागकी शोभा ऐसी ही है। इसीसे चारों ओर बागकी शोभा देखी। (ख) बागके मध्यमें तालाबके पास खड़े होकर चारों ओर बागकी शोभा देखी और यह भी देखा कि गुरुजीकी पूजाके उपयोगी उत्तम दल-फूल कहाँ-कहाँ हैं। (प्र० सं०)। अथवा [(ग) कल नगरदर्शनके समय यह सुन चुके थे कि श्रीजानकीजी वाटिकामें इस समय आया करती हैं, आज भी आयँगी। अतः चारों ओर देखा कि अभी आयी हैं या नहीं। (रा० प्र०, पाँ०, रा० च० मिश्र, वै०)। चारों ओर निहारनेमें सीताजीके दर्शनकी उत्कण्ठा व्यञ्जित होना 'व्यङ्ग' है। अथवा (घ) चारों ओर देखा कि बागके माली कहाँ हैं, उनसे पूछकर तब फूल लें। अथवा (ङ) सिंह हैं अतः चारों ओर देखकर ही कार्यारम्भ करते हैं। यथा—'सिंह ठवनि इत उत चितव धीर बीर बल पुंज। (वि० त्रि०)]।

२ (क) 'पूँछि मालीगन' इति। मालियोंसे पूछकर तब फूल तोड़े (उतारे) क्योंकि ऐसी धर्मशास्त्रकी आज्ञा है। बिना पूछे पत्र, पुष्प, दल-फूल इत्यादि लेनेका निषेध है। (बाग बहुत बड़ा है। इसीसे इसकी रक्षाके लिये बहुत माली नियुक्त हैं। इसीसे माली-गणसे पूछना कहा। श्रीरामजी तो तालाबके समीप ही हैं। कविने उनको तालाबपर पहुँचानेपर मालियोंसे पूछना कहा है। इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजीकी शोभाका दर्शन करनेके लिये सब माली दौड़कर तालाबके समीप ही एकत्र हो गये हैं, जैसे नगर-दर्शनके समय सब लोग श्रीरामजीके दर्शनार्थ एकत्र हुए थे। यथा—'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ॥ २२० । २।' तथा जैसे वनवासके समय ग्रामवासी श्रीराम-बटोहीके दर्शनको दौड़कर एकत्र हुए हैं; यथा—'सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी ॥ राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी ॥ २ । ११४।' इत्यादि। अतएव सबसे उसी जगह पूछ लिया), पूछकर लेना सभ्यता और नीतिका पालन जनाता है। [अथवा बागके चारों ओर देखनेपर श्रीजानकीजीको जब न देखा तब मालियोंसे पूछा कि आयी हैं या नहीं, या लौट गयीं (पाँ०, वै०, रा० प्र०)। अथवा उस बागमें कोई पुरुष नहीं जाने पाता था, वहाँ सखियाँ ही रहती थीं। इसलिये 'माली' का अर्थ है, 'मा-आलि' अर्थात् श्रीयुक्त सखी, वा लक्ष्मी-समान शोभायुक्त सखी, वा लक्ष्मी जिसकी सखी है ऐसी सखीगणसे पूछा। मा० त० वि०, रा० प्र०]

३ 'लगे लेन दल फूल मुदित मन' इति। (क) यहाँ दल-फूलका नाम नहीं लेते, जिसमें सभी दलों और सभी उपयोगी फूलोंका ग्रहण हो जाय। जैसे, दूर्वादल, बिल्वदल, तुलसीदल इत्यादि। फूल भी गुलाब, कमल, जुही, चमेली, चम्पा, मोतिया, बेला इत्यादि। (ख) प्रथम 'दल' शब्द देनेसे पाया गया कि पहले दल उतारे, पीछे फूल तोड़े। [दल-का माहात्म्य अधिक है। इससे इसे प्रथम कहा। 'दल' से प्रायः तुलसीदलका ही तात्पर्य होता है। वही अर्थ यहाँ ग्राह्य है। परन्तु गोस्वामीजीने बहुमत भेदके कारण 'तुलसी' शब्द नहीं दिया, जिसमें सब लोग अपने-अपने मतानुसार अर्थ लगा लें। स्नानके पश्चात् 'दल' उतारनेकी विधि है। बिना स्नानके तुलसीदल उतारना पाप है और उससे की हुई पूजा व्यर्थ हो जाती है। फूल स्नानके पहले उतारे जाते हैं पर यहाँ फूल भी स्नानके पश्चात् उतारे गये। इसका समाधान यह किया जाता है कि अपनी पूजाके लिये स्नानके बाद फूल उतारनेका निषेध है और यहाँ तो गुरुजीके लिये फूल उतारे गये हैं। पुनः, यहाँ 'दल' शब्द प्रथम देकर उसीको मुख्य जनाया गया है, इससे भी शंका न करनी चाहिये। प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'दल' का अर्थ 'पलाश आदि पत्ते' लेना आवश्यक है क्योंकि आगे 'सुमन समेत बाम कर दोना' कहा है। पहले पत्ते लेकर दोने बनाकर बायें हाथमें रक्खे।] (ग) 'मुदित मन' इति। फूलोंकी सुन्दरता प्रथम ही कह चुके हैं, यथा 'नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए ॥' सुन्दरता देखकर मन मुदित हुआ। [पुनः 'मुदित मन' का भाव कि आज मन भाये दल पुष्प मिलेंगे, गुरुजी भी उत्तम दल-फूल पाकर प्रसन्न होंगे। पुनः मनका प्रसन्न होना शकुन है जिसका फल बागमें श्रीजानकीजीका दर्शन होगा (पं०, रा० प्र०)। अथवा पिछले दिन जिस फुलवारीमें गये थे—'गए रहे देखन फुलवाई। २१५। ४।' उसमें ऐसे सुन्दर दल-फूल न थे तथा जबसे मुनिके साथ श्रीअयोध्याजीसे आये तबसे ऐसे सुन्दर फूल आज ही मिले। अतः प्रसन्न होकर उतारने लगे। मालियोंने आज्ञा दे दी, यह भी सूचित कर दिया। अथवा (पाँड़ेजी तथा वैजनाथजीके मतानुसार) 'मुदित मन' से जान पड़ता है कि पहले कुछ विमन हो गये थे। जब बागके चारों

ओर दृष्टि दौड़ायी और श्रीजानकीजीको न देखा तब विमन (उदास) हो गये थे। फिर मालियोंसे पूछनेपर जब उन्होंने बताया कि आनेका यही समय है, अभी आयी नहीं हैं, तब मुदित हुए और दल-फूल लेने लगे। 'लगे' शब्द विलम्ब सूचित कर रहा है कि वे आवें और ये उनको देखें।—(यह शृङ्गारियों रसिकोंके भाव हैं)] (घ) दोनों भाइयोंको दल-फूल लेनेमें लगाकर आगे दूसरा प्रसंग कहेंगे।

प० प० प्र०—अवधसे निकलनेपर आज ही प्रथम-प्रथम ऐसे दल-फूल देखनेको मिले इसीसे **'मुदित मन'** है। यहाँ किशोरीजीके दर्शन-लाभकी आशा इत्यादिवाले भाव गोस्वामीजीके सात्त्विक शुद्ध शृङ्गारकी मर्यादा हानि करनेवाले और मर्यादा-पुरुषोत्तमके आदर्श परम सरल शुद्ध चरित्रपर कलंक लगानेवाले हैं। २२८ (२) की टिप्पणी १ में सम्पादकने जो ऐसे अमर्यादित भावोंका खण्डन किया है वही उचित है। **'इहाँ न बिषय कथा रस नाना'** यह पहले ग्रन्थकारने कह रक्खा है, यह कभी न भूलना चाहिये।

श्रीराजारामशरणजी—१ रामजी तो साधारण रीति वा ढंगसे मालियोंके पूछनेके हेतुसे और इस हेतुसे कि किस ओर अच्छे फूल हैं, चारों ओर देखते हैं, लेकिन नाटकी कलाकी आँख-मिचौनीका आनन्द हमें मिल जाता है। दर्शक श्रीसीताजी इत्यादिको आते देख रहे हैं और उसी समय श्रीरामजी भी चारों ओर देखते हैं। क्या देखनेवालोंके दिलोंमें गुदगुदी नहीं पैदा होगी कि रामजीकी नजरसे श्रीसीताजी तनिक ओटके कारण कैसी बच गयीं ? क्या शृङ्गारप्रिय दर्शक यह न कहते होंगे कि कहाँका फूल तोड़ना, अरे भाई राजकुँवर ! इधर तो देखो !

२ 'मुदित' यह अवस्था रामजीकी करीब-करीब (प्रायः) स्थायी बन गयी है। वनवासमें भी सखियोंने भरतजीको देख यही कहा है—**'मुख प्रसन्न नहिं मानस खेदा। सखि संदेह होत एहि भेदा॥'** (अर्थात् श्रीरामजीका मुख तो प्रसन्न था, किंतु ये प्रसन्न-मुख नहीं हैं)।

३ ☞ राजकुँवर शान्त और वीररसमें पगे थे, इससे कविने शृङ्गाररसके उद्दीपनकी इतनी चेष्टा की है। फूल तोड़ना भी इस सम्बन्धसे विचारणीय है परंतु फूल तोड़नेका हेतु गुरुजीकी पूजा होनेके कारण शृङ्गार मर्यादित ही रहेगा। 'गुल खिलाने' और 'गुलछर्रे उड़ानेवाली' बात न होने पावेगी। उधर जनकपुरमें शृङ्गार और वीररस (पर विशेषतः शृङ्गार ही) की प्रधानता है, इससे 'गिरिजापूजन' का हेतु रखकर उसे मर्यादित रक्खा है।

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥ २॥

अर्थ—उसी अवसरपर श्रीसीताजी वहाँ आयीं। माताने श्रीगिरिजाका पूजन करनेके लिये उनको भेजा है॥ २॥

श्रीलमगोड़ाजी—'तेहि अवसर' स्पष्ट बताता है कि कविने जान-बूझकर यह प्रसंग नाटकीयकलाकी पूर्तिके लिये रचा है।

टिप्पणी—१ 'तेहि अवसर' इति। भाव कि—(क) श्रीरामजीके दल-फूल लेने आने और श्रीसीताजीके गिरिजापूजनका समय एक ही है, इसीसे 'तेहि अवसर आई' कहा (इधर ये दल-फूल उतारने लगे, उधर वे भी पहुँचीं)। पुनः (ख) नारदवचनके प्रभावसे (जैसा **'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत॥ २२९।'** से सिद्ध होता है) अथवा दैवयोगसे उसी समय आना हुआ। यथा—**'सखिन्ह सहित तेहि अवसर बिधिके सँजोग गिरिजाहू पूजिबे को जानकीजू आई हैं॥ गी० १। ६९। ३।'** [गीतावलीके इस उद्धरणसे नगरदर्शनके समय पुष्पवृष्टिद्वारा वाटिकामें बुलाने आदिके संकेतवाले भावोंका खण्डन हो जाता है। गोस्वामीजीका वह मत नहीं पाया जाता। वैजनाथजीने जो लिखा है कि 'श्रीकिशोरीजीकी दूती लगी थी। जैसे ही दोनों भाई बागको चले वैसे ही उसने समाचार दिया, इसीसे उसी समय सीताजी आयीं' इसका भी खण्डन हो जाता है। (मा० सं०)। (ग) श्रीसीताजीके गौरीपूजनका नित्यका ही यही समय है जैसा 'पुनि आउब एहि बेरिआँ काली॥ २३४। ६।' और **'करहु सफल आपनि सेवकाई'** ॥ २५७। ६।' से सिद्ध होता है। इसीसे इसी समय माताने भेजा। (मा० त० वि०)]।

नोट—१ "सीता तहँ आई" इति। (क) यहाँ 'सीता' मुख्य ऐश्वर्यसूचक नाम दिया गया है। जहाँ-जहाँ ऐश्वर्यका वर्णन हुआ है वहाँ-वहाँ यह नाम दिया गया है। यथा—'सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। मं० श्लो० ४।', 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं"'सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ मं० श्लो० ५।' और अवतारके पूर्व ही जब प्रथम-प्रथम आपने श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन दिया तब भी यही नाम प्रकट किया गया था, यथा—**'राम बाम दिसि सीता सोई॥ १४८। ४।'**

हलके अग्रभागकी ठोकरसे पृथ्वीसे प्रकट होनेसे मिथिलामें भी यही नाम पड़ा था। इसी नामको यहाँ दिया। 'जानकी', 'जनकसुता' आदि नाम न दिये; क्योंकि 'जानकी' आदिसे श्रीउर्मिलाजीका भी बोध होता है। (वै०)। (ख) 'सीता' नाम देनेका भाव यह है कि 'राजकुमार (श्रीरामजी) जो पूर्वानुराग (यथा—'तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा ॥ ५ । १५ ।' के कारण अथवा दर्शनाभिलाषासे संतप्त हैं उनको ये शीतल करेंगी। अथवा, पिताकी प्रतिज्ञासे स्वयं तप्त हैं सो यहाँ श्रीरामजीको देखकर शीतल होंगी। (पाँ०, रा० प्र०)। (ग) 'सीता तहँ आई' कहकर आगे आनेका कारण बताते हैं—'गिरिजा पूजन ....।'

टिप्पणी—२ "गिरिजा पूजन जननि पठाई" इति। (क) माताका प्रेम कन्यामें अधिक रहता है, इसीसे जननीका पूजा हेतु भेजना कहते हैं। गिरिजाजीकी पूजा करने भेजा जिसमें योग्य वर मिले; यह बात 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभगवरु माँगा ॥ २२८ । ६ ।' से स्पष्ट है। अथवा, [(ख) पुष्पवाटिकामें राजकुमारीका आना लोक-विरुद्ध पाया जाता है, उसका समाधान करते हैं कि 'जननि पठाई' माताने भेजा है। क्यों भेजा ? गिरिजा-पूजन-हेतु। (पाँ०) वा; (ग) कल अन्तिम दिन है, कल स्वयंवर धनुषयज्ञ है। कल पूजनका अवकाश न मिलेगा और स्वयंवर-समय गौरी-पूजन कुलका प्रायः नियम था जैसे रुक्मिणीजीके स्वयंवरमें भी हुआ है; यथा—'पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवि यात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात्। भा० १० । ५२ । ४२ ।' (व्याहके एक दिन पहिले कुलदेवीकी यात्रा होती है जिसमें वधू बाहर गिरिजा-पूजनके लिये जाती है। अतः माताने भेजा कि गौरीजीका पूजनकर अपने अनुरूप वर माँग आओ। (मा० त० वि०) । वा, (घ) जिस कन्याके विवाहमें कठिनता होती है उसमें भगवती-पूजनकी परम्परा है, यथा—'कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥ इति मन्त्रेण।' अतः भेजा। (मा० त० वि०) । वा, (ङ) श्रीसीताजी सदा पूजा करती थीं, आज अन्तिम दिन है और धनुष जिसके तोड़नेकी प्रतिज्ञा स्वयंवरके लिये की गयी है वह श्रीशिवजीका है। शिवा उनकी अर्धाङ्गिनी हैं, यदि ये कृपा कर दें तो कामनाकी सिद्धि दुस्तर नहीं। अतः गिरिजापूजनको भेजा कि जो अपना अभीष्ट होगा वह माँग लेंगी। (मा० त० वि०) । अथवा, (च) श्रीसीताजी नित्य नहीं जाती थीं, कभी-ही-कभी माताकी आज्ञासे पूजनकी बहुत-सी सामग्री साथमें लेकर गौरी-पूजनके लिये वाटिकामें जाती थीं, यह सत्योपाख्यानका मत है। यथा—'कदाचिद्वाटिकां याति पूजामादाय भूयसीम्। पूजनार्थं तु गौर्यास्तु नियुक्ता मातृणां गणैः ॥' जब श्रीसुनयनाजी किसी कारणवश स्वयं पूजाके लिये न जा सकती थीं तब श्रीकिशोरीजीको ही भेजा करती थीं, वैसे ही इस समय गिरिजा-पूजन-हेतु भेजा। (मा० त० वि०) ।

नोट—२ यहाँ यह शंका की जाती है कि 'अभी तो सतीजी विद्यमान हैं, वनवासके समय सतीजीको श्रीरामजीके सम्बन्धमें मोह होगा, उसके बहुत हजारों वर्षोंके पश्चात् सती-तनका नाश और गिरिजाजीका जन्म होगा; तब यहाँ 'गिरिजा' कैसे कहते हैं ?' कल्याणके 'शक्ति-अंक' में किसी विद्वान्ने लिखा है कि सती-मरण और पार्वती-विवाहकी कथाएँ आदि सत्ययुगकी हैं।' इस विषयमें पूर्व लिखा जा चुका है। यहाँ यह कहना है कि यह ग्रन्थकारका मत नहीं है। उनके मतानुसार तो अभी कदापि सती-मरण हो ही नहीं सकता। हाँ, औरोंका मत भले ही यह हुआ करे। हमारी समझमें तो यह शंका सर्वथा असिद्ध है। क्योंकि गोस्वामीजीने एक ऐसे ही संदेहका समाधान पहले ही लिख दिया है, यथा—'कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि ॥ १०० ।' हमें मानसकी शंकाओंका समाधान प्रायः मानसहीसे कर लेना चाहिये। देवताओंके सब नाम अनादि हैं। यहाँ 'गिरिजा' नाम परोपकारके सम्बन्धसे दिया गया। गिरि परोपकारी होते हैं, यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी ॥ ७ । १२५ ।' अतः उनकी पुत्री क्यों न उपकार करेंगी ? इच्छित वर क्यों न देंगी ? इत्यादि। (पां०) । गिरिजा प्रत्येक कल्पमें होती हैं, यह प्रसिद्ध है। स्थापना गिरिजाकी ही की जाती है क्योंकि शिव-गिरिजाका सदा नित्य संयोग है, यथा—'अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि ॥ ९८ । ३ ।' गिरिजा पुत्रवती हैं—ये सब गुण सतीमें नहीं हैं। इसीसे 'सती' की स्थापना नहीं की गयी, प्रत्युत गिरिजाजीकी की। (पं० रामकुमार) । अथवा, श्रीसीताजी कुँआरी हैं, इसलिये इस प्रसंगमें 'गिरिजा' 'गौरी' नाम दिये गये, क्योंकि ये शब्द भी प्रायः कुँआरीके सूचक हैं। जब सीताजी अपने हृदयमें श्रीरामजीकी साँवली मूर्तिको बसाकर दूसरी बार गिरिजाजीके समीप वर माँगने जायँगी तब वहाँ 'भवानी' नाम देंगे अर्थात् भवकी पत्नी कहेंगे। विशेष २३५ (५) में देखिये। (स्मरण रहे कि जब एक कल्पके भीतर चौदह मन्वन्तर होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तरमें नये देवता इन्द्र मनु ऋषि आदि होते हैं।

इस प्रकार न जाने कितनी गिरिजा, कितने गणेश-गौरी आदि पूर्व हो चुके हैं अतः शङ्का व्यर्थ है।) संत श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि यहाँ 'गिरिजा' शब्दसे केवल अवतारी गिरिजा अभिप्रेत हैं। विशेष २२८ (४) नोट १ देखिये।

संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥ ३॥

अर्थ—सङ्गमें सखियाँ हैं। सब (सखियाँ) सुन्दरी और सयानी हैं, मनोहर वाणीसे सुन्दर गीत गा रही हैं॥ ३॥

श्रीराजारामशरण—यहाँका शब्द-गुण भी विचारणीय है। एकसे ध्वनिवाले शब्द और अनुप्रासवाले शब्दोंके समूह तथा जोड़े बड़े ही सुन्दर हैं, खासकर 'संग सखी सब सुभग सयानी' में मानो ऐसी परावंदी है कि मानो कुयोग्य कोई है ही नहीं। रंगमञ्चपर गीत गाती हुई सुन्दर सखियोंके परे (समूह) का आना कितना चित्ताकर्षक है। नाटकीय कलामें इस Chorus (कोरस सामूहिक गान) का आनन्द बड़ा ही सुन्दर है। 'संग सखी···' से साफ उन कल्पनाओंका निषेध हो जाता है, जिससे 'सँठीगठी' मुलाकातकी ओर संकेत हो सके।

टिप्पणी—१ (क) 'संग सखी' इति। श्रीसीताजीके साथ सखियाँ मात्र हैं, कोई रक्षक सुभट इत्यादि नहीं हैं और पुरके बाहर देश-देशके अनेक राजा टिके हुए हैं; यथा—'पुर बाहर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥' इससे स्पष्ट है कि यह राज-बाग शहर (वा शहरपनाह) के भीतर है। क्योंकि यदि शहरके बाहर होता तो श्रीजानकीजीकी रक्षाके लिये संगमें सुभटोंकी सेना अवश्य जाती; जैसे रुक्मिणीजीके सम्बन्धमें रक्षकोंका जाना कहा गया है। (ख) 'सब सुभग' इति। सखियोंकी सुन्दरता आगे लिखते हैं, यथा—'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥' यहाँ सखियाँ छबिगृह हैं, यथा—'सखिन मध्य सिय सोहति कैसी। छबिगन मध्य महाछबि जैसी॥' (ग) 'सब सयानी' इति। सब सखियाँ सयानी हैं, यह बात आगे स्पष्ट की है। यथा—'सुनि हरषीं सब सखीं सयानी। सिय हिय अति उत्कंठा जानी॥ २२९। ३।' 'धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥ २३४। १।' इत्यादि। पुनः, (घ) 'सुभग सयानी' का भाव कि शरीरसे सुभग (सुन्दर) हैं और बुद्धिकी 'सयानी' (चतुर) हैं। सुन्दरताकी शोभा बुद्धिसे है। इसीसे 'सुभग' और 'सयानी' दोनों गुण कहे। यथा—'जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बुलाइ। चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लवाइ॥ २४६।', 'बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं', 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार। २६३।' (ङ) अथवा, 'सुभग' पद देकर 'सुभगा' आदि सब सयानी सखियोंका सङ्गमें होना जनाया। पुनः, सुभग=सुन्दर ऐश्वर्यसे युक्त। 'सयानी' से डील-डौल और अवस्थामें भी बड़ी सूचित किया। (मा० त० वि०)]

२ (क) 'गावहिं गीत मनोहर बानी' इति। 'मनोहर' देहली-दीपक है। मनोहर गीत मनोहर वाणीसे गाती हैं। ये गीत गिरिजापूजनसम्बन्धी हैं। [मनोहर=सुन्दर; मनको हर लेनेवाली। मुख्यार्थ यही है। परंतु, यह अर्थ भी ध्वनित होता है, 'मानो हर बानी'=मानो सरस्वती (के भी मन) को मोहित कर लेती हैं (अपने सुन्दर गीतसे)। (पांडेजी)। वा, मानो हर और वाणी ही हैं जो गा रहे हैं। (गिरिजाके प्रसन्नार्थ)। यथा—'गावहिं जनु बहु बेष भारती। ३४५। ६।' वा, (मानो) वाणी ही मनोहर गीत गा रही है। (पांडेजी)। अथवा, श्रीरघुवीर धीरके मनको हरनेवाली वाणीमें अर्थात् मालकोस रागमें मध्यम स्वरसे सुहागवर्धक गीत गाती हैं। (वै०)]

नोट—१ सखियोंके नामोंके सम्बन्धमें पूर्व कुछ लिखा जा चुका है। वैजनाथजीका मत है कि श्रीचारु-शीलाजी हाथमें सोनेकी झारी, लक्ष्मणाजी अर्घ्यपाद्यपात्र, हेमाजी हेमथालमें गन्ध-फूल-पात्र, क्षेमाजी धूप-दीपदानी, बरारोहाजी मधुपर्क, पद्मगंधाजी फूलमाला, सुलोचनाजी छत्र और श्रीसुभगाजी चामर लिये हुए साथ हैं।

श्रीअगस्त्यसंहिता अध्याय ४९ श्लोक ५ से २८ में क्रमशः श्रीचारुशीलाजी, श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीहेमाजी, श्रीक्षेमाजी, श्रीवरारोहाजी, श्रीपद्मगन्धाजी, श्रीसुलोचनाजी और श्रीसुभगाजी इन अष्ट सखियोंके माता-पिताके नाम, जन्मकी तिथि, नाम और गुण तथा सेवाका उल्लेख करके अन्तमें यह श्लोक दिया है 'अष्टाविति सख्यो मुख्या जानक्याः करुणानिधेः। एतेषामपि सर्वेषां चारुशीला महत्तमा॥ २८॥' अर्थात् ये श्रीजानकीजीकी मुख्य अष्ट सखियाँ हैं। इन सबोंमें श्रीचारु-शीलाजी प्रधान हैं।

श्रीसाकेतरहस्यमें भी यही नाम दिये हैं। केवल क्रम दूसरा है। श्रीरामरसायन ग्रन्थ विधान ३ विभाग ११ में

सखियोंके नाम भिन्न हैं और इस प्रकार हैं—'जनकललो प्रगटी जबै जनकनगरमें आय । जनम लियो मिथिला तबै सकल सखी समुदाय ॥ २९ ॥ यथायोग निमिकुल सदन कखि निज रुचि अनुसार । सुरी किन्नरी आदि बहु भई नरी सुविचार ॥ ३० ॥ ते सिय संग विनोदिनी वय गुण रूप समान । बालसखी हैं आठ वर प्यारी परम प्रधान ॥ ३१ ॥ चन्द्रकला उर्वशी सहोद्रा कमला बिमला मानौ । चन्द्रमुखी मेनका सुरम्भा आठ मुख्य ये जानौ । प्यारी सखी विदेहसुता की बाल संगिनी सोहैं ॥···३२ ॥ सहस सहस यूथेश्वरी इक इक सखि स्वाधीन । हैं सहस्रयूथेश्वरी प्रति अनुचरी प्रवीन ॥ ३३ ॥' (रामरसायनमें किस ग्रन्थसे यह लिया गया है, इसका पता नहीं है । किसी टीकाकारने सखियोंके नामके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश नहीं डाला है । जहाँतक खोजसे मिला लिखा गया) ।

सर समीप गिरिजागृह सोहा । बरनि न जाइ देखि मनु मोहा ॥ ४ ॥

अर्थ—सरके समीप गिरिजामन्दिर शोभित हो रहा है, वर्णन करते नहीं बनता, देखकर मन मोहित हो जाता है । ४ ।

श्रीलमगोड़ाजी—१ ताजगंजके रौजेका भी यही क्रम है । हम पहिले देख चुके हैं कि मुगलदरबारके शिल्पकार इस वर्णनसे सम्भवतः अवश्य प्रभावित थे । अन्तर केवल यह है कि—(क) ताजमें नदीके सम्बन्धसे सरोवर छोटा है, जिसमें नदी-जैसे जलाशयका आकर्षण कम न हो । (ख) ताजका बाग छोटा है और यहाँका बाग पार्क-सा है । २—ताजकी शिल्पकला Indosara Senic मुसलमानी और भारती कलाओंका सम्मिश्रण ही मानी जाती है ।

* सर समीप गिरिजागृह सोहा *

प्रायः जलाशयके पास ही देवमन्दिर बनाये जाते हैं, यथा—'दीख जाइ उपबन बर सर बिगसित बहु कंज । मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तपपुंज ॥ ४ । २४ ।' 'तीर तीर देवन्ह के मंदिर । चहुँ दिसि तिन्ह के उपबन सुंदर ॥ ७ । २९ ।' तथा यहाँ 'सर समीप···' । 'सर समीप गिरिजागृह सोहा' इस कथनसे पाया जाता है कि यह तड़ाग दूसरा है इसके समीप गिरिजागृह है । 'बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु'—वाले तड़ागके पास गिरिजागृह नहीं कहा गया । वह तड़ाग फुलवारीके मध्यमें है—'मध्य बाग सर सोह सुहावा' (इतना मात्र कहा गया) । और यह सर फुलवारीके बाहर (उस फुलवारी और तालाबसे अलग पर उसी बागके अंदर) है, यह इससे भी जाना जाता है कि आगे कवि लिखते हैं—'एक सखी सियसंग बिहाई । गई रहीं देखन फुलवाई ॥' एवं 'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई' तथा 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' इत्यादि । इन उद्धरणोंसे इस सरका कुछ दूर होना प्रतीत होता है । दूसरे, उस सरोवरके निकट राजकुमार हैं । पुरुषोंके आमदरफ्त आने जानेकी जगह, श्रीसीताजीका सखियोंसहित स्नान करना अनुचित होगा ।—यह मत श्रीकरुणासिंधुजी, श्रीपाँड़ेजी और श्री पं० रामकुमारजी इत्यादिका है । पं० रामचरण मिश्र इससे सहमत होते हुए लिखते हैं कि 'इसका प्रमाण अगस्त्यसंहिताके उत्तरकाण्डमें है, यथा—'वैदेहीपवनस्यान्तर्दिश्यैशान्ये मनोहरम् । विशालं सरसस्तीरे गौरीमन्दिरमुत्तमम् ॥ वैदेहीवाटिका तत्र नानापुष्पसुगुम्फिता । रक्षिता मालिकन्याभिःसर्वर्तुं सुखदा शुभा ॥ प्रभाते प्रत्यहं तत्र गत्वा स्नात्वाऽऽलिभिस्सह । गौरीमपूजयत्सीता मात्राज्ञप्ता सुभक्तितः ॥' कहा जाता है कि वर्तमान कालमें भी वहाँ दो सर हैं ।

पं० श्रीराजारामशरणजीका कथन है कि 'यदि दो सरोवर समझे जायँ तो नाटकीय कलावाली आँखमिचौनीका आनन्द चला जाता है । फिर साफ तो लिखा है कि 'मध्य बाग' अर्थात् बागके बीचमें वह सरोवर था जहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजी पहुँचे, गिरिजाजीका मन्दिर भी वहीं रहा होगा, कहीं कोनेमें नहीं ।

श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभुके आगमनमें बाग-तड़ागवर्णनमें मन्दिरका वर्णन नहीं किया गया । कारण यह कि शृंगाररसका उद्दीपनविभाव वर्णन कर रहे थे । देवमन्दिर, गुरुजन, साधुजन, संत-कथा, ज्ञान, वैराग्य आदि शान्तरसके विभाव हैं जो शृङ्गारमें हानिकर्त्ता हैं । अतएव वहाँ देवमन्दिरका वर्णन अयोग्य होता । अब समय है, इससे अब कहते हैं ।'

ग्रन्थकारकी शैली है कि जिस वस्तु वा विषयका वर्णन एकसे अधिक ठौर करना होता है, उसे सब ठौर न लिखकर एक ही ठौर लिख देते हैं । अथवा, उसमेंसे कुछ एक जगह और कुछ दूसरी जगह कहते हैं । वैसा ही यहाँ किया गया । फूल बागभरसे घूम-फिरकर लिये गये, इससे कुछ दूर होनेमें आश्चर्य ही क्या ! आगे यह भी दिखायेंगे कि यहाँ पुरुष नहीं आने पाते; इसपर भी एक सखीका यह काम ही था कि वह देख लिया करे । श्रीराम-लक्ष्मणको रोकता कौन ? उन्हें तो जो देखता है मुग्ध हो जाता है । वे तो सभीके आँखोंके तारे हैं, उसपर सभी तो इन्हें देखकर सोचते हैं कि 'बर साँवरो

जानकी जोगू।' सर भी बहुत बड़ा है। आज भी महोबाके सर इतने बड़े हैं कि एक दिशाकी ओरसे दूसरी तरफ देख नहीं सकते, इत्यादि बहस उन लोगोंकी है जो 'मध्यबाग सर सोह सुहावा' वाले सरके पास 'गिरिजा गृह सोहा' के पक्षमें हैं। दोनों पक्षोंकी बहसें माकूल हैं।

'प्रसन्नराघव नाटक' में भी एकही सरका वर्णन है। उसमें श्रीराम-लक्ष्मणजीका गिरिजामन्दिरतक पहुँचना कहकर फिर तालाबका देखना कहा है। तालाबको देखकर उन्हें बहुत सुख प्राप्त हुआ है यथा 'रामः—(विलोक्य) कथमिदमित-श्चण्डिकायतनम्। (अञ्जलिं बद्ध्वा) मातः''स्वाननमस्यामि। २। ६। (पुनः अन्यतः अवलोक्य) इयमसौ मदकलक-लहंसोत्तंसितसितसरोजराजिराजिता सरसी सरसी करोति मे चेतः।' तत्पश्चात् कलहंसोंको भागते देख यह समझा कि कोई आता होगा। तत्काल ही नूपुरादिका शब्द सुन पड़ा तब यह विचारकर कि पुरस्त्रियाँ गिरिजापूजनको आ रही हैं अतः हमें यहाँसे हट जाना चाहिये, दोनों भाई वहाँसे हट गये। 'परस्त्रीति शङ्कापि संकोचाय रघूणाम्'—श्रीरघुनाथजी परस्त्रीकी शंकासे भी इतना सकुचाते हैं।

नोट—१ 'गिरिजागृह' इति। संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि महाभागवत इतिहासमें ब्रह्माजीने श्रीरामजीसे कहा है कि 'शम्भोर्लोकस्य वामे तु गौरीलोको मनोरमः। विचित्रमणिमाणिक्य सम्मोहे रतिशोभितः। तत्र या वैदिकी मूर्तिर्देव्या (देवी) दशभुजा परा। अतसीकुसुमाभासा सिंहपृष्ठनिषेदुषी॥'''' अर्थात् शिवलोकके वाम भागमें गौरीलोक है जो चित्र-विचित्र मणि-माणिक्योंसे सुशोभित होनेसे मनको हरण करनेवाला है! वहाँ जो वेदप्रतिपादित देवी है वह दस भुजावाली, श्रेष्ठ, अलसीपुष्पके समान श्यामवर्णा और सिंहवाहिनी है। यहाँ 'गिरिजा' पदसे केवल अवतारी मात्र गिरिजा अभिप्रेत हैं, जिन्होंने हिमाचलके तपसे प्रसन्न होकर अवतार लेना स्वीकार किया था, हिमाचलके यहाँ जो पार्वती उत्पन्न हुईं, उनसे यहाँ तात्पर्य नहीं है। (हिमाचलकन्या गिरिजा भी हो सकती हैं जैसा पूर्व चौ० २ में दिखाया गया है। यहाँ भाविक अलंकार है।)।

टिप्पणी—१ 'गिरिजागृहकी शोभा कही, पर सरकी शोभा न कही? कारण कि पूर्व एक तड़ागकी शोभा कह चुके हैं; यथा 'मध्य बाग सर सोह सोहावा।'''गुंजत भृंगा॥' यहाँ पुनः वर्णन न करके सूचित किया कि वैसी ही शोभा इस दूसरे सरकी भी है तथा जितने भी तड़ागादि जलाशय वहाँ हैं, उन सबोंकी शोभा ही है, यथा 'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥ गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥ बरन बरन बिकसे बन जाता।'—इस तरह आदि और अन्तके वर्णनसे बीचका वर्णन हो चुका। २—'बरनि न जाइ देखि मन मोहा'। अर्थात् देखते ही बनता है, देखनेवालेका तो मन ही उसे देखकर मोह जाता है, उससे कहते नहीं बनता; तब बिना देखे कौन कह सकता है?

नोट—२ यहाँ देखना चारों वक्ताओंका है। महादेवजी और कागभुशुण्डिजीने देखा है। याज्ञवल्क्यजी जनक-महाराजके गुरु ही हैं और गोस्वामीजी श्रीगुरु-हरि-हरप्रसादसे दिव्यचक्षु पाये हुए हैं, जिससे उनके हस्तामलक अनेक ब्रह्माण्ड हैं; यथा 'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन॥'—जब ये चारों वर्णन नहीं कर सकते तब और कौन वर्णन करेगा?

३ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ शृङ्गाररसमययुद्धका वर्णन है। इससे दोनों तरफ बराबर सामान दिखाते जा रहे हैं, यह कविकी चातुरी है। उधर गुरुकी आज्ञा, इधर माताकी आज्ञा।' उधर बन्धुसहित, इधर सखियोंसहित।

४ गिरिजामन्दिरका नाम 'चिन्तामणि मंदिर' है (रा० प्र०)।

मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदित मन गौरि निकेता॥ ५॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥ ६॥

अर्थ—(श्रीसीताजी) तालाबमें सखियोंसहित स्नानकर प्रसन्न-मनसे गौरीजीके स्थानमें गयीं॥ ५॥ विशेष प्रेमसे पूजा की और अपने योग्य सुन्दर वर माँगा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'मज्जन करि सर' इति। सरमें स्नान करनेका भाव कि यह विधि है कि जिस देवताके पूजनको जाय, उस देवस्थानमें जो जलाशय हो उसे देवतीर्थ समझकर उसमें स्नान करे, अतः स्नान किया*। (ख)

* श्रीलमगोड़ाजीका मत है कि 'मज्जनमें मुँह-हाथ धोना और मानसिक संकल्पके साथ कुछ जल ऊपर छिड़कना काफी है।

'सखिन्ह समेता' इति। देवमन्दिरमें बिना स्नान किये न जाना चाहिये और इन सब सखियोंको श्रीजनकनन्दिनीजूके पास ही रहना आवश्यक है, अतएव सबोंने स्नान किया। (ग) **'गई मुदित मन गौरि निकेता'** इति। **'मुदित मन'** हो जाना स्नानका गुण है, यथा **'मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भएऊ॥ २।८७।'** (घ) मज्जनसे बाह्य शुद्धि और मुदित-मनसे अन्तर-शुद्धि कहते हैं। तात्पर्य कि भीतर-बाहर शुद्ध होकर भगवतीके पास गयीं जैसे श्रीरामजी भीतर-बाहर शुद्ध होकर गुरुके पास गये थे—**'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥ २२७।१।'** **'सकल सौच'** से बाह्य शुद्धि और **'नित्य निबाहि'** से अन्तरशुद्धि जनायी। (ङ) **'मुदित मन'** से यह भी जनाते हैं कि गौरीपूजनमें बड़ी श्रद्धा है, बड़ा उत्साह है। यही बात आगे कहते भी हैं—**'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा'**। [यह मंगलसूचक शकुन भी है—**'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी'** मनोरथ पूर्ण होगा। **'गौरि-निकेता'** का भाव कि जिसका नाम ही चिन्तामणि मन्दिर है, उसकी स्वामिनी हमारा मनोरथ क्यों न पूर्ण करेंगी। इस विचारसे भी **'मुदित मन'** कहा। (रा० प्र०)]

श्रीलमगोड़ाजी—१ कविकी संकेतकला देखिये। सखियाँ साथ हैं, कुछ क्रीड़ा हुई होगी। जिससे सब मुदित मन हो गयीं। मलिक मुहम्मदजायसीने पद्मावतिमें जलक्रीड़ाका बहुत विस्तार किया है, परंतु तुलसीके शुद्ध श्रृङ्गारमें उतनी स्वच्छन्दताकी कल्पना भी न करनी चाहिये। ☞ हमारे कविकी शैली ही यह है कि ऐसे विषयोंको, कि जहाँ कुछ भी मर्यादा-अवलंघनकी सम्भावना होती है, बहुत ही संक्षिप्त रखते हैं, या केवल संकेत कर देते हैं जैसे सुमन्तसे लक्ष्मणवाले क्रोधकी बातचीत।

२ **'निज अनुरूप सुभग बर माँगा'** इति। यहाँ बड़ी सुन्दर दोरुखी तसवीर है। 'निज' को 'सौन्दर्यगौरव' के अनुभवके रूपमें पढ़िये, तो 'सुभग' के साथ वह यह बताता है कि इसीके अनुसार सुभग 'वर' की प्रार्थना है। यदि लज्जा-भाव (नम्रता) के साथ पढ़िये, तो यह विदित होता है कि उचितसे अधिक भगवतीसे नहीं माँग रही हैं। सीता-जैसी शील-वान् कन्यामें दूसरा (अर्थात् लज्जा) भाव ही प्रबल है, मगर 'सुभग' बता रहा है कि पहिला (अर्थात् सौन्दर्य गौरव) भाव भी गुप्तरूपसे काम कर रहा है। मेरे मित्र और सहकारी 'सेहर' जीका एक पद मुझे इस प्रसंगमें बहुत याद आता है, कारण कि उसमें भी दो विरोधी भावोंका एकीकरण है—**'आह यह जोशे मसर्रत यह तकाजाये खुदा। जेरे लबे ह्या मिगहे नाज शरमाई हुई'**॥ प्रार्थनाके शब्दोंका जोरके साथ उच्चारण नहीं है, इसीसे कवि अपने शब्दोंमें उसका वर्णन करता है। देवीके सामने शुद्ध हृदयके साथ प्रार्थना अमर्यादित कैसे कही जा सकती है? देखिये—**'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं॥'** स्त्रियोंमें लज्जाभाव अधिक है, इससे यहाँ गुप्त प्रार्थना है, फिर भी रामदर्शनके बाद **'जय जय'''** वाली स्तुतिमें जबान (रसना) भी खुल ही गयी।

टिप्पणी—२ **'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।'''** इति। (क) देवता अनुरागसे ही प्रसन्न होते हैं, यथा—**'भावमिच्छन्ति देवताः'** **'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये'**। पूजनकी समस्त सामग्रियोंमेंसे अनुराग-रूपी सामग्रीको इसीसे अधिक माना गया है। बिना अनुरागके सामग्री कितनी भी क्यों न हो, उस पूजाको देवता स्वीकार नहीं करते,—**'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा'**। (ख) अनुराग तो और दिन भी रहता था पर आज अधिक है, यह भी जनाया। 'आज अधिक अनुरागसे पूजा करनेका कारण यह है कि धनुष टूटनेकी प्रतिज्ञा एक वर्षकी थी, उसमें अब एक ही दिन रह गया है, इससे राजपुत्रीको व्याकुलता हुई, अतएव अधिक अनुरागसे पूजा की।'—(पाँड़ेजी)। (ग) **'निज अनुरूप सुभग बर माँगा'** इति। वर=पति। इसीसे पति-प्राप्तिका आसिष गौरीजीने दिया है, यथा—**'मन जाहि राच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।'** [पाँड़ेजीका मत है कि 'यहाँ 'वर' का अर्थ 'वरदान' श्रेष्ठतर है, क्योंकि 'पति' का अर्थ लें तो लोकमर्यादाके विरुद्ध रीति जान पड़ती है'। 'सुभग=सुन्दर, ऐश्वर्यवान्'। लमगोड़ाजीने ठीक ही लिखा है कि 'प्रार्थनाका जोरसे उच्चारण नहीं हुआ है। कवि अपने शब्दोंमें उसे वर्णन कर रहा है। यह शुद्ध हृदयकी प्रार्थना अमर्यादित नहीं कही जा सकती। पुनः, **'मोर मनोरथ जानहु नीके'** जो आगे कहा है वह भी प्रमाण है कि वर मन-ही-मन माँगा गया।]

३ प्रार्थना की तो वर भी अवश्य देना चाहिये था? पर यहाँ गौरीने आसिषा नहीं दी। क्यों? क्योंकि नारदजीका

पूजा करने जब बड़े घरोंकी स्त्रियाँ जाती हैं तब स्नान घरहीसे करके प्रायः जाती हैं। बाहर स्नान ऐसे समयमें कि जब धनुषयज्ञके कारण चारों ओर समारोह है ठीक नहीं'—(पर यह बाग कोटके भीतर है)।

वचन है कि जिसमें सीताजीका मन अनुरक्त हो जायगा, रच (रँग) जायगा, जिसे वे चाहेंगी वही वाञ्छित 'वर' उनको मिलेगा, यथा—'नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बरु मिलिहि जाहि मनु राचा॥' (यह बात पार्वतीजीको भी मालूम है, इसीसे उन्होंने इस समय वर नहीं दिया, वरं च एक सखीको प्रेरितकर फुलवारीमें भेज दिया कि वह राजकुमारोंको देखकर इनको उनका दर्शन कराके तब यहाँ पुनः ले आवे; ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अतएव जब वे फुलवारीमें जाकर श्रीरामजीको देख उनमें अनुरक्त हो, उनको हृदयमें रखकर, उनको मन-ही-मन (वर-रूपसे) स्वीकारकर भवानीके मन्दिरमें गयीं तब 'मन जाहि राचेउ' उसी 'वर' की प्राप्तिका आशीर्वाद पार्वतीजीने दिया जिसे सुनकर श्रीजानकीजी मनमें बहुत हर्षित हुई। यथा—'जानि गौरि अनुकूल सियहिय हरष न जाइ कहि'। यदि बिना रामजीके देखे प्रथम ही आशिष देतीं कि तुमको रामजी मिलेंगे तो श्रीसीताजीको इतना हर्ष न होता। क्योंकि (माधुर्यमें) वे अभी नहीं जानतीं कि श्रीरामजी कैसे हैं (निज अनुरूप हैं या नहीं)।

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥ ७॥
तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई॥ ८॥

अर्थ—एक सखी श्रीसीताजीका साथ छोड़कर फुलवाड़ी देखने गयी थी॥ ७॥ उसने जाकर दोनों भाइयोंको देखा। प्रेमसे विवस (विह्वल) होकर वह श्रीसीताजीके पास आयी॥ ८॥

नोट—१ कलाका कौशल देखिये कि जाते समय कविने नहीं बताया, नहीं तो हमारा ध्यान बट जाता। और, न बतानेका कैसा सुन्दर कारण दिया है कि 'सिय संग बिहाई'; उसे फुलवारी देखनेकी सूझी थी, वह चुपकेसे ही खिसक गयी होगी। गानके उमंगमें वहाँ किसीने ध्यान न दिया होगा। (लमगोड़ाजी)। चुपके खिसक गयी, इसीसे वहाँ कवि भी चुप साध गये, जब प्रेममें विह्वल हो सामने आयी तब जाना कि कहीं गयी थी, इसीसे तब आपने भी प्रकट किया।)

देखिये श्रीसीताजी जनक-जैसे योगिराजकी कन्या हैं, इससे शान्तरस प्रधान है। कवि पहिले 'बूय गुल' (पुष्पकी सुगंध), कैसी सुन्दर युक्तिसे पहुँचाता है कि उससे बसी हुई सखीको लाकर उत्कण्ठा उत्पन्न करेगा। 'बासने' के लिये ऐसी ही सखीकी आवश्यकता थी जिसे फुलवारी देखनेमें पूजासे अधिक रुचि हो; अर्थात् जिसे शृंगाररस प्रिय हो। हलकी चीज बस जाती है जैसे कत्था, मगर पत्थर नहीं बासा जा सकता। (लमगोड़ाजी)।

२ 'एक सखी सिय संग बिहाई' इति। 'एक' कहकर जनाया कि शेष सब सखियाँ श्रीकिशोरीजीके साथ मन्दिरमें हैं। पाँड़ेजीका मत है कि 'एक' से जनाया कि यह सबमें प्रधान है। प्रधान होकर साथ छोड़कर चली जाय, यह तो माना नहीं जा सकता। अतएव यह निश्चय है वह भूलसे या अपने मनसे राजकुमारीको छोड़कर कभी न गयी होगी। सब सखियाँ सयानी हैं। सयानी ऐसा कदापि नहीं कर सकती। इससे जान पड़ता है कि इसको सदाहीसे यह आज्ञा है, यही इसका काम है कि वह जाकर देख लिया करे कि वहाँ कोई पुरुष तो नहीं है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि (१) सखी सयानी है; इसीसे अवकाश पाकर गयी। जब श्रीसीताजी सखियोंसहित स्नान करके मन्दिरमें गयीं, तब यह जानकर कि अब इनके साथ रहनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, पूजा करानेके लिये बहुत सखियाँ संगमें हैं ही, फुलवारी देखने गयी कि देखें वहाँ कोई है तो नहीं; कदाचित् श्रीजनककिशोरीजी वाटिका देखनेकी इच्छा करें तो उनको उधर ले चलना होगा। अथवा, (२) जैसे श्रीजानकीजी यहाँ विधिवश, दैवयोगसे आयीं, वैसे ही यह सखी भी दैवयोगसे फुलवारी देखने गयी जिसमें श्रीरामजीको देखकर यह श्रीजानकीजीको ले आवे। अथवा, (३) यह फुलवारी देखने ही योग्य है। सबको इसके देखनेकी इच्छा होती है अर्थात् बहुत सुन्दर है—'परम रम्य आराम यहु'। अतः देखने गयी।

पूर्व सखियोंको 'सयानी' कहा था। अब यहाँ सयानपना दिखाते हैं कि वह साथ छोड़कर फुलवारी देखने गयी। जब सबको मन्दिरमें पहुँचा दिया कि जबतक ये पूजा करेंगी तबतक मैं देखकर लौट आऊँगी। देखने क्यों गयी? इसपर और भी अनेक अनुमान लोगोंने किये हैं जैसे कि—(१) जिधर फल-फूलादि अधिक सुन्दर हों उधर राजकिशोरीको ले चलूँ। (२) यदि कोई पुरुष वहाँ हो तो उसे बाहर करा दें। (३) नारदजीने फुलवारीमें प्रिया-प्रीतमकी भेंट होना पूर्व ही कह रक्खा था और आज अन्तिम दिन है, अवश्य आज भेंट होनी चाहिये, यह सोच-समझकर राजकुमारोंका

पता लेने आयी कि आये तो नहीं हैं। (मा० त० वि०)। वा, फूलवाटिकामें इनका आना सुना है अतः देखने गयी। (पाँड़ेजी); इत्यादि।

पुरुषोंको देखा तो निकाला क्यों नहीं? इसका कारण कह आये हैं कि वह तो स्वयं विह्वल हो गयी, कहता कौन और क्या! और यदि उन्हींकी खोज थी तब तो वह अपनी ही निधि हैं, जिसकी तलाश थी वह स्वयं ही आ मिला।

नोट—३ 'एक सखी' इति। यह सखी कौन है, इसमें मतभेद है। सत्योपाख्यानके 'तत्राहं च भविष्यामि नाम्ना सीता च भूतलात्। तत्र त्वं सुभगा नाम्ना सखीत्वं मे प्रयास्यसि॥' इस आधारपर इसका नाम सुभगा कहा जाता है। रास-समय महारानीका मान होनेपर श्रीसुभगाजीने ही दूतीका काम किया है—'श्रुत्वा वाक्यं तु सीताया जहास सुभगा सखी। सत्योपा० उत्तरार्ध २५। २२।' मा० त० वि०, बैजनाथजी और पं० रामकुमारजीका यह मत है। अथवा, 'एक' सखीसे श्रीचारुशीलाजीका संकेत है। क्योंकि ये श्रीसीतारामरहस्यकी जाननेवाली हैं। प्रिया-प्रीतमका मानसी स्वयंवरद्वारा मनोविलासका परस्पर संयोग कर देनेका काम इन्हींका है। (मा० त० वि०), इत्यादि। मा० त० वि० कार, रा० च० मिश्र और बैजनाथजीने प्रमाण भी दिये हैं। दो-एकने अपनी शृङ्गाराचार्याको ही यह सखी कहा है पर कोई प्रमाण नहीं दिया है।

टिप्पणी—१ 'तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई।' इति। (क) दोनों भाइयोंको देखा; इससे पाया गया कि दोनों भाई एक ही जगह फूल तोड़ रहे थे, क्योंकि यदि वे अलग-अलग होते तो सघन बागमें एकहीको देखती, दोनोंको न देख सकती। (ख) 'जाई' का भाव कि बाग बहुत सघन है। जब समीप गयी तब दर्शन हुआ। [वा, 'जाई' = फुलवारीमें जाकर। संग छोड़ फुलवारीमें गयी, वहाँ जाकर देखा।] (ग) प्रेम बिबस=प्रेमके विशेष वश होकर। ☞ रामरूपके दर्शनसे प्रेमकी उत्पत्ति होती है; यथा—'भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता।…' (जनकादि), 'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं॥', 'भए बिदेह…', 'देखत रघुनायक…अति प्रेम अधीरा।' (अहल्या), इत्यादि। प्रेम-विवशताकी दशा आगे कवि स्वयं लिखते हैं। (घ) 'सीता पहिं आई' इति। श्रीसीताजीको छोड़कर गयी थी, इसीसे उन्हींके पास आयी। अपना आनन्द उनसे कहनेके लिये आयी। ☞ प्रेममें विह्वल हो गयी है, तब भी लौटकर सीताजीके पास पहुँच गयी [कि यह अपूर्व दर्शन उनको भी करावें। 'यह सुख-विशेष, यह अपूर्व पदार्थ उन्हींके भोग करने योग्य है'। ☞ भगवद्भक्त उत्तम-उत्तम वस्तु सदा अपने उपास्यदेवके लिये ही रख देते हैं, स्वयं ही उसे नहीं भोग करते।]—इससे इस सखीकी धीरता और सावधानता पायी जाती है। कारण कि जो प्रेमके वश हो जाते हैं उनको अपनी देहकी खबर नहीं रह जाती, वे कुछ काम नहीं कर सकते। यथा—'देखि भानुकुल भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान।…', 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ २१५। ८॥', 'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी॥ २६४। ४॥' और यह सखी उनको देखकर तुरत लौट आयी।

☞ लमगोड़ाजी—कविकी संकेतकला देखिये। जहाँ ऐसी शृङ्गारप्रिय सखीमें इतनी मर्यादा है, वहाँके श्रेष्ठ श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंकी मर्यादाका क्या कहना।

श्रीराजारामशरणजी—'दोउ'। 'उ' का संकेत कितना सुन्दर है। जनकपुर-भ्रमण कितना सार्थक हो गया है। राजकुअँर अब वहाँ अपरिचित व्यक्तियाँ नहीं हैं जैसा कि 'बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू' से और भी स्पष्ट हो जायगा।

दो०—तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नयन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥ २२८॥

अर्थ—उसकी दशा सखियोंने देखी कि अङ्गोंमें पुलकावली हो रही है, नेत्रोंमें जल है। सब कोमल वाणीसे पूछ रही हैं कि अपने आनन्दका कारण कह॥ २२८॥

श्रीराजारामशरणजी—१ फारसीके मसले 'सूरत बबीं हालम मपुर्स' (सूरत देख ले मेरा हाल न पूछ) का कैसा अच्छा नमूना है! भाव-चित्रण कितना सुन्दर और सूक्ष्म है? २—'सब' शब्द बता रहा है कि सभीको उत्कण्ठा है, सब एक साथ पूछती हैं। रंगमंचपर एक साथ पूछनेके चौंका देनेवाले प्रभावको विचार कीजिये, दर्शक भी उत्कण्ठित हो जाते हैं। नाटकीय कला कितनी उत्तम है?

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि यह प्रेमकी बारह दशाओंमेंसे पहली 'उत' दशा है। प्रभुको देखते ही प्रेमानन्दमें डूब गयी और किसी बातकी सुधि न रह गयी।

टिप्पणी—१ प्रथम कहा कि सखी 'प्रेमविवश' है, अब प्रेमकी दशा कहते हैं कि 'पुलक गात जल नयन' है, सब पूछती हैं, इससे पाया गया कि उसके मुखसे वचन नहीं निकलता। यदि वह बोल सकती होती तो एकहीके पूछनेसे कहती, सबोंको पूछना ही क्यों पड़ता? मुँहसे वचनका न निकलना भी प्रेमकी दशा है। यथा—'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही' (अहल्या १। २११), 'पुलकित तन मुख आव न बचना' (श्रीहनुमान्‌जी ४। २), 'प्रेम बिबस मुख आव न बानी', इत्यादि। 'देखी सखिन्ह' और 'पूछहिं सब' से जनाया कि सीताजी पूजामें दत्तचित्त थीं, उन्होंने उसकी अवस्था नहीं देखी।

२ 'पूछहिं सब मृदु बयन' इति। सब-की-सब पूछती हैं, यह स्त्रीस्वभाव है। प्रेमकी दशामें 'पुलक गात जल नयन' कहा, वचन नहीं निकलता यह नहीं कहा; क्योंकि यह दशा 'सब पूछहिं' के भीतर आ जाती है; इतनेहीमें आशयसे सब समझ सकते हैं। (पूछनेका प्रयोजन श्रीसीताजीका ध्यान आकर्षण करनेके लिये भी है)।

३ 'मृदु बयन' इति। कोमल वाणीसे पूछनेके कारण ये हैं—(क) प्रेममें कठोर वचन बोलनेसे हृदयपर बड़ा आघात पहुँचता है जिससे मृत्यु हो जानेकी सम्भावना होती है। वा, (ख) प्रेमकी नवीं दशा पहुँच गयी है, कठोर वचनोंसे दसवीं दशा मृत्यु हो जाती। वा, (ग) मनका भेद लेना है। मीठे कोमल वचन बोले जिसमें अपने हर्षका कारण कहे, नहीं तो वह क्यों कहने लगी? वा, [(घ) जिसमें सीताजी न सुनें, नहीं तो इसकी दशा देखकर वे घबरा जायँगी। वा, (ङ) श्रीसीताजी श्रीगौरीजीके ध्यानमें हैं, उनके ध्यानमें विघ्न न पड़े। वा, (च) उसकी दशा देख सभी प्रेमसे विह्वल हो गयी हैं, इससे सबका बोल नर्म पड़ गया है। (पाँड़ेजी)। (छ) कठोर बोलनेसे कोई साधारण बात भी नहीं कहता फिर अपने अन्तःकरणका हर्ष क्यों कहने लगा। (रा० प्र०)]

नोट—२ इस दोहेमें हर्षकी पहचानके लिये केवल दो चिह्न बताये गये हैं, एक तो 'पुलकगात' दूसरा 'जल नयन'। और ये दोनों दुःख और भय आदिमें प्रायः होते हैं, सुखमें विरलेहीको होते हैं, फिर सखि-समाजने इन चिह्नोंसे हर्ष ही क्यों साबित किया, इस प्रश्नको उठाकर पं० रा० च० मिश्र उसका उत्तर यह देते हैं कि 'दुःखमें करुणरस प्रधान है। अतः उसमें आँसू उष्ण, पुलकमें त्वचा सिकुड़ी और साथ ही विषादादिक चिह्न होते हैं। और हर्षमें अद्भुतरस प्रधान है जिसमें आँसू शीतल, रोमाञ्चमें त्वचाका फुलाव और तनाव और साथ ही नेत्र और मुखमें विकासादि हर्षके चिह्न होते हैं। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। यह सखी अद्भुत रससे भरे शृङ्गार-रसमें लीन होकर मतवाली है।' (इससे भी 'सयानी' विशेषण चरितार्थ हो रहा है)।

देखन बागु कुअँर दुइ[1] आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥ १॥
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥ २॥

अर्थ—दो (राज) कुँवर बाग देखने आये हैं। किशोर अवस्था है। सब प्रकारसे सुन्दर सुहावने हैं॥ १॥ एक साँवले हैं और एक गोरे। कैसे (उनका) बखानकर कहूँ? (क्योंकि) वाणीके नेत्र नहीं हैं और नेत्रके वाणी नहीं है॥ २॥

टिप्पणी—१ 'देखन बाग'। बागमें देख आयी है इसीसे कहती है कि बाग देखने आये हैं। [फूल उतारना न कहा क्योंकि सयानी है। ऐसा कहनेसे संभावना थी कि वे समझतीं कि कोई मालीके लड़के हैं जिससे उनके दर्शनकी उत्कण्ठा न होती। अतएव उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये 'देखन बाग' कहा (पाँड़ेजी)। संभव है कि जिस समय उनपर दृष्टि पड़ी उस समय फूल न तोड़ रहे हों क्योंकि फूल भी तो घूम-फिरकर उतारे जाते हैं। अथवा, वह तो माधुरी मूर्ति ही देखकर मुग्ध हो गयी है, रूप छोड़ दूसरी ओर उसका ध्यान ही कब जा सकता था?] राजकुमार बागकी सैर करते ही हैं, उनको फुलवारी देखना ही चाहिये, वे बागमें जाकर फूल भी तोड़ें तो यह नहीं कहा जायगा कि फूल तोड़ने आये, बाग देखना ही कहा जायगा। बागकी सैर राजाओंका स्वभाव है; यथा—'तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥ २१५। ४।', 'सुंदर उपवन देखन गए। ७। ३२।' तथा यहाँ कहती है कि 'देखन बाग...'।

[1] दोउ—को० रा०।

नोट—१ नाटकीय कलामें अंदाजा (अटकल) और वास्तविकताका अन्तर बहुत ही सुन्दर होता है। भाव-निरीक्षणमें इसीको नाटकीय सत्त्व कहते हैं। सच है, सखी कैसे अंदाजा कर सकती थी कि राजकुमार फूल तोड़ने आये होंगे, वह तो बागकी सैर ही कारण समझती है। (श्रीलमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ (क) **'कुँअर दुइ आए'** इति। 'कुँअर' कुमारहीके लिये प्रयुक्त होता है, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो जाय। यहाँ भी 'कुँअर' से राजकुमार ही बताती है, उनके रूपसे इसने जान लिया कि ये राजकुमार हैं। राजकुमार कहा जिसमें इनके देखनेकी उत्कण्ठा श्रीजनककिशोरीजीको हो, राजकुमार न होनेसे वे क्यों देखने जाने लगीं ? फुलवारीमें दोनों भाइयोंको देखा है,—**'तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई'**, इसीसे **'कुँअर दुइ आए'** कहा। (ख) **'बय किसोर सब भाँति सुहाए'**। बिना अवस्था जाने उनके सामने जानेमें संकोच होता कि न जाने उनकी क्या उम्र हो, सयानेको देखकर लज्जा आती है। अतएव अवस्था भी कहती है। (ग) **'सब भाँति सुहाए'** अर्थात् भूषण, वस्त्र, लक्षण, अवस्था, शरीर, वर्ण, शोभा, तेज, सुकुमारता इत्यादि सब प्रकारसे सुन्दर हैं। [इससे उनको शोभाकी सीमा जनाया। पुनः, सम्पूर्ण सामुद्रिक उत्तम राज्य-लक्षणोंसे सम्पन्न बताया। (पँड़ेजी)। ☞ इस अर्धालीमें गुप्त रीतिसे श्रीसीताजीके सम्बन्धकी पूर्ण योग्यता सूचित की गयी है। भाव यह कि जैसी सियाजू **'सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा।'** (वाल्मी० १। १। २७) हैं वैसे ही ये भी **'सर्वगुणोपेतः'** (वाल्मी० १। १। १७), सर्वगुणसम्पन्न हैं। पूछती क्या हो, चलकर देखो। 'सुहाए' अर्थात् सब अङ्गोंमें क्षण-क्षणपर नवीन शोभा सरसा रही है।] (घ) **'किमि कहउँ बखानी'** इति। किशोरावस्था कही, श्याम-गौर वर्ण कहा, शोभा कही कि **'सब भाँति सुहाए'** हैं। इतना मात्र कहकर कहती है कि **'किमि कहौं बखानी'**। क्योंकि समय नहीं है। विस्तारसे रूपका वर्णन करनेमें विलम्ब हो जायगा, इतनेमें राजकुमार फूल लेकर चले न जायँ।

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' इति।—

'जो आँखों देखा जाता है वह जिह्वासे यथार्थ कहा जाता है। यदि वाणीके नेत्र होंगे तो वह (वाणी) वही कहेगी जो उसने देखा है और यदि नेत्रोंको वाणी भी हो जाय तो नेत्र देखकर वाणीसे वही कहेंगे, तब फिर **'गिरा अनयन'** और **'नयन बिनु बानी'** दोनों क्यों कहा ? पुनः, जब वाणीके नेत्र होंगे तब वह और कुछ न कहेगी, जो नेत्रसे देखा है वही कहेगी, यह कैसे ?'

पं० रामकुमारजी इस शंकाका समाधान यह करते हैं कि—(१) यह कथन सहेतुक है। यह सखीकी चतुराई है। श्रीजानकीजीकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये उसने इस युक्तिसे शोभा कही, जैसा कि आगेके **'सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उत्कंठा जानी॥'** इससे स्पष्ट है। [(२) धर्मव्याधके प्रसंगमें वाराहपुराणमें इसी अर्थके शब्द आये हैं। धर्मव्याधकी परीक्षाके लिये इन्द्र व्याधा बने और अग्निको वराह बनाया। वाराह धर्मव्याधके सामनेसे निकल गया, तब व्याधारूपधारी इन्द्र उनके पास आकर खड़ा हो गया और उनसे पूछा कि तुमने हमारा शिकार देखा है ? उन्होंने विचार किया कि यदि बताते हैं तो हिंसा होती है और यदि कहें कि नहीं देखा है तो असत्यजनित पाप होता है। यह विचारकर उन्होंने इसी युक्तिसे अपने धर्मकी रक्षा की। वे बोले—] कि **'दृष्टुं चक्षुर्निहतं जंगमेषु जिह्वा वक्तं मृगयो तद्धि स्पष्टम्। चक्षुर्दृष्टं नास्ति जिह्वे ह वक्तुं जिह्वाया स्यात्वक्तियैर्नास्ति चक्षुः॥'** इति वाराहपुराणे धर्मव्याधप्रसंगे॥* (३) सखियाँ पूछती हैं कि **'कहु कारन निज हरष कर'** इसीसे वह प्रथम यही कहती है कि **'गिरा अनयन'** है। इस कथनसे पाया जाता कि इसने दोनों राजकुमारोंको आँखों नहीं देखा है किसीसे उनकी शोभा सुनी है, अतएव इस संदेहके निवारणार्थ फिर यह भी कहा कि **'नयन बिनु बानी'** है। तात्पर्य कि नेत्रोंने देखा है पर वे कह नहीं सकते। जिसकी वाणीमें नेत्र हों और नेत्रोंमें वाणी (वाक्यशक्ति) हो वही यथार्थ कह सकता है।

नोट—२ श्रीरामजीके रूप-सौन्दर्यादि अपार और अकथनीय हैं। **'किमि कहौं बखानी'** अर्थात् क्या कहूँ, देखने ही योग्य हैं, देखते ही बने है। शोभा अकथनीय है। वर्णन न कर सकनेका कारण ऐसी उत्तम रीतिसे समर्थन करनेमें 'काव्यलिंग अलंकार' है। भुशुण्डिजीने भी शोभाके बारेमें ऐसा ही कहा है, यथा—**'प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि**

---

* यह श्लोक अशुद्ध है। वाराहपु० इस समय पास न होनेसे शुद्ध श्लोक नहीं दिया जा सकता। एक श्लोक इसी आशयका देवीभागवतमें व्याध और सत्यव्रतके आख्यानमें 'ऐं' बीजकी उत्पत्तिके प्रसङ्गपर भी है। यथा—'या पश्यति न सा ब्रूते सा ब्रूते या न पश्यति। अहो व्याध स्वकार्यार्थिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः॥' (पं० कालीप्रसादजी शास्त्री, संस्कृतम् सम्पादक)।

सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना ॥ ७ । ८८ ।' सूर भ्रमर गीतसारमें भी ऐसा ही वर्णन आया है । यथा—'अलि हो कैसे कहौं हरिके रूप रसहि । मेरे तनमें भेद बहुत बिधि रसना न जानै नयनकी दसहि ॥ जिन्ह देखे ते आहिं बचन बिनु जिन्है बचन दरसन न तिसहि । बिनु बानी भरि उमगि प्रेम जल सुमिरि वा सगुन जसहि ॥ बार बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि । सूरदास अंगन की यह गति को समुझावै पाछ पद पसुहिं ॥'

३ 'स्याम गौर'' बानी' भाव यह कि 'अवस्थातक तो कहना बनता है जैसा कह चुकी कि 'बय किसोर सब भाँति सुहाए' । पर श्याम गौर मैं कैसे कह सकती हूँ । क्योंकि गिराके समान अदृश्यरूप है और नयनका निःशब्दरूप है । अथवा, गिरा भी अनयन हो रही है अर्थात् अदृश्य दशामें प्राप्त है एवं नयन निःशब्दभावमें प्राप्त हैं ।' (मा० त० वि०) ।

वि० त्रि०—भाव यह है कि सखी प्रेमसे शिथिल है । उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियका सम्बन्ध भी शिथिल हो गया है । उसे स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि आँखोंने देखा है, उनमें यदि प्रकाश करनेकी शक्ति होती तो सम्भव है कि उस शोभाको व्यक्त कर सकती ।'''

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'मन और चित्त वाणीके नेत्र हैं और सुबुद्धि वाणीका नेत्र है । जब नेत्र कोई पदार्थ देखते हैं तब बुद्धि उसकी उपमानादि कल्पित करती है और वाणी मन-चित्तरूपी नेत्रोंसे देखकर वर्णन करती है । पर मेरी बुद्धि तो राजकुमारोंको देखते ही भोरी हो गयी । इससे नेत्र बिना वाणीके हो गये । पुनः मोहनी डालकर मन हर लिया और चितवनके कटाक्षसे चित्त चुरा लिया, इससे वाणी बिना नेत्रके हो गयी । अतएव उन श्याम-गौरकी शोभा कैसे कहूँ ?'

श्रीलमगोड़ाजी—१ देखिये, यहाँ एक ओर तो हर्ष जबान बंद करता है और दूसरी ओर सबका पूछना और सखीका स्वयं श्रीसीताजीके पास इसी हेतुसे आना यह चाहता है कि राजकुमारोंका वर्णन किया जाय, इस संघर्षका आनन्द लीजिये और कविकी कलाकी सराहना कीजिये ।

पहली कोशिशमें 'कुँवर दुइ' निकला । 'दुइ' का संकेत कितना उत्तम है, बहुत शब्द बच जाते हैं । खैर, यहाँ 'देखन बाग कुँअर दुइ आये' इतना तो कह सकी पर जब सौन्दर्यके वर्णनका उद्योग किया तब मुग्धता भी बढ़ी और नतीजा (फल) यह हुआ कि केवल 'बय किसोर' ही निकला और जबान बंद होते-होते 'सब भाँति सुहाए' कहकर रह गयी । फिर तीसरी बार कोशिश की, तो 'स्याम गौर' निकला । बार-बार कोशिश की, निष्फलताके कारण सखी भी सोचने लगी कि आखिर क्यों वर्णन नहीं हो पाता ? मुग्धतावाले प्रेमने कितनी सरल किंतु कितनी सरस युक्तिसे उत्तर दिया है ! सराहते ही बनता है—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' ।

टेनीसनने सच कहा है कि शब्द आन्तरित सत्वको केवल आधापर्धा प्रकट करते हैं और आधा छिपाये रहते हैं । शब्दोंमें क्या प्रकट हुआ ? 'कुँवर दुइ', 'बय किसोर', 'स्याम गौर' । मगर संकेतकला कहती है और चाहिये ही क्या ? यदि 'खत व खाल' का वर्णन होता तो रुचिके अनुसार और कालके अनुसार नया या पुराना होता । और यह संकेतकला सदा ही ठीक है ।

सुनि हरषीं सब सखीं सयानी । सियहिय अति उतकंठा जानी ॥ ३ ॥
एक कहइ नृपसुत तेइ* आली । सुने जे मुनि संग आए काली ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—उत्कंठा—लालसा । आली=सखी । काली=कल (जो बीत गया) ।

अर्थ—यह सुनकर और श्रीसीताजीके हृदयमें अत्यन्त उत्कण्ठा (अतिशय प्रबल इच्छा वा लालसा) जानकर सब सयानी सखियाँ हर्षित हुईं ॥ ३ ॥ एक सखी कहने लगी कि 'अरी सखी ! ये वही राजकुमार हैं जिन्हें सुना है कि कल मुनिके साथ आये हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि हरषीं सब' इति । पूर्व कहा है कि हर्षका कारण सब पूछ रही हैं, यथा 'कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन । २२८ ।' जब उसने हर्षका कारण बताया कि मैंने बागमें दो राजकुमार देखे । उनकी शोभा देखकर मुझे हर्ष हुआ, तब इन सबोंको भी हर्ष प्राप्त हुआ । सबने कारण पूछा था, इसीसे कारण सुनकर सभीको हर्ष हुआ । इससे यह सिद्धान्त निकला कि श्रीराम-रूपके दर्शन और श्रवण दोनोंसे ही हर्ष होता है । (ख) 'हरषीं सब सखीं सयानी' इति । 'सयानी' विशेषण देकर हर्षका दूसरा कारण 'सयानपन' जनाया; अर्थात् 'सयानी' कहकर जनाया

* सोइ—को० रा० ।

कि सखीकी उत्कण्ठा बढ़ानेवाली युक्तिको ये सब समझ गयीं और यह भी जान गयीं कि उसकी युक्तिने अपना काम पूरा-पूरा कर दिया, उसकी युक्तिसे श्रीसीताजीके हृदयमें अत्यन्त उत्कण्ठा पैदा हो गयी तथा सबको सम्बन्धकी योग्यतापर प्रतीति हो गयी। इस तरह चार बातें सबके हर्षका कारण हुईं—(१) राजकुमारोंकी शोभा। (२) सखीकी युक्ति। (३) श्रीसीताजीकी उत्कण्ठा। और (४) सम्बन्धकी योग्यता। विशेष टि० २ (घ, ङ) में देखिये। सयानपन अक्षर-अक्षरमें झलक रहा है। (ग) 'सिय हिय अति उत्कंठा जानी' इति। उत्कण्ठा जानकर हर्ष हुआ, क्योंकि यदि श्रीसीताजीको उत्कण्ठा न होती तो सखियोंको भी श्रीरामजीका दर्शन न हो सकता। [अत्यन्त उत्कण्ठाका कारण है। इधर निज अनुरूप सुभग वर श्रीगिरिजाजीसे माँग रही हैं और उधर अलौकिक सौन्दर्यवाले राजकुमारके आगमनका समाचार मिल रहा है। अतः यह घटना-संयोग निष्कारण नहीं है। (वि० त्रि०)। स्मरण रहे कि 'सिय' नाम माधुर्यका है, इसीसे उत्कण्ठा होनेमें तथा पूर्व संग छोड़नेमें (यथा—'एक सखी सिय संग बिहाई') यह नाम दिया गया]। 'अति उत्कंठा' का भाव कि उत्कण्ठा तो सभी सखियोंको है पर श्रीसियाजूको 'अति' है। अर्थात् और सबोंसे बहुत अधिक है। [पंजाबीजी, बैजनाथजी और रा० प्र० कारका मत है कि अति उत्कण्ठा जानकर हर्ष होनेका भाव यह है कि एकान्त है इससे यहाँ उस साँवली मूर्तिको भली प्रकार अघाकर देखेंगी और सियाजूको भी दिखावेंगी]

नोट—१ 'श्रीजानकीजी अभी अपने भावोंको स्वयं नहीं समझ पातीं! सखियाँ उनके चेहरे (मुख) के रंग (चेष्टा) इत्यादिसे ही समझ लेती हैं और बड़ी कोमलतासे उन भावोंको उत्तेजित भी करती हैं और मर्यादित भी रखती हैं। यही उनका 'सयानपन' है। देखिये उनको हर्ष ही इस कारण हुआ कि उन्होंने श्रीसीताजीके हृदयकी उत्कण्ठा जान ली।' (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ 'एक कहइ नृपसुत तेइ आली।' इति। (क) जो सखी विह्वल होकर आयी थी और जिसने राजकुमारोंकी शोभा कही है, उसीके वचनोंको यह सखी पुष्ट करती है अर्थात् उसकी प्रशंसा करती है। उस सखीने जो कहा था कि 'देखन बाग कुँअर दुइ आए' उसके 'कुँअर' शब्दका अर्थ इसने खोल दिया कि ये वे ही 'नृपसुत' अर्थात् राजकुमार हैं। [पुनः, (ख) 'नृपसुत' कहकर गौरव प्रकट किया। राजा लोग नित्य नगरमें धनुषयज्ञके लिये आया करते थे, वैसे ही उनमेंसे इनको भी एक जनाया! (पाँ०)। पुनः, (ग) 'नरपति' के लड़के हैं, इस कथनसे जनाया कि सत्य ही निस्संदेह ये और सब लोगोंसे अच्छे होंगे। 'भूप' शब्दपर जो पूर्व लिखा गया है उसे याद कीजिये। 'भूप बाग' दोहा २२७ (३) में देखिये। (लमगोड़ाजी)। 'तेइ' का सम्बन्ध आगे 'जे' से है। (घ)— 'आली' इति। 'आली' सम्बोधनसे स्पष्ट कर दिया कि सखियाँ परस्पर एक दूसरेसे बातें कर रही हैं, क्योंकि सयानी हैं, जानती हैं कि श्रीजानकीजी लज्जावश सकुचाती हैं। ☞ कोमलता विचारिये कि कहना तो श्रीसीताजीसे है किंतु उनके लज्जाकी मर्यादा रखते हुए एक सखी दूसरी सखीहीको सम्बोधित करती है। श्रीराजकुमारीसे कहनेसे उनको संकोच होगा।] (ङ) 'सिय हिय अति उत्कंठा जानी'। यह देहली-दीपक-न्यायसे दोनों ओर है। 'हरषीं सब···सिय हिय उत्कंठा जानी' तथा 'अति उत्कंठा जानी। एक कहइ' सयानपन देखिये कि श्रीसीताजीका रुख देखकर बात करती है। उनकी उत्कण्ठा देख राजकुमारोंकी शोभा कहकर तब चलनेकी बात कहेगी।]

३ 'सुने जे मुनि संग आए काली।' इति। (क) 'सुने' से पाया गया कि जब श्रीरघुनाथजी नगरदर्शनके लिये गये तब श्रीकिशोरीजीकी किसी भी सखीने उनको नहीं देखा, क्योंकि ये सब सखियाँ कोटके भीतरकी हैं, महलमें रहती हैं और कोट नगरसे पृथक् है, यह पूर्व ही दिखा आये हैं। (ख) 'जे मुनि संग आए' इति। मुनि विश्वामित्र प्रसिद्ध हैं। इसीसे 'मुनि' ही कहा।—[पुनः, भाव कि 'मुनितक उनके शृङ्गारके वश हुए; उनके संग-संग फिरते हैं।' (पाँ०); (परंतु इस भावसे मुनि गौण हो जाते हैं और वस्तुतः 'मुनि संग' से मुनिको मुख्य रक्खा है)। पुनः, 'मुनिके संग आए' कहकर शान्तरस भरे, मर्यादासहित और दर्शनयोग्य जनाया। (पाँ०)। पुनः भाव कि अन्य राजकुमारोंके साथ अनुचर-वर्गके अतिरिक्त कोई और विशेष सहायक नहीं है और इनके ऊपर परमपौरुषी, कालीन, त्रिकालज्ञ विश्वामित्रजी सहायक हैं, अतः इनमें विलक्षण अपूर्वताकी कोई खास बात सूचित होती है। (रा० च० मिश्र)। पुनः इससे यह भी जनाया कि ये देखनेमें तो सुन्दर कोमल हैं, पर अतुलित बलशाली हैं, कौशिकजीने इनको धनुषकलामें निपुण कर दिया है, इन्होंने ताड़काका वध और मुनिपत्नी अहल्याका चरणस्पर्शमात्रसे उद्धार किया तथा सुबाहु आदि भारी भटोंका नाश कर मुनि-यज्ञकी रक्षा की। यथा—'एई रामलखन जे मुनि संग आए हैं।····देखत

कोमल कठ अतुल विपुल बल, कौसिक कोदंड-कला कलित सिखाए हैं। २। इन्हहीं ताड़का मारी गौतम की तिय तारी, भारी-भारी भूरि भट रन बिचलाए हैं। रिषि-मख-रखवारे....। गीतावली १। ७२।' अतएव इससे निश्चय है कि ये धनुष-तोड़ेंगे, यथा—'कौसिक कथा एक एकनि सों कहत प्रभाउ जनाइ कै। सीय-राम-संजोग जानियत रच्यो बिरंचि बनाइ कै। गी० १। ६८।', 'चाप चढ़ाउब राम, बचन फुर मानिय। ४७। तीनि कालकर ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल। मुनि-महिमा सुनि रानिहिं धीरजु आयउ। तब सुबाहुसूदन-जसु सखिन्ह सुनाएउ। ४८।' (श्रीजानकीमंगल)। ये वचन एक सखीने श्रीसुनयनाजीसे कहे हैं। वही भाव यहाँ भी है। इस तरह 'मुनिसंग' के चरित्रोंद्वारा इनको परम बलवान्, प्रतापी और तेजस्वी जनाया।] (ग) 'आए काली' इति। इससे मुनिका आगमन-काल निश्चित हो गया कि आजके पूर्व दिन सवेरे कुछ दिन चढ़े अमराईमें आकर ठहरे, श्रीजनकमहाराज समाचार पाते ही दर्शनको गये। और अपने साथ महलमें ले आये। फिर भोजन और विश्राम करके नगर-दर्शनको गये। वहाँसे लौटकर संध्या की, फिर कथा हुई और तब शयन हुआ। प्रातःकाल आज फुलवारीमें आये।—यह सब 'आए काली' से कह दिया।

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी॥ ५॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥ ६॥

शब्दार्थ—मोहनी=वशीकरणका मन्त्र; लुभानेका प्रभाव। मोहनी डालना=जादू करना; मायाके वश करना। ऐसा प्रभाव डालना कि कोई एकदम मोहित हो जाय। स्वबस=अपने वशमें। जोगू=योग्य।

अर्थ—(और) जिन्होंने अपने रूपकी मोहनी डालकर नगरके (सभी) स्त्री-पुरुषोंको अपने वशमें कर लिया है॥ ५॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग उनकी छविका वर्णन करते हैं। अवश्य देखना चाहिये, वे देखने ही योग्य हैं तथा देखनेका सब योग उपस्थित है॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'जिन्ह निजरूप मोहनी डारी....' इति। (क) [मोहन और वशीकरणके मन्त्र होते हैं जिनका प्रयोग करनेसे लोग मोहित और वशमें हो जाते हैं। तान्त्रिक प्रयोग छः प्रकारके कहे गये हैं, उनमेंसे 'मोहन' भी एक है। यथा—'मारण मोहन वशाकरण उच्चाटन अस्थंभ। आकर्षण सब भाँति के पढ़े सदा करि दंभ॥' यहाँ रूप ही मोहन-मन्त्र है। रूपका दर्शन कराना वा दर्शन देना मोहन-मन्त्रका प्रयोग करना है। और 'कीन्हें स्वबस नगर नर नारी' यही मानो वशीकरणका प्रयोग है] भाव कि मन्त्रसे मोहनी डाली जाती है, पर ये अपने रूपसे मोहनी डालते हैं। तात्पर्य कि इनका रूप देखकर सब लोग मोहित हो गये हैं। पुरमें जाकर सबको दर्शन दिया, यही मोहनी डालना है। इन्होंने मोहन और वशीकरणका प्रयोग नहीं किया, पर इनका रूप ही ऐसा है कि देखते ही लोग मोहित हो जाते हैं। यथा—'नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं। गी०। १। ७१।' 'सकल अंग मनमोहन जोहन लायक। ३३। श्रीजानकीमंगल।' [पांडेजी एक भाव यह भी लिखते हैं कि 'जिस मोहनी रूपको इन्होंने डाल (अर्थात् फेंक) दिया उसीने सबको स्ववश कर लिया और जिसको प्रसन्नतापूर्वक अपने अंगमें रक्खे हैं उसका तो अन्त ही क्या ?' वह तो न जाने क्या गजब ढा दे!] (ख) 'कीन्हें स्वबस नगर नर नारी' इति। [(१) नगर-नर-नारीका वश करना कहकर जनाया कि ये ही कल नगर देखने गये थे, इसीसे सारे नगरके स्त्री-पुरुष इन्हें देखकर मोहित हो गये। गये तो देखने थे, किंतु सारा नगर इन्हींको देखने लगा। पुनः, (२) भाव कि जैसी दशा आपके सखीकी हुई—'पुलक गात जल नयन', वैसी ही दशा सारे नगरके स्त्री-पुरुषोंकी हो गयी है, कुछ एक इसीकी नहीं। यथा—'अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे री। राम-लखन-छबि देखि मगन भए पुरजन। उर आनंद जल लोचन प्रेम पुलक तन। ३४। श्रीजानकी-मंगल।' पुनः, (३) 'नगर नर नारी' का भाव कि मूर्खोंको नहीं किन्तु पण्डित-पण्डिता नागरिकोंको वशमें कर लिया।' (पां०)। अथवा, (४) मोहनी तो केवल देखनेवालोंको व्यापती है, पर इन्होंने तो सभी स्त्री-पुरुषोंको वशीभूत कर लिया, जिन्होंने अभी देखा भी नहीं है, केवल सुनाभर है इससे इनमें वशीकरण भी है। (वै०) अथवा, (५) 'नर नारी' से जनाया कि जिनको देखना उचित है वे और जिनको उचित नहीं भी है वे भी। (प्र० सं०; पां०)। अथवा, (६) भाव कि सकल नगरके नरोंको नारि-सरिस वशमें कर लिया; आशय यह है कि जब पुरुषोंको स्त्री-सरीखा वशमें कर लिया तब स्त्रियोंकी तो कथा ही क्या है। (रा० प्र०)। वस्तुतः यह मुहावरा है। 'नर नारी' अर्थात् सभीको। भाव कि सब नर-नारी वशमें हो गये तब यह बेचारी मोहित हो गयी तो आश्चर्य ही क्या ?]

नोट—१ 'बरनत छबि' का भाव कि सब छवि देखकर ऐसे वशीभूत हो गये हैं कि शील, स्वभाव आदि गुणोंको छोड़ केवल छविहीका वर्णन कर रहे हैं, और कुछ बखान करनेका अवसर ही नहीं मिलता। तात्पर्य कि छवि अपार है, कोई कितना ही कहता है पर पार नहीं पाता।

२ **'बरनत छबि जहँ तहँ'** के भाव—(क) जहँ-तहँ अर्थात् जहाँ और जिधर देखिये वहाँ और उधर ही छबिका वर्णन हो रहा है। आशय यह है कि मोहन और वशीकरण तो अभिचार क्रियाएँ हैं और ये तो शुद्ध-स्वभाव हैं। इनका स्वाभाविक ही रूप ऐसा अत्यन्त सुन्दर है कि पुरमें जहाँ देखिये छबिका ही वर्णन हो रहा है। (वै०)। (ख) जहाँ कोई छबिका वर्णन करता है वहीं सब एकत्र हो जाते हैं। (रा० च० मिश्र) अर्थात् जिन्होंने देखा नहीं वे अथवा जो मुग्ध होकर मूक-से हो गये हैं, वे सुनते हैं। 'बरनत छबि जहँ, सब लोगू तहँ' ऐसा अन्वय करनेसे यह अर्थ होगा। (ग) छबि जहँ-तहँ=जहाँ-तहाँकी छबि, तात्पर्य कि इनके सर्वाङ्ग सुठौर हैं। जिसकी दृष्टि जिस अंगपर पड़ी वह उसीको देखता रह गया। अतः कोई सर्वाङ्गकी छबि नहीं कह सकता; जहाँ-तहाँकी ही (अर्थात् कोई मुखकी, कोई नेत्रकी, कोई भ्रूकी, कोई नासिकाकी, कोई कंठकी इत्यादि) छबि कहता है। (वै०)। (घ) रा० प्र० कार 'बरनत' का पदच्छेद 'बर नत' इस तरह करके एक भाव यह लिखते हैं कि जहाँ-तहाँ जो 'बर' (श्रेष्ठ) छबिवाले सब लोग रहे अर्थात् कामदेव और चन्द्रमा आदि वे सब इनके आगे 'नत' (नम्र) हो गये।

३ 'बरनत छबि'''सब लोगू' इति। (क) 'सब लोगू' अर्थात् नगरके सभी निवासी स्त्री और पुरुष जिनको पहले कह आयी है—'कीन्हें स्वबस नगर नर नारी'। उन्हींसे यह तात्पर्य है। (ख) सभीका वर्णन करना ही कहकर सूचित करते हैं कि सभी रूपरस-माधुरीमें इतने पगे हुए, ऐसे छके हुए हैं कि सब कहते ही हैं। किसीको यह होश नहीं कि वह किससे कह रहा है, कोई सुनता भी है या नहीं, जैसे नशेमें अपनी ही सूझती है। पुनः, (ग) 'सब लोगू' अर्थात् जिनको उचित है एवं जिनको उचित नहीं है वे सभी। तात्पर्य कि पतिव्रता स्त्रियोंको पतिको छोड़ दूसरे पुरुषका वर्णन करना अनुचित है, पर वे भी मुग्ध होकर मर्यादा छोड़कर उनकी छबिका वर्णन कर रही हैं। (पाँ०)। (घ) 'बरनत'''सब लोगू', यथा—'ए दोउ दसरथ के बारे।'''सुखमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोम पर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे। १०।'' कोउ कहै तेज पताप पुंज चितए नहि जात भिया रे। छुअत सरासन सलभ जरैगो ये दिनकर-बंसदिया रे। ११। एक कहै कछु होउ सुफल भये जीवन जनम हमारे। अवलोके भरि नयन आजु तुलसी के प्रान पियारे। १२। गी० १। ६६।' 'भूप भवन घर-घर पुर बाहर इहै चरचा रही छाइकै। मगन मनोरथ मोद नारिनर प्रेम-बिबस उठैं गाइकै। २। गी० १। ६८।', 'रामलखन जब दृष्टि परे री। अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे री॥ धनुषयज्ञ कमनीय अवनितल कौतुक ही भए आय खरे री। छबि सुर सभा मनहु मनसिज के कलित कलप-तरु रूखफरे री। सकल काम बरषत मुख निरखत करषत चित हित हरष भरे री॥''''गी० १। ७४।' 'जयते रामलखन चितए री। रहे इकटक नर-नारि जनक पुर लागत पलक कलप बितए री॥ १॥''''बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रितए री। तुलसिदास ते धन्य जनम जन मन क्रम बच जिन्हके हित ए री॥ गी० १। ७६।' इत्यादि। (ङ) ☞'जिन्ह निज रूप''''' और 'जहँ-तहँ' के संकेतकी प्रशंसा हो ही नहीं सकती, लाखों दृष्टिकोण भी कम हैं। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ (क) यहाँतक सुनी हुई बात कही। 'नृपसुत तेइ आली' से लेकर 'बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू' तक सब बातें सुनी हुई हैं, देखी नहीं है। यथा—'सुने जे मुनिसंग आए काली।' पुनः, (ख) यहाँतक देखनेकी योग्यता (दर्शन करने योग्य है यह बात) दिखायी। एक तो छबिकी प्रशंसा सर्वत्र हो रही है। दूसरे वे विश्वामित्र मुनि ऐसे भारी महात्माके साथ आये हैं। तीसरे, वे हमारे बागमें हैं और दोनों अकेले ही आये हैं, उनके साथ और कोई ६ भी नहीं और न हमारे ही साथ कोई ऐसा है जिसका संकोच हो। चौथे, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभीने उनको देखा है और सभी उनका वर्णन करते हैं। पाँचवें, दैव-योगसे यहाँ वे आ गये हैं, और एकान्त हैं, हमें उनके दर्शनके लिये बाहर कहीं नहीं जाना है। (छठे, लोकोत्तर पदार्थ दर्शनीय होता ही है। फिर जिसके दर्शनका माहात्म्य है, जिसे सब देखना चाहते हैं, उसके दर्शनमें दोषकी सम्भावनाको स्थान नहीं है। वि० त्रि०)। इत्यादि सब योग 'सुने जे मुनि संग आये काली' से 'जहँ तहँ सब लोगू' तक

इतने ही शब्दोंमें दिखाकर तब कहती है 'अवसि देखिअहि देखन जोगू' अर्थात् देखने योग्य हैं और देखनेका सब योग अकस्मात् आ उपस्थित हुआ है। तथा यही समय है, अवश्य चलकर देखना चाहिये।

नोट—४ सखीके वचनका अन्तिम पद 'अवसि देखिअहि देखन जोगू' सरलता और सरसताका नमूना है। फारसीका यह शेर स्मरण आये बिना नहीं रहता—'तुरा दीदा व यूसुफ रा शुनीदा। शुनीदा कै बुवद मानिन्द दीदा॥' (तुझे देखा है और यूसुफको सुना है। सुना हुआ देखे हुएके बराबर कैसे हो सकता है?)। जब फूलकी सुगन्ध मिली तब किस सुन्दरतासे 'उसके देखनेकी चाह' पैदा की और अब आगे दिखाने ले जा रही है। (लमगोड़ाजी)।

५ 'देखन जोगू' उस श्लिष्ट-शब्दद्वारा सखी एक गुप्त अर्थ यह प्रकट कर रही है कि नारदजीने जो भविष्य वाणी की है उसकी सब बातें घट रही हैं, देखनेमें योग (विवाहसम्बन्ध) की सम्भावना है। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है। (वीर)।

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥ ७॥
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई॥ ८॥

अर्थ—उसके वचन श्रीजानकीजीको अत्यन्त प्रिय लगे। दर्शनके लिये नेत्र व्याकुल हुए॥ ७॥ उसी प्रिय सखीको आगे करके चलीं। उनकी पुरानी प्रीतिको कोई भाँप नहीं सकता॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'तासु बचन अति·····' इति। (क) 'तासु बचन' का भाव कि प्रथम सखी जिसने राजकुमारोंको देख आकर सब समाचार कहा था उसके भी वचन 'सुहाए' थे पर इस सखीके वचन 'अति सोहाने' क्योंकि इसने दर्शनकी योग्यता और दर्शनका योग दिखाकर दर्शन करने चलनेकी सम्मति दी। [पुनः भाव कि प्रथम सखीने सौन्दर्य वर्णन किया, पर देखनेको न कहा था और इसने सौन्दर्य तो कहा ही पर साथ-ही-साथ देखनेको भी कहा। सखी जो मर्यादाकी 'बारी' बनी है, उसीने राह खोल दी, अतः इसके वचन अति सुहावने लगे। (पाँ०)] पुनः 'अति सोहाने' का भाव कि सुहाये तो सभीको पर श्रीसीताजीको अत्यन्त सुहाये, क्योंकि इनके हृदयमें 'अति उत्कंठा' थी। [☞ सखीकी जबान (बाणी) और कविकी लेखनी ही श्रीसीताजीके भावोंका प्रकटीकरण कर रही हैं। हाँ, जब व्याख्या हो जाती है तब सीताजीका हृदय बोल उठता है कि ठीक है। (लमगोड़ाजी)]।

२ 'दरस लागि लोचन अकुलाने' इति। श्रीसीताजी लज्जावश अपने मनकी कुछ कह न सकती थीं। इस सखीने उनके मनकी बात कह दी कि 'अवसि देखिअहि'। इसीलिये दर्शनके लिये नेत्र अकुला उठे। पुनः इस सखीसे सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनी इससे देखनेके लिये नेत्र व्याकुल हो रहे हैं। व्याकुलता इससे है कि कहीं राजकुमार चले न जायँ। यथा—'चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता॥ २३२। १।'—यह भाव आगेके 'जनु सिसु मृगी सभीत। २२९।' से भी सूचित हो रहा है। [पुनः भाव कि कान और मनको तो सुननेसे सुख हुआ, पर नेत्रोंको सुख न मिला, अतः वे अकुलाये। अथवा, सखी मर्यादाकी 'बाड़ी' बनी थीं, (जबतक सखियोंकी मर्यादारूपी बारी रूँधी रही तबतक श्रीकिशोरीजीके नेत्र नहीं अकुलाये थे। उस सखीने उपर्युक्त वचनोंद्वारा वह बारी तोड़ दी और राह खोल दी तब नेत्र देखनेको अकुलाये। (पाँ०)]

३ 'चली अग्र करि प्रियसखि सोई।····' इति। (क) अब चलनेसे सब सखियाँ प्रसन्न होंगी कि हमारे कहनेसे श्रीजानकीजी चलीं और यदि लज्जावश हम नहीं जातीं तो सब उदास हो जाएँगी और हमलोग राजकुमारोंको फिर कैसे देख पावेंगी, यह सब विचारकर चलीं। [(ख) यहाँ कैसी मर्यादा रक्खी है। श्रीसीताजीका सखीको आगे चलनेको कहना कि जहाँ उनको देख आयी है, वहीं सीधे चल, आगे हो जा—यह कुछ न कहा। इतना ही कवि कहते हैं कि उसे आगे करके चलीं। दोनों बातें हो सकती हैं। एक तो लज्जासे नेत्रोंका इशारामात्र कर दिया और वह आगे हो गयी, कहनेकी जरूरत न हुई। दूसरे, कविने उनका कहना न लिखकर कलम (लेखनी) द्वारा जना दिया कि वे तुरत चल दीं और जल्दी-जल्दी चली जा रही हैं।] (ग) 'प्रिय सखि सोई' इति। श्रीरामजीको देख आयी है, उनके आगमनकी खबर दी है, इसीसे प्रिय है और इसीसे उसे आगे होनेको कहा कि रास्ता दिखावे। ☞ (घ) स्मरण रहे कि यहाँ चोरीसे जाती हैं, इसीसे यहाँ गाना नहीं लिखते। जब गिरिजा-पूजनको जा रही थीं तब गाती जा रही थीं। ['प्रिय' इससे कि श्रीरामजीसे मिलानेकी बात कही है एवं मिलावेगी। (प्र० सं०)]

नोट—१ ☞ उपदेश—यहाँ यह उपदेश हमें मिल रहा है कि जो सेवक अपनेको अतिशय भानेवाला पदार्थ स्वयं न भोगकर अपने प्रभुहीको उसे समर्पण कर देता है, वह अवश्य अग्रगण्य और स्वामीको प्रिय हो जाता है इसमें लोग और भी गूढ़ ध्वनि कहते हैं। (प्र० सं०)।

२ लमगोड़ाजी लिखते हैं कि प्रेमिककी खबर दी है, इसीसे 'प्रिय' हो गयी, नहीं तो 'एक सखी' ही थी। अब अग्रसर है, नहीं तो चली गयी थी तब किसीने जाना भी नहीं।' (नोट)—'विषय इतना सरस है कि बहुत कहनेको जी चाहता है, परंतु विस्तारके भयसे पहले तो जो भाव और विद्वानोंकी व्याख्याओंमें आ गये हैं उन्हें नहीं दोहराता। दूसरे, पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि नोटोंको उदाहरणमात्र समझकर उसी शैलीपर प्रत्येक शब्दपर विचार करें तो उन्हें बड़ा आनन्द मिलेगा।'

'प्रीति पुरातन लखइ न कोई' इति।

मानसमयंक—'शृङ्गारके साजको सजकर रामसंयुक्त जानकीजी साकेतके रङ्गमहलमें राजती रहीं, वही पुरातन प्रीति हृदयमें उमड़ रही है, अतएव बिना अपने प्रीतमको देखे दुःखित हैं।

रा० कु०—'प्रीति पुरातन' अर्थात् मनु-शतरूपाके वरदानके सम्बन्धसे युगल स्वरूप प्रकट हुए हैं, उसी सम्बन्धका प्रेम है, इसको कोई नहीं जानता।

पाण्डेजी—'प्रीति पुरातन'=अनादि प्रीति। 'प्रीति पुरातन लखै न कोई' का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि श्रीजानकीजीके मनमें यह संकोच हुआ कि 'इस पुरातन प्रीतिको जिससे तन भर गया है (जो हृदय और शरीरमें छा गया है) कोई लख न ले', अतः प्रिय सखीको आगे करके ले चली। पुनः, तीसरा अर्थ यह है कि 'प्यारी सखीको आगे करके चली, परंतु जो उनकी अनादि प्रीति है वही प्रिय सखीके रूपमें है जो मिलाने जा रही है, यह बात कोई लख नहीं पाता।'

बैजनाथजी—'यहाँ अनूढ़ाके लक्षण दर्शित करते हैं कि पूर्वकालकी प्रीति जो बीजमात्र है जिसका उल्लेख आगे दोहामें है, वह बेलि-सी बढ़ गयी, इसीके आधारपर चली जा रही है।'

पंजाबीजी—इसमें गूढ़ ध्वनि यह है कि उनकी पुरानी प्रीतिको वा व्याकुलताको कोई जान न पावे, अतः प्रिय सखीको आगे कर लिया।

प० प० प्र०—युगलकिशोरोंको देखनेकी लालसा तो प्रबल हुई है इसका कारण है 'पुरातन प्रीति', पर यह किसीने जाना नहीं। सीताजी भी विचार कर रही हैं कि उनको देखनेकी ऐसी प्रीति क्यों हुई। कविराज कहते हैं कि यह प्रीति नयी नहीं है, पुरानी है। ☞ पुरातन प्रीति परिस्थितिके प्रभाव तथा कालकी महिमासे जब जाग्रत होती है तब वह व्यक्ति स्वयं ही जान नहीं पाता कि ऐसा क्यों हो रहा है। 'व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते॥' कालिदासके इस उद्धरणमें 'कोऽपि हेतुः' से कारणकी अज्ञता जैसी कही है वैसे ही यहाँ भी कहा कि 'पुरातन प्रीति लखै न कोई।' (यही विचार अगले दोहेमें लमगोड़ाजीकी टिप्पणीमें आ चुके हैं)।

राजारामशरणजी—यहाँतक बाग और सरका प्रभाव श्रीराम और लक्ष्मणजी दोनोंपर एक दिखाया था। आगे प्रेमका प्रभाव केवल रामपर पड़ना कहेंगे। उस प्रेमके पृथक्करणका सिद्धान्त यहीं प्रथम 'प्रीति पुरातन' में संकेतरूपसे बता दिया है।

दो०—सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥२२९॥

अर्थ—नारदजीके वचन स्मरणकर श्रीसीताजीके (हृदयमें) पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई। (वे) सब दिशाओंमें चौकन्नी-सी देख रही हैं, मानो मृगछौनी (बच्चा हरिणी) डरी हुई (देख रही) हो॥ २२९॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुमिरि सीय नारद बचन' नारदजीका वचन है कि जिसमें इनका मन लगेगा वही वर इनको मिलेगा—'सो बरु मिलिहि जाहि मनु राचा।' (ख) 'उपजी प्रीति पुनीत' अर्थात् श्रीरामजीमें मन लगा, वे हमें अवश्य मिलेंगे (ग) 'प्रीति पुनीत' का भाव कि बिना धनुष टूटे वा तोड़े किसी पुरुषपर पतिभावसे प्रीति करना अपुनीत है, किसीमें मन लगना प्रीतिकी अपुनीतता है। इस दोषके निवारणार्थ कहते हैं कि नारद-वचनके स्मरणसे प्रीति उपजी। नारदके वचन सदा सत्य हैं—'होइ न मृषा देवरिषि भाषा। ६८। ४।', 'नारद बचन सदा सुचि साँचा॥ २३६। ८॥' इसीसे प्रीति

उत्पन्न हुई और श्रीरामजी इनको अवश्य मिलेंगे, इसीसे प्रीति पुनीत है अपुनीत नहीं। पुनः दूसरा भाव कि प्रीतिकी प्रशंसा उसकी पुनीततासे होती है, यथा—'प्रीति पुनीत भरत कै देखी । सकल सभा सुख लहेउ बिसेषी', 'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि । कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ॥ २१७ । ३ ॥' पुनीत=निश्छल, यथा—'माइहि माइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥' और, स्वार्थ ही छल है यथा—'स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।' इस तरह 'उपजी प्रीति पुनीत' का भाव यह हुआ कि श्रीजानकीजीके हृदयमें स्वार्थरहित प्रीति उत्पन्न हुई, किसी सुखकी काङ्क्षासे नहीं, वरंच निष्काम फलाभिसन्धिवर्जित प्रीति है। अतएव उसे पुनीत कहा। (घ) ☞यहाँ प्रतीति, प्रीति और उससे भगवत्प्राप्ति तीनों बातें कहीं। बिना प्रतीतिके प्रीति नहीं होती; यथा—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती' 'सुमिरि सीय नारद बचन' से जनाया कि नारदजीके वचनोंमें श्रीसीताजीकी प्रतीति है। प्रतीति होनेसे प्रेम उपजा। प्रेमसे भगवान्की प्राप्ति है सो आगे होनेहीको है।—'जेहि पर जाकर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू ॥' ☞ऐसा ही पार्वतीजीके प्रकरणमें कहा गया है, प्रथम नारदवचनमें प्रतीति हुई, फिर शिवपदमें प्रेम उपजा, तब प्राप्ति हुई।

नोट—१ (क) यहाँ श्रीनारदजीके वचन मुख्य हैं। इससे अनुमान होता है कि 'नारदजीने पूर्व ही यह कह रक्खा था कि पुष्पवाटिकामें पतिका प्रथम दर्शन होगा, पीछे ब्याहका सम्बन्ध होगा। इस वचनका बीज हृदयमें पहलेहीसे जम गया था। उसीका स्मरण हो आया, प्रेम उत्पन्न हुआ, इससे 'ये ही हमारे पति होंगे' यह निश्चय हुआ। पति होंगे अतः प्रेम पुनीत है' (पाँड़ेजी, रा० प्र०)। (ख) नारदजीने ये वचन कब और कहाँ कहे थे इसमें मतभेद है। कोई निश्चित प्रमाण हमें नहीं मालूम। कोई कहते हैं कि 'किसी समय गिरिजापूजन-समय पुष्पवाटिकाहीमें नारदजी आये थे। प्रणाम करनेपर उन्होंने आशीर्वाद दिया था, कि इसी वाटिकामें तुम्हारे भावी पतिके तुमको दर्शन होंगे' और किसीका मत है कि महलमें राजा-रानीके सामने नारदजीने यह बात कही थी। श्रीगिरिजाजन्मपर जैसे नारदजीने जाकर उनका हाल कहा था वैसे ही श्रीसीताजीके प्रादुर्भावपर नारदजी आये थे जैसा श्रीरूपलताजीरचित जन्मस्तुतिसे भी पाया जाता है—'नारद मुनि आए बचन सुनाए।' सम्भव है तभी यह प्रसङ्ग भी कह दिया हो। (ग) जो 'नारदजीके वचन थे उन्हींके अनुकूल श्रीजानकीजीकी दशा हो गयी, इसको सखियोंसे छिपानेके लिये 'चकित बिलोकति···।' (पाँड़ेजी)।

२ 'चकित बिलोकति' क्योंकि नेत्र दर्शनके लिये आतुर हो रहे हैं, राजकिशोर किधर हैं, कहाँ हैं, कहीं चले तो नहीं गये। वा, इसलिये कि यह प्रीति सखियोंको विदित न हो। (पाँड़ेजी)। वा, यद्यपि अन्तःकरणमें उपपतिकी शङ्का नहीं है, पाणिग्रहण इन्हींसे होगा यह निश्चय है तो भी पिताका पन तो अभी पूरा नहीं हुआ, इससे लोक-लाज़ कुल-कानिको विचारकर शङ्का करती हैं कि कोई कहीं देखता तो नहीं; इस हेतुसे चारों ओर चकित हो देखती हैं।' (बैजनाथजी)।

३ 'सकल दिसि' इति। संकोच-विवश राजकिशोरोंकी दिशाके सिवा अन्य दिशाओंमें भी देखने लगती हैं। वा, सखियोंसे छिपानेके हेतु। (पांड़ेजी, मिश्रजी)। ☞लमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'ये शब्द नारद वचनके स्मरणके बाद आये हैं, इससे बड़े सुन्दर हैं। 'नसीम' ने 'बकावलीके फूल' के लिये लिखा है—'शबनमके सिवा चुरानेवाला। ऊपर का था कौन जानेवाला ॥ अपनोंमेंसे फूल ले गया कौन? सब्जेके सिवा बेगाना था कौन?····बू होके तो गुल उड़ा नहीं है····।', तो फिर राममें आधिदैविक व्यक्तित्वके विचारसे यह शब्द सारी दिशाओंके संकेतसे कि जिसमें आकाश व पाताल भी शामिल हैं कितना सुन्दर है। लेकिन (फिर भी) कविने सरलता जाने नहीं दी, आँखोंका सब दिशाओंमें ढूँढ़ना बड़ा ही स्वाभाविक है। प्रेमके आँख-मिचौनीसे ही भाव उत्तेजित होते हैं। ललचाने (अकुलाने) से 'चकित' और 'चकित' से भयकी अवस्थातक पहुँचा दिया।' ☞ 'सीताजी जैसी राजकुमारी स्वयं इस उलझनमें थीं कि मैं क्यों चल पड़ी? ['खबर नहीं है कहाँ जाऊँगी, चली हूँ कहाँ ?'] तब ही विचार समुद्रमें गोता लगानेसे नारदके वचनका स्मरण हुआ।'

पाँड़ेजी, मिश्रजी—'जनु सिसु मृगी सभीत' इति। सभीत मृगछौनीकी उपमा बड़ी ही विलक्षण है। भययुक्त मृगछौनीकी चारों ओर 'हेरनि' से सीताजीकी अशृङ्गारित दृष्टि स्वभावतः विलक्षण सौन्दर्यसे भरी और भोरी है। मृग-छौनीको बाधक जीवों, फँसाने और फाँसनेवाले व्याधाओंका डर, वैसे ही यहाँ सीताजीको पिताके पनका भय, माताका भय, सखियोंके लखनेका भय और राजकिशोरोंकी छटामें फँस जानेका भय। भयसे चौंक-चौंककर देखती हैं। [मृगी डरकर भीम चारों ओर देखती है, अतएव यह उपमा दी गयी। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।]

प० प० प्र०—मृगीकी उत्प्रेक्षा प्रीतिकी पुनीतता और नेत्रों आदिको इधर-उधर आतुरतासे घुमाना दिखानेके लिये बड़ी सुन्दर है। शिशुमृगी जब वनमें मातासे अलग हो जाती है और माता उसे दिखायी नहीं देती तब वह भयभीत होकर चारों तरफ सिर और नेत्र घुमाती है और माँके लिये व्याकुल होती है। उसका पुनीत मातृप्रेम ही उसे व्याकुल कर देता है। वैसे ही सीताजीके मनमें पति-भावसे प्रेम तो उपजा पर इसमें कामविकारका लेश भी नहीं है। अतः यह पुनीत है। नारदवचनसे पतिप्रेम उपजनेमें अपुनीतता नहीं है, पर यदि इस प्रीतिमें कामविकार उत्पन्न होता तब तो वह प्रीति अपुनीत ही हो जाती, क्योंकि विवाहके पूर्व किसी पुरुष या स्त्रीको देखनेमें यदि कामविकार उत्पन्न होगा तो उसको मानस-व्यभिचार ही कहना पड़ेगा।

नोट—४ यहाँ हमें उपदेश मिलता है कि उपासनाको इसी तरह गुप्त रखना चाहिये, यद्यपि चतुर लोग अनुमानसे जान ही लेते हैं।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि॥ १॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥ २॥

शब्दार्थ—गुनि=विचारकर। मनसा=कामना, मनोरथ, संकल्प। सन=से।

अर्थ—कंकण (हाथका भूषण) किंकिणी (कटिभूषण, करधनी) और नूपुर (पैरके भूषण, पाजेब) की ध्वनि सुनकर श्रीरामचन्द्रजी हृदयमें विचारकर लक्ष्मणजीसे कहते हैं—॥ १॥ (हे लक्ष्मणजी! यह ध्वनि तो ऐसी हो रही है) मानो कामदेवने नगाड़ा वा डंका बजाया है और विश्वविजयका संकल्प किया है। (अर्थात् नगाड़ा बजाकर विश्वको जीतने चला है) ॥ २॥

श्रीराजारामशरणजी—१ शब्दशक्ति विचारणीय है। गहनोंके नाम भी आ गये और दुन्दुभीका ठेका सुनायी भी देने लगा। २—राम पुरुष हैं, इससे शृङ्गाररस बड़ी तेजीसे बढ़ रहा है, वे अपने भावोंको समझते हैं और तुरत ही बिना छलके छोटे भाईसे कह भी देते हैं। भावकी तेजीको अपूर्ण क्रियाओं Participient form से किस सुन्दरतासे व्यक्त किया है। ३—जार्ज मेरिडिथ George Meridith ने ठीक कहा है कि प्रेमिकाके सरल चलने-फिरनेमें प्रेमिकका हृदय ओर (जोर ?) से इरादेके साथ कामकी कल्पना करता है। इसीसे कविने उत्प्रेक्षाका प्रयोग किया है कि कोई यह न समझ बैठे कि वस्तुतः ये सखियाँ और जानकीजी अपनी चालसे कामदुन्दुभी बजाती चल रही थी (यह तो गुलछर्रे उड़ाना होता)।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीमें जो पुनीत प्रीति उपजी वह नारदजीकी शब्दशक्तिसे। श्रीरामजीमें भी इस ध्वनिशक्तिसे ही पुनीत प्रीति उपजी। एक सखी जो पूर्व गयी थी उसके आभूषणोंकी ध्वनिसे ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि जैसे श्रीरामजीका शरीर और सब भूषण चिदानन्दमय हैं वैसे ही श्रीसीताजीकी देह, आभूषणोंकी ध्वनि सभी चिदानन्दमय हैं। हृदयाकर्षण-विधिमें समान संस्कार, संकल्प, भावना आदिका ही प्रभाव पड़ता है।

टिप्पणी—१ (क) 'कंकन किंकिनि नूपुर'—तीन अङ्गोंके आभूषण अर्थात् शरीरके ऊँचे, नीचे और मध्यके आभूषण लिखकर जनाया कि जितने भी ऐसे आभूषण शरीरमें हैं जो कि शब्द करते हैं उन सबोंका शब्द हुआ। अथवा ये तीन आभूषण अधिक शब्दकारी हैं इसीसे इन्हीं तीनोंका नाम लिखा, यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि काम गज लाजहिं॥ ३१८। ४।' (ख) 'कंकणसे विशेष किंकिणी बजती है और किंकिणीसे विशेष नूपुर बजता है, अतः शब्दके क्रमसे नाम लिखे।

नोट—१ और भाव ये हैं—(ग) कंकण हाथका, किंकिणी कटिका और नूपुर पदका आभूषण है। हाथ हिलनेसे पहुँचोंमें लगनेसे कंकणमें मधुर शब्द होता है, हिलनेसे (चलनेपर) किंकिणीसे भी मधुर शब्द होता है। यथा—'कटि तट रटति चारु किंकिनि रव अनुपम बरनि न जाई। वि० ६२', और पैर उठाकर धरनेपर नूपुरोंमें विशेष शब्द होता है। तीनोंकी मिलकर जो एक साथ ध्वनि हो रही है उसे सुनकर। (वै०) पुनः, (घ) आगे इस ध्वनिको दुन्दुभीकी ध्वनि कहते हैं क्योंकि डंकेमें तीन शब्द होते हैं। प्रथम दो बार 'कुड़ क कुड़ क' धीमा शब्द होता है, यह कंकण और किंकिणीका मधुर शब्द है और तीसरा 'धुम' जो गंभीर शब्द है वह नूपुरका गंभीर शब्द है। इसीसे तीनोंके मिलनेसे जो ध्वनि होती

है यह नगाड़ेकी कुड़ुक कुड़ुक धुम' सी है। (वै०)। (ङ) पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि 'प्रथम 'कंकन' पद देकर पाणिग्रहण सूचित किया, क्योंकि पहले कंकणहीके शब्दने हृदयमें प्रविष्ट होकर अपने स्वत्व होनेका अंकुर जमा लिया अन्यथा शोभा होनेसे दूषण था, पीछे किंकिणी और नूपुरके क्रमशः शब्द रामजीके हृदयंगत हुए। लौकिक कंकणादिकोंकी ध्वनि रामजीके हृदयंगम नहीं हो सकती। महारानीजीके आभरण चेतन विग्रह-स्वरूप हैं। इनसे जो ध्वनि निकलती है यह सामवेदकी 'वार्त्तान्तरीय' तीसरी शाखाके शक्ति-सूक्तिकी ऋचाओंकी ध्वनि गूँजती है, इसीसे रामजीको तत्त्व लक्ष्य हो गया। अगस्त्यरामायण उत्तर प्रकरण अ० ५-६ देखिये।—'नखरनिकरकान्तं मुद्रिकानूपुराद्यैः श्रुतिनुतिरणयन्तं मानसे योगिमाव्यम्।' यद्यपि सीताजीके चलनेमें कंकणादिकोंकी ध्वनि एक साथ ही मिली हुई निकल रही है, पर कविने मर्यादाकी सीमापर क्रम रक्खा है, क्योंकि वहाँ तो ध्वनि साथ ही निकली पर कवि तीनों शब्द साथ ही कैसे लिखें, जो ही शब्द प्रथम लिखते उसीमें शंका बनी रहती कि पहिले यह क्यों? अतः उक्त क्रम साभिप्राय और गम्भीर है। दूसरे साथ निकली हुई भी ध्वनि मर्यादापुरुषोत्तमके मर्यादासे ही कर्णगोचर हुई। (च) दूसरे चरणमें 'राम हृदय गुनि' श्रीरामजीका इस शब्दपर विचार करना कहते हैं। वह विचार यह है—'कंकन' यह जना रहा है कि संसारमें कौन शोभावाला ऐसा है जो इनके आगे 'कंक' अर्थात् दरिद्र नहीं है। 'किंकिन' से 'किन किन' यह ध्वनि निकलकर कहती है कि इनके सामने रमा, उमा, ब्रह्माणी, रति आदि किन-किनने हार नहीं मानी, सभीने तो हार मान ली। 'नूपुर' छननन बोलता हुआ सूचित कर रहा है कि रति आदिको लजाकर भागनेमें क्षणभर भी नहीं लगता। (रा० प्र०)।

टिप्पणी—२ 'हृदय गुनि'। भाव कि कामके नगाड़ेका शब्द श्रीरामजीके हृदयमें प्रवेश कर गया है, आगे श्रीसीताजीके स्वरूपमें आसक्त होवेंगे; यथा—'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥', 'कहत लषन सन' इति। लक्ष्मणजीसे कहते हैं क्योंकि लक्ष्मणजी 'कामजेता' हैं। मेघनादको काम कहा है, यथा—'पाकारिजित काम बिश्राम हारी', सो उस मेघनादको श्रीलक्ष्मणजीने जीता। पुनः, लक्ष्मणजीके निकट काम नहीं जा सकता यथा—'देखि गएउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहु तब कटकु हटकि मनजात॥ ३। ३७।' लक्ष्मणजीने आभूषणोंकी ध्वनिपर किंचित् भी निगाह न डाली, किसी स्त्रीकी ओर न देखा, न कामकी कोई बात ही उन्होंने की—यही कामका जीतना है। लक्ष्मण वीर है, वीरकी चढ़ाई वीरसे ही कहनी चाहिये, जिसमें वह सावधान हो जाय। अतः लक्ष्मणजीसे कहा। पुनः भाव कि आभूषणोंकी ध्वनि अतीव मधुर है बिना कहे रहा न गया, इसीसे इनसे कहा।—विशेष आगे दोहा २३० में 'बोले सुचि मन अनुज सन' पर लमगोड़ाजीकी टिप्पणी देखिये।

वि० त्रि०—'हृदय गुनि·····' इति। विचार करते हैं कि गतिकी रमणीयतासे भूषणोंकी ध्वनि ऐसी सुहावनी है। भूषणोंकी ध्वनि मधुर होती है पर इसका उद्दीपक प्रभाव ऐसा बलवान् है कि दुन्दुभीके घोर शब्दसे उपमित करने योग्य है। सखारूपमें लक्ष्मणजी साथ हैं अतः उन्हींसे अपना मनोभाव व्यक्त कर रहे हैं। नगर-दर्शन-समय कामका पराजय हुआ, अतः पुष्पधन्वाने वाटिकामें फूल चुनते देखकर, उपयुक्त समय जानकर विश्वविजयके लिये डंका दिया, क्योंकि इनके विजयसे विश्वविजय है। श्रीरामजीका कामसे वैर है, यथा—'नील तामरस श्याम काम-अरि'।

प० प० प्र०—(क) यहाँ श्रीसीताजीकी पुनीत प्रीतिका प्रभाव दिखा रहे हैं कि आभूषणोंकी ध्वनिसे श्रीरामजीमें ही पुनीति प्रीति उपजी। पुनः, (ख) यहाँ श्रीरामजीकी ऋजुता और वीरता दिखायी। उनके हृदयमें इस ध्वनिसे जो खलबली मची है उसका सार उन्होंने लक्ष्मणजीसे कहा। श्रीलक्ष्मणजी शान्त, स्वस्थ और कामविजयी हैं। (ग) श्रीसीताजीसे अपनी प्रीति छिपा रक्खी, किसी भी सखीसे न कहा, पर श्रीरामजी पुरुष हैं, वे अपने ऐश्वर्य-भावको भूले नहीं हैं। श्रीसीताजी केवल ६-७ वर्षकी हैं। अतः बालकुमारी स्वभाव और वीराग्रणी रघुवीरके स्वभावमें इतना भेद दिखाया है।

नोट—१ (क) मिश्रजी एवं बैजनाथजीका मत है कि 'रामजी अपने हृदयको निर्विकार और मर्यादाकी सीमा समझते थे, पर उक्त ध्वनिसे कुछ क्षुभित समझ रसका उद्दीपन भाव विचारकर स्वयं उत्प्रेक्षा करते हैं। (ख) लक्ष्मणजीसे कहनेका भाव स्नेहलताजी यह कहती हैं कि 'प्रभु उनको चिता रहे हैं कि अब होशियार हो जाओ। तुम्हारा वात्सल्य है। हमारा मन इनमें लग गया है।' और कुछ लोग यह कहते हैं कि 'आपत्तिमें भाई ही याद पड़ता है, वही सहाय होता है, अतएव इनसे कहा। (ग) यहाँ शृङ्गाररससे संपुटित वीररस है। इसका रूपक आगे दिया जायगा।

टिप्पणी—'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही ।···' इति । (क) स्त्री ही कामका परम बल है, यथा—'लोभ के इच्छा दंभ बल कामके केवल नारि । ३ । ३८ ।' 'एहि कें एक परम बल नारी । ३ । ३८ ।' इसीसे स्त्रीके आभूषणोंके शब्दको कामका नगाड़ा कहा । आभूषणोंका शब्द तालसे बजता है, यथा —'मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं ।' इसीसे शब्द अति मधुर है । अति मधुर है, इसीसे कामके नगाड़ेके समान है । (ख) कामने नगाड़ा बजाया, इस कथनसे पाया गया कि वह सेनासहित आया है ।* (ग) 'मनसा बिश्वबिजय कहँ कीन्हीं' यह कैसे जान पड़ा ? उसके इस प्रकार नगाड़ा बजानेसे ही जाना गया कि विश्वविजय हो गया । अथवा, जब उसने विश्वविजयका मनोरथ किया तभी तो हमारे ऊपर चढ़ाई की है, हमको विजय कर लेनेसे विश्वका विजय हो ही चुका । ☞ उसने विश्वविजयकी इच्छा की । इच्छा करते ही उसने विश्वको विजय कर ही तो लिया, यथा—'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा । सिय-मुख-ससि भये नयन चकोरा । २ । ३ ।' भगवान् विश्वरूप हैं, यथा—'विश्वरूप रघुबंसमनि । ६ । १४ ।', सो वे वशमें हो गये ।[(घ) ☞ काम जानकीजीका बल पाकर अत्यन्त प्रबल है, इससे उसको विजय करनेवाला त्रिलोकीमें कोई नहीं है । विश्वका अर्थ 'संसार' करनेमें कोई विशेषता नहीं है । क्योंकि संसार तो कामका गुलाम है ही, उसे तो सदा ही वह विजय किये हुए ही है । इसलिये विष्णुसहस्रनामके अथवा, 'विश्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वास । लोककल्पना बेद कर अंग-अंग प्रति जासु' के आधारपर 'विश्वरूप जो मैं उसके विजयकी' यह अर्थ ठीक होगा—'विश्वं विष्णुर्वषट्कारः' । (रा० च० मिश्र)]

प० प० प्र०—१ श्रीरामजी रघुवीर हैं, इससे उनके मनमें विश्वविजय और विजयारम्भसूचक रणदुन्दुभी बजानेकी ही उत्प्रेक्षा आ गयी । ☞ यहाँसे कामदेव और रामरघुवीरका मानो विश्वविजयार्थ युद्ध आरम्भ हो गया । यह रणपरिभाषा ध्यानमें रखनी चाहिये । आरम्भमें आज चन्द्रोदय-वर्णनतक तो ऐसा देख पड़ेगा कि कामदेवकी ही विजय हो गयी पर आगे सिद्ध होगा कि राम-रघुवीरकी ही विजय हुई । 'बिस्वबिजय जसु जानकि पाई' से यह आगे स्पष्ट कहा है।

२ इस प्रसंगमें पहले युद्धमें तो कामदेवकी विजय हुई है, यह अगली चौपाईसे स्पष्ट होता है । पर मानस-कविकी भावाभासनिर्मित कलाका यह कमाल है कि श्रोता इस भावाभासके प्रवाहमें ही बहने लगता है और गूढ़ भावके मर्मको समन्वय रीतिसे समझनेमें असमर्थ होता है ।

३ 'विश्वं विष्णुः' 'विश्वरूप' रघुवंशमणि ही हैं । और 'अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः । रा० ता० उ० ।' इस समय तो मदनने श्रीरामजीपर विजय तत्काल पा ली, पर विश्वविभु श्रीलक्ष्मणजीपर विजय पानेमें वह असमर्थ ठहरा। इससे सूचित किया कि विश्वविजयके प्रयत्नमें मदनकी इच्छा पूरी न होगी । गत महायुद्धमें जापान और जर्मनीकी ही विजय प्रथम प्रतिदिन होती रही, पर अन्तमें तो पराजय ही हुआ, ऐसा ही यहाँ होना है ।

नोट—२ कामने विश्वविजयकी इच्छा क्यों की ? इसका उत्तर मा० त० वि० कार यह लिखते हैं कि 'रणयन्नूपुरं पादे क्वणयन् कंकणं करे । कलयन् किंकिणीं कट्यां वलयं वादयन्मुहुः । नीलपीताम्बरधरौ स्रग्विणौ च शुचिस्मितौ । विराजेते महापीठे तुमुले रासमण्डले ॥ सर्वाः सर्वं प्रनृत्यन्ति नर्तयन्ति परस्परम् ।' (अर्थात् युगल सरकार नील-पीताम्बर धारण किये हुए, माला पहने, मन्दमुस्कानसहित महारासमण्डलमें दिव्य सिंहासनपर बैठे हैं । चरणमें नूपुर, हाथमें कङ्कण, किंकिणी और वलय मधुर शब्द कर रहे हैं । सभी परस्पर नाचती और नचाती हैं) । राजस्थल निकुंज स्थानकी ध्वनि है, इसीसे हृदयमें गुणकर भाईसे कहने लगे कि यह ध्वनि तो वैसी ही है मानो मदनने विश्वमें मेरे मनके विजयहेतु डंका बजाया है । जब महारास-स्थानमें कामकी कला कुछ न चल सकी, 'नव्यलावण्यकं दृष्ट्वा मूर्छितौ रतिमन्मथौ । इति-हनुमत्संहितायाम् ॥' तब संसारमें मेरा नरनाट्यमात्र लीला समझकर चढ़ायी की होगी । बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'मनसा विश्व बिजय कहँ कीन्हीं' का भाव यह है कि मुनिके साथ हम जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए हैं यह रहेगा कि नहीं।

वीरकवि—'मानहु मदन···कीन्ही' में कामदेवका नगाड़ा बजाना असिद्ध आधार है, क्योंकि वह बिना दुन्दुभी दिये ही त्रिलोकविजयी है । इस अहेतुको हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

---

* १ यहाँ सखीगण सेना हैं । (रा० प्र०) । २ कामकी चतुरंगिणी सेना यह है—'त्रिविध पवन गज हैं । बड़े-बड़े फूले हुए वृक्ष घोड़े हैं, गुल्मलता पैदल हैं, सपल्लव रसाल रथ हैं । वसन्त सेनापति है । पयान समान डंका दिया, सखियाँ बल हैं । श्रीकिशोरीजी प्रताप हैं ।—इसीसे इस समय मदन वीर अजित है । भाव कि इस समय मेरा भी धैर्य गया, अतः पराजय सहनेसे तो संधि ही कर लेना भला है । मैं सन्धि करता हूँ ।' (वै०) । पं० रामकुमारजी और पंजाबीजीका मत है कि स्त्रियाँ सेना हैं । 'बल'=सेना ।

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥ ३ ॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल ॥ ४ ॥

अर्थ—ऐसा कहकर फिरके उस (शब्द) की ओर देखा तो श्रीसीताजीके मुखचन्द्रपर (श्रीरामजीके) नेत्र चकोर हो गये। अर्थात् उनके मुखचन्द्रको टकटकी लगाये देखते रह गये ॥ ३ ॥ सुन्दर दोनों नेत्र स्थिर हो गये, मानो निमिमहाराजने संकोचवश हो पलकों परके निवास को छोड़ दिया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'फिर चितये तेहि ओरा' इति। जब दूरसे शब्द सुन पड़ा तब मदनकी दुंदुभीका अनुमान करके कहने लगे थे और जब शब्द बहुत निकट सुन पड़ा तब फिरकर देखा। 'फिरि चितये' अर्थात् फिरकर देखा—इस कथनसे पाया गया कि सखी पीछेसे आयी। श्रीरामजी लताकी ओटमें हैं, इसीसे श्रीसीताजीने श्रीरामजीको नहीं देखा और श्रीरामजीने सीताजीको देख लिया। चन्द्र चकोरको नहीं देखता, चकोर ही चन्द्रको देखता है। (ख) 'सिय-मुख-ससि भये नयन चकोरा' इति ('भये चकोरा' अर्थात् चकोरकी तरह एकटक देखते रह गये। यथा—'**एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा।**' यही बात आगे कहते हैं—'**भये बिलोचन चारु अचंचल**'। [चकोर पूर्णचन्द्रपर लुब्ध रहता है, यथा—'**भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥** २०७। ६।' नेत्रोंको चकोर कहकर जनाया कि नेत्र शोभापर लुभा गये। मनके लुभाये बिना नेत्र एकटक नहीं हो सकते, इसीसे आगे मनका लुभाना भी कहा है—'**मन सिय रूप लुभान**'। २३१।']

नोट—१ 'फिरि' के 'र' से परकारकी तरह घूम जाना किस सुन्दरतासे दिखाया गया है। ('यह है आयी कहाँसे, गरदिशे परकार पावोंमें ?' का जवाब है)। साथ-ही-साथ अन्तमें स्थिर भावके निरूपणमें '**सियमुख ससि**' वाला अनुप्रास कितना शान्तमय और सरल है। (सारी अपूर्ण क्रियाओंकी पूर्ति यहाँ हुई)। शब्दगुणमें 'च' कारकी चाशनी देखिये। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—उस मदन-दुन्दुभीकी प्रभुता तो देखिये कि फूल चुनना तो पहले ही बन्द हो गया, अब नादलुब्ध मनने प्राणादि इन्द्रियोंपर ऐसी सत्ता जमायी कि यन्त्रके समान शरीरको घुमा दिया और जिधरसे ध्वनि आयी थी उधर मुख हो गया और ध्वनि जहाँसे निकली थी उसे देखनेके लिये नेत्र चंचल हो गये। जैसी दशा प्रथम श्रीसीताजीकी हुई वैसी ही अब श्रीरामजीकी हुई; भेद इतना ही है कि श्रीरामजी बालमृगकी तरह सभीत नहीं हुए।

नोट—२ 'सिय मुख' को पूर्णचन्द्र कहनेका भाव कि श्रीकिशोरीजीके नेत्र और मुखकी ज्योति पूर्ववत् जैसी-की-तैसी ही बनी रही और श्रीरामजीमें सात्त्विक भाव हो आया। अतएव ये ही आसक्त हुए, जैसे चकोर चन्द्रमापर आसक्त होता है, चन्द्रमा चकोरपर नहीं। (वै०)। श्रीसीताजीके मुखपर चन्द्रमाका आरोप करके श्रीरामजीके नेत्रोंपर चकोरका आरोपण करना 'परम्परित रूपक अलंकार' है।

प० प० प्र०—श्रीरामजीके नेत्र ही चकोर बने। श्रीरामजी शरद् शशि हैं, सिय मुख शरद् शशि नहीं है, केवल शशि है। यथा—'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी', 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा'। अब विचार कीजिये, किसकी जय हुई। श्रीसीताजी इस महाछबिको देखते ही इतनी लुब्ध हो गयी हैं कि उस रूपकी सराहना मनमें भी न कर सकीं। और श्रीरामजी तो विचारक्षम रहे हैं, इनकी देह भी 'भोरी' नहीं हुई। इस प्रकार यहाँ श्रीरघुवीरकी ही विजय हुई है।

नोट—३ यह प्रभाव श्रीरामपर ही पड़ा, लक्ष्मणजीपर नहीं, यद्यपि पहले प्रभाव एक-से थे। प्रेमके पृथक्करणका यह सिद्धान्त ही 'प्रीति पुरातन' पूर्व सम्बन्धरूपमें पहले ही संकेतरूपसे बता दिया गया है। 'मैरी कोरेली' नामक नैतिक उपन्यासकारने भी 'जिल्का' (Zicka) नामी अंग्रेजी उपन्यासमें यह सिद्धान्त चरितार्थ किया है कि यदि वैसे प्राकृतिक संयोगवाले प्रेमिक और प्रेमिकाको अलग-अलग ध्रुवोंपर रक्खें तो भी वे आकर्षित होकर बिना मिले न रहेंगे। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—इस सम्पूर्ण प्रसङ्गमें कविका सँभाल ध्यानमें रखना आवश्यक है। देखिये, जब श्रीरामजीके नेत्र श्रीसीताजीको देखते हैं तब सीताजी उनकी तरफ नहीं देखती हैं और जब श्रीसीताजीके नेत्र श्रीरामजीके मुखचन्द्रको 'निहारते' हैं तब रघुवीरकी दृष्टि इस तरफ नहीं है। यह लीला 'सिय राम अवलोकनि परस्पर'। ३२३ छन्द २।' तक अव्याहत बनी

रही। अर्थात् विवाह-विधिमें परस्परावलोकन विधि तक रघुवीर और जानकीमें एक ही समय परस्परावलोकन नहीं हुआ है। ☞ यह परमोच्च आदर्शयुत शुद्ध सात्त्विक शृङ्गारकी विशेषता केवल तुलसी मानसमें ही देखनेको मिलती है।

टिप्पणी—२ (क) यहाँ श्रीरामजीके मन, वचन, कर्म तीनोंका हाल कहा है। 'हृदय गुनि' हृदयमें गुणना यह मनका हाल है, लक्ष्मणजीसे कहना '**कहत लखन सन**' यह वचन है और फिर कर देखना यह कर्म है। तात्पर्य कि मन, वचन और कर्म तीनोंसे वशमें हो गये हैं।

(ख) '**भए बिलोचन चारु अचंचल**' इति। 'चारु' विशेषणका भाव कि एकटक होनेपर नेत्रोंकी शोभा नहीं रह जाती पर श्रीरामजीके नेत्र 'अचंचल' अर्थात् स्थिर होनेपर भी सुन्दर हैं और जब चितवते होते हैं तब तो सुन्दर होते ही हैं। यथा—'**चितवनि चारु मार मनु हरनी**। २४३। ३।', '**चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी**। २१९। ८।', ['**भए अचंचल**' का भाव कि नेत्र अपनी ही वस्तुकी खोजमें हैं। जबतक वस्तु न मिली तबतक चंचल रहे, मिल जानेपर अचंचल हो गये। (पाँ०)। अथवा, अभीतक चंचलतारहित हो किसीके रूपपर न ठहरे थे वह अपनी 'बानि' (स्वभाव) छोड़कर आज स्थिर हो गये। (रा० प्र०)। पुनः भाव कि '**जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी॥**' भला उन रघुनाथजीकी दृष्टिको लुभानेवाला संसारका कोई प्राणीमात्र कब हो सकता है? (स्मरण रहे कि जनकपुरके '**नगर नारि नर रूप निधाना।**'''**तिन्हहि देखि सब सुर सुरनारी। भए नखत जनु बिधु उजिआरी॥** ३१४। ७।' जब ये ही श्रीरामरूप देख लुब्ध हो गये तब त्रिभुवनका कौन ऐसा प्राणी है जो अपने सौन्दर्यसे, छबिसे, उनको लुभा ले? सो उन श्रीरघुनाथजीके नेत्र भी श्रीसीताजीकी छबिपर अचंचल हो गये; इससे यहाँ कोई कारण विशेष जान पड़ता है। अतः निमिकी उत्प्रेक्षा करके असम्भव दोषकी निवृत्ति की। (मा० त० वि०)]

टिप्पणी—३ '**मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल**' इति। (क) निमि राजाका वास सबकी पलकोंपर है। श्रीसीताजी निमिकुलकी कन्या हैं और श्रीरामजी उनके पति हैं। लड़का-लड़की (दामाद और कन्या) दोनों वाटिकामें एकत्र हुए, इसीसे मानो राजा निमि सकुचाकर पलकोंको छोड़कर चले गये कि अब यहाँ रहना उचित नहीं। पलक छोड़कर चले गये, इससे पलक खुले रह गये। शोभा देखकर पलक नहीं गिरते।''''इसी (एकटक होनेके) सम्बन्धसे उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो निमि सकुचकर चले गये। वा, [(ख) निमि यह सोचकर चले गये कि यहाँ हमारे रहनेसे इनको संकोच होगा, जिससे इनके उपस्थित कार्यमें विघ्न होगा। अपनी संतानका शृंगार कुतूहल देखना मना है। (रा० च० मिश्रजी)]

नोट—४ पलकोंपर वास रहनेसे उनका खुलना और बंद होना अपने अधिकारमें था। जब वास हट गया तब तो वे खुले ही रह गये। यह केवल उत्प्रेक्षा है। नहीं तो आपके पलकोंपर देवताओंका वास कहाँ? आपके तो सब अङ्ग चिदानंदमय हैं—'**चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥** २। १२७।' शोभाको देखकर नेत्रोंका एकटक होना स्वाभाविक है। यह सिद्ध आधार है, परंतु निमिका पलक त्याग देना कल्पनामात्र है। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। न तो निमि चले गये और न सकुचे ही। यह कविकी युक्ति है।

मनुजीके पुत्र इक्ष्वाकुजीके सौ पुत्रोंमेंसे विकुक्षि, निमि और दण्ड तीन पुत्र प्रधान हुए। यथा—'**क्षुतवतश्च मनोरिक्ष्वाकुः पुत्रो जज्ञे घ्राणतः॥ ११॥ तस्य पुत्राः शतप्रधाना विकुक्षिनिमिदण्डाख्यास्त्रयः पुत्रा बभूवुः॥ १२॥** (वि० पु० अंश ४ अ० २)। इस तरह राजा निमि भी रघुवंशी थे। सत्योपाख्यानमें भी यही कहा है। यथा—'निमिस्तु पूर्वजोऽस्माकमिक्ष्वाकुतनयोऽभवत्॥ ८॥ इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशाविमौ। कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः॥ ९॥' (उत्तरार्ध अ० ६)। अर्थात् इक्ष्वाकुपुत्र 'निमि' महाराज हमारे पूर्वज थे। इन दोनोंका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें होनेसे ये दोनों इक्ष्वाकु महाराजके समान हैं और इसीसे ये दोनों हमारे पूज्य हैं। भा० ९। १३। १ में भी राजा निमिको इक्ष्वाकु महाराजका पुत्र कहा है। महर्षि गौतमके आश्रमके समीप वैजयन्त नामका नगर बसाकर ये वहाँका राज्य करते थे।

निमिने एक सहस्र वर्षमें समाप्त होनेवाले एक यज्ञका आरम्भ किया और उसमें वसिष्ठजीको होता (वा, ऋत्विजके रूपमें) वरण किया। वसिष्ठजीने कहा कि पाँच सौ वर्षके यज्ञके लिये इन्द्रने मुझे पहले ही वरण कर लिया है। अतः इतने समय तुम ठहर जाओ। राजाने कुछ उत्तर नहीं दिया, इससे वसिष्ठजीने यह समझकर कि राजाने उनका कथन स्वीकार कर लिया है, इन्द्रका यज्ञ आरम्भ कर दिया, इधर राजा निमिने भी उसी समय महर्षि गौतमादि अन्य होताओंद्वारा यज्ञ

प्रारम्भ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ समाप्त होते ही 'मुझे निमिका यज्ञ कराना है' इस विचारसे वसिष्ठजी तुरंत ही आ गये राजा उस समय सो रहे थे। यज्ञमें अपने स्थानपर गौतमको होताका कर्म करते देख वसिष्ठजीने सोते हुए राजाको शाप दिया कि 'इसने मेरी अवज्ञा करके सम्पूर्ण कर्मका भार गौतमको सौंपा है, इसलिये यह देहहीन हो जाय।'—'तत्कर्म कुर्वन्तं च गौतमस्य दृष्ट्वा स्वपते तस्मै राज्ञे मां प्रत्याख्यायैतदनेन गौतमाय कर्मान्तरं समर्पितं यस्मात्तस्मादयं विदेहो भविष्यतीति शापं ददौ॥ ८॥' (वि० पु० ४। ५)। श्रीमद्भागवतमें शापके वचन ये हैं—'निमिको अपनी विचारशीलता और पाण्डित्यका बड़ा घमण्ड है, इसलिये इसका शरीर पात हो जाय। यथा—'अशपत् पतताद् देहो निमेः पण्डितमानिनः। भा० ९। १३। ४॥'

वसिष्ठजीने शाप दिया है, यह जानकर राजा निमिने भी उनको शाप दिया। 'यस्मान्मामसंभाष्याऽज्ञानत एव शयानस्य शापोत्सर्गमसौ दुष्टगुरुश्चकार तस्मात्तस्यापि देहः पतिष्यतीति शापं दत्त्वा देहमत्यजत्॥ १०॥' (वि० पु० अंश ४ अ० ५)। अर्थात् इस दुष्ट गुरुने मुझसे बिना बात-चीत किये अज्ञानतापूर्वक मुझ सोये हुएको शाप दिया है, इसलिये इसका देह भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार शाप देकर राजाने अपना शरीर छोड़ दिया। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने कहा है कि निमिकी दृष्टिमें गुरु वशिष्ठका शाप धर्मके प्रतिकूल था, इसलिये उन्होंने भी शाप दिया कि 'आपने लोभवश अपने धर्मका आदर नहीं किया, इसलिये आपका शरीर भी पात हो जाय—'निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने। तवापि पतताद् देहो लोभाद्धर्ममजानतः। भा० ९। १३। ५।' महर्षि गौतम आदिने निमिके शरीरको तैल आदिमें रखकर उसे यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रक्खा। यज्ञकी समाप्तिपर जब देवता लोग अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आये तब ऋत्विजोंने कहा कि यजमानको वर दीजिये। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो, निमिने सूक्ष्म शरीरके द्वारा कहा कि देह धारण करनेपर उससे वियोग होनेमें बहुत दुःख होता है, इसलिये मैं देह नहीं चाहता। समस्त प्राणियोंके लोचनोंपर हमारा निवास हो। देवताओंने यही वर दिया। तभीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं। यथा—'तदहमिच्छामि सकललोकलोचनेषु वस्तुं न पुनश्शरीरग्रहणं कर्तुमित्येवमुक्तैर्देवैरसावशेषभूतानां नेत्रेष्ववतारितः॥ १८॥ ततो भूतान्युन्मेषनिमेषं चक्रुः॥ १९॥' (वि० पु०)।

श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहा है कि सत्रयागकी समाप्तिपर जब देवता आये तब मुनियोंने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमिका यह शरीर पुनः जीवित हो उठे। देवताओंने 'एवमस्तु' कहा। तब निमिने कहा कि 'मुझे देहका बन्धन नहीं चाहिये। विचारशील मुनिलोग अपने बुद्धिको पूर्णरूपसे श्रीभगवान्‌में ही लगा देते हैं और उन्हींके चरणकमलोंका भजन करते हैं। एक-न-एक दिन यह शरीर अवश्य छूटेगा—इस भयसे भीत होनेके कारण वे इस शरीरका कभी संयोग ही नहीं चाहते—वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं। अतः मैं अब दुःख, शोक और भयके मूल कारण इस शरीरको धारण करना नहीं चाहता। जैसे जलमें मछलीके लिये सर्वत्र ही मृत्युके अवसर हैं, वैसे ही इस शरीरके लिये भी सब कहीं मृत्यु-ही-मृत्यु है।'

देवताओंने आशीर्वाद दिया कि राजानिमि बिना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंपर अपनी इच्छाके अनुसार निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्म शरीरसे भगवान्‌का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरनेसे उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा। (भा० ९। १३। ८-१२) यथा—'विदेह उष्यतां काम लोचनेषु शरीरिणाम्। उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः॥ (९। १३। ११॥') उसी समयसे पलकोंका नाम निमेष हुआ। इस कुलमें उत्पन्न राजा इसी समयसे रघुकुलसे पृथक् हुए और वैजयन्तका नाम मिथिला पड़ा।

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥ ५॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥ ६॥

अर्थ—(श्रीरामजीने) श्रीसीताजीकी शोभाको देखकर सुख पाया। हृदयमें (शोभाकी) सराहना करते हैं। वचन नहीं निकलता॥ ५॥ मानो ब्रह्माजीने (श्रीजानकीजीरूपी) विशेष रचना करके अपनी सारी कारीगरी (सारी निपुणता) संसारको प्रकट कर दिखायी है। (वा, अपनी सारी कारीगरी रचकर 'विश्व' को प्रत्यक्ष कर दिखाया है)॥ ६॥

लमगोड़ाजी—१ ☞ अर्धाली ५ में 'स' का अनुप्रास और दीर्घमात्राओंमें रसास्वादनका आनन्द है। २ 'बीनद रूप गुल' (उस फूलका साक्षात्कार) कितना सरस है। साक्षात्कारसे वह गुप्त आनन्द है जिसमें हृदयकी सराहना है। मगर 'बचन न आवा' कि मूक अवस्था ही है। हम आगे देखेंगे कि इस हृदयकी सराहनाको कवि (जिसका अर्थ ही है कान्त अर्थात्

सूक्ष्मदर्शी) अपनी एक्सरेज (X-Rays) द्वारा कि सुन्दरतासे प्रकट करेगा। नाटककलाके मर्मज्ञ देखें कि कवि कितना आवश्यक है और, ऐसे कविद्वारा चित्रणके सामने शैक्सपियरके नाटकोंकी 'स्वागत-वार्ताएँ' (Soliloquising) कितनी कृत्रिम हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि सीय सोभा सुख पावा·····' इति। (क) पूर्व नेत्रको चकोर कहा—'सिय मुख ससि भये **नयन चकोरा।**' चन्द्रमाको देखकर जो दशा चकोरकी होती है, वह सब दशा अब कहते हैं। दोनोंकी दशाओंका मिलान—

चकोरकी दशा		श्रीरामजीकी दशा—
चन्द्रमाको देखनेसे सुख मिलता है	१	देखि सीय सोभा सुख पावा
चकोर चन्द्रमाको एकटक देखता रहता है	२	भये बिलोचन चारु अचंचल
चन्द्रमाको देखता है, तारागणको नहीं	३	श्रीसीताजीको देखते हैं, सखियोंको नहीं
चन्द्रमाको देख हृदयमें सुखी होता है	४	हृदय सराहत
चन्द्रमाको देखकर बोलता नहीं	५	बचन न आवा

(ख) '**बचन न आवा**' से जनाया कि सीताजीकी शोभा वचनसे भिन्न (परे) है; क्योंकि यदि वचनमें आ सकती तो रामजी लक्ष्मणजीसे अवश्य कहते जैसे आभूषणोंके शब्द सुनकर उसको कहा था। (ग) हृदयमें क्या सराहते हैं सो आगे लिखते हैं—'जनु बिरंचि·····।'

नोट—'**देखि सीय सोभा**' इति। शोभा 'सौन्दर्य और गुणका वह भाग है जो औरोंको अपनी आकर्षण-शक्तिसे आकर्षित करता है। इस तरह नजदीकी बढ़ती जाती है और गुण एवं सुन्दरता, वास्तविकतया न कि केवल आपेक्षिक, स्वयं अनुभूत एवं विश्वसनीय होती जाती है'—(पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी। माधुरीसे)।

२ '**सुख पावा**' क्योंकि नेत्र चकोर बन गये हैं, चकोर चन्द्रको देख सुख पाता है। नेत्र अपना विषय पाकर सुखी हुए। इन्हींके लिये तो पीछे फिरे थे, जिसकी खोज थी उसे पा गये। पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'पावा' शब्द खोजने-ढूँढ़नेका वाचक है। जिस सुखको ढूँढ़ते थे उसे पाया। वह सुख कैसा है, उसपर कहते हैं कि 'वचनमें नहीं आता' [अर्थात् वाणीसे अगोचर है, वाणीका विषय नहीं हो सकता, वाणीकी वहाँ पहुँच नहीं] (पाँड़ेजी)। मिलान कीजिये—'**उर अनुभवति न कहि सक सोऊ**।' वही भाव यहाँ है। पुनः '**सुख पावा**' से जनाया कि आनन्दरूप सुखनिधान कहलाते थे, पर आनन्द वस्तुतः आज ही पाया है (मा० त० वि०)

३ '**हृदय सराहत**' के और भाव—(क) ऊपर कह आये हैं कि सखी श्रीरामजीको देख निर्बोल हो गयी, इससे सीताजीने यह प्रण किया कि राजपुत्रने एक सखीको निर्बोल कर दिया है, हम उनको अनबोल करेंगी। वही बात कवि यहाँ कहते हैं कि रघुनाथजी सीताजीको देख ऐसे आनन्दको प्राप्त हुए कि बोल न आया। (पाँ०)। (ख) 'सराहत' का श्लेषसे यह भाव भी निकलता है कि 'हृदय (शोभारूपी) सर (बाण) से आहत अर्थात् घायल हो गया, अतएव '**बचन न आवा**।' (म० त० वि०, रा० प्र०)।

वि० त्रि०—पहिले कह आये हैं '**परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत**।' बागने सुख तो दिया पर इन्होंने लिया नहीं, क्योंकि बिना आलम्बनके उद्दीपन सुखदायक नहीं होता। अब श्रीसीताजीके रूपमें आलम्बनकी प्राप्ति हुई; अतः कहते हैं 'देखि सीय सोभा सुख पावा।' (अब अनुभाव कहते हैं कि) मनसे प्रशंसा करते हैं, लक्ष्मणजीसे कहना चाहते हैं पर कह नहीं सकते। चतुष्पाद विभूतिमेंसे एक पाद ही प्रकट है और तीन पाद अप्रकट हैं। सो मानो ब्रह्मदेवने सीताजीको रचकर उनमें चतुष्पाद विभूतिको प्रकट करके दिखला दिया। यथा—'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।'

(श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'सर + आहत' वाली खींचातानीसे मैं सहमत नहीं हूँ, क्योंकि इसमें 'ज़हर इश्क' है और यहाँ विषपूर्ण शृङ्गार नहीं है।'—दास प्रथम ही लिख चुका है कि ये टिप्पण केवल शृङ्गारियों, रसिकों, सखाभाव-वालोंके और उन्हींके लिये हैं)।

टिप्पणी—२ '**जनु बिरंचि सब निज निपुनाई**···' इति। (क) इस कथनका तात्पर्य यह है कि श्रीजानकीजी ब्रह्माजीके कला-कौशलकी सीमा हैं। (ख) जहाँ अत्यन्त सुन्दरता कहनेको होती है वहाँ ब्रह्माका ही बनाना कहते हैं। यथा—'जेहि

बिरंचि रचि सीय सँवारी । तेहि स्यामल वर रचेउ विचारी । २२३ । ७ ॥' 'कहा एक मैं आजु निहारे । जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे । १ । १ । ५ ॥' इत्यादि । 'श्रीसीताजी विधिकी बनायी हुई नहीं हैं, यह शङ्का करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं है; क्योंकि यहाँ शोभाके वर्णनका प्रकरण है । विधि प्रपञ्चमें नररूप धारण करके प्रकट हुए हैं, इसीसे विधिके बनाये कहे जाते हैं । (☞ स्मरण रहे कि यहाँ श्रीसीताजीको विरंचिका बनाया नहीं कहते । यहाँ उत्प्रेक्षामात्र है । अतीव सुन्दरताके विषयमें और कह ही क्या सकते हैं ? उत्प्रेक्षा यथार्थ नहीं होती । 'जनु बिरंचि···' से जनाया कि श्रीसीताजी अयोनिजा हैं उनका जन्म कर्मविपाक-बन्धनके अतीत है ।)

नोट—४ पाण्डेजीने यह शङ्का उठाकर कि 'आगे कहा है कि 'विधिहि भयेहु आचरजु बिसेषी । निज करनी कछु कतहुँ न देखी । ३१४ । ८ ।' जब ब्रह्माने जनकपुरकी प्रजाके घरोंमें अपना कुछ कर्तव्य कहीं नहीं देखा, तब जानकीजीको बनाना कैसे सम्भव हो सकता है ?' वे समाधानार्थ अर्थ यों करते हैं—'मानो जो जानकीजी अपनी निपुणतासे सब विरंचोंको रचती हैं वही विश्वको प्रकट दिखायी दीं ।' और कहते हैं कि ऐसा ही आगे कहते हैं—'**सुंदरता कहँ सुंदर करई** ।'

५ वि० टी० ने यह अर्थ दिया है—'मानो ब्रह्माजीने अपनी सब चतुराईहीको रूप देकर परमेश्वरको स्पष्ट दिखाया हो ।'—यहाँ 'विश्व' का अर्थ 'परमेश्वर भगवान् राम' किया है । रा० प्र० के आधारपर यह अर्थ जान पड़ता है ।

६ (क) ☞ 'विरंचि' शब्द प्रायः वहीं-वहीं दिया गया है जहाँ विशेष कौशलकी रचना कहनी होती है । ब्रह्मा हाथसे नहीं रचते । वे संकल्पमात्रसे सृष्टिकी रचना करते हैं, पर इनकी रचना मानो स्वयं की है ।—यह 'बिरंच' के रचनेका भाव है । (ख) एक तो 'विरंचि' उसपर भी 'बिरचि' और फिर भी 'सब निज निपुनाई' विचारने ही योग्य हैं । भाव यह है कि ऐसी शोभा ब्रह्माण्डभरमें कहीं किसीमें नहीं है; यह 'अलौकिक' है, जैसा आगे श्रीरामजीने स्वयं कहा है—'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा ।'

७ यहाँ श्रीसीताजीकी अतिशय शोभाका वर्णन उत्प्रेक्षाका विषय है । ब्रह्माकी रचना-कुशलता सिद्ध आधार है, क्योंकि वे सृष्टिकी रचना करते हैं । पर सीताजी आदिशक्ति हैं, वे स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट हुई हैं, वे ब्रह्माकी बनायी नहीं हैं । इस अहेतुको हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है । (वीर) ।

८ कुमारसम्भवमें इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—'**सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन । सा निर्मिता विश्वसृजा** प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्य्यदिदृक्षयेव ॥' अर्थात् समस्त उपमायोग्य द्रव्योंका समुच्चय लेकर यथायोग्य अङ्गोंमें लगाकर सृष्टिरचयिता विरंचिने बड़े ही प्रयत्नसे सौन्दर्यको देखनेके लिये इनका निर्माण किया ।

९ हृदयमें क्या सराहते हैं यह 'जनु बिरंचि···' से प्रारम्भ हुआ । इसपर शङ्का होती है कि 'जिस सुख-शोभाको उसके पानेवाले न कह सके—'बचन न आवा' उसको ग्रन्थकर्त्ता कैसे कहते हैं ?' समाधान यह है कि 'मानसके रूपकमें कह आये हैं कि जो युक्ति कहेंगे वह इस सरकी मोती उत्पन्न करनेवाली सीपी है । उसीके अनुसार दोहेतक कविकी युक्ति है ।' (पाण्डेजी) । पुनः कवि प्रथम ही कह चुके हैं—'**तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन । बरनउँ रामचरित भवमोचन** ।' '**सूझहिं रामचरित मनि मानिक** । गुपुत प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक ॥' 'जेहि **पर कृपा करहिं जनु जानी । कवि उर अजिर नचावहिं** बानी ॥' 'सो जानइ जेहि देहु जनाई ॥' इत्यादि कारणोंसे शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं है ।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई । छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥ ७ ॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी । केहि पटतरौं बिदेहकुमारी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—पटतरना=बराबर करना; उपमा देना ।

अर्थ—सुन्दरताको भी सुन्दर करती है । मानो छबिरूपी घरमें दीपककी लौ जल रही है ॥ ७ ॥ कविलोगोंने सब उपमाओंको जूठार (जूठी कर) डाला है । विदेहकुमारी श्रीजनकनन्दिनीजीकी किससे उपमा दूँ ? ॥ ८ ॥

पं० राजारामशरण—'सुन्दरता कहुँ····' यह अर्धाली काव्यकलामें बहुत ही उत्तम स्थान रखती है । इससे कविकी विश्वसाहित्यपर विजय प्रमाणित होती है ।

'**सुंदरता कहुँ सुंदर करई**' इति । अमेरिकाके प्रोफेसरने शेक्सपियरकी इस पंक्तिकी, कि 'Frailty, thy name is Woman, (कमजोरी तेरा नाम स्त्री है) की बड़ी प्रशंसा की है । कारण कि उपमान और उपमेय दोनों व्यक्तिवाचक

संज्ञाएँ हुआ करती थीं और व्यक्तिवाचक संज्ञामें विचार सीमित होता है। (इसीसे तो वह नामरूपात्मक है) परंतु कविने एकको गुणवाचक करके असीमित बना दिया। ('कमजोरी' गुणवाचक है, इस कारण उसकी सीमा नहीं)। हिन्दूविश्व-विद्यालयके प्रोफेसर श्रीयाजनिकजीने बताया था कि उपर्युक्त प्रोफेसरने इतनी प्रशंसा की है कि यहाँतक कह दिया है कि यदि शैक्सपियरका सब साहित्य नष्ट हो जाय और केवल यह पंक्ति बच रहे तो भी वह संसारका श्रेष्ठ कवि प्रमाणित होगा। हमारे कविका यह चरण इससे कहीं बढ़कर है, कारण कि श्रीसीताजीको, सुन्दरतावाले विचारका जो गुणवाचक है उसका भी सुन्दर करनेवाला लिखा है। ठीक भी है। श्रीसीताजी अप्राकृतिक हैं और प्राकृतिक शब्द भी तो चाहे गुणवाचक ही क्यों न हों, सीमित ही हैं। और यहाँ उसका वर्णन है कि जिसके अंशसे 'अगणित उमा रमा ब्रह्माणी' उत्पन्न होती हैं। मगर कविका चमत्कार यह है कि 'जनु' की उत्प्रेक्षा करके अतिशयोक्तिद्वारा कलाको नाटकीय और शृङ्गारकी ही श्रेणीमें रक्खे हुए है, जिसमें रोचकता बनी रहे। महाकाव्यकी उड़ानको सुन्दरतामें छिपाये रक्खा है।

☞ क्या पाश्चात्त्य साहित्यपर इस प्रकार विजय नहीं हुई ?

अब दूसरा चरण लीजिये—'छबिगृह दीपशिखा जनु बरई।' मेरे संस्कृत साहित्यके विज्ञ मित्रोंने मुझे बताया है कि कालिदासको 'दीपशिखावाला' कालिदास कहते हैं, कारण कि उन्होंने एक जगह प्रेमिकाको उस दीपशिखासे उपमा दी है जिसके कारण अँधेरा बाजार जगमगा उठे*। अँधेरेमें उजाला करना तो कोई चमत्कार न हुआ, हमारे कविने तो 'छबिगृह दीपसिखा' उजालेमें उजाला पैदा किया है और उसे प्रमाणित भी किया है। सबेरे सूर्योदयके बाद भी श्रीसीताजीकी सुन्दरताका प्रभाव श्रीरामपर यह पड़ा है कि वे लक्ष्मणसे कहते हैं कि 'करत प्रकास फिरत फुलवाई'—यह है 'सूरजको चिराग दिखाना'! इस प्रकार पूर्वी साहित्यपर भी विजय हुई। क्या इस प्रकार पूरी अर्धालीमें विश्व-साहित्यपर विजय न हुई ?

श्रीसीताजीके सम्बन्धकी उपमाओंके चढ़ावको देखते चलियेगा। आप 'एहि बिधि उपजइ लच्छि जब···' वाले प्रसंगपर पहुँचकर यह अनुभव करेंगे कि आप विश्वसाहित्यके 'मेरु' (सुमेरु) पर्वत (हिमालय नहीं) की भी उच्चतम चोटीपर हैं।

कविने साफ आगेकी अर्धालीमें बता दिया है कि 'राम' का हृदय (शुद्ध प्रेमके कारण) कवियोंकी जुठारी उपमाओंका प्रयोग नहीं करना चाहता।

प० प० प्र०—'जनु बिरंचि··· बिरचि बिस्व कहुँ प्रगटि जनाई' इसकी सराहना करनेपर भी समाधान नहीं हुआ तब कहते हैं कि सुन्दरताको सुन्दर करनेवाली यही है। सौन्दर्य, लावण्य, रूप, शोभा, कान्ति, द्युति और छबि आदि जितने भी आदरणीय और हृदयप्लावित करनेवाले गुण हैं वे सब इस विदेहकुमारीसे ही मिले हैं। यह कथन उचित ही तो है, क्योंकि 'नगर नारि नर रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना। तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उजियारी॥ ३१४। ६-७।' जिनका सौन्दर्य ऐसा है वे भी युगल किशोरोंको देखकर मोहित हो गये और अब उन रघुवीरको भी श्रीसीताजीके सौन्दर्यने मोहित कर उनके मनको सुखी किया। भाव यह कि श्रीरामजीका सौन्दर्य भी श्रीसीताजीके कारण ही है। निर्गुण निराकार ब्रह्ममें तो सौन्दर्यादि कुछ भी गुण नहीं हैं, वह अगुण है। ऐसे ब्रह्मको सगुण साकार बनानेमें 'आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला' की ही सहायता होती है। निर्गुण ब्रह्म आदिशक्तिके संयोगसे ही सगुण और क्रियाशील बनता है। इस प्रकार यह शृङ्गाररसका वर्णन भी आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थसे परिपूर्ण है। अन्य धर्मावलम्बियोंके काव्यमें अध्यात्म और इतिवृत्त (व्यवहार) का ऐसा मधुर सम्मिलन नहीं है और मानसके अतिरिक्त अन्य शृङ्गाररसप्रधान काव्यमें भी भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक अर्थरूपी त्रिवेणीका संगम मिलना दुर्लभ है।

टिप्पणी—१ (क) सुन्दरताको सुन्दर करना यही है कि सखियोंका मण्डल छबिगृह है, श्रीजानकीजी दीपशिखा हैं।

---

* 'संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा। नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ रघुवंश षष्ठ सर्ग॥ ६७॥' पतिका वरण करनेवाली इन्दुमती रात्रिमें चलनेवाली दीपशिखाकी तरहसे जिस-जिस राजाको छोड़कर आगे बढ़ी वह-वह राजा राजपथके अट्टकी तरह कान्तिहीन होता गया। रघुवंशके इस उद्धरणमें कालिदासजीने स्वयंवरमें जयमाल लिये राजाओंको देखती चलती हुई इन्दुमतीको चलती हुई दीपशिखाके समान कहा है।

दीपक गृहको शोभित करता है। श्रीजानकीजी सखिमण्डलको शोभित करती हैं, यथा—'सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छबिगन मध्य महाछबि जैसे ॥ २६४ । १ ।' 'सोहति वनितावृंद महुँ सहज सुहावनि सीय। छबि ललनागन मध्य जनु सुखमा तिय कमनीय ॥ ३२२ ।' (ख) 'प्रज्ञाने विश्वको प्रकट दिखा दिया (कि) जानकीजी दीपशिखासम (हैं)' इस कथनसे पाया गया कि विश्व पहले अंधकारमय था, अब श्रीजानकीजीके प्रकाशसे प्रकाशित हुआ। (ग) प्रथम जानकीजीकी सुन्दरता कही कि 'सुंदरता कहुँ सुंदर करई' फिर उनको दीपशिखा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि पहिले सुन्दरता न कहते, केवल दीपशिखा ही कहते तो जानकीजीकी सुन्दरता न पायी जाती (वे सुन्दर हैं, यह निश्चय न कहा जा सकता। क्योंकि सभी स्त्रियोंको कविने दीपशिखासम कहा है, यथा—'दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग। ३ । ४६ ।'

नोट—१ कोई भी घर कितना ही छविपूर्ण क्यों न हो, यदि उसमें दीपक न जलता हो तो उसकी शोभा नहीं। दीपककी रोशनी पानेपर ही वह शोभित होता है। इसी तरह आपकी सुन्दरता मूर्तिमान् सुन्दरतामात्रको शोभित करनेवाली है, सुन्दरताको भी जो सुन्दरता मिली है वह आपसे ही मिली है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'विरंचि रचित सुन्दरताई अँधेरी पड़ी थी, उसे इन्होंने अपने रूप (के) प्रकाशसे शोभित कर दिया।'*

वि० त्रि०—जितनी सुन्दरताएँ हैं वे इस सुन्दरताकी उपजीवी हैं, यथा 'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥' अर्थात् इस सुन्दरतासे ही सब सुन्दरियोंने सुन्दरता पायी है। यह कोई दिव्य तेज है, इसीलिये दीपशिखा कहते हैं (जिसमें न तेल है न बत्ती, न धूआँ है)। दीपशिखा स्वयं प्रकाशमान है और घरको भी प्रकाशित करती है। इसी भाँति सीताजीकी दिव्य शोभासे सखीगण भी शोभायमान हैं।

प० प० प्र०—'छबिगृह दीपसिखा···' इति। यहाँ लावण्यमें जो कान्ति द्युति (तेजस्विता) रहती है उसको सूचित किया है। सौन्दर्यमें कान्ति द्युति न हो तो उसकी कीमत मुरदेके सौन्दर्यके समान ही होगी। दीपशिखा तो अन्धकारका ही विनाश करती है पर यह दीपशिखा ऐसी प्रचण्ड है कि दिनमें भी 'करत प्रकाश फिरइ फुलवाई'।

साधारण प्राकृतिक युवति-तनको भी मानसमें 'दीपसिखा' कहा है, यथा—'दीपसिखा सम जुबति तनु मन जनि होसि पतंग। ३ । ४६ ।'

सीताजी ब्रह्मविद्या हैं। उनकी कृपासे ही अविद्यादि पञ्चक्लेशोंका संहार होता है और सर्वश्रेयकी प्राप्ति होती है। उनके बिना सकल सौन्दर्य रहनेपर भी जन्म-मरण-परम्पराका अन्त नहीं होता है। अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करनेवाली प्रचण्ड दीपशिखा सीताजी ही हैं। 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ गीता १० । ११ ।' (अर्थात् निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करनेवाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं उनके आत्मभावमें स्थित होकर उनके अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारको प्रज्वलित ज्ञानदीपकसे नाश कर देता हूँ), पर यदि इस ज्ञानदीपकमें प्रचण्ड शिखा न हो तो भगवान् तमका नाश कैसे करेंगे ? अतः मानसमें ही कहा है 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥' इस तरह यहाँ भी अध्यात्म भर दिया है।

टिप्पणी—२ 'सब उपमा कबि रहे जुठारी।···' इति। (क) 'रहे जुठारी' जूठा कर दिया है। अर्थात् प्राकृत स्त्रियोंके लिये सभी उपमाओंको प्रयोगमें ला चुके हैं। एक वा अनेक बार उन उपमाओंका औरोंमें लगाना ही उनका जूठा करना वा जुठारना है, वह अब उनकी जूठ नहीं हुई। जैसे कोई भोजन किसीको प्रथम अर्पण किया जाय तो उनके ग्रहण करनेके बाद वह उसका जूठन कहलाता है। अतएव 'जुठारी' का भाव यह हुआ कि प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गमें लगनेसे वे सब उपमाएँ भी लघु (तुच्छ) हो गयीं, इससे हम उन उपमाओंको विदेहकुमारीमें नहीं लगा सकते, यथा—'उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं ॥ सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई ॥ १ । २४७ ।'

---

* मिलान कीजिये—'केयं श्यामोपलविरचितोल्लेखहेमैकरेखा लग्नैरङ्गैः कनककदलीकन्दलीगर्भगौरैः। हारिद्राम्बुद्रवसहचरं कान्तिपूरं वहद्भिः कामक्रीड़ाभवनवलभीदीपिके वाविरस्ति। प्र० रा० २ । ७ ।' अर्थात् यह कौन है जो श्याम मणिके भीतर मानो सोनेकी रेखा है, जिसके अंगमें लगे हुए भूषण केलेके बीचमें लगे हुए सोनेके समान गौर हैं। जान पड़ता है कि कामके उस क्रीड़ाभवनके, जिसमें पीले हलदीके सौन्दर्यमय जलके फुहारे छूट रहे हैं, अटारीके दीपक-सरीखे जाज्वल्यमान है। (यहाँ गौर शरीरपर नीली साड़ी पहने हैं और सखियाँ गौरवर्णा हैं। सखियोंको पीले जलका फुहारा कहा है)।

और नयी उपमा कोई हमें मिलती नहीं जो हम दें। उनके पटतरका कोई देखने-सुननेमें भी नहीं आया, यथा 'जौ पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुबति कहाँ कमनीया ॥ गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥ बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही ॥ १ । २४७ ।' यह शोभा अनूठी है।

नोट—२ यह सब सराहना हृदयकी है; यथा—'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु'...। देखिये उपमाकी खोजमेंकी कठिनताके सम्बन्धसे यहाँ 'बिदेहकुमारी' कितना बड़ा शब्द दिया—'बिदेहकुमारी'—छः अक्षरोंका और उसपर भी विदेहकी कुमारी कहा। (अर्थात् जो देहरहित हैं, उनकी यह कन्या हैं, 'सदेह-कुमारी' हो तो उसकी प्राकृतिक उपमा भी मिल जाय और ये तो अप्राकृतिक हैं तो प्राकृतिक देहकुमारियोंवाली उपमाएँ इनमें कैसे लगायी जा सकें ?) । और जब शोभाका वर्णन करना कहेंगे तब कितना छोटा और प्यारा शृङ्गाररसयुक्त शब्द 'सिय' का प्रयोग करेंगे। यह कविकी उक्ति प्रशंसनीय है। श्रीयुत राजबहादुर लमगोड़ाजीने एक लेखमें लिखा था कि—(क) 'बिदेह-कुमारी' इत्यादिवाला उच्च व्यक्तित्व इस छोटेसे सुन्दर नाममें विलीन हो गया; क्योंकि उपमाकी खोजके खयालमें काठिन्य-प्रिय-मस्तिष्क उसके उपर्युक्त व्यक्तित्वको चाहे जितना भी स्पष्ट करता, पर वस्तुतः इस शृङ्गारी दृश्यमें छोटी राजकुमारी 'सिय' ही हमारे सामने पेश की गयी हैं।' (ख) 'सुन्दरताकी प्राकृतिक वास्तविकतासे 'विदेहकुमारी'के काव्यपूर्ण चिन्तनकी उड़ान भी दर्शनीय है'।

३ 'अन्तमें 'केहि पटतरउँ' का स्वयं अपनेसे प्रश्न कैसा सुन्दर और समयोचित है ! ऐसे प्रश्नोंद्वारा मुग्धतासे सहसा सचेत हो जानेके उदाहरण साहित्यिक जगत्‌में अकसर मिलते हैं।'—(माधुरीसे)।

श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी)—'विदेहकुमारी' का अर्थ है 'बिना देहवाली कुमारी' वा, वैसे (बिना देहवाले) राजाकी पुत्री। तब तो कविका यह कहना ठीक ही है कि 'प्राकृत नारि अंग अनुरागी' वाली उपमाएँ ठीक न होंगी। यदि इतना ही शाब्दिक औचित्य (लफ़्ज़ी तलाज़मा) होता तो 'नसीम' की ही बराबरी होती जैसा 'सौदा है मेरी बकावलीको। है चाह बशर की बावली को।' मगर 'नसीमके पदमें अगर कहीं रेखाङ्कित शब्दोंका 'कुवाँ' और 'बावली' (बड़ा कुआँ) अर्थ कर दिया जावे तो कोई अर्थ ही नहीं होता। मगर हमारे कविका कमाल यह है कि दोनों बातें निभ जाती हैं—'सीताजी' दिव्य व्यक्ति हैं, इस कारण उन्हें वैसा कहा और उधर 'विदेह' योगिराजकी कन्या होनेके सम्बन्धसे भी वैसा कहना उचित ही है। ठीक है योग गुणके लिये प्राकृतिक उपमा नहीं मिल सकती।

दो०—सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि। बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि ॥२३०॥

अर्थ—हृदयमें श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन करके और अपनी दशाको विचारकर पवित्र मन (वाले) प्रभु अपने छोटे भाईसे समयानुकूल वचन बोले ॥ २३० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा ॥ २३० । ५ ।' उपक्रम है और 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु' उपसंहार है। तात्पर्य कि वहाँसे लेकर यहाँतक प्रभुने श्रीसीताजीकी शोभा मनमें वर्णन की। मनकी बात कैसे प्रकट हुई ? (उत्तर) गुरुप्रसादसे, यथा—'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥ दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहिं जासू ॥ उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ॥ सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥ दोहा १ । ५-८ ।'—(इस प्रश्नका उत्तर ऊपरकी चौपाईमें लिखा गया है)। [(ख) शोभारूपी रत्नको 'हिय वर्णन' रूप डब्बेमें सम्पुट किया; 'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई' से 'केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी' तक शोभामय रत्न है, नीचेका पेंदा छोटा होता है वैसे ही यहाँ शोभा-वर्णनके उपक्रमवाली चौपाई 'देखि सीय सोभा...' छोटी है। ऊपरका ढक्कन बड़ा होता है, वैसे ही यहाँ उपसंहारका दोहा बड़ा है। (प्र० सं०)]

नोट—१ 'प्रभु' इति। 'प्रभु' शब्द देकर यहाँ मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण और वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन दिखाया है। श्रीरामजीको अपने भावोंपर काबू है, अधिकार है, इसीसे उनको 'प्रभु' कहा। यह शब्द देकर कवि हमें चेतावनी दे रहा है कि कहीं हम दुराचाररूपी गर्तमें जाकर न गिर पड़ें। इस शब्दसे वह बताता है कि श्रीरामजी किसी प्राकृतिक प्रयोजन वा बाह्यसौन्दर्यके कारण प्रेमासक्त नहीं हुए हैं। (लमगोड़ाजी। आगे पूरा लेख देखिये)।

टिप्पणी—२ 'आपनि दसा बिचारि' इति। (क) दशा यह विचारी कि श्रीजानकीजीकी शोभा देखकर हमारा मन चलायमान (विचलित, क्षुब्ध) हो गया है, दक्षिण अङ्ग फड़क रहे हैं। पुनः, [(ख) अपनी दशा विचारनेमें धर्म-परायणता और सदाचारकी दृढ़ता व्यंजित होती है। (वीर)। वा, (ग) मुखसे बोल न निकला। स्वेद, कंप, रोमाञ्च, विवर्णता, स्वरभंग, प्रलय अर्थात् विह्वलता आदि छओं सात्त्विक अनुभाव देहमें प्रकट हैं। प्रेमासक्त हो गये हैं। प्रेमकी उक्त दशा वर्तमान है। —इस अपनी दशाको विचार कर। (वै०)। वा, (घ) दशा विचारना यह कि यह कैसी हुई अथवा यह दर्शन बिना शुभ ग्रहोंके उदयके कहाँ हो सकता ? (रा० प्र०)]

३ (क) इस दोहेमें दो बातें कहते हैं—एक तो श्रीसीताजीकी शोभा, दूसरे अपनी दशा। आगे दोहेतक इन्हीं दोनोंका क्रमशः विस्तार (व्याख्या) है। प्रथम श्रीसीताजीकी वार्ता करेंगे, फिर अपनी दशा कहेंगे, अपने मनकी शुचिता कहेंगे। (ख) अनुज श्रीलक्ष्मणजीसे कहने लगे हैं—'कहत लखन सन रामु हृदय गुनि', 'बोले सुचि मन अनुज सन'। इसीसे आगे अनुजको ही सम्बोधन करेंगे; यथा—'तात जनक तनया यह सोई', 'करत बतकही अनुज सन।' [(ग) 'बरनि' और 'बिचारि' अपूर्ण क्रियाएँ भावोंमें तात्कालिक परिवर्तनका संकेत जना रही हैं] (घ) 'सुचि मन' इति। श्रीलक्ष्मणजी और गुरुजीसे शृङ्गारका कथन करना अनुचित है। गोस्वामीजी 'सुचि मन' विशेषण देकर इसका समाधान करते हैं। श्रीरामजी 'शुचिमन' हैं। अर्थात् उनके मनमें छल-कपट नहीं है। यथा—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ ५। ४४।'; इसीसे उन्होंने अनुजसे और गुरुजीसे भी कहा; यथा—'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं। २३७। २।' ['सुचि मन' श्रीरामजीका विशेषण है। जो बात साधारणतः लोग भाई आदिसे नहीं कहते वह यहाँ कही गयी है। इसीलिये इस विशेषणसे उसका समाधान किया गया है। पांडेजीका मत है कि 'यह लक्ष्मणजीका भी विशेषण है। श्रीरामजी आगे अपने मनको अशुच कहेंगे, यथा—'सहज पुनीत मोर मन छोभा।' श्रीलमगोड़ाजीका लेख भी देखिये। प्र० स्वामी पाँड़ेजीसे सहमत हैं। लक्ष्मणजीका मन पवित्र है यह जानकर ही श्रीरामजी अपने हृदयकी दशाका चित्र शब्दोंमें प्रकट करते हैं, पर समयानुसार ही कहते हैं। श्रीसीताजीका और अपना अवतार-रहस्य प्रकट नहीं करते हैं, माधुर्य भावसे ही देश, काल और परिस्थित्यनुसार ही कहते हैं।]

प० प० प्र०—दोहा २२९ में श्रीसीताजीकी पुरातन प्रीतिकी शुचिता नारद-वचनसे सिद्ध हुई। यहाँ श्रीरामजीके रूपासक्तिकी शुचिता 'प्रभु' शब्दसे जनायी। राम प्रभु हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी और त्रिकालज्ञ हैं। उन्हें इसकी सब भावी घटनाओंको जाननेमें विलम्ब न लगा। पुरातन प्रेम काल-धर्मानुसार जाग्रत् हुआ है, यह जान लिया और इस जानकारीसे निश्चय किया कि इसमें कुछ भी अपवित्रता नहीं है, मनमें केवल रूपासक्ति उपजी है, उस शरीरपर प्रेम, ग्राम्यवासना, सम्भाषण या स्पर्श करनेकी इच्छा इत्यादि अपवित्रताका स्पर्शतक मनको नहीं हुआ है। मन शुचि है।

नोट—२ 'बोले सुचि मन अनुज सन' इति। विचारोंमें अपवित्रताका लेशमात्र नहीं है; इसीसे छोटे भाईसे कहनेमें कोई अनुचित लज्जा भी नहीं है। मुख्य प्रयोजन जिसने 'आपनि दसा' का 'बिचार' होते ही लक्ष्मणजीकी उपस्थितिके खयालसे श्रीरामजीकी जबानके कुफल (ताले) को खोल दिया निम्नलिखित है—(क) लक्ष्मणजी श्रीरामजीके छोटे भाई हैं। अतः श्रीरामजीको कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये, जिससे उनके अनुयायीपर बुरा प्रभाव पड़े। प्रकटमें यह प्रेमिक-प्रेमिकाके पारस्परिक अवलोकन ('भए बिलोचन चारु अचंचल') की मुग्धता तथा हृदयरूपी जिह्वाद्वारा व्याख्याके समय शारीरिक स्तब्धता—ये सब बातें सम्भवतः लक्ष्मणजीपर बुरा प्रभाव डालतीं और कदाचित् ऐसा विचार उत्पन्न कर देतीं कि प्रेममें यह सभी उचित है। अतः श्रीरामजीको सब कार्योंकी व्याख्या उचित एवं अनिवार्य है जो जिह्वाप्रयोगके बिना नहीं हो सकती। (ख) सम्भवतः श्रीरामजीके दिलमें यह ख्याल रहा हो कि कदाचित् लक्ष्मणके हृदयमें छिद्रान्वेषणका ख्याल पैदा हो, इसलिये सफाई जरूरी है। पर यह ख्याल केवल ख्याल ही है। (ग) सच्चे प्रेमको अपने सम्बन्धियोंसे छिपानेकी आवश्यकता नहीं और न वह एक शुद्ध एवं आकस्मिक भाव होनेके कारण छिप ही सकता है।'—(श्रीलमगोड़ाजी। माधुरी वर्ष ५ खण्ड २ संख्या ६ से उद्धृत)।—'अनुज सन' के और भाव 'कहत लखन सन'''। २३०। १।' में दिये गये हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'रामजी शुचिमन हैं, इसलिये इन्हें भी प्रीति पुनीत उपजी। कामसे संग्राम उपस्थित है, भाईकी सहायता चाहते हैं, अतः बोले।'

३ 'बचन समय अनुहारि' इति। 'समय अनुहारि' पद दोहेमें कहे हुए 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु', 'आपनि दसा बिचारि' और 'बोले'—इन तीनोंके साथ है। तीनों सूत्ररूप हैं। इनकी व्याख्या आगे आठ अर्धालियोंमें क्रमसे की गयी है। जो बातें आगे कहते हैं उन्हींका समय है। इसीसे 'समय अनुहारि' कहा। [प्र० सं०में हमने लिखा था कि 'किशोरीजी इस समय समीप हैं। अतः उन्हींकी वार्ता इस समय करना 'समय अनुहारि' बात करना है।]

श्रीयुत मुं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—'तुलसीदासजीके नाटकीय सिद्धान्तानुसार कवि निरन्तर ही रंगमंच और उपस्थित जनोंके दर्मियान व्याख्याता बनकर विद्यमान रहता है और समयानुसार हमें चेतावनी देता रहता है कि कहीं हम दुराचाररूपी गर्तमें जाकर न गिर पड़ें और एक निर्लिप्त भ्रमरकी भाँति सदुपदेशरूपी शुद्ध रस लेते हुए पुष्पके रंगरूपपर आसक्त होकर कहीं आदर्शच्युत न हो जावें, इसलिये कोई-न-कोई आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी दूर, परंतु दृष्टिसीमाके भीतर ही एक विचित्र रीतिपर उपस्थित रहता है। यहाँ तुलसीदासजी स्वयं ही भक्त कविकी हैसियतसे सामने हैं और 'प्रभु' शब्दमें उसीकी ओर संकेत है। व्याख्या आगे है। हमें स्थान-स्थानपर मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण तथा वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन दृष्टिगोचर होता है। हमारा कवि दिशासूचक यन्त्रकी सुईकी तरह और आध्यात्मिक व्यक्तियाँ (शिव-पार्वती इत्यादि) ध्रुवनक्षत्रकी भाँति इस संसारके कंटकाकीर्ण पथमें हमारे पथप्रदर्शकके समान मौजूद हैं। 'प्रभु'—इतने ही संकेतके अतिरिक्त यदि 'प्रभु' के व्यक्तित्वको अधिक बढ़ाया जावे, तो शृङ्गारका रङ्ग फीका पड़ जावेगा। कवि भक्त है और उसका अभिप्राय यह है कि हम इस शृङ्गारी दृश्यमें आध्यात्मिक आभासको एकदम भूल न जावें। पर साथ ही यह भी स्वीकार नहीं है कि उक्त आभासपर अभीसे इतना ख्याल करें कि शृङ्गारका आनन्द ही जाता रहे। वस्तुतः इस शृङ्गारी दृश्यमें भी रामसे ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ जिससे उनके प्रभुत्वपर कोई आक्षेप हो सके और यही कारण है कि रामको मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं। वे आगे स्पष्ट कहते हैं कि 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी' अर्थात् मुझे अपने हृदयपर पूर्ण विश्वास है और अगर फिर भी हृदय सीताकी ओर खिंच जाता है तो निस्संदेह उसका कारण 'विधाता' का कोई अनादि सिद्धान्तका आध्यात्मिक उद्देश्य है। बहरहाल सिर्फ किसी प्राकृतिक प्रयोजन व बाह्यसौन्दर्यके कारण रामचन्द्रजी प्रेमासक्त नहीं हुए। यही है मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण और वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन।

सांकेतिक रीतिपर दूसरे अर्थमें क्या यह 'प्रभु' होनेका हेतु नहीं है कि उन्हें अपने भावोंपर काबू है, अधिकार है ?'

'शुचि मन''समय अनुहारि' इति। 'न अपवित्रताका विचारोंमें लेश है और न इसलिये कोई अनुचित लज्जा है।' सात्त्विक प्रेममें अधिक लज्जाकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि इतनी लज्जा स्वाभाविक है, जिसे कविने यों प्रकट किया है—'कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है'। अतः इतनी ही लज्जा यहाँ भी है। राम और लक्ष्मणकी वार्ता उस लज्जा एवं प्रेमके मिलनकी व्याख्या है। प्रेमकी गहनता इस धरातलपर प्रकट भी है और वह स्वयं गुप्त भी है। इसीलिये तो इस वार्ताके निमित्त तुलसीजी 'बतकही' शब्दका प्रयोग करेंगे। सदाचारकी दृष्टिसे भी कुछ लज्जा आवश्यक है, क्योंकि वार्ता छोटे भाईसे है।'

तात जनकतनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥ १॥
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरहि फुलवाई॥ २॥

अर्थ—हे तात! यह वही जनककुमारी है जिसके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है॥ १॥ गौरीपूजनके लिये सखियाँ (वा सखियोंको) लेकर आयी हैं॥ *॥ फुलवारीमें प्रकाश करती हुई फिर रही है॥ २॥

टिप्पणी—१ 'तात जनक तनया यह सोई'। (क) यह 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु' जो दोहेमें कहा था उसीकी व्याख्या वा विस्तृत वर्णन है। जिसकी शोभा हृदयमें वर्णन की उसीकी वार्ता करने लगे। (ख) 'जनकतनया यह सोई'—भाव कि श्रीजनकमहाराजके एक कन्या और भी है, पर यह वह है जिसके कारण धनुषयज्ञ हो रहा है। पुनः, [(ग) 'सोई' से प्रकट है कि परिचितकी भाँति इनका परिचय दिया जा रहा है। यहाँ 'प्रत्यक्ष प्रमाण अलंकार' है। यथा—'इंद्रिय अरु मन ये जहाँ विषय आपनो पाय। ज्ञान करैं प्रत्यक्ष तेहि कहैं सकल कविराय॥' (अ० मं०)। (घ) कैसे जाना कि इसीके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है? इसका उत्तर केशवदासकृत 'रामचन्द्रिका' में यह मिलता है कि विश्वामित्रजीके पास जो

* इसके दोनों अर्थ किये जाते हैं। श्रावणकुंजकी पोथीमें 'सखीं' 'लै आई' पाठ है। 'सखीं' का अर्थ 'सखियोंको' लेनेसे 'आई, करत, फिरहि' सब क्रियाओंका एक कर्ता श्रीजानकीजी होती हैं।

निमन्त्रण गया था उसमें श्रीजानकीजीका और यज्ञशालाका चित्र भी था। अतः श्रीरामजीने 'सोई' से उसीका स्मरण कराते हुए परिचय दिया है। अथवा, गौरीपूजनके लिये आयी हैं, इससे जान लिया कि इन्हींके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है। ब्याहके एक दिन पूर्व सौभाग्यके लिये गौरीपूजन करनेकी विधि है ही, यह पूर्व बतलाया जा चुका है। अथवा, अलौकिक शोभासे जान लिया कि इसीके लिये धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा है]

नोट—१ (क) उधर सखी सखीसे कहती है—'एक कहै नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनिसंग आये काली॥' यहाँ सब सयाने इकट्ठे हैं। अनुमानसे ही पहिचान हो गयी। इधर प्रभु कहते हैं। 'तात जनकतनया यह सोई।...'। आगे इस अनुमानका आधार कहते हैं। (वि० त्रि०)। (ख) 'धनुषजग्य जेहि कारन होई' से श्रीसीताजीकी प्राप्ति केवल धनुर्भङ्गसे सूचित करते हुए श्रीरामजीका प्रेमोद्गार झलक रहा है।' (रा० च० मिश्र)।

२ 'शुद्ध आचरणसम्बन्धी विचार दर्शनीय है। कोई अन्य कवि 'प्रेमिका' 'प्रियतमा' इत्यादि संज्ञावाचक शब्दोंको श्रीसीताजीके लिये श्रीरामजीसे अवश्य ही प्रयुक्त करा देता। पर क्या मजाल कि तुलसीदासजीकी कवितामें ऐसी एक भी बात आ सके। श्रीसीताजी कितनी ही सुन्दर और श्रीरामजीकी अप्रकट भावना कितनी ही दृढ़ सही, परंतु अभी आकस्मिक है, आचार एवं मर्यादाकी छाप उसपर नहीं हुई, अतः श्रीसीताजी केवल उसी तरह एक बाह्य वस्तु हैं जैसे कोई सुन्दर चित्र वा पुष्प। इन शब्दोंमें आकस्मिक अनुभव एवं आचारसम्बन्धी बन्धनका एकीकरण एवं पृथक्करण दोनों प्रशंसनीय हैं। अर्थात् अभी श्रीरामजीके पवित्र हृदयमें केवल सौन्दर्यका आभास है और प्रेमजनित भाव अप्रकट ही है। विवाहके पश्चात् 'प्रिया' शब्दका श्रीसीताजीके लिये बहुधा प्रयोग पृथक्करणको निभानेके लिये है।' (श्रीलमगोड़ाजी 'माधुरी'से)।

टिप्पणी—२ 'पूजन गौरि सखीं लै आई।...' इति। (क) 'धनुषजग्य जेहि कारन होई' के 'होई' शब्दसे जनाया कि धनुषयज्ञ कल होगा। इसका प्रमाण यह है कि आज चन्द्रमाकी कथा कहकर शयन करेंगे और सबेरे उठकर सूर्यकी कथा कहकर स्नान करके बैठते ही धनुषयज्ञ देखनेके लिये जनकजीका बुलावा आया। इसीसे आज गौरी-पूजनके लिये सखी ले आयी है। [(ख) राजकुमारी अभी बहुत छोटी है। इसीसे सखियोंका ले आना कहा। (प्र० सं०)। पुनः, (ग) 'सखीं लै आई' से मर्यादा और गौरव सूचित किया। (रा० च० मिश्र)। छोटी न भी होतीं तब भी अकेली पूजनके लिये न भेजी जातीं। साथमें पूजनकी सामग्री, स्नानके वस्त्र आदि अवश्य ही और सहेलियाँ वा दासियाँ लेकर चलतीं। बड़े लोगोंमें तो यह नित्य ही देखा जाता है।] (घ) 'करत प्रकास फिरहि फुलवाई' इति। भाव कि गौरीजीका पूजन करके अब फुलवारी देखने आयी है। अपनी शोभासे फुलवारीको प्रकाशित कर रही है। यथा 'कुर्वतीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः। वाल्मी० सुं० १५। २९।' (यह उस समयका हाल है जब श्रीसीताजी बहुत ही दुखी दशामें अशोकवाटिकामें लङ्कामें थीं। उस समय हनुमान्‌जीने देखा कि वे अपने प्रकाशसे सब दिशाओंको प्रकाशित कर रही हैं। तब भला इस समय उनके प्रकाशका कहना ही क्या ?)

(ङ) 'प्रकास' कहनेका भाव कि प्रथम इनको दीपशिखा कह आये हैं—'छबिगृह दीपसिखा जनु बरई'। और दीपशिखामें प्रकाश होता है, वही अब कहते हैं कि 'करत प्रकास'। [पुनः भाव कि केतकी, गुलाब आदि फूल प्रकाश करनेवाले हैं, यह निज तनके गौरवर्ण-छबि-छटाके प्रकाशसे इन सबोंको तथा सब दिशाओंको प्रकाशित कर रही है (रा० प्र०, वै०) वा जबतक यह मन्दिरमें रही तबतक फुलवारी अँधेरी पड़ी थी, इनके फुलवारीमें आनेसे वह प्रकाशित हो गयी। (वै०)। ☞ देखिये यह दिनका समय है। सूर्योदय हो चुका है। सूर्योदयके पश्चात् श्रीसीताजीके सौन्दर्यका जो प्रभाव श्रीरामजीपर पड़ा है उसीको कविने 'करत प्रकास फिरहि फुलवाई' से प्रकट किया है। इससे जनाया कि सूर्यसे भी अधिक प्रकाश उनमें है। इसीसे आगे इसे 'अलौकिक शोभा' कहते हैं कि जिसने उजालेमें उजाला पैदा कर दिया] (च) 'फिरहि' से जनाया कि फुलवारी देखने आयी है। जहाँ-जहाँ जाती है वहाँ-वहाँ प्रकाश होता है। (छ) यहाँतक श्रीसीताजीकी वार्ता की। आगे अपनी दशा कहते हैं।

वि० त्रि०—यहाँ बागमें 'बरन-बरन बर बेलि बिताना' के कारण अँधेरा हो रहा है, सो वह प्रकाश करती हुई फुलवारीमें घूम रही है। सिय मुख शशि है तो प्रकाश भी चाहिये।

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥२॥

सो सब कारन जान बिधाता । फरकहिं सुभद* अंग सुनु भ्राता ॥४॥

शब्दार्थ—अलौकिक=अनूठी, अप्राकृतिक । छोभा=विचलित हो गया । सुभद=शुभदायक, मंगलसूचक ।

अर्थ—जिसकी अलौकिक शोभा देखकर मेरा स्वाभाविक ही पवित्र मन क्षोभको प्राप्त हो गया अर्थात् चलायमान हो गया ॥ ३ ॥ इसका सब (वा वह सब) कारण तो विधाता ही जानें, पर हे भाई ! सुनो, मेरे शुभसूचक अङ्ग अर्थात् दक्षिण अङ्ग फड़क रहे हैं ॥ ४ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—'प्रेमसम्बन्धी सूक्ष्मताओंके ज्ञाताओंको यह भी विदित हो कि सात्त्विक प्रेममें आत्मिक सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है । कैसी रहस्यमयी घटना है कि राम और लक्ष्मण दोनों साथ हैं पर सीताका प्रभाव केवल रामपर पड़ता है, लक्ष्मणपर नहीं । रामजीने सत्य ही कहा है कि **'सो सब कारन जान बिधाता ।'**—(माधुरीसे) । यहाँ **'मोर मन छोभा'** से वही पुरातन आत्मिक सम्बन्ध सूचित किया है ।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी—'श्रीरामचन्द्रजी रघुकुलकी मर्यादा एवं अपने भावका वर्णन अगली चौपाइयोंमें करते हैं । उन्हें आश्चर्य है कि ऐसे कुलमें उत्पन्न होकर और स्वयं ऐसे होकर उनका मन चलायमान क्यों हुआ । पर वे इसका निराकरण करते हैं और कहते हैं कि असली बात तो विधाता जानें, हाँ, शुभ अङ्गोंके फड़कनेसे भविष्य शुभकी सूचना होती है ।'

टिप्पणी—१ (क) **'अलौकिक सोभा'** पूर्व कह आये हैं—**'सब उपमा कबि रहे जुठारी । केहि पटतरौं बिदेहकुमारी ॥'** त्रैलोक्यमें न कोई इनके समान है और न कोई इनकी उपमा ही है, यही बात 'अलौकिक' से जनायी । (पुनः, भाव कि लौकिक स्त्रियोंमें हमारा मन चलायमान नहीं हो सकता । दूसरे यह कि प्राकृतिक समस्त उपमाएँ और जो उनके उपमेय हैं वे सब मिलकर भी इनके पटतर योग्य नहीं हैं) । (ख) **'सहज पुनीत'** । कवि पूर्व **'सुचि मन'** विशेषण श्रीरामजीको दे आये हैं, यहाँ श्रीरामजी स्वयं वही बात कहते हैं । दोनोंका एक ही भाव है ['सहज पुनीत' अर्थात् जो विना साधन किये जन्मसे स्वाभाविक ही पवित्र है ।=जिसमें भूलकर भी कामादिका वेग नहीं व्याप्त होता । (वै०) । (ग) श्रीसीताजीकी शोभाको 'अलौकिक' और अपने मनको **'सहज पुनीत'** **'तुरीया जानकी चैव तुरीयो रघुनन्दनः'** इस भावसे कहा । अथवा तुरीयारूप जानकीजीको और परमतुरीयरूप अपने मनको कहा, क्योंकि सहजावस्था तुरीयावस्था है । यथा—**'बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुरीयावस्था जीवन्मुक्तिः । इति ज्योत्स्नाटीका हठप्रदीपिका ॥'**—(मा० त० वि०) । पांड़ेजी **'सहज पुनीत'** को **'अलौकिक सोभा'** का भी विशेषण मानते हैं । और रा० प्र० कार इसे लक्ष्मणजीका सम्बोधन भी मानते हैं] (२) 'छोभा'—क्षुभि संचलने । मन चलायमान हो गया; अर्थात् इनकी प्राप्तिकी इच्छा हुई ।

२ (क) **'सो सबु कारन जान बिधाता'** इति । 'मनको क्षोभ होना यही एक कारण लिखते हैं, सब कारण कौन हैं ? यदि बहुत कारण होते तो **'ते सब कारन जान बिधाता'** ऐसा पाठ लिखते, 'सो' न लिखते, 'सो' एक वचन है ?' इस शंकाका समाधान यह है कि **'मनका क्षोभ'** यह एक ही बात है, इसीसे 'सो' एकवचनवाचक शब्द दिया । मनके क्षोभके कारण अनेक हैं, इसीसे **'सबु कारन'** कहा । [**'सो सबु कारन'**··· अर्थात् सो (= उसके, अर्थात् मेरे मनके क्षुभित होनेके) बहुत कारण जो हैं उनमेंसे एक यह है कि इनकी शोभा अलौकिक है और जो अन्य कारण हों उनको विधाता जानें] (ख) मनके क्षोभके अनेक कारण हुआ करते हैं, जैसे कि—काम । इससे मन क्षुभित हो जाता है, यथा—**'छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे । छूटि समाधि संभु तब जागे ॥ भयउ ईस मन छोभ बिसेषी । १ । ८७ ।'** पुनः, **'काल सुभाउ करम-बरिआईं । भलेउ प्रकृतिबस चुकइ भलाईं' ॥** काल, स्वभाव, कर्म और माया ये सब मनके क्षोभके कारण हैं । पुनः, भावी भी कारण है,—**'हरि इच्छा भावी बलवाना ।'**··· **'होइहि सोइ जो राम रचि राखा ।'** [पुनः, **'सो सबु कारन'** का भाव कि स्वभाव त्याग करनेका कुछ कारण अवश्य होता है, विना कारण किसीकी प्रकृति बदलती नहीं । वह सब कारण विधाता जानें । (वै०)] (ग) 'जान बिधाता' इति । भाव कि कर्मके अनुसार स्त्री-पुरुषका संयोग विधाता रचते हैं । यथा—**'कठिन करम गति जान बिधाता । जो सुभ असुभ करम फल दाता ॥ २।२८२।'** **'जेहिं बिरंचि रचि सीय सँवारी ।' 'तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी ॥ २२३ । ७ ॥'** **'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह संजोग बिधि रचा बिचारी ॥३।१७॥'**

* सुभग—छ०, १७०४, को०। सुभद—१६६१, महात्मा चौपाईदासका टिप्पण, भा०दा० । १७२१, १७६७ ।

इत्यादि । [ऐसा कहकर पराविभूतिका ऐश्वर्य दबाकर लीलाविभूतिका कुतूहल दिखाया। (रा० च० मिश्र)] (घ) 'फरकहिं सुभद अंग' इति । अर्थात् इनकी प्राप्तिके सूचक शुभ शकुन हो रहे हैं । यथा—'फरकेउ बाम नयन अरु बाहू । सगुन बिचारि धरी मन धीरा । अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा ॥ ६ । ८९ ॥' पुरुषके दक्षिण नेत्र, बाहु आदिका फड़कना शुभ शकुन है, प्रियकी भेंटका सूचक है । यथा—'फरकहिं मंगल अंग सुहाए।' 'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥२ । ७ । ६॥' [पुनः दाहिने अङ्ग फड़क रहे हैं इससे सूचित होता है कि श्रीसीताजीसे हमारा वाम अङ्ग भूषित होनेवाला है । 'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ।' (वै०)] (ङ) यहाँतक अपनी दशा कही, आगे मनकी शुचिता कहते हैं । (च) लक्ष्मणजी कुछ बोलते नहीं, अतः कहते हैं, 'सुनु भ्राता ।'

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ ॥ ५ ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ॥ ६ ॥

अर्थ—रघुवंशियोंका (यह) सहज (जन्महीका, बिना किसी साधनके) स्वभाव है कि उनका मन कभी भी बुरे मार्गपर पैर नहीं रखता ॥ ५ ॥ मुझे (तो अपने) मनका अत्यन्त विश्वास है कि जिसने (जाग्रत् अवस्थाकी कौन कहे) स्वप्नमें भी परस्त्रीको नहीं देखा ॥ ६ ॥

श्रीयुत लमगोड़ाजी—'तुलसीजीकी कार्यशैली कैसी अनुपम है कि जब कभी उन्होंने श्रीरामजीसे कोई भी स्वप्रशंसाके शब्द प्रयुक्त कराये हैं, तो उन्हें अधिकतर अभियुक्तके रूपमें रख दिया है कि सफाईमें कुछ स्वप्रशंसा अनिवार्य हो जाय और सगर्विताकी कोई बात भी न मालूम हो । शासन-विधानमें भी अभियुक्तको नेकचलनीके सबूतका मौका दिया जाता है । सत्य है कि आत्मज्ञान, स्वाभिमान तथा इन्द्रियावशान मनुष्यको महान् शक्तिशाली बना देते हैं । इन तीनोंका प्रकटीकरण इसी दोहेसे प्रारम्भ होता है ।' (माधुरीसे)

टिप्पणी—१ (क) 'सहज सुभाऊ' अर्थात् उनका मन स्वतः वशमें रहता है, उनको साधन करके मनको वश करना नहीं पड़ता । जैसे योगी लोग साधनसे मनको कुपन्थसे निवारण करते हैं वैसे इन्हें नहीं करना पड़ता, स्वाभाविक ही इनका मन कुपन्थमें नहीं जाता । (ख) 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ' कहकर जनाया कि बाल्यावस्थासे लेकर मरणपर्यन्त किसी रघुवंशीका मन कुपन्थमें नहीं जाता । [श्रीरघुनाथजीका तात्पर्य 'रघुबंसिन्ह' से लक्ष्मणद्वारा केवल अपने कुलसे, रघुमहाराजसे लेकर श्रीरामचन्द्रजीतकसे है ।—(गौड़जी) । रघुबंसिन्ह=संसारमें जहाँतक जितने रघुवंशी हैं] (ग) 'मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ' इति । मन कुमार्गमें पाँव नहीं धरता, इस कथनसे जनाया कि जब वह उस मार्गपर पैर ही नहीं रखता, अर्थात् कुपन्थकी इच्छा ही नहीं करता, तब कुत्सित कर्म कैसे करेगा ? [मनके पैर नहीं होते, तथापि वह इधर-उधर दौड़ता-फिरता है । मनका चलायमान होना उसका 'पग धरना' है । यहाँ परायी स्त्रीपर दृष्टि डालना ही कुपन्थ है (प्र० सं०) पुनः भाव कि तनकी तो बात ही क्या, मन भी कुपन्थपर नहीं चलता] । 'न काऊ' कभी भी नहीं । अर्थात् बाल, युवा, वृद्धा किसी भी अवस्थामें जब मन ही नहीं चलायमान होता तब तनसे व्यवहार कैसे करेगा ? ['धरै न काऊ' से सूचित किया कि रघुवंशियोंको कुपन्थ देख पड़ता है । वे जानकर उसपर पैर नहीं रखते हैं । (प्र० सं०)] (घ) इस चरणका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि 'रघुवंशी मनसे कभी कुपन्थमें पाँव नहीं धरते ।' (ङ) ☞ रघुवंशियोंको इन्द्रियजित् कहकर तब आगे अपनेको कहते हैं—'मोहि अतिसय...।' इसमें तात्पर्य यह है कि (मैं भी रघुवंशी ही हूँ) रघुवंशके प्रभावसे ही मैं भी इन्द्रियजित् हूँ । ☞ देखिये, श्रीरामजी साक्षात् अपनेको नहीं कहते कि हम ऐसे हैं, रघुवंशके प्रभावसे अपनेको ऐसा कहते हैं । जैसे सब रघुवंशी रघुवंशके प्रभावसे इन्द्रियजित् हैं वैसे ही मैं भी हूँ । मर्यादापुरुषोत्तम हैं, कितने सँभालके वचन हैं जिनमें आत्मश्लाघा स्वाभिमान छू भी नहीं जाता, कैसे अभिमानरहित वचन हैं । (लोग अपने मुखसे अपनी प्रशंसा वा अपनी उत्कृष्टता नहीं कहते, क्योंकि यह अयोग्य है, अतएव वंशका प्रभाव कहकर अपनी सफाई दी ।)

२ 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी ।...' इति । (क) 'अतिसय' का भाव कि सब रघुवंशियोंको अपने-अपने मनकी प्रतीति है, पर मुझको 'अतिसय प्रतीति' है । (ख) 'सपनेहु' का भाव कि लोगोंको जाग्रत्‌में ज्ञान रहता है पर सोतेमें ज्ञान नहीं रहता, पर मेरा मन तब भी परनारीको नहीं देखता ।* (ग) 'पर नारि न हेरी' इति । (देखिये माता श्रीकैकेयीसे भरतजीने भाई श्रीरामजीके

* श्रीरामजी जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाओंसे परे हैं । इनको स्वप्न कहाँ ? पर नरनाट्यमें ऐसा कथन उपयुक्त ही है । 'स्वप्नमें भी'—यह मुहावरा है । अर्थात् कभी भी ।

निर्वासित होनेके कारण पूछते हुए यह भी पूछा था कि क्या उन्होंने किसी परस्त्रीका संसर्ग तो नहीं किया था—'कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ॥ वाल्मी० २ । ७२ । ४५ ॥' तब वनवास देनेवाली उस कैकेयीने भी यही उत्तर दिया कि वे तो परस्त्रीको आँखसे भी नहीं देखते—'न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति । २ । ७२ । ४८ ।' 'अपि' में यह भाव तो है ही कि संसर्ग तो दूर रहा, वे उनको देखते भी नहीं। पर यह भी भाव ले सकते हैं कि जब आँखसे देखते ही नहीं तब स्वप्नमें भी कब देख सकते हैं। राक्षसोंके नाशकी प्रतिज्ञा करके सुतीक्ष्णजीसे विदा होकर चलनेपर श्रीसीताजीने स्वयं भी कहा है कि धर्मनाशक परस्त्री-संसर्गकी तो आपने कभी अभिलाषा भी नहीं की। यह भाव आपके मनमें ही न कभी पूर्व था और न अब भी है। यथा—'कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्। तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥ ५ ॥ मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित् ॥' वाल्मी० ३ । ९ ॥', वही मानसमें श्रीरघुनाथजी स्वयं कह रहे हैं)। इससे जनाया कि यदि यह राजकुमारी अन्य किसीको प्राप्त होनेवाली होती तो मेरा मन कभी न चलायमान होता, इससे जाना जाता है कि यह हमको प्राप्त होनेवाली है। यह बात हमारे मनकी वृत्तिसे जानी जाती है, यथा—'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥' इति। शकुन्तलानाटके। [ये विचार रघुवंशी श्रीदुष्यन्त महाराजके हैं। वे शकुन्तलाको देखकर मनमें विचार कर रहे हैं कि यह निश्चय ही मुझ क्षत्रियके ग्रहणयोग्य है। जब कि मेरा श्रेष्ठ मन इसमें अभिलाषा करने लगा है। क्योंकि संदेहयुक्त पदार्थोंमें सज्जनोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण है (तात्पर्य कि अनुचित विषयमें सज्जनोंका मन जाता ही नहीं, अतः जहाँ उनका मन गया वह पदार्थ उनके योग्य ही समझना चाहिये)]। (घ) रघुवंशियोंके सम्बन्धमें 'पगु धरै न काऊ' कहा और अपने सम्बन्धमें 'पर नारि न हेरी' कहा। इसमें तात्पर्य यह है कि पन्थपर पैर नहीं धरते, इस कथनसे पाया जाता है कि रघुवंशियोंको कुपन्थ देख पड़ता है, वे जानकर उसपर पैर नहीं रखते और 'न हेरी' से पाया गया कि हमारा मन कुपन्थको वा उसकी ओर देखता ही नहीं। 'पर नारि' ही कुपन्थ है। स्वप्नमें परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली, इसीसे मनपर 'अतिसय प्रतीति' है। [(ङ) 'परनारि न हेरी' कहकर श्रीसीताजीको अपनी ही शक्ति सूचित की। (रा० प्र०)] (च) यहाँ अपने मनकी शुचिता कही। इस तरह यहाँतक दोहेकी सब बातें चरितार्थ हो गयीं।

वि० त्रि०—'मोहि अतिसय प्रतीति···' इति। भाव कि मैंने तो अपने मनकी परीक्षा कर ली है। विश्वामित्रके आगमनके पूर्व विवाह-बन्धनमें डालनेके लिये बहुत-सी कन्याएँ मेरे पास भेजी गयीं, पर मेरे मनने उन्हें देखा भी नहीं। (पर इस भावका क्या आधार है यह त्रिपाठीजीने नहीं लिखा)। वासना न होनेसे स्वप्न भी नहीं होता। अतः यह बात भी नहीं कि सूक्ष्म वासना रही हो, जिसका मुझे पता न हो।

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं* पर तिय मनु डीठी ॥७॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नर बर थोरे जग माहीं ॥८॥

शब्दार्थ—डीठी=दृष्टि। पीठी=पीठ।

अर्थ—शत्रु संग्राममें जिनकी पीठ नहीं पाता अर्थात् जो शत्रुको कभी पीठ नहीं देते, सम्मुख लड़ते हैं, कभी पीठ देकर नहीं भागते। परायी स्त्री जिनका मन और दृष्टि नहीं पाती अर्थात् परस्त्रियाँ जिनके मनको या दृष्टिको आकर्षित नहीं कर सकतीं, अपनी ओर नहीं खींच ले जा सकतीं ॥ ७ ॥ और मँगता (माँगनेवाले, याचक वा भिक्षुक) जिनकी 'नहीं' नहीं पाते (अर्थात् जिनके मुखसे याचकके लिये कभी 'नहीं' शब्द नहीं निकलता, 'नहीं मिलेगा' ऐसा कभी जो नहीं कहते, जिनके यहाँसे याचक विमुख नहीं लौटता) ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य जगत्‌में थोड़े ही हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'मनु डीठी'। यहाँ मन और दृष्टि दोनोंको कहा क्योंकि देखनेसे मन चलायमान होता है, यथा—'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा ॥' प्रायः पहले दृष्टि जाती है तब मन भी साथ जाता है। (ख) 'जिन्हकै लहहिं···माहीं' इति। केवल रघुवंशियोंका मनको जीतना कहकर अब संसारमें जो और मनुष्य इन्द्रियजित् हैं उनके विषयमें कहते हैं कि जिनकी पीठ शत्रु नहीं पाते, परतिय जिनका मन और दृष्टि नहीं पाती और मंगन 'नहीं' नहीं पाते—संसारमें ऐसे पुरुष थोड़े हैं। इस कथनका तात्पर्य यह है कि रघुवंशी तो सभी ऐसे ही हैं। (ग) 'जग माहीं' अर्थात्

* लावहिं—को० रा०। पावहिं—१६६१, भा० दा०, १७०४, रा० प्र०।

नगरों, ग्रामों, देशोंकी कौन कहे समस्त संसारमें ढूँढ़नेपर कुछ ही मिलेंगे। [भाव यह कि सम्भवतः कोई कहे कि किसी एक दो ग्रामादिमें कदाचित् ऐसे मनुष्य न हों तो क्या, संसारमें तो ऐसे बहुत होंगे, उसपर कहते हैं कि संसारभरमें भी कहीं ही कोई मिलेंगे।] (घ) 'नर बर' का भाव कि जिसमें ये तीनों गुण हों वही श्रेष्ठ है।

२ ☞ श्रेष्ठता तीन वर्णोंमें दिखायी, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये ही तीन वर्ण श्रेष्ठ माने गये हैं। इन्हीं तीनोंके धर्म यहाँ कहे गये हैं। **'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'** यह ब्राह्मणका धर्म है, ब्राह्मणको इन्द्रियजित् होना चाहिये। **'लहहिं न रिपु रन पीठी'** यह क्षत्रियका धर्म है कि शत्रुको पीठ न दे। **'युद्धे चाप्यपलायनम्'**। **'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं'** यह वैश्यका धर्म है कि भिक्षुकको विमुख न लौटावे। यथा—**'सोचिय बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥ २। १७२।'** यहाँ क्षत्रियधर्म प्रस्तुत है; इसीसे इसीको प्रथम कहा।

३ यहाँ क्रमसे एकका साधन दूसरेको और दूसरेका तीसरेको जनाया। अर्थात् जो बातें कहीं उनके साधन भी कहे। **'जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी'** यह कहकर इसका कारण वा साधन बताते हैं कि **'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'**। अर्थात् जो परस्त्रीमें अपने मन और दृष्टिको नहीं लगाते वे एकमात्र इसी धर्मके बलसे संग्राममें सदा विजयको प्राप्त होते हैं। पुनः **'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'** क्योंकि **'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं'** अर्थात् मंगनको जो कभी विमुख नहीं जाने देते, एकमात्र इसी धर्मके प्रभावसे उनका मन कभी परस्त्रीमें नहीं जाने पाता। दोका साधन कहा, पर इस तीसरेका साधन न कहा, कि किस साधनसे यह बात प्राप्त हो जाती है। इससे जनाया कि इसका साधन यही है। 'मंगन 'नहीं' नहीं पाते' इसी धर्मसे कोई विमुख नहीं जाता। श्रुतियोंसे पाया जाता है कि जो कोई किसीको 'नहीं' नहीं करे तो उसके यहाँ सब पदार्थ पूर्ण रहते हैं। इसीसे इसका दूसरा साधन नहीं लिखा। ☞ मिलान कीजिये—'रघूनां हृदयेनैव प्रापुरन्याः किल स्त्रियः। पृष्ठे न लेभिरे युद्धे रिपवः शस्त्रपाणयः॥' इति सत्योपाख्याने। ☞ तात्पर्य कि रघुवंशियोंमें ये तीनों गुण हैं। [**'जिन्हकै लहहिं न रिपु रन पीठी'** में वीरता गुण, **'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'** में धीरता गुण और **'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं'** में उदारता गुण कहकर तब **'ते नर बर थोरे'**''' कहनेका भाव कि इन गुणोंसे युक्त (धीर, वीर, उदार) पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं। (पै०)] **'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं'** से पात्रापात्रविचारके बिना मंगतामात्रको दान देनेवाले जनाये।

नोट—१ किसीका मत है कि जिसमें केवल प्रथम दो गुण, शत्रुको पीठ न देना और परस्त्रीपर दृष्टि न डालना हों, संसारमें उसको पराजय करनेवाला कोई पैदा ही नहीं हुआ। और गोस्वामीजीने 'नरवर' श्रेष्ठ मनुष्यके तीन लक्षण बताये हैं जिनमें इन दोके अतिरिक्त तीसरा **'याचकको विमुख न लौटाना'** है। उत्तम वा श्रेष्ठ कहलानेका अधिकारी तभी होगा जब इन तीनोंसे युक्त हो, ये तीनों लक्षण श्रीलक्ष्मणजीमें भी पाये जाते हैं। (प्र० सं०)। २—इन तीनों गुणों वा लक्षणोंके वर्णनमें **'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'** यह लक्षण अन्य दोके बीचमें रखकर तीनोंमेंसे इस गुणको प्रधान सूचित किया यही यहाँका मुख्य प्रसंग है। यह गुण जिसमें होगा वह रणमें पीठ न देगा और कभी कोई याचक उसके यहाँसे विमुख न लौटेगा। इन्हींका खुलासा श्रीसुग्रीवजीके इन वचनोंमें पाया जाता है— **'नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥ ४। २१।'** (प्र० सं०)। जो शत्रुको पीठ न दिखावेंगे, मर भले ही जायँ, वे युद्धवीर हैं, उन्हींकी गति परिव्राड् योगयुक्तकी-सी होती है, वे सूर्यमण्डलका भेदन करते हैं। यथा—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥'** **'नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी'** वे धर्मवीर हैं और **'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं'** वे दानवीर हैं। **'ते नरबर थोरे जग माहीं'** में भाव यह है कि उन थोड़ोंमेंसे मैं भी हूँ जिन्होंने भय, काम और लोभपर जय पायी है। (वि० त्रि०)।

३ इसी प्रसंगपर जयपुरके रघुवंशियोंका कवित्त है—**'राजा जयसिंह दो बातें तो न दीन्ही कहूँ, बैरिनको पीठ औ न डीठ** परनारी को।' सो गोस्वामीजीने वे दोनों बातें तो लिखीं ही और एक बात अपनी तरफसे लिखी कि **'मंगन लहहिं न जिनकै नाहीं'** क्योंकि सबसे ऊपर चलते हैं। इतना ही नहीं वहाँ तो केवल दो गुणोंका वर्णन है और यहाँ अनेक आशय भरे हैं।'—(बाबा रामदासजी)।

४ **'सो सब कारन जान बिधाता'** से **'ते नर बर थोरे जग माहीं'** तक पर पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'सब कारणोंको विधाता-

जानें। वे सब कारण ये हैं कि रघुवंशियोंका सहज स्वभाव है कि कुपन्थमें पग नहीं धरते फिर क्या कारण कि हमारा मन चञ्चल हो गया ? इमें मनकी प्रतीति है। और, अब ऐसा हुआ कि 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा' यह क्यों ? यह अपनी दशा कहकर रघुनाथजी अपने भाईकी प्रशंसा रीति अनुसार इस तरह करते हैं कि जिनकी पीठको शत्रु रणमें नहीं पाते, इत्यादि वे श्रेष्ठ नर जगत्‌में थोड़े हैं। ये तीनों बातें लक्ष्मणजीमें विद्यमान् हैं; क्योंकि कामशत्रुने इनकी पीठको नहीं पाया। जानकीजी सखियोंसमेत आयीं, सो उन्होंने इनकी दृष्टिको नहीं पाया और रघुनाथजी एवं विश्वामित्रजी-की सेवामें ऐसे तत्पर हैं कि जिसने जो सेवा माँगी वह इन्होंने पूरी की।'

५ यहाँ मन, कर्म और वचन तीनों दिखाये। रणमें पीठ न देना यह तन वा कर्म है, 'परतिय मन डीठी' में मन और 'नाहीं न करना' यह वचन।

प० प० प्र०—यहाँ साहित्य-समालोचक शङ्का करते हैं कि 'इस परमरम्य शृङ्गाररसमें सामान्य नीति सिद्धान्त, युद्धकी परिभाषा और याचकोंका दैन्य किस कामका। इससे तो रसहानि होती है।' समाधान—२३० (१) की टीकामें लिखा गया है कि श्रीरामजी रघुवीर हैं, अतः स्वभावानुकूल मदनसे युद्धकी ही भाषामें यह प्रसङ्ग शुरू हुआ है। जब कामने रण-दुन्दुभी बजाकर युद्धका आह्वान दे दिया तब रघुवंशवीरोत्तम होनेसे कुल-स्वभावानुसार उस आह्वानको स्वीकार किया गया। उसको पीठ दिखाना तो कायरोंका लक्षण है और ऐसे क्षत्रियोंको रघुवंशी वीर कुलकलंक समझते हैं। यह युद्ध धनुर्भङ्ग होनेतक चलनेवाला है। आश्चर्यकी बात यह है कि धनुमखशाला देखनेके समय जब प्रभु मुनिवरके साथ चारों तरफ घूमते हैं तब भी उनकी पीठ किसीने भी नहीं देखी—'निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु कर्म बिसेषा। २४४। ७॥' अतः 'जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी' यह वचन इस काम-युद्धमें भी अन्ततक सत्य कर दिखाया है।

'**नहिं पावहिं परतिय मनु**' इति। रघुवीर रघुसिंहका मन सीताजीके रूपपर मुग्ध तो हुआ है पर सीताजीको उनका मन जयमाल पहनानेके समयतक नहीं मिला है। इसीसे सीताजीका मन बारंबार सशंक और व्याकुल होता है। '**बीर बिहीन मही मैं जानी**' ऐसे अपमानकारक वचन सुनकर भी वे धनुर्भङ्ग करनेको नहीं उठ खड़े हुए। कोई कामी स्त्रीजित् वीर ऐसा कर सकता है ? कामी राजाओंका चरित्र तो आपने प्रत्यक्ष देखा ही है। '**नहिं पावहिं परतिय डीठी**' इति। रघुवीरकी दृष्टिको भी सीताजीकी दृष्टिने विवाह-समयतक नहीं पाया है—३२३ छन्द २ देखिये। कामदेव ही सीताजीके रूपमें अपनी पीठ दिखाकर इस रणभूमिसे जाता है; पर मृग-तरु-विहंगके मिष बार-बार पीठकी तरफ ताकता है तो भी परस्परावलोकन नहीं हुआ, इसका कारण यही है कि सीताजीने रघुवीरके न तो मनको पाया और न दृष्टिहीको। रघुवीरके अचंचल नेत्रोंने एक बार ही उस रूपको देखा और अपने चित्तकी भीतिपर प्रेम-मसिसे उसे चित्रित कर लिया। सीताजीसे यह करते न बन पड़ा। वे कभी रामरूपको हृदयमें लाती हैं तो कभी रघुवीरको हृदयमें बिठाती हैं। धनुर्यज्ञमण्डपमें भी उन्होंने रामजीकी दृष्टिको नहीं पाया।

'**मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं**' इति। यह वचन भी धनुर्भङ्गप्रकरणमें चरितार्थ हुआ है। '**तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपतिपदसरोज चितु राचा॥ तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी॥ जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥ प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना। २५९। ५-७॥**'—जब सीताजी इस प्रकार दीन मंगन बनीं तब '**भगवान सकल उर बासी**' रामजीने 'नाहीं' नहीं कहा, किंतु '**सियहि बिलोकि तकेउ धनु**' और शीघ्रतासे उसे उठाकर तोड़ डाला। श्रीसीताजी-रूपी कामदेवने ही जयमाल पहनाया और विश्वविजयका यश भी इस कामयुद्धमें रघुवीरको ही मिला। इसीसे तो भृगुपतिजी कहते हैं—'अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा—अब कहिये, इन वचनोंसे रसहानि हुई या शृङ्गारके साथ वीररसका भी परिपोष हुआ ? ये वचन निकम्मे हैं या चरितार्थ हुए हैं ? यह भी कहिये, इस युद्धमें अब किसकी विजय हुई ?

दो०—करत बतकही अनुज सन मन सियरूप लोभान।
मुखसरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान॥ २३१॥

अर्थ—छोटे भाईसे बतकही (वार्ता) कर रहे हैं। मन श्रीसीताजीके रूपमें लुभाया हुआ है और मुखकमलके छबिरूपी मकरन्दरसको भौंरेकी तरह पी रहा है॥ २३१॥

'करत बतकही'

☞ कविकी कला देखिये कि ऊपरसे बातें बेजोड़-सी जान पड़ती हैं और इसीसे 'बतकही' शब्द लिखा कि वार्ता बहुत शृङ्खलाबद्ध नहीं है जैसा कि शृङ्गाररससे प्रभावित होनेमें नाटकीयकलाके सत्य Dramatic truth के कारण ठीक ही है, लेकिन विद्वानोंकी ऊपर दी हुई व्याख्याओंसे यह भी विदित है कि वह बड़ी मार्मिक है। यह नाटकीयकलामें गुप्त महाकाव्यकला तुलसीदासका ही हिस्सा है। ठीक है महापुरुषोंपर भावोंका प्रभाव तरंगोंकी भाँति ऊपर ही होता है, आन्तरिक गम्भीरता वैसी ही बनी रहती है। (लमगोड़ाजी)।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'जहाँ समीचीन वार्ता होती है वहाँ ग्रन्थकार 'बतकही' शब्दका प्रयोग करते हैं। यथा 'हंसहि बक दादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही' 'करत बतकही अनुज सन....' 'एहि बिधि होत बतकही आए बानरजूथ' 'तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि' 'काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई' 'दसकंधर-मारीच-बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही' और 'निज निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥'—विशेष दोहा ९ (२) भाग १ पृष्ठ १८२ देखिये।

पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि 'यह ओछा और हलका पद है। 'वार्ता' ऐसा पद क्यों न दिया? इसपर सिद्धान्त यह है कि कहने-सुननेमें भले ही ओछा लगे परंच गोस्वामीजीने इस पदको बड़ी विलक्षणतासे गौरव दिया है। (लक्ष्य) 'हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही' में 'बतकही' का विशेषण 'बिमल' दिया है और यहाँ रामजीकी बतकही निर्मल है;—यथा 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥' इत्यादि। इस ग्रन्थमें जहाँ छलहीन शुद्ध चित्तकी वार्ता है वहाँ 'बतकही' का प्रयोग हुआ है।'

नोट—१ 'अनुज सन' इति। (क) 'अनुज' से संकेत है कि वे तनिक पीछे थे। उनसे तनिक मुड़कर बात करनेमें श्रीसीताजीके देखनेका अवसर मिल जाना शृङ्गार और नाटकीय कलाकी जान है। (ख) 'म, प, ब' इत्यादि ओष्ठोंसे उच्चारण होनेवाले अक्षरोंका प्रयोग मानो 'मन' के चुम्बनका शब्द-गुण-सम्बन्धी चित्र ही खींच देता है। देखिये इस प्रसङ्गमें भौंरोंको 'मधुप' कहना कितना उचित है। (ग) उस 'फूल' के साक्षात्कारके उपरान्त भावकी सुन्दरतामें यह 'मन' का छविरूपी-मकरन्द-पान कितना सरस और स्वाभाविक है। यह ही तो उस फूलके चुन लेनेका उद्योग करायेगा: लेकिन अभी तो खयाली संयोग और वियोगका आनन्द दोनों ओर देखिये और कविकी सूक्ष्म कलाकी दाद दीजिये।' (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'बोले सुचि मन अनुज सन' यह उपक्रम है और 'करत बतकही अनुज सन' यह उपसंहार है। (इतना विचार करनेपर भी क्षोभ न हटा। मन-मधुप छबिमकरन्द पान कर रहा है और गुनगुनाता जाता है। वि० त्रि०)। (ख) 'मन सियरूप लोभान' कहकर आगे बताते हैं कि किस अङ्गमें लुभाया है। 'मुख सरोज....' अर्थात् मुखकी छबिमें लुभाया है। यही पूर्व भी कह आये हैं,—'सियमुख ससि भये नयन चकोरा।' चकोर चन्द्रमाका लोभी होता है, यथा—'भये मगन देखत मुख सोभा॥ २०७॥' श्रीरामचन्द्रजीका मन श्रीसीताजीके मुखचन्द्रपर नहीं लुभाया हुआ है। यह पूर्व कहा था और यहाँ कहते हैं कि 'सियमुखसरोज' में मधुपकी तरह लुभाया है। दो उपमाएँ (चकोर और मधुपकी) देनेका भाव यह है कि चकोरकी उपमा रात्रिकी है और मधुपकी उपमा दिनकी है। इस प्रकार कविने दो जगह उपमाएँ देकर सूचित किया कि अब श्रीरामजीके रूपमें दिन-रात लुभाया रहेगा। (मुख-शशिके लिये नयन चकोर हुए। और मुखसरोजकी छबिके लिये मन मधुकर हुआ। आँख और मन दोनों बँध गये। वि० त्रि०)। (ग) [पाँडेजी लिखते हैं कि 'भौंरेका स्वभाव है कि मकरन्द-पान करते समय शब्द नहीं करता, फिर थोड़ी देर बाद उसीके आसपास गूँजता हुआ उड़ता फिरता है, ऐसे ही श्रीरघुनाथजी एक बार बतकही लक्ष्मणजीसे करते हैं और एक बार सीताजीके मुखकी छबिको निहारते हैं। नोट—लक्ष्मणजीसे बतकही करना गुंजार है, मुखचन्द्रपर दृष्टि जमाना मौन होकर मकरन्दरसका पान करना है।)] (घ) ☞ श्रीसीताजीके रूपमें श्रीरामजी मन, कर्म और वचन तीनोंसे आसक्त हुए, यह यहाँ दिखाया है। 'मन सियरूप लोभान' (मन है), 'करत मधुप इव पान' (कर्म है), 'करत बतकही....' (यह वचन है)। (ङ) [वीरकविजी लिखते हैं कि 'पहले रामचन्द्रजीके मनमें वितर्क हुआ कि रघुवंशियोंका परायी स्त्रीपर आसक्त होना अकार्य है। इस भावको शुभ अङ्गके फड़कनेसे मति संचारीभावने दूर कर दिया। तब निःशंक मुखछबि देखने लगे। प्रथमको दूसरे भावने और दूसरेको तीसरेने क्रमशः दबा दिया। यह 'भाव-शबलता' है।'

नोट—२ 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । २३० । १ ।' से लेकर यहाँतक यह भी दिखाया है कि श्रीजानकीजी-के स्वरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे सुख प्राप्त हुआ । 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥' यह श्रवणेन्द्रियका विषय है । 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा । सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ।' यह नेत्रेन्द्रियका विषय है । 'तात जनकतनया यह सोई । धनुषजग्य जेहि कारन होई ।' यह जिह्वा इन्द्रियका विषय है । श्रीजानकीजीकी वार्ता करके सुख पा रहे हैं । और, 'मुखसरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान ।'—इससे नासिका और त्वचा दोनों इन्द्रियोंका विषय कहा, क्योंकि मधुप कमलमें बैठकर मकरंद पान करता है—इससे स्पर्श-भावका ग्रहण होगा । साक्षात् स्पर्श नहीं है । उपमाद्वारा स्पर्शको कह दिया गया । कमलमें सुगंध है । मधुप गन्ध ग्रहण करता है । यह नासिका इन्द्रियका विषय है । श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन हृदयमें कर रहे थे, इसीसे उन्हींकी वार्ता करने लगे । (पं० रामकुमारजी) ।

श्रीलमगोड़ाजी—'श्रीलक्ष्मणजीसे श्रीरामचन्द्रजीने 'बतकही' की, परंतु वे एक शब्द न बोले । यह क्यों ? लक्ष्मणजी उनके अनुज हैं और उन्हें अपने भाईपर पूर्ण विश्वास है तथा उनके हृदयमें भ्राताके प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं सम्मानके भाव विद्यमान हैं और इसी कारण उनकी जिह्वासे एक शब्द भी आक्षेपका नहीं निकला । लक्ष्मणजी छिद्रान्वेषी उपदेशक बनकर साथ नहीं हैं, प्रत्युत सहृदय भ्राता बनकर । लक्ष्मणजीकी सहृदयता और सहानुभूतिके उदाहरण ग्रन्थमें अनेक ठौर हैं ।' (माधुरीसे)

नोट—३ लक्ष्मणजीको अदबका इतना खयाल है कि फुलवारीकी लीलामें आदिसे अन्ततक वे बोले ही नहीं । श्रीकिशोरीजीके चरणोंको छोड़कर उन्होंने जीवनपर्यन्त सिर उठाकर उनकी ओर तो देखा ही नहीं । यहाँकी तो बात ही न्यारी है । यहाँ तो प्रभुकी बातें सुनतेभर हैं । उनकी दृष्टि तो प्रभुके बराबर भी नहीं पड़ सकती । लक्ष्मणजी-सरीखे मुँहलगे छोटे भाईके शीलका गोस्वामीजीने अपूर्व चमत्कारिक दृश्य दिखाया है ।

वैजनाथजी—(क) यहाँ प्रभुको धीरता, वीरता और उदारता तीनोंसे 'रीते' (खाली, रहित) दिखाते हैं । वचनोंद्वारा श्रीकिशोरीजीकी प्रशंसा करते हैं—इससे अपनी अधीरता प्रकट की । 'मन सियरूप लोभान'—लोभी होनेसे उदारतासे 'रीते' दिखाया । 'मुख सरोज···पान' से प्रभुको याचक और किशोरीजीको दानी ठहराया । इस तरह कि श्रीसीताजीके मुखको कमल कहा है और प्रभुके मनको लोभी भ्रमर कहा है जो मकरंद पान करता है, इसलिये वह याचक हुआ और कमल-रस देनेवाला दानी निश्चित हुआ । (ख) पुनः, 'सियमुख ससि भये नयन चकोरा' इस लक्षणसे किशोरीजी सावधान ठहरीं और 'नयन चकोर' से प्रभु वीरतासे रहित हुए । किशोरीजीका मन सावधान है और प्रभुका मन सियरूपपर लुब्ध है, इससे धीरतारहित दिखाया ।–(ये शृङ्गारियोंके भाव हैं) ।

मा० त० वि०—यहाँ जो 'करत बतकही···' इत्यादि कहा है वह 'श्रोतव्यं मन्तव्यं निदिध्यासितव्यं साक्षात्कार-कर्तव्यमिति' इस श्रुतिके अनुसार कहा है । अर्थात् जबतक साक्षात्कार न हो तबतक ये सब कर्म करने चाहिये, वैसे ही सियछबिके साक्षात्कारतक बतकही करते रहे और मन लुभाया रहा । अथवा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार श्रीकिशोरीजीकी प्रेमासक्तता देख आपने भी वैसा ही भाव जनाया । अथवा, अभी केवल मानसी स्वयंवर उचित है, इससे इस दोहेमें वाचिक-मानसिक और कायिक आसक्ति दिखायी ।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता । कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता* ॥ १ ॥
जहँ बिलोकि मृगसावक नैनी । जनु तहँ बरिस कमलसित श्रेनी ॥ २ ॥

शब्दार्थ—चकित=चौकन्नी, हक्का-बक्का-सी । मृगसावक (मृग-शावक)=हिरणका बच्चा । बरिस=(की) वृष्टि हुई, वर्षा हो रही है । कमल-सित=श्वेत कमल । सित=श्वेत ।

अर्थ—श्रीसीताजी चारों दिशाओंमें चौकन्नी-सी देखती हैं । मनमें चिन्ता है कि राजकिशोर कहाँ चले गये ॥ १ ॥ बाल-मृगनयनी श्रीसीताजी जहाँ देखती हैं वहाँ (ऐसा जान पड़ता है) मानो श्वेत कमलोंकी पंक्ति बरस जाती है ॥ २ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—(क) 'चितवत चकित चहूँ दिसि' इति । यहाँ 'च' का अनुप्रास 'चकित' और 'चिंतित' अवस्थामें कितना सुन्दर है ? । (ख) प्रेमकी आँखमिचौनीमें यह वियोग बड़ा ही भावपूर्ण है । इसी प्रकार कुशल कविने

* चिंता—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा० । चींता—पां०, को० रा० वं, गौड़जी ।

बड़ी ही कुशलतासे प्रेमको पकाया है, नहीं तो इतनी शीघ्र एक ही दिनमें 'जा पर जा कर सत्य सनेहू।' की अवस्थातक पहुँचना कठिन था, जब यह निश्चय हो गया कि भगवान् मुझे 'रघुपतिकी दासी' अवश्य बनावेंगे।

टिप्पणी—१ (क) श्रीसीताजीका प्रसंग 'चकित बिलोकति सकल दिसि'''। २२९।' अर्थात् 'चकित' पदसे छोड़ा था, अब वहींके 'चकित' शब्दसे पुनः प्रसंगको उठाते हैं।—'चितवति चकित'। (कवि एक है, इसलिये दोनों ओरकी घटनाएँ जो साथ-साथ हो रही हैं उनको वह एक साथ नहीं लिख सकता। अतः एक ओरका वृत्तान्त थोड़ा कहकर फिर दूसरी ओरका वृत्तान्त कहने लगता है। श्रीसीताजी चकित होकर देख रही हैं। कविको अवसर मिला कि इस बीचमें श्रीरामजीकी ओरका वृत्तान्त कहें। तब श्रीरामजीकी ओरका वृत्तान्त कहने लगे। जब यहाँतक कथा पहुँची कि श्रीसीताजीके मुखसरोजके छबि-मकरन्दको श्रीरामजीका मन-मधुप पान करने लगा, तब कविको श्रीसीताजीकी ओरके वृत्तान्त कहनेका अवसर मिला। अब जहाँसे छोड़ा था वहींसे कथा प्रारम्भ करते हैं। वि० त्रि०)। (ख) 'चहूँ दिसि' इति। पूर्व जो 'सकल दिसि' कहा था उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि 'सकल दिसि'='चहुँ दिसि'। परंतु श्रीलमगोड़ाजीके मतानुसार पूर्वका 'सकल दिसि' साभिप्राय है, भावगर्भित है और यहाँ अब सकल दिशाओंकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी है—विशेष आगे तथा दोहा २२९ में उनकी टिप्पणी देखिये। (ग) 'कहँ गये नृपकिसोर' इति। 'नृपकिशोर' शब्दसे उनकी स्वाधीनता दो प्रकारसे जनायी—एक तो 'नृप', दूसरे 'किशोरावस्था', जिसमें मन चञ्चल हुआ करता है। (पाँड़ेजी)] (घ) 'मन चिंता' इति। 'सीताजी' और 'चिंता' में अनुप्रास एक अक्षर 'ता' का है। ऐसा ही प्रयोग ग्रन्थकारने अन्यत्र भी किया है। यथा—'मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता। ६। ९८। २। (घ) मनमें चिन्ता करती हैं कि कहाँ गये और चारों दिशाओंमें देखती हैं। तात्पर्य कि संकोचके मारे सखियोंसे पूछ नहीं सकतीं। अथवा, इतनी देरमें बागके बाहर तो जा नहीं सकते, तब गये कहाँ?

पाठान्तर—प्राचीनतम १६६१ वाली पोथीमें यह पाठ है। श्रीपाँड़ेजीकी छपी पुस्तकमें 'चीता' पाठ है (सम्भवतः वैजनाथजीने उसीमेंसे यह पाठ लिया है)। टीकामें वे लिखते हैं कि 'चीता' अनुप्रास हेतु कहा गया, शब्द चिंता है। चिंता तीन बातोंकी है—प्रथम यह कि चले तो नहीं गये, दूसरे यह कि सखियाँ अन्तःकरणकी प्रीति पहचान न लें, तीसरे राजा जनकके प्रणकी।' वैजनाथजी लिखते हैं कि यह 'विप्रलम्भ' की चिन्ता दशा है।

श्रीरामदास गौड़जी 'चीता' पाठ पसंद करते हैं। उनके मतानुसार—'मनचीता=मनने जिसे चुन लिया। 'मन चीता' में श्रीकिशोरीजीके पहलेसे वरण कर लेनेका निर्देश है। पाठक २२९ वें दोहेके ऊपरकी चौपाईसे इस प्रकरणको यों मिलाकर पढ़ें।—'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई॥ सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत। चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥ २२९॥ चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चीता॥' इत्यादि। 'प्रीति पुरातन' है। 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥' नारदकी बात भी याद आयी। मनने चुन लिया, वरण कर लिया। इस बातका निर्देश 'मनचीता' विशेषणसे हो जाता है। चिन्ताका अभी कोई काम नहीं। चिन्ताका काम तब आयेगा जब 'नखसिख निरखि राम कै सोभा॥ सुमिरि पितापन मन अति छोभा॥' तब तो 'जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति।'

टिप्पणी—२ (क) 'जहँ बिलोकि' का भाव कि प्रथम चारों ओर देखना कहा था, इससे अब 'जहँ' कहकर जनाया कि श्वेत कमलोंकी वृष्टि केवल उसी तरफ होती है जिधर देखती हैं, जब जिधर और जहाँ देखती हैं उसी तरफ ऐसा जान पड़ता है, अन्य तीन तरफ नहीं। (ख) पूर्व जो २२९ वें दोहेमें कहा था कि 'चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत' अब उसीका मिलान करते हैं। 'जनु सिसु मृगी सभीत' के सम्बन्धसे यहाँ 'मृगसावकनैनी' कहा। (ग) [हिरनके बच्चेकी आँखकी उपमा देकर 'नयी-नयी जलभरी आँखें' सूचित कीं। (पाँड़ेजी)]

'जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी' इति।

पं० रामकुमारजी—'श्वेत कमल' इति। सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं। रसनिधिके 'अमी हलाहल मद भरे श्वेत स्याम रतनार। जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार।' इस दोहेमें चितवन रजोगुणी, तमोगुणी और सतोगुणी तीनों प्रकारकी दिखायी गयी है। यहाँ केवल सतोगुणी दृष्टिसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं, इसीसे यहाँ श्वेत कमलकी

उपमा दी गयी। दृष्टिकी स्वच्छता इससे दरसायी। [सतोगुण अमृतसम जिलानेवालेका रंग श्वेत है। रजोगुणका रङ्ग लाल है और तमोगुणका श्याम है। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीजानकीजीकी चितवनको अमियमय श्वेत शुद्ध सात्त्विक जनाते हैं। इसीसे उन्होंने उनसे श्वेत कमलोंकी वृष्टिकी उत्प्रेक्षा की।] पुनः भाव कि कमलकी वृष्टि कहकर कामके बाणकी वृष्टि जनायी। यथा—'नियतिं तु स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात्।'

पाँड़ेजी—'जिधर श्रीसीताजी जाती हैं उधर ही सब सखियोंका समूह देखने लगता है। यहाँ यह शंका होती है कि 'आँखोंकी सुन्दरता श्यामता वा अरुणताकी कही जाती है। यहाँ श्वेत कहनेका क्या प्रयोजन ?' समाधान यह है कि राजपुत्री सखियोंसमेत शृङ्गार किये हुए नहीं हैं (अभी स्नान करके पूजामें लगी थीं) इसीसे आँखें श्वेत हैं। दूसरे यह कि श्वेत लोचनमें प्रीति अर्थात् मित्रताका भाव है, श्याममें विष अर्थात् शत्रुताका भाव है और लालमें मद अर्थात् मध्यस्थका भाव है। आँखोंमें सब वस्तुएँ इन्हीं तीन भावोंसे देखी जाती हैं। यही बात विहारीने अपने प्रसिद्ध दोहे—'अमी हलाहल मद भरे…' में कही है। यहाँ प्रयोजन मित्रताके भावका है, इसीसे श्वेत नेत्र कहे।'

पं० श्रीरामदास गौड़जी—दो नेत्रोंसे कमलश्रेणीकी वर्षा कैसे सम्भव ? इस तरह कि चकित चितवन है, इससे ताबड़-तोड़ झड़ाझड़ वृष्टि हो रही है। सीताजीकी चितवन पुनीत पवित्र अमृत सत्कीर्तिमय विमल है, इसीलिये श्वेत कमलसे उसकी उपमा दी गयी। बरसना क्यों कहा ? इसलिये कि हमारे विज्ञानमें ज्योति भी परमाणुमय है, अनात्म है, पदार्थ है, Material है। Einstein ऐन्स्टैनकी आधुनिक Quantum theory of light ज्योति-परमाणुवाद भी इसी हिंदू-विचारका पोषक है। कविकी कल्पनामें परमाप्रकृति सीताजीके स्थूल शरीर आँखोंके सरोवरसे निकले विमल अवलोकन-रूपी श्वेत कमल प्रकृतिके तमोगुणसे निर्लिप्त हैं। चितवनकी ज्योतिके परमाणु बरस जाते हैं, मानो कमलोंकी एक सीधी पंक्ति बरस जाती है। कविकी कल्पना बड़ी चमत्कारिक और अपूर्व है।*

लमगोड़ाजी—'जहँ बिलोक…श्रेनी' बड़ी ही सुन्दर अर्धाली है। शीघ्रताके साथ आँखें चारों ओर घूम रही हैं, इससे श्वेत कमलोंकी मानो झड़ी लग जाती है। इससे भी यह भाव सुन्दर है कि 'भए बिलोचन चारु अचंचल' संकेत है कि आँखें मिल गयी थीं। श्रीरामजीकी आँखें ही श्रीसीताजीकी आँखोंमें बसी थीं, इसलिये जिधर सीताजी देखती थीं, उधर यह जान पड़ता था कि मानो श्वेत कमलोंकी वर्षा हो रही है। श्वेत अमृतका रङ्ग है और शृङ्गारका प्रारम्भ है। अभी ठीक भी यही है। कविकी सूक्ष्मदर्शिता अभी स्पष्ट हो जायगी जब आगे ही चलकर आप देखेंगे कि श्रीरामके नखशिख-वर्णनमें 'लोचन रतनारे' आया है, मानो इतनी देर शृङ्गार 'मधु' कोटितक पहुँच गया और श्वेत आँखोंमें प्रेमने लालिमा उत्पन्न कर दी। (मद ?)—इन सुन्दर कल्पनाओंके लिये 'जनु' के साथ उत्प्रेक्षा कितनी उचित है। लेकिन Rusxin ने ठीक कहा है कि सुन्दर वस्तु सर्वदा सुखमय है। वियोगमें आँखोंकी याद ही अपना काम कर रही है। यहाँ तो अभी क्षणिक वियोग और प्रारम्भिक अवस्था ही प्रेमकी है। लेकिन यही दृढ़ होकर अशोकवाटिकामें भी आधार बनेगी।—'ध्यान तुम्हार कपाट'।

अब रामदर्शन हो जानेपर केवल चारों तरफ देखना रह गया, क्योंकि नृपकिशोररूपमें देखा है। आकाश और पातालवाले विचारकी अब जरूरत नहीं।

नोट—और भी भाव ये कहे जाते हैं—

रा० प्र०—(१) वहाँ-वहाँ भ्रमरोंसे युक्त श्वेत कमलोंकी मानो पंक्ति पड़ती है। नेत्रकी पुतलीको व्यंग्यसे भ्रमर कहा। (२) श्वेत कमल कहनेका भाव यह है कि श्वेत कटाक्ष सुखदायक होता है और श्याम कटाक्ष दुःखदायक है। भाव यह कि चाहसे देखना सुखदायक है और अचाहसे देखना दुःखदायक। इसीसे 'जानकीमंगल'में लिखा है—'जेहि दिसि राजकुमारि सुभाय निहारै। नीलकमल सर श्रेनि मयन जनु डारै ॥ ५१ ॥ (तुलसी-रचनावलीमें पाठान्तर है पर अर्थ एक ही है)। यहाँ स्वाभाविक ही निहारती हैं। और वहाँ (जानकीमंगल-प्रसङ्गमें) राजाओंकी ओर अचाह दृष्टिसे देखती थीं।

---

* १ प्राचीन पाठ 'कमल सित श्रेनी' ही है। किसीने 'कमल श्रित श्रेनी' पाठ दिया है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि जहाँ 'श्रित' पाठ है वहाँ भावार्थ यह होगा कि 'जब राजकिशोर न दिखायी दिये तब करुणारस हो आया। इससे पलमात्र भी उनको 'कमलाश्रित' ब्रह्माजीके वर्षोंकी श्रेणीके समान बीतने लगा। ऐसी आतुरता हुई कि 'निमिष बिहात कलप सम तेही'।' २—वीरकविजी लिखते हैं कि 'कमल आसमानसे बरसते नहीं। यह कविकी कल्पनामात्र है। अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

(अथवा, यहाँ अभी स्नान किया है इससे शृङ्गार नहीं है। स्वयंवरके समय यज्ञशालामें शृङ्गार किये हुए हैं। आँखोंमें सुरमा लगाना भी शृङ्गार है, इससे उस समय नीलकमलकी उपमा दी है।)

बैजनाथजी—'सौम्यदृष्टि होनेसे श्वेत कमल कहे। अङ्क नौ हैं। नवोंकी एक पंक्ति है। यहाँ आठ सखियाँ हैं और एक किशोरीजी, इन नवोंकी दृष्टिकी एक पंक्ति हुई। अथवा, अठारह नेत्रोंकी दो पंक्तियाँ हुईं।'—यद्यपि यह अर्थ है, फिर भी यह प्रसङ्गको भूषित नहीं करता; क्योंकि यह अर्थ शान्तरसके योग्य है।' इस समय किशोरीजीमें तीन दशाएँ वर्तमान हैं—अभिलाषा, स्मृति और चिन्ता। राजकुमारको देखनेकी अभिलाषासे जिस स्थलपर देखती हैं वहाँ जब वे नहीं देख पड़ते तब करुणारस हो आता है जिससे दृष्टिमात्रका वह काल कमलाश्रित ब्रह्माके वर्षोंके समान बीतता है। आतुरताका यही लक्षण है।

मा० त० वि०—(१) कमलश्रित (भ्रमर) की श्रेणीकी वर्षा होती है। भाव यह है कि खेदके मारे तिलमिली छा जाती है मानो मोतियाबिन्दकी आदि दशा हो। अथवा (२) वर्ष=भारतवर्ष। मृगशावकनयनी जहाँ-जहाँ देखने लगती हैं, वहाँ-वहाँ वह अवलोकन ऐसा जान पड़ता है मानो भारतवर्षभरमें मृगोंका झुंड बँध गया है। सखियाँ भी उसी ओर देखती हैं कि कदाचित् किशोरीजी न देख पावें, हमको दिखायी दें तो हम दिखला दें और ऐसा हुआ भी।

प० प० प्र०—'कमल सित' क्यों लिखा, सित कमल सीधा-सीधा क्यों न लिखा? 'सिताम्बुज श्रेनी' वे लिख सकते थे; पर ऐसा न करके उन्होंने अर्थानुकूल शब्दक्रम रक्खा है। भाव यह है कि जहाँ-जहाँ मृगशावकलोचनी श्रीसीताजी देखती हैं, वहाँ-वहाँ मानो कमलके आकारके सदृश 'सित-श्रेणीकी वर्षा ही करती हैं। सित=दीप्त=दीप्तिमान्=प्रकाशयुक्त।—'शुभ्रं दीप्तेऽभ्रके सिते' (हेमः)। पूर्व 'करत प्रकास फिरइ फुलवाई' से शरीरकी दीप्ति दिखायी और यहाँ नेत्रोंकी दीप्ति दिखाते हैं'। सीताजीकी दृष्टिसे कमलके आकारकी प्रकाशमय श्रेणी (पंक्ति) भूतलपर पड़ी हुई देखनेमें आती है। कमल गोल वर्तुलाकार होता है, उसके मध्यमें कमलकोष रहता है जो कमलदलोंसे घिरा रहता है। सीताजीके नेत्र मृगशावकके नेत्रोंके समान हैं, अतः बीचमें कृष्णवर्ण गोलाकार पुतली है। ऊपर और नीचेके पलकोंसे कमलके समान नेत्र वर्तुलाकार हैं। पलकोंपरके बाल काले और विरल, छूटे छूटे हैं। सीताजीके नेत्रोंसे जो प्रकाश निकलता है, वह पलकोंके बालोंमेंसे जमीनपर पड़ता है। पलकोंके बाल लंबे और पतले हैं, अतः दो बालोंके बीचमेंसे भी लंबा और पतला प्रकाश जो पड़ता है, वह कमलदलके समान दीखता है। इस प्रकार श्वेत कमलदलोंका वर्तुल-सा तैयार होता है। बाल वर्तुलके मध्यमें प्रकाश नहीं पड़ता क्योंकि पुतली काली है। अतः बीचमें प्रकाशहीन कृष्णवर्णकी जमीन ही रहती है जो कमलकोषके सदृश ही दीखती है। 'कहँ गए नृपकिसोर' यह जाननेके लिये चञ्चलतासे इधर-उधर ताकती हैं और चल रही हैं, अतः कमलके समान प्रकाशमय वर्तुलोंकी श्रेणियाँ पृथ्वीपर देखनेमें आती हैं। इसीसे कहा कि **'बरसि कमल सित श्रेनी'**।

वि० त्रि०—कामका धनुष फूलका है, प्रत्यञ्चा भ्रमरमयी है और चञ्चल नेत्रवालियोंका कटाक्ष ही बाण है। पुष्पधन्वाने पहिले डंका दिया था, अब बाण वर्षा कर रहा है, क्योंकि कामका परम बल नारी है। इन्हीं शरोंसे रामजी आहत हैं—यह भाव भी 'हृदय सराहत' से निकलता है।

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥ ३॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचानें॥ ४॥

शब्दार्थ—लखाये=इशारेसे बताया या दिखाया।

अर्थ—तब सखियोंने सुन्दर श्याम गौर किशोर कुमारोंको लताकी ओटमें लखाया॥ ३॥ उनके ललचाये हुए नेत्र रूपको देखकर ऐसे प्रसन्न हुए (एवं नेत्र ललचाये और ऐसे प्रसन्न हुए) मानो अपनी निधि पहचाननेसे (प्रसन्न हुए हों)॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'लता ओट' इति। [श्रीरामजीके छिपनेके सम्बन्धमें 'ओट' शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीने तीन जगह किया है। एक तो यहाँ 'लता ओट'। दूसरे सुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें, यथा—'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥ ३। १०। १३।' तीसरे सुग्रीव और वालिकी लड़ाईमें, यथा—'पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई॥ ४। ८८।' इन तीनों प्रसङ्गोंमें 'ओट' के साथ भिन्न-भिन्न शब्द आये हैं। प्रथममें लता, दूसरेमें तरु और तीसरेमें विटपकी ओटमें श्रीरामजीको दिखाया है। भेद साभिप्राय है। तीनोंमें पृथक्-पृथक् रसोंका वर्णन है।

पहलेमें शृङ्गाररसका प्रावल्य दिखाया ।'''(प्र० सं०)] फुलवारी शृङ्गार है। शृङ्गारमें स्त्रीकी प्रधानता है। अतः शृङ्गाररसका प्रसङ्ग होनेसे यहाँ 'लता ओट' कहा, क्योंकि 'लता' स्त्रीलिंग है। शान्त रसमें कवि 'तरु' का प्रयोग करते हैं। श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें शान्तरसकी प्रधानता है। इससे वहाँ 'तरु', कहा। 'तारयतीति तरुः' जो तारै उसका नाम 'तरुः' है, इस तरह 'तरु' शान्तिरससूचक नाम है। और वीररसके प्रसङ्गमें कवि 'विटप' शब्द देते हैं (जो पुरुषवाचक है), यथा— 'इतना कहत नीतिरस भूला। रनरस विटप पुलक मिस फूला ॥ २। २२९॥' इसीसे तीसरी जगह 'विटप ओट देखहिं रघुराई' कहा, क्योंकि वहाँ वीररसका प्रसङ्ग है। पुनः (ख) 'लता ओट' कहनेका भाव कि लता फूलती है, और यहाँ दोनों भाई फूल तोड़ते हैं। (ग) 'लता ओट तब सखिन्ह लखाए' इति। भाव कि चकित अवलोकनसे भगवान् नहीं मिलते। ईश्वर लतारूपी मायाकी ओटमें हैं। जब सखीरूपी श्रुतियाँ लक्षित कराती वा बताती हैं तब देख पड़ता है यथा—'पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म। मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥ ३। ३९॥' [(घ) 'सखिन्ह बहुवचन है। सब सखियाँ राजपुत्रोंको देखने और श्रीजानकीजीको दिखानेकी अभिलाषिणी हैं। अतः सबकी एक साथ ही उनपर दृष्टि पड़ी। इसीसे सभीका लखाना कहा। 'लखाए' से प्रकट बोलना आदि नहीं पाया जाता क्योंकि राजकुमार निकट हैं। (पां०)। (ङ) 'लखाए' शब्द प्रेमकी आँख मिचौनीमें कितना सुन्दर है। (लमगोड़ाजी)। (च) अथवा 'किशोरीजीकी दृष्टि रुकी रही और सखियाँ तो प्रत्यक्ष देखती ही रहीं कि राजकुमार गुलाबकी कुंजमें कुन्दकी लताकी ओटमें हैं। जब करुणा-से उत्कण्ठा, चिन्ता, चपलता, वितर्कादि संचारी और विवर्ण-स्वेदादि सात्त्विक भाव किशोरीजीके अङ्गोंमें देखे तब सबने जान लिया कि दर्शनकी आतुरताके कारण यह दशा हो गयी है। अतः तब सखियोंने लखा दिया कि देखो वे लताकी ओटमें हैं।' (वै०)। अति उत्कण्ठा होनेसे श्रीसीताजीने न देखा, सखियोंने देख लिया। (वि० त्रि०)]

२ 'स्यामल गौर किसोर सुहाए' इति। प्रथम जो सखी देख आयी थी, उसने जो-जो अङ्ग सखियोंको कह सुनाये थे, उन्हीं अङ्गोंको कहकर यहाँ सखियोंने श्रीकिशोरीजीको लताकी ओटमें राजकुमारोंको दिखाया। उस सखीने 'स्यामल गौर किसोर सुहाए' बताया था। यथा—'देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए ॥ स्याम गौर किमि कहौं बखानी।' 'लखाए' से सूचित करते हैं कि सब सखियाँ श्रीसीताजीको बता रही हैं कि वे 'श्यामल गौर किशोर सुहाए' ये ही हैं, देखो। [पुनः 'सुहाए' अर्थात् रंग और अवस्था सुहावनी है। वा, श्याम, गौर और किशोर जो पूर्व सखीसे सुनकर श्रीजानकीजीको 'सुहाए' हैं। (पाँड़ेजी)]

'देखि रूप लोचन ललचाने' इति।

'प्रथम कहा था कि 'दरस लागि लोचन अकुलाने' और अब कहते हैं कि 'देखि रूप लोचन ललचाने।' जब रूपकी प्राप्ति हो गयी तब लालच होनेका काम ही क्या? जबतक दर्शन नहीं होता, वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, तभीतक 'लालच' कहा जाता है, यथा—'सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु दरसन लालचु मन माहीं ॥ ३०७। ५॥' पिता जनकपुर आ गये उनके दर्शन नहीं हुए इससे 'ललचाना' कहा गया। पर यहाँ तो दर्शन हो गये तब 'ललचाने' कैसे कहा?'— यह प्रश्न उठाकर लोगोंने उसका उत्तर यह दिया है—

१—'ललचाने' लोचनका विशेषण है। ललचाना पूर्व ही कहा था,—'दरस लागि लोचन अकुलाने।' दर्शन होने-पर अधिक सुख हुआ, यथा—'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥' अतः अर्थ है कि 'ललचाये हुए नेत्र रूप देखकर हर्षित हुए मानो अपनी निधि पहिचानी है।' रूप नेत्रका विषय है, वही उसकी निधि है। श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंके रूप नेत्रोंके निधि हैं, यहाँ दो निधियाँ हैं, एक श्याम, दूसरी गौर। श्याम अर्थात् नीलनिधि रामजी हैं, गौर अर्थात् शङ्खनिधि लक्ष्मणजी हैं। 'निज निधि पहिचाने' अर्थात् नील निधि (श्रीरामजी) हमारी है, शङ्खनिधि हमारी नहीं है। वह उर्मिला हमारी बहिनकी है। इसीसे रघुपति-छबि देखी और उन्हींको उरमें धारण किया, लक्ष्मणजी को नहीं।—(पं० रामकुमारजी)

२ देखकर भी ललचाये, क्यों? यह विचारकर कि श्यामताकी इस राशिमेंसे तिलमात्र श्यामता हमारे भीतर होने-से यह आनन्द है। यदि कहीं समस्त यह राशि हमारे अन्तर्गत हो जाय तो अवाच्य सुख हो। 'निज निधि' यही श्याम स्वरूप है, इसका अणुमात्र भाग पाकर नेत्रोंको देखनेकी शक्ति है जैसा विहारीने कहा है—'कोटि भानु जो ऊगवैं तऊ उज्यारु न होय। तनक श्यामकी श्यामता जो दृग परी न होइ ॥' अतः पूर्ण स्वरूप पा जानेसे हर्ष हुआ।' (रा० च० मिश्र)

३ 'यह लीलाका आदर्शमात्र है, वस्तुतः महारानीजीके नेत्रोंसे इनका क्षणमात्र भी वियोग नहीं। इसीसे कविने 'जनु' पद देकर उत्प्रेक्षासे निर्वाह किया है।' मु० रोशनलाल आदि कई टीकाकारोंने अर्थ किया है कि 'रूपको देखकर नेत्र ललचा गये।' ललचानेका भाव यह है कि जितना देखनेमें आया इतना सुख न था। और जैसे कोई अपनी खोयी हुई वस्तुको पहिचानकर हर्षित होता है, वैसे ही ये हर्षित हुए' (पाँड़ेजी)।

४ आपका रूप ही ऐसा है कि जितनी देखो उतना ही अधिक चाह उपजती जाती है, कभी भी तृप्ति नहीं होती। यथा—'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'''१। १४८॥'''एक लालसा बड़ि उर माहीं।'''चाहउँ तुम्हहिं समान सुत'''। १९४।' श्रीमनुशतरूपाजीको देखनेपर भी ऐसी तीव्र लालसा उत्पन्न हुई कि वे तृप्त नहीं होते और यह लालच है कि सदा ही इनको देखते रहिये। इसीसे चाहते हैं कि आप पुत्र होकर लोचनोंको सुख दें। (प्र० सं०)। पुनः,

५ अब भी क्यों ललचा रहे हैं? इसके कारणका पता 'पहिचाने' शब्दसे भी कुछ-कुछ लगता है। जैसे कोई खोयी हुई अपनी वस्तु सामने आ जाय तो प्रसन्नता अवश्य होती है, वैसे ही यहाँ बहुत कालसे बिछुड़े हुए आज इस लीलाभूमिमें श्रीरामजीके दर्शन होनेपर खुशी हुई। पर वे दूर हैं; अतः उनके निकटसे देखनेका लालच, अथवा, वह वस्तु फिर गायब न हो जाय उसपरसे दृष्टि हटानेकी इच्छा नहीं होती। (लालच बढ़ी कि नेत्र इन्हें देखते ही रहें अब ये सामनेसे न जायँ)। स्मरण रहे कि यहाँ वस्तुका पा जाना नहीं कहते, केवल पहिचानना कहते हैं। यही भेद है जो श्रीसीताजीके विषयमें आगे कहते हैं—'मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥' देखिये बिछुड़े हुए मित्र मिलते हैं तो उन्हें छोड़नेको जी नहीं चाहता, बराबर देखते रहते ही बनता है। (रा० च० मिश्र)।

६ पहले दर्शनके लिये ललचाये थे। दर्शन होनेपर लालच गया नहीं। अब पानेका लालच है। एक दृष्टिकोण यह भी है कि 'दर्शनके लिये ललचायी हुई आँखोंको अब अपनी निधि पहचाननेके कारण हर्ष हुआ' परंतु इसमें 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवाकी'—यह बीचकी श्रेणी रह जाती है। (लमगोड़ाजी)। [मिलान कीजिये—'कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु जित एरी।' (गी० १-७६)—यह नेत्रोंका लालच है]।

७ जो नेत्रोंको आकर्षित करे उसे 'रूप' कहते हैं, जैसे चुम्बक लोहेको। श्रीराम रूपके निधि हैं ही। इसीलिये नेत्र दूरसे देखकर हर्षित हुए और निकटसे अघाकर देखनेको ललचाये। (वै०)।

८ अथवा, वेदवतीरूपमें बहुत तपस्या की थी; पर दर्शन न हुए थे। दर्शन आज ही हाथ लगे। अतः 'ललचाए' और 'हरषे'। (मा० त० वि०)।

९ ललचाये कि बहुतसे नेत्र होते तो अघाकर देखतीं। (रा० प्र०)। 'पहिचानें' से पूर्वका परिचय सूचित होता है।

१० (क) सुनकर 'दरस हेतु लोचन अकुलाने' और रूपको देखकर नेत्र ललचाने। 'ललचाने' का भाव कि और भी मनोयोगसे देखनेके लिये ललचाये। (ख) श्रीरामजी दूसरोंकी भी निधिरूप ही देख पड़ते थे, पर वे उनकी निधि नहीं थे, अतः वे लूटने चले थे; यथा—'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी॥'; पर 'निज निधि' को सीताजीने पहिचाना। इसीलिये कहा था 'प्रीति पुरातन लखै न कोई।' आँखें प्रसन्न हो उठीं कि यही तो हमारी निधि है। (वि० त्रि०)।

थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेषें॥ ५॥
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥ ६॥

शब्दार्थ—भोरी=स्तम्भित, यथा—'सूर प्रभुकी निरखि शोभा भई तरुनी भोरि।'—

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी छबि देखकर नेत्र 'थक' (स्थिर, अचञ्चल हो) गये। पलकोंने भी पलक मारना छोड़ दिया। अर्थात् एकटक देखते खुले रह गये॥ ५॥ अधिक स्नेहसे (अर्थात् स्नेहकी अधिकताके कारण) देह 'भोरी' हो गयी। (देहकी सुध-बुध न रह गयी) ऐसा जान पड़ता है मानो शरद्‌ऋतुके चन्द्रमाको (देखकर) चकोरी निहार रही हो॥ ६॥

'थके नयन रघुपति छबि देखे'

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'थके' अर्थात् अचञ्चल हुए। इससे जनाया कि रूप अपार है। देखकर थक गये,

पार न पा सके; यथा—'सील सुधाके अगार सुखमाके पारावार पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं ॥ गीतावली १।६२।।', 'रामहि चितै रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन ॥ २६९ । ८ ॥' (परशुराम)। अर्थात् छवि समुद्र है, इसीसे अपार है। छवि समुद्रको देखकर नेत्र एकटक एक ही जगह लगे रह गये, यही 'थके नयन' का भाव है। यथा—'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी ॥ १४८ । ५ ॥' नेत्र 'थके' इससे पलक भी खुलेके खुले रह गये।

गौड़जी लिखते हैं कि 'थके' संस्कृतके 'स्थग' धातुसे है, जिसका अर्थ है 'ठग जाना।' 'थके' का वास्तविक भाव है 'ठगे गये, इसलिये निश्चल भावसे स्तम्भित हो गये।' यात्रीका जब सर्वस्व हरण हो जाता है तब वह चौकन्ना-सा खड़ा रह जाता है, किधर जाय, अपने मालको कहाँ तलाश करे। यहाँ हृदय छीन लिया गया, चितवन कैद कर ली गयी, ठग ली गयी, इसीलिये नयन 'थके'।

मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि 'थकना' इससे कहा कि देरसे 'हेर' (ढूँढ़) रहे थे। वा, 'थके' अर्थात् छविपर ठहर गये। (नोट—थाकना बँगला भाषामें ठहरनेको कहते हैं)। वा, इस छविका इतना विस्तार है कि उसीका आनन्द लेते-लेते थक गये, उससे पार हो अङ्गोंतक न पहुँचे, जैसे सूर्यकी आभासे पार होकर सूर्यतक किसीकी दृष्टि नहीं पहुँचती। अर्थात् जैसे कोई इच्छा करे कि देखें पर उनके तेजके आगे उन्हें न देख सके।' (पाँड़ेजी)। वीर कविजी लिखते हैं कि 'थके' शब्दमें लक्षणा-मूलक गूढ़ व्यङ्ग है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि छविका भार देरतक नेत्र सँभाल न सके, इसलिये थक गये। थका हुआ हिलता-डोलता नहीं, अतः पलकोंने भी हिलना-डोलना छोड़ दिया।

नोट—१ 'रघुपति' कहकर जनाया कि रघुनाथ (वा जीवोंके पति) श्रीरामजीकी छवि देखी न कि लक्ष्मणजीकी। (पं० रा० कु०) पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि श्रीरामजीके हृदयने महारानीजीको स्वीकारकर उनके मुखको अवलोकन किया, तब महारानीने भी महाराजकी ओर देखा। इसीको विवाह-पद्धतिमें 'परस्पर' कहा है—'परस्परं समंजेथा' यह मन्त्र है। अतः पतिभाव होनेसे 'रघुपति' पद दिया। २—'पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें' और 'मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दिगंचल' का मिलान कीजिये। ☞ नयन थके कहकर इस चरणमें पलकोंका थकना कहा और 'अधिक सनेह देह भै भोरी' से देहका भी थकना कहा।

टिप्पणी—१ (क) 'अधिक सनेह' इति। भाव कि स्नेह तो तभी हो गया था जब सखीके मुखसे रूप-सौन्दर्यको सुना था, अब देखनेसे स्नेह अधिक हो गया। सामान्य स्नेहमें देहकी खबर बनी रही। अधिक स्नेह होनेपर देहसुध भूल गयी। (ख)—नयन, पलक और देह तीनों थक गये, यह कहकर तीनों (के थकने) की उपमा देते हैं। 'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी'। चकोरके नयन, पलक और देह तीनों थकते हैं। इस तरह तीनोंका दृष्टान्त एकहीमें यहाँ पूर्णरूपसे कहा गया। यहाँ श्रीरामजीका मुखचन्द्र ही शरद्पूनोंका चन्द्रमा है। यद्यपि यहाँ मुख शब्द नहीं दिया है पर अन्यत्र यह शब्द आया है; यथा—'भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥', 'रामचंद्र-मुखचंद्र छबि लोचन चारु चकोर', 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख ससि भए नयन चकोरा', इत्यादि। इससे यहाँ भी 'मुख' का ग्रहण हुआ। पुनः (ग)—चन्द्र-चकोरके दृष्टान्तसे दोनोंकी परस्पर अनन्यता दिखायी। जैसे चकोर चन्द्रको छोड़ अन्यकी ओर नहीं देखता, वैसे ही श्रीरामजी जानकीजीको छोड़ अन्य किसी स्त्रीकी ओर नहीं देखते; यथा—'मोहि अतिसय प्रतीति मन-केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी। २३१। ६।' वैसे ही श्रीजानकीजी श्रीरामजीको छोड़ अन्यकी ओर नहीं देखतीं; यथा—'तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा। ५। ९।', 'तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा। २५९। ४।', 'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं। ६। १०८।', 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा। वाल्मी० ५। २१। १५।' (ये वचन भी स्वयं श्रीसीताजीका है जो उन्होंने रावणसे कहा है)। जैसे श्रीरामजीने अपना हृदय श्रीसीताजीको दे दिया, वैसे द्विगुण प्रेमसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको अपने हृदयमें धारण किये हुए हैं। इसीसे प्रभुने कहा है—'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं। ५। १५।', 'मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।'''तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते। वाल्मी० १। ७७। २६-२७।' इसीसे ग्रन्थकारने श्रीरामजीको चकोर और सियमुखको चन्द्र

तथा श्रीसीताजीको चकोरी और श्रीराममुखको चन्द्रकी उपमा दी। दोनोंके नेत्र एक-दूसरेकी शोभापर चकोर हो रहे हैं। एक चकोर है तो दूसरी चकोरी है।

पं० रा० च० मिश्र—यद्यपि यहाँ केवल 'भोरी' पदमें उत्प्रेक्षा घटित है पर कविका आशय गूढ़ है। राजकुमार लता-ओटमें हैं, उनका सर्वाङ्ग दर्शन नहीं हो रहा है किंच मुख ही दिख रहा है। जैसे लताओट सरकारी झाँकी दिख रही है, वैसे ही कविता-ओट मुख-दर्शनका भाव झलक रहा है, किंच कविने मर्यादा हेतु उपमेयको लुप्तकर उपमान भर कहा है। वहाँ रामपक्षमें सामान्य शशि कहा और नेत्र ही चकोर बने, स्वयं नहीं—'सियमुख ससि भए नयन चकोरा', और यहाँ विशेष शरद्-शशि कहा और स्वयं चकोरी बनीं। चकोरकी तृप्ति शरद्-शशिके सिवा सामान्य शशिसे नहीं। अतः यहाँ शरद्-शशि कहकर तृप्तिकी पूर्ति की। वहाँ जब साधारण शशिसे तृप्ति न हुई, तब मन-मधुपको मुखसरोजके छबि-मकरन्दसे तृप्त किया है। इसी अतृप्तिको दिखलानेके लिये ही तो फिर '**मुख सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान। २३१।**' कहा है। ['सियमुख ससि भये नयन चकोरा' में शरद्-शशि न कहकर केवल शशि लिखकर जनाया कि श्रीरामजीकी देह भोरी न हुई।(वि०त्रि०)]

श्रीराजारामशरण—विचार करनेकी बात यह है कि दोनों ओर भाव एक ही प्रकार बढ़ते हैं। हाँ, स्त्रीमें धीरे परंतु अधिक जोरदार और स्थायी होते हैं, कारण कि वहाँ हृदय प्रधान होता है और पुरुषमें मस्तिष्क प्रधान।

मुं० रोशनलाल—१ जबतक सामान्य स्नेह रहा तबतक सँभाले रहीं, जब सुने हुएसे विशेष रूप देखा तब अधिक सनेहसे देहसुध जाती रही। जैसे शरद्-शशिको देख चकोरीको देहका भान नहीं रह जाता। पुनः, २—जैसे शरद्ऋतुके घामसे तप्त चकोरीको शरद्-चन्द्रकी शीतलकिरणका स्पर्श होते ही देहसुध नहीं रहती वैसे ही पिताकी प्रतिज्ञासे तप्त राजकुमारी राजकुमार शरद्चन्द्रके रूप-किरणको देख शीतलता पाकर देह-सुध भूल गयी।

बैजनाथजी—आसक्तिसे परस्पर एक-दूसरेका अवलोकन प्रेमका तीसरा भेद 'संक्रान्ति दशा' है। '**थके नयन**' यह श्रम संचारी, 'देहभोरी' में आलस्य संचारी, दोनों ओर (परस्पर) अवलोकनमें रति स्थायी—इस तरह श्रृङ्गार-रसकी पूर्णता है।

लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥ ७॥

अर्थ—नेत्रोंकी राह श्रीरामचन्द्रजीको हृदयमें लाकर उस सयानी (श्रीसीताजी) ने पलकरूपी किवाड़े लगा दिये॥७॥

पं० रामकुमारजी—१ पूर्व कहा था कि 'जहँ बिलोक मृगसावकनयनी। जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी॥' अब यहाँ '**लोचनमग रामहिं उर आनी**' कहकर जनाते हैं कि श्वेत कमलोंरूपी पाँवड़े देती हुई नेत्ररूपी मार्गसे रामजीको हृदयमें ले आयीं। पुनः, २—'**लोचनमग**' का भाव कि मूर्ति बिना देखे ही (वेद, पुराण, शास्त्र, रामायणादि ग्रन्थोंमें केवल पढ़ या सुनकर ही बुद्धिके अनुभवसे) मनसे समझकर हृदयमें लोग ले आते हैं, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो मूर्ति साक्षात् प्रत्यक्ष सामने खड़ी है, इसीसे यहाँ (श्रवण या मनरूपी मार्गसे लाना न कहकर) लोचन-मार्गसे लाना कहा। जो वस्तु सामने देख पड़ती है, वह नेत्रहीद्वारा अन्तःकरणमें जाती है। तात्पर्य कि मूर्तिको देखकर हृदयमें धारण कर लिया। [अथवा, श्रीरामजी बड़े कोमल हैं, यथा—'**कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा**'। नेत्रसे बढ़कर कोमल वस्तु नहीं। जो वस्तु उत्तम और अत्यन्त प्रिय होती है, उसे लोग बड़े यत्नसे रखते हैं। अतः इन्हें परम प्रिय जानकर नेत्ररूपी कोमल मार्गसे लाकर उरमें रखा। इसी प्रकार श्रीरामजीने इनको '**चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं**'। अथवा, शब्द होता तो श्रवण-मग कहा जाता; यहाँ रूपको हृदयमें रखना है, इसीसे (रूपके लिये) '**लोचनमग**' कहा। (पाँ०)। वा, और किसी प्रकार ये पकड़े न जा सकेंगे, अतः हृदयमें बंद (कैद) कर लिया। (रा० च० मिश्र)। उधर लोचनमगसे छबि मकरन्दका पान हो रहा था, इधर लोचनमगसे स्वयं श्रीरामजीको हृदयमें लाकर पलककपाट बन्द कर लिया। प्रभु प्रेमके बन्दी हो गये। कामका विश्व-विजय पूरा हो गया। यहाँ विहृत हाव है। संयोगसमय लज्जादिकसे अभिलाषाकी असन्तुष्टिको विहृत हाव कहते हैं। जब भक्त प्रेमवश होता है तभी भगवान् उसके बन्दी होते हैं। 'अवसि देखिये देखन जोगू' दूसरी बात है और प्रेमवश हो जाना दूसरी बात है। (वि० त्रि०)]

नोट—मा० त० वि० कार लिखते हैं कि हृदयमें लानेका भाव यह है कि 'हृदय 'मानस-कुञ्ज' है जिसमें भावकी भूमि, प्रीतिका प्राकार, दयाका द्वार, दीनताका दासा, दास्यताकी देहरी, चितवनकी चौखट, चातुर्यकी चौसंडी, कीर्तनका किवाड़, वन्दनाका वन्दनवार, मुस्कानकी मेहराब, मनोरथका मुर्गोल, छायाकी छजुली, गौरवका गोफा, अनुरागका आँगन,

करुणाकी कुरसी, मोदका महरूर, भक्तिकी भीति, श्रवणकी सीढ़ी, चाहकी चित्रसारी, विवेककी बारहदरी है। उसमें नेहकी निसेनी और ज्ञानका बँगला है जिसपर क्रियाका कलश है। इसपर प्रेमका पत्तर है। विचारका वितान है, उसपर मनका मुक्ता शुद्ध वासनाका बिस्तर, गुरुज्ञानका गलीचा, सेवाधर्मका सिंहासन, जिसपर आवेशका आसन, गूढ़ताकी गादी, तेज-पुञ्जकी तकिया, यशका जशन (महफिल), शान्तिका छत्र, अद्‌भुत चमत्कारका चमर, समताकी शय्या, विज्ञानका बिछौना, परप्रभाका प्रकाश, रागानुरागका अतरदान, केलिकलाका पानदान, व्यंग वचनका पीकदान, परस्पर कटाक्षका गुलाबपाश, चतुष्पाद विभूतिका चौषड़ा, निर्वाणकलाका शमादान है। नानारसोन्मुखी सहचरियोंसे युक्त इस 'मानसकुञ्जमें' लोचनमगसे श्रीरामजीको ले आयीं। अर्थात् निवृत्ति सम्पन्न चित्तवृत्ति और निमेषोन्मेषवर्जित दृष्टि जहाँ हुई वहीं भगवत्-तत्त्वका अनुभव होता है।

टिप्पणी—'दीन्हें पलक कपाट सयानी' इति। (क) पलक बंद कर लिये, अतः 'सयानी' कहा। बिना आँख बंद किये बेपर्दगी थी, सब कोई देखता था कि श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं। पलक बंद कर लेनेसे सब बात बन गयी—परदेसे श्रीरामजीको देख रही हैं, इस तरह परदेसे दर्शन करनेमें अब लज्जा या संकोच किसीका नहीं होनेका। दूसरे, सखियाँ यही जानेंगी कि श्रीसीताजी गौरीजीका ध्यान कर रही हैं, यह परदा आँख मूँद लेनेसे हो गया। पुनः, सब सखियोंको 'सयानी' कहा था, यथा—'संग सखी सब सुभगसयानी। २२८। ३।' अब दिखाया कि श्रीसीताजी भी 'सयानी' हैं। [(ख) 'दीन्हें कपाट' अर्थात् हृदयमें रखकर नेत्र बंद कर लिये, हृदयमें ध्यान करने लगीं, जिसमें सखियाँ न जानें। अथवा, कहीं राजपुत्र अदृश्य न हो जायँ, अकुलाकर निकल न भागें, इसलिये पलकरूपी किंवाड़े लगा लिये। (यह शृङ्गाररसका भाव है। पाँ०।) 'सयानपन' यह है कि अपनी बात जितनी गुप्त रहे उतनी ही भली है। (पं०)]

बैजनाथजी—पलकको कपाट कहकर नेत्रोंको द्वार सूचित किया। सयानपन यह है कि सखियाँ इनकी विशेष आसक्ति न जान जायँ। अथवा, राजकुमार कहेंगे कि प्रथम हमें देखकर पल्ला बंद कर लिया और अब एकटक देख रही हैं, इस मर्यादा हेतु पल्ला बंद कर लिया। (परंतु मेरी समझमें नहीं आता कि पूर्व पल्ला बंद करना किस चौपाईमें कहा गया है)। अथवा, प्रथम चकित होकर ढूँढ़ना पड़ा था, इस भयसे राजकुमारको 'बंधुवा' (कैद) कर लिया। अथवा, उधर श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं और इधर सखियाँ साथ हैं। इनके समीप शृङ्गारकी पूर्णताका अभाव है; अतएव उरको एकान्त स्थान विचारकर उसमें प्रभुको पाकर पल्ला बंद कर लिया—यही विशेष सयानपन है।

शीलावृत्ति—'सयानी' का भाव यह है कि सीताजीने मनमें विचार किया कि एक क्षण लताकी ओटमें हो जानेसे हमको कैसा भारी दुःख हुआ, छटपटा गयीं, और ये अभी यहाँसे चले जायँगे और मैं भी चली जाऊँगी तब प्राण कैसे रहेंगे? अतएव अभी इनको देखते-देखतेमें ध्यान खरा कर लूँ, जो कोई अंश ध्यानमें न आवे तो अभी देखकर सुधार लूँ, इसी हेतु 'दीन्हें पलक कपाट सयानी'।—'ध्यान तुम्हार कपाट' इति सुन्दरकाण्डे।

नोट—संत श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि 'रूप देखकर आँख मींच लेनेपर औरका और भी लक्ष्य होने लगता है जैसे सुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें।—'हृदय चतुरभुजरूप देखावा'। इससे यहाँ 'सयानी कपाट' जो शांभवी मुद्रा है, उससे तात्पर्य है। अर्थात् पलकोंपर 'सयानी कपाट' दे दिये। अर्थात् नेत्र खुले ही रहे पर लक्ष्य वस्तुके अतिरिक्त और कोई वस्तु न देख पड़े, इसे योगी जानते हैं।' और भी अनेक भाव लिखे हैं क्लिष्ट समझकर यहाँ नहीं लिखे गये।

श्रीगौड़जी—श्रीकिशोरीजी भी सयानी हैं। उनके संगकी सखियाँ भी 'सब सुभग सयानी' हैं। कोई किसीसे कुछ कहती नहीं है। अपने मन-ही-मन समझ जाती हैं कि किशोरीजी 'प्रेमवश' हैं। प्रेमवश ही होकर उन्होंने सरकारको देखकर ध्यानमें आँखें मूँद ली हैं। प्रकरणभरमें कहीं आँखें चार होनेकी कथा नहीं है। कितनी कोमलता है। 'नखशिख शोभा' देखकर दृष्टिके पाँवड़े बिछाकर उसपरसे सादर आँखोंकी राह हृदय-मन्दिरकी एकान्त जगहमें ले गयीं और पलकके किंवाड़ बंद कर लिये। हृदयेश्वर भागने भी न पावें, एकान्त भी रहे, उधर स्थूल रूपमें आँखें चार होनेकी अकोमल घटना भी न घटे, सखियाँ भाँपने भी न पावें, समझें कि गौरीजीके ध्यानमें हैं। यही सयानपन है। एकान्तमें उधर हृदयेश्वरकी विधिवत् पूजामें मग्न हैं। इधर सरकारकी यह दशा है कि 'करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।' यही मौका भी था, क्योंकि आँखें चार होनी उचित नहीं।

श्रीराजारामशरणजी—१ 'लोचन मग' कितना कोमल रास्ता है। २—'सयानी' इति। प्रेमकी आँखमिचौनीमें

कैसा सुन्दर प्रसंग है ! एक बार बँधुआ बना पाया तो हृदयमें बंद कर दिया, मानो संकेत है कि अब कैसे जाइयेगा ! शेक्सपियरने भी स्त्रीको एक जगह व्यञ्जनासे बंदीगृह कहा है। और नसीमका पद भी प्रसिद्ध है—'जिंदाँमें जो जिंदा भेजना हो। अपने दिले तंगमें जगह दो।' सच है, प्रेमिकाके हृदय-वासमें जीवन हैं। यह भी देखिये कि यहाँ कोमलता अधिक है, रास्ता, निवासस्थान और पलककपाट सब ही कोमल।

☞ ३ यहाँसे श्रीसीताजीके प्रेमके पात्र स्पष्ट ही राम हो गये। अब पृथक्करण हो गया। इसके पहले भी Aesthetic faculty सौन्दर्यानुभवकी शक्तिने भी थोड़ा पृथक्करण किया था, 'थके नयन रघुपति छबि देखे'। नहीं तो दोनों भाइयोंके रूपमाधुर्यका प्रभाव 'स्यामल गौर किसोर सुहाए' तक एक-सा था। सूक्ष्म अवस्थाएँ विचारणीय हैं।

[मुं० रोशनलाल—'शब्द होता तो श्रवणमग कहा जाता, रूपके लिये लोचनमग कहा। 'कपाट दीन्हे' अर्थात् हृदयमें रखकर नेत्र बंद कर लिये, हृदयमें ध्यान करने लगीं जिसमें सखियाँ न जानें। वा, कहीं राजपुत्र अदेख (अदृश्य) न हो जायँ, अकुलाकर निकल न भागें। इसीसे सयानी कहा।]

जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानीं। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानीं॥ ८॥

अर्थ—जब सखियोंने श्रीसीताजीको प्रेमके वश जाना तब वे मनमें बहुत सकुचीं पर कुछ कह नहीं सकतीं॥ ८॥

पं० रामकुमारजी—१ प्रेममें तनकी दशा भूल जाती है। श्रीजानकीजी प्रेमके वश हो गयीं हैं; अर्थात् उनको देहकी सुध नहीं रह गयी, यथा—'अधिक सनेह देह भै भोरी।' उन्होंने पलक 'मूँद' लिये हैं। जब सखियोंने भाँप लिया कि ये प्रेमवश हो गयीं, तब कुछ कहना चाहिये कि इन्हें आँखें खोलकर देखो, पलक क्यों बंद कर लिये, इत्यादि। पर सखियाँ कुछ कह नहीं सकतीं, क्योंकि वे संकोचमें पड़ी हैं कि यदि हम कुछ कहती हैं तो इनको संकोच होगा और ऐसा हुआ भी जैसा आगे स्पष्ट है कि जब एक सखीने देखनेको कहा तब श्रीजानकीजीको संकोच प्राप्त हुआ, यथा—'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥ सकुचि सीय तब नयन उघारे।' अतएव जानकीजीको संकोच होगा, इसीसे वे कहनेमें सकुचाती हैं। २ 'कहि न सकहिं' से जनाया कि कहनेका मौका था पर संकोचसे न कहा।

वैजनाथजी—'प्रेम बस जानी' इति। ध्यानमें इष्टरूपको पाकर मग्न होना प्रेमकी 'क्रान्तदशा' है, यथा—'देह भूलि सुख ध्यान प्रिय दशा क्रान्त की बाढ़ि। बैठ सुतीक्षण अचल मग राम जगावत ठाढ़ि।' उसी प्रकार श्रीकिशोरीजी श्रीरामजीको हृदयमें पाकर ध्यानमें मग्न हैं, सखी इनको ध्यानसे जगावेगी।

नोट—१ 'मन सकुचानीं' इति। 'सकुचाने' के कुछ भाव ये हैं—(क) शास्त्रमें ध्यान छुड़ानेका निषेध है। (ख) राजकुमारीका भय है अथवा माताका भय है, वे यह प्रसंग सुनेंगी तो हमपर रुष्ट होंगी। (पं०)। (ग) जब दम्पति एकान्त स्थानमें हों तो उनके सुखमें बाधा करना उत्तम सखियोंको उचित नहीं है—एक ओर तो इस विचारमें हैं और दूसरी ओर साथ ही यह विचार लाचार करता है कि इस समय राजकुमार सामने खड़े हैं, संयोग पुनः मिलना दुर्लभ है, इनको न बताना भी अनुचित है, अतः इस असमंजससे 'सकुचानी'। (वै०)। अथवा, (घ) प्रथम एक सखीने कहा था कि 'अवसि देखिअहि देखन जोगू' अब सोचती हैं कि बड़ी अनुचित बात हुई, अतः 'सकुचानीं' (मा० त० वि०)।

गौड़जी—'सकुचानीं' इति। सखियोंको मन-ही-मन संकोच है। संकोच सैकड़ों तरहका है। दर्शन कराके प्रेमवश करनेकी जिम्मेदारी (उत्तरदायित्व) का, देरका डर, ध्यानसे जगानेमें एवं असमय नेह लगानेकी अनीतिका खयाल, फिर सामने सरकार हों और दर्शनका मौका निकला जाता हो और यह उन्हें चेतावनी कैसे दें कि सामने प्रत्यक्ष दर्शन जितने क्षण हो सकते हैं कर लो, फिर ध्यान तो पीछे भी कर सकोगी। यहाँतक खयाल आया कि एकसे रहा न गया, ढिठाई कर ही बैठी। 'अजी कहाँ हो! गौरीका ध्यान तो फिर कर लेना। राजकिशोरको देख क्यों नहीं लेती हो!'—सयानी सखियोंके साथमें होनेका यही तो लाभ है। ☞ यह प्रकरण ध्वनि-काव्यका परमोत्तम उदाहरण है। यहाँके शब्द-शब्दमें व्यंजनाशक्ति उबली पड़ती है। जितने भाव एक-एक शब्दमें व्यञ्जित हैं उनको विस्तारसे कहनेको पोथियाँ काफी नहीं हैं।

नोट—२ संत श्रीगुरुसहायलालजीने इस चौपाईके अनेक भाव कहते हुए एक भाव यह भी कहा है कि यहाँ अर्घ्य पाद्यसे लेकर वस्त्रदानपर्यन्त षोडशोपचार पूजन भी गुप्त रीतिसे आ जाता है। 'लोचन मगसे मानसकुञ्जमें ले आयीं यह 'आवाहन' किया, तदनन्तर पलक अर्थात् पलंग (वृन्दावनी बोलीमें) दिये, इति 'आसन।' तत्पश्चात् 'क' अर्थात् जलके

सब उपचार किये। वहाँसे 'पाट' अर्थात् पाटाम्बरपर्यन्त निवेदन किये। कारण यह कि जब किसी सज्जनका आगमन होता है तो पहले खड़े होकर आगे हो ले आना, तब पैर धुलाना, आसन देना, अतर दिखाना, जलपान, तत्पश्चात् पूर्ण भोजन कराना, आचमन कराना, शयनकी तैयारी कर विश्राम देना, चलते समय द्रव्य, भूषण और वस्त्र देना चाहिये। यही सब यहाँ किया है।' (मा० त० वि०)।

दो०—लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥२३२॥

शब्दार्थ—लता-भवन=लताओंसे बना हुआ घर; लताकुञ्ज। पटल=आवरण, पर्दा। यथा—'सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥' निकसे=निकले।

अर्थ—उसी समय (जब सखियाँ श्रीसीताजीको प्रेमवश जानकर संकोचमें पड़ी थीं। दोनों भाई लताओंके कुञ्जसे प्रकट हो गये, मानो दो निर्मल चन्द्रमा मेघावरणको अलग कर निकले हों॥ २३२॥

नोट—१ **'लता-भवन'** इति। पूर्व कहा था कि **'लता ओट तब सखिन्ह लखाए'** अतः यहाँ लता-भवन कहकर जनाया कि वहाँ लताओंका कुञ्ज बना हुआ था। श्रीराम-लक्ष्मणजी राजकुमार हैं अतः उनके सम्बन्धसे 'भवन' शब्द दिया। अथवा पहले **'लता ओट'** कहा था अब परस्पर स्वीकार-भावसे गृहस्थाश्रमका सम्बन्ध जनाते हुए 'कुञ्ज' न कहकर 'भवन' कहा। (रा० च० मिश्र)। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि भवनशब्दसे गृहस्थाश्रमादिकी कल्पना करना शुद्ध सात्त्विक शृङ्गार-रसकी मर्यादाका भंग करना है।

टिप्पणी—१ **'लताभवन तें प्रगट भे····'** इति। (क) भगवान् प्रेमके अधीन हैं, प्रेमसे प्रकट होते हैं; यथा—**'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना। १८५। ५॥'** अतः जब श्रीजानकीजी प्रेमके वश हुईं तब भगवान् प्रकट हो गये। पुनः दूसरा दूरका अभिप्राय यह है कि पूर्व कह आये हैं कि 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा **बिस्वबिजय कहँ कीन्हीं॥'** काम डंका बजाकर विश्वविजयके लिये चला। पास आकर वह बाण चलाने लगा। **'जहँ बिलोक मृगसावकनैनी। जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी॥'** स्त्रीका दृग्पात कामका बान है, यथा—'नियतिं तु स्मरनाराचाः कान्ता-दृग्पातकैतवात्।' जब काम बाणोंकी वृष्टि करने लगा तब ये लताओटमें छिपे हुए थे, सखियोंने दिखाया कि देखो वह लताओटमें हैं। जब बाणवृष्टि बंद हुई, (**'लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी'** नेत्रोंका मुँदना ही बाणवृष्टिका बंद होना है), तब तुरत लताकुञ्जसे दोनों भाई प्रकट हो गये।

प० प० प्र०—(क) यह शुद्ध माधुर्यका प्रसङ्ग है। ऐश्वर्यभावसे जान लेना माना जाय तो सीताजी तो नेत्र मूँदे हैं, प्रेमसमाधिमें मग्न हैं, दर्शन कौन करेगा? प्रेमके कारण दर्शन देना था तो पहले ही क्यों न दिया? अतः प्रेमके कारण दर्शन देनेको प्रकट हुए ऐसा मानना सुसंगत नहीं है। (ख) सखियाँ सीताजीकी प्रेमविवशता देखकर संकुचित हैं, उनकी प्रेमसमाधि सखियोंकी चिन्ताका विषय हो गयी है। इन सखियोंको श्रीराम-लक्ष्मणका रूपसागर दिखाकर उनकी क्या दशा होती है यह कवि प्रेक्षकोंको दिखाना चाहता है। इसलिये यह नाट्यप्रवेश है। (ग) आधिदैविक दृष्टिसे तो **'सो सब कारन जान बिधाता'** ही सत्य है। (घ) प्रसंगानुकूल ऐतिहासिक दृष्टिसे लताओंके बीचमेंसे सीधा रास्ता छोड़कर निकलनेमें हेतु यह है कि विलम्ब हो गया है, गुरुमहाराज पूजाके लिये दल-फूलकी राह देख रहे होंगे, अतः शीघ्र जाना चाहिये, ऐसा जानकर जिस रास्तेसे आये थे उसीसे शीघ्र लौटनेके विचारसे लताओंको चीरकर निकल पड़े। (ङ) जिस मदनने रणदुन्दुभी बजाकर रघुवीरोंको जीतनेका विचार किया है उसकी सेना (परमसुन्दरी सखियों) के सामने रघुवीरोंको प्रकट करके और यह दिखाकर कि उस सेनाका बल कुछ भी कारगर न हो सका, कवि रघुवीरोंके मनकी सहज पावनता सिद्ध करेंगे।

नोट—२ **'निकसे जनु जुग बिमल बिधु'** इति। (क) 'चन्द्रमा एक है, दोका उपमान कैसे?' इस प्रश्नको उठाकर मिश्रजी उसका उत्तर यह देते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी चन्द्रस्वरूप हैं और श्रीरामजी चन्द्रान्तर्गत श्यामतारूप हैं। यथा—**'कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास। तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास॥ ६। १२॥'** (ख) मा० त० वि० कारने यह शङ्का उठाकर कि 'प्रथम तो केवल **'रामहि उर आनी'** कहा है। यहाँ दोनों भाइयोंका प्रकट होना क्यों

कहा ?' उसका समाधान यह किया है। कि 'रेफरूप श्रीरामजी, विन्दुरूप लखनलालजी और ध्वनिरूप भी दोनों एक ही अर्धमात्र प्रतीत होते हैं, वैसे ही यहाँ रूपकी प्रतीति। पुनः दूलहके साथ सहबाला भी जाता है पर बारातसे ले आना वा ले जाना दूलहहीके बारेमें कहा जाता है। अथवा 'प्रसन्नराघव' में श्रीकिशोरीजीके वचनोंसे जान पड़ता है कि लक्ष्मणजीपर उनका वात्सल्यभाव था इससे उनका भी प्रकट होना कहा।' (ग) यहाँ दोनों भाई साथ हैं और साथ लताकुञ्जसे निकले हैं तथा सखियोंकी दृष्टि दोनों राजकुमारोंपर है अतः दो चन्द्रमा कहे गये। (घ) इनको लेकर तीन चन्द्रमा वाटिकामें उदित हैं जिससे फुलवारी तेजोमय हो गयी। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—२ 'विमल बिधु' इति। इनको 'विमल' विधु कहनेका भाव कि प्राकृत चन्द्रमामें बहुत दोष हैं, इनमें कोई दोष नहीं हैं, ये निर्मल चन्द्र हैं। यहाँ 'विधु' से शरद्-शशि अभिप्रेत है। **'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥२३२। ६ ॥'** में जो पूर्व शरद्-शशि कहा था, वही प्रकट हुए।

नोट—३ 'जनु''जलद-पटल बिलगाइ' इति। (क) शरद्ऋतुके मेघ श्वेत रंगके होते हैं। लताभवनकी मेघ-समूहसे उपमा देकर जनाया कि बहुत-सी पुष्पित श्वेत लताओंके मिलनेसे वह कुञ्ज बना था इसीसे कुञ्जका रंग श्वेतमेघ-का-सा था। (ख) 'लताभवनसे दोनों भाइयोंका प्रकट होना' यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है, यह पहले कह दिया गया, तब उत्प्रेक्षा की गयी। कवि अपनी कल्पनासे पाठकका ध्यान बलपूर्वक खींचकर मेघसमूहको फाड़कर दो चन्द्रमाओंके निकलनेके दृश्य-की ओर ले जाते हैं जिससे लताओंको चीरकर उनके बीचसे निकलनेकी छटाका अनुमान किया जा सके। अतः यहाँ **'उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा'** है। वीरकविजीका मत है कि यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है क्योंकि दो चन्द्रमा साथ कभी नहीं उदय होते। (ग) उपमामें **'जलद पटल बिलगाइ'** कहा इससे उपमेयमें यह अर्थ निकलता है कि लताभवनको 'बिलगाकर' (चीरकर अलग करके) दोनों भाई निकले। (पं० रा० कु०)। श्रीरामजी प्रेमके अधीन हैं (उनका स्वभाव है कि पहले ओटमें रहते हैं, अतिशय प्रेम देखकर हृदयमें प्रकट होते हैं (जैसे सुतीक्ष्णजीके प्रसङ्गमें) फिर नयनका विषय होते हैं, (वि० त्रि०), इससे शीघ्रताके विचारसे लताओंको फाड़कर प्रकट हो गये, रास्ता बाहर जानेका दूर था, उससे निकलनेमें देर होती; इसीलिये बनी हुई राहसे न निकले। अथवा (घ) 'जितनी देरमें कुञ्जके पार होकर आवेंगे उतनेमें कदाचित् श्रीजानकीजी और ही किसी ओरको चली जावें। अतः लताकुञ्जके द्वारसे न निकले, विह्वलताके मारे लताको चीरकर निकल पड़े। अथवा, प्रेमवश सखियोंको महत् खेद हुआ है। इससे बिना विलम्ब किये तत्काल कुञ्जसे न्यारे हो प्रत्यक्ष हो गये जिसमें अपना और जानकी-जीका किञ्चित् भेद न खुले, गुप्त होना केवल लताके कुञ्जमें रहना मात्र प्रतीत हो।' (म० त० वि०)।

नोट—४ श्रीगौड़जीका मत है कि सरकारके पक्षकी जो बातें 'तात जनक तनया यह सोई।' से लेकर **'करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान। मुख सरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान ॥'** तक वर्णन की गयीं, वे सब घटनाक्रममें वस्तुतः 'लता भवन' से प्रकट होनेके बाद की हैं। यह 'श्रव्य' काव्य है। 'दृश्य' काव्य होता तो इसीके बाद दोनों पक्षका दृश्य साथ ही दिखाया जाता।

सोभा सीव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा ॥ १ ॥

अर्थ—दोनों वीर शोभाकी सीमा (हद) हैं अर्थात् इनसे बढ़कर किसीकी शोभा नहीं है और सुन्दर हैं। उनके शरीर नीले और पीले कमलकी आभा (कान्ति) के समान हैं ॥ १ ॥

पं० रामकुमारजी—१ मानो दो निर्मल चन्द्रमा निकले, यह कहकर आगे 'शोभा-सीव' कहनेका भाव यह है कि चन्द्रमाकी सुन्दरतामें गिनती है, यथा—**'कुँवर साँवरो री सजनी सुंदर सब अंग। रोम रोम छबि निहारि आलि वारि फेरि डारि, कोटि भानु सुवन शरद सोम कोटि अनंग ॥ गी० २। १४ ॥'** **'सुखमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोम पर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे ॥ गी० १। ६६ ॥'** २—पूर्व कह आये कि 'कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी', सखियाँ सीताजीसे कुछ कह न सकीं। 'सोभा सीव' इत्यादि वचन एक सखीके दूसरी सखीके प्रति हैं (जैसा आगेके 'साँवर कुँवर सखी सुठि लोना' से स्पष्ट है)। ३—'सोभासीव कहकर 'सुभग दोउ बीरा' कहनेका भाव यह है कि जो अत्यन्त सुन्दर होते हैं, उनमें प्रायः वीरता नहीं होती, पर ये दोनों सुन्दर भी हैं और वीर भी। ४ श्रीरामजीकी श्यामताके लिये नील कमल, नीले मेघ, नील मणि, दूर्वादल, इत्यादिकी उपमाएँ दी गयी हैं और लक्ष्मणजीके गौरवर्णके

लिये सुवर्ण, पीत कमल, कुन्द इत्यादिकी उपमा देते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसी उनकी श्यामता-गौरता है वैसी कहते नहीं बनती, इसीसे अनेक उपमाएँ देते हैं।

नोट—१ कुछ लोगोंने 'सोभासीव' और 'सुभग' में पुनरुक्ति दोष मानकर उसका निवारण इस प्रकार किया है कि—(क) 'सोभासीव' रामजी और 'सुभग' लक्ष्मणजी हैं। वा, (ख) 'दोउ सुभग वीरा सोभा सीव हैं' ऐसा अन्वय कर लें 'सुभग' वीरका विशेषण है। वा, (ग) सुभग=सुष्ठु ऐश्वर्यसे युक्त। (रा० प्र० वै०)।

२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि—'सुभग' सोभा और वीरा दोनोंके साथ है। 'शोभा' से श्रृङ्गाररस (प्रीति करनेमें) और 'वीरा' से वीररस जनाते हैं। ये दोनों रस सुभग अर्थात् ऐश्वर्यमान् होनेसे शान्तरसयुक्त हैं। 'सुभग' विशेषणसे जनाया कि इनकी शोभा और वीरता श्रृङ्गार और वीररसके विकारोंसे रहित है। श्रृङ्गारका विकार कटाक्षादि और वीरका प्रलापादिक हैं।' और पंजाबीजीका मत है कि 'सोभा' से भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी पृथक्-पृथक् शोभा जनायी और 'सुभग' से 'समुच्चय-कान्ति' सूचित की।

३ 'सोभासीव सुभग बीर' कहनेका भाव कि वीर तो स्वाभाविक ही हैं पर इस समय इनकी वीरता श्रृङ्गाररसमें है। (वै०)। अथवा, वीर इससे कहा कि अपनी शोभासे सखियोंसहित श्रीजानकीजीके मनको इन्होंने विजय कर लिया है। (रा० प्र०)।

प० प० प्र०—श्रृङ्गाररसका ही दर्शन प्रथम हुआ। धनुषबाणादि नहीं हैं तथा सुभग वीररस भी उनके शरीरपर छा रहा है। इस रूपवर्णनमें उत्तरोत्तर वीररसका ओज बढ़ता है और 'केहरि कटिपट पीतधर सुखमा सीलनिधान, में तो वीर-रस ही प्रधान है, पर अन्तमें 'शीलनिधान' में शान्तरस ही मुख्य है।

पाठान्तर—१७२१, १७६२, छ०, कोदोरामजी, पं० रामकुमारजी (भागवतदासजी), पाँड़ेजी इत्यादि कई महानुभावोंकी पुस्तकोंमें 'जलजात' पाठ है। सं० १६६१ की पोथीमें 'जलजाभ' पाठ स्पष्ट है। 'जलजाभ' लिखा गया था 'म' की ऊपरकी लकीरमें बीचमें हरताल दिया है। जिससे 'भ' स्पष्ट है। 'आभा' की उपमा अन्यत्र भी ग्रन्थमें मिलती है—'केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं', (मं० श्लो० १ उत्तरकाण्ड)। १७०४ में भी 'जलजाभ' है। (शं० ना० चौबेजी) पर रा०प० में 'जलजात' है। 'जलजात=कमल।'जलजात' पाठसे भाव यह है कि वीरोंकी देह कठोर होती हैं, इनकी देह कठोर नहीं है वरंच कमलसमान कोमल है। (पं० रामकुमार)। मिलान कीजिये—'नील पीत नीरज कनक मर्कत घन दामिनि बरन तन रूपको निचोर हैं' अर्थात् जैसे कपड़ेको रंगमें डिबोकर निचोड़नेपर फीका रंग निचुड़ पड़ता है और औवल (उत्तम) रंग कपड़ेमें बना रहता है वैसे ही कमल आदिके रंग आपके रूपके निचोड़े हुए फीके रंग हैं।'

मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के॥ २॥

अर्थ—सिरपर 'मोरपंख' भली प्रकार शोभित है। बीच-बीचमें पुष्पोंकी कलियोंके गुच्छे लगे हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ जब नगर देखने गये तब सिरपर टोपी थी, यथा—'रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।' जब धनुषयज्ञ देखने गये तब 'पीत चौतनी' टोपी दिये हुए थे। यथा—'पीतचौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुम कली बिच बीच बनाई॥' और जब फूल लाने गये तब मोरपङ्खकी टोपी रही। इसीको गीतावलीमें 'टेपारे' कहते हैं; यथा—'भोर फूल बीनबे को गए फुलवाइ हैं। सीसन्ह टेपारे उपबीत पीतपट कटिदोना बाम करन सलोने भे सवाई हैं॥' यहाँ कुसुमकलीके गुच्छे कहते हैं। मोरपङ्ख कुछ ऊँचा है इसीसे उसकी बराबरीके लिये गुच्छे लगाये, कली लगाते तो न देख पड़ती उसमें बूड़ जाती। कपड़ेकी टोपीमें कुसुमकली लगी हैं जैसे धनुषयज्ञके समय टोपीमें 'कुसुम कली बिच बीच सुहाई' कहा है। ☞ तीन जगह तीन प्रकारकी टोपी देकर जानेका भाव यह है कि नगर देखने गये थे, इसीसे कामदार टोपी देकर गये, 'रुचिर चौतनी सुभग सिर।' धनुषयज्ञ देखने गये तब पीत टोपी देकर गये क्योंकि पीतरंग वीरोंका बाना है, वहाँ वीरता दिखानेका समय था। फुलवारीमें देव-कार्यसे गये, इसीसे पीताम्बर और मोरपङ्खकी टोपी धारण की, विना धोया हुआ कपड़ा नहीं धारण किया। कपड़ेकी टोपियाँ कामदार सब विना धुली हुई थीं।

नोट—१ सं० १६६१ की पोथीमें 'मोरपंख' पाठ स्पष्ट है, हरताल आदि भी नहीं है और न हाशियेहीपर कोई दूसरा पाठ है। पाँड़ेजी और कोदोरामजीकी छपी पुस्तकोंमें 'काकपक्ष' पाठ है। बैजनाथजीने कोदोरामजीकी पुस्तकका पाठ लिया है।

पर श्रीजानकीशरणजी जिन्होंने असली पोथी देखी है वे कहते हैं कि कोदोरामजीकी हस्तलिखित पोथीमें 'मोरपंख' पाठ है। कुछ लोग 'काकपक्ष' को इससे शुद्ध मानते हैं कि मोरका पक्ष तो श्रीकृष्णजीके ध्यानमें है न कि रामजीके ध्यानमें। ऐसा जान पड़ता है कि 'मोरपंख' का ठीक अर्थ न लगा सकनेके अथवा उपासनाकी अनन्यताके कारण पाठ बदल दिया गया हो। प्राचीन पाठ 'मोरपंख' ही मिलता है। सं० १७०४, १७२१ और १७६२ में भी 'मोरपंख' पाठ है।—गीतावलीमें मोरपङ्खका और भी वर्णन आया है; यथा—'सिरन्हि सिखंड सुमनदल मंडन बाल सुभाय बनाए' (५४) शिखण्डका अर्थ मोरकी पूँछ है (श० सा०)। अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न लिखे हैं—१ मोरपङ्खी टोपी जो आगे-पीछे कम चौड़ी होती है। बीचमें ज्यादा चौड़ी और लम्बी होती है। २—मोरका पङ्ख। परंतु पंजाबीजी लिखते हैं कि 'सिरपर मोरके पङ्ख शोभित हैं और बीच-बीचमें फूलोंकी कलियोंके गुच्छे लगे हैं' ऐसा अर्थ करनेमें यह दोष आता है कि मोरपङ्ख-संयुक्त ध्यान श्रीरामचन्द्रजीका कहीं नहीं पाया जाता। दूसरे, इस अर्थसे सिर नंगा पाया जाता है।' ३—सन्त उन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि—'श्रीकिशोरीजीके प्रेमकी उत्तम दशाको देख यहाँ नित्य रास रहस्यके उपवनविहारकी अकृत्रिम अद्भुत ऐश्वर्यकी झाँकी प्रकट की है। इस एकान्त स्थानके अतिरिक्त कहीं ऐसी झाँकी महाराजकी नहीं पायी जाती। 'प्रसन्नराघव' नाटकमें पुष्पवाटिका-विहारमें सखीके वचन हैं—'अग्र ते सखि शिखण्डमण्डने पुण्डरीकरमणीयलोचने' एवं 'क्रीडाशिखण्डकधरेण सलक्ष्मणेन।' पुनः, रङ्गभूमिमें भी कहा है कि 'कुसुम कली बिच बीच बनाई। इससे सिद्ध होता है कि कमरखी मणिजटित ताज है जिसमें झब्बा ऐसा बनता है कि मालूम होता है कि चारों ओर कुसुमकली है उसके बीचका जो काम है वह मोरचन्द्रिका है।'

रा० प्र० कार लिखते हैं कि इस प्रकरणमें दोनों भाई समयानुसार तीनों अवसरोंपर तीन प्रकारकी टोपियाँ पहिने हैं। नगरदर्शनसमय लाल चमकदार, रङ्गभूमिमें पीली और यहाँ मोरपङ्खी हरे रङ्गकी, क्योंकि फुलवारीमें हरे रङ्गकी प्रधानता है।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि इस समय फूल लेने आये हैं, अतः स्वाभाविक वेषमें हैं। चौतनीसे भी अधिक शोभा है। यह विच्छित्तिहाव है। किञ्चित् शृङ्गारसे मोहित करनेको विच्छित्तिहाव कहते हैं। इसी झाँकीको कृष्णावतारमें दिखलाकर ब्रजवनिताओंको मोहित करेंगे।

'काकपक्ष' भी गीतावलीमें आया है—'मेचक पीत कमल कोमल कल काकपक्षधर वारे। सोभा सकल सकेलि मदन बिधि सुकर सरोज सँवारे॥ १। ५८॥' परंतु फुलवारी और रङ्गभूमिके समय वहाँ भी टोपीहीका ध्यान वर्णित है।—'सीसनि टिपारे' एवं 'राजिवनयन बिधुबदन टिपारे सिर नखसिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं।' (गी० १। ६९ और ७१)। काकपक्ष जुल्फीको कहते हैं। इस पाठसे नंगे सिर होना पाया जाता है। पुनः, इससे आगे पुनरुक्ति जान पड़ती है, क्योंकि आगे कहते हैं कि 'बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे।' इस पाठके पक्षपाती पुनरुक्तिकी निवृत्ति यों करते हैं कि सिरके ऊपर जो सचिक्कन पट्टे होते हैं और बिखरे हुए बाल जो माथे और गलेतक फैले हुए हैं वे घुँघरारे बाल हैं।

प्राचीनतम एवं प्रायः सभी प्रामाणिक पोथियोंमें 'मोर पंख' पाठ होनेसे हमने उसीको लिया है। प्रसन्नराघवनाटकमें भी वाटिकामें भी 'शिखण्डिपिच्छमण्डितकर्णपूरौ' शब्द आये हैं अर्थात् जिनके कर्णपूर मोरपङ्खसे शोभित है।

गीतावलीमें जनकपुरमें आगमनके समयसे धनुषयज्ञ तकमें कई बार रूपका वर्णन हुआ है। उनमें 'चौतनी सिरनि' (१। ६०), 'चौतनी चारु अति' (१। ६१), 'काक सिखा सिर' (१। ६४), 'भोर फूल बीनबे को गए फुलवाई हैं। सीसनि टिपारे उपबीत पीतपट कटि दोनों बाम करनि सलोने भे सवाई हैं॥' (१। ६९) और धनुषयज्ञमें भी 'टिपारे सिर' (१। ७१) कहा गया है। 'टिपारे' का अर्थ हिन्दी श० सा० में इस प्रकार दिया है—'[हिं० तीन+फा० पार=टुकड़ा] मुकुटके आकारकी एक टोपी जिसमें कलगीकी तरह तीन शाखाएँ निकली रहती हैं, एक सिरेपर, दो बगलमें।, मानसमें 'टिपारे' की जगह फुलवारी प्रकरणमें 'मोर पंख' है। इसीसे सम्भव है कि 'टिपारा' और 'मोर पंख' पर्य्याय शब्द हों।

जो 'काकपक्ष' को प्राचीन और शुद्ध मानें वे निम्न अर्थोंमेंसे जो रुचिकर समझें वह अर्थ ले सकते हैं—१ जुल्फ। २ कामदार टोपी दोपलिया जो दोनों तरफ मगजीमें बढ़ी हुई होती है। ३—काक (सर्पिणी) = पक्ष (=केश) = नागिनके-से केश।—(मा० त० वि०)। ४—कौएके पङ्खके आकारके पट्टे काले चमकदार।—(वैजनाथ)। [श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'मैं भी वैजनाथजीके अर्थसे सहमत हूँ। कारण कि मोरपङ्खका शृङ्गार अधिकतर कृष्णजीका है। दूसरे, टोपीसे यह शृङ्गार समयके अधिक अनुकूल है। वहीं निकट ही ठहरे थे और सवेरे गुरुकी पूजाके हेतु फूल लेने चले आये थे।

तीसरे 'बिच बिच गुच्छा कुसुमकली' के साथ मिलकर इस शृङ्गारमें सजीवता और सरलता बहुत है। बागमें जो गुच्छा कलियोंका पसन्द आया उसीको यौवनके उभारकी सरसतामें जुल्फोंमें गूँथ लिया, जैसे हम बटनहोलमें फूल या कली लगा लेते हैं। चौथे शृङ्गारके माधुर्यका उभार स्वाभाविक हो जाता है, मानों सुन्दरताकी परखका अंश विकसित हो गया)। ५ बालोंके पट्टे जो दोनों ओर कानों और कनपटियोंके ऊपर रहते हैं। (श० सा०)।

नोट—'गुच्छ बीच बिच' १६६१ का पाठ है। १७२१, १७६२ और १७०४ में भी यही पाठ है। पाठान्तर—'गुच्छा बिच बिच', 'गुच्छे बिच बिच' हैं। टोपी पहने होना अर्थ करनेमें 'गुच्छ बीच·····' का भाव होगा कि ये कलियाँ रेशम और सुनहले रुपहले तार आदिकी हैं जो टोपीपर कढ़ी हुई हैं। और नंगे सिर होनेमें केशोंमें कुसुमकलीके गुच्छे अथवा मोरपङ्खके बीच-बीचमें कुसुमकलीके गुच्छे लगे हैं यह भाव होगा।

भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥ ३॥

अर्थ—माथेपर तिलक और पसीनेकी बूँदें सुशोभित हैं। सुन्दर कानोंमें सुन्दर भूषणोंकी छबि छायी हुई है। अर्थात् कुण्डलोंकी कान्ति फैल रही है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) स्नान करके आये हैं, इसीसे भालपर तिलक वर्णन करते हैं और श्रमबिन्दु कहते हैं। (तिलक-रेखकी शोभा पूर्व नगर-दर्शन समय लिख आये हैं, यथा—'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी। २१९। ८।' इससे यहाँ इतना ही कहा)। एक तो शरदृतु है, दूसरे प्रातःकाल, तीसरे फुलवारी निकट है, इतनी ही दूर आनेमें श्रमबिन्दु प्रकट हो गये—इससे सूचित कर रहे हैं कि दोनों भाई अत्यन्त सुकुमार हैं। [(ख) 'सुहाए' इति। छोटे-छोटे बूँद मोतीसे झलक रहे हैं, अतएव 'सुहाए' कहा। श्रम कहाँ हुआ? आश्विन मासका घाम कड़ा होता है, उससे थकावट भी आती है। पुनः, लता चीरकर निकलना पड़ा उसमें परिश्रम हुआ और अत्यन्त सुकुमार कोमल नाजुक हैं इससे दल फूल उतारनेमें भी परिश्रम हुआ। पुनः, श्रीसीताजी प्रेमविवश हैं, सखियाँ भी चिन्तित हैं, उनके प्रेमसे आप भी बेबस हो गये, इससे श्रम हुआ। श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि 'यद्यपि और भी कारण है तथापि मुख्य कारण श्रीसीताजीका प्रेम है। उनके प्रेमके कारण रगोंमें खूनकी दौड़ हो रही है, नहीं तो अभी सवेरेका समय है और फुलवारीका टहलना कोई विशेष श्रम न था। (मजा यह है कि सखियाँ सुकुमारताके कारण ही पसीनेको श्रमसे उत्पन्न समझती हैं) मैं इसको मुख्य कारण इससे समझता हूँ कि शामको (सन्ध्या समय) इसके विपरीत जब चन्द्रमाकी किरणें शीत उत्पन्न करेंगी तब रामचन्द्रजी चन्द्रमाकी निन्दा करते हुए उसे 'हिमकर' कहेंगे।' (ग) 'सुहाए'—वैजनाथजी लिखते हैं कि श्रीकिशोरीजीका दर्शनरूप फल पानेसे श्रम सफल हुआ, इसीसे श्रमबिन्दु 'सुहाए' लगते हैं। (यह शृङ्गाररसका भाव है)। (घ) 'तिलक' इति। श्रीमद्गोस्वामीजीने तिलकका पूरा वर्णन ग्रन्थभरमें कहीं नहीं किया। कारण कि वैष्णवोंमें चार सम्प्रदाय हैं। चारोंमें दोनों ऊर्ध्व रेखाएँ अवश्य हैं, भेद केवल बीचके तिलकमें है। इस मतभेदके कारण उन्होंने 'तिलक' शब्दमात्र कहकर छोड़ दिया। गीतावलीमें भी प्रायः केवल ऊर्ध्वपुण्ड्रका ही वर्णन पाया जाता है। यथा—'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलकरेख रुचि राजै। मनहु मदन तम तकि मरकतधनु जुगल कनक सर साजै॥'—(उ० पद १२)।]

२ 'श्रवन सुभग भूषन छबि छाये' इति। (क) श्रवण सुभग हैं अर्थात् स्वयं सुन्दर हैं, कुछ आभूषणोंकी सुन्दरतासे सुन्दर नहीं हुए, वस्त्राभूषणके त्याग देनेपर उनकी और भी अधिक शोभा होती है; यथा—'कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यौ तज्यौ नीर ज्यों काई' इति कवित्तरामायणे। २। १।' (ख) यहाँ आभूषणोंके नाम नहीं लेते, क्योंकि प्रथम (नगर-दर्शनमें लिख चुके हैं; यथा—'कानन्हि कनकफूल छबि देहीं।' (ग) 'छबि छाये' का भाव कि मानो मूर्तिमान् छबिने यहाँ छावनी डाल दी है। यहाँ आकर ठहर गयी है। शोभा छा रही है।

नोट—☞ इस दोहेभरमें सखीका संवाद है, कवि या वक्ताओंका नहीं, क्योंकि कविके लिये 'सखी' शब्दसे सम्बोधन नहीं सम्भव हो सकता, जैसा संवादके अन्तमें दिया गया है—'साँवर कुँअर सखी सुठि लोना।' सखीका संवाद सखीके प्रति साभिप्राय है। श्रीजानकीजीने तो अपना ध्यान सखियोंसे छिपाया, फिर भी सखियाँ जान गयीं, पर उनके संकोचके कारण कुछ कह न सकीं। ध्यान क्योंकर छूटे? उसीका प्रयत्न कर रही हैं कि आपसमें ध्यानका, श्रीरामजीके स्वरूपका वर्णन करने लगीं कि वे सुनकर आँख खोलकर रूप देखने लगें। पर जब इस यत्नसे भी सफलता प्राप्त न हुई, ध्यान न छूटा तब दूसरी सखीने हाथ पकड़कर ध्यान छुड़ाया।

त्रिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे॥ ४॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला॥ ५॥

शब्दार्थ—घूघरवारे=घुँघराले। रतनारे=लाल। बिलास=विशेष शोभा, फबनि।

अर्थ—टेढ़ी भौंहें; घुँघराले बाल और नये खिले हुए लाल कमलके समान लाल-लाल नेत्र हैं॥ ४॥ ठोढ़ी, नाक और गाल बड़े सुन्दर हैं। मुस्कानकी विशेष शोभा (तो मानो) मनको मोल ही लिये लेती है। अर्थात् अत्यन्त सुन्दर है॥ ५॥

लमगोड़ाजी—देखिये, पहले नेत्र श्वेतकमल-से थे, शृङ्गारके माधुर्यने लाली उत्पन्न कर दी।

टिप्पणी—१ (क) 'विकट भृकुटि' अर्थात् धनुषाकार हैं, यथा—'भृकुटि मनोज चाप-छबिहारी॥' [श्रीसीतारामजीकी भ्रू कानपर्यन्त लम्बी कही जाती है और बहुत ही टेढ़ी। दोहावलीके १८७ वें दोहेसे जान पड़ता है कि इतनी टेढ़ी हैं कि जितनी मनुष्यकी क्रोधमें हो जाती है; यथा—'मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहि दै दोष। तुलसीसे सठ सेवकन्हि लखि जनि परहि सरोष॥' धनुषके समान टेढ़ी सर्वत्र कही गयी है। पुनः यथा—'प्रातः स्मरामि रघुनाथमुखारविन्द""कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्॥' 'आकर्ण्याकर्ण विशालनेत्रे"'। हनु० १०। ७॥' (ख) 'कच घूघरवारे' अर्थात् मरोड़दार (कुंचित) हैं। ये घुँघराले बाल कपोलोंके ऊपर आये हैं इसीसे कपोलोंके समीप केशका वर्णन किया; यथा—'घुँघरारी लटैं लटकै मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।' आगे कपोलका वर्णन करते हैं। (ग) 'नव सरोज लोचन रतनारे' अर्थात् अत्यन्त सुन्दर हैं, कृपायुक्त हैं। ☞ जहाँ कृपादृष्टिका प्रयोजन होता है वहाँ नेत्रको कमल विशेषण देते हैं। यथा—'राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥' 'देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना॥' [(घ) पांड़ेजी दूसरा अर्थ यह भी कहते हैं कि 'रतनारे कमलनयन (नीचेको) नये हुए हैं, अर्थात् मर्यादा-अनुसार श्रीजानकीजी सखियोंके निकट होनेसे दृष्टि नीचे किये हुए हैं।' राजकुमारोंको निर्मल चन्द्रमा कह आये हैं—'निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ' और कमल चन्द्रमाके सामने संकुचित हो जाता है ही, अतः यह भाव कहा गया। शृङ्गाररसके रसिक यह भाव भी कहते हैं कि 'सियमुख शशि' के सामने नेत्रकमल पड़नेके कारण 'नव' पद दिया गया। पांड़ेजी यह भी अर्थ करते हैं कि 'सामान्य कमलकी शोभाको इस लोचनकमलने जीतकर पुराना कर दिया।' अर्थात् इनके नेत्रोंके आगे लालकमल भी 'नये' (लज्जित वा नम्र) हो जाते हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि आँखको गुलाबी नये कमलकी भाँति कहनेका भाव कि प्रथम कैशोर है, किशोरावस्थाका प्रारम्भ है। इस अवस्थामें नेत्रके कोणमें लालिमा आ जाती है। यथा—'वर्णस्योज्ज्वलता कापि नेत्रान्ते चारुणच्छविः। रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति']

२ 'चारु चिबुक नासिका कपोला।"' इति। [(क) नासिका शुकतुण्ड-सी, कपोल दर्पण-सा, जिसमें चलकुण्डलकी झलक पड़ रही हो। प्रेमवश देखकर अनुग्रह हुआ, हँसते हुए लता-भवनसे निकले। (वि० त्रि०)। (ख) भगवान्‌की हँसी माया कही गयी है। यथा—'माया हास बाहु दिगपाला।' और माया मनको मोहती ही है, इसीसे मनको मोल लेना कहा। मोल लेनेका भाव यह है कि जो चीज मोल ले ली जाती है उसको अपना अखतियार (अधिकार) कुछ नहीं रह जाता, वह परतन्त्र हो जाती है, इसी तरह जिसकी दृष्टि आपकी मुस्कानपर पड़ी या जिसकी ओर किंचित् भी मुस्कुराकर आप देख देते हैं, उसका मन उसके वशमें नहीं रह जाता, वह आपका ही हो रहता है, आपके हाथ (बिना मोल) बिक जाता है, फिर उसका मन कहीं अन्यत्र नहीं जाता। (ग) 'हास-बिलास' पदसे पाया जाता है कि दोनों भाई हँस-हँसकर कुछ बातें करते हैं। [इनकी हँसी मनकी पूरी कीमत है। यह विलास नामक हाव है। संयोग समय कटाक्षादि अनेक क्रियाओंसे मोहित करनेको विलास हाव कहते हैं। (वि० त्रि०)। यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है, क्योंकि यहाँ बिना वाचक पदके उत्प्रेक्षा की गयी है। (वीरकवि)।]

मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥ ६॥
उर मनि-माल कंबु कल गीवा। काम कलभ कर भुज बलसींवा॥ ७॥
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥ ८॥

शब्दार्थ—गीवा (ग्रीव)=कण्ठ। कलभ=हाथीका बच्चा। कर=सूँड़। 'लोना' (बुन्देलखण्डी बोली है)=सुन्दर।

अर्थ—मुखकी छबि मुझसे नहीं कही जाती, जिसे देखकर बहुतसे कामदेव लज्जित हो जाते हैं॥ ६॥ वक्षःस्थल

हृदय (देश) पर मणियोंकी माला है, शङ्खके समान (त्रिरेखायुक्त पुष्ट सचिक्कन) सुन्दर ग्रीवा है। कामदेवरूपी हाथी-के बच्चेकी सूँड़के समान भुजाएँ बलकी सीमा हैं ॥ ७ ॥ बायें हाथोंमें फूलोंसहित दोना है। हे सखी ! साँवला राजकुँवर तो अत्यन्त ही सलोना है ॥ ८ ॥

नोट—१ 'मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं ।....' इति । भाव कि—(क) 'उपमा देकर छबि कही जाती है सो कोई उपमा देते नहीं बनती। उपमा सुन्दर वस्तुकी दी जाती है और काम सुन्दर है उसकी उपमा क्यों नहीं देते ? कारण कि उसकी उपमा दें तो वह तो आप ही मुख देखकर लज्जित हो जाता है तब कामकी उपमा कैसे देते बने ? (पं० रामकुमारजी)। (ख) उपमाके लिये अनेक कामदेवोंको एकत्र किया तो भी वे सब मिलकर भी समताके योग्य न ठहरे तब और कौन है जिसकी उपमा दें ? (वै०)। पाँड़ेजी 'बहु काम लजाहीं' के और भाव यह लिखते हैं कि 'कवियोंकी 'कहन' (कहनेकी) कामना लज्जित हो जाती है।' अथवा 'राजपुत्रीके साथकी सखियोंकी कामना लज्जित हो जाती है। कामनाका लज्जित होना यह कि उनकी ओर ये कटाक्ष नहीं करते और अन्य पुरुषपर दृष्टि न डालना यह जो उनकी शूरता थी सो भी पराजित हो सफलताको न प्राप्त हुई।' बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि 'बहुकाम' नाम स्त्रियोंका भी है, क्योंकि उनमें पुरुषोंसे अठगुना काम कहा जाता है। वे मदमाती स्त्रियाँ भी इस छबिको देखकर लजा जाती हैं।' (ग) उपमेयकी समतामें उपमानका लज्जित होना 'चतुर्थ वा पञ्चम प्रतीप अलंकार' है।

२ (क) 'उर मनि माल' इति। पूर्व कह आये हैं कि 'उर अति रुचिर नाग-मनि-माला' इसीसे यहाँ दुबारा मणिका नाम न दिया। यहाँ भी गजमुक्ता, सर्पमणि और माणिक्य तीनोंहीकी माला समझना चाहिये। (माला पहने हुए रहनेका विधान है, अतएव मणिकी माला पहने हुए हैं (वि० त्रि०)। (ख) 'कंबु कल गीवा' इति। यथा—'रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवाँ ॥ १। २४३। ८ ॥' रा० प्र० कार लिखते हैं कि त्रिरेखायुक्त होनेका भाव यह है कि तीनों लोकोंका शृङ्गार हारकर गले पड़ा है। (ग) 'काम कलभ कर भुज बलसीवा' इति। भाव कि श्रीरामजीकी भुजाकी उपमा तब कुछ हो सके जब कामदेव स्वयं हाथीका वेष बनावे; यथा—'जनु बाजि बेष बनाइ मनसिज राम हित अति सोहई।' (पं० रामकुमारजी)। वीरकविजी लिखते हैं कि कामदेवरूपी हाथीकी सूँड़ उत्कर्षका कारण नहीं है, क्योंकि हाथीकी सूँड़ उतार चढ़ावकी होती है, यहाँ उपमासे केवल इतना ही तात्पर्य है तो भी 'काम-कलभकर' की कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति' है।

टिप्पणी—१ 'सुमन समेत बाम कर दोना' इति। दोना मालियोंने बनाकर दिया है, फूल अपने ही हाथसे तोड़ना चाहिये, इससे फूल स्वयं तोड़ रहे हैं। वाम हाथमें दोना है, दाहिना हाथ फूल तोड़नेके लिये खाली है। दोना दोनों भाइयोंके हाथमें है, यथा—'सीसन टिपारे उपबीत पीत पट कटि, दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं। गी० १। ६९।' २—'सुठि लोना' यथा—'चारिउँ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा' ॥ वाम करमें दोना कहकर सुन्दरता कहनेका भाव कि दोना हाथमें लेनेसे अधिक सुन्दर हो गये हैं—'दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं'।

नोट—३ रसिक महानुभाव यह अर्थ करते हैं कि 'सुन्दर भावुक मनवाली स्त्रियोंके हाथका दोना यह साँवला कुँवर है। अर्थात् ऐसी स्त्रियाँ इन्हें देखकर मुग्ध हो जाती हैं, इनके वश हो जाती हैं।

पाँड़ेजी लिखते हैं कि सुमन (अच्छे सुन्दर मनवाली) बाम (स्त्रियों) के सुन्दर मनको दोनेमें लिये हैं। अर्थात् जिन सुन्दरियोंने अपना भावुक मन दिया है उनके मनोंका अनादर कर रहे हैं कि एक तो पत्तेके दोनेमें और वह भी बायें हाथमें लिये हैं। तब वे मनको देती ही क्यों हैं ? इसका उत्तर यह है कि विशेष सुन्दरताका ऐसा ही जाल है कि उसमें उनका मन अवश्य ही फँस जाता है।

४ किसी-किसीका मत है कि 'साँवर गौर सखी सुठि लोना' पाठ होना चाहिये था क्योंकि ऊपरसे दोनों कुँवरोंका वर्णन चला आ रहा है। गोस्वामीजी प्रेममें मग्न हो 'साँवर कुँवर' लिख गये अथवा सखी ही प्रेममें भूल गयी। वस्तुतः 'सुठि लोना' कहकर जनाया कि गौर कुँअर भी 'लोना' है पर यह 'सुठि लोना' है। लमगोड़ाजीकी बात भी यथार्थ है कि आखिर साँवले कुँवरको इन्होंने भी चुना। (बालक लोगोंने भी शोभा देखी और 'लगे संग लोचन मन लोभा' उनके मन भी लुब्ध हुए पर सुन्दरताकी इस बारीकीतक वे नहीं पहुँच सके कि दोनों कुँअरोंमें एकको भी 'सुठि लोना' कह सके। वि० त्रि०)।

दोहा—केहरि कटि पट पीत धर सुखमा सील निधान।
देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान ॥२३३॥

अर्थ—सिंहकी-सी (पतली) कमर है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, परमा शोभा और शीलके निधान (स्थान, समुद्र, खजाना) हैं, सूर्यकुलके भूषण (श्रीरघुनाथजी) को देखकर सखियोंको अपनी सुध-बुध भूल गयी ॥ २३३ ॥

नोट—१ 'केहरि कटि' इति । (क) इस प्रकरणका आरम्भ शृङ्गाररसमें है, जो **'मोरपंख सिर सोहत नीके'। २३३। २।'** से उठाया गया है, और उसका विश्राम यहाँ 'केहरि कटि' वीररसपर किया गया है। इस समय कारणवश ऐसा किया गया, इसीकी अब आवश्यकता आ पड़ी है। इस दोहेसे वीररसका आरम्भ हुआ और आगे यही रस प्रधान रहेगा। (पां०)। (ख) शिरसे ध्यानका प्रारम्भ करके कटितक ही ध्यानका वर्णन करना शृंगाररसमें ही होता है। केवल मुखका ध्यान वात्सल्यरसमें प्रधान है और पदका ध्यान दास्यरसमें प्रधान है। यहाँ शृङ्गाररसके प्राबल्यसे कटितकका ध्यान कहा गया, उसके नीचेका नहीं। (रा० प्र०)। त्रिपाठीजीका मत है कि **'सुखमा सीलनिधान'** कहते-कहते रुक गयी, चरणोंकी शोभा न कह सकी, अपनेको ही भूल गयी, यही दशा सुननेवालियोंकी हुई। अथवा; फूलकी कियारीमें हैं, कटिसे नीचेके भागका दर्शन नहीं हुआ, इसलिये वर्णन नहीं किया।

२ **'पट पीत धर'** इति। वीरस्वरूप कहकर वीरवेष भी कहा। केसरिया बाना वीरोंका है, यथा—**'पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः'**)। (भागवते)। (रा० च० मिश्रजी)। [पर भगवान्‌के ध्यानमें प्रायः सर्वत्र पीताम्बरहीका वर्णन पाया जाता है]।

टिप्पणी—१ **'सुखमा सील निधान'** इति। **'सीलनिधान'** कहनेका भाव कि समस्त गुण मनुष्यमें हों, सुन्दरता भी हो, पर यदि शील न हो तो शोभा नहीं है, इसीसे शोभा (सुखमा) निधान कहकर शीलके निधान कहा। **'शीलं परं भूषणम्'**। [शीलसे शोभामें विशेषता आ जाती है। इसीसे प्रायः शोभाके साथ शील गुण भी कहा गया है। यथा—**'रूप सील निधि तेज बिसाला। ७६। ५।' 'सोभा सील ग्यान गुन मंदिर'** (विनय० ८५), **'रामु लखनु दोउ बंधु बर रूप सील बल धाम। २१६।'** शोभा और शील दोनों भाइयोंके शरीरोंमें दर्शित हो रहे हैं।

२ **'देखि भानुकुल भूषनहि'** इति। भानुकुलभूषणका भाव कि श्रीरामजीको देखकर सखियाँ मोहित हो गयीं, पर श्रीरामजी सखियोंको देखकर न मोहित हुए। (ये उनकी ओर देखते भी नहीं)। भानुवंशी कभी परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डालते, यथा—**'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरै न काऊ ॥ २३१। ५।'** और श्रीरामजी तो स्वप्नमें भी कभी परस्त्रीकी ओर नहीं देखते, यथा—**'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ॥ २३१। ६।'** अतएव **'भानुकुलभूषन'** कहा। (यह रघुकुलवीरोंका स्वभाव, शील भानुके प्रकाशवत् सिद्ध हुआ। यह सहज स्वभाव भानुकुलका भूषण है और श्रीरामजी तो इस भूषणके भी भूषण हैं तब उपर्युक्त सब वचन क्यों न चरितार्थ होंगे। प० प० प्र०)।

नोट—३ (क) **'बिसरा सखिन्ह अपान'** इति। अर्थात् एकटक देखती रह गयीं, जैसा मनु-शतरूपाजीके प्रसङ्गमें कहा है। यथा—**'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन-पट रोकी ॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा ॥ हरष बिबस तन दसा भुलानी। १४८। ५—७।'** यही हाल सब सखियोंका हुआ। वे देहकी सुध भूल गयीं, उनको कुछ भी सुध नहीं है कि वे कौन हैं, कहाँसे और किस लिये आयी हैं इत्यादि। यथा—**'तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन को कहाँ ते आई, कौन काज काके ढिग कौन ठाँउ को हैं।** गी० ७। ४।' यही अपनेको भूलना है। (श्रीसीताजीकी देह **'मैं मोरी'** यह पूर्व कह आये। अब सखियोंकी भी वही दशा हुई)। (ख) प्रश्न—जब प्रथम देखा था, तब देहकी सुध क्यों न भूली थी? उत्तर—(१) क्योंकि पहले प्रभुको लताकी ओटमें देखा था, यथा—**'लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए ॥ २३२। ३।'** लताकी ओटके कारण भली प्रकार शोभा देखनेमें न आयी थी। अब वे लताभवनसे प्रत्यक्ष प्रकट हो गये तब साङ्गोपाङ्ग शोभा देख पड़ी, इसीसे देह-सुध भूल गयी। यथा—**'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी ॥ २६४। ४।'** तथा यहाँ सखियोंकी दशा हुई। अथवा, (२)

यह प्रभुके स्वरूपका अद्भुत प्रभाव ही है। प्रथम यथार्थ स्वरूपका बोध न हुआ था, जब देखा कि ये भानुकुलके भूषण हैं अर्थात् 'भानुकोटिप्रतीकाशं कुण्डलादिश्रुतिद्वयम्। प्रवृत्तारुणसंकाशं किरीटेन विराजितम्॥' हैं तब वेसुध हो गयीं। अथवा, (३) अपनी सुषमाका गर्व मिट गया। (मा० त० वि०)। (ग) पांडेजी लिखते हैं कि अपना आपा भूलनेका कारण यह है कि सखियोंने जितना सुना था उससे कहीं अधिक शोभा राजपुत्रोंकी देखी। अथवा, अपने रूप और शोभाके सम्पूर्ण ऐश्वर्यके गुमानको भूल गयीं। (पाँ०)। (घ) 'अपान बिसरा' से जड़ता संचारी भाव कहा। जब इष्ट या अनिष्ट सुनने या देखनेसे कोई बोध नहीं होता तो उसे जाड्य-सञ्चारी कहते हैं।

टिप्पणी—३ नगरदर्शनमें धनुष-बाणका भी वर्णन है, यथा—'पीतवसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥ २१९। ३।' और जब स्वयंवर देखने गये तब भी धनुष-बाण धारण किये थे, यथा—'कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम वर काँधे। २४४। १।', पर यहाँ धनुष-बाणका उल्लेख नहीं है। कारण कि शास्त्राज्ञा है कि शस्त्रास्त्र धारणकर देवताके लिये पुष्प न उतारे (तोड़े)। इसीसे फुलवारीमें शस्त्रास्त्र धारण करके नहीं आये।

नोट—४ श्रीगौड़जी लिखते हैं कि—'ध्यानसे जगानेको एक चतुर सखी उस समयकी भगवान्‌की शोभाका वर्णन करती हुई सुनाती है कि सीताजी उस ध्यानको छोड़कर प्रत्यक्ष दर्शनमें लगें, परंतु मन सरकारमें है, तन सरकारके समक्ष है, वचन उन्हींकी शोभाका वर्णन करनेमें लगा है। उद्देश्य सखियोंका कुछ भी रहा हो, पर इस तरह तन-मन-वचनकी एकाग्रतासे तन्मयता आ गयी। अपनी ही सुध-बुध भूल गयीं। 'चौबे गये छब्बे बननेको दूबे बनके आये'। उस समय सबमें चतुर एक सखीने धैर्य धारण किया। अपनेको सँभाला और अपना कर्तव्यपालनकी ओर बड़ी ढिठायीसे झुकी। हाथ पकड़कर किशोरीजीसे बोल ही बैठी। उन्हें संकोचमें आकर आँखें खोलनी हो पड़ीं।'

श्रीराजा रामशरणजी कहते हैं कि 'मैं भी गौड़जीसे सहमत हूँ। हाँ, एक सुकुमारता और विचारणीय है, सभी आँखें खुलानेके लिये नखशिखका वर्णन करती हैं, परंतु वहाँ सीताजी सरकारकी आन्तरिक मूर्तिसे उस वर्णनको मिलाती हैं तथा और भी ध्यानमें मग्न होती जाती हैं। कहीं-कहीं इस चित्रको पूर्ण कर रही होंगी, कारण कि आँखें जल्द बन्द हो गयी थीं, अब सखियोंके वर्णनसे सहायता मिली। मजा यह है कि आँखें खुलनेके बदले और भी बन्द हो गयीं। 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' यही लुत्फ है। विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस (हास्यरस) वाली पुस्तकमें मैंने इसे 'प्रेमकी सनक' कहा है और इस समय सीताजी 'सनकी' चरित्रका उदाहरण बनी हैं।

प० प० प्र०—ध्यानमें रखनेकी बात है कि सखियोंने भी युगलकिशोरोंकी नर-नारी-मोहक छबि देख ली फिर भी इनमेंसे कोई भी इस रूपपर श्रीसीताजीके समान आसक्त नहीं हुई। इस प्रकार यहाँ 'पुर····नारि····सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता॥' यह वाक्य चरितार्थ हुआ।

धरि धीरजु एक आलि* सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥ १॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥ २॥

अर्थ—एक सयानी सखी धीरज धरकर हाथ पकड़कर श्रीसीताजीसे बोली—॥ १॥ 'गौरीजीका ध्यान फिर भी कर लेना। राजकिशोरको देख क्यों नहीं लेतीं?'॥ २॥

टिप्पणी—१ 'धरि धीरज एक ···' इति। 'धरि धीरज'—भाव कि श्रीरामजीको देखकर सब सखियाँ विदेह हो गयी थीं—'बिसरा सखिन्ह अपान', उनमेंसे एक सखीने धीरज धरा। [रा० प्र० कार लिखते हैं कि यह सखी युवा अवस्था-की है इसीसे सुन्दर रूप देखकर विशेष आतुर हुई, अतः धीरज धरकर बोली। अथवा, यह श्रीजानकीजीकी अति प्यारी सखी है इसीसे धैर्य धारण करके इसने ढिठायी की। पुनः, 'एक' से जनाया कि यह प्रधान सखी है, मुख्य है। (पां०)। अथवा, यह वही सुशीला वा सुभगा आदि नामकी सखी है जो प्रथम देख आयी थी—'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई'। यह एक बार पहले देखकर प्रेमविवश हो चुकी थी, अबकी दूसरी बार फिर देखकर आपा भूल गयी थी, इसीसे इसे प्रथम होश हुआ, अतः धीरज धरकर यही सखी बोली। (रा० च० मिश्र)]

* अली—१७०४।

२ 'आलि सयानी' इति। 'सयानी' का भाव—(क) वह जानती है कि श्रीसीताजी श्रीरामजीका ध्यान हृदयमें कर रही हैं, फिर भी वह यह नहीं कहती कि 'श्रीरामजीका ध्यान न करो, उन्हें प्रत्यक्ष देख लो', [जिनका ध्यान कर रही हो ये तो प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने खड़े हैं, अतः ध्यान करना इस समय अयोग्य है, फिर ऐसा अवसर प्रत्यक्ष दर्शनका न मिलेगा। (वै०)], वरंच यह कहती है कि 'गौरीजीका ध्यान करती हो सो फिर भी कर सकती हो' जिसमें सीताजीको संकोच न हो। [पुनः, यह सखी समय-समयपर कैसा उचित है यह जानती है। इस समय सभी सखियाँ अपनेको भूली हुई हैं, उनमेंसे इसने अपना कर्तव्य विचार शीघ्र ही धैर्य धारण किया। अतः 'सयानी' कहा! (पां०) ☞ 'धरि धीरज' और आगेके 'गहि पानी' दोनों ही पद सयानपनको प्रकट कर रहे हैं और उसके अगले वचनोंसे भी सयानपन सिद्ध होता है। एक तो इसने छबिसमुद्र हरिरूपमें डूबते हुए भी प्रथम अपनेको सँभाला, क्योंकि स्वामिनीका कार्य करना है। दूसरे इसने सोचा कि हम सबोंके संकोचवश श्रीसीताजी प्रत्यक्ष नहीं देखतीं और आँखे बन्द किये हुए हैं, हम स्वयं उनसे देखनेको कहेंगी तो वे अवश्य संकोच छोड़ देंगी। तीसरे ध्यानसे जगानेके लिये उपाय किया सो तो निष्फल हुआ अब क्या कहकर जगावें यह इसीको सूझा, दूसरोंको नहीं। तीसरे (सन्त उन्मुनी-टीकाकारके मतानुसार) 'उसने सोचा कि अभीतक तो ध्यानावस्था ही है, कदाचित् समाधि लग गयी तो बड़ी बेहोशी होनेसे अस्मदादिकको खेदका कारण हो जायगा, इससे इसने धीरज धरा, अतः सयानी कहा'।]

३ 'सीता सन बोली गहि पानी' इति। [इस समय सीताजी श्रीरघुनाथजीके ध्यानमें मग्न हैं, उनको पिताकी प्रतिज्ञाका किञ्चित् भी सन्ताप नहीं है, ध्यानसे शीतलताको प्राप्त हैं, इसीसे 'सीता' नाम दिया गया (पां०)] 'गहि पानी' इति। इससे जनाया कि सीताजीको ध्यानसे जगाया। जबतक श्रीरामजी लताकी ओटमें रहे तबतक न बोली जब लताभवनसे प्रकट हुए तब हाथ पकड़कर बोली—इस कथनका तात्पर्य यह है कि लताकी ओटमें देखकर जब वे ध्यान करने लगीं तब सखियोंको कहनेका मौका न था, क्या कहकर जगाती? जब वे प्रकट हुए तब [illegible] समझकर बोली। आगे खड़े हुए हैं, अतः अब बोलनेका मौका देख हाथ पकड़कर कहा कि सामने खड़े हैं, देख लो। [पुनः, (ख) 'गहि पानी' बोली, क्योंकि इस समय इशारेसे काम नहीं चल सकता, कारण कि वे आँखें मूदे हुए हैं—'दीन्हे पलक कपाट सयानी।' इशारा तो तभी दिया जा सकता था जब आँखें खुली होतीं। दूसरे, अधिक बोलने, बात करनेका भी समय नहीं है, क्योंकि राजकुमार सामने खड़े हुए हैं। (पां०)। पुनः, (ग) हाथ पकड़कर बात कहना व्याकरणमें एक प्रकारका सम्बोधन भी माना गया है। (मा० त० वि०)। अथवा (घ) पानी=मर्यादा। 'बोली गहि पानी' अर्थात् मर्यादापूर्वक बोली, जिसमें राजकुमारादिको न मालूम हो कि उन्हींका ध्यान कर रही हैं। (ङ) इससे जनाती हैं कि हमने आपकी थाह ले ली कि किसका ध्यान कर रही हैं। 'पानी' जलको भी कहते हैं। 'कितने पानीमें हो' यह मुहावरा है। हमसे क्या छिपाती हो? (च) इससे सूचित किया कि 'कुलका 'पानी' (मर्यादा) रक्खो'। अथवा, 'गहि पानी'=(श्रीरामजीका) हाथ पकड़ लो अर्थात् स्वयंवर कर लो। (मा० त० वि०)]

लमगोड़ाजी—मेरी 'हास्यरस' वाली पुस्तकके पृष्ठ ९० पर भी यह नोट किया गया है कि 'एक चतुर सखीने जब और कोई उपाय न देखा तो कितनी सुन्दर हँसी की'। इसके साथ 'गहि पानी' की प्रगति फिल्मकलाको तो उभारती ही है, पर साथ ही हँसीके माधुर्यको बहुत ही सरल और सरस बना देती है। फिर 'प्रेम सनक' की मग्नतासे जगानेके लिये भी तो आवश्यक है।

'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।'—इति।—

पं० रामकुमारजी—साक्षात्का दर्शन विशेष है, ध्यान करना सामान्य है, इसीसे गौरीका ध्यान फिर (पीछे) कर लेनेको कहती है। इष्टका ध्यान छोड़ना-छुड़ाना वर्जित है, अपराध है, इसीसे ध्यान छोड़नेको नहीं कहती, यह नहीं कहती कि उनका ध्यान छोड़ दो, इनको देखो, वरंच मधुरतासे कहती है कि गौरीका ध्यान करना पर इनको देख लो। 'देखि किन लेहू' का भाव कि जिस बातको जानकीजी छिपाती हैं (कि) सखियाँ यह न जानें कि हम श्रीरामजीका ध्यान कर रही हैं, सब यही जानें कि गौरीका ध्यान कर रही हैं, उसी बातको यह सखी भी पुष्ट करती है कि फिर ध्यान कर लेना, इनको देख लो।

पाँड़ेजी, मा० त० वि०—भाव कि गौरीका ध्यान तो तुम किया ही करती हो, उसीके फलस्वरूप ये राजकुमार सामने

खड़े हुए हैं, इन्हें क्यों नहीं देखतीं ? सिद्ध फल सम्मुख प्राप्त है तब साधनका काम ही क्या ? ध्यान कैसा ! प्राप्त वस्तुको ग्रहण कर फिर उसकी स्थिरताके लिये ध्यान कर लेना। ये भूपकिशोर हैं, किसीके बन्धनमें नहीं हैं, ये चल देंगे तो ऐसा अवसर फिर हाथ न लगेगा।

पाँड़ेजी (क) सखी व्यंगपूर्वक कहती है कि आपको गौरीके ध्यानका कैसा अभ्यास हो गया है कि अभी तो पूजन-ध्यान कर आयीं अब फिर करने लगीं। यह उसका अवसर नहीं। वा, अब तो तुम गान्धर्व ब्याह ध्यानद्वारा कर चुकी हो तो अनब्याही गौरीका ध्यान अब क्या करती हो, प्राप्तिमें सन्देह हो तब फिर कर लेना। (ख) भूपसे जाति-सम्बन्ध और किशोरसे अवस्था-सम्बन्ध भी जनाया।

मा० त० वि०—धनुष किसीसे न टूटा तो जयमाल स्वयंवर होगा, अतः तुम्हारा चित्त इनको चाहता है तो इन्हें अच्छी तरह देखकर पहचान लो जिसमें फिर चूक न हो। भूप किशोरका भाव कि तुम राजकिशोरी हो और ये राजकिशोर हैं, योग भी अच्छा है।

रा० प्र०—'भूपकिसोर देखि किन लेहू' के भाव—(क) ध्यान करना स्वाधीन है, जब चाहे कर सकती हो और इनका दर्शन पराधीन है; अतः ध्यान फिर कर लेना, अभी इन्हें देखो। वा, (ख) भूपकिशोरको देखकर 'किन लेहू' अर्थात् खरीद लो, मोल ले लो।

नोट—यहाँ श्रीसीताजीका श्रीरामप्रेममें मग्न होना, इस प्रकट वृत्तान्तको छिपानेकी इच्छासे पार्वतीजीके ध्यानके बहाने सचेत करना 'व्याजोक्ति' है। बोधव्य जानकीजीकी ओर क्रिया व्यञ्जित होना व्यंग्य है। सखीको 'सयानी' कहनेमें प्रबन्धध्वनि है। (वीर)

सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे॥ ३॥
नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥ ४॥

अर्थ—तब सीताजीने सकुच (लज्जा) कर आँखें खोलीं। रघुकुलके दोनों सिंहोंको (दोनों रघुकुलश्रेष्ठोंको) सामने देखा॥ ३॥ नखसे शिखातक श्रीरामजीकी शोभा देख (फिर) पिताकी प्रतिज्ञा यादकर मन बहुत ही चिन्तित हुआ (घबराया)॥ ४॥

नोट—१ (क) 'सकुचि' इति। 'जिस लज्जासे आँख मूँदी उन्हींको देखनेको कहती है, इसीसे सकुचकर नेत्र खोले। पूर्व कहा था कि 'लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥ २३१। ७॥' 'उररूप कोठरीमें स्वरूप ध्यानमें प्राप्त है वहाँ सखी भी आ पहुँची, किंवाड़े खोलनेको कहती है, इससे बड़ी लज्जा लगी, सकुचकर किंवाड़े खोल दिये। जैसे कोई अपने प्रीतमसहित एकान्तमें हाव-भावमें मग्न हो और वहाँ कोई सखी आकर किंवाड़ खुलवाये तब जैसा संकोच हो वैसा ही इनका हुआ। न खोलें तो भी नहीं बनता और खोलें तो मानसविहार जाता है। (पं० रामकुमारजी)। [वि० सा० 'हास्यरस' में श्रीसीताजीकी इस अवस्थाको 'झेंपू' चरित्रका उदाहरण कहा गया है।—(लमगोड़ाजी)] (ख) 'सकुचि' से 'संकुचित अधखुली' का अर्थ लेकर उसके भाव पंजाबीजी आदिने और भी कहे हैं। एक, ध्यान एकबारगी नहीं छोड़ा जाता, धीरे-धीरे हटाया जाता है, इससे सकुचे हुए अर्थात् थोड़ी-थोड़ी आँखें खोलीं। दूसरे, यह कि वियोगके भयसे पूरी आँख न खोली। तीसरे, यह कि कहीं सखी मसखरी न करती हो, पूरी आँख खोल दें तो हँसेंगी कि देखो हमने तुम्हारा ध्यान छुड़ा दिया, भेद खुल गया ? तुम्हारे मनमें तो ये ही थे, दिखावमात्र गौरीका ध्यान था। अतः संकुचित अधूरी आँख खोली कि यदि राजकुमार सामने न हुए तो फिर आँख बन्द कर लेंगी। (ग)—गौड़जी लिखते हैं कि 'सकुचि नयन उघारे' कि कहीं आखें चार न हो जायँ, नखकी ओर दृष्टि गयी। फिर धीरे-धीरे उपर उठी। इस समय अपनी बात पूरी करके सरकारकी दृष्टि लक्ष्मणजीकी ओर गयी थी। संयोग अच्छा था।' (घ) उपाय काम कर गया। सखीका उपालम्भ और उपहास भी कर्तव्य है, उपालम्भ करती है कि उपास्यदेवकी भाँति राजकुमारका ध्यान करती हो। सुनकर संकुचित होकर सीताजीने नेत्र खोले। स्वच्छन्द क्रियासे संकोच हुआ। क्रीड़ा सञ्चारी भाव हुआ। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—१ 'सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे' इति। (क)—जबतक पलकरूपी कपाट दिये रही तबतक श्रीरामजी भीतर (कैदमें) रहे। कपाट खुलते ही बाहर आ गये। (जैसे कोई कैदी किंवाड़ खुले पाकर घबड़ाकर भाग निकले वैसे ही

के हृदयसे भाग निकले) । (ख)—'सनमुख' । भाव कि पहले लताकी ओटसे देखा था—'लता ओट तब सखिन्ह लखाये ।' अब लता-भवनसे बाहर सामने खड़े देखा । (ग)—'रघुसिंघ'का भाव कि सिंहके समान बलवान् रूप देख पड़े। अथवा, सिंह, शार्दूल, व्याघ्र, कुंजर ये सब शब्द श्रेष्ठवाची हैं । रघुसिंघ=रघुकुलश्रेष्ठ । (घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यद्यपि राजा सब सेनासहित हैं और ये अकेले हैं, तो भी क्या ? वे सब हाथी-सरीखे हैं और ये सिंह हैं । 'रघुसिंह' शब्दमें एक चमत्कार यह भी है कि जब कोई सिंह पिंजड़ेमें बन्द कर दिया जावे और फिर खोला जाय तो सामने ही आवेगा वैसे ही ध्यानसे बाहर होते ही ये सामने आ गये ।' पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'धनुष-भंगकी आकांक्षामें कारण वीरता है, अतः इस विशेषणका यहाँ प्रयोजन ही था । धनुषकी कठोरताके आगे इनकी प्राप्ति बिना वीररसके न होगी ।

प० प० प्र०—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' श्रीरामजीके मनमें युद्धकी स्मृति ही जाग्रत हुई, वीररस ही जाग्रत हुआ क्योंकि वे रघुवीर हैं । वैसा ही यहाँ भी हुआ । श्रीसीताजी क्षत्रिय वीरकन्या हैं । क्षत्रियकन्या अपने भावी पतिमें रूपके साथ पौरुष भी चाहती है । धनुर्भङ्ग वीराग्रणीसे होगा और वह पुरुषसिंह ही कर सकेगा । रघुवंशी पुरुष-सिंह हुए हैं पर उनमें भी श्रीरामलक्ष्मणजी सिंहके समान तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापवान्, निर्भय, शीलसम्पन्न आदि हैं। अतः 'रघुसिंघ' कहा । जब बल-पौरुष देखा तब विश्वास हुआ कि धनुष तोड़ेंगे पर जब **'नखसिख देखि राम कै सोभा'** तब सन्देह हुआ और मन क्षुब्ध हो गया ।

वि० त्रि०—दो रघुसिंहोंको देखा—'... **मृगपति सरिस असंक ॥ पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी । परम प्रताप तेज बल रासी ॥ मत्त नाग तम कुंभ बिदारी ।'** भाव यह कि श्रीसीताजी फुलवारी प्रकाश करती फिरती थीं, पर तम मरा नहीं था; इनके हाथसे मारा पड़ा ।

नोट—२ 'दोउ' इति । दोनोंको देखा, पर देखनेके प्रकार (भाव) में अन्तर है । श्रीरामजीको शृङ्गाररसपूर्ण दृष्टिसे देखा और लक्ष्मणजीको वात्सल्यभावसे । यथा—**'स्वामी सीय सखिन्ह लषन तुलसीको तैसो तैसो मन भयो जाको जैसियै सगाई है ।'** (गी० १ । ६९) । (रा० प्र०)]

☞ प्रसन्नराघवनाटकमें भी लक्ष्मणजीको देखना कहा गया है । श्रीसीताजीने लक्ष्मणजीको देखकर कहा है—'हला, **'कोऽयं कनकवर्णः शिखण्डिपिच्छमण्डितकर्णपूरो मुक्तसत्त्वविमुक्तलोचनविकारः कुमारो दृश्यते । इमं पश्यन्त्या मम निजवत्स इव वात्सल्यप्रक्षालितं हृदयं वर्तते ॥'** अर्थात् जिसके कर्णपूर मोरपक्षसे शोभित है, वह कनकवर्ण गौर शरीर-वाला यह कौन है ? इसे देखकर मेरे हृदयमें वात्सल्यभावसे पाले हुए अपने वत्स (बच्चे) की भावना हो रही है। इसी प्रकार लक्ष्मणजीके हृदयमें श्रीसीताजीको देखकर सुमित्राभाव उत्पन्न हुआ जैसा प्र० रा० के **'अये केयमस्या सुमित्रा-णामिव मे सुचिरप्रवृत्ता चित्तवृत्तः ॥ २ । १५ ॥'** इससे स्पष्ट है ।

'नखसिख निरखि राम कै सोभा....।' इति ।

पं० रामकुमारजी १ प्रथम 'नख देखने' का भाव कि दोनों भाइयोंको सम्मुख देखकर लजा गयीं । लज्जा वा संकोचमें नेत्र नीचे कर लिये जाते हैं, अतः दृष्टि नीचे गयी । अथवा 'सकुचि सीय तब नयन उघारे' इसीसे दृष्टि प्रथम नखपर पड़ी । इससे यह भी पाया जाता है कि श्रीरामजी बहुत ही निकट हैं कि जिससे उनके नख देख पड़ रहे हैं। नखसे फिर धीरे-धीरे ऊपर शिखातक दृष्टि पहुँची । २—'राम कै सोभा' । प्रथम सम्मुख दोनों भाई देख पड़े तब नखसे शिखापर्यन्त श्रीरामकी शोभा देखी । अर्थात् श्रीरामजीको अङ्गीकार (वरण) किया । ☞ ऐसा ही सर्वत्र लिखते हैं। यथा—'थके नयन रघुपति छबि देखें', 'लोचनमग रामहि उर आनी', 'नखसिख निरखि....', 'धरि बड़ि धीर राम उर आनी' और 'चली राखि उर स्यामल मूरति' ।

पाँड़ेजी—'नेत्रोंके सामने दोनों राजकुमार पड़े । 'निहारे' का तात्पर्य यहाँ केवल इतना ही है कि नेत्र खुलते ही साधारणतः दोनोंको सामने खड़े देखा पर नखशिख शोभा केवल श्रीरामजीकी देखी । इससे धर्मका सँभाल दिखाया । उनका मन तो पहलेसे ही रामजीकी ओर लग गया था; जब नखसे शिखातक इनके शृङ्गारको देखा तब मोहित हो गयीं, यह संदेह हुआ कि धनुष तोड़नेको समर्थ नहीं हो सकते, बड़े सुकुमार हैं । अतः पिताके पनका अधिक क्षोभ हुआ ।

बैजनाथजी—'यहाँ सकुचसहित नेत्र उघारना शान्तरसमय दृष्टि है, इससे दृष्टि प्रथम नखपर पड़ी । देखते समय

शृङ्गार-रस आ गया, इससे शिखापर्यन्त सर्वाङ्गको देखा। जब अपने मनको आसक्त देखा तब पिताके पनको यादकर धर्म विचार सावधान हो गयी कि अभी ऐसी आसक्ति अनुचित है।'

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँसे वीररस और शृङ्गारके माधुर्यका संघर्ष है, इसीसे कभी धीरता और कभी अधीरता होती है।

पं० रा० च० मिश्र—'कुलप्रसूता पुत्रीकी सुशीलताभरी दृष्टि नीचेसे उठती है। अतः प्रथम नख कहा। 'रघुसिंह' पदसे ज्ञात होता है कि समष्टिरूपसे वीरस्वरूप देखनेमें धैर्य हुआ, पर जब व्यष्टिरूपसे नख-शिखतक सुकुमारता ही देखी तब क्षोभ हुआ। यहाँ पूर्वापरका आशय सोचने योग्य है। श्रीरामजी श्रीजानकीजीके मुखकमलहीपर ठहर गये। पर मैथिलीजीके देखनेमें कवि कोई अंग नियत नहीं करते, केवल रूप, छवि, शोभाहीका देखना कह रहे हैं। कारण यह कि श्रीरामजीको अपने पुरुषार्थका भरोसा है। अतः मैथिलीको स्वीकारकर मुखछविपर ठहर गये। और इधर जनकतनया छबि पर तो मुग्ध है पर सुकुमारताको देखकर सब अङ्गोंको देखती है कि कहीं पन पूर्ण करनेकी जड़ता भी घुसी है या नहीं? अतः दृष्टि भटकती है और रूपमें फँसकर मुग्ध हो रही है।*

☞ अब यहाँ शोभा और प्रतिज्ञा दोनोंका प्राबल्य साथ-साथ दिखा रहे हैं। शोभाकी सीमा सुकुमारता है और धनुषकी सीमा कठोरता है। जहाँ देखनेसे प्रीतिकी वृद्धि है, वहीं ही धनुषका स्मरण भी है। यथा—'निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़ै प्रीति न थोरि। २३४। जानि कठिन सिवचाप बिसूरति', 'नीकें निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥ २५८। १।', 'धरि बड़ि धीर राम उर आनें। फिरी अपनपउ पितुबस जानें। २३४। ८।' तथा 'नखसिख देखि'''''—इसका कारण यह है कि प्रीतिकी ९ (नौ) दशाएँ हैं अन्तिम दशा मृत्यु है। इनकी प्रीति नवीं दशाको प्राप्त हो चुकी। जब दसवींकी प्राप्तिकी ओर जाने लगती है तब धनुष आकर उसे रोक देता है। यथा—'कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः। हनु०। १। ९।'

'राम कै सोभा'—'राम' शब्दमें यहाँ 'रमनेवाले' का अर्थ है। (पाँ०)।

टिप्पणी—**'मन अति छोभा'**। मनमें छोभ प्राप्त हुआ कि इनसे धनुष कैसे टूटेगा; यथा—'**कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।**' 'अति सुकुमारता' देख 'अति छोभा'।

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भये† गहरु सब कहहिं सभीता॥ ५॥
पुनि आउब येहि‡ बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहसी एक आली॥ ६॥

शब्दार्थ—गहरु=देर, विलम्ब। बेरिआँ=समय।

अर्थ—जब सखियोंने श्रीसीताजीको पराये (अर्थात् श्रीरामजीकी शोभाके) वशमें देखा (और यह समझ लिया कि शोभाका दर्शन छोड़कर यहाँसे चलनेकी इच्छा न करेंगी। तब) सब सखियाँ डरी हुई (आपसमें) कहने लगीं कि बड़ा विलम्ब हो गया॥ ५॥ इसी समय कल फिर आवेंगी ऐसा कहकर एक सखी मनमें मुस्कुरायी॥ ६॥

नोट—१ 'परबसका भाव कि सीताजी श्रीरामजीकी छबिपर आसक्त हो गयी हैं, चलनेकी इच्छा नहीं है और घर लौट जानेका समय बीत गया है। 'सीता' शब्दमें भाव यह है कि वे शीतल हो रही हैं ऐसेमें देर होनेकी चेतावनी दें तो शीतलतामें विघ्न पड़ेगा। (पाँ०)। सीताजीसे ऐसी दशामें चलनेको भी नहीं कह सकतीं और चलना अवश्य है, इससे भय दर्शित करती हुई आपसमें कह रही हैं कि 'देर हो गयी'; जिसका भीतरी आशय यह है कि अवश्य चलना चाहिये। 'सभीता' का भाव कि जिसमें सीताजीको भी भय हो, और भय हुआ भी जैसा आगे स्पष्ट है—'भएउ बिलंब मातु भय मानी।' जब इस वचनका भी कुछ प्रभाव न पड़ा, तब उनमेंसे एक सखीने गूढ़ वचन कहे और हँस दी। हँसकर अपने वचनोंमें व्यङ्ग जनाया जिसमें लजाकर अवश्य घरको चल दें। यह गूढ़ता है। २—'भये गहरु सब कहहिं सभीता' का शब्दगुण

* कोई महानुभाव नखपर प्रथम दृष्टि डालनेका यह भाव कहते हैं कि 'आप सोचती हैं कि देखें ये चरण कैसे हैं जिनसे जड़ अहल्याका उद्धार हुआ, क्योंकि इससे हृदयको शान्ति होती है कि जिनके चरण-रजका यह प्रताप है वे हमारा उद्धार भी अवश्य करेंगे।

† भये—१६६१, १७०४, १७६२, पाँड़ेजी। पाठान्तर 'भई'। 'भयउ'—मानसांक, को० रा०। भयेउ—१७२१, छ०।

‡ एहि बेरिआँ—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

(Symphony) विचारणीय है—(श्रीलमगोड़ाजी)। ३—'भयं गहरु'''समीता' इति। भय यह कि 'विलम्ब जानकर यदि कोई यहाँ आकर देखे तो मातासे जाकर कह देगी कि वे तो पूजा नहीं करती थीं, वरंच राजकुमारोंको देखती रहीं, तो एक तो हमारा अपमान होगा, दूसरे हमको दण्ड दिया जायगा और फिर हम साथ भी न आने पावेंगी, इत्यादि विचारकर सब सभीत हैं। और इस इशारेसे जनाती हैं कि और दिनोंसे आज अधिक देर हो गयी, अब चलना चाहिये।'—(बैजनाथजी)। पुनः, 'राजकुमारीको भी भय है, इससे चलनेको नहीं कह सकतीं'—(पंजाबीजी)। उनका प्रेम देखकर चलना जो वियोगवाचक वचन है उसे कहते डरती हैं। वा, उनकी रुचिभंगका भय है। प्रेमवश जाननेसे संकोच हुआ और परबस जाननेसे भय हुआ।

'पुनि आउब एहि बेरिआँ काली'। इति।

☞ ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कह रहे हैं कि यह वाणी गूढ़ है—'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी।' इस वाणीमें क्या गूढ़ आशय है उन्हें महात्माओंने यों कहे हैं—

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँ फिर वही व्यंग और वही झेंप है (जो 'सकुचि सीय तब नयन उघारे' में है) हाँ, इस अन्तरके साथ कि अब हास्य स्पष्ट कर दिया है—चाहे वह मनकी हँसीके साथ ही क्यों न हो, और पहले चिन्तासे मिश्रित था।

पं० रामकुमार—१ श्रीजानकीजीको इस समय चलनेकी इच्छा नहीं है। इसीसे यह सखी व्यंग्यके भीतर चलनेको कहती है। 'पुनि आउब' कल इस समय फिर आवेंगी, अर्थात् अब चलो। २—प्रथम सखियोंने विलम्ब सुनाकर चलना व्यंजित किया पर वे वचन सुनकर भी (विलम्ब हुआ यह सुनकर भी) जब इन्होंने चलनेकी इच्छा न की, तब एक सखीने विचारा कि बिना यह शोभा आगेसे हटे (ध्यानसे छूटे) ये चलनेकी इच्छा कदापि न करेंगी, अतएव ऐसी बात कहनी चाहिये जिसमें ये सकुचाकर शोभा देखना छोड़कर चलनेकी इच्छा करें। अतएव ये वचन कहे। तात्पर्य कि शोभा देखकर इतनी आसक्त हो गयी हो, कल सवेरे फिर इसी समय आवेंगी, तुम्हें यह शोभा फिर दिखा ले जावेंगी, अब चलो। ३—'बिहँसी' इससे व्यंग्यका स्वरूप स्पष्ट हो गया। यदि हँसती नहीं तो सीताजीको संकोच नहीं होता, वे सखीकी बातको सत्य जानतीं। हँसीसे हँसी करना निश्चय हुआ। प्रकट हँसनेसे मर्यादा न रहती। जैसे गूढ़ वचन कहे वैसे ही मनमें हँसी। जिस हँसीमें शब्द हो, वह हँसना है। जिस हँसीमें शब्द न हो, कुछ मुख विकसित हो वह मुस्कान है। मुख न विकसित हो और न शब्द हों; परंतु मुखसे हँसीका भाव दर्शित हो इस तरहकी मुस्कान मनमें मुस्काना कहा जाता है। गुप्त बात कही और गुप्त मुस्कानसे हँसी।

वि० त्रि०—अपने अपराधसे सभीत हैं। जब एक सखीकी दशा हमलोगोंने आँखोंसे देख ली थी, तब हमलोग इन्हें यहाँ क्यों ले आयीं? यह शोभा ही उन्मादकारिणी है। भाव पलटनेके लिये माताका स्मरण दिला रही है। प्रकट हँसनेसे सीताजीका अपमान होता। अपनी उक्तिपर स्वयं ही हँस रही है, क्योंकि कल इस समय आना असम्भव है, इस समय तो धनुषयज्ञ होता रहेगा। ध्वनि यही है कि इस समय चलो, धैर्य धरो।

पाँडेजी—१ इस समय जानकीजीका प्रेम रामजीमें देखकर वियोगसूचक कठोर शब्द 'अब चलिये, देर हुई' नहीं कह सकतीं, इसलिये उस वियोगको संयोगसे ढाँपकर कह रही है कि कल इसी समय फिर आवेंगी। 'फिर आवेंगी, ये फिर मिलेंगे।' यह संयोगके वचन हैं, पर इनमें यह भाव भरा है कि अभी चलना चाहिये। इस कथनसे जनाती है कि तुम्हारा मन राजपुत्रमें लग गया है। फिर भी इस बातको प्रकट न कहकर मनहीमें हँसती है जिससे सीताजीको प्रकट संकोच न हो। २—'कहनि' (कथन) की दूसरी चतुरता यह है कि विलम्ब होना जताती है और किसीसे यह नहीं कहती कि अब जायँगी किसीको चलनेके लिये बाध्य नहीं करती, परंतु युक्तिसे इन वचनोंसे चलनेकी ध्वनि निकल रही है। ३—एक भाव यह है कि राजपुत्रोंसे कहती है कि इसी समय कल फिर आइयेगा।—[वीरकविजी लिखते हैं कि 'यहाँ उद्देश्य तो रामचन्द्रजीके प्रति है और कहती है सखीसे, 'व्याजोक्ति अलंकार है।' अपने लिये आनेकी बात कहना बोधव्य है, उसकी क्रिया सीताजी और रामचन्द्रजीकी ओर व्यंजित होना व्यंग है।' बैजनाथजीका मत है कि 'सखियोंके प्रति कल आना कहकर रामचन्द्रजीको इशारेसे सम्बोधित करनेमें गूढ़ोक्त्यालंकार है, और यदि ऐसा समझें कि राजकुमारोंहीसे कह रही है तो गूढ़ोत्तरालंकार होता है; पुनः स्वयं दूतत्व होता है।'] ४—आज जो इतना विलम्ब कर रही हो तो क्या कल फिर आने पाओगी? 'पुनि आउब' अर्थात् माता कल न आने देगी तो फिर कल इनके दर्शन दुर्लभ हो जायँगे। अतः यदि कल फिर यह आना

लूटना हो तो अब चलिये। और उधर श्रीरामचन्द्रजीको भी संकेत कर रही हैं कि आज देर कीजियेगा तो क्या फल गुरुदेवजी आने देंगे ? ५—कल यही समय फिर आवेगा। अर्थात् राजकुमार कल सवेरे फिर इसी समय फूल तोड़ने आवेंगे ही तब फिर मिलाप होगा। उधर राजकुमारोंको सूचना देती है कि कल इसी समय राजकुमारी फिर यहाँ आवेंगी तब आप भी आइयेगा, इतना ही प्रेम बस है।

रा० प्र०—अथवा सखियोंसे भी कहती है कि तुम सब राजकिशोरीके सङ्गसे निकाल दी जाओगी और सखियाँ साथमें दी जायँगी। माता रुष्ट होंगी कि इतना विलम्ब करा दिया। अथवा अपने प्रति भी कहती है कि किशोरीजी पुनः भले ही आवें पर मैं तो अब न आऊँगी, ऐसी दशा अपनी कौन करावे ?

संत श्रीगुरुसहायलालजी—'मन बिहँसी' इति। भाव कि 'हमको हँसती थीं सो आज तुम्हारी भी वही दशा हो गयी है। अथवा, तुम राजकिशोरी हो, बड़ी सयानी हो, तुम्हें एकदमसे बिना सोच-विचारके ऐसा चित्त चञ्चल न करना चाहिये, न जाने औरोंकी क्या दशा होगी।'

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयेउ बिलंबु मातु भय मानी॥ ७॥
धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानें॥ ८॥

अर्थ—गूढ़ वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुचा गयीं। देर हो गयी (यह जानकर) माताका भय मानने लगीं॥ ७॥ बड़ा धैर्य धारणकर वे श्रीरामजीको हृदयमें ले आयीं (अर्थात् बसा लिया) और अपनेको पिताजीके अधीन जान लौट पड़ीं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'सकुचानी।' जो प्रीति सखियोंसे छिपाये हुए थीं उसे सखीने व्यंग्यद्वारा प्रकट कर हँस दिया, इसीसे सकुचा गयीं। रूपका देखना छोड़नेसे सखियोंका वचन चरितार्थ हो गया, विलम्ब जानकर डरीं (कि माता क्या कहेंगी ?) [पाँड़ेजी 'मातु भय मानी' का दूसरा भाव यह कहते हैं कि 'देर होनेसे माता भी भय मानती होंगी। क्योंकि देश-देशके राजा आये हुए हैं, न जाने किसीके मनमें क्या हो।'] (ख) 'धरि बड़ि धीर···' इति। भाव कि मनमें अत्यन्त क्षोभ हुआ था,—'सुमिरि पितापनु मनु अति छोभा' (वहींसे इसका सम्बन्ध है); इसीसे बड़ा धीरज धरना पड़ा। अथवा अत्यन्त प्रियके वियोगमें बड़ा धीरज धरना पड़ता है, इससे बड़ा धीरज धरा। पुनः भाव कि शोभा छोड़ी नहीं जाती, बहुत धीरज धरकर छोड़ा। (पाँड़ेजी कहते हैं कि बड़ी लगनमें बड़ा वियोग होता है, इसीसे बहुत धीरज धरना पड़ा)। (ग)—'राम उर आने' अर्थात् जब बाहरसे वियोग हुआ तब भीतरसे सयोग किया। ('राम उर आने' इससे नारदवचन सत्य होगा। उन्होंने कहा था कि जिसमें तुम्हारा मन रँग जायगा, जिसे तुम हृदयमें धारण कर लोगी वह वर तुम्हें मिलेगा। इसीसे गौरीजी कहेंगी 'नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बर मिलिहि जाहि मनु राचा। २३६। ८॥') (घ) 'अपनपउ पितु बस जानें' इति। भाव कि मैं पिताके अधीन हूँ और पिताका प्रण है कि जो धनुष तोड़े वही हमारी पुत्रीका पति होगा। तात्पर्य कि यदि हम स्वतन्त्र होतीं तो इन्हींको जयमाल डाल देतीं।

पाँड़ेजी—'फिरी अपनपउ पितुबस जानें' इति। भाव कि 'सब राजा धनुषसे हार मान गये और ये राजपुत्र उसके तोड़नेमें समर्थ नहीं हो सकते, इससे पिताहीके अधीन हम हैं, वे चाहे हमें इनको व्याह दें, चाहे न व्याहें; हमारा तो कुछ वश ही नहीं—ऐसा सोचकर मनको समझाकर लौटीं।

वीरकविजी—यहाँ सीताजीके मनमें एक साथ ही कई भाव उत्पन्न हो गये हैं। गूढ़ गिरा सुनकर संकोच होना 'व्रीडा संचारी' भाव है। देरके कारण माताका भय है। धीरज धरना धृत संचारीभाव है, अपनपौ पितुवश जान लौटना विषाद और चिन्ता संचारी भाव है। अतएव यहाँ 'प्रथम समुच्चय' अलंकार है।

☞श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—(क) यह भी तुलनाके योग्य है कि श्रीरामजीको कितनी जल्दी अपनी दशाका ज्ञान हो जाता है और श्रीसीताजीको कितनी देरीसे। स्त्रीकी निमग्नता देरसे उत्पन्न होती है, पर देरतक रहती है। (ख) 'बोले' ('सुचि मन अनुज सन') कैसा काव्य चमत्कार है। श्रीरामकी हृदयरूपी जिह्वाने जैसी व्याख्या की, वैसी श्रीसीताजी-से सम्भव नहीं। वहाँ तो केवल 'कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता' का ही एक आकस्मिक प्रश्न होगा और कुछ नहीं। तात्पर्य यह कि जितना भावोंमें आधिक्य एवं तथ्य होता है उतना ही विवरण कम होता है। व्याख्याशक्ति एवं वाग्मिता दोनोंका

सम्बन्ध मस्तिष्कसे है और अनुभवका सम्बन्ध हृदयसे। इससे 'उर अनुभवति' की दशा होती है, परंतु वही बोलना कठिन है। प्रत्युत वहाँ तो यही होगा कि 'न कहि सक सोऊ' फिर विचारा कवि उसकी व्याख्या कैसे करे? (ग)—न सीताजीकी हृदयरूपी जिह्वाने कुछ वर्णन किया और न सीताजीने जिह्वाद्वारा ही सखियोंसे कुछ कहा। इसी कारण तो उनकी भावनाओं एवं प्रवृत्तियोंकी व्याख्याके हेतु सखियोंकी जिह्वा और कविकी लेखनीकी अधिक आवश्यकता हुई। (घ) पुनः, तुलना श्रीरामजीके 'आपनि दसा बिचारि' से कीजिये, श्रीसीताजीको अपनी दशाका ज्ञान भी सखियोंके खयाल दिलानेसे, बल्कि भयकी ठोकर लगानेसे, उत्पन्न हुआ जब सब बोल उठीं कि 'भयउ गहरु'। सच है और स्त्रीत्वकी यह रोचक विशेषता है। पुरुषमें मस्तिष्क और स्त्रीमें हृदयका शासन होता है, अतः पुरुष अपने भाव एवं विचारका जितना अन्वेषण कर सकता है उतना स्त्री नहीं कर सकती। (माधुरीसे)।

दोहा—देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़ै प्रीति न थोरि॥२३४॥

अर्थ—मृग (हिरन वा पशु), पक्षी और वृक्षोंको देखनेके बहाने बारम्बार लौट-लौट (फिर-फिर) पड़ती हैं, रघुवीर रामचन्द्रजीकी छवि देख-देखकर अनुराग कुछ थोड़ा नहीं (अर्थात् बहुत अधिक) बढ़ता जाता है॥ २३४॥

टिप्पणी—१ (क) जब चल दीं तब फिरकर रामजीको कैसे देखें। यदि फिरकर उनको देखतीं तो सखियाँ हँसतीं, अतः लज्जावश उनकी ओर देख नहीं सकतीं। इसलिये मृग, विहंग और वृक्षोंको देखनेके बहाने पुनः-पुनः फिरकर पीछे देखती हैं। [☞ माताका भय मानकर, अपनेको पिताके अधीन जानकर, बड़ा धीरज धरकर श्रीरामजीकी मूर्तिको हृदयमें ले आयीं, तथापि मूर्ति त्यागी नहीं जाती, इसीसे पुनः-पुनः फिरती हैं। मन उनकी छविमें फँस गया है, हाथमें नहीं आता, इससे उसे समझानेके लिये बारंबार फिरती हैं।—(पाँड़ेजी)। मृग बिहंग तरु साधारण उक्ति सामान्य शब्द हैं। बागमें पशु, पक्षी, वृक्ष सभी हैं। निगाह पीछे फिरती है, इस ढंगसे कि देखनेवाला समझे कि मृगादि देख रही हैं। इनके बहाने श्रीराम-छविका दर्शन करना, अपना इच्छित अभीष्ट साधन करना 'दूसरी पर्य्यायोक्ति' अलंकार है।] (ख)—जब श्रीरामजी फुलवारीमें आये तब मृगोंका वर्णन नहीं किया था और अब यहाँ 'मृग' को भी कहते हैं, इससे जाना जाता है कि इस समय कहींसे आ गये, इसीसे अपूर्व समझकर प्रथम मृगका ही बहाना किया तब विहंगका बहाना किया कि देखो 'चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥' तरुका मिष करती हैं कि 'लागे बिटप मनोहर नाना। बरनि बरनि बर बेलि बिताना॥' देखो वृक्ष कैसे फूले हुए हैं। (ग) एक ही वस्तुका बहाना कई बार नहीं किया, यह सूचित करनेके लिये कई चीजें लिखीं। विहंग, मृग और तरु तीन बहाने किये, तीनोंके लिये तीन बार लौटीं और तीन बार रामजीको देखा। इसीसे 'निरखि निरखि' पद दिया। अर्थात् जितनी बार फिरती हैं, उतनी ही बार छवि देखती हैं। [(ग) 'रघुबीर छबि' में अर्थका श्लेष है। वीरताकी छविका निरीक्षण करनेपर विश्वास हुआ कि ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे, तब अपार प्रीति बढ़ी। (घ) पूर्वार्द्धमें अवहित्था संचारी भाव है। यथा—'अवहित्थाऽऽकारगुप्तिर्भवेज्जावेष केनचित्।' (वि० त्रि०)]

श्रीराजारामशरणजी—'आई कहाँसे गर्दिशे (घुमाव) परकार पावोंमें' का कितना सुन्दर उत्तर है। 'र' अक्षर विचारणीय है। यह भी विचारणीय है कि बाग पार्कका-सा बड़ा है, जहाँ इस तरह बार-बार फिरनेका मौका मृगों, विहंगों और तरुओंके देखनेके बहानेसे सम्भव है।

पाँड़ेजी—'देखने' से स्थूल और 'निरखि' से सूक्ष्म दृष्टि सूचित होती है। श्रीसीताजीने जो रघुनाथजीकी वीरता सुनी थी और देखनेमें कोमलता देखी, तो उस सुकुमारताने सीताजीके हृदयको दबा लिया, जिससे वे अधीर हो गयीं, यहाँतक कि 'फिरी अपनपउ पितु बस जानें'। अतएव चलते समय उस अधीरताको दूर करनेके लिये वीरताकी छवि निरखि-निरखि रघुनाथजीकी ओर देखती हैं। अतः 'रघुबीर' पद यहाँ दिया। यहाँ वीरताहीका प्रयोजन है। वीरताकी छवि जिसे वे ढूँढ़ रही थीं वह मिल गयी, इससे प्रीति अधिक बढ़ी। यदि उसे न पाया होता तो प्रीतिके बढ़नेका कारण न होता। प्रीतिका उपजना पूर्व कह ही आये हैं।

टिप्पणी—२ 'बाढ़ै प्रीति' का भाव कि प्रथम प्रीति उपजी थी। यथा—'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति

पुनीत', अब वह बढ़ने लगी। जितने बार देखती हैं, उतनी बार बढ़ती है। ३ 'न थोरि' का भाव कि यह न समझो कि हर बार थोड़ी बढ़ती होगी, यह प्रीति थोड़ी-थोड़ी नहीं बढ़ी किंतु बहुत-बहुत बढ़ती जाती है। अर्थात् पुलकावली होती है और रोम खड़े होते हैं।

नोट—रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि यहाँतक प्रीतिके विशेषणमें 'अधिक' और 'अति' विशेषण देते आये। अब प्रीतिकी सीमा पूर्ण होनेपर 'न थोरि' विशेषण देते हैं। अर्थात् अब प्रीतिकी पूर्णतामें न्यूनता लेशमात्र भी शेष न रह गयी। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'ज्यों-ज्यों राजकिशोरी घूम-घूमकर देखती हैं, त्यों-त्यों राजकुमारोंके निकट होते जानेसे शोभा विशेष दिखायी देती है। अतः 'बाढ़ै प्रीति न थोरि' कहा।'—(निकट कैसे हुए ?)

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति ॥ १ ॥

अर्थ—शिवजीके धनुषको कठिन जानकर हृदयमें साँवली मूर्तिको रखकर विसूरती हुई चलीं ॥ १ ॥

पं० रामकुमारजी—१ (क) विसूरती चलीं कि धनुष कठोर है, कैसे टूटेगा ? मूर्ति कोमल है। एक चरणमें शिवचापकी कठोरता इत्यादिकी चिन्ता और दूसरेमें श्यामल मूर्तिका हृदयमें बसाना कहकर दोनोंकी प्रबलता दिखा रहे हैं। न तो धनुषकी कठोरताका संदेह ही दूर होता है और न श्यामल मूर्ति ही त्यागी जाती है।—इन दोनोंका प्राबल्य सर्वत्र दिखाया है। यथा—'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा। २३४। ४।', 'धरि बढ़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानें ॥ २३४। ८।' 'जानि कठिन·····' (यहाँ); और 'नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा। २५८। १।' (ख) श्रीरामजीकी शोभा और पिताका प्रण दोनोंकी प्रबलता लिखनेका भाव यह है कि जब श्रीरामजीको देखती हैं तब प्रीति बढ़ती है, पर जब दसवीं दशाकी नौबत आने लगती है तब पिताके प्रणकी सुध आ जाती है जिससे वह दशा रुक जाती है, यही गुण है, यथा—'सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आस सब जीवन जीकी ॥ नतरु लखन सियराम बियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा ॥ राम कृपा अवरेब सुधारी। बिबुधधारि भै गुनद गोहारी ॥ २। ३१७।' (ग) श्रीजानकीजी बार-बार रामजीको उरमें ले आती हैं, इसीसे ग्रन्थकारने भी बारम्बार हृदयमें ले आना लिखा; यथा—'लोचन मग रामहि उर आनी', 'धरि बढ़ि धीर राम उर आनी', और 'चली राखि उर स्यामल मूरति'। [बार-बार हृदयमें लाना कहकर जनाया कि जब-जब मूर्तिको हृदयमें धारण करती हैं तब-तब शिवचापका स्मरण उसे आकर निकाल देता है। यथा—'लोचन मग रामहि उर आनी'; हृदयमें मूर्ति रक्खी वैसे ही 'सुमिरि पितापनु मन अति छोभा' बस प्रणका स्मरण होते ही मूर्ति बाहर निकल गयी। पुनः, 'धरि बढ़ि धीर राम उर आने' त्यों ही 'जानि कठिन सिवचाप बिसूरति' ने आकर मूर्तिको फिर निकाल दिया। अतएव अब फिर मूर्तिको हृदयमें धरकर चलना कहा। (प्र० सं०)]

प० प० प्र०—'लोचन मग रामहि उर आनी' पूर्व २३२ (७) में कह आये। जब एक बार हृदयमें ले आना कह चुके तब पुनः-पुनः आगे हृदयमें ले आना कैसे कहते हैं। यथा—'धरि बढ़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानें। २३४। ८।', 'निरखि निरखि रघुबीर छबि। २३४।', 'चली राखि उर स्यामल मूरति। २३५। १।', रघुबीरहि उर आनि। २४८।' इसका कारण यही है कि हृदयमें ले तो आती हैं पर हृदयमें रहते नहीं हैं। धनुषपर ध्यान आता है तब सशंक होती हैं, वीरतापर दृष्टि जाती है तब विश्वास होता है और वे रघुवीरको हृदयमें रखती हैं। इससे सिद्ध होता है कि सीताजीमें अपने ऐश्वर्यकी स्मृति नहीं है, वे राम और सकल उर-वासी भगवान्‌को भिन्न समझती हैं। भवानी-का आशीर्वाद शुभाङ्गोंका स्फुरण और नारदजीका वचन इतने आश्रय मिले तो भी निश्चय नहीं हुआ कि श्रीरामजी धनुषको तोड़ सकेंगे। इसीसे तो यज्ञमण्डपमें आनेपर भी गणपति, शिवचाप आदिसे विनय की है। क्या यह कामके विश्वविजयका लक्षण है ? कितनी चञ्चलता, छिपाव, दीनता, निराशा ! श्रीरामजीमें ये कोई बातें नहीं हैं। उन्हें आत्मविश्वास है। अब कहो कि मन किसने दिया है और विजेता कौन है ? [शृङ्गारी टीकाकारोंके शृङ्गार-युद्धके उत्तरमें प्र० स्वामीजीके ये लेख चले आ रहे हैं। उसी उत्साहमें उन्होंने बहुत कुछ लिख डाला है। वस्तुतः माधुर्यका निर्वाह जैसा श्रीसीताजीके चरित्रमें है वैसा श्रीरामजीके चरित्रमें नहीं हुआ। वाल्मीकिजीने ठीक ही कहा है कि रामायणमें श्रीसीताजीका ही चरित्र महत्त्वका है। जैसा उनका चरित होना चाहिये वैसा ही हुआ है और जैसा श्रीरामजीका चरित्र इस प्रसङ्गमें होना चाहिये वैसा ही हुआ है; इसके विरुद्ध होता तो वह चरित दूषित हो जाता]।

नोट—'बिसूरति' के अनेक अर्थ महानुभावोंने किये हैं—१ सोचती, विचारती, चिन्ता करती हुई। मनमें दुःख मानती हुई।—ये अर्थ श० सा० में दिये हैं। सं० विसूरण=शोक। २ मनमें विलाप करती हुई—(मानसांक)। ३-बि=दोनों (ओर की)+सूरति=सुरात (स्मरण) करती हुई (बैजनाथजी)। ४—बिगत सूरत (अर्थात् उसका असली सूरत न रह जाना) अर्थात् टूटा हुआ जानती हुई (पाँडेजी)।

इन अर्थोंके अनुसार इस अर्द्धालीके भावार्थ क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

१ (क)—(पंजाबीजी)—'शिवजीके धनुषको कठिन जानकर चिन्ता करती हुई, या प्रभुकी प्राप्ति एवं धनुषकी कठोरताको विचारती हुई, साँवली मूर्तिको हृदयमें धरकर चलीं (कि देवीसे वर माँग लें कि इन्हींसे धनुष टूटे)।' (ख) पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि 'बिसूरति' का अर्थ विचार करना है। विचारमें अनेक बातोंकी कल्पना हुआ करती है। पर आगेके चरणसे यह विचार ज्ञात होता है कि यद्यपि शिवधनुष महाजड़ है, बड़े-बड़े वीर हार गये हैं, तथापि इनकी वीरताके सामने हमारा कार्य इनसे अवश्य होगा, क्योंकि बुद्धिकी दृढ़ताके कारण कई पाये जाते हैं। एक तो नारद-वचन, दूसरे गिरिजाका विश्वास, तीसरे जिस सुकुमारतासे चित्तमें व्यामोह था उसके परदेके भीतर वीरताका पूर्ण दृश्य है। इस निश्चयात्मिका बुद्धिसे 'चली राखि उर स्यामल मूरति'। अन्यथा अर्थ करनेमें दोष आता है।' (ग) बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि 'यहाँ संदेह होता है कि जो धनुषकी कठिनाईको जानती थीं तो चिन्ता करना व्यर्थ था और जो चिन्ताहीमें थीं तो फिर हृदयमें मूर्त्तिका धरना व्यर्थ था। इसका भाव इतना ही है कि सीताजीके मनमें जब रामचन्द्रजीकी ओर अधिक प्रीति बढ़ी तब उन्हें उनके पानेकी लालसा हुई। पर यह शिवधनुष टूटे बिना सम्भव न था, इसलिये उन्हें बड़ा सोच हुआ कि अब काम कैसे बने, पर वे कुछ निश्चय न कर सकीं। मनोकामनामें कठिनाई देखकर भी वे निराश न हुईं और रामचन्द्रजीकी मूर्त्तिको अपने हृदयमें रखकर वहाँसे चलीं। आगे चलकर जब कोई उपाय न सूझा तो सीताजी 'गईं भवानी भवन बहोरी।'

२ श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी लिखते हैं कि—'शिवजीके धनुषकी कठोरताका स्मरण आनेसे उन्हें चिन्ता होती थी कि ये सुकुमार रघुनाथजी उसे कैसे तोड़ेंगे, पिताके प्रणकी स्मृतिसे उनके हृदयमें क्षोभ था ही इसलिये मनमें विलाप करने लगीं। प्रेमवश ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जानेसे ही ऐसा हुआ, फिर भगवान्‌के बलका स्मरण आते ही वे हर्षित हो गयीं और साँवली छबिको हृदयमें धारण करके चलीं।'

३ (क) 'शिवचापको कठिन जानकर दोनों ओरकी सुरति करती हुई हृदयमें साँवली मूर्ति रखकर चलीं, अर्थात् एक ओर तो चापकी कठोरता, पिताके पन आदिपर ध्यान और विचार जाता है और दूसरी ओर हृदयमें रघुवीर-छबिको बसाये होनेके कारण उनके बल, वीरता और प्रतापका स्मरण करती हैं।' (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि—जब प्रीति अधिक बढ़ी तब जानकीजी अपनेको फिर सावधान करती हैं। इस तरह कि ये बड़े सुकुमार हैं, शिवचाप कठिन है, इसे कैसे तोड़ेंगे। फिर रघुवीरकी ओर देख विचारती हैं कि इन्होंने ताड़का-सुबाहु आदिको मारा तो ये धनुष कैसे न तोड़ सकेंगे? फिर यह तर्क उठा कि ताड़का आदिके वधमें तो केवल बाणविद्याका प्रयोजन था, धनुषमें तो बल चाहिये, उसपर फिर इधर यह विचारा कि अहल्या इनकी पगधूरिहीसे तर गयी तो इनके हाथोंमें इतना प्रभाव क्यों न होगा कि धनुष तोड़ सकें? इत्यादि, अनेक रीतिसे दोनों ओर चित्त जाता है।'

४ पाँडेजी कहते हैं कि 'धनुषको कठिन जानते हुए भी रामचन्द्रजीकी साँवली मूर्तिको हृदयमें रखनेसे धर्मकी सामान्यता पायी जाती है। अर्थात् सतीत्वधर्मके विरुद्ध होता है। इसलिये 'बिसूरति' का दूसरा अर्थ विगत सूरति वा टूटा हुआ ही अधिक सङ्गत जान पड़ता है। इस तरह अर्थ यह होगा कि 'शिवजीके कठिन धनुषको टूटा हुआ जाना।' अथवा, यह अर्थ किया जाय कि रघुनाथजीकी वीरताके आगे चापको बिसूरते (टूटा हुआ) पाया, तो उनको अपना जान उनकी स्यामल मूर्ति अपने हृदयमें रख ली।' अभी रामचन्द्रजी धनुषके पास पहुँचे भी नहीं और सीताजीका यह निश्चय कर लेना कि धनुषको उन्होंने तोड़ दिया, 'आत्मतुष्टिप्रमाण अलंकार' है। (वीरकवि)।

५ (क) रा० प० प्र०—बिसूरति=विगत सूरत अर्थात् बेचेत होकर। (ख) रा० प्र०—कोई कहते हैं कि बिसूरति=भयावन। अथवा, 'बिसूरति चलीं'=देहाध्यास बिसारे हुए चलीं। भाव यह कि श्रीरामजीकी मूर्तिको अति कोमल जान और चापको कठिन मानकर चलीं।

इसी तरह मा० त० वि० में अनेक अर्थ दिये हैं जो बहुत क्लिष्ट समझकर मैंने नहीं लिखे हैं। ☞ यह ग्रन्थ तुलसी

ग्रन्थावलीमें कई जगह प्रयुक्त हुआ है। यथा—(क) 'कहो सो बिपिन है धौं केतिक दूरि। जहाँ गवन कियो कुँवर कोसलपति, बूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि॥' (गी० २। १३)। (ख) 'नाम राम अरु लषन सुरारि निकंदन। रूप सील बल राम'''परिपूरन॥ समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन॥ २९॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनिकै। लै चले देखावन रंगभूमि अनेक बिधि सनमानि कै॥' (श्रीजानकीमंगल। यहाँ जनकमहाराजका बिसूरना कह-कर फिर मनमें धैर्य धारण करना कहा है)। (ग) 'कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति। कहि अस बचन सखिन्ह सन रानि बिसूरति॥ जो बिधि लोचन अतिथि करत नहिं रामहिं। तो कोउ नृपहि न देत दोसु परिनामहिं॥ ४६॥ अब असमंजस भएउ न कछु कहि आवै। रानिहि जानि ससोच सखी समुझावै॥' (श्रीजानकीमंगल। यहाँ रानीका 'बिसूरना' कहकर फिर उसीका अर्थ आगे 'ससोच' शब्द देकर कर दिया है।)

इस तरह शब्दसागरमें दिये हुए अर्थ ही अधिक सङ्गत प्रतीत होते हैं। यही अर्थ पं० रामकुमारजी और पंजाबी-जीने किया है। वि० त्रि० भी 'बिसूर' का अर्थ 'खेद करना' कहते हैं। खिदर्विसूरः। विसूरइ खिद्यते। यहाँ चिन्ता संचारी है। चिन्तासहित आना कहा 'कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता' अब चिन्तासहित जाना कहते हैं।

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन* खानी॥ २॥

अर्थ—सुख, स्नेह, शोभा और गुणोंकी खानि श्रीजानकीजीको जब प्रभुने जाते हुए जाना॥ २॥

नोट—१ श्रीरामचन्द्रजी जानकीजीकी छबि देखते रहे थे, यथा—'मुखसरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान', जब जाते जाना तब उनकी मूर्ति हृदयमें रख ली। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को चरितार्थ किया। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'मृग, विहंग और तरुके बहानेसे अभीतक फिर-फिर आती थीं, अब, जब जानकीजी 'चलीं राखि उर स्यामल मूरति', तब रघुनाथजी जान गये कि अब न लौटेंगी, अब जाती हैं; तब उनको हृदयमें रक्खा'; इस कथनका तात्पर्य यह है कि जब साक्षात् देख पड़ती हैं, तब ध्यान क्यों करें, जब निगाहसे हटने लगीं तब उरमें बसाया।

२—रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'प्रभु' शब्द ऐश्वर्य और सर्वशक्तिमत्ताका सूचक है और स्वामीका भी वाचक है। भाव यह कि श्रीसीताजीको स्वीकार कर लेनेके समय यह शब्द प्रयुक्त किया गया। इस प्रकरणभरमें यह शब्द और कहीं नहीं आया, केवल श्रीसीताजीके आगमन समयके प्रारम्भमें और यहाँ अन्तमें भी यह शब्द देकर प्रभुकी प्रभुतासे इस प्रकरणको संपुटित किया है।' अथवा, प्रभु शब्द इससे दिया कि अपना प्रभुत्व समझते हैं, जानते हैं कि हम धनुष तोड़ेंगे। और जानकीजीको ब्याहेंगे, इसीसे 'परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥' श्रीलमगोड़ाजीके भी विचार कुछ ऐसे ही हैं। (स्मरण रहे कि माधुर्य नाम 'जानकी' जनकसम्बन्धी दिया, ऐश्वर्यवाचक 'सीता' नाम न दिया, क्योंकि सीतावियोग तो कभी भी नहीं होता, उनका तो नित्य संयोग है)।

३ पाँड़ेजी—पूर्व कह आये हैं कि 'मुखसरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान'। अब यहाँ दिखाते हैं कि मकरन्द पान करनेमें कितने आसक्त हैं। जानकीजी चल दीं पर उनको सुध अब हुई जब वे फिर-फिरकर आपको देखती हैं। पुनः पूर्व जो सीताजीके सम्बन्धमें कहा था कि 'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥' उसको श्रीरामजीकी दशामें चरितार्थ कर दिखा रहे हैं कि वे कैसे चकित हो गये हैं कि जैसे मृग दीपकको देखकर सब सुधबुध भूल एकटक खड़ा रह जाता है। यथा—'सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइ कै रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि, बिथके बिलोचन निमेषै बिसराइ कै। गी० १। ८२। ६।' (रङ्गभूमिमें श्रीसीताजीके आनेपर सब स्त्री-पुरुष रूपको देखकर इस तरह देहसुध भूल एकटक देखने लगे थे)—जब सावधान हुए तब जाना। क्या जाना? उनका लौटना जाना एवं जानकीजीको जाना (अर्थात् अभीतक तो सुधबुध भूले थे, इससे न जाना था अब जाना), जैसा जाना सो आगे कहते हैं—'सुख सनेह सोभा गुन खानी' हैं, यह जाना ये चारों बातें दृष्टिमिलापसमय ही उनमें पायी थीं, परंतु जान अब पड़ीं। (सङ्ग छूटनेपर मनुष्यके गुण याद आते हैं। जैसे मृग ज्यों-ज्यों दीपकसे दूर होता जाता है त्यों-त्यों सावधान होता जाता है)।

नोट—४ 'सुख सनेह सोभा गुन खानी' इति। सुखखानि हैं, यथा—'देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥' स्नेहकी खानि हैं, यथा—'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी'। शोभाखानि

* कै—छ०, १७०४। गुन—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०।

हैं, यथा—'सुंदरता कहँ सुंदर करई'। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई'। गुणखानि हैं, यथा—'लोचनमग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥'। पुनः, पाँड़ेजीके मतानुसार 'देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि बहोरि' यह चिह्न चतुराईका है और गुणका अर्थ 'चतुराई' है। 'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी' यह भी गुण है। गूढ़ गिराका समझ लेना गुण है और मृगविहंगादिके बहानेसे देखना स्नेह और गुण प्रकट करता है।

५ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि—'शुद्धाचरणसम्बन्धी विचार सराहनीय है। कविने सीताजीकी अलौकिक सुन्दरताके साथ केवल सुख और शोभा इन्हीं दो अंशोंकी व्याख्याकी पूर्ति की है।....आगे गुण और स्नेहकी खानि होनेका विश्वास कब और किस प्रकार शुरू हुआ। परंतु स्मरण रहे कि ये सब शृङ्गारकी श्रेणियाँ हैं। स्नेह और गुणका विश्वास उत्पन्न होते ही गुणोंके मस्तिष्कीय अन्वेषणके पूर्व ही विश्वास पूर्णरूपेण हो जाता है।

परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥ ३॥

अर्थ—परमप्रेमकी कोमल स्याही बनाकर सुन्दर चित्तरूपी भीत (दीवार, पटल) पर (उनको वा उनके चित्रको) खींच लिया, चित्रित कर लिया॥ ३॥

नोट—'चित्त भीती' १६६१ तथा भा० दा० इत्यादिमें है। पाँड़ेजीने 'चित्रभीतर' पाठ दिया है। 'चित्त भीती' पाठ शुद्ध है; क्योंकि 'चित्र' शब्द नपुंसकलिङ्ग है जो भाषामें पुँल्लिङ्ग माना जायेगा। उसके साथ 'लीन्हीं' क्रिया असंगत है। जो कहो कि किसको लिखा? तो पूर्व चौपाईमें 'जब' पाठ है और 'जब' 'तब' का नित्य सम्बन्ध है, अतः दोनों अर्धालियोंका मिला हुआ अन्वय है। 'जानकी' यह पद कर्मकारक होकर 'लीन्ही' क्रियामें घटित है।

बाबा माधोदासजी रामायणी—'राजकुमारी कोमल हैं इससे रामजी उन्हें अपने 'चारुचित्र' पर खींचा चाहते हैं, जिसमें चित्राङ्गमूर्तिमें भी वही कोमलता आवे, इससे पराकाष्ठाका जो प्रेम है उसीको कोमल स्याही बनाया। पुनः, स्याही काली होती है परंतु आप गौराङ्गिनी हैं और प्रेमका रङ्ग स्वर्णका-सा होता है' जैसा आपका वर्ण, वैसा ही प्रेमका। अतः प्रेमहीको स्याही बनाया था।'

पाँड़ेजी—'परम प्रेमहीको स्याही बनाया और उसपर भी उसे कोमल बनाया, यह प्रेमकी विशेषता है। श्रीजानकीजीकी मूर्ति और उनके अङ्ग कोमल हैं। यदि स्याहीमें किंचित् भी कठोरता होगी तो काम न चलेगा, उससे वह उनके अङ्गोंमें खेद उत्पन्न करेगी। अतः परम प्रेममय कोमल स्याही बनायी। अर्थात् परम प्रेमपूर्वक उनको हृदयमें धारण कर लिया।

पं० रामकुमारजी—१ (क) प्रीति रङ्ग है, इसीसे यहाँ प्रेमको मसि कहा। यथा—'सखि रघुबीर मुख छबि देखु। चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु। गीतावली ७। ९।' जानकीजीपर अत्यन्त प्रेम किया, यही प्रेमकी स्याही बनाना है। प्रेमसे जानकीजीको चित्तमें रक्खा, यही मूर्तिका लिखना है। (ख) प्रेमकी मसि बनानेका भाव यह है कि मूर्ति (चित्र) बिना मसिके नहीं बनती, इसी तरह जानकीजी बिना प्रेमके हृदयमें नहीं आतीं। 'लिख लेने' से सूचित किया कि अब जानकीजी श्रीरामचन्द्रजीके चित्तमें रात-दिन रहेंगी। (ग)—'चारु चित्त भीती' का भाव कि जब भीती बहुत अच्छी होती है तब उसपर चित्र सुन्दर बनता है। श्रीरामजीका चित्त कोमल है, यथा—'कोमल चित कृपाल रघुराई।' इसीसे जानकीजीकी सुन्दर कोमल मूर्ति उसपर खींच ली।

मा० त० वि०—परम प्रेममय (अर्थात् सुरति-निरतिता-सम्पन्न) मृदु अर्थात् सहज योगको स्याही बनाया। चारु चित्त अर्थात् चित्तमें जो चारु अर्थात् बाणलिङ्ग है, यथा—'शिवसंहितायाम् 'पद्मस्थतत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम्। तस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत्॥'; उसमें लिख लिया। भाव कि तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाओगी, तुम्हारी मूर्ति तो मेरे सुरतिसे बिसरनेकी नहीं।

बैजनाथजी—श्रीकिशोरीजीके अङ्ग कोमल हैं। चित्तमें कठोरतारूपी दूषण न आवे, इसलिये परम प्रेममय मृदु मसि अर्थात् कुन्दनवर्ण कोमल स्याही बनाकर, सुमतिरूपी कलमसे मनरूपी चित्रकारद्वारा चित्तरूप सम सुघर चिक्कण निर्मल चमकदार भीतिपर हृदयके भीतर चारु अर्थात् सुन्दर सर्वाङ्ग सुठौर श्रीकिशोरीजीका चित्र लिख लिया।

☞ *नोट*—श्रीजानकीजीके सम्बन्धमें कहा था कि 'चली राखि उर स्यामल मूरति', अर्थात् साँवली मूर्तिको हृदयमें रखना कहा और यहाँ रामजीका उनको 'चित्तभीती' पर लिख लेना कहा। यह भेद साभिप्राय है।

मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि—'हृदयमें रखनेमें जानकीपक्षमें न्यूनता और अन्तःकरणमें हृदयपटलपर, लिख लेनेमें रामपक्षमें विशेषता प्रतीत होती है। इसमें भी हेतु है। ऐसा करके कविने प्रेम और मर्यादाका निर्वाह बड़ी ही चोखाईसे कर दिखाया है। यह भेद सराहनीय है, साभिप्राय है और जान-बूझकर रक्खा गया है। 'श्रीजानकीजीको धनुष टूटनेमें संकल्प-विकल्प हो रहे हैं, उनके संकल्पमें सुकुमारताके कारण विकल्प भी आ जाता है। और रघुनाथजीको निश्चय है कि हम धनुष तोड़कर इनको अवश्य ब्याहेंगे। अतः प्रभुने उनको अपना मानकर उनके स्वरूपको अचल करके लिख लिया और जानकीजीको आशामात्र है इससे उनके विषयमें केवल हृदयमें धर लेना कहा।' पुनः, 'नीतिपक्षके अनुसार भी स्त्री-पुरुषको ऐसे बन्धनमें नहीं कर सकती जैसे कि स्त्रीको पुरुष।' अतः गोस्वामीजीने दोनों बातोंको विचारकर दोनोंमें अन्तर दिखाया है (पाँड़ेजी)।

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'वियोग असह्य जान संयोग हेतु दर्शनका आधार लिया है। 'परम प्रेम' वह है जिसमें एकरस प्रीतिमें डूबा रहे। किशोरीजीने ध्यान-दर्शन स्वीकार किया और रघुनाथजीने चित्रदर्शन।'

☞ प्रभुके विषयमें 'लिखि लीन्ही' और श्रीसीताजीके प्रति 'धरि बड़ि धीर राम उर आनें' 'चली राखि उर····' कहा। क्योंकि रक्खी हुई वस्तु विह्वलतामें भूल जाती है। इसी तरह श्रीकिशोरीजी जब धनुषकी कठोरताको विचारेंगी तब इनकी वीरताको भूल जायँगी। यथा—'तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥···नीकें निरखि राम कै सोभा। पितुपनु सुमिरि बहुरि मन छोभा॥···बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा।···अति परिताप सीय मन माहीं॥···सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी॥' लिखी हुई वस्तु भूल नहीं सकती। प्रभुने लिखकर मानो निश्चय कर लिया कि अब ये हमारी हैं। यथा—'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥' निश्चय न होता तो कभी हृदयमें न बसाते। त्रिपाठीजीका मत है कि सीताजीको पूजन करना था इसलिये उन्होंने मूर्ति हृदयमें रक्खी और श्रीरामजीको ध्यान करना था इसलिये चित्र लिख लिया। इस भाँति दोनों ओर स्थायीभावका उदय दिखलाया है।

☞ इस प्रसङ्गमें यह भी दरसाया है कि प्रभुका चरित्र माधुर्यमय है और श्रीजानकीजीका चरित्र अति-माधुर्यमय है। प्रभुका ऐश्वर्य ताड़का आदिके वध, अहल्योद्धार, धनुर्भङ्गसे प्रकट भी हो जाता है परंतु इनका ऐश्वर्य गुप्त ही रहा।

गई भवानी भवन बहोरी। बंदि चरन बोली करजोरी॥ ४॥
जय जय गिरिबरराजकिसोरी। जय महेस मुखचंद चकोरी॥ ५॥

अर्थ—फिरसे (दुबारा) भवानीके मन्दिरमें गयीं और चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोलीं—॥ ४॥ हे गिरिवरराजकिशोरी! आपकी जय हो! जय हो! हे महादेवजीके मुखरूपी चन्द्रमाकी चकोरी! आपकी जय हो!॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'गई···बहोरी।' जब देवमन्दिरमें आवे तब देवताको प्रणाम करे और जब जाने लगे तब प्रणाम करे यह रीति है, अतः पुनः 'गई····'; ऊपरसे तो यह बात दिखायी और भीतरी (आन्तरिक) अभिप्राय यह है कि श्रीजानकीजीने मनसे श्रीरामजीको अङ्गीकार (वरण) कर लिया है, अतः अब उनकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करेंगी और गौरीजी यही वर देंगी—'मन जाहि राच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।' [वैजनाथजीका मत है कि 'पहली बार वन्दना-स्तुति रह गयी थीं, पूजा और ध्यान पूर्व ही कर चुकी थीं। ध्यानहीके समय सखी आ गयी थी, इससे अब पूजाकी पूर्तिके लिये फिर आयीं।' लमगोड़ाजीका मत है कि 'श्यामलमूर्ति अब हृदयमें बस गयी है पर मिलना कठिन जान पड़ता है, इसीसे देवीकी शरणमें फिर आयीं।' ☞ यह भी याद रहे कि श्रीसीताजीको नारदवचन याद आ चुका है—'सुमिरि सीय नारद बचन····', अतः उसीकी पूर्तिके लिये पुनः भवानी भवनमें गयीं। (ख)—'भवानी' इति। मयङ्ककारका मत है कि 'यद्यपि वर्तमान सती ही हैं परंतु जानकीजीने पूजन गिरिजाका किया क्योंकि पतिनिमित्त गिरिजाहीका पूजन वेदविहित है। पुनः, भू (पृथ्वी) और भूधरसे अपनाइत है अर्थात् सम्बन्ध है। अतएव जानकीजीने अपनी अभिलाषा गिरिजाहीसे प्रकट की, क्योंकि वे भी उक्त प्रकार सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ जानकीजीको माँगना है सो सब गिरिजाहीमें है, सतीमें नहीं। अतः गिरिजाका पूजन करके जो प्रशंसासूचक विशेषण कहे वही माँगा।'] (ग)—'बंदि चरन' इति। चरणवन्दन चौथी भक्ति है, यथा—'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।' हाथ जोड़नेसे देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं—'अञ्जली परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी', 'सकत न देखि दीन कर जोरें'। अतः 'बोली कर जोरी'। पदवन्दन और करबद्ध प्रार्थनासे देवता भला मानते हैं, यथा—'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहैं।' (विनय० १३५)। [वैजनाथजी

लिखते हैं कि प्रथम चरणकी वन्दना करके उन्होंने पूजाकी समाप्ति की। फिर विशेष प्रसन्नता हेतु हाथ जोड़कर स्तुति करने लगीं] ☞कोई हाथ जोड़कर वन्दना वा विनती करते हैं, यथा—'विनती सचिव करहिं कर जोरी। जियहु जगतपति बरिस करोरी॥', 'बिनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन' इत्यादि। कोई चरण पकड़कर विनय करता है, यथा—'सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्ह बिधि नाना॥ (भानुप्रताप), 'करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा', 'गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकरकुल होसि कुठारी॥' इत्यादि। और, कोई चरणोंमें प्रणाम कर तथा हाथ जोड़कर विनय करते हैं—यह विनयकी पूर्ण मुद्रा है। यथा—'बंदौं पद धरि धरनि सिर बिनय करौं कर जोरि।' तथा यहाँ 'बंदि चरन बोली कर जोरी'।

नोट—१ 'जय जय' में आदर और प्रेमकी वीप्सा है। स्तुतिकी रीति यही है कि जो स्तुति करे उसमें अपने आभ्यन्तरिक अभिप्रायके अनुसार विशेषणयुक्त विनय सुनायी जाय। ठीक वैसी ही विनय यहाँ है। सब विशेषण साभिप्राय हैं। लमगोड़ाजी भी लिखते हैं कि 'हमारी स्तुतिमें बहुधा हमारे भावोंका प्रतिबिम्ब होता है। श्रीसीताजीके सामने स्त्री-जीवनकी सभी अवस्थाएँ नाच रही हैं और देवीमें वे सब अवस्थाएँ मंगलमय हैं, इसीसे देवीकी उन सब अवस्थाओंका वर्णन स्तुतिमें है।' पाँड़ेजीका मत है कि 'जय जय' शब्द याचनाका है। अपने मनोरथकी याचना करती हैं। अतः 'जय जय' कहा। रा० प्र० कार लिखते हैं कि सती और गिरिजा दोनों स्वरूप जनानेके लिये दो बार 'जय' शब्द दिया। प्र० स्वामी अर्थ करते हैं कि 'अपने ऐश्वर्यका उत्कर्ष प्रकट कीजिये'। सीताजी भव-शक्तिका प्रकटीकरण ही चाहती हैं। ('जय' के अर्थ विस्तारसे मानसपीयूषमें कहीं दिये गये हैं। सूचीसे पता लगेगा)।

टिप्पणी—२ (क) 'गिरिबरराजकिसोरी' कहकर पितापक्षकी श्रेष्ठता कही, पिताके सम्बन्धसे बड़ाई करती हैं और 'महेस मुखचंद्र चकोरी' से पतिके सम्बन्धसे बड़ाई की, तथा आगे 'गजबदन षडानन माता' से पुत्रपक्षकी श्रेष्ठता, पुत्रके सम्बन्धसे बड़ाई कही। इसी प्रकार निषादराजने श्रीजानकीजीकी बड़ाई की है, यथा—'पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ रामचंद्र पति सो बैदेही। सोवति महि बिधि बाम न केही॥' पर्वत परोपकारी होते हैं, यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥ ७। १२५।' गिरिवरराजकी कन्या कहकर सूचित करती हैं कि आप परोपकारीकी कन्या हैं अतः स्वयं भी उदार और परोपकारी अवश्य होंगी। हमारा उपकार करनेमें आप समर्थ हैं। पुनः भाव कि गिरिराजके यहाँ अवतार लेकर आपको पतिकी प्राप्ति करनेमें जो कष्ट हुआ और प्राप्त होनेपर जो सुख हुआ उस सबका अनुभव आपको है। पुनः, आपने प्रतिकूल पतिको भी अनुकूल कर लिया था, मैं पिताके प्रणके कारण पीड़ित हूँ, मुझे श्रीरामजीकी प्राप्ति कराकर सुख दीजिये। (पाँड़ेजी इत्यादि)। (ख) 'गिरिबरराजकिसोरी' से उनकी उदारता और परोपकारता कही। 'महेश मुखचंद्र चकोरी' से जनाया कि आप महान् ईश्वर शिवजीकी सानुकूला हैं। जब 'महेश ही आपपर प्रसन्न हैं तब आप क्या नहीं दे सकतीं ? [सब कुछ दे सकती हैं। इस शब्दको देकर कर्तव्यशक्तिकी अधिकता सूचित की (मुं० रोशनलाल)। (ग) 'चकोरी चन्द्रमाकी अनन्य प्रेमिका है। वैसे ही आपमें पातिव्रत्य परिपूर्ण है। मैं भी पतिकी अनुकूलता, अनन्यता और पातिव्रत्य चाहती हूँ'—। (वैजनाथजी)। यहाँ 'परम्परित रूपक' है। अथवा, (घ) 'गिरिबरराजकिसोरी' का भाव यह कि जैसे हिमाचलने आपका पाणिग्रहण शंकरजीको कराया था वैसे ही यह कृपा हो कि मेरे पिता मेरा पाणिग्रहण श्रीरामजीसे करावें। (पं०)। पुनः (ङ) 'गिरिबरराजकिसोरी' से जन्म और 'महेस मुखचंद्र चकोरी' से अभूतपूर्व तपस्या कही। (वि० त्रि०)]

प० प० प्र०—(क) भाव कि आप जब गिरिवरराजकिशोरी थीं अपनी उस समयकी अवस्थाका स्मरण कीजिये। आप गिरिवरराजकिशोरी हैं और मैं विदेहराजकिशोरी हूँ। आपने अलौकिक तप किया था पर मेरे लिये तपका समय नहीं है, अतः आप अपनी तपस्याका कुछ अंश प्रकट कीजिये और वह।अपना सामर्थ्य रघुवीरकी भुजाओंमें भर दीजिये। भगवान्‌ने आकाशवाणीद्वारा आपको आश्वासन दिया था, आप मुझको वर देकर महान् धर्मसंकटसे बचाइये, यह उपकार कीजिये, इत्यादि। (प० प० प्र०)। (ख) 'जय महेस मुखचंद्र चकोरी' इति। 'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी' श्रीसीताजीकी यह दशा ही यहाँ प्रकट हो रही है। भाव यह है कि आप भी मेरे समान कुमारी-दशामें ही शिव-मुख-चन्द्र चकोरी बन गयी थीं। मैं रघुपति मुख-चन्द्र-चकोरी बनी हूँ; पर यह धनुर्भंगपर निर्भर होनेसे मैं सभीत, सचिन्त और धर्मसंकटमें हूँ। आपकी

चकोरिता इच्छानुसार पूरी हुई जिससे आपको परम सुख हुआ। आप मुझपर कृपा करके अपना ऐश्वर्य प्रकट कीजिये जिससे रघुवीर ही धनुर्भंग कर सकें।

जय गजबदन षडानन माता। जगतजननि दामिनि दुति गाता॥ ६॥
नहिं तव आदि अंत* अवसाना। अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना॥ ७॥

अर्थ—हे गजबदन गणेशजी और छः मुखवाले स्वामिकार्तिकजीकी माता! हे जगन्माता हे जगदम्बे! हे बिजलीकी कान्तिके समान शरीरवाली! आपकी जय!॥ ६॥ आपके आदि-अन्तकी सीमा नहीं है (अर्थात् आपके अनन्त अवतार हैं)। आपका प्रभाव अपार है, उसे वेद भी नहीं जानते॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'जय गजबदन षडानन माता' इति। गजबदनको प्रथम कहकर सूचित किया कि गणेशजी हैं और षडाननजी छोटे हैं। (पर मानससे तो षडाननका ही जन्म प्रथम स्पष्ट है। विवाहके पश्चात् इन्हींका जन्म प्रथम हुआ)। 'जय जय गिरिवरराजकिसोरी' से 'षडानन माता' तक माधुर्य कहा, आगे 'जगतजननि···' से ऐश्वर्य कहते हैं। (ख) जब गिरिवरराजकिशोरी कहा तब (यह जाना गया कि कुआरी हैं इससे) पतिका वर्णन किया, (केवल पतिसे जाना जाता कि सन्तान या तो है ही नहीं या उत्तम नहीं है इससे) तत्पश्चात् पुत्रोंको कहा (कि पुत्र कितने प्रतापशाली और तेजस्वी हैं। एक तो प्रथमपूजनीय हैं और दूसरे देवसेनापति हैं। ☞ जो स्त्री उत्तम कुलमें नहीं उत्पन्न होती, जो पतिव्रता नहीं है एवं जो पुत्रवती नहीं है, उसकी बड़ाई न वेदमें है न लोकमें। इन्हीं तीन बातोंसे स्त्रीकी बड़ाई होती है। इसीसे तीनों बातें कहकर प्रशंसा की।

नोट—१ गजबदन और कार्तिकेयकी माता कहनेके और भाव—(क) देवताओंने शिवजीको प्रसन्न कर वर माँगा कि 'राक्षसोंके कर्मोंमें विघ्न हुआ करे ऐसा कोई उपाय हो,' तब शिवजीने पार्वतीजीके गर्भसे गजबदन-को उत्पन्न किया। (लिङ्ग पु० अ० १०४)। और तारकासुरके वधके लिये शिवजीने आपसे विवाह करके षडाननको उत्पन्न किया। ऐसे पराक्रमी राक्षसोंके विघ्नकर्ता देवताओंकी उत्पत्तिका कारण आप ही हैं तब धनुषके भङ्गमें रावणादि नाना कुटिल भूपोंके प्रति विघ्न कर देना और महान् कठोर धनुषको श्रीरघुनाथजीसे ही पराक्रम देकर भङ्ग करवाना आपके लिये कौन बड़ी बात है?

(ख) संसारमें जितने भी कार्य सिद्ध होते हैं उनके कर्ता तथा विघ्नहर्ता गणेशजी हैं और जितने शूरता-वीरताके कार्य सिद्ध होते हैं उनकी सिद्धिके कारण कार्तिकेय हैं। इन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण आप ही हैं। मुझे दोनोंका काम है। एक तो श्रीरामजीके द्वारा धनुषका टूटना, दूसरे उसके पश्चात् परशुरामादि वीरोंका मान मर्दन करना।—इसीसे दो कामोंके लिये दोनोंकी माता कहकर स्तुति की, नहीं तो एक पुत्रका नाम लेनेसे भी सबकी माताका बोध हो सकता था। (शीला, मा० त० वि०)]।

(ग) 'गणेशजी सिद्धिसदन, विघ्नविहण्डन और मंगलदाता हैं। षडाननने तारकासुरको संग्राममें मारकर देवताओं-

---

* 'आदि अंत अवसाना'—१६६१, १७२१, १७६२, छं०, १७०४ (परंतु रा० प्र० में 'आदि मध्य अवसाना' है), मा० त० वि० पं० राम कु०, वि० त्रि०, भा० दा०। आदि मध्य अवसाना—को० रा०, गी० प्र०।

अवसान और अन्त पर्याय शब्द हैं। पर पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'अंत' का अर्थ मध्य है। यहाँ 'अंतर' को 'अंत' कहा है। अन्तिम अक्षर रकारका लोप हो गया है। संत श्रीगुरुसहायलालजीने अर्थ इस प्रकार किया है—'न तो आपका आदि है और न आपके अन्तका अवसान अर्थात् हद है किन्तु आप अमित प्रभावरूपा हो।' शब्द-सागरमें 'अवसान' का अर्थ विराम, ठहराव और सीमा भी दिये गये हैं। साकेतवासी पं० शंभुनारायण चौबे (काशी ना० प्र० पुस्तकालयाध्यक्ष) ने भी 'अंत' पाठ लिया है। प्राचीनतम पोथीका यह पाठ है और न उसमें हरताल है न पाठान्तर। अर्थ भी ठीक लगता है। अतः हमने इस संस्करणमें उसीको रक्खा है।

वि० त्रि० ने भी 'अंत' पाठ रक्खा है और भाव यह लिखा है—'आविर्भाव और तिरोभावका अन्त वा समाप्ति नहीं, अर्थात् आपके अनन्त अवतार हैं। (वह जगन्मूर्ति नित्य है, उसीसे यह संसार व्याप्त है, फिर भी उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकारसे सुनी जाती है। यथा—'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्। तथापि तत्समुत्पत्ति-र्बहुधा श्रूयतां मम)।'

को अपने-अपने लोकोंमें बसाया था। ऐसे प्रतापी तेजस्वी पुत्रोंकी आप माता हैं। हमारे मनोरथ सिद्ध कीजिये, धनुषरूपी तारकासुरको विघ्न श्रीरामजीके द्वारा मिटाकर हमारे मनोरथरूपी स्थानमें हमें बसा सकती हो।' (पाँडेजी)।

(घ) गजाननकी सूँड़में आपने विघ्नविनाशक शक्ति दी है, रामबाहु भी सूँड़के समान है, अतः उसमें भी शक्ति भर दीजिये जिसमें वे धनुष तोड़ सकें। 'षडाननमाता' का भाव कि सद्योजात बालकमें तारकासुरके वधकी दिव्य शक्ति आपने ही दी, अतः रघुबरबाहुसे धनुर्भङ्ग करा देना आपके लिये सहज सुलभ है। (प० प० प्र०)।

(ङ) 'आपके दो सबल प्रतापी पुत्र हैं, हमको ऐसे ही दो पुत्रोंकी आकांक्षा है। यह मनोरथ गीतावलीसे सिद्ध होता है; यथा—'राम कामतरु पाइ बेलि ज्यों बौड़ी बनाइ, माँग-कोषि तोषि पोषि फैलि फूलि फरिकै।' (१। ७०) (वै०)।

टिप्पणी—२ 'गजबदन षडानन-माता' कहकर 'जगतजननि' कहनेका भाव कि आप कुछ इन्हीं दोकी माता नहीं हैं, किन्तु जगत्‌भरकी माता हैं। यथा—'जगतमातुपितु संभु भवानी। १०३। ४।' 'दामिनि दुति गाता' अर्थात् आपके सब अङ्ग दिव्य हैं, प्रकाशमय हैं, आपका शरीर पाञ्चभौतिक पञ्चतत्त्वोंका नहीं है। 'जगतजननि' कहकर 'दामिनिदुति गाता' कहनेका भाव कि आप जगन्मात्रको अपने प्रकाशसे प्रकाशमान किये हुए हैं।

नोट—२ 'जगतजननि''''' के और भाव—(क) 'यदि आप कहें कि हमारा-तुम्हारा क्या नाता? तो उसपर (अपना नाता बताती हैं) कहती हैं कि आप जगन्माता हैं, मैं भी जगत्‌में हूँ और माता बच्चेकी रक्षा करती ही है, 'जिमि बालक राखै महतारी।' (पाँ०)। पुनः जगज्जननी अर्थात् जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाली हो; अतः आपके लिये कोई कार्य कठिन नहीं। (रा० प्र०)। ☞ अपना कोई-न-कोई दृढ़ सम्बन्ध ईश्वरसे अवश्य लगाकर उस नातेके अनुसार बरतनेसे बड़ा सुख प्राप्त होता है। अनुभव करके देख लीजिये। अभीष्ट-सिद्धिके लिये नाता बड़ा ही प्रबल सहायक है और यों तो प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, जिस तरह चाहें अपना लें। विनयके 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै। ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै॥' (पद ७९), इस पदमें भी नाता, नेह लगानेके लिये आवश्यक बताया है। (ख) 'दामिनि दुति गाता' का भाव कि अँधेरेमें कुछ नहीं सूझता, उसमें बिजलीकी दमक होती है तो रास्ता दिखायी पड़ता है। धनुष अन्धकार है, यथा—'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी। २३९। १॥' जिससे हमें कुछ नहीं सूझता और न पिताहीको कुछ सूझता है—'समुझत नहिं कछु लाभ न हानी।' उस अन्धकारको अपने प्रतापरूपी प्रकाशसे मिटा दीजिये। जनकका घोर अज्ञान दूरकर उनको मेरे मनोरथके अनुसार बुद्धि दीजिये।'—(मा० त० वि०)। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि जैसे दामिनि और मेघका सदा संयोग है और आपको सदा पतिका संयोग है, वैसे ही मुझे पति-संयोग दीजिये। अथवा 'दामिनीसे द्युति ऐसा शरीरमें सौन्दर्य है तथापि आपमें ऐसा सत्त्व है कि सारा जगत् आपको जननीवत् देखता है, वैसे ही हमको भी सत्त्व दीजिये।' (वै०)। पुनः भाव कि 'दामिनीके समान आपके शरीरकी द्युति है (और दामिनि घनघोरामें रहती ही है) अतः आप श्रीजनकजीको एवं उनके सभासदोंको 'घन घोरा' (बहुत सघन) ज्ञान दें जो मेरे मनोरथानुसार हो।' (मा० त० वि०)। पुनः भाव कि आपका जो विद्युत्-समान प्रचण्ड तेज, सामर्थ्य, इत्यादि है उसे रघुबरबाहुमें भर दीजिये जिससे वे एक निमेषमें अशनिपातके समान भयङ्कर ध्वनियुक्त धनुर्भङ्ग कर सकें। और जबतक और लोग उठावें तबतक धनुषमें सौ दामिनिका तेज भर दीजिये कि और लोग उसे छूते ही मृतप्राय हो जायँ। (मा० त० वि०)।

टिप्पणी—३ 'नहिं तव आदि अंत अवसाना।''''' इति। (क) 'गिरिबरराजकिशोरी' से आदि (अर्थात् जन्म), 'महेशमुखचन्दचकोरी' से मध्य (अर्थात् युवावस्था) और 'गजबदन षडानन माता' से अन्त पाया गया। कार्य होनेपर कारणका अन्त है। इसीसे उसका निराकरण करती हैं कि आपका आदि, मध्य, अन्त कुछ भी नहीं है। अर्थात् यह सब आपकी लीलामात्र है, वास्तवमें आप ब्रह्म ईश्वरी हैं। ईश्वरकी ईश्वरता वर्णन की तब आदि, मध्य, अन्त कैसे कह सकते हैं? ईश्वरका आदि, मध्य, अन्त नहीं है। ईश्वरका स्वरूप ऐसा ही है। (ख) पुनः [प्रथम दक्षके यहाँ जन्म, यज्ञमें शरीर-त्याग, तब गिरिराजके यहाँ जन्म, फिर ब्याह, फिर जननी होकर वृद्धा हुई, इत्यादिसे 'आदि अंत अवसान' जाना जाता है पर वस्तुतः यह आपका खेल है, यथा—'अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि। जगसंभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ ९८। ३-४॥' (प्र० सं०)। पुनः भाव कि 'आदिमें काली, मध्यमें

सती, अन्तमें गिरिजा इत्यादि आपकी लीलामात्र है, आप सदा एकरस शिवजीकी अर्धाङ्गनिवासिनी हैं। अथवा भाव यह कि आप आदिमें किस रीतिसे कब उत्पन्न हुईं, मध्यमें क्या लीला करती हैं, अन्तमें कबतक करती रहेंगी तथा आपका अमित प्रभाव वेद नहीं जानते। (वै०)] (ग) 'अमित प्रभाउ' अर्थात् जितना मैंने कहा इतना ही नहीं है वरंच आपके प्रभावकी कोई मिति नहीं है। 'बेद नहिं जाना' अर्थात् वेद भी आपके प्रभावको अमित कहते हैं। (अतः आज मेरे लिये उस प्रभावको प्रकट कीजिये)।

वि० त्रि०—वेद नहीं जानते क्योंकि आप उनकी भी आधारभूता हैं। यथा—'शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीतरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।' ब्रह्मा-विष्णु-महेश उद्भव, पालन, संहार आपके प्रतापसे करते हैं।

भव भव बिभव पराभव कारिनि। बिश्वबिमोहनि स्वबसबिहारिनि॥ ८॥

अर्थ—आप भव (संसार) को भव (उत्पन्न), पालन और संहार करनेवाली हैं। विश्वको (अपनी मायासे विशेष) मोहित करनेवाली और स्वतन्त्ररूपसे विहार करनेवाली हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'जगत जननि' कहा। उससे पाया गया कि जगत्‌को उत्पन्न भर करती हैं उसका पालन और संहार नहीं करतीं, उसीपर कहती हैं कि आप 'भव' विभव और पराभव तीनों करती हैं। 'नहिं तव आदि अंत अवसाना' के पश्चात् 'भव भव·····' कहकर जनाया कि आपका आदि, मध्य, अन्त नहीं है परंच आपसे जगत्‌का आदि, मध्य, अन्त है। (ख) 'बिश्व बिमोहनि' हो अर्थात् मायारूपा हो। 'स्वबसबिहारिनि' अर्थात् आपका स्वतन्त्र विहार है, आपका विहार कालकर्मादिके वश नहीं है, यथा—'जगसंभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥' (ग) पुनः 'भव भव बिभव···' से जनाया कि ब्रह्मा-विष्णु और महेश तीनों आप ही हैं। (घ) ☞जब ऐश्वर्य कहा तब ईश्वरके जो कर्म हैं, उद्भव, स्थिति, संहार, सो भी कहना योग्य है। 'उत्पति पालन प्रलय समीहा' ये ईश्वरके काम हैं।

नोट—'भव भव···बिहारिनि' के और भाव—(१) 'विभव=ऐश्वर्य, शक्ति। विभवकारिनि हो अर्थात् कर्मानुसार फल देकर लोकोंके जीवोंका पालन करनेवाली हो, स्ववशविहारिणी हो अर्थात् किसीके वशमें नहीं हो, अतएव हमारा मनोरथ पूर्ण करनेमें सब प्रकार समर्थ हो। स्तुतिमें विशेष ऐश्वर्य वर्णन करना साधारण रीति है। अथवा कहीं पार्वतीजी यह न कहें कि सर्वेश्वरी होकर हमसे याचना करती हो, इसलिये उनका बोध कराती हैं कि नैमित्तिक लीलाकी ऐसी ही रीति है, क्योंकि आप भी ऐसी ऐश्वर्यवाली हैं पर नैमित्तिक लीलामें देह भस्म करना, तप करना आदि लीलाएँ आपने भी की हैं। वैसे ही मेरा भी लीलाप्रकरण जानिये।' (वै०)।

(२) मा० त० वि०—'उत्पत्ति करती हो इससे जनकका चित्त हमारे चित्तके अनुसार कर दो। पालन करनेवाली हो तो मेरे कार्यका पालन करो। नाश करनेवाली हो तो धनुषको भङ्ग करवा दो। विश्वमोहिनी हो तो मोहनशक्तिसे मेरा मनोरथ पूर्ण करो। स्ववश-विहारिणी हो तो शिवचापके भङ्गमें लिहाज न करो।'

(३) 'विश्वमोहनी' हो अतः पिता ऐसे ज्ञानी जो मोहमें पड़े हैं तो आश्चर्य क्या? उनके मोहको हटाइये, जिससे वे प्रतिज्ञा छोड़ दें। 'स्वबसबिहारिनि' से जनाया कि हमारे ललाटमें न हो, उसे भी आप दे सकती हैं, प्रतिकूल अङ्कोंको मिटा सकती हैं। इस तरह सब प्रकारसे स्वतन्त्रता और सामर्थ्य जनाया। (मा०)

(४) 'स्वबसबिहारिनि' शब्दमें अभिप्रेत फलकी कामना व्यञ्जित होनी गूढ़ व्यंग है कि जैसे शङ्करजीके साथ आप स्वतन्त्र विहार करती हैं, वैसा मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं भी रामचन्द्रजीके सङ्ग स्वच्छन्द विहार करूँ।'

(५) 'स्वबसबिहारिनि' कहनेका भाव कि हमारा मनोरथ जो परवश है उसे स्ववश कर दीजिये। (रा० प्र०)।

प० प० प्र०—'भव····भव' इति। (क) भाव कि तीन परस्पर विरोधी कार्योंको आप कर सकती हैं। अतः रघुवीरके शरीरमें धनुदमनीय तेज-प्रतापकी उत्पत्ति, मेरे पातिव्रत्य और पितृकुल-कीर्तिका पालन तथा अन्य वीरोंके तेज-प्रताप-बलका एवं भवके धनुषका संहार करना आपको क्या दुष्कर है? यह तो आपके लिये एक खेल-सा है। भव भव=भव (शिवजीसे जिसका भव (उद्भव) है=शिवचाप। भव-भव विभव पराभव=शिवचापके विभव (ऐश्वर्य) को पराभव (विनाश)। कारिनि=करनेवाली (आप ही हुजिये)। (ख) 'बिश्वबिमोहनि'—भाव कि अन्य वीरोंको ऐसा मोहित कीजिये कि उनमें

धनुष उठानेकी शक्ति न रह जाय। (ग) 'स्ववसविहारिनि' का भाव कि आपके 'स्व' (पति) आपके वशमें हैं और आप उनके साथ सदा विहार करती हैं, मुझे भी वैसा ही सुख प्राप्त कर दीजिये।

नोट—श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'भव भव विभव पराभव' में वह अंश दैवीसत्ताका है जहाँतक विज्ञानकी पहुँच है, 'विश्वविमोहनि' तक कला पहुँचती है, परंतु उसके स्ववशविहारको अनुमानसे धर्म-ग्रन्थ ही जानते हैं। हाँ, वास्तवमें तो वही स्वयं जाने तो जाने, या वह जाने जिसे वह जना दे। सच पूछिये तो इससे संक्षिप्त व्याख्या दैवी-सत्ताकी और हो ही क्या सकती है?

दो०—पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख। महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष ॥२३५॥

शब्दार्थ—पतिदेवता=पति ही जिनका इष्टदेव है=पतिव्रता।

अर्थ—पतिको अपना इष्टदेव माननेवाली उत्तम (अर्थात् पतिव्रता) स्त्रियोंमें, हे माता! आपकी प्रथम गणना (पहली गिनती) है। हजारों सरस्वती और शेष भी आपकी अपार महिमाको कह नहीं सकते॥ २३५॥

टिप्पणी—१ 'नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाउ''''' यह ऐश्वर्यका माहात्म्य है। आदि, मध्य, अन्तरहित होना ऐश्वर्य है। और 'पतिदेवता''''सेष' यह माधुर्यका माहात्म्य है। पतिव्रता होना माधुर्य है। दोनों रूपोंका माहात्म्य बराबर दिखाती हैं।—

	ऐश्वर्य	माधुर्य
१	अमित प्रभाव	महिमा अमित
२	कोई नहीं जान सकता ('बेद नहिं जाना')	इसे कोई कह नहीं सकता ('न सकहिं कहि''''')

☞ तात्पर्य कि निर्गुन कहते नहीं बनता। वहाँ वाणीका गमगुजर (प्रवेश) नहीं है। और माधुर्यमें कथन है, पर महिमा अमित है; इसीसे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ शेष और शारदा, सो एक क्या हजारों भी जुट जायँ तो भी, नहीं कह सकते। शारदा स्वर्गकी और शेष पातालके वक्ता ही जब नहीं कह सकते तो मर्त्यलोकमें कौन है जो कह सके? दोनों रूपोंका माहात्म्य कहा, इसीसे दोनों जगह माहात्म्य लिखा।

नोट—१ पूर्व 'अमित प्रभाव बेद नहिं जाना' कहा और यहाँ 'महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष।' कहते हैं अर्थात् जब प्रभावको अमित कहा तब वेदोंका न जानना कहा और जब महिमाको अमित कहा तब कहते हैं कि शारदा-शेष नहीं कह सकते। इस भेदका कारण यह है कि ऐश्वर्यके सम्बन्धसे प्रभाव निर्गुण स्वरूपका कहा गया, और निर्गुण (अव्यक्त) स्वरूप रेखरहित है, इसीसे उसका प्रभाव कथनमें नहीं आ सकता, केवल अनुभवसे जाना जा सकता है, यथा—'सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद। १। ५०।' अतः प्रभावके साथ 'बेद नहिं जाना' कहा। और माधुर्यके सम्बन्धसे महिमा सगुण स्वरूपकी है जो मन और बुद्धिका विषय है अर्थात् कही जाती है, परंतु अमित है, अकथनीय है, अतः महिमाके साथ 'न सकहिं कहि' कहा। (प्र० सं०)।

२ 'जय महेस मुखचंद चकोरी' यह पातिव्रत्य-धर्म प्रथम कह आयीं, अब यहाँ उसीकी बड़ाई करती हैं कि पतिव्रताओंमें आपकी प्रथम गणना है। (पं० रा० कु०)।

वैजनाथजी—जो जिस चीजका आचार्य होता है उसीसे वह वस्तु सीखी जाती है। आप पतिव्रताओंकी मुख्य आचार्या हैं; अतएव आपसे पातिव्रत्य-धर्म लेना चाहती हैं। 'प्रथम रेख' अर्थात् यह मार्ग आपहीके द्वारा प्रसिद्ध हुआ। आपहीने इस मार्गपर आरूढ़ होकर दूसरोंको यह मार्ग दिखाया, यहाँतक कि शिवजीने आपको अर्धाङ्गिनी बना लिया। हमको भी इस मार्गपर आरूढ़ कर दीजिये। 'महिमा अमित' अर्थात् स्तुतिद्वारा आपकी महिमा भला कौन और क्योंकर कह सके?

नोट—३ 'स्त्रियाँ पतिदेवताके ही सम्बन्धसे 'सुतिय' हैं। यहाँ 'पतिदेवता सुतीय''''' कहकर स्तुति करनेका भाव यह है कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीको मनसे वरण कर चुकीं, अपना पति बना चुकी हैं—'चली राखि उर स्यामल मूरति'; अतः

जनाती हैं कि जैसे आप शिवजीको मनसे पति मानकर उस व्रतपर दृढ़ रहीं, वैसे ही मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मेरा पातिव्रत्य-धर्म निबह जाय। (रा० प्र०)। पतिव्रताशिरोमणिको पतिव्रताकी सहायता करनी ही चाहिये।

नोट—४ इस ग्रन्थमें जगदाचार्य श्रीमद्गोस्वामीजीने स्त्रीके लिये पतिहीको इष्टदेव बताया है। यथा—'एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा। ३। ५। १०।', 'नारि धरम पतिदेउ न दूजा। १०२। ३।' और बताया है कि पातिव्रत्यका ही पालन करके स्त्री परम गतिको प्राप्त कर लेती है, यथा—'बिनु श्रम नारि परम गति लहई।''''' सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ। ३। ५।'

कुछ लोग इसमें सन्देह करते हैं कि 'प्राकृत पतिकी सेवासे स्त्री परमगति क्योंकर पा सकती है।' पर मेरी समझमें इसमें संदेहकी कोई बात नहीं है। जैसे जगत्मात्रको ब्रह्मका स्वरूप कहा गया है—'बिस्वरूप रघुबंसमनि। ६। १४।', 'सर्व सर्वगत सर्व उरालय।''''७। ३४।', 'सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४। ३।', 'यस्य जगत् शरीरं' (श्रुति)। ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है। गुरुजी ब्रह्मका रूप कहे ही जाते हैं। लीलास्वरूपोंमें ब्रह्मका ही विश्वास किया जाता है। पत्थर, ईंट, खम्भ, श्वान, आदिमेंसे भगवान् प्रकट ही हुए। सिलपिल्ले भगवान्, विट्ठल भगवान्की कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। नामदेवके लिये भगवान् प्रेतमेंसे, कुत्तेमेंसे, अग्निमेंसे प्रकट ही हुए। प्रह्लादजीने भगवान्को खम्भेमेंसे प्रकट कर उनकी सर्वव्यापकता सिद्ध कर दी। तब मनुष्य-पतिको भगवान्का स्वरूप मानकर उनको इष्टदेव मानकर जो उनकी सेवा करेगी, उसको परम पदकी प्राप्ति क्यों न होगी ? अवश्य होगी। यदि ऐसा न हो तो मूर्तिपूजन, लीलास्वरूप आदिमें निष्ठा ही व्यर्थ हो जायगी। श्रीअनुसूयाजी, श्रीअरुन्धतीजी, श्रीसावित्रीजी इत्यादि परम सतियोंकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं।

'पतिको पतिव्रता परमेश्वर ही जानकर पूजती है। पत्थरमें परमात्माकी भावना करके जैसे भक्त एक पत्थरके टुकड़ेको परमात्मा बना ही छोड़ता है, वह उससे उस रूपमें ही रीझते हैं। उसी तरह अधम-से-अधम मनुष्य-पतिको पतिव्रता अपने सतीत्वसे परमेश्वर बना देती है, उसे वैकुण्ठ (परधामको) पहुँचा देती है और आप भी उसी लोकको जाती है। जलंधर और वृन्दाकी कथा प्रमाण है।' (गौड़जी)।

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायनी* पुरारि पिआरी॥ १॥
देबि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥ २॥

अर्थ—हे वरकी देनेवाली! हे त्रिपुरके शत्रु शिवजीकी प्रिये! आपकी सेवा करते ही चारों फल सहज ही प्राप्त हो जाते हैं॥ १॥ हे देवि! आपके चरणकमलोंका पूजन कर-करके देवता, मनुष्य और मुनि सभी सुखी होते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ 'सेवत तोहि सुलभ फल''''' ' इति। (क) सब प्रकारकी बड़ाई करके अब उनकी उदारता कहती हैं। उदारता कहकर अपना प्रयोजन कहेंगी। [(ख) 'सेवत तोहि सुलभ'—'सेवत' से दीन अर्चामार्ग सूचित किया। अर्थात् मानरहित दास-दासी आदि भावसे प्रेमपूर्वक इष्ट-परिचर्या करनेसे। (वै०) 'सुलभ फल चारी'—भाव कि चारों फलोंकी प्राप्ति दुर्लभ है, पर आपकी सेवासे वे सब सुलभ हैं। वा, आपकी सेवासे सब फल सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं, उनकी प्राप्तिमें खेद, कष्ट वा कठिनता नहीं होती, औरोंकी सेवासे ये कठिनतासे प्राप्त होते हैं। (प्र० सं०, पाँ०)। पुनः भाव कि औरोंकी सेवाका फल एकमात्र आपकी सेवासे प्राप्त हो जाता है। सेवासे प्रसन्न होकर आप अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फल सेवकको प्राप्त कर देती हैं। पुनः भाव कि मैंने भी आपकी सेवा की है तब मेरे मनोरथकी सिद्धिमें आप विलम्ब क्यों कर रही हैं। (रा० प्र०)। जगदम्बाके पूजनके बिना चारों फलोंकी प्राप्ति दुर्लभ है। यथा—'यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्। भस्मीकृत्यास्य पुण्यानि निर्दहेत् परमेश्वरी॥' (अर्थात् जो भक्तवत्सला चण्डिकाकी पूजा नित्य नहीं करते उनके पुण्यकर्मोंको परमेश्वरी जलाकर भस्म कर देती है (वि० त्रि०)] (ग) 'बरदायनी' इति। श्रीजानकीजीने प्रथम ही पूजा करके वर माँगा था; यथा—'पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥ २२८। ६॥' (पर उसी समय वह सखी आ गयी थी जिसने दोनों राजकुमारोंको बागमें देखा था। और सबकी सब उसके साथ राजकुमारोंको देखने चल दी थीं। गिरिजाजीने उस समय 'एवमस्तु' आदि कुछ भी न कहा था। कारण कि नारदजीका वचन भी सत्य करना था कि मनमें जिसको बसा लेंगी वह 'वर' मिलेगा।) अतः 'बरदायनी' कहकर जनाती

* बरदाइनि त्रिपुरारि—१७०४। बरदायनी पुरारि—१६६१, १७२१, १७६२।

हैं कि (आप वर देनेवाली हैं। मैंने पूर्व ही वर माँगा था पर अभीतक वह मिला नहीं है) अब मुझे वर मिले। ('वरदायनी' में 'वर' से दूलह अर्थ भी निकलता है)। [पुनः चारों फल आपकी सेवासे सुलभ हो जाते हैं यह कहकर उसका कारण दूसरे चरणमें बताती हैं कि आप 'वरदायनी' हैं अर्थात् अर्थ-धर्म-काम तीन फलोंको तो स्वाभाविक ही आप देती हैं और 'पुरारि पिआरी' होनेसे मोक्ष भी प्राप्त कर देती हैं। (वै०)] पहले 'सेवत' लिखकर तब 'वरदायनी' कहनेका भाव कि सेवा करनेसे चारों फलोंकी प्राप्ति कर देती हो।

नोट—१ 'पुरारि-पिआरी' के भाव—(क) शिवजीके प्रति गौरीजीका प्रेम कह आयी हैं, यथा—**'जय महेस मुखचंद चकोरी।'** (चकोरीका प्रेम चन्द्रमामें है पर चन्द्रमाका प्रेम चकोरीमें नहीं है। अर्थात् चकोरीकी प्रीति एकाङ्गी है। इससे यह संदेह हो सकता है कि आपका भी प्रेम एकाङ्गी है, शिवजीको आप प्रिय नहीं हैं। इस संदेहके निवारणार्थ 'पुरारि पिआरी' कहकर शिवजीकी भी प्रीति गिरिजाजीमें कही। इस प्रकार दोनोंमें परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया। (ख) जैसे शङ्करजीने त्रिपुरासुरको मारकर सुर, नर, मुनि सबको सुखी किया, वैसे ही आपके चरणकमल पूजकर सुर-नर-मुनि सब सुखी होते हैं, क्योंकि आप शिवजीको प्यारी हैं। (पं० रा० कु०)। (ग) त्रिपुरासुरके निवासके तीन स्थान थे; वैसे ही यहाँ श्रीरघुनाथजीसे वियोग करानेवाले मेरे शत्रुके तीन स्थान हैं—श्रीरामजीकी सुकुमारता, पिताका प्रण और धनुषकी कठोरता। ऐसे शत्रुसे छुटकारा पानेका वरदान मुझे दीजिये, क्योंकि आप 'वरदायिनी' हैं। (पाँ०)। (घ) अध्यात्म-रामायण और हनुमन्नाटकके मतानुसार शङ्करजीने इसी धनुषसे त्रिपुरासुरका वध किया था, यथा—**'ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम्।'** (अ० रा० १०६), **'मध्यं यत्त्रिपुरेन्धनं धनुरिदम्। हनु० १। ३४॥'** इस सम्बन्धसे भी 'पुरारि' विशेषण दिया गया, यथा—**'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राज समाज आज जेहि तोरा। २४९। ३॥'** **'धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥ २७१॥'** **'घोर कठोर पुरारि सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु।'** (गी० १। ८७)। इस सम्बन्धसे 'पुरारि पिआरी' का भाव यह है कि आप उनको प्यारी हैं, उनसे सिफारिश कर दें कि वह धनुष श्रीरामजीके लिये हलका हो जाय। (ङ) शिवजीने त्रिपुरका नाश करके तीनों लोकोंको सुखी किया था। आप उनकी प्यारी हैं, अतः आप धनुषका विनाश (श्रीरामजीके हाथसे) कराकर मुझे क्यों न सुखी करेंगी। (रा० प्र०)। (च) आप जैसे पतिको प्यारी हैं वैसे ही मनभावती पतिकी अनुकूलता मुझे भी दीजिये। इस शब्दमें भी चारों फलोंके दातृत्वका लक्ष्य है। (बै०)। (छ) जब स्त्री और पुरुष दोनों दानी हों तब दातव्य वा दान यथार्थ निभता है। इसीसे कहती हैं कि दोनों दानी हैं, अतः आप मुझे वर देंगी तो शिवजी भी प्रसन्न होंगे। (शीलावृत्त)। (ज) पुरारिका यह धनुष है और (पूर्व कहा जा चुका है कि) पुरारिने ही यह प्रतिज्ञा जनक महाराजसे करायी है, आप उनकी प्रिया हैं, अतः धनुर्भङ्गका उपाय स्वयं कर दें या उनसे करा दें।

टिप्पणी—२ (क) **'सेवत तोहि सुलभ फलचारी'** प्रथम कहकर अब चारोंके अधिकारी कहती हैं। सुर नर मुनि सब सुखी होते हैं अर्थात् आप सबके मनोरथको पूर्ण करती हैं। सब चारों फल पा जाते हैं। आप सबके मनोरथ जानकर सबको सुखी करती हैं, अतएव मेरा भी मनोरथ पूर्ण कीजिये। [(ख) चारों फलका विभाग करते हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार फल हैं। सुर अर्थ प्राप्त करते हैं। क्योंकि उन्हें स्वार्थसिद्धिकी ही चाह रहती है, यथा—**'आये देव सदा स्वारथी। ६। १०९॥'** **'हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत···। ६। १०९॥'** नर कामना प्राप्त करते हैं, यथा—**'मन कामना सिद्धि नर पावा। ७। १२९॥'** और मुनि मोक्ष पाते हैं, यथा—**'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥ ३। ३२॥'** **'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ। ३। ९॥'** रह गया 'धर्म' सो मेरा मनोरथ है, पातिव्रत्य धर्म मुझे प्राप्त कर दीजिये। साँवली मूर्तिको मैं पति मान चुकी, अब आप मेरे धर्मकी रक्षा करें। यह भाव पाँड़ेजीने लिखा है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि स्तुतिमें कहती हैं कि चारों फलोंकी प्राप्ति होती है और यहाँ इस विभागमें एक ही एक फलकी प्राप्ति रह जाती है इससे यह भाव शिथिल है। (ग) 'सेवत तोहि' कहकर तब 'देवि पूजि···' कहा, एक ठौर सेवा दूसरी ठौर पूजा। कारण यह कहते हैं कि 'सेवा' शान्तरूपी बनती है, तीक्ष्णरूपकी सेवा कठिन है। अतः जब 'सेवत' कहा तब 'सुतीय पतिदेवताओंमें शिरोमणि' कहकर 'मातु' सम्बोधन दिया। और पूजा किंचित् कालका नियम है। पूजामें सब रूपोंका निर्वाह होता है, इसलिये यहाँ 'देवि' सम्बोधन दिया। (वै०)। (घ) **'सब होहिं सुखारे'** अपनी कामनाके अनुसार स्वभाव वर्णनमें 'अर्थान्तरसंक्रमित अगूढ़ व्यंग' है कि सभी सुखी होते हैं तो मेरे भी मनोरथ पूरे होंगे। (वीर)]

वि० त्रि०—उपास्यके गुण जब उपासकमें आवें तभी समझना चाहिये कि ठीक उपासना हुई।

उपास्य	उपासक
गिरिराजकिशोरी	१ विदेहकुमारी
महेस मुखचंद चकोरी	२ सरद ससिहि जिमि चितव चकोरी
गजबदन षडाननमाता	३ दुइ सुत सुन्दर सीता जाए
जगतजननि	४ जगदंबा जानहु जिय सीता
दामिनि दुति गाता	५ दुलहिन तड़ित बरन तन गोरी (गी०)
भवभवविभवपराभवकारिनि	६ उद्भवस्थितिसंहारकारिणी
अमित प्रभाव बेद नहिं जाना	७ तव प्रभाव जग विदित न केही
पतिदेवता महँ प्रथम रेख	८ सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
सेवत सुलभ फल चारी	९ सर्व श्रेयस्करीं सीतां
बरदायनी	१० आसिष तव अमोघ विख्याता
पुरारि पियारी	११ रामवल्लभां

मोर मनोरथ जानहु नीकें। बसहु सदा उर-पुर सबही कें॥ ३॥
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही॥ ४॥

अर्थ—मेरा मनोरथ आप अच्छी तरह जानती हैं। (क्योंकि) सभीके हृदयरूपी नगरमें आप सदा वास करती ॥ इसी कारण मैंने (उसे) प्रकट नहीं किया।—ऐसा कहकर विदेहकुमारीने चरण पकड़ लिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'बसहु उर पुर सबही के' अर्थात् अन्तर्यामीरूपसे हृदयमें बसती हो। जहाँ 'उर' में तुम्हारा वास है, वहीं उरमें हमारा मनोरथ भी है; यथा—'चली राखि उर स्यामल मूरति' उसी (श्याम मूर्तिकी प्राप्ति) का मनोरथ है। अतः एक ही ठौर होनेसे जानती हो। (पुनः अनाहत चक्रमें शिवदुर्गाका निवास है और वहीं मनका निवास है; इसलिये मनोरथको जानती हो। (वि० त्रि०)। (ख) 'बसहु सदा' का भाव कि अन्तर्यामी रूप सबके हृदयमें बसता हैं, सगुण रूप सदा नहीं बसता, जबतक स्मरण रहता है तभीतक वह हृदयमें रहता है, यथा—'काटत सिर होइहि बिकल, छुटि जाइहि तव ध्यान। तब रावनहिं हृदय महुँ मरिहहिं राम सुजान। ६। ९८।' [☞सगुणरूप सदा हृदयमें नहीं बसता, इसी कारण संत सदा वास करनेकी प्रार्थना करते हैं। यथा—'मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम', 'अनुज जानकी सहित निरन्तर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥' 'बैदेहि अनुज समेत। मम हृदय करहु निकेत॥' 'मम हिय बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम', 'बसहु हृदय श्री अनुज समेता'; इत्यादि] (ग) श्रीजानकीजी लज्जावश मनोरथ प्रकट नहीं करतीं, कहती हैं कि हृदयकी जानती हो इसीसे मैं नहीं कहती। जब अन्तःकरणकी जानती हैं तो यह भी जानती हैं कि लज्जावश नहीं कहती हैं; पर यह भी बात कहते लजाती हैं कि मैं लाजके मारे नहीं कह सकती। गीतावलीमें भी कहा है—'अंतरजामिनि भवभामिनि सोहौं कही चाहौं बात मातु अंत तो हौं लरिकै। १। ७०। २।'

२ (क) यहाँ जानकीजीके मन, वचन और तन तीनोंका हाल कहा। मनोरथको प्रकट न किया यह मन, 'अस कहि' यह वचन और 'चरण गहे' यह तनका हाल है। (ख)—प्रार्थनाके प्रारम्भमें 'बंदि चरन बोली कर जोरी' और उसके अन्तमें 'अस कहि चरन गहे बैदेही' कहकर जनाया कि उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें चौथी उक्ति चरणवन्दन प्रधान है। तात्पर्य कि चरण-वन्दनसे सब सुखी होते हैं, यथा—'देवि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे'। इसीसे मैंने भी चरणोंका ही आश्रय लिया है, इन्हीं चरणोंके प्रसादसे मेरा भी मनोरथ पूरा हो, मैं भी सुखी हो जाऊँ। [(ग) 'बैदेही' शब्द देकर जनाया कि चरणोंको पकड़कर देहसुध भूल गयीं। 'गहे' से जान पड़ता है कि चरण पकड़े रह गयीं। जैसे मनुजीकी दशा हुई थी—'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। १५१। ७।' (प्र० सं०)। 'चरण पकड़े रह जाना' यह दशा बड़ी ही हृदयद्रावक है। इसीसे भवानी 'प्रेम बस' हो गयीं]।

नोट—☞'बंदि चरन बोली कर जोरी' से लेकर 'अस कहि चरन गहे बैदेही' तक अपनी कामनाके पूर्तिनिमित्त प्रार्थनाकी रीति दिखायी है। प्रथम देवताके समीप जाकर प्रणाम करे तब हाथ जोड़कर स्तुति करे। स्तुतिमें (१) प्रथम कुलकी प्रशंसा करे, फिर (२) स्वरूपकी तब (३) उदारताकी। (४) उदारता दिखाकर तब अपना मनोरथ कहे। (५) अन्तमें फिर प्रणाम करे। ऐसा करनेपर मनोरथकी सिद्धि होती है।

यहाँ 'जय जय गिरिबरराजकिसोरी' से 'षडानन माता' तक कुलकी प्रशंसा है। 'जगतजननि···' से 'पति देवता···' तक स्वरूपकी प्रशंसा है। 'सेवत तोहि सुलभ···' से 'सब होहिं सुखारे' तक उदारता कही और तब 'मोर मनोरथ···' कहा।

विनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥ ५॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी (श्रीसीताजीकी) विनय और प्रेमके वश हो गयीं। माला खिसक पड़ी और मूर्ति मुस्कुरायी॥

पं० रामकुमारजी—१ चरण पकड़ना तनकी भक्ति है, विनय करना वचनकी भक्ति है और प्रेम होना मनकी भक्ति है। तात्पर्य कि मन, वचन, कर्म तीनोंकी भक्ति देख भवानी वशमें हो गयीं। फूलकी माला पार्वतीजीके कण्ठसे प्रसादके लिये गिरी। उसीको सीताजीने सादर सिरपर धारण कर लिया जैसा आगे कहते हैं। गीतावलीमें पार्वतीजीका प्रसादमाला देना लिखा है, यथा—'मूरति कृपाल मंजु माल दै बोलत भई। पूजो मन कामना भावतो बर बरि कै। १। ७०।'

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इस स्तुतिमें किशोरीजीके जितने वचन हैं सब अभिप्रायगर्भित हैं। 'गिरिवर-राजकिशोरी' से बाल्यावस्थाकी सुध हुई कि हमें भी पतिकी प्राप्तिके लिये ऐसी ही आतुरता थी, अतः करुणा आ गयी। 'महेस मुखचंद्र चकोरी' में यह अभिप्राय है कि चन्द्रसे चकोरीकी एकांगी प्रीति है वैसे ही चन्द्रशेखर शिवजी (आपसे) उदासीन थे, उनका मिलना दुर्घट था, तो भी आप न हटीं और शरीर ही भस्म कर डाला। यह समझकर और भी अधिक प्रेमवश हुईं कि इससे जनाती हैं कि रघुपति परस्त्रीसे उदासीन हैं और पिताका पन कठिन है, यदि उनकी प्राप्ति न हुई तो यह (मेरा) शरीर नहीं रह सकता।''''इत्यादि समझकर प्रेमवश हो गयीं। क्योंकि इस दशाका अनुभव स्वयं भलीभाँति कर चुकी हैं—(हठ न छूट छूटै बरु देहा)। उनकी आतुरता सह न सकीं, शीघ्र ही प्रसन्नता प्रकट करनेको प्रसाद देनेकी इच्छासे माला खसी अर्थात् खिसक पड़ी। (वै०) [☞मालाएँ चार प्रकारकी होती हैं। एक तो वह जो ग्रीवासे नाभिपर्यन्त लटकी रहती है, इसे 'प्रलम्ब' कहते हैं। यज्ञोपवीत जो माला होती है उसे 'वैकक्षिक' कहते हैं। जो शीशमें लपेटी जाय उसे 'ललामक' और जो माला सिरपरसे लटकी रहती है उसे 'माल' कहते हैं।—'माल्यं माला स्रजो मूर्ध्नि इत्यमरः' (वै०)] मा० त० वि० का मत है कि 'जय जय गिरिवर''''' इत्यादि विनय है और 'चरन गहे बैदेही' यह प्रेम है। (मा० त० वि०)। अथवा, विनय सुनकर और उनकी महिमा समझकर जैसा श्रीरामतापिनी आदि उपनिषदोंमें है और उनके सौशील्य, सौहार्द गुणको विचारकर कि इन्होंने हमें कृपा करके बड़ाई दी—(जैसे गङ्गाजीने प्रकट कहा है—'राम प्रभाउ जग बिदित न केही॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें। तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥ तदपि देबि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा। २। १०३।') भवानी प्रेमवश हुईं। (वै०)।

२ 'खसी माल''''' इति। (क) पं० रामकुमारजीका मत ऊपर आ गया। बैजनाथजी यह भी लिखते हैं कि श्रीसीताजीकी महिमा विचारकर उन्होंने उनको गुप्त प्रणाम किया इससे माला खसी। अर्थात् पार्वतीजीने अपने सिरकी मालाभूषण किशोरीजीके चरणोंपर स्थापित कर दिया। सन्त उन्मुनीटीकाकार लिखते हैं कि विनय प्रेमवश होना इससे भी सिद्ध है कि उनको यह भी विचार न रह गया कि पाषाणविग्रह हैं और मुस्कुरा दीं।

☞ यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि माला कहाँसे आयी? इसका उत्तर यह है कि जानकीजीने प्रथम ही 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥' अनुरागपूर्वक पूजन किया तो उसमें पुष्पमाला अवश्य चढ़ायी होगी; बिना माला पूजा कैसी? पूजा करके वर माँगा और ध्यान करने लगीं। केवल स्तुति और वरदान पाना बाकी रहा था। अतः दुबारा मन्दिरमें गयीं। वा, नारदवचनके अनुसार अपने हृदयमें प्रभुकी मूर्ति बसाकर फिर उसीका वरदान माँगनेके लिये दुबारा मन्दिरमें गयी थीं। भवानी प्रेमके वश हो गयीं, इससे जो माला देना चाहती थीं वह फिसल पड़ी, या यों कहें कि आपने प्रसाद-माला सीताजीकी ओर खिसका दी क्योंकि जानकीजीको प्रेमके वश प्रसाद लेनेकी भी सुध न रही थी। गीतावलीमें भवानीका प्रसाद देना और प्रत्यक्ष बोलना स्पष्ट कहा गया है।- यही मत श्रीनगे परमहंसजीका भी है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि—'(सवैया —'फलकांक्षित प्रेम बिनै सियकी सुनिकै गिरिजा बशिभूत भई। खसि फूलनमाल मनो जयमाल सयै फल कारन बिहँसि दई॥ लै सादर सो सिय मेलि गले कहि गौरि हिये अति हर्षमई। मन पूरन काम असीस सही जिमि नारद बैन सुचैन कई।' श्रीसीताजीकी विनय फल-कांक्षी और प्रेमयुक्त है। उसे सुनकर वशीभूत हुईं अर्थात् प्रकट होकर बोलने लगीं, फूलोंकी माला कृपा करके खिसका दी। मालप्रसाद देनेका हेतु यह है कि तुमको अपने जयमालकी चिन्ता है कि होगा या नहीं क्योंकि पिताके अधीन है सो यह सुमनमाल जयमाल ही प्रसाद है। तुम चिन्ता मत

करो। विनय फलकांक्षीका है, समस्त फलोंका कारण फूल ही है, फूलके अन्तर्गत फल ही है। फूलमाला ही मनोवांछित फलकी प्राप्ति जाना। हँसकर अपनी प्रसन्नता जनायी।'

करुणासिंधुजीका मत है कि 'विनयप्रेमके वश हैं तो प्रसाद देनेकी सुध कहाँ ?' और यह अर्थ करते हैं कि 'सीताजीके हाथसे माला खिसक पड़ी (जो वे भवानीको पहनाना चाहती थीं), इसपर मुस्कुरायीं'। पर कवि लिखते हैं कि 'चरन गहे बैदेही' अर्थात् दोनों हाथ तो चरणोंमें लगे हैं, इसके पीछे कवि लिखते हैं कि 'विनय प्रेमबस भई भवानी' बीचमें चरणोंको छोड़कर माला पहनाना कहीं नहीं लिखा गया। दूसरे, चरणोंमें प्रणाम पूजा और विनयके अन्तमें होनेकी विधि है। भवानीका प्रसङ्ग तुरत 'चरन गहे बैदेही' के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। नंगे परमहंसजी भी कहते हैं कि 'पुष्प-मालादिका चढ़ाना प्रथम ही पूजनके समय पाया जाता है' दूसरी वार तो विनयमात्रका किया जाना सूचित है'।

पं० ज्वालाप्रसादका मत है कि 'खसीमाल पाषाणको कहते हैं अतः अर्थ यह है कि पाषाणविग्रह हँसी मालाका प्रसङ्ग यहाँ नहीं रह जाता।' पर यह क्लिष्ट कल्पना जान पड़ती है। नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'जो लोग कहते हैं कि 'खसीमाल' मूर्तिका नाम या विशेषण है वे और भी अंधकारमें माने जायँगे। यदि माला नहीं खसी तो यह चौपाई व्यर्थ हो जायगी कि 'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ'। जब माला प्रसाद मिली ही नहीं तो शीशपर क्या धारण किया' ?

श्रीलमगोड़ाजी अपने वि० सा० हास्यरस पृष्ठ १०८ में लिखते हैं कि 'सीताजी उनकी पूजा अधिक अनुरागसे करती हैं और सङ्कोचमें बड़ी सुन्दरतासे अपना मनोवांछित फल यों माँगती हैं—'देवि पूजि ···बसहु सदा उर पुर सब ही के'। आह, अब प्रेमावेग रुक न सका, सीताजीके हाथसे वह माला छूट पड़ी जो पार्वतीजीको पहनाना चाहती थीं और वह पार्वतीके चरणोंपर गिर पड़ी। कवि लिखते हैं 'कीन्हेउँ प्रगट···मुसुकानी'। पार्वतीजीकी मुस्क्यान कितनी सुन्दर है और कविकी आलोचना कितनी मर्मपूर्ण। पार्वतीजी विनय और प्रेमके वश होकर उदारतासे मुस्कुराई हैं, परिहास-भावसे नहीं। हाँ, हास्यका इतना पुट अवश्य है कि वे सीताजीकी प्रेमनिमग्नताको ताड़ जाती हैं, जिसके कारण उनके हाथसे माला गिर गयी थी। बहुतसे लोग माला खिसकनेका अर्थ यह करते हैं कि वह पार्वतीजीके सिरसे खिसकी थी जो प्रसादरूप था और मुस्कान केवल प्रसन्नताकी मुस्कान थी, जिसमें हास्यभाव न था। मुझे स्वयं तो पहला ही अर्थ अभीष्ट है क्योंकि उसमें हास्यका आनन्द और काव्यचमत्कार है। सीताजीकी बेसुधी तो देखिये कि माला गिरी तो है अपने हाथसे, पर कवि लिखता है कि 'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ'। मानो सीताजीने उसे प्रसाद ही समझा। इस अर्थमें हास्य एवं शान्तभावका बड़ा सुन्दर मिश्रण है, पर दूसरे अर्थमें केवल शान्तरस है। 'खसी' क्रिया भी मेरी ही बातकी पुष्टि करती है, जिसकी कर्ता माल है न कि देवी।'

कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि मालाप्रसाद सिरमें पहनानेकी रीति है। भवानीने ऐसा नहीं किया क्योंकि श्रीसीताजी इस समय श्रीरामजीको हृदयमें बसाये हुए हैं। शिवजी यह न समझ लें कि भवानीने श्रीरामजीको 'जयमाल पहनाया है, जो हमारा पुनः त्याग कर दें। (पर सती-मोहकी लीला तो अभी हुई नहीं है।

टिप्पणी—२ 'मूरति मुसुकानी' इति। पार्वतीजी जानकीजीकी महिमा जानती हैं, इसीसे माधुर्यके वचन सुनकर मुसुकायीं। इसी तरह श्रीरामजीके माधुर्य वचन सुनकर अगस्त्यजी मुसकाये थे; यथा—'अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥ मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेउ नाथ मोहि का जानी॥····ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुजकी नाईं॥ ३। १३।' [अगस्त्यजीने मुस्कुराकर जनाया कि मैं आपको जानता हूँ पर आपके भजनके प्रतापसे ही। 'ऊमरितरु बिसाल, तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ते तुम्ह सकल लोकपति साईं।' यहाँतक ऐश्वर्य कहकर तब उन्होंने कहा कि 'पूछेहु मोहि मनुजकी नाईं'। अर्थात् आप मनुष्य नहीं हैं, पर मुझसे इस तरह पूछ रहे हैं मानो मनुष्य ही हैं, सो मैं आपके माधुर्यमें भूलनेका नहीं। वैसे ही यहाँ श्रीपार्वतीजी मुस्कुराकर जनाती हैं कि मैं आपको जानती हूँ। आप वह हैं कि 'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। १। १४८।' तथा 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। १५२। ४।' अतः मैं आपके माधुर्यमें भूलनेकी नहीं। इस मुस्कुरानेमें गूढ़ व्यङ्ग है]

नोट—२ 'मूरति मुसुकानी' के और भाव—(मुसकायीं कि वाह ! जनककिशोरी ! तुम्हारा इस दर्जेका प्रेम है कि

मुझे पाषाणविग्रहरूप छोड़ प्रकट ही होना पड़ा। (मा० त० वि०)। (ख) मूर्ति इत्यादिमें दूरसे ही स्तुति-प्रणाम आदि करनेकी रीति है। पर जानकीजी इतनी प्रेमोन्मग्ना हो गयीं कि साक्षात् समझकर प्रतिमाहीको मेरे चरण (मान) थाम लिये हैं। अतः धन्य हैं, मुझे बड़प्पन देनेवाली हैं। (मा० त० वि०)। (ग) प्रेमवश हो जानेसे मेरी तो यह दशा हुई कि अनिच्छित माला खसक पड़ी और मूर्तिमें ही मुस्कुरा उठीं, निरी प्रतिमा बनी न रही, पर सीताजीने मुझे प्रसन्न जान मालाको प्रसाद समझ धारण कर लिया। अतः प्रसन्न हुईं। अथवा, (घ) मुस्कुरायीं कि देखो अभी तो विवाह-हेतु विह्वल हैं पर भविष्यपर कुछ दृष्टि नहीं है कि शुक-शुकीके शापवश इन्द्रादि देवताओंके द्वारा राजभङ्ग होनेपर एवं नारदशापके कारण आगे वियोग होना है और भृगुशापके बहाने पृथ्वीमें समाना है। (मा० त० वि०)। (ङ) मुस्कुरायीं कि नारदवचनकी परीक्षा भी मिल गयी तब भी इनको संतोष न हुआ, इसी तरह हम आशीर्वाद भी दे देंगी तो क्या संतोष होगा जबतक धनुष न टूटेगा? यह बालकपनका स्वभाव ही है। लग्नकी आतुरताका यह प्रभाव है, हमारी भी यही दशा थी।—माधुर्यलीला करुणारसमें यह भाव है। (वै०) (च) ऐश्वर्यलीला शान्तरसमें भाव यह है कि सर्वेश्वरी होकर ऐश्वर्य छिपाये हुए नरनाट्य करना चाहती हैं, इसलिये जैसी उनकी इच्छा है वैसा ही करना मेरा कर्तव्य है। अथवा, भाव कि यह न जानना कि आपकी माधुर्यलीलामें मैं भूल गयी, मैं अपना पातिव्रत्य पावन करनेके लिये आपको पातिव्रत्य-का वर देती हूँ। अपना सुहाग अचल करनेके लिये आपको सुहाग देती हूँ।—यह ऐश्वर्य माधुर्यलीला हास्यरसमें भाव है। (वै०)। (छ) लगनका प्रभाव ऐसा ही होता है कि देखो राजकुमारका आगमन सुनकर पूजा छोड़ चली गयीं, जब इच्छा भर देख लिया तब पुनः पूजाकी सुध करके आयीं, अतः मुसुकानीं। यह भाव मिश्रिता लीला शृङ्गाररसमें है। (वै०)। (ज) अच्छा प्रसाद देनेके लिये प्रसन्न वचन कहनेवाली हैं, अतः हँसकर बोलीं। (पां०)। (झ) हृदयमें तो पति पहले ही मान चुकी हो, अब वर क्या माँगती हो? (ञ) किसीका मत है कि हृदयमें जो मूर्ति है वह 'मुसुकानी' न कि भवानी।

शंका—मूर्तिका हँसना अमंगल है?

समाधान—श्रीजानकीजीके प्रेमसे श्रीपार्वतीजीकी मूर्ति प्रकट हो गयी, इसीसे आगे गौरीजीका बोलना लिखते हैं यथा—'सुनु सिय सत्य असीस हमारी।…' इत्यादि। यदि गिरिजाजी प्रकट न हुई होतीं तो वार्ता कैसे करतीं और जब प्रकट हुईं तब मुसकानेमें कोई अशकुन नहीं है। पाषाणकी मूर्तिका मुस्काना अशकुन माना जाता है; यथा—'मज्जन्ति कूपा प्रतिमा हसन्ति तद्देशनाशो मुनयो वदन्ति'। पर यहाँ तो मूर्तिमें आवेश हो गया है।

नोट—४ फूल-माला जो मूर्तिपरसे गिरकर अपनी ओर आवे वह देवताकी प्रसन्नताको सूचित करनेवाला प्रसाद कहा गया है। दक्षिणमें भी यह परिपाटी देखनेमें आती है। पाँड़ेजी भी लिखते हैं कि देवतासे फूल गिरना मनोरथकी सिद्धिके लिये शुभ है। नंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'मूर्तिका हँसना जो अशुभ माना गया है वह हँसना ठठाकेका होता है जिसमें शब्द होता है। मूल पाठ मुसुकराना है। मुसुकराना होठोंसे होता है जो शुभ माना गया है।'

☞ देवता प्रकट होकर प्रसाद दें, बोलें, आशीर्वाद दें, पूजा लें तो यह माङ्गलिक है, अमङ्गल नहीं। देखिये, श्रीसीतारामविवाहके अवसरपर देवताओंने प्रकट होकर ऐसा किया है। यथा—'आचारु करि गुर गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं। सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं॥ ३२३।' श्रीनाभाजीके भक्तमाल तथा प्रियादास-जीकी भक्तिरसबोधनी टीकामें प्रतिमाओंका साक्षात् प्रकट होकर हँसना, बोलना, चलना, प्रसाद देना इत्यादि बहुत-से भक्तोंके सम्बन्धमें देखा-सुना कहा गया है। मानसमें भी देवताओंका प्रकट होना कई ठौर वर्णन किया गया है। इस विषयमें शंकाएँ व्यर्थ हैं और उसके समाधान भी व्यर्थ हैं। तथापि जो मुसुकाना अशुभ मानें उनके लिये एक समाधान यह है कि उसीका फल यह हुआ कि 'दसरथ सुकृत राम धरे देही' सो उनको वनवास हुआ और 'जनक सुकृत मूरति बैदेही' सो मिथिलासे श्रीअवधको चली गयीं। इत्यादि।

☞ इस प्रसङ्गपर गीतावली पद ७० को दृष्टिमें रखनेसे अनेकों व्यर्थकी शंकाएँ मिट जाती हैं।—'पूजि पारवती भले भाय पाँय परि कै। सजल सुलोचन सिथिल तनु पुलकित आवै न बचन मनु रह्यो प्रेम भरि कै॥ १॥ अंतरजामिनि भवभा-मिनि स्वामिनि सों हौं कही चाहौं बात मातु अंत तौ हौं लरिकै। मूरति कृपालु मंजु माल दै बोलत भई पूजो मन कामना भावतो बरु बरिकै॥ २॥ राम कामतरु पाइ बेलि ज्यों बौंड़ी बनाइ माँग कोखि तोषि पोषि फैलि फूलि फरिकै। रहौंगी कहौंगी

सब साँची कही अंबा सिय गहे पाँय द्वै उठाय माथे हाथ धरि कै ॥३॥ मुदित असीस सुनि सीस नाइ पुनि पुनि बिदा भईं देवी सों जननि डर डरिकै। हरषीं सहेली भयो भावतो गावतीं गीत गवनीं भवन तुलसीस हियो हरि कै ॥'

सादर सिय प्रसाद सिर[1] धरेऊ। बोली गौरि हरषु हिय भरेऊ* ॥ ६ ॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी ॥ ७ ॥
नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बरु मिलिहि जाहि मनु राँचा ॥ ८ ॥

अर्थ—श्रीसीताजीने आदरपूर्वक (माला) प्रसाद सिरपर धारण कर लिया (माला पहन ली)। गौरीजीका हृदय हर्षसे भर गया और वे बोलीं ॥ ६ ॥ हे सीते! हमारी सच्ची आशिषा सुनो। तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी ॥७॥ नारदजीका वचन सदा पवित्र और सत्य है। जिस वरमें तुम्हारा मन रँग (अनुरक्त हो) गया है, वह वर तुमको अवश्य मिलेगा ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सादर' इति। देवताके प्रसादका आदर करना चाहिये, इसीसे 'सादर' पद दिया, (हाथोंसे लेकर शिरोधार्य करना ही 'सादर' धारण करना है। प्रसाद शिरोधार्य करके लिया ही जाता है) यथा—'फिरती बार मोहि जो देवा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा ॥' [देवतापर पुष्पादि चढ़ावे और उसमेंसे कुछ अपनी ओर आ पड़े तो जानना चाहिये कि देवताने प्रसन्नता प्रकट की है और यह प्रसाद दिया है। इसीसे 'माला' को प्रसाद कहा। और इसीसे उसका सादर धारण करना कहा। पंजाबीजी लिखते हैं कि चढ़ाई हुई माला उमाके सिरसे सीताजीकी ओर गिर पड़ी और रा० प्र० का मत है कि 'पार्वतीजीने माला सीताजीके हाथमें गिरा दिया। वे हाथोंसे चरण पकड़े थीं, इससे हाथपर माला गिरा दी और उन्होंने उसे उठाकर सिरपर धारण किया।' (ख) 'हरषु हिय भरेऊ' इति। भाव कि विनय सुनकर हर्ष हुआ, चरण पकड़नेसे हर्ष हुआ, प्रेम देखकर हर्ष हुआ और प्रसादका इतना आदर देखकर हर्ष हुआ; इसीसे हृदय हर्षसे भर गया। [वर हर्षसे दिया ही जाता है अतः अत्यन्त हर्षपूर्वक बोलीं। अथवा, हृदयमें हर्ष इससे भर गया कि हमसे वर माँगकर हमें बड़ाई दे रही हैं। (रा० प्र०)]। (ग) 'सत्य असीस' इति। देवताका आशीर्वाद सदा सत्य ही होता है। यहाँ 'सत्य' विशेषण देनेका कारण यह है कि शिवचापकी कठोरता, उसका टूटना कठिन जानकर सीताजी घबड़ा-घबड़ा जाती हैं, वचनकी सत्यताका विश्वास छूट-छूट जाता है, इसलिये प्रथम उनका विश्वास दृढ़ करनेके लिये अपने वचनको सत्य कहती हैं तब नारद-वचनको सत्य कहेंगी। (घ) श्रीजानकीजीको आशिष देकर भवानी अपनी वाणी सफल करती हैं। यथा, 'तदपि देवि मैं देबि असीसा। सुफल होन हित निज बागीसा॥' (ङ) जानकीजीने जो कहा था कि 'मोर मनोरथ जानहु नीके।' उसीपर भवानी कहती हैं कि 'पूजिहि मनकामना तुम्हारी' पूजिहि=पूर्ण होगी, यथा—'पूजी सकल बासना जीकी', 'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥' इससे श्रीसीताजीके वचनकी सत्यता दिखायी।

२ (क) 'नारद बचन सदा सुचि साचा।' इति नारदवचनपर विश्वास मानकर उसे हृदयमें दृढ़तापूर्वक रक्खे रहें, इसलिये कहा कि उनके वचन सदा सत्य और शुचि हैं। कैसे जाना कि नारद-वचनपर विश्वास नहीं रह जाता? इससे कि नारद-वचन स्मरण करनेसे पवित्र प्रेम उत्पन्न हुआ था, यथा—'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।' और अब हमसे विकल होकर इस तरह विनय कर रही हैं, इससे यह निश्चय है कि नारदके वचनपर दृढ़ता नहीं है। दृढ़ होतीं, वचनको सत्य मानती होतीं, तो राजकुमारकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरता आदि समझकर घबड़ा न जातीं। (ख) अपने सम्बन्धमें तो 'असीस' कहा,—'सुनु सिय सत्य असीस हमारी' और नारदके विषयमें 'बचन' कहा। कारण कि नारदजीने भावी कही है, आशीर्वाद नहीं दिया था, इसीसे पूर्व भी 'बचन' ही शब्द कविने दिया था, 'सुमिरि सीय नारद बचन' और यहाँ गौरीजीने भी 'नारद बचन' कहा। (ग) श्रीजानकीजीको विश्वास करानेके लिये दोनों जगह 'सत्य' विशेषण दिया। 'सत्य असीस हमारी' और 'नारद बचन साँचा'। अर्धालीके पूर्वार्द्धमें नारदके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करनेका उपदेश देकर उत्तरार्द्धमें नारदजीके बचन दुहरा दिये—'सो बरु·····'। ☞ सीताजीने जो कहा था कि 'मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु·····' वह मनोरथ यहाँ खोल दिया। इससे भगवतीका सबके उरमें बसना सिद्ध हुआ कि हृदयकी बात जान ली। (घ) 'सुचि साँचा' इति। यथा—'अब उर धरहु ब्रह्म बरबानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी ॥ ७५। २।' में देखिये। [सदा सत्य

१. सिर—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। उर—१७०४, (पर रा० प्र० में 'सिर' है)।

* १६६१ में 'धरेउ' और 'भयेउ' पाठ है।

है, यथा—'बरु पावक प्रगटै ससि माहीं। नारद बचन अन्यथा नाहीं ॥ ७१ । ८ ।' 'साँचा' का भाव यह भी है कि जैसे मैं देवी हूँ, वैसे ही नारदजी भी देवर्षि हैं शुचि हैं अर्थात् संशय, भ्रम, वाक्-छल आदि दोषोंसे रहित हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'ब्रह्माजीने हिरण्यकशिपुको जो वर दिया वह सच्चा था पर शुचि न था; क्योंकि उसमें मृत्युका कारण गुप्त रहा। और नारदके वचनोंमें कुछ कारण गुप्त नहीं है, वह अमल सच्चा है, सदा एकरस सत्य है।' पार्वतीजी स्वयं अपने विषयमें नारदवचनकी पूरी परीक्षा पा चुकी ही हैं, अतः शुचि सत्य कहना ठीक ही है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'आशीर्वाद मिथ्या भी पड़ जाता है, इसलिये कहती हैं कि मेरी असीस सत्य है। मैं अपनी अनुभूत बात कहती हूँ कि नारदवचन अन्यथा नहीं हो सकता।']

छंद—मन जाहि राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो* ।
करुनानिधान सुजानु सीलु सनेहु जानत रावरो ॥
येहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषीं अलीं ।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चलीं ॥

अर्थ—जिसमें तुम्हारा मन रँग गया है वही सहज ही सुन्दर साँवला वर (दूलह) तुमको अवश्य मिलेगा। वे करुणाके समुद्र हैं, सुजान हैं, तुम्हारे शील और स्नेहको जानते हैं। इस प्रकार गौरीकी असीस सुनकर सीतासहित सब सखियाँ प्रसन्न हुई। तुलसीदासजी कहते हैं कि बारम्बार भवानीकी पूजा कर प्रसन्न मनसे घरको चलीं।

टिप्पणी—१ (क) सीताजीने जो कहा था कि 'बसहु सदा उर पुर सबही के' वह यहाँ सिद्ध हुआ। सीताजीने अपने उरकी बात नहीं कही—'कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।' पार्वतीजी जान गयीं। (स्मरण रहे कि 'सो जानै जेहि देहु जनाई')। जानकीजी श्यामल मूर्तिको हृदयमें धरकर चलीं, यही बात पार्वतीजी कहती हैं—'मन जाहि राचेउ....'। (ख)—पार्वतीजीने तीन बार मनोकामना पूर्ण होनेकी बात कही,—'पूजिहि मन कामना तुम्हारी' यह पूर्व कहकर यहाँ मनोकामना खोली कि 'सो बरु मिलिहि जाहि मनु राँचा' अर्थात् वाञ्छितवर मिलेगा, पर इससे यह न ज्ञात हुआ कि वाञ्छित वर कौन है, उसे भी जानती हैं, अतः आगे कहती हैं, कि 'बरु सहज सुंदर साँवरो' अर्थात् साँवले वरकी तुम्हारी कामना है जिसे हृदयमें रक्खे हो। जानकीजीके संतोषके लिये तीन बार कहा; यथा—'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य मन सत्य हमारा ॥ पुनि पुनि अस कहि कृपा निधाना ॥ १५२ । ५-६।'' [वा, श्रीसीताजी चरण पकड़े हुए प्रेममें बेसुध थीं, इससे बार-बार कहा। (ग)-पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'सहज शब्द मिलिहि' और 'सुन्दर' दोनोंके साथ है। 'मन जाहि राच्यो' में जानकीजीकी प्रधानता है कि तुम्हारे मनकी रुचिसे मिलेंगे। और 'करुनानिधान....' में रामजीकी प्रधानता है।'] (घ)—'करुणानिधान सुजान' इत्यादिके भाव कि करुणानिधान हैं अतः तुमपर अवश्य करुणा करेंगे, (यथा—'सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसें। चितव गरुरु लघु ब्यालहिं जैसें ॥ २५९ । ८ ।') सुजान हैं अतः तुम्हारे शील और स्नेहको जानकर तुम्हें अपनी किंकरी करेंगे; यथा—'तुलसी सुसीलु सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी ॥ ३३६ ।' 'सहज सुंदर' से बाहरी अङ्गोंकी शोभा कही कि उनको आभूषण आदि शृङ्गारकी आवश्यकता नहीं, बिना किसी शृङ्गारके ही वे सुन्दर हैं। और 'करुणानिधान सुजान' से भीतरकी शोभा कही। [श्रीपार्वतीजी इन गुणोंका भली-भाँति परिचय पा चुकी हैं। प्रभुहीने कृपा करके श्रीशिवजीसे आपका संयोग कराया था; यथा—'अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तरसहित कृपानिधि बरनी ॥ ''जाइ बिबाहहु सैलजहि'''॥ ७६ ।' सुजानका परिचय; यथा—'मन महुँ रामहि सुमिर सयानी ॥ ५९ । ५ ।' जैसे ही उन्होंने श्रीरामजीको सुमिरा वैसे ही उन्होंने उनका मनोरथ पूरा किया।—'स्वामि सुजान जान सब ही की ॥ २ । ३१४।' 'रीझत राम जानि जन जी की।'' करत सुरति सय बार हिए की ॥ १ । २९ ।', 'जान सिरोमनि कोसलराऊ ॥ १ । २८ ।' श्रीजानकीजीका शील स्नेह जानते हैं। यथा—'प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी ॥ २३५ । २ ।'] ।

२ (क)—'येहि भाँति'। अर्थात् स्पष्ट रूपसे यह आशीर्वाद कि साँवला वर मिलेगा। सबको हर्ष हुआ क्योंकि सब जानती हैं कि साँवला वर जानकी-योग्य है; यथा—'एहि लालसा मगन सब लोगू। बरु साँवरो जानकी जोगू ॥ २४९ ।

* १६६१ में 'सांवरे, रावरे' पाठ है। अन्य सबोंमें 'सांवरो, रावरो' है।

६ ।' (ख) 'सिय सहित हरषीं अलीं' इति । यहाँ अली प्रधान हैं और सीताजी गौण, यद्यपि हर्षमें सीताजीकी ही प्रधानता चाहिये थी । यह बारीकी, सूक्ष्म भाव समझने योग्य है । आशिष सुनकर सीताजीको अपना हर्ष प्रकट करनेमें संकोच हुआ; सबके सामने लज्जा लगी ही चाहे । और सब सखियोंका हर्ष प्रकट है । इसीसे यहाँ सखियोंको प्रधान रक्खा। सखियोंको पहले यह न मालूम था कि नारदवचन क्या थे, इससे जब उनको यह मालूम हो गया तब उनको हर्ष हुआ, क्योंकि उनके मनके अनुकूल हुआ] (ग) 'भवानिहि पूजि पुनि पुनि' इति । मारे हर्षके बारम्बार पूजती हैं । इससे आनन्दमग्नता और कृतज्ञता जनाती हैं । यहाँ आनन्द प्रेमकी वीप्सा है' यथा—'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं ॥ २१६ । १ ।' (घ) 'गई मुदित मन गौरि निकेता' उपक्रम है और 'मुदित मन मंदिर चलीं' उपसंहार है । आदिमें मुदित मनसे भगवतीकी पूजाके लिये मन्दिरमें गयीं और अब वर पाकर मुदित मनसे घरको चलीं ।

नोट १—'तुलसी भवानिहि पूजि' के और भाव—'पुनि पुनि' पूजा करनेमें तुलसीदास भी मिल गये—शामिल हो गये कि हे भगवती ! साँवला वर हमारा भी स्वामी होवे' (पं० रामकुमार) । पुनः, तुलसी और भवानी दोनोंकी पूजा करके'—(पाँड़ेजी) । 'पूजि पुनि पुनि' कृतज्ञता प्रकाशनार्थ है ।

☞ २ शब्द गुणका वर्णन ही कहाँतक किया जाय ? अनुप्रास जगह-जगह है । यहाँ और आगे दोहेमें 'स', 'र', 'ल' 'म' इत्यादि माधुर्यगुण और रसप्रधान अक्षर ही प्रधान हैं ।—(लमगोड़ाजी) ।

प० प० प्र०—'मंदिर चलीं' इति । देखिये, पुष्पवाटिका-प्रसंगमें 'गिरिजा गृह सोहा', 'गई भवानी भवन बहोरी', 'गौरि निकेता' कहा, भवानीके स्थानको एक बार भी मन्दिर नहीं कहा । और यहाँ 'मंदिर चलीं' कहते हैं । इस तरह कविने अपनी गूढ़ भावना दर्शित की है । भाव यह है कि अब सीताजी रामजीको हृदयमें बिठाये हुए हैं, अतः सीताजी ही राम-मन्दिर बन गयी हैं ।

सो०—जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ* कहि ।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे ॥ २३६ ॥

अर्थ—गौरीजीको प्रसन्न जानकर सीताजीके हृदयको जो आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता । सुन्दर मङ्गलोंके मूल उनके बायें अङ्ग फड़कने लगे ॥ २३६ ॥†

टिप्पणी—१ पूर्व सखियोंके साथ सीताजीका हर्ष लिखकर अब पृथक् कहते हैं, क्योंकि वहाँ सखियाँ प्रधान थीं, सीताजीका हर्ष वहाँ सामान्य ठहरा, अब विशेष कहते हैं । इस सोरठेमें जो विशेष हर्ष तथा वामाङ्गोंका स्फुरण वर्णन किया गया यह गिरिजा-मन्दिरसे चल देनेपर मार्ग और घरपरका है । मन्दिरमें गौरीकी असीस प्रकट थी, इससे वहाँ हर्षित होते न बना, वहाँ वे अपना हर्ष छिपाये रहीं । गौरीको अनुकूल जानना मनकी बात है, प्रकट नहीं है, इसीसे हृदयमें अत्यन्त हर्ष होना कहते हैं । मन्दिरमें सीताजीका विशेष हर्ष न कहते बना, इसीसे सामान्य कहा । वहाँ विशेष कहनेका मौका न था क्योंकि विशेष हर्ष होनेमें लज्जाकी बात थी, अब विशेष हर्षका मौका है, उनको विशेष हर्ष हुआ भी है—'सिय हिय हरषु न जाइ कहि' इससे प्रथम न कहा और अब न कहें तो नहीं बनता इससे अब उचित जान कहा । ['न जाइ कहि'—यह हर्ष अकथनीय है । अतः उनकी विशेषता तथा प्रधानता दरसानेके लिये एक सोरठेमें उनका हर्ष कहा । इस अकथनीय हर्षके कारण

* जात—रा० प्र०, गौड़जी, ना० प्र० स० । जाइ—१६६१ ।

† अर्थान्तर—१ श्रीसीताजीने मालाको उठाकर सिरपर धारण किया तब गौरीजीने हर्ष अर्थात् प्रेमविवशताको समेट हृदयमें धर लिया और बोलीं । (पाँ०) । २—"हे सीते ! इसे आदरपूर्वक धारण करो । यह सुहागदान है, सुहागका स्थान माँग है, वहीं इसे धारण करो । और पातिव्रत्यका स्थान 'उर' है, वह हमने परिपूर्ण दिया । अतएव हृदयमें हर्ष भर लो ।" (वै०) । (पाँड़ेजीका मत है कि पार्वतीजी प्रेमविवश हो गयी थीं । उस प्रेमविवशताको उन्होंने हृदयमें रोका तब बोल सकीं । इस तरह वे 'हर्ष' का अर्थ 'प्रेमविवशता' और 'धरेऊ' का अर्थ 'उसे भीतर रख लिया. गुप्त कर लिया' कहते हैं । वैजनाथजी 'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ' को गौरीका वाक्य मानते हैं और 'धरेऊ' का अर्थ 'धरो' करते हैं) ।

हैं गौरीका अनुकूल होना और वाम अङ्गोंका फड़ककर मङ्गलकी सूचना देना । त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सखियाँ सीताजीके मनोरथ पूर्तिकी दृढ़ आशा तथा भयके दूर हो, जानेसे हर्षित हैं, पर सीताजीको अपनी निधिकी प्राप्तिके निश्चित आश्वासनसे हर्ष है, अतः यह अवर्णनीय है । 'मंजुल मंगल' सुन्दर मंगल कहकर जनाया कि मंगल असुन्दर भी होते हैं । मंगल=अभीष्टकी सिद्धि । काम-क्रोधादिद्वारा निन्दित कर्मों या विचारों अथवा सांसारिक विषयोंद्वारा उत्पन्न मङ्गल मलिन हैं । शुद्ध सात्त्विक मंगल मंजुल हैं । विशेष 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥ १ । ३ ।' देखिये । 'बाम अंग'—स्त्रियोंके बायें अङ्गोंका फड़कना मङ्गलसूचक है; यथा—'प्रभु पयान जाना बैदेहीं । फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं ॥ ५ । ३५ ।' 'जब कति भयउ बिरह उर दाहू । फरकेउ बाम नयन अरु बाहू ॥ ६ । ९९ । इत्यादि ।' वाम अङ्ग अर्थात् बायाँ नेत्र और बाहु । शुभाङ्गोंका फड़कना प्रियतमके मिलनेका द्योतक है, यथा—'फरकहिं मंगल अंग सुहाए ।''''सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥ २ । ७ । ४-६ ।'

नोट—१ (श्रीलमगोड़ाजी)—अङ्गोंके फड़ककी अवस्था भी श्रीसीताजीमें अब जाकर देवीके आशीर्वादके उपरान्त ही उत्पन्न हुई, परंतु श्रीराममें जल्दी उत्पन्न हो गयी थी, कारण कि वे पुरुष हैं । २ पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'गौरी-शब्द यहाँ बड़ाईकी इच्छा लिये हुए है । अपने श्रीके अनुकूल अपने धर्मको देख-यद्वा अपने मनोरथके अनुकूल गौरीको देखकर अकथनीय हर्ष हुआ । सिय शब्द भी अर्थानुकूल है । अर्थात् शीतभरी हुई हैं ।'

हृदय सराहत सीय लोनाई । गुर समीप गवने दोउ भाई ॥ १ ॥
रामु कहा सबु कौसिक पाहीं । सरल सुभाउ छुअत* छल नाहीं ॥ २ ॥

अर्थ—(श्रीरामजी) श्रीसीताजीकी सुन्दरता हृदयमें सराह रहे हैं । दोनों भाई गुरुके समीप गये ॥ १ ॥ श्रीरामजीने सब कुछ श्रीविश्वामित्रजीसे कह दिया (क्योंकि) उनका सरल (सीधा-सादा, निष्कपट निश्छल) स्वभाव है । छल तो उसे छूता भी नहीं ॥ २ ॥

गौड़जी—'हृदय सराहत''''दोउ भाई' इति । अन्वय करनेमें 'गुरु समीप गवने दोउ भाई' को पहले पढ़कर फिर 'हृदय सराहत सीय लोनाई', 'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं' पढ़ना चाहिये । 'राम' शब्दके साथ 'हृदय सराहत' का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है ।

टिप्पणी—१ 'हृदय सराहत''''' इति । 'गवने' में दोनों भाइयोंको और 'सीय लुनाई' सराहनेमें केवल रामको अर्थ करते समय समझ लेना चाहिये । इस ग्रन्थमें प्रसङ्ग आदि पूर्वापरका विशेष विचार चाहिये । जहाँ जैसा अर्थ लगे वैसा लगावे । पूर्वापर विचार करनेसे अर्थ सिद्ध होता है । जैसे—'माया ब्रह्म जीव जगदीसा । लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥' में माया, ब्रह्म, जीव, जगदीश—ये सब ब्रह्माके बनाये नहीं हैं, ब्रह्माके 'उपजाये' में न लगावें वरंच 'गुन अवगुन साने' में लगावें—'विधि प्रपंच गुन अवगुन साना ।' और जो ब्रह्माके उपजाये हैं उनको ब्रह्माके उपजाये कहें । पुनः, जैसे—'समय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपाल । भरत लषन रिपुदवन सुनि भा कुबरी उर साल ॥' में कुबरीके उरमें शाल रामहीका कुशल सुनकर हुआ न कि भरतादिका कुशल सुनकर । वैसे ही यहाँ अक्षरार्थ लेनेसे 'हृदय सराहत' का कर्त्ता 'दोउ भाई' होगा । पर यह असिद्ध है, लक्ष्मणजीके विषयमें ऐसा कहना अयोग्य है, पूर्वापरसे केवल रामजीका सराहना सिद्ध होता है । (पाँड़ेजीका भी यही मत है) ।

श्रीलमगोड़ाजी—जहाँतक शृङ्गारके माधुर्यका सम्बन्ध है दोनों भाइयोंका 'सीय लोनाई' सराहना अनुचित नहीं, Æsthetic faculty देखिये । सीताजीने भी वनमें सखियोंसे लखनलालकी सुन्दरताकी सराहना की है—'सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लखन लघु देवर मोरे ॥' श्रीमैथिलीशरणजीने भी देवर-भौजाईके सरल-सरस परंतु शुद्ध मजाक लखनलालजी और सीताजीके अपने 'साकेत' में लिखे हैं । (पर मानस और वाल्मीकीयके लक्ष्मणने कभी श्रीसीताजीके चरण छोड़कर कुछ देखा ही नहीं है) ।

प्र० स्वामी लिखते हैं कि टि० २ में जो लिखा है कि 'जहाँसे सम्बन्ध छोड़ते हैं, वहींसे फिर उठाते हैं' यह सत्य है । पर सम्बन्ध छोड़ा 'परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही । चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही ॥ २३५ । ३ ।' पर 'हृदय सराहत बचन न आवा' पर प्रसङ्ग नहीं छोड़ा है । इसके पश्चात् बहुत विचार किया है, लक्ष्मणजीसे समयानुकूल कहा भी है । 'चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही' का सम्बन्ध यहाँके 'हृदय सराहत सीय लोनाई' से जोड़ देनेसे शंका नहीं रह जाती ।

* १६६१ में 'छुअत' ऐसा है । चिह्न देकर ऊपर लाल रंगसे 'त' लिखा है, प्रायः अन्य पुस्तकोंमें छुआ पाठ है ।

भाव यह कि जिन्होंने अपने चारु चित्त-भीतिपर सीय-मूर्तिको लिख लिया था वे उस समय 'हृदय सराहत सीय लोनाई', और 'गुरु समीप गवने दोउ भाई'। [पं० रामकुमारका आशय यह है कि 'हृदय सराहत' का प्रसङ्ग वहाँ छोड़कर बीचमें और बातें कवि कहने लगे थे, अब पुनः 'हृदय सराहत' से चलनेका प्रसङ्ग उठाते हैं। जैसे स्वामीजीने 'जिन्होंने' शब्द बढ़ाकर सम्बन्ध मिलाया है, वैसे ही पं० रामकुमारजीके अनुसार जो पूर्व 'हृदय सराहत' थे वे ही 'हृदय सराहत…'। तथापि यह तो केवल भाव हुआ। यहाँकी चौपाई एक पूरा स्वतन्त्र वाक्य है; यहाँसे 'चारु चित्त भीती….' वाली चौपाई बहुत दूर है। अतः 'दोउ भाई' वाली शङ्का अवश्य लोग उठा सकते हैं और उसका समाधान स्वतन्त्र वाक्य मानकर करना ही अधिक अच्छा है। वि० त्रि० भी २३५ (३) पर प्रसङ्ग छोड़ना लिखते हैं]

नोट—१ पाँड़ेजी तथा बैजनाथजीका मत है कि जैसे श्रीजानकीजी अपना मनोरथ लेकर भवानीके पास गयीं वैसे ही श्रीरघुनाथजी अपना मनोरथ लेकर गुरुके पास गये। छल नहीं छू गया है। अतः प्रत्येक बात अक्षरशः सत्य-सत्य कह दी; क्योंकि मनोरथ सिद्ध कराना चाहते हैं यह माधुर्यभाव है। ऐश्वर्यमें सत्यसंध सत्यव्रत सत्यप्रतिज्ञ हैं—'रामो द्विर्नाभिभाषते'। इससे सब सत्य-सत्य कह दिया।

टिप्पणी—२ (क) जहाँसे सम्बन्ध छोड़ते हैं वहींसे फिर कहते हैं। 'देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥' पूर्व कहा था, 'हृदय सराहत सीय लोनाई….।' यहाँ कहा। श्रीसीताजी 'मुदित मन मंदिर चलीं' और ये दोनों 'गुर समीप गवने'। राजकुमारीका राजमहल मन्दिर है इससे उनका मन्दिरमें जाना कहा और मिथिलाजीमें इनका (श्रीरामजीका) घर नहीं है इससे मन्दिरमें जाना न कहा। पूर्व 'समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥' कहा था, अतः 'गुर समीप गवने' कहा। (ख) पूर्व प्रथम रामजीका वाटिकामें आना कहकर तब पीछे सीताजीका आना कहा था, इसीसे अबकी प्रथम सीताजीका जाना कहकर पीछे रामजीका जाना कहा। तात्पर्य कि ग्रन्थकारकी प्रीति राम-जानकीमें समान है। (यह बात आगे दिखावेंगे कि यहाँ युगल सरकारोंका प्रसङ्ग एक समान लिखा गया है, किञ्चित् भी कहीं न्यूनाधिक्य नहीं है)। (ग) दोनों भाइयोंका वाटिकामें जाना लिखा था, इसीसे दोनोंका साथ लौटना भी कहा। (घ) 'राम कहा सबु ….' इति। शृङ्गारकी बात मुनिसे कहने योग्य न थी पर वह भी कह दी, इसीपर कहते हैं कि उनका 'सरल सुभाउ….'। उनके स्वभावमें छलका लेश भी नहीं, इसीसे सब कह दिया। यथा—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥' गुरुसे दुराव करनेसे विवेक नहीं होता, यथा—'संत कहहिं असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव। होइ न बिमल बिबेक उर गुरु सन किएँ दुराव॥ ४५॥' यदि सब न कहते तो कपट ठहरता क्योंकि कहने योग्य न था। छलके छूनेका स्वरूप यह है कि कालादिकी प्रबलतासे महात्माओंमें जब किसी प्रकारका कपट-छल आ जाता है, तो वे उसको विचारसे त्याग कर देते हैं; तात्पर्य कि औरोंके हृदयमें छल आ जाता है, अधर्म समझकर वे छल नहीं करते, पर रामजीमें वह आता ही नहीं। जहाँ छलका स्पर्श भी नहीं वहाँ उसका त्याग कैसा ?

२ (क) ☞ नगर देखकर जब आये तब प्रणाम किया; यथा—'समय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ। गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥ २२५॥' पुनः जब सन्ध्या करके आये तब प्रणाम किया, यथा—'करि मुनिचरन सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥' पर, फूल लेकर आये तब प्रणाम नहीं किया। क्योंकि शास्त्राज्ञा है कि फूल लिये हुए प्रणाम न करे, अन्यथा वे पुष्पादि देवताके योग्य नहीं रह जाते। शास्त्रमर्यादाका पालन यहाँ दोनों ओरसे दिखाते हैं। पूजाके प्रारम्भमें फूल पहुँचे, दूसरे दोनोंके हाथोंमें अमनिया फूल थे; इन हालतोंमें आशीर्वाद देनेका निषेध है यथा—'पुष्पहस्ते वारिहस्ते तैलाभ्यङ्गे जले स्थिते। आशीर्नमः प्रकर्त्तारावुभौ नरकगामिनौ॥' (प्रसिद्ध)। इसीसे फूल लिये हुए नमस्कार न किया और न मुनिने आशीर्वाद दिया। फूल लेकर जब पूजा कर चुके तब आशीर्वाद दिया जैसा आगे स्पष्ट है।

> सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही। पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही॥ ३॥
> सफल मनोरथ होंहु* तुम्हारे। रामु लखनु सुनि भये सुखारे॥ ४॥
> करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥ ५॥

---

* होउ—रा० प०, १७०४। होंहु—१६६१। ऐसा प्रयोग मानस तथा विनय आदिमें बहुत है। होउ=होवे। होंहु=हों, होवें।

अर्थ—फूल पाकर मुनिने पूजा की, फिर दोनों भाइयोंको आशीर्वाद दिया ॥ ३ ॥—'तुम्हारे मनोरथ सफल हों'। श्रीराम-लक्ष्मणजी (आशीर्वाद) सुनकर सुखी हुए ॥ ४ ॥ विज्ञानी मुनिश्रेष्ठ भोजन करके कुछ पुरानी कथा कहने लगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही' से सूचित होता है कि फूल समयपर आये, न तो प्रथमसे आये कि देरतक धरे रहते और न देरहीको आये कि मुनिको राह देखनी पड़ती, उधर, पूजाका प्रारम्भ हुआ इधर फूल पहुँचे। (ख) 'पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही'—इससे जनाया कि सुमन बहुत उत्तम-उत्तम थे, और ठीक समयमें आये थे जिससे मुनि दोनों भाइयोंपर प्रसन्न हुए और दोनोंको आशीर्वाद दिया। इससे यह भी जनाया कि दोनों भाइयोंने पृथक्-पृथक् अपने-अपने फूलोंके दोने दिये। (ग) 'सफल मनोरथ होंहु तुम्हारे' इति। श्रीरामजीने सब बात निष्कपट मुनिसे कह दी तब तो उनको आशीर्वाद देना था कि तुमको राजकुमारी मिले पर ऐसा न कहकर यह कहा कि तुम्हारे मनोरथ सफल हों, यह क्यों? इसलिये कि यदि सीताप्राप्तिका आशीर्वाद देते तो दोनों भाइयोंका मनोरथ सफल न होता, और यदि कहते कि दोनोंका मनोवाञ्छित स्त्रियाँ प्राप्त हों तो भी मनोरथ न सफल होता, क्योंकि रामजीका मनोरथ है कि चारों भाइयोंके विवाह एक साथ ही हों, जैसे जन्मसे लेकर सभी संस्कार एक ही साथ होते आये हैं—'जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई। करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥ २। १०।' इसीसे मुनिने समझ-बूझकर आशीर्वाद दिया। अतः 'होंहु तुम्हारे' बहुवचनका प्रयोग हुआ। मुनिका आशिष सुन-समझकर दोनों भाइयोंको सुख हुआ। [श्रीलक्ष्मणजीका अपना कोई मनोरथ नहीं है। उनका मनोरथ तो यही है कि श्रीरामजी ही धनुष तोड़ें और श्रीसीताजीको ब्याहें, इसीमें उनको सुख है, यथा—'ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ॥ २३९। ३।' श्रीरघुनाथजीको जिसमें सुख हो उसीमें वे सुख मानते हैं। वे चाहते हैं कि त्रिलोक-विजय-रूपा श्रीजानकीजी श्रीरामजीको प्राप्त हों। आशीर्वादसे श्रीसीताजीकी प्राप्तिका निश्चय हो गया। अतः सुखी हुए। (पाँ०)। संध्या करनेके बाद, पूजनके पश्चात् अथवा भोजनके पश्चात् जो ब्राह्मणके मुखसे निकलता है वह सत्य होता है। अतएव पूजनके बाद आशीर्वाद दिया गया। (वि० त्रि०)]

२ (क) 'करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी' इति। कलके भोजनमें श्रीरामजी प्रधान थे, यथा—'रिषय संग रघुबंस मनि करि भोजन बिश्रामु। २१७।'; इसीसे भोजन करके वहाँ विश्राम करना कहते हैं क्योंकि ये राजकुमार हैं, इनको भोजन करके विश्राम करना उचित है। और, आजके भोजनमें मुनि प्रधान हैं, इसीसे आज भोजन करके विश्राम करना नहीं लिखते, क्योंकि मुनि तपस्वी हैं, वे भोजन करके विश्राम नहीं करते, वे तो हजारों वर्ष खड़े रहनेवाले हैं, कथा ही उनका विश्राम है। (ख) कल कथा रात्रिमें हुई, यथा—'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी', और आज कथा दिनमें हुई। इससे जनाया कि कथाके मुख्य श्रोता श्रीरामजी हैं, यथा—'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना ॥ २१०। ८।' श्रीरामजी दूसरे समय नगरदर्शनके लिये चले गये थे, इसीसे कथा रात्रिमें हुई, आज कहीं गये नहीं इसीसे कथा दिनमें हुई। (ग) तीसरे दिन भोजनका उल्लेख नहीं हुआ क्योंकि उस दिन धनुषयज्ञमें गये। बारह बजे धनुष टूटा फिर परशुराम-संवाद हुआ। धनुष तोड़नेपर अब रामजी दामाद हो गये। उसके पहले अतिथि थे। जबतक अतिथि थे तबतक अतिथि-सेवा कही। आगे जब बाराती अतिथि आवेंगे तब फिर जेवनार कहेंगे।

नोट—१ यज्ञरक्षाके पश्चात् कहा है कि 'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया ॥ ७ ॥ भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना ॥ २१०। ८।' यहाँ कथाका समय नहीं दिया गया। इससे जनाया कि सवेरे, दोपहरको भोजनके पश्चात् और फिर सायं सन्ध्याके पश्चात् तीनों कालोंमें आजकल कथा होती है। 'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्रामु। २१७।' यहाँ 'विश्राम' का अर्थ 'सोना' नहीं है। शरद् ऋतुमें दिनमें सोना निषिद्ध है। चलकर आये हैं, थके हैं, अतः आज भोजनके पश्चात् कथा दिनमें नहीं हुई। नगरदर्शन और संध्याके पश्चात् हुई। यथा—'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥ २२६। २।'

दूसरे दिन प्रातः नित्य क्रियासे निबटकर वाटिकासे पुष्प आदि लाये, गुरुने पूजा की, आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् भोजन हुआ। भोजनके पश्चात् दिनमें कथा हुई। यथा—'करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥ २३७। ५।' रातमें कथा नहीं हुई। इन दोनों प्रसंगोंपर विचार करनेसे यह भी सूचित होता है कि इस समय एक ही समय

कथाका नियम था। दिनमें कथा हुई तो रात्रिमें नहीं, दिनमें न हुई तो रात्रिमें अवश्य होती थी। और जब मुनिके आश्रम-में थे तब यज्ञ-रक्षाके समयतक कथा बंद थी, यज्ञरक्षाके पश्चात् तीनों समय कथा होती थी। पुनः इन प्रसंगोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबसे मुनिके साथ आये तबसे रात्रिमें भोजन नहीं करते; मुनि एक ही समय भोजन करते हैं अतः ये भी एक ही समय करते हैं। इसीसे विश्वामित्रजीके साथ रात्रिमें भोजनकी चर्चा कहीं नहीं की गयी।

प० प० प्र०—भोजनोपरान्त विश्राम करनेका अवसर न दिया, क्योंकि पूजाके लिये दल-फूल समयपर न मिलनेसे भोजन देरमें हुआ, दूसरे मुनि विज्ञानी हैं, जानते हैं कि युगल कुमार आज सायं संध्या-वन्दन करके शीघ्र न लौट सकेंगे और कल तो शीघ्र ही नित्य कर्म करके धनुर्भंगके लिये जाना पड़ेगा। तीसरे, वात्सल्यमें यह भी कहा कि आज राज-कुमारोंको जल्दी सो जाना चाहिये, कल धनुर्भंगके लिये उत्साह आदिकी वृद्धि होनी चाहिये, अतः आज रात्रिमें कथाके लिये समय नहीं रहेगा।

नोट—२ (क) राजपुत्र और राजकुमारीका संयोग जाननेसे 'विज्ञानी' कहा। (राजा दशरथसे इन्होंने कहा ही था—'**इन्ह कहँ अति कल्यान**। २०७।) विवाह और तीनों लोकोंके राजाओंपर विजय ही 'अति कल्यान' है। (पां०)। पुनः 'विज्ञानी' से जनाया कि कथामें ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा होगी। और 'कथा कहने लगे' से सूचित किया कि भक्तिप्रधान कथा कहने लगे। सारांश कि ज्ञान-विज्ञानोत्तर भक्तिविषयक कथा कही। (प० प० प्र०)। (ख) कोई-कोई (शृंगारी लोग) ऐसा कहते हैं कि प्रभुके चित्तकी विवस्था जान विश्राम न करने दिया, कथा कहने लगे जिससे चित्तको विश्राम मिले। (प्र० सं०)। (ग) कथा दोपहरसे लेकर सूर्यास्ततक हुई, कोई बड़ी और बढ़िया कथा कहते रहे जिसमें किसी-को उठनेकी इच्छा न हुई। जब मुनिने स्वयं आज्ञा दी तब संध्याकाल जानकर संध्या करने उठे। (प्र० सं०)। बैज-नाथजीका मत है कि दिनान्त पहर जानकर मुनि कथा कहने लगे, विश्राम न किया।

बिगत दिवसु मुनि आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥ ६॥
प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुखु पावा॥ ७॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥ ८॥

अर्थ—दिन बीत जानेपर मुनिकी आज्ञा पाकर दोनों भाई संध्या करने चले॥ ६॥ पूर्वदिशामें सुन्दर चन्द्रमा उदित हुआ। सीताजीके मुखके समान देखकर (श्रीरामजीने) सुख पाया॥ ७॥ फिर मनमें विचार किया (तो यह ठहराया) कि चन्द्रमा श्रीसीताजीके मुखके समान नहीं है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '**बिगत दिवसु**' से सूचित हुआ कि कथा दो पहर हुई, भोजन करके बैठे, कथामें संध्या हो गयी। इसी तरह कल संध्याके बैठे आधी राततक कथा हुई थी, यथा 'रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी।' इससे यह भी दिखाया कि सब अत्यन्त आसनदृढ़ हैं। ['बिगत दिवस' और 'निसिप्रबेस' एक ही बात है। संध्या आते ही गुरुजीकी आज्ञा हो जाती है। अतः दोनों भाई चले। (वि० त्रि०)] (ख) '**मुनि आयसु पाई**' से कथामें प्रेम, दृढ़-आसन और कथाका बढ़िया होना सूचित किया, जिससे किसीको उठनेकी इच्छा न हुई, जब मुनिने स्वयं आज्ञा दी तब उठे। (ग) '**संध्या करन चले दोउ भाई**' इति। इससे जनाया कि बाहर जलाशयके निकट संध्या करने गये। यही विधि है। '**सायं संध्या बहिर्जले**'। पुनः, '**चले दोउ भाई**' से यह भी जनाया कि जहाँ जाते हैं, दोनों भाई साथ जाते हैं, तीसरेका संग नहीं लेते; यथा 'तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥' 'समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥' तथा यहाँ।

प० प० प्र०—कल तो कहा था कि 'निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। २२६। १।' और आज 'मुनि आयसु पाई' कहा। इस भेदसे जनाया कि आज संध्यावन्दनके लिये जानेको पूछना पड़ा तब 'आयसु पाई'। जबसे 'सुख सनेह सोभाकी खानी' को चित्त-भीतिपर लिख लिया तबसे उसे देखनेका अवसर ही न मिला और यदि संध्यावन्दनके लिये आज्ञा न माँगते तो न जाने कितनी देर हो जाती। अतः एकान्त रम्य स्थानमें ही जायँगे और उस शोभाखानिको निरख-निरखकर सुखी होंगे।

टिप्पणी—२ 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा' से सूचित किया कि शरद्की पूर्णिमा थी। 'बिगत दिवसु' अर्थात्

सूर्यास्तपर संध्या करने चले और प्राची दिशिमें चन्द्रोदय हुआ। पूर्णिमाका चन्द्रमा संध्यामें उदय होता है। सीताजीके मुखकी उपमा दी, इससे भी निश्चय हुआ कि शरद्चन्द्र है और इससे 'सुहावा' है। पुनः भाव कि सीताजीका मुख सुहावना है, चन्द्रमा उसका उपमान है, इससे चन्द्रमाको सुहावा कहा। [पुनः 'प्राची दिसि ससि उयेउ' से जनाया कि पूर्वदिशामें संध्यावन्दन करने चले। इसीसे सामने ही चन्द्रमा देखनेमें आया। 'सुहावा' और ऊपरके 'बिगत दिवसु' से पूर्णचन्द्र जनाया, क्योंकि इधर 'बिगत दिवसु' और उधर चन्द्रोदय दोनों साथ हुए।'''जैसे श्रीसीताजीके मुखको देखकर सुख पाया था,'''वैसे ही चन्द्रमासे सुख पाया। जैसे किशोरीजीकी शोभा देखकर हृदयमें सराहना की थी, वैसे ही यहाँ भी हृदयमें सराहना समझिये। पूर्व लक्ष्मणजीको संबोधन करके बातें की थीं, यथा—'कहत लषन सन रामु हृदय गुनि। २३०। १।' पर वे कुछ न बोले थे, वैसे ही यहाँ भी जानिये। (प्र० सं०)। बैजनाथजीका मत है कि उस दिन कुछ चतुर्दशीके उपरान्त आश्विनशुक्ला पूर्णिमा थी, इसीसे जब प्रभुने संध्या की उतनेहीमें चन्द्र उदित हुआ। प्र० स्वामीका मत है कि 'बिगत दिवस' से कथामें ही सूर्यास्तका हो जाना सिद्ध होता है। तत्पश्चात् नगरके बाहर जलाशयपर गये तब चन्द्रोदय हुआ। इससे पाया गया कि आज सायंकालमें कृष्ण प्रतिपदा पौर्णिमान्तमासगणनानुसार कार्तिक कृ० १ है। (पर चौपाईमें 'चले' और 'सुहावा' शब्दसे पं० रामकुमारजी और मयङ्ककारके मतका भी पोषण हो जाता है)। वि० त्रि० का भी मत है कि 'बिगत दिवस' और 'निसि प्रबेस' एक ही बात है। पण्डितोंने एक मुहूर्त दिन रहते ही रात्रि बतलायी है। संध्या आते ही गुरुजीकी आज्ञा संध्याके लिये हो गयी]।

नोट—१ संध्याका समय क्या है यह जान लेनेसे भी चौपाईका यथार्थ भाव स्पष्ट हो जाता है। इसलिये संध्याके विषयमें प्रामाणिक श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। 'संध्याका समय क्या है, कब करनी चाहिये, और क्यों करनी चाहिये और न करनेका परिणाम क्या है' ये सब स्पष्ट हो जायँगे। प्रस्तुत प्रसंग सायंसंध्याका है, अतः प्रथम उसीका श्लोक देते हैं।—'उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा। अधमा तारकोपेता सायंसंध्या त्रिधा मता। अध्यर्धयामादा सायं संध्या मध्याह्निकीष्यते॥' (धर्मसिंधु संध्याकाल-प्रकरण) इसमें बताया गया है कि उत्तम सायं-संध्या वह है जो कुछ सूर्य रहते ही की जाय। (सूर्यास्तके पूर्व तीन घड़ी तक उत्तम माना जाता है)। सूर्यरहित संध्या मध्यम है और तारागण निकलनेपर जो की जाती है वह अधम संध्या है। यह निश्चय है कि ब्रह्मर्षि उत्तम ही संध्या करते-कराते होंगे। अतः जब दोनों भाइयोंने संध्या की उस समय सूर्य थे। प्र० स्वामीका मत है कि हरिकथा या गुरुसेवाके कारण यदि कनिष्ठ कालमें ही संध्या करनी पड़े तो भी वह दोष नहीं माना जायगा।

नारायण विट्ठल वैद्यकृत आह्निक सूत्रावली षष्ठ संस्करणमें प्रातः संध्याके सम्बन्धके श्लोक ये हैं—(१) **'अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः। सा तु संध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥'** (नागदेव)। (२) **'उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका। अधमा सूर्यसहिता प्रातःसंध्या त्रिधा मता॥'** (धर्मसार)। (३) **निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्। त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं हि प्रणश्यति॥** (अत्रि)। (४) **संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलमाग् भवेत्॥** (मरीचि)। भावार्थ यह है सूर्य और नक्षत्ररहित दिन और रात्रिकी सन्धि संध्याकाल है। तारागण रहते हुए जो संध्या की जाय वह उत्तम है। तारागणके लुप्त होनेपर की जानेवाली संध्या मध्यमा और सूर्योदयपर की हुई अधमा है। त्रिकाल संध्या करनेसे अज्ञानसे किये हुए समस्त पापोंका नाश होता है। संध्या न करनेसे मनुष्यके दिन-रातमें किये हुए सब कर्म निष्फल हो जाते हैं।

श्रीरामजीकी दिनचर्यामें प्रातःसंध्याका उल्लेख भी है। वे ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर उत्तम प्रातः संध्या करते हैं। नित्य क्रियामें संध्या भी है।

२—*टिप्पणी* २ में पूर्व दिशामें संध्यावन्दन करने जाना जो कहा गया है वह 'बिगत दिवस चले' के सम्बन्धमें कहा गया। पूर्वकी ओर चले तो सुहावना (पूर्ण) चन्द्र उदित हुआ देख पड़ा। मार्गमें ही जाते देखा। यदि जलाशयपर जानेपर चन्द्रोदय देखा (जो प० प० प्र० का मत है तो पूर्व दिशामें गये हों अथवा किसी और दिशामें गये हों इसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि 'संध्या करते समय आचमन, प्राणायाम और गायत्रीजप भी पूर्व ओर मुख करकेही करना पड़ता है, उस समय चन्द्रदर्शन चतुर्दशी, पूर्णिमा, प्रतिपदा (कृ०) को स्वाभाविक ही होगा। यद्यपि संध्यामें कब किस

दिशामें मुख करके वन्दन किया जाता है इसके लिखनेकी आवश्यकता नहीं, फिर भी इस विचारसे कि कोई उसे जानकर और भाव निकालें हम उसे यहाँ लिखे देते हैं। 'सायंसंध्याकर्मके समय प्रथम पूर्वाभिमुख होकर आचमन-प्राणायाम-मार्जनादि होता है, पश्चात् पश्चिमाभिमुख अर्घ्य प्रदान होता है और फिर आचमन करनेको पूर्वाभिमुख होना पड़ता है। जपकी समाप्तिपर पुनः पश्चिमाभिमुख होकर दश दिक्पालोंका वन्दन प्रारम्भ होता है और प्रदक्षिणा पूरी करनेके समय फिर घूमकर पूर्वाभिमुख होकर संध्याकी समाप्तिपर आचमन-प्राणायाम करना पड़ता है।

टिप्पणी—२ 'सियमुख सरिस''' इति। (क) यहाँ 'प्रथम प्रतीपालंकार' है और चन्द्रमाको देखकर सीताजीके मुखकी स्मृति हुई इससे 'स्मृति अलंकार' भी है। (ख) 'सुखु पावा' का भाव कि जानकीजीका मुख देखकर सुख पाया था, यथा—'अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥ देखि सीय सोभा सुख पावा।' चन्द्रमा सियमुखसरिस है इसीसे चन्द्रमाको देखकर सुख पाया। (ग)—'बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं।''' इसीसे सूचित किया कि चन्द्रमाकी सुन्दरता देखनेमें सीताजीके मुखके सदृश है; पर गुण-अवगुण विचार करनेपर सदृश नहीं है। (एकाएक तो चन्द्र उनके मुखके समान ही प्रतीत हुआ, पर विचार करनेपर राय पलट गयी। वि० त्रि०)। यहाँ उपमेय 'सियमुख' द्वारा उपमान चन्द्रमाका निरादर होनेसे 'तृतीय प्रतीपालंकार' है। विचारसे यह निश्चय हुआ कि वह सीतामुखके सदृश नहीं है इसका हेतु आगे कहते हैं।

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'जब श्रीरामचन्द्रजी संध्या करने चले तभी चन्द्रमाको उगा हुआ देखा इससे यह सूचित होता है कि उस दिन आमंद पूर्णिमा थी और रामचन्द्रजी जानकीजीके स्मरणमें ऐसे फँसे थे कि न तो संध्या कर सके, न गुरुसेवा ही हो सकी और न नींद ही पड़ी। क्योंकि मूलमें लिखा है कि 'संध्या करन चले'; यह नहीं लिखते कि संध्याबंदन किया।—[अयोध्याकाण्डमें भी ऐसा ही प्रयोग है। यथा—'पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए॥ २। ८९।' वहाँ भी 'करन सिधाए' कहकर फिर उसका करना नहीं लिखा है। इसी तरह यहाँ भी लगा सकते हैं कि संध्या की। मर्यादापुरुषोत्तम मर्यादाका पालन नहीं छोड़ेंगे। इसी तरह गुरुसेवा एक दिन कह दी गयी—'गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥ २२६। ५।', वैसे ही नित्य करते हैं, यह बात पूर्व लिखी गयी है। पर शृङ्गाररसमें यह भाव कहा जा सकता है। त्रिपाठीजीका मत है कि आज चतुर्दशी वा पूर्णमासी है, सायं संध्या होते-होते चन्द्रोदय हो गया; देखा कि सीताजीके मुखके समान प्रकाशकत्व और आह्लादकत्व है, इससे सुख मिला।]—पूर्व गुरुकी सेवा करके सोया करते थे, आज केवल प्रणाम किया, यथा—'करि मुनि चरन सरोज प्रनामा।' पहले शयन-पद दिया गया, यथा—'रघुबर जाइ सयन तब कीन्हा' और यहाँ 'आयसु पाइ कीन्ह विश्रामा'। अर्थात् विश्राम किया, नींद नहीं पड़ी। नींदसे सोते तो 'शयन' लिखते' (पं० रामकुमारजीका मत २३८। ५ में देखिये।) श्रीजानकीशरणजी (स्नेहलता) कहते हैं कि 'इतनी विह्वलता है कि संध्यामें दक्षिण (पश्चिम) मुख रहना चाहिये सो आज पूर्व दिशाकी ओर मुख कर बैठे।' [पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठे और संध्या की, यह कथन संध्या-विधिके ज्ञानका अभाव ही प्रदर्शित करता है। प० प० प्र०]।

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'वियोगके कारण दुःख था, इसीसे सीताजीके मुख-सरिस देख सुख हुआ। सुख पानेमें 'स्मरण अलंकार' है, समता-गुणमात्रसे सुखदायी हुआ; यथार्थतः वियोगियोंको दुःखद होता है। 'हिमकर' अर्थात् अत्यन्त शीत करनेवाला है, पाला डालता है। हिमकर प्रथम सुखद हुआ तब श्रीकिशोरीजीके मुखके समान कहकर उसमें अनेक गुण सूचित किये पर जब वह विरहवर्धक हुआ तब निन्दा की, अवगुण कहकर गुणोंका लोप कर दिया।'

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—१ 'स, म, प, च' इत्यादि रसास्वादनके अक्षर विचारणीय हैं, यहाँ भी और प्रसंगभरमें। २—'उयेउ'। फुलवारी ही बसी है, मानो चन्द्रमा भी उसीमें 'उगा' है और आगे 'उयेउ अरुन' भी। ३—देखिये, सारा उपमाएँ कवियोंकी जुठारी समझ तथा 'प्राकृत नारि भंग अनुरागीं' जान रामका हृदय पहले ही त्याग चुका है। चन्द्रमापर तनिक रुका और कुछ सुख पाया। पर 'एकसे जब दो हुए तब लुत्फे यकताई नहीं' के अनुसार प्रेम चन्द्रमामें दोषोंकी वह तालिका निकाल देता है कि जिसकी सीमा नहीं। पहले नाम ही 'हिमकर' दिया जो प्रेमकी उमंगको ठिठुरा देता है।—पहले भी संकेत हो चुका है।

दो०—जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सिय-मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु॥ २३७॥

अर्थ—समुद्रमें तो उसका जन्म, फिर विष उसका भाई है, दिनमें प्रकाशहीन रहता है और कलंकी है। बेचारा दरिद्र चन्द्रमा श्रीसीताजीके मुखकी समता कैसे पा सकता है ? ॥ २३७ ॥

टिप्पणी—१ (क) सिंधु जड़ है, यथा—'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी॥' जड़से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, इस कथनका तात्पर्य यह है कि कारणका गुण कार्यमें आ जाता है। अथवा, चन्द्रमा इस समुद्र-से उत्पन्न हुआ है, इससे सीताजीके मुखकी उपमा नहीं हो सकता। जब ऐसा उत्पन्न हो कि जैसा आगे कविने कहा है—'जौं छबिसुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥ सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानिपंकज निज मारू॥ एहि बिधि उपजै 'चंद' जब सुंदरता सुखमूल। तदपि सकोच समेत कबि कहहिं 'सीयमुख' तूल॥' [सिंधु खारा है, यह भी दोष है (पां०)] (ख)—'बंधु बिष', यथा—'बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥' (ग) ☞ गुण और अवगुण चार जगहसे देखे जाते हैं—कुल, संग, शरीर और स्वभावसे। यहाँ चन्द्रमाके ये चारों दिखाते हैं—'जन्म सिंधु' यह कुल है, 'बंधु बिष' यह संग है, 'दिन मलीन सकलंक घटै बढ़ै' यह शरीर है और 'बिरहिनि दुखदाई, कोक सोकप्रद पंकजद्रोही' यह स्वभाव है। चारों प्रकारसे दूषित है। (घ)—'बापुरो' का भाव कि शोभासे रंक है, न कुलसे शोभा पावे न संगसे, न शरीरसे और न स्वभावसे ही। सब प्रकार हीन है।

नोट—१ चार प्रकारकी योग्यतासे उत्तमता और अयोग्यतासे अधमता मानी जाती है। कालकूट भी सिंधुसे निकला था और चन्द्रमा भी; इस तरह दोनों भाई-भाई हैं। गुरुद्रोह, गुरुपत्नीगमन इत्यादि कलंक हैं। शरीर क्षयीरोगग्रस्त है। चन्द्रमाका पिता जड़ और डुबानेवाला है, श्रीजानकीजीके पिता श्रीजनकजी हैं जो स्वयं ज्ञानी हैं और दूसरोंको तार देने-वाले हैं। चन्द्रमाका बन्धु विष है जो मारनेवाला है, जानकीजीके बन्धु गुण-शील-रूपनिधान लक्ष्मीनिधिजी हैं। चन्द्रमा दिनमें प्रकाशरहित, जानकीजी दिन-रात एकरस प्रकाशयुक्त। 'बापुरो रंक' कहनेका भाव कि अन्य ग्रहोंकी अपेक्षा इसका साहबी थोड़ी ही अर्थात् सवा दो दिनकी ही है। चन्द्रमाको प्रकाश सूर्यसे मिलता है, रात्रिमें ही उसका प्रकाश रहता है और सीताजीका प्रकाश तो दिनमें भी रहता है, यथा—'करत प्रकास फिरहि फुलवाई' । २३१ । २ ।' चन्द्रमा कलंकित है, श्रीजानकीजी सदा निष्कलंक हैं; यथा—'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता ॥ ७ । २४ ।' उनकी कीर्त्ति पवित्र है, यथा—'जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवन कीन्ह बिधि अंड करोरी ॥ २ । २८७ ।' बैजनाथजीका मत है कि अमावस्याको एक ही कला रहती है और वह भी सूर्यमें लुप्त हो जाती है। श्रीकिशोरीजीका मुख सदा एकरस शोभित रहता है। [चन्द्रमाको गुरुतल्पगामी होनेका कलंक है, यथा—'ससि गुर-तिय-गामी'''। २ । २२८]।

—पुष्पवाटिका-प्रसंगमें श्रीराम-जानकीजी दोनों पक्षोंका मिलान—

श्रीरामजी	श्रीसीताजी
सकल सौच करि जाइ नहाए	मज्जन करि सर सखिन्ह समेता
नित्य निबाहि मुनिहि सिरु नाए	गई गौरि निकेता
समय जानि	तेहि अवसर, सीता तहँ आई
गुरु आयसु पाई	जननि पठाई
लेन प्रसून चले	गिरिजापूजन आई
दोउ भाई (यहाँ भाई साथमें)	संग सखी सब सुभग सयानी (यहाँ सखियाँ साथमें)
लगे लेन दल फूल मुदित मन	गई मुदित मन गौरि निकेता
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा	लता ओट तब सखिन्ह लखाए
सियमुख ससि भये नयन चकोरा	सरद ससिहि जनु चितव चकोरी
भये बिलोचन चारु अचंचल	थके नयन रघुपति छबि देखे
मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल	पलकन्हिहू परिहरी निमेषें
देखि सीय सोभा सुख पावा	देखि रूप लोचन ललचाने
हृदय सराहत बचन न आवा	अधिक सनेहु देह भै भोरी

सिय शोभा हिय बरनि प्रभु	लोचन मग रामहि उर आनी
आपनि दसा बिचारि	दीन्हे पलक-कपाट सयानी
सहज पुनीत मोर मन छोभा	सुमिरि पितापन मन अति छोभा
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता	मंजुल मंगलमूल बाम अंग फरकन लगे
चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही	चली राखि उर स्यामल मूरति
गुरु समीप गवने दोउ भाई	गई भवानी भवन बहोरी
राम कहा सब कौसिक पाहीं	मोर मनोरथ जानहु नीके
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही	बिनय प्रेमबस भई भवानी
पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही	सुनु सिय सत्य असीस हमारी
सफल मनोरथ होंहु तुम्हारे	पूजिहि मन कामना तुम्हारी
रामलखन सुनि भए सुखारे	सिय हिय हरष न जाइ कहि

घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई। ग्रसै राहु निज संधिहि पाई॥ १॥
कोक सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥ २॥

शब्दार्थ—सन्धि=अवकाश, अवसर। पूर्णिमा और प्रतिपदाकी सन्धि (मेल वा बीच) में।

अर्थ—घटता-बढ़ता है, वियोगिनी-विरहिणीको दुःख देनेवाला है। राहु अपनी सन्धिमें पाकर ग्रस लेता है॥ १॥ कोक (चकवाक) को शोक देनेवाला और कमलका शत्रु है। हे चन्द्रमा! तुझमें बहुत अवगुण हैं॥ २॥

श्रीराजारामशरणजी—१ निर्जीवको सजीव तो सभी कवि बाँधते हैं परंतु भावका वह चढ़ाव दिखा देना जिससे वह स्वाभाविक बन जाय तुलसीदासजीकी विशेषता है। प्रेममें यह जान पड़ता है कि मानो चन्द्रमा सीताजीके मुखकी बराबरी करनेके हेतु विशेष तैयारीसे निकला हुआ (है), रामका प्रेमिक हृदय (ऐसा) समझ रहा है। इसीसे तो दोषोंकी धारा बाँध दी और अन्तमें चन्द्रमाको सम्बोधन करके 'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही' कह ही दिया। २—चन्द्रमापर भी उपमाके सम्बन्धसे कविताको नाज था। और कितनी ही नायिकाओंको उससे उपमा दी गयी, किंतु तुलसीदासजी उससे उपमा देना तो अलग रहा, उसको भी सियमुखसरिस कहना ठीक नहीं समझते और कितने ही दोष गिना देते हैं। ३—स्मरण रहे कि प्रेम बराबर पक रहा है, संध्यामें भी प्रेमिकाकी ही याद (वियोगमें स्मरणानन्द) है।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ दोष दिखानेका प्रकरण है। घटना दोष है, इसीसे पहले 'घटै' कहा, तब 'बढ़ै'। घटता-बढ़ता है अर्थात् एकरस शोभा नहीं रहती, सदा विषमावस्था बनी रहती है। बिरहिनि-दुखदाई है अर्थात् सबको एकरस सुखदाता नहीं है। किसीको सुख देता है तो किसीको दुःख देता है। सब तिथियोंमें घटता-बढ़ता है। एक पूर्णिमाहीको पूर्ण होता है तहाँ उसमें यह दोष है कि अपनी सन्धि पाकर अर्थात् पूर्णिमा-प्रतिपदाके बीचमें उसे राहु ग्रस लेता है। इस तरह बढ़ना भी दोष हुआ। 'निज संधिहि' का भाव कि और शत्रुओंकी सन्धि और है, राहुकी सन्धि पूर्णिमा-प्रतिपदाका बीच है। इससे जनाया कि वह राहुका उच्छिष्ट है। (ख)—पुनः, प्रथम 'घटै' कहा क्योंकि पहले कृष्णपक्ष है पीछे शुक्ल। किसीके मतसे पहले शुक्ल है तब कृष्णपक्ष है—यह मत गोस्वामीजी प्रथम ही 'सम प्रकास तम पाख दुहु नाम भेद बिधि कीन्ह। ससि पोषक सोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह॥' दोहा ७ में कह आये। (१६६१ में 'सोषक पोषक' पाठ है)। (ग)—'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।' इति। जीवोंके रहनेके तीन स्थल हैं, जल-थल और नभ, यथा—'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥ १। ३-४॥' यहाँ दिखाते हैं कि चन्द्रमा तीनों स्थलोंके निवासियोंको दुःख देता है। 'बिरहिनि दुखदाई' से थलचरोंको दुःख देना कहा। 'कोक-सोकप्रद' से नभचरोंको दुःखदायक कहा और पंकज-द्रोहीसे जलचरोंको दुःखदायी कहा। एक-एक स्थलका एक-एक उदाहरण दिया। पुनः, (घ)—बिरहिनिको दुःखदायी और कोकको शोकप्रद कहनेका तात्पर्य यह है कि वियोगियोंको दुःख देता है ही और संयोगियोंको भी वियोगी बनाकर दुःख देता है। विरही और कोक चेतन हैं, पंकज (कमल) जड़ है। इस तरह पंकजद्रोही भी कहकर जड़-चेतन सभीको दुःखदाता बताया। (ङ)—तीनोंको दुःखदायी इस प्रकार है कि 'बिरहिनि' को अग्निरूप होकर और पंकजको हिम (पाला)

रूप होकर जलाता है; यथा—'पावक मय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी ॥ ५ । १२ ॥', 'मानहुँ तुहिन बनजबनु मारा । २ । १५९ ।', 'विश्व सुखद खल कमल तुषारू । १६ । ५ ।' कोक-कोकी दिनभर साथ रहते हैं, रात्रिमें उनका वियोग होता है, शशिकिरणके स्पर्शसे वह व्याकुल हो जाता है, यथा—'ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू । २ । २९ । ४ ।' किसीको अग्निरूप, किसीको पालारूप, इसीसे 'हिमकर' कहा। पुनः, कोक और पंकजका उदाहरण देकर जनाया कि रात-दिन वैर करता है। [पुन, पक्षीने किसीका क्या बिगाड़ा है, सो यह कोकको शोक देता है। कमल संसारको प्रिय है, पर यह उससे भी द्रोह करता है। (वि० त्रि०)] । (च)—जो सब प्रकारसे हीन हो वह 'बापुरा' कहलाता है, इसीसे सब प्रकारसे हीनता दिखायी। (छ) 'अवगुन बहुत' अर्थात् थोड़े भी अवगुण होते तो भी जानकीजीके मुखकी उपमा नहीं दे सकते और तुझमें तो अगणित दोष हैं, तेरी उपमा देनेसे दोष लगेगा।

नोट—१ भूषण बारह हैं। इसीसे बारह दोष चन्द्रमामें दिखाकर उसके विरुद्ध श्रीकिशोरीजीमें भूषण दरसाते हैं। ऊपर दोहेमें छः दोष दिखाये गये और उसके विरुद्ध श्रीजानकीजीमें छः भूषण दिखाये। दोहा २३७ में देखिये। चन्द्रमा घटता है, बढ़ता है, दो दोष ये हैं। श्रीविदेहनन्दिनी सदा समान, उनकी शोभा एकरस है। वह कितनोंहीको दुःखदायी है और ये सबको सुखद; यथा—'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् । मं० श्लोक ५ ।' देवता इनके कृपा-कटाक्षकी चाह करते हैं। उसे राहु ग्रसता है और ये सदा अभय हैं, क्योंकि जगज्जननी हैं, सबका उद्भव-स्थिति-संहार करनेवाली हैं। वह विरहीको तथा कोकको शोक देता और कमलको जला डालता है, ये सबको सुख देती हैं और सबसे निर्वैर हैं और दीन-क्षीण तो इनको परम प्रिय हैं, यथा—'बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न'। इतने दोष दिखाकर तब कहते हैं कि 'अवगुन बहुत' अर्थात् कहाँतक गिनाये जायँ, इतने ही नहीं हैं किन्तु अगणित हैं। इस प्रकार उसको अवगुणनिधि जनाया और ये तो गुणखानि हैं जैसा पूर्व कह आये हैं—'सुख सनेह सोभा गुन खानी । २३५ । २ ।' पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'कोक सोकप्रद' यह अपने ऊपर कहते हैं।

२ चन्द्रमाके घटने-बढ़नेके सम्बन्धमें एक पौराणिक कथा है। दक्षप्रजापतिकी कन्याओंमेंसे सत्ताईसका विवाह चन्द्रमाके साथ हुआ। उन सबकी 'नक्षत्र' संज्ञा थी। चन्द्रमाके साथ जो नक्षत्रोंका योग होता है, उसकी गणनाके लिये वे सत्ताईस रूपोंमें प्रकट हुई थीं। इनमेंसे रोहिणी सबसे अधिक सुन्दर थी। इससे रोहिणीके संसर्गमें चन्द्रमा अधिक रहा करते थे। अन्य नक्षत्रनामवाली स्त्रियोंने इस बातकी शिकायत दक्षसे की। दक्षने चन्द्रमाको बुलाकर उन्हें सब स्त्रियोंके साथ समान व्यवहार करनेकी आज्ञा दी। परंतु उनका प्रेम रोहिणीके प्रति अधिकाधिक बढ़ता गया। तब शेष बहिनोंने पुनः पितासे शिकायत की। दक्षने पुनः चन्द्रमाको बुलाया और कहा कि 'तुम सब स्त्रियोंके साथ समान बर्ताव करो, नहीं तो मैं शाप दे दूँगा।' परंतु उसने आज्ञाका पालन फिर भी न किया। तब दक्षने क्रोधमें आकर यक्ष्माकी सृष्टि की। यक्ष्मा चन्द्रमाके शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इस रोगसे चन्द्रमाकी प्रभा नष्ट हो गयी जिससे अन्नादि ओषधियोंका उपजना ही बंद-सा हो गया और जो उपजतीं भी तो न स्वाद होता, न रस और न शक्ति ही। सारी प्रजाका नाश होने लगा। तब देवताओंने चन्द्रमासे क्षीण होनेका कारण पूछा। चन्द्रमाने उन्हें अपनेको शाप मिलनेका कारण और उस शापके रूपमें यक्ष्माकी बीमारी होनेका हाल बताया। देवताओंने आकर दक्षसे प्रार्थना की कि शाप निवृत्त किया जाय, नहीं तो ओषधियाँ और उनके बीज नष्ट हो जायँगे जिससे हमारा भी नाश हो जायगा और हमारे नाशसे संसारका नाश होगा। दक्षने कहा कि 'यदि चन्द्रमा अपने सब स्त्रियोंके साथ समान बर्ताव करे तो सरस्वतीके उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे ये पुनः पुष्ट हो जायँगे। फिर ये पंद्रह दिनोंतक बराबर क्षीण होते जायँगे और पंद्रह दिनोंतक बढ़ते रहेंगे। पश्चिम समुद्रके तटपर जहाँ सरस्वती-सागर-संगम है जाकर ये भगवान् शङ्करकी आराधना करें, इससे इन्हें इनकी खोयी हुई कान्ति मिल जायगी। सोमने अमावस्याको प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया। (महाभारत शल्यपर्व वैशम्पायन-जनमेजय-संवाद) । [कृष्ण-पक्षमें देवता चन्द्रमाकी कलाओंका पान करते हैं, इसलिये वह घटता है। (वि० त्रि०)]

बैदेही मुख पटतर दीन्हे । होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे ॥ ३ ॥
सियमुख छबि बिधु ब्याज बखानी । गुर पहिं चले निसा बड़ि जानी ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रीविदेहनन्दिनी जानकीजीके मुखकी समता (उपमा) देनेसे बड़ा अनुचित कर्म करनेका बड़ा दोष लगेगा ॥ ३ ॥ चन्द्रमाके बहाने श्रीसीताजीके मुखकी शोभाका वर्णन कर और रात बहुत गयी (बीती) जान, गुरुके पास चले ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'बैदेहीं मुख पटतर दीन्हे ।...'** ऐसा कहकर कवियोंको मना करते हैं कि कोई भी कवि **जानकीजीके** मुखके लिये चन्द्रमाकी उपमा न दे और चन्द्रमाको मना करते हैं कि तू उनके मुखकी समताकी इच्छा कभी **न करना, नहीं तो तुझे बड़ा** दोष लगेगा, इसीसे साक्षात् चन्द्रमाको सम्बोधन कर उसीसे कहते हैं। पूर्व **'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही'** कहा था। उसीके सम्बन्धसे 'बड़ दोषु' कहा। पुनः भाव कि जानकीजीका मुख निर्दोष है और चन्द्रमामें **बहुत** दोष **हैं**। निर्दोषके लिये दोषीकी उपमा दें तो बड़ा दोष है ही। (ख) प्रथम मनमें विचार करना कह आये हैं; **यथा—'बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं'** और यहाँ कहते हैं 'सियमुख छबि बिधुब्याज बखानी', 'बखानना' वचनसे होता **है**। इससे जनाया कि सारा विचार और बखान मनहीका है, मनहीमें छबिको वर्णन करते रहे। वर्णन मन-ही-मन भी **होता** है; यथा—'राम सुभाय चले गुर पाहीं। सिय सनेह बरनत मन माहीं॥' (ग) सियमुखके सामने चन्द्रमाका **हलकापन** किसीने यों कहा है—'सिय तेरे मुखचंदुको बिधि तौल्यो धरि सोम। तारे सब **अहरे** परे तऊ गयो बिधु **व्योम ॥'** (घ) श्रीसीताजीके मुख-छबिको मनमें वर्णन करके गुरुके पास चले। यहाँ संध्या करना नहीं लिखा। **'बिगत दिवस गुर आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥'** से निश्चय हुआ कि संध्या करने चले थे तो संध्या भी **अवश्य** की, नहीं तो यह न लिखते। ऐसा ही अयोध्याकाण्डमें लिखते हैं—'पुरजन करि जोहार घर आए। रघुबर संध्या **करन सिधाए॥'** वहाँ भी संध्या करने चले।' यह लिखा, पर संध्या करना नहीं लिखा। 'संध्या करन सिधाए' से **ही** **निश्चय हो** गया कि संध्या की। (मानस-मयंककारका मत है कि रामजीका मन इतना जानकीजीमें फँस गया था कि संध्या करना भूल गये। और किसीका मत है कि भक्तका स्मरण भी संध्या ही है। भगवान् अपने भक्तोंका स्मरण-ध्यान किया करते हैं, वही यहाँ किया। पं० रामकुमारजीका मत है कि संध्या कर चुकनेपर चन्द्रमाके व्याजसे श्रीसीताजीके **मुख-छबिका** मनमें वर्णन करने लगे।) (ङ) 'निसा बड़ि जानी' इति। तात्पर्य कि देर हो गयी यह जानकर गुरुका **भय माना, यथा—'कौतुक देखि चले गुर पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं॥'**

पाँड़ेजी—'छबिका वर्णन करके गुरुके पास गये। भाव कि रघुनाथजी छबि देखकर उन्मत्त हो गये थे। जब कोई वस्तु नशा करती है तो वमन किये बिना सावधानी नहीं होती। अतः चन्द्रमाके बहाने इस जगह छबिका वर्णनकर सावधान हो गये कि बड़ी रात हो गयी। तब गुरुके पास गये।' अथवा 'निसा बड़ि' अर्थात् बहुत बड़ी हो गयी, काटे **नहीं कटती**, न जाने कब सवेरा होगा। सखीके **'पुनि आउब एहि बेरिआँ** काली' को सोचते हैं कि यह रात पहाड़रूप **बीचमें** आ पड़ी है, अतः गुरुके पास चले कि वे ब्रह्मा बन रातका दिन कर देंगे। वा, गुरु सूर्यरूप हैं अतः उनके पास **चले कि सूर्य जल्दी प्रकट हों**।' (और भी ऐसे ही भाव लिखे हैं। ये शृङ्गारियोंके भाव हैं)।

वैजनाथजी—संध्या चार दण्डतक चाहिये और यहाँ आठ दण्ड बीत गये, इसीसे निशा **'बड़ि जानी'** कहा। (पं० रामकुमारजीका मत है कि दो पहर रात्रि बीत गयी)।

रा० प्र० **कार 'बिधु ब्याज' का एक** भाव **यह कहते हैं** कि सियमुखछबि मूल है **और** चन्द्रमा उसके व्याज अर्थात् सूदके समान है।

करि मुनि चरन सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥ ५॥

अर्थ—मुनिके चरणकमलोंमें प्रणाम कर, आज्ञा पा, विश्राम किया॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा था कि 'गुर पहिं चले निसा बड़ि जानी।' बड़ी रात गये लौटे यह कहकर यहाँ उसका प्रमाण दिखाते हैं कि दो पहर रात बीत गयी थी, क्योंकि आते ही विश्राम किया। श्रीरामजीकी रात्रिचर्यामें दिखा आये हैं कि दो पहर रात बीतनेपर विश्राम करते हैं; यथा—'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥ **बार बार मुनि अज्ञा** दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥ २२६। ६।' (ख) अर्कबिम्बसे लेके तीन दण्ड रात्रि बीतने-तक संध्या कहलाती है, यथा—'संध्या त्रिनाड़ी प्रमितार्कबिम्बात्।' इसीसे ज्ञात हुआ कि समयपर संध्या की। संध्या कर चुकनेपर सीताजीके मुखकी छबि मनमें वर्णन करने लगे, इससे दो पहर समय शीघ्र ही बीत गया, कुछ जान न पड़ा। सुखमें समय बीतते कुछ जान ही नहीं पड़ता, यथा—'मास दिवसकर दिवस भा मरम न जानै कोइ', 'ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभु पद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गये मास षट बीति॥' (ग) 'आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा'—भाव कि रामजीने चरणसेवा करनी चाही, इसीसे मुनिने बहुत रात गयी जानकर आते ही शयनकी आज्ञा दी। विश्राम शयनही-

का अर्थ यहाँ दे रहा है, इसीसे यहाँ 'कीन्ह बिश्रामा' कहकर आगे 'बिगत निसा रघुनायक जागे।' कहते हैं, जागना सोनेपर ही होता है। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि न तो मुनिके चरण-कमलोंका पलोटना कहा गया और न श्रीरामजीके चरणोंका; क्योंकि आज उसकी आवश्यकता नहीं, आज किसीको कहीं दूर जाना नहीं पड़ा, कल तो रास्ता चलकर आये थे अतः कल पैर दबानेकी आवश्यकता थी।)

नोट—१ पुष्पवाटिका-प्रकरणमें शृङ्गार रस प्रधान है। गोस्वामीजीने श्रीरामजी और श्रीजानकीजी दोनोंका प्रसङ्ग एक-सा लिखा है। २३७ वें दोहेमें मिलान लिखा जा चुका है। गीतावलीके **'हरषीं सहेली भयो भावतो गावती गीत गवनी भवन तुलसी प्रभुको हियो हरि कै'**, इस उद्धरणके आधारपर श्रीजानकीजीकी विजयका इसे लक्ष्य मानकर, रसिक महानुभावोंका कहना है कि **'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥'** यहाँसे शृङ्गार-युद्ध-प्रकरण प्रारम्भ हुआ और उसमें श्रीरामजी हारे। नीचे वह युद्ध-रहस्य रसिक-समाजके लिये लिखा जाता है। इसके विषयमें श्रीलमगोड़ाजीका कहना है कि 'इस दृष्टिकोणपर अधिक जोर न देना चाहिये, नहीं तो 'जाने-आलम और रोशन आरा' वाला शृङ्गार आ जायगा, जो तुलसीदासजीको अभीष्ट नहीं है। उनके शृङ्गारमें 'अमिय' या 'मधु' है, पर 'हालाहल' (जहर इश्क़) नहीं।' इसी विचारसे प्रकरणके आदिमें और यहाँ भी लिख दिया गया कि ये भाव एकमात्र रसिक-समाजके लिये हैं। प० प० प्र० स्वामीकी टिप्पणियोंमें इसके विपरीत आपको देखनेको मिलेगा।

शृङ्गार-युद्ध-रहस्य (रसिकसमाजके लिये)

पं० रामचरण मिश्रजी इस युद्धको यों वर्णन करते हैं—'भूपबाग ऋतुराज बसन्तकी रजधानी है, चातक-कोकिल आदि सचिवादि वर्ग हैं, मदनवीर सुहृद् है, नवपल्लव-फल-फूल-आदि कोष हैं, वन-उपवन आदि राष्ट्र (देश) हैं, मकरन्दका आमोद दुर्ग है। स्त्रीवर्ग बल (सेना) है।'

"जब श्रीचक्रवर्ती राजकुमार रजधानी बागमें घुस दल-फूलरूपी सम्पत्ति लूटने लगे, तब ऋतुराजकी आज्ञा पा मदन वीरने सेनाकी अधिष्ठात्री श्रीकिशोरीजीको सूचना दी कि राजकुमारोंको गिरफ्तार करें'।

"यह खबर पाकर श्रीकिशोरीजीने नीति-मर्यादाका पालन किया। उन्होंने एक सखीको सन्धिके निमित्त भेजा। पर, सन्धि दूर रही उस सखीहीको भ्रकुटि-धनु तानकर कटाक्षरूपी बाणोंसे उन्होंने घायल कर दिया। तब बेहोशीके साथ विह्वल वह सखी सीताजीके पास आकर पुकार करने लगी। उस प्रिय सखीकी दशा देखकर सखीसमाजरूप सेनादल साथ लेकर सीताजीने चढ़ायी की। तब सुसज्जित दल देख मदन वीरने कङ्कणादिकोंके शब्दरूप नगाड़ेका डंका दिया। अब आगे शृङ्गारयुद्ध करके महारानी राजकुमारको गिरफ्तार करके लौटेंगी।"

नोट—मिश्रजीने युद्धप्रकरणका चित्र इस प्रकार खींचा है और अन्य महानुभावोंने श्रीकिशोरीजीके आगमनसे इस प्रकरणको उठाया है—**'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि'** से।

यह युद्ध-रहस्य **'अवसि देखिअहिं'** इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है। 'देख लेंगे' यह मुहावरा है, बदला चुकानेके भावमें ये शब्द प्रयुक्त होते हैं। सखी कह रही है कि इन्हें अवश्य दण्ड देना चाहिये, जिससे फिर कभी अपराध न करें। आखिर इन्होंने क्या अपराध किया है जो इनको दण्ड देना जरूरी है? उसपर सखी कहती है कि इन्होंने बहुतसे अपराध किये हैं—**'निजरूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी॥'** इतना ही नहीं किंतु हमारे साथकी प्रिय सखीपर भी बिना अपराध वार किया, श्रीजनक महाराजकी भी क्या दशा कर दी, इत्यादि। अब राजकुमारी सखियोंसहित संग्राम करने चलीं।

लड़ाई करनेमें डंका आदि जुझाऊ बाजोंकी जरूरत पड़ती है। **'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि'** यही डंका आदिक हैं। पं० शिवलाल पाठक कहते हैं कि साथमें सखियोंकी फौज है। जैसे परेडपर फौज जमा होकर नेता (सेनापति) की आज्ञासे जब चलती है तो सबके पद एक साथ उठते पड़ते हैं, वैसे ही यहाँ चारों ओर प्रौढ़ा सखियाँ हैं, मध्यमें किशोरीजी, प्रौढ़ाके बाद मध्या फिर मुग्धा हैं, इन सबोंके कदम एक साथ उठते पड़ते हैं तो शब्द ऐसा होता है मानो कङ्कण कहते हैं कि इस छबिके आगे कौन कङ्क (दरिद्र) न (हुआ), तब 'किंकिन' कहते हैं कि इनके सामने किस-किसने हार नहीं मानी। नूपुर उसका उत्तर देते हैं कि 'छन छन' अर्थात् क्षणमात्रमें सब हार जाते हैं—**'मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं'**।

कङ्कणादिका शब्द सुन राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी स्वयं कह रहे हैं कि 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥' डंकेकी चोट सुन वे लक्ष्मणजीसे सलाह करते हैं कि क्या करें? भागें कि संधि करें या मुकाबिला करें? लक्ष्मणजी 'सन्न' रह जाते हैं कि वीर होकर भागनेको आप कहते हैं।

इस प्रकार डंकेपर चोट दे विजयकी इच्छासे कामदेव वाटिकामें आया। जब समीप पहुँचा तो सोचे कि मेल कर लें अतः 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥' चकोरकी चन्द्रमासे प्रीति है, अतः इससे 'साम' नीति दर्शित की। पर अब मेल कहाँ, प्रिय सखीको जैसा घायल किया था, पुरवासिनियोंकी जैसी दशा की थी, वैसी ही करके इनको गिरफ्तार करना है। अतः बाणोंकी वृष्टि होने लगी जिससे 'हृदय सराहत बचन न आवा'। हृदय बाणोंकी चोटसे घायल हो गया, वचन नहीं निकलता। मनहीमें शत्रु हाय-हाय करने लगा। वीरता, धीरता और उदारता तीनोंसे रहित हो गया। (नोट—लक्ष्मणजीसे जो तीन गुण रघुवंशियोंके कहे, उन्हीं तीनोंसे रहित हो जाना गिनाते हैं। 'मुख सरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान' यहाँ याचक बने, उदारता गयी, नयन सरसे हत हुए, यह वीरता भागी और साथ ही धैर्य भी)। शत्रु जब बहुत घायल हुआ तब जा छिपा। (नोट—पूर्व जो कहा था कि 'चहुँदिसि चितइ पूँछि मालीगन' उसका भाव शृङ्गार-युद्ध-सम्बन्धसे यह लगाते हैं कि नगर-दर्शन समय सुमन-वर्षाद्वारा जो संकेत सखियों-ने किया था कि आज तो तुमने हमें स्वामिनीके बिना पाकर काबूमें कर लिया, फल फुलवारीमें आइये, तब आपको देख लेंगी, वहाँ आपकी भी यही दशा कर देंगी, उसी खयालसे आप चारों ओर देखने लगे कि युद्धमें कहीं भागना पड़ा तो कहाँ जायँगे। अब यहाँ लताका ओट लिया। शरण भी मिली तो स्त्रीकी।)

इधर फौज इनकी ताकमें है, सखियोंने पता लगा ही तो लिया—'लता ओट तब सखिन्ह लखाए' स्वामिनीसे कहा कि ये बड़े चतुर हैं, देखिये कैसे जा छिपे! इनपर तरस न खाना चाहिये। इन्हें पकड़कर बन्दीखानेमें भेज देना चाहिये, नहीं तो ये भाग जायँगे। बस, तड़ातड़ बाणवृष्टि होने लगी—'जहँ बिलोक मृगसावक नयनी। जनु तहँ बरिस कमलसित श्रेनी ॥' नेत्र-कटाक्षरूपी बाणोंद्वारा हराकर तब इनको पकड़कर कैद किया गया—'लोचनमग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥'

(नोट—या यों कहें कि बाण-वृष्टि होती रही तब शत्रु जा छिपा। स्वामिनीको सुस्ता लेनेको सखियोंने इशारा किया। 'दीन्हे पलक कपाट' यह राजकिशोरीके बाणोंकी वृष्टिका बंद होना और उनका सुस्ताना है। वृष्टि बंद होते ही शत्रु फिर प्रकट हो सामने आ गया—'लता भवन ते प्रगट भये तेहि अवसर…'।)

पर शत्रु बड़े धूर्त्त हैं। वे वहाँसे फिर निकल आये। सखि-सेनाने चाहा कि हम ही इनको बाँध लें स्वामिनीको क्यों कष्ट दें; पर इनके लिये शत्रु बहुत था, उसने सेनाको विह्वल कर ही दिया—'बिसरा सखिन्ह अपान'। तब एकने आकर पुकार की कि वे निकल आये, हमारे किये कुछ नहीं होता, शीघ्र उन्हें दण्ड दें और ऐसे कैदखानेमें रखें जहाँसे निकल न पावें।—'भूप किसोर देखि किन लेहू'। आपने आकर देखा तो सच ही सम्मुख मुकाबिलेको आया हुआ देखा—'सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे'। अब सेनाको जोर मिला। वह कहती है—लो अभी मजा चखाती हैं, फिर ऐसा न कर सकोगे, इसपर कसर भी रहे तो फिर कल आना! यह जताकर स्वामिनीको इसकी ओरसे सावधान कर रही हैं। वे आकर इनको अबकी फिर कैद कर ऐसी जगह रखती हैं जहाँ किवाड़े आदि भी नहीं कि निकल जायँ।—'चली राखि उर स्यामल मूरति'। जय पाकर देवीका पूजन किया, सो उचित ही है।

'प्रीतम-प्यारी श्रीजनकफुलवारी' अर्थात् पुष्पवाटिका-प्रकरण समाप्त हुआ।
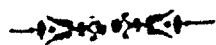
धनुषयज्ञ—श्रीसिया-स्वयंवर

विगत निसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे॥ ६॥
उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक* सुखदाता॥ ७॥
बोले लखनु जोरि जुग पानी। प्रभु प्रभाउ सूचक मृदु बानी॥ ८॥

शब्दार्थ—निशा=प्रथम तीन प्रहरकी रात्रि। अरुन (अरुण)=दिन-रातमें साठ घड़ी होती हैं। छप्पन घड़ी बीतनेपर चार घड़ी रात्रि रहनेके समयको अरुणोदय कहते हैं; वह काल जब सूर्यकी लाली पूर्व दिशामें सूर्योदयसे दो मुहूर्त पहले होती है 'अरुणोदय' का प्रारम्भ है। 'उदयात् प्राक् चतस्रस्तु नाडिका अरुणोदयः।' अरुण=ललाई, लाली। उयेउ= उदय हुआ। उयेउ अरुन=अरुणोदय हुआ।

अर्थ—रात्रि बीत जानेपर रघुनाथजी जागे। भाईको देखकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ६॥ हे तात! देखो। कमल कोक (चक्रवाक) और लोगों वा लोक (संसारमात्र) को सुख देनेवाला अरुणोदय हुआ॥ ७॥ लक्ष्मणजी दोनों हाथ जोड़कर प्रभुके प्रभाव (प्रताप) को सूचित करनेवाली कोमल वाणी बोले—॥ ८॥

श्रीराजारामशरणजी—तुलसीदासजीकी संकेतकला बड़ी सुकुमार है। जिन वस्तुओंको चन्द्रमा शोकप्रद था, अरुणोदय उन्हींको सुखप्रद है। साफ संकेत है कि शायद (सम्भवतः) अरुण सीताजीके मुखकी समता पा सके। अभी बात भी पूरी न करने पाये थे कि वीर लक्ष्मणने सोचकर कि रामजीका खयाल उसी शृंगाररसमें ही लगा है और आज धनुषयज्ञमें वीररसकी आवश्यकता है, कैसी नम्रतासे रामजीके विचारको फेरा है, एक छिपी हुई हास्यकी चुटकी भी है कि आपका विचार किधर‡ है। अरुण वीररसका द्योतक है, 'उषा' की लाल ओढ़नीवाली बात नहीं है। उन्होंने साफ ही सारा वीररसका रूपक ही बाँध दिया। 'वि० मा० हास्यरसके पृष्ठ ९१ पर नोट है कि 'मुँहसे एकदम निकल जाता है कि '**हरकस बखयाले खेश खब्ते दारद**', '**कोउ काहूमें मगन कोउ काहूमें मगन**'। 'राम' प्रेममें मग्न और लक्ष्मणजी वीररसमें; परंतु राममें उपहास-भाव इतना सुन्दर है कि उन्हें अपने ऊपर खुद (स्वयं ही) हँसी आ गयी—'**बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने।**'

टिप्पणी—१ (क) 'विगत निसा'। प्रथम तीन प्रहर रात्रिकी 'निशा' संज्ञा है। निशा तीन प्रहरकी होती है, इसीसे रात्रिका त्रियामा भी एक नाम है। [यथा—'त्रियामा रात्रिरिप्यते' पुनश्च 'निशा निशीथिनी रात्रिः, त्रियामा क्षणदा क्षपा।' इत्यमरकोशे १। ४। ३] इसके बीतते ही सदाचारी लोग जागकर परमेश्वरका स्मरणा-चिन्तन आदि करते हैं। 'बंधु बिलोकि' से पाया गया कि लक्ष्मणजी आगेहीसे उठकर बैठे हुए हैं; यथा—'**उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान। गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान॥ २२६॥**' श्रीलक्ष्मणजी सोते न थे यह विदित है। [वैजनाथजीका मत है कि 'श्रीरामचन्द्रजीको विरहमें नींद नहीं पड़ी, निशा बीतनेकी प्रतीक्षा करते रहे, इसीसे निशा बीतते ही वे प्रथम ही जगे। लक्ष्मणजीका प्रथम जागना उचित था पर अभी सोकर उठनेका समय नहीं आया था, इससे वे लेटे ही हुए थे। इनको लेटे हुए देख श्रीरामजी बोले। पर इस मतका खण्डन पं० रामकुमारजीकी टिप्पणीसे हो जाता है। 'जागे' शब्द स्पष्ट बताता है कि नींद पड़ी थी, नहीं तो 'उठे' शब्द देते जैसा लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें कहा था। यथा—'**उठे लषन निसि बिगत**·····'। दूसरे यदि यहाँ मानें कि नींद नहीं पड़ी थी तो '**गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान**' में भी मानना पड़ेगा कि नींद न पड़ी थी, जो सर्वथा अनुचित होगा।]। (ख) 'उयेउ अरुन अवलोकहु' इति। शास्त्राज्ञा है कि राजा प्रातःकाल उठकर सूर्यका दर्शन करे। यथा—'रोचनं चन्दनं हेमं मृदंगं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः॥ निशाप्रान्ते तु यामार्द्धे देववादित्रवादिने। सारस्वतानध्ययने चारुणोदय उच्यते॥ इति स्मृतेः॥' ये राजकुमार हैं, इससे इनको भी सूर्यदर्शन करना चाहिये, इसीसे सूर्यावलोकन करनेको कहते हैं। [पर अरुणोदय सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व होता

---

* लोक कोक—१७०४। कोक लोक—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

‡ लक्ष्मणजी बड़े गम्भीर हैं, प्रभु-प्रभाव जानते हैं, अनुगामी हैं; इससे हास्यका लेश भी वहाँ सम्भव नहीं है। मानसके लक्ष्मण वाल्मीकीयके लक्ष्मण नहीं हैं।—यह हम लोगोंका विचार है।

है। शब्दार्थ देखिये, अतः यहाँ सूर्यदर्शन करनेकी बात कुछ बेतुकी-सी है। 'हाँ, यदि 'अरुण' से भानुका अर्थ लें तो अर्थ लग सकता है; आगे 'उएउ भानु' 'रबि निज उदय' शब्द आये ही हैं] (ग) 'पंकज कोक लोक सुखदाता' इति। पूर्व दिखा आये कि चन्द्रमा तीनों स्थलोंके वासियोंको दुःख देता है—'घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई', 'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही'। यहाँ सूर्यका तीनों स्थलोंके निवासियोंको सुख देना कहते हैं। पंकज जलचर है। 'लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः'। यहाँ लोक शब्द जनवाचक है, जन थलचर हैं। कोक नभचर है। जलचर, थलचर और नभचर ये ही तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं। यथा—'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥ १। ३। ४।' [यहाँ अरुणोदय कारण और पंकज कोक लोक सुखदाता कार्य दोनोंका वर्णन 'प्रथम हेतु अलंकार' है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'तात' श्लिष्ट पद है। एक भाईका सम्बोधन है, दूसरा 'तप्त' के अर्थमें है। भाव यह है कि सूर्यके बिना जो कमल, कोक और लोक तप्त रहते हैं उनको सुखदाता वही सूर्य है। कोक शब्द अपनी इच्छाका है, इसीसे कोक और कोकी दोनों नहीं कहे।] (घ) ☞'जब चन्द्रमा उदय हुआ था तब श्रीरामजी न बोले थे; यथा—'प्राची दिसि ससि उएउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा॥' क्योंकि चन्द्रमा सियमुखसरिस है। सियमुखकी शोभा अनिर्वचनीय है—'देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥' इसीसे वहाँ लक्ष्मणजीसे कुछ न बोले थे और यहाँ बोले।'

२ (क) 'बोले लखन जोरि जुग पानी' इति। कल श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे बातें करते रहे पर लक्ष्मणजी कुछ न बोले थे, क्योंकि तब उनका बोलना उचित न था। कारण कि सत्पुरुषोंकी वाणी निर्दोष होती है। उसपर भी श्रीरामजीकी वाणी! श्रीरामजीकी वाणीका खण्डन करनेमें 'सदर्थ' वाला दोष लगता। पुनः यदि कहते कि श्रीजानकी-जीकी शोभा ऐसी ही है कि मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देती है तो भी दोष आता है, (क्योंकि इससे सूचित होता है कि उन्होंने भी शोभा देखी और उनका मन क्षुब्ध हो गया, यद्यपि न उन्होंने शोभा देखी न मन क्षुब्ध हुआ, उनका तो श्रीसीताजीमें मातृभाव है)। 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि॥ मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥ २३०। १-२।' यह सुनकर लक्ष्मणजी कुछ न बोले थे। भाव यह कि जब श्रीरामजीने श्रीजानकीजीकी शोभा और अपनी दशा कही; यथा—'तात जनक तनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥...२३१।' तब न बोले क्योंकि बोलना उचित न था और यहाँ बोलना उचित है, इससे हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए बोले। [विशेष आगे २३९ (४-५) में श्रीलमगोड़ाजीकी टिप्पणी और २३९। ७ में नोट २ गौड़जीकी टिप्पणी भी देखिये।]। हाथ जोड़कर बोलना स्तुतिकी रीति है। (यह नम्रताका लक्षण है। गुरुजनोंसे नम्रतापूर्वक बात करनी चाहिये। पंजाबीजी कहते हैं कि आपको 'वेद नेति-नेति कहते हैं। हमारे कथनमें जो न्यूनता हो उसे क्षमा कीजियेगा', यह हाथ जोड़कर सूचित किया)। (ख) 'लखन' नाम सार्थक है अर्थात् लखनेवाले आशय यह कि लक्ष्मणजी यह बात लख चुके कि प्रभु आज धनुष तोड़ेंगे।'—(पाँड़ेजी)।] (ग)—'प्रभु प्रभाउ सूचक....' अर्थात् वाणी गम्भीर है, उसमें बहुत अभिप्राय भरा हुआ है। सूचक=जनाने, सुझाने वा सूचना देनेवाली। वाणी सुननेमें मृदु है।

दो०—अरुनोदय सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन। जिमि*तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन॥ २३८॥

अर्थ—अरुणोदय होते ही कुमुद सकुचा (सम्पुटित, मुरझा) गये, तारागणकी ज्योति (कान्ति, प्रकाश) फीकी पड़ गयी, जैसे आपका आगमन सुनकर राजालोग बलहीन हो गये॥ २३८॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ आप (श्रीरामजी) का आगमन अरुणोदय है। नृपति (कुमुद और) तारागण हैं। तेज ज्योति है। तारागणकी ज्योति मलिन हुई अर्थात् उनका चमकना जगमगाना बंद हुआ; वैसे ही राजा तेजहीन हो गये और कुमुदकी तरह सकुचा गये। तेजहत होनेहीसे बलहीन हो गये।—[कुमुदिनी (कोकावेली) रातमें प्रफुल्लित रहती है, वैसे ही जबतक श्रीरामचन्द्रजी नहीं आये तबतक सब राजा प्रफुल्लित थे। इनके आगमनरूपी अरुणोदयसे सकुचा गये।] (ख) 'आगमन सुनि' इति। अरुणोदयकालमें सूर्य नहीं देख पड़ते, इसी तरह राजा लोगोंने अभी आपको देखा नहीं है, आपका आगमन सुना है। अतः सुनकर बलहीन होना कहा। पुनः अरुणोदयकालमें तारागण देख पड़ते हैं, पर

* तिमि—१७०४।

उनकी ज्योति मलिन हो जाती है। सूर्यके उदय होनेपर तो देख ही नहीं पड़ते। इसी तरह श्रीरामजीके उदयमें राजालोग देख ही न पड़ेंगे; यथा—'जहँ तहँ कायर गवहिं पराने'। अरुणोदय प्रातःकालके प्रथम होता है। (ग) 'सकुचे कुमुद', यथा—'रघुबर उर जयमाल देखि देव बरषहिं सुमन। सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन ॥ २६४ ॥', 'मानी महिप कुमुद सकुचानें। २५५। २।' 'उडगन जोति मलीन', यथा—'श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे ॥' और 'भए नृपति बलहीन', यथा—'बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥', 'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी ॥ २५५। १।'—इस प्रकार राजाओंकी ये तीनों दशाएँ—सकुचाना, श्रीहत होना और बलहीन होना—इस दोहेमें कही गयीं। दो दशाएँ उपमाओंके द्वारा दिखायीं।

नोट—१ पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'कुमुद अर्थात् कुईंके फूलकी सफेदी सूर्योदय होनेपर जाती रहती है और स्याही प्रकट हो जाती है, इसी तरह राजाओंके मुखपर स्याही छा गयी और जैसे तारागण मलीन हो जाते हैं वैसे ही उनके वचनरूपी नक्षत्रोंकी दशा हो गयी।' २—बैजनाथजीका मत है कि 'बल' से यहाँ बुद्धि और बाहु दोनोंका बल सूचित किया। सकुचकर चुप हो रहे—यह बुद्धिकी, और धनुष न हटा सके यह बाहुबलकी हीनता है। ३—सं० १६६१ की प्रतिमें और पाँड़ेजीकी पोथीमें 'जिमि' पाठ है। कुछ पुस्तकोंमें 'तिमि' पाठ है। 'तिमि' पाठसे उत्तरार्ध स्पष्ट ही उपमेय-वाक्य होता है और पूर्वार्द्ध उपमानवाक्य। वीरकविजी लिखते हैं कि 'दोनोंका एकधर्म निस्तेज होना समानार्थवाची शब्दोंद्वारा अलग-अलग कथन करना 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है। 'तिमि' वाचकसे उदाहरणकी संसृष्टि है।' (वीरकविजीने 'तिमि' पाठ रक्खा है।) ४—नंगे परमहंसजीने राजाओंको तारागण और उनके मनको कुमुद माना है। अर्थात् राजा तेजहत हुए और उनके मन जो खिले हुए थे वे सकुच गये।

नृप सब नखत करहिं उजिआरी। टारि न सकहिं चाप तम भारी ॥ १ ॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना ॥ २ ॥
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटें धनुष सुखारे ॥ ३ ॥

अर्थ—सब राजारूपी तारे (नक्षत्र) उजाला करते हैं, पर धनुषरूपी भारी अन्धकारको हटा नहीं सकते ॥ १ ॥ कमल, चक्रवाक, भौंरे और अनेक प्रकारके पक्षी, ये सभी निशाका अन्त हो जानेपर प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ ऐसे ही, हे प्रभो! आपके सब भक्त धनुषके टूट जानेपर सुखी होंगे ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'नृप सब नखत करहिं उजिआरी।...' इति। (क) रात्रिमें समस्त नक्षत्र प्रकाश करते हैं पर किंचित् भी अन्धकार नहीं मिटा सकते। ऐसे ही समस्त राजा मिलकर भी धनुष तोड़ना चाहें तो भी धनुष नहीं तोड़ सकते। यथा—'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा ॥' यह अभिप्राय है। नक्षत्र उजियारी करते हैं, राजा बल करते हैं। यहाँ राजा नक्षत्र हैं, धनुष रात्रिका भारी अन्धकार है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि जैसे जबतक अन्धकार रहता है तभीतक तारागणका तेज देख पड़ता है, वैसे ही जबतक धनुष है तबतक राजाओंका तेज देख पड़ता है, धनुष टूटनेपर तेज नष्ट हो जायगा। यथा—'श्रीहत भए भूप धनु टूटे।' (ख) स्मरण रहे कि यहाँ केवल तारागणका प्रकाश कहते हैं। किसी भी राजाको चन्द्रमाकी उपमा नहीं देते। सबको तारा ही कहते हैं, क्योंकि आगे दोनों भाइयोंको चन्द्रमासमान कहेंगे, यथा—'राजसमाज बिराजत रूरे। उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे ॥ (दूसरे, चन्द्रमा एक ही है और राजा बहुत हैं, इससे चन्द्रमाकी उपमा न दी। तारागण बहुत हैं और राजा भी बहुत, अतः तारागणकी उपमा दी। तीसरे, चन्द्रमा कुछ अन्धकार मिटाता भी है। उसकी उपमा तब सार्थक हो सकती जब राजा किंचित् भी धनुषको हटा सकते)। (ग) 'तम भारी' क्योंकि सब मिलकर भी न हटा सके। (घ) [अर्धाली १ में उपमा और रूपककी संसृष्टि है]

२ 'कमल कोक मधुकर खग नाना।...' इति। श्रीरामजीने कहा था कि सूर्य पंकज, कोक और लोकको सुखदाता है, वही बात लक्ष्मणजी भी कहते हैं। लक्ष्मणजीने कमल, कोक, मधुकर और खग चार नाम कहे। सूर्योदयसे सभीको सुख होता है, पर इन सबोंको विशेष सुख मिलता है। कमल सूर्यका विशेष स्नेही है, यथा—'जरत तुहिन लखि बनज बन रबि दै पीठि पराउ। उदय बिकास, अथवत सकुच, मिटै न सहज सुभाउ ॥ ३१६ ॥' इति दोहावल्याम्। इसीसे कमलका नाम

प्रथम कहा। कमलसे उतरकर चक्रवाक सूर्यका स्नेही है, फिर भ्रमर और उससे उतरकर पक्षी प्रेमी है। इस तरह क्रमसे सूर्यके स्नेहियोंके नाम गिनाये। [सबका एक धर्म 'हर्ष' होनेसे 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' हुआ।]

ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे।''' इति।

पं० रामकुमारजी—'ऐसेहि' अर्थात् जैसे कमल, कोक, मधुकर और खग चार हैं, ऐसे ही आपके चार प्रकारके भक्त हैं—ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त। यहाँ सन्त कमल हैं, यथा—'बिकसे संत सरोज सब॥ २५४॥' मुनि और देवता कोक हैं, यथा—'भए बिलोक कोक मुनि देवा। २५५। ३।' सबके लोचन मधुकर हैं, यथा—'हरषे लोचन भृंग॥ २५४॥' 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥ २४१। ८।' पुरवासियोंके लोचन भ्रमर हैं। इनके अतिरिक्त जो भक्त हैं वे खग हैं, खगके नाम न लिखे। इसीसे भक्तोंके नाम भी न लिखे। कमल, कोक और मधुकर तीनके नाम लिखे, इसीसे धनुषके टूटनेपर भी तीन प्रकारके भक्तोंके नाम लिखे। धनुषका टूटना रात्रिका नाश होना है।

बैजनाथजी—पहले चार उपमान कहे, अब चार भक्त उपमेय दिखाते हैं। धार्मिक राजा, लक्ष्मण और मुनिवृन्द जिज्ञासु हैं, जो कमलसमान सम्पुटित हैं। सखियोंके सहित किशोरीजी चक्रवाकीसमान आर्त्त हैं। चक्रवाकीसम इनका वियोग दूर होगा, संयोगसुख प्राप्त होगा। पुरवासी राजा और रानी भ्रमर हैं, धर्मबन्धनमें बद्ध अर्थार्थी हैं ये धर्मबन्धनसे छूटेंगे। विश्वामित्र आदि ज्ञानी भक्त खग हैं। [नोट—यह मत पाँड़ेजीसे लिया हुआ जान पड़ता है। उन्होंने भी यही चार कहे हैं। सखियाँ और जानकीजी आर्त्त हैं, यथा 'सखि हमरे अति आरत ताते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥' हाँ, पाँड़ेजीने यह नहीं लिखा कि इनमेंसे कौन कमल, कौन कोक इत्यादि हैं, यह बैजनाथजीने अपनेसे बढ़ाकर लिखा है]।

किसीका मत है कि कमल ज्ञानी भक्त हैं। क्योंकि जैसे कमल जलमें रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं, वैसे ही ये सब भोग करते हुए भी उसकी बाधासे रहित हैं। कोक आर्त हैं, मधुकर अर्थार्थी हैं। अन्य सब खग जिज्ञासु हैं। भ्रमरोंको रसकी चाह है इससे वे अर्थार्थी हैं।

वि० त्रि०—ज्ञानीकी उपमा कमलसे है, क्योंकि वह साक्षात् सूर्यसे प्रेम करता है। जिज्ञासुकी उपमा कोकसे है, क्योंकि उसे अपनी कोकीकी खोज है, जिसकी प्राप्ति सूर्यके बिना सम्भव नहीं। अर्थार्थी मधुकर है, उसे मधु चाहिये, सूर्योदय बिना न कमल खिले न उसे मधु मिले। आर्तकी उपमा 'खग नाना' से है, क्योंकि अपने पेटका भोजन बच्चेको खिलाकर भूखे पेट अपने घोंसलेमें बैठे आर्त हो रहे हैं, रातको सूझता नहीं कहाँ जाय, जब सूर्य निकले तब चारेकी खोजमें चलें। अपने-अपने हितार्थ वे चारों सूर्यसे प्रेम करते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—रात्रिके व्यतीत होनेपर और सूर्यके उदयमें कमल इत्यादिको सुख बताया गया है, यह क्रमसे है। सबसे विशेष सुख कमलको हुआ क्योंकि वह बिलकुल सूर्यके आश्रित है। इसी तरह श्रीसीताजीको सुख होगा, क्योंकि वे श्रीरामजीके आश्रित हैं। चकवा-चकईकी समतामें राजा (जनक) और रानी हैं, क्योंकि धनुषरूपी रात्रिके रहते दोनों चिन्तित हैं, उसके टूटनेपर ही सुखी होंगे। सीताजीकी सखियाँ मधुकर हैं, क्योंकि कमलसे और मधुकरसे सम्बन्ध है, सीताजी और सखियोंमें सम्बन्ध है, सीताजीके सुख-दुःखसे सखियोंको सुख-दुःख, जैसे कमलके सुख-दुःखसे भ्रमरको सुख-दुःख। नाना प्रकारके पक्षियोंकी समतामें जनकपुरके नरनारी हैं। यहाँ जनकपुरमें जो चार प्रकारके भक्त हैं, उनको जो हर्ष धनुष टूटनेपर होगा उसीकी समता कमल इत्यादिसे दी गयी है। क्योंकि 'कमल इत्यादि रात्रिमें सम्पुटित एवं चिन्तित रहते हैं, उसी तरह धनुषके रहते जनकपुरके लोग चिन्तित रहते हैं और ज्ञानी इत्यादि भक्त धनुषके रहते चिन्तित नहीं हैं। पुनः कमल इत्यादिकी समता या तो जनकपुरके भक्तोंमें लगाइये या ज्ञानी इत्यादि भक्तोंमें लगाइये पर दोनोंमें एकहीकी समता लगेगी, नहीं तो अलंकारविरोध हो जाता है। अतः जनकपुरके भक्तोंमें लगेगी। यहाँ ज्ञानी इत्यादिका प्रयोजन नहीं'।

उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा॥ ४॥
रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्ह देखाया॥ ५॥

अर्थ—सूर्य उदय हुआ, बिना परिश्रम अन्धकार नष्ट हो गया। तारागण छिप गये, संसारमें तेजका प्रकाश हुआ॥ ४॥ हे रघुराया! सूर्यने अपने उदयके बहानेसे आपका प्रताप सब राजाओंको दिखाया है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा' इति। भाव कि जो भारी अन्धकार अनन्त तारागणके तेजसे न टला, वह एक सूर्यके उदयसे बिना श्रम नष्ट हो गया। इसी तरह राजाओंके बड़े परिश्रम करनेपर भी धनुष तिलभर भी न हटा। यथा—'तमकि तमकि तकि सिवधनु धरहीं। उठै न कोटि भाँति बल करहीं॥' वही रामरूपी सूर्यसे बिना प्रयास नष्ट हो गया। यथा—'छुअतहि टूट पिनाक पुराना। २८३। ८।' (ख) 'दुरे नखत जग तेज प्रकासा' इति। राजा तारे हैं; यथा—'नृप सब नखत करहिं उजिआरी', 'देखिअत भूप भोर के से उडगन गरत गरीब गलानि हैं। गी० १। ७८। ५।' सो छिप गये। यथा—'रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे॥ जगत्‌में श्रीरामजीके तेजका प्रकाश हुआ। यथा—'महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥'

२ (क) 'रबि निज उदय''''' इति। अर्थात् राजाओंको दिखाया कि जैसे हम उदित हुए हैं ऐसे ही प्रभुका प्रताप उदित होगा, जैसे हमारे उदयसे बिना श्रम तमका नाश हुआ, नक्षत्र छिप गये, जगत्‌में तेजका प्रकाश हुआ, कमल, कोक, मधुकर, खग प्रसन्न हुए, वैसे ही श्रीरामजीसे बिना परिश्रम धनुष टूटेगा, राजा छिप जायँगे, जगत्‌में रामजीके तेजका प्रकाश होगा, चारों प्रकारके भक्त सुखी होंगे। (ख) राजाओंको दिखानेका भाव कि सब राजा धनुष तोड़ने आये हैं, इसीसे उनको दिखाते हैं कि तुमसे धनुष कितना ही परिश्रम करनेपर भी न टूटेगा, वह श्रीरामजीसे ही टूटेगा। (ग) अपने उदयसे प्रताप दिखाना कहा। इसमें तात्पर्य यह है कि प्रतापकी उपमा सूर्यकी दी जाती है; यथा—'जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भयेउ अति प्रबल दिनेसा॥ ७। ३१।', 'जिन्हकें जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥ २९२। २।', 'कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभुप्रताप रबि छबिहि न हरिही॥ २। २०९।' (घ) [अर्धाली ४ में कारण और कार्य दोनोंका एक साथ वर्णन 'प्रथम हेतु अलङ्कार' है। सूर्योदयसे बिना परिश्रम इतने कार्योंका होना 'कारक दीपक अलंकार' है। 'ब्याज' शब्दसे औरोंका कहना 'कैतवापह्नुति' और 'द्वितीयपर्यायोक्ति' अलङ्कारोंका यहाँ सन्देहसंकर है।—(वीरकवि)]।

श्रीराजारामशरणजी—१ लक्ष्मणजीकी युक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। उन्होंने भक्ति और वीररसोंके भावोंका प्रवाह बहा दिया। प्रत्युत्तरकलाका लुत्फ देखिये—फुलवारीमें सीताजीका वर्णन रामजीके मुखसे हुआ फिर कल शामको संध्यासमय; मगर ये चुप रहे। अब सेवाभावके कारण प्रभुको विनम्र उत्तररूप चेतावनी देनेसे रुक न सके। और मजा यह कि 'ब्याज' वाली युक्तिका भी उत्तर देकर मानो पाँसा ही पलट दिया। शृङ्गारकी निमग्नतामें चन्द्रमाको रामजीने सीतामुखका ब्याज कहा था, यहाँ वीर और शान्तरसमें सूर्यको प्रभुप्रतापका ब्याज बताया गया। २—उपमानोंके त्यागका चढ़ाव देखिये। बेचारा अरुण तो ठहरने ही नहीं पाया और अप्रासङ्गिक कह दिया गया, कारण कि वह शृङ्गाररसमें सीतामुखकी समताके लिये प्रयुक्त हो ही नहीं सकता। ३—चरित्रसंघर्षमें यह वार्ता कितनी उपयोगी है। प्रभाव आगे लिखा है।

नोट—☞ उत्तरकाण्डके राम-प्रताप-रविके उदयसे मिलान कीजिये—

उत्तरकाण्ड		यहाँ
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका	१	दुरे नखत जग तेज प्रकासा
प्रथम अविद्या निसा नसानी	२	उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा
काम क्रोध कैरव सकुचाने	३	अरुनोदय सकुचे कुमुद
भरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥ सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥	४	कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥
जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा नोट—यहाँ भी आगे रामजीको रवि कहेंगे—रघुबर बाल पतंग	५	रबि निज उदय ब्याज रघुराया प्रभु प्रताप सब नृपन्ह देखाया

तब भुज बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥ ६॥
बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने॥ ७॥

अर्थ—यह धनुष तोड़नेकी परम्परा आपके भुजबलकी महिमा (रूपी सूर्य) के उदयकी घाटी प्रकट हुई है। (अर्थात् जब उदयाचलपर सूर्य आते हैं तब सूर्यका उदय कहा जाता है; इसी तरह जब धनुष तोड़नेकी परम्पराके अनुसार आपके बाहुबलसे धनुर्भंग होगा तब आपके बाहुबलकी महिमा सर्वोपर प्रकट हो जायगी, किसीको बतानेकी आवश्यकता नहीं) ॥ ६॥ भाईके वचन सुनकर प्रभु हँसे। स्वाभाविक ही जो पवित्र हैं वे रघुनाथजी शौच आदिसे निवृत्त हो नहाये॥ ७॥

पं० रामकुमारजी—१ अब प्रताप रविका उदय कहते हैं। भुजबलकी महिमा उदयाचलकी घाटी है। उदयाचलकी

घाटी सूर्यको प्रकट करती है और आपके भुजबलकी महिमा आपके प्रताप रविको प्रकट करेगी। धनु-विघटन-परिपाटी= धनुषको तोड़कर परिपाटीसे। अर्थात् जब आप धनुषको अपनी भुजाओंके बलसे तोड़ेंगे तब, आपका प्रताप उदय होगा। २ परिपाटी (परम्परा) कहनेका भाव कि भुजबलकी महिमासे उत्तरोत्तर प्रताप बल होगा। अभी धनुष तोड़ियेगा तब आपका उदय होगा। जब विराध, खर-दूषण, कबन्ध, वालि, कुम्भकर्ण और रावणादि प्रबल राक्षसोंको मारेंगे तब प्रताप प्रबल होगा। जैसे-जैसे सूर्य उदयाचलकी घाटीमें आगे चलता है तैसे-तैसे उसका तेज बढ़ता जाता है। ऐसे ही भुजाकी महिमासे प्रताप बढ़ेगा। ३ जो कहें कि 'लक्ष्मणजीने आगेकी बातें कैसे जानी कि रावणादिको मारेंगे ? तो उसका उत्तर यह है कि जब रामायणद्वारा रामजीकी भविष्य लीला श्रीसुनयनाजी आदि भी जानती हैं, यथा—'राम जाइ वन करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥····यह सब जागबलिक कहि राखा', तब लक्ष्मणजी क्यों न जानेंगे ?—यह माधुर्यकी बात है, ऐश्वर्यमें तो सब जानते ही हैं!

रा० प्र०—'भुजबलकी महिमा उदयाचलकी घाटी है। वहाँसे धनुषके नाश होनेकी परिपाटी प्रकट हुई है। अर्थात् जैसे उदयाचलकी घाटीसे सूर्यके उदयकी परिपाटी है वैसे ही तुम्हारे भुजबलकी महिमासे धनुष तोड़नेकी प्रति अवतार परिपाटी है।'

बाबा हरीदासजी—लक्ष्मणजी श्रीरामजीका प्रताप-रविरूप वर्णन करते हैं। भुजबल-महिमा उदयाचलकी घाटी है जो रविरूप प्रतापको प्रकट करेगी। रवि प्रातःकाल उदय होते हैं और आज प्रातःकालसे धनुषयज्ञ है, आज ही धनुष टूटेगा। रवि प्रतिदिन उदय होते हैं वैसे ही यह परिपाटी युगों-युगोंसे प्रचलित है, सदा रामावतारमें धनुष तोड़ा जाता है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—'प्रथम शब्दोंका अवरेब कर लेना तब अर्थ करना। श्रीलखनलाल सूचित करते हैं कि—हे प्रभु! सूर्य उदय होकर अपने बहानेसे आपका प्रताप सब राजाओंको दिखा रहे हैं। तो सूर्य उदयाचलसे प्रकट हुए हैं और उनकी ज्योति संसारमें परिपाटी अर्थात् फैल गयी है। उसी तरह आपकी भुजाके बलसे धनुष टूटेगा और महिमा अर्थात् प्रताप प्रकट होकर परिपाटी अर्थात् संसारमें फैल जायगा। यदि 'परिपाटी' का अर्थ परम्परा किया जाय तो अर्थ-विरोध होगा क्योंकि यहाँ तो रामजी सूर्यकी समतामें हैं। जो बात सूर्यमें है वही बात रामजीमें अर्थ किया जायगा। पुनः यहाँ लखनलाल वर्तमान क्रियाको सूचित कर रहे हैं, भूत भविष्यका कथन नहीं है। अतः परम्परा अर्थ असंगत है।

पाँड़ेजी—'तब भुजबलकी महिमाके उदयकी यह धनु विघटनपरिपाटी घाटी प्रकटी है।'

संत श्रीगुरुसहायलालजी—'उदघाटी=ऊपर चेष्टा करनेवाली=सर्वोपरि।=उघारनेवाली, खोलनेवाली, फेरनेवाली।= उघारनेका शील है जिसका।=जो उघारा जाय।' [इस तरह यह अर्थ होंगे—१ आपकी भुजाओंका बल सर्वोपरि है, जिससे धनुषके तोड़नेकी परिपाटी प्रकट हुई है। २—धनुष तोड़नेकी परिपाटी आपके छिपे हुए बाहुबलकी महिमाको उघारने खोलनेवाली प्रकट हुई है। भाव कि यह बात प्रसिद्ध है कि धनुर्भंगसे ही सदा आपके बलका प्रताप त्रैलोक्य पर प्रकट होता है। ३—धनुर्भङ्गकी जो परम्परा निकली है उसका स्वभाव ही यह है कि आपके भुजबलकी महिमाको खोल दे (आप चाहे जितना माधुर्यमें ऐश्वर्यको छिपावें।)]

शब्दसागरमें १ 'उद्घाटना'— (क्रि० स०। सं० उद्घाटन)=प्रकट करना, प्रकाशित करना, खोलना। यथा— 'तहाँ सुधन्वा सब शर काटी। उदघाटी अपनी परिपाटी॥ (सबल)। २—परिपाटी-संज्ञा स्त्रीलिङ्ग (सं०)=क्रम, श्रेणी, सिलसिला।=प्रणाली, रीति शैली।=पद्धति, रीति, चाल। अंकगणित।'—ये अर्थ लिखे हैं।

वीरकविजी और श्रीपोद्दारजीने (मानसांकमें) 'उदघाटी' का अर्थ 'उद्घाटित करने (खोलकर दिखाने, प्रकाशित करने) के लिये'—किया है। वीरकविजीके मतानुसार यहाँ 'कैतवापह्नुति', 'अनुमानप्रमाण' और 'पर्यायोक्ति' अलंकार हैं। प्र० स्वामीके मतानुसार यहाँ 'उदघाटी' भूतकालिक क्रिया है और परिपाटी संज्ञा है।

नोट—१ 'प्रभु मुसुकाने'। लक्ष्मणजीकी उक्तिपर प्रसन्न तो हुए पर उनकी उक्तिकी प्रशंसा न कर सके क्योंकि इस उक्तिमें प्रभुकी (अपनी) प्रशंसा है। 'बड़े लोगोंका, शिष्ट लोगोंका सत्पुरुषोंका यह स्वभाव है कि अपनी प्रशंसा सुनकर सकुच जाते हैं, यथा—'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥ ३। ४६। १॥' इसीसे मुसकरा दिये। यथा—'सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥ २। १२८। १॥ ☞ बड़ों-

के मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर सकुचकर मनमें मुस्कुराये, क्योंकि वाल्मीकिजी आदि बड़े हैं। लक्ष्मणजीके मुखसे प्रशंसा सुनकर केवल मुस्कुरा दिये। यहाँ 'सकुचि' न कहा क्योंकि लक्ष्मणजी छोटे हैं, लड़के हैं, संकोच बड़ेका होता है। (पं० रामकुमारजी)। २—'फुलवारीसे लेकर इस घड़ीतक लक्ष्मणजी चुप थे। अवसर पाकर विरहवंत प्रभुको व्याजसे सान्त्वना देते हैं कि आप तो धनुषभंग करेंगे ही। माता सीताजीका पाणिग्रहण अवश्य होगा। भगवान् शेष होकर भी परात्परकी इस अद्भुत लीलाके माधुर्यकी गम्भीरताको न समझ सके। प्रतापकी स्तुति करके सान्त्वनाकी चेष्टा करते हैं। इसपर मुस्कुराये कि माया इतनी प्रबल है कि शेषतक नहीं बचते।—(गौड़जी)। ३—पाँड़ेजीका मत है कि मुसुकाने इससे कि जो मनोरथ रघुनाथजीका था वही लक्ष्मणजीने कह दिया। ४—वीरकविजी लिखते हैं कि भाईकी बात सुनकर मुस्कुरानेसे प्रसन्नता व्यंजित करनेकी ध्वनि है। ५—त्रिपाठीजी कहते हैं कि मुस्कराये कि लक्ष्मणजी मेरे अभिप्रायको समझ गये और अब स्पष्ट कहे देते हैं कि धनुष आप ही तोड़ेंगे और आपका यश होगा। ६—'बंधु बिलोकि कहन अस लागे' उपक्रम है, 'बंधु बचन सुनि' उपसंहार है।

नोट—'होइ सुचि सहज पुनीत नहाने' इति। १ 'सहज पुनीत' का भाव कि यह न समझो कि वे शौचादि क्रिया करनेसे अपवित्र हो गये थे अब स्नान करनेसे पवित्र हुए, किंतु वे सहज ही पुनीत हैं, कभी अपवित्र नहीं थे, न हैं, न होंगे, तब भी उन्होंने शौचादिसे निवृत्त हो स्नान किया। तात्पर्य कि लोकसंग्रहार्थ ऐसा करके अपने सदाचरण द्वारा जगत्‌को उपदेश देते हैं कि ये कर्म अवश्य करने चाहिये। २—'स्नान पवित्रताके लिये किया जाता है सो रामचन्द्रजी सहज पुनीत हैं, यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है और पवित्र होनेपर भी शुद्धताके लिये स्नान किया, यह 'विधि अलंकार' है। दोनोंकी संसृष्टि है।'—(वीरकवि)।

नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए। चरनसरोज सुभग सिर नाए॥ ८॥
सतानंदु तब जनक बोलाए। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए॥ ९॥
जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई॥१०॥

अर्थ—नित्य (प्रत्येक दिन जो प्रातः क्रिया किया करते थे वह सब) कर्म करके गुरुजीके पास आये और उनके सुन्दर चरणकमलोंमें सुन्दर मस्तकोंको नवाया अर्थात् प्रणाम किया॥ ८॥ तब (उसी समय) श्रीजनक महाराजने श्रीशतानन्दजीको बुलाया और तुरत विश्वामित्र मुनिके पास भेजा॥ ९॥ उन्होंने आकर श्रीजनकजीकी बिनती सुनायी। मुनि प्रसन्न हुए और दोनों भाइयोंको बुला लिया॥ १०॥

टिप्पणी—१ ('नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए।....' इससे सूचित किया कि जैसे शौच और स्नान आदि नित्यकी क्रियाएँ हैं, वैसे ही गुरुको आकर प्रणाम करना भी एक नित्यका कर्म है; यथा—'प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥ २०५। ७।', 'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥ २२७। १॥' तथा यहाँ 'नित्य क्रिया...।' (ख) नित्य क्रिया करके गुरुको प्रणाम करनेका भाव कि इससे सब नित्यक्रिया सफल होती है। ☞ जगत्‌के लोग सत्कर्म करके ईश्वरका नाम लेते हैं तब उनके कर्म पूर्ण (सफल) होते हैं और ईश्वर सत्कर्म करके गुरुचरणोंमें सिर नावैं तब पूर्ण हों क्योंकि गुरुको ईश्वरसे बड़ा कहा है, यथा—'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी।' [☞ यहाँ भगवान् सदाचारका उपदेश दे रहे हैं कि देखो हम भी गुरुको प्रणाम करते हैं। हमारे मनोरथ, हमारे सब कर्म, उनके प्रणामसे सफल हुए। तुम भी जो नित्य कर्म करो उसके अन्तमें गुरुको अवश्य प्रणाम कर लो। इससे उसमें जो त्रुटि भी रह गयी होगी उसकी पूर्ति हो जाती है। (ग)—'आये' से जनाया कि श्रीरामजी नित्यकर्म अलग करते हैं, जिसमें मुनिके ध्यान पूजनादिमें कोई निक्षेप न पड़े। (प्र० सं०)। अरुणोदयपर उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नान कर नित्य क्रिया की। प्रातःसंध्या भी यहाँ जना दी। प्रातःसंध्याके लिये आज्ञा नहीं देनी पड़ती क्योंकि यह सब नित्यकर्म करके तब गुरुके पास जाकर उनको प्रणाम किया जाता है। यथा—'प्रात क्रिया करि गे गुरु पाहीं। ३३०। ४।' प्रातःसंध्याका समय भी इससे सूचित कर दिया। अरुणोदयपर उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर सूर्योदयके पूर्व ही प्रातःसंध्यासे निवृत्त हो गये, क्योंकि यही उत्तम प्रातःसंध्याका समय है। २३७। ६ 'संध्या करन चले दोउ भाई' में देखिये]। (घ) 'चरन सरोज सुभग सिर नाए' इति। सरोज विशेषण देकर चरणकी सुन्दरता कही और सुभग विशेषण देकर सिरकी सुन्दरता

कही। तात्पर्य कि दोनों भाइयोंके सिर नवानेसे गुरुचरणोंकी शोभा है कि धन्य हैं वे मुनि और उनके चरण कि जिनको पर ब्रह्म परमात्मा शीश नवाते हैं और मुनिके चरणोंमें सिर नवानेसे दोनों भाइयोंके सिरोंकी शोभा है, यथा—'ते सिर कटु तूँबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पदमूला ॥ ११३। ४।' यह गुरु और ब्राह्मणके चरणोंका माहात्म्य है। इस तरह दोनोंकी अन्योन्य शोभा कही। [नोट—बैजनाथजी 'सुभग' से ऐश्वर्य देनेवाले, ऐश्वर्यसे परिपूर्ण' यह अर्थ कहते हैं। ☞ श्रीरामजी अपने आचरणद्वारा उपदेश देते हैं कि वही शीश शोभायमान है जो गुरु और ब्राह्मणके आगे झुके, नहीं तो कड़वी तोंबीके समान अशोभित है]।

२ (क) 'सतानन्द तब जनक बोलाए' कहनेका भाव कि और राजाओंके पास बंदीजन, कामदार इत्यादिको भेजा और महामुनि विश्वामित्रजीके सम्मानार्थ अपने पुरोहित श्रीशतानन्दजीको भेजा। जैसे उनका आगमन सुनकर प्रथम ही दिन उनसे मिलनेमें उनका सम्मान किया था,—'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुरु ग्याति। चले मिलन मुनि-नायकहि मुदित राउ एहि भाँति ॥', वैसे ही अब भी उनका सम्मान किया। महात्माके पास महात्माका भेजना योग्य ही है। (ख)—अपने पास बुलाकर भेजनेका भाव कि जैसा हम कहें उसी प्रकार वे जाकर हमारे शब्दोंमें हमारी विनय सुनावें, कोई भाव बिगड़ने न पावे। क्योंकि कोई भाव बिगड़ गया तो वे क्रोध न कर बैठें जो हमारा सब बिगड़ ही जाय। इसीसे पास बुलाकर, सिखाकर तब भेजा कि बुलाना न कहें, बड़ोंको बुलवाना अनुचित है, उनसे यह कहना अनुचित है कि आपको बुलाया है, उनसे विनती करना चाहिये कि दोनों भाइयोंसहित पधारकर यज्ञकी शोभा बढ़ाइये। (ग) 'कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए' से कौशिकजीकी प्रधानता रक्खी। 'तुरत' भेजनेमें जनकजीका यह भाव है कि मुनि राजकुमारोंको लेकर सबसे प्रथम आ जावें। [भाव यह कि भीड़ न होने पावे, प्रथम ही उत्तम स्थानपर बिठा दिये जायँ। यह तो राजा-ने अपने धर्मका पालन किया और मुनिने अपना धर्म पालन किया कि सबसे पीछे गये। बड़े लोग अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करते, इसीसे वे समयपर पहुँचा करते हैं। विशेष भाव आगे लिखे जायँगे। 'तुरत' भेजना भी अतिसम्मान है। इससे जनाया कि सर्वप्रथम निमन्त्रण इन्हींको भेजा]। (घ) 'तब जनक बोलाए' अर्थात् जब इधर दोनों भाई गुरुचरणों में प्रणाम कर चुके तब उधर राजाने श्रीशतानन्दजीको बुलाया। शतानन्दजी कितनी देर में आये वह समय यहाँ दिखाते हैं। श्रीरामजी प्रणाम करके अपने आसनपर गये। शतानन्दजी ठीक उसी समय बुलाये गये, उनको राजाने विश्वामित्रजी-के पास जो संदेसा लेकर जानेको कहा उसके समझाने-कहनेमें और वहाँसे मुनिके पास आनेतक जो समय लगा उतनी ही बीच पड़ा। (वि० त्रि० लिखते हैं कि राजा लोग रंगभूमिमें पहलेसे ही आकर डटे हुए हैं। जनकजी धनुष-यज्ञकी प्रक्रिया रोके हुए हैं, इस प्रतीक्षामें थे कि जब ये लोग नित्य क्रियासे खाली हो जायँ तब उनको बुलाया जाय और उनके आ जानेपर धनुषयज्ञ आरम्भ हो। अतः खाली होनेका समाचार पानेपर शतानन्दजीको भेजा)।

३ (क) 'जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई' इति। बड़ेको बुलाना धृष्टता है एवं अपराध है, यथा—'अपराध छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो दई।' इसीसे विनय सुनाना कहते हैं। (ख)—'हरषे बोलि लिये दोउ भाई' इति। विनय सुनकर उनका भाव समझकर हर्षित हुए। दोनों भाइयोंको बुलाया, इससे पाया गया कि दोनों भाइयोंसहित पधारनेकी प्रार्थना है। (ग)—'बोलि लिये' से पाया गया कि दोनों भाई गुरुको प्रणाम करके अपने आसनपर चले गये थे। आसन वहाँसे पृथक् था, क्योंकि यदि वहीं होता तो शतानन्दजीके आते ही दोनोंने प्रणाम किया होता। इससे निश्चय है कि अन्यत्र आसन था। पूजा आदिके समय पास बैठनेसे विक्षेप होता, इसीसे वहाँ न रहे, प्रणाम करके चले आये। पुनः 'बोलि लिये' से यह भी सूचित होता है कि इतनी दूरीपर थे कि मुनिने वहींसे स्वयं बुला लिया, वहाँतक शब्द पहुँच सकता था।

दो०—सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिं जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा* जनक बोलाइ ॥ २३९ ॥

अर्थ—श्रीशतानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके प्रभु गुरुजीके पास जा बैठे। तब मुनिने कहा—हे तात! चलो, राजा जनकने बुला भेजा है ॥ २३९ ॥

टिप्पणी—१ (क) जब श्रीजनकजी विश्वामित्रजीसे मिलने गये थे तब शतानन्दादि ब्राह्मण भी साथमें थे। पर

* पठए—रा० प०, वि० त्रि०। पठएउ—गौड़जी।

श्रीरामजीने उनको प्रणाम न किया था, यथा—'उठे सकल जब रघुपति आए। विश्वामित्र निकट बैठाए॥' और यहाँ उनको प्रणाम किया। कारण कि तब उनको जानते न थे, बिना जाने वन्दना कैसे करते? बिना जाने वन्दनाकी विधि नहीं है, यथा—'जपन्तं जलमध्यस्थं दूरस्थं धनगर्वितम्। अश्वारूढमजानन्तं षड्विप्रा न वन्द्यते॥' अर्थात् जप करते हुए, जलके बीचमें स्थित, दूरस्थित, धनाभिमानी, अश्वारूढ़ और जिनको जानते नहीं, ऐसोंकी वन्दना नहीं करनी चाहिये। दूसरे, वहाँ बहुत ब्राह्मण थे, किसको प्रणाम करें किसको छोड़ें, यहाँ शतानन्दजी अकेले हैं, इसीसे उनको प्रणाम किया। (तीसरे, वहाँ तो सब स्वयं आपका तेज देखकर उठ खड़े हुए थे तब उनको प्रणाम कैसे करते?)। (ख) ऊपर कहा कि 'जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई॥' क्या विनय थी यह वहाँ न कहा था यहाँ उसे खोला कि जनकने दोनों भाइयोंसहित बुलाया है। (ग) 'बैठे गुर पहिं जाइ' से पाया गया कि गुरुजी बैठे हुए हैं, नित्यक्रियासे निवृत्त हो चुके हैं तब शतानन्दजी आये। गुरुपदवदन हो चुका है, इसीसे जाकर बैठ गये। (घ) 'मुनि कहेउ तब' अर्थात् जब श्रीरामजी बैठ गये तब कहा, क्योंकि यदि बिना बैठे ही चलनेको कहते तो रामजी बैठते नहीं, इसीसे बैठ जानेपर कहा (इससे मुनिका अतिशय प्रेम और वात्सल्य प्रदर्शित होता है)।

सीय स्वयंबरु देखिअ जाई। ईसु काहि धौं देइ बड़ाई॥ १॥
लषन कहा जस भाजनु सोई। नाथ कृपा तव जापर होई॥ २॥
हरषे मुनि सब सुनि बर बानी। दीन्हि असीस सबहिं सुख मानी॥ ३॥

अर्थ—चलकर श्रीसीताजीका स्वयंवर देखा जाय। देखें, 'ईश' किसको बड़ाई देते हैं॥ १॥ लक्ष्मणजीने कहा कि 'हे नाथ! जिसपर आपकी कृपा होगी वही यशका पात्र होगा॥ २॥ लक्ष्मणजीकी सुन्दर श्रेष्ठ वाणी सुनकर सब मुनि प्रसन्न हुए और सभीने सुख मानकर आशीर्वाद दिया॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'सीय स्वयंबरु' और 'काहि''''बड़ाई' से जनाते हैं कि इस स्वयंवरमें श्रीसीताजीकी प्राप्ति है और बड़ाईकी भी। अर्थात् विश्वविजय है और यश भी है। यथा—'बिस्वबिजय जसु जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥ ३५७। ५।', 'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय। पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनुदमनीय॥ २५१।' (ख) ☞'सीय स्वयंबर' पद देकर यहाँसे श्रीसीताजीके स्वयंवरकी कथा जनायी, क्योंकि यह (सीयस्वयंवर) कथा मानससरिताकी छवि है, यथा—'सीय स्वयंबर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥ ४१। १।' (ग) 'ईस काहि धौं देइ बड़ाई' इति। विश्वामित्रजी जानते हैं कि रामजी धनुष तोड़ेंगे, तब भी 'काहि धौं देइ' संदिग्ध वचन उन्होंने कहे। इसके कई कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि वे सुनना चाहते हैं कि हमारी बातका देखें क्या उत्तर देते हैं। दूसरे यह कि वे दोनों भाइयोंको चलते (प्रस्थान) समय मुनियोंसे आशीर्वाद दिलाना चाहते हैं जिसमें इनका मंगल हो और मुनियोंकी वाणी सफल हो; अतः संदिग्ध वचन कहे जिसमें लक्ष्मणजी हमारी बड़ाई करें और सब मुनि प्रसन्न हो जायँ। तीसरे यह कि ईश्वरकी इच्छा कोई जानता नहीं। 'ईश' का बड़ाई देना कहा, क्योंकि ईश (महादेवजी) का ही यह धनुष है। जिसका धनुष है वे जिसको चाहें बड़ाई दें। ['ईश' के दोनों अर्थ हैं—ईश्वर और शंकरजी। यथा 'वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्', 'मयउ ईस मन छोभु बिसेषी॥ ८७। ४।' पं० रामकुमारजीने दोनों अर्थोंके भाव लिखे हैं। श्रीगुरुसहायलालने भी दोनों अर्थोंके भाव लिखे हैं—(क) जाकर देखना चाहिये कि किसे ईश बड़ाई देते हैं अथवा, (ख) विश्वामित्रजी त्रिकालज्ञ थे और प्रभुको पहिचान ही चुके थे, अतएव शतानन्दजीको देखकर गूढ़ अभिप्राययुक्त यह बोले कि सीता तो आप ही वर चुकी हैं, तथापि धनुर्भंग, परशुराम-गर्वविमोचनादि बड़ाई बाकी रही सो देखना चाहिये कि ईश किसे देता है। उन्होंने प्रथम अर्थ यह लिखा है कि 'सीताके परतन्त्र-स्वयंवरको देखना चाहिये, क्योंकि कदापि ईश्वर बड़ाई ही देवे।' यहाँ 'काहि धौं' का अर्थ 'कदापि' किया है। अथवा, (घ) 'परम' मनोहर देखकर सीताजी आप वर लेती हैं अथवा 'ईशका' (शंभुवाला जो धनुष है वह) स्वतः बड़ाई देता है, यह जानकर देखना चाहिये।—यह भाव 'ईश काहि' को तोड़कर कहा है। प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने 'ईश' का अर्थ 'ईश्वर' किया है। श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "विष्णु भगवान्‌के द्वारा जड़ हो जानेपर शिवजी स्वयं इसे नहीं लचा सके थे तो वे दूसरेसे कैसे तोड़वा सकते हैं?" संदिग्ध वचनके सम्बन्धमें गौड़जी कहते हैं कि विश्वामित्रजीकी वाणी श्लेषसे व्यंजित कर देती है कि आपको सीताजीने स्वयं वरण कर लिया है। अब

बड़ाईकी बातमें मर्यादा रखनेके लिये 'धौं' कहकर संदेह प्रकट करते हैं।' पंजाबीजी लिखते हैं कि 'गोप्य रखने हेतु वा प्रभुको सर्वज्ञ जानकर संदिग्ध बात कही।'']

पं० रामकुमारजी—१ 'लखन कहा जस भाजनु सोई।....' इति। लक्ष्मणजी बड़ी बुद्धिमानीसे बात कहते हैं। यद्यपि वे जानते हैं कि श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे जैसा कि सूर्योदयके रूपकसे वे कह चुके हैं तथापि उन्होंने यह न कहा कि आपकी कृपासे रामजी धनुष तोड़ेंगे। कारण कि मुनिने धनुषके तोड़नेके सम्बन्धमें सन्देह रक्खा,—'ईस काहि धौं देइ बड़ाई' कहा, इसपर यदि वे निश्चयात्मक वचन कहते हैं कि रामजी तोड़ेंगे तो इनमें गुरुजीसे अधिक जानकारी पायी जाती, दूसरे लक्ष्मणजी यह भी जानते हैं कि विश्वामित्र निस्सन्देह जानते हैं कि रामजी ही धनुष तोड़ेंगे, यह जानते हुए भी जब वे यह कहते हैं कि ईश न जाने किसको बड़ाई दें तब हमारा यह कथन उचित न होगा कि रामजी तोड़ेंगे। अतः वैसा न कहकर कहा कि 'नाथ कृपा....'। तात्पर्य कि जब आपकी कृपा होगी तब ईश बड़ाई देंगे, यथा—'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥' अर्थात् ईश्वरकी कृपाका हेतु ब्राह्मणकी कृपा है। ☞ देखिये विश्वामित्रने 'ईश' का बड़ाई देना कहा, पर लक्ष्मणजी ईशको पृथक् नहीं कहते। जिसपर आपकी कृपा होगी उसीको ईश बड़ाई देंगे, ऐसा कहनेसे ईश और गुरु पृथक् हो जाते हैं और गुरु साक्षात् ईश्वर हैं। बाहुकमें भी कहा है कि 'हित उपदेसको महेस मानौं गुरु कै'। अतः इतना ही कहा कि 'नाथ कृपा तव जापर होई'। ('सोई' से जनाया कि और कोई यश नहीं पा सकता। यशभाजन तो पहले ही आप 'सुफल मनोरथ होंहु तुम्हारे' आशीर्वाद देकर निश्चित ही कर चुके)।

२ 'हरषे मुनि सब सुनि बरबानी॥' इति। (क) ब्राह्मणकी प्रशंसा की इसीसे सब ब्राह्मण प्रसन्न हुए। स्तुति सुनकर सब देवता प्रसन्न होते हैं तब वर देते हैं, वैसे ही मुनियोंने प्रसन्न होकर वर दिया कि तुम दोनो भाई यशके भाजन हो। (ख). विश्वामित्र महामुनि हैं और सब मुनि हैं, सबमें विश्वामित्र श्रेष्ठ हैं, प्रधान हैं। वा, विश्वामित्र सब मुनियोंके गुरु हैं इसीसे, गुरुकी प्रशंसा सुनकर सब मुनि सुखी हुए। ☞ यहाँ यह भी दिखाते हैं कि ईशकी कृपाका कारण गुरु (विश्वामित्र) की कृपा है और विश्वामित्रकी कृपाका कारण सब ब्राह्मणोंकी कृपा है। (रा० प्र० कारका मत है कि गुरुमें विश्वास देखकर सब प्रसन्न और सुखी हुए)। वाणीको 'वर' विशेषण दिया, क्योंकि वह गुरुभक्ति और रामभक्तिसे ओतप्रोत है।

नोट—☞ सब मुनियोंने आशीर्वाद दिया पर विश्वामित्रजीने न तो आशीर्वाद दिया और न कुछ कहा ही। यह क्यों? इसलिये कि अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देने लगते तो यह बात उचित न होती, उनका बोलना अशोभित होता। इसीसे न तो उनका हर्ष कहा और न आशीर्वाद ही। संतस्वभाव है कि 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।' (पं० रामकुमारजी)।

☞ 'बर बानी' इति। वाणीमें क्या श्रेष्ठता है?—(क) पं० रामकुमारजीका मत है कि एक तो इसमें ब्राह्मणकी प्रशंसा है इससे वाणीको 'बर' कहा, दूसरे इस वाणीसे सब मुनि प्रसन्न हुए और मारे हर्षके सबने आशीर्वाद दिया, यह वाणीकी श्रेष्ठता है। अर्थात् जिससे महात्माओंको सुख हो वह वाणी श्रेष्ठ ही है। (ख) बैजनाथजीके मतानुसार ''देशकाल समय-सुहावनी, थोड़े अक्षर और अर्थ बड़े विलक्षण, चातुरी हास्यरसयुक्त, श्रवणरोचक, गूढ़ आशय, स्नेह-बर्द्धक'' होनेसे इसे 'बर बानी' कहा। लक्ष्मणजीके कथनका तात्पर्य यह है कि 'हमारे ईश तो आप ही हैं, आपहीका चाहा होगा। पुनः वाणीकी श्रेष्ठता यह है कि मुनिने जिस बातका निश्चय नहीं किया, उसी बातको युक्तिसे आपने निश्चित ही तो करा लिया। (ग) गौड़जी लिखते हैं कि विश्वामित्रजीकी वाणी तो श्लेषसे व्यंजित कर देती है कि आपको सीताजीने स्वयं वरण कर लिया है।—'सीय स्वयंवर....'। अब बड़ाईकी बातमें मर्यादा रखनेके लिये 'धौं' कहकर सन्देह प्रकट करते हैं। इसपर एक प्रकारसे सन्देहनिवारणार्थ लक्ष्मणजी अपनी वर वाणीसे यह व्यंजित करते हैं कि नाथ जिसपर आपकी कृपा होगी वही यशस्वी होगा। श्रीरामजीपर आपकी कृपा है, इसलिये धनुर्भंगका यश उन्हींको मिलेगा। इस व्यंजितार्थपर ही सब मुनियोंको हर्ष होता है। और, सभी सुखी हो आशीष देते हैं कि ऐसा ही हो (श्रीरघुनाथजीको ही यश मिले)।

नोट—'ईस काहि धौं देइ बड़ाई' और 'जस भाजन....' दो असम वाक्यार्थकी एकतामें 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है—(वीरकवि)।

पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥ ४॥

रंगभूमि आए दोउ भाई । असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥ ५ ॥
चले सकल गृह काज बिसारी । बाल* जुवान जरठ नर नारी ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर मुनियोंकी मण्डलीसहित कृपालु श्रीरघुनाथजी धनुषयज्ञशाला देखने चले ॥ ५ ॥ 'दोनों भाई रंगभूमिमें आये हैं' यह खबर सब पुरवासियोंने पायी ॥ ५ ॥ बालक, जवान, बूढ़े, स्त्री और पुरुष सभी घर और घरके काम-काज भुलाकर चल पड़े ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'पुनि' अर्थात् आशीर्वाद पानेके अनन्तर । दूसरा भाव 'पुनि' का यह है कि एक बार नगरदर्शनसमय मखशाला देख चुके हैं अब पुनः देखने चले । प्रथम बार 'बालक वृन्द समेत' देखा और अब 'मुनिवृन्द समेत' देखने चले । (ख) 'मुनिबृंद समेत कृपाला' इति । यहाँ शृङ्गार और वीररसका प्रसंग है, इससे मुनिको प्रधान न रक्खा । (बैजनाथजी) । पुनः श्रीरामजीको प्रधान और मुनियोंको गौण रखनेका कारण यह भी है कि राजाओंका स्वयंवर है, यहाँ धनुष तोड़ना है जो राजाओंका ही काम है । (ग)—'कृपाला' का भाव कि सबको सुख देनेके लिये सबपर कृपा करके धनुषमखशाला देखने चले, सबको संग लेकर चले, जैसे बालकोंपर कृपा करके धनुषमखशाला देखते रहे थे, यथा—'भगति हेतु सोइ दीन दयाला । चितवत चकित धनुषमखशाला ॥' पुनः, धनुष तोड़कर सबको सुख देंगे इससे 'कृपाला' कहा । (घ)—'देखन चले धनुष मखशाला' इति । धनुष देखनेको नहीं कहते, क्योंकि धनुषमें कोई विचित्रता नहीं है, जो देखने जायँ । वह भारीभर कहा जाता है, सो ये भारीपनको कुछ समझते ही नहीं हैं, इनके लिये तो यह पुराना सड़ा हुआ ही है, यथा—'लखन कहा हँसि हमरें जाना । सुनहु देव सब धनुष समाना ॥ का छति लाभ जून धनु तोरे ।' इत्यादि । धनुषमखशाला देखने चले क्योंकि वह बड़ी ही विचित्र बनी है, उसकी रचना देखने योग्य है । इसी तरह जब नगरदर्शनको गये, तब भी धनुष नहीं देखा, केवल मखशालाकी रुचिर रचना देखते रहे । अब मुनियोंको दिखानेके लिये साथ लेकर जा रहे हैं, उन्होंने अभी नहीं देखा है, इससे भी 'कृपाल' कहा, क्योंकि आप न जाते तो मुनि भी क्यों जाते ? (स्वयंवर देखने नहीं चले, स्वयंवर तो इनका होगा, देखेंगे और लोग । (वि० त्रि०)

२ (क) 'रंगभूमि आए' कहा । रंगभूमिमें गये कहना था सो न कहा, यह क्यों ? इसलिये कि दोनों भाइयोंसहित मुनि कोटमें टिके हैं और कोट नगरसे बाहर हैं । इसीसे पुरवासी 'आये' कहते हैं कि ये वचन पुरवासियोंके हैं । कोटसे पुरमें आये हैं । पुरमें ही रंगभूमि है; यथा—'पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई । जहाँ धनुष मखभूमि बनाई ॥' (ख)—'असि सुधि' कहनेका भाव कि रामजी अभी चले हैं, वहाँतक पहुँचे नहीं, पुरमें आ गये हैं, रंगभूमिके लिये आये हैं, किसीने हर्षके मारे कह दिया कि दोनों भाई रंगभूमिमें आ गये । (ग)—'सब पुरबासिन्ह पाई' से जनाया कि दोनों भाइयोंके आनेकी खबर सब लगाये रहे थे, इसीसे सबको ही एकदम और इतनी जल्दी खबर मिल गयी । खबर पाते ही मारे आनन्दके एक दूसरेको खबर देते गये, क्षणभरमें सबको खबर मिल गयी । (घ) 'सुधि पाई' कहनेका भाव कि खबर क्या है मानो नवनिधि पदार्थ है जो पा गये । (ङ) जब सब राजा रंगभूमिमें आये तब पुरवासी नहीं गये और दोनों भाइयोंका आना सुनते ही चल पड़े । इससे जनाया कि किसीको राजाओंके दर्शनकी लालसा नहीं है, उनसे अधिक सुन्दर तो स्वयं मिथिलापुरवासी हैं । उन्हें इन दोनोंके दर्शनकी लालसा है, इनकी शोभापर वे आशिक हैं, मुग्ध हैं; यथा—'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई । होहिं सुखी लोचन फल पाई ॥ २२० । ३ ।' सबके सब दोनोंके सौन्दर्यके वशीभूत हो गये हैं, यथा—'जिन्ह निज रूप मोहनी डारी । कीन्हे स्वबस नगर नर नारी ॥ २२९ । ५ ।', 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई । नरभूषन लोचन सुखदाई ॥ २४१ । ८ ।'; इसीसे 'दोउ भाई' कहा । [☞ यहाँ केवल शृङ्गार है, इसलिये यहाँ मुनिका भी नाम न दिया, केवल 'आए दोउ भाई' कहा—(बैजनाथजी)]

३ (क) 'चले सकल गृह····' इति । यहाँ 'चले' कहा, क्योंकि बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी घर छोड़-छोड़ देखने जा रहे हैं, वृद्ध, बच्चे और सब स्त्रियाँ दौड़ नहीं सकतीं, इसलिये दौड़ना न कहकर चलना कहा । जहाँ बालक और

* बालक जुवा-रा० प्र० । शं० चौ० लिखते हैं कि यह पंक्ति १७०४ वाली प्रतिमें नहीं है । बाल जुवान जरठ—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा० ।

वृद्ध साथ नहीं होते वहाँ 'धावा वा धावना' कहते हैं, यथा—'देखन नगर भूपसुत आए। समाचार पुरवासिन्ह पाए॥ धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥ २२०। १-२॥'—(यहाँ बालक-वृद्ध संग नहीं हैं), पुनः यथा—'जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल वृद्ध कहँ संग न लावहिं॥ ७। ३॥' और यहाँ 'बाल जुवान जरठ नर नारी।' सब साथ हैं। इसी तरह जहाँ-जहाँ बाल, वृद्ध साथ हैं वहाँ-वहाँ चलना कहा है, यथा—'सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥ २। ११४॥' बालक और बूढ़ोंको टिकाये चलना पड़ता है, उनके साथ दौड़ नहीं सकते। (दूसरे, इस समय यह भी डर नहीं है कि जल्दी लौट जायँगे, अब तो धनुषयज्ञकी पूर्तितक रहेंगे)। (ख) 'सकल' से जनाया कि कोई भी घरपर रह न गया। 'सब' का खबर पाना कहा है इसीसे सबका चलना कहा। 'असि सुधि सब पुरवासिन्ह पाई'; अतः 'चले सकल'। (ग) 'गृहकाज बिसारी' अर्थात् तनसे कामोंको त्यागा और मनसे बिसार भी दिया, यह नहीं है कि मन उनमें लगा हो, मन तो भाइयोंमें लगा है। नगरदर्शनके समय तो सब 'धाए धाम काम सब त्यागी', केवल गृहकार्यको त्यागकर दौड़ पड़े थे और अबकी तो गृहकार्यकी सुध भी भुला दी। (घ) 'बाल जुवान जरठ नर नारी', यहाँ बाल और जरठके बीचमें 'जुवान' को रखकर जनाया कि जो जवान हैं वे बालकों और बूढ़ोंको संगमें लिये हैं। (वा, तीनों अवस्थाओंके क्रमसे कहा। इससे सभी अवस्थाओंके लोगोंका जाना कहा।)

नोट—१ ☞ यहाँ दिखाते हैं कि जब भीतर-बाहर दोनोंसे त्याग हो तब रामजी मिलते हैं। 'बिसराना' मनका धर्म है और 'चलना' शरीरका है। इन्होंने गृहकाजको मन और तन दोनोंसे त्याग दिया। २—यहाँ रीति भी दिखाते हैं। या यों कहिये कि यहाँ पुरवासियोंके चलनेकी तसवीर दिखाते हैं कि किस प्रकारसे लोग चले जा रहे हैं। जवान पुरुष एक हाथसे लड़कोंको और दूसरेसे बूढ़ोंको सँभाले और इसी तरह स्त्रियाँ बच्चों और बुढ़ियोंको सँभाले चल रही हैं, क्योंकि भीड़ बहुत है। (प० रा० कु०)

देखी* जनक भीर भै भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी॥ ७॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू॥ ८॥

दो०—कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल† अनुहारि॥ २४०॥

अर्थ—(जब) श्रीजनकमहाराजने देखा कि भारी भीड़ हो गयी है। (तब) उन्होंने सब विश्वासपात्र और अपने धर्मपर आरूढ़ सेवकोंको बुलवा लिया॥ ७॥ (और आज्ञा दी कि तुम लोग) तुरत अभी सब लोगोंके पास जाओ और सबोंको उचित आसन दो। अर्थात् जो स्थान जिसके योग्य हो उसपर उसको बिठा दो॥ ८॥ उन्होंने कोमल, विनम्र वचन कहकर उत्तम, मध्यम, नीच और लघु सभी स्त्री-पुरुषोंको उनके-उनके योग्य स्थानोंपर बैठाया॥ २४०॥

टिप्पणी—१ (क) 'भीर भै भारी' इति। भारी भीड़से जनाया कि जब राजा लोग गये तब भीड़ साधारण थी, पर जब सब पुरवासी एकदम एक साथ आ गये तब भीड़ भारी हो गयी, क्योंकि पुरवासी कई लाख थे। मिथिलानगर बड़ा भारी नगर था। (ख) 'देखी जनक' से ज्ञात होता है कि राजा अपना काम स्वयं भी देखते हैं, केवल दूसरेके भरोसे नहीं रहते हैं। दूसरे इससे उनका निकट ही होना पाया जाता है। ऐसी जगहपर उपस्थित हैं कि जहाँसे सब तरफकी देख-भाल कर सकते हैं। (ग)—'सुचि सेवक' अर्थात् ऐसे नहीं हैं कि किसीसे द्रव्य लेकर अथवा संकोचसे या अपना मित्र समझकर उच्चासनपर बिठा दें, वरंच शुचि हैं अर्थात् अपने धर्ममें दृढ़ हैं; यथा—'अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहु निज धरम न डोले॥ २। १८६॥' (शुचि=किसी प्रकार भी आज्ञासे नहीं टलनेवाले, अपने धर्मपर यथार्थ आरूढ़।=मन कर्म वचनसे आज्ञामें तत्पर रहनेवाले, विश्वासपात्र, सच्चरित्र, सदाचारी और सुचतुर)। (घ)—'सेवक सब' इति। 'सब' कहनेका भाव कि जब राजाओंको बिठाया तब सब सेवक नहीं लगे थे और इस समय सभी पुरवासी आ गये, भारी भीड़ है जिसका सँभाल थोड़े सेवकोंसे नहीं हो सकेगा इससे सबको बुलाया।

* देखे—रा० प्र०। † सब—१७०४, रा० प्र०।

२ (क) 'तुरत जाहू' कहनेका भाव कि किञ्चित् भी विलम्ब हो जानेसे सब लोग अनुचित आसनोंपर बैठ जायँगे। जहाँ-तहाँ पहले ही बैठ गये तो वहाँसे उन्हें उठाना अनुचित होगा क्योंकि इससे उनका अपमान होगा। अतः तुरत जानेको कहा कि सब उचित स्थानोंपर बैठें। (ख)—'आसन उचित देहु....' से पाया गया कि रंगभूमिमें सबके लिये उचित आसन बने हुए हैं। सब सेवक जानते हैं कि कौन आसन किसके लिये है; इसीसे उनको यह नहीं समझाना पड़ा कि कौन आसन किसको देना होगा। (ग) इतना कहना काफी था कि तुरत सबको आसन दो, 'तुरत लोगन्ह पहिं जाहू' कहनेका प्रयोजन ही क्या था ? उत्तर यह है कि 'जाहू' कहकर जनाया कि सब लोगोंके पास जाकर उनको आदरपूर्वक लिवा ले जाकर आसनोंपर बिठाओ। यह भाव दरसानेके लिये 'लोगन्ह पहिं जाहू' कहा।

३ 'कहि मृदु बचन बिनीत....' इति। (क) राजाकी आज्ञा है कि 'तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू....'; कवि अपनी लेखनीसे 'तुरत' का स्वरूप दिखा रहे हैं कि हुक्म पाते ही 'तुरत बैठारे नर नारि।' राजाने आज्ञा दी थी कि 'आसन उचित देहु सब काहू' सो यहाँ 'उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि' में उचित आसन देना लिखते हैं। उत्तम स्थलमें ब्राह्मणोंको बैठाया, मध्यममें क्षत्रियोंको, नीचमें वैश्यको और लघुमें शूद्रको बैठाया। नर और नारियों दोनोंके साथ उत्तम मध्यम नीच लघुका सम्बन्ध है। (ख)-नगर-दर्शनके समय जब बालक रंगभूमि दिखा रहे थे तब यहाँ कहा था कि 'जहँ बैठे देखहिं सब नारी। जथा जोग निज कुल अनुहारी॥ २२४। ७।' अर्थात् वहाँ कुलके अनुसार स्त्रियोंके बैठनेके स्थान कहे थे और यहाँ बैठाते समय कहते हैं कि 'निज निज थल अनुहारि' बिठाया; इससे जनाया कि कुलके अनुकूल स्थल बने हैं। (ग) 'कहि मृदु बचन बिनीत....' से यहाँ सेवकोंकी शुचिता दिखाते हैं कि उनके वचन मृदु हैं, तनसे वे विनीत वा विनम्र हैं और मनमें शुचि हैं। अर्थात् ये मन, कर्म और वचन तीनोंसे सुशोभित हैं। ['विनीत' अर्थात् जो स्त्री-पुरुष जिस सम्बोधनके योग्य था उसको वैसा ही कहकर बैठाया। (पाँड़ेजी)। 'निज निज थल अनुहारि' बैठानेमें 'प्रथम सम अलंकार' है।]

राजकुँअर तेहि अवसर आए। मनहु मनोहरतां तन छाए॥ १॥
गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल गौर सरीरा॥ २॥
राजसमाज बिराजत रूरे। उड़गन महुँ जनु जुग बिधु पूरे॥ ३॥

शब्दार्थ—रूरे=अत्यन्त सुन्दर और प्रकाशमान।=विशेषतर शोभा करते हुए। अर्थात् राजसभाकी विशेष शोभा इनसे हो गयी।—(वै०, पां०)।

अर्थ—उसी अवसरपर (जैसे ही सब बैठ गये) दोनों राजकुँअर (रंगभूमिमें) आये, (ऐसा मालूम होता है) मानो साक्षात् मनोहरताको अपने तनभरमें छा लिया (बसा लिया) है॥ १॥ वे गुणोंके समुद्र, चतुर और श्रेष्ठ वीर हैं। उनके श्यामल और गोरे सुन्दर शरीर हैं॥ २॥ सुन्दर दोनों भाई राजसभामें ऐसे शोभायमान हैं मानो तारागणके मध्य दो पूर्णचन्द्र विराजमान हैं॥ ३॥

पं० रामकुमारजी—१ 'राजकुँअर तेहि अवसर आए।....' इति। (क) जनकमहाराजने विश्वामित्रजीको सबसे प्रथम बुलाया पर वे दोनों भाइयोंसहित सबसे पीछे आये। इसीसे जब सब लोग बैठ गये तब दोनों राजकुमारोंका आगमन लिखते हैं। सब पुरवासी तथा समस्त राजसमाजके अपने-अपने स्थानपर बैठ जानेपर आनेके कारण यह हैं कि एक तो यदि पुरवासियोंके बैठ जानेके पूर्व आते तो समस्त पुरवासी सङ्गमें लग जाते और भारी भीड़ है उसमें बहुत तकलीफ (कष्ट) होती। दूसरे, यदि कहो कि चाहे वे प्रथम ही आ जाते चाहे पीछे उनके लिये दोनों मौके अच्छे थे, कोई कष्ट न होता, श्रीजनक महाराजने तो उचित प्रबन्ध उनके लिये कर ही रक्खा होगा तो उसका उत्तर यह है कि 'जनकमहाराजका मुनिको प्रथम बुलाना और सब प्रबन्ध कर देना योग्य ही था, पर मुनि कृपालु हैं वे पीछे आये जिसमें सबोंको अपनी जगहसे दर्शन हो जायँ, राजा और मुनि दोनों ही अवसरके जानकार हैं—सबसे प्रथम बुलाया यह राजाकी जानकारी है और सबसे पीछे आये यह मुनिकी जानकारी है।' (ख) यहाँ शोभाका प्रकरण है, इसीसे शोभासूचक 'राजकुँअर' पद दिया। 'आये' और 'छाये' बहुवचन हैं। ये शब्द दोनों भाइयोंके लिये आये हैं। (ग) 'मनोहरता तन छाए'—अर्थात् शरीरके चारों ओर शोभा फैल रही है। भाव कि और लोगोंके शरीरमें आभूषण और वस्त्रसे शोभा आती है और इनके तनमें स्वाभाविक ही शोभा छा रही है। मनोहरता ही इनका भूषण बन गयी है। आगे भी कहेंगे—'नखसिख मंजु महाछबि छाए।' पुनः, भाव कि

बाह्येन्द्रियोंमें नेत्र प्रबल हैं और भीतरकी इन्द्रियोंमें मन प्रबल है सो इन दोनोंको खींच लेते हैं। छाए=निवास दिया है। वीरकविजीके मतसे यहाँ 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है।)

२ (क) 'गुन सागर....' इति। तनकी शोभा कहकर अब गुणोंकी शोभा कहते हैं, क्योंकि गुण होना भी तनकी शोभा है। गुणसागर और नागर हैं, दोनोंको आगे चरितार्थ करेंगे—'विनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥ २८५। ३।' गुणोंकी थाह नहीं, अतः सागर कहा। (ख) 'बर बीरा' का भाव कि और राजा वीर हैं, ये 'बर' वीर हैं। पुनः, वीरोंके समाजमें धनुष तोड़ा इससे वीर कहा और जो काम वीरोंसे न हुआ वह इन्होंने कर दिया, इससे 'बर बीर' कहा। पुनः, (ग) 'गुणसागर, नागर और बरबीरा' इन विशेषणोंको आगे चरितार्थ करेंगे। ये तीनों भविष्यमें होनेवाले विशेषण हैं, इसीसे उन्हें यहाँ प्रथम सूक्ष्म रीतिसे कह दिये। अनेक रूप दिखाये हैं इससे गुणसागर कहते हैं, यथा उत्तरकाण्डमें 'अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥....एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील गुन धामा॥' में अमित रूप प्रकट करनेसे गुणसागर कहा। परशुरामका गर्व बड़ी चतुराईसे चूर किया, बात ही-बातसे। अतः परशुरामजीसे वार्ता करनेमें नागर कहा। और, धनुष तोड़नेसे एवं सबको मूर्तिमान् वीररस देख पड़नेसे 'बर बीरा' कहा। यथा—'देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहु बीर रस धरे सरीरा॥' [बहुत बड़े गुणीमें भी भद्दापन देखा जाता है, अतः उसके निवारणार्थ 'नागर' कहा। सुन्दरता, गुणबाहुल्य और शौर्य तीनों इनमें एकत्र देखे जाते हैं अतः 'बर बीरा' कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ 'बर बीरा' कहकर (त्याग, दया, विद्या, पराक्रम और धर्म— इन) पाँचों वीरताओंसे परिपूर्ण सूचित किया है।' और पंजाबीजी लिखते हैं कि 'गुणसागर अर्थात् क्षमा-दयादि गुण अपार हैं। केवल सतोगुणी ही नहीं हैं यह जनानेके लिये नागर कहा। अर्थात् व्यवहारमें भी बड़े चतुर हैं। पुनः शूरवीर हैं, पर वीर कठोर होते हैं, ये कठोर नहीं हैं, परम सुन्दर हैं।'

२ 'सुंदर स्यामल गौर सरीरा' इति। 'यहाँतक दोनों भाइयोंके सब विशेषण एक ही हैं। सब गुण दोनों भाइयोंमें हैं, केवल रंगमें भेद है, इसलिये रंग पृथक्-पृथक् कहे। (पं० रा० कु०)।

टिप्पणी—३ 'राजसमाज बिराजत रूरे....।' इति। (क) तनकी और गुणकी सुन्दरता तथा वीरताकी शोभा कहकर अब तेजकी शोभा कहते हैं। रूप, गुण, चतुरता और वीरता सभी प्रकार राजाओंसे अधिक हैं। कितने अधिक हैं, यह 'उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे' से दिखाते हैं। अर्थात् जैसे तारागणसे चन्द्रमा अधिक है। (ख) 'राजसमाज बिराजत' कहकर जनाया कि चारों ओर राजा लोग बैठे हैं, बीचमें ये दोनों सोह रहे हैं। बिराजत (विशेष राजते वा सोहते हैं) का भाव कि शोभित तो पहले भी थे। अब राजसमाजमें विशेष सुशोभित हैं। चन्द्रमामें बहुत अवगुण हैं, पर ये दोनों गुणसागर हैं। (गुणसागर प्रथम ही कह दिया इससे यहाँ 'बिमल बिधु' न कहना पड़ा)। (ग) पूर्व इनको सूर्य कहा, यथा—'रबि निज उदय ब्याज रघुराया' और आगे भी कहेंगे 'उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग', पर यहाँ सूर्य न कहकर चन्द्रमाके समान कहते हैं। कारण कि अभी यहाँ धनुषरूपी रात्रि बनी हुई है, राजा सब तारे हैं। यथा—'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥' इसीसे दोनों भाइयोंको उनके मध्यमें चन्द्रमा-समान सुशोभित कहा, जैसे रात्रिमें चन्द्रमा तारोंसहित सुशोभित रहता है। 'राजसमाज बिराजत रूरे' से सूचित करते हैं कि राजसमाज भी शोभित है पर ये विशेष शोभित हैं तथा यह कि जबतक धनुष नहीं टूटता तभीतक सब राजाओंकी शोभा बनी हुई है। तारागणोंकी शोभा चन्द्रमाके साथ बनी रहती है, सूर्योदयपर नहीं रहती, इसीसे दोनों भाइयोंको पूर्णचन्द्र कहा। जैसे चन्द्रमा तारापति है, वैसे ही ये सब राजाओंके पति हैं, क्योंकि चक्रवर्ती राजकुमार हैं। आगे श्रीरामजीका सूर्यसम उदय कहेंगे। सूर्योदयपर रात्रिका नाश है, वैसे ही रामजीके हाथों धनुषका नाश होगा। धनुषरूपी रात्रिके नाशपर राजसमाजरूपी तारागणकी शोभा न रहेगी और न वे ही रह जायेंगे। रात्रि बीतनेपर दिन होता है वैसे ही रात्रिके रूपकके पीछे दिनका रूपक कहेंगे। [(घ) आकाशमें दो पूर्णचन्द्रका उदय कल्पनामात्र है अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।]

जिन्ह के* रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥ ४॥

---

* कै—ना० प्र०, गौड़जी, वि० त्रि०।

शब्दार्थ—भावना=भाव, यथा—'एहि विधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥'

अर्थ—जिनकी जैसी भावना थी उन्होंने प्रभुकी वैसी ही (अर्थात् अपनी भावनाके अनुकूल) मूर्ति देखी ॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ यहाँ अनेक भावनावाले लोग एकत्रित हैं और रङ्गभूमिमें भावनानुकूल मूर्तिका देखना वर्णन करना मुनियोंकी रीति है; इसीसे गोसाईंजीने भी लिखा, क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा है कि 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥' यह कहकर कि जिसकी जैसी भावना थी वैसी ही मूर्ति उसको देख पड़ी, फिर भावना और उसके अनुकूल मूर्तिका वर्णन करते हैं। एक ही रूपमें अनेक रूप दिखाये, इसीसे 'प्रभु' कहा। दूसरेसे सबकी भावना और भावनानुकूल प्रभुकी मूर्ति न समझते-समझाते बनती, इसीसे ग्रन्थकार स्वयं ही उसे आगे स्पष्ट करके कहते हैं। (ख) 'मूरति' के सम्बन्धसे 'भावना' पद दिया—जैसी भावना तैसी मूर्ति। दोनों स्त्रीलिंग हैं। (ग) [एक श्रीरामजीको भिन्न-भिन्न रूपमें देखना 'प्रथम उल्लेख अलङ्कार' है। यही अलङ्कार प्रधानरूपसे 'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ॥ २४२। ८।' पर्यन्त विद्यमान है। (वीर)]

नोट—१ 'श्रीरामजी तो शुद्ध सच्चिदानन्द एकरस निर्विकार स्वरूप हैं, वे अनेक रूप कैसे देख पड़े?' इसी शङ्काकी निवृत्ति 'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥' इस चौपाईसे की गयी है; जैसे कि हीरा या बल्लौरी शीशा आदि स्वयं स्वच्छ हैं परन्तु नील-पीतादि अनेक पदार्थोंके सान्निध्यसे नील-पीतादि भिन्न-भिन्न रङ्गोंके अनुभवमें आते हैं, वैसे ही जिनके-जिनके हृदयमें संस्कारवश जैसी-जैसी भावनाएँ होती हैं, उन्हीं भावनाओंके अनुसार भगवान् उनके अनुभवमें आते हैं; किसीने कहा भी है—'मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥'

२ भक्त-अभक्तके हृदयानुसार इनका विषम विहार होता है। यथा—'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥' अतः सबको उनके पृथक् भावनानुसार पृथक् रूपसे दर्शन दिये। तथा अपने अखिल रसामृत मूर्ति होनेका वैभव दिखलाया। (वि० त्रि०)।

श्रीमान् लमगोड़ाजी 'वि० मा० हास्यरस' 'धनुषयज्ञ' शीर्षकमें लिखते हैं कि 'मुझे शुरूहीसे धनुषयज्ञ बहुत पसन्द रहा है। कविवर शेक्सपियरके 'जूलियस सीजर' नामक नाटककी उस वार्तावाले दृश्यकी बड़ी तारीफ की जाती है जो कैसियस आदिमें 'सार्डिस' के पड़ावपर (Camp near Sardi) हुई है। एक आलोचकने यहाँतक लिखा है कि इस दृश्यकी नकल बहुतसे लेखकोंने की है परंतु शेक्सपियरकी बराबरीका दृश्य आजतक कोई नहीं लिख सका। अँगरेजी साहित्यके देखते यह विचार बिलकुल ठीक है, पर संसारके साहित्य-मर्मज्ञोंसे हमारा अनुरोध है कि उस दृश्यकी धनुषयज्ञसे तुलना करें और फिर देखें कि राम, लक्ष्मण और परशुरामकी पारस्परिक वार्ताएँ साहित्यिक विचारसे भी कितनी अधिक ऊँची हैं। नैतिक विचारसे तो हम शेक्सपियरके दृश्यको पतनका ही दृश्य कहेंगे क्योंकि वहाँ एक बार फिर राजनीतिक मित्रताके कारण ब्रूटस जैसे आदर्शवादीका आदर्शवाद मिट्टीमें मिला दिया गया, और विजय हुई अपस्वार्थी कैसियसकी। तुलसीदासजीने अपने दृश्यमें सत्य एवं शीलहीकी विजय करायी है। अगर लक्ष्मणके हाथमें 'सत्य' का नश्तर है तो राम 'शील' के मरहमसे काम लेते हैं और दोनों ही विजयी होते हैं। दूसरा लुत्फ इस दृश्यमें अन्तर्नाटकीय रचना-कला (Inter Plot) का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग होना है। शुरूहीमें अनेक प्रकारके द्रष्टाओंको उपस्थित किया गया है और तब मुख्य नाटकीय चरित्रोंको रङ्गमंचपर लाया गया है। जनकपुरके द्रष्टाओंको कुशल कविने इस तरह रक्खा है कि मुख्य घटनाकी नवों रसोंके दृष्टिकोणसे आलोचना हो सके। रामागमनके समय मानो उन नवों दर्पणोंपर उनका भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ता है और उन प्रतिबिम्बोंका चित्रण कविने बड़ी ही सुन्दर भाषामें कर दिया है जो उसके इस पदसे प्रकट है—'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥' कविका कमाल यह है कि परिस्थितियोंके प्रत्येक गहन परिवर्तनके समय जो परिवर्तन उन विभिन्न द्रष्टाओंके भावोंमें होता है उसे बड़ी शीघ्रतासे थोड़े शब्दोंमें बतलाया जाता है। विशेष विचारणीय अवस्थाएँ वे हैं जो रामके धनुष-भंगके पूर्व और उसकी तैयारीके समय तथा परशुरामजीके आनेपर और परशुराम-लक्ष्मण-संवादके समय प्रकट हुई हैं। दृश्योंका ऐसा साक्षात्-कर्ता फिल्मकलाके बाहर शायद ही मिले। मैं तो यह समझता हूँ कि इतने विविध भावोंका एक ही दृश्यमें लाना फिल्मकलाकारके लिये भी कठिन है। तीसरे लुत्फका अनुभव पाठकोंको बहुत शीघ्र हो जायगा यदि वे इस दृश्यकी तुलना वाल्मीकिजीके धनुष-यज्ञसे करेंगे जहाँ नाटकीय कलाका पता ही नहीं है। वहाँ राजा लोग अलग-अलग दिनोंपर यथा समय

लाये गये हैं, अपना बल प्रयोगकर चल दिये हैं, और परशुरामजी तो बारातके लौटते समय राहमें मिले हैं। इसीलिये तो मैं कहा करता हूँ कि जब वाल्मीकिजीने तुलसीरूपमें अवतार लिया तो उन्होंने साहित्यिक तथा अन्य दृष्टिकोणसे अपनी पुरानी रामायणमें बहुधा सुधार ही किया। चौथा लुत्फ साहित्य-संसारके लिये और भी अनोखा है, और वह यह है कि यहाँ एक ही दृश्यमें नाटकीय तथा महाकाव्यके गुणोंका बड़ी सुन्दरतासे सम्मिश्रण हुआ है। दृश्य आदिसे अन्ततक नाटकीय है, परन्तु कविने अपनी कलासे बीच-बीचमें ऐसे सुन्दर संकेत किये हैं कि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पक्षोंको भूला न जा सके। उदाहरणार्थ लक्ष्मणजीके 'सकहुँ मेरु मूलक इव तोरी' आदिवाले वाक्य, बन्दीगणोंका यह सूचित करना कि यह वह 'पुरारि कोदण्ड' है जिसे रावण और बाणासुरतकने नहीं छुआ, कविका स्वयं यह बताना कि 'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरहि न टारा॥' सीता-सम्बन्धी वह रूपक जिसमें उन्हें लक्ष्मीसे भी बढ़कर बताया गया और अन्तमें 'राम रमापति' वाली स्तुतिपर पहुँचकर तो यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि परशुरामजी अपना धनुष रामजीके हाथमें क्या दे रहे हैं, मानो भूत-युगका नेता आगामी युगके जगत्पतिको चार्ज दे रहा है। नैतिक उत्थान भी बिलकुल स्पष्ट है। परशुरामके नेतृत्वमें तो फिर भी पशु-बल ही प्रधान था। पर रामराज्यमें 'सत्य' एवं 'शील' की प्रधानता होगी जिसका विकास इसी दृश्यसे शुरू हो जाता है। रामराज्यके पताकेके बारेमें तुलसीजीने लिखा है—'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।' आज भी संसार सोचे कि पशु-चिह्न एवं अन्य चिह्नोंवाला राजनीतिक ध्वजाओंका स्थान राम-राज्यकी ध्वजासे कितना नीचा है। सत्याग्रह भी अभी 'सत्य शीलाग्रह' नहीं बन गया।

अब आइये हास्य-रसपर। यदि नारदजी भौतिक प्रेमके उन्मादका खिलौना बन गये तो परशुराम भी क्रोधसे विवश दिखायी पड़ते हैं। एक ओर तपका अहंकार है तो दूसरी ओर पाशविक बलके विजयका। यहाँतक कि परशुरामजी श्रेणी-युद्धके अहंकारको बड़े गौरवसे यों व्यक्त करते हैं—'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्री कुल द्रोही॥'

कविको यहाँ इनसे भी 'कुकड़ूँ कूँ' बुलवाना है और लुत्फ यह कि पशु-बलपर सत्य एवं शीलकी विजय केवल हास्य-रसके आयुधोंसे हो जाय और युद्धकी आवश्यकता न हो। महाकाव्यके दृष्टिकोणसे तो यह काम उतना कठिन नहीं परन्तु कविका कमाल यह है कि नाटकीय आनन्दका ह्रास न हो। हमारा दिल अन्ततक काँपता ही रहे और उसमें कभी सीताके प्रति करुणा, कभी राम-लक्ष्मणके प्रति सहानुभूति और कभी परशुरामसे भयवाली भावनाएँ ज्वारभाटेकी तरह चढ़ती-उतरती रहें।

महाकाव्यके दृष्टिकोणसे तो वस्तुतः यह सरल था कि रामका अवतार परशुरामसे बड़ा दिखाकर उनकी विजय करा दी जाय, परन्तु इसमें वह साहित्यिक आनन्द कहाँ, जो तुलसीकी इस कलामें है कि क्रोधको इतना उभार दिया जाय कि वह अपने जोरसे ही क्रोधीको बेकार कर दे और दूसरे पक्षकी विजय व्यंग एवं माधुर्यके मिश्रित व्यवहारसे ही हो जाय। यही तो तुलसीदासजीकी नाटकीय कलाका कमाल है।

तुलसीजीने इस गुत्थीके खोलनेका गुर बड़ी सुन्दरतासे शुरूहीमें दे दिया है। जब राम और लक्ष्मणने परशुरामको सिर नवाया, उस समय परशुरामजीके भाव क्या थे इसका प्रकटीकरण तुलसीजीने यों किया है—'राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्ह असीस देखि भल जोटा॥ रामहि चितै रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥'

सच है, सौन्दर्य-शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जहाँ तलवार और फरसा काम नहीं देते वहाँ सौन्दर्य अपना प्रभाव जमाता है। फिर सौन्दर्य कैसा? ऐसे अपार रूपका जो स्वयं कामदेवके गर्वको मिटा दे इस सौन्दर्यने परशुरामको ऐसा वशमें कर लिया कि उभय राजकुमारोंके प्रति उनका क्रोध केवल बाह्य रीतिपर प्रकट हुआ, आन्तरिक रीतिपर तो वे उनपर मुग्ध हो ही चुके थे और प्रेमबल पशुबलपर विजयी हो ही चुका था। इसीलिये तो परशुरामजी तरह-तरहके बहानोंसे क्रोधके अन्तिम प्रयोगसे रुक जाते थे। कहीं जनकसे यह कहकर कि इन्हें हटा दो, कहीं रामसे यह कहकर कि लक्ष्मणको रोक दो और अन्तमें विश्वामित्रसे 'केवल कौशिक शील तुम्हारे' कहते हुए। यह मौलिक कारण परशुरामजीके 'कुकड़ूँ कूँ' बोलने-का कितना सुन्दर, कितना वास्तविक और कितना नाटकीय है, इसे साहित्यमर्मज्ञ स्वयं ही विचार कर लेंगे। हमारे घरोंमें इसी सिद्धान्तपर निर्भर निम्न पदको नित्य ही गाया जाता है—

'छोड़े न छूटे सियाजीको कंकन कैसे ताड़का मारेउ'? अधिक स्पष्टीकरणके लिये आप रोजकी घरेलू घटनाओंपर विचार करें कि जहाँ प्रेमका सम्बन्ध अधिक होता है वहाँ बहुधा पिता, माता तथा पति अपने पुत्र और स्त्रीपर क्रोध करते

हुए सिर्फ दाँत पीसकर रह जाते हैं, पर हाथ नहीं उठता। क्रोध प्रकट करनेके लिये चाहे जैसे जोरोंमें कहें कि 'पटक दूँगा', 'जबान खींच लूँगा' आदि। नैतिक एवं आध्यात्मिक विचारसे 'सत्यम्' तथा 'सुन्दरम्' मिलकर 'भयानक सत्य' से अधिक होता है क्योंकि उसके साथ 'शिव' की शक्ति भी आप ही आ जाती है।

देखहिं रूप* महारनधीरा। मनहु बीररसु धरे सरीरा॥ ५॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥ ६॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥ ७॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥ ८॥

अर्थ—महा रणधीर (राजा श्रीरामचन्द्रजीका) रूप (ऐसा) देख रहे हैं मानो साक्षात् वीररस शरीर धरे हुए विराजमान हो॥ ५॥ कुटिल राजा प्रभुको देखकर (ऐसा) डरे मानो बड़ी भारी भयानक (रसकी) मूर्ति हो॥ ६॥ असुर (दैत्य, दानव, राक्षस) जो छलसे राजाओंके कपट (बनावटी) वेषमें थे उन्होंने प्रभुको प्रत्यक्ष काल-समान देखा॥ ७॥ पुरवासियोंने दोनों भाइयोंको मनुष्योंमें भूषणरूप और नेत्रोंको सुखदाता देखा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (भा० दा० जीका पाठ 'भूप महारनधीरा' है)। [(क) वीर रणधीर होते हैं, यथा—'बिपुल बीर आए रनधीरा॥ २५१। ८।', 'अपर महोदर आदिक बीरा। परे समर महि सब रनधीरा॥ ६। ६१।' सब राजा महारणधीर हैं, अर्थात् बड़े वीर हैं; इसीसे उनको 'वीररस मूर्तिमान्' सा देख पड़ा] इस प्रसंगको प्रथम वीर राजाओंसे ही उठाया। प्रथम राजाओंका ही देखना कहा; कारण कि मंचका क्रम ही ऐसा है कि प्रथम राजाओंके बैठनेके मंच हैं, उनके पीछे पुरवासियोंके हैं और इनके पीछे स्त्रियोंके धाम बने हैं। यथा—'चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥' इत्यादि। सबसे आगे ये ही हैं, क्योंकि इनको उठ-उठकर धनुष तोड़नेको जाना पड़ेगा। इससे सबसे प्रथम राजाओंने देखा और इसी क्रमसे सबका देखना कहा गया। पुनः भाव कि यहाँ वीररस प्रधान है, धनुषका तोड़ना वीरता है, इससे भी वीररसका कथन प्रथम हुआ। राजाओंका श्रीरामजीमें वीर-भाव है इससे उनको वीररस-मय मूर्ति देख पड़ी। ☞ (ख) प्रारम्भहीमें 'रस' शब्द देकर सूचित करते हैं कि हम यहाँ नवों रसोंका वर्णन करेंगे।

वि० त्रि०—उस समाजमें बड़े-बड़े रणधीर नर-शरीर धारण करके आये थे। यथा—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥' प्राकृतमें द्विवचन नहीं होता, उसके लिये बहुवचन ही आता है, यथा—'द्विवचनस्य बहुवचनम्।' यहाँ दोनों राजकुमारोंके लिये 'सरीरा' बहुवचनका प्रयोग हुआ है। 'जश्शसोर्लोपः' इस सूत्रसे विसर्गका लोप हुआ। 'सरीर' शब्दका पुँल्लिगवत् व्यवहार हुआ है। प्राकृतमें लिंगका निर्णय नहीं है—'लिङ्गमतन्त्रम्'। 'प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी' ऊपर कह आये हैं, इससे कोई यह न समझ लें कि 'प्रभु' शब्दसे रामजीका ही बोध होता है। लक्ष्मणजी भी प्रभु हैं। यथा—'जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा॥'

टिप्पणी—२ (क) 'डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी' इति। अच्छे राजाओंका हाल कहकर अब कुटिल राजाओंका हाल कहते हैं। इनका श्रीरामजीमें कुटिल भाव है। ये रामजीसे कुटिलता रखते हैं यह आगे स्पष्ट है, यथा—'अति डर उतरु देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥ २०७। ५।' भयानक मूर्ति देखनेसे डर लगता है, उनको भयानक मूर्ति देख पड़ी, इसीसे 'डरे'। इसीको आगे चरितार्थ करेंगे, यथा—'अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहिं पराने॥ २८५। ८।' यहाँ 'कुटिल नृप' कहकर जनाया कि अर्धाली ५ में जिन राजाओंको कहा वे अच्छे नृप थे। [पुनः भयानक हैं, इससे डरे और भागना चाहते हैं, परन्तु भागे नहीं क्योंकि ईश्वरीय इच्छामें बँधे हैं। ये सब भी प्रभुता मानते हैं जैसा उनके 'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ॥ २६६। ३।' से अनुमानित होता है। इसीसे 'प्रभुहि निहारी' कहा। बैजनाथजी लिखते हैं कि छोटा रूप भयानक भी हो तो उससे कोई विशेष नहीं डरता, इसीसे यहाँ 'भारी' विशेषण भी दिया।] (ख)—वीररसके बाद भयानक रस है। यथा—'शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः' (अमरकोश टीका), इसीसे वीररस कहकर भयानक रस कहा।

* भागवतदासजी आदिमें 'भूप' पाठ है। १६६१ में 'रूप' है।

३ (क) 'रहे असुर छल छोनिप बेषा' इति। भगवान्‌में असुरोंका छल-भाव है, इसीसे इनको कालसम देख पड़े। वीरोंको वीर, कुटिलोंको भयानक और असुरोंको काल। देवताओंको क्या देख पड़े, वे भी तो राजाओंका रूप धरकर वहाँ थे ? यथा—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥' यह निश्चय है कि इनको कालसम नहीं देख पड़े, क्योंकि देवता भगवान्‌से छलभाव नहीं रखते, वरंच निश्छल रहते हैं, इसीसे तो भगवान् सदा उनकी सहायता करते रहते हैं। 'असुर' कहकर 'सुर' को उनसे पृथक् कर दिया गया। [जो वीर रणधीर बनकर आये, उनको वीररसकी मूर्ति देख पड़े, और जिसकी जैसी भावना (इष्टदेव, विष्णु, विराट् इत्यादि) रही वैसे उसे देख पड़े। यथा—'पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥ जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती। १८५। २-३।'] (ख)—'प्रगट काल'। भाव कि काल प्रकट नहीं देख पड़ता। धर्म-बल-बुद्धि-हरणद्वारा जाना जाता है; यथा 'काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धरम बल बुद्धि बिचारा॥ निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि माईं॥ ६। ३६। ८।'; सो इस तरह नहीं, प्रत्युत इनको प्रभु प्रत्यक्ष-काल-मूर्तिसे देख पड़े। 'प्रगट कालसम' कहकर सूचित किया कि मूर्तिमान रौद्ररस देख पड़े। रुद्र संहारकर्त्ता हैं—'रुद्रकोटि सम संघरता'। रुद्रका रस रौद्ररस कहलाता है। [(ग) वीर और भयानक रसोंका मूर्तिमान होना 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। असुरोंने प्रभुको कालके समान देखा, इसमें 'खा जानेवाला' धर्म नहीं कथन किया गया। इससे इसमें 'धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है। (वीरकवि)]

वि० त्रि०—छली असुर राजाके वेषमें थे जिसमें उन्हें कोई पहिचान न सके, पर काल सबको पहिचानता है। वेष बदलनेसे कोई बच नहीं सकता। उन्होंने देखा कि प्रत्यक्ष काल आ गया, अब हम बच नहीं सकते, क्योंकि कालका दर्शन मुमूर्षुको ही होता है। कालरूप कहकर बीभत्सरस कहा।

टिप्पणी—४ 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई।....' इति। (क) राजाओंका देखना कहकर पुरवासियोंका देखना कहा। इससे भी जनाया कि इनके पीछे पुरवासियोंके बैठनेके स्थान हैं। यथा—'तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच मंडली बिलासा॥ कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई॥ २२४। ४-५।' (ख) 'नर भूषन' अर्थात् अत्यन्त सुन्दर हैं, यथा—'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई॥ १। २२०। ३।' पुनः भाव कि यहाँ नर-समाज प्रधान है। देवता, दैत्य राक्षस इत्यादि सभी नरवेष बनाये यहाँ उपस्थित हैं, अतः 'नर-भूषन' कहा, नहीं तो वे तो 'त्रिभुवनभूषण' हैं। परंतु यहाँ 'नरभूषण' कहकर भी त्रैलोक्यभूषण जना दिया, क्योंकि यहाँ तीनों लोकोंके पुरुष उपस्थित हैं उन सबोंके भूषण कह ही रहे हैं। (ग)—'लोचन सुखदाई' कहनेका भाव कि जिसके नेत्र हैं, उसके सुखदाता हैं, यथा—'खग मृग मगन देखि छबि होहीं'। (घ) ☞ इस अर्धालीमें शृङ्गार रस है और आगे दोहेमें शृङ्गार कहते हैं। [पाँड़ेजीका मत है कि इसमें शृङ्गार रसकी कली कही है जिसका विकास दोहेमें है। और, बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इन्होंने प्रभुको वैसा ही देखा जैसा पूर्व नगर-दर्शन-समय देखा था। इसमें बहुत-से रसोंका बोध होता है, सो आगे कहते हैं।' ['लोचन सुखदाई' हैं, अर्थात् देखनेवाले देखकर सुखी होते हैं। इसी तरह नगर-दर्शनमें भी कहा था—'होहिं सुखी लोचन फल पाई।'

दो०—नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥२४१॥

अर्थ—स्त्रियाँ हृदयमें प्रसन्न होकर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार प्रभुको देख रही हैं। मानों परम अनुपम (उपमारहित) मूर्ति (रूप) धारण किये हुए शृङ्गार रस ही सुशोभित हो रहा है॥ २४१॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ पुरवासी पुरुषोंके पीछे स्त्रियोंके बैठनेके घर बने हैं, यथा—'तिन्हके निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए॥ जहँ बैठे देखहिं सब नारी। जथा जोग निज कुल अनुहारी॥ २२४। ६-७।' इसीसे पुरबासियोंके पीछे स्त्रियोंका देखना कहते हैं। जिस क्रमसे लोग बैठे हैं उसी क्रमसे सबका देखना लिखा गया, यहाँ बैठकका क्रम आकर पूरा हो गया। (ख) 'निज निज रुचि अनुरूप' अर्थात् जिसका जैसा नाता श्रीजानकीजीसे है, वह वैसा रामजीको देखती है। जानकीजी जिनकी लड़की, भतीजी, भांजी आदि लगती हैं, उनकी रुचि है कि ये हमारे दामाद हों, अर्थात् वे जामातृ-भावसे देखती हैं। इसी तरह किसीके बहनोई, किसीके फूफा, किसीके नन्दोई इत्यादि होनेकी रुचि

है। वे सब प्रभुको उसी भावसे देखती हैं। (ग) 'रुचि अनुरूप' देखना कहा, क्योंकि अभी नाता हुआ नहीं है, अभी धनुष टूटा नहीं है। नाता तो तब होगा जब धनुष टूटेगा। अभी नाता होनेकी रुचि है। (घ) 'जनु सोहत सिंगार…' इति। परम अनूप रूप धरनेका भाव कि श्रृङ्गार अनूप है। और श्रृङ्गारके तत्त्वकी मूर्ति श्रीरामजी हैं, यथा—'सुषमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहु मही री॥ दूल्ह राम साय दुलही री।' इति गीतावल्याम्। १। १०४।' (ङ) 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई॥' इसमें किसी रसका नाम नहीं लिखा था। यहाँ दोहेमें 'सिंगार' शब्द कहकर सूचित किया कि यहाँ और वहाँ (उस अर्धालीमें) दोनोंमें श्रृङ्गार रस है। तात्पर्य कि जनकपुरनिवासी स्त्री-पुरुष सभीको श्रीरामजी श्रृङ्गारकी मूर्ति देख पड़े। श्रृङ्गारका रंग श्याम है और श्रीरामजी भी श्याम हैं, 'श्यामो भवति श्रृङ्गारः' इति भरतः। पुनश्च 'श्रृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति' इति जयदेवः। (गी० गो० सर्ग १)। श्रृङ्गार तो ऐसे ही सोहता है, उसपर भी जब परम अनुपम रूप धरकर उपस्थित हुआ तब तो कहना ही क्या?

वै०—पुरवासिनी स्त्रियोंने अलभ्य लाभ पाया है; इसीसे वे हृदयमें हर्षित होकर अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल इच्छापूर्वक प्रभुको देखती हैं। कुमारी शुद्ध श्रृङ्गारमय रूप देखती हैं और विवाहिता हास्ययुत श्रृङ्गार देखती हैं, अतएव 'परम अनूप' कहा। अथवा, मुग्धा (वह नायिका जो यौवनको तो प्राप्त हो चुकी हो, पर जिसमें काम-चेष्टा न हो। इसे, साज-श्रृङ्गारका बहुत चाव रहता है) 'श्रृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। मध्या (वह नायिका जिसमें लज्जा और काम समान हों) 'परम श्रृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। और, प्रौढ़ा (वह नायिका जो कामकला आदि अच्छी तरह जानती है। प्रायः ३० वर्षसे ५० वर्षतककी आयुवाली) 'परम अनूप श्रृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। अथवा, जो बालसे लेकर युवावस्था तकके पुरवासी हैं वे दोनों राजकुमारोंको भाई करके सख्यरसमय देखते हैं और उसी भाँतिकी जो युवा कुमारी आदि स्त्रियाँ हैं वे निज-निज रुचि अनुरूप अनेकों भाव किये हुए हैं, उनके मनोरथोंके अनुकूल उनको प्रभुका रूप देख पड़ता है। मुग्धाको 'शुद्ध श्रृङ्गार' ही देख पड़ा, मध्याको लज्जा मदनमय कटाक्षयुत 'परम श्रृङ्गार' देख पड़ा, और प्रौढ़ाको कामबाण-सी कटाक्षयुत परम (अनूप) श्रृङ्गारकी मूर्ति देख पड़ी।

बिदुषन्ह प्रभु बिराट मय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥ १॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥ २॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति* बखानी॥ ३॥

शब्दार्थ—दीसना (सं० दृश) = देखना=देखाई पड़ना, दिखाई देना। सजन—मान्य सम्बन्धी।

अर्थ—विद्वानों (पण्डितों, विद्वानों) को प्रभु विराट्मय अर्थात् विराट्रूपमें देख पड़े, जिनके बहुतसे मुख, बहुतसे हाथ, बहुतसे पैर, बहुतसे नेत्र और बहुतसे सिर हैं॥ १॥ जनकजीके जातिके लोग अर्थात् निमिवंशी कुटुम्बी प्रभुको कैसे (किस प्रकार, किस भावसे, किस रूपमें) देख रहे हैं जैसे सम्बन्धी (दामाद इत्यादि देखे जाते और) प्रिय लगते हैं॥ २॥ जनकसहित रानियाँ उन्हें अपने बच्चेके समान देख रही हैं। उनकी प्रीति वर्णन नहीं की जा सकती॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) विराट्मय देखा, यह कहकर दूसरे चरणमें विराट्का स्वरूप कहा। वेदोंमें विराट्का स्वरूप यह लिखा है—'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। १४।…सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। १६। श्वेताश्वतर उप० अ० ३।' (अर्थात् उस परम पुरुष परमात्माके हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं।…उन परम पुरुषके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुख और कान सर्वत्र सब जगह हैं। वह ब्रह्माण्डमें सबको सब ओरसे घेरकर स्थित हैं) पण्डित वेदोंके ज्ञाता हैं, इससे वह रूप देख पड़ा। मूर्ख विराट्को नहीं देख सकते, यथा 'सुदुर्दर्शमिदं रूपम्। गीता ११। ५२।' 'योगिनामपि दुर्लभम्'। ☞ कोई-कोई भागवतके अनुकूल यहाँ यह अर्थ करते हैं कि जो 'विदुष न' विदुष नहीं हैं वे विराटमय देख रहे हैं'। वे विदुषन बहुवचनकी नकारको निषेधमें लगाते हैं, पर यह अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं है किन्तु प्रसंगके विरुद्ध है। क्योंकि यहाँ सर्वत्र बहुवचनका ही प्रयोग हुआ है, यथा 'पुरबासिन्ह देखे' 'जोगिन्ह परम तत्वमय०' 'हरिभगतन्ह देखे०' तथा 'बिदुषन्ह दीसा'। यहाँ किसी जगह नकार निषेधात्मक

* जाइ—१७०४, को० रा०।

नहीं है, तब यहाँ एक जगह उसका निषेधार्थ कैसे लगावेंगे ?* (ख) 'बहु मुख कर पग लोचन सीसा' यहाँ विराट्-रूपका वर्णन ऊपरसे प्रारम्भ किया गया। मुखसे चलकर कर और पग कहा, यहाँतक तो क्रमसे वर्णन किया। तत्पश्चात् क्रम भंगकर नेत्र और सिर कहा। इस क्रमभंगका कारण यह है कि विराट् ही तो ठहरे, इनके अङ्ग क्रमसे नहीं हैं। मुख, कर, पद, नेत्र और सिर उनके अङ्गमें सर्वत्र हैं—'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'। (ग) प्रथम बैठकके क्रमसे कहते आये। अब उन्हींमें जो विदुष हैं उनका देखना कहते हैं। विदुषोंमें कोई नियम नहीं है। पण्डित सभीमें होते हैं। राजाओंमें भी विदुष हैं और पुरवासियोंमें भी। उन सबोंको विराट्मय रूप देख पड़ा। इससे यह भी जनाया कि पण्डितोंका विराट्भाव है। [(घ) पाँड़ेजी यहाँ बीभत्स और बैजनाथजी शान्तरस मानते हैं। पं० रामकुमारजीके खर्रेमें पंक्तियोंके बीचमें लिखा है कि 'यहाँ बीभत्सरस' है। और अन्तमें लिखा है कि 'यहाँ अद्भुतरस है' यथा 'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥' प्र० स्वामीका मत है कि इस मङ्गलमय प्रसंग तथा परशुराम-प्रसङ्गमें बीभत्सरस नहीं है। 'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा।....' में अद्भुतरस ही है। बहु कर-पद आदि कटे हुए नहीं हैं और न उनसे रक्त आदि बहता है। आगे 'जोगिन्ह परम तत्वमय भासा' में शान्तरस है। इस प्रसङ्गमें हास्यरस भी प्रकट नहीं है। यहाँ तो सभी रस भक्तिरसके साथ, वात्सल्यसहित विद्यमान हैं। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'विद्वान् देवतारूप हैं; उन्हें सदा विराट्रूपके दर्शनकी इच्छा रहती है। यथा 'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।' उन्हें भगवान्का अनेक बाहु, उदर, मुख, आँख सहित अनन्त रूप दिखायी पड़ा। आदि, मध्य, अन्त कुछ मालूम न हुआ। इससे अद्भुतरस कहा]

२ (क) 'जनक जाति' इति। निमिवंशी मात्रके ये सजन हैं। बहनोई, फूफा, दामाद इत्यादि मान्य सजन कहलाते हैं। जनकजीके ही ये सगे दामाद हैं औरोंके 'सगे सजन' नहीं हैं, पर औरोंको प्रिय वैसे ही लगते हैं। जैसे अपने सगे दामाद प्रिय लगते हैं। 'सगा' विशेष प्रिय लगता है इसीसे 'सगे' कहा। ☞ यहाँ देखना और प्रिय लगना दो बातें कहीं, इसीसे यत् तत्का सम्बन्ध दो बार कह लेना चाहिये। 'कवि (ने) लाघवतासे एक बार कहा'। जैसे सजनको देखते हैं और जैसे सगे सजन प्रिय लगते हैं वैसे ये प्रिय लगते हैं। ☞ जनकजाति सगे सजन भावसे देखते हैं इसीसे उनको 'सगे सजनसदृश' देख पड़े। [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'निमिवंशी प्रभुको कैसे देखते हैं जैसे सगे सजन (अर्थात्) जामातृ सगे, ऐसे प्रिय लगते हैं। अथवा, मिथिलेशजी दस भाई हैं। मिथिलेशजीके पिता ह्रस्वरामजीके तीन रानियाँ थीं—शुभा, सदा, सर्वदा। श्रीशुभाजीके श्रीसीरध्वज और कुशध्वज, श्रीसदाजीके श्रीशत्रुजित्, यशशाल, अरिमर्दन और रिपुतापनजी, और श्रीसर्वदाजीके श्रीमहिमंगल, बलाकर, तेजस्य और महावीर्यजी पुत्र हुए। जनकजातिसे श्रीजनकजीके ये नवों भाई अभिप्रेत हैं। ये सब सगे जामातृरूपमें देखते हैं। इन आठों विमातृ भाइयोंके एक-एक कन्या थी जो श्रीजानकीजीकी सखियाँ थीं और उनके साथ अवधको आयी थीं, इससे उनका प्रभुको जामातृभावसे प्रिय लगना उचित ही था।' यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है]। (ख) 'सहित बिदेह०' इति। माताका प्रेम शिशुपर पितासे अधिक होता है, इसीसे रानियोंको प्रधान रक्खा। जातिवालोंको सगे सजन समान कहा और राजारानीको शिशुसमान, क्योंकि सगेसजनसे भी अपने शिशुमें सबकी अधिक प्रीति होती है। जातिवालोंसे इनका प्रेम अधिक कहा। 'शिशुभाव' है, इसीसे 'शिशुसम' इनको देख पड़े। रानियोंने आज ही प्रथम दर्शन पाया है। वे भी विदेह-जीकी तरह इन्हें देखकर विदेह हो रही हैं। 'विदेह' शब्दको बीचमें रखकर यह भाव दर्शित किया है। (प० प० प्र०)। श्रीजनकजीके चार रानियाँ थीं। यथा 'चतसृभिस्तु भार्याभिर्यज्ञार्थं दीक्षितोऽभवत्। का० पु०।' अतः 'बिलोकहिं' बहुवचन क्रिया दी। जिस समय सीताजी पृथ्वीसे उत्पन्न हुई थीं, उन्हींके साथ दो पुत्र भी उत्पन्न हुए थे। यथा 'द्वौ पुत्रौ तस्य संजातौ यज्ञभूमौ मनोहरौ। एका च दुहिता साध्वी भूम्यन्तरगता शुभा।' अतः रानियाँ शिशुप्रीतिसे अपरिचित नहीं थीं। इन्हें वात्सल्यरसकी पराकाष्ठाकी प्रतीति हुई (वि० त्रि०)]। (ग) 'प्रीति न जाति बखानी' अर्थात् इनका प्रेम अकथनीय है। आगे सीताजीकी भी प्रीति अकथनीय कहते हैं, इससे राजा, रानी और जानकीजी तीनोंकी प्रीति एक समान कही। श्रीजानकीजीके 'सुख' और 'स्नेह' दोनोंको अकथनीय कहा है। यथा 'सो सनेह सुखु नहिं कथनीया'। इसी तरह राजा रानीका भी सुख आगे अकथनीय कहेंगे, यथा 'सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहु निधि पाई।' 'जो

* स्मरण रहे कि गोस्वामीजीने प्रायः बहुवचनमें 'न्ह' का प्रयोग किया है न कि 'न' का। संस्कृतके पण्डितोंने जो उसको बदलकर 'न' कर दिया है इसीसे अर्थ का अनर्थ जहाँ तहाँ लोग कर बैठते हैं।

सुख सम सिथमनतु मन देखि राम बर बेष। सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेष।' ☞ पुरवासियोंसे नारियोंकी प्रीति अधिक कही। उत्तरोत्तर आगेवालेकी प्रीति अधिक दिखाते जाते हैं। [इस प्रकार कि परिवार और राजा-रानीके सम्बन्धमें केवल प्रीति ही कही, यथा 'प्रिय लागहिं' 'प्रीति न जाइ बखानी' और श्रीजानकीजीके लिये लिखते हैं कि 'सो सनेह सुख नहि कथनीया।' अर्थात् पहलेमें केवल प्रिय लगना कहा, दूसरेमें कहा कि प्रीति अकथनीय है, तीसरेमें एक शब्द 'सुख' भी बढ़ा दिया और 'सुख सनेह' दोनोंको अकथनीय कहा।—यह जरूर है कि राजा-रानीका भी सुख अकथनीय आगे कहा है, पर वह धनुष टूटनेपर ही कहा गया है और श्रीजानकीजीका सुख धनुष तोड़े जानेके पूर्वसे देखा जा रहा है, यही विशेषता है। बैजनाथजी यहाँ 'शुद्ध वात्सल्य' मानते हैं और पाँड़ेजीका मत है कि यहाँ करुणरसकी कली है।]

जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। शांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥ ४॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥ ५॥

शब्दार्थ—भासना=मालूम होना, देख पड़ना, प्रतीत होना, अनुभूत होना।

अर्थ—योगियोंको श्रीरामरूप 'परम तत्त्वमय, शान्त, शुद्ध, सम, स्वतः प्रकाशमान' भासित हुआ॥ ४॥ हरि-भक्तोंने दोनों भाइयोंको सर्वसुखदाता इष्टदेवके समान देखा॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'परम तत्वमय' इति तत्त्व पचीस हैं। इन पचीसों तत्त्वोंसे परे 'परम तत्त्व' है। [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सांख्यशास्त्रने २४ तत्त्व माने हैं, परंतु योगशास्त्र पचीसवाँ तत्त्व 'ईश्वरतत्त्व' को स्वीकार करता है, इसलिये उसे 'परम तत्व' कहा। यह परम तत्त्व क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (विहित, प्रतिषिद्ध तथा मिश्रित), विपाक (कर्मफल, जाति, आयु और भोग) और आशय (वासना) से छुवायी नहीं रखता। यथा 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। पा० १-२४।']। (ख) 'भासा' इति। आदिसे अन्ततक रसोंके वर्णनमें सबका 'देखना' कहा, परंतु योगियोंके सम्बन्धमें 'भासा' कहा। कारण कि परम तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता, देखा नहीं जाता। वह केवल अनुभवगम्य है, उसका अनुभवमात्र होता है।—यह गोस्वामीजीकी सावधानता है। (ग) 'सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा' इति। ईश्वरका स्वरूप शान्तरसमय है, यथा—'बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरें सरीर सांतरस जैसे। १०७। १।' पुनः, शुद्ध है अर्थात् परमतत्त्वमय है, मायाजनित विकारोंसे रहित है, उनसे परे है। 'सम' अर्थात् न्यूनाधिक्य विकारसे रहित है, सदा एकरस रहता है। 'सहज प्रकाश' रूप है, अर्थात् दूसरेके प्रकाशसे प्रकाशित नहीं है। 'सहज प्रकासरूप भगवाना। ११६। ५।' में देखिये। ☞ (घ) योगी भगवान्‌के तत्त्वरूपकी उपासना करते हैं, इससे उनको तत्त्वरूप भासित हुआ।

२ (क) 'हरिभगतन्ह' इति। जो जैसी मूर्तिका उपासक था उसको वैसी मूर्ति देख पड़ी, इसीसे 'हरि' कहा। 'हरि' सब अवतारोंकी मूर्तिका बोधक है। (ख) 'सब सुखदाता'=सब सुखोंके एवं सबोंके सुखके दाता। दोनों अर्थ हैं। इष्टदेव ही माता-पिता भाई, बन्धु, मित्र आदि सभीका सुख दे सकते हैं, अन्य कोई एक दोके ही सुख दे सकते हैं, सब नहीं। ☞ हरिभक्त इष्टभावसे देखते हैं, इसीसे उनको इष्टदेवके समान देख पड़े। [पुनः, 'हरिभक्त अर्थात् आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी, वा नवधा, प्रेमा, परावाले जो भगवद्भक्त हैं। इष्टदेव इव अर्थात् कृपा, दया, सौशील्य, उदारतादि गुणसम्पन्न।' (वै०)]। (ग) ☞ योगियों और हरिभक्तोंको जनकजीके परिकरोंमें कहा, क्योंकि जनकजी योगी भी हैं और हरिभक्त भी। वे भगवान्‌के भक्तोंको अपना कुटुम्ब समझते हैं। पुनः, जनकजी सब योगियोंमें श्रेष्ठ हैं इसीसे योगियोंसे प्रथम कहा और प्रधान भक्तराज हैं, इससे हरिभक्तोंसे भी पहले उन्हें कहा।

नोट—१ जिसका मन जिसमें लगता है वह श्रीदशरथनन्दनजीको उसी रूपमें देख रहा है। इससे जनाया कि सब भक्तोंके इष्टदेव ये ही हैं और ये ही सब सुखोंके देनेवाले हैं। २ पंजाबीजीका मत है कि 'यहाँ 'इव' निश्चयके अर्थमें है' ३ पाँड़ेजी कहते हैं कि यहाँ अद्भुतरस है क्योंकि यहाँ जो जिस देवताका उपासक है उसको उसीका रूप देख पड़ता है और बैजनाथजी यहाँ हास्यरस कहते हैं। (इष्टदेवमें प्रायः सभी भक्तोंका सेवाभाव कुछ-न-कुछ रहता ही है इससे हास्यरस भी हो सकता है)।

रामहि चितव भाय* जेहि सीया। सो सनेहु सुखु† नहि कथनीया॥६॥

* भाव—१७०४, को० रा०। भाय—१६६१; १७२१, १७६२, छ०। † सुख—१७०४।

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ॥ ७॥
येहि* बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥ ८॥

अर्थ—जिस भावसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं, वह भाव, स्नेह और सुख कथनमें नहीं आ सकता॥ ६॥ वे उसे हृदयमें अनुभव कर रही हैं पर वे भी कह नहीं सकतीं, तब कोई भी कवि किस प्रकार उसे कह सके? ॥ ७॥ इस प्रकार जिसका जैसा भाव था उसने कोसलराज रामचन्द्रजीको वैसा ही देखा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) सबके भाव यहाँतक लिखे। अर्थात् (रणधीर) राजाओंको वीर, कुटिलोंको भयदाता, छलियोंको काल, पुरवासियोंको नरभूषण, स्त्रियोंको शृङ्गार, विदुषोंको विराट्, निमिवंशियोंको सगे सजन, राजारानीको शिशु, योगियोंको परमतत्त्वमय और हरिभक्तोंको इष्टदेवसम देख पड़े, यही उनके भाव थे। श्रीसीताजीका भाव, स्नेह और सुख तीनों अकथनीय हैं इसीसे कविसे कहते नहीं बनता। इनका 'स्नेह-सुख' कथनीय नहीं, इस कथनसे जनाया कि औरोंके सुख और स्नेह कथनीय थे इससे कहे, यथा 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥ 'हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥' (ख) 'नहिं कथनीया' कहकर आगे उसका कारण कहते हैं। (ग) ☞अन्तमें सीताजीको कहनेका भाव कि क्रमसे भाव कहना प्रारम्भ किया और क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक प्रीति कहते गये; जब अकथ भावपर पहुँचे तब कहना बंद हो गया।

२ (क) 'न कहि सक सोऊ' यथा 'सुनु सिवा सो सुख बचन मन गो भिन्न जान जो पावई'। (ख) 'कवन प्रकार कहै कबि' अर्थात् जब कुछ छाया भी उसकी मिले तब तो कुछ कहे, यथा 'कबिहि अरथ आखर बल साचा। अनुहर ताल गतिहि नट नाचा॥' तात्पर्य कि कविके कहनेका प्रकार 'अक्षर' और 'अर्थ' है। श्रीजानकीजी अपना सुख न कह सकीं, इससे कविको अर्थ या अक्षर कुछ भी न मिला। जब भोग भोगनेवाला कुछ जनावे तब कवि विस्तार करके कहे। पुनः जिनकी दी हुई बुद्धि पाकर कवि लोग कहते हैं—'जासु कृपा निर्मल मति पाऊँ' वही जानकीजी ही नहीं कह सकतीं तब कवि कैसे कहे?—(यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है) यहाँ यह भी जनाते हैं कि ईश्वरजनित सुख भोगने योग्य है, कथन योग्य नहीं।

वि० त्रि०—लौकिक भावोंके लिये शब्द हैं क्योंकि वे व्यवहारमें आते हैं। अलौकिकके लिये शब्द नहीं मिलते क्योंकि व्यवहारमें उनका चलन नहीं। संसार दाम्पत्य प्रेमसे परिचित है, अतः उसके लिये शब्द हैं, परन्तु राम-सीयमें ऐकात्म्य भाव है, यथा 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।' अतः इस प्रकारकी प्रीति लोकमें नहीं है, लोकमें इस प्रीतिका कोई अनुभव नहीं करता। अतः उसके लिये शब्द भी नहीं पाये। सीताजी उसका अनुभव करती हैं, वे भी नहीं कह सकतीं, क्योंकि शब्दकी वहाँतक गति नहीं।

महात्मा श्रीरामप्रसादशरणजी—स्फुट मनोरंजक मानस प्रसंगोंमेंसे एक यह भी है। यद्यपि परस्पर अवलोकनमें शृङ्गारकी प्रधानता है तथापि क्षण-क्षणमें नवों रस श्रीजानकीजीकी चित्तवृत्तिको आकर्षित करते हैं। मनोहर मूर्तिके दर्शनमें शृङ्गार झलकता है। जब पिता-प्रणका स्मरण होता है तब करुणा आ जाती है। जब राजकुमारके ताड़का-सुबाहु आदिके वधप्रसंगपर ध्यान जाता है तब वीररसका संचार हो जाता है। जब अपने मनकी गतिपर दृष्टि जाती है तब हास्यकी झलक आ जाती है। जब तत्काल प्रसिद्ध उनके अलौकिक कार्य शिलाभूत अहल्याके उद्धार और बिना बाणके मारीचको मारकर उड़ाना आदि घटनाएँ याद आती हैं तब अद्भुतरसका हृदयमें अन्तर्भोग होने लगता है। धनुषकी गुरुता और कठोरतामें भयानक। पिताने व्यर्थ कठिन प्रण किया, इसमें रौद्र। राजकुमारमें अपने सहज एवं सत्य स्नेहके विचारसे 'सख्यरस' 'करिहहिं मोहि रघुपति की दासी' इस उक्तिके अनुसार दास्य और 'तौ भगवान सकल उर बासी' इसमें शान्तरस है। इस प्रकार जब पल-पलमें विविध रसोंका संचार हृदयमें हो रहा है, जब स्वयं किशोरीजी ही उसको दृढ़तापूर्वक नहीं धारण करती हैं—'उर अनुभवति न कहि सक सोऊ' तब 'कवन प्रकार कहै कबि कोऊ।'

नोट—१ पाँड़ेजी यहाँ 'हास्यरस' कहते हैं और बैजनाथजीका मत है कि 'यहाँ कोई भी रस प्रधानताको नहीं पाता। परस्पर अवलोकनसे यद्यपि आलम्बन शृङ्गार है तथापि सब प्रणकी सुध आती है तब करुणारस खींचता है, जब बल वीरताका स्मरण होता है तब वीररस, सुकुमारता विचारनेमें हास्यरस, शोभावलोकनमें शक्तिकी सुध आनेपर अद्भुतरस, धनुषकी गुरुतामें बीभत्स, कठोरतामें भयानक, पिताने व्यर्थ प्रण किया इसमें रौद्र, भगवान् सर्व उरवासी हैं, मुझे रघुपतिकी

* जेहि १७०४।

दासी करेंगे इसमें शान्तरस खींचता है जो सब रसोंकी हानि करता है। कविके हृदयमें अनेकों रसोंका अनुभव होता है, पर कोई भी रस निमिषमात्र भी तो नहीं ठहरता; इससे वह नहीं कह सकता ? प्र० स्वामी क्रमसे शृङ्गार, करुणा, वीर, भयानक, हास्य, अद्भुत, शृङ्गार, शान्त और भक्तिरसोंका चलचित्रपट मानते हैं।

टिप्पणी—३ (क) 'जिन्हके रही भावना जैसी ॥....। २४१। ४।' उपक्रम है और 'येहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ' ॥ २४२। ८।' उपसंहार है। वहाँ 'भावना' और यहाँ 'भाउ' शब्द देकर दोनोंको पर्यायवाची जनाया। आदिमें 'प्रभुमूरति' पद दिया जो ऐश्वर्यसूचक है, अब यहाँ 'कोसलराऊ' पद देकर ऐश्वर्यको माधुर्यमें घटा दिया। (ख) यहाँ भावोंकी समाप्ति करके जनाया कि इतने ही भावोंके भीतर सब लोग आ गये। (ग) ☞ जब सबकी भावना इकट्ठा कही तब 'भावना' के साथ बहुवचन 'जिन्ह'·'तिन्ह' दिये थे—'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥' और जब सबके भाव पृथक्-पृथक् लिख चुके, तब एकवचन 'जाहि' 'तेहि' दिये। [उपक्रममें 'प्रभु मूरति' के सम्बन्धसे 'भावना' स्त्रीलिङ्ग शब्द दिया गया और यहाँ 'कोसलराऊ' के सम्बन्धसे 'भाऊ' पुँल्लिङ्ग शब्दका प्रयोग किया गया; यह ग्रन्थकारका सँभाल है। (घ) 'जाहि जस भाऊ ॥....' अर्थात् भावके अनुसार मूर्ति देख पड़ी, तात्पर्य कि दर्शनमें भाव मुख्य है। भावके ऊपर (सम्बन्धमें) देवतीर्थ स्वामीका भजन देखने योग्य है। ☞ जो सरकारमें जैसा दृढ़ भाव रखता है, जो सम्बन्ध मानता है, प्रभु उसी भावसे उसको प्राप्त होते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्']।

श्रीराजारामशरणजी—१ तुलसीदासजीके इस कलाके चमत्कारको कि नवों रसोंमें राजकुँवरोंका वर्णन कर दिया कदाचित् फिल्मकला कुछ दिखा सके तो सके। एक जगह बर्नार्ड शा (Bernard shaw) महोदयने कुछ उसी कलाकी सहायतासे प्रतिबिम्बद्वारा बड़े आकारके अमानुषिक व्यक्तिको दिखाया है। यहाँ भी 'भयानक मूरति भारी' दिखाया है और उससे भी कठिन है 'विराट्' और 'सहज प्रकाश' रूप। २—नाटकीय कला और महाकाव्यकलाका सम्मिश्रण विचारणीय है, पर प्रधान है नाटकीय कला, इसीसे 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा' आना लिखा है, फिर मजा यह है कि एक श्रेणीके स्त्री-पुरुष दूसरे श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंकी भावना न देख सकें, न समझ सकें—'जाकी रही भावना जैसी' वैसी ही मूर्ति वह देखता है, परंतु 'कोउ न जान कछु मरम बिसेषा'। सच है, भगवान् रसरूप भी वेदोंमें कहे गये हैं, इसीसे कुशल कवि उन रसराजको सभी रसोंमें मूर्तिमान् कर देता है। भावोंके साथ अक्षरोंके शब्दगुणके परिवर्तन विचारणीय हैं।

प० प० प्र०—भाव विश्लेषणके निमित्तसे इस प्रकरणमें—(१) वैराग्य, ज्ञान और भक्तिकी कनिष्ठता और श्रेष्ठता, (२) व्यावहारिक नाते और सम्बन्धसे भी पारमार्थिक सम्बन्धकी श्रेष्ठता, (३) नारिवर्गकी प्रधान भावना, (४) पितासे माताके प्रेमकी अधिकता, (५) पूर्वसंस्कारानुरूप नातेका सम्बन्ध, ममत्व और प्रेम आदिकी उत्पत्ति इत्यादि अनेक महत्त्वके सिद्धान्त सहज लीलामें एक दो शब्दोंके भेद, अनुक्रम इत्यादि विविध युक्तियोंसे भरे हैं। ८। १० पंक्तियोंके छोटेसे प्रकरणमें इतने विविध सिद्धान्त गुप्त प्रकट भर दिये हैं। ऐसा राम-नाट्यमहाकाव्य-संयोग इतरत्र कहीं न मिलेगा। विशेषता तो यह है कि यहाँके प्रत्येक सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये मानसमें ही प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। कितनी व्यापक काव्यकला और प्रतिभा भाव!

नोट—२ श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धमें जब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीबलरामजीका कुवलयापीड़ नामक हाथीको मारकर रंगभूमिमें पधारना कहा गया है तब वहाँ भी ऐसा ही वर्णन पाया जाता है।

दोनों भाइयोंके एक साथ रंगभूमिमें पधारनेपर बड़े-बड़े पहलवान यह समझकर कि इनका शरीर वज्र-सा कठोर है रौद्ररसका अनुभव करने लगे। साधारण मनुष्योंने ऐसा समझा कि ये कोई श्रेष्ठ मनुष्य हैं और इसी अवस्थामें उनकी विचित्रताओंका स्मरण करके अद्भुतरसकी अनुभूति की। स्त्रियोंको ऐसा जान पड़ा मानो ये मूर्तिमान् कामदेव हैं। वे शृङ्गार-रसकी अनुभूतिमें तन्मय हो गयीं। ग्वालबाल उन्हें अपना स्वजन समझकर हँसने लगे और हास्यरसका आस्वादन करने लगे। पृथ्वीके दुष्ट शासकोंने यह समझकर कि ये हमारा शासन करनेवाले हैं—उनमें वीररसका अनुभव किया और माता-पिताके समान बड़े-बूढ़ोंने उन्हें नन्हे-नन्हे बच्चोंके रूपमें अखाड़ेमें आते देख करुण-रसकी अनुभूति प्राप्त की। कंसने समझा कि यह तो हमारा काल ही है और इस प्रकार वह भयानकरसकी अनुभूतिमें डूब गया। अज्ञानियोंने उनके शरीरपर हाथीका रक्त, मद आदि लगा देखकर विकृतरूपकी कल्पना की, इसलिये उन्हें बीभत्स रसका अनुभव हुआ। योगियोंने उन्हें परमतत्त्व समझकर शान्तरसका साक्षात्कार किया। भगवान्‌के भक्त तथा प्रेमी वृष्णिवंशी उन्हें अपना इष्टदेव समझकर प्रेम और भक्ति-

के रसमें डूब गये। (भागवताङ्क)। मूल श्लोक यह है—'मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥ ४३। १७।'

मानस और भागवतका मिलान करनेसे भागवतके 'मल्लानां अशनिः' (१), 'नृणां नरवरः' (२), 'स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्' (३), 'गोपानां स्वजनो' (४), 'असतां क्षितिभुजां शास्ता' (५), 'स्वपित्रोः शिशुः' (६), 'मृत्युर्भोजपतेः' (७), 'विराडविदुषां' (८), 'तत्त्वं परं योगिनां' (९), 'वृष्णीनां परदेवता' (१०) की जोड़में मानसमें क्रमशः 'देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीररस धरे सरीरा॥' (१), 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई' ॥ (२), 'नारि बिलोकहिं····जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥' (३), 'जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥' (४), 'डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥' (५), 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥' (६), 'रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥' (७), 'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा॥' (८), 'जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा॥···' (९), 'हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥' (१०) ये हैं।

दो०—राजत राजसमाजु महुँ कोसल राजकिसोर।
सुंदर स्यामल गौर तन बिस्वबिलोचन चोर॥ २४२॥

अर्थ—सुन्दर श्यामल और गौर शरीर, किशोर अवस्था और विश्वमात्रके नेत्रोंको चुरानेवाले, कोसलपुरीके राजा दशरथजीके पुत्र राजसमाजमें सुशोभित हो रहे हैं॥ २४२॥

टिप्पणी—१ 'राजसमाज बिराजत रूरे'॥ २४१। ३।' उपक्रम है और 'राजत राजसमाज' उपसंहार है। २—प्रथम कहा था कि 'राजकुँअर तेहि अवसर आए' और अब यहाँ बताते हैं कि वे किस राजाके कुँवर हैं—'कोसलराजकिसोर'। ३—'राजत राजसमाज महुँ कोसलराजकिसोर' कहनेका भाव कि कोसलराज चक्रवर्ती हैं, उनके ये किशोर हैं; अतः इनकी शोभा सब राजाओंसे अधिक हुआ ही चाहे—यही अभिप्राय 'उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे' इस उत्प्रेक्षासे दिखाया है। चन्द्रमा समस्त तारागणका पति है वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी सब राजाओंके पति हैं क्योंकि चक्रवर्ती राजाके पुत्र हैं।—यह ऐश्वर्यकी शोभा कही। आगे तनकी शोभा कहते हैं। ४—'सुंदर स्यामल गौर सरीरा॥ २४१। २।' उपक्रम है और 'सुंदर स्यामल गौर तन' उपसंहार है। ५—'बिस्वबिलोचन चोर' का भाव कि श्याम गौर तनकी सुन्दरता देखनेमें सबके नेत्र लग जाते हैं जैसा आगे स्पष्ट करके कहते हैं।—'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥ २४४। ३।' 'स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥ २१५। ५।' देखिये।

वीरकविजी—रामचन्द्रजी विश्वभरके नेत्रोंको प्रिय लगनेवाले हैं, यह न कहकर 'चोर' स्थापन करना अर्थात् औरको और कहना 'सारोपा लक्षण' है। 'चोर' शब्दमें लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। नेत्र चुराये जा नहीं सकते और चोरी होनेपर धनीको दुःख होता है पर इस चोरीमें उल्टे धनीको आनन्द होता है।

प० प० प्र०—इस दोहेमें राज, राज, राज यह यमकानुप्रास और राज, माज यह अनुप्रास विराजनेमें कितनी सुन्दरता पैदा करता है! यहाँसे 'एकटक लोचन चलत न तारे' तक युगल किशोरोंके रूपका वर्णन है।

पंजाबीजी—'राजकुमार श्याम गौर और आँखका भी स्वरूप श्याम गौर। विशेष ज्योति अल्प ज्योतिको अपनेमें खींच लेती है सो इस स्वरूपके प्रकाशके प्रभावसे सबोंकी दृष्टि उनकी ओर लग रही है।'

पाँडेजी—'चौदह विद्याओंमेंसे चौर्य्य विद्याका इस दोहेमें तरीभार (उत्कृष्ट रूप) वर्णित है।⊛ चोरकी सबसे बड़ाई यह है कि आँखोंका काजल चुरा ले। सो ये उससे भी बढ़कर हैं कि विश्वकी आँखोंको चुरा लेते हैं। इनकी किशोरावस्थाहीमें यह चोर विद्याकी निपुणता प्राप्त है तो आगे न जाने क्या (कहर वर्पा) करेंगे। पुनः, चोर छिपकर रातके समय राजाके नौकरोंसे डरता हुआ चोरी करता है और ये ऐसे निपुण हैं कि भरी सभामें दिनधौले राजाओंके समाजमें निडर हो उनसे बड़ी वस्तु अर्थात् विश्वके नेत्रोंकी चोरी करते हैं। जिन आँखोंसे देखकर चोर पकड़ा जाता है, ये उन आँखोंको ही चुरा लेते हैं, अब कौन देखे और कौन पकड़े?'

⊛ चोरविद्या किन चौदह विद्याओंमें है यह हमको नहीं मिला। ६४ कलाओंमें अवश्य एक कला यह है।

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥ १॥
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥ २॥
चितवनि चारु मारमनु*हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥ ३॥

शब्दार्थ—निंदक=तिरस्कार करने, नीचा दिखानेवाले। भावते=अच्छे लगनेवाले, प्यारे।

अर्थ—दोनों मूर्तियाँ सहज ही (बिना शृङ्गारके) मनको हरनेवाली हैं। करोड़ों कामदेवोंकी उपमा दी जाय तो यह भी तुच्छ होगी॥ १॥ दोनों भाइयोंके नीके सुन्दर मुख शरद्के पूर्णचन्द्रकी अत्यन्त निन्दा करनेवाले अर्थात् उसको नीचा दिखानेवाले हैं। सुन्दर नेत्र शरद्कमलके निन्दक हैं और जीके 'भावते हैं'॥ २॥ सुन्दर चितवन कामके भी मनको हरनेवाली है, हृदयको भाती है, कही नहीं जाती॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'सहज मनोहर मूरति' इति। भाव कि दोनों भाई मुनिके साथ, जैसे उस समय साधारण शृङ्गार किये बैठे थे वैसे ही, चले आये हैं, कोई विशेष शृङ्गार इस समय नहीं किये हैं तो भी मनको हर लेते हैं। ☞'पहले 'बिस्वबिलोचनचोर' कहकर अब 'मनोहर' कहनेका भाव कि प्रथम देखा जाता है, तब मन हरण होता है। प्रथम नेत्रको चुरा लिया। फिर मनको हर लिया। तात्पर्य कि बाहर और भीतरकी इन्द्रियोंमें यही दो प्रबल हैं सो वे अपनी सुन्दरतासे इन दोनोंको आकर्षित कर लेते हैं। यथा 'बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा। २१९। २।' 'मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा। २। २१५।' (ख) 'लघु सोऊ' कथनसे पाया गया कि कोटि कामकी उपमा बड़ी भारी उपमा है सो भी इनके सौन्दर्यके आगे मात है। पूर्व रंगभूमिमें आनेपर 'मनहुँ मनोहरता तन छाए। २४१। १।' अर्थात् इनके अङ्ग-अङ्ग मनोहरतासे पूर्ण हैं। अब यहाँ नखशिख-वर्णनमें उस मनोहरताको अनुपम बताते हैं। (ग) 'सरद चंद निंदक' इति। कामकी उपमा कहकर अब चन्द्रमाकी उपमा कहते हैं, क्योंकि सुन्दरतामें चन्द्रमाकी भी गिनती है। यथा 'सुषमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोमपर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे। गी० १। ६६। १०।' (घ) शरद्, निंदक और नीके ये तीन शब्द कहकर तब 'नीरज नयन' इतना ही कहा, क्योंकि प्रथम कह देनेसे यहाँ भी तीनोंका ग्रहण हो चुका। शरद् कमलकी उपमा नयनकी है, यथा 'सरद सरबरी नाथ मुख सरद सरोरुह नयन। २। ११६।' (ङ) 'भावते जी के' अर्थात् नेत्रोंकी शोभा जीमें है, मुखसे कहते नहीं बनती और मुखकी छबि जीमें है पर कहते नहीं बनती, यथा 'मुख छबि कहि न जाति मोहि पाहीं।' ☞ इस तरह इस अर्द्धालीका अन्वय यह है—'नीके मुख सरदचंद निंदत नीके नयन सरद नीरज निंदत'।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'शरदचन्द्रनिंदक' कहकर जनाया कि निर्मल पूर्ण प्रकाशमान प्रसन्न मुख अपने गुणोंसे चन्द्रमाके कलङ्की, दिनमें मलिन, राहुसे सदा सभीत इत्यादि अवगुणोंको दरसाता है। सुचारु कर्णपर्यन्त दीर्घ रतनारे समशील और रसीले नेत्र अपने गुणोंसे कमलके निशामें संपुटित होना, शीतसे सदा सभीत रहना इत्यादि अवगुणोंको दर्शित करता है। (बै०)।

२—पाँडेजी लिखते हैं कि 'नीके' का अन्वय शरदचंद्र मुख, नीरज और निन्दक इन सबोंके साथ है 'निन्दक' भी दोनोंके साथ है। मुख शरदचंद्रका और नयन कमलका निन्दक है। जब दोनोंकी उपमाएँ नष्ट हो गयीं तब केवल कविके 'जीके भावते' रह गया' (—केवल कविके जीका भाव रह गया) ['मुखचंद्र नयन कमलको प्यार कर अपनेहीमें सदा बसाये रहता है। यह उत्तमता है जिससे मुख शरद्चन्द्रको लज्जित करता है।' (बै०)। पुनः भावते जीके=जीवमात्रको भले लगते हैं, भाव कि सब जीवोंपर दयादृष्टि किये हैं। (बै०)। कमलसे नेत्रोंमें विशेषता यह है कि इनमें चितवन है, जो कमलमें नहीं है। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—२ (क) 'चितवनि चारु' इति। नेत्रोंकी सुन्दरता कहकर अब नेत्रोंके चितवनकी सुन्दरता कहते हैं। कामदेव अपनी सुन्दरतासे जगत्‌मात्रका मन हर लेता है सो उसके भी मनको श्रीरामजीकी चितवन हर लेती है। जैसे नेत्रोंकी शोभा जीको भाती है पर कहते नहीं बनती, वैसे ही उन (नेत्रों) के चितवनकी भी शोभा हृदयमें भाती है, वर्णन नहीं

* मद—१७०४ (रां० बा०)। मनु १६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, रा० प०।

की जाती। 'नीरज नयन भावते जीके' यह नेत्रकी शोभा कहकर 'चितवनि चारु मार०' यह उसके कार्यकी शोभा कही। ☞ इसी तरह यहाँ 'शरदचंद निंदक मुख नीके' कहकर आगे मुखके कार्यकी शोभा कहते हैं—'सुंदर मृदु बोला।'

नोट—३ बैजनाथजी कहते हैं कि 'चारु' से सुन्दर सम (तिरछी नहीं) चितवनका अर्थ होगा। भाव यह है कि सम होनेपर भी कामको जो अपने बाणोंका मद है उसको भी मिटा देती है।' वे 'मद' पाठ देते हैं। सं० १६६१ की तथा काशिराजकी रामायणपरिचर्याका पाठ 'मनु' है और यही उत्तम है। इसकी उत्तमता ऊपर टिप्पणीमें दिखा आये। जब कामका ही मन हरण हो जाता है तब जगत्‌के अन्य प्राणियोंका कहना ही क्या! मन सब इन्द्रियोंका राजा है, नेत्र उसके मन्त्री हैं। यथा 'मन सौं और महीप नहिं दृग सौं नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदरै मन तेहि हाथ बिकान॥' (रहिमन)।

४ 'भावत हृदय जाति नहिं बरनी' अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब उसीके दर्शनमें आसक्त हो गये, तब वर्णन कैसे हो और कौन करे?

कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥ ४॥
कुमुदबंधु कर निंदक[*] हासा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥ ५॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—लोल (सं०)=हिलता, डोलता, चंचल। यथा 'भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुंडल लोल कपोलनि झाँई। निरखहिं नारि निकर बिदेहपुर निमिनृपकी मरजाद मिठाई॥ गी० १। १०। ६॥'

अर्थ—सुंदर गाल हैं। सुन्दर कानोंमें सुन्दर चंचल कुण्डल (गालोंपर) झूम रहे हैं। ठोढ़ी और ओंठ सुन्दर हैं। सुन्दर कोमल बोली है॥ ४॥ हँसी चंद्रकिरणकी निन्दा (तिरस्कार) करनेवाली है। भौंहें टेढ़ी हैं, नाक सुन्दर हैं॥ ५॥ ऊँचे चौड़े ललाटपर तिलक झलक (दीप्तिमान् हो) रहे हैं। बालोंको देखकर भ्रमरावली (भ्रमरोंकी पंक्ति-की-पंक्ति) लजा जाती है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) कपोलोंकी सुन्दरता कहकर श्रुति (कान) में कुण्डल कहते हैं। तात्पर्य कि एक तो कपोल स्वयं सुन्दर हैं, दूसरे उनके ऊपर चंचल कुण्डलोंकी शोभा हो रही है, इधर-उधर देखनेपर वे हिलते हैं और उनका प्रतिबिम्ब कपोलोंपर पड़ता है। यथा 'भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुंडल लोल कपोलन्ह झाँई।' (गीतावली)। (ख) 'श्रुति कुंडल' कहनेसे सूचित होता है कि कनकफूल उतारकर कुण्डल पहन लिये हैं, क्योंकि यह राजाओंका समाज है, सभी राजा कुण्डल पहने हैं। (ग) 'चिबुक अधर सुंदर' इति। ओष्ठकी सुन्दरता उसकी अरुणाई है; यथा 'देखत अधरनकी अरुनाई। बिंबाफल जनु रहे लजाई'॥ मृदु होना बोलकी सुन्दरता है। ☞'सरद चंद निंदक मुख नीके' में समस्त मुखमंडलकी शोभा कही गयी और यहाँ केवल मुखकी शोभा कहते हैं। अधर, बोल, हास्य ये केवल मुखकी शोभा हैं। [☞'सुन्दर मृदु बोला' कहकर श्रीमद्‌गोस्वामीजी जना रहे हैं कि श्रीरामचन्द्रजी कुछ-कुछ बातें कर रहे हैं, यथा 'भाई सौं कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं। सनमुख सबहि बिलोकत सबहिं नीके कृपा सौं हेरत हँसि तुलसीकी ओर हैं॥ गी० ७१।' अर्थात् विश्वामित्रजीका संकोच है, इससे थोड़ा-थोड़ा बोलते हैं और कभी बोलते-बोलते किंचित् हँसी आ जाती है। वही हँसी कुमुद-बन्धु-करका निन्दक है।]

२ (क) मुखसे हास है, चन्द्रसे किरण है। 'हास' को किरण अन्यत्र भी कहा है, यथा 'सूचत किरन मनोहर हासा॥ १९८। ७॥' मुख चन्द्रका निन्दक है तो हास किरणका निन्दक है। कारणका तिरस्कार कारणसे और कार्यका तिरस्कार कार्यसे दिखाया। परस्पर दोनों भाई वार्ता करते हैं, प्रयोजन पड़नेपर हँसते भी हैं। (ख) 'कुमुदबंधु' का भाव कि सब राजा कुमुद हैं, यथा 'सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन॥ २६४॥ कुमुदबंधुकर निंदक हासा' का भाव कि जब हास्यसे कुमुदबन्धुका तिरस्कार हुआ तब निश्चय है कि हास्यसे कुमुदगण भी निन्दित किये जायँगे। अर्थात् सब राजाओंकी हँसी होगी। (चन्द्रमा कुमुदको विकसित करता है, इसीसे उसे कुमुदका भाई कहा। आपत्तिमें भाई ही सहाय होते हैं) । (मुखपर प्रकाश हँसीसे ही आता है। इसीसे हँसीको चाँदनीका निन्दक कहना प्राप्त है। वि० त्रि०)। (ग) 'भृकुटि बिकट' इति। विकट (टेढ़ा) होना अवगुण है पर भौंहका विकट होना ही गुण है, यथा 'भृकुटि मनोज चाप छबि हारी' 'मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहि दै दोष। तुलसीसे सठ सेवकन्हि लखि जनि परै सरोष॥ (दोहावली)। (घ) 'मनोहर नासा'। मंदोदरीने रावणसे विश्वरूप रघुवंशमणिके वर्णनमें नासिकाको अश्विनीकुमार कहा है, यथा 'जासु घ्रान

अश्विनीकुमारा'। इससे पाया गया कि नासिका अत्यन्त सुन्दर है क्योंकि अश्विनीकुमार सब देवताओंसे सुन्दर हैं। श्रीजनक महाराजने विश्वामित्रजीसे दोनों राजकुमारोंका परिचय पूछते हुए उनके रूपको अश्विनीकुमारोंके समान कहा है; यथा 'इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥ गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ। अश्विनाविव रूपेण समुपस्थित यौवनौ ॥ १८ ॥ वाल्मी० १। ५०॥' इससे भी अश्विनीकुमारोंका परम सुन्दर होना पाया जाता है।

३ (क) 'भाल बिसाल' यह भालकी शोभा है। 'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं' से जनाया कि समस्त भालदेशमें तिलकका प्रकाश फैला हुआ है; यथा 'तिलक ललाट पटल दुतिकारी। १४७। ४।' 'झलकाहीं' बहुवचन क्रिया देकर दोनों भाइयोंका तिलक कहा। (ख) 'अलि अवलि लजाहीं' से सूचित किया कि अगणित भ्रमरोंके एकत्रित होनेपर कुछ उपमा हो सकती है क्योंकि केश बहुत दूरतक (कंधोंतक लटके हुए) हैं और भ्रमर छोटा होता है। जब बहुतसे एकट्ठे हों तब बराबर होनेपर कुछ कहा जा सके, यथा 'कुटिल केस जनु मधुप समाजा'। इसीसे 'अलि अवलि' कहा। इस उपमासे केशोंकी श्यामता, चिक्कनता और चमक कही। (केश घुँघराले होनेसे 'अलि अवलि' का लजाना कहा)।

४ ☞ मिलान कीजिये—'भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु। भ्रमर द्वै रबि किरन लाए करन जनु उन्मेषु ॥ गीतावली ७। ९॥

पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुमकली बिच बीच बनाई ॥ ७ ॥
रेखें रुचिर कंबु कल गीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कुसुम—यह दो प्रकारका होता है। यहाँ उस पौधेके फूलसे तात्पर्य है जिसमें प्रायः काँटे नहीं होते और जिनके फूलोंसे बढ़िया लाल रंग निकलता है। यहाँ लाल फूल ही अभिप्रेत है।

अर्थ—चौगोशिया पीली टोपियाँ सिरोंपर शोभित हैं, जिनके बीच-बीचमें कुसुमकी कलियाँ बनायी गयी हैं ॥ ७ ॥ शङ्खके समान सुन्दर गलेमें सुन्दर (तीन) रेखाएँ मानो तीनों लोकोंकी परमा शोभाकी सीमा (मर्याद, हद) हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई' इति। सिरपर श्याम केश हैं, श्यामपर पीत रंग सोहता है और पीतपर लालरंग शोभा देता है, इसीसे उसमें कुसुमकी कलियोंका कढ़ा होना कहा। कुसुम लालफूलका वाचक है। पीत चौतनीपर लाल-लाल कलियाँ कुछ-कुछ दूरीपर कढ़ी हुई सोह रही हैं। पुनः भाव कि सिर ऐसे सुन्दर हैं कि उनपर जो टोपियाँ पहनी गयी हैं, वे भी सुन्दर हो गयी हैं। पुनः भाव कि सिरकी सुन्दरता प्रथम ही कह आये हैं कि 'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं'। अब टोपीकी सुन्दरता कहते हैं कि पीत हैं और उनमें कलियाँ बनी हैं; तात्पर्य कि टोपियाँ अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं और सिर पाकर और भी सुन्दर हो गयी हैं। (ख) 'बनाई' शब्द देकर सूचित किया कि रेशमसे कलियाँ काढ़ी गयी हैं, साक्षात् फूलकी कलियाँ नहीं हैं। यदि साक्षात् फूलकी होतीं तो 'लगाई' कहते। 'बिच बीच' से जनाया कि सघन नहीं हैं। [(ग) पंजाबीजी कहते हैं 'चौतनी रंगदार पगड़ी है। षोडशवर्षकी अवस्था और राजसमाजमें रघुकुलतिलकके सिरपर टोपी कहते नहीं जँचता।' और संत श्रीगुरुसहायलाल 'कमरखी ताज, चौगसी और कालिबपर चढ़ी हुई टोपी' अर्थ करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि 'ये चक्रवर्ती राजकुमार हैं, इनके सामने दूसरेका टोपी पहनना अनुचित है और ये तो सबके सिरताज हैं, इनको ताज ही फबता है।' विशेष दोहा २१९ और २३३ (२) में देखिये।]

२ (क) 'रेखें रुचिर कंबु कल गीवा' इति। कण्ठ शंख समान हैं, यह कहकर रेखाओंकी भी संख्या जना दी कि तीन हैं। आगे उत्प्रेक्षामें 'त्रिभुवन' शब्दसे यह बात स्पष्ट कर दी गयी है। 'रुचिर' विशेषण देकर रेखाओंकी शोभा कही और 'कल' से कण्ठकी शोभा कही। कण्ठकी उपमा शंखकी दी और रेखाओंकी उपमा त्रिभुवनकी परमा शोभाकी सीमाकी दी। अर्थात् रेखाएँ तीनों लोकोंकी शोभाकी अवधि हैं। पर रेखाओंका आधार कण्ठ है, इस तरह जनाया कि तीनों लोकोंकी परमा शोभा कण्ठमें है तब और अंगोंकी शोभा कौन कह सके। पुनः भाव कि 'रेखा शीव' (सीव) की आकार है, कण्ठ शंखकी आकार है, आकार समझकर उपमा दी। (?) [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'पद पाताल सीस अजधामा' कहा गया है, अतः पैरोंसे कटितककी शोभा गलेके नीचे ही नीचे है। सातों पाताल उनके उरःस्थल तक हैं। इसके ऊपर महः जनः तपः और सत्यलोक ये चारों ब्रह्मलोकके भेद हैं। ग्रीवा महर्लोक, मुख जनलोक है, ललाट तपलोक है और शीर्ष सत्यलोक है। यथा 'उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य। तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः। भा० २। १। २९।'

अतः उन-उन लोकोंकी शोभा उन-उन अंगोंमें है। महर्लोकके नीचे त्रिलोक है। अतः ग्रीवाकी तीन रेखाओंको त्रिभुवनकी शोभाकी सीमा होना पूर्णतः उपयुक्त है।]

दो०—कुंजरमनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
बृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल ॥२४३॥

शब्दार्थ—कलित=सुन्दर, सुसजित, सुशोभित। ठवनि=खड़े होनेकी शान और अङ्ग-संचालनका ढब। मुद्रा।

अर्थ—गजमुक्ताओंका सुन्दर कंठा (गलेमें) है और हृदय (वक्षःस्थलों) पर तुलसीके दलों और मंजरीकी माला सुशोभित है। वृषभ (बैलों) के से (ऊँचे, चौड़े, मोटे और पुष्ट) कन्धे हैं। खड़े होनेकी शान एवं अङ्ग-संचालनका ढब सिंहका-सा है। भुजाएँ बहुत बड़ी और बलकी निधान (समुद्र) हैं॥ २४३॥

टिप्पणी—१ मिलान कीजिये—'उर बिसाल बृषकंध सुभग भुज अति बल पीत बसन उपवीत कण्ठ मुकुताफल' इति गीतावल्याम्। २—कंठा कण्ठका आभूषण है, कंठा कहनेहीसे कण्ठका बोध हो गया इसीसे कण्ठका नाम यहाँ न लिखा। पहले कण्ठका वर्णन किया—'रेखैं रुचिर कंबु कल गीवाँ' पर वहाँ कण्ठका कुछ आभूषण न कहा था। भूषणका वर्णन न होनेसे संदेह होता कि गला खाली है, इसीसे कण्ठ कहकर अब यहाँ उसका आभूषण कहा। जिसमें बड़ी-बड़ी गुरियाँ होती हैं वह कंठा कहलाता है, छोटी गुरियोंवालेको कंठी कहते हैं। ३—'उरन्हि तुलसिका माल'; यथा—'कंबु कंठ उर बिसाल तुलसिका नवीन माल, मधुकर बर बास बिबस उपमा सुन सो री। जनु कलिंदजा सुनील सैल तें धसी समीप, कंदबृंद बरसत छबि मधुर घोरि घोरी। इति गीतावल्याम् ॥ ७। ७।' ४—'केहरि ठवनि' इति। ठवनि=खड़ा होना। श्रीरामजी आकर रंगभूमिमें सिंहकी तरह खड़े हुए। यथा—'ठाढ़े भये उठि सहज सुभाए। ठवनि जुवा मृगराजु लजाए॥ २५४। ६।' अर्थात् उनका खड़ा होना जवान सिंहको लज्जित करता है। पुनः, यथा—'गयो सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज। सिंहठवनि इत उत चितव धीर बीर बलपुंज ॥ ६। १८।' अङ्गद सभाके दरवाजेपर रामजीके चरण-कमलोंको सुमिरकर सिंहठवनि अर्थात् सिंहसमान खड़े होकर इधर-उधर देखने लगे। [ठवनि (सं० स्थापन)=बैठने या खड़े होनेका ढंग; अंगके संचालन वा स्थितिका ढब'—(श० सा०)। खड़े होनेकी शान, ऐंड़—(पोद्दारजी)। बैजनाथजी लिखते हैं कि सिंहकी निःशङ्कता आपके अंगोंसे दर्शित होती है।] ५ 'बलनिधि' अर्थात् बलके समुद्र हैं, इसी समुद्रमें शंकरचापरूपी जहाज डूबेगा। यथा—'संकरचाप जहाज सागर रघुबर बाहु बल'। यही अभिप्राय दरसानेके लिये यहाँही-से भुजाओंको समुद्रका रूपक दे चले।

नोट—यहाँ गजमुक्ता और तुलसीकी माला दोनों लिखे गये। पहिला राजचिह्न है और दूसरा ऋषिके शिष्य होने-का चिह्न है। सम्भव है कि दोनों चिह्न उस समय भी थे जब श्रीजनकमहाराज महर्षि विश्वामित्रका आगमन सुनकर उनको लाने गये थे। इसे भी देखकर उन्होंने मुनिसे कहा हो, 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुलतिलक कि नृपकुल-पालक॥' पाँड़ेजी कहते हैं कि राजकुमार पितासे दूर हैं इससे उन्होंने राजकुमार होनेका चिह्न कण्ठमें अदेख (अदृश्य) रक्खा है और मालाको गुरुजीके निकट होनेके कारण बार-बार देखते हैं। भुजाओंकी ग्रन्थमें कई उपमाएँ हैं। यथा—'करि-कर सरिस सुभग भुजदंडा॥' 'स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर॥' 'काम कलभ कर भुज बल सींवा॥' ये कोई उपमाएँ न देकर यहाँ निधिकी उपमा दी, जिसका कारण टिप्पणीमें लिखा जा चुका है। 'उरन्हि तुलसिका माल' से शृङ्गारकी पूर्णता कही।

कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे॥ १॥
पीत जग्य उपबीत सुहाए। नखसिख मंजु महाछबि छाए॥ २॥

अर्थ—कमरमें तरकश और पीताम्बर बाँधे हुए हैं। दहिने हाथमें बाण हैं और सुन्दर श्रेष्ठ बायें कन्धेपर धनुष है ॥ १॥ पीले यज्ञोपवीत सुन्दर लग रहे हैं। नखसे लेकर शिखातक सब अङ्ग सुन्दर हैं, उनपर महाछबि छाई हुई है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम 'तूनीर' कहकर पीछे 'पीतपट' कहनेसे सूचित हुआ कि प्रथम तरकश बाँधा, फिर उसके

तरकसमें पीताम्बर बाँधा है। और कहीं-कहीं पीतपटके ऊपर तरकश बाँधते हैं, यथा—'पीत बसन परिकर कटि भाथा॥ २३९। ३।' जहाँ जैसा बाँधते हैं वहाँ वैसा ग्रन्थकार लिखते हैं [पुनः, 'पीत बसन…' यह नगरदर्शन-समयका स्वरूप है। वहाँ केवल नगर देखना था। इससे वहाँ तरकश पीताम्बरसे ढका हुआ था। पहले पीतपट ही देख पड़ा, अतः वहाँ पीतपटको पहले लिखा और तरकशको पीछे। और यहाँ राजसमाजमें धनुष तोड़ना है जो वीरोंका काम है, अतः यहाँ तूणीरको कमरमें पीताम्बरसे बाँधा है जिससे तरकश ही प्रथम देख पड़ा जो वीरका बाना है। (प्र० सं०)]। (ख) 'धनुष बाम बर काँधे'। धनुष बायें हाथमें लिया जाता है सो बायें कन्धेपर है। बाण दहिने हाथमें लिया जाता है सो दहिनेमें लिये हैं, यह बात धनुषके साथ 'बामबर काँधे' कहनेसे ही विदित हो गयी। प्रथम बाहुको बलनिधि और विशाल अर्थात् आजानुपर्यन्त लम्बी कहा पर उनमें कुछ धारण करना न कहा था, अब बाण धारण करना कहा। इसी तरह प्रथम कंधोंकी शोभा कहकर अब उनमें धनुषका धारण करना कहा। ☞ (ग) यहाँ तरकशके ऊपर पीताम्बर बाँधनेमें भाव यह है कि वीरोंके समाजमें वीरोंका बाना खुला रहे, कोई व्यवधान न हो। अन्तमें वीररसका प्राबल्य इस बातका संकेत है कि धनुष यही तोड़ेंगे।

२ (क) बायें कंधेमें धनुष कहकर अब यज्ञोपवीत कहनेसे पाया गया कि यज्ञोपवीत भी उसी कंधेपर है। (ख) ☞ पीतरंग वीरोंका बाना है, इसीसे यहां स्वरूपके वर्णनमें सब पीत-ही-पीत रंगका साज है। यथा—'पीत चौतनी सिरन्हि सुहाईं' 'कटि तूनीर पीत पट बाँधे' तथा 'पीत जग्य उपबीत सुहाए॥' सिरसे कटितक सब पीत-ही-पीत दिखायी देते हैं। इस तरह सिरसे कटितक वीर-रसका शृङ्गार है। वीर रसमें शिरसे कटितकका वर्णन होता है, अतएव कटितकका शृङ्गार वर्णन किया। शेष अङ्गोंकी शोभा 'नखसिख मंजु…' से जना दी जिसमें यह सन्देह न हो कि वे सुन्दर नहीं हैं। (त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'अभी यज्ञकी रक्षा करके चले आ रहे हैं, भेंटमें ब्राह्मणोंसे यज्ञोपवीत मिला है, उसे पहने हैं। आजका पीत यज्ञोपवीत भी जीतका ही चिह्न है'। पर जहाँ-जहाँ वर्णन मानस तथा गीतावली आदिमें मिलता है, सदा पीत यज्ञोपवीत ही पाया जाता है। श्वेत या लाल आदि नहीं पाया जाता)। (ख)— 'नखसिख मंजु' इति। सिरसे कटितक सुन्दरता कही। कटिके नीचेका वर्णन न हुआ। इसीसे कहते हैं कि 'नखसिख मंजु…।' प्रथम सिरसे वर्णन उठाया था, अब नखसे वर्णन उठाया; इस तरह नख और शिखा दोनोंकी प्रधानता कायम रही, एक बार उसे प्रथम कहा तो दूसरी बार इसे। (ग)—'मनहुँ मनोहरता तन छाए॥ २४१। १।' उपक्रम है और 'नखसिख मंजु महाछबि छाए' उपसंहार है। ☞ यहाँतक रूपका वर्णन हुआ। [श्रीसीताजी स्वयं महाछवि हैं, यथा—'छबिगन मध्य महाछबि जैसी', और प्रभु 'महाछबि छाए' हैं, अर्थात् रमानिवास हैं। (वि० त्रि०)]

पं० राजारामशरणजी—१ और भावनाके लोग कम थे, इससे उनका संक्षिप्त संकेत लिखा, परंतु शृङ्गार और वीर-रसकी भावनाएँ यहाँ स्थायी हैं इससे उसी प्रकारका नखशिख वर्णन लिखा। २—इस नखशिख वर्णन और फुलवारीवाले नख-शिख वर्णनका अन्तर विचारने योग्य है तभी कविकी कलाकी सुकुमारताका आनन्द मिलेगा कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अन्तरको कवि दिखा देता है। एक-एक अंग लेकर तुलना करने योग्य है, परन्तु विस्तारभयसे केवल संकेत किया जाता है। ३—'सहज मनोहर मूरति दोऊ' में साफ बता दिया कि शृङ्गारमें कृत्रिमता नहीं है। एक अंग्रेजी आलोचकने ठीक कहा है कि बहुधा प्रेमिकका हृदय सहज व्यवहारमें भी मनोहर उद्योग देखता है। यहाँके नखशिख वर्णनमें भी कुछ अंश इसी भावनाका है।

प० प० प्र०—'राजत राजसमाजु…। २४२।' से यहाँतक युगल राजकिशोरोंके रूपका वर्णन है। पूर्वके दोहा २३३ में भी दोनोंका वर्णन है। दोनोंका मिलान करना बड़ा आनन्ददायक और तुलसी-काव्य-कला निदर्शक है। दोहा २३३ वाला वर्णन आदिसे अन्ततक वीररस प्रधान है और यहाँ आरम्भमें शृङ्गाररस ओतप्रोत है। चौ० ५ 'कुमुद बंधु कर निंदक हासा' से 'कटि तूनीर पीतपट बाँधें। कर सर धनुष बाम बर काँधें॥ २४४। १।' तक वीररसकी मात्रा बढ़ती जाती है और अन्तमें फिर शृङ्गार ही प्रधान है। यह भेद साभिप्राय है। भाव यह है कि उनका लावण्य और कोमलता देखकर वात्सल्यादि रसमग्न प्रेमियोंको संशय होगा कि इन कुमारोंसे धनुष कैसे उठ सकेगा। जब वीररसपर दृष्टि जाती है तब धनुर्भङ्गका विश्वास होता है पर अन्तमें फिर शृङ्गार ही प्रबल होता है जिससे निराशा होती है। प्रेमियोंके हृदयमें आशा-निराशाके, विश्वास-संदेहके कल्लोल उठेंगे, उनके मन झूलेके समान ऊपर-नीचे झूलते ही रहेंगे—यह जनाया है।

देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत* न तारे॥ ३॥
हरषे जनकु देखि दोउ भाई। मुनिपद कमल गहे तब जाई॥ ४॥

अर्थ—देखकर सब लोग सुखी हुए। सब एकटक हो गये अर्थात् उनकी पलकें खुली रह गयीं, गिरती नहीं और नेत्रोंके तारे (पुतलियाँ) नहीं चलते॥ ३॥ राजा जनक दोनों भाइयोंको देखकर हर्षित हुए। तब उन्होंने मुनिके चरणकमलोंको जाकर पकड़ लिये अर्थात् प्रणाम किया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'देखि लोग सब भए सुखारे' इति। जब श्रीरामजी रङ्गभूमिमें आये तब सब लोगोंका देखना कहा कि सबने अपनी-अपनी भावनानुसार प्रभुकी मूर्ति देखी और अब देखनेपर सुखका होना और सबके सुखकी दशा कहते हैं। (ख) तारे=पुतलियाँ; यथा—'**रुचिर पलक लोचन जुग तारक स्याम अरुन सित कोए। जनु अलि नलिनकोस महुँ बंधुकसुमन सेज सजि सोए॥** गी० ७। १२।' गोलक (पुतलियों) से देख पड़ता है सो वे अचल हो गये और पलकें देखनेमें बाधा डालती हैं सो वे भी अचल हो गयीं। मूर्तिका वर्णन करके सब लोगोंका देखकर सुखी होना कहनेका भाव कि जिनको वह मूर्ति ऐसी देख पड़ी (जैसी '**सहज मनोहर मूरति दोऊ**। २४२। १ से यहाँतक वर्णन की गयी है, जो इस ध्यानके उपासक वा अनुरागी थे, जिनको यह ध्यान देख पड़ा) वही सब सुखी हुए (न कि समस्त रङ्गभूमिका समाज)। (ग) प्रथम बार देखनेके प्रसङ्गमें रानियोंको प्रधान रक्खा था, यथा—'**सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥**' इसीसे अब राजाको पृथक् करके कहते हैं। लोग सब एकटक देख रहे हैं, यह दशा जनक महाराजकी नहीं है, क्योंकि यदि ये भी वैसे ही देखने लगते तो व्यवहार ही बिगड़ जाता। यह समय सावधानीका है, मुनिको प्रणाम करके सादर रङ्गभूमि दिखाकर आसन देना है, अतएव राजाने धीरज धरकर सब व्यवहार यथोचित किया। नहीं तो जनकमहाराज तो सबसे अधिक प्रेमी हैं तथा सबसे अधिक विदेह हो जाया करते हैं। यथा—'**भए बिदेह बिदेह बिसेषी**'। जैसे वे अत्यन्त प्रेमी हैं वैसे ही अत्यन्त सावधान हैं, अतः उन्होंने प्रेमको रोककर व्यवहारको सँभाला, यथा—'**कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंध्य जिमि घटज निवारा॥**' ['हरषे' से यह भी जनाया कि धनुष तोड़नेकी प्रतीति हुई। ये हमारी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे, यह विश्वास हुआ; क्योंकि इनका अमानुष कर्म अहल्योद्धार मुनिसे सुन चुके हैं। अतः हर्षित हुए। (रा० प्र०)। 'जानकी मंगल' में राजाने कहा है—'**इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ**। २८।' सत्योपाख्यानमें श्रीजनकमहाराज जब श्रीविश्वामित्रसे प्रथम बार मिलने गये और दोनों राजकुमारोंको देखकर घर लौटे, तब उनके मनमें ये विचार हो रहे थे कि श्रीराम धनुषको अवश्य तोड़ेंगे, मेरे मनोरथ पूर्ण होंगे इसमें संदेह नहीं है, यथा—'**धनुषो भञ्जनं चैव राम एव करिष्यति। २५। मनोरथो मदीयस्तु पूर्णोऽभून्नात्र संशयः॥** उत्तरार्द्ध अ० ६।' सम्भवतः इन्हीं आधारोंपर यह भाव कहा गया है। जानकीमङ्गलमें सखीने महारानी श्रीसुनयनाजीको धैर्य देते हुए कहा है, '**तीनि काल कर ग्यान कौसिकहि करतल। सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल॥** ४८॥' त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जनकजीका भाव इनके प्रति यह है कि '**ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥**' अतः इन्हें देखकर हर्षित हुए।]

प० प० प्र०—अब तो विदेह नहीं हैं, सीताजीके जनक हैं। उन्होंने मानो अबतक दोनों भाइयोंहीको देखा। विश्वामित्र मानो उनके दृष्टिपक्षमें आये ही नहीं। मुनिवर आगे हैं और दोनों भाई सेवक भावसे उनके पीछे हैं, पर प्रीतिकी रीति ही ऐसी है कि प्रीतिके विषयको छोड़कर दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। जबसे यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया तबसे विश्वामित्रजीका तथा और भी जो मुनिवृन्द साथमें हैं उनका नाम भी नहीं है। दो दिव्य निर्दोष राकाशशि उदित हुए हैं तब आकाशगङ्गाकी तरफ कौन देखेगा?

टिप्पणी—२ 'मुनि पद कमल गहे तब जाई' इति। श्रीराम-लक्ष्मणजीके चरण न पकड़े क्योंकि माधुर्यमें वे लड़के हैं और लड़कोंके पैर पड़ना शास्त्रविरुद्ध है। मुनिके चरण पकड़नेका भाव कि इन्हीं चरणोंके प्रसादसे आज यह परम लाभ

---

* पाठान्तर—'एकटक लोचन टरत न टारे' १७०४, को० रा०; ना० प्र०। वीरकविजी कहते हैं कि 'न कोई टारनेवाला है और न टारनेकी आवश्यकता है। अतः 'चलन न तारे' ही उत्तम पाठ है।' १६६१, १७६२, छ०, भा० दा०, पं०, का पाठ 'चलत न तारे' है। वीरकविजीने 'तारे' का अर्थ 'सिलसिला' 'तार' मानकर अर्थ किया है कि 'एकटक हो गयीं, उनका सिलसिला छूटता नहीं'।

प्रसन्न हुआ। [ऋषियों-मुनियों-ब्राह्मणोंको देख चरणस्पर्श करना नीति है। पंजाबीजीका मत है कि श्रीविश्वामित्रजीकी कृपासे इनके दर्शन हुए अतएव (मुनिके) चरण पकड़े। दोनों चरण पकड़नेका भाव कि हमारी दो कन्याएँ हैं उनका विवाह इन दोनोंके साथ हो ऐसी कृपा हो। अथवा, रङ्गभूमि भी देखिये और हमारा वृत्तान्त भी सुनिये, दो बातोंकी विनती है; अतः दोनों चरण पकड़े। (पं०)। पर रीति दोनों चरण पकड़नेकी ही है न कि एककी]।

करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहि देखाई॥ ५॥

अर्थ—विनती (स्तुति, अपने भाग्यकी प्रशंसा) करके अपनी कथा सुनायी और सब रङ्गभूमि मुनिको दिखायी॥५॥

पं० रामकुमारजी—कथा यह सुनायी कि जानकीजीने धनुष उठा लिया तब हमें सोच हुआ कि कन्याके योग्य पति कैसे मिलेगा। रात्रिमें शिवजीने हमें उपदेश दिया कि तुम प्रतिज्ञा करो कि जो इस धनुषको तोड़े वही जानकीको ब्याहेगा। आज्ञा पाकर हमने प्रतिज्ञा की, रङ्गभूमि बनवायी, कृपया चलकर इसे देखिये। अथवा, रङ्गभूमि देखनेकी विनती की और तब कथा सुनायी। विनती करके रङ्गभूमि दिखानेका भाव कि विरक्त महात्मा प्रपञ्च देखनेकी इच्छा नहीं करते। अथवा, विनती कथा सुनाने और रङ्गभूमि देखने इन दोनों बातोंके लिये की। पुनः, चरण पकड़कर विनती करके तब निज कथा सुनानेका भाव कि विश्वामित्र शैव हैं, अपने स्वामीके धनुषके तोड़नेकी प्रतिज्ञा सुनकर क्रोध न करें जैसे परशुरामजीने किया है, इसीसे प्रथम विनती करके अपराध क्षमा कराया। (यह भाव कुछ लचर-सा मालूम होता है)। रङ्गभूमि केवल देखनेके लिये बनी है, इसीसे उसे दिखाते हैं।

नोट—१ वाल्मीकीयमें श्रीजनकमहाराजने श्रीविश्वामित्रजीसे स्वयं इस धनुषके सम्बन्धकी कथा इस प्रकार कही है—जिस प्रयोजनके लिये यह धनुष मेरे यहाँ रक्खा गया उसे सुनिये। निमि महाराजके कुलमें देवरात नामके एक राजा हो गये हैं। उनको यह धनुष धरोहरके रूपमें मिला था। दक्षयज्ञके विध्वंसके लिये इस धनुषको श्रीशिवजीने चढ़ाया था, यज्ञका नाश करके उन्होंने क्रोधमें भरकर देवताओंसे कहा कि तुम लोगोंने मुझ भागार्थीको यज्ञभाग नहीं दिया, अतः मैं इसी धनुषसे तुम सबोंका सिर काटे डालता हूँ। यह सुन देवता लोग उदास हो गये और किसी तरह उन्होंने शिवजीको प्रसन्न किया। तब शिवजीने यह धनुष देवताओंको दे दिया और देवताओंने हमारे पूर्वजोंके पास उसे रख दिया। (१। ६६। ७-१२)। कूर्मपुराणमें भी यह कथा कही जाती है।

परशुरामजीने श्रीरामजीसे इसके सम्बन्धमें यह कहा था कि—ये दोनों धनुष अत्युत्तम दिव्य और लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, बड़े दृढ़ हैं, इन्हें विश्वकर्माने बड़े परिश्रमसे सावधानतापूर्वक बनाया था। इनमेंसे देवताओंने एक धनुष (जिसे तुमने तोड़ा है) महादेवजीको दिया जिससे उन्होंने त्रिपुरासुरका नाश किया, और दूसरा विष्णुभगवान्‌को दे दिया। (वाल्मी० १। ७५। ११-१३)। उस समय देवताओंने ब्रह्माजीसे पूछा कि विष्णु और शिवमें कौन अधिक बलवान् है।—शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया। १५। उनका अभिप्राय समझकर तथा दोनों धनुषोंमें कौन श्रेष्ठ है यह जाननेके लिये ब्रह्माजीने दोनोंमें विरोध करा दिया, जिससे महान् रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ। शिवजीका महापराक्रमी धनुष ढीला पड़ गया और विष्णुके हुंकारसे उस समय शिवजी स्तम्भित हो गये। चारणों और ऋषियोंसहित देवताओंने आकर दोनोंसे शान्त होनेकी प्रार्थना की। तब दोनों अपने-अपने स्थानको चले गये। अपनी हार देख शिवजीने क्रुद्ध होकर अपना धनुष बाणसहित राजर्षि देवरातको दे दिया।—'धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः। २०। देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम्। १। ७५। २१।' (वाल्मी०)।

हनुमन्नाटक तथा अध्यात्मरामायणका मत है कि इस धनुषसे त्रिपुरासुरका वध भगवान् शंकरने किया और उसके पश्चात् जनकमहाराजको सौंप दिया था, यथा—'शम्भो यद्गुणवल्लरीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिकं भ्रश्यन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशां कर्णोत्पलग्रन्थयः। स्वं च स्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुन्मुच्य तासामहो भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना तद्भग्नमैशं धनुः। हनु० १। २४।' अर्थात् त्रिपुरासुरके रनवासकी स्त्रियोंके कर्णोंके कमलोंकी ग्रन्थियाँ, जिस धनुषकी प्रत्यंचाके शिवजीके द्वारा कानतक खींचे जानेपर, टूट जाती थीं और जिसकी उसी प्रत्यञ्चाको उतारकर, अपने ही प्रकोष्ठकको आस्फालित करनेके समय उन्हीं स्त्रियोंके कंकण टूट जाते थे, वही शिवजीका धनुष श्रीरामचन्द्रजीने तोड़ डाला। पुनश्च यथा 'भव्यं यत्त्रिपुरेन्धनं धनुरिदम्। हनु० १। ३४।' अर्थात् त्रिपुरासुर जिसका ईंधन है वही यह शङ्करका धनुष। पुनश्च—यथा 'मत्पितामहगेहे तु

न्यासभूतमिदं धनुः । ६८ । ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम् ।' (अध्यात्मरा० १ । ६)। अर्थात् पूर्व कालमें श्रीमहादेवजीने त्रिपुरासुरको भस्म करनेके अनन्तर यह धनुष मेरे दादाके यहाँ धरोहररूपमें रक्खा था। (यह जनकमहाराजने श्रीवशिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजीसे कहा है।)। ब्रह्माण्डपुराण और महाभारतमें भी त्रिपुरका नाश करके मिथिलापुरीमें धनुषका रखना कहा है।

श्रीगोस्वामीजीके मतानुसार यह धनुष पुरके पूर्व दिशामें, पुरके बाहर रक्खा था वहीं रंगभूमि बनायी गयी थी। शिवजीने इसे त्रिपुरासुरके वधके लिये खास तौरपर बनवाया था, जैसा कवितावलीसे सिद्ध है—'**मयनमहन, पुर-दहन-गहन जानि, आनि कै सबैको सारु धनुष गढ़ायो है।** जनक सदसि जेते भले भले भूमिपाल किए बलहीन बल आपनो बढ़ायो है॥ **कुलिस कठोर कूर्मपीठ ते कठिन अति** ···। क० १। १०।' मानसमें भी इस धनुषके साथ त्रिपुरारि वा पुरारि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। यथा 'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा। २५०। ३।' '**धनुहीं सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार**। २७१। इससे भी इसीसे त्रिपुरका नाश किया जाना सिद्ध होता है। धनुष जनकजीको सौंप दिया गया था, यह गीतावलीमें भी कहा है; यथा '**अनुकूल नृपहि सूल-पानि हैं**। नीलकंठ कारुन्यसिंधु हर दीनबन्धु दिन **दानि हैं॥ जो पहिले ही पिनाक जनक कहँ गए सौंपि जिय जानि हैं।** बहुरि तिलोचन लोचनके फल सबहिं **सुलभ किए आनि हैं।**' गी० १। ७८।' इस ग्रन्थसे भी यही सिद्ध होता है, यथा 'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा' इत्यादि।

राजा जनकने विश्वामित्रजीसे धनुषका अपने यहाँ रक्खे जानेका प्रयोजन कहकर फिर यह भी बताया कि यज्ञके लिये मैं हलसे खेत जोत रहा था। उस समय हलके अग्रभाग (सीता) की ठोकरसे एक कन्या पृथ्वीसे निकल आयी, जो अपने जन्मके कारण 'सीता' के नामसे प्रसिद्ध हुई। मैंने इस अपनी अयोनिजा कन्याका शुल्क यही रक्खा कि जो इस (धनुष) को उठाकर इसपर रोदा चढ़ा दे उसीको यह ब्याही जायगी। अनेक राजा आये। कोई भी इसे न उठा सका—'**न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा**। वाल्मी० १। ६६। १९।' उन्होंने इससे अपनेको तिरस्कृत समझ नगरको घेर लिया। एक वर्ष तक संग्राम होनेसे मेरे सब साधन नष्ट हो गये, तब मैंने तपस्याद्वारा देवताओंको प्रसन्नकर उनकी चतुरंगिणी सेना प्राप्त कर सबको पराजित किया।—यह वही धनुष है।

सत्योपाख्यानमें श्रीसीतास्वयंवरके विषयमें यह कथा लिखी है कि श्रीजानकीजीकी महिमा देख श्रीसुनयना अम्बाजीने सोचा कि इनका विवाह इन्हींके अनुकूल पुरुषसे करना चाहिये और श्रीशीरध्वज महाराजसे उन्होंने अपना विचार प्रकट किया। राजा भी सहमत हुए और इसी सकल्पसे पृथ्वीपर कुशा बिछाकर उसपर सोये। शिवजीने स्वप्नमें दर्शन देकर यह आज्ञा दी कि तुम जिस हमारे धनुषका पूजन करते हो उसके विषयमें यह प्रतिज्ञा करो कि जो इसे तोड़ेगा उसीके साथ श्रीजानकीजीका विवाह किया जायगा। यथा '**धनुर्मदीयं ते गेहे पूजितं** तव पूर्वजैः। ३३। तस्य प्रतिज्ञा त्वया कार्या **भंगाय तोलनाय च। तोलयित्वा च यो भंगं कारयेद्धनुषो मम। ३४।** तस्मै देया त्वया कन्या क्षेमयुक्त्वा गतो हरः।' (उत्तर० अ० २)। सबेरे राजाने यह वृत्तान्त मन्त्रियोंसे कह उनकी सम्मतिसे राजाओंको निमन्त्रण भेजा, वे सब आये। रावणको भी निमन्त्रण गया; उसका मन्त्री प्रहस्त आया था। बाणासुर और काशिराज सुधन्वा भी (जो शिवभक्त थे) आये।···(उत्तरार्ध अध्याय २)। 'धनुष कोई न उठा सका···। सुधन्वाने कहा कि धनुषसहित सीताजीको हमें दे दो, नहीं तो हम तुम्हारा नगर लूट लेंगे। सालभर बराबर लड़ाई होती रही पर राजाने प्रतिज्ञा न छोड़ी। अन्तमें श्रीशिवजीकी कृपासे सुधन्वा मारा गया और काशी नगरी कुशध्वजको दे दी गयी। राजाओंको फिर निमन्त्रण भेजा गया (अ० ३)।

धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञाके सम्बन्धमें और भी कथाएँ हैं—(१) अध्यात्मरा० में पाणिग्रहणके पश्चात् जनकजीने श्रीवशिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजीसे बताया कि एक दिन जब मैं एकान्तमें बैठा हुआ था, देवर्षि नारद आये और मुझसे कहा कि परमात्मा अपने चार अंशोंसहित दशरथपुत्र होकर अयोध्यामें रहते हैं। उनकी आदिशक्ति तुम्हारे यहाँ सीतारूपसे प्रकट हुई हैं। अतः तुम प्रयत्नपूर्वक इनका पाणिग्रहण रघुनाथजीके साथ ही करना, क्योंकि यह पहलेसे ही रामजीकी ही भार्या हैं—'**पूर्वभार्यैषा रामस्य परमात्मनः**। सर्ग ६। ६६।' देवर्षिके चले जानेपर यह सोचते हुए कि किस प्रकार जानकीजीको रघुनाथजीको दूँ, मैंने एक युक्ति विचारी कि सीताके पाणिग्रहणके लिये सबके गर्वनाशक इस धनुषको ही पण (शुल्क) बनाऊँ। मैंने वैसा ही किया। आपकी कृपासे कमलनयन राम यहाँ धनुष देखनेको आ गये और मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। (२) रानी प्रति दिन चौका दिया करती थीं। एक दिन अवकाश न मिलनेके कारण उन्होंने सीताजीको चौका लगानेको

भेजा। इन्होंने धनुष उठाकर उसके नीचे भी चौका लगाया। यह समाचार सुन विस्मयपूर्वक राजाने शिवजीसे प्रार्थना की। (३) 'एक समय जानकीजीने खेलते हुए सखियोंके सामने धनुषको उठा लिया। यह सुन राजाने धनुषभंगकी प्रतिज्ञा की।' (४-५)—पाँड़ेजी कहते हैं कि एक कल्पकी कथा यों है कि राजा जनक अपने महलसे कुछ दूरीपर धनुषकी पूजा करने जाया करते थे। एक दिन सीताजी उनके साथ गयीं। उन्होंने विचारकर कि पिताजी इसीकी पूजाके कारण परिश्रम कर यहाँ आते हैं, वे उसे उठाकर अपने घर ले आयीं। दूसरे कल्पकी कथा यह है कि धनुषके आसपास सीताजी सखियोंसहित चाईं-माईं खेल रही थीं, ओढ़नीका अञ्चल धनुषमें अटका और वह स्थानसे हट गया।'''इत्यादि। ऐसा चमत्कार देखकर राजा जान गये कि यह ब्रह्मविद्या (आदिशक्ति) है जो इस धनुषको तोड़े उसके साथ इसका विवाह करना योग्य है'।

जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सबु कोऊ॥ ६॥
निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा॥ ७॥

शब्दार्थ—रुख=रुचि, यथा—'पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥ २। ३३४। ५॥' 'लखी राम रुख रहत न जाने॥ २। ७८। २॥', 'जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की। २। १२६।', 'राखि राम रुख धरम ब्रत पराधीन मोहि जानि॥ २। २९३।' यह फारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'मुँह' 'चेहरा'। यथा—'संकर रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी।' 'रुख' का अर्थ 'तरफ; ओर; सामने' भी है। यथा—'मनहुँ मघा जल उमँगि उदधि रुख चले नदी नद नारे।' पुनः 'रुख' का अर्थ 'भावना' भी ऊपरके प्रसंगानुसार लगा सकते हैं। चकित=चकपकाये हुए तथा आश्चर्यान्वित।

अर्थ—जहाँ-जहाँ दोनों सुन्दर श्रेष्ठ राजकुँवर जाते हैं वहाँ-वहाँ सब लोग चकित हो देखने लगते हैं॥ ६॥ सबने रामजीको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार एवं अपनी-अपनी ओर मुख किये हुए देखा। किसीने भी कुछ विशेष मर्म (रहस्य, भेद) न जान पाया॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ''''' इति। 'चकित चितव' का भाव कि (प्रथम दोनों भाइयोंको दूरसे देखा था, अब) निकट आनेपर शोभा अधिक और भली प्रकार देख पड़ी, इससे चकित होकर देखने लगे। इसी तरह श्रीजानकीजी जबतक दूरसे देखती रहीं तबतक उनका चकित चितवना (चकित होकर देखना) न कहा पर जब वे समीप जाकर छबि देखने लगीं तब उनका विदेह होना कहा। यथा—'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥ २६४। ४।' (ख)—'सब कोऊ' कहकर जनाया कि दोनों कुँवर सब जगह और सब तरफ गये, कारण कि राजाने मुनिको सारी रंगभूमि चारों तरफ घुमाकर दिखायी, यथा—'रंग अवनि सब मुनिहि देखाई।' जहाँ-जहाँ मुनि जाते हैं तहाँ-तहाँ दोनों भाई भी साथ जाते हैं, इसीसे कहा कि 'जहँ जहँ जाहिं'''चितव सब कोऊ'। (ग) 'कुँअर बर' का भाव कि जो रूप और गुण पूर्व विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये वह सब 'बर' पदसे ग्रहण कर लिया गया। तात्पर्य कि रूप, गुण और वीरता सभीमें सबसे श्रेष्ठ हैं, इसीसे सब चकित हो देख रहे हैं। (घ) पूर्व कहा था कि 'देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे' और यहाँ कहते हैं कि 'चकित चितव सब कोऊ'। भेदमें भाव यह है कि प्रथम जब आकर रंगभूमिमें खड़े हुए तब लोग एकटक देखते रहे और जब रंगभूमि देखने चले तब लोगोंको दर्शनमें विक्षेप पड़ा, एकटक देखना बन्द हो गया। अब जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँके लोग चकित देख रहे हैं, इस भावको दरसानेके लिये प्रथम एकटक देखना कहा और अब चकित होकर देखना कहा।

२ (क) 'निज निज रुख''''' इति। रुख=इच्छा। 'कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा' इति। भाव कि सब लोग अद्भुत रूप देखनेमें लगे हैं, कोई अपना हाल दूसरेसे नहीं कहता कि हमको ऐसी मूर्ति देख पड़ती है, बात यह है कि किसीने यह नहीं जाना कि औरोंको और कुछ दिख रहा है। अपने आनन्दमें अथवा भयमें दूसरेसे कौन पूछता और कौन कहता ? और श्रीरामजी अपना ऐश्वर्य छिपाते हैं; यथा 'हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥ २०२। ८॥', 'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। १९५।', 'छन महँ सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना', 'तेहि कौतुक कर मरम न काहूँ। जाना अनुज न मातु पिताहूँ॥ ७। ६९॥' इत्यादि। इसीसे किसीने न जाना। जिसे जैसा देख पड़ा वैसा ही उसने जाना, दूसरेका हाल न जाना—यही 'विशेष मर्म' है।

अयोध्याकाण्डमें भी कहा है 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहिकै तसि तसि रुख राखी ॥ २ । २४४ । २ ॥' पुनः (ख)—नवरसमय मूर्ति ऊपर कही गयी, उसमेंसे एक ही एक रस सबने जाना। 'कछु' का भाव कि नवों रसोंकी कौन कहे एक छोड़ दो रस भी किसीको न मालूम हुए।

नोट—'रुख' का दूसरा अर्थ सम्मुख भी किया जाता है, यथा—'सुरपति बसइ बाँह बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥'—(पाँड़ेजी)। यह फारसी शब्द है। अर्थात् सबको अपने सामने देख पड़े, पीठ किसीकी ओर नहीं। इस अर्थसे 'जिन्हके लहहिं न रिपु रन पीठी' चरितार्थ होता है। शत्रुने भी पीठ नहीं देखी। यह भी विशेष मर्मकी बात है जो किसीने न जानी कि 'विश्वतोमुख राम' ये ही हैं। वेदोंके 'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' ये ही हैं। (रा० प्र०) यह अद्भुत रस है। वीरकविके मतसे यहाँ 'तृतीय विशेष अलंकार' है।

प० प० प्र०—'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मख साला ॥ २४० । ४ ।' के 'कृपाला' शब्दकी सार्थकता यहाँ बतायी। धनुषमखशाला देखनेके समयमें ही सब लोगोंपर ऐसी कृपा की कि सबको राम लक्ष्मण अपने सामने देख पड़े। एक अनूठी बात और देखिये कि यहाँ दोहा २४४ में विश्वरूप दिखानेकी लीला की गयी, वैसे ही अयोध्याकाण्डमें भी दोहा २४४ में ही यह लीला की गयी है। यथा 'आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना ॥ जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहिकै तसितसि रुख राखी ॥ सानुज मिलि पलमहुँ सब काहू।'''। लक्ष्मण भी ऐसे ही देखनेमें आये, यह मानना आवश्यक है, अन्यथा 'कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा' यह असम्भव हो जाता। इस लीलासे दो कार्य सिद्ध हुए—आर्तलोगोंपर कृपा और दुष्ट राजाओंको पीठ न दिखाना।

पं० राजारामशरणजी—१ पहली दो अर्धालियोंके सहारेसे फिल्मकला नवरसोंवाली भावनाकी एककी अनेक मूर्तियाँ दिखा सकती हैं, कारण कि राजकुँवर फिर रहे हैं और इसलिये द्रष्टाओंका समूह बदल रहा है और भावोंके आवरणोंके सहारेसे दृश्य भी। २—कला नाटकीय है, इससे रंगभूमिके दिखानेके बहानेसे राजकुँवरोंका भ्रमण कितना स्वाभाविक है।

भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महासुखु लहेऊ ॥ ८ ॥

दो०—सब मंचन्ह तें मंचु एकु सुंदर बिसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ* बैठारे महिपाल ॥ २४४ ॥

अर्थ—मुनिने राजासे कहा—रचना बहुत अच्छी है। (रचनाकी प्रशंसा सुनकर) राजा प्रसन्न हुए और उनको महान् सुख प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥ सब मंचोंसे एक मंच अधिक सुन्दर, उज्ज्वल (स्वच्छ) और ऊँचा एवं लम्बा-चौड़ा था। जनक महाराजने मुनिसमेत दोनों भाइयोंको उसपर बैठाया ॥ २४४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भलि रचना' इति। इसका प्रसंग 'करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहि देखाई ॥' पर छोड़ा था। वहींसे इसका सम्बन्ध है। राजाने मुनिको जब सब रंगभूमि दिखा दी, यथा 'रंग अवनि सब मुनिहि देखाई ॥' तब मुनिने उसकी प्रशंसा की। यदि बीचमें प्रशंसा करते तो सम्भव था कि वे समझते कि कुछ रचना अच्छी है (जिसके सम्बन्धमें वे बोले हैं) और कुछ अच्छी नहीं है, इसीसे उसके सम्बन्धमें उन्होंने कुछ न कहा।—इससे दिखाया कि मुनि व्यवहारमें भी बड़े कुशल हैं। (ख) 'भलि रचना' अर्थात् सारी रचना बहुत सुन्दर है, सब रंगभूमि विचित्र बनी है, कहीं भी कोई कसर (त्रुटि) नहीं है। (ग) 'राजा मुदित''''। इति। प्रशंसा करनेसे राजा प्रसन्न हुए, इससे पाया गया कि इसीलिये राजाने रंगभूमि दिखायी थी कि मुनि प्रसन्न हों। राजाने रंगभूमि दिखाकर मुनिको प्रसन्न किया वैसे ही मुनिने उसकी प्रशंसा करके राजाको प्रसन्न किया। (घ) 'नृप सन कहेऊ' का भाव कि यदि श्रीरामजी, लक्ष्मणजी या अन्य किसीसे कहते तो पाया जाता कि प्रशंसा केवल राजाको प्रसन्न करनेके लिये की, वस्तुतः कुछ ऐसी बहुत अच्छी नहीं है, स्वयं राजासे कहनेसे पाया गया कि यथार्थ ही कह रहे हैं, केवल राजाके संतोषार्थ नहीं। (ङ)—'महासुखु लहेऊ' क्योंकि विश्वामित्रजीको ब्रह्माण्ड रचनेका सामर्थ्य है, (राजा त्रिशंकुके लिये उन्होंने दूसरा स्वर्ग ही रच दिया

* बर—१७०४।

गा), अतः जब वे ही प्रशंसा कर रहे हैं तो हमारा परिश्रम सफल हो गया, इसमें कोई त्रुटि नहीं है। यह समझकर महान् सुख हुआ। अथवा भाव कि मुनिको रंगभूमि देखनेसे 'सुख' हुआ और राजाको उसकी प्रशंसा सुनकर 'महा सुख' हुआ। [दूसरे, मुनि त्रिकालज्ञ हैं, इनकी प्रसन्नतासे हमारी प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण होगी। (पंजाबीजी)। **'भलि रचना'**—मुनिके मुखसे निकले शब्द कितने कम पर कितने पूर्ण हैं। मुनि गम्भीर स्वभाव और मननशील होते हैं, अधिक बोलते नहीं। इसीसे राजाको बड़ा सुख हुआ, मानो उनका रचनासम्बन्धी उद्योग सफल हुआ।—(लमगोड़ाजी)]

२ 'सब मंचन्ह तें···' इति। इससे पाया गया कि यह मंच इन्हींके लिये बचा रक्खा था, रिजर्व कर रक्खा था। यह सबसे सुन्दर है, अर्थात् इसकी बनावट, कारीगरी औरोंसे विशेष है। विशद है अर्थात् इसमें दिव्य मणियोंका प्रकाश हो रहा है। [सबसे सुन्दर, विशद और विशाल मंचपर बैठानेके कारण ये हैं कि—(क) ये चक्रवर्ती राजकुमार हैं, अतः सब राजाओंसे बड़े हैं। (ख) ये इक्ष्वाकुवंशी हैं जिससे निमिवंश चला, अतः अपने समझकर। (ग) विश्वामित्र महामुनि इनके साथ और सहायक हैं, उनके विचारसे। (घ) दैवयोगसे प्रतीति इनके सामर्थ्यमें हुई, अनायास होनिहारने ऐसा कराके शुभ शकुनकी सूचना दी। क्योंकि जान पड़ता है कि यह मंच धनुष तोड़नेवाले विजयी राजाके लिये ही निर्माण किया गया था जिसपर धनुष तोड़नेपर वह राजा बिठाया जाता। गीतावलीमें आसनका वर्णन इस प्रकार है—**'सानुज सानंद हिये आगे ह्वै जनक लिये, रचना रुचिर सब सादर देखाइ कै। दिए दिव्य आसन सुपास सावकास अति आछे आछे बीछे बीछे बिछौना बिछाइ कै॥ भूपति किसोर दुहुँ ओर बीच मुनिराउ, देखिबेको दाउँ देखो देखिबो बिहाइ कै। उदय सैल सोहैं सुंदर कुँअर जोहैं मानो भानु भोर किरनि छिपाइ कै॥ १। ८२॥'**]

३ (क) 'मुनि समेत दोउ बंधु···' इति। यहाँ राजाओंकी सभा है, राजाओंकी प्रधानता है, इसीसे **'मुनि समेत'** शब्द देकर यहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजीकी प्रधानता कही। इस प्रसंगके प्रारम्भमें भी इनकी प्रधानता २४० (४) **'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥'** में कह आये हैं। इस प्रसंगभरमें इन्हींकी प्रधानता है। श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे, इससे वे मुख्य हैं और श्रीलक्ष्मणजीका भी यहाँ बड़ा काम है। श्रीजनकजीके वचनोंपर क्रोध और परशुराम-गर्वभंजनमें ये ही तो मुख्य हैं। अतः दोनों भाइयोंकी प्रधानता कही। (ख) 'बैठारे महिपाल' कहकर जनाया कि औरोंको कामदार, मंत्री, नायक, बंदीगण इत्यादि सेवकोंने बिठाया और इनको स्वयं राजाने बिठाया। यह अत्यन्त आदर-सत्कार-सम्मान है। (विश्वामित्रजीके सर्वोत्तम मंचपर आसीन होनेमें किसी राजाको आपत्ति नहीं हो सकती थी। (वि० त्रि०))।

नोट—जानकीमंगलमें उपर्युक्त चौपाइयोंसे मिलता हुआ अंश यह है—**'लै चले देखावन रंगभूमि अनेक बिधि सनमानि कै। कौसिक सराही रुचिर रचना जनक सुनि हरषित भए। तब राम लषन समेत मुनि कहँ सुभग सिंहासन दए॥ ३०॥'** रचनाकी सराहनासे ही दोनों जगह हर्षित होना कहा गया है।

प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे॥ १॥
असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं॥ २॥
बिनु भंजेहु भव* धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम उर† माला॥ ३॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई। जसु प्रतापु बलु तेजु गँवाई॥ ४॥

शब्दार्थ—सक (फा० शक)=संदेह। भव=शंकरजी। मेलना=डालना।

अर्थ—प्रभुको देखकर सब राजा हृदयमें हार गये अर्थात् निराश हो उदास, उत्साहहीन और मलिन हो गये। (ऐसे मालूम होते हैं) मानो तारे हैं जो पूर्णचन्द्रके उदय होनेसे प्रकाशहीन हो गये हैं वा फीके पड़ गये हैं॥ १॥ सबके मनमें ऐसा विश्वास जम गया है कि श्रीरामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे। इसमें शक शुबह (संदेह) नहीं है॥ २॥ शिवजीके भारी धनुषको बिना तोड़े भी श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रके ही गलेमें जयमाल डालेंगी॥ ३॥ हे भाइयो! ऐसा विचारकर अपने यश, प्रताप, बल और तेज सब गँवाकर ‡ अपने-अपने घर चलो॥ ४॥

---

* शिव धनुक—१७०४। सिव धनुष-रा० प्र०। † जयमाला—१७०४

‡ पं० रामकुमारजीका अर्थ—अपने-अपने घर जाओ, नहीं तो यश, प्रताप, बल, तेज गँवा जायगा।'

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे'''' इति। यहाँ पूर्वापरप्रसंगका सम्बन्ध मिलाते हैं। **'देखहिं रूप महारनधीरा। मनहु बीररस धरे सरीरा'** इसका उपक्रम है। वहाँ राजाओंका प्रभुको देखना कहा था, अब यहाँ बताते हैं कि देखनेपर उनकी क्या दशा हुई। वे श्रीरामजीके तेजविशेषको देखकर सीताजीकी प्राप्तिसे निराश हो गये, जैसा आगे स्पष्ट है। (ख) उपक्रममें भाइयोंको पूर्णचन्द्र कहा था; यथा—**'राज समाज विराजत रूरे। उडगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥'** यहाँ उपसंहारमें 'राकेश' शब्द देकर पूर्णचन्द्र जनाया। राका (=पूर्णिमा) + ईश (=स्वामी)=पूर्णचन्द्र। **'राका निशाकरे इत्यमरः'**। (ग) जब मंचपर बैठ गये तब उनका उदय कहा क्योंकि सूर्य और चन्द्र ऊँचेपरसे उदय होते हैं, यथा—**'उदित उदय गिरि मंचपर रघुबर बाल पतंग'**। (घ) [यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। हृदयमें हारने-में **'प्रभुहि देखि'** पद दिया अर्थात् तेज और सामर्थ्य देख हार गये। 'जानकीमंगल' में राजाओंके निराशाका कारण यह कहा है कि श्रीजनकजी अपना प्रण इनके लिये छोड़ देंगे। यथा—'भे निरास सब भूप बिलोकत रामहिं। **पन परिहरि सिय देब जनक बरु स्यामहिं। कहहिं एक भलि बात ब्याहु भल होइहि। बर दुलहिनि लगि जनक अपन पन खोइहि** ॥ ३६ ॥' और साधु राजाओंको ऐसा प्रतीत हुआ कि 'अवसि रामके उठत सरासन टूटिहि। **गवनिहि राजसमाज नाक अस फूटिहि** ॥''''३७']

२ **'असि प्रतीति सबके मन माहीं।''''** इति। (क) सब राजा हृदयमें हार गये हैं; इसीसे 'सबके मनमें ऐसा विश्वास होना कहा।' **'हिय हारे'** कहकर अब हृदयकी बात कहते हैं, मन हृदय है। **'राम धनुष निःसंदेह तोड़ेंगे'** यह सबके मनमें है। चन्द्रमा मनका स्वामी है, अतः उसने मनमें प्रतीति करायी। (ख) पूर्णचन्द्रकी उपमा देकर जनाते हैं कि विश्वासका कारण श्रीरामजीका तेज है। वे तेजस्वी हैं, चन्द्रमाके समान उनका तेज है, तेजस्वी लघु नहीं होते; यथा—**'बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी॥** २५६। ७।'; जैसे चतुर सखीके वचन सुन श्रीसुनयनाजीको प्रतीति हुई—**'सखी बचन सुनि भइ परतीती'**; वैसे ही यहाँ उनका तेज देखकर सब राजाओंको रामजीके धनुष तोड़नेका निश्चय होता है। और मूर्तिमान् वीररस देख पड़ते हैं इससे स्वयं हृदयमें हार गये। ☞यहाँ **'सब'** शब्द उन्हीं राजाओंका बोधक है, जो हृदयमें हार गये हैं। अथवा, विश्वास तो सबके मनमें यही है, पर जो कुटिल भूप हैं वे उसे प्रकट नहीं करेंगे, इसीसे **'मन माहीं'** कहा गया]।

३ **'बिनु भंजेहु भव धनुषु बिसाला।'** इति। 'कहीं निश्चय है, कहीं संदेह है और कहीं निश्चय और संदेह दोनों हैं। जैसे भरतजीके विचारमें कहीं दृढ़ निश्चय और कहीं संदेह कहा गया है, यथा **'मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई'** यह दृढ़ता है। और **'बीते अवधि रहैं जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना'** यह संदेह है— वैसे ही यहाँ भी दोनों बातें कहते हैं, एक तो यह कि ये तेजस्वी हैं, अवश्य धनुष तोड़ेंगे। दूसरे, कोमलता, सुकुमारता और भवधनुषकी कठोरताका विचार जब आ जाता है तब कहते हैं कि 'बिनु भंजेहु''''। अर्थात् यदि धनुष किसीसे न टूटा, तब क्या सीताजी कुँआरी ही रहेंगी ? कदापि नहीं। किसी न किसीको अवश्य ब्याही जायँगी। जयमाल स्वयंवर होगा। ☞इस तरह यहाँ रणधीर राजा श्रीसीताजीकी प्राप्तिकी दो विधियाँ बता रहे हैं और दोनों प्रकारसे निश्चय कर रहे हैं कि वे श्रीरामजीको प्राप्त होंगी। एक तो धनुषके टूटनेसे (जो मुख्य विधि है)। दूसरे, वे सोचते हैं कि संभव है कि उनसे भी धनुष न टूटे। तब भी तो ऐसा सुन्दर पुरुष कोई और नहीं है कि जिसको श्रीजानकीजी जयमाल डालें। अतएव सब प्रकारसे रामजीको ही प्राप्त होनेका निश्चय करते हैं।

४☞देखिये यहाँ गोस्वामीजीके शब्दोंकी योजना और उनका चमत्कार। जब यह कहा कि 'राम अवश्य धनुषको तोड़ेंगे, इसमें किंचित् संदेह नहीं' तब तो धनुषके लिये बहुत हलका और छोटा शब्द **'चाप'** प्रयुक्त किया। अर्थात् उस धनुषमें है ही क्या जो उनसे न टूटे ? और जब कहा कि **'बिनु भंजेहु'** अर्थात् उससे न टूटे तब उसके साथ **'भव-धनुष-बिसाला'** इतने और कठोरतासूचक शब्दोंका प्रयोग किया अर्थात् एक तो यह धनुष 'भव' (महादेव) का है, दूसरे 'विशाल' है अतः सम्भव है कि न भी टूटे। श्रीरामजी बलवान् हैं, तेजस्वी हैं, वीररसकी मूर्ति हैं, अतएव वे धनुषको तोड़कर श्रीसीताजीको ब्याहेंगे। पुनः वे (श्रीरामजी) परम सुन्दर हैं अतः श्रीसीताजी उनके ही गलेमें जयमाल डालेंगी। दोनों तरहसे श्रीजानकीजी उन्हींको प्राप्त होंगी।

५ **'अस बिचारि गवनहु घर भाई।''''** इति। (क) **'अस बिचारि''''** अर्थात् विचार करनेपर ऐसी हालतमें यहाँ बैठनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। अभी चले जानेसे यशादिमें बट्टा न लगेगा। पीछे टूटनेपर यह कह सकोगे कि हम तो

रहे नहीं। (ख) मनमें जो प्रतीति रही वही मनका विश्वास अब वचनसे सबको सुनाकर कहते हैं अतः कहा कि 'अस बिचारि ···'। (ग) यश, प्रताप, बल और तेज राजाओंमें होता है, इसीसे उनका नष्ट होना कहते हैं। यश नष्ट होनेपर प्रताप नष्ट होता है, प्रताप नष्ट होनेसे बल नष्ट होता है और बलके नष्ट होनेसे तेज नष्ट हो जाता है। यश सबका मूल है, इसीसे उसको सबसे प्रथम कहा। (घ) धनुष जबतक बना है तबतक यश बना है, उसके टूटनेपर सब नष्ट हो जायँगे, यथा 'दप प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई'। अतः कहा कि अभी चले जाना अच्छा है।

वि० त्रि०—बच्चोंसे पराभव हुआ इससे यशादि सब गये। सद्‌गुणकी निर्मल ख्याति यश है 'साद्‌गुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्तिमानिति कथ्यते'। शत्रुका पौरुषोद्भूततापक है—'प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापि प्रसिद्धिभाक्।' महत् प्राणसे पूर्ण होना ही बल है—'प्राणेन महता पूर्णो बलीयान् इति कथ्यते।' अवज्ञाका सहन न करना ही तेज है—'तेजो बुधैः स्वज्ञादेरसहिष्णुत्वमुच्यते।

नोट—बाबा हरीदासजी 'गवाई' के 'दो अर्थ 'गँवाई' और 'गवाई' करके भाव लिखते हैं कि घर चले जानेसे तुम्हारा 'यशादि गाया जायेगा, ऐसा करके यश गवाते चलो' सब यही कहें कि बड़े धर्मज्ञ और विचारमान् थे कि रामजीको पहचान गये कि ये परमेश्वर हैं और इसीसे धनुषको न छुआ। नहीं तो यशादि सब 'गँवा दोगे'।

बिहसे अपर भूप सुनि बानी। जे अबिबेक अंध अभिमानी॥ ५॥
तोरेहु धनुषु ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुअँरि बिआहा॥ ६॥
एक बार कालउ किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ॥ ७॥
येह सुनि अवर* महिप मुसुकाने। धरम सील हरि भगत सयाने॥ ८॥

शब्दार्थ—अवगाह (अवगाध)=अनहोनी, असम्भव, कठिन। अवर=और, अपर, दूसरे।

अर्थ—दूसरे राजा जो मोह-अज्ञानसे अंधे हो रहे थे, अभिमानी थे, वे इनके वचनोंको सुनकर बहुत हँसे (और बोले) धनुष तोड़नेपर भी विवाह अगम्य है, कठिन है, फिर भला बिना धनुष तोड़े राजकुमारीको कौन ब्याह सकता है?॥ ६॥ काल ही क्यों न हो एक बार तो श्रीसीताजीके लिये उसे भी हम संग्राममें जीत लेंगे॥ ७॥ यह सुनकर और राजा जो धर्मात्मा, भगवद्भक्त और सयाने थे वे मुस्कुराये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिहँसे' अर्थात् ठट्ठा मारकर हँसे इस तरह उनकी बातका निरादर किया। (ख) 'अपर भूप' कहकर जनाया कि प्रथम जो बोले कि विचार करो, वे मनुष्य राजा थे (अथवा, ये वह थे जिन्हें रामजी वीररसकी मूर्ति देख पड़े। वही क्रम यहाँ भी है) और 'जे अबिबेक अंध अभिमानी' ये राजा राक्षस हैं (अथवा कुटिल और असुर हैं जिन्हें प्रभु भयानक और काल देख पड़े)। और आगेके 'येह सुनि अवर महिप मुसुकाने।····' ये राजा देवता हैं (अथवा 'हरिभगतन्ह देखे दोउ भाई' वालोंमेंसे हैं)—मनुष्य, असुर और देवता तीनोंका यज्ञमें आना स्पष्ट कहा गया है, यथा 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥' (ग) 'जे अबिबेक अंध अभिमानी' इति। अर्थात् विवेकरूपी नेत्रसे रहित हैं। विवेकको नेत्र कहा है, यथा 'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन', 'निरखि बिबेक बिलोचनन्हि····' इत्यादि राजाओंने विचार करनेको कहा, उसपर इन्होंने विचार न किया, उलटे उनकी बातका निरादर किया अतः इनको अविवेकी कहा। अविवेकी होनेसे अन्धा कहा, यथा 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥' पुनः, श्रीरामजीका तेज भी देखकर इनको ज्ञान न हुआ अतः अन्धा कहा। और, अन्धे हैं इसीसे अपने पराक्रमके अभिमानी हैं। पुनः 'अविवेकसे भीतरके ज्ञान-विराग नेत्रोंसे रहित जनाया और 'अन्ध' से बाहरके नेत्रोंसे रहित कहा, क्योंकि बाहर इनका तेज देखकर भी नहीं सूझता। (वा, 'अस बिचारि ···' के सम्बन्धसे अविवेकी, 'जनु राकेस उदय भए तारे' के सम्बन्धसे अन्धे और 'तोरेहु धनु····' के सम्बन्धसे अभिमानी कहा)।

२ (क) 'ब्याहु अवगाहा' अर्थात् अथाह है। बड़े गहरेमें है। तात्पर्य कि इसके बीचमें हमारा संग्रामरूपी सागर भरा हुआ है। 'एक बार कालहु किन होई।···' यही 'समर सागर' है, यथा 'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए

* अपर भूप—१७०४, को० रा०। अपर महिप—छ०। अवर महिप—१६६१, १७२१, १७६२।

समर-सागर कहँ बेरे ॥' 'अवगाह' शब्द 'अथाह' के अर्थमें ग्रन्थमें बराबर प्रयुक्त हुआ है। यथा 'खल अघ अगुन साधु गुन-गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥' और जब संग्राम छिड़ जायगा, हुल्लड़ मच जायगा तब कौन जानता है कि 'जानकी' किसके हाथ लगेगी ? (ख) ☞ यह अर्धाली 'बिनु भंजेहु भव धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम उर माला ॥' का उत्तर है। ☞ 'जे अबिबेक अंध अभिमानी' के 'अबिबेक' को यहाँ चरितार्थ किया, आगे 'एक बार'…'में अभिमानीको चरितार्थ करते हैं। (ग)—पहले यह कह आये कि 'असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं ॥' (जानते हैं कि हमसे तो धनुष टूटेगा नहीं और राम अवश्य तोड़ेंगे) इसीसे यह नहीं कहते कि रामसे धनुष नहीं टूटेगा और न यही कहते हैं कि हम तोड़ेंगे। इतना ही कहते हैं कि 'धनुष तोड़नेपर भी ब्याह अगम्य' है। (घ) 'बिनु तोरे को…' इति। भाव कि जनक प्रतिज्ञा तोड़कर किसीके साथ ब्याह कर देनेका साहस हमलोगोंके रहते कर नहीं सकते।

३ **'एक बार कालउ किन होऊ।…'** इति। (क) यहाँ अभिमानको चरितार्थ किया। अभिमानी राजा धनुष तोड़कर ब्याह करनेको नहीं कहते, संग्राममें जीतकर ब्याह करनेको कहते हैं, क्योंकि धनुष तोड़ सकेंगे यह विश्वास अपनेमें नहीं है, पर यह अभिमान है कि चाहे कोई भी तोड़े और चाहे जयमाल पड़े पर संग्राममें जीतकर हम ही सीताजीको ब्याहेंगे, यथा—**'तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई ॥'** ☞ ये असुर राजा हैं जिन्हें प्रभु कालरूप देख पड़े थे, इसीसे वे कहते हैं कि काल भी होगा तो हम उसे भी जीत लेंगे और रामको जीतना क्या है ? [(ख) गौड़जी कहते हैं कि यहाँ 'कालहु' से लक्ष्यार्थ है कालके समान बलवान्। कालसे अधिक बलवान् कोई भी नहीं है सो हम उसके समान बलवान्का भी रणमें मुकाबला करेंगे।] **'एक बार'** में भाव यह है कि काल दुरतिक्रम्य है। वह कभी-न-कभी सबको अवश्य जीत लेता है, पर हम उसे एक बार तो अवश्य ही सीताकी प्राप्तिके लिये जीत लेंगे, आगे फिर चाहे वह हमें जीत क्यों न ले।

४ **'येह सुनि अवर महिप मुसुकाने ॥…'** इति। (क) धर्मशीलसे कर्मकाण्डी, हरिभक्तसे उपासक और सयानेसे ज्ञानी जनाया। (ख) तीन बार बोलना कहकर तीन प्रकारके राजाओंका वहाँ होना जनाया। जो प्रथम बोले वे रजोगुणी हैं—**'अस बिचारि गवनहु घर भाई। जसु प्रताप बल तेज गँवाई ॥'** यह रजोगुणी वाक्य है। दूसरे तमोगुणी हैं—**'बिहँसे अपर भूप…अभिमानी'** ये तमोगुणी हैं, ये अधर्म वाक्य बोले। और, तीसरे धर्मशील इत्यादि सतोगुणी हैं, ये धर्मोपदेश करेंगे। इनके उपदेशमें धर्म, उपासना और ज्ञान तीनों हैं। अथवा, मध्यम, अधम और उत्तम तीन प्रकार हैं। (ग) मध्यम कोटिवालोंने यथार्थ बात कही इसीसे तब धर्मात्मा राजा कुछ न बोले, पर अब अधर्मी राजा प्रलाप अलापने लगे तब धर्मात्मा राजाओंने उनको उत्तर दिया। (घ) 'मुसुकाने' उनकी मूर्खतापर। ये 'अविवेक अंध अभिमानियोंकी तरह बिहँसे' नहीं, मुस्करा भर दिये। [यहाँ घृणा और तिरस्कारसूचक गुणीभूत व्यंग्य है (वीर)। चौ० ५ के **'अविवेक अंध'** की जोड़में यहाँ 'धर्मशील' और 'अभिमानी' की जोड़में 'सयाने' विपरीत विशेषण इनको दिये गये।]

श्रीराजारामशरणजी—नाटकीयकलामें चरित्रसंघर्षके साथ हास्य-संघर्ष भी विचारणीय है। कवि हमारे साथ है, नहीं तो भूल हो जाती। 'बिहँसि' और 'मुसुकाने' शब्द मार्मिक हैं। एकमें अहंकार और दूसरेमें गम्भीरता है। लेकिन यदि कविकी आलोचनाको हटा दीजिये तो हँसनेकी बात दोनों ओर है; कारण कि 'बिनु भंजेहु…माला' वाली बात भी ठीक नहीं। इस 'बिहँस' से इस त्रुटिका सुधार हो गया और ठीक बात प्रत्युत्तरमें आगे दोहेमें कही गयी। एक फल तो चरित्र और हास्य संघर्षका ऊपर आ गया; दूसरा फल यह हुआ कि हास्यरस 'कटाक्ष' रूपमें परिणत हो गया—'ब्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई ॥' और तीसरा फल 'भक्तिरसकी जागृति' हुआ और इसीसे आगे वार्ताने उपदेशरूप धारण किया।

दो०—सीय बिआहबि राम गरबु दूरि करि नृपन्ह के।
जीति को सक संग्राम दसरथके रन बाँकुरे ॥२४५॥

शब्दार्थ—बाँकुरे=प्रबल, बाँके, कुशल, विकट या चतुर, यथा—'प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालि-सुत बंका' 'जौ जगबिदित पतितपावन अति बाँकुरे बिरुद न बहते'। इति विनये

अर्थ—राजाओंके गर्वको दूर करके श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजीको ब्याहेंगे। महाराज दशरथके रणमें बाँके पुत्रोंको संग्राममें कौन जीत सकता है ? ॥ २४५ ॥

टिप्पणी—१ (क) अभिमानी राजाओंके 'तोरेहु धनुष ब्याह अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा' अर्थात् हम ही 'कुँअरि' को ब्याहेंगे (चाहे धनुष कोई भी तोड़े और चाहे धनुष किसीसे न भी टूटे, दोनों हालतोंमें) इसका उत्तर देते हैं कि 'सीय बिआहबि राम' सीताजीको तो राम ही ब्याहेंगे। और, 'एक बार कालउ किन होई। सियहित समर जितब हम सोई॥' का उत्तर है कि 'जीति को सक संग्राम दसरथ के रन बाँकुरे' एवं 'गरबु दूरि करि नृपन्ह के।' गर्व दूर करके ब्याहेंगे अर्थात् धनुष तोड़कर और सब राजाओंको जीतकर दोनों प्रकारसे गर्व चूर कर डालेंगे। (ख) 'दसरथ के' कहनेका भाव कि दशरथ महाराजहीको तुम नहीं जीत सके तभी तो वे चक्रवर्ती महाराज हैं, वे तो देवराज इन्द्रतकके सहायक हैं, इन्द्र उन्हींके बाँहबलसे बसे हुए हैं, यथा—'सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥ २। २५।' 'रन बाँकुरे' कहनेका भाव कि इन्हें केवल पिताहीका बल नहीं है, ये तो स्वयं ही रणमें बड़े धीर और वीर हैं, इन्होंने ताड़का, सुबाहु आदिको सेनासहित मार डाला और तुम तो मनुष्य हो, उन राक्षसोंसे अधिक प्रबल नहीं हो, तब तुम क्या खाकर इनको जीतोगे ? 'जीति को सक…' में वक्रोक्ति है। [छल-छोनिपोंसे कहते हैं 'जीतिको सक…'। भाव कि इनसे तुम्हारी माया नहीं चल सकेगी। वे रणबाँकुरे हैं। रणबाँकुरे मायाका मर्दन करते हैं। यथा—'हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रनबाँकुरे। मर्दहिं दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भूभट अंकुरे॥' और ये तो दशरथके रणबाँकुरे हैं। (वि० त्रि०)]

☞ मिलान कीजिये—'सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥ चितइ न सकहु राम तन गाल बजावहु। बिधि बस बलउ लजान सुमति न लजावहु॥ (जा० मं० ३७)

ब्यर्थ* मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकन्हि कि भूख बुताई† ॥ १ ॥
सिखि हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहुँ जिय सीता॥ २ ॥

शब्दार्थ—गाल बजाना=डींग मारना। मोदक=लड्डू। बुताना=बुझाना।

अर्थ—गाल बजाकर व्यर्थ मत मरो। क्या मनके लड्डुओंसे (भी कहीं) भूख बुझ सकती है ? ॥ १ ॥ हमारी परम पवित्र शिक्षा सुनकर श्रीसीताजीको अपने जी (हृदय) से जगज्जननी जगत्-माता समझो॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) बहुत लोग दिन-रात गाल बजाया करते हैं पर वे मरते तो नहीं, तब यहाँ 'मरहु' कैसे कहा ! ठीक है, गाल बजानेसे कोई मरता नहीं पर जिस तरहका गाल ये बजा रहे हैं ऐसे गाल बजानेसे मृत्यु आ ही जाती है। 'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा' इत्यादि बातें जो अभिमानी राजाओंने कहीं, उसीपर धर्मात्मा राजा कहते हैं कि ऐसी बातें बताकर व्यर्थ ही मरते हो। तात्पर्य कि तुम्हें सीताजी तो मिलेंगी ही नहीं (और व्यर्थ कल्लेदराज़ी, गपोलबाज़ी करोगे तो पहले ही रण छिड़ जायगा और) व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण जायँगे तुम मारे जाओगे (बातोंके शूर इसी तरह व्यर्थ प्राण गँवाते हैं)। ['गाल बजाना' मुहावरा है, जिसका अर्थ है—डींग मारना, बढ़-बढ़कर बातें करना, व्यर्थ बकवाद करना, मिथ्या प्रलाप करना। यथा—'पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा' 'बलवान है स्वान गली अपनी तोहि न गाल बजावत सोहै'। बहुत डींग मारने इत्यादिका परिणाम यह मिलेगा कि मारे जाओगे। 'मरहु' से जनाया कि अपनी मौत अपने हाथों बुलाते हो। 'जानकी मंगल' में भी सज्जन राजाओंने कहा है—'चितइ न सकहु राम तन गाल बजावहु।' अर्थात् तुम लोग श्रीरामकी ओर ताकनेको भी समर्थ नहीं हो, उनका ऐसा ही तेज, प्रताप, रूप और बल है, व्यर्थ ही बकवाद कर रहे हो।] (ख) 'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई' इति। राजकिशोरीकी प्राप्तिकी इच्छा करना मनके लड्डू खाना है। ['कालहु सियहित समर जितब' यह कहना मनका लड्डू खाना है। भला तुम्हारा सामर्थ्य कालको रणमें जीतनेका है ! हमसे' क्या कह रहे हो ? (वि० त्रि०)। 'मनके लड्डू खाना' मुहावरा है। अर्थात् व्यर्थ किसी बड़े लाभकी कल्पना करना जिसका होना कठिन या असम्भव है। भाव यह कि लड्डू तो नसीब नहीं, मनमें सोचते हैं कि हम लड्डू खा रहे हैं

* बृथा—१७०४। † बताई—१६६१, १७२१, १७६२, छ०। बुताई—१७०४, को० रा०। रा० प्र० में भी 'बताई' पाठ है।

पर] इससे भूखकी शान्ति कदापि नहीं हो सकती, भूख तो साक्षात् सचमुच खानेसे ही जायगी। यह मनमोदक है तो साक्षात् मोदक क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि हम तुमको साक्षात् मोदककी प्राप्ति बताते हैं, वह यह है कि 'सिखि हमारि सुनि…' इत्यादि। अर्थात् इस भावसे तुम सबोंको श्रीसीतारामजी प्राप्त हो सकते हैं। (ग) अधम राजाओंके मन, वचन और कर्म तीनोंको व्यर्थ दिखाते हैं। 'जीति को सक संग्राम दसरथ के रनबाँकुरे' अर्थात् संग्राममें रामजीसे न जीत सकोगे इससे कर्म, 'व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई' अर्थात् कोरी डींगें हाँकनेसे काम न चलेगा— इससे वचन और 'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई' अर्थात् दोनों भाइयोंको जीतकर सीताजीकी प्राप्तिकी अभिलाषा करना इससे मनकी व्यर्थता दिखायी।

नोट—१ प्रथम यह कहकर कि 'जीति को सक संग्राम' फिर 'व्यर्थ मरहु' कहनेका भाव कि संग्राममें तो वे जीते नहीं जा सकते, हाँ तुम्हारी वृथा ही मृत्यु होगी। व्यर्थ इसलिये कि जिसके लिये लड़े मरे सो प्राप्त न हुई। 'व्यर्थ मरहु'— व्यर्थ क्यों मारे जायँगे, उसका उत्तर है 'गाल बजाई' अर्थात् कटु वचन कह रहे हो इसीसे मारे जाओगे। यदि कहो कि हम श्रीसीताजीकी प्राप्तिके लिये ऐसा कहते हैं तो उसपर कहते हैं कि 'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई' अर्थात् गपोड़ेबाजीसे कुछ काम नहीं निकलनेका। २—भूख क्या है ? संग्राममें विजय और श्रीजानकीजीकी प्राप्ति। इसीकी भूख है, यथा 'सिय हित समर जितब हम सोऊ।' दोनोंका न प्राप्त होना भूखका न बुझना है। दोनोंकी मनमें इच्छा मनके लड्डू खाना है। यहाँ लोकोक्ति और वक्रोक्ति है।

टिप्पणी—२ 'सिखि हमारि सुनि परम पुनीता।…' इति। (क) 'सिखि हमारि सुनि' कहनेका भाव कि प्रथम जो राजाओंने तुमको उपदेश दिया कि 'राम चाप तोरब सक नाहीं' इत्यादि, वह तुमने न सुना तो न सही, पर हम तुम्हारे हितकी कहते हैं सो तो सुनो। यह सीख परम पुनीत है। (ख) 'परम पुनीत' कहा जिसमें वे आदरसे सुनें। पुनः, 'परम पुनीत' का भाव कि मध्यम राजाओंके वचन 'पुनीत' हैं क्योंकि वे नीतिके अनुकूल हैं, उनमें यश-प्रताप-बल-तेजकी रक्षाका उपाय बताया गया है। उन्होंने लोकमर्यादा रखते हुए चले जानेको कहा था। उनके वचनोंमें लोकमें भलाई दिखायी है, लोकमें मारे न जाओगे और न नाम धरा जायगा और परलोक भी बनेगा। (ग) 'जगदंबा जानहु जिय सीता'—भाव कि उनके विषयमें जो तुम्हारे हृदयमें कुबुद्धि है उसे छोड़ दो, पत्नीरूपमें प्राप्तिकी अभिलाषा छोड़कर उन्हें जगन्मातारूपमें प्राप्त करो।

जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥ ३॥
सुंदर सुखद सकल गुन रासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी॥ ४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीको जगत्के पिता (परब्रह्म परमात्मा) विचारकर नेत्र भरकर उनकी छबिको देख लो॥ ३॥ सुन्दर, समस्त सुखोंके देनेवाले, सम्पूर्ण गुणोंकी राशि ये दोनों भाई शङ्करजीके हृदय (रूपी पुर वा घर) के निवासी हैं॥४॥

टिप्पणी—१ 'जगतपिता रघुपतिहि बिचारी।…' इति। (क) अधम राजाओंने दो बातें कहीं। एक तो रामजीको जीतनेकी, दूसरी श्रीसीताजीको ब्याहने की। इसीसे हरिभक्त राजा उनको इन दोनों मूर्तियोंका ज्ञान कराते हैं कि ये दोनों जगत्के माता-पिता हैं। पहले श्रीजानकीजीको जगदम्बा जाननेको कहा, पीछे श्रीरामजीको जगत्पिता विचारनेको कहा। तात्पर्य कि प्रथम उनके हृदयका दुष्टभाव दूर करते हैं क्योंकि हृदयकी शुद्धिके बिना रामजीका स्वरूप विचारनेमें नहीं आ सकता। (ख) ☞ श्रीजानकीजीके विषयमें कहा कि उनको 'जगदंबा जिय जानहु' और श्रीरामजीके बारेमें कहते हैं कि 'जगतपिता बिचारी…छबि लेहु निहारी,' अर्थात् श्रीजानकीजीको माता जानने-माननेको कहा तो भी छवि देखनेको नहीं कहा और श्रीरामजीकी छबि देखनेको कहा। इससे जनाया कि माता जाननेपर भी स्त्रीकी छवि न देखें जबतक कि हृदय निर्मल न हो। जिनके हृदय शुद्ध हैं, उनको देखनेमें दोष नहीं है, यथा—'रामरूप अरु सियछबि देखें। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें॥' इत्यादि। [श्रीसीताजीके विषयमें 'निहारी' न कहकर जनाया कि तुम उनकी ओर निहारनेके भी अधिकारी नहीं हो। 'लेहु निहारी' का भाव कि इनका दर्शन दुर्लभ है फिर यह मौका हाथ न लगेगा। मुं० रोशनलालजी 'जानहु' और 'बिचारी' का भाव यह लिखते हैं कि ये लड़की-लड़का देख पड़ते हैं पर विचारो तो ये जगत्के माता-पिता हैं। (प०)] (ग) ☞ सतोगुणी राजा रजोगुणी और तमोगुणी दोनोंको यह उपदेश देते हैं। पहले राजाओंने जो कहा था कि 'अस बिचारि गवनहु गृह भाई' उसपर ये कहते हैं कि घर क्यों भाग जानेको कहते हो ? यहाँसे जाते क्यों हो ? न जाने किस संयोगसे आज ये

मिल गये हैं, इनके दर्शन जगत्-जनक और जगज्जननीभावसे कर लो जबतक ये यहाँ हैं; घर जाकर क्या करोगे ? इस तरह यह उपदेश मध्यम और अधम दोनोंके लिये है ।

नोट—१ बिना श्रीजानकीजीकी कृपाके श्रीरघुनाथजीकी प्राप्ति असम्भव है । अतः प्रथम उनमें जगन्माता-बुद्धि लानेको कहा, तब उनकी कृपासे श्रीरामजीका स्वरूप विचारमें आयेगा । दुर्बुद्धि गयी नहीं कि स्वरूप झलक पड़ा ।

टिप्पणी—२ 'सुंदर सुखद सकल गुनरासी ।···' इति । (क) ☞हरिभक्त राजाओंको जो सुख मिला वही वे उपदेश कर रहे हैं । इन्हें श्रीरामजी सुन्दर और गुणोंकी राशि देख पड़े और उनसे सुख मिला, यथा—'देखि लोग सब भये सुखारे । एकटक लोचन चलत न तारे ॥,' 'हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता । इष्टदेव इव सब सुखदाता ॥,' 'गुनसागर नागर बर बीरा । सुंदर स्यामल गौर सरीरा' ॥ हरिभक्त भगवान्‌के गुणोंपर लटट्टू रहते ही हैं, यथा—'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ । तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ ॥' इसीसे उनको गुणराशि कहा । संत-भक्त भगवान्‌के माहात्म्यको जानते हैं, इसीसे 'संभु उर बासी' कहा । (ख) 'संभु उर बासी', यथा—'अनुज जानकी सहित निरंतर । बसहु राम नृप मम उर अंतर ॥ ६।११।४ ये शिवजीके हृदयमें बसते हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि जिनका शिवजी ध्यान करते हैं, जिनके दर्शनके लिये शिवजी भी तरसते रहते हैं, वे आज साक्षात् तुम्हारे सामने हैं, उनके दर्शन तुमको सुलभ हो गये हैं । पुनः भाव कि जिनको वे हृदयमें छिपाये रहते हैं, जो शिवजीके परम प्यारे हैं, वे तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन देने आये हैं; अतः नेत्र भर अघाकर देख लो । (ग) ☞'सुंदर सुखद' 'बासी' इस उपदेशका विस्तार विनयमें है—'है नीको मेरो देवता कोसल-पति राम । सुभग सरोज सुलोचन सुठि सुंदर स्याम ॥ सिय समेत सोहै सदा छबि अमित अनंग । भुज बिसाल सर धनु धरें कटि चारु निषंग ॥ बलि पूजा माँगै नहीं चाहै एक प्रीति । सुमिरन ही मानै भलो पावन सब रीति ॥ देइ सकल सुख दुखद है आरत जन बंधु गुन गहि अघ औगुन हरै ऐसो करुनासिंधु ॥ देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान । सबको प्रभु सब मों बसै सब की गति जान । को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव । तुलसिदास तेहि सेइऐ संकर जेहि सेव ॥ १०७ ॥'

इस भजनमें सुन्दर, सुखद, सकल गुणराशि और संभुउरबास चारों बातें क्रमसे कही हैं । 'सुन्दर' आदिके और भाव नोट १ में देखिये ।

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजी इसका अन्वय यह करते हैं— 'दोउ बंधु सुंदर सुखद सकल गुनरासी (हैं परन्तु) (ये रामजी तो) शंभु उरबासी (हैं) ।' उनका मत है कि 'यहाँ 'ए' शब्द जो अंगुल्यानिर्देश है वह रामजीको लखनलाल-से विलग कर दिखानेका है, अतः यह रामजीहीके लिये अन्वय होगा । यहाँ दो ही हैं और दोमेंसे एकको विलगाकर शंभुउरबासी कहना है जो ठौर-ठौर रामजीहीके लिये ग्रन्थमें प्रमाण है । यथा 'शंकरमानसराजमराला' 'जय महेस मनमानस हंसा' इत्यादि ।' अधिक स्थानोंमें अवश्य केवल 'श्रीरामजी' का ही नाम मिलता है । श्रीसीताराम-लक्ष्मण तीनोंमें श्रीरामजी ही प्रधान हैं, इससे प्रायः उनका ही नाम दिया गया । उपासना बड़ी गोप्य वस्तु है । यह प्रायः गुप्त ही रक्खी जाती है । इसीसे इसे केवल एक बार वर माँगते समय वरद्वारा कविने दरसा दिया है । 'अनुज जानकी सहित निरंतर । बसहु राम नृप मम उर अंतर ॥' साधु राजा यहाँ केवल दोनों भाइयोंका हृदयमें बसना कहते हैं । इससे यह न समझना चाहिये कि केवल इन्हीं दोनों-के उपासक शिवजी हैं । यहाँ इन्हीं दोनोंका प्रसंग है; इसलिये इनका ही नाम कहा गया । उपासक तो वे तीनोंके हैं । तभी तो सीतारूप धारण करनेसे शिवजीने सतीका त्याग किया । यथा 'जौं अब करौं सती सन प्रीती । मिटै भगति पथु होइ अनीती ॥' विवाहके समय भी शिवजीके वचनोंमें कुछ इस उपासनाकी झलक है— 'जिन्हकर नाम लेत जग माहीं । सकल अमंगल मूल नसाहीं ॥ करतल होहिं पदारथ चारी । तेइ सिय रामु कहेउ कामारी ॥ ३५१ । १–२ ।' मनुजी भी जब प्रार्थना करते हैं कि 'जो सरूप बस सिव मन माहीं । ···देखहिं हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥ १४६ । ४–६ ।' तब उनके सामने युगल सरकार प्रकट होते हैं । इससे भी कवि दरसा देते हैं कि ये दोनों रूप शिवजीके उरमें बसते हैं । पर यहाँ केवल दोनों भाइयोंका प्रसंग है इसलिये प्रस्तुत प्रसंगमें 'ए दोउ बंधु संभु उर बासी' कहा गया । जहाँ जितना प्रसंग होता है उतना ही लिखा जाता है । अपनी समझके अनुसार मैंने अपने दिये हुए अर्थका समाधान कर दिया है, रहे और लोग जो अर्थ चाहें ग्रहण करें ।

३ बाबा हरीदासजी—'सुन्दर' हैं अर्थात् बाहरके नेत्रोंसे दर्शन और भीतरके नेत्रोंसे ध्यान धरने योग्य हैं । 'सुखद' अर्थात् चूक पड़नेपर रुष्ट नहीं होते । 'सकल गुनरासी' हैं, अतः उनके भजनसे गुण प्राप्त हो जाते हैं । 'संभु उर बासी'

हैं अर्थात् तुम शैव हो और ये तुम्हारे इष्टदेवके भी इष्ट हैं। जो तुम चाहो कि उनके भजनबलसे तुम धनुष तोड़ लो तो यह बात होनेकी नहीं, वरंच जो ये चाहेंगे वही शिवजी करेंगे क्योंकि ये ही उनके उरके प्रेरक हैं।

४ यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है क्योंकि 'सुंदर०' कहकर फिर उसे विशेष सिद्धान्त 'ए दोउ०' से समर्थन करते हैं।

☞ जा० मं० के 'कस न पियहु भरि लोचन रूप सुधारसु। करहु कृतारथ जनम होहु कत नर पसु॥ ३८॥··· मनसिज मनोहर मधुर मूरति कस न सादर जोवहू। बिनु काज राज समाज महुँ तजि लाज आपु बिगोवहू।···४०।' इससे मानसके वचनोंसे मिलान कीजिये।

कवितावलीमें भी साधुराजाओंके वचन चौ० २, ३ से मिलते हुए ये हैं— 'भले भूप कहत भले भदेस भूपनि सों लोक छखि बोलिए पुनीत रीति मारखी। जगदंबा जानकी जगतपितु रामभद्र जानि जिय जोवो जो न लागै मुहँ कारखी।१।१५।'

सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजलु निरखि मरहु कत धाई॥ ५॥
करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा। हम तौ आजु जनम फलु पावा॥ ६॥

अर्थ—सुधा-समुद्र पासमें छोड़कर तुम मृगतृष्णाजलको देखकर दौड़-दौड़कर क्यों प्राण देते हो?॥ ५॥ जिसको जो भावै वह वही जाकर करे, हमने तो आज जन्म लेनेका फल पा लिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'सुधा समुद्र समीप बिहाई।···' इति। (क) पहले मोदक खाना कहा था, यथा—'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई'। भोजनके साथ जल पीनेको चाहिये, अतः मोदक खाना कहकर अब जल पीना कहते हैं। जैसा भोजन वैसा जल। तात्पर्य कि श्रीरामजीके जीतनेका मनोरथ करना मनमोदक खाना है और श्रीसीताजीकी प्राप्तिका मनोरथ करना मृगजल देखकर दौड़ना है, तृष्णामात्र है। 'भरि लोचन छबि लेहु निहारी' लिखकर 'सुधा समुद्र समीप बिहाई।···' लिखनेका भाव कि छबि सुधा है, यथा 'जौ छबि सुधा पयोनिधि होई।' (ख) 'सुधा समुद्र' के साथ 'बिहाई' और 'मृगजल' के साथ 'धाई' शब्द देकर जनाया कि एक निकट प्राप्त है और दूसरा अत्यन्त दूर है। (ग) 'मरहु कत धाई' भाव कि सुधा जीवनदाता है, जिलाता है, तुम उसको छोड़कर मरनेका उपाय करते हो, सुधासमुद्र श्रीरामजीकी छबि (के दर्शन) छोड़कर मृगजलरूप जानकीजीकी प्राप्तिके लिये व्यर्थ मरते हो। ☞ पहले कहा था कि 'व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकन्हि···' और अब कहते हैं कि 'मृगजलु निरखि मरहु कत धाई।' दोनों जगह मरना कहा। भाव कि यदि दोनों भाइयोंको जीतनेकी इच्छा करते हो तो भी मरोगे और यदि श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी इच्छा है तो भी मरण होगा। अतः इन दोनों बातोंका खयाल ही छोड़ दो। ['समीप सुलभ दर्शन अमृत है, आदिशक्तिके साथ विवाह मृगजल है, (वैजनाथजी)। 'सुंदर सुखद···उरबासी' ये सुधासमुद्र हैं, इनके दर्शनका सुख त्यागकर सीता-प्राप्ति-मृगजलके लिये प्रयत्न करना वृथा है, वह कभी हाथ न लगेगा, उनका स्पर्श भी न होगा।' (पंजाबीजी)। वा 'धनुष तोड़कर प्रतिष्ठाकी चाह करना मृगजल है, (रा० प्र०)। यहाँ 'ललित' अलंकार है क्योंकि छबिसमुद्र श्रीरामजीका वा छबिसमुद्र दोनों भाइयों-का दर्शन करो, सीताप्राप्तिकी व्यर्थ इच्छा न करो, यह प्रस्तुत वृत्तान्त न कहकर उसका प्रतिबिम्बमात्र कहा है।]

२—☞ यहाँतक साधु-राजाओंका उपदेश है। ये धर्मात्मा हैं। इसीसे इन्होंने परम धर्मका उपदेश किया—'जगदंबा जानहु जिय सीता॥ जगतपिता रघुपतिहि बिचारी।' श्रीसीतारामजीमें माता-पिता-बुद्धि करना धर्म है। पुनः, ये हरिभक्त हैं; इसीसे इन्होंने भक्तिका उपदेश दिया—'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।' अनुराग करना भक्ति है। पुनः ये सयाने अर्थात् ज्ञानी हैं, इसीसे इन्होंने ज्ञानोपदेश किया— 'सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु उर बासी॥ सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई।'—यह ज्ञान है। इसमें परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान कराया गया है। इस प्रकार सात्त्विक राजाओंके जो प्रथम तीन विशेषण दिये गये— 'धरमसील हरिभगत सयाने' वे तीनों उनके उपदेशसे प्रमाणित भी हो गये। (मृगजल—१। ४३। ८ मा० पी० भाग १ देखिये)।

३ 'करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा।' इति। (क) इस कथनसे पाया गया कि दुष्ट राजाओंने इनका उपदेश नहीं माना। अभिमानी उपदेश नहीं मानते, यथा 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।४।९।' 'बोला बिहसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।५।४।' 'श्रवन सुनी सठ ताकर बानी। बिहँसा

जगत बिदित अभिमानी' इत्यादि। ये 'अविवेक अन्ध अभिमानी' हैं, अतः ये कैसे सुनते? जब न सुना तब कहा कि 'काहू···'। (ख) 'जा कहुँ जोइ भावा।' इससे सूचित किया कि किसीको कुछ भाया, किसीको कुछ। राजाओंकी पृथक्-पृथक् भावनाएँ हैं। किसीको यह भाता है कि 'अस बिचारि गवनहु' और किसीको 'सियहित समर' भाता है, इत्यादि। (प्र० सं०)। इस कथनका आशय यह है कि मध्यम और अधम दोनों प्रकारके राजाओंने अपने-अपने भाव प्रकट किये। एकने तो घर चले जानेकी कही—'अस बिचारि गवनहु गृह भाई' और दूसरोंने लड़नेकी बात कही—''एक बार कालउ किन होऊ···''। इसीपर साधु राजाओंने कहा कि जिसको जो भाता है सो करे, हम व्यर्थमें समय नष्ट क्यों करें। यह भी जनाया कि तुम्हारे भाव हमें नहीं भाते, हमारा हितोपदेश तुमको नहीं भाता तो न भावे, अब हम व्यर्थ बकवाद नहीं करना चाहते। यह कहकर ये चुप हो गये। (ग) 'आजु जनम फलु पावा' इति। भाव कि श्रीसीता-रामजीके एक बारके ही दर्शनसे जन्म सफल हो जाता है, अन्य साधन जन्मभर भी करे तब भी न जाने, मरनेपर भी जन्म सफल हो वा न हो। हमें आज इनका दर्शन मिला, अतएव हमारा जन्म सफल हो गया। जन्म सफल होनेका भाव कि इसीलिये जन्म-जन्म मुनि आदि प्रयत्न करते हैं, भगवत्प्राप्तिहीसे जन्म सफल होता है, अन्यथा नहीं। यथा—''सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन रामसिय दरसनु पावा॥ २। २१०।'', 'जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सिय रामु न देखन पाए॥···समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई॥ २। १२१।'', ''धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥ १। १३६।'' इत्यादि। यह वचन भी उपदेश है।

अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे॥ ७॥
देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना॥ ८॥

अर्थ—ऐसा कहकर अच्छे राजा अनुरागसे उपमारहित रूप देखने लगे (श्रीरामजीका दर्शन करने लगे)॥ ७॥ देवता लोग आकाशसे विमानोंपर चढ़े हुए देख रहे हैं, सुन्दर गान कर रहे हैं और पुष्प बरसा रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस कहि···बिलोकनलागे' अर्थात् कुछ केवल दूसरोंको उपदेश ही नहीं देते किन्तु स्वयं भी उस उपदेशपर अमल करते हैं। 'भरि लोचन छबि लेहु निहारी' यह उपदेश दिया और स्वयं भी अनुरागसे छबि देखने लगे। (ख) अनुरागीका भाव कि रूप तो सभी देखते हैं पर 'भले भूप' अनुरागसे देखते हैं (और दुष्ट राजा दुर्भावसे)। (ग) इनके मन, वचन, कर्म तीनों भगवान्‌में लगे दिखाये। वचनसे दर्शनका उपदेश दिया, मनसे अनुराग किया और तनसे देखने लगे। नेत्र भी तन हैं। देखना कर्म है। (घ) 'देखहिं सुर···'। किसको देखते हैं यह स्पष्ट नहीं लिखा कारण कि यहाँ राजाओंका (श्रीरामजीका) अनुपम रूप देखना इसके तुरत ही पहले लिखा ही है और यहाँ रूपदर्शनका प्रकरण ही है उसके अनुकूल राम-रूप देखना ही अभिप्रेत होगा न कि और कुछ। (ङ) 'नभ चढ़े बिमाना' कहनेका भाव कि रावा (सुर) निज रूपसे नर-समाजमें नहीं आये। राजसमाज मनुष्योंका है अतः उसमें नर-रूपसे बैठे हैं यथा—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥' समीपसे दर्शन अच्छा होता है, इसीसे ये नर-रूप धरकर समाजमें आकर बैठे और मंगल गान करने एवं फूल बरसानेके लिये देव-रूपसे आकाशमें विमानोंपर हैं। इसीसे ग्रन्थकारने प्रथम हरि-भक्तोंका देखना लिखकर तब देवताओंका देखना, गान करना और फूल बरसाना लिखा।

२ (क) जब श्रीरामजी रंगभूमिमें आये तब देवताओंने फूल बरसाया। बीचमें राम रूप वर्णन और राजाओंकी वार्ता लिखी गयी। इसी तरह जब श्रीजानकीजी आयीं तब पुष्पोंकी वृष्टि हुई, यथा—'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥ हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपसरा गाई॥' अतः यहाँ यह शंका होती है कि 'पुष्पों-की वृष्टि तो रामजीके रंगभूमिमें आनेपर ही जान पड़ती है तब वहीं उसी समय उसका उल्लेख न किया जाकर यहाँ करनेका क्या प्रयोजन है?' समाधान यह है कि यहाँ उसका उल्लेख करके सूचित करते हैं कि श्रीरामजीके आगमनका प्रसंग बराबर यहाँतक है। आगे श्रीसीताजीके आगमनका प्रसंग है। [पुनः 'बरषहिं' और 'देखहिं' की बनावट दिखा रही है कि देर एवं दूरसे देख रहे हैं और अवसरपर फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं। लिखा अबतक इस कारण नहीं कि किसीने ध्यान नहीं दिया। क्योंकि पहले तो सब लोग रामावलोकनमें थे, फिर वाद-विवाद छिड़ गया। अब तनिक शान्ति हुई तो पुष्प-वर्षाकी ओर भी ध्यान गया। फिर देवता भी अब अधिक अनुरागे और भले भूपोंसे सहानुभूति करनेके लिये विशेष पुष्प-वर्षा की।

(राजारामशरणजी) । पुनः देवता तो सदा स्वार्थी हैं । जब साधु राजाओंके वाक्य सुने तब उन्हें विश्वास हुआ कि राम धनुष तोड़ेंगे और अपना कार्य सिद्ध होगा । अतः वे हर्षित हुए और पुष्प-वृष्टि करने लगे । (प० प० प्र०)] । (ख) फूलोंकी वर्षा और मंगलगान शकुन हैं, यथा 'बर्षहिं सुमन सुमंगलदाता ।' 'भेरि मृदंगमदुमर्दलशंखवीणावेदध्वनिमंगलगीतघोषाः।'

नोट—मिलान कीजिये—'सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे । रघुबंस कैरवचंद चितइ चकोर जिमि लोचन ठगे ॥ ४० ।' (जा० मं०) ।

दो०—जानि सुअवसरु सीय तब पठई जनक बोलाइ ।
चतुर सखीं सुंदर सकल सादर चलीं लवाइ ॥ २४६ ॥

अर्थ—तब सुन्दर शुभ अवसर जानकर जनकमहाराजने सीताजीको बुलवा भेजा । चतुर सखियाँ जो सभी सुन्दर हैं आदरपूर्वक लिवा ले चलीं ॥ २४६ ॥

☞ 'सुअवसर' विचारणीय है । नाटकी कलामें प्रवेश (Enter) और Exit का बड़ा महत्त्व होता है । जब वाद-विवाद बंद हुआ तभी जनक महाराजने उन्हें बुलाया ।

टिप्पणी—१ 'सुअवसर' अर्थात् जब सब बैठ गये । पुनः जिस मुहूर्तमें मुनि श्रीरामजीको ले आये वही मुहूर्त अबतक विद्यमान है, इसीमें जानकीजी आवें जिसमें रामजीको प्राप्त हो जायँ, अतः 'सुअवसर' कहा । तीसरे, श्रीरामजीके आगमनपर देवता मंगल गान और मंगलद्योतक पुष्पोंकी वृष्टि कर रहे थे, ये दोनों बड़े सगुन हैं, अतः 'सुअवसर' जानकर बुलाया । यथा—'सुरन्ह सुमंगल अवसरु जाना । बरषहिं सुमन'''। ३१४ । १ ।' [श्रीजनकजी बड़े पण्डित हैं । उन्होंने शुभ-मुहूर्त जान लिया कि इसमें विजय और जानकीजी दोनों रामजीको प्राप्त होंगी । पुनः सीताजीके आये बिना कोई धनुष तोड़ने न उठेगा और सब तो अब आकर बैठ ही गये है—(पंजाबीजी) । 'बरषहिं सुमन करहिं कल गाना ।' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है ।]

२ (क) 'चतुर सखीं' । जिस मुहूर्त और मांगलिक समयमें महाराजने बुला भेजा तुरत उसीमें ले आयीं, अवसर न बीतने पाया, अतः 'चतुर' कहा । इस समय यही चतुराईका काम था । (वैजनाथजीका मत है कि इस समय साथमें ऐसी भी सखियाँ हैं जो राजाओंके नाम, गुण और कुल इत्यादिसे परिचित थीं, अतः उनको 'चतुर' कहा) । आगे समय-समयपर सखियोंकी चातुरीका वर्णन किया गया है । जैसे कि 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार' यहाँ मंगलगानका समय है सो गा रही हैं, यह चातुरी है । पुनः 'जाइ समीप रामछबि देखी । रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥ चतुर सखी लखि कहा बुझाई । पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥', 'आसीष दीन्ह सखी हरषानी । निज समाज लै गईं सयानीं ॥' इत्यादि । (ख) 'सुंदर सकल' इति । यहाँ सखियोंकी सुन्दरता कही, क्योंकि आगे श्रीजानकीजीकी शोभा कहेंगे कि सखियोंके बीचमें श्रीजानकीजी सुशोभित हो रही हैं । सखियोंको छबिगण कहेंगे और श्रीसीताजीको महाछबि । (ग) 'सादर' अर्थात् उनको आगे करके दाहिने-बायें अगल-बगल और पीछे अपना हैं; यथा 'सादर तेहि आगे करि बानर चले जहाँ रघुपति करुनाकर। ५ । ४५ ।' [अथवा, डोले या पालकीपर चढ़ाकर आगे उन्हें कर लिया और पीछे आप साथ-साथ रहीं । यथा गीतावल्याम् 'राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याय सिय सिबिका चढ़ाइ कै' (पद ८२)] ।

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी । जगदंबिका रूप गुनखानी ॥ १ ॥
उपमा सकल मोहि लघु लागीं । प्राकृत नारि अंग अनुरागीं ॥ २ ॥

अर्थ—रूप और गुणोंकी खानि जगत्-माता श्रीसीताजीकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती ॥ १ ॥ सब उपमाएँ मुझे तुच्छ लगीं (क्योंकि) प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गोंमें उन्होंने अनुराग किया है अर्थात् बड़े प्रेमसे उनके अङ्गोंके लिये कवियोंने उन उपमाओंको लगाया है ॥ २ ॥

गौड़जी—आदिशक्तिकी शोभाकी पूजा वाणी करना चाहती है । यह पूजा अर्घ्यादिकी तरह उपमा देकर करती । परंतु देखती है कि 'सब उपमा कबि रहे जुठारी' और जूठी उपमा और सो भी साधारण सुन्दरियोंकी जूठी, आदिशक्तिके शोभासमुद्रको कैसे दी जाय ?

टिप्पणी—१ (क) जब श्रीरामजी रंगभूमिमें आये तब उनकी कुछ शोभा बखान की तो यह भी उचित था कि श्रीजानकीजीके आगमनपर इनकी शोभाका भी कुछ वर्णन किया जाता, इसीपर कहते हैं कि 'सिय सोभा नहिं जाइ बखानी' और बखान न हो सकनेका कारण आगे इस दोहे भरमें कह रहे हैं, अर्थात् इस एक चरणका ही विस्तार इस दोहे भरमें है। (ख) 'जगदंबिका…' इति। अब कारण कहते हैं कि एक तो वे जगन्मात्रकी माता हैं, माताका रूप (शोभा) पुत्र कैसे कह सके? यथा 'जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी॥ १०३। ४।' दूसरे, वे रूप और गुणोंकी खानि हैं, इससे भी रूप बखाना नहीं जा सकता, यथा 'सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई॥ ३२३। १।' तात्पर्य कि प्रथम तो शोभाका वर्णन करना उचित नहीं है और यदि वर्णन भी करें तो शोभा अपार है, बखानी नहीं जाती। यथा 'कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जगजननि सोभा महा। १००।' (ग) 'जगदंबिका' कहकर 'रूप गुनखानि' कहनेका भाव कि ईश्वरके रूप और गुणसे जगत्‌का रूप और गुण है। पुनः भाव कि 'जगदंबिका' कहनेसे पाया गया कि माताभाव होनेसे कवि वर्णन नहीं करता उसीपर कहते हैं कि रूपगुणखानि हैं, वर्णन हो ही नहीं सकता। (घ) यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों कहा। 'सियसोभा…' माधुर्य है और 'जगदंबिका' ऐश्वर्य है। (ङ) न बखान कर सकनेको युक्तिसे समर्थन करना 'काव्यलिंग अलंकार' है-(वीर)]।

२ (क) कहा जा सकता है कि शोभाका वर्णन यथार्थ न भी हो तब भी उपमाके द्वारा तो उसे जना सकते थे उसपर कहते हैं—'उपमा सकल…'। सब प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गोंमें लगनेसे जूठी हो गयी, यथा—'सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥ २३०। ८।' अर्थात् उपमाद्वारा वर्णन होता है, परंतु कविलोग सब उपमाएँ प्राकृत स्त्रियोंके लिये कह चुके, कोई बाकी नहीं है। 'सकल' अर्थात् एक भी उपमा नहीं बची, जिसे हम सोचते हैं उसे किसी-न-किसी ग्रन्थमें अवश्य प्राकृत सुन्दरीके सम्बन्धमें दी हुई पाते हैं। अथवा, जो-जो अन्य लोगोंने दी हैं वे सब हमने देखी पर हमें 'लघु' जान पड़ीं। (ख)—'मोहि लघु लागीं' का भाव कि और कवियोंको वे लघु न लगीं, क्योंकि उन्होंने तो प्राकृत स्त्रियोंके लिये दीं, प्राकृत स्त्रियोंके लिये वे सब योग्य ही हैं और, मैं अप्राकृत स्त्रीके अङ्गोंके लिये उपमा ढूँढ़ता हूँ, इसीसे वे उपमाएँ मुझे लघु लगीं। प्राकृत उपमा अप्राकृत स्त्रीके अङ्गमें लगाना अयोग्य है। इससे सूचित किया कि सीताजी अप्राकृत हैं, उनका सारा शरीर चिदानन्दमय है, जैसे श्रीरामजीका शरीर। प्राकृत विश्वमें अप्राकृतकी उपमा मिलना-असम्भव है, यही कहना होगा कि इनके समान ये ही हैं। (ग)—'अनुरागी' का भाव कि सब उपमाओंने अपने योग्य अंग पाकर उनमें अनुराग कर लिया है पर श्रीजानकीजीके अङ्गोंके लिये ज्यों ही हम किसी उपमाको उठाते हैं तो वह उनके अङ्गको देखकर संकुचित हो जाती है, यह समझकर कि मैं उनके योग्य नहीं हूँ, यथा—'खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥ कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥ बरुनपास मनोज, धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥ श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥ सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥ ३। ३०।' इत्यादि अर्थात् श्रीजानकीजीके सामने सङ्कोच होता था, उनके पीछे प्रसन्न हैं। (इसी तरह श्रीरामजीके अङ्गोंकी शोभा देख उपमाओंका हार मानकर भागकर छिप जाना गीतावलीमें कहा गया है। यथा 'भुजनि भुजग, सरोज नयनन्हि, बदन बिधु जित्यो लरनि। रहे कुहरनि, सलिल, नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥ १। २४। ४।')। प्राकृत स्त्रियोंको अपनेसे तुच्छ वा उनके योग्य समझती हैं, इसीसे उनके साथ लगनेसे प्रसन्न हैं। क्योंकि वहाँ उपमाएँ बड़ाई पाती हैं।

सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥ ३॥
जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥ ४॥

अर्थ—(यदि) वही उपमा देकर श्रीसीताजीका वर्णन करें तो कुकवि कहलावें, यह अपयश कौन लेगा॥ ३॥ यदि श्रीसीताजीको स्त्रियोंकी समता देकर तुलना करें तो ऐसी सुन्दर स्त्री जगत्‌में कौन है (जिसकी उपमा उन्हें दे सकें)॥ ४॥

श्रीराजारामशरणजी—हम फुलवारीलीलाके कुछ प्रारम्भसे ही देख रहे हैं कि तुलसीदासजी सब पहिलेवाले कवियोंसे बाजी मारना चाहते हैं। यह बात कवियों और कलाकारोंमें स्वाभाविक होती है। उर्दूमें इसीको 'तअल्ली' कहा जाता है। [उर्दू है जिसका नाम हमीं जानते हैं दाग। हिन्दोस्ताँमें धूम हमारे जुबाँकी है।'] उपमाएँ सब पहिले ही प्रमाणित कर आये

हैं, परन्तु स्पष्ट कारण अब कहा कि श्रीसीताजी अप्राकृत हैं, जगदम्बिका हैं, और उपमाएँ प्राकृत नारियोंके अङ्गसे कवियों-द्वारा जुठारी जा चुकी हैं। फिर भी नम्रता विचारणीय है कि कहा है कि भाई 'कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू' यह तो ठीक है पर 'कुकवि' कहलाकर 'अपयश' भी तो नहीं लेना चाहता कि जो उपमा अयोग्य हो,'असङ्गत हो, वह दे दूँ।'

टिप्पणी—१ (क) 'कुकबि कहाइ अजस को लेई।' भाव कि कविता यशके लिये बनायी जाती है। '**अजस को लेई**' का भाव कि जो प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गोंमें लग चुकी हैं.. उन प्राकृत जगत्‌की उपमाओंको श्रीसीताजीके चिन्मय अङ्गोंके लिये प्रयुक्त करनेसे बड़ा पाप होगा; यथा 'बैदेही-मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥ २३८। ३।' बिना पापके अपयश नहीं होता; यथा 'बिनु अघ अजस कि पावै कोई। ७। ११२।' (ख) 'कुकवि' कहकर कवियोंकी तीन कोटियाँ जनायीं।—सुकवि, कवि और कुकवि। कौन कवि हैं, कौन सुकवि और कौन कुकवि? जो उपमा देकर प्राकृत स्त्रियोंका वर्णन करते हैं, वे कवि हैं, यथा—'सब उपमा कबि रहे जुठारी।''' जो उपमा देकर श्रीजानकीजीका वर्णन करें वे कुकवि हैं। यथा 'सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ''''।' और, जो उपमा देकर श्रीजानकीजीका वर्णन न कर सके वह सुकवि है। तात्पर्य कि आप सुकवि हैं। अपने मुँह मियाँमिट्ठू बनना, अपने मुख अपनी प्रशंसा करना अनुचित है, इसीसे आपने प्रकटरूपसे 'सुकवि' न कहकर अभिप्रायसे अपनेको 'सुकवि' जना दिया। (ग) '**कुकबि कहाइ**''''' का भाव यह कि ऐसा करनेवाला न सुकवि ही कहलाने योग्य रह जायगा और न कवि ही, दोनों पदोंसे च्युत हो जायगा और अपयशका भाजन होगा। वह काम क्यों करे कि अपयश हो। [शम्भुके प्रसादसे तुलसी 'कवि' हुआ है, कुकवि बनने क्यों जाय? (वि० त्रि०)]

२ (क) ☞प्रथम प्राकृत सुन्दरियोंके अङ्गोंमें जो उपमाएँ अनुराग कर चुकी हैं, उनका त्याग किया, अब प्राकृत सुन्दरियोंकी उपमाका भी त्याग करते हैं। [यदि कोई कहे कि अच्छा चन्द्र इत्यादिकी उपमाएँ तुम नहीं देते तो न सही, पर जिन स्त्रियोंमें वे उपमाएँ दी गयी हैं उनके सदृश तो कह सकते हो तो उसपर कहते हैं कि 'जौं **पटतरिअ तीय सम सीया**।''''(पंजाबीजी)। जगत्‌में कोई स्त्री उनकी उपमाके योग्य नहीं है। इस तरह जनाया कि उपमान और उपमेय दोनों श्रीजानकीजीके उपमायोग्य नहीं हैं। इस जगत्‌में कोई स्त्री उनके उपमायोग्य नहीं है, इसलिये जगत्‌की किसी स्त्रीका नाम न दिया। आगे स्वर्ग और पातालमें कुछ दिव्य स्त्रियाँ हैं जिनका नाम लेते हैं पर उनमें दोष दिखाकर उनका भी त्याग करते हैं। (ख)—'जग' इति। तीनों लोकोंकी स्त्रियोंको कहेंगे; इनमेंसे प्रथम इस जगत् अर्थात् मर्त्यलोककी स्त्रियोंको कहते हैं क्योंकि श्रीजानकीजी इस लोकमें हैं, इससे इस समय जगत् प्रधान है। ['जग' से स्वर्ग, पाताल और मर्त्य तीनों लोकोंको भी ले सकते हैं, जगत्‌में ये सब शामिल हैं। उनमें कहीं भी कोई स्त्री उपमायोग्य नहीं है, यह कहकर दो-चार स्त्रियाँ जो परम सुन्दरी कही जाती हैं उनका उदाहरण देकर उनमें दोष दिखाकर उनको भी खारिज कर देते हैं।]

गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥ ५॥

अर्थ—सरस्वती वाचाला (बक्की, बहुत बोलनेवाली) हैं और भवानी (पार्वतीजी) अर्द्धाङ्गिनी हैं। रति (कामदेवकी स्त्री) अपने पतिको 'अतनु' (बिना शरीरका) जानकर अत्यन्त दुखी है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) मर्त्यलोकमें तो कोई स्त्री उपमाके लिये ढूँढ़े मिली नहीं; अतः अब दिव्य लोकोंमें ढूँढ़ते हैं; क्योंकि देवताओंकी स्त्रियाँ बहुत दिव्य और परम सुन्दरी सुनी जाती हैं। प्रथम ब्रह्माजीकी स्त्रीको लेते हैं तो उनमें यह दोष पाते हैं कि वह बहुत बोलती है, दिन-रात बोलती ही रहती है। (भाव कि सरस्वती ही सबकी जिह्वापर बैठकर बोला करती है) और बहुत बोलना स्त्रियोंमें दोष माना गया है। अतः उनको खारिज (बहिष्कृत) किया। फिर महादेवजीकी शक्ति श्रीपार्वतीजीको सोचे तो उनमें यह दोष देखते हैं कि भवानीके आधा ही शरीर है। आधा शरीर उनका पुरुष है और आधा स्त्री है। अर्द्धनारीनटेश्वररूप शिवजीका कहा गया है, यथा—'**भस्म अं। मर्दन अनंग संतत असंग हर। सीस गंग गिरिजा अधंग भूषन भुजंगबर॥ मुंडमाल बिधुबाल माल डमरू-कपाल-कर। बिबुध बृंद नव कुमुद चंद सुखकंद सूलधर॥**''' क० ७। १४९।' 'अर्ध अंग अंगना'''। क० ७। १५१।' इससे जनाया कि उनका आधा अङ्ग अमाङ्गलिक है। उसमें आधा तन भवानी हैं और आधा तन महादेव हैं। अतः शोभा बिगड़ गयी, उपमायोग्य ये भी न रह गयीं। (ख) 'रति अति दुखित अतनु पति जानी' इति।' 'अतनु' यथा—'**अब तें रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंगु। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु**॥ ८७।' कामदेवके शरीर नहीं है, रति परम सुन्दरी है, उसमें सरस्वती और भवानीके

दोष नहीं है, वह न तो वाचाल है और न उसके अङ्गमें त्रुटि है, पर पतिका दुःख होनेसे दुखी रहा करती है, अतः वह भी त्याज्य है। (ग) ☞ प्रथम ब्रह्माकी शक्तिको कहा, फिर महादेवकी शक्तिको कहा, अब चाहिये था कि त्रिदेवमेंके तीसरे देव जो भगवान् विष्णु हैं उनकी शक्तिको भी कहते, किंतु उनको न कहकर बीचमें रतिको कहने लगे। यह भी साभिप्राय है। भवानीके समीप ही रतिको कहनेका भाव यह है कि दोनों 'पतिसे अशोभित हुईं। भवानी तो पतिके संगसे अशोभित हो गयीं और रति पतिके असङ्गसे अशोभित है। युक्तिके विचारसे शिवशक्तिके पीछे कामकी शक्तिको कहा। युक्ति दिखानेके पश्चात् विष्णु-शक्तिको कहते हैं'। [भवानी और रति दोनोंको एक-सा दुःख है। दोनोंकी 'क्रिया' एक है, अर्थात् दोनोंके पति बिना शृङ्गारके हैं। एकके पति सर्प लपेटे, जटाएँ रक्खे, भस्म रमाये—अतः भवानीकी शोभा नष्ट हुई और पति बिना रतिकी शोभा नष्ट हुई। अतएव दोनोंको एकत्र रखा। इसी प्रकार अयोध्याकाण्डमें पहले 'बटु' फिर 'गृही' तब 'बैखानस' को कहा क्योंकि दोनोंकी 'क्रिया' एक है। गृहस्थ कर्म छोड़े तो शोचनीय और यती संग्रह करे तो शोचनीय; यथा—'सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई॥....सोचिय गृही जो मोहबस करै करमपथ त्याग। सोचिय जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग॥ २। १७२।' 'बैखानस सोइ सोचै जोगू। तप बिहाइ जेहि भावै भोगू॥' तथा यहाँ भवानी और रतिको साथ कहा।] पुनः यहाँ क्रमशः एकसे दूसरेका दुःख अधिक दिखा रहे हैं। उत्तरोत्तर एकसे दूसरेमें अधिक दोष बता रहे हैं। गिरामें केवल मुखका दोष है कि बात बहुत करती है, उसका मुख ही भर बिगड़ा है। उससे अधिक दोष भवानीमें है, उनका आधा तन ही जाता रहा, उनके सभी अङ्ग आधे-आधे दूषित हैं क्योंकि पतिके अङ्गोंसे ढके हुए हैं। इनसे अधिक दोष रतिमें है, क्योंकि उसका तो आधा अङ्ग है ही नहीं (स्त्री पतिकी अर्धांगिनी कहलाती है सो) इसका पति ही मर गया यह विधवा है। और इससे भी अधिक दोष लक्ष्मीमें है क्योंकि इनके 'विष' और 'वारुणी' दो भाई हैं अर्थात् इसको सदा कुसङ्ग प्राप्त है। कुसङ्गके बराबर अशोभा किसीमें नहीं। दुःख उत्तरोत्तर अधिक है, यह 'रति अति दुखित' से जनाया। गिरासे अधिक दुःख पार्वतीको है, क्योंकि इनके तो सारे आधे शरीरकी शोभा ही मारी गयी। और रतिका क्या कहना वह तो 'अति दुखित' है। इसमें दो दोष दिखाये—एक तो वैधव्य, दूसरे अति दुखी होनेसे मन सदा मलिन रहता है जिससे शोभा जाती रहती है। वैधव्यके समान स्त्रीके लिये कोई दूसरा दुःख नहीं है। जैसे भारी और अति प्रिय वस्तुकी हानिसे भारी दुःख होता है वैसे ही पतिके मरणसे उसे भारी दुःख है जिससे शोभा बिलकुल नष्ट हो गयी।

☞ देखिये, जैसे नगरदर्शनमें सखियोंके द्वारा श्रीरामजीको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और कामदेव इन चारोंसे अधिक सुन्दर कहा, उनको रामजीकी उपमाके लिये अयोग्य ठहराया, यथा—'सखि इन्ह काम कोटि छबि जीती॥ बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥' वैसे ही यहाँ कवि चारोंकी शक्तियोंसे श्रीजानकीजीको अधिक सुन्दर कहते हैं। जैसे वहाँ त्रिदेवमें दोष दिखाया वैसे ही यहाँ उनकी शक्तियोंमें दोष दिखाये। जैसे वहाँ औरोंके नाम नहीं लिये, समुदायको कहा है, यथा—'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं॥' वैसे ही यहाँ कहा कि 'जौं पटतरिअ तीय महँ सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥'

बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥ ६॥

अर्थ—विष और मदिरा जिनके प्रिय भाई हैं उन लक्ष्मीजीके समान विदेहनन्दिनीजीको कैसे कहे?॥ ६॥

☞ श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—'देखिये, क्रमशः कवि हमें किस उच्च शिखरपर ले आता है! सब उपमाएँ छूटीं, चन्द्रमा और अरुण नीचे रह गये। अब एक-एक करके देववधुएँ भी सीताजीकी तुलनामें नीचे रह गयीं। कविकी नैतिक सुकुमारता विचारिये कि अबतक श्रीरामजीद्वारा तुलना करायी थी, परंतु अब देववधुओंकी निन्दा उनके मुखसे ठीक न होती, कारण कि वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं। हाँ, कविको सब अधिकार है। उदाहरणार्थ देखिये—'नाम सो षडानन पै चूकने हो चले गण॥' और 'न्याव न कीन्ह कीन्ह ठकुराई। बिनु कीन्हे लिख दीन्ह बुराई॥' (जायसी)। जब ये भगवान्तकको कह डालते हैं तब फिर और कौन बचे? महाकाव्यकलामें 'सीता' जगदम्बा हैं तो फिर जगकी स्त्रियाँ उनमामें क्या ठहर सकती हैं? कदापि नहीं, चाहे वे देववधुएँ ही क्यों न हों।

नोट—१ ☞ जैसे गिरा, भवानी और रतिके तनमें दोष दिखाये वैसे दोष लक्ष्मीजीके तनमें नहीं हैं। इसीसे तनमें दोष न कहे, वरंच उनकी उत्पत्तिके कारणमें दोष दिखाये। दोष चार स्थानसे देखे जाते हैं—कारणसे, स्वभावसे, सङ्गसे और अङ्गसे। लक्ष्मीमें चञ्चलता दोष है, पर इसे कविने न लिखा क्योंकि उसे (चञ्चलताको) छोड़कर

वे भगवान्‌की सेवा करती हैं। यथा—'जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि पद पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ॥' (विनय०)। लक्ष्मीजी सुन्दरता और सुखकी मूल हैं, विषय-सुख उनके कटाक्षसे होते हैं। (पं० रामकुमारजी)।

टिप्पणी—१ उत्तरोत्तर अधिक-अधिक दोष दिखाते आ रहे हैं। रतिसे अधिक दोष इनमें हैं। विष और वारुणी दोनों भाई इनको प्रिय हैं। अर्थात् इनको सदा कुसंग बना रहता है। दोनों इनके हृदयमें बसते हैं, यथा 'कह प्रभु गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥ बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥ ६। १२।' जैसे चन्द्रमाका प्रिय भाई होनेसे वह उसे हृदयमें बसाये रहता है वैसे ही लक्ष्मीजी इन्हें अपने हृदयमें बसाये रखती हैं। लक्ष्मी सबको विषरूप है और मदान्ध किये रहती है। किसीने कहा भी है—'कनक कनकते सौगुनी मादकता अधिकात। वे खाए बौरात हैं ये पाए बौरात।'

नोट—२ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि—'विष बारुनी बंधु प्रिय' का भाव यह है कि लक्ष्मीजीका जहाँ निवास हुआ फिर तो मदिरा, अफीम, संखिया इत्यादि आसवादिका भक्षण ही भक्षण है, और लक्ष्मी भी ऐसे ही लोगोंके पास निश्चला हो गयीं। लक्ष्मीको भगवत्-विरोधीपर कुछ ख्याल नहीं होता, किन्तु जैसे प्राकृत नारियोंको नैहरके लोग अत्यन्त प्यारे होते हैं वैसे ही समुद्रसम्बन्धी मान वह (विष-वारुणी) उनके प्रिय बान्धववर्गोंमें हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सागररूपी नैहरके अश्व आदि रत्न भी परिवार हैं, पर परम प्यारे विष और वारुणी ही हैं, जिसका फल नरक है। और श्रीसीताजीकी कृपादृष्टिसे लोग भगवत्तल्लीन तद्गत हो जाते हैं।'

टिप्पणी—२ (क) ☞ यहाँ तक एक-एक अर्धालीमें एक-एक 'लोककी स्त्रियोंकी उपमाका निरूपण किया'। इस तरह तीन अर्धालियोंमें तीनों लोकोंकी स्त्रियोंका उपमारूपमें निरूपण हुआ। 'जग असि जुबति कहाँ कमनीया' यह मर्त्यलोककी उपमाका हाल है। 'गिरा मुखर''''अतनु पति जानी' यह स्वर्गलोक और 'बिष बारुनी ''''' यह पाताल लोककी उपमाका हाल है। लक्ष्मी पातालसे पैदा हुईं। अथवा समुद्रसे उत्पन्न हुईं और अथाह समुद्रमें वास करती हैं। (ख) 'कहिअ रमा सम किमि बैदेही' इति। भाव कि श्रीजानकीजी विदेहकी कन्या हैं और लक्ष्मीजी जड़ समुद्रकी कन्या हैं; इससे पिता-सम्बन्धी दोष भी लक्ष्मीमें हैं और बन्धुवाला दोष प्रथम ही कह चुके। दूषितकी उपमा निर्दोषके लिये देनेसे दोष लगेगा—'होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें'। [बैजनाथजी कहते हैं कि विशेष शोभा तो मुग्धा अवस्थामें होती है और वे सब बड़ी हो गयी हैं। अवस्थाविरोध स्वाभाविक उपमानमें दूषण है इसलिये उपमा न दी।' (ग) 'गिरा मुखर''' किमि बैदेही' में व्यतिरेक अलंकार है क्योंकि उपमानोंसे उपमेयमें अधिक छबि कही गयी है]।

नोट—३ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि—'जो विष समुद्रमंथनसे निकला उसे तो शिवजी पी गये और वारुणीको दैत्य पी गये। अतएव यहाँ उनके सजातीय दूसरे विष-वारुणीका अर्थ होना चाहिये। विष और विषयकी एकता है, वह तो एक ही बार मारता है और विषयसे तो अनेक जन्म-मरण होते हैं। जहाँ रामका वास है; वहाँ रामविमुखतारूपी विषयका वास रहता है। वारुणी जो कलवारके यहाँ मिलती है उसे तो साधारण नीच लोग पीते हैं, पर रमामद ऊँच-नीच सब पीते हैं, इसका नशा सदा चढ़ा रहता है।' पुनः रमाके तो चौदह भाई-बहिन हैं पर विष-वारुणीको अति नीच जानकर यहाँ कहा है। धनुष भाईके संगसे दो दोष टेढ़ायी और जीवहिंसा, धन्वन्तरि भाईके संगसे दो दोष (जहाँ रमा तहाँ) भोग और रोग (जहाँ रोग तहाँ धन्वन्तरि), कामधेनुके संगसे दातव्यमें अविचार दोष आया (वह देवतादि जो सुखी हैं उन्हींको देती है सो धन व्यर्थ खर्च होता है, भगवान्‌में नहीं लगता)। घोड़ेके संगसे चञ्चलता दोष (कहीं स्थिर नहीं रहती), शंखका गुण कि भीतरसे पोला और कठोर शब्दयुक्त (रमाको पाकर सीधे मधुर बोला नहीं जाता), गजके संगसे मत्तता दोष, मणि ऊपरसे प्रकाशमान और एक कनी कोई खा ले तो मर जाय (चोर, डाकू, छलिया उससे प्रेम करते हैं। इसे पाकर लोग ईश्वर-विमुख हो जाते हैं, इत्यादि दोष धनवान्‌में आ जाते हैं), कल्पतरुसे विचारहीनता दोष, रंभासे निर्लज्जता दोष, अमृतके संगसे 'लघु जीवन संबत पंच दसा। कलपांत न नास गुमान असा॥' यह दोष, इन्दुका दोष 'गुरुतियगामी''''', इत्यादि दोष रमावान् पुरुषोंमें होते हैं।

४ 'गिरा मुखर''' बैदेही' इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि जब जगत्‌में कोई उपमायोग्य नहीं है तब उपमा कैसे बने? पुनः जब उपमेयका धर्म उपमानमें मिले तब उपमा कहने योग्य होती है। क्रिया, गुण और स्वभावयुक्त होना 'धर्म

कहलाता है। जो उपमाएँ मिलती हैं उनमें धर्म (क्रिया-गुण-स्वभाव) विरोध पाया जाता है। जैसे सरस्वती रूपवती है पर बकवादी हैं और श्रीकिशोरीजीका गम्भीर स्वभाव है। अतः इस उपमामें स्वभावविरोध दोष है। भवानीका तन आधा है और श्रीजानकीजी सर्वाङ्गपरिपूर्ण हैं। अतः भवानीके समान कहनेमें गुणविरोध दूषण आता है। रति अनंगपति होनेसे सदा दुखी रहती हैं और श्रीसीताजी सदा प्रसन्न हैं। अतः इस उपमामें क्रियादोष आता है। लक्ष्मीके विष और वारुणी प्रिय भाई हैं अतः उनका कुछ-न-कुछ स्वभाव और क्रिया भगिनीमें हुआ ही चाहे। वह मदान्ध कर देती है यह क्रिया-दोष इनमें है, अतः ये भी उपमायोग्य नहीं हैं।

जौं छबिसुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥ ७॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥ ८॥

दो०—येहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल॥ २४७॥

शब्दार्थ—छबि, शोभा—नोटमें देखिये। समतूल = समान।

अर्थ—जो छबिरूपी अमृतका समुद्र हो और कच्छप भगवान् वही हों पर परमरूपमय हों॥ ७॥ शोभा रस्सी हो और शृङ्गार ही मंदराचल हो और कामदेव अपने ही करकमलोंसे मथे॥ ८॥ इस प्रकार जब सुन्दरता और सुखकी मूल (एवं सुन्दरता और सुख जिसका मूल है) * लक्ष्मी उत्पन्न हों तो भी कवि बहुत ही संकोचके साथ कहेंगे कि वे सीताजीके समान हैं॥ २४७॥

नोट—१ 'समतूला' एक शब्द है। यथा—'ते सिर कटु तुँबरि समतूला। जे न नमत हरि-गुर-पदमूला॥' ११३ (४) में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। यह गहोरा देशकी बोली है। ग्रन्थकार जहाँ-तहाँ देश-देशान्तरकी बोली ज्यों-की-त्यों लिख देते हैं। २—छबि=आकृतिकी लावण्यता—'छविलावण्यमिति वररुचिः'। शोभा=कान्ति—'शोभाकान्तीछयोर्मता' इति मेदिनी।

नोट—२ यदि कहो कि कुछ तो उपमा कही जाय तो उसपर कहते हैं कि 'जौं छबि-सुधा···'। अर्थात् विष्णु भगवान्‌की शक्तिमें तो तमाम-से दोष हैं पर हाँ, इस प्रकारकी यदि रमाजी प्रकट की जायँ तो भले ही चाहे कोई कह सके कि सीताजीके समान होंगी। यद्यपि ऐसा भी कहनेमें संकोच ही होगा।

टिप्पणी—१ (क) 'जौं छबि सुधा····' इति। 'जौं' का भाव कि छबिसुधाका पयोनिधि होता ही नहीं अतः कहते हैं कि यदि यह असम्भव भी दैवयोगसे सम्भव हो जाय। ['छबिसुधा पयोनिधि' का भाव कि दूधमें गुण और अवगुण दोनों हैं और अमृतमें केवल गुण ही है। उस अमृतसे काम न चलेगा। यहाँ छबिमय अमृत होना चाहिये। (वै०)] (ख) प्रथम पयोनिधि कहकर तब कच्छप कहा, क्योंकि समुद्र तो प्रथमसे था, भगवान् कच्छपरूप धरकर पीछे आये। (ग) 'कच्छप सोई' कच्छप वही हो जो प्रथम सिन्धुमन्थन-समय था। 'सोई' कहनेका भाव कि समुद्र-मन्थनके और सब अङ्ग बदल दिये पर 'कच्छप' को नहीं बदलते, कारण कि कच्छप भगवान्‌के अवतार हैं, भगवान्‌से अधिक कौन सुन्दर है जिसको कच्छप कहें। (घ) छबिको सुधा कहकर जनाया कि उस समुद्रसे यह समुद्र कहीं अधिक सुन्दर हो, वह क्षीरसमुद्र था जिससे वह लक्ष्मी निकली थीं, यह सुधासमुद्र हो जिसमेंसे उपमायोग्य लक्ष्मीको उत्पन्न करना है। (ङ) 'परमरूपमय' कहनेका भाव कि भगवान्‌का वह कच्छपरूप भी रूपमय था, पर उससे काम न चलेगा, इसके लिये परम-रूपमय कच्छप बनें अर्थात् उससे कहीं अधिक सुन्दरता धारण करें। [पुनः 'परमरूपमय कच्छप' का भाव कि कच्छपा-वतार विभवरूप न होकर परमरूप हो। ब्रह्मचतुर्व्यूहरूप हैं—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनमें वासुदेव व्यूह स्वयं अवतारी हैं, अन्य अवतार हैं। परमरूप वासुदेव व्यूह है। (वि० त्रि०)]।

२ (क) 'सोभा रजु मंदर सिंगारू।····' इति। प्रथम कच्छपको कहकर तब मथनेको कहा क्योंकि जब कच्छप भगवान्‌ने आकर मन्दराचलको पीठपर थामा तब समुद्र मथते बना। प्रथम 'शोभा' कहकर पीछे 'शृङ्गार' कहनेसे शोभाकी

* अर्थान्तर—सुखकी मूल सुन्दरतावाली अर्थात् मुग्धावस्थासहित परिपूर्ण शोभावाली। (वै०)।

बड़ाई दिखायी कि यहाँ प्रथमसे ही शोभा है, उसपर भी ऊपरसे शृङ्गार भी है—सोनेमें सुहागा। शृङ्गार करनेपर शोभा हुई तो उसमें शोभाकी बड़ाई नहीं है। जैसे पयोनिधि और कच्छपका संयोग है वैसे ही छवि और रूपका, रज्जु और मन्दरका संयोग है। रज्जुसे मन्दर बाँधा गया। इसी तरह शोभा और शृङ्गारका संयोग है, जहाँ शोभा है वहीं शृङ्गार है] और जहाँ शृङ्गार है वहाँ शोभा है। (ख) 'मथै पानि पंकज निज मारू' इति। यहाँ शोभाकथनका प्रकरण है। काम सब देवताओंसे सुन्दर है। इसीसे कामको मथनेवाला बनाया और हाथोंको कमल विशेषण दिया। (ग)—पयोनिधिसे लक्ष्मीको प्रकट करनेमें इतनी सामग्री एकत्र थी—पयोनिधि, कच्छप, मन्दराचल, रज्जु (वासुकी), दैत्य और देवता इत्यादि। वैसे ही इस छविसुधापयोनिधिके लिये परमरूपमय कच्छप, शोभा (रज्जु), शृङ्गार (मन्दराचल) और कामदेव इत्यादि सामग्री चाहिये। जिससे सुन्दर लक्ष्मी उत्पन्न की जा सके। यही सब सुन्दर लक्ष्मीकी उत्पत्तिके मूल हैं, इसीसे दोहेमें 'सुंदरता मूल' कहते हैं। (घ) 'सुखमूल' का भाव कि यहाँ सब काम सुखमय है, सब काम सुखपूर्वक ही है, मथनेवाले-को सुख, सर्पको सुख, कच्छपको सुख इत्यादि। [एक भाव तो स्पष्ट ही है, दूसरा भाव 'सुंदरता सुख मूल' का यह है कि पूर्व पयोनिधि-मन्थनमें कुछ भी सामग्री सुन्दर न थी। समुद्र कहाँसे सुन्दर हो वह तो खारा है, (अथवा, दूधका ही सही, पर दूधमें भी गुण और अवगुण दोनों हैं); पर्वत भी सुन्दर नहीं इत्यादि। और यहाँ सब साज सुन्दर—छवि, शृङ्गार, शोभा और देवताओंसे कितना अधिक सुन्दर कामदेव मन्थन करनेवाला''''यहाँ सुन्दरताकी एवं सुखकी मूल और वहाँ दुःख ही दुःखकी मूल। वहाँ समुद्र मथा गया, कमठको दुःख, दैत्य-देवता सबको दुःख हुआ और यहाँ सब सुखी।]

※ 'तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल' ※

जब ऐसी सुन्दर सामग्रीसे सुन्दर लक्ष्मी उत्पन्न हो गयीं तब तो उपमा देनी चाहिये थी। श्रीसीताजीके समान कहनेमें क्यों संकोच है? यह शङ्का उठाकर उसका समाधान लोगोंने इस प्रकार किया है—

पं० रामकुमारजी—'उत्पत्ति दो कारणोंसे होती है। एक उपादान, दूसरा निमित्त। जैसे घड़ेके लिये मृत्तिका उपादान कारण और कुम्हार निमित्त कारण है। यहाँ छवि, रूप, शोभा, शृङ्गार और काम ये सब लक्ष्मीकी उत्पत्तिके निमित्तकारण हैं। इसीसे सीतासमान कहनेमें संकोच है। जो इन पाँचोंके मथनेपर (इन पाँचोंके यथार्थ संयोगसे) लक्ष्मी निकलतीं तो संकोच न होता। यथा—'सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मदन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहु मही री॥ गी० १। १०४।' इन सबोंका तत्त्व श्रीराम-जानकीजी हैं। इस प्रकार जो सबकी तत्त्वरूपी लक्ष्मी निकलतीं तो श्रीसीताजीके समान करनेमें संकोच न होता।' (संकोचका कारण यह है कि शोभा और शृङ्गाररसका मन्थन न हुआ, उनकी उपस्थितिमात्र थी। जहाँ इनका भी मन्थन हुआ है वहाँ कहनेमें संकोच नहीं है। (वि० त्रि०)

रा० प्र०, गौड़जी—कामदेव आदि सब यहाँ निमित्त कारण हैं। कार्यकी उत्तमता कारणकी योग्यतापर निर्भर है। यहाँ कामदेव मथनेवाला जो निमित्तकारणोंमेंसे एक है वह परात्परकी सृष्टिका एक अत्यल्पांश है, सो उस बेचारेमें क्या योग्यता होगी, जब 'कोटि काम उपमा लघु सोऊ', 'अंग अंग पर वारिअहि कोटि कोटि सत काम', और योग्यता भी कैसी चाहिये कि मथकर उसके बराबर 'सुंदरता सुख मूल' लक्ष्मी निकाले कि 'उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥'—यह कामदेवसे हो सकनेकी कल्पना भी दुर्घट है। इसीलिये कविको ऐसी अभूतोपमा कल्पिता लक्ष्मीसे भी समता देनेमें संकोच होता है।

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ा)—एक समय जब मैं आगरा कालेज़में ऐसिस्टेन्ट प्रोफेसर था और मैंने कविकी कल्पनाकी सूक्ष्मताका यह चढ़ाव बताया तो मेरे एक शिष्य मित्रने कहा कि अबतक तो वर्णन 'निषेधात्मक' (Destructive) ही है, ऐब निकालना कठिन नहीं।—इस विचार-संघर्षमें मुझे तुलसीदासकी कलाका 'रचनात्मक' (Constructive) गौरव प्रतीत हुआ। कविने विशेष 'विधि' से जो लक्ष्मी उत्पन्न करायी है, वह वास्तविक लक्ष्मीसे कितनी असीम अधिक सुन्दर होगी यह साफ जान पड़ता है, जब हम देखते हैं, कि 'माल-मसाला' (Raw material) भी बदल गया, क्षीरसागरकी जगह 'छबिसुधा' का समुद्र है, मशीन भी बदली—परमरूपमय कच्छप है, पत्थरकी मथानीकी जगह शृङ्गारकी मथानी है, वासुकीकी विषैली रस्सीकी जगह शोभाकी रस्सी है; यन्त्रसंचालक भी वहाँ अनमिल बेजोड़ थे। सुर और असुर, पर यहाँ कामदेव है; संचालन-विधि वहाँ उथल-पुथलवाली थी और यहाँ मथना 'पाणिपङ्कज' से है।—कविताके इस गुणको (Idealization) 'आदर्श सुधार' कहते हैं। चतुराननकी विधिमें कितनी चूकें निकाल दीं!

अब दूसरे गुणपर विचार कीजिये जिसे संकेतकला (Suggestiveness) कहते हैं। देखिये, अब भी कविने सीताजीको उस लक्ष्मीसे उपमा न दी। कारण कि जिससे उपमा देते हैं उसे बड़ा मानते अवश्य हैं। जैसे, 'तुम अपने समयके रुस्तम हो' में संकेत है कि रुस्तम बड़ा है। सीताजीसे उपमा देनेमें सीताजीकी बड़ाई वैसे ही हो गयी लेकिन फिर भी यह लक्ष्मी भी कहना कम है। संकोचके साथ ही सीताजीसे उसकी उपमा दी। कारण कि जितना सुधार बताया वह छवि, रूप, शोभा, शृङ्गार तथा शृङ्गाररसका है—और सीताजीके आत्मिक गुण अब भी न आये। गालिबने भी आमकी प्रशंसामें कहा है—'शादाते गुल पै कंद का है कवाम। शीरेके तारका है रेशा नाम॥ इस पद्यमें भी काव्यकलाके दोनों गुण लघुरूपमें हैं। मानो रमा सबसे सुन्दर देववधू थीं; सुधारकर उनसे सुन्दर रमा बनायी। पर यदि सीता 'आम' हैं तो यह सुधारी हुई रमा गालिबके शब्दोंमें केवल उनका रेशा हैं। सारी कोशिशपर भी सुन्दरता और सुख ही आये जो केवल अंश हैं।

मैं तो इस उपमाकी इस चढ़ती हुई श्रेणीकी कलाको तुलसीदासका कमाल कहता हूँ। सारे कवि क्या पाश्चात्त्य जगत्के, क्या पूर्वी जगत्के, हमें तो वैसे ही छोटे दिखते हैं जैसे एवरेस्ट (हिमालयकी चोटी) के सामने और पहाड़ोंकी चोटियाँ।

श्रीहनुमानप्रसादपोद्दार—जिन लक्ष्मीकी बात ऊपर कही गयी है वे निकली थीं खारे समुद्रसे, जिसको मथनेके लिये भगवान्ने अति कर्कश पीठवाले कच्छपका रूप धारण किया, रस्सी बनायी गयी महान् विषधर वासुकी नागकी, मथानीका काम किया अतिशय कठोर मंदराचल पर्वतने और उसे मथा सारे देवताओं और दैत्योंने मिलकर। जिन लक्ष्मीको अतिशय शोभाकी खानि और अनुपम सुन्दरी कहते हैं उनको प्रकट करनेमें हेतु बने ये सब असुन्दर एवं स्वाभाविक ही कठोर उपकरण) ऐसे उपकरणोंसे प्रकट हुई लक्ष्मी श्रीजानकीजीकी समताको कैसे पा सकती हैं। हाँ, इसके विपरीत 'जौं छबिसुधा'''समतूल'।

जिस सुन्दरताके समुद्रको कामदेव मथेगा वह सुन्दरता भी प्राकृत, लौकिक सुन्दरता ही होगी; क्योंकि कामदेव स्वयं भी त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही विकार है। अतः उस सुन्दरताको मथकर प्रकट की हुई लक्ष्मी भी उपर्युक्त लक्ष्मीकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और दिव्य होनेपर भी होगी प्राकृत ही, अतः उसके साथ भी जानकीजीकी तुलना करना कविके लिये बड़े संकोचकी बात होगी। जिस सुन्दरतासे जानकीजीका दिव्यातिदिव्य परम दिव्य विग्रह बना है वह सुन्दरता उपर्युक्त सुन्दरतासे भिन्न अप्राकृत है।—वस्तुतः लक्ष्मीजीका अप्राकृत रूप भी यही है। वह कामदेवके मथनेमें नहीं आ सकती और वह जानकीजीका स्वरूप ही है' अतः उनसे भिन्न नहीं, और उपमा दी जाती है भिन्न वस्तुके साथ। इसके अतिरिक्त जानकीजी प्रकट हुई हैं स्वयं अपनी महिमासे। उन्हें प्रकट करनेके लिये किसी भिन्न उपकरणकी अपेक्षा नहीं है। अर्थात् शक्ति-शक्तिमान्से अभिन्न, अद्वैत तत्त्व हैं, अतएव अनुपमेय है, यही गूढ़ दार्शनिक तत्त्व भक्तशिरोमणि कविने इस अभूतोपमालंकारके द्वारा बड़ी सुन्दरतासे व्यक्त किया है।

पाण्डेजी—'सीयसमतूल'। उस लक्ष्मीको भी सीताजीके समान कहनेमें अर्थात् सीताजीको उपमान स्थानमें और उस लक्ष्मीको उपमेय स्थानमें रखनेमें भी कविको लज्जा लगती है। (वीर कविजीका मत है कि 'छबि, परमरूप, शोभा और शृङ्गार' ये चारों छबिहीके रूपान्तर पर्यायी शब्द हैं। एक ही वस्तुको समुद्र, कच्छप, रस्सी और मथानी वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है। यह उल्लेख सम्भावनाका अङ्गी है। दोहेमें 'सम्भावना अलंकार' है और व्यंग्यार्थद्वारा व्यतिरेक अलंकारकी विवक्षितवाच्य ध्वनि है।)

चलीं संग लै सखी सयानी। गावत गीत मनोहर बानी॥ १॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगत जननि अतुलित छबि भारी॥ २॥
भूषन सकल सुदेस-सुहाए। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए॥ ३॥

शब्दार्थ—नवल=नूतन, नव्य, सुन्दर, स्वच्छ। अतुलित=प्रमाणरहित, अतुलनीय।

अर्थ—सयानी सखियाँ श्रीसीताजीको साथमें लेकर सुन्दर वाणीसे मनके हरनेवाले सुन्दर गीत गाती हुई चलीं॥ १॥ सुन्दर नवल शरीरपर सुन्दर साड़ी शोभित है। जगज्जननी श्रीसीताजीकी भारी छबि अतुलनीय है॥ २॥ सुन्दर अङ्गोंमें यथायोग्य अपनी-अपनी जगहपर सब भूषण शोभित हैं, (जिन्हें) सखियोंने अङ्ग-अङ्गमें सजाकर पहनाये हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लेवाइ' २४६ पर चलनेका प्रसंग छोड़ा था। बीचमें शोभाके सम्बन्धमें कहने लगे थे। अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं—'चलीं संग लै सखी सयानी॥' इस तरह 'सयानी' का

अर्थ 'चतुर' है, यह स्पष्ट कर दिया। आदरसे ले चलीं यही सयानपन है, यही सयानेका धर्म है। (ख)—'सखियाँ लेकर चलीं' इसीसे सखियोंको यहाँ प्रधान कहा। फुलवारीमें सखियोंको लेकर 'सीताजी गिरिजापूजन करने गयी थीं' इससे वहाँ श्रीजानकीजीको प्रधान कहा था, यथा 'संग सखीं सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी। २२८। ३।' (ग)—'गावत गीत मनोहर बानी' इति। वाणी किसके मनको हरती है, यह आगे विवाह-प्रकरणमें स्पष्ट किया है, यथा—'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम-कोकिल लाजहीं'। (घ) यहाँ सखियोंकी चतुरता तीन प्रकारसे दरसाई—चलनेमें चतुर, व्यवहारमें चतुर (संग लेकर चलीं यह व्यवहार है) और गीत गानेमें चतुर। (ङ)—यहाँतक सखियोंकी मनोहरता चार प्रकारसे दिखायी। सखियाँ मनोहर, यथा—'छबिगन मध्य महाछबि जैसीं' 'चतुर सखी सुंदर सकल⋯।' उनकी चाल मनोहर, यथा —'चालि बिलोकि कामगज लाजहिं।' उनके गीत और वाणी मनोहर हैं। [नाटकीय कलामें रंगमंचपर इसका प्रभाव विचारणीय है (लमगोड़ाजी)]।

२—'सोह नवल तन सुंदर सारी।⋯' इति। (क) इससे नवल तनकी शोभा कही। अर्थात् नवल तन सुन्दरको भी सुन्दर करनेवाला है, यथा 'सुंदरता कहँ सुंदर करई।' (ख)—'जगतजननि अतुलित छबि भारी' इति। ग्रन्थकार केवल कवि नहीं हैं। वे कवि भी हैं और भक्त भी। इसीसे वे मातृबुद्धिसे शोभा-कथन करनेमें सकुचाते हैं। फिर भी युक्तिसे शोभाका वर्णन करते हैं। छबि भारी है अर्थात् वर्णन नहीं हो सकती और उपमाके द्वारा कहें भी तो कोई तुलना नहीं है। (ग) 'अतुलित छबि भारी' कहनेका भाव कि छबि-सुधापयोनिधिके मंथन करनेसे जो लक्ष्मी उत्पन्न हुई सो भी श्रीजानकीजीकी उपमाके योग्य न ठहरीं तब और तुलना किससे की जाय। अतः उनकी छबिको 'अतुलित और भारी' कहकर उसके वर्णनका साहस छोड़ना पड़ा। त्रैलोक्यमें कोई तुलना नहीं है। ☞ इस तरह न बखान कर सकनेके दो कारण कहे—एक तो यह कि जगजननी हैं—इसमें पाया गया कि वर्णन करते पर पापके डरसे नहीं करते; उसपर दूसरा कारण कहते हैं कि छबि अतुलित भारी है, उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। तब वर्णन करें भी तो कैसे ?

३ 'भूषन सकल सुदेस सुहायें।⋯' इति। (क) जैसे नवल तनकी शोभासे साड़ीकी शोभा कही वैसे ही अब अङ्गोंकी शोभासे आभूषणोंका शोभित होना कहते हैं; इस तरह शृङ्गार और भूषण दोनों कहे। शृङ्गारमें 'सारी' है और द्वादश आभूषणोंमें 'सकल भूषन' हैं। ☞ कविने न तो अङ्गोंकी शोभा वर्णन की और न उपमा ही दी, केवल साड़ी और आभूषणोंकी शोभा तन और अङ्गोंके सम्बन्धसे कही। 'सुदेश' (=सुन्दर देश) से अङ्गोंकी शोभा कही, 'रचि सखिन्ह बनाए' से पहनानेकी शोभा कही, 'सखिन्ह' बहुवचन देकर जनाया कि सबका प्रेम जानकीजीपर है इसीसे सबने पहनाया। जैसे 'सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ। दिव्य बसन बर भूषन अँग अँग सजे बनाइ। ७। ११।' में सब सासुओंका प्रेम दिखाया है वैसे ही यहाँ सखियोंका दिखाया। पुनः, 'सुदेस सुहाए' का भाव कि 'सकल भूषण जो रम्भादिकके अङ्गोंरूपी ('कु' अर्थात् कुत्सित) काल देशमें पड़के दुबले हो गये थे। सो श्रीजानकीजीके अङ्ग-सुदेशमें आकर मोटे हो गये और अङ्गसे शोभाको प्राप्त हुए।' (पां०)।]।

वि० त्रि०—आभरण बत्तीस कहे गये हैं। इनके पहनानेमें बड़ी पण्डिताई है। इसलिये रचकर सँवारना कहा है। सखियोंका कर्तव्य मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास है। उपालम्भ और परिहास फुलवारी-प्रसंगमें कह आये हैं। मण्डन इस समय कह रहे हैं। शिक्षा आगे समय पाकर कहेंगे।

नोट—१ यहाँ यह शङ्का उठाकर कि 'पूर्व तो गोस्वामीजीने कहा कि कोई भी उपमा देने योग्य नहीं है और फिर यहाँ कहते हैं कि छबि भारी अतुलित है। जब ऐसी भारी सुन्दरता है तब बहुत (विस्तृत) वर्णन करना चाहिये था सो बहुत अल्प वर्णन किया। यह क्यों ?' इसका उत्तर पं० रामकुमारजीने यह दिया है कि गोस्वामीजी साधु हैं, भक्त हैं और कवि भी, अतः उन्होंने दोनों विचारोंसे काम लिया है। उन्होंने किसी अङ्गका नाम न लिया न उपमा दी। प्रत्यक्ष कुछ शृङ्गार कहा भी नहीं और 'भूषनबसन' शब्दोंसे कह भी डाला—सब शृङ्गार इसके भीतर आ जाता है, इत्यादि टिप्पणीमें लिखा जा चुका है।

२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि यहाँ 'सोह नवल तन⋯भारी' इस अर्धालीके एक पल्ले (चरण) में शृङ्गाररस कहा है और दूसरेमें शान्तरस। इसको कवि रसाभास कहते हैं, क्योंकि शृङ्गार और शान्तसे विरोध है। परन्तु यहाँ दोनोंको इकट्ठा करनेका प्रयोजन यह है कि शृङ्गाररससे जो सुनने वा कहनेवालेके चित्त (में) पत्ता उड़ता जाय वह शान्तरसके अतुलित भारी पहाड़में दब जाय। दूसरा अर्थ यह है कि

'जगज्जननीकी अतुलित भारी छबिसे 'सारी सुन्दरियाँ' अर्थात् सारी सखियाँ एवं गिरा, भवानी, लक्ष्मी और रति इत्यादि सुशोभित हो रही हैं। (यह भाव 'सुंदरि' पाठ करनेपर हो सकेगा)। वा, भवानी लक्ष्मी आदि अतुलित छविवाली जगन्मातायें इस नवरत्नसे सुशोभित हुई हैं।' इत्यादि।

३ बैजनाथजी कहते हैं कि 'यहाँ माधुर्य शृङ्गार-रससे वर्णन उठाया पर यह रस केवल शृङ्गाररसिक महात्माओंके योग्य है। दास्य, वात्सल्य आदि रस इस रसमें ठहर नहीं सकते। और यह ग्रन्थ सभी रसवालोंके लिये है, अतएव शृङ्गार-रसको प्रधान रखते हुए उनके मनके आधारके लिये शान्त-रसको उसके आश्रित कर शान्तरसमें ऐश्वर्य दर्शाते हैं कि ये जगज्जननी हैं; जगत्की उत्पत्ति, पालन, संहार करनेवाली हैं, उनके तनमें अतुलित भारी छबि है; अतः कौन कह सकता है।

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥ ४॥

शब्दार्थ—रंगभूमि=वह स्थान जहाँ धनुषयज्ञका उत्सव मनाया जा रहा था।

अर्थ—जब श्रीसीताजीने रंगभूमिमें पैर रक्खा तब स्त्री-पुरुष (सभी उनका) रूप देखकर मोहित हो गये॥४॥

नोट—☞ कुछ लोग उत्तरकाण्डकी 'मोह न नारि नारि के रूपा' इस चौपाईको कहकर यहाँ शंका करते हैं कि 'यहाँ श्रीसीताजीके रूपपर 'नारी' क्यों मोहित हो गयीं?' और उसका समाधान भी किया है—

१ संत गुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' जो कहा गया वह सामान्य प्राकृत स्त्रियोंके विषयमें है। और यह तो विदेह-दशाकी कुमारी-रूप है—'तुरीया जानकी चैव तुरीयो रघुनन्दनः'। 'मोहे' अर्थ मोह कर्म वात्सल्यवत् वृत्ति हो गयी कि भला होता जो इनके सम्मुख बने रहते। यहाँ 'कामासक्त होना' अर्थ नहीं है। पुनः 'मोहे' अर्थात् मोहनी-विद्या इस तरहकी छा गयी कि सबके चित्तमें ऐसी निष्ठा हुई कि बिना धनुष-भंग किये ही इनका विवाह रामजीसे कर दिया जाय।'

२ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँ रूपकी बड़ाई करते हैं कि ऐसा भारी रूप है कि नर-नारी सभी देखकर मोहित हो गये। 'मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥' में नीति वा रीति वर्णन की कि नारीको देखकर नारी नहीं मोहित होती। यह साधारण रूपकी बात कही। और जिनके विषयमें कहते आ रहे हैं कि 'जौं छबि-सुधा पयोनिधि होई।''' तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल' उनके ऐसे परम विलक्षण रूपको देखकर जो सब स्त्री-पुरुष मोहित हो गये तो आश्चर्य ही क्या? इनके रूपके आगे रीतिकी मर्यादा न रह गयी। स्त्रीको देखकर स्त्री नहीं मोहित होती सो भी मोहित हो गयी; यह रूपकी अधिकता है, जैसे श्रीरामजीको देखकर खर-दूषण मोहित हो गये, उनमें कामविकार नहीं उत्पन्न हुआ।

३ श्रीगौड़जी इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि—'उत्तरकाण्डमें ज्ञान, भक्ति और मायाके प्रसंगमें कहा गया कि ज्ञान मायापर मोहित हो जाता है, भक्ति मायापर मुग्ध नहीं होती, क्योंकि स्त्रीका स्त्रीपर आसक्त होना अस्वाभाविक है। यहाँ 'देखि रूप मोहे नरनारी' में किसी प्रकारकी आसक्तिका भाव नहीं है। यहाँ तो नर-नारी कन्या सीताकी शोभाको वात्सल्य-भावसे देखते हैं और मोहित हो जाते हैं। उत्तरकाण्डवाली चौपाईमें रति-भाव है और यहाँ वात्सल्य-भाव है।' इसपर श्रीराघवारामशरण (लमगोड़ा) जी कहते हैं 'इतना ही क्यों? शृङ्गारके माधुर्य तथा सौन्दर्य-परख (Æsthetic Faculty) की सीमातक सब प्रकारका मोहना है, हाँ, वह 'मोह' नहीं जो पारिभाषिक है।'

४ श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि—'देखि रूप मोहे नर नारी' और 'मोह न नारि नारि के रूपा' दोनों पद अपने-अपने स्थलपर यथार्थ हैं, परंतु दोनों प्रसंगोंको मेलकर एक अर्थ करना नासमझी है; क्योंकि एक पदमें नेत्रका विषय है, दूसरेमें मनका विषय है, इसलिये दो तरहके भाव हैं। क्योंकि मोह होनेके तीन कारण हैं—१ सुन्दर रूपको देखकर मोह होता है। २—स्त्री-पुरुष दोनोंके परस्पर संग होनेसे काम-विषयक मोह होता है। ३—दयाके वश होकर भी मोह होता है। इन्हीं तीन कारणोंसे मोह होता है। जब मोह होनेके तीन कारण हैं और तीनों कारणोंके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं तब मोहमें परस्पर मेल कैसे हो सकता है?''' रूप देखकर मोहना नेत्रका विषय है; चाहे वह सुन्दर रूपवान् स्त्री या पुरुष, पशु या पक्षी कोई हो, उसे देखकर मन मोहित होता जाता है''' उसी तरह श्रीजानकीजीका सुन्दर रूप देखकर सब नर-नारी मोहित हो गये। नर-नारी दोनोंको मोह होना कामविषयक मोहका अभाव करता है, यदि कामविषयक मोह यहाँ होता तो नर-नारी दोनोंका

मोहना नहीं लिखा जाता, क्योंकि काम-विषयमें स्त्रीके रूपसे स्त्री मोहित नहीं होती यह नीति है—'पन्नगारि यह नीति अनूपा'। स्त्रीके सुन्दर रूपको देखकर नर-नारी दोनोंको मोह होना यह सुन्दर रूपका प्रसङ्ग है और स्त्रीके रूपसे स्त्रीको मोह न होना काम-विषयक प्रसंग है—दोनों प्रसंग भिन्न-भिन्न हैं, इनका मेल नहीं हो सकता। पुनः, जैसे 'हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।' जिस प्रकार श्रीरामजीको देखकर रमा और रमापति मोहे हैं वैसे ही श्रीजानकीजीको देखकर नर-नारी मोहित हुए हैं।'

५ बाबा हरीदासका भी मत है कि 'ईश्वरमें जीवधर्म घटित करना उचित नहीं है। जो श्रीसीताजी उद्भवस्थिति-संहारकारिणी हैं उनमें 'मोह न नारि नारि के रूपा' यह जीवधर्म प्राकृत स्त्रियोंका हाल घटाना ठीक नहीं है।

६ मा० त० वि० कार एक भाव यह लिखते हैं—'नर यहाँतक मोहित हो गये कि तदाकार-वृत्तिद्वारा नारीरूप हो गये। इस तरह अबला हो गये जिसमें धनुर्भंगमें कोई समर्थ नहीं हो। अतः 'हरषि सुरन्ह दुंदुमी बजाई'। यहाँ 'मोह'=अन्य लिङ्ग होगा। यथा—'मोहोऽन्यलिङ्गः स्यादविद्यायां च मूर्छने' इति मेदिनी।'

७ प० प० प्र०—यह मोह काम-विकारजनित नहीं है। यह अप्राकृतिक सौन्दर्यका प्राकृत नर-नारियोंपर जो प्रभाव पड़ा उसका परिणाम है। यह गुणातीत वाचातीत रूपका प्रभाव है। और 'मोह न नारि नारि के रूपा' यह मोह काम-विकार-जनित है जैसा उसके ऊपरके दोहे—'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी विधु मुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि विष्णुमाया प्रगट। ७। ११९।

वि० त्रि०—अलौकिक शोभा ऐसी है कि सहज पुनीत श्रीरामजीका मन क्षुब्ध हो गया तो नारियोंका मोहना कौन आश्चर्य है? सभी नियमोंमें अपवाद होता है। विश्वमोहिनीका रूप देखकर लक्ष्मी मोहित होती थीं। यथा—'श्री बिमोह जिसु रूपु निहारी।' प्राकृत नारियोंकी गिनती ही क्या है?

नोट—'मोहे'—मोहित हो गये, मुग्ध हो गये, टकटकी लगाये शोभा देखते रह गये, सब वाह-वाह करने लगे, इत्यादि भाव यहाँ हैं, यथा—'रूप दीपिका निहारि मृगमृगी नरनारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइकै। (गी० १। ८२। ६)।' पुनश्च सत्योपाख्याने यथा—'यं यं विलोकते सीता स्वभावात्पुरुषं स्त्रियम्। अमज्जतानन्दह्रदे स्वभाग्यं मन्यतेऽधिकम्।' (अ० २ उत्तरार्द्ध श्लोक २०)। अर्थात् जो-जो स्त्री-पुरुष श्रीसीताजीको स्वाभाविक देखते उनके हृदय आनन्दमें मग्न हो जाते और वे अपने भाग्यको बहुत बड़ा मानने लगते थे। यह भाव यहाँके 'मोहे' शब्दसे कविने सूचित किया है।

टिप्पणी—१ 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी'। भाव कि यहाँतक श्रीजानकीजी शिविकामें आयीं—'सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइकै'। अब रंगभूमिमें पहुँचकर पालकीसे उतरीं। 'चली संग लै सखीं सयानी' यहाँसे प्रसंग मिलाते हैं। चलकर जब यहाँ आयीं। (कल्पभेदसे दोनों भाव हो सकते हैं। गीतावलीमें पालकीपर चढ़कर आना कहा है और यहाँ पैदल चलकर आना भी अर्थ कर सकते हैं। पग धरना=पधारना, पहुँचना)।

२ प्रथम रूपका वर्णन करके पीछे 'नर नारी' का मोहित होना कहा। इसमें एक भाव यह है कि 'श्रीसीताजी श्रीरामजीकी आद्याशक्ति हैं, माया हैं। माया विश्वमोहिनी होती ही है, इस भावसे सब नर-नारी मोहित हुए', सम्भव है कि ऐसा लोग कहें पर यह बात नहीं है। इसीका निषेध करनेके लिये कहते हैं कि 'रूप देखि मोहे' अर्थात् मायासे मोहित नहीं हुए, उनका 'रूप' देखकर मोहित हुए। ☞यहाँ नर-नारीका मोहना कहा क्योंकि यहाँ नरसमाज है, यहाँ मनुष्य ही हैं और महादेव-पार्वतीके विवाहमें देवसमाज था इससे वहाँ देवताओंका मोहित होना कहा, यथा—'देखत रूप सकल सुर मोहे'।

हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं। बरसि प्रसून अपछरा गाईं॥ ५॥
पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितए सकल भुआला॥ ६॥

अर्थ—देवताओंने प्रसन्न होकर फूल बरसाकर नगाड़े बजाये और पुष्प बरसा-बरसाकर अप्सराएँ गाने लगीं॥ ५॥ करकमलोंमें जयमाल सुशोभित है। उन्होंने समस्त राजाओंको अवचट (अचक्का, औचक वा अचानक ही) देखा॥ ६॥*

टिप्पणी—१ (क) 'हरषि सुरन्ह'''''। देवता श्रीयुगल सरकार श्रीसीतारामजीका दर्शन कर रहे हैं। उनका रूप-सादृश्य अर्थात् दोनोंका सादृशरूप देखकर देवताओंको हर्ष हुआ, वे आनन्दमें मग्न हो पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। पुनः,

* अर्थान्तर—सब राजाओंने उनको अचानक देखा।

फूलोंकी वृष्टि करना और नगाड़े बजाना यह देवताओंकी सेवा है,—'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा'। सेवाके समयमें हर्ष होना आवश्यक है; अतः हर्षित हो सेवा और मंगल शकुन जनाते हैं। ☞श्रीरामजीके आगमनपर देवताओंका गाना कहा था—'बरषहिं सुमन करहिं कल गाना ॥ २४६ । ८ ।', और श्रीजानकीजीके आगमनपर अप्सराओं अर्थात् देव-वधूटियोंका गाना लिखते हैं—पुरुषके आगमनमें पुरुष और स्त्रीके आगमनपर स्त्रियोंने गान किया, यह परस्पर जोड़ दिखाया। (त्रिपाठीजीका मत है कि पुष्पवर्षा अप्सराओंने की, स्त्रीपर पुष्पवर्षाका अधिकार स्त्रियोंको ही है। भगवतीपर पुष्पवर्षाका साहस देवताओंको नहीं हुआ, अतः वे दुन्दुभी बजाने लगे)। दोनोंका आगमन एक समान वर्णन किया गया, यथा—

जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बोलाइ	१. राजकुँवर तेहि अवसर आए
रंगभूमि जब सिय पगु धारी	२. रंगभूमि आये दोउ भाई
हरषि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई	३. देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना
बरषि प्रसून अपछरा गाई	४. बरषहिं सुमन करहिं कल गाना
देखि रूप मोहे नर नारी	५. देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे
सिय सोभा नहिं जाइ बखानी	६. श्रीरामजीकी शोभा वर्णन की
पानि सरोज सोह जयमाला	७. कर सर धनुष बाम बर काँधे
उपमा सकल मोहि लघु लागी	८. सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ
भए मोह बस सब नर नाहा	९. प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे
बिनु बिचार पन तजि नरनाहू। }	१०. { असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक
सीय राम कर करहि बिबाहू ॥···}	११. { नाहीं। बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला···
जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक···।	११. चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक···
चली संग लै सखी सयानी	१२. पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुषमखसाला
जगतजननि अतुलित छबि भारी	१३. मनहु मनोहरता तन छाए
सोह नवल तन सुंदर सारी	१४. कटि तूनीर पीत पट बाँधे

२ (क) 'पानि सरोज सोह जयमाला' कहकर जयमालकी शोभा कही। जयमाल एक तो स्वयं शोभित है, दूसरे करकमलोंसे भी शोभा पा रहा है, तीसरे जयकी शोभासे युक्त होनेसे भी शोभित है, यथा—'कर सरोज जयमाल सुहाई। बिस्वबिजय सोभा जेहि छाई। २६४। २।' इस तरह मालाकी तीन प्रकारसे शोभा दिखायी। स्वयं सुन्दर, सुन्दर करकमलोंकी शोभा पाकर सुन्दर और विश्वविजयकी शोभासे अर्थात् नामसे सुन्दर। (ख) ☞यहाँ किसी खास वस्तु या पुष्पकी मालाका नाम नहीं लिखनेसे अपनी-अपनी रुचि-अनुसार अनुमान कर सकते हैं, भावुकोंके भावोंके लिये पूरी जगह छोड़ दी है। चाहे सुवर्णका हो, चाहे मंदारका, चाहे कमलका हो अथवा चाहे जिस चीजका हो सबका ग्रहण यहाँ हो सकनेकी काफी गुंजाइश है। जैसे नवल तनमें सुन्दर साड़ी सोह रही है, जैसे सुन्दर अङ्गोंमें सुन्दर आभूषण शोभित हैं, वैसे ही करसरोजमें जयमाल शोभित है। रुचि-अनुसार साड़ी, आभूषण और माला समझ लें। मतभेद तथा रुचिभेद होनेसे किसीका नाम न दिया गया। केवल इतना जना दिया कि जयमाल अपने नामसे, अपने रूपसे और संगसे, तीनों प्रकारसे शोभित है।

नोट—१ अ० रा० में सोनेकी जयमालाका उल्लेख है। यथा—'सीता स्वर्णमयीं मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे। स्मितवक्त्रा स्वर्णवर्णा सर्वाभरणभूषिता। १। ६। २९।' रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवरमें दूब और महुआके पुष्पोंकी मालाका वर्णन है, यथा 'एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसि दूर्वाङ्कमधूकमाला। ६। २५।' श्रीमद्भागवत स्कं० ८ अ० ८ में श्रीलक्ष्मीजीके हाथोंमें (जब वे क्षीरसमुद्रसे निकलीं) श्वेत कमलोंकी मालाका उल्लेख मिलता है। यथा—'तस्यां-सदेश उशतीं नवकंजमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम्।···२४।' अर्थात् लक्ष्मीजीने भगवान्‌के गलेमें वह नवीन कमलोंकी माला पहना दी, जिसके चारों ओर झुण्ड-के-झुण्ड मतवाले भौंरे गुंजार कर रहे थे। केशवदासजीने श्रीसीता-जीके करकमलोंमें कमलकी माला लिखी है। यथा—'सीताजू रघुनाथके अमल कमलकी जयमाल पहिराई···'

मतभेद देख गोस्वामीजीने किसी पुष्पका नाम नहीं दिया, तो भी गुप्तरीतिसे उन्होंने इस प्रकरणमें कमलकी माला बना दी है। जैसे धनुष टूटनेपर जब श्रीसीताजी जयमाल पहनानेको चली हैं उस समय कविने कहा है 'कर सरोज जयमाल

सुहाई । २६४ । २ ।', वैसे ही यहाँ 'पानि सरोज सोह जयमाला' । जैसे वहाँ 'सरोज' दीपदेहली न्यायसे 'कर' और 'जयमाल' दोनोंका विशेषण है, वैसे ही यहाँ 'सरोज' और 'सोह' पानि और जयमाला दोनोंके साथ हैं । 'पानि सरोज सोह' और 'सरोज जयमाला सोह' । इसी तरह गीतावलीमें जयमालके सम्बन्धमें यह पद है—'जयमाल जानकी जलज कर लई है । सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु मानहु मदन माली आपु निर्मई है ॥ १ ॥····माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है । मानसतें निकसि बिसाल सुतमाल पर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है । १ । ९४ । ४ ।' इस पदमें भी सुन्दर मंगल शकुन सूचक फूलोंकी जयमाला कही, नाम स्पष्ट नहीं किया । हाँ, गुप्तरीतिसे यहाँ भी कमलका जयमाल जना दिया है । इस तरह कि 'जलजकर' श्लेषार्थक है । उसका अर्थ 'कमलका' (कर=का) और 'हस्तकमल' (कर=हाथ) दोनों ले सकते हैं । जैसे लक्ष्मीजी समुद्रसे श्वेत कमलोंकी माला लिये प्रकट हुईं, वैसे ही यहाँ श्वेतकमलोंकी माला है, यह 'मराल पाँति' से जनाया; क्योंकि हंस श्वेत होते हैं । इसी प्रकार श्रीजानकी-मंगलमें भी गोस्वामीजी लिखते हैं—'लसत ललित कर कमल माल पहिरावत । काम फंद जनु चंदहि बनज फँदावत ! ···६८ ।' इसमें भी 'कमल' को देहलीदीप-कन्यायसे दोनों ओर जनाया है । 'कर कमल' 'कमल माल' ।

इस तरह गुप्तरीतिसे अपना मत उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें प्रकट भी कर दिया है ।

टिप्पणी—३ (क) अवचट=औचक । बिना इच्छाके देखनेको 'औचक' कहते हैं । श्रीसीताजीकी इच्छा राजाओंको देखनेकी नहीं है, उन्होंने श्रीरामजीको देखनेके लिये नजर उठायी, इस तरह अचानक ही सब राजाओंपर दृष्टि श्रीरामजीको देखनेके कारण डाली, जैसा आगे 'सीय चकित चित रामहि चाहा' से स्पष्ट है । [किसी-किसीने राजाओंका चकित होकर सीताजीको देखना अर्थ किया है । प्राचीन टीकाकारों एवं रामायणी लोगोंने प्रायः श्रीसीताजीका राजाओंकी ओर देखना लिखा है । रा० प्र० कार भी लिखते हैं कि—अवचट='इच्छारहित, जैसे न देखनेवाले पदार्थपर किसी योगसे दृष्टि पड़ जाय' । यहाँ रामजीको देखनेके लिये सब राजाओंपर दृष्टि पड़ी । अवचट (अव=नहीं । + चट=शीघ्र)= अनजान, अचका] ।

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'श्रीरामचन्द्रजी कहाँ हैं इस चाहमें श्रीसीताजीने अचानक अर्द्धदृष्टिसे; नजर फेंकी, न देख पड़नेपर चित्त चकित हो चारों ओर नेत्र चंचल हुए । अवचट=अचानक अर्द्धदृष्टिसे, कहीं दृष्टि थँभाई नहीं । उरमें रामजीके देखनेकी चाह है, इसलिये चित्त चकित है और नेत्र चारों ओर चञ्चल हैं, यह देख सब राजा मोहवश हुए' । किसीने दूसरा अर्थ यह भी लिखा है कि 'अथवा, इस समय अद्भुतरस प्रकट हुआ, तनकी छटा बिजली-सी छूटी (दमक रही) अतः सबके नेत्र चकाचौंधसे हो गये' ।

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'सब राजा अकचकाकर देखने लगे' वा, इन्होंने अनजानेमें सब राजाओंकी ओर देखा' । श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि 'सब राजा चकित होकर अचानक उनकी ओर देखने लगे । श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है । वे लिखते हैं कि 'जयमालपर राजालोग दृष्टि लगाये हुए थे । जयमाल ही सीताजीके निश्चित रूपसे पहिचाननेका चिह्न था । राजाओंने एकाएक देखा, पर सीताजीने उन्हें नहीं देखा' ।

सीय चकित चित रामहि चाहा । भये मोहबस सब नरनाहा ॥ ७ ॥
मुनि समीप देखे दोउ भाई । लगे ललकि लोचन निधि पाई ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—चाहना=देखना । यथा—'सुनि अवलोकि सुचित चख चाही । भगति मोरि मति स्वामि सराही ॥ २९ । १ ।'=चाहसे ताकना, खोजना । (श० सा०) । ललकि=बड़ी उत्कंठा लालसा और लालचपूर्वक ।

अर्थ—श्रीसीताजी चकित-चित्तसे श्रीरामजीको देखने (वा खोजने) लगीं (तब) सब राजा मोहवश हो गये ॥ ७ ॥ उन्होंने दोनों भाइयोंको मुनिके पास देखा । उनके नेत्र (अपनी) निधि पाकर वहीं ललककर जा लगे (स्थिर हो गये) ॥ ८ ॥

नोट—१ पं० रामकुमारजीका अर्थ—श्रीसीताजी चकित-चित्त हैं, श्रीरामजीको चाहती हैं ।

टिप्पणी—१ 'सीय चकित चित रामहि चाहा' इति । 'चकित चित' होनेके भाव कि—(क) सीताजी यह सुन चुकी हैं कि मुनिके साथ आये हैं—'सुने जे मुनि सँग आए काली' । मुनि विरक्त हैं । राजसभामें कौतुक देखने क्यों आने लगे ? अतएव सीताजीको संदेह है कि कदाचित् मुनि इसे राजसमाज समझकर यहाँ न आये हों तो राजकुमार भी उनके साथ होनेके

कारण न आये होंगे। इसीसे वे चकित चित हैं कि आये या नहीं। रामहीकी चाहमें उनका चित्त है। (ख) श्रीरामजी कहाँ हैं? उनके 'मिलनेके' (दर्शनके) लिये सीताजी चकित देख रही हैं, यथा—'चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मनु चिंता॥ २३२ (१) इस चौपाईसे चारों ओर राजाओंको देखना पाया गया। यहाँ 'सीय चकित चित रामहि चाहा' इतना मात्र कहते हैं, 'चहूँ दिसि' देखना नहीं कहते। (भाव कि जब सब ओर देखा राजाओंपर औचक दृष्टि पड़ी पर श्रीरामजी न देख पड़े तब चित्त चकित हो गया क्योंकि वे तो श्रीरामजीको ही देखना चाहती हैं)।

२ (क) 'रामहि चाहा। भए मोहबस सब नरनाहा' इति। श्रीसीताजी श्रीरामजीको चाहती हैं। जब सब राजाओंको चकित चित्त देखने लगीं—'अवचट चितए सकल भुआला' तब सब मोहवश हो गये। सब यही समझने लगे कि हमको ही चाहती हैं। (ख) ☞ प्रथम जनकपुरवासियोंका 'मोह' (मोहित होना) कहा, यथा—'देखि रूप मोहे नर नारीं' और अब सब राजाओंका मोह कहते हैं। तात्पर्य कि जनकपुरवासियोंका मोह वात्सल्य लिये हुए है और राजाओंका मोह शृङ्गार लिये हुए है। दोनोंका मोह पृथक्-पृथक् प्रकारका है, इसीसे दोनोंका मोह अलग-अलग लिखा। पुनः भाव कि—(ग) पूर्व रूप देखकर नरनारियोंका मोहित होना कहा—'रूप देखि मोहे नर नारी' इससे जनाया कि स्त्री-पुरुष 'रूप देखकर' मोहित हो गये पर वह (वात्सल्य) मोह थोड़ी ही देर बाद न रह गया, देखते ही भरमें रहा, इससे वहाँ 'देखि' पद दिया। और यहाँ लिखा कि नरनाह 'मोह बस' हुए, अर्थात् राजाओंके हृदयोंमें मोह बस गया, सीताजीकी प्राप्तिकी इच्छा बराबर बनी रही। (घ) 'सब नरनाहा' इति। पूर्व कहा कि 'अवचट चितए सकल भुआला' सबको देखा अतः 'सब' का मोहवश होना भी कहा।

नोट—२ 'अवचट चितये'''भये मोह बस' इति। सत्योपाख्यान उत्तरार्ध अ० २ में लिखा है कि जिस समय श्रीजानकीजी रंगभूमिमें लायी गयीं तब उनको देखकर कोई राजा अपने मालाकी गुरियाँ गिनने लगा, कोई तलवार खींचता कोई मुस्कुराता है, कोई मोती निछावर करता है, कोई अपने आभूषण दिखलाता है, कोई हँसता, कोई दाढ़ी-मूछपर हाथ फेरता।'''इत्यादि। श्रीजानकीजीने किसीकी ओर न देखा। यथा—'कन्या समागता तत्र सीता नाम्नी सखीगणैः॥४६॥ तत्र शृङ्गारचेष्टाश्च राज्ञां जाता सहस्रशः। कश्चित् करं किरीटे च कलयामास भूपतिः॥ ४७॥ पद्मं च भ्रामयामास पाणिना च नराधिपः। ददार पद्मपत्राणि नखैः किंचित्स्मयन्निव॥ ४८॥ कश्चिद्वार्ताप्रलापे च सख्या चक्रे महामनाः। कश्चिन्मुक्तामयीं मालां गणयामास पाणिना॥ ४९॥ केनचित्कारणेनैव जहास कोऽपि भूपतिः। खड्गं कोशाद्विकृष्यैव दर्शयामास चापरान्॥ ५०॥ ताम्बूलभक्षणं कश्चिच्चकार च महामनाः। हस्तमुत्क्षिप्य वेगेन रत्नमुद्राविदीपितम्॥ ५१॥ बमाये च समामध्ये दर्शयन् पाणिभूषणम्। जहास कश्चिद्भूपालो दन्तान् संदर्शयन्निव॥ ५२॥ श्मश्रूणि परिमार्ज्याथ पाणिना स्वेन निर्भयः। एवं बभूव शृंगारो जनानां रंगवासिनाम्॥ ५३॥ आजगाम तदा सीता धनुषो निकटे मुदा। पूजयित्वा पिनाकं तु जगाम मातृसंनिधौ॥ ५४॥'—ये सब भाव भी 'भये मोहबस' में आ गये।

टिप्पणी—३ 'मुनि समीप देखे दोउ भाई''' इति। (क) किसी रामायणमें श्रीरामलक्ष्मणजीका मुनिके आगे बैठे होना, किसीमें अगल-बगल, दहिने-बायें, आस-पास और किसीमें एक ही ओर दोनोंका बैठना लिखा है, इसीसे ग्रन्थकारने 'मुनि समीप' कहकर सब ऋषियोंके मतोंका आदर किया, सब भावोंका ग्रहण इस पदसे हो गया। पुनः 'मुनि समीप' कहनेसे जनाया कि जानकीजी दोनों भाइयोंको देखते ही उनके स्वरूपसे ही पहचान गयी थीं और मुनिके समीप होनेसे चिन्हारीकी अत्यन्त दृढ़ता हो गयी। क्योंकि यह सुन चुकी हैं कि मुनिके साथ आये हैं अतः उनके पास बैठे हैं। (क) 'ललकि लगे लोचन'। श्रीसीताजीके नेत्र श्रीरामजीके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित थे। (वे चकित-चित्तसे रामजीकी खोजमें थीं) इसीसे उनके नेत्र ललककर वहाँ जा लगे। ☞ स्मरण रहे कि प्रथम भेंटमें (फुलवारीमें) अपनी निधिको पहचानना लिखा गया है—'देखि रूप लोचन ललचानें। हरषे जनु निज निधि पहिचानें॥ २३२। ४।' और यहाँ उस 'निधि' का पाना कहते हैं। कारण कि पहचानना तो प्रथम ही बार होता है, इससे फुलवारीमें प्रथम मुलाकातमें पहचानना लिखा गया। उस समयसे इस समयतक एक दिन-रातका अन्तर पड़ा। फुलवारीमें भी सवेरे ही भेंट हुई और आज यहाँ रंगभूमिमें भी सबेरे ही दर्शन हुए। इतना बीच पड़नेसे 'निधि' का हाथसे छूटना निश्चित हुआ। वह निधि इतनी देरके लिये हाथसे चली गयी थी; इसीसे यहाँ निधिका 'पाना' कहा। [पुष्पवाटिकामें 'निज निधि' कहा था और यहाँ केवल 'निधि'। कारण कि पुष्प-

वाटिका-प्रसङ्गमें बहुत वर्षोंके बाद प्रथम दर्शन मिले थे, इसीसे वहाँ 'निज निधि' का पहचानना कहा था और यहाँ तो आठ-नौ पहरके पीछे फिर दर्शन हो गया, अतः 'निधि' ही कहा। (प्र० सं०)। (ग) 'लगे'—भाव कि राजाओंको 'अवचट चितए' पर लोचन उनपर लगे (ठहरे) नहीं, देखते ही वहाँसे हट गये। (घ) बिना वाचक पदके 'गम्य उक्त-विषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीर)]।

प० प० प्र०—(क) 'अवचट चितए सकल भुआला ॥ सीय चकित चित रामहि चाहा ॥' यह सीताजीकी दशा हुई जब वे रङ्गभूमिमें आयीं, पर श्रीरामजी जब रङ्गभूमिमें आये तब उनके नेत्र सीताजीकी खोजमें इधर-उधर नहीं दौड़े। (ख) चन्द्रोदयके समय जो दशा रघुवीरके मनकी थी वह रङ्गभूमिमें आनेपर नहीं रह गयी। ऐसा जान पड़ता है कि मानो वे इस शृङ्गाररसको परिपूर्णतया भूल गये हैं, इस विषयमें पूर्ण उदासीन हैं, निश्चिन्त होकर गुरुजीके पास बैठे हैं। अब कहिये कामदेवकी विजय हुई या रघुवीरकी ? चन्द्रोदयके समय तो एक नरलीला करके बतायी। (ग) श्रीसीताजीको प्रथम राजा लोग क्यों देख पड़े यह निम्न नकशेसे स्पष्ट हो जायगा।
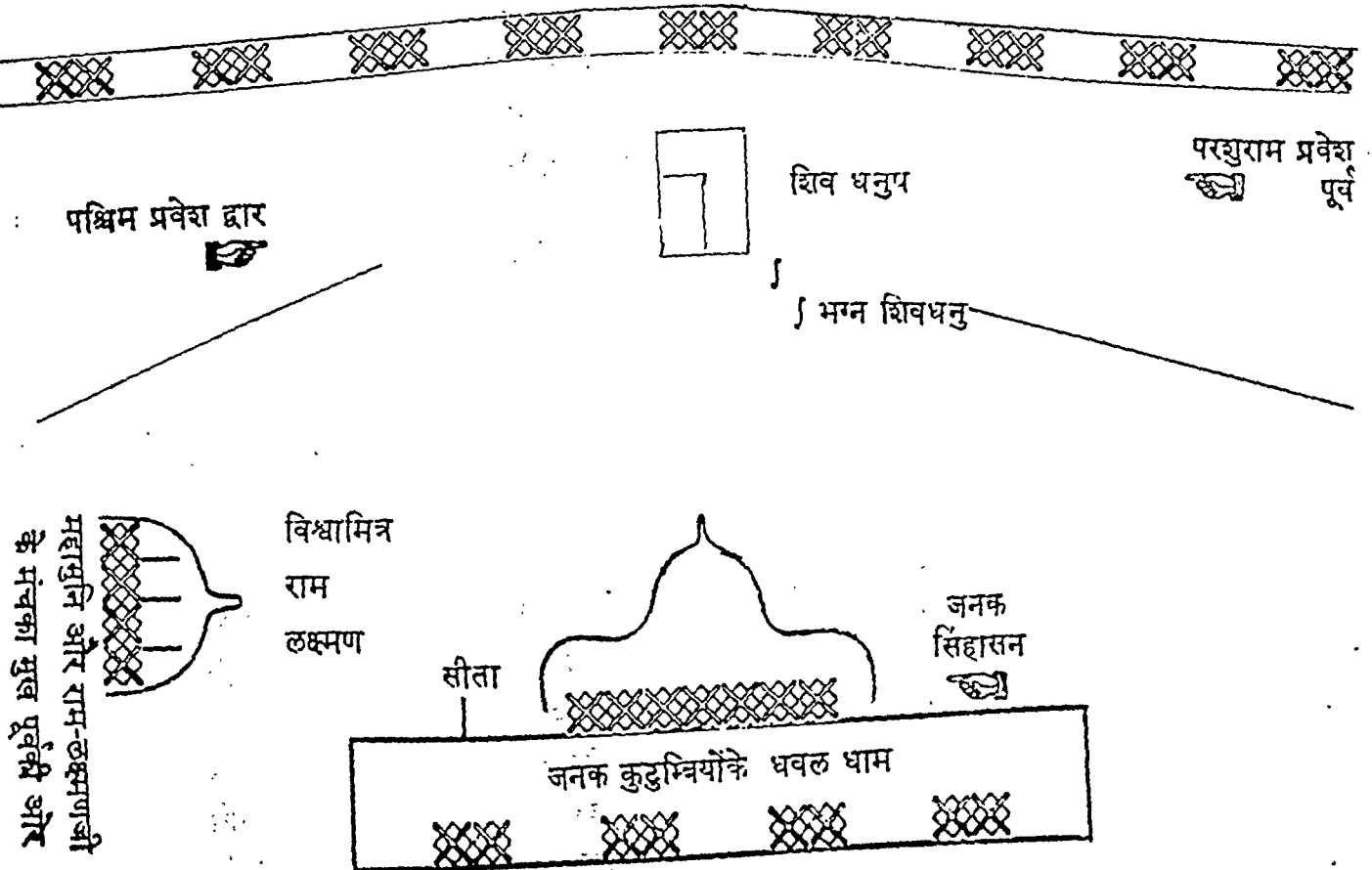
नोट—१ पाठक देखेंगे कि श्रीसीताजीके नर-नाट्यका आदिसे अन्ततक रामायणमें जैसा निर्वाह हुआ है वैसा श्रीरामजीका नहीं। श्रीरामजीका ऐश्वर्य अनेक स्थलोंमें प्रकट हो गया है। २ स्वयंवरमें प्रायः कन्या जयमाला लेकर सबके पीछे ही आती है। पातिव्रत्यका कैसा सुन्दर निर्वाह यहींसे देख चलिये।

दो०—गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥२४८॥

अर्थ—गुरुजनों (माता, पिता, आचार्य आदि बड़े लोगों) की लज्जासे और बड़ा समाज देखकर श्रीसीताजी सकुचा गयीं (अर्थात् गुरुजनों और समाजकी लज्जा लगी कि लोग क्या कहेंगे)। रघुकुलवीर श्रीरामजीको हृदयमें लाकर सखियोंकी ओर देखने लगीं॥ २४८॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ जब श्रीसीताजीने फुलवारीमें सखियोंके साथ श्रीरामजीको देखा तब एक तो वहाँ अपनी सखियाँ ही साथमें थीं, दूसरे एकान्त था, यह समझकर विशेष लज्जा न हुई थी। इसीसे वहाँ वे देरतक देखती रहीं। यथा—'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी। २३२ (५-६)॥' और यहाँ गुरुजन बैठे हैं और समाज बहुत बड़ा है, इससे नेत्र ललचाकर जा तो लगे पर देरतक वहाँ न ठहर सके। अतएव यहाँ नेत्रोंका 'थकना' और चकोरीकी तरह देखना नहीं लिखा। (ख) 'गुरुजन लाज' अर्थात् बड़ोंकी लाज करनी चाहिये, अतः उनकी लाज की। इस कथनसे पाया जाता कि औरोंकी लाज नहीं है, इसीपर कहते हैं कि 'समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।' समाजमें छोटे-बड़े सभी हैं, सभीका संकोच हुआ। संकोचका स्वरूप उत्तरार्धमें दिखाते हैं। यहाँ दो प्रकारसे संकोच दिखाया—श्रीरामजीको देखकर गुरुजन-समाजका संकोच हुआ, दूसरे गुरुजन-समाजको देखकर संकोच हुआ। (ग) तन=ओर, तरफ, यथा—'होइ बुद्धि जौ परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।' (घ) 'रघुबीरहि उर आनि' इति। प्रथम कहा कि 'मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई।' इससे पाया जाता है कि दोनों भाइयोंको देख रही हैं इसीसे 'रघुबीरहि उर आनि' कहकर उसका ब्योरा करते हैं। [पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'यहाँ 'सीय' और 'रघुबीर' नाम अर्थानुकूल हैं। सीताको शीतलता हुई और रघुवीर इससे कहा कि अब वीरता प्रकट करनेका समय है। (नोट—इस समय देखकर उनको श्रीरामजीकी वीरता तथा उनका प्रभाव स्मरण आ गया। वीर मूर्तिको हृदयमें धारण किया)]। (ङ) 'उर आनि' का भाव कि बाहरसे वियोग हुआ, वियोग नहीं सह सकतीं इससे भीतरसे संयोग किया। [पूर्व फुलवारीमें भी कहा था 'चली राखि उर स्यामल मूरति' वैसे ही यहाँ भी 'रघुबीरहि उर आनि' कहा। भाव कि श्रीसीताजी हृदय-भीतिपर चित्र नहीं खींचतीं, ये सीधे-सीधे मूर्तिको ही हृदयमें रख लेती हैं। 'लागि बिलोकन सखिन्ह तन'—भाव कि हृदयमें मूर्तिको रखकर नेत्रकपाट बंद करने चाहिये थे, पर संकोचके कारण ऐसा न कर सकीं, अतः सखियोंकी ओर देखने लगीं। (वि० त्रि०)। 'चतुराईसे सखियोंकी ओर देखनेमें 'अवहित्थ-संचारी भाव' है—(वीर)]

रामरूपु अरु सिय छबि देखें। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका रूप और श्रीसीताजीकी छबि देखकर स्त्रीपुरुषोंने पलक मारना छोड़ दिया॥ १॥

☞ 'रूप' और 'छबि' इति। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि 'रूपमें आकृति, रङ्ग, वस्त्र, आभूषण सब आ जाते हैं जिससे उस वस्तु या व्यक्तिकी पहिचान होती है। छबिमें केवल सौन्दर्य, कान्ति और चमकदमकका भाव ही मुख्य माना जाता है। रूपके उपासकको उपास्यके प्रत्येक अङ्ग वा एक-एक रोमका भी ज्ञान हो सकता है और देखनेका अधिकार है। परंतु छबिके उपासकको केवल रूपकी छटा और दमक ही दृष्टिमें आती है और कुछ नहीं और वस्तुकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सकता और न इसका अधिकार है। सीताजीके लिये 'छबि' शब्द देकर गोस्वामीजीने विदेह-राजकुमारीकी मर्यादा बड़ी सुन्दर रीतिसे निबाही है।'

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि 'कलाका कमाल यह है कि यह सूक्ष्म अन्तर भी निबह गया जो महाकाव्यका गुण है और नाटकीयकलामें सुन्दरताके दोनों अंश बताकर 'मोहे नर नारी' का कारण साधारण शृङ्गारके माधुर्यमें भी निभा दिया।'

टिप्पणी—१ प्रथम रामरूप वर्णन किया पीछे श्रीसीताजीकी छवि कही; उसी रीतिसे यहाँ दोनोंको एकत्र करते हैं—'रामरूप अरु सिय छबि देखें'। रामरूपका सम्बन्ध 'देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥' यहाँसे है और सिय-छविका सम्बन्ध 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नरनारी'॥ से है। जहाँसे नरनारियोंके देखनेका प्रसङ्ग छोड़ा था वहींसे फिर कहते हैं। जब रामजी आये तब उनको देखकर सब एकटक देखते रह गये और जब जानकीजी आयीं तब इनको सब एकटक देखने लगे। २—'दोनोंको एक ही साथ एकटक चितवते रहना नहीं बनता, क्योंकि श्रीरामजी तो मंचपर हैं और श्रीसीताजी रंगभूमिमें हैं, दोनों एक जगह नहीं हैं तब यह कैसे कहा कि 'रामरूप अरु सिय छबि देखे।…'?' इसका समाधान यह है कि इस अर्धालीका भाव यह है कि जो स्त्री-पुरुष रामरूप देख रहे हैं वे रामरूपको एकटक देख रहे हैं और जो सीताजीको देखते हैं वे सीताजीहीकी छविपर एकटक दृष्टि जमाए हुये हैं। अथवा रामजीको देखकर तब सीताजीको देखते हैं और सीताजीको देखकर तब रामजीको देखते हैं, दोनोंको बिना पलक मारे ही देखते हैं।

वि० त्रि०—भाव कि 'एक बार तो सब मोह गये, अब सावधान होकर रामजीके रूप और सीताजीकी छविका मिलान करते हैं। परोक्षमें भी मिलान किया था, यथा 'जोग जानकी यह बरु अहई'; अब दोनों मूर्तियाँ सामने पाकर मिलान करते हैं। इसलिये 'एकटक लोचन चलत न तारे' की दशा उपस्थित है।'

सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं॥ २॥
हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥ ३॥

अर्थ—सभी मनमें सोचते हैं पर कहते सकुचाते हैं। मन-ही-मन विधातासे विनती कर रहे हैं॥ २॥ 'हे विधि! जनकजीकी [मूर्खताको शीघ्र हर लीजिये और हमारी-ऐसी सुन्दर बुद्धि उनको दीजिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'सोचहिं सकल'। भाव कि कुछ करतूत (कर्तव्य) करते नहीं बनती। यह सबके मन, वचन और कर्मका हाल कहते हैं। मनमें 'बिधि सन बिनय करहिं', वचनसे 'कहत सकुचाहीं' और 'सोचहिं' यह कर्म है। रामरूप और सिय-छवि देखकर सबके सोचनेका भाव कि सबकी समझमें दोनों एक दूसरेके योग्य हैं, रामरूप और सीताछवि सदृश हैं, श्रीरामजी श्रीसीताजीके वर होने योग्य हैं; पर रामजी बड़े सुकुमार हैं, उनसे धनुष टूटना कठिन है—यह समझकर सोचमें हैं। (ख) 'कहत सकुचाहीं' क्योंकि राजाको प्रकट जड़ कैसे कहें। प्रकट कहनेमें सकुचते हैं, इसीसे 'बिनय करहिं मन माहीं'। (ग) 'बिधि' से विनय करते हैं; क्योंकि संयोग करानेवाले विधि ही हैं, यथा—'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥ ३। १७।', 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥ २२३। ७।', 'औ बिधि बस अस बनै सँजोगू। २२२। ७।' इत्यादि। [(घ) 'बिधि' का भाव कि 'जनक 'अबिधि' कर रहे हैं, सो आप कैसे करने देते हैं' भाव कि आप बुद्धिके संचालनमें समर्थ हैं जिसकी बुद्धि चाहें पलट सकते हैं, तब आप जनक महाराजकी बुद्धि पलट दें। (पाँड़ेजी)। पुनः, बिधि=विधानकर्ता]।

'हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई।…' इति। (क) 'बेगि' का भाव कि अभी प्रतिज्ञा सुनायी नहीं गयी है, सुना दी जायगी तब कुछ बस न चलेगा। वा धनुष टूटनेके पश्चात् ऐसी बुद्धि देनेका कुछ प्रयोजन नहीं (क्योंकि जब किसी औरने धनुष तोड़ ही डाला तब तो सीताजी उसीको मिलेंगी, तब कहनेसे क्या लाभ होगा)। वा आज ही प्रतिज्ञाकी अवधिका अन्तिम दिन है, आज ही समय है फिर यह समय न रह जायगा। (पाँड़ेजी)। (ख) 'जनक जड़ताई' इति। बिना हानि-लाभ सोचे-समझे प्रतिज्ञा करना जड़ता है, इस प्रणमें हानि-लाभ कुछ भी नहीं, यथा—'अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी'॥ (ग) 'मति हमारि असि देहि सुहाई' कहकर जनाया कि जनककी मति 'असुहाई' है, जड़ता धारण किये हुए है। जनककी जड़ता और अपनी 'सुहाई मति' आगे बताते हैं।

बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करै बिबाहू॥ ४॥
जगु भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू॥ ५॥
येहि लालसाँ मगन सबु लोगू। बरु साँवरो जानकी जोगू॥ ६॥

अर्थ—बिना विचारे ही प्रतिज्ञा छोड़कर राजा सीताजीका विवाह रामजीसे कर दें॥ ४॥ संसार उन्हें भला कहेगा

और सब दिशाओंको यह बात भा रही है। हठ करनेसे अन्तमें भी (आखिर) छाती जलेगी (हृदयमें संताप होगा)॥ ५॥ सब लोग इसी लालसामें मग्न हैं कि जानकीके योग्य वर तो यही साँवला (कुमार) है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिनु बिचार' का भाव कि राजा विचारशील हैं, वे विचार करनेपर प्रणका त्याग न कर सकेंगे। 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। २५२। ५।' यह विचार है। अर्थात् प्रतिज्ञा भंग करनेसे सुकृत नष्ट हो जायँगे। जानकीमङ्गलमें भी कहा है कि 'नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन। ४१।' अर्थात् वचनका धनी न होनेसे—वचन जानेसे राजा वैसे ही अशोभित हो जाता है जैसे नाक बिना भूषणके। अतएव विधिसे प्रार्थना करते हैं कि वे विचार न करें। (भाव कि यहाँ विचारकी कोई बात ही नहीं है, सीता और रामका ब्याह होना ही चाहिये। वि० त्रि०)। (ख) पुनः, 'तजि नरनाहू' कहकर जनाया कि प्रतिज्ञाका ग्रहण किये रहना ही जनककी जड़ता है। 'नरनाहू' का भाव कि राजा लोग स्वार्थके आगे सब त्याग कर देते हैं, अर्थसिद्धि जिस प्रकार भी हो उसे ही मुख्य मानते हैं। [पाँड़ेजी कहते हैं कि राजाओंका धर्म है कि अर्थपर दृष्टि रक्खें, अतः 'नरनाहू' कहा। पुनः, भाव कि नरनाहका धर्म है कि नरोंका पालन करें, प्रजाकी रुचि रक्खें, प्रण बिना विचारे किया है उसके छोड़नेसे नरों (प्रजा) का पालन होगा, सिय-रामका विवाह होगा, सारी प्रजाको सुख होगा। राजाओंको अपना लाभ देखना चाहिये। योग्य वर मिलता है यह लाभ है। पर ये यह लाभ विचारते नहीं, अतः मनाते हैं कि उनको बुद्धि दें कि यह लाभ देखें।]। (ग) **'सीय राम कर करै बिबाहू'**। भाव कि श्रीरामजी सीताजीके ब्याहने योग्य हैं, सीताजीके सदृश उनका रूप है, वे प्रणके योग्य नहीं हैं, यथा—**'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥'** पनके योग्य नहीं हैं। अतः **'पन तजि करै बिबाहू'**। यह **'सुहाई मति'** है। सुहाई मतिका अर्थ यहाँ खोला।

२ 'जग भल कहिहि भाव सब काहू।....' इति। (क) भाव कि प्रण छोड़ देनेसे जगत् भला कहेगा और न छोड़नेसे जगत् भी भला न कहेगा, अपयश होगा और अन्तमें हृदयमें संताप होगा। इस तरह इतनेमें ही अपनी मतिका गुण और जनककी मूढ़ताका दोष कह दिया। (ख) पुनः भाव कि यदि कोई कहे कि प्रण छोड़नेसे अपयश होगा, यथा—**'अब करि पैज पंच महँ जो पन त्यागै। बिधि गति जानि न जाइ अजसु जग जागै॥'** (जा० मं० ४३)। तो उसपर कहते हैं कि अपयश न होगा वरंच अच्छा ही होगा क्योंकि यह बात सभीको प्रिय लग रही है, कोई भी ऐसा नहीं है जिसे यह बात अप्रिय लगती हो। और यदि हठ करेंगे तो अन्तमें भी दुःख मिलेगा, यथा—**'जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा। २। ६२।' 'हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस। २। ६१।'** (ग) 'अंतहु' का भाव कि हठहीके कारण अभी दाह है पर अभी तो इतना ही पश्चात्ताप है कि पहले इनको देखा न था नहीं तो ऐसा प्रण न करते, यथा—**'ए जाने बिनु जनक जानियत करि पन भूप हँकारे। नतरु सुधासागर परिहरि कत कूप खनावत खारे। गी० १। ६६।'** और अन्तमें जब कन्या कुँआरी रह जायेगी तब भी दाह बना रहेगा। अथवा, यदि किसी अयोग्य पुरुषसे धनुष टूटा तो अन्तमें यह संताप होगा कि हमने क्यों यह प्रण किया, न करते तो अच्छा होता; इससे अभी प्रण छोड़ देना अच्छा है। श्रीजनकजी भी यह जानते हैं कि रामजी जानकीजीके योग्य हैं, रही बात यह कि प्रण किये हैं, प्रण त्याग नहीं करते; इसीसे उनका हठ करना निश्चित करते हैं।

३ 'येहि लालसा मगन सब लोगू।....' इति। (क) उपक्रममें 'सोच' कहा और उपसंहारमें 'लालसा' कहते हैं, इससे पाया गया कि यहाँ सोच और लालसा दोनों हैं—राजाके हठका सोच है, प्रण छोड़कर ब्याह कर दें यह लालसा है, सबको सोच है और सबको लालसा है, इसीसे दोनों जगह सबको कहा—**'सोचहिं सकल....', 'मगन सब लोगू।'** ('मगन सब लोगू' से जनाया कि इस अभिलाषामात्रसे उन्हें अत्यन्त आनन्दानुभव हो रहा है। नगरदर्शनके समय जो सखी-समाजमें निर्णय हुआ था—'जोग जानकी यह बरु अहई' वही निर्णय यहाँ सब लोगोंका हुआ कि **'बर साँवरो जानकी जोगू।'** वि० त्रि०)

नोट—'येहि लालसा मगन सब लोगू....' इति। गीतावली और जानकीमङ्गलमें पुरवासियोंकी लालसा इसी प्रकार कुछ भेदसे दिखायी गयी है। पर चाहते सब यही हैं कि श्रीरामजीके साथ श्रीजानकीजीका विवाह हो। यथा—**'भूपभवन घर घर पुर बाहर इहै चरचा रही छाइ कै। मगन मनोरथ मोद नारि नर प्रेम बियस उठै गाइ कै॥ २॥ सोचत बिधि गति**

समुझि परस्पर कहत बचन बिलखाइ कै। कुँवर किसोर कठोर सरासन असमंजस भयो आइ कै। सुकृत सँभारि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै। रघुबर कर धनुभंग चहत सब अपनो सो हितु चितु लाइ कै॥ गी० १। ६८॥', 'पुर नर नारि निहारहिं रघुकुलदीपहिं। दोसु नेहबस देहिं बिदेह महिपहिं।''''जा० मं० ४१।'

श्रीराजारामशरणजी—सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास कलाका कितना सुन्दर उदाहरण है। साधारण जनताका कितना ठीक चित्रण! वहाँ बस एक लालसाकी मग्नता है। 'बरु साँवरो जानकी जोगू' फिर 'विचार' (विवेक) 'पन' (सत्य) ही 'जड़ता' और 'हठ' रूप दिखते हैं। आह कौन सोचता है कि यह 'नरनाह' की मर्यादाके विरुद्ध होगा! वहाँ तो विधातासे कहते हैं कि जल्दी ('बेगि') ही सब विधान ही पलट दीजिये। साधारण लोगोंमें सब्र कहाँ ? वहाँ तो कसौटी है सर्वसाधारणका 'कहना' (विवेकी पुरुषोंका नहीं। उनका विचार ही वहाँतक नहीं जाता, उनके जगमें वे हैं ही नहीं), उन्हींका 'भाव' (अच्छा लगना) अपना और 'दुःख' (दाह)।

तब बंदीजन जनक बोलाए। बिरिदावली कहत चलि आए॥ ७॥
कह नृपु जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हरषु न थोरा॥ ८॥

शब्दार्थ—बिरिदावली (विरुदावलि)=गुण, प्रताप, यश, पराक्रम आदिका सविस्तार वर्णन। वंशावलीका यश-वर्णन।

अर्थ—(जब श्रीसीताजी रङ्गभूमिमें आयीं) तब जनक महाराजने भाटोंको बुलाया। वे निमिवंशकी विरुदावली कहते हुए चले आये॥ ७॥ राजाने उनसे कहा कि हमारा प्रण (सब राजाओंसे) जाकर कह दो। (आज्ञा सुनकर) भाट चले, उनके हृदयमें कुछ थोड़ा हर्ष नहीं है अर्थात् बहुत हर्ष है॥ ८॥

श्रीराजारामशरणजी—'तब' शब्दने नाटकीय कलावाले विरोधानन्दको कितना उभार दिया है! Dramatic Irony! इस घोषणाका कटु प्रभाव जो जनतापर पड़ा होगा वह विचारणीय है मगर मर्यादा यह है कि हुल्लड़ नहीं मचा।

टिप्पणी—१ 'तब बंदीजन जनक बोलाए।' इति। (क) 'जब' 'तब' का सम्बन्ध है। इस अर्धालीका सम्बन्ध पूर्व 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी॥ २४८। ४॥' से है। प्रसङ्ग छोड़कर बीचमें सब लोगोंका हाल वर्णन करने लगे थे, अब यहाँ उस प्रसङ्गको फिर मिलाते हैं। (ख) 'बंदीजन' बहुवचन है। बहुतसे बंदियोंको बुलाया क्योंकि समाज बहुत बड़ा है, एकसे यह कार्य न होता। अथवा, बहुत विलम्ब होता। बंदीजन कौन हैं, वे क्या काम करते हैं, यहाँ यह भी बताते हैं। वे वंशका विरद कहते हैं अर्थात् वंशकी प्रशंसा करते हैं, यथा—'बंस प्रसंसक बिरिद सुनावहिं॥ ३१६। ६॥' वे वंशके गुण गाते हैं, यथा''''चातक बंदी गुनगन बरना। ३। ३८।' 'बंदी बेद पुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम॥ २। १०५॥' [निर्मल बुद्धिवाले और प्रस्तावके अनुकूल बोलनेवाले बंदी कहलाते थे—'वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्ताव-सदृशोक्तयः।' (वि० त्रि०)]। (ग) 'बोलाए' और 'कहत चलि आए' से पाया गया कि वे दूर थे, अपनी जगहसे ही विरुदावली कहते चले आकर राजा जनकके पास पहुँचे; रङ्गभूमि बहुत भारी है। पुनः, 'बोलाए' से यह भी सूचित होता है कि वे सब इस समय 'रामरूप और सिय छबिके दर्शनमें मग्न थे इससे उन्हें बुलवाना पड़ा, नहीं तो वे तो अपनेहीसे बिना बुलाये ही आया करते हैं। (घ) 'बिरिदावली कहत चलि आए' क्योंकि यह उसीका समय है। विरदावलीसे लोगोंको ज्ञात हो जायगा कि श्रीजानकीजी ऐसे वंशकी कन्या हैं, इससे धनुष तोड़नेमें उत्साह होगा।

२ 'कह नृप जाइ कहहु पन मोरा'''।' इति (क) 'जाइ' से जनाया कि जहाँ जनक महाराज हैं वहाँसे वह स्थान दूर है जहाँ राजा लोग बैठे हैं। रङ्गभूमिका विस्तार भारी है, यथा—'अति बिस्तार चारु गच ढारी।' (ख) 'कहहु पन मोरा।' भाव कि प्रण सुनकर राजा आये हैं, यथा—'दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥' अब पन सुनकर धनुष तोड़नेको उठेंगे, यथा – 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भटमानी अतिसय मन माषे॥ परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई॥' [पाँड़ेजीका मत है कि 'सब राजा शोभा देखनेमें धनुषयज्ञका प्रयोजन भूल गये थे, उनको जतानेके लिये जिस लिये आये हैं उस कार्यमें लगानेके लिये भाटोंसे पन कहनेको कहा।' (यह समाजका कायदा है कि सबके जुटनेपर मन्त्री आदि सबको सभाका कार्य बताते हैं तब काम प्रारम्भ होता है)]। (ग) 'चले भाट।' राजाने कहा कि 'जाइ कहहु' इसीसे उनका चलना कहा। 'भाट' कहकर 'बंदीजन' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। (घ) 'हरष न थोरा।'

बहुत हर्षका कारण कि नीतिमें लिखा है कि राजाकी आज्ञा-प्रतिपालन हर्षपूर्वक करे। विशेष हर्षसे जनाया कि राजामें इनकी बहुत भक्ति है इसीसे उनकी आज्ञा-पालन करनेमें अत्यन्त हर्ष है। [वा, हर्ष है क्योंकि स्वामीने अपने मुखसे यह सेवा फरमायी है, अपनेको कृतार्थ माना। वा, ऐसे बड़े समाजसे आज हमें स्वामीकी प्रतिज्ञा बड़े सुन्दर पदोंमें कहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अथवा, उनको शकुन हो रहा है कि उनकी लालसा पूरी होगी, श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे। अतः हर्ष बहुत है। (पं०) देखें महोत्सवके समयमें अपनेको यह बड़ा अधिकार मिला यह समझकर हर्षित हैं। (वै०)। पाँड़ेजी कहते हैं कि 'हरष न थोरा' का 'थोड़ा भी हर्ष न हुआ' यह अर्थ यहाँ प्रसङ्गानुकूल है, क्योंकि सबका मनोरथ यही था कि 'यह साँवरो जानकी जोगू' और सब यही माँगते थे कि 'पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।' उन्हींमें ये भाट भी हैं। 'न थोरा' इस श्लिष्टपदद्वारा यह गुप्त अर्थ खोलना 'विवृतोक्ति अलंकार' है। प्र० स्वामी पाँड़ेजीके अर्थसे सहमत हैं कि 'यही समयानुकूल अर्थ है, आगे 'विदेह' शब्द भी इसी भावसे प्रयुक्त हुआ है'] (ङ) 'जाइ कहहु····' से पाया गया कि राजा जानते हैं कि बंदीगणोंको मालूम है कि क्या कहना है। इसीसे उन्होंने विस्तारसे नहीं कहा। (अथवा, आगे विस्तारसे कहना है इससे यहाँ कविने इतना ही कहा)।

दो०—बोले बंदी बचन बर सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल॥ २४९॥

अर्थ—बंदीजन (ये) सुन्दर श्रेष्ठ वचन बोले—हे समस्त पृथ्वीपतियो! (हमारे श्रेष्ठ वचन) सुनिये। हम विदेहराजका विशाल प्रण भुजा उठाकर कहते हैं॥ २४९॥

टिप्पणी—१ (क) 'बचन बर' से सूचित किया कि हमारे वचन वाणीके अठारहों दोषोंसे रहित हैं। * [वचन बड़ी चतुरतासे कहे गये हैं। पुनः मधुर, कठोरतारहित, राजाओंका उत्साह बढ़ानेवाले, धनुषभङ्गके लिये उत्तेजित करनेवाले, प्रिय इत्यादि गुणयुक्त होनेसे 'बर' कहा। वि० त्रि० का मत है कि महाराज विदेहके वचनका अनुवाद होनेसे 'बचन बर' कहा। (ख) 'सुनहु सकल महिपाल' कहनेका भाव कि यह प्रतिज्ञा राजाओंके लिये है, अन्यके लिये नहीं। पुनः 'महिपाल' सम्बोधनका भाव कि आप लोग वचनके गौरवको समझते हैं। ['पन बिदेह कर' में लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है कि 'कोई देहधारी मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा न करेगा। पाँड़ेजीका मत है कि भाटोंको यह पन अच्छा न लगा, इसीसे वे कहते हैं कि 'देही' ऐसा पन कभी नहीं करते। पुनः देहाध्यासरहितका यह पन है, इसके सुननेसे सबको पीड़ा होगी, यह सबको विदेह करनेवाला पन है।' प्र० स्वामी पाँड़ेजीसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि 'भाटोंकी इच्छा तो सब लोगोंकी इच्छासे विदित हो गयी कि 'बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करै बिबाहू॥' पर वे सेवक हैं, जब प्रणको पुकारकर कहनेकी आज्ञा हो गयी तब अनिच्छासे सेवकका कर्तव्य समझकर ही कहते हैं। 'बिदेह पन' में भाव यह है कि इन्हें तो अपनी देहपर भी ममता नहीं है, ये सुख-दुःखातीत हैं, तब इन्हें दूसरोंके सुख-दुःखका विचार कब होने लगा। ये अपना हठ न छोड़ेंगे। पाँड़ेजीका मत यथार्थ है। मानसमें 'बिदेह' शब्द व्यंग्यार्थमें अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है। यथा 'भएउ बिदेह बचनि बिधि जाने। २९१। ८।' 'बेगि बिदेह नगर नियराया। २१२। ४॥' 'कहहु बिदेह भूप कुसलाता। २। २७०। ६॥' पुनः भाव कि 'अज्ञानीके प्रण मिट भी जाते हैं और विदेह ज्ञानी हैं। ज्ञानीका पन ज्ञान-विचारपूर्वक होता है, वह टल नहीं सकता।' (पं०)। यथा—'चक्रेस गजदसन जनक पन बेद बिदित-जग जान। गी० १। ८७॥' पुनः 'पन बिदेह····' का भाव कि प्रण विदेहका है, हम केवल अनुवादक हैं (वि० त्रि०)]।

२ पन बिसाल है अर्थात् दारुण है, यथा—'अहह तात दारुन हठ ठानी।' पुनः भाव कि जिसमें भारीपन सुनकर सब राजा न उठें, भीड़ न होवे, जो भारी पराक्रमी हैं वे ही उठें। पुनः विशाल कहा जिसमें अपना अपमान समझ क्रोधकर

---

* वाणीके १८ दोष ये हैं—शब्दहीन, क्रमभ्रष्ट, विसंधि, पुनरुक्तिमत, व्याकीर्ण, वाक्यसंकीर्ण, अपद, वाक्यगर्भित, भिन्नलिंग, भिन्न वचन, न्यूनोपम, अधिकोपम, भग्नछन्द, भग्नयति, अशरीर और अरीतिमत। विशेष व्याख्या और प्रमाण 'कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥ ९। १०॥' भाग १ पृष्ठ १८९ में देखिये। १८ दोषोंका प्रमाण दोहा २४८ चौ० २ 'हम पुनि बिमल बेद बर बानी।' में व्याख्यासहित देखिये।

तोड़नेके लिये सब उठें, यथा—'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे॥' पनकी विशालता आगे कहते हैं—'नृप भुजबल बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥' इत्यादि। [विशाल देहलीदीपक-न्यायसे पन और भुजा दोनोंमें लगता है। पन विशाल है अर्थात् इसमें लाभ बड़ा भारी है—'कुअँरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय॥ २५१ ··· कहहु काहि यहु लाभ न भावा॥' पुनः पन विशाल है अर्थात् सामान्य नहीं है और न छूटनेवाला है। वज्ररेख-समान अमिट, गजके दाँतोंके समान फिर मुखमें नहीं जानेवाला है, यथा—'सुनो भैया भूप सकल दै कान। बज्ररेख गजदसन जनक प्रन वेद बिदित जग जान। गी० १। ८७॥' भुजा विशाल उठाकर अर्थात् 'भुजा ऊँची उठायी। यह तीन कारणोंसे—स्वामीकी उत्कृष्टता, अपनी बुद्धिकी बड़ाई और वचनकी अति स्पष्टताके लिये।'—(पंजाबीजी)। दूसरा भाव यह भी कहते हैं कि 'ऐसा कहकर गुप्त रीतिसे यह भी जनाते हैं कि भारी लाभ समझकर सभी राजा घबड़ाकर न उठ खड़े हों, जो अच्छा वीर हो, विशालभुज हो वही उठे।']।

३ 'भुजा उठाइ।' भुजा उठाकर प्रतिज्ञा करनेकी रीति है, यथा—'सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई। १६५। ५॥' 'भुजा उठाइ कहौं पन रोपी। १। २९९॥' 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३। ९॥' इत्यादि। [पुनः हाथ उठानेका भाव कि जिसमें सब लोग सावधान होकर सुन लें, सबका चित्त इस ओर आकर्षित हो जाय।]

नोट—१ गीतावलीमें बंदीजनकी वाणीमें बहुत-सी बातें कही गयी हैं, यथा—'हानि लाहु अनख उछाहु बाहुबल कहि, बंदि बोले बिरद अकस उपजाइ कै। दीप दीपके महीप आये पैज पनु, कीजै पुरुषारथ को औसर भो आइ कै। १। ८२। ७॥' इसमें 'विशाल पन' 'बचन बर' के भाव आ गये। २—बंदीगणके मन, वचन, कर्म तीनों दिखाये—'हिय हरष न थोरा' 'बोले बचन बर' और 'भुजा उठाइ' (यह कर्म है)।

नृप भुजबलु बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥ १॥
रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासनु गवहिं* सिधारे॥ २॥

शब्दार्थ—बानु=बाण; बाणासुर। यह राजा बलिके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा पुत्र था। शिवजीसे इसने वर प्राप्त कर लिया था कि युद्धमें वे स्वयं आकर इसकी सहायता किया करें। उषा जो अनिरुद्धको ब्याही थी इसीकी कन्या थी। इसके हजार भुज थे। श्रीकृष्णजीने सब भुजाएँ काट डालीं। शिवजीके कहनेसे चार रहने दीं।

अर्थ—राजाओंके भुजबलरूपी चन्द्रमाके लिये शिवजीका धनुष राहु है, भारी और कठोर है, यह बात सबको मालूम है॥ १॥ रावण, बाणासुर (आदि) भारी-भारी महाभट (इस) धनुषको देखकर गँवसे चलते हुए॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'नृपभुजबलु बिधु···' इति। विधुके रूपकका भाव कि सूर्यवंशी राजाओंके बलको धनुरूपी राहु नहीं ग्रस सकता। दोनों भाई सूर्यवंशी हैं, उस धनुषको तोड़नेमें समर्थ हैं। अतः 'नृपभुजबल' को विधु कहा, सूर्य न कहा। पुनः भाव कि राजाओंके भुजबलकी शोभा तभीतक है जबतक वे धनुषको छूते नहीं जैसे जबतक राहु नहीं ग्रसते तबतक चन्द्रमाकी शोभा है। भुजबलको चन्द्र और शिवधनुषको राहु तो कहा पर ग्रसना प्रकट न कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया है; क्योंकि 'भुजबल बिधु सिवधनु राहू' इतनेहीसे सब राजा 'माष' उठे, यथा—'भटमानी अतिसय मन माषे' 'माषे लषन कुटिल भै भौहें।' यदि कहीं यह भी कहते कि यह तुम्हारे भुजबलको ग्रस लेगा तो वचन बहुत कटु हो जाता।—इतने ही रूपकसे जना दिया कि धनुष तुम्हारे भुजबलको ग्रास करने आया है, ग्रस लेगा। (ख) 'गरुअ···' अर्थात् उठानेमें भारी है, तोड़नेमें कठोर है। तात्पर्य कि प्रथम तो यह उठेगा ही नहीं और यदि उठा भी तो टूटेगा नहीं। (राहु छायामात्र होनेसे मृदु और हलका है। पर यह भारी और कठोर है। वि० त्रि०)। (ग) 'बिदित सब काहू।' भाव कि यह न समझियेगा कि हम भयदर्शनार्थ ऐसा कह रहे हैं, धनुषकी कठोरता और गुरुता सबको विदित है। गुरुता और कठोरता साधारण बात कहकर इस बातकी पुष्टि दो भारी महाभटोंका उदाहरण देकर करते हैं। (घ) गुरुता और कठोरता यही धनुषरूपी राहुके मुखकी नीचे-ऊपरकी डाढ़ें हैं जिससे वह भुजबलचन्द्रको ग्रस लेता है। यहाँ 'परंपरित रूपक' है, कठोर, यथा,—'कुलिस कठोर कूर्मपीठ तें कठिन अति···' (क० १। १०)।

२ 'रावनु बानु महाभट भारे।' इति। (क) 'महाभट भारे' कहकर भटोंकी तीन कोटियाँ जनायीं—भट, महा-

* 'गवहिं' के 'ग' पर बिन्दु (˙) है पर पोछा-से जान पड़ता है।

भट, भारी महाभट। भारी महाभट यह अन्तिम कोटि है, इनसे अधिक बलवान् कोई नहीं। रावण और बाणासुरका ही नाम लिया; क्योंकि यहाँ धनुष उठानेका प्रयोजन है और ये दोनों उठानेमें बहुत बलवान् हैं। रावणने कैलास उठाया, यथा—'जेहि कौतुक सिव सैलु उठावा। २९२। ८।' और बाणासुरने सुमेरु उठाया, यथा—'सकै उठाइ सरासुर मेरू। २९२। ७।' अतः इनके नाम देकर जनाया कि यह धनुष कैलास और सुमेरुसे भी कहीं अधिक भारी है, क्योंकि रावण और बाणासुरने कैलास और सुमेरुको उठाया था सो वे इसे देखकर ही हार मान गये, छूनेका भी साहस न कर सके। (ख) 'गँवहिं सिधारे' इति। गँवहिं=गँवसे, चुप-चाप या बात बनाकर) रावण यह कहकर चल दिया कि हमारे गुरुका धनुष है, हम कैसे तोड़ें और बाणासुरने कहा कि जानकीजी हमारी माता हैं। दोनोंमेंसे किसीने उसे छुआतक नहीं, यथा—'रावनु बानु छुआ नहिं चापा।' (ग) 'देखि सरासन' से जनाया कि दर्शनमात्र करके चले गये। न छूनेका भाव कि धनुष राहु है, हमारे बलको ग्रस लेगा। अर्धालीका आशय यह है कि जब उन्होंने छूनेतकका साहस न किया तब आपलोग समझ-बूझकर इसे उठानेको उठें, यथा—'ऐसे नृप धनु ना गहौ मानौ बचन प्रतीति' इत्यादि। यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' भी है।

नोट—१ बाबा हरीदासजीका मत है कि धनुषकी गुरुता एवं कठोरता सबपर विदित करनेका हेतु यह है कि 'जिसमें जनकजी निर्दोष हो जायँ, किसीकी मान-मर्यादामें दाग न लगे, नहीं तो सब दोष जनकजीको देते कि ऐसा प्रण करके हम सबको बुलाकर नाक काट ली।'

नोट—२ श्रीहनुमन्नाटकमें जनकमहाराज और रावणके पुरोहितका संवाद है। रावणने संदेसा भेजा कि जानकीजीको हमें दे दो, जनकजीने उत्तर दिया कि 'माहेश्वरं धनुः कुर्यादधिज्यं चेद्ददामि ताम्। १। १४।' जो धनुषको चढ़ावे उसे कन्या दूँ। प्रत्युत्तरमें उसने कहा कि 'गुरोः शम्भोर्धनुर्नो चेच्चूर्णतां नयति क्षणात्' उसके गुरुका न होता तो इसे वह पलमात्रमें चूर्ण कर डालता। इसपर जनकजीने हँसकर कहा कि शम्भुके कैलाशको भुजाओंके खेलसे उठानेको समर्थ है तब धनुषको उठानेमें क्या? 'शम्भोरावासमचलमुत्क्षेप्तुं भुजकौतुकी। माहेश्वरं धनुः क्रष्टुमर्हते दशकंधरः॥ १। १५।' इसपर वह कुपित होकर बोला कि जिसने शंकर, पार्वती, गणेश और कार्तिकेयसहित कैलासको उठा लिया उस रावणके भुजदण्डोंकी इस धनुषमें क्या परीक्षा है? 'सार्धं हरेण हरवल्लभया च देव्या हेरम्बषण्मुखवृषप्रमथावकीर्णम्। कैलासमुत्क्षिपतो दशकन्धरस्य केयं च ते धनुषि दुर्मददोःपरीक्षा॥ १७॥'

सत्योपाख्यान अ० ३ उत्तरार्धमें इस धनुषके सम्बन्धमें विस्तृत उल्लेख है। किसीको वह अजगररूप, किसीको सिंह, किसीको शिव इत्यादि रूप दिखायी पड़ा और कोई पास जाते ही अंधे हो गये। बाणासुरको शंकररूप दिखायी पड़ा, यथा—'प्रोत्सुस्तादानीं ते सर्वे भेरुः किं चापरूपधृक्। बलेः पुत्रस्तदा बाणश्चचाल च निजासनात्॥ १६॥ धनुषस्तोलनार्थं हि तथा मत्वाय वीर्यवान्। ददर्श शिवरूपं च ननाम च पुनः पुनः॥ १७॥ उवाच च सभामध्ये शिवरूपं धनुष्यदम्। गम्यते च मया गेहं नास्ति मे योग्यता त्विह'॥ १८॥ अर्थात् उसको शिवरूप देख पड़ा, उसने बारम्बार प्रणाम किया और सभाके बीचमें यह कहकर चल दिया कि यह धनुष शिवरूप है, मेरे योग्य नहीं है, अतः मैं घर जाता हूँ।

नोट—३ यहाँ रावणके सम्बन्धमें 'देखि सरासन गवहि सिधारे' कहा। यह राजाओंको प्रतिज्ञा सुनाते समय भाटोंने कही है। इसके बाद राजाओंका धनुष तोड़नेके लिये उठना कहा है। इससे स्पष्ट है कि यह बात आजके पहले किसी दिनकी है जब ये राजा लोग नहीं आये थे। आगे श्रीसुनयनाजीने भी ऐसा ही कहा है।—'रावन बान छुआ नहिं चापा।' परंतु लंकाकाण्डमें मन्दोदरीजीके वचन हैं—'जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥ ६। ३५।' इनसे पाया जाता है कि रावण उस दिन वहाँ था। आपाततः देखनेमें दोनों वाक्योंमें विरोध जान पड़ता है। पर वास्तवमें इनमें विरोध नहीं है। इन वाक्योंका समन्वय मन्दोदरीके 'भूपाला' शब्दसे हो जाता है। उस दिनके पूर्व रावण अपने रूपसे आया था, अतः सबने पहचाना था और आज वह 'भूपालों' के समाजमें मनुष्य राजाका शरीर धरकर आया जिससे कोई जाने नहीं। कविने यह बात पूर्व ही इसकी भावना लिखते समय कह दी है। यथा—'रहे असुर छल छोनिप बेषा। उन्हींमें रावण भी था। श्रीजनकमहाराजके 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥ २५१। ८।' इन वचनोंसे भी इस भावकी पुष्टि होती है।

सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा॥ ३॥

त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहि बिचारि बरै हठि तेही ॥ ४ ॥

अर्थ—त्रिपुरके नाश करनेवाले शिवजीके उसी कठोर धनुषको राजसमाजमें जो कोई भी आज तोड़े उसे ही तीनों लोकोंकी विजयसहित वैदेहीजी बिना किसी विचारके हठपूर्वक वरण करेंगी (ब्याहेंगी) [एवं 'त्रिभुवन-विजय-सहित वैदेहीको बिना विचारके हठपूर्वक (जनकजी) ब्याह देंगे—यह अर्थ पं० रामकुमारजीका है । अर्थात् यह जनकका प्रण है ।] ॥ ३-४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सोइ पुरारि कोदंड' । [इसके दो अर्थ हैं—'त्रिपुरका शत्रु (नाशक) धनुष' एवं 'त्रिपुरारि शिवजीका कोदंड' । 'सोइ' अर्थात् जिसे रावण और बाणासुरने छुआ भी नहीं और बातें बनाकर चले गये । इसीसे शिवजीने त्रिपुरको मारा था । २४४ (५) देखो] पुनः भाव कि त्रिपुरका नाश कठिन था वैसे ही यह धनुष कठिन है । (ख) 'राजसमाज' में तोड़नेका भाव कि सबके बीचमें तोड़नेसे उसकी जीत समस्त राजाओं तथा रावण और बाणासुरपर समझी जावेगी । यथा—'सीय स्वयंबर भूप अनेका । समिटे सुभट एक तें एका ॥ संभु सरासन काहु न टारा । हारे सकल बीर बरिआरा ॥ तीन लोक महँ जे भट मानी । सभ कै सकति संभु धनु भानी ॥ सकै उठाइ सरासुर मेरू । सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू ॥ जेहिं कौतुक सिवसैलु उठावा । सोउ तेहि सभा पराभउ पावा ॥ तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिअ महा महिपाल । भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल ॥ २९२ ।' दूतोंकी इस उक्तिसे यह भाव स्पष्ट है । (ग) 'आजु' का भाव कि आज प्रतिज्ञाका अन्तिम दिन है । सत्योपाख्यानमें लिखा है कि प्रतिज्ञा एक वर्षकी थी, उसमें आजहीका दिन रह गया है । (घ) 'जोइ' अर्थात् जाति-पाँति आदिका विचार नहीं, गरीब-अमीर इत्यादि कोई विचार न होगा, यथा—'घोर कठोर पुरारि सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु । जो दसकंठ दियो बावों जेहि हरगिरि कियो मनाकु ॥ २ ॥ भूमिपाल भ्राजत न चलत सो ज्यों बिरंचि को आँकु । धनु तोरै सोइ बरै जानकी राव होइ कि राँकु ॥ गी० ८७ ॥'

२ 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही ।—' इति । (क) तीनों लोकोंके सुभट यहाँ एकत्रित हैं इसीसे जो तोड़ेगा उसकी तीनों लोकोंपर विजय समझी जायगी, अतः 'त्रिभुवन जय समेत' कहा । ('जय' कहकर तब 'वैदेही' कहा; क्योंकि क्षत्रियों राजाओंको जय अत्यन्त प्रिय होती है । यहाँ 'सहोक्ति अलंकार' है ।) । (ख) 'बिनहि बिचारि बरै' कहनेका भाव कि कन्याका विवाह बहुत विचारकर किया जाता है; यथा—'जौं घर बरु कुलु होइ अनूपा । करिय बिबाहु सुता अनुरूपा ॥ ७१ । ३ ॥' (विशेष वहीं देखिये) । सो कुछ विचार न करेंगे कि वर कन्याके अनुरूप है या नहीं, कुल और घर उत्तम है या नहीं, इत्यादि कोई विचार न करेंगे । (ग) श्रीजनकमहाराजके वचनोंमें जो तीन बातोंकी प्राप्ति तोड़नेवालेको कही गयी है, वे ही तीनों बातें भाटोंके वचनोंमें हैं—'राजुसमाजु आजु जोइ तोरा ।' से विजय, 'त्रिभुवन जय' से कीर्ति और 'बैदेही' से सुन्दर जानकीजीकी प्राप्ति कही । यही तीनों जनकजीके 'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय' इन वचनोंमें हैं । धनुष तोड़नेमें भारी लाभ दिखाया—'कहहु काहि यह लाभु न भावा ।'''' । ☞ राजाने अपनी कन्याको मनोहर कहा सो यथार्थ है । पर बंदीजन स्वामीकी कन्याकी सुन्दरता न कह सके; क्योंकि मनोहर कहनेमें संकोच हुआ, इसीसे उनके वचनको 'बर' विशेषण दिया गया । पुनः ☞ राजाने तीनों लाभोंकी बड़ाई की—'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय', पर बंदीगणने इनमेंसे किसीकी सुन्दरता न कही । जब संकोचवश कन्याकी सुन्दरता न कह सके तब विजय और कीर्तिकी ही बड़ाई क्या करें ? (घ) 'हठि' का भाव कि धनुष टूटनेपर सुन्दरता, कुल, विद्या, धन, अवस्था आदि कुछ भी न देखे जायँगे । [पुनः भाव कि 'दिग्विजय ही बड़े परिश्रमसे साध्य है, सो त्रिभुवनविजय बिना रक्तपातके मिलेगा और जानकी भी मिलेगी ।' (वि० त्रि०)] ।

श्रीराजारामशरणजी—१ (क) घोषणाके शब्दगुणको विचार कीजिये । ऐसे अक्षर और ऐसे शब्द हैं कि रुक-रुककर ही पढ़े जा सकते हैं । कितना ओजगुण है ! हम मामूली डुग्गीमें सुनते हैं—'खलक खुदा का मुल्क बादशाहका, हुक्म'''साहबका', तो फिर यह तो विशेष अवसरकी राजघोषणा है ! (ख) यहाँके इस 'बिनहि बिचार' और 'हठि' में, और जनतावाले इन्हीं शब्दोंके अन्तरपर विचारनेसे नाटकीय कलाके विरोधाभासका आनन्द मिलेगा । यहाँ आशय यह है कि प्रणके पूर्ण होनेपर फिर कोई 'मीन-मेष' न की जायगी और दृढ़तापूर्वक विवाह हो जायगा; परंतु 'हठि' के दुभागीपनमें मजा यह भी आ जाता है कि संकेतसे बंदीगणोंने कुछ जनताके विचारोंसे सहानुभूति रखनेके कारण, प्रशंसा ऐसी की जो अप्रशंसाहीकी ओर झुकी है ।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'त्रिभुवन जय' में जनकका कौन अधिकार है ? कैसे जाना कि त्रिभुवनमें जय-जयकार होगा ? उत्तर यह है कि जब शिवजी यह धनुष दे गये तब यह भी कह गये कि इसका पूजन करो, इसके तोड़नेवालेका त्रिभुवनमें जय-जयकार होगा। जनकजी समझ गये कि त्रिभुवन-विजयी तो परमेश्वर ही हैं, दूसरा नहीं। अतः यह प्रतिज्ञा की जिसमें वे दीनदयाल आकर इस बहाने हमें दर्शन दें। और यह जो प्रतिज्ञा है कि 'बिनहिं बिचार बरै हठि तेही', यह देखनेमें लोकविरुद्ध है, यह केवल लोक-प्रलोभनार्थ एवं सब वीरमानी भटोंके मानमर्दनार्थ उत्प्रेरकने उनसे कहलवाया, जिसमें वे सब तोड़ने उठें, पीछे यह न कहें कि हमें तो उठानेका अवसर ही न मिला।

प० प० प्र०—'त्रिभुवन जय…' इति। जनकजी जानते हैं कि विष्णु, शिव, ब्रह्मा और इन्द्र भी रावणको मार नहीं सकते। यह बात विश्वविदित है, क्योंकि 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्ती नरनारी॥', 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र॥ १। १८२॥' अतः त्रिभुवन-जय ही क्यों, विश्वविजयसमेत कहते तो भी कुछ दोष न था। परशुरामने भी रावणका विनाश नहीं किया। वे यह तो जानते थे कि रावण विप्रद्रोही एवं धर्मद्रोही है। ऐसा विश्वबलिष्ठ रावण भी जिस कोदण्डको न तोड़ सका उसको जो तोड़ेगा वह विश्वविजयी ही होगा। अतः शंकाके लिये स्थान ही नहीं है और शिवजीने जनकजीसे क्या कहा था यह विचार भी अनावश्यक है।

नोट—हनुमन्नाटक अङ्क १ में जनकमहाराजने स्वयं अपनी प्रतिज्ञा सुनायी है जो बंदीगणके द्वारा यहाँ कही गयी है। यथा—'शृणुत जनककल्पाः क्षत्रियाः शुल्कमेते दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः। नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्जानकी तस्य दाराः॥ १८॥' अर्थात् हे जनकके समान राजा लोगो! तुम सब मेरी प्रतिज्ञा सुनो कि जिस धनुषमें रावणकी भुजाओंकी शक्ति कुण्ठित हो गयी उस शिवधनुषको जो कोई चढ़ावेगा उसीकी त्रिलोकीके विजयकी शोभा यह जानकी स्त्री होगी। पर यहाँके 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही॥' के गौरवको विचारिये।

सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे॥ ५॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिर नाई॥ ६॥

अर्थ—प्रण सुनकर सभी राजा लालायित हुए (प्राप्तिके अभिलाषी हुए, ललचाये) और मानी भट मनमें अत्यन्त 'माषे'॥ ५॥ कमरमें फेंटा बाँधकर अकुलाकर उठ खड़े हुए। अपने-अपने इष्टदेवोंको प्रणाम करके चले॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।' यहाँतक प्रणका कथन है। बंदियोंने कहा था कि 'सुनहु सकल महिपाल! पन बिदेह कर' इसीसे सबका प्रणको सुनना और सभीका लालायित होना यहाँ कहा। 'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राज समाज आजु जोइ तोरा॥ त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही॥' यह प्रण सुनकर सबको लालसा हुई (क्योंकि आये तो थे श्रीजानकीजीके लिये ही और प्राप्त होगी त्रिभुवनजयलक्ष्मी भी। वि० त्रि०)। और 'नृप भुजबल बिधु सिवधनु राहू' यह सुनकर सबको अमर्ष हुआ क्योंकि यह बात ही 'माष' की है। (ख) 'भट मानी'=जिनका योद्धाओंमें मान है। 'अतिसय मन माषे' का भाव कि माखे तो सभी भट पर जो मानी भट थे वे अत्यन्त माखे। ['माष' शब्द अमर्षसे बना हुआ मालूम होता है। मर्ष=सहनशीलता। अमर्ष=असहनशीलता, अधीरता। और इसीलिये रोष और क्रोध भी (जो असहनशीलता और अधीरतासे हो जाता है) अर्थ लिया जा सकता है। माषनेमें यही 'न सह सकनेका' भाव है। पं० रामकुमारजी इसका अर्थ 'बुरा मानना' लिखते हैं। पोद्दारजी 'तमतमाये' अर्थ करते हैं और कोशमें 'अप्रसन्न होना, क्रोध करना' अर्थ है। हमारी समझमें यहाँ बलका गर्व होनेसे दूसरेके प्रतिकूल वचन न सह सकनेका भाव है। भटमानी किंचित् न सह सके।] माषे कि यह कौन-सा बड़ा काम है जिसके लिये बंदीजनने ऐसे कड़े शब्द कहे। (ग) 'रावण-बाणासुरने धनुष न छुआ यह सुनकर राजा डरे नहीं, वरंच अतिशय मनमें बुरा माने, कारण कि (ये भी) रावण-बाणासुरके समान हैं, यथा—'बान बलवान जातुधानप सरीखे सूर जिनके गुमान सदा सालिम संग्राम को। क० १। ९।'

२ 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।' इति। (क)—परिकर=कटिबन्धन, कमरमें बाँधनेका पटुका। कमर कस लेनेसे कमरमें जोर रहता है। 'अकुलाई' इति। भाव कि 'त्रिभुवन बिजय समेत बैदेही' की प्राप्ति बड़ा भारी लाभ है, अतः अकुलाकर घबड़ाकर उठे कि हम ही सबसे पहले धनुष तोड़कर यह लाभ प्राप्त कर लें, हमसे पहले कोई और न तोड़ने पावे। [यहाँ व्याकुलताकी दशा दिखाते हैं। 'फेंटा बाँधना प्रथम कहा तब उठना' इस तरह शब्दोंकी योजनासे आकुलता

दिखा दी कि वचन सुनतेके साथ ही बैठे-ही-बैठे कमरमें फेंटा कसने लगे जिसमें वचन समाप्त होते ही प्रथम ही जाकर उठा लें। पुनः भाव कि बड़े-छोटे आगे-पीछे इत्यादिका विचार उन्हें न रह गया, सभी एकबारगी उठ खड़े हुए कि किसी तरह सीताजी हमको ही मिल जायँ—यहाँ 'लक्षणामूलक व्यंग' है।]

(ख) 'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई' इति। इष्टदेवोंको प्रणाम करके चले तब भी धनुष क्यों न टूटा; कारण कि उमा, महेश, गणेशादि सभी देवताओंके इष्ट श्रीसीतारामजी हैं। (सभी श्रीरामनाम जपते हैं। यथा—'उमा सहित जेहि जपत पुरारी', 'जपति सदा पिय संग भवानी।', 'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥' इत्यादि। नाम इष्टका जपा जाता है।)। श्रीजानकीजी समस्त देवताओंकी माता हैं, इष्ट हैं। जब ये राजा माताको ही चाहने लगे तब सब देवता अप्रसन्न हो गये। ['जो उनमें बल था वह भी उन्होंने खींच लिया क्योंकि उन्होंने देख लिया कि ये ऐसे मूर्ख हैं कि हमारे ही इष्टकी पत्नीरूपमें वरण करनेके विचारसे धनुष तोड़ने जाते हैं, इनके इस कार्यसे हम भी दोषके भागी होंगे।' (रा० कु०)। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'धनुष शिवजीका है, उसके तोड़नेका इन्होंने उद्योग किया और साक्षात् ब्रह्मको छोड़ सामान्य देवताओंको मनाकर चले हैं कि जय प्राप्त हो, जैसे कोई सागरको तैरना चाहे और मूर्खतावश तालाबकी पूजा करे तो सफलता कैसे हो सकती है?' और वीरकविजी कहते हैं कि यहाँ श्लेषद्वारा यह अर्थ निकलता है कि उनके चलनेपर इष्टदेवोंने अपना सिर नीचा कर लिया, वे समझ गये कि आज इसने मेरी मर्यादाको धूलमें मिला दिया। यह 'विवृतोक्ति अलंकार है'।]।

☞ मिलान कीजिये—'सुनि आगरषि उठे अवनीपति लगे बचन जनु तीर। टरै न चाप करें अपनी सी महा-महाबलधीर। ४। नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भए सरीर। गी०। ८७।'

तमकि ताकि*तकि सिवधनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बलु करहीं॥ ७॥
जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—तमकि=तावमें आकर, क्रोध करके, यथा—'सो सुनि तमकि उठी कैकेई'।=बड़े तावसे।

अर्थ—वे तमककर शिवजीके धनुषको ताक-ताककर पकड़ते हैं, करोड़ों प्रकारसे जोर लगाते हैं पर वह नहीं उठता॥ ७॥ जिन राजाओंके मनमें कुछ भी विवेक है वे धनुषके पास नहीं जाते॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'ताकि तकि' इति। छन्दोभंगके भयसे 'ताकि' को 'तकि' लिखा, यथा—'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभंगं न कारयेत्'। ताक-ताककर कि कहाँपर पकड़नेसे उठेगा। तमककर पकड़ते हैं क्योंकि क्रोधसे शरीरमें अधिक बल आता है, क्रोधका ताव उतर जानेपर शरीरमें सुस्ती आती है। अथवा 'तकि तकि' को छन्दके कारण 'ताकि तकि' किया। यथा 'तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा। १५७। ३।', 'रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी॥' 'तमकि' का भाव कि पहले 'माष' हुआ, 'माष' के पीछे क्रोध हुआ। यथा—'माषे लषन कुटिल भै भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें। २५२। ८।'

नोट—१ जो लोग 'ताकि' और 'तकि' को पृथक्-पृथक् अर्थके शब्द मानते हैं वे यों अर्थ करते हैं—'तावमें आकर वा क्रोधपूर्वक शिवजीके धनुषको ताककर फिर (उसके उठानेकी गँवघात) तककर (कि अमुक ठौरसे इस भाँति पकड़नेसे ठीक होगा) उस स्थानपर दृष्टि जमाकर उसे पकड़ते हैं। इस तरह 'ताकि=सीध बाँधकर। 'तकि'=उठानेकी घात ताकभालकर वा निगाह जमाकर डटाकर। अथवा, 'ताकना' किसी वस्तुको अच्छी तरह सोच-विचारकर वा दृष्टि जमाकर मनमें स्थिर वा तजवीज कर लेनेको कहते हैं और 'तकना' देखना या निहारना है।

२ 'उठइ न कोटि भाँति·····' इति। अर्थात् पहले धनुषका एक कोना पकड़कर उठाया, एक हाथ लगाया। न उठा तब दोनों हाथ लगाये। फिर भी न उठा तब पृथ्वीपर पैर गड़ाकर बल किया। इत्यादि। वीरकविजीके मतानुसार यहाँ 'विशेषोक्ति अलंकार' है।

नोट—३ (क) श्रीलमगोड़ाजी बाकी धनुषयज्ञके दृश्यके सम्बन्धमें अपने 'वि० मा० हास्यरस' नामक पुस्तकमें पृष्ठ ४१ पर लिखते हैं कि—सारा दृश्य वीर, शृङ्गार, हास्य और करुणा-रसोंके विशेष सम्मिश्रणसे इतना सुन्दर बन गया है कि

---

* ताकि तकि—प्रायः सबमें है। ताकि तकि—१६६१। तमकि तकि—१७०४ (शं० ना०। पर रा० प्र० में 'ताकि तकि' ही पाठ है), को० रा०। ताकि तक=लक्ष्य बाँधकर। (वि० त्रि०)।

मुझे तो ऐसा शब्द अंग्रेजी, फारसी, उर्दू, हिन्दी– इन चार साहित्योंमें नहीं मिला।' (ख) इन प्रगतियोंकी सगर्भता (सगर्भता) को विचारियेगा, फिर निष्फलताके कारण ये प्रगतियाँ कितनी हास्यप्रद हैं। मुँहसे निकल जाता है–'छैना छनक के'। (ग) फिलमकलाका कितना सुन्दर नमूना है!

टिप्पणी—२ (क) प्रथम जो कहा था कि 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे' अब उसीको सँभालते हैं कि 'जिन्ह के कछु बिचार·····'। अर्थात् जिनमें कुछ विवेक है वे श्रीराम-जानकीको माता-पिता समझते हैं, यथा—'सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता·····', वे धनुषके समीप भी जानेमें दोष समझते हैं, ऐसे भाववाले लोग समीप भी नहीं जाते। (ख) 'कछु बिचार' कहकर जनाया कि जो राजा तोड़ने गये वे बिल्कुल विचारहीन थे, मूढ़ थे जैसा आगे कहते हैं—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप'। पुनः 'कछु' का भाव कि यह बात थोड़े ही विचारसे समझमें आ जाती है कि श्रीराम जानकीजी जगत्‌के माता-पिता हैं। [पूर्व तीन प्रकारके राजा राजसमाजमें कह आये हैं—राजसी, तामसी और सात्त्विकी। जब यह कहा कि 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे' तब 'सकल' में सात्त्विक अर्थात् साधु हरिभक्त राजा भी आ गये। इसीसे यहाँ उसका निराकरण कर दिया। 'जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं' से जनाया कि जो सात्त्विकी राजा हैं, साधु भूप हैं, वे भावुक हैं, उनकी भावना पक्की है, पूर्ण विचारवाले हैं, वे भला चाप-समीप कब जाने लगे? जब कि जिनके 'कछु' किञ्चित् भी विचार है वे ही चापके समीप नहीं गये। राजसीमें कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे जिन्हें अपने तेज-यशप्रतापादिके गँवा जानेका विचार हुआ, इससे वे भी समीप न गये, अभिलाषा जरूर हुई, यह भी 'कछु बिचार' वालोंमें आ सकते हैं। इन्होंने सोचा कि रावण-बाणासुरसे नहीं टसका तब हमसे कैसे उठेगा। (प्र० सं०)। कोई राजा रावण-बाणासुरके समान बलवान् भी नहीं है। अतः यह जानकर कि रावण-बाणासुर भी धनुर्भङ्गका दुःसाहस न कर सके। कोई राजा उसका साहस करता है तो वह मूढ़ है ही। (प० प० प्र०)]।

नोट—४ 'कछु बिचार' के और भाव हैं—१ 'उठनेसे पराक्रमहीन कहावेंगे, शिवजीका यह धनुष है। इसके तोड़नेमें भलाई नहीं क्योंकि शिवजी कोप करेंगे। श्रीसीताजी अयोनिजा हैं। इनको माता समझना चाहिये। इनके लिये वर भी वैसे ही चाहिये।' (रा० प्र०)। २—'दूसरोंका बल-पौरुष देखकर समझते हैं कि हमसे न उठेगा। पुनः श्रीरामजीका प्रभाव जानते हैं, इससे भी न उठे'—(पंजाबीजी)। ३—'जिन्ह के कछु' अर्थात् जिनके हृदयपर सात्त्विक राजाओंके उपदेशका कुछ भी प्रभाव पड़ा है, वे भी नहीं जाते और विचारवानोंकी तो बात ही क्या? ४—'कुछ लोगोंका मत है कि 'कछु बिचार' शब्द सात्त्विक विचारका अर्थ देता है; क्योंकि सत्त्व-रज-तममेंसे सबसे अधिक स्थूल रूप तमका है। फिर उससे सूक्ष्म रजका, फिर उससे सूक्ष्म सत्त्वका। अतः 'कुछ विचार' का अर्थ हुआ—'अति सूक्ष्म सतोगुणमय विचार अर्थात् जो इस बातको सत्यतापूर्वक जानते हैं कि जानकीजी जगन्माता हैं वे निकट नहीं जाते, तमोगुणवाले तो इसे जानते ही नहीं और रजोगुणवाले इसे समझ नहीं सकते' (लाला भगवानदीन)।

दो०—तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठे* न चलहिं लजाइ।
मनहु पाइ भट बाहुबलु अधिकु अधिकु गरुआइ॥ २५०॥

अर्थ—(विचारहीन) मूर्ख राजा धनुषको क्रोधपूर्वक बड़े तावसे पकड़ते हैं और न उठनेपर लजाकर चल देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह धनुष योद्धाओंके भुजाओंका बल पा-पाकर अधिक-से-अधिक भारी होता जाता है॥२५०॥

टिप्पणी—१ (क) 'तमकि ताकि तकि शिवधनु धरहीं' पर प्रसङ्ग छोड़ा था, वहींसे फिर उठाते हैं। अथवा, भारी वस्तुके उठानेकी रीति यहाँ दिखायी कि प्रथम उठाने लगे, जब न उठा तब श्रम निवारण करने लगते हैं, थकावट दूरकर फिर उठाते हैं, यथा 'झपटहिं करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहिं सिर नाई॥ पुनि उठि झपटहिं सुर आराती। टरइ न कीस चरन एहि भाँती॥ ६। ३३॥' इसी तरह यहाँ भी प्रथम उठाने लगे, न टला तब सुस्ताकर फिर उठाने लगे–यह भाव दरसानेके लिये दो बार तमककर उठाना लिखा, एक बार ऊपर चौपाईमें, दूसरी बार यहाँ। जब दूसरी बार भी न उठा तब लजाकर चले गये। पहली बार न उठनेपर आशा बनी रही कि सुस्ताकर उठा लेंगे, दूसरी बार न उठनेपर हताश हो गये। (ख) धनुषकी कठोरताको नहीं समझते इससे 'मूढ़' कहा। अथवा विचारहीन होनेसे, श्रीरामजानकीजी-

* उठे–१७०४, १७२१, १७६२। उठइ–छ०, को० रा०। उठे–१६६१।

का स्वरूप न जानेसे 'मूढ़' कहा। (जो सरल बात न समझ सके उसे मूढ़ कहते हैं, यथा—'माया बिवस भये मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरिगिरा निगूढ़ा॥')। (ग) प्रथम सबका उठाना, सबका चलना और सबका धर पकड़ना कहा। यथा—'परिकर बाँधि उठे अकुलाई' 'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई' 'तमकि ताकि तकि…।' इससे पाया गया कि सब राजा एक साथ ही धनुषको जा पकड़े। जब यह कहा कि 'मनहु पाइ भट बाहु बल …' तब यह समझ पड़ा कि सब राजा एक-एक करके पृथक्-पृथक् धनुषको पकड़ते हैं, एक सङ्ग नहीं।

(शंका)—'अधिक अधिक गरुआना' तब निश्चय समझा जावे जब एकके उठानेसे धनुष कुछ उठे, दूसरेसे न उठे, तीसरेसे न डगे, चौथेसे न डगे। जब एक सदृश सबसे टससे मस नहीं होता, हिलाये न हिला, तब अधिक-अधिक गरुआना कैसे समझा जाय ?' (समाधान)—भटोंका बाहुबल पाकर उसमें गुरुता इस तरह आयी कि जब एक राजासे न उठा तब जाना गया कि धनुष भारी है कि ऐसे भटसे न उठा। इसी तरह जब दूसरेसे न उठा तब मालूम हुआ कि बहुत भारी है। इनसे भी न उठा इत्यादि। प्रत्येक बार अधिक भारी समझ पड़ता गया। ☞ वस्तुतः धनुष राजाओंका बल पाकर अधिक-से-अधिक भारी नहीं हुआ, वह तो स्वतः भारी है। जैसा भारी पहले था वैसा ही अब भी है। यह केवल उत्प्रेक्षा है। (मानो जब एक राजा हार गया तो समझा गया कि इसका बल उसने खींच लिया, वह राजा अब बलहीन हो गया। इसी तरह जिस-जिसने छुआ वह अपना बल गँवा बैठा, वह बल मानो धनुषने खींच लिया। यहाँ 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है।)।

नोट—१ 'अधिक अधिक गरुआई' इति। भाव यह है कि जब एकके उठाये न उठा तब धनुषकी बड़ाई हुई कि वाह ऐसे भटसे भी न उठा। इसी प्रकार जैसे-जैसे भट हारते गये उसकी बड़ाई अधिक होती गयी। (प्र० सं०)। अथवा, धनुष दिव्य है, उसमें बल हरने और अधिक भारी होनेकी भी शक्ति है।

२—जानकीमंगलमें राजाओंके उठानेका प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है—'उठे भूप आमरषि सगुन नहिं पायउ॥ ५४॥ नहिं सगुन पायेउ रहे मिसु करि, एक धनु देखन गए। टकटोरि कपि ज्यों नारियरु सिर नाइ सब बैठत भए॥ इक करहिं दाप न चाप सज्जन बचन जिमि टारे टरै। नृप नहुष ज्यों सबके बिलोकत बुद्धिबल बरबस हरै॥ ५५॥'

कवितावलीमें भी कहा है—'जनकसदसि जेते भले भले भूमिपाल किए बलहीन बल आपनो बढ़ायो है। १। १०।'

भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरै न टारा॥ १॥

अर्थ—दस हजार राजा एक ही बार उठाने लग गये तो भी टाले न टला (टस-से-मस न हुआ)॥ १॥

नोट—१ सत्योपाख्यानमें लिखा है कि जब किसीसे धनुष न उठा तब सबने सलाह की कि जनकजीकी प्रतिज्ञा कैसे पूरी की जाय। यह विचारकर यह निश्चित किया गया कि सब मिलकर तोड़ें, फिर आपसमें संग्राम करें, जो सबको जीते वह जानकीजीको ब्याहे। गोस्वामीजीने यह सब वृत्तान्त न लिखकर केवल सब राजाओंका एक साथ एक ही समय धनुष उठाना लिख दिया। प्रथम एक-एक वीरने अलग-अलग उठाया। जब किसीसे न उठा तब सब एक साथ जुट गये। २—दस हजार राजाओंके एक साथ उठानेका भाव कि बंदीजनोंसे सुन चुके हैं कि रावण और बाणासुर 'देखि सरासन गवहिं सिधारे'। रावण और बाणासुरके हजार-हजार वीरोंका बल था, हम सब दस हजार राजा हैं, हमारे सबके मिल जानेसे दस हजार वीरोंका बल हो जाता है, रावण और बाणासुरसे दसगुणा बल हो जायगा तब तो उठ जायगा, अतः दसों हजार एक साथ उठाने लगे।—(पं० रामकुमारजी)। ३—ऐसा भी कहते हैं कि 'तमकि धरहिं धनु…' में दैत्य और यहाँ मनुष्य राजाओंको कहा है।

४ अब यह शंका होती है कि 'धनुषमें दस हजार राजा एक ही बार कैसे लगे ?' समाधान यह है कि—(क) यहाँ श्रीरामजीकी बड़ाई होनी है कि जो दस हजारसे भी टसकाये न टसका उसे अकेले श्रीरामचन्द्रजीने तोड़ डाला। उन्हींकी इच्छासे धनुष बढ़ गया। जैसे जब सब कपि मेघनादसे हार गये तब लक्ष्मणजीने उसे मारा तो उनकी बड़ाई हुई कि जो किसीसे न मारा जा सका उसे लक्ष्मणजीने मारा। पुनः, (ख) इस धनुषमें घटने-बढ़ने, हलका-भारी होने, अनेक रूप धारण कर लेने इत्यादिकी विलक्षण शक्ति थी, जैसा पूर्व लिखा जा चुका है कि वह किसीको सिंह, किसीको शंकर इत्यादि देख पड़ा था और 'अधिक अधिक गरुआइ'। यह धनुष दिव्य था। गीतावलीमें धनुषका रामजीको देखकर सिकुड़कर हलका होना कहा गया है, यथा—'दाहिनो दियो पिनाकु सहमि भयो मनाकु महाब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है। गी० १। ९०।' अर्थात्

जैसे सूर्यको देखकर महातम व्याकुल हो सिकुड़ जाता है वैसे ही धनुष रामजीको देखकर सहमकर कुछ भी न रह गया। इस धनुषका प्रभाव सत्योपाख्यानसे विदित है। (पं० रामकुमारजी, सन्त श्रीगुरुसहायलालजी)। (ग) 'कई-कई मानी भट मिलकर जब खिसका भी न सके तो सलाह हुई कि बहुत-से मिलकर घसीटो। फिर भी जब धनुष न उठा, तो दस हजार राजाओंने मिलकर उत्तोलदण्डमें जंजीर बाँधकर सबने मिलकर खींचा कि उठ जाय पर न उठा। 'लगे उठावन' से तात्पर्य यह है कि उठानेमें दस हजार लगे थे। उत्तोलनदण्डमें सैकड़ों जंजीरें बँध सकती थीं और प्रत्येक जंजीरके खींचनेमें सैकड़ों भट लग सकते थे।'—(गौड़जी)। (घ) 'नाटकीय कलामें गौड़जीकी युक्तिवाला अर्थ ठीक है और महाकाव्यकलामें दिव्य धनुषका असीम हो जाना और दस हजार राजाओंका लग जाना भी असम्भव नहीं। फिर हास्यरसकी भी बात विचारणीय है। मसल मशहूर है कि नौ सौ आदमी लगे और एक मूली न उखड़ी (यह वाद-विवाद और गुत्थमगुत्था मची कि मूली ज्यों-की-त्यों रही, उखड़े कहाँसे ?) कविका कमाल यह है कि सब ही निभ जाता है।'—(लमगोड़ाजी)

नोट—१ बहुत-से टीकाकारोंने 'सहस दस एकहि बारा' का अर्थ ही इस शंकाके डरसे तोड़-मड़ोरकर किया है। जैसे कि—(क) 'एकहि बारा' (=एक ही दिनमें) दस हजारने उठाया। (ख) 'एकहि बारा' अर्थात् एक श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर अन्य दस हजार राजाओंने उस दिन अपना पुरुषार्थ जनाया। (ग) 'सहस'=सहस्र-भुजवाले सहस्रबाहु राजाने और 'दस'=दशशीश रावणने। दोनोंने मिलकर एक ही बार उठाया। (घ) दस-दस बीस-बीस या ऐसे ही कमोबेश लोग एक साथ एक-एक बार लगे। इस तरह दिनभरमें दस हजार लगे, नहीं तो एक-एक करके दस हजार दिनभरमें कैसे पूरे हो सकते थे ? इत्यादि। पर ये सब असङ्गत और क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।

वि० त्रि०—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप' जो कहा था, उसी मूढ़ताका अब उदाहरण देते हैं। पहिले 'अंध अभिमानी' कह आये हैं, इनका ज्ञान तामस है। जो तत्त्वार्थवाला नहीं है तथा अल्प है, ऐसे एक ही कार्यको सब कुछ मानकर निष्कारण उसमें लग जाता है, उसे तामस ज्ञान कहते हैं। यथा—'यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥' धनुषके उठनेको ही सब कुछ समझ लिया, यह नहीं समझ रहे हैं कि इस भाँति उठ भी जावेगा तो क्या फल होगा। ऐसे उठानेमें तत्त्वार्थ कुछ नहीं, व्यर्थ है फिर भी दस हजार एक साथ ही उठाने लग गये।

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं—जो लोग यह तर्क करते हैं कि यदि टूट जाता तो विवाह किससे होता ? इसके समाधानके लिये 'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप' में 'मूढ़' शब्द है। मूढ़को विचार कहाँ ? और जो सहस्रसे सहस्रबाहु और दससे दसशीशका अर्थ निकालते हैं वह इसलिये अयोग्य है कि 'लगे उठावन' वर्तमानकालिक क्रिया है और इन दोनोंके लिये बन्दीजन कह चुके हैं कि 'देखि सरासन गवहि सिधारे।' यदि कहा जाय कि उस दिन भी पुनः आ गये होंगे तो पीछे अवध जानेवाले जनकदूतोंका 'रावन-बान छुआ नहिं चापा' यह वचन असत्य हो जाता है। साथ ही यह जो शंका की जाती है कि दस हजार राजाओंको हाथ रखनेकी जगह कहाँ मिलती थी ? इसका समाधान 'मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिकु अधिकु गरुआइ' से हो रहा है। दिव्य तो था ही उसका घट जाना, बढ़ जाना इत्यादि कई जगह और प्रमाणमें भी दिया गया है।'

डगै न संभु-सरासनु कैसें। कामी बचनु सती मनु जैसें॥ २॥

अर्थ—शिवजीका धनुष किस प्रकार नहीं टसकता, हिलता-डोलता, जैसे कामी पुरुषके वचनोंसे पतिव्रता स्त्रीका मन (कदापि चलायमान नहीं होता)॥ २॥

टिप्पणी—१ सतीके मनका दृष्टान्त इस अभिप्रायसे दिया गया है कि जैसे सतीका मन अचल है वैसे ही धनुष अचल है। सतीके मनको चलायमान करनेके लिये कामी बड़ा जोर लगाते हैं। साम-दाम-भय-भेद अनेक प्रयत्न काममें लाते हैं। वैसे ही दस हजार राजाओंने धनुष उठानेमें बहुत जोर किया (लगाया)। सतीके नजदीक (समीप) जैसे कामीका एक वचन है, वैसे ही हजार वचन हैं। इसी प्रकार धनुष उठानेमें जैसे एक वीर वैसे ही दश हजार वीर हैं। न एकसे डोला न दस हजारसे। ☞ यहाँतक तीन बातें कहीं—उठाना, टालना, डगाना। यथा—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै न चलहिं लजाइ' 'लगे उठावन टरै न टारा' और 'डगै न……।' भाव कि उठाने लगे पर न उठा, तो कुछ टला ही होगा, उसपर कहते हैं कि टारे भी न टला, टला न सही तो हिला तो होगा, उसपर कहते हैं कि 'डगै न'।—इस दृष्टान्तसे धनुषका किंचित् न

डोलना बहुत अच्छी तरह दिखाया है। कामी लोग सतीका मन चलायमान कर देनेके लिये बहुत वचन कहते हैं, यथा—'बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेद दिखावा॥ कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥' 'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ॥'

नोट—१ नंगे परमहंसजी कहते हैं कि 'सती स्त्रीकी वृत्ति अपने पतिमें ही रहती है। उसी तरह दस हजार राजाओंसे धनुष नहीं उठा, क्योंकि सती स्त्रीकी तरह देव-धनुष होनेसे उसमें भी सत्त धर्म था अतः कामी राजाओंसे न डगा। सत्त पुरुष श्रीरामजी हैं। जैसे सतीका मन अपने ही पतिसे राजी होता है उसी तरह धनुष श्रीरामजीसे राजी होकर टूटेगा। प्रमाण गीतावली—'जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहिं बिषाद बढ़ायो। सोइ प्रभुकर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो। गी० १। ९१॥' मिलान कीजिये 'पारबती मन सरिस अचल धनु चालक। हहिं पुरारि तेउ एक नारिब्रत पालक। जा० मं० ५८॥'

२ देखिये, साधु राजाओंका उपदेश इन्होंने न माना और जगज्जननीमें विषयवासना रखकर व्यर्थ परिश्रम इन्होंने किया, इसीसे यहाँ इनको कामीकी उपमा दी गयी। यहाँ उदाहरण अलंकार है।

वि० त्रि०—दस सहस्र कामियोंके वचनसे नाममात्रके लिये भी सतीका मन चलायमान नहीं होता। कामी अन्धे होते हैं। कामान्धोंको ज्ञान नहीं कि इतने आदमियोंके साथ बोलनेसे तो अभीष्ट सिद्धि और भी दूर चली जा रही है। इसी तरह इतने राजाओंके एक साथ लग जानेसे इसी बातकी सिद्धि होती चली जा रही है कि धनुषका उठाना इन राजाओंकी शक्तिके बाहरकी बात है।

लमगोड़ाजी—एक अंग्रेजी आलोचकने कविवर टेनिसनके उस पदकी बड़ी प्रशंसा की है जिसमें उन्होंने भौतिक दृश्यकी उपमा आत्मिक तथा नैतिक क्षेत्रसे देते हुए कहा है कि 'फौवारेका पानी ऊपर जाकर इस प्रकार बिखर जाता है जैसे लक्ष्यहीन (Aimless) मनुष्यके उपयोग।' उन्होंने कहा है कि इससे प्रतीत होता है कि आत्मिक जगत् तथा नैतिक संसारसे टेनिसनका बड़ा परिचय था मानो उनसे पहले ऐसी उपमाओंका प्रयोग नहींके बराबर है, वहाँ तो नैतिक तथा आत्मिक विषयोंके समझानेके लिये भौतिक उपमाओंका प्रयोग ही होता रहा है। बात ठीक है। हमें इतना कहना है कि तुलसीदासकी रचनाओंमें, विशेषतः मानसमें, इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। जब पहिले-पहल रेवरेंड डरन्टसाहबने, जो सेन्टजान्स कालेजमें आचार्य थे और पीछे लाहौरके लार्ड बिशप हुए, मुझे ऊपरवाली बात एम० ए० क्लासमें बतायी और मैंने प्रत्युत्तरमें तुलसीदासजीके 'वर्षाऋतु' वाले पद सुनाये तो वे तुलसीदासजीकी कलापर मुग्ध हो गये थे।—'डगै न संभु सरासन कैसे।...' इसीका उदाहरण है।

☞ 'प्रसन्नराघवनाटक' में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—'नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः। कामातुरस्य वचसामिव सन्निधानैरभ्यर्थितः प्रकृतिचारुमनः सतीनाम्॥ १। ५६॥'

सब नृप भये जोगु उपहासी। जैसे बिनु बिरागु संन्यासी॥ ३॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥ ४॥

अर्थ—सब राजा उपहासके योग्य हो गये जैसे बिना वैराग्यका संन्यासी (उपहास योग्य होता है)॥ ३॥ धनुषके हाथों वे अपनी भारी कीर्ति, भारी विजय और भारी वीरता बरबस (जबरदस्ती) हारकर चले गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब नृप' अर्थात् वे सब जो उसे पहिले या पीछे अबतक उठाने गये थे। (ख) 'भये जोगु उपहासी' इति। अर्थात् सभामें और सभी लोग उनके मुखपर उनकी हँसी उड़ाने लगे कि पुरुषार्थ न था तब क्यों उठाने गये थे, इसी बलबूतेपर उठाने गये, क्या खाकर उठाने गये, कहा न माना सो फल पाया न ? इत्यादि। (ग) 'जैसे बिनु बिरागु संन्यासी' इति। संन्यासीकी उपमा देकर राजाओंकी श्रेष्ठता दिखायी। जैसे संन्यासी श्रेष्ठ हैं वैसे ही ये राजा भी श्रेष्ठ हैं; देवताओंके सदृश हैं, यथा—'पवन पुरंदर कृसानु भानु धनदसे गुनके निधान रूप धाम सोम काम को। क० १। ९॥' वैराग्यसे संन्यासीकी बड़ाई है और वैराग्यहीन होना उनकी निन्दा है। यथा—'सोचिअ जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग। २। १७२॥' 'संन्यास' का अर्थ ही वैराग्य है। संन्यासी=सं (सम्पूर्ण प्रकारका) न्यास (त्याग) करनेवाला। इसीसे संन्यासीको विषयोंसे पूर्ण वैराग्य होना चाहिये नहीं तो यह नाम ही व्यर्थ है। [जैसे वैराग्य न होनेसे लोग

संन्यासीको हँसते हैं कि वैराग्य न था तो घर क्यों छोड़ा, परस्त्रीको ताकना था तो घर रहकर विवाह क्यों न किया, इत्यादि, वैसे ही धनुषके आगे बलहीन साबित होनेसे राजाओंकी हँसी हुई कि 'नपुंसक थे तो यहाँ वीरबाना धरकर घरसे आये ही क्यों थे' बल और विरागकी समता है, यथा—'जब उर बल बिराग अधिकाई। ७। १२२ ॥']। (घ) 'डगै न संभु सरासन कैसें।' कहकर 'सब नृप भये····' कहनेका भाव कि—धनुष सतीका मन है, राजा कामीके वचन-समान हैं। जब सतीका मन न डोला तब बिना विरागके संन्यासीकी तरह उपहासके योग्य हो गये। तात्पर्य कि जैसे वैराग्यहीन संन्यासी कामी होकर सतीका मन चलायमान करानेसे उपहास योग्य और नरकगामी वा नरकका भागी होता है वैसे ही सब राजा उपहास और नरकके योग्य हुए इति अभिप्रायः। (ङ) ☞ यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंके उदाहरण दिये। 'डगै न संभु सरासन कैसें। कामी बचन सती मन जैसें ॥' यह प्रवृत्तिमार्गका दृष्टान्त है और 'सब नृप भये····' यह निवृत्तिमार्गका है। [अङ्गदके पदरोपणपर भी ऐसे ही दो दृष्टान्त दिये हैं। क्योंकि दोनों स्थानोंपर एक ही-सी प्रतिज्ञा है।—'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी।····भूमि न छाँड़त कपिचरन देखत रिपुमद भाग। कोटि बिघ्न तें संत कर मन जिमि नीति न त्याग। लं० ३३ ॥' यहाँ उदाहरण अलंकार है। (प्र० सं०)]।

वि० त्रि०—वैराग्यरहित संन्यासी और संन्यासी बने हुए भाँड़में कोई भेद नहीं है। यथा—'मूड़ मुड़ायो बादि ही भाँड़ भयो तजि गेह।' भाँड़ उपहासीका पात्र है, वैसे ही वैराग्यरहित संन्यासी भी है। क्षत्रियकी श्रेष्ठता बलसे है, उसपर भी राजाके लिये कहा गया है कि अष्ट लोकपालोंका उनमें अंश रहता है। दससहस्र राजा लगे और धनुष न उठा, इससे तो यही सिद्ध हुआ कि इनमें ईशानका अंश है ही नहीं। ये भी राजा बने हुए भाँड़की भाँति उपहासके ही पात्र हैं।

२ (क) 'कीरति बिजय बीरता भारी।' इति। 'भारी' कहनेका भाव कि धनुषमें गुरुता और कठोरता भारी है। यथा—'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी ॥ २३९। १ ॥', 'मुदित कहहिं जहँ तहँ नरनारी॥ भंजेउ राम संभुधनु भारी ॥ २६२। ८ ॥' और राजाओंमें कीर्ति, विजय और वीरता भारी है। इस तरह दोनोंमें समान ऐश्वर्य वर्णन किया। यदि राजाओंमें धनुषकी कठोरता-गुरुतासे भारी वीरता होती तो धनुषकी कठोरता गुरुता हरण हो जाती, ऐसा न हो पानेसे राजाओंकी कीर्त्ति, विजय, वीरतासे अधिक गुरुता धनुषमें सिद्ध हुई। यहाँ धनुषके हाथ तीनोंका हारना कहा। [तात्पर्य कि धनुष और राजसमाज दोनोंने अपनी-अपनी बाजी जुएँमें लगायी कि देखें कौन जीतता है। दोनों भारी वीर हैं। राजाओंने अपनी भारी 'कीर्ति विजय वीरता' रूपी सम्पत्ति दाँवमें लगायी और धनुषने अपनी गुरुता-कठोरताकी बाजी लगायी। पाँसा धनुषका पड़ा, वह जीता, उसकी गुरुता-कठोरताने राजाओंकी समस्त कीर्त्ति आदिको जीत लिया।—यही धनुषके हाथों हारना हुआ। (ख) कीर्ति आदिके क्रमका भाव कि प्रथम कीर्ति गयी, कीर्तिका कारण विजय होता है सो भी गया और विजयका कारण वीरता है सो भी गयी। क्रमसे कार्य और कारण दोनोंका जाना कहा। (ग) 'बरबस' का भाव कि स्वयं अपनी मूर्खतासे हठात् हारे, नहीं तो धर्मात्मा राजाओंने प्रथम ही मना किया था, पर उन्होंने न माना। कीर्ति आदि अनेक उपमेयोंकी एक ही क्रिया होनेसे यहाँ 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। (घ) [पंजाबीजी लिखते हैं कि पहले रणधीर कहलाते थे, संग्रामोंमें विजय पाये हुए थे जिससे उनकी कीर्ति और शोभा थी। अब उसे धनुष तोड़कर बढ़ाना चाहते थे। पर अपनी मूढ़तासे वह सब पूर्वकी कमाई भी खो बैठे। (पं०)। पूर्व जो कहा गया था कि 'जस प्रताप बल तेज गँवाई। २४५। ४।' उसीको यहाँ 'कीरति बिजय बीरता भारी।····' से चरितार्थ किया (प्र० सं०)। यश, प्रताप, बल और तेज ही यहाँ कीर्ति, विजय और वीरता हैं]।

वि० त्रि०—'चले चाप कर बरबस हारी'—भाव कि ये हारे भी तो किसी वीरसे नहीं किन्तु धनुषसे। धनुष स्वयं इनसे लड़ने नहीं गया था, ये ही हठात् उससे लड़ने गये सो अब हारकर लौटे जा रहे हैं।

श्रीहत भये हारि हिय* राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा ॥ ५ ॥
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोषु जनु साने ॥ ६ ॥

अर्थ—राजा श्रीहत हो गये (उनकी कान्ति जाती रही)। वे हृदयसे हार मानकर अपने-अपने समाजमें जा बैठे ॥ ५ ॥ राजाओंको देखकर जनकमहाराज अकुलाये (घबड़ाये) हुए वचन बोले जो मानो क्रोधमें साने हुए (वचन) हैं ॥ ६ ॥

* हिय—१७०४। हिय—प्रायः अन्य सबोंमें।

टिप्पणी—१ (क) 'श्रीहत भये' इति। कीर्ति, विजय और वीरता यह राजाओंकी 'श्री' (लक्ष्मी, सम्पत्ति) है सो वे धनुषके हाथों हार गये, अतः 'श्रीहत' कहा। पुनः, श्री=शोभा, कान्ति, तेज, प्रभा। उससे 'हत' हुए अर्थात् शोभाहीन निष्प्रभ वा कान्तिरहित हो गये, यथा—'नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब . श्रीहत भए सरीर' (गी० ८७)। धन नष्ट हो जानेसे जैसे धनी मलिन हो जाता है। (अर्थात् मुखपर मलिनता वा स्याही-छा गयी)। पुनः भाव कि मनसे तो पहिले ही हार माने हुए थे, यथा—'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे।', पर इस हारसे श्रीहत हो गये। (वि० त्रि०)। (ख) 'हारि हिय राजा' इति। पुरुषार्थ थक जानेसे सब लोग हृदयसे हार मान जाते हैं, यथा—'बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा भय मानि॥ ४। ८॥' इसी तरह सब राजाओंका पुरुषार्थ थक गया। तब वे हृदयसे हार मान गये अर्थात् अब हृदयसे धनुष तोड़नेकी इच्छा ही जाती रही। (ग) 'बैठे निज निज जाइ समाजा' इति। जो राजा पृथक्-पृथक धनुष उठाने गये उनका चलना 'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै न चलहिं लजाइ॥ २५०॥' में कहा। फिर दस हजार राजाओंका चलना कहा जो एक साथ उठानेमें लगे थे, यथा—'कीरति बिजय बीरता मारी। चले चाप कर बरबस हारी'॥ पर बैठना किसीका न कहा था। दोनोंका बैठना अब एकट्ठा यहाँ लिखते हैं। [प्रश्न होता है कि 'जिनका प्रथम चल देना लिखा गया वे अबतक कहाँ रह गये कि उनका बैठना न कहा ?' उत्तर यह है कि] जब दस हजार राजा उठाने चले तब वे लोग रुककर देखने लगे कि देखें इनसे उठता है या नहीं। जब उनसे न उठा और वे भी खिसियाकर चले तब ये भी साथ ही चल दिये और अपने-अपने आसनपर जा बैठे। इसीसे चलना दो बार कहा और बैठना एक बार। (घ) 'निज निज समाजा' अर्थात् जहाँ जो पूर्व अपने समाज सहित बैठा था। [कोई-कोई 'निज समाज' का अर्थ यह करते हैं कि 'जहाँ और हारे हुए राजा जा बैठे थे वहाँ जा बैठे जिसमें जो राजा न उठे थे वे मुखपर न हँसें।' पर इस अर्थमें यह शंका उठेगी कि बैठना तो सबका इसी समय कहा गया, पहिले जाकर बैठना किसीका नहीं पाया जाता]।

२ (क) 'नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलानें' इति। प्रथम एक-एक करके उठाया तब न उठा, फिर दस हजारने एक साथ जोर लगाया तब भी न उठा। एक तो सब श्रीहत हो गये, दूसरे अब कोई उठता नहीं। यह देख कि अब राजाओंमें कोई धनुष उठानेवाला वीर नहीं है, राजा जनक अकुला उठे कि 'क्या कन्या हमारी कुँआरी रहेगी ? क्या पृथ्वी वीरोंसे रहित हो गयी है ? [राजा लोग श्रीहत हो जानेपर भी घर न गये, अपने समाजमें जा बैठे। यह देख जनकमहाराजने समझ लिया कि इनके हृदयमें कल्मष है, कहेंगे कि ऐसा प्रण करके जनकने राजसमाजका अपमान किया, और बहुत सम्भव है कि उपद्रव भी करें। अतः जनकजी आकुल हुए। (वि० त्रि०) (ख) 'रोष जनु साने' इति। रोषयुक्त वचन बोलनेका भाव कि बंदीजनके बोलनेपर तो सब राजाओंको अमर्ष पैदा हो गया था, यथा—'भट मानी अति मन माषे'; ☞ पर किसीने कुछ पुरुषार्थ न कर दिखाया। अब हमारे वचन सुनकर जो कोई वीर हो वह 'माषे'। आगे इस वचनकी सफलता लिखते हैं कि 'माषे लषन····'। (ग) 'जनु' का भाव कि ज्ञानीको क्रोध होना असम्भव है, इसीसे उत्प्रेक्षा करते हैं। [अर्थात् क्रोध द्वैतभावसे होता है और द्वैत बिना अज्ञानके नहीं होता—'क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान'। जनक तो ज्ञानिशिरोमणि हैं। इनको रोष कहाँ, इनकी दृष्टिमें तो जगत् है ही नहीं। ये वचन उनकी व्यावहारिक युक्तिके उदाहरण हैं। रहे-सहे वीरको उत्तेजित करनेके लिये बोले गये हैं। (प्र० सं०)]।

☞ इसपर श्रीराजारामशरणजी कहते हैं कि 'मेरी समझमें तो 'जनु' की उत्प्रेक्षाका कारण यह है कि वास्तवमें 'परिताप' है—'मेटहु तात जनक परितापू'; परन्तु वचन क्रोधपूर्ण लगते हैं। शान्तरसको इतना प्रधान करके अर्थ करना कि जनकके व्यक्तित्वके गम्भीर सागरमें भावतरंगोंकी भी गुंजाइश न मानी जाय—तुलसीदासजीकी कलाके विरुद्ध है जिसमें 'मिटी महामर्याद ज्ञान की' तक क्षणिक भाव आवेगकी अवस्था भी महाराजा जनकके लिये बाँध दिया है।'

प० प० प्र०—'जनु' से सूचित किया कि उनके हृदयमें क्रोध नहीं है, पर वचनोंमें क्रोध भर रक्खा है। जनकजी जानते हैं कि राम ब्रह्म हैं और वे ही धनुष तोड़ेंगे। अतः राजाओंको उत्तेजित करके वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सभी भूप या भूपरूपधारी देव-दानवादि धनुर्भंग करनेमें असमर्थ हैं। इसमें भी यह हेतु है कि श्रीरामजीके धनुष तोड़नेपर कोई भी यह न कह सके कि 'मैं तो तोड़नेको जानेवाला ही था पर रघुवरने पहले ही तोड़ डाला।' अतः रघुवर ही विजयी हुए यह मानना भूल है। वैदेहीपर मेरा भी हक है। धनुर्भंगके पश्चात् इस रंगभूमिमें युद्धका सम्भव ही न रह

अब इस हेतुसे क्रोधभरे वचन बोले। श्रीरामजी ही धनुष तोड़ेंगे यह विश्वामित्र भी जानते थे तथापि उन्होंने भी यही कहा कि 'नृप कहहिं भौ देइ चढ़ाई'। वैसा ही जनकजीका यह क्रोध है। और, आगे जो 'जनक परिताप' देखनेमें आता है वह भी ऐसा ही भावनात्मक है। वे रघुवरका ऐश्वर्य छिपाना चाहते हैं और दोहा ३४१। ३ तक उन्होंने ऐश्वर्य-भाव गुप्त ही रक्खा है।—इसी तरह सिंधुतटपर अङ्गदके नेतृत्वमें आये हुए वानर जब समुद्र-लंघनका विचार कर रहे थे, तब जाम्बवान्‌जीने हनुमान्‌जीका ऐश्वर्य अन्ततक गुप्त ही रक्खा, किंतु जब कोई भी कपि-वीर तैयार न हुआ तब उन्होंने पवनतनयको जाग्रत् किया। यह राजनैतिक और व्यावहारिक नीति भी है, भावी संघर्ष बचानेके लिये ऐसा करना पड़ता है। यहाँ ज्ञानी, विज्ञानी आदि विचार अनावश्यक हैं। आगेके 'अब जनि कोउ माषै भट मानी।···२५२। ३।' में भी यही हेतु है।

दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ ७॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥ ८॥

अर्थ—हमने जो प्रतिज्ञा की थी उसे सुनकर द्वीप-द्वीपके अनेकों राजा आये॥ ७॥ देवता और दैत्य (भी) मनुष्य शरीर धरकर (आये और भी) बहुत रणधीर वीर आये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'दीप दीप' से सूचित किया कि समस्त पृथ्वीके राजा आये। पृथ्वीमें सप्तद्वीप हैं। प्रत्येकके अनेक राजा आये। इसीसे 'भूपति नाना' कहा। यथा—'सप्त दीप नवखंड भूमिके भूपति बृंद जुरे। बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहँ तहँ महिप मुरे॥ गी०। १। ८७।' (ख) 'आये सुनि हम जो पनु ठाना' इति। भाव कि हमारे निमन्त्रणके कारण किसी लाचारीसे आये हों सो बात नहीं है वरंच हमारी प्रतिज्ञा सुनकर आये कि धनुष तोड़ना होगा। प्रण सुनकर आये इससे निश्चय है कि यदि ये बड़े पराक्रमी न होते तो कदापि न आते। (ग) द्वीप-द्वीपके मनुष्य उत्तरोत्तर बली होते हैं, सब द्वीपोंसे आये हैं, अतः निश्चय है कि इनमें एक-से-एक अधिक बलवान् है, यथा—'सीयस्वयंबर भूप अनेका। समिटे सुभट एक तें एका॥ २९२। ४।' (घ) 'आए सुनि' का भाव कि अपनी अभिलाषासे आये कि चलकर धनुष तोड़ेंगे।—[☞ जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सप्त द्वीप हैं। प्रत्येकमें नौ खण्ड हैं।]

२ (क) 'दीप दीपके भूपति नाना···' से मर्त्यलोकके, देवसे स्वर्गके और दनुजसे पातालके वीर कहे। (ख) 'धरि मनुज सरीरा' क्योंकि यहाँ मनुष्योंका समाज है, नरसमाजमें नरशरीरसे जाना चाहिये, यथा—'धरि नृपतनु तहँ गयउ कृपाला। १३५। ३।' (ग) 'बिपुल बीर···' इति। मनुष्य राजाओंके साथ 'नाना' कहा, इसी तरह 'देव दनुज' के साथ 'बिपुल' कहा। इस तरह जनाया कि देवता और दैत्य भी बहुतसे आये। देवता मनुष्यतन धरकर भगवान्‌के दर्शनार्थ आये, यथा—'बिधिहरिहर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ॥ कपट बिप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए॥ ३२१। ६-७।' और, दैत्य कपटवेष धरकर धनुष तोड़ने आये, अथवा कपट करके जानकीजीको हरण करनेके विचारसे आये सो कुछ भी न करते बना। वीर हैं इसीसे रणधीर हैं, यथा—'बीर अधीर न होहिं। २। १९१।'

दो०—कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥ २५१॥

अर्थ—(एक तो) कन्या सुन्दर, (दूसरे) विजय बड़ी और (तीसरे) कीर्ति भी अत्यन्त सुन्दर (है।) (परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि) इनका पानेवाला धनुपका तोड़नेवाला मानो ब्रह्माने रचा ही नहीं *॥ २५१॥

टिप्पणी—१ धनुष तोड़नेमें लाभ भारी है, इसीसे लाभके पदार्थोंमें बड़ाईके विशेषण दिये—कुँअरि 'मनोहर' है, विजय 'बड़ि' है और कीर्ति 'अति कमनीय' है। कुँअरिको सुन्दर कहा और कीर्तिको अति सुन्दर कहा। कीर्त्ति वस्तुतः सीताजीसे भी सुन्दर है। विजय बड़ी है क्योंकि इससे त्रैलोक्यविजयी कहलायेगा। अपनी कन्याको मनोहर कहते हैं, यह यहाँ अनुचित नहीं है, क्योंकि यहाँ कन्याकी सुन्दरता कथन करना अभिप्रेत नहीं है, वरंच राजाओंको लाभका बड़ा भारी होना दिखाना ही इनकी मनशा है।

---

* वि० त्रि० यह अर्थ करते हैं—'मनको हरण करनेवाली कुँअरि, बड़ी जीत और सुन्दर कीर्तिके पानेवालेको मानो विरंचिने रचा ही नहीं, अतः टूटनेवाला धनुष मानो बनाया ही नहीं।'

नोट—१ पाँड़ेजीका मत है कि—'कुँअरिको मनोहर कहें तो नहीं बनता, इसलिये कि कोई अपनी पुत्रीका शृङ्गार वर्णन नहीं करता। इसलिये यह अर्थ किया जाता है कि—'यह जो कुँअरि, मनोहर अर्थात् बड़ी विजय त्रिलोककी अति उत्तमतराकृत (कीर्ति ?) हैं, उनको पावनहार (पानेवाला) जो धनुष तोड़नेवाला होता उसे विरंचिने नहीं रचा।'

बैजनाथजी कहते हैं कि आर्त, क्रोध, हर्ष तथा भयके समय लज्जा नहीं रहती। यहाँ जनक आर्त और क्रोधवश हैं, अतः कन्याको मनोहर कह गये। इसी प्रकार दक्षने शिवजीपर रुष्ट होनेपर अपनी कन्याको साध्वी और मृगनयनी कहा है। यथा—'गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः।…१२।…दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना।१।६।' (भा० ४।२)। अर्थात् इस बंदरके-से नेत्रवालेने मेरी मृगशावकनयनी कन्याका पाणिग्रहण किया।…मैंने इसको अपनी साध्वी कन्या दे दी।

श्रीलाला भगवानदीनजीकी भी यही राय है कि मनोहर 'कुँअरि' का ही विशेषण है। वह मनोहर न होती तो इतने राजा दौड़े क्यों आते ? साहित्यिक रीतिसे भी यह जाना जाता है कि तीन वस्तुओंके लिये तीन विशेषण रक्खे हैं, उनमें हेर-फेर करनेसे साहित्यिक दोष आ जायगा। वीरकविजी कहते हैं कि राजाने शृङ्गार तो वर्णन नहीं किया, 'सुंदर कन्या' कहना शृङ्गार-कथन कैसे कहा जायगा ? यह साधारण बोल-चालकी भाषा है।

२—विजयको बड़ी और कीर्तिको अति कमनीय कहा; क्योंकि इससे रावण-बाणासुर भी हार मान गये। अतः जो तोड़ेगा वह त्रैलोक्यविजयी कहायेगा। उसकी कीर्ति युग-युग किंतु महाकल्पतक गायी जावेगी। अतएव कीर्तिको अति कमनीय कहा। (रा० प्र०)।

३—यहाँ तोड़नेवालेको अर्थ, धर्म और काम तीनोंका लाभ दिखाते हैं। राजकुमारी लोकोत्तर गुणरूप-स्वभावादि सभी प्रकार सुन्दर है—यह काम-फलकी प्राप्ति है। बिना सेना और अस्त्र-शस्त्रके, बिना सप्तद्वीपादिमें गये केवल धनुषके उठानेसे त्रैलोक्यविजयका लाभ यह बड़ा विजय अर्थफलकी प्राप्ति है। बिना एक पैसा भी दान किये समस्त लोकोंमें उसको यश प्राप्त होगा यह कीर्ति धर्मफलकी प्राप्ति है। (बै०)।

टिप्पणी—२ 'बिरंचि जनि…' इति। तीनों लोकोंके वीर आये, धनुष किसीने न तोड़ा, इससे पाया गया कि धनुष तोड़नेवाला ब्रह्माने नहीं रचा। यहाँ यह नहीं कहते कि ब्रह्माने धनुदमनीयको बनाया ही नहीं, क्योंकि विरंचिके कर्तव्यको कोई जान ही नहीं सकता। यथा—'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥ २६५।५।' इसीसे उत्प्रेक्षामात्र करते हैं। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'पानेवाला मानो ब्रह्माने रचा ही नहीं, हमारी प्रतिज्ञा व्यर्थ हुई जाती है—इसमें यह भी ध्वनि है कि ब्रह्माजीकी रचनासे भिन्न ही ऐसा कोई पुरुषोत्तम होगा जो इसे तोड़ेगा। इति योगबल अकस्मात् भविष्यगुप्तकथनम्।' यद्यपि यहाँ उत्प्रेक्षा है फिर भी दैवयोगसे अनुभवी महात्माओंके वाक्य यथार्थ ही होते हैं। वैसे ही यह बात यथार्थ ही है कि धनुषके तोड़नेवाले ब्रह्माके बनाये नहीं हैं। ग्राम्यवधूटियोंका कथन भी ऐसा ही है, यथा—'आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥ २।१२०॥' ऐसे ही श्रीहनुमान्‌जीका वाक्य है—'की तुम्ह अखिल भुवनपति…।'

☞ मिलानका श्लोक—'आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः कन्येयं कलधौतकोमलरुचिः कीर्तिस्तु नात्परः। नाकृष्टं न च टंकितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥' इति हनुमन्नाटके।—(पं० रामकुमारजी)। हनुमन्नाटक अङ्क एकका यह दसवाँ श्लोक है, पर दूसरा चरण पुस्तकमें यह है—'कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः।' यह वचन श्रीरामचन्द्रजीके हैं। वे श्रीलक्ष्मणजीसे कह रहे हैं कि 'ये सम्पूर्ण राजा लोग सब द्वीपोंसे इकट्ठे होकर आये हैं, और इसमें तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली कन्या और दूसरे कीर्तिका लाभ है, तिसपर भी इस धनुषको न तो किसीने खींचा, न टंकित (टंकारशब्द) किया और न नवाया, न किसीने स्थानसे उठाया, बड़ा आश्चर्य है कि यह पृथ्वी वीरोंसे शून्य है।'—बस अब पाठक स्वयं विचार लें कि ये वचन किसके मुखसे शोभित हैं ? जनकके या रामके मुखसे ? उसपर भी 'रहौ चढ़उब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥ २५१।२॥' इत्यादि वाक्योंकी छवि और गौरवको श्लोक कहाँ पा सकता है ?

कहहु काहि येहु लाभ न भावा। काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥ १॥

रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई ॥ २ ॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी ॥ ३ ॥

अर्थ—(भला) कहिये तो यह लाभ किसको नहीं सुहाता ? (सभीको प्रिय है परंतु) किसीने भी शंकर-चाप न चढ़ाया ॥ १ ॥ अरे भाई ! चढ़ाना और तोड़ना तो (दरकिनार, अलग वा दूर) रहा, तिलभर भूमि भी कोई न छुड़ा सका ॥ २ ॥ कोई भी अभिमानी भट (अब हमारे कहनेपर) 'माख' न करे, मैं जान गया कि पृथ्वी वीरोंसे रहित हो गयी है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'काहि येहु लाभ न भावा' अर्थात् सभीको तो भाया, यथा—'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।' 'येहु लाभ' इति। भाव कि सामान्य लाभ राजाओंको नहीं भाता, स्त्री, जय और कीर्ति सामान्यतः सभी राजाओंके यहाँ हैं, परंतु यहाँ ये सब असाधारण हैं—कुँवरिकी उपमा त्रैलोक्यमें नहीं है, विजय तीनों लोकोंकी है और कीर्ति भी त्रैलोक्यमें है। यथा—'महि पाताल ब्योम जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥' चाप न चढ़ा पानेसे तीनोंकी हानि हुई, जो कीर्ति आदि प्राप्त थी सो भी नष्ट हुई—'चले चाप कर बरबस हारी।' तात्पर्य कि पराक्रम होता तो ऐसी भारी हानि कोई क्यों अङ्गीकार करता ? [अर्धालीका भाव यह है कि हाथी, घोड़े, रथ, ऐश्वर्य, कीर्ति इत्यादि तो सभीके पास हैं, पर यहाँ जिस वस्तुकी प्राप्ति है वह किसीके पास नहीं है, क्योंकि यदि होती तो प्रण सुनकर यहाँ न आते और आये थे तो धनुषके पास भी न जाते और न इसे लेनेको लालायित होते। ऐसे लाभके लिये मनुष्य क्या न कर डालता, पर तुम लोगोंसे तो कुछ भी न हुआ। 'संकर' शब्द भी सार्थक है। अर्थात् इससे तोड़नेवालेका भी कल्याण होता। (प्र० सं०) महाराज जनक समझ रहे हैं कि ये अभिमानी पीछे कहेंगे कि मुझे कन्या पसन्द नहीं थी। अतः, वे कहते हैं कि जिसे यह लाभ अच्छा न लगता हो वह इस समाजमें बोल दे, सब लोग उसका भी रूप देख लें कि किस मुखसे कह रहा है। (वि० त्रि०)]। (ख) 'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई।···' इति। तात्पर्य कि जो तिलभर भूमि भी छुड़ा पाते तो हमारा प्रण रह जाता। ☞ यहाँ जनाया कि बल-पराक्रम तीन प्रकारका होता है, उत्तम-मध्यम और निकृष्ट। तीनोंका यहाँ निराकरण करते हैं। तोड़ना उत्तम बल है, चढ़ाना मध्यम है और तिल भर छुड़ा देना यह निकृष्ट है; सो इन तीनोंमेंसे उत्तम-मध्यम-की कौन कहे निकृष्ट बलका भी लेश नहीं है। (ग) 'तिल भरि भूमि·····' इति। बन्दी लोगोंने धनुष तोड़नेकी बात कही, यथा—'राज समाज आज जोइ तोरा', और जनकजीने चढ़ाना भी कहा, यथा—'रहौ चढ़ाउब तोरब···।' इससे स्पष्ट कर दिया कि वीरोंको ये दोनों काम करने थे—प्रत्यंचा वा रोदा चढ़ाना और धनुष तोड़ना।—सो अब इन दोनोंका भी निराकरण करते हैं कि ये दोनों रहे, हम तो आशा करते थे कि कम-से-कम जगहसे हटा ही देंगे पर यह भी तो तुमसे न बन पड़ा। (घ) 'भाई' सम्बोधन एक जाति होनेसे भी ठीक है, सब राजा हैं इस नाते भाई सम्बोधन हुआ। (ङ) 'तिल भरि'=जरा-सा भी=अल्प प्रमाण, यथा—'तिन्ह के आयुध तिल सम करि काटे रघुबीर', 'कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे ॥'

वि० त्रि०—भाव यह कि धनुष तोड़नेवालेका बिना विचार वरण करनेकी प्रतिज्ञा थी। यदि कोई उठा भी लेता तो विचार किया जाता कि विवाह किया जाय या नहीं। और इस अवस्थामें तो विचारको भी स्थान नहीं है। चढ़ाना या तोड़ना तो उठानेके बाद बनता है। यहाँ तो कोई हिला भी नहीं सका। भाव यह कि इसका तोड़ना राजसभाके लिये असम्भव व्यापार है, तब किस आशासे राजसमाज बैठा है।

टिप्पणी—२ (क) 'अब जनि कोउ माखै भट मानी' इति। बन्दीजनके वचन सुनकर 'भटमानी अतिसय मनमाखे' थे, इसीसे कहते हैं कि अब कोई न तमतमाये। अर्थात् अबतक जो गरमाये सो गरमाये अब न गर्माना ! मानी=जिनको सुभट होनेका अभिमान है। अथवा जिनका जगत्में मान है। यह तो निश्चय ही है कि जिनसे नहीं उठा वे क्यों बुरा मानने लगे तब 'अब जनि कोउ माखै' कहनेका प्रयोजन ही क्या, यह इससे कहा कि कोई गुप्त वीर होगा वह न सह सकेगा, उसे ये वचन बाण-समान लगेंगे। उससे बिना उठे न रहा जायगा। और हुआ भी यही। (ख) 'बीर बिहीन मही·····' इति। तिल भर जगहसे धनुष न उठा इसीसे जाना गया कि पृथ्वी निर्वीर हो गयी। प्रथम हम सबको वीर-रणधीर समझते रहे (इसीसे प्रथम कहा था कि 'बिपुल बीर आए रनधीरा') पर अब जान गये कि वीर कोई रह नहीं गये। (ग) प्रथम तो देव-दनुजादि तीनों लोकोंके वीरोंको गिनाया था अब केवल 'महि' को कहते हैं, कारण कि तीनों लोकोंके वीर इस समय पृथ्वीमें ही जमा हैं। (अथवा, देव-दनुज तो कपट-वेषसे आये थे, निमन्त्रित तो केवल पृथ्वीके ही राजा थे)।

नोट—१ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि—'राजा जनक नृपसमाजको देखकर अकुलाये थे। इसलिये व्याकुलताके कारण प्रभुकी ओर चित्त न रहनेसे 'बीर बिहीन मही' का हो जाना उन्होंने अपने जानते कहा। अथवा, यहाँ उनकी दृष्टि ही दूसरी हो गयी थी, यथा—'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥ २४२। ३॥' इससे ऐसा कहा। यद्वा उनका तात्पर्य है कि मही तो वीर विहीन हो गयी, अब इससे भिन्न पुरुषको इसमें उद्यत होना चाहिये। पुनः, यह परितापका समय है, यथा—'मेटहु तात जनक परितापा॥ २५४। ६॥' अतएव परितापमें निकले हुए वचन प्रलापमात्र हैं।'

२ वीर कविजी—धनुष उठाने और तोड़नेकी सबको प्रबल उत्कण्ठा थी, इस सही बातको राजाका नहीं कर जाना और कहना कि 'कहहु काहि येहु लाभ न भावा।····', 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य' है।'

तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥ ४॥
सुकृत जाइ जो पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुँआरि रहउ का करऊँ॥ ५॥
जौ जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥ ६॥

शब्दार्थ—हँसाई=हँसीका पात्र। सुकृत=धर्म, पुण्य।

अर्थ—(जानकीजीके ब्याहनेकी) आशा छोड़िये और अपने-अपने घर जाइये। विधाताने वैदेहीका विवाह नहीं लिखा है॥ ४॥ (जो कहो कि धनुष किसीसे नहीं उठता तो उसकी प्रतिज्ञा ही छोड़ दीजिये तो उसपर कहते हैं) जो मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँ तो मेरे सुकृत ही नष्ट हो जायँगे। (इससे) लड़की कुँआरी ही बनी रहे, इसे मैं क्या कर सकता हूँ॥ ५॥ भाइयो! यदि मैं जानता कि पृथ्वी योद्धाओंसे रहित है तो प्रण करके उपहासका पात्र न बनता (आपकी एवं अपनी हँसी न कराता)॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'तजहु आस निज निज गृह जाहू'। धनुष न उठनेपर भी अभी बैठे हैं इससे जान पड़ता है कि अभी आशा लगी है कि किसीसे नहीं टूटा है अतएव अब अवश्य जयमाल स्वयंवर करेंगे। उसीपर कहते हैं कि यह आशा छोड़ दो, यहाँ ठहरनेका अब कुछ काम नहीं है। जाकर अपने-अपने घरका काम देखिये। (ख) 'लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू' इति। ब्रह्माका रचना दो बार कहा। एक तो 'पावनिहार बिरंचि····दमनीय', दूसरे, यहाँ 'लिखा न बिधि····'। (रचना और लिखना दोनोंका भाव एक ही है)। प्रथम बार जो कहा कि 'पावनिहार धनुदमनीय न रचा' वह वरके विषयमें कहा और दूसरी बार जो कहा वह श्रीजानकीजीके बारेमें कहा। तात्पर्य कि ब्रह्माने न तो यही रचा है कि कोई धनुष तोड़कर जानकीको ब्याहे और न यही लिखा है कि जयमाल स्वयंवर होगा। जानकीजी जयमाल डालेंगी इस तरह विवाह होगा यह विधाताने नहीं लिखा, क्योंकि मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका उसको छोड़नेका नहीं, चाहे कन्या कुमारी ही क्यों न रह जाय—जैसा आगे कहते हैं। मेरी प्रतिज्ञा विधिकी रेखसे कम नहीं है।

२ 'सुकृत जाइ····' इति। (क) प्रण छोड़ देनेसे ब्याह हो सकता है; उसीपर कहते हैं कि कन्याके विवाहके लिये हम प्रण छोड़ देते, परन्तु प्रण तोड़नेसे हमारे सुकृत जाते रहते हैं क्योंकि प्रणका त्याग सत्यका त्याग है और सत्य समस्त उत्तम सुकृतोंका मूल है; यथा—'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए। २। २८।' अतः सत्यके त्यागसे समस्त सुकृतोंका नाश अनिवार्य है। (देखिये जब दशरथजीने महर्षि विश्वामित्रको प्रथम वचन दिया कि मैं आपके सब मनोरथोंको पूरा करूँगा। यथा—'केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा। २०७। ८।', 'ब्रूहि यथार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति। ५६।····कर्ता चाहमशेषेण····। वाल्मी० १। १८।'; पर उनका मनोरथ सुनकर जब राजाने उसके पूरा करनेमें संकोच प्रकट किया तब महर्षिने यही कहा कि प्रतिज्ञा करके अब उसे तोड़ना चाहते हो, यह इस कुलकी रीतिके विरुद्ध है और इससे कुलका नाश है। यथा—'पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि। राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः। २। वाल्मी० १। २१।' वसिष्ठजीने भी समझाया कि आप धर्मका त्याग न करें; क्योंकि प्रतिज्ञा करके मुकर जानेसे समस्त किये हुए सत्कर्म निष्फल हो जाते हैं। यथा—'····श्रीमान्न धर्मं हातुमर्हसि॥ ६॥····प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः। इष्टापूर्तवधो भूयात्····॥ ८॥ वाल्मी० १। २१।' असत्यके समान कोई पाप नहीं है—'नहिं असत्य सम पातकपुंजा। २। २८।' इसीसे सब अपने प्रणकी रक्षा करते हैं। यथा—'सत्य सत्य पन सत्य हमारा',

'प्रान जाहु बरु बचनु न जाई। २। २८।', अतः मैं प्रणका त्याग न करूँगा। (ख) 'कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ' अर्थात् जब विधाताने उसका ब्याह ही नहीं लिखा तो कुँवरि कुमारी ही रहेगी। उसके कुँआरी रह जानेसे हमारे सुकृत नष्ट नहीं होनेके। तात्पर्य कि हम लड़कीके लिये अपना धर्म नहीं छोड़नेके। 'का करऊँ' अर्थात् अपने सुकृतोंकी रक्षाके लिये मैं प्रणका त्याग नहीं करता। कन्या कुँआरी रह जाती है, इसमें हम कुछ नहीं कर सकते, कोई उपाय नहीं सूझता, यदि कोई और उपाय होता तो हम अवश्य करते।

२ (क) 'होतेउँ न हँसाई' में 'प्राप्त' क्रियाका अध्याहार ऊपरसे होगा='हँसाई (हँसीको) न प्राप्त होतेउँ'। [पं० रामकुमारजीका 'होतेउ' पाठ है जिससे अर्थ होगा—'तो पनकरि (के कारण) आप हँसीको न प्राप्त होते'। सब राजाओंकी हँसी हुई, यथा—'सब नृप भये जोग उपहासी' और हमारी भी हँसी न होती।] कथनका आशय यह कि प्रतिष्ठितका उपहास मरणके समान है। यथा—'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटिसम···'। आप सबोंको मरणसमान क्लेश है और हमको भी। (ख) जो पूर्व कहा था कि 'बीर बिहीन मही मैं जानी' उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि यदि मैं पहलेसे ऐसा जानता तो यह प्रण ही न करता, न आपकी हँसी होती न मेरी। [(ग) हँसीके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि ज्ञानी होकर भी मूर्ख साबित हुए, विचारकर प्रतिज्ञा न की। दूसरे यह कि इनकी लड़की अविवाहित रहेगी। (घ) पुनः भाव कि धनुष-भंग-प्रण वीरके लिये ही किया जाता है, पृथ्वी वीरविहीन है, इसलिये मैं उपहासका पात्र हो गया। नहीं तो सभीने धनुष-भंग सम्भव समझा था, इसीलिये आये भी थे। इसी भाँति मैंने भी सम्भव समझकर प्रतिज्ञा की थी (वि० त्रि०)]

जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥ ७॥
माषे लखनु कुटिल भैं भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं॥ ८॥

दो०—कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ रामपदकमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥ २५२॥

अर्थ—श्रीजनकजीके वचन सुनकर सब स्त्री-पुरुष श्रीजानकीजीको देखकर दुखी हुए॥ ७॥ लक्ष्मणजी अमर्षको प्राप्त हुए (वचन न सह सके)। उनकी भौंहें तिरछी हो गयीं, होंठ फड़कने लगे, नेत्र क्रोधयुक्त हो गये॥ ८॥ श्रीरघुवीरजीके डरसे कुछ कह नहीं सकते, पर वचन मानो बाणसे लगे। श्रीरामजीके चरणकमलोंमें मस्तक नवाकर प्रामाणिक (सत्य, यथार्थ) वचन बोले॥ २५२॥

टिप्पणी—१ (क) 'जनक बचन सुनि···'। भाव कि धनुष न उठा नर-नारी इससे दुखी न हुए, क्योंकि आशा थी कि जयमाल स्वयंवर कर देंगे, पर जनकजीके 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ' इत्यादि वचनोंसे यह भी आशा जाती रही। अतः वचन सुनकर सबका दुखी होना कहा। (ख) 'सब' को दुःख हुआ क्योंकि सब इसी लालसामें मग्न थे कि 'बर साँवरो जानकी जोगू'। (ग) 'देखि जानकिहि' अर्थात् ऐसी सुन्दर कन्या (ऐसा सुन्दर वर सामने उपस्थित होते हुए भी) कुँआरी रह जाय? (घ) ☞ सब पुरवासी दुखी हुए कि धनुष न टूटनेसे जानकीजी कुँआरी रहेंगी पर श्रीजानकीजी दुखी न हुईं क्योंकि राजाओंसे उन्हें ब्याह करना ही न था; वे तो खुश होंगी कि भला हुआ उनसे न टूटा। लक्ष्मणजीके वचन सुनकर उन्हें हर्ष हुआ, यथा—'सिय हिय हरष···'। [(ङ) 'भये दुखारी' का भाव कि उनके दुःखमें एक जनकजी ही सहारा देनेवाले थे पर जब उन्होंने ऐसे वचन कहे तो फिर और सुधारनेवाला ही कौन रह गया? अतः सब दुखी हुए। (पाँडेजी)। श्रीजनकजीके करुणामय अधीरताके वचन सुनकर और जानकीजीको देखकर सब करुणामय हो गये। विचारने लगे कि ऐसे उत्तम कुलकी रूप-शील-गुण-खानि कन्याके कुँआरी रह जानेसे सब गुण ही व्यर्थ हो गये। यह करुणा भारी। करुणा-रसका सहायक वीररस है। वही आगे सहायताको आ रहा है। (वै०)।] (च) जानकीजीकी भावना सबसे पृथक्। यदि श्रीरामजीसे न टूटे तो वे दुखी हों और सबोंकी भावना यह है कि किसीसे भी टूटे तो जानकीजीका विवाह तो हो जाय; इससे सब पुरवासियोंको एक साथ लिखा और इनको सबके साथ न लिखा।

२ (क) 'माषे लखन···' इति। बंदीजनके 'नृपभुजबल बिधु सिवधनु राहू' इस वचनपर राजा 'माषे' थे।

लक्ष्मणजीको उनके वचनोंपर 'माष' न हुआ था क्योंकि वे बड़े गम्भीर हैं, अपने बलको जानते हैं। परंतु जब जनकजीने स्वयं यह कहा कि 'बीर बिहीन मही मैं जानी' तब न सह सके। इसको उन्होंने श्रीरामजीका तथा रघुवंश भरका अपमान माना। रदपट=ओंठ=होंठ। (ओठोंसे दाँत ढके रहते हैं इसीसे उनका नाम 'रद-पट' है) अमर्षके बाद क्रोध होता है सो क्रोधके चिह्न प्रकट हो गये—नेत्र लाल हो गये, भौंहें टेढ़ी हो गयीं, इत्यादि। वीरताका आवेश हो आया, वीरताका अभिमान होना 'माष' है। [इन वचनोंसे श्रीरामजीका अपमान हुआ कि जिनके लिये वे पिताको भी दुर्वचन कहनेमें न चूके और अपने भाइयोंको भी मारनेको उद्यत हो गये, तब और किसीकी बात ही क्या ? फिर भला उनको क्रोध क्यों न होता ? वे चुप कैसे रहते ? श्रीरामजीको डरते हैं इससे संकोच है, फिर भी न रहा गया। (☞ श्रीलक्ष्मणजीके स्वभावका यह एक मर्म है)। कठोर वचन कोई भी नहीं बोल सकते, क्योंकि जानते हैं कि जनक ऐसे ब्रह्मज्ञानीके लिये कठोर शब्दोंका प्रयोग करनेसे श्रीरामजी प्रसन्न नहीं होंगे, अतएव प्रणाम करके बोले। भक्त अपने इष्टको प्रणाम करके ही किसी कार्यका प्रारम्भ करते हैं (प्र० सं०)]।

२ 'कहि न सकत रघुबीर डर·····' इति। (क) 'रघुवीर डर' यह कि जनकमहाराजके वचनोंका खण्डन करनेमें, उनके अपमानमें श्रीरामजी अप्रसन्न न हो जायँ। जनकजीका डर उनको किंचित् नहीं है। (ख) 'लगे बचन जनु बान' अर्थात् जैसे मर्मभेदी बाण लगनेपर हाहाकार किये बिना कोई रह नहीं सकता वैसे ही ये वचन-बाण न सह सके, बिना बोले नहीं रह जाता, इसीसे 'अपराध क्षमा हो' इस भावसे अथवा भक्तिरीतिसे पदकमलमें सिर नवाकर बोले। ['जनु' से सूचित किया कि जनकजी रघुवीरोंका अपमान करनेके हेतुसे नहीं बोले थे, उनके वचन अन्य वीरोंके लिये बाण थे पर रामप्रेमी रघुवंशी वीर कुमारको ऐसा लगा कि ये वचन अपमान करनेके लिये ही जनकजी बोले थे। परिस्थिति भी ऐसी ही है कि इसमें न जनकजीकी भूल है न लक्ष्मणजीकी। उरप्रेरक रघुवंश विभूषणकी इच्छासे ही लक्ष्मणजीमें क्रोध प्रविष्ट हुआ। लक्ष्मणजीका वीर्य, शौर्य, निस्पृहता, स्पष्ट वक्तृत्व, रामप्रेम, रघुकुलाभिमान, निर्भयता इत्यादि अनेक गुणोंका परिचय सब लोगोंको देनेके लिये ही यह लीला है। इसीलिये तो श्रीरामजी कुछ भी नहीं बोलते हैं, मन-ही-मन अपने अनुजके सद्गुणों और शुद्ध दास्य भक्तिकी सराहना करते हैं। (प० प० प्र०)]। (ग) 'गिरा प्रमान' अर्थात् हम भट हैं यह सत्य बाणी बोले [इससे सूचित किया कि जनकजीके वचन अप्रामाणिक थे'। पुनः 'प्रमाण अर्थात् जिसमें स्वामीका सम्मान रहे और अपने बलसे अधिक भी न हो'–(पंजाबीजी)। पुनः, भाव कि यथार्थ ही बोले, क्रोधमें भी अप्रमाण वचन नहीं बोले'–(पाँड़ेजी)]

☞ श्रीराजारामशरणजी—१ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक रहस्योंके मर्म तो तुलसीदासजीकी कलामें कूट-कूटकर भरे हुए हैं। देखिये, चरित्रसंघर्ष, प्रसङ्गप्रभाव, परिस्थिति निरूपण कितने सुन्दर और सूक्ष्म हैं।—राम और लक्ष्मण उठे ही नहीं। रावण और बाणासुर देखकर ही चले गये थे, तो जनकका यह कहना बहुत अनुचित न था कि 'बीर बिहीन मही मैं जानी' वे क्या जानें कि कारण क्या है ? वे तो कन्याके प्रेमके कारण व्याकुल हो गये। मजा यह है कि उन्होंने कहा था कि 'अब जनि कोउ माखै भट मानी' लेकिन 'माष' उत्पन्न हो ही गया, कारण कि वे भूल गये कि अभी दो वीर और बैठे हैं, उनसे पूछ तो लें या तनिक ठहर तो जायँ कि वे उठते हैं कि नहीं, अभीतक तो हुल्लड़ ही था।

परिस्थितिने लक्ष्मणके वीरत्वका विकास करा दिया। परन्तु ठीक बात विश्वामित्रजी ही समझे कि जनकजीने क्रोधमें तथा अपमान करनेके लिये कटु शब्द नहीं कहे बल्कि 'परिताप' के कारण, और इसीसे उन्होंने रामजीसे सकरुण अपील की है।—'मेटहु तात जनक परितापू'।

२—लक्ष्मणजीका चित्र कितना प्रगति और भावपूर्ण है। *Dynamic* (चलती-फिरती) *Indeed* (अवश्य)।—'रदपट फरकत' से साफ पता लगता है कि जैसे मोटरके इञ्जनमें उत्तेजना पैदा होनेके बाद मगर खुलनेके पहले जैसा कंपन होता है वैसा ही लक्ष्मणजीमें है। माष उत्पन्न हो गया है, मगर अभी आज्ञा नहीं है, इससे आवेगको दबाये हैं, मगर ओष्ठ फड़क ही गये। यहाँ 'जोश' भी है और उसकी 'रोक' (Discipline) भी। हमारे नवयुवकोंमें 'जोश' है मगर वह संयम नहीं कि 'सैनहि रघुपति लषन निवारे' बड़ेका इशारा भावावेगके रोकनेको काफी है।

३—'होतेउँ न हँसाई' में उपहासभावकी सकरुणता विचारणीय है।

वीरकविजी—'यहाँ लक्ष्मणजीके हृदयमें क्रोध स्थायीभाव है। जनकजीद्वारा कही भाटोंकी वाणी आलम्बन विभाव

है, उनका कानोंमें पड़ना उद्दीपन विभाव है। रामचन्द्रजीका तिरस्कार सुनकर माखना, भौंह टेढ़ी होना, ओंठ फड़कना आदि अनुभाव हैं। वे चपलता, अमर्ष, उग्रतादि संचारी भावोंसे पुष्ट होकर 'रौद्ररस' हुआ है। दोहेमें 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।'

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई ॥ १ ॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी ॥ २ ॥

अर्थ—रघुवंशियोंमेंसे जहाँ भी कोई होता है उस समाजमें ऐसा (अनुचित वचन) कोई भी नहीं कहता कि जैसा अनुचित वचन जनकजीने, रघुकुलशिरोमणि आपको उपस्थित जानते हुए भी कहा है ॥ १-२ ॥

टिप्पणी—१ 'रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई' इस कथनसे पाया गया कि सभी रघुवंशी वीर हैं; सभीको धनुष तोड़नेका सामर्थ्य है। (ख) 'जहँ' से सूचित किया कि कैसा ही विकट कठिन काम वीरताका क्यों न हो, वे सब कर सकते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। (ग) 'कोउ' अर्थात् साधारणसे साधारण भी रघुवंशी क्यों न हो। 'कोउ' कहकर 'तेहि समाज' कहनेका भाव कि एक साधारण रघुवंशी भी समाजभरसे श्रेष्ठ होता है। लाखों वीरोंमें वह अग्रगण्य ही माना जाने योग्य है। वह एक ही सारे समाजकी मर्यादाकी रक्षाके लिये काफी है। (घ) 'तेहि समाज'। भाव कि जहाँ रघुवंशी न हों वहाँ ऐसे अनुचित वचन भले ही कहे जा सकते हों। (ङ) 'कहै न कोई' अर्थात् रघुवंशका प्रभाव सभी जानते हैं, रघुवंशका ऐसा ही प्रताप है। (अतः उनके रहते हुए ऐसा कहनेका अधिकार किसीको नहीं। कहनेपर रघुवंशी अपनी वीरता प्रकट करता है, इस अनुचितको सह नहीं सकता। वि० त्रि०)।

२ (क) 'बिद्यमान रघुकुल मनि जानी'। भाव कि उन्होंने जानबूझकर ये वचन रघुनाथजीहीपर कहे, सरासर रघुनाथजीका अपमान किया है। विश्वामित्रजीसे यह भी जान चुके हैं कि इन्होंने ताड़का सुबाहु आदिको मारकर यज्ञरक्षा की और समाजमें बुलाकर बैठाकर यह अपमान किया। अपमान समझकर ही ये वचन बाण-सरीखे लगे। (ख) ☞ 'कही जनक जसि अनुचित बानी'। यहाँ उन्होंने जनकजीको कोई कटु वचन नहीं कहे, इतना ही कहा कि वे अनुचित वाणी बोले। ऐसी अनुचित वाणी उनको न बोलनी चाहिये थी। यह साक्षात् न कहकर अभिप्रायसे जनाया। इससे जाना गया कि रघुनाथजीका डर है। 'कहि न सकत रघुबीर डर' यह यहाँ चरितार्थ किया। (ग) 'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी' कहनेसे जनकजीको उत्तरकी गुंजाइश न रह गयी। वे ये नहीं कह सकते कि हम इनको रघुकुलमणि और वीर न जानते थे। यदि जनकजी कहें कि हम जानते न थे कि ये रघुकुलमणि हैं तो उसपर कहते हैं कि यह बात नहीं है, वे श्रीरामजीको ऐसा जानते हैं, विश्वामित्रजी उनसे कह चुके हैं। यथा—'रघुकुलमनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए।', 'रामलखन दोउ बंधुबर रूप सील गुन धाम। मख राखेउ सब साखि जग जिते असुर संग्राम॥' (घ) 'रघुकुलमनि' कहनेका भाव कि रघुकुल तो स्वयं प्रकाशित है और ये तो उसके मणि हैं, प्रकाशरूप हैं, इनके प्रकाशसे कुल (और भी) प्रकाशित हो गया है।

सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू ॥ ३ ॥
जो तुम्हारि अनुसासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥ ४ ॥

अर्थ—हे सूर्यवंशरूपी कमलके (प्रफुल्लित करनेवाले) सूर्य! सुनिये, मैं स्वभाव ही कहता हूँ, कुछ अभिमानकी बात नहीं कहता ॥ ३ ॥ यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो गेंदकी तरह ब्रह्माण्डको उठा लूँ ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भानुकुल पंकज भानू' का भाव कि रघुकुल जगत् में 'भानु' (सम) है (इस कुलसे और सब कुलोंकी शोभा है और आप इस कुलके भी भानु हैं) जब आप भानु हैं तब भानुकुल कमल है। तात्पर्य कि यह कुल आपके आश्रित है, आपही इसके सुखदाता हैं। (ख) ऊपर रघुनाथजीको 'मणि' कहा और यहाँ 'भानु'। भाव कि जनकजीके जाननेके प्रसङ्गमें 'रघुकुलमणि' और अपने जाननेके सम्बन्धमें 'भानुकुलपंकज भानू' कहकर जनाते हैं कि जनकजी आपको मणि ही जानते हैं और मैं आपको भानु जानता हूँ। तात्पर्य कि मणिसे सूर्यमें अधिक प्रकाश होता है। जनकजीने आपके विद्यमान रहते अनुचित वाणी कही, इससे ज्ञात होता है कि वे आपके स्वरूपको अच्छी तरह नहीं जानते (यथार्थ जानते तो ऐसा न कहते अथवा स्वरूपको भूल गये)। इसी कारण लक्ष्मणजीने जनकजीका रामजीको 'मणि' समान जानना कहा और स्वयं उनके स्वरूपको अच्छी तरह जानते हैं इसीसे अपना रामजीको 'भानु' समान जानना कहते हैं। पुनः भाव कि जब 'रघुकुल' कहा तब रामजीको 'मणि' कहा और जब 'भानुकुल' कहा तब रामजीको

भानु कहा। इस प्रकार उत्तरोत्तर बड़ाई कही। रघुसे भानु अधिक हैं। यदि रघुकुलके भानु कहें तब 'भानुकुल' के क्या कहें ? भानुसे अधिक प्रकाश किसमें है ? यदि भानुकुलके मणि कहते तो इसमें रामजीकी हीनता होती, समझा जाता कि तेजमें अपने कुलसे हीन हैं। अतः जब रघुकुलको शोभित करना कहा तब मणिरूप कहा और जब भानुकुलको शोभित करना कहा तब भानुरूप कहा। (पुनः भाव कि भानुके पराक्रमको कौन कह सकता है, कमलके पराक्रमके सामने ही यह धनुष कुछ नहीं है। जिस कमलकुलके आप भानु हैं, उसीका मैं कमल हूँ। सब लोग कमलका पराक्रम देखें, भानुको पराक्रम दिखानेकी आवश्यकता नहीं। वि० त्रि०)। (ग) **'कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू।'** इति। अभिमान तमरूप है, यथा—**'मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान'**। **'भानुकुल पंकज भानू'** कहकर **'न कछु अभिमानू'** कहनेसे सूचित किया कि जैसे सूर्योदयसे किंचित् भी अन्धकार नहीं रह जाता इसीसे आपके ही प्रतापसे मैं कुछ अभिमानसे नहीं कहता, स्वभावसे ही कहता हूँ। पुनः भाव कि रामजीको अभिमान नहीं भाता, यथा—**'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ ७। ७४॥'** इसीसे अभिमानरहित वाणी बोलना कहा। पुनः भाव कि आगे जो वचन कहते हैं उनसे अभिमान पाया जाता है इसीसे प्रथम ही उसका निराकरण किये देते हैं कि इसे अभिमान न समझियेगा।

२ (क) **'जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं'** इति। आज्ञा पानेका भाव कि श्रीरामजी समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, यथा—**'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं'**, इसीसे बिना उनकी आज्ञाके ब्रह्माण्डका नाश नहीं कर सकते। और सेवकका धर्म ही है कि बिना स्वामीकी आज्ञाके ऐसा कोई काम न करे। (ख) **'कंदुक इव'** कहनेका भाव कि गेंद खेलना बालकोंका खेल है। उसी तरह गेंदके खेल-सरीखा खेल ही खेलमें ब्रह्माण्डको उठा लूँगा, यथा—**'द्रोन सो पहार लियो ख्याल ही उखारि कर कंदुक ज्यौं कपिखेल बेल को सो फलु भो'** (बाहुक)। ☞ भारी वस्तु खेलमें उठानेको जहाँ-जहाँ कहा है तहाँ-तहाँ प्रायः सर्वत्र कंदुककी ही उपमा देते हैं। पुनः, 'कंदुक इव' कहनेसे यह भी पाया गया कि लक्ष्मणजीने अपने बलकी अधिक प्रशंसा नहीं की, क्योंकि वे तो सारे ब्रह्माण्डको एक रजकणकी तरह धारण किये हुए हैं, यथा—**'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी'**। (ग) **'ब्रह्मांड उठाऊँ'**। भाव कि ब्रह्माण्ड सबका आधार है और सब आधेय हैं, जब आधार ही उठा लिया तब आधेय किस गिनतीमें हैं ? धनुष भी इसी ब्रह्माण्डके तिलभर भागमें है। (घ) भगवान् उठानेकी आज्ञा न देंगे, इसीसे 'जौं' संदिग्ध शब्द कहा। अभी प्रलयका समय नहीं है कि ऐसी आज्ञा दें।

काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि* तोरी॥ ५॥
तव प्रताप महिमा भगवाना†। को‡ बापुरो पिनाक पुराना॥ ६॥

अर्थ—(और उसे) कच्चे घड़ेके समान तोड़-फोड़ डालूँ। सुमेरु पर्वतको (भी) मूलीके समान तोड़ सकता हूँ॥ ५॥ हे भगवन्! यह सब आपके प्रतापकी महिमासे। उसके (प्रतापमहिमाके) सामने यह बेचारा पुराना धनुष क्या है ?॥ ६॥

टिप्पणी—१ ब्रह्माण्डको उठा लेनेमें **'कंदुक इव'** और फोड़नेमें **'काचे घट जिमि'** कहनेका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्डको उठा लेना तो मेरे लिये लड़कोंका गेंदका खेल है; पर गेंदके भीतर अवकाश नहीं है, वह फूटता नहीं है। इसीसे फोड़नेमें कच्चे घड़ेके समान कहा। अर्थात् ब्रह्माण्डको दबा दूँ तो वह टुकड़े-टुकड़े हो जाय। दोनोंमें कुछ भी परिश्रम नहीं—न उठानेमें न तोड़नेमें। उठानेमें कच्चे घड़के समान न कहा क्योंकि उसमें फिर यह भाव न आता कि खेल-सरीखा उठा लेंगे, घट लड़कोंके खेलकी चीज नहीं है। कच्चे घड़ेकी तरह तोड़ना कहा क्योंकि वह दबानेसे ही फूट जाता है, पक्के घड़ेके फोड़नेमें कुछ कठिनता होती है। [प्र० सं० में 'डारउँ फोरी' का भाव यह लिखा गया था कि जब ब्रह्माण्ड उठा ही लिया गया तब तो अवकाश (शून्य) ही रह गया, पटके किसपर ? इससे कहते हैं कि उसे हाथसे दाबकर ही फोड़ डालूँगा।]

शंका—जब ब्रह्माण्ड उठाकर फोड़ डालना कहा तब तो सुमेरु भी उसीमें आ गया, उसका तोड़ना पृथक् क्यों कहते हैं ? ब्रह्माण्डके नाशसे तो सुमेरुका भी नाश हो चुका ?

---

* इव—१७०४, छ०। जिमि १६६१, १७२१, १७६२, को० रा०। † बलवाना—१७०४। ‡ का०—१७०४, रा० प०, १७६२, छ०, को० रा०। को—१६६१, १७६२, पं०।

समाधान—(१) जनकजीने उठाना, चढ़ाना और तोड़ना तीनों कहे थे, यथा—'रहा चढ़ाउब तोरब भाई। तिलभर भूमि न सकेउ छड़ाई ॥' यहाँ जनकजीकी तीनों बातोंका उत्तर पृथक्-पृथक् दे रहे हैं। 'तिल भर भूमि न सकेउ छड़ाई' का उत्तर दिया कि धनुषको हटानेकी भली चलाई, जिसके आश्रित यह धनुष है, हम उसीको खेल ही खेलमें उठा लें। और जो कहा कि 'रहा'''' तोरब भाई' उसका उत्तर है कि धनुष क्या है, हम तो सुमेरुहीको मूलीकी तरह तोड़ डालें। ब्रह्माण्डको उठाना कहा और सुमेरुको तोड़ना कहा। गीतावलीमें सुमेरुको चढ़ानेको कहा है, यथा—'को बापुरो पिनाकु मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं। १। ८७।;' इसीसे यहाँ 'सुमेरु' का तोड़ना मात्र कहा, चढ़ाना गीतावलीमें कह ही चुके हैं, वहींसे ग्रहण कर लें। इस प्रकार तीनोंका उत्तर हो गया।

(२) ☞ अथवा तीन बातें कहकर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकारकी गुरुता दिखायी। ब्रह्माण्ड उत्तम गरू (भारी) है सो उसे गेंद-समान उठा लूँ, सुमेरु मध्यम गरू है अतः उसे मूलीकी तरह तोड़ना कहा और धनुष निकृष्ट है सो उसके बारेमें कहते हैं कि 'को बापुरो पिनाक पुराना'।

अथवा (३) बंदीजनने जो कहा था कि 'गरुअ कठोर बिदित सब काहू' उसका उत्तर देते हैं कि गुरुता और कठोरता दो गुण धनुषमें कहे सो ब्रह्माण्डके समान तो कोई वस्तु गरू नहीं है और न मेरुके समान कोई वस्तु कठोर है, हम ब्रह्माण्डको ही उठा लें और मेरुको ही तोड़ डालें, यह धनुष क्या हकीकत रखता है ? [या (४) यों कह सकते हैं कि जनकजीने तीन प्रकारका बल कहा। उसीका उत्तर तीन बातोंसे दिया—'डारौं फोरी' यह उत्तम, 'मेरु नवावौं' (गीतावलीके अनुसार) यह मध्यम और ब्रह्माण्ड उठावौं यह निकृष्ट। 'को बापुरो''''' अर्थात् यह तो महानिकृष्ट बलकी बात है [यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है। और जनकजीके वचनोंके प्रतिकारकी उत्कट इच्छा प्रदर्शित करना 'अमर्ष संचारी भाव' है—(वीर)]।

२ (क) 'तव प्रताप महिमा भगवाना' इति। पहले लक्ष्मणजीने कहा कि 'कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू' वही यहाँ चरितार्थ है। उन्हें अपने बलका अभिमान नहीं है, श्रीरामजीके प्रतापका बल है। ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, पालन और संहार श्रीरामजीके बलसे होता है, यथा—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।' इसीसे लक्ष्मणजीने ब्रह्माण्डका नाश करना उनके प्रतापसे कहा। (ख) 'भगवाना' का भाव कि आप ही उत्पत्ति और प्रलयके कर्ता हैं। आपके प्रतापसे यदि मैं इतना कर डालूँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?—'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।''''' पिनाक पुराना है इसीसे 'बापुरा' कहा, अर्थात् उसमें क्या गुरुता-कठोरता है। ['पुराना' में मतभेद है। किसीके मतसे यह पिनाक देवरातजीके समयसे इस कुलमें है और दक्षके समयमें इसका निर्माण हुआ। और किसीके मतसे त्रिपुरासुरके वधके समयसे यह है, काव्यार्थापत्ति अलंकार है।]

नोट—दोहा २५१ में दिये हुए श्लोकके उत्तरमें लक्ष्मणजीका यह वचन हनु० नाटक अङ्क १ श्लोक ११ में यह है—'देव श्रीरघुनाथ किं बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो मेर्वादीनपि भूधरान्न गणये जीर्णः पिनाकः कियान्। तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत्कौतुकं प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुं नेतुं निहन्तुं क्षमः।' अर्थात् देव! रामचन्द्रजी! बहुत कहनेसे क्या है ? मैं आपका दास लक्ष्मण हूँ जो मेरु आदि पर्वतोंको भी कुछ नहीं गिनता तो यह पुराना धनुष क्या ? आज्ञा दीजिये और दासका बल और कौतुक देखिये। इसे उठाने, नवाने, हिलाने, ले जाने और टुकड़े-टुकड़े करनेको भी मैं समर्थ हूँ। पर मानसमें यहाँके 'तव प्रताप''''' के लालित्यको विचारिये।

श्रीलमगोड़ाजी—१ परिस्थितिका प्रभाव देखा ! कोलाहलके संकोचमें रामजी न उठे थे, और राजा जनक धनुष न टूटनेसे अकुला उठे। उनसे भूलके कारण (और वह भूल भी आकुलताके कारण हुई) 'परिताप' ने कुछ कटुरूप धारणकर कठोर शब्द कहलाये। नाटकीयकलाका मजा देखिये, इस भूलको लक्ष्मणजी जान-बूझकर अपमान करना समझते हैं। 'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी।' उनका भाव वीर क्या रौद्ररूप धारण करनेको तैयार है। २ नाटकीयकला और महाकाव्यकलाके एकीकरणका लुत्फ देखिये। नाटकीयकलामें प्रत्युत्तररूप यह 'स्वप्रशंसा' अतिशयोक्ति रूपको भी धारण किये हुए भी अनुचित नहीं और महाकाव्यकलामें तो लक्ष्मणजी 'कृतांतभक्षक जन त्राता' हैं ही।

नाथ जानि अस आयेसु होऊ। कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ ॥ ७ ॥

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥ ८ ॥

अर्थ—हे नाथ! ऐसा जानकर आज्ञा होवे। मैं कौतुक करूँ (खेल दिखाऊँ) उसे भी देखिये ॥ ७ ॥ धनुषको कमलकी डण्डीके समान चढ़ा दूँ और (सत्य ही) सौ योजनतक लिये दौड़ता चला जाऊँ ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'जानि अस' अर्थात् यह जानकर कि हमारे बलप्रतापसे ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह उठा सकते हैं, मेरुको मूलीसरीखा तोड़ सकते हैं तब यह धनुष बिचारा क्या है। धनुष तोड़नेकी आज्ञा माँगते हैं। यहाँ 'जौं' संदिग्ध वचन नहीं कहते परंच जब ब्रह्माण्डके नाशकी आज्ञा माँगी थी तब 'जौं' कहा था; कारण कि उसके नाशकी आज्ञा रामजी न देंगे, उस आज्ञाके मिलनेमें संदेह था और धनुष तोड़नेकी आज्ञामें संदेह नहीं है। यह समय तोड़नेका है ही। (ख) 'कौतुक करौं' इति। प्रभु कौतुकी हैं ही, यथा—'पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा। ६। ९१ ॥' 'हँसे राम श्रीअनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता। ६। ११६ ॥' इसीसे कौतुक करके दिखानेको कहते हैं। पुनः भाव कि धनुषका उठाना, चढ़ाना और तोड़ना यह मेरा कौतुक है, इसमें मुझे कुछ परिश्रम न होगा। आज्ञा भरकी देर है, मैं कर दिखाऊँगा। पुनः भाव कि मैं जो धनुष उठाने, चढ़ाने और तोड़नेको कहता हूँ वह कुछ जनकजी-की प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये नहीं वरंच कौतुक दिखानेके लिये। प्रतिज्ञाके लिये ऐसा करना तो मेरे लिये पाप है, यथा—'मेरो अनुचित न कहत लरिकाई बस, पन परिमित और भाँति सुनि गई है। नतरु प्रभु प्रताप उतरु चढ़ाए चाप देतों पै देखाइ बल फल पापमयी है। गी० १। ८३। २ ॥' अपने स्वामीको तमाशा दिखानेके लिये धनुषको तोड़नेसे पाप नहीं है। पुष्पवाटिकामें श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कह चुके हैं कि सीताजी हमारी शक्ति हैं, यथा—'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥....' इत्यादि। इसीसे लक्ष्मणजी कहते हैं कि प्रतिज्ञाके निमित्त तोड़नेसे मुझे पाप लगेगा। (पुनः राजाओंको कौतुक देखना प्रिय है, अतः आज्ञा हो तो मैं कौतुक करूँ)।

२ (क) 'कमलनाल जिमि' अर्थात् बिना प्रयासके, यथा—'भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल।' (ख) 'सत जोजन' उपलक्षण है। अर्थात् अनन्त योजनतक। शत, सहस्र इत्यादि अनन्तवाची हैं। (ग) ☞ जनकजी-के 'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलभर भूमि न सकेउ छड़ाई' इन वचनोंका उत्तर यहाँ दे रहे हैं। 'रहौ चढ़ाउब' का उत्तर 'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ', 'तिलभर भूमि....' का उत्तर 'जोजन सत प्रमान लै धावउँ' है। और तोड़नेका उत्तर आगे देते हैं कि 'तोरौं छत्रकदंड....।' (घ) कमलनाल वह है कि जिसमें कमलका फूल रहता है। जनकजीने प्रथम चढ़ाना कहा, इससे इन्होंने भी प्रथम उसीको कहा। अथवा ब्रह्माण्ड और सुमेरु प्रथम कोटि है और पिनाक दूसरी कोटि है। प्रथम कोटिमें चढ़ाना न कहा था, इसीसे दूसरी कोटिमें प्रथम ही उसे कह दिया।

संत श्रीगुरुसहायलालजी—भाव कि 'जो मैं आपका सच्चा दास हूँ तो यथावत् प्रमाण ब्रह्माण्डोंका है उसके लयके लिये दौड़ परूँ, ले चलने और तोड़नेकी क्या बात है? वा कमलनालकी तरह बिना किंचित् श्रमके चढ़ा दूँ और यह कौन बड़ा है जो सैकड़ों योजन प्रमाणका भी हो तो भी लेकर दौड़ा चला जाऊँ।' वा 'शपथ करके कहते हैं कि जो आपके सच्चे दासोंमें मेरा प्रमाण हो तो कमलनालकी तरह कि जो बहुत कोमल है बिना रंचक परिश्रम चापको चढ़ाऊँ और लिये हुए जाऊँ, औरोंकी तरह काला मुँह करके न जाऊँ। यथा—'सुनहु भानुकुलकमल भानु जो अब अनुसासन पावउँ।....तौ प्रभु अनुग कहावउँ ॥' (गी० १। ८७)। जोजन सत प्रमान=सौ योजन प्रमाण करके=सौ योजनसे लेकर जितना प्रमाण आप कर दें।=जो आपका जन सच्चा होऊँ तो जितना प्रमाण आप कर दें उतना।'

☞ मिलान कीजिये।—'देखौ किन किंकर को कौतुक क्यों कोदंड चढ़ावौं। लै धावौं भंजौं मृनाल ज्यों तौ प्रभु अनुग कहावौं। गी० १। ८७ ॥'

दो०—तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ ॥२५३॥

शब्दार्थ—छत्रकदण्ड=कुकुरमुत्ता, भुइफोर, भुइगर्जन, भूमिका फूल। यह वर्षाकालमें आपसे आप उपजता है।

अर्थ—हे नाथ! आपके बल-प्रतापसे मैं उसे कुकुरमुत्ताकी तरह तोड़ डालूँ। जो ऐसा न करूँ तो प्रभो! आपके चरणोंकी सौगन्द धनुष और तरकशपर हाथ न धरूँ अर्थात् उसे न छुऊँ ॥ २५३ ॥

नोट—आधुनिक प्रतियोंमें 'भाथ' का पाठान्तर 'हाथ' मिलता है। 'कर' में तरकश नहीं धारण किया जाता, सम्भवतः इसीसे 'भाथ' का 'हाथ' कर दिया गया। गौड़जी कहते हैं कि 'धरना छूनेके अर्थमें आता है। कर धरौं=हाथसे छुऊँ। केवल छुऊँ या 'धरौं' कहनेसे काम चल जाता। 'कर' की क्या आवश्यकता थी? यहाँ 'कर' शब्द जानबूझकर विशेष जोर देनेके लिये लाया गया है। इसी 'कर' से तो ब्रह्माण्डके उठाने, तोड़ने और चापके चढ़ाने और तोड़नेकी बात कही। 'धनु भाथ' क्यों? 'धनु हाथ' क्यों नहीं? भाथ तो बाणोंका घर है, जब भाथ ही न छुऊँगा तब बाणकी क्या कथा है! इसलिये 'कर न धरौं धनु भाथ' ही उत्तम पाठ है। 'धरौं' का अर्थ यहाँ 'धारण करूँ' नहीं है। वीरकविजीका मत है कि 'धनुके संयोगसे भाथ यद्यपि तरकशको कहते हैं, पर यहाँ बाणहीकी अभिधा पायी जाती है, त्रोणकी नहीं।' इन्होंने 'न धारण करूँगा' अर्थ किया है। वि० त्रि० ने 'न उठाऊँगा' अर्थ किया है।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कोटिमें ब्रह्माण्डको उठाना और सुमेरुको तोड़ना श्रीरामजीके प्रतापसे कहा—'तव प्रताप महिमा भगवाना'। अतएव दूसरी कोटिमें धनुपका तोड़ना भी प्रभुके प्रतापसे कहा। यहाँ भी यदि 'तव प्रताप बल नाथ' न कहते तो समझा जाता कि ब्रह्माण्डका उठाना इत्यादि प्रभुके बलसे था और धनुष अपने बलसे तोड़ेंगे। अतएव 'तव प्रताप…' कहकर जनाते हैं कि मैं तो धनुषके योग्य भी नहीं हूँ, पर आपका प्रताप सब कुछ करा दे सकता है। (ख) [ऊपर सुमेरुको मूली सरीखा तोड़नेको कहा था, सो मूली कुछ पोढ़ी होती है। और 'पिनाक' को बापुरा और पुराना कहा था। अतएव उसके योग्य 'छत्रकदंड' का दृष्टान्त दिया क्योंकि यह छूते ही टूटता है (प्र० सं०)]। पुनः जब चापको कमलनाल सम चढ़ानेको कहा तब कमलनालसे भी कोमल जो छत्रकदण्ड है उसके समान तोड़नेको कहा।

२ (क) 'जौं न करौं' अर्थात् यदि धनुपको कमलनालकी तरह न चढ़ा सकूँ, सौ योजन दौड़ता हुआ न ले जाऊँ और छत्रदण्ड समान न तोड़ दूँ तो धनुप न टूटनेपर धनुपके त्यागकी प्रतिज्ञा की। (ख) प्रथम कविने कहा कि लक्ष्मणजी 'बोले गिरा प्रमान।' यहाँ लक्ष्मणजीने स्वयं ही अपनी गिराकी प्रमाणता पुष्ट कर दी—'जौं न करौं…।' ['कर न धरौं धनु भाथ' अर्थात् क्षत्रियपना, क्षत्रिय कहलाना छोड़ दूँ—(पाँड़ेजी)]।

☞ लङ्कामें लक्ष्मणजीने मेघनादके मारनेकी प्रतिज्ञा की, यथा—'जौं तेहिं आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥ ६। ७४॥' मेघनादका वध रघुनाथजीकी सेवा है। (उन्होंने उसके वधकी आज्ञा भी दी थी) इससे वहाँ 'सेवक न कहावउँ' यह प्रतिज्ञा की। पुनः लक्ष्मणजीने श्रीभरतजीको श्रीरामजीका शत्रु समझा तब शत्रुको मारना यह रामजीकी सेवा है; अतः वहाँ भी ऐसा ही कहा, यथा—'आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥ २। २३०॥' और यहाँ धनुपका तोड़ना क्षत्रियपना है, इससे यहाँ धनुप भाथके त्यागकी प्रतिज्ञा की।

(ग) आदिमें श्रीरामपदमें मस्तक नवाकर बोले यथा—'नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान।' अन्तमें रामचरणकी शपथ की—'प्रभुपद सपथ कर…।' इससे जाना गया कि श्रीरामचरणकमल ही आपके सर्वस्व हैं।

वि० त्रि०—विश्वास दिलानेके लिये प्रभु-चरणकी शपथ लेते हैं, क्योंकि इसे तोड़ना नहीं है। ब्रह्माण्ड उठाने, फोड़ने और मेरुको तोड़नेके विषयमें शपथ नहीं लेते, उसे कर दिखानेके लिये प्रस्तुत हैं, केवल आज्ञाकी देर है; पर धनुष को छूना नहीं है, अतः अपनेमें ऐसा सामर्थ्य होनेकी शपथ लेते हैं।

लपन सकोप बचन* जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ १॥
सकल लोग† सब भूप डेराने। सिय हिय हरषु जनकु सकुचाने॥ २॥

अर्थ—जब लक्ष्मणजी क्रोध भरे वचन बोले तब पृथ्वी डगमगा उठी (हिलने लगी) और दिशाओंके हाथी डोलने लगे (अर्थात् उनको अपनी जगहपर टिके रहना, पैर जमाये रहना कठिन हो गया; वे डाँवाँडोल हो गये, काँप गये इत्यादि।)॥ १॥ सभी लोग (पुरवासी) और सभी राजा डर गये। श्रीसीताजीके हृदयमें हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'लपन सकोप बचन…' इति। यहाँतक लक्ष्मणजीके मन, तन, और वचन तीनोंमें कोप दिखाया।

* १६६१ की पोथीमें 'जे' पाठ है। यदि 'जे' पाठ ही शुद्ध हो तो उसका अर्थ 'ज्योंही या जैसे ही' होगा। ऐसा प्रयोग कहीं और देखनेमें नहीं आया। भा० दा० का० पाठ 'जब' है। †—'लोक' भा० दा०। 'लोक' का अर्थ 'लोग' भी है। भुवनका अर्थ लें तो भी हो सकता है। अयोध्याकाण्डमें वचनसे लोक डर गये हैं।

'माषे लखन' यह मनका 'कुटिल मैं भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें' यह तनका और 'बोले गिरा''''सकोप बचन' यह वचनका कोप है। उनका अवतार भूभार हरण करनेके लिये है, यथा—'सेष सहस्र सीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमिभय टारन॥ १७७॥' वे ही ब्रह्माण्ड नाश करनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं इसीसे पृथ्वी काँप उठी कि अब हमारा रक्षक कौन है? (ख) 'जब बोले' का भाव कि जबतक मनमें और तनमें क्रोध रहा तबतक पृथ्वी न काँपी, क्योंकि तब कोई यह न समझ पाये थे कि क्यों और किसपर क्रोध हो रहा है; पर जब सकोप वचन बोले कि ब्रह्माण्डको कच्चे घड़ेके समान फोड़ डालूँगा तब पृथ्वी यह जानकर कि ये हमारा ही नाश करनेको हैं—डरी, काँपने लगी। दिग्गज भी घबड़ाकर काँप उठे। (कारण कि क्रोधमें भी ये अप्रमाण नहीं बोलते, यथा—'अति सरोष माषे लखनु लखि सुनि सपथ प्रमान। सभय लोक सबलोक पति चाहत भभरि भगान॥ २। २३०॥')। दिग्गजोंके काँपनेसे पृथ्वी हिल भी गयी और पृथ्वीके हिलनेपर 'सकल लोग सब भूप डेराने।' (ग) 'सकल लोग सब भूप डेराने' इति। सबका डरना पृथ्वीके डगमगानेके पश्चात् कहकर जनाया कि लक्ष्मणजीके वचन सुनकर राजा न डरे थे, [वे समझ रहे थे कि यह सब इनकी डींग है, कलके छोकड़े वा लौंडे हैं, भला ऐसा कभी कर सकते हैं कि ब्रह्माण्डको फोड़ दें, सुमेरुको तोड़ दें? भला, संसारमें कोई भी वीर ऐसा है जो इनमेंसे कोई एक भी काम कर सकता हो? कदापि नहीं]। पर जब इनके वचनपर पृथ्वी काँपी तब सबको इनके वचनपर विश्वास हो गया कि जिनके वचनका यह प्रभाव है वे क्या नहीं कर सकते? इन्होंने ब्रह्माण्डका नाश करनेको कहा है, सत्य ही ये उसका नाश करना चाहते हैं, अब हम मरे यह डर समा गया। यदि पृथ्वी न काँपती तो यह विश्वास न होता। सब यही समझते रहते कि वीर लोग सदा इसी तरह अपना बल बखान किया करते हैं। (उनके वचनोंको प्रमाणित करनेके लिये, उनकी सत्यप्रतिज्ञताका विश्वास सबके हृदयमें जमानेके लिये ही 'डगमगानि महि'''।' इसी कारण पहले 'डगमगानि महि कहा। प्र० सं०।)

२ (क) 'सकल लोग' में तो 'सब भूप' का भी ग्रहण हो जाता है तब 'सब भूपों' का डरना पृथक् क्यों कहा गया? कारण कि रङ्गभूमिमें धनुषयज्ञशालामें पृथक्-पृथक् दो कोटियाँ लोगोंकी बराबर कहते आये हैं—एक तो पुरवासियोंकी, दूसरे राजाओंकी। इनको पूर्व भी अलग-अलग कहते आये हैं। यथा—'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी'''सीय चकित चित रामहि चाहा। भये मोह बस सब नरनाहा। २४८। ४। ७॥' तथा यहाँ भी दोनोंका अलग-अलग डरना कहा। यदि यहाँ 'सकल लोग डेराने' लिखते और 'भूप डेराने' न कहते तो समझा जाता कि राजा नहीं डरे। (ख) 'सिय हिय हरषु' हर्ष यह समझकर हुआ कि जिनके सेवकमें यह सामर्थ्य है, उनके सामर्थ्यका तो कहना ही क्या? वे धनुष अवश्य तोड़ेंगे। जनक सकुचा गये यह सोचकर कि हमसे न बना जो हमने ऐसी बात कह डाली। क्रोधसे बोलनेपर अनेक विरोधी कार्योंका प्रकट होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

नोट—श्रीजनकमहाराज अपनी भूल समझकर सकुचा गये। मुनिसे इनका बल और पराक्रम सुन चुके थे तब भी माधुर्यमें भूल गये। लक्ष्मणजीके उत्साहवर्द्धक निराशा-भंजन वचन सुननेसे सीताजीको हर्ष हुआ। इनकी वाणी श्रीरामजीके प्रतापको दर्शित करने और बढ़ानेवाली एवं निर्भय है। अतः गुरु आदि सभीको आनन्द मिला। (रा० प्र०, पंजाबीजी)।

गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं॥ ३॥
सयनहि रघुपति लषनु नेवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥ ४॥

अर्थ—गुरु (विश्वामित्रजी), श्रीरघुनाथजी और सब मुनि मनमें प्रसन्न हुए और बारम्बार पुलकित होने लगे॥ ३॥ श्रीरघुनाथजीने इशारेसे लक्ष्मणजीको मना किया और प्रेमसहित अपने पास बैठा लिया॥ ४॥

☞ अन्तर-नाटकीयकला। (Inter Plot) का लुत्फ जगह-जगह देखते जाइये। किस सुन्दरतासे इस कोपका प्रभाव सबपर दिखा दिया। विशेषतः चरित्र-संघर्ष विचारणीय है। जनकजीका 'संकोच' और गुरु तथा रामजी आदिका 'मुदित पुनि पुनि पुलक'। फिर रामजीका 'सयनहि निवारना' और प्रेमसे 'निकट बैठाना' भक्ति और प्रेमकी जान तो हैं ही, भावमर्मज्ञता और सूक्ष्म प्रगतिचित्रण (फिल्मकला) भी इनपर निछावर होते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'मन माहीं' इति। श्रीलक्ष्मणजीने श्रीजनकजीके वचनोंका बड़े जोरसे खण्डन किया जिससे वे इस समय सकुचा गये हैं। इसीसे सबने अपना हर्ष मनमें रक्खा। बाहर प्रकट न किया। इस समय यदि मुनि, गुरु और श्रीरामजी ऊपरसे भी प्रसन्नता दिखाते तो रस जाता रहता, जनक महाराजका प्रकटरूपसे और भी अपमान होता, ऐसे ही

बड़ेका अपमान हो गया है; अतः इन्होंने अपने हर्षको मनहीमें रक्खा। यहाँ लक्ष्मणजीकी प्रशंसा भी न की, क्योंकि प्रशंसा भी इस समय उचित न थी। (ख) 'पुनि पुनि पुलकाहीं' का भाव कि लक्ष्मणजीकी प्रत्येक बात प्रेमसे पुलकित कर देनेवाली है। एक तो यह कि अभी लड़के हैं तो भी ऐसे मौकेकी बात कही कि 'शायद बायद'। ये बातें रामजीके मुखसे निकलतीं तो शोभाको न प्राप्त हो सकतीं, लक्ष्मणजीके ही योग्य थीं। श्रीजनकजीके अपमानसूचक कोई वचन इसमें नहीं है; उनके प्रति कोई अनुचित बात नहीं कही गयी। जो कुछ कहा सब यथार्थ ही कहा गया। अपना बल कहा सो उसमें भी श्रीरघुनाथजीका ही प्रताप मुख्य रक्खा, इत्यादि प्रत्येक बातको (अर्थात् अवसरप्राप्त क्रोध, अप्रतिम तेजस्विता, अमोघ वीर्य और अलौकिक विवेकको—वि० त्रि०) समझ-समझकर बार-बार पुलकित हो रहे हैं। (ग) 'मन माहीं मुदित भए' यह मनका हाल और 'पुनि पुनि पुलकाहीं' यह तनका हाल कहा। वचनका मौका नहीं है, इसीसे वचन कहना न लिखा। विश्वामित्रके कहनेका जो समय है उसे आगे कहते हैं। (घ) अनेक उपमाओंका एक ही धर्म 'मुदित' कथन करना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है।

२ (क) 'सयनहि रघुपति लखनु नेवारे' इति। इशारेसे ही निवारण करनेका भाव—(१) प्रथम कह आये हैं कि 'मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं' अत्यन्त प्रेममें वचन नहीं निकलते। (२) इस समय लक्ष्मणजीने अपनी वीरता एवं अपने बलकी प्रशंसा की है, बल बखाना है, ऐसी हालतमें 'बैठो' इतना ही मात्र कह देनेसे बलकी सारी प्रशंसा धूलमें मिल जाती, सारे बलका निरादर सूचित होता, इसीसे मुँहसे कुछ न कहकर इशारा भर किया। (३) सभामें अपने मुखसे सबके सामने यह न कह सकते थे कि सीताजी हमारी शक्ति हैं, तुम्हें धनुष न तोड़ना चाहिये। पुष्पवाटिकामें कुछ संकेत इसका कर चुके हैं। पुनः, [(४) मुखसे कहकर बिठाते तो लोग समझते कि अपना बल प्रकट करनेके लिये उन्होंने ये वचन कहलाये हैं, इससे गम्भीरतामें दोष आता।' (पं०)। (५) कुटिल राजा खुश होंगे कि अब लक्ष्मणजी तोड़नेको हैं, दोनों भाइयोंमें अब वैमनस्य हो जानेसे युद्ध होगा, अतः इशारेसे मना करके उनको बिठाकर यह दिखाया कि ये हमारे अधीन हैं, आज्ञामें हैं। (पं०)। अथवा, (६) इस तरह लोगोंको प्रतीति करायी कि जिनके वचनसे पृथ्वी हिल गयी उनसे इनका बल कहीं अधिक होगा तब तो इनके इशारेमात्रसे वे चुप हो गये। (पं०)। (७) यहाँ धनुष तोड़ना और विवाह करना एक बात है। बिना बड़ेकी आज्ञाके विवाहके लिये स्वयं अग्रसर होना ठीक नहीं, पिताके स्थानमें मुनिजी हैं। वे कुछ कह नहीं रहे हैं। अतः बैठ जाओ। यह रोकना अप्रसन्नताका परिणाम नहीं है, इसलिये प्रेमके सहित निकट बैठाया। भाव कि तुम्हारी इच्छाको मैं पूरी करूँगा। (वि० त्रि०)]। (ख)—'प्रेम समेत निकट बैठारे' इति। इससे जनाया कि पहले मुनिके एक ओर लक्ष्मणजी थे दूसरी तरफ रामजी। अब अपने पास बैठा लिया, यथा—'भूपति किसोर दुहुँ ओर बीच मुनिराज देखिबेको दाउँ देखौ देखिबो बिहाइ कै। गी० १। ८२॥' यह भी जनाया कि लक्ष्मणजीने खड़े होकर ये सब बातें आवेशमें कही थीं; वहाँ इनका खड़ा होना न कहा गया था, यहाँ 'बैठारे' कहकर उसे जना दिया। पुनः अपने बगलमें बिठानेसे उनका आदर हुआ। यथा—'अति आदर समीप बैठारी॥ ६। ३७॥'

मिलान कीजिये—'बिहँसि हिय हरषि हटके लखन राम सोहत सकोच सील नेह नारि नई है॥ ३॥ 'सहमी सभा सकल जनक भए बिकल'''॥ गी० १। ८३॥' 'हरषे पुर नर नारि सचिव नृप कुँवर कहे बर बैन। मृदु मुसुकाइ राम बरज्यो प्रिय बंधु नयन की सैन। गी० १। ८७॥'—मानसमें इनसे विशेष गम्भीरता दरसायी है।

बिस्वामित्रु समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी॥ ५॥
उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा॥ ६॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी शुभ समय जानकर अत्यन्त प्रेमभरी वाणी बोले। हे राम! उठो, शिवजीका धनुष तोड़ो (और) हे तात! जनकका संताप मिटाओ॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'शुभ समय' अर्थात् सुन्दर मङ्गलमय सिद्धियोगवाला उत्तम मुहूर्त्त जिसमें कार्य अवश्य हो। पुनः 'शुभ समय' यह कि सब राजा पुरुषार्थ करके हार गये, [अब किसीको यह कहनेका मौका न रह गया कि रामचन्द्रजीने पहले ही तोड़ दिया, नहीं तो हम अवश्य तोड़ डालते। अब धनुष तोड़नेसे श्रीरामजी त्रैलोक्य विजयी कहलायेंगे और त्रैलोक्यमें इनकी कीर्त्ति होगी। (प्र० सं०)। पुनः शुभ इससे कहा कि इस समय सभाभरमें यही चर्चा व्याप्त है और सभीकी लालसा है कि धनुष टूटे। (पाँ०)। वा इस समय लक्ष्मणजीके वचनसे वीरताका उदय हुआ, अब उसको प्रकट करनेका अवसर है, अतः इसे शुभ समय कहा। (वै०)]

(ख) 'अति सनेहमय बानी' इति। भाव कि धनुष तोड़नेकी आज्ञा देते हुए एवं देनेमें मुनिको 'अत्यन्त स्नेह' हुआ। जब श्रीरामचन्द्रजी धनुष तोड़ने चले तब सबोंको 'स्नेह' हुआ, यथा—'चलत राम सब पुरनरनारी। पुलक पूरि तन भए सुखारी॥ २५५। ६॥' 'रामहि प्रेमसमेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ। सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥ २५५॥ 'प्रभुतन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥ २५९। ७॥' (सीताजी), 'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड। पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मांड॥ २५९॥' तथा विश्वामित्रजीको उठकर धनुष तोड़नेकी आज्ञा देनेमें स्नेह हुआ। (सबको स्नेह हुआ और इनको अति स्नेह।) पुनः भाव कि लक्ष्मणजीके वचन सुनकर 'स्नेह' हुआ और रामजीको धनुष तोड़नेकी आज्ञा देनेमें अति स्नेह हुआ। पुनः (ग) 'अति सनेहमय बानी' बोलनेका भाव कि वहाँ बोलनेका मौका न था, अब मौका बोलनेका है।

२ (क) 'उठहु राम, मेटहु तात' यह अति स्नेहमयवाणीका स्वरूप दिखाया कि 'राम' और 'तात' दो (प्यारके) सम्बोधन दिये। दोनोंमें कितना प्रेम टपक रहा है! [पुनः 'उठहु' का भाव कि मेरी आज्ञाकी प्रतीक्षामें लक्ष्मणजीके इतना कहनेपर भी नहीं उठते हो, तो लो मैं आज्ञा देता हूँ, जनकजीके परितापके मिटानेको लक्ष्यमें रखकर धनुष तोड़ो। भवचापके तोड़नेकी आज्ञा देकर सारा प्रातिभाव्य (जिम्मेदारी) मैं अपने ऊपर लेता हूँ। (वि० त्रि०)]। (ख) 'मेटहु तात जनक परितापा' इति। जैसे बन्दीजनोंने राजाओंको 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही' यह लाभ दिखाकर धनुष तोड़नेको कहा था वैसा लाभ दिखाकर महर्षि विश्वामित्रजी श्रीरामजीको धनुष तोड़नेको नहीं कहते, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी परमेश्वर हैं, पूर्णकाम हैं, उनको लोभ दिखाना अज्ञान है। जो वस्तु किसीके पास नहीं होती उसीका उसको लोभ होता है और यहाँ तो रामजी 'सकल लोकपति स्वामी' हैं और सीताजी उनकी परम आद्यशक्ति हैं ही। मुनि यह जानते हैं), इसीसे जनकका 'परिताप' मिटानेके लिये धनुष तोड़नेको कहते हैं। क्योंकि 'भक्तका संताप मिटानेमें भगवान्के उत्सव होता है। जैसे 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही' के मिलनेका उत्सव राजाओंके हुआ वैसे ही जनक-परितापके मेटनेका उत्सव श्रीरामजीके हुआ।' (पं० रामकुमारजीके 'उत्सव' शब्दका भाव 'उत्साह' जान पड़ता है। भक्तका दुःख मिटानेमें भगवान्को प्रसन्नता होती है)। (ग) 'परिताप' पहले कह आये हैं, यथा—'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुआरि रहउ का करऊँ।'''॥ २५२। ५॥' इत्यादि। लड़की कुँआरी रहनेसे जगत्में उपहास होगा, यही 'परिताप' है।

नोट—१ जैसे यहाँ मुनिने अति स्नेहसे धनुष तोड़नेकी आज्ञा दी वैसे ही धनुष टूटनेपर सबसे पहले इन्हींका अत्यन्त स्नेह कविने प्रकट किया है। यथा—'कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥ रामरूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥ २६२। २-३॥'

३ 'विश्वामित्रजीका नाम यहाँ खिल उठता है। सच है, वे विश्वके मित्र हैं। राम-सीय-विवाह विश्वकल्याणके निमित्त ही है और फिर 'विश्व' नेतृत्वका परिवर्तन भी होना है। 'पशुबल' (परशुराम) पर 'सत्य सील दृढ़' (राम) की विजय होगी, इत्यादि। आज्ञाका अपीलरूप और वह भी सकरुण विचारणीय है। (लमगोड़ाजी)।

३ 'भंजहु भव चापू' के ये भाव कहे जाते हैं—(क) आपका नाम भवभयभंजन है, यथा—'भंजेउ राम आप भवचापू। भवभयभंजन नाम प्रतापू'॥ आपके लिये भवका धनुष तोड़ना क्या कठिन है? (ख) 'यह मनुष्योंका धनुष नहीं है जिसमें आपकी कुछ लघुता हो। यह महेशका धनुष है, इसके तोड़नेमें आपकी न्यूनता न होगी। इसपर यह प्रश्न होता है कि परम भक्त शिवजीका धनुष कैसे तोड़े? उसका उत्तर देते हैं कि जनक बहुत दुखी हैं, उनके दुःखको मिटाइये, बिना इसके तोड़े उनका दुःख न मिटेगा।'—(पंजाबीजी)। 'जनक परितापू' से जनाया कि यह धनुष परितापका उत्पन्न करनेवाला है। इसमें वीर और करुणा दोनों रसोंका वर्णन है।' जनक=उत्पन्न करनेवाला। (पाँड़ेजी)। इससे जनकजीकी निर्दोषता भी द्योतित करते हैं कि उन्होंने अति परितापसे विकल होकर 'बीर बिहीन मही' ये वचन कहे थे। (वि० त्रि०)।

४ (पं० रामकुमारजी)—भवचाप भंजनमें 'राम' कहा और परिताप मेटनेमें 'तात'। तात्पर्य कि हम तुम्हारे नामका प्रताप जानते हैं कि वह भव-भंजन करता है तब भव-चापका नाश तुम्हारे लिये क्या है। तुम सबके 'तात' अर्थात् माता, पिता, बंधु, सखा सब कुछ हो; अतः तुमको 'जनकका परिताप' मिटाना योग्य ही है। 'तात' शब्द माता-पिता-भाई सखा सबका वाचक है।

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥ ७॥
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए*। ठवनि जुवा मृगराजु लजाए॥ ८॥

अर्थ—गुरुके वचन सुनकर (श्रीरामजीने उनके) चरणोंमें मस्तक नवाया। (उनके) हृदयमें हर्ष-विषाद कुछ भी न आया॥ ७॥ सहज स्वभावसे ही वे उठकर खड़े हो गये। उनकी 'ठवनि' (खड़े होनेका ढङ्ग) जवान सिंहोंको भी लज्जित कर देती है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'चरन सिरु नावा' इति। राजा लोग जब धनुष तोड़ने चले तब अपने-अपने इष्टदेवोंको सिर नवाकर चले, इसी तरह श्रीरामजी गुरुको प्रणाम करके चले। इससे जनाया कि हमारे इष्टदेव गुरु हैं। (ख) गुरुके वचन सुनकर गुरु-चरणोंमें सिर नवानेका भाव कि आपकी आज्ञाका प्रतिपालन आपके चरणोंकी कृपासे होगा।

२ 'हरष बिषाद न कछु उर आवा' इति। (क) अर्थात् न तो त्रिभुवन जय और जानकीजीकी प्राप्तिका हर्ष हुआ और न यही हर्ष हुआ कि धनुषको हम सहज ही तोड़ लेंगे यह धनुष है ही क्या। धनुष हमसे टूटेगा यह समझकर हर्ष न हुआ। धनुष हमसे न टूटेगा यह समझकर विषाद न हुआ। क्योंकि उनको निश्चय है कि हम धनुषको तोड़ेंगे। (ख) धनुषके टूटनेमें भारी हर्ष और न टूटनेमें भारी विषादकी प्राप्ति (अनिवार्य) है। पर श्रीरामजीको हर्ष-विषाद कुछ भी न हुआ, क्योंकि वे हर्ष-विषादरहित हैं। यथा—'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥ २। १२।' (देववाक्य), 'राज सुनाइ दीन्ह बनवासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू। २। १४९। ७।', 'हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीर। २७०।' पुनः, (ग) हर्ष-विषाद कुछ न हुआ क्योंकि जीर्ण धनुषके तोड़नेमें कोई वीरता नहीं, यथा—'का छति लाभु जून धनु तोरे। २७२। २।' इससे हर्ष न हुआ। और जीर्ण धनुषके तोड़नेसे कोई हानि नहीं होनेकी (वह तो टूटा सड़ा हुआ है ही) इससे विषाद नहीं हुआ। [हानि-लाभसे ही विषाद और हर्ष होता है। जब इसके तोड़नेसे श्रीरामजीको न कुछ लाभ ही है न हानि तब हर्ष या विषाद क्यों होता। पुनः, (घ) हर्ष-विषाद जीवके धर्म हैं; यथा—'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना। ११६। ७।' और श्रीरामजी ब्रह्म हैं—'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।''''११६।'; अतः उनके हृदयमें हर्ष-विषाद आ ही नहीं सकते। (ङ) ☞ राजाओंको लाभ सुनकर हर्ष हुआ था, यथा—'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।', इसीसे उनको धनुष न उठा सकनेपर विषाद हुआ था। यथा—'सब नृप भये जोग उपहासी।''''श्रीहत भये हारि हिय राजा। श्रीरामजी कोई लाभ समझ धनुष तोड़नेको नहीं उठे क्योंकि उनको कोई नयी वस्तु तो मिलनी नहीं है, इसीसे हर्ष नहीं और विषादकी तो कोई बात ही नहीं है। (च) धीर हैं, इसलिये हर्ष-विषाद कुछ भी मनमें न आया। यथा—'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।' (वि० त्रि०)] (छ) यहाँ 'कछु' के दो अर्थ हैं। एक तो 'किंचित्', दूसरा कोई। हर्ष या विषाद कोई भी एवं किंचित् भी हृदयमें न आया। पुनः (ज) 'चरन सिरु नावा' से पाया गया कि कुछ समझके हर्ष हुआ इससे चरणोंमें मस्तक नवाया अथवा कुछ समझकर विषाद हुआ होगा इससे प्रणाम करते हैं जिसमें विषाद दूर हो जाय; इसका निराकरण करनेके लिये 'हरष बिषाद न कछु''''' कहा अर्थात् हर्ष अथवा विषादके कारण नहीं मस्तक नवाया किन्तु स्वाभाविक ही सिर नवाया। यथा—'राम लखि कौसिक असीस आज्ञा दई है। तुलसी सुभाय गुरुपायँ लागि रघुराज सिवसिराज की रजाइ माथे मानि लई है। गी० १। ८३। ४।' ['चरन सिरु नावा' में 'अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी' तथा यह कि इन चरणोंके प्रभावसे आज्ञाका पालन हो जायगा, ये दोनों भाव हैं। 'हरष बिषाद न कछु उर आवा' से जनाया कि ये अकाम हैं। इसके प्रतिकूल श्रीसीताजी और श्रीसुनयनाजी दोनोंको प्रथम विषाद हुआ और फिर धनुष टूटनेपर हर्ष भी। (प० प० प्र०)]।

२ (क) 'न कछु उर आवा' इति। 'आवा' एकवचन क्रिया दी, क्योंकि ये दोनों एक साथ नहीं आते, जब हर्ष आता है तब विषाद नहीं और जब विषाद आता है तब हर्ष नहीं। यदि इतना ही कहते कि 'हरषु न उर आवा' तो सम्भव था कि कोई यह समझता कि विषाद हुआ होगा, अतः कहा कि 'हरषु बिषादु न कछु'''''। (ख) 'ठाढ़े भये उठि सहज सुभाएँ' इति। भाव कि राजालोग धनुष उठानेके लिये अकुलाकर उठे थे। यथा—'परिकर बाँधि उठे अकुलाई'।

* सुहाए—१७०४; को० रा०। सुभाए—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

इसके विरुद्ध श्रीरामजी 'सहज सुभाएँ' उठे, अर्थात् ये 'अकुलाये नहीं। वे उठकर तुरत चल दिये थे, ये उठकर सिंहकी तरह पहले निःशंक खड़े हो गये। सिंहका स्वभाव है कि पहले किंचित् खड़ा हो जाता है तब चलता है। ☞ जब हृदयमें हर्ष या विषाद होता है तब स्वाभाविक चाल बदल जाती है, यहाँ 'हरषु बिषाद न कछु उर आवा' इसीसे सहज स्वाभाविक जैसे उठकर खड़े होते हैं वैसे ही खड़े हुए। (ग) 'सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा' यह कहकर तब लिखते हैं कि 'ठाढ़े भये····' इससे जनाया कि गुरुके पास बैठे हैं, अतः चरणोंमें सिर नवाकर तब उठे। (घ) 'ठवनि' अर्थात् निःशंकतामें।—[इस शब्दके अर्थ दोहा २४३ 'कुंजरमनि कंठा कलित····' में देखिये।]

श्रीराजारामशरणजी—'सहज सुभायें' रामजीकी ओरसे है परंतु स्वाभाविक वीर शृङ्गाररसका प्रभाव यह है कि 'ठवनि जुवा मृगराज लजाए' (कोई कृत्रिम उद्योग नहीं)। स्वभाव और प्रभावका सूक्ष्म अन्तर हर जगह विचारणीय है और कलाकी (विशेषतः नाटकीय कलाकी) जान है।

दोहा—उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥२५४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीरूपी बाल (प्रातःकालके) सूर्यके मंचरूपी उदयाचलपर उदय होनेपर सब संतरूपी कमल खिल गये और सबके नेत्ररूपी भ्रमर हर्षित हुए॥ २५४॥

टिप्पणी—१ प्रथम श्रीरामजीके आगमनको अरुणोदय कहा, यथा—'अरुनोदय सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन। जिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन॥ २३८।' अब राजसभामें बालपतङ्गके समान रघुनाथजीका उदय कहा। पहिले अरुणोदय होता है, उसके पीछे बालपतङ्गका उदय, तब अन्धकारका नाश होता है। वैसे ही यहाँ पहले आगमन है, पीछे मंचसे उठनारूपी उदय (मंचपर तो बैठे ही थे, उठकर खड़े होना यह उदय होना है), और तब धनुषका नाश है।

२ (क) उदयगिरिकी उपमा देकर सूचित किया कि यह मंच सब मंचोंसे ऊँचा है। (ख) 'बिकसे संत सरोज सब' इति। सूर्यके स्नेही बहुतसे वृक्ष और औषध हैं पर संतको उनकी उपमा न देकर कमलकी उपमा दी, क्योंकि कमल भगवान्‌के अंगोंका उपमान है और उत्तम है। (ग) 'हरषे लोचन भृंग' इति। ☞ यहाँ कमल और भ्रमरका सम्बन्ध नहीं है अर्थात् संत-कमलको देखकर नेत्रभृङ्ग सुखी हुए हों यह बात यहाँ नहीं है। सूर्यके उदयसे भ्रमर सुखी हुए हैं। [सूर्योदयसे भ्रमरोंका सुख यह कि वे अपना भोग-विषय पा गये, इसी तरह सबके नेत्र अपना विषय रूप-दर्शन पाकर सुखी हुए। (घ) पूर्वार्धमें सूर्योदय कहा, उत्तरार्धमें उदयका धर्म कहते हैं। उदयपर 'कमल कोक खग मधुकर' सभी सुखी होते हैं, यथा—'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥ २३९। २।' संत कमल हैं, ये कमलकी तरह सर्वाङ्ग प्रफुल्लित हो गये। और सब लोगोंके नेत्र भ्रमर हैं। संतोंके नेत्र भ्रमर नहीं हैं, वे तो सर्वाङ्ग कमल हैं, उनके नेत्र भी कमलवत् विकसित हैं। तात्पर्य कि भगवान्‌को देखकर जैसा हर्ष संतको होता है वैसा औरोंको नहीं होता, इसीसे संतका सर्वाङ्गहर्ष कहा और अन्य सब लोगोंका एक अंग कहा।

मा० त० वि०—'कुटिल राजाओंकी आशारूप निशाके कारण जो संकोचको प्राप्त हो रहे थे वे 'संत-सरोज' गद्गद हो गये। और, महाराजके चरित्ररूपी रसकी अभिलाषामें जो अपने नेत्र-भृङ्गप्राय किये हुए थे वे हर्षको प्राप्त हुए। अतः 'अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे।' ॥ वा, २—खेदके समय अद्यावधि हृदय सम्पुटित हो जाता है। सो संतोंका हृदयसरोज एवं सहस्रकमल, जो मस्तकमें है, खुल गया। और इनके मध्यमें जो लोचन इनका भ्रमररूप हो रहा था, खेदवान्, वह हर्षित हुआ अर्थात् दिव्य दृष्टिसम्पन्न हो गया। इसीलिये कमल और नेत्रहीकी दशा कही।—'भये बिसोक कोक मुनि देवा'।

नोट—१ कुछ महानुभावोंका मत है कि 'लोचन भृंग' भी संतोंहीके नेत्रोंके लिये कहा गया है और कुछका यह कि पुरवासियोंके नेत्रोंको भृङ्गकी उपमा दी गयी है—'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥' इनका कहना है कि एक ही व्यक्तिको कमल और भ्रमर कैसे कह सकते हैं। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि 'श्रीरामजीको खड़े होते हुए देखकर मुनि-समाज प्रफुल्लित हुआ और उस समाजको प्रफुल्लित देखकर और सब लोग भी प्रसन्न हुए, इस अनुमानसे कि जब श्रीरामजीको आते हुए देखकर त्रिकालज्ञ मुनिमण्डली प्रसन्न हो रही है तो श्रीरामजी अवश्य ही धनुष तोड़ेंगे। लोचनभृङ्ग

उनके लिये नहीं वरन् अन्य लोगोंहीके लिये उचित है। क्योंकि सरोज और भृङ्ग ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो सकते हैं। अङ्गाङ्गी नहीं। २ यहाँ परम्परित रूपक है और आगे सूर्योदयपर साङ्गरूपक बाँधा गया है।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी॥ १॥
मानी महिप कुमुद सकुचानें। कपटी भूप उलूक लुकानें॥ २॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा॥ ३॥

अर्थ—राजाओंकी आशारूपी रात्रि नष्ट हो गयी, उनके वचनरूपी नक्षत्रोंकी पंक्ति (अब) प्रकाश नहीं करती। अर्थात् जैसे सूर्योदयसे नक्षत्रसमूहका प्रकाश जाता रहता है, वे दिखायी नहीं पड़ते, वैसे ही राजाओंका बोल बंद हो गया॥ १॥ अभिमानी राजारूपी कुमुद संकुचित हो गये, कपटी राजारूपी उल्लू छिप गये॥ २॥ मुनि और देवतारूपी चकवे शोकरहित हो गये। वे फूलोंकी वर्षा करके अपनी सेवा प्रकट कर रहे हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी' इति। जब राजाओंसे धनुष न उठा तब वे आशा किये बैठे रहे कि जयमाल-स्वयंवर होगा। उसी आशाको रात्रि कहा। रात्रिमें कुछ सूझता नहीं, इसी तरह राजाओंको आशामें सूझता नहीं कि 'जानकीजी हमको न मिलेंगी'। रात्रिमें नक्षत्र चमकते हैं, वैसे ही राजा लोग श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी आशामें वचनोंसे अपना प्रकाश करते रहे। रात्रिके जानेपर नक्षत्र नहीं रह जाते, वैसे ही आशा न रह जानेसे वचन बंद हो गये। (ख) जबतक सूर्योदय नहीं होता, तबतक रात्रि नहीं जाती, यथा—'राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ। सकल गिरिन्ह दव लाइये बिनु रबि राति न जाइ॥ ७। ७८॥' इसी तरह बन्दीवचन सुनकर जब राजा धनुष तोड़ने गये और वह टस-से-मस भी न हुआ, वे अपना-सा मुँह लेकर लौट आये, तब भी आशा न गयी। पुनः जनकजीके कहनेपर भी कि 'तजहु आस निज निज गृह जाहू' आशा न गयी और वे बने ही रहे। जब सूर्यके समान श्रीरामजीका तेज देखा तब सबको विश्वास हो गया कि ये अवश्य तोड़ेंगे; क्योंकि तेजस्वी पुरुष क्या नहीं कर सकता?—'तेजवंत लघु गनिअ न रानी'। (ग) 'बचन नखत······' इति। जब श्रीरामचन्द्रजीको चन्द्रमारूप कहा तब राजाओंके तनका प्रकाश कहा, यथा—'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे॥ २४५। १।' क्योंकि चन्द्रमाके साथ तारागणका कुछ तेज बना रहता है और जब रामजीका सूर्यसे रूपक बाँधा तब तनके तेजकी कौन कहे वचनरूपी नक्षत्र भी अस्त हो गये अर्थात् मारे डरके कोई बोल भी नहीं सकता। तनकी जो दशा हुई उसे आगे कहते हैं।

२ 'मानी महिप कुमुद सकुचाने।······' इति। (क) जिनके विषयमें कहा था कि 'भट मानी अतिसय मन माखे' वे ही यहाँ 'मानी महीप' हैं और 'रहे असुर छल छोनिप बेषा' वे ही 'कपटी भूप' हैं। (ख) जब श्रीरामजीको चन्द्ररूप कहा तब वहाँ कुमुद, चकोर, कोक, उलूक इत्यादि न कहे, किसीका दुःख-सुख न कहा; क्योंकि जानते थे कि आगे सूर्यका रूपक करना है। जब आगमनको अरुणोदय कह चुके हैं तब सूर्यका उदय कहना ही पड़ेगा। चन्द्रमाके रूपकमें यदि कुमुद-चकोर और कोक-उलूकका सुख लिखते तो सूर्यके रूपकमें कुमुद-चकोर और कोक-उलूक आदि कहना पूर्वसे विरुद्ध होता। क्योंकि जिनको चन्द्रमा सुख देता है उनको सूर्य दुःख देता है और जिनको सूर्य सुख देता है उनको चन्द्रमा दुःख देता है। तात्पर्य कि चन्द्रमाके रूपकमें रामजी जिनको सुख देते हैं उन्हींको सूर्यके रूपकमें रामजी दुःख कैसे देंगे! अर्थात् एक श्रीरामजीके साथ एक ही व्यक्तिको दुःख और सुख दोनों देना कैसे कहा जाय? इस विचारसे चन्द्रमाके रूपकमें कुमुद आदि न कहे गये। (ग) राजाओंके मन, वचन, तन तीनोंका हाल कहा। 'आसा निसि नासी' (मनका), 'बचन नखत अवली न प्रकासी' (वचनका) और 'मानी महिप कुमुद सकुचानें। कपटी भूप उलूक लुकानें॥' (तनका हाल है)। (घ) यहाँतक दिखाया कि श्रीरामानुरागी लोग श्रीरामजीका तेज देखकर कमलकी तरह विकसित हो गये, रामविरोधी उनका तेज देख कुमुदवत् सकुचा गये और उल्लूकी तरह छिप गये। जो मानी हैं वे अपनेसे बड़ेको देखकर सकुचा जाते हैं इसीसे मानियोंका सकुचाना कहा। कपटी अपना कपट छिपानेके लिये छिपा करते हैं इसीसे कपटी राजाओंका छिपना कहा। राजाओंमें दो भाग 'मानी' और 'कपटी' करके दिखानेमें भाव यह है कि एक तेज देखकर सकुचा गये और दूसरे तो तेज देख ही न सके इससे जा छिपे।

३ (क) 'भये बिसोक' से अनुमान होता है कि श्रीरामजीकी कोमलता देखकर और धनुषकी कठोरता समझकर

देवताओं और मुनियोंको शोक था, वे सोचते थे कि इनसे धनुष कैसे टूटेगा ? यथा—'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥ २५८ । ४ ।' ☞ इससे पाया गया कि माधुर्यमें सबको सन्देह हो जाता है। जब उनका तेज देखा तब धनुष तोड़नेका विश्वास हुआ और वे शोकरहित हो गये। (ख) 'बरसहिं सुमन…' । विशोक हुए, अतः फूल बरसाने लगे। दूसरे यह समय भी फूल बरसानेका है यह जानकर पुष्पोंकी वृष्टि की। यथा—'समय समय सुर बरषहिं फूला।' जब श्रीरामजी सभामें आकर मंचपर बैठे तब फूल बरसाया था—'देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना ॥ २४६ । ८ ।' और अब धनुष तोड़नेको उठे हैं इससे अब बरसाते हैं। (ग) 'जनावहिं सेवा' अर्थात् हम यह सेवा आपकी कर रहे हैं, सभाके लिये नहीं बरसाते हैं। [(घ)-(पाँड़ेजी)-'मुनि अपनी सुधर्म कोकी और देवता अपनी सम्पत्तिरूपी कोकीसे वियोगी हो रहे थे।' धर्म-कर्म सूर्यके उदयपर होते हैं। रघुबरबाल-पतङ्गके उदयसे इनके मनोरथ पूर्ण होंगे।

☞ नोट—यह बात स्मरण रखने योग्य है कि श्रीमद्गोस्वामीजीकी यह शैली है कि—१ जहाँ उन्हें श्रीरामचन्द्रजीका उत्कर्ष दिखलाना होता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकार सूर्यसम्बन्धी रूपक बाँधते हैं। २ जहाँ-कहीं कोई अत्यन्त गम्भीर विषय वर्णन करना होता है वहाँ समुद्रका रूपक बाँधते हैं। और ३ जहाँ कथाका प्रसङ्ग पहलेकी कथासे कुछ दुःखदभाव लिये हुए वर्णन करना होता है, वहाँ संध्या-समयका कुछ वर्णन करते हैं। इसी प्रकार ४ जहाँ किसी दुःखदभावसे सुखदभावकी ओर झुकते हैं वहाँ प्रातःकालीन दृश्यका कुछ वर्णन किया जाता है।

☞ लमगोड़ाजी—'लक्ष्मणजीने जो सूर्यका रूपक भविष्यवाणीरूपमें बाँधा था वह अब प्रत्यक्ष है। दोनों रूपकों-की समानता तो विचारणीय है ही, सूक्ष्म अन्तर भी बड़ा सुन्दर है। विस्तारभयसे केवल संकेत किया जाता है। उन्हीं सूक्ष्म अन्तरोंके कारण पुनरुक्ति जान ही नहीं पड़ती। वहाँ सामान्यरूप है यहाँ विशेष, (Local coloring) वहाँ भक्ति-प्रधान वीररस है और यहाँ वीररस प्रधान है। इत्यादि।'

गुर पद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आएसु मागा ॥ ४ ॥
सहजहि चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु बर कुंजर गामी ॥ ५ ॥
चलत राम सब पुर नर नारी। पुलक पूरि तन भये सुखारी ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रेमसहित श्रीगुरुचरणोंकी वन्दना करके श्रीरामचन्द्रजीने मुनियोंसे आज्ञा माँगी ॥ ४ ॥ समस्त संसारके स्वामी और सुन्दर श्रेष्ठ मतवाले हाथीकी चालवाले श्रीरामचन्द्रजी स्वाभाविक ही चले ॥ ५ ॥ श्रीरामजीके चलते ही सारे नगरके सब स्त्री-पुरुष सुखी हुए और उनके शरीर पुलकसे भर गये ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'गुर पद बंदि सहित अनुराग।…' इति। गुरुपदवन्दनमें अनुराग होना आवश्यक है, अनुराग न होना दोष है, यथा—'रामहि सुमिरत रन भिरत देव परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय ॥ दो० ४२ ।' अतः 'सहित अनुराग' पद-बन्दन करना कहा। (ख) श्रीरामजीने गुरुजीकी आज्ञा सुनकर उनको प्रणाम किया ही था और अब पुनः गुरुपद-वन्दन करते हैं, इससे उनके हृदयका अनुराग प्रकट दिख रहा है। बारंबार प्रणाम करना अनुरागका चिह्न है। पुनः, (ग) पूर्व विश्वामित्रजीका स्नेह रामजीमें दिखाया—'बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेह मय बानी' ॥ और यहाँ 'गुरु पद बंदि सहित अनुरागा' में श्रीरामजीका स्नेह गुरुमें दिखाया। इस तरह दोनोंका अन्योन्य प्रेम दिखाया। (घ) 'मुनिन्ह सन आयेसु माँगा' मुनियोंमें रामजीका अत्यन्त प्रेम है, यथा—'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्राम', 'पुनि मुनिवृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मख शाला ॥ २४० ।४।' इसीसे मुनियोंके सम्मानार्थ एवं उनमें अपनी भक्ति दिखानेके लिये श्रीरामजीने उनसे आज्ञा माँगी। पुनः, गुरुको प्रणाम किया इससे गुरुका मान रक्खा और मुनियोंसे आज्ञा माँगकर उनका मान रक्खा। (ङ) जो मुनि फूल बरसाते थे वे देवताओंके साथके हैं और जिनसे आज्ञा माँगी ये मुनि विश्वामित्रजीके साथके हैं और साथहीमें हैं। इनका मखशालामें साथ आना पूर्व २४० (४) में कह चुके हैं। मखशालाको जब चले थे तब इन्हीं मुनियोंने अशीर्वाद भी दिया था। यथा—'हरपे मुनि सब सुनि बर बानी। दीन्हि असीस सबहि सुख मानी ॥ २४० । ३ ।' [बड़ोंसे आज्ञा लेना नीति है और भगवान् नीतिके बड़े पोषक हैं (गौड़जी)। पुनः, गुरुजी तो इस समय पितास्थानीय हैं, उन्होंने विवाहकी आज्ञा

दे दी। धनुष तोड़ना और विवाह एक बात थी, पर वह विवाह बिना धनुष तोड़े सम्भव नहीं था, इसलिये तोड़नेकी आज्ञा दी। पर तोड़नेके पहले जिसका धनुष है उसकी अनुमति लेना परमावश्यक है। इसलिये ब्रह्मकुलरूपी शङ्करसे अनुमति चाही। जैसे गुरुजीने फूल लानेकी आज्ञा दे दी, फिर भी मालीसे पूछकर तब फूल तोड़े गये। (वि० त्रि०)]।

२ (क) 'सहजहि चले सकल जग स्वामी' इति। पूर्व कहा कि 'ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए' और यहाँ 'सहजहि चले……' कहा इससे सूचित किया कि जैसे सहजस्वभावसे उठे वैसे ही सहजस्वभावसे चले, क्योंकि 'सकल जग स्वामी' हैं। जगत् और उसके सारे पदार्थ आपहीके तो हैं तब किस वस्तुके लिये शीघ्रता करें। पुनः भाव कि जो जैसा बड़ा होता है वैसा ही गम्भीर होता है। राजा लोग अपने-अपने राज्यके स्वामी हैं, 'खण्डित' हैं, इसीसे वे 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।……'। और ये सकल ब्रह्माण्डके स्वामी हैं, इनमें भारी गंभीरता है, इससे ये गजकी चाल चलते हैं और जवान सिंहके समान खड़े होते हैं। (ख) 'मत्त मंजु बर कुंजर गामी', 'सहजहि चले' कहकर यह उसका स्वरूप दिखाया। 'मंजु बर' कहकर काम-गज जनाया, यथा—'चाल बिलोकि काम गज लाजहिं।'

नोट—१ सब राजा खण्डमण्डलेश्वर हैं एवं जीव हैं, इससे अकुला उठे थे। श्रीरामजी ब्रह्माण्डनायक हैं, ये क्यों घबड़ाते? हाथीकी चाल गम्भीर और धीर होती है मानो वह पृथ्वीको दबाता जा रहा है।

२ यहाँ मत्त गजकी उपमा दी क्योंकि आगे कमलनालकी तरह धनुषका तोड़ना कहेंगे। जैसे मतवाला हाथी सर-में प्रवेश करके कमलकी डंडीको तोड़ फेंके वैसे ही श्रीरामजीने धनुषको तोड़कर पृथ्वीपर फेंक दिया, यह बात जनकपुरके दूतोंने चक्रवर्ती महाराजसे कही है, यथा—'तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकजनाल' ॥ २९२ ॥

टिप्पणी—३ (क) 'चलत' इति। पुरवासी पहले स्वरूपकी सुन्दरता देखकर सुखी हुए थे। यथा—'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे ॥ २४४। ३।' और अब चालकी सुन्दरता देखकर सुखी हुए; क्योंकि उनकी भावना शृङ्गारकी है, जहाँ कहीं शोभा वर्णन करते हैं वहाँ पुरवासियोंका सुख कहते हैं। (ख) 'सब पुर नर नारी' भाव कि छोटे-बड़े सभी श्रीरामचन्द्रजीके अनुरागी हैं, यथा—'रंगभूमि आये दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई ॥ चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुबान जरठ नर नारी ॥ २४०। ६।' यही सब पुलकित हुए। (ग) मनमें सुखी हुए और तनसे पुलकित हुए अर्थात् भीतर-बाहर प्रेमसे परिपूर्ण हो गये। देखकर सब पुलकित हुए, यह पुरवासियोंका सहज स्नेह दिखाया।

नोट—३ ☞ पूर्व कह आये हैं कि 'जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी ॥ २५२। ७।' अब उनका सुखी होना दिखाया।

४—☞ तुलसीदासजी फिर अपनी उपर्युक्त शैलीके अनुसार इस परिस्थिति (घटना) परिवर्तनका प्रभाव सब-पर दिखाते हैं। पहले जनतापर प्रभाव दिखाया—कितना प्रेम, कितना आत्मसमर्पण और साथ ही आशासे कितनी पुलका-वली है!! (लमगोड़ाजी)।

बंदि पितर सुर* सुकृत सँभारे। जौ कछु पुन्य प्रभाउ हमारे ॥ ७ ॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—पितर=मरे हुए पुरखे जिनके नामपर श्राद्ध वा जलदान किया जाता है।=वह मृतपुरुष जिसका प्रेतत्व छूट चुका हो। सँभारना=स्मरण करना। मृनाल (मृणाल)=कमलका डंठल जिसमें फूल लगा रहता है, कमलनाल, कमल-दण्ड। तोरहुँ=तोड़ें।

अर्थ—देवताओं और पितृदेवोंकी वन्दना करके (सभी अपने-अपने) पुण्योंको स्मरण करते हैं (और कहते हैं—) यदि हमारे पुण्योंका कुछ भी प्रभाव (शक्ति, सामर्थ्य) हो ॥ ७ ॥ तो, हे गणेश गोसाईं! श्रीरामचन्द्रजी शिव-जीके धनुषको कमलदण्ड-सरीखा तोड़ डालें ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बंदि पितर सुर……' अर्थात् प्रणामकर मन-ही-मन स्मरण करके कहते हैं कि 'हे देव! हे पितर! हमने जो आजतक आपकी सेवा की उसे सफल कीजिये'। (ख) 'सुकृत सँभारे' अर्थात् सुकृतोंका स्मरण किया

* पाठान्तर—'सुर'—ना० प्र०, १७०४।

कि हमने अमुक यज्ञ किया, अमुक दान दिया, अमुक व्रत किया है। (ग) 'देव पितर' मनाये और 'सुकृत सँभारे' इससे सूचित हुआ कि देवताओं और पितरोंकी कृपासे और पुण्यके प्रभावसे मनोरथ पूरे होते हैं। (पितर शीघ्र प्रसन्न होते हैं, इसलिये पहिले पितरोंकी वन्दना की। (वि० त्रि०) (घ) 'जौं कछु' का भाव कि पुण्यका प्रभाव नहीं जान सकते क्योंकि कर्मकी गति गूढ़ है, उसका जानना कठिन है। यथा—'गहना कर्मणो गतिः'। गीता ४। १७।' 'कठिन कर्म गति जान बिधाता। २। २८२।' एक चरणमें 'सुकृत', दूसरेमें 'पुन्य' शब्द देकर दोनोंको एकार्थी जनाया। (ङ) 'तौ सिवधनु मृनाल की नाईं' इति। श्रीलक्ष्मणजीके मुखसे अभी सुन चुके हैं कि मैं इस धनुषको कमलनालकी तरह चढ़ा दूँ—'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ'। इसीसे मनाते हैं कि श्रीरामजी धनुषको 'कमलनाल' की तरह तोड़ डालें। (च) 'तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं' इति। पूजा या किसी पुण्यकर्मधर्मके आदिमें प्रथम गणेशजीका पूजन होता है। वे सब धर्मोंके साक्षी हैं। इसीसे सुकृतोंके स्मरणमें गणेशजीसे प्रार्थना करते हैं। 'गोसाईं' का भाव कि मन आदि जितनी इन्द्रियाँ हैं उन सबोंके आप स्वामी हैं, आप इन सबोंका हाल जानते हैं, अतएव हमारे अन्तःकरणकी जानकर हमारा मनोरथ पूरा कीजिये। गणेशजीने उनका मनोरथ पूरा किया, यथा—'तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गजपंकजनाल॥' इससे पाया गया कि जनकपुरवासी बड़े सुकृती हैं। (गणेशजी विघ्नविनाशक और सिद्धिदाता हैं ही)।

नोट—१ 'जौं कछु पुन्य''''तौ सिवधनु—' भाव कि हमने जो कुछ कभी भी आपकी पूजा-सेवा की हो तथा सभी पुण्य जो हमने किये हैं उन सबोंका फल श्रीरामचन्द्रजीको मिले। सुकृत मनानेमें पुरवासियोंका सौहार्द और आत्म-निवेदन सूचित हो रहा है।

'सखी-गीता'

दोहा—रामहि प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ। सीता मातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥२५५॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीको प्रेमसहित देखकर सखियोंको पास बुलाकर श्रीसीताजीकी माँ स्नेहवश होनेके कारण बिलख-बिलखकर अर्थात् दुखी होकर वचन कह रही हैं॥ २५५॥

वे० भू० जी०—१ किसीके आत्म-परमात्मविषयक (आध्यात्मिक) संशयनिवृत्यर्थ जो उपदेश दिया जाता है, वह 'गीता' कहाता है। गीता कहीं तो उपदेश देनेवालोंके नामसे विख्यात होती है और कहीं जिसको उपदेश दिया जाता है उसके नामसे। श्रीरामचरितमानसमें दोनों तरहकी कई गीताएँ हैं। जैसे, शिवगीता (कैलास-प्रकरण), सखी-गीता (स्वयंवरप्रकरणान्तर्गत), लक्ष्मण-गीता (शृङ्गवेरपुरमें), राम-गीता तथा नारद-गीता, (अरण्यकाण्डमें), विभीषण-गीता (धर्मरथ—लंकामें) और पुरजन-गीता एवं गरुड़-गीता (उत्तरकाण्डमें)। सबकी फलश्रुतिमें संशयकी निवृत्तिका होना कहा गया है।

२ जिस समय दोनों राजकुमार रङ्गभूमिमें आये उस समय समस्त दर्शकोंकी भावनाओंका वर्णन करते हुए रानियोंकी भावनाका उल्लेख कविने इस प्रकार किया है—'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥ २४२। ३।' तबसे रङ्गभूमिमें अबतक बहुत बातें हो गयीं—साधु और दुष्ट राजाओंका संवाद, श्रीसीताजीका आगमन, पुरवासियोंकी लालसात्मक सुन्दर भावनाएँ, बंदियोंका प्रण सुनाना, अभिमानी राजाओंका धनुष तोड़नेको जाना और हारकर बैठ जाना, श्रीजनकजीका विषादात्मक वक्तव्य, श्रीलक्ष्मणजीका रोषप्रदर्शन—जिनके कारण चित्तवृत्ति बारबार विभिन्न स्थलोंमें बँट जानेसे रानीका श्रीरामजीकी तरफ विलोकनेमें व्यवधान पड़ गया था। जब विश्वामित्रजीने आज्ञा दी 'उठहु राम भंजहु भव चापू' और श्रीरामजी धनुर्भङ्गार्थ उठकर मञ्चपर खड़े हुए तब रानियोंकी दृष्टि तथा चित्तवृत्ति सब ओरसे हटकर उधर फिर आयी और देखते ही उनका वही वात्सल्य प्रेम उमड़ पड़ा। इसीसे वहाँके 'बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥' इस चौपाईसे प्रसङ्ग मिलाकर कविने यहाँ 'रामहिं प्रेम समेत लखि' कहा।

टिप्पणी—१ पुरवासियोंका (जनताका) प्रेम दिखाकर अब रनिवासका प्रेम कहते हैं। रानीका वात्सल्य प्रेम है, यह पहले ही दिखा आये, यथा—'सिसु सम प्रीति न जाति बखानी। २४२। ३।' वे उसी वात्सल्यप्रेममें अब भी मग्न हैं। **'प्रेम समेत लखि'** से जनाया कि श्रीसुनयनाजीका श्रीरामजीमें अत्यन्त वात्सल्य है।

२ 'सखिन्ह समीप बोलाइ' इति । (क) पास बुलाकर कहा जिसमें और कोई न सुने—यह स्त्रियोंकी मर्यादा है। [(ख) 'सखिन्ह' कहकर जनाया कि उनकी बहुत-सी सखियाँ थीं । सबको बुलाया । सखीको बुलानेका कारण यह है कि प्रेमसहित देखते ही वे वात्सल्यवश श्रीरामजीकी मृदु सुकुमार मूर्ति देख अत्यन्त विह्वल हो गयी हैं । अपने दुःखका बाँट कहना है । कहनेसे दुःख कुछ घट जाता है । 'सखी' वही कहलाती है जो सदा साथ रहती और जिससे कोई बात छिपायी नहीं जाती तथा जो सुख-दुःखमें समान सुख-दुःखको प्राप्त हो । सखीका चार प्रकारका कार्य होता है—मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास । इन सखियोंमें सब गुण हैं । इसीसे उनको बुलाया । वे दुःखकी संगिनी हैं, समझाकर दुःखका निवारण करेंगी । (ग) 'समीप बोलाइ' से जनाया कि श्रीसुनयनाजीकी अन्तरङ्गा सखियाँ कुछ दूरीपर थीं पर इतनी दूर न थीं कि इशारेसे बुलायी न जा सकें । बुलानेका कारण उत्तरार्धके 'कहै बिलखाइ' से स्पष्ट है ।] ।

३ (क) 'सीतामातु' कहकर जनाया कि यह वचन श्रीसुनयनाजीका है । 'सीतामातु' 'सीयमातु' आदि न कहकर केवल रानी कहनेसे यह निश्चय न होता कि किस रानीका वचन है क्योंकि जनकजीके बहुत रानियाँ हैं । यथा —'रानिन्ह सहित सोच बस सीया । २६७ । ७ ।', 'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा । २६० । ६ ।', 'सावकास सुनि सब सिय सासू । आयेउ जनकराज रनिवासू । २ । १८१ ।', 'चलिहि बरात सुनत सब रानी । ३३४ । २ ।' इत्यादि । 'सीतामातु' से जनाया कि श्रीसुनयनाजी सीताजीको निज कन्या मानती-जानती हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा है, यथा—'जनक पाटमहिषी जग जानी । सीयमातु किमि जाइ बखानी । ३२४ । १ ।' [श्रीसीताजीके प्रकट होनेपर देवताओंने आकाशवाणी की और देवर्षिने आकर राजाको उनका महत्त्व बताया, तब राजा जनकने कन्याको गोदमें उठा लिया और अपनी पटरानी श्रीसुनयनाजीको दिया । यथा—'तदा तु जनको राजा निजाङ्के समरोहयत् । १० । पत्न्यै समर्पयामास सुनेत्रायै च भूपतिः । तया संरक्षिता सीता ववृधे पितृवेश्मनि । ११ ।' (सत्योपा० उत्त० अ० २) । (ख) 'सनेहबस' । भाव कि यदि श्रीरामजीमें ऐसा अत्यन्त वात्सल्य न होता तो इतनी व्याकुलता न होती । (ग) 'कहै बिलखाइ' । श्रीरामजीकी सुकुमारता, किशोरावस्था और धनुषकी कठोरता समझकर दुखी हो जाती हैं । (इससे स्पष्ट है कि रानीको अत्यन्त दुःख हुआ, उनका धीरज जाता रहा, धैर्यका कोई अवलंब न मिला । तब सखियोंको बुलाया कि शायद वे धीरज दे सकें) । (घ) प्रधान रानी सुनयनाजीका दुःख वर्णन किया, प्रधानका दुःख कहकर और रानियोंको भी ऐसी ही दुखी सूचित किया । पृथक्-पृथक् सबका दुःख न कहा, पर आगे 'सिय कर सोच जनक पछितावा । रानिन्ह कर दारुन दुख दावा । २६० । ६ ।' इन वचनोंसे सबका दुखी होना जना दिया है ।

नोट—स्नेहवश दुःख हो रहा है कि सुकुमार हैं धनुष कैसे तोड़ेंगे ? अथवा, सुकुमार होनेके कारण उन्हें भय है कि इनके हाथमें कहीं मोच न आ जाय । श्रीलमगोड़ाजी भी कहते हैं कि 'बिलकुल ठीक है, इसीसे प्रेमकी कोमलताको करुण रूप दिया है—(बिलखाइ) ।' सच है, वात्सल्यमें बल, वीर्य, तेज, प्रताप, ऐश्वर्य आदि तो स्वप्नमें भी नहीं आने पाते, तभी तो दशरथ महाराजने घबड़ाकर कह ही डाला 'राम देत नहिं बनै गोसाईं' और तभी तो 'देखि स्याम मृदु मंजुल गाता । कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥ मारग जात भयावनि भारी । केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥' से 'सकल अमानुष करम तुम्हारे । केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥' तक, तथा 'हृदय बिचारति बारहिं बारा । कवनि भाँति लंकापति मारा ॥ अति सुकुमार जुगल मेरे बारे ।···। ७ । ७ ।'

सखि सब कौतुक देखनिहारे । जेउ कहावत हितू हमारे ॥ १ ॥
कोउ न बुझाइ कहै गुर* पाहीं । ए बालक असि हठ भलि नाहीं ॥ २ ॥
रावन बान छुआ नहिं चापा । हारे सकल भूप करि दापा ॥ ३ ॥

अर्थ—हे सखी ! जो भी हमारे हितैषी कहलाते हैं वे सब (भी) तमाशा ही देखनेवाले हैं ॥ १ ॥ कोई भी तो गुरु (विश्वामित्रजी) से समझाकर नहीं कहता कि ये (रामजी) बालक हैं, (इनके लिये) ऐसा हठ अच्छा नहीं ॥ २ ॥ रावण और बाणासुरने तो धनुषको छुआ भी नहीं (देखकर ही डरके भाग गये) और सब राजा घमंड करके हार मान गये ॥ ३ ॥

नोट—१ 'सखि' एकवचनात्मक सम्बोधन है । उपक्रममें एकवचन है और उपसंहारमें भी, यथा—'सखि बिधि

* गुर—१६६१ । रुप-प्रायः औरोंमें । विशेष नोट २ में देखिये ।

गति कछु जाति न जानी।' फिर एक ही सखीका आगे समझाना कहा है। यथा—'बोली चतुर सखी''''सखी वचन सुनि भै परतीती।' इससे सूचित हुआ कि सखियाँ सब आयीं पर सबोंमें जो परम चतुर, अत्यन्त प्रिय, विश्वासपात्र और अत्यन्त हितैषिणी थी उसीसे सुनयनाजीने कहा।

टिप्पणी—१ (क) बिलखाकर वचन कहे। बिलखानेका कारण यह बताते हैं कि जो हितू कहलाते हैं वे भी तमाशा देख रहे हैं। 'कहावत'का भाव कि वे सच्चे हितैषी हैं नहीं, हितैषीका काम है कि हित करें, हितकी बात कहें, ऐसा न करके ये तमाशा देखते हैं, ये कहने भरके हितैषी हैं। सम्बन्धी, मित्र, मन्त्री, गुरु, पुरोहित इत्यादि 'हित' हैं। **'कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं'** इति। क्या हित करना चाहिये सो यहाँ कहा।

नोट—२ सं० १६६१ की पोथीमें 'गुर' पाठ है। अन्य पोथियोंमें प्रायः 'नृप' पाठ है। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि 'जो धनुष रावण और बाण-जैसे जगद्विजयी वीरोंके हिलाये न हिल सका, उसे तोड़नेके लिये मुनि विश्वामित्रजीका रामजीको आज्ञा देना और रामजीका उसे तोड़नेके लिये चल देना रानीको हठ जान पड़ा; इसलिये वे कहने लगीं कि गुरु विश्वामित्रजीको कोई समझाता भी नहीं।' भागवतदासजीका पाठ 'नृप' है। पं० रामकुमारजीके टिप्पण 'नृप' पाठके अनुसार हैं। राजाको समझानेकी बात गीतावलीमें भी पायी जाती है, यथा—'जनक मनकी रीति जानि बिरहित प्रीति ऐसीऔ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहि ऐसो कहि न बुझावै कोउ पन औ कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु। ८०।', 'कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आए इत ए री। कुलिस कठोर कहाँ संकर धनु मृदु मूरति किसोर कित ए री।' (७६)। इसलिये प्रायः लोगोंने 'नृप पाहीं' पाठको समीचीन माना है। १६६१ की प्रतिमें 'गुर' स्पष्ट है, न हड़ताल है न काटाकूटी। 'नृप पाहीं' से सिद्ध होता है कि राजाका हठ है कि ये तोड़ें इसीसे रानी उनको समझानेकी बात कह रही हैं। पर वस्तुतः यहाँ तो गुरुने ही तोड़नेकी आज्ञा दी है। गीतावलीमें तो गुरुकी आज्ञा होनेपर जब श्रीरामजी उठे हैं तब जनकजी सहम गये और हाथ जोड़कर मुनिसे बोल ही तो उठे। यथा—'सोचत जनक पोच पेंच परि गई है। जोरि कर कमल निहोरि कहैं कौसिक सों आयसु भो रामको सो मेरे दुचितई है॥ १॥ यान जातुधानपति भूप दीप सातहूँ के लोकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है।'''आपुहि बिचारिए निहारिए सभा की गति बेदमरजाद मानो हेतु बाद हई है। इन्ह के जितेहिं मन सोभा अधिकानी तन, मुखन की सुखमा सुखद सरसई है॥ ३॥ रावरो भरोसो बल कै है कोऊ कियो छल, कैं धौं कुल को प्रभाव कैधों लरिकई है। कन्या कल कीरति बिजय बिस्व की बटोरि कैधों करतार इन्हहीं को निरमई है। पनको न मोह न बिसेष चिंता सीता हू की, लुनिहै पै सोई सोई जोई जेहि बई है। रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ, हाथ सों तिहारे करतूति जाकी नई है। ५। (गी० ८४)'

श्रीरामजीकी माधुरी मूर्तिमें सभी भूल जाते हैं। राजा जनक भी सोचने लगे कि गुरुको ऐसी आज्ञा न देनी चाहिये। फिर भी सँभल गये—'रहै रघुनाथ की''''। 'गुरु पाहीं' पाठके अनुसार 'ए बालक असि हठ' से 'बाल मराल कि मंदर लेहीं' तक 'गुरु' के सम्बन्धकी बात है। उसके पश्चात् 'भूप सयानप सकल सिरानी' ये राजाके सम्बन्धकी बात है। 'नृप पाहीं' पाठमें समस्त वचन राजाके सम्बन्धके माने जायँगे। प्र० सं० में 'नृप' पाठ दिया गया था, परंतु प्राचीनतम पोथीका पाठ 'गुर' जानकर और उसमें असंगति न देखकर इस संस्करणमें 'गुर' पाठ लिया गया। भाव दोनों पाठोंके दिये जा रहे हैं। प० प० प्र० भी 'गुर' पाठको समीचीन और पूर्वसंदर्भानुकूल मानते हैं।

वि० त्रि० भी 'गुर' को ही समीचीन मानते हुए कहते हैं कि 'नृपने जब प्रण कर दिया, तब उन्हें धनुष-भङ्ग रोकनेका क्या अधिकार है, विशेषतः लक्ष्मणजीके द्वारा फटकारे जानेपर वे किस मुँहसे रोकते? जनक राजाके लिये हठका उपालम्भ करना ही हठ है। वे तो स्वयं गुरुकी आज्ञाको उचित नहीं समझ रहे हैं (जैसा गीतावलीके उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है); अतः न राजाका हठ है और न उन्हें उपालम्भ देना बन सकता है।', 'कोउ न बुझाइ''''' में भाव यह है कि गुरुने आज्ञा दे-दी और 'राम' उठ खड़े हुए। वे बालक हैं, उन्हें इतना विचार कहाँ कि यह धनुष मुझसे टूटेगा कि नहीं। गुरुजीने विचार न किया तो हमारे हितचिन्तकोंको तो उन्हें समझाना चाहिये था। यह हँसता हुआ आनन्दमय मुख कृतकार्य न होनेसे व्यर्थ म्लान हो जायगा। इनको धनुष तोड़नेके लिये भेजना और यह घोषणा एक ही बात है कि ये भी जानकीसे विवाह करनेके अयोग्य हैं।

नोट—३ (क) 'बुझाइ कहै' का भाव कि विधिवश किसीको सूझता नहीं, अतएव सुझाना चाहिये। क्या सुझाना चाहिये, यह आगे कहती हैं—'ए बालक''''मंदर लेहीं।' (ख) 'ए बालक असि हठ''''' इति। 'ए' से अंगुल्या-निर्देश सूचित किया। श्रीरामजीकी ओर इशारा करके कहना जनाया। (ग) 'बालक' श्रीरामजीकी किशोर-अवस्था है; पर रानीका अत्यन्त वात्सल्य भाव है, 'सिसु सम प्रीति न जाति बखानी'; इसीसे कहती हैं 'ए बालक'। पुत्र कितना ही बड़ा हो माता उसे बालक ही समझती है।

४ 'नृप पार्ही' पाठमें इन चरणोंके भाव ये हैं—(क) 'कोउ न कहै' अर्थात् राजाके डरसे कोई उनसे नहीं कहता। यथा—'सचिव सभय सिख देइ न कोई। २५८। ३।' (ख) 'बुझाइ' का भाव कि राजाको विधिवश समझ नहीं पड़ता; यथा—'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥' (ग) 'ए बालक''' 'बालकके साथ ऐसी हठ अच्छी नहीं' कहकर जनाया कि राजाओंसे यह हठ अच्छी थी। अर्थात् वीरोंके मुकाबिलेमें हठ शोभा पाती थी पर बालकके साथ हठकी शोभा नहीं है। पुनः, दूसरा आशय यह है कि बालकसे धनुष न टूटा तो पीछे हृदयमें संताप होगा; संसारभर बुरा कहेगा। यथा—'जग मल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हें उर अंतहु दाहू। २४९। ५।'—यह दूसरा भाव 'गुर पार्ही' पाठमें भी है। (पं० रामकुमारजी)। (घ) राजाओंके लिये हठको योग्य और श्रीरामजीके लिये अयोग्य कहा, क्योंकि राजाओंको अभिमान था कि हम वीर हैं, बलवान् हैं और श्रीरामजी परम सुकुमार बालक हैं। ☞ इस कथनसे रानीका प्रेम दिखायी दे रहा है, वे चाहती हैं कि इन्हींके साथ विवाह कर दिया जाय। (ङ) 'ए बालक असि हठ''''' के और भावार्थ ये कहे जाते हैं—(१) आपकी यह हठ बालकोंकी-सी हठ है और ज्ञानिशिरोमणि हैं। आपको बच्चोंकी-सी हठ शोभित नहीं। (२) जैसे ये बालक भले हैं वैसी ही भली हठ इनके लिये करते। वह भली हठ यह है कि—'पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।' जो पुरवासियोंकी लालसा है। (प्र० सं०)

टिप्पणी—१ (क) 'रावन बान छुआ नहिं चापा' इति। ये दोनों अपने समयके जगद्विजयी महाभट थे, इसीसे उनका नाम प्रथम लिया। बंदीजनके मुखसे सुना ही था कि 'रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवँहि सिधारे' इसीसे भारी महाभट जानकर वही बात रानीने कहकर जनाया कि धनुष अति कठोर है। ('छुआ नहिं' से जनाया कि दोनों उसे देखते ही समझ गये कि यह उनसे न उठेगा। हाथ लगानेसे अप्रतिष्ठा होगी)। (ख) 'हारे सकल भूप करि दापा' इति। यथा—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठइ न चलहिं लजाइ। २५०।', 'भट मानी अतिसय मन माखे। परिकर बाँधि उठे अकुलाई॥', यही दर्प है। 'श्रीहत भये हारि हिय राजा', 'भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरै न टारा॥' यही सबका हारना है। (ग) 'छुआ नहिं', यथा—'देखि सरासन गवँहि सिधारे', 'सकै उठाइ सरासु मेरु। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरु॥' (घ) 'बान'=बाणासुर 'नामैकदेशे नाममात्रस्यैव ग्रहणं'। यथा—'जय कृपा कहि कपि चले अंगद हनू समेत'। हनू=हनूमान्, तथा बान=बाणासुर। [पर कोशमें बाण और बाणासुर दोनों नाम मिलते हैं। असुर होनेसे 'बाण' को 'बाणासुर' कहते हैं। जैसे 'त्रिपुर' को त्रिपुरासुर, 'तारक' को तारकासुर।] (ङ) 'सकल भूप' के दोनों अर्थ यहाँ हैं, एक तो यह कि पृथक्-पृथक् हर एकने बड़े घमण्डसे जाकर उठाना चाहा, सो। एक हार गया। फिर सबने मिलकर उठानेका अभिमान किया सो भी चूर हो गया, सब मिलकर भी हार गये। ☞ श्रीरामजीके साथ हठ भली नहीं यह कहकर उसका कारण कहा कि 'रावन'''''।

सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥४॥
भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति* न जानी॥५॥

अर्थ—वही धनुष राजकुँवरके हाथमें देते हैं। बालहंस भी कहीं मन्दराचल उठा सकते हैं? ॥ ४ ॥ राजाका सारा सयानापन खतम हो गया। हे सखी! विधाताकी गति कुछ जानी नहीं जाती॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'सो' अर्थात् जिसे रावण-बाणासुरने 'कर' (हाथ) से छुआ भी नहीं, जो बीस हाथसे न उठ सका, सहस्र हाथसे न उठ सका और बीस हजार 'कर' से भी हिलाये न हिला वह। (ख) 'राजकुअँर कर देहीं' इति

* कछु जाइ न—छ०। कहि जाति न—१७०४। (पर रा० प्र० में 'कछु जाय न' है)। कछु जाति न—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०। 'कहि जाति न जानी'=न कही और न जानी जा सकती है।

श्रीरामजी बालक, सुन्दर और सुकुमार इत्यादि गुणयुक्त हैं यह दिखानेके लिये रावण-बाण आदि प्रौढ़ और कठोराङ्ग-वालोंकी अपेक्षासे यहाँ 'राजकुँअर कर' में देना कहा। (ग) 'बाल मराल कि मंदर लेहीं' इति। भाव कि धनुष मन्दराचल है। जिनको कैलास और मेरुके उठानेकी शक्ति है वे रावण और बाणासुर भी धनुषरूपी मन्दराचलको छूनेका भी साहस न कर सके तब तो बालहंसरूप राजकुमारका उसे उठा लेना अत्यन्त असम्भव है। श्रीरघुनाथजीकी अत्यन्त सुकुमारता दरसानेके लिये उनको 'बाल मराल' कहा। जैसे श्रीसीताजीने उनकी सुकुमारताके कारण उन्हें 'सिरस सुमन' और 'धनुष' को हीरा कहा है—'सिरस सुमन कन बेधिय हीरा। २५८। ५।', [अर्थात् हीरा किसी भी धातुसे नहीं बेधा जा सकता तब अत्यन्त कोमल सिरस-सुमनके तन्तुसे कैसे बेधा जा सकता है। सिरससुमनका तन्तु अत्यन्त कोमल होता है वैसे ही ये अति कोमल हैं]; वैसे ही श्रीसुनयनाजीने अत्यन्त, सुन्दरता और सुकुमारताके विचारसे इनको हंसका बच्चा कहा*। पुनः, 'बालमराल' कहनेका भाव कि पहले इनको बालक कहा है—'ए बालक असि हठ भलि नाहीं', इसीसे इनको यहाँ 'बाल' हंस कहा। (घ) 'कि मंदर लेहीं' इति। मन्दरके दो अर्थ हैं। एक तो पर्वत, यथा—'गहि मंदर बंदर भालु चले सो मनो उनये घन सावन के'। दूसरा मन्दराचल। यहाँ मन्दराचल अर्थ विशेष उपयुक्त है क्योंकि समस्त दैत्य, दानव और देवताओंसे भी क्षीरसिन्धु मन्थनके समय मन्दराचल न थमा, सब सुरासुर मिलकर भी उसे धारण न कर सके थे, भगवान्‌ने कच्छपरूप धारणकर उसे अपनी पीठपर थामा था; तब भला उस मन्दराचलको छोटा हंस (बच्चा) क्योंकर धारण कर सकेगा? इसी प्रकार जिस धनुषरूपी मन्दराचलको रावण और बाणासुररूपी 'सुरासुर' हाथ लगाते डरे (कि कहीं कुचल न जायँ) उसे सुकुमार बालमरालरूप श्रीरामजी कैसे उठा सकेंगे? [यहाँ 'विषमालंकार', वक्रोक्ति और ललित अलंकारोंका संदेहसंकर है (वीर)]।

२ (क)—'भूप सयानप सकल सिरानी' इति। भाव कि यह बात सबके समझमें आ रही है कि 'रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा' उस धनुषको बालक कैसे तोड़ सकते हैं, पर यह बात राजाको नहीं समझ पड़ती; इससे ज्ञात होता है कि राजाका सब सयानप जाता रहा। [यदि इस वाक्यको भी 'गुर पाहीं' से ही सम्बन्धित मानें तो 'कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं' पाठके अनुसार इसके भाव ये होंगे कि—१ गुरुसे कोई कहे या न कहे पर राजाको तो स्वयं अपनी हानि-लाभ सोचनी चाहिये थी, यह विचार करना ही चाहिये था कि ये अति सुकुमार हैं। इनको धनुषके पास स्वयं न जाने देते, अथवा, २—मुनिको समझाते। मुनि इनके समझानेसे समझ जाते। इससे जान पड़ता है कि सब सयानप जाता रहा।] (ख) 'सकल सयानप' कहकर जनाया कि राजामें बहुत बुद्धिमानी थी, वे सब प्रकारसे बुद्धिमान् थे। स्वयं सब प्रकारसे बहुत बुद्धिमान् होनेपर भी उन्हें कुछ समझ नहीं पड़ता इससे नतीजा निकालते हैं कि 'बिधि गति''' अर्थात् विधाताकी गति बड़ी सूक्ष्म है—'को जग जानै जोग'।

नोट—'भूप सयानप' इति। यथा—'रागी औ बिरागी बड़भागी ऐसो आन को ॥ १ ॥ भूमि भोग करत अनुभवत जोग सुख, मुनि मन अगम अलख गति जान को। गुरु हर पद नेहु गेह बसि भो बिदेह, अगुन सगुन प्रभु भजन सयान को ॥ २ ॥ कहनि रहनि एक बिरति बिबेक नीति, बेद बुध संमत पथीन निरबान को ॥ गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को ॥ ३ ॥ गी० १। ८६ ॥', 'धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥ २। २८८ ॥' (यह वाक्य स्वयं श्रीजनकजीका है)।

गौड़जी—'भूप सयानप ''' का भाव कि सयानपन सीधे ब्याह कर देनेमें ही था। रानी यह घबरायी कि धनुष तोड़नेको इन्हें क्यों भेजते (वा, भेजने देते) हैं? न टूटा तो विवाह इनसे भी नहीं होगा। इन्होंने तो अभी हाथ नहीं लगाया था। इनसे तो बिना शर्तके ही विवाह हो सकता था।

वि० त्रि—जिस समय रानीके मनमें यह भाव आया उसी समय महाराजके मनमें भी वही भाव उठा, उन्होंने गुरुजीसे निवेदन किया। पूरा प्रसङ्ग गीतावलीमें देखने योग्य है कि महाराजके निवेदनपर गुरुजीने क्या कहा और स्वयं

---

* *नोट*—साहित्यमें तीन प्रकारके हंसोंका होना पाया जाता है—१ 'राजहंस' चाल और गर्दनकी सुन्दरताके लिये। २ 'कलहंस', चाल और शब्दके लिये। और ३ 'बालहंस' अपनी चाल और सुकुमारताके लिये प्रसिद्ध है। यहाँ सुकुमारताका प्रसंग है। (प्र० सं०)। इसके अनुसार 'बाल मराल' का अर्थ 'बालहंस' भी हो सकता है। पर 'ए बालक' के सम्बन्धसे 'हंसका बच्चा' अर्थ विशेष संगत है। श्रीरामजीको बालक हंस कहकर रावणादिको युवा मराल जनाया। (वै०, रा० प्र०)।

रामजीने क्या कहा । गुरुजीने क्या कहा यह देखिये—'कहि साधु साधु गाधिसुवन सराहे राउ महाराज जानि जिय ठीक भली दई है । कहँ गाधिनंदन मुदित रघुनंदन सों नृपगति अगह गिरा न जाति गही है ॥ देखे सुने भूपति अनेक झूठे-झूठे नाम साँचे तिरहुतनाथ साखी देत मही है । रागऊ बिराग जोग भोग जोगवत मन, जोगी जागबलिकप्रसाद सिद्धि लही है। ताते न तरनि ते न सीरे सुधाकरहू ते सहज समाधि निरुपाधि निरवही है । ऐसेऊ अगाध बोध रावरे सनेह बस बिकल बिलोकत दुचितई सही है ॥' इसपर श्रीरघुनाथजीने कहा—'रिषिराज राजा आजु जनक समान को । आपु एहि भाँति प्रीति सहित सराहियत रागी औ बिरागी बड़ भागी ऐसो आन को ? ॥'''सुनि रघुबीरकी बचन रचना की रीति भयो मिथिलेस मानो दीपक बिहान को । मिट्यो महामोह जीको, छूट्यो पोच सोच सी को, जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को ।' (उपर्युक्त गी० १ । ८६) । इतना संवाद होनेपर तब रामजी गये । (मेरी क्षुद्र बुद्धिमें तो मानसकल्पमें गीतावलीका यह प्रसङ्ग नहीं बैठता) ।

श्रीराजारामशरणजी—१ (क) रामायणमें प्रत्येक स्थितिमें स्त्रियोंका हाथ भी अवश्य दिखाया गया है । जो तुलसीदासजीको स्त्रीजगत्‌का निन्दक कहते हैं, वे विचार करें कि जनकपुर, अयोध्या, चित्रकूट, पंपापुर (किष्किन्धा ?) और लंका सभी जगह स्त्रियोंका कितना सुन्दर वर्णन है । मन्थरा, कैकेयी और शूर्पणखाके अतिरिक्त सभी स्त्रियाँ धर्ममें सहयोग ही करती हैं (और मन्थरा एवं कैकेयी भी केवल निमित्तमात्र थीं । हाँ, शूर्पणखाको हम कुटिला कह सकते हैं)। तारा और मन्दोदरी तो उपदेशरूपमें पति-सुधारका भरसक प्रयत्न करती हैं ।

हाँ, उनका सहयोग, कोमल व्यवहार, दया, त्याग और तपद्वारा होता है । यहाँ भी रानीकी कोमलता और सखियोंका धैर्य्य, विश्वास और विवेक एक बड़ा सुन्दर चरित्र और परिस्थिति-संघर्ष उत्पन्न करता है जो नाटकीय कलाकी जान है । किस सुन्दर युक्तिसे महाकाव्यकलाकी ओर दृश्य उठ रहा है:—'तेजवंत लघु गनिय न रानी ।' इत्यादि ।

(ख)—'कहावत' शब्दसे किस सुन्दरतासे यह संकेत है कि वे केवल कहनेके हितू हैं ।—आह ! इन्हें भी प्रेमके कारण राजाका प्रण हठ ही दीखता है । 'बाल मराल कि मंदर लेहीं' के 'विभ्रम' ने नाटकी विरोधाभास (Dramatic circumstantial antithesis) को कितना उभार दिया है ? 'भूप सयानप सकल सिरानी' का ललित अलंकार (Eupherism) तो स्त्री हृदयकी कोमलताका सजीव चित्रण ही है । 'हरु विधि बेगि जनक जड़ताई' की कटुता और इस अर्धालीकी कोमलताका अन्तर विचारणीय है ।

बोली चतुर सखी मृदु बानी । तेजवंत लघु गनिअ न रानी ॥ ६ ॥
कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा । सोखेउ सुजसु सकल संसारा ॥ ७ ॥
रबिमंडल देखत लघु लागा । उदय तासु त्रिभुवन तम भागा ॥ ८ ॥

अर्थ—चतुर सखी कोमल वाणीसे बोली—हे रानी ! तेजस्वी (पुरुष) को छोटा न समझना चाहिये ॥ ६ ॥ (देखिये तो) कहाँ तो घटसे उत्पन्न अगस्त्यजी (कितने छोटे) और कहाँ अपार समुद्र ? (फिर भी), उन्होंने उसे सोख लिया । सारे संसारमें उनका सुन्दर यश (फैला हुआ) है ॥ ७ ॥ सूर्य्यमण्डल देखनेमें छोटा लगता है, पर उसके उदयसे तीनों लोकोंका अन्धकार भाग जाता है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'चतुर सखी''' इति । समझानेमें मृदुवाणी बोलना, यह भी चतुरता है । पुनः उसकी दूसरी चतुरता उदाहरण देनेमें भी दिख रही है कि उसने चुनकर वह-वह नाम दिये जो देखनेमें छोटे हैं पर जिन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं । तीसरी चतुरता यह है कि जितने संशय रानीके हैं उन सबोंको यह दूर कर रही है । अर्थात् सिद्ध कर रही है कि 'हितू' कौतुकी नहीं हैं, श्रीरामजी लघु नहीं हैं, और न राजाकी 'सयानप सिरानी' है । (ख) 'तेजवंत लघु गनिअ न' इति । इस समय श्रीरामजीकी बड़ाईका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका तेज है, यथा—'उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग' इसीसे यह सखी तेजका ही प्रमाण देकर श्रीरामजीकी बड़ाई करती है । रानीने श्रीरामजीको लघु समझ रक्खा है, यथा —'सो धनु राजकुँअर कर देहीं । बालमराल कि मंदर लेहीं', इसीसे सखी कहती है कि उनको लघु न गिनिये । (ग) 'रानी' अर्थात् ये बात तुम जानती हो कि तेजस्वी छोटे नहीं होते, क्योंकि तुम रानी हो । (राजा-रानी स्वयं तेजस्वी होते हैं तभी तो प्रजा उनका शासन मानती है, यह बात आप जानती हैं) ।

नोट—१ प्रथम ही 'चतुर' विशेषण देकर जना दिया कि यह सब संदेह दूर कर देगी। चतुर ही संशयको दूर कर सकता है। पुनः चतुर है, जानती है कि कठोरतासे उपदेश लगता नहीं, इसीसे 'मृदु' वाणीसे समझा रही है। रानी सारा दोष राजा और मन्त्री आदिके सिर रखती हैं, यह उसका खण्डन नहीं करती, क्योंकि यदि प्रथमहीसे बात काट चले तो रानी सुनें या न सुनें, यदि कहती कि नहीं राजा तो बड़े चतुर हैं, गुरु त्रिकालज्ञ हैं, तो भी रानी क्यों मानतीं? अतः राजाकी बात उड़ाकर श्रीरामजीके तेज, प्रताप, शक्ति इत्यादिकी प्रतीति उदाहरण दे-देकर कराती है। प्रथम यह कहकर कि तेजवान्‌को छोटा न समझना चाहिये, यह सूचित किया कि इनके तेजके आगे सुर-असुर आदि सभी तुच्छ हैं। पर रानीके हृदयमें तो इनकी किशोरावस्था और सुकुमारता जमी हुई है इससे देखनेमें जो छोटे हैं उनके उदाहरणोंसे समझाना प्रारम्भ किया। इस तरह दिखाती है कि केवल आकार देखकर पराक्रमका निर्णय नहीं हो सकता।

२ (क) **'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा'** इति। अगस्त्यजीके आकारकी लघुता दिखानेके लिये 'कुम्भज' नाम दिया और समुद्रकी बड़ाई दिखानेके लिये 'अपार' कहा। इस तरह दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर दिखाया। कहाँ घटसे उत्पन्न पुरुष और कहाँ समुद्र! (कुम्भ दिन-रात कूपसे जल निकाला करता है पर पार नहीं पाता। उस कुम्भसे उत्पन्न थे, छोटे आकारके मुनि हैं। वि० त्रि०)। (ख) **'सकल संसारा'** अर्थात् समस्त संसारमें यह बात विदित है। इससे जनाया कि यह प्रामाणिक इतिहास है। (ग) **'सुजसु'** इति। 'सुयश' शब्दसे यश और सुयश दो बातें दिखायीं। भाव कि समुद्रको तीन आचमनमें पी लिया, यह 'यश' हुआ और उसे पुनः प्रकट कर दिया, यह 'सुयश' हुआ। (घ) धनुष अपार समुद्र है जिसमें सब राजा डूब गये, किसीने पार न पाया। उसी धनुषरूपी सागरको श्रीरामजी कुम्भजकी तरह सोख लेंगे अर्थात् उसे सहज ही तोड़ डालेंगे।—यह कुम्भजके उदाहरणका भाव है।—[यह केवल प्रताप है। प्रतापी छोटा भी हो तो उसका प्रभाव, बल, पराक्रम छोटा न समझना चाहिये।]।

३ **'कुम्भज'**—'बालमीक नारद घटजोनी। ३। ३।' भाग १ पृष्ठ १२३, १२४ में देखिये। समुद्रशोषणकी कथा **'कुंभज लोभ उदधि अपार के। ३२। ६।'** भाग १ पृष्ठ ५१२, ५१३ में देखिये। संक्षिप्त कथाएँ ये हैं—(१) कालेय दैत्यगण देवताओंके डरसे समुद्रमें जा छिपे थे। रात्रिमें निकलकर ऋषियों-मुनियोंको खा डालते थे, देवताओंकी प्रार्थना सुन सबका कष्ट दूर करनेके लिये उन्होंने समुद्रतटपर जाकर चुल्लू लगाकर उसे पी लिया। तब देवताओंने दैत्योंका नाश किया। (स्कंद० पु० नागरखण्ड, महाभारत वनपर्व, पद्मपु० सृष्टिखण्ड)। (२) समुद्र एक चिड़ियाके अण्डोंको बहा ले गया, इसपर उसने समुद्रको उलच डालनेकी प्रतिज्ञाकर चोंचोंमें उसका जल भर-भरकर बाहर फेंकना शुरू किया। यह तमाशा देख उसपर तरस खाकर आपने समुद्रको सोख लिया। (३) एक बार जब आप समुद्रतटपर पूजन कर रहे थे, समुद्र पूजन-सामग्री बहा ले गया, अतः रुष्ट होकर आपने उसे पी लिया। (२) (३) का प्रमाण हमें अभीतक नहीं मिला।

वे० भू०—अगस्त्यजीके दृष्टान्तसे संदेह हुआ कि यदि श्रीरामजी धनुषको तोड़कर जोड़ भी देंगे जैसे अगस्त्यजीने फिर समुद्रको भर भी दिया तो कुतर्कियोंको कुचोद्य करनेका कुछ अवकाश मिल सकता है जिससे वे आगे विवाहमें विघ्न डालनेका प्रयत्न कर सकेंगे। वह सन्देह सूर्यके दृष्टान्तसे नष्ट हो गया। क्योंकि सूर्य तमका नाश करके पुनः उसकी सृष्टि नहीं करते।

टिप्पणी—३ (क) **'रबिमंडल देखत लघु लागा'** इति। रविमण्डलका भाव कि सूर्यदेवकी जो नराकार मूर्ति है, मैं उसका नहीं किन्तु रविमण्डलका हाल कहती हूँ। वह मण्डल कई योजनका है पर देखनेमें छोटा लगता है। वैसे ही श्रीरामजी बहुत बड़े हैं पर देखनेमें छोटे मालूम होते हैं। (ख) 'उदय तासु त्रिभुवन तम भागा'—यहाँ भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक यही 'त्रिभुवन' है, इन्हींका अन्धकार नष्ट होता है। (ग) सूर्यके उदाहरणका भाव कि प्रत्यक्ष ही श्रीरामजी सूर्यके समान उदय हुए हैं। 'उदित उदय'''। इसीसे सूर्यका उदाहरण दिया।☞ यहाँ धनुष 'तम' है, यथा—'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी। २३९। १।' रामजी सूर्य हैं। जैसे सूर्यके उदयमात्रसे बिना परिश्रम अन्धकार नष्ट हो जाता है, यथा 'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। २३९। ४।' वैसे ही श्रीरामजीसे बिना परिश्रमके धनुषका नाश होगा।☞ रविमण्डलको लघु कहा, इसीसे तमको भारी कहा। तम त्रिभुवनमें है, इससे भारी कहा। (घ)☞ यहाँतक नाश करनेके उदाहरण दिये। आगे वश करनेका उदाहरण देती हैं।

नोट—४ अगस्त्य और समुद्र, रवि और त्रिभुवनतम इत्यादिके प्रमाण देकर जनाती हैं कि श्रीरामजी धनुष तो तोड़ सकते हैं, यह असम्भव नहीं। यहाँ 'सम्भव प्रमाण अलंकार' है। रविमण्डलका उदाहरण देकर यह भी जनाया कि इनके तेज प्रतापके आगे वह स्वयं ही नमित और नष्ट हो जायगा, यथा—'कोउ कहै तेज प्रताप-पुंज चितए नहिं जात भिया रे। छुअत सरासन सलभ जरैगो ये दिनकर बंस दियो रे। गी० १। ६६।' पुनश्च यथा—'देखिअत भूप भोर के से उडगन गरत गरीब गलानि हैं। तेज प्रताप बढ़त कुँवरनिको जदपि सकोची बानि हैं। बय बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानिहैं। अवसि राम राजीव विलोचन संभु सरासन मानिहैं। गी० ७८।' रविकी उपमा तेज और प्रताप दोनोंकी दी जाती है, यथा—'रवि सम तेज सो बरनि न जाई', 'यह प्रताप रवि जाके उर जब करे प्रकास ···'।

५ (क) पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'मिथिलापुरीमें जो दुःख उमड़ रहा है उसको सोखनेको ये अगस्त्य हैं, मोहान्धकार-के नाशके लिये सूर्य हैं और जो कहा कि यह धनुष देवताका है, किसीसे न टूटेगा, उसपर मन्त्रका दृष्टान्त देते हैं।' (ख) वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ 'उपमान और प्रमाण अलंकार' है। इससे यह व्यञ्जित होना कि रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे 'लक्षणमूलक गूढ़ व्यंग' है।

दो०—मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब। महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब ॥२५६॥

अर्थ—मन्त्र अत्यन्त छोटा है जिसके वशमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि समस्त देवता हैं। छोटा-सा अंकुश महा मतवाले गजराजको वशमें कर लेता है॥ २५६॥

टिप्पणी—१ 'मंत्र परम लघु ···' इति। (क) प्रणव एक अक्षरका है इसीसे उसे 'परम लघु' कहा।* प्रणव-की तीन मात्राएँ त्रिदेवमय हैं। † इसीसे उससे त्रिदेवका वश होना कहा, प्रणवसे कोई छोटा नहीं और विधि-हरि-हरसे कोई बड़ा नहीं। प्रणव ब्रह्म ही है, यथा—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म।' ब्रह्मके आराधनसे सब वशमें हो जाते हैं। ☞ रानी-ने श्रीरामको परम लघु 'बाल हंस' की उपमा दी, इसीसे सखी 'परम लघु' का उदाहरण देकर संदेह दूर करती है। रानी-ने परम लघुकी उपमा देकर सूचित किया था कि इनसे धनुष टूटना अत्यन्त असम्भव है; इसीसे सखीने परम लघुके उदाहरणमें भारी शक्ति और भारी काम दिखाया। परम लघुसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदिका वश होना कहा। पुनः (ख) 'परम लघु सुर सर्व' का भाव कि सब देवताओंके पञ्चाङ्ग होते हैं। कवच, स्तोत्र, सहस्रनाम, पटल और पद्धति।

---

* किसी भी देवताके मन्त्रमें जबतक प्रणव आदिमें नहीं होगा तबतक वह शक्तिहीन रहता है। देवताके नाममें प्रणव चतुर्थी विभक्ति और नमः जोड़नेसे उसका मन्त्र बनता है। यथा नारदपंचरात्रे—'प्रणवादौ नमोऽन्तं च चतुर्थ्यन्तं च सत्तम। देवतायाः स्वकं नाम मूलमन्त्रः प्रकीर्तितः।' इसीसे किसी देवताका मन्त्र प्रणवसे लघु हो ही नहीं सकता।

प० प० प्र०—(क) 'मन्त्र परम लघु' से केवल प्रणव समझना भूल है, क्योंकि प्रत्येक देवताका एकाक्षर मन्त्र होता है, जिसको उस देवताका बीज कहते हैं। जैसे 'रां' एकाक्षर राममन्त्र है, रामबीज है; 'गं' और 'ग्लौं' एकाक्षर गणेशमन्त्र हैं 'गं' बीज है। 'श्री' एकाक्षर रमामन्त्र है। जिनको प्रणवका अधिकार है, उनको ही एकाक्षर राममन्त्रका अधिकार है—देखिये रामार्चनचन्द्रिका, अगस्त्य संहिता या रामोपनिषद्। (ख) प्रणवविहीन मन्त्र शक्तिहीन होता है यह भी अर्धसत्य है, क्योंकि राममन्त्रोंके लिये प्रणवकी अपेक्षा नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु 'विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्यां विनैव हि। विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः॥' ऐसा प्रभाव राममन्त्रोंका अगस्त्यसंहितामें कहा गया है। एक अक्षरसे ३२ अक्षरोंतक राममन्त्र हैं। षडक्षर मन्त्रके मुख्य ६ भेद, ३६ भेद एवं १२८ भेद हैं। (रामरहस्योपनिषद्)। स्वाहा, फट्, वषट्, वौषट्, हुम् और नमः, इनमेंसे षडक्षर मन्त्रमें अन्तमें एक हो सकता है। 'रामकी चतुर्थी भी सभी राममन्त्रों-में नहीं है। उपनिषदोंमें यह सब कहा है, अधूरे वचनोंसे पाठकोंकी बुद्धिमें भेद और भ्रम पैदा हो सकता है, इससे थोड़ा-सा लिख देना पड़ा।

† यथा—'अकारो वासुदेवः स्यात्', 'उकारः शंकरः प्रोक्तः', 'मकारः स्याच्चतुर्मुखः।' (एकाक्षरी कोश)। वि० त्रि० जी लिखते हैं कि प्रणवकी पहिली मात्राके वाच्य विष्णु, दूसरीके ब्रह्मा और तीसरीके शिव हैं, अर्ध-मात्राके वाच्य साक्षात् ब्रह्म हैं। अतः सभी प्रणवके वश हैं और ये (श्रीराम) साक्षात् प्रणवरूप हैं।—'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् अद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्चोङ्कारः भूर्भुवः स्वः तस्मै वै नमो नमः।'

इनकी अपेक्षा सब देवताओंके मन्त्र परम लघु हैं। सब देवता अपने-अपने मन्त्रके वशमें हैं। (कोई भी देवता दूसरे देवताके मन्त्रके अधीन नहीं है, परंतु परम लघु मन्त्र प्रणवके अधीन सभी हैं; इसीसे 'मंत्र परम लघु' से 'सर्व सुरों' का वशमें होना कहा)। अथवा (ग) कुम्भज, सूर्यमण्डल, अंकुश और काम ये सब लघु हैं और मन्त्र परम लघु है। २—'**महामत्त गजराज**''' इति। हाथीकी बड़ाई दिखानेके लिये 'महा गजराज' कहा और अंकुशकी छोटाई दिखानेके लिये 'खर्ब' कहा। तात्पर्य कि इतना छोटा इतने बड़े भारीको वश कर लेता है, वश करनेके विचारसे (महा) मत्त पद दिया क्योंकि जो सीधा है उसका वश करना क्या ? वह तो स्वयं वशमें है।

☞३—पाँच उदाहरणोंसे चारों पदार्थोंकी सिद्धि दिखाते हैं। यथा—(क) 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। **सोखेउ सुजस सकल संसारा**॥' समुद्र सोख लेनेसे रत्न सब प्रकट हो गये—यह अर्थकी सिद्धि हुई। 'महामत्त गजराज **कहँ बस कर अंकुस खर्ब**।' हाथी अर्थ है। हाथीका वश होना यह भी अर्थसिद्धि हुई। लक्ष्मी दो प्रकारकी है—एक स्थावर दूसरी जङ्गम। इसीसे अर्थके दो उदाहरण दिये। (ख) 'रविमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा॥' सूर्यके उदयसे धर्मकी सिद्धि हुई क्योंकि सूर्य धर्मके अधिष्ठान (अधिष्ठातृदेवता) हैं। (ग) 'काम कुसुम धनु सायक **लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे**॥' कामके वश होनेसे कामकी सिद्धि हुई। और (घ) 'मंत्र परम लघु जासु **बस बिधि हरि हर सुर सर्ब**॥' मन्त्र जापसे विधि-हरि-हर आदि वश हुए। इससे मोक्षकी सिद्धि हुई। तात्पर्य कि जिस लघु-से चारों पदार्थोंकी सिद्धि होती है उसको लघु कैसे कह सकते हैं ? [इस टिप्पणीके पढ़नेके पश्चात् वे० भू० जी लिखते हैं कि मन्त्रसे भक्तिकी सिद्धि दिखायी। मन्त्र जपना भक्ति है। यथा—'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद **प्रकासा**॥' सम्पूर्ण दृष्टान्तोंके एकमात्र दार्ष्टान्त श्रीरामजीको कहकर मोक्षकी सिद्धि दिखायी गयी। कारण कि अन्य तीन फलोंका समावेश मोक्षमें ही होता है और मोक्षप्रदाता एकमात्र श्रीहरि ही हैं, जैसा श्रीमुचुकुन्दजीसे कहे हुए देव-ताओंके '**वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः। एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः** ॥ भा० १० । ४७ । २८ ॥' से स्पष्ट है। (ङ) यहाँ 'द्वितीय भावना अलंकार' है]।

नोट—१ नंगे परमहंसजीका मत है कि मन्त्रके दृष्टान्तसे जनाया कि 'जैसे मन्त्रमें ऐसी शक्ति है कि ब्रह्मादि देवता उसके वश हैं वैसे ही श्रीरामजी छोटे हैं पर उनमें 'बुद्धिकी ऐसी शक्ति है कि धनुषको वश करनेकी कौन कहे तीनों लोकोंको वश कर सकते हैं।' और जैसे अंकुश अपने गुणसे महामत्त गजराजको वश करता है वैसे ही श्रीरामजी गुणोंसे युक्त हैं। २ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजी मन्त्ररूप हैं। शिवजी राममन्त्रके उपासक हैं और धनुष 'बिधि **हरि हर सुर सर्ब**' में है। अतः रामजीके छूते ही टूट गया। पुनः धनुष महामत्त गजराज है। मनको गज कहा है—'मन करि बिषय **अनल बन जरई**।' श्रीरामजी अपने चरणमें अंकुश—चिह्न धारण किये हैं जिससे मनमतङ्ग वश होता है—'**मनही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताहि ते अंकुश लै धारयो हिये ध्याइए**। भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमाल)।'

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥ १॥
देवि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी॥ २॥

अर्थ—कामदेवने फूलोंका धनुषबाण लिये हुए सारे ब्रह्माण्डको अपने वश कर लिया॥ १॥ हे देवि ! ऐसा जान-कर संदेह छोड़िये। हे रानी ! सुनिये रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे॥ २॥

नोट—१ कामदेवके धनुष और बाण दोनों ही पुष्पोंके हैं। यथा—'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष **कर सहित सहाई**। ८४। ३॥' 'ते रतिनाथ सुमन सर मारे। २। २५॥' 'कुसुम' का अर्थ 'फूल' है। किस-किस फूल-के बाण हैं यह दोहा ८३ (८) भाग २ में देखिये। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि महाकवियोंने इक्षु (गन्ना, ईख) को ही कामदेवका धनुष माना है। महाकवि मयूर इक्षुकी अन्योक्ति करते हुए कहते हैं 'कान्तोऽसि नित्यमधुरोऽसि रसाकुलोऽसि किं चासि पञ्चसर कार्मुकमद्वितीयम्। इक्षो तवास्ति सकलं परमेकन्यूनं यत्सेवितो निरसतां भजते क्रमेण॥' (अन्योक्ति-कल्पद्रुम), 'कोदण्डमैक्षवखण्डमिषुं च पौष्पम्''' (श्रीकृष्णकरुणामृत शतक २ श्लोक ११०)। अतएव अर्थ हुआ—'कामदेवने ईखका धनुष और पुष्पोंके बाण लेकर'''।' (सखीगीता)। मेरी समझमें 'कुसुम' का अर्थ यहाँ 'पुष्प' ही है। यह प्रसङ्ग भोजप्रबन्धसे मिलता-जुलता है। वहाँ 'धनुः पौष्पं' है वैसे ही यहाँ। विशेष टिप्पणी १ व ३ में देखिये।

टिप्पणी—१ (क) 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे' इति। भाव कि बड़े-बड़े वीर लोग बड़े-बड़े शस्त्रास्त्रोंके प्रयोग करनेपर भी सारे भुवनको वश नहीं कर सकते, और काम पुष्पोंसे मारकर सबको वशमें कर लेता है। 'धनु सायक लीन्हे' का भाव कि वह वीर है, बड़े-बड़े वीरोंको अपने वशमें उसने कर लिया अर्थात् कामी बना दिया, यथा—'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे। २। २५॥' (ख) वश करना तीन प्रकारसे होता है। एक तो दुःख देकर, दूसरे सुख देकर और तीसरे साधारणतया ही न सुख देकर न दुःख देकर। इसीसे यहाँतक वश करनेके तीन उदाहरण दिये।—'महामत्त गजराज कहँ बस कर अंकुस खर्ब' यह शरीरको दुःख पहुँचाकर वश करना है। 'काम कुसुम धनु सायक····' यह सुख देकर वश करनेका उदाहरण है। और 'मंत्र परम लघु जासु बस····' यह साधारण ही वश करता है, इसमें शरीरको दुःख-सुख कुछ नहीं है। (यहाँ भी 'द्वितीय विभावना अलंकार' है)।

नोट—२ (क) पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'तुम इन्हें हंसबच्चा सच ही कहती हो, पर ये शृङ्गार और वीररससे भरे हैं, जैसे काम फूलधनुषसे सारे विश्वको वशमें किये है। (ख) नंगे परमहंसजीका मत है कि जैसे कामदेवके धनुष-बाण पुष्पके हैं पर उन्हींसे अपने बलसे वह त्रिभुवनको वश करता है, वैसे ही श्रीरामजी कुसुमकी भाँति सुकुमार हैं पर बलयुक्त होनेसे ब्रह्माण्डको वश कर सकते हैं। (ग) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजी कामरूप हैं—'कोटि मनोज लजाव निहारे।' जिन परशुरामजीने 'भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही' उनको फूल-समान मृदु वचनोंसे जीत लिया।' (घ) वै० भू० जी कहते हैं कि काम और अङ्कुशके दृष्टान्तसे दिखाया कि श्रीरामजीमें कोमलत्व और काठिन्य दोनों गुण हैं, यथा—'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। ७। १९॥'

टिप्पणी—२ 'देवि तजिय संसय अस जानी।····'इति। संशय त्याग करनेमें 'देवि' सम्बोधन किया। भाव कि आप दिव्य हैं, आपका ज्ञान दिव्य है, आपको तो ऐसा संशय करना ही न चाहिये, यथा—'को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि। २। २८३।' मैं भला आपको क्या समझा सकती हूँ? और 'भंजब राम धनुष' यह कहनेमें 'रानी' सम्बोधन देनेका तात्पर्य कि आप रानी हैं, सुखकी अधिकारिणी हैं, आपको सुख मिलेगा। [पुनः, दिव्यज्ञानको उपदेशकी आवश्यकता नहीं, उसे क्या समझना है, इस भावसे 'देवि' और रानीको सलाह दी जा सकती है जैसे राजाको मन्त्री उचित सलाह देते हैं, अतः संदेह दूर करनेमें और विश्वास दिलानेमें 'रानी' कहा (मा० सं०)। वा, पट्टाभिषिक्ता महिषीको 'देवी' कहते हैं, ये पटरानी हैं ही। (वि० त्रि०)।]

नोट—३ 'तजिअ' यह शिष्ट पुरुषोंकी बोली है। शिष्ट पुरुषों तथा अपनेसे बड़ोंसे बोलनेमें इस तरहका प्रयोग होता है। यथा—'करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥ ३३। ८।' 'तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥ २। २६८।' इत्यादि। 'तजहु' न कहा क्योंकि इससे कहनेवालेका बड़प्पन प्रकट होता है। नित्यकी बोल-चालमें प्रायः इस तरहका प्रयोग अपनेसे छोटेके लिये होता है। यथा—'कोउ नहिं सिवसमान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥ १३८। ६।' 'तजहु आस निज निज गृह जाहू'। संशयका त्याग करनेको कहा; क्योंकि बिना इसके त्यागके चिन्ता और व्याकुलता बनी ही रहेगी। रानीने 'बचन कहे बिलखाइ' इसीसे कहा कि 'तजिय संशय'।

☞ *टिप्पणी*—३ यहाँतक पाँच दृष्टान्त देकर श्रीरामजीमें पाँच गुण दिखाती है। वह यह कि उनमें अगस्त्यका-सा सामर्थ्य है, सूर्यका-सा तेज है, अङ्कुशकी तरह उनका शरीर दृढ़ है, मन्त्र-जैसा प्रभाव है और कामके समान सौन्दर्य है। जैसे इन पाँचोंको पाँच काम करना सुगम है, वैसे ही श्रीरामजीको धनुष तोड़ना सुगम है। 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे····'। यह कहकर तब 'भंजब राम धनुष····' कहनेका भाव कि जैसे काम कुसुमका धनुष लिये हैं, वैसे ही कुसुमके धनुषकी तरह श्रीरामजी शिवधनुषको हाथमें उठाकर तोड़ेंगे, यह भाव दिखानेके लिये कामका उदाहरण सबके पीछे दिया गया।

नोट—४ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि कुम्भजादि चार दृष्टान्त छोटेके लिये दिये और कामदेवका दृष्टान्त सुकुमारतापर दिया है।····श्रीरामजी इन पाँच ऐश्वर्योंसे युक्त हैं—प्रताप, तेज, बुद्धि; गुण और बल। इन्हीं पाँचों ऐश्वर्योंको सखीने पाँचों दृष्टान्तोंमें संशयनिवृत्तिहेतु रानीसे कहा है। और इन्हीं पाँचोंको रावणने भ्रममें पड़के नाहीं किया है कि राममें ये पाँचों ऐश्वर्य नहीं हैं। (प्रमाण) 'कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाकें। बल प्रताप बुधि तेज न ताकें॥ अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास। ६। ३०।' जिसमें ये पाँचों बातें रहती हैं, वही सब कार्य करनेमें समर्थ होता है।

५ पाँच दृष्टान्त देनेका क्या कारण है ? उत्तर—(क) एक-एक उदाहरण एक-एक गुणका देनी गयी जो उसको दिखाने थे। (ख) प्रथम दृष्टान्त प्रतापीका तो था पर अगस्त्यजी ऋषि और प्रसिद्ध समर्थ परम शक्तिमान् महात्मा हैं। तब दूसरा दृष्टान्त 'रविमंडल' का दिया, पर रवि देखनेमें छोटे लगते हैं जरूर, किन्तु पृथ्वीभरको वे और उनका तीक्ष्ण तेज प्रत्यक्ष देख पड़ता है। यह विचारकर मन्त्रका दृष्टान्त दिया कि यह तो छोटा है पर इसके भीतर कितनी शक्ति गुप्त है वैसे ही श्रीरामजीमें शक्ति गुप्त है। यह छोटा है पर देवरूप है, (मन्त्र जड़ है। उसको चेतन करना पड़ता है। गुरु उसे विधिपूर्वक देता है। मन्त्र सिद्ध करनेमें बहुत कष्ट होता और समय लगता है। प० प० प्र०)। अतः अङ्कुशका उदाहरण दिया। पर वह कठोर है (सखी चतुर है, उसने जान लिया कि रानीके मनमें रघुवीरकी मनोहरता, लावण्य और सुकुमारता छायी हुई है, अन्य दृष्टान्तोंसे काम न चलेगा। प० प० प्र०), इससे सुन्दर श्याम और सुकुमार कामका दृष्टान्त दिया। अब सर्वाङ्ग पूर्ण हो गये। (ग) संदेहनिवारणार्थ वक्ताको अधिकार है कि जबतक संदेहकी निवृत्ति न हो तबतक वह बराबर दृष्टान्त देता जा सके, अतः उसी तरह सखी जब समझ गयी कि अब संदेह नहीं रह सकता तब उसने उदाहरण देना बंद किया।

वि० त्रि०—पाँच उदाहरणोंका भाव कि पञ्चमहाभूतोंमें तेजस्वीकी ही प्रधानता है। धनुष पञ्चभूतके बाहरकी वस्तु नहीं है, अतः इसे निश्चय ही तेजस्वीके वशीभूत होना पड़ेगा। 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा' से रस, रविमण्डलसे रूप, मन्त्रसे शब्द, अङ्कुशसे स्पर्श और 'कुसुम धनु' से गन्ध कहा।

नोट—६ इस प्रसङ्गसे मिलता हुआ एक प्रसङ्ग हनुमन्नाटक और दूसरा 'भोजप्रबन्ध' में भोज-सकुटुम्बविद्वद्विप्र-संवाद प्रकरणमें मिलता है। हनु० ना० में कुछ भिल्लिनियोंने श्रीरामजीको लंकाके लिये पयान करते देख अपनी मातासे शंका की है कि इनके पास शस्त्र, शास्त्र (वा अस्त्र), हाथी, घोड़े, रथ, बैल, ऊँट, डेरा, धन तथा राजाओंकी अन्य कोई भी सामग्री नहीं है, प्रत्युत ये जटाधारी हैं, राजा भी नहीं हैं, (तब ये लंकाको कैसे जीतेंगे ?)। तब माताने समाधान किया है; यथा—'विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिर्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः। तथाप्येको रामः सकलमपि हन्ति प्रतिबलं क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥ अंक ७। ७।' अर्थात् इन्हें लंकाको जीतना है, समुद्रको चरणोंहीसे तरना है। रावण इनका शत्रु है। रणभूमिमें इनके सहायक वानर हैं, तो भी ये राम अकेले ही सम्पूर्ण शत्रुपक्षका नाश कर देंगे, क्योंकि महान् पुरुषोंकी कार्यसिद्धि पराक्रममें होती है, सामग्रीमें नहीं।

भोजप्रबन्धमें 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे' इस समस्याकी पूर्तिमें चार श्लोक हैं जिनमेंसे एक हनु० ना० ७। ७ से मिलता-जुलता है, केवल तृतीय पाद भिन्न है। शेष तीन श्लोकोंमें 'कुम्भज' 'रवि' और 'काम' के उदाहरण हैं। यथा—'घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनो वने वासः कन्दादिकमशनमेवंविधगुणः। अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत कराम्भोजकुहरे क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ ६॥ रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि। रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः क्रिया…॥ ७॥ धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशां दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः। स्वयं चैकोऽनङ्गः सकलभुवनं व्याकुलयति क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ ९॥' अर्थात् जिनका जन्मस्थान घट, मृगादि परिजन, भोजपत्र वस्त्र, कन्दादि भोजन और वनमें निवास है, ऐसे सामान्य परिस्थितिवाले अगस्त्यजीने अथाह सागरको एक चुल्लूभरका कर दिया। इससे जाना जाता है कि महान् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि उनके आत्मबलसे ही होती है न कि सामग्रीके बलसे। ७। जिनका रथ एक ही चक्रवाला है, सातों घोड़ोंकी लगामें सर्पोंकी हैं, सर्पोंहीसे रथमें घोड़े जुते हुए हैं, मार्ग निरालम्ब और अथाह है, सारथी पङ्गुल है, ऐसे सूर्य भी प्रतिदिन अथाह आकाशको पार कर लेते हैं, इससे निश्चय है कि महान्…। ८। जिसका धनुष फूलका है, प्रत्यञ्चा भ्रमरात्मिका है, बाण स्त्रियोंके चञ्चल कटाक्ष हैं, जड़ात्मा चन्द्रमा सुहृद् है, जो स्वयं अकेला और शरीररहित है, उस कामदेवने संसारको व्याकुल कर रक्खा है। इससे पाया जाता है…। ९।

उपर्युक्त श्लोकोंके चतुर्थ चरण 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।' की जोड़में यहाँ सखीका 'तेजवंत लघु गनिय न रानी।' यह वाक्य है। दोनोंका भाव एक ही है। जैसे वहाँ 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति…' की सिद्धिके लिये चार दृष्टान्त दिये गये, वैसे ही यहाँ 'तेजवंत लघु गनिय न' की सिद्धिके लिये पाँच दृष्टान्त दिये गये। 'घटो जन्मस्थानं… अगस्त्यः' का सब भाव 'कहँ कुंभज' में और 'पाथोधिं यदकृत कराम्भोजकुहरे…' का भाव 'कहँ सिंधु अपारा सोख्यो' में है। जैसे वहाँ दूसरा दृष्टान्त रविका है वैसे ही मानसमें भी दूसरा दृष्टान्त रविमण्डलका है। वहाँ सामग्रीका प्रकरण है इसलिये

अपूर्ण सामग्रियोंके होते हुए बड़ा काम करनामात्र कहा गया और यहाँ तेजस्वी 'को देखनेमें लघु होनेका' प्रकरण है इसलिये तेजस्वी रविमण्डलका देखनेमें लघु होना कहकर उसका बड़ा प्रभाव तम-नाश कहा गया। वहाँका 'रथस्यैकं चक्र·····रविः' रविमण्डलमें आ गया। 'क्रियासिद्धि···' का तीसरा दृष्टान्त 'राम' का है। एक भोजप्रबन्धमें और एक हनु० ना० में; वैसे ही यहाँ तीसरा दृष्टान्त 'मंत्र परम लघु' का और चौथा अंकुशका, दोनों एक ही दोहेमें हैं।

अन्तिम दृष्टान्त दोनोंमें कामदेवका है। वहाँ समस्याकी पूर्ति इसी दृष्टान्तपर समाप्त हुई; वैसे ही यहाँ 'तेजवंत लघु गनिय न' की पूर्ति इसी दृष्टान्तपर हुई।

यह प्रसङ्ग नगरदर्शनवाली सखियोंके संवादमेंके अन्तिम वाक्योंसे भी मिलाने योग्य है। यहाँके 'तेजवंत लघु गनिय न रानी' में वहाँके 'यह प्रभाउ देखत लघु अहहीं। परसि जासु पद पंकज धूरी॥ तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें। २२३। ४-६।' इस वाक्यका सब भाव भरा हुआ है जो प्रत्येक दृष्टान्तके अन्तमें उसी तरह कहा जा सकता है जैसे—'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' श्लोकोंके अन्तमें कहा गया है। 'देवि तजिय संसउ अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी॥' की जोड़में नगरदर्शनमें 'सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। यह प्रतीति परिहरिअ न मोरें॥' है।

जा० मं० में भी रानीने सखियोंसे कहा है—'कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति।····४६।', तब रानीको शोचयुक्त देख सखीने समझाया है। यथा—'देवि! सोच परिहरिय हरष हिय आनिय। चाप चढ़ाउब राम बचन फुर मानिय॥ ४७।···सुनि जिय भएउ भरोस रानि हिय हरषइ···४९।'

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी—'सखि सब कौतुक देखनिहारे···सकल भुवन अपने बस कीन्हे।' इति। सखि शब्दसे सम्भवतः मन्त्रीकी स्त्री अभिप्रेत है। सुनयना महारानी पाँच बातें कहती हैं—(१) 'सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥ (२) कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं। ये बालक असि हठ भलि नाहीं॥ (३) रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥ सो धनु राजकुअँर कर देहीं। (४) बाल मराल कि मंदर लेहीं। (५) भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कछु जाति न जानी॥

इस कथनमें मन्त्री, गुरुजी तथा राजा तीनोंपर आक्षेप है। सखी 'तेजवंत लघु गनिअ न रानी' कहकर सबका निराकरण करती है, तथा कुम्भज, रविमण्डल, मन्त्र, अंकुश और कुसुमधनुका उदाहरण देकर क्रमशः रस, तेज, शब्द, स्पर्श और गन्ध (जो कि ब्रह्माण्डके कारण हैं) में भी तेजस्वीका विजय दिखलाते हुए अलग-अलग पाँचों बातोंका उत्तर भी उसने दे दिया।

(१) वह कहती है कि लोग कौतुक देखनेवाले नहीं हैं, वे जानते हैं कि कुम्भजने समुद्र सोख लिया, उनका सुयश जगत्‌में व्याप्त है। (२) गुरुजी हठ नहीं कर रहे हैं, वे रविमण्डलकी वास्तविक महत्ताको जानते हैं, उनकी दृष्टिमें रविमण्डल छोटा नहीं है। (३) वे परम लघु मन्त्रकी महामहिमासे परिचित हैं। (४) महाराज बड़े सयाने हैं, वे दिन-रात खर्व अंकुशकी कार्यकारिताका अनुभव किया करते हैं। (५) कामके कुसुम धनु सायकके महाप्रभावको जानते हैं, अतः महातेजस्वी रामचन्द्र ('जिनके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥) को धनुष-भङ्गके लिये जानेसे नहीं रोकते। क्योंकि 'भंजब धनुष राम सुनु रानी'; अतः महारानी सुनयनाको सखीके वचनसे विश्वास हुआ।

सखी बचन सुनि भै परतीती। मिटा बिषादु बढ़ी अति प्रीती॥ ३॥

अर्थ—सखीके वचन सुनकर रानीको विश्वास हुआ, दुःख मिटा और अत्यन्त प्रेम बढ़ा॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'भै परतीती' इस कथनके अभ्यन्तर यह आशय निकलता है कि रानीको श्रीरामस्वरूपमें संशय था, वह संशय दूर हो गया और श्रीरामजीका स्वरूप उनको जान पड़ा; क्योंकि जब संशय दूर हो जाता है तभी रामस्वरूप जान पड़ता है और स्वरूप जाननेपर ही प्रतीति होती है और प्रतीति होनेपर प्रीति होती है, यथा—'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। १२०। २-३।', 'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ ७। ८९।' (ख) 'मिटा बिषादु' भाव कि संशयरूपी सर्पने ग्रस लिया था, कुतर्करूपी लहरें आ रही थीं, उसीका विषाद था सो मिट गया; यथा—'संसय-सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहुब्राता॥ ७। ९३।', 'संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस तर्क बिषादः॥ ३। ११। ९।' (ग) 'बढ़ी

अति प्रीती' इति। भाव कि रानीकी श्रीरामजीमें पहले भी अति प्रीति थी, यथा—'सहित विदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥ २४२। ३।' बखानी नहीं जाती अर्थात् 'अति प्रीति' है। वही 'अति प्रीति' रामस्वरूप जाननेसे यहाँ बढ़ी। (पहले बिना सम्बन्धके प्रीति थी, अब सम्बन्धकी आशा दृढ़ होनेसे अति प्रीति बढ़ी। वि० त्रि०)। ४ ☞ रानीको श्रीरामस्वरूप हृदयमें जान पड़ा, उन्होंने उसे मुखसे नहीं कहा; इसीसे यहाँ चौपाईमें भी श्रीरामस्वरूप-का जानना गुप्त है। पार्वतीजीने उसे कहा था इससे वहाँ प्रकट करके कविने लिखा था, यथा—'रामसरूप जानि मोहि परेऊ।' यदि रानीने भी प्रकट कहा होता तो कवि लिखते।

गौड़जी—विषाद मिट गया। प्रीति बहुत बढ़ गयी। इसका कारण यह है कि अभीतक रानी अपने लड़केके भावसे ही सरकारको देखती थीं, साथ ही वात्सल्यके आत्यन्तिक उद्रेकसे उन्हें नितान्त सुकुमार समझती थीं। जब प्रतीति हुई कि उनका सामर्थ्य अपार है, 'राम चाप तोरब सक नाहीं' (भंजब राम धनुप), तब तो प्रीति बढ़ गयी कि हमारा जामाता केवल हमारी या किशोरीजीकी पसंदसे विवाह न करेगा, बल्कि त्रैलोक्यविजयी और यशस्वी होकर वरेगा, तो प्रीति अत्यधिक बढ़ गयी।

श्रीराजारामशरणजी—इस अर्धालीमें कितनी सुन्दर आलोचना है। तुलसीदासजी अपनी कविताके बड़े ही सुन्दर आलोचक भी हैं। प्रत्येक परिस्थिति और वार्तापर आगे या पीछे उनकी आलोचना अवश्य होती है। इसीसे हम भ्रम और भूलमें नहीं पड़ते। शेक्सपियरकी कलामें 'कवि' हमारा पथप्रदर्शक नहीं, इसीसे भूल होती है और भ्रम उत्पन्न होता है। यूनान देशके नाटकोंमें जो कामगायक समूह (Chorus) करता था वही काम तुलसीकी कलामें कवि करता है। हाँ, तुलसीदासकी कला अधिक स्वाभाविक है।

नोट—यहाँ 'भ्रान्त्यपह्नुति अलंकार' है। श्रीरामजीकी सुकुमारतासे रानीको उनके धनुष तोड़नेमें सन्देह हुआ। उस भ्रमको सत्य उदाहरण देकर सखीने दूर किया। कुम्भज और धनुप, रविमण्डल और त्रिभुवन तम, इत्यादिके प्रमाण देकर जनाती है कि रामजी धनुष तोड़ सकते हैं, यह असम्भव नहीं—'सम्भव प्रमाण अलंकार' है।

वे० भू०—श्रीहारीतजीका कहना है कि अर्थ-पञ्चक ज्ञान ही समस्त निगमागमादि सच्छास्त्रोंका निचोड़ ज्ञानतत्त्व है; यथा—'प्राप्तस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥ वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः॥' यहाँ 'सखीगीता' में वर्णित है कि सखीका वचन सुनकर रानीके हृदयमें श्रीस्वरूपके बोध होने 'तत्त्वपरिज्ञान' से श्रीरामजीमें (श्रीहनुमत्संहितामें कथित) 'संप्रीति', 'नित्या प्रीति' हुई। उसीको यहाँ 'बढ़ी अति प्रीती' कहकर जनाया है। सखीने प्रकारान्तरसे यहाँ अर्थपञ्चकके 'प्राप्यस्वरूप' का ही कथन किया है।

तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥ ४॥
मन ही मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी॥ ५॥
करहु सफल आपनि सेवकाई। करि* हितु हरहु चाप गरुआई॥ ६॥

अर्थ—('सहजहि चले सकल जगस्वामी। मत्त-मंजु बर कुंजर गामी॥ चलत राम सब पुर नर नारी। पुलक पूरि तन भए सुखारी') तब (ठीक उसी चलते समय) श्रीरामजीको देखकर विदेहनन्दिनी श्रीजानकीजी भयभीत हृदयसे जिसी-तिसी (देवता) की विनती करने लगीं॥ ४॥ वे व्याकुल होकर मन-ही-मन मना रही हैं—हे महेशभवानी! प्रसन्न हूजिये॥ ५॥ अपनी सेवा (अर्थात् जो सेवा मैंने आजतक आपकी की और कभी कुछ फलकी याचना नहीं ही की, उस सेवाको) सफल कीजिये और मुझपर प्रेम-स्नेह वा कृपा करके धनुषके भारीपनको हर लीजिये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'तब रामहि' का सम्बन्ध २५५ (५-६) 'सहजहि चले···चलत राम' से है। बीचमें पुरनर-नारियों और श्रीसुनयना आदि रानियों और सखियोंके स्नेह और प्रेम इत्यादिको कहकर अब इनके मनकी दशा कहते हैं। कवि एक ही है, इससे एकके बाद एकको लिखता है पर सबके मनमें एक ही समय पृथक्-पृथक् भाव और विचार उत्पन्न हुए। (ख) 'रामहि बिलोकि' इति। भाव कि श्रीरामजीको देखनेसे दर्शकको उनके द्वारा धनुषके टूटनेमें सन्देह हो जाता

*—१६६१ में 'कर' है। लेख-प्रमाद जान पड़ता है।

है वैसे श्रीसुनयना अम्बाजीने रामजीको देखकर सखियोंसे वचन कहे—'रामहि प्रेम समेत लखि…'। जैसे रामजीको देखकर उनकी सुकुमारता समझकर उनको संदेह हुआ, वैसे ही रामजीको देखते ही इनके चित्तमें भी उनकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरताका ख्याल आ गया—यह भाव 'बिलोकि' कहकर दरसाया। [(ग) 'बैदेही' का भाव कि देखकर, कोमलता विचारकर देह-सुध न रह गयी, विह्वल हो रही हैं]। (घ) 'सभय हृदय बिनवति…' इति। श्रीरामजीकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरता समझकर भय है कि धनुष कैसे टूटेगा। इसीसे एक-एक करके देवताओंकी विनती करती हैं कि उसकी गुरुता और कठोरता हर लें, यथा—'करहु सफल…गरुआई', 'बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥ चौ० ८।' (ङ) 'जेहि तेही' [अर्थात् जो ही देवता याद आता है, उसीसे प्रार्थना करने लगती हैं। यह विह्वलता और भयका चिह्न है। इसीसे वैदेही नाम भी यहाँ सार्थक है।]। इससे जनाया कि व्याकुलताके मारे बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती। [भाव कि श्रीसीताजी आर्त हो गयी हैं। आर्तके विचार नहीं रह जाता। इसीसे वे 'जेहि तेही' से विनय करती हैं। योग्य-अयोग्यका विचार ही नहीं है। वे समर्थ देवताओंसे भी विनय करती हैं और जड़ धनुषसे भी कि जो स्वयं टूटनेको रक्खा है। (वि० त्रि०)]।

२ (क) 'मन ही मन मनाव' इति। भाव कि सुनयनाजीने अपने मनकी बात सखियोंसे कह दी—'सीतामातु समेत यस बचन कहँ बिलखाइ', पर ये मारे संकोचके किसीसे भी कह नहीं सकतीं। इसीसे दुःख और व्याकुलता बढ़नेसे मनहीमें मनाती हैं। 'सभय हृदय…॥ मन ही मन मनाव…' से यह बात जना दी कि हृदयहीमें विनय कर रही हैं, मनाती हैं, वचनसे कुछ नहीं कहतीं, यथा—'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी। २५९। १।' (ख) [दुःख कह देनेसे कुछ घट जाता है, यथा—'कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई॥' श्रीसुनयनाजीने कह डाला इससे उनकी व्याकुलता दूर हो गयी। श्रीसीताजी अपने हृदयका संदेह किसीसे कहती नहीं, इसीसे धनुष कैसे टूटेगा यह भय खाकर] 'अकुलानी' अर्थात् बहुत व्याकुल हैं। (ग) 'होहु प्रसन्न महेस भवानी' इति। यह आकुलताका स्वरूप दिखाते हैं कि महादेव-पार्वती तो उनपर प्रसन्न ही हैं, गौरीजीने अभी कल ही तो आशीर्वाद दिया है, यथा—'सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी॥' पर ये रामजीको देख पुनः उनके माधुर्यमें भूल गयीं, व्याकुल होनेसे आशीर्वादकी सुध जाती रही। इसीसे कहती हैं कि प्रसन्न हो, सेवा सुफल करो। (घ) 'आपनि सेवकाई'। भाव कि आपको अपनी 'सेवकाई' की लाज है कि हमारी सेवा कभी निष्फल नहीं होती। आपकी सेवा व्यर्थ नहीं जाती, इसीसे प्रार्थना है कि उसे सुफल कीजिये। (ङ) 'करि हितु हरहु चाप गरुआई' इति। क्या फल चाहती हैं सो कहती हैं कि प्रथम प्रसन्न हूजिये, यह हित कीजिये। हित करके अर्थात् प्रसन्न होकर तब चापकी गुरुता हरण कीजिये जिससे हमारा हित है। ईश्वरमें सब सामर्थ्य है, चाहे रजको सुमेरु कर दें और चाहे सुमेरुको रेणु कर दें, यह समझकर चापकी गुरुता हरण करनेकी प्रार्थना करती हैं।

श्रीराजारामशरणजी—ऊपरकी टिप्पणियाँ बिलकुल ठीक हैं। श्रीसीताजी संकोचवश न तो किसीसे कहती हैं और न कोई उनको तसल्ली देता है। इसीसे उनके हृदयके भावोंका चित्रण तुलसीकी कलाके X Rays द्वारा ही हुआ है। कवि कितना आवश्यक है! यह चित्रण कितना स्वाभाविक और इसी कारण शेक्सपियरकी कलाकी स्वगत वार्ताओंसे कितना अधिक सुन्दर है! भावोंका निरीक्षण स्वयं कविने कर दिया है, तो फिर किसी विशेष आलोचनाकी आवश्यकता ही नहीं। (भय और व्याकुलता)।

गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा॥ ७॥
बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥ ८॥

अर्थ—हे गणोंके नायक श्रीगणेशजी! हे वरदान देनेवाले! हे देव! मैंने आजतक आपकी सेवा की॥ ७॥ बार-बार (की) मेरी विनती सुनकर धनुषका भारीपन अत्यन्त कम कर दीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'गननायक बरदायक देवा' इति। ये तीन विशेषण देकर गणेशजीमें दाताके समस्त गुण दिखाये। दातामें तीन बातें होना जरूरी है—ऐश्वर्य (धन, संपत्ति), उदारता और जानकारी (क्या देना चाहिये इसका ज्ञान)। ये तीनों बातें क्रमसे उनमें दिखाती हैं। गणनायकसे ऐश्वर्यवान्, वरदायकसे उदार और देवसे जानकार जनाया (क्योंकि देवता दिव्य होते हैं, वे हृदयकी जान लेते हैं)। जिसके पास माँगने जाय उसकी प्रथम कुछ स्तुति करके तब माँगना चाहिये, इसीसे

इन तीन विशेषणोंद्वारा गणेशजीकी प्रशंसा करके तब माँगती हैं। जैसे शिव-पार्वतीजीसे प्रार्थना करनेमें उनको 'महेश' अर्थात् महान् ईश और 'भवानी' भवकी पत्नी कहकर उनकी बड़ाई की, वैसे ही गणनायक गणोंके स्वामी कहकर इनकी बड़ाई की कि आप समस्त गणोंके स्वामी हैं। [श्रीपंजाबीजीके मतानुसार 'गणनायकका भाव यह है कि रुद्रगण बड़े शक्तिमान् हैं, आप उनके स्वामी हैं अतः परम शक्तिमान् होंगे। अपनी शक्तिसे इसका बोझ तिनकेके समान कर दीजिये। वा, सब गणोंको आज्ञा दे दीजिये कि अदृश्यरूपसे उठाते समय सहारा लगा दें।'] । (ख) 'आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा', अर्थात् आपसे कभी कुछ सेवाका फल नहीं माँगा, सेवा करती गयी, आज फल माँगती हूँ। आप वरदायक हैं, मुझे वर दें। जैसे महेश भवानीसे कहा था कि 'करहु सफल आपन सेवकाई' वैसे ही इनसे 'आजु लगे....' कहकर सेवा सुफल करनेकी प्रार्थना की। [इससे यह भी जनाया कि आज भी नित्यकी भाँति पूजा करके यहाँ आयी हैं (वि० त्रि०)]।

२ (क) 'बार बार बिनती सुनि मोरी' इस कथनसे अपना अत्यन्त आर्त होना जनाया। मैं बड़ी आर्त हूँ, मेरी विनती सुनिये। (ख) 'करहु चाप गुरुता अति थोरी' इति। 'अति थोरी' का भाव कि श्रीरामजी अत्यन्त कोमल हैं इसीसे गुरुताको 'अति' थोड़ी करनेकी प्रार्थना है। पुनः, भाव कि हमने महेश-भवानीसे माँगा था कि चापकी गुरुता हर लें, सो उन्होंने उसकी गुरुता हर ली, शिव-पार्वतीजीके हरनेपर भी जो थोड़ी (कुछ) रह गयी हो, आप उसे 'अति थोरी' कर दें, क्योंकि रामजी अति सुकुमार हैं। पुनः, भाव कि लक्ष्मणजीने जो दो बातें कही थीं; एक तो 'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ।' दूसरी, 'तोरौं छत्रक दंड जिमि', उनमेंसे पहली बातके लिये तो पुरवासियोंने गणेशजीसे प्रार्थना की है, यथा—'सो सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहुँ राम गनेस गोसाईं॥' रही दूसरी बात, उसे जानकीजी गणेशजीसे माँगती हैं—'करहु चाप गुरुता अति थोरी' 'अति थोरी गुरुता' छत्रकदण्डमें है। अर्थात् माँगती हैं कि धनुषको इतना हलका कर दीजिये जितना हलका छत्रकदण्ड होता है। (ग) ☞ प्रथम लिखा कि 'सभय हृदय बिनवति जेहि तेही' तत्पश्चात् विनय करना लिखा—'मन ही मन मनाव', 'बार बार बिनती सुनि मोरी' और 'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर' इत्यादि। (घ) ☞ बार-बार सभीसे धनुषकी कठोरता हरनेकी प्रार्थना करती हैं—'करि हितु हरहु चाप गरुआई', 'करहु चाप गुरुता अति थोरी', 'होउ हरुअ रघुपतिहि निहारी'। पर श्रीरामजीको बलवान् करनेको नहीं कहतीं। तात्पर्य कि धनुष बहुत कठोर है इसीसे उसको हलका करनेकी प्रार्थना करती हैं। यदि सब देवता रामजीको बलवान् कर दें और धनुष ऐसा ही कठोर बना रहे तो भी सन्देह बना रहता कि 'रामजी बली हैं पर न जाने धनुष टूटे या न टूटे, रावण, बाणासुर, आदि महाभटोंसे भी तो न उठा था, देखें क्या होता है?' और चापके अत्यन्त हलका होनेपर फिर संदेह न रहेगा। अतः हलका होनेकी प्रार्थना की।

दो०—देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर॥ २५७॥

अर्थ—श्रीरघुकुलवीर रामचन्द्रजीकी ओर एवं उनके तनको देख-देखकर श्रीसीताजी धीरज धरकर देवताओंको वा सूर्यको मना रही हैं। उनके दोनों नेत्र प्रेमजल (प्रेमाश्रु) से भरे हुए हैं और शरीरमें पुलकावली हो रही है॥ २५७॥

टिप्पणी—१ 'देखि देखि....' इति। भाव कि वह रूप ही ऐसा है कि एक-दो दफा देखनेसे तृप्ति नहीं होती, यथा—'देखन मिस मृग बिहँग तरु फिरै बहोरि बहोरि। २३४॥' 'पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मन सकुचै न। ३२६।' एकटक देखनेसे लज्जा लगती है, यथा—'गुरजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि। २४८।' श्रीरघुवीर-तन अति कोमल और अति सुन्दर है इसीसे बार-बार देखती हैं। [पुनः, भाव कि एक बार देखतीं फिर कुछ सकुचाकर दृष्टि नीचे या इधर-उधर कर लेती हैं, फिर देखती हैं और संकोचके मारे दृष्टि हटा लेती हैं। और शरीरकी कोमलता और धनुषकी कठोरता याद आयी कि वीरता हृदयसे जाती रही तब देवताओंको मनाने लगती हैं। इस तरह बारंबार वीरताको यादकर धीरज धरती हैं पर धनुष उसे स्थिर नहीं रहने देता। 'धीर' के सम्बन्धसे 'रघुबीर' नाम दिया। 'यहाँ वीरताका काम है, अतः 'रघुबीर' कहा'—पाँड़ेजी)]।

२ 'सुर मनाव' इति। पञ्चदेवताओंके साहचर्यसे यहाँ 'सुर' से 'सूर्य' का ग्रहण होगा। यथा—'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' (इति परिभाषा, न्यायः)। शिवजी, पार्वतीजी, गणेशजी, सूर्य और विष्णु भगवान् ये ही पञ्चदेव हैं। इनमेंसे तीन प्रथम कहे गये—'होहु प्रसंन महेस भवानी', 'गननायक बरदायक देवा'। रहे सूर्य और

भगवान् विष्णु सो भगवान्की प्रार्थना आगे करती हैं, यथा—'तौ भगवान सकल उर बासी। करिहहिं मोहि रघुपति कै दासी॥' (यहाँ भगवान्से विष्णु भगवान् अभिप्रेत हैं, यथा—'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥') अतएव चार देवताओंके साहचर्यसे यहाँ 'सुर मनाव' में सूर्यकी प्रार्थना करनेका अर्थ है। [सुर=सूर्य, यथा—'बिधकी दयारि कै धौं कोटिसत सूर हैं' (क० ५। ३), 'तुलसी सूधे सूर ससि समय बिडंबित राहु' (दो० ३९७)। संस्कृतमें भी 'सुर' का एक अर्थ 'सूर्य' भी कोशमें मिलता है।]। ☞ पञ्चदेवोपासना सनातन रीति है, यथा—'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ २। २७३।' इत्यादि। उसी सनातन धर्मपरिपाटीके अनुसार श्रीजानकीजी पञ्चदेवताओंको मनाकर श्रीरघुनाथजीकी दासी बननेकी प्रार्थना करती हैं।

३ 'धरि धीर' का भाव कि कोमलता देखकर धैर्य नहीं रह जाता जैसा आगे स्पष्ट करती हैं—'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥ बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥' कोमलता देखकर बारंबार क्षोभ होता है, इसीसे ग्रन्थकार भी बारंबार मूर्तिका देखना लिखते हैं—'तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥', 'देखि देखि रघुबीर तन⋯', 'नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥'; इत्यादि। अतः जब-जब क्षोभ होता है तब-तब धीरज धरती हैं। ☞ यहाँतक श्रीजानकीजीके मनका हाल कहा; आगे उत्तरार्द्धमें तनका हाल कहते हैं। (इस समय देवता मनानेके लिये भी धैर्य धारण करना पड़ रहा है, विश्वास है कि बिना दैवबलके ऐसे कार्योंमें सिद्धि नहीं होती। लौकिक बलसे शिवचाप नहीं टूट सकता, अतः 'सुर मनाव⋯' वि० त्रि०)।

४ 'भरे बिलोचन प्रेमजल⋯', यह प्रेमकी दशा है। प्रेमजलका भाव कि रोने (दुःख) से भी नेत्रोंमें जल भर जाता है पर वह बात यहाँ नहीं है। श्रीरामजीमें अत्यन्त प्रेम हो गया है, इसीसे नेत्रोंमें जल आ गया। 'पुलकावली' (=पुलककी पंक्ति) कहकर जनाया कि जितनी बार रामजीको देखती हैं उतनी बार पुलक होता है। अनेक बार देखना प्रथम ही कह दिया है—'देखि देखि⋯'; इसीसे बारंबार पुलकित होना भी कहा। अथवा प्रेमसे बारंबार शरीर रोमाञ्चित हो रहा है इससे 'पुलकावली' का होना कहा।

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा॥१॥
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी॥२॥

अर्थ—अच्छी तरह नेत्र भरकर श्रीरामजीकी शोभा देख पिताका प्रण स्मरणकर फिर मनमें क्षोभ हो गया॥ १॥ (वे सोचने लगीं कि) अहह! (बड़े खेदकी बात है) पिताजी! आपने बड़ी कठिन भयंकर हठ ठानी है, हानि-लाभ कुछ भी नहीं समझते (विचार करते)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'नीके निरखि नयन भरि सोभा' इति। 'नीके निरखि' अर्थात् नख-शिख-शोभा देखकर यथा—'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मनु अति छोभा। २३४। ४।' पुनः भाव कि जबतक मन चञ्चल रहता है तबतक रूप अच्छी तरह नहीं देखते बनता, इसीसे वहाँ लिखा था कि 'तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥' अर्थात् देखना भर लिखा। अब धीरज धारण करनेसे मन स्थिर हो गया,—'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।' इसीसे अब 'नीके निरखि नयन भरि सोभा' लिखते हैं। (ख) 'नयन भरि' का भाव कि जब मन स्थिर न था तब नेत्र भर न देखा था क्योंकि मनके चञ्चल होनेसे नेत्र भी चञ्चल रहे, मनके स्थिर हो जानेसे नेत्र भी स्थिर हो गये तब नेत्रभर शोभा देखी। [मंचपरसे चले। जैसे-जैसे सन्निकट चले आ रहे हैं, शोभा अधिक सुस्पष्ट होती जा रही है, अतः कहते हैं 'तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥' और भी निकट आ गये, तब 'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।' अब बहुत निकट आ गये तब 'नीके निरखि नयन भरि सोभा।' अबतक दूर-दूरसे ही साक्षात्कार हुआ, निकट आनेपर भली-भाँति शोभा देखनेका अवसर मिला। अतः 'नयन भरि' देखना कहा। (वि० त्रि०)]। (ग) 'पितु पनु सुमिरि' से सूचित किया कि जब शोभा देखने लगी तब पिताके प्रणकी सुध भूल गयी थीं पर जैसे ही नखशिख-शोभा भरपूर देख चुकीं तैसे ही पिताका प्रण याद आ गया, तब जो मन स्थिर हो गया था वह पुनः चञ्चल हो गया। शोभाके दर्शनसे निवृत्त हो गया। (घ) 'बहुरि' का भाव कि श्रीसीताजीके

मनमें पहले भी क्षोभ था, यथा—'नखसिख निरखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा।', पर धीरज धरनेपर वह स्थिर हो गया था, अब शोभा देख चुकनेपर फिर क्षुब्ध हो उठा।

२ (क) 'अहह' खेद की बात है। खेदमें इस तरहका शब्द मुँहसे निकलता है। भाव कि यह प्रण श्रीरामजीकी प्राप्तिका बाधक है इससे बड़ा कष्ट है। पुनः भाव कि पिता होकर भी अपनी कन्याका विवाह हठ करके रोक रहे हैं, यह बड़े कष्टकी बात है। पुनः यह कि ऐसे बुद्धिमान् होकर भी हानि-लाभ कुछ नहीं समझते यह कष्टकी बात है। पुनः 'बुधसमाज बड़ अनुचित होई' 'सचिव सभय सिख देइ न कोई' यह कष्टकी बात है। पुनः 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा' इत्यादि—यह सारा प्रसङ्ग कष्टका है। इसीसे आदिहीमें 'अहह' शब्द कथन किया गया। अहह=खेद। (ख) 'दारुनि हठ ठानी।' यह हठ दारुण अर्थात् बड़ा भयंकर है। भाव कि देवताओंको मनानेसे, मनमें समझनेसे, किसी प्रकार भी भयकी निवृत्ति नहीं हो पाती। इसने मनमें भारी भय पैदा कर रक्खा है जो किसी तरह मिटता ही नहीं। [(ग) 'ठानी' का भाव कि यह देखकर भी कि रावण, बाणासुर और दस हजार राजाओंसे भी न उठा तब भी 'बिधि बस हठि अबिबेकहिं भजई' हठपर अड़े हैं] (घ) 'समुझत नहिं कछु लाभ न हानी' इति। भाव कि संसारमें सभी लोग अपनी हानि-लाभ सोचकर कोई काम करते हैं, पर पिताजीने बिना समझे ही यह काम किया। इसीसे कहती हैं कि 'समुझत…।' धनुष टूटा भी तो क्या लाभ और न टूटनेसे कोई हानि भी नहीं, यथा—'का छति लाभ जून धनु तोरे।' [वा यह नहीं समझते कि हठ करनेसे लाभ न होगा; टूटे या न टूटे इसमें उनको लाभ ही क्या? और हठ करनेपर न टूटा तो हानि अवश्य है कि 'अंतहु उर दाहू' होगा। और भी भाव पूर्ण आ चुके हैं।] यह हठ व्यर्थ ही है।

नोट—१—'तात' श्लिष्टपदद्वारा यहाँ 'पिता' अर्थके अतिरिक्त 'संतापका देनेवाला' अर्थ भी सूचित किया। हठ संताप देनेवाला है।' (पां०)।

२ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'संसारमें सब लोग लाभहीके लिये उद्यम करते हैं, चाहे उसमें पीछे हानि ही हो जाय, पर जिस उद्यममें ऊपर ही प्रत्यक्ष हानि दिखती है उसे नहीं करते। धनुष टूटे तो हानि (क्योंकि न जाने किसी असुरसे टूटे तो मनुष्यका ब्याह दनुजादिके साथ अयोग्य ही है और मनुष्यसे टूटना असम्भव है) और न टूटे तो हानि (कन्या कुँवारी ही रहेगी, लोकमें अपयश होगा)।'

सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई॥ ३॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥ ४॥

अर्थ—मन्त्री (भी) भयभीत हैं, कोई सीख (सलाह, शिक्षा) नहीं देता। बुद्धिमानोंकी सभामें बड़ा अनुचित हो रहा है॥ ३॥ कहाँ तो वज्रसे भी बढ़कर कठोर धनुष और कहाँ ये साँवले, कोमल शरीर और किशोरावस्थावाले!॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) इस प्रणमें हानि-लाभ कुछ भी नहीं, है, यह बात राजा नहीं समझते तो मन्त्रियोंको तो सुझाना चाहिये पर वे भी नहीं समझाते; क्योंकि वे डरते हैं कि राजा नाराज न हो जायँ। मन्त्री राजाके आश्रित होनेसे सभीत हैं, बुद्धिमान् तो आश्रित नहीं हैं, उनको तो कुछ भय नहीं है, किंतु वे भी नहीं कहते (ख) 'बुधसमाज बड़ अनुचित होई' इति। 'बड़ अनुचित' कहनेका भाव कि मन्त्रियोंका भयके कारण उचित सिखावन न देना भी अनुचित है और बुद्धिमानोंको तो कोई भय भी नहीं तब भी वे उचित बात नहीं सिखाते यह बड़ा ही अनुचित है। पुनः भाव कि बुधसमाज राजासे नहीं कहते तो मन्त्रियोंसे कह देते कि तुम निर्भय होकर यह बात राजासे कह दो, उन्हें समझा दो। बुधसमाजका यह न करना बड़ा अनुचित है। पुनः भाव कि जहाँ एक भी बुद्धिमान् होता है वहाँ अनुचित नहीं होने पाता और यहाँ तो समाजका समाज पण्डित है तब भी यहाँ बड़ी अनुचित बात हो रही है। (ग) 'सिख देइ न।' क्या सीख दें? यह कि इस हठमें कोई लाभ या हानि नहीं है, यह हठ व्यर्थका है, 'कहँ धनु कुलिसहु…' इत्यादि। [गीतावलीमें भी यही कहा है, यथा—'कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आए इत ए री। कुलिस कठोर कहाँ संकर धनु मृदु मूरति किसोर कित ए री। १। ७६। ३॥]।' यहाँ एक अनौचित्य कहकर आगे दूसरा अनौचित्य कहते हैं—'कहँ धनु…।'

श्रीराजारामशरणजी—१ सच है, आत्मा ही सबसे अच्छा मित्र है। (गीता)। श्रीसीताजीके विचार आत्म-संशोधनके बड़े सुन्दर उदाहरण हैं। दोहा तो प्रगति-सहित-भाव चित्रणका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। २—तनिक धैर्य धारण

किया और प्रेमकी पुलकावली प्रेमजलके साथ सुख देने लगी और नीके निरखनेका साहस हुआ, मगर हाय ! पिताके प्रणने फिर क्षोभ उत्पन्न कर दिया। ३—'हठ' वाली आलोचना यहाँ भी है, मगर 'तात' शब्दने उसे कितना सकरुण बना दिया है! जहाँ-जहाँ जनकजीके प्रणको 'हठ' कहा गया है उन सब आलोचनाओंकी समानता और अन्तर दोनों विचारणीय हैं।

सलाहकारोंकी इस आलोचना और रानीद्वारा की गयी आलोचनाका अन्तर भी देखिये। विस्तारभयसे केवल याद दिलायी जाती है।

नोट—१ 'चाहि' शब्दका अर्थ पं० महावीरप्रसाद आदि कई टीकाकारोंने 'चाहता है' ऐसा किया है। भाव उसका भी वही है। पर शब्दसागर आदि कोशोंसे पता चलता है कि 'चाहि' का अर्थ 'बढ़कर' है यथा—'ससि चौदस जो दई सँवारा। तेहू चाहि रूप उजिआरा॥' 'खाँड़े चाहि पैनि पैनाई। बार चाहि पातरि पतराई॥' 'जीव चाहि सोअधिक पियारी' 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि' इत्यादि। प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि यह अवधी भाषा है जायसीकी 'पद्मावत' में इसका प्रयोग बहुत आया है। यह शब्द संस्कृत 'चैव' का अपभ्रंश है। चैव=च एव=और भी=बढ़कर। उत्तरकाण्डमें जो 'कुलिसहु चाहि कठोर अति····' आया है ठीक ऐसा ही भाव इस श्लोकका है- 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हसि।' इससे भी 'चाहि' का अर्थ बढ़कर ही सिद्ध होता है। 'वज्र भी जिसकी कठोरता चाहता है ऐसा कठोर इस प्रकार अर्थ करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। दूसरे इस अर्थमें कठोरता शब्द अपनी तरफसे बढ़ाना पड़ता है। पं० रामकुमारजी 'चाहि' का अर्थ 'से' करते हैं, यह भी अर्थ ठीक बैठ जाता है।—'कहाँ धनुष वज्रसे भी कठोर।' अयोध्याकाण्डमें भी कहा है 'अरि बस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही। २। २१॥'

टिप्पणी—२ (क) 'कहँ धनु···। कहँ स्यामल···।' इति। 'द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः' अर्थात् जहाँ 'क्व' शब्द दो बार आता है, वहाँ बड़ा भारी अन्तर दिखाया जाता है। 'कहँ' 'क्व' का अपभ्रंश है। अतः भाव यह है कि धनुष-की कठोरतासे और रामजीकी कोमलतासे बड़ा भारी अन्तर है। (ख) धनुषको कठोर कहकर श्रीरामजीके शरीरको मृदु और किशोर कहा—इस तरह धनुषके योग्य नहीं है यह दिखाया। (ग) 'स्यामल' शब्दका क्या प्रयोजन ? इससे शरीरकी सुन्दरता कही है, यथा—'स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन।' (घ) 'गात किसोरा।' भाव कि अभी युवावस्था भी नहीं आयी। किशोर अवस्थाके पश्चात् युवावस्था आती है। (ङ) धनुषको वज्रकी उपमा दी और इसकी जोड़में श्रीरामजीके अङ्गकी कोमलताकी उपमा 'सिरस सुमन' की आगे देते हैं।

नोट—'कहँ स्यामल मृदुगात' इति। भाव यह कि धनुषकी कठोरताके लिये कुछ उपमा मिली। पर रामजीकी कोमलताकी कोई उपमा न मिली। इससे मृदुताके लिये मृदुताहीकी उपमा दी। [वज्र तो इन्द्रके हाथमें रहता है, वह उनका आयुध है, पर धनुष तो किसीसे हिला नहीं, इससे 'कुलिसहु चाहि कठोरा' कहा। श्रीसुनयनाजीने धनुषका रामजी-के हाथमें देना कहा,—'सो धनु राजकुँअर कर देहीं। ····।' पर श्रीजनकनन्दिनीजीकी दृष्टिमें जो सुकुमारता बसी है वह हाथमें देना तो दूर रहा, धनुषके स्पर्शमात्रका विचार भी चित्तमें सहन नहीं कर सकती] कुलिश आकाशमें और रामजी यहाँ अर्थात् धनुष और रामजीमें आकाश और पृथ्वीका-सा बीच है। यहाँ 'प्रथम विषम अलंकार' है। (प्र० सं०)।

बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥ ५॥
सकल सभा कै* मति भै भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी॥ ६॥

शब्दार्थ—'सिरस' (सं० शिरीष)—शीशमकी तरहका लंबा एक प्रकारका ऊँचा किन्तु अचिरस्थायी पेड़ है। यह चैत्र-बैशाखमें फूलता-फलता है। फूल सफेद, सुगंधित, अत्यन्त कोमल तथा मनोहर होते हैं। कवियोंने इसके फूलकी कोमलताका वर्णन किया है।

अर्थ—हे विधाता! मैं किस तरह हृदयमें धीरज धरूँ ? सिरसके फूलके कण (तंतु) से कहीं हीरा वेधा जा सकता वा विंधता है ? ॥ ५॥ सारी सभाकी बुद्धि बौरा गयी। हे शिवजीके धनुष! अब मुझे तेरी ही शरण है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) संयोग करानेवाले विधाता ही हैं इसीसे 'बिधि' से कह रही हैं। (ख) 'केहि भाँति'। प्रथम

* नोट—१६६१ में 'के' है

सब 'भाँति' कह आयीं। राजा नहीं समझते, राजाको कोई समझाता भी नहीं, श्रीरामजी अत्यन्त कोमल हैं, धनुष अत्यन्त कठोर है—यही सब भाँति है। इसमेंसे किस 'भाँति' से धीरज धरूँ? अर्थात् इनमेंसे कोई भी बात तो ऐसी नहीं कि जिससे धैर्य बँध सके। (अविधिसे कार्य होते देखकर विधिका स्मरण करती हैं कि आप विधि बतलाइये कि मैं कैसे धैर्य धरूँ। (वि० त्रि०)। (ग) 'सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा' इति। ☞ यहाँ ग्रन्थकारका सँभाल देखिये कि 'धनुष' उपमेयकी उपमा दोनों अर्धालियोंमें एक ही दी। प्रथम 'धनुष' को 'कुलिश' (वज्र) की उपमा दी—'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा'। इसीसे यहाँ उपमामें 'हीरा' कहा। क्योंकि हीरा भी वज्र कहलाता है, यथा—'माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमानि गारुत्मकं पुष्पक वज्रनील' इत्यादि। धनुषको तो कुलिश कहा था पर श्रीरामजीके अङ्गोंकी कोमलताकी कोई उपमा वहाँ न दी थी। उनके तनको मृदु कहा था अब तनकी कोमलताकी उपमा 'सिरस सुमन कन' की दी। (तात्पर्य कि 'यहाँ 'मृदुता' उपमेय है, 'सिरस सुमन कन' उसका उपमान है। श्रीरामजीको अत्यन्त कोमल जान उनके योग्य उपमेयको न पाया। इससे उनकी उपमा भी न दी, केवल उपमानके साथ 'सिरस सुमन कन' कहा।' यहाँ ललित अलंकार है।) ।

नोट—१ ऐसा जान पड़ता है कि ग्रन्थकारने यहाँ श्रीहनुमन्नाटकके 'कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः। कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः॥' (अंक १ श्लो० ९)। (प्र० सं०) इस श्लोकका ही विस्तारसे उल्लेख किया है। अर्थात् कहाँ तो कछुएकी पीठके समान कठोर यह धनुष और सुकुमार मूर्तिवाले ये रामचन्द्र! सो ये कैसे इस धनुषको चढ़ावेंगे? हा! हा! हे पिताजी! आपकी प्रतिज्ञा बड़ी दारुण है। मानसके 'अहह तात' 'दारुन हठ ठानी' की जगह श्लोकमें क्रमशः 'अहह' 'तात' 'पणस्तव दारुणः' हैं।

२ संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि 'मृदुतामें केवल सिरिसके सुमनकी उपमा गृहीत है; यथा—हनुमन्नाटके—'सद्यः पुरीपरिसरेषु शिरीषमृद्वी गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता'। इति तो उसके कणका क्या कहना? अथवा, 'दैवी विचित्रा गतिः' इस भाँतिसे समाधान करें तो अब सिरिस सुमनके कणसे हीरा वेधना है इति अन्यथार्थक लोकोक्तिः। भाव यह कि बात ऐसी है कि जैसी अनियम अनिश्चय बातका निश्चय कर लेना; किन्तु 'न भूतो न भविष्यति' इसे अन्यथा ही मानना कुतः।'

३ ☞ (क) 'अति परितापके कारण धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी कोमलताका विरोध कितना सकरुण बन जाता है। श्रीसीताजीके हृदयकी कोमलता उपमाओंसे प्रकट है। और उसे प्रेमने और भी उभार दिया है, इसीसे तो राजकुमार इतने सुकुमार दीखते हैं। (ख) भावके प्रभावको देखिये चेतनको जड़ बना दिया, क्या राजा, क्या मन्त्री, क्या जनता—सभीकी मति मारी गयी, सभी जड़वत् दिखते हैं। (ग) दूसरी ओर जड़ धनुषको चैतन्यकी भाँति ही अपील किया है कि तुम ही रघुपतिको 'निहार' कर कोमल हो जाओ! आह! इस समय कोमलताने 'रघुपति' शब्दकी महिमा भी भुला दी। यह है Personification का मजा। तुलसीदासके अलंकार कृत्रिम नहीं हैं। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'सकल सभा कै मति भै भोरी' इति। तात्पर्य कि 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥' यह अयोग्य किसीको नहीं समझ पड़ता, इससे पाया गया कि सारी सभा-की-सभा बावली हो गयी, क्योंकि यदि सबकी बुद्धि भोरी न हो गयी होती तो इतने लोगोंमेंसे कोई भी तो पिताको अवश्य सिखावन देता। राजा नहीं समझते और मन्त्री इत्यादि कोई जो समझा नहीं रहे हैं, इसका कोई और कारण नहीं है।—यह निश्चय करती हैं। (ख) राजाको समझाना चाहिये। समझानेका उचित क्रम क्या है, वह यहाँ दिखाती हैं। प्रथम मन्त्रियोंको उचित है कि राजाको समझावें। उनके पश्चात् बुद्धिमानोंको उचित है, वे भी न समझावें तब सभाके लोगोंको अधिकार है कि समुझावें। उसी क्रमसे यहां एकके पीछे दूसरेको कहा।—'सचिव सभय सिख···' 'बुधसमाज··' 'सकल सभा कै···'। (ग) 'अब मोहि संभुचाप गति तोरी', अब तुम्हारा ही आश्रय है, इस कथनसे पाया गया कि अभीतक और सबोंका आश्रय रहा। किस-किसकी शरण गयीं?—देवताओंके (कि गुरुता दूर कर दें), पिताकी बुद्धिके (पिता बुद्धिमान् हैं समझ जायेंगे), मन्त्रियोंके (राजा न समझेंगे तो ये समझा देंगे), बुध-समाजके (मन्त्री न समझायेंगे तो बुधसमाज समझा देगा)। न राजा समझे न किसीने समझाया; अतः ये जो चार आश्रय थे वे टूट गये। कहीं शरण न मिली तब हार मानकर धनुषकी शरण गयीं। (घ) 'गति तोरी' अर्थात् दूसरी शरण नहीं है। देवता, पिता, मन्त्री इत्यादि सबका आश्रय छोड़कर धनुषका आश्रय लिया। इसीसे ग्रन्थकारने प्रारम्भमें लिखा कि 'सभय हृदय बिनवति जेहि तेही'। 'जेहि तेही' अर्थात् जो ही बुद्धिके सम्मुख आया, उसीसे

विनय करने लगीं। देवताओंसे प्रार्थना करती रहीं, उनको छोड़कर धनुषसे विनती करने लगीं, क्योंकि बहुत व्याकुल हैं। आगे कवि लिखते भी हैं—'सकुची व्याकुलता बड़ि जानी।'

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि* हरुअ रघुपतिहि निहारी॥ ७॥
अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—हरुअ=हलका। लव निमेष—दोहा २२५ (४) में देखिये।

अर्थ—अपनी जड़ता (कठोरता) लोगोंपर डालकर† श्रीरघुनाथजीको देखकर हलके हो जाओ॥ ७॥ श्रीसीताजीके मनमें अत्यन्त संताप हो रहा है। निमेषका एक लव भी वा लव और निमेष सैकड़ों युगोंके समान बीत रहा है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीजानकीजी जनाती हैं कि 'हे धनुष! तुम जड़ हो, श्रीरामजीके योग्य नहीं हो, इसलिये अपनी जड़ता निकालकर हलके हो जाओ।' जड़ता निकालकर कहाँ रक्खी जाय? उसका ठिकाना बताती हैं कि 'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि....' कैसे डालें? चैतन्यपर जड़ता डालना दोष होगा? उसपर कहती हैं कि 'सकल सभा कै मति भै भोरी' अर्थात् सारी सभाकी बुद्धि जड़ हो रही है, जबतक बुद्धि चैतन्य रहती है तबतक मनुष्यमें जड़ता नहीं आती, बुद्धि जड़ होनेसे मनुष्यमें जड़ता आ जाती है, इस तरह सारा समाज जड़वत् हो रहा है। जड़के ऊपर जड़ता छोड़ी जा सकती है, इसमें हर्ज नहीं। अतः विनय करती हैं कि अपनी भी जड़ता थोड़ी-थोड़ी करके सबपर छोड़ दो, वे और भी जड़ हो जायँगे और तुम हलके हो जाओगे। हलके हो जानेमें तुम्हारा गौरव जाता रहेगा, यह न समझो, क्योंकि उनकी बुद्धि अत्यन्त भोरी हो जानेसे वे यह समझ ही न पावेंगे कि धनुष हलका हो गया, सब यही जानेंगे कि रामजीने अत्यन्त कठोर धनुषको तोड़ डाला। उनके ऊपर जड़ता डाल देनेसे आपकी और श्रीरामजीकी दोनोंकी मर्यादा बनी रह जायेगी। क्योंकि यदि लोग जान गये कि रामजीके लिये तुम हलके हो गये तो फिर रामजीकी बड़ाईमें बट्टा लग जायगा, लोग कहेंगे कि अत्यन्त हलका होनेपर तोड़ा तो क्या बड़ाई है। अतः कहा कि अपनी जड़ता लोगोंपर डाल दो। इति भावः। [वैजनाथजीका मत है कि इसमें प्रेमकी यह दशा है]। (ख) 'होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी' अर्थात् इनको देख लो, इनकी सुकुमारता कहती हैं—'रघुपतिहि निहारी'। अर्थात् इनको देख लो, इनकी सुकुमारताके अनुसार हलके हो जाओ। इतने हलके हो जाओ कि ये उठाकर तोड़ सकें। [अथवा, अपने स्वामीका श्रीरघुनाथजीसे सम्बन्ध जानकर हलके हो जाओ। (पं०)]

२ (क) 'अति परिताप सीय मनमाहीं' इति। 'मनही मन मनाव अकुलानी।' २५७ (५) से यहाँतक श्रीसीताजीके मनका परिताप कहा। दूसरे चरणमें उनका 'अति परिताप' दिखाते हैं कि 'लव निमेष....'। (ख) लव और निमेष दोनोंका उल्लेख साभिप्राय है। उनका संताप कभी किंचित् कम हो जाता है और कभी अधिक हो जाता है। जब धीरज धरती हैं, देवताओंको मनाती हैं, तब कम हो जाता है। एक निमिष शतयुगसमान जान पड़ता है। और जब श्रीरामजीकी कोमलता और धनुषकी कठोरता समझकर धीरज छूट जाता है तब संताप अधिक हो जाता है—एक लव सौ युगोंके समान बीतता है। इतना ही घटता-बढ़ता है, यही दिखानेके लिये लव और निमेष दोनोंको कहा। अथवा, (ग) श्रीरामजी अब धनुषके निकट पहुँचने ही चाहते हैं, कुछ भी विलम्ब नहीं है, इसीसे घड़ी, पहर, क्षणका बीतना न कहकर लव और निमेषका बीतना कहते हैं। लव-निमेषहीकी गुंजाइश है। (घ) लव और निमेष दो कहे। इसीके सम्बन्धसे यहाँ 'अति परिताप' कहते हैं। परितापमें निमेष सौ युगोंके समान बीतता है और 'अति परिताप' में एक लव सौ युगोंके समान बीतता है।

नोट—१ प्र० सं० में हमने इस प्रकार लिखा था कि ऊपर श्रीजानकीजीकी दो दशाएँ दिखा आये। एक 'सुर मनाव धरि धीर' दूसरी 'पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा'। अब यहाँ तीसरी दशा दिखाते हैं कि 'लव निमेष जुग सय सम जाहीं।' निमेष तीन लवका होता है। 'लव निमेष' का अर्थ 'निमेषका एक लव' लेनेसे भाव यह होता है कि इस समय एक लवमात्र सौ युगोंके समान बीत रहा है। इससे ध्वनितार्थ यह है कि पूर्वकी दो दशाएँ तीन लव (पूरे निमेष)

---

* होइहि—१६६१। † वि० त्रि० अर्थ करते हैं कि 'तुमने लोगोंपर अपनी जड़ता डाल दी।' और लिखते हैं—'सीताजी अब धनुषसे प्रार्थना करती हैं, जड़तामें ही गुरुता है, जड़ परमाणु जितने ही घनीभूत होते जाते हैं, उतनी ही जड़ताकी वृद्धि होती जाती है, सो तुमने अपनी जड़ता लोगोंपर डाल दी है तभी तुम्हारे विषयमें सबकी मति भोरी हो गयी है। अतः अब तुम हलके हो जाओ। अथवा जड़ता लोगोंपर डाल दी है, अतः अब चेतन होकर रघुपतिको देखो और हलके हो जाओ....'।

और दो लव की कही गयीं। अर्थात् जब 'सुर मनाव धरि धीर' तब तीन लव सौ युगोंके समान बीतता था और जब पिताका प्रण स्मरण हो आता था तब दो लव सौ युगोंके समान हो जाता था। इस भावके अनुसार प्रथम दशामें 'ताप', दूसरीमें 'परिताप' और तीसरीमें 'अति परिताप' हुआ। २—पंजाबीजी लिखते हैं कि 'अथवा बड़ा पश्चात्ताप है कि फुलवारीमें मैंने क्यों न जयमाल डाल दिया, अवसर चूक गया, अब न जाने क्या होगा। अतः 'अति परिताप' है।

दो०—प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल। खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोल ॥२५८॥

अर्थ—प्रभुको देखकर फिर पृथ्वीको देखती हैं। (ऐसा करनेमें उनके) चञ्चल नेत्र ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो कामरूपी दो मछलियाँ चन्द्रमण्डलरूपी 'डोल' में खेल रही हैं॥ २५८॥ [वा, कामकी दो मछलियाँ चन्द्रमण्डलपर झूल रही हैं। (दीनजी)]

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि'। भाव कि श्रीरामजीको देखकर सकुचा जाती हैं तब निगाह नीची करके पृथ्वीकी ओर देखने लगती हैं। यथा—'तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी॥ २। ११७। ३।', 'गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ २। ३१३।' (ख) पूर्व लिखा था कि 'गुरजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि। लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥ २४८॥' श्रीरामजीको देखकर बड़ोंकी लाज लगी तब सखियोंकी ओर देखने लगीं यह वहाँ कहा। पर जब रघुवीरको बार-बार देखती हैं, यथा—'देखि देखि रघुबीरतन सुर मनाव धरि धीर। २५७।' तब लजानेपर कहाँ देखती हैं, यह अबतक न खुला था, उसीको यहाँ खोलते हैं कि 'पुनि चितव महि'। (ग) [प्रभु पद सामर्थ्य जनानेके विचारसे प्रयुक्त हुआ है। भाव यह कि मैंने आपको स्वामी मान लिया सो आप समर्थ हैं, फिर भी मुझे कष्ट हो!—(पंजाबीजी)]

नोट—१ पृथ्वीकी ओर देखनेके अनेक भाव महानुभावोंने कहे हैं। जैसे कि—१ पृथ्वीमें गच है, उसमें श्रीरामजीका प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। वा, २—आप अयोनिजा हैं, पृथ्वी आपकी माता हैं। मातासे प्रार्थना करती हैं कि श्रीरामजी कोमल हैं, अभीतक आप धनुषको थामें रहीं इसीसे तो कोई राजा 'तिलु भरि भूमि न सके छुड़ाई' पर अब उसे छोड़ दीजिये। वा, ३—मातासे कन्या वरकी बात कैसे कहे? इसीसे प्रभुकी ओर देखकर फिर पृथ्वीकी ओर निगाह डालकर इशारेसे जनाती हैं कि अब मैं दूसरेको नहीं ग्रहण कर सकती और उधर श्रीरामजीसे भी यही इशारा है कि यदि मुझे इन चरणोंकी प्राप्ति न हुई तो मैं पुनः पृथ्वीमें समा जाऊँगी। वा, ४—पृथ्वीसे कहती हैं कि ब्रह्माको साथ लेकर जिनसे भूभारहरणकी प्रार्थना की थी, वे ही तेरे सामने प्रत्यक्ष खड़े हैं और तेरा भार बिना मेरे पाणिग्रहणके नहीं हरण हो सकता, इससे अब क्यों मूक दशामें प्राप्त है। और प्रभुसे जनाती हैं कि पृथ्वीके लिये आपने वराहरूप धारण किया था, मैं उसकी पुत्री हूँ, तो मेरे लिये धनुष क्यों नहीं तोड़ते? वा, ५—गिरिजाजीने कहा था कि आप हमारे शील-सनेहको जानते हैं, तब आप मेरे खिन्न चित्तपर कृपा करुणा क्यों नहीं करते? मैं पृथ्वीकी गोदमें समा जाऊँगी। वा, ६—भूमिभार उतारना है तो शीघ्र मुझे अङ्गीकार कीजिये।—(मा० ता० वि० में इसी तरह और भी प्रायः अस्सी भाव लिखे हुए हैं)। [संकोचमें स्वाभाविक ही दृष्टि नीचेकी ओर चली जाती है।]

❋ बिधुमण्डल डोल ❋

पं० रामकुमारजी—'राजत लोचन लोल' कहकर नेत्रोंके चलने (चाल) की शोभा और 'मनसिज मीन' की उपमा देकर नेत्रोंकी शोभा कही। तात्पर्य कि नेत्र और नेत्रोंका व्यापार दोनों ही शोभित हैं। जलके छोटे ह्रद (तालाब या कुण्ड) को डोल कहते हैं। बिधुमण्डलको डोल कहा; क्योंकि विधुमण्डल जलमय है। दो मछलियाँ खेलती हैं अर्थात् क्रीडा करती हैं। श्रीजानकीजीका मुखमण्डल चन्द्रमण्डल है, दोनों नेत्र दो मछलियाँ हैं। खेलती हैं अर्थात् आती-जाती हैं। प्रभुको देखती हैं फिर पृथ्वीकी ओर देखती हैं, यही खेलना है, जैसे मछली 'डोल' में आती-जाती है। मछलीको जल चाहिये सो आगे लिखते ही हैं, 'लोचन जल रह लोचन कोना।' पहले भी लिख आये हैं, कि 'भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर'। विधुमण्डलरूपी डोल अचल है, वैसे ही मुखमण्डल भी अचल है, (सिर हिलाती नहीं हैं क्योंकि) लज्जा रही है कि सिर बार-बार ऊपर-नीचे होनेसे लोग जान जायँगे कि ये श्रीरामजीको देख रही हैं; अतएव नेत्रभर चलते हैं, ग्रीव हिलने

नहीं पाती। अथवा, जैसे विधुमण्डल चलता है वैसे ही किंचित्-किंचित् मुखमण्डल भी डोलता है; जैसे मछली खड़ी हो जाती है और चलने लगती है वैसे ही रामजीको देखकर नेत्र किंचित् थम जाते हैं।

करुणासिन्धुजीने भी 'डोल' का अर्थ 'कुण्ड' लिखा है। उनका कथन है कि 'मछलीको पूर्णसुख जलके कुण्डमें ही होगा, अतः हिंडोला अर्थ संगत नहीं। मुखमण्डल चन्द्रमण्डल है, नेत्रके गोलक इसके कुण्ड हैं, दोनों पुतलियाँ कामकी दो मछलियाँ हैं। ऊपर देखना फिर नीचे देखना पुतलीका ऊपर-नीचे आना (जाना) मछलियोंका कुण्डमें खेलना है।' यहाँ प्रेमजल परिपूर्ण है, इसलिये खेलना कुलेल करना कहा गया।

पाँडेजी, बाबा हरिहरप्रसादजी और बैजनाथजीने 'डोल' का अर्थ 'हिंडोल' किया है। उत्तरार्धका अर्थ यह किया है कि 'मानो कामदेव (की वा रूपी) दो मछलियाँ चन्द्रमण्डलमें (बैठकर) हिंडोल खेल रही हैं'। किसीने 'चन्द्रमण्डलमें डोल' खेलना और किसीने चन्द्रमण्डलरूपी डोलमें खेलना लिखा है। वीरकविजीने 'डोल' का अर्थ 'हिलना' लिखा है, वे अर्थ करते हैं—'मानो चन्द्रमण्डल हिल रहा है, उसमें दो कामदेव मछलीरूपधारी खेल रहे हों'।—यह अर्थ भी बाबा हरिहरप्रसादजीकी टीकामें है। प्रधान अर्थ पहले दिया है फिर यह दूसरा अर्थ लिखा है।

हिन्दी शब्दसागरमें 'डोल' शब्द, (पुँल्लिङ्ग, संस्कृत दोल) के चार अर्थ लिखे हैं—डोल पानी भरनेका, डोली, हिंडोला और जहाजका मस्तूल। 'हिंडोलना' अर्थके दो प्रमाण भी उसमें दिये हैं—एक तो सूरदासजीके 'सघन कुञ्ज में डोल बनायो, झूलत हैं पिय प्यारी' इस पदका, और दूसरे तुलसीदासजीके इसी दोहेको उद्धृत किया गया है।

प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'हिंडोला' अर्थ ठीक है क्योंकि श्रीरामजी ऊँचे मंचपर हैं। (मंचपरसे चल चुके हैं उस समयकी यह बात है)। ☞ सीताजी एक बार उनकी ओर देखती हैं, फिर पृथ्वीकी ओर, इस प्रकार बारम्बार देखती हैं। ऊपरसे नीचे दृष्टिका आना और फिर ऊपरको जाना झूलाका-सा ऊपर नीचे जाना-आना है। इसीकी उत्प्रेक्षा इस दोहेके उत्तरार्धमें है। यदि ऐसा अर्थ न किया जायगा तो उत्प्रेक्षा बिगड़ जायगी जो एक प्रकारसे बड़ा भारी साहित्यिक दोष होगा। 'डोल' का अर्थ एक तो किसी कोशमें 'कुण्ड' नहीं मिलता, दूसरे इस अर्थमें यह शब्द यहाँ व्यर्थ ही-सा होगा, क्योंकि 'खेलत' हीसे वह शब्द सूचित हो जाता है, मछलियाँ जलहीमें खेलेंगी। उत्तरार्धका अन्वय यों होगा 'जनु मनसिजकी जुग मीन विधुमंडलमें' 'डोल खेलत' अर्थात् हिंडोला झूलती हैं।

गौड़जी कहते हैं कि—(१) 'संस्कृतमें 'खेलनम्' का वाच्यार्थ 'हिलना डोलना' है, 'कल्लोल' लक्ष्यार्थ है। यहाँ किशोरीजी चिन्तित हैं। लक्ष्यार्थ असङ्गत है। यहाँ 'खेलत' का अर्थ 'झूलती हैं' करना चाहिये।'

(२) 'सहजहि चले सकल जग स्वामी।' मंचसे शिवचाप कुछ दूरीपर है। भगवान्‌के चाप-समीप जाते-जाते भरमें पुरवासी, सीताजीकी माता और सीताजीकी विकलता और लक्ष्मणजीका सबको सजग करना ये सारी घटनाएँ हुई हैं—। रघुनाथजी इस समय ऊँचे मंचपर नहीं हैं। उतरकर नीचे जा रहे हैं। इसी समय सीताजीकी दशाका वर्णन 'प्रभुहि चितइ''' डोल' इस दोहेसे किया गया है। निगाह एक बार श्रीरघुनाथजीकी ओर जाती है, दूसरी बार पृथ्वीपर। सिरके विना हिले दृष्टिकी यह एक क्रिया हिंडोलेपर झूलनेके समान है। इस अनुपम उत्प्रेक्षामें यह व्यंग भी है कि किशोरीजी बड़ी दुविधामें हैं। एक ओर 'प्रीति पुरातन', 'नारद बचन', 'पार्वतीका वरदान' आश्वासन देता है। दूसरी ओर पनकी कठिनाई घबड़ाहट पैदा करती है। 'दोल' का अर्थ 'घोर चिन्ता और सन्देह' भी है। सन्देह और चित्तकी चंचलताके लिये अन्यत्र भी 'दोला' का काव्योंमें प्रयोग हुआ है। 'आसीत्सदोलावल चित्तवृत्तिः' (रघुवंश), 'संदेह दोलामारोप्यते' (कादम्बरी)। यहाँ व्यंग्यसे उत्प्रेक्षाद्वारा संदेह और चिन्ताको चित्रित किया है। यहाँ अनुक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

☞ चन्द्रमण्डल 'डोल' है, तो प्रेम और लज्जा हिंडोला झुलानेवाले हैं।

प० प० प्र०—लिखते हैं कि 'हिंडोलना अर्थ ही समयोचित है। मुखमण्डल डोल है, क्योंकि वह ऊपर उठता है और नीचे झुकता है। नेत्रकी पुतलियाँ रामजीका अनुगमन करती हैं, अतः दाहिने-बाएँ तरफ चलायमान हो रही हैं, यही जुग मीनोंका खेलना और हिंडोलाका झूलना है'।

श्रीत्रिपाठीजी 'डोल' का अर्थ पानी भरनेवाला डोल लेते हैं। शेष भाव प्रायः वही हैं जो पं० रामकुमारजीने लिखे हैं। 'कामदेव मीनके तन हैं, आँखोंकी उपमा मीनसे दी जाती है, सुन्दरताके उत्कर्षके लिये जनकनन्दिनीकी आँखोंकी उपमा मीनके तनके मीनसे दी गयी और मुखकी उपमा चन्द्ररूपी डोलसे दी गयी। डोल स्थिर रहता है, मछलियाँ ही चलती हैं,

इसी भाँति मुख स्थिर है केवल नेत्र चंचल हैं।' 'हम लोगोंका भाषाज्ञान बहुत संकुचित है, अतः अर्थ करनेमें चूक हो जाती है। जहाँके लोग डोलसे अपरिचित हैं, डोलका अर्थ 'हिंडोला' करते हैं। पर पानीके डोलमें ही मछलीका खेल बन सकता है, हिंडोलेपर तो उनका छटपटाना ही सम्भव है।' बहुत हालतक डोलसे पानी कुएँसे खींचा जाता था, 'पर अब डोल दिखायी नहीं पड़ता। धनी लोगोंके यहाँ शीशेके डोल अब भी देखे जाते हैं, जिनमें सुनहली छोटी-छोटी मछलियाँ छोड़ दी जाती हैं, वे नीचे-ऊपर तैरा करती हैं और उनकी बड़ी शोभा होती है।' (वि० त्रि०)।

श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—१ इस चित्रणपर 'चित्रणकला' निछावर है। काव्यकला इसीसे 'चित्रणकला' से श्रेष्ठ गिनी जाती है कि उसमें वह सम्भव है जो चित्रकार भी नहीं कर सकता। २—दोहेमें करुण रसके अंदर शृङ्गारके माधुर्यका निर्वाह कलाका चमत्कार है। 'राजत' और 'खेलत' शब्द इसकी गवाही दे रहे हैं। लेकिन याद रहे कि शृङ्गारका माधुर्य 'प्रभावरूप' है। सीताजी तो 'करुण कोमलता लज्जा' में ही हैं। और 'प्रभाव' कैसा ठीक निशानेपर पड़ा, यह आगे देखियेगा। 'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना।' चौपाइयोंमें करुणा और लज्जाका संघर्ष तो है ही, शृङ्गारका माधुर्य मिसालों (उदाहरणों) में कूट-कूट भरा है।

गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥ १॥
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥ २॥

शब्दार्थ—अलि=भ्रमर। अलिनि=भ्रमरी।

अर्थ—वाणीरूपी भौंरीको मुखकमलमें रोक रखा। लज्जारूपी रात्रिको देखकर वह प्रकट नहीं होती। अर्थात् लाजके मारे वे मुँहसे कुछ कहती नहीं॥ १॥ नेत्रोंका जल नेत्रोंके ही कोने (कोए) में रह गया, जैसे परम कंजूस (सूम) का सोना (कोनेहीमें गड़ा रहता है)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'रोकी' से जनाया कि श्रीजानकीजी मुखसे कुछ कहना चाहती हैं, इच्छा होती है कि सखियों-से कहें जिसमें वे हमको समझा दें, हमारा संदेह दूर कर दें। जैसे श्रीसुनयनाजीने सखीसे कहा तो उसके समझानेसे दुःख दूर हो गया।

श्रीसीताजीके मनमें 'अति परिताप' है, यह ऊपर कह चुके हैं। उस 'अति परिताप' को वे वचनसे कहना चाहती हैं, क्योंकि कहनेसे दुःख कुछ घट जाता है, यथा—'कहेहू ते कछु दुख घटि होई। ५। १५।'; पर लज्जाके मारे कहती नहीं। (ख) 'मुख पंकज रोकी' कहनेसे सूचित होता है कि लज्जाके कारण मुख विकसित नहीं है, बंद है, जैसे रात्रिमें कमल संपुटित हो जाता है वैसे ही इनका मुख संपुटित है। (ग) 'प्रगट न लाज निसा अवलोकी' का भाव कि भ्रमरी चाहे तो (उसकी पाँखुरी काटकर) कमलसे बाहर निकल जाय, पर वह रात्रिको देखकर नहीं निकलती, रात्रिकी मर्यादा-की रक्षा करती है। वैसे ही श्रीजानकीजी चाहें तो सखियोंसे अपना दुःख कह दें पर लज्जाकी मर्यादाकी रक्षाके निमित्त वे नहीं कहतीं। (घ) यहाँतक सीताजीके मन, वचन और कर्म तीनोंका हाल कहा। यथा—'अति परिताप सीय मन माहीं' से मन, 'गिरा अलिनि····' से वचन और 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि···' से कर्मकी दशा कही। (ङ) यहाँ 'परम्परित' रूपक है।

२ (क) 'लोचन जल····' इति। प्रथम लोचनमें जलका भरना कह आये, यथा—'भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर। २५७।' वह 'लोचन जल' वही पूर्व-कथित जल है। पूर्व जल कहा; अब यहाँ उस जलकी दशा कहते हैं कि वह जल जो प्रेमके कारण नेत्रोंमें भरा हुआ है ज्यों-का-त्यों नेत्रोंके कोयेमें स्थित है। वे न तो उसे गिरने ही देती हैं और न पोंछती ही हैं, क्योंकि यदि वह गिर जाय तो लोग जान लेंगे कि जानकीजी रो रही हैं और यदि पोंछती हैं तो भी वही बात होगी। लाजके मारे प्रेमा-श्रुको जहाँकी तहाँ प्रबल प्रयत्नसे रोके हुए हैं। (ख)-'जैसे परम कृपन कर सोना' इति। 'परम कृपन' कहकर कृपण दो प्रकार के जनाये। एक कृपण (साधारण) दूसरा 'परम कृपण'। जो दूसरोंको न दे पर स्वयं खा ले वह कृपण है, और जो न दूसरेको दे और न स्वयं ही उसे भोग करे वह 'परम कृपण' है। इसका सोना पृथ्वीमें घरके एक कोनेमें गड़ा ही रहता है। (ग) 'परम कृपण' के सोनेका दृष्टान्त देकर जनाते हैं कि जैसे वह अपने सोनेको कोनेमें गाड़ रखता है वैसे ही ये प्रेमजलको नेत्रोंमें गाड़े हुए हैं। जल वहीं इस तरह गड़ा हुआ है कि किसीको प्रकट नहीं हो पाता। (घ) कृपण तो प्रयोजन पड़ जानेपर सोनेको निकालता भी है पर जानकीजीने उस जलको नहीं निकाला, इसीसे कृपणकी उपमा न देकर 'परम कृपण' की उपमा

दी। [पुनः, भाव यह कि परम कृपणको भी देनेकी इच्छा हो जाती है, वह सोना हाथमें ले भी लेता है, पर परम कृपणता उसकी यही है कि दे नहीं सकता, बड़े यत्नसे मनको रोक लेता है। वैसे ही प्रेमाश्रु डब-डबाकर आँखोंके कोनेतक आ गये पर इन्होंने बड़े यत्नसे उन्हें जहाँ-का-तहाँ रोक रक्खा। (वि० त्रि०)] (ङ) यह जल श्रीरामजीके प्रेमका जल है, इसीसे इसको 'सोना' कहा। सोना सबके पास नहीं होता, बड़े भाग्यवान्के ही घर होता है, वैसे ही प्रेमजल सबके नहीं होता बड़े भाग्यवान्के ही होता है। और ऐसा प्रेमजल तो जानकीजीके ही पास है।—'भरे बिलोचन प्रेमजल'''। उदाहरण अलंकार है।

श्रीराजारामशरणजी—'लोचन सोना'। यह अर्धाली तो ऐसी है कि मेरी आलोचना-शक्ति सदा व्याख्या करनेमें जवाब दे देती है। यहाँ माधुर्य दोरुखा है। 'लोचन' सीताजीके और जल वही है जो रामजीकी श्यामल मूर्तिको देखकर प्रेमके कारण पहले ही वर्णित हो चुका है। 'भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर'। हाँ, आगे परितापने इसमें कितना हर्षकी मात्रा रहने दी और कितनी करुणाकी बढ़ा दी कहते नहीं बनता, मगर 'सोने' की मिसाल (दृष्टान्त) बता रही है कि माधुर्य बिल्कुल गया नहीं। लज्जाका बुरा हो कि उसने 'कृपणता ला दी और आँसूको गिरने न दिया, मगर भाई। बुरा भी क्यों हो ? लोचनके कोनेकी शोभा कहाँ रहती।

यह पद इसीसे 'जेबुन्निसा' के पदसे बढ़ गया है। कुछ शब्द भूलते हैं मगर उसके पदका मजमून यह है—'दुनियाँ में दुरे यकता' (एकलौता मोती) 'मौजूद' कम पाया जाता है, 'बजुल अश्के बुताने सुर्मा आलूदा' (सिवाय प्रेमिकाओंके सुर्मासे मिश्रित आँसुओंके)। इस पदमें केवल कृत्रिम शृङ्गारका मजा है, मगर तुलसीके पदमें कितने भाव हैं कौन जाने? कुछ भाव ऊपर लिखा है।

सत्य है, आपत्ति भी मजेकी चीज है—

भाव-संघर्षकी गोतोंमें सीताजीको 'प्रतीति' का अनमोल मोती मिल ही गया। कारण कि संकोचने धैर्य ला दिया और भाव-निरीक्षणमें वह मोती मिला जिसकी व्याख्या आगेके पदोंमें है।

सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी॥ ३॥
तन मन बचन मोर पनु* साचा। रघुपति-पद-सरोज चितु† राचा॥ ४॥

अर्थ—अपनी व्याकुलताको बहुत बढ़ी जानकर सकुचा गयीं। धीरज धरकर हृदयमें विश्वास लायीं॥ ३॥ तन, मन और वचनसे मेरा प्रण सच्चा है, श्रीरघुनाथजीके चरण-कमलोंमें मेरा चित्त अनुरक्त है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी' इति। व्याकुलता प्रकट हो जानेसे भी लाज लगेगी। लोग क्या कहेंगे ? सकुचीं कि मैं इतनी व्याकुल हो गयी हूँ, कोई जान न गया हो। (ख) गोस्वामीजीने श्रीसीताजीकी 'लाज' या संकोच बहुत स्थानोंमें वर्णन किया है। प्रभुको देखनेमें लाज, यथा—'प्रभुहि चितै पुनि चितव महि' बोलनेमें लाज, यथा—'गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाज'''॥ सिरके हिलनेमें लाज, यथा—'खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोल' आँखोंसे जलके गिरनेमें एवं आँसू पोंछनेमें लाज, यथा—'लोचन जल रह लोचन कोना' दूसरेसे कहनेमें संकोच, यथा—'बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा' और व्याकुलताके प्रकट होनेमें लाज, यथा—'सकुची ब्याकुलता''' इत्यादि। इस तरह आदिसे अन्ततक संकोच दिखाया। (ग) 'धरि धीरज प्रतीति उर आनी' इति। पूर्व धीरज धरना चाहती थीं पर धैर्य न आता था, यथा—'बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा'। (पूर्व भी धीरज धरना कहा था, यथा—'सुर मनाव धरि धीर'। पर उस धीरजमें और यहाँके धीरजमें भेद है। पूर्वका 'धीर' सुकृत और देवताओंका दिया हुआ था पर उसमें भी संदेह बना ही रहा। 'धीरज' शब्द 'धीरं' से बड़ा है। शब्द गुण भी विचारिये)। अब धीरज धारण किया। पूर्व प्रतीति न होने पाती थी, यथा—'सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा' अब हृदयमें प्रतीति ले आयीं। कैसे प्रतीति लायीं यह आगे कहते हैं।

वि० त्रि०—क्षोभ व्याकुलतामें परिणत हुआ और व्याकुलता भी खूब बढ़ी, परंतु जनकनन्दिनीने अपनेको उस व्याकुलताका द्रष्टा माना, इससे व्याकुलता रुकी, संकोचका उदय हुआ, धैर्यधारणकी ओर चित्तकी वृत्ति गयी, परंतु कि

* मन—१७०४। † मन—१७०४, को० रा०।

विश्वासपर धैर्य धारण किया जाय ? विश्वासके लिये मूलभित्ति चाहिये । सो श्रुति ही मूलभित्ति हुई—'यद्यत्कामयते तत्तल्लभते' जिसकी कामना करे उसकी प्राप्ति होती है, पर कामना सच्ची होनी चाहिये । सो यह विश्वास हुआ कि मनसा वाचा कर्मणा मेरा प्रण सच्चा है ।

टिप्पणी—२ 'तन मन बचन मोर पनु साचा ।…' इति । (क) मेरा प्रण सच्चा है, यह कहकर दूसरे चरणमें अपना 'पन' बताती हैं कि 'रघुपति पद सरोजु चितु राचा' । यह मेरा चित्त दूसरेका नहीं हो सकता । यह ही प्रेमप्रण है । आगे यह कहनेको है कि 'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥' इसीसे प्रथम अपने स्नेहको सत्य कहती हैं । (ख) पुरवासियोंने श्रीरामके हाथसे धनुष टूटनेके लिये अपने सारे सुकृत लगा दिये और श्रीजानकीजी अपना स्नेह लगा रही हैं क्योंकि इनकी भावना स्नेहकी है, यथा—'रामहि चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहिं कथनीया ॥' स्नेह सब सुकृतोंसे अधिक है, यथा—'सकल सुकृत फल राम सनेहू' । (ग) 'रघुपति पद सरोज चितु राचा' यह दास्यभाव है, इसीसे आगे कहती हैं कि 'तौ भगवान सकल उर बासी । करिहि मोहि रघुबर कै दासी ॥' अतएव 'मोर पनु साचा' इत्यादिका भाव यह हुआ कि यदि श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें सत्य ही मेरा दास्यभाव है तो भगवान् मुझको उनकी दासी करेंगे । पादसेवनभक्ति लक्ष्मीजीकी भी है और श्रीजानकीजीकी भी, यथा—'कमला पर-नन्हि मन' और 'कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ । जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसंगिनौ ॥ ७ मं० २ ।' (घ) तन, मन, वचनका प्रेम, यथा 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि' (यह तनका प्रेम है) 'रघुपति पद सरोज चितु राचा' (यह मनका है) और 'सुर मनाव धरि धीर' (यह वचनका है) । (ङ) 'पद सरोज' कहकर चरणोंका आदर जनाया कि उनके चरणोंमें मेरा मन भ्रमरकी तरह प्रेम किये हुए है, यथा—'राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजै न पासू । १७ । ४ ॥' एवं 'मन मधुपहि पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं' इत्यादि । कमल और मधुकरका घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

तौ भगवानु सकल उर बासी । करिहि* मोहि रघुबर कै दासी ॥ ५ ॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥ ६ ॥

अर्थ—तो सबके हृदयमें निवास करनेवाले भगवान् मुझे रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी दासी (अवश्य) बनायेंगे ॥ ५ ॥ जिसका जिसपर सत्य स्नेह होता है वह उसको (अवश्य मिलता) है इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तौ' के सम्बन्धसे पूर्वकी अर्धालीमें 'जौं' अर्थ करनेमें कह लेना चाहिये । (ख) 'भगवान' इति । जीवकी गति और अगति दोनों भगवान्के हाथ है । यथा—'वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।' 'गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे ।' इसीसे रघुपतिकी दासी बना देना भगवान्के हाथकी बात है । अभिप्रायसे पाया गया कि सत्य सनेहके फलदाता भगवान् हैं । श्रीरामजी माधुर्यको ग्रहण किये हुए हैं इसीसे रघुपतिसे भगवान्को पृथक् कहती हैं । 'सकल उर बासी' इति । भगवान् सबके हृदयमें बसते हैं, यथा—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । गीता ।' हृदयका भाव जानते हैं, यथा—'सबके मन मंदिर बसहु जानहु भाव कुभाव ।' भाव कि सबके हृदयकी जानते हैं, मेरे हृदयमें भी जो सत्य स्नेह है उसे जानकर मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे । (ख) 'भगवान' से ऐश्वर्य, 'सकल उरबासी' से जानकारी और 'करिहि मोहि रघुबर कै दासी' से उदारता गुण कहा । तीनों गुणोंसे भगवान्की पूर्ण शोभा है । (ग) पुनः 'भगवान' शब्द देकर पञ्चदेवाराधनकी पूर्ति की । पञ्चदेवका स्मरण करके पीछे रघुबरकी दासी करनेको कहती हैं । इससे पाया गया कि पञ्चदेवोपासनासे रघुपति-भक्ति मिलती है । दासी होना रघुपति-भक्ति है । (घ) विधि, हरि, हर तीनों देवोंका स्मरण किया, यथा—'होउ प्रसन्न महेस भवानी' 'तौ भगवान…' 'बिधि केहि भाँति…' ।

नोट—१ 'भगवान' का भाव यह है कि और देवता और सुकृतोंका फल देते हैं पर स्नेह देना, यह सामर्थ्य भगवान्को ही है, अन्यको नहीं । इससे यह पाया जाता है कि भगवान् और हैं और रघुवर और हैं, ऐसा है नहीं, वही रघवर भगवान् ऐश्वर्यमें, रघुवर माधुर्यमें ।

टिप्पणी—२ (क) 'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू' इति । तात्पर्य कि जिसका भी जिसपर सच्चा स्नेह हो उसको वह अवश्य मिलता है यह प्रामाणिक बात है, सिद्धान्त है, कुछ हमारे ही लिये ऐसा हो यह बात नहीं । अपना सत्य सनेह पहिले

* करिहहिं—पाठान्तर ।

ही कह चुकी हैं—'तन मन बचन…।' तन-मन-वचन तीनोंसे स्नेह होना 'सच्चा स्नेह' कहलाता है। (ख) 'तेहि मिलै' अर्थात् बहुत शीघ्र मिलता है। यह भाव दिखानेके लिये ही वर्तमानकालिक क्रिया 'मिलै' (मिलता है) दी। यदि विलम्बसे मिलना होता तो 'मिली' 'मिलिहि' ऐसा कहतीं। (ग) 'न कछु संदेहू।' भाव कि सत्य स्नेहके फलदाता भगवान् हैं, इसीसे मिलनेमें सन्देह नहीं है। अथवा भाव कि अन्य सुकृतोंसे चाहे मिलनेमें कुछ सन्देह भी हो पर सत्य स्नेहसे मिलनेमें किंचित् सन्देह नहीं। अथवा इस बातका कहीं पुष्ट प्रमाण होगा इसीसे कहती हैं कि 'न कछु संदेहू।' (श्रुति कहती है—'यद्यत्कामयते तत्तल्लभते।' वि० त्रि०)। पुनः भाव कि (घ) प्रथम श्रीरामजीके मिलनेमें सन्देह बना रहा, अब इस बातको समझनेसे, इस बातके स्मरण आ जानेसे कि 'जेहि कर…' कहती हैं 'न कछु संदेहू।' ['प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो' यह विनयमें कहा है। यहाँ 'रघुपतिपद सरोज मनु राचा' में प्रेमकी दृढ़ता दिखायी और 'तौ भगवान सकल उरबासी। करिहि मोहिं रघुबर कै दासी॥' में प्रीतिकी दृढ़ता कही, इसीसे धैर्य आ गया, यह 'सो तेहि मिलै न कछु संदेहू।' से स्पष्ट है। उधर श्रीरामजीने धनुषको ताका (वै०)]

वि० त्रि०—भाव यह कि अपनी पुत्रीके देनेका मुख्य अधिकार पिताको है। पर वे तो अपनी प्रतिज्ञासे बद्ध हो रहे हैं, कहते हैं 'कुँअरि 'कुँआरि रहउ का करऊँ' अतः जगत्पिताका भरोसा है कि वे मेरे मनोरथको पूर्ण करेंगे। जिस भाँति मेरे पिता प्रतिज्ञासे बँधे हैं, उसी भाँति जगत्पिता अपने वचन (वेदवाक्य) से बँधे हैं। यहाँ अनुवादरूपसे श्रुतिहीका उल्लेख है।

नोट—२ 'तन मन बचन मोर पन…' में 'जौं' पद न देकर जनाया कि हमारा स्नेह तो सच्चा है ही, इसमें 'जौं' की बात ही नहीं; मुझे तो रामजी मिलेंगे ही पर यह बात सभीके लिये सत्य है कि जिसका जिसपर प्रेम होगा, पर सच्चा, उसको वह मिलेगा। सत्य प्रेमसे रामजी झट मिल जाते हैं और तरह नहीं; क्योंकि 'रामहि केवल प्रेम पियारा।' ३—कबीर साहबका वचन है—'आशा तहँ बासा' 'जाकी सुरति लगी है जहाँ। कहै कबीर सो पहुँचे तहाँ।' जिसकी जहाँ आशा लगी है वह वहीं पहुँच जाता है। यहाँ जानेका भी प्रयोजन नहीं। वह स्वयं आकर प्राप्त हो जाते हैं। सच्चा स्नेह चाहिये; जैसे मछलीका जलसे। यथा—'निगम अगम साहिब सुगम राम साँचिली चाँह। अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँहि॥' (दो० ८०)। अर्थात् भोजन और जलपर सबका स्नेह है इससे वह सबसे सुलभ है। इसी तरह यदि वेद-शास्त्रोंको भी अगम श्रीरामजीके लिये सच्चा प्रेम हो तो वे भी सुलभ हो जाते हैं। ४—'करिहि मोहि रघुबर कै दासी॥ जेहि के…' में आत्मतुष्टि अलंकार है। क्योंकि यहाँ अपने स्वभावका दृढ़ विश्वास कह रही हैं।

श्रीराजारामशरणजी—(२५९। १-२ वाले नोटसे शृङ्खलाबद्ध) वह अनमोल मोती है—'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥' यह है प्रेमके विश्वासका मूल मन्त्र। पदोंमें कितना प्रेम, कितना ईश्वरपर विश्वास, कितनी प्रणकी दृढ़ता और कितना धैर्य है, यह विचारणीय है। २—कविवर शैक्सपियरने भी Merchant of Venice 'वेनिसके सौदागर' नामी नाटकमें कुछ इस मूल मन्त्रकी व्याख्या की है। वहाँ भी पिताके प्रण और हृदयकी भावनामें बहिरङ्ग अन्तर था। पोर्शियाको इसीसे मैं श्रीसीताजीकी सहेली कहा करता हूँ। कारण कि वहाँपर भी भगवान्‌पर विश्वास, धैर्य, आत्मत्याग और भाव-संयम हैं। लेकिन वहाँ सीताजीकी गम्भीरता नहीं है और मूलमन्त्र भी इतना स्पष्ट नहीं लिखा गया। ३—दोनों कवियोंने ऐसे प्रेमका परिणाम सुखमय लिखा है। इसके विपरीत मर्यादावलङ्घनवाले प्रेमका परिणाम नाटककार शैक्सपियरने भी 'ओथेलो' नामी नाटकमें दुःखान्तक ही लिखा है। रोमियो और जूलियटका भी प्रेम शुद्ध है, मगर वहाँ लड़कपनकी जल्दबाजी है। ४—आर्य और अनार्य सभ्यताओंके प्रेम और विवाह-पद्धतिके ये प्रसङ्ग बड़े कामकी चीजें हैं। ५—प्रेमकी दृढ़ता और 'भरोसे' की अमिटतापर मुझे दो पद याद आये बिना नहीं रहते।—(क) मिटायें मुझे पर मिटायेंगे कैसे? कि नक्शे वफा नक्शे फानी नहीं है।' (ख) 'हरगिज न मीरद आं कि दिलश जिंदा शुद ब इश्क। सब्त अस्त बर जरीदये आलम दवामे मा।' (अर्थात् जिसको हृदयके प्रेमने सजीव बना दिया है वह अमर है और उसकी अमरता सृष्टिके पृष्ठोंपर लिखी है)।

☞ तुलसीदासजीकी संकेतकला सराहनीय है। प्रेम-प्रणकी गम्भीरताके कारण उसकी व्याख्या हो नहीं सकती। अन्तर स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि एक कविने भावावेगमें सीताजीसे कहला दिया कि मैं तो रामको ही बरूँगी, धनुष 'टूटै तो कहा और न टूटै तो कहा है' और यह न सोचा कि सीताजीके चरित्रको मिट्टीमें मिला दिया।

प्रभु तन चितै प्रेम तन[1] ठाना । कृपानिधान रामु सब जाना ॥ ७ ॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे । चितव गरुरु[2] लघु ब्यालहि जैसे ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रभुके तनको (वा प्रभुकी ओर) देखकर शरीरसे प्रेम ठान लिया (अर्थात् यह प्रण कर लिया कि यह शरीर तो इन्हींका होकर रहेगा, अन्यथा नहीं) । दयासागर श्रीरामजी सब जान गये ॥ ७ ॥ श्रीसीताजीको देखकर उन्होंने धनुषको कैसे ताका जैसे गरुड़जी एक छोटेसे सर्पको ताकते हैं ॥ ८ ॥

नोट—भा० दा० का पाठ 'प्रेम पन' है—इसीपर पं० रा० कु० के टिप्पण हैं ।

श्रीराजारामशरणजी—१ 'प्रभु तन चितै' कितना स्वाभाविक है, पर प्रभावमें कितना माधुर्य, शृङ्गार, कितनी सकरुणता, कितना रामप्रेम और रामपरत्व है, कहते नहीं बनता । २—'प्रभु' शब्द 'पदसरोज' (रघुपति पद सरोज चितु राचा) के साथ शृङ्गारको शान्तरसके शिखरपर पहुँचा देता है और नाटकीय कला महाकाव्यकलामें लीन हो जाती है । यह शृङ्गारका मिटना नहीं वरंच सफल होना है और इस दृष्टिकोणसे 'रघुबर' शब्दका संकेत है कि गजब है ? 'नसीम' भी मुग्ध होकर झूम जायँगे ।

☞ याद रहे कि यह सब 'सत्य' स्नेहके लिये है न कि ऐसे प्रेमके लिये कि जिसके सम्बन्धमें मेरे सहकारी मित्र 'सेहर' जीका एक हास्यप्रद पद है कि 'जिसको देखा उसी पे मरने लगे । आप हैं एक अजीब आशिक़ज़ार ।'

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभु तन चितै प्रेम पन ठाना' इति । भाव कि प्रभुका शरीर अति कोमल है, इससे धनुष नहीं टूट सकता; अतः प्रेम-पन करती हैं कि हमारे सत्य प्रेमके प्रभावसे धनुष तोड़ें । प्रथम अपने सुकृतोंका बल लगाया, यथा 'होहु प्रसन्न महेस भवानी ।''''आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा ।' इत्यादि । सेवकाई सुकृत है । इनसे संदेह न निवृत्त हुआ । और यहाँ कहती हैं कि सत्य सनेहमें मिलते हैं अतः निस्संदेह मिलेंगे । इससे निश्चय हुआ कि सेवारूपी सुकृतसे रामप्रेम अधिक है । यदि रामजीका तन दृढ़ होता तो प्रेमपन ठाननेका काम ही क्या था ? अत्यन्त कोमल तन देखकर प्रेमपन ठानना पड़ा । प्रेमीपर भगवान् कृपा करते हैं इसीसे आगे कहते हैं कि 'कृपानिधान''''' । (ख) 'कृपानिधान रामु सब जाना', यथा 'करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो । २३६ ।' श्रीजानकीजीपर कृपा की । उनके हृदय-की सब बात जान गये क्योंकि 'राम' हैं । सबमें रमते हैं । 'तौ भगवान सकल-उर-बासी' को यहाँ चरितार्थ किया, सबके उरवासी हैं, अतः सब जान गये । ☞ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि श्रीराम ही भगवान् हैं, यह न कोई समझे कि राम कोई और हैं, भगवान् और हैं । माधुर्यके अनुकूल जानकीजी उनको पृथक् कहती हैं ।

२ (क) 'सियहि बिलोकि''''' । श्रीसीताजीने प्रभुको देखकर प्रेमप्रण ठाना; इसीसे श्रीरामजीने भी उनको देखकर धनुषको ताका, ताककर सूचित किया कि धीरज धरो, हम अभी धनुषको तोड़ते हैं, इससे यह भी सूचित हुआ कि श्रीसीताजीका दुःख उनसे न देखा जा सका । यह देखकर कि ये हमारे लिये शरीर छोड़नेका प्रण कर चुकीं, धनुषको ताका कि अब इसे तुरत तोड़ डालें । (ख) 'चितव गरुरु लघु ब्यालहि जैसे' इति । धनुषको 'लघु' सर्प कहनेका भाव कि जो धनुष सब राजाओंको बहुत कठोर और भारी था वही श्रीरामजीको तुच्छ वा बहुत हल्का है जैसे भारी सर्प भी गरुड़के लिये लघु ही है । पुनः भाव कि जैसे गरुड़को देखकर बड़े-बड़े सर्प भी डरके मारे सिकुड़कर बिल्कुल छोटे हो जाते हैं वैसे ही श्रीरामजीके ताकते ही यह धनुष उन्हें देखकर लघु हो गया, यथा 'दाहिनो दियो पिनाकु सहमि भयो मनाकु, महा ब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है । गीतावली १ । ९० ।' पुनः, सर्पकी उपमा देनेका भाव कि जिस धनुष-रूपी सर्पने समस्त राजाओंको डस लिया था सो भी इनके आगे सहम गया । और जैसे लघुव्यालके मारनेमें गरुड़को किञ्चित् श्रम नहीं वैसे ही धनुषको तोड़नेमें श्रीरामजीको किञ्चित् श्रम नहीं होनेका, यथा 'छुअतहि टूट पिनाक पुराना', इस तरह 'चितव गरुरु ' का भाव यह हुआ कि अब धनुषको झपटकर तोड़ना ही चाहते हैं, देर नहीं है । [पुनः भाव कि जैसे गरुड़की दृष्टि जब सर्पपर पड़ती है तब फिर वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, अथवा सिकुड़कर अत्यन्त लघु ही क्यों न हो गया हो, वे उसे नहीं छोड़ते, वैसे ही यह धनुष हमारे लिये यद्यपि लघु है, अथवा हमें देखकर लघु हो गया है तो भी हम इसे बिना तोड़े न रहेंगे । (प्र० सं०)] ।

---

१. 'पनु'—प्रायः औरोंमें । तन—१६६१ । २. गरुड़—१७०४, को० रा० ।

☞ श्रीसीताजीको देखकर उनपर कृपा की, अपनी कृपादृष्टिसे उनको जीवित रख लिया। इन्हींकी ओर देखकर धनुषको ताका, कारण कि पुरवासियोंने तो श्रीरामजीके लिये अपने सुकृत लगाये और इन्होंने अपना प्रेम लगाया। और श्रीरामजी सब सुकृतोंसे अधिक प्रेममें कृपा करते हैं। इसीसे इनपर तुरत कृपादृष्टि डाली। ☞ पूर्व और आगे भी यत्र-तत्र लिखा गया है कि श्रीरामजी अनन्यगतिक प्रेमसे तुरत कृपा करते हैं। वही नियम यहाँ भी लागू देखिये। जबतक श्रीसीताजी औरों (धनुष, गिरिजा, गणेश, सुकृत आदि) की शरण गयीं तबतक भगवान्‌ने परवा न की, पर ज्यों ही श्रीरामजीमें प्रेम-प्रण ठाना, त्यों ही उन्होंने कृपा की।

नोट— १ 'सियहि बिलोकि·····'। भाव यह कि जब तुम मेरे लिये शरीर ही छोड़नेकी ठान रही हो तो मैं इसे क्यों न तोड़ूँगा ? जिसे हे प्रिये ! तुम कठिन समझ रही हो उसे देखो तो मैं कैसे सहज ही नष्ट किये डालता हूँ। अपने (गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे) ताकनेके ढंगसे ही उनको आश्वासन दे रहे हैं। सूक्ष्म और उदाहरण अलंकार हैं।

२ श्रीगौड़जी कहते हैं कि यह चलते-चलतेकी घटना है। उधर किशोरीजीने प्रेमपन ठाना, इधर इशारेसे आश्वासन भी दे दिया। साथ ही ताकनेसे लखनलालजीने सजग करानेका इशारा पाया। पिनाकका टूटना ऐसी-वैसी घटना न थी। अतः एक निगाहमें उधर आश्वासन और इधर सावधान करना, दोनों काम सधे।

३ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'सर्पके भय वा डसनेसे तीन बातें होती हैं—मृत्यु, मरनेपर विभूतिका छूट जाना और अपमृत्युरूपी अपयश। मानी राजाओंके धनुषस्पर्शसे श्रीराम-विमुखतारूपी मरण, '**कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥**' यह विभूतिका छूटना और '**सब नृप भये जोग उपहासी**' यह अपयश हुआ।'

४ श्रीजानकीजीके अति परितापका प्रसङ्ग सूक्ष्मरूपसे जानकीमङ्गलमें भी है। यथा '**कहि न सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ। गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ॥ ६२॥ होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहिं। फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहिं। धीरज धरति सगुन बल रहत सो नाहिन। बरु किसोर धनु घोर दइउ नहिं दाहिन॥ ६३॥ अंतरजामी राम मरम सब जानेउ····प्रेम परखि रघुबीर सरासन भंजेउ।**'; पर मानसके '**प्रेम तन ठाना**' को वह नहीं पाता।

श्रीराजारामशरणजी—प्रगतियाँ, आँखके इशारों इत्यादिका सूक्ष्म चित्रण, उनके भावों और प्रभावोंका वर्णन तुलसीदासजीकी कलाका वह कमाल है कि चित्रकला भी हार मान जायगी।

'प्रभु तन चितै' इत्यादिके कुछ भाव ऊपर लिखे गये और प्रभाव अब लिखा जाता है। कृपानिधान रामने कितना ठीक सीताजीके भावोंको समझा है। वे ताड़ गये कि हमारी मूर्तिकी सुकुमारताके कारण वे ऐश्वर्यको भूल गयी हैं, इसीसे केवल चितवनसे ऐश्वर्य बताकर उनके हृदयको शान्त कर रहे हैं कि तुम व्यर्थ ही 'चाप' से अपील कर रही हो, वह है ही क्या ? [महाकाव्यकलामें नाटकी कलाका मिश्रण कितना सूक्ष्म और सुन्दर है ? माधुर्यमें सीताजी श्रीरामजीको भगवान्‌से भिन्न व्यक्ति समझ रही थीं। भगवान्‌से अपील है, इसीलिये रघुवररूपमें उन्हीं 'कृपानिधान' ने उन्हें दासी (पत्नी) रूपमें स्वीकार किया।] स्वीकृतिकी संकेतकला सराहनीय है।

दो०—लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंडु। पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मांडु॥ २५९॥

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजीने शिव-धनुषको ताका (अर्थात् अब तोड़ना चाहते हैं) यह लक्ष्मणजीने 'लख लिया'। शरीरसे पुलकित होकर और ब्रह्माण्डको चरणसे दबाकर वे ये वचन बोले॥ २५९॥

टिप्पणी—१ 'लखन लखेउ' इति। भाव कि धनुषपर तो श्रीरामजीकी दृष्टि पहले भी पड़ती रही पर जब तोड़नेकी दृष्टिसे उन्होंने उसे ताका तब उस दृष्टिको किसीने न लख पाया। लक्ष्मणजी लख पाये, इसीसे 'लखन' (लखनेवाले) नाम दिया। २—'रघुबंसमनि'। भाव कि रघुवंश वीरोंमें प्रधान है, यथा '**रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई।····**' उस वंशके ये मणि हैं, भाव कि प्रत्येक रघुवंशी इसे तोड़ सकता है और ये तो सबमें श्रेष्ठ हैं, अर्थात् वीरशिरोमणि हैं, जब इन्होंने उसे ताका है तब वह बच ही कैसे सकता है ?

३—'पुलकि गात'। वीरताके समयमें वीरको पुलकावली होती ही है। श्रीलक्ष्मणजी वीर हैं (और वीरोंको वीरता भाती है) अतः इनको बड़ी प्रसन्नता हुई, यथा 'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा ॥ ५। ५८।' ☞ जहाँ-जहाँ वीरताका काम होता है वहाँ-वहाँ इनकी प्रसन्नता देखनेमें आती है। (पुलक यहाँ हर्ष जना रहा है आनन्दातिशयसे पुलक हो गया)। ४—'चरन चापि ब्रह्मांडु' इति। इससे पाया गया कि यदि ये उसे न दबाये रहते तो वह उलट जाता। ☞ यहाँ शंका होती है कि लक्ष्मणजी मञ्चपर बैठे हुए हैं, जब उन्होंने ब्रह्माण्डको दबाया तब मञ्च क्यों न टूट गया ? इसका समाधान यह है कि चरणसे किञ्चित् दबानेसे ब्रह्माण्ड दब गया। जैसे श्रीशङ्करजीने अँगूठेसे किञ्चित् कैलासको दबाया तो रावण दब गया था। यहाँ लक्ष्मणजीका ऐश्वर्य दिखा रहे हैं। (वे ईश्वर हैं, किञ्चित् चरण-से दबानेका इशारा करना ही दबाना है। इनके तो इशारे मात्रसे प्रलय हो जा सकता है। इन्हींके लिये तो श्रीरामजीने कहा है—'तुम्ह कृतांतभक्षक सुरत्राता। ६। ८३।' पुनः जैसे जापकका जप देवतातक पहुँच जाता है वैसे ही इनकी आज्ञा कच्छप, शेष, वराह, दिग्पालतक पहुँच गयी)। आगे वे दिशाओंके हाथियों इत्यादिको आज्ञा दे रहे हैं। आज्ञा देना ऐश्वर्यहीमें घटित होता है।

नोट—१ लक्ष्मणजीकी इस चेतावनीसे अप्रत्यक्षरीत्या उन 'भटमानियोंको' भी सूचना मिल गयी, जो धनुष टूटने-पर भी लड़नेवाले थे, कि रण करनेके भरोसे न रहना, यहाँ ब्रह्माण्डको चलाने, कँपाने और रोकनेका सामर्थ्य रखनेवाले शूर हैं। उनकी डींग हाँकनेका यह अत्यन्त सुन्दर उत्तर ध्वनित हुआ है। (गौड़जी)।

२ (श्रीराजारामशरणजी)—श्रीरामजीके आँखके इशारेका दूसरा प्रभाव लक्ष्मणजीपर पड़ा। वे 'पुलकायमान' हो गये [कितनी हमदर्दी (सहानुभूति), कितनी वीरता और कितना हर्ष है !] यहाँ तो लक्ष्मणजी स्पष्ट ही 'जगदाधार अनंत' रूप हैं। आगे 'आयसु' का शब्द साफ है। कला अब महाकाव्यकी ओर जा रही है। मगर आयसु थोड़े ही शब्दों-में है, इससे नाटकीकला गयी नहीं, थोड़ी ही देरमें सब भूल जायँगे और लक्ष्मणजीको 'लखनलाल' ही समझने लगेंगे, इस समय भी 'आयसु' के एक शब्दको किसीने सुना हो, किसीने नहीं, अधिक लोगोंने तो 'राम चहहिं संकर धनु तोरा' के साथ 'दिसि कुंजरहु' इत्यादिको प्रार्थना ही समझा होगा, इसीसे तो अब भी 'सुर' मना रहे हैं और संशय तथा अज्ञानमें हैं।

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥ १ ॥
रामु चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥ २ ॥
चाप समीप रामु जब आए। नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाए ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दिसि कुंजर=दिशाओंके हाथी=दिग्गज। पुराणोंके अनुसार आठों दिशाओंमें उन दिशाओंकी रक्षा तथा पृथ्वीको स्थित रखनेके लिये, आठ दिग्गज स्थापित हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं—पूर्वमें ऐरावत, पूर्वदक्षिणके कोनेमें पुण्डरीक, दक्षिणमें वामन, दक्षिणपश्चिममें कुमुद, पश्चिममें अञ्जन, पश्चिमउत्तरके कोनेमें पुष्पदंत, उत्तरमें सार्वभौम और उत्तर-पूर्वके कोनेमें सप्रतीक (सुप्रतीक)। (श० सा०)। वाल्मीकीयमें सगरपुत्रोंके पृथ्वी खोदनेकी जहाँ चर्चा है वहाँ चार दिग्गजोंका दर्शन सगरपुत्रोंको होना लिखा है। वहाँ चार दिशाओंके दिग्गजोंके नाम क्रमसे ये हैं—(पूर्व) विरूपाक्ष, (दक्षिण) महापद्म, (पश्चिम) सौमनस, (उत्तर) भद्र। ये चारों दिशाओंमें पृथ्वीको धारण किये थे। वाल्मीकि० १। ४० श्लो० १४, १८, २०, २२)। भक्तमालमें नाभाजीने ऋषभ, पुहकर (पुष्कर), पराजित और वामन ये नाम दिये हैं। यथा 'चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति-भूमि दाबे रहैं। श्रुतिप्रज्ञा श्रुतिदेव ऋषभ पुहकर इभु ऐसे। श्रुतिधामा श्रुति-उदधि पराजित बामन जैसे।....। छप्पय ३२।'

अर्थ—हे दिशाओंके हाथियो ! हे कच्छप ! हे शेष ! हे वाराह ! धीरज धरकर (सावधान होकर) पृथ्वीको धारण करो, वह हिलने न पावे ॥ १ ॥ श्रीरामजी शंकरजीके धनुषको (अब) तोड़ने (ही) चाहते हैं। मेरी आज्ञा सुनकर सावधान हो जाओ ॥ २ ॥ जब श्रीरामचन्द्रजी धनुषके समीप आये, (तब) सभी स्त्री-पुरुषोंने देवताओं और अपने पुण्योंको मनाया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ दिशिकुञ्जर बहुत हैं, इससे 'दिसिकुंजरहु' बहुवचन शब्द दिया। कमठ, शेष, वाराह एक-ही-एक हैं इससे एकवचन कहा। दिग्गज, कच्छप, शेष और वाराह क्रमसे कहे गये। पृथ्वी धारण करनेवालोंमें सबसे नीचे प्रथम

वराह हैं, उसपर शेष हैं, शेषपर कच्छप हैं और कच्छपके ऊपर दिग्गज हैं। पैरसे दबानेमें प्रथम दिग्गज फिर क्रमसे अन्य पड़ते हैं, अतः उसी क्रमसे कहा।

नोट—१ हनुमन्नाटक अङ्क १ श्लोक २१ के मिलानेसे 'दिसिकुंजरहु····' आदि वाक्योंके भाव और भी स्पष्ट हो जाते हैं। यथा 'लक्ष्मणो (रामे सज्जं धनुः कुर्वति सति पृथ्व्यादीनि भुवनान्यधो यास्यन्तीत्याशङ्क्याह) पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः। दिक्कुञ्जराः कुरुत तत् त्रितये दिधीर्षां रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्।' अर्थात् लक्ष्मणजी (रामजीके धनुष चढ़ानेमें पृथ्वी आदि भुवन नीचेको चले जायँगे ऐसी शङ्का कर बोले) हे पृथ्वी! तुम स्थिर हो जाओ, हे शेषजी! तुम इसको धारण करो, हे कच्छपराज! तुम इन दोनों अर्थात् पृथ्वी और शेषको धारण करो, क्योंकि श्रीरामजी शिवजीके धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाते हैं।

इस श्लोकमें 'कोला' (वराह भगवान्) का नाम नहीं है। श्लोकमें पृथ्वीको आज्ञा दी गयी है कि स्थिर हो जाय। यह स्वयं अपने बलसे स्थिर नहीं रह सकती, सम्भवतः इसीसे मानसमें पृथ्वीको आज्ञा नहीं दी गयी।

व्रजरत्नभट्टाचार्यकी टीकाके अनुसार यह श्लोक इसका प्रमाण है कि शेषजी पृथ्वीको धारण किये हुए हैं, कच्छप भगवान् शेषको और दिग्गज सबको। परंतु पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २३४ में लिखा है कि देवताओंने कच्छप भगवान्से वर माँगा कि शेष और दिग्गजोंकी सहायताके लिये आप पृथ्वीको धारण करें। उन्होंने ऐसा ही किया। (श्लोक १७-१८)। विशेष भाग १ पृष्ठ ३२९, ३३० दोहा २० (७) में देखिये। इससे तो यही सिद्ध होता है कि पृथ्वी, दिग्गज और शेष तीनोंकी सहायता कच्छप भगवान् कर रहे हैं।

इतनेपर भी हिरण्याक्ष पृथ्वीको ले गया। सम्भवतः इसी विचारसे वराहावतार होनेपर ब्रह्मादिने वराह भगवान्से पृथ्वीको धारण करनेकी प्रार्थना की। इसीसे प० पु० में कहा है कि हिरण्याक्षको मारकर भगवान्ने पृथ्वीको शेषपर स्थापितकर कूर्मको स्वयं धारण किया। यथा 'पतितां धरणीं दृष्ट्वा दंष्ट्रयोद्धृत्य पूर्ववत्। संस्थाप्य धारयामास शेषे कूर्मवपुस्तदा॥ प० पु० उ० २३७। १८।' इससे सिद्ध हुआ कि शेषके नीचे कच्छप और कच्छपके नीचे वराह भगवान् हैं।

पं० रामकुमारजीने किस प्रमाणसे कच्छपके नीचे शेषको लिखा यह अपनेको नहीं मालूम और न हनु० ना० के मतका प्रमाण मिला कि दिग्गज कच्छपको धारण किये हुए हैं। दिग्गज तो चारों कोनोंमें स्थित हैं, इसलिये हनु० ना० का मत भी ठीक हो सकता है।

गीतावलीमें लक्ष्मणजीकी आज्ञा इस प्रकार हुई है—'लषन कह्यो थिर होहु धरनि धरु धरनि धरनिधर आज॥ १॥ कमठ कोल दिगदंति सकल अंग सजग करहु प्रभु काज। गी० १। ८८।' इसमें कमठ, कोल, दिग्गज यह क्रम है। सुन्दरकाण्डके 'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।····सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहि मोहई। गह दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई॥ ५। ३५।' से तो गोस्वामीजीका मत स्पष्ट है कि शेषके नीचे कच्छप हैं तभी तो उनकी पीठपर शेषजीके दाँत बराबर पड़ते हैं। मेरी समझमें यहाँ धारण करनेके क्रमसे दिशिकुञ्जरादि नहीं लिखे गये, प्रत्युत छन्द बैठानेके लिये इस क्रमसे उल्लेख हुआ। क्रमसे 'अहि कमठ कोला' लिखनेसे छन्द बैठता नहीं।

टिप्पणी—२ (क) पृथ्वी धारण करनेवालोंको आज्ञा देते हैं कि पृथ्वी न हिलने-डोलने पावे, क्योंकि उसके हिलनेसे सृष्टिका नाश हो जायगा। पृथ्वी सबको धारण किये है, इसीसे यहाँ 'धरनि' नाम दिया। यदि सबको धारण करनेवाली ही डोल जायगी तो सभी व्याकुल हो जायँगे। (ख) 'धरि धीर' इति। धैर्यका धारण करना और पृथ्वीका न डोलना दोनों बातें कठिन हैं; इसीसे आगे आज्ञा देते हैं। सावधान होनेपर भी धीरज छूट गया और पृथ्वी डोल गयी, यथा 'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले।'

३ (क) 'राम चहहिं संकर धनु तोरा····।' इति। दिग्गजादि सब दिव्य हैं, ये सब श्रीरामजीके बल और धनुषकी कठोरता जानते हैं; इसीसे लक्ष्मणजीने न तो श्रीरामजीका बल कहा और न धनुषकी कठोरता ही कही, न यही कहा कि किस तरहसे पृथ्वीको हिलने न दें और न यह कहा कि अमुक ठौरपर भारी बोझ पड़ेगा, वहाँ थामनेका काम है और अमुक ठौरपर टरटनेका डर है, वहाँ उसको पकड़ रहनेका काम है, इतना ही कह दिया कि सावधान हो जाओ—'होहु सजग।' पुनः

दूसरा भाव यह कि लक्ष्मणजीका आज्ञा देना ही श्रीरामजीका बल और धनुषकी कठोरताको विदित कर रहा है। जब कोई भारी काम है तभी तो लक्ष्मणजी आज्ञा दे रहे हैं, नहीं तो आज्ञा क्यों देते ? (ख) 'दिग्गज कमठ शेष वराह' तो हजारों कोसोंकी दूरीपर हैं, उन्हें आज्ञा कैसे सुन पड़ी ? ठीक उसी तरह जिस तरह कि देवता हमसे लाखों कोसोंकी दूरीपर होते हुए भी आवाहन सुन लेते हैं। ये दिग्गजादि दिव्य हैं। पुनः, श्रीलक्ष्मणजी ईश्वर हैं, ईश्वरकी वाणी सर्वत्र पहुँच सकती है। पुनः, देखिये कि मन्त्रजाप मनमें होता है परंतु उससे मन्त्रके देवतातक खबर पहुँच जाती है। इत्यादि रीतिसे समाधान हो जाता है। (ग) 'सुनि आयसु मोरा' से सिद्ध होता है कि लक्ष्मणजी शेष, वराह, कमठ आदिके नियन्ता हैं।—'सहस्रसीस जग कारन' हैं। (घ) 'होहु सजग' से सूचित हुआ कि यदि ये सजग न किये जाते तो पृथ्वी इनसे छूटकर अथवा इनके सहित उलट जाती।

वि० त्रि०—लक्ष्मणजी जगत्के विभु होनेसे सकल जगत्के आधार हैं अर्थात् ब्रह्माण्डमात्रके आधार हैं, शेषोंकी समष्टि हैं, अतः सभी व्यष्टियोंपर इनकी आज्ञा चलती है। शिवधनुषके तोड़नेमें जिस शक्तिका प्रयोग होगा, उससे ब्रह्माण्डमें हलचल न हो, अतः वैसे ब्रह्माण्डको दबाकर वचन बोले। भाव कि ऊपरसे मैं दबाये हूँ, नीचेसे तुमलोग सँभालना।

सभी वस्तुओंमें ऐसी शक्ति निहित रहती है, जिससे उसका स्वरूप बना रहता है। उस वस्तुके विनाशमें उससे अधिक शक्तिका प्रयोग होता है। शिवजीके धनुषमें बड़ी बलवती शक्ति निहित है, धनुषके टूटनेसे जब वह छूटेगी तो ब्रह्माण्डमें उलट-पलट कर देगी।

अति शक्तिशाली पदार्थका प्रभाव अति क्षुद्र जन्तुओंपर नहीं पड़ सकता। उसका प्रभाव उन्हींपर पड़ता है जो उसके स्पन्दनके अनुभूतिके पात्र हों। जैसे हजारों बंदूकोंके एक साथ छूटनेसे जो शब्द होता है, उसके स्पन्दनको हमारी श्रवणेन्द्रियाँ सम्यक् रूपसे ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः हमलोगोंको हलकी आवाज सुनायी पड़ती है। इसी तरह शिव-धनुष भङ्गका प्रभाव पृथ्वी या ब्रह्माण्डपर विशेषरूपसे पड़ सकता था, मनुष्योंपर उतना नहीं।

टिप्पणी—४ (क) **'सुर सुकृत मनाए'** इति। कैसे मनाया यह विस्तारसे प्रथम लिख आये हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये, यथा **'बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे।'**···२५५। ६—८।' अथवा, यहाँ संक्षेपसे मनाया, इसीसे संक्षेपसे लिखा; क्योंकि अब अवकाश नहीं है, अब धनुषके पास पहुँच गये हैं, उसे तोड़ना ही चाहते हैं। (ख) बार-बार सुर-सुकृत मनानेसे ज्ञात होता है कि इनको अपने सुकृतों और देवाराधनका बड़ा बल-भरोसा है। अथवा, यह भक्तोंकी रीति है कि जब कार्य करने चलते हैं तब, और जब कार्य करते हैं तब भी सुर-सुकृत मनाते हैं, यथा **'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥'** (और फिर जब समुद्र लाँघने चले तब, पुनः रघुवीरजीका स्मरण किया, यथा) **'बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी॥'** अथवा, धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी कोमलता देखकर सबका चित्त व्यग्र है, इससे बारंबार मनाते हैं। [अथवा, जब श्रीरामजी चले तब अपने सुकृतोंको, प्रयोग करनेके लिये स्मरण किया था और जब वे धनुषके निकट पहुँच गये तब उनका प्रयोग किया, इसीसे वहाँ 'संभारे' कहा और यहाँ 'मनाये' भाव यह कि अब समय आ गया, सहाय हूजिये। (वि० त्रि०)]

नोट २—२५५ (५) के **'सहजहि चले सकल जग स्वामी'** की निर्दिष्ट क्रियाकी इस **'चाप समीप राम जब आए।'**···' २६० (३) से पूर्ति होती है, 'चले और पहुँच गये' इतनेके बीचमें जिनके जो मनोभाव हुए, महाकविने उनका कैसा ध्वनिपूर्ण वर्णन किया है ? (गौड़जी)।

सब कर संसउ अरु अग्यानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥ ४॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई॥ ५॥

अर्थ—सबका संदेह और अज्ञान, मूर्ख दुर्बुद्धि (अधम) राजाओंका अभिमान॥ ४॥ परशुरामजीके गर्वकी गुरुता (भारीपन, गौरव), देवताओं और मुनिवरोंका कादरपन॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) **'सब कर संसउ अरु अग्यानू'** इति। 'रामजी अत्यन्त कोमल हैं, धनुष अत्यन्त कठोर है; उनसे धनुष कैसे टूटेगा यह सबको संदेह है। श्रीरामजीके यथार्थ पराक्रम और स्वरूपको कोई नहीं जानते, सब मोहमें पड़े हैं कि ये अति सुकुमार हैं। इसीसे सबका संशय और 'सब' का अज्ञान कहा। धनुष टूटनेपर सबका संशय और अज्ञान नष्ट हो

जायेगा, इसीसे धनुषरूपी जहाजपर 'सब' के संशय और अज्ञानको चढ़ाकर इनका नाश धनुषके साथ कहेंगे। अज्ञान कारण है और संशय कार्य है, कारणसहित कार्यका नाश होगा। 'सब' में श्रीजनकजी भी आ गये, यथा 'मुनिबर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहिं। तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहिं॥ बानु बानु जिमि गयउ गवहिं दसकंधरु। को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु॥ ५७॥ पारबती मन सरिस अचल धनु चालक। हहिं पुरारि तेउ एक नारिब्रत पालक॥ सो धनु कहि अवलोकन भूपकिसोरहि। भेद कि सिरिससुमनकन कुलिस कठोरहि॥ ५८॥ जा० मं०।' गीतावलीका उद्धरण पूर्व आ चुका है। आगे व्यक्तिगत एक-एककी प्रधान वस्तु कही है। (ख) 'मंद महीपन्ह कर अभिमानू' इति। 'मंद राजाओंका अभिमान तो तभी नष्ट हो गया जब उनसे धनुष उठा नहीं, यथा 'श्रीहत भये हारि हिय राजा।' अब कौन अभिमान है जिसका नाश धनुष टूटनेपर होगा?' उनको अभिमान यह है कि जब हम ऐसे वीरों और बलवालोंसे धनुष न टूटा तो इनसे क्या टूटेगा। यह अभिमान धनुष टूटनेपर नष्ट हो गया। अथवा, जब अधम राजाओंसे धनुष न टूटा तब उनका अभिमान नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें यह संतोष बना रहा कि किसीसे तो नहीं उठा तब यदि हमसे भी नहीं उठा तो इसमें लज्जाकी कौन बात? परंतु जब श्रीरामजीने उसे तोड़ डाला तब अपनेसे अधिक बल उनमें देखकर अपने बलका अभिमान जाता रहा। इसीसे उनके अभिमानको भी धनुषरूपी जहाजपर चढ़ाया। (ग) धर्मात्मा राजाओंको अभिमान नहीं है, वे तो धनुषके पास भी नहीं गये, यथा—'जिन्ह के कछु बिचार मन माहीं…'। इसीसे केवल 'मंद' अर्थात् अधम राजाओंका अभिमान कहा। (बैजनाथजीका मत है कि राजाओंको अभिमान है कि हम जीतकर विवाह करेंगे)।

२ (क) 'भृगुपति' इति। भृगुजीने भगवान्‌की छातीपर लात मारी और भगवान् उनके पैरों पड़े, यह भृगुजीकी बड़ाई है। परशुरामजी भृगुकुलके पति हैं यह परशुरामजीकी बड़ाई है। (ख) 'गरब गरुआई' इति। क्षत्रियोंके जीतनेका गर्व है, यथा—'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही॥' और पृथ्वी भरके क्षत्रियोंको जीते हुए हैं, यह 'गरुआई' अर्थात् बड़ाई है। भृगुपति हैं यह दूसरे प्रकारकी बड़ाई है। हारकर चले जानेपर ये दोनों प्रकारका बड़प्पन और गर्व न रह गया। इस धनुषके लिये श्रीरामजीसे वादविवाद करके उन्होंने अपनी 'गर्व गरुआई' नष्ट की, इसीसे शिवधनुषरूपी जहाजपर उनके गर्व और गुरुताको चढ़ाया गया। धनुष टूटनेपर दोनों न रह गये। (ग) 'सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई' इति। यह श्रीरामजीके माधुर्यकी प्रबलता है कि उनकी सुकुमारता देख धनुष टूटनेका विश्वास नहीं होता, यथा—'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।' ब्रह्मादिको भी मोह हो जाता है जैसे वरुहरण प्रसंगसे स्पष्ट है। धनुष टूटनेपर सब प्रसन्न हुए। यथा—'ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा॥'

※ 'परशुरामजी तो अभी आये नहीं, उनको भी इस समाजमें कैसे गिनाया?' ※

पं० रामकुमारजी इसका समाधान करते हैं कि 'जब जहाज डूबता है तब उसके डूबनेपर 'बड़ी दूरका पानी खींचकर बोर' देता है (अर्थात् जहाजके पास वा दूरीपर भी जो होते हैं उनको भी पानी खींच लाकर डुबा देता है।) इसी तरह धनुषरूपी जहाजपर जो चढ़े वे डूब गये और परशुरामजीकी 'गर्व गरुआई' जहाज डूबनेके पीछे आकर डूबेगी।' परंतु श्रीमान् गौड़जीका मत है कि 'पास होनेके कारण भ्रमरावर्त्तमें पड़कर डुबा देनेवाला समाधान संतोषजनक नहीं है, क्योंकि 'चढ़े जाइ सब संग बनाई' से भृगुपतिकी गर्व गरुआईका सवार होना स्पष्ट है।

नोट—इस समाजमें गिनाकर कवि सूचित कर रहे हैं कि इसी रंगभूमि धनुर्भंगके बाद तुरत ही उनको गर्व-गुरुताका दलन हो जायगा।

गौड़जी—'सब कर संसउ अरु अज्ञानू।…चहत पार नहिं कोउ कड़हारू'। यहाँ समुद्रमें जहाजके डूबनेका बड़ा विलक्षण रूपक दिखाया है। भगवान् रामचन्द्रजीका बाहुबल अपार सागर है, इसकी न तो थाह है और न कहीं किनारा है। सर्वशक्तिमान्‌के बलकी भी कहीं सीमा हो सकती है? धनुषरूपी जहाज अब 'चाप समीप राम जब आये' उनके बलरूपी महासागरमें डूबनेवाला ही है। खेनेवाला कौन हो सकता है? शंकरका ही यह चाप है, जिसे चढ़ाकर वे विष्णुसे लड़ने चले थे तभी 'तदा तु जृम्भितं शैवधनुर्भीमपराक्रमम्' पिनाक 'जृम्भित' हो गया था, इसकी लच मिट गयी थी, कमानीकी लचिलापन, स्थिति स्थापकत्वका, क्षय हो गया था। वही जब कर्णधार बने थे, तब यह दशा हुई थी। अब रामबाहुबलके

पार खे ले जाना, अर्थात् धनुषका रामके हाथोंसे बचा-लेना किसीके लिये सम्भव न था। परशुरामजी भी जो पीछेसे आकर हार कर गये, यदि आ जाते तो भी इसे बचा न सकते थे। उन्हें गर्व था कि जबतक पिनाक बना है, तबतक हमारी अव्याहत गति और हमारी वह दिव्य शक्ति बनी हुई है जिससे क्षत्रियोंका संहार किया था। परशुरामका गर्व पिनाकपर मुद्दतसे सवार था। जनकजीकी प्रतिज्ञाको सुननेपर भी उन्हें निश्चय था कि इस धनुषको कोई तोड़ न सकेगा, इसीलिये टूटनेके पहले नहीं आये। टूटनेकी आवाजपर इसीलिये दौड़ पड़े कि त्रिभुवनमें कोई मुझसे भी अधिक बलवान् पैदा हो गया है। उसका तुरन्त मुकाबला करना चाहिये। टूटनेका शब्द उनके लिये ललकार थी। इसीलिये यहाँ 'भृगुपति केरि गर्व गरुआई' तो बहुत पहलेसे इस जहाजपर सवार थी। इसके सबके 'संशय' और 'अज्ञान', मंद महीपोंका 'अभिमान', सुरमुनिकी 'कादरता', सीताजीका 'सोच', जनकजीका 'पछितावा' और रानियोंका 'दारुण दुःख' यह सातों भी संग बनाकर इस धनुषरूपी जहाजपर सवार हो गये। यह सबके सब ['चहत पार'] यह ख्याल करते थे कि धनुष न टूटेगा [यह जहाज सागर पार हो जायगा, डूबेगा नहीं] हम लोग बच जायँगे। पर हुआ क्या ? वह २६१ वें सोरठामें आया। 'बूड़ सो सकल समाज चढ़े जो प्रथमहि मोह बस'। उनका ख्याल गलत निकला। यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि 'भृगुपति केरि गरब गरुआई' की चर्चा पहले ही क्यों ? परन्तु इतिहासपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी गर्व गरुआई उसपर पहलेसे ही सवार थी।

पास होनेके कारण भ्रमरावर्त्तमें पड़कर डुबा देनेवाला समाधान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि 'चढ़े जाइ सब संग बनाई' से भृगुपतिकी गर्व गरुआईका सवार होना स्पष्ट है। पास होना और बात है।

यहाँ भृगुपतिकी अवाईके बादवाली गर्व गरुआईकी चर्चा होती तो 'सिय कै सोच जनक पछितावा, रानिन्ह कर दारुन दुख दावा' के पहले ही क्यों चर्चा करके क्रम-भंग दोष लाया जाता ? क्रमसे ही निश्चय होता है कि यह पहलेके गर्व गरुआईकी चर्चा है।

वि० त्रि०—परशुरामजीको बड़ा भारी गर्व था कि जगत्‌में मैं एक अप्रतिम वीर हूँ। यह धनुष मेरे गुरुजीका है, इसमें यदि कुछ पराक्रम काम कर सकता है, तो मेरा ही काम कर सकता है, दूसरोंका किया कुछ नहीं हो सकता।

सिय कर सोच जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥ ६॥
संभु चाप बड़ बोहितु पाई। चढ़े जाइ सब संगु बनाई॥ ७॥
राम बाहु बल सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कड़हारू॥ ८॥

शब्दार्थ—'कड़हार'—'कन=पतवार। 'कड़हार=पतवारका चलानेवाला=खेनेवाला। दावा=वनकी अग्नि, दावानल।

अर्थ—श्रीसीताजीका सोच, राजा जनकका पश्चात्ताप और रानियोंका कठिन दुःखरूपी दावानल॥ ६॥ ये सब समाज बनाकर शिवचापरूपी बड़ा जहाज पाकर जा चढ़े॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीके भुजबलरूपी अपार समुद्रके पार जाना चाहते हैं पर कोई कर्णधार (खेवैया) नहीं है॥ ८॥

टिप्पणी—१.(क) 'सिय कर सोच'। सोच यह है कि इनसे धनुष न टूटेगा, यथा—'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥' इत्यादि। 'जनक पछितावा' यह कि हमने यह प्रण व्यर्थ ही किया, यथा—'जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई॥' 'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा' यह है कि कोई भी तो राजाको समझाता नहीं कि इनके लिये धनुष तोड़नेका हठ ठीक नहीं है, यथा—'सखि सब कौतुक देखनि हारे।····' इत्यादि। (ग) दुःखको दारुन कहा, इसीसे उसे दावाग्निकी उपमा दी। अर्थात् जैसे दावाग्नि भयंकर होती है और भारी भी, वैसे ही रानियोंका दुःख भारी और भयंकर है। रानियाँ बहुत हैं, इसीसे उसे दावाग्नि अर्थात् वनकी अग्नि कहा।

२ (क) 'संभुचाप बड़ बोहितु····'। चढ़नेवाले बड़े भारी-भारी लोग हैं और बहुत हैं, इसीसे बड़ा जहाज चाहिये जिसमें सब समा जायँ। पुनः 'बड़ बोहितु' का भाव कि भारी और दृढ़ समझकर इसपर चढ़े इस विचारसे कि राम बाहुबल सागरमें यह नहीं डूब सकेगा। अर्थात् उनसे यह धनुष न टूटेगा। (ख) 'चढ़े जाइ' कहनेका भाव कि इसपरके सब चढ़नेवाले (संशय, अज्ञान, अभिमान इत्यादि) हृदय (रूपी घर वा पुरके) निवासी हैं। ये सब वहाँसे निकल-निकलकर शिव-धनुषरूपी जहाजपर जा-जाकर चढ़े। इसीसे सब-के-सब जहाजके साथ डूब जायँगे। (ग) 'सब संग बनाई' के दो अर्थ

होते हैं—एक तो 'सब जाकर एक साथ ही अच्छी तरह चढ़े', दूसरे 'संग बनाकर सब जा चढ़े' अर्थात् परस्पर मेल करके चढ़े, जिसमें परस्पर विरोध न हो, सब सुखपूर्वक पार हो जायँ। सब साथ अच्छी तरह चढ़े इसीसे अच्छी तरह सब एक साथ नष्ट भी होंगे। (पाँड़ेजीका मत है कि 'संग बनाके यह समझा कि एक जायगा तो सब जायँगे और एक रहा तो सब रहेंगे')। (घ) संशय, अज्ञान, अभिमान, गर्व, गरुआई, कदराई, सोच, पछितावा, दुःख—ये सब अविद्याके परिवार हैं, इन सबोंका साथ है [ये नौ पथिक श्रीराम बाहुबलरूपी सिंधुके पार जानेके लिये शिवचापरूपी बड़े जहाजपर चढ़े। अर्थात् इन वस्तुओंके सहित सबके चित्तकी वृत्ति धनुषमें लगी है। (वै०)। भाव यह है कि अलग-अलग लोगोंमें इन्हीं नौ भावोंसे कोई-न-कोई काम कर रहा है, पर सबके भावोंका आधार एकमात्र धनुष हो रहा है, और उसका संघर्ष रामबाहुबलरूपी अपार समुद्रसे हुआ ही चाहता है; अतः जनता स्तब्ध होकर बड़ी उत्कण्ठाके साथ इस संघर्षके परिणामपर दृष्टि लगाये हैं। (वि० त्रि०)। (ङ) अनेक उपमेयोंका एक ही धर्म 'चढ़े' कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। (वीर)]

३ (क) 'रामबाहुबल सिंधु····'। बाहुबल अपार समुद्र है। बाहु समुद्र है, बल जल है, यथा—'अमित अमल जल बल परिपूरन। गी० ७। १३।', 'सठ चाहत रघुपति बल देखा॥ जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद मति पावन चाहा॥ ३। १।', 'मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥ ६। २८॥' 'अपारू' कहकर जनाया कि पार चाहते हैं पर पार पायेंगे नहीं। (ख) 'नहिं कड़हारू'। कर्णधार जहाजको चलाता है, उसकी रक्षा करता है। यहाँ कोई खेनेवाला नहीं है तब जहाज न तो चल ही सकेगा और न कोई उसकी रक्षा कर सकेगा, राम बाहुबलरूपी समुद्र उसे शीघ्र डुबा देगा, नष्ट कर डालेगा, रामबाहुबलसे कोई भी धनुषको बचानेवाला नहीं है। श्रीरामजी तुरत तोड़ डालेंगे क्षणभर भी न लगेगा। बिना रक्षकके ये सब चढ़े हैं अतः सब जहाजके साथ डूब मरेंगे। बिना कर्णधारके जहाजपर जानेवाले अज्ञानी ही होते हैं वैसे ही ये संशय इत्यादि सब अज्ञान वर्गमें हैं हीं, यथा—'बूड़ सो सकल समाज चढ़ा जो प्रथमहि मोह बस'। मोह और अज्ञान पर्याय शब्द हैं। ['नहिं कोउ कड़हारू'। भाव कि इस जहाजके खेवैया शिवजी थे सो इसे मिथिलामें छोड़ गये। अतः रामजीके हाथों टूटनेसे कोई इस बेचारेका बचानेवाला नहीं है। क्योंकि 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥' 'धनुषका न टूटना' पार जाना है।]

दो०—राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि॥ २६०॥

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब लोगोंको देखा। सबको चित्रमें लिखे हुए-से देखकर कृपाधाम श्रीरामजीने सीताजीको देखा और बहुत व्याकुल जाना॥ २६०॥ वैदेहीजीको बहुत ही व्याकुल देखा (कि) उन्हें एक निमेष कल्पके समान बीत रहा है॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) 'सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे' २५९ (८) से प्रसंग (सम्बन्ध) मिलाते हैं। श्रीसीताजीको देखकर धनुषको ताका, इससे श्रीसीताजीको धीरज दिया कि लो हम धनुष तोड़ते हैं। उसी तरह सब लोगोंकी ओर देखकर उन सबोंको भी धीरज दे रहे हैं क्योंकि ये सब भी व्याकुल हैं। (ख) 'चित्र लिखे से' अर्थात् जैसे कागज, कपड़े, भीति, इत्यादिपर हाथसे बनायी, काढ़ी वा उतारी हुई तसवीर हो। तात्पर्य कि वे हिलते-डोलते नहीं, एकटक देख रहे हैं। उनके पलक गिरते नहीं हैं, इत्यादि। (ग) श्रीसीताजीपर दृष्टि डालनेमें 'कृपायतन' विशेषण देकर जनाया कि श्रीसीताजीको विशेष विकल देखकर अपनी कृपादृष्टिसे उनको जिलाये हुए हैं। पुनः कृपायतन विशेषण देनेका भाव कि सब लोगोंने तो रामजीके लिये अपने-अपने सुकृत लगाये हैं, यथा—'बंदि पितर सुर सुकृत मनाए···'। और, श्रीजानकीजीने प्रेम लगाया। श्रीरामचन्द्रजी सब सुकृतोंसे अधिक प्रेममें कृपा करते हैं, यथा—'उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम'॥ इसीसे सीताजीपर कृपादृष्टि करके बार-बार देखते हैं। (घ) 'जानी बिकल बिसेषि' कहकर जनाया कि विकल तो और सब भी हैं पर ये विशेष विकल हैं। विशेष व्याकुलताका स्वरूप आगे दिखाते हैं—'देखी बिपुल बिकल' इत्यादि।

२ (क) 'देखी' से सूचित होता है कि श्रीजानकीजीकी व्याकुलता प्रकट देख पड़ती है। जैसे रात्रिके कमल मलिन होते हैं वैसी दशा इनके मुखकी हो रही है, यथा—'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥' नेत्रोंमें जल भरा है, यथा—'लोचन जल रह लोचन कोना', 'भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर'। (ख) 'निमिष बिहात' इति। जब श्रीरामजी धनुष तोड़ने चले तब श्रीजानकीजीको एक निमिष सौ युगोंके समान बीतता था, यथा—'अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं'॥ जब धनुषके समीप आये तब व्याकुलता अधिक हो गयी; यह दिखानेके लिये एक निमेषका कल्प समान बीतना कहा।—'कल्पं तु ब्रह्मवासरम्'। 'चतुर्युगसहस्राणि दिनमेकं पितामहः।' ब्रह्माका एक दिन कल्प कहलाता है और हजार चतुर्युगोंका एक दिन होता है। (इस तरह लगभग ४० गुणा अधिक दुःख इस समय है। इसीसे 'बिपुल बिकल' कहा)।

नोट—'बैदेही' शब्दसे जनाया कि व्याकुलता इतनी बढ़ गयी है कि देहकी सुध जाती रही। मुख सूख गया। आगे फिर 'जानकी' नाम देकर जनाते हैं कि पूर्व तो विदेह दशा ही रही अब 'जानकी' खैरियत नहीं, प्राण छोड़ ही देंगी।

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करै का सुधा तड़ागा॥ २॥
का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥ ३॥

अर्थ—प्यासेने यदि जल बिना (जलके न मिलनेसे) शरीर छोड़ दिया तो उस मरे हुएको वा मर जानेपर 'सुधा-तड़ाग' ही क्या करेगा ?॥ २॥ सब खेतीके सूख जानेपर वर्षा होनेसे क्या (लाभ) ? अवसर चूक जानेपर फिर पछितानेसे क्या ?॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'तृषित बारि…' इति। (क) तात्पर्य कि जब समयपर जल न मिला तब बिना समय अमृत किस कामका ? यथा—'तुलसी मीठी अमी ते माँगी मिलै जो मीच। सुधा सुधाकर समय बिनु कालकूट तें नीच॥' इति दोहावल्याम्। सुधाकर (चन्द्रमा) का सुधा अर्थात् अमृत। जहाँ अमृतकी श्रेष्ठता कहते हैं वहाँ चन्द्रसार अमृत कहते हैं, यथा—'सुनि भूपाल भरत ब्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू॥ २। २८८।', 'जन रंजन भंजन भव भारू। रामसनेह सुधाकर सारू॥ २। ३२६।' इत्यादि। तात्पर्य कि जब जानकीजी अत्यन्त विकलतासे मर जायँगी तब धनुष तोड़नेसे क्या है ? समयपर लोटा भर जल न मिला और बिना समय अमृतका तालाब मिले तो किस कामका ? 'सुधा तड़ाग' कहनेमें भाव यह है कि सुधा जलसे अधिक (उत्तम पदार्थ) है, लोटा भर जलसे अधिक तड़ाग है। जो प्यासा मर रहा है उसको समयपर जल मिल जाय तो अच्छा है और अमृत मिल जाय तो और भी उत्तम है। ऐसे ही धनुषका तिलभर भूमि भी छोड़ देना लोटाभर जलके समान है, इतने मात्रसे जानकीजीके प्राण बच जायँगे क्योंकि पिताका वचन है कि 'रहौं चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥ २२५। २।', उठाना और तोड़ना अमृत (और अमृतके तड़ाग) के समान हैं, यह हो जाय तो और अच्छा है। श्रीजानकीजीके जीवित रहते तिलभर भूमि भी यदि न छूटी तो मरनेपर धनुषको उठाया और तोड़ा भी तो किस कामका ? इति अभिप्रायः। [बाबा हरीदासजीका मत है कि धनुष टूटनेपर त्रिभुवनमें जय-जयकार होना और ऐश्वर्य प्रकट होना 'सुधारूप' है।]

※ मुएँ करै का सुधा तड़ागा ※

'सुधा' का अर्थ अमृत करनेपर महानुभावोंने यह शङ्का करके कि 'अमृतका गुण तो मरे हुए को जिलाना है, मरनेपर भी उसे व्यर्थ नहीं कह सकते', उसका समाधान कई प्रकारसे किया है—(१) कुछ लोगोंका कहना है कि इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये यहाँ 'सुधा' का दूसरा अर्थ 'जल' ही गृहीत होगा। तात्पर्य कि मरनेपर 'जलका तालाब' वा 'तड़ाग भर जल' भी मिले वा मरनेपर उसे जलभरे तालाबमें ही डाल दें तो वह जी नहीं सकता। (२) संत उन्मनी टीकाकारने 'सुधा' के और भी अर्थ 'पर्यन्त' एवं 'गङ्गा' किये हैं। वे लिखते हैं कि 'सुधा' मागधी भाषामें 'पर्यन्त' अर्थका वाचक है अर्थात् थोड़ेसे जलकी कौन कहे, तड़ाग भरा जल भी हो तो क्या ? वा 'सुधा'=गङ्गा, यथा—'सुधा गंगेष्टिकास्नुह्योर्मवालेऽऽमृतेषु च'। अर्थात् गङ्गा या तालाब ही फिर किस काम का ?'

प्रोफे० लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि 'सुधा' का अर्थ 'जल' लेनेसे पुनरुक्ति दोष आ जाता है, दूसरे 'तड़ाग' शब्दमें तो जलका बोध हो ही जाता है, 'सुधा' शब्दकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः इसका अर्थ यों करना चाहिये

कि शङ्करजी कहते हैं कि हे सुधा (पार्वतीजी) ! मरनेपर तालाब भर पानी क्या कर लेगा ?' 'सुधा' पार्वतीजीका नाम है—'जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी । दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते ॥'—(परंतु आगे 'अस जिय जानि जानकी देखी' से ये श्रीरामजीके हृदयके विचार जान पड़ते हैं)। इसपर प्र० स्वामीका मत है कि 'जल' अर्थ उचित है। पुनरुक्तिकी शङ्का व्यर्थ है, क्योंकि तड़ाग बिना जलका भी होता है, यथा—'नदी बिनु बारी। २ । ६५ । ७ ।'

पाँड़ेजी, वीरकविजी, पं० रामकुमारजी एवं श्रीमान् गौड़जीने 'सुधा' का अर्थ 'अमृत' ही किया है। पं० रामकुमारजीके भाव ऊपर टिप्पणीमें दिये गये हैं। पाँड़ेजी ऊपर की हुई शङ्काके समाधानके लिये इस चरणका अर्थ यों करते हैं कि 'मुएको तालाब क्या करेगा, क्या अमृतका तालाब है जो जिला लेगा ?' और वीरकविजी शङ्काका समाधान यों करते हैं कि 'अमृतका तालाब प्यासके दुःखसे मरे हुएको जिला देगा, परंतु प्यासके भीषण यन्त्रणासे तड़प-तड़पकर जो उसके प्राण निकले हैं उस पीड़ाको नहीं भुला सकता'। पाँड़ेजीने मुख्य अर्थ 'जलका तालाब' ही किया है।

श्रीमान् गौड़जी लिखते हैं कि—'यहाँ सीताजी धनुषभङ्गकी प्यासी हैं। इतनी छोटी बातके तुरन्त न हो जानेसे यदि अत्यन्त अधीरताके कारण अमङ्गल हो जाय, तो पीछे धनुष भंग (साधारण जल तो क्या) सुधा तड़ाग (स्वयं सरकार) का उनके समक्ष मौजूद हो जाना भी क्या करेगा ? कोई पानीका प्यासा तो मर जाय पर उसके पास ही अमृतका तालाब भरा हो जो उसके शवतक स्वयं न पहुँच सके तो मुएको उस तड़ागका होना मात्र क्या लाभ पहुँचायेगा ? जब सारी खेती सूख ही गयी, निष्प्राण हो गयी तो पानी बरसके उसे हरा न कर सकेगा, क्योंकि पानी रगोंमें पहुँच न सकेगा। अवसर चूक जानेपर पछताना ही हाथ लगता है। यहाँ सरकार मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। 'प्रभु चह त्रिभुवन मारि जिआई।' परंतु इन्द्रके पूछनेपर ही जिलानेकी बड़ाई उसे दी जाती है। यहाँ अमङ्गल होनेपर 'सुधा समुद्र' भी कुछ नहीं कर सकता। 'सुधासमुद्र' भगवान्‌के रूपको अन्यत्र भी कहा है। ['सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई ॥ २४६ ॥ (५)] यहाँ अत्यन्तानुप्रासके लिये 'सुधा तड़ाग' कहा। इसमें कोई दोष नहीं।

श्रीनंगेपरमहंसजीने कुछ भेदसे प्रायः गौड़जीका ही मत ग्रहण किया है। 'जानकी प्यासी हैं, श्रीरामजीके हाथोंसे धनुष टूटनेकी आशा प्यास है—'आस पियास मनोमल हारी।' धनुष टूटनेका सुख जल है (यथा—'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी'), और श्रीरामजी अमृतका तड़ाग हैं।' इतने अंशमें दोनोंका मत एक है। परंतु उपर्युक्त शङ्काके सम्बन्धमें वे लिखते हैं कि—अमृतका गुण जिलानेका नहीं है, अमरत्व करनेका है,—'सुधा सराहिय अमरता···' देहसे बाहर निकल गयी हुई आत्माको फिर उसमें बुलाकर अथवा किसी दूसरी आत्माको तैयार करके उस देहमें प्रवेश करा देनेका गुण वा सामर्थ्य अमृतमें नहीं है।···जिन्दा (जीते जी) अमृत पान करनेसे शरीरमें आत्मा अमर हो जाता है, फिर शरीरसे नहीं निकलता।'····लंकामें वानरोंके जिलानेमें इन्द्र या अमृतका कोई करामात होती तो राक्षस भी अवश्य जी उठते। वे तो रामजीकी इच्छाहीसे जिये, केवल इन्द्रको बड़ाई दी गयी। 'सुधा' का 'जल' अर्थ करनेमें वे दो दोष बताते हैं—शब्द दोष विरोध और उपमा विरोध। शब्द विरोध लाला भगवान्‌दीनजीके टिप्पणमें आ गया। 'उपमा विरोध यह है कि जब सुधा-तड़ागका उपमेय करना पड़ेगा कि 'सुधा तड़ाग' क्या है तब विरोध पड़ेगा।' [नोट—वीरकविजीने अर्थमें तो 'अमृतका तालाब' ही लिखा है पर टिप्पणीमें यह भी लिखा है—'दूसरे, सुधा अमृत और जल दोनोंको कहते हैं, यहाँ सुधा शब्दसे जलका ग्रहण है, अमृतका नहीं। क्योंकि बिना जलके प्राण त्यागे हुएको सुधा-तड़ाग मिले तो क्या हो सकता है ? 'बारि' के संयोगसे 'सुधा'शब्द एकमात्र जलकी अभिधा है।']

टिप्पणी—२ 'का बरषा सब कृषी सुखाने।···' इति। (क) 'कृषी' की उपमा देनेका भाव यह है कि खेती किसानका जीवन है। इसी प्रकार श्रीजानकीजी माता, पिता, परिवार और पुरजन सभीका जीवन हैं, यथा—'परिवारु पुरजन मोहि राजहि प्रान प्रिय सिय जानिबी ॥ ३३६ ॥ तात्पर्य कि जानकीजीके बिना ये सब मर जायँगे ऐसा विचार रामजीने किया। (ख) 'समय चुकें पुनि का पछिताने' इति। यह अपने लिये कहते हैं। अर्थात् यदि हम अवसरसे चूकेंगे तो हमें भी पीछे पछताना ही होगा। (ग) ☞ यहाँ तीन दृष्टान्त देनेका भाव कि जो दुःख श्रीजानकीजीको है वही श्रीजनकजी और सुनयनाजीको है जैसा कि आगे सुखवर्णनके द्वारा स्पष्ट है। अब क्रमसे इन दृष्टान्तोंको लीजिये—'तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा'। 'बारि बिनु तृषित' कौन है ? चातकी। यथा—'सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती ॥ २६३ । ६ ।' दूसरा दृष्टान्त

है 'का बरषा सब कृषी सुखानें ।' 'कृषी' कौन है ? सखियोंसहित रानियाँ । यथा—'सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी । सूखत धान परा जनु पानी ॥ २६३ । ३ ।' धान और खेती एक ही बात है । धनुषभङ्ग वर्षा है । तीसरा दृष्टान्त है 'समय चुकें पुनि का पछितानें ।' समयपर चूकनेसे कौन पछताया ? जनकजी । यथा—'सिय कर सोच जनक पछितावा' । 'जौं पै प्रिय बियोग बिधि कीन्हा । तौ कस मरन न माँगे दीन्हा ॥ २ । ८६ ।' इस तरह यह स्पष्ट है कि यहाँ जिस प्रकारका दुःख दिखा रहे हैं, धनुषभङ्गपर उसीके अनुकूल सुख कहा गया है—

तृषित बारि बिनु ।	१	का बरषा सब कृषी सुखानें ।
जनु चातकी पाइ जल स्वाती ।	२	सूखत धान परा जनु पानी ॥

वि० त्रि०—भाव कि दशम दशा उपस्थित है, अब खेती सूखा ही चाहती है, यदि कुछ प्राण रहते भी वर्षा हो जाय तो फिर खेतीके लहलहा उठनेमें देर नहीं, अतः अब देर न होनी चाहिये । इस समय कुछ भी देर करनेसे सीताजी-से हाथ धोना ही पड़ेगा ।

नोट—१ यहाँ प्रथम चित्रोत्तर अलङ्कार है । क्योंकि जिन शब्दोंमें प्रश्न किया जाता है वही शब्द उत्तरके भी हो जाते हैं । खेती सूखनेपर वर्षासे क्या ? उत्तर—'सब कृषी सुखानें' । 'समय चुकें पुनि का·····' ? इसका उत्तर इन्हीं शब्दों-में चूकना है । २—यहाँ 'सुखाना' क्या है ? जानकीजी वा श्रीरामजानकीका विवाह देखनेकी अभिलाषाका नष्ट हो जाना खेतीका सुखाना है, यथा—'एहि लालसा मगन सब लोगू' । श्रीजानकीजीके निष्प्राण हो जानेसे माता पिता इत्यादि सभीकी आशा जाती रहेगी—यह मत नंगे परमहंसजीका है । ३—बाबा हरीदासजीके मतानुसार 'मानी राजाओंके चले जानेपर धनुषका तोड़ना 'समय चूकना' है । जनकजी कह चुके हैं कि 'तजहु आस निज निज गृह जाहू' । उनके आगे धनुष तोड़नेसे वे सब परशुरामसंवाद देखें-सुनेंगे ।'

अस जिय जानि जानकी देखी । प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी ॥ ४ ॥
गुरहि प्रनामु मनहि मन कीन्हा । अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा ॥ ५ ॥

अर्थ—ऐसा जीमें जानकर जानकीजीको देख और उनके विशेष प्रेमको 'लख' कर प्रभु पुलकित हो गये ॥ ४ ॥ उन्होंने गुरुजीको मन-ही-मन प्रणाम किया और बहुत ही शीघ्रतासे धनुषको उठा लिया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस' अर्थात् जैसा ऊपर कह आये हैं कि जानकीजी तृषितकी तरह मरने ही चाहती हैं, और कृषीके समान सूखने ही वाली हैं । (ख) 'जानकी देखी' इति । मञ्चसे उतरकर धनुष तोड़नेके लिये चलनेपर श्रीजानकीजीका बार-बार प्रेमसे श्रीरामजीको देखना पूर्व ('तब रामहि बिलोकि बैदेही । २५७ । ४ ।' से 'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना । २५८ । ७ ।' तक) लिखा गया है, इसी तरह यहाँ दिखाते हैं कि रामजी भी सीताजीको बार-बार प्रेमसे देख रहे हैं; जैसे श्रीरामजीको देख श्रीजानकीजीके पुलकावली होती है वैसे ही श्रीजानकीजीको देखकर श्रीरामजीके पुलकावली होती है । यह दोनोंका परस्पर प्रेम दिखाया, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को चरितार्थ किया ।

दोनोंका मिलान

श्रीजानकीजी—		श्रीरामजी—
तब रामहि बिलोकि बैदेही	१	सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे
देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव	२	चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि
नीके निरखि नयन भरि सोभा	३	देखी बिपुल बिकल बैदेही
प्रभुहि चितै पुनि चितव महि	४	अस जिय जानि जानकी देखी
प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना	५	प्रभु पुलके लखि प्रेम बिसेषी
भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर	६	प्रभु पुलके

(ग) 'पुलके लखि प्रीति बिसेषी ।' बिसेषीका भाव कि प्रीति औरोंमें भी है पर इनमें सबसे विशेष है । भगवान् प्रेमहीके भूखे हैं, यथा–'बलि पूजा चाहइ नहीं चाहै एक प्रीति' । इसीसे प्रेम देखकर पुलकित हुए । [यहाँ विरहासक्तिकी परिपूर्णता दिखलायी । श्रीकिशोरीजीका इस प्रसङ्गमें सात बार देखना वर्णन किया गया है और श्रीरामजीका चार ही बार ।

इससे भी 'पुलके लखि प्रीति बिसेषी' कहा। यह भाव हमने प्र० सं० में लिखा था]।

२ (क) 'गुरहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा' इति। यहाँतक तीन बार गुरुको प्रणाम किया। पूर्व दो (कायिक और वाचिक) प्रणाम हो चुके, अब यहाँ मनमें प्रणाम करनेसे मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रणाम हो गये। 'सुनि गुर बचन चरन सिर नावा' यह कायिक प्रणाम है जो गुरुकी आज्ञा होनेपर उठते समय किया था फिर 'गुरपद बंदि सहित अनुरागा' यह वाचिक प्रणाम है जो उठकर चलते समय किया था। 'वदि अभिवादनस्तुत्योः'। 'वदि' धातु प्रणाम और स्तुतिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। यहाँ स्तुति अर्थका ग्रहण है। ('राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा' भी साथ ही दूसरे चरण-में कहा है)। और 'मनहि मन' यह तो मानसिक है ही। उठते समय, चलते समय और तोड़ते समय प्रणाम किया मानो तीन बार मङ्गलाचरण करके तब धनुष उठाया। (मनमें प्रणाम किया क्योंकि गुरु दूर हैं, मंचपर हैं, और ये धनुष-के पास हैं। वि० त्रि० का मत है कि कौशल दिखानेके पूर्व उस गुरुको प्रणाम करना चाहिये जिससे कौशलकी प्राप्ति हुई है और ऐसे समयमें मनसे ही प्रणाम सम्भव है)। (ख) 'अति लाघव उठाइ···' इति। भाव कि जिस धनुषको बड़ा भारी परिश्रम करनेपर भी वीर राजा लोग न उठा सके—'उठै न कोटि भाँति बल करहीं'—उसके उठानेमें श्रीरामजीको कुछ भी श्रम न हुआ। 'अति लाघव' कहकर बलकी अनन्तता दिखायी। पुनः, 'अति लाघव' का भाव कि इतनी शीघ्रता हुई कि कोई लख न सका। 'लाघव' में लोग लख सकते हैं, अति लाघवमें नहीं लख सकते। यथा—'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरमु न कोऊ जान॥' यह लाघवता है, और यहाँ तो 'काहू न लखा देख सब ठाढ़े'। अति लाघवता वीरोंका काम है। वीरोंका काम धीरे-धीरे बहुत देरमें नहीं होता, यथा—'लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि। ३। १७।' (उठानेमें ऐसी फुर्ती की कि जो लोग चित्र लिखेसे हो रहे थे वे भी न देख पाये। वि० त्रि०)। (ग) मन-ही-मन बोलचाल है अर्थात् मनमें ही।

नोट—बाबा हरीदासजी मनमें प्रणाम करनेके हेतु यह लिखते हैं कि 'एक तो गुरुजी पीछे हैं। पीछे फिरकर प्रणाम करें तो जानकीजी यह न समझें कि लौटे जाते हैं जिससे कहीं विरहमें प्राण न छोड़ दें। सिर नवाकर यदि प्रणाम करें तो दूसरे लोग समझेंगे कि किसी इष्टदेवके बलसे धनुष तोड़ा है।' बैजनाथजीका मत है कि श्रीकिशोरीजीको अत्यन्त आर्त देख धनुष तोड़नेके लिये इतनी आतुरता आ गयी कि गुरुको प्रकट रूपसे प्रणाम करनेका सावकाश न मिला इससे मान-सिक प्रणाम कर लिया। पंजाबीजीका मत है कि प्रणाम पूर्व कर चुके ही हैं अब मनमें ही कर लिया। अथवा यह सोचकर कि सब लोग बहुत व्याकुल हैं मैं प्रणाम करने लगूँ इतनेहीमें कतिपय लोग प्राण न त्याग दें।

टिप्पणी—३ 'उठाइ धनु लीन्हा' इति। बंदीगणने धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा सुनायी थी, यथा—'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जेहि तोरा॥' और राजा जनकजीने उठाना, चढ़ाना और तोड़ना ये तीन बातें कहीं, यथा—'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भर भूमि न सकै छुड़ाई॥' श्रीरामजी तीनों कर दिखायेंगे। इसीसे प्रथम उन्होंने उठा लिया और अब चढ़ाकर तोड़ेंगे। नहीं तो यदि केवल तोड़नेकी ही बात होती तो उठानेकी जरूरत ही न थी, वे उसे जमीनहीपर तिनकेके समान तोड़ देते।

दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयेऊ॥ ६॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सबु ठाढ़े॥ ७॥

अर्थ—जब उठा लिया तब वह बिजली जैसा चमका। फिर वह धनुष आकाशमें मण्डलके समान हो गया अर्थात् चढ़ानेसे गोल हो गया॥ ६॥ उसे लेते (अर्थात् झुककर उठाते), चढ़ाते (अर्थात् प्रत्यंचा चढ़ाते) और दृढ़तापूर्वक (कानपर्यन्त प्रत्यंचाको) खींचते किसीने न लख पाया (कि कब उठाया, कब चढ़ाया, कब खींचा), सबने (रामजीको) खड़े (ही) देखा॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'दमकेउ दामिनि जिमि' इति। धनुषमें तेज था इसीसे वह बिजलीकी तरह चमका। धनुषके तेजसे ही यह दमक हुई है। यह मेघोंवाली बिजली नहीं है, यह स्पष्ट करनेके लिये 'जिमि' पद दिया। नहीं तो सन्देह होता कि मेघोंकी बिजली आकाशसे न चमकी हो। पुनः 'दामिनि जिमि' का भाव कि उठाते ही बिजलीकी-सी चमक हुई, यह चमक बिजलीकी तरह देरतक न रही, उठा लेनेके पश्चात् फिर चमक न रह गई। 'अति' लाघवतासे धनुषको

उठाया, इसीसे अति शीघ्र बिजलीकी-सी चमक हुई।—यह तो उठानेपरका हाल कहा, आगे चढ़ानेपरका हाल कहते हैं। (अत्यन्त फुरतीकी प्रक्रियामें एक रेखा-सी बन जाती है। जैसे बनेठीकी आगकी रेखा बन जाती है, उसी भाँति बिजलीकी रेखा-सी बन गयी। उठाते किसीने न देखा, यह देखा कि बिजली-सा कुछ चमका। वि० त्रि०)। (ख) 'पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ' वह धनुष मंडलाकार हो गया अर्थात् उसके दोनों गोशे मिल गये। 'नभ' शब्द देकर जनाया कि श्रीरघुनाथजीने भुजा उठाकर धनुषको ताना, इसीसे वह आकाशमें मंडलके समान हो गया। सिरसे ऊपर हाथसे उठाये और ताने खड़े होनेसे आकाशमें मंडल-सा हो गया।

२ 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े' इति। यहाँ (झुककर) उठाना, चढ़ाना और तोड़ना तीनोंको क्रमसे कहते हैं। 'लेत' से उठाना, 'चढ़ावत' से चढ़ाना और 'खैंचत गाढ़े' से तोड़ना कहा। जब जोरसे खींचा तब वह टूट गया।

प्रथम जो कहा था कि 'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा' अब उसका स्वरूप दिखाते हैं कि 'काहु न लखा···'; इतनी शीघ्रता की कि कोई न लख पाया। पहले उठानेमें ही अति लाघवता कही थी और अब उठाने, चढ़ाने और खींचने तीनोंहीमें 'अति लाघवता' दिखा रहे हैं। यदि सबके साथ लाघवता न कहते तो पाया जाता कि चढ़ाने और तोड़नेमें बिलम्ब हुआ।

३ (क) पूर्व कह आये हैं कि लोगोंके बैठकर देखनेके लिये स्थान बने हुए हैं, यथा—'चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥ कछुक ऊँच सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई॥ जहँ बैठे देखहिं सब नारी।' इत्यादि। सेवकोंने सबको उचित स्थानपर बिठाया भी, यथा—'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि···।' तब 'देख सब ठाढ़' सब खड़े होकर देख रहे हैं, यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि 'ठाढ़े' श्रीरामजीके लिये कहा गया, सब लोग तो बैठे-ही-बैठे देख रहे हैं, श्रीरामजी खड़े हैं। सबने देखा कि रामजी खड़े हैं। ☞यहाँ उत्तरोत्तर चौपाईको स्पष्ट करते आ रहे हैं। 'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा' कहकर फिर इसको 'दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ' से स्पष्ट किया अर्थात् जब उठाया तब बिजली-समान चमका। इसी तरह 'पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ' कहकर उसको आगेकी अर्धाली 'लेत चढ़ावत···' से स्पष्ट किया अर्थात् जब चढ़ाया और खींचा तब मंडल-सम हो गया। 'खैंचत गाढ़े' को आगे स्पष्ट करते हैं—'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा'। श्रीरामजीने अत्यन्त शीघ्रता की' इसीसे 'लेत चढ़ावत खैंचत' किसीने न लखा। दूसरे बिजलीसे दमक होनेसे चकाचौंध हो गयी, सबकी आँखें बन्द हो गयीं, इतनेहीमें सब काम हो गया, इससे भी किसीने न लख पाया।

नोट—१ 'लेत चढ़ावत···' में लाघवताकी अतिशयोक्ति है। यहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार है। 'गाढ़े' क्रिया-विशेषण' है, इसका अर्थ है—जोरसे। प्रत्यञ्चा चढ़ानेके बाद उसे कानपर्यन्त खींचना ही गाढ़े खींचना है।—(दीनजी)। पुनः यहाँ 'कारकदीपक अलंकार है, क्योंकि लेत, चढ़ावत, खैंचत, तीन क्रियाएँ क्रमसे आयी हैं जिनके कर्ता एक रामजी ही हैं। २—'दमकेउ दामिनि जिमि···' इति। यहाँ कृषि भी है, वर्षाकी भी चर्चा है, दामिनी भी दमक गयी है, धनुष भी 'नभमंडलसम' दीख रहा है। व्याजसे उपमान 'घनश्याम' का नाम लेकर केवल उपमेय भगवान् रामचन्द्रकी ओर प्रसंगसे इशारा है, क्योंकि आगे चलकर चातकी भी तृप्त होगी और सूखते धानमें पानी भी पड़ेगा।

नोट—३ ('क.) किसी कविने 'खचत गाढ़े' पर यह कवित्त लिखा है—'कोसलके राज जब हाथमें पिनाक लीन्हों तोरबेकी बार सोच कीन्हें बात चार की। जो मैं धन्वा तोरौं नाहीं कुलहु कलंक लागे तोरौं तो कहुँगे लोग लोभ कीन्हों नारिको। जनक जो प्रण कीन्हों वह प्रण राखे बने चौथे सोच मोहि है दसानन सुरारिको। या ही जानि कृपानिधि खैंचे हैं करेरे हाथ कोसलके राज धन्वा तोरे त्रिपुरारिको' और किसीने यह अर्थ किया है कि 'लेते, चढ़ाते, खींचते समय जो महाराज-की शक्ति (गाढ़) हुई कि सीताजीके मनको आकर्षित किया वा सीताजीके मनके साथ आकर्षण किया, राजाओंके मुखोंके साथ नवाया, विश्वामित्रके पुलकके साथ उठाया, परशुरामके बड़े अहंकारयुक्त मदके साथ तोड़ा···सो कोई न लख सका।'

(ख) मिलान कीजिये—'गहि करतल मुनि पुलक सहित कौतुकहि उठाइ लियो। नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥ ६॥ आकर्ष्यो सिय मन समेत हरि हरष्यो जनक हियो। भंज्यो भृगुपति गर्व सहित तिहुँ लोक बिमोह कियो॥ ७॥ (गी० १। ८८)। (यह हनु० ना० १। २३ का ही अनुवाद है)।; यथा—'उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम्। वैदेहीमनसा समं च

सहसाक्रष्टं ततो भार्गव प्रौढाहंकृतिदुर्मदेन सहितं तद्भग्नमैशं धनुः ॥'

☞नोट—'लेत चढ़ावत…' इस अर्धालीके अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकारसे महानुभावोंने किये हैं जिनमेंसे कुछ यहाँ लिखे जाते हैं।

१—कठिनाईसे उठाते, चढ़ाते, खींचते किसीने न लखा, सब खड़े देखते ही रहे।' तात्पर्य कि सब खड़े देखते रहे, किसीने भी यह न देखा कि श्रीरामजीको इसमें कुछ भी कठिनाई हुई। अर्थात् उनको कुछ भी परिश्रम इस काममें न हुआ, यदि परिश्रम हुआ होता तो सबको जान पड़ता।

२—(श्रीनंगेपरमहंसजी 'सब गाढ़े ठाढ़े देख' इस प्रकार अन्वय करके अर्थ करते हैं कि) 'श्रीरामजी धनुषको लेते, चढ़ाते और खींचते किसीको दिखायी न पड़े। सबोंने श्रीरामजीको गाढ़े अर्थात् मजबूतीसे खड़ा देखा।' तात्पर्य कि इतनी शीघ्रतासे ये तीनों काम हुए कि किसीकी निगाह काम ही न कर सकी। 'पश्चात् धनुषको लिये हुए खड़े दिखानेका प्रयोजन था, इसीसे तोड़नेमें लाघवता नहीं की गयी। कारण कि लोगोंको शंका न हो जाय कि कैसे टूटा है। हाथमें उठाया हुआ भी न देख पड़ा, इसलिये अपनेको ऊपर उठाते हुए ऐसे खड़े सबको दिखायी दिये कि जिससे कोई भार भी नहीं प्रतीत होता अर्थात् शरीर-कम्पादि न होकर गाढ़े खड़े हैं—इसे स्पष्ट करके तब धनुष तोड़ा गया है।'

३—लेते, चढ़ाते, खींचते 'किसीने दृढ़ करके (दृढ़तापूर्वक, भली प्रकार) नहीं लखा। 'गाढबाढदृढानि च इत्यमरः।'—(पाँड़ेजी)।

४—सबने (रामजीको धनुष खींचे) खड़े देखा। ☞अर्थ ३ और ४ के समर्थनमें यह कहा जाता है कि यदि खींचनेमें परिश्रम पड़ना वा जोर लगाना कहें तो यह ठीक नहीं और न यह कहना ठीक है कि सब खड़े देखते रहे, क्योंकि यहाँ खड़े होना कहा तो आगे उनका बैठ जाना भी कहना चाहिये था सो तो कहीं कहा नहीं गया। टिप्पणीमें भी 'खड़े होने' के सम्बन्धमें लिखा जा चुका है।

श्रीमान् गौड़जी कहते हैं कि 'यदि यह माना जाय कि लोगोंने बिजलीकी चमक-सी देखी और फिर देखा कि श्रीरघुनाथजी खड़े हैं और धनुष टूटा हुआ है तो यह कहा जा सकता है कि प्रभुने मायाके बलसे तोड़ा, अपने बाहुबलसे नहीं। फिर ऐसा माननेसे आगेकी चौपाई 'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा' काल-कर्मके विरुद्ध हो जाती है तब तो क्रम यों होना चाहिये था—'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा। दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि धनु नभमंडल सम भयेऊ॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देखि सब ठाढ़े॥' मानसकारके निश्चित क्रमसे ही स्पष्ट है कि ठाढ़े यहाँ देखनेवालोंकी क्रिया है। गाढ़े लेत, गाढ़े चढ़ावत, गाढ़े खैंचत (तो) काहू न लखा (यद्यपि) सब ठाढ़े देखते रहे। 'हाँ 'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा' और 'तोरा' यह सबने देखा।'—(आपके मतानुसार सबने यह देखा कि सब काम अत्यन्त फुर्तीसे हो गया पर लेते, चढ़ाते, खींचते न देखा)।

नंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि लोग खड़े देखते रहे यह अर्थ महान् अनर्थ है। 'यदि सब खड़े हो जावें तो कैसा हुल्लड़ हो जावे। सबमें नारियोंको भी खड़ा कर देना कैसा अयोग्य है और फिर ये लोग कब बैठे?'

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'देख सब ठाढ़े' में नाटकीय चित्रण विचारणीय है। ऐसे अवसरपर लोगोंकी उत्कण्ठा और उतावलेपनके भाववेगमें खड़े हो जाना कितना स्वाभाविक है? भाई! कवि भी तो भाववेगमें हमारे साथ हैं। उसे सब खड़े ही दीखते हैं चाहे कुछ लोग बैठे ही क्यों न रहे हों। मुहावरेमें भी बहुतायतमें 'सब' कह देते हैं। फिर मुहावरेमें बहुत हिन्दीकी चिन्दी न निकालना चाहिये। 'खड़े वा ठाढ़े देखते रहे' मुहावरा है।

वि० त्रि० का मत है कि 'गाढ़' का अर्थ 'पण्डिताईसे' है, यथा—'कबहुँ न मिले सुभट रन गाढ़े।', 'बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े'। देख सब ठाढ़े=सब देखते हैं कि रामजी खड़े हैं।'

नोट—'खैंचत गाढ़े'—वाल्मी० २। ११८। ४८-४९ में सीताजीने अनुसूयाजीसे कहा है कि पलक मारते ही श्रीरामजीने उसे उठा लिया और रोदा चढ़ा दिया, तदनन्तर उसे खींचा। बलपूर्वक खींचनेके कारण वह दो टुकड़े हो गया। यथा—'निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः। ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान्॥४८॥ तेन पूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः।'

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'धनुषको हाथमें ले रोदा चढ़ाना, दोनों गोशे मिलाकर खींचकर नभमण्डल सम करना और तोड़ना ये चारों बातें गाढ़ (कठिन) हैं; इनमेंसे एक भी काम किसी वीरसे न हो सका सो श्रीरामजीने विना कठिनाई अति शीघ्रतासे कर दिया। इनसे कैसे उठेगा यह आश्चर्य मान सब खड़े रहे। 'देख सब ठाढ़े' अर्थात् सब चौकस रहे, कोई गाफिल न था।'

तेहिं छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा॥ ८॥
छं०—भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले॥

शब्दार्थ—छन (क्षण) तीन निमेष। यथा—'निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः। भा० ३। ११। ७।'

अर्थ—श्रीरामजीने उसी क्षणमें धनुषको बीचसे तोड़ डाला। उसके भयंकर कठोर शब्दसे भुवन भर गये॥ ८॥ घोर कठोर शब्दसे सब लोक भर गये। सूर्यके घोड़े अपना मार्ग छोड़कर चल पड़े। दिशाओंके हाथी चिग्घाड़ने लगे, पृथ्वी हिलने-डोलने लगी, शेष, वाराह और कच्छप कुलबुला उठे।

टिप्पणी—१ (क) 'तेहिं छन'=जिस क्षणमें उठाया, चढ़ाया और खींचा उसी क्षणमें (अर्थात् उस क्षणके समाप्तिके भीतर ही तोड़ डाला)। (ख) 'मध्य धनु तोरा' कहनेका भाव कि धनुषका मध्यभाग अत्यन्त दृढ़ होता है; अतएव वहींसे तोड़ा जिसमें किसीको कुछ कहनेकी गुंजाइश (जगह) न रहे। (ग) 'भरे' बहुवचन क्रियाके सम्बन्धसे भुवनका अर्थ चौदहों भुवन हुआ। (घ) 'घोर' अर्थात् भयंकर है, मनको भय देनेवाला था। भय होना मनका धर्म है। 'कठोर' होनेसे श्रवणको दुःख देनेवाला जनाया। जैसे मधुर शब्द मन और श्रवणको सुखद होता है, यथा—'मधुर बचन बोलेउ हनुमाना।'''लागी सुनै श्रवन मन लाई। ५। १३।', 'बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ७। ५३॥' वैसे ही कठोर शब्दसे मन और श्रवणको दुःख होता है, यथा—'भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बैन। २। १५९।' इत्यादि। (ङ) मिलान कीजिये—'पिय सियकी लखि माधुरी तून तोरन की चाह। झुके लेन तून धनु मिलेउ तोरेउ सहित उछाह॥' पुनः, 'डिगति उर्वि अति गुर्बि सर्ब पब्बय समुद्र सर। ब्याल बधिर तेहि काल बिकल दिगपाल चराचर॥ दिग्गयंद लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर। सुर बिमान हिम भानु भानु संघटित परस्पर॥ चौंके बिरंचि संकर सहित कोल कमठ अहि कलमलेउ। ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दलेउ॥ क० १। ११॥'

२ (क) चौदहों भुवन ध्वनिसे भर गये। अब इन सबोंका हाल कहते हैं। चौदहों भुवन तीन लोकोंके भीतर हैं, इसीसे तीनों लोकोंकी बात कहते हैं। 'रबि बाजि''' यह स्वर्गका, 'चिक्करहिं दिग्गज''कलमले' यह पातालका और 'सुर असुर मुनिनिकर कान दीन्हे सकल''' यह मर्त्यलोकका हाल है। ब्रह्माण्डभरमें शब्द व्याप्त हो जानेसे समस्त पशु-पक्षी सुर, असुर, नर, मुनि सभी क्षोभको प्राप्त हुए। सूर्यके घोड़े उपलक्षण हैं। सूर्य नवग्रहोंमें आदि हैं। सूर्यकी गतिमें क्षोभ दिखाकर सूचित किया कि सब ग्रहोंकी गति क्षोभको प्राप्त हुई; क्योंकि सब ग्रह रथमें चलते हैं (सबोंके रथ और वाहन हैं), सबके घोड़े मार्ग तज तजकर चले अर्थात् मार्गसे विचलित हो गये। दिव्य घोड़ोंका हाल कहकर आगे दिव्य हाथियोंका हाल कहते हैं। (ख) 'चिक्करहिं''' इति। स्वर्गका हाल कहकर अब पातालका हाल कहते हैं। पृथ्वीपर जब कोई भारी धक्का होता है तब पहले हाथियोंपर जोर पड़ता है इसीसे प्रथम हाथियोंका चिग्घाड़ना कहा करते हैं, यथा—'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे। ५। ३। ५।' 'ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे', 'चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे। ६। ९०।' तथा यहाँ 'चिक्करहिं दिग्गज'''। (ग) श्रीलक्ष्मणजीने जिनको पृथ्वीको धारण करनेकी आज्ञा दी थी, उन्हींकी दशा यहाँ लिखते हैं। आज्ञा दी थी कि पृथ्वी न डोले सो पृथ्वी डोल गयी। धीरज धरनेकी आज्ञा दी थी सो धीरज न रह गया, सब विकल हो गये। इससे जनाया कि बड़ा भारी असह्य जोर पड़ा।

नोट—१ 'घोर' से ऊँचा और भयावन जनाया और 'कठोर' से कड़ा। घोर और कठोर होनेसे स्वर्गतक ऊपर और कच्छपतक नीचे शब्द पहुँचा। कैसा घोर कठोर था यह 'चिक्करहिं दिग्गज''' से दिखाया (पाँड़ेजी)। पुनः, 'घोर' से

गम्भीर कहा और 'कठोर' से असह्य कहा। (वि० त्रि०)। २—मिलान कीजिये, हनुमन्नाटके, यथा—'पृथ्वी यान्ति विनम्रतां फणिपतेर्नम्रं फणामण्डलं विभ्रल्लुभ्यति कूर्मराजसहिता दिक्कुञ्जराः कातराः। आतन्वन्ति च बृंहितं दिशि भटैः सार्धं धराधारिणः। वेपन्ते रघुपुंगवे पुरजितः सज्जं धनुः कुर्वति॥ अंक १ श्लोक २२।' अर्थात् पृथ्वी डगमगा गयी, शेषके फणोंका समूह झुका और क्षुब्ध हो गया अर्थात् वे तड़फड़ाने लगे, कूर्मराज और दिग्गज डरकर शब्द करने लगे, पृथ्वीके धारण करनेवाले पर्वतादि काँपने लगे।

नोट—१ 'घोर कठोर रव' का वर्णन ह० नाटकमें इस प्रकार है—'त्रुट्यज्जीमधनुःकठोरनिनदस्तत्राकरोद्विस्मयं, त्रस्यद्वाजिरवेरमार्गगमनं शम्भोः शिरःकम्पनम्। दिग्दन्तिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मेलनं वैदेहीमदनं मदान्धदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम्॥ २६॥ रुन्धन्नष्टविधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशाः क्रोडयन् मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः। तान्यक्ष्णा बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादयन्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्दलदलत्कोदण्डकोलाहलः॥ २७॥' अर्थात् टूटते समय कठोर शब्दने यह एक विस्मय किया कि उसने घबड़ाये हुए घोड़ेवाले सूर्यके अमार्गगमनको, शिवजीके शिरोंके कम्पको, दिग्गजोंके स्थानत्यागको, महेन्द्रादि सप्तपर्वतोंके हिलानेको, सातों समुद्रोंको मिलानेको मदान्ध प्राणियोंके नाशको और त्रिलोकीके मोहको किया॥ २६॥ ब्रह्माके आठ कानोंको रोकता हुआ, आठों दिशाओंको शब्दायमान करता हुआ, महादेवकी (भूर्जलं वह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशी रविः) अष्ट मूर्तियोंको व्याकुल करता हुआ और आठों पर्वतोंको तोड़ता हुआ और आठों सर्पोंके कुलोंको बहिरा करता हुआ ऐसा श्रीरामचन्द्रजीकी भुजाओंके बलसे तोड़े हुए धनुषका कोलाहल भयानक प्रकट हुआ।'—(मजरत्न भट्टाचार्यजीकी टीकासे)। ये सब भाव उपर्युक्त चौपाई और छन्दमें आ जाते हैं। २—'रबिबाजि तजि मारग चले।''''सकल बिकल' के सम्बन्धसे धनुष टूटनेके शब्दकी अतिशय भीषणताकी बड़ाई करना। सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है—(वीर)।

सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

सो०—संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहि मोहबस॥ २६१॥

अर्थ—सुर, असुर और मुनि कानोंमें हाथ दिये (लगाये) हुए सब-के-सब व्याकुल हो विचारने लगे कि (जान पड़ता है कि) रामचन्द्रजीने धनुष तोड़ा है। तुलसीदास (कहते हैं कि विचार निश्चय करते ही सभी) जय-जयकार करने लगे (श्रीरामजीकी जय हो, जय हो, ऐसे वचन उच्चारण करने लगे)। शंकर-धनुषरूपी जहाज और सारा समाज जो उसपर प्रथम ही अज्ञानवश चढ़ा था रघुबरबाहुबलरूपी समुद्रमें डूब गया॥ २६१॥

टिप्पणी—१ (क) सुर, असुर, मुनि सभी रंगभूमिमें आये हुए हैं, यथा 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥' ये सब रंगभूमिमें हैं, बहुत निकट हैं, इससे शब्द बिल्कुल कानके पास होनेसे सह न सके, व्याकुल हो गये। सुना नहीं जाता, इसीसे कान हाथोंसे बन्द कर लिये। (ख) 'सकल बिकल''''', सब व्याकुल हो गये; इसीसे इस बातका ज्ञान न रह गया कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है। यथा 'प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा। भए बधिर ब्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा॥ ३। १८।' इसीसे सब विचार करते हैं कि बिजली चमकी, घोर शब्द हुआ, कहीं वज्रपात तो नहीं हुआ? फिर सोचे कि वज्रपात नहीं है क्योंकि आकाश निर्मल है, मेघ नहीं हैं। पुनः विचार किया कि पृथ्वी हिली है, भूकम्प हुआ है, कहीं पहाड़ आदि तो नहीं गिरे जिससे शब्द हुआ? इत्यादि विचार करते हुए सोचे कि पहाड़ आदिके गिरनेसे भी ऐसा घोर कठोर शब्द नहीं हो सकता; श्रीरामचन्द्रजी धनुष उठाने गये थे, अवश्य ही उन्होंने उसे तोड़ा है उसीसे यह सब उत्पात हुआ। बिना धनुष टूटे ऐसा घोर कठोर शब्द नहीं हो सकता। 'बिचारहीं' से जनाया कि सभी ऐसे व्याकुल थे कि विचार करनेपर धनुषका टूटना जान पाये। अनेक उपमेयोंका एक धर्म 'विकलता' कथनमें 'प्रथम तुल्ययोगिता' अलंकार है। [सुर, असुर और मुनि जो उस शब्दके स्पन्दन ग्रहण करनेमें समर्थ थे, वे भी शब्दकी कठोरता न सह सके, विकल हो गये, अपने कानोंको मूँद लिया। (वि० त्रि०)]

प० प० प्र०—'जयति बचन उचारहीं' का थोड़ा-सा नमूना देखिये—'जय जय रघुबर जन भयभंजन। जय रघुबीर शंभु धनुभंजन॥ जय रघुबीर भूपमदमर्दन। विश्वविजय यश जानकि अर्जन॥ जनक भूप परितापहरण जय। नगर नारि नर सुखद जयति जय॥ कोसलपति जय दशरथनंदन। जय जय कौशिक मुनि मन रंजन॥ नीरज नील सुकोमल जय जय। रामचंद्र जय सीतापति जय॥ जय जय लोक बिलोचन सुखकर। जय जय मोह बिभंजन भवहर॥ बाल वृद्ध नरनारि चित्तहर। प्रज्ञा प्रेरक जय जय रघुबर॥' (गूढ़ार्थचन्द्रिकासे)।

२ (क) 'कोदंड खंडेउ राम०' इति। जब शब्दकी प्रबलता निवृत्त हुई तब विचार आया कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है। इसीसे भारी शब्द हुआ है। विचार करनेपर धनुषका तोड़ना निश्चय हुआ, क्योंकि उसका उठाना, चढ़ाना, खींचना कुछ भी आँखोंसे नहीं देखा है। (ख) 'जयति बचन उचारहीं।' श्रीरामजीने बड़े उत्कर्षका काम किया, इसीसे जयजयकार करके जनाया कि 'सबसे उत्कर्ष बर्तो अर्थात् सबसे ऊँचे बने रहो' यही 'जय' शब्दका अर्थ है। (ग) असुर तो श्रीरामजीके शत्रु हैं, उन्होंने जय कैसे बोली? इसका उत्तर यह है कि वीरकी वीरता देखकर वीर प्रसन्न होकर जय बोलते हैं। यथा 'संभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावन हन्यो। महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहँ जय जय भन्यो॥' यहाँ देवता रावणकी जय बोलते हैं, जो देवताओंका शत्रु है। (घ) ☞ 'तुलसी जयति···' इति। देखिये कैसे मौकेसे ग्रन्थकार भी जय बोलनेमें शामिल हो गये।

३—'संकरचाप जहाज···' इति। (क) चाप और जहाजका रूपक प्रथम ही कह आये, वहीं उसके सब अङ्ग वर्णन कर आये, इसीसे यहाँ पुनः विस्तार नहीं किया। डूबना कथन करना बाकी रह गया था क्योंकि तब डूबा तो था नहीं अब जब डूबा तब उसे कहा। (ख) 'संकर' का भाव कि शंकरजी सबके कल्याणकर्त्ता हैं, उनका यह धनुष है; इसने भी सबका कल्याण किया। सबके संशय, सोच, अज्ञान इत्यादिको हर लिया, अब श्रीरामजानकीजीका विवाह होगा जिससे सबका कल्याण है—जनकपुरवासियोंका, अवधवासियोंका, देवताओंका, राक्षसोंका और सारी सृष्टिका। और स्वयं रघुबरबाहुबलसागरमें डूबा, इससे अपना भी कल्याण किया यथा 'तद् ब्रह्ममातृवधपातकि मन्मथारिक्षत्रान्तकारिकरसंगमपापभीत्या। ऐशं धनुर्निजपुरश्चरणाय नूनं देहं मुमोच रघुनन्दनपाणितीर्थे॥ हनु० ना० १। २५।' अर्थात् शिवजीके इस धनुषने ब्रह्माका शिर काटा (जब वे मृगरूप होकर मृगिनी सरस्वतीके पीछे दौड़े थे), परशुरामद्वारा माताका शिर काटा, अतः वह पातकी हो गया। शिवजी तथा परशुरामके हाथके संगरूपी पापके भयसे प्रायश्चित्त करनेके लिये ही उसने श्रीरामचन्द्रजीके कररूपी तीर्थमें अपना शरीर त्याग दिया। (ग) 'रघुबर बाहुबल' को सागर कहनेका भाव कि सागरसे सगर है, ऐसे ही रघुबर-बाहुसे बलसागर है। (घ) 'सो' अर्थात् जो पूर्व कह आये हैं—'सब कर संसय अरु अज्ञानू' इत्यादि। (ङ) 'मोह बस' कहनेका भाव कि संशयादि सब मोहहीसे होते हैं। संशय आदि सब धनुषके सम्बन्धसे हैं, यही धनुषपर चढ़ना है। जहाजका रूपक किया, इसीसे उसपर चढ़ना कहा।

श्रीराजारामशरणजी—१ यहाँका ओजगुण विचारणीय है। और शब्दगुण (Symphony) भी। २–कहावत है कि 'बूड़ा सकल समाज' लिखनेके बाद कविकी लेखनी रुक गयी, कारण कि उसने सोचा कि रामजी भी तो उसी समाजमें हैं वे भी डूबे जाते हैं। तब हनुमान्‌जीने कहा कि जोड़ दो 'प्रथमहि चढ़े जे मोहबस' और 'चढ़े जाइ' वाला रूपक लिख ही रहे हो, प्रसंग ठीक हो जायगा। [यह किंवदन्ती बहुधा सुननेमें आयी पर यह गढ़न्त 'बूड़ा सकल समाज' पाठसे की हुई जान पड़ती है। पाठ है 'बूड़ सो सकल समाज'। ☞ 'सो' का इशारा स्वयं ही इस गढ़न्तके खण्डनको पर्याप्त है। कवि तो पूर्वसे ही रूपक बाँधते आ रहे हैं, उनकी लेखनी कब रुक सकती थी?]।

प्रभु दोउ चाप खंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥ १॥
कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन॥ २॥
रामरूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥ ३॥

अर्थ—प्रभुने धनुषके दोनों टुकड़े पृथ्वीपर डाल दिये। सब लोग देखकर सुखी हुए? श्रीरामरूप पूर्णचन्द्रको देखकर अगाध सुन्दर प्रेमरूपी जलसे भरे हुए विश्वामित्ररूपी पवित्र समुद्रमें भारी पुलकावली रूपी लहरें बढ़ने लगीं॥२-३॥

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभु दोउ चापखंड' का सम्बन्ध 'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा' से है। 'दोउ' से जनाया कि जब बीचसे तोड़ा तब दो ही खण्ड हुए, उन दोनोंको पृथ्वीपर डाल दिया। (किसी-किसी टीकाकारने तीन टुकड़े होना लिखा है। दो नीचे डाल दिये एक हाथमें लिये रहे, पर 'दोउ' शब्द उस भावका निषेध कर रहा है)। (ख) 'देखि लोग' से सूचित किया कि लेते, चढ़ाते और खींचते तो किसीने न देखा पर जमीनपर डालते सबने देखा। सबको दिखाकर जमीनपर डालनेमें भाव यह है कि यदि पृथ्वीपर डालते न देखते तो कोई-कोई अवश्य कहते कि उन्होंने पराक्रमसे धनुष नहीं तोड़ा है, किसी युक्तिसे तोड़ा है; क्योंकि धनुषको उठाते, चढ़ाते और तोड़ते तो किसीने देखा नहीं, तब कैसे प्रतीति हो कि अपने बल-पराक्रमसे तोड़ा है ? अतएव श्रीरामजी, धनुषको तोड़कर उस समयतक दोनों खण्डोंको हाथमें लिये रहे जबतक धनुषका घोर कठोर रव शान्त न हुआ, सबके सावधान हो जानेपर जब सबने हाथमें लिये देख लिया तब सबके देखते पृथ्वीपर डाला। इससे पराक्रमसे धनुष तोड़नेका सबको विश्वास हुआ, क्योंकि अपने पुरुषार्थसे न तोड़ा होता तो उसके दोनों खण्डोंको हाथमें कैसे लिये होते। (ग) 'सब भये सुखारे' इति। सब लोग जो दुखी थे, व्याकुल थे, 'जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी ॥ २५२। ७।', वे सुखी हुए। यहाँ सबका सुख एक साथ कहकर आगे सुखसे जिसकी जैसी दशा हुई वह दशा पृथक् वर्णन करते हैं। पुनः, 'एहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू ॥' इसीसे 'देखि लोग सब भये सुखारे।'

नोट—१ श्रीमान् गौड़जी कहते हैं कि 'सुर मुनि और असुरोंके विचारमें तो उसी क्षण यह बात आ गयी कि प्रभुने धनुष तोड़ा है, उसीकी यह आवाज है। यहाँ मनुष्योंकी बात है। वहाँ जो मनुष्य लोग खड़े देखते थे, उनके लिये यह आवाज तो एक क्षणके मध्यमें हुई जिससे उनकी घबराहट भी क्षणिक हुई। भुवनोंमें तो दूरीके अनुसार बहुत देरमें शब्द पहुँचा; शब्दकी गति प्रकाशकी अपेक्षा बहुत मंद है। अतः उस स्थानके देखनेवाले तो एक क्षणभरमें शब्दसे चौंक उठे, परन्तु उसी समय जब लोगोंने देखा कि धनुषके दोनों टुकड़े प्रभुने नीचे गिरा दिये, तो लोग बड़े सुखी हुए, क्योंकि उन्हें पता चला कि बिजलीकी दमक और कड़क धनुषके टूटनेसे ही हुई।'

२ ☞ गोस्वामीजीकी लिखनेकी शैली है कि जहाँ उन्हें बहुत बड़ी गम्भीरता प्रदर्शित करनी होती है वहाँ वे किसी-न-किसी प्रकार समुद्रका रूपक बाँधते हैं। विश्वामित्र एक ऋषि हैं, उनको हर्ष-विषादसे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु धनुष टूटनेसे उन्हें भी हर्ष हुआ। इसी हर्षको यहाँ गोस्वामीजीने कितनी गम्भीरतासे वर्णन किया है, यही बात देखने योग्य है।

साधारण लोगोंका वर्णन तो ऊपर चौपाईमें कर ही दिया था, सबमें वे भी आ जाते थे। फिर अलग कहनेकी जरूरत क्या थी ? विश्वामित्रके हर्षका अलग वर्णन करके गोस्वामीजीने रामजीके कामकी उत्कृष्टता ध्वनित की है। हर्ष इनको ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि इन्होंने आज्ञा दी थी, उनकी बात पूरी हुई।

३ रूपक कितना ओजगुणपूर्ण है। (Miltonic Indeed)—(लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'कौसिक रूप पयोनिधि पावन' इति। समुद्रका एक रूपक 'संकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल' इस दोहेपर समाप्त किया। अब दूसरा रूपक बाँधते हैं। समुद्रके रूपकका प्रसंग तो था ही, अब उसी प्रसंगमें दूसरा (समुद्रका) रूपक करनेमें तात्पर्य यह है कि प्रसंगसे सब बात कहना कविताकी शोभा है। (ख) सबसे प्रथम विश्वामित्रजीका सुख वर्णन किया क्योंकि सबके सुखके मूल ये ही हैं, यथा—'बार बार कौसिक चरन सीस नाइ कह राउ। यह सब सुख मुनिराज तव कृपाकटाक्ष प्रभाउ ॥' (ग) 'पयोनिधि पावन' कहनेका भाव कि लौकिक समुद्रको पृथ्वीसे कौशिकरूप पावन है क्योंकि ये एक तो विप्र हैं, दूसरे भारी तपस्वी हैं। [लौकिक समुद्र दिनविशेष, देशविशेष तथा कालविशेष छोड़कर सब देशकालमें अस्पृश्य है। यथा—'अश्वत्थसागरौ सेव्यौ न स्प्रष्टव्यौ कदाचन' इति भारते, 'विना मन्त्रं विना पर्व क्षुरकर्म विना नरैः। कुशाग्रेणापि देवेशि न स्प्रष्टव्यो महोदधिः' (स्कान्दे)। अर्थात् अश्वत्थ और समुद्रका पूजन करे, पर उन्हें छूये नहीं। मन्त्र, पर्व, क्षौरकर्म बिना, हे देवि ! कुशाके अग्रसे भी समुद्रका स्पर्श न करे। परन्तु कुशिकनन्दनका रूप पवित्र समुद्र है। (वि० त्रि०)]। (घ) 'प्रेम बारि अवगाह सुहावन' इति। भाव कि समुद्रके जलसे विश्वामित्रका प्रेम सुन्दर है क्योंकि समुद्रका जल बाहरकी सफाई करता है और प्रेमजल भीतरकी, यथा—'प्रेमभगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ कि जाई ॥' समुद्रकी लहरसे विश्वामित्रकी पुलकावली भारी है,

'बढ़त बीचि पुलकावलि भारी' । तात्पर्य कि रामजीमें प्रेमपुलकावली होना सब तीर्थोंसे अधिक है ।—यहाँ अगली अर्धालीमें 'परम्परित रूपक' है ।

३ **'रामरूप राकेस निहारी।'''** इति । (क) 'बढ़त' कहकर जनाया कि विश्वामित्रजीमें प्रेम कुछ इसी समय नहीं उत्पन्न हुआ, प्रेम तो पूर्वहीसे रहा है, इस समय पराक्रम देख अधिक हो गया । जैसे समुद्रमें जल (और लहरें तो) पहलेसे ही था पर वह पूर्णचन्द्रको देखकर अधिक बढ़ने लगता है । (ख) दोनोंका मिलान—

समुद्रका जल पावन	१	विश्वामित्रका रूप पावन
समुद्र जलसे भरा	२	कौशिकरूप प्रेमसे भरा
समुद्रका जल अथाह और सुहावन	३	कौशिकका प्रेम अथाह और सुहावन
राकेशको देख ज्वार-भाटा होता है	४	रामरूप देख पुलकावली बढ़ती है
समुद्रकी लहरें भारी	५	कौशिकजीकी पुलकावली भारी

वि० त्रि०—आज रामरूपी चन्द्र पूर्णकलासे उदित हैं । मानो धनुषरूपी राहुको जिसने राजाओंके यशरूपी चन्द्रका ग्रास किया था समरभूमिमें वध करके विजयलक्ष्मीकी शोभाको प्राप्त किये हैं । यथा—'लेहु री लोचननि को लाहु । कुँअर सुंदर साँवरो सखि सुमुखि सादर चाहु ॥ खंडि हर कोदंड ठाढ़े जानुलंबित बाहु । मुदित मन बर बदन सोभा उदित अधिक उछाहु ॥ मनहु दूरि कलंक करि ससि समर सूद्यौ राहु ।' श्रीरामरूपी अपूर्व पूर्णचन्द्रको देखकर प्रेमामृतपूर्ण समुद्ररूप कौशिकजीके शरीरमें बारंबार पुलकरूपी तरंगें उठने लगीं ।

नोट—मिलान कीजिये—'उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं' अर्थात् श्रीरामजीने उस शिवजीके धनुषको विश्वामित्रके पुलकके साथ उठाया, अर्थात् धनुष उठानेके समय आनन्दसे विश्वामित्रके रोम खड़े हो गये । (हनुमन्नाटके १–२३) ।

बाजे नभ गहगहे निसाना । देवबधू नाचहिं करि गाना ॥ ४ ॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा । प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा ॥ ५ ॥
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला । गावहिं किंनर गीत रसाला ॥ ६ ॥

अर्थ—आकाशमें नगाड़े घमाघम बजने लगे । अप्सराएँ गा-गाकर नाच रही हैं ॥ ४ ॥ ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध और मुनीश्वर प्रभुकी सराहना करते और आशीर्वाद देते हैं ॥ ५ ॥ बहुत रंग विरंगके फूल और फूलोंकी मालाएँ बरसा रहे हैं । किन्नर लोग रसीले गीत गा रहे हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) **'बाजे नभ गहगहे निसाना'** कहकर जनाया कि देवताओंके हृदयमें बहुत आनन्द हुआ क्योंकि ये 'कदरा' रहे थे कि धनुष टूटेगा या न टूटेगा, यथा—**'सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई'** । वह कायरता धनुष टूटनेपर निवृत्त हुई । इसीसे हर्षपूर्वक उन्होंने घमाघम नगाड़े बजाये । (ख) 'देवबधू' अर्थात् रम्भादिक अप्सराएँ । यथा—'रंभादिक सुरनारि नबीना' । (ग) ☛ उत्सवमें प्रथम बाजे बजते हैं, यथा—'परमानंद पूरि मन राजा । **कहा बोलाइ बजावहु बाजा ॥ १९३ । ६ ।'**, 'भएउ समउ अब धारिय पाऊ । **यह सुनि परा निसानहिं घाऊ ॥ ३१२ । ७ ।'**, इत्यादि । इसीसे प्रथम निशान बजाना लिखा तब नाचना-गाना । आगे जयमालके उत्सवमें भी प्रथम बाजे बजे, यथा—'पुर अरु ब्योम बाजने बाजे । २६५ । १ ।' (घ) ऊपर लहरोंका उठना कहा, लहरोंके उठनेमें शब्द होता है । अतः **'बढ़त बीचि''''''** कहकर **'बाजे नभ''''''** कहा । (ङ) नगाड़ोंका बजना कहा पर यह न कहा कि किसने बजाया, उसे आगे खोलते हैं—**'ब्रह्मादिक सुर'''** । अर्थात् ब्रह्मादि देवता सिद्ध मुनीश्वर ही नगाड़े बजाते हैं, प्रशंसा करते हैं, आशीर्वाद देते हैं, फूलमाला बरसाते हैं और जय बोलते हैं, यथा—'जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि **हनी । चले हरषि बरषि प्रसून निज निज लोक जय जय जय भनी ॥'**

२ (क) **'प्रभुहि प्रसंसहिं'''** इति । प्रभु समर्थको कहते हैं । प्रभु-पद देकर जनाया कि उनके सामर्थ्यकी प्रशंसा करते हैं और सामर्थ्यपर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं । पुरुषार्थकी प्रशंसा ब्रह्मादि करते हैं इससे सिद्ध हुआ कि इस धनुषके तोड़नेका सामर्थ्य सुर, नर, असुर किसीमें न था । (ख) **'देहिं असीसा'** । क्या असीस देते हैं ? यह कि बहुत काल

जिओ, सदा जयमान रहो, यथा—'तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा। चिरजिवहु जोरी चारु चार्‌यो मुदित मन सबहीं कहा ॥ ३२७। ब्रह्मादिक आकाशहीमें स्थित हैं। वहींसे आशीर्वाद दे रहे हैं। [गीतावलीके अनुसार शिव-ब्रह्मा आदि धनुर्भंगका शब्द सुनकर सब आये। यथा—'चौंके सिव बिरंचि दिसिनायक रहे मूँदि कर कान ॥ ८ ॥ सावधान ह्वै चढ़े बिमाननि चले बजाइ निसान। उमगि चल्यौ आनंद नगर नभ जयधुनि मंगल गान ॥ ९ ॥ गी० १। ८८।']। (ग) 'बरिसहिं सुमन रंग बहु माला' इति। देवता समय-समयपर फूल बरसाते रहे, यथा—'समय समय सुर बरिसहिं फूला,। जब श्रीरामजी आये तब बरसाये और जब जानकीजी आयीं तब बरसाये, यथा—'देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना ॥', 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई ॥' (पर मालाका बरसाना अभीतक न लिखा था। इससे मालूम होता है कि मालाएँ बनाये रक्खे रहे कि धनुष टूटनेपर बरसावेंगे), इस समय धनुष टूटनेपर मालाएँ बरसायीं क्योंकि यह समय और सब समयसे विशेष है, इस समय तो महामङ्गल उपस्थित है। पुनः भाव कि इस समय श्रीरामजीके गलेमें माला पड़नी चाहिये। इसीसे देवोंने फूलमाला बरसाया फूलमाला बरसाना प्रभुको माला पहनाना है। (घ) फूलमाला बरसाकर जयजयकार करते रहे जैसा आगेके 'रही भुवन भरि जय जय बानी' से स्पष्ट है। इससे सूचित किया कि यह जयमाला है। सबसे प्रथम देवताओंने जयमाल पहनाया। जब वीरको विजय प्राप्त होती है तब उसकी पूजा होती है—फूलमाला बरसाना यह देवताओंकी भक्ति और पूजा है। (ङ) 'बहु' देहली-दीपक है। (च) देववधूके गानको रसाल न कहा और किन्नरोंके गानमें 'गीत रसाला' कहा। तात्पर्य कि इनका गाना उनसे भी सुन्दर है।

रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुषभंग धुनि जात न जानी ॥ ७ ॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभु धनु भारी ॥ ८ ॥

दो०—बंदी मागध सूतगन बिरुद बदहिं मति धीर।
करहिं निछावरि लोग सब हय गय धन मनि चीर ॥ २६२ ॥

अर्थ—जय जयकारका शब्द ब्रह्माण्डभरमें छा गया। धनुषभङ्गका शब्द जाते न जाना गया (किसीने न जाना)* ॥ ७ ॥ आनन्दमें भरे हुए सब स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ कह रहे हैं कि श्रीरामजीने शंकरजीका भारी धनुष तोड़ डाला ॥ ८ ॥ धीरबुद्धि भाट, मागध और सूत लोग धीरबुद्धिसे विरदावली कह रहे हैं। सब लोग घोड़े, हाथी, धन, मणि और वस्त्र निछावर कर रहे हैं ॥ २६२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'रही' शब्दसे 'जय-जय' वाणीको स्थिरता दिखाते हैं; भुवनमें वाणी भरकर रह गयी, जाती नहीं (अर्थात् समस्त भुवनोंमें जयजयकार बहुत देरतक होता रहा। (ख) 'धनुषभंगधुनि जात न जानी'। भाव कि धनुष जब टूटा तब उसकी ध्वनिसे भुवन भर गये—'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा ॥' जब धनुर्भंगध्वनिसे भुवन खाली हों तब तो वे जय-जय वाणीसे भरें, इसीसे धनुर्भंगध्वनिका जाना कहते हैं। धनुषभङ्गध्वनिका मूल धनुष है सो न रह गया इसीसे उसकी ध्वनि भी न रह गयी और जय-जय वाणीका मूल भुवनके लोग हैं सो ये सब विद्यमान ही हैं, (घोर कठोर धनुषभङ्ग ध्वनिसे जैसे-जैसे लोग सावधान होते जाते हैं तैसे-तैसे जय-जय उच्चारण करते जाते हैं। प्रथम ब्रह्मादि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर सावधान हुए फिर नगर नरनारी।)। जयजयकार कर रहे हैं इसीसे वाणी भुवनमें भर रही है। (ग) 'जात न जानी'। भाव कि धनुषभंग ध्वनिका प्रारम्भ होना तो जाना पर वह कब बन्द हुई यह न जाना। इससे जनाया कि धनुर्भङ्ग ध्वनि पूरी तौरपर बन्द न हो पायी थी कि जयजयकी ध्वनि होने लगी जो सारे ब्रह्माण्डमें ऐसी भर गयी कि धनुर्भङ्गध्वनि उसीमें विलीन हो गयी, इसका पता ही न रह गया।

* १ श्रीपोद्दारजीका अर्थ—जिसमें धनुष टूटनेकी ध्वनि जान ही नहीं पड़ती। २—बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'कोदण्ड भंजेउ राम' यह शब्द कोदण्डहीसे निकला। उसीको सुनकर सब लोगोंमें जयजयकार हुई। धनुषभङ्गका शब्द मिटने न पाया। ३—वीरकविजी लिखते हैं कि 'धनुषभङ्गके भीषण शब्दका भय भावलोकोंमें फैलते देरी नहीं कि उत्साहपूर्ण जयजयकारका हर्षभाव प्रबल होनेसे भय रसमें लीन हो गया, सब आनन्दमें भर गये, किसीको भयका स्मरण ही न रहा। यह 'भावशान्ति' है।'

२ 'मुदित कहहिं जहँ तहँ नरनारी।···' इति। (क) ब्रह्मादिका उत्सव कहकर अब पुरनरनारीका उत्सव कहते हैं। 'मुदित' से हृदयका आनन्द कहा। हृदयका आनन्द मुखसे प्रकट करने लगे—'भंजेउ रामु···'। जैसे ब्रह्मादिक 'प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा' वैसे ही सब स्त्री-पुरुष 'मुदित कहहिं···' अर्थात् प्रशंसा कर रहे हैं। (ख) 'धनु भारी' कहनेका भाव कि रामजी अति सुकुमार हैं, वे शम्भुधनुके तोड़ने योग्य न थे। (ये वही पुरनरनारी हैं जो मञ्चोंपर बैठे हुए हैं और जिनके सम्बन्धमें पूर्व कहा गया है—'नरनारिन्ह सुर सुकृत मनाए', 'नर नारिन्ह परिहरीं निमेषे'। जहँ-तहँ अर्थात् जो जहाँ है वहीं)। आश्चर्य था इसीसे कहते हैं कि रामजीने भारी धनुष तोड़ा। पुनः भारी कारण 'शम्भु' विशेषण देकर यह बताया कि वह ईश्वरका धनुष था इसीसे भारी था, किसीके टसकाये न टसका था।

३ 'बंदी मागध सूतगन···' इति। (क) विरुदावली कथन करनेमें बन्दीगण मुख्य हैं, यथा—'तब बंदीजन जनक बोलाए। बिरिदावली कहत चलि आए॥ २४९। ७।' 'जहँ तहँ बिप्र बेद धुनि करहीं। बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं॥ २६५। ४।', 'कतहुँ बिरुद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेद धुनि भूसुर करहीं॥' इत्यादि। इसीसे इनको प्रथम कहा। विरद (वीरताका बाना) कहते हैं, क्योंकि यहाँ वीरताका काम किया है। (ख) 'मतिधीर'। भाव कि बुद्धिको धीर किये हुए हैं, पढ़नेमें जल्दी नहीं करते, समझकर पढ़ते हैं। (ग) बंदी, मागध (वंशप्रशंसक) और सूत (पौराणिक) के गण अर्थात् समूह हैं, ये सब निछावर लेनेवाले हैं, ये सब प्रशंसा कर रहे हैं, इसीसे उत्तरार्द्धमें दान देनेवाले भी 'लोग सब' बताये अर्थात् देनेवाले भी बहुत हैं। (घ) सब लोग निछावर करते और देते हैं और ये (बन्दी आदि) सब लेते हैं, यथा—'राम निछावरि लेन हित देव हठि होत भिखारी।' (ङ) 'धन' दो तरहका होता है, एक स्थावर दूसरा जङ्गम। घोड़े, हाथी जङ्गम हैं और मणि वस्त्र स्थावर हैं। दोनों प्रकारका धन निछावर करते हैं। अथवा 'धन' से अशर्फी, रुपया आदिका देना कहा। अथवा, बाजा बजानेवालोंको निछावर देते हैं—बाजेवालोंको आगे कहते हैं। (च) पुनः भाव कि बंदी आदि 'भंजेउ राम शंभु धनु भारी' यह प्रशंसा कर-करके विरदावली कहते हैं, उसी तरह सब लोग प्रशंसा करते हुए निछावर देते हैं।

नोट—'मागध, सूत' इति। ब्रह्मपुराणमें इनकी उत्पत्ति पृथुजीके 'पैतामह यज्ञ' से कही गयी है। उस यज्ञमें शोभाभिषेकके दिन सूति (सोमरस निकालनेकी भूमि) से परम बुद्धिमान् सूतकी उत्पत्ति हुई उसी महायज्ञमें विद्वान् मागधका भी प्रादुर्भाव हुआ। उन दोनोंको महर्षियोंने पृथुकी स्तुति करनेके लिये बुलाया और कहा कि 'तुमलोग इन महाराजकी स्तुति करो। यह कार्य तुम्हारे अनुरूप है और ये महाराज भी इसके योग्य पात्र हैं।' सूत और मागधने कहा कि हम महाराजका नाम, कर्म, लक्षण और यश कुछ भी नहीं जानते तब स्तुति क्योंकर करें। तब ऋषियोंने कहा कि तुम भविष्यमें होनेवाले गुणोंका उल्लेख करते हुए स्तुति करो। उन्होंने वैसा ही किया। जो-जो कर्म उन्होंने बताये उन्हींको पीछे पृथु महाराजने पूर्ण किया। तभीसे लोकमें सूत, मागध और बंदीजनोंद्वारा आशीर्वाद दिलानेकी परिपाटी चल पड़ी। विशेष अन्यत्र लिखा गया है। १९४ (६) में भी देखिये। [प्र० सं० में लिखा गया था कि भाट (बंदी) कवित्तोंमें मागध (कत्थक) पदोंमें और सूत (पौराणिक) श्लोकोंमें यश गान कर रहे हैं]।

झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई॥ १॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाए। जहँ तहँ जुबतिन्ह मंगल गाए॥ २॥
सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥ ३॥

शब्दार्थ—झाँझि (झाँझ) मँजीरेकी तरह पर उससे बहुत बड़े काँसेके ढले हुए तश्तरीकेआकारके दो ऐसे गोलाकार टुकड़ोंका जोड़ा जिनके बीचमें कुछ उभार होता है। उसी उभारमें एक छेद होता है इसके दोनों मुँहड़े चमड़ेसे मढ़े होते हैं। इसका ढाँचा पक्की मिट्टीका होता है, इससे वह मृदङ्ग कहलाता है। 'शहनाई'=बाँसुरी या अलगोज़ेके आकारका, पर उससे कुछ बड़ा; मुँहसे फूँककर बजाया जानेवाला बाजा जो प्रायः रोशनचौकीके साथ बजाया जाता है, नफीरी, तुरही 'भेरी'=बड़ा ढोल या नगाड़ा, ढका। ढोल=लकड़ीके गोल कटे हुए लम्बोतरे कुंदेको भीतरसे खोखला करते हैं और दोनों ओर मुँहपर चमड़ा मढ़ते हैं। दोनों ओरके चमड़ोंपर भिन्न प्रकारका शब्द होता है। एक ओर तो ढबढबेकी तरह गम्भीर ध्वनि निकलती है और दूसरी ओर टंकारका-सा शब्द होता है।

अर्थ—झाँझ, मृदंग, शङ्ख, शहनाई, भेरी, ढोल और सुहावने छोटे नगाड़े आदि ॥ १ ॥ बहुतसे सुन्दर बाजे सुहावने बज रहे हैं। जहाँ-तहाँ युवावस्थावाली स्त्रियाँ मङ्गल गाने लगीं ॥ २ ॥ सखियोंसहित सब रानियाँ अत्यन्त हर्षित हुईं; मानो सूखते हुए धानपर पानी पड़ गया हो ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीकी विजय हुई; इसीसे जो बाजे विजयके समय बजाये जाते हैं उन्हींका बजाना लिखते हैं। यथा 'भेरि नफीरि बाजि सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई ॥ ६। ७८।' (ख) 'सुहाई' कहनेका भाव कि ये बाजे वीररसके प्रारम्भमें वीरताको उत्तेजित करनेके लिये जोरसे बजाये जाते हैं, यथा 'पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समयके घन जनु गाजहिं ॥ ६। ७८।' यहाँ वीरताका काम हो चुका, इसीसे यहाँ जोरसे न बजकर सुहावने बज रहे हैं। (जैसे शहनाईके साथ छोटी नगड़िया रहती है वैसे ही यहाँ ढोलके साथ दुंदुभी है)। (ग) (शंका) दुंदुभी शब्द पुँल्लिङ्ग है—दुन्दुभिः पुमान् इत्यमरः। तब 'सुहाई' स्त्रीलिङ्ग कैसे कहा ? (समाधान) भाषामें बहुत पुँल्लिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्गमें बोले जाते हैं जैसे 'मृत्यु' 'अग्नि' 'शूल' वैसे ही यहाँ जानो। (नोट—श० सा० में 'दुन्दुभि'को स्त्रीलिंग ही लिखा है जब नगाड़ा या धौंसा अर्थ होता है। 'वरुण' 'विष' 'दुंदुभि-राक्षस' इत्यादि अर्थोंमें ही वह पुँल्लिङ्ग माना गया है। 'तब देवन्ह दुंदुभी बजाईं', 'मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही')। (घ) 'बाजहिं' कहकर जनाया कि धनुष टूटा तब प्रथम देवोंके नगाड़े बजे, यथा 'बाजे नभ गहगहे निसाना। २६२। ४।' उसे सुनते ही यहाँ मनुष्योंके बाजे बजने लगे, तब मंगलगान निछावर इत्यादि हुए। (ङ) 'बहु बाजने' कहकर और भी अनेक प्रकारके सभी बाजे सूचित कर दिये। (च) जब देवताओंके बाजे बजे तब देवाङ्गनाओंका नाचना-गाना लिखा, वैसे ही जब मनुष्योंके बाजे बजे तब मनुष्योंकी स्त्रियोंका गाना कहा। यहाँ राजसभा है कुलवती स्त्रियोंके नाचनेका मौका नहीं है, इसीसे इनका नाचना न कहा, केवल 'मंगल' गान करना कहा। धनुष टूटनेसे देवताओं और मनुष्यों-दोनोंको एक-सा हर्ष हुआ, इसीसे दोनोंका एक समान उत्सव लिखा। यथा—

बाजे नभ गहगहे निसाना	१	बाजहिं बहु बाजने सुहाए
देवबधू नाचहिं करि गाना	२	जहँ तहँ जुबतिन्ह मंगल गाए
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा प्रभुहि प्रसंसहिं देहि असीसा	३	मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभु धनु भारी
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला	४	करहिं निछावरि लोग सब हय गय धन मनि चीर

☞ देवता उतरकर निछावर नहीं कर सकते क्योंकि यह माधुर्यलीलाके प्रतिकूल है। आकाशसे पुष्पवृष्टि करते हैं। इसीसे मनुष्य फूल नहीं बरसाते; फूल बरसाना देवताओंका काम है। सुहाये अर्थात् श्रवणसुखदायी और सुन्दर।

वि० त्रि०—पहिले झाँझ, मृदंग बजा, फिर विजयसूचक शङ्खध्वनि हुई। शङ्ख बजते ही बाहर खबर लगी, फाटकपर शहनाई बजी तब सेनामें भेरी, ढोल और दुन्दुभी बजायी गयी।

टिप्पणी—२ (क) 'जहँ तहँ जुबतिन्ह···' का भाव कि स्त्रियाँ 'निज निज थल अनुहारि' चारों तरफ मंचोंपर बैठी हुई हैं अतएव चारों दिशाओंमें जो जहाँ बैठी हैं वहींसे मंगल-गान कर रही हैं। इसी प्रसंगमें रानियोंका सुख वर्णन करते हैं। (ख) 'सखिन्ह सहित हरषीं' कहनेका भाव कि जब रानियोंने अपनी विकलता सखियोंसे कही थी तब वे भी विकल हुईं, इसीसे दोनोंका हर्ष लिखा। पुनः भाव कि खेतीमें धानके पेड़ बहुत होते हैं, (यहाँ पूर्व ही कह आये हैं कि कृषी सूखने ही चाहती है उस कृषीके) सब सखियोंसहित रानी धानके पेड़ हैं, सब कुम्हला रही थीं सो हर्षित हुईं। सब लहलहा उठीं। (ग) ☞ जिस क्रमसे रानी, श्रीजनकमहाराज और श्रीजानकीजीका भावानुकूल श्रीरामजीको देखना पूर्व वर्णन किया था उसी क्रमसे उनका सुख वर्णन करते हैं। प्रथम रानियोंका देखना कहा था, यथा 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी'। 'सहित बिदेह' कहनेसे रानियोंकी प्रधानता हुई, इसीसे यहाँ रानियोंका सुख प्रथम कहा। सुख-वर्णनमें प्रथम स्त्रियोंका सुख वर्णन किया, यथा 'जहँ तहँ जुबतिन्ह मंगल गाए।' फिर उसी प्रसङ्गमें सखियोंसहित रानियोंका सुख वर्णन करते हुए 'अति हरषीं' कहकर जनाया कि हर्ष तो सभीको हुआ पर इनको अत्यन्त हुआ, जैसे पानी पड़नेसे सभी अन्नोंको लाभ होता है पर धानको अत्यन्त लाभ होता है (क्योंकि धानका तो वह जीवन ही है, और तो कुएँ आदिके जलसे भी हरे हो जा सकते हैं)। पुनः, 'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई ॥'; रानियाँ अति व्याकुल थीं इसीसे उनको अति हर्ष हुआ। 'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा' पूर्व कह ही आये हैं जो मोहवश शंकरचाप जहाजपर सवार था, चापके टूटते ही

वह भी डूब गया। दारुण दुःख दावानल डूबा, अतः सुख हुआ। (घ) 'सूखत धान···' में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई॥ ४॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटें। जैसे दिवस दीप छबि छूटें॥ ५॥

अर्थ—श्रीजनक महाराजने शोच त्याग सुख प्राप्त किया मानो तैरते हुए थक जानेपर वा तैरते थके हुएने थाह पा ली॥ ४॥ धनुषके टूटनेपर (सब) राजा (ऐसे) श्रीहीन (तेजरहित) हो गये, जैसे दिनमें दीपककी छवि (शोभा) जाती रहती है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) वात्सल्यमें माता प्रथम (प्रधान वा अग्रगण्य) हैं, इसीसे प्रथम श्रीसुनयनाजीका सुख वर्णन करके पीछे श्रीजनकजीका सुख वर्णन करते हैं। दूसरे माताका दर्जा पितासे बड़ा है इससे प्रथम उनका सुख कहा। (ख) 'पैरत थके···' इति। यहाँ नदी या जलाशय क्या है? तैरनेवाले तो जनकजी हैं ही, पर तैरना, थकना और थाह पाना क्या है? क्रमसे इनके उत्तर ये हैं—सोच समुद्र है। विवाहके लिये धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा करके सोचमें पड़े, यही तैरना है। प्रतिज्ञा पूरी न हुई जिससे वे पछताने लगे कि 'जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौं पन करि होतेउँ न हँसाई।२५२।६।' यही थकना है। जैसे समुद्रमें थाह मिलनेका आशा-भरोसा नहीं, वैसे ही श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे यह आशा-भरोशा न था। शोचसमुद्रमें तैरते-तैरते थक गये, वैसे ही श्रीरामजीने धनुषको तोड़ डाला जिससे सोच छूटा, सुख मिला, यही थाहका पाना है। [बाबा रामदासजीका मत है कि प्रतिज्ञा समुद्र है, सोच जल है, 'दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना।' इत्यादि तैरना है। 'लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू। सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ॥ यहाँसे थकना प्रारम्भ हो गया। 'जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौं पन करि होतेउँ न हँसाई।' यह पूरी तरह थक जाना है। श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'बुद्धिसे विचार करना कि (राजाओंसे धनुष नहीं टूटा अब हमारा) क्या कर्तव्य है।' तैरना है और 'विचार करते-करते विचारशक्तिसे रहित हो जाना और पण जानेके सोचमें पड़ जाना' थकना है।] जैसे डूबते हुएको थाह मिल जानेसे सुख होता है वैसे जनकजीको रामजीके धनुष तोड़नेपर सुख हुआ।* (ग) श्रीसुनयनाजीको धानकी और श्रीजानकीजीको चातककी उपमा दी; क्योंकि ये दोनों केवल श्रीरामजीको चाहती हैं, जैसे धान और चातकी केवल जल चाहते हैं। और, राजाको तैरते हुए थाह पाना कहा; क्योंकि राजाने प्रण किया है, वे केवल अपने प्रणकी पूर्ति चाहते हैं, यथा 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ' जैसे तैरनेवाला केवल पार पानेकी इच्छा करता है।

२ 'श्रीहत भये भूप धनु टूटे।···' इति। (क) यहाँ 'सूर्य' दिन, दीप, अन्धकार' क्या हैं? श्रीरामजी सूर्य हैं, धनुषका टूटना दिन है, राजा दीपक हैं, धनुष अन्धकार है। जैसे सूर्यसे तमका नाश वैसे ही रामजीसे धनुषका नाश। जैसे दिनमें दीपक शोभारहित वैसे ही धनुषभंग होनेसे सब राजा शोभारहित। जैसे रातमें दीपककी शोभा है वैसे ही धनुषके रहते राजाओंकी शोभा थी, तबतक किसीकी छोटाई-बड़ाई न थी, सब बराबर थे। राजाओंकी श्री दीपककी छवि है। 'दिवस दीप छबि छूटें' कहकर श्रीरामजीकी 'श्री' और राजाओंकी 'श्री' में इस प्रकारका और इतना अन्तर बताया जैसा सूर्य और दीपकमें अन्तर है। (ख) राजा बहुत हैं इसीसे 'छूटें' बहुवचन क्रिया दी। (ग) पूर्व लिखा था कि 'प्रभुहि देखि सब नृप हियँ हारे। जनु राकेस उदय भए तारे' क्योंकि तब कुछ-कुछ शोभा बनी रही थी और अब सब शोभा जाती रही, वे निस्तेज हो गये; इससे 'दिवस दीप छबि छूटें' की उपमा दी। (घ) पूर्व भी राजाओंका 'श्रीहत' होना कहा था, यथा 'श्रीहत भये हारि हिय राजा' परन्तु तबतक धनुष टूटा न था; इससे वहाँ दीपककी (वा, कोई भी) उपमा न दी थी। धनुषरूपी तमके रहते दीपककी शोभा बनी रही। धनुष टूटनेपर श्री बिलकुल नष्ट हो गयी तब दीपककी उपमा दी। (ङ) 'जनकजीका सुख कहकर सब राजाओंका हाल प्रसंग पाकर कहा। राजाके प्रसंगमें राजाका हाल कहना योग्य ही है। (च) ['श्रीहत भये=ऐश्वर्य वा तेज जाता रहा, यथा 'जस प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥' वा,=मुखद्युति कुम्हलाई, यथा 'नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।' (गी०)]। (छ) पुनः, चन्द्रमा और तारागण-

* वीरकविजी—जनकजीके हृदयमें पहिले सोच था, फिर सुख हुआ। आधार एक राजा जनक हैं, आश्रय लेनेवाले सोच, सुख भिन्न-भिन्न हैं। यह 'द्वितीयपर्याय अलंकार' है। 'पैरत थके थाह जनु पाई' में उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है)

की शोभा एक-सी है, बड़े-छोटेका भेद है। ऐसे ही राजा छोटे हैं, रामजी बड़े हैं। सूर्य और अग्निका तेज एक तरहका है, रामजी सूर्य हैं, राजा दीपक हैं। इस भेदसे यहाँ दो उपमाएँ दीं।

वि० त्रि०—प्रथम अरुणोदय कहा, यथा 'अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन जोति मलीन' तब सूर्योदय कहा—'उदित उदयगिरिमंच पर रघुबर बाल पतंग।' सूर्योदय होनेपर अब दिन कह रहे हैं कि राजा ऐसे निस्तेज पड़ गये जैसे दिनमें दीपक। भाव कि 'मंद महीपन्ह कर अभिमानू' भी उस समाजमें था जो चाप-जहाजपर चढ़े थे, सो इस समय धनुष टूटते ही वह डूब गया। उसीके साफल्यरूपसे राजाओंकी श्रीहीनता वर्णन करके कहते हैं।

सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥ ६॥
रामहि लखनु बिलोकत कैसें। ससिहि चकोर किसोरकु जैसें॥ ७॥

शब्दार्थ—किसोरक (किशोरक)=छोटा बच्चा। जैसे बाल और बालक वैसे ही किशोर और किशोरक। स्वार्थमें 'क' प्रत्यय है।

अर्थ—श्रीसीताजीका सुख किस प्रकार वर्णन किया जाय? (ऐसा जान पड़ता है) मानो स्वातीका जल पाकर चातकी (सुखी हो रही है)॥ ६॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीको कैसे देख रहे हैं, जैसे चकोरका बच्चा चन्द्रमाको ताकता है॥ ७॥

वि० त्रि०—सीताजीकी अवस्था रामजीने देखी तो ऐसी हो रही थी जैसे प्यासा बिना पानीके मर रहा हो, यथा 'तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा।' अब जैसे चातकीको स्वातीकी बूँद मिल जाय और प्यास मिटकर सुख हो वैसा सुख श्रीजनकनन्दिनीको हुआ। वर्षाके सब नक्षत्र बीत गये, चातकीको जल न मिला, उसकी प्यास बढ़ती ही गयी, वह मरणोन्मुख हो रही थी, तब स्वातीकी वर्षा हो गयी, जिसकी वस्तुतः उसे प्यास थी, अतः सीताजीके सोचके डूबनेका प्रसंग कहते हैं कि वह भी पूर्वोक्त सांयात्रिकों (पोतवणिकों) मेंसे था। यथा 'सिय कर सोच जनक पछितावा।'

टिप्पणी—१ (क) प्रथम श्रीसुनयनाजीका, फिर श्रीजनकजीका सुख कहकर अब श्रीजानकीजीका और उनके पीछे श्रीलक्ष्मणजीका सुख कहा। जैसे स्त्रियोंके प्रसंगमें स्त्रियोंका सुख और राजाके प्रकरणमें राजाका हाल कहा; वैसे ही बालकोंके प्रसंगमें बालकका सुख कहा। श्रीजानकीजी बालिका हैं और लक्ष्मणजी श्रीजानकीजीको पुत्रके समान हैं; दोनों ही बालक हैं। पुनः क्रमका भाव कि माताका गौरव पितासे अधिक है, इसीसे प्रथम श्रीसुनयनाजीका सुख कहा, तब श्रीजनकजीका। जानकीजी पुत्री हैं इससे पिताके बाद पुत्री कन्याका सुख कहा। श्रीजानकीजी लक्ष्मणजीको पुत्र-समान मानती हैं, अतः इनका सुख कहकर पुत्र लक्ष्मणका सुख कहा गया। (ख) 'बरनिय केहि भाँती' अर्थात् किसी प्रकार वर्णन नहीं करते बनता। न वर्णन कर सकनेका हेतु प्रथम ही कह चुके हैं, यथा 'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया। उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ। २४२। ६—७।, जैसे सबोंकी भावनाएँ कहीं पर सीताजीकी भावना न कह सके, वैसे ही सबका सुख कहा पर जानकीजीका सुख न कह सके।। (ग) 'सूखत धान परा जनु पानी' 'पैरत थकें थाह जनु पाई' और 'जनु चातकी पाइ जल स्वाती' ऐसी उपमाएँ देकर सूचित किया कि रानी, राजा और जानकीजी इन तीनोंको मरणान्तक्लेश रहा। यदि धनुषके तोड़नेमें किञ्चित् भी विलम्ब होता तो ये तीनों मर जाते। पुनः जैसे चातकी स्वाती छोड़ अन्य जल नहीं छूती, वैसे ही श्रीजानकीजी रामजीको छोड़ दूसरेको नहीं चाहतीं। (घ) 'जनु चातकी पाइ जल स्वाती' कहनेसे यह सूचित हुआ कि वर्णन नहीं करते बनता, इस उपमासे समझ लो कि धनुष टूटे बिना जानकीजी-को चातकीका-सा क्लेश था और धनुष टूटनेसे चातकीका-सा सुख हुआ। दुःख-सुख कहते नहीं बनता। [illegible] उपेक्षासे दिखा भर देते हैं। [नंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि द्वीप-द्वीपके अनेक राजा जो आये और धनुष उठाते थे वहीं चतुर्मासकी वर्षा है, उनकी ओर चातकीरूप श्रीजानकीजी दृष्टि नहीं देती थीं क्योंकि उनकी आशा तो स्वातीके जलरूप श्रीरामजीकी प्राप्तिमें है।' यहाँ भी उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।]

२ (क) 'ससिहि चकोरकिसोरक जैसे' इति। (सीताजीके लिये) चातकी और (लक्ष्मणजीके लिये) चकोरका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि ये दोनों श्रीरामजीके अनन्य भक्त हैं। प्रथम ही 'रामरूप राकेस निहारी' से रामजीको राकेश कह आये, वही प्रसङ्ग चला आ रहा है, इसीसे यहाँ भी चन्द्रमा और चकोरका दृष्टान्त देते हैं। (ख) रानी, राजा और जानकीजीको रामजी प्राप्त न थे, जब धनुष टूटे और सम्बन्ध हो तब वे मिलें, इसीसे 'सूखते धानमें पानी पड़ने' 'तैरतेमें

थकनेपर थाह पाने' और 'चातकीको स्वातीजलके मिलने' की उपमा दी। ये तीनों बड़े व्याकुल थे, इसीसे इनको बड़ी व्याकुलता (होनेपर क्लेश) से मिलना कहते हैं। और विश्वामित्र तथा लक्ष्मणजी दोनों रामजीके सम्बन्धी हैं और दोनोंको रामजी प्राप्त हैं, इससे इनको क्लेशसे पानेवालोंकी उपमाएँ नहीं देते। इनका प्रेममात्र रामजीमें दिखाते हैं। जैसे समुद्र और चकोरका प्रेम चन्द्रमें है। पुनः, जैसी विश्वामित्र और लक्ष्मणजीको रामरूपकी प्राप्ति है वैसे ही उपमा देकर भेद दिखाते हैं। श्रीविश्वामित्रजीको समुद्र और रामजीको राकेश कहकर सूचित किया कि जैसे समुद्रको उसका सुखदाता पूर्णचन्द्र मासभरमें मिलता है वैसे ही विश्वामित्रजीको रामजीने बहुत दिनोंमें मिलकर सुख दिया। श्रीरामजीको चन्द्र और लक्ष्मणजीको चकोर-किशोरक कहकर दिखाया कि जैसे चन्द्रमासे चकोर सदा सुख पाता है वैसे ही लक्ष्मणजी रामरूपसे सदा सुख पाते हैं। मुनिके सुख पानेमें नियम है (पूर्णिमाका नियम जैसे समुद्रको), लक्ष्मणजीके सुखमें कोई नियम नहीं है। (पुनः समुद्रकी उपमा देकर जनाया कि इनका सुख सब दिन नहीं, जैसे समुद्रमें ज्वारभाटा केवल पूर्णिमाको होता है। ये तो माँग लाये थे, ब्याहके बाद फिर साथ छूट जायगा। और लक्ष्मणजीको सदैव प्राप्त है)। (ग) लक्ष्मणजी किशोर हैं, इसीसे उन्हें चकोर किशोरक अर्थात् बालचकोर कहा। [औरोंके सम्बन्धमें उत्प्रेक्षा की और लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें उपमा कही। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।]

श्रीनंगेपरमहंसजी—'**ससिहि चकोर किसोरक जैसे**' इति। 'जैसे चकोर अग्निको भक्षण करते हैं। उनके अन्तस् (अन्तःकरण) में गरमी विशेष रहती है तो वह चन्द्रमाकी तरफ दृष्टि देते हैं। उनको चन्द्रमाकी शीतलता बहुत सुख देती है। वैसे ही राजा जनकजीके वचनोंने लखनलालजीके अन्तःकरणमें क्रोधरूप अग्नि पैदा कर दी थी। जब श्रीरामजीने धनुष-को तोड़ दिया। तब धनुषके तोड़नेकी शीतलता रामजीके द्वारा लखनलालजीके क्रोधरूप अग्निकी गरमीको शान्त कर रही है। इससे रामजीको देखनेसे लखनलालको तृप्ति नहीं होती है।'

वि० त्रि०—इस समय प्रभु धनुषभंग करके खड़े हैं, अपार शोभा है। लक्ष्मणजी यद्यपि विश्वामित्रजीके पास बैठे हैं तथापि उनकी दृष्टि रामजीपर ही है। इस समय वे इस चावसे देख रहे हैं जैसे चन्द्रको चकोर किशोर देखे।

श्रीराजारामशरणजी—अपनी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शैलीके अनुसार कविने धनुषभंगके प्रभावोंको किस विस्तार और सरसतासे सभीके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् फिर वर्णन कर दिया? चित्रण ऐसा है कि 'टाकी'—कला भी हार जायगी।

सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमनु राम पहिं कीन्हा॥ ८॥

दो०—संग सखीं सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार।
गवनी बाल मराल गति सुखमा अंग अपार॥२६३॥

अर्थ—(जब श्रीरामजीने धनुषके दोनों खण्ड पृथ्वीपर डाल दिये, मङ्गल गान आदि होने लगा, बाजे बजने लगे, इत्यादि) तब श्रीशतानन्दजीने आज्ञा दी। श्रीसीताजीने रामजीके पास गमन किया (अर्थात् उनके पास चलीं)॥ ८॥ साथमें सुन्दर चतुर सखियाँ मङ्गलाचारके गीत गा रही हैं। श्रीसीताजी बालहंसिनीकी चालसे चलीं। उनके अङ्गोंमें अपार परमा शोभा है॥ २६३॥

टिप्पणी—१ (क) 'आयेसु दीन्हा'। क्या आज्ञा दी यह यहाँ नहीं खोला; आगे जब सीताजीने पास जाकर जयमाल पहनाया तब ज्ञात हुआ कि जयमाल पहनानेकी आज्ञा दी थी। (ख) 'सतानंद आयेसु दीन्हा॥' प्रथम बार जनकजीको बुलाना लिखा गया है, यथा—'जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बोलाइ॥' अर्थात् रङ्गभूमिमें सीताजी जनकजीकी आज्ञासे आयीं और अब जयमाल पहनानेकी आज्ञा शतानन्दजीने दी, क्योंकि जयमाल पहनाना एक प्रकारसे विवाह ही है। विवाहमें पुरोहित ही प्रधान है; इसीसे यह कार्य पुरोहितकी आज्ञासे हुआ। विश्वामित्रजी इस समय श्रीरघुनाथजीके पुरोहित हैं। इसीसे धनुष तोड़नेकी आज्ञा इन्होंने दी और धनुष टूटनेपर जयमाल जनकजीके तरफसे पड़ा, इसीसे जयमालकी आज्ञा उधरके पुरोहितने दी। [या यों कहें कि यहाँ विवाह तीन प्रकारसे है—पण, जयमाल और लोकव्यवहार। विवाह पुरोहित-द्वारा होता है सो प्रतिज्ञाके विवाहमें रामजीके पुरोहितने आज्ञा दी '**उठहु राम भंजहु भवचापू**'। जयमालविवाहमें उधरके पुरोहित श्रीशतानन्दजीने आज्ञा दी। लोकव्यवहार बारात आनेपर होगा। (प्र० सं०)]।

२ (क) 'सुंदर चतुर' कहकर जनाया कि ये ही सखियाँ सदा श्रीजानकीजीके साथ रहती हैं। जब फुलवारीमें गयीं तब इनको 'चतुर सुंदर' कहा था, यथा—'संग सखीं सब सुभग सयानीं ॥ २२८ । ३ ।' सुभग सयानी=सुन्दर चतुर। फिर जब रङ्गभूमिमें आयीं तब भी इनको सुन्दर और चतुर कहा था, यथा—'चतुर सखीं सुंदर सकल सादर चलीं लेवाइ ॥ २४६ ।' इसीसे ज्ञात होता है कि तीनों बार वही सखियाँ साथ थीं। (ख) सखियोंकी चतुराई स्पष्ट है, यथा—'चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥ २६४ । ५ ।' जानकीजीकी विदेहदशा देखकर इसने जयमाल पहनानेको कहा—यह चतुरता है। फिर जब 'कोलाहल सुनि सीय सकानी' तब 'सखीं लेवाइ गईं जहँ रानी ॥ २६७ । ५ ।' सीताजीको शङ्कित जान और दुष्ट राजाओंके बीचमें जानकीजीका रहना उचित नहीं है यह समझकर वहाँसे ले गयीं, यह चतुरता है। पुनः, 'आसिष दीन्हि सखीं हरषानी। निज समाज लै गईं सयानी ॥ २६९ । ५ ।' यहाँ भी भारी भीड़से हटा ले गयीं यह चतुरता है। (ग) 'सुन्दर' और 'चतुर' कहकर सखियोंकी पूर्ण सुन्दरता कही। (घ) 'मंगलचार'=मङ्गल गीत। 'गावहिं सुंदरि मंगल गीता। लै लै नाम राम अरु सीता ॥' धनुष टूटा, यह बड़ा मङ्गल हुआ इसीसे मङ्गल गाती हैं। जब फुलवारी और रङ्गभूमिमें आयीं तब साधारण गीत गाती रहीं, यथा—'गावहिं गीत मनोहर बानी ॥' 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार' में सखियोंकी शोभा कही। 'गवनी बालमराल गति…' से सीताजीकी शोभा कही। सखियों-के अङ्गमें शोभा है और सीताजीके अङ्गमें परमा शोभा है। सखियोंकी शोभाका पार है और जानकीजीकी शोभा 'अपार' है, उसका पार नहीं है। जानकीजी बालिका हैं इसीसे बालमरालकी उपमा दी। (ङ) पहले पुरकी स्त्रियोंका मङ्गलगान कहा था, अब सखियोंका मङ्गल-गान कहा।

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छबिगन मध्य महाछबि जैसे ॥ १ ॥
कर सरोज जयमाल सुहाई। बिस्वबिजय सोभा जेहिं* छाई ॥ २ ॥
तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परै न काहू ॥ ३ ॥

अर्थ—सखियोंके मध्यमें श्रीसीताजी कैसी सोहती हैं। जैसे छबिगणके मध्यमें महाछबि सोहे ॥ १ ॥ हस्तकमलमें सुन्दर कमलका जयमाल है जिसपर विश्वविजयकी शोभा छायी हुई है ॥ २ ॥ तनमें संकोच है और मनमें परम उत्साह है। गूढ़ प्रेम किसीको लख नहीं पड़ता ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'सखिन्ह मध्य सिय…' इति। (क) सखियाँ छबिकी मूर्ति हैं। सखि-गण छबि-गण हैं। श्रीसीताजी महाछबिकी मूर्ति हैं। फुलवारीमें श्रीजानकीजीकी शोभासे सखियोंकी शोभा कही थी, यथा—'सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥ २३० । ७ ।' और यहाँ छबिगण मध्य कहकर सखियोंकी शोभासे श्रीजानकीजीकी शोभा कहते हैं। इस तरह अन्योन्य शोभा वर्णन की। (ख) ऊपर दोहेके पूर्वार्द्धमें सखियोंकी और उत्तरार्धमें सीताजीकी शोभा वर्णन की, अब दोनोंको समेटकर यहाँ उसीका दृष्टान्त देते हैं। (ग) श्रीजानकीजीकी सब प्रकारकी शोभा कहते हैं—'गवनी बालमराल' से गतिकी 'सुखमा अंग अपार' से अङ्गोंकी, 'छबिगन मध्य महाछबि' से सखियोंके मध्यकी, 'करसरोज जयमाल' से जयमाल-द्वारा, 'तन सकोच मन परम उछाहू' से लाजकी और 'गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू' से पतिमें प्रेमकी शोभा कही।

२—'कर सरोज जयमाल…' इति। (क) जयमाल 'सुहाई' है। जिस वस्तुकी है उस वस्तुसे तथा बनावटसे 'सुहाई' है—यह जयमालके स्वरूपकी सुन्दरता कही। 'विश्वविजय शोभा०', यह गुणकी सुन्दरता कही। 'कर सरोज' कहकर संगकी सुन्दरता कही, अर्थात् श्रीजानकीजीके हस्तकमलका ही सङ्ग है इससे भी सुन्दरताको प्राप्त हो रही है। इस तरह रूप, गुण और सङ्गसे 'सुहाई' है। (ख) पुनः यहाँ सरोजसे करकी शोभा, करमें जयमालकी और जयमालमें विश्वविजयकी शोभा कहते हैं। तात्पर्य कि जो विश्वको विजय करे वह यह माला पहिने। बन्दीगणकी घोषणा भी ऐसी ही थी, यथा—'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही ॥' (ग) 'छाई' का भाव कि विश्वमें अनेक आभूषण और वस्त्र आदि

* पाठान्तर—'जनु छाई'—ना० प्र०। 'जेहिं' एक तो सबसे प्राचीन १६६१ की प्रतिका पाठ है; दूसरे विश्वभरके योद्धा धनुष तिलभर हटा भी न सके और उसीको श्रीरामजीने उठाकर तोड़ डाला; अतएव इस जयमालमें 'विश्वविजयश्री' है ही। अतः 'जेहिं' पाठ उत्तम है।

अनेक वस्तुएँ हैं पर किसीमें विश्वविजयकी शोभा नहीं है और जयमालमें विश्व-विजयकी शोभा छा रही है। यथा—गीतावल्याम्—'जयमाल जानकी जलज कर लई है। सुमन सुमंगल सगुन की बनाई मंजु मानहुँ मदन माली आपु निरमई है॥ गी० १। ९४।'

वि० त्रि०—महाछबि कहकर उनका 'आदि शक्ति छबि निधि जगमूला' होना द्योतित किया। जिनके गलेमें माला पड़नेवाली है, उनके विषयमें कविने कहा है कि 'मनहु मनोहरता तन छाये' इसलिये मालाके विषयमें भी कह रहे हैं कि 'बिश्वबिजय सोभा जेहि छाई'।

नोट—गौड़जी लिखते हैं कि 'मनसा बिश्व बिजय कहँ कीन्हीं', 'विश्व बिलोचन चोर' आदिसे मिलान करनेसे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ 'विश्वविजय' से स्वयं घरमें आये हुए सुर, असुर, नाग, मनुष्यादि इन सबोंपर ही विजय नहीं अभिप्रेत है बल्कि भगवान्‌पर भी सीताजीकी विजय, अथवा सीताजीपर भगवान्‌की विजय भी अभिप्रेत है, क्योंकि दोनों ही दशाओंमें विश्वपर ही विजय है।'

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—वीररसका विश्वविजय पहले लिख, अब उसकी शोभा 'शृङ्गारमें' लिखते हैं। अंग्रेजीमें भी कहावत है 'वीर ही सुन्दर जोड़ियाँ पानेके अधिकारी होते हैं।'

टिप्पणी—३ (क) 'तन सकोचु···'। अर्थात् मनमें तो दर्शनका उत्साह है पर शरीरसे संकोच हो रहा है, यथा—'पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मन सकुचैन'। (ख) 'गूढ़ प्रेम···' प्रेम गुप्त किये हुए हैं, लाजके मारे किसीको उसका पता नहीं चल सकता, यथा—'सियराम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै। मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै॥ ३२३॥' (जनक महाराजका भी गूढ़ प्रेम था, यथा—'जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।' ये उन्हींकी बेटी हैं' अतः उन्हें भी गूढ़ प्रेम है। (वि० त्रि०)। (ग) यहाँ श्रीसीताजीके तन, मन और वचनका हाल कहते हैं। तनमें सकुच है, मनमें उछाह है और वचनसे कुछ कहती नहीं, इसीसे प्रेम गुप्त है। अथवा, वचन कुछ बोलती नहीं, इससे वचनका हाल न कहा। [☞ दो विरोधी भावोंको किस सुन्दरतासे निबाहा है! सच है जो किसीको लख न पड़े उसे कवि (क्रान्ति तथा सूक्ष्मदर्शी) ही देख सकता है।]

वीरकविजी—'तन सकोच' अर्थात् शरीर लज्जासे सिकुड़ रहा है। मनमें परम उमङ्ग है; किंतु इस गूढ़ प्रेमको तनके सिकोड़से छिपाना 'अवहित्थ संचारी भाव' है। २—'रहि जनु चित्रअवरेखी' में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥ ४॥
चतुर सखीं लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥ ५॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥ ६॥

शब्दार्थ—अवरेखना (सं० अवलेखन)=लिखना, चित्रित करना। यथा—"सखि रघुबीर मुख छबि देखु। चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु॥"

अर्थ—सामने पास जाकर श्रीरामजीकी छबिको देखकर राजकुमारी श्रीसीताजी मानो चित्र लिखी-सी रह गयीं। अर्थात् एकटक खड़ी रह गयीं, मानो कोई तसवीर है॥ ४॥ देखकर चतुर सखियोंने समझाकर कहा कि सुन्दर जयमाल पहिना दो॥ ५॥ यह सुनकर उन्होंने दोनों हाथोंसे माला उठायी, प्रेमसे विवश हैं, इससे माला पहनायी नहीं जाती॥ ६॥

श्रीराजारामशरणजी—प्रकाश (छवि) के पास पहुँचनेकी चकाचौंध और फिर शरीरका स्थगित हो जाना कितने स्वाभाविक और सूक्ष्म प्रभाव हैं? हमने तो केवल कहीं-कहीं संकेत किये हैं, नहीं तो यदि सारे भावोंकी व्याख्याकी जाय तो ठिकाना ही न लगे।

टिप्पणी—१ (क) 'जाइ समीप।' भाव कि पुष्पवाटिकामें दूरसे देखा था, यथा—'लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥', इसीसे वहाँ चन्द्रचकोरीका दृष्टान्त दिया था—'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥' चकोरीको चन्द्रमा दूर पड़ता है। दूरसे देखा तब देह चकोरीकी-सी हो गयी और अब पाससे देखा तब तसवीरकी-सी रह गयीं। समीप और दूरसे देखनेमें इतना अन्तर दिखाया। अत्यन्त निकट होनेसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुन्दरतापर दृष्टि पड़ी। (ख) 'रहि'=रह गयी। भाव कि आयी थीं जयमाल पहिनाने सो भूल गयीं। (ग) 'चित्र अव-

रेखी' इति। चित्रलिखित मूर्ति जड़ होती है, वैसे ही जड़वत् हो गयीं। ☞ स्मरण रहे कि श्रीरामजीको देखकर सब लोग चित्र-लिखेसे हो गये थे, यथा—'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखेसे देखि।' वैसे ही जानकीजी भी उनको देखकर चित्र-लिखी-सी हो गयीं। जो सबकी दशा हुई वही इनकी भी हुई। रामरूप ऐसा ही है, उसे देखकर सबकी दशा ऐसी ही हो जाती है। (घ) 'अवरेखी' 'लिख अक्षर विन्यासे ', लिख धातुका अर्थ अक्षर विन्यास (अक्षरका फेंकना अर्थात् लिखना) है। लिख धातुसे अवलेख हुआ, रकार-लकारको सावर्ण्य मानकर अवरेखी कहा। (ङ) जड़दशा प्रेमकी अवधि है। सबकी यह दशा कही तो इनकी क्यों न कहते हैं ?

२ (क) 'चतुर सखीं लखि कहा बुझाई' इति। प्रेम गूढ़ है, इससे सखी प्रेमको न लख पायी, जब प्रेमकी दशा देखी कि चित्रलिखी-सी हो गयीं तब लखा। 'बुझाई' का भाव कि प्रेममें श्रीजानकीजीके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सभी विसरित हो गये, यथा—'परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ इसीसे देह-सुध न रह गयी, यथा—'तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन की, कहाँ ते आई कौन काज काके ढिग कौन ठाउँ की हैं' (गी० ७। ४)। जानकीजीकी दशा लखी इसीसे सखीको चतुर कहा। (ख) 'जयमाल सुहाई' का भाव कि यह सौन्दर्यावधि श्रीरामजीको भी शोभित करनेवाली चीज है। अथवा श्रीरामजी इसको पहिननेके योग्य हैं। अतः सुहाई कहा। वा, श्रीरामजीसे धनुष टूटा, इससे मालाकी शोभा बनी रह गयी, अतः सुहाई कहा। धनुष न टूटता तो उसकी शोभा न थी।

३ (क) 'सुनत जुगल कर माल उठाई'। भाव कि एक हाथसे माला नहीं पहनाते बनती इसीसे दोनों हाथसे उठाया। पुनः भाव कि प्रेममें इतनी शिथिल हुईं कि एक हाथसे माला नहीं उठती, अतः दोनों हाथोंसे उठायी। (प्रायः दोनों हाथोंसे माला पहिनायी जाती है। दोनों हाथोंमें लिये हैं। श्रीरामजीको पहनानेके लिये उनके सिरतक हाथोंको उठाना जरूरी है, अतः माला हाथोंसे ऊपर उठाकर ले गयीं)। (ख) 'प्रेम बिबस पहिराइ न जाई' इति। प्रथम तो जयमाल पहनानेकी ही सुध न रह गयी थी, सखीके कहनेपर सुध हुई तब पहिनानेके लिये माला उठायी तो अब प्रेमविवश होनेसे पहिनायी नहीं जाती। (ग) 'सुनतेही' जयमाल उठानेका भाव कि जानकीजीने सोचा कि यदि हम शीघ्र माला न उठावेंगी तो सखियाँ हमारा प्रेम लख लेंगी, अभी तो लज्जावश प्रेमको छिपाये हुए हैं। प्रेममें अंग शिथिल हो जाते ही हैं, यथा 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सिथिल सनेह सब रानी॥'; इसीसे माला पहिनायी नहीं जाती। आगे इसीकी उत्प्रेक्षा करते हैं।

श्रीयुत लाला भगवानदीनजी—गोस्वामीजीने यहाँ प्रेमके स्तम्भ और कम्प दो भावोंका दर्शन किया है। या तो हाथ काँपने लगा इससे न पहिना सकीं, अथवा हाथ स्थगित होकर रह गये। किसीका यह भी मत है कि इस समय सीताजी ६ वर्षकी हैं और रामजी १५ वर्षके हैं; अतः सीताजीका हाथ उनके सिरतक नहीं पहुँचता। वे खड़ी हैं कि वे सिर झुकावें तो हम माला डाल दें और वे सिर झुकाते नहीं, ये प्रेमकी बातें हैं।

वि० त्रि०—प्रेमाधिक्यसे अंग शिथिल हैं, पहनाना चाहती हैं, पहनाते नहीं बनता। उधर 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥' इस लाघवमें ही शोभा थी, इधर जयमाल पहनानेकी मन्थरतामें ही शोभा है, सब लोग देख लें पहनानेकी शोभा!

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि 'कविने साफ लिख दिया है कि 'प्रेमविवश होनेके कारण स्थगित हैं। तुलसीदासजीके वर्णनसे ६ वर्षकी अवस्था कदापि जान नहीं पड़ती, किसी अन्य रामायणकी बात हम कह नहीं सकते। 'कुँअरि' शब्द बड़ा ही सुन्दर है और बताता है कि यह भाव संकोच और भय प्रारम्भिक प्रेमावस्थाके हैं स्थायी नहीं।'

सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला॥ ७॥
गावहिं छबि अवलोकि सहेलीं। सिय जयमाल राम उर मेलीं॥ ८॥

अर्थ—(हाथमें माला उठाये हुए उनके हाथोंकी शोभा ऐसी हो रही है) मानो डंडी सहित दो कमल डरते हुए चन्द्रमाको जयमाल दे रहे हों॥७॥ छविको देखकर सखियाँ गाने लगीं, श्रीसीताजीने श्रीरामजीके गलेमें जयमाला डाल दी।८।

नोट—१ श्रीसीताजी जयमाल लिये हाथ उठाये खड़ी हैं, उसपर उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो नालयुक्त दो कमल चन्द्रमाको डरते हुए जयमाल पहिना रहे हैं। चन्द्रमासे भयभीत होना और उसकी विजय स्वीकार करना प्राकृतिक है। यहाँ दोनों भुजाएँ (बाहुदण्ड) कमलकी नाल (डंडी) हैं, हथेली कमल हैं, अंगुलियाँ कमलदल हैं, भुजाओंका स्तम्भित होना

कमलका सभीत होना है (हाथोंमें जयमाल होनेसे हाथ संकुचित हैं। चन्द्रमाके सामने कमल संकुचित हो ही जाता है), श्रीरामजीका मुख चन्द्रमा है। दो कमल मानो चन्द्रमाको जयमाल भेंट दे रहे हैं, चन्द्रमाके सम्मुख माला लिये खड़े हैं इस तरह जयमाल देकर मिलाप करना चाहते हैं (पं० रा० कु०)। 'यहाँ असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा' है। क्योंकि यह दृश्य कविकी कल्पनामात्र है। जगत्‌में ऐसा दृश्य दिखायी नहीं देता। कमलका डरना असिद्ध आधार है, क्योंकि वह जड़ है।' (वीरकवि)]।

२—श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि "चन्द्रमा और कमलके प्रसंगमें 'सभीत' शब्द कितना सुन्दर है, पर है उत्प्रेक्षा ही। वास्तविक कारण न तो अभी श्रीसीताजीके हृदयमें स्पष्ट हुआ है न कवि ही बताता है, केवल सुन्दर बहिरंग चित्र देता है कि कमलस्वरूपी हाथ चन्द्रमा रूपी रामके पास जानेसे भयभीत हैं। वास्तविक कारण तो आगे व्यक्त होगा कि अहल्याका ख्याल आया कि कहीं वैसे ही हमें भी फिर वियोग न हो कि स्पर्शसे दिव्य लोक चले जाना पड़े।"

टिप्पणी—१ (क) चन्द्रमाके सामने कमलकी शोभा नहीं रह जाती, इससे पाया गया कि जानकीजीके हस्तकमलकी शोभा न रह गयी, इस दोषके मिटानेके लिये कहते हैं कि हस्तकमल 'सोहत' हैं। 'सोहत' से सूचित करते हैं कि श्रीजानकीजीने पाँचों उगलियाँ संपुटित करके जयमाल नहीं पहिनाया क्योंकि संपुटित कमलकी शोभा नहीं होती। तीन ही अंगुलियोंसे उठाकर उन्होंने जयमाल पहिनाया और सब अंगुलियाँ खुली रहीं। इसीसे विकसित कमलकी तरह हाथ शोभित हैं। हाथ जड़ (सरीखे) हो गये हैं इसीसे बेलिकी उपमा दी। युग कमल प्रेमसे जयमाल लेकर चन्द्रमासे मिले, इसीसे चन्द्रमा प्रसन्न हो गये और कमलको संपुटित न किया, वैसा ही विकसित रहने दिया। (ख) 'सभीत' का भाव कि कमल भयसहित चन्द्रमाकी शरणमें आया। भयसहित शरणमें जानेसे अभयत्व प्राप्त होता है। इसीसे शरणागतिमें भयसहित शरणमें जानेकी आवश्यकता बतायी गयी है। यथा '**जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥**' '**जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥**' इत्यादि। सभीत जल्दी शरणमें नहीं जाता, वैसे ही प्रेमसे शिथिल हाथ जल्दी नहीं उठते।

२—'**गावहिं छबि**…' इति। (क) सखियोंके कहनेसे जयमाल उठाया तो पर प्रेमविवश होनेसे पहिना न सकीं, तब सखियोंने यह विचार कर कि हमारे दुबारा कहनेसे उनको संकोच होगा वे समझ जायेंगी कि उनके गुप्त प्रेमको हम लोगोंने लख लिया, फिर जयमाल गलेमें पहिनानेको न कहकर बड़ी चतुरतासे जयमाल पहिनानेके गीत गाने लगीं। यथा '**जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥**' गानेके बहाने जानकीजीको इशारा कर दिया कि माला पहिना दें। गीत सुनते ही वे आशय समझ गयीं और उन्होंने जयमाल पहिना दी।—यह अभिप्राय दरसानेके लिये प्रथम गाना कहकर तब माला पहिनाना लिखा। (ख) '**छबि देखि**' गावहिंका भाव कि अभी जयमाल पहिनाया नहीं गया है, यदि जयमाला पहिना दी होती तो जयमाल देखकर गान करना लिखते जैसा देवताओंके सम्बन्धमें लिखते हैं, यथा '**रघुबर उर जय माल देखि देव बरषहिं सुमन।**' (ग) '**राम उर मेली**' कहकर जनाया कि भगवान् रंगभूमिमें टोपी देकर आये हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि हम धनुष तोड़ेंगे, हमारे जयमाल पड़ेगा। यथा '**पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई।**' यदि मुकुट धारण करके आते तो माला जल्दी पहनाते न बनती, मुकुटमें अटक जाती। और '**सिय जयमाल राम उर मेली**' से ज्ञात होता है कि बहुत जल्द पहिना दी।

लमगोड़ाजी—कैसे मजेकी युक्ति है। हिन्दूघरानेमें इसीसे प्रत्येक प्रसंगपर सरस गीत गाये जाते हैं।

वि० त्रि०—'**सिय जयमाल राम उर मेली**' इस पुरइनसे कली निकली 'जयमाल राम उर', अब यह कमलरूपसे आगेके दोहेमें विकसित होगी।

सो०—रघुबर उर जयमाल देखि देव बरिसहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन॥ २६४॥

अर्थ—रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीके हृदयपर जयमाल देखकर देवता फूल बरसाने लगे। सब राजा लोग सकुच गये (ऐसे दीखते हैं) मानो सूर्यको देखकर कुमुदोंका समूह संकुचित हो गया है॥ २६४॥

टिप्पणी—१ ये 'रघुवर' हैं, रघुकुलके श्रेष्ठ वीर हैं, इन जयमालके योग्य ही हैं, अतः उनके उरमें जयमाल देख योग्यता विचार और वीरोंमें उनकी जय देखकर देवताओंने फूल बरसाये। जब धनुष टूटा तब फूल और मालाएँ बरसायी थीं। 'बरिसहिं सुमन रंग बहु माला। २६२। ६।' और अब जयमाल पड़नेपर फिर फूल बरसाये। दोनों बातें अलग-अलग समयमें हुईं और दोनों उत्सवके समय हैं, अतः दोनों समय पुष्पोंकी वृष्टि की। 'समय समय सुर बरिसहिं फूला' यह पूर्व ही कह आये हैं। २—'सकुचे सकल भुआल''' इति। श्रीरामजीके हृदयपर जयमालकी अत्यन्त शोभा हो रही है, यथा—'सतानंद सिख सुनि पायँ परि पहिराई, माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है। मानस तें निकसि बिसाल सुतमालपर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है॥ ४॥ हितनि के लाह की उछाह की बिनोद मोद सोभा की अवधि नहिं अब अधिकाई है'''छबि तेहि काल की कृपाल सीता दुलह की हुलसति हिये तुलसी के नित नई है॥ (गी० ९६)। यह शोभा देख देवता तो खुशी मनाने लगे और दुष्ट राजा सूख गये। उनकी दशा 'जनु बिलोकि रबि कुमुदगन' कहकर दिखा रहे हैं। यहाँ एक ही वस्तुसे दो भिन्न-भिन्न विरोधी कार्योंका होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है और उक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा तो है ही। ३—'जनु बिलोकि' कहनेका भाव कि पूर्व श्रीरामजीका आगमन सुनकर राजा लोग कुमुद समान सकुचे थे, यथा—'अरुनोदय सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन। तिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन॥ २३८।' और अब देखकर सकुचे, कारण कि वहाँ अरुणोदय था और यहाँ सूर्यका प्रभायुक्त उदय है (अर्थात् उनका प्रताप पहले सुना था, सुनकर सकुचे थे और अब प्रत्यक्ष उनका प्रताप देख लिया कि इन्होंने धनुषको तोड़ डाला और विश्वविजय-की जयमाला पहने हुए हैं)।

वि० त्रि०—कमल खिला 'रघुबर उर जयमाल' इत्यादि। देवता ऊपरसे पुष्पवृष्टि कर रहे हैं, परंतु करकमल नहीं खिले, पहनानेपर भी जयमाल हाथसे छूटा नहीं, चन्द्रके सामने खिले भी कैसे? अतः अब कवि रामजीको 'रवि' रूपसे वर्णन करते हैं, जिसमें कमलका खिलना अर्थात् 'मालाका हाथसे छूटना द्योतित हो'।

पुर अरु ब्योम बाजने बाजे। खल भये मलिन साधु सब राजे॥ १॥
सुर किंनर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा॥ २॥
नाचहिं गावहिं बिबुध* बधूटीं। बारबार कुसुमांजलि छूटीं॥ ३॥

अर्थ—नगर और आकाशमें बाजे बजे। दुष्ट लोग उदास हो गये और सब साधु लोग (संतस्वभाववाले) शोभित अर्थात् प्रसन्न हुए॥ १॥ देवता, किन्नर, मनुष्य, नाग और मुनीश्वर 'जय हो! जय हो! जय हो!' ऐसा कह-कहकर आशीर्वाद दे रहे हैं॥ २॥ देवाङ्गनाएँ नाचती और गाती हैं। बारंबार फूलोंकी अंजलियाँ छूट रही हैं अर्थात् पुष्पाञ्जलियाँ अर्पण की जा रही हैं', अञ्जलीमें फूल भर-भरकर छोड़ रहे हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) देवताओं और मनुष्योंके बाजे बजे, देवताओंने फूल बरसाये, मनुष्योंने निछावर लुटाई, अप्सराएँ नाची गायीं, ब्रह्मादिकने स्तुति की, बंदी मागध आदिने विरदावली गायी। इत्यादि। वह उत्सव तब बंद हुआ जब जानकीजी जयमाल पहनाने लगीं। सेवकलोग छबि देखकर देह-सुध भूल गये। जब जयमाल पड़ गया तब उत्सव फिर होने लगा। (ख) जब धनुष टूटा तब 'बाजे नभ गहगहे निसाना। देवबधू नाचहिं करि गाना॥'''गावहिं किंनर गीत रसाला' अर्थात् प्रथम देवताओंके बाजोंका बजना, देवाङ्गनाओं इत्यादिका गाना-नाचना लिखा गया, उसके पीछे 'झाँझि मृदंग संख सहनाई।'''बाजहिं बहु बाजने सुहाये।' इत्यादि पुरवासियोंका बाजा बजाना गाना इत्यादि लिखा गया। और यहाँ जयमाल पड़नेपर प्रथम पुरमें बाजे बजे तब आकाशमें, यह बात 'पुर' शब्द प्रथम रखनेसे ज्ञात हुई। यह भेद भी साभिप्राय है। धनुष भंग होनेपर देवता पहले सचेत हुए, इससे वे तुरत बाजे बजाने और उत्सव मनाने लगे। मनुष्य पीछे सचेत हुए, क्योंकि वे देवताओंके समान दृढ़ नहीं होते। और जयमाल पड़नेपर उधर देवता फूल बरसाने लगे—'रघुबर उर जयमाल देखि देव बरिसहिं सुमन,' इधर बाजे बजने लगे। इसीसे बाजे बजनेमें यहाँ इनको प्रथम कहा। [प्र० सं०—यहाँ सब मनुष्य (पुरवासी) समीप हैं। इन्होंने जयमाल प्रथम देखा, इससे देवता फूल बरसानेमें ही लगे थे कि यहाँ बाजे

* सं० १६६१ में बिबिध है।

भी बजने लगे । इससे यहाँ 'पुर' को प्रथम कहा] । (ग) देवता श्रेष्ठ हैं, इससे दोनों जगह देवताओंका उत्सव लिखा । (घ) 'बाजने बाजे' । यहाँ बाजोंके नाम नहीं दिये क्योंकि धनुष टूटनेपर झाँझ, मृदंग आदि नाम दे आये हैं, वही यहाँ भी बजे। (ङ) 'खल भये मलिन साधु सब राजे' इति । इति । प्रथम कहा था कि 'सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन' । 'सकल में उत्तम, मध्यम और अधम वा साधु और असाधु सब ही आ जाते हैं, इसीसे यहाँ उसका ब्योरा करते हैं कि खल मलिन हुए, कुमुदकी तरह संकुचित हो गये, साधु राजा मलिन नहीं हुए, ये तो कमल समान शोभित हो रहे हैं, यथा—'कमल कोक मधुकर खग नाना । हरषे सकल निसा अवसाना ॥ ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे । होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ॥ १ । २३९ ।' ये सब सुखी हुए ।* 'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति,' अतः वे मलिन हुए, और 'सज्जन सकृत सिंधु सम कोई' होते हैं अतः वे शोभित हुए । (वि० त्रि०) । यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है ।

२ (क) 'सुर किन्नर' से स्वर्ग, 'नर' से मर्त्य और 'नाग' से पाताल, इस तरह तीनों लोकोंके निवासियोंका प्रभुको आशीर्वाद देना कहा । (ख) देवताओंका फूल बरसाना प्रथम ही कह चुके—'रघुबर उर जयमाल''' देव बरिसहिं सुमन। २६४ ।', जय-जयकार करना आशीर्वाद देना बाकी था, उसे अब कहते हैं । जय बोलने आदिका अधिकार सभीको है, इसीसे जय बोलना आशीर्वाद देना सुर-नर-मुनि सभीका लिखते हैं । (ग) प्रथम बार देवता आदिने श्रीरामजीकी प्रशंसा करके आशीर्वाद दिया था, यथा—'ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा । प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा ॥' और इस बार जय बोलकर आशीर्वाद देते हैं । कारण कि धनुषभंगपर प्रशंसाका समय था, धनुष किसीसे न टूटा था, इसलिये उसके टूटनेपर बलकी प्रशंसा की । और, जयमाल पड़नेपर जय-जयकारका समय था, इसीसे यहाँ 'जय' बोलकर आशीर्वाद दिया। 'जय' शब्दमें आदरकी वीप्सा है । अनेक उपमेयोंका एक धर्म 'जय जय''' कथन 'प्रथम तुल्ययोगिता' है ।

३ (क) 'बिबुध बधूटी' इति । विबुध शब्द देकर जनाया कि देवताओंमें जो विशेष पण्डित हैं उनकी ये वधू हैं, अतः नाच-गानमें ये भी बड़ी पण्डिता (कुशला) हैं । पूर्व 'देवबधू नाचहिं करि गाना' में 'देव' शब्द देकर इनके स्वरूपकी विशेषता कह आये । 'दीव्यतीति देवः' । देवता दिव्य हैं । ये उनकी स्त्रियाँ हैं अतः ये भी दिव्य हैं, स्वरूपसे सुन्दरी हैं । और 'नाचहिं गावहिं' से उनके गुणकी दिव्यता कही । [देववधुओंका ही गाना-नाचना कहा, अप्सराओंका गाना-नाचना नहीं कहा । मंगल गान कुलवधूहीद्वारा होता है, वेश्याद्वारा आज भी नहीं होता । अप्सरा स्वर्वेश्या हैं, अतः मंगलगान उनके द्वारा नहीं लिखते । (वि० त्रि०)] । (ख) 'बार बार कुसमांजलि छूटी' इति । देवनाङ्गनाएँ नाचती गाती और कुसमाञ्जलि छोड़ती हैं । बार-बार पुष्पाञ्जलि अर्पण करनेका भाव यह कि जब-जब गति पूरी होती है, और भजन (गीतका पद) पूरा होता है तब-तब पुष्पाञ्जलि छोड़ती हैं । नाचने-गानेके पश्चात् पुष्पाञ्जलि छोड़ना लिखकर यह भाव सूचित किया। पुष्पाञ्जलि देना विधि है । (ग) देवताओंका फूल बरसाना प्रथम लिख आये । इनका नाचना-गाना पीछे कहा; इससे तभी पुष्पाञ्जलि देना भी कहा । [(घ) पाँड़ेजीका मत है कि 'इनके सिरके बालोंमें कुसुमावली (फूलोंके गुच्छे) गुहे वा गुँथे हुए हैं । जब ये नृत्य-गायनमें मग्न हो जाती हैं तब वही कुसुम छूट-छूट पड़ते हैं । अतः 'बार-बार' कहा । 'बधूटी' कहकर थोड़ी अवस्थावाली जनाया ।'] ।

जहँ तहँ बिप्र बेद धुनि करहीं । बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं ॥ ४ ॥
महि पातालु नाक जसु ब्यापा । राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥ ५ ॥
करहिं आरती पुर नर नारी । देहिं निछावरि बित्त बिसारी ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—नाक=स्वर्ग । वित्त=धन संपत्ति ।

अर्थ—जहाँ-तहाँ ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे हैं, भाट लोग बिरदावली (वंश-यश उच्चारण) कर रहे हैं ॥ ४ ॥

* 'शंका—त्रेतामें खल नहीं होते, यथा—'ऐसे अधम मनुज खल सतजुग त्रेता नाहिं' । तब त्रेतामें 'खल' कैसे कहा ?' समाधान यह है कि सब त्रेतायुगोंमें खल नहीं होते । जिस कल्पमें रावण होता है उसीके त्रेतायुगमें खल होते हैं, यथा—'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा ।''' राजाके अनुकूल युगका धर्म बदलता है । रावणराज्यमें त्रेता कलियुगसमान हो गया, वही रामराज्यमें सत्ययुग हो गया, यथा—'ससि संपन्न सदा रह धरनी । त्रेता भइ सतयुग कै करनी ॥' (पं० रामकुमारजी) ।

पृथ्वी, पाताल और आकाशमें यश व्याप (फैल, समा) गया कि 'श्रीरामजीने श्रीसीताजीको ब्याहा, धनुषको तोड़ा' ॥ ५ ॥ नगरके स्त्री-पुरुष आरती उतार रहे हैं और अपनी धन-सम्पत्तिको भुलाकर निछावर कर रहे हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'जहँ तहँ…' । देवताओंका उत्सव कहकर अब मनुष्योंका उत्सव कहते हैं । वेदध्वनि सबसे श्रेष्ठ है, इसीसे प्रथम वेदध्वनि लिखी । धनुष-भङ्गके पीछे जो उत्साह हुआ उसमें वेदध्वनिका होना न लिखा और जयमाल पड़नेपर वेदध्वनिका होना लिखते हैं, कारण कि जयमाल पड़ना एक प्रकारका विवाह है और विवाहके समय वेदध्वनि हुआ करती है, अतः यहाँ वेदध्वनि कही गयी । (ख) 'जहँ तहँ' का भाव कि रंगभूमिमें जहाँ जयमाल गलेमें छोड़ा गया उस जगह जाकर वेदध्वनि नहीं की, किन्तु जो जहाँ बैठे हैं वहींसे वेदध्वनि करने लगे । (भाँवरीके समय विप्र एकत्र होकर वेदध्वनि करते हैं । यहाँ भाँवरी नहीं हो रही है; इससे यहाँ सबके एकत्र होनेकी आवश्यकता नहीं ।) सुर, किन्नर, नर-नाग और मुनीश्वर आशीर्वाद देते हैं, यह कहकर ब्राह्मणोंका वेदध्वनि करना लिखकर जनाया कि ब्राह्मणलोग वेदमन्त्रोंसे आशीर्वाद देते हैं, यथा गीतावल्याम्, 'निज निज वेदकी सप्रेम जोग-छेम-मई मुदित असीस बिप्र बिदुषनि दई है ॥ १ । ९४ ।' (ब्राह्मणलोग स्वस्तिवाचनके मन्त्र बोले । मन्त्रोंके साथ स्वर लगता है, अतः वेदध्वनि कहा । वि० त्रि०) । (ग) 'बंदी' । पूर्व यश उच्चारण करनेवालोंके नाम दे आये—'बंदी मागध सूत गन बिरुद बदहिं मति धीर ॥ २६२ ॥' यहाँ आदिका एक नाम 'बंदी' देनेसे अन्य सबोंका भी ग्रहण हो गया ।

२—'महि पाताल नाक जसु ब्यापा ।…' इति । (क) भाव कि धनुष तोड़कर श्रीजानकीजीको ब्याहनेका सामर्थ्य तीनों लोकोंमें किसीको न था । ऐसा भारी कठिन काम श्रीरामजीने कर दिखाया, यह भारी बात है; इसीसे तीनों लोकोंमें यश छा गया । मृत्युलोकमें धनुष टूटा, इसीसे प्रथम 'महि' को कहा । तीनों लोकोंमें यश कैसे व्यापा सो कहते हैं—'राम बरी सिय भंजेउ चापा ।' अर्थात् जब रामजीने धनुष तोड़ा तब धनुष-भङ्गका शब्द तीनों लोकोंमें गूँज उठा । 'रबि-बाजि तजि मारग चले' इससे स्वर्गमें, 'डोल महि' इससे पृथ्वीमें और 'कोल कूरम कलमले' इससे पातालमें यश व्याप्त हो गया । सबको मालूम हो गया कि रामजीने धनुष तोड़ा और सीताजीको व्याहा । [वा तीनों लोकोंके लोग यहाँ एकत्रित हैं इससे सर्वत्र यशका व्याप्त होना कहा । (प्र० सं०) । कारण कार्य एक साथ होना 'अक्रमातिशयोक्ति' है—(वीर)] ।

श्रीराजारामशरणजी—याद रहे कि यह कविका वर्णन है । यह आवश्यक नहीं है कि पुरवासी, देवताओं इत्यादिको स्पष्ट देख रहे हैं । टेनिसनने भी Duke of Wellington ड्यूक अफ वेलिंगटनके अन्तिम संस्कारके सम्बन्धवाली कवितामें लिखा है कि 'मनुष्ययोनिसे श्रेष्ठ योनिवाली व्यक्तियाँ भी होगी ही' ।

टिप्पणी—३ (क) 'करहिं आरती पुरनरनारी ।' पुरनरनारी आरती करते हैं, देवता नहीं; क्योंकि देवताओंके समीप आनेसे श्रीरामजीका ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है, । यथा 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ ।' राजा लोग आरती नहीं करते, क्योंकि उनको अधिकार नहीं है । पुरवासियोंको आरतीका अधिकार है । धनुष टूटे बिना पुरवासी अत्यन्त आर्त हो रहे थे । श्रीरामजीने उनके आर्तिको दूर किया इसीसे वे आरती करते हैं, यथा—'करहिं आरती आरतिहर की' । किसकी आरती करते हैं यह आगे कहते हैं 'सोहति सीयराम कै जोरी' । जोड़ीको देखकर आरती करते हैं । (ख) 'करहिं निछावरि' । जब धनुष टूटा तब निछावर किया पर आरती नहीं की थी (विचारा होगा कि जब जयमाल पड़ेगा और दोनों एकत्र होंगे तब आरती करेंगे । अतएव) जब जयमाल पड़ा और श्रीसीतारामजी एक ठौर हुए तब आरती की और आरतीके पीछे निछावर होती है, सो भी की । (ग) 'बित्त बिसारी' का भाव कि मारे आनन्दके धनका लोभ नहीं (अपने सामर्थ्यसे बाहर, अपने धनकी मर्यादाका ध्यान छोड़कर) अपने 'वित्त' से अधिक निछावर करते हैं (यह विचार नहीं रह गया कि मैं कितनी निछावर कर सकता हूँ, इतनी निछावर कर देनेसे मेरी हानि होगी) ।

सोहत सीय राम कै जोरी । छबि सिंगारु मनहुँ एक ठोरी ॥ ७ ॥
सखीं कहहिं प्रभुपद गहु सीता । करति न चरन परस अति भीता ॥ ८ ॥

अर्थ—श्रीसीतारामजीकी जोड़ी ऐसी शोभित हो रही है मानो छवि और शृङ्गार एक ही जगह एकत्र हो गये हैं ॥ ७ ॥ सखियाँ कहती हैं—'सीता ! प्रभुके चरणोंको पकड़ो (अर्थात् छुओ) ।' पर वे अत्यन्त भयके कारण चरणोंका स्पर्श नहीं करतीं ॥ ८ ॥

नोट—प्रोफे० श्रीदीनजी कहते हैं कि 'श्रीसीतारामजीकी जोड़ी एकत्र होनेपर इस प्रकार शोभित है मानो छवि (कान्ति, चमक-दमक) और शृङ्गाररस (श्यामवर्ण) एकत्र हो गये हों । अर्थात् कान्ति और श्यामताका एकत्र होना असम्भव-सी बात है, वही बात गोस्वामीजीने उत्प्रेक्षाद्वारा प्रकट की है । असम्भवको सम्भव कर दिखाया, उजियारी और अँधेरी एकत्र नहीं हो सकतीं, पर यहाँ एक ठौरी हैं, यह अद्भुतता है ।'

टिप्पणी—१ (क) 'जोरी' । 'जोड़ी कहनेका भाव कि जैसी श्रीरामजीकी शोभा है वैसी ही श्रीजानकीजीकी शोभा है । (ख) 'छबि सिंगारु मनहुँ···' मनहुँ कहनेका भाव कि छवि और शृङ्गारके देह नहीं है । इसीसे कहा कि मानो देह धर-कर मूर्तिमान् होकर एक ठौर एकत्र हुए हैं । तात्पर्य कि श्रीसीतारामजी छवि-शृङ्गारकी मूर्ति हैं । यहाँ यथासंख्यालंकार है । श्रीसीताजी छवि हैं और रामजी शृङ्गार हैं । यथा 'जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप', 'छबिगन मध्य महाछबि जैसी'। सीताजी गौरवर्णा हैं और छविका वर्ण भी उज्ज्वल है, श्रीरामजी श्याम हैं और शृङ्गार भी श्याम है, यथा 'श्यामो भवति शृङ्गारः' इति भरतः । (ग) 'मनहुँ एक ठौरी' का भाव कि छवि और शृङ्गार पृथक्-पृथक् भी सोहते हैं और जब वे एक ठौरपर हो गये तब भला उनकी शोभा कौन कह सकता है ! [इसके पहले जोड़ी नहीं कह सकते थे, 'रामरूप अरु सिय छबि देखी' कहा था । यहाँ जनकपुर है इसलिये 'सीय राम की जोड़ी' कहा, यहाँ सीताजीकी प्रधानता है । छविसे शृङ्गारकी और शृङ्गारसे छविकी शोभा होती है, दोनोंके एकत्र होनेसे महाशोभा हुई—(वि० त्रि०)] । (घ) आरती और छवि वर्णनका सम्बन्ध है । जयमालके पीछे जब आरती हुई । उस समय श्रीरामजानकीजीकी बड़ी भारी छवि हुई, इसीसे आरतीके पीछे भारी छवि वर्णन की । पुनः आरतीके पीछे छवि वर्णन करके यह भी जनाया कि आरती करते समय छवि वर्णन करते जाते हैं ।

२ (क) जयमाल पहिनाकर प्रणाम करना चाहिये, अतः कहा कि 'प्रभु पद गहु ।' 'सखीं' बहुवचन है । सखियाँ जानती हैं कि लज्जाके मारे चरणका स्पर्श नहीं करती हैं, इसीसे बहुत सखियोंने कहा । अथवा, सब सखियोंका प्रेम श्रीराम-जीमें है इससे सबने उनके चरण छूनेको कहा । [श्रीसीताजी सब कृत्य जानती हैं कि कब क्या करना चाहिये । पर वस्तुतः रीति यह है कि जैसे पुरोहित किसी भी धार्मिक कार्यमें बताता है कि अब यह कीजिये तब यजमान उस कर्मको करता है, वैसे ही यहाँ सखियाँ साथ हैं, उनका यही कर्तव्य है कि वे एक-एक कार्य बताती जायँ और तब ये करें । सखियोंने जब जयमाल पहनानेका समय देखा तब कहा कि 'पहिरावहु जयमाल सुहाई' और उन्होंने जयमाल पहनाया । वेदध्वनि आदि होने लगी, आरती की गयी, निछावरें लुटायी गयीं, तब सखियोंने चरण पकड़कर प्रणाम करनेका समय जान वैसा करनेको कहा । जैसी लोकरीति है, आचार-व्यवहार है, वैसा ही बर्ता गया । इसी तरह जब सखियोंने उनको लौटा ले जाना ठीक समझा तब माताके पास लिवा गयीं । (रा० बा० दा० मालवीय) । (ख) 'प्रभुपद'—बड़ा पुरुषार्थ किया है, अतः 'प्रभु पद' दिया । जिनका भगवान्के चरणोंमें अत्यन्त प्रेम और भक्ति है वे चरणस्पर्श करते हैं, यथा—'गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज' 'परेउ दंड इव गहि पद पानी ॥' (इति मनुः), 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना ॥' (श्रीहनुमान्‌जी), इत्यादि । अतः प्रभुका पद पकड़नेको कहती हैं । (वैजनाथजी लिखते हैं कि 'सखीने चरण पकड़नेको इसलिये कहा कि पतिके चरण सर्वदेवतीर्थमय हैं । अथवा, यह शास्त्राज्ञा है कि पतिव्रता जब पतिके सामने जाय तो हाथ जोड़कर प्रणाम करे ।') । (ग) 'करति न चरन परस ॥' सखियाँ पद 'गहने' को कहती हैं । गहना पकड़नेको कहते हैं । श्रीजानकीजी तो पकड़नेकी कौन कहे, छूती भी नहीं । (अथवा एक चरणमें 'गहना' और दूसरेमें स्पर्श न करना कहकर उसका अर्थ यहाँ 'स्पर्श करना' जनाया) । चरण न छूनेका कारण 'अतिभीता' कहा । क्या भय है, यह दोहेमें कहते हैं—'गौतमतिय···॥' इतनेपर भी श्रीजानकीजीने चरण नहीं ही छुआ, प्रणाममात्र किया, यह गीतावलीसे स्पष्ट है । यथा—'सतानंद सिख सुनि पायँ परि पहिराई माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है ॥ गी० १ । ९४ ।' [वीरकविजी लिखते हैं कि 'अति भीता' में गुणीभूत व्यंग्य है कि हाथोंमें रत्नजड़ित अँगूठियाँ पहने हूँ, वे कहीं स्त्री न हो जायँ ।]

दो०—गौतमतिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि ।
मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि ॥२६५॥

अर्थ—गौतमकी स्त्रीकी गति स्मरण कर चरणको हाथसे स्पर्श नहीं करतीं । श्रीरघुकुलभूषण रघुनाथजी उनका अलौकिक (अप्राकृत) प्रेम जानकर मनमें हँसे ॥ २६५ ॥

टिप्पणी—१ (क) गौतमतिय कहनेसे अहल्याका अच्छी तरह बोध हो गया। केवल अहल्या कहनेसे भ्रम होता कि किस अहल्याकी गतिका स्मरण किया। अहल्या संसारमें बहुत हैं। गौतम ऋषि प्रसिद्ध हैं, इनमें भ्रम नहीं हो सकता। अतः 'गौतमतिय' पद दिया। (पं० रामकुमारजी)। (ख) गौतमतियकी गति कैसे जानी? इस तरह कि किसी सखीका वचन है कि 'परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघभूरी॥' यह वचन सर्वत्र फैल गया। किसीने जानकीजीसे कहा होगा कि 'परसत पदपावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही' इसीसे हाथसे नहीं छूतीं।

२ 'गौतमतिय गति' इति। (क) 'गौतमतिय' अहल्या पाषाणसे दिव्य स्त्री हो गयी और पतिलोकको गयीं; यह अहल्याकी गति हुई। इसको याद करके चरण नहीं छूतीं अर्थात् सोचती हैं कि इन चरणोंका प्रभाव भारी है, कहीं हमको भी किसी दिव्य लोकमें न भेज दें तो हमारा श्रीरामजीसे वियोग हो जाय। बड़े भाग्यसे श्रीरामजी हमें मिले हैं। अथवा, (ख) हमारे हाथके आभूषणोंमें अनेक मणि लगे हैं, चरणके स्पर्शसे यह सब अनेक स्त्रियाँ न हो जायँ जो हमारे पूर्ण सुखकी भागिनी बनें। पुनः, (ग) 'गौतमतिय गति' से यह भी भाव निकलता है कि 'गौतमके शापसे अहल्या पाषाण हो गयी थी और गौतमजीकी अनुग्रहसे रामजीके चरणका स्पर्श हुआ जिससे वह पुनः दिव्य स्त्री हो गयी। इसी तरह हमारे हाथकी मणि भी कदाचित् किसी मुनिकी स्त्री हो और उसे उनका शाप रहा हो कि तुम पाषाण हो जाओ; फिर अनुग्रह हुई हो कि जब श्रीजानकीजी श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श करेंगी तब तुम पुनः स्त्री हो जाओगी और तुमको श्रीरामजीकी प्राप्ति होगी। अथवा, (घ) हमको ही किसी मुनिकी शाप अनुग्रह हुई हो कि जब तुम श्रीरामजीके चरण छुओगी तब तुमको दिव्य लोक मिलेगा, पतिसे वियोग होगा। इत्यादि अनेक तर्क मनमें करके चरणका स्पर्श नहीं करतीं।

नोट—१ नंगेपरमहंसजी इनमेंसे केवल सर्वप्रथम भावको कि 'वियोग हो जायगा' ठीक मानते हैं। दूसरे भावके विषयमें उनका मत है कि 'इन अर्थोंमें दोषापत्ति पायी जाती है क्योंकि यदि हाथके नग इत्यादि भूषण कारण होते तो हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागसे चरणोंको स्पर्श करतीं। भूषण चरणोंसे स्पर्श ही न हो पाता। पुनः, इन अर्थोंसे रामजीमें प्रीति भी नहीं पायी जाती और मूलमें शब्द प्रमाण है कि 'प्रीति अलौकिक जानि।' श्रीपाँड़ेजीने दोनों भाव लिखे हैं पर प्रथम भाव लिखकर वे कहते हैं कि—'अहल्या उड़ गयी, हम भी उड़ न जायँ' यह भाव ठीक नहीं है क्योंकि 'यहाँ उड़ जानेका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।' इससे उन्होंने दूसरा भाव भी लिखा। और तीसरा भाव यह लिखते हैं कि 'सीताजी रामजीके सम्मुख होकर' इस संयोगको ऐसा प्रिय जानती हैं कि उनके पदको इस भयसे स्पर्श नहीं करतीं कि स्पर्श होते ही राजमहलमें जाना पड़ेगा और इस संयोगमें वियोग होगा।' श्रीरामजीके चरणोंसे अहल्याका वियोग हुआ। इसी तरह चरणस्पर्शसे हमारा वियोग हो जायगा; इतना ही सम्बन्ध इस भावमें 'गौतम तिय गति' का जान पड़ता है। प० प० प्र० का भी यही मत है। वे कहते हैं कि 'सीताजी जानती हैं कि चरणस्पर्श किया नहीं कि यहाँसे लौटना पड़ेगा और वे तो इतनेमें प्रभु-विरह नहीं चाहती हैं, उन्हें इस रूपामृतसिंधुका पान करनेकी इच्छा है। अतः 'नहिं परसत पग पानि॥' यही अलौकिक प्रीति है। चकोरी चन्द्रामृत पानसे कब तृप्त होती है?।, वि० त्रि० कहते हैं कि भारी डर है कि चरणस्पर्शमें कहीं धूलि छू गयी तो मुझे तुरन्त दिव्यलोकको जाना पड़ेगा।

२—अहल्याकी गतिका स्मरण करती हैं कि वह 'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई' और 'सनमुख होइ कर जोरि रही' अर्थात् श्रीरघुनाथजीने जब अपने चरणकमलसे उसको स्पर्श किया तब वह पाषाणसे स्त्रीरूप हो उनकी सन्निधिमें प्राप्त हुई। परंतु जब वह स्वयं उनके चरणोंपर पड़ी तब 'गै पति लोक अनंद भरी॥' अर्थात् प्रभुकी सन्निधिको छोड़कर उसे अन्यत्र जाना पड़ा। अतः श्रीसीताजी सखियोंके कहनेपर भी स्वयं प्रभुके चरणोंका स्पर्श नहीं करतीं, क्योंकि प्रभुको छोड़कर उन्हें अन्यत्र जाना नहीं है। वे चाहती हैं कि प्रभु स्वयं अपने चरणोंसे स्पर्श करके सदाके लिये मुझे अपनी सन्निधिमें ही रक्खें। यही अलौकिक प्रीति जानकर प्रभु हँसे। (पं० शंकरदत्त पाठक)।

नोट—हनुमन्नाटकमें भी इसी सम्बन्धके कुछ श्लोक मिलते हैं। यथा—(१) 'पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेहमलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम्। त्वयि चरति विशीर्णग्रावविन्ध्याद्रिपादे कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः॥ हनु० ''' ३। १९।' (श्रीजानकीजी श्रीरामजीसे कहती हैं कि गौतममुनिने आपके चरणकमलके रजसे पाषाण देहको छोड़नेवाली धर्मपत्नी अहल्याको पाया तो बड़े-बड़े पाषाणोंवाले इस विन्ध्याचलमें आपके फिरनेसे कितने ही तपस्वी स्त्रियोंवाले हो जायँगे। अर्थात् जिस भी शिलाको आपके चरणका स्पर्श होगा वही ऋषिकी स्त्री हो जायगी)। (२) 'उपक-

तनुरहल्या गौतमस्यैव शापादियमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात्। चरणनलिनसङ्गानुग्रहं ते भजन्ती भवतु चिरमियं नः श्रीमती पोतपुत्री ॥ हनु० ३ । २० ।' (मार्गमें थकी हुई श्रीजानकीजी एक नावको देखकर कहती हैं कि गौतमजीके शापसे अहल्याके सदृश यदि यह भी शापको प्राप्त हुई कोई मुनिकी स्त्री ही हो, तो आपके चरणकमलकी कृपाका स्मरण करती हुई यह नौका चिरकाल तक हमको सुखकरी हो) । (३) 'आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुनस्तत्पादौ मणिकङ्कणोज्ज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्भुतम् ॥ हनु० १४ । ५७।' (अहल्यावच्चरणस्पर्शमात्रेण कङ्कणमणयोऽपि योषितो मा भूवन्निति भावः।) लङ्कामें अग्निपरीक्षा होनेपर अग्निशपथसे निकली हुई और अत्यन्त भक्तिको धारण करती हुई श्रीजानकीजी फिर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका स्पर्श नहीं करती हैं क्योंकि उनके हाथ मणि और कंकणसे प्रकाशित हो रहे थे, यह अद्भुत हुआ । (इस शंकासे कि कहीं अहल्याकी तरह श्रीरामपदस्पर्शसे ये कङ्कणकी मणियाँ स्त्री न हो जायँ।)

हनुमन्नाटक ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थ है और गोस्वामीजीके समयमें भी इसका प्रचार रहा है। मानसके धनुषयज्ञप्रसंग, परशुरामगर्वप्रसंग, अङ्गद-रावण-संवाद, इत्यादि तो हनुमन्नाटकसे अत्यन्त मिलते हैं अतः यह असम्भव नहीं है कि 'गौतम तिय गति···॥' यह दोहा भी हनुमन्नाटकके उपर्युक्त उद्धरणोंके आधारपर लिखा गया हो। अतः मणियोंके स्त्री होनेकी शंकावाला भाव भी इसमें अप्रामाणिक नहीं है। इस भावमें 'गौतम तिय गति' से 'अहल्याका पाषाणसे दिव्य स्त्री हो जाना' मात्र लिया जायगा।

'गौतम तिय गति' का यह अर्थ लेनेसे कि 'अहल्या चरणस्पर्शसे दिव्य हो पतिलोकको चली गयी अन्य भाव भी सुसङ्गत हैं कि—(क) चरणस्पर्शसे मैं अपने नित्य दिव्य रूपको पाकर पतिलोक (साकेत वा वैकुण्ठ) को न चली जाऊँ। प्रभुसे मेरा वियोग हो जायगा जैसे अहल्याका प्रभुसे वियोग हुआ। (ख) श्रीरामजीने अहल्याका स्पर्श स्वयं किया तब वह उनके सम्मुख रही और जब उसने स्वयं श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श किया—'बार बार हरि चरन परी' तब उसका उनसे वियोग हो गया—'गै पतिलोक'। अतः वे चरणका स्पर्श नहीं करतीं। इत्यादि।

अन्य महानुभावोंके भाव आगे दिये जाते हैं—

शीलावृत्ति—चरणस्पर्श न करनेका हेतु यह है कि 'श्रीलक्ष्मीजीने श्रीविष्णुजीके हृदयमें भृगुचरण देख उनको जयमाल पहिनाया था और ये चरण तो (विप्रपत्नी) अहल्याको स्पर्श किये हुए आते हैं। हम रमाकी खानि हैं, हमको तो रमासे कोटि गुण धर्म जानना चाहिये। यह बात श्रीसीताजीके मनकी जान अति प्रसन्न हो अलौकिक प्रीति समझ श्रीरामजी मनमें हँसे।'···'अहल्या 'गइ पतिलोक अनंद भरी'—यह संयोग है, पतिसे वियोग नहीं है। चरणस्पर्शसे हमारा वियोग होगा यह अर्थ संगत नहीं है क्योंकि चरण तो संयोगी हैं। नग सब स्त्री हो जायँगे यह भाव भी ठीक नहीं, क्योंकि सीताजी जानती हैं कि श्रीरामचरण अनेक पाषाण स्पर्श करते हैं, कोई भी तो नहीं उड़ते और अहल्या तो शापवश रही है।'

वीरकविजी—इस वाक्यमें अस्फुटगुणीभूतव्यङ्ग है कि सब आभूषण स्त्री हो गये तो वह भार्या होनेसे स्वामीकी प्रीति मुझपर न्यून रहेगी। यह व्यङ्ग कठिनतासे देख पड़ती है पर जान लेनेसे बहुत ही सरल है। 'अलौकिक' शब्दमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग' है कि पाँव पड़ते ही यहाँसे चल देना होगा।

श्रीरामबालकदासजी मालवीय—महारामायणमें कहा है कि जब सरकारकी इच्छा नरनाट्यकी हुई और उन्होंने श्रीमहारानीजीसे कहा कि मैं श्रीअवधमें श्रीदशरथमहाराजके यहाँ प्रकट होऊँगा और आप योगिराज जनक महाराजकी पुत्री बनें, तब महारानीजीने शङ्का की कि राजाओंके अगणित रानियाँ होती हैं, श्रीदशरथ महाराजके भी अगणित रानियाँ हैं; वैसे ही आप भी राजा होकर अगणित रानियोंका पाणिग्रहण करेंगे। इसपर श्रीसरकारने प्रतिज्ञा की कि मैं एकपत्नीव्रत रहूँगा। इस समय अहल्याकी गतिका स्मरणकर वे सोच रही हैं कि श्रीसरकारने अहल्याका स्पर्श करके प्रतिज्ञाका भंग किया, अतएव मैं चरणोंका स्पर्श न करूँगी। पाषाणकी स्त्रीके स्पर्शपर यह मान उनका अलौकिक प्रेम है। इसको समझकर प्रभु हँसे।

वैजनाथजी—(क) 'गौतमतिय गति सुरति करि' यह कि पाषाणकी अहल्या तो बहुत भारी थी जब वह दिव्य देह धरकर न जाने किस लोकको गयी तब मैं तो अत्यन्त कोमल हूँ, उसपर भी बाल्यावस्था है, मैं चरणस्पर्शसे यहाँ कैसे रुक सकूँगी—'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥' बड़े सुकृतोंसे प्रभुकी समीपता प्राप्त हुई जिसपर स्वर्ग, मुक्ति तथा चारों फल निछावर हैं। यह सोचकर चरण-स्पर्श नहीं करतीं। सदा-संयोगके आगे चारों पदार्थोंका अनादर किया, यह अलौकिक प्रीति है जिसे जानकर प्रभु हँसे। (ख) मणि स्त्रियाँ होकर हमारे सुखकी भागिनी न हो जायँ

यह भय मानना लौकिक प्रीति है और पातिव्रत्यका बाधक है क्योंकि पतिव्रता तो पतिके सुखमें सुख मानती है इत्यादि कारणोंसे यह भाव शिथिल है।

मा० त० वि०—(१) श्रीजानकीजी सोचती हैं कि चरणस्पर्शसे अहल्या पाषाणदेह छोड़ अपने पूर्वरूपको प्राप्त हुई वैसे ही कहीं मेरा यह नरनाट्यरूप छूटकर 'रामः सीता जानकी रामचन्द्रः नित्याखण्डो ये च पश्यन्ति धीराः ॥' वाला यथार्थ-रूप प्रकट न हो जाय (तो सब लीलाकार्य ही बिगड़ जाय)। श्रीरामजीने यह अलौकिक प्रीति देखी कि मेरी इच्छाका इनको कितना खयाल है। अथवा, (२) हनु० ना० के अनुसार भाव कि वे सोचती हैं कि कङ्कणके मणिगण स्त्रियाँ हो गयीं तो 'अनादि सूत्रमें जो अलौकिक भाव है। 'प्रकृतिपुरुषयोरन्यदनित्यं तत्त्वम्' वह न रहेगा।' अथवा, (३) 'बालविनोद-मात्र जो सीताजीकी अद्भुत प्रीति है कि मारे प्रेमके समीपसे हटना नहीं चाहतीं फिर भी चरण नहीं छूतीं कि न जाने कंकणके मणिमें जो प्रीतम प्यारेकी अद्भुत झाँकी है वह ही कहीं अहल्याकी तरह दिव्य स्त्री न हो जाय। यही अलौकिक प्रीति है। (और भी भाव उन्होंने लिखे हैं जो ठीक समझमें नहीं आते)।

वि० त्रि०—'सोहति सीय राम कै जोरी'''प्रीति अलौकिक जानि' यह अलौकिक जोड़ी है, यथा—'बानी बिधि गौरि हर सेसहू गनेस कही सही यही कोमल भुसुंडि बहुबारिषो'''सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो ॥' सखियोंके कहनेपर भी सीताजी सरकारका चरण-स्पर्श नहीं करतीं, कारण देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'गौतम तियगति सुरति करि ॥' गौतमकी स्त्री अहल्या चरणकी धूलि स्पर्श करके तर गयी, संसार-सागरके पार हो गयी, यथा—'मुनितिय तरी लगत पग धूरी' सो सीताजीको यह संदेह उठा कि कहीं मैं भी संसारसागरके पार न चली जाऊँ, तब तो सरकारके चरणोंसे वियोग हो जायगा, अतः चरणस्पर्श नहीं कर रही हैं। रघुवंशमणि इस अलौकिक प्रीतिको देखकर मन-ही-मन हँस रहे हैं। भीतर प्रीति इतनी, और बाहरकी क्रिया अटपट हो रही है, अतः हास्यरसका प्रादुर्भाव हुआ।

टिप्पणी—३(क) 'मन बिहँसे रघुबंसमनि' क्योंकि प्रकट हँसनेमें लोकलाज है। लोकलाजकी रक्षा करनेसे रघुवंशमणि कहा। भाव कि सभी रघुवंशी लोकलाज रखते हैं और ये सबमें श्रेष्ठ हैं, ये क्यों न रखें ? पुनः अलौकिक प्रीति श्रीजानकीजीके मनमें है। मनकी प्रीति जानकर मनमें विहँसे अर्थात् मनमें प्रसन्न हुए। (ख) 'प्रीति अलौकिक जानि' इति। जानकीजीकी जैसी प्रीति रामजीमें है वैसी लोकमें किसीकी नहीं है। इसीसे प्रीतिको अलौकिक कहा। (ख) हँसे कि लोग तो हमारे चरणोंका स्पर्श और दिव्य लोककी चाह करते हैं और ये हमारे निमित्त हमारे चरणका स्पर्श नहीं करतीं, ये दिव्य लोक नहीं चाहती हैं। (ग) 'जानि' कहकर जनाया कि श्रीरामचन्द्रजी जान गये, सखियाँ न जान पायीं। यदि वे जानतीं तो पदस्पर्शको न कहतीं।

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—हास्यरस कितना कोमल है! हास्यरसका माधुर्य ही यह है कि जिसपर हँसी आवे उसपर प्रेम बढ़े। मनमें हँसनेके कारण ये हैं कि—एक तो स्वयं संकोच है और लज्जा। दूसरे यह डर है कि स्पष्ट हँसनेसे सीताजीको दुःख न हो और वे लज्जित न हो जायँ, लेकिन प्रेमकी सनकवाले 'अतिभीत' पर हँसी आये बिना न रही।'

पाँड़ेजी लिखते हैं कि रामजी 'उस अलौकिक अर्थात् आदि प्रीतिको जानकर जो उनके और जानकीजीके (अन्तःकरणमें परस्पर है) अपने मनमें हँसते हैं कि सीताजी उसको भूलकर भ्रममें पड़ी हैं। अथवा, जबतक हम चरणस्पर्श न करेंगी तबतक सखियाँ हमको लौटा न ले जायँगी—यह अलौकिक प्रीति जान कर हँसे।'

तब सिय देखि भूप अभिलाषे। कूर कपूत मूढ़ मन माषे ॥ १ ॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥ २ ॥
लेहु छड़ाइ सीय* कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ ॥ ३ ॥

अर्थ—तब श्रीसीताजीको देखकर राजा ललचाये। वे क्रूर, कपूत, मूढ़ राजा मनमें 'माष' को प्राप्त हुए ॥ १ ॥ वे अभागे उठ-उठकर कवच पहनकर जहाँ-तहाँ गाल बजाने लगे ॥ २ ॥ कोई सीताको छीन (तो) लो और दोनों राज-कुमारोंको पकड़कर बाँध रक्खो ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'तब सिय देखि भूप अभिलाषे।''' इति। (क) पहले प्रण सुनकर ललचाये और 'माषे' थे, यथा 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे ॥ २५०। ५।' और जब धनुष न उठा तब सीताजीको देखकर ललचाये और 'माषे'। (ख) 'तब' अर्थात् जब जयमाल पड़ गया (और आरती निछावर आदि हो

* सं० १६६१ में 'सिय कहं' पाठ है।

चुके, स्वयंवरकी सब प्रक्रिया समाप्त हो गयी) तब 'माषे' यह कि 'हमारे आगे (सामने) कन्यासे जयमाल क्यों पहिनी ? यह कौन हैं जयमाल पहिननेवाले ! क्या हम वीर नहीं हैं । हमारे रहते ये कन्या कैसे ले जायँगे ? (ग) प्रण सुनकर जब ललचाये और माषे थे तब इनको 'भटमानी' कहा था, क्योंकि यह वीरोंका काम ही है । जब सीताजीको देखकर अभिलाषा की, तब क्रूर आदि कहा । क्रूर हैं अर्थात् अधर्मी हैं; श्रीसीताजीको देखकर अभिलाषा करना अधर्म है । पुरुषार्थहीन होनेसे 'कपूत' कहा । और धर्मात्मा राजाओंका उपदेश सुनकर भी, कि 'जगदंबा जानहु जिय सीता । जगतपिता रघुपतिहि बिचारी । भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥' ज्ञान न हुआ और न रामचन्द्रजीका भारी पुरुषार्थ देखकर ज्ञान हुआ, इससे 'मूढ़' अर्थात् अज्ञानी एवं मूर्ख कहा ।

☞ नोट—प्रथम बार 'अभिलाषे' के साथ 'भट मानी' और इस बार 'क्रूर कपूत मूढ़' विशेषण राजाओंको दिया । कारण कि वहाँ पुरुषार्थ दिखानेका काम था इससे 'मानी' कहकर एक प्रकारसे उनकी प्रशंसा की कि जिन्हें अपने पराक्रम और पुरुषार्थका अभिमान था उन्हें क्रोध आ गया, वे बंदीके वचन सह न सके । ऐसा होना वीरोंके योग्य ही है । पर जब वे पुरुषार्थहीन सिद्ध हुए, तब उनके मुँहमें स्याही लग गयी, तब भी लज्जाको ताकपर रखकर वे श्रीजानकीजीको पानेकी इच्छा कर रहे हैं । अतः यहाँ 'क्रूर कपूत मूढ़' ये गालीके शब्द उनके लिये कविने प्रयुक्त किये । श्रीरामजीके धनुष तोड़नेपर और उनको जयमाल पहनाये जानेपर श्रीजानकीजीकी चाह करना अधर्मपर पैर धरना है, अतः 'क्रूर' कहा । पुरुषार्थहीन साबित हुए, अपने बाप-दादाका नाम डुबाया, अतः 'कपूत' कहा । और, साधुराजाओंके समझानेपर उन्होंने न माना, श्रीलक्ष्मणजीके वचन सुनकर, उनका क्रोध और प्रभाव ('डगमगानि महि दिग्गज डोले ।''' 'दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला । ''सजग होहु सुनि आयसु मोरा ।') देखकर भी उनको सूझ न हुई; अतः 'मूढ़' कहा । (प्र० सं०) ।

वि० त्रि०—जनकजीके कहनेपर कि 'कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ' जो अभिलाषा दब गयी थी सो जाग उठी । सीताजीकी प्राप्ति किसीको न होगी, इस बातपर जिन्हें संतोष था, उन्हें दूसरेको उनकी प्राप्ति सह्य न हुई । उनमेंसे जो क्रूर कपूत और मूढ़ थे उन्हें मन-ही-मन आमर्ष हुआ । आमर्ष=अभिमान । बलवान्‌के सामने आमर्ष चल नहीं सकता, अतः क्रुद्ध होकर सामना करनेका तो साहस नहीं है, अतः मन-ही-मन मसोस रहे हैं ।

टिप्पणी—२ (क) 'उठि उठि अभागे' इति । बल-प्रताप-वीरता-बड़ाई तो अपनी नष्ट ही कर डाली, अब सुन्दर भावसे श्रीसीतारामजीका दर्शन भी नहीं करते । (उनसे विमुख हो रहे हैं, विरोध कर रहे हैं) अतः 'अभागे' कहा । 'पहिरि सनाह' से जनाया कि युद्ध करनेको तैयार हुए । क्योंकि सनाह युद्धमें पहना जाता है । [सनाह=कवच; ज़िरहबख्तर अस्त्र-शस्त्रसहित । यह फारसी 'सिलह' शब्द है] करतूत बिना केवल कोरी बातें करना गाल बजाना है । (ख) यहाँ राजाओंका तन, मन, वचन तीनोंसे विरोध करना (रामविमुख होना) दिखाया । 'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे । ' यह तनका, 'मन माषे' यह मनका और 'जहँ तहँ गाल बजावन लागे' यह वचनका विरोध है । इतनेपर भी श्रीरामजी क्षमा करते गये, क्योंकि बलवान् हैं और बलवान्‌की शोभा क्षमा है । (ग) मिलान कीजिये—'लाज तौ न साजि साज राजा राढ़ रोषे हैं । कहा भो चढ़ाये चाप ब्याह ह्वै है बड़े खाये, बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं ।' (गी० ९२) । गीतावलीमें अस्त्र-शस्त्र 'सेल असि' धारण करना कहा, यहाँ 'सनाह' पहिनना कहकर शस्त्रास्त्र भी धारण करनेका इशारा कर दिया है ।

३ (क) 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ' इति । 'धनुष तोड़कर विवाह करना 'पद' था सो न हुआ, अब दूसरा 'पद' निकालते हैं कि जो राजा जीते उसीकी सब वस्तु है, 'हम वीर हैं, हमारी है जानकी' यह 'लेहु छड़ाइ' का भाव है । [(ख) 'कह' इति । कह=कहँ । पोथीमें बहुत जगह 'कह' के 'ह' पर अनुस्वार नहीं दिया हुआ है, पर अर्थ 'कहँ' है, वैसे ही यहाँ भी 'कहँ' अर्थ है । 'गाल बजावन लागे' क्रिया पूर्व आ चुकी है । 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ' इत्यादि सब वचन वही 'गाल बजाना' है । पाँड़ेजी इत्यादिने 'कहँ' पाठ दिया है । 'कह' को क्रिया माननेमें यह वचन केवल एक राजाका हो जाता है; 'कोई यह कहता है' इस वचनके आगे आवश्यकता फिर इन शब्दोंकी भी पड़ती है कि 'और कोई यह कहता है' । प्रमाण यथा 'कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी । २२१ । २ ।''' 'देखि रामछबि कोउ एक कहई । २ ।''' 'कोउ कह ए भूपति पहिचाने ।''' 'कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता''' २२२ ।'''।'; पर ऐसे शब्द आगे नहीं हैं । अतः पं० रामकुमारजी इत्यादिका अर्थ ठीक जान पड़ता है ।] (ग) 'कोऊ' का भाव कि ये लड़के ही तो हैं, कर ही क्या सकते

हैं, इन्हें तो कोई भी धर-पकड़ सकता है, ये तो किसीसे भी नहीं जीत सकते। (घ) 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ' इति। ['नृपबालक' कहकर इनको शत्रु करार दिया। शत्रुको स्वतन्त्र न छोड़ना चाहिये। यह राजनीति है कि जिसका धन, स्त्री आदि अपहरण करे उसे स्वतन्त्र न रक्खे, यथा 'कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छँड़ाई॥ ३। १८।' 'मर्कट हीन करहु महि जाई। जिअत धरहु तापस दोउ भाई॥ ६। ३२।' नीति है राजाको पकड़कर कैदमें रक्खे, इसीसे दोनों भाइयोंको धर बाँधनेको कहते हैं। पुनः भाव कि बालक समझकर इनको 'धर बाँधने' को कहते हैं, बालक हैं, इनसे लड़नेकी भी आवश्यकता नहीं। इसीसे 'नृप बालक' कहा। (बैजनाथजीका मत है कि 'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।…।', ये 'क्रूर' राजाओंके वचन हैं। शत्रुको छोड़ देनेसे वह पीछे घात करता है, अतः बाँध रखनेको कहा। 'जौं बिदेहु कछु करै सहाई।…' ये वाक्य मूढ़ राजाओंके हैं।' वि० त्रि० का भी ऐसा ही मत है। 'तोरे धनुष…' ये वचन कपूतोंके हैं)।

तोरे धनुषु चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥ ४॥
जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥ ५॥

शब्दार्थ—चाँड़=स्वार्थ, चाह, यथा—'हित पुनीत स्वारथहि अरि असुद्ध बिनु चाँड़। निज मुख मानिक सम दसन भूमि-परे ते हाड़॥' (दोहावली ३३०)। चाँड़ नहिं सरई=काम न चलेगा; इच्छा न पूरी होगी। स्वार्थ नहीं सध सकता। वि० त्रि० 'चाट' अर्थ करते हैं। सरना (सं० सरण)=चलना।

अर्थ—धनुष तोड़नेसे काम न चलेगा, (भला) हमारे जीतेजी राजकुमारीको कौन ब्याह सकता है?॥ ४॥ यदि विदेह (उनकी) कुछ सहायता करें तो दोनों भाइयोंसहित उन्हें भी संग्राममें जीत लो॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व जो कहा था कि 'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा॥ २४५। ६।' उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं। ☞ जैसी बात कहते हैं, उसीके अनुकूल शब्द प्रयोग किया गया है। विवाह होना कैसा कठिन है, यह कठिनता वैसे ही कठिन शब्दोंसे दिखाते हैं। अथवा, पूर्व जो कहा था कि 'एक बार कालउ किन होऊ। सिय हित समर जितब हम सोऊ॥ २४५। ७।' उसी वचनका अभिप्राय यहाँ कहते हैं। कालसे कोई जीतता नहीं, इसीसे कहते हैं जबतक हम जीवित रहेंगे तबतक कोई सीताजीको ब्याहने न पावेगा, मरनेपर चाहे जो ले जाय। (ग) 'जौं बिदेह कछु करै सहाई' इति। 'जौं' कहनेका भाव कि हम सब राजाओंको प्रबल देखकर जनकमहाराज सहायता न करेंगे, यदि कदाचित् करें तो उन्हें भी युद्ध करके जीत लो। [रा०कुमारीका पिता विदेह है वह झगड़ेमें पड़नेवाला नहीं, पहिले ही कहता था 'कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ', वह किसीकी सहायता न करेगा, पर यदि राजकुमारीको छीनी जाते और अपने जामाता दोनों भाइयोंको बँधते देखकर कुछ चीं-चपड़ करे तो उसे भी समराङ्गणमें जीत लो। (वि० त्रि०)] 'कछु' कहनेका भाव कि जनक युद्धमें विशेष ठहर नहीं सकेंगे, उनकी सहायता 'कुछ' हीके बराबर है तात्पर्य कि उनको जीतनेमें परिश्रम नहीं होनेका। इसीसे समरमें जीतनेको कहते हैं। (घ) 'विदेह' का भाव कि उनको तो अपनी देहकी ही खबर नहीं है, वे क्या सहायता करेंगे? अतः उनकी सहायताको 'कछु' कहा। (ङ) दोनों भाइयोंको समरमें जीतना न कहकर 'धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ' ऐसा कहा था, क्योंकि वे बालक हैं, बालकोंको धर-बाँधनेमें समर नहीं होगा, इनके साथ सेना नहीं है जो ये लड़ें। विदेह राजा हैं, उनके पास सेना है। यदि वे सहायता करें तो समर होगा, अतः 'जौं बिदेह कछु करै सहाई' के सम्बन्धसे 'जीतहु समर' कहा। (च) 'दोउ भाई'। धनुष तो रामजीहीने तोड़ा है, पर बाँधने और जीतनेमें दोनों भाइयोंको कहते हैं क्योंकि भाई भाईकी सहायता करता ही है, यथा—'होहिं कुठाय सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए' लक्ष्मणजी सुबन्धु हैं, वे अवश्य सहायता करेंगे। अतः 'जीतहु दोउ भाई' कहा। (छ)—पूर्व जो कहा था कि 'सिय हित समर जितब हम सोऊ'—उसीको यहाँ चरितार्थ किया कि 'जीतहु समर'। (कोई-कोई टीकाकार 'दोउ भाई' से राजा सीरध्वज और कुशध्वज दोनों भाइयोंका अर्थ करते हैं पर यहाँ ऐसा अर्थ प्रसंगानुकूल ठीक नहीं जान पड़ता)

(वि० त्रि० का मत है कि यह मूढ़ राजाओंके वाक्य हैं। ये मूढ़ हैं, इन्हें परिज्ञान नहीं कि विदेह किसे कहते हैं। जिसे देहाध्यास नहीं उससे बढ़कर योद्धा कौन हो सकता है? ऐसा स्वयंवर रचनेके लिये देहाध्यास था, सहायताके लिये नहीं है। शिवधनु भंग करनेवालेको भाई और विदेहराज सहित जीतनेका स्वप्न देखते हैं, ऐसेके मूढ़ होनेमें संदेह क्या?)

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ा)—चित्रण कितना सजीव है ? डींग और डींगवाली प्रगतियाँ कैसे हास्यरसरूपमें दिखायी हैं ? नमूनेकी तरहपर कई नृपोंके डींगके वाक्य भी नाटकीयकलाकी शैलीके अनुसार ज्यों-के-त्यों दे दिये हैं। ('कोउ कह' में वही संकेत है)। 'गाल बजावन लागे' से स्पष्ट है कि कवि हास्यरस ही प्रधान रखता है; हाँ, प्रभाव अवश्य विभिन्न होंगे। हमारे मुँहसे निकलता है 'लेना लपकके'; लेकिन राजसभामें वैसी भाषा ठीक न होती, इसीसे वैसी सभ्य भाषामें इसी बातको कविने आगेकी चौपाइयोंमें लिखा है ? सच है भूप 'साधु' हैं इससे व्यंग भी कटु अवश्य है, पर सभ्य भाषामें। देखिये, कवि और राजाओंकी भाषाका अन्तर और कविकी कला विचारिये। क्रूर कपूत='नाक पिनाकहि संग सिधाई' इत्यादि। मूढ़='असि बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई'।

साधु भूप बोले सुनि बानी। राजसमाजहि लाज लजानी॥ ६॥
बलु प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥ ७॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। असि बुधि तौ बिधि मुहु मसि लाई॥ ८॥

अर्थ—इनके वचन सुनकर महात्मा राजा बोले—'इस राजसमाजमें तो लाज भी लजा गयी। (तुम्हारे) बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई और नाक (वा, बल प्रतापादिकी नाक) तो शिवजीके धनुषके साथ चलती हुई'॥ ७॥ वही शूरता (वीरता) क्या अब कहींसे फिर पा गये ? ऐसी बुद्धि है तभी तो विधाताने मुँहमें स्याही लगा दी है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'साधु भूप बोले सुनि बानी' इति। भाव कि साधुका स्वभाव है कि यदि उनको कोई कुछ कहे तो वे सह लेते हैं, यथा—'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥ ४। १४।', पर यदि उनके इष्टको कोई कुछ कहे तो वे नहीं सहते, क्योंकि 'हरिहर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥ ६। ३१।', इसीसे ये दुष्ट राजाओंके वचन न सह सके, बोल ही उठे। (ख) 'राजसमाजहि लाज लजानी'। भाव कि राजसमाजको लजा आनी चाहिये, सो वह तो लज्जित न हुआ, समाजको देखकर लाज ही लजा गयी। ('लाज लजा गयी' मुहावरा है। भाव कि तुम्हारे समान निर्लज्ज कोई नहीं है। यह वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यंग है।) पूर्व जो कहा था कि 'जहँ तहँ गाल बजावन लागे' उसीसे इनको कविने निर्लज कहा, यथा—'पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा॥ ६। ३२।'; गाल बजाना निर्लज्जता है। (ग) 'राजसमाजको लाज लजा गयी' यह कैसे निश्चय हुआ ? इस तरह कि राजसमाज तो निर्लज्ज है पर जिनके लाज है वे राजसमाजकी इस निर्लज्जताको देखकर लजा रहे हैं, यही लाजका लजाना है। (तात्पर्य कि राजाओंके वचन सुनकर शीलवान् राजाओंने अपना-अपना सिर नीचे कर लिया। लज्जावत् पुरुषोंको लज्जा लगी कि हम कहाँ इस निर्लज्ज समाजमें आ गये, यही मानो मूर्तिमान् लज्जाका लजा जाना है। यहाँ वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यंग्य है।)—'धर्मीके द्वारा धर्म देख पड़ता है। जब राजसमाजको लाज लजानी तब राजसमाजकी भारी निर्लज्जता हुई। भाव कि तुम लाजसे न लजाये लाज ही तुमसे लजा गयी, तुम्हारे आचरणसे राजसमाज कलंकित होता है।

२ (क) 'बल प्रताप बीरता बड़ाई।....' इति क्रमसे कहा। प्रथम बल है, बलसे प्रताप, प्रतापसे वीरता (अर्थात् प्रतापी वीर होते हैं) वीरतासे बड़ाई होती है और बड़ाईसे 'नाक' है। यहाँ 'बल' को प्रथम लिखा, क्योंकि धनुष तोड़नेमें बलका काम था, तिल भर भी न उठा सकनेसे बलका नाश हुआ। बल 'प्रतापादि' का मूल है, अतएव बलके नाशसे उन सबोंका नाश हुआ। (ख) 'नाक पिनाकहि संग सिधाई' इति। 'सिधाई' एकवचन कैसे कहा ? 'सिधानेवाले' तो 'बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई, नाक' कई हैं, अतः बहुवचन होना चाहिये था ? उत्तर यह है कि यहाँ 'बड़ाई' मुख्य है, यह शब्द सबके साथ है। अर्थात् बल, प्रताप, वीरता और नाक (इज्जत)—इन सबोंकी बड़ाई धनुषके सङ्ग चली गयी। केवल बड़ाई कहीं नहीं होती, बड़ाई किसी गुणकी या किसी वस्तुकी होती है। बलादि सबकी बड़ाई पिनाकके संग गयी। क्योंकि राजा लोग प्रथम ही इन सबोंको पिनाकके हाथ हार गये, यथा—'कीरति बिजय बीरता भारी। चले चापकर बरबस हारी॥' ये सब अब धनुषके हो गये। इसीसे धनुषके संग चला जाना कहा। जब पिनाक रहा तब नाक रही, जब पिनाक टूटा तब नाक भी टूट गयी।

नोट—१ यहाँ धनुषका नाम 'पिनाक' कैसा उत्कृष्ट पड़ा है ? 'पिनाक' में 'नाक' पद है ही। मानो 'पिनाक' में जो नाक है, वह इन्हींकी नाक है, जो कटकर (इनको छोड़कर) इसमें लग गयी। वा, यों कहिये कि 'पिनाक' की नाकने

तुम्हारी नाक छीन ली, यथा—'जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहि बिषाद बढ़ायो। गी० १। ९१।' इसी प्रमाणको लेकर हमने ऊपर कोष्ठकान्तर्गत अर्थ लिखा है। जबतक 'पिनाक' रहा तबतक 'नाक' रही, जब वह न रह गया तब नाक भी न रह गयी। २—'नाक पिनाकहि संग सिधाई' यह मनोरञ्जन वर्णन 'सहोक्ति' अलंकार है। 'कि अब कहुँ पाई' में काकुसे शूरताका बाध होकर कापुरुषता व्यञ्जित होना गुणीभूत व्यंग है।—(वीर)।

टिप्पणी—३ (क) 'सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई' इति। 'सोइ सूरता' अर्थात् जिस शूरतासे धनुष तिलभर भी न हटा सके, उसी शूरतासे श्रीराम-लक्ष्मणजीको धर पकड़ने और बाँधनेको कहते हो। ऐसी बुद्धि थी तभी तो धनुष तोड़ने गये थे और मुँहमें स्याही (कालिख) लगवाके लौटे। यदि सुन्दर बुद्धि होती तो क्यों धनुषके पास जाते, यथा—'जिन्हके कछु बिचार मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥' 'मुँह मसि लाई' मुहावरा है, लोकोक्ति है। (ख) 'बिधि मुँह मसि लाई' विधाताने स्याही लगायी कहनेका भाव यह है कि मुँहमें कालिख लगना पापका फल है और पाप-पुण्यके फलदाता विधि हैं,—'कठिन करम गति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता॥' श्रीसीताजी जगदम्बा हैं, श्रीरामजीकी आद्याशक्ति हैं, उनको पत्नीरूपसे वरण करनेकी इच्छासे धनुष उठाने गये, इससे पाप लगा। फिर धनुषके टूटनेपर जयमाल पड़ जानेपर भी भगवान्‌से विरोध करते हैं। 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ' ऐसी बुद्धि हो रही है। अतएव विधाताने मुँह काला कर दिया।

दो०—देखहु रामहि नयन भरि तजि इरिषा मदु कोहु*।
लखन रोषु पावकु प्रबलु जानि सलभ जनि होहु॥२६६॥

अर्थ—ईर्ष्या, मद और क्रोधको त्यागकर श्रीरामचन्द्रजीको नेत्र भरकर देख लो। लक्ष्मणजीके क्रोधरूपी प्रचण्ड अग्निमें जान-बूझकर पतिंगे न बनो॥ २६६॥

टिप्पणी—१ (क) साधु राजाओंने जो प्रथम बार उपदेश दिया था कि 'जगत पिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥ २४६। ३।', वही उपदेश वे यहाँ पुनः करते हैं कि नेत्रभर दर्शन कर लो। 'नयन भरि देखहु' का भाव कि ध्यानमें भी जिनका दर्शन दुर्लभ है वे ही सामने प्रकट हैं; अतः देख लो, यथा—'सुंदर सुखद सकल गुन रासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी'॥ (ख) 'तजि इरिषा मदु कोहु' कहनेका भाव कि ये तीनों रामरूपदर्शनके बाधक हैं, बिना इनके गये रामरूप नहीं जान पड़ता। असाधु राजाओंमें अवगुण तो बहुत-से हैं, पर इस समय ये तीन विशेष हैं। श्रीरामजीसे वैर ठाने हैं (यह ईर्षा); अपनी बड़ाईका (वा अपने बलका) मद है और जानकीजीके स्वरूपमें मोह है, यथा—'भए मोह बस सब नरनाहा' उन्होंने जयमाल श्रीरामजीके गलेमें डाला है, इनके हाथसे निकली जाती हैं अतः क्रोध है। इसीसे यहाँ इन्हीं तीन अवगुणोंको कहा। मापसे क्रोध होता ही है। अभिलषित वस्तु हाथसे निकलनेपर भी क्रोध होता है। (ग) 'लखन रोषु पावक प्रबल' कहकर जनाया कि लक्ष्मणजी राजाओंकी ओर क्रोधसे देख रहे हैं, यथा—'अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप' इसीसे कहते हैं कि उनके क्रोधाग्निमें न जलो। (घ) 'जानि' का भाव कि पतिंगा दीपक वा अग्निका मर्म बिना जाने जलता है और तुम सब तो जानते हो कि इन्होंने मारीच-सुबाहुकी सारी सेना क्षणभरमें मार डाली, जनकजीके वचनोंपर जो क्रोध हुआ उसे तुमने आँखों देखा है कि पृथ्वी भी काँप उठी, यथा—'लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥', इत्यादि। न भी जानते हो तो अब हम तो बता रहे हैं, हमारा सिखावन सुनकर तो जान गये; अतः जान-बूझकर न मरो। (ङ) 'सलभ जनि होहु' इति। शलभका आरोप उन राजाओंपर किया गया क्योंकि पतिंगे कुछ कर नहीं सकते, सिवाय जल मरनेके उनका कुछ पुरुषार्थ वहाँ चल नहीं सकता; अग्नि कुछ उन्हें जलाने नहीं जाता और न उन्हें जलानेकी इच्छा ही करता है, पर वे स्वयं ही जाकर उसमें जल मरते हैं, वैसे ही तुम्हारी कुछ भी प्रभुता वहाँ न चलेगी, वे तुम्हें मारना भी नहीं चाहते, पर तुम आप ही उनके क्रोधाग्निमें जाकर प्राण देना चाहते हो, इति भावः। पुनः भाव कि श्रीराम-लक्ष्मणजीने तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा, तुम अपनेहीसे उनसे विरोध करते हो।

---

* पाठान्तर—'मोहु'—भा० दा०, पाँड़ेजी, पं० रा० कु०। 'मोहु' पाठसे भाव होगा कि श्रीजानकीजीके स्वरूपमें जो मोह है उसे छोड़ो। उनका स्वरूप न जानना मोह है। 'मोह' पाठसे हृदयके षट् शत्रुओंकी पूर्ति होती है। २६७ (३) देखिये।

नोट—१ लक्ष्मणजीके क्रोधपर प्रबल अग्निका आरोप किया गया न कि दीपकका; क्योंकि दीपक बहुत-से पतिंगोंके आ पड़नेसे सम्भव है कि बुझ भी जाय पर प्रचण्ड अग्निमें तो समूह-के-समूह जलते चले जायँगे, जितने ही अधिक उसमें पड़ते जायँगे उतनी ही अधिक प्रचण्ड वह होती जायेगी। यहाँ परम्परित रूपक है। २—साधु राजाओंका उपदेश भी साधुताका है। ईर्ष्या, मद, क्रोध आदिको त्यागकर भगवान्‌का दर्शन करना साधु धर्म है, यथा—'राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्हके बस होहू॥' साधुओंमें उपदेश करनेकी यही रीति है। ३—ऊपरकी चौपाइयों और दोहेमें अनेक अनुप्रासवाले शब्दोंकी जोड़ियाँ और समूह विचारणीय हैं। कटाक्षोंका जोर कितना उभर आता है? (लमगोड़ाजी)। त्रिपाठीजीका मत है कि साधु राजाओंने क्रूरसे कहा कि 'तजि इरिषा देखहु', कपूतसे कहा कि 'तजि मद देखहु' और मूढ़से कहा कि 'देखहु तजि कोहु' ईर्ष्या, मद, मोह तुम्हारे नेत्र भर देखनेमें बाधक हो रहे हैं।

प० प० प्र०—१ इस दोहेमें हम सबोंके लिये भी आध्यात्मिक उपदेश भरा है कि 'जहँ देखहु तहँ चितवहु रामहि' क्योंकि रघुवंशमणि विश्वरूप हैं; पर हमलोग मदमोहादिका त्याग न करके विषयाग्निकी ज्वालापर पतंगेके समान कूदते हैं। परिणाम यह होता है कि देहरूपी भूमिको धारण करनेवाले शेषजी (लक्ष्मण=उच्छिष्ट ब्रह्म) रुष्ट होते हैं और उनके क्रोधानलसे देहका, सुरदुर्लभ नर-तनका, विनाश हम अपने हाथ ही कर लेते हैं। २—यहाँ साधु राजाओंने यह नहीं कहा कि लषन रोष-पावकमें मर जाओगे, क्योंकि ऐसा कथन सशर्त शाप ही हो जाता। भगवान् कृष्णजीने अर्जुनसे क्या कहा है सो देखिये—'अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि। गीता १८। ५८।' इसीसे तो कहा है कि 'राम ते अधिक राम कर दासा।' यही यहाँ साधुभूपोंके वचनसे बताया है।

बैनतेय बलि जिमि चह कागू*। जिमि ससु चहै नागअरि भागू†॥ १॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही। सब‡ संपदा चहै सिव द्रोही॥ २॥

शब्दार्थ—बैनतेय=विनताके पुत्र गरुड़। ससु (शश)=खरगोश, खरहा, चौघड़ा, लमहा। बलि=भाग, भेंट, पूजाकी सामग्री। यथा—'बलिर्भागो बलिर्दैत्यो बलिः पूजोपहारकः॥' 'बलिपूजोपहारे च' 'बल्यते दीयते॥' इति।' 'बल-दाने सर्वधातुभ्य इन् (उणादि पाद ४) इतीन्।'

अर्थ—जैसे गरुड़का भाग कौवा चाहे, जैसे हाथीके शत्रु सिंहका भाग खरगोश चाहे॥ १॥ जैसे बिना कारण ही क्रोध करनेवाला अपना कुशल (मंगल, खैरियत) चाहे, जैसे शिवजीका द्रोही सब सम्पदा (संपत्ति, ऐश्वर्य) चाहे॥ २॥

टिप्पणी—१ 'बैनतेय बलि....' इति। (क) 'देखहु रामहिं नयन भरि....' कहकर यह कहनेका भाव यह है कि तुम लोग श्रीरामजीका दर्शन करो, उनके भागकी अर्थात् श्रीसीताजीकी इच्छा न करो। उनका भाग मिलना वैसा ही है जैसे 'बैनतेय बलि जिमि चह कागू' इत्यादि। (ख) अधम राजाओंके 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ॥' के उत्तरमें साधुभूपके ये वचन हैं। (ग) यहाँ श्रीरामजी बैनतेय और नाग-अरि हैं, श्रीसीताजी बलि वा भाग हैं और अधम राजा काग और शश हैं। जैसे सब पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़जी हैं और सबसे अधम काग है, यथा—'सकुनाधम सब भाँति अपावन' वैसे ही सब राजाओंमें श्रेष्ठ रामजी हैं और सबमें अधम तुम हो। प्रथम चरणमें 'बलि' शब्द दिया और दूसरेमें 'भाग' शब्द देकर उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया। (घ) गरुड़का भाग गरुड़की स्त्री और सिंहका भाग सिंहकी स्त्री है, यथा—'जिमि हरिबधुहि छुद्र ससु चाहा॥ ३। २८।' (ङ) 'नाग-अरि' कथनका भाव कि थलचरोंमें सबसे बड़ा पशु हाथी है, उसके भी मस्तकको जो सिंह विदीर्ण कर डालता है, भला उसका भाग शश चाहे? (च अर्धालीका भाव यह है कि गरुड़का भाग गरुड़से छुड़ाकर जैसे काक चाहे और सिंहका भाग सिंहसे छुड़ाकर खरगोश चाहे, वैसे ही श्रीरामजीसे सीताजीको छुड़ा लेनेकी तुम्हारी बातें हैं जो असम्भव हैं। मृगोंमें सिंह मृगराज है, वैसे ही पुरुषोंमें श्रीरामजी पुरुषसिंह हैं—'पुरुषसिंह दोउ बीर...।' खरगोश सबसे छोटा पशु है (पिद्दीसा जानवर जो बहुत ही डरपोक और अत्यन्त कोमल होता है और जरासे आघातसे मर जाता है) वैसे ही तुम अत्यन्त क्षुद्र मनुष्य हो। तात्पर्य कि जैसे बड़ेका भाग क्षुद्र नहीं पाता, वरंच उलटे मारा जाता है, वैसे ही तुम श्रीजानकीजीको तो इनसे छुड़ा नहीं सकते, उलटे कालके वश होगे, यथा—'जिमि हरिबधुहि छुद्र ससु चाहा। भयसि कालबस निसिचर नाहा॥ ३। २८।' 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ....॥' इसीसे तुम्हारा पौरुष प्रकट है। (कौवा गरुड़से छीनना चाहे तो पा नहीं सकता, काँव-काँव भले ही करता रहे)।

नोट—१ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि—'पूर्व जो उपमाएँ दी गयी हैं, एक गरुड़की दूसरी सिंह की, वे दो

* कागा २ भागा—१७०४। † १ कागू २ भागू—प्रायः अन्य सबोंमें। ‡ सुख—का० रा०।

भावोंको सूचित करती हैं। गरुड़की उपमा यह सूचित करती है कि जैसे गरुड़के बलि भागको कौआ चाहे कि हमको मिल जाय तो बलि भागका देनेवाला गरुड़को छोड़कर कौएको नहीं दे सकता है, वैसे ही कागरूप अन्य राजा सब चाहते हैं कि श्रीजानकीजी हमको मिलें पर उनकी चाह कौएकी भाँति वृथा है, राजा जनक सीताजीको सिवाय रघुनाथजीके और किसीको नहीं दे सकते क्योंकि विवाह धनुषके आधीन था, जनकजीके उस प्रणको रामजीने धनुष तोड़कर पूरा किया। दूसरी उपमा इस भावको सूचित करती है कि श्रीरघुनाथजी सिंहरूप हैं, उनसे सीताजीको शशकरूप राजा कैसे ले सकते हैं। अर्थात् दोनों प्रकारसे नहीं पा सकते। २—पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'यदि कहो कि हम भी क्षत्रिय हैं और वह भी क्षत्रिय हैं (उनको सीताजीको ले जानेका कौन अधिकार?) तो उसपर कहते हैं कि गरुड़का भाग काग कैसे पा सकता है (हैं तो दोनों ही पक्षी) और सिंहका भाग चौगड़ा कैसे पा सकता है (यद्यपि दोनों थलचर हैं)?'

प० प० प्र०—१ धनुर्यज्ञकी समाप्तिमें जनक महाराजरूपी यजमानने सीतारूपी बलि रामरूपी गरुड़को दे ही दिया है। यह यज्ञभाग मानो विश्वपीड़ा मिटानेके हेतुसे दिया गया। अब इसपर किसीका अधिकार नहीं है। गरुड़ पक्षिराज हैं, काक उनकी प्रजा हैं; अतः गरुड़का भाग पानेकी इच्छा करना स्वामिद्रोह करना है। यह अधर्म है। पुनः वैनतेयका बलि (भक्ष्य) तो सर्प हैं, यदि काक उसे उठानेका प्रयत्न करेगा तो वह सर्प ही उसे डस लेगा। भाव यह कि श्रीसीताजी ही तुम्हारे विनाशका कारण बनेंगी।—यह भूपवेषमें आये हुए असुरों और सुरोंके लिये है। आगे ऐसा हुआ भी है। सुरपति-सुतकी कथा देखिये। निशाचर-विनाशका कारण सीताजी ही बनीं।

२ 'जिमि ससु····' इति श्रीराम सिंह हैं, वनके राजा हैं। सीताजी वधू हैं। लक्ष्मणजी सिंहकिशोर हैं, सेवक हैं। सिंहका भाग है गज। सिंह अपने पराक्रमसे गजराजको विदीर्ण करता है। यदि शश उसके भागकी इच्छा करेगा तो गज स्वयं उसको कुचल डालेगा।····यह दृष्टान्त रावणादि राक्षसोंके लिये है। 'जे लंपट परधन परदारा' ही निशाचर हैं। 'जय राम रावन मत्त गज मृगराज' कहा ही है। भाव कि सिंहकिशोर लक्ष्मण ही तुम्हारा विनाश क्षणभरमें कर डालेंगे। आगे जो पाँच दृष्टान्त देते हैं वे दुष्ट मानव राजाओंके लिये हैं।

नोट—२ 'जिमि चह कुसल अकारन कोही॥····' इति। (क) 'अकारन कोही' का भाव कि कारण पाकर तो प्रायः सबको क्रोध होता है (उसकी चर्चा यहाँ नहीं है, क्योंकि उससे किसीको दुःख नहीं पहुँच सकता), बिना कारण क्रोध करना दूसरोंको बुरा लगनेकी बात ही है, अतः उससे कुशल कहाँ? उससे तो सभीसे वैर विरोध रहता है तब कुशल कैसे सम्भव है? यथा—'भूतद्रोह तिष्टै नहिं सोई॥ ५। ३८।' 'कोही' शब्द क्रोधीका अपभ्रंश है। 'अकारन कोही' कहकर जनाया कि तुम श्रीरामजीसे बिना कारण ही क्रोध करते हो, जो काम तुमसे न बन पड़ा, उसे उन्होंने कर डाला, इसमें उनका क्या अपराध है? तुम व्यर्थ क्रोध करते हो जिसका परिणाम यह है कि मारे जाओगे। अपनी खैरियत न समझो। (ख) 'सद संपदा चहै सिवद्रोही' इति। भाव कि शंकरजी सब संपदाके दाता हैं, यथा—'सेवा सुमिरन पूजिबो पाताखत थोरे। दई जग जहँ लगि संपदा सुख गज रथ घोरे॥····' इति विनये। शिवद्रोही सब संपदासे हीन रहता है।

लोभी* लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई॥ ३॥

अर्थ—लोभी लोलुप सुन्दर कीर्ति चाहे! क्या कामी पुरुष निष्कलङ्कता पा सकता है?॥ ३॥

नोट—१ लोभी और लोलुप पर्यायवाची शब्द हैं। पुनरुक्ति-सी जान पड़ती है। परंतु इनमें कुछ भेद है। लोभीसे अन्तःकरणका मलिन होना जनाया। लोभीका हृदय मलिन होता है। लोभ मलिनता है। इसको पंथके जलकी उपमा दी है, यथा—'उदित अगस्त पंथजल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ संतोषा॥' पंथके जलकी उपमा देकर मलिनता सूचित की, यथा—'सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिरानो' इति विनये। 'लोलुप' शब्द चञ्चलता सूचित करता है। जब लोभसे मन चञ्चल होकर प्रत्यक्ष लोभका काम करता है तब लोभीकी संज्ञा लोलुप होती है। चित्त चञ्चल होनेपर वह यही सोचता है कि कहाँ जायँ, क्या करें जिसमें अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय, यथा—'लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै। तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥ वि० ८९।'; विनयके इस उद्धरणसे 'लोलुप' का भाव स्पष्ट हो जाता है। पुनः प्राप्त वस्तुको यत्नसे छिपाकर रखनेकी चाह और उसके खो न जानेका डर—यह भाव 'लोभ' में है और प्राप्तिके लिये चञ्चलताका भाव 'लोलुप' में है। यथा—'लोभी के धन ज्यों छिन छिन प्रभुहि सँभारहि', 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम॥ ७। १३०।' इस प्रकार पुनरुक्तिका दोष नहीं रह जाता। इसी भावमें लोलुप शब्दका प्रयोग

* लोभु लोलुप—१७२१, १७६२, छ०। लोभी लोलुप—१६६१, १७०४, को० रा०।

गोस्वामीजीने विनयमें भी किया है, यथा—'चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वारद्वार जग बागे। रामसीय आश्रमनि चलत त्यों भयें न श्रमित अभागे॥ वि० १७०।'

यहाँ राजाओंको सीताजीकी 'अभिलाषा' है और इसके साथ वे उसका यत्न भी कर रहे हैं—'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे'। दोनों भावोंको प्रकट करनेके लिये 'लोभी लोलुप' पद दिया गया।—इस तरह यहाँ 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

पुनः 'लोभी लोलुप'=वह लोभी जो लोभवश चञ्चल हो रहा है अर्थात् लोभका काम कर रहा है। जबतक लोभ हृदयमें है तबतक विशेष हानि नहीं, परन्तु जब वह कार्यमें परिणत हो गया तब कीर्ति नहीं होती। 'कीरति चहई' एक वचन है। इससे 'लोभी लोलुप' एक ही व्यक्तिका वाचक जान पड़ता है जिसमें लोभ और लोलुपता दोनों हों।

पं० रामकुमारजीका पाठ 'लोभ लोलुप' है। लोभ लोलुप=लोभके कारण चञ्चल है अर्थात् लोभका काम कर रहा है।

टिप्पणी—१ (क) 'लोभी लोलुप कल कीरति चहई'। भाव कि थोड़ा भी लोभ होनेसे कीर्ति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा होती है। यथा—'अल्प लोभ भल कहै न कोऊ॥ ५। ३८।' कीर्ति उदारतासे होती है। लोभसे अकीर्ति होती है। 'कल कीरति' का भाव कि लोभ मलिन वस्तु है। यथा 'उदित अगस्ति पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ संतोषा॥ ४। १६।' इसमें लोभको रास्तेके जलकी उपमा देकर उसका मलिन होना सूचित कर दिया है, यथा—'सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिरानो।' इति विनये। मलिन वस्तुका सेवन करके 'निर्मल' कीर्तिकी चाह करता है। अथवा भाव कि लोभी है इसीसे कीर्तिकी प्राप्तिका भी भारी लोभ करता है कि उज्ज्वल कीर्ति मिले। यह चाह व्यर्थ है। (ख) 'अकलंकता कि कामी लहई' यथा—'कामी पुनि कि होइ अकलंका'। भाव कि कामसे कलंक लगता है तब कामी बनकर अकलंकताकी चाह करे तो मूर्खता ही तो है।

२ दुष्ट राजाओंने जो कहा था कि 'जौं बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥' इसीपर साधु राजा उनको उपदेश दे रहे हैं कि हृदयके जो षट् शत्रु हैं उनको जीतो जिससे श्रीरामस्वरूप तुमको देख पड़े। बिना इनके जीते श्रीरामस्वरूप नहीं देख पड़ता; इसीसे प्रथम यह कहकर कि 'रामहि देखहु नयन भरि।' तब षट् शत्रुओंके त्यागका उपदेश करते हैं। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मद और मोह—ये छः शत्रु हैं। 'रामहि देखहु नयन भरि तजि इरिषा मद मोह' इस दोहेमें ईर्ष्या, मद और मोह तीन विकारोंके त्यागका उपदेश हुआ। 'जिमि चह कुसल अकारन कोही' में क्रोध, 'लोभी लोलुप कल कीरति चहई' में लोभ और 'अकलंकता कि कामी लहई' में कामको त्यागनेको कहा।—यहाँ तक षट्-रिपुओंको त्यागनेको कहा।

३ पुनः काम, क्रोध और लोभ कहकर सूचित करते हैं कि तुमको त्रिदोष हो गया है। यथा—'कुलहि लजावैं बाल बालिस बजावैं गाल कैधौं क्रूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं॥ गी० १। ९३। २।', 'काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्निपात दुखदाई॥ ७। १२१।' 'सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भयेसि कालबस खल मनुजादा॥ ६। ३२।'

४ सामान्यतः काम, क्रोध और लोभ यह क्रम मानसमें मिलता है, पर यहाँ क्रोध, लोभ और काम यह क्रम है। कारण कि राजाओंमें क्रोध प्रत्यक्ष दिखायी पड़ रहा है। अतः उसे प्रथम कहा। क्रोधका कारण लोभ, लोलुपता है और लोभ काम-विकारसे उत्पन्न हुआ है। इस क्रममें कार्य-कारण सम्बन्ध दिखाया है।

हरिपद बिमुख परम* गति चाहा। तस तुम्हार लालचु नरनाहा॥ ४॥

अर्थ—जैसे भगवान्‌के चरणोंसे विमुख सर्वोत्तम गति (परमपद) चाहे; हे राजाओ! तुम्हारा लालच (भी) उसी प्रकारका है अर्थात् श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी चाह जो तुम कर रहे हो वह व्यर्थ है॥ ४॥

नोट—१ 'तस' इस बातका बोधक है कि 'जस' या उसका पर्याय शब्द पूर्व आ गया है। यहाँ 'बैनतेय जिमि····' से लेकर 'हरिपद बिमुख····' तक 'जिमि' आदि शब्दोंका भाव आया पर उसकी जोड़में 'तस' अन्तमें यहीं दिया गया। ऐसा करके सूचित किया कि यह चरण उपर्युक्त सब उदाहरणोंके साथ है और सब उदाहरणोंका एक ही धर्म है कि ऐसा हो नहीं सकता। अतः यहाँ 'द्वितीय तुल्ययोगिता' एवं 'एकधर्ममालोपमा' अलंकार है।

* सुगति जिमि—१७२१, छ०। परा गति—१७०४, १७६२। परम गति—१६६१, को० रा०।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा था कि 'सब संपदा चहै सिवद्रोही' और यहाँ 'हरिपद बिमुख परमगति चाहा' कहा। इस प्रकार सूचित किया कि शिवजी सम्पदाके दाता हैं, पर सुगतिके दाता भगवान् ही हैं। (ख) सब जगह 'चाहना' कह आये, उसीको यहाँ 'लालचु' कहते हैं; इससे सूचित किया कि 'चाह' और 'लालचु' दोनों एक ही हैं। २— 'तस तुम्हार लालच' कहकर छः बातें सूचित कीं—(क) एक यह कि जैसे गरुड़का भाग कौवेको नहीं मिलता और सिंहका भाग शशको नहीं मिलता, वैसे ही तुमको श्रीसीताजीकी प्राप्ति नहीं है। (ख) दूसरे यह कि जैसे अकारण क्रोधीकी कुशल नहीं, वैसे ही इस लालचसे तुम्हारी कुशल नहीं। (ग) तीसरे यह कि जैसे शिवद्रोहीको सम्पदा नहीं मिलती वैसे ही इस लालचसे तुम शिवद्रोही हुए; क्योंकि श्रीजानकीजी शिवजीकी माता हैं (इसीसे तो उन्होंने सतीजीको सीतावेष धारण करनेसे ही परित्याग किया था), अतएव तुम्हारी सब सम्पदाका नाश होगा। (घ) चौथे जैसे लोलुप लोभी कीर्ति चाहता है पर उसे मिलती नहीं, वैसे ही इस लालचसे तुम्हारी कीर्तिका नाश है। (ङ) पाँचवें, जैसे कामी अकलंकित नहीं रहता, वैसे ही इस लालचसे तुमको कलंक लगा। और (च) छठे, जैसे हरिपदविमुखकी सद्गति नहीं होती वैसे ही इस लालचसे तुम हरिपदविमुख हुए, अतः तुमको परमगतिकी प्राप्ति नहीं होनेकी—तात्पर्य कि ऐसी लालचसे बड़ी भारी हानि है; अतएव श्रीसीताजीकी प्राप्तिकी लालसा त्याग दो। इतने दृष्टान्त देकर यह भाव दर्शित किये गये।

☞ इस प्रसङ्गमें यह उपदेश है कि ईर्ष्या, मद, मोह, काम, क्रोध और लोभ त्यागकर शिवभक्ति करे तब हरिभक्ति होती है। इसीसे हरिभक्तिको पीछे लिखा।

पं० राजारामशरण—१ पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी बिल्कुल ठीक है। साधु राजाओंके मुखसे उदाहरण इत्यादि भी वैसे ही निकलते हैं। कविवर टेनिसनकी प्रशंसा करनेवाले मित्र इन प्रसंगोंको विचारते चलें। २ - चरित्रसंघर्ष और वादविवादकला प्रशंसनीय है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'बैनतेय बलि जिमि चह कागू।...तस तुम्हार लालच नर नाहा' इति। यद्यपि गरुड़ और काग दोनों पक्षी हैं पर गरुड़का भाग कागको नहीं मिल सकता। बलि देनेवाला ही न चाहेगा, वैनतेयको चाहे बलिकी परवाह न हो। इसी भाँति खरगोश और नागारि दोनों चतुष्पाद हैं पर खरगोशका सामर्थ्य नहीं कि 'मत्तनाग तम कुम्भ बिदारी' सिंहके भागको छू सके। सिंहके मारे हुए शिकारको कोई चतुष्पाद स्पर्श नहीं करता, अतः न तो जनक छीनने देंगे, और न रामजीके सामने तुम्हारा दिन है कि तुम सीताजीका स्पर्श कर सको। यह साधु राजाओंका उत्तर क्रूर राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था 'लेहु छड़ाइ सीय (कह कोउ)' क्रोधीका कुशल नहीं होता, निष्कारण क्रोधीका तो हो ही नहीं सकता। जो बात तुम लोगोंकी की हुई न हो सकी, उन्होंने कर दिखायी। इसमें उनका क्या अपराध है जो तुम क्रोध करते हो, और क्रोध करनेमें तुम्हारा कुशल नहीं; जिसपर शिवजीकी कृपा हुई उसने धनुष तोड़ा। उन्होंने ब्रह्मकुलरूपी शङ्करकी आज्ञा लेकर तब धनुष तोड़ा है (यथा—'राम गुनिन्ह सन आयसु माँगा'), इसीसे उन्हें त्रैलोक्य-जय, लक्ष्मी और सब सम्पदा प्राप्त हुई, तुम शिवद्रोही हो, बिना शिवजीकी आज्ञा धनुष तोड़ने उठे, तुम्हें त्रिभुवनजय, लक्ष्मी नहीं प्राप्त हो सकती। यह साधु राजाका उत्तर कपूत राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ'। ब्रह्मकुलके शङ्कररूप होनेका प्रमाण—'मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शङ्करम्। वन्दे ब्रह्मकुलम्'। 'गुनसागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ-मल कहै न कोऊ॥' सो तुम्हारा इतना बड़ा लोभ है कि जिस धनुषको १०००० राजा न हिला सके, उस धनुषके तोड़नेवालेके पुरस्कारकी इच्छा करते हो। तुम लोभ-लोलुप हो गये, तुम्हें कीर्ति कैसे मिलेगी ? तुम कामवश हो प्राण देकर कलंक धोना चाहते हो, सो भी नहीं होनेका। कामीको अवश्य कलंक लगेगा।

यह उत्तर साधु राजाओंका मूढ़ राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था कि 'तोरे धनुष चाँड़ नहि सरई। जीवत हमहि कुँअरि को बरई॥'

कोलाहलु सुनि सीय सकानी। सखी लवाइ गईं जहँ रानी॥ ५॥
रामु सुभाय चले गुरु पाहीं। सिय सनेहु बरनत मन माहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—सकाना=शंकित होना, डरकी शंका होना।

अर्थ—हल्ला-गुल्ला (शोर) सुनकर श्रीसीताजी सहम गयीं। सखियाँ उनको वहाँ लिवा ले गयीं जहाँ (श्रीसुनयनाजी आदि) रानियाँ बैठी थीं॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजी स्वाभाविक ही गुरुके पास चले। श्रीसीताजीके प्रेमको मन-ही-मन वर्णन करते जाते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'कोलाहलु सुनि' इति। कोलाहल शब्दका नाम है, इसीसे 'सुनि' पद दिया, अर्थात् उसका सुनना कहा। (ख) 'सकानी' का भाव कि असाधु राजा बोले थे कि 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ' यह सुनकर शंका हुई कि सत्य ही कहीं कोई राजा आकर हमारा अङ्ग स्पर्श न करे, इससे अब यहाँ ठहरना उचित नहीं है। सखियाँ चतुर हैं। श्रीजानकीजीकी रुचि समझकर रानीके पास ले गयीं। यथा—'निज समाज लै गईं सयानी'। (ग) 'लवाइ गईं' इति। स्मरण रहे कि जब श्रीसीताजी सखियोंसहित जयमाल पहिनानेको श्रीरामजीके समीप आयीं, तब सब सखियाँ मङ्गल गान करती हुई आयी थीं; यथा—'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार'। इस समय सोचके मारे मङ्गल गान नहीं किया। पुनः, जब सीताजी आयी थीं तब हंसगवनकी उपमा दी थी, यथा—'गवनी बाल मराल गति सुषमा अंग अपार' अर्थात् उस समय धीरे-धीरे आयी थीं और इस समय बहुत शीघ्र चली गयीं। इसीसे यहाँ हंसगवन न कहकर 'लवाइ गईं' कहा। शंकित हृदय होनेसे झटसे ले जाना दिखाया।

२ (क) 'सुभाय चले' इति। भाव कि धनुष तोड़नेका हर्ष वा अभिमान कुछ भी मनमें नहीं आया, जैसा स्वभाव था वैसे ही स्वभावसे चले। जैसे प्रथम सहज स्वभावसे धनुष तोड़ने चले थे, यथा—'सहजहिं चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी॥'; वैसे ही धनुष तोड़नेके बाद स्वाभाविक ही चले। पूर्व 'सहजहिं' और यहाँ 'सुभाय' कहकर 'सहज' का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि 'स्वभाव' है पुनः, सहज ही स्वभाव, यथा—'कनकउ पुनि पषान तें होई। जारेउ सहज न परिहर सोई॥' [सीताजीके सम्बन्धमें 'सकानी' कहकर श्रीरामजीके सम्बन्धमें 'सुभाय' कहकर जनाया कि ये निःशंक भय-रहित चले, इनके हृदयमें कोलाहलसे कोई शंका न उत्पन्न हुई। अपनी स्वाभाविक चालसे चले।] (ख) 'सिय सनेह' प्रथम ही कह आये हैं, यथा—'जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥', 'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना', 'गौतमतिय गति सुरति करि नहिं परसत पग पानि। मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥ (ग) 'बरनत मन माहीं' इति। भाव कि एक तो वहाँ कहें तो किससे, दूसरे वह स्नेह अकथनीय है, कहना चाहें तो कथनमें नहीं आ सकता, यथा—'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥' इसी तरह जब पुष्पवाटिकासे चले तब कहा था कि 'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥' पर जब वहाँसे चले थे तब 'लुनाई' (सुन्दरता) की सराहना कर रहे थे और यहाँ धनुष तोड़नेपर 'स्नेह' की सराहना करते जा रहे हैं; कारण कि वहाँ सौन्दर्यकी प्रधानता थी और यहाँ स्नेह प्रधान है। फुलवारीमें श्रीरामजीकी प्राप्तिके लिये प्रेमपन नहीं ठाना था और यहाँ धनुषयज्ञमें प्रेमपन ठाना था।—[पुनः, वहाँ धनुषभंग न हुआ था, स्वयंवरकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई थी, उस समय श्रीसीताजीके स्नेहकी प्रशंसा करना धर्मके प्रतिकूल होता। अतः वहाँ केवल सौन्दर्यकी सराहना है। और अब तो वे प्रिया-प्रियतम हैं]। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि ठीक है फुलवारी लीलामें 'सौन्दर्यानुभव' (Aesthetic) वाले शृङ्गारका माधुर्य था और अब प्रेमका शृङ्गाररस है।

रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥ ७॥
भूप बचन सुनि इत उत तकहीं। लषनु राम डर बोलि न सकहीं॥ ८॥

दो०—अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहु मत्त गजगन निरखि सिंघकिसोरहु चोप॥२६७॥

शब्दार्थ—करनीया=करने योग्य।=करनेवाला। चोप=उत्साह, उमंग, चाव।

अर्थ—रानियोंसहित सीताजी (राजाओंके वचन सुनकर) सोचके वशमें हैं कि न जाने विधाता अब क्या करना चाहता है॥ ७॥ राजाओंके वचन सुनकर लक्ष्मणजी इधर-उधर ताकते हैं, श्रीरामजीके डरसे कुछ बोल नहीं सकते॥ ८॥ आँखें लाल और भौंहें टेढ़ी हो गयीं, राजाओंको क्रोधसे देख रहे हैं मानो मतवाले हाथियोंका झुंड देखकर सिंह-के बच्चेको जोश हो आया हो॥ २६७॥

पं० राजारामशरण—आपने देखा अन्तरनाटकीय कला (Interplot) का मजा? कितनी फुर्तीसे और कितने विभिन्न प्रभाव राजाओंके वाद-विवादके परिणामरूप कविने चित्रित कर दिये। लक्ष्मणजीका चित्र तो ऐसा सजीव और सूक्ष्म प्रगतियोंसे पूर्ण है कि फिल्मकला भी कविकी लेखनीपर निछावर है।

टिप्पणी—१ (क) 'रानिन्ह सहित···' इति। प्रथम केवल श्रीसीताजीका शंकित होना कहा था—'कोलाहलु सुनि सीय सकानी'। जब वे रानीके पास गयीं तब रानियोंका भी सोच बस होना कहा। 'रानिन्ह सहित' कहकर श्रीजानकी-

जीकी प्रधानता दरसायी। तात्पर्य कि सोचमें जानकीजी प्रधान हैं, इनको सबसे अधिक सोच है। (ख) 'धौं' का भाव कि विधिका कर्तव्य कोई जान नहीं सकता, यथा—'सखि विधि गति कछु जाति न जानी। २५६, ५।', 'अब धौं' का भाव कि एक बार तो मरणान्त क्लेश सहकर बची अब न जाने क्या करनेकी इच्छा है। अर्थात् फिर कुछ अनर्थ किया चाहता है। (ग) 'इत उत' ताकनेका भाव कि राजा लोग जहाँ-तहाँ गाल बजा रहे हैं, यथा—'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥' (सब एक जगह नहीं हैं)। जहाँ-जहाँ राजा गाल बजा रहे हैं वहाँ-वहाँ चितवते हैं इससे 'इत उत' कहते हैं। राजाओंके वचन पूर्व कह आये—'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ॥ तोरें धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥ जौं बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥' (घ) 'तकहीं'। भाव कि राजाओंके वचन सहे नहीं जाते। ['इत उत तकहीं' का भाव यह भी हो सकता है कि वचन सहे नहीं जाते, इससे राजाओंकी ओर क्रूरदृष्टिसे देखते हैं फिर रघुनाथजीकी ओर देखने लगते हैं कि आज्ञा दें, इशारा हो तो इनको देख लूँ। (वि० त्रि० लिखते हैं—'इधर लक्ष्मणजीका क्या हाल है कि एक ओरसे आवाज आयी 'लेहु छड़ाइ सीय' तो उधर देखा, तबतक दूसरी ओरसे शब्द हुआ 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ' तो उधर घूमे, तबतक तीसरी ओरसे आवाज आयी 'जौं बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई।' इस भाँति विरोधियोंके शब्द इधर-उधरसे आ रहे हैं। लक्ष्मणजीके देखते ही चुप हो जाते हैं, पर दूसरी ओरसे आवाजें आती हैं।') रामजीके डरसे कुछ कह नहीं सकते। यहाँ यह शंका होती है कि श्रीजनकमहाराजके वचन सह न सके थे, तब तो बोल उठे थे, यथा 'कहि न सकत रघुबीर डर बचन लगे जनु बान। नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान॥' वहाँ श्रीरामजीका डर होते हुए भी बोले, यहाँ क्यों न बोले? बात यह है कि वहाँ न बोलनेसे वीरताकी हानि थी, वीरताका अपमान था, कलंक लग रहा था, इससे बोलनेसे वहाँ शोभा हुई और यहाँ बोलनेसे वीरताकी शोभा नहीं है। राजा तुच्छ हैं इनको मारनेसे शोभा नहीं है।

२ (क) 'अरुन नयन भृकुटी कुटिल' ये क्रोधके चिह्न हैं—'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। २६८। ६।' (ख) 'मत्त गजगन···चोप' इति। सिंहका बच्चा मतवाले हाथियोंपर चोट करता है। सिंहके बच्चेको देखकर हाथी स्वाभाविक डरता है। राजाओंको हाथी और लक्ष्मणजीको सिंहकिशोर कहकर जनाया कि लक्ष्मणजीको देख सब राजा भयभीत हो गये, यथा 'कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरिकिसोर के ताकें॥ २९३। ४।' गीतावलीमें भी यही भाव प्रत्यक्ष कहा गया है, यथा '··· लखन हँसे बल इन्हके पिनाक नीके नापे जोखे हैं। कुलहि लजावैं बाल बालिस बजावैं गाल, कैधौं कूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं॥ कुँवर चढ़ाई भौंहें अब को बिलोकै सौंहें जहँ तहँ भे अचेत खेतके से धोखे हैं। गी० १। ९३।' (ग) (लक्ष्मणजी क्रोधसे बारंबार राजाओंकी ओर देखते हैं; इसीसे कवि भी बारबार देखना लिखते हैं—'चितवत नृपन्ह सकोप' और पूर्व भी लिख आये—'भूप बचन सुनि इत उत तकहीं।' (घ) 'सिंहकिसोरहि चोप' इति। सिंहका स्वभाव है कि मतवाले हाथियोंको मारता है, यथा 'मत्तनाग-तम कुंभ बिदारी। ससि केहरी गगनबनचारी॥ ६। १२।' 'जथा मत्त गज जूथ महँ पंचानन चलि जाइ। ६। १९।' वैसे ही सब राजाओंको मत्त देखकर लक्ष्मणजीको उनको मारनेकी इच्छा हुई। श्रीलक्ष्मणजी किशोर हैं, अतः इनको किशोरसिंह कहा। दूसरे किशोरसिंहको हाथियोंके मारनेमें बड़ा उत्साह रहता है. इससे सिंहकिशोर कहा। राजा बहुत हैं, इसीसे उन्हें 'गजगन' की उपमा दी।

वि० त्रि०—रौद्ररसका अनुभाव कहते हैं, नयन अरुण और भृकुटि कुटिल हैं, राजाओंको क्रोधसे देखते हैं। विभाव पहिले कह चुके हैं—'भूप बचन सुनि इत उत तकहीं।' राजाओंको मत्तगज कहा। वे आकारमें विशाल हैं, सिंह-किशोर आकारमें स्वल्प है, पर मत्तगजको कुछ गिनता नहीं।

वीरकविजी—रानियोंके मनमें इस आकस्मिक दुर्घटनाद्वारा बने हुए काममें बिगड़नेकी सम्भावनासे इष्टहानिका सोच उत्पन्न होना त्रास, उग्रता, विषाद, आवेग और शंका संचारी भाव है। 'भूपबचन सुनि इत उत तकहीं' में अमर्ष संचारी भाव है। दोहेमें 'वीररसपूर्ण उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

धनुषयज्ञ सियास्वयंवर प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीसियावर रामचन्द्रजीकी जय।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।
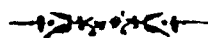
परशुराम-रोष और पराजय

परशुराम-गर्व-दलन-प्रकरण

खरभरु देखि बिकल पुर* नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥१॥
तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा ॥२॥

अर्थ—खड़बड़ (खलबली) देखकर जनकपुरकी स्त्रियाँ व्याकुल हैं। सब मिलकर राजाओंको गालियाँ दे रही हैं ॥ १ ॥ श्रीशिवजीके धनुषका टूटना सुनकर भृगुकुलरूपी कमलके (खिलानेके लिये) सूर्य (रूप) परशुरामजी उसी समय आये॥२॥

स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी—'श्रीमानसमें परशुराम प्रसंग' इति। श्रीवाल्मीकीय, अध्यात्म, आनन्द और भावार्थ (मराठी) रामायणोंमें श्रीपरशुरामजीका आगमन, विवाहके बाद अवधके रास्तेमें होता है। श्रीमानसमें धनुर्मख-मण्डपमें जयमाल पहनानेके अनन्तर उनका आगमन तुरत होता है। ऐसा करनेमें कल्पभेद एक हेतु कदाचित् संभाव्य है। पर इसमें बहुतसे अन्य भाव भी निहित हैं।

(१) जयमाल पहनानेके बाद 'कूर कपूत मूढ़' महीपति माषे थे और श्रीराम-लक्ष्मणजीसे युद्ध करके श्रीजनकनन्दिनीको बलात् अपहरण करनेकी तैयारी ही कर रहे थे। श्रीलक्ष्मणजी भी क्रुद्ध हो गये थे। जिस मण्डपमें महामङ्गलकारी जयमाला पहनायी थी, उसी मञ्जुल मङ्गल मोदमय मण्डपमें युद्ध! यह गोस्वामीजीका मन कब सह सकता था। भावी-संकट-निवारक सुगम उपाय श्रीपरशुरामजीकी उपस्थिति ही था। यह हेतु भृगुपतिके आगमनमात्रसे ही साध्य हुआ—'देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥' उनका सनाह पहनना और गाल बजाना एकदम बंद हो गया।

(२) 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरइ हठि तेही॥'—यह था विदेहका प्रण। इसके दूसरे भागकी पूर्ति तो धनुर्भंग और जयमाल पहनानेसे हो ही गयी। पर जबतक क्षत्रियकुलविध्वंसक भार्गव राम परास्त नहीं होते हैं तबतक 'त्रिभुवन जय' न हो सकनेसे जनकमहाराजकी प्रतिज्ञा, अल्प कालके लिये ही क्यों न सही, मिथ्या हो जाती। इस दोषके निवारणके लिये उसी मण्डपमें परशुरामागमन उचित है।

(३) 'भृगुपति केरि गरब गरुआई।'' बूड़ सो सकल समाज। २६१।' धनुर्भंगके पश्चात् तुरत ही यह उल्लेख कविने कर दिया है, तथापि केवल धनुर्भंगमात्रसे 'भृगुपतिकी गर्व गरुआई' नहीं बूड़ी थी। इस पूर्व घोषणाकी पूर्ति करानेके लिये भी परशुरामजीका आगमन शीघ्रातिशीघ्र आवश्यक था।

(४) यदि रास्तेमें भेंट होती तो लखनलालजीकी तेजस्विता त्रैलोक्य वीरोंको कैसे विदित होती? तब श्रीजनकमहाराजके दूत 'तेज निधान लषन पुनि तैसे' यह वाक्य कैसे कह सकते?

(५) त्रिभुवन-विदित वीरोंके समक्षमें ही, जहाँ रावण भी परास्त हो गया था, उसी स्थानमें उसी अवसरपर परशुरामजीकी गर्व-गरुताका भंजन न होता तो आगे कभी-न-कभी उन क्रूर कपूत विमूढ़ोंको श्रीरामजीसे विरोध करनेकी नितान्त संभावना रह जाती।

महाराजा दशरथजी जैसे माधुर्य-भक्ति-निरत श्रीरामभक्तको, श्रीरामजीके पिताको केवल अपशकुनोंके दर्शनसे ही कितना भय, क्लेश और दुःख होता है यह वाल्मीकीय और भावार्थ रामायणोंसे स्पष्ट है। श्रीदशरथ-जैसे बड़भागीको ऐसे बड़े दुःखका भागी बनानेकी कठोरता गोस्वामीजीके हृदयमें कहाँ थी!!

नोट—१ श्रीहनुमन्नाटक और प्रसन्नराघवमें भी यही क्रम है। श्रीहनुमन्नाटकमें धनुषयज्ञशालामें ही धनुर्भंगके बाद तुरत ही परशुरामागमन है। धनुषयज्ञ तथा परशुराम-गर्वदलन-प्रसङ्ग बहुत कुछ हनुमन्नाटकसे मिलता-जुलता है, जैसा हमने मिलानके श्लोकोंसे बराबर दिखाया है। 'मानस' के 'बूड़ सो सकल समाज' की तरह उसमें भी धनुषको परशुरामके प्रौढ़ गर्वके साथ तोड़ना कहा है—'भार्गव प्रौढाहंकृतिदुर्मदेन सहितं तद्भग्नमैशं धनुः। अंक १। २३।', अतः साहित्यज्ञ यह कह सकते हैं कि यह क्रम हनुमन्नाटकादिसे लिया गया है। और यह प्रसंग भी बहुत कुछ उसी शैलीपर रचा गया है। (मा० सं०)। २८५ (४-७) में इस विषयपर प्र० सं० तथा इसी संस्करणमें लेख दिये गये हैं।

* नर—१७०४, छ०। पुर—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०, भा० दा०।

टिप्पणी—१ 'खरभरु देखि बिकल···' इति । (क) सब राजाओंका इकट्ठे उठना ही 'खरभरु' है, यथा—'नगर निकट बरात सुनि आई । पुर खरभरु सोभा अधिकाई ॥ ९५ । १ ।' [यहाँ 'खरभरु' से वह सब वाद-विवाद भी अभिप्रेत है जो 'कूर कपूत मूढ़ मन माषे । २६६ । १ ।' से लेकर 'कोलाहल सुनि सीय सकानी । २६७ । ५ ।' तक वर्णन किया गया है । 'कोलाहल' और 'खरभरु' में थोड़ा-सा अन्तर है । कोलाहलमें चिल्लाहट, शोर, हल्लाहीका विशेष भाव रहता है और 'खरभरु' में गुलगपाड़ा हल्लाके साथ हलचल और गड़बड़ीका भी भाव है जो व्याकुलताका कारण होता है । यथा—'होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा । दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सरु धरा॥८४। छंद।] (ख) 'देखि' इति । पुरनारियोंका यहाँ देखना कहते हैं और पूर्व सीताजीका सुनना कहा है, यथा—'कोलाहल सुनि सीय सकानी । २६७ । ५ ।'; भेदमें भाव यह है कि पुरनारियाँ राजाओंकी ओर देख रही हैं (राजाओंका उठना, ज़िराबख़तर आदि पहनना, वाद-विवाद करना, इत्यादि सब उन्होंने देखा है), इसीसे उनका 'खरभरु' देखना कहा, और श्रीजानकीजी राजाओंकी ओर देखती नहीं हैं, इसीसे उनके सम्बन्धमें देखना न कहकर केवल सुनना कहा । (ग)— 'बिकल पुर नारी'— पुरकी स्त्रियोंका व्याकुल होना कहकर सूचित किया कि जैसे राजारानीको दुःख होता है, वैसे ही पुरकी स्त्रियोंको होता है। (रानियोंका दुःख ऊपर कह आये—'रानिन्ह सहित सोच बस सीया । अब धौं बिधिहि काह करनीया । २६७ । ७ ।' वैसा ही दुःख इनको है) । कारण कि पुरनारियोंको भी दोनों भाई अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप । जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ॥ २४१ ।' (घ) 'सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी' इति । 'सब मिलि' का भाव कि गाली देनेमें कोई किसीको मना नहीं करती, सबका संमत एक है । सब सहमत हैं, यही सबका मिलना (मिलकर गाली देना) है । (ङ) बड़े लोग गाली नहीं देते, गाली देना उनको नहीं सोहता, यथा—'गारी देत न पावहु सोभा । २७४ । ८ ।' (ये वचन लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे कहे हैं); इसीसे रानियोंका गाली देना नहीं लिखते, वे गाली नहीं देतीं । पुरनारियाँ गाली देती हैं, उनका गाली देना शोभा देता है । साधारण स्त्रियोंका यह स्वभाव है। [दूसरे, खलबली देखकर ये सब व्याकुल हैं; इसीसे ये राजाओंको बुरा-भला कह रही हैं । गीतावली १ । ९३ । ३ में जो कहा है 'देखे नर नारि कहैं, साग खाइ जाए माइ, बहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं ।', यही गालीका नमूना है। 'कुलहि लजावहिं बाल बालिस बजावैं गाल, कैधौं कूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं ।' इति लक्ष्मणवाक्य । (गी० १।९३।२), इत्यादि वचन गाली ही हैं । परशुरामजीके यह कहनेपर कि 'यह भानुवंशके लिये कलंक है, कालके हवाले किया जायगा, इत्यादि', लक्ष्मणजीने कहा था कि 'गारी देत न पावहु सोभा']

नोट—२ 'तेहि अवसर सुनि सिव-धनु भंगा ।···' इति । (क) श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'तेहि अवसर' अर्थात् जिस समय तेजनिधान लखनलालजी और मूढ़ महीपतियोंके बीचमें घोर युद्ध छिड़ जानेकी अत्यन्त सम्भावना थी उसी समय-पर । ☞ मानसमें 'तेहि अवसर' शब्दका प्रयोग नवीन प्रसङ्गका श्रीगणेश बताता है । जैसे कि—'तेहि अवसर आए दोउ भाई । गए रहे देखन फुलवाई ॥ २१५ । ४ ।', 'राजकुँअर तेहि अवसर आए । २४१ । १ ।', 'तेहि अवसर सीता तहँ आई । गिरिजा पूजन जननि पठाई ॥ २२८।२।', 'प्रेममगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु । २ । २७४ ।', 'तेहि अवसर रावन तहँ आवा । ५ । ९ ।' इत्यादि । (व्यापकजी भी लिखते हैं कि मानसमें तीस बार 'तेहि अवसर' का प्रयोग कविने उन स्थलोंमें किया है जहाँ या तो इसके पूर्वके कार्यके पूर्ण होनेमें विलम्ब होता हो या कथाकी शृङ्खला समाप्त होती हो) । (ख) श्रीलक्ष्मणजी दुष्ट राजाओंपर कहर (अत्यन्त क्रोध) की दृष्टि डाल रहे हैं, पर बड़े भाईके अदबलिहाजसे बोल नहीं सकते । इसी मौकेपर श्रीपरशुरामजीका आकर श्रीलक्ष्मणजीसे हैरान होना व्याजसे उनमें पराजित सभी राजाओंका पराजय सूचित करता है । (प्र० सं०) ।

२—श्रीलमगोड़ाजी अपने वि० सा० रा० (हास्यरस) के पृष्ठ ४३ में लिखते हैं कि 'जनताकी यह दशा है कि 'खरभरु देखि बिकल पुर नारी । सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥'—तसवीर कैसी चलती-फिरती और जीती-जागती है और फिर मजाक यह है कि निर्बलोंका अस्त्र 'गाली' । कितनी सुन्दर कला है कि ठीक ऐसे 'खरभर' के मौकेपर परशुरामजी रंगमंचपर लाये जाते हैं । वे क्रोधमें हैं और कवि उनका चित्र खींचता है—'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते ।' इनके आते ही खरभर गायब और राजाओंकी भी बोलती बंद । मानो चारों ओर श्रीवास्तवजीका सूत्र ही चरितार्थ होता दिखता है और राजाओंकी बोल गयी 'माई डार्ड कुकड़ूं कूं ।'

टिप्पणी—२ 'तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा···' इति। (क) श्रीरामचन्द्रजीने जब धनुष तोड़ा तब उसका शब्द ब्रह्माण्डभरमें गूँज उठा—'भरे भुवन घोर कठोर रव ॥ २६१ ॥' उसी शब्दको सुनकर परशुरामजी चले। [धनुर्भंगके शब्दको सुनकर आये; यही मत श्रीहनुमन्नाटकका है। यथा—'लक्ष्मणः। जामदग्न्यस्त्र्युत्पन्नैरवधनुः कोलाहलामर्षमूर्च्छितः, प्रलयमारुतोद्धूतकल्पान्तानलवत्प्रदीप्तरोषानलः । (रामं प्रति, परशुरामं सूचयन्)—'यद् बभञ्ज जनकात्मजाकृते राघवः पशुपतेर्महद्धनुः ॥ तद्धनुर्गुणरवेण रोषितस्त्वाजगाम जमदग्निजमुनिः। अङ्क १ श्लो० २८।' अर्थात् टूटे हुए शिवधनुषके भयानक शब्दके क्रोधसे मूर्छित, प्रलयकालीन पवनसे प्रदीप्त किये हुए प्रलयाग्नि-सदृश प्रचण्ड क्रोधवाले परशुरामजीको दिखाते हुए लक्ष्मणजी कहते हैं—'श्रीजनकात्मजाके लिये राघवने जिस शिवधनुषको तोड़ा उसकी प्रत्यञ्चाके शब्दसे क्रोधित होकर जमदग्निके पुत्र परशुराम मुनि आये। (व्रजरत्नभट्टाचार्यकी श्रीरामचरितामृतभाषाटीकासे)] (ख) 'सुनि सिवधनु भंगा। आयेउ' इति। यहाँ (श्रीजनकपुरमें धनुर्भंगकी घोर ध्वनिसे) सब लोग सचेत हुए, सबने जय-जयकार किया, बाजे बजे, निछावरें हुईं, श्रीजानकीजी श्रीरामजीके समीप गयीं और उनको जयमाल पहनाया, आरती और निछावरें हुईं, राजा लोग कवच पहन-पहन गाल बजाने लगे, साधु राजा उनको सुन्दर शिक्षा देने लगे, सखियाँ श्रीजानकीजीको रानीके पास ले गयीं, श्रीरामजी गुरुजीके पास गये। पुरनारियाँ दुष्ट राजाओंको गालियाँ देने लगीं।—इतना काम होनेपर परशुरामजी यहाँ पहुँचे (अपने आश्रमसे यहाँतक आनेमें पवनवेगवाले परशुरामजीको इतना समय लगा।) कविने 'आयेउ' एकवचनका प्रयोग यहाँ किया। क्योंकि इन्होंने यह न विचार किया कि जिस धनुषको देवता, दैत्य आदि टसकानेको भी समर्थ न थे उसका तोड़नेवाला भगवान्‌के अतिरिक्त कौन हो सकता है, और उनसे लड़ने आये। यथा—'करु परितोषु मोर संग्रामा ··· छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही। २८१।' [(ग) मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'खरभर सुनकर आनेका भाव यह है कि उन्होंने सोचा कि हमने तो पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया था, अब ऐसा कौन वीर प्रकट हुआ है जिसने हमारे गुरुके ही धनुषपर हाथ लगाया']।

३ 'भृगुकुल कमल पतंगा' इति। (क) [सन्तउन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि 'भृगुने श्रीशिवजी और ब्रह्माजीका निरादर किया था और विष्णुभगवान्‌की छातीमें लात मारी थी—परमपूज्य कुलके भावसे, और ये तो उस कुलमें परम वीररूप सूर्य ही हुए हैं फिर भला इनका क्या कहना! ये भला किसीको क्यों डरने लगे; इस भावसे भी 'भृगुकुल कमल पतंगा' कहा। ये भगवान् अपने अवतारीपर वचनरूपी वज्रका प्रहार करेंगे ही, इसमें आश्चर्य क्या?'] (ख)—यहाँ 'भृगुकुल' यह ब्राह्मणकुलसम्बन्धी विशेषण प्रसङ्गके प्रारम्भमें देकर जनाते हैं कि अब परशुरामजीकी बड़ाई केवल ब्राह्मणकुलकी (ब्राह्मणपनेकी) रह जायगी (वीरताकी बड़ाई न रह जायगी), यथा—'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी॥ २७३।५' 'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई।२८४।५।' 'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभट जेहि भय बस नावहिं माथ ॥ २८४ ॥' (ग) यहाँ परशुरामजीको भृगुकुलकमलका पतंग कहते हैं और श्रीरामजीको 'बाल पतंग' कह आये हैं, यथा—'उदित उदय गिरि-मंचपर रघुबर बाल पतंग ॥ २५४ ॥' इस प्रकार यहाँ दो पतंग हैं। (एक ब्रह्माण्डमें दो सूर्य एक साथ नहीं रह सकते)। श्रीरामजीको बाल पतंग कहकर उनका उदय बताया है—'उदित उदय···'। इनका उदय कहकर (परशुरामजीको अस्तकालका सूर्य जनाते हुए) उनका अस्त दिखाया है। पुनः 'पतंग' कहनेका भाव कि इससे यह सूचित करते हैं कि (इनके आनेपर) प्रथम भारी तेज देख पड़ा, पीछे उनका स्वरूप देख पड़ा—'गौर सरीर···।'

नोट—३ 'भृगुकुल कमल पतंगा'। (क) श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—पूर्व दोहा २५४ में 'उदित उदय गिरि मंचपर रघुबर बाल पतंग' और उसका स्वाभाविक कार्य 'बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग' भी कह आये हैं। यहाँ परशुरामजीको 'पतंग' मात्र कहा, इस तरह इनको तरुण पतंग सूचित कर रहे हैं। एक बाल पतंग तो पहलेसे उदित थे ही। अब एक तरुण पतंग (भास्कर) आ गये। दोनों एक ही मखमण्डप-नभमें उदित हैं। इससे दोनोंमें समरकी सम्भावना है और तरुण पतंगसे सर्व सभासदोंको ताप हो जायगा यह भी भाव जनाया गया है। यहाँ पद्मोंका प्रफुल्लित होना न कहनेसे पाया गया कि इस तरुण पतंगमें सन्त-सरोजोंको प्रसन्न (विकसित) करनेका सामर्थ्य उस समय न था। (ख)—'पतंग संज्ञा दोपहरके सूर्यकी है। जो खर और दाहक है और खूनको सुखानेवाला है। ये तीनों गुण परशुराममें हैं—'करनी कठिन' 'चाप

स्रुवा सर आहुति जानू । कोप मोर अति घोर कृसानू ॥' 'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते । सहजहिं चितवत मनहु रिसाते ॥ (यही स्रुवका सोल लेना है) । इनको 'पतंग' कहा और आगे रामजीको 'रघुकुल भानु' कहेंगे ।—'लखन उतर आहुति सरिस' 'बोले रघुकुलभानु ॥ २७६ ॥' भेदका कारण क्यों ? भानु भोरके सूर्य हैं क्योंकि 'भा दीप्तौ' इस धातुसे इसकी व्युत्पत्ति होती है—'भात्यन्धकारं विधूय यः सः भानुः' अर्थात् जो प्रकाशित होकर अन्धकारको दूर करे वह 'भानु' है । पतंग मध्याह्न हैं क्योंकि 'पतन् सन् गच्छतीति पतंगः' गिरता हुआ चले सो पतंग; अर्थात् दोपहरके बादके सूर्य अपनी प्रभासे गिरने लगते हैं । अतः रामजीको वंदना और परशुरामजीको घटना है । (रा० च० मिश्र) । इसी विचारसे 'पतंग' कहा । (ग) भृगुवंशियोंको प्रफुल्लित करनेवाला कहनेका भाव यह है कि उस समय क्षत्रियोंका संहार देखकर भार्गव (भृगुवंशी) प्रसन्न होते थे । (पं०) पुनः 'पतंग' कहकर इनका आकाशमार्गसे आना तथा अतिशय तेजस्वी होना जनाया । (व्यापकजी) ।

देखि महीप सकल सकुचानें । बाज झपट जनु लवा लुकानें ॥ ३ ॥
गौर* सरीर भूति भल भ्राजा । भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—'बाज'—यह एक प्रसिद्ध शिकारी पक्षी है जो चीलसे छोटा पर उससे अधिक भयंकर होता है । इसका रंग मटमैला, पीठ काली और आँखें लाल होती हैं । यह आकाशमें उड़नेवाली चिड़ियों आदिको झपटकर पकड़ लेता है । 'लवा'—तीतरकी जातिका एक पक्षी जो तीतरसे बहुत छोटा होता है । यह जमीनपर अधिक रहता है । जाड़ेमें इसके झुंड-के झुंड झाड़ियों और जमीनपर दिखायी देते हैं । बटेर भी कुछ ऐसा ही होता है । 'भूति'=विभूति-भस्म । भ्राजा=शोभित हो रही है । 'त्रिपुंड' (सं० त्रिपुण्ड)=भस्मकी तीन आड़ी रेखाओंका तिलक जो शैव लोग ललाटपर लगाते हैं । विराजा= विशेष शोभित है, विराजमान है ।

अर्थ—(उन्हें) देखकर सभी राजा (ऐसे) सकुचा गये मानो बाजकी झपटसे लवा पक्षी लुक (छिप, दुबक) गये हों ॥३॥ गोरे शरीरपर विभूति अच्छी शोभित हो रही है । विशाल (ऊँचे एवं लंबे-चौड़े) ललाटपर त्रिपुण्ड्र विशेष शोभायमान है॥४॥

नोट—१ दुष्ट राजाओंका अहंकार दूर करनेके लिये भगवत्-इच्छासे इसी समय परशुरामजी आये । इनको देखते ही राजा सकुचकर जा छिपे । अर्थात् राजारूपी तारागणका तेज जाता रहा, फिर भला रघुवर बाल-पतंग जो अब मध्याह्नपर प्राप्त हो रहा है उसके सामने वे क्या ठहरते ? (प्र० सं०) ।

टिप्पणी—१ 'देखि महीप सकल सकुचानें' इति (क) सकुचानेका कारण यह है कि परशुरामजी सब राजाओंके वैरी हैं (यथा—'बाल ब्रह्मचारी अति कोही । बिस्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही । २७२ । ६') । 'सकुचाने' कहकर सूचित किया कि राजा कवच पहने और शस्त्रास्त्र धारण किये हुए हैं (यथा—'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे । जहँ तहँ गाल बजावन लागे । २६६ । २ ।') इसीसे वे परशुरामजीको देखकर सकुच गये; बड़ेको देखकर छोटेको संकोच होता ही है । (सकुच इससे भी कि परशुरामजी यह न समझें कि लड़नेके लिये तैयार होकर खड़े हैं) । 'सकुचाने' से यह भी जनाया कि कवच तथा अस्त्र-शस्त्र जो धारण किये हुए थे उन्हें उतार डाला [और इधर-उधर छिपाकर गऊ बनकर बैठ गये । (प्र० सं०)] (ख)—'बाज झपट जनु'—इस दृष्टान्तसे जनाया कि परशुरामजी बड़े वेगसे आये [और आकस्मिक भी तथा आकाशमार्गसे । स्मरण रहे कि जबसे परशुरामजीने क्षत्रियोंसे पृथ्वीको छीनकर महर्षि कश्यपको दान कर दी थी, तबसे वे महेन्द्राचलपर ही रहते थे । वहींसे मनोवेगद्वारा आकर प्राप्त हुए हैं । पृथ्वीको दानमें दे दी इससे उसपर रातमें नहीं रहते थे । यथा—'स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुन्धराम् । दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः । वाल्मी० १ । ७५ । ८ ।' अर्थात् आप सारी पृथ्वी कश्यपजीको देकर महेन्द्राचलके वनमें जाकर तप करने लगे थे । पुनश्च 'सोऽहं गुरुवचः कुर्वन्पृथिव्यां न वसे निशाम् । ... तदिमां त्वं गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव । मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् । वाल्मी० १ । ७६ । १४-१५ ।' अर्थात् मैं गुरु कश्यपजीकी आज्ञा मानकर रात्रिमें पृथ्वीपर नहीं रहता ।—अतः हे राघव ! आप हमारी गतिको नष्ट न कीजिये । जिससे हमारी वेगवती चाल बनी रहे और मैं मनोवेगसे शीघ्रतापूर्वक महेन्द्राचलपर पहुँच जाऊँ ।] (ग) 'लवा लुकानें' इति । लवाका दृष्टान्त देकर भय सूचित किया । जैसा बाजके झपटनेसे लवाको भय होता है, क्योंकि वह उसका सामना करनेमें असमर्थ होता है, वैसा ही भय परशुरामजीको देखकर राजाओंको हुआ ।—'लवा लुकाने' से

* भागवतदास १६६१ की पोथीमें 'गौरि' पाठ है । और सबोंमें 'गौर' ही पाठ मिलता है ।

भाव कि जो कवच पहन-पहनकर खड़े होकर गाल बजाने, डींगें मारने लगे थे, वे लवांकी तरह बैठकर छिप गये, उनको अपने ही प्राणोंके बचनेका संदेह हो गया। ['लुकानें' शब्दसे अनुमानित होता है कि डरके मारे मचानोंके नीचे जा छिपे। अथवा, दुबककर बैठ गये। बाज और लवाकी उत्प्रेक्षा बड़ी उत्तम है। यह शरद्‌ऋतुका समय है, जाड़ेमें लवोंके झुण्ड-के-झुण्ड दिखायी देते हैं; वैसे ही यहाँ राजाओंका समाज एकत्रित है। बाज अकेला झुण्ड-के-झुण्डके लिये पर्याप्त, वैसे ही परशुरामजी अकेले ही सबके लिये पर्याप्त। बाज बड़े वेगसे झपटता है वैसे ही परशुरामजी महान् वेगसे आये। इनके वेगका विस्तृत वर्णन वाल्मी० १। ८४में है। पृथ्वीभरके क्षत्रिय राजा इस समय यहाँ एकत्रित हैं। कहीं परशुरामजी फिर पृथ्वीको निःक्षत्रिय करने तो नहीं आ गये, यह सोचकर राजा सहम गये।] यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

श्रीलमगोड़ाजी—'खूब! सारी तीसमारखानी परशुरामजीकी सूरत देखते ही हवा हो गयी।'''साहित्यमर्मज्ञ अनुप्रासोंका आनन्द लूटें और नाटकीय एवं हास्यकलाकी दाद दें।'

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—(क) 'महीप सकुचानें'। इति। पतंगके उदयसे कुमुद संकुचित होते ही हैं, यथा—'अरुनोदय सकुचे कुमुद'''। २३८।' कुमुद निशाप्रिय है। मोह निशा है, यथा—'मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत।' इससे 'मूढ़ मन माखे। २६६। १।' के 'मूढ़' शब्दकी यथार्थता सिद्ध होती है। (ख) 'लुकानें' इति। सूर्योदयपर उलूक छिप जाते हैं। उत्तरकाण्डमें अघको उलूक और कामको कैरवकी उपमा दी है, यथा—'अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥ ७। ३१। ४।' इससे यह भाव भी जनाया कि सब महीपति कामी थे। इसीसे उनको शोक हुआ।' 'बहुतन्ह मन सोका। ७। ३१। २।' कहा ही है।

टिप्पणी—२ 'गौर सरीर भूति भल भ्राजा''' इति। (क) 'गौर' से शरीरकी, 'भलभ्राजा' से विभूतिकी' 'बिसाल' से ललाटकी और 'बिराजा' से त्रिपुण्डकी शोभा कही। अर्थात् शरीर शोभित है, शरीरमें विभूति शोभित है, भाल शोभित है और भालमें त्रिपुण्ड विशेष शोभित है। (ख) भ्राजना और विराजना दोनोंका अर्थ 'दीप्तमान् होना' है—'भ्राज् दीप्तौ, राज् दीप्तौ'। 'भ्राजा' शब्दको स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनोंमें एक ही तरह लिखते हैं; यथा—'कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा' में 'भ्राजा' पुँल्लिङ्ग है और 'बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। ४। १५। ११।' में 'भ्राजा' स्त्रीलिङ्ग है। भाषामें कहीं-कहीं स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्गका विचार नहीं रहता है। (ग) 'भूति भल भ्राजा' कहनेसे सूचित हुआ कि विभूति शुक्ल (श्वेत) है, शरीरके अनुहरित है। 'भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा' से जनाया कि ललाट जैसा भारी (चौड़ा और ऊँचा) है वैसा ही भारी त्रिपुण्ड है और सुन्दर है।

सीस जटा ससि बदनु सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥ ५॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥ ६॥

शब्दार्थ—राते=रक्त वर्णके; लाल। यह 'रक्त' का अपभ्रंश है। रिसाना=कुपित होना, क्रोध करना।

अर्थ—सिरपर जटा है। चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख है (जो) क्रोधवश कुछ लाल हो आया है॥ ५॥ भौंहें टेढ़ी हैं। नेत्र क्रोधसे लाल हैं। स्वाभाविक (साधारणतया भी) देखते हैं (तो ऐसा जान पड़ता है) मानो क्रोध कर रहे हैं (क्रोधमें भरे हैं)॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'सीस जटा ससि बदन''' इति। (क) ☞ यहाँ परशुरामजीकी शोभाका वर्णन करते हैं, इसीसे सिरसे वर्णन उठाया है। शृङ्गारका वर्णन सिरसे प्रारम्भ करते हैं। [परशुरामजी बालब्रह्मचारी हैं और ब्रह्मचारीको 'मुण्डो वा जटिलो वा स्यात्' (मनु अ० २। २१९) रहना चाहिये। अतः 'सीस जटा' कहा है। (व्यापकजी)] (ख) 'ससि बदन सुहावा'—'सुहावा' कहकर पूर्णचन्द्रकी उपमा सूचित की। पूर्णचन्द्र ही 'सुहावा' (सुन्दर) होता है यथा—'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा। २३७। ७')। अथवा, 'सुहावा' को 'ससि' का विशेषण मानें तो अर्थ होगा—'सुन्दर चन्द्रमाके समान मुख है'। शशिका विशेषण माननेसे भाव होगा कि चन्द्रमामें दोष है (यथा—अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही। २३८। २), और आपका मुख निर्दोष सुन्दर चन्द्रमाके समान है। [पुनः, चन्द्रमें गुरुपत्नीगमन दोष है, यथा—'ससि गुरुतियगामी'''। परंतु आप गुरुद्रोहीका वध करने आये हैं, अतः गुरु-अपमान दोष न होनेसे 'सुहावा' कहा। शशिकी उपमासे मुखकी आकृतिको गोल जनाया। (व्यापकजी)]। (ग) श्रीपरशुरामजीका शान्त

वेष वर्णन कर रहे हैं—('सांत वेषु ···' । २६८) । इसीसे वेषमें शुक्लताका वर्णन कर रहे हैं; कारण कि शान्तरसका वर्ण शुक्ल है ।—गौर शरीर शुक्ल, विभूति शुक्ल, त्रिपुण्ड शुक्ल, मुख पूर्णचन्द्रसमान शुक्ल, जटाओंमें विभूति लगी है इससे वे भी शुक्ल और सारे शरीरमें विभूति रमाये हुए हैं इससे सर्वाङ्ग शुक्ल—इस तरह सारी सामग्री शुक्ल-ही-शुक्ल है । (घ) 'रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा'—यह 'बदन' का विशेषण है । रिसवश किञ्चित् ललायी आ गयी है, यह भी शोभा है। (धनुर्भंगकी ध्वनि सुनकर परशुरामजीको अभी अल्पक्रोध स्थायी है । उसकी अल्पता 'कछुक' शब्दद्वारा प्रकट की गयी है। आगे चलकर वह पूर्ण रसरूप होगा) ।

टिप्पणी—२'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते···' इति । (क) भौंहें सदा टेढ़ी रहती हैं, इसीसे उनके टेढ़ेपनका कोई कारण नहीं लिखते । भौंहका टेढ़ापन उसकी शोभा है । नेत्र सदा लाल नहीं रहते, रिससे लाल हुए हैं, इससे उनके लाल होनेका कारण दिया । पुनः, भौंहकी कुटिलता और नेत्रोंकी अरुणता दोनों क्रोधके चिह्न हैं, यथा—'**अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप** । २६७ ।' अथवा क्रोधसे भृकुटी कुटिल हो गयी है, यथा—'**माखे लखन कुटिल भै भौंहें । रद-पट फरकत नयन रिसौंहें** । २५२ । ८ ।'; इस प्रकार 'रिस' को दोनोंमें लगा सकते हैं । (ख)'**सहजहुँ चितवत मनहु रिसाते**' इति । यथा—'जेहि सुभाय चितवहिं हितु जानी । सो जानै जनु आइ खुटानी । २६९ । ३ ।' यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ।

बृषभ कंध उर बाहु बिसाला । चारु जनेउ* माल मृगछाला ॥ ७ ॥
कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधें । धनु सर कर कुठार कल काँधें ॥ ८ ॥

अर्थ—बैलके-से (ऊँचे और मांसल) कंधे हैं, छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं (अर्थात् आजानुबाहु हैं) । सुन्दर जनेऊ, माला और मृगछाला (पहने हुए हैं) ॥ ७ ॥ कमरमें मुनिवस्त्र है, (उसीमें) दो तरकश बाँधे हुए हैं। धनुष और बाण हाथमें हैं । सुन्दर कुठार (फरसा) सुन्दर कन्धेपर है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ '**वृषभ कंध उर**···' इति । (क) वृषभकंध' अर्थात् पुष्ट (ऊँचे और मांसभरे हुए) हैं । उर विशाल (अर्थात् वक्षःस्थल चौड़ा) है और बाहु विशाल अर्थात् घुटनेतक लंबी हैं । (ख) यहाँतक तीन अंगोंके सम्बन्ध लिखे और तीन अङ्ग केवल (अर्थात् बिना सम्बन्धके) लिखे । माल केवल है, उसके साथ किसी अंगका सम्बन्ध नहीं है । शीशके साथ जटाका सम्बन्ध है । वदनके साथ किसी अङ्गका सम्बन्ध नहीं है भृकुटी और नयनका सम्बन्ध है, कन्धे और उरसे बाहुका सम्बन्ध है । कन्धेके समीप ही बाहु है । ग्रन्थमें उर और बाहुका सम्बन्ध बहुत मिलता है । यथा—'**अरुन नयन उर बाहु बिसाला**। २०९ । १', '**छतज नयन उर बाहु बिसाला** । ६ । ५२ । १ ।' तथा यहाँ '**बृषभ कंध उर बाहु बिसाला**' । इसी प्रकार कन्धे और बाहुका भी सम्बन्ध मिलता है, यथा—'**केहरि कंधर बाहु बिसाला** । २१९ । ५' । कटिके साथ किसी (अंग) का सम्बन्ध नहीं है । सर्वाङ्ग मिलकर शरीर एक है, इसीसे शरीरको केवल (बिना सम्बन्धके) लिखा ।—ऐसा वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि स्वरूपके वर्णन करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे एक रीति यह भी है । कोई अङ्ग किसी दूसरे अङ्गके सम्बन्धसे शोभित होता है और कोई अङ्ग केवल (अकेले ही, अपनेसे ही, बिना किसीकी सहायताके) शोभित होता है । जो अङ्ग केवल कहे, वे केवल शोभित हैं और जिन अङ्गोंका सम्बन्ध कहा, वे सम्बन्धसे शोभित हैं । (ग) 'चारु' जनेऊ, माल और मृग-छाला तीनोंका विशेषण है । वृषभ-कन्धपर कुठार और मृगछाला है, उरपर जनेऊ और माला है, और बाहुमें धनुष-बाण हैं । [हनु० १ । २९ में चितकबरे (रुरु) मृगकी त्वचाका धारण करना कहा है, यथा—'**भस्मस्निग्धपवित्रलाञ्छितमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्** ।' अतः 'मृगछाला' से वही मृगचर्म समझना चाहिये ।]

२ '**कटि मुनि बसन**···' इति । (क) मुनिवसन अर्थात् वल्कलवस्त्र है, यथा—'**बलकल बसन जटिल तन स्यामा । जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा** ।' ['सीस जटा, ससि बदन सुहावा, चारु जनेउ माल, **मृगछाला और कटि मुनि बसन**' इन शब्दसमुच्चयोंमें मुनिवेषका दिग्दर्शन है । श्रीरामजीको मुनिवेषका नमूना प्रत्यक्ष दिखाया है (आगे उनको मुनिवेष धारण करना है) । मुनि, मृगछाला और मुनिवसनोंका आवश्यक साहचर्य बताकर लंकाकाण्डमें वहाँ (सुवेल पर्वतकी झाँकीमें) 'मृगछाला' शब्द आता है वहाँ उस मृगचर्मके विषयमें क्लिष्ट कल्पनाओंकी उत्पत्ति होनेका सम्भव मिटानेका प्रयत्न किया है ।

* जनेऊ कटि—छ० । जनेउ माल—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२ ।

(श्रीप्रज्ञानानन्दजी)] (ख) 'तून जुग बाँधें' इति। दो तरकश बाँधे कहकर सूचित किया कि परशुरामजी दाहिने और बायें दोनों हाथोंसे धनुष धारण करते हैं, [दोनों हाथोंसे धनुष खींचना और बाणोंका संग्रह एवं संधान करना जानते थे। दोनों हाथोंसे धनुष खींचने और बाण चलानेमें अभ्यस्त थे। जिधर प्रयोजन हुआ उधर ही चलाते। जब जिस हाथसे बाण चलाते थे उसके दूसरी ओरके तरकशसे बाण निकालते थे। जैसे अर्जुन दोनों हाथोंसे बाणोंका संग्रह और संधान करते थे। दाहिने हाथसे तो प्रायः बाण चलाते ही थे, पर बायें हाथसे भी बाण-समूहोंका सन्धान करते थे, इसीसे उनको 'सव्यसाची' कहा है—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। गीता ११। ३३। भाव यह कि दोनों हाथोंसे युद्ध करनेमें समर्थ सूचित किया] इसीसे दोनों ओर तरकश बाँधे हैं। अथवा, [दो धनुष हैं, एक अपना और एक विष्णुका, इसीसे दो तरकश भी हैं। एकमें शार्ङ्ग बाण हैं और एक साधारण अपने कामके लिये है। विष्णु-धनुष तो इनसे चढ़ता ही न था। यही वैष्णव-धनुष और बाण परशुरामजीसे लेकर श्रीरामजीने चढ़ाया है; यथा—'इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य शरासनम्। शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः।' (वाल्मी० १। ७६। ४)। पं० रा० च० मिश्रजीका मत है कि एक तूण पिनाकीका और एक विष्णुका है, विशेष २८४। ७। 'राम रमापति'' में देखिये। हनु० १। २९ में भी दो तरकश कहे हैं—'चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो'] (ग)—'धनु सर कर कुठार कल काँधें' इति। परशुरामजी तीन शस्त्र धारण किये हुए हैं। इसीसे लक्ष्मणजीने इन्हीं तीनका नाम लिया है, यथा—'व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा। २७३। ८'। ☞ जहाँ वीर-रसयुक्त रूपका वर्णन है वहाँ ऐसा ही वर्णन करते हैं; यथा—'जटा जूट दृढ़ बाँधे माथे। सोहहिं सुमन बीच बिच गाथे॥ अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा॥ कटितट परिकर कस्यो निषंगा। कर कोदंड कठिन सारंगा॥ सारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यो। भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुर पद लस्यो' (इत्यादि। ६। ८५)। ['कुठार'—यह परशु (फरसा) है जो इनका मुख्य आयुध है। इसीसे इन्होंने सहस्रबाहुकी भुजाएँ काटीं और पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया। धनुष-बाण दूरसे आघात करनेके लिये रखते हैं।]

प० प० प्र०—१ 'गौर सरीर भूति भल भ्राजा' से 'धनु सर कर कुठार कल काँधें' तक परशुरामजीके शान्त और वीर वेषका सम्मिश्रण वर्णन किया है। वह भी मिश्रण पद्धतिसे—पहले तीन अर्धाली ('गौर सरीर' से 'रिसाते' तक) शान्त वेषकी, फिर दो मुनिवेषकी और अन्तमें एक वीरवेषका वर्णन करती है।

२—उपक्रम शान्त वेषसे और उपसंहार वीर वेषका करनेमें भाव यह है कि शान्त वेषका कार्य स्थगित होकर उत्तरोत्तर वीर वेषका ही कार्य होगा। इसी भावसे दोहेमें भी शान्तका उल्लेख प्रथम करके तब वीरका करते हैं।

३—ऊपर दो० २६७ में श्रीलक्ष्मणजीको वीर-रसमें दिखाया है और यहाँ परशुरामजीमें भी वीर-रसकी ही प्रधानता देख पड़ती है। दोनोंका मिलान करनेसे यह भाव प्रकट होता है कि दोनोंमें अवश्य खूब खटकेगी; अब समीप भविष्यमें ही दोनोंकी बराबरी होगी। यथा—'तौ कि बराबरि करत अयाना।' दोनोंका मिलान—

लक्ष्मणजी		वीर-रसके परशुराम
अरुण नयन	१	नयन रिस राते (अधिक क्रोध)
भृकुटी कुटिल	२	भृकुटी कुटिल (साम्य)

लक्ष्मणजी		परशुरामजी
चितवत सकोप	३	सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते (स्वभाव सकोपता—'मैं अकरुन कोही')
मत्त गजगन''चौप ४		रिस बस कछुक अरुन होइ आवा

दो०—सांत* बेषु करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनि तनु जनु बीररसु आयउ जहँ सब भूप॥२६८॥

* 'संत'—रा० बा० दा०, ना० प्र०, को० रा०। साधु—१७०४। सांत १६६१, १७२१, १७६२, छ०। 'सांत' पाठ ही समीचीन है। इसका समर्थन 'धरि मुनि तनु''' से भी होता है और प्र० रा० ना० से। नोट १ में देखिये। 'बीररस' के सम्बन्धसे 'सांत' पाठ उत्तम है। संत वेष कोई निश्चित नहीं, गृहस्थों, वानप्रस्थोंमें भी संत होते हैं। कुवेशमें भी संत होते हैं। यति, बैरागी, वैष्णव, शैव सबमें संत होते हैं, सबके वेष एकसे नहीं होते। इसीसे मानसमें कविने सन्तके वेषका उल्लेख भी कहीं नहीं किया। केवल उनके लक्षण बताये हैं। अमुक-अमुक लक्षण जिसमें हों वही संत है। यथा—'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर। ७। ३८।' बिभीषण राक्षस थे पर संत थे, यथा—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।' अतः 'सांत' पाठ ही उत्तम है।'

अर्थ—वेष (तो) शान्त है (पर) करनी कठिन है। स्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता। (ऐसा जान पड़ता है) मानो (साक्षात्) वीररस मुनि-शरीर धारण करके वहाँ आया है जहाँ सब राजा हैं। २६८।

श्रीलमगोड़ाजी—१ श्रीतुलसीदासजी बड़े ही सुन्दर आलोचक भी हैं। क्या परशुरामजीके वेषकी आलोचना दोहेसे बढ़कर हो सकती है? २—इस प्रसङ्गपर 'मानस-पीयूष' का शीर्षक 'परशुरामका रोष और पराजय' महाकाव्यकलाके सम्बन्धसे बड़ा ही सुन्दर है, पर वही बात वि० सा० रा० के 'हास्यरस' में यों कही गयी है—'अब श्रीवास्तवजीके सूत्रका एक उदाहरण और देखिये। और फिर लुफ्त यह है कि अब परशुरामजीसे उसी तरह 'कुकड़ूकूँ' बुलायी जायगी, जैसे उनके आनेपर राजाओंसे बुलायी गयी थी।' ३—महाकाव्यकलाके दृष्टिकोणसे विद्वानोंके जो विचार 'मानस-पीयूष' में दिये गये हैं, उनके सामने कुछ लिखना सूर्यको चिराग दिखाना होगा। हाँ, मैं अपने नोटोंद्वारा हास्यरस और नाटकीयकलापर अधिक प्रकाश डालनेकी चेष्टा करूँगा।

टिप्पणी—१ (क) 'सांत बेषु' इति। जटा, विभूति, त्रिपुण्ड, माला, मृगछाला, मुनिवस्त्र—यह शान्तरसका वेष है। ऊपर चौ० ५ टि० १ (ग) में विशेष लिखा जा चुका है। ['शान्त' के साथ 'वेष' शब्द जोड़कर बताया कि परशुरामजी अब केवल वेषधारी मुनि थे। (प्र० स्वामी)] (ख) 'करनी कठिन' इति। तरकश, धनुष-बाण और कुठार धारण करना यह वीररसकी करनी है। यह करनी कठिन है, अर्थात् इससे अनेकों जीवोंका वध होता है। (परशुरामजीके कार्य कठोर हैं। इन्होंने एक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया था। यह आगे वे स्वयं कहेंगे)। (ग) 'बरनि न जाइ सरूप'—शान्तरस मृदु है और वीररस कठोर है। यहाँ परशुरामजीमें दोनों हैं, इसीसे स्वरूपका वर्णन नहीं करते बनता अर्थात् न कठोर कहते बने और न कोमल ही। (घ) 'धरि मुनि तनु जनु बीररस' इति।—शान्त वेष करना मुनितन धारण करना है। शस्त्र धारण करना वीररस है। वीररसने मुनितन धारण किया, यह कहकर सूचित किया कि अब राजा लोग न मारे जायँगे, क्योंकि मुनि हिंसा नहीं करते। वीररस मुनितन धरकर आया, क्योंकि वीरके चरणोंपर वीर नहीं गिरते, मुनिके चरणोंपर पड़ते हैं। इसीसे वीररस मुनिवेष धारण करके आया जिसमें सब राजा हमारा आदर करें, हमारे चरणोंपर मस्तक नवावें। [पूर्व श्रीरामजीको वीररसकी मूर्ति कह आये हैं, यथा—'देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहु बीररस धरे सरीरा॥ २४। १। ५।' वे क्षत्रियवेषमें वीररसकी मूर्ति हैं और परशुराम मुनितनमें वीररसकी मूर्ति हैं। वीररस मुनिवेषसे आया है इसीसे श्रीराम-लक्ष्मणजी इनको प्रणाम करेंगे, नहीं तो न करते जैसा अगले वाक्योंसे स्पष्ट है। यथा—'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥ २८३।', 'जो तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥ २८१। ३' इत्यादि।] (ङ)—'बीररस आयेउ जहँ सब भूप' इति। वीररसका शरीर धरकर राजाओंके समाजमें आना इससे कहा कि राजालोग सब वीर हैं। (यहाँ समस्त वीर क्षत्रिय आदि राजा एकत्र हैं, यथा—'दीप दीपके भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥ १। २५१।' वीरोंका ही समाज है, वीरसमाजमें वीरकी शोभा है, वहाँ वीर ही जाता है। अतः 'वीररस' का यहाँ आना कहा)।

प० प० प्र०—१ 'वीररस' को 'करनी कठिन' के साथ जोड़नेसे भाव यह होता है कि वीरोंको कठिन करनी करनी पड़ती है, चाहे वे मुनि ही क्यों न हों। मुनिवेषमें वीर करनीसे उस वेषकी विडम्बना होती है, वैसे ही यहाँ भी होगी। शान्त और वीररस परस्पर विरोधी होनेपर भी यहाँ एकत्र हो गये हैं, यह दिखाकर जनाया कि स्वभाव बदल गया है। फिर क्या कहना! सहज अबल अबला जब प्रबल होती है तब क्या होता है, कैसा होता है, और क्या असम्भव है!—एक सुविचारके सिवा दूसरा कुछ भी असम्भव नहीं!! 'का न करै अबला प्रबल?' ३—'बरनि न जाइ सरूप'—इसमें सात्त्विक भावका उद्रेक नहीं है। यह भयानक रसका परिपोषक है जैसा आगेकी अर्धालीसे स्पष्ट है।

नोट—१ प्रसन्नराघव नाटकमें भी इसी भावका श्लोक यह है—'लक्ष्मणः (सकौतुकम्)। मौर्वी धनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सिताग्राः। धारोज्ज्वलपरशुरेष कमण्डलुश्च तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः॥ ४। १९।'—लक्ष्मणजी आश्चर्यान्वित होकर कह रहे हैं—यह कौन है जो धनुषकी प्रत्यञ्चा और मूँजकी मेखला ऐसे शरीरपर धारण किये हुए है। इसके एक हाथमें तीखे-चोखे बाण और कुश हैं और दूसरे हाथमें उज्ज्वल धारवाला परशु और कमण्डलु है। अतः क्या यह शान्त और वीररस सम्मिलित कोई नया रूप तो नहीं है?

२—वीररस शरीरधारी नहीं होता। यह कविकी कल्पना मात्र है। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

देखत भृगुपति बेषु कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला॥ १॥
पितु समेत कहि कहि* निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥ २॥

अर्थ—परशुरामजीका भयंकर वेष देखते ही भयसे विकल सभी राजा उठ खड़े हुए॥ १॥ पितासहित अपना नाम कह-कहकर सब दण्डवत् प्रणाम करने लगे॥ २॥

नोट—१ राजाओंकी 'सारी तीसमारखानी हवा हो गयी' यह यहाँ भी लागू है। देखिये, कैसी 'बिलैया दण्डवत' कर रहे हैं। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि महीप सकल सकुचानें। बाज झपट जनु लवा लुकानें॥ २६८। ४।' पर प्रसङ्ग छोड़ा था। बीचमें परशुरामजीका स्वरूप वर्णन करने लगे थे। अब फिर वहींसे प्रसङ्ग उठाते हैं—'देखत भृगुपति बेषु कराला'। देखकर सब सकुचा गये, सब विकल हुए और सब उठे, इसीसे दोनों जगह 'सकल' पद देते हैं—'देखि महीप सकल सकुचानें' और 'उठे सकल भय बिकल'। (ख) 'बेषु कराला' का भाव कि स्वरूप सुन्दर है पर वेष कराल है। शस्त्रास्त्र, फरसा और धनुष-बाण धारण किये हुए हैं, यही 'करालता' है। यहाँ शंका होती है कि वेष तो 'शान्त' है तब 'कराल' कैसे हुआ ? इसका समाधान यह है कि परशुरामजीकी करनी वीररसकी है, कठिन करनीके संयोगसे वेष भी कराल लगता है। अर्थात् वीर वेषके साथ शान्त वेष भयावन हो गया। (ग)—'उठे सकल' इति। प्रथम बहुत खड़बड़ (खलबली) मचाये हुए थे। परशुरामजीको आते देख दुबक गये थे, अब पुनः उठे। राजाओंका उठना दो बार कहा गया। एक तो 'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे।' २६६। २ में, दूसरे यहाँ 'उठे सकल'। इससे पाया गया कि धर्मात्मा राजाओंके धिक्कारने और समझानेसे बैठ गये थे, परशुरामजीके आनेपर पुनः उठे। अथवा, प्रथम उठे थे पर परशुरामजीको आते देख बैठ गये थे, कवचादि उतारने लगे थे और अब उनके आ जानेपर पुनः उठे। (कवचादि फेंक) उठकर खड़े हो गये, क्योंकि यदि न उठते तो समझा जाता कि इनको अपने क्षत्रियत्वका बड़ा गर्व है। भारी अपराधी समझकर परशुरामजी अवश्य वध कर डालेंगे—यह विचारकर सब उठे। (उठनेका कारण 'भय' आगे देते ही हैं—'उठे सकल भय बिकल')। (घ) 'भय बिकल'—विकल होनेका भाव कि यदि निरपराध होते तो चाहे बच भी जाते पर हम सब अस्त्र-शस्त्र लिये हुए हैं। यह क्षत्रियपना देखकर अवश्य हमारा वध करेंगे यह सोचकर विकल हैं। (अस्त्र-शस्त्र तो छिपा दिये हैं, फिर भी वे रङ्गभूमिमें मञ्चोंके नीचे या इधर उधर पड़े होंगे, संभव है कि दृष्टि पड़ जाय। परंतु भयका मुख्य कारण उनका कराल वेष और 'बिस्वबिदित क्षत्रिय कुल द्रोही'—'बिरद है। इसीसे भय हुआ और भय होनेसे व्याकुलता हुई)। आदिमें 'देखत भृगुपति' देकर सूचित करते हैं कि परशुरामजीका तो नाममात्र सुननेसे क्षत्रियोंको भय होता है और यहाँ तो वे करालवेषसे सामने ही उपस्थित हैं अतः करालवेष देखकर इतने भयभीत हो गये कि व्याकुल हैं (प्राणोंके लाले पड़े हैं)। सुननेसे देखनेमें विशेष भय होता ही है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—धनुष न टूटनेपर भी जो राजा लोग आशा लगाये अपने-अपने समाजमें बैठे हुए थे, राजा जनकके कहनेपर भी कि 'तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू' उठे नहीं, सरकारके धनुष तोड़ने और जयमाल प्राप्त करनेपर भी विघ्न उपस्थित करनेके लिये बैठे-बैठे 'लेहु छड़ाय सीय' 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ' इत्यादि उत्तेजक वचन बोल रहे थे, भृगुपतिका कराल वेष देखकर उठ खड़े हुए। भयका संचार ही इनके उठनेका कारण हुआ, नहीं तो तपोमूर्ति विश्वामित्रजीके आनेपर भी ये खड़े नहीं हुए थे। यहाँ मर्म

शङ्का हो सकती है कि पहिले 'शान्तवेष करनी कठिन' कह आये हैं, यहाँ 'कराल वेष' क्यों कहते हैं ? यहाँ मर्म यह है कि परशुरामजी सदा शान्तवेषमें रहते हैं, क्रुद्ध होनेपर संग्रामके समय भी मुनिवेषका परित्याग नहीं करते, केवल संग्रामोपयोगी अस्त्र-शस्त्र धारण कर लेते हैं। अतः उस समय उनके वेषमें शान्ति और करालता दोनों दिखायी पड़ती है। इक्कीस बार पृथ्वीके निःक्षत्र करनेवालेका आगमन ही राजा लोगोंके लिये महाभयका कारण है, कि पुनः आज तो वेषमें

* निज निज कहि—१७०४। कहि कहि निज नामा—प्रायः अन्य सबोंमें।

कराटता भी है, अतः भयसे विकल हो उठे मानो मृत्यु ही उपस्थित हो गयी, समझा कि बाईसवीं बार निःक्षत्र करनेका इन्हें भला अवसर प्राप्त हो गया, सब राजा इन्हें इकट्ठे ही मिल गये। अतः भयसे विकल होकर उठना कहा।

टिप्पणी—२ 'पितु समेत कहि कहि निज नामा' इति। पितासमेत नाम लेनेका भाव कि—(क) यह प्रणाम करनेकी रीति है, यथा—'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू। ५३। ७॥' देखिये। [इस परिपाटीका अवशेष वर्तमान समयमें श्रीरामेश्वरकी तरफ देखनेमें आता है। (प० प० प्र०) महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदिमें पुत्रके नामके साथ पिताका भी नाम जुड़ा रहता है, यह भी उसी परंपराका पोषक है। इस प्रान्तमें भी पुराने लोगोंसे परिचय देनेमें अब भी यह रीति बरती जाती है] (ख) इसके अभ्यन्तर भीतरी अभिप्राय यह है कि बहुतसे क्षत्रिय परशुरामजीके सेवक हैं, इसीसे पिताका नाम लेते हैं कि आपने हमारे पितापर भी दया की थी, उनको दीन जानकर छोड़ दिया था, मैं उन्हींका पुत्र हूँ, मुझपर भी दया-दृष्टि बनी रहे]

नोट—१ (क) 'पितु समेत'—रं० रा० च० मिश्रजी कहते हैं कि जब परशुरामजीने क्षत्रियवंश नष्ट कर डाला तब ऋषियोंने वंश प्रवृत्त किया। राजा भयके मारे उन्हीं ऋषियोंका नाम ले-लेकर प्रणाम करने लगे। (ख) 'कहि-कहि' से यह भी सूचित होता है कि भयसे व्याकुल होनेके कारण बारंबार पितासमेत अपना नाम कह रहे हैं।

टिप्पणी—३ 'लगे करन सब दंड प्रनामा' इति। (क) 'लगे करन' कहकर जनाया कि सब राजाओंने एक साथ प्रणाम नहीं किया। सब एक साथ कर भी न सकते थे, क्योंकि राजा बहुत थे, जितने राजाओंको अवकाश मिला उतनोंने प्रणाम किया। जब वे प्रणाम करके उठे तब औरोंको अवकाश मिला। 'लगे करन' से प्रणाममें विलम्ब दिखाते हैं। सबने एक साथ प्रणाम किया होता तो 'किया' ऐसा लिखते। (ख) 'सब' दण्ड प्रणाम करने लगे, इस कथनसे जनाया कि प्रथम एकने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उस एकके करनेसे सभीको साष्टाङ्ग प्रणाम करना पड़ा। यदि पीछेवाले साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम न करते तो समझा जाता कि इनको बड़ा अभिमान है। (ग) 'दंड प्रनामा' इति। 'दंड' शब्द देकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम सूचित किया। साष्टाङ्ग प्रणाम किया अर्थात् दण्डाकार चरणोंपर पड़ गये)। चरणोंपर पड़ जानेसे वध न करेंगे, इस भावसे सबने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, क्योंकि धर्मशास्त्रमें लिखा है कि प्रपन्नको वध न करना चाहिये। आभ्यन्तरिक अभिप्राय तो यही है कि प्राण बचानेके लिये साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं, पर ऊपरसे यह भी दिखाते हैं कि हम सब ब्रह्मण्य हैं, ब्राह्मणोंको सदा पूजते-मानते हैं। (घ) 'दंड प्रनामा' कहनेसे यह भी जना दिया कि सबने निरायुध होकर प्रणाम किया, क्योंकि बड़ेको निरायुध होकर (अस्त्र-शस्त्र उतारकर रखके) प्रणाम करना चाहिये, यथा—'गामदेव बसिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनु सायक। धाइ धरे गुर चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥ ७। ५॥' (ङ) अपना नाम कहकर प्रणाम करनेसे प्रणामके आठों अङ्ग पूर्ण हो गये। यथा—'दोर्भ्यां पद्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः।' [आह्निक सू० पृष्ठ १४४ पूजा-प्रसङ्गमें श्लोक इस प्रकार है—'उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते॥']; तात्पर्य कि प्रणाम करनेमें मन, वचन और कर्म तीनों लगाये हैं। मनसे तो प्रणाम प्राण बचानेके लिये है, मुखसे पितासमेत नाम कहते हैं और कर्म (तन) से चरणोंपर पड़े हैं।

जेहि सुभाय* चितवहिं हितु जानी। सो जानै जनु आइ† खुटानी॥ ३॥
जनक बहोरि आइ सिरु नावा। सीय बोलाइ प्रनामु करावा॥ ४॥
आसिष दीन्हि सखीं हरषानीं। निज समाज लै गईं सयानीं॥ ५॥

शब्दार्थ—'आइ' (आयु)=जीवन काल, उम्र, जिंदगी। 'खुटानी'—खोटी पड़ गयी, चुक गयी, समाप्त हो गयी, कम हो गयी।

अर्थ—जिसको स्वाभाविक ही हित जानकर देखते हैं, वह ऐसा समझता है (उसे ऐसा जान पड़ता है) मानो (मेरी) आयु खोटी पड़ गयी वा चुक गयी॥ ३॥ फिर जनकजीने आकर सिर नवाया और सीताजीको बुलाकर प्रणाम कराया॥ ४॥ (परशुरामजीने) आशीर्वाद दिया। सखियाँ प्रसन्न हुईं। (फिर) सयानी सखियाँ उनको अपने समाजमें ले गयीं॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'जेहि सुभाय चितवहिं....' इति। (क) 'जेहि चितवहिं' से जनाया कि राजाओंके साष्टाङ्ग प्रणाम

* सुभाद—१७०४। † आयु-भा० रा०। आइ—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, गौड़जी।

करनेपर वे किसीको भी आशीर्वाद नहीं दे रहे हैं, केवल उनकी ओर देख देते हैं; सो भी सबकी ओर नहीं देखते, केवल उसीकी ओर दृष्टि डाल देते हैं जिसको 'हितू' जानते हैं। (ख)—'सुभाय चितवहिं हितु जानी' इति। भाव कि जब राजा चरणोंपर पड़ते हैं तब स्वभावसे हित जानकर 'चितवते' (उसकी ओर देख देते) हैं। तात्पर्य कि वे राजाओंको कभी हित जानकर नहीं 'चितवते' पर चरणोंपर पड़नेसे हित जानकर उनकी ओर देखा। हित जानकर देखते हैं अर्थात् मारनेके लिये नहीं देखते किंतु कृपादृष्टि डाल रहे हैं। देखभर देते हैं, आशीर्वाद नहीं देते क्योंकि राजाओंसे वैर मानते हैं। (ग) 'सो जानै जनु आइ खुटानी।' इति। हित जानकर देखते हैं, मारनेके लिये नहीं, तब वह यह कैसे समझ लेता है कि हमारे प्राणोंपर आ बनी, आयु चुक गयी, हमें मारनेके लिये ही हमारी ओर इन्होंने दृष्टि डाली है? बात यह है कि परशुरामजीने सबकी ओर नहीं देखा, किसी-किसीकी ही ओर दृष्टिपात किया है, इसीसे जिसकी ओर वे देखते हैं उसको यही भ्रम होता है कि मेरे मारनेके लिये ही मुझे देख रहे हैं। पुनः हित चितवन अहित जान पड़नेका कारण यह भी है कि परशुरामजीकी स्वाभाविक चितवन भी क्रोध-सूचक ही होती है, यथा—'भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहु चितवत मनहुँ रिसाते। २६८। ६॥' पुनः सब राजा सुन चुके हैं कि परशुरामजी पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर देनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, इससे अपने ऊपर उनकी दृष्टि पड़ी देखकर अपनी आयु पूर्ण हुई जानते हैं। (घ) यहाँ 'सिद्ध विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। (वीर)।

२ 'जनक बहोरि आइ सिरु नावा।…' इति। (क) सब राजाओंके पीछे श्रीजनकजीके आने और प्रणाम करनेका भाव कि सब राजा तो भयसे व्याकुल हैं, इसीसे वे तुरत आ-आकर चरणोंमें गिरने लगे, इसी कारण जनकजीको अवकाश न मिला, पीछे अवकाश मिला तब आकर प्रणाम किया। ['आइ' में यह भी भाव है कि 'जहँ सब भूप' थे वहाँ ये न थे। (व्यापक)] (ख) 'सिरु नावा' इति। सब राजाओंका 'दण्ड प्रणाम' करना कहा गया और जनकमहाराजका केवल 'सिर' नवाना कहा। यह भेद साभिप्राय है। इससे सूचित करते हैं कि सब राजाओंकी तरह जनकजीको भय नहीं है (इनको भय नहीं है क्योंकि ये ज्ञानी हैं)। (ग) सब राजाओंने अपने-अपने पिताका नाम लेकर प्रणाम किया पर राजा जनकके सम्बन्धमें न तो पिताका नाम लेना कहा गया और न अपना ही। इससे सूचित हुआ कि पितासहित अपना नाम तब लिया जाता है जब चिन्हारी अर्थात् पहलेसे जान-पहचान वा परिचय न हो, पहचनवानेके लिये पिताका नाम लिया जाता है। परशुरामजी श्रीजनकजीको (और उनके पुरखों देवरातजी आदिको) अच्छी तरह जानते हैं। (शिवजीका पिनाक जो तोड़ा गया उसकी कथामें इसकी चर्चा आयी है। वाल्मी० १। ७५। में परशुरामजीने श्रीरामजीसे स्वयं कहा है—'अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तदा। धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः॥ २०॥ देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम्।' अर्थात् 'ऋषियोंसहित देवताओंने विष्णुके धनुको अधिक पराक्रमी समझा। इसपर महादेवजीने क्रुद्ध होकर अपना धनुष विदेह देशके महायशस्वी राजर्षि देवरातके हाथमें बाणसहित दे दिया।' और श्रीजनक महाराजको भी जानते ही हैं जैसा उनके वचनोंसे स्पष्ट है—'कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा।' इसीसे पिताका अथवा अपना नाम भी बतानेका कोई प्रयोजन नहीं है। (घ) 'सीय बोलाइ प्रनाम करावा' इति। बुलाया क्योंकि वे रानियोंके पास थीं, यथा—'कोलाहलु सुनि सीय सकानी। सखीं लवाइ गईं जहँ रानी। २६७। ५।' वहाँसे बुलाकर प्रणाम कराया। अर्थात् श्रीपरशुरामजीके चरणोंपर 'मेल दिया', जैसे विश्वामित्रजीने 'पद सरोज मेले दोउ भाई'। सीताजीको प्रणाम करानेमें भाव यह है कि इन्हींके लिये धनुष टूटा, यह अपराध क्षमा करें और आशीर्वाद दें। आसिष देनेके बाद फिर शाप न देंगे। (विवाह हुआ है। विवाहके पश्चात् देवी, देवता, संतोंका आशीर्वाद लिया जाता ही है)। [इसमें विदेहराजकी दूरदृष्टि, नीतिनिपुणता और प्रसंगावधान इत्यादि गुणोंका प्राकट्य होता है। परशुरामजीका कराल स्वरूप देखनेसे वे जान गये थे कि आगे क्या होगा। उस भावी संकटसे छूटनेके लिये वे सरल, सुगम और हितकारी युक्तिका अवलम्ब कर रहे हैं। कारण कि प्रणाम करनेपर शुभाशीर्वाद तो मिलेगा ही। न दें तो उनकी तपश्चर्या भङ्ग हो जायगी, यह वे बराबर जानते थे। और उस कालमें मुनियोंका आशीर्वाद मिथ्या नहीं होता था।—'देवि न होइ मुधा मुनि भाषा। २। २८५।' और अन्तमें हुआ भी ऐसा ही। (प०प०प्र०)] (ङ) परशुरामजीने जनकजीको भी प्रणाम करते समय आशीर्वाद न दिया जैसे और राजाओंको भी न दिया था इससे जनाया कि उनका प्रेम किसी राजामें नहीं है। इनके लिये जैसे सब राजा, वैसे ही श्रीजनकजी भी।

टिप्पणी—३ 'आसिष दीन्हि सखीं हरषानीं।…' इति। (क) परशुरामजीने किसी राजाको आशीर्वाद न दिया, पर श्रीजानकीजीको और श्रीराम-लक्ष्मणजीको आशीर्वाद दिया, यह क्यों? इसमें केवल श्रीरामजीकी प्रेरणा ही प्रधान है,

यथा—'सुनु खगेस नहिं कछु रिपि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन। ७। ११३।' अथवा, रूप देखकर मग्न हो गये, इससे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। (ख) 'सखी हरषानी' इति। हर्ष होनेका कारण यह है कि आसिष मिलनेकी आशा न थी, किन्तु शापका भय था। आशीर्वाद पानेसे हर्ष हुआ, इससे ज्ञात होता है कि श्रीजानकीजीको अत्यन्त अनुकूल आशीर्वाद दिया गया, जैसे कि 'सौभाग्यवती सावित्री भव' इत्यादि, इसीसे सखियाँ हर्षित हुईं कि अब श्रीरामजीको कुछ भय नहीं है (इससे श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनोंका कल्याण निश्चित हुआ। प्र० सं०।)। (ग)—'निज समाज लै गईं सयानी' इति। ले जानेके कारण ये हैं कि एक तो परशुरामजीके आनेसे सभी खड़े हैं जिससे वहाँ बड़ी भीड़ है, उस समाजमें (राजाओंकी भीड़में) खड़े रहना उचित न समझा अतः निज समाजमें लिवा ले गयीं। दूसरे आशीर्वाद मिल ही चुका, अब वहाँ ठहरनेका काम ही क्या? तीसरे, यह सोचकर ले गयीं कि आशीर्वाद तो दे दिया है, आगे धनुष टूटा हुआ (पड़ा देखकर) सुनकर क्रोध करेंगे, नजरके सामने रहनेसे आगे न जाने क्या कह दें, कहीं इन्हींको धनुर्भंगका प्रधान कारण समझ कोप न करें; अतः ले गयीं। समय और समाजको पहचाना, अतः 'सयानी' विशेषण दिया।

बिश्वामित्रु मिले पुनि* आई। पद सरोज मेले दोउ भाई॥ ६॥
राम लषनु दसरथ के ढोटा। †दीन्हि असीस देखि भल जोटा॥ ७॥
रामहि चितइ रहे थकि‡ लोचन। रूप अपार मार मद-मोचन॥ ८॥

अर्थ—फिर विश्वामित्रजी आकर मिले और परशुरामजीके चरण-कमलोंमें दोनों भाइयोंको डाल दिया अर्थात् प्रणाम कराया॥६॥ (और बताया कि ये) राम और लक्ष्मण दशरथजीके पुत्र हैं। (परशुरामजीने) भली जोड़ी देखकर आशीर्वाद दिया॥ ७॥ कामदेवके मदको छुड़ानेवाले अपार रूपवाले श्रीरामजीको देखकर (उनके) नेत्र स्थिर हो गये अर्थात् पलकोंका पड़ना बंद हो गया॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'विश्वामित्र मिले पुनि आई।....' इति। (क) 'पुनि' अर्थात् श्रीजनकजीके पश्चात् जब श्रीजानकीजीको आशीर्वाद मिल गया और सखियाँ उनको लिवा ले गयीं, तब। (ख) विश्वामित्रजीका आकर मिलना कहा, क्योंकि परशुरामजीका और इनका नाता है। इनकी बहिन कौशिकीजी महर्षि ऋचीकजीको ब्याही थीं। ऋचीकजीके पुत्र जमदग्निजी थे और जमदग्निजीके पुत्र परशुरामजी हैं। इस प्रकार परशुरामजी विश्वामित्रजीकी बहिनके नाती (पौत्र) हैं। इसीसे परशुरामजीको प्रणाम करना नहीं लिखा गया, किंतु उनसे मिलना (गले लगकर भेंट करना) कहा गया। [दूसरे, अब ये क्षत्रिय नहीं हैं, अब तो ये ब्रह्मर्षि हैं, ब्राह्मण हैं। अतः मिलना कहा। परशुरामजी कौशिकजीके भानजेके पुत्र हैं और ब्रह्मर्षि हैं, इस नातेसे उनको चाहिये था कि विश्वामित्रजीको प्रणाम करते, पर अभिमानवश उन्होंने कर्तव्यका पालन न किया, मुनि ही उनसे आकर मिले, क्योंकि दोनों राजकुमारोंको आशीर्वाद दिलाना है। (प्र० सं०)। अथवा इस समय धनुर्भंगके कारण क्रोधमें भरे होनेसे परशुरामजीने प्रणाम न किया। विश्वामित्रजी इस समय दशरथजीके स्थानपर हैं, इससे भी इनका स्वयं जाकर मिलना उचित ही है।] (ग) 'पद सरोज मेले दोउ भाई' इति। श्रीराम-लक्ष्मणजीका परशुरामजीके चरणोंमें भाव है, इसीसे चरणोंकी बड़ाई करते हैं। (दोनों ब्रह्मण्य हैं। ब्राह्मणके चरणोंमें प्रणाम करते हैं। इनके चरणोंमें प्रणाम किया है, इसीसे कवि परशुरामजीके चरणोंको कमल विशेषण देते हैं)। दोनों भाई अभी लड़के हैं, इसीसे विश्वामित्रजीका उनको चरणोंमें 'मेलना' कहा, यथा—'पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥ २०७। ५।' (घ) विश्वामित्रजी समय (सुअवसर) के जानकार हैं, इसीसे उन्होंने राजाओंके साथ श्रीराम-लक्ष्मणजीसे प्रणाम नहीं कराया। जब जनक महाराजने अपनी पुत्रीको बुलाकर प्रणाम कराया और परशुरामजीने आशीर्वाद दिया, (प्रथम-प्रथम श्रीजानकीजीको ही आशीर्वाद मिला। अतएव मुनि इसे शुभ अवसर जानकर) उसी समय दोनों भाइयोंको लेकर मिलने आये और प्रणाम कराया कि हमारे लड़कोंको भी इसी प्रकार आशीर्वाद दे दें। (उधर जनकजी पिता, इधर विश्वामित्रजी पिताके स्थानपर। यथा—'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ'। [इसमें यह दिखानेका भाव है कि विश्वामित्र जैसे महामुनि प्रतिसृष्टिकर्ता इनके पालक हैं। (प० प० प्र०)]

२ 'रामु लषनु दसरथ के ढोटा।....' इति। (क) परशुरामजी श्रीराम-लक्ष्मणजीको नहीं जानते, इसीसे विश्वामित्रजी पितासमेत दोनों भाइयोंका नाम बताते हैं। पूर्व जो 'पितु समेत कहि कहि निज नामा' कहा था उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट

* तब—१७०४। † देखि असीस दीन्ह—१७०४, को० रा०। ‡ भरि १७०४।

करते हैं कि प्रथम अपना नाम लेते हैं, पीछे पिताका; जैसे विश्वामित्रजीने लिया है। (ख) 'दीन्हि असीस देखि भल जोटा' इति। 'भल जोटा' अर्थात् सुन्दर जोड़ी देखकर आशीर्वाद देनेका भाव कि मुनिने कहा था कि ये राजा दशरथजी-के पुत्र हैं, परंतु परशुरामजीने इनको दशरथपुत्र जानकर आशीर्वाद नहीं दिया, (राजाओंके तो वे वैरी ही हैं तब राजकुमारों-को वे आशीर्वाद क्यों देने लगे, किसी राजाको नहीं दिया) किंतु सुन्दर जोड़ी देखकर। अर्थात् सुन्दर जोड़ीको देखकर मुग्ध हो गये, रूपपर मोहित हो गये, इससे आशीर्वाद दिया। पुनः सुन्दर 'जोड़ी देखकर आशीर्वाद दिया,' इस कथनसे सूचित किया कि यही आशीर्वाद दिया कि 'दोनों भाइयोंकी जोड़ी बनी रहे, दोनों भाई चिरजीवी हों'।

टिप्पणी—३ 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन…' इति। (क) ☞ प्रथम जोड़ीकी सुन्दरता देखकर आशीर्वाद दिया। अब केवल श्रीरामजीको देखकर नेत्र थकके रह गये। (स्थगित व स्तम्भित हो गये)। कारण कि श्रीरामजी सब भाइयोंसे अधिक सुन्दर हैं, यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥ १९८। ६।'। (स्थगित हो रहनेका कारण अगले चरणमें बताते हैं)। (ख) 'रूप अपार मार मद मोचन' इति। रूप अपार है, अर्थात् उसका पारावार नहीं है—'पारावारः सरित्पतिः इत्यमरः', अपार कहकर उसे 'छबि समुद्र' जनाया, यथा—'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी। १४७। ५।' रूप अपार है, इसीसे लोचन थककर रह गये, उसका पार न पा सके, यथा—'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहू परिहरीं निमेषें। २३२। ५।', 'सील सुधा के अगार, सुखमा के पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं। लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे, एक रसरूप चित सकल सभा के हैं॥' (गीतावली १। ६२। ३।), 'थके नारि नर प्रेम पियासे'। (ग) 'अपार' देहलीदीपक है। रूप अपार है और 'अपार मार' के मदको छुड़ानेवाला है, यथा—'कोटि काम उपमा लघु सोऊ'।

नोट—१ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'परशुरामजीने यज्ञोपवीत होनेपर विद्या पढ़ी, मरीचि मुनिसे षडक्षर मन्त्र ले, शालग्राम—अचलमें जाकर उन्होंने तपस्या की। रघुनाथजीने प्रसन्न हो प्रकट होकर इनको फरसा दिया और अपनी शक्ति प्रवेश करके अपना नाम दिया। उसी बलसे उन्होंने क्षत्रियोंका नाश किया। जो रूप ध्यानमें था वही सामने आया, इसीसे वृत्ति रूपमें लग गयी, पर, क्रोधवश होनेसे वह वृत्ति भी गयी।' [पर महाभारत शान्तिपर्वमें लिखा है कि परशु-रामजीने गन्धमादनपर्वतपर श्रीशिवजीको प्रसन्न कर उनसे अनेक दिव्यास्त्र और अत्यन्त तेजस्वी परशु प्राप्त किया। क्षत्रियोंका अत्याचार दबानेके निमित्त इनका अवतार हुआ था। भालपर त्रिपुण्ड्र भी शिवजीके सेवक होनेकी साक्षी दे रहा है और आगे कहा भी है—'गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के'।]

२—नाटकीय और वैज्ञानिक कलामें 'रामहि चितइ रहे…' यह अर्धाली बड़े मार्केकी है। यही कारण था कि क्रोध होनेपर भी हाथ नहीं चला। परंतु स्मरण रहे कि यह बात दैवीसंपत्तिके कारण है, नहीं तो आसुरी सम्पत्तिसे जब पाला पड़ा तब खरदूषणादिपर सुन्दरताका प्रभाव पड़ते हुए भी संग्राम रुक न सका। ठीक है, आसुरी सम्पत्तिके सामने अहिंसा व्यर्थ जाती है। दुर्गासप्तशतीमें भी कविने लिखा है कि आश्चर्य है कि देवीका सुन्दर रूप देखकर भी असुर प्रभा-वान्वित न हुए और संग्राम किया। (यह अन्तर महाकाव्य कला और नैतिक कला दोनों दृष्टिकोणसे विचारणीय है)। फिर 'मदमोचन' की संकेतकला देखिये। वह कितनी मजेदार (रसीली) है पर 'मार' के साथ मिलकर कितनी गुप्त है कि नाटकीय कलाका मजा न जाय। (लमगोड़ाजी)।

दो०—बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु काह* अति भीर।
पूँछत जानि अजान जिमि ब्यापेउ कोपु सरीर ॥२६९॥

शब्दार्थ—काह=किस कारण।—यह अर्थ राजाके उत्तरसे स्पष्ट है, यथा—'समाचार कहि जनक सुनाए। जेहि कारन महीप सब आए॥'=क्यों, क्या, कैसी।

अर्थ—फिर विदेहराजको (उनकी ओर) देखकर जानते हुए भी अनजानेकी तरह पूछते हैं—कहो यह बड़ी भारी भीड़ कैसी है, क्या है, अर्थात् किस निमित्त हुई है? उनके शरीरमें कोप व्याप्त हो गया है॥ २६९॥

* कहा—१७०४। काह—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

टिप्पणी—१ (क) 'बहुरि बिलोकि बिदेह' इति। भाव कि परशुरामजी श्रीरामजीको टकटकी लगाये देख रहे थे—'रामहि चितइ रहे थकि लोचन'। जब उधरसे दृष्टि हटे तब पूछनेकी सुध हो। इसीसे विदेहजीकी ओर पुनः देखना कहकर तब पूछना लिखते हैं।—['बहुरि' शब्दमें परदेके-से कटनेका मजा है। माधुर्य और शान्तरस विदा होते हैं और रौद्ररस आता है। (लमगोड़ाजी)] (ख) विदेहसे पूछते हैं क्योंकि इन्हींके नगरमें सब राजाओंकी भीड़ है, जिससे निश्चित होता है कि इन्हींके बुलानेसे सब आये हैं। (ग) 'अति भीर' का भाव कि राजाओंके यहाँ सामान्यतः भीड़ रहती ही है, किंतु आज असाधारण भीड़ है, अतः उसका 'कारण पूछा'। (घ)—'जानि अजान जिमि' इति। परशुरामजी भीड़का कारण जानते हैं, यथा—'तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा॥ २६८। २।' (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि परशुरामजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा था कि मैंने तुम्हारा अद्भुत पराक्रम और धनुष तोड़नेका सब वृत्तान्त सुना है, यथा—'राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम्। धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम्॥ तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम्। १। ७५। १-२।'*) 'अजान जिमि'—अनजानेकी तरह पूछनेमें भाव यह है कि राजा यह समझकर कि परशुरामजी नहीं जानते, सब वृत्तान्त कहेंगे तब इनके ऊपर अपराध साबित होगा, जनकजीके मुखसे उनका अपराध कहलाकर उन्हें दोषी ठहराकर उनको मारें। (ङ) 'ब्यापेउ कोप सरीर' इति। पहले ही रिस लिख आये हैं, यथा—'रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा'। अब यहाँ पुनः लिखते हैं कि 'ब्यापेउ कोपु सरीर'। भाव यह है कि प्रथम जो कोप था वह श्रीरामजीकी अपार छबिको देखकर विस्मृत हो गया था, अब जब जनकजीसे धनुषसम्बन्धी वार्ता करने लगे तब धनुषका स्मरण हो आनेसे पुनः कोप हो आया। अथवा, प्रथम बार कोप मुखमात्रमें व्याप्त था, यथा—'सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा॥' और अब शरीरभरमें व्याप गया, अर्थात् सारा शरीर कोपसे लाल हो गया। सारे शरीरमें क्रोधकी ललाई दौड़ गयी। कोप व्यापनेका स्वरूप दोहेके पूर्वार्धमें झलक रहा है कि कोई सम्बोधन (हे जनक! राजन्! इत्यादि) नहीं है। कोपमें कोमलालाप नहीं होता, वही हाल यहाँ है। [अन्तिम चरण भावमर्मज्ञताका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। (लमगोड़ाजी)। धनुषयज्ञ अभी कहा नहीं गया पर क्रोधरूपी कार्य पहले ही शरीरमें व्याप्त हो गया। अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार है। (वीर)]

प० प० प्र०—१ धनुर्भङ्गकी वार्ता सुननेपर तो आये हैं इससे स्पष्ट है मुनियोंकी भी स्मृति क्रोधसे भ्रष्ट हो जाती है, फिर विषयी लोगोंकी तो बात ही क्या? २ 'ब्यापेउ कोप···'। भाव कि अभीतक तो क्रोध केवल भृकुटी और नेत्रोंमें ही था। मुखमण्डलपर झलकनेवाली क्रोधजनित अरुणिमा पहले तो सोच बढ़ानेवाली थी और अब तो नखशिखान्त क्रोधने अपना साम्राज्य बनाया। अर्थात् मुनि आपेसे बाहर हो गये, मुनित्व खो बैठे। कहा ही है 'करै क्रोध जिमि धर्महि दूरी'। इससे जप, तप, व्रत नियमोंका और शमका अभाव होना बताया। आगे ब्राह्मणके नव गुणोंसे भृगुपति कैसे विहीन हो गये यह बताया जायगा।

समाचार कहि जनक सुनाए। जेहि कारन महीप सब आए॥ १॥
सुनत बचन फिरि†अनत निहारे। देखे चाप खंड महि डारे॥ २॥
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै‡ तोरा॥ ३॥

शब्दार्थ—अनत=अन्यत्र। यह अन्यत्रका अपभ्रंश है।

अर्थ—श्रीजनकजीने सब समाचार कह सुनाया जिस कारण सब राजा आये थे। १। (समाचारके) वचन सुनकर (उन्होंने) फिरकर दूसरी ओर देखा (तो) धनुषके टुकड़े पृथ्वीपर डाले (फेंके पड़े) हुए देखे। २। (वे) अत्यन्त क्रोधसे कठोर वचन बोले—रे जड़ जनक! कह, धनुष किसने तोड़ा? । ३।

टिप्पणी—१ 'समाचार कहि जनक सुनाए···' इति। (क) 'कहि सुनाए' से जनाया कि सब समाचार विस्तारसे कहा जिसमें फिर कुछ पूछनेका प्रयोजन न रह जाय। समाचार यह कि एक समय जानकीने धनुष उठाकर उसके नीचेकी

* द्वितीय संस्करणमें दूसरा श्लोक था।

† तब—१७०४, को० रा०। फिरि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०। ‡ केहि—१७०४। केइँ—१७२१, छ०, को० रा०। कै—१६६१, १७६२।

भूमि शुद्ध की। जो धनुष तोड़े वह जानकीजीको ब्याहे, [अथवा, जो धनुष चढ़ावे वह सीताको ब्याहे यह कहा। दो बार स्वयंवर हो चुका। यह तीसरी बार है।—(पं०)] इस विचारसे सब राजा स्वयंवरमें आये हैं। यह नहीं कहा कि हमने प्रण किया था, नहीं तो परशुरामजी धनुष तोड़नेवालेको न पूछते, श्रीजनकजीको ही मारते। [जान पड़ता है कि श्रीजनक महाराजने और सब वृत्तान्त बता दिया था, केवल दो बातें छिपा रक्खी थीं—एक तो धनुषका टूटना, दूसरी उसके तोड़नेवालेका नाम। (प्र० सं०) । परशुरामजीने जितना प्रश्न किया उतना ही उत्तर राजाने दिया। उन्होंने न तो धनुषके टूटनेका प्रश्न किया न तोड़नेवालेका नाम पूछा, अतः ये उसे अपनी ओरसे क्यों कहते ?] (ख) 'जेहि कारन महीप सब आए' इति। 'काह अति भीर' परशुरामजीके इस प्रश्नका अर्थ यहाँ खोला। वहाँ प्रश्नमें 'काह', यहाँ उत्तरमें 'जेहि कारन', वहाँ 'अति भीर', यहाँ 'सब महीपका आगमन'।

२ 'सुनत बचन फिरि····' इति। (क) सुनते ही फिरकर अन्यत्र देखनेका भाव कि जनकजीके वचनोंमें धनुष तोड़नेका समाचार था (उसके टूटने और तोड़नेवालेका नहीं), इसीसे जिधर धनुष था उधर फिरकर देखा। इससे स्पष्ट है कि जनकजीने राजाओंके आनेका कारण मात्र कहा था, केवल उपर्युक्त दो बातें न कही थीं। इसीसे परशुरामजीने वचन सुनकर धनुषकी ओर देखा और धनुष तोड़नेवालेका नाम पूछा, नहीं तो फिरकर देखनेका ही प्रयोजन न था और न नाम पूछने का। (ख) ['खंड महि डारे'—मानो खण्ड देखकर टूटना जाना। 'पूछउ जानि अजान जिमि' पूर्व कह ही आये हैं। 'महि डारे' शब्दोंसे धनुषका निरादर सूचित होता है]

टिप्पणी—३ 'अति रिस बोले बचन कठोरा····' इति। (क) 'अति रिस' का भाव कि रिस तो प्रथमसे ही थी। यथा—'रिस बस कछुक अरुन होइ आवा। २६८। ५।' 'ब्यापेउ कोपु सरीर। २६९'। [अथवा, क्षत्रियोंपर साधारणतया रिस तो सदा रहती ही है—(रा० प्र०)] अब धनुषको टूटा देखनेपर 'अति रिस' हुई। 'अति रिस' होनेसे 'बोले बचन कठोर' क्योंकि कठोर वचन ही क्रोधका बल है, यथा—'क्रोधके परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि। ३। ३८'। क्रोधका स्वरूप आगे दिखाते हैं—वह यह कि परशुरामजीने प्रथम (जनकजीके लिये) बहुवचन क्रियाका प्रयोग किया था, यथा—'बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु····'। 'कहहु' बहुवचन (अथवा, आदरसूचक शब्द) है। अब 'अति रिस' से एकवचन 'कहु' का प्रयोग कर रहे हैं—'कहु जड़···'। (ख) 'बचन कठोरा'—श्रीजनकजी ऐसे महात्माके लिये एकवचनका प्रयोग 'कठोर' है। ऐसे ज्ञानी और योगीश्वर श्रीरामजीमें गूढ़ स्नेह रखनेवाले सन्तको 'जड़', 'मूढ़' संबोधन 'अति कठोर' है।

प० प० प्र०—'बचन कठोरा' इति। यहाँ 'दम' का विनाश बताया। विदेहराजके लिये जड़, मूढ़ इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करनेमें दमका अभाव स्पष्ट देख पड़ता है। जनकके समान ब्रह्मनिष्ठ विश्वप्रथितयश महात्माकी निन्दा करनेमें वागिन्द्रियपर काबू न रहा यह स्पष्ट है। परुष वचन बोलना असन्तोंका लक्षण है। संत-मुनि-साधु 'परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं'। संतनिन्दासे अखिल कल्याणकी हानि होती है। इससे तपश्चर्याका भी विनाश बताया है। लक्ष्मणजी भी मिथिलेशजीपर बिगड़े थे पर उनके मुखारविन्दसे कोई अपशब्द न निकला था। 'कही जनक जसि अनुचित बानी' से ही काम निबह गया था।

टिप्पणी—४ 'कहु जड़ जनक' इति। 'जड़' कहनेका भाव कि शिवधनुषकी रक्षा और पूजा करनी चाहिये थी, सो न करके उसे तुड़वानेका मन किया, यह तेरी जड़ता है, मूर्खता है। अथवा, 'जड़' को 'धनुष' का विशेषण मान लें। बाबा हरिहरप्रसादजी और रा० च० मिश्रजी इसे 'धनुष' और तोड़नेवालेका विशेषण मानते हैं। अर्थात् 'केहि जड़ जड़ धनुष तोरा' इस तरह अन्वय होगा। किसीने कहा है—'कमठ पीठ ते कठिन अति त्रिपुर हतेउ जेहि तानि। येहू ते जड़ कवन नर जो धनु तोरेउ आनि॥' (प्र० सं०)]

बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटौं महि जहँ* लहि तव राजू॥ ४॥
अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥ ५॥
सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी॥ ६॥

* जहँ लगे समाज—पाठान्तर। जहँ लगि—रा० प्र०।

शब्दार्थ—लहि=पर्यन्त, तक, यथा—'आवहु करहु कदरमस साजू। चढ़हिं बजाइ जहाँ लहि राजू॥' (जायसी)। 'जहँ लहि तव राजू'=जहाँतक तेरा राज्य है। अर्थात् राज्यभर, सारी प्रजा।

अर्थ—अरे मूढ़! (वा, उस मूढ़को) शीघ्र दिखा, नहीं तो आज ही जहाँतक तेरा राज्य है वहाँतककी पृथ्वी उलट दूँगा। ४। अत्यन्त डरके मारे राजा उत्तर नहीं देते। कुटिल राजा मनमें हर्षित हुए। ५। देवता, मुनि, नाग, देवता और नगरके स्त्री-पुरुष सभी शोच कर रहे हैं। सभीके हृदयमें भारी डर है। ६।

नोट—१ परशुरामजीकी इस क्रोधभरी असभ्य भाषासे हमारी सहानुभूति तुरंत ही श्रीजनकजीकी ओर हो जाती है। नाटकीय कलाके मर्मज्ञ खूब जानते हैं कि अति क्रोध मनुष्यको स्वयं ही निर्बल बना देता है। यह संकेत भी परशुरामजीकी हारके लिये कितना सुन्दर है। (लमगोड़ाजी। हास्यरस)।

टिप्पणी—१ 'बेगि देखाउ मूढ़···' इति। (क) 'बेगि देखाउ' कहनेका भाव कि जब परशुरामजीके 'कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा' इस प्रश्नपर राजा न बोले तब उन्होंने कहा कि 'बेगि देखाउ' उसे शीघ्र दिखा। पुनः 'बेगि' का दूसरा भाव कि शीघ्र दिखा, नहीं तो ऐसा न हो कि कहीं भाग जाय। (ख) 'देखाउ'–दिखानेको कहा, क्योंकि यदि नाममात्र बताया गया तो भारी भीड़में ढूँढे मिलना कठिन है। दूसरे, ढूँढ़नेमें देर लगेगी, इतनेमें संभव है कि कहीं छिप रहे या भाग जाय। अतः कहते हैं कि आँखोंसे दिखा दो। (ग) 'मूढ़'—भाव कि जो बिना विचारे काम करे वह मूढ़ है (तुमने विचार न किया कि श्रीशिवजीके धनुषको तुड़वाना चाहिये था या उसकी पूजा करनी चाहिये थी)। पुनः भाव कि तुझे मोह हो गया है इसीसे नाम नहीं बताता कि कन्या विधवा हो जायगी। मायामोह होनेसे तू मूढ़ है। यथा—'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा'। 'आज' कथनका भाव कि धनुष आज तोड़ा है, इसलिये उसे आज ही मारूँगा और यदि तू न बतायेगा तो आज ही तेरा राज्य उलट दूँगा। (घ) 'उलटौं महि जहँ लहि तव राजू' इति। राज्यभरकी भूमि उलटनेकी धमकी यह समझकर दे रहे हैं कि राजा जनक धर्मात्मा हैं। पृथ्वीका उलटाना सुनकर वे तुरत बतायेंगे, क्योंकि इन वचनोंसे उनके चित्तमें तुरत यह विचार स्फुरित होगा कि हमारे न बतानेसे राज्यभरके प्राणी मरेंगे जिससे हमको बड़ा पाप होगा। जिस राजाको प्रजा प्राणोंके समान प्रिय न हो वह राजा शोचनीय है। यथा—'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना। २। १७२। ४।' 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी। २। ७१। ६।'—ऐसा विचार आते ही धर्मात्मा राजा सारी प्रजाका नाश कब सह सकेगा? अतएव तुरत तोड़नेवालेको लाकर सामने कर देगा। पुनः ('उलटौं महि·····' का दूसरा भाव कि यदि राजा न बतावें तो भी वह इस राज्यके भीतर ही तो कहीं होगा। सारा राज्य उलट देनेसे सबके साथ वह भी दबकर मर जायगा, अपना कार्य तो सिद्ध ही हो जायगा)।

नोट—२ पृथ्वीका उलटना वैसे ही है जैसे भूकम्पादिद्वारा पृथ्वीके सब घर और जीव भीतर धँस जाते हैं, कहीं-कहीं जल ऊपर आ जाता है, पूर्वकी पृथ्वीका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। मु० रोशनलाल 'उलटौं महि·····' का भाव यह कहते हैं कि तेरा कुल और नाम नष्टकर राज्य दूसरेको दे दूँगा, यथा—'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही। २७२। ७।'

टिप्पणी—२ 'अति डरु उतरु देत नृप नाहीं।···' इति। (क) 'अति डर' का भाव कि राज्यभर उलटनेका 'डर' है क्योंकि सब प्रजा मर जायगी जिससे हमको नरक होगा, और श्रीरामजीको बतानेमें 'अति डर' है यह कैसे कहें कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा। पुनः भाव कि परशुरामजी अत्यन्त रिससे बोले हैं, यथा—'अति रिस बोले बचन कठोरा', इसीसे 'अति डर' है। (ख) 'उतरु देत नृपु नाहीं'—उत्तर न देनेका भाव कि राजा सोचते हैं कि हमारा राज्य भले ही उलट जाय, सारी प्रजा भले ही मर जाय, हमको नरक हो (इसमें हर्ज नहीं), पर रामजीको दुःख न हो। [हम श्रीरामजीका नाम कदापि न बतायेंगे। ☞ देखिये, श्रीजनकजी श्रीरामजीका परत्व जानते हैं। वे यह भी जानते हैं कि ये ब्रह्म हैं, यथा—'ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानन्द निरगुन गुन रासी॥···नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल। ३४१', यह जनकजीने स्वयं श्रीरामजीसे कहा। तथापि श्रीरामजीका माधुर्य ऐसा ही है कि उसमें सब भूल जाते हैं। इसीसे डर लग रहा है कि इनका नाम बता देंगे तो परशुराम इन्हें मार न डालें] (ग) 'कुटिल भूप हरषे' इति। दूसरोंकी विपत्तिमें कुटिल मनुष्योंको प्रसन्नता होती ही है, यथा—'जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती। ७। ४०'; अतः 'कुटिल भूप' हर्षित हुए। पुनः, कुटिल राजा इससे हर्षित हुए कि वे

राजा जनक और श्रीरामजी दोनोंसे अपनेको तिरस्कृत माने हुए हैं, वे सोचते हैं कि इन दोनोंने हमको मरण योग्य कर दिया, यथा—'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥', अब अच्छा हुआ कि अब ये भी मरे। (बिना परिश्रम हमारा बदला चुका जाता है)। 'कुटिल भूप हरषे' कहकर यह भी जनाया कि साधु राजा दुखी हुए। 'मन माहीं'—मनमें हर्षित हुए प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि प्रकट हर्षित होनेसे डरते हैं कि परशुरामजी कहीं अनुचित न मानें कि हमारे गुरुदेवका तो धनुष टूटा, हमको तो दुःख है और ये प्रसन्न हो रहे हैं। (डरसे उत्तर न देनेपर कुटिल राजाओंका प्रसन्न होना 'चतुर्थ उल्लास अलंकार' है)।

३—'सुर नर नाग नगर नर नारी…' इति। (क) सुर, नर, नाग और नगर-नर-नारी ये ही धनुषके टूटनेपर प्रसन्न हुए थे; यथा—'सुर किंनर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा। २६५। २'; इसीसे वे ही सब परशुरामजीके आगमनसे दुखी हुए। पुनः, 'सुर' से स्वर्गवासी, 'नाग' से पातालवासी और 'नगर नर नारी' से मृत्युलोक-वासी अर्थात् तीनों लोकोंके निवासियोंको भारी त्रास हुआ। कारण कि परशुरामजीका पराक्रम तीनों लोकोंमें सबको विदित है। 'भारी त्रास' यह है कि परशुरामजी श्रीरामजीको मारेंगे। [(ख) 'सोचहिं सकल'—इन लोगोंने पूर्व श्रीरामजीको आशीर्वाद दिया है, यथा—'ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा। २६२। ५।', 'सुर किंनर नर नाग देहिं असीसा'। अतः उनको शोच है कि कहीं हमारा आशीर्वाद व्यर्थ न हो जाय। श्रीरामजी सबको प्रिय हैं, यथा—'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी। २१६। ७'। श्रीरामजीके कोमल अंग देखकर सब माधुर्यमें भूल जाते हैं। सुर-नर आदि अनेक उपमेयोंका एक ही धर्म 'त्रास उर भारी' होना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है]।

मन पछिताति सीय महतारी। बिधि अब* सवरी बात बिगारी॥ ७॥
भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरध निमेष कलप सम बीता॥ ८॥

दो०—सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी† भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीरु॥२७०॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी माता (श्रीसुनयनाजी) मनमें पछता रही हैं कि विधाताने अब सभी बात बिगाड़ दी। ७। भृगुपति (परशुरामजी) का स्वभाव सुनकर श्रीसीताजीको आधा निमेष कल्पके समान बीतने लगा। ८। (श्रीरामजीने) सब लोगोंको सभीत देखा। श्रीजानकीजीको बहुत डरी हुई जानकर श्रीरघुवीर रामचन्द्रजी बोले। उनके हृदयमें किंचित् भी हर्ष अथवा विषाद नहीं है॥ २७०॥

टिप्पणी—१ 'मन पछिताति…' इति। (क) मनमें पछतानेका भाव कि प्रथम बार जब उनको धनुषके टूटनेके सम्बन्धमें शोच था तब तो उन्होंने सखियोंसे कहा था, यथा—'रामहिं प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ। सीतामातु सनेह बस बचन कहइ बिलखाइ॥ २५५।', सखियोंने समझाकर शोचको दूर कर दिया था और अब यह भारी सोच है जिसे वह किसीसे कहती नहीं, क्योंकि जानती हैं कि यह सोच कोई दूर न कर सकेगा। इसीसे मनमें पछताती हैं। क्या पछताती हैं, यह दूसरे चरणमें कहती हैं। (ख) 'सीय महतारी'—सीताजीकी माता कहनेका भाव कि इनका सीताजीमें अत्यन्त ममत्व है, उन्हींके लिये पछताती हैं। (ग)—'बिधि अब सवरी बात बिगारी' इति। ब्रह्माने सब बनी-बनायी बात बिगाड़ दी, यही पछतावा है। 'सब बात बिगाड़ दी', कहनेका भाव कि जब राजाओंने कोलाहल मचाया तब सन्देह हुआ कि युद्धमें न जाने श्रीरामजी जीतें अथवा राजा लोग जीतें इसीसे वहाँ संदिग्ध वचन 'धौं' कहा था,—'रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥ २६७। ७।' और, परशुरामजीके आनेसे उनको निश्चय है कि इनसे तो तीनों लोकोंमें कोई नहीं जीत सकता, इसीसे यहाँ निस्सन्देह निश्चय ही बिगड़ना कहती हैं। धनुष तोड़नेमें श्रीरामजीका पराक्रम देख चुकी थीं, इससे पूर्व यह भी आशा थी कि सम्भव है कि राजा लोग उनसे न जीत पावें, इससे उस समय संदिग्ध वचन प्रयुक्त किया गया। पर अब परशुरामजीका सामना है, जो त्रैलोक्यविजयी हैं। परशुरामजीका पराक्रम

* अब सबेरी—१७०४, १७२१, १७६२। सँवारि सब—छ०। अब ऊपरी—१६६१, को० रा०।
† सीय अति भीर—१७०४।

देखा और सुना है। इससे श्रीरामजीका इनसे जीतना असम्भव मानती है। इसीसे कहती हैं कि सब बात निश्चय ही बिगाड़ दी (प्र० सं०)। परशुरामजीके क्रोधित होनेसे ब्रह्माको दोष लगाना 'द्वितीय उल्लास अलंकार' है। (वीर)]

टिप्पणी—२ 'भृगुपति कर सुभाउ सुनि·····' इति। (क) 'सुनि' से पाया जाता है कि किसी सखीने उनसे परशुरामजीके स्वभावका वर्णन किया है। कब कहा? जब परशुरामजीसे आशीर्वाद मिला और सखियाँ उनको ले चलीं, तब कहनेका अवसर आ पड़ा था। उस समय उन्होंने कहा—'हे सीते! हमें हर्ष इससे है कि ये शीघ्र किसीको आशिष नहीं देते, तुम्हींको आशीर्वाद दिया; इनका स्वभाव बड़ा कठिन है। यथा—'**बोले चितै परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥·····बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही।** २७२। ४, ६।'—यह स्वभाव कहा। (ख) 'भृगुपति' का भाव कि जिन भृगुजीने भगवान्‌के वक्षःस्थलपर लात मारी थी उन्हींके कुलके तो ये पति हैं (न जाने क्रोधमें क्या कर डालें) इस तरह 'भृगुपति' कहकर क्रोधी सूचित किया। (ग) 'अरध निमेष कलप सम बीता' इति। इससे जनाया कि धनुष टूटनेके पूर्व जो व्याकुलता थी उससे अब कहीं अधिक है। पूर्व धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारताको समझ-समझकर एक निमेष सौ युगोंके समान व्यतीत होता था, यथा—'**अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥** २५८। ८॥' फिर जब श्रीरामजी धनुषके समीप आये, तब उससे अधिक व्याकुलता हुई; एक-एक निमेष कल्पके समान बीता, यथा—'**देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥** २६१। १॥' और अब परशुरामजीका स्वभाव सुनने और उनके (राजा जनकसे) प्रश्न करनेपर उस व्याकुलतासे भी अधिक व्याकुलता हुई—अब अर्द्ध निमेष कल्पके समान बीत रहा है। [इस तरह उनकी व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दिखायी। कुछ लोग 'अरध निमेष' का यह भाव कहते हैं कि श्रीसीताजी अर्द्ध निमेष ही भर सोचमें निमग्न रहीं, अधिक नहीं (पर वह भी ऐसा जान पड़ता था कि कल्प बीत गया) इतनी ही देरमें श्रीरामजीने उनकी घबराहट देख तुरत उत्तर दिया (प्र० सं०)। व्याकुलता यह समझकर है कि श्रीरघुनाथजीको न जानें क्या कर बैठें। (रा० प्र०)]।

लमगोड़ाजी—कितनी शीघ्रतासे फिर इस परिस्थितिपरिवर्तनका प्रभाव सबोंपर पड़ा। सामाजिक तथा वैज्ञानिक कला विचारणीय है।

टिप्पणी—३ 'सभय बिलोके लोग···' इति। (क) भाव यह कि अभय करना श्रीरामजीका व्रत है, यथा—'**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम**' (वाल्मी० ६। १८। ३३)। अपना व्रत स्मरण कर सबको सभीत देखकर निर्भय करना चाहते हैं। (ख)—'जानि जानकी भीरु' इति। औरोंके मुखसे (उनकी चेष्टासे) भय देख पड़ता था (इसीसे सबके सम्बन्धमें 'सभय बिलोके' कहा), पर श्रीजानकीजीको भयके कारण अर्द्ध निमेष कल्पके समान बीत रहा है, यह कोई नहीं जानता, इसे केवल श्रीरामजीने जाना।

प० प० प्र०—'भीरु' शब्दका अर्थ 'स्वभाव कातर' है, पर इस स्थानमें यह अर्थ लेनेसे असम्बद्धता दोष निर्माण (उत्पन्न) होगा। रावण-जैसे महावीरके मुखपर निर्भयतासे वीर रमणी वीरप्रसूका समुचित रीतिसे भाषण करना और रावणको 'खद्योत' कहना 'भीरु' से कभी न बनेगा। शंका कर सकते हैं कि 'श्रीरघुनन्दनजीके '**मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ**' ये श्रीमुखवचन तो स्वभावभीरुता सिद्ध करते हैं?' तो उसका उत्तर यह है कि यह तो राजनीतिका पालन है, यह वाक्य विदेह-कुमारीको वनगवनसे परावृत्त करनेके लिये ही है। माता कौसल्या और राजा दशरथ अवश्य श्रीजानकीजीको स्वभाव-कातर ही समझते थे, पर यह है उनकी 'अधिक प्रीति' का परिणाम! यथा—'**अधिक प्रीति भा मन संदेहू।**'; वात्सल्यमें सदा ऐसी ही समझ रहती है। 'भीरु' का अर्थ 'भयसे अत्यन्त खिन्न विषण्ण' ऐसा ही लेना पड़ेगा और भगवान्‌को खिन्न ही तो परम प्रिय होते हैं। ऊपरके 'सोचहिं सकल त्रास उर भारी' में 'त्रास' का अर्थ भी 'भयजनित विषाद' ही लेना सयुक्तिक है और आगे 'बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। २८६। ४।' में भी यही अर्थ ठीक होगा।

टिप्पणी—४ (क) 'हृदय न हरष बिषाद कछु' इति। [यह तो श्रीरामजीका स्वभाव ही है, यथा—'**बिषमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ।** २। १२।' श्रीरामजी हर्ष-विषादरहित हैं। हर्ष और विषाद जीवके धर्म हैं, यथा—'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना। ११६। ७।' श्रीरामजी ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, इसीसे उनके हर्ष विषाद कुछ नहीं है। मनुष्यका हृदय जैसा होता है, वैसा ही वचन उसके मुखसे निकलता है। अतः

'हृदय न हरष बिषाद कछु' कहनेका अभिप्राय यह है कि वे हर्ष-विषाद रहित वचन बोले। हर्ष धनुष तोड़ने वा परशुराम-को जीतनेका और विषाद (खेद-चिन्ता) उनके क्रोधभरे वचनोंका, दोनों ही नहीं हैं] (ख) 'श्रीरघुवीर' के भाव—(१) नम्रतासे बोलना वीरकी शोभा है। विनम्र वचन बोले, अतः 'श्रीरघुवीर' कहा। (२) यहाँ प्रसङ्गके प्रारम्भमें 'श्री रघुबीर' पद देकर सूचित करते हैं कि रघुवीर (श्रीरामचन्द्रजी) को 'श्री' रहेगी। (३) परशुरामजीको वीररसकी मूर्ति कह आये हैं, यथा—'धरि मुनि तनु जनु बीररस आयेउ जहँ सब भूप। २६८।' इसीसे श्रीरामजीको 'श्री रघुबीर' कहा। 'श्री' पद देकर परशुरामजीसे श्रीरामजीकी श्रेष्ठता दिखायी। (४) सब लोगोंको एवं श्रीजानकीजीको दुःखित देखकर पहले धनुष तोड़कर सबको सुखी किया था, यथा—'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि। चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि॥ २६०।' और अब सबको तथा जानकीजीको सभय देखकर सबका दुःख दूर करनेके लिये श्रीरघुवीर बोले। सबका दुःख दूर करे यही वीरकी शोभा है। (५) परशुरामजीकी वीरताकी शोभा न रह जायगी इसीसे परशुरामजीको वीर कहा। श्रीरामजीकी वीरताकी शोभा रहेगी इसीसे इनको 'श्रीरघुवीर' कहा। [(६) रघुवीर पद दिया क्योंकि आप दयावीर हैं। सबका दुःख दूर करेंगे। परशुरामजीका गर्व हरण करेंगे। (७) आप पराक्रम महावीर हैं त्रैलोक्यके राजाओंकी 'श्री' की रक्षा करनेवाले हैं, क्योंकि यदि आप धनुष न तोड़ते तो भूतलपर राजाओंके पराक्रमकी 'श्री' मिट जाती। श्रीजनकजीने कह ही डाला था कि 'बीर बिहीन मही मैं जानी'। परशुरामजी त्रैलोक्यकी 'श्री' के रक्षकसे ही विरोध करेंगे तब उनकी श्री कैसे रह सकती है ? 'श्री' सयुक्त नाम देकर प्रथमहीसे इनकी विजय सूचित कर दी है। (८) 'श्री' शब्दसे समस्त ऐश्वर्योंकी पात्रता सूचित की और धैर्य, गाम्भीर्य, वाक्यपटुता आदि गुण 'वीर' पदसे जनाये। (रा० च० मिश्र)।

प० प० प्र०—'श्री रघुबीर' इति। (क) श्रीरामजीके विचार, उच्चार और आचारमें त्याग, दया, धर्म, विद्या और पराक्रम पाँचों प्रकारकी वीरताएँ इस प्रसङ्गमें देख पड़ती हैं। दोहेमें 'जानि जानकी भीरु' से कृपावीरता और 'हृदय न हरष बिषाद कछु' से विद्यावीरता प्रतीत होती हैं। आगे 'कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मोपर करिअ दासकी नाईं॥ २७९। ५।' और 'कर कुठारु आगे यह सीसा। २८१। ७।' से त्यागवीरता, 'प्रभु सेवकहि समरु कस…। २८१।' और 'जल सम बचन बोले…। २७६।' इत्यादिसे धर्मवीरता एवं 'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥ २८३।' से 'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥' तक युद्ध (पराक्रम) वीरता स्पष्ट है। यहाँ इस एक ही प्रसङ्गमें पाँचों प्रकारके वीरत्वका निदर्शन किया गया है और यहींसे तो अवतारकार्यका श्रीगणेश है !! (ख) 'श्री' का योग बताता है कि पाँचों प्रकारकी वीरता होनेसे ही श्रीरामजीको 'श्री' की प्राप्ति हुई। (ग) इस 'श्री' शब्दसे ब्रह्मदेवकृत स्तुति 'जय जय सुरनायक…' के 'श्रीकंता' शब्दसे सम्बन्ध बताकर ('अब जानी मैं श्री चतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥') यह समझनेकी, कि दैन्यघाटकी कथाका ही यह अंश है, सूचना दी गयी है।

नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥ १॥
आयेसु काह कहिअ किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! श्रीशिवजीका धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास (ही) होगा॥ १॥ क्या आज्ञा है ? मुझसे क्यों नहीं कहते ? (यह) सुनकर क्रोधी मुनि रिसाकर बोले॥ २॥

टिप्पणी—१ 'नाथ संभु धनु…' इति। (क) 'धनुष कै तोरा' इस प्रश्नका उत्तर श्रीरामजीने दिया कि '**होइहि केउ एक दास तुम्हारा**', अर्थात् उसका तोड़नेवाला तुम्हारा एक दास है।

(ख) प्रश्न—यह सीधे-सीधे क्यों न कह दिया कि हमने तोड़ा है, परोक्ष क्यों कहा ?

उत्तर—बात यह है कि परशुरामजी समर करनेपर तुले हुए हैं और हैं ब्राह्मण। सीधे कह देनेसे वे लड़ने लगेंगे। उनसे युद्ध नहीं करना है, वरंच वचनसे ही, बातों-बात ही, उनको परास्त करना है। युद्ध करनेसे ब्रह्महत्या लगती। वचन चातुरीसे ही उनको जीतना उचित समझा। [कहा भी है—'जो मधु मरै न मारिए, माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारे परसुधर, हारि जिते रघुराउ॥' (दोहावली ४३३)। इसीसे तो परशुरामजीने स्वयं 'जयति बचन रचना अति नागर' कहकर प्रभुकी स्तुति की है। (प्र० सं०)। इसीसे अपनेको प्रकट करके नहीं कहा। दूसरे प्रकट कहनेमें कि हमने तोड़ा है,

अभिमान (सूचित) होता है। अपनेको 'धनुभंजनिहारा' कहकर दास कहा और दास कहकर भी प्रकट न हुए। कहते हैं कि तुम्हारा कोई एक दास होगा—इन वचनोंमें कितनी निरभिमानता भरी हुई है। यह कहनेसे कि हमने तोड़ा है अभिमान पाया जाता। श्रीरामजी अपनी प्रशंसा कभी नहीं करते। देखिये, श्रीसीताजीको पुष्पक विमानसे निशाचरोंका वध बताते हुए उन्होंने लक्ष्मणजी, हनुमान्‌जी आदिके नाम बताये पर अपनेको न बताया। (ग) मानस-प्रकरणमें परशुरामके क्रोधको कीर्ति-सरयूकी घोर धार कहा है और उसके लिये श्रीरामजीके वचनोंको 'घाट सुबद्ध' कहा है, यथा—'घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम बर बानी। ४१। ४॥' यही यहाँ चरितार्थ करते हैं। श्रीरामजी वचन-चातुर्यसे ही जीतना चाहते हैं, इसीसे साक्षात् अपनेको नहीं कहा, बचा दिया।

टिप्पणी— २ (क) 'नाथ' का भाव कि आप जिसके स्वामी हैं और जो आपका दास है, उसने तोड़ा है। अपनेको दास कहते हैं, इसीसे 'नाथ' सम्बोधन उचित ही है। (ख) 'नाथ संभु' ऐसा उच्चारण करनेसे मङ्गलाचरण भी हुआ। अपने इष्टको सुमिरकर बोलनेकी भक्तोंकी रीति है। यथा—'करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु। २। २९७॥' 'तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही। ५। ९॥' परशुरामजीसे वार्तालाप करना दूसरे-के लिये बहुत कठिन है, पर श्रीरामजीके लिये 'यह एक साधारण-सी बात है, इसीसे इन्होंने प्रकट मङ्गलाचरण नहीं किया। यहाँ मुद्रालंकार है—

नोट—१ जहाँ कोई वक्ता किसी विषयका प्रतिपादन करते हुए अपने वाक्योंसे दूसरे किसी अभीष्ट विषयको सूचित करता है वहाँ 'मुद्रालंकार' होता है। यथा—'सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः।' जैसे कि 'न्यायसे चलने-वालोंको पशुपक्षी भी सहायक होते हैं और कुमार्गपर चलनेवालेको उसका सगा भाई भी छोड़ देता है। इस अपने वाक्य-से सूत्रधार सूचित करता है कि (इस नाटकमें) आगे रावणका भाई उसका त्याग करेगा। यथा—'अनर्घराघवे 'यान्ति-न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्। अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति। इति सूत्रधारवचनेन वक्ष्यमाणरावण-वृत्तान्तसूचनमिति बोध्यम्' (कुवलयानन्दग्रन्थे)।

पं० रामकुमारजीका आशय यह है कि 'नाथ ·· दास' से श्रीरामजी यहाँपर वस्तुतः यह कह रहे हैं कि शिवजीका धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास है; पर इस वाक्यसे यह भी सूचित हो जाता है कि 'नाथ-संभु' अर्थात् शिवजी हमारे ही नाथ हैं, अतएव हम आपको डरनेके नहीं। साथ ही आरम्भमें 'नाथ-संभु' कहनेसे निर्विघ्नताके लिये मङ्गला-चरण भी हो गया। 'नाथ संभु' से यह भी भाव निकलता है कि जिन शम्भुका यह धनुष है उनके हम नाथ हैं, अतः आप व्यर्थ रुष्ट होते हैं।

टिप्पणी—३ 'होइहि केउ एक दास तुम्हारा' अर्थात् आपके अनेक दास हैं, उनमेंसे कोई एक होगा। ☞ श्रीरामजीके वचनोंसे उनका (श्रीरामजीका) स्वरूप स्पष्ट होता है, इस तरह कि—'संभुधनु भंजनिहारा' से उनका पराक्रम स्पष्ट हुआ कि 'तीनि लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी। २९२। ६॥' ऐसे धनुषको भी उन्होंने तोड़ डाला। तीनों लोकोंसे अधिक पराक्रम ईश्वरमें है। अतः 'भंजनिहारा' कहकर ईश्वर होना जनाया। 'होइहि कोउ' से निरभिमानता स्पष्ट हुई। ईश्वर निरभिमान हैं। अभिमान होना जीवका धर्म है—'जीव धर्म अहमिति अभिमाना। ११६। ७॥' 'एक' से सूचित किया कि धनुष तोड़नेवाला 'एक' अर्थात् अद्वितीय है, यथा—'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।' और 'दास तुम्हारा' से ब्रह्मण्य स्पष्ट हुआ। ईश्वर ब्रह्मण्यदेव हैं, यथा—'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।'❀ 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति। भा० ५। १९। ३॥' 'प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना २०९। ४॥' भगवान् रामजीने इस प्रकार अपने वचनोंसे गुप्त रीतिसे परशुरामजीको अपना स्वरूप जना दिया, परंतु वे क्रोधा-वेशके कारण समझ न सके।

नोट—२ इस प्रसङ्गके अन्तमें कहा है कि 'सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधरमति के। २८४। ६॥' वचनोंकी मृदुता और गूढ़ताका उपक्रम 'नाथ संभु धनु भंजनिहारा।····' इसी चौपाईसे है और उनका उपसंहार

❀ पं० रामकुमारजीके टिप्पणमें यह है। परंतु महाभारत अनु० पर्वके 'विष्णुसहस्रनाम' स्तोत्रमें यह नहीं है। भार्गव प्रेस (काशी) के छपे हुए 'विष्णुसहस्रनाम' में यह है। इसमें यह १४८ वाँ श्लोक है। श्लोक १४३ से १५८ तक जो इसमें है वे मूलग्रन्थमें नहीं हैं।

'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई। २८४। ५॥' पर किया गया है। मृदुता तो 'नाथ' 'एक दास' इत्यादि वचनोंसे प्रत्यक्ष ही है, रही गूढ़ता सो क्या है? यह प्रश्न उठाकर मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि 'कोउ एक दास' में गुप्त भाव यह है कि आपका कोई 'एक' अर्थात् खास, मुख्य, प्रधान वा चुना छटा हुआ ही दास होगा और 'तुम्हारा' से भृगुकुल एवं ब्राह्मणमात्रका दास होना जनाया। 'नाथ संभु' ये वचन अत्यन्त गौरवताके हैं। गौरवता यह है कि तोड़नेवाला 'शंभुका नाथ' होगा जो कि तुम्हारा (भृगुकुलका) दास है। 'दास' से भृगुलता चिह्नका बोध करा रहे हैं। (पाँड़ेजी)।

टिप्पणी—४ 'आयेसु काह·····' इति। (क) प्रथम अपनेको दास कहा, अब दासका धर्म कहते हैं। दासका धर्म 'सेवा' है। आज्ञा-पालनके समान दूसरी सेवा नहीं; यथा—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा। २। ३०१॥' अतः कहा कि 'आयेसु काह' क्या आज्ञा? (ख) 'कहिअ किन मोही'—मुझसे क्यों नहीं कहते? तात्पर्य कि तुम्हारा अपराधी तो मैं हूँ। जनकजीने तो आपका कुछ बिगाड़ा नहीं, उनको 'जड़' 'मूढ़' कहना, उनको राज्य उलट देनेकी धमकी देना अनुचित है। यथा—'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा २७९। ४॥' (जैसा लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें कहा है)। इसीसे मैं आपकी आज्ञा पालन करनेको प्रस्तुत हूँ, हाजिर हूँ। यथा—'कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिय दास की नाईं। २७९। ५॥'—इन शब्दोंसे अपनेको 'धनु भंजनिहारा' जना दिया। (यहाँ वाच्यार्थके बराबर व्यङ्गार्थ है कि मैं ही आपका दास धनुष तोड़नेवाला हूँ। मेरे लिये क्या आज्ञा होती है? यह भी जना दिया कि आप जानते हैं कि हमने धनुष तोड़ा है, आप अनजानकी तरह पूछ रहे हैं। आपको चाहिये था कि सीधे मुझसे कहते जो कुछ कहना होता। यह परशुरामजीके 'कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा' का उत्तर है)। (ख)—'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही' इति। परशुरामजीके क्षण-क्षणमें रिस होती है, यह बात जनानेके लिये कवि बार-बार उनको क्रोध होना लिखते हैं। यथा—'रिस बस कछुक अरुन होइ आवा' 'ब्यापेउ कोपु सरीर। २६९॥' 'अति रिस बोले बचन कठोरा।' 'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही' (यहाँ), 'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू। २७१। ८॥' 'सुनि सरोष भृगुबंसमनि बोले गिरा गँभीर। २७३॥' और 'परसुरामु तब राम प्रति बोले उर अति क्रोधु। २८०॥' इत्यादि। बारम्बार क्रोध करते हैं। [प्रसङ्गके प्रारम्भमें ही कविने उनको 'मुनि कोही' विशेषण देकर यह बात प्रकट कर दी है कि इस प्रसङ्गभरमें इनका क्रोध भरपूर भरा है। इसीसे मानसमुखबन्दमें 'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' कहा गया है। (प्र० सं०)] (ग) 'रिसाइ बोले' अर्थात् कठोर वचन बोले, यथा—'क्रोध के परुष बचन बल।' रिसाकर बोलनेका भाव कि हमारे गुरुका अपराधी होकर अब सेवक बनकर छलसे बचना चाहता है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यदि कोई क्रोधसे भरा हुआ पुरुष पूछता हो कि किसने धनुष तोड़ा उससे कहना कि मैंने धनुष तोड़ा, सीधे-सीधे युद्धका आह्वान करना है। यहाँ परशुरामजी पूछते हैं 'कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा। बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू।' जनकजी क्रोधकी धार अपने ऊपर लेना चाहते हैं, जानते हैं, कि तोड़नेवालेको यह तुरंत वध करेंगे, इस भयसे उत्तर नहीं दे रहे हैं, अपना मारा जाना स्वीकार है, जामाताको कैसे मरने दें। सब लोग सन्त्रस्त हो उठे, स्वयं जानकीजी बड़े सकटमें पड़ गयीं। ऐसी परिस्थिति देखकर उनके क्रोधको शान्त करते हुए, श्रीरघुवीर बोले 'नाथ संभु धनु भंजनिहारा' इत्यादि।

भाव यह कि शम्भुधनुषको किसी आपके विरोधीने नहीं तोड़ा है, उसे आपके किसी दासने तोड़ा है। दासके पराक्रमसे स्वामीके गौरवकी वृद्धि होती है, ह्रास नहीं होता। वह दास आपके लिये प्रस्तुत है, अब आपको दुरूह कार्यके सम्पादनके लिये युद्धादिका कष्ट न उठाना पड़ेगा, आपकी आज्ञा पाकर दास ही सब कर देगा। मुझे आज्ञा हो, मैं करनेको प्रस्तुत हूँ। इस भाँति सरकारने अपने द्वारा धनुष-भङ्ग होना भी द्योतित कर दिया, परंतु क्रोधी मुनि उत्तरकी बारीकीको नहीं पकड़ सके, इतना ही समझा कि रामजी धनुष तोड़नेवालेको मेरा दास बतला रहे हैं, अतः क्रुद्ध होकर बोले—

सेवक सो जो करै सेवकाई। अरि करनी करि करिअ लराई॥ ३॥
सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥ ४॥
सो बिलगाउ बिहाइ* समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥ ५॥

---

* बिहाउ—१७०४।

अर्थ—सेवक (तो) वह है जो सेवा करे। शत्रुका काम करके लड़ाई करना चाहिये॥ ३॥ हे राम! सुनो। जिसने शिवजीका धनुष तोड़ा है वह सहस्रबाहुके समान ही मेरा शत्रु है॥ ४॥ वह समाजको छोड़कर अलग आ जाय नहीं तो सब राजा मारे जायँगे॥ ५॥

नोट—१ शील और असभ्यताका कितना सुन्दर संघर्ष है। अति क्रोधने परशुरामजीको श्रीरामजीके स्पष्ट वाक्य भी समझने न दिये। उनका क्रोध और बढ़ता ही गया। वे कहते हैं—'सेवक सो···रिपु मोरा।' हास्यरस कितना सूक्ष्म है कि श्रीरामजीके स्पष्ट वाक्य भी हजरत (श्रीमान्‌जी) की समझमें न आये। नाटकीय विरोधाभासका आनन्द यह है कि वे वाक्य (सेवक सो ··) स्वयं उससे कहे जा रहे हैं, जिसने धनुष तोड़ा है। आगे वे यहाँतक कह देते हैं कि 'सो बिलगाउ···।' (श्रीलमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ 'सेवकु सो जो करै···' इति। (क) जो सेवा करे वह सेवक है। जो शत्रुका काम करे उसे लड़ाई करना चाहिये। लड़ाई करना ही शत्रुका धर्म है।—यह श्रीरामजीके '**होइहि केउ एक दास तुम्हारा**' का उत्तर है। '**आयसु काह कहिअ किन मोही**' इस वाक्यका उत्तर परशुरामजीने नहीं दिया। (ख) यद्यपि श्रीरामजीने अपनेको जनाया तथापि अज्ञानवश एवं इससे कि श्रीरामजीने परोक्ष कहा कि '**होइहि केउ एक दास तुम्हारा**' परशुरामजी न समझ पाये। इसीसे वे दूसरेको धनुष तोड़नेवाला समझ रहे हैं, श्रीरामजीको नहीं। दूसरे श्रीरामजीकी मधुर मूर्ति देखकर यह प्रतीति नहीं होती कि इन्होंने धनुष तोड़ा हो। यथा—'**देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥ कमठ पीठि पबिकूट कठोरा। नृपसमाज महुँ सिवधनु तोरा॥ सकल अमानुष करम तुम्हारे।** ३५६। ७; ३५७। ६।', '**कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥** २५८। ४॥' तीसरे, क्रोधमें भरे हुए हैं। इन कारणोंसे उन्होंने श्रीरामजीके वचनोंपर निगाह न डाली (विशेष ध्यान न दिया)। यह समझ रहे हैं कि यह बालक है, धनुष तोड़ नहीं सकता, धनुष तोड़नेवाला कोई और है जो भयके कारण नहीं आता; इसीसे श्रीरामजी उसके लिये सिफारिश करते हैं। [परशुरामजीका आशय यह है कि केवल वचनोंसे सेवक बननेवाला सेवक नहीं है। (वि० टी०)] (ग) '—करिअ लराई'—अर्थात् वह सेवक न बने, वह हमसे युद्ध करे, हम उसका बल देखें।

२ 'सुनहु राम जेहि सिवधनु···' इति। (क) वाक्यसे स्पष्ट है कि परशुरामजी समझते हैं कि श्रीरामजी धनुष तोड़नेवालेका अपराध क्षमा करा रहे हैं, इसीसे वे कहते हैं कि जिसने धनुष तोड़ा है वह हमारा सामान्य शत्रु नहीं है कि हम उसे क्षमा कर दें, वह तो सहस्रबाहुके समान हमारा शत्रु है। (ख) 'सिवधनु' कहनेका भाव कि वह हमारे गुरुदेव श्रीशिवजीका धनुष है, इसीसे उसको तोड़नेवाला हमारा शत्रु है। प्रथम जो कहा है कि 'अरि करनी करि···' वह 'अरि करनी' यहाँ स्पष्ट की कि धनुष तोड़ना 'अरि करना' है। (ग) 'सहसबाहु सम' कहनेका भाव कि सहस्रबाहु हमारे पिताका द्रोही था। (उसने हमारे पिताको मारा था और धनुष तोड़नेवाला हमारे गुरुका द्रोही है। पितृद्रोही और गुरुद्रोही दोनों तुल्य होनेसे सहस्रबाहुके समान वैरी कहा। आशय यह है कि जैसे हमने उसकी भुजाएँ काटीं (और उसका वध किया) वैसे ही इसकी भुजाएँ काटेंगे जिनसे उसने धनुष तोड़ा है (और फिर उसका वध भी करेंगे)। ['सहसबाहु' की कथा 'पर-अकाज-भट सहबाहुसे' १। ४। ३। में कुछ दी गयी है और कुछ आगे दोहा २७२ (८) में लिखी गयी है। [शिवजी परशुरामजीके गुरु हैं। यह परशुरामजीके वचनोंसे स्पष्ट है—'**गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे।**', '**आगे अपराधी गुरुद्रोही**' (१। २७५)। नाटकमें भी कहा है—'**उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरुर्वीर्यं····**' (हनु० १। ५३) अर्थात् जो जमदग्निजीसे उत्पन्न हुए हैं, पिनाकी शिवजी जिनके गुरु हैं।]

टिप्पणी—३ 'सो बिलगाउ बिहाइ समाजा···' इति। (क) 'सो बिलगाउ' इति। जनकने जब तोड़नेवालेका नाम न बताया तब परशुरामजीने उनसे पुनः न पूछा और न उनके बतानेसे रुष्ट ही हुए, क्योंकि जानते हैं कि राजा धर्मात्मा हैं; वे नाम इससे नहीं बताते कि बता देनेसे वह मारा जायगा, हमको पाप लगेगा (और श्रीरामजीने भी नाम नहीं बताया। अतएव उन्होंने सोचा कि अब हम ही उसे अलग करावें। यह विचारकर वे कहते हैं—'सो बिलगाउ ···'; अर्थात् वह अलग निकलकर आ जाय)। (ख)—'बिहाइ समाजा' कहनेका भाव कि वैरी समाजका अवलम्ब लिये हुए है, यदि वह समाजसे निकलकर बाहर न आ जायेगा तो हम सब समाज अर्थात् सब राजाओंको मारेंगे, उनमें वह भी मर जायगा। (ग) 'न त मारे

जैहहिं सब राजा'—सब राजाओंको मारनेको कहा जिसमें राजालोग अपने वधके भयसे अपराधीको बता दें। (ग)—'**सब राजा**' इति। पहले जो कहा कि '**सहसबाहु सम सो रिपु मोरा**', अब उसको स्पष्ट करते हैं कि जैसे सहस्रबाहु (एक अपराधी) के कारण समस्त राजा मारे गये वैसे ही एक धनुष तोड़नेवालेके कारण सब मारे जायँगे। आशय यह है कि उस एकके कारण सबको भले ही मार डालें, किंतु उसको हम न छोड़ेंगे। (अतः यदि वह स्वयं समाजसे निकलकर बाहर न आवे तो तुमलोग अपने प्राणोंकी बचानेके लिये उसे बता दो। वह समझदार होगा तो स्वयं अलग हो जायगा कि मेरे कारण समूहका नाश क्यों हो)।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामी—'न त मारे जैहहिं सब राजा' इस वाक्यसे परशुरामजीमें 'आर्जव' गुणका विनाश सिद्ध होता है। एकके अपराधके लिये सब राजाओंको मारनेकी धमकी देनेमें सरलताका अभाव है। 'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा' यह गर्वोक्ति है।

सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने॥ ६॥
बहु धनुही तोरीं लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥ ७॥

शब्दार्थ—परसुधर=फरसा धारण करनेवाले=परशुरामजी। अपमाने=निरादर करते हुए। धनुही=छोटे-छोटे धनुष। लरिकाईं=लड़कपनमें।

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर लक्ष्मणजी मुस्कुराये और परशुरामजीका अपमान करते हुए बोले॥ ६॥ हमने लड़कपनमें बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डालीं, (पर) हे गोसाईं! आपने कभी भी ऐसी रिस नहीं की॥ ७॥

नोट—१ '**सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने**' इति। 'मुसुकाने' के भाव कि—(१) मुनिको ऐसे वचन न बोलने चाहिये, क्रोध न करना चाहिये, उसे तो न तो किसीसे वैर ही करना चाहिये और न किसीकी हिंसा ही। पर इनकी सभी बातें मुनिधर्मके विरुद्ध हैं। इनके वचनोंसे ही इनमें ये सब दोष पाये जाते हैं। (२) देखो तो ये मुनि कहलाते हैं और धनुष-बाण और कुठार धारण किये हैं। पुनः, मुनिको शान्त रहना चाहिये और ये क्रोध करते हैं। पुनः, मुनिका कोई शत्रु नहीं होता, यथा—'**बिसरे गृह सपनेहु सुध नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं॥ ७। १६॥**', और ये तोड़नेवालेको सहस्रबाहुके तुल्य शत्रु मानते हैं। (३) देखो तो भगवान् तो इनके सेवक बनते हैं सो तो ये मानते नहीं, उलटे उनको शत्रु बनाते हैं। (पं० रामकुमारजी)। (४) यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि रामजी तो 'नाथ' 'दास' आदि वचनोंसे नम्र निवेदन कर रहे हैं, इसपर भी ये दर्पभरी वाणी मुँहसे निकाल रहे हैं, इनका क्रोध बढ़ता ही जाता है। (५) कितने ही शस्त्र धारण करें तो क्या, हैं तो ब्राह्मण ही न! (रा० प्र०)। (६) बड़े गर्वके और बेमानके वचन हैं, अतः हँसे। (वै०)

टिप्पणी—१ '**बोले परसुधरहि अपमाने**' इति। 'परसुधर' कहकर जनाया कि फरसा धारण करनेसे ही लक्ष्मणजीने इनका अपमान किया। यथा—'**कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर॥ २७३॥**' अपमान करनेका दूसरा भाव कि परशुरामजीने धनुष तोड़नेवालेका वध करनेको कहा (यह श्रीरामजीका अपमान है), इसीसे लक्ष्मणजी उनका अपमान करते हैं, (भला श्रीरामजीका अपमान ये कब सह सकते हैं ?)। ब्राह्मणका अपमान उसके वधके समान है। यथा—'**आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां विप्राणां मानखण्डनम्। पृथक् शय्या वरस्त्रीणामसस्त्रवध उच्यते।**' (सु० र० भा० प्रकरण ३ नीति) अर्थात् राजाओंकी आज्ञाका भंग करना, ब्राह्मणोंका मानखण्डन और पतिव्रताजीको सास्त्रोक्त दशामें पृथक् शय्या देना इन सबोंका असस्त्रवध कहा गया है। [इस प्रकार इन्होंने श्रीरामजीके अपमानका बदला लिया। उन्होंने मारनेको कहा था—'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा', लक्ष्मणजीने विप्र-अपमान-रूपी वध किया। पाँडेजीका मत है कि 'परसुधर' वीरतासम्बन्धी नाम है। परशुधर नाम दिया जिसमें ब्राह्मणका अपमान न हो।

२ (क) '**बहु धनुही तोरीं लरिकाईं**' इति। इस चरणके प्रत्येक शब्दसे धनुषकी लघुता कही। 'बहु' से जनाया कि ऐसा 'धनुही' बहुत हैं तब इसपर ममत्व क्यों है ? 'धनुही' तो प्रत्यक्ष ही लघुतावाचक शब्द है। 'लरिकाईं' शब्दसे भी लघुता सूचित होती है, इस प्रकार कि जो धनुहियाँ लड़कपनके बलको भी न सँभाल सकीं, उन्हींके समान यह भी है, जैसे बालपनेमें छोटे-छोटे एवं हलके धनुष तोड़ डाले वैसे ही यह भी धनुष टूटा है। धनुषके अनादरसे परशुरामजीका अपमान है, इसीसे इस धनुषका अनादर करते है। गुरुके महान् धनुषको 'धनुही' कहा, यही अपमान है। [कहनेका अभिप्राय यह है कि जैसे

लड़कपनमें खेल-ही-खेलमें हमने बहुतसे छोटे-छोटे धनुष तोड़ डाले, वैसे ही यह भी खेलहीमें बिना परिश्रम टूट गया। आगे कहा भी है—'छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। २७२। २।' श्रीरसिक विहारीजी इस सम्बन्धमें यह कवित्त लिखते हैं— 'छोटे छोटे छोहरा छबीले रघुबंशिनके करत कलोलें यूथ निज निज जोरि जोरि। ए हो मृगुनाथ चलो अवध हमारे साथ देखो तहँ कैसे धहूँ खेलत हैं कोरि कोरि॥ 'रसिकविहारी' ऐसी अमित कमानें सदा आन गहि तानें एक एकन ते छोरि छोरि। कोऊ मकमारें कोऊ पकरि मरोरें योंही खोरि खोरि नितहि बहावें बाल तोरि तोरि।' (प्र० सं०)]। (ख) 'कबहुँ न' कहकर जनाया कि बहुत धनुहियाँ बहुत दिनोंमें टूटीं, कभी कोई टूटी, कभी कोई। भाव कि जब-जब जो-जो धनुही टूटी तब-तब उस-उसके टूटनेपर आपको रुष्ट होना चाहिये था, पर किसीके भी टूटनेपर (किसी बार भी) आप नहीं रिसाये थे। (ग) 'न असि रिस कीन्हि गोसाईं' इति। धनुषोंपर न तो ममता की और न उनके टूटनेपर कुपित हुए, इसी सम्बन्धसे 'गोसाईं' सम्बोधन किया। गोसाईंका यही धर्म है। गो (इन्द्रियों) के स्वामी अर्थात् इन्द्रियजित्। पुनः 'गोसाईं' शब्दमें व्यङ्ग यह कि जब हमने बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डालीं तब तो आपने कभी रिस न किया, गोसाईं अर्थात् इन्द्रियजित् साधु बने रहे और इस धनुहीके तोड़नेपर आप वीर बनकर आये हैं तथा लड़नेपर उतारू हैं, यथा— 'अरि करनी करि करिअ लराई।' (घ) 'असि रिस' अर्थात् जैसी इस समय कर रहे हो। यथा—'कहु जड़ जनक··· बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि····। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥ सो बिलगाउ' तक (रा० प्र०)।

नोट—२ परशुरामजीका क्रोध धनुषभंगपर है इसीसे उसको 'धनुही' और लड़कोंकी तरह खेलमें तोड़ना कहकर उसको परम लघु और तुच्छ जनाया। ये दोनों वचन अपमानके हैं। शिवधनुषको 'धनुही' कहना और 'रिस' को ममताके कारण संकेतरूपमें कहना मजे (विनोद) की बातें हैं और चुटकियाँ हैं। फिर भी सभ्यता और नागरिकता यह है कि परशुरामजीको 'गोसाईं' ही कहा है। मजा यह है कि परशुरामजी अति क्रोधके कारण इसे लक्ष्मणजीकी चुटकी ही समझ रहे हैं। (कविकी सूक्ष्म सूक्तियाँ प्रशंसनीय हैं)। (लमगोड़ाजी)।

३ परशुरामजीके अभिमानयुक्त वचनपर लक्ष्मणजी मुसकुराये, और उनके अपमानकी भावनासे, जिस शिव-धनुषपर उनकी इतनी ममता है कि तोड़नेवालेका नाम न बतलानेपर जनकपुरको उलटनेको तैयार हैं, उस धनुषको साधारण धनुहीसे तुलना कर रहे हैं। लड़कपनमें आज भी साधारण गृहस्थके बच्चे खेलमें तोड़ा ही करते हैं, इसपर बड़े लोग नाराज भी नहीं होते। चक्रवर्तीजीके दुलारे लक्ष्मणजीने बचपनमें बहुत धनुही तोड़ी होंगी, इसमें आश्चर्य क्या है? अतः लक्ष्मणजी कहते हैं 'बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं' पर आप कभी नाराज नहीं हुए। जिस भाँति उन धनुहियोंसे वास्ता नहीं था, उसी भाँति इस धनुषसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है, यथा—'शर्वरी पिनाक में सरीकता कहाँ रही' (क०), इसपर ममताका कारण होना चाहिये। जिसका धनुष था उसने आपको सिपुर्द भी नहीं कर रक्खा था, धनुष भी पुराना बेकार था। सहस्रबाहुने आपके पिताका वध किया था, उससे शत्रुता मानना प्राप्त था। इस धनुषके भंग करनेवालेको वैसा शत्रु समझना तो निष्कारण क्रोध करना है। (पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी)।

४ 'बहु धनुही तोरीं लरिकाईं।···' के सम्बन्धमें अनेक कथाएँ टीकाकारोंने लिखी हैं। (क) कोई विजय-दोहावलीका प्रमाण देकर लिखते हैं कि 'दस हजार वे शिशु हते गंधर्वन के पुत्र। तिनकी धनुही छीनकै तोरी हती सुमित्र॥' अर्थात् गन्धर्वोंने एक बार मृगया खेलमें दस हजार बालकोंके प्राण ले लिये, तब श्रीलक्ष्मणजीने उनको दण्ड दे सबके धनुष छीनकर तोड़ डाले थे—यहाँ 'बहु धनुहीं तोरीं ···' से उसकी ओर संकेत है।

(ख)—मयंककार लिखते हैं कि 'इस वचनका तात्पर्य यह है कि शिवजीने जलन्धरके युद्धमें बहुतसे धनुषोंको जीतकर मनोरमा नदीके किनारे रख दिया था, उसके रखनेवाले परशुरामजी थे। यहाँ लक्ष्मणजी प्रायः खेलने जाया करते थे और खेलहीके मिस उन्होंने बहुतसे धनुषोंको तोड़ डाला। वही स्मरण दिलाते हैं।'

(ग)—पण्डित रामचरण मिश्र लिखते हैं कि गूढ़ार्थ-प्रकाशमें एक कथा यह लिखी है कि 'त्रिपुरासुरके वधके लिये वज्रवत् अस्थियोंके धनुषकी आवश्यकता हुई। ब्रह्माजीके आज्ञानुसार देवताओंने महर्षि दधीचिसे उनके शरीरकी हड्डियोंकी याचना की, जो उन्होंने दे दीं, परतु उनकी आयु शेष थी, इससे उन्होंने कहा कि अभी मृत्यु तो होगी नहीं, प्राणोंको कहाँ रखें। ब्रह्माने आज्ञा दी कि प्राण 'नाक' के अग्रभाग त्रिकुटीमें रहेंगे और जब त्रेतामें यह धनुष टूटेगा तब तुम्हारी मुक्ति होगी। धनुष बनवानेके लिये शिवजीकी सम्मतिसे विश्वकर्मा उसे शेषजीके पास ले गये। शेषजीके फण वज्रवत् हैं। उनकी

श्वासासे तप्त होकर फणोंकी चोट लगनेसे अस्थियाँ जुड़-जुड़कर धनुषरूप बन जायँ, पर ज्यों ही फन तिरछा हो हिले, जुड़ा हुआ धनुष टूट जाता। यों ही अनेकों बार धनुष बना और टूटा। यह भेद शङ्करजीने जाना तो बड़ी सावधानीसे उन्होंने धनुष जुड़नेपर फिर उसे चोटसे बचा निकाल लिया। धनुष तो बन गया पर चाँप बाकी रही। शङ्करजीने त्रिशूलसे नाकको काट बनी बनायी चाँप (मूठ) लगा तपाकर जो फण बाकी था उसकी चोट लगवाकर शीघ्र खींच लिया। इसीसे धनुषका नाम पिनाक पड़ा। इस नाकमें दधीचिके प्राण रहनेके कारण वह सजीव था। जब रामजीने धनुष तोड़ा तब प्राण निकले। अतः लक्ष्मणजी कहते हैं जबतक चाँप नहीं लगी थी तबतक इसकी धनुही संज्ञा रही। क्योंकि बन रहा था उसी अवस्थामें कई बार तोड़ डाला है।'

(घ) बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि—'जब परशुरामजीने पृथ्वी निःक्षत्रिय करके तमाम राजाओंके धनुष अपने स्थानमें ला इकट्ठे किये और बहुतसे देवताओंके धनुष भी वे लाये तो उनके बोझसे पृथ्वी और शेषजी घबराये। तब पृथ्वी माता और शेषजी पुत्र बनकर परशुरामजीके पास इसलिये पहुँचे कि 'कहीं ये ही धनुष राक्षसोंको न मिल जायँ जो प्रलय हो जाय।' वहाँ पृथ्वीने कहा कि हम माता-पुत्र बड़े दुखी हैं, भोजन भी नहीं मिलता, आज्ञा हो तो यहीं सेवाकर पड़े रहें। अन्यान्य ऋषियोंके पास भी मैं गयी थी, पर इस पुत्रकी चञ्चलताके कारण उन लोगोंने मुझे शरण नहीं दी, आशा है कि आप इस लड़केके अपराध सहते हुए मुझे सेवाकी आज्ञा देंगे। तब परशुरामजीने दया करके कहा कि मैं तेरे पुत्रके अपराध क्षमा करूँगा। बस, दोनों रहने लगे। एक दिन जब परशुराम बाहर गये तो उस बालकने सभी धनुष तोड़ डाले। आवाज सुनकर उन्होंने आकर देखा तो क्रोध न कर आशीर्वाद दे माता-पुत्रको विदा किया। तब शेषजी अपना स्वरूप दिखाकर भविष्यमें शिव-धनुषका टूटना और उस समय फिर सम्भाषण होना कहकर अन्तर्धान हो गये। यहाँ वही लड़कपनमें धनुषोंका तोड़ना सूचित किया है।

☞ वीरकविजी कहते हैं कि लोग तरह-तरहकी कथाएँ ऊपरसे लिखते और कहते हैं पर ये सब असंगत हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी उपर्युक्त कथाओंके सम्बन्धमें लिखते हैं कि 'इस चौपाईके अर्थमें जो लोग इधर-उधरकी कथाओंको जोड़कर अर्थ करते हैं कि शेषजीने बालक बनकर परशुरामजीके संग्रह किये हुए पराजित राजाओंके दिव्यास्त्र नष्ट किये थे, उसको याद दिलाते हैं; उसमें यह त्रुटि पड़ जाती है कि (यों तो) वह प्रार्थना (स्तुति)-वचन हो जायगा (अपमान नहीं)। (कविके) 'अपमाने' शब्दका भाव ही नष्ट हो जायगा ? दूसरे, जब वे वरदानिक वा दिव्यास्त्र थे तो उनके लिये 'धनुही' का प्रयोग क्यों किया जायगा ? विशेष अगली चौपाई 'येहि धनु पर ममता केहि हेतू' में देखिये।

येहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥ ८॥

दोहा—रे नृपबालक कालबस बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार॥ २७१॥

शब्दार्थ—'सँभार'=रोक; निरोध; वशमें रहने या रखनेका भाव; होस-हवास; विचार।

अर्थ—इस धनुषपर किस कारणसे आपका ममत्व है ? (यह) सुनकर भृगुकुलकी ध्वजा (परशुरामजी) रिसाकर बोले। ८। अरे राजपुत्र ! कालके वश तुझे बोलनेमें कुछ भी 'सँभाल' नहीं है। त्रिपुरासुरके शत्रु श्रीशिवजीका सारे जगत्में प्रसिद्ध धनुष 'धनही' के समान है। २७१।

टिप्पणी—१ 'येहि धनु पर ममता·····' इति। (क) 'येहि धनु पर·····' कहनेका भाव कि बहुतेरी धनुहियाँ जो हमने लड़कपनमें तोड़ डालीं उनमेंसे किसीमें ममत्व क्यों न हुआ ? पुनः भाव कि (सब धनुष और यह धनुष एक ही आकार-प्रकारके हैं, उनसे) इसमें कोई विशेषता नहीं देख पड़ती, जैसे सब धनुहियाँ टूटीं वैसे ही यह भी टूट गयी। पुनः भाव कि सब धनुष एक-से हैं, यथा—'सुनहु देव सब धनुष समाना। २७२। १।', पर आपका ममत्व एक-सा नहीं है। एक इसीपर है अन्य सबोंपर नहीं था, इसका क्या कारण है ? 'केहि हेतू' से जनाया कि ममताका कोई हेतु जान नहीं पड़ता। परशुरामजीका ममत्व इस धनुषपर है यह उनके 'सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥' से स्पष्ट है। (ख) 'ममता केहि हेतू' का भाव कि आप 'गोसाईं' अर्थात् साधु हैं, साधुको किसी वस्तुमें ममत्व न चाहिये। धनुषपर जो आपकी ममता है, यह आपका अज्ञान है।

नोट—१ 'ममता केहि हेतू' इति।—संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि भाव यह है कि लड़कपनमें खेलमें हमने बहुमूल्य मणि आदि जटित धनुहियाँ तोड़-तोड़ डालीं, तब तो आपने कभी रिस किया नहीं और इस धनुषमें तो कोई दावण्यता ही नहीं, दूसरे यह पुराना भी है, फिर क्या रिस करते हैं? जैसे उन धनुहियोंके टूटनेपर रोष न किया क्योंकि वे आपकी न थीं, वैसे ही यह भी तो आपका नहीं है, शिवजीका है, अथवा, शिवदत्त जनकके बाप-दादेका है आपकी ममता इसपर क्यों है? यथा कवितावल्याम्—'रोषे माषे लषनु, अकनि अनखोही बातैं, तुलसी बिनीत बानी बिहँसि ऐसी कही॥ सुजस तिहारे भरे भुवननि भृगुनाथ! प्रगट प्रताप आपु कहेउ सो सबै सही। टूटेउ सो न जुरैगो, सरासन महेसजूको, रावरी पिनाक मैं सरीकता कहा रही।' (क० १।१९)। धनुष शंकरजीका है; वे जनकजीके पुरुषाको सौंप गये, यथा—'नीलकंठ कारुन्यसिंधु हर दीनबंधु दिन दानि हैं। १। जो पहिले ही पिनाक जनक कहँ गए सौंपि जिय जानि हैं।' (गीतावली १।७८)। फिर शिवजीने इनसे प्रतिज्ञा करवायी; तो जनकजी चाहे उसे तुड़वावें चाहे रक्खें, तुम्हारा उसमें क्या? जो तुम्हारा रहता तो तुम्हींको न सौंपते? पं० रामकुमारजी भी यही भाव कहते हैं। शिवजीने जनकजीको आज्ञा दी थी कि तुम जानकीजीके विवाहके लिये इस धनुषके तोड़नेकी प्रतिज्ञा करो तब तुम्हारी कन्याके योग्य पति मिलेगा। यह पूर्व लिखा जा चुका है। शिवजीकी आज्ञासे धनुषका तोड़ना ही शुल्क रक्खा गया और श्रीरामजीने तोड़ा, तब आप कौन हैं?

टिप्पणी—२ (क) 'बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं'''' कहकर श्रीलक्ष्मणजीने परशुरामजीका अपमान किया। परशुरामजी धनुषको बहुत भारी समझे हुए हैं, इसीसे लक्ष्मणजी उसे बहुत लघु कहते हैं। वादविवादमें ऐसा कहनेकी रीति है। जैसे कि-जब रावणने हनुमान्‌जीको बहुत भारी बलवान् कहा तब अंगदने उनको बहुत छोटा धावन कहा। यथा—'सिलिप कर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महा-बल-सीला॥ आवा प्रथम नगरु जेहि जारा॥''''रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥ जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥ ६। २३।'

(ख) 'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू' इति। 'भृगुकुलकेतु' का भाव कि भृगुजी क्रोधी थे [उन्होंने भगवान् विष्णुकी छातीमें लात मारी; परीक्षा ही क्यों न सही पर मारा तो। दूसरे अनजानमें स्त्रीके सिरपर चक्र गिरा तो शाप भी दिया था—(मा० त० वि०)] और ये तो उस कुलके केतु हैं (उसकी ध्वजा फहरानेवाले हैं,) अर्थात् अत्यन्त क्रोधी हैं, अतः ये क्रोध करके बोला ही चाहें, आश्चर्य क्या? भला इनके कोपका कहना ही क्या? स्मरण रहे कि जब कहा था कि 'कबहुँ न असि रिस कीन्हि' तब क्रोध न करनेके सम्बन्धसे 'गोसाईं' कहा था और जब क्रोध किया तब 'भृगुकुलकेतु' विशेषण देते हैं। (क्रोध करके कुलकी मर्यादा रखते हैं। जैसी परम्परा है वैसा करते हैं।)

टिप्पणी—३ 'रे नृपबालक कालबस'''' इति। [(क) 'नृपबालक'—भाव कि मैं राजाओंका शत्रु हूँ, यह सोचकर भी तुझे डर नहीं है, सँभालकर नहीं बोलता। क्षणभरमें कालके हवाले कर दूँगा।—'काल कवलु होइहि छन माहीं। २७४। ३।', 'कटुबादी बालक बध जोगू। २७५। ३।', 'रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी। ६। २१।'] (ख) 'काल बस' का भाव कि जो कालके वश होता है, उसे कुछ विचार नहीं रह जाता, यथा—'सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि काल बस खल मनुजादा। ६। ३२। ६।' 'सुनि दुर्बचन कालबस जाना। ६। ८९।'; जो कालके वश होता है वह दुर्वचन बोलता है, अट्टहास करता है, अनर्गल बकता है। (ग) 'बोलत तोहि न संभार'—भाव कि तेरा भाई जैसे सँभालकर बोलता है, वैसा तू नहीं बोलता। श्रीरामजीके वचन सुनकर परशुरामजी प्रसन्न हुए, क्योंकि उनके वचन बहुत नम्रताके हैं—'नाथ संभुधनु''''केउ एक दास तुम्हारा', इसीसे वे कहते हैं कि तुझे बोलनेका सलीका नहीं है, तेरे भाईको बोलनेका शऊर है। भाई सँभालकर बोलता है, तू सँभालकर नहीं बोलता। (घ) 'धनुही सम तिपुरारि धनु' इति। [लक्ष्मणजीने दो प्रश्न किये वा दो बातें कहीं—(१) मैंने लड़कपनमें बहुत धनुहियाँ तोड़ीं पर आपने कभी क्रोध न किया। (अर्थात् इस बार क्रोध क्यों करते हैं?) (२) इस धनुषपर ममत्व किस कारणसे है। परशुरामजी इसका उत्तर न दे सके; उत्तर न बन पड़ा, अतः उन्होंने केवल 'धनुही' शब्दको पकड़कर उसीपर अपना क्रोध दिखाया। (प्र० सं०)]। 'धनुही सम?' अर्थात् तूने शिवजीके जगत्-विख्यात धनुषको 'धनुही' क्यों कहा? लक्ष्मणजीने इसका उत्तर तुरंत दिया। यथा—'लषन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥'

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि "लक्ष्मणजीने वह वचन कहे जिनसे परशुरामजीका अपमान सूचित हो! अतएव वे जानते हैं कि आप तो इस धनुषके कोई हैं ही नहीं, यह तो शिवजीके द्वारा राजा जनकके अधिकारमें था, आप

ऐसी रिस क्यों करते हैं ? दूसरी बात अपमानकी यह है कि उनके गुरुके प्रतिष्ठित पिनाकको 'धनुही' की बराबरी कर रहे हैं। उन्हीं दोनों अपमानोंका उत्तर परशुरामजीने दिया भी है।—'धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।' 'धनुही सम' कहकर पिनाककी प्रतिष्ठा की और 'तिपुरारि धनु' कहकर अपने सम्बन्धका प्रमाण दिया कि यह जिसका धनुष है उसका मैं उपासक शिष्य हूँ।"

टिप्पणी—४ (क) 'तिपुरारि धनु' ?—भाव कि जिससे त्रिपुरासुर मारा गया [जो बड़े परिश्रमसे निर्माण किया गया था, जिसमें सारे देवताओंने अपनी-अपनी शक्ति लगा दी, जिसको शिवजी ही चढ़ा सकते थे दूसरा नहीं, ऐसे कठिन धनुषको 'धनुही' कहता है। (प्र० सं०)] भला वह 'धनुही' के समान है ? (ख) 'बिदित सकल संसार' यथा—'नृप भुजबलु बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥ २५०। १॥'

श्रीलमगोड़ाजी—'रे' और 'तोहि' शब्द बता रहे हैं कि परशुरामजीके क्रोधने उनकी सभ्यतापर विजय पा ली है। उधर लक्ष्मणजीकी सभ्य चुटकियाँ उसे और भी उभार रही हैं। क्रोधने बुद्धिको शिथिल कर दिया है। स्वयं अपने मुखसे कहते जाते हैं कि यह 'तिपुरारि धनु' है, धनुही नहीं, फिर भी यह नहीं सोचते कि उसका तोड़नेवाला भी साधारण मनुष्य नहीं हो सकता। इसीलिये तो आगे चलकर विश्वामित्रजीने भी कहा है कि 'मुनिहि हरियरे सूझ। अयमय खाँड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥ २७५॥', इनको हरियाली ही सूझ रही है, ठीक परख नहीं कर सकते।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'रे नृप बालक' इति। लखनलालको केवल एक अबोध बालक समझनेपर भी ('अबुध असंकू' 'बालक बोलि') खीझते हैं और वह भी 'बालक बचन करिअ नहिं काना' 'बररै बालक एक सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ॥' ऐसा श्रीरामजी और कौशिक मुनिके समझानेपर। क्या कोई साधारण नृपपुत्र परशुराम-सरीखे क्षत्रिय-कुलकाननकृशानुके सामने खड़ा भी हो सकता ? जहाँ 'अति डर उतरु देत नृप नाहीं' यह स्थिति श्रीजनक महाराजकी हो गयी थी, वहाँ एक बालक उत्तर-प्रत्युत्तर कर सकता था ?—'चहत उड़ावन फूँकि पहारू', 'इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं' इत्यादि रीतिसे निडर होकर कोई बालक साधारण वीर पुरुषके आगे भी सामना करता तो वह भी जान लेता कि यह कोई साधारण बालक नहीं है। यह तो 'बालक रूप अहइ सुर कोई' ऐसा जान लेता। पर ये क्रोधावेशमें कुछ समझते नहीं। तस्मात् यहाँ बुद्धिका नाश व ज्ञानहीनता सूचित की।

लषन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥ १॥
का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नयन* के भोरे॥ २॥

शब्दार्थ—जाना=जानमें, समझमें। छति (क्षति)=हानि, टोटा, नुकसान। जून—यह शब्द जीर्णका अपभ्रंश है। दक्षिणी जीर्णको 'जून' कहते हैं। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'जून' शब्दका अर्थ 'ऐंठी हुई रस्सी' है जैसा इस लोकोक्तिमें स्पष्ट है—'जून जरे तो जरे पर ऐंठन न जरे।' 'जून' गुजरातकी बोली है।=जीर्ण, पुराना। नयन=नये ही। भोरे=धोखेमें।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने हँसकर कहा—हे देव! सुनिये। हमारी जानमें (तो) सब धनुष एक-से हैं॥ १॥ जीर्ण धनुषके तोड़नेमें हानि या लाभ (ही) क्या ? श्रीरामजीने (तो उसे) नयेके धोखेमें देखा था॥ २॥

टिप्पणी—१ 'लखन कहा हँसि·····' इति। (क) [हँसनेका भाव कि धनुष तो टूटा हुआ पड़ा है, ये उस टूटे हुए धनुषकी प्रशंसा करते हैं। हमसे धनुष टूट गया फिर भी हमसे ही कहते हैं कि ऐसे धनुषको धनुही समझते हो, जब वह सहजहीमें टूट गया तो 'धनुही' नहीं तो और क्या कहा जाय ? व्यर्थ ही धनुही कहनेपर रुष्ट होते हैं। अथवा, हँसे कि हमारी बातका उत्तर तो दे न सके, 'धनुही सम' कहकर ही अपना रोष जताने लगे, रोषसे उत्तरको पूरा करते हैं। (प्र० सं०)। अथवा] लक्ष्मणजी हँसकर बोलते ही हैं वैसे ही यहाँ भी हँसकर बोले। अथवा, परशुरामजी हँसनेसे चिढ़ते हैं और चिढ़नेसे कौतुक (खेल) बनता है, इसीसे लक्ष्मणजी बराबर हँसकर बोलते हैं। यथा—'सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने' (पूर्व), 'लषन कहा हँसि' (यहाँ) 'बिहँसि लषन बोले मृदुबानी। २७३। १।', इत्यादि। (ख) 'हमरे जाना' का भाव कि आपके जानमें यह धनुष बड़ा भारी भले ही हो पर हमारे जानमें तो जैसे और सब धनुष थे, वैसा ही वह भी है, क्योंकि जैसे

---

* नए कें भोरें—१७२१, १७६२। नयेके—छ०। नयनके—१६६१ १७०४, को० रा०।

और सब टूटे वैसे ही यह भी टूट गया, (इसके तोड़नेमें किञ्चित् भी परिश्रम न पड़ा। हमसे न टूटता तब भले ही इसे भारी समझते)। (ग) 'सुनहु देव' इति। भाव कि आप दिव्य हैं (महर्षि जमदग्निजीके पुत्र हैं, महिदेव हैं, मुनि हैं, आवेशावतार हैं, चौबीस अवतारोंमेंसे एक आप भी हैं), अतः आप यह बात समझ सकते हैं।—लक्ष्मणजीके इन वचनोंसे परशुरामजीको समझ जाना था कि जिस धनुषको देवता, दैत्य, राक्षसराज और मनुष्य कोई भी टसका तक न सके, उसे रामजीने धनुहीके समान तोड़ डाला, यह पराक्रम ईश्वरको छोड़ दूसरेमें नहीं हो सकता, अतः ये अवश्य ही ईश्वर हैं। परन्तु क्रोधावेशमें उनको यह बात न समझ पड़ी। (श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि **'सब धनुष समाना'** का भाव कि 'श्रीरामजीके शार्ङ्गधनुषको छोड़कर जितने भी समस्त देवताओं, दैत्यों और मनुष्य इत्यादिके धनुष हैं वे सब न्यूनाधिक्य प्राकृत गुणोंके संयोगसे सामान्य ही हैं।....')।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'नत मारे जैहैं सब राजा' इस उक्तिपर ही लक्ष्मणजी मुसकुराये थे, अब **'रे नृप बालक कालबस'** सुनकर तो हँस पड़े कि इन्होंने अपनेको समझ क्या रखा है ? अतः उनके परधर्माभिमानके हरणके लिये कहने लगे कि आप ब्राह्मण हैं, धनुष-बाण धारण करना आपका काम नहीं है, इसलिये आपको धनुष-धनुहीमें बड़ा अन्तर बोध होता है, परंतु धनुष हम क्षत्रियोंका स्वधर्म है, हमें इससे दिन-रात काम पड़ता है, इसलिये हमें धनुष-धनुहीमें कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती, समान ही मालूम पड़ते हैं। इसपर भी वह धनुष बहुत पुराना होनेके कारण धनुहीसे भी गया बीता था, किसी कामका न था, उसके टूटनेसे न किसीका कोई लाभ था, न हानि थी। उसके टूटनेपर क्रोध करना व्यर्थ है, और तोड़नेवालेका कोई दोष भी नहीं है। उसने नयेके धोखेसे उसे आजमाना चाहा, सो वह छूते ही टूट गया।

टिप्पणी २ 'का छति लाभ जून धनु तोरे....' इति। (क) यहाँ 'जीर्ण' प्रसिद्ध शब्द न देकर 'जून' शब्दका प्रयोग करनेमें भाव यह है कि जैसे शिवधनुषमें जीर्णता गुप्त है (यद्यपि वह नवीन-सरिस देख पड़ता है) वैसे ही गोस्वामीजीने कवितामें 'जीर्ण' शब्दको गुप्त रक्खा। (ख) 'का छति लाभ....'—का भाव कि जब आपकी उस धनुषपर इतनी ममता है, तब हम उसे क्यों तोड़ते ? पुराने धनुषके तोड़नेमें क्या लाभ या हानि है ? 'का लाभ' है, अर्थात् उसके तोड़नेसे कोई यश भी नहीं प्राप्त हो सकता, क्या यश मिला ? 'का छति ?' अर्थात् उसके तोड़नेसे क्या हानि हुई ? कौन बड़ी वस्तु खराब हो गयी, जो आप बिगड़ रहे हैं। जीर्ण था टूट गया तो टूट गया। (ग) **'देखा राम नयन के भोरे'**—भाव कि वीरताकी वस्तुके देखनेकी इच्छा वीरको होती ही है। [वे तोड़नेके विचारसे भी पास न गये थे। वे तो यह समझे थे कि राजा जनकने कोई नया कठोर धनुष बनवाकर प्रतिज्ञा की, इसी धोखेमें उन्होंने उसपर दृष्टि डाली। (मा० त० वि०)। 'नयनके भोरे' का यह भी भाव है कि ऊपरसे देखनेमें तो वह हीरे-मणियों आदिसे जटित बड़ा नया और पुष्ट दीखता था, पुष्पमाला आदिसे सुसज्जित था, इत्यादि। यथा—'घण्टाशतसमायुक्तं मणिवज्रादिभूषितम्॥ (अ० रा० १। ६। २२)।' 'ततः स राजा जनकः सचिवान् व्यादिदेश ह। धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यानुलेपितम्॥' (वाल्मी० १। ६७। २) इसीसे श्रीरामजीने उसे देखा, वे क्या जानते थे कि भीतरसे यह 'जून' (जीर्ण) है, सड़ा है ? 'भोरे' का भाव कि यदि जानते कि यह जीर्ण-शीर्ण है तो कभी न देखते। 'भोरे' (धोखेसे, भूलसे) कहना माधुर्यके अनुकूल है, ऐश्वर्यमें भूल नहीं है। (घ) ☞ परशुरामजीकी दोनों बातोंका उत्तर श्रीलक्ष्मणजीने दिया। 'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥ रे नृप बालक कालबस बोलत तोहि न सँभार।' का उत्तर है—'का छति लाभ जून धनु तोरे। देखा राम नयन के भोरे॥ **छुअत** टूट रघुपतिहु न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥' और 'धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार' का उत्तर है—'हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥'

छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥ ३॥
बोले चितै परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥ ४॥

शब्दार्थ—दोसू (दोष)। काज=कारण, प्रयोजन, मतलब। रोसू=रोष।

अर्थ—वह (तो) छूते ही टूट गया। (इसमें) श्रीरघुनाथजीका (भी कोई) दोष नहीं। हे मुनि! आप बिना कारण व्यर्थ ही क्यों क्रोध करते हैं ? । ३। (परशुरामजी) फरसेकी ओर देखकर बोले—अरे शठ! (तूने) मेरा स्वभाव नहीं सुना ? । ४।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—लक्ष्मणजीने जब देख लिया कि परशुरामजीके क्रोधकी धारा जो धनुष भङ्ग करनेवालेकी ओर बह रही थी, उनकी ओर घूम गयी तब 'छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू' कहकर 'धनुष भङ्ग करनेवाले रामचन्द्र हैं' यह स्पष्ट बतला दिया और फिर वह धारा रामजीकी ओर न घूमे इसलिये कहते हैं 'मुनि बिनु काज करिअ कत रोषू'।

टिप्पणी—१ (क) 'छुअत टूट' छूते ही टूट गया, यथा—'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहु न लखा देख सब ठाढ़ें॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। २६१। ७-८'। श्रीरामजीको किंचित् भी परिश्रम न पड़ा, वह बहुत शीघ्र टूट गया, इसीसे कहते हैं कि छूते ही टूट गया। छूते ही टूट गया, क्योंकि जीर्ण था—यह टूटनेका हेतु पूर्व ही कह चुके हैं। पुनः भाव कि श्रीरामजीने उसे नहीं तोड़ा, वह तो हाथका स्पर्श होते ही आप ही टूट गया, ऐसा पुराना (जीर्ण-शीर्ण, सड़ा हुआ) था। वह अपनेसे ही टूट गया, तब श्रीरघुनाथजीका उसमें क्या दोष ? (ख) 'रघुपतिहु न दोसू'—भाव कि दोष तो तब होता जब वे तोड़नेकी इच्छा करके उसे तोड़ते (उन्होंने तो देखनेकी इच्छासे छुआ भर था)। (ग) ☞ यह लक्ष्मणजीकी बुद्धिमानी है कि सबपर दोष बचाकर बात कर रहे हैं। यदि कहते कि श्रीरामजीने राजा जनककी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये धनुष तोड़ा तो जनकजीका दोष ठहरता (और ये उनपर टूट पड़ते), यदि कहते कि विश्वामित्रजीकी आज्ञासे तोड़ा तो उनका दोष ठहरता। और यदि कहते कि श्रीरामजीने अपनी वीरतासे तोड़ा तो उनका दोष माना जायगा और ये उनसे भिड़ पड़ते। इसीसे उन्होंने सबको बचाकर सारा दोष परशुरामजीके ही माथे मढ़ दिया। (ऐसा उत्तर दिया कि उन्हींका दोष साबित हो, वे दूसरी ओर झुक ही न पावें। 'रघुपतिहु' में यह भाव है कि राजा जनक आदि किसीका दोष नहीं, व्यर्थ उन्हें 'जड़' 'मूढ़' कहते हैं और रघुनाथजीका भी दोष नहीं)। सब दोष उन्हींपर धरते हैं कि आप ही व्यर्थ रुष्ट हो रहे हैं। (घ)—'मुनि' सम्बोधनका भाव कि आप मननशील हैं, विचार तो कीजिये, भला बिना कारण क्रोध करना उचित है ?

नोट—१ श्रीरघुनाथजीने भी ऐसा ही कहा है। यथा—'राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी॥ छुअतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना। २८३। ७-८।', 'का छति लाभु जून धनु तोरें' और 'मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू' का ही सब भाव इन वचनोंमें है।

२—प्र० रा० ४। २१ में भी श्रीरामजीने यही कहा है। यथा—'रामः। मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः। भगवन्नात्मनैवेदमभज्यत करोमि किम्।' अर्थात् परशुरामजीके कहनेपर कि 'धनुष तोड़नेपर भी अपनेको निरपराध कहते हो, यह कैसे ?' उनके उत्तरमें श्रीरामजी कहते हैं—हे भगवन्! मैंने शिवचापको अच्छी तरह छुआ भी नहीं था कि वह अपने-हीसे टूट गया, मैं क्या करूँ ?

३—'बिनु काज करिअ कत रोसू' इति। बिना प्रयोजन रोष करना कहकर जनाया कि आपका कुशल नहीं है, आपकी दशा शोचनीय है। यथा—'जिमि चह कुसल अकारन कोही।', 'सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। २। १७२'। (रा० प्र०)

लमगोड़ाजी—लक्ष्मणजीके मजाक (विनोद) का छींटा फिर देखिये।—'लषन कहा हँसि····समाना'। यह हँसी प्रकट कर रही है कि अब लक्ष्मणजी 'देव' शब्द जान-बूझकर 'रे' आदिके विरोधमें मजाकको उभारनेके लिये प्रयुक्त कर रहे हैं। वे कहते हैं—'छुअत टूट····रोसू'। 'देव' तथा 'मुनि' शब्दोंने गजब कर डाला। परशुरामजी समझ रहे हैं कि यह लड़का हमें कोरा फकीर (मुनि) समझ रहा है। इसीलिये वे फरसेकी ओर देखकर कहते हैं—'रे शठ····'।

टिप्पणी २—'बोले चितै परसु की ओरा····' इति। (क) परशुकी ओर देखनेका भाव कि 'देख! मेरा स्वभाव ऐसा है, मैं इसीसे तुझे काटूँगा, तुझे इसका भय नहीं है ? इस फरसेने सहस्रबाहु-से महाभटोंके सिर और भुज काटे हैं, तू तो बालक ही है। (रा० प्र०)। जब लक्ष्मणजीने धनुषको 'धनुही' कहा, तब परशुरामजी कटु वचन बोले—'रे नृपबालक कालबस बोलत तोहि न सँभार', और जवाब दिया कि 'धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।' लक्ष्मणजीके इस उत्तरसे कि धनुष जीर्ण था, छूते ही टूट गया, धनुषका और भी अधिक अनादर हुआ। क्योंकि इस उत्तरसे पाया गया कि शिवधनुषमें तो किंचित् भी कठोरता न थी, उससे तो बालपनेकी खेलवाली धनुहियाँ अधिक कठोर थीं, क्योंकि वे तो तोड़नेपर टूटी थीं और यह तो छूते ही स्वयं टूट गया। इसीसे प्रथम 'धनुही' समान कहनेपर उन्होंने कठोर वचन कहे थे और अब धनुहीसे भी लघु कहनेपर 'परशुकी ओर' देखा। तात्पर्य कि जवाब कुछ न बन पड़ा, उत्तर न दे सके। 'धनुही' कहनेपर 'रे नृपबालक' कहा था और 'जून' कहनेपर 'सठ' कहते हैं। तात्पर्य कि जैसे-जैसे लक्ष्मणजी धनुषका

अनादर करते हैं, वैसे-ही-वैसे परशुरामजी अधिक कठोर वचन बोलते हैं। (ख) 'सठ'—बड़ेका अपमान करना शठता है, अतः शठ कहा। (ग) 'सुनेहि सुभाउ न मोरा'-भाव कि स्वभाव सुना होता तो ऐसा निडर होकर न बोलता। यथा— 'की धौं श्रवन सुनेहि नहि मोही। देखौं अति असंक सठ तोही॥ ५। २१। २'। जैसे रावणने निःशंक होनेके कारण श्रीहनुमान्‌जीको शठ कहा, वैसे ही यहाँ परशुरामजीने कहा।

बालकु बोलि बधौं नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि* मोही॥ ५॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिश्व बिदित क्षत्रिय† कुल द्रोही॥ ६॥

शब्दार्थ—बोलि=जानकर।=कहकर। ठहराकर।

अर्थ—(मैं तो) बालक जानकर वा कहकर तुझे नहीं मारता। अरे मूर्ख! तू मुझे केवल मुनि ही जानता है! । ५। मैं बालब्रह्मचारी और अत्यन्त क्रोधी हूँ तथा क्षत्रियकुलका द्रोही (तो) संसारभरमें प्रसिद्ध हूँ। ६।

टिप्पणी—१ 'बालकु बोलि बधौं नहिं''''' इति। (क) श्रीपरशुरामजीने लक्ष्मणजीको बालक कहा है, यथा— **'रे नृपबालक कालबस'''**'। इसीसे कहते हैं कि बालक कहकर तेरा वध नहीं करते, क्योंकि बालकका वध करना भारी पाप है, यथा—'जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। २। १६७। ६।', **'मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥'** (भा०। १। ७। ३६)। (अर्थात् धर्मज्ञ मतवाले, प्रमत्त (जिसने प्रमादसे अपराध किया है), पागल, सोये हुए, बालक, स्त्री, मूर्ख, शरणागत, रथहीन और भयभीत शत्रुको कभी नहीं मारते। (बाबा हरिहरप्रसादजीने 'बालककी बोली जानकर' ऐसा अर्थ किया है। वैजनाथजी और विनायकी टीकाकारने तो पाठ ही बदल दिया है, इन्होंने 'जानि' पाठ रक्खा है। 'बोलि' के अर्थ बोली, बुलाकर, बोलकर, कहकर, ठहराकर, जानकर इत्यादि हैं। पं० रामकुमारजीने 'कहकर' अर्थ लिया है। मेरी समझमें 'जानकर' अर्थ विशेष संगत है। यही अर्थ हमने प्रथम संस्करणमें किया था। यह शब्द इस अर्थमें बँगलामें बोला जाता है।)

(ख)—'केवल मुनि जड़ जानहि मोही' इति। लक्ष्मणजीने परशुरामजीको 'मुनि' सम्बोधन करके कहा था कि रोप क्यों करते हो, इसीपर परशुरामजीका यह उत्तर है कि बालक कहकर वा (जानकर) मैं तेरा वध नहीं करता, पर वध न करनेसे तू हमें केवल मुनि समझता है। 'केवल मुनि' कहनेका भाव कि मुनि किसीको मारते नहीं, क्षमा करते हैं। [अतः तू समझता है कि ये मुनि ही हैं, क्षमाशील हैं, इसलिये कटु वचन कहनेसे मारेंगे नहीं। यह तेरा भ्रम है। इस धोखेमें न रहना। हम केवल अर्थात् कोरे मुनि ही नहीं हैं। और भी कुछ हैं जैसा आगे कहते हैं। अर्थात् मुनि भी हैं और साथ ही महाभट भी हैं, वीर हैं। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि इस धोखेमें न रह कि हम केवल आशीर्वाद और शाप ही देना जानते हैं। (रा० प्र०)] (ग)—'जड़'—भाव कि तेरे बुद्धि नहीं है, इसीसे तू मुझे केवल मुनि जानता है। आशय यह कि न किसीसे हमारा स्वभाव सुना, न तुझे सूझ पड़ा।

२ 'बाल ब्रह्मचारी अति कोही''''' इति। (क) 'बाल ब्रह्मचारी' इति। परशुरामजी अपनी वीरताका कथन करते हैं। 'जो कामको जीते वह ब्रह्मचारी है। कामदेव समस्त वीरोंमें श्रेष्ठ है, यथा—'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥ २५७। १', 'मारिकै मारु थप्यो जग मैं जाकी प्रथम रेख भट माहीं।' (विनय० ४), सो मैंने उसे भी जीत लिया है।'—इस तरह 'बालब्रह्मचारी' कहकर अपनेको वीरशिरोमणि जनाया। ब्रह्मचारीके क्रोध न होना चाहिये, उसे दयावान् होना चाहिये, पर आगे कहना है कि हम क्षत्रियकुल-द्रोही हैं और द्रोह बिना क्रोधके नहीं होता तथा क्रोध बिना शत्रुका संहार नहीं बन पड़ता; अतएव कहते हैं कि मैं 'अति कोही' हूँ। पुनः भाव कि प्रथम कहा कि मैं केवल मुनि नहीं हूँ, वीर भी हूँ। अब दोनोंका स्वरूप कहते हैं। 'बालब्रह्मचारी' मुनिका स्वरूप है और 'क्षत्रियकुलद्रोही' वीरका स्वरूप है। अथवा 'बालब्रह्मचारीसे' जितेन्द्रिय होना कहा, 'अति कोही' से अपना स्वभाव कहा और 'बिश्वबिदित क्षत्रियकुलद्रोही' से अपनी वीरता कही। (ख) 'विश्वविदित क्षत्रियकुलद्रोही' का भाव कि क्षत्रियकुलद्रोही तो और भी हैं, पर जैसा मैं हूँ ऐसा कोई और नहीं है। मैं संसारभरके क्षत्रियोंका वैरी हूँ इसीसे संसारभर जानता है। (ग) प्रथम अपनेको 'अति कोही' कहकर फिर 'क्षत्रियकुलद्रोही' कहकर अपने क्रोधकी सफलता कही। तात्पर्य कि हमारा क्रोध क्षत्रियमात्रपर है।

---

* जाने—१७०४। † छत्री—छ०

नोट—१ मिलान कीजिये—'आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भविभ्राजमानज्याघातश्रेणिसंज्ञान्तरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः । वक्षःपीठे घनास्त्रव्रणकिणकठिने संक्ष्णुवानःपृषत्कान् प्राप्तो राजन्यगोष्ठीवनगजमृगयाकौतुकी जामदग्न्यः ॥ हनु० १ । ३१ ॥' (अर्थात् लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि जन्महीसे ब्रह्मचारी, बड़ी भुजारूप शिलाके स्तम्भसे शोभित प्रत्यञ्चाके चिह्नकी पंक्तियोंकी सूचनासे सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतनेकी कीर्तिको धारण करते हुए अस्त्रोंके घावोंकी ठेठोंसे कठिन वक्षःस्थलरूप पीठमें बाणोंको तीक्ष्ण करते हुए और राजाओंके समाजरूपी जंगली हाथियोंकी मृगया करनेके खिलाड़ी वे परशुरामजी आये ।) पुनश्च यथा—'सकलवसुमतीमण्डलाखण्डलकुमुदिनीपक्षलक्ष्मीहरणकिरणमालिनं न मां वेत्सि'''॥ हनु० १ । ३५ ॥'—परशुरामजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि सारे भूमण्डलके राजाओंरूप कुमुदिनियोंके समूहकी लक्ष्मीके हरण करनेको सूर्यके सदृश मुझको नहीं जानता—यह भाव 'विश्वविदित क्षत्रियकुलद्रोही' का है ।

श्रीलमगोड़ाजी—तसवीर बड़ी फुर्तीली पर क्रोधसे भरी है । अहङ्कार देखिये कि 'अति कोही' 'क्षत्रियकुलद्रोही' आदि अवगुणोंको स्वयं विदित कर रहे हैं । क्या यह हँसीकी बात नहीं है कि आज एक मुनि 'मुनि' कहनेसे चिढ़े ? फिर फरसेका बार-बार दिखलाना भी मुस्कान पैदा किये बिना नहीं रह सका, क्योंकि क्रोध आवश्यकतासे अधिक और आशक्त है । 'बालक बोलि' वाला बहाना उन्हीं बहानोंमेंसे है जिनकी व्याख्या पहले हो चुकी है । ('हास्यरस' से । यह नोट आगेकी चौपाइयों और दोहेपर भी लागू है) ।

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही । बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही ॥ ७ ॥
सहसबाहु भुज छेदनिहारा । परसु बिलोकु महीप कुमारा ॥ ८ ॥

दो०—मातुपितहि जनि सोच बस करसि* महीसकिसोर ।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर ॥ २७२ ॥

शब्दार्थ—छेदनिहारा=अलग करनेवाला; काटनेवाला । दो टुकड़े कर डालनेवाला—'छिदिर्द्वैधीकरणे' । महीस=महीप =राजा । गर्भन्हके=गर्भोंके, भीतरके । अर्भक=छोटा बालक ।

अर्थ—अपनी भुजाओंके बलसे मैंने पृथ्वीको बिना राजाओंके कर दी और बहुत बार उसे ब्राह्मणोंको दे-दे दी ॥ ७ ॥ रे राजकुमार ! सहस्रबाहुकी भुजाओंको काटनेवाला (यही मेरा) फरसा देख ले ॥ ८ ॥ हे राजकुमार ! अपने माता-पिताको सोचके वश मत कर । मेरा फरसा अत्यन्त कठिन और भयङ्कर है, (यह) गर्भोंके भी बच्चोंका नाश करनेवाला है ॥ २७२ ॥

टिप्पणी—१ 'भुजबल''' इति । (क) 'भुजबल' कहनेका भाव कि मैंने जो कहा कि मैं बालब्रह्मचारी हूँ इससे यह न समझ लेना कि क्रोधमें आकर शाप देकर क्षत्रियोंका नाश किया होगा । मैंने भुजाओंके बलसे उनका नाश किया है । (ख) 'भूमि भूप बिनु कीन्ही'—भाव कि सब राजा भूमिपर भारस्वरूप हो रहे थे, अतः सबको मारकर पृथ्वीका भार उतारा । यथा—'क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु । उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्यस्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन ॥ भा० २ । ७ । २२ ॥' अर्थात् वे ही भगवान् परशुराम होकर दैववश नष्ट होनेहीके लिये बढ़े हुए ब्राह्मणद्रोही, कुमार्गगामी और नरकयातनाओंको भोगनेकी इच्छावाले पृथ्वीके संकटरूप क्षत्रियोंका अपने तीक्ष्ण धारवाले फरसेसे इक्कीस बार संहार करनेकी इच्छासे वध करते हैं) । (ग) 'बिपुल बार' कहकर जनाया कि एक बार राजाओंको मारकर ब्राह्मणोंको दे दी । कहीं कोई-कोई छिपकर बच रहे तो जब उनके वंशोंकी वृद्धि हुई और उन्होंने ब्राह्मणोंसे उसे छीन ली, तब पुनः उनको मारकर ब्राह्मणोंको दी । इस कारण बहुत बार देना कहा । यदि ब्राह्मणोंके हाथोंमें बराबर बनी रहती, क्षत्रियोंने न छुड़ा ली होती तो 'बिपुल बार' देना कैसे कहते ? (घ) 'महिदेवन्ह' बहुवचन शब्द देकर जनाया कि किसी एक ब्राह्मणको चक्रवर्ती राजा नहीं बनाया, वरञ्च पृथ्वीभरके विप्रोंको हिस्सा लगाकर बाँट दी । (ङ) 'बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही' इति । राजाओंके नाशसे पाया जाता है कि पृथ्वीके लोभसे सब राजाओंको मारा होगा, इस शङ्काके निराकरणके लिये कहते हैं कि 'महिदेवन्ह दीन्ही ।' अर्थात् राजाओंका नाश हमने पृथ्वीके लोभसे नहीं किया, पृथ्वीके लोभसे करते तो ब्राह्मणोंको क्यों दे देते ?

२ 'सहसबाहु भुज छेदनिहारा''' इति । (क) राजाओंका मारना कहकर सहस्रबाहुको मारना उनसे पृथक् कहने-

* करसि महीप—१७०४, को० रा० । करहि महीप—छ० । करसि महीस—१६६१, १७२१, १७६२ ।

का तात्पर्य कि वह सब क्षत्रियोंसे विशेष था, अधिक वीर और बलवान् था और मुख्य वैरी भी वही था। यथा—'सहस-बाहु सम सो रिपु मोरा।' [सम्भव है कि यह समझें कि निर्बल राजाओंको मारा होगा, इसपर कहते हैं कि सहस्रार्जुनकी भुजाओंको इसी फरसेसे काटा कि जिससे भगवान् दत्तात्रेयजीके वरका बल और गर्व था।* उसके तो सहस्रभुजाएँ थीं और तेरे तो दो ही हैं। (पं० रा० प्र०)] (ख) 'परसु बिलोकु'—भाव कि जिस फरसेसे सहसबाहु मारा गया उससे तुझ राजकुमारको मार डालना क्या बड़ी बात है, कुछ भी तो नहीं। [पुनः भाव कि देख ले, तुझमें इसे सह सकनेका सामर्थ्य है तब ऐसे वचन बोल। अथवा, भाव कि अभी तो तू कुमार है, कुछ दिन तो सुख भोग ले, अभी क्यों प्राण देनेपर उतारू है। (प्र० सं०)] (ग) ☞ प्रथम परशुरामजीने स्वयं ही फरसेकी ओर देखा, यथा—'बोले चितै परसु की ओरा।' अब लक्ष्मणजीको दिखाते हैं—'परसु बिलोकु'; इससे ज्ञात होता है कि उनको फरसेका बड़ा अभिमान है, इसीसे वे स्वयं देखते हैं और लक्ष्मणजीको दिखाकर भय उत्पन्न करना चाहते हैं। पुनः 'सहसबाहु भुज छेदनिहारा' यह फरसेका कर्म सुनाया और 'परसु बिलोकु' यह परशुका स्वरूप दिखाया। तात्पर्य कि इस फरसेके कर्म और स्वरूप दोनों ही भयदायक हैं। (घ) 'महीप कुमार' का भाव कि राजकुमार होनेका सुख भोग ले।

नोट—१ 'सहसबाहु' इति। इनके जन्म, वर और तेज-प्रताप आदिकी कथाएँ दोहा ४ (३) भाग १ पृष्ठ १४०-१४२ में दी जा चुकी हैं। भगवान् दत्तात्रेयसे वर प्राप्तकर वह रथ और वरके प्रभावसे वीर, देवता यक्ष और ऋषि सभीको कुचले डालता था। उसके द्वारा सभी प्राणी पीड़ित हो रहे थे। आश्वमेधिकपर्वमें लिखा है कि समुद्रसे पूछनेपर उसने सहस्रा-र्जुनसे बताया कि महर्षि जमदग्निके पुत्र परशुराम युद्धमें तुम्हारा अच्छा सत्कार कर सकते हैं, तुम वहीं जाओ। यह सुनकर राजाने वहाँ जानेका निश्चय किया। अपनी अक्षौहिणी सेनासहित राजा सहस्रार्जुन श्रीजमदग्नि ऋषिके आश्रमपर पहुँचे। ऋषिने इनका आतिथ्य-सत्कार यथोचित किया, जिससे वह चकित हो गया कि वनवासीके पास ऐसा ऐश्वर्य कहाँसे आया? यह मालूम होनेपर कि यह सब कामधेनुकी महिमा है, उसने मुनिसे गऊ माँगी। न देनेपर बलात्कार उसे छीन लिया और मुनिके प्राण भी ले लिये। उस समय परशुरामजी घरमें न थे, घर आनेपर उन्होंने माताको विलाप करते हुए पाया, कारण जाननेपर, उन्होंने पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका संकल्प किया। कहते हैं कि विलापमें माताने २१ बार छाती पीटी; अतः इन्होंने २१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया। परशुरामने माताको ढारस दे तुरंत सहस्रबाहुसे युद्ध किया और भुजाओंको छिन्न-भिन्नकर उसका सिर काट डाला।—विशेष २७६ (१-४) में देखिये।

टिप्पणी—३ 'मातु पितहि ···' इति। (क) पुत्रके मरनेसे माताको अधिक सोच होता है (माताको विशेष स्नेह होता है), इसीसे माताको प्रथम कहा। (ख)—'मातु पितहि जनि सोच बस करसि' इति। भाव कि धर्मात्मा लोग बालकों-को नहीं मारते, इसीसे प्रथम कहा कि 'बालक बोलि बधौं नहिं तोही'। और न वे स्त्रियों और वृद्धोंको दुःख देते हैं, इसीसे कहते हैं कि माता-पिताको सोचवश न कर। [पिताने चौथेपनमें पुत्र पाया है, यथा—'चौथेपन पायउँ सुत चारी॥ बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥ २०८। २।', इससे तू उनको बहुत प्रिय है। अपने प्राण गँवाकर तू उनको क्यों दुःख देना चाहता है? ऐसा कहकर परशु-रामजी अपनेको बड़ा धर्मात्मा जनाते हैं। (प्र० सं०)। इससे यह भी जनाते हैं कि माता-पितापर तरस खाकर हम तुझपर दया करते हैं।] (ग) 'महीशकिसोर' का भाव कि तू राजपुत्र है, इस बातको समझ। [परशुरामके कहनेका तात्पर्य तो है कि मैं तुझे मार डालूँगा, पर यह सीधे न कहकर इस प्रकार कहना कि तू अपने माता-पिताको सोचके अधीन मत कर—लक्ष्मणजीका मारा जाना कारण है, माता-पिताका सोचवश होना कार्य है, कार्यके बहाने कारणका कथन 'कारज निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है। (वीर)] ४ 'गर्भन्हके अर्भक दलन···' इति। यहाँ दो शंकाएँ उपस्थित होती हैं। एक तो यह कि 'प्रथम कहा था कि हम बालकको नहीं मारते और अब कहते हैं कि हमारा फरसा गर्भके बालकोंको मार डालता है।

---

* दत्तात्रेयजीसे सहस्रार्जुनको ये वर मिले थे—(१) ऐश्वर्यशक्ति जिससे प्रजाका पालन करे और पापका भागी न हो। (२) दूसरेके मनकी बात जान ले। प्रजाको अधर्मकी बात सोचते हुए भी इससे भय हो और वे अधर्मके मार्गसे हट जायँ। (३) युद्धमें कोई सामना न कर सके। (४) युद्धके समय हजार भुजाएँ प्राप्त हो जायँ। (५) पृथ्वी, आकाश, जल, पर्वत और पातालमें अव्याहतगति हो। (६) संग्राममें लड़ते-लड़ते अपनी अपेक्षा किसी अधिक जगत् प्रसिद्ध श्रेष्ठ वीरके हाथसे मरे। (७) कुमार्गमें प्रवृत्ति होनेपर सन्मार्गका उपदेश प्राप्त हो। (८) श्रेष्ठ अतिथिकी प्राप्ति। (९) निरन्तर दानसे धन न घटे। (१०) स्मरण मात्रसे राष्ट्रमें धनका अभाव दूर हो जाय। (११) स्वर्णका एक दिव्य विमान जिसकी अव्याहतगति थी।—दोहा ४ (३) भाग १ पृष्ठ १२७–१२९ में देखिये।

यह पूर्वापरविरोध कैसा ?' दूसरे, 'गर्भके बालकको मारनेमें कुठारकी क्या घोरता है ?'—इनका समाधान यह है कि परशुरामजी गर्भके बालकोंको मारते नहीं हैं किंतु उनके फरसेकी घोर गतिको सुनकर स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते हैं। यही फरसेकी घोरता है। इसी बातको उन्होंने स्वयं आगे चलकर स्पष्ट कहा है; यथा—'**गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठारु गति घोर ॥ २७९**'। [कुठारकी घोर गति सुनकर गर्भवती क्षत्राणियाँ इतनी भयभीत हो जाती हैं कि उनके गर्भपात हो जाते हैं। इसीसे रनवासमें इनकी कभी चर्चा भी नहीं होती। पंजाबीजी कहते हैं कि 'दशरथका पुत्र जानकर तुझपर दया करता हूँ, तू माता पिताको शोकवश न कर और जो तू समझे कि बालक जानकर मैं कुछ न कहूँगा, तुझे न मारूँगा; तो इस भ्रममें न रहना, मेरा फरसा तो क्षत्राणियोंके गर्भोंके बालकोंका भी नाश करनेवाला है, गर्भतकके बच्चोंको नहीं छोड़ता और तू तो बड़ा है और फरसाके सामने है, तुझे कब छोड़ेगा!' (पं०, पं०, प्र० सं०)] '**अति घोर**' का भाव कि संसारके अन्य वीरोंके फरसे घोर हैं और मेरा फरसा 'अति घोर' है।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'**बाल ब्रह्मचारी अति कोही।**' ''२७२। ५।'''**परसु मोर अति घोर**' इति। अपने मुखसे अपनी करनीके वर्णनमें लज्जाका अभाव हो जाना स्पष्ट है। यथा—'**लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥ ६। २९।**', '**अपने मुह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥ २७४। ६।**'

नोट—२ मिलान कीजिये—'**उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयितुं यत्र सन्तानरोषादुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ॥**'''हनु० १। ३६।' अर्थात् क्षत्रियोंकी सन्तानोंपर क्रोध होनेके कारण गर्भोंको भी उनकी माताओंके पेटसे निकाल-निकालकर टुकड़े-टुकड़े करनेमें निर्दय, सब ओरसे राजवंशोंका इक्कीस बार नाश करनेवाले'''।

वीरकवि—यहाँ परशुरामजीका क्रोध स्थायी भाव है। धनुष तोड़नेवाला आलम्बन विभाव है। धनुषको पुराना सड़ा सामान्य कथन '**निंदा उद्दीपन विभाव**' है। आँखें लाल होना, क्षत्रियोंकी निर्भर्त्सना, कुठार उठाना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, चपलता, गर्वसंचारी भावोंसे पुष्ट होकर 'रौद्ररस' संज्ञाको प्राप्त हुआ है।

बिहँसि लखनु बोले मृदु बानी। अहो मुनीसु महा भट मानी ॥ १ ॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू ॥ २ ॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी हँसकर कोमल वचन बोले—अहो (आश्चर्य है) ! मुनीश्वर और महाअभिमानी योद्धा ! (अर्थात् मुनीश भी कहीं मानी महाभट होते हैं !) अथवा, अहा, वाह रे मानी महाभट मुनीश्वर ! । १ । मुझे बार-बार कुठार दिखाते हो। पहाड़को फूँककर उड़ाना चाहते हो। २।

टिप्पणी—१ (क) 'बिहँसि' इति। जैसे-जैसे परशुरामजी अज्ञानकी बातें करते हैं तैसे-तैसे लक्ष्मणजी उनपर अधिक हँसते हैं। देखिये, प्रथम उनका मुस्कुराना कहा था, यथा—"**सुनि मुनि वचन लखन मुसकाने।**" दूसरी बार हँसना कहा, यथा—'**लखन कहा हँसि हमरे जाना**' और अब बिहँसना अर्थात् विशेष हँसना कहा। ['मुसुकाना' मंद हास्यका सूचक है। हँसनेमें मुसुकानसे विशेषता है। उससे विहँसनेमें विशेषता है। पुनः, हँसनेका भाव कि अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करते हैं जो वस्तुतः प्रशंसा नहीं है वरंच उलटी उनकी निन्दा ही है जो '**अहो मुनीस**''' के भावोंसे स्पष्ट हो जायगा] (ख)—'**बोले मृदु बानी**' से गम्भीरताकी प्रधानता दिखाते हैं कि ऐसे कठोर वचनोंपर भी क्रोधके वचन न बोले, जैसे विशेष हँसे वैसे ही विशेष कोमल वाणीसे बोले। (ग) '**अहो मुनीस महाभट मानी**' इति। परशुरामजीने कहा था कि मैं केवल मुनि नहीं, भट भी हूँ, इसीपर लक्ष्मणजीका यह उत्तर है कि मुनि भट नहीं होते, उनमें कृपा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक दिव्य गुण होते हैं और (भट मुनि नहीं होते, क्योंकि जिस पथपर मुनि चलते हैं उससे भट विमुख होते हैं। शम, शान्ति आदि मुनिकी क्रियाएँ हैं, उनसे भट विमुख होते हैं) भटोंमें कृपा, अहिंसा आदि गुण नहीं होते। (वैर, हिंसा, क्रोधादि भटकी क्रियाएँ हैं। मुनि इनसे विमुख रहते हैं)। व्यंग्यसे जनाया कि आप दोनोंमेंसे एक भी नहीं हैं, न मुनि ही हैं न भट। मुनि बनते हो अतः तुममें भटके धर्म नहीं हैं और भट बनते हो इससे तुममें मुनिके धर्म नहीं हैं, ऐसी बात कहकर अपनी निन्दा ही कर रहे हो—यह समझकर विशेष हँसे। (घ)—अहो 'इति आश्चर्ये' अर्थात् यह आश्चर्यकी बात है। मुनीश अभिमानशून्य होते हैं, उनमें भटका अभिमान होना अत्यन्त विरुद्ध है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—परशुरामजीने लक्ष्मणजीके डरानेके लिये अपना पराक्रम वर्णन करते हुए कहा कि '**गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर**' तब तो लक्ष्मणजी खिलखिलाकर हँस पड़े कि गर्भके बच्चेको मारनेवाला

अपनेको महाभट मानता है। बोल उठे 'वाह वाह मुनीश्वरजी ! आप तो अपनेको महाभट मानते हैं।' भाव यह कि आपको परधर्म (क्षात्रधर्म) का महाभिमान मात्र है, क्षात्रधर्मसे आप पूरी तरह अनभिज्ञ हैं, गर्भके बालकके वधको कौन क्षत्रिय अपना गौरव मान सकता है ? वस्तुतः आप मुनीश्वर हैं, स्वधर्म यजन-याजनादिमें ही कुशल हैं, परधर्म करने चले तो इतना बड़ा अनर्थ (भ्रूण-हत्या) कर डाला। इसीलिये कहा गया है कि **'परधर्मो भयावहः'**। सो आप मुझे बार-बार कुठार दिखाते हैं, मानो मैंने कुठार देखा नहीं। मैं तो कुठार खड्ग धनुष बाणके बीचमें पैदा और पला हुआ हूँ। कुठारादिक व्यवहार मेरा स्वधर्म है, मैं अपने धर्मपर पर्वतकी भाँति अचल हूँ, कुठार दिखलानेसे मैं विचलित कैसे हो सकता हूँ ! कुठार दिखलाना मेरे लिये तो फूँककी वायु है, इससे तो वे ही विचलित हो सकते हैं, जो क्षात्रधर्मसे विमुख हैं।

नोट—१ बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'कुछ लोग कहते हैं कि परशुरामजीके वाक्यसे लक्ष्मणजी उन्हें महाभटके स्थानपर व्यङ्ग्यसे महाकादर मानते हैं। इस तरह कि **'बाल ब्रह्मचारी'** से नपुंसक; **'अति कोही'** से मृतक-तुल्य, यथा—**'जीवत सव सम चौदह प्रानी'** '**सदा रोगबस संतत क्रोधी'**; **'बिश्व बिदित छत्रियकुल द्रोही'** से महापापी, क्योंकि क्षत्रिय जगत्का पालन करते हैं, उनका द्रोही क्यों न पापी हो; **'भुजबल भूमि भूप बिनु'**··· से अधर्मी, क्योंकि बिना राजाके धर्म-कर्म कुछ भी नहीं हो सकता, चोर और दुष्टोंकी वृद्धि होती है, पुनः इससे असत्यता भी पायी गयी क्योंकि अनेक राजा तो यहीं उनके समीप ही बैठे हैं; **'बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही'** से पापी, क्योंकि एक बार जो वस्तु दानमें दे दी उसीको बार-बार कैसे दिया; **'सहसबाहु भुज'**··· से कपटी; क्योंकि उसे कपटसे मारा और **'गर्भन्हके अर्भक दलन'** से वीरताकी पराकाष्ठा हो गयी। अर्थात् बालकोंपर ही इनकी वीरता है। अतएव विहँसे और महाभटमानी कहा।' (रा० प्र०)।

२—वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ प्रत्यक्ष तो प्रशंसा की गयी किंतु मुनिराजका अभिमानी होना निन्दाकी विज्ञप्ति 'व्याज निन्दा अलंकार' है।

टिप्पणी—२ (क) **'पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू'** इति। तीन बार अबतक फरसा दिखा चुके, यथा—**'बोले चिते परसु की ओरा'**, **'परसु बिलोकु महीपकुमारा'** और **'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर'**। इसीसे बार-बार दिखाना कहा। **'मोहि देखाव'** से सूचित होता है कि परशुरामजीने तीनों बार फरसा दिखाया। (ख)—**'चहत उड़ावन फूँकि पहारू'**, इति। परशुरामजीने फरसेकी बहुत भारी प्रशंसा की, यथा—**'सहसबाहुभुज छेदनिहारा'**, **'परसु मोर अति घोर'** इसीसे लक्ष्मणजी उसको अत्यन्त लघु (तुच्छ) कहकर उसका तिरस्कार करते हैं। यहाँ 'फूँक', 'पहाड़', 'उड़ाना' आदि क्या हैं ? फरसा 'फूँक' है, लक्ष्मणजी पहाड़ हैं, पुनः पुनः कुठारका दिखाना पुनः पुनः फूँकना है, दिखाकर डरवाना उड़ाना है। अपनेको पहाड़ कहकर जनाया कि सहस्रबाहु आदि रज, रूई, मच्छड़ वा तिनकेके समान थे जो उड़ गये, जिनको तुमने मार लिया, हम पहाड़ हैं। भाव यह है कि आप अपनेको महाभट और मुझको रूई, मच्छड़ वा रज आदि हलकी वस्तुओंके समान बालक ही समझते हैं कि मुँहसे फूँक (श्वासा निकाल) कर उड़ा देंगे, अपनी धमकी और चेष्टामात्रसे हमें डरवाना चाहते हैं सो कदापि नहीं हो सकता। हमें सुमेरु-सरीखा पर्वत जान लीजिये। जैसे फूँक पर्वतका कुछ नहीं कर सकती, एक तो वह पर्वततक पहुँचती नहीं, दूसरे कदाचित् वहाँतक पहुँचे भी तो पहाड़को उससे कुछ भी बाधा नहीं हो सकती, वैसे ही एक तो कुठार दिखानेसे वह हमारे समीपतक पहुँच नहीं सकता और यदि हमतक पहुँचे भी तो हमारा कुछ कर नहीं सकता। फूँककर पर्वत उड़ानेकी इच्छा करना अज्ञान है। पुनः 'फूँकि' का भाव कि फूँक पुरुषका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थकी हीनता कहनेसे पुरुष और पुरुषार्थ दोनोंकी निन्दा सूचित हुई।

नोट—३ वीरकविजी लिखते हैं कि 'लक्ष्मणजीका प्रस्तुत वर्णन तो यह है कि मैं भी शूरवीर हूँ, आपसे बढ़कर पराक्रम करनेवाला हूँ···पर ऐसा न कहकर प्रतिबिम्बमात्र कहना फूँककर पहाड़ उड़ाना चाहते हो, 'ललित अलंकार' है।

इहाँ कुम्हड़ बतिआ कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥ ३॥
देखि कुठारु* सरासन बाना। मैं कछु कहा† सहित अभिमाना॥ ४॥

शब्दार्थ—कुम्हड़बतिआ=कुम्हड़े (जिसका साग वा तरकारी बनती है। इसे कोहड़ा, काशीफल, सीताफल और रामकरेला आदि भी भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें कहते हैं) का कच्चा छोटा फल। तरजनी=हाथके अँगूठेके पासवाली उँगली (जिससे लोग प्रायः दूसरोंको धमकाते हैं)। सरासन=धनुष।

* कुठारु—१६६१। † कहेउँ—१७०४, को० रा०। कहा—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

अर्थ—यहाँ कोई कुम्हड़ेकी बतिया नहीं है जो तर्जनी देखते ही मुर्झा जाती है। ३। कुठार और धनुष-बाण देखकर मैंने कुछ अभिमानसहित कहा। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'कुम्हड़बतिआ···'इति। लक्ष्मणजीने प्रथम अपनेको पहाड़ कहा, अब उसीकी जोड़में कहते हैं कि यहाँ कोई कुम्हड़ेकी बतिया नहीं है। पहाड़ फूँकसे उड़ नहीं सकता और कुम्हड़ेकी बतिया तर्जनी दिखलानेसे मर जाती है। तात्पर्य कि समस्त राजा जिनको तुमने मार लिया वे कुम्हड़ेकी बतियाँ थे, इसीसे तुम्हारे फरसारूपी तर्जनीसे मर गये। ☞ तर्जनी दिखाना भयकी मुद्रा है, यथा—'गर्जति कहा तर्जनि न तर्जति बर्जति नयन सयन के को।' इति कृष्णगीतावलीग्रन्थे। [नोट—कुम्हड़ा तर्जनी देखकर नहीं मुरझाता, उसका छोटा कच्चा फल जो आदिम अवस्थाका होता है मुरझा जाता है, इससे यह भी कहा जाता है कि लक्ष्मणजी अपनेको पूर्णावस्थाका पक्का कुम्हड़ा और अन्य राजाओंको बतियाके समान कहते हैं, क्योंकि राजा उनको देखते ही दबक गये थे—'बाज झपट जिमि लवा लुकाने'। ☞ यह लोकोक्ति है। विनयमें भी कहा है—'त्यों-त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर ज्यों-ज्यों सीलबस ढील दई है। सरुष बरजि तरजिये तरजनी कुम्हलैहै कुम्हड़े की जई है।' पद १३९।* 'कोउ नाहीं' का इशारा अपनी और श्रीरामजीकी ओर है न कि और राजाओंकी ओर, क्योंकि वे तो इन्हें देखते ही जा दुबक बैठे थे। उनमें फरसा देखनेकी भी ताब कहाँ!]

२ 'देखि कुठारु सरासन बाना··।' इति। (क) 'देखि' का भाव कि अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए देख वीर विचारकर रिस हुई, यथा—'देखि कुठारु-बान-धनुधारी। भै लरिकहिं रिस बीर बिचारी॥' तात्पर्य कि वीरका प्रचारना, वीरकी ललकार, वीर नहीं सह सकता। यथा—'जौ रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥' (ख)—'सहित अभिमाना', यथा—'पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू॥' अपनेको पहाड़ और फरसेको फूँक कहा, यही अभिमानसहित बोलना है। ☞ 'पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू' के सम्बन्धसे भी 'देखि कुठारु··' कहा। तात्पर्य कि जब आप कुठारु दिखाते हैं तभी तो हम देखकर कुछ अभिमानसहित कहते हैं, नहीं तो हम अभिमानी नहीं हैं, अभिमानकी बात कभी न कहते। (ग)—'मैं कछु कहा' का भाव कि अभिमानकी बात, शिष्टजनोंको न कहना चाहिये, इसीसे प्रयोजन आ पड़नेपर कुछ कह दिया, नहीं तो न कहते।

श्रीलमगोड़ाजी—लक्ष्मणजीका जवाब तो मजाकसे कूट-कूटकर भरा है। कहते हैं—'बिहँसि अहो मुनीस महाभट मानी'। यह नरमी परशुरामजीके क्रोधका क्रियात्मक मखौल है, अतः उनकी चिड़चिड़ाहटको और भी उभार देता है। 'अहो' शब्द आश्चर्य एवं हास्यसे भरा हुआ है। महाभट और मानी होनेका एकरार व्यङ्ग्यपूर्ण ही है। लक्ष्मणजी कहते हैं—'पुनि पुनि··पहारू'। पहले चरणमें 'कुठारू' शब्दमें फरसेका मखौल विचारणीय है और दूसरा चरण तो हास्यरससे इतना परिपूर्ण है कि उसकी व्याख्या करना कठिन है, परंतु अनुभव होना सहल है। 'इहाँ कुम्हड़ बतिआ कोउ नाहीं' हास्यरसके साहित्यमें इसके पायेका पद मिलना कठिन है। फरसा दिखानेकी उपमा तर्जनी दिखानेसे देना हास्यरसकी पराकाष्ठा है। और फिर कुम्हड़बतियाकी उपमा तो गजबकी है—कितनी साधारण, पर कितनी प्रबल!' ('हास्यरस' से)।

भृगुसुत† समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी॥ ५॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥ ६॥

शब्दार्थ—भृगुसुत—'भृगु' शब्दके अनेक अर्थ कोशमें मिलते हैं। मुख्य अर्थ तो 'भृगुजी' ही है, पर अन्य अर्थ परशुरामजी, जमदग्निजी इत्यादि भी हैं। यहाँ जमदग्नि अर्थ है। भृगुसुत=जमदग्निजीके पुत्र=परशुरामजी।

अर्थ—आपको जमदग्निजीका पुत्र समझकर और जनेऊ देखकर जो कुछ भी आप कहते हैं उसे मैं क्रोध रोककर सहता हूँ॥ ५॥ हमारे कुलमें देवता, ब्राह्मण, भगवद्भक्त और गऊ—इनपर शूरता (वीरता) नहीं जनायी जाती॥ ६॥

नोट—१ 'भृगुसुत' समझकर और जनेऊ 'देखकर' कहनेका भाव कि आप ब्राह्मणके पुत्र हैं और ब्राह्मणका चिह्न-

---

* पं० रामकुमारजी—"तर्जनीसे ही क्यों मर जाती है और किसी अँगुलीसे नहीं? उत्तर—तर्जनी शब्दका अर्थ है 'डाँटना'; इसीसे कुम्हड़ेकी बतिया मुर्झा जाती है। यहाँ कुम्हड़ेको क्यों कहा? इसलिये कि कुम्हड़ा सजीव है, इसे बलि आदिमें देते हैं।" (प्र० सं०)।

† भृगुकुल—१७०४, १७२१, १५६२, छ०, को० रा०। भृगुसुत—१६६१।

मात्र जनेऊ आपके शरीरपर है, इन्हींसे आप ब्राह्मण जाने जाते हैं, नहीं तो ब्राह्मणोंके धर्म तो आपमें हैं नहीं, धर्म तो क्षत्रियों-का ही प्रत्यक्ष देख पड़ता है। 'भृगुसुत' समझनेका भाव अगली अर्धालीमें स्पष्ट करते हैं कि हमारे कुलमें ब्राह्मणोंपर शूरता नहीं दिखायी जाती, हमारा कुल ब्राह्मणको मानता है।

२—'जनेउ बिलोकी' इति। अर्थात् जनेऊसे आप ब्राह्मण जान पड़ते हैं। जनेऊसे कैसे जाना? पं० रा० च० मिश्रजी कहते हैं कि 'गृह्यसूत्र लिखता है कि 'कार्पासमुपवीतं स्याद् ब्राह्मणस्य त्रिवृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकलामतः॥' अर्थात् कपासके तागेकी तीन-तीन आवृत्तिसे ब्राह्मणका जनेऊ होता है…। अतः कपासके जनेऊसे ब्राह्मण जाना, रहा कुल (वा, जमदग्निके पुत्र होने) का ज्ञान सो उसके लिये 'भृगवश्चक्राकृतिं ग्रन्थिं सर्वेऽन्ये लिङ्गरूपिणीम्।' अर्थात् भृगुवंशी चक्राकार ग्रन्थि देते हैं, अन्य सब लिङ्गाकृति। अतः चक्राकार ग्रन्थि देख जान गये कि ये भृगुकुलके हैं।' 'कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्यो-र्ध्ववृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ मनु० अ० २ श्लो० ४४॥', यज्ञोपवीतके सम्बन्धमें ऐसा मनुजी-का वाक्य है।* अर्थात् ब्राह्मणको त्रिवृत् तीन सूतवाला ऊर्ध्ववृत् (कटिके ऊपरतक धारण होनेवाला) कपासका, राजाओंको सनका और वैश्योंको ऊनका यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। हनुमन्नाटकमें भी लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे कह रहे हैं कि इनके यज्ञोपवीतका लक्षण तो पिताके अंशको और बड़े बलयुक्त धनुषका धारण करना माताके अंशको सूचित करता है। यथा—'पित्र्यमंशमुपवीत-लक्षणं मातृकं च धनरूर्जितं दधत्। १। ३०।'; यही भाव यहाँ 'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी' का है। जनेऊसे भृगु-सुत तथा ब्राह्मण होना पाया जाता है।

टिप्पणी—१ (क) 'जनेउ बिलोकी' का भाव कि आप हमसे बार-बार फरसा देखनेको कहते हैं, उसीको देखकर हमने कुछ अनुचित कह डाला, यथा—'देखि कुठारु सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥' 'जो बिलोकि अनु-चित कहेउँ…' और जनेऊ देखकर आपके वचन सहता हूँ। (तात्पर्य कि यदि आपको ब्राह्मण न जानता तो न सहता, पर जनेऊ देख ब्राह्मणपुत्र जानकर सह लेता हूँ। कोई-कोई यह भाव कहते हैं कि परशुरामजी तो कह रहे हैं कि 'परसु बिलोकु', परंतु लक्ष्मणजी कह रहे हैं कि नहीं, हम उसकी ओर नहीं देखते, उसका ख्याल करें तब तो तुम्हारा वध ही कर डालें; हम तो 'जनेउ बिलोकी…' अर्थात् इसीको देखते हैं। इसीसे सहते जाते हैं) (ख) 'जो कछु कहहु' इति। 'कछु' कहनेका आशय कि आपने बहुत वचन कहे फिर भी ब्राह्मण जानकर हम उनको 'कुछ' ही मान लेते हैं और ब्राह्मण ही समझकर हमने 'कुछ' ही कहा। (कछु=कुछ=बड़ी कठोर बात। 'जो कछु'=सब कठोर वचन। यह मुहावरा है)। (ग)—'सहौं' से जनाया कि वचन अत्यन्त कठोर हैं) दुःसह हैं, सहनेयोग्य नहीं हैं फिर भी सह लेता हूँ)। 'रिस रोकी' इति। अर्थात् सहा नहीं जाता, अपने ऊपर बड़ा जब्र करके सहते हैं। आगे कहते भी हैं कि आपके वचन करोड़ों कुलिशोंके समान हैं, वज्रका-सा आघात करनेवाले हैं, बड़े धीरका भी धैर्य छुड़ा देनेवाले हैं)। यदि सुनकर क्रोध आ जाता तो सहना न ठहरता, इसीसे 'रिस रोकी' कहा। परशुरामजी कठोर वचन बोलते हैं और लक्ष्मणजी हँसकर बोलते हैं, इससे पाया गया कि रिस रोके हुए हैं; यथा—'सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने', 'लखन कहा हँसि हमरे जाना', 'बिहँसि लखन बोले मृदु बानी।' इत्यादि। भृगुसुत समझकर 'मुनि' और 'गोसाईं' कहा, 'मुनि' कहनेसे आप रिस करते हैं और 'मुनि' जानकर ही हम सहते हैं, इसीसे समझ लीजिये कि मुनिका दर्जा वीरसे भारी है।

नोट—३ कोई महात्मा कहते हैं कि व्यंग्यद्वारा जनाते हैं कि हमने तो जनेऊसे जाना कि तुम ब्राह्मण हो, नहीं तो हम वीर ही जानते थे। जब तुम्हें ब्राह्मण जाना तो अब क्या कहें, क्योंकि 'सुर महिसुर…।' (रा० प्र०)।

टिप्पणी—'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई…' इति। (क) [प्रथम कहा कि कठोर वचन रिस रोककर सहता हूँ। रिस रोककर न सहते तो क्या करते, यह यहाँ बताते हैं कि हम अपनी सुराई अर्थात् शूरवीरता दिखाते। 'असि रिस होति दसौ मुख तोरौं॥ ६। ३३। २॥' यह जो अङ्गदजीने रावणसे कहा है, वही आशय यहाँ भी है। अर्थात् तुम्हारा सिर ही तोड़कर धड़से अलग कर देते, पर यह समझकर रिस रोक लेता हूँ कि 'सुर महिसुर…।' (ख) पाँड़ेजी कहते हैं कि लक्ष्मणजीने सोचा कि सम्भव है कि परशुराम कहें कि हमारा पराक्रम जाकर अपने पितासे पूछ आ, जो एककछ हो गये थे,

* मनु० २। ४४ में 'कार्पासक्षौमगोवालशणवल्वतृणादिकम्। यथासम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥' ऐसा भी उल्लेख मिलता है। अर्थात् कपास, रेशम, गोबाल, सन और वल्वतृणादिका यथासम्भव प्राप्त यज्ञोपवीत द्विजातियोंको धारण करना देखा है।

इसलिये पहलेसे उसकी रोक करनेके लिये कहते हैं कि देवता, ब्राह्मण आदिपर हमारे कुलमें शूरता नहीं होती' (प्र० सं०)] (ग) **'हमरे कुल इन्ह पर न सुराई'** इति। भाव कि हमारे कुलमें इनपर वीरता नहीं जनाते, प्रत्युत इनकी सेवा करते हैं। उदाहरण यथा—**'तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥** २९।४।४॥' आशय यह है कि हम अपने कुलधर्मका पालन करते हैं और आप अपने कुलधर्मके विरुद्ध करते हैं। (घ) **'इन्ह पर न सुराई'** का भाव कि इनके विपर्ययपर अपनी शूरता दिखाते हैं। सुरके विपर्ययमें 'असुर' महिसुरके विपर्ययमें क्षत्रिय, हरिजनके विपर्ययमें खल और 'गाय' के विपर्ययमें व्याघ्र हैं। (ङ) सुर, हरिजन, महिसुर और गऊ ये चार गिनाकर तब **'हमरे कुल'** कहनेका भाव कि हमारा कुल इनकी रक्षा करता है। इनकी रक्षाके लिये भगवान् अवतार लेते हैं, यथा—**'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।** १९२।' **'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहि जग जाल ॥** इनपर शूरता न दिखानेका हेतु आगे कहते हैं 'बधे पाप…।'

नोट—४ **'इन्हपर न सुराई'** इति मिलान कीजिये—(क) **'निहन्तुं हन्त गोविप्रान्न शूरा रघुवंशजाः ॥** हनु० १।३९॥' श्रीरामजी परशुरामजीसे कहते हैं कि गौ और ब्राह्मणोंके मारनेको रघुवंशी शूर नहीं हैं। (ख) **'अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद्बिभेमि ।** हनु० १।४१। अर्थात् चाहे लोग मुझे दुर्यशवाला कहें चाहे निर्मल यशवाला, पर मैं तो ब्राह्मणोंके ऊपर शस्त्र ग्रहण करनेके बड़े साहससे डरता हूं। (ग) **हारः कण्ठे विशतु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः स्त्रीणां नेत्राण्यधिवसतु सुखं कज्जलं वा जलं वा। सम्पश्यामो ध्रुवमपि सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा यद्वा तद्वा भवतु स वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः ॥** हनु० १।४४, प्र० रा० ४।२३॥' अर्थात् श्रीरामजी कहते हैं कि हमारे कण्ठमें चाहे हार पड़े वा तीक्ष्ण कुठार पड़े, स्त्रियोंके आँखोंमें सुखपूर्वक काजल रहे चाहे अश्रुजल रहे, हम चाहे सुख देखें अथवा यमराजका मुख देखें, जो भी हो सो हो, पर हम ब्राह्मणोंके ऊपर वीर किसी प्रकार नहीं हैं।—ये सब भाव 'इन्ह पर न सुराई' से जना दिये हैं।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—इन तथा आगेके चरणोंमें बताया है कि ब्राह्मणोंके साथ क्षत्रियोंका बर्ताव कैसा होना चाहिये। 'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।' यह श्रीमुखवचन है। फिर भगवान्‌के भाई ही ऐसा न करते तो अन्य लोग मर्यादाका पालन कैसे करते!

बधे पापु अपकीरति हारे। मारतहू पा परिय तुम्हारे ॥ ७ ॥
कोटि कुलिस सम बचनु तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥ ८ ॥

अर्थ—वध करनेसे पाप और हारनेसे अपयश होता है। (इसलिये) मारनेपर भी (हम आपके) पैरों ही पड़ेंगे॥ ७॥ आपका वचन ही करोड़ों वज्रोंके समान है। आप व्यर्थ ही धनुष, बाण और फरसा धारण करते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ **'बधे पाप…'** इति। (क) **'बधे पाप'** का भाव कि संग्राममें यदि वीरको वीर मार डाले, तो वीरको पाप नहीं लगता। परंतु (सुर-महिसुर आदि वीर नहीं हैं, इससे) इन्हें संग्राममें मारनेसे भी पाप लगेगा। **'अपकीरति हारे'** का भाव कि संग्राममें वीरसे हारनेसे वीरकी अपकीर्ति नहीं होती; यथा— **'राम काज खगराज आजु लर्‍यो जियत न जानकी त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहग बड़ भागी ॥'** (गीतावली ३।८)। परंतु ये वीर नहीं हैं, इससे इनसे लड़नेमें दोनों प्रकार हार ही है, (जीतनेसे भी हार क्योंकि पाप लगता है)[इस कथनसे जनाया कि आप शूर तो हैं नहीं, ब्राह्मण हैं, अतएव पाप और अपयश दोनोंसे बचनेके लिये हम वचन सहते हैं]। (ख) **'मारतहू पा परिअ तुम्हारे'**—भाव कि हम आपका वचन क्रोध रोककर सहते हैं और यदि आप मारें भी तो हम आपके पैरों ही पड़ेंगे। ☞ महात्मा लोग ऐसा ही कहते हैं; यथा—**'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।** ३।३४'।

नोट—१ (क) **'बधे पाप अपकीरति हारे'** का अर्थ ऐसा भी लोगोंने किया है कि 'आपके वधमें पाप और आपके हारनेमें अर्थात् आपसे जीतनेमें भी अपकीर्ति ही है।' इस अर्थमें दोहावलीका 'जो परि पाय मनाइये तासों रूठि बिचारि। तुलसी **तहाँ न जीतिये जहाँ जीतेहु हारि ॥४३०॥'** यह प्रमाण है, पर मेरी समझमें 'जो रिपु सें हारेहुँ हँसी जिते पाप परिताप। तासों **रारि निवारिये समय सँभारिय आपु ॥४३२॥'** यह दोहा विशेष संगत है। जीतनेमें पाप है, हारनेसे अपयश है, इसीसे इनपर वीरता नहीं जनाते। (ख) **'सागर सोख्यो बलि छल्यो छत्रिन कियो बिनास। हरि उर मारेउ लात जब हारे किमि उपहास ॥'** यह शङ्का **उठाकर पं० रामचरण मिश्र इसका समाधान इस प्रकार** अर्थसे करते हैं कि 'बधेसे पाप और अपयश दोनों हैं, अतः हारे' अर्थात्

हार गये, पर मारनेपर भी तुम्हारे पाँव पड़ना ही अच्छा है।' (ग)—ब्राह्मण अवध्य है, यथा—'अवध्या ब्राह्मणा नित्यं स्त्रियो बालाश्च ज्ञातयः। येषां चान्नानि भुञ्जीय ये चास्य शरणं गताः॥' (प्र० सं०)। मनुजीका वाक्य है कि आचार्य, कथावाचक, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गौ और तपस्वियोंकी हिंसा न करनी चाहिये। यथा—'आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्। न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥' मनु० ४।१६२।

नोट—२ श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि 'पूर्व जो 'जनेउ बिलोकी' कहा है उसके सम्बन्धसे 'बधे पाप अपकीरति हारे' कहा। अर्थात् आपका जनेउ ब्राह्मण बतला रहा है तो हमारे कुलमें ब्राह्मणोंसे वीरता नहीं की जाती, क्योंकि वध करें तो पाप लगे और हारें तो अपकीर्ति हो'। और 'भृगुकुल समुझि' के सम्बन्धसे 'मारतहू पा परिअ' कहा। अर्थात् 'आप ब्राह्मणोंमें भृगुकुलके हैं कि जिस भृगुलताको विष्णुभगवान् धारण किये हुए हैं, अर्थात् भृगुजीने श्रीविष्णु भगवान्‌को लात मारी पर भगवान्‌ने सहन कर लिया ' यही समझकर आप जो कुछ कहिये मैं सहन करूँगा; श्रीलक्ष्मणजीने 'भृगुकुल समुझि' का भाव भृगुलता कहा।'

टिप्पणी—२ 'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा…' इति। (क) यहाँ 'बचन' एक कहा, क्योंकि यदि बहुत वचन कहते तो 'बचन तुम्हारे' कहना चाहिये था। यद्यपि परशुरामजीने बहुत वचन कहे हैं तो भी 'बचन तुम्हारे' न कहकर 'बचन तुम्हारा' कहनेमें भाव यह है कि आपका एक-एक वचन करोड़ों वज्रके समान है। (ख) 'ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा' इति। भाव यह कि जिसे आप कोप करके शाप दे दें वह भस्म हो जाय, यथा—'इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्रद्रोह पावक सो जरई॥७।१०९' (श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'कोटि कुलिस सम' का भाव यह है कि ब्राह्मणका एक शाप उससे भी अधिक कठिन काम करता है जितना इन्द्रके करोड़ों वज्राघातसे भी नहीं हो सकता, यदि उसमें शुद्ध ब्राह्मणके गुण हों। अतः कहा कि आपका वचन ही फरसा आदिसे कठिन है, इनकी आवश्यकता ही क्या कि जो आप वीर-वेष बनाये हैं)। (ग)—परशुरामजीको धनुष, बाण और कुठारका बड़ा अभिमान है इसीसे लक्ष्मणजीने ब्राह्मणका सामर्थ्य कहकर धनुषादिका धारण करना ही व्यर्थ किया, अर्थात् उनकी वीरताकी जड़ ही उखाड़ डाली—इस चतुराईसे बात की। जब परशुरामजीने धनुषकी बड़ाई की, तब लक्ष्मणजीने उसे 'धनुही' कहा और छूते ही टूट जाना कहकर उसे जीर्ण सूचित किया, इसपर परशुरामजी निरुत्तर हो गये। जवाब न बन पड़ा तब उन्होंने अपने कुठारकी बड़ाई की—'सहसबाहु भुज छेदनिहारा'।…,' जिसके उत्तरमें इन्होंने अपनेको पहाड़ और उनके परशुको फूँक कहा। पुनः, 'ब्राह्मणके वचनके आगे धनुषादिका धारण करना व्यर्थ है' इस कथनका आशय यह है कि इनका किया कुछ नहीं होता, जैसे फूँकसे पहाड़ नहीं उड़ता। [(प्र० सं०)—पूर्व परशुरामजीने धनुषकी बड़ाई की, उसका निरादर लक्ष्मणजीने 'सुनहु देव सब धनुष समाना' कहकर किया। फिर उन्होंने अपनी वीरताकी प्रशंसा की, उसका निरादर इन्होंने दोहा २७३ में किया और विशेष रूपसे इस अर्धालीमें, जिसका भाव यह है कि ये सब वीरका बाना छोड़ दो हथियार अलग कर दो, ये हमारे क्षत्रियोंके अस्त्र-शस्त्र हैं सो छोड़कर हमें दे दो। ब्राह्मणोंके लिये तो शाप ही पर्याप्त हथियार है]।

नोट—३ वचनको वज्रकी समता देकर धनुषादिको व्यर्थ ठहराना अर्थात् उपमानमें उपमेयसे अधिक गुण वर्णन करना 'व्यतिरेक अलङ्कार' है। (वीर)।

४ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं—'क्षत्रियकुलद्रोही' के श्रेणीके युद्धवाले शब्दोंका कितनी खिल्ली उड़ानेवाला उत्तर है, परंतु कितना सच्चा! द्रोहका उत्तर द्रोह नहीं अपितु शील ही है। अन्तिम पद 'सुर महिसुर''सुराई' की व्याख्या स्वयं लक्ष्मणजीने यों की है और बताया है कि वे ब्राह्मण आदिसे क्यों नहीं लड़ते—'बधे पाप''तुम्हारे।' प्रथम चरणका व्यंग्य कितना सुन्दर है और दूसरे चरणकी नम्रता उसे और उभार देती है।'कोटि कुलिस''कुठारा' माधुर्यका यह व्यंग्यपूर्ण वार गज़बका है। लक्ष्मणजी कहते हैं कि आपके शब्दरूपी बाण ही क्या कम हैं जो इतने हथियार लेकर चलते हैं।

दोहा—जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृगुबंस मनि बोले गिरा गँभीर॥२७३॥

अर्थ—जिन्हें (जिन धनुष-बाण-कुठारको) देखकर मैंने यदि (कुछ) अनुचित कहा (हो) तो उसे, हे महामुनि! हे धीर! आप क्षमा करें। यह सुनकर भृगुकुलशिरोमणि परशुरामजी क्रोधसहित गम्भीर वाणी बोले॥ २७३॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'कोटि कुलिस'''मुनि धीर।' इति। 'तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह के कोप न कोउ

रखवारा ॥ बिप्र श्राप बिनु सुनु महिपाला । तोर नास नहिं कवनेउ काला ॥, स्वयं शिवजी कहते हैं '**इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला । काल दंड हरि चक्र कराला ॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई । बिप्र रोष पावक सो जरई ॥**' इस बातको लक्ष्मणजी कह रहे हैं कि आपके वचनमें कोटि वज्रकी शक्ति निहित है, उससे हम निःसंदेह डरते हैं, उसपर गौरवकी दृष्टि न होकर आपकी गौरवकी दृष्टि इस धनु, बाण और कुठारमें है। आप व्यर्थ ही लोहा लादे फिरते हैं। इससे डर होना तो दूर गया, हमलोगोंको प्रतिस्पर्धी वीर समझकर क्रोध होता है। हम क्षात्र तेजसे नहीं डरते, ब्राह्मतेजसे डरते हैं। '**चारु जनेउ माल भृगछाला**' से हमें भयका सञ्चार होता है, तूण, शर, कुठार और धनुष देखकर तो युद्धोत्साह होता है। उन्हें देखकर ही मैंने आपसे ऐसी बातें कीं, जो उचित नहीं थीं। आप महामुनि हैं, धीर हैं, अपने स्वरूपपर आइये, स्वधर्म सँभालिये, परधर्मका अभिमान त्याग करिये। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। सारांश यह कि आपके शाप-प्रदानपर उद्यत होनेको मैं डरता हूँ, युद्धके लिये उद्यत होनेको नहीं। क्योंकि मैं स्वधर्ममें स्थित हूँ।

टिप्पणी—१ (क) '**जो बिलोकि**' इति। भाव कि यदि हम इन्हें न देखते तो अनुचित न कहते, यथा—'**जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥ २८२। ३।**' तात्पर्य कि हथियार धारण करनेसे ब्राह्मणका स्वरूप छिप जाता है और उसका अपमान होता है, इससे आप इन्हें व्यर्थ धारण किये हुए हैं। (जो शब्द देहली-दीपक है—'**धनु बान कुठारा जो।**' और '**जो अनुचित कहेउँ**') । (ख) '**महामुनि धीर**'—अर्थात् आप मननशीलोंमें शिरोमणि हैं, धीर हैं अर्थात् विकारोंसे क्षोभको प्राप्त होनेवाले नहीं हैं; अतएव क्षमा कीजिये। [ये व्याजव्यंग्योक्तिसे अपमानित सम्बोधन है इसीसे परशुरामजी '**सुनि सरोष बोले**'] (ग) '**सरोष**' इति। धनुषादिका धारण करना व्यर्थ कहनेपर रुष्ट हुए कि जिन अस्त्र-शस्त्रोंसे हमने सहस्रबाहु आदि ऐसे भारी वीरोंका नाश किया उन्हींको व्यर्थ कहता है। (घ) '**भृगुबंश मनि**' इति। प्रथम परशुरामजीको सूर्य कहा था, यथा—'**तेहि अवसर सुनि सिवधनुभंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा ॥**' २६८। २।', यहाँ '**मणि**' कहकर सूचित करते हैं कि पहले सूर्यके समान थे, परंतु श्रीराम-लक्ष्मणजीको कटु वचन बोले, इसीसे क्रमशः तेज घट गया। [अथवा, उस प्रतापरविको लक्ष्मणजीने अस्त कर दिया। अब पतंगसे मणि रह गये और आगे यह भी न रह जायँगे। पुनः, इस विशेषणसे जनाया कि इनके वंशका स्वभाव सदासे ऐसा ही चला आता है, अतः सरोष बोला ही चाहें। (प्र० सं०, रा० च० मि०)] (ङ) '**गिरा गँभीर**' अर्थात् गरजकर बोले। गम्भीर वाणीकी उपमा मेघकी है, यथा—'**बोले घन इव गिरा सुहाई। ६।७४।**', '**गर्जा अति अंतर बल थाका।**'

लमगोड़ाजी—उन्हीं हथियारोंकी ओर संकेतकर लक्ष्मणजी फिर कहते हैं—**जो बिलोकि**…'। यह क्षमा माँगना भी ग़ज़बका है, क्योंकि साथ ही '**महामुनि धीर**' वाली चुटकी लगी हुई है। व्यंगोंका आखिर कुछ प्रभाव हुआ। कवि लिखता है '**सुनि सरोष**…**गँभीर**'; शब्दोंमें गम्भीरता आ गयी।

कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु। कुटिल कालबस निजकुल घालकु ॥ १ ॥
भानुबंस राकेश कलंकू। निपट निरंकुसु अबुध* असंकू ॥ २ ॥

शब्दार्थ—'घालक'=नाश करनेवाला। 'कलंकू'=धब्बा, दाग़, अपकीर्ति देनेवाला, बदनाम करनेवाला। 'निपट'=बिलकुल, बहुत ही, पूरा। नितान्त। 'निरंकुस'=बिना अंकुशका, स्वतन्त्र, किसीका दबाव न माननेवाला, उच्छृङ्खल, उद्दण्ड। 'अबुध'=बुद्धिहीन, मूर्ख, नासमझ। 'असंकू'=शंका (डर) रहित, निडर।

अर्थ—हे कौशिक! सुनो। यह बालक मंद (नीच, दुर्बुद्धि), कुटिल (टेढ़ा), कालके वश, अपने कुलका नाशक। १। सूर्यवंशरूपी पूर्ण चन्द्रमाका कलंक (अर्थात् उसको कलंकित करनेवाला), नितान्त उद्दण्ड (बिना दबावका) बुद्धिहीन और निडर है। २।

टिप्पणी—१ '**कौशिक सुनहु**' इति। विश्वामित्रजीसे क्यों कहा? कारण कि—(१) श्रीजनकजीपर क्रोध है, इससे उनसे नहीं कहते, यथा—'**अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा ॥ २७०। ३।**', और श्रीरामजीसे यह समझकर न कहा कि वे भी तो लड़के ही हैं, उनके डाँटने एवं मना करनेसे यह न मानेगा। दूसरे, परशुरामजीने अभी श्रीरामजीकी वाणी अच्छी तरह नहीं सुनी है, इससे इनका स्वभाव भी अभी नहीं जानते, बिना सुने-जाने कैसे कहते? [(२) रह गये विश्वामित्रजी, सो ये दोनों लड़कोंको लेकर

* निठुर निसंकू—१७०४। अबुध असंकू—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

स्वयं आकर इनसे मिले थे और इन्होंने दोनों लड़कोंसे इनके चरणोंमें प्रणाम कराया था, अतएव निश्चय है कि इनका कहना लखनजी अवश्य मानेंगे, यह समझकर उनसे कहा। पुनः, (३) 'कौशिक' सम्बोधनका भाव कि 'जब हम कुशवंशियोंको मारने लगे थे तब तुमने कितनोंहीको अपने कुलके सम्बन्धसे बचाया था, इससे इस बालकके लिये भी जो तुम्हें पुनः प्रार्थना करनी हो तो इसे निवारण (मना) करो, नहीं तो फिर हम इसे क्रोधमें न छोड़ेंगे।' (पं०)। बात तो यह है कि लक्ष्मणजीसे बातोंमें न जीत सके, कुछ उत्तर न बन पड़ा तब उधर झुके, उनसे पुकार की।—यही 'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' जो मानसमुखबंदमें कहा गया उस 'धारा' का फिरना है। (४) कौशिकजीसे कहनेका और भी कारण यह है कि ये दोनों कुमारों-को दशरथजीसे माँग लाये थे। यदि राजकुमार मार डाला गया तो इनको कलंक लगेगा, इनकी प्रतिष्ठामें धब्बा लग जायगा। अतः ये उसे अवश्य चुप करेंगे]

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—इस प्रसंगमें कविकुलकिरीट सम्राट् मानसशास्त्रके कितने सुन्दर नमूने उपस्थित करते हैं, यह देखने योग्य है। परशुरामजीका मन लखनलालसे (न तो वाग्युद्धमें और न शस्त्रास्त्रायुधयुद्धमें विजय पानेकी निराशा होनेपर), अपनी हार स्वीकृत करनेको तैयार नहीं है। वे इधरसे उधर, उधरसे इधर फिर-फिरके कुछ-न-कुछ आधार पकड़कर अपनी जीत सिद्ध करनेका विफल प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे-जैसे विफलता बढ़ती है, वैसे-वैसे कोप-कृशानु भी अधिक धधकता जाता है। एकपर कोपका कार्य न होता देख दूसरेपर! कैसा मानवी प्रकृतिका विचित्र, यथार्थ चित्रण है!

टिप्पणी—२ **'मंद येहु बालकु। कुटिल'''** इति। (क) बड़ेका अपमान करता है, अतः मंद है। 'कुटिल' का भाव कि इसके सब वचन प्रलापके हैं। अतः बहुत अभिमान है। अतः मंद है और स्वयं वीर बनता है और जो हमने सहस्रबाहु आदि कितने ही क्षत्रियोंको मारा उनको फूँक बताता है, हमको वीर नहीं मानता, कोरा ब्राह्मण कहता है और कहता है कि धनुष-बाण-कुठार न बाँधो, पुनः, अपना तो धर्मात्मा बनता है, कहता है कि मेरा कुल ब्रह्मण्य है और साथ ही हमारा सिर काट डालनेको तैयार है, आप वीर बनकर हमसे बड़ा बनना चाहता है, इत्यादि सब कुटिलता है। (ख) 'कालवश' है, क्योंकि सँभालकर नहीं बोलता, जिह्वापर लगाम नहीं है। यथा—**'रे नृप बालक कालबस बोलत तोहि न सँभार'** पुनः हम जा क्षत्रियोंके लिये काल हैं, उन्हींसे वाद-विवाद करता है, अतः जाना गया कि कालवश है। (ग) 'निज कुल घालक'—भाव कि कटुवादी होनेसे इसका तो वध होगा ही, यथा—**'कटुबादी बालक बध जोगू'**। २७५। ३।', पर इसके कटु वचनोंके कारण इसके कुलका नाश होगा। तात्पर्य कि हम इसको मारकर फिर इसके वैरसे इसके सारे कुलका नाश करेंगे जैसे सहस्र-बाहुके वैरसे क्षत्रियमात्रका नाश किया। [(घ) जैसे लक्ष्मणजीने **'भृगुसुत समुझि'''** कहा, वैसे ही उसकी जोड़में परशु-रामजीने **'निज कुल घालक'** कहा। लक्ष्मणजी भृगुवंशी समझकर नहीं मारते और इन्हें 'सूर्यवंश' का खयाल है]।

टिप्पणी—३ **'भानुबंस राकेश कलंकू'''।'** इति। (क) **'निज कुल घालक'** कहकर अब उसका हेतु कहते हैं कि भानुवंश राकेश है, निर्मल है; उसमें यह दोषरूप है। इसीके दोषसे भानुवंशका नाश होगा। यह ब्राह्मणका अपमान करता है। ब्राह्मणापमानसे कुलका नाश होता है, यथा—**'कुल कि रहहिं द्विज अनहित कीन्हे'**, **'जिमि द्विज द्रोह किएँ कुल नासा'**। ब्राह्मणका अपमान करनेसे भानुवंशके कीर्तिचन्द्रको मलिन कर रहा है। (ख) पुनः, **'भानुबंस राकेश'** का भाव कि सूर्य कलंकरहित है, कलंक चन्द्रमामें है। (ग)—प्रथम लक्ष्मणजीने आशयसे जनाया कि धनुषादि धारण करनेसे ब्राह्मणकुल छिप जाता है। अर्थात् शस्त्रास्त्रका धारण करना ब्राह्मणकुलको दूषित करता है; इसीपर परशुरामजी कहते हैं कि यह बालक कुलका नाशक और कुलका कलंक है। (घ)—निपट अर्थात् भरपूर, बिल्कुल, हद दर्जेका। बालपनेसे इसे किसीने शिक्षा नहीं दी, अतः 'अबुध' है। इसीसे हम अपना बल-प्रताप-रोष कहते हैं तो इसे ज्ञान नहीं होता। अबुध है इसीसे अशंक है। भाव कि बुद्धि हो तब तो हमारे स्वरूपका ज्ञान इसे हो, हमारा स्वरूप जानता तो शंका होती। (ङ) पुरुषकी परीक्षा चार प्रकारसे की जाती है—स्वरूपसे, कुलसे, संगसे और कर्मसे। परशुरामजी मंदादि विशेषण देकर लक्ष्मणजीको चारों प्रकारसे दूषित दिखाते हैं। 'मंद, कुटिल, कालवश अर्थात् मृतकसमान' कहकर अपने स्वरूपसे दूषित कहा। **'भानुबंस राकेश कलंकू'** और **'निजकुलघालक'** कहकर जनाया कि इसने कुलको दूषित कर दिया। 'अबुध' से संग दूषित कहा अर्थात् इसने कभी बुद्धिमानोंका संग नहीं किया। और, **'निपट निरंकुश'** और 'असंकू' से कर्म दूषित दिखाये, तात्पर्य कि स्वतन्त्र है, अपने मनका काम करता है, यथा—**'परम सुतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥'** अथवा 'कुलघालक' कर्म है।

श्रीलमगोड़ाजी—परशुरामजीके वाक्यमें शाब्दिक गम्भीरता केवल मात्र है। इन वाक्योंमें अपशब्दोंकी कमी नहीं 'काल

कवल…' वाली डींग भी विचारणीय है, पर साथ-ही-साथ क्रोधकी विवशता भी प्रकट है, और अब विश्वामित्रजीका निहोरा ढूँढ़ा जाता है। आगे 'कहि प्रताप बल रोष हमारा' वाला अहंकार भला लक्ष्मणजी कब सह सकते थे? वे बोल ही उठे—'लखन कहेउ मुनि…'।

काल कवलु होइहि छन माहीं। कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं॥ ३॥
तुम्ह हटकहु जौ चहहु उबारा। कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा॥ ४॥

अर्थ—क्षणभरमें यह कालका ग्रास हो जायगा। मैं पुकारकर कहे देता हूँ, (फिर) मेरा दोष नहीं॥ ३॥ जो तुम उसे बचाना चाहते हो तो हमारा प्रताप, बल और क्रोध कह (समझा) कर उसे मना करो॥ ४॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'कौशिक सुनहु…खोरि मोहि नाहीं।' इति। लक्ष्मणजीने परशुरामजीको उत्तर-प्रत्युत्तरमें ऐसा फँसाया कि रामजीको धनुष-भंग-कर्ता जाननेपर भी वे रामजीकी ओर नहीं घूम सके, लक्ष्मणसे ही जी छुड़ाना कठिन हो गया। तब उनके अभिभावक विश्वामित्रजीसे कहने लगे कि यह बालक मन्द है, वह मन्द नहीं है जिसने धनुष तोड़ा है। लक्ष्मणजीने आठ अर्धालियोंमें आठ बातें कहीं—'अहो मुनीस महा भटमानी' से लेकर 'व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा' तक। उन्हीं आठ बातोंको दृष्टिमें रखकर परशुरामजी उन्हें आठ विशेषणोंसे क्रमशः विशेषित करते हैं। यथा—(१) मंद, (२) कुटिल, (३) कालवश, (४) निज कुलघालक, (५) भानुबंस राकेश कलंकू, (६) निपट निरंकुस, (७) अबुध, (८) असंकू। मन्द ऐसा है कि मुझे महाभट नहीं मानता, भटमानी कहता है। कुटिल ऐसा कि मैंने 'गर्भन के अर्भक दलन परशु मोर' अपने स्वभावकी घोरतापर कहा, इसने उसे वीरतामें लगा दिया। कालवश है, इसलिये मेरे कुठारको तर्जनी समक्ष रहा है। कुलघालक है, क्योंकि मेरे शस्त्रोंके सामने अभिमान करनेवालेके कुलको मैं निःशेष कर देता हूँ। कुलकलङ्क है। अपयश-भाजन प्रियजन-द्रोही है। इसकी कटुवाणीसे इसके प्रियजनका नाश होगा। निपट निरंकुश है। सुर, महिसुर, हरिजन और गाय प्रातःस्मरणीय हैं, उन्हें दीन मानता है। अबुध है। अपनेमें मेरे वध करनेकी योग्यता मानता है और मुझसे पराजित होना भी अपने लिये लज्जाजनक समझता है। अशङ्क है। मेरे धनु-बाण-कुठार-धारणको व्यर्थ बतलाता है। इस भाँति यह बढ़-बढ़कर बोलता है। अपनेको इतना बड़ा वीर मानता है कि मेरे शस्त्र बाँधनेपर क्रोध दिखलाता है, कहता है—'जो बिलोकि अनुचित कहेउँ।' यह इसकी सब करणी देख लो, मेरा एक आघात सहनेमें भी समर्थ न होगा। इसलिये हाँक—पुकारकर कहे देता हूँ जिसे रोकना हो इसे रोको, नहीं तो मेरे हाथसे इसका वध हुआ ही चाहता है। पीछे मुझे कोई दोष न दे।

टिप्पणी—१ (क) 'काल कवल…' इति। भाव कि समस्त संसार कालका कलेवा है, यथा—'अग जग जीव नाग मुनि देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥' तब यह तो उस कालके कौरभरको भी नहीं है; हाँ, छोटे कालका कौरभर है। वह छोटा काल कौन है यह आगे कहते हैं—'छन माहीं'। क्षण जो छोटा काल है, उसका कौर हो जायगा। अर्थात् यह क्षणभरमें ही मर जायगा, इसके मरनेमें बहुत काल न लगेगा। (ख)—'कहौं पुकारि…' इति। पुकारकर कहनेका भाव कि जिसमें सब लोग सुन लें, फिर मुझे दोष न दें। यथा—'अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू। कटुबादी बालकु बध जोगू॥ २७५। ३॥' [पुनः भाव कि इसे क्षणभरमें मार डालूँगा, सबके सामने मारूँगा कुछ चुपचाप नहीं। जो आप कहें कि यह बच्चा है गम खाइये, सो नहीं होनेका] (ग) ☞ परशुरामजीने पहले लक्ष्मणजीको कालवश कहा—'रे नृपबालक कालबस,' फिर दूसरी बार कहा कि बालकको मारनेमें दोष है इससे इसको नहीं मारते—'बालक बोकि बधउँ नहिं तोही' और अब तीसरी बार कहते हैं कि अब हमें बालकका वध करनेमें दोष नहीं लग सकता, सबसे पुकारकर इस बातको कहे देता हूँ।

२ (क) 'तुम्ह हटकहु…' इति। भाव कि इसके बचानेके लिये हमने अपना प्रताप, बल, रोष सब कहकर मना किया, फिर भी यह नहीं मानता। यथा—'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर'। फरसेकी घोरता सुनकर रानियोंके गर्भ गिर जाते हैं—यह प्रताप है। (प्र० सं० में हमने 'गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठार गति घोर॥ २७९॥' यह उदाहरण दिया था। परंतु यह आगे कहेंगे, अभी कहा नहीं है। अतः यहाँ यह ठीक नहीं है)। 'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही' यह बल है। ['सहसबाहु भुज छेदनिहारा' (प्र० सं०)]। और 'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित क्षत्रिय-कुलद्रोही॥' यह रोष है—(इस प्रकार अपना प्रताप, बल और रोष तीनों कह चुके)। हमारे कहनेसे नहीं मानता अतएव हमको दोष नहीं है। यदि तुम बचाना चाहो तो तुम मना करो। (ख) 'जौ चहहु उबारा' इति। तुम बचाना चाहो

तो बचा लो। भाव कि न बचानेसे तुमको दोष लगेगा, क्योंकि यदि अपने सामने किसीके प्राण जाते हों तो बचाना चाहिये, न बचानेसे दोष लगता है। (इसके प्राण तुम्हारे सामने ही जानेवाले हैं, अतएव तुम्हारा धर्म है इसे बचाना) दूसरे यह तुम्हारे साथ आया है, अतः तुम्हें इसको बचाना चाहिये, अतः 'तुम्ह हटकहु'। यही उपाय है जिससे वह बच सकता है। किस प्रकार मना करो यह आगे कहते हैं—'कहि प्रताप·····'। (ग) 'कहि प्रताप बल रोष हमारा' इति। इससे सूचित करते हैं कि परशुरामजी अपने प्रताप-बल-रोषके अभिमानसे परिपूर्ण भरे हुए हैं। [पुनः, भाव कि यह कहकर न मना करो कि ब्राह्मण हैं, जाने दो, अब कुछ न कहो, किंतु हमारा 'बल प्रताप रोष' कहकर इसका मुँह बंद करो, समझा दो कि अपने बलका अभिमान न करे कि धनुष तोड़ डाला (प्र० सं०)] (घ)—पुनः, भाव कि निरंकुश है, अतः 'तुम्ह हटकहु' और 'अबुध' है, अतः हमारा बल-प्रताप-रोष कहो, ज्ञान होनेपर शंकित होगा।

लषन कहेउ मुनि सुजसु तुम्हारा। तुम्हहि अछत को बरनै पारा॥ ५॥
अपने मुँहु तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु* बरनी॥ ६॥

शब्दार्थ—पारना=सकना, यथा—'बाली रिपु बल सहै न पारा॥ ४। ६॥' 'सोक बिबस कछु कहै न पारा। हृदय लगावत बारहिं बारा॥ २। ४४॥'

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने कहा—हे मुनि! आपके रहते हुए आपका सुयश कौन वर्णन कर सकता है?॥ ५॥ (आपने) अपने मुँहसे अपनी करनी बहुत प्रकारसे अनेक बार वर्णन की॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'लषन कहेउ·····' इति। (क) सर्वत्र लक्ष्मणजीका मुस्कराकर बोलना लिखा गया। यथा—'सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने॥ २७१। ६॥' 'लषन कहा हँसि हमरे जाना॥ २७२। १॥' 'बिहँसि लषन बोले मृदु बानी॥ २७३। १॥' परन्तु यहाँ हँसना नहीं लिखा, कारण कि इस समय वे कठोर वचन बोलनेको हैं [अभीतक हँसकर मृदु वचन बोलते रहे, पर परशुरामजीने अबकी गालियाँ दीं। 'मंद', 'कुटिल', 'कुलकलंक', 'अबुध', 'असंक' आदि गालियाँ हैं। लक्ष्मणजीने कहा ही है—'गारी देत न पावहु सोभा॥ चौ० ८॥', इसीसे अब ये भी कठोर वचन बोलते हैं, यथा—'सुनत लषन के बचन कठोरा॥ २७५। २॥' कठोरतामें हँसी कहाँ?] (ख) 'सुजसु तुम्हारा·····' इति। भाव कि जब आप अपना सुयश अपने मुँह कहते सकुचावें तब कोई दूसरा कहे, जैसा आपसे अपना सुयश कहते बनेगा वैसा दूसरेसे कब कहते बनेगा, क्योंकि जितना आप जानते हैं उतना दूसरा जानता भी नहीं। [पुनः भाव कि आप कौशिकजीसे कहते हैं कि आपका सुयश-प्रताप, बल-रोष कहें सो वे भजन करें कि आपका सुयश वर्णन करें, इससे आप ही वर्णन करते जाइये जबतक वर्णन करते बने] (ग) परशुरामजीके अन्तिम वचन ये हैं—'तुम्ह हटकहु जौ चहहु उबारा। कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा॥'—ये वचन सबसे निकट पड़े और न सह सकनेवाले हैं। इसलिये लक्ष्मणजीने प्रथम इन्हींका उत्तर दिया कि 'सुजसु तुम्हारा·····।'

२ 'अपने मुँह' इति। (क) 'तुम्हहि अछत को बरनै पारा' इस कथनसे निन्दा स्पष्ट न हुई किंतु इन शब्दोंसे बड़ाई सूचित हुई कि आपका सुयश भारी है (अपार है) इसीसे आपके अतिरिक्त दूसरा कौन कहनेको समर्थ हो सकता है। इसीसे अब प्रकट करके निन्दा कहते हैं। 'अपने मुँह·····करनी' का भाव यह है कि दूसरेके मुखसे अपना सुयश सुननेमें संकोच होता है (लाज लगती है, इसीसे आप अपने ही मुँहसे वर्णन करते हैं, किसीसे सुनते नहीं। यह व्यंग्य है)। पुनः भाव कि शिष्ट लोग तो अपना सुयश एक बार भी किसीको सूचित करते हुए सकुचाते हैं (इतना ही नहीं किंतु दूसरेके मुखसे सुनकर संकोचको प्राप्त होते हैं) पर आप बारम्बार स्वयं ही वर्णन करते हैं। इससे जनाया कि आपकी गणना श्रेष्ठ लोगोंमें नहीं हो सकती, यह काम नीचोंका है, निर्लज्जताका है। यथा—'लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥ ६। २९॥' (ख) 'बार अनेक भाँति बहु बरनी' इति। अनेक बार कही, यथा—'बाल ब्रह्मचारी अति कोही'—(१), 'बिस्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही'—(२) 'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही'—(३), 'बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही'—(४), 'सहसबाहु भुज छेदनिहारा·····' (५), 'गर्भन्हके अर्भक दलन परसु मोर अति घोर'—(६), इत्यादि। (ग) उपर्युक्त चारों चरणों ('लषन कहेउ·····बरनी') का एक साथ आशय यह है कि अपने मुख अपना सुयश कहकर आप उसका नाश कर रहे हैं। अपना यश कहनेसे यशका नाश होता है, यथा—'जनि जल्पना करि सुजस नासहि॥ ६। ८९॥'

* तुम्ह—१७०४।

नोट—आत्मश्लाघाकी निन्दापर यह श्लोक है—'न सौख्यसौभाग्यकरा गुणा नृणां स्वयं गृहीताः सुदृशांस्तना इव । परैर्गृहीता हि नयं वितन्वते न ते नु गृह्णन्ति निजं गुणं बुधाः ॥' (सु० र० भा०)

नहि संतोषु त पुनि कछु कहहू* । जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ॥ ७ ॥
बीरब्रती तुम्ह धीर अछोभा । गारी देत न पावहु सोभा ॥ ८ ॥

दो०—सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु ।
बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं† प्रतापु ॥२७४॥

शब्दार्थ—बीरब्रती=(वीरवृत्ति) वीरोंका व्रत एवं बाना धारण करनेवाले; वीरोंका स्वभाव और वर्ताव करनेवाले । अछोभा=(अक्षोभ)=क्षोभ (चञ्चलता) रहित । बिद्यमान=उपस्थित ।

अर्थ—(इतनेपर भी संतोष न हुआ हो तो फिर कुछ कहिये । क्रोधको रोककर कठिन दुःख न सहिये ॥ ७ ॥ आप वीरवृत्ति हैं, धीर हैं, अक्षोभ हैं । गाली देते हुए (आप) शोभा नहीं पाते ॥ ८ ॥ शूरवीर (तो) संग्राममें करनी करते हैं (कर्तव्य दिखाते हैं), कहकर अपनेको नहीं जनाते । रणमें शत्रुको सम्मुख उपस्थित पाकर कायर ही अपना प्रताप कथन करता है ॥ २७४ ॥

टिप्पणी—१ **'नहिं संतोष त'''** इति । (क) भाव कि इतना सुयश कथन कर चुकनेपर भी दूसरे (कौशिकजी) से कहनेको कहा, इससे स्पष्ट पाया गया कि अभी संतोष नहीं हुआ । 'त पुनि कछु कहहू'—भाव कि रहा-सहा जो बाकी हो वह भी कह डालिये, अथवा, अनेक भाँतिका कह चुके हैं, अब और भाँतिका भी कुछ कहिये । तात्पर्य कि फिर कह डालनेसे संतोष हो जायगा । (ख) 'जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू' इति । भाव कि क्रोधसे जो कुछ मनमें आता है उसे कह डालनेसे क्रोध निकल जाता है (शान्त हो जाता है) यदि वचनद्वारा क्रोध नहीं निकाल दिया जाता तो वह क्रोध हृदयमें रुका रहनेसे हृदयको जलाता रहता है । 'दुसह दुख' का भाव कि सामान्य क्रोध होता है तो सामान्य दुःख होता है और भारी क्रोधसे भारी दुःख होता है । आपका क्रोध भारी है, यथा—'बाल ब्रह्मचारी अति कोही ।' अत्यन्त क्रोध है, इसीसे दुःसह दुःख होता है । तात्पर्य कि सब कह डालनेसे क्रोधका दुःख चला जायगा, यथा—'कहेहू तें कछु दुख घटि होई ५ । १५ ।' (ग) अपना सुयश समझकर परशुरामजीको रिस होती है । उन्हें गर्व है कि हमने सहस्रबाहुको मारा, पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया, हमारा कुठार घोर है, इत्यादि; पर यह लड़का होकर हमें कुछ नहीं समझता, यह सोचकर रिस होती है । (घ) **'नहि संतोष''' सहहू'**—इन वचनोंसे लक्ष्मणजीने उनको निर्लज्ज, क्रोधी, प्रलापी, अज्ञानी, गम्भीरतारहित इत्यादि दोषोंसे युक्त जनाया । (ङ) यहाँतक 'तुम्ह हटकहु जौं''' का उत्तर हुआ ।

श्रीलमगोड़ाजी—परशुरामजीके अपनी प्रशंसावाले दोषकी इसमें कैसी अच्छी चुटकियाँ हैं ? आगे अपशब्दसम्बन्धी चुटकियाँ देखिये ।

टिप्पणी—२ **'बीरब्रती तुम्ह''''** इति । (क) वीर होनेसे धीरता और अक्षोभता आ जाती है । वीरमें ये दोनों गुण होते हैं । आप वीरवृत्ति हैं, अतः धीर हैं, यथा—'सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि ॥ २ । १९१ ॥'; और धीर हैं अतः अक्षोभ हैं (अर्थात् क्रोधादिके वेगसे चञ्चल वा) चलायमान नहीं हैं । पुनः, 'बीरब्रती, धीर अछोभा'''' के क्रमका भाव कि वीरोंकी मति धीर रहती है, यथा—'ताहि मारि मारुतसुत बीरा । बारिधि पार गयउ मतिधीरा ॥ ५ । ३ ॥', और तन चलायमान नहीं होता, यथा—'चला न अचल रहा पद रोपी ।' (ख) 'गारी देत न पावहु सोभा' इति । भाव कि ऐसे वीरोंकी शोभा गाली देनेसे नहीं होती वरंच करनी करनेसे होती है, जैसा आगे कहते हैं—**'सूर समर'''।'** (ग) ☞ परशुरामजीने जो कुलघालक इत्यादि कहा है, उसका उत्तर इस अर्धालीमें दिया गया है । प्रथम तो ब्राह्मण कहकर वीरबाना बाँधने (धारण करने) की निन्दा की थी—'कोटि कुलिस''' कुठारा ।' अब यहाँ वीरवृत्ति होनेसे गाली देनेकी निन्दा की । इस प्रकार जनाया कि न तुम्हारे ब्राह्मणरूपकी शोभा है और न वीररूपकी ही शोभा है । [भाव यह है कि वीरोंका बाना धारणकर आपने ब्राह्मणधर्मकी शोभा नष्ट कर डाली । यही नहीं ब्राह्मणधर्म गया तो गया, भला वीर ही बने रहते सो भी न रह गये । गाली

* कहहु सहहु—१६६१ ।
† करहिं प्रलाप—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा० । कथहिं प्रताप—१६६१

देकर वीरताकी शोभा भी नष्ट कर डाली। तात्पर्य कि इसके रहे न उसके, दीन और दुनियाँ दोनोंसे गये। ब्राह्मणरूप तथा वीररूप दोनोंहीको दूषित कर डाला]। (घ) 'न पावहु सोभा' में भाव यह है कि ब्राह्मणत्व अथवा वीरत्वके शोभाकी लज्जा होती तो आप लज्जित होते, पर आपको तो लज्जा छू नहीं गयी, शोभा भी आपसे लज्जित हो गयी।

प० प० प्र०—गाली देना अशुचिता है। इस ('गारी देत न पावहु सोभा') से शौचका अभाव दिखाया।

टिप्पणी—३ **'सूर समर करनी करहिं····'** इति (क) 'सूर···आपु' पूर्वार्धमें वीरका लक्षण कहा और **'बिद्यमान···'** उत्तरार्धमें कायरका लक्षण कहा। दोनोंके लक्षण कहकर सूचित किया कि आपमें कायरके लक्षण हैं, वीरके नहीं। कायर= कादर जैसे मयन=मदन। (ख) प्रथम कहा कि वीरकी शोभा गाली देनेसे नहीं होती और अब कहते हैं कि कहकर जनानेसे भी उसकी शोभा नहीं है। **'कहि न जनावहिं'**—भाव कि करनी करके जनाते हैं, रणमें करनी दिखानेसे ही उसकी शोभा है। (ग) 'कौशिक सुनहु' से 'अबुध असंकू' तकका उत्तर 'बीरब्रती····शोभा' है और **'कहि प्रताप बल रोष हमारा'** का उत्तर **'सूर···प्रतापु'** है।

नोट—१ परशुरामकी कायरता व्यञ्जित करना **'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग'** है कि पुरुषार्थ करके दिखलाओ, उसे बाकी न रख छोड़ो। गाली बककर अपने वीरत्वमें धब्बा न लगाओ।—(वीरकवि)। रावणने जब रामचन्द्रजीके आगे शेखी बघारी, तब उन्होंने भी ऐसा ही कहा था, यथा—'तब लंकेस क्रोध उर छावा। गरजत तरजत सनमुख धावा॥ रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥ आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले॥ सुनि दुर्बचन कालबस जाना। बिहँसि बचन कह कृपानिधाना॥ सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जलपसि जनि देखाउ मनुसाई॥ जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा। संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥ एक सुमन-प्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं। एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥ ६। ८९॥'

तुम्ह तौ कालु हाँक जनु लावा। बार बार मोहि लागि बोलावा॥ १॥
सुनत लषन के बचन कठोरा। परसु सुधारि धरेउ कर घोरा॥ २॥
अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू। कटुबादी बालकु बध जोगू॥ ३॥

शब्दार्थ—हाँक लावा=हाँक लाये हो।=हाँक लगायी है। पुकार लगायी है। लागि=लिये।

अर्थ—तुम तो मानो कालको हाँक लाये हो, बार-बार मेरे लिये उसे बुलाते हो। १। श्रीलक्ष्मणजीके कठोर वचन सुनते ही (परशुरामजीने) घोर फरसेको सुधारकर हाथमें धारण किया। २। (और सब लोगोंको सम्बोधन करते हुए बोले—) लोग अब मुझे दोष न दें। कड़वे वचन बोलनेवाला बालक मार डालने ही योग्य है। ३।

टिप्पणी—१ 'तुम्ह तौ कालु····' इति। (क) (हाँकना शब्द पशुके लिये प्रयुक्त होता है) पशुको प्रेरित करना 'हाँकना' कहलाता है। (इस तरह यह काल पशु है। परशुरामजी उसके स्वामी वा प्रेरक हुए और लक्ष्मणजी घास-तृण आदि चारा हुए। तात्पर्य कि ऐसा जान पड़ता है कि मेरा काल आपके वशमें है, आप उसे पशुकी नाईं हाँक लाये हैं और उसे प्रेरित करते हैं कि मुझे खा ले)। आशय यह कि आपने मुझे तृणके समान असमर्थ समझ लिया है और समझते हैं कि आपके कहनेसे वह हमें आकर चर लेगा। (ख) **'बार बार मोहि लागि बोलावा'** इति। भाव यह कि [आप तो स्वामी अथवा चरवाहेकी तरह उसे बार-बार चरनेको बुलाते हैं; यथा—'रे नृपबालक कालबस···', 'कुटिल कालबस निज कुल घालक', 'काल कवल होइहि छन माहीं', पर वह आता नहीं, कारण कि] उसे अभी भूख नहीं लगी है। इसके अभ्यन्तर अभिप्राय यह है कि हमें वह भी डरता है, क्योंकि हम उसके भी भक्षक हैं। यथा—'कह रघुबीर समुझु जिय भ्राता। तुम्ह कृतांतभच्छक सुरत्राता। ६। ८३।', इसीसे डरके मारे हमारे समीप नहीं आता कि कहीं मैं ही उसे खा न जाऊँ।

२—'सुनत लषन के बचन कठोरा···' इति। (क) पूर्व लक्ष्मणजी मृदु वचन कहकर अपमान करते रहे, यथा—'बिहँसि लषन बोले मृदु बानी।' जब परशुरामजीने गालियाँ दीं तब न रहा गया, इन्होंने कठोर वचन कहे। (२७४। ५ 'लषन कहेउ मुनि···' में देखिये)। (ख)। 'परसु सुधारि धरेउ कर'—भाव कि जब रंगभूमिमें आये थे तब फरसा कंधेपर था, यथा—'धनु सर कर कुठार कल काँधे। २६८। ८।' अब उसे हाथमें लिया। **'सुधारि धरेउ'** अर्थात् जोरसे हाथमें लेकर उसकी धार शत्रुकी ओर की। (ग) 'धनुष और बाण तो हाथमें था, उससे क्यों न मारनेपर तत्पर हुए—इसका कारण यह है कि बाणसे कुठार अधिक भयानक है (बाण घोर हैं और कुठार 'अति घोर' है),

यथा—'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर। २७२।', अतः धनुष-बाणको छोड़कर फरसेको हाथमें लिया। अभी मारना नहीं है, केवल भय दिखानेके लिये उसे हाथमें लिया है। दूसरे, फरसेसे ही पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया है, सहस्रबाहु आदिको मारा—काटा है, यथा—'समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भये पशु आई॥ मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हें। १। २८३।' और लक्ष्मणजी भी तो राजकुमार ही हैं, इसीसे इन्हें भी (मानो) काटनेके लिये फरसेको हाथमें लिया।

लमगोड़ाजी—'अब दोनों अवगुणों (निजप्रशंसा और लक्ष्मणजीके लिये अपशब्दोंका प्रयोग) की एक साथ टीपकी चुटकी देखिये—'सूर समर····बोलावा' अब तो लक्ष्मणजीके शब्दोंमें भी कुछ सख्ती (कड़ापन) आ गयी जैसा कि 'कायर' और 'तुम्ह' शब्दोंसे प्रकट है।

परशुरामके बराबर फरसा दिखाने और मारनेकी धमकी देनेका मखौल। 'तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा। बार बार मोहि लागि बोलावा॥' में किस प्रकार दिखाया गया है। इन शब्दोंका जो प्रभाव परशुरामपर पड़ा उसे कविने यों व्यक्त किया है—'सुनत····घोरा'। इस फरसेके फिर सुधारनेमें अति क्रोधकी वही लाचारी है जिसपर हँसी आये बिना नहीं रहती। चित्रमें कितनी फिल्मकला है, यह भी दर्शनीय है। जब कौशिकजी भी बीचमें न पड़े, तब परशुरामजी न मारनेका और बहाना खोजते हुए जनताको सम्बोधित करते हैं—'अब जनि···'।

टिप्पणी—'अब जनि देइ दोसु····' इति। (क) भाव कि बालक अवध्य है [२७२। ५ 'बालकु बोलि····' में प्रमाण देखिये], यह जानकर अबतक नहीं मारा। पर अब कटु वचन बोलनेसे वह अवध्य न रह गया, वधयोग्य हो गया। कटुवादीका वध उचित है, यथा—'सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़कर प्राना। ५। २४।', 'मन महुँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तोरे॥ नाहिं त करि मुख भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहि बरजोरा॥ ६। ३०।', 'परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसियान। ५। ९।' पुनः 'अब जनि देइ दोसु····' का भाव कि प्रथम निर्दोष होनेके लिये पुकारकर कह दिया, यथा—'कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं। २७४। ३', इसीसे अब कहते हैं कि अब मुझे दोष न देना। पूर्व मारते तो अवश्य दोष देना उचित था पर अब कोई दोष न देगा। (ख) परशुरामजी लोक और वेद दोनोंसे शुद्ध बनते हैं, दोनोंसे अपनेको निर्दोष ठहराते हैं। 'अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू' यह लोकसे शुद्ध (निर्दोष) और 'कटुबादी बालक बध जोगू' यह वेदसे निर्दोष होनेके लिये कहा।

बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब येहु मरनिहार भा साँचा॥ ४॥
कौसिक कहा छमिअ अपराधू। बाल दोष गुन गनहिं न साधू॥ ५॥

शब्दार्थ—बाँचा=बचाया, यथा—'सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची। ६। ८८।'

अर्थ—बालक देखकर मैंने इसे बहुत बचाया, अब यह सत्य ही मरनेवाला हो गया (मरनेको आ गया)। ४। कौशिकजीने कहा—अपराध क्षमा कीजिये। साधु लोग बालकके दोष और गुण नहीं गिनते। ५।

टिप्पणी—१ 'बाल बिलोकि···' इति। (क) भाव कि बालकको न मारना चाहिये, उसको बचाना चाहिये, इससे मैंने उसे बहुत बचाया। 'अब येहु मरनिहार भा साँचा' अर्थात् अबतक तो बचानेके विचारसे मैं धमकाता भर रहा, पर अब हम कटुवादीको नहीं छोड़ेंगे। पूर्व जो कहा था कि 'अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू' उसका अब हेतु बताते हैं कि 'अब येहु मरनिहार भा साँचा'। (ख) पूर्व कहा था—'बालक बोलि बधौं नहिं तोही' और यहाँ कहते हैं—'बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा'। दो तरहके कथनमें भाव यह है कि जब इसने शिवधनुषको धनुही कहा तब इसे बालक जानकर बचा दिया कि यह लड़का है, श्रीशिवजीके धनुषकी महिमा नहीं जानता। जब यह आप तो वीर बना, यथा—'देखि कुठार सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥' इत्यादि और हमारे धनुष-बाण-कुठार धारण करनेको व्यर्थ बताया, तब भी हम बालक देख बचा गये कि छोटा लड़का है, वीरताकी बातें करता है। परंतु अब यह कटु वचन बोलने लगा है, अतः अब न बचायेंगे। (ग) 'साँचा' का भाव कि अबतक बचाते आये इससे हमारा वचन झूठा होता गया, पर अब हम सत्य ही मारनेवाले हैं, अतः यह अब सत्य ही मरनेवाला है।

नोट—१ परशुरामजीने कौशिकसे निहोरा किया; उनसे शिकायत की, इससे वे ही बोले। इनके वचन बड़े विचारके

है। लक्ष्मणजीने कोई अपराध तो किया नहीं तो उनको कैसे डाँटें या मना करें और यदि परशुरामजीको दोष लगावें और समझावें तो वे चिढ़ते कि बालकको तो समझाते नहीं उलटे हमको ही समझाते हैं। अतएव कहा कि आप साधु हैं आप क्यों न बचावें, आपका यह सहज कर्तव्य ही है, पर जैसे अबतक बचाया वैसे ही इसके अपराध क्षमा कीजिये। इस प्रकार लक्ष्मणजीको क्षमा दिलायी (प्र० सं०)। 'कौशिक' ही सम्बोधन परशुरामजीने किया था—'कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु', इसीसे कविने भी यहाँ 'कौशिक' ही नाम दिया। दोनों जगह 'कुश' राजाका सम्बन्ध है।

टिप्पणी—२ (क) 'छमिअ अपराधू'—भाव कि बालक स्वयं ही अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना कर रहा है, यथा—'जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर। २७३।' यदि आप क्षमा करें तो सब विवाद ही मिट जाय। कटु वचन बोलनेका अपराध श्रीलक्ष्मणजीमें है, इसीसे क्षमा करनेको कहते हैं। (ख) 'बाल दोष गुन गनहिं न साधू' इति। परशुरामजीने जो कहा कि बालक जानकर-देखकर मैंने इसे बचाया—'बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा', उसीका यह उत्तर है। भाव यह कि आप साधु हैं इसीसे आपने बचाया, आप क्यों न बचावें, आपका तो यह सहज स्वभाव ही है, कर्तव्य ही है, जैसे अबतक आपने बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं दिया, वैसे ही अब भी अपराध क्षमा कर दीजिये। (ग) विश्वामित्रजीने परशुरामजीके सब वचन साधुतामें घटाये (लगा दिये), उनको साधु कहा और लक्ष्मणजीको अपराधी कहा, इसीसे वे प्रसन्न होकर विश्वामित्रजीकी बड़ाई करते हैं, यथा—'उत्तर देत छोड़ौं बिन मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥'

नोट—२ यहाँ शङ्का होती है कि 'गुण' को क्यों नहीं लेते ? कहा भी है कि 'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं'। यहाँ बालकके गुण-दोषका प्रसंग है। बालककी अज्ञान दशा होती है। उसे गुण या दोषका किंचित् भी ख्याल नहीं होता। हाँ और लोग गुण देख प्रसन्न होते हैं, पर साधु बालकके गुणोंका भी कुछ खयाल नहीं करते, क्योंकि उसका बोध बालकको नहीं है। अज्ञान दशामें वे कर्म उससे हो रहे हैं जिनको हम गुण समझते हैं, इसीसे साधु बालकके गुणको नहीं मानते। जब गुण नहीं मानते तब उसे ग्रहण कैसे करें ? अथवा, दोष-गुण बोलनेकी चाल है, यथा—'कहहु सुताके दोष गुन···। ६६।,' 'कहहु नाथ गुन दोष सब एहिके हृदय बिचारि। १३०।' पुनः 'दोष गुन गनहिं न साधू' का भाव कि अन्य लोग दोष और गुण दोनों ग्रहण करते हैं। दोष देखकर ताड़ना करते हैं और गुण देखकर प्रसन्न होते हैं। इसके अभ्यन्तर आशय यह है कि आप उसका दोष विचारते हैं, यथा—'कटुबादी बालक बध जोगू।' अतएव आप साधु नहीं हैं, साधु होते तो उसके वचनोंपर तरह दे जाते।

खर* कुठार मैं अकरुन† कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही॥ ६॥
उतर देत छोड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥ ७॥
न त येहि काटि कुठार कठोरे। गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे॥ ८॥

शब्दार्थ—खर=तीक्ष्ण। अकरुन (अकरुण)=करुणारहित, निर्दय। उरिन (उऋण)=ऋणसे उद्धार होनेवाला, ऋणरहित।

अर्थ—(परशुरामजी बोले—एक तो) तीक्ष्ण फरसा, (दूसरे) मैं निर्दय क्रोधी, (उसपर भी) गुरुका द्रोही अपराधी सामने। ६। उत्तर दे रहा है। उसे बिना मारे छोड़ रहा हूँ—हे कौशिक ! यह केवल तुम्हारे शील (मुलाहिजा संकोच) से। ७। नहीं तो इसे कठोर कुठारसे काटकर थोड़े ही परिश्रमसे गुरुसे उऋण हो जाता। ८।

नोट—१ 'खर···अकरुन' पाठ सं० १६६१ की पोथीका है। 'कर···अकरन' पाठ भा० दा० ने दिया है, जिसे श्रीअयोध्याजीके रामायणी श्रीरामबालकदासजीने अपनाया है। 'कर कुठार' का भाव यह है कि कंधेपरसे कुठार हाथमें आ चुका है, यथा—'परसु सुधारि धरेउ कर घोरा।' जब मैं उसे हाथमें लेता हूँ तब शत्रुको अवश्य मारता हूँ। और 'अकरन कोही' का भाव यह है कि मुझे तो बिना कारण ही क्रोध आता है, उसपर भी यहाँ क्रोधका कारण भी उपस्थित है। अपराधीको देखकर क्रोध होता ही है और अपराधी सामने है। पुनः, उत्तर-प्रत्युत्तरसे क्रोध होता है, यथा—'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भए क्रोधके चीन्हा॥ ७। १११।', और यह बालक बराबर उत्तर-पर-उत्तर दे रहा है—यह क्रोधका दूसरा कारण है। पुनः 'अकरन कोही' का भाव कि जितना क्रोध औरोंको कारण पाकर होता है, उतना तो मेरे बिना कारण हर समय ही बना रहता है।

---

* कर। † अकरन—१७०४, १७२१, छ०, को० रा०। अकारन—१७६२। *खर। † अकरुन—१६६१।

२ 'आगे अपराधी गुरुद्रोही' इति। ये दो बातें मानो दो सूत्र हैं, जिनकी व्याख्या अगली अर्धालियोंमें की गयी है। कटु वचन कहता है इससे अपराधी है। गुरुके धनुषका धनुही कहकर अपमान किया, धनुष तोड़ा, अतः गुरुद्रोही है। ☞ यहाँ पोथीमें शुद्ध 'गुरु' शब्द दिया है, इसपर विचार करें।

श्रीलमगोड़ाजी—कौशिकजीके बोलनेसे परशुरामजीको तनिक सहारा मिला और निर्बलताने विश्वामित्रजीका निहोरा-रूपी बहाना ढूँढ़ लिया। आह! परशुरामजीकी कटुवादिता, अहंकार और क्रोध अब भी न गये। 'अकरन कोही' साफ बता रहा है कि अब भी अपना दोष गुणरूपमें दिख रहा है, नहीं तो कौन है जो अपने अकारण क्रोधकी प्रशंसा करे (प्र० सं० में 'कर…अकरन' पाठ था)।

टिप्पणी—१ 'उतर देत छोड़ौं…' इति। (क) भाव कि जो उत्तर देकर अपमान करे उसका वध करना ही चाहिये, यथा—'सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥ ५। १०।', पर मैं छोड़े देता हूँ। (ख) 'केवल' कहनेका भाव कि इसे मारनेके अनेक कारण हैं—हाथमें तीक्ष्ण कुठार है, मुझे क्रोध है, अपराधी गुरुद्रोही आगे खड़ा हुआ उत्तर दे रहा है। पर इसके बचनेका कोई कारण नहीं है, 'केवल' एकमात्र तुम्हारा शील-संकोच बचाने-का कारण है, तुम्हारे शीलसे हमारे दया आ गयी। तुम हमें साधु कहते हो और इसे क्षमा करनेकी प्रार्थना करते हो, नहीं तो इसे मारनेमें हमें कुछ भी संकोच न होता।

टिप्पणी—२ 'न त येहि काटि…' इति। [(क) 'न त' का भाव कि तुम्हारे शील-संकोचवश हम गुरुके ऋणी बने रहते हैं]। यहाँ क्रमसे 'अपराधी' और 'गुरुद्रोही' की व्याख्या करते हैं। उत्तर देता है अतः अपराधी है—इसीपर कहा कि 'उतर देत छोड़ौं बिनु…।' 'गुरुद्रोही' है—इसपर कहते हैं 'न त येहि…।' (ख) प्रथम अपना क्रोध कहा, 'खर कुठार मैं अकरुन कोही।' अब क्रोधका फल कहते हैं—'न त…' शत्रुको मारना क्रोधका फल है, यथा—'येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा। तो मैं काह कोपु करि कीन्हा॥ २७९। ८।' कहनेका आशय यह है कि हमने ऐसे क्रोधका फल केवल तुम्हारे शीलवश व्यर्थ किया (अर्थात् जाने दिया)। (ग) 'कुठार कठोरे' इति। लक्ष्मणजी कठोर वचन बोल रहे हैं, यथा—'सुनत लषन के बचन कठोरा।,' इसी सम्बन्धसे कुठारको 'कठोर' विशेषण देकर जनाते हैं कि ऐसे कठोरवादीको 'कठोर कुठार' से काटते। [जैसे यह कठोर वचन बोलता है, वैसे ही 'कठोर कुठार' से इसका वध उचित है। हम तो अकरुन क्रोधी हैं ही, हमारा कुठार भी इसके लिये दयारहित है। (प्र० सं०)] (घ) 'श्रम थोरे'—भाव कि पितासे उऋण होनेमें बहुत परिश्रम पड़ा, गुरुऋणसे थोड़ेहीमें उद्धार हो जाता।

दोहा—गाधिसूनु* कह हृदय हँसि मुनिहि हरियरे† सूझ।
अयमय‡ खाँड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥ २७५॥

शब्दार्थ—गाधिसूनु=राजा गाधिके पुत्र, विश्वामित्रजी। हरियरे=हरा-ही-हरा। अय (अयस्)=लोहा, फौलाद। यथा—'लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसायसीत्यमरः अस्यार्थः—कोहः। शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डकालायसं अयः अश्मसारः सप्त लोहस्य नामानि-(बैजनाथजी)। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'आयस' नाम लोहेका है; ग्रन्थकारने 'आयस' का 'अयस' किया, उसमें भी सकार लुप्त हो गया, 'अय' रह गया; जैसे 'अंगद हनू समेत' में हनुमान्‌का हनु रह गया। 'खाँड'=गुड़की

---

*सूवन—१७०४। † हरिअरेइ—१७२१, १७६२। हरिअरइ—छ०, को० रा०। हरिवरे—१७०४। हरियरे—१६६१। ‡ अयमय खाँड न ऊखमय—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। अजगव खंडेउ ऊख जिमि पाठान्तर। यह पाठ प्राचीनतम पोथियों (सं० १६६६, काशिराजकी रा० प०, भागवतदासजी इत्यादि) और ना० प्र० सभाकी प्रति (प्रथम शुद्ध संस्करण) में भी है। किसी-किसी पुस्तकमें 'अजगव खंडेउ ऊख जिमि' पाठ छपा हुआ देखने-में आता है। 'अजगव' ये दोनों नाम शंकरजीके धनुषके ही हैं, यथा—'पिनाकोऽजगवं धनुः' इत्यमरः।

श्रीलमगोड़ाजीके मतानुसार 'अजगव खंडेउ…' पाठमें प्रसारगुण बहुत है और दूसरे पाठमें खींचातानी। फिर 'ऊखमय' में 'मय' बिल्कुल कृत्रिम दिखता है और बैठता नहीं।' अन्य टीकाकारोंके मतानुसार प्राचीनतम पाठ ही विशेष भावगर्भित है और प्राचीन तो है ही, टिप्पणीमें भाव देखिये।

दानेदार गीली शक्कर; तलवार खड्ग, यथा—'एक कुसल अति ओड़न खाँड़े। २। १९१।' 'ऊख'=गन्नेकी एक किस्म है जिसके रससे गुड़ खाँड़ शक्कर आदि बनायी जाती है। 'अबूझ' बेसमझ, अबोध, नादान, नासमझ।

अर्थ—विश्वामित्रजीने हृदयमें हँसकर हृदयमें कहा कि मुनिको हरा-ही-हरा सूझ रहा है। (यह बालक) लोहमय (फौलादका बना हुआ) खाँड़ है, (कुछ) ऊखमय (ऊखके रसकी) खाँड़ नहीं। नासमझ (परशुराम) को अब भी नहीं सूझता॥ २७५॥

टिप्पणी—१ (क) 'गाधि सूनु' इति। [मुनि शान्त और गम्भीर होते हैं, उनको किसीपर हँसी कहाँ। हँसना राजस गुण है अतः] हँसीके योगसे राजपुत्र कहा। राजा कौतुकी होते हैं और कौतुक देखकर हँसते हैं, यथा—'अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥ ६। ५॥' (यहाँ बिहँसनेके सम्बन्धसे 'रघुराई' रघुवंशके राजा कहा), पुनश्च—'नाना जिनिस देखि सब कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा॥ (यहाँ पाँड़ेजी कहते हैं कि यह विशेषण अर्थानुकूल है, वे जानते हैं कि रामजी कौन हैं। अतः हृदयमें हँसकर कहते हैं] (ख) 'हृदय हँसि' इति। परशुरामजी चिढ़े हुए हैं ही, प्रकट हँसनेसे और चिढ़ेंगे कि तुम भी हमारी हँसी करते हो। अतः हृदयमें हँसे। (ग) **'कह हृदय'**, हृदयमें कहा क्योंकि 'अजहुँ न बूझ अबूझ' ये शब्द प्रकट कहने योग्य न थे। हरियाली सूझना अन्धेका दृष्टान्त है, यथा—**'मोहि तो सावनके अंधेहि सूझत रंग हरो।'** [सावनके अन्धेको हरा-ही-हरा सूझता है—यह लोकोक्ति है। सावनमें चारों तरफ घास आदिसे पृथ्वी हरी-भरी रहती है—**'हरित भूमि तृन संकुल समुझि परै नहिं पथ'** उस समय जिसने हरियाली देखी और फिर हरियाली देखते अन्धा हो गया तो ज्येष्ठ-वैशाखमें भी उसे हरा-ही-हरा सूझता है। **'अजहुँ न बूझ अबूझ'** एवं **'हरियरै सूझ'** कहकर परशुरामजीको अन्धा सूचित किया। परशुरामजीने पूर्व २१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया, सहस्रबाहु-सरीखे बलवान् क्षत्रियोंको भी मारा। वही अभिमान उनके हृदयमें भरा हुआ है। वे समझते हैं कि यह बालक भी तो क्षत्रिय ही है इसे मारना क्या बात है? उनको नहीं सूझता कि 'बराबरी करने और बराबर निःशंक उत्तर देनेवाला उल्टी-सीधी सुनानेवाला क्या कोई क्षत्रिय हो सकता है?'.....'क्षत्रियसमाज तो संसारभरका यहीं एकत्र है। हमारे आते ही उन सबोंकी क्या दशा हो गयी, पर यह निडर है।' अतः इनको अन्धा कहते हैं और इनके ऊपर मनमें हँसते और कहते हैं कि **'अयमय खाँड़ न ऊखमय।'** 'खाँड़' दो प्रकारका है, एक ऊखमय, दूसरा लोहमय। 'खाँड़' के दोनों अर्थ हैं। **'अयमय खाँड़ न ऊखमय'** अर्थात् बड़े कठिनसे पाला पड़ा है, इसे ऊँखकी खाँड़ न समझना यह लोहेकी 'खाँड़' है] सब राजा ऊँखकी खाँड़ थे, जैसे उनको मार-काट डाला, वैसे ही इनको भी मारना चाहते हैं, यह नासमझी है [ये लोहेकी खाँड़ है, फौलादमय है, भीतर बाहर सब लोहा-ही-लोहा है। ऊँखकी खाँड़ मुँहमें रखते ही घुल जाती है, मीठी-मीठी लगी, इससे खा डाली गयी और लोहेकी खाँड़ तो मुँह काट और पेट फाड़ डालेगी। भाव कि क्षत्रिय तो वे भी हैं, पर क्षत्रिय-क्षत्रियमें भेद है जैसे ऊँखकी खाँड़ और लोहेकी खाँड़में भेद है।] परशुरामजीका मुँह कट जाना यह है कि लक्ष्मणजी प्रचारते हैं,—**'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु। विद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु॥'** और परशुरामजीका हाथ नहीं चलता। तब भी वे नहीं समझते। यह उनका अज्ञान समझकर विश्वामित्रजी हँसे। शक्करकी तलवार हलवाई बनाते हैं और लोग उसे खाते हैं। जैसे उसके धोखेमें कोई अज्ञानी लोहेकी तलवारको मुँहमें रख ले तो उसका मुँह कट जाता है, वैसी ही परशुरामजीकी दशा है। वे अन्य सब राजाओंके धोखे इनको मारना चाहते हैं। यथा—'जिमि अरुनोपल निकर निहारी। **धावहिं सठ खग मांस अहारी॥ चोच भंग दुख तिन्हहि न सूझा। तिमि धाए मनुजाद अबूझा॥** ६। ३९॥' जैसे लाल पत्थर देख पक्षीको मांसका धोखा हुआ वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मणजीका रूप देखकर परशुरामजीको मनुष्यका धोखा हुआ, और जैसे शक्करकी तलवार खानेसे लोहेकी तलवारमें धोखा हुआ वैसे ही परशुरामजीके सब राजाओंके मार लेनेसे लक्ष्मणजीमें धोखा हुआ कि उन्हींकी तरह इन्हें भी मार डालेंगे, ये भी उन्हींके समान हैं। ☞ यदि केवल शक्कर कहते, शक्करकी तलवार न कहते तो शक्कर और तलवारका धोखा न होता, क्योंकि इन दोनों (शक्कर और तलवार) का एक रूप नहीं है, बिना एक रूप हुए धोखा नहीं होता। ☞ लङ्काकाण्डके उपर्युक्त उद्धरणमें राक्षसोंका प्रसङ्ग है। राक्षसोंके अज्ञानपर मांसका दृष्टान्त दिया क्योंकि राक्षस मांसाहारी हैं और यहाँ परशुरामके भ्रममें खाँड़का दृष्टान्त दिया क्योंकि ये ब्राह्मण हैं और 'ब्राह्मणो मधुरप्रियः' प्रसिद्ध ही है। वहाँ राक्षसोंको 'अबूझ' कहा, वैसे ही यहाँ परशुरामजीको 'अबूझ' कहा।

नोट—१ मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि ये ऊँखकी खाँड़ नहीं हैं जो चाटनेयोग्य हो, ये तो काटनेवाले हैं अर्थात् ये

पञ्चभूतमय क्षत्रिय नहीं हैं वरंच चिदानन्दमय हैं, ब्रह्ममय हैं और कोई-कोई 'ऊँखमय' का अर्थ यह करते हैं कि ऊखकी लकड़ीकी बनी खड्ग नहीं है जिसे चूसकर फेंक दें।

श्रीलमगोड़ाजी—अब तो कौशिकजी भी हँसी न रोक सके, पर शील और सभ्यतावश उन्होंने उस हँसीको हृदयहीमें रक्खा। इस दोहेमें 'पृथक् संकेत' (aside) और 'स्वगत वार्ता (soliloquy) दोनोंका आनन्द है!'

कहेउ लखन मुनि सीलु तुम्हारा। को नहिं जान बिदित संसारा॥ १॥
माता पितहि उरिन भये नीकें। गुर रिनु रहा सोचु बड़ जीकें॥ २॥

शब्दार्थ—शील-उत्तम आचरण, सद्वृत्ति, सुव्रत, स्वभाव। हिंसा आदिके परित्यागको भी शील कहते हैं।

अर्थ—लक्ष्मणजीने कहा—हे मुनि! आपका शील कौन नहीं जानता? (वह तो सारे) संसारमें प्रसिद्ध है॥ १॥ (आप) माता और पितासे तो अच्छी तरह उऋण हो (ही) गये। रहा गुरुका ऋण, (उसका) जीमें बड़ा सोच है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'सील तुम्हारा' इति। कौन शील संसारभर जानता है, यह आगे कहते हैं—'माता पितहि उरिन भये नीकें।' [(ख) 'को नहिं जान·····'—इस वाक्यसे 'शील' शब्दमें उसका वाच्यार्थ छोड़कर तद्विपरीत अर्थ प्रकट होता है कि आपको संसार दुःशील जानता है। इस तरह यह अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। (वीरकवि)] (ग) ये वचन परशुरामजीके 'उतर देते छोड़ौं बिनु मारे। केवल कौशिक सील तुम्हारे॥ २७५। ७॥' इस वचनका उत्तर हैं।

नोट—१ 'माता पितहि उरिन भये नीकें' इति। इस सम्बन्धकी कथा एक तो इस प्रकार कही जाती है—एक बार जमदग्नि ऋषिने अपनी स्त्री रेणुकाजीको नदीसे जल लानेको भेजा। वहाँ गन्धर्व-गन्धर्वणी विहार कर रहे थे। ये जल लेने गयीं तो उनका विहार देखने लग गयीं, इससे उन्हें लौटनेमें देर हुई। ऋषिने देरीका कारण जान लिया और यह समझकर कि स्त्रीको पर-पुरुषकी रति देखना महान् पाप है, अपने पुत्रोंको बुलाकर (एक-एक करके) आज्ञा दी कि माताको मार डालें, इस प्रकार सात पुत्रोंने इस कामको करना अङ्गीकार न किया। तब आठवें पुत्र परशुरामको आज्ञा दी कि इन सब भाइयोंसहित माताका वध करो। इन्होंने तुरत सबका सिर काट डाला। इसपर पिताने प्रसन्न होकर इनसे कहा कि वर माँगो। तब इन्होंने कहा कि 'मेरे सब भाई और माता जी उठें और इन्हें यह भी न मालूम हो कि मैंने इन्हें मारा था।' ऋषिने 'तथास्तु' कह सबको जिला दिया। वीरकविजीने लगभग यही कथा लिखी है।

परंतु महाभारतके वनपर्व अ० ११६ में लिखा है कि महर्षि जमदग्निका विवाह प्रसेनजित् राजाकी कन्या रेणुकासे हुआ, जिसके गर्भसे पाँच पुत्र हुए—रुमण्वान् (श० सा० में समन्वान् नाम है जो सम्भवतः छापेकी अशुद्धि है), सुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम। (श्लोक २, ३, ४, १०)।

दूसरी कथा (जो वनपर्वमें है) इस प्रकार है—एक दिन रेणुका स्नान करनेके लिये नदीमें गयी थी, वहाँ उसने राजा चित्ररथको अपनी स्त्रीके साथ जल-क्रीड़ा करते देखा और कामवासनासे उद्विग्न होकर घर आयी। जमदग्नि उसकी यह दशा देख बहुत कुपित हुए और उन्होंने अपने चार पुत्रोंको एक-एक करके रेणुकाके वधकी आज्ञा दी। पर स्नेहवश किसीसे ऐसा न हो सका। इतनेमें परशुराम आये। परशुरामने आज्ञा पाते ही माताका सिर काट डाला। इसपर जमदग्निने प्रसन्न होकर वर माँगनेके लिये कहा। परशुराम बोले 'पहिले तो मेरी माताको जिला दीजिये और फिर यह वर दीजिये कि मैं परमायु प्राप्त करूँ और युद्धमें मेरे सामने कोई न ठहर सके'। जमदग्निने ऐसा ही किया। (श० सा०, प्र० सं०)]

वनपर्व अ० ११६ में लिखा है कि परशुरामजीने यह वर माँगे कि 'माता जीवित हो जाय। उसको वधका स्मरण न रह जाय। हमको पापका स्पर्श न हो। सब भाई पुनः होशमें आ जावें। युद्धमें कोई मेरी बराबरी न कर सके। मैं दीर्घकालतक जीवित रहूँ।' महातपस्वी जमदग्निने उन्हें ये सब वर दिये। यथा—'स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै। पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा। १७। अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत। ददौ च सर्वान् कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः। १८।'

एक दिन राजा सहस्रार्जुन जमदग्निजीके आश्रमपर आया। रेणुकाको छोड़ वहाँ कोई न था। कार्त्तवीर्य आश्रमके पेड़-पौधोंको उखाड़ होमधेनुका बछड़ा लेकर चल दिया। परशुरामने आकर जब यह सुना तब वे तुरंत दौड़े और जाकर

कार्त्तवीर्यकी सहस्रभुजाओंको भालेसे काट डाला। उसके कुटुम्बियों और साथियोंने एक दिन आकर जमदग्निसे बदला लिया। और उन्हें बाणोंसे मार डाला। परशुरामने आश्रमपर आकर जब यह देखा तब पहले तो बहुत विलाप किया, फिर सम्पूर्ण क्षत्रियोंके नाशकी प्रतिज्ञा की। उन्होंने शस्त्र लेकर सहस्रार्जुनके पुत्र-पौत्रादिका वध करके क्रमशः सारे क्षत्रियोंका नाश किया। (प्र० सं०)।—(यह कथा जो प्रथम संस्करणोंमें दी गयी थी इसका आधार सम्भवतः वनपर्वमें अकृतव्रणका कथन है। वे कहते हैं कि सहस्रार्जुनने रेणुकाके आतिथ्यसत्कारकी कुछ कीमत न करके आश्रमकी होमधेनुके डकराते रहनेपर भी उसके बछड़ेको हर लिया और वहाँके वृक्ष भी तोड़ डाले। परशुरामजीके आनेपर महर्षि जमदग्निने सब बात कही। उन्होंने होमकी गायको भी रोते देखा। अतः उन्होंने जाकर कार्त्तवीर्यको मारा। और अपने पिताके मारे जानेपर उन्होंने सम्पूर्ण क्षत्रियोंका संहार करनेकी प्रतिज्ञाकर पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया)।

[शान्तिपर्व और वनपर्वकी कथाओंमें किंचित् भेद भी है। शान्तिपर्व अ० ४८, ४९ में आपव ऋषिका शाप सहस्रार्जुनको हुआ है कि परशुराम तेरी सब भुजाएँ काटेगा। और अ० ४९ श्लोक ४५, ४६, ४७ में यह कथा है कि सहस्रार्जुनके लड़के गायको बलात् आश्रमसे पकड़ ले गये थे, सहस्रार्जुन यह बात नहीं जानता था]।

परशुरामकी इस क्रूरतापर ब्राह्मणसमाजमें इनकी निन्दा होने लगी। वे दयासे खिन्न हो वनमें चले गये। एक दिन विश्वामित्रके पौत्र परावसुने परशुरामसे कहा 'अभी जो यज्ञ हुआ था उसमें न जाने कितने प्रतापी राजा आये थे, आपने पृथ्वीको जो क्षत्रिय-विहीन करनेकी प्रतिज्ञा की थी, वह सब व्यर्थ थी'। परशुराम इसपर क्रुद्ध होकर फिर निकले और जो क्षत्रिय बचे थे उन सबका बाल-बच्चोंसहित संहार किया। गर्भवती स्त्रियोंने बड़ी कठिनतासे इधर-उधर छिपकर अपनी रक्षा की। क्षत्रियोंका नाश करके परशुरामने अश्वमेध-यज्ञ किया और उसमें सारी पृथ्वी कश्यपको दानमें दे दी। पृथ्वी क्षत्रियोंसे सर्वथा रहित न हो जाय, इस अभिप्रायसे कश्यपने उनसे कहा 'अब यह पृथ्वी हमारी हो चुकी, अब तुम दक्षिण समुद्रकी ओर चले जाओ'। परशुरामने ऐसा ही किया। वाल्मीकीयमें इसका प्रमाण है। जब रामचन्द्रजी वैष्णव धनुषपर बाण चढ़ाकर बोले कि 'बोलो अब इस बाणसे मैं तुम्हारी गतिका अवरोध करूँ या तपसे अर्जित तुम्हारे लोकोंका हरण करूँ।', तब परशुरामने हततेज और चकित होकर कहा 'मैंने सारी पृथ्वी कश्यपको दानमें दे दी है इससे मैं रातको पृथ्वीपर नहीं सोता। मेरी गतिका अवरोध न करो, लोकोंका हरण कर लो'।—(शब्दसागर)।

नोट—२ 'उरिन भये नीकें·····' इति। यहाँ ऋण क्या है? आयुर्बल ही ऋण है। (पं० रामकुमारजी)। माताका आयुर्बलरूप ऋण प्रथम चुकाया अर्थात् माताको प्रथम मारा, इसीसे माताको प्रथम कहा। भाव कि पिताकी आज्ञा पाते ही माताकी आयु समाप्त कर दी, यही उनसे उऋण होना है। पितासे जोर न चला तो सहस्रबाहुसे वैर करवाके उन्हें मरवा डाला। इस तरह उनके आयुर्बलरूपी ऋणको चुकाकर उनसे उऋण हुए। अब रहा गुरु-ऋण सो उनके ऋणको चुकानेका सामर्थ्य आपमें नहीं है अर्थात् उनकी आयु समाप्त करने, उनको मार डालनेमें आप असमर्थ हैं, अतः आपको चिन्ता है [प्रायः यही मत पंजाबीजी, पांडेजी, बाबा हरिहरप्रसादजी और पं० रामकुमारजीका है। पंजाबीजी कहते हैं कि तीन ऋण सबोंके सिरपर हैं। तीनोंको उतारनेपर पुत्र सुपुत्र कहलाता है, सो आज आप बड़े सुपुत्र हुए ही हैं कि दोका ऋण तो भलीभाँति उतारा अर्थात् माताको अपने हाथों मारा और क्षत्रियोंसे वैर करके पिताको मरवाया। (पं०)। परंतु वैजनाथजीका मत है कि पिताके कहनेसे अपनी माताको मारा, पिताकी आज्ञाका पालन करनेसे वे प्रसन्न हो गये, इस तरह पितासे उऋण हुए। पिताको प्रसन्नकर उनसे माँगा कि माताको जीवित कर दीजिये। इस तरह माताको पुनः जीवित कराके मातासे उऋण हुए। वीरकविजीने वैजनाथजीका ही भाव लिखा है।—परंतु इस भावमें व्यंग्यकी खूबी नहीं रह जाती।]

सो जनु हमरेहि माथें काढ़ा। दिन चलि गये ब्याज बड़ बाढ़ा॥ ३॥
अब आनिअ ब्यवहरिआ बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥ ४॥

शब्दार्थ—'हमरे हि माथे'=हमारे ही बलपर, हमारे ही भरोसे वा जिम्मेदारीपर। 'काढ़ा'=निकाला, उधार लिया, ऋण लिया। 'चलि गये'=बीत गये। 'ब्याज'=सूद। 'आनिअ' (आनिए)=ले आइये। 'बोली'=बुलाकर। 'थैली'=रुपया रखनेवाला वस्त्र (दो या तीन ओर सिला हुआ, एक ओर खुला जिसे धागे आदिसे बाँधते हैं), बसनी। 'ब्यवहरिआ'=साहूकार, कर्जा देनेवाला, महाजन, धनी।

अर्थ—वह (गुरुऋण) मानो हमारे ही मत्थे काढ़ा था। दिन बहुत बीत गये, इससे ब्याज भी बहुत बढ़ गया। ३। अब आप तुरंत महाजनको बुला लावें, मैं तुरत ही थैली खोलकर दे दूँ (ऋण चुका दूँ)। ४।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—यहाँ 'हमरे' बहुवचनका प्रयोग भी सुन्दर भावसे खाली नहीं है। 'मैं कछु कहा···' 'बार बार मोहि लागि···' इन स्थलोंपर श्रीलक्ष्मणजीने अपने लिये एकवचनका प्रयोग किया है। 'हमरे कुल इन्ह पर न सुराई' में बहुवचन रघुकुलके सभी पुरुषोंके लिये है। तस्मात् लक्ष्मणजी जान गये कि परशुरामजीने जो 'आगे अपराधी गुरुद्रोही' कहा है उसके 'गुरुद्रोही' शब्दमें श्रीरामजीका भी अन्तर्भाव हो गया है इसीसे वे क्रोधाविष्ट हो गये। भला श्रीरामजीका अपमान, किसीके भी द्वारा क्यों न हो, वे कब कह सकते हैं। यह तो इनका स्वभाव ही है। उपास्यका अपमान कौन वीर सहन करेगा? अतः वे (सेवकाभिमानपूर्वक) कहते हैं—'सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा।'

नोट—१ 'सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा····' इति। 'हमरेहि माथे काढ़ा' का भाव यह है कि जैसे किसी गरीबको कोई व्यवहरिआ रुपया उधार नहीं देता, हाँ, जब कोई बड़ा आदमी उसका जामिन होता है तभी वह उस गरीबको उससे चुका लेनेके बलपर देता है। सो गुरुका ऋण तुमने अपने मत्थे नहीं काढ़ा, तुम गरीब कंगाल ठहरे, हमारे जामिन होनेपर ऋण मिला है। परशुराम तो एक ही ऋणके लिये बड़ा शोच दिखा रहे हैं; क्योंकि शिवजी तो अविनाशी हैं वे तो मर नहीं सकते, तो यह ऋण कैसे चुके? लक्ष्मणजी कहते हैं कि 'दिन चलि गये ब्याज बड़ बाढ़ा।' अर्थात् शिवजीको जीते हुए बहुत दिन हो गये। धनीको बुला लाइये क्योंकि हम जामिन हैं, तुम्हें हम कैसे दें? हम तो धनीहीको देंगे।

२ (क)—**'अब आनिय'** का भाव यह है कि जबतक कोई देनेवाला न था तबतक देनेका योग नहीं पड़ा, पर अब मैं देनेको प्रस्तुत हूँ। बुलानेको कहते हैं, क्योंकि ब्याज आदि जोड़नेका झंझट है, व्यवहरियाके आ जानेसे हिसाबमें देर न लगेगी और न मुझे चुकानेमें देर लगेगी। (किसी-किसीने सर्राफ या हिसाब करनेवाला अर्थ 'व्यवहरिया' का किया है)।

(ख) श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—भाव कि आपके गुरु शङ्कर हैं। उनका धनुष तोड़नेसे हम दोनों भाई आपके मतसे शिवद्रोही हो गये। यह हमारे मत्थेपर बड़ा ऋण हो गया। इस ऋणको मैं अकेला ही चुकाये देता हूँ। सारांश यह कि आपके साथ युद्ध करना अधर्म है। आप गुरुजीको ही यहाँ तुरत ले आइये। मैं अकेला ही उनको भी युद्धमें पराजित कर दूँगा। श्रीरामजी आप दोनोंको जीतें इसमें तो आश्चर्य ही क्या? लक्ष्मणजीकी सच्ची आत्मनिष्ठा (आत्मविश्वास) का प्रमाण अयोध्या और लङ्कामें देखनेमें आता है। यथा—'जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥ २। २३०। ८।' 'जौ सत संकर करइ सहाई। तदपि हतौं रन राम दुहाई॥'

नोट—३ 'तुरत देउँ मैं थैली खोली'—'तुरत' देनेका भाव यह है कि एक ऋण माताका चुकानेमें तुम्हारा धन घट गया। पिताका ऋण बाकी था सो उसके चुकानेके लिये तुम्हें सहस्रबाहुके यहाँ जाना पड़ा। वह ऋण उसने चुका देनेको कहा, पर उसने वह ऋण अत्यन्त देरमें चुकाया और मैं जमा चुकाये बैठा हूँ, तुम बुलाकर लाओ, तुम्हारे बुलानेहीकी देर है, वह आकर तुरत गिना ले अर्थात् गुरुको मारकर मूल चुका दूँ; और तुमको मारकर ब्याज चुका दूँगा। [बैजनाथजी तथा पाँडेजी लिखते हैं कि आशय यह है कि तुम तो हमसे लड़नेको समर्थ हो नहीं, तुम क्या लड़ोगे? हाँ, अपने गुरु श्रीशिवजीको बुला लाइये। वे धनुष तोड़नेका दाँव आकर लें। (पां०, वै०)। ऋण लोग अपने मत्थे काढ़ते हैं, दूसरेके नहीं, यह 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। 'अब आनिअ···खोली' में गूढ़ व्यंग है कि जब वे पाँच मुखसे लेना चाहेंगे तो मैं हजार मुख प्रकट कर लेवा-देई करूँगा। (वीरकवि)। यहाँ थैली और द्रव्य क्या हैं? तरकश थैली है, दोनों एक ही ओर खुलते हैं। थैली द्रव्यसे भरी रहती है, तरकश बाणसे भरे रहते हैं। तरकशसे बाण निकाल-निकालकर मारना द्रव्यका गिन देना है। मार डालना ऋणका चुका देना है।]

४—परशुरामजीके 'न त येहि काटि कुठार कठोरे। गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरे॥' का उत्तर यह सब है। 'मातु पितहि उरिन' से 'थैली खोली' तक।

५☞ परशुरामजीने पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर देनेकी प्रतिज्ञा करके पहले सहस्रबाहु और उस (हैहय) वंशका सफाया किया, फिर पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूनी कर दी। यह पूर्व लिखा गया। उनका ही वाक्य है कि 'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही॥' शङ्का होती है कि तब क्षत्रियसमाज कहाँसे आ गया जो जनकपुरमें इस समय उपस्थित था?

महाभारत आश्वमेधिकपर्वमें लिखा है कि परशुरामजीने सहस्रार्जुनको बन्धु-बान्धवोंसहित मार डाला, तब ब्राह्मणोंने उनकी स्त्रियोंसे नियोगकी विधिके अनुसार पुत्र उत्पन्न किये, किंतु उन्हें भी परशुरामने मार डाला। इस प्रकार एक-एक करके जब इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार हो गया तब परशुरामजीको आकाशवाणी-हुई कि 'बेटा परशुराम! इस हत्याके कामसे निवृत्त हो जाओ। भला बारंबार इन बेचारे क्षत्रियोंकी जान लेनेसे तुम्हें कौन-सा लाभ दिखायी देता है?' इसी प्रकार उनके पितामह ऋचीक आदिने भी कहा कि 'यह काम छोड़ दो। तुम ब्राह्मण हो, तुम्हारे हाथसे राजाओंका वध होना उचित नहीं है' और इस विषयमें राजर्षि अलर्कका इतिहास सुनाकर उसके अनुकूल बरतनेको कहा। अलर्कको अन्तमें जो अनुभव हुआ वह उन्होंने इस प्रकार कहा है—"अहो, बड़े कष्टकी बात है कि अबतक मैं बाहरी कामोंमें ही लगा रहा और भोगोंकी तृष्णासे आबद्ध होकर राज्यकी उपासना करता रहा। ध्यानयोगसे बढ़कर कोई उत्तम सुखका साधन नहीं है, यह बात मुझे बहुत पीछे मालूम हुई है।"—तुम भी घोर तपस्यामें लग जाओ, इसीसे कल्याण होगा। (तब उन्होंने क्षत्रिय-संहार बंद किया और पृथ्वी कश्यपजीको दे दी)।

शान्तिपर्वमें लिखा है कि उस समय सैकड़ों क्षत्रिय मरनेसे बच गये थे। वे ही धीरे-धीरे बढ़कर महापराक्रमी भूपाल हुए। तब परशुरामजीने फिर अस्त्र उठाया और क्षत्रियोंके बालकोंको भी मार डाला। अब गर्भके बालक रह गये थे। इनमेंसे जो जन्म लेता उसका पता लगाकर वे उसका वध कर डालते थे। उस समय कुछ ही क्षत्राणियाँ गर्भको बचा सकी थीं। इस प्रकार इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार करके उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया और यह पृथ्वी कश्यपजीको दानमें दे दी। तब शेष क्षत्रियोंकी जीवन-रक्षाके लिये कश्यपजीने उनसे कहा कि मेरे राज्यमें निवास न करना, तुम दक्षिण समुद्रके किनारे चले जाओ। समुद्रने उनके लिये जगह खाली कर दी जो 'शूर्पारिक' देशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसे 'अपरान्त भूमि' भी कहते हैं।

क्षत्रिय कैसे बच गये? बहुतसे हैहयवंशी क्षत्रियोंको स्त्रियोंमें छिपा रक्खा गया था। पुरुवंशी विदूरथका एक पुत्र ऋक्षवान् पर्वतपर रीछोंद्वारा पला। महर्षि पराशरने सौदासके पुत्रोंकी जान बचा ली। शिबिके एक पुत्र गोपतिको गौओंने पालपोसकर बड़ा किया। प्रतमर्दनके पुत्रको गोशालामें बछड़ोंने पाला। दिविरथके पुत्रको गौतमने गङ्गातटपर छिपा दिया। वृहद्रथकी रक्षा गृध्रकूटपर लंगूरोंने की और मरुत-वंशके बालकोंकी रक्षा समुद्रने की।

ब्राह्मण पृथ्वीका राज्य सँभाल न सके। अतएव कश्यपजीने इन राजकुमारोंको एकत्रकर इनको विभिन्न देशोंके राज्यपर अभिषिक्त किया। जिनके वंश कायम थे वे इन्हींके पुत्र-पौत्रोंमेंसे थे।

कुशिकवंशके लिये तो परशुरामजीकी माताने इनसे प्रथम ही अभय-दान माँग लिया था।

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा॥ ५॥
भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचौं नृपद्रोही॥ ६॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥ ७॥
अनुचित कहि सबु लोगु पुकारे। रघुपति सयनहि लपनु नेवारे॥ ८॥

दोहा—लषन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृशानु।
बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु॥२७६॥

शब्दार्थ—बचौं=बचाता हूँ, छोड़ देता हूँ, तरह दे जाता हूँ। गाढ़े=कठिन, दृढ़, धीर। सयन=सैन, इशारा। भृगुबर=भृगुकुलमें श्रेष्ठ, भृगुश्रेष्ठ। 'भृगु' परशुरामजीका भी नाम है।=विप्रश्रेष्ठ। नेवारना=रोकना। मना करना। आहुति=हवनमें डालनेकी सामग्रीकी वह मात्रा जो एक बार यज्ञकुण्डमें डाली जाय।

अर्थ—(लक्ष्मणजीके) कड़वे वचन सुनकर (परशुरामजीने) फरसा सँभाला। सब सभा हाय! हाय! करके पुकार उठी (अर्थात् सभामें हाहाकार मच गया)॥५॥ (लक्ष्मणजी बोले—) हे भृगुश्रेष्ठ! तुम मुझे फरसा दिखा रहे हो? (पर) हे नृप-द्रोही! मैं ब्राह्मण समझकर तरह दे जाता हूँ, छोड़ देता हूँ॥६॥ तुम्हें कभी रणमें कठिन सुभटसे भेंट नहीं हुई (पाला नहीं पड़ा)। हे ब्राह्मणदेवता! (आप अभीतक) घरहीके बढ़े हैं॥७॥ 'अनुचित है, अनुचित है' (ऐसा) कहकर सब लोग पुकार उठे। (तब)

श्रीरघुनाथजीने इशारेसे लक्ष्मणजीको रोका ॥ ८ ॥ लक्ष्मणजीका उत्तर आहुतिके समान है। उससे भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी-के कोपरूपी अग्निको बढ़ते हुए देखकर रघुकुलके सूर्य श्रीरामजी जलके समान (शान्त करनेवाले) वचन बोले ॥२७६॥

नोट—१ 'सुनि कटु बचन'—'माता पितहिं' से 'थैली खोली' तक सभी कटु हैं और 'अच आनिय ब्यवहरिअ **बोली।''''** ये तो विशेषकर कटु हैं। 'सुधारा' अर्थात् फरसेकी धार उनकी ओर करके हाथमें लिया। 'हाय हाय सब **सभा पुकारा'**—फरसेको सँभाले देख सब सभा भयभीत हो गयी कि अब अवश्य मारेंगे। 'सब सभा' अर्थात् कुटिल **राजाओंको छोड़कर** और सब।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—'छमहु महामुनि धीर', 'मारतहू पा परिअ तुम्हारे' ऐसी क्षमा-याचना लक्ष्मणजी स्वमुखसे कर गये। कौशिक महामुनि भी प्रार्थना कर चुके कि 'छमिअ अपराधू'। श्रीरघुनाथजीने भी प्रार्थना की। तथापि **'छोड़ौं बिनु मारे'** कहते हुए भी परशुरामजी गुरुद्रोहका मिथ्यारोप करते ही गये। इससे स्पष्ट हो गया कि उनमें न क्षमा **करनेकी शक्ति ही रह गयी और न इच्छा ही।** इससे 'क्षमा' का नाश बताया।

नोट २ (क) **'भृगुबर परसु देखावहु मोही'** इति।—भृगुने भगवान्‌को लात मारी थी, इन्होंने फरसा दिखाया, **यह** उनके योग्य ही है, यह सूचित करनेके लिये 'भृगुवर' सम्बोधन दिया। 'परसु देखावहु'—यह 'कुठार सुधारा' का अर्थ **स्पष्ट किया। अर्थात्** धार सीधी लक्ष्मणजीकी ओर करके हाथमें उठाया जैसे कि डरानेके लिये दिखाते हों, इसीसे **'परसु देखावहु' कहा।** (ख) **'बिप्र बिचारि बचौं नृपद्रोही'** इति। परशुरामजीने स्वयं अपनेको 'छत्रियकुल द्रोही' कहा है, यथा—'बिस्वबिदित छत्रियकुल द्रोही', 'भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। १। २७२'। अतः नृपद्रोही कहा। 'ब्राह्मण हो, इससे तरह दे जाता हूँ', अर्थात् नहीं तो अबतक मार डाला होता, क्योंकि नृपद्रोही हो, और मैं राजकुमार हूँ तब अपने वैरीको कब जीता छोड़ सकता था। पं० रामकुमारजीके मतानुसार भाव यह है कि नृपद्रोही हो, इससे कटुवचन **कहता हूँ, ब्राह्मण हो इसलिये छोड़ देता हूँ।**

३ **'मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े'** इति। भाव कि जिनको तुमने मारा वे रणधीर सुभट न थे। तुम उनके ही धोखेमें मुझे फरसा दिखा रहे हो, सो मैं वैसा नहीं हूँ। मैं महा रणधीर सुभट हूँ। 'सुभट रन गाढ़े' कहकर योधा तीन प्रकारके जनाये—भट, सुभट और गाढ़े सुभट। अन्य सब राजा भट थे, सहस्रार्जुन सुभट था। इन्हीं दोसे तुमसे भेंट हुई। गाढ़े सुभटसे पाला नहीं पड़ा था, आज पड़ा है।

४ **'द्विज देवता घरहिके बाढ़े'** इति। इसके भाव यह कहे जाते हैं—(क) आप घरहीके बढ़े हैं, अर्थात् माता और भाइयोंके सिर काटकर ही शूरवीर बन बैठे हैं। (पं०)। (ख) हे द्विजदेवता! अभीतक घरहीके बढ़े थे, सो आपने उन्हींको मारा। यहाँ द्विजके साथ 'देवता' शब्द भी देनेका भाव यह है कि देवता तो पुजानेके लिये हैं, कुछ संग्राम करनेके लिये नहीं बनाये गये। वैसे ही तुम अभीतक घर-घर पुजाते ही रहे, संग्रामका काम अभी तुम्हें नहीं पड़ा। (प्र० सं०)। पुनः (ग) 'द्विज देवता' का भाव कि द्विज होनेसे ही आप देवताके समान पूज्य हैं, आप सुभट नहीं हैं। इससे आपके साथ युद्ध करके विजयसम्पादनमें मेरी कुछ शूरता न सिद्ध होगी। आपके गुरुको ही परास्तकर मार डालूँ, तब तो आपका समाधान हो जायगा न? 'घरहि के बाढ़े' का भाव कि आप तो घरमें ही बढ़े हो गये हैं, रणाङ्गण तो आपने देखा भी नहीं। साधारण राजाओंको मारकर अपनेको दुर्जय महावीर समझने लगे हैं। वास्तवमें भट न होते हुए भी आप मिथ्या अभिमान धारण कर रहे हैं—यही भाव 'महाभट मानी' 'कायर कथहिं प्रताप' इत्यादि शब्दोंसे सिद्ध होता है (प० प० प्र०)। (घ) आपके हृदयमें सच्ची वीरता तो है नहीं, यह जो वीरता है। वह तो बनायी हुई है। ब्राह्मणदेव तप-बलसमर्थ तो होते ही हैं, उसी शक्तिसे अस्त्र धारणकर वीर बन गये। घरहीकी शक्तिसे वीरतामें बढ़ गये। अबतक वह वीरता बनी रह गयी; क्योंकि अभीतक तुमको कोई बराबरका भी सुभट न मिला, नहीं तो तुम्हारी वीरता उतर जाती। जो कहो कि सहस्रबाहु क्या भारी सुभट न था, तो सुनिये। सहस्रबाहु सुभट था, पर वह ब्राह्मण-द्वेषी होनेसे अपने ही पापसे नष्ट हो गया। अब तुम्हारी वीरता रह जाय तो जानूँ कि वीर हो (वै०)। अथवा, (ङ) द्विजदेवता! तुम हमारे ही घरके बढ़े हो। यह शक्ति श्रीरघुनाथजीहीकी दी हुई है, इसीसे अबतक क्षत्रियोंको मारते रहे। अब वह वीरता न रहेगी (वै०)। (च) यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य' है। भाव यह कि घरके सिवा बाहर किस योद्धासे गहरा युद्ध किया है? (वीर)।

नोट—५ 'अनुचित कहि·····' इति। (क) आप घरहीके बड़े हैं, मैं विप्र जानकर तरह दे रहा हूँ, इत्यादि वचन अनुचित हैं; क्योंकि बड़े ही कटु हैं। जब सब लोगोंने 'अनुचित है, अनुचित है' कहा तब रघुनाथजीने रोका। (ख) 'सयनहि रघुपति लखन नेवारे' इति। आगे दोहेमें श्रीपरशुरामजीके कोपको 'अग्नि', श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंको 'आहुति' और श्रीरामजीके वचनोंको 'जल' समान कहेंगे। अग्निपर जल पड़नेसे वह शीतल हो जाता है पर वही मन्द अग्नि आहुतियोंके पड़नेसे और दहक उठता है। इसलिये प्रज्वलित अग्निको शान्त करनेके लिये प्रथम आहुतिको रोककर तब जल डालना चाहिये। यहाँ इशारेसे लक्ष्मणजीको मना करना आहुतिका रोकना है। इनका रोककर तब परशुरामजीके कोपाग्निको शान्त करनेको शीतल वचन कहेंगे। इशारेसे रोकनेमें लक्ष्मणजीका आदर भी सूचित होता है कि खूब सेवा की। और उधर सब लोगोंका भी मान रक्खा कि अनुचितको रोक दिया।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामी—'रघुपति सयनहि लखनु नेवारे' इति। इससे दिखाया कि 'निपट निरंकुश' (२७४। २) जो परशुरामजीने कहा था वह भृगुपतिका मिथ्या प्रलाप था। इसीसे तो आगे कविने कहा है 'भृगुपति बकहिं'। असत्य-समान पाप नहीं। अतः असत्य प्रलापसे भी शौचका पूर्ण अभाव दिखाया।

नोट—६ 'लषन उतर···' इति। 'लषन उतर आहुति सरिस', 'भृगुबर कोप कृसानु सरिस' और 'जलसम बचन' तीनों उपमेय-उपमानोंमें 'धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है। 'रघुकुलभानु' में रूपक अलंकार है। (वीर)। (ख) 'रघुकुल भानु' इति। विप्रद्रोहसे कुलका नाश होता है, यथा—'दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू। २। १२६। ४।', 'जिमि द्विज द्रोह कियें कुल नासा। ४। १७। ८।', 'बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।' (७। ११२। ३)। लक्ष्मणजीके वचनोंसे विप्रद्रोह सूचित हो रहा है, इसीसे रघुनाथजी रघुकुलकी रक्षाके लिये बोले, अतः 'रघुकुल भानु' विशेषण दिया। (पं० रामकुमारजी)। अथवा, ताप और वर्षा दोनोंका अधिष्ठान भी भानु है। (पं०)। जलके बरसानेमें भी सूर्य ही कारण है। सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जल खींचकर बादल बनाकर जल बरसाता है। अतः 'जल सम बचन' बोलनेके सम्बन्धसे 'रघुकुल भानु' कहा।

नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूध मुख करिअ न कोहू॥ १॥
जौं पै प्रभु प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना॥ २॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुर पितु मातु मोद मन भरहीं॥ ३॥
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी। तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी॥ ४॥

शब्दार्थ—सूध=सीधा। दूधमुख=दुधमुँहा=दूध पीनेवाला बच्चा, जिसका माँका दूध पीना अभी न छूटा हो। अयान=अज्ञान, बेसमझ, अबोध। अचगरि=अयोग्य कार्य, नटखटी, अटपट काम। मंगलकोशमें इसका अर्थ 'अनुचित व्यक्कर कर्म' है। यथा—'सुनो महरि निज सुत की करनी। करत अचगरी जात न बरनी॥' (व्रजविलास)। (मा० त० वि०)।=चपलता, चञ्चलता।

अर्थ—हे नाथ! बालकपर कृपा कीजिये। यह सीधा है, दुधमुँहा है। इसपर क्रोध न कीजिये। १। यदि यह आपका कुछ भी प्रभाव जानता होता तो भला यह अज्ञान आपकी बराबरी करता? । २। यदि बालक कुछ अयोग्य कार्य कर बैठते हैं तो गुरु, पिता और माता मनमें आनन्दसे भर जाते हैं। ३। इसे शिशु और सेवक जानकर कृपा कीजिये। आप तो समदर्शी, सुशील, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं। ४।

नोट—१ (क) 'नाथ' सम्बोधनसे जनाया कि आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। 'बालक पर छोहू' का भाव कि आप माता-पिताके तुल्य हैं। माता-पिता बालकपर कृपा करते ही हैं, अतः आप भी कृपा करें। लड़कोंपर छोह किया जाता है, यथा—'सदा करब लरिकन पर छोहू'। ३६०। ७।' (ख) 'सूध दूधमुख···' इति। परशुरामजीने लक्ष्मणजीको 'कुटिल' और 'कटुवादी' कहा था, यथा—'कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु। कुटिल कालबस···॥ २७४। १॥' 'कटुवादी बालक बध जोगू॥ २७५। ३॥'; उसीपर श्रीरामजी कहते हैं कि यह बात नहीं है। यह तो बड़ा सीधा और मधुरभाषी है। (ग) 'दूधमुख' कहनेका भाव कि जबतक बालक दूध पीता है तबतक वह अन्तःकरणसे सीधा रहता है, काम-क्रोधादि-विकाररहित होता है। इससे उसमें कुटिलता नहीं होती। वचन कर्ममात्र ऊपरसे ही उसमें चञ्चलता रहती है। ऐसा विचारकर क्रोध न कीजिये। (वै०)। विश्वामित्रजीने जो कहा था

कि 'बाल दोष गुन गनहिं न साधू ॥ २७५ । ५ ॥', उसीका पोषक यह वचन है। बालपना अज्ञानावस्था होनेसे उसमें कुटिलता आदि नहीं होते। इसपर वे कह सकते हैं कि 'तब फिर यह ऐसे वचन कैसे बोला ?', उसका उत्तर आगे देते हैं—'जौं पै·····।' (घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि यदि परशुरामजी कहें कि इतने बड़े लड़केको तुम दुधमुँहा कैसे कहते हो तो उसपर कहते हैं—'जो पै·····।' (ङ) बालकपर क्रोध न करना चाहिये। यथा—'देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च। नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च ॥' (हितोपदेश)

नोट—२ 'जौं पै प्रभु प्रभाउ·····' इति। (क) 'कछु' अर्थात् कुछ भी, जैसे पर्वतसे राई बराबर भी, वा सेरभरमें रत्तीभर भी। भाव यह कि वह आपके किञ्चित् प्रभावको भी तो नहीं जानता, नहीं तो ऐसा न कहता। उसने तो वेष देखकर ऐसा कह डाला। कुछ भी प्रभाव न जाना, इसीसे 'अयाना' कहते हैं। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि भाव यह है कि बहुत अवस्था होनेसे मनुष्य बड़ा नहीं माना जाता; किंतु बुद्धिमें बड़ा होनेसे बड़ा होता है, सो इसमें इतनी बुद्धि भी नहीं कि आपका किञ्चित् भी प्रभाव जानता, अतः ये अयान है, सीधा है, दुधमुँहा है। इसीसे बराबरी (उत्तर-प्रत्युत्तर) करने लगा, इसपर यदि वे कहें कि अवस्थाके अनुसार कुछ दण्ड देना ही चाहिये, तो उसपर आगे कहते हैं—'जौं लरिका·····।' (पं०)। (ग) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि कैसी चतुरताका उत्तर है। परशुरामजी तो प्रसन्न हुए कि इन्होंने तो कुछ हमारी प्रभुताको जाना और जनाया, लक्ष्मणने न जाना तो न सही। श्रीरामजीका संकेत तो उस प्रभुताकी ओर है जो उन्होंने अन्तमें कहा है—'बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥ २८४ । ५ ॥'; और ये महाशयजी समझ रहे हैं अपनी वह प्रभुता जो अपने मुखसे उन्होंने कही है—'मैं जस बिप्र सुनावौं तोही ॥ चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू ॥ समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भये पसु आई ॥ मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे। समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे ॥ मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरे। २८३ । १–५ ।' (घ) बैजनाथजीका मत है कि 'जौं पै···अयाना' में भाव यह है कि अपना प्रभाव प्रकट करके दिखाइये, क्रोधमें क्या रक्खा है?

टिप्पणी—१ 'जौं लरिका कछु अचगरि करहीं' इति। 'जौं' से जनाया कि लक्ष्मणजीका कोई कसूर नहीं। पूर्व जो 'नाथ' और 'बालक' शब्द कहे उनका अभिप्राय यहाँ खोला है। पुनः, पहले नाथ कहा इससे पहले गुरु कहा तब पिता-माता और अगली चौपाईमें कहते हैं कि 'करिय कृपा सिसु सेवकु जानी' अर्थात् पहले सिसु तब सेवक। इस क्रम-भङ्गका कारण यह है कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजीमें प्रीति कराना है सो गुरुके शिष्य तो हैं ही, पर यदि गुरु शिष्यको लड़का मान ले तो उसे शिष्यमें और भी अधिक प्रेम हो जाता है; इसी प्रकार माता-पिताका पुत्र तो है ही पर यदि लड़केमें सेवाके कारण सेवक-भाव भी आ जाय तो माता-पिताका पुत्रपर अधिक प्रेम हो जाता है, यह समझकर कि पुत्र मेरी आज्ञामें है। अतएव पूर्व 'नाथ' 'बालक', 'लरिका' कहकर गुरु-पितु-मातु कहा और सिसु प्रथम कहकर सेवक कहा।

नोट—३ श्रीहनुमन्नाटकमें श्रीरामजीने अपने सम्बन्धमें इसी आशयके वचन कहे हैं, यथा—'**बाहोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य त्रैयम्बकस्य महिमा न तवापि सैषः। तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्** ॥ १ । ३८ ॥' अर्थात् मैंने आपकी भुजाओंके बलको नहीं जाना और न शिवजीके धनुषकी महिमा जानी। हे परशुरामजी! आप मेरी इस चपलताको क्षमा करें; क्योंकि बालकोंके दुष्कर्म गुरुजनोंके आनन्दके लिये होते हैं।

४ बैजनाथजीका मत है कि इन वचनोंमें आशय यह है कि हम तुम्हारे कुवचन इसीसे विनोद मानकर सुनते और सहते हैं।

५ 'तुम्ह सम सील·····' इति। भाव कि 'सम' हैं, अतः कोप न होना चाहिये। सुशील हैं, अतः गाली न देनी चाहिये। धीर हैं, अतः मनमें बच्चोंके वचनसे उद्वेग न होना चाहिये। मुनि हैं, अतः सब विकारोंसे रहित होना चाहिये। तथा विचार करना चाहिये। ज्ञानी हैं, अतः सबमें ब्रह्मको देखते हुए वैर-विरोधकी बुद्धि न आने देना चाहिये, यथा—'देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥ ३ । १५ ॥' 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥ ७ । ११२ ॥'

राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लषनु बहुरि मुसुकाने ॥ ५ ॥
हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी ॥ ६ ॥
गौर सरीर स्याम मन माहीं। कालकूट-मुख पयमुख नाहीं ॥ ७ ॥

सहज टेढ़ अनुहरै न तोही। नीचु मीचु सम देख न मोही ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—जुड़ाना=ठंढा होना, शान्त होना। पयमुख=दुधमुँहा। अनुहरै न=अनुकरण वा अनुसरण नहीं करता।=समान या अनुकूल आचरण नहीं करता।

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनकर (वे) कुछ ही ठंढे हुए थे (कि) लक्ष्मणजी कुछ कहकर फिर मुस्कुराये ॥ ५ ॥ हँसते देखकर नखसे शिखतक (अर्थात् सारे शरीरमें) क्रोध व्याप्त हो गया। (वे बोले—) 'राम! तेरा भाई बड़ा पापी है ॥ ६ ॥ (यह) शरीरसे तो गोरा है पर मनका काला है। यह विषमुँहा है, दुधमुँहा नहीं ॥ ७ ॥ (यह) स्वाभाविक ही टेढ़ा है, तेरे समान आचरणवाला नहीं है। यह नीच मुझे मृत्युके समान नहीं देखता ॥ ८ ॥

पंजाबीजी—'कछुक' इति। 'पृथ्वी बहुत तपी हुई होती है तो प्रथम वर्षासे ही पूरी तरह शीतल नहीं होती, वैसे ही इनका क्रोध अत्यन्त बढ़ा हुआ था, अतः 'कछुक जुड़ाने।' वा, श्रीरामचन्द्रजीने शान्तिके निमित्त सम्मानके वाक्य तो बहुत कहे, परंतु 'मुनि' आदि भी कहा है, उनके कारण पूर्ण प्रसन्नता नहीं हुई। वा, राम शब्द रमानेका बोधक है जो इनके नाममें है इससे परम प्रसन्नता चाहिये थी, पर उस शब्दके पहले जो 'परसु' तमोगुणबोधक शब्द लगा है उससे वे क्रोधी बने हैं, रामचन्द्रजीके वचन सुनकर भी अल्प ही प्रसन्नता हुई।

नोट—१ 'कहि कछु' इति। क्या कहा? यह ग्रन्थकारने नहीं खोला। ऐसा जान पड़ता है कि जब रामचन्द्रजीने कहा कि 'तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी', तब लक्ष्मणजीने ताना मारा कि क्या खूब अच्छे शीलवान्, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं। 'सम सील' का अर्थ 'समता-परिपूर्ण' 'समता-स्वभाववाले' भी हो सकता है। लक्ष्मणजीने कहा कि 'रामजी तो इन्हें हमारे गुरु-पितु-माता बताते हैं, यथा—'नाथ करिय बालक पर छोहू।' [इसमें नाथसे गुरु, बालकसे पिता-माता। आगे कहा है 'सिसु सेवक जानी', 'गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं'] सो हमें अच्छे गुरु-पितु-माता मिले कि जिनके कुलकी रीति है कि गुरु-माता-पिताको मारकर उऋण होते हैं। सो इनको तो तीनको मारना था, हमको एक ही मारे छुट्टी मिल जायगी, तीनोंके ऋणसे उद्धार हो जायगा। इनको मार डालें तो सबसे उऋण हो जायँ। पुनः भाव यह कि 'वाह भाई साहब! आप अच्छा कहते हैं। ये तो रूपहीके देखनेसे (सूरतसे ही), समशील, धीर, मुनि और ज्ञानी जान पड़ते हैं।

२ 'राम तोर भ्राता बड़ पापी' इति। (क) यहाँ 'तोर' 'तोही' इत्यादि वचन क्रोधकी अधिकतासे रूक्षता निर्देश कर रहे हैं। (ख) 'बड़ पापी' कहनेका भाव कि जो ब्राह्मणको हँसे वह पापी है, यथा—'होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ। हँसेहु हमहि सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥ १३५।', तात्पर्य कि तुम धर्मात्मा हो यह पापी है। पुनः 'बड़ पापी' का भाव कि यह अपने वचनोंसे तो कूट करता ही है पर तुम्हारे वचनोंको भी लेकर कूटमें डाल देता है, उन्हें लेकर भी कूट करता है। (पं० रा० च० मिश्र)।

३ 'गौर सरीर स्याम···' इति। भाव यह कि ऊपरसे देखनेमें गोरा है पर भीतरका काला है। तुम कहते हो कि यह दुधमुँहा है, पर ऐसी बात है नहीं, यह तो 'कालकूटमुख' है, इसके मुखमें हालाहल भरा हुआ है, यह हालाहल पान करनेवाला है, इसीसे इसके सब करतब (हँसी, वचन आदि) विषैले हैं। परशुरामजीको लक्ष्मणजीके वचन प्राणघातक विषैले बाणके सदृश लगते हैं। इसीसे वे इनको कालकूटमुख कहते हैं। और, एक प्रकार ये कालकूटमुख हैं भी, यदि इनको शेषावतार मानें। लक्ष्मणको 'कालकूटमुख' कहकर जनाया कि तुम 'सुधामुख' हो, तुम्हारे वचन अमृतसमान हैं। [यहाँ सत्य 'दूधमुख' को असत्य ठहराकर असत्य विषमुखको सत्य ठहराना 'शुद्धापह्नुति अलंकार' है। (वीर)]

नोट—४ 'सहज टेढ़ अनुहरै न तोही···' इति। यह सहज ही टेढ़ा है, यह जन्मका ही उसका स्वभाव है, कुछ किसीके संग-दोषसे नहीं, संगदोषसे होता तो तुम्हारे संगसे सुधर जाता। अतः कहते हैं कि 'अनुहरै न तोही'। अर्थात् तुम्हारे सदृश इसमें एक भी बात नहीं है। तुम नम्रतासे हाथ जोड़ते हो, यह मुझे कादर बनाता है। तुम मनके उज्ज्वल हो, स्वच्छ हो और तनके श्याम, यह तनसे उजला है और मनका काला। तुम सीधे हो, यह टेढ़ा। तुम ऊँच यह नीच। तुम हमसे डरते हो, यह नहीं डरता इत्यादि। विजयदोहावलीमें इस चौपाईपर यह दोहा है—'यह कुजाति है जन्म को बसठ प्रान हर लेत। ऐसे पापी अधम को राम संग तुम्ह लेत ॥' वस्तुतः क्रोधाग्निसे प्रज्वलित होनेके कारण यह सब प्रलाप हो रहा है। अनमेल वर्णनसे यहाँ 'प्रथम विषम अलंकार' है। 'नीचु मीचुसम देख···' में 'धर्मलुप्तोपमा' है। प्राण-नाशक धर्म नहीं कहा गया है। (वीर)। श्रीनंगे परमहंसजी 'अनुहरै न तोही' का अर्थ करते हैं—'तेरा अदब नहीं करता'।]

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—(क) 'अनुहरै न तोही' इस वाक्यसे यह पाया गया कि अभीतक वे श्रीरामजीको सरल समझते थे पर आगे यह भावना भी नष्ट हो जाती है। यथा—'बंधु कहै कटु संमत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे॥' (ख) यहाँ और अन्य स्थानोंमें श्रीरामजीके लिये 'तोही' 'तोरा' आदि एकवचन प्रयोग करनेमें केवल विज्ञानका सम्पूर्ण अभाव ही नहीं किंतु 'विपरीत ज्ञान' की भूरिता भी सूचित हो रही है। कारण कि वे अब भी श्रीरघुनाथजीको केवल दशरथ-तनय पाञ्चभौतिक, प्राकृत बालक ही समझते हैं—'जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।'

दो०—लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोधु पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं* बिस्व प्रतिकूल॥ २७७॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। परिहरि कोपु करिअ अब दाया॥ १॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसानें। बैठिअ होइहिं पाय पिरानें॥ २॥
जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई। जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई॥ ३॥

शब्दार्थ—चरहिं=चलते हैं, आचरण करते हैं। अनुचर=पीछे चलनेवाला, अनुगामी, सेवक।

अर्थ—लक्ष्मणजीने हँसकर कहा—हे मुनि! सुनिये, क्रोध पापकी जड़ है, जिसके वश होकर लोग अनुचित कर्म कर डालते हैं और संसारभरके विरुद्ध चलते हैं॥ २७७॥ हे मुनिराज! मैं आपका दास हूँ, अब कोपको छोड़कर दया कीजिये॥ १॥ टूटा हुआ धनुष क्रोध करनेसे जुड़ तो जायगा नहीं। पैर पिराने (दुखने) लगे होंगे, बैठ जाइये॥ २॥ (और) यदि (धनुष) अत्यन्त ही प्रिय हो तो उपाय किया जाय, किसी उत्तम गुणी (कारीगर) को बुलवाकर जुड़वा दिया जाय॥ ३॥

नोट—१ 'लषन कहेउ हँसि……' इति। (क) 'हँसि' से लक्ष्मणपक्षमें शान्तरस व्यङ्गोक्तिद्वारा उत्तर-प्रत्युत्तरकी कहानी सूचित होती है। (रा० च० मिश्र)। (ख) 'क्रोधु पाप कर मूल……'—ये वचन परशुरामजीके 'राम तोर भ्राता बड़ पापी' के उत्तर हैं। भाव यह कि आप मुझे 'बड़ पापी' कहते हैं, पर पापका मूल तो क्रोध है, सो वह तो आपके सिरपर सवार है। तब 'बड़ पापी' कौन हुआ? आप कि मैं? पापी तो आप ही हैं, मुझे व्यर्थ पापी बनाते हैं। (ग) 'जेहि बस जन अनुचित करहिं' अर्थात् क्रोधके वश होनेमें लोग कौन पाप नहीं कर सकते? मनुष्य गुरुका भी वध कर सकता है, कठोर वचनोंसे सज्जनोंका तिरस्कार कर सकता है। क्या कहना चाहिये, क्या न कहना चाहिये यह वह नहीं जानता। उसके लिये न तो कुछ अकर्तव्य है और न कुछ अवक्तव्य। यथा—'क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥ ५॥ वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्। नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्॥ ६॥' (वाल्मी० ५। ५५)—ये जो विचार श्रीहनुमान्‌जीके हैं वे सब 'क्रोध पाप कर मूल……करहिं' में हैं। इसमें व्यंग्यसे जनाते हैं कि 'क्रोधावेशमें होनेसे ही आपको हमारा स्वरूप नहीं लख पड़ता, क्रोधवश आप अपने गुरुदेवके उपास्यको कठोर वचन कहते हैं और मारनेको उद्यत होते हैं। (घ) 'चरहिं बिस्व प्रतिकूल' इति। यहाँ लक्ष्मण-जीने किसीका नाम न दिया, पर वचनोंसे जनाते हैं कि तुमने क्रोधके वश हो अनुचित कर्म किये कि माता और भाइयोंको मारा, पिताको मरवाकर सब क्षत्रियोंसे विरोध किया। अतः तुम सबसे प्रतिकूल हो।—(पं० रा० कु०)। वैजनाथजी यह भाव लिखते हैं कि लोग क्रोधवश हो लोकमर्यादा त्यागकर अनीतिपर चलते हैं, जैसे तुम ब्राह्मण होकर अस्त्र-शस्त्र धारण करते हो और सिर काटते फिरते हो। 'चरहिं बिस्व प्रतिकूल' में भाव यह है कि सबसे वैर बिसाहते फिरते हैं, संसार-भरके प्रतिकूल ही कर्म करते हैं—'बैर अकारन सब काहू सों'। क्रोधमें अपना-पराया, हित-अहित कुछ भी विचार नहीं रह जाता। दुष्टता तो की एक सहस्रार्जुनने और आप क्रोधावेशमें वैरी बन गये सारे क्षत्रियसमाजके। इत्यादि। विश्वद्रोह बड़ा भारी पाप है, यथा—'चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्ठइ नहिं सोई। ५। ३८।', 'सरन गयें प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा। ५। ३९।'—इससे जनाया कि आपके बराबर कोई पापी नहीं।

प० प० प्र०—'बिस्व' शब्दमें श्लेष है। विश्व=जगत्। विश्व=स्थूल देह। 'रिस तन जरै होइ बल हानी। २७८। ६।'

---

* होहिं—१७२१, छ०। परहिं—को० रा०। चरहिं—१६६१, १७६२

से बताते हैं कि जिसके ऊपर क्रोध किया जाता है उसका कुछ अनिष्ट हो अथवा न भी हो, पर जिसे क्रोध आता है उसकी स्थूल देह तो अवश्य क्रोधसे क्षीण होती है, उसके बलका ह्रास होता है।

नोट—२ 'मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया।····' इति। (क) अनुचरका भाव कि क्षत्रिय होनेसे हम तुम्हारे सेवक हुए और फिर रघुकुल तो सदासे ब्राह्मणोंको पूजता आया है। व्यंग्य यह है कि वीरता त्यागकर ब्राह्मण बनिये तब हम आपको डरें, मुनिरूपसे रहिये तो हम वैसा मान करें, वीरता दिखानेसे नहीं डरनेके। (वै०)। पुनः भाव कि आपकी कटु वाणी सुनकर मैंने कटु वचन कहे, आप क्रोधका त्यागकर करुणा करें तो आपकी करुणा देखकर मैं भी करुणा करूँ। (मा० म०)। (ख) 'मुनिराया'—भाव कि आप मुनिराज हैं, मुनियोंको क्रोध न करके दया करनी चाहिये। यथा—'छमिय बिप्र उर कृपा घनेरी। २८२। ४।' अतः आप 'परिहरि कोप करिअ अब दाया'। (ग) 'परिहरि कोप····' इति। भाव कि कोप करना खलका लक्षण है और दया संतका। यथा—'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। ७। ३९। ३।', 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया। ७। ३८। ३।' आप मुनिराज हैं अतः खलोंका स्वभाव छोड़ दीजिये, मुनिका स्वभाव ग्रहण कीजिये।

३—'टूट चाप नहिं जुरिहि रिसानें···' इति। (क) 'नहिं जुरिहि रिसाने' का भाव कि कभी-कभी-रिसानेसे भी काम चलता है, यथा—'भय देखाय लै आवहु तात सखा सुग्रीव।' (४। १८); पर यह काम ऐसा नहीं है कि रिस करनेसे बन सके। क्रोध करनेसे वह जुड़ नहीं सकता, जुड़नेका उपाय तो कारीगर है सो आगे कहते हैं—'जौं अति प्रिय'। (ख) 'बैठिअ होइहि पाँय पिरानें'—भाव यह कि जबसे आप आये हैं तबसे बराबर खड़े ही हैं, बहुत देर बकबक करते हो गयी, खड़े-खड़े पैर पिराने लगे होंगे।

नोट—४ 'जौं अति प्रिय····' इति। (क) आशय यह कि यह तो पुराना सड़ा हुआ धनुष था, यथा—'का छति लाभ जून धनु तोरे। देखा राम नयन के भोरे॥ छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।' (२७२। २-३)। अतएव इसपर ममत्व तो होना न चाहिये था, यथा—'येहि धनु पर ममता केहि हेतू। २७१। ८। फिर भी यदि आपको यही 'अति प्रिय' है, तो गुणीको बुलाया जावे। 'अति प्रिय' से जनाया कि साधारण प्रिय हो तब तो जुड़वानेका परिश्रम करना व्यर्थ है। 'अति प्रिय' हो तो जुड़वाया जाय। (ख) 'बड़ गुनी बोलाई' का भाव कि यहाँ तो कोई ऐसा गुणी है नहीं जो जोड़ सके, हाँ, देवलोकमें कोई होगा, उसे वहाँसे बुलाना होगा। 'बड़ गुनी' का भाव कि यह पिनाक विश्वकर्माका बनाया हुआ था। पर अब तो यह मड़कर टूट गया, अतः इसको वह भी संभवतः न जोड़ सकें, उनसे भी कोई बढ़कर गुणी हो वही बना सकेगा। (ग) 'जोरिअ' का अर्थ यह भी किया जाता है कि जुड़वा लीजिये। व्यंग्य यह कि जुड़वायी हम दे देंगे। (पं०)।

बोलत लषनहि जनकु डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं॥ ४॥
थर थर काँपहिं पुर नर नारी। छोट कुमार खोट बड़ भारी॥ ५॥
भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी। रिस तन जरै होइ बल हानी॥ ६॥
बोले रामहि देइ निहोरा। बचौं बिचारि बंधु लघु तोरा॥ ७॥
मनु मलीन तन सुंदर कैसे। बिष रस भरा कनक घटु जैसे॥ ८॥

दो०—सुनि लछिमन बिहसे* बहुरि नयन तरेरे राम।
गुर समीप गवने† सकुचि परिहरि बानी बाम॥ २७८॥

शब्दार्थ—'मष्ट'=मौन, चुप। 'मष्ट करना'=चुप रहना, मुँह न खोलना, यथा—'बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥' (५। ३७)। 'खोटा'=खराब, ऐबी अवगुणसे भरा। 'निहोरा'=एहसान, कृतज्ञता, उपकार अनुग्रह। तरेरे=घुरेरे, तिरछे किये, दृष्टिसे असंमत और असंतोष प्रकट किया। बाम=टेढ़ी।

अर्थ—लक्ष्मणजीके बोलनेसे श्रीजनकजी डर रहे हैं। (कहते हैं—बस) चुप रहो, अनुचित बोलना अच्छा नहीं। ४। नगरके स्त्री-पुरुष थर-थर काँप रहे हैं (और मन-ही-मन कहते हैं) छोटा कुमार बहुत ही बड़ा खोटा है। ५। लक्ष्मणजीकी

* बोले बिहँसि—१७०४। † बहुरि—छ०। तुरत—१७०४।

निःशंक वाणी सुन-सुनकर परशुरामजीका शरीर क्रोधसे जला जा रहा है और बल घटता जाता है। ६। (वे) श्रीरामजी-पर एहसान जनाकर बोले–तेरा छोटा भाई समझकर इसे बचाता हूँ॥ ७॥ यह मनका मैला और तनका कैसा सुन्दर है जैसा विषसे भरा हुआ सोनेका घड़ा हो॥ ८॥ (यह) सुनकर लक्ष्मणजी फिर हँसे। श्रीरामजीने आँखें तिरछी की (आँखके इशारेसे डाँटा)। तब वे सकुचाकर टेढ़े वचन छोड़कर गुरु (विश्वामित्र) जीके पास चले गये। २७८।

नोट—१ (क) 'बोलत लषनहिं ···' इति। जनकजी इस माधुर्यमें भूल गये हैं, इसीसे डरे और चुप होनेको कहा। भाव यह कि रामचन्द्रजीहीको बोलने दो, जिसमें परशुरामजी शान्त हो जायँ। जब जनक ही डर गये तो भला पुरनारियोंकी कौन कहे? इसीसे उनका माधुर्यमें अधिक मग्न होना दिखाया, जनकजी तो डरे ही और ये थर-थर काँपने लग गयीं। इन्होंने 'खोट बड़ भारी' जो कहा इसमें इनका प्रेम झलकता है। यह लोकोक्ति है। (ख) 'छोट कुमार खोट बड़ भारी' इति। भाव यह कि बड़ा कुमार जैसे ही बड़ा सीधा है वैसे ही यह बड़ा नटखट है। पुनः भाव कि 'खोट बड़ भारी' से तीन कोटियाँ दिखायीं—खोटा, भारी खोटा और बड़ा भारी खोटा। विश्वामित्रजीका निहोरा करनेपर कठोर वचन कहे इससे खोटा। 'द्विज देवता घरहि के बाढ़े' और इसके साथके वचन कहनेसे 'भारी खोटा' और बड़े भाईके रोकनेपर भी अबकी फिर अनुचित वचन कहे, इससे 'बड़ा भारी खोटा' कहा। प्रथम बार साधारण खोटा जान किसीने कुछ न कहा। जब भारी खोटापन किया तब 'अनुचित कहि सब लोग पुकारे। २७६। ८।' और श्रीरामजीने 'सयनहि लखन नेवारे'। बड़ा भारी खोटा जाननेपर जनकजीसे भी न रहा गया, पुरवासी तो कह ही उठे कि बड़ा भारी खोटा है। (ग) 'सुनि सुनि निरभय बानी···हानी' इति। सुनि-सुनि कहकर जनाया कि क्रमशः रिस बढ़ती है और उसी क्रमसे शरीर अधिक संतप्त होता है और उसी क्रमसे बल उत्तरोत्तर घटता जा रहा है। 'निरभय बानी' से जनाया कि वे जो कुछ कहते थे वह लक्ष्मणजीको भयभीत करनेको कहते थे, पर ये डरते न थे, उल्टे उत्तर देते थे, इससे वे जले जाते थे। यदि ये डर जाते तो रिस आदि सब शान्त हो जाती।

नोट—२ 'बोले रामहिं देइ निहोरा।···' इति।–'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' जो पूर्व कह आये हैं, वह धारा अब दूसरी ओरसे भी टूटकर तीसरी ओर गयी। पहले जब लक्ष्मणजीने तोड़ा तब विश्वामित्रजीका निहोरा लिया, अब रामजीका निहोरा लेते हैं। कभी बालकका बहाना करते, कभी कौशिकके शीलसे और कभी रामजीके एहसानसे बचा देना बताते हैं इत्यादि, और वस्तुतः तो हाथ ही नहीं उठता जो मार सकें। रामचन्द्रजीने तो कहा कि अपना शिशु सेवक जानकर कृपा कीजिये और ये कहते हैं कि तुम्हारा भाई जानकर छोड़ते हैं। (रा० कु०)। लक्ष्मणजीने जो कहा था कि 'विप्र विचारि बचौ नृपद्रोही। २७६। ६।' उसीकी जोड़में परशुरामजी कहते हैं—'बचौं विचारि बंधु लघु तोरा।'

३ 'बिषरस भरा·····' इति। पहले कहा था कि 'कालकूट मुख' है, अर्थात् मुखमें विष भरा है, अब कहते हैं कि इसके शरीरभरमें भीतर विष-ही-विष भरा है, ऊपर देखनेमें सुन्दर देख पड़ता है, इससे जान नहीं पड़ता। भाव यह कि विषैले वचन बोलता है। साधारण बातकी विशेषसे समता दिखाना 'उदाहरण अलंकार' है।

४ 'सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि···' इति। (क) हँसे कि बातका उत्तर तो देते नहीं बनता, दूसरेसे निहोरा करते हैं। पहले उत्तर न दे सके तब विश्वामित्रसे निहोरा किया, उनपर एहसान रक्खा कि 'उतर देत छोड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥' अब श्रीरामजीपर निहोरा जनाते हैं—'बचौं विचारि बंधु लघु तोरा।' पुनः भाव कि हमको कहते हैं कि 'मन मलीन तन सुंदर ···' और वास्तवमें स्वयं ही वैसे हैं। गौर तन हैं और विषैले क्रोध भरे कठोर वचन उगल रहे हैं, अपना दोष नहीं सूझता। यह उदाहरण तो आपहीपर लागू है। (ख) 'बहुरि'—पहले हँसे थे—'लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल। २७७।' अब फिर हँसे। (ग) 'नयन तरेरे राम'—हँसना बहुत अनुचित समझकर आँखें तिरछीकर डाँटा। हँसते देख समझ गये कि फिर कुछ कहेंगे अतः नेत्रोंके इशारेसे रोका। 'यहाँ सूक्ष्म अलंकार' है। (घ) 'गुर समीप गवने'—इससे जनाया कि अबतक खड़े-खड़े बातें कर रहे थे। मंचपरसे कुछ नीचे थे, विश्वामित्रजीके पास न थे। (ङ) 'सकुचि'—अदबके कारण नजर तिरछी और कड़ी देख तुरत रुक गये। प्रभुकी अप्रसन्न देख गुरुके पास गये, क्योंकि 'राखै गुरु जौं कोप बिधाता। १६६। ६।' (पं० रा० कु०)। सकुच प्रभुकी अप्रसन्नता समझकर हुआ। अथवा, गुरुके समीप जानेमें संकोच हुआ कि इन्होंने हमसे परशुरामजीको प्रणाम कराया था और हमने उनको कटु वाक्य कहे, कहीं गुरु इसको कुछ मनमें न लावें। इत्यादि। (पं०)। (च) 'परिहरि बानी बाम' इति। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि लक्ष्मणजी कुछ कड़वे वचन कहनेको थे यदि श्रीरामजीने नजर कड़ी न की होती।

अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी॥ १॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचनु करिअ नहिं काना॥ २॥
बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ॥ ३॥

शब्दार्थ—कान करना=सुनना, ध्यान देना। कान न करना=ध्यान न देना; सुनी-अनसुनी कर जाना। बररै (बर्रै)=भिड़, बर्रैया, ततैया। (श० सा०)।=बावला, पागल। (नं० प०)। बिदूषना=दोष लगाना।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र, कोमल, शीतल वाणी बोले॥ १॥ हे नाथ! सुनिये। आप तो स्वभावसे ही सुजान हैं। बालकोंके वचनोंपर कान न दीजिये॥ २॥ बर्रों और बालकोंका एक स्वभाव है। इन्हें संत कभी दोष नहीं लगाते॥ ३॥

नोट—१ (क) 'अति बिनीत' अर्थात् अत्यन्त विनम्र। एवं विशेष नीतियुक्त। (पं०)। [यह अर्धाली 'जल सम बचन' की व्याख्या है। जल निसर्गतः शीतल और मृदु अर्थात् निम्नगामी (विनीत) होता ही है। (प० प० प्र०)] (ख) क्षमाकी प्रार्थना है, इसीसे हाथ जोड़कर बोले। हाथ जोड़ना भी 'अत्यन्त' नम्रताका सूचक है। हाथ जोड़नेके और भाव ये हैं—ब्राह्मण हैं, शिवजीके शिष्य हैं, अवस्थामें बड़े हैं, गुरु विश्वामित्रजीके सम्बन्धी हैं। दोनों हाथ जोड़नेका भाव कि मैं आयुध छोड़कर सामने खड़ा हूँ। (पं०, रा० प्र०)। अथवा मैं अपने और लक्ष्मणजी दोनोंकी ओरसे हाथ जोड़ता हूँ; क्योंकि भाई भुजाके समान होता है। (पं०)। वा वर्ण और अवस्था दोनोंमें बड़े होनेसे दोनों हाथ जोड़े (पं०)। हाथ जोड़ना प्रसन्न करनेकी मुद्रा है।

२ 'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना।…' इति। (क) 'तुम्ह सहज सुजाना' का भाव कि आप सुजान हैं, बालक अजान (अबोध) है, अज्ञ है। आप सत्-असत्के ज्ञाता हैं, बालकको बुरे-भलेका ज्ञान नहीं। आप समझ सकते हैं, उसमें समझनेकी शक्ति नहीं। पुनः 'सहज सुजान' में सूक्ष्म आशय यह है कि आप हमारे अंश हैं, आवेशावतार हैं, आप बालकके वचनोंका आशय समझें कि आपके अवतारका कार्य पूर्ण हो चुका, अब आप वीरबाना उतारकर मुनिकी तरह वनमें जाकर तप करें। (पं०)। (ख) 'सुनिअ नहिं काना' अर्थात् वचनोंको सुनी-अनसुनी कर जाइये। दूसरा सूक्ष्म आशय यह है कि वचनोंपर न जाइये किंतु वचनोंका प्रयोजन, आशय, तत्त्व समझिये। (पं०)।

३—'बररै बालक…' इति। (क)—'बररै' का अर्थ प्रायः सभी प्राचीन टीकाकारोंने 'बर्रै' कीड़ेका अर्थ किया है। पंजाबीजीने 'बावरे' पाठ देकर बावला अर्थ किया है। परंतु श्रीनंगे परमहंसजीने 'बररे' पाठका ही अर्थ 'पागल' किया है। वे लिखते हैं कि 'लोग बर्रैका अर्थ 'ततैया' करते हैं जो डंक मारकर जीवोंको दुःख पहुँचानेवाली क्रूर स्वभावकी एक मक्खी है। इससे प्रसङ्ग बेमेल हो जाता है। क्योंकि वह तो जान-बूझकर दुःख देती है तथा उससे और मनुष्यसे तारतम्यता कैसी? यहाँ तो बालकका दरजा देकर नासमझपनेकी दूसरी नजीर बौरे मनुष्यकी ही देनेसे माफीका मिलान हो सकता है। अतः 'बर्रै' का अर्थ पागल ही यथार्थ है।' 'पागल और नादान' बच्चेकी एक-सी स्थिति है। तात्पर्य कि दोनोंकी समझ ठीक नहीं रहती। इसी कारण संत लोग इन्हें दूषण नहीं लगाते। अर्थात् यदि इनकी नासमझीसे कोई दोषका कार्य भी हो जाता है तो उसको क्षमा देते हैं। यह ख्याल कर लेते हैं कि यह अपने ठीक होशमें नहीं है क्या करे? इसीसे नीतिद्वारा भी नाबालिग और पागलको जुर्ममें माफी दी गयी है।—सम्भवतः पंजाबीजीकी टीकासे यह अर्थ लिया गया है, पर उसमें 'बवरे' पाठ है। मानसमें बौरहा, बावलाके लिये 'बाउर' शब्द आया है जो यहाँ 'बररै' के स्थानपर सुगमतासे रक्खा जा सकता था। भाव सुन्दर है यदि कोई इस अर्थका प्रमाण मिल जाय। (ख) वीरकविजी 'बिदूषहिं' का अर्थ 'छेड़छाड़' करते हैं ऐसा लिखते हैं। (ग) भिड़, बर्रै, बिरनी अर्थमें भाव यह है कि दोनोंका स्वभाव एक है। बर्रैको छेड़ो तो वह डंक मारती ही है, यह स्वभाव है, कुछ जान-बूझकर नहीं किंतु स्वभावसे। बालकोंको छेड़ो तो वे भी चिढ़ते, शिरपर चढ़ते और शरारत करते हैं, यह उनका चपलताका स्वभाव ही है। इससे दूसरेको दुःख होगा, यह समझ उनमें नहीं है। इसीसे संत उनको दोष नहीं देते। (घ) 'न संत बिदूषहिं काऊ' का भाव कि आप संत हैं और सहज सुजान हैं तब आप कैसे दोष देते हैं? यदि परशुरामजी कहें कि अच्छा, हमने अनुचित वचनोंको क्षमा किया, पर धनुषके टूटनेका रोष हमारे हृदयमें बहुत है, उसे हम कैसे क्षमा करें, तो उसपर आगे कहते हैं—'तेहि नाहीं…'। (पं०)।

तेंहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा ॥ ४ ॥
कृपा कोपु बधु बँधव गोसाईं। मो पर करिअ दास की नाईं ॥ ५ ॥
कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करौं* उपाई ॥ ६ ॥

अर्थ—(फिर) उसने (तो आपका) कुछ (भी) नहीं बिगाड़ा। हे नाथ! आपका अपराधी तो मैं हूँ।४। हे गोसाईं! आप कृपा, कोप, वध, बन्धन (जो जी चाहे) मुझपर दासकी तरह (अर्थात् मुझे अपना दास समझकर) कीजिये।५। जिस प्रकार आपका क्रोध दूर हो, हे मुनिनायक! वह शीघ्र बताइये। मैं वही उपाय करूँ।६।

नोट—१ 'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा…' इति। (क) ऊपर दो प्रकारसे लक्ष्मणजीको निर्दोष बताया।—एक तो यह कि आप सुजान हैं वह अज्ञान, दूसरे यह कि संत बालकोंको कभी दोष नहीं देते और न उनसे छेड़-छाड़ करते हैं। अब तीसरे प्रकार निरपराध दिखाते हैं कि धनुष तो तोड़ा मैंने और आप बिगड़ते हैं लक्ष्मणसे। काम बिगाड़े कोई और दण्ड पावे कोई, यह कौन न्याय है? सूक्ष्म आशय यह कि भूल व कसूर आपका ही है।

२—'कृपा कोप बध बँधब गोसाईं…' इति। (क)—भाव यह है कि कृपा कीजिये चाहे कोप कीजिये। जो इच्छा हो सो कीजिये। कोप करनेकी इच्छा है तो (कोपका फल) वध कीजिये अथवा बाँध रखिये। यहाँ कोपका फल 'बध बंधन' तो लिखा, पर कृपाका फल नहीं लिखा कि यदि कृपा करना चाहते हों तो क्या करें? इसका कारण यह है कि परशुरामजीके हृदयमें कृपा है ही नहीं जैसा वे स्वयं आगे कहते हैं—'मोरे हृदय कृपा कस काऊ'। जब हृदयमें कृपा है ही नहीं तब उसका फल लिखकर क्या करें कि कृपा हो तो ऐसा कीजिये। पेड़ ही नहीं तो फल-फूल कहाँ? (पं० रामकुमारजी)। पाँड़ेजी लिखते हैं कि कृपा कीजिये तो छोड़ दीजिये। और कोप कीजिये तो चाहे वध कीजिये चाहे बाँधिये। (ख) 'गोसाईं' स्वामीका पर्याय है। अपनेको दास कहते हैं अतः 'गोसाईं' सम्बोधन दिया। पुनः, गोसाईं=इन्द्रियोंके स्वामी। अर्थात् कृपा, कोप जो भी करें वह इन्द्रियजित् मुनि विप्ररूपसे कीजिये। यह व्यङ्ग्यके वचन हैं।

३—'मो पर करिअ दास की नाईं' इति। (क) 'मो पर करिअ' अर्थात् लक्ष्मणपर नहीं, कारण कि अपराधी मैं हूँ, वह नहीं। 'दास की नाईं' इस वाक्यमें लक्षणामूलक विवक्षितवाच्य ध्वनि है कि सेवकपर कृपा की जाती हो तो कृपा कीजिये, अथवा क्रोध, वध, बंधन किया जाता हो तो वही कीजिये। जिसमें आपका क्रोध शान्त हो, मैं हर प्रकार यत्न करनेको तैयार हूँ। पुनः, (ख) भाव कि जैसे लड़का कुछ ऐब करे तो माता-पिता थप्पड़ भी मारते हैं तो पोले हाथसे और जैसे गुरु शिष्यको शिक्षा देनेके लिये दण्ड देते हैं बस वैसा ही दया रखकर, क्रोध कीजिये। पुनः, (ग) ये वचन व्यंग्यके हैं। जो कुछ भी आप करें वह मुझे अपना दास मानकर करें। अर्थात् ब्राह्मण बनकर, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणके दास हैं, मुझे ब्राह्मणका सेवक मानकर चाहे कृपा करें चाहे कोप, दोनों मुझे स्वीकार हैं। पर मुझे क्षत्रिय और अपना शत्रु समझकर नहीं। शत्रु और क्षत्रिय समझकर आप इनमेंसे कुछ भी करना चाहें तो मुझे मंजूर (अङ्गीकार) नहीं, क्योंकि तब तो हम कालको भी नहीं डरनेके, आपकी बात ही क्या? यथा—'देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना ॥ जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ ॥…'। २८४। १-४।'

४—'कहिअ बेगि…' इति। (क) 'बेगि' देहलीदीपक है। भाव यह कि शीघ्र ही उस साधनको करनेको प्रस्तुत हूँ, आपके कहनेकी ही देर है। बड़ोंकी आज्ञा शीघ्र शिरोधार्य करनी चाहिये, इसीसे 'बेगि' के साथ 'मुनिनायक' सम्बोधन दिया। पुनः, (ख) 'मुनिनायक' का भाव कि मननशील सम्पूर्ण व्यवहारोंके जाननेवाले इस रूपके अनुसार जो आप कहें वह मुझे करने योग्य है। (पाँ०)।

नोट—५ कविने जो कहा था कि 'अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम', वे 'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना' से यहाँतक हैं। सभी विनीत, मृदु और शीतल हैं। फिर भी महानुभावोंने तीनोंको पृथक् पृथक् दिखाया है। जैसे कि—मा० त० वि० कारका मत है कि 'बररै बालक एक सुभाऊ' अति विनीत है, 'अपराधी मैं नाथ तुम्हारा' मृदु है और 'कृपा कोप बध बँधब…' शीतल वाणी है और वैजनाथजीके मतानुसार 'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना।…काना' अति विनीत है, 'बररै बालक…काऊ' मृदु है।

---

* करउँ—छ०, को० रा०। करहु—१७०४। करौं—१६६१, १७२१, १७६२।

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे॥ ७॥
येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा। तो मैं काह कोपु करि कीन्हा॥ ८॥

दो०—गर्भ श्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठारु गति घोर।
परसु अछत देखौं जिअत बैरी भूप किसोर॥२७९॥

शब्दार्थ—अनैसे=बुरे भावसे; बुरी तरहसे, अहित दृष्टिसे, शत्रु-दृष्टिसे। अवनिप रवनि=राजाओंकी स्त्रियाँ। रवनि (रमणी)=स्त्री, रानी। श्रवहिं=गिर जाते हैं, टपक पड़ते हैं।

अर्थ—मुनिने कहा—राम! रिस कैसे दूर हो। अब भी तो तेरा भाई बुरी तरहसे (टेढ़ी चितवन किये) देख रहा है। ७। इसके गलेमें कुठार न दिया तो मैंने क्रोध करके क्या किया?। ८। मेरे जिस फरसेकी घोर चाल (भयंकर करनी) सुनकर रानियोंके गर्भपात हो जाते हैं, उसके रहते हुए भी मैं वैरी राजकुमारको जीवित देख रहा हूँ। २७९।

नोट—१ (क) 'जाइ रिस कैसे···' इति। भाव कि तुम क्रोध शान्त होनेका उपाय पूछते हो, पर वह उपाय तुम्हारे वशका नहीं है, इसीसे क्रोध जा नहीं सकता। 'अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे'—भाव कि तेरा भाई ही क्रोधको उद्दीप्त करता है। यह हमारा उत्कर्ष सह नहीं सकता। लक्ष्मणजीकी अनैसी चितवनसे उनके उत्कर्षके न सह सकनेकी अक्षमता 'असूया सञ्चारी भाव' है। भाव यह कि जबतक यह आँखोंकी ओट न होगा तबतक रिस जा नहीं सकती, यह क्रोधको अधिक प्रज्वलित करनेसे बाज न आवेगा। पुनः (ख) 'अजहुँ' कहनेका भाव कि तुम्हारे मना करनेपर, घुरेरनेपर, टेढ़ी वाणी तो छोड़ दी पर चपलतासे बाज न आया, टेढ़ी दृष्टिसे देख रहा है। (ग) 'अजहुँ चितव अनैसे' अर्थात् पहले कुछ बहुत ही कठोर वचन उत्तरमें मुँहसे निकालनेवाला था, पर तुम्हारे डाँटनेसे रुक गया और चला गया था। किंतु उसकी कसर 'अनैसी' दृष्टिद्वारा निकाल रहा है। (पं० रा० कु०)। (घ) पुनः भाव कि जबतक इसकी कुटिलता न मिटेगी तबतक रिस न जायगी।

२ 'येहि के कंठ कुठार न दीन्हा···' इति। श्रीरामजीने जो कहा था कि आप कोप करके वध करें अथवा बन्धन करें, उसके उत्तरमें परशुरामजी कहते हैं कि तुम मेरा कोप करना कहते हो पर इसके कण्ठमें मैंने कुठार नहीं दिया, इसका सिर नहीं काटा, तो कोप करनेसे हुआ ही क्या? कोप व्यर्थ ही तो हुआ। क्योंकि अतिकोपका फल वध है सो हमने नहीं किया। यहाँ परशुरामके मुखसे उनका अतिक्रोध वर्णन करके रघुनाथजीके इस व्यंग वचनको कि उन्हें मुनिनायक कहा पुष्ट करते हैं; क्योंकि सामान्य कोपका फल बन्धन है सो इसको परशुरामजी अपने उत्तरमें कुछ नहीं कहते हैं'।—(पाँड़ेजी)। 'अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे' कहकर 'येहि के····' कहनेका भाव कि इसकी कुटिलता दूर करनेका यही उपाय है, दूसरा नहीं। यह उपाय कर लेनेपर फिर रिस शान्त हो जायगी।

३ 'गर्भ श्रवहिं··' इति। (क) पाँड़ेजी लिखते हैं—'यहाँ परशुरामजी अपनेको और अपने कुठारको 'छत' कहते हैं और शत्रुको 'अछत'। अपना छत चौपाईमें कहा, अब कुठारका छत कहते हैं कि फरसा जिसकी घोर गतिका देखना तो गया, सुनते ही रानियोंके गर्भ गिर पड़ते हैं, उसके रहते भी मैं वैरी राजकुमारको जीता देखता हूँ'। (ख) 'भूपकिशोर' का भाव कि गर्भके बच्चेतक तो मेरे कोपके डरसे न जीवित रहते थे और यह तो किशोरावस्थाका है और सामने है तथा वैरी है तब भी मैं इसे नहीं मार रहा हूँ। यह आश्चर्य है। अथवा, भाव कि तुम कहते हो कि रिस दूर होनेका उपाय कहिये पर मैंने कोप किया है क्या? इसका सबूत साफ है कि वैरीको अबतक मारा नहीं। (पं०)। (ग) 'अवनिप रवनि' का भाव कि जैसे अवनी (पृथ्वी) कठोर है, वैसे ही उसके पालनेवाले 'अवनिपों' का हृदय कठोर है, उसी तरह उनकी रानियोंके हृदय कठोर हैं, फिर भी मेरे कुठारकी भयंकरता सुनकर ही उनके भी गर्भ गिर जाते हैं। यदि कोई कहे कि फिर मारते क्यों नहीं? उसपर आगे कहते हैं—'बहै न हाथ····'।

बहै न हाथ दहै रिस छाती। भा कुठारु कुंठित नृपघाती॥ १॥
भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ॥ २॥

आजु दया* दुखु दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि बिहँसि† सिरु नावा॥ ३॥

शब्दार्थ—बहै=उठता या चलता है। बहना=चलना। कुंठित=गोठिल, कुंद।

अर्थ—हाथ नहीं चलता, छाती रिससे जल रही है, राजाओंका नाश करनेवाला फरसा कुण्ठित हो गया। १। विधाता विपरीत हो गया (इससे) स्वभाव बदल गया। (नहीं तो भला) मेरे हृदयमें कभी भी कृपा कैसी ?। २। आज दयाने मुझे कठिन दुःख सहन कराया। यह सुनकर लक्ष्मणजीने हँसकर सिर नवाया (प्रणाम किया)। ३।

प० प० प्र०—'भा कुठारु…'। यहाँतक अघटित-घटना-पटीयसी भगवती दैवी मायाने लक्ष्मणजीके वचनोंको निमित्त करके परशुरामके पराक्रम, तेज, बल, प्रताप, कठोरता इत्यादि भगवद्दत्त दैवी सामर्थ्यको छीन लिया है। इस प्रसंगमें परशुरामके अवतारकी समाप्ति होती है और वे केवल कोरे भृगुसुत रह जाते हैं। कुठारगतिके कुण्ठित होनेमें 'जानकी' और युगल कुमारोंको दिया हुआ उनका आशीर्वाद भी एक कारण है।

टिप्पणी—१ **'बहै न हाथ…'** इति। (क) परशुरामजी यहाँ सहेतुक बात कह रहे हैं। 'येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा। २७९। ८।' का हेतु कहते हैं कि हाथ नहीं चलता और 'परसु अछत देखौं जिअत बैरी भूप किसोर। २७९।' का हेतु बताते हैं कि **'भा कुठारु कुंठित नृपघाती'**। फिर 'बहै न हाथ' और 'भा कुठारु कुंठित' इन दोनोंका हेतु आगे कहते हैं कि **'फिरेउ सुभाऊ'**। स्वभाव फिरनेका हेतु 'भयेउ बाम बिधि' कहते हैं। (ख) ['परसु अछत देखौं जिअत' इसपर यदि कहो कि फिर मारते क्यों नहीं ? उसपर कहते हैं कि हाथ नहीं चलता, हाथ न चलनेसे क्रोध निकलता नहीं (हाथ चलता तो क्रोध शान्त हो जाता), इसीसे छाती जलती है। क्या कारण है, सो कहते हैं कि न जाने राजाओंको काटते-काटते इसकी धार चली गयी, धार मोटी पड़ गयी, यह भोथाय गया, अथवा विधाता प्रतिकूल हो गये, इससे नहीं चलता। स्वभावका पलट जाना, शत्रुपर कृपा करना, यही विधिकी वामता है, क्योंकि 'रिपु पर कृपा परम कदराई' है। इसीसे तो 'कायर' कहे गये। (यथा—'कायर कथहिं प्रतापु' । २७४')। (प्र० सं०)] (ग) पुनः 'बहै न हाथ' का भाव कि हाथमें कुठार है पर चलता नहीं (हाथ मारनेको उठता नहीं)। चलता क्यों नहीं ? इसका उत्तर देते हैं कि 'नृपघाती' है; नृपोंका घात करते-करते कुण्ठित हो गया इसीसे चलता नहीं।

२ **'भयेउ बाम बिधि…'** इति। (क) शत्रुपर कृपा होना विधिकी वामता है, शत्रुपर कृपा करनेवाला कादर कहा जाता है, यथा—**'रिपु पर कृपा परम कदराई। ३। १८'**। (ख) 'भयेउ…सुभाऊ' का भाव कि हमारा स्वभाव विनती करने, हाथ जोड़ने, पैरोंपर पड़ने इत्यादि किसी उपायसे भी नहीं फिरता, अर्थात् हम कृपा कभी नहीं करते। विधाता वाम हुआ है, इसीसे फिरा है। 'भयेउ बाम बिधि' देहली-दीपक है। कुठार कुण्ठित हुआ विधिकी वामतासे और स्वभाव फिरा सो भी विधिकी प्रतिकूलतासे। (ग) श्रीलक्ष्मणजीको नहीं मारते। इसके दो हेतु कहते हैं—एक तो कुठार कुण्ठित हो गया, दूसरे कृपा आ गयी। ये दोनों हेतु विधिकी वामतासे उपस्थित हो गये।

टिप्पणी—३ 'आजु दया दुखु…' इति। (क) 'आजु' का भाव कि हमने वैरी (राजाओं) पर अभीतक कभी भी कृपा नहीं की थी, आज ही की है। 'दया दुखु दुसह' का भाव कि हमने ऐसा दुःख कभी नहीं सहा। न हमने किसी राजापर कृपा की, न कोई राजा हमारे सम्मुख बोल सका। (आज दया की। उसका फल यह मिला कि यह सम्मुख उत्तर देता है जिससे असह्य दुःख हो रहा है। गुणमयी दयाको दोषरूप कहनेमें 'लेश अलंकार' है)। (ख) 'सुनि सौमित्रि' इति। 'सौमित्रि' का भाव कि ये श्रीसुमित्राजीके पुत्र हैं [इनका कारण ही 'सुमित्रा' 'सुष्ठु मित्र' (भाववाला) है, तब ये भी क्यों न उसी भाववाले हों], सबसे मित्रता रखते हैं। ये परशुरामजीसे कुछ अन्तःकरणसे विरोध नहीं रखते हैं, केवल ऊपरसे कटु वचन (उनको परास्त करनेके लिये उनके प्रत्युत्तरमें) कहते हैं। (ग) ['बिहँसि'—परशुरामजीके वचन पूर्वापरविरुद्ध हैं। वे क्रोध और दया दोनोंका होना कहते हैं, यही समझकर लक्ष्मणजी हँसे। भाव यह कि जहाँ कोप होता है वहाँ कृपा नहीं होती और जहाँ कृपा होती है वहाँ कोप नहीं होता और ये अपनेमें दोनों कहते हैं कि रिससे छाती जलती है और दयासे दुसह दुःख है। दयासे भला दुःख होता है, उससे तो हृदय शान्त और शीतल होना चाहिये (प्र० सं०)]

---

* दैव—१७०४, को० रा०। दया—१६६१, छ०। दयाँ—१७२१, १७६२.। † बहुरि—१७०४, को० रा०। बिहसि—१६६१, १७२१, १७६२ छ०।

(घ) 'सिर नावा' इति। भाव कि 'बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला। चौ० ४ ॥' ऐसी मूर्तिको नमस्कार है। उनको मूर्ति कहते हैं और मूर्तिको नमस्कार करना ही चाहिये। अतः नमस्कार किया। [पुनः भाव कि आप धन्य हैं। (पं०, रा० प्र०)। यह दूषण-सूचक आदरणीय दण्डवत् है। (वै०)]

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला ॥ ४ ॥
जौं पै कृपा जरिहि* मुनि गाता। क्रोधु भए तनु राख बिधाता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बाउ (वायु)=हवा, पवन। राख=रक्खें, रक्षा करें।

अर्थ—(और कहा—) आपकी कृपारूपी वायु आपकी मूर्त्तिके अनुकूल ही है। (आप) वचन बोलते हैं मानो फूल झड़ रहे हैं! ॥ ४ ॥ हे मुनि! यदि कृपा करनेसे (सत्य ही) आपका शरीर जल जाता है तो क्रोध होनेपर तो शरीर विधाता ही रक्खें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'बाउ कृपा ···' इति। यहाँ व्यंग्यसे कहते हैं कि आपका स्वरूप कराल है। करालरूप क्रोध वायु है। क्रोधसे निकले हुए वचन आगके फूल (आगके अङ्गारोंकी चिनगारियाँ) हैं। वायुसे फूल झड़ते हैं, वैसे ही कृपासे कोमल वचन निकलते हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी कृपा तो आपके वचनोंसे ही प्रकट हो रही है। कृपामें ऐसे ही मधुर वचन बोलने चाहिये (जैसे आप बोल रहे हैं)? यहाँ क्रोधके स्थानमें 'कृपा' और कराल रूपके स्थानमें 'मूरति', प्रतिकूलके स्थानमें 'अनुकूल' और (विषैले) कठोर बोलनेके स्थानमें फूलोंका झड़ना कहना व्यंग्य है। 'बाउ कृपा मूरति अनुकूला' का भाव कि जो अनुकूल होता है वह कृपा करता ही है।—यह 'आजु दया दुखु दुसह सहावा' का उत्तर है। [प्र० सं० में 'मोरे हृदय कृपा कस काऊ' का उत्तर इसे कहा था। यह रूपकका अङ्गी 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। कृपा, अनुकूल मूर्त्ति और फूलका झरना अपने-अपने वाच्यार्थको छोड़कर तद्विपरीत अर्थका बोध कराते हैं। यह लक्षणामूलक, अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। (वीरकवि)]

नोट—१ अन्य टीकाकारोंके भाव—(क) जैसी आपकी सौम्य शान्त मूर्ति है, उसीके अनुकूल कृपा भी हुआ चाहे। इसीसे आप वैसे ही मृदु वचन भी बोलते हैं, मानो फूल झड़ रहे हैं। (पं०)। पवनके वेगसे वृक्षसे फूल झड़ते ही हैं, वैसे ही कृपाके वेगसे मूर्तिरूपी वृक्षसे वचनरूपी फूल झड़ते (निकलते) हैं। (ख) मूर्तिके अनुकूल कृपा भी है अर्थात् आपकी मूर्ति विषकी वेलिके समान है, उसीके अनुकूल विषैली वायुसम कृपा भी उस मूर्तिमें लगकर शोभित हो रही है। इस तरह कि उस पवनके प्रसङ्गसे आप जो वचन बोलते हैं वे ही मानो फूल झड़ते हैं। भाव कि आप वचन भी विषैले बोल रहे हैं। (वै०)। (ग) 'जिस रसकी वायुमें आप भर रहे हैं वही आपकी कृपा वायु है और आपका मूर्तिरूपी वृक्ष उसीके अनुकूल है अर्थात् क्रोधका भरा हुआ है। अथवा आपकी कृपा की 'वाव' है, आपकी मूर्ति अनुकूल अर्थात् शान्त है। आप जो ये वचन बोलते हैं वे उस मूर्तिरूपी वृक्षसे फूल झड़ रहे हैं' (पाँ०)। (घ) मा० त० वि० कार यह अर्थ लिखते हैं—'कृपामूर्तिरूपी वायुके अनुकूल वचन जो आप बोल रहे हैं ये मानो फूल ही झड़ रहे हैं।' (ङ) बाबू श्यामसुन्दरदासजीने 'बाउ कृपा' का अर्थ 'वाह री कृपा' किया है। पर कोशमें 'बाउ' का ऐसा अर्थ मुझे कहीं नहीं मिला। इसके अतिरिक्त सम्भवतः पाँड़ेजीके आधारपर उन्होंने और भी अर्थ दिये हैं—'जिस वायुकी कृपासे आप बोलते हैं, उसकी कृपा है, यानी आप तो शान्त स्वभाव हैं, पर उस हवासे ही क्रोध है, वायु मूर्तिके अनुकूल ही (शान्त) है।' (च) श्रीनंगे परमहंसजीका अर्थ—'आपकी मूरति अनुकूलरूप वृक्षसे कृपारूप वायुके बोलत वचनरूप फूल झरत।'

टिप्पणी—२ 'जौं पै कृपा ···' इति। (क) परशुरामजी अपने हृदयमें कोप और कृपा दोनों कहते हैं। 'बहै न हाथ दहै रिस छाती' यह क्रोध है और 'आजु दया दुखु दुसह सहावा' यह कृपा है। लक्ष्मणजी दोनोंका उत्तर देते हैं—'जौं पै' (ख) 'जौं पै'—गहोरादेशमें 'जौ' के स्थानमें 'जौ पै' बोलते हैं। जौ पै=जो। (अथवा, जौ पै=जो निश्चय ही। 'पै'= निश्चय, अवश्य) यथा—'सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहिहैं।')। (ग) 'जौं पै कृपा जरिहि मुनि गाता' का भाव कि (कृपामें तो शरीर शीतल रहता है। आप मुनि हैं, आपने आश्चर्य कर दिखाया कि कृपाहीमें शरीर जला जाता है, नहीं तो) कृपा तो जल (सदृश) है (यथा—'कृपा बारिधर राम खरारी। ६। ६९), शीतल है अतः

* जर्राहि—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। जरिहि—१६६१।

जब जलमें वा शीतलतामें आपके गात जले जाते हैं तब तो क्रोधाग्निसे विधाता ही शरीरकी रक्षा करते हैं क्योंकि 'हानि लाभु जीवन मरन जसु अपजसु बिधि हाथ । २ । १७१ ॥' जीवन-मरण विधाताके हाथ है, इसीसे विधाताका रक्षा करना कहा । तनकी रक्षाके लिये 'विधाता' शब्द दिया । जो धारण-पोषण करे वह विधाता है—'डुधाञ् धारणपोषणयोः ।'—['राख' का अर्थ 'रखते हैं, रखते होंगे; 'रक्खेंगे' भी किये गये हैं] ।

देखु जनक हठि बालकु एहू । कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ॥ ६ ॥
बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा । देखत छोट खोट नृप ढोटा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—हठि=हठ करके ।=हठी (नं० ५०) ।=रोक, यथा—'नयन नीर हठि मंगल जानी ।' ओट=आड़; परदा ।

अर्थ—(लक्ष्मणजीके वचन सुनकर परशुरामजी जनकजीसे बोले—) हे जनक ! देख, यह मूर्ख बालक हठ करके यमपुरी (नरक) में अपना घर बनाना चाहता है ॥ ६ ॥ इसे शीघ्र ही आँखोंकी ओटमें क्यों नहीं कर देते ? यह राजकुमार देखनेमें छोटा है पर है खोटा ॥ ७ ॥

नोट—१ उत्तर देते न बना, न कुछ जोर ही चलता है, इससे अब जनकजीपर आये । पहले विश्वामित्रजीको निहोरा दिया, यथा—'कौशिक सुनहु मंद येहु बालकु ।' (२७४ । १), फिर श्रीरामजीको निहोरा देकर बोले, यथा—'बोले रामहि देइ निहोरा । २७८ । ७ ॥' क्योंकि इन्होंने इशारेसे लक्ष्मणजीको रोका था और क्षमाकी प्रार्थना की थी । पंजाबीजी कहते हैं कि परशुरामजी समझते थे कि रामजीके डाँटनेसे लक्ष्मणजी चुप हो गये हैं, अब न बोलेंगे । पर जब उन्होंने देखा कि वे फिर भी बोल उठे तब यह समझकर कि वे श्रीरामजीके भी काबू (वश) के नहीं हैं, वे जनकमहाराजसे बोले । यहाँ श्रीजनकजीसे कहनेका भाव यह है कि पूर्व जनकजीने कहा था कि चुप रहो, अनुचित अच्छा नहीं है, यथा—'बोलत लषनहिं जनकु डेराहीं । मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं । २७८ । ४ ।'—जनकजीके इन वचनोंका बल पाकर अब जनकजीसे कहने लगे । विश्वामित्रजीसे केवल मना करनेको कहा था, यथा—'तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा । २७४ । ४ ।', और इनसे लक्ष्मणजीको आँखोंकी ओट करने अर्थात् सामनेसे हटा देनेको कहते हैं । कारण यह कि यह कुमार तो उनके साथ ही है, उनसे हटानेको क्योंकर कहें, दूसरे उन्होंने पहली बार भी उसे कुछ न कहकर उल्टे परशुरामजीको ही समझा-बुझा दिया था, अतः उनसे कहना व्यर्थ समझा । परशुरामजीका तेज घटता जा रहा है । वे क्रमशः एक-एकका निहोरा करते जाते हैं । पूर्व जो कहा था कि 'होइ बल हानी । २७८ । ६ ।' वही दशा कवि दिखाते चले जाते हैं । राजा जनकके ऊपरसे रोष, हट गया, केवल लक्ष्मणजीसे वश नहीं चलता और न कहीं आश्रय ही मिलता है ।

टिप्पणी—१ (क) 'हठि'—भाव कि हम तो बहुत बचाते हैं पर यह हठ करके मरनेपर उतारू है । 'जड़'—भाव कि इसे अपनी मृत्यु नहीं समझ पड़ती । (ख) 'जमपुर गेहू' इति । जो पाप करता है वह यमपुरीको जाता है, यथा—'जमपुर पंथ सोच जिमि पापी । २ । १४५ ।', और परशुरामजीने पूर्व लक्ष्मणजीको पापी कहा ही है, यथा—'राम तोर भ्राता बड़ पापी । २७७ । ६ ।', इसीसे अब यमपुरको जाना कहते हैं । यमपुरमें घर बनाना चाहता है अर्थात् यह बहुत दिनोंतक यमपुरीमें वास करना चाहता है । 'बड़ा पापी' है इससे बहुत काल नरकमें रहेगा । यह 'बड़ पापी' का फल कहा ।

२ 'बेगि करहु किन···' इति । (क) 'बेगि' कहनेका भाव कि हम इसे पलभर भी नहीं देख सकते । पुनः भाव कि यह फिर कटु वचन कहने ही चाहता है । अतः इसे शीघ्र ही आँखोंसे ओझल कर दो । (अथवा शीघ्र हटा दो, नहीं तो बस अब हम इसे तुरत मारते ही हैं, इसका पाप तुमको लगेगा) । (ख) 'करहु किन ?'—शीघ्र क्यों नहीं हटाते ? भाव कि क्या तुम मेरे हाथों इसकी मृत्यु देखना चाहते हो ? अथवा, यह हमको कटु वचन कहता है, तुमको उसका कटु बोलना प्रिय लगता है इससे नहीं हटाते ? (ग) 'आँखिन्ह ओटा' कहनेका भाव कि यह आँखोंसे देखने योग्य नहीं है । [परशुरामजी सोचते हैं कि इसके वचनोंका उत्तर तो मुझसे देते नहीं बनेगा, इससे यह ओटमें हो जाय तो कम-से-कम यह हमारे वचनका उत्तर न देने पावे, हम मनमानी कह लें । (प्र० सं०)] (घ) 'देखत छोट खोट नृप ढोटा' इति । 'देखत छोट' अर्थात् देखनेमें तो छोटा है पर उत्तर बड़ा पूरा देता है । 'खोट' अर्थात् बड़ा कटुवादी है । 'खोट नृप ढोटा' कहनेका भाव कि एक तो खोटा है, दूसरे राजपुत्र है और राजा हमको नहीं सुहाते । अतएव इसे आँखोंकी ओटमें कर दो । श्रीलक्ष्मणजी-के पश्चात् पुरवासियोंने जो कहा था कि 'छोट कुमार खोट बड़ भारी । २७८ । ५ ।', उसीको सुनकर परशुरामजी यहाँ कहते हैं—'देखत छोट खोट'; इस तरह सूचित करते हैं कि देखनेमें छोटा है पर 'खोटाई' में भारी है ।

बिहसे लषनु कहा मन* माहीं। मूदे आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ॥ ८ ॥
दो०—परसुराम तब राम प्रति बोले उर अतिक्रोधु।
संभु सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोधु ॥ २८० ॥

अर्थ—लक्ष्मणजी हँसे और मन-ही-मन कहा कि—आँख मूँद लेनेपर कहीं कोई नहीं है (अर्थात् आँखकी ओट करना तो अपने वशकी बात है, अपनी आँख बन्द कर लीजिये) ॥ ८ ॥ तब हृदयमें अत्यन्त क्रोध भरे हुए परशुरामजी श्रीरामजीसे बोले—रे शठ ! (तू) श्रीशिवजीका धनुष तोड़कर हमहीको ज्ञान सिखाता है ! समझाता है ! ॥ २८० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिहसे' का भाव कि अभी तो कहते थे कि हाथ नहीं उठता, कुठार नहीं चलता और अब कहते हैं कि 'कीन्ह चहत जमपुर गेहू' अर्थात् हमें यमपुर पहुँचानेको कहते हैं। इन्हें अपने पूर्वापर वचनोंका सँभाल भी नहीं है। पूर्वापरविरुद्ध वचन कहते हैं। जब कुठार ही नहीं चलता तब हमारा यमपुरमें वास कैसे होगा ? पुनः प्रथम कहा कि हमारे हृदयमें दया आ गयी और अब कहते हैं कि 'बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा'। भला, जिसके ऊपर दया होती है उसे कोई आँखोंकी ओट करता है ? (ख) 'कहा मन माहीं'—मनमें कहनेका भाव कि परशुरामजी जनकजीको निहोरा देकर बोले थे—'देखु जनक हठि बालक एहू'; अतएव श्रीजनकजीके संकोचसे लक्ष्मणजीने प्रकट न कहा, मनमें कहा। (ग) 'मूदे आँखि' कहनेका भाव कि हम तुम्हारे करनेसे आँखोंकी ओट नहीं होनेके, तुम अपनी ही आँखें बन्द कर लो। (घ) 'कतहुँ कोउ नाहीं'—भाव कि हम ही नहीं, सारा समाज ही आँखोंकी ओट हो जायगा, क्योंकि तुम्हें कोई भी राजा नहीं सुहाता। ['मूँदे···' में दृष्टि-सृष्टिवाद सूचित है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ 'परसुरामु तब·····' इति। (क) 'तब' अर्थात् जब लक्ष्मणजी आँखोंकी ओट न हुए तब श्रीरामजीसे क्रोध करके बोले। तात्पर्य कि इनके हटाये यह हट जाता, पर ये हटाते नहीं, हमको कटु वचन कहलाते हैं जैसा आगेके वचनोंसे स्पष्ट है।—[श्रीरामजीपर ही अब कुपित हो उठे और किसीपर नहीं। कारण कि और किसीको तो यह लड़का कुछ समझता ही नहीं और इनके नेत्रके इशारेमात्रपर दुबक जाता है, यथा—'रघुपति सयनहि लषनु नेवारे। २७६। ८।', 'नयन तरेरे राम। गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम। २७८।' यदि ये मना करते तो यह क्यों न चुप हो जाता। ऐसा विचारकर निश्चय किया कि अवश्य सब इन्हींका कसूर है। (प्र० सं०)] ये चाहते तो वह आँखोंकी ओट हो जाता। (ख) 'उर अति क्रोधु'—उसको सिखाते नहीं, उल्टे हमको उपदेश देते हैं जैसा आगे स्पष्ट है, इसीसे 'अति क्रोध' है। (ग) 'संभु सरासन तोरि सठ—'—अर्थात् हमारी वस्तु बिगाड़कर हमहीको ज्ञान सिखाता है—इसीसे 'अति क्रोध' हुआ। छलीको शठ कहते हैं। शठ है अर्थात् छली है, यथा—'तू छल बिनय करसि कर जोरे', 'छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही।' (घ) 'करसि हमार प्रबोधु' इति। 'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचनु करिअ नहिं काना ॥ बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ। २७९। २-३।'—यह जो श्रीरामजीने कहा है, उसीको कहते हैं कि 'करसि हमार प्रबोधु।'

बंधु कहै कटु संमत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे ॥ १ ॥
करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहिं त † छाड़ कहाउब रामा ॥ २ ॥
छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही। बंधु सहित नत मारौं तोही ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—संमत=सम्मति, सलाह, राय। करसि=करता है। परितोष=तृप्ति; संतोष, वह प्रसन्नता जो किसी विशेष अभिलाषा या इच्छाकी पूर्तिसे उत्पन्न हो। छाड़ु=छोड़ दे।

अर्थ—तेरी (ही) सम्मतिसे (तेरा) भाई कड़वा (वचन) बोलता है और तू छलसे हाथ जोड़े हुए विनती करता है ॥ १ ॥ संग्राममें मेरा संतोष कर, नहीं तो 'राम' कहलाना छोड़ दे ॥ २ ॥ हे शिवद्रोही ! छल छोड़कर (मुझसे) युद्ध कर, नहीं तो (मैं) भाईसहित तुझे मारता हूँ ॥ ३ ॥

---

* मुनि पाहीं—१७०४, को० रा०। मन माहीं—१६६१, १७२१, १७६२ छ०।
† नहि त—१६६१। लेखप्रमाद जान पड़ता है।

टिप्पणी—१ 'बंधु कहै कटु····' इति । (क) कैसे जाना कि भाई रामजीकी सम्मतिसे कटु वचन कहता है ? उत्तर—श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके कहनेमें हैं, श्रीरामजीका बहुत संकोच मानते हैं, उनके मना करनेसे लक्ष्मणजी चुप हो जाते हैं । यथा—'सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम । गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम । २७८ ।' अनुचित कहि सब लोग पुकारे । रघुपति सयनहि लखनु नेवारे ॥ २७६ । ८ ।' परशुरामजी यह सब अपनी आँखोंसे देख रहे हैं कि लक्ष्मणजी बड़े भाईका इतना लिहाज मानते हैं, उनकी आज्ञामें हैं, यदि वे इनको डाट दें, मना कर दें, तो ये न बोलें, पर वे मना नहीं करते, इससे सिद्ध होता है कि वे ही कटु वचन कहलाते हैं । (ख) 'छल बिनय करसि कर जोरे' इति । भाव कि अपराधीका पक्षपात करते हैं, उसे मारने नहीं देते, हाथ जोड़कर भाईको बचानेके लिये विनती करते हैं—यही छल है । (ग) 'कर जोरे'—श्रीरामजीने हाथ जोड़कर अभी-अभी विनय की थी, यथा—'अति बिनीत मृदु सीतल बानी । बोले रामु जोरि जुग पानी ॥ २७९ । १'; इसीसे परशुरामजी कहते हैं 'तू छल····कर जोरे' (घ) '····समत तोरे । तू छल····' कहकर जनाया कि तुम तन-मन-वचन तीनोंसे छली हो । संमत देना मनका छल है, विनय करना वचनका और हाथ जोड़ना तनका छल है ।

टिप्पणी—२ 'करु परितोषु मोर संग्रामा ।····' इति । (क) संग्राम करके मेरा संतोष कर, इस कथनका भाव यह है कि हाथ जोड़कर विनय करनेसे जो मेरा संतोष करना चाहते हो सो नहीं होनेका, संग्रामसे ही संतोष होगा । (ख) 'नाहिं त छाड़ु कहाउब रामा' अर्थात् नहीं तो हमारी बराबरीका नाम कहलाना छोड़ दे । यहाँ परशुरामजी 'राम' नामका रखना संग्रामके अधीन कर रहे हैं । इसमें भाव यह है कि 'संग्राम' शब्दमें 'राम' शब्द मिला हुआ है । अतः जो संग्राम करके परितोष कर दें तो 'राम' नाम पावैं, यदि संग्राम न करें तो 'राम' नाम न पावें । हम 'राम' लोकविजयी हैं और तुम 'राम' कहाकर भी संग्रामसे डरते हो, तो राम कहाना छोड़ दो, कादरको 'राम' नाम नहीं शोभा देता, जो हमारे-सदृश जगत्-विजयी हो वही 'राम' कहावे । यह नाम शूरवीरका ही होना चाहिये, इससे शूरवीरकी शोभा है । तुम शूरवीर नहीं हो तो जो हमारा-सा नाम रख लिया है इसे छोड़ दो ।—उपर्युक्त भावसे ही 'राम' नाम छोड़नेको कहा, नहीं तो एक नामके अनेक मनुष्य होते हैं । किसका-किसका नाम छोड़ा गया है ? एक नाम होनेसे कहीं बराबरीका दावा होता है ? राम, लक्ष्मण, भरत नामके अनेक मनुष्य हैं, पर क्या वे इनके समान हुए जाते हैं ? कदापि नहीं । यहाँ 'विकल्प अलंकार' है ।

☞ मिलान कीजिये—'त्वं राम इति नाम्ना मे चरसि क्षत्रियाधम । ११ । द्वन्द्वयुद्धं प्रयच्छाशु यदि त्वं क्षत्रियोऽसि वै ।····। अ० रा० १ । ७ । १२ ।' अर्थात् तू मेरे ही समान 'राम' नामसे विख्यात होकर पृथ्वीमें विचरता है । यदि तू वास्तवमें क्षत्रिय है तो मेरे साथ द्वन्द्व युद्ध कर ।

३—'छलु तजि करहि समरु····' इति । (क) 'छल तजि'—छल वही है जो ऊपर कह आये । हाथ जोड़ना, विनती करना छल है । भाव यह कि संग्रामके डरसे हाथ जोड़ते हो, ऊपरसे ब्रह्मण्यता दिखाते हो, कहते हो कि हम ब्राह्मण जानकर हाथ जोड़ते हैं, विनती करते हैं—यह सब छल है, इसे छोड़ दो । (ख) 'सिवद्रोही' कहनेका भाव कि तुमने भारी अपराध किया है, फिर भी छल करके बचना चाहते हो । शिवजीका धनुष तोड़नेसे शिवद्रोही हो यथा—'सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा । सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ॥ २७१ । ४ ।', और शिवद्रोही होनेसे हमारे शत्रु हो । अतएव छल छोड़कर हमसे संग्राम कर । (ग) 'बंधु सहित न त मारौं तोही' इति । भाव यह कि कड़वे वचन बोलनेवाला, छल करनेवाला, शिवद्रोही और शत्रु सभी वधके योग्य हैं, तेरा भाई कटु बोलता है अतः वह वध-योग्य है, यथा—'बंधु कहै कटु', 'कटुबादी बालकु बध जोगू । २७५ । ३ ।' तू छल करता है, शिवद्रोही है और हमारा शत्रु है, यथा—'····संमत तोरे । तू छल बिनय करसि' इत्यादि । अतः तू भी वध-योग्य है । (घ) 'न त मारौं' का भाव कि वध-योग्य तो दोनों ही हैं । पर हाँ ! बचनेका एक ही उपाय है, वह यह कि हमसे संग्राम करके हमें सन्तुष्ट कर दो तो चाहे बच जाओ, नहीं तो नहीं ।

भृगुपति बकहिं कुठार उठाए । मन मुसुकाहिं रामु सिर नाए ॥ ४ ॥
गुनह* लखन कर हम पर रोषू । कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू ॥ ५ ॥
टेढ़ जानि सब† बंदै काहू । बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू ॥ ६ ॥

* गुनहु—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा० । गुनह—१६६१ ।
† संका सब—१७२१, १७६२, १७०४, । बंदइ सब—को० रा० । सब बंदे—१६६१ ।

शब्दार्थ—गुनह (फा०)=अपराध, कसूर, दोष।

अर्थ—परशुरामजी फरसा उठाये हुए बक रहे हैं। श्रीरामजी मस्तक नीचे किये हुए मन-ही-मन मुसकरा रहे हैं ॥ ४ ॥ गुनाह (तो) लक्ष्मणजीका और क्रोध हमपर! कहीं-कहीं सीधेपनमें भी बड़ा दोष होता है ॥ ५ ॥ टेढ़ा जानकर सभी वन्दना (प्रणाम) करते हैं। टेढ़े चन्द्रमाको राहु (भी) नहीं ग्रसता ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'भृगुपति बकहिं·····' इति। 'बकहिं' शब्द देकर जनाया कि श्रीरामजी न तो छली हैं, यथा—'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं। २३७। २।', 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा। ५। ४४।'; न उनको भय है, यथा—'जौ रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ। २८४। २।'; न वे शिवद्रोही हैं, यथा—'सुंदर सुखद सकल गुन रासी। ए दोउ बंधु संभु उरबासी। २४६। ४।', और न लक्ष्मणजीके कटु भाषणसे उनका संमत ही है, यथा—'सयनहि रघुपति लखनु नेवारे। २७६। ८।', 'सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम। २७८।'; परशुराम सब बातें व्यर्थकी कह रहे हैं।

नोट—१ ग्रन्थकार अपने उपास्यका कैसा सम्मान इस शब्दसे कर रहे हैं, यह विचारनेयोग्य है। जबतक परशुरामजीने श्रीरामजीको बुरा-भला न कहा तबतक कवि सावधान रहे। जब उनके मुखसे 'शठ', 'छल-बिनय', 'मारउँ द्रोही' ये शब्द निकले तब उनसे (कविसे) न सहा गया—और उनकी लेखनीसे 'बकहिं' शब्द निकल पड़ा। इस शब्दसे वे सूचित करते हैं कि जो कुछ वे कह रहे हैं सब असत्य है, झूठ है, बावलोंकी-सी बकबक है और अनाप-शनाप या प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है। बकना (सं० वल्ग् से)=डींग मारना।

टिप्पणी—२ (क) 'कुठार उठाए' इति। परशुरामजीने उत्तरोत्तर फरसेका भय दिखाया है। यथा—'बोले चितै परसु की ओरा। २७२। ४।' में इशारेसे फरसा दिखाया। फिर प्रकट कहकर फरसा दिखाया, यथा—'परसु बिलोकु महीपकुमारा। २७२। ८।' तत्पश्चात् हाथमें उसे लेकर भय दिखाया, यथा—'परसु सुधारि धरेउ कर घोरा। २७५।२।' और अब उसे उठाकर भय दिखाते हैं—'कुठार उठाए'। बंधुसहित मारनेको कहा है, इसीसे मारनेके लिये कुठार उठाये हैं। (ख) 'मन मुसुकाहिं', क्योंकि प्रकट हँसनेसे परशुरामजीकी रिस अधिक बढ़ेगी और रामजी रिस बढ़ाना नहीं चाहते किंतु रिसको दूर करना चाहते हैं, यथा—'राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा'। 'मुसुकाने' का भाव ग्रन्थकार आगे स्वयं कहते हैं—'गुनह लखन कर·····।' अर्थात् कटु वचन तो लक्ष्मणजी कहते हैं और मारनेको हमें कहते हैं। (ग) 'सिर नाए' का भाव कि यह सिर आपके आगे है, काटिये (चाहे रखिये), यथा—'कर कुठारु आगे यह सीसा ॥ ७ ॥'

३—'गुनह लखन कर·····' इति। (क) गुनाह लक्ष्मणजीका है, अर्थात् कटु वचन लक्ष्मणजी कहते हैं; उनपर रोष नहीं करते उलटे हमपर रुष्ट होते हैं। (ख) 'कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू' इति। 'कतहुँ' का भाव कि 'सुधाई' में सब दिन सर्वत्र गुण ही गुण हैं, दोष 'कतहुँ' कभी ही कहीं होता है। 'सुधाइहु' सुधाईमें भी कहनेका भाव कि टेढ़ेपन (टेढ़ाई) में तो दोष है ही, पर सीधेपनमें भी दोष है। 'बड़ दोषू' का भाव कि टेढ़ाईमें बड़ा दोष है पर कभी-कभी सिधाई भी बड़ा दोष है। पुनः भाव कि जब 'सुधाई' में कहीं-कहीं बड़ा दोष है तो कहीं-कहीं 'टेढ़ाई' में बड़ा गुण भी है जो आगे कहते हैं—'बक···।' (ग) 'गुनह लखन कर' से लेकर 'ग्रसै न राहू' तक मनमें ही सिर नीचा किये हुए कहा गया, यहाँ श्रीरामजीका प्रकट बोलना नहीं कहा गया। यह उनका Sololiquy स्वगत भाषण है। प्रकट बोलना आगे कहते हैं; यथा—'राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा'। दूसरे, श्रीरामजी परशुरामजीसे लक्ष्मणजीका गुनाही (गुनहगार, अपराधी) होना नहीं कहेंगे (क्योंकि वे तो लक्ष्मणजीको निर्दोष कह चुके हैं), यथा—'नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूध मुख करिय न कोहू। २७७। १।', 'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा। २७९। ४।' (और आगे भी लक्ष्मणजीको दोषी नहीं ठहराते हैं।) यथा—'बेषु बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहिं दोष। २८१।····बंस सुभाय उतरु तेहि दीन्हा।' अतएव स्पष्ट है कि ये वाक्य प्रत्यक्ष नहीं कहे गये, मनमें ही कहे गये हैं। (घ) 'कर' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है, 'गुनह लखन कर, कर हम पर रोषू।'

मु० रोशनलाल—'कविकी युक्ति है कि सिर नवाये हुए मनमें कह रहे हैं। लक्ष्मणजीका दोष तो केवल कठोर वचन कहनेका है; वस्तुतः परशुरामजीका कोप है उसे रघुनाथजी लक्ष्मणका गुनाह नहीं कहते। क्योंकि वे प्रत्यक्ष कह चुके हैं कि

'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं····'। इसलिये यह अर्थ ठीक नहीं कि दोष (गुनाह) लक्ष्मणजीका है। रघुनाथजी कहते हैं कि लक्ष्मणके टेढ़े वचनपर रोष किया है, उन्हें टेढ़ा देख शङ्का है और हमें सीधा देख रोष किया, सो कहीं-कहीं सीधेपनमें भी दोष होता है—यह बात मनमें कहते हैं। पर इस अर्थमें यही इतना विरोध पड़ता है कि परशुराम-को रोष पहले हुआ और लक्ष्मणजीने टेढ़ी बातें पीछे कीं, इससे वास्तवमें गुनाह रघुनाथजीका धनुष तोड़नेमें था, सो आप कह ही चुके हैं कि 'अपराधी मैं····'। अतएव अर्थ यह किया जाता है कि 'गुनह लखन कर' अर्थात् गुनाहको तो न लखकर हमपर रोष किया। तात्पर्य यह कि वस्तुतः गुनाह तो सीताजीमें है, जिन्होंने धनुष उठाकर पितासे पन कराया और इसीसें रघनाथजी मनमें मुसुकाये, प्रकट कहनेमें गुनह करनेवालेका निशान देना पड़ता है (और इसीसे 'न लख' ऐसा न कहकर 'लखन' ऐसा श्लेषालंकारसे भावको गुप्त रक्खा)। आगे कहते हैं कि सीधापन भी दोष है, सो यहाँ अपेक्षा किसीकी नहीं, टेढ़ाईकी नहीं कहते, केवल अपने सीधेपनपर दृष्टि करके उसी सीधेपनके दोषको अपनेमें देखते हैं और फिर उसकी अपेक्षामें टेढ़ाईका गुण कहते हैं कि उसे देख सबको शङ्का होती है। यह अर्थ इस बातसे अधिक पुष्ट होता है कि लक्ष्मणजीकी टेढ़ाईसे परशुरामको भयका होना नहीं पाया गया, क्योंकि वे उन्हें मारनेको उपस्थित हैं—(पाँड़ेजी)।

बैजनाथजी एवं अन्य टीकाकार भी 'गुनह' लक्ष्मणजीहीमें लगाते हैं। वचनमात्र उत्तर-प्रत्युत्तर यह गुनह समझिये। प्रसंगानुकूल स्पष्ट यही अर्थ संगत जान पड़ता है।

टिप्पणी—४ 'टेढ़ जानि सब बंदे काहू।····' इति। (क) 'कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू' जो ऊपर है, उसीका यहाँ उदाहरण देते हैं—'टेढ़ जानि····राहू'। 'तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमंतं चिरेण यत्। हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्॥' इति माघे द्वितीयसर्गे। अर्थात् चन्द्रमा केवल पूर्णिमामें सीधा रहता है, अन्य सब तिथियोंमें वह टेढ़ा ही रहता है। रामचन्द्रजी पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान हैं और लक्ष्मणजी अन्य सब तिथियोंके चन्द्रमाके समान हैं। जो चन्द्रमा टेढ़ा है वही चन्द्रमा सीधा है, चन्द्रमा एक ही है, वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई एक ही मूर्ति हैं, लक्ष्मणरूपसे टेढ़े हैं और रामरूपसे सीधे हैं। (ख) चन्द्रमाका दृष्टान्त देनेका भाव यह है कि चन्द्रमा श्रीरामजीका मन है—'मन ससि' ६। १५; मनकी बात मनमें कहते हैं। मनमें कहते हैं, इसीसे मन अर्थात् चन्द्रमाकी बात कही। पुनः भाव कि चन्द्र-राहुका दृष्टान्त प्रसिद्ध है, संसारभर आँखसे देखता है, अतः चन्द्रमाका दृष्टान्त दिया। [(ग) टेढ़ा जानकर सब वन्दना करते हैं, यह उपमेय वाक्य है। टेढ़े चन्द्रमाको राहु भी नहीं ग्रसता यह उपमान वाक्य है। दोनों वाक्योंमें बिंब-प्रतिबिंबका भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है, क्योंकि यहाँ वाचक पद नहीं हैं। कहीं सीधेपनसे बड़ा दोष होता है। इस साधारण बातका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे करना कि 'टेढ़ जानि····राहू', 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। (घ) ऊपर जो टि० ३ (ख) में कहा था कि कहीं-कहीं टेढ़ाईमें बड़ा गुण भी है वह भी इस दृष्टान्तमें दिखाते हैं। द्वितीयाका चन्द्रमा टेढ़ा होता है, उसकी सब वन्दना करते हैं—यह टेढ़ाईका गुण है, पर यह गुण कभी-कभी ही (मासमें एक ही बार) होता है। पूर्णचन्द्र सीधा होता है, राहु उसे कभी-कभी पर्वपर ही ग्रसता है, यह सुधाईका दोष है पर कभी-कभी ही होता है]

राम कहेउ रिस तजिअ* मुनीसा। कर कुठारु आगे येह सीसा॥ ७॥
जेहि रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥ ८॥

दो०—प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु बिप्रबर रोसु।
बेषु बिलोके कहसि कछु बालकहू† नहिं दोसु॥ २८१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनीश्वर! क्रोधको छोड़िये, आपके हाथमें फरसा है और (मेरा) यह सिर आगे (सामने) है। ७। हे स्वामी! जैसे रिस जाय, वही कीजिये। मुझे अपना दास जानिये। ८। स्वामी और सेवकमें समर कैसा? हे विप्रश्रेष्ठ! क्रोधको त्याग दीजिये। बालक (लक्ष्मण) का भी (कुछ) दोष नहीं, उसने तो वेष देखकर ही कुछ कहा है। २८१।

टिप्पणी—१ 'राम कहेउ रिस····' इति। (क) 'रिस तजिय मुनीसा' का भाव कि मुनीश्वरोंको क्रोध न करना

* तजहु—१७०४, को० रा०। † बालक—१६६१। लेखक-प्रमाद है।

चाहिये। (ख) पूर्व जब श्रीरामजीने कहा था कि 'कहिअ बेगि जेहि विधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करौं उपाई। २७९। ६', तब परशुरामजीने उत्तर दिया था कि '…राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे॥ येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा। तो मैं काह कोप करि कीन्हा॥'—इसीका उत्तर श्रीरामजी यहाँ दे रहे हैं—'रिस तजिअ…सीसा'। (ग) 'आगे यह सीसा' कथनका भाव कि वह शीश (लक्ष्मणजीका सिर) नहीं काटा, तो यह सिर काट लीजिये। तात्पर्य कि दोनों सिर एक ही हैं। श्रीरामजीके वचनसे यह उपदेश मिलता है कि चाहे अपना सिर कट जाय पर ब्राह्मणका क्रोध न रह जाय, जिस प्रकारसे उसका क्रोध जाय वही करे। पुनः भाव कि प्रथम यह शीश कट जाय तभी वह शीश कट सकता है। [(घ) मिलान कीजिये—'अयं कण्ठः कुठारस्ते कुरु राम यथोचितम्।' (हनु० ना० १। ३९)। अर्थात् यह तो मेरा कण्ठ है और यह आपका कुठार है। जो उचित हो वह कीजिये।]

२ 'जेहि रिस जाइ…' इति। (क) 'जेहि' अर्थात् 'जेहि विधि' जिस विधि या प्रकारसे। 'विधि' शब्द पूर्व कह आये—'कहिअ बेगि जेहि विधि रिस जाई। २७९। ६', इसीसे यहाँ 'विधि' शब्द न कहा, वहाँसे विधि शब्दका अनुवर्तन है। श्रीरामजीने पूर्व परशुरामजीसे उपाय करनेको पूछा, यथा—'मुनिनायक सोइ करौं उपाई। २७९। ६।', उन्होंने उपाय करनेको नहीं कहा था परंतु वे अपने-आप ही उपाय करनेको कहते हैं, यथा—'येहि के कंठ कुठारु न दीन्हा।…'। तात्पर्य कि इसका सिर काटनेसेही क्रोध शान्त होगा अन्यथा नहीं। इसीपर श्रीरामजी कहते हैं—'जेहि रिस…'। तात्पर्य कि यदि सिर काटनेसे ही रिस जायगी तो सिर ही काट लीजिये, मुझे उसमें भी कोई उज्र नहीं है। (ख) 'करिय सोइ स्वामी' कहकर 'जानिअ आपन अनुगामी' कहनेका भाव कि स्वामी-सेवक-भावसे जो चाहें सो करें। यथा—'कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिअ दासकी नाईं॥ २७९। ५।' जैसे स्वामी दासको दंड देता है वैसे ही आप भी करिये। तात्पर्य कि वीर-भावसे सिर न काटिये, ब्राह्मण चाहे सिर भी काट ले तो हमें कोई उज्र न होगा।

३ 'प्रभुहि सेवकहि समरु कस…' इति। (क) परशुरामजीने जो कहा था कि 'छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही' उसीका उत्तर यह दिया कि स्वामी-सेवकका समर कैसा? तात्पर्य कि यह बात ही हमारी समझमें नहीं आती, (हम नहीं जानते कि स्वामी-सेवकका समर भी कभी हो सकता है और कैसा होता है)। (ख) 'तजहु बिप्रबर रोष' अर्थात् ब्राह्मणको रोष न रखना चाहिये। पहले जब रिस तजनेको कहा तब 'मुनीस' सम्बोधन किया—'रिस तजिअ मुनीसा'। और यहाँ रोष त्याग करनेमें विप्रवर कहा। इससे जनाया कि रोषके त्यागसे बड़ाई (बड़प्पन) होती है, जो रोषका त्याग करे वही मुनीश है और वही विप्रवर है, जो बड़े हैं वे रोषका त्याग करते हैं। (ग) 'बेष बिलोकें कहेसि कछु' अर्थात् फरसा और धनुष-बाण धारण किये देख वीर समझकर कुछ कह दिया, (भाव यह कि 'कुछ' किंचित्-मात्र कहा, अधिक नहीं कहा), यथा—'देखि कुठारु सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥ २७३। ४॥' (यह स्वयं लक्ष्मणजीने कहा है)। वेष देखकर ही कुछ कह दिया इससे बालकका कोई दोष नहीं है, तात्पर्य कि बिना जानेका अपराध क्षमा कीजिये। (घ) 'बालकहू' का भाव कि हमें तो दोष है ही नहीं, यथा—'छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। २७२। ३॥' और लक्ष्मणजीका भी दोष नहीं है क्योंकि वेष देखकर उन्होंने कुछ कहा। तात्पर्य कि सारा दोष तुम्हारा ही है कि ब्राह्मण होकर क्षत्रियका बाना धारण किये हुए हो। (ङ) 'कछु' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है—'कछु कहेसि' और 'नहिं कछु दोष।' कुछ ही कहा उसका कुछ भी दोष नहीं है।

देखि कुठारु बान धनु धारी। भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी॥ १॥
नाम जान पै तुम्हहि न चीन्हा। बंस सुभाय उतरु तेंहि दीन्हा॥ २॥
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥ ३॥

अर्थ—कुठार और धनुषबाणधारी देखकर वीर समझकर लड़केको क्रोध हो आया॥ १॥ नाम जानता था पर आपको पहचाना नहीं (इसीसे) वंश-स्वभावके अनुसार उसने उत्तर दिया॥ २॥ यदि आप मुनिकी तरह (अर्थात् कुठार और धनुष-बाण उतारकर कोपीन आदि मुनिवस्त्र धारण किये हुए) आते तो, हे गोसाईं! (यह) बच्चा आपके चरणोंकी धूलि सिरपर धारण करता॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'देखि कुठारु…' इति। (क) अर्थात् प्रचारना न सह सका। यह क्षत्रियका धर्म है। यदि प्रचारना

सुनकर क्षत्रिय भय खा जाय, उसे रोष न हो किंतु प्राणोंका लोभ हो, तो कुलको कलंक लगता है। यथा—'छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुलकलंकु तेहि पावँर आना। २८४। ३॥' (ख) 'मैं लरिकहि रिस' अर्थात् कुठारादि धारण किये देख वीर समझकर लड़केको भय न हुआ, किंतु रोष हुआ यह कुलका स्वभाव है, यथा—'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी। २८४। ४॥' रोष हो आनेसे उसने उत्तर दिया (जैसा आगे कहते हैं)। (ग) वेष देखकर अनुचित कहा है, इसीसे लक्ष्मणजीने भी यही बात कहकर अपराध क्षमा करनेको कहा था। यथा—'ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।''''२७३॥' और श्रीरामजी भी यही बात कहकर लक्ष्मणजीका अपराध क्षमा कराते हैं—'देखि कुठारु' से 'छमहु चूक अनजानत केरी।' तक। ('बीर बिचारी' पदसे वीरत्वका बाध होकर ब्राह्मण मुनि होनेका व्यङ्ग है। वंशस्वभावकथनमें 'स्वभावोक्ति' है)।

२—'नामु जान''''' इति। (क) अर्थात् रघुवंशी वीरका प्रचार नहीं सह सकते। (ख) 'तुम्हहि न चीन्हा' का हेतु पहले ही कह चुके कि आप कुठार, बाण और धनुष धारण किये हैं। नाम जानता है अर्थात् नाम जगत्‌में प्रसिद्ध है इससे नाम जानता है, पर आपको कभी पहले देखा नहीं था, आज ही प्रथम देखा, इसीसे पहचाना नहीं। (जानते थे कि महर्षि जमदग्निके पुत्र हैं, अतएव ऋषि-मुनि होंगे। आपका वेष मुनियोंका-सा न देख समझा कि कोई वीर है)। (ग) 'बंश सुभाय उतरु''''' यह परशुरामजीके 'बंधु कहै कटु संमत तोरे' का उत्तर है। भाव कि हमारे सम्मतसे कटु वचन नहीं कहे किंतु वंशस्वभावसे कटु कहा। (घ) यहाँतक तीनों प्रकारसे लक्ष्मणजीको निर्दोष ठहराया। बालकने जो कुछ कहा वह कुछ दोष नहीं क्योंकि 'बेष बिलोके कहेसि कछु' जो क्रोध किया उसमें भी दोष नहीं क्योंकि वीर समझकर ही उसने ऐसा किया—'मैं लरिकहि रिस बीर बिचारी' और जो उसने उत्तर दिया इसमें भी दोष नहीं क्योंकि वंशस्वभावसे उत्तर दिया। (ङ) दोहेमें जो कहा था कि 'बेष बिलोके कहेसि कछु' उसके 'कछु' का अर्थ 'बंश सुभाय उतरु तेहि दीन्हा' में खोला। 'कछु' कहा अर्थात् उत्तर दिया।

टिप्पणी—३ 'जौं तुम्ह औतेहु''''' इति। (क) 'मुनिकी नाईं' अर्थात् मुनिवेषमें। (ख) 'पदरज सिर'''गोसाईं' इति। पदरज शिरोधार्य करनेके सम्बन्धसे 'गोसाईं' सम्बोधन दिया। 'गोसाईं' बड़ेको कहते हैं। इस सम्बोधनसे जनाया कि जैसे बड़ेका आदर करना चाहिये वैसा करता। [बड़ोंका पदरज सिरपर धारण किया जाता है, यथा—'बहु बिधि कीन्हि गाधिसुत पूजा। नाथ मोहि सम धन्य न दूजा॥ कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी। रानिन्ह सहित लीन्हि पग धूरी।''''१। ३५२॥' 'जनक गहे कौसिक पद जाई। चरनु रेनु सिर नयनन्ह लाई। १। ३४३॥' वैसे ही यह लड़का धारण करता]। (ग) ☞'ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ'''। २७३॥' 'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी। २७३। ५॥' यह जो बातें लक्ष्मणजीने अपने मुखसे कही हैं, वही बातें श्रीरामजी कह रहे हैं—'देखि कुठारु'''। मैं लरिकहि रिस''''' 'जौं तुम्ह''''मुनिकी नाईं।' वही बात दुहरानेमें तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजीने जो कहा था वह परशुरामजीको चिढ़ानेके लिये नहीं कहा था, यथार्थ ही कहा था, इसीसे श्रीरामजी उनकी बातको पुष्ट करते हैं—वेष देखकर 'वचनसे' अनुचित कहा। वेष ही देखकर क्रोध हुआ, क्रोध होना 'मन' का धर्म है। और 'जौं तुम्ह औतेहु मुनिकी नाईं।''''' सिरपर धरना यह तनका कर्म है। वीर जानकर पदरज शिरोधार्य न किया। जैसा वीरके साथ करना चाहिये, लड़केने वैसा ही तो किया (इसमें अनुचित क्या? मुनिकी तरह आते तो जैसा मुनिके साथ करना चाहिये, वैसा न करता तब अनुचित था तभी वह दोषी होता)।

छमहु चूक अनजानत केरी। चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी॥ ४॥
हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥ ५॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा*॥ ६॥

शब्दार्थ—सरिबरि [हिं० सरि+प्रा० पड़ि, बड़ि]=बराबरी, समता। इस शब्दका प्रयोग प्रान्तिक है, यह केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है।

अर्थ—अनजानेकी चूक (अर्थात् अनजानेमें जो उत्तर दिये हैं उनको) क्षमा कीजिये। ब्राह्मणके हृदयमें तो बहुत

* तुम्हारा—पाठान्तर। ये दोनों चरण १७०४ में नहीं हैं।

अधिक कृपा होनी चाहिये ॥ ४ ॥ हे नाथ ! हमसे आपसे बराबरी कैसे ? कहिये न ! कहाँ तो चरण और कहाँ मस्तक ? । ५ । कहाँ तो हमारा 'राम' मात्र छोटा-सा नाम और कहाँ आपका 'परशु' सहित ('परशुराम') बड़ा नाम ! (कहिअ न ? इनमें कहाँ बराबरी है ?) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'छमहु चूक····' इति । (क) प्रथम तो यह कहा कि 'बेष बिलोकें कहेसि कछु बालकहू नहि दोसु' और अब कहते हैं कि अनजानेकी चूक क्षमा कीजिये । ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं ? समाधान—वेष देखकर जो कहा वह क्षत्रियधर्म होनेके कारण दोष नहीं है, उनको क्षमा नहीं कराते । किसी तरह भी ब्राह्मणको कटु वचन कहना दोष है । इसी दोषको बिना चीन्हे अनजानमें किया हुआ कहकर, क्षमा कराते हैं। अनजानमें की हुई चूक क्षम्य है, यथा—'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता । छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता । २८५ । ॥' (ख) ''चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी' इति । बिना कृपाके क्षमा नहीं होती और परशुरामजी कह चुके हैं कि मेरे हृदयमें कृपा कभी भी नहीं होती, यथा—'मोरे हृदय कृपा कसि काऊ । २८० । २ ॥' अतः श्रीरामजी कहते हैं कि विप्रके हृदयमें तो बहुत कृपा होती है जिससे वे बड़े-बड़े अपराध क्षमा कर देते हैं, आपके हृदयमें भी वैसी ही बहुत कृपा होनी चाहिये, यह अपराध तो बहुत लघु है, इसके क्षमामें तो कुछ भी देर न चाहिये । (ग) यहाँतक लक्ष्मणजीके अपराध क्षमाके सम्बन्धमें कहा, आगे अपना अपराध क्षमा कराते हैं ।

टिप्पणी—२ 'हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि···' इति । (क) भाव यह कि आपके चरणोंमें हम अपना मस्तक धरते हैं तब बराबरी कहाँ रही ? परशुरामजीने जो कहा था कि 'नाहिं त छाड़ कहाउब रामा । २८१ । २ ॥' उसीका यह उत्तर है । (ख) 'हमहि तुम्हहि' का भाव कि हम सेवक हैं और आप नाथ हैं । सेवक और स्वामीकी बराबरी नहीं होती, तब हमारी और आपकी बराबरी कैसे हो सकती है ? (ग) 'सरिबरि' इति । परशुरामजीने जो कहा, कि 'राम' कहाना छोड़ दो उसका भाव यही है कि तुमने हमारे बराबरीका नाम रक्खा है अतः इसे छोड़ दो, इसीका संकेत यहाँ 'सरिबरि' शब्दसे करते हैं । पुनः, 'सरिबरि कसि' का भाव कि आप ब्राह्मण हैं, हम क्षत्रिय हैं । हम नहीं जानते कि ब्राह्मणसे बराबरी करना कैसी होती है, ब्राह्मणसे तो हमारी कोई बराबरी नहीं है, इसीपर आगे प्रमाण देते हैं—'कहहु न कहाँ····।' (घ) 'कहहु न' का सम्बन्ध सब जगह है । श्रीरामजी पूछते हैं—'कहिये न' कहाँ चरण है, कहाँ माथा है, दोनोंमें कहाँ बराबरी है ? 'कहा चरण कहँ माथा' कहकर दोनोंमें बड़ा अन्तर दिखाया ।

नोट—१ 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा' के और भाव ये हैं—'आप सिरके देवता हैं, हम चरणके' यह गूढ़त्व है; इसमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है, और प्रत्यक्ष यह कि आप मस्तकके स्थान और हम क्षत्रिय पैरके स्थानमें हैं अर्थात् आप ऊँचे हैं और हम नीचे, आप उत्तमाङ्ग, हम अधमाङ्ग—ये विनीत वचन हैं । (पाँड़ेजी) । पुनः, इसमें गूढ़त्व यह है कि आप मस्तक पुजानेवाले (ब्राह्मण जब संन्यास लेते हैं तब उनके मस्तककी पूजा होती है) और हम चरण पुजानेवाले हैं (भगवान्‌के चरणकमलोंकी पूजा होती है । इससे अपनेको अवतार सूचित किया) ।

२—हनु० ना० में इससे मिलता श्लोक यह है—'भो ब्रह्मन् भवता समं न घटते संग्रामवार्ताऽपि नो सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि'' १ । ४० ।' अर्थात् हे ब्राह्मण भगवान् ! आपके साथ तो हमारी संग्रामकी वार्ता भी नहीं घटती, क्योंकि हम सब निर्बल हैं और आप तो बलवानोंके सिरपर स्थित हैं ।

टिप्पणी—३ 'राम मात्र····' इति । (क) 'राम मात्र' अर्थात् हमारे नाममें कुछ मिला नहीं है, केवल दो अक्षर हैं । ☞'राम मात्र' पदसे नामजापकोंको श्रीरामजीके मुखारविन्दसे उपदेश हो रहा है कि हमारा दो अक्षरका मन्त्र है, इसमें और कुछ न मिलावें । (ख)—'लघु' कहकर सूचित किया कि मन्त्र जितना ही छोटा होता है, उतना ही उसका प्रभाव अधिक होता है । यथा—'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब । २५६ ।' (ग) 'हमारा' (बहुवचन) कहनेका भाव कि इस मन्त्रपर हमारा बड़ा ममत्व है, इसीसे 'राम' नाम सब नामोंसे अधिक है, यथा—'राम सकल नामन्ह ते अधिका । ३ । ४२ ।' [पुनः भाव कि हमें यह दो अक्षरका ही नाम प्रिय है और जो इसे जपते हैं वे भी हमें प्रिय हैं । पुनः, इसमें समस्त योगी लोग रमते हैं और आपका पाँच अक्षरका नाम है सो उसमें केवल फरसा ही रमा है । यह व्यङ्गोक्ति सरस्वतीकी है, श्रीरामवाक्य तो सरल ही है] (घ) 'हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा···' यह रूपका वर्णन है । रूप कहकर तब नाम कहा, क्योंकि रूपका नाम होता है । रूपमें गुण भी होता है, इसीसे प्रथम रूप कहकर पीछे नाम और गुण कहा ।

देव एकु गुनु धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे॥ ७॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥ ८॥

दो०—बार बार मुनि बिप्रबर कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हसि* तहूँ बंधु सम बाम॥ २८२॥

शब्दार्थ—हसि=है, यथा—'जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई।....' (२। १६२। ८)। तहूँ=तू भी।

अर्थ—हे देव! हमारे तो एक ही गुण धनुष है और आपके परम पवित्र नौ गुण हैं॥ ७॥ हम सब प्रकारसे आपसे हारे हैं। हे विप्र! हमारे अपराधोंको क्षमा कीजिये॥ ८॥ श्रीरामचन्द्रजीने परशुरामजीसे बार-बार 'मुनि' और 'विप्रवर' कहा (अर्थात् एक बार भी उनको वीर न स्वीकार किया), तब भृगुपति (परशुरामजी) रुष्ट होकर बोले कि तू भी भाई सरीखा टेढ़ा है॥ २८२॥

टिप्पणी—१ 'देव एकु गुनु धनुष....' इति। गुणके तीन अर्थ हैं—गुण, रोदा, सूत्र। प्रथम अर्थके अनुसार भाव **यह है** कि हमारे एक गुण धनुर्विद्या है और आपके शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव (दूसरोंके सामने मनके अनुरूप ही बाहरी चेष्टा करनेका नाम 'आर्जव' है), ज्ञान, विज्ञान (परमार्थतत्त्वके विषयमें असाधारण विशेष ज्ञान), और आस्तिकता (सम्पूर्ण वैदिक सिद्धान्तकी सत्यताका दृढ़ अटल निश्चय) ये नौ गुण हैं। [यथा—'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥' (गीता १८। ४२)। दूसरे-तीसरे अर्थोंके अनुसार भाव होगा कि हे नाथ! हमारे धनुषमें एक गुण अर्थात् एक रोदा है और आपके यज्ञोपवीतमें नौ गुण अर्थात् नौ सूत्र हैं। यथा—'कार्पासमुपवीतं स्याद् ब्राह्मणस्य त्रिवृत् त्रिवृत्....' (गृह्यसूत्र। पूरा श्लोक और अर्थ २७३। ५ में आ चुका है)]

'परम पुनीत' कहनेका भाव कि यदि 'परम पुनीत' न कहकर केवल 'पुनीत' कहते तो क्षत्रियधर्म अपुनीत ठहरता, इससे 'परम पुनीत' कहा। इस विशेषणसे दोनोंकी पवित्रता निश्चित हुई। क्षत्रियका गुण 'पुनीत' है और ब्राह्मणके गुण 'परम पुनीत' हैं। इसी तरह गुणके दूसरे-तीसरे अर्थोंके अनुसार रोदा पुनीत है और यज्ञोपवीत परम पुनीत है। यज्ञोपवीतके एक-एक सूत्रमें एक-एक देवता हैं। [यथा—'ओंकारः प्रथमं सूत्रे द्वितीयेऽग्निः प्रकीर्तितः। तृतीये कश्यपश्चैव चतुर्थे सोम एव च॥ पंचमे पितृदेवाश्च षष्ठे चैव प्रजापतिः। सप्तमे वासुदेवः स्यादष्टमे रविरेव च॥ नवमे सर्वदेवास्तु इत्यादि संयोगात्।' (मा० त० वि० से उद्धृत)]

इस तरह श्रीरामजी परशुरामजीको सूचित कराते हैं कि धनुर्विद्या हमारा गुण है, यह तुम्हें न धारण करना चाहिये; जो आपके (ब्राह्मणोंके) परम पुनीत नौ गुण हैं, आप उन्हींको धारण करें। आपने पर-धर्म ग्रहणकर पाप किया, आप उसे त्याग दें; क्योंकि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' (गीता) परशुरामजीने श्रीरामजीको 'राम' नामका त्याग करनेको कहा; और श्रीरामजीने उनको धनुष त्याग करनेको कहा, पर स्पष्ट न कहकर वचनके ध्वन्यात्मक आशयद्वारा ही कहा, स्पष्ट कहनेसे कठोरता सिद्ध होती।

मुं० रोशनलाल—भाव यह कि 'हमारे धनुषमें एक गुण सो भी परम अपुनीत है क्योंकि हिंसक है और आपमें तप आदि नौ गुण परम पुनीत हैं। अपना गुण न कहकर एक गुण कहा सो भी धनुषका; भाव यह कि हमारे इस विद्यमान धनुषपर आपको दृष्टि न करके अपना धर्म-कर्मादिक पालना उचित है।'

मानसतत्त्व-विवरण—(१)—'तुम्हारे' पदके साथ 'धनुष' पदका अध्याहार है जो परशुरामजीके शरीरमें हेतु है, यथा—'प्रसन्नराघवे—'मौर्वी धनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं बाणाः कुशाश्च विलसन्ति करे सितायाः। धारोज्ज्वलः परशुरेष कमण्डलुश्च तद्वीरशान्तरसयोः किमयं विकारः॥' और यह चौपाई हनुमन्नाटकवत् है—'भो ब्रह्मन्भवता समं न घटते संग्रामवार्ताऽपि नो सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि। यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजामस्माकं भवतो यतो नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥' (अङ्क १ श्लोक ४०)। भाव कि यदि मेरे धनुष धारणपर आपकी दृष्टि हो, निःक्षत्रियत्व करनेके संकल्पसे, तो अब उस मेरे धनुषमें भी एक ही गुण है जिसपर रखकर बाण चलाया जाता है और आपका

* हँसि—१७२१, १७६२ छ० होइ—१७०४, को० रा०। हसि—१६६१।

ब्राह्मणशरीररूप धनुष है, वह तो परमपुनीत अर्थात् यज्ञोपवीत रूप नवगुणका है—'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' इत्यादि। भाव यह कि जैसे चिल्लेपर रखकर बाण चलाया जाता है, वैसे ही यज्ञोपवीत हाथमें जलसहित लेकर संकल्पपूर्वक शापादि-व्यवहार होता है, उसमें नौ गुण हैं। जिनमें नौ देवता हैं; इससे वह अधिक समर्थ भी है।

(२) एक परिणामी गुणवाला अर्थात् बराबर बदलनेवाला होता है और नवदुगुण इत्यादिमें नव गुन वही रहता है, अतः अपरिणामी है। भाव यह कि हमारा क्षत्रियत्व चिह्न अपरिणामी है; अतः मुझमें युद्धकी योग्यता कहाँ ?' [एकसे नीचे कोई अंक नहीं है और नवसे ऊपर नहीं। नवका गुणा नव ही रहेगा अर्थात् नवसे गुणित अंक जोड़नेसे नव ही होते जाते हैं, देखो ९ के पहाड़ेमें।] पुनः, (३)—ब्राह्मणके नव गुण यथा—'ऋजुस्तपस्वी संतुष्टः शुचिर्दान्तो जितेन्द्रियः। दाता विद्वान् दयालुश्च ब्राह्मणो नवभिर्गुणैः॥'

पं० रा० च० मिश्र:—दूसरा गुप्तार्थ यह कि 'तुम्हारे पास एक गुणवाला हमारा शार्ङ्ग धनुष है सो हमें देव (दो) और हमारे पास जो परम पुनीत नौ गुण हैं, उन्हें लो। आगे इसी वाक्यको मानकर विष्णुका धनुष देंगे और स्तुतिमें 'नव' बार जय बोल 'नव गुणोंको स्वीकृतकर राममें क्षत्रित्व लय करेंगे और ब्रह्मत्व स्वीकारकर चले जावेंगे।'

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'नव गुन परम पुनीत तुम्हारें' इति। तुम्हारे अर्थात् ब्राह्मणोंके। वास्तवमें आपका सच्चा और परम प्रतापशील परम पावन धनुष तो वह है जिसमें परम पुनीत नौ गुण होते हैं। वह है यज्ञोपवीत लक्षणासे। श्रौतस्मार्तब्रह्मकर्मानुष्ठानजनित तपोबल ब्रह्मतेज। 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्।' 'श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थं यज्ञोपवीत-धारणम्।' 'धिग् बलं क्षत्रियबलम्। ब्रह्मतेजो बलं बलम्॥' ब्राह्मणका बल रणाङ्गणमें रक्तपात करनेमें नहीं। इसीसे लक्ष्मणजीने पहले ही कहा है कि 'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥ अन्यत्र भी कहा है 'दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।' पर यह दाहक तेज तब पैदा होता है जब 'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहि बस देवा॥' बिना तपश्चर्याके ब्राह्मणका क्रोध 'भस्मनि हुतम्' (राखके होम) के समान ज्वाला नहीं पैदा कर सकता। बिना तपोबलके क्रोधका फल 'रिस तनु जरइ' 'दहै रिस छाती' 'होइ बल हानी' इत्यादि प्रकारसे आत्मघातकी और उपहासास्पद होता है।

ब्राह्मणके धनुषके ये नव गुण इसी प्रसङ्गमें तथा अन्यत्र इतस्ततः बिखरे हैं। यथा—(१) 'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी' में कृपाशीलता गुण, (२) 'तजहु बिप्र बर रोष' में अक्रोधता, (३) 'धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई' में स्वधर्मपालननिष्ठा, (४) 'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना' में वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन, (५) 'सोचिय बिप्र जो····तजि निज धर्म बिषय लय लीना' में विषयवैराग्य, (६) 'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा' में तपोबलब्रह्मतेज, (७) 'नहिं संतोष त' में संतोष, (८) 'बाल दोष गुन गनहिं न साधू' में परदोषगुणपर दृष्टि न डालना, (९) 'गुरुहि उरिन होतेउँ श्रम थोरें' 'माता पितहि उरिन भए नीकें' में ऋषि पितृदेव ऋणत्रयोंसे उद्धार होना, (१०) 'तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी' में ज्ञान-विज्ञान, (११) 'छमहु बिप्र अपराध हमारे' में क्षमा—इन ग्यारह गुणोंका अन्तर्भाव गीताके 'शमो दम-स्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ १८। ४२।' इन नव गुणोंमें अनायास हो सकता है।

ब्राह्मणके यज्ञोपवीतमें एक अविच्छिन्न तन्तुके ही विशिष्ट प्रक्रियासे अखण्ड नवतन्तु बनने चाहिये। ये नव तन्तु उपरिनिर्दिष्ट नवगुणोंके द्योतक हैं। ब्रह्म कर्म एक अखण्ड तन्तु होना चाहिये और तपश्चर्यारूपी प्रक्रियासे इसी अखण्ड सूत्रसे शमदमादि नवविध ऐश्वर्य प्राप्त कर लेना यह साध्य है।

शमदमादि नवोंमेंसे भृगुपतिमेंसे आठ गुण कैसे नष्ट हो गये यह पहले यथामति बताया है। अब रहा एक आस्तिक्यका अभाव यह आगे 'खैंचहु मिटै मोर संदेहू' में दिखायेंगे।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'देव एक गुन धनुष हमारें' इति। हमारे अर्थात् क्षत्रियोंके। इस प्रसङ्गमें यद्यपि परशु-रामजीने श्रीरामजीके लिये 'तू' 'तोर' आदि एकवचनका प्रयोग किया है, तथापि श्रीरघुनाथजी न तो परशुरामके लिये और न अपने ही लिये एकवचनका प्रयोग करते हैं। भरद्वाज-मिलनमें न एकवचनका प्रयोग है न बहुवचनका। वाल्मीकि, मिलनमें 'मो कहँ' 'मम पुन्य' ऐसा एकवचन है। इधर परशुरामके साथ अपने लिये 'हमारा, हमरें, हमपर, हमारे' ऐसे

बहुवचनके प्रयोग करते हैं और भृगुपतिको विप्र, मुनिनायक, विप्रवर कहते हैं। प्रसङ्गभरमें एक बार भी वे 'परशुराम' का उच्चारण नहीं करते (परशुराम नाम लेकर सम्बोधित नहीं किया)। इसमें हेतु इतना ही था कि वे श्रीघ्रातिशीघ्र सब मर्म समझ जायँ तथापि 'अजहुँ न बूझ'

पं० रामकुमारजी—यहाँ 'हमारे' 'तुम्हारे' कहनेका भाव यह है कि सबको अपना-अपना धर्म ग्रहण करना चाहिये। हमारा (क्षत्रियोंका) एक 'गुण' है, हम उसे धारण किये हैं और आपके (ब्राह्मणोंके) नव गुण हैं पर उन्हें आप छोड़े हुए हैं, आपमें उन सबोंका अभाव प्रत्यक्ष देख पड़ता है।

टिप्पणी—२ (क) 'सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे' इति। यहाँ नाम, रूप और गुण तीन प्रकार कहे। 'राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥' यह नाम है, 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा' यह रूप है और 'देव एक गुन·····' यह गुण है। लीला और धाममें परशुरामजी श्रीरामजीसे बड़े नहीं हैं, इसीसे इन दो को नहीं कहा। तीन ही प्रकार गिनाकर 'सब प्रकार' कहनेमें भाव यह है कि इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकार हों उन सब प्रकारोंसे भी हम हारे हैं। (ख) 'छमहु बिप्र अपराध हमारे' इति। लक्ष्मणजीका अपराध 'अनजानेकी चूक' कहकर क्षमा कराते थे और अपना अपराध अपनेको सब प्रकारसे हारा हुआ कहकर क्षमा कराते हैं। देखिये, परशुरामजीने नामकी बराबरी छोड़नेको कहा और श्रीरामजी बुद्धिद्वारा सब प्रकारसे अपनी लघुता दिखा रहे हैं।

३—'बार बार मुनि बिप्रबर·····' इति। (क) 'मुनि' 'बिप्रबर' बार-बार कहा है यथा—'राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा' 'जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं' (पूर्व भी कहा है) 'मुनिनायक सोइ करौं उपाई। २७९। ६।' 'चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी' 'छमहु बिप्र अपराध हमारे' और 'तजहु बिप्रबर रोसु'। सब जगह 'मुनिवर' 'विप्रवर' नहीं कहा, पर दोहे-से जना दिया कि सब जगह 'मुनिवर' 'विप्रवर' कहा है। अतः सब जगह अर्थमें मुनिवर, विप्रवर लगा लेना चाहिये। श्रीरामजीने 'मुनिवर, विप्रवर' सम्बोधन आदरार्थ किया, पर परशुरामजीने उसे निरादर मान लिया, इसीसे रुष्ट हुए। (ख) 'बोले भृगुपति सरुष हसि·····' इति। सरुष=रोषसहित, कुपित होकर, क्रोधपूर्वक। यथा—'सरुष समीप देखि कैकेई। २। ४०। २।' 'हसि' का अर्थ यहाँ 'हँसकर' नहीं है। (ग) 'तहूँ बंधु सम बाम' अर्थात् जैसे तेरा भाई 'मुनि' और 'विप्र' कहता है, वैसे ही तू भी कहता है। जैसे तेरे भाईने कहा कि 'ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥ जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर। २७३।' वैसे ही तूने कहा 'देखि कुठार बान धनुधारी।···' इत्यादि।

निपटहि द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावौं तोही ॥ १ ॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोपु मोर अति घोर कृसानू ॥ २ ॥
समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भये पसु आई ॥ ३ ॥
मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे। समरजग्य जप कोटिन्ह कीन्हे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—निपटहि=निपट ही। निपट=निरा, कोरा, एकमात्र, नितान्त। स्रुवा=खैर (कत्था) या आम आदिकी लकड़ी, बड़ा चमचा जिससे यज्ञमें आहुति दी जाती है। आहुति=होमद्रव्य, हवनमें डालनेकी सामग्री। समिधि=होममें जलायी जानेवाली लकड़ी। चतुरंग=(चतुः अंग) चार अङ्गवाली=चतुरंगिणी जिसमें संख्यानुसार हाथी, घोड़े, रथ और पैदल होते हैं। पशु=बलिमें दिया जानेवाला पशु। बलि देना=देवताकी भेंटमें देना, चढ़ाना।

अर्थ—तू मुझे निरा ब्राह्मण ही जानता है। मैं जैसा ब्राह्मण हूँ, तुझे सुनाता हूँ। १। धनुषको स्रुवा, बाणको आहुति और मेरे कोपको अत्यंत भयंकर अग्नि जानो। २। सुन्दर चतुरंगिणी सेना समिधाएँ हैं। बड़े-बड़े राजा आकर (उस यज्ञके) बलिपशु हुए। ३। मैंने इसी फरसेसे काट-काटकर बलिदान दिये। इस तरहके 'समरजग्य जप' मैंने करोड़ों (अगणित) किये। ४।

टिप्पणी—१ 'निपटहि द्विज करि·····' इति। (क) 'द्विज करि' ब्राह्मण करके अर्थात् वीर करके नहीं जानता। 'निरा ब्राह्मण ही करके जानते हो' इस कथनमें भाव यह है कि तू हमें 'विप्र विप्र' कहकर हमारा अपमान करता है इसका कारण यह है कि तू हमारा प्रभाव नहीं जानता, यदि हमारा कुछ भी प्रभाव जानता तो इस प्रकार निरादर करता हुआ न बोलता। (ख)—यहाँ 'निपटहिं द्विज' से साधारण ब्राह्मण सूचित होता है जिनके लक्षण ये हैं—

'एकाहारेण सन्तुष्टः षट्कर्म निरतः सदा। ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते ॥' परशुरामजी इन्हीं ऊपर कहे हुए गुणोंको चाप स्रुवादि रूपकसे क्षत्रियकर्मकर्ता द्विज सूचित करते हैं। (वि० टी०)] (ग)–'मैं जस बिप्र'–भाव कि जैसा तुम जानते और कहते हो वैसा ब्राह्मण मैं नहीं हूँ। (घ) 'सुनावौं तोही' अर्थात् जैसा हूँ वैसा सुनाता हूँ। प्रभाव सुनानेका भाव यह है कि मेरा प्रभाव तुम्हें विदित नहीं है, इसीसे मुझे 'निपटहि द्विज करि' जाना, अतः मैं प्रभाव सुनाता हूँ। (ङ) श्रीरामजीने परशुरामजीको विप्र कहा, उनकी वीरता कुछ भी न कही, इसीसे वे अपने मुखसे अपनी वीरता कहने लगे। यद्यपि लक्ष्मणजीने यह बात दरसा दी है कि अपने मुखसे अपना गुण कहना दोष है, यथा–'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥ २७४। ६।' तथापि अभिमानके मारे यह बात उनके मनमें न आयी, वे यह सुनकर भी लज्जित न हुए, इसीसे पुनः अपनी करनी कहने लगे।

२ 'चाप स्रुवा''''' इति। (क) यहाँ यज्ञ और समरयज्ञका साङ्गरूपक है। चाप स्रुवा है, स्रुवासे घृतकी आहुति दी जाती है। बाण घृतकी आहुति है। घृत पड़नेसे समिधा जल जाती है, इसी तरह बाणके लगनेसे सेना भस्म हो गयी। (ख) 'जानू' कहनेका भाव कि तुम मेरे धनुषबाणको एवं मेरे क्रोधको कुछ नहीं समझते, अतः मैं समझाता हूँ कि उन्हें ऐसा जानो। (ग) स्रुवा हाथमें रहती है और आहुति अग्निमें दी जाती है, इसी प्रकार धनुष हाथमें रहता है, बाण शत्रुपर जाता है। यह समता है। (घ)—'कोप मोर अति घोर कृशानू' इति। यहाँ 'अति घोर' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है। कोप और कृशानु दोनों अत्यन्त घोर हैं। अग्निमें सब कुछ जल जाता है, इसी तरह मेरे घोर क्रोधमें सब राजसेना जल गयी। प्रथम जब अग्नि प्रज्वलित होती है तब आहुति दी जाती है, इसी प्रकार जब हमारे क्रोध होता है तब हम धनुष लेकर बाण मारते हैं। (ङ) कोपको 'अति घोर कृशानु' रूपक दिया क्योंकि आहुति प्रज्वलित अग्निमें ही दी जाती है, मंदाग्निमें नहीं। पुनः, 'अति घोर' कहनेका भाव कि जैसे लकड़ी अधिक हुई तो अग्नि घोर होती है इसी प्रकार जैसे-जैसे सेना अधिक आती थी वैसे-ही-वैसे हमारा क्रोध अधिक होता था।

३ 'समिधि सेन चतुरंग सुहाई।''''' इति। (क) जैसे हवनमें समिधाएँ बहुत लगती हैं, वैसे ही चतुरंगिनी सेना बहुत रहती थी। सेनाको 'सुहाई' कहकर जनाया कि सेना अपार रही, सामान्य नहीं थी। पुनः 'सुहाई' विशेषण देकर अपनी वीरता सूचित करते हैं क्योंकि बहुत भारी सेना वीरको ही 'सुहाई' लगती है, कादरको नहीं। वीरका उससे उत्साह बढ़ता है और कादर डरता है। सुन्दर सेना सुन्दर समिधा है अर्थात् सूखी है, पवित्र है और यज्ञके योग्य है। समिधा जलती है, सेना मरती है—यह दोनोंमें समता है। (ख) 'महा महीप' (सहस्रार्जुन ऐसे बड़े-बड़े राजा) कहकर भारी यज्ञ जनाया, क्योंकि भारी यज्ञमें महापशु मारे जाते हैं। 'भये पशु आई' अर्थात् बहुत बड़े राजा बड़ी-बड़ी चतुरंगिणी सेना ले-लेकर हमारे ऊपर चढ़ आया करते थे, हम सबोंको सेना समेत मार-काट डालते थे। अतः 'आयी' कहा। 'सुहाई' कहकर सेनाकी बड़ाई की और 'महा महीप' कहकर राजाओंकी बड़ाई की। भाव यह है कि यह न समझ लेना कि सामान्य राजाओंको मारकर मैं डींग हाँकता हूँ। राजा भी भारी यशस्वी तेजस्वी वीर थे और उनकी सेना भी। पहले सेना जूझती है तब राजा, इसीसे पहले सेनाको कहकर तब राजाको कहा। हवनके पीछे बलिपशु काटा जाता है।

टिप्पणी—४ 'मैं येहि परसु''''' इति। (क) 'येहि परसु' से सूचित होता है कि श्रीरामजीको फरसा दिखाकर ये वचन कह रहे हैं जिसमें वे डर जायँ। जैसे लक्ष्मणजीको फरसा दिखाकर और अपना प्रभाव कहकर डरवाते थे। यथा—'भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महि देवन्ह दीन्ही ॥ सहसबाहु भुज छेदनिहारा। परसु बिलोकु महीप कुमारा ॥' २७२ (७-८), वैसे ही यहाँ पहले अपना प्रभाव 'चाप स्रुवा'''आई' कहकर तब परशु दिखाकर डरवाते हैं। (ख) बलिपशु छुरेसे काटा जाता है, यथा—'कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई ॥ २। २२। १।' इसीसे राजाओंको परशुसे काटना कहा। (ग) समरको यज्ञ कहा क्योंकि जैसे यज्ञसे स्वर्ग मिलता है वैसे ही समर (में मरण) से भी स्वर्ग होता है। ['समर जग्य जप' का भाव यह है कि जैसे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ आहुति दी जाती है, उसी प्रकार मैंने पुकार-पुकारकर राजाओंकी बलि दी है। (मानसाङ्क)]। (घ) 'कोटिन्ह कीन्ह' का भाव कि एक यज्ञ करनेवाला तो कोई दिखायी नहीं देता और मैंने ऐसे अगणित यज्ञ कर डाले हैं। 'कोटिन्ह' बहुतका वाचक है, यथा—'कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी ॥ २। २०।' 'कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा

गन बिलोकहिं गंग तरंगा ॥ २ । ८७।' (ङ) 'कीन्हें' अर्थात् हम ऐसे यज्ञ करनेवाले हैं, यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण नहीं हैं।

नोट—१ परशुरामजीने पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया तब रघुवंशी और निमिवंशी कहाँसे आ गये ? इसका समाधान दो० २७६ । ३-४ में भी किया गया है। श्रीमद्भागवत ९ । ९ में श्रीशुकदेवजीने बताया है कि जब परशुरामजी पृथ्वीको क्षत्रियविहीन कर रहे थे उस समय अश्मकके पुत्र मूलकका जन्म हुआ था। स्त्रियोंने उसे छिपाकर रख लिया था। इसीसे उसका नाम नारी 'नारी कवच' भी हुआ। पृथ्वीके क्षत्रियहीन हो जानेपर वह इस वंशका मूल (प्रवर्तक) बना, इसीसे उसका नाम 'मूलक' हुआ। 'मूलक' के एक पुत्रका नाम दशरथ था, पर यह दशरथ श्रीरामजीके पिता नहीं हैं। उन दशरथ-के पुत्रका नाम ऐडविड था। इनकी चार-पाँच पीढ़ीके बाद 'रघु' महाराज हुए। 'रघु' के अज और अजके महाराज दशरथ हुए जिनके यहाँ श्रीरामजीका अंशोंसहित अवतार हुआ। यथा—'अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः। नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥ ४ ॥ ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडविडस्ततः।'''४१। (अ० ९), '''अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत्। १। तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः। अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥'''२।' (स्कंध ९ अ० १०)

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें परशुरामजीने स्वयं श्रीरामजीसे कहा है कि इक्ष्वाकुवंशके क्षत्रिय मेरे नानाके कुलमें उत्पन्न हुए हैं, इससे वे मेरे वध्य नहीं हैं, तथापि किसी भी क्षत्रियका बल और पराक्रम सुनकर मैं सहन नहीं कर सकता। यथा—'इक्ष्वाकवो न वध्या मे मातामहकुलोद्भवाः। वीर्यं क्षत्रबलं श्रुत्वा न शक्यं सहितुं मम ॥ अ० २४२ । १५९ ।' रघुवंशी और निमिवंशी दोनों ही इक्ष्वाकुवंशीय हैं अतः ये दोनों कुल बच गये।

मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें। बोलसि निदरि बिप्र के भोरें ॥ ५ ॥
भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहु जीति जगु ठाढ़ा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तोरें=तुझे, तुझको। भोरें=धोखेमें, भुलावेमें। दापु=घमण्ड। यह 'दर्प' का अपभ्रंश है=अभिमान। यथा—'मैं केहि हेतु करौं अभिमाना। ८।'

अर्थ—मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं ? ब्राह्मणके धोखेसे निरादर करता हुआ बोलता है! ५। 'चाप' को तोड़ा है। इसीसे घमण्ड बहुत बढ़ गया है। ('मैं ही तो हूँ') ऐसा अहंकार है मानो संसारको जीतकर खड़ा हुआ है। ६।

टिप्पणी—१ 'मोर प्रभाउ''''' इति। (क) तात्पर्य कि बिना प्रभाव जाने शंका (भय) नहीं होती, यथा—'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही ॥ ५ । २१ ।' परशुरामजी श्रीरामजीसे पूछते हैं कि क्या मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं है ? अर्थात् हमने जगत् भरके क्षत्रियोंका नाश कर डाला, यह हमारा प्रभाव क्या कभी कानोंसे सुना नहीं ? ब्राह्मणके धोखे निरादरपूर्वक बोलता है, अर्थात् किंचित् शंकित-हृदय नहीं होता। श्रीरामजीने जो कहा है कि 'बेष बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहिं दोष' 'देखि कुठार बान धनुधारी। भै लरिकहि रिस बीर बिचारी ॥' 'जौं तुम्ह औतेहु मुनिकी नाईं।''''' इन्हींको परशुरामजी निरादर मानते हैं। तात्पर्य कि हमारे कुठार, धनुष और बाणको कुछ नहीं समझते तभी तो कहते हैं कि इनको देखकर लड़केको रिस हुई। इसीसे परशुरामजीने धनुष, बाण और कुठार (परशु) तीनोंकी बड़ाई की। यथा—'चाप स्रुवा सर आहुति जानू।''''' इत्यादि।

२—'भंजेउ चापु'''' इति। (क) यहाँ परशुरामजी चापकी लघुता कहते अर्थात् यह कहते कि पुराना (जीर्ण) धनुष तोड़कर अहंकार बढ़ गया है, पर ऐसा उन्होंने नहीं कहा; क्योंकि (प्रथम लक्ष्मणजीसे इसीपर विवाद चुके हैं, अपने मुखसे) उसकी बड़ाई कर चुके हैं (उसके लिये 'पिनाक', 'त्रिपुरारिधनु', 'संभु सरासन' इत्यादि बोल-चुके शब्दोंका प्रयोग कर चुके हैं) यथा—'सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा', 'धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार। २७१।', 'संभुसरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोधु। २८०।', (अतः क्या करते ? अब उसे 'लघु' कैसे कहते ? नहीं तो श्रीरामचन्द्रजीके बलपुरुषार्थका निरादर करनेके लिये अवश्य कोई 'लघुता-सूचक' बहुत तुच्छ और छोटा नाम, जैसे कि 'धनुही' इत्यादि देते। यदि भारी कहें और वैसे ही विशेषणयुक्त पदोंका यहाँ प्रयोग करें तो वह श्रीरामजीको गौरव और अभिमानका कारण हुआ ही चाहे, उससे उनकी प्रशंसा ही होगी न कि लघुता। अतएव यहाँ केवल 'चापु' कहकर रह गये, धनुषका गौरवसूचक कोई

विशेषण साथमें नहीं दिया) और गुरुका धनुष है, इससे न लघु ही कहा न बड़ाई की। (ख) श्रीरामचन्द्रजीने जो कहा कि 'बेष बिलोके कहेसि कछु बालकहू नहि दोसु', 'देखि कुठार बान धनुधारी। भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी', 'बंश सुभाय उतरु तेहि दीन्हा' और 'जौं तुम्ह औतेहु मुनिकी नाईं' परशुरामजी ये सब बातें अभिमानकी समझे; इसीसे कहते हैं कि धनुष तोड़नेसे बड़ा अहंकार बढ़ गया कि किसीको अपने सामने वीर नहीं मानते हो। (ग) 'मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा' मानो जगत्‌को जीतकर खड़े हो; इस कथनसे पाया गया कि धनुषके तोड़नेकी अपेक्षा जगत्‌का जीतना अधिक भारी कार्य है। परशुरामजीको जगत्‌के जीतनेका अभिमान है, यथा—'समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे'; इसीसे वे जगत्‌के जीतनेको धनुष-भंजनसे अधिक कहकर श्रीरामजीके पुरुषार्थसे अपना पुरुषार्थ अधिक दिखाते हैं। ('मनहु' शब्दसे भी यही भाव सूचित किया है। अर्थात् तुमने जीता नहीं है और मैंने तो जीता है। यथा—'भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही। २७२। ७।' इसीसे श्रीरामजीके सम्बन्धमें 'मनहुँ' का प्रयोग किया)। (घ) 'ठाढ़ा'—इससे जनाया कि श्रीरामजी खड़े हुए हैं, खड़े-खड़े सब वार्ता हो रही है।

☞ मिलान कीजिये—'पुराणं जर्जरं चापं भङ्क्त्वा त्वं कत्थसे मुधा। अ० रा० १। ७। १२।' अर्थात् एक पुराने धनुषको तोड़कर व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा कर रहा है। देखिये मानसके 'अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा' ये शब्द 'कत्थसे मुधा' से कितने जोरदार हैं।

राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी॥ ७॥
छुअतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥ ८॥

दो०—जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥२८३॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, गलती, कसूर। बदि (वदि)=कहकर।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे मुनि! (जरा) सोच-विचारकर कहिये। आपका क्रोध अत्यन्त बड़ा है, हमारी चूक बहुत ही छोटी है॥ ७॥ पुराना धनुष छूते ही टूट गया। मैं किस कारण अभिमान करूँ॥ ८॥ जो हम सचमुच 'विप्र' कहकर आपका अपमान करते हैं, तो हे भृगुनाथ! सत्य ही सुनिये, संसारमें ऐसा कौन सुभट है जिसे हम भयवश मस्तक नवावें (झुकावें)। २८३॥

टिप्पणी—१ (क) 'मुनि' मननशील होते हैं, विचारकर बात कहते हैं, अतः 'कहहु बिचारी' के सम्बन्धसे 'मुनि' सम्बोधन दिया। (ख) 'मुनि कहहु बिचारी' इस वाक्यसे परशुरामजीके सारे वाक्यका खण्डन करते हैं। इस तरह कि—परशुरामजीने जो कहा है कि 'तहूँ बंधु सम बाम' है, उसपर श्रीरामजी कहते हैं कि जरा विचारकर कहिये, न तो हम वाम हैं और न हमारा भाई वाम है। उन्होंने जो अपनी वीरता कही, इसपर भी कहते हैं कि विचारकर कहिये, अपने मुखसे अपनी बड़ाई न करनी चाहिये। इसी तरह और भी जो उन्होंने कहा है उसका भी यही वाक्य खण्डन है जैसा आगेके उत्तरसे स्पष्ट हो जाता है। (ग) 'रिस अति बड़ि' इति। परशुरामजीने कहा है कि मेरा कोप अत्यन्त घोर है, वही बात लेकर श्रीरामजी कहते हैं कि आपकी रिस 'अत्यन्त बड़ी' है और हमारी चूक अत्यन्त लघु है जैसा आगे कह रहे हैं—'छुअतहि टूट पिनाक पुराना।' 'लघु चूक' कहकर जनाया कि आपका कोप निर्मूल है।

२ 'छुअतहि टूट···' इति। (क) यह परशुरामजीके 'भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहु जीति जगु ठाढ़ा॥ इस वाक्यका उत्तर है। भाव कि धनुष पुराना (जीर्ण-शीर्ण) था इसीसे वह छूते ही टूट गया, तब मैं किस हेतुसे अभिमान कर सकता हूँ। तात्पर्य कि आपके क्रोधका कोई हेतु नहीं है (वह अकारण है, व्यर्थ ही है) क्योंकि हमारी चूक बहुत लघु है (उसे छू लिया यहीभर हमारी चूक है) और हमें अभिमानका कोई कारण उपस्थित नहीं है क्योंकि जीर्ण-शीर्ण धनुषके तोड़नेमें कौन गौरव हो सकता है? (इस तरह जनाया कि पुराने धनुषके टूटनेपर यदि मैं अभिमान करूँ तो वह व्यर्थ और आप उसके कारण जो कोप करते हैं वह भी व्यर्थ है)। 'दाप' का अर्थ 'अभिमान' है, यह यहाँ स्पष्ट कर दिया। (ख) 'छुअतहि टूट', यथा—'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सबु ठाढ़े॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। २६१।

७-८।' (ग) 'पुराना'—यह धनुष सत्ययुगमें बनाया गया था और अब त्रेताका अन्त है, अतः 'पुराना' कहा। [(घ) छूते ही टूट जानेका दूसरा हेतु हनुमन्नाटकमें इस प्रकार कहा है—'तद्ब्रह्ममातृवधपातकि मन्मथारिक्षत्रान्तकारिकरसंगमपापभीत्या। ऐशं धनुर्निजपुरश्चरणाय नूनं देहं मुमोच रघुनन्दनपाणितीर्थे ॥ १। २५।' अर्थात् उस शिवजीके धनुषके ब्रह्माका वध करनेसे (मृगी सरस्वतीके पीछे दौड़नेपर मृग ब्रह्माका सिर शिवजीने काट डाला था) पातकी, माताका वध करनेसे पातकी, शिवजीके और क्षत्रियकुलघालक परशुरामके हाथकी संगतिरूपी पापके भयसे प्रायश्चित्त करनेके लिये निश्चय करके उसने श्रीरामचन्द्रके हस्तरूपी तीर्थमें अपनी देह त्यागी। (ब्रह्माका एक सिर शिवजीने काट डाला था, यह कथा बृहद्विष्णुपुराण मिथिलामाहात्म्यमें भी है। पूर्व भी भाग १ सो० ५ और सो० १४ में प्रमाण दिये गये हैं)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा' का उत्तर देते हुए सरकार कहते हैं—आप मुनि हैं, आपको विचारकर बोलना चाहिये। आप विचारसे काम नहीं लेते। मैंने ठीक कहा कि **'नाथ एक गुन धनुष हमारे।'** धनुष आपका गुण नहीं हो सकता। युद्ध हमारा धर्म है, आपका नहीं। आपने आपद्धर्ममें धनुषका सहारा लिया होगा, मेरा तो वह स्वभावज धर्म है। मैं स्वधर्माचरण करता हूँ, उसे आप अभिमान बतला रहे हैं। धनुष-भङ्ग लघु चूक है। बलके दिखलानेमें ही क्षत्रियकी बड़ाई है। ब्राह्मणकी दृष्टिसे इसे भले ही आप चूक समझें।

जिसे आप विदित संसार धनुष कह रहे हैं, वह तो कुछ भी न था, इतना पुराना था कि उसे छूनेमात्रकी देर थी, टूटनेमें देर न लगी। यदि मैंने कुछ पुरुषार्थ किया होता तो अभिमानके लिये स्थान भी होता, जिस क्रियामें कोई आयास ही न हुआ, उसके लिये मैं अभिमान क्यों करूँ ?

टिप्पणी—३ 'जौं हम निदरहिं''''' इति। (क) यह परशुरामजीके 'बोलसि निदरि बिप्र के भोरें' का उत्तर है। (ख) 'निदरहिं बिप्र बदि' इति। परशुरामजी 'विप्र' कहे जानेसे अपना अपमान मानते हैं, यथा—'बार बार मुनि बिप्रबर **कहा राम सन राम। बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम ॥'**; इसीपर श्रीरामजी कहते हैं कि आप 'विप्र' सम्बोधनसे अपना निरादर मानते हैं, पर हम आपका निरादर करनेके लिये 'विप्र' नहीं कहते, हम तो आपके आदर-सम्मान हेतु ही आपको 'विप्र' कहते हैं। 'निदरहिं बिप्र बदि' से सूचित किया कि हम ब्रह्मण्य हैं, ब्राह्मणका निरादर कभी नहीं करते। पुनः [(ग) 'जौं हम निदरहिं''''' का भाव कि हम तो 'विप्रवर' कहकर आपका आदर ही करते हैं पर आप अपना ब्राह्मणस्वरूप भूल गये हैं, अपना धर्म छोड़ बैठे हैं, इससे आपको निरादर ही सुझायी पड़ता है। (मा० पी०, प्र० सं०)] (घ), 'तौ अस को जग सुभट''''' इति। तात्पर्य कि हम तुमको ब्राह्मण जानकर मस्तक नवाते हैं, सुभट जानकर भयसे माथा नहीं नवाते। (ङ) 'सत्य सुनहु भृगुनाथ' इति। भाव कि हम कुछ अपनी बड़ाईके लिये बात बनाकर नहीं कहते, किंतु सत्य-सत्य कहते हैं, हम सत्यवक्ता हैं, यथा—'ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यथा।' (च) **'जग सुभट'**—यहाँ 'जग' से तीनों लोक समझना चाहिये, क्योंकि आगे तीनों लोकोंके वीर गिनाये हैं। [(छ) मैं ब्राह्मणके अनादरसे डरता हूँ , किसी सुभटको भयसे सिर झुकानेवाला नहीं हूँ, मेरा मस्तक विप्रचरणोंमें ही झुकता है, योद्धाके चरणोंमें नहीं—इस तरह यहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनोंमें समान चमत्कार होनेसे 'गुणीभूत व्यंग्य' है। यह भी जनाते हैं कि वस्तुतः आप सुभट नहीं हैं, यह क्षत्रियसंहारवाला जो तेज आपमें है वह हमारा ही दिया हुआ है। आपका यह आवेशावतार है। रमापतिने धनुष देते समय यह तेज आपको दिया था।]

पं०—विजयानंद त्रिपाठीजी—**'मोर प्रभाव बिदित नहिं तोरे। बोलेसि निदरि बिप्रके भोरे ॥'** का उत्तर देते हुए सरकार कहते हैं कि मेरे हृदयमें मुनि और विप्रवर शब्दका बड़ा मान है। आप मुनि हैं, आप विप्रवर हैं, इसीलिये आप पूज्य हैं, आपके तिरस्कार करनेपर भी मुझे रोष नहीं है, मैं ब्राह्मणत्वसे डरता हूँ। क्षत्रियत्वसे नहीं डरता। हम जो माथा नवा रहे हैं तो क्या आप समझते हैं कि आपके बाहुबल, अस्त्रबल वा शस्त्रबलको माथा नवा रहे हैं। भ्रम छोड़ दीजिये, ऐसा सुभट जगतीतलमें कोई है ही नहीं, जिसके बाहुबल, अस्त्रबल या शस्त्रबलके सामने हम झुकें।

देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना ॥ १ ॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ ॥ २ ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पावँर आना ॥ ३ ॥

कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥ ४॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥ ५॥

शब्दार्थ—पचारै (प्रचारै)=ललकारे। सुखेन=सुखपूर्वक; यथा—'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। २। ५७।', 'तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान। २। ९६।' सकाना=शंकित हुआ, डरा, हिचकिचाया।

अर्थ—देवता, दानव-दैत्य, राजा, अनेकों योद्धा, चाहे वे बलमें हमारे बराबरवाले (समान बलवान्) हों, चाहे अधिक बलवान् (ही क्यों न) हों॥ १॥ यदि हमें कोई भी रणमें ललकारे, तो हम सुखपूर्वक लड़ेंगे, चाहे वह मूर्तिमान् काल ही क्यों न हो॥ २॥ क्षत्रिय शरीर धारणकर जो लड़ाई करनेमें डरा, उस नीचने अपने कुलमें कलंक लगाया॥ ३॥ मैं स्वभावसे (अर्थात् बनाकर नहीं) कहता हूँ, (कुछ) कुलकी प्रशंसा करके नहीं कहता। (अर्थात् यथार्थ ही कहता हूँ)। रघुवंशी रणमें कालसे भी नहीं डरते॥ ४॥ ब्राह्मणवंशकी ऐसी ही प्रभुता है कि जो आपको डरता है वह सबसे निर्भय हो जाता है। (वा जो सबसे निर्भय है वह भी आपसे डरता है)॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'देव दनुज भूपति भट नाना।''''' इति। (क) देव, दनुज और भूपति कहकर तीनों लोकोंके वीर सूचित कर दिये। देवसे स्वर्ग, दनुजसे पाताल और 'भू (पृथ्वीके)-पति' से मर्त्यलोकके वीर कहे। देवता, असुर और भूपतिमें अनेक 'भट हैं। इसीसे 'भट नाना' कहा। (ख) 'सम बल अधिक होउ बलवाना' इति। सम, अधिक और न्यून तीन श्रेणियाँ होती हैं, उसमेंसे यहाँ 'सम' और 'अधिक' दोहीको कहते हैं, न्यूनको नहीं कहते। कारण कि जो समान होगा या अधिक बलवान् होगा वही रणमें ललकारेगा जो न्यून होगा वह क्यों प्रचारने लगा, उसका तो साहस ही न होगा कि सामने आवे। पुनः भाव कि श्रीरामजी किसीको अपनेसे न्यून नहीं कहते। श्रीरामजीके समान ही कोई नहीं है, अधिक कहाँसे होगा; यथा—'जेहि समान अतिसय नहिं कोई' (३। ६), 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० ६। ८); तो भी वे सबको अपने समान और अधिक कहते हैं, यह उनकी शिष्टता है, उनका शील है। सब कोई श्रीरामजीसे न्यून हैं, पर वे किसीको अपनेसे न्यून नहीं कहते, प्रतिष्ठित बड़े लोगोंके बोलनेकी यही रीति है। (ग) शंका—लक्ष्मणजीने देवताओंसे लड़नेको नहीं कहा, केवल यही कहा था कि 'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥ २७३। ६।' पर श्रीरामजी देवताओंसे लड़नेको कहते हैं—'देव दनुज'''''। लरहिं सुखेन काल किन होऊ।' यह क्या बात है? समाधान—वस्तुतः श्रीरामजी देवताओंसे लड़नेको नहीं कहते। देवताओंमें जो सुभट हैं, जिनको युद्ध करनेका अभिमान है, यथा—'जे सुर समर धीर बलवाना। जिन्ह कें लरिबे कर अभिमाना॥ १८२। २।', उनसे लड़नेको कहते हैं। ब्राह्मण और साधुओंकी सुभटोंमें गिनती नहीं है, इसीसे देवताओंसे लड़नेको कहते हैं, साधु-ब्राह्मणसे नहीं। (घ) ['नाना' में भाव यह भी है कि चाहे वे अकेले आवें, चाहे बहुत-से मिलकर आवें। (मा० पी०, प्र० सं०)]

२ 'जौं रन हमहि पचारै कोऊ।''''' इति। (क) परशुरामजी श्रीरामजीको प्रचारते हैं, यथा—'छल तजि करहि समरु सिवद्रोही। २८१। ३।', इसीपर श्रीरामजी कह रहे हैं—'जौं रन''''' 'कोऊ' अर्थात् देवता, दनुज, या भूपति कोई भी हो, हम सबसे लड़ेंगे। (ख) 'लरहिं सुखेन' का भाव कि यदि हमें प्रचारनेवाला कोई सुभट मिले तो हमें भी युद्ध करनेमें बड़ा उत्साह होगा। (ग) 'कालु किन होऊ'—भाव कि काल सबसे बड़ा है, यथा—'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥ ७। ९४।', सो ऐसा दुरतिक्रम काल भी यदि हमें ललकारे तो हम उससे भी सुखपूर्वक लड़ें, उसका भय कदापि न मानेंगे। 'सुखेन' सुखपूर्वक लड़नेका भाव कि क्षत्रियको समरमें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये। यथा—'रामहि सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु ते जग जीवत जाय॥' (दोहावली ४२)। (घ) श्रीरामजी देव-दनुजादिसे तथा कालसे लड़नेको कहते हैं, पर यद्यपि उनको जीतनेका सामर्थ्य है, (यथा—'सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥ २। १८९।', 'रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम। ५। ५५।'; तो भी जीतनेकी बात नहीं कहते, अपने मुखसे अपनी बड़ाई नहीं करते, यह भी शिष्टता और शास्त्रमर्यादाका पालन है।

३ 'छत्रिय तनु धरि समर सकाना।''''' इति। (क) भाव कि क्षत्रिय-देहका धर्म समर है। (ख) प्रथम श्रीरामजीने कहा कि ऐसा कौन सुभट है जिसे हम भयवश मस्तक नवायें, यह कहकर अब 'भय' में दोष दिखाते हैं कि

'छत्रिय'''आना'। 'तौ अस को जग सुभट जेहि भय बस नावहिं माथ'से 'लरहिं सुखेन काल किन होऊ' तक क्षत्रिय-कुलका धर्म कहा कि क्षत्रिय संग्राममें भय न करे, ललकार सुननेपर सुखपूर्वक लड़े । और अब क्षत्रियकुलका अधर्म कहते हैं। (ग) 'छत्रिय तनु धरि '' का भाव कि, क्षत्रियका शरीर समरके ही लिये है । जिसे अपने तनकी शङ्का होती है कि न जाने रहे कि जाय, उसका मनमें शंका लाना ही कुलमें कलंक लाना है अर्थात् समरमें शंकित होना क्षत्रियके लिये कलंक है, क्योंकि कुलमें कलंक आनेसे कुलको नरकमें पड़ना पड़ा, कुलका नाम ही डूब गया। [क्षत्रियकी छातीमें क्षात्रधर्म बसता है (शूरता निमित्त) और ब्राह्मणके पृष्ठमें रहता है (सहायता निमित्त), अतएव क्षत्रिय शत्रुके सम्मुख पीठ न दिखावे। (मा० पी० प्र० सं०)] समरमें शंकित होनेसे क्षत्रियको 'पावँर' (अधम) कहा।

टिप्पणी—४ 'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी।''' इति। (क) 'न कुलहि प्रसंसी' इति। आगे चरणमें कहते हैं कि रघुवंशी कालको भी नहीं डरते, इस कथनसे कुलकी बड़ाई करना पाया जाता, इसीसे 'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी' प्रथम ही कह दिया जिससे ये शब्द कुलकी प्रशंसा करनेके अर्थमें न समझे जायँ किंतु यथार्थ कथन ही निश्चित हो। (ख) 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी' इति। हम कालको नहीं डरते, ऐसा कहनेसे (अपने मुख) अपनी बड़ाई पायी जाती, इसलिये ऐसा नहीं कहा, कुलकी बड़ाईके द्वारा अपनी भी बड़ाई की अर्थात् हम रघुवंशी हैं, इससे हम भी कालसे नहीं डरते। पूर्व अपने सम्बन्धमें कहा था कि 'लरहिं सुखेन काल किन होऊ।' सुखपूर्वक लड़ना कहकर अभिप्रायसे जनाया था कि हम कालसे नहीं डरते, साक्षात् बड़ाईका शब्द नहीं कहा। (ग) 'कालहु' से कालकी बड़ाई दिखायी। भाव कि जब कालको नहीं डरते तब और वीर किस गिनतीमें हैं ? उससे अधिक तो कोई है ही नहीं, जिससे डरें। (घ) 'डरहिं न रन' इति। रण शब्द देकर जनाया कि संग्राममें शङ्का न करना चाहिये, इसीसे सर्वत्र रण कहते आये हैं। यथा—'जौं रन हमहि पचारै कोऊ' 'छत्रिय तनु धरि समर सकाना' 'कालहु डरहिं न रन।' [(ङ) इसपर यदि परशुरामजी कहा चाहें कि जब कालसे नहीं डरते हो तो सिर आगे क्यों धरते हो, 'करु कुठारु आगे यह सीसा' क्यों कहते हो, तो उसका उत्तर देते हैं—'बिप्र बंस कै''']

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'चाप श्रुवा सर आहुति जानू''समर जग्य जप कोटिक कीन्हे' इन तीन अर्धालियोंका उत्तर सरकारने भी तीन अर्धालियोंमें दिया। देव स्वर्गलोकके योद्धा, दनुज पाताललोकके योद्धा, भूपति भट नाना मर्त्यलोकके योद्धा, चाहे जो हो मैं किसीके बलाबलको नहीं देखता, केवल ललकार देखता हूँ। जो मुझे ललकारेगा, उससे आनन्दपूर्वक युद्ध करता हूँ। मैं कालको नहीं डरता। मैं बलवान्की ललकार नहीं सह सकता, बड़ेकी नाराजगी सह सकता हूँ।

'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥' (अर्थात् पार्थ ! अपने आप प्राप्त यह स्वधर्मरूप युद्ध स्वर्गका खुला द्वार है। भाग्यशाली क्षत्रिय ही इस प्रकारके युद्धको पाते हैं। यदि तू इस धर्मरूप संग्रामको नहीं करेगा, तो अपने धर्मको और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा। गीता २। ३२-३३)। भाव कि क्षत्रियोंके लिये तो युद्ध महोत्सव है, उसकी इच्छा उन्हें सदा बनी रहती है, सो यदि घर बैठे-बिठाये मिल जाय, तो वह क्षत्रिय भाग्यवान् है। क्षत्रिय होकर जो युद्ध-महोत्सवसे मुख मोड़ता है, वह स्वधर्मसे पतित हो जाता है, उसकी अपकीर्ति होती है, वह पापी है, इसीलिये उसे कुलकलङ्क और पामर कहा है।

रघुवंशियोंके लिये तो इस क्षात्रधर्मके उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहि न काऊ॥ जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मन डीठी॥' कालसे भी रणमें न डरना तो उन्हें स्वभावसिद्ध है । जो जिसको स्वभावसिद्ध है, उसके लिये उसकी प्रशंसा नहीं की जाती। अतः मुझे 'चाप श्रुवा सर''' सुनानेकी आवश्यकता नहीं है।

टिप्पणी—५ 'बिप्र बंस कै असि''' इति। (क) 'अभय होइ जो तुम्हहि डेराई' इति। 'जो अभय होइ सो तुम्हहि डेराई' का तात्पर्य यह है कि जो कालको भी नहीं डरता वह तुमको डरता है। अभिप्रायसे जनाते हैं कि हम कालको नहीं डरते, पर तुमको डरते हैं। इसीके अन्तर्गत ब्राह्मणसे डरनेका माहात्म्य कहते हैं कि जो तुम्हें डरे वह अभय हो जाय, फिर उसे किसीसे भय न रह जाय, सभी उसके वशीभूत हो जायँ। यथा—'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव। ३। ३३॥' पुनः भाव कि आपसे डरे विना अभयको भी भय होता है, यथा—'इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र द्रोह पावक

सो जरई। ७। १०९॥' (शिववाक्य)। 'जो' अभय है वह तुमसे डरता है' इस अर्थका प्रमाण, यथा—'नाहं विशङ्के सुरराजवज्रात्।' (ख) 'जो' इति। यदि श्रीरामजी केवल अपने वंशका डरना कहते तो एकदेशीय होता, इसीसे 'जो' शब्द दिया जो सर्वदेशीय है। जो=जो कोई, जो भी। अर्थात् मैं ही नहीं, सभी जो अभय हैं वे'''। आगे चौ० ६, ७ में नोट १ भी देखिये।

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥ ६॥
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥ ७॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके कोमल और गूढ़ वचन सुनकर परशु धारण करनेवाले (परशुराम) की बुद्धिके परदे खुल गये॥ ६॥ (और वे बोले—) हे राम! लक्ष्मीपति विष्णु भगवान्‌का (यह) धनुष हाथमें लीजिये और इसे खींचिये, जिससे मेरा संदेह मिट जाय॥ ७॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—'तहूँ बंधु सम बाम' का उत्तर देते हुए सरकार कहते हैं कि निर्भय होनेसे ही आप मुझे बाम कहते हैं, सो यह विप्रवंशकी प्रभुता है, मेरी नहीं है। मैं विप्रवंशको डरता हूँ, इसलिये अभय हूँ। मैंने तो विप्र-गुरु पूजाका अभेद्य कवच पहन रक्खा है, अतः मैं अकुतोभय हूँ। मैं ही नहीं, जो ही विप्रवंशसे डरेगा, विप्रगुरुपूजाका अभेद्य कवच धारण करेगा, वही अभय हो जायगा।

सरकारके वचन मृदु हैं। परशुरामजीसे डरना स्वीकार करते हैं, पर साथ-ही-साथ गूढ़ हैं। परशुरामजीकी प्रतिष्ठा विप्रवंश होनेसे कर रहे हैं, उनके ब्रह्मबलसे डर रहे हैं। स्वधर्मपर रहनेसे ही ब्राह्मणकी प्रतिष्ठा है। क्षात्रधर्म उसके लिये परधर्म है। आपद्धर्मरूपसे क्षात्रधर्म स्वीकार करनेपर भी वह स्वधर्म नहीं हो जायगा। आपद्धर्मरूपी कारणके हटते ही परधर्म-का त्याग करके स्वधर्मपर तुरंत आ जाना चाहिये। परधर्माभिमान इतना रूढ़ न होना चाहिये कि उसमें ही अपनी प्रतिष्ठा मानने लगे। सरकारके लिये कहा है कि 'स्वधर्म बहु मन्यते।' अतः दोनों सरकारोंने ऐसी बातचीत की कि परशुरामजीका अज्ञान-पटल हट गया।

जिस भाँति कृष्णावतारमें सरकारने स्वधर्मपरित्यागपूर्वक (पर-धर्म) भिक्षाके लिये सन्नद्ध अर्जुनको उपदेश देकर स्वधर्मपर आरूढ़ किया, उसी भाँति इस अवतारमें परशुरामजीको परधर्म (क्षात्रधर्म) से हटाकर स्वधर्मपर आरूढ़ किया, यथा—'भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।'

टिप्पणी—१ 'मृदु गूढ़ बचन' इति। (क) वचन कोमल हैं। परशुरामजीके वचनोंका खण्डन किया और अपना क्षत्रियधर्म कहा, पर वचनमें कठोरता न आने पायी। (श्रीरामजी मृदु तो सर्वदा ही बोलते हैं, पर यहाँ प्रयोजन आ पड़नेपर वचनोंको और भी कोमल करके बोले, जिसमें परशुरामजीका क्रोध शान्त हो जाय)। वचन गूढ़ हैं अर्थात् इनमें बहुत आशय भरा हुआ है, इनका अभिप्राय गुप्त है। [(गूढ़ बोले क्योंकि प्रभु परशुरामजीको अपना स्वरूप जनाया चाहते हैं)। मृदु, यथा—'हमहिं तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। २८२।' (५) से 'छमहु बिप्र अपराध हमारे॥ ८॥' तक। गूढ़ यथा—'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि' से 'अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई' तक] (ख)—गुप्त अभिप्राय यह है कि तीनों लोकोंको एवं कालको जीत सकनेका सामर्थ्य और ब्राह्मणकी गालियाँ सुने इतना ब्रह्मण्य ईश्वरहीमें है, अन्यमें नहीं। पुनः शिवधनुष जिसके स्पर्शमात्रसे टूट गया, जिसको अभिमान नहीं है—'मैं केहि हेतु करौं अभिमाना' जिसमें इतनी क्षमा है, वह ईश्वर ही हो सकता है दूसरा नहीं। इत्यादि अभिप्राय गुप्त हैं। (ग) 'रघुपति' इति। भाव कि रघुकुलके पति अर्थात् रक्षक हैं ('पा रक्षणे'के अनुसार पति=रक्षक)। ब्राह्मणभक्तिसे कुलकी रक्षा होती है, श्रीरामजी वही ब्राह्मणभक्ति कहते हैं—'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई॥' इसी भक्तिसे उन्होंने कुलकी रक्षा की, अतः 'रघुपति' कहा। यथा—'सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम धुरंधर रघुकुल नाथा। ७। ५॥' सब ब्राह्मणोंको सिर नवाया, इस धर्मसे रघुकुलकी रक्षा की, इसीसे यहाँ 'रघुकुलनाथ' कहा। (घ)—'उघरे पटल परसुधरमति के' इति। परशुराम-जीकी बुद्धिपर बहुत परदे पड़े हैं, इसीसे 'उघरे' बहुवचन क्रिया दे रहे हैं। वह परदे कौन हैं और उनका उघरना आगे परशुरामजी स्वयं अपने मुखसे कहते हैं, यथा—'जय मद मोह कोह भ्रम हारी।' मद, मोह, क्रोध और भ्रम अन्धकाररूप हैं, यथा—'मद मोह महा ममता रजनी।' 'घोर क्रोध तम निसि जो जागा' 'भ्रम तम रबिकर बचन मम' श्रीरामजीके

बचन रविकिरण हैं, यथा—'तमपुंज दिवाकर तेज अनी' 'महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।' तात्पर्य कि मदादिसे बुद्धि दूषित हो गयी, उसपर परदे पड़ गये, समझ न रह गयी। जब मदादि न रह गये, तब बुद्धि निरावरण हुई, श्रीरामजीका स्वरूप समझ पड़ा, जाना कि वे परमेश्वर हैं।

नोट—१ विजयदोहावलीके 'राम कहा भृगुनाथ सों, कहि असि नायउ माथ। अभय होय तुमको डरै धरे सरनपर हाथ॥' इस दोहेके आधारपर कुछ महानुभाव यह अर्थ कहते हैं कि 'असि' निर्देश पद है अर्थात् विप्रवंश कहकर तब श्रीरामजीने हाथसे छातीपर भृगुलता चिह्नकी ओर इशारा करते हुए यह बात कही है कि ऐसी प्रभुता है कि जो मैं तुम्हारे पुरुषा भृगुसे डरा, उसीसे अब सबसे निर्भय हूँ। मयङ्ककार कहते हैं कि तुम मुझको निडर कहते हो और डरवाना चाहते हो मानो भृगुकी दी हुई निडरता तुम व्यर्थ करना चाहते हो।

मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि—'बिप्र बंश' यह चरम वाक्य है, भगवान्का अन्तिम वचन है और जो प्रथम कहा था कि 'होइहि कोउ एक दास तुम्हारा' वह अब यहाँ स्पष्ट हो जाता है। इसमें भगवान्ने अपना रूप दर्शाया है। 'जासु त्रासु डर कहँ डर होई' ऐसा निर्भय पुरुष भी आपसे डरता है, ऐसा 'अभय होइ जो' से सूचितकर अपनेको परात्पर ब्रह्मका अवतार बताते हैं।

यहाँ 'परसुराम, भृगुपति, मुनि' आदि शब्द न दिये। इन शब्दोंसे बुद्धिमत्ता सूचित होती। अतः 'परसुधर' कहा, अर्थात् फरसा चलानेवाले ही तो ठहरे, बुद्धि कहाँसे होती? और प्रथम-प्रथम लक्ष्मणजीने जब अपमानित वचन कहे, तब भी यही नाम दिया गया है। जिस कारण अपमान हुआ वह अब इनकी समझमें आ गया।

टिप्पणी—२ 'राम रमापति कर धनु लेहू।…' इति। इस कथनसे पाया गया कि विष्णुका धनुष शिव-धनुषसे कठोर था। श्रीरामजीने शिवधनुषको खींचा और तोड़ा, इससे उनका संदेह न गया। अथवा, विष्णुभगवान्ने इनसे कहा होगा कि यह धनुष हमारे सिवा किसी दूसरेसे न खिंचेगा।

नोट—२-२४४। ५ में पूर्व लिखा जा चुका है कि विश्वकर्माने दो धनुष निर्माण किये थे, एक वह जो तोड़ा गया और दूसरा भगवान् विष्णुके लिये। परशुरामजी शिवजीसे धनुषविद्या सीखते थे तब कोई धनुष इनके बलके आगे नहीं 'खटता' था, जिसे खींचें वह टूट जाय। तब शिवजीने अपना पिनाक दिया जो न चढ़ सका और न इससे टूटा। फिर इन्होंने महेन्द्राचलपर तपस्या करके विष्णुभगवान्को प्रसन्न किया तब उन्होंने अपना वह धनुष, जो शिवजीसे संग्राम करनेके लिये निर्माण किया गया था, इनको दे दिया। पर यह कह दिया था कि श्रीरामजीके अवतार हो जानेपर तुम्हारे कार्य और अवतारका अन्त हो जायगा और यह आयुध उनके पास चला जायगा। तुम्हारे सिवा जो कोई इसे चढ़ावे उसे समझना कि परात्पर ब्रह्महीका अवतार है। तबसे यह शार्ङ्गधनुष इनके पास है। अबतक यह धनुष न किसीके पास गया न किसीने इसे चढ़ाया था, इसीलिये परशुरामजी समझते थे कि अभी अवतार नहीं हुआ है। पिनाकके टूटनेका भविष्य उन्हें मालूम न था। वाल्मीकीयमें परशुरामजीने रामचन्द्रजीसे यह कहा है कि यह धनुष विष्णुभगवान्ने भृगुवंशी ऋचीकको थाती (धरोहर) दिया था, जो उन्होंने अपने महात्मा पुत्र जमदग्निको दिया था (उनसे मुझे मिला)। यथा—'ऋचीके भार्गवे प्रादाद्विष्णुः स न्यासमुत्तमम्। ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः॥ वाल्मी० १। ७५। २२।' अध्यात्मरा० में परशुरामजीने कहा है कि मैंने बाल्यावस्थामें चक्रतीर्थमें जाकर तपस्याद्वारा परमात्मा नारायण विष्णुभगवान्को प्रसन्न किया, तब उन्होंने प्रकट होकर मुझे पितृघाती हैहयश्रेष्ठ कार्तवीर्यका वध करने और फिर इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेकी आज्ञा देते हुए कहा कि तुम मेरे चिदंशसे युक्त होकर यह काम करो और फिर सम्पूर्ण पृथ्वी कश्यपजीको देकर शान्ति लाभ करो। रामावतार होनेपर मेरा दिया हुआ तेज फिर मुझमें लौट आवेगा। (अ० रा० १। ७। २१—२८)।

टिप्पणी—३ (क) 'रमापति कर धनु लेहू' के कई प्रकारसे अर्थ होते हैं—(१) रमापतिके हाथका धनुष लो। (२) रमापतिका धनुष हाथमें लो। (३) रमापतिका धनुष लो। (ख) 'रमापति' पदका भाव कि जो श्रीरामजीने कहा है कि 'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥' यह लक्षण रमापतिमें है, यह सोचकर वे कहते हैं कि रमापतिका धनुष हाथमें लीजिये और खींचिये। (ग) 'कर लेहू' हाथमें लीजिये। करमें लेनेका भाव यह है कि परशुरामजी धनुष-बाण सौंप रहे हैं अर्थात् यह जनाते हैं कि यह आपका धनुष है, आप अपना धनुष-बाण लीजिये। यथा—'छायक है भृगुनायक सो धनु सायक सौंपि सुभाय सिधाए।' (क० १। २२)। लोकरीति है कि जिसकी चीज है,

उसके हाथमें सौंपी जाती है। (घ) 'खैंचहु मिटै मोर संदेहू' इति। अर्थात् खींचनेसे मेरा भ्रम मिट जायगा, निश्चय हो जायगा कि आप रमापति हैं। पुनः भाव कि आपने वचनसे हमारा भ्रम मिटाया, अब कर्मसे संदेह मिटाइये। पुरुषार्थ-कथनमें संदेह बना रहा और पुरुषार्थ कर दिखानेसे संदेह दूर हो गया। (प्रथम उनको 'भ्रम' था वे श्रीरामजीको राजकुमार समझते थे। भगवान्‌के उत्तरके वचन सुनकर 'संदेह' उत्पन्न हो गया कि ये राजकुमार हैं या परमेश्वर हैं। निश्चय नहीं कर पाते। अतः विष्णुधनुषको खींचनेको कहा। खींचनेसे निश्चय हो जायगा कि भगवान् हैं, और न खींच पाये तो समझ लेंगे कि राजकुमार ही हैं)।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'मिटै मोर संदेहू' इति। जहाँ संदेह है वहाँ आस्तिक्य (विश्वास) नहीं रह सकता। आत्म-विश्वासको भी खो बैठे थे। यथा—'मोरे हृदय कृपा कसि काऊ'। इससे आस्तिक्यका अभाव सिद्ध हुआ। यहाँतक इस प्रसङ्गमें नवों गुणोंका अभाव परशुरामजीमें दिखाया गया।

देत चापु आपुहि चलि गएऊ। परसुराम मन बिसमय भयेऊ॥ ८॥

दो०—जाना राम प्रभाउ* तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेम अमात॥२८४॥

अर्थ—धनुष देने लगे तो वह आप ही चला गया (तब) परशुरामजीके मनमें बड़ा विस्मय (आश्चर्य और भय) हुआ। ८। तब उन्होंने श्रीरामजीका प्रभाव जाना, (जिससे उनका) शरीर पुलककर प्रफुल्लित हो गया। वे हाथ जोड़कर वचन बोले। प्रेम हृदयमें नहीं अमाता। २८४।

टिप्पणी—१ 'देत' अर्थात् परशुरामजी धनुष देने नहीं पाये (थे कि) वह स्वयं ही चला गया। 'चलि गयऊ' अर्थात् आप ही चलकर श्रीरामजीके हाथमें गया। परशुरामजीने कहा था कि आप धनुष खींचकर हमारा संदेह दूर करें, सो धनुषने स्वयं चले जाकर जना दिया कि मैं इन्हींका धनुष हूँ और इतनेसे ही उनका संदेह दूर कर दिया। अपनेसे चले जाकर जनाया कि मैं इन्हींका हूँ।

नोट—१ 'देत चापु आपुहि चलि गयऊ' के और भाव ये कहे जाते हैं—(२) धनुषको देते ही उसके साथ आपहीसे परशुरामका वैष्णव तेज निकलकर रामचन्द्रजीके मुखमें प्रवेश कर गया, यथा—'नृसिंहपुराणोक्तरामायणे—'ज्याघोषमकरोद्वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तदा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्॥ पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखे विशन्।' परशुरामका अंश चला गया, वे खाली ब्राह्मण या जीव रह गये। परशुरामजी आवेशावतार हैं।—(मा० त० वि०) परशुरामजी पाँच कलाके अवतार हैं। वे पाँचों कलाएँ धनुषके साथ ही जाकर श्रीरामजीमें लीन हो गयीं। [पद्मपुराण उत्तर-खण्डमें लिखा है कि श्रीरामजीने ज्यों ही वह धनुष ले लिया, त्यों ही उसके साथ उन्होंने अपनी वैष्णवशक्ति भी खींच ली, जिससे परशुराम कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणकी भाँति वीर्य और तेजसे हीन हो गये। यथा—'एवमुक्तस्तु काकुत्स्थो भार्गवेण प्रतापवान्। सचापं तस्य जग्राह तच्छक्तिं वैष्णवीमपि॥१६३॥ शक्त्या वियुक्तस्स तदा जामदग्न्यः प्रतापवान्। निर्वीर्यो नष्टतेजाश्च कर्म-हीनो यथा द्विजः॥ १६४। प० पु० उत्तरखण्ड अ० २४२।' इसके अनुसार 'आपुहि चलि गयऊ' से यह भाव लिया जा सकता है कि अपनेमें जो शक्ति थी वह भी साथ-ही-साथ श्रीरामजीमें चली गयी।]

टिप्पणी—२ 'मन बिसमय भयेऊ' इति। (क) विस्मय हुआ कि विष्णुधनुष श्रीरामजीके पास आपसे ही कैसे चला गया। तब निश्चय किया कि ये भगवान्‌के अवतार हैं, धनुष दिव्य है, श्रीरामजीको अपना स्वामी जानकर उनके पास चला गया। भगवान्‌के सब आयुध दिव्य हैं। जैसे उनके बाण कार्य करके फिर लौट आते हैं और तरकशमें प्रवेश कर जाते हैं, यथा—'अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग। ६। १३।' 'मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥ प्रबिसे सब निषंग महुँ जाई। ६।१०२।' (ख) विस्मयके दो कारण हैं, एक तो धनुषको स्वयं चला जाना और दूसरे श्रीरामजीका पुरुषार्थ। आश्चर्य हुआ कि ऐसे अत्यन्त कोमल बालकने महाधनुषको खींच लिया। जैसे जो लक्ष्मणजी रावणके उठाये न उठे, उन्हें जब हनुमान्‌जीने उठा लिया तब रावणको विस्मय हुआ था, यथा—'अस कहि लछिमन कहँ कपि ल्यायो। देखि

* प्रताप—१७०४।

दसानन बिसमय पायो' (६ । ८३) । (ग) अथवा, मनमें विस्मय हुआ कि विष्णुभगवान्ने तो कहा था कि जब हम चढ़ावेंगे तब चढ़ेगा और यह तो अपनेसे ही चढ़ गया, अतः ये विष्णुके भी विष्णु (अर्थात् उनके भी सेव्य ब्रह्म श्रीरामजी) हैं;—[(घ) मयंककार लिखते हैं कि इस चौपाईका तात्पर्य है कि परशुरामको यह पहलेसे ही संकेत था कि जो इनको चढ़ावेगा उसे नारायण जानना, परंतु यहाँ अधिक हुआ । धनुष देते समय आप भी आकर्षित हो चले गये, इससे इनको ज्ञात हो गया कि ये सबके कारण परतम हैं । (ङ) पाँड़ेजी कहते हैं कि धनुष आप ही (परशुरामको) छोड़कर भगवान्के पास चला गया, इससे इन्होंने रामजीको विष्णुके भी ऊपर जान अपनी अज्ञानतापर आश्चर्य किया और कठोर वचनोंपर लज्जित हो विस्मयको प्राप्त हुए । (च) परशुरामजी यह डरे कि रोदा चढ़ानेपर रामचन्द्रजीने कहा है कि अब यह निष्फल नहीं जा सकता, तुम ब्राह्मण हो और हमारे गुरु विश्वामित्रजीके सम्बन्धी हो इससे हम तुमको मारते नहीं अब तुम बताओ कि हम इससे तुम्हारी गतिका नाश करें जिससे तुम जहाँ चाहते हो हवामें चले जाते हो या जो तुमने अपना लोकालोक (परलोक) बनाया है उसे नष्ट करें । बाण चढ़ाते ही इनका तेज नष्ट हो गया । इससे वे घबड़ाये और प्रार्थना की कि जो लोकालोक हमने उत्पन्न किये हैं उनका नाश कर दीजिये, हम फिर तप करके परलोक बना लेंगे, क्योंकि इन्होंने विचार किया कि शरीर ही न रहेगा तो फिर क्या हो सकेगा, यथा कवित्तरामायणे—'नाक में पिनाक मिस बामता बिलोकि राम, रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानिकै ।' (क० ६ । २६) । 'भृगुपति गये बनहि तप हेतू' । तब रामचन्द्रजीने इनका परलोक नाशकर इनको अभय किया । (मा० पी० प्र० सं०)]

टिप्पणी—१ 'जाना राम प्रभाउ तब''' इति । (क) जब श्रीरामजीने अपना प्रभाव जनाया तब जाना । यथा—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥ २ । १२७ । ३ ।' (ख) यहाँ परशुरामजीके तन-मन-वचनमें प्रेम दर्शित हो रहा है । 'पुलक प्रफुल्लित गात' यह तनका प्रेम, 'बोले बचन' यह वचनका प्रेम और 'प्रेम न हृदय अमात' यह हृदय (मन) का प्रेम है । मन और हृदय पर्याय हैं —'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । (ग) रामजीका प्रभाव जाना तब वचन बोले, इस कथनका तात्पर्य यह है कि आगे अपने वचनोंमें उनका प्रभाव कहेंगे । (घ) 'बोले बचन हृदय न प्रेम अमात' का भाव कि जब हृदयमें प्रेम न अमाया, न अट सका, तब वचनद्वारा निकल पड़ा । तात्पर्य कि वचन प्रेममय हैं । (ङ) तन-मन-वचनसे प्रार्थना करते हैं । 'जोरि पानि' यह तनसे, स्तुति करना वचनसे और हृदयमें प्रेम होना यह मनसे प्रार्थना करना है । [(च) जब कोई हार जाता है तब वह लज्जित होनेसे ग्लानियुक्त होता है, पर श्रीपरशुरामजीको उलटे परमप्रेम उत्पन्न हुआ ।]

जय रघुबंस बनज बन भानू । गहन दनुज कुल दहन कृसानू ॥ १ ॥
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी । जय मद मोह कोह भ्रम हारी ॥ २ ॥
बिनय सील करुना गुन सागर । जयति बचन रचना अति नागर ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बनज (बन=जल+ज=उत्पन्न)=जलसे उत्पन्न=जलज=कमल । रचना=गढ़ंत, तरतीब, आयोजना, विशेष चातुरी एवं चमत्कारीसे प्रयोग करना । नागर=कुशल, प्रवीण । बिनय=विशेष नम्रता ।=विनती, प्रार्थना ।

अर्थ—हे रघुवंशरूपी कमलवनके सूर्य ! आपकी जय ! हे दैत्यकुलरूपी घने वनको जलानेके लिये अग्निरूप ! आपकी जय ! ॥ १ ॥ हे देवता-ब्राह्मण-गौका हित करनेवाले ! आपकी जय ! हे मद, मोह, क्रोध और भ्रमके हरनेवाले ! आपकी जय ! ॥ २ ॥ हे विशेष नम्रता, विनती, शील, करुणा (आदि) गुणोंके समुद्र ! वचनरचनामें अत्यन्त चतुर ! आपकी जय हो ! ॥ ३ ॥

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'जय' इति । स्तुतिमें आठ बार 'जय' और एक बार 'जयति' सब मिलकर नौ बार 'जय' शब्दका प्रयोग हुआ है । 'जय'=(अपना) प्रभाव प्रकट कीजिये । 'उत्कर्षमाविष्कुरु' (श्रीधरी टीका वेदस्तुति) । नौ बार 'जय' का भाव यह है कि मेरे नष्ट हुए नवों गुण मुझे फिरसे प्राप्त हो जायँ ऐसी कृपा कीजिये । मेरे पुरुषार्थसे यह असम्भव है । यथा—'यह गुन साधन ते नहिं होई', 'क्रोध मनोज लोभ मद माया । छूटहिं सकल राम की दाया ॥'

नोट—पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीके भाव इस स्तुतिके अन्तमें एक ही जगह दिये गये हैं । नौ बार 'जय' के भाव २८५ (७) में पं० रा० च० मिश्रजी और श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजीके भी देखिये ।

टिप्पणी—१ 'जय रघुबंस बनज···' इति। (क) श्रीरामजीने रघुवंशकी प्रशंसा की है, यथा—'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥', इसीसे परशुरामजी भी रघुवंशकी शोभा कहते हैं कि आपके अवतारसे कमलवनके समान रघुवंशियोंकी शोभा है। श्रीरामजीको 'भानु' कहकर उनकी 'जय' कहनेका भाव यह है कि आप 'भानु'के समान सबसे उत्कर्ष बर्तें। [(ख) 'जय' अर्थात् सर्वोपरि कल्याणरूप और जयमान। 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी' प्रभुके इस वाक्यके अनुसार परशुरामजीने उनकी 'जय' अर्थात् उनका जयमान होना कहा। सूर्योदयसे कमल प्रफुल्लित होता है, वैसे ही आपके अवतारसे-आपके अभ्युदयसे रघुवंश प्रफुल्लित हो रहा है।] प्रथम चरणमें श्रीरामजीका अवतार लेना और रघुवंशको सुख देना कहा। दूसरे चरणमें अवतारका हेतु कहते हैं कि आपका अवतार राक्षसोंके नाशके लिये है। रघुवंशी शोभित हैं, प्रफुल्लित हैं, इसीसे उन्हें कमलवनकी उपमा दी। राक्षस भयानक हैं, अतः उनको घोर वनकी उपमा दी, वन भयानक होता ही है। 'श्रीराम-लक्ष्मणजी रघुवंशके 'भानु' हैं और दनुजवनके 'कृशानु' हैं, इस कथनका भाव यह है कि आप भक्तोंके सुखदाता हैं और दुष्टोंके दुःखदाता हैं। [कमलवनका भानु कहकर श्रीरामजीका उदय कहा। इस तरह आदिमें परशुरामजीके आगमनपर जो कहा था कि 'आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा', उस 'पतंग' का यहाँ अस्त होना कहा। (मा० पी० प्र० सं०)]

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—१ 'भानू' इति। श्रीरघुवीरजी भानु हैं; यथा—'उयउ भानु बिनु श्रम तम नासा।', 'राम सच्चिदानंद दिनेसा।···सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥' भानुके उदयसे तमका नाश तो होता ही है, साथ ही 'दुरे नखत' और 'उडगन जोति मलीन' होती है। स्तुति अपना मनोरथ लिये हुए की जाती है, प्रायः ऐसा नियम है। भृगुपतिके हृदयाकाशमें मद, मोह, कोह, भ्रम और अविनय ('अनुचित कहेउँ बहुत···') ये पाँच तारे तेजसे चमक रहे थे। इन्हीं पाँचोंको तेजहीन करनेके लिये प्रथम ही भानुका उदय स्तुतिमें हुआ। रोहिणी नक्षत्रमें भी पाँच तारे हैं। इनमेंसे एक अल्प प्रकाशमान है। वैसे ही स्तुतिमें 'अविनय' तारा स्पष्ट है। एक ओर विनयका उल्लेख है तो दूसरी तरफ भृगुपतिके पास अनुचित भाषण है। इसलिये 'अनुचित कहेउँ' का तात्पर्य 'अविनय' करना आवश्यक है। आदिसे अन्ततक परशुराम प्रसंगमें भृगुपति अविनयसे बोले हैं। पं० विजयानन्दजी भानु, कृशानु, सागर, हंस और केतु पाँच उपमानोंको पाँच तारे गिनते हैं। अनंग और मन्दिर क्यों छोड़ दिये इसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया है।

२ 'दनुज कुल दहन कृशानू।' कृशानु=अग्नि=तेज=तेजनिधान लक्ष्मण। यह कृशानु है वैराग्य। श्रीरामजी तो 'दहन खल निसिचर अनी' प्रसिद्ध ही हैं।

टिप्पणी—२ 'जय सुर-बिप्र-धेनु हितकारी।···' इति। (क) असुरोंके नाशसे देवता, ब्राह्मण और गऊका हित होता है, अतः 'दनुजकुल दहन' कहकर 'सुर हितकारी' कहा। तात्पर्य कि राक्षसोंका नाश करके सुर, विप्र और धेनुका हित करेंगे। (ख) 'जय मद मोह कोह भ्रमहारी' इति। प्रथम बाहरके राक्षसोंका नाश कहकर देवादिका हित करना कहा, अब भीतरके राक्षसोंका नाश करना कहकर हित करना कहते हैं। मदमोहादिके नाशसे सबका हित होता है, इसीसे यहाँ किसीका नाम नहीं लेते। पुनः भाव कि ये चार परदे हमारे हृदय वा बुद्धिपर पड़े थे, सो आपने दूर करके हमारा हित किया। हमें अपने बलका मद था, यथा—'बिस्व बिदित छत्रियकुलद्रोही॥ भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही।···गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥ २७२।'; परशुरामजीके इन वचनोंके उत्तरमें लक्ष्मणजीने कहा है 'अहो मुनीसु महा भट मानी।' इस तरह प्रसंग-भरमें बलका मद देख लीजिये। भगवान्का स्वरूप न जानना मोह है। अज्ञानके कारण ही श्रीरामजीको भी कटु वचन बोले। यथा—'संभु सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोध। २८०' से 'बंधु सहित न त मारौं तोही' तक, 'बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम॥ २८२॥ से 'अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा।' तक। क्रोध तो प्रसंग भरमें प्रकट है, यथा—'बोले उर अति क्रोधु। २८०।', 'कोपु मोर अति घोर कृसानू' (२८३। २), इत्यादि। श्रीरामजीको मनुष्य राजकुमार निश्चय किये हुए थे यही भ्रम है। विश्वामित्रजीने कहा था कि ये 'रामु लखनु दसरथके ढोटा', वही यह जानते थे, यथा—'रे नृपबालक काल बस···। २७१।', 'मातु पितहि जनि सोच बस करसि महीस किसोर। २७२।', 'देखत छोट खोट नृप ढोटा' २८०। ७, इत्यादि। (ग) यहाँतक चार चरणोंमें हितकारत्व दिखाया। रघुवंशमें अवतार लेकर रघुवंशका, राक्षसोंको मार सुर-विप्र-धेनुका और मदादिको हरकर हमारा हित किया।

श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामी—मद-मोह-कोह-भ्रम भव भीम रोग हैं, यथा—'ए असाधि बहु व्याधि। ७। १२१।' इनका हरण सुवैद्य करता है। तस्मात् श्रीराम-लक्ष्मणजी युगल वैद्य हुए। यथा—'बिबुध बैद भव भीम रोग के।'—यह है इस स्तुतिकी फलश्रुति।

टिप्पणी—३ 'बिनय सील करुना गुन सागर।''' इति। (क) श्रीराम-लक्ष्मणजीमें तो अनन्त गुण हैं, यथा—'गुन सागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल गौर सरीरा॥ २४१। २।' परंतु परशुरामजीने विनय, शील, करुणा, वचन-रचना और क्षमा—ये गुण प्रत्यक्ष देखे, इसीसे उन्होंने इन्हीं गुणोंकी प्रशंसा की। विनयके यहाँ दोनों अर्थ घटित होते हैं। श्रीराम-लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे विनती की और नम्र भी रहे। [श्रीरामजीके सभी वचन विनीत हैं। इससे हद है कि 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा'''सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥' (२८२। ५, ७)। शील निबाहा, इस तरह कि परशुरामजीने 'शठ', 'तू', 'तहूँ', 'वाम' और छली आदि कटु एवं अपमानके कठोर शब्दोंका प्रयोग किया, पर श्रीरामजीने प्रत्युत्तरमें कोमल ही वचन कहे और अपराध-क्षमाकी ही प्रार्थना करते रहे। करुणा यह की कि 'विष्णुधनुष चढ़ानेपर चाहते तो इनकी गतिका नाश कर देते, ब्राह्मण एवं गुरु विश्वामित्रके सम्बन्धी होनेसे वध तो करते ही नहीं। परंतु परशुरामजीपर करुणा करके उनकी अनुमतिसे केवल उनके तपःप्रभावसे अर्जित लोकोंका नाश किया। यह भी इससे कि बाण चढ़ानेपर फिर वह व्यर्थ नहीं हो सकता। देखिये समुद्रपर कोपकर बाण चढ़ानेपर जब समुद्रने प्रार्थना की तब उस बाणसे उन्होंने उसे दुःख देनेवाले उत्तर तटवासियोंका नाश किया था। वैसे ही परशुरामपर दया की। समर्थ होनेपर भी कोई कठोर दण्ड न दिया। लक्ष्मणजीके विनय, शील, करुणा, गुण भी देखे कि हम अत्यन्त कटु वचनसे गाली देते रहे पर लक्ष्मणजी हँसते रहे, यथा—'लषन कहा हँसि हमरे जाना', 'बिहँसि लषन बोले मृदु बानी' इत्यादि। यह शील है। 'छमहु महामुनि धीर'''। २७३।' इत्यादि विनय है और 'भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहौं रिस रोकी॥'''२७३। ५-६।' इत्यादिमें करुणा गुण है। शंकरजीको भी परास्त करनेको समर्थ होते हुए और अत्यन्त कटु कठोर वचन सुनकर भी उनको क्षमा ही करते जाते हैं यह करुणा है।] (ख) 'गुनसागर' इति। विनय-शील-करुणाके सागर न कहकर 'गुनसागर' कहनेमें भाव यह है कि यदि 'गुन' शब्द न देते तो समझा जाता कि केवल इन्हीं तीनके सागर हैं, अतः 'गुन' शब्द बीचमें देकर सूचित किया कि अनन्त गुणोंके सागर हैं। (ग) 'मद मोह कोह भ्रम हारी' कहकर 'बिनय'''सागर' कहनेका भाव कि जबतक मदादि हृदयमें रहते हैं तबतक पराये गुण देख नहीं पड़ते, जबतक वे रहे तबतक दोनोंको दुर्वचन कहते रहे। (घ) 'अति नागर'—भाव कि और लोग भी संसारमें वचन-रचनामें नागर हैं, पर आप 'अति नागर' हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं।

> सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छबि कोटि अनंगा॥ ४॥
> करौं काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस मन मानस हंसा॥ ५॥
> अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥ ६॥
> कहि जय जय जय रघुकुलकेतू। भृगुपति गये बनहि तप हेतू॥ ७॥

अर्थ—हे सेवकोंको सुख देनेवाले! सब अंगोंसे सुन्दर (वा, जिनके सुभग अंग सेवकोंको सुख देनेवाले हैं)! शरीरमें अगणित कामदेवोंकी छबि धारण करनेवाले! आपकी जय!॥ ४॥ मैं एक मुखसे (आपकी) क्या प्रशंसा करूँ! हे महादेवजीके मनरूपी मानसरोवरके हंस! आपकी जय!॥ ५॥ मैं अनजानेमें बहुत अयोग्य वचन कहे। हे क्षमाके मन्दिर दोनों भाइयो! (मेरा अपराध) क्षमा कीजिये॥ ६॥ 'जय जय जय रघुकुल केतू!' (हे रघुकुलकेतु! आपकी जय! जय!! जय!!!) ऐसा कहकर भृगुपति (परशुरामजी) तपस्या करनेके लिये वनको चले गये॥ ७॥

टिप्पणी—१ 'सेवक सुखद सुभग सब अंगा।''' इति। (क) सेवकको सुखदाता कहकर शरीरकी शोभा कहनेमें भाव यह है कि राक्षसोंको मारकर आप सुर-विप्र-धेनुका हित करते हैं और अपने शरीरकी छविसे अपने भक्तोंको सुख देते हैं, क्योंकि सेवक आपके दर्शनसे ही सुखी होते हैं, (यथा—'सोभा वपुष कोटि सत कामा॥ निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥ ७। ७५।', 'देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥''' ५।

४२ ।', 'राम चरन बारिज जब देखौं । तब निज जन्म सफल करि लेखौं ॥ ७ । ११० ।', 'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥ निदरहिं सरित सिंधु सर भारी । रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥ २ । १२८ ।', 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥ १४६ । ६ ।'''छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी । एकटक रहे नयन पट रोकी ॥''' इत्यादि)। (ख) अवतार लेकर पहले राक्षसोंको मारते हैं तब सुर-विप्र-धेनु सुखी होते हैं, इसी क्रमसे पहली और दूसरी अर्धालीमें 'गहन दनुज'''हितकारी' कहा । परंतु यहाँ पहले सेवकको सुख देना कहकर तब शरीरकी शोभा कही । यद्यपि शरीरकी छबिसे सेवकको सुख होता है, इस प्रकार शरीरकी सुन्दरता पहले कहनी चाहिये, इसमें तात्पर्य यह है कि प्रभु इसी रूपका सुख भक्तोंको पहलेसे ही देते हैं अर्थात् भक्तोंके हृदयमें सदा बसते हैं, अवतार पीछे लेते हैं । (ग) 'सुभग सब अंगा'—भाव कि सब अंग किसीके सुन्दर नहीं होते, पर आप दोनों भाइयोंके सभी अंग सुन्दर हैं, यथा—'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता । २१७ । २ ।', 'सोभासींव सुभग दोउ बीरा । नील पीत जलजाभ सरीरा ॥ २३३ । १ ।', 'नखसिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस । २१९ ।', 'अंग अंग पर वारिअहि कोटि कोटि सत काम । २२० ') । (घ) 'सरीर छबि कोटि अनंगा' इति । यहाँ परशुरामजी दोनों भाइयोंकी स्तुति करते हैं, इसीसे शरीरके वर्णका नाम नहीं लेते केवल 'सरीर' कहते हैं । क्योंकि यदि श्याम शरीर कहें तो श्रीलक्ष्मणजीका अभाव होगा और यदि गौर शरीर कहें तो श्रीरामजीका अभाव होगा । 'छबि कोटि अनंगा', यथा—'सोभा कोटि मनोज लजावन' । [ऊपर दोनों भाइयोंको वैद्य कहा । विबुधवैद्य सब देवोंमें सुन्दर हैं, इसीसे यहाँ सुन्दरता भी कही । (प० प० प्र०)] ।

टिप्पणी—२ 'करौं काह मुख एक प्रसंसा ।''' इति । (क) 'मुख एक' कहनेका भाव कि करोड़ों मुख हों तब भी आपकी प्रशंसा नहीं हो सकती । ['करौं काह मुख एक प्रसंसा' के साथ 'जय महेस मन''' कहकर जनाया कि जिन महेशके पाँच मुख हैं वे भी आपकी पूर्ण प्रशंसा नहीं कर सकते तब भला मैं एक मुखवाला कैसे कर सकता हूँ । (प० प० प्र०)] 'महेस मन मानस हंसा' अर्थात् जो सब ईशोंके ईश हैं, उनके मनमें आप बसते हैं । तात्पर्य कि आपका प्रत्यक्ष दर्शन उनको भी दुर्लभ है । इससे जनाया कि आप महादेवके भी ईश एवं इष्टदेव हैं । दोनों भाई शिवजीके मनमानसके हंस हैं, यथा—'सुंदर सुखद सकल गुनरासी । ए दोउ बंधु संभु उर बासी ॥ २४६ । ४ ।' (ख) 'मानस हंस' का दृष्टान्त देकर जनाते हैं कि जैसे हंस मानस-सरमें ही रहते हैं, यथा—'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल । २ ।२८१ ।', वैसे ही आप एक महादेवजीके मनमें बसते हैं । (ग) 'करौं काह मुख एक प्रसंसा' से जनाया कि आप वाणीसे भिन्न (परे) हैं और 'महेस मन मानस हंसा' से जनाया कि आप मनसे भिन्न (परे) हैं, यथा—'मन समेत जेहि जान न बानी । ३४१ । ७ ।' (घ) महादेवजीका मन अत्यन्त स्वच्छ है इसीसे उसे मानस कहा और श्रीराम-लक्ष्मणजी परम सुन्दर हैं, इसीसे उन्हें हंस कहा । यथा—'ए दोऊ दसरथके ढोटा । बाल मरालन्ह के कल जोटा ॥' (२२१ । ३) । (ङ) इन चरणोंका सम्बन्ध पूर्वके 'सेवक सुखद सुभग सब अंगा । जय सरीर छबि कोटि अनंगा ॥' से है । भाव यह कि ऐसे स्वरूपकी प्रशंसा मैं एक मुखसे क्या करूँ, ये स्वरूप तो हंसकी तरह शिवजीके मन मानसमें बसते हैं । [(च) 'महेश मन मानस हंसा' कहकर जनाया कि आप मेरे गुरुके हृदयमें तो निवास करते ही हैं, उसी रीतिसे शिवशिष्य मेरे मन मानसमें भी कृपा करके निवास कीजिये । (प० प० प्र०)]

३— अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता । ' इति । (क) परशुरामजीने अनुचित बहुत-कुछ कहा है । यथा— (१) 'सहसबाहु सम सो रिपु मोरा,' (२) 'रे नृपबालक', (३) 'काल बस' (४) 'बोलत तोहि न सँभार', (५) रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा', (६) 'केवल मुनि जड़ जानहि मोही', (७) 'कौसिक सुनहु मंद येहु बालक', (८) कुटिल, कालबस, निज कुलघालक', (११) 'भानुबंस राकेस कलंकू', (१२-१४) 'निपट निरंकुस, अबुध, असंकू, (१५) 'कटु बादी बालक, बध जोगू', (१७-१८) 'आगे अपराधी गुरद्रोही', (१९) 'राम तोर भ्राता बड़ पापी', (२१) 'नीच मीचु सम देख न मोही', (२२) 'मन मलीन तन सुंदर कैसे । बिष रस भरा कनक घट जैसे', (२३) 'परसु अछत देखौं जिअत बैरी भूप किसोर ।', (२४) 'कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू' (२५) 'देखत छोट खोट नृप ढोटा', (२६) 'संभुसरासनु तोरि सठ करसि हमार प्रबोध', (२७) 'तू छल बिनय करसि कर जोरे', (२८) 'छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही', (३०) 'तहूँ बंधु सम बाम', (३१) 'भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा', (३२) 'अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा' । इत्यादि । इसीसे 'बहुत' शब्द दिया । दोनों भाइयोंको बहुत

अनुचित कहा, इसीसे दोनों भाइयोंसे क्षमाप्रार्थी हैं। (ख) 'अज्ञाता' कहनेका भाव कि अज्ञातका अपराध क्षमा किया जाता है। परशुरामजी श्रीरामजीके ही वचनसे अपना काम सिद्ध कर रहे हैं। ['कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर ···' इति। देखिये तो यहाँ परशुरामजी किस नीति (कानून) से अपनेको निर्दोष साबित कर रहे हैं! श्रीरामजीने लक्ष्मणजीका अपराध क्षमा करानेके लिये कहा था कि 'छमहु चूक अनजानत केरी' उसी न्यायका आधार आप भी ले रहे हैं—मैंने जो कुछ कहा सो अज्ञानके वश कहा। यद्यपि वह सब बहुत ही अनुचित था, पर आप तो क्षमाके स्थान हैं, क्षमारूप ही हैं, अतः मेरे अपराधोंको क्षमा कीजिये। (नोट—मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी तो पृथ्वीके पालक-रक्षक हैं, 'पृथ्वी' का नाम है 'क्षमा' और लक्ष्मणजी शेषावतार हो उस क्षमा (पृथ्वी) को धारण किये हुए हैं। अतः, 'छमा मंदिर दोउ भ्राता' कहा)] (ख) दोनों भाइयोंने अत्यन्त क्षमा की है (लक्ष्मणजीने कहा ही है कि 'मारतहू पा परिअ तुम्हारे', 'बिप्र बिचारि बचौ नृपद्रोही', इत्यादि। कटु वचन सुनकर भी श्रीरामजी यही कहते हैं कि 'कर कुठारु आगे यह सीसा', 'सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे', 'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभट जेहि भय बस नावहिं माथ' इत्यादि)। तथा दोनों भाइयोंके हृदयमें निरन्तर क्षमा रहती है; इसीसे उन्हें 'क्षमा मन्दिर' कहा।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—मानसमें चौवालीस बार 'मंदिर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि गुनमन्दिर ५ बार, सुखमन्दिर २ बार, क्षमामन्दिर, सुन्दरतामन्दिर एक-एक बार और ३५ बार केवल 'मन्दिर' शब्द आया है। इस प्रकार कुल ४४ बार हुआ। जिन स्थानोंमें साधारण लोक दृष्टिसे 'मन्दिर' शब्द आवश्यक था उन स्थलोंपर वह नहीं है। यथा—'गई भवानी भवन', 'गिरिजागृह सोहा', 'गौरि निकेता', 'हाट बाट मंदिर सुरबासा' इत्यादि। और, जहाँ कोई अपेक्षा भी न कर सके ऐसे स्थलोंपर 'मन्दिर' आता है। यथा—'दसानन मंदिर', 'मंदिर मंदिर प्रति कर सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥' 'कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ' इत्यादि। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसा प्रयोग किसी विशिष्ट भावनासे ही किया गया है। विशेष करके श्रीराम, हनुमान् और शंकर इन तीनोंमेंसे किसी एकका प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष निवास दरसानेके लिये ही मन्दिरका प्रयोग किया गया है। मराठीमें इसपर स्वतन्त्र लेख लिखा गया है।

'छमा मन्दिर' का अर्थ क्षमाका निवास-स्थान ऐसा अर्थ न करके 'जिस स्थानमें क्षमा पूजादि भजन करती हैं, वह 'स्थान' यह अर्थ करना ठीक होगा। भाव कि आप दोनों क्षमाको भी पूज्य हैं। क्षमा नाम पृथ्वीका है। पृथ्वीने आपका भजन करनेसे ही तो क्षमाशीलत्व प्राप्त की है। 'आनँदहूके आनँद दाता' 'तोषक तोषा' और 'सुंदरता कहँ सुंदर करई' इत्यादिसे यही भाव स्पष्ट होता है।

टिप्पणी—४ 'कहि जय जय जय रघुकुलकेतू।·····' इति। (क) दोनों भाई ब्रह्मण्यदेव हैं। प्रणाम करनेसे दोनोंको संकोच होता है। इसीसे परशुरामजीने ऐश्वर्यके अनुकूल उनकी स्तुति की और माधुर्यकी मर्यादा समझकर उनको प्रणाम न किया। माधुर्यकी मर्यादा रखकर स्तुति की, इसीसे 'नमामि, भजामि' इत्यादि क्रियाएँ नहीं कहीं। और इस समय श्रीरामजी जयको प्राप्त हैं, इसीसे 'जय' शब्दको बारंबार उच्चारण किया है। (ख) यहाँतक नौ बार 'जय' कहा। यथा—'जय रघुबंस बनज बन भानू' (१), 'जय सुर बिप्र धेनु हितकारी' (२), 'जय मद मोह कोह भ्रमहारी' (३) 'जयति बचन रचना अति नागर' (४) 'जय सरीर छबि कोटि अनंगा' (५), 'जय महेस मन मानस हंसा' (६), और 'कहि जय (७) जय (८) जय (९) 'रघुकुल केतू'। नौ बार कहकर सूचित किया कि आप 'जय' की अवधि (सीमा) हैं। [गिनती नव ही तक है। ९ (नौ) अंककी सीमा है। नव बार कहकर अनन्त बार सूचित किया। भाव कि आपके जयकी इति नहीं है। पुनः, श्रीरामजीने परशुरामजीको ब्राह्मणोंके नव गुण दिये जो वे भूले हुए थे—'नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।' अतः प्रत्येक गुणके लिये एक-एक बार 'जय' कहा।—(मा० पी० प्र० सं०)]

रा० च० मिश्र—परशुरामजीने अपनी कलाको भी धनुषमें आरोपणकर समर्पण कर दिया। अतः धनुष आप ही चढ़ गया। यहाँ परशुरामजीने धनुषका एक गुण समर्पण किया जैसा पूर्व कहा गया—'देव एक गुन धनुप हमारे' और अब स्तुति-द्वारा अपने नवगुण स्वीकार कर रहे हैं। 'दनुज दमन मोह भ्रमादि दमन' इत्यादिसे रामजीसे पहला दम गुण स्वीकार-कर अहंकार दूर किया। यह पहली जयका हेतु है। सुरविप्रधेनुके हितमें 'शम' हेतु है। इन तीनोंका मुख्य गुण यही है और इनके अहितके शमनसे इनका हित है, दूसरी जय बोलकर दूसरा 'शम' गुण लिया। मद-मोहादिके दलनका मूल कारण

'तप' है। विनय-शीलादि गुण मनकी शुचितासे प्राप्त होते हैं इससे 'शौच' गुण, 'सेवक सुखद सुभग सब अंगा' इन लक्षणोंका मूल 'आर्जव' (कोमलता) गुण है, महेशमनमानस-हंस होनेका मूल 'शान्ति' है। सो ये चारों गुण चार बार जय बोलकर ग्रहण किये। ये छः गुण साधनरूप हैं, इनके बिना आगेके तीन गुण नहीं प्राप्त होते। अतः इनकी प्राप्ति हो जानेपर आगेके तीन गुणोंकी प्राप्ति एक ही बार दिखाते हैं। 'छमहु छमा मंदिर ·····' इति। यहाँ ज्ञानरूप लक्ष्मण और विज्ञानरूप रामजीसे क्षमाकी सिद्धि हो जानेपर सातवाँ गुण ज्ञान और आठवाँ गुण 'विज्ञान' लिया। 'जय-जय जय रघुकुलकेतू'—इस कुलमें अवतार होनेसे केतुरूप समझ इससे 'आस्तिक्य' गुण लिया।

टिप्पणी—५ (क) 'जय रघुकुलकेतू'—आप रघुकुलकी ध्वजा हैं, आपकी जय हो, इस कथनका तात्पर्य यह है कि आप रघुकुलकी जयके पताका हैं। (ख) 'गये बनहि तप हेतू' इति। तपके लिये जाना कहा; क्योंकि परशुरामजीने तपसे जो लोक प्राप्त किये थे। (परशुरामजीके कहनेसे जब श्रीरामजीने रमापतिका चाप चढ़ाया तब उसपर चढ़ाये हुए अमोघ बाणसे) प्रभुने उनके तपसे अर्जित उन समस्त लोकोंका नाश कर दिया, इसीसे अब पुनः वे तपस्या करनेके लिये वनको गये। (ग) 'जय रघुबंस बनज बन भानू' उपक्रम है और 'कहि जय जय जय रघुकुलकेतू' उपसंहार है। [(घ) 'बनहि' कहा, किसी वनका नाम न दिया, क्योंकि इसमें मतभेद है। वाल्मी० १। ७७ और अ० रा० में महेन्द्रपर्वतपर जाना कहा है। पद्मपुराण उत्तरखण्डमें भगवान् नर-नारायणके रमणीय आश्रममें तपस्याके लिये जाना कहा है। इत्यादि]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—१ 'अनुचित बहुत कहेउँ·····कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गयउ बनहि तप हेतू॥' इति।—भाव कि मैंने अपनी समझमें उचित ही कहा था, पर अब मतिके पटलके हट जानेसे मालूम हो रहा है कि वे वचन अनुचित थे। अतः अज्ञात अनुचित वचन कहे, सो एक बार नहीं, नौ बार कहे। सात बार लक्ष्मणजीको अनुचित कहा और दो बार रामजीको कहा। अतः दोनों भाइयोंसे क्षमा माँगता हूँ, आप दोनों भाई क्षमामन्दिर हैं, अवश्य क्षमा करेंगे।

☞सम्पूर्ण रामचरित-मानसमें यही एक स्तुति है, जो दोनों भाइयोंकी एक साथ की गयी। उपक्रम द्विवचनसे ही हुआ है, यथा—'जय रघुबंस बनज बन भानू।' भानू-शब्द द्विवचन है, और उपसंहारमें तो स्पष्ट ही कह रहे हैं कि 'छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।'

☞इस स्तुतिमें नौ बार 'जय' कहा है, इस भाँति नौ बार अनुचित कथनका क्षमापन करा रहे हैं। अन्तमें रघुकुलकेतु कहकर श्रुतिसेतुके रक्षा करनेवाला स्वयं ब्रह्मरूप होना द्योतित किया; यथा—'रघुकुलकेतु सेतु श्रुतिरच्छक। काल कर्म स्वभाव गुन भच्छक॥ ७। ३५।'

ऐसी स्तुति करके भृगुपति तपके लिये वनको चले गये। क्षत्रियकुलद्रोहका परित्याग किया। अपने स्वधर्मपर आरूढ़ हो गये। द्रोह करना ब्राह्मणका धर्म नहीं है। 'कुर्यादन्यं न वा कुर्यात् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।' ब्राह्मणको तपोबल सञ्चय करना चाहिये, यथा—'तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्हके कोप न कोउ रखवारा॥ इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र रोष पावक सो जरई॥' सो ये महात्मा 'कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे' ऐसा कराल वेष धारण करते थे। इसीपर लक्ष्मणजीने कहा 'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा। ब्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा॥' एवं दोनों भाइयोंने मिलकर परशुरामजीको फिर अपने स्वधर्म (ब्राह्मणधर्म) पर स्थिर कर दिया।

☞सरकार श्रुतिसेतुरक्षक हैं, इसी भाँति कृष्णावतारमें युद्धसे विरत होते अपने सखा अर्जुनको देखकर अठारह अध्याय गीता कही, विश्वरूप दिखलाया। उसे अपने स्वधर्मपर लाकर ही छोड़ा। फिर अर्जुन युद्धके लिये तैयार हो गये, बोले 'करिष्ये वचनं तव।', क्योंकि वर्णाश्रमधर्ममें ही जगत्का कल्याण है, अन्य उपायसे नहीं, यथा—'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥ ७। २०।' सियावर रामचन्द्रकी जय।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—२ 'जय रघुबंस·····तप हेतू' स्तुति इति। इस स्तुतिमें आठ अर्धालियाँ हैं। प्रथम पदसे अवतार कहा। द्वितीयसे और तृतीयसे अवतारका प्रयोजन 'विनाशाय सुरद्विषां परित्राणाय साधूनाम्॥' कहा। 'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरें कुल इन्हपर न सुराई॥ मारतहू पा परिय तुम्हारे' इत्यादि वाक्योंसे जान लिया कि 'सुर बिप्र धेनु हितकारी' हैं। 'तुम्ह सम सील धीर मुनि ज्ञानी' कहनेसे मद-हारी, 'कृपा कोप बध बँधब गोसाईं। मोपर

'**करिय दास की नाईं ॥**' से मोहहारी, 'तजिय बिप्रवर रोष' इत्यादिसे कोहहारी, और अपने मतिके पटलके उघरनेसे भ्रमहारी जाना। (टिप्पणी १, २ पृष्ठ ६०६—भी देखिये)।

इसी भाँति तीसरी अर्धालीमें भी। 'होइहि कोउ एक दास तुम्हारा' कहनेसे विनयसागर, 'अपराधी मैं नाथ तुम्हारा' कहनेसे शीलसागर, 'अभय होइ जो तुम्हहि डेराई' कहनेसे करुणासागर, 'नवगुन परम पुनीत तुम्हारे' आदि वाक्योंसे गुणसागर जाना। 'मृदु गूढ़ बचन' सुननेसे वचन-रचना अतिनागर जाना। अतः परशुरामजीने इन्हीं विशेषणोंसे स्तुति की। (टिप्पणी ३ पृष्ठ ६०७, भी देखिये)।

'**रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन ॥**' अतः चौथी अर्धालीसे शोभा कही। 'महेश मन मानस हंस' कहकर अपने इष्टदेवका भी आराध्य माना। यह स्तुतिकी परा सीमा है।

छठी अर्धालीमें अपराध क्षमापन कराते हैं। दोनों भाइयोंसे संवाद हुआ था। दोनों भाइयोंका कहना एक ही था। पर लक्ष्मणजीने परशुरामजीका क्रोध देखकर युद्धकी धार अपने ऊपर लेना चाही, अतः 'बोले परसुधरहिं अपमाने'। अब सब बातें परशुरामजीके सामने खुल गयीं, अतः दोनों भाइयोंकी स्तुति करते हैं। 'भानू कृशानू' आदि शब्द द्विवचनान्त हैं, और क्षमा भी दोनों भाइयोंसे माँगते हैं। जय जय सीताराम। सातवीं अर्धालीका भाव पूर्व आ चुका है।

श्रीस्वामीप्रज्ञानानन्दजी—१ 'रघुकुलकेतु' यह विशेषण दोनोंमें एक साथ ही चरितार्थ होता है। बिना दण्डकी सहायताके केतु आकाशमें ऊँचा नहीं फहराता है। श्रीलखनलालजीका यश ही तो रघुपति-कीर्ति-पताकाके लिये दण्डरूप हो गया है। यथा—'रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जसु जाका ॥' इस रीतिसे यह पूरी स्तुति श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंकी मिली हुई है। मानसमें एकमात्र यही स्तुति है जिसमें युगल भ्राताओंकी स्तुति की गयी है। वे ही बिबुध बैद्य सिद्ध हो गये।

२—इस स्तुतिमें धर्मरथके सम्पूर्ण अङ्गोंका उल्लेख प्रत्यक्ष किया गया है।

परशुराम स्तुतिमें	धर्ममय रथमें
शील और केतु	सत्य शील—ध्वजा पताका।
भानु, दनुज कुल दहन, धेनु हितकारी	विवेक, बल, परहित—घोरे।
क्षमा (मन्दिर), करुणा (सागर), सब सुखद	क्षमा, कृपा, समता—रजु जोरे।
महेस, कृशानु, बिप्रहित, सुरहित	ईस-भजन, विरति, विप्र-गुरु-पूजा
मन मानस	अचल मन—त्रोन
गुनसागरमें शेष सब गुण	सम, दम, यम, नियम, धैर्य, शौर्य।
रोहिणी नक्षत्रका रूप शकटका-सा है	रथ और शकट एक ही हैं।

इसमें कदाचित् लक्ष्मणजीके करुणासागरत्वमें शंकाका होना सम्भाव्य है। शंकाका निरास '**सुनि लछिमन सब निकट बोलाए। दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए ॥ ५। ५२।**', इस अर्धालीसे होता है।

३—देवता और नाम। चौथा नक्षत्र रोहिणी है। इसकी देवता धाता (रत्नमाला) है। यह स्तुति भी चौथी है* इस स्तुतिका योग न आ जाता तो 'बिधु बुध बीच रोहिनी सोही' यह उल्लेख करना असम्भव हो जाता। इतना ही नहीं अवतार कार्य न होता, न रामायणका निर्माण ही होता। इस स्तुतिका योग ही भावी रामचरित्रका धाता (विधाता) है। इस समयसे ही अवतारकार्यका सचमुच प्रारम्भ होता है।

इस रीतिसे इस स्तुतिका रोहिणी नक्षत्रसे अनुक्रम, नाम, तारे, रूप और देवता इन पाँच अंगोंमें यथामति सविस्तर मिलान करके दिखाया गया।

पहली स्तुति (ब्रह्माकृत) अश्विनी है और उत्तरकाण्ड दोहा ५१ वाली नारदस्तुति रेवती नक्षत्र (अट्ठाईसवाँ नक्षत्र) है, जहाँ मण्डल बराबर पूरा होता है। इस गुणग्राम (स्तुति) रूपी नक्षत्र-मण्डलमें राम नाम सोम भक्त-उर-व्योम-में क्रमशः परिभ्रमण करता है।

---

* ब्रह्माकृत स्तुति, दूसरी माता कौशल्याकृत, तीसरी अहल्याकृत और चौथी यह है।

वीरकविजी—हिंदी नवरत्नके लेखकोंने इस संवादके सम्बन्धमें तुलसीदासजीपर बड़ी अप्रसन्नता प्रकट की है। वे लिखते हैं कि—'लक्ष्मण-परशुरामसंवाद अवश्य ही बुरा है, इस महाकविने इस संवादको ऐसा उपहासके योग्य बनाया है कि वैसा करनेमें स्यात् कोई क्षुद्रकवि भी लज्जित होता। मानो एक ओर महाक्रोधी, निर्बल, अभिमानी और चिढ़नेवाला बुड्ढा खड़ा हो और दूसरी ओर एक बड़ा ही नटखट बिगड़ा हुआ, ठठोल लौंडा जिसे बड़े और छोटेका कुछ भी लिहाज न हो। यह वर्णन गोस्वामीजीके सहज गाम्भीर्यके बिलकुल ही अयोग्य है, इत्यादि।' इसका निर्णय विज्ञ पाठक ही करेंगे, किंतु हम मिश्रबन्धुओंसे इतना अवश्य कहेंगे कि यह कथन सर्वथा आप लोगोंकी योग्यताके विपरीत हुआ है। जैसा दोष इस प्रसङ्गमें आप लोगोंको दिखायी देता है, वैसा लेशमात्र भी नहीं है।

परशुराम-संवाद और भगवद्गीता

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—परशुराम-संवाद और भगवद्गीतामें आपातदृष्टिसे कोई साम्य नहीं मालूम पड़ता, फिर भी निविष्टचित्तसे विचार करनेपर दोनोंका हृदय एक ही मालूम पड़ता है। भगवद्गीता अठारह अध्यायमें कही गयी है। महात्माओंका मत है कि उसके पहिले षट्कमें कर्मयोगका निरूपण है, दूसरेमें भक्तिका और तीसरे षट्कमें ज्ञानयोगका निरूपण है। अब विचारणीय बात यह है कि किसलिये इन तीनों योगोंका उपदेश अर्जुनको किया गया और इतना उपदेश देकर अर्जुनको किस पथपर आरूढ़ किया, और इतने लंबे उपदेशसे कौन-सी विधिकी प्राप्ति हुई?

बात स्पष्ट है कि अपनी इच्छासे युद्धमें प्रवृत्त होनेवाले अर्जुनको समराङ्गणमें ठीक युद्धके समय अहिंसाका भाव उत्पन्न हुआ। उसे धर्ममें दोष दिखलायी पड़ने लगे। उसने देखा कि दोनों पक्षमें अपने ही सगे-सम्बन्धी हैं, जिनके मारे जानेपर स्वर्गके राज्यका मिलना भी हेय है। पुरुषोंके मारे जानेसे स्त्रियोंके अरक्षित होनेपर कुलमें वर्णसंकर उत्पन्न होंगे और पिण्डोदकके लुप्त होनेसे पूर्व पुरुषोंका पतन होगा, अतः मुझ निःशस्त्रको विपक्षी मार भी डालें तो भी भला है। उनसे युद्ध करना ठीक नहीं। लहू भरे भोगसे भिक्षा माँगकर जीवन व्यतीत करना ही श्रेष्ठ है। ऐसा निश्चय करके वह युद्धसे विरत हुआ। स्वधर्म-युद्धका परित्याग करके, उसने परधर्म भिक्षाको स्वीकार करना चाहा।

हमलोगोंको अर्जुनका तर्क युक्तियुक्त-सा प्रतीत होता है, पर भगवान् श्रीकृष्णने उसे क्षुद्र हृदयका दौर्बल्य बतलाया, क्योंकि क्षत्रियके लिये युद्धसे विरत होना पाप है—'धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' (अर्थात् क्षत्रियके लिये धर्मरूप युद्धसे बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है। गीता २।३१)। युद्ध तो उसका स्वधर्म है और तीनों योगोंका निरूपण करते हुए प्रत्येक षट्कमें 'युध्यस्व विगतज्वरः' का ही उपदेश देते गये।

प्रथम षट्कमें तो क्षत्रियधर्मका उपदेश करते हुए 'तस्माद्युद्धस्व भारत' 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः' आदि वाक्य बार-बार कहा है। द्वितीय षट्कमें ऐश्वर्यरूप दिखलाते हुए भीष्म-द्रोणादिको अपने दाँतों तले कुचला हुआ दिखलाया। कहने लगे कि इनको मैं पहले मार चुका हूँ, तू निमित्तमात्र हो जा। इस भाँति ढाढ़स बँधाया और तीसरे षट्कमें यह कहलाकर छोड़ा कि 'करिष्ये वचनं तव' मैं आपकी आज्ञा मानूँगा।

यह तो हुई कृष्णावतारकी बात, पर उसी प्रभुने श्रीरामावतारमें परशुरामजीको युद्धसे विरत किया, क्योंकि वे ब्राह्मण थे। ब्राह्मणका स्वधर्म युद्ध नहीं है, इसीलिये 'नव गुण परम पुनीत तुम्हारे' की चर्चा करते हुए उनके स्वधर्म 'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' का स्मरण कराया और अस्त्र-विद्याको तदपेक्षया बहुत न्यून बतलाते हुए, उसे अपना बतलाया, यथा—'नाथ एक गुण धनुष हमारे।'

भावार्थ यह है कि आपका स्वधर्म शम-दमादि बहुत बड़ा है, यथा—'कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा।' सो आप उसकी उपेक्षा करके जो आपके लिये परधर्म है, अकिञ्चित्कर है, उसका बहुमान कर रहे हैं, यथा—'मैं जस बिप्र सुनावहुँ तोही। चाप स्रुवा सर आहुति जानू॥····समरजग्य जप कोटिन्ह कीन्हे। मोर सुभाव बिदित नहिं तोरे। बोलेसि निदरि बिप्र के भोरे॥' ब्राह्मणके नाते सरकार बहुत दबते हुए उत्तर देते थे। उस दबनेका अर्थ परशुरामजीने यह लगाया कि यह मेरे पराक्रमसे डर रहा है, और कहने लगे कि 'बंधु कहइ कटु संमत तोरे। तूँ छल बिनय करसि कर जोरे। करु परितोष मोर संग्रामा। नाहिं त छाँड़ कहाउब रामा। छल तजि समर करहि सिवद्रोही।' इत्यादि। तब सरकारको स्पष्ट कहना पड़ा कि 'जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभट जेहि भय बस नावहिं

माथ ॥ २८३ ॥ देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना ॥ जौं रन हमहि प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥ बिप्र-बंस कै अस प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥' इत्यादि। तब परशुरामजीकी आँखें खुलीं कि ये मुझसे डर नहीं रहे हैं, अपने धर्मपर दृढ़ हैं। 'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥' के विचारसे ही मेरी कटु उक्ति सहन कर रहे हैं।

इस भाँति यह सिद्ध हुआ कि अर्जुनको परधर्मसे विरत करके स्वधर्मपर लानेके लिये अठारह अध्याय गीता कहा। अन्ततः अर्जुनने स्वधर्मपर आरूढ़ होकर युद्ध किया। इसी भाँति भगवान् श्रीरामने अठारह दोहा परशुराम-संवादद्वारा परशुरामजीको परधर्म युद्धसे विरत करके स्वधर्म शमदमादिके पथपर आरूढ़ किया। अठारह अध्याय गीता और अठारह दोहा परशुराम-संवादसे निर्गलितार्थ विधि यह निकली कि 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभतेऽर्जुन।' अपने-अपने कर्ममें लगे रहनेसे ही सिद्धि प्राप्त होती है।

इस दृष्टिको अपनाकर जो परशुराम-संवाद पढ़ेगा वही इसके मर्मको समझ सकेगा।

नोट—१८ दोहोंमें (अर्थात् दोहा २६२ की दूसरी चौपाईसे प्रारम्भ होकर दोहा २८५ की सातवीं चौपाईपर) यह परशुराम-गर्वहरण प्रकरण समाप्त हुआ।

'परशुरामगर्व-हरण-प्रसंग' इति

नोट—वाल्मीकय आद अनेक रामायणोंमें परशुरामजीका आगमन विवाहके पश्चात् बारात लौटते समय (मार्गमें) वर्णन किया गया है। 'कल्पभेद हरिचरित सुहाये' के अनुसार श्रीशिवकृत मानसमें धनुर्भङ्गके पश्चात् ही जब दुष्ट राजाओंके व्यर्थ गल्प गाल बजानेसे नगर नरनारी शोचवश थे कि 'अब धौं बिधिहि काह करनीया' उसी समय उनका आगमन हुआ—यहाँपर परशुरामजीका आगमन अत्यन्त योग्य है, जैसा पूर्व कहा जा चुका है। 'प्रसन्न राघव' और श्रीहनुमन्नाटकमें भी यही क्रम है। कुटिल राजा इनके पराजयसे ही पराजित हो गये, उनका दमन बिना श्रमके ही हो गया। दूसरे, 'धनुर्भंग' सुनकर आगमन हुआ इससे भी तुरत आना विशेष प्रसंगानुकूल है। या यों कहिये कि कविने सोचा कि विवाहके बाद मार्गमें उनके द्वारा हर्ष और मङ्गलमें विघ्न होना अच्छा नहीं, अभी तो यहाँ उपद्रव हो ही रहे हैं, यहीं सब अमंगलोंका एक साथ ही दमन कराके विवाहका पूर्णानन्द शृङ्गाररससंयुक्त वर्णन करते हुए उस पूर्णानन्दको निर्विघ्न श्रीअवधतक पहुँचा दें। अतः, परशुरामका आगमन पूर्व ही कथन किया गया।

नोट—१ इसके (प्रथम संस्करणके) छपते समय हमें 'मानस-हंस' की एक प्रति प्रोफेसर दीनजीसे मिली। इस प्रसंगपर आलोचना देखी। अपने विचारोंकी पूर्णतया यहाँ देख हमें बड़ा हर्ष हुआ। अतः हम श्रीमंत यादवशंकर जामदार, सम्पादक 'मानसहंस' के विचार ज्यों-के-त्यों पाठकोंके लिये उद्धृत करते हैं—

'वाल्मीकि और अध्यात्मरामायणोंमें यह प्रसंग बारातके वापस आते समय मार्गमें ही दिखलाया गया है। प्रसन्न-राघव नाटकमें यही प्रसंग विवाहके प्रथम ही धनुर्याग-मण्डपमें बतलाया गया है। और गोसाईंजीने भी इसीका अनुकरण किया है। बहुत-सा भाषा सौष्ठव भी वहींसे लिया गया है। (प्रसन्नराघव नाटक, अङ्क दूसरा, देखो)। परंतु इतने ही विवरणसे पूरा नहीं पड़ता।

हमारे मतसे इस प्रसंगको दिया हुआ स्थलान्तर कविकी असामान्य कल्पकता जतलाती है। परशुरामजीके सदृश अखिल क्षात्रसमूहको केवल एक-दो बार ही नहीं लगातार इक्कीस बार 'त्राहि भगवान्' कर दाँतोंमें तृण पकड़नेवाली प्रखर मूर्तिका गर्वहरण किसी निर्जन स्थानमें हो तो वह कैसा, अथवा जिस क्षात्रसमूहकी पीठ परशुरामजीने नरम की थी प्रत्यक्ष उन्हींके सामने स्वयं परशुरामजीका ही नरम किया जाना, यह कैसा ?

फिर भी खूबी देखिये। रामचन्द्रजीके धनुषभङ्गके कारण सीता-देवी हाथसे निकल गयीं। इसे राजसमूहने मानहानि और वस्तुहानि समझी। इसका परिणाम यह हुआ कि सब राजा क्रोधसे बिलकुल ही धुन्द होकर धनुर्यागमण्डपमें ही एक दिलसे राम-लक्ष्मणजीपर हमला करनेके लिये उद्यत हुए। ऐसे ऐन समय परशुरामजीका उसी स्थलपर आविर्भाव दिखलाना, और अन्तमें राम-लक्ष्मणजीसे ही उनको परास्त करवाकर तथा सिर झुकवाकर मण्डपसे बाहर निकलवाना यह बात प्रधान मल्लनिबर्हण न्यायके अनुसार पृथ्वीके वीर्यशौर्यशाली क्षात्रवर्ग द्वारा श्रीलक्ष्मणजीको अजेयपत्र समर्पण

करनेके सदृश नहीं तो क्या है ? कविकी ऊर्जित स्वयं स्फूर्ति दर्शित करनेवाला इससे बढ़कर अब और कौन-सा ढंग हो सकता है ?

भाषा, रस और भावकी दृष्टिसे तुलसी-कृत रामायणका परशुराम-गर्वहरण इतना सुलक्षण हुआ है कि उसको दूसरी उपमा नहीं दी जा सकती। भयंकर दुखके पश्चात् ही सुखकी सच्ची इज्जत की जाती है, ठीक उसी तरह श्रीसीता-रामजीके विवाहकी भी बात है। इस विवाहके आनन्दकी परिणतताका सच्चा कारण सूक्ष्मतासे और शान्ततासे देखा जाय तो परशुरामजीका गर्वहरण ही समझा जावेगा।

फिर भी एक और विशेषता देखने योग्य है। परशुराम-गर्वहरण नजदीक उतारनेसे रामजीका पक्ष प्रबल हुआ है। धनुर्भङ्गके पश्चात् उपस्थित सब राजाओंको राम-लक्ष्मणजीपर चढ़ाई करनेकी आकांक्षा हुई। इससे स्पष्ट ही है कि राम-लक्ष्मणजीका बल उन्हें धनुर्भङ्गसे पूरा अनुमति नहीं हो सका। वह अनुमान परशुरामजीके पराभवने ही करा दिया। इसका तात्पर्य यही होता है कि लक्ष्मणजीके प्रभावकी छाप धनुर्भङ्गके पश्चात् जो अवशेष रही थी उसकी पूर्तता परशुराम-गर्वहरणके स्थलान्तरमें कैसे-कैसे अभिप्राय भरे हैं और वह कैसा तारतम्य भाववाला और कितना रस प्रसववाला हुआ है।

किसी भी प्रकारसे आलोचना हो, परशुराम-गर्वहरण राम-जानकी-परिणयकी प्रस्तावना समझी जायगी यह नितान्त सत्य है।'

नोट—२ परशुराम-गर्व-हरण प्रसंगके विषयमें बहुधा लोगोंने आक्षेप किये हैं। इस विषयमें भी हम 'मानसहंस' से पूरी आलोचना उद्धृत करते हैं—

आक्षेप किया जाता है कि 'परशुराम-गर्व हरण अप्रगल्भ हुआ है।' ऐसे आक्षेप बहुधा प्रकृति-स्वभावानुसार ही होते हैं। परन्तु इस आक्षेपके सम्बन्धमें बोले बिना नहीं रहा जाता। कोई-कोई विद्वान् कहलानेवालोंने परशुराम-गर्व-हरण-पर गोसाईंजीकी खूब ही खबर ली है और भावुक पाठकोंकी चित्त-वृत्तियोंको दुखाया है। अब हम इस प्रसंगका विचार खुले दिलसे परंतु काव्य-दृष्टिपर ख्याल रखते हुए करेंगे।

सारे वर्णनका सच्चा हृदय गोसाईंजीने इस एक ही चौपाईमें भर दिया है—'**बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृप घाती॥**'

इससे यही निश्चित होता है कि परशुरामजी क्रोधके मारे जल रहे थे और उनकी बदला लेनेकी इच्छा बड़ी उग्र हो रही थी। परंतु कोई प्रत्यक्ष क्रिया कर दिखलानेमें वे सर्वथैव असमर्थ थे। परशुरामजीके इस शक्ति-ह्रासका मर्म आक्षेपकोंको प्रथम ढूँढ़ निकालना चाहिये, ऐसा न करके अप्रगल्भताका दोष लगाना स्वयं ही परशुराम बन जाना है।

राम-लक्ष्मणजीने कैसे भी ब्राह्मणका कभी अपमान नहीं किया, तो फिर परशुरामजी-सरीखे ब्रह्मर्षिवर्यका अपमान करनेकी इच्छा क्या उनके चित्तको कभी स्पर्श कर सकती थी ? तो क्या '**हमरे कुल इन्ह पर न सुराई**' उनका केवल वाग्जाल ही समझा जाय ?

सभ्य और शिष्ट स्त्री-पुरुषोंसे भरे हुए धनुर्यज्ञ-मण्डपमें लड़ाई-झगड़े करके वहाँकी बिछायतोंको खूनसे तर कर देने-पर बादमें परशुरामजीको होशमें लाना क्या श्रेयस्कर और शोभास्पद हुआ होता। यदि नहीं तो फिर परशुरामजीका गर्वदमन करनेके लिये सच्चा सरल मार्ग 'उष्णमुष्णेन शाम्यति' के सिवा विश्वास करने योग्य और कौन-सा हो सकता था ? विश्वास योग्य कहनेका कारण यही है कि परशुरामजीका अवतार-कृत्य समाप्त हो चुका था और रामजीका प्रारम्भ हुआ था, परशु-रामजीको इस बातकी विस्मृति हुई थी, परंतु रामजीको उसकी पूर्ण स्मृति थी।

इन सब बातोंका पूर्ण रीतिसे विचार करनेपर ही गोसाईंजीके वर्णनका सच्चा स्वरूप मालूम हो सकेगा। यह वर्णन हमारे मतसे गोसाईंजीकी राजनीति निपुणताका एक प्रशंसनीय उदाहरण है। लक्ष्मणजीके आत्मविश्वास, निर्भीकता, विनोद और उपहासकी उष्णतासे परशुरामजीके साहसी अभिमानका पारा क्रमशः परंतु अमर्यादित, कैसा चढ़ गया और श्रीरामजीके मुखसे 'विप्रबंसकै असि प्रभुताई' इस चौपाईमें केवल 'असि' (वक्षःस्थलका भृगुपति-चिह्न अंगुलीसे बताकर) इसी एक शब्दसे वह (पारा) एकदम कैसे झटसे नीचे उतर गया यह बतलाना ही कविका ध्येय था, इसी कारण उन्हें यहाँपर विशेष प्रखर योजना करनी पड़ी। क्या ऐसी भी योजना अश्लील कही जा सकती है।

नोट—स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीका लेख प्रकरणके प्रारम्भमें आ चुका है।

अपभय कुटिल * महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवँहिं पराने ॥ ८ ॥

दो०—देवन्ह दीन्ही दुंदुभी प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर नर-नारि सब मिटी† मोहमय‡ शूल ॥ २८५ ॥

अर्थ—कुटिल राजा अपने मनःकल्पित अकारणके व्यर्थ भयसे डरे। वे कायर गँवसे जहाँ-तहाँ भाग गये ॥ ८ ॥ देवताओंने नगाड़े बजाये और प्रभुपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। नगरके सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए। उनका मोहमय (अज्ञानजनित, अज्ञानसे भरा हुआ) शूल मिट गया ॥ २८५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'अपभय कुटिल·····' इति। 'अपभय' कहकर जनाया कि श्रीरामजीकी ओरसे राजाओंको भय (की बात) नहीं है (अर्थात् श्रीरामजी उनसे बदला थोड़े लेते) पर वे कुटिल हैं अपनी कुटिलता समझकर वे अपने ही ओरसे डर रहे हैं कि हमने इनको बाँधनेको कहा, सीताजीको छीन लेनेको कहा, अतएव ये हमें अब अवश्य मार डालेंगे। उपक्रममें कहा है कि 'अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥ २७० । ५ ।' और उपसंहारमें लिखते हैं कि 'अपभय सकल महीप डेराने।' तात्पर्य कि कुटिल लोग दूसरोंको भय प्राप्त होनेपर प्रसन्न हुए थे सो उन्हें अपनेही भयकी प्राप्ति हुई। (ख) 'जहँ तहँ' अर्थात् जो जहाँ था वहींसे वह मारे भयके भागा, किसीका किसीने साथ नहीं किया। (ग) 'कायर'—ये वही हैं जिनके बारेमें पूर्व लिखा है कि 'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥ २६६ । २ ।' कायर लोग गाल बजाते हैं, यथा—'बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु। २७४।' (घ) 'गवँहिं पराने' इति। ('कुटिल राजाओंने सोचा कि परशुरामजीने इनसे पराजय पायी, कहीं अब ये यह न कहें कि कौन-कौन बोलता था अब उनको मारना चाहिये। अतएव अभी गँव है, चुपके-से चल देनेका मौका है। मौका यह है कि जब परशुरामजी आये तब सब राजा खड़े हो गये थे, यथा—'देखत भृगुपति बेष कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला ॥ २६९ । १ ।' तबसे) सब राजा खड़े ही हैं, परशुराम अब चले गये, इसी बीचमें सब कायर यह सोचकर निकल भागे कि हमें जाते हुए कोई न देखेगा (अभी निकल भागनेसे लोग समझेंगे कि अपने-अपने आसनोंपर बैठने जाते हैं। यही 'गँव' से भागना है)।

२ 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी·····' इति। (क) नगाड़े बजाये, मंगलाचार किया। फूल बरसाना मंगल है, यथा—'बरषहिं सुमन सुमंगल दाता।' यहाँ देवताओंका मंगल करना कहकर आगे मनुष्योंका बाजा बजाना और मंगल-साज सजाना लिखते हैं। यथा—'अति गहगहे बाजने बाजे·····।' दुंदुभी बजाने और फूल बरसानेसे सिद्ध हुआ कि परशुरामजीके चले जानेसे वे हर्षित हुए। आगे उत्तरार्धमें मनुष्योंका हर्षित होना कहते हैं—'हरषे पुर नर नारि सब।' ('हरषे' देहली-दीपक-न्यायसे दोनोंमें लगता है)। (ख) 'प्रभु' इति। 'प्रभु' शब्द देकर जनाया कि इनका सामर्थ्य देखकर कि परशुरामजी बातों-ही-बातोंमें पराजित हो गये, उन्होंने श्रीरामजीके विजयके नगाड़े बजाये। [(ग) पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि यहाँ 'प्रभु पर' पद देकर कवि ईश्वरताका भी बोध करा रहे हैं। परशुरामका पराजित होना तथा शार्ङ्गधनुषका स्वतः चढ़ जाना देखकर देवताओंने उन्हें पूर्णावतार समझ अपना प्रभु जानकर उनपर पुष्प-वृष्टि की] (घ) 'मोह मय सूल' इति। भाव कि यह शूल (पीड़ा) अज्ञानकी ही थी कि परशुरामजी श्रीरामजीको मारेंगे। यह मोहमय शूल पूर्व कह आये हैं, यथा—'सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥ २७० । ६ ।' सोच और त्रास सब मोह (अज्ञान) से हैं। (ङ) 'मिटी मोहमय सूल' अर्थात् सबको ज्ञान हुआ कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं (परशुरामजीके भी अवतारी हैं)।

---

* 'सकल' १७०४, को० रा०, ना० प्र०। 'कुटिल'—१६६१, १७२१, छ०, भा० दा०।

† 'मिटा'—१७०४, को० रा०, ना० प्र०। 'मिटी'—१६६१, १७२४, १७६२, छ०।

‡ भय—पाठान्तर। 'मोह' रामजीकी सुकुमारताका, भय कुटिल राजाओंका, शूल परशुरामका। 'मोहमय मूल' कहनेका भाव यह कि मोह शूलकी जड़ है उससे शूल होता ही है, यथा—'मोह मूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान' (सुं०)। अतः इन सबको दुःख हुआ था।

नोट—१ 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी···' इति। यहाँपर देवताओंने पहले नगाड़े बजाये। नगरवासी धनुर्भंगके समय पिछड़ गये थे, इससे उन्होंने जयमालके समय पहले बजाया था, अबकी देवताओंकी बारी आयी। वे जयमालके समय पिछड़े थे, इससे अबकी प्रथम ही अवसर पाते ही बजाने लगे। इससे दोनों ओरका उत्साह लक्षित होता है।

अति गहगहे बाजने बाजे। सबहि मनोहर मंगल साजे॥ १॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिल बयनी॥ २॥
सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जन्म दरिद्र मनहु निधि पाई॥ ३॥
बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु उदय चकोर कुमारी॥ ४॥

अर्थ—खूब धमाधम बाजे बजने लगे। सभीने सुन्दर मंगल साजे (सँवारकर रक्खे)॥ १॥ सुन्दर मुखवाली, सुन्दर नेत्रोंवाली और सुन्दर कोकिलके समान मधुर बोलनेवाली स्त्रियाँ झुंड-की-झुंड मिल-मिलकर सुन्दर मधुर गान कर रही हैं॥ २॥ विदेह (राजा जनकजी) का सुख वर्णन नहीं किया जा सकता। (वह ऐसा है) मानो जन्मका दरिद्री निधि पा गया हो॥ ३॥ श्रीसीताजीका डर दूर हुआ, वे सुखी हुईं, मानो चन्द्रमाके उदयसे चकोरकुमारी प्रसन्न हुई हो॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'अति गहगहे बाजने···' इति। (क) 'अति गहगहे' का भाव कि जब धनुष टूटा तब 'गहगहे' बाजे बजे थे, यथा—'बाजे नभ गहगहे निसाना॥ २६३। ४।' और जब परशुरामजीका पराजय हुआ, जब उनको जीता तब 'अति गहगहे' बाजे बजे। तात्पर्य कि जैसे-जैसे सुख अधिक हुआ वैसे-ही-वैसे बाजे विशेष जोरसे बजे। धनुष टूटनेपर सुख हुआ था, यथा—'देखि लोग सब भये सुखारे॥···२६२।' परशुरामजीको जीतनेपर उससे अधिक सुख हुआ। (ख) 'सबहिं मनोहर मंगल साजे' इति। मङ्गलसाज तो तभी साजना चाहिये था जब धनुष टूटा और जयमाल पहनाया गया था, परंतु परशुरामजीके आगमनके कारण मङ्गल सजाना रुक गया था, जब वे चले गये, तब सब कोई मङ्गल सजाने लगे। (ग) 'बाजने बाजे' बहुवचन है। सब बाजे, देवताओं एवं मनुष्योंके बंद हो गये थे, अब सबोंके बाजे बजने लगे। मङ्गल साज एवं गान बंद था सो सब होने लगा। (घ) 'सबहि' का भाव कि सबको दुःख हुआ था, अब सबको सुख हुआ, इसीसे सभी कोई मङ्गल सजाने लगे।

२ 'जूथ-जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी···' इति। (क) 'जूथ जूथ' कहकर यहाँ स्त्रियोंके समुदायकी शोभा कही। 'सुमुखि सुनयनी' से (उनके मुख और नेत्र) अङ्गकी, 'गान कल' से गानकी तथा 'कोकिल बयनी' से स्वरकी शोभा कही। [(ख) श्रीरामयशगानके सम्बन्धसे 'सुमुखि' और श्रीरामदर्शनसम्बन्धसे 'सुनयनी' कहा] गानके सम्बन्धसे कोकिलबयनी कहा; कोकिलके स्वरसे गान कर रही हैं। (ग) परशुरामजीके आगमनसे जिनको दुःख हुआ, परशुरामजीके जानेपर उन्हींका सुख वर्णन करते हैं। यथा—

दुःख (दोहा २७०)		सुख (दोहा २८५, २८६)
सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी॥	१	देवन्ह दीन्ही दुंदुभी प्रभु पर बरषहिं फूल। हरषे पुर नर नारि सब मिटी मोहमय सूल॥
अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं।	२	सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जन्म दरिद्र मनहुँ निधि पाई॥
भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरध निमेष कलप सम बीता॥	३	बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु उदय चकोर कुमारी॥
मन पछिताति सीय महतारी। बिधि अब सवरी बात बिगारी॥	४	यहाँ स्पष्टरूपसे श्रीसुनयना अम्बाजीका सुख वर्णन नहीं किया गया; 'सुनयनी' शब्दसे उनका भी सुख सखियोंके साथ-साथ वर्णन कर दिया है।

मा० पी० प्र० सं०—पूर्व धनुष टूटनेपर तीनका दुखीसे सुखी होना था। यथा—'सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥' 'जनकु लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥' 'सीय, सुखहि बरनिय केहि भाँती। जिमि चातकी पाइ जल स्वाती॥' (२६३, ३, ४, ६)। पर यहाँ दोहीका कहा। (सखियोंको अलग लें तो चारमेंसे तीनका सुख कहा गया है) रानीका नहीं कहा। जैसे पूर्व सखियोंसहित रानीका हर्ष कहा गया है,

वैसे ही यहाँ भी सखियोंके साथ ही रानीका भी सुख अवश्य होना चाहिये। कविने यहाँ 'सुनयनी' श्लिष्ट शब्द देकर उससे महारानी 'सुनयना' अंबाजीका भी सुखी होना कह दिया है 'सुमुखि' से सखियोंको ले लेना चाहिये। 'जूथ जूथ मिलि' अर्थात् अपनी-अपनी अवस्था, प्रकृति, जाति और भाव इत्यादिके अनुकूल झुंड बनाकर।

टिप्पणी—३ 'सुख बिदेह कर बरनि न जाई····' इति। (क) जनक महाराज बहुत डर गये थे। श्रीरामजीको बचानेके लिये वे उत्तर नहीं देते थे, यथा—'अति डरु उतरु देत नृप नाहीं॥' अब परशुरामके चले जानेपर 'निधि' समान पा गये। (ख) 'जन्म दरिद्र' इति। यहाँ परशुरामका आगमन दरिद्रताका आगमन है। दारिद्र्यके समान दुःख नहीं है, यथा—'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं॥' इस दरिद्रताने 'राम' धनको हर लिया, इसके बराबर कोई दुःख नहीं। जब वे चले गये तब 'निधि' पा गये, इसके बराबर सुख नहीं। (ग) 'निधि पाई' इति। 'पायी' कहकर सूचित करते हैं कि जनकजीको संदेह था कि परशुरामजी श्रीरामजीको मारेंगे, अब ये न बचेंगे। इसी भावसे उनके चले जानेपर मानो निधि पा गये यह कहा। [श्रीरामजी परशुरामजीसे न बचेंगे यह जो डर जनकमहाराजको था यही मानो उनका जन्मसे दरिद्र हो जाना था, सो उन्हें मानो 'निधि' मिल गयी।'—(मा० पी० प्र० सं०)]

४—'बिगत त्रास भइ सीय सुखारी॥···' इति। (क) सूर्यके उदयसे चकोरीको ताप होता है। यहाँ परशुरामागमन सूर्योदय है। यथा—'तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आयेउ भृगुकुलकमल पतंगा॥ २६८। २।' इसी प्रकार सीताजीको परशुरामागमनसे ताप हुआ, यथा—'भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अरध निमेष कलप सम बीता॥' २७०। ८।' परशुरामजीका हारकर चले जाना सूर्यका अस्त होना है। उनके हारकर जानेपर श्रीरामजीका उदय हुआ, यही चन्द्रका उदय है जिसे देखकर श्रीसीताजी चकोरकुमारीकी तरह सुखी हुईं। (ख) श्रीरामजीको प्रथम देखनेसे जो सुख श्रीसीताजीको हुआ था—'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥ २३२। ६।' वही सुख परशुरामजीके चले जानेपर हुआ मानो श्रीरामजी पुनः प्रथम मिले, यह भाव जनानेके लिये दोनों जगह चन्द्र-चकोरीका दृष्टान्त दिया। (ग) 'बिगत त्रास' का भाव कि त्रास विशेष गत हो गया। परशुरामजी हारकर चले गये हैं, अतः अब पुनः उनके लौटकर आने और वैर करनेकी चिन्ता न रह गयी। अतः 'वि-गत' कहा।

नोट—'सुख बिदेह कर'—विदेहका भाव यह कि जब विदेहहीका सुख वर्णन नहीं हो सकता तो देहवालोंकी क्या कथा? 'चकोर-कुमारी'—यह वात्सल्य-द्योतक उपमा है। (रा० च० मिश्र)।

धनुषयज्ञ-जयमालस्वयंवर तदन्तर्गत परशुराम-पराजय प्रकरण समाप्त हुआ

(श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु)

(यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्मव्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धोः श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्ये॥)
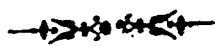
श्रीसिय-रघुवीर-विवाह-प्रकरण

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा॥ ५॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहु भाई। अब जो उचित सो कहिअ गोसाई॥ ६॥
कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना। रहा बिबाहु चाप आधीना॥ ७॥
टूटतहीं धनु भयेउ बिबाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू॥ ८॥

अर्थ—श्रीजनकजीने विश्वामित्रजीको प्रणाम किया (और बोले—) हे प्रभो! आपकी कृपासे श्रीरामजीने धनुष तोड़ा॥ ५॥ दोनों भाइयोंने मुझे कृतार्थ किया। हे गोसाईं! अब जो (करना) उचित हो सो कहिये॥ ६॥ मुनि बोले—हे चतुर नृपति! सुनिये। विवाह धनुषके अधीन था॥ ७॥ (यद्यपि) धनुषके टूटते ही विवाह हो गया। (यह बात) देवता, मनुष्य, नागदेव सब किसीको विदित है॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'जनक कीन्ह····' इति। (क) जब धनुष टूटा था तभी प्रणाम करना और यह बात कहनी चाहिये थी, वही ठीक समय था, परन्तु तुरत ही परशुरामजी आ गये, इससे समय न रह गया था, जब वे चले गये तब प्रणाम आदिका अवसर मिला। जब जनक महाराजको निधि पाकर बड़ा सुख हुआ, यथा—'सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जन्म दरिद्र मनहु निधि पाई॥'; तब उन्होंने (उपकारकी कृतज्ञता सूचित करनेके लिये) विश्वामित्रजीको प्रणाम किया कि यह सुख आपकी कृपासे प्राप्त हुआ। यथा—'बार बार कौसिक चरन सीस नाइ कह राउ। येह सब सुख मुनिराज तव कृपाकटाच्छ पसाउ॥ ३३१॥' (जैसे दशरथजी महाराजने पुत्रोंका विवाह हो जानेपर परम आनन्द पाकर कृतज्ञता सूचित करनेके लिये प्रणाम किया और कहा है, वैसे ही श्रीजनकमहाराजने किया)। [यहाँ 'प्रनामा' बहुवचन है। इससे जनाया कि अनेक बार प्रणाम किया। इस भावसे कि 'मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा। तव पद बंदउँ बारहिं बारा॥' (प० प० प्र०)] (ख) 'प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा' इति। यह सब माधुर्यके अनुकूल कहते हैं। भाव यह कि श्रीरामजी अत्यन्त कोमल बालक हैं, धनुष वज्रसे भी अधिक कठोर था, उसे तृणके समान तोड़ डाला, यह सब आपका प्रसाद है। ऐसा श्रीदशरथजी तथा कौसल्या अम्बाने भी कहा है। यथा—'राम लखन कै कीरति करनी। बारहिं बार भूप बर बरनी॥ ६॥ मुनि प्रसाद कहि द्वार सिधाए। २९५। ७।', 'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी।····सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौशिक कृपा सुधारे। १। ३५७।' [श्रीरामजीका परम पुरुषार्थ देखनेपर भी राजाने अपनपौके साथ दूल्हे लाड़ला वात्सल्यभावकी उमंगसे 'प्रभु प्रसाद' कहकर मुनिका गौरव और अपनायी हुई वस्तुका लाघव दिखाया—यह नीतिकी सीमा है। (रा० च० मिश्र)]

२ 'मोहि कृतकृत्य कीन्ह····' इति। (क) प्रथम धनुष तोड़ना कहा, अब कृतकृत्य होना कहते हैं। इस क्रमसे यह जनाया कि धनुष टूटनेसे हम कृतकृत्य हुए। (ख)—श्रीरामजीने धनुष तोड़कर कृतकृत्य किया, पर यहाँ दोनों भाइयोंका कृतकृत्य करना कहते हैं, यह क्यों? उत्तर यह है कि श्रीजनक महाराज बुद्धिमान् हैं, इसीसे वे दोनों भाइयोंका कृतकृत्य करना कहते हैं। केवल श्रीरामजीको कहनेसे श्रीलक्ष्मणजीका अनादर होता और श्रीरामजी अप्रसन्न होते। क्योंकि जब समस्त उपस्थित तथा पूर्व आये हुए राजाओंसे धनुष न टूटा और जनकमहाराज व्याकुल हुए, यथा—'नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥ २५१। ६।', तब लक्ष्मणजीने अपना पुरुषार्थ कहा जिससे जनकजीको बड़ा धैर्य हुआ, उनके वचनोंहीने श्रीरामजीद्वारा धनुष तोड़ जानेका संयोग लगा दिया, फिर जब श्रीरामजी धनुष तोड़नेको हुए तब उन्होंने चरणसे ब्रह्माण्डको दबाया और भूधरोंको पृथ्वी धारण करनेकी आज्ञा दी। दोनों भाइयोंने पुरुषार्थ किया, इसीसे दोनों भाइयोंका उपकार कहते हैं। तात्पर्य कि जो जनकजीकी प्रतिज्ञा थी वह दोनों भाइयोंके पुरुषार्थसे पूरी हुई। (परशुराम पराजयमें भी श्रीलक्ष्मणजीका बड़ा भारी भाग था) अतएव उनके द्वारा भी अपना परम उपकार समझ उसका निर्देश करते हुए 'दुहुँ भाई' कहा। [लक्ष्मणजीके प्रतापसे ही परशुराम हतबलगर्व हो गये थे, यथा—'बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृपघाती॥' 'फिरेउ सुभाऊ', 'हृदय कृपा' यहाँतक दर्पहरण लक्ष्मणजीने ही किया है। 'रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका' यह शक्ति यहाँ यथार्थ हो गयी है। (प० प० प्र०)] (ग) 'अब जो उचित सो कहिअ गोसाईं' इति। श्रीजनकजीके इस वाक्यके उत्तरमें विश्वामित्रजीने दो बातें कहीं। एक तो यह कि धनुष टूटते ही विवाह हो गया, दूसरे यह कि तथापि तुम (लोक, कुल एवं वेदरीतिके अनुसार भी विवाह करो। इससे जान पड़ा कि राजाने मुनिसे यही पूछा था कि धनुष टूटनेपर अब विवाह हो या न हो। 'गोसाईं' सम्बोधन बड़ोंके लिये होता है। इससे जनाया कि आप बड़े हैं, आप जैसी आज्ञा दें वैसा मैं करूँ।

नोट—१ विश्वामित्रजीने विचारा कि जनकपुरवासियोंको तो आनन्द हुआ ही, अब अवधवासियोंको भी सुख देना चाहिये। बारात आवेगी तो दोनों समाजोंको परमानन्द होगा। दूसरे वे त्रिकालज्ञ हैं, जानते हैं कि शेष दोनों भाइयोंका भी विवाह होना है; अतः आगे दूतोंको भेजकर बारातसहित राजाको बुलवा भेजनेकी आज्ञा देते हैं। मयंककार लिखते हैं कि राजाने विचारा कि रघुकुलका और निमिकुलका एक गोत्र है; पुनः वे चक्रवर्ती महाराज हैं, अयोध्या छोड़कर बारात लेकर किसीके यहाँ विवाह करने नहीं गये, अतः सम्भव है कि वे मेरे यहाँ न आवें। अथवा, ज्योतिषियोंकी गणनामें

कदाचित् कोई अन्तर पड़े वा यह वीर्यशुल्क स्वयंवर था, श्रीरामजी धनुष तोड़कर वीर्यशुल्का जानकीको प्राप्त कर चुके, उनको अधिकार है कि वे उनको घर ले जाकर वहीं कुलरीतिसे विवाह कर लें, इसमें मेरा क्या वश है—इन सन्देहोंके उत्पन्न होनेसे राजाने मुनिसे पूछा कि जो उचित हो वह आज्ञा दीजिये, मैं वैसा प्रबन्ध करूँ, स्वामी प्रज्ञानानन्दजी कहते हैं कि पूछनेमें भाव यह है कि 'दोनों भाइयोंको माता-पितासे बिछुड़े हुए बहुत दिन हो गये कदाचित् वे अब अधिक न रुक सकें'।

२ अ० रा० में यहाँ श्रीजनकजीको 'सर्वशास्त्रविशारद' और वाल्मी० १। ६७ में 'वाक्यज्ञो' विशेषण दिया गया है। पर इन दोनोंमें राजाने स्वयं विश्वामित्रजीसे अपनी इच्छा प्रकट की है कि यदि आज्ञा हो तो मेरे मन्त्री शीघ्र जाकर विनय करके राजा दशरथको यहाँ ले आवें; आप उनको पत्र भेजें। और, मानसके श्रीजनकजीने 'जो उचित' हो आप वह आज्ञा मुझे दें ऐसा कहा है। इन शब्दोंमें कितनी नम्रता भरी हुई है, मानसके जनकके भाव कितने उत्कृष्ट हैं, पाठक स्वयं विचार कर लें। मानसकविका कौशल भी देखिये कि 'जो उचित' को 'जो चित' करके अर्थ करनेसे वाल्मीकीय आदिका भाव भी खिंचकर आ सकता है। अर्थात् जो मेरे चित्तमें है वह कीजिये। क्यों पूछा? इसका उत्तर 'सर्वशास्त्रविशारद' में आ गया कि वे जानते हैं कि शास्त्ररीति यही है कि वेदरीतिसे विवाह हो। वाल्मी० २। ११८ में श्रीसीताजीने अनसूयाजीके पूछनेपर स्वयंवरकी कथा जो कही है उसमें यह भी कहा है कि धनुषके टूटनेपर सत्यप्रतिज्ञ मेरे पिता उत्तम जलपात्र लेकर श्रीरामचन्द्रको मुझे संकल्प कर देनेको उद्यत हुए, पर श्रीरामजीने अपने पिताका अभिप्राय जाने बिना मेरा दान लेना स्वीकार न किया। तब मेरे पिताने मेरे श्वशुरको निमन्त्रित किया। यथा 'ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना। उद्यता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम्॥ ५०॥ दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः। अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः॥ ५१॥ ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम्।'—यह भी कारण विश्वामित्रजीसे कहने का लिया जा सकता है, यद्यपि मानस कथाका यह प्रसंग वाल्मीकीय आदिकी कथासे भिन्न और विलक्षण है।

टिप्पणी—३ 'कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना।....' इति। (क) 'नरनाथ' सम्बोधनका भाव कि आप मनुष्योंके नाथ हैं, उनके उचित और अनुचितको समझकर न्याय करते हैं, लोककी बातें जानते हैं। (ख) राजाने उचित पूछा है, इसीपर मुनि कहते हैं कि आप 'प्रवीण' हैं, क्या उचित है यह आप सब जानते हैं। पुनः प्रवीण कहकर परमार्थके ज्ञाता भी जनाया। ['नरनाथ' लौकिक परिपाटीकी स्वीकारताका और 'प्रबीन' विशेषण वैदिक शैलीका समर्थक है। (रा० च० मिश्र)। 'प्रवीण' से सर्वशास्त्र-विशारद जनाया, यथा—'ततोऽब्रवीन्मुनिं राजा सर्वशास्त्रविशारदः।' (अ० रा० १। ६। ३२)। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि नरनाथसे नीति-निपुण और 'प्रबीना' से व्यवहार-कुशल जनाया]।

४ 'टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू।....' इति। (क) पिछले चरणमें कहा कि विवाह चापके अधीन था, इसीसे कहते हैं कि धनुष टूटते ही विवाह हो गया। यहाँ कारण और कार्य दोनों साथ ही सिद्ध हुए। धनुष कारण है, विवाह कार्य है, धनुषके टूटते ही विवाह हो गया। तात्पर्य कि प्रतिज्ञास्वयंवरमें और कुछ कृत्य नहीं करना पड़ता; प्रतिज्ञाका पूर्ण होना ही कृत्य है। (ख) 'सुर नर नाग बिदित सब काहू' इति। सुरसे स्वर्गलोक, नरसे मर्त्यलोक और नागसे पाताललोक, इस तरह तीनों लोकोंके निवासियोंका जानना कहा, क्योंकि इस स्वयंवरमें सब लोकोंके वीर आये थे, यथा—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥ २५१। ८। पुनः भाव कि पन (प्रतिज्ञा)—विवाह सुर-नर-नाग सभीमें होता है, इसीसे सब जानते हैं कि धनुष टूटते ही (प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही) विवाह हो गया।

दो०—तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहारु।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुर बेद बिदित आचारु॥ २८६॥

अर्थ—तो भी अब आप जाकर जैसा वंशका व्यवहार है, उसे ब्राह्मणों, कुलके बड़े-बूढ़ों और गुरुसे पूछकर जैसा वेदविदित (वेदोंमें प्रसिद्ध—वेदोंमें कहा हुआ) व्यवहार है, वैसा कीजिये॥ २८६॥

टिप्पणी—१ (क) 'तदपि' अर्थात् यद्यपि प्रतिज्ञा-रीतिसे विवाह हो गया तो भी कुल-रीति और वेद-रीतिसे विवाह करना उचित है, निषेध नहीं है। (ख) 'जाइ' जानेको कहा, क्योंकि रंगभूमिमें प्रतिज्ञा-विवाह हो चुका, अभी सब रंगभूमिमें ही हैं। लोक-रीति, वंश-व्यवहार और वेद-रीति घरमें होगी। अतः घर जानेको कहा। (ग) 'अब' का भाव

कि बिना धनुष टूटे वंश-व्यवहार एवं वेदव्यवहार नहीं हो सकते थे, प्रतिज्ञा पूरी हो गयी, अतः अब उसे जाकर करो। (घ) 'जथा बंस ब्यवहार' कहनेका भाव कि वंशव्यवहार सबका एक-सा नहीं है। अनेक वंश हैं और उनके (भिन्न-भिन्न) अनेक तरहके व्यवहार हैं, इसीसे कहते हैं कि जैसा तुम्हारे वंशका व्यवहार हो वैसा करो। (ङ) 'बूझि बिप्र''' इति। ब्राह्मणोंसे पूछो, वे विवाहकी साअत बतावेंगे। कुलवृद्धोंसे पूछो, वे कुलकी रीति बतावेंगे। गुरुसे पूछो, वे वेद-व्यवहार बतावेंगे। (च) 'बेद बिदित आचारु' इति। भाव कि वंशव्यवहार विदित नहीं है, उसे वंशके कुलवृद्ध जानते हैं और वेदमें जो आचार हैं वह सब पण्डित जानते हैं। [इससे धर्म-कार्यकी मर्यादा बतायी कि कुलाचार और वेदाचार दोनों करने चाहिये और निज-निज मति-अनुसार नहीं किन्तु बिप्र, कुल-वृद्धादिकी सम्मतिसे करे। (प० प० प्र०)]

दूत अवधपुर पठवहु जाई। आनहिं * नृप दसरथहि बोलाई॥ १॥
मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला। पठए दूत बोलि तेहि काला॥ २॥

अर्थ—जाकर अवधपुरीको दूत भेजिये। वे जाकर श्रीदशरथजीको बुला लावें॥ १॥ राजाने प्रसन्न होकर कहा—हे कृपालो! बहुत अच्छा। और उसी समय दूतोंको बुलाकर (श्रीअयोध्यापुरीको) भेज दिया॥ २॥

टिप्पणी—१ 'दूत अवधपुर''' इति। बिना दशरथ महाराजके आये विवाहकी शोभा न होगी और राजा जनकजी उनको बड़ा समझके (क्योंकि वे चक्रवर्ती राजा हैं) बुला नहीं सकते, जैसा—'अपराध छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो कई। ३२६।' उनके इस वाक्यसे स्पष्ट है। इसीसे चक्रवर्ती महाराजके बुलानेकी आज्ञा विश्वामित्रजी दे रहे हैं। [पुनः 'दशरथजी महाराजको बुलानेका भाव यह है कि यदि कहते कि तुम विवाहका प्रबन्ध करो तो दोनों तरफका खर्च इन्हींको लगेगा, इसमें शोभा नहीं होगी, गरीबका-सा लड़का ब्याहा जायगा। और चक्रवर्तीजीके आनेसे धूम-धामसे विवाह होगा। पुनः यदि आज्ञा नहीं देते हैं तो राजा संकोचवश उनको बुलावेंगे नहीं। अतएव ऐसी आज्ञा दी। (मा० पी० प्र० सं०)]

२ 'मुदित राउ कहि''' इति। (क) 'मुदित' होनेका भाव कि विश्वामित्रजीने जनक महाराजके मनकी बात कही, इसीसे ये प्रसन्न हुए। जो लालसा राजाके मनमें थी वह इस आज्ञासे पूर्ण हो गयी। जो संकोच उनके मनमें था, कि हम यदि चक्रवर्ती महाराजको अपनी ओरसे बुलावें तो उनका अपमान होगा, वह मुनिकी आज्ञा होनेसे जाता रहा। यथा—'मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी॥ २। ५।', 'नृपहि मोदु सुनि सचिव सुभाषा। बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा॥ २। ५।' सत्योपाख्यानमें भी ऐसा उल्लेख है कि श्रीजनक महाराजने विश्वामित्रजीसे प्रार्थना की कि आप आज्ञा दें कि दूत जाकर श्रीदशरथजीको सेनासहित ले आवें। उसपर मुनिने आज्ञा दी—एवं भवतु भो राजन् गच्छन्तु त्वरितं हयैः॥ २॥ आगमिष्यति राजा तु पुत्राभ्यां सैनिकैः सह। उत्तरार्ध ९। ७४। अर्थात् ऐसा ही हो, तुरंत शीघ्रगामी घोड़ोंपर दूत जायँ और राजाको पुत्रों और सेनासहित ले आवें। (ख) 'भलेहि'—यह कहकर मुनिकी आज्ञाकी स्वीकारता जनायी। (ग) 'कृपाल' कहकर जनाया कि आपने मुझपर बड़ी कृपा की जो चक्रवर्ती महाराजको बुलानेकी आज्ञा दी, क्योंकि मैं उनको बुलानेके योग्य नहीं था। [पुनः 'कृपाला'—क्योंकि इनका मनोरथ पूरा किया। दूसरे यह कि इस आज्ञाद्वारा दोनोंका पुराना टूटा हुआ सम्बन्ध आप पुनः जोड़ रहे हैं। पुनः 'कृपाला' इससे कि मुनिने अपनी ओरसे आज्ञा दी, राजाको कुछ कहना न पड़ा। विजय दोहावलीमें इस प्रसंगपर यह कहा है—'स्रवन बधेके पाप हैं दीन्ह अंध रिषि साप। सो दसरथ बाहर रहे जनक न नेवते आप॥ स्वयं ब्रह्म अवतरे जहँ सब बिधि पूरन भाप। तुलसी विनय विदेहकी चूक पाछिली माफ॥' (मा० पी० प्र० सं०)] (घ)—'पठए दूत बोलि तेहि काला' इति। मुनिने तो आज्ञा दी थी कि घर जाकर दूतोंको भेजो, पर राजा इतने आनन्द-विभोर हैं कि वे मुनिके 'पठवहु जाई' के 'जाई' वाली आज्ञाको भूल ही गये, वहीं दूतोंको बुलाकर उसी समय उन्होंने भेज दिया। (दूसरे, दूत वहाँ रंगभूमिमें ही उपस्थित रहे होंगे, इससे मुनिके सामने ही अपने पास बुलाकर वहींसे भेजा, जिसमें दूतोंका भेजा जाना मुनिकी ही आज्ञासे निश्चित हो। प० प० प्र० का मत है कि जनक महाराज मुनिके 'तदपि 'जाइ तुम्ह' और 'पठवहु जाई' दो बार जानेकी आज्ञाका उल्लङ्घन करें यह असम्भव है। 'भलेहि' से सूचित कर दिया कि वे घर गये और वहाँसे दूत भेजे। मिलान कीजिये—'चलहु बेगि सुनि गुर बचन भलेहि नाथ सिर नाइ। भूपति गवने भवन'''।' २९४। (प० प० प्र०)।

* आनो—१७०४।

अ० रा० में दूतोंने दशरथजीसे कहा है कि विश्वामित्रसहित राजाने यह संदेश भेजा है, यथा—'समर्वीय महाराज विश्वामित्रेण संयुतः ।' ('सत्योपाख्यान')] (ङ)—यहाँ पत्रिका लिखकर दूतोंको देना नहीं लिखा, क्योंकि आगे अवधपुरी पहुँचनेपर पत्रिकाका हाल कहेंगे । दोनों जगह लिखनेसे विस्तार हो जाता ।

बहुरि महाजन सकल बोलाए । आइ सबन्हि सादर सिर नाए ॥ ३ ॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा* । नगरु सँवारहु चारिहु पासा ॥ ४ ॥
हरषि चले निज निज गृह आए । पुनि परिचारक बोलि† पठाए ॥ ५ ॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई । सिर धरि बचन चले सचु पाई ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर सब महाजनोंको बुलाया । सबोंने आकर आदरपूर्वक मस्तक नवाया (प्रणाम किया) ॥ ३ ॥ (राजाने उनसे कहा कि) बाजार, रास्ते, मन्दिर—देवताओंके निवास, स्थान और नगरको चारों ओर सजाओ ॥ ४ ॥ सब प्रसन्न हो (खुश-खुश) वहाँसे चले और अपने-अपने घर आये । फिर (राजाने) परिचारकों (टहलुवों, सेवकों) को बुला भेजा ॥ ५ ॥ (और उन्हें आज्ञा दी कि) विचित्र मण्डप सँवारकर रचो । वे सब आज्ञाको शिरोधार्यकर सुख पाकर चले ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बहुरि' का भाव कि मुनिकी आज्ञाका प्रतिपालन प्रथम कर दिया तब अपनी ओरसे जो करना उचित समझते थे उसकी आज्ञा अपनी ओरसे देनेमें तत्पर हुए । 'पठए दूत -बोलि तेहि काला' तक मुनिकी आज्ञा कही, अब राजाकी आज्ञा कहते हैं । अतः बीचमें 'बहुरि' पद दिया । ('बहुरि' का अर्थ यहाँ 'दुबारा' नहीं है किंतु 'तत्पश्चात्, उसके बाद' है) । (ख)—'महाजन' महात्मा और धनिक दोनोंको कहते हैं, पर यहाँ धनी लोगोंका ही ग्रहण है । महाजनोंको बुलानेमें भाव यह है कि काम भारी है । नगरको चारों ओर सजाना है, इसलिये 'सकल' (सभी) महाजनोंको बुलाया । (ग) 'आइ सबन्हि सादर सिर नाए'—सबका आना और सादर प्रणाम करना कहनेसे पाया गया कि राजाकी आज्ञामें सबकी भक्ति है । इससे सबका स्वामिभक्त होना दिखाया । प्रथम कहा कि 'महाजन सकल बोलाए' इसीसे आनेमें 'आइ सबन्हि' कहा । यदि यहाँ 'सबन्हि' न कहते तो समझा जाता कि सब नहीं आये थे, कुछ ही आये थे । [इससे जनाया कि राजाके यहाँ सबके नामादिका रजिस्टर रहता था 'सादर' शब्द जनाता है कि इनसे राजाका सम्बन्ध कितने प्रेमका था । प० प० प्र०]

२ 'हाट बाट मंदिर···' इति । (क) मंदिर=मकान, घर । यथा—'गयउ दसानन मंदिर माहीं', 'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा', 'मंदिर महुँ न दीखि बैदेही' (५ । ५), 'पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा ॥ कृपासिंधु जब मंदिर गए । पुरनर नारि सुखी सब भए ॥ ७ । १० ।' (स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है 'मंदिर' शब्द मानसमें चौवालीस बार आया है । इसका प्रयोग शिवजी, रामजी अथवा हनुमान्‌जीके निवासस्थानोंके लिये ही किया गया । यहाँ मन्दिरसे जनकवंशियोंका शिव-मन्दिर अभिप्रेत है । कहा ही है कि 'इन्ह सम काहु न शिव अवराधे' ।) (ख)—जब राजा दशरथजीके बुला लानेकी आज्ञा दी तभी नगर सँवारनेकी आज्ञा दी । मङ्गल-समयमें हाट-बाट-मन्दिर आदि सँवारनेकी रीति है । यथा—'सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे । मग गृह गली सँवारन लागे ॥' (ग) 'नगर सँवारहु' इति । सजाना मङ्गलका चिह्न है । नगर तो पूर्वसे ही सुन्दर बना हुआ है, यहाँ 'सँवारने' से विशेष रचना करनेकी आज्ञा अभिप्रेत है । यथा—'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि । रामपुरी मंगलमय पावनि ॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई । मंगल रचना रची बनाई ॥ २९६ । ५-६ ।' (नगर-रचना तो पूर्वसे ही अलौकिक है, यथा—'बनै न बरनत नगर निकाई । जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई ॥ १ । २१३ ।' यहाँ सँवारनेसे बन्दनवार, पताका, केतु आदिका लगाना जनाया । यह प्रीतिकी रीति दिखाते हैं) पुनः, श्रीजनकजी अब निश्चय जान गये कि ये 'राम' ब्रह्म हैं और उधर उनके पिता दशरथजी चक्रवर्ती महाराज हैं; अतः उनके स्वागतके लिये 'तसि पूजा चाहिय जसि देवता', इस नियमके अनुसार विशेष ऐश्वर्यसे सजावट करनेकी आज्ञा दी । (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ 'हरषि चले निज निज गृह आए ।···' इति । (क) राजा जनक आदि सब सभाके लोग हर्षपूर्वक अपने-अपने घर आये । राजा जनकने दूतों और महाजनोंको स्वयं बुलाया, यथा—'पठए दूत बोलि तेहि काला', 'बहुरि

---

* महँ पासा—१७०४ । † निकर बोलाये—१७०४ ।

महाजन सकल बोलाए'; क्योंकि महाजन और दूत वहीं विद्यमान हैं। राजाने घरपर जानेके पश्चात् सेवकोंको बुलवाया, क्योंकि सेवक भी बुलानेके समय अपने-अपने घरमें हैं—'हरषि चले निज निज गृह आए'। इसीसे उनको 'बोलि पठाए' अर्थात् बुलावा भेजा ऐसा लिखा। 'पुनि' से भी राजाका ही बुलवाना सिद्ध होता है। यदि यह अर्थ करें कि महाजन अपने-अपने घर आये और उन्होंने सेवकोंको बुलाया तो 'तिन्ह परिचारक बोलि पठाए' ऐसा पाठ होता। जैसा आगे 'पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना' में है! यदि महाजनोंको वितान बनानेकी आज्ञा देते तो पाया जाता कि राजाने अपने धनसे वितान नहीं बनवाया, किंतु महाजनोंसे बनवाया।

'हरषि चले····'—'यह चौपाई धोखेकी है, क्योंकि इसे सब टीकाकारोंने महाजनोंमें लगाया है। परंतु महाजनोंमें इसे लगाना नहीं बनता है, क्योंकि आगे वितान बनवाना कहा है, और वितान बनानेकी एक तो महाराजने आज्ञा ही नहीं दी, दूसरे, यदि कोई कहे ही कि महाराजने वितानकी आज्ञा दी तो भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि श्रीजनकजीको क्या कमी है कि महाजनोंसे अपना वितान बनवावेंगे। अतएव यहाँ यह अर्थ हुआ कि महाजनोंको जो आज्ञा दी वह पूर्व लिखी गयी कि 'हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु····'। रङ्गभूमिमें सबका आना कहा था, अतः यहाँ उन्हीं सबोंका जाना कहकर सभाका बरखास्त होना सूचित किया। सब अपने-अपने घर गये। राजा भी घर आये। तब राजाने परिचारकोंको बुला भेजा। यदि यहाँ रङ्गभूमिसे सबका जाना नहीं कहा गया, तो फिर आगे तो कहीं जानेकी चर्चा है ही नहीं, तब क्या सब रंगभूमिमें ही बैठे हैं? (स्वामी प० प० प्र० का मत है कि 'महाजनोंने परिचारकोंको बुलवाया।' वे कहते हैं कि यहाँ 'आये' से केवल आनेकी क्रिया सूचित की है न 'जाने' की। 'सचु पाई' से दिखाया कि सेवकोंकी भावना कितनी सात्त्विकी थी)।

टिप्पणी—४ 'रचहु बिचित्र बितान बनाई····' इति। (क) नगर सँवारनेको कहा और वितान विचित्र रचनेको कहते हैं क्योंकि वितानके नीचे विवाह होनेको है, सब कोई वहाँ आयेंगे और विचित्र रचनाको देखेंगे। 'बिचित्र' कहकर जनाया कि इसमें अनेक प्रकारके रङ्ग-विरङ्गके मणि लगाओ। 'रचहु बनाई' अर्थात् इसमें बहुत विशेष कारीगरी दिखाओ। (ख) 'सिर धरि बचन'—वचनको शिरोधार्य करना सेवकका परम धर्म है। यथा—'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥' (ग) 'चले सचु पाई' इति। ('चले' बहुवचन है। इससे जनाया कि बहुतसे सेवकोंको बुलाया था जिसमें एक-एकको एक-एक काम सौंप दें, इस तरह काम शीघ्र हो जायगा)। 'सचु पाई'—सुख प्राप्त हुआ, क्योंकि सेवकको स्वामीकी आज्ञा होना सेवकका परम सौभाग्य है, आज्ञा परम सेवा है, इसके समान दूसरी सेवा नहीं, सेवक स्वामीकी आज्ञाका लालायित रहता है। यथा—'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥ २। ३०१।', 'प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥ ७। २५।'

पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥ ७॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा॥ ८॥

दो०—हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल॥ २८७॥

शब्दार्थ—गुनी (गुणी)-गुणवान् कारीगर। कदलि=केला। पदुमराग (पद्मराग)=माणिक्य या लालनामक रत्न। यह माणिक्यकी वह जाति है जिसका रङ्ग अरुणकमल पुष्पके समान होता है। भूलना=धोखेमें आ जाना, चकित होना, लुभा जाना, गुम होना।

अर्थ—उन्होंने अनेक गुणवान् कारीगरोंको बुलवा भेजा जो मण्डप-रचनाकी विधिमें निपुण और सुजान थे॥ ७॥ उन्होंने ब्रह्माजीकी वन्दना करके (कार्य) प्रारम्भ किया और सोनेके केलेके खम्भे विशेष रचकर बनाये॥ ८॥ हरे मणियोंके पत्ते और फल तथा पद्मरागके फूल ऐसे रचकर बनाये कि उस अत्यन्त विचित्र रचनाको देखकर ब्रह्माका मन भुलावेमें पड़ गया अर्थात् वे चकित हो गये॥ २८७॥

टिप्पणी—१ 'पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना।' इति। (क) बहुत परिचारकोंको आज्ञा दी गयी है इससे सूचित होता है कि मण्डपमें बहुत काम है। और बारात आनेके पूर्व ही मण्डप तैयार हो जाना चाहिये। मण्डपका एक-एक काम

एक-एक परिचारकको सौंपा गया। प्रत्येकने एक-एक काम बनवाया। प्रत्येक काममें बहुत गुणियोंका काम है। इसीसे प्रत्येक परिचारकने अपने-अपने कामके लिये अनेक गुणी कारीगरोंको बुलाया। यदि सब काम न्यारे-न्यारे न होते तो एक ही कामदार अनेक गुणवानोंको बुला सकता था। मण्डपका काम भारी है, अनेक कामदारोंको सौंपा गया है। अतः 'तिन्ह' पद दिया। (ख)—'कुशल' अर्थात् वितान बनानेमें प्रवीण हैं। विधि जाननेमें सुजान हैं। क्रियामें कुशल हैं और जाननेमें सुजान हैं, काम करनेमें कुशल हैं और कारीगरीकी विधिमें सुजान हैं, भली प्रकार पढ़े-गुणे हैं। सब बात सब नहीं जानते, इससे नाना गुणी बुलाये गये।

नोट—१ जो इस बातमें चतुर हैं कि बता सकें कि यहाँ कैसी रचना उत्तम होगी पर बनानेकी बुद्धि नहीं रखते, वे भी कामके नहीं और जो केवल बनानेमें होशियार हैं पर कहाँ कैसा होना चाहिये यह बुद्धि नहीं रखते वे भी कामके नहीं, अतएव यहाँ कुशल और सुजान दोनों कहकर पक्के गुणवान् सूचित किये।

टिप्पणी—२ 'बिधिहि बंदि···' इति। (क) ब्रह्माजी रचनाके आचार्य हैं (वे सृष्टिके रचयिता हैं, कैसी विचित्र सृष्टि इन्होंने रची है? रचना करनेमें इनसे बढ़कर दूसरा नहीं), इससे उनकी वन्दना करके कार्यका आरम्भ किया जिसमें वितानकी रचना उत्तम हो। (यहाँ ब्रह्माका 'विधि' नाम दिया, क्योंकि 'विधि' से ही मण्डप बनाना है। पुनः पूर्वके 'जे बितान बिधि कुसल सुजाना' की जोड़में यहाँ 'विधि' नाम दिया)। 'विधि' की वन्दना करनेसे विधि सर्वप्रकारेण सुन्दर बनी। [(ख) शंका—ब्रह्माजी तो शापित हैं, अपूज्य हैं, तब उनकी वन्दना कैसे की गयी? समाधान—यह बात शापसे पहलेकी है। वाल्मीकीयमें भी ब्रह्माजीका पूजन और नमस्कार पाया जाता है, यथा—'पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्या-सनवन्दनैः। प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वा चैव निरामयम्। १। २। २५।' अर्थात् ब्रह्माजीको देखकर वाल्मीकिजीने पाद्य, अर्घ्य, आसन और स्तुतिद्वारा उनकी पूजा की और विधिवत् प्रणाम करके उनसे कुशल-प्रश्न किया। दूसरे, यहाँ तो पूजा नहीं किंतु वन्दनामात्र की गयी है। पूजा भले ही बंद हो, पर नमस्कार तो बंद नहीं है। सभी ऋषीश्वर उनको प्रणाम करते हैं। अतः रचनाके आचार्यके नाते कार्यारम्भमें उनको नमस्कार करना योग्य ही है? दोहा १४ 'बंदउँ विधिपदरेनु···' में विस्तारसे यह विषय लिखा जा चुका है, वहीं देखिये] (जिस कार्यमें जिस देवी-देवताका वन्दन पूजनादि शास्त्रविधि हो उसे करना ही चाहिये, नहीं तो विघ्न उपस्थित होते हैं। जैसे अयोध्याकाण्डमें नगर सँवारनेमें वन्दन न होनेसे राज्याभिषेकमें विघ्न हुआ। प० प० प्र०) (ग) मण्डपमें प्रथम खम्भे गाड़े जाते हैं, पीछे वह छाया जाता है (प्रथम खम्भे रचे, क्योंकि वितान इन्हींके आश्रित रहता है। केलेका वृक्ष माङ्गलिक है, मङ्गल-कार्योंमें केलेके खम्भे लगाये जाते हैं। अतः गुणियोंने मङ्गल रचनासे ही प्रारम्भ किया)। केलेका खम्भा पीतवर्ण होता है और स्वर्ण भी पीतवर्ण है, अतः स्वर्णके खम्भे बनाये। और कोई स्वर्ण हरित होता है, उसके खम्भे बनाये। मंडपके चारों कोनोंमें केलेके खम्भे गाड़े जाते हैं, इसीसे इन्होंने चारों (कोनोंमें देखनेमें केला ही जान पड़नेवाले) खम्भे रचे।

टिप्पणी—३ 'हरित मनिन्ह के पत्र फल···' इति। (क) केलेके पत्ते और फल हरे होते हैं, इसीसे हरित मणियों-के पत्ते और फल बनाये। फूल लाल होता है, इसीसे लाल मणि पद्मरागके फूल बनाये। पत्र और फल एक हरितमणिसे नहीं बन सकते, उसमें बहुत मणि लगते हैं, इसीसे 'मनिन्ह' बहुवचन शब्द दिया। (ख) शंका—यहाँ प्रथम फल कहते हैं तब फूल (परंतु वृक्षमें प्रायः फूल पहले होते हैं तब फल) यहाँ क्रमभङ्ग क्यों हुआ? समाधान—(यह रीति अन्य वृक्षोंमें है, केलेमें नहीं)। केलेकी बालीमें ऊपर फल रहता है नीचे फूल। [केलेमें प्रथम पत्ते होते हैं, तब जैसे-जैसे फल-फूल बढ़ते हैं उसी क्रमसे यहाँ लिखा। इसमें फल-फूल साथ-ही-साथ होते हैं (मा० पी० प्र० सं०)] उसी क्रमसे यहाँ प्रथम पत्र-फल तब फूल कहे। अथवा, साक्षात् केलेमें फूल-फलका क्रम होता है और ये तो बनाये हैं (बनानेमें जो भाग प्रथम बनाना ठीक होगा वही प्रथम बनेगा, जो पीछे ही ठीक बन सकता है वह पीछे बनाया गया। अतः बनानेमें क्रमभङ्ग आवश्यक था)। (ग) अनेक रङ्गोंकी वस्तु विचित्र कहलाती है। यहाँ खम्भे पीत रङ्गके हैं, पत्र और फल हरित हैं, फूल लाल हैं। इसीसे 'बिचित्र' कहा। मंगल समयमें सफल वृक्ष लगानेका विधान है, यथा—'सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा॥ २। ६। ६।' (घ) 'बिरंचि' का भाव कि ये विशेष रचना करनेवाले हैं, सो इनका भी मन भूल गया, इनको पूगिफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला॥ ३४४। ७।', 'सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर

भी भ्रम हो गया कि ये कदली कृत्रिम हैं या साक्षात् (असली) हैं। अथवा रचना देखकर मन उसीमें मग्न हो गया। इससे मण्डपकी विशेषता (उसकी अलौकिकता) दिखायी।—[(ङ) जब सृष्टि-कर्त्ताका मन भूल गया तो यदि मनुष्य भूल जायँ, तो क्या आश्चर्य ? आगे कवि भी अपनी भूल स्वीकार करते हैं—वह यह कि इस दोहेके आगे सात ही चौपाईपर दोहा रख गये हैं, नहीं तो आठ तो रखते ही आ रहे थे। क्यों न हो, यह भूलहीका प्रकरण है!! इसी प्रकार (भागवतदासकी पोथीके अनुसार) चार जगह (अर्थात् १।१२३, २।८, २।१७३, ७।७५ में) और भी भूले हैं, नहीं तो अन्य किसी ठौर आठसे कम चौपाइयोंपर दोहा नहीं लगाया गया। (रा० मिश्र)। (घ) स्वामी प्रज्ञानानन्दजी रा० च० मिश्रके मतका विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि नाटकमें भले ही श्रोतृगण भूल जायँ पर नटको नहीं भूलना चाहिये, यदि वह स्वयं ही भूल जायगा तो श्रोताओंको भुलानेमें समर्थ नहीं हो सकेगा। कवि कहीं नहीं भूला, प्रत्युत वह स्थान-स्थानपर बताता जाता है कि मैं अपनी दीनता और दास्य-भावको नहीं भूला हूँ। जैसे कि दोहा २०२ के विश्व-रूप दर्शनके वर्णनमें 'देखी भगति जो छोरै ताही' बता रहा है कि गोस्वामीजी विस्मयवंत नहीं हुए, और दोहा १९६ में 'तुलसीदासके ईस' शब्द बता रहे हैं कि कविका 'जो जेहि बिधि आवा' में भूलसे सम्मिलित हो जाना संभव था पर ऐसा नहीं हुआ। रामभक्त भगवान्‌से विषयोंकी याचना नहीं करते—इस मर्यादाको गोस्वामीजी नहीं भूले। इत्यादि। मंडप-रचनाकी अलौकिकता और ब्रह्माका चकित होना आगे दिखाया गया है, यथा—'चितवहिं चकित बिचित्र बिताना। रचना सकल अलौकिक नाना॥''' बिधिहि भयेहु आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥ सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु। ३१४']

वेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरब[*] परहिं नहिं चीन्हे॥ १॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परै सपरन सुहाई॥ २॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकुता दाम सुहाए॥ ३॥

शब्दार्थ—वेनु (वेणु)=बाँस। सरल=सीधा; जो टेढ़ा नहीं है। सपरब (सपर्व। सं० पर्वन्)=पोर वा गाँठसहित। पर्व=संधिस्थान; वह स्थान जहाँ दो चीजें, विशेषतः दो अंग जुड़े हों जैसे कुहनी, गन्ने वा बाँसमेंकी गाँठ। कलित=सुसज्जित सजायी हुई, सुन्दर। अहिबेलि=नागबेलि=पानकी लता या बेलि। सपरन (सपर्ण)=पत्तोंके समेत। रचिपचि—कारीगरीसे सजाकर। पचि—एक पदार्थको दूसरेमें पूर्णरूपसे लीन कर देने, खपा देने को 'पचाना' कहते हैं। रचिपचि—खूब युक्ति और कारीगरीसे बनाकर, पचीकारी करके। बंध=बन्धन। दाम=माला।

अर्थ—सब बाँस हरी-हरी मणियोंके सीधे और पोरों (गाँठों) सहित ऐसे बनाये कि पहचाने नहीं जा सकते (कि बनाये हुए हैं, सचमुच बाँस ही जान पड़ते हैं)॥ १॥ सुवर्णसे रचित सुन्दर पानोंकी लता बनायी जो पत्तोंसे युक्त होनेसे पहचानी नहीं जा सकती और सुन्दर है॥ २॥ उस (नागबेलि) के रचकर और पचीकारी करके बन्धन बनाये जिनके बीच-बीचमें मुक्ताकी मालाएँ अर्थात् झालरें शोभा दे रही हैं (अर्थात् बनायी गयी हैं)॥ ३॥

नोट—१ इस मण्डपकी रचना कैसी सर्वोत्कृष्ट है, यह उस समयकी कौशलशक्तिका नमूना है। दीनजी कहते हैं कि हिंदी-साहित्य-संसारमें इस कमालका रचना-वर्णन किसी कविसे नहीं हुआ है, यह कमाल गोस्वामीजीहीके हिस्सेमें पड़ा है।

२ 'वेनु हरित मनिमय सब कीन्हे।''' इति। विवाह-मण्डप बाँससे छाया जाता है, यह रीति है। इसीसे गोस्वामीजीने बाँसका बनाया जाना कहा। 'सब' का भाव यह कि और जितनी वस्तुएँ केला आदि बनायी गयीं उनमें नाना प्रकारके मणि लगे हैं—हरे, लाल, पीले; पर बाँस सब हरे मणिके हैं; क्योंकि बाँसकी शोभा हरे ही रंगकी है, हरे ही बाँस माङ्गलिक समझे जाते और मण्डपमें लगाये जाते हैं; पीले सूखे नहीं। अतएव 'वेनु हरित मनिमय' कहा। बाँस सीधे हैं क्योंकि टेढ़ाईसे शोभा जाती रहती और पर्वसहित हैं। बाँस मणिमय बनाये गये, यदि उनमें गाँठें न हों तो वे लाठी-से जान पड़ेंगे, इसीसे उनका 'सपरब' होना कहा गया। हरित मणिके होनेसे यहाँ बराबर हरे ही बने रहेंगे, शोभा एकरस बनी रहेगी।

टिप्पणी—१ (क) हरे बाँसोंका मण्डप शोभित होता है, इसीसे सब बाँस हरित मणियोंके बनाये। सूखे बाँस उजले या पीले होते हैं, उनमें शोभा नहीं होती। सीधे बाँसोंका मण्डप अच्छा होता है, इसीसे सीधे बनाये। बाँसमें पर्व होते हैं

[*] सपर्व—१७०४। सपरन—को० रा०।

अतएव 'पर्व' भी बनाये। (ख) 'परहिं नहिं चीन्हें' इस कथनसे गुणी लोगोंके गुणकी प्रशंसा और बड़ाई हुई। खंभोंपर बाँस रक्खे जाते हैं। फिर सुतली या मूँजकी रस्सी (बाँधी) से बाँधे जाते हैं। इसीसे बन्धन आगे कहते हैं।

२ (क) (सुवर्णके केलेके खम्भे बना चुके, उनपर अब स्वर्णकी नागवेलि चढ़ायी) पानकी पुराने होनेपर अर्थात् पक जानेपर शोभा है। पके हुए पान पीले होते हैं। अतः पानोंकी लता सोनेकी बनायी। हरित मणियोंके पत्रमें हरित मणिके बाँस रक्खे और कनकके खम्भोंमें कनककी वेलि चढ़ायी। 'अहिबेलि' नाम देकर जनाया कि अहि (सर्प या नाग) की तरह बेलि चली। (ख) 'लखि नहिं परै' इति। मण्डप अत्यन्त विचित्र बनाया है, इसीसे बारंबार लिखते हैं कि लख नहीं पड़ता। यथा—'रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल', 'सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे' 'लखि नहिं परै सपरन सुहाई'। (ग) 'सपरन' अर्थात् पत्तोंसे युक्त होना कहकर जनाया कि पानके पत्तोंसे मण्डप छाया गया है। [(१) 'सुहाई' सपरनका विशेषण नहीं है। नागवेलि शोभा दे रही है, एवं सुन्दर है। 'सुहाई' स्त्रीलिंग है]

टिप्पणी—३ 'तेहिके रचि पचि बंध बनाए।....' इति। (क) 'रचि पचि' कहनेसे बन्धन बनानेमें परिश्रम सूचित किया। मोतियोंकी मालाएँ लटकानेसे मण्डपमें बहुत शोभा हुई। बन्धनोंके बीचमें शोभा उत्पन्न करनेके लिये मुक्तामाल लटकाये गये। (बाँस बिना बन्धनके एक ठिकाने नहीं रह सकते; इसलिये नागवेलिकी डाँड़ीसे अच्छी तरह पच्चीकारी करके पतले चमकदार बन्धन रचे। 'रचि पचि' कहकर जनाया कि बन्धन बड़े सुन्दर बनाये थे। इनसे बन्धनोंने बड़ी शोभा है। बन्धनोंके बीचमें जगह पड़ी है। जहाँ-जहाँ बंद बँधे हैं वहाँ-वहाँ दो-दो गाँठों (बन्धनों) के बीचमें एक-एक मुक्तादाम लटकाये हैं। मुक्तादाम सचमुचके हैं। इससे इनके विषयमें 'लखि नहिं परइ' न कहा और बाँस, केला तथा नागवेलि इत्यादि कृत्रिम हैं अर्थात् दूसरी वस्तुओंके नकली बनाये गये हैं, इससे उनके बारेमें कहा कि 'परहिं नहिं चीन्हे' 'लखि नहिं परै।'

मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥ ४॥
किए भृंग बहु रंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा॥ ५॥

शब्दार्थ—मानिक (माणिक्य)=एक लाल रंगका रत्न। मरकत (सं०)=पन्ना; यह गहरे हरे रंगका एक रत्न है जो स्लेट और ग्रेनाइटकी खानोंसे निकलता है। कुलिश (कुलिस)=हीरा; यह श्वेत रंगका रत्न है। पिरोजा (फीरोज़ा)= हरापन लिये हुए नीले रंगका एक रत्न। चीरि=चीरकर। बीचसे आरी आदिद्वारा दो फाँक करना चीरना कहलाता है। कोरि=कोलकर, खरोदकर। गहराईतक रेती आदिसे करोदकर वा खोद-खोदकर बीचका भाग निकाल डालना कोरना या कोड़ना कहलाता है। प्रसंगा=सहारे; संचारसे, संगति या सम्बन्धसे।

अर्थ—माणिक्य, मरकत, कुलिश और फीरोज़ाको चीरकर और कोलकर (अर्थात् दलका आकार बनाकर) तथा उसमें पच्चीकारी करके कमल बनाये॥ ४॥ भौंरे और बहुत रंगके पक्षी बनाये जो पवनके संचारसे गुंजार करते और चहचहाते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'मानिक मरकत....' इति। (क) संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि कमल चार प्रकारके होते हैं, लाल, नीले, पीले और श्वेत। यथा—'बालचरित चहुँ बंधुके बनज बिपुल बहुरंग। १। ४०।' (१। ४० में इसपर विस्तारसे लिखा गया है वहाँ देखिये)। वैसे ही यहाँ माणिक्य (लाल), मरकत (नीलम), कुलिश (श्वेतमणि, हीरा) और पीरोजा (पीत) चार रंगके रत्न हैं। पं० रामकुमारजीने भी 'पीरोज़ा' को पीत रंगका मणि मानकर चार प्रकारके कमलोंका बनाना लिखा। और फिर लिखा है कि 'अथवा, कमल तीन प्रकारके बनाये अर्थात् माणिक्य, मरकत और हीरेके बनाये। अमरकोशमें कमल तीन प्रकारके लिखे हैं—नीलोत्पल, पुण्डरीक और कल्हार। (छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥ १। ३७। ५' में छन्द, सोरठा और दोहा कहकर तीन रंगके कमलोंका उल्लेख किया गया है)। और सभी कमलोंके ऊपरकी पंखड़ियाँ (जो हरी होती हैं) फीरोजेकी बनायी गयीं; क्योंकि पंखड़ियों-का रंग फीरोज़के रंगसे मिलता है (इसमें नीलेपनके साथ हरापन भी होता है)। (ख) केलेके फूल पद्मरागसे बनाये और कमलके फूल माणिक्यसे बनाये, क्योंकि दोनोंकी ललाईमें भेद है। (ग) कमल पुरइनसे फूलता है, पर यहाँ पुरइनसे कमलको नहीं फुलवाया। कारण कि पुरइनकी गिनती मंगलद्रव्योंमें नहीं है, और पानकी गणना मंगलोंमें है, यथा—'पान पूगफल

मंगलमूला । १ । ३४६ ।' और यहाँ मंगलका ही प्रकरण है, मण्डपमें केवल मङ्गल पदार्थोंका वर्णन हो रहा है । केला, पान और फूल ये सब मङ्गल-द्रव्य हैं । इन्हीं विचारोंसे पुरइनकी चर्चातक नहीं की गयी । पानोंमेंसे ही कमल फुलवाये गये । यह भी कोई लख नहीं पाता ।

टिप्पणी—२ 'किए भृंग''''' इति । (क) कमल कहकर अब कमलके स्नेहियोंको कहते हैं । भ्रमर और जलपक्षी कमलके स्नेही हैं, यथा—'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग । नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि-बिहंग ॥ ४० ।' इत्यादि । भृङ्ग बहुत रंगके नहीं होते, पर विहंग बहुत रंगके होते हैं, इससे 'बहुरंग' का अन्वय 'विहंग' के साथ होगा । कमल फूलके पश्चात् 'भृङ्ग विहंग' को कहनेसे पाया गया कि जलपक्षी बनाये गये, क्योंकि ये ही कमलके स्नेही हैं । हंस आदि विहंग बनाये गये हैं । (ख) कमलके बनानेमें माणिक्यादिका उल्लेख किया गया, पर भृंग और विहंगोंके बनानेमें मणियोंके नाम नहीं लिखे । पता नहीं लगता कि किस वस्तुके भृङ्ग और विहग बनाये गये, प्रसङ्गसे इनकी रचना समझी जा सकती है । जैसे ऊपर कहा था—'तेहिके रचि पचि बंध बनाये' वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये कि जो पूर्व कहा था कि 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा' इन मणियोंसे कमल बनाये गये । उन्हींसे अनेक रंगके पक्षी और भ्रमर भी बनाये गये । ये ऐसे विचित्र बने हैं कि उनमें न कुञ्जी लगानेकी जरूरत न कल या पेंच घुमाने-कसने इत्यादिकी, वे केवल वायुके संचारसे ही चलते हैं; इसीसे साक्षात् भृंग और पक्षियोंका भ्रम होता है, यह नहीं जान पड़ता कि बने हुए हैं । यदि कुञ्जी लगाने, चाबी देने आदिसे भ्रमर गुंजार और पक्षी कूज करते तो प्रकट हो जाता कि ये कृत्रिम हैं ।

सुर प्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं । मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं ॥ ६ ॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं । सिंधुरमनि मय सहज सुहाईं ॥ ७ ॥

दो०—सौरभ पल्लव सुभग सुठि किए नीलमनि कोरि ।
हेम बौरु मरकत घवरि लसति पाटमय डोरि ॥ २८८ ॥

शब्दार्थ—प्रतिमा=मूर्तियाँ । गढ़ि=गढ़कर । काट-छाँट करके सुडौल बनाना, रचना या सुघटित करना 'गढ़ना' है । काढ़ना=निकालना, रचना । द्रव्य=पदार्थ । चौक=मङ्गल अवसरोंपर आँगन या और किसी समतल भूमिपर आटे, अबीर आदिके रेखाओंसे बना हुआ चौखूंटा क्षेत्र जिसमें कई प्रकारके खाने और चित्र बने रहते हैं, इसके ऊपर देवताओं-का पूजन होता है । पुराईं=बनायीं । चौकोंका बनाना 'पूरना' कहा जाता है । सिंधुरमनि=गजमुक्ता । सौरभ=आम । बौर= आमकी मंजरी । घवरि=घौर, घौद, फलोंका गुच्छा । पाट=रेशम ।

अर्थ—खम्भोंमें देवताओंकी मूर्तियाँ गढ़कर निकाली गयी हैं । वे सब मूर्तियाँ सब मङ्गल-पदार्थ लिये खड़ी हैं ॥ ६ ॥ अनेक प्रकारकी चौकें पुरायी गयीं जो गजमुक्तामय और सहज ही सुन्दर हैं ॥ ७ ॥ नीलमको कोलकर अत्यन्त सुन्दर आमके पत्ते बनाये, सोनेकी बौर, पन्नाके घौर वा गुच्छे रेशमकी डोरसे बँधे हुए शोभा दे रहे हैं ॥ २८८ ॥

टिप्पणी—१ 'सुर प्रतिमा खंभन्ह''''' इति । (क) चौ० ५ तक मण्डपके ऊपरी भागका वर्णन किया । अब यहाँसे नीचेका वर्णन करते हैं । मङ्गल वस्तु केला-पानादि कहकर अब मङ्गलकी मूर्तिको कहते हैं । देवता मङ्गलकी मूर्ति हैं । (ख)—मङ्गल वस्तु मङ्गलहीसे निकलती है । केला माङ्गलिक है अतः केलेके स्तम्भों (खंभों) में ही गढ़कर मङ्गलमय देवताओंकी मूर्तियाँ निकालीं; तात्पर्य कि मङ्गल वस्तुसे देवताओंकी मूर्तियोंका आविर्भाव हुआ जो मङ्गल द्रव्य लिये खड़ी हैं । ये मङ्गलद्रव्य साक्षात् (सचमुचके) नहीं हैं (साक्षात् सचमुचके होते तो विवाहके समयतक सब सूख जाते, अतएव ये भी मणियोंके बनाये हुए कृत्रिम हैं पर ऐसे हैं कि लख नहीं पड़ते, पहचाने नहीं जाते) । (ग) मङ्गल द्रव्य; यथा—'हरद दूब दधि पल्लव फूला । पान पूगफल मंगलमूला ॥ अच्छत अंकुर लोचन लाजा । मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा ॥ १ । ३४६ ।' (मङ्गल द्रव्य थालोंमें सजाये हाथोंपर लिये हुए हैं, यथा 'कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्हि लिये मात । ३४६') । (घ) 'ठाढ़ीं' इति । खड़ी हुई प्रतिमा बनानेका भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी इस मण्डपमें आयेंगे, उस समय उनके आगमनपर सबको उठकर खड़ा होना चाहिये । (यदि ये चैतन्य रहते, तो ये भी उठकर खड़े हो जाते । पर पत्थरमें गढ़ी हुई प्रतिमा कैसे उठेगी और न उठ सकनेसे उसका धर्म जायगा तथा सब लोग जान जायेंगे कि ये कृत्रिम

है) इसीसे खड़ी हुई प्रतिमाएँ बनायीं। बैठी बनाते तो अनुचित होता और उस अनौचित्यका दोष बनानेवालेके सिर मढ़ा जाता।—खड़ी बनानेसे गुणियोंकी सुजानता प्रकट होती है।

टिप्पणी—२ 'चौकें भाँति अनेक पुराईं।…' इति। (क) अन्य वस्तुओंमें मणियाँ अनेक प्रकारकी हैं, कदलीमें सुवर्ण, हरितमणि और पद्मराग; बाँसोंमें हरितमणि; बन्धनमें सुवर्ण और मुक्ता; कमलमें माणिक्य, मरकत, कुलिश और पीरोजा; भृङ्गमें नीलमणि, पीतमणि; पक्षी जितने रंगके उनमें उतने ही प्रकारके मणि; और सुरप्रतिमाओंमें अनेक प्रकारकी मणियाँ देहमें, दाँतोंमें, नेत्रोंमें, नखों इत्यादि अंगोंमें हैं। परंतु चौकोंमें केवल गजमणि है। चौकें अनेक हैं और जितनी हैं उतने ही प्रकारकी हैं, पर हैं वे सब गजमुक्ता हीकी। यहाँ गजमुक्ताका ही नियम किये जानेसे यह पाया गया कि गजमुक्ता सब मुक्ताओंसे श्रेष्ठ है। पुनः (चौकें श्वेत पूरी जाती हैं) केवल गजमुक्ताकी चौकें कहकर जनाया कि सब चौकें श्वेत हैं। (ख)—'सहज सुहाई' कथनका भाव कि अनेक प्रकारकी मणियोंका कोई प्रयोजन नहीं है, स्वच्छ मुक्ताओंकी चौकें स्वयं अपनेहीसे शोभित हैं, वे अपनी शोभाके लिये अन्य मणियोंकी सहायता नहीं चाहतीं।

३ 'सौरभ पल्लव…' इति। (क) इसका अन्वय आगेके 'रचे रुचिर बर बंदनवारं' तक है। पल्लव, बौंर, घौंर और डोरी बनाकर उनके बन्दनवार बनाये गये। (ख)—['किये' क्रिया चारों वस्तुओंके साथ है। यहाँ आमका 'सौरभ' नाम दिया, क्योंकि इनको न जाने कैसे बनाया है कि इनमेंसे, 'सुरभि' सुगंध भी निकल रही है] पल्लव, बौंर और घौंरमें सुगन्ध है। 'सुरभि' (सुगन्ध)के भावका नाम 'सौरभ' है। [(१) 'कृत्रिम फूलोंमें सुगन्ध पैदा करना किसीको भी असम्भव है, अतः 'सौरभ' शब्दसे यह भाव निकालना क्लिष्ट कल्पना है।' ऐसी शङ्काओंका समाधान करनेके लिये ही कविने आगे स्वयं कह दिया है—'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुरकै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥ २८९।' श्रीसीताजी प्रत्यक्ष 'जग जननि जानकी', 'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया', ब्रह्मसे अभिन्न उनकी परम शक्ति हैं। जब वे यहाँ निवास कर रही हैं तब क्या असम्भव है? (२) मार्गशीर्ष मासमें विवाह होनेको था। उस ऋतुमें आम्रमञ्जरीका निकलना हिमालय तलेहटीमें यद्यपि असम्भव है तथापि जहाँ 'बसंत रितु रही लोभाई'। २२७। ३।' वहाँ तो ऐसा होना सम्भव ही नहीं बल्कि योग्य ही है। वसन्त ऋतुके प्रारम्भमें ही आम्रकुसुमप्राशनकी विधि है। इसीसे तो 'निज करनी कछु कतहुँ न देखी' यह स्थिति विधिकी हो जाती है। (प० प० प्र०) । शंकाकार विचार करें कि आजसे ४० वर्ष पूर्व जो अपने पूर्वजोंको मूर्ख कहते थे और विमानों, अग्निबाणों, चन्द्रलोकादिको जाना इत्यादि कपोलकल्पित समझते थे आजकलके प्रारम्भिक विज्ञानने उनकी आँखें खोल दीं। (३) 'सौरभ' शब्द देकर प्रत्यक्ष पतंक नाजूमें आमके पुष्पोंके गुच्छोंका होना जनाया। इनकी डंडी पोली होती है, वह कनककी बनाया गया। (प० प० प्र०)]। (ग)—बन्दनवार पल्लवके होते हैं और पल्लव नीला होता है, इसीसे पल्लव नीलमणिके बनाये। 'सुभग सुठि' कहकर जनाया कि पत्तोंके बनानेमें बड़ी कारीगरी की गयी है। बौंर पीत होता है, इससे उसे सुवर्णका बनाया। फलोंका घौंर नीले रंगका होता है, इसीसे वे मरकतमणिके बनाये गये। (मरकतसे पन्ना समझना चाहिये।)

आमके पत्ते तो हरे होते हैं, यहाँ नीले कैसे कहा? बात यह है कि जिस पल्लवाग्रसे आम्रकुसुम-मञ्जरी निकलती है उसमेंसे नये पत्ते नहीं निकलते। वे पत्र कम-से-कम एक वर्षके पुराने होनेपर श्यामवर्ण होते हैं और 'श्याम' शब्दके लिये 'नील' शब्दका प्रयोग मानसमें ही उपलब्ध है। यथा—'नील पीत जलजाभ सरीरा।', 'श्याम तामरस दाम सरीरं', 'केकीकण्ठाभनीलं', 'तनु घनस्यामा', 'नील नीरधर श्याम'। गहरे हरे वर्णके होनेसे उनमें श्यामवर्णकी छटा झलकती है। ['सौरभ पल्लव…' यह वर्णन कविकी सूक्ष्मदृष्टि-निरीक्षणका सूचक है (प० प० प्र०)]

रचे रुचिर बर बंदनिवारे। मनहुँ मनोभव फंद सँवारे॥ १॥
मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चमर सुहाए॥ २॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥ ३॥

शब्दार्थ—बन्दनिवार (वन्दनवार)=फूल, हरे पत्तों, दूब आदिकी वह माला जो मङ्गलोत्सवोंके समय द्वार आदिपर लटकायी जाती है। फंद=फन्दा, फँसानेका जाल। चमर (चँवर, चामर)=सुरा गायकी पूँछके बालोंका गुच्छा जो काठ, सोने, चाँदीकी डाँड़ीमें लगा रहता है। यह देवताओं या रईस, राजाओं और दूलहके सिरपर डुलाया जाता है।

अर्थ—सुन्दर उत्तम श्रेष्ठ वन्दनवार बनाये गये (जो ऐसे जान पड़ते हैं) मानो कामदेवने फन्दे सजाये हैं॥ १॥

अगणित मङ्गल कलश और सुन्दर ध्वजा, पताका, पाटाम्बर और चँवर बनाये ॥ २ ॥ (उसमें) अनेकों सुन्दर मणिमय मनके हरनेवाले दीपक (बने) हैं । उस विचित्र मण्डपका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'रचे रुचिर बर बंदनिवारे ।···' इति । (क) ऊपर दोहेमें पल्लव, बौर, घौर और डोरका बनाना कहा, अब यहाँ उनके बनानेका प्रयोजन कहते हैं कि इन सबोंके बन्दनवार बनाये । ('रचे' से जनाया कि पत्ते दो-दो हैं, उन्हींके बीचमें कहीं बौर लगाये हैं और कहीं घौर तथा कहीं फल लगे हैं), पल्लव, बौर और रेशमकी डोरमें पंक्तिसे बाँधकर मण्डपके चारों ओर घेरा देकर बाँधे गये हैं । (ख) 'मनहुँ मनोभव फंद सँवारे' इति । आम कामका बाण है, इसीसे आमके पल्लव, बौर और घौरको कामका फंदा कहा । 'फंद सँवारे' कहकर जनाया कि चारों ओर घेरा देकर बन्दनवार बाँधे गये हैं, क्योंकि फंदा चारों ओरसे लगा रहता है । फंदा (जाल) पक्षी आदिके फाँसनेके लिये बनाये जाते हैं। यहाँ किसको फाँसना है ? यह 'मनोभव' शब्द देकर सूचित कर दिया है; अर्थात् मनको फंदेसे (फाँसकर) बाँधता है । 'मनहुँ मनोभव फंद-सँवारे' (मानो कामदेवने फंदे सँवारे हैं) कहनेका तात्पर्य यह कि बन्दनवार अत्यन्त सुन्दर हैं, जो कोई देखता है, उसका मन बँध (फँस) जाता है, देखनेवाले मुग्ध हो एकटक देखने लगते हैं, उनके मन हर जाते हैं, यथा—'मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि मन हरे । ३२० ।'; जब मुनियोंके ही मन हर जाते हैं तब साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या ? (ग) जब श्रीअयोध्याजीकी सजावट कही गयी है तब वहाँ 'मंजुल मनिमय बंदनिवारे । मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे ॥ ३४७ । ३ ।', ऐसा कहा है, और यहाँ बंदनवारको 'मनोभव फंद' कहा है । यह भेद भी सहेतुक है । श्रीअयोध्याजीकी सजावटमें वर्षाका रूपक बाँधा गया है, यथा—'धूप धूम नभु मेचकु भयेऊ । सावन घन घमंडु जनु ठयेऊ ॥···। ३४७ । १ ।'; इसीसे वहाँ बंदनवारको इन्द्रधनुषकी उपमा दी । और यहाँ शोभावर्णनका प्रकरण है, इसलिये यहाँ कामके फंदेकी उपमा दी । (शोभाहीसे सबके मन वशीभूत हो जाते हैं) ।

टिप्पणी—२ 'मंगल कलस अनेक···' इति । (क) ताँबे, पीतल, चाँदी, सोने आदि सभी धातुओंके कलश (घट) होते हैं । पर जिनमें गणेशादि मङ्गल देवताओंकी स्थापना हो और पल्लव, यव, आदि रक्खे होवें, वे 'मंगल कलश' कहलाते हैं । पूर्व कह चुके कि 'चौकें भाँति अनेक पुराईं' और प्रत्येक चौकमें कलश रक्खे जाते हैं । अतः कलश भी अनेक बनाये । 'मंगल' विशेषण ध्वज, पताका आदि सभीके साथ है । क्योंकि इन सबोंकी गणना मंगल-रचनामें है । यथा—'तदपि प्रीति कै रीति सुहाई । मंगल रचना रची बनाई ॥ ६ । ध्वज पताक पट चामर चारू । छावा परम बिचित्र बजारू ॥ ७ । कनक कलस तोरन मनि जाला । हरद दूब दधि अच्छत माला ॥ ८ । मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ । बीथीं सींचीं चतुर सम चौकें चारु पुराइ । २९६ ।', इत्यादि । (ख) 'पट' से ध्वजा और पताकाके वस्त्र अभिप्रेत हैं । 'चमर' सोनेके हैं, इसीसे 'सुहाए' है । (ग) 'सुहाए' विशेषण भी सबका है । कलश भी 'सुहाए' हैं, यथा—'छुहे पुरट घट सहज सुहाए । मदन सकुन जनु नीड़ बनाए ॥ ३४६ । ६ ।' ये सब सोनेके हैं और उनमें माङ्गलिक मूर्तियाँ आदि गढ़ी हुई हैं ।

३ 'दीप मनोहर मनिमय नाना ।···' इति । (क) 'नाना' (अनेक) दीपकोंका बनाया जाना कहकर जनाया कि दीपावली धरी है । (प्रत्येक कलशपर एक-एक दीपक रहता ही है और कलश अनेक हैं, अतः दीपक भी अनेक हैं । फिर ऊपर और नीचे भी मण्डपके चारों ओर दीपावली है । कलशके पास नीचे भी दीपक रक्खा जाता है) । (ख) 'मनोहर' हैं, अर्थात् उनमें बड़ी कारीगरी की है । (ग) श्रीजनक महाराजने विचित्र वितान बनानेकी आज्ञा दी थी, उसका यहाँतक वर्णन हुआ । अब इति लगाते हैं । 'रचहु बिचित्र बितान बनाई २८७ । ६' उपक्रम है और 'बरनि न जाइ बिचित्र बिताना' पर उसका उपसंहार है । (घ) वितानका वर्णन तो कर ही दिया गया, वर्णन करनेसे रह ही क्या गया जिसके लिये कहते हैं कि 'जाइ न बरनि ?' उत्तर यह है कि यहाँ जो कुछ वर्णन हुआ वह तो केवल कुछ वस्तुओंका बनानामात्र है, जो वस्तुएँ वनीं उनका नाममात्र यहाँ लिखा गया है । (कि अमुक मंगल पदार्थ बना और किसी-किसी पदार्थके विषयमें यह भी कह दिया कि वह अमुक वस्तुसे बनाया गया), वस्तुका बनाव नहीं कह सके । एक-एक वस्तुमें जो कारीगरीका काम किया गया है, यदि उसका वर्णन करें तो वह स्वतः एक भारी ग्रन्थ हो जाता । (जैसा यह मण्डप रचा गया है, जैसी उसकी शोभा है, वह अकथनीय है) । 'विचित्र भितान' कहकर वर्णन न हो सकनेका यह भी एक हेतु बताया ।

जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनै असि मति कबि केही॥ ४॥
दूलहु रामु रूप गुन सागर। सो बितानु तिहुँ लोक उजागर॥ ५॥

अर्थ—जिस मण्डपमें विदेहनन्दिनी श्रीजानकीजी (दुलहिनरूपसे विराजनेवाली) हैं, उसका वर्णन करे, ऐसी बुद्धि किस कविकी है ? (किसीकी भी ऐसी बुद्धि नहीं है) ॥ ४॥ जो मण्डप रूप और गुणके समुद्र दूलह श्रीरामचन्द्रजी-का है (जिसमें वे दूलहरूपसे विराजेंगे), वह तो तीनों लोकोंमें विख्यात है एवं त्रैलोक्यसे अधिक प्रकाशमान है तथा तीनों लोकोंका प्रकाशक है, तीनों लोक प्रकाश्य हैं॥ ५॥

टिप्पणी—'जेहि मंडप दुलहिनि···' इति (क) वितानके वर्णन न हो सकनेका एक हेतु ऊपर बताया कि वह विचित्र है (लोकोत्तर है, अलौकिक है), अब यहाँ दूसरा हेतु बताते हैं कि 'जेहि मंडप···'। [(ख)—'बैदेही' कहनेका भाव कि ये विदेहराजके सुकृतोंकी मूर्ति हैं, यथा—'जनक सुकृत मूरति बैदेही।···इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेउ नाहीं॥ ३१०।'; अतः इनका मण्डप भी सुकृतमूर्तिके अनुकूल ही लोकोत्तर ही हुआ चाहे] (ग)—'सो बरनै असि मति कबि केही।' इति। 'बरनि न जाइ बिचित्र बिताना' कहकर कविने प्रथम अपना असामर्थ्य दिखाया, अब समस्त कवियोंकी असमर्थता दिखाते हैं। अर्थात् हम ही नहीं कह सकते हों सो बात नहीं है, कोई भी कवि नहीं कह सकता। (घ) 'असि मति' का भाव कि मति (बुद्धि) श्रीजानकीजीके देनेसे मिलती है, यथा—'जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की॥ ७। ताके जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं॥ १। १८।' जब श्रीजानकीजी जिस कविको मति दें तब वह वर्णन करे। ऐसा कौन कवि है जिसे इस वितान-के वर्णन करनेकी बुद्धि मिली हो। (अर्थात् किसीको भी नहीं मिली। इसीसे किसी संस्कृत या भाषाके ग्रन्थमें मण्डपका वर्णन नहीं मिलता। यदि कहीं कुछ मिले तो वह श्रीजानकीजीकी देन होगी)। पुनः भाव कि मतिकी देनेवाली श्रीवैदेहीजी हैं; उस बुद्धिसे जगत्‌का वर्णन हो सकता है, वैदेहीके मण्डपका वर्णन नहीं हो सकता। जैसे, नेत्रके प्रकाशसे जगत् देख पड़ता है, नेत्र नहीं देख पड़ता। (ङ) श्रीगोस्वामीजीको 'मति' श्रीजानकीजीसे मिली, उसी बुद्धिसे उन्होंने यत्किंचित् उसका वर्णन किया है।

रा० च० मिश्र—'असि मति कबि केही' अर्थात् वर्णन तब होगा जब देहाध्यासरहित मति हो। किं च जब ऐसी मति होगी तब वक्तृता कैसे बनेगी ? अतः वैखरी वाणीमें नहीं किंतु पश्यन्तीद्वारा विचारशक्तिमें अनुभव होता है।

टिप्पणी—२ 'दूलहु रामु····' इति। (क) श्रीजनकपुरमें श्रीजानकीजीकी प्रधानता है। (कन्याके पिताके यहाँ कन्याकी प्रधानता होती ही है, इसीसे प्रथम वैदेहीके मण्डपको कहा और) इसीसे प्रथम वैदेहीको दुलहिन कहा तब श्रीरामजीको दूलह कहा। ['टूटत ही धनु भयउ बिबाहू' के अनुसार वैदेहीजी अब दुलहिन हो गयीं। शक्तिका नाम शक्तिमान्‌के पूर्व लिखनेकी शास्त्रविधि है ही (प० प० प्र०)। दूसरे ये तो रात-दिन वहाँकी खेलनेवाली हैं, अतः इन्हींको पहले कहा] (ख)—'रूप गुन सागर' इति। [उजागरता दो प्रकारसे हो सकती है—रूपसे या गुणसे। सो ये दोनोंके सागर हैं तो फिर भला जिस मण्डपमें ये हों उसके उजागर होनेमें क्या आश्चर्य ? अतः पहले 'रूपगुणसागर' कहकर तब 'उजागर' कहा। मण्डपका पूरा स्वरूप यहाँ वर्णन हुआ। क्योंकि यदि सब कह जाते और दूलह-दुलहिनिको न कहते तो मण्डप बिना उसके अधिष्ठातृ देवताके किस कामका होता। (मा० पी० प्र० सं०)] ☞ (ग) 'सो बितानु तिहुँ लोक उजागर' इति। 'उजागर' (सं० उद्=ऊपर; अच्छी तरह। जागर=जाज्वल्यमान, प्रकाशित, जलता हुआ,—'उद्बुद्ध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहीथ')=सर्वोपरि प्रकाशमान।=जगमगाता हुआ।—विख्यात। यथा—'सोइ बिजई बिनई गुन सागर। तासु सुजसु त्रैलोक उजागर॥ ५। ३०।'] मण्डपके न वर्णन हो सकनेका एक हेतु यहाँ कहा कि इस मण्डपमें श्रीराम-जानकीजीका प्रभाव है। (जो समस्त जगत्के प्रकाशक हैं, जब वे ही वहाँ विराजमान हैं तब वह मण्डप त्रैलोक्य-उजागर क्यों न हो ? प्रकाश्य भला प्रकाशकका वर्णन कैसे कर सकता है ?) [श्रीरामजीसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उन्हींके सदृश, पावन, रुचिर, मङ्गलमूल, सुहावनी होती है। प्रमाण मानसमें भरे पड़े हैं। यथा—'रामपुर पावन' 'पावन पुरी रुचिर यह देसा' 'मंगलमूल लगन दिनु' 'मंगल मूल सगुन' 'रुचिर चौतनी सुभग सिर' इत्यादि (प० प० प्र०)] (घ) मण्डपकी सुन्दरता कहकर बड़ाईकी शोभा कही—'जेहि मंडप दुलहिनि···॥' वितानकी शोभा कहकर अब वितानकी सफलता कहते हैं कि मण्डपतके

श्रीसीताराम दुलहिन-दूलह हैं। इस कथनसे मण्डपकी पूर्ण शोभाका कथन हो गया। यथा—'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी ॥' (१ । २२३), 'राम सरिस बरु दुलहिनि सीता। समधी दसरथु जनकु पुनीता ॥' (१ । ३०४), 'गावहिं सुंदरि मंगल गीता। लै लै नाम राम अरु सीता ॥'

> जनक-भवन कै सोभा जैसी। गृह गृह प्रति पुर देखिय तैसी ॥ ६ ॥
> जेहि तेरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लगहि* भुवन दसचारी ॥ ७ ॥
> जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तेरहुति=मिथिलापुरी; जनकपुर।

अर्थ—जैसी शोभा राजा जनकजीके महलकी है, वैसी ही (शोभा) नगरके प्रत्येक घर-घरमें देख पड़ती है ॥ ६ ॥ जिसने उस समय मिथिलापुरीको देखा, उसे चौदहों भुवन तुच्छ लगते हैं ॥ ७ ॥ जो सम्पत्ति (ऐश्वर्य) नीच (जाति-वालों) के घरमें [वा, जिस सम्पदासे नीचका घर] शोभित है, उसे देखकर सुरेश इन्द्र (भी) मोहित हो जाते हैं ॥८॥

टिप्पणी—१ 'जनक भवन कै सोभा' इति। (क) मण्डप बननेसे श्रीजनकजीके भवनकी शोभा अधिक हुई, इससे पाया गया कि घर-घर ऐसे ही मण्डप बने हैं। (ख)—'गृह गृह प्रति····' इति। राजमहलकी शोभा कहकर उसी 'अहद' (पलड़े) से घर-घरकी शोभा 'जोख' (तौल) दी। 'देखिअ' कहनेका भाव कि जनकभवनकी शोभाके साथ-ही-साथ सबोंके भवनोंकी शोभा तैयार हो गयी, जैसी राजमहलकी शोभा वैसी ही घर-घरकी शोभा। जब जनकपुर सँवारा गया तब वहाँ भी मणियोंके मण्डप घर-घर बने, इसीसे जनकभवनकी ऐसी शोभा सबके घरमें देख पड़ी, नहीं तो जनक-भवनके समान बड़े लोगोंके घर थे. यथा—'सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे ॥ २१४ । ३ ।' (ग)—श्रीराम जन्मोत्सवमें 'सर्बस दान दीन्ह सब काहू ॥ १ । १९४ ।' वैसे ही श्रीजानकीजीके विवाहोत्सवमें 'जनक-भवन कै सोभा जैसी। गृह गृह प्रति पुर देखिअ तैसी ॥' कहकर दोनों उत्सव समान बताये।

नोट—१ पूर्व राजाने महाजनोंको जो आज्ञा दी थी कि 'नगर सँवारहु चारिहुँ पासा ॥ २८७ । ४ ।' उसीको यहाँ चरितार्थ किया। आज्ञानुसार सब नगर सजाया गया। पूर्व श्रीरामचन्द्रजीके नगर-प्रवेशसमय कहा था कि 'सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे ॥ २१४ । ३ ।' और इस समय सभीको एक-से कहे। श्रीजनकमहाराजके मण्डपको दूलह-दुलहिनि-सहित कहा है जो मण्डप घर-घर बने उन्हें व्यर्थ न समझना चाहिये; क्योंकि किसी-किसी रामायणमें ऐसा उल्लेख है कि जितने कुमार श्रीअयोध्याजीसे गये, उन सबोंका विवाह जनकपुरमें हुआ। इस बातको गोस्वामीजीने 'गृह गृह प्रति··' में गुप्त रूपसे जना दिया। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ 'जेहि तेरहुति····' इति। (क) 'जिसने ही देखा उसे ॥' इसमें शंका होती है कि किसने चौदहों भुवन देखे हैं जिसे वे लोक तुच्छ लगे ?' समाधान यह है कि विवाहसमय (ब्रह्मा-विष्णु-महेश और) इन्द्र (आदि समस्त लोकपाल) वहाँ उपस्थित हुए थे। इन्होंने चौदहों लोक देखे हैं (इन सबोंको लघु लगे)। इन्द्रको लघु लगना तो आगे उनके मोहसे स्पष्ट है—'सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥' सब देवता भी देखकर मोहित हुए हैं, यथा—'देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज-निज लोक सबहिं लघु लागे ॥ १ । ३१४ । ४ ।' (ख) 'भुवन दस चारी'—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य—ये ऊपरके सात भुवन हैं और तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, धरातल और पाताल—ये नीचेके सात हैं। विशेष मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४०२ दोहा २७ (१) में देखिये।

प० प० प्र०—इस वर्णनसे सम्भव है कि पाठकोंको भ्रम हो जाय कि जनकपुरकी शोभा आदि अयोध्यापुरीकी शोभा आदिसे अधिक श्रेष्ठ थी, अतः दोनोंकी शोभाका मिलान यहाँ दिया जाता है।

श्रीजनकपुर	श्रीअयोध्यापुरी
जाइ न बरनि बिचित्र बिताना	१ ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥

---

* लाग-१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। १६६१ में मूलमें 'लगति' है पर हाशियेपर 'हि' है।

रचना देखि····मन बिरंचि कर भूल	२ सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब रघुबरपुरी निहारि।
सो बिलोकि सुरनायक मोहा	३ रचना देखि मदन मन मोहा
निज निज लोक सबहिं लघु लागे	४ सारद उपमा सकल ढढोरी। देत न बनहिं निपट लघु लागीं।
सो बरनै असि मति कबि केही	५ सोभा दसरथभवन कै को कबि बरनै पार।

☞ इससे स्पष्ट है कि वर्णनकी धाराप्रवाहमें पड़कर बहते जाकर भी गोस्वामीजी कभी भी मर्यादाभङ्ग और अनौचित्य निर्माण करनेवाले नहीं ही हैं।

☞'मन भूल' से 'सिहाहिं' में विशेषता है। इसमें अधिक रमणीयता और ऐश्वर्य सिद्ध होता है! 'सुरनायक' से 'मदन' के मोहित होनेमें विशेषता है, क्योंकि सुरनायक तो प्राकृत पाञ्चभौतिक स्त्रियोंपर भी मोहित होनेवाला ठहरा; इसमें लुभानेवाला तो मदन ही होता है। वह मदन ही जहाँ मोहित हो गया, तब आप ही बताइये कि किसकी मोहकता अधिक है? जनकपुरीमें 'लघु लागे' है तो अयोध्यापुरीमें 'निपट लघु लागीं' है।

टिप्पणी—३ 'जो संपदा····' इति। (क) 'संपदा' स्त्रीलिंग है। यदि 'सोहा' को उसका विशेषण (क्रिया) करें तो 'सोही' होना चाहिये। 'सोहा' पुँल्लिगका विशेषण होता है और 'सोही' स्त्रीलिङ्गका। यथा—'तरुन तमाल बरन तन सोहा।' 'राच्छस कपट बेष तहँ सोहा'—(ये पुँल्लिङ्ग हैं)। 'पीत झीन झगुली तनु सोही' 'भरी प्रमोद मातु सब सोहीं' 'चकई साँझ समय जनु सोही'—(ये स्त्रीलिङ्ग हैं) इसलिये यहाँ भी 'सोहा' को गृहके साथ लेकर अर्थ करना चाहिये, उससे क्रियाकी असङ्गति मिट जाती है। 'जो संपदा नीचके घर शोभित है' ऐसा अर्थ करनेसे क्रियामें असङ्गति होती है। फिर यहाँ तो गृहकी शोभाके कथनका प्रकरण है,—'जनकभवन कै सोभा जैसी। गृह गृह प्रति पुर देखिअ तैसी॥' अतः इन्द्रका, घर देखकर ही मोहित होना अभिप्रेत है। (ख)—जनकजीके भवनको देखकर इन्द्रका मोहित होना न कहा, किन्तु नीचके घरको देखकर मोहित होना कहते हैं। इसमें तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रका श्रीजनकभवनको देखकर मोहित होना कहते तो उससे जनकपुरकी बड़ाई नहीं हो सकती। (राजमहलमात्रकी ही बड़ाई होती)। नीचके घरको देखकर मोहित होनेसे नगरभरकी बड़ाई हुई। अधिक अर्थात् जनकपुरका नीच भी इन्द्रसे अधिक ऐश्वर्यवाला है तब भला राजाकी सम्पदाकी कौन कह सके?

दो०—बसै नगर जेहि लच्छि करि कपट-नारि बर बेषु*।
तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥ २८९॥

अर्थ—जिस नगरमें श्रीलक्ष्मीजी मानुषी स्त्रीका सुन्दर श्रेष्ठ कपट वेष बनाकर बसती हैं, उस नगरकी शोभा कहनेमें शारदा और शेष (भी) सकुचते (संकोच करते, लजाते) हैं॥ २८९॥

टिप्पणी—१ (क) 'जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा॥' इसमें ऐश्वर्यके वर्णनमें अत्युक्ति पायी जाती है, उसकी निवृत्तिके लिये दोहेमें उसका समाधान करते हैं कि यहाँ अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि 'बसै नगर····'। (ख) 'बसै नगर जेहि लच्छि' का भाव कि इन्द्रके यहाँ तो लक्ष्मीके कटाक्षमात्रका विलास है (यथा—'जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ। ७। २४।', 'लोकप होहिं बिलोकत तोरें। २। १०३।', 'लोकप होहिं बिलोकत जासू। २। १४०।', और यहाँ तो साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी वास कर रही हैं तब इन्द्रसे अधिक होनेमें कौन आश्चर्य है? जैसे सब देवताओंने अवतार लेकर श्रीरामजीकी सेवा की, वैसे ही सब देवताओंकी शक्तियोंने अवतार लेकर श्रीजानकीजीकी सेवा की है, साक्षात् लक्ष्मीने 'नारी' का वेष बनाया है। यथा—'सचीं सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी॥ कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं जाई॥ १। ३१८।' (ग) 'लच्छि'—यहाँ लक्ष्मी या लच्छमी ऐसा स्पष्ट नाम न देकर 'लच्छि' शब्द देनेका भाव यह है कि लक्ष्मीजी कपट वेष बनाकर गुप्त हैं, अपनेको छिपाये हुए हैं, प्रकट नहीं हैं, इसीसे गोस्वामीजीने भी प्रत्यक्ष 'लक्ष्मी' शब्द न रखकर 'लच्छि' यह गुप्त शब्द रक्खा। (घ)—'करि' इति। लोग

* भेष—१७०४।

जो संसारमें जन्म लेते हैं, वह कर्मवश होता है। यहाँ 'करि' शब्द देकर कर्मवश अवतारका निषेध किया है। भाव कि इनका अवतार कर्मवश नहीं है, ये स्वतः आयी हैं, स्वयं ही श्रेष्ठ नारि-वेष बनाकर पुरमें निवास कर रही हैं। (ङ)—'कपट वेष' का भाव कि मानुषी रूप बनाये हुए हैं, कोई पहचान नहीं सकता कि ये लक्ष्मी हैं। [(च)—यहाँ अंशी-अंश-अभेदसे श्रीजानकीजीको लक्ष्मी कहा है, नहीं तो श्रीसीताजी तो 'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता' हैं (७ । २४), उनके अंशसे अगणित लक्ष्मियाँ उत्पन्न होती हैं, यथा—'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥ १ । १४८ ।', और उनके विषयमें तो सब वक्ताओंके वचन हैं कि 'कहिअ रमा सम किमि बैदेही' १ । २४७]।

नोट—१ माधुर्यके भीतर ऐश्वर्य छिपाये हैं, अतः 'कपट·····' कहा। मयंककार कहते हैं कि मानसमें विस्तृत कथा परात्पर ब्रह्म श्रीसीतारामजीकी है जो मनु-शतरूपाके समीप प्रकट हुए थे। जनकपुरमें वे ही सीता प्रकट हुई हैं जिनके अंशसे 'अगणित लक्ष्मि उमा ब्रह्माणी' उत्पन्न होती हैं, तब यहाँ 'लक्षि' से लक्ष्मीका अर्थ ग्रहण करना असंगत है। लक्ष और वाच्य कारण-तत्त्व और कार्य-तत्त्वको कहते हैं। श्रीजानकीजी लक्षरूपा हैं और महालक्ष्मी इत्यादि वाच्यस्वरूपा हैं। अर्थ यह हुआ कि 'जिस नगरमें लक्षस्वरूप स्वयं जानकीजी ऐश्वर्यताको गूढ़ भावसे माधुर्यतामें छिपाकर प्राकृत स्त्रीरूपसे निवास करती हैं····'। वैजनाथजी यह अर्थ करते हैं कि 'सम्पदाकी करनेवाली लक्ष्मीजी (श्रीराम-जानकी-विवाह देखनेके लिये) ऋद्धि-सिद्धि आदि सब शक्तियोंसहित कपटसे श्रेष्ठ नारि-वेष बनाकर बसती हैं, यथा—'सची सारदा रमा भवानी।···। १ । ३१८ ।' प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि 'सची सारदा रमा' आदि अभी आयी नहीं हैं। उनका आगमन तो विवाहके समय दोहा ३१८ में कहेंगे—'मिलीं सकल रनिवासहिं जाई।' यह घटना 'ब्रह्म बर परिछन' के समय होनेवाली है। इससे प्रस्तुत दो० २८९ में श्रीसीताजीका ही ग्रहण पूर्वापर संदर्भसे सुसंगत है। मयंककारके मतसे मैं सहमत हूँ पर उन्होंने प्रमाण नहीं दिया है। 'बसै' से स्पष्ट है कि मण्डप-रचनाके पूर्वसे महालक्ष्मी यहाँ हैं।'

टिप्पणी—२ (क) 'बर बेष' कहकर जनाया कि यह कपट-वेष लक्ष्मीजीसे भी सुन्दर है। (ख) 'सकुचहिं' से जनाया कि कहनेकी इच्छा होती है पर अपार देख कहते नहीं बनता, सोचते हैं कि शोभा कहेंगे तो पार न पावेंगे और पार न पानेसे हमारी बड़ाई न रह जायगी। (ग) 'सारद सेषु'—शारदा स्वर्गकी वक्ता हैं और शेषजी पातालके वक्ता हैं। मर्त्यलोकमें कोई गिनतीका वक्ता नहीं है (अर्थात् शेष-शारदाकी गणना वक्ताओंमें है, ऐसे कोई वक्ता पृथ्वीतलपर नहीं जिनकी वक्ताओंमें गणना हो; उनके समान कोई नहीं है) अतएव दो ही कहे।

३—☞ जैसे प्रथम मण्डपकी शोभा कही, फिर श्रीरामजीके निवासके सम्बन्धसे उसकी शोभा कही, वैसे ही जनकपुरके बनावकी शोभा कहकर यहाँ श्रीजानकीजीके निवासके सम्बन्धसे पुरकी शोभा कही।

श्रीजनकपुर-मण्डप-रचना आदि प्रसंग समाप्त हुआ।

❀ श्रीराम-बारात-प्रसंग ❀

पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन ॥ १ ॥
भूप द्वार तिन्ह खबरि जनाई। दसरथ नृप सुनि लिए बोलाई ॥ २ ॥

अर्थ—दूत श्रीरामचन्द्रजीके पवित्र (एवं पवित्र करनेवाले) नगरमें पहुँचे। सुन्दर नगर देखकर प्रसन्न हुए ॥ १ ॥ उन्होंने (राजद्वारपरके द्वारपालोंद्वारा) राजदरबारमें खबर (सूचना) दी। श्रीदशरथ महाराजने सुनकर उन्हें बुलवा लिया ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'पहुँचे दूत रामपुर····' इति। (क) 'रामपुर' कहनेका भाव कि—(१) श्रीजनकपुरकी शोभाका वर्णन कर अन्तमें कहा कि 'बसइ नगर जेहि लच्छि··' अर्थात् श्रीजनकपुरकी शोभा जो कही गयी वह श्रीजानकीजीके सम्बन्धसे है; अंश-अंशीसे अभेद है। इसीसे यहाँ 'रामपुर' शब्द देकर सूचित करते हैं कि श्रीअयोध्याजीकी शोभा श्रीरामजीके सम्बन्धसे है। इस तरह दोनोंका जोड़ मिलाया। अथवा (२) ये दूत श्रीरामजीके मंगलके लिये (तथा मंगल समाचार लेकर) आये हैं, अतः 'रामपुर' नाम दिया। आगे श्रीदशरथजीके अमंगलके लिये जब सरस्वती आयी तब

दशरथजीके सम्बन्धसे 'दशरथपुर' कहा है। यथा—'हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥' (२। १२। ८)। अथवा (३) उपदेशके लिये 'रामपुर' कहा। अर्थात् जो कोई रामचरित (कहता, सुनता या) धारण करता है वह 'रामपुर' में पहुँच जाता है। ये दूत 'श्रीरामचरितकी पत्रिका लिये हुए हैं, इसीसे इनका 'रामपुर' में पहुँचना कहा। अथवा [(४) दूत श्रीरघुनाथजीसे ही परिचित हैं, उनकी शोभा, वीरता आदि उनके हृदयमें गड़ी हुई है, इसीसे 'रामपुर' नाम दिया (वै०)]। (ख) 'पावन' इति। श्रीअयोध्याजीमें अनन्त गुण हैं, पर 'पावन' गुण प्रधान है, इसीसे सर्वत्र (इनके सम्बन्धमें) 'पावन' गुण लिखते हैं, यथा—'बंदौं अवधपुरी अति पावनि। १। १६।', 'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ १। २९६।', 'राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि॥ १। ३५।', 'पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भवरोग नसावनि॥ ६। ११९।', 'सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥ ७। ४।' तथा यहाँ 'पहुँचे दूत रामपुर पावन'। इसीसे पुरीके दर्शनमात्रसे पापका नाश होता है, यथा—'देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥ ७। २९।' अथवा यह श्रीरामजीका पुर है, इसीसे यह भारी तीर्थ है, तीर्थकी प्रशंसा 'पावनता' से है, अतः 'पावन' कहा। (पावन 'पुर' का विशेषण है)। (ग) 'हरषे नगर बिलोकि सुहावन' इति। जब 'रामपुर' कहा तब 'पावन' कहा और जब 'नगर' कहा तब उसे 'सुहावन' कहा। क्योंकि नगर सुन्दर होने चाहिये और तीर्थ पावन होना चाहिये। तीर्थका गुण पवित्रता है, नगरका गुण सुन्दरता है। ['सुहावन' नगरके साथ है। इससे शोभा दिखायी। क्योंकि तीर्थ पवित्र हों, पर यह जरूरी नहीं कि वे शोभायुक्त हों। तीर्थ खँडहर, जंगल पड़े रहनेपर भी पावन हैं, पर उनसे नगर सुहावना नहीं लगता। यह पावन और सुहावन दोनों हैं। श्रीअवध शान्त और श्रृङ्गार दोनों रसोंसे परिपूर्ण है। महात्मा लोगोंसे शान्तरससे परिपूर्ण और राजधानी होनेसे श्रृङ्गार-रस भरा है। पूर्वार्धमें 'पावन' पद देकर शान्त-रस और उत्तरार्धमें 'सुहावन' पद देकर श्रृङ्गाररससे पूर्ण दिखाया। दूतोंको हर्ष हुआ, ऐसा कहकर सूचित किया कि जनकपुरसे यहाँकी शोभामें विशेषता है। जिस जनकपुरकी शोभाको देखकर देवता चकित हो जाते हैं। यथा—'मन बिरंचि कर भूल, बिधिहि भयेउ आचरजु बिसेषी', निज निज लोक सबहिं लघु लागे', 'सो बिलोकि सुरनायक मोहा'; वहाँके निवासी श्रीअवधपुरको देखकर हर्षित हो रहे हैं]। (घ) जैसे जनकपुरके सम्बन्धमें कहा कि 'पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी॥', वैसे ही श्रीअवधपुरीके सम्बन्धमें कहा कि 'पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥' [(ङ) यहाँ पहुँचे 'हरषे' 'तिन्ह' 'लिये' बहुवचन शब्द देकर जनाया कि कई दूत भेजे गये। वाल्मीकीयसे स्पष्ट है कि कई मन्त्री इस कामपर विश्वामित्रजीकी आज्ञा तथा शतानन्दजीकी सलाहसे भेजे गये थे, यथा—'कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चामाप्य मन्त्रिणः। अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान्। १। ६७। २७।', 'विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः। १। ६८। १३।'

२ 'भूपद्वार तिन्ह खबरि जनाई....।' इति। (क) 'भूपद्वार' में द्वारपर द्वारपाल रहते हैं, बिना आज्ञाके कोई भीतर जाने नहीं पाता, इसीसे सूचना देना, दूतोंके आगमनका समाचार देना, कहा। 'द्वार'=दरबार, सभा। (ख) 'दसरथ नृप सुनि लिए बोलाई' इति। खबर देनेवाले द्वारपालने किसी कामदार आदिसे नहीं कहा, राजसभामें जाकर सीधे महाराजजीसे समाचार कहा, इससे 'दसरथनृप सुनि' कहा। इससे पाया गया कि दूतोंने ऐसा कहा था कि हमारे आगमनकी खबर ख़ास महाराजजीको देना। नहीं तो यह दरबार तो बहुत भारी है, बड़े-बड़े राजद्वारमें प्रवेश नहीं पाते, 'सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥ २। २५।' तथा 'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे। लोकप करहिं प्रीति रुख राखे॥ २। २।', भला उस महान् दरबारमें दूतोंके आनेका समाचार सीधे राजासे? यह भी हो सकता है कि उन्होंने कहा हो कि हम जनकपुरसे महर्षि विश्वामित्र एवं महाराज जनकके भेजे हुए पत्रिका (श्रीरामजीका समाचार) लेकर आये हैं। विश्वामित्रजीका ही नाम सुनकर भी (श्रीरामजीका समाचार लाये होंगे यह समझकर) द्वारपालने राजासे ही सीधे जाकर कहा हो यह सम्भव है, क्योंकि इससे राजाको बड़ा आनन्द होगा।

टिप्पणी—३ (क) 'दसरथ नृप सुनि लिए बुलाई' यह चरण बुलानेकी शीघ्रता दरशा रहा है। खबर सुनते ही राजाने बुला लिया, विलम्ब न किया। (यहाँ लेखनीने भी शब्दोंमें कैसी शीघ्रता लक्षित की है! खबर देना और राजाका सुनना कहकर तुरंत दूतोंको बुला लेना लिखा, द्वारवालोंका लौटकर दूतोंसे कुछ कहनेका उल्लेख यहाँ नहीं किया। जैसे

राजाने सुनते ही बुलाया वैसे ही ग्रन्थकारने भी शीघ्रता दिखानेके लिये बीचमें एक भी चरणका व्यवधान न किया। (ख) राजाका सिपाही दूतोंको साथ लिये जा रहा है, इसीसे ड्योढ़ीमें और किसीने न रोका। नहीं तो यह दरबार तो बहुत भारी है, बड़े-बड़े राजा प्रवेश नहीं पाते।

करि प्रनामु तिन्ह पाती दीन्ही। मुदित महीप आपु उठि लीन्ही॥ ३॥
बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥ ४॥

शब्दार्थ—पाती=पत्रिका, चिट्ठी। बाँचना=पढ़ना। 'छाती भर आना' मुहावरा है। इसका अर्थ है 'प्रेमके आवेगसे हृदयका परिपूर्ण होना, प्रेमसे गद्गद हो जाना'।

अर्थ—प्रणाम करके उन्होंने पत्रिका दी। आनन्दित होकर राजाने स्वयं उठकर उसे ली॥ ३॥ पत्रिका पढ़तेमें दोनों नेत्रोंमें आँसू भर आये, शरीर पुलकित हो गया, छाती भर आयी। अर्थात् गद्गद हो गये। मुखसे वचन नहीं निकलता॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'करि प्रनाम तिन्ह पाती दीन्ही'—यहाँ पत्रिकाका देनामात्र कहते हैं। कुछ हाल नहीं कहा गया। इससे जनाया कि अपना नाम, ग्राम इत्यादि पहले ही द्वारपालोंद्वारा कहला भेजा था (अब सामने आनेपर प्रणाम करके पत्रिका दे दी। कुछ महानुभावोंने गीतावलीके आधारपर यहाँ गुरु शतानन्दजी महाराजका पत्रिका लेकर आना लिखा है, पर 'करि प्रनाम' से इसका निराकरण होता है)। (ख) 'मुदित'—क्योंकि श्रीराम-लक्ष्मणजीका कोई समाचार अबतक न मिला था। [यथा—'जब ते लै मुनि संग सिधाए। रामलषनके समाचार, सखि! तब ते कछुअ न पाये।'''तुलसी आइ भरत तेहि औसर कही सुमंगल बानी॥' (गीतावली १। १०१)] इसीसे पत्रिका देख आनन्दित हुए। (ग) 'आपु उठि लीन्ही'—भाव कि राजाओंके प्रायः मन्त्री कामदार आदि चिट्ठी लेते हैं और राजाको सुनाते हैं, ऐसी ही कोई खास और भारी चिट्ठी होती है कि जिसे राजा स्वयं लेते हैं। (राजा यहाँ वात्सल्यमें ऐसे पगे हुए हैं कि इतना भी विलम्ब न सह सके कि मन्त्री इत्यादि चिट्ठी लेकर उनको पहुँचाते। वे श्रीराम-लक्ष्मणजीके प्रेममें ऐसे पगे हैं, उनकी खबर पानेके लिये ऐसे लालायित और उत्कण्ठित हैं कि उन्होंने स्वयं उठकर पत्रिका ली। राज्यमर्यादाका उल्लङ्घन कर ही तो दिया! प्रेमकी जय! पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'श्रीजनकको आदर देनेके निमित्त आप ही उठे।')

२ 'बारि बिलोचन बाँचत पाती।''''' इति। (क) इन चौपाइयोंमें श्रीदशरथजी महाराजके प्रेमकी उत्कृष्ट दशा दर्शित की है। 'बाँचत' क्रियासे सूचित होता है कि पूरी चिट्ठी न पढ़ पाये। 'छाती भर आई' अर्थात् प्रेमसे विह्वल हो गये, हृदयमें प्रेम नहीं समाता, कण्ठ गद्गद हो गया। यह प्रेमकी दशा है। यथा 'तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नयन। कहु कारन निज हरष कर'''॥ २२८॥' (ख) यहाँ वक्ताओंको उपदेश है कि वे पुस्तक (श्रीरामचरितमानस, श्रीरामायणजी) का ऐसा आदर करें, जैसा राजाने पत्रिकाका आदर किया।—'मुदित महीप आपु उठि लीन्ही'। वक्ता ऐसा 'बाँचें' जैसे राजा 'बाँचते' हैं—'बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥' जैसे प्रेमयुक्त हो श्रीरामचरित 'बाँचने' से राजाके हृदयमें श्रीराम-लक्ष्मण आ गये। (जैसा आगेके चरणमें कहते हैं) वैसे ही प्रेमी वक्ताके हृदयमें श्रीराम-लक्ष्मणजीका साक्षात्कार होगा। (रामचरित्रकी माधुरी और आकर्षकता ही ऐसी है कि कलियुगमें भी प्रेमी पाठकोंकी ऐसी ही दशा हो जाती है, तब श्रीदशरथजीकी यह दशा हुई तो कौन नयी बात है? प० प० प्र०)

राम लषन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥ ५॥
पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची॥ ६॥

शब्दार्थ—खाटी मीठी=बुरी-भली। यह मुहावरा है। चीठी=पत्रिका, चिट्ठी।

अर्थ—हृदयमें श्रीराम-लक्ष्मणजी हैं और हाथमें सुन्दर श्रेष्ठ पत्रिका है। (उसे हाथमें लिये) रह गये, बुरा-भला कुछ भी नहीं कहते॥ ५॥ फिर धीरज धारण करके उन्होंने पत्रिका पढ़ी। सत्य (सच्ची-सच्ची सब) बात सुनकर सब सभा प्रसन्न हुई॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'राम लषन उर''''' इति। (क) जब 'बारि बिलोचन', 'पुलक गात आई भरि छाती' यह अत्यन्त प्रेमकी दशा आयी, तब श्रीराम-लक्ष्मणजी उरमें आये, यथा—'प्रेम ते प्रगट होहिं''' ', 'प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी। १।

१८५।', 'अतिसय-प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥ ३। १७। १४।' (ख) 'रामलषन उर' इस कथनसे राजाके हृदयकी शोभा कही। (ग) 'कर बर चीठी'—चिट्ठीको 'बर' कहा क्योंकि इसमें श्रीरामजी तथा श्रीलक्ष्मणजीका समाचार लिखा है, उसमें दोनोंका चरित हैं। (घ) 'रहि गए' के तीन कारण यहाँ दिखाये—एक तो 'बारि बिलोचन'-नेत्रोंमें जल भर आनेसे अक्षर न देख पड़े। दूसरे, 'छाती भरि आई', इससे कण्ठ गद्गद हो गया, मुखसे वचन नहीं निकलता। तीसरे, 'रामलषन उर' हृदयमें श्रीराम-लक्ष्मणजी आ गये, इससे देहकी सुध न रह गयी। स्तब्धसे रह गये। 'बारि बिलोचन'''छाती' में प्रेमकी सब दशा कहीं, पर वचनका बन्द होना न कहा था, उसे यहाँ 'रहि गए कहत न''''' में कहा। (ङ) 'रामलषन उर' से हृदयकी, 'कर बर चीठी' से हाथ (तन) की और 'रहि गए कहत न' से वचनकी शोभा कही। अर्थात् राजा तन, मन, वचन तीनोंसे प्रेममें मग्न हो गये हैं। ['श्रीराम-लक्ष्मणजी उरमें हैं'—भाव कि मन और इन्द्रियरूपावलोकनमें लय हो गये। 'कर बर चीठी' से जनाया कि दृष्टि पत्रिकामें लीन हो गयी। प्रेमपंकमें मन और दृष्टि ऐसे फँस गये कि वचन न निकला, स्थिर रह गये। (वै०)] (च) 'खाटी-मीठी' अर्थात् भली-बुरी कुछ न कहा। पत्रिकामें बुरी बात कोई नहीं है। लोकमें इस तरह बोलनेकी रीति है। गोस्वामीजीने वही लोकरीति लिखी।

नोट—१ 'खाटी मीठी' के और भाव—(क) महाराज रघुराजसिंहजीका मत है कि ताड़का-वध, यज्ञ-रक्षा, अहल्या-उद्धार, धनुर्भङ्ग, परशुराम-पराजय और विवाह ये ही खट्टी-मीठी बातें हैं जो पत्रिकामें लिखी हैं।

(ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'चिट्ठीमें समाचार बुरा है या भला है, कुछ मुँहसे न निकला। अथवा पत्रिकाके प्रत्येक समाचारमें खट्टी-मीठी दोनो ही बातें हैं। यथा—मार्गमें मुनिके साथ जाते हुए ताड़का क्रोधकर खानेको दौड़ी यह खट्टी; और उसको एक ही बाणसे मारा, यह मीठा। पुनः 'यज्ञ-रक्षामें जब आप तत्पर थे तब 'सुनि मारीच निसाचर कोही। लेइ सहाय धावा मुनिद्रोही॥' यह खट्टी और 'बिनु फर बान राम तेहि मारा' 'पावक सर सुबाहु पुनि जारा। अनुज निसाचर कटक सँघारा॥' यह मीठी। पुनः 'आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥' ऐसे निर्जन वनमें 'गौतमनारी साप बस उपल देह' में देखना यह खट्टी और उसका उद्धार यह मीठी। पुनः 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥' 'रावन बान छुआ नहि चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥ सो धनु राजकुँअर कर देहीं', 'गरुअ कठोर बिदित सब काहू' और भी जैसा दूतोंने कहा है, यह खट्टी और 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा' अर्थात् सहजहीमें तोड़ डाला, यह मीठी। पुनः 'सुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँख देखाये॥' यह खट्टी और 'कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गए बनहिं तप हेतू॥' यह मीठी; कुटिल राजाओंका गाल बजाना खट्टी और 'अपभय सकल महीप डेराने' यह मीठी, और विवाहके लिये मुनिकी आज्ञा है कि आप भरत-शत्रुघ्न-सहित बरात लेकर आवें यह मीठी। इत्यादि हर्ष-विस्मयवश कुछ कह न सके।

पं० विजयानन्द त्रिपाटी—'बारि बिलोचन''''मीठी'''साँची' इति। अश्रु, पुलक और स्वरभङ्ग—ये तीनों सञ्चारी भाव हर्ष और शोक दोनोंमें होते हैं, अतः इससे हृदयगत भाव व्यक्त नहीं होता। नारदजीने जब हिमगिरि और मयनासे कहा कि 'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष। अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥', तब सबकी आँखोंमें आँसू आ गया, सबको पुलक हो गया। भेद इतना ही था कि जगदम्बाके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु था, तथा और लोगोंको शोकाश्रु। इसीपर श्रीगोस्वामीजी कहते हैं 'नारदहू यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना॥' यहाँ चीठी पढ़नेमें चक्रवर्तीजीकी भी वही दशा हुई। राम-लक्ष्मणकी मूर्ति हृदयमें आ गयी, चीठी हाथमें रह गयी, आँखोंमें जल भर आया, शरीरमें पुलक हो गया, स्वरभङ्ग हो गया, चीठी पढ़ते-पढ़ते रुक गये। यहाँ 'खाटी मीठी' से शोक-हर्ष अभिप्रेत है, यथा—'मीठ कहा कवि कहैं जोहि जो भावै'।

सभा असमञ्जसमें पड़ गयी! राजकुमार बाहर गये हुए हैं—राक्षसोंसे युद्ध करने। कोई सच्चा समाचार उनका न मिला। इस चीठीमें कोई बात उनके सम्बन्धकी है क्या? महाराजकी दशा चीठी पढ़ते-पढ़ते कैसी हुई जा रही है, इत्यादि। चिन्तामें सभासद् पड़ गये। पत्र पढ़ते समय चक्रवर्तीजीका धैर्य छूट गया था। अतः बाँच नहीं सकते थे। पर सभाको असमञ्जसमें देखकर उन्होंने धैर्य धारण किया, और चीठी पढ़ सुनायी; अतः सच्चा समाचार पाकर सभा हर्षित हुई।

प० प० प्र०—पत्रिका पढ़ते-पढ़ते राजाकी यह दशा देख सभा चिन्ता-सागरमें डूब गयी कि न जाने पत्रिकामें शुभ समाचार है या अशुभ। क्षण-क्षणपर हर्ष-विषादके भाव राजामें देखकर वे यह जाननेके लिये आतुर हो रहे हैं कि क्या बात है। सभासदोंकी यह दशा देख राजाके मनमें वैखरीसे बाँचनेकी इच्छा होती थी, पर प्रेमने उनपर अपनी सत्ता ऐसी जमा दी थी कि वे पत्रिका हाथमें लिये हैं, प्रेमाश्रु बह रहे हैं, इत्यादि।

टिप्पणी—२ (क) 'धरि धीर....' इति। भाव कि श्रीराम-लक्ष्मणजीका ध्यान हृदयमें आ जानेसे राजा विदेह हो गये थे, अब धीरज धरकर अर्थात् ध्यानको छोड़कर पत्रिका पढ़ी। तात्पर्य यह कि ध्यानकी अपेक्षा रामचरित अधिक प्रिय है—'प्रभु तें प्रभु चरित पियारे' (गीतावली १। ४४)। यथा—'मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥ १११।', 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरि कथा न करहिं रति तिन्हके हिय पाषान॥ ७। ४२।', (धीरज धरा अर्थात् मनको सावधान किया। सभाको भी आनन्द देनेके लिये मनको सावधान कर पत्रिका पढ़ी जिससे सभी आनन्दमें मग्न हो गये)। (ख) 'हरषी सभा' इति। सब श्रीराम-लक्ष्मणजीकी सुधके बिना व्याकुल थे, आज सच्ची खबर मिली है, अतः सब प्रसन्न हुए। यथा—'जा दिन तें मुनि गए लवाई। तब तें आजु साँचि सुधि पाई॥ २९१। ७।' ['साँची' कहकर जनाया कि इसके पूर्व उड़ती खबर इधर-उधरसे आती रहती थी। पर उसपर विश्वास न होता था। १४-१५ वर्षका लड़का दस हजार हाथियोंके बलवाली ताड़का राक्षसी इत्यादिका वध करे, भला इसे कौन मान सकता! और जब पुरुष-वर्ग ही ऐसे समाचारको अविश्वसनीय समझे, तब वे उसे रनवासमें कब कहने लगे। इसीसे स्त्रियोंको वह उड़ती खबर भी न मिलती थी। यथा—'जब तें लै मुनि संग सिधाए। रामलषनके समाचार सखि! तब तें कछुअ न पाए॥ गी० १। १०१।' (प० प० प्र०)। पर आज प्रामाणिक खबर मिली, राजा जनकने पत्रिकामें लिखकर भेजा है। रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'इससे यह जनाया है कि रघुवंशियोंकी सभा सच्ची ही बात सुनकर हर्षित होती है, झूठीसे नहीं। अथवा लिखी हुई बात प्रामाणिक होती है, इसलिये सबको हर्ष हुआ। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'जब लोगोंने पत्रिकाके समाचार सुने तब तो उन्हें पहले यह विचार उठा कि दशरथजीके चुपचाप रह जानेके यथार्थ कारण इसमें सचमुच देख पड़ते हैं और जब सुना कि प्रत्येक बाधा दूर होकर जनक-पुत्रीसे विवाह-शुभ मुहूर्त भी निश्चित हो गया और बारातकी तैयारी करना है तो बहुत ही प्रसन्न हुए।' २९१ (७) भी देखिये।]

नोट—२ पत्रिकामें समाचार लिखे हैं, यथा—'खेम कुसल रघुबीर लषन की ललित पत्रिका ल्याए॥ ३॥ दलि ताड़का, मारि निसिचर, मख राखि बिप्रतिय तारी। दै बिद्या लै गए जनकपुर, हैं गुरु संग सुखारी॥ ४॥ करि पिनाक पन सुता स्वयंबर सजि नृप कटक बटोर्यो। राज सभा रघुबर मृनाल ज्यों संभु सरासन तोर्यो॥ ५॥' (गीतावली १। १००)।

खेलत रहे तहाँ सुधि पाई। आए भरतु सहित हित* भाई॥ ७॥
पूछत अति सनेह सकुचाई। तात कहाँ तें पाती आई॥ ८॥

दो०—कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेह साने बचन बाँची बहुरि नरेस॥ २९०॥

अर्थ—जहाँ खेल रहे थे वहाँ भरतजीने खबर पायी तो वे मित्रों और भाई श्रीशत्रुघ्नजी सहित आये॥ ७॥ बहुत ही प्रेमसे सकुचाते हुए वे पूछते हैं—तात! (पिताजी!) पत्रिका कहाँसे आयी है?॥ ८॥ कहिये तो, प्राणप्रिय दोनों भाई कुशलसे तो हैं? और किस देशमें हैं? प्रेममें सने हुए वचन सुनकर राजाने पत्रिकाको फिरसे पढ़ा॥ २९०॥

टिप्पणी—१ 'खेलत रहे तहाँ सुधि पाई।....' इति (क)—भरतजीका अत्यन्त स्नेह यहाँ दिखा रहे हैं। [कथा या सत्संगमें खबर पाना न कहा, क्योंकि सत्संग आदि तो ऐसे स्थान हैं कि यहाँ सुधि मिल ही जाती, पर खेल ऐसा स्थान नहीं है सो वहाँपर भी 'सुध पा गये' और खेल छोड़ दौड़े आये। खेलना तो लड़कपनका स्वभाव ही है।] (ख)—'सुधि पाई' अर्थात् श्रीराम-लक्ष्मणजीके समाचारकी पत्रिका आयी है जो सभामें पढ़ी गयी है, यह खबर उनको मिली, इसी

* दोउ—१७६२, १७०४। लघु—को० रा०। हित—१६६१, १७२१, छ०।

बातको वे आगे पूछते हैं—'तात कहाँ ते पाती आई'''' (ग) 'सहित हित भाई' इति । भरतजीका भी मित्रोंमें स्नेह है, वे उनको त्याग नहीं सकते, जैसे श्रीरामजीका स्नेह अपने मित्रोंपर है; यथा—'भोजन करत बोल जब राजा । नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥ २०३ । ६ ।'; इसीसे उन्हें साथमें लाये । हित=मित्र; सखा । यथा—'जे हित रहे करत तेइ पीरा । ५ । १५ ।' 'हित अनहित मानहु रिपु प्रीता । ५ । ४० ।' 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना । २ । २६४ ।' 'भाई' श्रीशत्रुघ्नजी तो सदा आपके अनुगामी ही हैं; यथा—'भरत सत्रुहन दूनौ भाई । प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥ १९० । ४ ।' अतः भाईको भी साथ लाये । इससे यह भी जनाया कि ये सब भी श्रीराम-लक्ष्मणजीके स्नेही हैं; सबको श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं ।

२ 'पूछत अति सनेह सकुचाई ।''''' इति । (क) भरतजीका संकोची स्वभाव ही है, यथा—'नाथ भरत कछु पूँछन चहहीं । प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं ॥ उ० ३६ ।' 'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन । दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पियासे नैन ॥ अ० २६० ।' 'तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात ! अ० २५९ ।' संकोची स्वभाववश पूछते नहीं बनता और उनका स्नेह अत्यन्त है, अतः स्नेहकी अधिकताके मारे रहा भी नहीं जाता । अन्ततोगत्वा प्रेमने पाला जीता, भरतजीने प्रश्न कर ही दिया । पुनः बड़े (गुरुजनों) से पूछनेमें संकोच है (ऐसा होना शिष्टाचार है । चित्रकूटके दरबारमें उन्होंने कहा भी है—'नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई । स्वामि समाज सकोच बिहाई ॥''''छमिहि देउ अति आरति जानी ।.२ । ३०० ।') इनके स्नेह और संकोचका स्वरूप आगे स्पष्ट है संकोचवश पत्रिकामें जो (अथवा क्या) लिखा है, यह नहीं पूछते, इतना ही भर पूछते हैं कि पत्रिका कहाँसे आयी है । [आज्ञा लिये बिना पूछनेसे मर्यादा भंग होती है और आज्ञा लेनेमें भी सकुचाते थे । श्रीराम-लक्ष्मण-भरत तीनोंका संकोची स्वभाव है और शत्रुघ्नजी भरतकी छायाके समान अनुगामी थे । (प० प० प्र०)] (ख) 'अति सनेह' का भाव कि श्रीरामजीमें सभीका स्नेह है (यथा—'सेवक सचिव सकल पुरबासी । जे हमरे अरि मित्र उदासी ॥ सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही ।' (२ । ३), 'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी । (१ । २१६), 'कोसलपुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल । प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल ॥ १ ॥ २०४); परंतु श्रीभरतका 'अति' स्नेह है [यथा—'अगम सनेह भरत रघुबर को । जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥' (२ । २४१), 'भरत अवधि सनेह ममता की ।' (२ । २८९)] (ग) 'कहाँ ते' अर्थात् किस नगरसे । [(घ) 'खेलत रहे, तहाँ सुधि पाई ।'''' से सिद्ध होता है कि पूरी पत्रिका पढ़ी जानेके पूर्व ही पत्रिकाके आनेकी बात नगरभरमें पहुँच गयी थी । सभाके लोगोंका तो बाहर जाना असम्भव था, तब बात कैसे उड़ गयी? इससे सिद्ध होता है कि द्वारपालोंने ही फैलानेका काम आरम्भ कर दिया । अपरिचित दूतोंको राजदरबारकी ओर शीघ्रतासे जाते देख पुरवासियोंमें कुतूहल बहुत जाग्रत् हो गया होगा । (प० प० प्र०)]

३ 'कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ'''' इति । (क) 'प्रानप्रिय' का भाव कि प्राणोंसे अधिक प्रिय कोई नहीं होता, यथा—'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं । २०८ । ४ ।' सो उन प्राणोंसे भी अधिक ये दोनों भाई भरतजीको प्रिय हैं । ऊपर जो 'पूछत अति सनेह सकुचाई' कहा था, उस 'अति सनेह' का स्वरूप यहाँ दिखाया । 'स्नेह' प्राणमें है और 'अति स्नेह' दोनों भाइयोंमें है । हृदयमें 'अति स्नेह' है, वही अत्यन्त स्नेह मुखसे निकल रहा है । 'प्राणप्रिय' विशेषण 'अतिप्रिय' में ही दिया जाता है । (ख)—'बंधु दोउ' कहकर जनाया कि श्रीराम और श्रीलक्ष्मण दोनोंहीमें इनका अत्यन्त स्नेह है; इसीसे दोनोंका कुशल-समाचार पूछते हैं और दोनोंको प्राणप्रिय कहा । (ग)—'सुनि सनेह साने बचन' इति । 'कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहि देस' यही स्नेहमें सने हुए वचन हैं । (घ) 'बाँची बहुरि नरेस' इति । इनका अत्यन्त स्नेह देखकर (राजा समझ गये कि बिना पूरी पत्रिका सुनाये इनको संतोष न होगा) राजाने पूरी पत्रिका पढ़कर सुनायी; नहीं तो जितना प्रश्न था उतनेहीका उत्तर देते । प्रश्नका उत्तर तो बहुत थोड़ेमें हो जाता; वह यह कि 'पत्रिका जनकपुरसे आयी है । दोनों भाई वहीं सकुशल हैं ।' यह उत्कट शुद्ध प्रेमकी रीति ही है, पत्रिका उन्हें साक्षात् रामरूप ही देख पड़ती है । अतः राजा पुनः पुनः पढ़नेका अवसर पाकर कब चूकने लगे । यह तीसरी बार पढ़नेका अवसर मिला । आगे भी पढ़-पढ़कर सुनायेंगे । ☞ राजा आचरणद्वारा सदुपदेश दे रहे हैं कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी कीर्तिका बारंबार पाठ करे और वर्णन करे । (प० प० प्र०)]

सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता ॥ १ ॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभाँ सुखु लहेउ बिसेषी ॥ २ ॥

अर्थ—पत्रिका सुनकर दोनों भाई पुलकित हुए, स्नेह इतना बढ़ा कि शरीरमें नहीं समाता ॥ १ ॥ श्रीभरतजीका पवित्र प्रेम देखकर सारी सभाको विशेष सुख प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'सुनि पाती पुलके…' इति। (क) यहाँ दिखाते हैं कि श्रीदशरथजी, श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी ये तीनों श्रीअवधवासियोंसे अधिक श्रीरामानुरागी हैं। श्रीरामजीमें जैसी जिसकी प्रीति है, वह यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देती है। इन तीनोंमें सबसे अधिक प्रेम है। पत्रिका पढ़नेमें राजाकी जैसी दशा हुई कि 'बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात धाई भरि छाती ॥' वैसी ही दशा श्रीभरत-शत्रुघ्नजीकी हुई—'सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता ॥' दोनों भाइयोंको पुलकावली हुई और प्रेमाश्रु आदि निकल पड़े। अयोध्यावासियोंका प्रेम इनकी अपेक्षा साधारण था, उनको केवल हर्ष प्राप्त हुआ, पुलकावली आदि नहीं हुई। यथा—'पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची ॥' (ख)—'अधिक सनेह' इति। भाव कि प्रथम पत्रिकाका समाचार पूछनेमें 'अति सनेह' हुआ, यथा—'अति सनेह पूछत सकुचाई' अब समाचार सुननेपर वह 'अति सनेह' अधिक हो गया और बढ़ भी गया। (ग)—'समात न गाता' कहकर जनाया कि जबतक 'अति सनेह' रहा तबतक तो वह हृदयमें बना रहा, पर जब वह स्नेह 'अति' से भी अधिक हुआ तब हृदयमें नहीं समाया, नेत्रोंद्वारा प्रेमाश्रुरूप होकर निकल पड़ा। 'अति सनेह' विशेष है, 'अधिक सनेह' विशेषके ऊपर विशेष है, यही यहाँ कहते हैं। 'समात न गाता' अर्थात् शरीरके बाहर उमड़ा पड़ता है।

२—'प्रीति पुनीत…' इति। (क) प्रीति तन, मन और वचन तीनोंसे है, इसीसे उसे 'पुनीत' कहा। 'पूछत अति सनेह सकुचाई' यह 'अति सनेह' मनकी प्रीति है (क्योंकि स्नेह और संकोच मनका धर्म है)। 'सुनि सनेह साने बचन' यह वचनकी प्रीति है। और 'सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता ॥' यह तन (वा, कर्म) की प्रीति है। मन, वचन और कर्म तीनों स्थानोंमें 'सनेह' शब्द रक्खा है। छलरहित प्रीति 'पुनीत प्रीति' कहलाती है, यथा—'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥ १। १५३।' [स्वार्थ ही छल है, यथा—'स्वारथ छल फल चारि बिहाई। २। ३०१।' भरतजीका प्रेम स्वार्थरहित है, यथा—'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥ २। २८९।' भरतजीने शपथ खाकर कहा है कि उनके हृदयमें 'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥ २। ३०१' है] (ख)—'देखी' का भाव कि पहले उनके प्रेमकी प्रशंसा सुना करते थे, पर आज पुलकादि द्वारा आँखोंसे देख लिया (कि सत्य ही श्रीरामजीमें इनका बड़ा गूढ़ स्नेह है। यथा—'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥ २। २४१' "गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। २। २८४।' (ग) 'सकल सभा सुखु लहेउ' इति। भाव यह कि श्रीभरतजीकी प्रीति इतनी सुन्दर है कि देखकर सभी सुखी होते हैं, यथा—'भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भए बिदेहू ॥ २। २५७।' वैसे ही ये सब भी सुखी हुए। अथवा, लोगोंके मनमें संदेह था कि राज्य पानेके अधिकारी श्रीरामजी भी हैं और श्रीभरतजी भी-['जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥ २। १५।' इसके अनुसार कुलपरिपाटीके अनुसार श्रीरामजी राज्यके अधिकारी हैं। दशरथजीने भी यही कहा है, यथा—'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृप नीति। २। ३१।' और कैकेयीजीके विवाहके योगसे जो प्रतिज्ञापत्र चक्रवर्तीजीने लिख दिया है उसके अनुसार श्रीभरतजी अधिकारी हैं। विशेष १९० (४) में देखिये।]; इस कारणसे कहीं भरतजी श्रीरामजीसे अन्तःकरणमें विरोध (द्वेष) न रखते हों। वह संदेह अब निवृत्त हो गया, सब इनका निश्छल प्रेम देखकर सुखी हुए। (घ)—'बिसेषी' का भाव कि पत्रिका सुनकर सभी सभा सुखी हुई थी; यथा—'हरषी सभा बात सुनि साँची'; और भरतजीका निश्छल प्रेम देखकर विशेष सुखी हुई। अथवा विशेष प्रीति ('अधिक सनेह समात न गाता') देखकर विशेष सुख हुआ।

तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे ॥ ३ ॥
भैआ कहहु कुसल दोउ बारे। तुम्ह नीकें निज नयन निहारे ॥ ४ ॥

स्यामल गौर धरे धनु भाथा। बय किसोर कौशिक मुनि साथा॥ ५॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेम बिबस पुनि पुनि कह राऊ॥ ६॥

अर्थ—तब राजाने दूतोंको पास बैठाया और मीठे मनके हरनेवाले सुन्दर वचन बोले—। ३॥ 'भैया! कहो, दोनों बच्चे कुशलसे तो हैं? तुमने अपनी आँखोंसे उन्हें 'नीकें' (भलीभाँति और सकुशल) देखा है (न)?॥ ४॥ (एक) श्यामवर्ण, और (दूसरे) गौरवर्ण हैं। धनुष और तरकस धारण किये रहते हैं। किशोर अवस्था है और श्रीविश्वामित्र मुनिके साथ हैं॥ ५॥ (यदि) तुम (उनको) पहचानते हो (तो उनका) स्वभाव कहो'। राजा प्रेमके विशेष वश होनेसे बारंबार (इस प्रकार) कह (पूछ) रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'निकट बैठारे' से सूचित किया कि अबतक वे दूर खड़े रहे। पास बैठाना आदर भी सूचित करता है। यथा—'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥ ५। ३३।', 'अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी॥ ६। ३७।' [निकट बैठानेमें परम प्रेम ही मुख्य है। श्रीरामजीने तो केवल श्रीहनुमान्‌जी और विभीषणजीको निकट बैठाया है, यह सौभाग्य सुग्रीवको भी नहीं प्राप्त हुआ। विश्वामित्रजीने केवल श्रीराम-लक्ष्मणको निकट बैठाया। दूतोंको निकट बैठानेसे सिद्ध हुआ कि दूतोंका दर्शन महाराजको राम-लक्ष्मणके दर्शनके समान ही इस समय लग रहा है। यथा—'कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥' (यह भरतने कहा है)। दरबार न होता एकान्त होता, तो दूतोंको हृदयसे लगाकर भेंटते। (प० प० प्र०)] (ख) 'मधुर मनोहर बचन' अर्थात् ये वचन सुननेमें मधुर हैं, अर्थमें मनोहर हैं अर्थात् इनका अर्थ समझनेसे ये मनको हर लेते हैं। अथवा, मनोहर=सुन्दर।

२ (क) 'भैया' प्रिय वचन है। दूत श्रीराम-लक्ष्मणजीका समाचार लाये हैं, इससे अत्यन्त प्रिय हैं। यथा—'जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम लखन सम लेखे॥ २। २२४।' (भरतजी जिनसे श्रीराम-लक्ष्मणजीका कुशल-समाचार पाते थे, उनको श्रीराम-लक्ष्मणसमान प्रिय मानते थे। इसी तरह श्रीकौशल्या माता कहती हैं–), 'जो कहिहै फिरे राम लषन घर करि मुनि मख रखवारी। सो तुलसी प्रिय मोहि लागि है ज्यों सुभाय सुत चारी॥ गीतावली १। ९८।' जो कुशल कहता है उसे श्रीराम-समान प्रिय मानते हैं। माता-पिता श्रीरामको प्रायः 'भैया' कहते हैं, यथा—'पितु समीप तब जाएहु भैया। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया॥ २। ५३।' इस तरह भी यहाँ 'भैया' सम्बोधन बड़ा उपयुक्त है। यह प्रिय वचन कहकर तब राजा बोले। यहाँ 'भैया कहहु…।' इत्यादिमें वचनोंकी मधुरता प्रत्यक्ष दिख रही है। [विश्वामित्रजी बड़े विकट स्थानोंमें ले गये थे। वहाँकी सुधि कुशल-समाचारपूर्वक देना दूसरा जन्म देना है। अतः अति आदरसे 'भैया' कहा। (रा० प्र०)] (ख)—'कुसल दोउ बारे' इति जबसे विश्वामित्र दोनों बच्चोंको राक्षसोंसे युद्ध करनेके लिये ले गये हैं, (यथा—'असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयउँ नृप तोही॥ अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा॥ १। २०७), तबसे उनका कुशल-समाचार नहीं मिला, (यथा—'जबतें लै मुनि संग सिधाए। राम लषन के समाचार सखि तबते कछुअ न पाए॥''''बालक सुठि सुकुमार समुझि सोच मोहि आली। गीतावली १। ९९।'), इसीसे प्रथम कुशल पूछते हैं। (ग) 'नीके' अर्थात् निगाह डालकर अच्छी तरह देखा तथा उनको 'कुशल सहित' देखा। (घ) 'निज नयन निहारे' इति। भाव कि अपनी आँखोंसे देखकर कुशल कहना चिट्ठीसे श्रेष्ठ है, इसीसे 'अपनी' आँखोंसे देखनेका प्रश्न करते हैं। पुनः भाव कि आँखसे देखा है, उनके शरीरमें (राक्षसोंसे युद्ध होनेसे) कोई घाव तो नहीं है? पुनः भाव कि सुना हुआ तो नहीं कहते हो? [(ङ) 'तुम्ह नीके निज नयन निहारे' का एक भाव बाबा हरिहरप्रसादजी यह लिखते हैं कि हमसे 'तुम ही अच्छे हो कि उन्हें अपनी आँखोंसे देखा है' (रा० प्र०)

नोट—१ 'भैया कहहु कुसल दोउ बारे।…' इति। इस चौपाईमें रस चू (टपक) रहा है; कोई क्या अर्थ करेगा? अर्थ करनेसे वह रस ही जाता रहता है, नीरसता आ जाती है। चक्रवर्ती महाराज होकर दूतोंको 'भैया' सम्बोधन करना, यह कुछ क्या साधारण बात है? कैसा मूढ़ और गाढ़ा प्रेम श्रीरामजीमें है? जबतक मनुष्य अपने मानको नष्ट नहीं कर देता तबतक श्रीरामजी नहीं मिलते, मान-प्रतिष्ठाके नष्ट होनेहीपर श्रीरामसुजानकी प्राप्ति है। केवल श्रीरामप्रेमके नातेसे दूतोंको 'भैया' कहा, वात्सल्यरसकी प्रबलता बरियायी इन शब्दोंको मुखसे निकलवा रही है। राजा सोचते हैं कि वहाँ तो

बहुतसे राजकुमार रहे होंगे, न जाने इन्होंने हमारे पुत्रोंको पहिचाना हो या न, राम-लक्ष्मण तो सादे वेशमें होंगे, उनके वस्त्रादिक देखकर वे कैसे समझ सकते कि चक्रवर्तीके पुत्र हैं ? इसलिये प्रथम ही उनका हुलिया बताते हैं जिसमें बारंबार पूछनेमें विलम्ब न हो। बारंबार पूछना प्रेमकी अधिकता सूचित करता है।

टिप्पणी—३ 'स्यामल गौर धरे धनु भाथा।…' इति। (क) जब राजाने अपने लड़कोंका कुशल और अपनी आँखोंसे देखनेका प्रश्न किया तब संभव हुआ कि दूत पूछें कि आपके लड़के कैसे, हैं, इसीसे राजा प्रथम ही 'चिन्हारी' (पहचानके चिह्न) बताते हैं। रङ्ग, आयुध, अवस्था और साथ ये चार चिह्न बताये। (ख) 'बय किसोर' यथा—'बय किसोर सुखमा सदन स्याम गौर सुखधाम। १। २२०' (अभी चौदह वर्षके हैं। यह वह अवस्था है जिसमें भोलापन और मुखारविन्दपर मलाहत रहती है, हृदय सरल रहता है। पर आजकल तो इस अवस्थामें यवनोंके सङ्गसे थोड़ी ही अवस्थामें अनेक विकारयुक्त लड़के देखे जाते हैं। हमारी संस्कृतिका कैसा नाश हुआ है !) (ग)—'कौशिक मुनि साथा'। भाव कि आगे-आगे कौशिक मुनि हैं, पीछे-पीछे दोनों लड़के हैं। श्याम और गौर जो कहा था उसका भाव यह है कि विश्वामित्रके पीछे श्याम बालक है और उसके पीछे गौर बालक है। विश्वामित्रको जगत् जानता है, उनके बतानेकी आवश्यकता नहीं। ऐसे महामुनिके साथ हैं, सामान्य मुनिके साथ नहीं हैं कि पीछे रहते। (प्र० सं०) और भी राजकुमार राम-लक्ष्मण नामके तथा धनुषबाणधारी हो सकते हैं, अतः 'कौशिक मुनि साथा' से वह अतिव्याप्ति दूर की। (प० प० प्र०)]

४ 'पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ।…' इति। (क) पहले भाइयोंकी पहचानके चिह्न कहकर तब पूछते हैं कि 'तुम पहचानते हो ?', यदि पहचानते हो तो उनका स्वभाव कहो। (ख) स्वभाव पूछनेका भाव कि जबतक मनुष्य समीप जाकर बात नहीं करता, तबतक स्वभाव नहीं जाना जा सकता। आँखसे देखनेका प्रश्न किया, अब समीप जाकर बात करना पूछते हैं। जो पास जाकर श्रीरामजीसे जान-पहचान करते हैं, श्रीरामजी उनका बड़ा आदर-मान करते हैं, जिससे फिर वे श्रीरामजीको भूल नहीं सकते, फिर तो वे 'राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥ ७। १९।' (ग) रूपके चिह्न बताये, स्वभावके चिह्न नहीं बताते, क्योंकि इसके लक्षण नहीं बताते बनते। यथा—'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥ ७। १२४।' (श्रीभुशुण्डिवाक्य)। जब ऐसे स्वभावका कोई है ही नहीं, तब कैसे बताते बने। (घ) 'प्रेम बिबस पुनि पुनि कह राऊ' इति। भाव कि जब राजाने श्रीरामजीके स्वरूप और स्वभावका स्मरण किया तब वे प्रेमके विशेष वश हो गये। (यथा—'रामरूप गुन सीलु सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥ २। १।' राजा सदा ही स्वभावादि देख-सुनकर विशेष आनन्दित होते थे और इस समय तो उनका वियोग है, इससे उनके रूप-गुण स्वभावके स्मरणसे और भी विशेष आनन्द उमड़ आना उचित ही है।) प्रेमके विशेष वश हो गये, इसीसे पुनः-पुनः श्रीरामजीका स्वभाव-रूप आदि कहते हैं। [बार-बार यह कि 'दोउ बारे तुमने देखे हैं ?' 'श्याम-गौर मेरे पुत्रोंको देखा है ?', अपनी 'आँखोंसे देखा है ?' 'धरे धनुभाथा' मेरे प्रिय पुत्रोंको देखा है ? इत्यादि (प० प० प्र०)]

जा दिन तें मुनि गये लवाई। तब ते आजु साँचि सुधि पाई॥ ७॥
कहहु बिदेह कवन बिधि जाने। सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने॥ ८॥

अर्थ—'जिस दिनसे मुनि (उनको) लिवा ले गये, तबसे (उस दिनसे हमने) आज ही सच्ची खबर पायी है॥७॥ कहो तो, विदेहराज (राजा जनक) ने किस प्रकार जाना।' (राजाके इन) प्रेमभरे वचनोंको सुनकर दूत मुसकराये॥८॥

टिप्पणी—१ 'जा दिन तें मुनि गए लवाई।…' इति। (क) पूर्व जो 'कौसिक मुनि साथा' कहा है, उसमें शंका होती है कि राजाके बालक मुनिके साथ कैसे ? उसी संदेहकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि मुनि हमारे यहाँसे लिवा ले गये हैं, इसीसे वे मुनिके साथ हैं। (ख)—'साँचि' का भाव कि सुध मिलती थी, पर प्रामाणिक खबर नहीं मिली थी।

नोट—१ 'आजु साँचि सुधि पाई' इति। यहाँ यह शंका होती है कि 'इतने बड़े चक्रवर्ती महाराज होकर ऐसे अत्यन्त प्रिय पुत्रोंको उन्होंने कैसे भुला दिया ? उनको खबर क्यों न मिली ? जनकपुर दूर नहीं है, बराबर हरकारा लगाये रखते तो रोज ही खबर मिलती रहती ? इनकी तो सब बातें ऐसी हैं जैसी कोई लाचार बेचारा दीन-गरीब मनुष्य करे कि—'हमने आज सच्ची सुध पायी'। इन शब्दोंसे यह प्रतीत होता है कि ऊपरसे कोई-कोई आकर कहते थे, राजाकी ओरसे कोई

नियुक्त न थे ?' इसका समाधान यह है कि यदि राजा अपने आदमी लगाये रखते तो पूर्वापर विरोध होता। राजा सत्यवादी हैं, उनके वचन हैं कि 'प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥ २। २८।' उन्होंने पुत्रोंको मुनिके सुपुर्द करते हुए यह कहा है कि 'मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥ १। २०८।'; उन्होंने जो कहा उसका अन्ततक निर्वाह किया। अपना पितृत्व जब उन्होंने मुनिमें स्थापित कर दिया, जब मुनि ही पिता हैं तब उनको यह अधिकार कहाँ रह गया कि उनका सार सँभार करें या खबर लेनेके लिये चोरीसे दूत लगाये रहते। दूसरे, ऐसा करनेसे विश्वामित्रजीमें राजाका अविश्वास सूचित होता और धर्म-विरुद्ध तो होता ही। अतएव राजाने सब भार मुनिहीपर डाल दिया, जिसमें मुनि यह जानें कि हमारे भरोसे खबरतक नहीं मँगाते, हमहीपर निर्भर हैं। फिर राजा-रानी सभी वसिष्ठजीसे विश्वामित्रजीका स्वभाव और सामर्थ्य सुन चुके हैं ही, जैसा 'तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥ २०८। ८।' में लिखा गया है। गी० १। ९९ के कौसल्याजीके भी वचन 'कौसिक परम कृपाल परमहित समरथ सुखद सुचाली' से यह स्पष्ट है।

प० प० प्र०—१ 'जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥' इसके अनुसार पितृत्व पाँच प्रकारका माना गया है। दो प्रकारका पितृत्व दशरथजीका था। शेष तीन प्रकारका पितृत्व विश्वामित्रजीने अपनेमें यथार्थ करके दिखाया है। (१) विद्यादाता, यथा—'बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही'। (२) अन्नदाता, यथा—'जाते लाग न छुधा पिपासा' (ऐसी दिव्य विद्या ही दे दी); 'कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति हित जानि।' (३) भयत्राता, यथा—'अतुलित बल तन तेज प्रकासा', 'आयुध सर्ब समर्पि कै···'।

२—'बिदेह कवन बिधि जाने' में भाव यह है कि 'जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥' इस भावनासे जाना कि केवल दशरथतनयरूपसे जाना। दशरथजी जानते हैं कि श्रीजनकजी सदा ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहते हैं, इसीसे वे विधिको पूछते हैं। 'विदेह' शब्द इसी अर्थमें दो० २१५ (८) से लेकर २९१ तक केवल छः बार आया है। दो० २९१ से ३३१ तक, विवाह-प्रकरणमें यह शब्द एक बार भी नहीं आया। 'अवधनाथ चाहत चलन' (दो० ३३२) सुननेके पश्चात् लगातार तीन दोहोंमें फिर 'विदेह' शब्दका प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी—२ 'कहहु बिदेह कवन बिधि जाने···' इति। (क) 'विदेह' का भाव कि जिनको देहाध्यास नहीं, उन्होंने लड़कोंको कैसे जाना ('विदेह' शब्दमें व्यंग्य भी है कि वे तो ज्ञानमें निमग्न रहते हैं, उनको तो अपने देहहीकी सुध नहीं, तब वे दूसरेको कैसे पहचानेंगे)। (ख) 'कवन बिधि जाने' इस प्रश्नसे सूचित होता है कि पत्रिकामें धनुषका तोड़ना नहीं लिखा था, यह बात आगे स्पष्ट है। (धनुषका तोड़ना) दूतोंने मुखाग्र कहा है। [मुनिके साथ विभवरहित साधारण वस्त्र देखकर पहचान लेना असम्भव है। अतः पूछा कि किस प्रकार जाना। (वै०)] (ग)—'सुनि प्रिय बचन' इति। वचन मधुर और मनोहर हैं। 'प्रिय' में मधुर और मनोहर दोनों गतार्थ हुए। वचन श्रीरामप्रेमसे परिपूर्ण हैं और इनमें दूतोंका आदर है। इत्यादि कारणोंसे 'प्रिय' हैं। (घ)—राजाने स्वयं प्रेमके वश पुनः-पुनः कहा, यथा—'प्रेम बिबस पुनि पुनि कह राऊ'। और दूतोंसे भी बार-बार कहनेको कहते हैं, यथा—'भैआ कहहु कुसल···', 'पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ' और 'कहहु बिदेह कवन बिधि···'। (ङ)—'दूत मुसुकाने' इति। मुसकानेका भाव कि इतने बड़े भारी पुरुषार्थियोंको अपने पुत्रभावसे लघु माने हुए हैं, इसीसे दूत आगे इसी बातको कहकर बड़ाई करते हैं। ('मुसुकाने' क्योंकि रामचन्द्रजीकी वीरता देख चुके हैं। सोचे कि कहाँ तो दोनों भाइयोंका प्रताप और कहाँ यह वात्सल्य। कुछ टीकाकारोंका मत है कि दूत विदेहजीपर कटाक्ष समझकर हँसे।)

प० प० प्र०—दूत यह सोचकर मुसकुराये कि 'प्रेम चारों आँखोंका अंधा होता है', 'प्रेममें प्रबोध नहीं होता' यह कहावत यहाँ चरितार्थ हो रही है, यथा 'तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि। सुरा सेवरा आदरहिं निंदहिं सुरसरि बारि॥ दो० ३२६।', 'बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू'। ये महाराज धन्य हैं।

दो०—सुनहु महीपति मुकुटमनि तुम्ह सम धन्य न कोउ।
राम लषनु जिन्ह के* तनय बिश्व बिभूषन दोउ॥२९१॥

* जाके—१७०४; १७२१, १७६७, छ०। जिन्ह कै—१६६१, को० रा०।

अर्थ—(दूत बोले—) हे राजाओंके मुकुटमणि ! सुनिये । आपके समान कोई भी धन्य नहीं कि ब्रह्माण्डके विभूषण (स्वरूप) राम-लक्ष्मण दोनों जिनके पुत्र हैं ॥ २९१ ॥

टिप्पणी—१ (क) राजाने तीन बातें पूछीं—पुत्रोंका कुशल और स्वभाव तथा विदेहने कैसे पहचाना ? सबका उत्तर दूत देते हैं । (ख) राजाने कहा कि 'कहहु' अतः वे कहते हैं कि 'सुनहु' अर्थात् हम कहते हैं, आप सुनें । (ग) 'महीपति मुकुटमनि' का भाव कि आप केवल सामान्य राजाओंमें सबसे श्रेष्ठ हों सो बात नहीं है किंतु आप तो जितने मुकुटधारी राजा हैं उन सबोंमें श्रेष्ठ हैं । (घ) 'तुम्ह सम धन्य न कोउ'—भाव कि पुण्यवान् तो और भी हैं पर आपके समान कोई नहीं हैं । (धन्य = सुकृती, पुण्यवान्) । यथा—'तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काकें । राजन राम सरिस सुत जाकें ॥ २९४ । ६ ।' (ङ) 'राम लषनु जिन्ह के तनय' इति । —दूतोंने राजाका श्रीरामलक्ष्मणमें अत्यन्त अनुराग देखकर यह बात कही है । [भाव यह कि आपके प्रेमसे ही श्रीरामलक्ष्मण आपके पुत्र हुए हैं । यथा—'भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी । रामु पुनीत प्रेम अनुगामी ॥ २ । ४ ।', 'जासु सनेह सकोच बस राम प्रकट भए आइ । २ । २०९ ।', इत्यादि । (च) 'बिस्व बिभूषन दोउ' इति । भाव कि विश्वके 'भूषण' तो और भी हैं पर ये दोनों विश्वके 'विभूषण' हैं, इनसे अधिक कोई नहीं है । जैसे आपके समान 'धन्य' कोई नहीं, वैसे ही इनके समान भूषण कोई नहीं । (छ)—दोहेका भाव यह हुआ कि जो समस्त राजाओंमें शिरोमणि हैं उनके ये पुत्र हैं और फिर जो स्वयं विश्वके विभूषण हैं, उनका जाहिर होना (पहचानना, जानना) कौन कठिन है ! वे छिपे कब रह सकते हैं ? ('विभूषण' का भाव यह है कि भूषणसे शोभा होती है और ये तो जगत् भरके 'विभूषण' हैं, इनसे तो जगत्भर सुशोभित होता है । जगत्की शोभा इन्हींसे है) । पुनः भाव कि विभूषणोंसे शरीरका प्रकाश, शोभा, सौन्दर्य इत्यादि बढ़ते हैं । इसी तरह इन दोनोंसे विश्वको प्रकाश, सौन्दर्य और शोभा मिलती है । जिनका नाम ही 'भगति सुतिय कल करन बिभूषन । जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन' है, वे स्वयं विश्वविभूषण क्यों न होंगे । भूषण सुखद होता है वैसे ही ये विश्वसुखद हैं; यथा— 'सुखधाम राम', 'महिमंडल मंडन'; तब उनको दुःख कब सम्भव है ! (प० प० प्र०)]

पूछन जोगु न तनय तुम्हारे । पुरुषसिंघ तिहुँ पुर उजिआरे ॥ १ ॥
जिन्ह के जस प्रताप के आगें । ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥ २ ॥
तिन्ह कहँ कहिअ नाथ किमि चीन्हे । देखिय रबि कि दीप कर लीन्हे ॥ ३ ॥

अर्थ—आपके पुत्र पूछने योग्य नहीं हैं । (वे तो) पुरुषोंमें सिंह (रूप) और तीनों लोकोंके प्रकाशक हैं ॥ १ ॥ जिनके यश और प्रतापके सामने चन्द्रमा मलिन और सूर्य शीतल लगते हैं ॥ २ ॥ हे नाथ ! उनके लिये आप कहते हैं कि 'कैसे चीन्हा ?' क्या सूर्यको हाथमें दीपक लेकर देखा जाता है ! ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'पूछन जोग न···' इति । (क) राजाने पूछा था कि 'तुमने उन्हें अपनी आँखोंसे देखा है ! वे श्याम और गौर हैं तथा विश्वामित्रके साथ हैं ।' इसपर दूत उत्तरमें कहते हैं कि जैसे ? आप उनके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहे हैं, वैसे प्रश्न उनके योग्य नहीं हैं, वे तो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं । (ख)—'तनय तुम्हारे' कहनेका भाव कि जैसे आप हैं वैसे ही आपके पुत्र हैं । (ग)—'पुरुषसिंघ···' इति । प्रथम दोनों भाइयोंको 'विश्व-विभूषण' कहा, परंतु विभूषणमें केवल शोभा है इससे यहाँ बल, यश और प्रताप कहते हैं । पुरुषसिंह हैं, सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं । 'पुरुषसिंह' से पराक्रमी सूचित किया । पराक्रमसे यश और प्रताप होता है, उसे 'तिहुँ पुर उजियारे' कहकर सूचित कर दिया । पुरुषसिंह और त्रिलोकीमें उजियाले कहनेका भाव कि त्रैलोक्यमें ऐसा श्रेष्ठ पुरुष कोई नहीं है । [पुरुषोंमें सिंह-रूप हैं । अर्थात् ये बड़े सामर्थ्यवान् और पराक्रमी हैं । सिंह जिधर निकल पड़े उधर शोर न मच जाय, यह होनेका नहीं । वैसे ही ये जहाँ भी जायँ वहाँ ऐसा कौन है जो इनके प्रतापसे दब न जाय ? और लोग इनको न जानें, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? जैसे सिंह निर्भय वैसे ही आपके पुत्र निर्भय । उनके लिये कुशल प्रश्न और चिन्ता ही कैसी !—(प्र० सं०)] ।

प० प० प्र०—(१) 'पुरुषसिंह'—इस रूपकसे सिंहकी निर्भयता, गम्भीरता, प्रतापशीलता, तेजस्विता, स्वतन्त्रता, उग्रता, विजय-शीलता, स्वाभिमान-शीलता, वारण (भववारण, रावण) दारण-स्वभाव, मृग-(सकल भूप, सब जीव)—राजता, इत्यादि अनेक गुणोंका बोध कराया । (२) दो० २०८ में 'पुरुषसिंह दोउ बीर चले' इससे उपक्रम किया था ।

२३४। ३ में 'रघुसिंह निहारे' से अभ्यास, और 'पुरुषसिंह तिहुँपुर उजिआरे' से उपसंहार किया गया। अब आगे विवाह प्रकरणमें मुख्यतः शृङ्गार और शान्त, भक्ति, वात्सल्यादि कोमल रसोंकी बाढ़ आनेवाली है इससे वहाँ सिंहका कुछ काम नहीं है। अयोध्याकाण्डमें शोक, करुणा, विरह, भक्ति, वात्सल्यकी नदियाँ बहनेवाली हैं इससे वहाँ भी 'सिंह' नहीं है।' अरण्य-काण्डसे ही सिंहका कार्य है, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स रसोंकी सीमा होनेवाली है; अतः वहाँसे सिंह शब्द पुनरपि प्रवेश करता है। यथा—'मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारिकै', 'पुरुषसिंह बन खेलन आये', 'निसिचर करिबरूथ मृगराजः' इत्यादि। लंकाकाण्डके अन्ततक बीच-बीचमें सिंह खड़ा है। कितनी सावधानता है शब्दोंके प्रयोगमें! (३) 'तिहुँ पुर उजियारे' इति। श्रीराम-विवाहका मण्डप 'तिहुँलोक उजागर' कहा गया है तब यदि श्रीराम लक्ष्मणको 'त्रैलोक्यके उजाला करनेवाले' नहीं कहते तो बड़ा अनर्थ और विसंगत हो जाता।

टिप्पणी—२ 'तिहुँपुर उजियारे' इति। अब यश-प्रतापकी बड़ाई करते हैं। उजाला सूर्य और चन्द्रमासे होता है। दोनों भाइयोंने अपने यश-प्रतापसे उजाला किया। यश चन्द्रमा है, यथा—'तव बिधु बिमल तात जसु तोरा। २। २०९। १।' प्रताप सूर्य है, यथा—'जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥ पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। ७। ३१।' [पुरुषसिंह अर्थात् पराक्रमी कहकर फिर 'तिहुँ पुर उजियारे' कहनेका भाव कि इन्होंने अपने सामर्थ्यसे प्राप्त यश-प्रतापसे तीनों लोकोंमें उजाला कर दिया है, किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं। इस चौपाईकी व्याख्या अगली चौपाईमें है। (प्र० सं०)]

३ 'जिन्ह के जस प्रताप के आगें।...' इति। (क) यशकी उपमा शशि (चन्द्रमा) है और प्रतापकी उपमा रवि (सूर्य) है। प्रमाण ऊपर दे चुके हैं। भाव यह कि जिनका यश और प्रताप ऐसा है, उनके स्वरूपकी कौन कहे? पूर्वकथित 'बिस्व बिभूषन' का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट किया। सूर्य और चन्द्रमा विश्वके भूषण हैं और श्रीराम-लक्ष्मणजी विश्वके विशेष भूषण हैं, क्योंकि इनके यश-प्रतापके आगे शशि मलिन और सूर्य शीतल लगते हैं। यहाँ यश और प्रताप श्रीराम-लक्ष्मणजीकी 'जुन्हाई' (चन्द्रिका, चाँदनी) और तेज हैं जिनके आगे स्वयं चन्द्रमा मलिन और स्वयं सूर्य शीतल लगता है। यहाँ यह नहीं कहा है कि श्रीराम-लक्ष्मणके यशके आगे चन्द्रमाकी मलिन और प्रतापके आगे सूर्यका तेज शीतल लगता है किन्तु स्वयं चन्द्रमाका मलिन और स्वयं सूर्यका शीतल होना कहा है। यश उज्ज्वल है, इसीसे शशिका मलिन लगना कहा और प्रताप तीव्र है इसीसे रविका शीतल लगना कहा। [यशके प्रकाशसे चन्द्रमा लज्जित होते हैं, और प्रतापके तेजसे सूर्य लज्जित होते हैं, तब और कौन ऐसा है जो इनका सामना करे? (प्र० सं०)]

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी—यशके आगे चन्द्रमा मलिन हो गया। धनुष-यज्ञमें बंदी-वचन है कि 'नृप भुजबल बिधु सिवधनु राहू'। अतः राजाओंकी भुजाओंका बल चन्द्रमा हुआ जो बहुत प्रज्वलित था, वह शूरता जाती रही, उनकी यह दशा हुई कि श्रीहत हो गये। यथा—'श्रीहत भये भूप धनु टूटे'। और रवि रूप प्रबल प्रतापवाले परशुराम थे—'आये भृगुकुल कमल पतंगा'। सो इनके प्रतापके आगे उनकी यह दशा हुई कि बहुत प्रार्थना करते हुए अपराध क्षमा कराने लगे—'छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता'। वे सूर्य इनके आगे ठण्डे पड़ गये। (मा० त० वि०)।

प० प० प्र०—सूर्य केवल दिनमें प्रकाश देता है, उसकी प्रचण्ड किरणोंको कोई-कोई सह भी लेते हैं, वह केवल ताप देता है इत्यादि, पर श्रीराम-लक्ष्मण अहर्निशि प्रकाशक हैं, उनका तेज-प्रताप कोई भी शत्रु सह नहीं सकता, ये ताप और शीतलता दोनों दे सकते हैं। (शशिके अवगुण 'दिन मलीन सकलंक' में कहे गये हैं। श्रीरामजीका यश निर्मल है) इत्यादि।

टिप्पणी—४ 'तिन्ह कहँ कहिअ नाथ किमि चीन्हे।...' इति। (क) यह श्रीदशरथजीके 'कहहु बिदेह कवन बिधि जाने' का उत्तर है। दोनों भाइयोंकी यह प्रशंसा की। दोनों भाइयोंके जाननेकी विधि 'दीपक' है क्योंकि राजाने पूछा है कि 'कौन प्रकारसे जाने'। भाव यह कि जैसे सूर्यको पहचाननेके लिये किसी विधिकी आवश्यकता नहीं वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मणजीको जाननेमें किसी विधिकी जरूरत नहीं। दोनों सूर्यके समान उदय (उदित) हुए हैं, यथा—'उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग। २५४।' इसीसे जनकजीने स्वयं ही पहचान लिया। यथा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥ १। २१६।'

नोट—अथवा यों भी कह सकते हैं कि विदेह ज्ञानी हैं और ज्ञानको दीपककी उपमा देते ही हैं। छिपी हुई वस्तुको दीपकसे देखा जाता है, पर जो प्रत्यक्ष देख पड़ता है उसको थोड़े ही दीपकसे देखेंगे? दोनों भाइयोंका यश-प्रताप सूर्यवत्

सबको प्रत्यक्ष देख पड़ता है, उसको कौन नहीं जानता जो किसीसे पूछनेकी जरूरत हो या किसी अन्य विधि (ज्ञान-दीपक आदि) की आवश्यकता होती। अथवा राजाने जो बहुत-से उपाय पहिचाननेके गिनाये, यथा—'बय किसोर कौसिक मुनि साथा', इत्यादि, ये सब दीपकके समान हैं। (प्र० सं०)।

सीय स्वयंबर भूप अनेका। समिटे सुभट एक तें एका॥ ४॥
संभु सरासनु काहु न टारा। हारे सकल बीर बरिआरा॥ ५॥
तीनि लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी॥ ६॥

शब्दार्थ—सरासन (शरासन)=धनुष। बरियारा (बरियार)=बल+आर (प्रत्यय)।=भारी बलवान्। बली वीर। सकति (शक्ति)=ताकत, पराक्रम, बल। सभ=सब। भानना=भञ्जन करना, तोड़ना।

अर्थ—श्रीसीताजीके स्वयंवरमें अनेकों राजा और एकसे-एक (बढ़कर) भारी योद्धा एकत्रित हुए॥ ४॥ (पर) शिवजीके धनुषको कोई हटा न सका। समस्त बलवान् वीर हार गये॥ ५॥ तीनों लोकोंमें जो-जो अभिमानी योद्धा थे उन सबोंकी शक्ति शिवधनुषने तोड़ डाली॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) दूतोंने जो श्रीरामजीकी प्रशंसा की उसका अब स्वरूप दिखाते हैं। (ख) 'सीय स्वयंबर' यह राजाओंके एकत्र होनेका हेतु (कारण) बताया। (ग) 'भूप अनेका' इति।—अनेक मुनियोंके अनेक मत हैं, कितने राजा आये इसमें मतभेद है। अतः गोस्वामीजीने संख्या न देकर सबके मतकी रक्षा की। 'अनेक' पदमें सबकी समाई है, खण्डन किसीका नहीं, यह पण्डिताई है। 'अनेक' कहकर जनाया कि हम लोग राजाओंकी संख्या नहीं कह सकते; जितने राजा सुभट थे वे सब आये (घ) 'समिटे' से जनाया कि राजाओंका समाज (एकत्रित) हुआ, जो आवे वह उठावे और चला जाय ऐसा नहीं हुआ। ['समिटे' में चारों ओरसे बटुरने (आने) का भाव है। चारों ओरसे बराबर आते गये और एकत्र हुए। दोनों बातोंका इसमें समावेश है। यथा—'समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। ४। १४।' जब विश्वामित्रजी जनकपुर पहुँचे तब भी बहुत-से राजा आ चुके थे, यथा—'पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥ २१४। ४।' और अभी स्वयंवरके कम-से-कम दो दिन शेष हैं। एक दिन नगर दर्शन हुआ, एक दिन पुष्पवाटिकावाली लीला हुई। उसके बाद स्वयंवर हुआ। इसलिये प्रथम संस्करणमें जो 'एक ही दिन सबका जुट आना' लिखा गया वह ठीक नहीं जान पड़ता। 'एक तें एका' दोनों ओर लगता है, एक-से-एक अधिक बलवान् हैं। और आगेके चरणके साथ लेनेसे इससे यह भी भाव निकलता है कि एकने उठाना चाहा, उससे न उठा तब दूसरा चला कि हम अधिक बलवान् हैं हम उठा लेंगे''' इस रीतिसे सबने उठाना चाहा पर सब हार गये। तब सबने मिलकर उठानेकी कोशिश की।]

टिप्पणी—२ 'संभु सरासन काहु न टारा।''' इति। (क) प्रथम दोनों भाइयोंको सूर्य कहा, यथा—'देखिअ रबि कि दीप कर लीन्हें।' अब सूर्यका धर्म कहते हैं। धनुष तम है, श्रीरामजी सूर्य हैं, उन्होंने बिना श्रम धनुषरूपी तमका नाश किया। सब राजा नक्षत्रोंके समान हैं, नक्षत्रोंसे अन्धकार दूर नहीं हो सकता; सूर्यहीसे वह नष्ट होता है। यथा—'नृप सब नखत करहिं उजिआरी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥', 'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। १। २३९।' ☞ 'सीयस्वयंबर''भानी' ये बातें चिट्ठीमें नहीं लिखी थीं, लिखी होतीं तो दूत क्यों कहते? (ख)—'टार' कहकर जनाया कि किंचित् न टसका सके, उठाना तो दूर रहा, यथा—'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥ २५२। २'। क्यों न उठा? इसका हेतु 'संभु सरासन' पदसे कह दिया। अर्थात् यह ईश्वरका धनुष है, इसीसे किसीके टाले न टला। (ग) 'हारे' अर्थात् उठा न सके। (दूसरा भाव यह भी है कि जैसे जूएमें हार-जीत होती है वैसे ही ये धनु-भंजनरूपी जुएमें शम्भुशरासनके हाथ अपनी भारी कीर्ति-विजयवीरता आदिकी बाजी हार गये। यथा—'कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥ २५१। ४')। (घ) 'हारे सकल'—भाव कि प्रत्येक सुभट इसी आशासे उठाने गया कि इनसे नहीं उठा, हम इनसे अधिक भारी वीर हैं, हम उठा लेंगे। इस प्रकार प्रत्येक भट एक-एक करके हारा। फिर 'सकल' वीर हारे अर्थात् सब एक साथ उठाने गये पर न उठा सके। यथा—'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरै न टारा॥ २५१। १।' (ङ) 'बीर बरिआरा' कहकर जनाया कि बहुत बल कर-करके भी वे तिलभर भी न हटा सके। इससे श्रीरामजीकी बड़ाई करते हैं कि ऐसे वीरोंसे भी जो न टला उसे श्रीरामजीने उठाया और तोड़ा।

३—'तीनि लोक महँ जे भट मानी।···' इति। (क) 'तीनि लोक' कहकर जनाया कि राजाओंके समाजमें देवता और दैत्य भी आये थे। यथा—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥ २५१। ८।' (ख) 'भट मानी'। (अर्थात् जिनको अपने बल-पराक्रमका अभिमान था कि हमारे समान कोई नहीं है, वे सब आये थे और सब बन्दीजनके वचन सुनकर बड़े 'सर्प' और अभिमानसे धनुष उठानेके लिये उठे थे। यथा—'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माखे॥ परिकर बाँधि उठे अकुलाई। २५०। ५-६।' उन मानी भटोंकी क्या दशा हुई यह आगे कहते हैं—'सब कै सकति संभु धनु भानी।' अर्थात् गये तो थे ये धनुष तोड़नेको सो वे तो उसे तोड़ न सके प्रत्युत धनुषने ही उनकी शक्तिको नष्ट कर डाला। तात्पर्य कि भट धनुषका कुछ न कर सके। 'भानी' 'भ्रष्ट' का अपभ्रंश है। ('भंजन' से बना हुआ जान पड़ता है)।

सकै उठाइ सरासुर* मेरू। सोउ हिय हारि गयेउ करि फेरू॥ ७॥
जेहिं कौतुक सिवसैलु उठावा। सोउ तेहि सभा पराभउ पावा॥ ८॥

अर्थ—जो बाणासुर सुमेरु पर्वत उठा सकता है वह भी हृदयसे हार (मान) कर परिक्रमा करके चला गया॥ ७॥ जिसने खेलहीसे शिवजीके पर्वत कैलासको उठा लिया, उसने भी उस सभामें हार पायी॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'सकै उठाइ' अर्थात् वह सुमेरुको उठा सकता है यद्यपि कभी उठाया नहीं है। 'हिय हारि' अर्थात् हृदयसे ही हार गया, धनुष तोड़नेकी इच्छा (वा साहस) न हुई। 'गयेउ करि फेरू' अर्थात् हृदयसे हार जानेपर धनुषकी प्रदक्षिणा की, और यह कहकर कि श्रीजानकीजी हमारी माता हैं हम धनुष कैसे तोड़ें, चल दिया। हार माननेपर परिक्रमा की, इससे सिद्ध हुआ कि उसने श्रीसीताजीमें माता-भाव मानकर परिक्रमा नहीं की, किंतु यह बहाना किया। यही गँवसे सिधारना है जो बन्दी लोगोंने पूर्व कहा है, यथा—'रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासन गँवहिं सिधारे॥ २५०। २।' हृदयसे हारकर चला गया, इससे यह भी जनाया कि उसने धनुषको हाथसे नहीं छुआ। यथा—'रावन बान छुआ नहिं चापा। २५६। ३।'

२ 'जेहि कौतुक सिवसैलु उठावा।···' इति। (क) इस प्रसङ्गमें सबका 'हारना' कहा है; यथा—'हारे सकल बीर बरिआरा', 'सोउ हिय हारि गयेउ करि फेरू' और यहाँ भी 'सोउ···पराभउ पावा'। सुमेरु और कैलासके उठानेवाले धनुषको उठा न सके, इससे जनाया कि धनुष सुमेरु और कैलाससे भी अधिक भारी था। (ख) दूतोंके वर्णनसे पाया गया कि भट, सुभट और महाभट सभी धनुष उठाने गये थे। यथा—'तीनि लोक महँ जे भट मानी।··', 'सीय स्वयंबर भूप अनेका। समिटे सुभट एक तें एका॥' रावण और बाणासुर महाभट हैं, यथा—'रावन बान महाभट भारे। २५०। २।'

दो०—तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिअ महामहिपाल।
भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल॥ २९२॥

---

* सं० १६६१ की प्रतिमें 'सुरासुर' पाठ है। १७०४, १७६२, को० रा० तथा ना० प्र० समाने भी 'सुरासुर' पाठ रक्खा है। अन्य सब प्रतियोंमें 'सरासुर' पाठ है। 'सुरासुर'—देवता और असुर। देवता और दैत्य सभी स्वयंवरमें नरवेपसे आये थे। देवता-दैत्य सबने मिलकर क्षीरसमुद्रमन्थनके लिये मन्दराचल उठाया भी था। इससे 'सुरासुर' पाठ भी ठीक हो सकता है। हमने 'सरासुर' पाठको समीचीन इस विचारसे समझकर लिया कि धनुर्भगके प्रसंगमें इस ग्रन्थमें तथा कविके अन्य ग्रन्थोंमें भी 'बाणासुर' का नाम बराबर कई स्थलोंमें आया है। यथा—'रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासन गँवहिं सिधारे॥ २५०। २', रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥ २५६। ३', 'बान जातुधानपति भूप दीप सातहूके, लोकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है।' (गीतावली १। ८४), 'बान बलवान जातुधानप सरीखे सूर जिन्हके गुमान सदा सालिम संग्रामको।' (क० १। ९)। यद्यपि सुमेरु पर्वतके उठानेकी कोई कथा हमें उसके प्रसंगकी मालूम नहीं है, पर देवता दैत्योंका भी सुमेरुपर्वतको उठाना कहीं नहीं मिलता। और यहाँ पाठ 'सकै उठाइ' है जिसका अर्थ यह नहीं है कि मेरुको उठाया है किन्तु मेरुको उठानेकी इसमें शक्ति है, यही अर्थ है। फिर यहाँ 'सकै', 'सोउ' और 'गयेउ' ये तीनों एक वचन हैं और सत्योपाख्यानमें बाणासुरका परिक्रमा करके चला जाना कहा भी गया है जो यहाँ दूत भी कह रहे हैं। अतएव प्रसंगानुकूल यही पाठ ठीक जँचता है।

अर्थ—(उस स्वयंवरमें जहाँ ऐसे-ऐसे महाभट हार मान गये) वहाँ, हे महाराजाधिराज ! सुनिये, रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजीने धनुषको बिना परिश्रमके ऐसे तोड़ डाला जैसे हाथी कमलकी दण्डीको (तोड़ डाले) ॥ २९२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'राम रघुबंसमनि'—दोनों भाई रघुवंशमणि हैं (यथा—'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ' कि० मं० १), इसीसे 'राम रघुबंसमनि' कहकर ब्योरा करते हैं कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा। (ख)—'सुनिअ महामहिपाल' इति। महामहिपाल=सब राजाओंका राजा चक्रवर्ती महाराज। यही सम्बोधन प्रथम कह आये हैं। यथा—'सुनहु महीपति मुकुटमनि'। जहाँ-जहाँ राजाकी बड़ाई हुई वहाँ-वहाँ बड़ाईका सम्बोधन देते हैं। जब रामलक्ष्मणजी पुत्र हुए तब राजाकी बड़ाई हुई, इसीसे वहाँ बड़ाईका सम्बोधन 'महीपति मुकुटमणि' दिया। यथा—'सुनहु महीपति मुकुटमनि'''। राम लषन जाके तनय'''। जब श्रीरामजीने धनुष तोड़ा तब भी राजाकी बड़ाई हुई, इसीसे यहाँ भी बड़ाईका सम्बोधन 'महा महिपाल' दिया। [उपक्रममें कहा था 'सुनहु महीपति मुकुटमनि' और उपसंहारमें 'महामहिपाल'। जहाँ ग्रन्थकार चक्रवर्ती महाराजकी बड़ाई करते हैं वहाँ उसका कारण भी लिख देते हैं। 'महीपति मुकुटमनि' के साथ 'तुम्ह सम धन्य न कोउ। राम लषन जाके तनय'''' कहा और यहाँ 'महामहिपाल' कहकर उसका कारण 'तहाँ राम रघुबंसमनि'''। भंजेउ चाप प्रयास बिनु'''' कहा। 'प्रयास बिनु' से जनाया कि और सब राजा बहुत परिश्रम करनेपर भी सफल न हुए। 'छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। २७२। ३।', 'छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥ २८३। ८।' यही 'प्रयास बिनु' भंजन करना है। (मा० पी० प्र० सं०)] (ग) पूर्व श्रीरामजीको सूर्य कहा—'विश्वविभूषन दोउ'। अब सूर्यका धर्म कहते हैं। सूर्योदयसे तमका नाश, वैसे ही श्रीरामजीसे 'धनुष-तम'का बिना परिश्रम नाश। [मिलान कीजिये—'सहाँ दसरथके समर्थ नाथ तुलसी के, चपरि चढ़ायो चाप चंद्रमा ललामको॥' (क० १। ९)]।

टिप्पणी—२ (क) 'जिमि गज पंकज नाल' इति। इस कथनसे श्रीजनकपुरवासियोंकी प्रार्थना चरितार्थ की। 'बलत राम सब पुर नर नारी। पुलक पूरि तन भये सुखारी॥ बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे। जौ कछु पुन्य प्रभाउ हमारे॥ तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं॥ २५५। ६-९।'—मिथिलावासियोंकी इस प्रार्थनाकी सिद्धि 'महाँ भंजेउ'''जिमि गज पंकज नाल' कहकर दिखायी। 'मृणाल' का अर्थ 'कमलनाल' है। (ख) रावण और बाणासुरके सम्बन्धमें धनुषका उठाना कहा, इसीसे वहाँ कैलाश और सुमेरुका 'उठाना' कहा, यथा—'जेहि कौतुक सिव सैल उठावा', 'सकै उठाइ सरासुर मेरू'। और श्रीरामजी धनुष तोड़ने जा रहे हैं; यथा—'उठहु राम भंजहु भव चापा। २५४। ६।', 'राम चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयेसु मोरा॥ २६०। २।', इसीसे 'कमल नाल की नाईं' तोड़नेकी प्रार्थना की गयी; कमलनाल तोड़ने योग्य है। [दूत भी उन मिथिलावासियोंमेंसे हैं जो मना रहे थे कि श्रीरामजी धनुषको कमलनालकी तरह तोड़ डालें, वही अबतक उनके मनमें भरा हुआ है, इसीसे वही हृदयके उद्‌गार यहाँ उन्होंने प्रकट कर दिये। 'भंजेउ प्रयास बिनु' इस साधारण बातकी 'जिमि गज पंकज नाल' इस विशेषसे समता दिखा रहे हैं। गजेन्द्र कमलनालको सहज ही तोड़ डालता है। जैसे वह उसका खेल है वैसे ही श्रीरामजीने सहज ही खेलसरीखा तोड़ डाला। यहाँ उदाहरण 'अलंकार' है]

सुनि सरोप भृगुनायकु आए। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए॥ १॥
देखि राम बलु निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवनु बन कीन्हा॥ २॥
राजन रामु अतुल बल जैसें। तेजनिधान लषनु पुनि तैसें॥ ३॥

अर्थ—(धनुर्भंगको) सुनकर परशुरामजी क्रोधभरे आये और उन्होंने बहुत तरह आँख दिखायी॥ १॥ श्रीरामजीका बल देखकर उन्होंने अपना धनुष दिया और बहुत विनती करके वनको चलते हुए॥ २॥ हे राजन्! जैसे श्रीरामजी अतुलित बली हैं वैसे ही तेजनिधान (तेजस्वी) फिर लक्ष्मणजी भी हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'सुनि सरोष''' इति। (क) प्रथम धनुर्भङ्ग कहा—'भंजेउ चाप प्रयास बिनु'''। उस समय धनुषका भङ्ग सुनकर परशुरामजीका आना कहा, इसीसे 'सुनि' पद दिया। यथा—'तेहि अवसर सुनि सिव धनुभंगा। आयउ भृगुकुल कमल-पतंगा॥ २६८। २।' (ख) 'सरोष आए' इसीसे 'भृगुनायक' कहा। भाव कि जैसे भृगुजी क्रोध

करके भगवान्‌के पास (उनको मारने) गये थे, वैसे ही ये क्रोधसहित (श्रीरामजीको मारने) आये थे। (ग) 'बहुत भाँति' अर्थात् कटु वचन कहकर, परशु दिखाकर अपनी वीरता कहकर। 'आँखि देखाए' अर्थात् कुछ करते न बन पड़ा, यथा— 'बहै न हाथु दहै रिस छाती। २८० । १।'

नोट—१ 'बहुत भाँति' आँख दिखाना यह है कि पहले साधारण डाँटफटकार की, फिर फरसाकी ओर देखकर अपना स्वभाव कहकर धमकाया और फरसा दिखाकर अपना भुजबल तथा परशु-बल कहकर धमकी दी, यथा—'रे नृप बालक कालबस बोलत तोहि न सँभार। २७१।', 'बोले चितै परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाव न मोरा।'''परसु बिलोकु महीप कुमारा॥'''गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर। २७२।' फिर भी बस न चला तब विश्वामित्रजीसे निहोरा करते हुए आँख दिखायी। यथा—'तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा। कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा॥ २७४। १—४।' फिर फरसेको कंधेपर रखकर सभी लोगोंको सम्बोधन करते हुए मारनेकी धमकी दी। बीच-बीचमें श्रीरामजीको निहोरा देकर धमकी देते रहे, यथा—'बोले रामहिं देइ निहोरा।'''राम तोर भ्राता बड़ पापी।' कभी कुठारकी गति कहकर आँख दिखायी, यथा— 'गर्भ स्रवहिं अवनिपरवनि सुनि कुठारु गति घोर। २७९।' इसी तरह प्रसङ्गभरमें देख लीजिये। जनक महाराजका भी निहोरा करके आँख दिखायी। और अन्तमें तो श्रीरामजीसे ही बिगड़कर उनको आँख दिखाने लगे। यथा—'निपटहि द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावौं तोही॥ चाप स्रुवा सर आहुति जानू।' से 'अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा' तक (२८३। १—६)। कवितावलीके 'काल कराल नृपालनके धनुभंग सुनै फरसा लिये धाए। लक्खन राम बिलोकि सप्रेम महारिसि ते फिरि आँखि देखाए॥ धीर सिरोमनि बीर बड़े बिनई बिजई रघुनाथ सुहाए। लायक हे भृगुनायक सो धनुसायक सौंपि सुभाय सिधाये॥ १। २२।' से मिलान कीजिये। यहाँ भी आँख दिखाना कहा है। 'आँख दिखाना' मुहावरा है। इसका अर्थ है—'क्रोधसे आँखें निकालकर देखना; क्रोधकी दृष्टिसे देखना; कोप जताना।'; यथा—'जानइ ब्रह्म सो बिप्र बर आँखि देखावहिं डाँटि'। यहाँ भी परशुरामजी अपना कोप जताते रहे, कुछ कर न पाये। 'रिस तन जरै होइ बल हानी' (२७८। ६), 'बहै न हाथु'''

टिप्पणी—२ देखि राम बलु''' इति। (क) विष्णुका धनुष देकर श्रीरामजीका बल देखा; यथा—'राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥ देत चापु आपुहि चलि गयऊ। २८४। ७-८।' तब अपना धनुष दे दिया। तात्पर्य कि निरायुध होकर चले गये। अपना धनुष (अस्त्र-शस्त्र) शत्रुको दे देना अपनी पूरी हार स्वीकार करना है। आज भी वीर शत्रु या फौज हथियार हाथसे डालकर अपनी पूर्ण हार मान लेती है। दूतोंने धनुष देते देखा है, इसीसे वे उस विष्णु-धनुषको परशुरामका 'निज' धनुष कहते हैं और इस तरह उनका पूर्ण पराजय दिखाते हैं। (बैजनाथजीका मत है कि वाग्विलास होतेमें ही रामजीमें अतुलित बल देखकर तब अपना धनुष-परशु देकर विनती करके चले गये। और किसीका मत है कि शार्ङ्गधनुषके चढ़ जानेपर फिर अपना धनुष भी दे दिया)। (ख) 'करि बहु बिनय'—दूतोंने स्तुति सुनी है, इसीसे कहते हैं कि बहुत विनती की। बहुत विनयका कारण पहले ही कह चुके कि 'बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए' इसीसे अपराध क्षमा करानेके लिये बहुत विनती की, यथा—'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥ २८५। ६।' (ग) 'गवन बनु कीन्हा'—धनुष चढ़ानेपर तपसे अर्जित उनके समस्त पुण्यलोकोंका नाश कर दिया गया था, इसीसे वे फिर उन लोगोंकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेके लिये वनको गये, यथा—'भृगुपति गए बनहिं तप हेतू।' विशेष २८५ (७), २८४ (८) में देखिये।

३—'राजन राम अतुल बल जैसे।''' इति। (क) अतुल बली और तेजनिधान दोनों भाई हैं, यथा—'सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥ ४। ७। २८।', पर दूतोंने धनुष तोड़नेमें श्रीरामजीका बल देखा है—'तहाँ राम रघुबंसमनि'''भंजेउ''', इसीसे उनको 'अतुल बल' कहते हैं। और लक्ष्मणजीका तेज देखा है कि पृथ्वी काँप उठी, दिग्गज डगमगा गये, यथा—'लखन सकोप बचन जे बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ सकल लोग सब भूप डेराने। २५४। १-२।' इसीसे लक्ष्मणजीको तेजनिधान कहते हैं। आगे तेज दिखाते हैं—'कंपहिं भूप'''।

कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरि किसोर के ताकें॥ ४॥

देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥ ५॥

शब्दार्थ— हरि=सिंह। किसोर (किशोर)=बच्चा। 'आँख तले आना'=कुछ समझ पड़ना। आँख तले नहीं आते= सब तुच्छ या तुच्छ समझ पड़ते हैं।

अर्थ—जिसके देखने (दृष्टिमात्र) से राजा लोग ऐसे काँपने लगते हैं, जैसे सिंहके बच्चेके ताकनेपर हाथी (काँपने लगता है)॥ ४॥ हे देव (नरदेव)! आपके दोनों पुत्रोंको देखकर अब कोई आँखके तले नहीं आता॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'कंपहिं भूप''' इति। (क) यह बात दूत अपने आँखों-देखी कहते हैं, यथा—'अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप। मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंघ किसोरहि चोप॥ २१६।' गीतावलीमें भी धनुर्भंगके पश्चात् राजाओंके कोलाहलसे पुरवासियोंको डरा हुआ देख लक्ष्मणजीने सबको धीरज दिया और त्योरी चढ़ायी है। जैसे मानसमें। यथा—'जानि पुरजन त्रसे धीर दै लखन हँसे'''॥ २॥ कुँवर चढ़ाई भौंहैं, अब को बिलोकै सोहैं, जहँ तहँ भे अचेत, खेतकेसे धोखे हैं। देखे नर नारि सारा खाइ जाए माई, बाहु पीन पावरनि पीना खाइ पोखे हैं।' (गी० १। ९१)। (ख) उपमेय श्रीलक्ष्मणजी किशोरावस्थाके हैं, यथा- 'बय किसोर सुखमा सदन स्याम गौर सुखधाम॥ २२०॥', अतः किशोर सिंहहीकी उपमा दी गयी। (ग)—इस चौपाईमें लक्ष्मणजीका तेज दिखाया और यह भी सूचित किया कि धनुर्भंगके पश्चात् राजा लोग श्रीरामजीसे लड़नेको तैयार हुए थे, परन्तु लक्ष्मणजीकी क्रोध दृष्टि देखकर काँपने लगे। (घ) शंका—राजाओंपर क्रूरदृष्टि पहले हुई और परशुरामजी पीछे आये, अर्थात् यह प्रसंग धनुर्भंगके तुरन्त बादका है, तत्पश्चात् परशुराम-आगमन हुआ, पर यहाँ क्रमभंग हुआ, अर्थात् परशुरामका आगमन प्रथम कहा गया तब राजाओंका लक्ष्मणके तेजसे डरना, यह क्यों? समाधान—प्रथम श्रीरामजीका बल कहते हैं। धनुषका तोड़ना और परशुरामजीको जीतना 'श्रीरामजीका बल' है। पीछे लक्ष्मणजीका तेज कहते हैं, राजाओंका भयभीत होना 'श्रीलक्ष्मण-जीका तेज' है। इसीसे क्रमभंग हुआ। (ङ) 'जिमि गज हरिकिसोर के ताकें' के भाव दोहा २१६ में देखिये।

२ 'देव देखि तव बालक दोऊ।''' इति। (क) राजाने जो पूछा था कि 'तुमने हमारे पुत्रोंको अपनी आँखोंसे अच्छी तरह देखा है।—'तुम्ह नीकें निज नयन निहारे', उसीका यहाँ उत्तर भी देते हैं और उनकी बड़ाई भी करते हैं। (ख) 'देव' का भाव कि जिनके बालक ऐसे हैं, उन आपकी क्या कही जाय; आप तो दिव्य हैं, देवरूप हैं। (ग) 'अब न आँखि तर आवत कोऊ' अर्थात् इनके समान अब कोई नहीं देख पड़ता। पुनः, देव=नरदेव=नरेश। जबतक आपके पुत्रोंको न देखा था तबतक पृथ्वीपर और लोग भी वीर एवं तेजस्वी जान पड़ते थे पर अब आँख तले कोई और वीर जँचता ही नहीं। यह 'तुम्ह नीके निज नयन निहारे' का उत्तर है। अब आँख तले कोई नहीं आता इसका कारण यह है कि वे तो सूर्यरूप हैं जैसा पूर्व कह आये—'देखिय रबि कि दीप कर लीन्हें'। सूर्यके देखनेवालेके और सब अन्धकारमय हो जाता है, उसे तो सूर्य ही दिखायी देगा—(नोट—गोस्वामीजीके सम्बन्धमें भी ऐसा ही कहा जाता है कि जब सलीमने आपसे कहा कि 'सूरदासजी आदि महात्मा तो मेरे पिताके पास आते-जाते हैं, आप क्यों नहीं चलते?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे चन्द्रवंशीके उपासक हैं; जिसने चन्द्रमासे आँखें लड़ाई वह दूसरी ओर देख सकता है, पर मैं भानुकुलनायकका उपासक हूँ। सूर्यसे आँखें मिलानेवालेको संसारमें अन्धकार ही है, दूसरेपर उसकी दृष्टि ही नहीं जा सकती] (घ) यहाँ दूत दोनों भाइयोंके किसी गुणका नाम नहीं लेते, क्योंकि ये दोनों तो गुणोंके समुद्र हैं, इनके समान एक भी गुणवाला कोई नहीं देख पड़ता, न तो कोई ऐसा बलवान् है, यथा—'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ३। ६।' ['सुनहु महीपति''' इस प्रेमरसपूर्ण वचनसे उपक्रम करके 'अब न आँखि तर''' इस प्रेमपूर्ण वचनपर उपसंहार करके बताया कि श्रीराम-लक्ष्मणके दर्शनसे जीव प्रथम प्रेमरसमें पड़ता है, बीचमें उसे प्रतापादिका दर्शन होता है जिससे प्रेमकी वृद्धि होती है और अन्तमें वह प्रेमरसमें मग्न होता है। (प० प० प्र०)]

दूत बचन रचना प्रिय लागी। प्रेम प्रताप बीर रस पागी॥ ६॥
सभा समेत राउ अनुरागे। दूतन्ह देन निछावरि लागे॥ ७॥
कहि अनीति तें मूँदहिं काना। धरमु बिचारि सबहि सुखु माना॥ ८॥

शब्दार्थ—'रचना'–युक्ति और बड़ी होशियारीसे तरतीबसे आयोजित या कहे हुए। बात कहनेका तर्ज-तरीका,

ढंग, लचोले शब्द-अदब-कायदा भी रक्खे हुए उनका अदा करना इत्यादि। 'पागी'=सनी, लपटी।

अर्थ—दूतोंके प्रेम-प्रताप और वीररसमें पगे हुए वचनोंकी रचना प्रिय लगी ॥ ६ ॥ सभासहित राजा प्रेममें मग्न हो गये और दूतोंको निछावर देने लगे ॥ ७ ॥ तब वे ऐसा कहते हुए कि यह अनीति है (हाथोंसे) कान बन्द कर लेते हैं। धर्मको समझकर सभीने सुख माना ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'दूत बचन रचना'''' इति। (क) वचन प्रिय लगनेके दो कारण यहाँ बताते हैं। चक्रवर्ती महाराज ऐसे मधुर मनोहर वचन बोले कि दूतोंको प्रिय लगे, यथा—'सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने। २९१। १।' उनके वचन सुनकर दूत भी बहुत अच्छी वचन-रचनासे बोले (अर्थात् वचन बड़े ही युक्तिपूर्ण थे, बड़ी चतुरतासे सिलसिलेसे जैसा क्रम चाहिये वैसे कहे गये थे। बोलनेका ढंग, लचीले शब्द और अदब-कायदा-सभ्यताको लिये हुए कहे गये थे। उदाहरण, लोकोक्ति आदिके साथ बड़े सुन्दर थे)। इसीसे इनके वचन सभा-भरको प्रिय लगे। दूसरे, वचन 'प्रेम प्रताप बीररस' में पगे हुए हैं इससे प्रिय लगे। (ख) 'प्रेम प्रताप बीररस' इति, 'सुनहु महीपति मुकुटमनि तुम्ह सम धन्य न कोउ। रामु लखनु जिन्हके तनय बिस्व बिभूषन दोउ ॥ २९१ ॥ पूछन जोगु न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंघ तिहुँ पुर उजियारे ॥' यह प्रेम (में पगे हुए) हैं। 'जिन्हके जस प्रतापके आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥ तिन्ह कहँ कहिअ नाथ किमि चीन्हे। देखिअ रबि कि दीप कर लीन्हे ॥' यह प्रताप (में पगा हुआ) है। और 'सीय स्वयंबर भूप अनेका। से अन्ततक सब वीररसके वचन हैं। 'देव देखि तब बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ ॥' यह दूतोंका प्रेम है। आदिमें राजाका प्रेम कहा और अन्तमें अपना प्रेम कहा। (ग) 'पागी' इति। [पाग शक्कर, रस, चीनी, मिश्री आदि मीठेका बनता है। पाग (चाशनी) में जो पदार्थ साने जाते हैं वे भी मधुर लगते हैं। अतः इनके वचन भी मधुर और प्रिय हैं। प्रेम, प्रताप और वीरता ही रस, शक्कर आदि हैं जिनमें वचन-रचना पागी गयी है] । ['दूत बचन रचना प्रिय लागी' से दूतोंके रामप्रेमकी विशेषता देख पड़ती है। दशरथजी पिता ही तो थे। (प० प० प्र०)]

२—'सभा समेत राउ अनुरागे'''' इति। (क) 'सभा समेत अनुरागे' अर्थात् युक्तिपूर्वक कहा हुआ यह सारा प्रसंग सुनकर सबको बड़ा अनुराग हुआ। 'सभा समेत' कहनेसे पाया गया कि सब अयोध्यावासी श्रीरामानुरागी हैं, इसीसे श्रीरामजीका वृत्तान्त सुनकर सब प्रेममें रँग गये। पुनः 'सभा समेत राउ' से जनाया कि अनुरागमें राजाकी प्रधानता है और सब गौण हैं। [(ख) 'दूतन्ह देन निछावरि लागे' इति। दूतोंने बहुत-सी प्रिय मंगलमयी बातें सुनायीं; अनेक विघ्नोंकी उपस्थिति और उनकी शान्ति सुनायी; धनुषका तोड़ना कह उससे जयमाल पड़ना सूचित किया, इत्यादि, हरएक बातोंमेंसे प्रत्येक बात ऐसी थी कि उनपर न्योछावर दी जा सकती है और इस समय तो प्रेममें मग्न होनेसे भी सब योग्य ही है। फिर यह रीति ही है कि जो प्रथम अच्छी बात सुनाता है, उसीको लोग निछावर, बखशीश, इनाम देते हैं; यथा—'प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए ॥ २। १।' (ग) जैसे धनुष टूटनेपर जनकपुर-वासियोंने न्यवछावर की थी, यथा—'करहिं निछावर लोग सब हय गय धन मनि चीर ॥ २६२।' वैसे ही ये अवधवासी दूतोंसे वही प्रसंग सुनकर निछावर देने लगे, इनके लिये तो मानो धनुष अभी टूटा और अभी जयमाल पड़ा। मुख्य कारण 'अनुरागे' शब्दमें दिया गया। मंगलमोदके प्रेममें ऐसा होता ही है]। इससे जनाया कि धनुषका तोड़ना देखकर जो सुख जनकपुरवासियोंको हुआ, वही सुख धनुर्भंगका प्रसंग सुनकर अवधवासियोंको हुआ।

नोट—१ 'कहि अनीति ते मूँदहिं काना।'''' इति। (क) 'अनीति'—दूत श्रीजानकीजीको निज कन्या-समान जानते हैं, फिर बेटीका धन कैसे लें? अब भी भारतवर्षमें अनेक स्थानों और देशोंमें देखनेमें आता है कि जिस ग्रामकी कन्या कहीं ब्याही जाती है वहाँके लोग, कन्याकी ससुरालको अपनी ही कन्याकी ससुराल-सरीखी समझ, वहाँ जलतक नहीं पीते। यहाँ अपने राजाकी कन्या ब्याही गयी, इससे ये नहीं लेते। वाल्मीकीय सर्ग ६७ में मन्त्रियोंका राजा दशरथके पास भेजा जाना कहा गया है, यथा—'कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चाभाष्यमन्त्रिणः। अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनात् ॥ यथावृत्तं समाख्यातुमानेतुं च नृपं तथा ॥ २७ ॥' इनमें शतानन्दजी न थे, यह बात सर्ग ६८ से स्पष्ट हो जाती है, यथा—'पूर्वं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत्। विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः ॥ १३ ॥' अर्थात् महाराज मिथिलापति राजा जनकने विश्वामित्रजीकी आज्ञासे तथा शतानन्दजीकी सलाहसे यही मधुर वचन आपसे कहे हैं। (यह दूतोंने श्रीचक्रवर्तीजीसे

कहा है)। (ख) 'मूँदहिं काना' इति । कानपर हाथ धरके उसे बंद कर लेनेका भाव यह है कि यह बात ऐसी अनुचित है कि लेना तो दूर रहा, यह बात तो सुननी भी न चाहिये। 'कान मूँदना' मुहावरा है । ऐसा करनेसे कान बंद करनेवाला प्रस्तुत कार्य या बातमें अपनी एकदम अस्वीकारता जनाता है । बिना मुखसे बोले ही उस बातसे इनकार करता है ।

टिप्पणी—३ 'धरम बिचारि सबहि सुख माना' इति । भाव यह कि दूतोंने यह मुखसे नहीं कहा कि जानकीजी हमारी कन्या लगती हैं, किन्तु इतना ही कहा कि अनीति है और अँगुलीसे कान बंद कर लिया; अतः सबने विचार किया कि निछावर न लेनेका कारण यह है कि ये जानकीजीको अपनी कन्या मानते हैं, यह धर्म विचारकर सबने सुख माना। 'सुख' माननेका भाव कि अयोध्यावासी सब धर्मात्मा हैं और धर्मात्माओंको धर्मका मार्ग प्रिय होता ही है, अतः धर्मकी बात जानकर उसमें सुख माना । (पुनः इन शब्दोंसे यह भी प्रकट होता है कि सुख हुआ नहीं, सभासदोंने सुख मान लिया। निछावर न लेनेसे वे अप्रसन्न तो हो ही गये थे पर धर्म विचारकर उन्होंने सुख माना । (प० प० प्र०) ।

दो०—तब उठि भूप बसिष्ठ कहुँ दीन्हि पत्रिका जाइ ।
कथा सुनाई गुरहि सब सादर दूत बोलाइ ॥ २९३ ॥

अर्थ—तब राजाने उठकर वशिष्ठजीके पास जाकर उनको पत्रिका दी और आदरपूर्वक दूतोंको बुलाकर गुरुजीको सब कथा सादर सुनवायी ॥ २९३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तब उठि' इति । दूत जब सभामें आये थे तब राजाने स्वयं आसनसे उठकर उनसे पत्रिका ली थी, यथा—'मुदित महीप आपु उठि लीन्ही' फिर उनका बैठना नहीं कहा गया । यदि यहाँ 'उठि' शब्द न दिया जाता तो समझा जाता कि खड़े होकर चिट्ठी ली और खड़े-खड़े ही उसे पढ़ा । अतः यहाँ 'उठि' कहकर जनाया कि दूतोंसे पत्रिका लेकर राजाने अपने सिंहासनपर बैठकर उसे पढ़ा था, अब पुनः उठे । [(ख) 'भूप''''दीन्हि''''जाइ' इति। यहाँ राजाका ही उठकर जाना और पत्रिका देना कहकर जनाया कि राजा प्रेम और आनन्दमें भरे हुए हैं । उन्होंने सोचा कि इस पत्रिकाने हमें आनन्द दिया, अतः स्वयं चलकर यह आनन्द-पत्रिका गुरुजीको दें जिसमें उनको भी यह आनन्द मिले । 'जाइ' से सूचित किया कि श्रीवसिष्ठजी उस सभामें नहीं थे । 'जाइ दीन्हि' से उनका अकेले ही जाना कहा । उनको ऐसा आनन्द है कि वे मारे प्रेमके अकेले ही चले गये ।] (ग) 'बसिष्ठ कहुँ'—वसिष्ठजीके पास जानेका दूसरा कारण यह है कि मारे आनन्दके राजा यह न सोच सके कि श्रीसीतास्वयंवरमें श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है सो अब हमको क्या करना चाहिये, अतः गुरुके पास पत्रिका लेकर गये कि जो उनकी आज्ञा होगी वही हम करेंगे । जैसे धनुष टूटने और परशुरामजीके चले जानेपर श्रीजनकजीने विश्वामित्रजीकी आज्ञा पाकर काम किया, यथा—'मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाईं । अब जो उचित सो कहिअ गोसाईं' वैसे ही दशरथजी महाराजने किया । (घ) 'जाइ'—यदि यह शब्द न देते तो समझा जाता कि वशिष्ठजी वहीं थे, अथवा बुलवाये गये । 'गुरु' के यहाँ स्वयं जानेसे उनकी मर्यादाकी रक्षा और राजाका प्रेम प्रकट होता है ।

२ (क)—'कथा सुनाई गुरहि सब' इति । राजाने और सब जगह स्वयं पढ़-पढ़कर पत्रिका सुनायी है; यथा—'पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची' 'सुनि सनेह साने बचन बाँची बहुरि नरेस' 'राजा सबु रनिवास बोलाई । जनक-पत्रिका बाचि सुनाई ॥ २९५ । १ ।' पर गुरुको पत्रिकाका देनामात्र कहा गया; पत्रिकाका सुनाना नहीं कहते । गुरुके सामने न पढ़ा, यह बड़ोंकी मर्यादा है । बड़ोंके सामने अपनी बड़ाई तथा अपने पुत्रोंकी बड़ाईकी बात कहना मर्यादाके प्रतिकूल है, अतः अयोग्य जानकर 'पत्रिका' दे दी कि वे स्वयं पढ़कर जान लें जो कुछ उसमें लिखा है, स्वयं कुछ न कहा । 'कथा सुनाई' अर्थात् जो दूतोंने मुखाग्र कहा था, वह दूतोंको बुलवाकर उन्हींसे कहला दी । (ख)—'सादर दूत बोलाइ' इति । दूतोंने श्रीरामलक्ष्मणका सुयश बहुत सुन्दर रीतिसे बहुत अच्छी तरह कहा है, अतः उन्हींसे पुनः कहलानेके लिये उनको आदरपूर्वक बुलवाया । (दूसरे, सारी कथाकी बात उनके आँखोंकी देखी हुई है, उनके सामनेकी है, वे जितनी अच्छी तरह विस्तारसे कह सकते हैं वैसा दूसरा नहीं कह सकता । वे उसे विस्तारसे प्रेम-प्रताप-वीररसमें पगे हुए वचनोंमें सुनावेंगे । इस बहाने अपनेको पुनः सुननेका लाभ भी होगा । अतः सादर बुलवाया) ।

सुनि बोले* गुर अति सुखु पाई । पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई ॥ १ ॥

* मुनि बोले—१७०४ ।

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥ २ ॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए। धरमसील पहिं जाहिं सुभाए ॥ ३ ॥

अर्थ—(कथा) सुनकर श्रीगुरुदेवजी अत्यन्त सुख पाकर बोले कि पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये पृथ्वी सुखसे छायी हुई रहती है ॥ १ ॥ जैसे नदियाँ (अपनेहीसे) समुद्रमें जाती हैं, यद्यपि उसे इनकी कोई कामना नहीं है ॥ २ ॥ वैसे ही सुख और संपत्ति बिना बुलाये स्वाभाविक (अपनेसे) ही धर्मात्माके पास जाती हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'अति सुखु पाई ॥' अत्यन्त सुख पानेका भाव कि सबने सुख पाया और वसिष्ठजीने 'अति' सुख पाया, क्योंकि ये सबसे अधिक श्रीरामतत्त्वके वेत्ता हैं। पुनः भाव कि श्रीरामजीका समाचार पढ़-सुनकर राजा दशरथको अति सुख प्राप्त हुआ, यथा—'पुलक गात आई भरि छाती।···' इत्यादि। भरत-शत्रुघ्नजीको भी अति सुख हुआ, यथा—'अधिक सनेह समात न गाता' और अवधवासियोंको सामान्य सुख हुआ, यथा— 'हरषी सभा···।' यदि गुरुजीके सम्बन्धमें 'अति सुख' होना न कहते तो समझा जाता कि इनको भी पुरवासियोंके समान ही सामान्य सुख हुआ। अतः 'अति' विशेषण देकर इनको भी राजा और भरत-शत्रुघ्नजीके समान सुख होना जनाया। ('अति सुख' के और भाव कि राजाकी गुरुभक्तिसे सुख और पत्रिकाके पढ़ने और समाचार सुननेसे 'अति सुख' हुआ। वा, पत्रिका देख दूतोंके मुखसे सुना भी, अतः 'अति सुख' कहा)। (ख)—'अति सुख' प्राप्त हुआ, अतः आप भी सुखके वचन बोले। (ग) 'पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई' इति। भाव कि पुण्यात्माको स्वर्गमें सुख है ही, पर पृथ्वीमें भी बड़ा सुख मिलता है। 'मही' कहनेका भाव कि पृथ्वीभरका सुख सिमिटकर धर्मात्माके पास आ जाता है, जैसे आगे रूपकद्वारा कहते हैं। 'छाई' अर्थात् पूर्णरूपसे सर्वत्र सुख-ही-सुख रहता है। मानो सुख वहीं आकर बस जाता है। ['पुण्य पुरुष' का अर्थ है 'पुण्य कर्म करना जिसका शील है'। यही अर्थ जनानेके लिये आगे 'धर्मशील' शब्द दिया है। 'धर्मशील' शब्द देकर बताया कि पुण्य क्या है, पाप क्या है, यह निश्चय 'निज-निज मति अनुसार' नहीं करना चाहिये। धर्मशास्त्र जिसे 'पुण्य' कहता है वही पुण्य है और जिसे वह पाप कहता है वही पाप है। और आगे फिर गुरुजी 'पुण्य-पुरुष' 'धर्मशील' के लिये ही 'सुकृती' शब्द लाये हैं, जिसका आशय यह है कि धर्मशास्त्रोक्त पुण्य-कर्म आप उत्तम रीतिसे करते हैं। (प० प० प्र०)]

२ 'जिमि सरिता सागर महुँ जाई।···' इति। (क) प्रथम 'महि सुख छाई' कह आये, अब बताते हैं कि धर्मशीलको महिका सुख कैसे प्राप्त हो सकता है—'जिमि···'। 'सरति गच्छति' इति सरिता'। चलकर सागरसे मिलती है, इसीसे 'सरिता' कहा; यथा— 'सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। ४। १४।' (ख) सरिता-सागरका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि धर्मात्माको नित्य नवीन सुख प्राप्त होता है, जैसे सरिताका जल नित्य नवीन सागरमें जाता है। (ग) 'जद्यपि ताहि कामना नाहीं' इति। सागरको कामना नहीं है, वह स्वयं पूर्णरूप है। जैसे वहाँ नदियाँ जाती हैं, वैसे ही जहाँ कामना नहीं है वहाँ सुख-सम्पत्ति जाती है (और कामनावालोंके पास सुख-सम्पत्ति इस प्रकार नहीं जाती), यथा— 'दिये पीठि पाछे लगै, सनमुख होत पराइ। तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवाइ ॥ २५७ ।' (दोहावली) पुनः भाव कि अच्छे पुरुष निष्काम-कर्म करते हैं। श्रीदशरथ महाराज भी निष्कामकर्म करते हैं, यह 'कामना नाहीं' से सूचित किया।

नोट—१ यहाँकी चौपाइयोंका मिलान अयोध्याकाण्डकी—'भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी ॥ रिधि सिधि संपति नदीं सुहाई। उमगि अवध-अंबुधि कहुँ आई ॥ २। १। २। ३।' से कीजिये। जैसे पृथ्वीका जल सिमिटकर नदीमें आता है और नदी उमगकर समुद्रमें जाती है, वैसे ही पृथ्वीभरका सुखरूपी जल ऋद्धि-सिद्धि-रूपी नदियोंमें आया। और ये ऋद्धि-सिद्धिरूपिणी नदियाँ सुख-सम्पत्ति रूपी जलसे भरी हुई धर्मशील पुरुष-रूपी समुद्रमें स्वाभाविक ही जा पहुँचती हैं।

टिप्पणी—३ 'तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए।···' इति। (क) 'बिनहिं बोलाए' का भाव कि धर्मात्माको सुख-सम्पत्ति मुखसे माँगते ही मिलती है (जो कुछ भी वह कहे वा चाहे वह तो शीघ्र हो ही जाता है) पर वे माँगते नहीं (और न माँगनेपर भी कार्य सब होता ही जाता है)। (ख) 'धरमसील पहिं जाहिं सुभाए' इति। ऊपर कहा है कि समुद्रको कामना नहीं है, वैसे ही यहाँ 'बिनहिं बोलाए' और 'सुभाए' से सूचित करते हैं कि धर्मशीलको सुख-सम्पत्तिकी कामना नहीं है। फलकी इच्छा करना मना है, इसीसे धर्मशील धर्म करते हैं, धर्मके फलकी आकांक्षा नहीं करते। धर्मका फल सुख-सम्पत्ति है, यथा—'जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं। ३। ३९।'

नोट—२ समुद्र-सरिताका उदाहरण देकर यह भी जनाते हैं कि जैसे इतनी नदियोंका जल उसमें जानेपर भी वह जल क्षोभ न उत्पन्न करके उसमें समा ही जाता है, वैसे ही धर्मशील पुरुषोंके पास जो सुख-सम्पत्ति अपनेसे आती है, वह उनमें बिना क्षोभ उत्पन्न किये समा जाती है, उससे उनके अन्तःकरणमें विकार उत्पन्न नहीं होता। यथा—'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविसन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥' (गीता २।७०)। (अर्थात् जैसे सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें (नद-नदियोंके) जल समा जाते हैं, वैसे ही जिस पुरुषमें सारे भोग समा जाते हैं, वही शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं)। इस श्लोकके 'न कामकामी' से यह भी बताया कि भोगोंकी कामना रखनेवालोंको सुख-शान्ति नहीं मिलती; उनमें तो सुख-सम्पत्ति जाकर क्षोभ ही प्राप्त करेंगे, विकार उत्पन्न करेंगे।

विष्णुपुराणमें सुनीतिजीके चौपाईसे मिलते हुए ये वचन हैं—'सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणिहिते रतः। निम्नं यथापः प्रवणाः पात्रमायान्ति संपदः ॥ १। ११। २४।' अर्थात् वे ध्रुवजीसे कह रही हैं कि धर्मात्मा, सबके मित्र, सब प्राणियोंके हितमें तत्पर और सुशील हो जाओ तो सब सम्पत्ति अपने-आप ही प्राप्त हो जायगी जैसे जल वहीं जाता है जहाँ स्थान नीचा होता है।

तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेबी। तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥ ४ ॥
सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥ ५ ॥
तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काकें। राजन राम सरिस सुत जाकें ॥ ६ ॥
बीर बिनीत धरम ब्रत धारी। गुन सागर बर बालक चारी ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसे आप गुरु-ब्राह्मण, गऊ-देवताओंकी सेवा करनेवाले हैं, वैसी ही कौसल्या देवी भी पुनीत (आचरणवाली) हैं ॥ ४ ॥ आपके समान सुकृती संसारमें न (तो) कोई हुआ, न है और न होनेवाला ही है ॥ ५ ॥ राजन्! आपसे अधिक बड़ा पुण्य किसका है कि जिसके राम-सरीखे पुत्र हैं ॥ ६ ॥ जिसके वीर, विनीत (बहुत नम्र) और धर्मका व्रत धारण करनेवाले, गुणोंके समुद्र चार पुत्र हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ 'तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेबी।…' इति। (क) धर्मशीलके पास सुख-सम्पत्ति बिना बुलाये आती है, यह कहकर अब राजाकी धर्मशीलता घटित करते हैं [अर्थात् पहले धर्म (सुकृत) का फल कहकर अब धर्मका स्वरूप कहते हैं]। गुरु-विप्र-धेनु-सुरकी सेवा करना धर्मशीलता है। (ख)—सुख-सम्पत्तिके पीछे गुरु-विप्रादिकी सेवा कही, क्योंकि गुरु आदिकी सेवासे सुख-सम्पत्तिकी सफलता है। [भाव कि आपने जो धर्म किये, उनका फल सुख-सम्पत्ति मिला, परंतु आप अब भी धर्म करते जाते हैं, क्योंकि सम्पत्ति मिलनेपर उसको बरबाद (नष्ट) न होने देना चाहिये, निष्कामभावसे उसका सदुपयोग करे, उसे धर्ममें लगा दे, तभी उसका मिलना सफल है]। [इससे उपदेश मिलता है कि जो आज सुखी और सम्पत्तिमान हैं, उनको भी पुण्यशील रहना चाहिये, अन्यथा भविष्यकालमें उनके भालमें दुःख ही लिखा जायगा। 'पुण्यानां कर्मणां फलं सुखं पापानां कर्मणां फलं दुःखम्।' (प० प० प्र०)] (ग)—राजाने श्रीरामचरित सुनाकर गुरुको सुख दिया, इसीसे प्रथम गुरु-सेवी कहा। अथवा गुरु भगवान्‌से अधिक हैं, यथा—'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी ॥ २। १२९।'; इसीसे गुरुको प्रथम कहा। (घ) 'तसि पुनीत कौसल्या' इति। यहाँ बीचमें श्रीकौशल्याजीको भी कहा, क्योंकि आगे श्रीरामजीको सुकृतका फल कहनेको हैं और श्रीरामजी राजा और रानी दोनोंके सुकृतोंके फल हैं, अतः दोनोंका कहना आवश्यक था। 'तसि पुनीत' अर्थात् जैसे धर्म करके आप पुनीत हैं, वैसे ही कौशल्या देवी पुनीत हैं। अर्थात् ये सब धर्म (गुरु आदिकी सेवा) श्रीकौसल्याजीमें भी है और धर्म करनेसे पवित्रता होती है। (ङ) 'देवी' का भाव कि जैसे आप दिव्य हैं—(यथा—'देव देखि तव बालक दोऊ' यह दूतोंने भी कहा है), वैसे ही कौसल्याजी भी दिव्य हैं। तात्पर्यकी आप दोनों प्राकृत मनुष्य नहीं हैं जैसा आगे 'सुकृती तुम्ह समान जग नाहीं।…' से स्पष्ट है]।

२ 'सुकृती तुम्ह समान…' इति। (क) भाव कि औरोंके सुकृतका फल केवल सुख-सम्पत्ति है और आपके सुकृतका फल सुख-सम्पत्ति और श्रीरामजी हैं। यथा—'दसरथ सुकृत राम धरें देही। २१०। १।' इसीसे कहा कि आपके समान

कोई नहीं। 'जग' यहाँ ब्रह्माण्डका वाचक है। यथा—'उदर माँझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥ ७। ८०। ३।' यह उपक्रममें कहकर फिर उसीको भुशुण्डिजीने अन्तमें जग कहा कि 'राम उदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥ ७। ८१। ५।' तात्पर्य कि ब्रह्माण्डभरमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। (ख) 'भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं' इति।—श्रीरामजीका चतुर्व्यूह अवतार श्रीदशरथ महाराजके यहाँ ही होता है, अन्यत्र नहीं होता, इसीसे कहते हैं कि तीनों कालमें कोई तुम्हारे समान नहीं है। ऐसा ही वसिष्ठजीने भरतजीसे कहा है, यथा—'भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥ बिधि हरि हर सुरपति दिसि नाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥ कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु। राम लखन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु॥ २। १७३।' और भी यथा—'त्रिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथसम नाहीं॥ मंगलमूल राम सुत जासू। जो कछु कहिअ थोर सबु तासू॥ २। २।'

टिप्पणी—३ 'तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काकें।…' इति। प्रथम कहा कि तुम्हारे समान तीनों कालोंमें कोई सुकृती नहीं हुआ, न है और न होगा। इससे सम्भव था कि वे समझें कि समान नहीं तो अधिक होंगे। इस दोषके निवारणार्थ यह कहते हैं क 'तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काकें' अर्थात् जब तुम्हारे समान ही कोई नहीं है तब अधिक कहाँ हो सकता है? यथा—'दसरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥ २। २०९। ८।' बड़े पुण्यका बड़ा फल होता है। राजाके बड़े पुण्यका फल श्रीरामजी हैं और श्रीरामजीसे बड़ा कौन है?—['राजन राम सरिस सुत जाकें' इति। 'अधिक पुन्य बड़ काकें' कहकर यह उसका कारण बतलाते हैं। इसी बातको अयोध्याकाण्डमें भरद्वाजजीने भरतजीसे यों कहा है कि 'जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ। २०९।'; दोनोंका भाव एक ही है कि परमात्मा परब्रह्मने आपका प्रेम देख आपको पुत्र रूपसे सुख देना स्वीकार किया, यह पुण्य किसमें है? इस तरह उपमारहित फल कहकर उससे उपमारहित भारी सुकृतोंका अनुमान कराया। 'राजन राम सरिस सुत जाकें' इस कथनसे यह संदेह होता है कि सुकृतके फल केवल श्रीरामजी ही होंगे, भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी नहीं। इस दोषके निवारणार्थ कहते हैं कि 'बीरबिनीत …' अर्थात् राम ही नहीं किंतु चारों ऐसे गुण-विशिष्ट-सम्पन्न पुत्र हुए। यह सब सुकृतके फल हैं।

४ 'बीर बिनीत …' इति। (क) श्रीरामलक्ष्मणजीकी वीरता सुनायी है, अथवा, वीरता क्षत्रियका मुख्य गुण है, इससे प्रथम 'बीर' कहा। वीरकी शोभा नम्रतासे है; अतः 'बीर' कहकर 'बिनीत' कहा। 'धर्मब्रतधारी' कथनका भाव कि जैसे आप धर्मात्मा हैं; तीनों कालोंमें तीनों लोकोंमें आपके समान धर्मात्मा नहीं, वैसे ही धर्मात्मा आपके पुत्र हैं। (ख) 'गुनसागर' इति। वर्तमान कालमें (प्रस्तुत प्रसंगमें) जो गुण देखे; उनके नाम लिये धनुष तोड़ना वीरका काम है। धनुष तोड़नेसे 'बीर' कहा परशुरामजीके कठोर वचन सहे, इससे विनीत कहा। पिताकी आज्ञा स्वीकारकर मुनिके साथ जाकर यज्ञकी रक्षा की और दुष्टोंको मारकर मुनियोंको निर्भय किया, यथा—'मारि असुर द्विज निर्भय कारी। २१०। ६' यह धर्मका पालन किया। अतः 'धर्मब्रत धारी' कहा। 'गुनसागर' कहकर जनाया कि ये ही तीन गुण नहीं हैं, और भी अनन्त गुण हैं; जैसे समुद्रकी थाह नहीं वैसे ही इनके गुणोंकी थाह नहीं। यथा—'राम अमित गुनसागर थाह कि पावइ कोइ। ७। ९२।' (ग) 'बर' इति। अन्तमें 'बर' श्रेष्ठ कहकर जनाया कि ये सब गुणोंमें श्रेष्ठ हैं, (कोई गुण ऐसा नहीं जिसमें ये निपुण न हों) वीरोंमें श्रेष्ठ हैं, विनीतोंमें श्रेष्ठ हैं, धर्मब्रतधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, गुणवानोंमें श्रेष्ठ हैं तथा समस्त अनन्त गुणोंमें श्रेष्ठ हैं, कोई गुण शिथिल नहीं है। (घ) 'बर बालक' कहनेका भाव कि ये प्राकृत बालक नहीं हैं, श्रेष्ठ हैं। (ङ) 'चारी' से जनाया कि ये चतुर्व्यूह अवतार हैं। (चारों सर्वगुणनिधान हैं, यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा। १।१९।' लक्ष्मणजी, भरतजी, शत्रुघ्नजीकी वीरता मेघनादवध, हनुमान्‌जीको पर्वतसहित एक बाणसे गिरा देने, और लवणासुरके वधसे प्रकट ही है। धर्मका तो अयोध्याकाण्ड स्वरूप ही है।—'जो न होत जग जनम भरतको। सकल धरम-धुर धरनि धरत को॥'

तुम्ह कहुँ सर्बकाल कल्याना। सजहु बरात बजाइ निसाना॥ ८॥

दो०—चलहु बेगि सुनि गुर बचन भलेहि नाथ सिरु नाइ।
भूपति गवने भवन तब दूतन्ह बासु देवाइ॥ २९४॥

अर्थ—आपका (भूत, भविष्य और वर्तमान) सभी कालोंमें कल्याण है। डंका बजाकर बारात सजिये॥ ८॥

शीघ्र ही चलिये। गुरुजीके वचन सुनकर 'हे नाथ! बहुत अच्छा' ऐसा कह मस्तक नवाकर और दूतोंके ठहरनेका प्रबन्ध करके तब राजा महलमें गये॥ २९४॥

टिप्पणी—१ 'तुम्ह कहुँ सर्बकाल कल्याना।''' इति। (क) 'सर्बकाल' यह कि भारी सुकृतसे चार पुत्र हुए, यह भूतकालमें कल्याण है; पुत्रोंका विवाह होता है यह वर्तमान कालमें कल्याण है। और जिसके ऐसे चार पुत्र हैं उसका भविष्यमें भी कल्याण है। जिसका किसी भी भावसे परमेश्वरमें सम्बन्ध है उसका सर्वकालमें कल्याण है। राजाका इनमें पुत्र-भाव है, इससे इनका सर्वकालमें कल्याण है। (ख) 'तुम्ह कहुँ सर्बकाल कल्याना' यह गुरुका आशीर्वाद है। इसी तरह रनवासमें गुरुपत्नीने आशीर्वाद दिया है, यथा—'मुदित असीस देहिं गुरनारी। २९५। ४।' (ग) 'सजहु बरात बजाइ निसाना' अर्थात् बारातकी भारी तैयारी करो।

नोट—१ ईश्वर प्रसन्न होते हैं तब जीवका सदा कल्याण होता है। ईश्वर इनके प्रेमवश पुत्र हो अवतीर्ण हुए फिर इनका सदैव कल्याण हुआ ही चाहे। संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि ज्योतिष शास्त्रमें कहा है कि 'माघ-फाल्गुन-वैशाख ज्येष्ठ-मासाः शुभप्रदाः। मध्यमः कार्तिकमार्गशीर्षौ वै निन्दिताः परे॥' अर्थात् माघ, फागुन, वैशाख और ज्येष्ठ ये मास शुभप्रद माने गये हैं; कार्तिक, अगहन मध्यम हैं। यह भी कहा जाता है कि माघमें विवाह होनेसे कन्या धर्मवती, फाल्गुनमें सुभगा, वैशाख और ज्येष्ठमें होनेसे पति-वल्लभा और आषाढ़के विवाहसे कुलवृद्धि होती है। यथा—'माघे धनवती कन्या फाल्गुने सुभगा भवेत्। वैशाखे च तथा ज्येष्ठे पत्युरत्यन्तवल्लभा। आषाढे कुलवृद्धिः स्यादन्ये मासाश्च वर्जिताः॥' (अज्ञात) इससे अवधेशजी महाराजको कुछ खेद था, यह समझकर वशिष्ठजीने ईश्वर-इच्छाको प्रबल जानकर यह व्यवस्था दी कि यदि तुम्हारे पुण्य प्रभावसे रामजी हुए हैं तो अब तुम्हारे कल्याणहेतु कालवादियोंके सिद्धान्तपर क्या दृष्टि देनी है? क्योंकि तुम्हें तो सर्वकाल कल्याण-ही-कल्याण है। प्रतिकूल भी अनुकूल हो जायँगे। (मा० त० वि०, अ० दी०)।

२—मयङ्ककार भी लिखते हैं कि भय हुआ कि अगहनके महीनेमें विवाह ज्योतिषशास्त्रानुसार त्याज्य है तब वशिष्ठजीने कहा कि 'तुमको सर्वदा कल्याण ही है, बारात साजो और चलो।' ३—विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'ऊपरके कथनसे विदित होता है कि राजा दशरथको सब प्रकारसे सुख थे सो यों कि—'अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च। वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥'

प० प० प्र०—'पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई''' 'सर्वकाल कल्याना, इति। ये वाक्य वसिष्ठ-जैसे तत्त्वज्ञ होनेसे इनमें तत्त्वचर्चाके पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्त ये चारों पदार्थ पाये जाते हैं। 'पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई' 'तुम्ह तें अधिक पुन्य बड़ काके।''सुत चारी' यह पक्ष है। तुमसे अधिक सुखी कोई नहीं है यह 'साध्य' है। 'सुख संपति बिनहिं बोलाए। धर्मशील पहिं जाहिं सुभाए॥' यह हेतु है। और 'जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥' यह दृष्टान्त है।

टिप्पणी—२ 'चलहु बेगि''' इति। (क) 'बेगि' क्योंकि सब अवधवासी दर्शनके लिये लालायित हो रहे हैं, यथा—'सबके उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि राम लखन दोउ बीर॥ ३००॥', इसीसे शीघ्र चलनेको कहा। दूसरे, विलम्ब होनेसे जनकमहाराजको संदेह होगा कि हमारी अयोग्यता समझकर चक्रवर्ती महाराज नहीं आये। अतः 'बेगि' कहा। (ख) 'भलेहि' कहकर वचनोंकी स्वीकारता जनायी। यह न कहते तो समझा जाता कि जनकजीके यहाँ जानेमें संकोच करते हैं, उनकी इच्छा नहीं है। 'भलेहि' कहकर सिर नवाया अर्थात् आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। (ग)—('दूतन्ह' बहुवचन शब्द देकर जनाया कि कई दूत पत्रिकाके साथ आये हैं)। (घ)—'दूतन्ह बास देवाइ' दूतोंको वास दिलाकर तब महलमें जाना कहा। भाव कि दूत रनवासमें नहीं जा सकते थे। [(ङ) दोहा २९४ की शब्द-रचनासे प्रतीत होता है कि दशरथजीके अन्तःकरणकी त्वराके साथ कवि कितने तदाकार हो गये हैं। 'भलेहि नाथ' के पश्चात् 'कहि' शब्द भी नहीं लिखा। दोहेके पूर्वार्धमें चार क्रियाओंका अन्तर्भाव किया गया है। (प० प० प्र०)]

राजा सबु रनिवास बोलाई। जनक पत्रिका बाँचि सुनाई॥ १॥
सुनि संदेसु सकल हरषानीं। अपर कथा सब भूप बखानी॥ २॥

प्रेम प्रफुल्लित राजहिं रानी। मनहुँ सिखिनि सुनि बारिद बानी॥ ३॥

शब्दार्थ—'रनिवास' (रनवास)=रानियोंके रहनेका महल, अन्तःपुर। यहाँ रनिवाससे रनवासमें रहनेवाली सब रानियोंसे तात्पर्य है, यथा—'सावकासु सुनि सब सिय सासू। आयउ जनकराज रनिवासू॥ २। २८१।', अर्थात् जनानखाना भर, जितनी हैं सब। पुनः, यथा—'मन जोगवत रह सब रनिवासू। १। ३५२।' 'सन्देस' (संदेश)=खबर, समाचार, हाल। प्रफुल्लित=खिली हुई, आनन्दित। प्रसन्न=पुलकित। राजहिं=विराजती हैं, सुशोभित हो रही हैं। सिखिनि =मोरनी। मयूरिनी।

अर्थ—राजाने सब रनवासको बुलाकर राजा जनककी चिट्ठी पढ़कर सुनायी॥ १॥ समाचार सुनकर सब खुश हुईं। (फिर) राजाने और सब कथा (जो दूतोंसे मुखाग्र सुनी थी) 'बखान' की॥ २॥ रानियाँ प्रेमसे खिली हुई (पुलकित एवं आनन्दित) ऐसी सुशोभित हो रही हैं, मानो मयूरिनियाँ मेघोंका शब्द सुनकर (प्रफुल्लित हो रही हैं)॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब रनिवास' अर्थात् सब रानियोंको। यथा—'सब रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ॥ २। २८४।' सब रानियोंको बुलाकर सब पत्रिका बाँची तो उससे बड़ी शोभा हुई। यह 'राजा' शब्द-से सूचित किया। 'राजते शोभते इति राजा'। सब रनवासको बुलाया जिसमें सब एक साथ सुन लें नहीं तो यदि कोई पीछे आवेगी तो फिर पढ़ना पड़ेगा जैसे भरतजीके लिये पुनः बाँचना पड़ा था, इसमें विलम्ब होगा और इधर गुरुजीकी आज्ञा हो चुकी है कि 'चलहु बेगि'। (ख) 'जनकपत्रिका' कहकर सूचित किया कि उसमें जनकजीकी बहुत विनय है कि महाराज हमारे यहाँ कृपा करके पधारें' जानकीका विवाह है, इत्यादि। [यहाँ 'जनक' शब्द साभिप्राय है। यह विदेहकी पत्रिका नहीं है, किन्तु 'जान (जायते इति जनः)+क(कः आनन्दः)=मूर्तिमान् आनन्द' जनककी भेजी हुई मूर्तिमान् आनन्दरूप पत्रिका है। (प० प० प्र०)] (ग) 'बाँचि सुनाई'—पत्रिका पढ़कर सुनानेमें भाव यह है कि पत्रिकाका सब समाचार तो चाहे मुखाग्र ही कह देते, पर उस तरह रानियोंको उतना अधिक आनन्द न होता जो उसे पढ़कर सुनानेमें होगा। अतः अधिक आनन्द देनेके लिये पढ़कर सुनाया (घ)—राजाने 'सब रनवास' बुलाया था, वहाँ 'सकल हरषानी' कहकर जनाया कि सब आयीं, कोई बची नहीं और सभीको आनन्द हुआ। (इससे यह भी जनाया कि सबका श्रीराम-लक्ष्मणजीमें कैसा निर्मल पवित्र प्रेम है। ऐसा नहीं है कि सौतिके पुत्रकी बड़ाई समझकर कोई न भी प्रसन्न हुई हो) (ङ) 'अपर कथा' अर्थात् 'सीय-स्वयंबर भूप अनेका।' से 'जिमि गज हरि किसोर के ताकें' तक जो दूतोंने मुखाग्र कही थी, पत्रिकामें नहीं थी [यहाँ उपदेश मिलता है कि श्रोताकी श्रद्धा न देखे तो उसे कथा न सुनावे। राजाने देखा कि सबको सुख हुआ, सभीको उनके चरित सुननेकी लालसा है तब कथा विस्तारपूर्वक कही। यथा—'रामचंद्र गुन बरनै लागा। लागी सुनैं श्रवन मन लाई। आदिहु ते सब कथा सुनाई॥ ५। १३।' 'तब मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥ ७। ११८।']

२ 'प्रेम प्रफुल्लित राजहिं···' इति। (क) 'प्रेम प्रफुल्लित' कहकर जनाया कि जैसे राजा प्रेमसे प्रफुल्लित हुए 'बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥ २९०। ४', और जैसे भरतजी प्रेमसे प्रफुल्लित हुए थे, यथा—'सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता॥ २९१। १', वैसे ही सब रानियाँ प्रेमसे प्रफुल्लित हुईं। (ख) शिखिनिकी उपमा तथा आगेके 'जुड़ावहिं छाती। ५।' से सूचित किया कि राम-संदेश पाये बिना वे व्याकुल थीं, उनका हृदय संतप्त था (इसपर गीतावलीके बालकाण्डके ९७,९८ और ९९ पद देखने योग्य हैं। यथा—'मेरे बालक कैसे धौं मग निबहहिंगे। भूख पियास सीत श्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहहिंगे॥ तुलसी···निरखि हरषि उर लैहौं बिधि होइहै दिन सोऊ॥ ९७', '···असि सनेह कातरि माता कहै सुनि सखि बचन दुखारी। बादि बीर जननी जीवन जग, छत्रि जाति गति भारी॥ जो कहिहैं फिरे राम लषन घर करि मुनिमख रखवारी। सो तुलसी प्रिय मोहि लागिहैं ज्यों सुभाय सुत चारी॥ ९८॥',···'राम लषनके समाचार सखि तब तें कछुअ न पाए। बालक सुठि सुकुमार सकोची समुझि सोच मोहि आली॥···॥ ९९॥') जैसे मयूरिनी ग्रीष्ममें संतप्त रहती है। (ग) 'सुनि बारिद बानी' इति। भाव कि जैसे बारि (जल)का दाता मेघ गरज-गरजकर बरसता है वैसे ही राजाने मधुर वाणीसे श्रीराम-चरित सुनाया। यही मधुर-मधुर गर्जन करके बरसना है। यथा—'बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥ १। ३६।' पत्रिकाको बाँचकर सुनानेमें राजाकी शोभा हुई और पत्रिका सुनकर प्रफुल्लित होनेमें रानियोंकी शोभा हुई। प्रफुल्लित अर्थात् पुलकित हुईं। [मा०

पं० प्र० सं०—'सिखिनि सुनि बारिद बानी' इति।—जैसे ग्रीष्ममें तप्त मयूरिनी पावस मेघोंका शब्द सुन पावस-जल पाकर शीतल होती है, वैसे ही ये सब श्रीरामवियोग-ग्रीष्मके कारण तप्त रहीं, महाराजका मधुर स्वरसे कथावर्णनरूपी मेघोंका गर्जन सुन रामयश पावस-जल पा शीतल हुई।—'बरषहिं रामसुजस बर बारी।''' 'बारिद' पद देकर सूचित किया कि मेघोंकी गर्जन मात्रहीमें सुख नहीं, वरन् उससे जल पानेमें है। बारिद अर्थात् जो वारि (जल) दे, जल बरसानेवाले मेघ।

मुदित असीस देहिं* गुर नारी। अति आनंद मगन महतारीं॥ ४॥
लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती॥ ५॥
राम लषन कै कीरति करनी। बारहिं बार भूप बर बरनी॥ ६॥

अर्थ—गुरु-नारियाँ आनन्दित हो आशीर्वाद दे रही हैं। माताएँ अत्यन्त आनन्दमें डूबी हुई हैं॥४॥ वे उस अत्यन्त प्रिय पत्रिकाको परस्पर एक दूसरेसे लेती हैं और हृदयमें लगा-लगा छाती ठण्डी करती हैं॥ ५॥ श्रेष्ठ राजाने श्रीरामलक्ष्मणजीकी कीर्ति और करनी बारंबार बखानी॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'मुदित असीस देहिं गुरनारीं।''' इति। (क) 'मुदित'—राजाने श्रीरामजीका सुयश सुनाया। उसे सुनकर सब गुरु-नारियाँ मारे आनन्दके आशिष देने लगीं। (ख) 'देहिं' बहुवचन है। इससे पाया गया कि सब ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ वहाँ रही हैं। ['गुरुनारी' से गुरु श्रीवसिष्ठजीकी पत्नी श्रीअरुन्धतीजी तथा अन्य ब्राह्मणों, ऋषियों और कुलके गुरुजनोंकी स्त्रियाँ अर्थात् कुलवृद्धाओंको भी सूचित किया है कि; पुनः सम्मानार्थ भी बहुवचन क्रियाका प्रयोग होता है।' (मा० पी० प्र० सं०)। सं० १६६१ की पोथीमें 'देहि' है। यदि इसे ठीक मानें तो गुरुनारीसे श्रीअरुन्धतीजीका बोध होगा। राजा गुरुजीके यहाँ गये थे, इससे श्रीअरुन्धतीजीको भी समाचार मिला तब वे रनवासमें आयी होंगी।] (ग) 'असीस देहिं गुरनारी'—राजाको गुरुजीने आशीर्वाद दिया कि 'तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना' और रानियोंको श्रीअरुन्धतीजी आदिने आशीर्वाद दिया। (घ) 'अति आनंद' का भाव कि पत्रिका सुनकर 'आनन्द' हुआ और आशिष सुनकर 'अति' आनन्द हुआ। पुनः, 'अति आनंद' का कारण यह है कि श्रीअरुन्धतीजी आदि ब्राह्मणियोंका आशिष अमोघ है, निष्फल नहीं जाता। पुनः, जो रानियोंके मनमें था, वही आशीर्वाद ब्राह्मणियोंने दिया,—'मन भावती असीसें पाईं'; इससे 'अति आनंद' हुआ। [पुनः, संदेश सुनकर 'हरषानी' थीं और राजाके मुखसे श्रीरामयशकीर्तन सुनकर प्रेमसे प्रफुल्लित हुईं, पर गुरुनारियोंके आशीर्वादसे आनन्द ही नहीं किन्तु अति आनन्दमें मग्न हो गयीं, प्रेमसमाधि लग गयी (प० प० प्र०)] (ङ) 'महतारी' से सब माताओंका ग्रहण है।

२—'लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती' इति। (क) 'अति प्रिय पाती'—श्रीरामजी अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—'प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ रामकृपाल। २०४।', यह उन अति प्रियके समाचारकी पत्रिका है, इसीसे यह भी 'अति प्रिय' है। (ख) 'हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती' इति। श्रीरामजीके समाचारकी पत्रिका श्रीरामजीके समान है। प्रियके सम्बन्धकी वस्तु मिलनेपर प्रियके मिलनेके समान ही सुख होता है, अतः पत्रिकाको हृदयसे लगाती हैं।

नोट—१ (क) 'अति प्रिय' है। इसीसे बारी-बारीसे आपसमें लेतीं और उनके समान (दुलरुआ) जानकर उसे हृदयसे लगाती हैं। (ख) 'जुड़ावहिं छाती' इति। (पूर्व जो कहा 'मनहुँ सिखिनि सुनि बारिद बानी', उसीको यहाँ चरितार्थ किया। प्यारेके वियोगमें उसके सम्बन्धकी वस्तु मिलनेसे भी बड़ा ढारस होता है। देखिये श्रीभरतजीको श्रीरामजीके सखा निषादराजसे मिलने और अम्बा श्रीजानकीजीके कनकबिन्दु इत्यादिसे कैसा सुख हुआ था, यथा—'रामसखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥ करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ। मनहुँ लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ॥ २। १९३।', 'भेटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥'''एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगु पावन कीन्हा', 'चले सखा कर सों कर जोरें। सिथिल सरीर सनेहु न थोरें॥ पूछत सखहि सो ठाँव देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ॥ जहँ सियराम लषन निसि सोये। कहत भरे जल लोचन कोये॥ २। १९८।' 'चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥ कनकबिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥ २। १९९।', 'रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥' (२। २३८)।

* देहि—१६६१।

इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी श्रीजानकीजीका वस्त्र सुग्रीवसे पाकर दुखी हुए, वस्त्रको उन्हींके समान समझकर हृदयसे लगाया—**'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा'** और श्रीजानकीजी अंगूठी पाकर उसे श्रीरामचन्द्रजीकी जानकर 'हरष विषाद हृदय **अकुलानी'** थीं। (मा० पी० प्र० सं०)। श्रीभरतजी श्रीरामजीके कुशलपूर्वक आनेका संदेश श्रीहनुमान्‌जीसे सुनकर उन्हें हृदय लगाकर अत्यन्त प्रेमसे मिले, मानो श्रीरामजी ही मिल गये हैं, यथा—'मिले आजु मोहि राम पिरीते।' संदेश और उसके लानेवाले दोनोंको श्रीरामरूप ही माना, इसीसे वे कहते हैं कि 'एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार **देखेउँ कछु नाहीं॥'**

टिप्पणी—२ **'राम लषन कै कीरति करनी।'''** इति। (क) धनुषका तोड़ना, परशुरामजीको जीतना, ब्रह्माण्ड-को चरणसे दबाना, भूधरों (पृथ्वीको धारण करनेवाले शेष, कच्छप, कोल आदि) को आज्ञा देना 'करनी' है। 'करनी'से उज्ज्वल 'कीर्ति' हुई, यथा—**'जिन्हके जस प्रताप के आगे।** ससि मलीन रवि सीतल लागे॥ २९२। २।' (पुनः) यथा—**'महि पातालु नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥** २६४। ५।' दूतोंने जो देखा था वही कहा था। उन्होंने मुनियज्ञरक्षण तथा अहल्योद्धारकी बात नहीं कही थी, परंतु पत्रिकामें ये बातें भी लिखी थीं। गीतावलीसे इसका निश्चय होता है, यथा—**'खेम कुसल रघुबीर लषन की ललित पत्रिका ल्याए। दलि ताड़का मारि निसिचर मख राखि बिप्रतिय तारी॥** (१। १००)। अतः यज्ञरक्षण और अहल्योद्धार भी 'करनी' हैं। इनसे भी 'कीर्ति' का सब लोकोंमें छा जाना माताओंने कहा है, यथा—**'मख रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरु प्रसाद सब बिद्या पाई॥ मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥** १। ३५७।' (ख) **'बारहिं बार भूप बर बरनी'** इति। प्रथम रानियोंको सुनानेके लिये कीर्ति-करनीका वर्णन किया, यथा—**'अपर कथा सब भूप बखानी।'** 'अपर कथा' में कीर्ति और करनीका वर्णन है। जब गुरु-नारियाँ आसीस देने लगीं, तब पुनः वर्णन किया और जब रानियाँ प्रेमसे पत्रिका हृदयमें लगाने लगीं तब पुनः वर्णन करने लगे। इस प्रकार बारंबार वर्णन किया। (पुनः भाव कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी कीर्ति और करनी श्रेष्ठ है। भगवद्यश इसी प्रकार कहना-सुनना चाहिये, यह यहाँ उपदेश है)। 'बर' तीनोंके साथ लगता है। कीर्ति एवं करनी श्रेष्ठ है (अतः उसका वर्णन किया); वर्णन करनेवाले भूप भी श्रेष्ठ हैं और भूपका वर्णन करना भी श्रेष्ठ है।

मुनि प्रसादु कहि द्वार सिधाए। रानिन्ह तब महिदेव बोलाए॥ ७॥
दिए दान आनंद समेता। चले बिप्र बर आसिष देता॥ ८॥

सो०—जाचक लिए हँकारि दीन्हि निछावरि कोटि बिधि।
चिरुजीवहु सुत चारि चक्रवर्त्ति दशरत्थ के॥२९५॥

कहत चले पहिरे पट नाना। हरषि हने गहगहे निसाना॥ १॥

शब्दार्थ—हँकारि लिये=बुलवा लिये। हँकारना=बुलाना। चिरु जीवहु=चिरजीवी हो। चिर=दीर्घकालवर्ती; बहुत कालका। यथा—**'चिर अहिवात असीस हमारी।'** 'चिरञ्जीव'=बहुत दीर्घ आयुवाले हों। इस शब्दसे दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया जाता है।

अर्थ—'मुनिकी कृपा' (अर्थात् यह सब मुनिकी कृपासे हुआ ऐसा) कहकर (जब) राजा द्वारको चले तब रानियोंने ब्राह्मणोंको बुलाया॥ ७॥ आनन्दपूर्वक उनको दान दिया। ब्राह्मणश्रेष्ठ उत्तम आशिष देते हुए चले॥ ८॥ (फिर) भीख माँगनेवाले मँगताओंको बुलवा लिया और उन्हें अगणित भाँतिकी निछावरें दीं। वे बहुत वस्त्र पहने हुए 'चक्रवर्ती श्रीदशरथजी महाराजके चारों पुत्र चिरञ्जीवी हों, बहुत कालतक जीवित रहें' यह कहते हुए चले। प्रसन्नतापूर्वक घमाघम नगाड़े बजाये गये॥ २९५। १॥

टिप्पणी—१ (क) 'मुनि प्रसाद' का भाव कि ऐसी कीर्ति ऐसी करनी बालकोंसे नहीं हो सकती। यह मुनिका प्रसाद है।—('मुनि प्रसाद'—यही माधुर्य है। अर्थात् हमारे पुत्र तो अभी बहुत छोटे और कोमल हैं। सुकुमार हैं, वे क्या कर सकते हैं; यह केवल मुनिकी कृपा है। ऐसे ही श्रीकौसल्या अम्बाजीके वचन हैं, यथा—'मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥''' ३५६। मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥ सकल

समानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥ ३५७ । १, ६ ।' और ऐसे ही राजा जनकके भी वचन हैं। यथा—'प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा' (२८६ । ५)। इन शब्दोंसे जनाया कि माधुर्यने ऐश्वर्यको दबा लिया है। (ख) 'द्वार सिधाए' का भाव कि महलका काम हो चुका। महलमें इतना ही काम था, अब द्वारपर जो काम है उसे करने चले। गुरुकी आज्ञा है कि बारात सजकर शीघ्र चलो, उसी कार्यमें तत्पर होने चले। (ग) 'तब'—जब राजा चले गये तब बुलानेका भाव कि राजा प्रधान हैं, जबतक वे बैठे हैं तबतक उनके आगे स्वयं कैसे बुलातीं। 'रानिन्ह' बहुवचन है। इससे जनाया कि सब रानियोंने (अपने-अपने महलोंमें जाकर) ब्राह्मणोंको बुलवाया और पृथक्-पृथक् सबने सबको अलग-अलग दान दिया। (घ) 'महिदेव' शब्द देकर जनाया कि रानियोंने ब्राह्मणोंको देव-भावसे बुलाया और देवभावसे ही उनका पूजन किया, मनुष्य-भावसे नहीं। पुनः भाव कि राजाने 'मुनि प्रसाद' कहा, अतः रानियोंने ब्राह्मणका भारी प्रसाद समझकर ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका आदर-सम्मान किया। ['मुनि प्रसाद' कहकर राजाने रानियोंको सावधान किया है कि भूलसे भी न समझना कि यह तुम्हारे बच्चोंका प्रताप है। सब रानियोंने इस उपदेशको ग्रहण किया। इसीकी यथार्थता **'कहहिं सप्रेम बचन सब माता'** से लेकर 'राम प्रतोषीं मातु सब' तक दो० ३५६ (७)—३५७ में चरितार्थ हुई है। (प०प०प्र०)।]

टिप्पणी—२ 'दिए दान आनंद समेता।'''' इति। (क) श्रीरामजीके विवाहका समाचार सुनकर रानियोंने दान दिया, क्योंकि यह दान देनेका समय है। (ख) 'आनंद समेता' कहनेका भाव कि दान हर्षपूर्वक उत्साहसे देना चाहिये। यथा—'रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥' (दोहावली ४२)। बिना उत्साहका दान व्यर्थ है। यथा—'उत्साहभंगे धनधर्महानिः।' पुनः भाव कि उत्साहमें मारे आनन्दके बहुत दान दिये। (ग) ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ तो घरमें थीं ही जब राजाने समाचार सुनाया, पर उनको दान नहीं दिया और ब्राह्मणोंको बुलाकर दिया इससे पाया गया कि पुरुषको दान लेनेका अधिकार है, स्त्रीको नहीं। (घ) **'चले बिप्रबर'**। 'बर' कहकर कुलीन, विद्वान् और तपस्वी तथा दानके अधिकारी जनाया। ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता वेदपाठी होनेसे है, इसीसे उन्हें 'विप्रवर' कहते हैं, यथा—'तिन्ह चढ़ि चले बिप्रबर बृंदा। जनु तनु धरें सकल श्रुति छंदा ॥ ३०० । ४ ।' (ङ) 'आसिष देता'—भाव कि जैसे रानियोंने बहुत दान दिये, वैसे ही ब्राह्मणोंने बहुत आशीर्वाद दिये।

३—'जाचक लिये हँकारि''''' इति। (क) ब्राह्मण दानके अधिकारी हैं, इसलिये उनको दान देना कहा, और याचक निछावरके अधिकारी हैं। अतः निछावर देनेके लिये याचकोंको बुलवाया। पुनः जैसे राजा और अयोध्यावासी (जो दरबारमें थे) श्रीरामजीका समाचार सुनकर दूतोंको निछावर देने लगे थे, वैसे ही रानियोंने सुनकर याचकोंको निछावर दिया। (ख) 'हँकारि' इति। बुलानेसे आये क्योंकि रनवासमें बिना बोलाये कैसे जा सकते थे, बाहर होता तो याचक स्वयं ही आ जाते।—[पुनः 'हँकारि'से यह भी सूचित होता है कि याचक भी तो श्रीरामजन्मसमय निछावर पा-पाकर धनसे परिपूर्ण हो गये हैं, वे तो लेन-देनका व्यवहार करते हैं और स्वयं दानी हो गये हैं, यथा—**'रानिन्ह दिए बसन मनि भूषन राजा सहन भँडार। मागध सूत भाट नट जाचक जहँ तहँ करहिं कबार ॥'**, **'पाइ अघाइ असीसत निकसत जाचक जन भए दानी।'** (गीतावली १ । २ । ४)। इसीसे अब उनको बुलवाना पड़ता है, बिना बुलाये नहीं आते। मागध, सूत, भाट और नट आदि ही याचक हैं]। (ग)—'कोटि बिधि' इति। 'कोटि' बहुतका वाचक है, यथा—'कोटिन्ह काँवर चले कहारा,' 'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे' इत्यादि। अनेक प्रकारकी निछावर जैसे कि मणि, भूषण, वस्त्र आदि; यथा—'भूषन मनि पट नाना जाती। करहिं निछावरि अगनित जाती ॥ ३४९ । २ ।' [**'कोटि बिधि'** से अनन्तता सूचित की। (रा० च० मिश्र)]। (घ) 'चिरजीवहु सुत चारि'—'सुत चारि' से सूचित हुआ कि चारों पुत्रोंके नाम ले-लेकर उनके नामसे पृथक्-पृथक् निछावरें दी गयी हैं। इसीसे चारोंको आसिष देते हैं। (ङ) **'चक्रवर्ति दशरथ के'** कहनेका भाव कि जैसे दशरथ महाराज चक्रवर्ती राजा हैं (और जैसे उन्होंने बहुत काल राज्य किया तथा चिरजीवी हैं) वैसे ही उनके पुत्र भी (दीर्घ कालतक चक्रवर्ती) राज्य करें।

रा० च० मिश्र—यहाँ निछावरकी विधि सोरठासे कहकर उत्तरोत्तर वृद्धिक्रम दिखाया। अतएव ऐश्वर्यकी थाह न पाकर याचकोंने 'चक्रवर्ति' यह ऐश्वर्यसूचक पद दिया।

टिप्पणी—४ (क) 'चिरजीवहु सुत चारि चक्रवर्ति दशरथ के' यही आशीर्वाद ब्राह्मण और याचक दोनों देते हुए चले जा रहे हैं, यह जनानेके लिये 'आसिष देता' पद 'चले बिप्रबर' और 'जाचक' के बीचमें रक्खा। (ख) **'कहत**

चले पहिरे पट नाना' इति । ब्राह्मणोंका भी आसिष देते हुए जाना कहा—'चले बिप्रबर आसिष देता' और याचक भी 'कहत चले पहिरे पट नाना' । इससे सूचित किया कि दोनोंने बहुत पाया है, इसीसे मारे आनन्दके गली-गली असीसते हुए अपने-अपने घरोंको जा रहे हैं । 'पहिरे पट' से जनाया कि अपनी नापके वस्त्र जो पाये वह पहन लिये । देतेके साथ ही पहन लेनेसे दाताके दानका आदर-सम्मान जनाया । इससे दाताको भी प्रसन्नता होती है) । और जो वस्तुएँ मिलीं उन्हें लिये हैं, इसीसे केवल वस्त्रोंका पहनना लिखा । 'नाना पट' अर्थात् रेशमी, ऊनी, कौशेय इत्यादि रंग-बिरंगे । पुनः याचक भी बहुत हैं इससे 'नाना' पटका पहनना लिखा । ('नाना पट पहने' से यह भी जनाया कि सिरसे पैरतक-के सभी वस्त्र दिये गये हैं । पाग सिरपर बाँधे वा टोपी दिये, जामा आदि पहने, दुशाला ओढ़े, धोती पहने इत्यादि । सब अङ्गोंके वस्त्र मिले हैं) । (ग) 'हरषि हने गहगहे निसाना' इति । गुरुजीकी आज्ञा है कि 'सजहु बरात बजाइ निसाना', इसीसे बरात सजानेके लिये नगाड़े बजाये गये । बारातकी तैयारी समझकर बजानेवालोंको भी हर्ष हुआ, इसीसे उन्होंने 'हर्षपूर्वक' नगाड़े बजाये, यह 'गहगहे' शब्दसे जनाया । गहगहायके (अर्थात् बड़े जोर-जोरसे, घमाघम) बजाये ।

समाचार सब लोगन्ह पाए । लागे घर घर होन बधाए ॥ २ ॥
भुवन चारि दस भरा उछाहू । जनकसुता रघुबीर बिआहू ॥ ३ ॥
सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे । मग गृह गली सँवारन लागे ॥ ४ ॥

अर्थ—सब लोगोंने समाचार पाये । घर-घर बधाए होने लगे ॥ २ ॥ जनकसुता और श्रीरघुवीरके विवाहका उत्साह चौदहों लोकोंमें भर गया (अर्थात् सब उत्साहमें मग्न हैं कि इनका विवाह है, हम भी देखने चलेंगे) ॥ ३ ॥ मंगल समाचार सुनकर लोग प्रेममें मग्न हो गये, अनुरागको प्राप्त हुए । रास्ते (सड़कें) घर और गली सँवारने (सजाने) लगे ॥४॥

टिप्पणी—१ 'समाचार सब लोगन्ह पाए ।···' इति । (क)—जो लोग राजसभामें थे उन्होंने वहीं समाचार पाया था, उनके द्वारा उनके घरों और पड़ोसियों इत्यादिको समाचार मिला, फिर निशानोंके बजनेसे और ब्राह्मणों और याचकोंके मुखसे सर्वत्र गली-गली खबर पहुँच गयी । अतः 'सब लोगन्ह पाए' कहा । (ख)—'लागे घर घर होन बधाए' इति । भाव कि अभीतक तो राजाके घर ही बधायी हो रही थी, अब घर-घर होने लगी । इससे यह भी जनाया कि समस्त अवधवासी राजाका उत्सव अपना ही उत्सव मानते-जानते-समझते हैं । (ग) 'बधाए' शब्दसे जनाया कि प्रथम केवल डंके-नगाड़े बजे थे अब और भी सब बाजे बजने लगे । बधाईमें सब प्रकारके बाजे बजते हैं ।

टिप्पणी—२ 'भुवन चारि दस भरा उछाहू ।···' इति । [(क)—प्रथम 'चारि' कहकर तब 'दस' कहनेका भाव यह कि प्रथम 'उछाह' थोड़ी जगहसे उठा फिर उत्तरोत्तर अधिक जगहमें व्याप्त होता गया । प्रथम आनन्द राजा दशरथ·· हुआ, वहाँसे उमड़कर सभामें, गुरु और रनिवासमें फैलता हुआ नगर और चौदहों भुवनोंमें फैल गया ।—(रा० मिश्रजी)] (ख) भाव कि कुछ श्रीअयोध्याजीमें ही बधाइयाँ नहीं हुई किंतु चौदहों लोकोंमें हुईं । (देवता, ऋषि, मुनि, नर, नाग सभी रावणसे पीड़ित हैं, इसीसे अवतार होते ही सबको आनन्द हुआ था, अब विवाह सुनकर सबको परम आनन्द हुआ, क्योंकि रावणसे युद्ध होनेके लिये सामग्री जुटती जा रही है) । (ग) 'समाचार सब लोगन्ह पाए । लागे घर घर होन बधाए ॥' यह माधुर्यके अनुकूल कहा गया और 'भुवन चारि दस···बिआहू' यह ऐश्वर्यके अनुकूल कहा । क्योंकि बिना ईश्वरताके चौदहों लोकोंमें उत्साह और उत्सव नहीं हो सकता । 'भरा उछाहू' अर्थात् घर-घर उत्सव होने लगा; यही उत्सवका भर जाना है । (घ) 'जनकसुता रघुबीर बिआहू' इति । ('रघुबीर' शब्द देकर चौदहों भुवनोंमें उत्साह होनेका कारण बताया कि श्रीरामजीने बड़ी वीरताका काम किया है) धनुष तोड़कर जनकसुताको व्याहा है, यह यश त्रैलोक्यमें व्याप्त हो गया, यथा—'महि पातालु नाक जसु ब्यापा । राम बरीं सिय भंजेउ चापा ॥ २६५ । ५ ।'; इसीसे त्रैलोक्यमें उत्साह भर रहा है । [पुनः भाव कि जनक-जैसे विश्वविदित महाराजकी कन्याको वीर्य-शुल्कसे जिन्होंने प्राप्त किया है, उनका विवाह भी अलौकिक और अनुपम ही होगा, अतः शीघ्र बारातमें चलना चाहिये । (प० प० प्र०)]

नोट—१ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'इस उत्सवका मूल श्रीमिथिलाजी हैं, क्योंकि मङ्गलमूर्ति श्रीकिशोरीजी वहीं हैं । जहाँ मङ्गल है वहीं आनन्द भी रहता है । इसीसे आनन्दमूर्ति श्रीरघुनाथजी वहाँ गये । मङ्गल और आनन्द दोनोंके एकत्र हो जानेसे देखनेवालोंका प्रेम उमड़ा, तब मंगल-आनन्द प्रेमप्रवाहके मिलनेसे मिथिला अगाध समुद्र हो गया । अब

यह मिथिला मङ्गलानन्द प्रेम-समुद्र बहुत बढ़ा तब उमड़कर, जिस मार्गसे विश्वामित्रजीके द्वारा अवधसरसे आनन्दसरिता आयी थी, उसी मार्गसे मंगलानन्दप्रेमप्रवाह (जो उस समुद्रकी छलकमात्र है) पत्रिकारूपसे दूतोंके द्वारा बहता हुआ अवधसरमें आकर गिरा। प्रथम उसने अवधसरसींव चक्रवर्ती महाराजको ही डुबाया—'पुलक गात आई भरि छाती। रहि गए कहत न खाटी मीठी॥' फिर बाह्य भूमि सभा बूड़ी तत्पश्चात् भूमिकी सींव श्रीभरत-शत्रुघ्नजी डूबे—'पुलके दोउ भ्राता।' फिर क्रमशः बाह्यभीटरूप वशिष्ठजी, भिट्टबाह्यभूमिसम समस्त रनवास, बाह्यकृषिभूमिसम पुरवासी डूबे (इस तरह राजाके यहाँसे उमड़ता हुआ सभा, गुरु, रनवास, नगर और चौदहों भुवनोंको आनन्दोत्सवमें डुबाता गया। सर्वत्र उत्साह भर गया)। ऐसा प्रवाह बढ़ा कि पृथ्वीसे लेकर चौदहों भुवन भर गये, पर कहीं ऐसा अथाह थल न मिला जहाँ ठहर सके, समा सके; अतएव प्रवाह फिर घूमा और लौटते हुए उसने सबको समेटकर बहाते हुए मिथिलारूपी अगाध समुद्रमें लाकर डाल दिया। अवधवासियोंसहित श्रीदशरथमहाराज बारात लेकर वहीं गये, ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि समस्त देवता आदि सब विवाह देखने आये—यही प्रवाहका सबको समेटकर लौट आना है।

टिप्पणी ३—'सुनि सुभ कथा···' इति। (क) यहाँ गोस्वामीजी दो बातें लिखते हैं—समाचारका पाना और शुभ कथाका सुनना। 'समाचार सब लोगन्ह पाए' और 'सुनि सुभ कथा'। समाचार यह है कि श्रीराम-लक्ष्मणजीके कुशलकी पत्रिका आयी है, इसीसे राजाके यहाँ बहुत दान और निछावरें बटीं, नगाड़े और बधाए बज रहे हैं। यह समाचार पाकर लोग अपने-अपने घरमें बधाई बजवाने लगे। (आजकलकी तरह नहीं कि अधिकारियोंके द्वारा दबाव डालकर भूखों मरती हुई, सब प्रकारसे पीड़ित प्रजासे उत्सव मनवाया जाय)। शुभ कथा यह सुनी कि श्रीसीतास्वयंवरमें श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है, बारातकी तैयारी है, विवाह होगा। यह शुभ कथा सुनकर सबको अनुराग हुआ। (ख)—'लोग अनुरागे' इति। भाव कि यह कथा सुननेसे सभासमेत राजाको अनुराग हुआ था, यथा—'सभा समेत राउ अनुरागे।'; अनुरागवश होकर वे दूतोंको निछावर देने लगे थे। वही कथा सुनकर प्रजाको भी अनुराग हुआ, तो वे (बिना किसी ऊपरके दबाव या आज्ञाके स्वयं प्रेमवश) 'मग गृह गली सँवारन लागे'। अनुराग होता है तब उत्सवमें सड़कें, गलियाँ, देवमन्दिर आदि सभी सँवारे जानेकी चाल है। यथा—'हाट बाट मंदिर सुरबासा। सकल सँवारहु चारिहु पासा॥ २८७। ४।' [धनुषभंग, परशुराम-पराजय इत्यादि, यह सब कथा ही ऐसी है कि सुनते ही अनुरागमें डुबा देती है—'सभा समेत राउ अनुरागे'। 'गृह' से देवमन्दिर समझना चाहिये, इसका आशय आगे खुलेगा। आगे घरोंका सजाना अलग कहा गया है।] 'मग'से सड़कें अभिप्रेत हैं। गली कम चौड़ी होती है। गलियाँ वे हैं जो घर-घरको गयी हैं। [जनकपुरके सजानेकी आज्ञा राजा जनकको देनी पड़ी थी, यथा—'नगर सँवारहु चारिहुँ पासा', और रामपुरीमें तो बिना आज्ञाके स्वयं अपनी-अपनी ओरसे पुरजन मग, गृह, गली सँवारने लगे। यह रामपुर और जनकपुरमें फर्क दिखाया। इत्यादि। (प० प० प्र०)]

जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। राम पुरी मंगलमय पावनि॥ ५॥
तदपि प्रीति कै रीति* सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥ ६॥
ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम बिचित्र बजारू॥ ७॥
कनक कलस तोरन मनि जाला। हरद दूब दधि अच्छत माला॥ ८॥

दो०—मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ।
बीथीं सींचीं चतुरसम चौकैं चारु पुराइ॥ २९६॥

शब्दार्थ—चतुरसम (सं० चतुरसम)=एक गन्धद्रव्य जिसमें दो भाग कस्तूरी, चार भाग चन्दन, तीन भाग कुंकुम और तीन भाग कपूरका रहता है। 'चतुर सम' शब्द देकर जनाया कि इसमें चारों वस्तुएँ बराबर-बराबर होती हैं। यह 'अरगजा' के समान ही होता है। 'अरगजा' में प्रायः केशर, चन्दन, कपूर आदि होता है। इससे भी गलियाँ आदि सींची जाती थीं। यथा—'गली सकल अरगजा सिंचाई। १९४। ५।' जन्मके समय 'मृगमद चंदन कुंकुम' से ही सब गलियाँ

* प्रीति—१६६१। 'प्रीति कै प्रीति'—प्रीति पर प्रीति होनेसे। (मानसाङ्क)।

सींची गयी थीं। यथा—'मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥ १९४। ८।' पं० रामकुमार-जीका मत है कि चतुरसम और अरगजा एक ही हैं इसीसे एक जगह अरगजा लिखा, एक जगह 'चतुर सम'। प्रज्ञानानन्द स्वामी लिखते हैं कि स्कन्दपुराणमें 'यक्ष कर्दम' नामक एक सुगन्ध द्रव्यका वर्णन मिलता है जिसमें केशर, कस्तूरी, कंकोल और अगर सम प्रमाणमें होते हैं। उसे यहाँ ले सकते हैं।

अर्थ—यद्यपि अवध सदा ही सुहावन है (क्योंकि यह) श्रीरामजीकी मंगलमयी पवित्र पुरी है*॥ ५॥ तो भी यह प्रीतिकी सुन्दर रीति ही है, इससे सँवारकर मंगल रचना रची गयी॥ ६॥ सुन्दर ध्वजा, पताका, वस्त्र (पाटाम्बर) और चँवरसे बाजार अत्यन्त विचित्र छाया हुआ है॥ ७॥ सोनेके कलश (घट), वन्दनवार, मणियोंकी झालरें, हल्दी, दूब, दही, अक्षत (बिना टूटा हुआ चावल और जौ) और फूलकी मालाओंसे लोगोंने अपने-अपने मंगलमय घरोंको खूब सजाकर मंगलमय बनाया। गलियोंको चतुरसमसे सींचा और सुन्दर चौकें पुरायीं॥ ८, २९६॥

टिप्पणी—१ 'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि।…' इति। (क) यहाँ अवधपुरीको तीन विशेषण दिये—सुहावनि, मंगलमय और पावनी। यह ऐसी सुहावनी है कि मुनियोंका वैराग्य इसे देखकर भूल जाता है। 'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं॥ ७। २७'। मंगलमय है अर्थात् सब सुखोंकी खानि है और श्रीराम-धाम साकेतको प्राप्त कर देनेवाली है। यथा—'रामधामदा पुरी सुहावनि।… सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी॥ ३५। ३—५।', 'मम धामदा पुरी सुखरासी। ७। ३।' 'पावनी' है सबको पवित्र करनेवाली है और अपने स्वरूपसे पवित्र है। यथा—'पावन पुरी रुचिर यह देसा। ७। ४।', 'लोक समस्त बिदित अति पावनि। ३५।' 'देखत पुरी अखिल अघ भागा। ७। २९।' [(ख) यहाँ लोग तीन बातें कर रहे हैं। नगरको शोभित (सुहावना) करते हैं, मंगल-रचना रचते हैं और पवित्र करते हैं (जैसा अगली चौपाइयोंमें कहा गया है), इसीसे कविने भी यहाँ तीन ही विशेषण दिये। सुहावनेको सुहावना कर रहे हैं, यथा—'मग गृह गली सँवारन लागे', 'छावा परम बिचित्र बजारू'—(प्र० सं०)]। मंगलमयमें 'मंगल रचना' रचते हैं, यथा—'मंगल रचना रची बनाई॥' से 'रचे पुराइ' तक। पावनीको चतुरसमसे सींचकर पवित्र करते हैं, यथा—'बीथीं सींचीं चतुरसम'। (यह सब क्यों कर रहे हैं? इसका उत्तर आगे देते हैं। 'तदपि प्रीति कै रीति…')

नोट—१ 'सदैव सुहावनि' से अकृत्रिम शोभाका स्थायी भाव दिखाया और उसका हेतु 'रामपुरी' होना कहा, अतएव 'मंगल मय पावनि' कहकर उभय लोकोंकी सिद्धि दिखायी। 'तदपि' अर्थात् रचनाकी आवश्यकता न थी तो भी प्रीतिके भावकी उमंगने रचना करायी। प्रेमियोंका भाव उत्सवकी तद्रूपता दिखाये बिना नहीं मानता, यह प्रेमोद्गारके भावकी महिमा है'।—(रा० च० मिश्र)।

टिप्पणी—२ 'तदपि प्रीति कै रीति सुहाई।…' इति। (क) तो भी प्रीतिकी रीति सुन्दर है। अर्थात् प्रीतिवाले (प्रेमी लोग) ऐसा ही करते हैं। वक्ता लोग यहाँ प्रीतिकी रीतिकी सराहना करते हैं। प्रीति भगवान्‌की सेवा कराती है (श्रीरामजीमें जो उनकी प्रीति है वही यह सब करवा रही है)। इसीसे प्रीतिकी रीतिको 'सुहाई' कहा। (ख) 'मंगल रचना रची बनाई' इति। 'बनाई' का भाव कि श्रीअयोध्याजीमें रचना तो है ही, उसमें विशेष रचना रचने लगे। (ग) प्रीतिकी रीति कहा है अतः सब कामोंमें प्रीतिकी प्रधानता दिखा रहे हैं। यथा—'सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सँवारन लागे॥' यहाँ सँवारनेमें अनुराग ही मुख्य है। पुनः, 'तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥' यहाँ मंगल रचनामें भी प्रीति ही मुख्य है। प्रीतिकी रीतिकी सुन्दरता प्रत्यक्ष देख पड़ती है। बिना प्रेमके मंगल रचना नहीं होती; प्रेमी ही मंगल रचना करते हैं।

३—'ध्वज पताक पट चामर चारू।…' इति। (क) ध्वज-पताका खड़े किये, वस्त्रोंसे बाजार छाये गये, चँवर जगह-जगहपर टाँगे गये। पुनः, 'छावा' सबके साथ भी हो सकता है। ध्वजा, पताका, चँवर इतने लगाये गये हैं कि इनसे भी बाजार छा गया। (ख) ध्वजा, पताका, पट आदि सब मंगल रचनाएँ हैं, यथा—'मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चमर सुहाए॥ २८९। २।' (ग) 'चारु' का सम्बन्ध 'बाजारु' से भी है। यथा—'चारु बजारु बिचित्र

* अर्थान्तर—अवध सदैव सुहावन, मंगलमय और पावन है क्योंकि रामपुरी है। (पं० रा० कु०)।

लोकरी । २१३ । २ ।', 'बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए । ७ । २८ ।', बीथीं चौहट रुचिर बजारू । ७ । २८ ।' (घ)— 'छावा' इति । ध्वजा, पताका, वस्त्रादिसे छा गया । पुनः, बाजार वितानसे भी छाया गया, यथा—'बना बजारु न जाइ बखाना । तोरन केतु पताक बिताना ॥ ३४४ । ६ ।' (ङ) 'परम बिचित्र' का भाव कि बाजार पहले ही विचित्र था, अब 'परम विचित्र' हो गया । पुनः ध्वजा-पताका-पटादि अनेक रंगके हैं, इससे परम विचित्रता हुई । अथवा, ध्वजा आदि सब बड़े विचित्र हैं; इनसे बाजार छाया है, अतः 'परम विचित्र' है । (च)—जहाँतक बाजारकी रचना कही, आगे निज-निज भवनकी रचना कहते हैं ।

टिप्पणी—४ 'कनक कलस तोमर···' इति । (क) त्रेतायुगमें सबके यहाँ सुवर्णके पात्र होते थे । कलशोंका बनाव बारात लौटनेपर कहा गया है । यथा—'छुहे पुरट घट सहज सुहाए । मदन सकुन जनु नीड़ बनाए ॥ ३४६ । ६ ।' इस समय बारातकी तैयारी की है, इससे यहाँ मङ्गलोंके नाम भर गिना दिये हैं । (ख) 'तोरन मनिजाला' इति । शुभ कथा सुनते ही मणियोंके बंदनवार (और झालरें) लगा दिये । इससे सूचित हुआ कि मणियोंके बन्दनवार आदि बनाये रक्खे रहते हैं, जब प्रयोजन पड़ता है तब लगाते हैं । 'मणिजाला' कहनेसे सूचित हुआ कि बंदनवार अनेक रंगोंकी मणियोंके बने हैं । यथा—'मंजुल मनिमय बंदनिवारे । मनहु पाकरिपु चाप सँवारे ॥ ३४७ । ३ ।' इन्द्रधनुषमें अनेक रंग होते हैं । वैसे ही मणि अनेक रंगके हैं । (ग) 'हरद दूब दधि···' इति । ये सब सोनेके थालोंमें सजाये हुए हैं । यथा—'दधि दुर्बा रोचन फल फूला । नव तुलसीदल मंगलमूला ॥ भरि भरि हेम थार भामिनी । गावत चलीं सिंधुर गामिनी ॥ ७ । ३ ।'

प० प० प्र०—रामपुरीमें 'छावा परम बिचित्र बजारू ॥' और इसके अनुसार समस्त मङ्गल रचनाएँ एवं निज-निज भवन भी 'परम विचित्र' बनाये गये हैं । जनकपुरके भवनका मण्डप 'बिचित्र बिताना' है, 'परम बिचित्र' नहीं । दोनोंकी शोभा अवर्णनीय है । पर इतना साम्य होनेपर भी एककी रचना विचित्र है और दूसरेकी परम विचित्र, यह स्पष्ट है ।

टिप्पणी—५ 'मंगलमय निज निज भवन···' इति । (क) भवन मङ्गलमय हैं । पूर्व जो कहा था कि 'जद्यपि अवध··मंगलमय पावनि ॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई । मंगल रचना रची बनाई ॥' वही प्रसंग अभी चल रहा है । भवन मङ्गलमय हैं, उन्हें मङ्गलमय रचनासे रच रहे हैं । 'मंगलमय मंदिर सब केरे । चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ॥२१३। ५ ।' जो जनकपुरमें कह आये हैं, वैसा ही यहाँ लगा लें । (ख)—'निज भवन' यहाँ कहकर जनाया कि प्रथम देवताओंके मन्दिर सजाये थे, अब अपने-अपने घर सजाते हैं । पूर्व जो 'मग गृह गली' कहा था, वहाँ 'गृह' से देवमन्दिरको जनाया । (ग) 'बनाइ' शब्द यहाँ दिया और पूर्व 'मंगल रचना रची बनाई' में भी 'बनाई' शब्द दिया था । इससे सूचित किया कि बाजारकी और अपने-अपने घरोंकी, दोनोंकी रचना समान (एक-सी) की, इसीसे दोनों जगह यह शब्द दिया । (घ) 'चौकें चारु'—'चारु' कहकर जनाया कि चौकें मणिमय थीं, यथा—'चौकें चारु सुमित्रा पूरी । मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी ॥ २ । ८ । ३ ।' (अथवा, गजमुक्तासे पूरी गयीं, यथा—'चौकें भाँति अनेक पुराईं । सिंधुरमनिमय सहज सुहाईं ॥ २८७ । ८ ।' 'गजमनि रचि बहु चौक पुराईं ॥ ७ । ९ ।' परन्तु 'चारु' शब्द दो ही जगह आया है) ।

जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि । सजि नव सप्त सकल दुति दामिनि ॥ १ ॥
बिधुबदनीं मृग सावक लोचनि । निज सरूप रति मानु बिमोचनि ॥ २ ॥
गावहिं मंगल मंजुल बानीं । सुनि कलरव कलकंठि लजानीं ॥ ३ ॥
भूप भवन किमि जाइ बखाना । बिस्व बिमोहन रचेउ बिताना ॥ ४ ॥

अर्थ—जहाँ-तहाँ बिजलीकी-सी कान्तिवाली, चन्द्रमुखी, हरणीके बच्चेकी-सी नेत्रोंवाली, अपने स्वरूपसे कामदेवकी स्त्री रतिके अभिमानको छुड़ानेवाली सब सुहागिनी स्त्रियाँ सोलहों शृङ्गार किये हुए, झुंड-झुंड बनाकर मिलकर, सुन्दर वाणीसे सुन्दर मङ्गलगान कर रही हैं । उनके सुन्दर मधुर स्वरोंको सुनकर कोकिलें लज्जित हो गयीं । १—३ ॥ राजमहलका वर्णन कैसे किया जा सकता है (कि जिसमें) विश्वभरको विशेष मोहित कर लेनेवाला मण्डप रचा गया है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि ।···' इति । (क) जूथ-जूथ कहनेका भाव कि सब घरोंमें झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ नहीं हो सकतीं, सौ पचास घरोंकी स्त्रियाँ एकत्र हुईं तब एक यूथ बना । इसीसे 'जहँ तहँ' लिखा । (एक-एक मुहल्लेकी एक-एक जगह एकत्र हुईं) । 'मिलि' इससे भी कहा कि स्त्रियोंमें यह रीति है कि वे मिलकर चलती हैं,

मिलकर गाती हैं, यह मर्यादा भी है और इससे शोभा भी होती है। [(ख)—'भामिनि' का अर्थ है 'दीप्तिवती' इसीसे आगे 'द्युति दामिनी' कहा] (ग) 'सजि नवसत' इति। 'जहाँ श्रीरामजीके दर्शनकी आतुरता है वहाँ शृङ्गारका सजना करते नहीं बन सकता (वहाँ तो सुनते ही उठ दौड़ना होता है जैसा कि जन्मोत्सव आदिके समय हुआ था)। यथा—'वृंद वृंद मिलि चलीं लोगाईं। सहज सिंगार किए उठि धाईं॥ १९४। ३।' 'समाचार पुरबासिन्ह पाए। नर अरु नारि हरषि सब धाए॥ ···जो जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं॥ ७। ३।' तब यहाँ शृङ्गार सजना क्यों कहा गया?' उत्तर—यहाँ श्रीरामजीके विवाहका समाचार सुनकर सब सुखी हुई हैं, इसीसे शृङ्गार कर रही हैं (विवाहके समय शृङ्गार किया ही जाता है)। (घ) 'सोलहों शृङ्गार'से जनाया कि ये सब सावित्री हैं, सौभाग्यवती वा सुहागिनी हैं। सोहल शृङ्गार ये हैं—अङ्गमें उबटन लगाना, स्नान करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, केशोंका सँवारना, काजल या सुरमा लगाना, सेंदूरसे माँग भरना, महावर देना, भालपर बेंदी (तिलक) लगाना, चिबुकपर तिल बनाना, मेंहदी लगाना, अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओंका प्रयोग करना, आभूषण पहनना, पुष्पोंकी माला धारण करना, पान खाना और मिस्सी लगाना। यथा—'अंग शुचि मंजन बसन, माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुकमें भूषण मेंहदी वेश॥ मिस्सी काजल अरगजा, बीरी और सुगंध। पुष्पकली युत होय कर, तब नव-सप्त निबंध॥']। (ङ)—'द्युति दामिनि' से जनाया कि एक तो ये सब गौराङ्गिनी हैं, उसपर भी सोलहों शृङ्गारसे शरीरमें शोभा और अधिक हो गयी, क्योंकि सबके मणिमय आभूषणोंसे बिजलीकी दमक अधिक हो रही है।'

टिप्पणी—२ 'बिधु बदनी···' इति। (क) यहाँ वाचक धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार है। स्त्रियोंके मुख और नेत्र उपमेय हैं, विधु और मृगशावक उपमान हैं। धर्म और वाचक नहीं हैं। [चन्द्रमामें 'शशांक' श्याम चिह्न होता है, वैसे ही चन्द्र-बदनमें 'मृगशावक नेत्र' हैं। (प्र० सं०)] (ख) 'निज सरूप रति मान बिमोचनि' में 'पञ्चम प्रतीप अलंकार' है। यहाँ उपमाके स्थानमें रतिका नाम लिया गया, किंतु सुन्दरतामें वह उपमेयकी बराबरीमें व्यर्थ है, उपमेयसे उपमानका निरादर है।

३ 'गावहिं मंगल मंजुल बानी॥···' इति। (क) 'मङ्गल' इति। मङ्गल समयमें देवसम्बन्धी गीतोंका गान मङ्गल-गान कहलाता है। यथा—'गावहिं सुंदरि मंगल गीता। लै लै नाम राम अरु सीता॥' (यह मङ्गल गान है क्योंकि इसमें श्रीसीतारामजीका नाम है)। (ख) 'मंजुल बानी' इति। अर्थात् सुन्दर मधुर वाणीसे, जैसा आगे स्पष्ट है। (ग) 'सुनि कलरव कलकंठि लजानी' इति। कोयलका लज्जित होना इस प्रकार है कि वनके कोकिलोंका बोलना पावसमें बंद हो जाता है और पालतू (पाले हुए) कोयलोंका बोलना आश्विनमासमें बंद होता है। कार्तिकमें सभी कोकिलें चुप रहती हैं। यहाँ स्त्रियोंका मङ्गलगान कार्तिकमें हो रहा है। कोकिलोंका कार्तिकमें बोलना, मानो इन्हींके गानके सुरीले स्वरको सुनकर लज्जित होनेके कारण बंद हो गया।

४—जनकपुर और अयोध्यापुरीकी स्त्रियोंकी शोभा समान (एकही-सी) लिखते हैं।

श्रीअवधवासिनी		श्रीजनकपुरवासिनी।
बिधुबदनीं मृगसावक लोचनि	१	बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि
निज सरूप रति मानु बिमोचनि	२	सब निज तन छबि रति मद मोचनि
सजि नव सप्त सकल द्युति दामिनि	३	पहिरें बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा॥ सकल सुमंगल अंग बनाएँ।
गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठि लजानी॥	४	करहिं गान कलकंठि लजाएँ।

☞ श्रीअयोध्याजीमें श्रीरामजीका प्रभाव है और श्रीमिथिलाजीमें श्रीसीताजीका प्रभाव है।

प० प० प्र०—यह वर्णन श्रीरामपुरीकी पुरवनिताओंका है। इनमें न तो अन्तःपुरकी रानियाँ हैं और न 'ते सुरतिय सुचि सहज सयानी' हैं जिनका उल्लेख ३१८ (६-८) में हुआ है। दोनोंका मिलान सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य है। (१) यहाँ रामपुरीकी सामान्य वनिताओंका वर्णन है और जनकपुरकी रानियों, सुहागिनियों आदि वर नारियोंका दोहा ३१८ में वर्णन है। (२) यद्यपि दोनों विधुवदनी हैं तथापि वहाँ (जनकपुर) की वर नारियाँ केवल 'मृगलोचनि' हैं। मृगशावकके नेत्र अधिक मनोहर और सुन्दर होते हैं। (३) वहाँ 'मोचनि' है तो यहाँ 'वि-मोचनि' (वि=विशेष) है। (४) वहाँ रानियाँ आदि गजगामिनी वर-नारियाँ दूलह रामका परिछन करनेके लिये जान-बूझकर सज-धजकर 'पहिरें

बरन बरन बर चीरा।…' जा रही हैं और यहाँ सामान्य पुरवासिनियाँ गली-गलीसे मिलकर शीघ्रतासे चली हैं, इससे वे केवल सहज शृङ्गार 'किये उठि धाईं' ऐसी गड़बड़ीमें ही घर-घरसे निकली हैं। इस मिलानसे अनुमान करके सिद्धान्त निकालना हम पाठकोंको सौंप देते हैं।

टिप्पणी—५ यहाँतक श्रीअयोध्याजीके घर-घरका हाल कहा। आगे भूप-भवनका हाल कहते हैं।

६ 'भूप भवन किमि जाइ बखाना।…' इति (क) 'किमि जाइ बखाना'—भाव कि जहाँ प्रजाओंके घर-घरका ऐसा हाल है, वहाँके राजाके महलका वर्णन तब कैसे हो सकता है? पुनः, जहाँका एक वितानमात्र विश्वको विमोहित करनेवाला है, वहाँ फिर पूरे राजभवनकी शोभाको कौन कह सके? (ख) 'बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना' इति। आशयसे जान पड़ता है कि जब पुरवासी अपने-अपने घरोंको सजाने लगे, तब राजाने भी गुणी लोगोंको बुलवाकर अपने यहाँ मण्डपकी रचना करायी। [विश्वमें 'विधि' का भी अन्तर्भाव है। जनकपुरके मण्डपको देखकर 'बिधिहि भयउ आचरजु बिसेषी' और यह मण्डप विशेष मोहित करनेवाला है। आश्चर्य और विमोहमें बड़ा अन्तर है। (प० प० प्र०)] (ग)—यहाँ इतनाभर लिखा कि 'बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना', वितानका विस्तारसे वर्णन नहीं किया, और जनकपुरके मण्डपका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है। कारण यह है कि जनकपुरके मण्डपतले विवाह होना है और यहाँ विवाह नहीं होना है, यहाँ तो वितान केवल मङ्गलके लिये बनाया गया। (बारात लौटनेपर इसके नीचे कंकण छोड़नेकी रसम की जाती है और भी कुछ रीतियाँ होती हैं; इसलिये मण्डप दूलहके यहाँ भी छाया जाता है। बारात जानेके पूर्व भी कुछ रीतियाँ होती हैं, पर दूलह यहाँ नहीं है, इससे वे रसमें भी यहाँ न होंगी)। इसीसे जनकपुरमें विस्तारसे कहकर फिर कहा—'जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनै असि मति कबि केही॥ दूलहु रामु रूप गुन सागर। सो बितानु तिहुँ लोक उजागर॥ २८९। ४, ५।' [पुनः, यहाँ अति संक्षिप्त वर्णन करनेमें भाव यह है कि 'चलहु बेगि' को चरितार्थ करना है। इसीसे कविको भी शीघ्रता है। वहाँ जनकभवनकी शोभा 'बरनै असि मति कबि केही' और यहाँ दशरथभवन 'किमि जाइ बखाना' अर्थात् कोई भी बखान नहीं कर सकता (प० प० प्र०)]

मंगल द्रव्य मनोहर नाना। राजत बाजत बिपुल निसाना॥ ५॥
कतहुँ बिरिद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेद धुनि भूसुर करहीं॥ ६॥
गावहिं सुंदरि मंगल गीता। लै लै नामु रामु अरु सीता॥ ७॥
बहुत उछाहु भवनु अति थोरा। मानहुँ उमगि चला चहुँ ओरा॥ ८॥

अर्थ—अनेकों मनके हरनेवाले सुन्दर मङ्गल द्रव्य (पदार्थ) उपस्थित एवं शोभित हैं, बहुत-से डंके-नगाड़े बज रहे हैं॥ ५॥ कहीं तो भाट विरदावली उच्चारण कर रहे हैं और कहीं ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे हैं॥ ६॥ सुन्दर स्त्रियाँ श्रीराम और श्रीसीताजीका नाम ले-लेकर मङ्गल गीत गा रही हैं॥ ७॥ उत्साह तो बहुत है और महल अत्यन्त छोटा है। मानो वह उत्साह उमड़कर चारों दिशाओंमें निकल चला॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'मंगल द्रव्य मनोहर नाना' इति। जनकपुरके वितानके तले सुर-प्रतिमाएँ मङ्गल द्रव्य लिये खड़ी हैं, यथा—'सुरप्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं॥ २८८। ७।' वैसे ही अयोध्याजीमें मण्डपतले 'मंगल द्रव्य…' हैं। 'मनोहर' से जनाया कि सब द्रव्य मणियोंके बने हैं। (ख) 'राजत' कहनेका भाव कि बजानेवाले बड़े प्रवीण हैं, बड़ी प्रवीणतासे बजाते हैं, इससे भवन शोभित होता है। (पं० रामकुमारजी 'राजत' को भवनके लिये मानते हैं। हमने 'राजत' को 'मङ्गल द्रव्य' की क्रिया मानकर अर्थ किया है)। (ग)—'बाजत'—पूर्व निशानोंका बजाना कह आये, यथा—'हरषि हनें गहगहे निसाना। २९६। १।', इसलिये अब बजाना न कहकर केवल उनका बजना कहते हैं। (घ) 'बिपुल निसाना' क्योंकि राजमहल बहुत बड़ा है, प्रत्येक फाटकपर कई-कई नगाड़े बज रहे हैं।

टिप्पणी—२ 'कतहुँ बिरिद बंदी…' इति। (क) जब राजभवनका वर्णन किया तब बंदीका विरद पढ़ना और ब्राह्मणोंका वेदध्वनि करना भी कहा। 'कतहुँ' से जनाया कि सब जगह सब नहीं हैं, कहीं वेदपाठी ब्राह्मण हैं और कहीं भाट हैं, एक जगह दोनों रहते तो दोनोंमें विक्षेप होता। दोनों ही उच्चस्वरसे पढ़नेवाले हैं, इसीसे पृथक्-पृथक् हैं। वंशकी प्रशंसा

'विरद' है, यथा—'बंस प्रसंसक बिरिद सुनावहिं। ३१६। ६।' (ख) बंदी और भूसुर दोनोंको एक साथ कहनेका भाव कि बंदीजन इस लोकमें बड़ाई करते हैं और ब्राह्मण वेद सुनाकर परलोक बनाते हैं।

३ 'गावहिं सुंदरि …' इति। (क) 'सुंदरि' कहकर जनाया कि आभूषण, वर्ण, मुख, नेत्र, स्वर, स्वरूप इत्यादि सब सुन्दर हैं। जो ऊपर 'जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि।' से 'कलकंठि लजानी' तक कह आये, वही यहाँ 'सुंदरि' शब्दसे सूचित किया। (ये अन्तःपुरकी स्त्रियाँ हैं। इनके रूपादिका किंचित् भी उल्लेख न करनेमें 'किमि जाइ बखानी' ही हेतु है।) प० प० प्र०। (ख) बाहरकी ड्योढ़ीसे लेकर भीतर जहाँ स्त्रियाँ हैं वहाँतकका वर्णन करते हैं। बाहरकी ड्योढ़ीपर निशान बज रहे हैं। उसके आगे बंदीजन बिरदावली कह रहे हैं। उसके और आगे ब्राह्मण वेद पढ़ रहे हैं और इनके आगे स्त्रियाँ मङ्गल गीत गा रही हैं। जैसा-जैसा हो रहा है, उसी क्रमसे कवि कह रहे हैं। (ग) 'मंगल गीता' इति। भाव कि जैसे भगवद्गीता, अर्जुनगीता, पाण्डवगीता; वैसे ही 'मङ्गलगीता' है। इसमें मङ्गलहीके गीत हैं। इनमें अपनी ओरसे 'राम' और 'सीता' का नाम मिलाकर गाती हैं। ['वर-दुलहिनका नाम लेना अद्यापि यह रीति है। अब भी चतुर स्त्रियाँ श्रीपार्वतीमङ्गल, श्रीजानकीमङ्गल, विनय आदिके गीत गाती हैं, ऐसे ही तब भी कोई मङ्गल गीत रहा होगा। (घ)—लोकमें प्रसिद्ध है कि वर-मण्डपमें वरके नामसे बनरा और कन्या-मण्डपमें कन्याके नामसे बनरे गाये जाते हैं। यहाँ दोनोंके नामसे गाये क्योंकि जनकपुरवासिनी अवधमें ब्याही थीं जो इनमें सम्मिलित हैं वे सीताजीका नाम लेकर गाती हैं। राम-पक्ष अधिक होनेसे रामका नाम पहले कहा। (रा० च० मिश्र)। (नोट—ब्याहके जो बनरे गाये जाते हैं, उनमें प्रायः वर और कन्याके नाम होते हैं, जहाँ नाम मालूम होते हैं)] (ङ)—ये अयोध्याजीकी स्त्रियाँ हैं, इसलिये ये 'राम' जीका नाम लेती हैं, पीछे 'सीता' नाम लेती हैं। ये स्त्रियाँ भी भवनके भीतर ही कहींपर गा रही हैं, जैसे कहीं बंदीजन और कहीं ब्राह्मण।

टिप्पणी—४ 'बहुत उछाहु भवन अति थोरा।…' इति। (क) 'बहुत उछाहु भवन अति थोरा' यह उमंगका हेतु कहा। (पात्र जब छोटा होता है और वस्तु बहुत तब पात्र भर जानेपर वह बाहर जाती ही है)। (ख) 'मानहुँ उमगि चला…' इति। 'उमग कर चला' कहकर सूचित किया कि भवन 'उछाह' में डूब गया। 'चारों ओर चला' अर्थात् राजमहलके चारों ओर श्रीअयोध्याजीमें होने लगा, महलसे उमड़कर नगरमें भर गया, तब वहाँसे उमगकर चौदहों भुवनोंमें भरा। (ग) 'उमगि चला' कथनसे सूचित किया कि प्रथम राजभवनमें उत्साह-उत्सव हुआ, तब नगरमें और उसके पीछे चौदहों भुवनोंमें; यहाँतक 'बहुत उछाह भवन अति थोरा' का स्वरूप दिखाया। श्रीदशरथजी महाराजके यहाँ निशान आदि बजे और मङ्गलादि हुए। ये सर्वत्र सुननेमें आये। यही उमगकर चारों ओर जाना है।…(मा० पी० प्र०)। (घ) वक्ता 'बहुत उछाह' का वर्णन बाहेरसे करते आ रहे हैं, इसीसे वे चौदहों भुवनोंमें उत्साह कहते हैं—'भुवन चारि दस भरा उछाहू', तब श्रीअयोध्याजीके बाजारमें कहते हैं, यथा—'सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सँवारन लागे॥', फिर अयोध्याजीके घरोंमें, यथा—'मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ।' अन्तमें राजभवनमें कहा, यथा—'भूप भवन किमि जाइ बखाना'।

दो०—सोभा दसरथ भवन कइ को कबि बरनै पार।
जहाँ सकल सुर सीसमनि राम लीन्ह अवतार॥ २९७॥

अर्थ—श्रीदशरथजी महाराजके महलकी शोभा कौन कवि वर्णन कर पार पा सकता है, कि जहाँ समस्त देवताओंके शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीने अवतार लिया?॥ २९७॥

टिप्पणी—१ (क) 'भूप भवन किमि जाइ बखाना। २९७। ५।' उपक्रम है और 'सोभा दसरथ भवन…' पर उसका उपसंहार है। (ख) शोभाका पार कोई कवि नहीं वर्णन कर सकते—इसके दो हेतु बताये। एक तो यह कि श्रीदशरथ महाराजका वैभव भारी है, यह उनका भवन है। दूसरे, यह कि श्रीरामजी समस्त देवताओंके शिरोमणि हैं, उन्होंने यहाँ अवतार लिया है। 'सकल सुर सीसमनि' कहनेका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा-विष्णु-महेश तथा इन्द्रादिके भवनोंमें ऐसी शोभा नहीं है। (जैसे श्रीजनकपुरमें श्रीजानकीजीके सम्बन्धसे उसकी महिमा कही वैसे ही यहाँकी महिमा और शोभाकी अपारता श्रीरामजीके सम्बन्धसे कही गयी)। [पुनः भाव कि जैसे श्रीरामजीकी शोभा अनुपम मन-गोतीत, अनिर्वचनीय

है वैसे ही जिस भवनमें उन्होंने अवतार लिया वह भी अनिर्वचनीय है। जैसे दशरथ गुण-गण बरनि न जाहीं, वैसा ही उनका भवन भी वर्णनातीत है। (प० प० प्र०)]

भूप भरत पुनि लिये बोलाई। हय गय स्यंदन साजहु जाई॥ १॥
चलहु बेगि रघुबीर बराता। सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता॥ २॥
भरत सकल साहनी बोलाए। आयसु* दीन्ह मुदित उठि धाए॥ ३॥
रचि रुचि† जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे॥ ४॥

शब्दार्थ—'साहनी'=हाथी-घोड़े-रथके दारोगा। रुचि=रुचिर, रुचिकर, चमचमाती हुई।

अर्थ—फिर राजाने भरतजीको बुला लिया। (और कहा कि) 'जाकर हाथी, घोड़े और रथ सजाओ॥ १॥ शीघ्र रघुबीर श्रीरामचन्द्रजीकी बारातमें चलो'। यह सुनकर दोनों भाई पुलकसे भर गये॥ २॥ भरतजीने सब दारोगाओंको बुलाकर आज्ञा दी। वे प्रसन्न हो उठ दौड़े॥ ३॥ उन्होंने रुचिर एवं रुचिकर (जो जिस घोड़ेके योग्य थीं उन) जीनोंसे रचकर घोड़ोंको सजाया। रङ्ग-बिरङ्गके और जाति-जातिके उत्तम घोड़े शोभित हो रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'भूप भरत पुनि लिये बोलाई।…' इति। (क) राजाने रनवासको बुलाया और पत्रिका सुनायी, यथा—'राजा सब रनिवास बोलाई।…'। 'पुनि' का सम्बन्ध वहींसे है। जब राजा द्वारपर आये तब उन्होंने भरतजीको बुलवाया। इससे पाया गया कि जब राजा रनवासमें गये तब भरतजीका साथ छूट गया। वे राजाके साथ भीतर मर्यादाका विचार करके नहीं गये कि माता-पिता एकत्र होंगे, स्नेहकी कोई बात हमारे सामने करनेमें सकुचेंगे, क्योंकि अब सयाने हो गये हैं। साथ होते तो बुलाना न कहते। (ख)—'हय गय स्यंदन साजहु…' इति। चतुरंगिणी सेनामेंसे यहाँ घोड़े, हाथी और रथ ये तीन ही कहे, पैदलको नहीं कहा। क्योंकि चतुरंगिणीके यही तीन अङ्ग साजे जाते हैं, पैदल तो स्वयं ही आज्ञा पाते ही सज जाते हैं, घोड़ों आदिको सजाना पड़ता है। (ग)—गुरुजीकी आज्ञा है कि 'सजहु बरात बजाइ निसाना', वही आज्ञा राजा भरतजीको दे रहे हैं। हाथी, घोड़े और रथोंका सजाना ही 'बरातका' सजाना है, यह बात यहाँ स्पष्ट की।

टिप्पणी—२ 'चलहु बेगि…' इति। (क) 'बेगि' की शृङ्खला। (सिलसिला वा क्रम) श्रीगुरुजीसे चली है। प्रथम गुरुकी आज्ञा राजाको हुई कि 'चलहु बेगि'। इसीसे राजाने श्रीभरतजीको 'बेगि' चलनेकी आज्ञा दी। ('रघुबीर' शब्दसे व्यञ्जित होता है कि दशरथजीके अन्तश्चक्षुको श्रीरामजीकी 'कीरति करनी' अभीतक दिखायी पड़ रही है। इस शब्दसे वे जानते हैं कि बारात ऐसी सजाना चाहिये जो रघुवंशी वीरोंके योग्य हो। भरतजी इस आशयको समझ गये। प० प० प्र०)। (ख)—'सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता' इति। प्रथम श्रीराम-लक्ष्मणजीका कुशल-समाचार सुनकर आनन्द हुआ, यथा—'सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता॥'; अब बारात चलनेकी आज्ञा सुनकर आनन्द हुआ कि अब चलकर दोनों भाइयोंका दर्शन होगा; यथा—'सब के उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि राम लखनु दोउ बीर॥ ३००॥' [प्रथम भरतजीने विचारा कि दो भाई उधर हैं और शत्रुघ्नजी लड़के हैं, ऐसा न हो कि महाराज हमें यहाँ छोड़ें कि कोई यहाँ अवश्य चाहिये। पर जब 'चलहु' कहा, तब बड़ा आनन्द हुआ, शरीर भरपूर पुलकायमान हो गया। (प्र० सं०)। 'दोउ भ्राता' कहनेसे पाया गया कि भरतजीके साथ-ही-साथ शत्रुघ्नजी भी आये। ये उनके अनुगामी हैं, सदा साथ रहते हैं। प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत है कि बहुत दिनोंसे वियोग है, आज यह श्रीरामजीकी अल्प सेवा बड़े भाग्यसे मिली, अतः पुलकित हुए।]

३—'भरत सकल साहनी…' इति। (क) 'सकल साहनी' अर्थात् घोड़ोंके साहनी, हाथियोंके साहनी और रथोंके साहनी, सबके साहनियोंको बुलाया। (ख)—'आयसु दीन्ह'—क्या आज्ञा दी यह यहाँ नहीं लिखते, क्योंकि राजाकी आज्ञामें उसे स्पष्ट कह आये हैं। 'हय गय स्यंदनु साजहु जाई' यह आज्ञा भरतजीने भी दी। (ग) 'मुदित'—साहनी भी मुदित हुए, क्योंकि यह बात ही बड़े हर्षकी है, जो सुनता है वही हर्षित होता है। यथा—'सभा समेत राउ

* आयसु—१६६१। † 'रचि रचि'—को० रा०। दीनजी 'रचि रचि' को उत्तम पाठ मानते हैं। उसका अर्थ होगा 'जीन रच-रचकर अर्थात् उसपर अनेक प्रकारकी रचना करके घोड़ोंपर सजायी गयी।' भागवतदासजी, गौड़जी, १६६१, १७०४, १७२१, १७६२में 'रुचि' है।

अनुरागे', 'प्रेम प्रफुल्लित राजहिं रानी', 'सुनि सुभकथा लोग अनुरागे', 'सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता', 'आयसु दीन्ह मुदित उठि धाए', इत्यादि । (घ)—'उठि धाए' से जनाया कि भरतजीने घोड़े आदि शीघ्र ही सजानेकी आज्ञा दी। गुरुने राजाको, राजाने भरतजीको और इन्होंने साहनी लोगोंको शीघ्रता करनेकी आज्ञा सिलसिलेसे दी।

टिप्पणी—४ 'रचि रुचि जीन…' इति। (क) यहाँ 'रुचि' से 'रुचिर' समझना चाहिये। ['रुचि' के दोनों अर्थ यहाँ गृहीत होंगे। एक तो 'सुन्दर शोभाके अनुकूल, फबती हुई, योग्य, चमकदार और दूसरे अपनी-अपनी रुचिकी जीन। अर्थात् जिस घोड़ेपर जो खिले, फबै, वही उसपर अच्छी तरह सजाकर लगाते हैं। यहाँ 'तुरग' नाम देकर शीघ्रताकी हद कर दी] (ख) 'तुरग' का भाव कि जो 'तुर (तुरा, त्वरा वा वेग) से गमन करे' अर्थात् शीघ्रगामी घोड़े। (इसी शीघ्रताको आगे चौ० ६ में 'निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने' से पुष्ट किया है। यहाँ शीघ्रताका काम है, इससे घोड़ोंके साजका वर्णन इतनेहीमें कर दिया)। रचि 'रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे' इतना ही यहाँ कहा, क्योंकि आगे दोहा ३१६ में जब श्रीरामजी घोड़ेपर सवार होंगे तब इनका साज-शृङ्गार विस्तृतरूपसे वर्णन करेंगे। यथा—'जगमगत जीनु जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे। किंकिनि ललाम लगामु ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे॥' ('वहाँ न कहना होता तो यहाँ लिख देते)। (ग)—'बरन बरन बर बाजि बिराजे' इति। ('बरन-बरन' अर्थात् सब्जा, श्यामकर्ण सुमन्द, नकुल, हंस, कुमैत, ताजी, अबलक, सुरखाब, अर्बी इत्यादि)। वर्ण-वर्णके कहकर 'बिराजे' कहनेका भाव कि जिस वर्णमें जैसी जीन शोभित होती है वैसी उसमें साजी है। 'बिराजे' का भाव कि एक तो घोड़े ही 'बर' (श्रेष्ठ) हैं, दूसरे वर्णके अनुकूल जीनसे साजे गये हैं, इससे विशेष राजते (शोभित होते) हैं।

सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी॥ ५॥
नाना जाति न जाहिं बखानें। निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने॥ ६॥
तिन्ह सब छयल भए असवारा। भरत सरिस बय राजकुमारा॥ ७॥
सब सुंदर सब भूषन धारी। कर सर चाप तून कटि भारी॥ ८॥

दो०—छरे छबीले छयल सब सूर सुजान नवीन।
जुग पदचर असवार प्रति जे असिकला प्रबीन॥ २९८॥

शब्दार्थ—अय (अयस्)=लोहा। छयल (छैल)=बने-ठने, रंगीले। छरे=छटे हुए, चुने हुए। छबीले=छवि वा शोभायुक्त, बाँके, कान्तिमान्। यथा—'शोभा कान्तिः द्युतिः छविः'

अर्थ—सभी अत्यन्त 'सुभग' हैं और सभीकी अत्यन्त चंचल करनी (चाल) है। वे पृथ्वीपर ऐसे पैर रखते हैं जैसे जलते हुए लोहेपर पैर रखते हों॥ ५॥ वे अनेकों जातिके हैं। उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। मानो पवनका निरादर करके उड़ना ही चाहते हैं॥ ६॥ उन सबोंपर भरतजीके समान अवस्थावाले बने-ठने रंगीले राजकुमार सवार हुए॥ ७॥ सभी सुन्दर हैं, (अंगोंमें) सब आभूषणोंको, हाथोंमें धनुष-बाणको और कमरमें भारी तरकसको धारण किये हैं॥ ८॥ सभी छटे हुए छबीले छैल शूरवीर, सुजान और नवीन (किशोर अवस्थाके अर्थात् नवयुवक) हैं। प्रत्येक सवारके साथ दो-दो पैदल हैं जो असि-कला (तलवारके हुनर कौशल) में कुशल हैं॥ २९८॥

टिप्पणी—१ 'सुभग सकल सुठि…' इति। (क) 'सुभग' शब्द 'सुन्दरता' और सुन्दर ऐश्वर्य दोनों अर्थोंका यहाँ बोधक है। घोड़े सुन्दर हैं और ऐश्वर्ययुक्त हैं। अर्थात् अनेक आभूषणोंको धारण किये हुए हैं। 'सकल' देहलीदीपकन्यायसे दोनों ओर लगता है। सभी सुन्दर हैं, और सभीकी करनी चञ्चल है। 'सुठि' कहकर जनाया कि और घोड़े भी चञ्चल होते हैं पर, ये 'अत्यन्त चंचल' हैं। (ख)—'सुठि चंचल करनी' अर्थात् चलनेमें, कूदनेमें, नाचनेमें और दौड़नेमें बहुत ही तेज हैं। चञ्चल करनीका आगे दृष्टान्त देते हैं—'अय इव…'।

टिप्पणी—'नाना जाति न जाहिं बखाने…' इति। (क) संसारमें तीन स्थल हैं—जल, थल, और नभ। तीनोंका हाल कहते हैं। थलमें जलते हुए लोहे (पर पैर धरने) के समान पैर धरते हैं—'अय इव जरत…'। पवनका निरादरकर आकाशमें उड़ना चाहते हैं। और जलमें थलकी तरह चलते हैं, यथा—'जे जल चलहिं थलहिं की नाईं'। (ख) ('नाना

जाति न जाहिं बखाने' अनेकों जातिके हैं, बखाने नहीं जा सकते, यह कहकर भी कुछ जातिका संकेत भी कर दिया है)। 'भर इव जरत धरत पग धरनी' ये 'जमावटि' हैं। 'निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने' ये 'कुदैती' हैं। 'निदरि पवन' से जनाया कि ये पवनवेगी घोड़े हैं। [इसी प्रकार यहाँ जलचर, थलचर, नभचर तीन जातिके भी जना दिये। यथा—'भर इव जरत धरत पग धरनी' से थलचर; 'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने' से नभचर और 'जे जल चलहिं' से जलचारी। 'जे जल चलहिं···' ये दरियायी घोड़े हैं। (प्र० सं०)] (ख) 'जनु चहत उड़ाने'—भाव कि उड़ना चाहते हैं, पर उड़ने नहीं पाते, क्योंकि सेवक उन्हें थामे हुए हैं।

३ 'तिन्ह सब छयल भए असवारा।···' इति। (क) 'सब छयल' अर्थात् छैलोंको छोड़ अन्य अवस्थावाले इनपर नहीं सवार हुए। (ख) 'भरत सरिस बय' का भाव कि जब भरतजी घोड़ेपर सवार हुए तब उन्होंने अपने समान अवस्था-वाले राजकुमारोंको अपने साथ लिया। यह राजाओंकी चाल है। वे अपने रूप और अवस्थाके समान पुरुषोंको खोजकर संगमें रखते हैं। (ग) ['छयल' से सबकी किशोर अवस्था सूचित की। 'भरत सरिस···' से यह जनाया कि सबके आगे भरतजीकी सवारी निकली; क्योंकि राजाकी आज्ञा है कि शीघ्र चलो। अतः भरतजीने सोचा कि हमारे आगे चलनेसे सब शीघ्रता करेंगे। यहाँ सब छैले हैं, क्योंकि भरतजीके साथवालोंका वर्णन है। अपनी-अपनी अवस्था इत्यादि वाले एक साथ रहते हैं, तभी शोभा होती है। (प्र० सं०)] (घ)—'राजकुमारा' इति। ये सब राजकुमार ही हैं। अन्य जातिके कुमार इनमें नहीं हैं। भरतजी राजकुमार हैं, इसीसे उन्होंने राजकुमारोंको संग लिया।

४—'सब सुंदर सब भूषन धारी।···' इति। (क) दूसरा 'सब' भूषण और भूषणधारी दोनोंके साथ है। सभी भूषणधारी हैं और सभी आभूषण धारण किये हैं। 'सब' अर्थात् जितने आभूषण पुरुषोंमें पहने जाते हैं वे सब। 'सब सुंदर सब भूषन···' कहकर जनाया कि भरतजीके समान ही ये भी सुन्दर आदि हैं। (ख) आभूषणके समीप धनुष-बाणका वर्णन करके सूचित किया कि धनुष-बाण भी वीरोंके आभूषण हैं। पुनः इस समय बारातकी तैयारी है और ये सब छैले, छैले और नवयुवक हैं, इससे आभूषण धारण किये हैं; और वीर हैं, इससे धनुष-बाण धारण किये हैं। (ग) पूर्वार्ध 'सब सुंदर सब भूषन धारी' इस चरणमें शृङ्गार कहा और 'कर सर चाप तून कटि भारी' इस चरणमें वीररस कहते हैं। (शृङ्गार और वीररस दोनों साथ कहनेका भाव कि) जैसे कामदेव शृङ्गारमूर्ति है और वीरोंमें प्रधान है, यथा—'जाकी प्रथम रेख भट माहीं' (विनय ४; वैसे ही ये सब रघुवंशी राजकुमार सुन्दर और वीर हैं। (घ) 'तून कटि भारी' इति। भारी तरकश है अर्थात् उसमें बहुत बाण भरे हुए हैं। बहुत बाणोंसे भरा भारी तरकश लेनेका तात्पर्य यह है कि सब सुन चुके हैं कि जनकपुरमें तीनों लोकोंके वीरोंका मान भङ्ग हुआ है, न जाने विवाहके समय कौन वीर कहाँसे युद्धके लिये आ जाय, इसीसे सब साधन साथ हैं। (पुनः इनको छरे-छबीले और छैला कह आये हैं, इसमें संदेह हो सकता है कि ये सब बड़े कोमल और सुकुमार होंगे, अतः 'कर सर चाप तून कटि भारी' कहकर जनाया कि ये वीर हैं)। [राजाने तो इतना ही कहा था—'हय गय स्यंदन साजहु जाई।···' तथापि यह सब भरतजीकी सावधानता है। 'रघुबीर बराता' का भाव यहाँ चरितार्थ किया है। प० प० प्र०।]

टिप्पणी—५ 'छरे छबीले छयल सब सूर···' इति। (क) जो ऊपर 'तिन्ह सब छयल भए असवारा' कह आये वे ही 'छरे छबीले···' हैं। 'छयल' विशेष्य हैं और सब विशेषण हैं। ऊपर 'सुन्दर' कहा और यहाँ 'छबीले', इसमें पुनरुक्ति नहीं है। जैसे चन्द्रमा सुन्दर है और कान्तिमान्, वैसे ही ये सब छैल सुन्दर हैं और कान्तिमान्। छबीले=कान्तिमान्। (ख) पूर्वके वर्णनको यहाँ स्पष्ट करते हैं। (१) भरतसरिस वय है। कौन वय है?—नवीन। (२) राजकुमार हैं। इसीसे 'छरे' कहा। अर्थात् छाँटकर सब राजकुमारोंको ही सङ्गमें लिया है, दूसरी जातिको नहीं। (३) सुन्दर हैं, इसीसे छबीले हैं। (४) भूषणधारी हैं, क्योंकि सब छैले हैं। (५) 'कर सर चाप' है, क्योंकि सब शूरवीर हैं। (६) कटिमें भारी तूणीर है, क्योंकि सब बाणोंके प्रयोगमें सुजान हैं। [यहाँ छः विशेषण दिये गये जो गुण ऊपर चौपाईमें कहे, वे सब यहाँ एकत्र किये गये। यथा—पूर्व कहा कि 'भरत सरिस बय राजकुमारा' उसकी जोड़में यहाँ 'नवीन', पूर्व 'राजकुमार' उसकी जोड़में यहाँ 'छरे'। पूर्व 'सब सुंदर' यहाँ 'छबीले'। पूर्व 'भूषन धारी' और 'छयल भए असवारा' कहा और यहाँ 'छयल'। पूर्व 'कर सर चाप' यहाँ 'सूर सुजान'।। 'सूर सुजान' से जनाया कि बाण चलानेमें सब सुजान हैं, ऐसा नहीं कि अस्त्रका मन्त्र न जानते हों। (प्र० सं०)। अभिप्राय दीपककार इस दोहेके भावमें यह दोहा देते हैं—'नख मुनि मन बसु बसु

ऊपर दिगि लिखि कलव तुरंग। अय छकार रे बिले यल यूथप सेन प्रसंग॥ ९५॥' जिसका अर्थ यह है कि, छरे= जिसके साथ 'नख (२०)+मुनि (७)=२७०० घोड़े हों, छबीले=जिसके साथ 'मन (४०)+वसु (८)=४८०० घुड़सवार हों। छयल=जिसके साथ 'वसु (८)+दिग (१०)=८१० सवार हों। छरे, छवीले, छयल क्रमशः शूर, सुजान और नवीन हैं। (अ०दी०च०)] (ग) 'जुग पदचर असवार प्रति' इति। दो-दो पैदल साथ होनेका भाव कि एक तो घोड़े भारी हैं, सुन्दर हैं, एक पैदलके सँभाले नहीं सँभले रह सकते, दूसरे जब सवार घोड़ेसे उतरे तब भी दो सेवक घोड़ा सँभालनेके लिये चाहिये (क्योंकि ये अत्यन्त चञ्चल हैं), अथवा, एक घोड़ेको थामे सँभालेगा और एक मालिककी सेवामें रहेगा। (घ) 'जे असि कला प्रबीन' इति। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' के अनुसार यहाँ असिसे 'अश्व' अभिप्रेत है। ('अश्व' पाठ रखनेसे एक मात्रा बढ़ जाती। मात्राएँ १२ हो जातीं और होनी चाहिये ११ ही। इसीसे 'असि' कर दिया) जैसे 'द्विविद मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि। ५। ५४' में अनुप्रासके लिये 'विकटास्य' का 'विकटासि' कर दिया गया। अश्वकलामें प्रवीण अर्थात् जो घोड़ेके सम्बन्धकी सब बातें जानते हैं। [प्रायः सभी टीकाकारोंने इसे पदचरका विशेषण मानते हुए 'तलवार चलानेमें कुशल' यही अर्थ किया है। श्रीवैजनाथजीने 'अश्वकला' अर्थ भी किया है। प्रसंगसे अर्थ सुन्दर बैठ जाता है; पर 'अश्व' अर्थमें लड़ो खींच जान पड़ती है। 'असु' का 'अश्व' सरलतासे हो जाता। 'असिकला प्रवीण' पाठमें भाव यह होगा कि जिसमें वे सवारको रक्षामें सावधान रहें। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि यदि तलवारसे युद्ध करनेका प्रसंग आ जाय तो असिकलाकुशल पैदल आवश्यक होंगे, अतः उनको साथ लिया।]

बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े। निकसि भये पुर बाहेर ठाढ़े॥ १॥
फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना॥ २॥
रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाए। ध्वज पताक मनि भूषन लाए॥ ३॥
चवँर चारु किंकिनि धुनि करहीं। भानु जान सोभा अपहरहीं॥ ४॥
सावकरन* अगनित हय होते। ते तिन्ह रथन्ह सारथिन्ह जोते॥ ५॥

शब्दार्थ—बिरद=बाना; वेशविन्यास। गाढ़े=दृढ़। रनगाढ़े=रणमें दृढ़=रणधीर। फेरना=घोड़ोंको घुमाना, फिराना-चक्कर देना। पनव=ढोल। लाए=लगाकर। सावकरन (श्यामकर्ण)—इन घोड़ोंका सारा शरीर श्वेतरंगका होता है, केवल एक कान काला होता है। अश्वमेध यज्ञमें हवन किये जानेवाले बछेड़े घोड़े। पूर्व समयमें अश्वमेधमें यही घोड़े काममें लाये जाते थे। होते=यज्ञमें हवन करने योग्य। अथवा, हवनकी अग्निसे निकले हुए।

अर्थ—(कठिन संग्रामके) वीरोंका बाना धारण किये हुए रणमें धीर सब निकलकर नगरके बाहर आ खड़े हुए॥ १॥ (वे) चतुर सवार (अपने-अपने) चतुर घोड़ोंको अनेक चालोंसे फिरा रहे हैं और ढोल एवं नगाड़ोंका शब्द सुन-सुनकर प्रसन्न होते हैं॥ २॥ ध्वजा, पताका, मणि और आभूषणोंको लगाकर सारथियोंने रथोंको विचित्र बना दिया है॥ ३॥ (उनमें) सुन्दर चँवर लगे (वा रखे हुए) हैं, घंटियाँ शब्द कर रही हैं। (ये रथ) सूर्यके रथकी शोभाको हरण किये (छीने) लेते हैं॥ ४॥ अगणित हवनकी अग्निसे निकले हुए श्यामकर्ण घोड़े हैं, उनको उन सारथियोंने रथोंमें जोता॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े···।' इति। (क) वीरोंका बाना धारण किये हैं, यह (बाना) पूर्व कह आये हैं, यथा—'कर सर चाप तून कटि भारी।' रणमें गाढ़े हैं अर्थात् कालको भी नहीं डरते, यथा—'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी'। (ख) 'पुर बाहेर ठाढ़े'—नगरके बाहर खड़े होनेका प्रयोजन अगले दोहेमें स्पष्ट करते हैं। यथा—'चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर लागी जुरन बरात'। (अर्थात् सारी बारात जुटानेके लिये बाहर आकर खड़े हुए जिसमें सब यहाँ आकर एकत्र हों, सब बारात आगे-पीछेके क्रमसे यहाँ सजकर तब चलेगी)। (ग) पुनः, 'बाँधे··बीर··ठाढ़े' का भाव कि मानो वीर-बाना बाँधकर पुरके बाहेर रणमें खड़े हुए हैं ऐसा वीररसका आवेश (सबको) है।

२—'फेरहिं चतुर तुरग गति नाना।···' इति। [(क) 'फेरहिं' शब्दसे लक्षित होता है कि घोड़े बड़े चञ्चल हैं, खड़े नहीं रह सकते, आगे बढ़ बढ़ जाते हैं, राजकुमार बाग (लगाम) खींच-खींचकर कड़ी करके उनको फेरते हैं, घुमाते

* स्यामकरन—को० रा०।

होते हैं ।] (ख) 'हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना' इति । पनव और निशान आदि बाजे वीर-रसके उद्दीपक हैं। इनको सुनकर वीर सुखी होते हैं; यथा—'पनव निसान घोर रव बाजहिं । प्रलय समय के घन जनु गाजहिं ॥ भेरि नफीरि बाज सहनाई । मारू राग सुभट सुखदाई ॥ ६ । ७८ ।', 'बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ । सुनि धुनि होइ भटन्ह मन चाऊ ॥ बाजहिं भेरि नफीरि अपारा । ६ । ४० ।' सब रघुवंशी राजकुमार वीर-बाना बाँधकर नगरके बाहेर खड़े हुए, यह देखकर बजानेवालोंने ढोल, नगाड़े मारू रागसे बजाये, इसीसे वीर सुन-सुनकर सुखी हुए । (ग) यहाँतक भरतजीकी सवारी कही । राजाकी आज्ञा थी कि 'चलहु बेगि रघुबीर बराता ।' इसीसे सबसे पहले भरतजीने अपनी सवारी निकाली (अपने राजकुमार सखाओंसहित बाहेर आकर खड़े हुए) जिसमें सब लोग जल्दी करें (और वहीं आ जावें) । (घ) ☞ जहाँ जैसा काम होता है वहाँ वैसे ही पणव-निशान आदि बजाये जाते हैं । (बाजा बजानेवाले मौका देखकर उसीके अनुकूल रागसे बाजा बजाते हैं) । घोड़ा नचानेके लिये तालसे बजाते हैं, यथा—'तुरग नचावहिं कुँअर बर अकनि मृदंग निसान । नागर नट चितवहिं चकित डगहिं न ताल बँधान ॥ ३०२ ।' गानेके लिये मधुर बजाते हैं, यथा—'कल गान मधुर निसान बरषहिं सुमन सुर सोभा भली । ३१८ ।' और, वीरोंके सुखके लिये मारू रागसे बजाते हैं—'हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना' । ☞ चतुर सवार घोड़ोंको जब जैसा नचाते हैं तब तैसा ही बजनिये बाजा बजाते हैं ।

टिप्पणी—३ 'रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाए ।...' इति । 'बिचित्र बनाए' कहकर आगे विचित्रता कहते हैं कि ध्वजा, पताका और मणि-भूषण उनमें लगाये हैं । 'बिचित्र' से जनाया कि अनेक रङ्गोंके वस्त्र, मणि और भूषण ध्वजा और पताकाओंमें लगे हैं । वीरोंके रथोंमें ध्वजा पताका रहती हैं । 'लाए' में मध्यम अक्षर 'ग' का लोप है । शुद्ध 'लगाये' हैं ।

४—'चँवर चारु किंकिनि धुनि करहीं ।...' इति (क) चँवर धरे हुए हैं । इससे सूचित किया कि यह रघुवंशी राजाओंके लिये हैं, सेवक लोग पीछे बैठकर चँवर करेंगे । (अर्थात् सिरपर चँवर घुमाया करेंगे) । किंकिणियाँ रथोंमें शोभाके लिये बाँधी जाती हैं । (ख) 'धुनि करहीं' इति । [शंका—अभी तो रथोंमें घोड़े नहीं जोते गये, रथ चले नहीं, तब किंकिणीकी ध्वनि कैसे हुई ? समाधान—रथोंमें घंटियाँ टँगी हुई हैं, वे पवनके वेगसे बजती हैं । अथवा, जब सारथी रथोंको खींचकर मौकेपर घोड़ोंको उनमें नाधनेके लिये ला रहे हैं तब वे बज रही हैं । (प्र० सं०)] किंकिणियाँ ध्वनि करनेके लिये बाँधी गयी हैं । जब रथ चलता है तब शब्द होता है जैसे शब्द होनेके लिये हाथियोंके गलेमें घंटा और घोड़ोंके पैरोंमें पैजनियाँ वा घुँघरू बाँधे जाते हैं । (ग) 'भानु जान सोभा अपहरहीं' इति । सूर्यके विमानकी उपमा देनेका भाव कि सूर्यवंशियोंके रथकी उपमा त्रैलोक्यमें नहीं है, इसीसे अपने घरकी ही उपमा दी । (सूर्यका ही यह वंश है) । 'भानु जान' की उपमासे जनाया कि रथ अत्यन्त दीप्तिमान् हैं और दिव्य हैं । (दीप्तिमान् जनानेके लिये 'भानु' शब्द दिया) ।

५—'सावकरन अगनित हय होते ।...' इति । (क) रथ ऐसे दिव्य हैं कि सूर्यके विमानकी शोभा उनके आगे मन्द वा फीकी लगती है । इसीसे रथके अनुकूल घोड़े भी दिव्य चाहिये, वही यहाँ कहते हैं कि एक तो वे श्यामकर्ण हैं, दूसरे अग्निसे निकले हुए हैं । (ख) 'अगनित' का भाव कि श्यामकर्ण घोड़े बहुत नहीं होते, पर यहाँ 'अगणित' हैं ।

नोट—१ 'होते' शब्दके और भी अर्थ किये जाते हैं । पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि 'होते' क्रिया है । यह क्रिया कविके वर्तमान समयमें श्यामकर्ण घोड़ोंका अभाव सूचित कर रही है । इस तरह 'होते'=होते थे । मानसाङ्कमें इसका अर्थ 'थे' किया है । पं० रामकुमारजी इसके और भाव यह कहते हैं—श्यामकर्ण घोड़े कैसे हैं ? 'होते' हैं, 'अर्थात् चढ़ती उम्रके हैं, अभी पूरे जवान नहीं हो चुके । अथवा, भाव कि ये ऐसे भारी मूल्यके हैं कि इनके मूल्यमें अगणित श्यामकर्ण घोड़े होते । २—'ते तिन्ह रथन्ह...जोते'—प्रत्येक रथमें चार-चार घोड़े जोते गये, यथा—'तुरग लाख रथ सहस पचीसा ।' (प० प० प्र०) ।

सुंदर सकल अलंकृत सोहे । जिन्हहिं बिलोकत मुनि मन मोहे ॥ ६ ॥
जे जल चलहिं थलहि की नाईं । टाप न बूड़ बेग अधिकाई ॥ ७ ॥
अस्त्र सस्त्र सबु साजु बनाई । रथी सारथिन्ह लिए बोलाई ॥ ८ ॥

दो०—चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर लागी जुरन बरात ।
होत सगुन सुंदर सबहिं जो जेहि कारज जात ॥२९९॥

शब्दार्थ—अलंकृत=अलंकारोंसे सुसज्जित; गहने पहने हुए, सजाये हुए। टाप=घोड़ेके पैरका वह सबसे निचला भाग जो जमीनपर पड़ता है और जिसमें नाखून लगा रहता है; सुम। 'अस्त्र'—यह उन सब हथियारोंकी संज्ञा है जो फेंककर शत्रुपर चलाये जावें, अथवा जिनसे कोई चीज फेंकी जाय, अथवा जिनसे शत्रुके चलाये हथियारोंकी रोक हो, अथवा जो मन्त्रद्वारा चलाये जावें। इनके अतिरिक्त सब शस्त्र हैं। रथी=रथपर चढ़कर चलनेवाले योद्धा। एक सहस्र योद्धाओंसे अकेला लड़नेवाला योद्धा। रथके सवार।

अर्थ—(जो) सभी (देखनेमें) सुन्दर हैं और सभी अलङ्कारोंसे सुशोभित हैं। जिन्हें देखते ही मुनियोंके मन मोहित हो जाते हैं॥ ६॥ जो जलमें (भी) पृथ्वीके समान ही चलते हैं। वेगकी अधिकतासे टाप (जलमें) नहीं डूबने पाती॥ ७॥ अस्त्र-शस्त्र और सब साज सजाकर सारथियोंने रथियोंको बुला लिया॥ ८॥ रथपर चढ़-चढ़कर नगरके बाहर बारात जुटने लगी, जो भी जिस कामको जाता है, सभीको सुन्दर शकुन हो रहे हैं॥ २९९॥

टिप्पणी—१ 'सुंदर सकल···' इति। (क) अर्थात् पहले स्वरूपसे सुन्दर हैं और अलङ्कारयुक्त होनेसे सुशोभित हैं। इस तरह दोनों तरहकी शोभा कही। (ख) 'बिलोकत मुनि मन मोहे' इति। मुनियोंके मन विषयप्रपंचरहित, 'विषय रस रूखे' होते हैं। शोभा देखना नेत्रोंका विषय है। विषयरहित मन जब मोहित हो गये, तब औरोंकी क्या कही जाय! इससे जनाया कि घोड़े अत्यन्त सुन्दर और शोभायुक्त हैं। (ग) घुड़सवार राजकुमारोंका अलंकारोंसे सुसज्जित होना कहा, यथा—'सब सुंदर सब भूषन धारी' पर उनके घोड़ोंका अलंकृत होना न कहा, यथा—'रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे॥ सुभग सकल सुठि चंचल करनी।···' इत्यादि और, यहाँ रथियोंके घोड़ोंका अलंकृत होना कहा, यथा—'सुंदर सकल अलंकृत सोहे' पर रथियोंका आभूषणोंसे सुसज्जित होना न कहा, यथा—'अस्त्र सस्त्र सबु साजु बनाई। रथीं सारथिन्ह लिए बोलाई॥ ८॥' इत्यादि। इसमें तात्पर्य यह है कि एक-एकको एक-एक जगह वर्णन करके सूचित किया कि यहाँ (के घोड़ोंका शृङ्गार) का वहाँ (पूर्व कहे हुए राजकुमारोंके घोड़ोंमें) ग्रहण कर लिया जाय और वहाँसे (राजकुमारोंके शृङ्गारका जो वर्णन हुआ है उसे) यहाँ (रथियोंमें) ग्रहण कर लिया जावे। यह ग्रन्थकारका काव्यकौशल है, बुद्धिमत्ता है, शैली है। भाव यह कि एक जगहका वर्णन दूसरी जगह लगा लेना चाहिये, नहीं तो ग्रन्थ बढ़ जायगा। क्योंकि दोनों जगह शृङ्गार एक-सा है।

२ 'जे जल चलहिं···' इति। (क) ये दरियाई घोड़े हैं। सवारोंके घोड़ोंके लिये आकाश-गमनकी उत्प्रेक्षा की, यथा—'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने॥' और रथियोंके घोड़ोंका जलमें स्थलकी तरह चलना कहते हैं। भेदमें तात्पर्य यह है कि सवारोंके घोड़े तो सवारोंको लेकर नदी आदिको लाँघ जाते हैं और रथियोंके रथके घोड़े आकाशगामी नहीं हैं, वे जल और थल दोनोंमें बराबर एक-से चलते हैं। उनके पीछे रथ बँधे हैं। इसलिये उनका बराबर चलना ही ठीक है, उड़ना ठीक नहीं है। [वहाँ उड़ना कहा गया और यहाँ जल-थलमें बराबर चलना कहा। कारण कि पूर्वके घुड़सवार राजकुमार घोड़ोंके उड़ने, कूदने या उछलनेसे गिर नहीं सकते, ज्यों-के-त्यों घोड़ेपर रहेंगे और रथवाले घोड़े यदि उड़नेवाले होते तो रथको लेकर उड़नेपर रथ टँग जायँ और सवार गिर पड़ेंगे। (प्र० सं०)] (ख) यहाँतक घोड़ोंकी तीन प्रकारसे सुन्दरता कही। श्यामकर्ण होनेसे जातिके सुन्दर हैं। स्वरूपसे सुन्दर हैं तथा अलंकृत होनेसे सुन्दर हैं। और, चाल भी सुन्दर है कि जलपर भी थलके समान ही चलते हैं।

३ 'अस्त्र सस्त्र सबु साजु बनाई।···' इति। (क) क्षत्रियोंका मुख्य साज अस्त्र-शस्त्र ही है, इसीसे इसे प्रथम कहा। 'सबु साजु' अर्थात् गद्दी, मसनद, अतरदान, पानदान, वस्त्र और आभूषण आदि। (ख) पूर्व 'रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाए' कहा और यहाँ 'अस्त्र सस्त्र सबु साजु बनाई' कहा। दोनों जगह 'बनायी' वा 'बनाये' कहकर सूचित किया कि जैसे विचित्र रथ बने हैं वैसे ही सब साज विचित्र बना है। (ग) 'रथी सारथिन्ह लिए बोलाई॥' इति। भरतजीकी आज्ञा सबको एक साथ हुई, यथा—'भरत सकल साहनी बोलाए। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाए॥' घोड़ेवाले सेवकोंने घोड़े जल्दी तैयार कर लिये, राजकुमार जल्दी सवार हो लिये, उन्हें बुलाना न पड़ा। सारथीको रथ और घोड़े दोनों तैयार करना पड़ता है, फिर अस्त्र-शस्त्र और अन्य सब साज भी तैयार करना होता है। यह सब काम समझकर रथी लोग जल्दी नहीं करते, जब सारथी रथ, घोड़े और सब साज ठीककर घोड़ा जोतकर रथ तैयार कर लेते हैं तब रथीको बुलाते हैं। अतः

यहाँ बुलाना कहा। [सवारोंके घोड़ोंको सजानेमें देर नहीं लगती। जितनी देरमें सवार अपने वस्त्रादि पहनकर तैयार होते हैं उतनी ही देरमें घोड़े तैयार कर लिये जाते हैं। सवार चाबुक लिये आये कि घोड़े तुरत सामने कर दिये गये। सवार चढ़ लिये। रथ तैयार करनेमें देर लगती है, इसलिये सवार बुलानेपर आते हैं। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—४ 'चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर···' इति। (क) 'बाहेर नगर' अर्थात् नगरके बाहर जहाँ घुड़सवार राजकुमार हैं, वहीं रथी लोग भी अपने-अपने रथोंपर चढ़-चढ़कर गये। 'चढ़ि चढ़ि रथ'—सारथियोंका रथी लोगोंको बुलाना कहा गया। उनका आना और रथोंपर चढ़ना यहाँ कहा। 'लागी जुरन' से जनाया कि अभी पूरी बारात नहीं जुड़ी है। अभी चक्रवर्ती महाराज (और श्रीवसिष्ठजी आदि) आनेको हैं। (जबतक महाराज आवेंगे तबतक बारात जुटती जायगी। —प्र० सं०)। (ख) 'होत सगुन सुंदर सबहि···' अर्थात् जो शकुन बारातियोंको हुए (जिनका आगे विस्तृत वर्णन है) वही सब कार्य करनेवालोंको हुए। [(ग) यहाँ यह प्रश्न होता है कि सब पुरवासी तो इस समय बारातकी शोभामें लगे हैं और कौन कार्य है जिसके लिये वे जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि सभीकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है, जिसकी जैसी भावना है उसके अनुकूल जैसी रुचि जैसी उमंग उसके जीमें उठती है वह उसकी पूर्तिके लिये जाता है, उसकी पूर्ति होना ही कार्यकी सिद्धि है। (प्र० सं०)]

कलित करिवरन्हि परी अँबारी। कहि न जाहि जेहि भाँति सँवारी॥ १॥
चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहु सुभग सावन घन राजी॥ २॥
बाहन अपर अनेक बिधाना। सिबिका सुभग सुखासन जाना॥ ३॥
तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर बृंदा। जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा॥ ४॥
मागध सूत बंदि गुनगायक। चले जान चढ़ि जो जेहि लायक॥ ५॥

शब्दार्थ—कलित=सुन्दर, सजी हुई। अँबारी=हाथीके पीठपर रखनेका एक हौदा जिसके ऊपर एक छज्जेदार मण्डप होता है। बिराजी=बहुत शोभित। राजी=समूह।=पंक्ति, श्रेणी, कतार। सिबिका (शिविका)=पालकी, बारहदरी जिसमें आठ-दस कहार लगते हैं। सुखासन=चौपहला आदि दो बाँसवाली।=सुखपाल जिसमें बाँस नीचेकी ओर रहता है। =तामजान जो कुर्सीनुमा होता है जिसमें पीछे तकिये लगे होते हैं। यह खुली हुई होती है, कुर्सीके पीछे बाँस होते हैं। मागध, सूत, बंदि—१९४ (६) तथा दोहा २६२ में देखिये।

अर्थ—सुन्दर श्रेष्ठ हाथियोंपर अमारी पड़ी हैं। जिस प्रकार वे सँवारी-सजायी गयी हैं वह कहा नहीं जाता॥ १॥ घंटोंसे सुशोभित मतवाले हाथी चले (वे चलते हुए ऐसे मालूम होते हैं) मानो सावनके सुन्दर बादलोंके समूह (कतार वा पंक्ति) जा रहे हैं॥ २॥ सुन्दर पालकियाँ, सुन्दर तामजाम और विमान आदि और भी अनेक प्रकारकी सवारियाँ हैं॥३॥ उनपर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके झुण्ड चढ़कर चले (ऐसे जान पड़ते हैं) मानो समस्त श्रुतियाँ और छन्द ही शरीर धारण किये हुए हैं॥ ४॥ मागध, सूत, भाट और गुणगान करनेवाले, जो जिस योग्य हैं वैसी ही सवारियोंपर चढ़कर चले॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'कलित करिवरन्हि···' इति। (क) 'कलित' कहकर जनाया कि अनेक रंगोंसे उनके मस्तक और शरीरपर विचित्र रचनाएँ की गयी हैं और आभूषणोंसे भी सजाये गये हैं। इस शब्दसे हाथियोंकी शोभा कही। 'कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी' से अमारीकी शोभा कही। तात्पर्य यह कि जैसे हाथी श्रेष्ठ हैं वैसे ही अमारियाँ भी श्रेष्ठ हैं। 'कहि न जाइ' से सूचित किया कि कविको अपने हृदयमें देख पड़ता है। [श्रेष्ठ हाथियोंपर झूल और गद्दी धरकर उसपर सुवर्ण मणिमय अँबारी रखकर कसी गयी। मखमल लदाऊ कामकी झूलोंमें मोतियोंके गुच्छे लगे हैं, सोनेकी सूक्ष्म जंजीरें हैं नीचे 'किंकिणी इति, भारी गुच्छा दोनों कंधोंसे लंबी झूल रही हैं, माथा रँगा है, इत्यादि जिस भाँतिसे सँवारकर सजा है वह कहा नहीं जाता'—(वै०)]

(ख)—(जहाँपर जिस वस्तुसे जिस वस्तुकी शोभा हो रही है, वहाँ कवि वैसा ही लिखते हैं) जीनसे घोड़ेकी शोभा है। ध्वजा-पताका, मणि, भूषण, चँवर, किंकिणी आदिसे रथकी शोभा है और अमारियोंसे हाथियोंकी शोभा है। यही यहाँ दिखाया है, यथा—'रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे॥', 'रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाए। ध्वज पताक मनि भूषन लाए॥ चँवर चारु किंकिनि धुनि करहीं।' तथा 'कलित परी अँबारी। कहि न जाइ'।

२—'चले मत्त गज घंट बिराजी।…' इति। (क) 'मत्त' कहकर जनाया कि हाथी युवा अवस्थाके हैं, इसीसे सावनके बादलोंकी उत्प्रेक्षा की गयी। सावन वर्षाकी 'चढ़ती' है वैसे ही हाथी भी चढ़ती वयसके हैं। सावनके मेघोंकी तरह काले एवं ऊँचे-ऊँचे हैं। जब हाथी चले तब घंटेके बजनेसे घंटेकी शोभा हुई, इसीसे 'चले' कहकर तब 'घंट बिराजी' कहा। [(ख)—मुं० रोशनलालजी 'बिराजी' और 'राजी' के बदले 'बिराजे' और 'गाजे' पाठ देते हैं और कहते हैं कि "यहाँ पूर्णोपमा' है। रंग-बिरंगका जो हाथियोंके शरीरोंपर चित्रण है वही इन्द्रधनुष है। (रंगोंके चित्रणके) बीचमें जहाँ-जहाँ काली रह गयी है वही काली घटाएँ हैं। मोतियोंकी झालरें बगलोंकी पंक्तियाँ हैं। मणियोंकी चमक बिजलीकी दमक है। चलते समय जो शब्द (घंटोंका एवं चिंघाड़का) होता है वह गरज (गर्जन) है। मत्त गजोंका जो मद झरता है वही वर्षा है। देखनेवाले कृषि (खेती) हैं, जो उस समय देखकर हर्षित होते हैं। श्रीदशरथजी और श्रीवसिष्ठजी आदि किसान हैं। आषाढ़का घन किसानको अरुचिकर होता है इसीसे 'सावन घन' कहा। सावनका घन सुभग है क्योंकि इससे किसानका मनोरथ पूरा होता है'।] (ग) सब सवारियोंपर लोगोंका सवार होना कहा गया। यथा—'तिन्ह सब छयल भये असवारा', 'चढ़ि चढ़ि रथ…' 'तिन्ह चढ़ि चले बिप्रबर बृंदा', 'चले जान चढ़ि जो जेहि लायक' इत्यादि।

३—'बाहन अपर अनेक…' इति। (क) 'बाहन अपर' इति। 'अपर' से जनाया कि हाथी, घोड़े और रथ ये तीन सवारियाँ मुख्य हैं, शेष सब 'अपर' में कहे गये। राजाने भरतजीको 'हय गय स्यंदन साजहु जाई' यह आज्ञा दी थी, इसीसे हाथी, घोड़े और रथ यहाँ मुख्य हैं (इसीलिये ग्रन्थकारने इन्हीं तीनोंका कुछ विस्तृत वर्णन किया और जो अन्य सवारियाँ हैं, उनको 'बाहन अपर अनेक बिधाना' कहकर समाप्त कर दिया)। (ख)—'अनेक विधान' से जनाया कि हाथी, घोड़े, रथ भी एक-एक विधान हैं, इनको विस्तारसे कहा, शेषको संक्षेपसे कहते हैं। 'अनेक' कहकर उनमेंसे कुछका फिर नाम भी देते हैं। (ग) 'सिबिका सुभग…'—'सुभग' का अन्वय सबके साथ है। पालकी, तामझाम आदि सवारियाँ मनुष्योंके कंधोंपर चलती हैं, इनमें आराम है ('सुखासन' के दोनों अर्थ यहाँ गृहीत हैं। ये सब सुखकी सवारियाँ हैं, इनमें बैठनेमें सुख रहता है। और 'तामझाम' आदि)। (घ) ☞ यहाँ प्रथम सब विधानकी सवारियाँ गिनाकर आगे सवारोंको गिनाते हैं। हाथी, पालकी, तामझाम, विमान आदिमें ब्राह्मण, मागध, सूत, बन्दी और गवैये सवार हैं।

[नोट—पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत है कि हाथी सब खाली ही (कोतल) गये। ये कहते हैं कि 'पहिले सवारोंका आना कहा, तब रथोंका रथी सारथीके सहित आना कहा; अब जिनपर अँबारी कसी हुई हैं वे हाथी आ रहे हैं। यही क्रम वेदोक्त है। श्रीसूक्तमें कहा है 'अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदनीम्' पहिले घोड़े रहें, बीचमें रथ रहें और इसके बाद हाथी हों, ध्यान देनेकी बात है कि घोड़ोंके लिये कहा कि 'तिन्ह पर छयल भये असवारा। भरत सरिस बय राजकुमारा॥' रथके लिये कहा कि 'रथी सारथिन्ह लिये बोलाई', पर हाथीपर सवार होनेका उल्लेख नहीं है, उनपर अँबारी कसी है, वे चले हैं तो घण्टा विराजमान है। भाव यह कि चक्रवर्तीजीकी सवारी रथपर होनेवाली है, अतः कोई सरदार हाथीपर नहीं चढ़ सकते। आज भी यही नियम राज्योंमें है कि जब महाराज हाथीपर होंगे तो सरदार लोग भी हाथीपर रहेंगे और यदि महाराज रथपर हैं, तो कोई हाथीपर नहीं चढ़ सकता, हाथी सब खाली रहेंगे।']

४—'तिन्ह चढ़ि चले बिप्रबर बृंदा।…' इति। (क) 'बिप्रबर बृंद' का भाव कवि स्वयं दूसरे चरणमें स्पष्ट करते हैं कि 'जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा'। अर्थात् ये सब वेदपाठी हैं; सबको वेद कण्ठस्थ हैं। वेदपाठी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। 'श्रुति' से उपनिषद् भाग और 'छन्द' से मन्त्र-भाग सूचित किया। (ख) 'तनु धरे' का भाव कि सब विप्र (मानो) श्रुति और छन्दकी मूर्तियाँ ही हैं, अर्थात् इनको वेदोंमें किसी जगह भी किंचित् संदेह नहीं है। 'श्रुति छंद' के शरीर नहीं है, इसीसे तन धरनेकी उत्प्रेक्षा की। (ग) 'सकल श्रुति छंदा' कहकर जनाया कि प्रत्येक ब्राह्मण समस्त श्रुतियों और समस्त छन्दोंका स्वरूप है। 'सकल' शब्द न देते तो समझा जाता कि एक-एक ब्राह्मण एक-ही-एक श्रुति और छन्दका स्वरूप है, उनको एक-ही-एक कण्ठ है, सब नहीं; इसीसे 'सकल श्रुति छंदा' कहा। [वाल्मीकीयसे पता चलता है कि वामदेव, जाबालि, काश्यप, दीर्घायु मार्कण्डेय, कात्यायन आदि विप्रश्रेष्ठ आगे-आगे बारातमें थे। यथा—'वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः। मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा॥ ४॥ एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे…' (वाल्मी० १। ६९)। (घ) [जैसे ऊपर प्रथम सवारियोंको कहकर तब सवारोंको कहा गया, उसी रीत्यनुसार यहाँ भी 'करिबरन्ह' से लेकर 'जान' तक सवारियोंको कहकर तब उनके सवारोंका वर्णन कर रहे हैं।]

५—'मागध सूत बंदि गुनगायक' इति। (क) मागध वंशवर्णक हैं, सूत पौराणिक हैं, बंदी भाट गुणगायक हैं, यथा—'बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुनग्राम। २। १०५।', अथवा, 'गुनगायक' गवैये लोग हैं। (ख) 'चले जान चढ़ि जो जेहि लायक' कहकर जनाया कि नीति धर्मके अनुकूल सवारी दी गयी। (ग)—जैसा राजाओंका कायदा है उसी कायदे (नियम) से सब बारात निकली। घोड़ोंके वृन्द पृथक् (एक साथ), रथोंके वृन्द पृथक्, हाथियोंके वृन्द पृथक्, ब्राह्मणोंके वृन्द पृथक् और मागधादिके भी वृन्द इसी तरह पृथक्-पृथक् चले।

बेसर ऊँट बृषभ बहु जाती। चले बस्तु भरि अगनित भाँती॥ ६॥
कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनै पारा॥ ७॥
चले सकल सेवक समुदाई। निज निज साजु समाजु बनाई॥ ८॥

दो०—सब के उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर।
कबहि देखिबे नयन भरि राम लखन दोउ बीर॥ ३००॥

शब्दार्थ—बेसर (बेसर)=खच्चर। बृषभ=बैल। काँवरि (काँवर)=बहँगी, बाँसका एक मोटा फट्टा जिसके दोनों छोरोंपर वस्तु लादनेके लिये छींके लगे रहते हैं और जिसे कन्धेपर रखकर कहार आदि ले चलते हैं। समुदाई (समुदाय)= झुण्ड, समाज, गरोह। निर्भर=परिपूर्ण, अपार, पूरा भरा हुआ। पारा (पार) = परिमित, आदिसे अन्ततक पार पाना। पारना=सकना। बीर (सं० वीर)=भाई, यथा—'काली नागके फनपर निर्तत संकर्षणको बीर', 'को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर' (बिहारी), 'जासु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर' (६। ६३)।=योधा।

अर्थ—बहुत जातियोंके खच्चर, ऊँट और बैल अगणित प्रकारकी वस्तुएँ लाद-लादकर चले॥ ६॥ अगणित कहार करोड़ों काँवरें लेकर चले (जिनमें) अनेक प्रकारकी वस्तुएँ थीं (जिनका) वर्णनकर कौन पार पा सकता है!॥ ७॥ सब सेवक-समुदाय (सेवकोंके समूह) अपना-अपना साज-समाज बनाकर चले॥ ८॥ सबके हृदयमें अपार हर्ष है, शरीर पुलकसे भरपूर है। (सबको यही लालसा लगी है कि श्रीराम-लक्ष्मण दोनों वीर भाइयोंको नेत्र भरकर कब देखेंगे)॥ ३००॥

टिप्पणी—१ (क) ('बहु जाती' सबमें लगता है क्योंकि खच्चर आदि सभीकी अनेक जातियाँ हैं। अथवा 'बृषभ' का ही विशेषण मानें)। 'बहु जाती' जैसे कि पूर्वी, पछाहीं, नगावरी, ग्वोहा इत्यादि। अगणित भाँतिकी वस्तुएँ हैं, एक-एक वस्तु एक-एक जातिके बैलपर है यह जनानेके लिये 'बृषभ' के साथ 'बहुजाती' और 'वस्तु' के साथ 'अगनित' कहा। अलग-अलग एक-एक जातिपर एक-एक प्रकारकी वस्तु होनेसे पहचान बनी रहेगी। (ख) 'कोटिन्ह'=अगणित। जो वस्तु लादनेके योग्य थी वह खच्चर, ऊँट और बैलोंपर लादी गयी और जो कहारोंके लेने योग्य हैं, उनको कहार बहँगीमें लिये चल रहे हैं। (ग) 'बरनै पारा'—भाव कि जो खच्चरादिपर लदी हैं और जो कहार लिये हैं, दोनोंका पार नहीं। क्योंकि जब असख्यों काँवर और कहार हैं और एक-एक कहार अनेक वस्तु लिये हैं, तब पार कौन पा सके। 'चले सकल सेवक समुदाई' इति। सबके पीछे सेवकोंका चलना कहकर सूचित किया कि घुड़सवार, रथी, ब्राह्मण और मागधादि सभीके सेवक चले। यदि बीचमें सेवकोंका चलना कहते तो जिसके पीछे उनका कथन होता, उसीके वे सेवक समझे जाते। इसीसे सबके पीछे कहा। (घ)—'निज-निज साजु समाजु बनाई' इति। समाज=सामग्री, यथा—'कहेउ लेहु सब तिलक समाजू।' 'निज निज' से जनाया कि जिसका जो काम है वह उसी कामकी सब सामग्री सजाकर ठीक करके चला।

नोट—१ जनकपुरसे बारात लौटी तब सब वस्तुओंका गाड़ियोंपर स्वर्ण-पात्रोंमें भर-भरकर भेजना कहा, यथा—'कनकबसन मनि भरि भरि जाना'। परंतु यहाँ गाड़ियोंपर लादकर भेजना नहीं कहा गया। क्योंकि ये लोग नहीं जानते थे कि सब नदियोंमें पुल बाँध दिये गये हैं और बिना सेतुके गाड़ियोंका निर्वाह नहीं हो सकता और उधरसे तो निश्चय ही था, इससे उन्होंने गाड़ीपर लादकर भेजा।

प० प० प्र०—तब घोड़े, हाथी, रथ, खच्चर, काँवरवाले कहार, पदचर आदिको क्यों साथ लिया? उत्तर यह है कि घोड़े तो हवामें उड़नेवाले हैं, रथोंके घोड़े तो 'जल चलहिं थलहि की नाईं। टाप न बूड़ बेग अधिकाईं॥' हाथी, बृषभ

आदि जलमें लीलासे तैरनेवाले प्राणी हैं। वह समय शरदृऋतुका था। 'रस रस सूख सरित सर पानी', 'उदित अगस्ति पंथजल सोखा'। अतः उपर्युक्त भाव ठीक बैठता है।

टिप्पणी—२ (क) 'सबके उर निर्भर हरषु' इति।—श्रीराम-लक्ष्मणजीके दर्शनके लिये सबको हर्ष है क्योंकि ये सबको प्राणप्रिय हैं, यथा—'कोसल पुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल ॥ २०४ ॥' हृदय हर्षसे परिपूर्ण है और शरीर पुलकसे पूर्ण है, यह कहकर भीतर-बाहर दोनों प्रेमसे परिपूर्ण दिखाये। (ख) कान समाचार सुनकर तृप्त हुए, यथा—'हरषी सभा बात सुनि साँची' (२९० । ६), और जैसे चक्रवर्ती महाराजको पत्रिका देखते ही दोनों भाइयोंका स्मरण आते ही हर्ष और पुलकावली हुई थी वैसे ही सब अवधवासियोंको दोनों भाइयोंके स्मरणसे (देखनेकी लालसासे) हर्ष और पुलकाङ्ग हुआ। (ग) 'कबहिं देखिबे नयन भरि' कहकर जनाया कि इनकी और सब इन्द्रियाँ एवं सब अंग स्मरणसे हर्षित वा प्रसन्न हो गये, केवल नेत्र तरस रहे हैं, दर्शनोंके लिये आकुल हैं क्योंकि वे बिना दर्शनके, बिना अपना भोग पाये कैसे तृप्त हों, दर्शनसे ही तृप्त होंगे। (घ) 'बीर' शब्दका प्रयोग साभिप्राय है। दूतोंके मुखसे श्रीराम-लक्ष्मणजीकी वीरता सुन चुके हैं। (सहस्रों वीरोंके बीचमें इन्होंने भारी वीरताके काम किये हैं। वही वीररसका आभास सबोंके हृदयमें भरा हुआ है), इसीसे ऐसा शब्द दिया जिससे दोनों अर्थ निकलें। (ङ)—यहाँतक भरतजीकी सवारी कही, आगे चक्रवर्ती महाराजकी सवारी कहते हैं। ('सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता' से उपक्रम और 'पूरित पुलक सरीर' पर उपसंहार करके जनाया कि भरत-शत्रुघ्नसे लेकर घोड़े, सवार, हाथी और रथी आदि सभी प्राणी और बारातमें आये हुए विप्रवृन्दसे लेकर सेवकपर्यन्त सभीको निर्भर हर्ष था। प० प० प्र० ।) ।

गरजहिं गज घंटा धुनि घोरा। रथ रव बाजि हिंस* चहुँ ओरा ॥ १ ॥
निदरि घनहि घुर्म्मरहिं निसाना। निज पराइ कछु सुनिअ न काना ॥ २ ॥
महा भीरु† भूपतिके द्वारे। रज होइ जाइ पषान पबारे ॥ ३ ॥
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं‡ नारी। लिए आरती मंगल थारी ॥ ४ ॥
गावहिं गीत मनोहर नाना। अति आनंदु§ न जाइ बखाना ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—हिंस=हिनहिनाहट। घुर्म्मरना=घुम्मरना=घोर शब्द करना, ऊँचे शब्दसे बजना। पराइ=दूसरेकी। भीरु=भीड़। पबारना=फेंकना, चलाना या डाल देना। यथा—'तास तार रघुबार पबारे', 'कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारे'।

अर्थ—हाथी गरजते, घंटोंका घोर शब्द होता, रथोंका शोर और घोड़ोंकी हिनहिनाहट चारों तरफ हो रही है ॥ १ ॥ बादलोंका निरादर करते हुए नगाड़े घोर शब्दसे बज रहे हैं, अपनी-परायी कुछ भी कानोंसे नहीं सुन पड़ती ॥ २ ॥ राजाके दरवाजेपर बहुत भीड़ है, पत्थर फेंका जाय तो वह भी (चूर होकर) रज हो जाय ॥ ३ ॥ स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़ी थालियोंमें मङ्गल-आरती लिये देख रही हैं ॥ ४ ॥ अनेकों मनहरण सुन्दर गीत गाती हैं। आनन्द इतना बढ़ा है कि कहा नहीं जा सकता ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'घंटा धुनि घोरा'—'हाथियोंके कण्ठमें भारी-भारी घंटे हैं, इसीसे घोर ध्वनि होती है। (ख)—जैसे भरतजीकी सवारीमें 'चहुँ ओरा' कहकर सूचित किया कि चारों दिशाओंसे राजाके द्वारपर सवारियाँ आयीं। (ख)—जैसे भरतजीकी सवारीमें प्रथम घोड़े कहे, तब घोड़े, हाथी और रथ वर्णन किये, वैसे ही राजाकी सवारीमें वर्णन करते हैं। परंतु भरतजीकी सवारीमें प्रथम घोड़े कहे, तब हाथी और राजाकी सवारीमें प्रथम हाथी कहते हैं तब घोड़े। इस भेदमें तात्पर्य यह है कि इस तरह दोनों सवारोंकी समानता कही। अथवा, भरत और उनके संगी राजकुमार लड़के हैं, घोड़े चंचल हैं वैसे ही लड़के भी चंचल। दोनों चंचल हैं इससे लड़कोंकी सवारीमें घोड़ोंकी प्रधानता कही। और, महाराज वृद्ध हैं, उनके साथी भी वृद्ध हैं इससे उनकी सवारीमें शान्त हाथियोंकी प्रधानता रक्खी।

२ (क) 'निदरि घनहि घुर्म्मरहिं निसाना।....' इति। श्रीभरतजीकी सवारीमें वीररसके नगाड़े बजे हैं; इसीसे वहाँ निशान और पणव दो कहे गये, यथा—'हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना'। राजाकी सवारीमें शान्तरस लिये हुए नगाड़े बजते हैं, इसीसे यहाँ केवल नगाड़ोंका बजना लिखा। यहाँ 'प्रतीप

---

*हिंसहिं—१७२१, १७६२। हिंसहि—१७०४। हिंस—१६६१, को० रा०। † भीर—१६६१, भीर—औरोंमें। ‡ निरखहि—रां० प० । १७०४। § अनंदु—१६६१।

अलंकार' है, क्योंकि उपमेयसे उपमानका निरादर कहा है। निशान उपमेय है, घन उपमान है। 'निदरि घनहि' कहकर जनाया कि नगाड़ोंका शब्द बादलोंके गर्जनका-सा है। (ख) 'महा भीरु भूपतिके द्वारे' कहनेका भाव कि जहाँसे सब सवारियाँ आयीं वहाँ भीड़ थी और राजद्वारपर तो सब आकर इकट्ठा हुए इससे यहाँ 'महा' भीड़ हुई। 'भूपति के द्वारे' कहकर जनाया कि भरतजीके संगी-साथी पुरके बाहर जाकर एकत्र हुए और राजाके साथी राजाके द्वारपर आये। [(ग) 'रज होइ जाइ पषान पवारे'—यह वक्ताओंका अनुमान है कि कदाचित् पत्थर फेंका जाय तो भीड़के पैरोंसे वह रज हो जायगा। वस्तुतः न पत्थर वहाँ डाला गया, न रज हुआ। यह कहनेका मुहावरा है। इससे भीड़की अत्यन्त अधिकता जनायी]

३ 'चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी।....' इति। (क) 'महा भीरु भूपतिके द्वारे' कहकर 'चढ़ी अटारिन्ह....' कहनेका भाव कि जैसे राजद्वारपर बड़ी भारी भीड़ है, वैसे ही अटारियोंपर स्त्रियोंकी महान् भीड़ है। 'देखहिं नारी' का भाव कि बारात देखने योग्य है, इसी बारातको देखनेके लिये देवता आये और देखकर प्रसन्न हुए हैं, यथा—'हरषे बिबुध बिलोकि बराता। ३०२। ४'। (ख) 'लिए आरती मंगल थारी', यथा—'सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि'।....३१७। आरती और मंगल-वस्तुएँ थालियोंमें लिए हुए हैं। (रीति है कि बारातके पयानके पहले दूलहकी आरती उतारी जाती है, तब बारात पयान करती है। पर यहाँ दूलह है ही नहीं, इसलिये) केवल शकुनके लिये हाथमें लिये हैं, परछन आदि कृत्य कुछ भी नहीं होनेको हैं।

४—'गावहिं गीत मनोहर नाना।....' इति। (क) 'मनोहरका भाव कि गीत सुननेसे मन हर जाता है, इसीसे कहते हैं कि बखाना नहीं जा सकता, क्योंकि मन हर लिया गया तब कहे कौन और कैसे ? यथा—'बनै न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई॥ २१३। १।' (पुनः भाव कि वे अनेक स्वरोंसे गा रही हैं) 'निषादर्षभगान्धार-षड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थितास्स्वराः।' (अमरकोश १। ७। १) अर्थात् तार अथवा कण्ठ आदिसे उत्पन्न होनेवाले सात स्वर ये हैं—षड्ज (सा), ऋषभ (रे), गन्धार (ग), मध्यम (म), पञ्चम (प), धैवत (ध), निषाध (नी)। (ख)—'अति आनंद' क्योंकि आनन्दपर आनन्द है और आकाशमें (अटारियोंपर) स्त्रियोंका आनन्द, दोनों मिलकर 'अति आनंद' हुआ। 'अति' है, इसीसे 'न जाइ बखाना' कहा। यह श्रीरामजीकी बारात है, 'महिमा अवधि रामपिता' दशरथजी इसे लिये जा रहे हैं, अतः इस समयका आनन्द भी अवर्णनीय है—'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा। ७। ८१')।

तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रबि हय निंदक बाजी॥ ६॥
दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने। नहिं सारद पहिं जाहिं बखाने॥ ७॥
राजसमाजु एक रथ साजा*। दूसर तेजपुंज† अति भ्राजा॥ ८॥

दो०—तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहुँ हरषि चढ़ाइ नरेसु।
आप चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि हर गुर गौरि गनेसु॥ ३०१॥

अर्थ—तब सुमन्तजीने दो रथ सजाकर उनमें सूर्यके घोड़ोंको लज्जित (मात) करनेवाले घोड़े जोते। ६। दोनों सुन्दर रथोंको वे राजाके पास लाये, सरस्वतीसे (भी) उनका वर्णन नहीं हो सकता। ७। एक रथ तो राजसी सामानसे सजाया हुआ है और दूसरा (जो) तेजपुञ्ज (तेज-समूह) अत्यन्त शोभायमान है। ८। उस सुन्दर रथपर राजाने हर्षपूर्वक श्रीवसिष्ठजीको सवार कराके (तब) आप भी हर, गुरु और गौरी-गणेशका स्मरण कर रथपर चढ़े। ३०१।

टिप्पणी—१ 'तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी....' इति। (क) 'तब' अर्थात् जब भरतजीकी आज्ञा पाकर सारथियोंने रथ सजाये, तब सुमंतजीने भी दो रथ साजे। 'तब' का सम्बन्ध वहाँसे है। 'साजी' कहकर रथकी विचित्रता सूचित की, और जनाया कि जैसे और सारथियोंने सजाया है वैसा ही इन्होंने भी सजाया; यथा—'रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाए। ध्वज पताक मनि भूषन लाए'। (ख) 'रबि हय निंदक बाजी' अर्थात् जैसी सुन्दरता और जैसा वेग इन घोड़ोंमें है वैसा सूर्यके घोड़ोंमें भी नहीं है। इनको 'रबि हय निंदक' कहकर जनाया कि और रथी लोगोंके रथोंमें श्यामकर्ण घोड़े जोते गये थे, जो थलकी

* भ्राजा—छ०। † लसि राजा—छ०।

तरह जलमें चलते हैं, उनसे भी ये घोड़े विशेष श्रेष्ठ हैं जो राजा और गुरु वसिष्ठके रथोंमें जोते गये हैं। सूर्यके घोड़े श्याम-कर्ण घोड़ोंसे चढ़-बढ़कर हैं और ये घोड़े सूर्यके रथके घोड़ोंसे भी कहीं बढ़कर हैं। श्यामकर्ण जलमें थलकी तरह चलते हैं और ये आकाशमें थलके समान चलते हैं। श्यामकर्ण घोड़े मर्त्यलोकके हैं और सूर्यके घोड़े अजर-अमर हैं। तथापि इन रथोंके घोड़े दोनोंसे श्रेष्ठ हैं। (प० प० प्र०)। सुमन्त्रजी रघुवंशके बड़े पुराने एक प्रधान मन्त्री और सारथी भी हैं]।

२ 'दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने।...' इति। (क) 'आने' से सारथी और उसकी सेवाकी विशेषता दिखायी। अन्य सारथियोंने रथोंको सजा-सजाकर रथियोंको वहीं बुलाया था, यथा—'अस्त्र सस्त्र सबु साजु बनाई। रथी सारथिन्ह लिए बोलाई। २९९। ८।' (इससे सवारियोंको कुछ दूर पैदल चलना पड़ा था), और सुमन्तजी रथोंको सजाकर राजाके पास ले आये, यह विशेषता है। (ख) 'नहिं सारद पहिं जाहिं बखाने' इति। अन्य रथियोंके रथोंकी प्रतीपालंकारसे कुछ उपमा दी गयी थी। उन्हें सूर्यके रथोंसे सुन्दर कहा गया था, यथा—'भानु जान सोभा अपहरहीं।' और राजाके रथकी कोई उपमा ही नहीं है। सरस्वती ही सबकी जिह्वापर बैठकर कहलाती है। जब वह स्वयं ही कोई उपमा नहीं दे सकती तो कोई कवि और वह भी मनुष्य मर्त्यलोकका कवि कहाँसे कह सकता है? 'शारदा नहीं वर्णन कर सकती' कहकर इन दोनों रथोंकी विशेषता दिखायी। ('शारदा' ब्रह्मलोककी हैं। अतः इनकी असमर्थता कहकर रथको समस्त ब्रह्माण्डके रथोंसे अधिक दिव्य और अलौकिक जनाया)। इस तरह यहाँ राजाके रथ, राजाके घोड़े और राजाके सारथी तीनोंकी सबसे विशेषता दिखायी।

टिप्पणी—३ 'राज समाजु एक रथ साजा।...' इति। (क) 'राजसमाजु'=राजसी सामग्री। अर्थात् जो-जो वस्तु राजाके योग्य है वह सब उसमें सजी हुई है। 'अस्त्र सस्त्र सबु साजु बनाई' जो अन्य रथोंके सम्बन्धमें कहा गया वह सब साज भी यहाँ सूचित कर दिया (और उससे अधिक जो और खास राजासे सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री है वह भी जना दी। [(ख) 'राजसमाज' अर्थात् धनुष, बाण, तरकश, गदा और कवच आदि सब वीरोंकी सामग्री, पुनः चँवर, छत्र, सूर्य-मुखी, पानदान, पीकदान, अतरदान, गुलाबपाश, चौघड़े, चँगरे और राजसी भूषण-वसनादि राजसी पदार्थ इत्यादि। (वै०)] (ग)—'दूसर तेजपुंज अति भ्राजा' इति। यह गुरुमहाराजके लिये है। 'तेजपुञ्ज' है अर्थात् इसमें अग्नि-होत्रकी सामग्री रक्खी है। यथा—'अरुंधती अरु अगिनि समाऊ। रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ। २। १८७।' 'अति भ्राजा' का भाव कि राजाका रथ राजस सामग्रीसे 'भ्राजा' अर्थात् सुशोभित है और मुनिका रथ 'सात्त्विक सामग्री' से 'अति भ्राजा' अत्यन्त सुशोभित है। पूर्व 'राजसमाजु' कहकर राजसी ठाट-बाट कहा, यहाँ 'तेजपुञ्ज' कहकर सात्त्विकी साज जनाया। 'ठाकुर-सिंहासन, पूजाके पात्र (पार्षद), पुस्तकें, मेखला आदि ऋषियोंके साजसे रथ बड़ा तेजोमय शोभित है, इसमें ब्रह्मतेज प्रत्यक्ष प्रसिद्ध दिखायी दे रहा है'—(वै०)। अ० रा० में राजाने मन्त्रियोंको आज्ञा दी है कि अग्नियोंके सहित मेरे गुरु मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठ भी चलें। यथा—'वसिष्ठस्त्वग्रतो यातु सादरः सहितोऽग्निभिः। १। ६। ३७।...' ऐसा उत्कृष्ट बारातका वर्णन मानसमें ही है, अन्य रामायणोंमें देखनेमें नहीं आया] (ग) रथियोंके रथसे राजाका रथ विशेष और राजाके रथसे मुनिका रथ विशेष है, यह दिखाया।

४ 'तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहुँ....' इति। (क) ['रुचिर' अर्थात् तेजपुञ्ज अत्यन्त भ्राजमान]। 'हरषि चढ़ाइ' कहा, क्योंकि गुरुसेवा हर्षपूर्वक ही करनी चाहिये, यथा—'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुर पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु ते जग जीवत जाय॥ (दोहावली ४२)। अथवा, पयानसमय हर्षका होना शकुन है, अतः 'हरषि' कहा। यथा—'अस कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा। ५। १।', 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना' । ५। ३५।' 'चढ़ाइ' से जनाया कि राजाने गुरुजीका हाथ पकड़कर उनको रथपर चढ़ाया। सुमन्त्रजीने राजाकी सेवा की कि रथ सज-सजाकर उनके सामने लाकर रख दिया और राजाने मुनिकी सेवा की कि स्वयं उनको रथपर चढ़ाया। (ख) 'आपु चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि हर गुर गौरि गनेस' इति। यहाँ राजाका मङ्गलाचरण है। उन्होंने पयानके समय पञ्चदेवोंका स्मरण किया है। इनमेंसे तीन हर, गौरि और गणेश, तो स्पष्ट ही हैं। सूर्य और विष्णु इन दोको 'गुर' शब्दसे कहा है। गुरु=विष्णु, यथा—'गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः' (वि० सहस्रनाम ३६)। गुरु=सूर्य। यथा—'गु-शब्दस्त्व-न्धकारोऽस्ति रु-शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधाद्गुरुरित्यभिधीयते॥ (गुरुगीता १२)। इस तरह पञ्चदेव हुए। गुरुके स्मरणका तो यहाँ कोई काम नहीं है, क्योंकि गुरुके समीप ही हैं, गुरुकी सेवा करके रथमें चढ़े हैं।

नोट—१ स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि 'राजा वसिष्ठजीके साथ उन्हींके रथपर सवार हुए। इसीसे आगे 'सुरगुर संग पुरंदर जैसे' यह उपमा दी गयी। 'करि कुल रीति बेद बिधि राऊ', 'गुर आयेसु पाई' शब्दोंसे भी इस भाव कि संगति होती है। दोहा ३०१ में 'गुरु' का स्मरण जो कहा है वह गुरु विश्वामित्रका स्मरण है।'; पर मेरी समझमें यहाँ दो रथोंका पृथक्-पृथक् साजसे आना स्पष्ट कह रहा है कि राजसी रथ उनके लिये आया और वे उसीपर चढ़े। रथ दोनों साथ-साथ हैं। इसलिये कोई भी शंका नहीं उठ सकती। वाल्मीकीय और अध्यात्मसे भी अलग-अलग रथोंमें सवार होना पाया जाता है। 'संग' का अर्थ यही नहीं है कि एक साथ बैठे हों। वाल्मी० १।६९।११ में कुछ ऐसी ही उपमा दी गयी है यथा—'सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः' अर्थात् ब्राह्मणोंके साथ वसिष्ठजी आये हैं जैसे देवताओंके साथ इन्द्र।

२—यहाँ गणेशजीको प्रथम न कहा क्योंकि यहाँ पूजनका विधान नहीं है, यहाँ केवल स्मरण है और स्मरण ईश्वरका प्रथम-प्रथम होना ठीक ही है। (पं०)।

३—पं० रामचरण मिश्र कहते हैं कि यहाँ पाठ होना चाहिये था 'गुरु हर गौरि गनेस', क्योंकि 'हरगौरि' एक स्वरूप हैं, इनका विश्लेष ठीक नहीं। ऐसा पाठ न देकर 'हर गुरु गौरि' पाठ दिया गया। यहाँ ग्रन्थकारका आशय गम्भीर है। हरगौरी प्रकृति-पुरुषरूप हैं और सृष्टि भी प्रकृति-पुरुषात्मक ही है। प्रकृतिपुरुष दोनोंके बोधक गुरु ही हैं। इसलिये सृष्टिकार्य-साधक व प्रकृतिपुरुष-तत्त्व-बोधक जान गुरुको मध्यमें रखा तथा गकारकी वर्णमैत्री भी मिल गयी।

सहित बशिष्ठ सोह नृप कैसे। सुरगुर संग पुरंदर जैसे॥ १॥
करि कुलरीति बेद बिधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ॥ २॥
सुमिरि राम गुर आयेसु पाई। चले महीपति संख बजाई॥ ३॥
हरषे बिबुध बिलोकि बराता। बरषहिं सुमन सुमंगल दाता॥ ४॥
भयेउ कुलाहल हय गय गाजे। ब्योम बरात बाजने बाजे॥ ५॥
सुर नर नारि* सुमंगल गाईं। सरस राग बाजहिं सहनाईं॥ ६॥

शब्दार्थ—पुरन्दर=पुर (शत्रुके नगर या दुर्ग) को तोड़नेवाले इन्द्र। बनाऊ (बनाव)=सजधज; तैयारी व सजाव। कुलाहल=शोर,चुहलपहल। ब्योम=आकाश।

अर्थ—(गुरु) श्रीवसिष्ठजीके साथ (बारातमें) राजा कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे देवताओंके गुरु बृहस्पतिजीके साथ इन्द्र हों॥ १॥ राजाने कुलरीति और वेद-विहित विधान (जैसे वेदोंमें कर्तव्य कहा गया है उसको) करके और सबको सब तरहसे सजे-धजे तैयार देख॥ २॥ रामचन्द्रजीका स्मरण कर गुरुकी आज्ञा पा पृथ्वीपति श्रीदशरथजी शंख बजा कर चले॥ ३॥ देवता बारात देखकर हर्षित हुए। वे सुन्दर मंगलके देनेवाले फूलोंको बरसा रहे हैं॥ ४॥ हाथी, घोड़े चिघाड़ने-हिनहिनाने लगे, बड़ा शोर हुआ, आकाशमें और बारातमें बाजे बजने लगे॥ ५॥ देवता, मनुष्य और स्त्रियाँ एवं देवताओं और मनुष्योंकी स्त्रियाँ सुन्दर मंगल गा रही हैं। शहनाइयाँ रसीले रागसे बज रही हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'सहित बशिष्ठ सोह नृप कैसे।……' इति। यहाँ वैभवकी शोभा कहते हैं, इसीसे गुरुसहित इन्द्रकी उपमा दी। वैभवकी शोभा कथनका भाव कि गुरुकी सेवासे वैभवकी प्राप्ति होती है, यथा—'जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं। २। ३।' इन्द्रकी शोभा बृहस्पतिजीसे है; वैसे ही राजाके वैभवकी शोभा वसिष्ठजीकी कृपासे है। श्रीवसिष्ठजीके साथ राजाके शोभित होनेकी बात विशेषसे समता देकर दिखानेसे यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। (ख) 'करि कुल रीति बेद बिधि'—रथपर चढ़नेके पश्चात् कुलरीति और वेद-विधान कहनेसे पाया गया कि कोई साधारण रीति-रसम होगी जो उन्होंने रथपर बैठे ही कर लिया। इसी तरह बारात लौटनेपर माताओंका वेद-विधि और कुलरीति करना कहा गया है, यथा—'निगम नीति कुल रीति करि अरघ पाँवड़े देत।……३४९।' (ग) 'देखि सबहि

* वन्दनपाठकजीकी प्रतिमें भी यही पाठ है। ना० प्र० सभा एवं गौड़जीकी प्रतिमें 'सुरनर नाग' पाठ है। इसमें तीनों लोकोंके वासी आ गये और अर्थकी अड़चन भी नहीं है। जहाँ 'सुरनरनारि' पाठ है वहाँ अर्थ होगा देवता, मनुष्य और उनकी स्त्रियाँ। किसी-किसीने 'पुरनर नारि' पाठ दिया है अर्थात् नगरके स्त्री-पुरुष वा नगरके मनुष्योंकी स्त्रियाँ।

सब भाँति बनाऊ' इति। भरतजीकी सवारीके निकासमें हाथी, घोड़े और रथोंका वर्णन किया और वहाँ (राजाकी सवारीमें) भी। पर वहाँ जो 'बेसर ऊँट वृषभ बहु जाती। चले वस्तु भरि अगनित भाँती॥ कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनै पारा॥ चले सकल सेवक समुदाई। निज निज साज समाज बनाई॥' यह सब कहा था, उसका वर्णन यहाँ नहीं किया गया। यह सब 'देखि सबहि सब भाँति बनाऊ' से ही सूचित कर दिया।

टिप्पणी—२ 'सुमिरि राम गुर आयेसु पाई···' इति। (क) जैसे सबको श्रीरामदर्शनकी लालसा है—'कबहि देखिबे नयन भरि राम लषन दोउ बीर', वैसे ही राजाके हृदयमें भी है, इसीसे श्रीरामजीका स्मरण किया कि चलकर देखेंगे (यह माधुर्यमें वात्सल्यभावका स्मरण है)। अथवा, ऐश्वर्यभावसे स्मरण किया, यथा—'लरिका श्रमित उनीद बस सयन करावहु जाइ। अस कहि गे बिश्राम गृह राम चरन चितु लाइ॥ ३५५।' [जैसे इस दोहेमें 'लरिका श्रमित···' में माधुर्य और 'रामचरन चितु लाइ' में ऐश्वर्य भाव है, वैसे ही यहाँ 'सुमिरि राम' दोनों भावोंसे हो सकता है। जन्मके समय भी कहा गया है—'मोरे गृह आवा प्रभु सोई'। यात्रा समय श्रीरामस्मरण युक्त ही है। पुनः भाव कि इस समय श्रीरामजीका स्मरण हो आनेसे उतावली हुई कि कब पहुँचकर उनके दर्शन करें, अतः तुरत गुरुकी आज्ञा ले चलते हुए। पं० रामचरण मिश्रका मत है कि 'श्रीरामजीका स्मरण देवभावसे नहीं है किंतु वात्सल्यभावसे है। पुनः-पुनः चिन्तन करना स्मरण है। श्रीरामकी स्मरण-क्रिया ही गुरु आज्ञाकी प्रवर्तक है। क्योंकि राजा प्रेमसे विह्वल हो गये थे] (ख)—वसिष्ठजीने राजाको (रथमें बैठे ही स्वयं अथवा ब्राह्मणोंद्वारा) कुलरीति और वेदरीति (उनके रथपर ही) करायी और चलनेकी आज्ञा दी। (ग) 'संख बजाई'—शंख वाद्य माङ्गलिक है, इसीसे मंगल समयमें शंख बजाकर चले।

३ 'हरषे बिबुध बिलोकि बराता···' इति। (क) 'हरषे'—देवता जब प्रसन्न होते हैं तब मंगल करते हैं, यही यहाँ दिखाते हैं कि देवता हर्षित हुए, इसीसे 'बरषहिं सुमन सुमंगलदाता' सुन्दर मंगलदाता' फूलोंकी वर्षा करते हैं। पुनः, जब हर्षित हुए तब फूल बरसाये, यह कहकर जनाया कि जैसा हृदय है वैसा ही कृत्य करते हैं। हृदय हर्षसे फूला है, इसीसे फूल बरसाये। (इसीसे 'सुमन' शब्द दिया, सुन्दर मनसे फूल बरसाये, मानो अपने मन ही बिछा दिये। यथा—'हिय हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचन बृंद। २२३।' (ख) 'बिलोकि बराता। बरषहिं···'—बारात देखकर फूल बरसाना कहकर जनाया कि बारात भरमें पुष्पोंकी वृष्टि मंगलदायक है, इसीसे देवता समय-समयपर पुष्पोंकी वर्षा करते हैं। (ग) जब और सब सवार निकले तब देवताओंने फूल नहीं बरसाये, जब राजा निकले तब वे हर्षित हुए और तभी फूल बरसाये। इसका कारण यह है कि राजा सबमें प्रधान हैं, प्रधानका चलना सबका चलना है, इसीसे प्रधानके चलनेपर फूलोंकी वृष्टि की, यह उनकी विशेष बुद्धिमानी है, (बिना राजाके पयानके बारातका पयान हो नहीं सकता था। अतः अब यात्रा जानकर) समयपर फूल बरसाये यह भी बुद्धिमानी है; इसीसे यहाँ 'बिबुध' (विशेष बुद्धिमान्) नाम दिया। [इस उल्लेखसे जनाते हैं कि देवताओंकी निकासी भी साथ-ही-साथ हुई। (रा० च० मिश्र)।

४ 'भयेउ कुलाहल हय गय गाजे।···' इति। (क) पहले भी कुलाहल लिख आये हैं, यथा—'गरजहिं गज घंटा धुनि घोरा।···' इत्यादि। २०१। १-२। अब यहाँ पुनः लिखनेमें आशय यह है कि जब चारों ओरसे हाथी, घोड़े और रथ चले तब भारी शोर हुआ। जब राजद्वारपर आकर सब इकट्ठा हुए और नगाड़े बज चुके तब वह कुलाहल बंद हो गया। (राजाने जब कुलरीति और वेदरीति की तब कुलाहल बंद था)। अब जब राजा शंख बजाकर चले तब पुनः सब चले और सब बाजे बजे, इसीसे कहा कि भयेउ 'कुलाहल'। (ख)—कुलाहल हुआ कहकर आगे उसका कारण, अर्थात् जिससे कुलाहल हुआ उसे, कहते हैं—'हय गय गाजे' इत्यादि। हाथी-घोड़ा आदिके बोलनेके शब्द और आकाश और पृथ्वीपर बाजोंके शब्द सर्वत्र गूँज उठे। पूर्व यह सब कह आये हैं, यथा—'गरजहिं गज घंटा धुनि घोरा। रथ रव बाजि हिंस चहुँ ओरा॥ निदरि घनहि घुर्म्मरहिं निसाना। निज पराइ कछु सुनिय न काना॥', इसीसे यहाँ संक्षेपसे कहते हैं, कुलाहलका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया है कि अपनी परायी कुछ भी बात सुनायी नहीं देती।

५ 'सुर नर नारि सुमंगल गाई।···' इति। (क) पूर्व स्त्रियोंका गाना लिख आये हैं, यथा—'गावहिं गीत मनोहर नाना। २०१। ५।', अब यहाँ पुनः स्त्रियोंका गान लिखते हैं। इसमें पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि ये वह स्त्रियाँ नहीं हैं जिनका गाना प्रथम लिखा गया। प्रथम जिनका गाना लिखा वे अटारियोंपरकी स्त्रियाँ हैं। यथा—'चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारीं।

लिये आरती मंगल थारी ॥ गावहिं गीत मनोहर बानी' और यहाँ जो गा रही हैं, ये वे हैं जो बारातको बिदा करनेको पीछे-पीछे गाते चलती हैं। यह श्रीअवधप्रान्तकी चाल (रीति) है। इसीसे राजाका और बारातका चलना कहकर तब क्रमसे स्त्रियोंका गान कहा गया। बारातके पीछे स्त्रियाँ हैं। (नरनारियाँ नीचे गा रही हैं और सुरनारियाँ आकाशमें गा रही हैं। आगे भी बारातके ही प्रसङ्गमें देवाङ्गनाओंका गाना पाया जाता है, यथा—'बरषि सुमन सुरसुंदरि गावहिं। ३०६। १।' देवता पुष्पवृष्टि कर रहे हैं और देववधूटियाँ मंगल गाती हैं। दोनों अपनी सेवा विवाहमें लगा रहे हैं)

(ख) 'सरस राग बाजहि सहनाई'—स्त्रियोंका गाना और शहनाईका बजना साथ-साथ लिखनेका भाव यह है कि स्त्रियोंकी जोड़में शहनाई बज रही है, स्त्रियोंका गाना सरस है और शहनाईका राग भी सरस है। [शहनाईमेंसे रसीले सुरीले राग निकल रहे हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि शहनाईका शब्द बड़ा तेज होता है, पर उसे ऐसा मृदु करके बजाते हैं कि सुस्वर-नारीके मंगलगानसे मिलकर वह बज रही है, अतः 'सरस राग बाजहिं' कहा।]

घंट घंटि धुनि बरनि न जाहीं*। सरव† करहिं पाइक‡ फहराहीं ॥ ७ ॥
करहिं बिदूषक कौतुक§ नाना। हास कुसल कल गान सुजाना ॥ ८ ॥

दो०—तुरग नचावहिं कुँअर बर अकनि मृदंग निसान।
नागर नट चितवहिं चकित डगहिं न ताल बँधान ॥३०२॥

शब्दार्थ—'सरव' (सरो)=नाना प्रकारकी कसरतोंके खेल।—विशेष नोटमें देखिये। पाइक (पायिक)=सेवक। विशेष नोटमें देखिये। फहराना=कूदना उछलना; हवामें रहकर उड़ना। विदूषक जो भाँति-भाँतिकी नकलें आदि करके अथवा हँसीकी बातें करके दूसरोंको हँसाता हो, जैसे भाँड़ आदि मसखरे। राजाओं, रईसोंके यहाँ दरबारमें मनोविनोदके लिये ऐसे मसखरे रहा करते थे। हास (हास्य)=हँसी लाने वा हँसानेकी क्रिया, मसखरी। अकनि= सुनकर। अकनना (सं० आकर्णन=सुनना)=कान लगाकर सुनना, चुपचाप सुनना, यथा—'पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता ॥ ३४४। ३।', 'अवनिप अकनि रामु पगु धारे। २। ४४।' डगहिं=चूकते। ताल=नाचने या गानेमें उसके काल और क्रियाका परिमाण, जिसे बीच-बीचमें हाथपर हाथ मारकर सूचित करते हैं। ये दो प्रकारके हैं—मार्ग और देशी। मार्ग ६० और ताल १२० गिनाये गये हैं। संगीतमें ताल देनेके लिये तबले, मृदंग, ढोल और मंजीरे आदिका व्यवहार किया जाता है। तालके 'सम' का 'बंधान' नाम है। उदाहरण— 'उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान। सुनि किन्नर गंधर्व सराहत बिथके हैं बिबुध बिमान ॥' (गीतावली १। २। १५)। नट=एक नीच जाति जो प्रायः गा-बजाकर और भाँति-भाँतिके खेल-तमाशे, कसरतें दिखाते, रस्सोंपर अनेक प्रकारसे चलते हैं।

अर्थ—घंटों और घंटियोंकी ध्वनिका वर्णन नहीं किया जा सकता। पायिक (सेवक लोग) 'सरो' करते हैं अर्थात् कसरतें दिखाते चलते हैं और 'फहराते' हैं अर्थात् कूदते उछलते हुए जा रहे हैं [अथवा, हाथोंमें फरहरे उड़ रहे हैं (गौड़जी)] ॥ ७ ॥ भाँड़ लोग बहुतेरे तमाशे करते हैं, वे हास्य (मसखरी) में बड़े निपुण हैं और सुन्दर गानेमें चतुर हैं ॥ ८ ॥ सुन्दर राजकुमार मृदंग और निशानोंके शब्द सुनकर घोड़ोंको (इस प्रकार) नचाते हैं (कि) वे तालके बंधानसे डगते नहीं। चतुर नट चकित होकर (उनका नाचना) देख रहे हैं ॥ ३०२ ॥

टिप्पणी—१ 'घंट घंटि धुनि' अर्थात् हाथियोंके घंटों और रथोंकी घंटियोंकी ध्वनि। 'बरनि न जाहीं' कहकर घोर ध्वनिका होना जनाया जैसा पूर्व कह आये हैं—'गरजहिं गज घंटा धुनि घोरा'। फहराते हैं अर्थात् कूदते हैं।

नोट—१ 'घंट घंटि…। सरव करहिं पाइक फहराहीं'—इस चौपाईके उत्तरार्द्धका अर्थ किसीने निश्चित रूपसे नहीं लिखा। हिन्दी शब्दसागरमें भी 'सरव' शब्द हमको नहीं मिला। 'जाहीं' और 'फहराहीं' पाठ प्रायः सभी प्राचीन पुस्तकोंका कहा जाता है। ना० प्र० सभा और वन्दनपाठकजीकी प्रतियोंमें भी यही पाठ है। हाँ, श्रीसन्तसिंहजी पंजाबी, करुणासिंधुजी और बैजनाथजीकी प्रतियोंमें 'जाई' और 'फहराई' पाठ मिलता है।

---

* जाई—१७०४। † सरो—१७०४, १७२१, १७६२। सरव—१६६१; छ०, को० रा०। ‡ पायक—१७०४, को० रा०। § कउतुक—१६६१।

बाबा हरिहरप्रसादजी—(१) 'सरव करहिं'=दण्ड करते हैं, सरो करते हैं। पायक=सेवक। 'फहराई'=कूदते हैं, पटा, बाना आदि खेलते हैं। [पं० रामकुमारजीने भी यही अर्थ लिखा है] वा, (२) जो हाथियोंपर निशान लिये हैं 'सो जब सरो रीति खड़ा करते हैं तब हवासे उनका पायक अर्थात् पताका फहराता है'। वा (३)—'हाथियोंको जब पायक अर्थात् पीलवान रव सहित करते हैं अर्थात् जोरसे चलाते हैं, तब वे फहराहीं अर्थात् शुण्ड उठाकर चकारा लेते हैं अर्थात् फूत्कार छोड़ते हैं।'

पंजाबीजी—'सरो=सम्मुख अर्थात् राजाके सम्मुख ध्वजा लेकर फहराते हैं। वा सरो नाम सरूवोंका है। सरूवोंके आकार मोरपंखके बनाकर भी पायक हाथमें रखते हैं और विवाहके समय आगे चलते हैं। अथवा सरोकरण नाम कूदने-फाँदनेका है। पायक कूदते जाते हैं और ध्वजाएँ उनके हाथोंमें फहराती हैं।' (पाँड़ेजी)।

बैजनाथजी—सेवकोंके हाथोंमें सरौ (छड़ी) है जिसमें झण्डी फहराती है, वे आगे चले जा रहे हैं। मल्लोंका कूदना अथवा ताड़ आदिमें फहराना ठीक नहीं जान पड़ता।

बाबू श्यामसुन्दरदास—'नौकर लोग किलकारी मारते हुए हाथोंमें झण्डियाँ फहराते चले जाते थे'।

पं० रामचरण मिश्र—'सरव पटेबाजी करत फरी गदा बहु भाँति। पायक प्यादेको कहत चले जात फहरात॥' इत्यादि। (रामायणी रामबालकदासजी भी 'सरव' का अर्थ पटेबाजी इत्यादि करते हैं और कहते हैं कि पूरबमें 'सरौं' पटेबाजी इत्यादिको कहते हैं, जैसा प्रायः जलूसों, राजाओं-रईसोंकी सवारियों, बारातों इत्यादिमें देखनेमें आता है)।

हिंदीशब्दसागरमें शब्दोंके अर्थ ये दिये हैं—पायक (सं० पादातिक, पायिक)=(१) धावन, दूत, हरकारा। यथा—'हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमानसे पायक॥'=(२) दास, सेवक, अनुचर।=(३) पैदल सिपाही। फहराना=(१) उड़ाना। कोई चीज इस प्रकार खुली छोड़ देना जिसमें वह हवामें हिलने और उड़ने लगे। जैसे हवामें दुपट्टा फहराना, झण्डा फहराना। (२) क्रिया अकर्मक फहरना, वायुमें पसरना। हवामें रह-रहकर हिलना या उड़ना। और उदाहरणमें यही चौपाई दी है—'सरव करहिं पायक फहराहीं।'

प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि पूरब गोरखपुर आदि देशोंमें 'सरो' करना 'परिश्रम, कसरत वा मेहनत' करनेके अर्थमें बोला जाता है। यह 'श्रम' का अपभ्रंश है। गदाका घुमाना, पटेबाजी आदि अनेक कसरतें जैसी नट, पहलवान आदिक करते हैं, वह सब इस शब्दमें सूचित कर दिये हैं। उनकी रायमें 'जाई' और 'फहराई' पाठ ठीक है। 'फहराई' का अर्थ है फरहरे हाथ, फुर्तीके साथ। अर्थात् पैदल चलनेवाले सिपाही फुर्तीके साथ पैतरेसे पैतरा मिलाकर चलते हैं और चलनेमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर रुककर कसरत दिखाते हैं।

'पायक' का अर्थ पताका भी हो तो 'फहराहीं' पाठ लेनेसे अर्थ होगा—'सेवक दण्ड मुद्गर पटेबाजी आदि दिखाते हैं और झण्डियाँ फहराती हैं।' और 'फहराई' पाठका अर्थ दीनजीने ऊपर किया है।

वीरकविजी—झण्डियाँ फहराती हैं, उनमें लगे घुँघरू बोल रहे हैं।

विनायकी टीका—सेवकोंके हाथोंमें सीधी झण्डियाँ फहरा रही हैं।

गौड़जी—'सरौं…फहराहीं।' यहाँ दीपदेहरीन्यायसे इस प्रकार अन्वय करना चाहिये—'सरौं करहिं पायक, करहिं पायक फहराहीं'=पायक सरौं करहिं, करहिं पायक फहराहीं।'=पैदल सिपाही लोग तरह-तरहके कसरतके खेल दिखाते चलते हैं। हाथोंमें फरहरे उड़ रहे हैं। सरौंका अर्थ कसरतके खेल हैं। इसका मूलरूप श्रम है, परंतु आजकल सरवरिया बोलीमें सरौं करना केवल दण्ड करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। बैठक आदि उसमें शामिल नहीं है। पायक=(१) पैदल चलनेवाला हरकारा या सिपाही। (२) पताका या फरहरा।

मानसांक—'पैदल चलनेवाले सेवकगण अथवा पट्टेबाज कसरतके खेल कर रहे हैं और फहरा रहे हैं (आकाशमें ऊँचे उछलते हुए जा रहे हैं)। (नंगे परमहंसजीने यही अर्थ किया है)।

बाबा हरीदासजी—सरौ करहिं=दण्ड करते, कला दिखाते वा कूदते हैं। पायक=करतबी कूदनेवाले। फहराहीं=उड़ते हैं।

टिप्पणी—२ 'करहिं बिदूषक कौतुक नाना।…' इति। (क) यहाँ अच्छे विदूषकोंमें तीन गुण दिखाते हैं। जो अनेकों कौतुक (तमाशे) दिखावें, (गम्भीर पुरुषोंको भी) हँसा दें और गाना भी जानते हों, वही पूरे भाँड़ हैं। ये

तीनोंमें विशेष हैं। अनेक कौतुक जानते हैं, हासमें कुशल हैं और गानमें सुजान हैं। कौतुक करना कहकर 'हास कुसल कल गान सुजान' कहा। बीचमें 'हास कुसल' पद देकर जनाया कि ऐसा कौतुक करते हैं कि हँसी आ जाती है और ऐसा सुन्दर गान करते हैं कि सुनकर हँसी आ जाती है। (ख) गानमें सुजान कहनेका भाव कि सबमें जानकार हैं और गानमें जो सु (सुष्ठु, उत्तम, परम)—जानकार हैं। 'कल गान' कहकर जनाया कि स्वर बहुत सुन्दर है, मधुर है, गला बहुत अच्छा है और 'सुजान' से गान-कलाके पूरे जानकार जनाया। कल और सुजान दोनों कहा, क्योंकि यदि गानके सब भेद जानता हो, उसमें पूरा सुजान हो, पर स्वर मधुर न हो, तो भी अच्छा नहीं लगता, और स्वर मधुर हो पर गानमें सुजान न हो तो भी व्यर्थ ही है, जब दोनों बातें हों तभी गानकी सुन्दरता है।

३—'तुरग नचावहिं कुँवर·····' इति। (क) राजाकी सवारी अब पुरके बाहर पहुँच गयी है, इसीसे ग्रन्थकार पूर्वपरका यहाँ सम्बन्ध मिलाते हैं। पूर्व लिखा था 'फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना। २९९। २॥' उसीसे यहाँ मिलाते हैं—'तुरग नचावहिं कुँअर···'।' पणव और नगाड़ोंके शब्द सुनकर वीरतासे घोड़ोंको फेर रहे थे और अब मृदंग निशान सुनकर नचाते हैं। यहाँ 'कुँअर बर' कहा और पूर्व 'चतुर' कहा। इस तरह 'बर' का भाव 'चतुर' स्पष्ट किया। (ख)—'नागर नट' अर्थात् जो तालके बँधानको जानते हैं। अज्ञानी नटके चकित होकर देखनेमें कोई बड़ाईकी बात नहीं है। इसीसे 'नागर नट' का चकित होना कहा। (ग) 'चितवहिं चकित'—आश्चर्य मानते हैं क्योंकि यह काम आप नहीं कर सकते। 'डगहिं न' अर्थात् चूकनेकी कौन कहै, डगते भी नहीं। आश्चर्यसे देखते हैं कि मृदंगकी पड़नपर हमलोग नहीं नाच सकते और ये उसपर घोड़ोंको नचाते हैं। घोड़ोंके तालमें बँधकर नाचनेका आश्चर्य स्थायी भाव है।

बनै न बरनत बनी बराता। होहिं सगुन सुंदर सुभदाता॥ १॥
चारा चापु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई॥ २॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूँ* पावा॥ ३॥

शब्दार्थ - बनी=सजी। सुभदाता=मंगलदाता। चापु=नीलकण्ठ।=पपीहा (मुहूर्तचिन्तामणिकी टीकामें श्रीसीताराम शाने यह अर्थ लिखा है)। नकुल=न्यौला। दरसु=दर्शन, यथा—'तुम्हरे दरस आस सब पूजी। २। १०७॥' 'दरस परस अरु मज्जन पाना।'

अर्थ—बारात ऐसी सजी है कि उसका वर्णन नहीं करते बनता। सुन्दर मङ्गलके देनेवाले शकुन हो रहे हैं॥ १॥ नीलकण्ठ बायीं ओर चारा ले रहा है, मानो वह समस्त मङ्गलोंकी सूचना दे रहा है॥ २॥ दाहिनी ओर कौवा अच्छे खेतमें सोह रहा है। न्यौलेका दर्शन सब किसीने पाया॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'बनै न बरनत·····' इति। (क) ग्रन्थकार सब कुछ वर्णन करनेमें जवाब देते हैं (अर्थात् हार मानते हैं) घोड़े, हाथी, रथ, वस्तु, आनन्द, शब्द (कुलाहल) और बारात सभीके वर्णनमें यही कहा कि 'नहिं जाइ बखाना।' यथा—क्रमसे—'नाना जाति न जाहिं बखाने' 'कलित करिबरन्हि परीं अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी॥' 'दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने। नहिं सारद पहिं जाहिं बखाने॥' 'कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनै पारा॥' 'अति आनंदु न जाइ बखाना' 'घंट घंटि धुनि बरनि न जाहीं' और 'बनै न बरनत बनी बराता' तात्पर्य कि सब बातें अकथ्य हैं। (ख)—जब महाराजकी सवारी आ गयी तब शकुनोंका वर्णन करते हैं जैसा आगे कहते हैं। (ग) यथामति बारातका वर्णन करके अब इति लगाते हैं। 'बनै न बरनत बनी बराता' यह इति है।—'हय गय रथ आनंदरव बस्तु बरात अपार।' [(घ) 'सुन्दर' अपने शरीरसे और 'शुभदाता' औरोंके लिये]।

पं॰ विजयानन्द त्रिपाठीजी—सगुनको सुन्दर कहनेका भाव यह है कि यात्रामें मुर्देका मिलना भी शुभ सगुन है, पर वह सुन्दर नहीं है। यहाँ बारह सगुन ग्रन्थकारने गिनाये, और बारातमें भी बारह कार्य कहे। 'होत सगुन सुंदर सबहिं, जो जेहि कारज जात' कहनेसे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्यमें सगुन हुए, बारातकी सामग्रीके बारहों अवयव हैं, अतः सबका एक साथ होना कहा।

* काहूँ—१६६१।

टिप्पणी—२ 'चारा चाषु' इति। शकुनपरक ग्रन्थोंमें लिखा है कि नीलकण्ठका दर्शन पराह्णमें शुभ है। ☞ इससे सूचित हुआ कि बारात दोपहरके पश्चात् चली थी। 'चारा…लेई' कहकर जनाया कि नीलकण्ठका बायीं ओर चारा चुगना मङ्गलदायक शकुन है। 'सकल मंगल कहि देई'—इस कथनसे जनाया कि सब यह जानते हैं कि नीलकण्ठ-का वामदिशामें चारा चुगते दर्शन होनेसे समस्त मंगल होते हैं। पुनः 'कहि देई' से जनाया कि उसका बोलना भी शकुन है। पुनः भाव कि जैसे (कोई बात) कहनेसे (उसका) निश्चय होता है वैसे ही चाषुके दर्शनसे सबको निश्चय हुआ कि हमको सब मङ्गल होंगे। सकल मङ्गल कहे देता है अर्थात् कहता (सूचित) करता है कि तुमको सब मङ्गल होंगे। [पक्षीमें मनुष्य भाषा बोलनेकी शक्ति नहीं है। उसमें समस्त मङ्गलके कथनकी कल्पना करना असिद्ध आधार है। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीर)]

नोट—१ मुहूर्त-चिन्तामणिमें चाषु, ससुत स्त्री, नकुल, दही, मीन, गऊका दर्शन यात्रासमय शुभ शकुन माना गया है। (यात्राप्रकरण श्लोक १००, १०१)। कौवेका दक्षिण ओर दर्शन और मृगोंका प्रदक्षिणा करते हुए गमन शुभ कहा है, यथा—'मृगाः प्रदक्षिणं यान्ति पश्य त्वां शुभसूचकाः। अ० रा० १। ७। ४।' 'काकऋक्ष श्वानः स्युर्दक्षिणाः शुभाः। मु० चिं० १०६।' दोहा ३०३ नोट १ भी देखिये।

टिप्पणी—३ 'दाहिन काग सुखेत सुहावा।…' इति। (क) वाम दिशाका शकुन कहकर अब दाहिनी दिशाका शकुन कहते हैं। (ख) 'सुखेत'=सुन्दर स्थान। [सुखेत=सुन्दर खेत। अर्थात् हरे धानसे भरा हुआ।—(प्र० सं०)] सुखेत कहनेका भाव कि कौवा प्रायः बुरी निकम्मी जगहमें बैठता है, वह शकुन नहीं है। यदि वह सुन्दर स्थानपर बैठा हो और दाहिनी ओर हो तभी सुन्दर है और तभी उसका दर्शन शुभ है। 'सुखेत सुहावा' कहकर जनाया कि कुखेतमें काँव-काँव करता हुआ काक 'असुहावा' है—'रटहिं कुभाँति कुखेत करारा' यह अशुभ असुहावा है। (ग) 'नकुल दरसु सब काहूँ पावा' इति। 'चाषु' और 'काग' में वाम और दाहिन दिशाका नियम किया। नेवलेके साथ दिशाका नाम न देकर जनाया कि इसका दर्शन सब दिशाओंमें शुभ है। 'सब काहूँ पावा' का भाव कि इसका दर्शन सबको नहीं होता, क्योंकि यह लोगोंको देखकर डरता है और तुरत भागकर बिलमें घुस जाता है पर आज श्रीरामजीकी बारातके समय वह निर्भय विचर रहा है जिससे सबको दर्शन मिल जाय। [☞ पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका टिप्पण शकुनोंके वर्णनके अन्तमें दो० ३०३ में दिया गया है)

सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी॥ ४॥
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा॥ ५॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगलगन जनु दीन्हि देखाई॥ ६॥

शब्दार्थ—सानुकूल=सम्मुख। (पं० रामकुमारजी)। लोवा=लोमड़ी, लोखरी। फिरि-फिरि=फिर-फिर, घूम-घूम-कर। सुरभी=गऊ, गाय। दरसु=स्वरूप, यथा—'भरत दरसु देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भाग। २। २२३। दरसु देखावा=दर्शन दिया वा कराया। मृगमाला=हिरनोंका झुंड।

अर्थ—तीनों प्रकारकी हवा सानुकूल बह (चल) रही है, सुन्दर स्त्री घड़ा और बालकसहित आ रही है। ४। लोमड़ी (लोखरी) घूम-घूमकर पीछे फिर-फिरकर अपना दर्शन देती, गाय अपने बच्चेको सामने खड़ी दूध पिलाती। ५। हिरणोंके झुंड बायीं ओरसे घूमकर (परिक्रमा देते हुए) दाहिनी ओर आये, मानो मङ्गल-समूह दिखायी पड़े। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'सानुकूल बह त्रिबिध बयारी।…' इति। 'सानुकूल' कहनेका भाव कि एक तो तीनों प्रकारकी हवा चलना सगुन हुआ, दूसरे उनसे शरीरको सुख मिला। जैसी इच्छा थी वैसा ही हुआ, यही सानुकूलता है। [यात्रामें पीछेसे आती हुई पवन शुभ है अर्थात् पीठपर पवन लगे तो शकुन अतएव अनुकूल है और सामनेसे पवनका आना अपशकुन है मानो वह कार्यको रोकता है और कहता है कि न जाओ। (प्र० सं०)] (ख) त्रिविध अर्थात् शीतल, मन्द और सुगन्धित। (ग) 'सघट सबाल आव बर नारी' इति। 'बयारि' के तीन विशेषण दिये—शीतल, मन्द, सुगन्धित। इति। त्रिविध यथा—'सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥ ३। ४०। 'सीतल सुरभि पवन बह मंदा। ७। २३। और दूसरे चरणमें 'नारी' को भी तीन विशेषण दिये—'सघट, सबाल, बर'। ऐसा करके जनाया कि दोनों बराबर (एक-से)

है। दोनोंमें समानता है। बयारि शीतल है और 'नारी' सघट है, शीतल पदार्थ धारण किये हुए है। बयारि मन्द-मन्द चल रही है और 'नारी' सबाल है, बालकको गोदमें लिये हुए है, इससे तेज नहीं चल सकती, मन्द-मन्द चालसे चल रही है। बयारि सुगन्धित है, 'नारी' बर है अर्थात् अङ्गराग लगाये हुए है (अतः शरीरसे सुगन्ध आ रही है)। 'नारी' की समतामें कहना है, इसीसे 'बयारि' स्त्रीलिङ्ग शब्द दिया [दोनोंकी एक-सी क्रियाएँ देखकर दोनोंको एक ही अर्धालीमें रक्खा—(प्र० सं०)] शब्दमें भी पर-पुरुषका सङ्ग न कहा। सघट सबालके क्रमका भाव यह है कि (शरीरपर ये भी क्रमसे हैं) सिरपर घड़ा है, उसके नीचे कटि (कमर) में बालक है। पवन सम्मुख बहती है, स्त्री सम्मुख आती है। [(ख) 'बर' विशेषणसे स्त्रीका सावित्री, सौभाग्यवती होना जनाया। 'सघट' अर्थात् पवित्र सुन्दर घड़े या कलशमें पवित्र जल लिये हुए है। 'आव' अर्थात् सामनेसे आ रही है और 'बर' है अर्थात् षोडश शृङ्गार किये हुए है। इस तरह जनाया कि सौभाग्यवती स्त्रीका घड़ेमें जल भरे हुए और गोदमें बालक लिये हुए सामने आना शकुन है। और इसके विरुद्ध विधवा स्त्री, खाली छूछा घड़ा अपशकुन है। आगे चली जाती हुई (पीठ दिये हुए) शकुन नहीं है। (प्र० सं०)]

टिप्पणी २—'लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा…' इति। (क) 'फिरि फिरि' से सूचित करते हैं कि लोमड़ीका स्वभाव है कि वह भागती जाती है और खड़ी हो-होकर दर्शन देती है। और 'सिसुहि पियावा' से जनाया कि गऊ खड़ी हुई दूध पिला रही है। [इस तरह बताया कि लोमड़ीका भाग-भागकर दर्शन देना शुभ है और गऊका खड़ी होकर दूध पिलाना शुभ है। लोमड़ीकी चञ्चलता और गऊकी स्थिरता शुभ है। आगे चलती है फिर पीछेकी ओर घूम पड़ती अर्थात् पीछे मुँह फेरकर देखने लगती, फिर आगे चलती फिर मुँह पीछे करके देखने लगती, इस तरह चल-चलकर दर्शन देना यह शकुन है। यही भाव 'फिरि फिरि' का है। बारंबार अर्थ जो बाबू श्यामसुन्दरदासने किया है वह अशुद्ध है। 'फिरि फिरि' पदसे यह भी जनाया है कि लोमड़ीका खड़ा रह जाना अपशकुन है और उसका एकदम भागते हुए जाना भी शकुन नहीं है। इतने गम्भीर भाव इस पदमें भरे हैं। इसी प्रकार 'सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा' से सूचित किया कि गाय यदि शान्त होकर बछड़ेको दूध पिलाती हो तो वह शकुन है, अन्यथा नहीं (प्र० सं०)]

३ 'मृगमाला फिरि दाहिनि आई।…' इति। (क) (मृग पशुमात्र, विशेषतः वन्य पशुओंकी संज्ञा है) वनमें जितने साऊज (शिकार) हैं वे सब 'मृग' कहलाते हैं। केवल 'मृग' कहनेसे भ्रम होता कि किस मृगका दर्शन शुभ है, इस भ्रमके निवारणके लिये 'मृगमाला' कहा। अन्य कोई भी मृग (वन्य पशु) पंक्तिसे नहीं भागते, हिरन पंक्तिसे भागते हैं, ('मृगमाला' से हरिणहीका ग्रहण होगा क्योंकि और पशु बिथरकर भागते हैं और हिरन झुंडमें साथ-साथ मिलकर चलते हैं। मृग नौ प्रकारके कहे गये हैं—मसूर, रोहिप, न्यङ्कु, सम्बर, वभ्रुण, रुरु, शश, एण और हिरण)। (ख) 'फिरि' का भाव कि पीछेसे दाहिनी ओर आयी, सम्मुखसे दाहिनी ओर आती तो 'फिरि' शब्द न देते। ['फिरि' अर्थात् बायीं ओरसे सम्मुख होकर दाहिनी ओर मृगोंका झुंड आया, जैसे परिक्रमा की जाती है।—(प्र० सं०)] (ग) 'मंगलगन जनु दीन्ह देखाई' इति। अर्थात् ऐसा जान पड़ता है कि मृगमालाने मङ्गलगण दिखा दिये अथवा मानो मङ्गलगण देख पड़े। [झुंड-के-झुंड साथ मिले ऐसे देख पड़ते हैं मानो सब मूर्तिमान् मङ्गल शकुन एकत्र हो दिखायी देकर कह रहे हैं कि लो देखो हम आ गये। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मंगल गन' का भाव यह है कि मृगमाला इस प्रकार दर्शन देकर सूचित कर रही है कि तुमको बहुत मङ्गल होंगे अर्थात् एक विवाहके लिये जाते हो वहाँ चारों पुत्रोंका विवाह होगा। (प्र० सं०)] (घ) लोमड़ीका आगे भागी जाती हुई और मृगमालाका आगे भागी आती हुई दर्शन होना शुभ कहा। (ङ) मृगमालाका दाहिनेसे घूमकर निकलना शकुन है पर वह शकुन दिखाता नहीं, यह कविकी कल्पनामात्र है अतः यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

छेमकरी कह क्षेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी॥ ७॥
सनमुख आयेउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥ ८॥

दो०—मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार।
जनु सब साँचे होन हित भए सगुन एक बार॥ ३०३॥

शब्दार्थ—'छेमकरी'—एक प्रकारकी चील है जिसका मुख श्वेत होता है और शरीर कुङ्कुमवर्ण अर्थात् लाल होता है। इसके नेत्र सुन्दर होते हैं। यह 'क्षेम क्षेम' बोलती है। इसे सगुन चिड़िया भी कहते हैं। इसके बोलने और दर्शनका फल सोचको मिटा देना है। यथा—'छेमकरी बलि बोलि सुबानी'''ससिमुख कुंकुमबरनि सुलोचनि मोचनि सोचनि बेद बखानी। देवि! दया करि देहि दरस फल॥ गी० ६। २०॥' इसका मण्डलाकार मँड़राकर आकाशमें बोलना शुभ मङ्गलप्रद है। यथा—'सुनि सनेहमय बचन निकट ह्वै मंजुल मंडल कै मड़रानी। सुभ मंगल आनंद गगन धुनि अकनि अकनि उर जरनि जुड़ानी॥ गी० ६। २०॥' [यह महाराष्ट्र देशमें बहुत पायी जाती है। (प० प० प्र०)] छेम=कल्याण। 'स्यामा' (श्यामा)-प्रायः सवा या डेढ़ बालिश्त लम्बा एक प्रकारका पक्षी जिसका रङ्ग काला और पैर पीले हैं। यह प्रायः घने जङ्गलोंमें रहता है और पंजाब छोड़ सारे भारतमें मिलता है। इसका स्वर बहुत ही मधुर और कोमल होता है—(श० सा०)।=काले मुखवाली चील। (वै०)। अभिमत=वाञ्छित, मनमें चाही हुई।

अर्थ—क्षेमकरी विशेष कल्याण कह रही है। श्यामा (पक्षी) बायीं ओर सुन्दर वृक्षपर दिखायी दी॥ ७॥ दही, मछली और दो विद्वान् ब्राह्मण हाथमें पुस्तक लिये हुए सामने आये॥ ८॥ मङ्गलमय, कल्याणमय, वाञ्छित फलके देनेवाले सब शकुन मानो सत्य होनेके लिये एक बार एक ही समयमें (प्रकट) हुए॥ ३०३॥

टिप्पणी—१ 'छेमकरी कह''''' इति। (क) 'कह' पदसे सूचित किया कि उसका बोलना भी शुभ है और दर्शन भी। इसी प्रकार नीलकण्ठका भी बोलना और दर्शन दोनों शुभ हैं। इसीसे दोनों जगह 'कह' शब्द देकर दोनोंका बोलना भी सूचित करते हैं। 'छेम बिसेषी' कहकर क्षेमकरीको बड़ा भारी शकुन जनाया। क्षेमकरी विशेष शकुन है क्योंकि यह गङ्गा और गौरीके समान है। यथा—'कुंकुम रंग सुअंग जितो, मुखचंद सो चंद सों होड़ परी है। बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच बिषाद हरी है॥ गौरी कि गंग बिहंगिनि बेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है। पेखि सप्रेम पयान समय सब सोच बिमोचन छेमकरी है॥ क० उ० १८२॥' क्षेमकरीका क्षेम कहना, कारणके समान कार्यका वर्णन 'द्वितीय सम अलंकार' है। (ख) ['श्यामा'=वह पक्षी जो प्रातःकाल कुछ रात रहे मधुर बोली बोला करता है। वैजनाथजी 'श्याम बाम''' का भाव यह कहते हैं कि मानो वह कहती है कि राजकुमार वामसहित कुशलसे आवेंगे। 'सुतरु'=उत्तम वृक्ष। इससे रसाल, पीपल, वट, पाकर इत्यादि वृक्ष सूचित किये। बहेड़ा, बबूर इत्यादि कुतरु माने गये हैं। 'देखी' से जनाया कि इसका दर्शन शुभ शकुन है, इसीसे केवल देखना कहा। उसका बोलना नहीं कहा। 'सुतरु' का भाव कि उत्तम वृक्षोंपर दर्शन होना शुभ है।]

२ 'सनमुख आयेउ दधि''' इति। (क) 'सनमुख' आदिमें रखकर दधि, मीन और विप्र सबके साथ जनाया। ☞ इसी तरह पूर्वकी चौपाइयोंमें भी समझना चाहिये कि एक चरणमें जो कहा है उसे दूसरेमें भी लगा लेना चाहिये; जैसे कि 'दाहिन काग' को प्रथम चरणमें शुभ कहा, वैसे ही 'नकुल दरसु' जो उसके साथ दूसरे चरणमें है, उसे भी दाहिने शुभ समझना चाहिये (परंतु पूर्व लिख आये हैं कि नेवलेके दर्शनमें दिशाका नियम नहीं है?)। इत्यादि। जितने एक सङ्ग कहे गये हैं उनमेंसे जैसा एकको कहा है वैसा ही दूसरेको समझें। (ख) 'आयेउ दधि अरु मीना' अर्थात् कोई उन दोनोंको लेकर सामने आया। यह लक्षणा है। 'आयेउ' एकवचन है 'आयें' उसका बहुवचन है। यहाँ बहुवचन क्रिया चाहिये थी, क्योंकि दधि और मीन दो वस्तुएँ हैं। एकवचन क्रिया देकर व्यञ्जित किया कि एक ही मनुष्य दोनों वस्तुओंको लिये हुए आया। आनेवाला एक ही है, इसीसे एकवचन पद दिया। ☞ इसीसे यह भी जनाया कि एक ही मनुष्य दोनोंको लेकर आवे तब विशेष शुभ है, दो मनुष्य एक-एक वस्तुको लिये हों तब नहीं। (मछली जीवित हो, जलमें पड़ी हो, तब शुभ है। मरी हुई मछलीका दर्शन शुभ नहीं है)। (ग) 'कर पुस्तक दुइ बिप्र' इति। हाथमें पुस्तक होनेसे जनाया कि ब्राह्मणके हाथमें पुस्तकका दर्शन शुभ शकुन है। 'प्रबीना'—प्रवीण अर्थात् सुजान हैं। 'दुइ', 'कर पुस्तक' और 'प्रवीण' कहकर जनाया कि आपसमें कुछ शास्त्रकी चर्चा करते चले आ रहे हैं, और पण्डित हैं, कुछ सुनकर (सुनी-सुनायी बातकी) चर्चा नहीं करते। (किंतु पोथीमें जो है उसकी चर्चा करते हैं)।

टिप्पणी—३ 'मंगलमय कल्यानमय''''' इति। (क) ऊपर चौपाइयोंमें जितने शकुनोंका वर्णन किया गया उनमेंसे केवल तीनको मङ्गलदाता कहते हैं (अर्थात् तीनहीके साथ 'मङ्गल' या उसका पर्यायशब्द आया है); यथा—'चारा चापु

बाम दिसि लेई। मनहु सकल मंगल कहि देई ॥ २ ॥', 'मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगलगन जनु दीन्हि देखाई ॥ ६ ॥', 'छेमकरी कह छेम···। ७।' अन्य शकुनोंके साथ यह शब्द नहीं दिया गया। ['तो क्या और सब मङ्गलदाता नहीं हैं ?' इस सन्देहके निवारणार्थ उपक्रममें 'होहिं सगुन सुंदर सुभ दाता' और यहाँ अन्तमें भी] सबको मङ्गलदाता कहते हैं—'जनु सब साँचे···।' (ख) मङ्गलमय कल्याणमय स्वयं हैं (अपने स्वरूपसे हैं) और दूसरोंको 'अभिमत फलदातार' हैं। शकुन बहुत हैं, इसीसे 'दातार' बहुवचन पद दिया। [पुनः, मङ्गलमयसे धन, पुत्र, पुत्रवधू इत्यादि लाभके देनेवाले और कल्याणमयसे उन मङ्गलोंकी निर्विघ्न स्थिरता सूचित की। (मुं० रोशनलाल)। अर्थात् योग और क्षेम, वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षा दोनोंके करनेवाले जनाया। अथवा, वाञ्छित फल देते हैं, अतः कल्याणमय अर्थात् सुखदाता हैं और सुखदाता होनेसे 'मङ्गलमय' हैं। (पं०)। अथवा मङ्गलमय कल्याणमय अभिमतके देनेवाले हैं। (रा० प्र०)] (ग) ये तीनों विशेषण सहेतुक हैं। यह नियम नहीं है कि अभिमत फलकी प्राप्ति सदा कल्याणकारक हो और यह भी जरूरी नहीं कि मङ्गलमय वस्तु कल्याणप्रद ही होगी। तीनोंका एक साथ होना परम दुर्लभ है। इसीसे कहा 'भए सगुन एक बार' [सब शकुन मङ्गलमय तो थे ही, पर साथ ही सर्वश्रेयस्करी क्लेशहारिणी श्रीसीताजीको विवाह-विधिसे 'रामवल्लभा' बनवाकर 'सुर नर मुनि सबके भय' को दूर करनेवाले होंगे। दुःखरहित सुख ही अभिमत फल है। (प० प० प्र०)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'चारा चापु बाम दिसि लेई···' 'सगुन भए एक बार' इति। भाव कि (१) ज्यों ही 'बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े। निकसि भये पुर बाहर ठाढ़े ॥' तो देखते हैं कि नीलकण्ठ बायीं ओर चारा चुग रहा है। (२) इसी तरह ज्यों ही 'चढ़ि चढ़ि रथ बाहर नगर लागी जुरन बरात' तो (वह बारात) देखती है कि सुखेतमें काग शोभित है। (३) 'चले मत्तगज घंट बिराजी' तो 'नकुल दरस सब काहूँ पावा।' (४) 'तेहि चढ़ि चले बिप्रबर बृंदा' तो 'सानुकूल बह त्रिबिध बयारी।' (५) 'चले जान चढ़ि जो जेहि लायक' तो 'सघट सवाल आव बर नारी।' (६) 'चले बस्तु भरि अगनित भाँती' तो 'लोवा फिरि फिरि दरस दिखावा।' (७) 'कोटिन्ह काँवर चले कहारा' तो 'सुरभी सन्मुख सिसुहि पियावा।' (८) 'चले सकल सेवक समुदाई' तो 'मृगमाला दाहिन दिसि आई।' (९) 'तब सुमंत दुइ स्यंदन साजी' तो 'छेमकरी कह छेम बिसेषी।' (१०) 'दोउ रथ रुचिर भूप पहँ आने' तो 'स्यामा बाम सुतरु पर देखी।' (११) 'आपु चढ़े स्यंदन सुमिरि हर गुरु गौरि गनेस' तो 'सन्मुख आयेउ दधि अरु मीना।' और, (१२) 'चले महीपति संख बजाई' तो 'कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना।'

इन सगुनोंमें भी तीन भेद किये। 'चारा चापु बाम दिसि लेई' से मंगलगन 'जनु दीन्हि देखाई' तक आठ मङ्गलमय सगुन हैं। 'छेमकरी कह छेम बिसेषी' यह एक कल्याणमय सगुन है। शेष तीन 'अभिमत दातार' सगुन हैं।

नोट—१ 'जनु सब साँचे होन हित···' इति। भाव यह कि उन्होंने सोचा कि सगुण ब्रह्मकी बारात है, इनको मङ्गल तो होना ही है चाहे हम न भी जायँ; पर आज हमारे न जानेसे भविष्य कालमें हमें कोई माङ्गलिक न मानेगा; लोग यही कहेंगे कि माङ्गलिक होता तो श्रीरामविवाहके समय अवश्य दिखायी दिया होता। सुतरां आगे अपनेको माङ्गलिक प्रमाणित करनेके लिये सब प्रकट हो गये। सगुन, यथा—'भेरीमृदंगमृदुमर्दलशंखवीणा वेदध्वनिर्मधुरमंगलगीतवाद्याः। पुत्रान्विता च युवती सुरभिः सवत्सा धौताम्बरश्च रजकोऽभिमुखः प्रशस्तः ॥ (रत्नमाला। श्रीपति)।

टिप्पणी—४ 'भए सगुन एक बार' इति। 'एक बार' कहनेका भाव कि ये सब शकुन एक ही समयमें किसीको नहीं होते; इसीसे उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो सब सच्चे होनेके लिये यहाँ एक ही समयमें हुए। [सब शकुन सच्चे होनेके लिये हुए हैं। 'सबका सच्चा होना भी आगे कहा है। यथा—'सुनि अस ब्याहु सगुन सब नाचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे। ३०४। ३।' तब 'जनु' पद क्यों दिया ?' यह शंका पं० रामकुमारजीने उठाकर छोड़ दी है। मेरी समझमें समाधान इसका यह है कि अभी सच्चे नहीं हुए हैं, अभी तो शकुन हुए हैं, इसलिये यहाँ उत्प्रेक्षा की गयी। आगे जब मङ्गल, कल्याण और अभिमत फल मिलेगा तब इनकी सत्यता प्रकट होगी। 'जनु सब साँचे···' यह कविका वचन है और 'बिरंचि कीन्हे हम साँचे' यह शकुनोंका कथन है।]

नोट—२ अ० दीपककार इस दोहेका भाव यह लिखते हैं—'राजराज साकेत ढिग बन मानसजाकूल। विचरत खग रसिक तेइ भये सगुन सुख मूल। ९६।' भाव यह है कि ऐसी भारी बारातमें मृगमाला और लोमड़ीका फिरना और सगुन जनाना

कैसे बनेगा ? लौकिक सगुन अलौकिक विवाहमें कैसे ठहरेंगे ? अतएव यहाँ आशय यह है कि साकेतके उत्तर सरयूके दक्षिण जो प्रमोद, अशोक, शृङ्गार, पारिजात आदि बारह दिव्य वन हैं उनके खग-मृगादि ही सब साथमें बारातके आगे सगुन करते चले (अ० दी० च०)।

मंगल सगुन सुगम सब ताकें। सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाकें॥ १॥
राम सरिस बर दुलहिनि सीता। समधी दसरथु जनकु पुनीता॥ २॥
सुनि अस ब्याहु सगुन सब नाचे। अब कीन्हें बिरंचि हम साँचे॥ ३॥
येहि बिधि कीन्ह बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना॥ ४॥

अर्थ—उसको सभी मङ्गल और शकुन सुलभ हुआ चाहें (अर्थात् इसमें कोई आश्चर्य नहीं है) कि जिसके सगुण ब्रह्म ही सुन्दर पुत्र हैं॥ १॥ (जहाँ) श्रीरामचन्द्रजी-सरीखे दूलह, श्रीसीताजी जैसी दुलहिनि और श्रीदशरथ-जनक-जैसे पवित्र (सुकृती) समधी हैं॥ २॥ ऐसा व्याह सुनकर सभी शकुन नाचने लगे (अर्थात् आनन्दित हुए कि) ब्रह्मा ने हमें अब सच्चा किया॥ ३॥ इस प्रकार बारातने प्रस्थान किया (अर्थात् चली), घोड़े-हाथी गरजते हैं, डंकोंपर चोटें दी जा रही हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'मंगल सगुन सुगम सब····' इति। (क) तात्पर्य कि जिसके लिये स्वयं ब्रह्म ही सगुण अर्थात् व्यक्त हो गया; उसको यदि समस्त शकुन सुलभ हो गये तो इसमें कौन बड़ी बात है (जो आश्चर्य किया जाय) ? (ख) 'सुगम सब ताकें' का भाव कि औरोंको एक ही समयमें समस्त शकुनोंका होना अगम्य है, पर श्रीदशरथजी महाराजको 'सुगम' है। यह कहकर आगे उसका कारण बताते हैं कि 'सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाकें' अर्थात् 'सगुण' ब्रह्म उनके पुत्र हुए इसीसे 'सगुन' सुगम हैं। (ग) 'मंगल सगुन सुगम' कहकर जनाया कि कार्य और कारण दोनों सुगम हैं। 'सगुन' कारण है; 'मंगल' कार्य है; क्योंकि शकुन होनेसे मङ्गल होते हैं। पुनः, 'मंगल सगुन' अर्थात् मङ्गल पहले और सगुन पीछे कहकर यह दिखाया कि इनको मङ्गल (क्योंकि श्रीरामजी मङ्गलभवन हैं) की प्राप्ति पहले हुई, शकुन पीछे हुए। पुनः, 'मंगल सगुन सुगम' का भाव कि सगुण ब्रह्मका आकर पुत्र होना अगम्य है, मङ्गल शकुनका होना सुगम है। (घ)—'सुंदर सुत' इति। शकुनोंको सुन्दर कह आये हैं, यथा—'होहिं सगुन सुंदर सुभदाता'। २०३। १।' उसीकी जोड़में सगुण ब्रह्मको 'सुंदर सुत' कहा। 'सगुन ब्रह्म सुंदर सुत' है तब 'सुंदर सगुन' क्यों न सुगम हों ? (ङ) ('मंगल सगुन' कहकर यह भी जनाया कि शकुन अमङ्गल भी होते हैं, इनको सब मङ्गल शकुन हुए)।

टिप्पणी—२ 'राम सरिस बर दुलहिनि सीता।····' इति। (क) ['सरिस' मुहावरा है, इसका अर्थ है 'सदृश, सरीखा, जैसा, ऐसा, सा'। इसका अन्वय दोनों चरणोंमें 'राम, सीता, दसरथ, जनक' सबके साथ होगा। 'राम-सीता सरिस-बर दुलहिनि', दशरथ-जनक सरिस पुनीत समधी'] सरिस, यथा—'राम लषन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु। २। १७३।', वैसे ही यहाँ 'राम सरिस बर'। 'सरिस' का भाव कि राम ऐसे 'वर' हैं और सीता ऐसी 'दुलहिनि' हैं। अथवा, श्रीसीताजीके सरिस (समान योग्य) श्रीरामजी 'वर' हैं और श्रीरामजीके सरिस श्रीसीताजी 'दुलहिनि' हैं। यथा—'अनुरूप बर दुलहिनि परसपर लखि···। ३२५ छन्द।' ['राम सरिस बर····' का भाव कि 'जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥ तेइ सिय राम' ही जब दूलह-दुलहिन बने हैं तब उनकी बारातमें मङ्गल-ही-मङ्गल क्यों न हों ! (प्र० सं०)] (ख)—यह श्रीअयोध्या है, इसीसे यहाँ श्रीरामजीका नाम प्रथम कहा, पीछे सीताजीका। श्रीमिथिलाजी (लड़कीके पिताके घर) में श्रीसीताजीका नाम प्रथम लेते हैं, पीछे श्रीरामजीका; यथा—'जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही।···दूलहु रामरूप गुन सागर। २८९। ४-५।' (ग) 'समधी दसरथु जनक पुनीता' इति। श्रीराम-सीताजीको कहकर अब उसी क्रमसे दोनों पिताओंके नाम कहते हैं। इससे सूचित किया कि जैसे शकुन यहाँ हुए, वैसे ही शकुन जनकपुरके लोगोंको होते हैं जो जिस कामको जाता है। यथा—'होत सगुन सुंदर सबहिं जो जेहि कारज जात। २९९।' यहाँ, तथा वहाँ। (घ) 'पुनीता' का भाव कि इनकी तपस्यासे, इनके बड़े सुकृतोंसे श्रीराम-जानकीजी प्रकट हुए हैं, यथा—'जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरे देही। ३१०। १'। [यहाँ श्रीरामजी पुत्र हुए और वहाँ श्रीसीताजी पुत्री हुई। पंजाबीजी इन अर्धालियोंका यह भाव लिखते हैं कि 'जहाँ एक भी धर्मात्मा होता है वहाँ उस एकहीके प्रभावसे सब

कार्य सिद्ध होते हैं और यहाँ तो साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी दूलह और श्रीजानकीजी दुलहिन एवं श्रीदशरथ-जनक ऐसे-समधी हैं, इस तरह अनेकों उत्तम योग एकत्रित हैं, तब इनके कार्य तो सभी सुफल होने ही हैं, हम (सगुन) अपनी प्रधानता इस समय क्यों न करा लें।] पुनः, 'समधी दसरथ जनक' का भाव कि दोनों एक-दूसरेके सदृश हैं, यथा—'सकल भाँति सम साजु समाजू। सम समधी देखे हम आजू। ३२०। ६।'

३—'सुनि अस ब्याहु सगुन सब नाचे ....'। इति। (क) भाव कि बारातियोंसहित राजाके दर्शन करके सब शकुन कृतार्थ हुए। [बाराती उनको देखकर क्या कृतार्थ होंगे, बारातियोंको देख वे स्वयं कृतार्थ हुए। 'अब कीन्हे' का भाव यह है कि अबतक ऐसा कोई अवसर न पड़ा था कि सब सगुन एकबारगी होते जिससे हम सभीके मङ्गलकारक होनेकी परीक्षा एकबारगी हो जाती वह दिन आज आया। यह जानकर सब शकुन मारे आनन्दके बारातके सामने आकर नाचने लगे। यह बात देखनेकी है कि शकुनोंको देखकर बारातियोंका हर्षित होना अपनेको कृतार्थ समझना प्रसङ्गभरमें नहीं कहा है, क्योंकि उनके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, पर शकुनोंको ऐसा संयोग मिलना बड़ी बात है, अतः वे सब कृतार्थ हो रहे हैं। (ख) सगुन सब जड़ हैं, उनका यह समझना कि अब विधाताने हमें सच्चा किया, इस खुशीमें नाचना असिद्ध आधार है। बिना वाचक पदके ऐसी कल्पना करना 'ललितोत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीरकवि)].

४ 'येहि विधि कीन्ह बरात पयाना ....' इति। (क) पहले बारात जुटती रही, यथा—'चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर लागी जुरन बरात।'; २९९। जब महाराजकी सवारी आ गयी तब बारातने प्रस्थान किया। प्रथम राजाका प्रयाण कहा, यथा—'सुमिरि राम गुर आयसु पाई। चले महीपति संख बजाई। ३०२। ३।', पीछे अब बारातका प्रस्थान करना कहते हैं। इससे जनाया कि राजाकी सवारी आगे है, बारात पीछे—इस प्रकार बारात चली। 'येहि विधि' का सम्बन्ध ऊपरके 'करि कुलरीति बेद विधि राऊ। ३०२। १।' से लेकर 'बनै न बरनत बनी बराता। ३०३। १ तक, से है। बीचमें शकुनोंका होना कहने लगे, अब फिर जहाँ छोड़ा था वहींसे उठाते हैं। 'एहि विधि' अर्थात् जैसा ऊपर कह आये, वैसे और शकुनोंके बीच। (ख) 'हय गय गाजहिं हने निसाना' अर्थात् प्रस्थानके नगाड़े बजने लगे, चलतेमें घोड़ों और हाथियोंके शब्द हो रहे हैं।

इति श्रीरामबारातप्रस्थानवर्णनं समाप्तम्।

आवत जानि भानुकुल केतू। सरितन्हि जनक बँधाए सेतू॥ ५॥
बीच बीच बर बास बनाए। सुरपुर सरिस संपदा छाए॥ ६॥
असन सयन बर बसन सुहाए। पावहिं सब निज निज मन भाए॥ ७॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन्ह* मंदिर भूले॥ ८॥

दो०—आवत जानि बरात बर सुनि गहगहे निसान।
सजि गज रथ पदचर तुरग लेन चले अगवान॥३०४॥

शब्दार्थ—बास=ठहरने (विश्राम) के स्थान, पड़ाव। असन—भोजन। सयन=शय्या, सेज, यथा—'भवन सयन सय सम सुखदाई। २। १४०। अनुकूल=(इच्छा वा आवश्यकताओंके) मुआफिक, मनभावते। अगवान=अगवानी, कन्यापक्षके लोगोंका बारातकी अभ्यर्थना अर्थात् आगेसे जाकर लेनेके लिये जाना।=अगवानी लेनेवाले। गहगहे=बहुत जोरसे, धमाधम, बहुत अच्छी तरहसे।

अर्थ—सूर्यवंशके केतु (ध्वजा) श्रीदशरथ महाराजको आता हुआ जानकर राजा जनकने नदियोंमें पुल बँधवा दिये। ५। बीच-बीचमें ठहरनेके लिये अच्छे-अच्छे निवास स्थान (पड़ाव) बनवाये, जिनमें देवलोकके समान ऐश्वर्य छाया पड़ा था (अर्थात् परिपूर्ण भरा था मानो सम्पदाने मूर्तिमान् हो वहाँ छावनी डाली हो)। ६। सब बाराती सुहावने उत्तम

* १६६१ में 'बराति' है। सम्भवतः 'बराती' पाठका लेख प्रमादसे 'बराति' हो गया। अथवा 'न्ह' छूट गया। 'बरातिन्ह' पाठ प्रायः सबमें है अतः वही हमने दिया है। आगे ३०५ (८) में 'बरातिन्ह' है।

भोजन, शय्या और वस्त्र अपने-अपने मनभावते पाते हैं। ७। अपनी पसन्दका नित्य नया सुख देख सब बाराती घरको भूल गये। ८। सुन्दर श्रेष्ठ बारातको आती जानकर, धमाधम नगाड़े सुनकर (अगवानोंने आनन्दित होकर बहुत अच्छी तरह) निशान, हाथी, रथ, पैदल और घोड़े सजाकर अगवान लोग अगवानी लेने चले। ३०४।

टिप्पणी—१ 'आवत जानि भानुकुल केतू ···' इति। (क) 'आवत जानि' का भाव कि चक्रवर्ती महाराजके जनकपुर आनेमें संदेह था (इसीसे तो श्रीजनकजीने कहा है कि 'अपराध छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो कई। ३२६।' और इसीसे विश्वामित्रजीकी आज्ञासे दूत भेजा था), इसीसे आते जाना तब नदियोंमें पुल बँधवाये। पुनः 'आवत जानि' कहनेसे पाया गया कि जो दूत पत्रिका लेकर गये थे वे श्रीअयोध्याजीसे विदा होकर श्रीजनकपुर आ गये थे और उन्होंने बारातकी तैयारीकी सूचना दी। (प० प० प्र० का मत है कि दूतोंसे समाचार मिलनेपर सेतु बँधवाये इत्यादि मानना असम्भव जान पड़ता है, अतः यह अनुमान करना अयुक्तिक न होगा कि विश्वामित्रने प्रथम ही कह दिया होगा कि दशरथजी आते हैं।)। (ख) 'भानुकुलकेतू' का भाव कि बहुत भारी राजा हैं। पुनः भाव कि जैसे भानु प्रकाशमान है, वैसे ही भानुकुल भी प्रकाशमान है; जैसे सूर्यका उदय पृथ्वीभरको स्वयं प्रकट हो जाता है, वैसे ही इनका आगमन सबको प्रकट हो गया। सब जान गये कि महाराज बारात लेकर आ रहे हैं। ('केतु' का भाव कि सूर्यकुलके सभी राजा तेजस्वी और प्रतापी हुए और ये तो उसकी ध्वजा, पताकारूप ही हैं, अतः इनका आगमन कौन न जानेगा?)। (ग) 'सरितन्ह' बहुवचन है। इससे जनाया कि जनकपुरके मार्गमें बहुत नदियाँ पड़ती हैं। सबोंमें पुल बँधाये। (घ) 'भानुकुलकेतू' आते हैं, यह जानकर नदियोंमें पुल बँधाना कहनेका भाव कि बड़े चक्रवर्ती राजा हैं, अतः उनकी बारात भी बहुत भारी है, इससे नदियोंमें भारी-भारी पुल बँधवाये। (ङ) बहुत शीघ्र सब नदियोंमें पुल बँध गये—यह सब श्रीजानकीजीकी कृपासे। यहाँ 'जनक बँधाए' कहकर सूचित किया कि यह सब प्रबन्ध (पुलोंका बनवाना, बीच-बीचमें ठहरनेके स्थान, भोजन-शयन आदि) श्रीजनकमहाराजने अपने घरके द्रव्यसे अपने वैभव-पराक्रमसे किया, सिद्धियोंद्वारा नहीं। यदि सिद्धियोंद्वारा प्रबन्ध होता तो उनके स्मरणका उल्लेख अवश्य होता। इनके स्मरणकी रीति ग्रन्थभरमें दर्शित की गयी है। *यथा*—'**हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥** सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास। ३०६।', '**सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आईं।**' (२। २१३)। बारातके आते-आते पुल बँध गये, यह राजा जनकका पुरुषार्थ है। यदि सिद्धियोंसे काम लेते तो बारातके लौटते समय सीधा क्यों भेजते? *यथा*—'जहँ जहँ आवत बसे बराती। तहँ तहँ सिद्ध चला बहु **भाँती॥ बिबिध भाँति मेवा पकवाना। भोजन साजु न जाइ बखाना॥ भरि भरि बसहु अपार कहारा। पठई जनक अनेक सुसारा। १। ३३३।**'

नोट—१ ☞ इससे ज्ञात होता है कि उस समय या तो ऐसे पुल तैयार रहते थे कि सुगमतासे जहाँ चाहे वहाँ तुरत उसे ले जाकर बाँध दें। अथवा, ऐसे इन्जीनियर और कारीगर थे कि तीन-चार दिनमें पुल तैयार कर देते थे।

टिप्पणी—२ '**असन सयन** ···' इति। (क) अशन, शयन, वस्त्र सब क्रमसे कहे। भाव कि ठहरनेके स्थान मिलनेपर फिर भोजन मिला, भोजनोत्तर शय्या मिली और सेजपर ओढ़ने-बिछानेके वस्त्र मिले। (ख) 'बर' कहकर जनाया कि बहुत भारी मूल्यके हैं और 'सुहाए' से बनावटमें सुन्दर जनाया। (ग) '**निज निज मन भाए**'—बारातमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, सेवक, नट आदि सभी जातिके लोग हैं, अतः '**निज निज मन भाए**' कहकर जनाया कि ऋषियों-मुनियों-ब्राह्मणोंको जैसे भाते हैं वैसे उनको मिले। इसी प्रकार राजा, राजकुमार, रघुवंशी इत्यादि सबको उनके रुचिके अनुकूल मन-भावता मिला। '**मन भाए**' कहकर यह भी जनाया कि मनमें इच्छा करते ही सेवक लोग प्राप्त कर देते हैं। यथा—'**दासीं दास साजु सब लीन्हें। जोगवत रहहिं मनहि मनु दीन्हें।** २। २१४।' (जैसा भरद्वाजाश्रमपर भरत पहुनईमें कहा है)।

३—'नित नूतन सुख लखि अनुकूले।···' इति। (क) '**नित नूतन**' का भाव कि सब निवासस्थान श्रेष्ठ हैं, सब दिव्य सम्पदासे भरपूर हैं। सब बराबरके हैं, इसीसे किसी स्थानमें अधिक पहुनाई नहीं कहते, नित्य नवीन कहते हैं; तात्पर्य यह है कि सब स्थानोंमें अन्य-ही-अन्य प्रकारके सुख मिले। (जैसी एक पड़ावपर भोजन, शयन, निवासस्थान, वस्त्रादि सब आवश्यकीय सामग्री मिलती थी उससे नवीन दूसरे पड़ावपर मिलती थी, इत्यादि)। (ख) 'अनुकूले' अर्थात् मनभावते। जैसी मनमें इच्छा है वैसी ही मिलना अनुकूलता है। सुख बहुत हैं और सब प्रकारके हैं, इसीसे 'अनुकूले' बहुवचन

कहा। (ग) 'सकल बरातिन्ह मंदिर भूले' इति। मनुष्यको बाहर जब कोई दुःख मिलता है तब उसे घरकी याद बहुत आती है और जब घरका-सा सुख बाहर मिलता है, बाहर भी अच्छी सेवा मिलती है तब घर भूल जाता है। इसीसे सुमित्राजीका उपदेश लक्ष्मणजीको हुआ कि ऐसी सेवा करना कि श्रीरामजी घरकी सुध भूल जायँ, यथा—'उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं। पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं। २। ७५।' अवधवासियोंका सुख-संपदा-समाज बहुत दिव्य था, यथा—अवधपुरीबासिन्ह कर सुख-संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज। ७। २६।' वैसा ही सुख सर्वत्र मिला, अतः घर भूल गये। घर भूलना कहकर जनाया कि घरसे भी अधिक सेवा यहाँ की गयी। जो सुख घरमें मिलता था वह सब यहाँ मिलता गया।

प० प० प्र०—कविने रामपुरीको जनकपुरसे अधिक मनोहर कहा है, यह 'पहुँचे दूत राम पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन। २९०। १।' से सिद्ध है; तब बारातियोंके निज-निज घर भूलनेका क्या कारण? यहाँ 'मंदिर' का अर्थ निज घर नहीं है जैसा पूर्व परशुरामकृत स्तुति तथा २८७। ४ में लिखा गया है। यदि घर अभिप्रेत होता, तो यहाँ भी निज-निज शब्द कवि लिख देते जैसे 'निज निज मन भाए', 'निज निज बास बिलोकि बराती' में लिखा है। यहाँ यह भाव है कि बाराती प्रवासके परिश्रमसे श्रान्त होकर उन वासोंमें प्रवेश करते थे, वहाँ सभी पदार्थ 'निज निज मन भाए' मिलनेसे उनको सुख होता था, उस समय 'कबहिं देखिबे नयन भरि राम लषन दोउ बीर' यह भावना उनके हृदयसे जाती रहती थी जिस हृदयमें श्रीरामजीका सतत चिंतन रहता है वह रामजीका मन्दिर हो जाता है, यथा—'तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ। २। १२९।' बारातियोंको अनपेक्षित सुख मिलनेसे उनके हृदयका मन्दिरत्व जाता रहता था, यह भाव दरसानेके लिये 'मंदिर' शब्द दिया गया।

नोट—२ 'आवत जानि बरात बर···' इति। 'अच्छी बारातको आती हुई जानकर और निशानोंका शब्द सुनकर' प्रायः सभी टीकाकारोंने यही अर्थ किया है। परंतु पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि 'श्रेष्ठ बारात आती जानकर सुनकर नगाड़े जोरसे बजे। हाथी, रथ, पैदल, घोड़े सजकर अगवानी लेने चले।' वे लिखते हैं कि 'अगवानोंने नगाड़े बजाये, बारातियोंका नगाड़े बजाना आगे कहेंगे, यथा—'देखि बनाव सहित अगवाना। मुदित बरातिन्ह हने निसाना॥३०५।८।' बाबू श्यामसुन्दरदासने भी ऐसा ही अर्थ किया है अर्थात् 'इस तरह सजी हुई बारातको आती देख सुनकर इधर भी डंके बजे'। परन्तु 'गहगहे कहीं ग्रन्थमें मेरे स्मरणमें 'बजाए' या 'बजे' के अर्थमें नहीं आया है, जहाँ बजना या बजाना कहा है वहाँ साथमें 'बाजे' क्रिया भी आयी है, यथा—'अरु बाजे गहगहे निसाना। १५४।४।' बाजे नभ गहगहे निसाना। २६२।४।', 'अति गहगहे बाजने बाजे। २८६। १।', इत्यादि। 'गहगहे' क्रिया-विशेषण है, उसका अर्थ है—'बहुत प्रसन्नतासे; बड़ी जोरसे; धमाधम'। यथा—'हरषि हनें गहगहे निसाना। १९६। १।', 'चलीं गान करत निसान बाजे गहगहे, लहलहे लोयन सनेह सरसई है।' (गीतावली १। ९४।) प्रथम संस्करणमें हमने भी वही अर्थ दिया था जो अन्य सभी टीकाकारोंने दिया था। परन्तु इस संस्करणमें हमने 'गहगहे निसान' को देहली-दीपकन्यायसे दोनों तरफ लेकर अर्थ किया है। 'सुनि गहगहे निसान' 'गहगहे निसान सजि···'। 'सजि' भी दीप-देहली है। बारात जब निकट आती है तब बारातमें अब भी बाजे जोरसे बजानेकी रीति है। 'गहगहे' का अर्थ 'आनंदित होकर' और 'बहुत अच्छी तरह' भी है। प्रज्ञानानन्दजी पं० रामकुमारजीके अर्थसे सहमत हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'आवत जानि···' का भाव कि किसी दूतको भेजकर राजाने समाचार लिया कि कैसी बारात है। दूतके द्वारा जाना कि बारात 'बर' अर्थात् श्रेष्ठ है। 'सुनि' से दूतका कहना स्पष्ट है। पूर्व जो कहा था कि 'आवत जानि भानुकुलकेतु', वहाँ केवल यह जानना कहा गया कि बारात आवेगी, और यहाँ 'आवत जानि बरात बर' कहकर बारातका भारी, सुन्दर और श्रेष्ठ होनेकी बात जानना कही। (पुनः पहली बार श्रीजनकमहाराजका जानना कहा था और इस बार अगवानोंका जानना सुनना कहा जिन्हें अगवानीमें जाना है)। 'बारात बर सुनि गहगहे निसान सजि···' का भाव कि बारात श्रेष्ठ सुनकर अगवानी भी वैसी ही श्रेष्ठ सजी गयी। 'गज रथ पदचर तुरग' कहकर चतुरंगिनी सेनाका सजना कहा। बारात बरको सुनकर अगवानी सजी गयी। इससे जनाया कि बारात इतनी दूर थी कि उतनेमें चतुरंगिनी सेना सज ली गयी। बारात बहुत श्रेष्ठ है, यह सुनकर सब बहुत प्रसन्न हुए; इसीसे बड़े जोरसे नगाड़े बजाये और चतुरंगिणी सेना सजी। चतुरंगिणी सेना सजनेके लिये ये निशान बजाये गये। यथा—'सजहु बरात बजाइ निसाना।'

कनक कलस भरि* कोपर थारा। भाजन ललित अनेक प्रकारा ॥ १ ॥
भरे सुधा सम सब पकवाने। भाँति भाँति नहिं जाहिं बखाने† ॥ २ ॥
फल अनेक बर बस्तु सुहाई। हरषि भेंट हित भूप पठाई ॥ ३ ॥
भूषन बसन महामनि नाना। खग मृग हय गय बहु बिधि जाना ॥ ४ ॥
मंगल सगुन सुगंध सुहाए। बहुत भाँति महिपाल पठाए ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कोपर = पीतल वा अन्य किसी धातुका बड़ा थाल जिसमें एक ओर उसे सरलतासे उठानेके लिये कुण्डा लगा रहता है।—(श० सा०)। बुँदेलखण्डमें 'कोपर' नामके बर्तन होते हैं।=परात। मानसतत्त्व-विवरणकार लिखते हैं कि दक्षिणमें कोपर कटोरेको कहते हैं। 'थार' (थाल)—पीतल या काँसेका छिछला बड़ा बर्तन। भाजन= पात्र। ललित = सुन्दर, अर्थात् देखते ही मनको हर लेनेवाले। पकवान (पक्वान्न) = घीमें तले, भूने, पकाये हुए खानेके पदार्थ। महामनि = बड़े बहुमूल्य रत्न। मंगल सगुन,—कुछ ऐसे शकुनोंका वर्णन दो० ३०३ (८) आदिमें है।

अर्थ—(मंगल जल, मिर्चवानी शर्बत आदिसे) भरकर सोनेके कलश, और भाँति-भाँतिके सब अमृतसमान पकवानोंसे कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता, भरे हुए परात, थाल आदि अनेक प्रकारके सुन्दर पात्र ॥ १-२॥ अनेकों बढ़िया-बढ़िया फल तथा और भी सुन्दर वस्तुएँ राजा जनकने हर्षपूर्वक भेंटके लिये भेजीं ॥ ३ ॥ अनेकों भूषण, वस्त्र और महामणि तथा पक्षी, मृग, घोड़े, हाथी आदि बहुत प्रकारकी सवारियाँ ॥ ४ ॥ बहुत प्रकारके सुन्दर मंगलद्रव्य, मंगल शकुनके पदार्थ और (अतर, गुलाब, केवड़ा, हिना आदि) सुगन्धित द्रव्य राजाने भेजे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कनक' कलश, कोपर, थार और भाजन सबका विशेषण है, सब सुवर्णके हैं। 'भरि' कलशके साथ है, कलश जल आदि भरनेके लिये और कोपर, थाल और अनेक प्रकारके पात्र कटोरा आदि व्यंजनादि रखनेके लिये हैं। 'ललित' का भाव कि बिना कोई पदार्थ उनमें रक्खे हुए छूछे भी ऐसे सुन्दर हैं कि देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। (ख) **'भरे सुधासम सब पकवाने'** इति। मार्गमें पड़ावोंपर बारातियोंको सुरलोकके समान पदार्थ दिये थे, यथा—'बीच बीच बर बास सुहाए। सुरपुर सरिस संपदा छाए ॥' (३०४। ६), और जनवासेमें सुरलोकके पदार्थ दिये गये हैं, यथा—'निज निज बास बिलोकि बराती। सुर सुख सकल सुलभ सब भाँती ॥' (३०७। १); इसीसे अगवानीमेंके भेंटके पदार्थोंको 'सुधासम' कहा, सुधा सुरलोकका पदार्थ है, इस तरह 'सुधासम' कहकर इन सब पक्वान्नोंको सुरपुर-पदार्थ-सरिस बताया। (ग) पक्वान्न भेंटमें देनेका भाव कि यह सबके खाने लायक है, दूसरे बारात अभी आयी है, उसके जलपानके लिये ये सब दिये। आयी हुई बारातको मिर्चवान दिया जाता है। ये सब पदार्थ मिर्चवानकी जगहपर दिये गये। (घ) **'भाँति-भाँति'** इति। पक्वान्न भी भाँति-भाँतिके हैं और भाजन भी अनेक प्रकारके कहे गये, सब पक्वान्नसे भरे हैं—यह कहकर जनाया कि जो पक्वान्न जिस पात्रमें भरने योग्य है वह उसमें भरपूर रक्खा है। भिन्न-भिन्न पक्वान्न भिन्न-भिन्न पात्रोंमें भरे हैं, एक पात्रमें एक ही भाँतिका है। 'भाँति-भाँति' का भाव कि 'बिंजन बिबिध नाम को जाना', अर्थात् बहुत प्रकारके हैं उनके नाम कौन जानता है जो कहे। पुनः 'भाँति-भाँति', यथा—'चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई ॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती ॥ १। ३२९ ॥' (ङ) 'नहिं जाहिं बखाने' भाव कि एक भाँतिका तो वर्णन हो ही नहीं सकता तब अनेक भाँतिका वर्णन कैसे हो सके? (जेवनारके समय भी ऐसा ही कहा है)। ['भरे सुधासम…बखाने' से जनाया कि मार्गमें जो सुखका सामान दिया गया, उससे ये कम या न्यून नहीं हैं (प्र० सं०)]।

---

* कल कोपर = १७२१, १७६२, छ०। कोपर भरि—१७०४। भरि कोपर—१६६१, को० रा०।

† भाँति भाँति नहिं जाहिं बखाने—१७२१, १७०४, १७६२, छ०, को० रा०। १६६१ में हरताल दिया है और ऊपरसे कागज चपका है। कागजपर 'नाना' पाठ लिखा है। हाशियेपर सम्भवतः गोस्वामीजीके हाथका 'ति' के पहले 'भली भा' लिखा है परन्तु 'भली' पर भी कागज चपका है, इससे स्पष्ट नहीं है। १६६१ में 'भाँति नहिं' है। 'नहिं' पाठसे मात्रा बढ़ जाती है। 'नाना भाँति न जाहिं बखाने' होना चाहिये। 'भाँति भाँति' के साथ 'नहिं' ठीक बैठ जाता है। अतः हमने 'भाँति भाँति नहिं' पाठ ही लिया है जो अन्य सबोंमें है।

२ (क) 'फल अनेक···' इति । पकान्न और फल भेजे, इससे सूचित किया कि पकान्न भी फलके समान पवित्र हैं। (फल सबके कामके हैं और विशेषकर फलाहारियोंके लिये । पकान्नमें भी फलाहारी सामान है । भोजनके अन्तमें फलका खाना सबके लिये विधि है । क्योंकि यह गुणकारी है ।) 'वर वस्तु' अर्थात् बहुमूल्यकी हैं, 'सुहाई' अर्थात् बनावट सुन्दर है । 'हरषि पठाई' का भाव कि ये पकान्न, फल और वस्तुएँ ऐसी उत्तम और श्रेष्ठ हैं कि राजा जनक इन्हें देखकर प्रसन्न हो गये (उन्होंने इन सबोंको चक्रवर्तीजीकी भेंटके योग्य समझा । देखकर ठीक अपने मनोनुकूल जानकर प्रसन्न होकर उन्हें भेजा । यहाँ फलको प्रथम कहा, क्योंकि फल माङ्गलिक वस्तु है) । (ख)—'भूषन बसन···' इति । भूषण, वस्त्र और महामणि पहननेके लिये हैं; पक्षी और मृग देखनेके लिये और घोड़े, हाथी और रथ आदि सवारीके लिये हैं । 'नाना' पदका सम्बन्ध भूषण, वसन और महामणि (तथा आगेके खग, मृग, हय, गय, जान) सबसे है । 'बहुबिधि' का सम्बन्ध भी सबसे है । [सब बहुत प्रकारके बहुत जातिके हैं और सभी अनेक हैं ।—'खग'—जैसे मयूर, शुक, सारिका, कोकिल, चकोर, कबूतर, रयनुनिया, लाल, श्यामा, नीलकण्ठ आदि । मृग अर्थात् हिरन (अनेक जातिके । ३०३ । ६ में देखिये), साबर, रोज, चिकारा, चीतर, गूँड़, गैंडा, अरना, स्याही, झाँखा, बारहसिंघा आदि । 'जान'—रथ, तामझाम, पालकी, नालकी आदि किसीके नाम न देना भी कविकी चतुरता है । जितने भी प्रकार हो गये या हैं वे सब लिये जा सकते हैं] ।

३ 'मंगल सगुन सुगंध सुहाए···' इति । (क) 'मंगल सगुन' जैसे कि सवत्सा गऊ, जीवित मछली, घृत और दही इत्यादि । [सुन्दरियाँ दीपयुक्त भरे कलश, सोनेके थालोंमें मधुपर्क, दधि, दूर्वा, गोरोचन, लावा, पुष्प, तुलसीदल, अक्षत, हल्दीमें रँगा हुआ चावल इत्यादि लिये हुए शीशपर रक्खे हुए हैं इत्यादि । 'सुगंध'—चन्दन, केसर, कस्तूरी, कपूर, अगर, धूप आदि वालिकाएँ लिये हुए हैं । (वै०)] (ख)—'बहुत भाँति' इति । सब वस्तुएँ बहुत-बहुत भाँतिकी हैं, इसीसे ग्रन्थकार सब जगह बहुत भाँति लिखते हैं, यथा—'कनक कलस···भाजन ललित अनेक प्रकारा ।' पकान्न भी 'भाँति भाँति नहि जाहि बखाने ।' 'फल अनेक बर वस्तु सुहाई ।' 'भूषन बसन महामनि नाना । खग मृग हय गय बहु बिधि जाना' और मंगल आदि भी 'बहुत भाँति' के हैं । (ग)—ऊपर भी कहा था कि 'हरषि भेंट हित भूप पठाई' और यहाँ फिर कहते हैं कि 'बहुत भाँति महिपाल पठाए ।' बार-बार लिखकर जनाया कि राजाने सब भेंटकी सामग्री अपनी आँखों देख-देखकर, अपनी पसन्दसे भेजी है । [मंगल शकुन जान-बूझकर पहलेसे ही आगे भेजे जानेकी रीतिका कारण अत्यन्त स्नेह है । अत्यन्त स्नेहमें अपशकुनका सन्देह हो जाना स्वाभाविक है । यथा—'अधिक प्रीति मन भा संदेहा ।' इसीसे मंगल शकुन प्रथम भेजे जाते हैं कि बारातका मंगल हो । आजकलके सुशिक्षित कहलानेवाले समाजमें यह रीति बहिष्कृत होती जाती है । (प० प० प्र०)]

दधि चिउरा उपहार अपारा । भरि भरि काँवरि चले कहारा ॥ ६ ॥
अगवानन्ह जब दीखि बराता । उर आनंदु पुलक भर गाता ॥ ७ ॥
देखि बनाव सहित अगवाना । मुदित बरातिन्ह* हने निसाना ॥ ८ ॥

दो०—हरषि परसपर मिलन हित कछुक चले बगमेल ।
जनु आनंद समुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल ॥ ३०५ ॥

शब्दार्थ—चिउरा (चिउड़ा, च्यूड़ा)=एक प्रकारका चर्वण जो हरे भिगोये या उबाले हुए धानको कूटनेसे बनता है । उपहार=भेंट, नजर । यथा—'धरि धरि सुंदर बेष चले हरषित हिये । चँवर चीर उपहार हार मनिगन लिये ।' (पार्वतीमङ्गल ५३), 'दीह दीह दिग्गजन के केशव मनहुँ कुमार । दीन्हे राजा दशरथहि दिगपालन उपहार ।' (केशव), 'आए गोप भेंट लै लै के भूषण बसन सोहाए । नाना विधि उपहार दूध दधि आगे धरि सिर नाए ।' (सूर) । श० सा० में भी यही अर्थ है । = भोजनके पश्चात् जो आहार किया जाय (पं०, वै०, रा० प्र०) । सुबेल = सुन्दर वेला । वेला = मर्यादा, समुद्रका किनारा । (श० सा०) ।

अर्थ—दही, च्यूड़ा तथा और भी भेंटकी अगणित वस्तुएँ बहँगियोंमें भर-भरकर कहार ले चले । ६ । अगवानियों-

* बराती—१७२१, १७६२, छ० । बरातिन्ह—१६६१, १७०४, को० रा० ।

ने जब बारात देखी तब उनके हृदय आनन्दसे भर गये और शरीरमें पुलकावली छा गयी। ७। (इधर) अगवानोंको लत्ता-ठना, सजा-धजा देख बारातियोंने भी प्रसन्न होकर नगाड़े पीटे (बजाये)। ८। प्रसन्न होकर एक दूसरेसे मिलनेके लिये दोनों ओरसे कुछ-कुछ लोग (अर्थात् जनाती और बाराती दोनों) बागोंको ढीली किये और मिलाये हुए दौड़कर चले, मानो दो आनन्दसमुद्र मर्यादा छोड़कर मिल रहे हैं। ३०५।

टिप्पणी—१ (क) 'दधि चिउरा उपहार…' इति। दही चिउड़ा भेंटमें भेजना मिथिला देशकी रीति है। उपहारका अर्थ भेंट है, ग्रन्थकार प्रथम ही लिख आये हैं कि 'हरषि भेंट हित भूप पठाई।' भेंटकी सब वस्तुओंको गिनाकर तब अन्तमें फिर लिखा 'उपहार अपारा' तात्पर्य कि जितनी वस्तुएँ हम गिना आये, इतनी ही न जानिये, वे अपार हैं। (ख) 'उर आनंद पुलक भर गाता' अर्थात् बाहर और भीतर आनन्दसे परिपूर्ण हो गये। तात्पर्य यह कि उन्होंने देखा कि बारात बड़ी ही सुन्दर है। देवता भी इसे देखकर प्रसन्न हुए ऐसी सुन्दर है, यथा—'हरषे बिबुध बिलोकि बराता' (३०२। ४)। (ग) 'अगवानन्ह जब दीखि बराता।…' इति। अगवानी लोग अगवानी लेकर गये हैं, इसीसे प्रथम इन्हींका देखना लिखा और पीछे बरातियोंका लिखा—'देखि बनाव सहित…।' इससे जनाया कि बारात दूर थी, अब निकट आनेपर दोनोंने परस्पर एक दूसरेको देखा। बारात देखकर अगवानोंको आनन्द हुआ और अगवानोंको देखकर 'मुदित बरातिन्ह…' अर्थात् बाराती आनन्दित हुए। इससे जनाया कि बारातियोंकी जैसी शोभा है, वैसी ही शोभा अगवानोंकी है। ('हने निसाना' यह आनन्दके कारण हुआ)। मिथिलावासी पहले ही बजा चुके, अब बाराती बजाते हैं। ['मुदित' और 'हरषि' की पुनरुक्तिसे जनाया कि दोनों परस्पर मिलनेको आतुर थे, इससे दोनोंको अपार आनन्द हुआ। (प० प० प्र०)]

२ 'कछुक चले बगमेल।…' इति। दोनों ओरकी सेना समुद्र है। दोनोंमें आनन्द भर रहा है, इसीसे दोनोंको आनन्द-समुद्र कहा। परस्पर मिलन हित कहकर जनाया कि दोनों ओरके सवार दौड़े, दोनों सेनाएँ खड़ी हैं, यही दो समुद्र हैं। बीचमें मैदान है, यही सुवेल है। दोनों ओरके सवारोंका मिलना यही मानो समुद्रोंका मिलान है। 'कछुक' कहनेका भाव कि अगवानीमें मिलनेकी यह रीति है कि सवार इधरके और कुछ उधरके दौड़कर बीचमें मिलते हैं, दोनों ओरकी सेना खड़ी रहती है। समुद्रमें तरंग उठती है। दोनों ओरके सवारोंका दौड़ना तरंगका उठना है। 'बगमेल' दौड़का नाम है। यथा—'आइ गये बगमेल धरहु धरहु धावहु सुभट।' (३। १८), 'बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल। सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल।' (३। ३७), तथा यहाँ 'मिलन हित कछुक चले बगमेल।' ['जनु' इससे कहा कि समुद्र तो ज्यों-का-त्यों खड़ा है, केवल तरंगें मिल रही हैं। यहाँ दोनों समाजरूप समुद्र आनन्दसे भरे हैं। 'सुबेल बिहाई' का भाव यह कि 'कछुक चले बगमेल' रूप लहरसे जो सफररूप सुवेल हुआ सो दोनों तरफसे दौड़ते-दौड़ते मिल गया। (प्र० सं०)]

'कछुक चले बगमेल।…'

'बगमेल' के अर्थ अनेक प्रकारसे टीकाकारोंने किये हैं। रामायणीजी और दीनजी इस अर्थसे सहमत हैं जो ऊपर दिया गया है। शब्दसागरमें 'बगमेल' का अर्थ यों लिखा है—संज्ञा पु० (हिं० बाग=मेल)—'(१) दूसरेके घोड़ेके साथ बाग मिलाकर चलना, पाँति बाँधकर चलना, बराबर-बराबर चलना। उ०—'जो गज मेलि हौद सँग लागे। तो बगमेल करहु सँग लागे।'—जायसी। (२) बराबरी, समानता, तुलना। पुनः 'बगमेल'=क्रि० वि० (क्रिया-विशेषण) पंक्तिबद्ध, बाग मिलाये हुए, साथ-साथ। उ०—(क) 'आइ गये बगमेल धरहु धरहु धावहु सुभट। जथा बिलोकि अकेल बालरबिहि घेरत दनुज।'—तुलसी। (ख) 'हरषि परसपर मिलन हित कछुक चले बगमेल…।'

पं० महावीरप्रसाद मालवीय लिखते हैं कि 'बगमेल' शब्दका अर्थ किसीने घोड़ोंकी बाग ढीली करके सवारोंका चलना कहा है। किसीने धावा मारना और किसीने पंक्ति जोड़कर चलनेका अर्थ किया है, परंतु ये सब कल्पित अर्थ हैं। अरण्यकाण्डमें 'आइ गए बगमेल' और 'मदन कीन्ह बगमेल' यह शब्द दो स्थानोंमें आया है। इसका अर्थ है—'नगचीनगचा, बिलकुल समीपमें आ जाना, अत्यन्त निकट पहुँचना' विज्ञजन विचार लें, यहाँ धावा मारने या बाग मिलानेसे तात्पर्य नहीं है।

प्रोफ़ि० दीनजी—बारात जब जनवासेसे चलकर कन्याके द्वारके पास पहुँचती है तब इधरसे अगवानीके लिये लोग चलते हैं। दोनों जब एक दूसरेके समीप पहुँचते हैं तब कुछ रुककर दोनों ओरसे लोग कुछ-कुछ आगे बढ़ते हैं और अगवानी समधीके पास पहुँचकर उनका सत्कार करके उनको साथ ले चलते हैं—यह रीति है। वैसी ही इस समय भी समझना चाहिये। जब जनकपुरके पास बारात पहुँची तब अगवानी बारात लानेको गये हैं। कुछ ये चले, कुछ वे चले अतः यहाँ 'बगमेल' का दूसरा अर्थ जो कोषमें दिया है वही गृहीत है अर्थात् बाग मिलाकर चाल मिलाये हुए धीरे-धीरे दोनों चले, इस तरह आकर मिल गये। जैसे दो समुद्र मिलें। 'बिहाइ सुबेल' का भाव यह है कि समुद्रकी मर्यादा बँधी है, उससे अधिक वह कभी नहीं बढ़ता, और जनाती बरातीके लिये तो कोई हद मुकर्रर नहीं कि वे इसके आगे न बढ़ें। अतः समुद्रोंका मर्यादा छोड़कर बढ़ना कहा, क्योंकि बिना इसके इनका मिलाप हो ही नहीं सकता।

पाँड़ेजी—'बगमेल' अर्थात् घोड़ेकी बाग ढीलीकर छोड़ा। यहाँ दोनों ओरके दल रथों और हाथियोंके समूह आनन्दके समुद्रके समान हैं। उनमेंसे जो निकल-निकलकर मिलते हैं सोई लहरें हैं और वह लहरें ऐसी मिलती हैं मानो समुद्र अपनी सीमाको छोड़कर मिलते हैं।'

बाबू श्यामसुन्दरदासने पाँड़ेजीका भाव अपने शब्दोंमें दिया है और फिर दूसरा भाव यह लिखा है कि—'अथवा दो समुद्र सुबेल अर्थात् मर्यादाके पर्वतोंको तोड़कर मिलते हैं। परस्परका संकोच ही मर्यादाका पर्वत है।

गौड़जी—बगमेल=जिस प्रकार बगले मिलकर या पाँती बनाकर चलते हैं। पाँती टेढ़ी-मेढ़ी भी हो जाती है, पर बिगड़ती नहीं। इसी तरह यहाँ भी आगेकी पंक्तियाँ किनारे-किनारेपर अधिक आगे बढ़कर पिछली पंक्तियोंको आगे बढ़नेका मौका देती हैं। अर्धचन्द्राकार पंक्ति बराबरसे मिलनेको आ जाती है। यह 'कलुक' के लिये ही संभव है। जुलूसमें पंक्ति जिस मर्यादासे चल रही थी, आनन्दके उमङ्गमें उस मर्यादाके पहाड़की, जो बीचमें था, दोनों दलरूपी समुद्रोंने जरा भी परवा न की।

बैजनाथजी—बगमेल=बाग मिलाकर अथवा वेगसे।

श्रीनंगेपरमहंसजी—हर्षके मारे बाग छोड़कर दौड़ चले।

प० प० प्र०—हमें मानसके आधारपर ही मानसान्तर्गत शब्दोंका अर्थ करना चाहिये। 'बगमेल' का अर्थ 'दौड़ते-दौड़ते अति त्वरासे' होगा। दोनों ओर शीघ्र मिलनेकी आतुरता थी, अतः उनका त्वरासे चलना स्वाभाविक ही है, 'बेशिस्त' नहीं दौड़, 'शिस्तबद्ध' पर त्वरासे चले।

बरषि सुमन सुर सुंदरि* गावहिं। मुदित देव दुंदुभी बजावहिं॥ १॥
बस्तु सकल राखी नृप आगें। बिनय कीन्हि तिन्ह अति अनुरागें॥ २॥
प्रेम समेत राय सबु लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥ ३॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहुँ चले लवाई॥ ४॥
बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनदु धन मदु परिहरहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—सुर सुन्दरि=देववधूटियाँ, अप्सराएँ। बकसीस=यह फारसी बख्शिश शब्द है, दान इनाम जो खुशीमें दिया जाता है। मान्यता=आदर, सम्मान। पाँवड़ा=वह वस्त्र जो आदरके लिये किसीके मार्गमें बिछाया जाता है। धनद=कुबेर।

अर्थ—देवाङ्गनाएँ फूल बरसा-बरसाकर गा रही हैं। देवता आनन्दित हो नगाड़े बजा रहे हैं। १। (अगवानोंने सब वस्तुएँ श्रीदशरथमहाराजके आगे रक्खीं (फिर) उन्होंने अत्यन्त अनुरागसे विनती की। २। महाराजने प्रेमसहित सब ले लीं (फिर) बख्शिश होने लगी और वे सब याचकोंको दे दी गयीं। ३। पूजा आदर-सत्कार और स्तुति करके (अगवान लोग बारातको) जनवासेमें लिवा ले चले। ४। रङ्ग-बिरङ्गके विलक्षण-विलक्षण (वस्त्र) पाँवड़े पड़ते जाते हैं जिन्हें देखकर कुबेरजी धनका अभिमान छोड़ देते हैं। ५।

* सुंदरी—१६६१। 'सु' पर अर्धचन्द्र बिंदु पढ़नेसे यह पाठ भी बैठ जाता है।

टिप्पणी—१ 'बरसि सुमन सुर सुंदरि···'इति । (क) सुरसुन्दरियोंका गाना और देवताओंका नगाड़ा बजना एक पंक्तिमें कहकर जनाया कि देवाङ्गनाओंके गानके मेलमें देवता नगाड़ियोंको मधुर-मधुर बजा रहे हैं। (ख) कहीं देवता दुंदुभी मात्र बजाते हैं और देवाङ्गनाएँ फूल बरसाकर गाती हैं, जैसे यहाँ तथा 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई ॥' में । कहीं देवता आगे होते हैं जैसे 'हरषि सुरन्ह···' में, और कहीं देवाङ्गनाएँ आगे होती हैं, जैसे यहाँ । इससे जनाया कि दोनोंका हर्ष समान है । (ग) 'सुर-सुंदरि गावहिं' कहनेका भाव कि अगवानीमें स्त्रियोंके आनेकी चाल रीति रसम नहीं है, इसीसे यहाँ मनुष्योंकी स्त्रियाँ नहीं हैं, देववधूटियाँ हैं और वह भी आकाशमें । श्रीअयोध्याजीमें बारातके प्रयाणसमय देवताओं और मनुष्यों दोनोंकी स्त्रियोंका गाना कहा गया था, क्योंकि बारातके प्रस्थानके समय वैसी रीति है, यथा—'सुरनरनारि सुमंगल गाई । ३०२ । ६ देखिये । (घ) बारातियोंका आगमन सुन अगवानोंने और अगवानोंको देखकर बारातियोंने नगाड़े बजाये—३०५ । ८ देखिये । दोनोंको देखकर देवताओंने बजाये ।

२—'बस्तु सकल राखी नृप आगे ।···' इति । (क) नृपके आगे धरनेका भाव कि ये सब वस्तुएँ उन्हींके भेंटके लिये आयी हैं, यथा—'हरषि भेंट हित भूप पठाई' । [बारातमें राजा ही मुख्य है, जो कुछ लड़कीवाला भेजता है, वह उसीके आगे रक्खा जाता है । भेंट अगवानीमें समधीहीको दी जाती है] । (ख) 'बिनय कीन्ह'—देकर विनती करना उचित है, यथा—'दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो । का देउँ पूरन काम संकर चरन पंकज गहि रह्यो···' ॥ १ । १०१' । विनती की कि यह जनक महाराजने आपको भेंट भेजी है और विनय किया है कि हम आपको कुछ भेंट देने योग्य नहीं हैं । 'अति अनुरागे' अर्थात् बड़े प्रेमसे विनती की कि आप कृपा करके यह सब भेंट स्वीकार करके हमें कृतार्थ करें । बड़े लोग भाव चाहते हैं, इसीसे वस्तु देकर बड़े प्रेमसे विनती की । यथा—'···करिअ छोह लखि नेहु । हमहिं कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु ॥ २ । २५० ।'

३ 'प्रेम समेत राय सबु लीन्हा ।···' इति । (क) भाव कि राजा चक्रवर्ती हैं, वे किसीके प्रतिग्राही नहीं बनते, महामणि आदि बहुमूल्यकी वस्तु भेंटमें ले सकते हैं, चिउड़ा आदि नहीं ले सकते थे । परंतु इन्होंने अत्यन्त अनुरागसे विनती की, इसीसे उन्होंने प्रेमसमेत सब वस्तुएँ ले लीं । 'प्रेम समेत' लेकर श्रीजनकजीका मान रक्खा । (ख) 'भइ बकसीस'—बखशिश नौकरोंको दी जाती है । बखशिश प्रथम कहकर जनाया कि जो वस्तुएँ बखशिशके योग्य थीं वह सेवकों-को पहले दी गयीं, फिर जो याचकोंके योग्य थीं वह याचकोंको दी गयीं । याचकोंको देना कहकर जनाया कि दोनों ओरके लोगोंके साथ याचक थे । [दोनों राजा उदारतामें समान हैं । पर जब श्रीरामजी राज्यपर बैठे तब तो 'जाचक सकल अजाचक कीन्हे' यह है रामराज्यकी विशेषता । (प० प० प्र०)]

नोट—१ अ० दी० में 'बस्तु सकल राखी···जाचकन्हि दीन्हा' के भावपर यह दोहा है—'दानी मानी मुकुटमणि मणि आदिक जब लीन्ह । निर्मम नृप कहि गर्व उत उर लखि तेहि तिन्ह कीन्ह ॥९७ । आशय यह है कि अगवानोंने विनय करते हुए कहा था कि हमारे महाराज मिथिलेश तो सदासे निर्मम हैं, परंतु यह सब सम्पत्ति उन्होंने आपके लिये सञ्चित की थी, अतः आप इसे स्वीकार करें । चक्रवर्तीजीने सोचा कि मेरे ग्रहण करनेमें मेरी ममता ज्ञात होती है और अगवानोंको अपने राजाके निर्ममत्वका गर्व है, साथ ही यदि मैं भेंटको ग्रहण नहीं करता तो जनकजीका अपमान होगा । अतएव उन्होंने उसे ग्रहण करके श्रीरामजीपर निछावर कर-करके याचकोंको दे डाला । (अ० दी० च०) ।

२—'करि पूजा मान्यता···'—पूजा-मान्यता बड़ाईमें भेद यह है कि पूजामें कुछ चीज भोग इत्यादि पूजक देवता-को निवेदन करता है । मान्यता अर्थात् अपनेसे उसको ऊँचे दर्जेका समझना और बड़ाई, प्रशंसा, स्तुति ।

टिप्पणी—४ 'बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं···' इति । (क) 'विचित्र' कहनेका भाव कि जितने कपड़े बिछाते हैं, उतने ही रंगके वे हैं, उतने ही प्रकारका उनका बनाव है और उतने ही प्रकारकी मणियाँ उनमें लगी हैं (अर्थात् सब तरह-तरहके हैं, एक-से-एक बढ़िया है, इत्यादि) । (ख)—'पाँवड़े परहीं' बहुवचन है । भाव यह कि लोग बहुत हैं, इसीसे बहुत पाँवड़े पड़ते हैं। जहाँपर अगवानीवाले बारातसे मिले, वहींपर सब सवारीसे उतर पड़े, अतएव वहींसे पाँवड़े पड़ने लगे । 'परहीं' से यह भी जनाया कि जो पाँवड़े बिछाये जाते हैं, वे वैसे ही पड़े रहते हैं, उठाये नहीं जाते, ऐसा नहीं है कि वही वस्त्र उठाकर फिर आगे बिछाया जाय। [पाँवड़े पड़े रहे तो लिया किसने ? 'नाऊ बारी भाटनट रामनिछावरि लेहिं',

इन्होंने लिया। (प० प० प्र०)। (जो इसके अधिकारी उस समय होंगे उन्होंने लिया होगा। कविने सब काल और देशके लिये जगह छोड़ दी है। अपने-अपने देशकी रीत्यानुसार लोग लगा लें)] (ग) 'देखि' कहकर जनाया कि देवताओंके साथ कुवेरजी भी हैं, इसीसे वे देख रहे हैं। (घ) 'धनदु धन मदु परिहरहीं' इति। कुवेरजी धनी हैं (देवताओंके कोषाध्यक्ष हैं, धन-सम्पत्तिके अधिष्ठातृ देवता हैं) इसीसे उनका धन-मद त्यागना कहा। पुनः, धनीको धनका मद रहता है, चाहे वह देवता ही क्यों न हो। यथा—'श्री मद बक्र न कीन्ह केहि···'। धनका मद छोड़ देते हैं, यह कहकर जनाया कि पाँवड़ेवाले वस्त्र बहुत मूल्यके हैं, उनका मूल्य देखकर कुवेरजीका मद छूट जाता है। तात्पर्य कि इन वस्त्रोंके बराबर (जितनी इनकी लागत है उतना भी) धन उनके पास नहीं है। (ङ) 'धनद'=धन देनेवाला, जो सबको धन देता है। यह शब्द देकर जनाया कि कुवेरजी धनी भी हैं और दाता भी। पाँवड़ोंको देखकर दोनों बातोंका मद वे छोड़ देते हैं। मूल्य देखकर धनका और जनक महाराजका दातव्य देखकर अपने दातव्यका मद छोड़ देते हैं, वे विचारने लगते हैं कि इतने अमूल्य वस्त्र तो इन्होंने पैरों तले डाल दिये आगे अब न जाने और कितना धन इनके पास है, अभी तो दहेज आदि शेष ही है। (पाँवड़े उपमेयकी अपेक्षा कुवेर-धन उपमानकी हीनता प्रदर्शित करना 'व्यतिरेक अलंकार' है। इसी तरह श्रीदशरथजीके धनके सम्बन्धमें कुवेरका लज्जित होना कहा गया है। यथा—'**दसरथ धन सुनि धनद लजाई**। २। ३२४। ६।' भेद केवल यह है कि यहाँ पाँवड़ोंको देखकर लजा रहे हैं और वहाँ धनको सुनकर ही लज्जित हो गये, देखनेपर न जाने क्या दशा हो जाती।)

अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा। जहँ सब कहुँ सब भाँति सुपासा॥ ६॥
जानीं सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥ ७॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥ ८॥

दो०—सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।
लिये संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास॥३०६॥

शब्दार्थ—जनवास=वह स्थान जहाँ कन्यापक्षकी ओरसे बारातियोंके ठहरनेका प्रबन्ध होता है। सुपास=सुख, सुभीता, सुविधा, आराम। पहुनई (पहुनाई)=आए हुए व्यक्तियोंको भोजन-पान आदिसे सत्कार; मेहमानदारी; आतिथ्यसत्कार।

अर्थ—(अगवानोंने बारातको) अत्यन्त सुन्दर जनवासा दिया जहाँ सबको सब प्रकारका सुपास था॥ ६॥ बारात नगरमें आ गयी, यह जानकर श्रीसीताजीने अपनी कुछ महिमा प्रकट दिखायी॥ ७॥ हृदयमें स्मरणकर सब सिद्धियोंको बुलाकर (श्रीसीताजीने उनको) राजा (दशरथ) की पहुनायी करनेके लिये भेजा॥ ८॥ श्रीसीताजीकी आज्ञा सुनकर सब सिद्धियाँ, सब सम्पदा, सुख और देवलोकका भोग-विलास लिये हुए वहाँ गयीं जहाँ जनवासा था॥ ३०६॥

टिप्पणी—१ (क) 'अति सुंदर' कहकर जनाया कि पूर्व जो बीच-बीचमें पड़ावके स्थान थे वे सुन्दर थे, यथा—'**बीच बीच बर बासु सुहाए। सुरपुर सरिस संपदा छाए**। ३०४। ६'; और अब जनकपुर पहुँचनेपर जो स्थान दिया गया वह 'अति' सुन्दर है। 'सब भाँति सुपासा'—क्योंकि सिद्धियोंने सब सुपासका सामान नगरमें बारातके आते ही पहलेसे ही कर रक्खा है। जैसा आगे स्पष्ट है—'सिधि सब···'। सब सुपासका कारण आगे लिखते हैं। (ख) '**जानी सिय बरात पुर आई।**···'—सिद्धियोंको श्रीसीताजीने कब भेजा, यह यहाँ बताते हैं। बारात पुरमें आयी तभी भेजा, जनवासा उसके पीछे दिया गया। (ग) '**कछु निज महिमा**' इति। भाव कि उनकी महिमा अपार है, यथा—'**तव प्रभाव जग बिदित न केहीं॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥**' (२। १। ३)। अपार महिमामेंसे किंचित् ही प्रकट कर दिखायी। तात्पर्य कि बारातियोंकी पहुनायी करना इनके लिये कुछ नहीं है, (कोई बड़ी बात नहीं)। सिद्धियोंका प्रकट करना यह 'कुछ' ही महिमा है।

नोट—१ श्रीभरद्वाजजीने श्रीभरतजीकी पहुनायी की, उससे मिलान कीजिये। भरतजी ऐसे अतिथि पाहुनके आनेसे मुनिको बड़ा सोच हुआ, यथा—'**मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिअ जस देवता॥**' तब '**सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आईं। आयसु होइ सो करहिं गोसाईं**···' (२। २१३); और यहाँ श्रीसीताजीको किंचित् चिन्ता न

हुई, क्योंकि ये ईश्वरी हैं, सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े आपका रुख जोहती रहती हैं। वहाँ मुनिको चिन्तित देख उनकी चिन्ता एवं आवाहन सुनकर सिद्धियाँ आयीं और यहाँ केवल स्मरणमात्रसे। श्रीसीताजी स्वामिनी हैं, सिद्धियाँ उनकी दासी हैं। वहाँ 'सुनि' शब्दसे वचन कहकर बुलाना पाया जाता है, और यहाँ वचनसे बुलाना नहीं है किन्तु स्मरण है। श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीका मत है कि 'सुनि' शब्दसे भरद्वाजजीकी मानसिक चिन्ता सुनकर आना जनाया है। श्रीजानकीजीके बुलानेपर आयीं और मुनिने तो स्मरण भी न किया; केवल चिन्तित हुए इतनेसे ही आयीं यह विशेषता है; क्योंकि 'राम तें अधिक राम कर दासा।' पाँड़ेजीका मत है कि महिमा किसी औरने तो जानी नहीं, केवल श्रीरामजीने जानी। इसलिये 'प्रगटि जनाया' से 'श्रीरघुनाथजीको प्रगटि जनाया' यह अर्थ समझना चाहिये। [महिमा तो सबको देख पड़ी, पर यह किसीको न ज्ञात हुआ कि यह महिमा, यह प्रभाव श्रीसीताजीका है, यथा—'बिभव भेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥' (३०७। २), यही मुख्य कारण 'कछु' महिमा प्रकट करनेका है। नहीं तो सब इनका ऐश्वर्य जान पाते। कन्या अपने पिताकी बड़ाई सदा चाहती है, इसीसे कुछ ही महिमा दिखायी जिसमें लोग इसे जनक महाराजकी ही महिमा समझें और ऐसा ही हुआ भी]

प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'प्रगटि जनाई' का भाव यह है कि ऐसी वस्तुएँ पैदा कर दीं कि जो त्रुटि थी वह रहने न पावे।

टिप्पणी—२ (क) 'भूप पहुनई करन'—यहाँ केवल राजाकी पहुनाई करना कहा, क्योंकि राजाकी पहुनाईसे सबकी पहुनाई है। (समधी ही प्रधान हैं। उनकी पहुनाई कहनेसे उनके सारी बारातकी पहुनाई सूचित कर दी)। 'पठाई' अर्थात् जनवासमें भेजा। इसीसे आगे कहते हैं 'गईं जहाँ जनवास'। वहाँ भेजनेका भाव यह है कि जबतक विवाह नहीं होता तबतक राजाकी पहुनाई घरके भीतर नहीं हो सकती। (जबतक सम्बन्ध न हो जायगा तबतक चक्रवर्ती महाराज जनक महाराजके महलमें न जायँगे, यह रीति है)।

३—'सिधि सब सिय आयसु अकनि''' इति। (क) श्रीसीताजीने 'सब' सिद्धियोंको—'हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं', इसीसे यहाँ 'सिधि सब' का सुनना कहा। (ख) 'अकनि' का भाव कि श्रीसीताजीने हृदयमें स्मरण किया था, जब ये आयीं तब उनको प्रत्यक्ष आज्ञा दी, इसीसे 'आयसु अकनि' कहा। (ग) 'लिये संपदा सकल सुख' इति। देहली-दीपकन्यायसे 'सकल' दोनों ओर है। सकल सम्पदा और सकल सुख'। पुनः भाव कि जैसे भजनका सुख, वैराग्यका सुख और ज्ञानका सुख, वैसे ही यहाँ 'सम्पदाका सुख' कहा। सिद्धियाँ सम्पदाका सुख लेकर गयीं। 'सकल संपदा' से नवों निधियाँ सूचित कीं। सकल सुखका वर्णन भरद्वाज-आश्रममें किया गया है, यथा—'सुख समाजु नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी। आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना। सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥ असन पान सुचि अमिअ अमीसे। लखि अभिलाषु सुरेस सचीके॥ रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी।' (२। २१५)। (घ) 'सुरपुर भोग बिलास' इति। 'सुरपुर' देहली-दीपक है। सुख सुरपुरके और 'भोग बिलास' भी स्वर्गके। भोग, यथा—'स्रक चंदन बनितादिक भोगा।' (२। २१५)। भोग आठ प्रकारके कहे हैं—माला, सुगन्ध, वनिता, वस्त्र, गीत-वाद्य, ताम्बूल, भोजन, शय्या और आभूषण। यथा—'स्रग्गन्धो वनिता वस्त्रं गीतताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगस्त्वष्टविधः स्मृतः॥'—८४ (७-८) भाग २ (क) देखिये। (भरद्वाजजीकी पहुनाईमें सुरतरु सुरधेनु भी हैं। यहाँ ये नहीं हैं क्योंकि इनके होनेसे मर्म खुल जाता कि यह जनक-महिमा नहीं है। तथापि सुरतरु और सुरधेनुका फल सबको प्राप्त है, जो चित्तमें आता है वह तुरंत परिचारक सामनेके लिये हुए प्रकट हो जाते हैं। ☞ मार्गकी पहुनाईमें 'सुरपुर सरिस संपदा छाए। ३०४। ६।' ये और यहाँ 'सुरपुर भोग बिलास' यह विशेषता है)।

निज निज बास बिलोकि बराती। सुर सुख सकल सुलभ सब भाँती॥ १॥
बिभव भेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥ २॥
सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी॥ ३॥

अर्थ—बारातियोंने अपने-अपने ठहरनेके स्थानोंको देखकर (कि) सब देवताओंका सुख सब प्रकार वहाँ प्राप्त है। १।

(इस) ऐश्वर्यका कुछ भी भेद किसीने न जाना, सब राजा जनककी बड़ाई कर रहे हैं। २। श्रीसीताजीकी महिमा है यह जानकर और उनके हृदयका प्रेम पहचानकर श्रीरघुनाथजी प्रसन्न हुए। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'निज निज बास बिलोकि' से जनाया कि समस्त बारातियोंको (उनके आश्रम पूजा, सेवा, कार्य इत्यादिके योग्य तथा उनके सेवक वाहनादिके अनुकूल इत्यादि सब प्रकारका सुपास जहाँ है ऐसे) पृथक्-पृथक् वास दिये गये। तात्पर्य कि संकीर्ण वास (स्थान) नहीं है। (सबको पर्याप्त जगह मिली ऐसा नहीं कि किसीको तंगी वा कोताही हो।) (ख) 'सुरसुख सकल सुलभ'—भाव कि सिद्धियाँ सब सुरपुरके भोग लिये हैं जैसा दोहेमें कह आये, इसीसे सबको देवसुख प्राप्त है। 'सुलभ' का भाव कि जो सब प्रकार दुर्लभ है वही यहाँ सबको सब प्रकार सुलभ हो गया। अर्थात् सेवक सब पदार्थ लिये खड़े हैं। यथा—'दासी दास साज सब लीन्हे। जोगवत रहहिं मनहिं मन दीन्हे॥ २। २१४। ६।' (भरद्वाजाश्रममें)। (ग) श्रीजनकजीने जो बीच-बीचमें बारातके टिकानेके स्थान बनाये थे उनमें 'सुरपुर सरिस संपदा छाए' होना कहा। जो भेंट अगवानोंके द्वारा भेजी गयी उसमें भी 'भरे सुधा सम सब पकवाने' कहा और आगे जेवनारके समय घरमें जो बारातियोंको भोजन दिया गया उसे भी 'सुधा सरिस' कहा गया है। यथा—'भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने॥ (३२९। २)' और यहाँ 'सुर सुख सकल' कहते हैं, 'सुरपुरके पदार्थोंके सरिस' ऐसा नहीं कहते। अर्थात् 'सरिस' अथवा उसका पर्यायी 'सम' आदि कोई वाचक-पद नहीं दिया गया। भेदका तात्पर्य यह है कि बीचके पड़ावोंका, अगवानोंद्वारा भेंटमें भेजा हुआ और घरका भोजन मनुष्योंका दिया है, यह सब श्रीजानकीजीकी विभूति है और जनवासोंके समस्त पदार्थ सिद्धियोंके दिये हुए हैं, इससे वे साक्षात् सुरपुरके भोग-विलास हैं, यथा—'लिये संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास॥ ३०६।' यह श्रीसीताजीकी 'कुछ' महिमा है।

२ (क) 'बिभव भेद कछु कोउ न जाना।' इति। (किसीने क्यों न जाना? उत्तर यह है कि यह श्रीसीताजीकी महिमा है कि कोई न जान पाया क्योंकि यदि) कोई भेद जान जाता तो फिर जनकमहाराजकी बड़ाई न होती (और श्रीसीताजीका ऐश्वर्य खुल जाता। स्मरण रहे कि श्रीरामजीका ऐश्वर्य तो कहीं-कहीं खुल भी गया, पर इन्होंने अपना ऐश्वर्य कहीं खुलने नहीं दिया। आदिसे अन्ततक नरनाट्यका पूरा निर्वाह आपके चरितमें है)। 'कोउ न जाना'—अर्थात् जनकजी, कामदार, सेवक आदि, समस्त जनाती और बराती कोई भी न जान पाये। जनकजीने समझा कि हमारे कामदार प्रबन्धकोंने जनवासेको सब पदार्थोंसे पूर्ण भर रक्खा है। कामदारने जाना कि दूसरे कामदारने यह सब प्रबन्ध किया, अगवानोंने भी यही जाना कि महाराजके कामदारोंने यह सब प्रबन्ध किया है। और बारातियोंने जाना कि यह सब प्रबन्ध राजा जनकके सेवकोंने किया है। (ख) 'सकल जनक कर करहिं बखाना'—(यहाँ 'सकल' से बारातियोंका ही प्रशंसा करना सुसङ्गत होगा। बाराती यह बड़ाई करते हैं कि क्यों न हो, राजा जनक योगेश्वर ही ठहरे; वे क्या नहीं कर सकते? यह वैभव, यह सुख-भोग-विलास तो स्वर्गमें ही सुना करते थे, आज वही यहाँ प्रत्यक्ष देख रहे हैं, यह योगेश्वरजीकी महिमा है)।

३—'सिय महिमा रघुनायक जानी।····' इति। (क) 'ऊपर' कहा था कि 'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥' (उस महिमाको किसीने न जाना, इससे श्रीरामजीका भी न जानना समझा जाता, इसके निराकरणार्थ कहते हैं कि और किसीने न जाना। (एकमात्र) श्रीरामजीने जाना। इसी प्रकार श्रीचित्रकूटमें भी कहा है, यथा—'सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥ लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥ २। २५२।' (ख) 'हरषे हृदय' से सूचित हुआ कि श्रीजानकीजीने श्रीरामजीकी प्रसन्नताके लिये ही यह सेवा की, इसीसे यहाँ उनका प्रसन्न होना कहा। (ग) हेतु=प्रेम, स्नेह। यथा—'हरषे हेतु हेरि हर ही को। १९। ७।' 'चले संग हिमवंत तब पहुँचावन अति हेतु। १०२।' 'भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए। छरस असन अति हेतु जेंवाए॥ ३३६। ३।' 'हेतु' का दूसरा अर्थ 'कारण' प्रसिद्ध ही है। मुं० रोशनलालजीने 'कारण' अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि इस महिमाके दिखानेका हेतु यह है कि 'जैसे श्रीरघुनाथजीने धनुष तोड़कर जनकपुरवासियोंको सुख दिया, वैसे ही श्रीसीताजीने अपनी ऋद्धि-सिद्धियोंसे बारातियोंका आदर-सत्कार किया; यह देख श्रीरामजी प्रसन्न हुए। बैजनाथजीने भी यही लिखा है—'श्रीरघुनाथजीने विभव प्रकट करनेका कारण पहचाना कि जिस भाँति प्रभुने धनुर्भङ्गादिमें ऐश्वर्य प्रकटकर जनकपुरवासियोंको आनन्द दिया वैसे ही हम अपने ऐश्वर्यसे अवधवासियोंका सत्कारकर उनको आनन्द दें। (ऐसा विचार मनमें रखकर इन्होंने महिमा दिखायी है) यह हेतु पहचानकर प्रभु हर्षित हुए। अथवा, हमारे कुलको प्रकाशित

करनेकी यह 'सूचनिका' है, यह जानकर हर्ष हुआ। बाबा हरिहरप्रसादने 'प्रेम' अर्थ करते हुए लिखा है कि 'प्रीति पहचाना कि हमारी प्रसन्नताके लिये हमारे परिवारोंका सत्कार किया है'। प्रो० दीनजी लिखते हैं कि भाव यह है कि हमपर इतना प्रेम है कि जो जनक न कर सके वह इन्होंने कर दिखाया। हृदयमें हर्षित हुए जिसमें दूसरा कोई न जाने।

पितु आगमनु सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनंदु अमाई॥ ४॥
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु दरसन लालचु मनमाहीं॥ ५॥
बिश्वामित्र बिनय बड़ि देखी। उपजा उर संतोषु बिसेषी॥ ६॥
हरषि बंधु दोउ हृदय लगाए। पुलक अंग अंबक जल छाए॥ ७॥
चले जहाँ दसरथु जनवासे। मनहुँ सरोवर तकेउ पिआसे॥ ८॥

दो०—भूप बिलोके जबहिं मुनि आवत सुतन्ह समेत।
उठेउ* हरषि सुखसिंधु महुँ चले थाह सी लेत॥ ३०७॥

अर्थ—पिताका आगमन (आनेका समाचार) सुनकर दोनों भाइयोंके हृदयमें अत्यन्त आनन्द नहीं अमाता। ४। सकोचवश वे गुरु (विश्वामित्रजी) से कह नहीं सकते। मनमें पिताके दर्शनोंकी बड़ी लालसा है। ५। दोनों (भाइयोंकी) बड़ी भारी नम्रता देखकर विश्वामित्रजीके हृदयमें बहुत सन्तोष उत्पन्न हुआ॥ ६॥ उन्होंने प्रसन्न होकर दोनों भाइयोंको हृदयसे लगाया। उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर आया॥ ७॥ वे जनवासेको चले जहाँ श्रीदशरथजी थे, मानो तालाब प्यासेको ताककर उसकी ओर चला॥ ८॥ ज्यों ही राजाने पुत्रोंसहित मुनिको आते हुए देखा वे आनन्दित हो उठ खड़े हुए और सुख-समुद्रमें थाह-सी लेते हुए चले॥ ३०७॥

टिप्पणी—१ (क) 'अति आनंद' का भाव कि श्रीजानकीजीका स्नेह पहचानकर आनन्द हुआ था—'हरषे हृदय हेतु पहिचानी', और पिताका आगमन सुनकर आनन्दमें और आनन्द हुआ, इसीसे 'अति आनंद' कहा। 'हृदय न अति आनंद समाई' का भाव कि हृदयमें आनन्द समाता है पर यहाँ 'अति आनंदु' हुआ इससे अमाता नहीं। [(ख) 'अमाना' पद सूचित करता है कि भीतर ही कोई वस्तु भरी है जो इतनी ही बड़ी है कि उसमें अँटती नहीं, और 'समाना' पद यह जनाता है कि बाहरसे कोई वस्तु भीतर ठूँसी जाती है वह उसमें नहीं अँट सकती। इस भेदसे 'अमाई' पाठ उत्तम जान पड़ता है। (ग) 'न अति आनंदु अमाई' से जनाया कि वह अति आनन्द मुखके द्वारा निकलना चाहता है, अर्थात् पिताके दर्शनकी बात गुरुसे कहना चाहते हैं पर कह नहीं सकते। कहनेमें संकोच होता है कि कहीं गुरुजी यह न समझें कि इनको पिता हमसे अधिक प्रिय हैं। अथवा मनमें यह न आये कि अपने ब्याहकी बारात देखना चाहते हैं, इस लज्जासे संकोच है इसीसे पिताके दर्शनकी लालसा वा आज्ञा माँगनेकी बात मुखसे निकल नहीं सकी। यथा—'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥ १। २५९।' यही भाव 'सकुचन्ह कह न सकत....' का है।

२ (क) 'बिस्वामित्र बिनय बड़ि देखी'—भाव कि दोनों भाइयोंने अपना मनोरथ अपनी नम्रतासे सूचित कर दिया, मुखसे नहीं कहा, इसीसे 'देखी' कहा। ['देखी' अर्थात् मुखकी चेष्टा और अत्यन्त नम्रताद्वारा लख लिया। 'विनय' अर्थात् विशेष नम्रता यह है कि पिताके पास भी जानेके लिये हमारी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। पुनः, विनय (=विशेष नीति) यह कि माता-पितासे हमको अधिक समझते हैं। (जहाँ भगवान्‌से भी अधिक गुरुको मानना यह भागवतधर्म नीति है, वहाँ पिताको अधिक मानना अनीति ही होगी। प० प० प्र०।) 'बड़ी विनय' है, अतः 'विशेष सन्तोष' हुआ अर्थात् धन्य हैं कि इतना संकोच रखते हैं)। (ख)—'हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये।....' इति। आनन्दसे पुलक होता है। यथा-'उर आनंद पुलक भर गाता। ३०५। ७।' और ये दोनों भाई तो आनन्दकी मूर्त्ति ही हैं (इतना ही नहीं, ये तो 'आनँद हू के आनँददाता' हैं) अतः जब मुनिने इन्हें हृदयमें लगाया (अर्थात् उस मूर्त्तिमान् आनन्दका स्पर्श हुआ) तब उनका शरीर पुलकित हो गया। इसी तरह नगर-दर्शनके समय इस आनन्दमूर्तिके अङ्गस्पर्शसे जनकपुरके बालकोंको

* उठे—१७२१, १७६२, छ०। उठेउ—१६६१, १७०४, को० रा०।

पुलकावली हुई थी, यथा—'सब सिसु येहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात। तनु पुलकहिं अति हरषु हिय॥……२२४।' [हृदयसे लगानेके और भाव कि हृदयसे न जाइयेगा। (रा० प्र०)। हृदयमें लगाना वात्सल्यभाव दरसाता है। (ग) 'अंबक जल छाए'—प्रेमके कारण नेत्रोंमें आँसू भर आये कि रात-दिन इनका दर्शन होता था; वह अब और लोगोंमें बँट गया। (रा० प्र०)]

नोट—१ 'मनहु सरोवर तकेउ पिआसे' इति। प्यासा कुएँके पास जाता है यह लोकोक्ति है और ऐसा होता भी है। श्रीदशरथजी और अवधवासी श्रीरामदर्शन-जलके प्यासे हैं; यथा—'कबहिं देखिबे नयन भरि रामु लषनु दोउ बीर। ३००।' श्रीरामलक्ष्मणजीसहित विश्वामित्रजी सरोवर हैं। इनका स्वयं सबको दर्शन देने जाना मानो सरोवरका प्यासेके पास जाना है। सरोवर प्यासेके पास कभी नहीं जाता, यह कविकी कल्पनामात्र 'अनुक्त-विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीरकवि)। बाबा हरिहरप्रसादने इसका अर्थ यह भी किया है कि—'मानो प्यासेने तालाब देखा। पितु अङ्ग सरोवर, रूप-दर्शन-जल-प्यासे दोनों भाई, यथा—'पितु दरसन लालच मन माहीं।'; पर इस अर्थमें वह चोखाई नहीं रह जाती (इस अर्थमें 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' होगी)। पण्डित रामचरण मिश्र कहते हैं कि 'यहाँ अनुलोम उपमा लगानेसे पूर्ण-काम प्रभुओंमें न्यूनता पायी जाती है; अतः उपमाकी विलोम घटनासे यह अर्थ होता है कि जहाँ जनवासेमें दशरथ थे, वहाँ मानो प्यासोंको तककर सरोवर ही चल दिये। यहाँ सरोवररूप विश्वामित्र मुनिके सङ्ग राम-लक्ष्मणजी हैं। यह अभूतोपमा है।' प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत है कि 'विश्वामित्रजी सरोवर हैं, श्रीराम-लक्ष्मणजी सुधा-मधुर जल हैं। अथवा श्रीरामजी सरोवर हैं, भक्तवत्सलता जल है। 'कबहिं देखिबे'……' यह तो सभी बारातियोंकी लालसा थी और दशरथजीकी तो यह दशा थी कि 'जियै मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जियै दुख दीना॥ जीवन मोर राम बिनु नाहीं।', इसीसे इनके लिये 'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे' आगे कहा है और बारातियोंके सम्बन्धमें 'रामहिं देखि बरात जुड़ानी' मात्र कहा है।'

टिप्पणी—३ 'भूप बिलोके जबहि मुनि……' इति। (क) महात्माओंको आगेसे जाकर लेना चाहिये, यथा—'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लै बिप्र समाजा॥ २०५। १।', 'चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ येहि भाँति। २१४।'; इसीसे राजा आगे चलकर मिले। (ख) पहले सरोवरका आगमन कहा—'मनहु सरोवर तकेउ……', अब यहाँ प्यासेको सरोवरकी प्राप्ति कहते हैं—'भूप बिलोके……'। जब दोनों भाइयोंको देखा तब सुखका समुद्र हो गया। [(ग)—'उठे हरषि सुखसिंधु महुँ चले……' इति। दोनों भाई सुखके सागर हैं, यथा—'तदपि अधिक सुख सागर रामा।' उनको देखकर राजाके हृदयमें सुख-समुद्र उमड़ा। अर्थात् प्रेम और आनन्दका सुख इतना बढ़ा कि चलनेकी शक्ति न रह गयी, शरीर शिथिल हो गया, चला न गया; छड़ीके सहारे धीरे-धीरे चलने लगे, मानो थाह लेते हुए चल रहे हैं, यथा—'मोद प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता॥ ३४६। १।', [अथवा प्रज्ञानानन्द स्वामीजीके मतानुसार ऐसी दशामें छड़ीके सहारे भी चलना असम्भव है, किसी पुरुषके सहारे जाना सुलभ होता है। उसका हाथ पकड़कर या कंधेपर हाथ रखकर चले होंगे। यथा—'चले सखा कर सों कर जोरे। सिथिल सरीर सनेह न थोरे॥ २। १९८।'] थाह लेना यों होता है कि थोड़ा चले फिर ठहर गये, फिर पैर सँभालकर बढ़ाया फिर रुके। राजाकी यह दशा मारे आनन्दके हो रही थी, वे बेसुध हो जाते थे। 'पैरत थके थाह जनु पाई' से मिलान करो। 'सुतन्ह समेत' से जनाया कि मुनि आगे हैं दोनों भाई पीछे हैं]

> मुनिहि दंडवत कीन्ह महीसा। बार बार पद रज धरि सीसा॥ १॥
> कौसिक राउ लिये उर लाई। कहि असीस पूछी कुसलाई॥ २॥
> पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुखु न समाई॥ ३॥
> सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥ ४॥

अर्थ—राजाने मुनिको दण्डवत् प्रणाम किया और बारंबार उनके चरणोंकी रज सिरपर धारण की॥ १॥ कौशिक मुनिने राजाको (उठाकर) हृदयसे लगा लिया और आशीर्वाद देकर कुशल-समाचार पूछा॥ २॥ फिर दोनों भाइयोंको दण्डवत् प्रणाम करते देख राजाके हृदयमें सुख नहीं समाता॥ ३॥ पुत्रोंको हृदयसे लगाकर उन्होंने अपने दुःसह (जो सहा नहीं जाता था) दुःखको मिटाया। (ऐसा जान पड़ता था) मानो मरे हुए शरीरको प्राणोंसे भेंट हुई॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'बार बार पदरज धरि सीसा' इति । 'बार बार' रजको शिरोधार्य करना कृतज्ञता जनाता है, राजा उपकार मानकर ऐसा करते हैं। पुनः भाव कि राजा पदरजका प्रभाव जानते हैं कि इसे शिरोधार्य करनेसे समस्त विभव वशमें हो जाता है, यथा—'जे गुर-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥ मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजें। सब पायउँ रज पावनि पूजें ॥ २ । ३ ।'—['जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥⋯'सब पायउँ रज पावनि पूजें' मानो ऐसा कहते हुए अपनी कृतज्ञता जनाते हुए बारंबार पदरजको मस्तकपर लगाते हैं। (ख) 'कौसिक राउ लिए उर लाई' यहाँ राजासे मिलनेमें विश्वामित्रजीको राजपुत्र कहा, कौशिक नाम दिया (अर्थात् राजा कुशिकके पुत्र) क्योंकि राजा मुनिको अपना पितृत्व सौंप चुके थे, यथा—'मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ। २०८ । १० ।', इस समयतक मुनि राजाके बदले पिता थे, अतः वे मानो राजा ही हैं। 'लिये उर लाई' कहकर जनाया कि वह पितृभाव इस बहाने अब मुनि राजाको लौटा रहे हैं। स्मरण रहे कि पूर्व जब मुनि श्रीराम-लक्ष्मणजीको माँगने आये थे, तब मुनिने राजाको हृदयमें नहीं लगाया था, क्योंकि उस समय मुनि-भाव था।—(प्र० सं०)] (ग)—राजाने बड़े प्रेमसे बारंबार चरणरजको शिरोधार्य किया, अतः 'पदरज धरि सीसा' के बदलेमें विश्वामित्रजीने 'राउ लिए उर लाई' राजाको हृदयसे लगा लिया। राजाने 'दण्डवत्' की, उसके बदलेमें मुनिने आशीर्वाद दिया—'कहि असीस'। और 'पूछा कुसलाई' कुशल-प्रश्न जो किया वह अपनी ओरसे। [कुशल-प्रश्नका उत्तर यहाँ नहीं है क्योंकि राजाका शरीर शिथिल है, कण्ठ गद्गद है]

प० प० प्र०—'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी', 'किए तिलक गुनगन बस करनी', 'समन सकल भव रुज परिवारू', 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती' इत्यादि गुण गुरुपदरजके जो कहे गये हैं, वे सब यहाँ चरितार्थ हुए। राजाके हृदयमें श्रीराम-लक्ष्मणके विषयमें चिन्तारूपी मल था वह दूर हुआ। 'गुनसागर नागर बर बीरा' दोनों पुत्र अपने पास आ गये। वियोगरूपी रोग मिटा। विवाहरूपी मंगल कार्यसे मंगल मोद प्राप्त होगा ही। इत्यादि।

टिप्पणी—२ 'पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि⋯' इति। (क) 'पुनि' अर्थात् जब राजा और मुनिकी भेंट-मिलाप हो चुकी तब। राजाने मुनिको दण्डवत् की, इसीसे श्रीरामजीने राजाको दण्डवत् की। श्रीरामजीने विचार किया कि राजाने मुनिको साष्टाङ्ग दण्डवत् की, यदि हम राजाको दण्डवत् नहीं करते तो 'अभाव' होता है, इसीसे दण्डवत् की। (नहीं तो अन्यत्र) सर्वत्र चरणमें माथा नवाना ही पाया जाता है, यथा—'प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा। २०५ । ७ ।', 'सचिव सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप रामु निहारे। २ । ४४ ।', 'नाइ सीसु पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा। २ । ७७ ।', 'राम तुरत मुनि बेषु बनाई। चले जनक जननिहि सिरु नाई। २ । ७९' । [यहाँ साष्टाङ्ग दण्डवत् करके अधिक प्रेमकी सूचना दे रहे हैं। श्रीरामजी प्रेमभावमें भक्तोंको अपनेसे बढ़ने नहीं देते, उनसे बढ़े-चढ़े ही रहते हैं, जो जिस भावसे उन्हें भजता है, उसीके अनुकूल भावसे प्रभु भी उसके साथ प्रेम-व्यवहार करते हैं, यथा—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता ४ । ११)। दोनों भाइयोंका अत्यन्त प्रेम पूर्व कह आये हैं, यथा—'पितु आगमनु सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनंदु अमाई।' (३०७ । ४), और यहाँ भी 'दंडवत करत दोउ भाई' यह प्रेम दिखाया। इसकी जोड़में राजाका प्रेम यहाँ 'देखि नृपति उर सुखु न समाई' कहकर दिखाया। इस प्रकार] यहाँ दोनों भाइयों और राजाकी अन्योन्य प्रीति दिखायी। दण्डवत्से व्यवहार-दक्षता दिखायी। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।' (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ 'सुत हिय लाई⋯' इति। (क) श्रीराम-लक्ष्मणजी राजाके प्राण हैं। (दोनों पुत्रोंको सौंपते समय राजाने विश्वामित्रसे यह बात स्वयं कही थी), यथा—'मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ। २०८ । १० ।' (प्राण न रहनेसे शरीर मृतक हो जाता है। वैसे ही) मुनिके साथ दोनों पुत्रोंके जानेपर राजा मृतक-समान हो गये (अबतक मृतक-तुल्य रहे) अब प्राणोंसे भेंट हुई, प्राण हृदयमें रहता है, इसीसे हृदयमें लगानेसे 'प्रानु जनु भेंटे' की उत्प्रेक्षा की। (ख) प्राणोंका निकलना ही 'दुःसह दुःख' है (मरते समय ऐसा ही दुःख होता है), यथा—'जनमत मरत दुसह दुख होई। ७ । १०९ ।', श्रीराम-लक्ष्मणरूपी प्राणोंके जानेसे राजाको दुःसह दुःख रहा। (ग) 'हृदयमें लगाकर दुःसह दुःख मिटाया' कहनेका भाव कि जब प्राण अपने स्थान (हृदय) में आ गये तब दुःख मिट गया।

नोट—१ जब भगवान् राम चौदह वर्षके वनवासके पश्चात् श्रीअयोध्याजी आये उस समय माताओंका हर्ष भी इसी

प्रकारसे कहा गया है, यथा—'पुत्रान्स्वमातरस्तास्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः। आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः॥ भा० ९। १०। ४८।' अर्थात् ('श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि) उस समय जैसे मृतक शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो जाय, वैसे ही माताएँ अपने पुत्रोंके आगमनसे हर्षित हो उठीं। उन्होंने उनको अपनी गोदमें बिठा लिया और अपने आँसुओंसे उनका अभिषेक किया। उस समय उनका सारा शोक मिट गया।'—ठीक यही सब भाव 'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।' में है। इसी तरह अपने सुहृद् विदुरजीको आये हुए जानकर जब श्रीयुधिष्ठिरजी भाइयों आदिसहित उनसे मिलनेको चले, तब उनके लिये श्रीसूतजीने यही उत्प्रेक्षा दी है कि वे ऐसे हर्षसे मिलने चले मानो मृत शरीरमें प्राण आ गया हो, यथा—'तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः।····२।····प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम्। अभिसंगम्य विधिवत्परिष्वङ्गाभिवादनैः। ५। मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः। ६।' (भा० १। १३)।

पुनि बसिष्ट पद सिर तिन्ह नाए। प्रेम मुदित मुनिबर उर लाए॥ ५॥
बिप्र बृंद बंदे दुहुँ भाई। मन भावती असीसैं पाईं॥ ६॥
भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिए उठाइ लाइ उर रामा॥ ७॥

अर्थ—फिर (अर्थात् पिताको दण्डवत् करनेके पश्चात्) उन्होंने वसिष्ठजीके चरणोंमें सिर नवाया। प्रेमसे आनन्दित होकर मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया। ५। (तदनन्तर) दोनों भाइयोंने विप्रमण्डलीकी वन्दना की और सबसे मनभाई आशिषें पायीं। ६। भरतजीने छोटे भाई (श्रीशत्रुघ्नजी) सहित (श्रीरामजीको) प्रणाम किया। श्रीरामचन्द्रजीने (उन्हें) उठाकर हृदयसे लगा लिया। ७।

टिप्पणी—१ 'पुनि बसिष्ट पद····' इति। (क) पिताजीसे मिलनेके पीछे वसिष्ठजीसे मिले, क्योंकि पिता वसिष्ठजीसे अधिक मान्य हैं, यथा—'उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते। इति मनुः। (दूसरे पिताका प्रेम सबसे अधिक है) इसी अभिप्रायसे पिताके प्रणाममें भी विशेषता दिखायी, पिताको साष्टाङ्ग दण्डवत् की थी और मुनिके चरणोंमें केवल सिर नवाया। (ख) 'प्रेम मुदित' का भाव कि दोनों भाइयोंके धर्मकी मर्यादा देखकर प्रेम हुआ और आनन्दित हुए।

२ 'बिप्र बृंद बंदे दुहुँ भाई।····' इति (क)—वसिष्ठजीके चरणोंमें सिर नवाया और विप्रवृन्दकी वन्दना की अर्थात् प्रणाम किया। (गुरुजीके चरणोंमें मस्तक नवाया और इनको केवल प्रणाम। यहाँ भी प्रणाममें विशेष और सामान्य भाव प्रत्यक्ष है। गुरु विप्रवृन्दसे विशेष हैं। इस तरह राजासे लेकर विप्रवृन्दतक क्रमशः विशेष और सामान्य दिखाया। (ख)—'मन भावती असीसैं' अर्थात् 'सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे' यह आशीर्वाद मिला। 'मन भावती असीस' का पाना कहकर जनाया कि आशीर्वाद सुनकर दोनों भाई सुखी हुए, जैसे विश्वामित्रजीने जब मनोरथ सुफल होनेका आशीर्वाद दिया था तब सुखी हुए थे, यथा—'राम लखन सुनि भए सुखारे। २३७। ४।' 'मन भावती' अर्थात् मनोरथकी सफलता की; जो चाहते थे वही।

३ 'भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा।···' इति। (क) ['सहानुज' से जनाया कि साथ-साथ दोनोंने प्रणाम किया] 'लिए उठाई' से जनाया कि पृथ्वीपर पड़कर (साष्टाङ्ग) प्रणाम किया था। यहाँ उठानेमें किसीका नाम न देकर जनाया कि दोनोंको साथ-साथ उठाया क्योंकि यदि भरतजीका नाम लेते तो पाया जाता कि शत्रुघ्नजीको हृदयसे नहीं लगाया। 'सहानुज कीन्ह प्रनामा' और 'लिए उठाइ लाइ उर' दोनोंके साथ है। [यदि एक-एकको उठाना कहते तो दूसरेके प्रति प्रेमका अभाव प्रकट होता। अतएव उठानेमें 'राम' नाम दिया; अर्थात् वे तो जगत्मात्रमें रमण करनेवाले हैं सबको एक साथ रमा सकते हैं, उनके लिये दोनोंको एक साथ उठाना और हृदयसे लगाना क्या कठिन है। (प्र० सं०)] (ख) श्रीभरत-शत्रुघ्नजीका यहाँ विश्वामित्रजीको प्रणाम करना नहीं कहा गया जैसे श्रीराम-लक्ष्मणजीका गुरु वसिष्ठादिको प्रणाम करना कहा गया? उत्तर—'बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई' यहाँ 'दुहुँ भाई' कहा, किसीका नाम नहीं दिया, वह केवल इसलिये कि अर्थ करनेमें इस तरह अन्वय वा अर्थ लगा लें कि श्रीराम-लक्ष्मण दुहुँ भाई विप्रवृन्द वन्दे एवं श्रीभरत-शत्रुघ्न दुहुँ भाई श्रीविश्वामित्रादि विप्रबृंद बंदे' (इसीसे इस अर्धालीको बीचमें रक्खा। नहीं तो जैसे उनके लिये सर्वनाम 'तिन्ह' का प्रयोग किया वैसे ही 'दुहुँ भाई' की जगह वैसा ही सर्वनाम लिखते। प्रज्ञानानन्दस्वामीका मत है कि 'भरत सहानुज कीन्ह

प्रनामा' में यह न खोला कि किसको प्रणाम किया। यह केवल इसलिये कि पाठक इसे पूर्व संदर्भके अनुसार विश्वामित्रजीमें और फिर श्रीरामजीमें लगा लें। (पर यहाँ उठा लेनेमें श्रीरामजीका नाम होनेसे यह प्रणाम किसको है स्पष्ट हो जाता है)।

हरषे लषन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम परिपूरित गाता॥ ८॥

दो०—पुरजन परिजन जातिजन जाचक मंत्री मीत।
मिले जथा बिधि सबहि प्रभु परम कृपाल बिनीत॥ ३०८॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी (श्रीभरत-शत्रुघ्न) दोनों भाइयोंको देखकर हर्षित हुए और प्रेमसे परिपूर्ण भरे हुए शरीरसे उनसे मिले॥ ८॥ परम कृपाल और विनीत (विनम्र, सुशील तथा नीति-व्यवहारयुक्त) प्रभु श्रीरामचन्द्रजी (श्रीअवधके) पुरवासियों, कुटुम्बियों, जातिके लोगों (रघुवंशियों), याचकों, मन्त्रियों और मित्रों सभीसे यथायोग्य मिले॥ ३०८॥

टिप्पणी—१ 'हरषे लषन''''' इति। (क) जैसे श्रीभरतजीने श्रीरामजीको प्रणाम किया वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीने श्रीभरतजीको प्रणाम किया, यथा—'भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम। २। २४१॥' (चित्रकूटमें); और शत्रुघ्नजीने लक्ष्मणजीको प्रणाम किया। तब लक्ष्मणजीने उनको गलेसे लगा लिया, यथा—'भेंटेउ लषन ललकि लघु भाई। २। २४२। १॥' (ख)—'हरषे लषन देखि दोउ भ्राता' का अन्वय दोनों प्रकारसे होगा—लक्ष्मणजी दोनों भ्राताओंको देखकर हर्षित हुए तथा दोनों भ्राता लक्ष्मणजीको देखकर हर्षित हुए।

मा० पी० प्र० सं०—यहाँ लक्ष्मणजीका भरतजीको और शत्रुघ्नजीका लक्ष्मणजीको तथा भरतजीका विश्वामित्रजीको 'प्रणाम' करना नहीं लिखकर यह सूचित करते हैं कि जब श्रीरामजीने पिताको प्रणाम किया उसी समय श्रीभरतजीने श्रीविश्वामित्रजीको और शत्रुघ्नजीने लक्ष्मणजीको प्रणाम किया। विस्तारके भयसे कविने इतनेहीसे सबका प्रणाम लक्षित कर दिया। प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'मिले' शब्दमें सबका उचित प्रणाम आदि आ जाता है।

टिप्पणी—२ 'पुरजन परिजन''''' इति। (क) 'मिले जथा बिधि सबहि'—यथाविधि यह कि प्रथम पितासे मिले, तब वशिष्ठजीसे, इसी तरह क्रमशः भरतजी, शत्रुघ्नजी, पुरजन, परिजन, जातिजन, याचक, मन्त्री और मित्रोंसे मिले। अथवा पुरजन, परिजन''''मीत, केवल इनसे मिलनेमें 'यथाविधि' मिलना कहा। अपनेसे जो छोटे हैं, जो बराबरके हैं और जो याचक हैं उनपर कृपा करके मिले और जो बड़े हैं उनसे विनम्र होकर मिले। [बड़ोंसे नम्रतापूर्वक मिले, छोटोंपर कृपा की, बराबरवालोंसे अंकमाल देकर (अर्थात् गले लगकर) मिले। (प्र० सं०)] 'सबहि' सबसे मिलनेका भाव कि सबको श्रीरामजीके दर्शनोंकी लालसा है, यथा—'सब के उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि रामु लषन दोउ बीर॥ ३००॥' अतः प्रभु 'सबहि' मिले। (ख) 'प्रभु' इति। सबसे मिलनेमें 'प्रभु' कहा। भाव यह कि इन सबोंसे एक साथ, एक ही समय और अत्यन्त अल्पकालमें अर्थात् पलमात्र या क्षणभरमें (क्योंकि सबको एक-सी दर्शन-लालसा है, सभीको परिपूर्ण प्रेम है) मिलनेमें आपने अपनी 'प्रभुता' प्रकट की, कि श्रीलक्ष्मणजी-सहित आप अनेक हो गये, जितने लोगोंसे मिलना था उतने ही रूप धारण कर लिये और किसीको यह रहस्य मालूम न हुआ। यही 'प्रभुता' है, यथा—'प्रेमातुर सब लोग निहारी।'''अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥'''छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना। (७। ६)।' 'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं। यह कछु नहिं प्रभु कै अधिकाई। बिस्वरूप व्यापक रघुराई॥'''(४। २२)।

रामहि देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥ १॥
नृप समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धनु धरमादिक तनु धारी॥ २॥
सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर नर नारि बिसेषी॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामजीको देखकर बारात शीतल हुई (अर्थात् बारातियोंके संतप्त हृदय एवं नेत्र शीतल हुए)। प्रीतिकी रीति (तो) बखानी नहीं जा सकती॥ १॥ राजा (श्रीदशरथजी) के पास चारों पुत्र ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानो धन-धर्मादि (चारों फल) शरीर धारण किये हुए (शोभित) हैं॥ २॥ पुत्रोंसहित श्रीदशरथजीको देखकर नगरके स्त्री-पुरुष बहुत ही प्रसन्न हो रहे हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'रामहि देखि·····' इति। [(क) पूर्व जो कहा था कि 'मनहुँ सरोवर तकेउ पिआसे'। ३०७। ८॥' उसको यहाँ चरितार्थ कर रहे हैं] श्रीराम-लक्ष्मणजी सरोवर हैं। सरोवरकी प्राप्तिसे शीतलता आती है, वैसे ही श्रीराम-लक्ष्मणजीकी प्राप्तिसे सब बारात शीतल हुई। 'कबहि देखिबे नयन भरि राम लषन दोउ बीर' यह जो दर्शनका मनोरथ सबको था वह पूर्ण हुआ। (ख) 'देखि····जुड़ानी' इति। (सबके नेत्र दर्शनके लिये, 'कबहि देखिबे नयन भरि' इसीके लिये, आकुल थे, इसीसे 'देखकर' जुड़ाना कहा)। तात्पर्य कि सबके नेत्र शीतल हुए। 'जुड़ानी' का भाव कि सब अयोध्यावासी रामविरही थे (श्रीरामविरहसे संतप्त थे), विरह अग्निरूप है। यथा 'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा। ५। ३१॥' वह विरह मिट गया। [विरहाग्नि सरोवरका जल (श्रीराम-लक्ष्मणका दर्शन) पाकर बुझ गयी, सरोवरके सम्बन्धसे विरहको अग्नि कहा, क्योंकि अग्नि जलसे बुझ जाती है। उत्तरकाण्डमें श्रीरामजीको राकेश कहा है, उसके सम्बन्धसे विरहको सूर्य कहा है। यथा—'···रघुपति बिरह दिनेस। अस्त भए बिकसित भईं निरखि राम राकेस। ७। ९॥' इसी प्रकार श्रीसीताजीके वचन हैं—'कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता। ५। १४॥' (मा० सं०)। [पुनः भाव कि दूलहरहित बारात निर्जीव थी वह सजीव हुई। (वै०)] (ग) 'प्रीति कि रीति न जाति बखानी' इति। प्रणाम करना, मिलना, देखना और शीतल होना इत्यादि ऊपरकी सब बातोंका वर्णन किया, परंतु अन्तर (हृदय) की प्रीति नहीं कहते बनती, इसीसे जवाब दिये देते हैं कि 'प्रीति की रीति न जाति बखानी।' (प्रीतिकी रीति ही ऐसी है कि उसका वर्णन हो नहीं सकता। यथा—'कौसिकहि पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही। १। ३२०॥' 'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी॥····२। २४१॥' श्रीअवधवासियोंको सब सुख (सब प्रकारके सुरपुर भोगविलास) प्राप्त हुए फिर भी वे बिना श्रीरामदर्शनके शीतल न हुए, संतप्त ही रहे, श्रीरामजीको देखकर ही शीतल हुए, जैसे पपीहा (चातक) स्वातिबुन्द छोड़ किसी भी जलसे शीतल नहीं होता।—यह प्रीतिकी रीति है। [पुनः 'प्रीति····बखानी' का भाव कि मिलनेमें, बोलनेमें जो प्रेमभाव प्रकट करते थे, वह कहा नहीं जा सकता। अथवा भाव कि आत्मसुखके जाननेवाले देह-सुखकी प्राप्तिसे अधिक प्रसन्न नहीं हो सकते, यह प्रीतिकी रीति है। (पं० रामवल्लभाशरणजी)। मिलान कीजिये—'सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद्र निहारी। २। १॥']

२—'नृप समीप सोहहिं सुत चारी···' इति। भाव कि पूर्व दो पुत्र मुनिके पास थे और दो राजाके पास, अब चारों पुत्र राजाके पास हैं। 'नृप समीप सोहहिं' का भाव कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ राजाहीके यहाँ शोभा पाते हैं। 'धन' से अर्थ, धर्मसे 'धर्म' और 'आदि' से 'काम' और 'मोक्ष' कहे।

नोट—१ 'सोहहिं' का तात्पर्य यह है कि राजाकी अर्थ-धर्मादिसे शोभा होती है और रामभक्त जो विरक्त हैं यदि वे अर्थादिको ग्रहण करें तो उनकी शोभा नहीं, वे तो उनके होनेसे शोभारहित हो जाते हैं। अतः 'नृप समीप' सोहना कहा। 'अर्थ-धर्मादि तो दशरथजीको स्वाभाविक प्राप्त थे ही, उससे उनकी शोभा अब कैसे कहते हैं?' इसीके समाधानके लिये 'तनधारी' शब्द दिये। भाव कि चारों फल तो सदा ही प्राप्त हैं, हाँ यदि वे शरीर धारणकर मूर्तिमान होकर उनके पास आवें तो चक्रवर्तीजीके पास सोहैं (शोभित हों)। इस भावसे 'तनुधारी' होना कहा।

टिप्पणी—३ 'जनु धन धरमादिक तनुधारी' इति। 'तनुधारी' कहनेका भाव कि राजा ऐसे धर्मात्मा हैं कि चारों पदार्थ स्वरूप धारण करके मिले हैं। जब शरीरधारी होकर राजाको मिले तब सोह रहे हैं। तात्पर्य कि ऐसे ही मिलें तो इतनी शोभा न होती, क्योंकि राजाका सुकृत भारी है। सुकृतके अनुसार मिले तब शोभा हुई। अर्थरूप श्रीशत्रुघ्नजी, धर्मरूप श्रीभरतजी, कामरूप श्रीलक्ष्मणजी और मोक्षरूप श्रीरामजी हैं। दोनों भाइयोंकी जोड़ीके क्रमसे यहाँ कहा है।

नोट—२ ये चारों भाई अर्थ-धर्मादि नहीं हैं, ये तो चारों फलोंके भी फल हैं, अतः यहाँ उत्प्रेक्षा की गयी। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

टिप्पणी—४ 'सुतन्ह समेत दसरथहि देखी।' इति। नगरके सभी स्त्री-पुरुषोंके विशेष मुदित होनेका भाव कि—(क) राजाकी विशेष शोभा देखकर विशेष मुदित हुए। अथवा, (ख) पुत्रोंको देखकर मुदित और पुत्रोंसहित श्रीदशरथजीको देखकर विशेष मुदित हुए। अथवा, (ग) अन्योन्य शोभा देखकर मुदित हुए, नृपके समीप सुत शोभित हैं और

पुत्रोंसहित दशरथजी शोभित हैं। अथवा (घ) विशेष आनन्दसे सूचित किया कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है जैसा आगे '**ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं**' से स्पष्ट है। अथवा, (ङ) 'विशेष' मुदित हुए यह सोचकर कि ये चारों कुँवर परम सुकुमार परम सुन्दर और साथ ही वैसे ही परम ऐश्वर्यवान् हैं। अथवा, इससे कि प्रथम दो थे अब चार हुए। ।, इससे कि चारों भाइयोंसे चक्रवर्तीजीका और इनसे उनकी शोभा हो रही है। [पंजाबीजी और रा० प्र० के मतानुसार विशेष सुखी यह समझकर हुए कि चक्रवर्ती महाराजके चार पुत्र और राजा जनकके यहाँ चार कन्याएँ, यह विधि खूब बनी। (प्र० सं०) अथवा, नगर-नर मुदित हैं और पुरनारियाँ विशेष मुदित हैं। (पं०) अथवा विशेष प्रसन्न हैं कि जैसे पुत्र सुन्दर हैं वैसे ही राजा भी सुन्दर हैं। (पं०)। इससे स्पष्ट हुआ कि पुरनारियाँ जनवासेमें गयी थीं (प० प० प्र०)। पुनः, विशेष मुदितका भाव कि अब चारों भाइयोंको चारों दुलहिनोंसहित एक साथ बैठे देखनेको मिलेगा, वह शोभा कैसी अद्भुत होगी। (रा प्र०)]

सुमन बरिसि सुर हनहिं निसाना। नाकनटी नाचहिं करि गाना॥ ४॥
सतानंदु* अरु बिप्र सचिव गन। मागध सूत बिदुष बंदीजन॥ ५॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयसु मागि फिरे अगवाना॥ ६॥

शब्दार्थ—बरिसि (वर्षि) = वृष्टि करके। नाक = आकाश, स्वर्ग, सुरलोक। नटी = नाचनेवाली। नाकनटी = आकाशमें नाचनेवाली = अप्सराएँ।

अर्थ—देवता लोग फूल बरसाकर डंके बजाते हैं, अप्सराएँ गा-गाकर नाच रही हैं॥४॥ (अगवानीमें आये हुए श्रीशतानन्दजी और विप्र एवं मन्त्री लोग, मागध, सूत, पण्डित और भाँट लोगोंने† बारातसहित राजाका आदर-सत्कार किया, (फिर ये) अगवानी लोग आज्ञा माँगकर लौटे॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ '**सुमन बरिसि सुर···गाना**' इति। (क) भाव कि जो शोभा देख नगरके स्त्री-पुरुष मुदित हुए, वही शोभा देखकर देवता और देवाङ्गनाएँ मुदित हुईं। (ख) गोस्वामी जीवोंके कल्याणके लिये यहाँ उपदेश करते हैं। वे अवधवासियोंको वेश्याओंका नाच देखना नहीं लिखते, स्वर्गकी अप्सराएँ भी जो नाच-गा रही हैं वे आकाशमें हैं। [कलियुगके लोगोंको मलिन मनवाले जानकर गोस्वामीजीने यहाँ वेश्याओंका बारातमें साथ जाना नहीं कहा। यह सोचकर कि यदि हम उनको यहाँ साथ लिखेंगे तो लोग हमारी तरफसे इसकी आज्ञा समझकर न जाने क्या कर उठावेंगे, अतः '**नाकनटी नाचहिं करि गाना**।' इतना ही कहकर रह गये। तात्पर्य कि बारातमें वेश्याओंकी प्रथा दूषित है। इस ग्रन्थके वक्ता और श्रोताओंको उनका त्याग करना चाहिये। आज भी राजा, रईस आदि बारातोंमें वेश्याको ले जाते हैं और उनका नृत्य-गान देखते-सुनते हैं, वह लोक-रीति भी यहाँ वेश्याओंके बदले 'नाकनटी' का नृत्य-गान कहकर जना दी। (प्र० सं०)। पर इस तीसरे संस्करणके समय प्रायः रेडियो Radio आदिने वेश्याओंकी प्रथा उठा दी है।]

२—'**सतानंद अरु बिप्र···**' इति। (क) शतानन्दजी आदिको गिनाकर यहाँ बड़े लोगोंसे मिलनेकी विधि दिखाते हैं कि इन सबोंका समूह साथ लेकर मिले। यथा—'**संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ग्याति। चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ येहि भाँति॥ २१४॥**' (ख) यहाँ शतानन्दजी मुख्य हैं। जनक महाराज अगवानीमें नहीं आये; जबतक 'सामध' (समधौरा) नहीं होता तबतक कन्याका पिता वरके पितासे नहीं मिलता, यह रीति है। (ग) 'गन' का सम्बन्ध सबसे है—विप्रगण, सचिवगण, मागधगण इत्यादि। यहाँ बारातकी अगवानीके लिये आये हैं, इसीसे मागध, सूत, बन्दीजन भी साथ हैं। (घ) शतानन्दजी आदिकी गिनानेका दूसरा भाव यह है कि राजाके सम्मानके लिये ये ही लोग थे, इनके अतिरिक्त और जितने हाथी, घोड़े तथा रथके सवार इत्यादि अगवानीमें आये थे, वे सब देखनेवाले थे, देखकर चले गये। शतानन्दजी निमिकुलके पुरोहित हैं, जैसे वसिष्ठजी रघुवंशियोंके। इनका आदर श्रीवसिष्ठ और विश्वामित्रजीके समान होता था।

* १६६१ की प्रतिमें 'सदानंदु' पाठ है।

† अर्थान्तर—राजा दशरथने शतानन्दजी···का आदर-सत्कार किया। (वै०, वीरकवि) प्रज्ञानानन्द स्वामी इसी अर्थके पक्षमें हैं। वे कहते हैं कि यदि यह अर्थ न किया जायगा तो राजा दशरथका श्रीशतानन्दादि विप्रवृन्दको नमस्कार भी सिद्ध न होगा। राजा विप्रोंको नमस्कार न करे यह कदापि सम्भव नहीं। बैजनाथजी लिखते हैं कि ब्राह्मणोंसहित श्रीशतानन्दजीका दान-मान स्तुतिद्वारा सम्मान किया। मन्त्रियों आदिसे प्रेमपूर्वक वार्ता की और मागधादिको दान दिया।

३ 'सहित बरात राउ सनमाना…।' इति। (क) बारातसहित राजाके सम्मानका भाव यह है कि बिना बारातके सम्मानके केवल राजाका सम्मान करनेसे राजाका सम्मान नहीं होता (बारात राजाके साथ है। केवल राजाका सम्मान करनेसे राजा प्रसन्न न होते), इसीसे राजाहीके समान उन्होंने सब बारातियोंका भी सम्मान किया। (ख) 'आयसु मागि फिरे' इति। आज्ञा माँगकर लौटना यह भी राजाका सम्मान है (और शिष्टाचार भी है)। (ग) 'फिरे अगवाना' कहकर जनाया कि वे अगवानी लेने गये थे तबसे अब लौटे। ['चले लेन अगवाना' ३०४ उपक्रम है और 'फिरे अगवाना' उपसंहार]

प्रथम बरात लगन तें आई। तातें पुर प्रमोदु अधिकाई ॥ ७ ॥
ब्रह्मानंदु लोगु सब लहहीं। बढ़हुँ दिवस निसि बिधि सन कहहीं ॥ ८ ॥

दो०—रामु सीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नर नारि समाज ॥ ३०९ ॥

अर्थ—बारात लग्नसे पहले आ गयी। इससे नगरमें प्रमोद (अत्यन्त अधिक आनन्द) बढ़ता जा रहा है ॥ ७ ॥ सब लोग ब्रह्मानन्द प्राप्त कर रहे हैं और ब्रह्माजीसे कहते (विनय करते) हैं कि दिन-रात बढ़ जायँ ॥ ८ ॥ श्रीराम-सीताजी शोभाकी मर्यादा (सीमा) हैं और दोनों राजा पुण्यकी सीमा हैं—जहाँ-तहाँ पुरवासी स्त्री-पुरुषोंके समाज मिल-मिलकर ऐसा कह रहे हैं ॥ ३०९ ॥

टिप्पणी—१ 'प्रथम बरात…' इति। (क) पुरवासियोंका प्रसङ्ग 'सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर नर नारि बिसेषी ॥३॥' पर छोड़ा था, अब वहींसे फिर उठाते हैं—'तातें पुर प्रमोद अधिकाई।' [(ख) बारात लग्नसे पहले ही आ गयी, इस कथनसे सिद्ध हुआ कि लग्न पूर्व ही निश्चित हो गयी थी और पुरवासी इसे जानते भी थे। यथा—'लिखि लगन तिलक समाज सजि कुलगुरुहिं अवध पठाएऊ। ७०।…दीन्हि लगन कहि कुसल राउ हरषानेउ।…७३।' (जानकी-मंगल)। लग्न अर्थात् विवाहका मुहूर्त मार्गशीर्ष शु० ५ (अगहन सुदी पंचमी) को है। (गौड़जीके मतानुसार शु० ९ को है)। बारात कार्तिक कृ० १३ को आ गयी। इस प्रकार एक महीना ग्यारह (वा सात) दिन पहले ही बारात आ गयी।] (ग) 'तातें पुर प्रमोद' इति। प्रमोद = प्रकर्षसहित आनन्द। 'प्रमोद' का भाव कि पुत्रोंसहित श्रीदशरथजीको देखकर आनन्द हो ही रहा था, उसपर दूसरा आनन्द यह है कि बारात लग्नसे पहले आ गयी है, इससे पुत्रोंसहित राजाके दर्शन बहुत दिनोंतक होते रहेंगे अतः मोदसे अब 'प्रमोद' हो गया, पहले मुदित थे अब प्रमुदित हो गये। (और यह प्रमोद भी बढ़ता ही जाता है)। अथवा श्रीरामचन्द्रजीकी प्राप्ति ही ब्रह्मानन्द है, यथा—'मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंद रासि जनु पाई। २। १०६।' (भरद्वाजजी)। इसीसे पुरनरनारि विशेष मुदित हैं। ब्रह्मानन्द अन्य सब आनन्दोंसे विशेष है, उसी विशेष आनन्दको यहाँ 'प्रमोद' कहा है, अगले चरणमें इसे ब्रह्मानन्द कहा ही है।

२ (क) 'ब्रह्मानंदु लोग सब लहहीं' इति। 'लोग सब लहहीं' का भाव कि अभीतक श्रीजनकपुरमें ब्रह्मानन्द केवल श्रीजनकमहाराजको ही प्राप्त था, अब सब लोगोंको प्राप्त हो गया। [ब्रह्म ही अंशोंसहित चार भाइयोंके रूपमें प्रकट हुआ, यथा—'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकरबंस उदारा ॥ १८७। २।', 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता। १५२। २।' इस प्रकार चारों भाई ब्रह्मरूप वा सच्चिदानन्द विग्रह ही हैं। इसीसे सबको ब्रह्मानन्द प्राप्त हो रहा है। यहाँ ब्रह्मानन्द और कोई नहीं है। (प्र० सं०)। (ख) 'बढ़हुं दिवस निसि'—भाव यह कि लग्नकी तिथि तो बढ़ेगी नहीं, विवाह तो उसी मुहूर्तमें होगा, वह तो टलेगी नहीं और विवाह हो जानेपर बारात अवश्य लौट जायगी, अतः दिन और रात, जो अभी बीचमें हैं उन्हींको बढ़ा देनेकी प्रार्थना करते हैं—(प्र० सं०)] (ग) 'बिधि सन कहहीं' इति। ब्रह्मासे प्रार्थना करनेमें भाव यह है कि ब्रह्माका दिन-रात सबसे बड़ा होता है। चारों युग जब एक हजार बार बीत जाते हैं तब ब्रह्माका एक दिन होता है, और इतनी ही बड़ी उनकी एक रात होती है। (यथा—'चतुर्युगसहस्राणि दिनमेकं पितामहः', 'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ गीता ८। १७।' अर्थात् ब्रह्माके दिनको सहस्रयुगतक रहनेवाला और रात्रिको भी सहस्रयुगतक रहनेवाली, जो जानते हैं वे लोग दिनरात्रिको जाननेवाले हैं)। अतएव उनसे विनती करते हैं कि आप इन दिनों और रातोंको अपने दिन और रातोंके समान बड़े कर,

दीजिये। लग्नके अभी बहुत दिन हैं पर उनको इतनेमें भी सन्तोष नहीं है, अतः विधाताको मनाते हैं। [यह प्रेमकी दशा है। भाव यह कि इनको सदा ही देखते रहनेकी चाह है। गीतावलीसे मिलान कीजिये—'जबतें राम लखन चितए री। रहे **इकटक नर नारि जनकपुर, लागे पलक कलप बितए री ॥ प्रेम बिबस माँगत महेस सों देखत हीं रहिए नित ए री ॥ कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि कै ए नयन जाहु जित ए री।** ७६।' पुरवासी मनाते हैं कि लग्नका दिन शीघ्र न आ जाय, नहीं तो हमारा आनन्द जाता रहेगा। यहाँ वियोगीकी अक्षमतामें 'उत्सुकता संचारीभाव' है। (वीरकवि) (प्र० सं०)]

३—'**रामसीय सोभा अवधि**···' इति। (क) 'मिल नर नारि समाज' अर्थात् स्त्रियोंके समाजमें स्त्रियाँ परस्पर एक-दूसरेसे कहती हैं [जैसा आगे '**कहहिं परस्पर कोकिलबयनी**' से स्पष्ट है] और पुरुषोंके समाजमें पुरुष परस्पर ऐसा कहते हैं। '**जनक सुकृत मूरति बैदेही**' ३१०। १ से 'लेव भली बिधि लोचन लाहू।' ३१०। ६ तक नरोंकी उक्ति है और '**कहहिं परस्पर कोकिलबयनी**' ३१०। ७ से लेकर '**कहहिं परस्पर नारि बारि बिलोचन पुलक तन।** ३११' तक स्त्रियोंकी उक्ति है।—'**जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नर नारि समाज**' इस उत्तरार्धका निर्वाह दोहा ३११ तक है।

जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरें देही॥ १॥
इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥ २॥
इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेउ नाहीं॥ ३॥
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी॥ ४॥

शब्दार्थ—देही=देह, यथा—'चोचन्ह मारि बिदारेसि देही। ३। २९। २०।' अवराधना=आराधना करना; उपासना वा पूजा करना। यथा—'केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। १। ७८।' लाधना=प्राप्त करना, पाना। मरुकान्तार देशमें 'पाने' को 'लाधना' कहते हैं। ☞ यह शब्द 'राधना' का अपभ्रंश है। 'रकार-लकार-सावर्ण्य होनेसे 'राधे' को 'लाधे' कहा। '**राध संसिद्धौ**' राध साध धातुसे 'सम्यक् प्रकारकी सिद्धि' का अर्थ देता है।' (पं० रामकुमार)। अथवा, 'लाध' लब्धका अपभ्रंश है। लाधना=उपलब्ध करना=प्राप्त करना।

अर्थ—श्रीजनकजीके सुकृतोंकी मूर्ति श्रीजानकीजी हैं। श्रीदशरथजीके सुकृत देह धरे हुए श्रीरामजी हैं॥ १॥ इनके समान किसीने भी शिवजीकी आराधना नहीं की (और) न इनके समान किसीने फल ही पाये॥ २॥ इनके समान संसारमें कभी कहीं भी कोई न हुआ, न है और न होनेवाला है॥ ३॥ हम सब सम्पूर्ण पुण्योंकी राशि हैं कि जगत्‌में जन्म लेकर श्रीजनकपुरके निवासी हुए॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) दोहेमें श्रीसीतारामजीको शोभाकी अवधि, '**राम सीय सोभा अवधि**', कहा और यहाँ कहते हैं कि जनकजीके सुकृतोंकी मूर्ति वैदेहीजी हैं और दशरथ सुकृत देह धरे श्रीराम हैं। इस प्रकार दोनों राजाओंके सुकृतोंकी शोभा कथन की गयी। अर्थात् जो श्रीराम-जानकीजीकी शोभा है वही इनके सुकृतोंकी शोभा है। पुनः, दोहेमें '**सुकृत अवधि दोउ राज**' कहकर अब यहाँ सुकृतोंके फलोंकी अवधि (सीमा) दिखाते हैं कि दोनों राजाओंका सुकृत श्रीराम-जानकी हैं, और श्रीराम-जानकी (फलकी) अवधि हैं। (ख) 'मूरति' कहनेका भाव कि मूर्ति होनेसे सबको उनका दर्शन होता है; दर्शन होनेसे सब लोग (दर्शक) सुकृती हो जाते हैं, यथा—'जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी'। [(ग) '**सुकृत अवधि दोउ राज**' कहा। अब सुकृतका स्वरूप कहते हैं। सुकृत फलके द्वारा जान पड़ता है, दूसरी तरह नहीं। श्रीसीतारामजी शोभाकी अवधि हैं सो इनको प्राप्त हैं, यह फल देखकर समझते हैं कि दोनों राजा सुकृतकी सीमा हैं। श्रीसीतारामजी ही उनके सुकृतोंकी शोभा और मर्यादारूप विराजमान हैं। पुनः, 'सुकृत अवधि' कहनेका कारण यह कि परोक्ष सुकृत अपनेको सुख देते हैं और इन्होंने तो उनको मूर्तिमान् करके और सबको भी सुकृती बना दिया जैसा आगे कह रहे हैं। (प्र० सं०)] (घ)—ये पुरवासी श्रीजनकपुरके हैं, इसीसे वे 'वैदेही' जीको प्रथम कहते हैं—'जनक बैदेही' (पीछे श्रीदशरथजी और श्रीरामजीको)।

२—'**इन्ह सम काहु न सिव अवराधे**···' इति। (क) दोनों राजाओंका कौन सुकृत है जो मूर्तिमान् श्रीराम-जानकी होकर प्रकट हुआ, यह यहाँ कहते हैं—'इन्ह सम···'। अर्थात् श्रीशिवजीका आराधन इनका सुकृत है। इस कथनसे जनाया कि शिवसेवासे श्रीराम-जानकीजीकी प्राप्ति होती है। (ख) 'काहु न इन्ह समान फल लाधे' इति। शिवसेवाके

समान दूसरा सुकृत नहीं है, इसीसे इसका फल भी सबसे अधिक है। आगे दोनों राजाओंके द्वारा शिवसेवाका माहात्म्य कहते हैं—'इन्ह सम कोउ न भयउ···'। किसीने इनके समान फलकी सिद्धि नहीं की, अर्थात् श्रीराम-जानकीजीका अवतार किसीके यहाँ नहीं हुआ।

३ 'इन्ह सम कोउ न भयेउ···' इति। 'भयेउ' भूतकालिक, 'है' वर्तमान और 'होनेउ' भविष्यकालिक क्रियाएँ हैं। तात्पर्य कि दोनों राजाओंके समान सुकृत तीनों कालोंमें कोई नहीं है। यह कहकर आगे अपनेको भी तीनों कालोंमें सुकृती कहते हैं। पुनः, भाव कि दोनों राजाओंने ऐसा भारी सुकृत किया कि उन्होंने अपने सुकृतोंसे तीनों कालोंके सुकृतियों-को जीत लिया। 'जग माहीं'=ब्रह्माण्डभरमें। यथा—'सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं।··· । २९४। ५-६।', 'मोर भाग्य राउर गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा। ३४२। ३।' [भाव यह कि 'कन्या-पिता' में जनकसमान और 'पुत्र-पिता'में दशरथसमान भाग्यवान् त्रिकालमें कोई नहीं। 'सीता'—जैसी कन्या और राम-जैसा जामाता मिलनेके लिये जनकसमान और रामसरिस पुत्र तथा सीता-सी पुत्रवधूकी प्राप्तिके लिये दशरथसमान सुकृती होना चाहिये। (प० प० प्र०)]

४ 'हम सब सकल सुकृत···' इति। (क) 'सकल सुकृत' का वर्णन उत्तरकाण्डमें है, यथा—'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथमज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥' (७। ४९)॥ (ख) 'भये जग जनमि···'—भाव कि जगमें जन्म होना भी सुकृत है, क्योंकि जगत्के भी लोग श्रीराम-जानकीजीको देखते हैं। इस तरह 'सकल सुकृत कै रासी' का भाव हुआ कि जगत्के लोग सुकृती हैं और हम जनकपुरमें पैदा हुए इससे हम सकल सुकृतोंकी राशि हैं कि दिन-रात दोनोंकी छबिको देखते हैं। (पुनः, भाव कि चर-अचर जिसे एक बार भी दर्शन हुआ वह सुकृती है, यथा—'धन्य भूमि बन पंथ पहारा।···हम सब धन्य सहित परिवारा॥ दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा। २। १३६।' इत्यादि। और हम रात-दिन देखते हैं अतः समस्त सुकृतोंकी राशि हैं)। (ग) 'जनकपुर बासी'—भाव कि यदि यहाँ जन्म न होता तो यह लाभ न मिलता; यही आगे कहते हैं—'जिन्ह जानकी राम···।' [यह सत्य ही है। अवधपुरकी स्त्रियोंको विवाह देखनेका सौभाग्य कहाँ? इसमें मिथिलावासियोंका भाग्य विशेष ही है। (प० प० प्र०)। अवधवासी सभी पुरुषोंको भी यह सौभाग्य प्राप्त नहीं।]

जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥ ५॥
पुनि देखब रघुबीर बिआहू। लेब भली बिधि लोचन लाहू॥ ६॥
कहहिं परसपर कोकिल बयनी। येहि बिआह बड़ लाभु सुनयनी॥ ७॥
बड़े भाग बिधि बात बनाई। नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई॥ ८॥

दो०—बारहिं बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय।
लेन आइहहिं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय॥ ३१०॥

अर्थ—जिन्होंने श्रीजानकीजी और श्रीरामजीकी छबि देखी (उन) हमारे समान विशेष (एवं हमारे समान अथवा विशेष) पुण्यात्मा कौन होगा?॥ ५॥ फिर (इतना ही नहीं किंतु अभी) श्रीरघुबीर-विवाह भी देखेंगे और भली प्रकार नेत्रोंका लाभ लेंगे॥ ६॥ जिनकी वाणी कोयलके समान मधुर, सुरीली और कोमल है वे कोकिलबयनी स्त्रियाँ एक-दूसरेसे कहती हैं कि हे सुनयनी (सुन्दर नेत्रोंवाली)! इस विवाहमें बड़ा लाभ है॥ ७॥ बड़े भाग्यसे (अर्थात् हमारे बड़े भाग्य हैं कि) विधाताने (सब) बात बना दी। दोनों भाई नेत्रोंके अतिथि होंगे॥ ८॥ प्रेमके वश जनक महाराज बार-बार श्रीसीताजीको बुलायेंगे (तब) करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर दोनों भाई उन्हें लेने (बिदा कराने) आया करेंगे॥ ३१०॥

टिप्पणी—१ 'जिन्ह जानकी राम···'इति। (क) 'जिन्ह' कहकर सभी जनकपुरवासियोंको सूचित किया। अर्थात् सब जनकपुरवासी हमलोग जिन-जिनने श्रीजानकी-रामजीकी छबि देखी। ('हम' और 'जिन्ह' दोनों बहुवचन हैं। भाव यह कि हम सब जनकपुरवासी जिन्होंने यह छबि देखी है)। यदि 'जिन्ह' न कहते तो केवल परस्पर बातचीत करनेवालोंहीका दर्शन करना (और सुकृती होना) पाया जाता। (ख) 'को सुकृती हम सरिस बिसेषी' इति। हमारे बराबर कौन है? और हमसे अधिक कौन

है ? अर्थात् सभी सुकृती हमसे न्यून हैं। ['सरिस बिशेषी' अर्थात् हमारे समान ही कोई नहीं, विशेषकी बात ही क्या ? सब हमसे नीचे दर्जेमें हैं]। श्रीराम-जानकीजी श्रीदशरथ-जनकजीके सुकृत हैं, सो उनके दर्शनसे मिथिलावासी (अपनेको विशेष) सुकृती (कहते) हैं। तात्पर्य कि दोनों राजाओंके सुकृतसे सुकृती हैं, इसीसे वे अपनेको अद्वितीय सुकृती कहते हैं। पुनः प्रथम कहा कि दोनों राजाओंके समान जगमें कोई नहीं है। उसीपर (उसीकी पुष्टिमें) कहते हैं कि दोनों राजाओंके यहाँ तो श्रीराम-जानकीका अवतार हुआ, उनकी बराबरीका कौन हो सकता है (जब कि) हमलोगोंकी ही समानताका त्रिकालमें कोई नहीं है कि केवल उनके दर्शन ही कर रहे हैं। [यहाँ इस कथनसे जनाया कि दोनों राजा और दोनोंकी प्रजा सबके-सब महान् सुकृती थे। प० प० प्र०]

२ **'पुनि देखब रघुबीर बिआहू'**···।' इति। (क) पुरवासी उत्तरोत्तर अपने सुकृतोंकी अधिकता कहते हैं—जनकपुरमें जन्म लेनेसे **'सुकृतकी राशि'** हैं। फिर श्रीराम-जानकीजीकी छवि देखनेसे 'विशेष सुकृती' हैं, और आगे श्रीरघुवीर-विवाह देखेंगे इससे विशेषतर सुकृती हैं। (ख) तीनों कालोंमें अपनेको सुकृती कहते हैं। 'भये जग जनमि जनकपुरवासी' से भूतकालमें (क्योंकि जनकपुरवासी बहुत दिनोंसे हैं)। 'जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी' से वर्तमानमें और **'पुनि देखब रघुबीर बिआहू'** से भविष्यमें सुकृती हैं। (तीनों कालोंमें अपने समान कोई सुकृती नहीं, यह जनाया)। (ग) **'लेब भली बिधि'**···'—भाव कि अभी तो जब ये निकलते हैं तब दर्शन होता है और विवाहमें निकटसे बैठकर दर्शन करेंगे। (घ) यहाँतक पुरुषोंकी उक्ति कही, आगे स्त्रियोंकी उक्ति है। (अथवा, यहाँतक स्त्री-पुरुषों दोनोंके वचन हैं। प० प० प्र०)

३ **'कहहिं परसपर'**···' इति। (क) 'कहिहहिं' के सम्बन्धसे 'कोकिलबयनी' कहा, तात्पर्य कि मधुरवाणीसे बात करती हैं। देखनेके सम्बन्धसे 'सुनयनी' कहा, देखना आगे लिखते हैं—'नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई।' पुनः 'कहहिं' के साथ कोकिलबयनी विशेषण दिया गया और 'विवाह' के सम्बन्धसे 'सुनयनी' कहा, क्योंकि श्रीराम-जानकीसम्बन्धी वार्ता करती हैं और नेत्रोंसे श्रीरामदूलहकी छबि देखेंगी (प्र० सं०) [अवधवासिनी साधारण स्त्रियोंके सम्बन्धमें कहा कि **'सुनि कलरव कलकंठि लजानी ॥ २९७ । ३ ॥'** और मिथिलावासिनियोंको 'कोकिलबयनी' कहते हैं। इस तरह अवधपुरीकी स्त्रियोंकी विशेषता दिखायी। प० प० प्र० ।] (ख) **'बड़ लाभु'** 'येहि बिआह बड़ लाभु सुनयनी' इति। 'लाभ' यह कि अभी देखती हैं, आगे विवाह देखेंगी, और विवाह हो जानेपर दोनों भाई श्रीजानकीजीको विदा कराने बारम्बार आयेंगे तब देखेंगी। पुनः **'बड़ लाभ'** का भाव कि बड़े सुकृतोंसे बड़ा लाभ होता है जैसा ऊपर पुरुषोंकी उक्तिमें कह आये—**'को सुकृती हम सरिस बिशेषी'** इसीसे बड़ा लाभ कहती हैं।

४ **'बड़े भाग बिधि बात बनाई'**···।' इति। (क) ऊपर जो कहा कि 'येहि बिआह बड़ लाभु' उसीके सम्बन्धसे यहाँ **'बड़ भाग'** कहा। बड़ा लाभ बड़े भाग्यसे होता है (पूर्व भी एक पुरवासिनीने कहा है 'नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि **इन्ह कर दरसनु दूरि। येहु संघटु तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि ॥ २२२ ॥'** वह 'संघट' अब बना, वह मनोरथ पूर्ण हुआ। पुनश्च **'जौं बिधिबस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू ॥ १ । २२२)।'** इसीसे 'बड़ लाभु' कहकर **'बड़े भाग'** कहा। (ख) **'बिधि बात बनाई'** इति। विधाताके बनानेसे यह बात बनी है, क्योंकि विधि ही कर्मफलदाता हैं, यथा—'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥ २ । २८२ ॥' [पूर्व जो कहा कि 'को सुकृती **हम सरिस बिशेषी'** उसके सम्बन्धसे यहाँ कहती हैं कि 'बिधि बात बनाई।' अर्थात्] हम सुकृती हैं, वह हमारे सुकृतोंका फल है जो विधिने प्राप्त कर दिया है, यथा—'को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी ॥ १ । २३५ ॥' (ग) **'नयन अतिथि होइहहिं'**—इसका कारण आगे कहती हैं, यथा—'बारहिं बार···।' (घ) 'अतिथि' कहनेका भाव कि जैसे अतिथिकी सेवा बड़े आदरसे होती है उसी प्रकार हमारे नेत्र बड़े आदरसे इनकी सेवा करेंगे, अर्थात् बड़े आदरपूर्वक इनका दर्शन करेंगे। यथा—'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के' (१ । ३२ । ८ में 'अतिथि'के सम्बन्धमें देखिये)।

प० प० प्र०—पुरनारियोंको तो इस विवाहमें श्रीजानकीविरह-दुःख ही सहना होगा यह स्पष्ट ही था तब इसमें इनको महद्भाग्य कैसे जान पड़ता है ? इसका समाधान आगेकी चौपाइयोंमें मिलता है। वह यह कि इनके नेत्रोंको

श्रीराम-लक्ष्मणका सौन्दर्य श्रीसीताजीकी शोभा-सौन्दर्यसे अधिक आकर्षक और सुखकारक जान पड़ता है, यह 'कोटि काम कमनीय' विशेषणसे ही सूचित हो रहा है।

टिप्पणी—५ 'बारहिं बार सनेह बस…' इति। [(क) जो कहो कि विवाह हो जानेपर तो फिर श्रीजानकीजीके भी दर्शन न होंगे, दोनों भाइयोंके दर्शन तो दूर ही रहे तो उसपर कहती हैं कि 'बारहिं बार…'] (ख) 'सनेह बस' सबके साथ लगता है। श्रीजनकजी श्रीसीताजीके स्नेहवश हैं, इससे वे बार-बार सीताजीको बुलायेंगे। श्रीरामजी सीताजीके स्नेहके वश हैं, अतः वे बार-बार उन्हें लेने आयेंगे। (ग) 'लेन आइहहिं बंधु दोउ' इति। यह लोकरीति है कि दुलहिनको विदा करानेके लिये दूलह जाता है (और उसके साथ शहबाला भी जाता है जो प्रायः छोटा भाई होता है। छोटे भाईके अभावमें ही दूसरा कोई बालक जाता है)। इसीसे दोनों भाइयोंका लेने आना कहती हैं (घ) 'कोटि काम कमनीय' इति। स्त्रियोंकी भावना सुन्दर स्वरूपकी होती है। (स्त्रियोंको शृङ्गार अत्यन्त प्रिय है, यथा—'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥ २४१।' यह विशेषण उन्होंने अपने दृष्टिकोणसे दिया है)। इसीसे अपने देखनेमें सुन्दर स्वरूप कहती हैं।

नोट—श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि यहाँ भी अष्टसखियोंका संवाद है। उनका लेख आगे ३११ (२) में देखिये।

बिबिध भाँति होइहि पहुनाई। प्रिय न काहि अस सासुर माई॥ १॥
तब तब राम लषनहि निहारी। होइहहिं सब पुर लोग सुखारी॥ २॥
सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ ३॥
स्याम गौर सब अंग सुहाए। ते सब कहहिं देखि जे आए॥ ४॥
कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥ ५॥
भरतु रामही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ ६॥
लषनु सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा॥ ७॥
मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—पहुनाई=आये हुए व्यक्तिका भोजन-पान आदिसे सत्कार करना; मेहमानदारी। सासुर=ससुराल; ससुर। ढोटा=पुत्र, यथा—'ए दोऊ दसरथ के ढोटा। १। २२१।' सहसा=एकाएक। अनुहार=सदृश; एकरूप।=आकृति, रूप-रेखा।

अर्थ—अनेक प्रकारसे (उनकी) पहुनाई होगी। हे माई! ऐसी ससुराल किसको प्यारी न लगेगी?॥ १॥ तब-तब श्रीराम-लक्ष्मणजीको देख-देखकर सब पुरवासी सुखी होंगे॥ २॥ हे सखि! जैसी श्रीरामलक्ष्मणजीकी जोड़ी है वैसे ही राजाके साथ दो (और) पुत्र हैं (अर्थात् पुत्रोंकी जोड़ी है)॥ ३॥ एक श्याम हैं, दूसरे गोरे हैं, सभी अङ्ग सुन्दर हैं, जो लोग देख आये हैं वे सब-के-सब ऐसा कहते हैं॥ ४॥ एक बोली कि मैंने आज ही देखे हैं। (ऐसे जान पड़ते हैं) मानो ब्रह्माने अपने हाथों सँवारा (रचकर बनाया) है॥ ५॥ श्रीभरतजी श्रीरामजीहीकी रूप-रेखाके हैं, एकाएक कोई स्त्री-पुरुष उन्हें पहचान नहीं सकते॥ ६॥ श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी एकरूप हैं। नखसे शिखा (चोटी) पर्यन्त सब अङ्ग अनुपम (उपमारहित, अत्यन्त सुन्दर) हैं॥ ७॥ मन-ही-मन भाते हैं, मुखसे (उनका) वर्णन नहीं किया जा सकता। तीनों लोकोंमें उनकी उपमाके योग्य कोई नहीं है॥ ८॥

प० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'कहहिं परसपर कोकिलबयनी। एहि बिआहु बड़ लाभु सुनयनी॥…होइहहिं सब पुरलोग सुखारी।' इति। कोकिलबयनी सुनयनीको सम्बोधन करके कहती हैं। यह कहकर जनाया कि नरसमाजका हाल कह चुके अब नारी-समाजका हाल कहते हैं। यद्यपि नगर-दर्शनके समय ('कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥ २२०। ५।' से 'हिय हरषहिं…। २२३।' तक) सभी नारियोंने सरकारकी प्रशंसा की तथापि संवाद अष्टसखीका ही लिखा गया। इसी भाँति यहाँ भी अष्टसखीका संवाद कहते हैं।

(१) नगरदर्शनमें जिसने कहा था कि 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। सोइ स्यामल बर रचेउ बिचारी॥'

(२२३ । ७), वह कहती है कि 'एहि बिआह बड़ लाभु सुनयनी ।' भाव कि दूसरेसे विवाह होनेमें अनुरूप जोड़ी हो जाती । सबसे बड़ा लाभ है कि अनुरूप जोड़ी मिली इससे दम्पतिका लाभ, दोनों पक्षका लाभ तथा दर्शनका लाभ । लाभ-ही-लाभ तो है ।

(२) 'कोउ कह संकर चाप कठोरा । ये स्यामल मृदु गात किसोरा ॥ सब असमंजस अहै सयानी । २२३।२-३।' जिसके ये वचन हैं, वह कहती है कि 'नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई' अर्थात् अब इन दोनों भाइयोंका कभी-न-कभी दर्शन होता रहेगा । राजाके तो अतिथि होंगे और हम लोगोंके नयनोंके अतिथि होंगे ।

(३) जिसने कहा था कि 'नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि इन्हकर दरसन दूरि । यह संघटु तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि ॥ २२२ ।', वही कहती है कि 'बारहिं बार सनेह बस''' । अर्थात् महाराज जनक बड़े दुहितृवत्सल हैं, वे स्नेहवश बार-बार बेटीको बुलावेंगे, तब विदा कराने दोनों भाई आया करेंगे । अतः दर्शन होता रहेगा । बिना पतिके विदा कराने आये, स्त्रियोंका सम्मान नहीं होता ।

(४) जिसने कहा था कि '(कोउ कह) ए भूपति पहिचाने । मुनि समेत सादर सनमाने ॥ २२२ । ३ ।', वही कह रही है कि बिना सम्बन्ध हुए ही जब इतना सम्मान हुआ था, तो अब तो सम्बन्ध हो गया, अतः अनेक प्रकारसे पहुनाई होगी । ऐसी ससुराल किसे प्यारी न लगेगी ? अतः अवश्य आने-जाते रहेंगे ।

(५) जिसने कहा था 'जोग जानकी यह बरु अहई ॥ जौ सखि इन्हहि देख नरनाहू । पन परिहरि हठि करै बिबाहू । २२२ । १-२ ।', वही कह रही है कि 'तब तब रामलषनहिं निहारी । होइहहिं सब पुरलोग सुखारी ॥'

(६) जिसने कहा था 'ए दोऊ दसरथ के ढोटा । बालमरालन्ह के कल जोटा ॥ २२१ । ३ ।', वही कह रही है 'सखि जस राम लखन कर जोटा । तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा ॥' पर अपने पतिसे सुनकर कहती थी, यथा—'जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ।' अब कहती है 'ते सब कहहिं देखि जे आये ।' जैसे 'राम लषन सब अंग सोहाए' हैं, वैसे ही ये दोनों भी 'श्याम गौर सब अंग सोहाए' हैं ।

(७) जिसने कहा था कि 'कहहु सखी अस को तनुधारी । जो न मोह यह रूप निहारी ॥२२१ । १ ।', वही कहती है 'मैं आजु निहारे' यह पहली सखीके बातकी पुष्टि करती है, कहती है 'भरत राम ही की अनुहारी' इत्यादि ।

(८) जिसने कहा था कि 'सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती ।'''कोटि सत काम ॥ २२० ।', वही कहती है 'लषन सत्रुसूदन एक रूपा ।'''एइ अहैं ।' दो भाई एक रंगके और दो दूसरे रंगके हैं, एकाएक पहिचाने नहीं जाते । इत्यादि ।

इस भाँति यहाँ भी उन्हीं आठों सखियोंका संवाद है । भेद क्रममें है । सरकारके नगर-दर्शनके समय जिस सखीने सबसे पीछे कहा था, यहाँपर वही पहले बोली । इनके पहिलेकी बातोंसे अबकी कही हुई बातें ऐसी सम्बद्ध हैं कि लाचार होकर मानना पड़ता है कि ये वही सखियाँ हैं ।

दूसरी बात यह है कि आधिदैविक दृष्टिसे आठों सखियाँ आठ अपरा प्रकृति हैं, यथा—'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गीता ७ । ४ ।' इनमेंसे कोई पृथ्वीतत्त्व है, कोई जलतत्त्व है, कोई बुद्धितत्त्व है इत्यादि । पहलेके अष्टसखी संवादपर विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है । परा प्रकृति और परम पुरुषका साक्षात्कार पुष्पवाटिकामें होनेके पहिले अपरा प्रकृतिका संवाद देना प्राप्त था, अब उनका सम्बन्ध होने जा रहा है, अतः सम्बन्ध होनेके पहिले पुनः महात्मा कवि अपरा प्रकृतियोंका संवाद देते हैं ।

नोट—१ (क) जो कहो कि विदा कराने आयेंगे तो दो-चार दिन ही तो रहकर चले जायँगे, उसपर कहती हैं कि 'बिबिध भाँति'''।' अर्थात् पहले तो श्रीजनकमहाराजके ही यहाँ कई दिन पहुनाई होगी, फिर उनके भाइयोंके यहाँ होगी । बैजनाथजी लिखते हैं कि श्रीह्रस्वरोममहाराजकी तीन रानियाँ थीं—शुभजया, सदा और सर्वदा । इनमेंसे प्रथमसे दो पुत्र सीरध्वजमहाराज और कुशध्वज, दूसरीसे चार पुत्र शत्रुजित, यशशालि, अरिमर्दन और रिपुतापन तथा तीसरीसे भी चार पुत्र महिमंगल, बलाकर, तेजरथ और महावीर्य । इस प्रकार जनकमहाराज दस भाई थे । दो-दो दिन भी प्रत्येक भाईकी पहुनाई स्वीकार करेंगे तो भी एक मास तो अवश्य बीत जायगा । फिर मन्त्रियों, सखाओं आदिके यहाँ होगी, हम लोग भी पहुनाई करेंगी, घर-घर वे अतिथि होंगे । इस प्रकार बहुत दिन ठहरना पड़ेगा, क्योंकि सभी पुरवासी अपने-अपने यहाँ उनकी

पहुनाई करना चाहेंगे और अनेक भाँतिसे करेंगे। इस तरह बहुत दिन दर्शन होंगे। (ख) 'प्रिय न काहि'—किसे प्रिय नहीं! सभीको प्रिय लगती है, उनको भी प्रिय लगेगी। अतएव वे अवश्य बहुत दिन रह जायँगे। (ग) 'अस सासुर' अर्थात् ऐसा प्यार एवं प्रिय करनेवाली ससुराल। (घ) 'माई'—यह सम्बोधन बूढ़ी अथवा बड़ी स्त्रीके लिये आता है, आदरसूचक है। यथा—'कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई। २। १६॥' 'सीय स्वयंबर माई दोउ भाई आए देखन।' गीतावली १। ७३)। जान पड़ता है कि यह उसने अपनेसे बड़ीसे कहा है, अथवा 'सखि' के ही भावमें इसका प्रयोग कहीं होता हो।

टिप्पणी—१ (क) 'तब तब राम लषनहि···' इति। पुरके लोगोंके सुखी होनेमें भाव यह है कि पुरवासियोंकी भावना सुन्दर स्वरूपकी है, यथा—'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन लोचन सुखदाई। २४१। ८॥' इसीसे दोनों भाइयोंको देखकर वे सुखी होते हैं। पूर्व भी कहा है 'सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर नर नारि बिशेषी।३०९। ३॥' वैसे ही यहाँ भी सुखी होना कहते हैं। (ख)—'स्याम गौर सब अंग सुहाए···' इति। प्रथम यह कहकर कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी जैसी जोड़ी है वैसी ही एक दूसरी जोड़ी है। अब उनका रूपादि कहती हैं। 'ढोटा' कहकर समवयस्क एक ही अवस्थाके जनाया और 'स्याम गौर···' से उनका स्वरूप दिखाया कि जैसे श्रीराम-लक्ष्मण श्याम-गौर हैं और जैसे इनके सब अंग सुन्दर हैं वैसे ही उन दोनों लड़कोंका भी श्याम-गौर वर्ण है और सब अंग सुन्दर हैं। तात्पर्य कि रंग, रूप, अवस्था और अंग सब एकसे हैं। [(ग)—'ते सब कहहिं देखि जे आए'—इससे जनाया कि सुनी हुई कहती है, यह भी जान पड़ता है कि परदेमें रहनेवाली है।]

२ (क) 'मैं आजु निहारे' इति। 'आजु' कहनेसे पाया गया कि पूर्ववाली सखीने किसी और दिनका सुना हुआ कहा था। (ख) 'निहारे' का भाव कि तुम तो दूसरेसे सुनी हुई और वह भी कल-परसों आदिकी बासी कहती हो और मैंने तो आज ही थोड़ी देर हुई उन्हें देखा है, अपने आँखों देखी कहती हूँ,—'यह सब मैं निज नयनन्ह देखी।' आँखों देखी बात विशेष प्रामाणिक होती है। ['निहारे' अर्थात् सूक्ष्म-दृष्टिसे अच्छी तरह देखा, कहनेका भाव यह है कि उनपर दृष्टि पड़नेपर हटाये नहीं हटती, देखनेवाली परवश हो जाती है। आगे 'नख-सिख तें सब अंग अनूपा' कथनसे भी स्पष्ट है कि इस स्त्रीने अङ्ग-अङ्गका निरीक्षण किया है। (प० प० प्र०)] (ग)—'बिरंचि' नामका भाव कि ये विशेष रचैया (रचयिता) हैं, इनसे अधिक रचना करनेवाला कोई नहीं, कैसी अद्भुत सृष्टि रची है। (घ) 'निज हाथ सँवारे'—भाव कि ब्रह्मा और सब सृष्टि तो कल्पना (संकल्प) मात्रसे रच डालते हैं, पर इनको अपने हाथसे अच्छी तरह रचकर बनाया है। विरंचिने स्वयं रचा और अपने हाथसे, वह भी सँवारकर। मानो दो-दोको एक-एक साँचेसे ढाला है। [जानकीमङ्गलके 'स्यामल गौर किसोर मनोहरतानिधि। सुखमा सकल सकेलि मनहुँ बिरचे बिधि॥ १९॥ बिरचे बिरंचि बनाइ बाँची रुचिरता रंची नहीं। दसचारि भुवन निहारि देखि बिचारि नहिं उपमा कहीं॥' इसके सब भाव यहाँ हैं। इस कथनसे शोभाकी उत्कृष्टता दिखायी] (ङ)—राजाकी बरात बहुत भारी है, स्त्री वहाँ जा नहीं सकती। यह कैसे गयी? इस शंकाका समाधान यह है कि जब श्रीभरतशत्रुघ्नजी बारातसे बाहर स्नान वा संध्या करने अथवा बाग देखने गये तब उसने देखा।

३ (क) 'भरत रामही की अनुहारी।···' इति। ऐसा ही चित्रकूटके मगवासियोंने भी कहा है। यथा—'कहहिं सपेम एक एक पाहीं। रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं॥ बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली॥ बेषु न सो सखि सीय न संगा।···सखि संदेहु होइ एहि भेदा॥ २। २२२॥' [(ख) 'लखनु सत्रुसूदन एकरूपा'··· इति। एक जगह 'अनुहारी' और दूसरी जगह 'एकरूपा' कहकर दोनोंको पर्याय जनाया। अर्थात् 'अनुहारी' का अर्थ 'एकरूप' है, यह स्पष्ट कर दिया। 'सब अंग अनूपा' का भाव कि एक अङ्गकी भी उपमा नहीं है, तब समस्त अङ्गोंकी उपमा कौन कहेगा! ☞ यह सखी रंग, अङ्ग और अवस्थाका वर्णन नहीं करती क्योंकि पूर्व सखी कह चुकी है। पिछली सखीने सब अङ्गोंको 'सुहाए' कहा, इसीसे इसने 'सुहाए' न कहकर 'अनुपम' कहा]। 'सहसा लखि न सकहिं' अर्थात् निकटसे अच्छी तरह देखनेपर ही पहचाने जा सकते हैं।

४ 'मन भावहिं···' इति। भाव कि रूप अद्भुत है, मुखसे नहीं कहते बनता। यदि उपमा देकर कहा चाहें तो त्रिभुवनमें उपमा नहीं है। अङ्गकी उपमा वस्तु है रूपकी उपमा पुरुष है, सो ये दोनों नहीं हैं। [इसमें यह आशय है कि ग्रन्थकारके मनमें दोनों भाइयोंका स्वरूप ज्यों-का-त्यों देख पड़ता है, पर कहा नहीं जाता। पहले 'सब अंग अनूपा' कहकर तीनों

लोकोंमें किसी भी अङ्गके लिये कोई वस्तु उपमा-योग्यका न होना निश्चय किया और 'उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं' यहाँ तीनों लोकोंके मनुष्योंको भी उपमा-योग्य न ठहराया (प्र० सं०)। 'त्रिभुवन' कह देनेसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी आ गये। मिलान कीजिये—'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं। बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी। २२०। ६-७॥' (प० प० प्र०)]

(हरिगीतिका)

छंद—उपमा न कोउ, कह दास तुलसी, कतहुँ कवि कोविद कहें।
बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्हसे एइ अहें॥
पुर नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं।
ब्याहिअहुँ चारिउ भाइ येहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥

दो०—कहहिं परस्पर नारि बारि बिलोचन पुलक तन।
सखि सबु करब पुरारि पुन्य पयोनिधि भूप दोउ॥३११॥

अर्थ—दास तुलसी कहता है और कवि कोविद (पण्डित) कहते हैं कि कहीं भी कोई उपमा नहीं है। बल-विनय-विद्या-शील-शोभाके समुद्र इनके समान ये ही हैं॥ सब जनकपुरकी स्त्रियाँ अञ्चल फैलाकर ब्रह्माजीको यह वचन सुना रही हैं—'चारों भाइयोंको इसी नगरमें व्याहिये, हम सुन्दर मंगल गान करें॥' आपसमें स्त्रि[illegible]में जल भरे और शरीरसे पुलकित हो कह रही हैं कि, 'हे सखि! पुरारि महादेवजी सब (मनोरथ पूरे) करेंगे, दोनों [illegible]जा पुण्यके समुद्र हैं'॥३११॥

टिप्पणी—१ 'उपमा न कोउ कह·····' इति। (क) 'कवि कोविद कहें' का भाव कि कवि नवीन बनाते हैं और कोविद वेद-पुराण-शास्त्र पढ़ते हैं, ये कहते हैं कि कोई उपमा कहीं नहीं है। तात्पर्य यह हुआ कि न कोई नवीन उपमा मिले और न कोई वेद-शास्त्र-पुराणमें मिली। (ख)—बल-विनय आदिके 'सिंधु' कहनेका भाव कि न तो गुणोंकी कोई उपमा है और न सिंधुकी; उपमेय और उपमान दोनों ही अनुपम हैं। गुणके समुद्र कहकर जनाया कि गुणोंकी कोई उपमा नहीं है! इस तरह अङ्ग, रूप और गुण तीनोंको अनुपम कहा। (ग) 'इन्ह से एइ अहें'—गुणोंके समुद्र कहकर 'इनके समान ये ही हैं' कहनेका भाव कि जैसे समुद्रके समान समुद्र ही है वैसे ही इनके समान ये ही हैं।

नोट—१ (क) मिलान कीजिये—'काष्ठं कल्पतरुः सुमेररचलश्चिन्तामणिः प्रस्तरः सूर्यस्तीव्रकरः शशी क्षयकरः क्षारो हि वारांनिधिः। कामो नष्टतनुर्बलिर्दितिसुतो नित्यं पशुः कामगाः नैतांस्ते तुलयामि भो रघुपते कस्योपमा दीयते॥' (चाणक्य); अर्थात् कल्पवृक्ष तो लकड़ी है, सुमेरु अचल है, चिन्तामणि पत्थर है, सूर्य तीक्ष्ण किरणवाला है, शशि क्षयीरोगयुक्त है, क्षीण हुआ करता है, समुद्र खारा है, कामके शरीर नहीं, बलि दितिका पुत्र दैत्य है, कामधेनु पशु है, ये कोई उपमा योग्य नहीं हैं। इनसे रघुपतिको कैसे उपमित किया जाय? (ख) पुरनारियोंने ये ही पाँच गुण देखे हैं, इससे इन्हींका नाम यहाँ लिखा गया, नहीं तो चारों भाइयोंके गुण तो अनन्त हैं। एक भाई श्रीरामजीका बल और विद्या धनुष-भंगमें देखी; बल तोड़नेमें और विद्या शीघ्रतामें—'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा। २६१। ५।,' 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा···। २६१। ७।' विनय और शील परशुरामके प्रसङ्गमें, यथा—'बिनय सील करुना गुन सागर। १। २८५।' और शोभा-समुद्रमें तो नगरभर डूब रहा ही है। शरीरकी शोभा देखी है। (प्र० सं०)। लक्ष्मण-जीका तेज और गुण धनुष टूटनेके पूर्व और पश्चात् परशुराम-संवादमें देखा है। शेष दो भाई उन्हींकी 'अनुहारी' हैं, अतः उनमें भी बल-प्रतापादि हैं। पुनः, (ग) 'बल बिनय·····' का भाव कि जिसमें बल अधिक होता है उसमें प्रायः नम्रता नहीं होती। ये दोनों भी हुए तो विद्यामें निपुणता नहीं होती। और यदि विद्यावान् हुआ तो अभिमान भी होता है, सुशी-लता दुर्लभ है। ये चार गुण भले ही किसीमें हों पर वह ऐसा सुन्दर नहीं होगा। सुन्दर भी हों तो चार भाइयोंका एक-से गुण, रूप आदि संयुक्त मिलना असम्भव है। अतः इनके समान ये ही हैं। (पं०)। पुनः भाव कि बलकी शोभा नम्रतासे है, विनयकी शोभा विद्यासे है, विद्याकी शोभा शीलसे है, अतः इन चारोंको क्रमसे कहा। और शोभासिंधुमें तो हुबी हैं अतः अन्तमें उसे कहा।

२—'पुर नारि सकल पसारि अंचल''''' इति । 'अंचल, अँचला, अँचरा' साड़ी ओढ़नी या दुपट्टाका वह भाग कहलाता है जो सिरपरसे होता हुआ सामने छातीपर फैला होता है । जब देवता या किसी बड़ेसे कुछ याचना की जाती है तो स्त्रियाँ माँगते समय अपने अंचलको आगे फैला देती हैं । यह स्त्रियोंकी रीति है, इससे दीनता, विनय और उद्वेग सूचित होते हैं, यथा—'अंतरहित सुर आसिष देहीं । मुदित मातु अंचल भरि लेहीं । ३५१ । ३ ।,' 'रमारमनपद बंदि बहोरी । बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी । २ । २७३ ।', 'चरन नाइ सिर अंचलु रोपा । सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा । ६ । ६ ।' तथा यहाँ 'पसारि अंचल ।'

टिप्पणी—२ (क) 'बिधिहि बचन सुनावहीं' इति । वचन सुनानेका भाव कि प्रथम (स्वयंवरके समय रङ्गभूमिमें सब मनहीमें विधाताको मनाती थीं, यथा—'सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं । बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं । २४९ । २ ।'; अब विधातासे वचनद्वारा प्रार्थना करती हैं, क्योंकि यहाँ अब कोई संकोच नहीं है । (ख) 'ब्याहिअहु चारिउ भाइ येहि पुर' इसी पुरमें अर्थात् राजा जनकके ही यहाँ चारोंका व्याह हो जाय, सो नहीं, किन्तु नगरभरमें बहुत-से निमिवंशी हैं जिनके बहुत कन्याएँ हैं, उनमेंसे चाहे जिसके यहाँ विवाह हो, पर हो इसी पुरमें; क्योंकि हमें तो चारों भाइयोंके दर्शनसे काम है; इसीसे 'ब्याहिअहु चारिउ भाइ नृप गृह''''' ऐसा नहीं कहतीं । नगरमें कहीं भी व्याह हो हमें इतनेहीसे प्रयोजन है, क्योंकि हमारी लालसा तो केवल सुमंगलगानकी ही है । पुनः 'सुमंगल गावहीं' का दूसरा भाव कि हमें चार ठौर मंगल गानेका अवसर मिलेगा, हमारे बड़े भाग्य होंगे ।

३ 'कहहिं परस्पर नारि''''' इति । (क) यहाँ 'बारि बिलोचन' 'पुलकि तन' कहा और अगली चौपाईमें 'आनँद उमगि उमगि उर भरहीं' कहते हैं । इस तरह सूचित किया कि सब स्त्रियाँ मन, वचन, कर्मसे प्रमुदित हैं । वचनसे 'कहहिं,' तनसे पुलकित हैं और मनसे हर्षित हैं । (ख)—'कहहिं परस्पर कोकिलबयनी । ३१० । ७ ।' उपक्रम है और 'कहहिं परस्पर नारि' उपसंहार है । (ग) 'पुरारि' का भाव कि जैसे सबको सुख देनेके लिये त्रिपुरका नाश किया वैसे ही हम सबोंको सुख देनेके लिये हमारे सब मनोरथ पूरे करेंगे । (घ) 'पुन्य पयोनिधि भूप दोउ' इति । भाव कि दूसरी सखी कहती है कि पुरभरमें कहीं भी व्याहनेकी क्या बात, महाराजहीके यहाँ चारोंका विवाह होगा, क्योंकि दोनों राजा पुण्यके समुद्र हैं । कौन पुन्य है, यह पूर्व ही कह आये हैं यथा—'इन्ह सम काहु न सिव अवराधे ।' जिस पुण्यसे दशरथ महाराजने चार पुत्र पाये और राजा जनकने चार कन्याएँ पायीं, उसी (शिवाराधनरूपी) पुण्यसे यह संयोग भी बनेगा । इसीसे 'सब करब पुरारि' कहा । पूर्व दोनों राजाओंको 'सुकृत अवधि' कहा था, इसीसे यहाँ 'पुन्य पयोनिधि' कहा । पयोनिधि भी 'अवधि' है ।

४—गी० १ । १०२ से मिलान कीजिये । यथा—'मनमें मंजु मनोरथ हो री । सो हर गौरि प्रसाद एक तें कौसिक कृपा चौगुनो भो री ॥ १ ॥ कुँवर कुँवरि सब मंगलमूरति नृप दोउ धरम धुरंधर धोरी । राजसमाज भूरिभागी जिन्ह लोचनलाहु लह्यो एक ठौरी ॥ ३ ॥ व्याह उछाह राम सीता को सुकृत सकेलि बिरंचि रच्यो री । तुलसिदास जानै सोइ यह सुख जेहि उर बसति मनोहर जोरी ॥ ४ ॥

> येहि बिधि सकल मनोरथ करहीं । आनँद उमगि उमगि उर भरहीं ॥ १ ॥
> जे नृप सीय स्वयंबर आए । देखि बंधु सब तिन्ह सुख पाए ॥ २ ॥
> कहत राम जसु बिसद बिसाला । निज निज भवन*गये महिपाला ॥ ३ ॥
> गये बीति कछु दिन येहि भाँती । प्रमुदित पुरजन सकल बराती ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार सभी मनोरथ कर रही हैं और उमग-उमगकर (उत्साहपूर्वक) हृदयको आनन्दसे भर रही हैं (अथवा, आनन्द उमड़-उमड़कर उनके हृदयमें भर रहा है । अर्थात् इसमें उनको आनन्दका अनुभव होता जाता है, स्वाद मिलता है) ॥ १ ॥ जो राजा श्रीसीताजीके स्वयंवरमें आये थे । उन्होंने सब भाइयोंको देखकर सुख पाया ॥ २ ॥ श्रीरामजीका निर्मल उज्ज्वल और विशाल (बहुत बड़ा, सुन्दर भव्य और प्रसिद्ध महान्) यश कहते हुए (वे सब) राजा अपने-अपने घर गये ॥ ३ ॥ कुछ दिन इस प्रकार बीत गये । सभी पुरवासी और बाराती बहुत ही आनन्दित हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'येहि बिधि सकल''''' इति । सब स्त्री-पुरुषोंका मनोरथ पूर्व कह आये । 'पुनि देखब रघुबीर

* गेह—१७२१, १७६२, छ० । भवन—१६६१, १७०४, को० रा० ।

बिआहू । लेब भली बिधि लोचन लाहू ॥' यह पुरुषोंका मनोरथ है और 'ब्याहिअहुँ चारिउ भाइ येहि पुर हम सुमंगल गावहीं ॥···' यह स्त्रियोंका मनोरथ है। 'येहि विधि सकल मनोरथ करहीं' कहकर सबोंका मनोरथ एकत्र कर दिया। पुनः, 'येहि बिधि' का भाव कि यहाँतक मनोरथके पूर्तिकी पुष्टिमें चार विधियाँ कही हैं। एक तो अपना भाग्य, यथा—'बड़े भाग बिधि बात बनाई।' दूसरी श्रीसीताजीपर राजा जनकका स्नेह, यथा—'बारहिं बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय ···'। तीसरी, विविधि प्रकारकी पहुनाई, यथा—'बिबिध भाँति होइहि पहुनाई। प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥' चौथी विधि दोनों राजाओंका अद्वितीय सुकृती होना, यथा—'सखि सब करब पुरारि पुन्य पयोनिधि भूप दोउ।' अतः कहा कि 'येहि बिधि···' (ख) 'आनँद उमगि···' इति। अर्थात् जब मनोरथ करती हैं (और जैसे-जैसे करती हैं (तब) तैसे-तैसे) आनन्द उमड़ता है और उमड़-उमड़कर स्त्री-पुरुषोंके हृदयोंमें भरता है। आनन्द नदी है, स्त्री-पुरुषोंका हृदय समुद्र है। लोग बहुत हैं, इसलिये 'उमगि उमगि भरहीं' कहा।

२ 'जे नृप सीय स्वयंबर आए···' इति। ये साधु राजा हैं। कुटिल राजाओंका जाना पूर्व लिख आये, यथा—'अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गँवहि पराने। २८५। ८।', अब यहाँ साधु राजाओंका जाना कहते हैं। ये सब अभीतक चारों भाइयोंको देखनेके लिये रुके रहे, इसीसे 'देखि सब बंधु' सब भाइयोंको देखकर सुख पाना कहा। इससे यह भी जनाया कि इन राजाओंने सुन रक्खा था कि श्रीदशरथजीके यहाँ चतुर्व्यूह अवतार हुआ है, इसीसे चारों भाइयोंके दर्शनार्थ इतने दिन टिके रह गये। (पूर्व भी इन्होंने इस जानकारीका परिचय दिया है, यथा—'जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥ सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी ॥···हम तो आजु जनम फलु पावा। अस कहि भले भूप अनुरागे ॥ रूप अनूप बिलोकन लागे। (२४६। २—७)।'

३ 'कहत राम जसु···' इति। श्रीरामयश विशद है, यथा—'जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥ २९२। २।' विशाल है, यथा—'महि पातालु नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥ २६५। ५।' (श्रीरामयशका वर्णन करते हुए मार्ग जान नहीं पड़ता, पहुँचनेपर जान पड़ता है कि बहुत शीघ्र आ गये)। यथा—'बरनत पंथ बिबिधि इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥ ५८। ६।' 'पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा ॥ ३। १२। ५।' तथा यहाँ 'कहत राम जसु···निज निज भवन गये···'। (पं० रामकुमारजी 'गये' का अर्थ 'पहुँच गये' करते हैं, इसीसे यह भाव लिखा है। पर मेरी समझमें 'गये' का साधारण अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। उदाहरणोंमें 'पहुँचे' शब्द है, 'गये' नहीं।

४ 'गये बीति कछु दिन···' इति। लग्नसे बारात पहले ही आ गयी थी, वही कुछ दिन जो बीचमें रह गये थे, बीत गये। (तिथि अथवा दिनकी गणना नहीं की, क्योंकि इसमें मतभेद है। कम-से-कम एक मास सात दिन पहले बारात आयी थी)। पुनः, 'कछु दिन' का भाव कि सुखके दिन बहुत शीघ्र बीत जाते हैं, (जाते हुए जान नहीं पड़ते), यथा—'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। १९५।' 'सुख समेत संबत दुइ साता। पल सम होहिं न जनिअहिं जाता ॥ २। २८०। ८।' 'राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक सम बीती ॥ २। २९०। १।' 'जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति। ७। १५।' इत्यादि। इसीसे एक महीना सात दिनको 'कुछ दिन' कहा (वे कुछ ही जान पड़े)। 'प्रमुदित पुरजन सकल बराती' कहकर जनाया कि बारातसे पुरजन प्रमुदित हैं और पुरजनोंसे बारात प्रमुदित है। (यह भी भाव है कि दोनों ही विशेष आनन्दमें मग्न रहनेसे दिन बीतते न जान पाये)।

बारात तथा मिथिलापुरीप्रमोदवर्णन समाप्तम्।

मंगलमूल लगन दिनु आवा। हिमरितु अगहनु मासु सुहावा ॥ ५ ॥
ग्रह तिथि नखतु जोगु बर बारू। लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू ॥ ६ ॥
पठै दीन्हि नारद सन सोई*। गनी जनक के गनकन्ह जोई* ॥ ७ ॥
सुनी सकल लोगन्ह येह बाता। कहहिं जोतिषी आहिं† बिधाता ॥ ८ ॥

* सोइ, जोइ—१६६१। † अपर—१७२१, १७६२, छ, रा० प्र० आहि—१६६१, १७०४। दिग्र-को० रा०।

दो०—धेनु धूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल॥ ३१२॥

नोट—लग्न, ग्रह, तिथि, नक्षत्र, योग, वारके विस्तृत अर्थ दो० १९० में देखिये।

अर्थ—मङ्गलोंका मूल लग्नका दिन आ गया। हेमन्त ऋतुमें सुहावना अगहनका महीना (आया)। ५। सुन्दर श्रेष्ठ ग्रह, तिथि, नक्षत्र, योग, दिन और लग्न शोधकर ब्रह्माजीने उसपर विचार किया। ६। और उस (लग्नपत्रिका) को नारदजीके हाथ (उन्होंने राजा जनकके पास) भेज दी, जिसे (अर्थात् उसी लग्नमुहूर्त्तको) राजा जनकके ज्योतिषियोंने (प्रथम ही) विचारकर रखा था। ७। सब लोगोंने यह बात सुनी (तो) कहने लगे कि ज्योतिषी (भी) विधाता (ही) हैं। ८। निर्मल और सभी सुन्दर मङ्गलोंका मूल गोधूलिका अनुकूल समय और अनुकूल शकुन जानकर ब्राह्मणोंने विदेहजीसे कहा। ३१२।

टिप्पणी—१ 'मंगलमूल लगन''''' इति। (क) मङ्गलमूल लग्नका दिन कहनेका भाव कि यदि लग्नका दिन उत्तम होता है तो मङ्गल बढ़ता है, वंश और धन-सम्पत्ति आदिकी वृद्धि होती है, अमङ्गल नहीं होते। इसीसे ब्रह्माने स्वयं लग्नको शोधा है। (ख) 'हिमरितु अगहन मास' कहनेका भाव कि हिमऋतुमें अर्थात् वृश्चिकके सूर्यमें विवाह होता है, तुला और धनमें विवाह नहीं होता। हिमऋतुके अगहन और पौष दो मास हैं, हिमऋतु कहनेसे संदेह रहता कि किस मासमें व्याह हुआ, अतः 'हिमरितु' कहकर 'अगहन मास' भी कहा। (अगहन ही कह देते, हिमऋतु लिखनेका क्या प्रयोजन था ? यह प्रश्न स्वाभाविक उठता है। इसका उत्तर यह है कि विवाह तुला अथवा धनके सूर्यमें नहीं होता है और वृश्चिकके सूर्यमें हो तो अगहनमें कभी-कभी तुलाके सूर्य रहते हैं। इसलिये 'हिमरितु' भी कहकर जनाया कि अगहन भी था और वृश्चिकके सूर्य भी थे। पुनः, ऋतु राशिसे होती है और कभी हिमऋतुका प्रवेश कार्तिकमें ही होता है, इसलिये 'हिमरितु' कहकर अगहन भी कहा।) (ग) 'सुहावा' इति। अगहन मास भगवान्का स्वरूप है, यथा—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' (गी० १० । ३५), इसीसे उसे 'सुहावा' कहा।

नोट—१ (क) अगहन मास भगवान्का स्वरूप है।'''अतः सुहावा और मङ्गलमूल कहा। पुनः इससे कि रावणने सब लोकोंका मङ्गल उठा दिया था, अब इस व्याहसे सबका मङ्गल होगा—'मंगलेषु विवाहेषु कन्यासंवरणेषु च। दश मासाः प्रशस्यन्ते चैत्रपौषविवर्जिताः॥' (प्र० सं०)। (ख)—'माघफाल्गुनवैशाखे यद्यूढा मार्गशीर्षके। ज्येष्ठे चाऽऽषाढमासे च सुभगा वित्तसंयुताः॥ श्रावणे वापि पौषे वा कन्या भाद्रपदे तथा। चैत्राश्वयुक्कार्तिकेषु याति वैधव्यतां ध्रुवं॥ (ज्योतिःप्रकाशे व्यासः)। 'माघफाल्गुनवैशाखज्येष्ठमासाः शुभप्रदाः। कार्तिको मार्गशीर्षश्च मध्यमौ निन्दिताः परे॥ (नारदः)। निर्णयसिन्धु विवाह प्र० मासनिर्णयमें दिये हुए इस श्लोकके आधारपर कुछ महानुभावोंका मत है कि अगहन मास तो मध्यम श्रेणीका माना गया है तब इसमें विवाह क्यों हुआ ? इसका उत्तर मेरी समझमें यह है कि उस समय यह मास उत्तम माना जाता था, किंतु कुछ ऋषियोंने यह समझकर कि इसमें विवाह होनेसे श्रीजानकीजीको सुख नहीं मिला आगे इसको मध्यम श्रेणीका मानने लगे। विशेष नोट ३ में देखिये।

नोट—२ सोधना=खोजना, ढूँढ़ना लग्न शोधकर अर्थात् उस समय पूर्व क्षितिजपर कौन राशि है यह देखकर, फिर उसपर विधिने विचार किया। अर्थात् तत्काल ही लग्न खोज निकाली फिर लग्नके ग्रह आदिका विचार किया। लग्नमें ग्रहका विचार करना होता है। ग्रहके विचारसे युति दोषका विचार समझना चाहिये। यथा—'यत्र गेहे भवेच्चन्द्रो ग्रहस्तत्र यदा भवेत्। युतिदोषस्तदा ज्ञेयो विना शुक्रं शुभाशुभम्॥' (बृहद्ज्योतिःसार मुहूर्त-प्रकरण) अर्थात् जिस घरमें चन्द्रमा हो उसी घरमें शुक्रको छोड़कर यदि कोई अन्य ग्रह हो तो अशुभ है। इसीको युतिदोष कहते हैं। (पं० रामकुमार)। 'ग्रह' अर्थात् श्रीरामजीके रवि दूसरे, गुरु नवें और भौम दूसरे हैं और श्रीसीताजीके रवि दशवें, चन्द्र ग्यारहवें, भौम दशवें, गुरु पाँचवें हैं। 'तिथि' शुक्ला पञ्चमी। 'नखत' (नक्षत्र) उत्तराषाढ़ा, 'योग' वृद्ध, श्रेष्ठ 'बार' (दिन) भृगुवासर (बृहस्पति)। तैंतीस पंद्रह इष्टपर कर्क लग्न शुद्ध है अर्थात् जिनके सातवें कोई ग्रह नहीं है ऐसी लग्न शोधकर विचारकर देख लिया कि शुद्ध है। (वै०)।

नोट—३ विवाहके उपर्युक्त नक्षत्र मृगशिरा, हस्त, मूल, अनुराधा, मघा, रोहिणी, रेवती, तीनों उत्तरा और स्वाती ये हैं। यथा—'निर्वेधैः शशिकरमूलमैत्र पित्र्य ब्राह्मान्त्योत्तरपवनैः शुभो विवाहः। रिक्तामारहित तिथौ शुभेऽह्निवश्व-प्रान्त्यांघ्रिः श्रुतितिथिभागतोऽभिजित् स्यात्॥' (मुहूर्तचिन्तामणि विवाह प्रकरण श्लो० ५३)। इस श्लोकका पीयूषधारा टीका-में नारदजी और वसिष्ठजीके जो वचन उद्धृत हैं, उनमें भी पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रका उल्लेख नहीं है। परंतु वाल्मीकीयमें पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रमें विवाह होना कहा है। यथा—'मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीये दिवसे विभो। फाल्गुन्यामुत्तरे राजँस्त-स्मिन्वैवाहिकं कुरु॥ १। ७१। २४।' 'उत्तरे दिवसे ब्रह्मन्फल्गुनीभ्यां मनीषिणः। वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः॥ १। ७२। १३।' 'युक्ते मुहूर्ते विजये। १। ७३। ८।' श्रीजनकजी कह रहे हैं कि आप कल आये हैं, आज मघा नक्षत्र है। कल तीसरे दिन पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र है, उसमें आप वैवाहिक कृत्य करें। कल पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र है जिसके देवता भगनामक प्रजापति हैं। इस समयकी प्रशंसा विद्वान् करते हैं। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि विवाहके योग्य विजय मुहूर्त आनेपर चारों भाई वैवाहिक वेषमें आये। ('विजय' को ही 'अभिजित्' कहते हैं। १९१। १ में देखिये।)—इसमें मास, तिथि, दिन आदिका उल्लेख नहीं है। अ० रा०, प० पु०, स्कन्दपु०, भा०, हनु० ना० इत्यादिमें भी मासादि नहीं दिये हैं। पूर्वाफाल्गुनीमें श्रीसीतारामविवाह हुआ यह निश्चित है। इससे सिद्ध होता है कि यह नक्षत्र उस समय शुभ माना जाता था, परंतु आगे चलकर ऋषियोंने इसे विवाहके उपयोगी नक्षत्रोंमें नहीं रक्खा, क्योंकि इसमें विवाह होनेसे श्रीजानकीजीको सुख नहीं मिला। अपने मतका प्रमाण भी खोज करनेसे हमें मिल गया। श्रीकेशवार्कजीने 'विवाह-वृन्दावन' में लिखा है कि यद्यपि वाल्मीकिजीने इस नक्षत्रको विवाहके लिये शुभ कहा है तथापि उसमें सीताजीको सुख नहीं हुआ। यथा—'प्राचेतसः प्राह शुभं भगर्क्षं सीता तदूढा न सुखं सिषेवे। पुष्यस्तु पुष्यत्यतिकाममेव प्रजापतेरपि स शापमस्मात् १। ४।'

नागेश और केशवार्कजी पूर्वाफाल्गुनीमें विवाह लिखते हैं और गोविन्दराजीय टीकामें उत्तराफाल्गुनी अर्थ किया गया है।

श्रीप्रज्ञानानन्दजी कहते हैं कि 'उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमी अथवा नवमीको भी होना असंभव है'। श्रीअवध-मिथिला-प्रान्तोंमें विवाह मार्गशीर्ष शु० ५ को ही मनाया जाता है। सम्भव है कि तिथिमें मतभेद होनेसे कविने तिथि न दी हो। यह भी हो सकता है कि जैसे जन्म-समयके नक्षत्रादि कभी एक साथ नहीं पड़ते, पर श्री-रामजन्मपर पड़े, वैसे ही विवाह-समय भी मुहूर्त नक्षत्र आदि ऐसे ही पड़े थे जो आज असम्भव हैं। विवाह मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को ही हुआ यह बृहद्विष्णुपुराणान्तर्गत मिथिला माहात्म्य पराशर-मैत्रेयसंवाद अ० ९ में स्पष्ट लिखा हुआ है; यथा—'मार्गशीर्षे सिते पक्षे पञ्चम्यां च शुभे दिने। सीता विवाहिता यत्र रामेण परमात्मना॥ ११॥ तस्मान्मण्डपमाहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते।…' अर्थात् अग्रहण मासके शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथि शुभ दिनमें जिस मण्डपमें साक्षात् परमात्मा श्रीरामने श्रीसीताजीसे विवाह किया, उस मण्डपका माहात्म्य वर्णन करना मेरी शक्तिसे बाहर है। अतः जिनके अवतारके समय असम्भव बात सम्भव हुई, जो नक्षत्र कभी एकत्र हो ही नहीं सकते वे एकत्र हो गये, उनके विवाहके समय भी अपूर्व एवं असम्भव नक्षत्र एकत्रित हो गये, तो इसमें आश्चर्य क्या? प० तथा मा० त० वि० पूर्वभाद्रनक्षत्रमें पञ्चमीको विवाह लिखते हैं पर प्रमाण नहीं दिया है।

नोट—४ 'ब्रह्माने लग्न शोधी फिर भी वनवासादि कष्ट हुए?' यह शंका होती है। समाधान यह है कि लग्नका विचार इसलिये होता है कि विवाह निर्विघ्न हो, पति-पत्नीमें स्नेह हो, उत्तम संतान हो। और वनवासादि कष्ट तो जन्मके समयके नक्षत्रोंके अनुसार होते हैं। यह भी स्मरण रहे कि अवतार भूभारहरणार्थ हुआ है। जो कार्य श्रीरामावतार होनेपर प्रभुको करना है, उनकी पूर्तिके लिये जो लग्न आवश्यक है वही शोधकर लिखी गयी। वही मुहूर्त शुभ है जिसमें जिस कार्यके लिये मनुष्य उद्यत हुआ है वह सिद्ध हो। भगवान्की प्रेरणासे वैसी ही लग्न ज्योतिषियोंको उत्तम सूझी।

टिप्पणी—२ (क) 'पठै दीन्हि' से सूचित हुआ कि ब्रह्माजीने लग्नको कागजपर लिखा था, वही उन्होंने नारदजीको दे दिया। (ख) 'नारद सन' (नारदसे अर्थात् उनके हाथ) भेजनेका भाव कि नारदजी सर्वत्र आते-जाते हैं और व्यवहारमें बड़े चतुर हैं (श्रीसीतारामजीके भक्त भी हैं। पत्रिका ले जानेमें उनको बड़ा सुख होगा)। (ग) 'गनी जनकके गनकन्ह जोई' कहकर जनाया कि श्रीजनकजीके पण्डितोंने प्रथम ही लग्न शोध—विचार रक्खी थी, ब्रह्माने लग्न पीछे सोधा। 'जोई-सोई' यत्-तत्का सम्बन्ध रहता है, यत् प्रथम रहता है तत् पीछे। यह भी जनाया कि जनकजीके ज्योतिषी यह नहीं

जानते थे कि ब्रह्मा लग्न विचारकर भेजेंगे, नहीं तो वे क्यों विचार करते। (घ) 'सुनी सकल लोगन्ह येह बाता' से पाया गया कि नारदजी जब पत्रिका लाये तब वह सभामें पढ़ी गयी (पढ़नेपर यहाँके ज्योतिषियोंको भी लग्नपत्रिका दिखायी गयी। दोनोंका मिलान हुआ। तब सभाने कहा कि यह तो वही है 'गनी जनकके गनकन्ह जोई') यह बात सबोंने सुनी कि ब्रह्माके और ज्योतिषियोंके विचार एक हैं। (ङ) 'कहहिं ज्योतिषी आहि बिधाता'—यहाँ 'गनक' का अर्थ 'ज्योतिषी' स्पष्ट कर दिया। (दोनोंके एक होनेसे ज्योतिषीको ब्रह्मा कहते हैं)।

नोट—५ 'धेनुधूरि बेला बिमल'''' इति। (क) धेनुधूरि बेला=गोधूलिवेला=वह समय जब कि गौएँ जंगलसे चरकर घरको लौटने लगती हैं और उनके खुरोंसे धूल उड़नेके कारण धुँधली छा जाती है। ऋतुके अनुसार गोधूलीके समयमें कुछ अन्तर भी माना जाता है। हेमन्त और शिशिर ऋतुमें सूर्यका तेज बहुत मन्द हो जाने और क्षितिजमें लालिमा फैल जानेपर; वसन्त और ग्रीष्ममें जब सूर्य आधा अस्त हो जाय; वर्षा तथा शरत्कालमें सूर्यके बिल्कुल अस्त हो जानेपर गोधूली होती है। यथा—'पिण्डीभूते दिनकृति हेमन्तर्तौ स्यादर्धास्ते तपसमये गोधूलिः। सम्पूर्णास्ते जलधरमाला-काले त्रेधा योज्या सकलशुभे कार्यादौ॥ मुहूर्तचिन्तामणि विवाहप्र० १०१।'

(ख) 'बेला बिमल' इति। फलित ज्योतिषके अनुसार गोधूलिका समय सब कार्योंके लिये बहुत शुभ होता है और उसपर नक्षत्र, तिथि, करण, लग्न, वार, योग और जामित्र आदिके दोषका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंके और भी कई मत हैं। यथा—'नास्यामृक्षं न तिथिकरणं नैव लाग्नस्य चिन्ता, नो वा वारो न च लवविधिर्नो मुहूर्तस्य चर्चा। नो वा योगो न मृतिभवनं नैव जामित्रदोषो, गोधूलिः सा मुनिभिरुदिता सर्वकार्येषु शस्ता॥ मु० चि० विवाहप्र० १००।' मु० चि० का मत है कि यह वेला सबके लिये शुभ है। पर दैवज्ञमनोहर और मुहूर्तमार्तण्डने इसको केवल शूद्रादिकोंके लिये शुभकर कहा, द्विजातियोंके लिये नहीं। यथा—'घटी लग्नं यदा नास्ति तदा गोधूलिकं शुभम् (स्मृतम्)। शूद्रादीनां बुधाः प्राहुर्न द्विजानां कदाचन॥' दैवज्ञमनोहरका आशय यह है कि द्विजातियोंको लग्न घटी आदि शुभ मुहूर्तमें ही विवाह करना चाहिये, यदि लग्न आदि ठीक न हो तो केवल गोधूलीको शुभ जानकर शुभकार्य न करना चाहिये। यहाँ श्रीरामविवाहमें लग्न आदि सभी शुभ हैं और पवित्र गोधूलिवेला भी है। फिर बारात ही गोधूलिवेलामें बुलायी गयी, विवाह तो उसके पश्चात् हुआ है; अतएव कोई शंकाकी जगह ही नहीं है। आज भी प्रायः सभी वर्णोंमें द्वारचारके लिये गोधूलिवेला ही शुभ मानी जाती है। काशीके प्रसिद्ध महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीके घरानेमें आज भी द्वारचार इसी वेलामें होता है, यह समय टलने नहीं दिया जाता। फिर यह भी सम्भव है कि गोधूलिवेलामें विवाह होना ज्योतिषियोंने पीछे वर्जित कर दिया, त्रेतामें यह वेला शुभ ही मानी जाती थी, तभी उसे कवि 'बिमल सुमंगल मूल' विशेषण दे रहे हैं।

टिप्पणी—३ (क) 'सुमंगलमूल' कहनेका भाव कि लग्नका दिन मङ्गलमूल है, यथा—'मंगल मूल लगन दिनु आवा' और गोधूलिवेला 'सुमङ्गलमूल' है। क्योंकि लग्नका दिन स्थूल काल है और गोधूलिवेला सूक्ष्म है। स्थूलसे सूक्ष्मकाल विशेष है। इसीसे यहाँ 'मंगल' के साथ 'सु' उपसर्ग दिया। (ख)—'बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन'—भाव कि यह काल बहुत उत्तम है और सूक्ष्म है, इसीसे ज्योतिषियोंने स्वयं राजासे कहा जिसमें विलम्ब न हो, जैसा कि आगेके, 'अब बिलंब कर कारनु काहा' से स्पष्ट है। (ग) 'जानि सगुन अनुकूल' इति। भाव कि अनुकूल समय आनेपर उसी समय अनुकूल (अर्थात् शुभ) शकुन होने लगे। ☞ इससे ज्ञात होता है कि उस दिन गोधूलिवेला बहुत देर तक स्थित रही, जैसे जन्म-समय सूर्य स्थिर रह गये थे, यथा—'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ॥ १९५॥'

उपरोहितहि कहेउ नरनाहा। अब बिलंब कर कारनु काहा॥ १॥
सतानंद तब सचिव बोलाए। मंगल सकल साजि सब ल्याए॥ २॥
संख निसान पनव बहु बाजे। मंगल कलस सगुन सुभ साजे॥ ३॥
सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेद धुनि बिप्र पुनीता॥ ४॥
लेन चले सादर येहि भाँती। गये जहाँ जनवास बराती॥ ५॥
कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहि सुरराजू॥ ६॥

अर्थ—राजाने उपरोहितसे कहा कि अब देरका क्या कारण है ? । १ । तब शतानन्दजीने मन्त्रियोंको बुलाया। वे सब सब मङ्गल सजाकर ले आये । २ । बहुत-से शंख; नगाड़े और ढोल खूब बजने लगे । मङ्गल कलश और शुभ शकुन सजाये गये । ३ । सुन्दर सौभाग्यवती स्त्रियाँ सुन्दर गीत गा रही हैं । पवित्राचरणवाले ब्राह्मण पवित्र वेदध्वनि कर रहे हैं । ४ । इस प्रकार (लोग) आदरपूर्वक (बारातको) लाने चले । जहाँ जनवासेमें बराती थे वहाँ गये । ५ । कोसलराज श्रीदशरथजी महाराजका समाज (वैभव) देखकर उन्हें देवराज (और उसका वैभव) बहुत ही तुच्छ लगा । ६ ।

टिप्पणी—१ (क) 'उपरोहितहु कहेउ''''' इति । ज्योतिषियोंने जनकजीसे और इनने पुरोहितसे कहा । इससे सूचित हुआ कि लग्नके विचारनेवाले ज्योतिषी और हैं और पुरोहित और हैं । (ख) 'बिलंब कर कारनु काहा'— विलम्बका कारण पूछनेका भाव कि विवाहके पूर्व नहछू और सुहाग आदि होते हैं; ये ही विलम्बके कारण होते हैं ।

२ 'सतानंद तब सचिव''''' इति । (क) यहाँ स्पष्ट कर दिया कि शतानन्दजी पुरोहित हैं । यथा—'सतानंद उपरोहित अपने तिरहुतिनाथ पठाए ।' (गी० १ । १००) । (शतानन्दजी महर्षि गौतमके पुत्र हैं ।) (ख) 'मंगल सकल' अर्थात् 'हरद दूब दधि पल्लव फूला । पान पूगफल मंगल मूला ॥'''' ३४६ । ३-६ ।' 'साजि सब लाए'—'सब' अर्थात् सब मन्त्री । सजाकर लाये अर्थात् सुवर्णके थालोंमें सब मङ्गल-द्रव्योंको सँवारकर पूरा थाल भरकर लिवा लाये । यथा—'कनकथार भरि मंगलन्हि कमल करन्हि लिए मात । ३४६ ।', 'भरि भरि हेम थार भामिनी । गावत चलीं सिंधुर-गामिनी ॥' इत्यादि ।

३ 'संख निसान''''' इति । (क) बारात लेने जा रहे हैं, इसीसे बाजे बहुत बजे । 'मंगल कलस'–जिन कलशोंमें आम्रपल्लव पड़े हैं, यव, धान्य और दीपक रक्खे हैं, शुद्ध जल भरा है इत्यादि, वे 'मंगल कलस' कहलाते हैं; यह सब मङ्गल-द्रव्य कलशमें रखना ही कलशका सजाना है । विशेष २९६ (८) में देखिये । (ख) 'सगुन सुभ साजे'—प्रथम 'सकल मङ्गलों' को सजाकर लाना कहा । यहाँ मङ्गलकलश और माङ्गलिक शकुनोंका सजाना कहा । अगवानीके समय भेंटके पदार्थ और मङ्गल शकुन लेकर गये थे, यथा—'मंगल सगुन सुगंध सुहाए । बहुत भाँति महिपाल पठाए । ३०५ । ५ ।', परंतु यहाँ भेंटके पदार्थ ले जानेका कोई प्रयोजन नहीं है, केवल मङ्गल-कलश और मङ्गल शकुन लेनेका काम है, इससे इन्हींका वर्णन किया । 'मंगल शकुन'—३०५ (५) में लिखे गये हैं अर्थात् सवत्सा गऊ वत्सको दूध पिलाती हुई, दही और जीवित मछली लिये हुए मनुष्य, दो वेदपाठी ब्राह्मण हाथोंमें पुस्तकें लिये हुए, इत्यादि ।

४ (क) 'सुभग सुआसिनि गावहिं''''' इति । यह रीति है कि सुहागिनी स्त्रियाँ मङ्गल कलश सिरपर लिये मङ्गल गीत गाती हुई जनवासेतक जाती हैं । 'बेद धुनि बिप्र पुनीता'– यहाँ वेदध्वनिको पुनीत और सुहागिनोंके गीतोंको सुभग कहनेका भाव यह है कि गीतोंकी ध्वनि इतनी सुन्दर है कि जो सुनता है वह मोहित हो जाता है और वेद-ध्वनिको जो सुनता है वह पवित्र होता है । ☞ शंख, निशान, मङ्गल-गीत और वेद-ध्वनि—ये सब 'सगुन' हैं । यथा—'भेरीमृदङ्गमर्दलशङ्खवीणावेदध्वनिर्मङ्गलगीतघोषाः' । (पुनीत विप्रका लक्षण वि० पु० में यह है 'सावित्रीमन्त्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः । नायन्त्रितास्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥' अर्थात् गायत्रीमन्त्र जिसके ऋषि विश्वामित्र हैं, सविता देवता और गायत्री छन्द है । जो अपने धर्मको छोड़कर विषयोंमें लौ लगाता तथा वेदविहीन है वह पुनीत विप्र नहीं है । प० प० प्र०) (ख)—'लेन चले सादर येहि भाँती' इति । बाजे बज रहे हैं, सुहागिनियाँ गीतें गा रही हैं, वेद-ध्वनि हो रही है, इस तरह जा रहे हैं, यही 'सादर' जाना है ।

५ 'कोसलपति कर देखि समाजू । ' इति । [(क) श्रीकौसल्याजीके पिताने उत्तरकोसल अपने जामाता श्रीदशरथजीको दहेजमें दिया था । '(कृत्वा) स्वराज्यं जामात्रे ददौ प्रीत्या हि पुत्रिकाम् । तदारभ्य कोसलेन्द्राः प्रोच्यन्ते रविवंशजाः । आनन्दरा० सारकाण्ड ।' तबसे रघुवंशी कोसलपति कहे जाने लगे । (ख) 'समाज' से रघुवंशियोंका समाज और सब वैभव समाज (सामग्री) दोनोंका कथन हो गया । यथा—'सुख समाज नहिं जाइ बखानी', 'कहेउ लेहु सबु तिलक समाजू' २ । १८७, 'वह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस' ७ । १२ । ['समाजू'=साज, सामान, सामग्री, सभा-वैभव । सिंहासनपर बैठे हैं, छत्र लगा है, चँवर चल रहा है, बन्दी-मागध सूत बिरदावली-वंशावली इत्यादि उच्चारण कर रहे हैं, मन्त्री, ऋषि, मुनि, विप्र-मण्डली इत्यादि विराजमान हैं, इत्यादि । यह सब समाजमें आ गया ।] (ग) 'अति लघु लाग' इति । भाव कि राजाका वैभव अति विशेष है । इन्द्रका वैभव पुराणोंमें सुना है और राजाका विभव

आँखों देख रहे हैं, उस सुने हुएसे यह अति विशेष देख पड़ा, इसीसे सुरराज 'अति लघु' लगा। (घ) पूर्व राजाको इन्द्र-समान कह आये हैं, यथा—'सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुरगुरु संग पुरंदर जैसे। ३०२। १।'; और यहाँ कहते हैं कि 'अति लघु लाग तिन्हहि सुरराजू'। इसमें कोई विरोध नहीं है। पूर्व जो कहा वह स्वरूपकी समानता है, स्वरूपमें राजा इन्द्रके समान हैं, जैसे इन्द्र दिव्य वैसे ही राजा दिव्य हैं। परंतु विभवमें इन्द्र कम है। यहाँ वैभवमें अति लघु कहा गया। पुनः 'अति लघु लाग' का दूसरा भाव कि बरातियोंका वैभव देखकर सुरराज लघु लगा और कोसलपतिका विभव देखनेपर वह 'अति लघु' लगा। लघु लगना कहा, इसीसे 'लाग' एकवचन कहा। 'सुरराज' इति। अर्थात् इतना बड़ा देवताओंका राजा वह भी अति लघु लगा। ☞ जनकपुरके सम्बन्धमें कहा था कि 'जो सम्पदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा। २८९। ८' उसीकी जोड़में यहाँ कहते हैं कि 'कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहि सुरराजू॥'

भयेउ समय अब धारिअ पाऊ। येह सुनि परा निसानहि घाऊ॥ ७॥
गुरहि पूछि करि कुल बिधि राजा। चले संग मुनि साधु समाजा॥ ८॥

दो०—भाग्य बिभव अवधेस कर देखि देव ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहस मुख जानि जनम निज बादि॥३१३॥

अर्थ—(उन्होंने आकर विनती की कि) अब समय हो गया, अब पधारिये (चलिये)। यह सुनते ही नगाड़ों-पर चोटें पड़ने लगीं। ७। गुरुजीसे पूछकर और कुलरीति निबटाकर राजा मुनियों और साधुओंके समाजके साथ चले। ८। ब्रह्मादि देवता श्रीअवधेशजीका भाग्य और वैभव देखकर तथा अपना जन्म व्यर्थ समझकर सहस्रमुख शेषकी एवं सहस्रमुखसे उनकी प्रशंसा करने लगे। ३१३।

टिप्पणी—१ (क) 'येह सुनि परा....' इति। भाव कि बरातियोंको चलनेके लिये कहना न पड़ा, 'चलिये' यह सुनते ही बाजावाले बाजा बजाने लगे। 'घाऊ' कहकर जनाया कि नगाड़े बड़ी जोरसे बजाये गये। (ख) 'चले संग मुनि साधु समाजा'—मुनि साधुसमाजके संगमें कहनेका भाव आगे 'साधु समाज संग महि देवा।.... ३१५। ५' में स्पष्ट किया है। ☞ श्रीअयोध्याजीसे बारातके प्रस्थानके समय एक बार सबका सवारीमें चढ़कर चलना और जनकपुरमें आकर सवारीसे उतरना लिख आये। जहाँसे उतरे वहाँसे पाँवड़े पड़ने लगे थे। इसीसे यहाँ सवारीपर चढ़ना नहीं लिखते। एक बार लिखनेसे वैसे ही यहाँ सवारियोंपर चढ़कर चलना समझ लें। यदि सवारीपर न चढ़े होते तो पाँवड़ोंका पड़ना कहते। आगे सवारीका वर्णन भी है, यथा—'बंधु मनोहर सोहहिं संगा। जात नचावत चपल तुरंगा। ३१६। ५।' इत्यादि। बारात नगरके बाहर है, वहाँसे राजमहलतक जाना है, घर दूर पड़ता है, इससे पाया जाता है कि पैदल नहीं गये।

नोट—१ सेना, परिजन इत्यादि बरातियोंको साथ न कहकर मुनि-साधु-समाजको संगमें कहनेका अभिप्राय यह है कि राजाकी यात्रा कहनेसे ही सेना, बरात, परिजन इत्यादि उनके साथ समझ लिये जाते हैं, क्योंकि उनका राजाके साथ होना जरूरी है, पर ऋषि-मुनिका नाम न देनेसे यह नहीं समझा जा सकता था कि वे अवश्य इस समय साथ होंगे। इनको माङ्गलिक जान इनको साथ लिया। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि यहाँ जनाते हैं कि मुनि-साधु सदा इनके साथ रहते हैं, वैसे ही यहाँ भी इन्हें साथ लेकर गये। (पं०)। प्र० स्वामीजीका मत है कि यहाँ 'संग' शब्द मुनि, साधु और समाज तीनोंके साथ है। राजाओंका अपना-अपना समाज भी होता है, यथा—'बैठे निज निज आसन राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा॥' अतः अर्थ हुआ—'मुनि साधु और अपना सब समाज लेकर चले।'

टिप्पणी—२ 'भाग्य बिभव अवधेस कर....' इति। (क) भाग्य यह कि इनके यहाँ ब्रह्म स्वयं अंशोंसहित अवतीर्ण हुए और वैभव ऐसा कि जिसे देखकर इन्द्र अत्यन्त लघु लगता है। (ख) 'देखि देव ब्रह्मादि लगे सराहन' इति। ब्रह्मादि देखकर भाग्य और वैभवकी सराहना करते हैं, अपना जन्म व्यर्थ कहते हैं, इस कथनसे पाया गया कि ऐसा भाग्य ब्रह्मादि देवताओंका भी नहीं है (इन्द्रको तो पहले ही 'अति लघु' कह आये हैं) और न ऐसा वैभव ब्रह्मलोकादिमें है। इससे राजाके वैभवको अप्राकृत जनाया। अथवा, मुनियों और साधुओंके सङ्गसे भाग्यकी बड़ाई करते हैं, यथा—'बड़े भाग पाइअ

सतसंगा।' (ग) 'सराहत सहस मुख'—यहाँ समस्त देवता एकत्र हैं और सभी सराहना कर रहे हैं, अतः 'सहस मुख' कहा। अथवा, एक ही मुखसे हजार मुखकी सामर्थ्यके बराबर प्रशंसा करते हैं, इससे 'सहस मुख' कहा, जैसा खल-वन्दना प्रसङ्गमें कहा है—'बंदौं खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ परदोषा॥ १। ४॥'

नोट—२ विनायकी टीकाकार यह अर्थ करते हैं—'मानो एक स्वरसे सहस्रमुखवाले शेषनागकी सराहना करने लगे (कि धन्य हैं हजार मुँह और दो हजार जिह्वावाले शेषनागजी, जो इनकी सराहना करनेकी योग्यता रखते हैं, हम दो-चार मुँहवाले कहाँतक कर सकते हैं। हितोपदेशमें लिखा है कि 'एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वा सहस्रेण यदि सर्पराजः कदाचित् कर्तुं समर्थः स्यात्।' अर्थात् इनकी स्तुति शेषनागजी हजार जीभोंसे कदाचित् कर सकें तो कर सकें)।' यहाँ सराहनेमें शेषजीको धन्य कहते हैं। इसी तरह नेत्रोंसे दर्शन करनेमें सहस-नयन इन्द्रकी प्रशंसा करेंगे। (प० प० प्र०)

३ अपने जन्मको व्यर्थ समझते हैं कि हम सेवाको न पहुँचे। (दीनजी)। पुनः, यह कि धिक्कार है हमारे जीवनको कि स्वर्ग आदिके सुखमें नाहक फँसकर बरबाद हुआ। (रा० प्र०)। यथा—'धिग जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥ ६। ११०॥' पुनः, यहाँ दशरथजीके भाग्य-वैभवकी उत्कृष्टता दिखानेके लिये ऐसा कहा गया। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। वा, दशरथजीके अनन्य प्रेम और भक्तिके फलकी ओर देखकर ब्रह्मादि अपनेको न्यून मान रहे हैं, जैसे श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धमें ब्रह्माजीने गौओं, व्रजवनिताओं, गोपबालकों इत्यादिके जीवनको धन्य माना और अपने भाग्यकी निन्दा की है। (पंजाबीजी) इसी तरह रावणवध होनेपर देवताओंने कहा है—'हम देवता परम अधिकारी। स्वारथरत प्रभु भगति बिसारी॥ भव प्रबाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥ ६। १०९॥'

४—प० प० प्र० का मत है कि यह ब्रह्मादिका देखना अपने-अपने लोकोंमें बैठे देखना है, क्योंकि उनका चलना आगे कहा है। पं० रामकुमारजीका मत ३१४ (२-३) टि० ३ में है, मैं उसीसे सहमत हूँ।

सुरन्ह सुमंगल अवसरु जाना। बरषहिं सुमन बजाइ निसाना॥ १॥
शिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा। चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा॥ २॥
प्रेम पुलक तन हृदय उछाहू। चले बिलोकन राम बिआहू॥ ३॥
देखि जनकपुरु सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे॥ ४॥
चितवहिं चकित बिचित्र बिताना। रचना सकल अलौकिक नाना॥ ५॥

अर्थ—देवता सुन्दर मङ्गलका अवसर जानकर नगाड़े बजा-बजाकर फूल बरसा रहे हैं॥ १॥ श्रीशिव-ब्रह्मादि (अपने-अपने वाहनोंपर और) देवताओंके वृन्द नाना प्रकारके यूथ (टोलियाँ) बनाकर विमानोंपर चढ़े॥ २॥ और प्रेमसे पुलकित शरीर हो हृदयमें उत्साह भरे हुए श्रीराम-विवाह देखने चले॥ ३॥ श्रीजनकजीके पुरको देखकर देवता (ऐसे) अनुरक्त हो गये (कि) सबको अपने-अपने लोक तुच्छ लगे॥ ४॥ वे सब विचित्र मण्डपको आश्चर्ययुक्त होकर देख रहे हैं। अनेक प्रकारकी जितनी रचनाएँ हैं वे सभी अलौकिक (अप्राकृत) हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'सुरन्ह सुमंगल अवसरु जाना…।' इति। (क) 'सुमंगल अवसरु' यह कि परम माङ्गलिक धेनुधूलि-वेला प्राप्त हो गयी है, यथा—'धेनु-धूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल।' यही मङ्गल अवसर है। पुनः मङ्गल अवसर यह कि बारात विवाहके लिये जा रही है, मनुष्योंने मङ्गल अवसर जानकर मङ्गल द्रव्य, मङ्गल कलश और मङ्गल सगुन सजाये हैं, शङ्ख-निशानादि बज रहे हैं, सुहागिनी स्त्रियाँ सुन्दर मङ्गल गीतें गा रही हैं, पवित्र वेदध्वनि हो रही है, जनकपुरवासी जनवासेमें बारात लेने गये हैं; अतएव बारात चलते समय हमारी ओरसे भी मङ्गल शकुन होने चाहिये। यह सोचकर उन्होंने भी मङ्गल समयमें मङ्गल किया। (ख) 'बरषहिं सुमन'—यह देवताओंका मङ्गल है। पुष्पोंकी वृष्टि 'मङ्गल' है, यथा—'बरषहिं सुमन सुमंगल दाता। ३०२। ४।' देवता अवसर पाकर ही फूल बरसाते हैं, यथा—'समय समय सुर बरिसहिं फूला। १। ३१९।', इसीसे मङ्गलका अवसर जानकर इस समय भी फूल बरसाये। जो देवता बारातके समय आये हैं, उनका नाम आगे देते हैं।

प० प० प्र०—इन्द्रादि देवताओंने कब-कब पुष्पोंकी वृष्टि की यह देखनेसे स्पष्ट हो जायगा कि जिस कार्यसे उनके स्वार्थकी सिद्धि है उसके अवसरपर हो वे ऐसा करते हैं। यथा—'(१) बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुंदुभी

भारी ॥ १९ । १ । ७ ॥', 'सुमनवृष्टि आकास तें होई । १९४ । २ ।' (यह श्रीरामावतारका समय है) । (२) 'बाजे नभ गहगहे निसाना', (३) 'बरिसहिं सुमन । २६४ ।', (४) 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी प्रभु पर बरिसहिं फूल ॥ २८५ ॥' (परशुरामवाला विघ्न दूर होनेपर) । (५) 'हरषे विबुध बिलोकि बराता । बरषहिं सुमन सुमंगलदाता ॥ ३०२ । ४ ॥', 'हरषि सुमन सुरसुंदरि गावहिं । मुदित देव दुंदुभी बजावहिं । ३०६ । १ ।' (यह बारातके पयान और जनकपुर पहुँचनेपर) ।

अब देखिये कि पुष्पवृष्टिके योग्य और भी कितने अवसर थे । यज्ञरक्षाके लिये मुनिके साथ जाते समय 'प्रभु हरषि चले मुनि भय हरन', ताटका-सुबाहुवध तथा यज्ञरक्षा होनेपर जनकपुर-प्रस्थान, पुष्पवाटिका इत्यादि प्रसङ्गोंके अवसरोंपरकी कौन कहे, श्रीराम-लक्ष्मण-विश्वामित्र-दशरथ-मिलाप ऐसे सुन्दर समय भी कि जब प्रभुको स्वयं अत्यन्त आनन्द हुआ देवताओंने सुमनवृष्टि नहीं की; इसी प्रकार अन्य काण्डोंमें पाठक देख लें । इससे सिद्ध है कि श्रीरामजीके आनन्दमें देवताओंको आनन्द नहीं होता । जहाँ स्वार्थसिद्धि होती देखते हैं वहीं आनन्द होता है । इससे **'सुर स्वारथी'** सिद्धान्त चरितार्थ होता है ।

टिप्पणी—२ 'सिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा···।' इति । (क) यहाँ 'बरूथा' और 'यूथा' एक ही अर्थके दो शब्द आये हैं । परंतु यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ 'बिबुध बरूथा' से देवताओंका समूह कहा गया । इस समूहमें अनेक 'यूथ' हैं । जब विमानोंपर चढ़े तब अनेक यूथ हो गये, एक-एक यूथ एक-एक विमानपर है, जितने विमान हैं उतने ही 'यूथ' हैं । (प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि यहाँ यूथ विमानोंके लिये है और बरूथ देवताओंके लिये । एक किस्मके जितने विमान हैं वे एक यूथमें चले । विमान बहुत तरहके होते हैं; कोई हंस, कोई मोरपङ्खी, कोई पुष्पाकार इत्यादि । बैजनाथजी एवं मालवीय इत्यादि दो-एक टीकाकारोंने ऐसा अर्थ किया है—'शिव-ब्रह्मादिक देववृन्द नाना भाँतिके झुंडोंमें विमानोंपर चढ़े ।') । (ख) यहाँ शिवजीको सबसे प्रथम कहा, क्योंकि जब सब देवता चकित हो मोहमें पड़ जायँगे तब ये ही सबको समझाकर सावधान करेंगे, यथा—'सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु ॥ ३१४ ॥' इसीसे सब देवताओंमें उनको प्रधान रक्खा ।

३ 'प्रेम पुलक तन हृदय उछाहू ।····' इति । (क) 'प्रेम पुलक तन' से देवताओंकी भक्ति दिखायी कि सब देवता रामभक्त हैं, भक्तिके कारण विवाह देखने चले । 'हृदय उछाहू'—हृदयमें श्रीरामविवाह देखनेका उत्साह है, क्योंकि जानते हैं कि इस विवाहसे ही हम सब रावणके बन्दीखानेसे छूटेंगे; दूसरे वे विवाह देखनेका माहात्म्य जानते हैं कि 'सिय-रघुबीरबिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं । तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु ॥ ३६१ ॥' जब कहने-सुननेका यह माहात्म्य है तब भला देखनेके माहात्म्यको कौन कह सके ? फिर प्रत्यक्ष विवाह देखनेमें बड़ा भारी आनन्द है । अतः 'हृदय उछाहू' कहा । (ख) 'चले बिलोकन····' इति । गोस्वामीजी देवताओंका चलना संगतिसे लिखते हैं । जब राजा मुनि-साधुसमाजसहित जनवासेसे चले तब देवता भी फूल बरसाते हुए चले । साधुसमाज और सुरसमाज दोनों साथ-साथ चले ।

४ 'देखि जनकपुरु सुर अनुरागे···' इति । (क) जब देवता चले तब जनकपुर देख पड़ा, इससे पाया गया कि बारात पुरके बाहर रही है । (ख) जनकपुर देखकर अनुराग हुआ, अतः अनुरागसे देखने लगे । (ग) 'सबहि लघु लागे' इति । देवताओंमें प्रायः मत्सर रहता है, यथा—'ऊँच निवासु नीचि करतूती । देखि न सकहिं पराइ बिभूती । २ । १२ ॥' इसीसे जनकपुरको अपने-अपने लोकोंसे मिलाने लगे । मिलानेपर किसीका लोक तुलनामें न आया । इन्द्रलोक, शिवलोक, ब्रह्मलोक, कुबेरलोक इत्यादि कोई भी उसके समान न निकला ।

५ 'चितवहिं चकित बिचित्र बिताना ।····' इति । (क) अभी देवता जनकराजमहलतक नहीं पहुँचे, वितान देखकर चकित हो गये । देवता आकाशमें हैं, वहाँसे उनको सब देख पड़ता है । जो लोग नीचे हैं वे अभी मण्डप नहीं देख पाये, उनका देखना आगे लिखते हैं, यथा—'दंत पाँवड़े अरघु सुहाए । सादर जनकु मंडपहिं ल्याए ॥ मंडपु बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि मन हरे । १ । ३२० ॥' (ख) जनकपुर देखकर देवता चकित नहीं हुए, पर वितानको देखकर चकित हो रहे हैं । इससे जनाया कि जनकपुरसे यह विचित्र है । (ग) 'सकल अलौकिक' अर्थात् ऐसी रचना किसी भी लोकमें नहीं है । सब लोकोंसे देवलोक विशेष है, देवलोकसे जनकपुर विशेष और जनकपुरसे वितान विशेष है; इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक सुन्दरता (उत्कर्ष) कही । (अलौकिक=लोकोत्तर; इस लोककी नहीं, अमानुषी, अप्राकृत) ।

नगर नारि नर रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना ॥ ६ ॥
तिन्हहि* देखि सब सुर सुरनारीं। भये नखत जनु बिधु उजिआरीं ॥ ७ ॥
बिधिहि भयेउ आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥ ८ ॥

दो०—सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु।
हृदय बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु ॥ ३१४ ॥

शब्दार्थ—सुघर (सुघड़)=सुडौल। 'सु' उपसर्ग जिस शब्दके साथ लगता है उसमें श्रेष्ठ, सुन्दर, अच्छा, बढ़िया आदिका भाव आ जाता है; जैसे यहाँ 'सुधरम' और 'सुसील' में। करनी=करतूत, करतब, कारीगरी।

अर्थ—नगरके स्त्री-पुरुष रूपके निधान हैं, उनके सब अङ्ग सुडौल हैं, वे बड़े धर्मात्मा हैं, सुशील और सुजान हैं ॥ ६ ॥ उन्हें देखकर सब देवता और देवाङ्गनाएँ ऐसे फीके पड़ गये जैसे चन्द्रमाके प्रकाशमें तारागण ॥ ७ ॥ ब्रह्माजीको बहुत ही आश्चर्य हुआ, उन्होंने कहीं भी कुछ भी अपनी करनी न देखी ॥ ८ ॥ शिवजीने सब देवताओंको समझाया कि आश्चर्यमें न भुला जाओ, धीरज धरकर हृदयमें विचार तो करो कि यह श्रीसिय-रघुबीरजीका विवाह है ॥ ३१४ ॥

टिप्पणी—१ 'नगर नारि नर रूप''''' इति। (क) 'नगर नारि नर' का भाव कि जो जनकपुरवासी स्त्री-पुरुष हैं, वे सब बाहरके आये हुए लोग नहीं। [(ख) अङ्गोंकी रचनारूप हैं। रूपके निधान हैं अर्थात् कुछ ऊपरसे ही सुन्दर नहीं लगते, किंतु रूपके निधान हैं। 'सुघर' हैं, अर्थात् जो अङ्ग जैसा सुडौल चाहिये, जितना बड़ा, छोटा, गठीला आदि चाहिये वैसा ही है। 'सुघरता' शरीरकी शोभा है। सुन्दरताकी शोभा तभी है जब धर्म, शील और सुजानता भी हो, यथा—'धरमसील सुंदर नर नारी' 'बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं। १। ९४ ॥' इन गुणोंके बिना सुन्दर रूप भी प्रशंसनीय नहीं होता। बेशहूर रूपवान् भी किस कामका ?] (ग) 'नारि' को प्रथम कहा, क्योंकि स्त्रियाँ रूपमें पुरुषोंसे विशेष हैं। (छन्द बैठानेमें जहाँ जैसा ठीक होता है वैसा लिखा जाता है। 'नरनारी' 'नारिनर' 'नरनारि'। अन्यथा जहाँ 'नरनारि' है वहाँ पुरुषोंको अधिक सुन्दर आदि कहना पड़ेगा। स्त्री-पुरुष आदि मुहावरा है। प० प० प्र०।) (घ) जनकपुरवासी सब गुणोंमें सबसे विशेष हैं, इसीसे सब गुणोंकी विशेषता दिखानेके लिये सब जगह 'सु' उपसर्ग दिया है।—सुघर, सुधर्म, सुशील, सुजान। और रूपकी विशेषता दिखानेके लिये 'रूपनिधान' कहा। [पंजाबीजी 'सुघर' का अर्थ 'सुन्दर व्यवहार चतुर' और प० प० प्र० 'उत्तम श्रेष्ठ घरके' अर्थ करते हैं, क्योंकि 'रूप-निधान' में सुन्दर गठन आ जाता है। रा० प्र० कार 'बोलनेमें चतुर' अर्थ देते हैं। 'सुघड़' का अर्थ चतुर, दक्ष, प्रवीण भी होता है। (श० सा०)]

२ 'तिन्हहि देखि सब सुर नरनारीं''' ' इति। (क) स्थान और स्थानी दोनोंसे दोनोंकी लघुता दिखायी। 'देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे ॥ ४ ॥' जनकपुरसे देवलोकोंकी लघुता, स्थानसे स्थानकी लघुता हुई। और यहाँ जनकपुरवासियोंसे देवी-देवताओंकी लघुता कह रहे हैं, यह स्थानीसे स्थानीकी लघुता है। (ख) 'सब सुरनारीं' से पाया गया कि सब देवताओंकी स्त्रियाँ श्रीसियरघुवीरविवाहमें मङ्गल गाने आयी हैं जैसा आगे स्पष्ट है, यथा—'सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥ कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहि जाई ॥ करहिं गान कल मंगल बानी। हरष बिबस सब काहु न जानी। ३१८। ६-८ ॥' (ग) जनक-पुरवासियोंके रूप, सुघरता, सुधर्म, सुशीलता और सुजानता—ये पाँच गुण यहाँ कहे हैं। ये पाँचों गुण चन्द्रमामें हैं। वह रूपनिधान है (इसीसे समय-समयपर रूपके लिये इसकी उपमा दी जाती है), सुघड़ है, धर्मात्मा है; क्योंकि इसने राजसूय यज्ञ किये हैं। सुशील है, यथा—'सोम से सील' (क० ७। ४३) और 'सुजान' भी है क्योंकि 'द्विजराज' है। इसीसे यहाँ चन्द्रमाकी उत्प्रेक्षा की गयी। यहाँ जनकपुरवासी चन्द्रमा हैं, उनके रूप, सुघरता आदि चन्द्रमाकी 'उजिआरी' है। देवी-देवता नक्षत्र हैं। चन्द्रके प्रकाशमें तारागण फीके पड़ ही जाते हैं। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

३ 'बिधिहि भयेहु आचरजु''''' इति। (क) 'आचरजु बिसेषी' का भाव कि सब देवताओंको आश्चर्य हुआ और ब्रह्माको 'विशेष' आश्चर्य हुआ, इसका कारण दूसरे चरणमें कहते हैं कि अपनी कुछ करनी नहीं देखी। (ख) 'निज

* तिन्हे—१६६१।

करनी कछु कतहुँ न देखी' इति। इससे सूचित किया कि जैसा कुछ जनकपुर और यहाँका वितान है ऐसा ब्रह्माकी सृष्टि-भरमें कुछ भी नहीं है; इसीका समाधान आगे शिवजी करते हैं। अपनी कुछ भी करनी न देखी, इस कथनका तात्पर्य यह है कि यहाँ यह सब श्रीजानकीजीकी करनी है। 'कछु' का भाव कि जितनी करनी यहाँ बनी है उतनीमें अपनी करनीसे किंचित् भी मिलान न देखा। तात्पर्य कि यहाँकी सब कारीगरी ब्रह्माजीकी कारीगरीसे पृथक् (एवं विलक्षण) है। (ग) देवता जनकपुर, पुरवासी और वितानकी शोभा देखकर भुला गये और ब्रह्माजी पुर-पुरवासी और वितानको अपनी करनीसे पृथक् देखकर भूलभुला गये। भेदमें भाव यह है कि देवताओंको अपनी सुन्दरताका (अपने रूप और सुन्दर स्थानका) अभिमान है, इसीसे वे शोभासौन्दर्य देखकर भूले और ब्रह्माको अपनी कारीगरी (सृष्टिके विशेष रचयिता होने) का अभिमान है, इससे वे विचित्र रचना देखकर भुला गये। [इस तरह दोनोंका गर्व जाता रहा। विधिकी करनी क्या है ? 'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना' यही उनकी करनी है, उनकी सृष्टि प्राकृत है, इसमें गुण और अवगुण दोनों सने हुए हैं और श्रीजनकपुरमें कहीं कुछ भी अवगुण नहीं देखा, क्योंकि यहाँकी सब करनी तो श्रीसीताजीकी किञ्चित् महिमा है; अतः अप्राकृत है। इसीसे ब्रह्माको 'विशेष आश्चर्य' हुआ, वे डरे कि कहीं दूसरा ब्रह्मा तो नहीं हो गया, हमारा अधिकार कहीं दूसरेको तो नहीं दे दिया गया, इत्यादि। (प्र० सं०)। इन्द्रको अपने ऐश्वर्य और सत्ताका, सूर्यको तेजका, चन्द्रको शीतलता और सौन्दर्यका अभिमान था, वह सब जाता रहा (प० प० प्र०)]

नोट—१ 'सिव समुझाए' इति। शिवजी कल्याणकर्ता हैं और स्वयं कल्याणरूप हैं। इन्होंने सोचा कि सब एक ही वस्तुको देखकर भूल गये कि यह कहाँसे आयी, किसने बनायी, इत्यादि। जिस कार्य अर्थात् विवाहको देखनेके लिये आये थे सो उसे भुला ही दिया है। वही सबको याद दिलाते हैं कि उधर छोटी-छोटी बातोंका खयाल छोड़ो और विचारो तो सही कि यह उन श्रीसीतारामजीके विवाहका समय है जो सर्वकर्ता हैं, और धैर्य धारण करके विवाहका आनन्द लूटो; नहीं तो पीछे पछताओगे कि ब्याह न देख पाये। इसीसे यहाँ 'शिव' नाम दिया और आगे भी 'संभु' नाम देते हैं।

टिप्पणी—४ 'सिव समुझाए देव सब···' इति। (क) 'देव सब' कहकर जनाया कि सब देवताओंको आश्चर्य हुआ, ब्रह्माजीको विशेष आश्चर्य हुआ; इसीसे सबको समझाना कहा। (ख) ब्रह्माको विशेष आश्चर्य हुआ, इससे समझानेमें उन्हींको मुख्य (प्रधान) रखना था, पर ऐसा न करके देवताओंको मुख्य रक्खा; उन्हींको समझाना कहते हैं। इसमें कारण है कि जिस कामसे बड़े लोगोंको लज्जा और संकोच उत्पन्न हो, श्रेष्ठ लोग वह काम बचाकर करते हैं। (ब्रह्माजीको सबके सामने समझानेसे वे संकुचित होते, उनको लज्जा लगती, उनकी प्रतिष्ठा जाती। वे सबसे बड़े हैं, पितामह कहे जाते हैं। बड़ेको उपदेश करना धृष्टता है। एक प्रकारसे शिवजी ब्रह्माजीके पुत्र हैं) अतएव उनको स्पष्टरूपसे प्रधान बनाकर उपदेश नहीं दिया। देवताओंके उपदेशके द्वारा उनको भी उपदेश हो गया। (ग) 'जनि आचरज भुलाहु'—भाव कि यह श्रीसियरघुबीरका विवाह है, यहाँ विचित्रता, अलौकिकताका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। (घ) शिवजीने कैसे जाना कि सबको आश्चर्य हो रहा है ? इस तरह कि जब सबको आश्चर्य हुआ तो वे चलना भूल गये, चलना बंद हो गया, सब-के-सब चकित हो देखने लगे—'चितवहिं चकित बिचित्र बिताना'। यह देखकर शिवजीने समझाया कि आश्चर्यमें न भूले पड़े रहो। (ङ) 'हृदय बिचारहु धीर धरि'—इससे जनाया कि विशेष आश्चर्यमें उनका धैर्य जाता रहा था। धैर्य न होनेपर विचार असम्भव हो जाता है, इसीसे धीरज धरकर विचार करनेको कहा। ('सिय रघुबीर बिआहु' अर्थात् यहाँ प्राकृत विभूति नहीं है, सब दिव्य अप्राकृत त्रिपादवाली विभूति है)।

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगलमूल नसाहीं॥ १॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय रामु कहेउ कामारी॥ २॥
येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा। पुनि आगे बर बसह चलावा॥ ३॥

शब्दार्थ—करतल=हथेली। करतल होहिं=ऐसे मिल जाते हैं मानो पहलेसे ही हथेलीमें रक्खे हैं, सहज ही प्राप्त हो जाते हैं, अनायास आ जाते हैं।

अर्थ—'जिनका नाम लेते ही संसारमें समस्त अमङ्गलके मूल (ही) नष्ट हो जाते हैं॥ १॥ और अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारों पदार्थ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। ये वही श्रीसीतारामजी हैं'—यह कामारि (महादेवजी) ने कहा॥ २॥ इस प्रकार शिवजीने देवताओंको समझाया, फिर अपने श्रेष्ठ बैल नन्दीको आगे चलाया (बढ़ाया)॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'जिन्ह कर नाम लेत ···' का भाव कि जिनका नाम लेनेसे अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं, वे श्रीसीतारामजी यहाँ साक्षात् विराजमान हैं। 'जग माहीं' का भाव कि जिनका नाम लेनेसे जगत् भरका अमङ्गल नष्ट हो जाता है उनके समीप अमङ्गल कैसे आ सकता है ? पुनः भाव कि अमङ्गलका मूल जगत् है, जबतक जगत्-बुद्धि है तभीतक अमङ्गल है। श्रीसीतारामजीका नाम लेनेसे जगत्-बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं' (१ । २५ । ४), 'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥ ११२ । २।' नाम-नामीसे अभेद है, इसीसे जो काम नामीसे होता है, वही राम-नामसे होता है। अज्ञान एवं अनेक दुःखोंके भोग ही अमङ्गल हैं। जगत् होना कार्य है, अज्ञानादि अमङ्गल कारण हैं। जगत् कार्य और अमंगल कारण दोनोंका नाश कहा। (क) 'मूल नसाहीं'—भाव कि मूल कारणका ही नाश हो जाता है, फिर जगत्-बुद्धि नहीं रह जाती। 'सीयराममय'—चिदचिद्विशिष्टब्रह्म'—बुद्धि हो जाती है। (ग) 'जिन्ह···सकल अमंगल···मूल नसाहीं' इति।—ब्रह्माने यहाँ अपनी कुछ करनी न देखी, उनका प्रपञ्च तो गुण-अवगुणसे सना है और यहाँ कुछ भी अवगुण न देख पड़ा, इसपर शिवजीने यह बात कही कि जिनका नाम लेनेसे अवगुणरूप जगत् और अमङ्गल नष्ट हो जाता है, उनके यहाँ (जहाँ वे विराजमान हैं) अमङ्गल कैसे आ सकता है? (अमंगलमूल=जन्ममरण आदि बाधाएँ। रा० प्र०।')

२ 'करतल होहिं पदारथ चारी····' इति। (क) अमङ्गल नष्ट हुए, कुछ प्राप्ति तो न हुई ? उसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है किन्तु 'करतल होहिं'। (ख) 'करतल होहिं' अर्थात् बिना परिश्रम आपसे ही आ जाते हैं। (ग) 'तेइ सिय राम' अर्थात् जिनके नामका यह प्रभाव है वे साक्षात् यहाँ विराजमान हैं; अतः यहाँ जो भी हो सो सब थोड़ा ही है। (घ) 'कामारि'—भाव कि शिवजीने कामको जीता है, इसीसे वे श्रीसीतारामजीका प्रभाव भलीभाँति जानते हैं; उन्हींका यह कथन है। [पुनः, भाव कि सब विकारोंमें काम प्रधान है सो उसको ये जीते हुए हैं; इससे उनको मोह नहीं हो सकता। ये सियराम-स्वरूपको यथार्थ जानते हैं। ब्रह्मादिक व्यवहारकी प्रबलतासे भ्रममें पड़ जाया करते हैं और ये उससे सदा पृथक् रहते हैं—(पंजाबी, रा० प्र०)]

नोट—१ 'तेइ सियराम' इति। कुछ लोग श्रीसीताजीको माया कहते हैं। उनकी यह भूल है, यह यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं। मायाका नाम 'सकल अमंगलमूलका नाशक' नहीं हो सकता है। इसी तरह जगन्मात्रको 'सीयराममय' कहा है। फिर मोक्षका भी अनायास प्राप्त होना भी इनके नामसे कहा है—'करतल होहिं पदारथ चारी'। दोहावलीमें भी 'सीताराम' का नित्य स्मरण करनेको कहा है। यथा—'तुलसी सहित सनेह नित सुमिरहु सीताराम। सगुन सुमंगल सुभ सदा आदि मध्य परिनाम॥ ५६९॥ पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम। सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥ ५७०॥' दोहा १८ में कविने श्रीसीताजी और श्रीरामजीको अभिन्न कहा है। इत्यादि।

टिप्पणी—३ 'येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा····' इति। (क) 'येहि बिधि' का भाव कि अज्ञानको ज्ञानसे दूर करना चाहिये था सो न करके उन्होंने भक्तिमार्गसे (उपासनाकी रीतिसे) दूर किया। नाम-रूपलीलाका प्रभाव दिखाकर मोहको (अर्थात् विचित्र दिव्य अप्राकृत धामको देखकर जो आश्चर्य हुआ उसको) दूर किया। 'जिन्ह कर नाम लेत···' यह नाम (का प्रभाव) है, 'करतल होहिं पदारथ चारी' यह रूप (का प्रभाव) है, 'हृदय बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु' यह लीला (का प्रभाव) है और धामको देखकर आश्चर्य हुआ यह धामका प्रभाव है। (ख) 'पुनि आगे बर बसह चलावा' इति। 'पुनि' का भाव कि प्रथम इनका चलना कहा गया था, यथा—'चले बिलोकन राम बिआहू'। बीचमें देवताओंको समझानेके लिये चलना रोक दिया था। जब समझा चुके और देवताओंका मोह नष्ट हो गया तब पुनः चले। 'बर' कहकर वृषभको दिव्य जनाया। (ग)—प्रथम लिखा था कि 'शिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा। चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा॥' (३१४ । २) और यहाँ कहते हैं कि 'बर बसह चलावा' अर्थात् शिवजीका वृषभपर चढ़ा होना कहते हैं; इस तरह सूचित करते हैं कि शिवजी बैलपर हैं और सब विमानोंपर हैं [समष्टिरूपमें विमानोंपर चढ़े होना लिखा, क्योंकि विमान बहुत हैं इसीसे उनको कह दिया। अथवा, देवताओंके नाना यूथ नाना विमानोंपर हैं, यह यहाँ कहा। शिव-ब्रह्मा आदि अपने-अपने वाहनोंपर हैं। शिवजी नन्दीपर हैं, ब्रह्माजी हंसपर हैं, इन्द्र ऐरावतपर हैं, विष्णु गरुड़पर हैं, कार्तिकेय मोरपर हैं इत्यादि। और देववृन्दोंकी टोलियाँ विमानोंपर हैं] (घ)—'सिव समुझाए देव सब····' उपक्रम है और 'येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझाया' उपसंहार है।

देवन्ह देखे दसरथु जाता। महामोद मन पुलकित गाता॥ ४॥
साधु समाज संग महिदेवा। जनु तनु धरे करहिं सुख* सेवा॥ ५॥
सोहत साथ सुभग सुत चारी। जनु अपबरग सकल तनु धारी॥ ६॥

अर्थ—देवताओंने देखा कि श्रीदशरथजी मनमें महान् आनन्दित और शरीरसे पुलकित हुए चले जा रहे हैं। ४। साथमें साधु और विप्रोंका समाज (ऐसा सुशोभित) है मानो (समस्त) सुख शरीर धारण किये हुए सेवा कर रहे हैं। ५। सुन्दर चारों पुत्र साथमें (ऐसे) सोह रहे हैं मानो समस्त 'अपवर्ग' (मोक्ष) शरीर धारण किये हुए (साथमें) हैं। ६।

टिप्पणी—१ 'देवन्ह देखे दसरथ···' इति। (क) यह शिवजीका उपदेश चरितार्थ किया (अर्थात् देवताओंने दशरथजीको जाते देखा, इस कथनसे दिखाया कि उनके उपदेशका प्रभाव पड़ा)। सब देवता आश्चर्यमें भूले हुए थे, इससे कभी नगर देखते थे (यथा—'देखि जनकपुर सुर अनुरागे।···'), कभी वितान देखते, (यथा—'चितवहिं चकित बिचित्र बिताना'), और कभी पुरनरनारियोंको देखने लगते थे, यथा—'नगर नारि नर रूप निधाना।···तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी॥···'। जब शिवजीने समझाया तब सब ओरसे दृष्टि हटाकर दशरथजीको देखने लगे। (ख) 'महामोद मन पुलकित गाता'—मनमें महान् आनन्द और शरीर पुलकित होनेका कारण अगले चरणोंमें कहते हैं कि साधु, ब्राह्मण और चारों पुत्र साथमें हैं। यही कारण आगे देवताओं और श्रीशिवजीके हर्षका भी कहा है, यथा—'मरकत कनक बरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भै प्रीति न थोरी॥ पुनि रामहि बिलोकि हिय हरषे।' 'रामरूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि। पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि॥ इस तरह 'महामोद मन पुलकित गाता' देवताओं और दशरथमहाराज दोनोंमें लगता है।

नोट—१ (क) 'जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा' इति। अनेक प्रकारकी चिन्ताओं, कष्टों आदिसे निरन्तर बचे रहनेपर अनेक प्रकारकी वासनाओं आदिकी तृप्ति होनेपर मनमें जो प्रिय अनुभूति होती है, वह 'सुख' है। सुख आत्माका एक गुण है जो दो प्रकारका होता है—(१) 'नित्य सुख' जो परमात्माके विशेष सुखके अन्तर्गत है, और (२) 'जन्य' सुख जो जीवात्माके विशेष सुखके अन्तर्गत है। यह धन या मित्रकी प्राप्ति, आरोग्य और भोग आदिसे उत्पन्न होता है।—(श० सा०)। (ख) प्रथम संस्करणमें हमने 'करहिं सुर सेवा' पाठ रक्खा था। परंतु अब सं० १६६१ का पाठ प्राचीनतम जानकर उसको ही ठीक समझकर रक्खा है। 'अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष' भी सुख हैं। इनका सेवन भानुप्रताप-प्रसङ्गमें कहा भी गया है, यथा—'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु' १। १५४'। वहाँ राजाका अर्थादि सुखोंका सेवन करना कहा था और यहाँ सभी सुखोंका मूर्तिमान् होकर श्रीदशरथजी महाराजकी सेवा करना कहा है। यहाँ साथमें साधु और विप्रोंका समाज है। इनमेंसे साधु-समाज मूर्तिमान् नित्य सुख अर्थात् मोक्ष है और विप्रसमाज जन्यसुख है जो अर्थ, धर्म, कामसे प्राप्त होता है। साधुसङ्गसे अपवर्गकी प्राप्ति होती है, यथा—'संत संग अपबर्ग कर कामी भवकर पंथ। ७। ३३।' विप्र राजाको वेदविधिके अनुसार कर्म-धर्मादि कराते हैं जिससे अर्थ-धर्म-कामकी प्राप्ति होती है।

'सुर सेवा' पाठमें भाव यह है कि पूर्व राजाको इन्द्र और वसिष्ठजीको सुरगुरु बृहस्पति कह आये हैं, यथा—'सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसें। सुरगुरु संग पुरंदर जैसें'॥ बाकी रहे देवता। उनको यहाँ कहते हैं—'साधु समाज संग महिदेवा'। इसमें शंका होती है कि साधु ब्राह्मण राजाकी सेवा करते हैं, यह कहना अनुचित है। उसका समाधान यह है कि यहाँ साक्षात् साधु-ब्राह्मणोंका सेवा करना नहीं कहते, यहाँ तो उत्प्रेक्षामात्र है। राजाको इन्द्रसमान कहा तो साधु-ब्राह्मणको सुरसमान कहा, सुर इन्द्रकी सेवा करते हैं। सेवा करना देवताओंका कहा। यहाँ यह नहीं कहते कि साधु-ब्राह्मण सुरोंके समान सेवा करते हैं। किंतु 'जनु करहिं' ऐसा कहते हैं। (न राजा वास्तवमें इन्द्र और न साधु विप्र देवता)। [राजा कश्यप मनुका अवतार हैं और कश्यप मनु सबके पिता हैं, इस भावसे सेवा करना उचित है। (पं०, रा० प०)। अथवा, यहाँ गुप्त हेतूत्प्रेक्षा है। देवता सेवा कर रहे हैं क्योंकि राजाके पुत्र उनके रक्षक हैं' (वै०) अथवा, साधु-विप्रका नीति-उपदेश करना, वेदविधिसे कर्म कराना, राजाका दान स्वीकार करना, वेदमन्त्रोंका यथावसर पढ़ना—यह सब राजाकी सेवा है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ 'सोहत साथ सुभग सुत चारी।···' इति। (क) प्रथम साधु-ब्राह्मणका सङ्ग कहा, पीछे अपवर्गकी

* सुर—१७२१, १७६२, छ०। सुख—१६६१, १७०४, को० रा०।

प्राप्ति कही, क्योंकि साधु-ब्राह्मणके सत्सङ्गसे अपवर्गकी प्राप्ति होती है। (ख) 'सोहत' का भाव कि (उत्तम पदार्थ उत्तमके ही पास शोभा पाता है। अधिकारीको पाकर ही अधिकारके पदार्थकी शोभा है, अनधिकारीके पास नहीं) नीचके घर अर्थ-धर्म-काम नहीं सोहते, पापीको मोक्ष होना नहीं सोहता। (ग) 'जनु अपबरग सकल तनु धारी' इति। मोक्ष चार प्रकारका है, सालोक्य (जिसमें मुक्त जीव भगवान्‌के साथ एक लोकमें वास करता है), सारूप्य (जिसमें उपासक अपने उपास्यदेवके रूपमें रहता है और अन्तमें उसी उपास्यदेवका रूप प्राप्त कर लेता है), सामीप्य (जिसमें मुक्त उपासक अपने उपास्यदेवके समीप रहता है)। सायुज्य (जिसमें प्रभुके अङ्गमें भूषण आदिरूपसे लीन रहता है।)] जहाँ केवल राजा हैं वहाँ चारों पुत्रोंको चार फल कहा है, *यथा*—'नृप समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धरमादिक तनु धारी॥ ३०९। २।' राजा ऐसे सुकृती हैं कि चारों फल और चारों मोक्षरूप धारण करके मिले, तब शोभाको प्राप्त हुए। तात्पर्य कि बिना अधिकारीको प्राप्त हुए इनकी शोभा नहीं है।

नोट—१ (क) पूर्व 'नृप समीप सोहहिं'''''जनु धन''' कहा गया। वहाँ 'नृप' शब्द दिया गया और केवल 'नृप' के साथ चारोंका होना लिखा गया। दशरथजी राजाकी हैसियतसे माने गये और राजाको अर्थ-धर्मादिकी आवश्यकता होती है, अतः वहाँ 'नृप' कहकर उनके साथ चारों फलोंका तनधारी होकर सोहना कहा। यहाँ दशरथजी अकेले नहीं हैं, किंतु **'साधु समाज संग महिदेवा।'** तथा 'सोहत साथ सुभग सुत चारी' दोनों हैं। साधु-ब्राह्मणके सङ्गसे दशरथजीको सदैव मोक्षकी प्राप्ति है ही, इसीसे राजाका अपवर्गोंसे शोभित होना नहीं कहा, किंतु अपवर्गोंका उनके पास शोभित होना कहा। यहाँ दशरथजी नृपकी हैसियतसे नहीं वरंच भक्त या मुक्तजीवरूप माने गये हैं। (ख) 'तनु धारी' कहनेका भाव कि मोक्षका कोई स्वरूप नहीं है, इससे तन धारण करनेकी उत्प्रेक्षा की गयी। पुनः भाव कि अपवर्ग तो उन्हें स्वाभाविक, साधारण ही प्राप्त थे ही। उससे उनकी शोभा कैसे कहते? हाँ, जब वे शरीरधारी होकर पास रहें तब वे शोभित कहे जा सकें, इसीसे 'तनुधारी' होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी। -३०९। २ देखिये। (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ प्रभु श्रीरामजी सायुज्य मुक्ति हैं, प्रभुके समान रूप होनेसे भरतजी सारूप्य हैं और प्रभुके सदा निकटवर्ती होनेसे लक्ष्मणजी सामीप्य हैं तथा भरतजीके निकटवर्ती होनेसे श्रीशत्रुघ्नजी सालोक्य हैं। (घ) देवताओंको अर्थ-धर्म-कामकी प्राप्ति है, मोक्षकी प्राप्ति नहीं है। और राजाको चारों मोक्ष मानो चारों रूप धरकर मिले हैं, यह विशेषता है। (पं० रामकुमारजी)। यह केवल साधु-विप्र-संगसे। (ङ) श्रीदशरथजी तो मुक्ति चाहते ही न थे, इसीसे चारों मोक्ष शरीर धारण करके स्वयं आ रहे। यथा—'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं।' मानसमें चारों मोक्षोंका अस्तित्व, यथा—'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥ ६। ३।', 'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं। ६। ११५।', 'तनु तजि तात जाहु मम धामा। ३। ३१। १०।' 'गीध गयउ हरिधाम। ३। ३२।', 'राम कृपा बैकुंठ सिधारा' इत्यादि (यह सालोक्य है); 'जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥ ७। ४। ६।' (यह सामीप्य है)। 'गीध देह तजि धरि हरि रूपा। ३। ३२। १।' (यह सारूप्य है; 'जो गंगाजल आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥ ६। ३। २।', 'हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे' (शबरीजी इत्यादि। यह सायुज्य है)। (प० प० प्र०)।

मरकत कनक बरन बर जोरी*। देखि सुरन्ह भै प्रीति न थोरी॥ ७॥
पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरषे। नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे॥ ८॥

दो०—रामरूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि।
पुलकगात लोचन सजल उमासमेत पुरारि॥३१५॥

अर्थ—मरकतमणि और सुवर्णके रंगकी जोड़ियोंको देखकर देवताओंको कुछ थोड़ी प्रीति नहीं हुई (अर्थात् बहुत हुई)। ७। फिर वे श्रीरामचन्द्रजीको देखकर हृदयमें हर्षित हुए और राजाकी सराहना कर-करके उन्होंने फूलोंकी वर्षा

* तनु—१७२१, छ०। बर—१६६१, १७०४, १७६२, को० रा०।

गीं। ८। श्रीरामचन्द्रजीके नखसे शिखापर्यन्त सुन्दर रूपको बारंबार देख-देखकर उमा (सतीजी) सहित श्रीमहादेवजीका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये। ३१५।

टिप्पणी—१ 'मरकत कनक·····' इति। (क) मरकत श्याममणिके वर्णसमान श्रीरामजी तथा श्रीभरतजी श्यामवर्ण हैं। कनकवर्णसमान श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्नजी गौर-वर्णके हैं। एक श्याम एक गौर, इस तरह श्रीराम-लक्ष्मणकी एक जोड़ी और श्रीभरत-शत्रुघ्नजीकी एक जोड़ी है। अथवा, श्रीराम-भरत श्याम-श्यामकी एक जोड़ी और श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न गौर-गौरकी एक जोड़ी परंतु श्रीराम-लक्ष्मणकी जोड़ी सदा साथ रहती है और इसी तरह भरत-शत्रुघ्नजी साथ रहते हैं, इससे श्याम-गौरकी जोड़ी विशेष संगत अर्थ होगा। (प्र० सं०)] (ख) 'देखि सुरन्ह मै प्रीति न थोरी' इति। श्याम-गौरकी जोड़ी देखकर प्रीति होनेमें भाव यह है कि श्याम-गौरकी जोड़ी अत्यन्त सुन्दर है, मनको हर लेनेवाली है, यथा—'तन अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥ २१९। ४।', 'रामु लषनु दसरथ के ढोटा। दीन्ह असीस देखि भल जोटा॥ 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन।···। २६९। ७-८।', तथा यहाँ 'मरकत कनक बरन बर जोरी···'। ☞ देवताओंके भावमें मूर्तिका वर्णमात्र वर्णन किया, शिवजीके भावमें (आगे) समस्त रूपका वर्णन करेंगे।

२ 'पुनि रामहि बिलोकि हिय हरषे।····' इति। (क) प्रथम जोड़ीको देखकर चारों भाइयोंमें प्रीति हुई, फिर केवल श्रीरामजीको पृथक् देखकर हर्षित हुए। कारण यह है कि यद्यपि चारों भाई सुन्दर हैं तथापि श्रीरामजी सबसे अधिक सुन्दर हैं। यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥ १९८। ६'। (ख) देवताओंके तन, मन, वचन तीनोंका हाल यहाँ कहते हैं—'हिय हरषे' यह मनका हाल है, मनसे हर्षित हुए, 'सराहि' यह वचनका हाल है और 'सुमन बरषे' यह तनका हाल है, शरीरसे फूल बरसाये। इस प्रकार उनके मन, वचन, तन प्रभुमें लगे हुए दिखाये। (ग) 'भाग्य बिभव अवधेस कर देखि देव ब्रह्मादि। लगे सराहन सहस मुख···। ३१३' उपक्रम है और 'पुनि रामहि बिलोकि हिय हरषे। नृपहि सराहि···'उपसंहार है। अर्थात् दोहा ३१३ से लेकर यहाँतक देवताओंके व्यवहारका वर्णन किया गया। देवता व्यवहारी हैं, इसीसे उन्होंने प्रथम राजाका 'भाग्य बिभव' देखकर राजाकी प्रशंसा की। जब शिवजीने समझाया तब श्रीरामजीको देखकर राजाकी प्रशंसा करने लगे। तात्पर्य कि प्रथम अर्थके सम्बन्धसे प्रशंसा की थी और अब परमार्थके सम्बन्धसे प्रशंसा करते हैं। उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें दो सम्बन्धसे प्रशंसा करके जनाया कि स्वार्थ और परमार्थ दोनोंमें राजा प्रशंसाके योग्य हैं। न तो किसीने ऐसा स्वार्थ सिद्ध किया और न परमार्थ ही, दोनोंमें इनके समान दूसरा नहीं।

३ 'रामरूप नख सिख····' इति। (क) [अब देवताओंसे शिवजीमें अधिक प्रेम दिखा रहे हैं। देवताओंके सम्बन्धमें 'देखि सुरन्ह' ऐसा कहा और शिवजीके सम्बन्धमें 'बारहिं बार निहारि' कहा। 'देखि' और 'निहारि' से भी सामान्य और विशेष, स्थूल और सूक्ष्मका भेद दर्शित किया। पुनः, देवताओंका चित्त चारों तरफ रहा, वे कभी नगर देखते, कभी स्त्री-पुरुषोंको देखते, कभी मण्डपको और तब श्रीरामजीको। यथा—'देखि जनकपुर सुर अनुरागे', 'देवन्ह देखे दसरथ जाता' इत्यादि। और शिवजीका चित्त एकाग्र श्रीरामरूपमें रमा रहा; उनकी दृष्टि और कहीं नहीं गयी। बारंबार श्रीरामजीको ही नखसे शिखातक देखते हैं, उनकी दृष्टि प्रपञ्चमें नहीं है। पुनः शिवजीकी जो दशा 'पुलक गात लोचन सजल' हुई वह दशा देवताओंकी नहीं हुई। (प्र० सं०)] (ख) 'बारहिं बार निहारि' इति। बारंबार निहारनेमें भाव यह है कि वह 'माधुरी मूरति साँवली सूरति' नखशिखसे ऐसी सुन्दर है कि उसे देखनेसे तृप्ति नहीं होती; यथा—'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ १४८। ६।', 'दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन। २। २६०', इत्यादि। पुनः भाव कि नखसे शिखतक जिसी अंगको देखते हैं, उसीमें भूले रह जाते हैं, दूसरे अङ्गके दर्शनका ध्यान नहीं रह जाता, पूरा रूप सर्वांग एक बारमें नहीं देख पाते। अतः बार-बार देख-देखकर हृदयमें जमाते हैं। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि 'परम प्रेममय मृदु मसि' करके 'चित्त-भीति' पर लिख लेना चाहते थे, पर 'लोचन रामरूप ललचाने' हैं, इससे मनको बारंबार बाहर ले आते हैं। चित्तभीतिपर लिख नहीं पाते। गी० १। १०६ में इसी रूपके सम्बन्धमें इसी अवसरपर कहा है—'सारद सेष संभु निसि बासर चिंतत रूप न हृदय समाई।' वही भाव यहाँ है। (प० प० प्र०)] (ग) 'पुलक गात लोचन सजल', यह प्रेमकी दशा है, यथा—'तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नयन।···२२८'। (घ)

'पुरारि' का भाव कि त्रिपुरके मारनेमें शिवजीको जैसा सुख हुआ था वैसा ही श्रीरामरूप देखनेसे हुआ। (वैसा आनन्द त्रिपुरके मारनेपर हुआ था उससे कहीं बढ़कर आनन्द इस समय है, क्योंकि पूर्व त्रिलोकको सुखी जानकर आप सुखी तो अवश्य हुए पर 'पुलक गात लोचन सजल' नहीं हुए थे)। यहाँ रामरूप-दर्शन और समरमें विजयकी प्राप्ति दोनों सुखोंकी परस्पर उपमा है, यथा—'मूक बदनु जनु सारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई। ३५०। ८।' (परंतु जैसे उदाहरणमें 'एहि सुख ते सत कोटि गुन पावहिं मातु अनंदु। भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुलचंदु। ३५०।', वैसे श्रीशिवजी दूलहरूप देख-देखकर त्रिपुरविजयी होनेके सुखसे कहीं अधिक सुख पा रहे हैं)। (ङ) देवताओंका चारों भाइयोंको देखना प्रथम कहा गया, शिवजीका देखना पीछे कहा गया। इससे पाया गया कि देवता आगे हैं शिवजी पीछे। इसी तरह अपने विवाहमें भी शिवजी पीछे ही रहे, यथा—'चले लेन सादर अगवाना॥ हिय हरषे सुर सेन निहारी। हरिहि देखि अति भए सुखारी॥ शिव समाज जब देखन लागे।···१। ९५।'

केकि कंठ दुति स्यामल अंगा। तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा॥ १॥
ब्याह बिभूषन बिबिध बनाए। मंगल सब* सब भाँति सुहाए॥ २॥
सरद बिमल बिधु बदनु सुहावन†। नयन नवल राजीव लजावन॥ ३॥
सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मनहीं मन भाई॥ ४॥

अर्थ—मोरके कण्ठकी द्युतिके समान श्याम अङ्ग है, बिजलीकी भी अत्यन्त निन्दा करनेवाले सुन्दर पीत रंगके वस्त्र (पहिने) हैं॥ १॥ अनेक प्रकारके विवाहके आभूषण (अङ्ग-अङ्गमें) सजाये हुए हैं (जो) सब माङ्गलिक और सब प्रकारसे सुन्दर हैं॥ २॥ सुन्दर मुख शरदपूनोंके निर्मल चन्द्रमाको और नेत्र नवीन खिले हुए लाल कमलको लज्जित करनेवाले हैं॥ ३॥ सम्पूर्ण सुन्दरता अलौकिक है, कही नहीं जा सकती, मन-ही-मन अच्छी लग रही है॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'केकि कंठ···' इति। [(क) ध्यान जो यहाँ वर्णन किया जा रहा है, यह वह है जैसा शिवजीने देखा। देवताओंके हृदयमें द्रव्य बसा रहता है, क्योंकि वे व्यवहारमें निपुण हैं। उनकी दृष्टिमें लक्ष्मीका विलास है, इसीसे उनके भावानुसार चारों भाइयोंका वर्ण मरकतमणि और कनकके समान कहा गया। शिवजी प्रेमी हैं और विरक्त भी, अतएव इनके भावानुसार प्रेमीके रंगकी उपमा दी गयी। मोर मेघोंका अनुरागी है और मेघ श्रीरामजीके शरीरके समान श्याम हैं। मोर श्रीरामजीके श्याम रंगका अनुरागी है, इसलिये श्रीरामजीका वर्ण मोरके रंगके समान कहा गया। दुति (द्युति)=शोभा, कान्ति। ('केकिकण्ठदुति' से उस चमककी लहरसे तात्पर्य है जो मोरके कण्ठकी ओर बारंबार लगातार देखनेसे दिखायी देती है। (मा० सं०)। उसमें नीलकमलकी श्यामता और नीलमणिकी तेजस्विता (चमक) दोनों हैं। (प० प० प्र०)]। (ख) 'सुरंगा' का भाव कि अपने सुन्दर रंगसे तड़ितका निन्दक है।

२ (क) 'बिबिध' जैसे कि मौर, कुण्डल, मणिमाल, पदिक, बिजायठ, कड़ा, कंकण, मुद्रिका, किंकिणि इत्यादि। बनाये=पहनाये। 'मंगलमय' से जनाया कि सबोंमें दिव्य स्वर्ण और दिव्य मणि लगे हैं। (माङ्गलिक और पीतवर्णके भी सूचित किये)। 'सब भाँति सुहाए' अर्थात् रंगसे, बनावसे, वस्तुसे। (सब तरहसे शोभायमान। जहाँ जैसी बनावट—सजावट आदि चाहिये वहाँ वैसी ही है)।

(ख) 'सरद···लजावन'—'शरद्' को आदिमें और 'लजावन' को अन्तमें देकर जनाया कि इन दोनोंका अन्वय दोनों चरणोंमें है। शरद् 'चन्द्र' और 'नवल राजीव' दोनोंके साथ हैं। यथा—'सरद सरबरीनाथ मुख सरद सरोरुह नयन।' 'बिमल बिधु' कहकर पूर्णिमाका चन्द्र सूचित किया। (ग) 'बिमल बिधु' और 'नवल राजीव' कहनेका भाव कि सुन्दर मुख और नेत्र उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट उपमाको लज्जित करनेवाले हैं। 'बिमल' और 'नवल' से उपमाओंकी उत्कृष्टता दिखायी। (घ) 'अलौकिक' अर्थात् लोकमें ऐसी सुन्दरता नहीं है जिसकी उपमा देकर कुछ कह सकें। इसीसे कहा कि 'कहि न जाइ मनही मन भाई'; यथा—'मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥'

बंधु मनोहर सोहहिं संगा। जात नचावत चपल तुरंगा॥ ५॥
राजकुअँर बरबाजि देखावहिं। बंस प्रसंसक बिरिद सुनावहिं॥ ६॥

* मंगल सब—१६६१। मंगलमय—औरोंमें। † सुहावण—१६६१।

जेहि तुरंग पर रामु बिराजे। गति बिलोकि खगनायकु लाजे॥ ७॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। बाजि बेषु जनु काम बनावा॥ ८॥

अर्थ—साथमें सुन्दर भाई शोभित हैं (जो) चञ्चल घोड़ोंको नचाते जा रहे हैं॥ ५॥ राजकुमार अपने श्रेष्ठ घोड़ोंको (अर्थात् उनके गुण) दिखा रहे हैं। वंशकी प्रशंसा करनेवाले विरदावली सुना रहे हैं॥ ६॥ जिस घोड़ेपर श्रीरामजी विराजमान हैं उसकी चाल (गति) देखकर गरुड़ लज्जित हो गये॥ ७॥ सब प्रकार सुन्दर हैं; कहा नहीं जाता, मानो कामदेवने घोड़ेका वेष धारण किया है॥ ८॥

टिप्पणी १—'बंधु मनोहर···' इति। (क) देवता दशरथजीको देखते हैं, उनके साथ चारों भाइयोंको देखते हैं, महादेवजी श्रीरामजीको देखते हैं और श्रीरामजीके साथ भाइयोंको देखते हैं। भाव यह कि देवताओंकी दृष्टिमें व्यवहार है और शिवजीकी दृष्टिमें केवल परमार्थ है, उनकी दृष्टिमें चारों भाई एक ही मूर्ति हैं इसी भावसे वे भाइयोंको श्रीरामजीके सङ्ग ही देखते हैं। देवता उनको राजाके सङ्ग देखते हैं और राजाको सराहते हैं कि धन्य हैं राजा, जिनके ये चार पुत्र हैं, यह मायाका व्यवहार है। (ख) 'मनोहर'—श्रीरामजीकी शोभाका वर्णन किया, भाइयोंकी शोभा 'मनोहर' विशेषणसे कही और सङ्गमें शोभित होना कहा; इस प्रकार सूचित किया कि जो शृङ्गार श्रीरघुनाथजीका वर्णन किया, वही शृङ्गार भाइयोंका भी है। सभी मनको हरनेवाले हैं और यह भी दिखाया कि यद्यपि घोड़े अत्यन्त चपल हैं तथापि वे घोड़ोंको श्रीरामजीके घोड़ेके आगे नहीं बढ़ाते, बाग ठाँसे (थामें) उसी जगह नचाते हैं। सङ्गमें रहते हैं इसीसे सोह रहे हैं। 'चपल' से जनाया कि उड़ना चाहते हैं, रुकना नहीं चाहते।

२ 'राजकुअँर बर बाजि···' इति। (क) प्रथम श्रीरामजीकी सवारी कही, फिर भाइयोंकी और तब राजकुमारोंकी। इससे जनाया कि इसी क्रमसे सब चल रहे हैं। आगे श्रीरामजी हैं, उनके आसपास भाई हैं और भाइयोंके आसपास राजकुमार हैं। (ख) 'बर बाजि' कहकर जनाया कि जिन घोड़ोंपर बारातके प्रस्थानसमय वे सवार थे, उन्हींपर यहाँ फिर सवार हुए। वहाँपर भी घोड़ोंको 'बर बाजि' कहा है और उनकी श्रेष्ठता वर्णन की है, यथा—'**रचि रचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे॥ सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी॥···निदरि पवन जनु चहत उड़ाने। तिन्ह सब छयल भये असवारा। भरत सरिस बय राजकुमारा॥ २९८। ४-७।**' वही सब भाव '**बर बाजि देखावहिं**' के हैं। सूचीकटाहन्यायसे श्रीरामजीके घोड़ेका वर्णन पीछे किया। (अर्थात् श्रीरामजीके घोड़ेका वर्णन भारी काम था इसलिये उसका वर्णन अन्तमें किया, पहले छोटा काम कर लिया तब बड़ेमें हाथ लगाया)। (ग) '**बंस प्रसंसक बिरिद सुनावहिं**' इति। राजकुमार अपने-अपने घोड़ोंका हुनर (गुण) और उनके नचानेके गुण (कला) जो ये जानते हैं उनको इस प्रकारसे दिखा रहे हैं कि प्रशंसक प्रशंसा करने लगे। '**बिरिद सुनावहिं**' अर्थात् वंशकी और वंशके सम्बन्धसे राजकुमारोंकी प्रशंसा करते हैं।

३ 'जेहि तुरंग पर रामु···' इति। (क) 'तुरंग' नाम यहाँ दिया क्योंकि 'तुरंग' का अर्थ है जो 'तुरा' (शीघ्रता) से गमन करे। गतिसे गरुड़का लज्जित होना कहते हैं, इसीसे गतिसूचक 'तुरंग' शब्द यहाँ दिया। (ख) 'राम बिराजे' का भाव कि घोड़ा ऐसा सुन्दर है कि उसपर सवार होकर श्रीरामजी शोभाको प्राप्त हुए। ('बिराजे' का अर्थ है कि विराजमान हुए, सवार हैं)। (ग) 'गति बिलोकि'—'देखना' कहा, क्योंकि गरुड़ विष्णुकी सवारीमें वहीं सब देवताओंके साथ ही उपस्थित हैं। यहाँ चाल देखकर पक्षिराजका ही लज्जित होना कहा, अन्य देवताओंके वाहनोंका नहीं, कारण कि पक्षिराज वेगमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं, इसीसे उनका लज्जित होना कहा। श्रीरामजीके घोड़ेकी गति अपनेसे अधिक देखकर लजा गये। राजकुमारों और श्रीरामजीके घोड़ेमें यह अन्तर दिखाया। (घ) यहाँ 'पञ्चम प्रतीप अलंकार' है।

४ 'कहि न जाइ···' इति। (क) अर्थात् अकथ्य है। 'सब भाँति सुहावा' अर्थात् वयसे, बलसे, शरीरसे, रूपसे, गुणसे, आभूषण, गति, वर्ण, जाति और शृङ्गार इत्यादि सब भाँतिसे सुन्दर है, इनमेंसे प्रत्येक भाँति अकथ्य है, कहते नहीं बनता। (ख) पूर्व सवारकी शोभाको अकथ्य कह आये, यथा—'**सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मनही मन माई॥ ४॥**', और यहाँ घोड़ेकी शोभा भी अकथ्य बतायी। पर श्रीरामजीकी उपमा नहीं है, उनकी सुन्दरता अलौकिक है (यथा—'**नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥ ३। १९।**', यह खरदूषण राक्षसका वाक्य है कि त्रैलोक्यमें ऐसा सुन्दर कोई नहीं है)। और घोड़ेकी उपमा

काम है। इससे जनाया कि सवारीकी शोभा घोड़ेसे अधिक है। (घोड़ेकी उत्प्रेक्षाके लिये कोई उपमा मिली तो सही, पर सवारकी उत्प्रेक्षा भी न मिली। यहाँ 'अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है)।

नोट—१ भाइयों और राजकुमारोंका घोड़ोंको नचाना, उनकी चाल और गुण दिखाना कहा गया, परंतु श्रीरामजीके विषयमें नचाना आदि नहीं कहा। यहाँ 'गति बिलोकि खगनायक लाजे' और 'बिराजे' पद देकर इसका समाधान कविने कर दिया है कि वे सब तो शास्त्रविधिके अनुकूल नचाते हैं। और यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो घोड़ेको नचाना नहीं पड़ता, घोड़ेकी चाल ही अति सुन्दर है, वह तो स्वयं प्रभुके मनसे मन मिलाये हुए उनकी इच्छा अनुसार बड़ी सुन्दर गतिसे चलता है। दूसरे, यह विवाहका समय है। अवस्था, स्वभाव और विवाहसमयके अनुसार दूलहको गम्भीर रहना ही चाहिये। अतः नचाना नहीं कहा गया। (पं०)। आगे श्रीरामजीको 'घन' (मेघ) कहा है, मेघ गम्भीर होता ही है!

छंद—जनु बाजि बेपु बनाइ मनसिजु रामहित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई॥
जगमगत जीनु जराव जोति सुमोति* मनि मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगामु ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे॥

दो०—प्रभु मनसहि लयलीन मनु चलत बाजि छबि पाव।
भूषित उड़गन तड़ित घनु जनु बर बरहि नचाव॥ ३१६॥

अर्थ—मानो श्रीरामजीके लिये एवं रामप्रेमके कारण कामदेव घोड़ेका वेष बनाकर अत्यन्त सोह रहा है। अपनी अवस्था, बल, रूप, गुण और चालसे समस्त लोकोंको विशेष रीतिसे मोहित कर रहा है। सुन्दर मोती, मुक्ता और माणिक्य जड़ी हुई जड़ाऊ जीन अपनी ज्योतिसे जगमगा रही है। बढ़िया रमणीय किंकिणी और सुन्दर लगामको देखकर सुर-नर-मुनि सब ठगे-से रह गये। प्रभुके मनमें अपने मनको लवलीन करके चलते हुए घोड़ा ऐसी छवि पा रहा है। (अर्थात् इशारा करनेकी जरूरत ही नहीं पड़ती) मानो कोई बादल, बिजली और तारागणसे विभूषित (अर्थात् सहित) किसी सुन्दर मोरको नचा रहा है॥ ३१६॥

नोट—१ 'जनु बाजि बेपु बनाइ मनसिजु राम हित' इति। कामने घोड़ेका वेष क्यों बनाया? रामहित। अर्थात् व्याहका समय है, दूलहरूपकी अद्भुत शोभा देखनेकी इच्छा त्रिलोकको है, ऐसे समय वाहन भी उत्तम होना चाहिये, अतः प्रभुकी शोभावृद्ध्यर्थ कामदेव सुन्दर घोड़का वेश बनाकर शोभित है। (वै०)। कामदेवने सोचा कि हजारों घोड़े सामने लाये जावेंगे तब हमें अत्यन्त गर्वीला और बाँका अत्यन्त शोभायुक्त जानकर हमारे ही ऊपर वे सवार होंगे। अतएव उसने घोड़ेका वेष धारण किया।

टिप्पणी—१ (क) 'रामहित अति सोहई' का भाव कि काम तो सदा ही सोहता है, पर श्रीरामजीके लिये 'अति' सोह रहा है। अर्थात् आज उसने अत्यन्त शोभा धारण की है। पुनः, 'रामहित' का भाव कि जिसमें श्रीरामजी शोभा देखकर प्रसन्न हों, हमारे ऊपर सवार हों, इसलिये 'अति सोहई'। [पुनः भाव कि काम अपने रूपसे तो सोहता ही है। आज 'पशु' (घोड़ा) बना है, तो इस रूपमें भी सोह रहा है और श्रीरामजीके लिये बना इससे अत्यन्त सोहता है। ☞ भगवान्‌के प्रीत्यर्थ जो काम हो, जो शरीर उनके काममें लगे, उसीकी अत्यन्त शोभा है)। (ख) 'आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई' इति। अवस्था युवा वा किशोर, बल अर्थात् शरीर पुष्ट, रूप अर्थात् सहज ही मनको मोहनेवाला, गुण अर्थात् स्वामीकी इच्छापर चलनेवाला और गति (चाल) इनसे सकल भुवनको मोह लेता है और इसपर भी शृङ्गार किये हुए है, यथा—'जगमगत जीन जराव…', इससे समस्त भुवनोंको 'बिमोहई' विशेष मोहित कर रहा है। 'सकल भुवन बिमोहई' से जनाया कि ऐसा सुन्दर श्रेष्ठ घोड़ा चौदहों भुवनोंमें कहीं नहीं है। पुनः, भाव कि प्रथम 'रामहित अति सोहई' कह आये, अति सोहता है, इसीसे विशेष मोहित करता है। पुनः भाव कि कामने अत्यन्त सुन्दर वेष बनाया फिर भी श्रीरामजी मोहित न हुए, काम उनको मोहित नहीं कर सकता, हाँ, चौदहों भुवन मोहित हो गये। [पुनः भाव कि श्रीशिवजी आदि

* सो—१६६१।

जिनके हृदयमें श्रीरामजीका निवास है जिनको काम कभी न मोहित कर सका; उनको भी आज उसने मोहित करनेके लिये वाजिरूप धारण किया और सबको मोहित कर लिया, क्योंकि आज श्रीरघुनाथजी उसके सहायक हैं। विष्णु-शिवादिके मोहित होनेसे भुवनोंका मोहित होना कहा। (प्र० स०)। श्रीरामजीके सुख-परमानन्ददायक-संस्पर्शके लिये शिवजीको ज्योतिषी बनना पड़ा, वही परमदुर्लभ लाभ सुगमतासे पानेका सुयोग आज श्रीरामकृपासे आया है, उसे कौन कैसे जाने देगा ? इस भावसे कामदेव सुन्दर घोड़ा बना। प्रभुके संस्पर्शसे आज वह शिवादिको भी मोहित कर रहा है। हित = प्रेम। (प० प० प्र०)] अथवा, 'भुवन' का अर्थ 'लोग, जन' भी है; यथा—'लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः'। अर्थात् समस्त प्राणियोंको। (ग) यहाँ वय, बल, रूप, गुण और गति पाँचका उल्लेख किया। क्योंकि यहाँ कामकी उत्प्रेक्षा की गयी और काम पञ्चबाणधारी है जिनसे वह सकल भुवनको अपने वशमें करता है, यथा—'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे। २५७। १।' यहाँ वयबलादिसे भुवनोंको विमोहना कहकर जनाया कि पञ्चबाण ही वय-बल आदि बने हैं।

नोट—२ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि काम तो अपने वय-बलरूप गुणसे सदा भुवनको जीतता ही है; यहाँ भी यही बात लिखनेमें क्या नयी बात हुई जो ऐसा लिखा ? और उत्तर देते हैं कि यहाँ 'अपने' शब्दमें भाव यह है कि वह सदा औरोंके वय-बलादिसे सबको जीतता है, अर्थात् स्त्रीके वय-बलादिसे पुरुषको और पुरुषके रूप-वय-बलादिसे स्त्रीको जीतता है। पर आज श्रीरामजीका सेवक बना है, उस रामसेवाका फल यह है कि आज वह सम्मुख समरमें तीनों लोकोंके जीवोंको एक साथ ही ठग रहा है। सदा चोरीसे करतब करता था, आज मैदानमें, इत्यादि।

प० प० प्र०—'आपने बय'''बिमोहई' इस चरणमें काव्यकलाकी महत्ता देख पड़ती है। सकल भुवन विमोहित हुआ तो यहाँ कविताकी गति भी मोहित हो गयी। चरणकी प्रथम दो मात्राओंके बाद एक दीर्घ अक्षर अथवा दो ह्रस्व अक्षर न होनेसे छन्दोभंग हो जाता है। वही दोष यहाँ आ गया।

टिप्पणी—२ 'जगमगत जीनु जराव''' इति। (क) 'जगमगत'=प्रकाशित हो रही है। ललाम=सुन्दर, यथा—'ललामं सुन्दरः प्रोक्तो ललामो रत्नमुच्यते इत्यनेकार्थः'। 'देखि सुर-नर-मुनि ठगे'—कामदेवता, मनुष्य और मुनियोंको ठगता ही है, वैसे ही यहाँ भी सुर-नर-मुनि ठगे गये। कामने श्रेष्ठ घोड़ेका वेष बनाकर विश्वको विमोहित किया और किंकिणी लगामको देखकर सुर-नर-मुनि अपनी ओरसे ठग गये। किंकिणी=छोटी-छोटी घंटियाँ वा घुँघुरू। 'जीन और किंकिणी आदि देखकर ठग गये' कहकर जनाया कि यह सब अत्यन्त सुन्दर हैं, मनोहर हैं। ['ठगे'=ठग गये। 'ठग जाना' मुहावरा है। 'एकटक रह जाना; आश्चर्यसे स्तब्ध हो जाना; दंग रहना; चकित होना' इत्यादि अर्थमें इसका प्रयोग होता है। यथा—'तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। ७। ९।' (ख) यहाँतक घोड़ेको कामरूप कहा, फिर कामकी कृत्य कही। आगे दूसरा रूपक कहते हैं।

३ 'प्रभु मनसहि'''भूषित उड़गन तड़ित घनु जनु बर बरहि नचाव' इति। (क) यहाँ तारागण, बिजली, मेघ और मोर क्या हैं ? श्रीराम-घनश्यामजी ही श्याम मेघ हैं (श्याम तन और मेघ उपमेय-उपमान हैं) यथा—'लोचन अभिरामा तन घनश्यामा। १। १९२।'; मणि (वा, मणि-मोतियोंकी लड़ें) तारागण हैं, यथा—'मंदिर मनि समूह जनु तारा। १९५। ६।'; वस्त्र (पीताम्बर) बिजली है, यथा—'तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा। ३१६। १।' और घोड़ा घर ही (मोर) है, यथा—'मोर चकोर कीर बर बाजी। ३। ३८। ६।' (ख) घोड़ेकी उपमा मोर है। घोड़ेको श्रेष्ठ ('बर') कहा है, यथा—'जेहि बर बाजि राम असवारा। ३१७। १।' इसीसे मोरको भी श्रेष्ठ ('बर बरहि') कहा। 'बर' पद उपमेयमें है; वही उपमानमें भी है। यहाँ श्रीरामजीको मेघकी और घोड़ेको मयूरकी उपमा देकर घोड़ेकी प्रीति श्रीरामजीमें दिखायी, जैसे मेघमें मोरकी प्रीति होती है। (ग) 'चलत बाजि छबि पाव'—भाव कि मेघको देखकर मोर नाचता है और जब मेघ मोरपर चढ़कर उसे नचाता है तब उस नाचकी शोभा कौन कह सकता है ?

मा० पी० प्र० सं०—१ समझना चाहिये कि जब मेघ योजनभरपर रहता है तब तो मोर नाचता ही है और जब वह आकर उसपर सवार हो गया तो फिर कहना ही क्या ? उपमेयकी श्रेष्ठता दिखानेके लिये उपमानको भी श्रेष्ठ कहा जाता है।'''। २—बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि घोड़ेके 'पाँवकी कान्ति (टाप) मानो नक्षत्रगण हैं। वह श्रेष्ठ वर (दूल्ह रामचन्द्र) को ऐसा नचा रहा है मानो बिजलीसमेत बादल मोरको नचा रहा हो।' पर यह अर्थ असङ्गत है। यहाँ घोड़ेकी चालकी छबि उत्प्रेक्षाका विषय है।

प्र० स्वामीजीका मत है कि मेघ मोरको नचाता है ऐसा अर्थ करनेसे यह सिद्ध होगा कि श्रीरामजी घोड़ेको नचाते चलते थे, पर यहाँ वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अतः यहाँ अर्थ है कि 'मोर मेघको नचाता है।' उड़गन और तड़ित दोनों शब्द श्रीराम और बाजि दोनोंमें चरितार्थ हैं। व्याह विभूषण और जीन आदिके मोती मणि-माणिक्य तारागण हैं। रामजी केकीकण्ठ हैं, तो बाजि केकी ही है; दोनों श्याम हैं। पीताम्बर तड़ित है तो बाजिकी लगाम भी सोनेकी होगी ही। मोरके पंखोंके नेत्रमें पीला वर्ण होता है।—यह दास उनके अर्थसे सहमत नहीं है। शब्द हैं 'प्रभु मनसहिं लय लीन मन चलत···' प्रभुके मनमें मनको लवलीन किये चलता है। इससे स्पष्ट है कि प्रभुकी इच्छा, प्रेरणाके अनुसार चलता है, इसकी उत्प्रेक्षामें उनका मोरको नचाना कहा गया। प्रभुको हाथ-पैर चलाना नहीं पड़ते।

जेहि बर बाजि रामु असवारा। तेहि सारदउ न बरनै पारा॥ १॥
संकरु राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे॥ २॥
हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥ ३॥

अर्थ—जिस श्रेष्ठ घोड़ेपर श्रीरामजी सवार हैं, शारदा भी उसका वर्णन नहीं कर सकतीं॥ १॥ शंकरजी श्रीरामजीके रूपपर अनुरक्त हो गये। (उस समय उन्हें अपने) पंद्रहों नेत्र अत्यन्त प्रिय लगे॥ २॥ विष्णु भगवान्‌ने जब श्रीरामजी-को प्रेमसहित एवं घोड़ेसहित देखा तो लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु (मूर्तिमान् रमणीयताके पति) लक्ष्मीसहित मोहित हो गये॥३॥

टिप्पणी—१ 'जेहि बर बाजि···' इति। (क) श्रीरामजीके घोड़ेकी शोभा वर्णन की, अब उपक्रमोपसंहार कहकर शोभा-वर्णनकी इति लगाते हैं। 'जेहि तुरंग पर राम बिराजे। ३१६। ७॥' से प्रारम्भ किया और 'जेहि बर बाजि राम असवारा' तक घोड़ेकी शोभाका वर्णन किया। (ख) 'जेहि बर बाजि' का भाव कि जिसकी श्रेष्ठताका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकतीं। 'सारदउ' 'शारदा भी' कहकर समस्त वर्णन करनेवालोंसे शारदाको श्रेष्ठ ठहराया, यथा—'सुक से मुनि सारद से बकता···' (क० ७। ४३)। जब वे ही नहीं कह सकतीं तब दूसरा क्या कहेगा। भाव यह कि जिस घोड़ेपर प्रभु हैं वह ऐसा 'बर' श्रेष्ठ है। पुनः भाव कि सब भाई और सब राजकुमार भी तो 'बर बाजि' पर सवार हैं, यथा—'बरन बरन बर बाजि बिराजे। २९८। ४॥' 'राजकुँवर बर बाजि देखावहिं। ३१६। ६॥' इत्यादि। पर उन 'बर बाजि' का वर्णन शारदा कर सकती हैं और जिस 'बर बाजि' पर श्रीरामजी सवार हैं उसका वर्णन नहीं कर सकतीं। इस कथनसे श्रीरामजीके घोड़ेको सबसे श्रेष्ठ एवं विलक्षण जनाया। (घ) पारना=सकना। यथा—'बालि रिपु बल सहै न पारा।'

२—'संकर राम रूप अनुरागे।···' इति। (क) 'संकर'—श्रीरामरूपके अनुरागसे ही शिवजी 'शंकर' कल्याणकर्ता हुए हैं, यथा—'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना। १। २११॥' अतः 'संकर' कहा। 'अनुरागे' का स्वरूप पूर्व लिख आये—'पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि। ३१५॥' (ख) देवताओंके देखनेके सम्बन्धमें जनकपुरकी शोभा वर्णन की, क्योंकि देवता लोग व्यवहार लिये हुए हैं, इसीसे उनका व्यवहारसहित श्रीरामजीको देखना ('देखि जनकपुर सुर अनुरागे। ३१४। ४ से 'नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे' ३१५। ८ तक) कहा। (उनके पश्चात् अनुरागी देवताओंका प्रकरण उठाया) अनुरागमें भगवान् शंकर सब देवताओंसे अधिक हैं, इसीसे अनुरागके प्रकरणमें सबसे पहले इन्हींको कहा। शंकरजी व्यवहार त्यागे हुए हैं, इससे इनका केवल श्रीरामरूप देखना लिखा गया। 'रामरूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि। पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि॥ ३१५॥' (इनके दर्शनका) उपक्रम है और 'संकर रामरूप अनुरागे' उपसंहार है। (इनके बीचमें श्रीरामजीका ध्यान वर्णन किया गया)। (ग)—'नयन पंचदस' इति। शिवजी पञ्चमुख हैं, यथा—'बिकट बेष मुख पंच पुरारी। २२०। ७॥' और प्रत्येक मुखमें तीन नेत्र हैं, यथा—'पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं' ('नयन तीनि उपबीत भुजंगा। ९२। ३॥') इस तरह कुल पंद्रह नेत्र हैं। सूर्य, चन्द्र और अग्नि तीन नेत्र हैं, यथा—'वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्निनयनम्।' (घ) 'अति प्रिय लागे' कहनेका भाव कि (व्यवहार तो दो ही नेत्रोंसे सधता था पर पंद्रहों नेत्र एक साथ ही काम आये, आज सब सफल हुए)। श्रीराम-रूप उनको अत्यन्त प्रिय है, आज सब नेत्रोंसे अपने अत्यन्त प्रिय प्रभुके (दूलह) रूपका दर्शन कर रहे हैं, इसीसे सब नेत्र 'अति प्रिय' लगे। (ङ) शंका—'शंकरजीका तीसरा नेत्र अग्निनेत्र है। जब भस्म करना होता है, तभी वह नेत्र खोला जाता है, यथा—'तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा। ८७। ६॥' तब यहाँ तीसरा नेत्र कैसे

खोला ?' समाधान—शिवजी जब कोप करके तीसरा नेत्र खोलते हैं तब भस्म करते हैं [यथा—'सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रैलोका। ८७। ५॥' और यहाँ तो अति अनुरागसे खोला है। अथवा भगवान्‌के दूलहरूपके दर्शनके लिये अपना स्वभाव छोड़कर आज पाँचों अग्निनेत्र अपनेसे ही खुल गये। भगवान्‌के दर्शनकी लालसासे वनके हिंसक जीव, समुद्रके हिंसक जीव सभी अपना स्वभाव छोड़ देते हैं, जैसा अयोध्या और लंकाकाण्डोंमें दिखाया गया है। इसीसे आज ये नेत्र भी 'अति प्रिय' लगे, नहीं तो हिंसामें ही काम आते थे।] विशेष ३१७ (६) में देखिये।

'हरि हित सहित राम जब जोहे।…'

इन चरणोंका अर्थ लोगोंने कई प्रकारसे किया है। कोई 'हरि' का अर्थ 'विष्णुभगवान्' करते हैं और कोई 'घोड़ा' करते हैं। विशेष मत 'विष्णुभगवान्' की ओर है। बैजनाथजी, हरिहरप्रसादजी, पाँड़ेजी, पं० रामकुमारजी, प्रोफे० रामदास गौड़जी, हनुमानप्रसादजी पोद्दार इत्यादिने 'विष्णु' अर्थ किया है। गौड़जी इसीको उत्तम अर्थ मानते हैं।

'विष्णु' अर्थकी पुष्टिमें कहा जाता है कि—(१) 'सब देवताओंमें तीन देवता उत्तम हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। गोस्वामीजीने तीन सम्बन्धसे तीनोंको यहाँ कहा है। शिवजीका अनुराग सेवक-भावसे विष्णुका मोह समता-भावसे और ब्रह्माका हर्ष वात्सल्य भावसे।' (पु० रा० कु०, रा० प्र०)। (२) दूसरे, 'शंकरजी' और 'विधि' एवं सुरेश आदि अन्य देवताओंका घोड़ेसहित देखना न कहकर केवल 'रामरूप अनुरागे 'निरखि राम छबि' 'रामहिं चितव' 'रामहिं देखी' इत्यादि पद इस दोहे भरमें कहे गये, तब रमापतिके सम्बन्धमें रामको घोड़ासहित जोहना कहनेमें क्या विशेषता है, यह जान नहीं पड़ती। क्या और लोग रामरूपपर मोहित हुए और इनपर उस रूपका प्रभाव नहीं पड़ा, केवल घोड़ेकी छविहीका प्रभाव पड़ा ? इस अर्थसे श्रीरामछविकी उत्कृष्टता जाती रहती है। (३) पहले कहा कि 'हरि हित सहित…' फिर सोचा कि हरिके अनेकार्थ हैं। हरि सूर्य, वानर, विष्णु इत्यादिके अर्थमें भी आता है, इससे उत्तरार्द्धमें उसीको स्पष्ट करनेको कहा कि 'रमापति मोहे।'

मयंककार अर्थ करते हैं कि 'जब रामचन्द्रजीने हितसहित 'हरि' (कामदेव) को उसके मनोरथपूर्णार्थ अवलोकन किया तो रमारमेश मोहित हो गये। कामको अवलोकना शृङ्गाररसको धारण करना जानना चाहिये।'

मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'हरिः सिंहो हरिर्भेको हरिर्वाजी हरिर्कपि इत्यनेकार्थे, एवं च हितं पथ्ये गते धृतेति मेदिनी।' इस प्रकार भाव यह है कि घोड़ेकी चालमें जो अद्भुत काम कर जाना है सो भी और श्रीरामजीको ताकने लगते हैं तो विष्णुभगवान् और लक्ष्मीजी चित्रलिखे-से हो जाते हैं; भाव यह कि छविछटा देखती ही बनती है वा ऐसा मोह उपज आता है कि ऐसे अनूप अनवद्य पुरुष हमसे भिन्न और चिद्घनानन्द प्रकट हो आया है।'

वीरकविजी 'हरि हित सहित' का अर्थ 'भले घोड़ेके सहित' करते हैं। वे लिखते हैं कि 'यहाँ हरि शब्द अनेकार्थी होनेपर भी प्रसङ्गबलसे एक घोड़ेकी ही अभिधा है, अन्य अर्थोंका ग्रहण नहीं है। श्रीरामचन्द्रजी घोड़ेपर सवार होकर परछनके लिये जा रहे हैं, उसी समयकी शोभाका वर्णन है।'

गौड़जी—हरि और रमापतिमें पुनरुक्ति नहीं है। 'राम' 'रमापति' 'रमा' साभिप्राय हैं और 'हरि' की ठीक अभिधाके परिचायक हैं। रमा=रमणीयताकी मूर्ति लक्ष्मी। रमापति=रमणीयताकी मूर्तिके पति। [इस तरह 'रमापति' हरिका विशेषण अथवा 'हरि' के अर्थका स्पष्ट करनेवाला है। अतिव्याप्ति मिटानेके लिये 'रमापति' शब्द भी दिया गया—ऊपर (३) में देखिये] 'राम'=रमणीयताके समुद्र, सबको अपनेमें रमानेवाले।

नोट—१ 'हित सहित राम जब जोहे' इति। हित = प्रेम, स्नेह। यथा—'जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥ २। १४३॥' हितसहित देखनेका भाव यह कि इस समय इस विचारसे भगवान् विष्णुने देखा कि ये परतम हैं, इन्हींके अंशसे लावण्यकी खानि करोड़ों विष्णु होते हैं, इस विचारसे जब अपने अंशी पूर्ण परात्परको देखा तो अन्तरङ्ग अनिर्वाच्य शोभाके दर्शन हुए। इससे वह और लक्ष्मीजी अपने आपेमें न रहें, मुग्ध हो गये। रमणीयताकी मूर्ति और उसके स्वामी दोनों इस रमणीयताके सागरमें मग्न हो गये। (गौड़जी)।

२ 'रमा समेत रमापति मोहे' इति। गौड़जीके भाव नोट १ में आ गये। रमापति और रमा यहाँ बड़े चमत्कारके शब्द हैं। भाव यह है कि लक्ष्मीजी बड़ी ही सुन्दर हैं, सो वे स्वयं ही मोहित हो गयीं और उनके पति क्षीरशायी भगवान्‌को भी कोई मोहित करनेवाला नहीं, क्योंकि सौन्दर्यकी खानि रमा ही उनकी पत्नी हैं, और सुन्दरता कहाँ जो उनको मोह सके।

विष्णु भगवान्‌के समान कोई सुन्दर नहीं, सो वे भी मोहित हो गये। फिर और किसीकी क्या चलायी? ऐसा कहकर श्रीराम-छबिकी असीम उत्कृष्टता दिखायी है। विष्णुभगवान्‌का मोहित होना स्वायम्भुवमनुके प्रसङ्गको लेकर कहा गया, क्योंकि उसमें (श्रीरामको) परात्पर ब्रह्मका अवतार माना है—'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥' (१४४। ६) अन्य कल्पोंके अवतारोंमें मोहित होना इस विचारसे कि समयकी बड़ी ही अनूठी छवि है।

नोट—३ बाबा हरीदासजीका मत है कि विष्णुभगवान् जानते थे कि हमारे वाहन गरुड़के समान किसी देवताका वाहन नहीं, पर जब उन्होंने श्रीरामजीके घोड़को देखा तो उसमें गरुड़से करोड़ों गुणा वेग-बलादि देख प्रेमसहित मोहित हो गये।

टिप्पणी—३ यहाँ और किसी स्त्रीका मोहना नहीं लिखते, केवल 'रमा' जीका मोहित होना लिखते हैं, यद्यपि वहाँ उमाजी भी थीं और अन्य देवताओंके साथ भी उनकी स्त्रियाँ थीं। बात यह है कि अन्य स्त्रियोंका मोहित होना अनुचित है, रमाका मोहना अनुचित नहीं है, क्योंकि रामजी रमाके पति हैं। यथा—'जय राम रमारमनं समनं', 'मंगलमूल मयंड बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें॥' [मोहेका अर्थ है 'मुग्ध हो गये', औचित्य-अनौचित्यका प्रश्न नहीं उठता। रमणीयताकी मूर्तिके मोहित होनेपर हरिका मोहना कहा गया।]

४ इस प्रसङ्गमें शिवजीका पार्वतीसमेत दर्शन करना कहा गया, यथा—'पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि॥ ३१५॥' विष्णुभगवान्‌का भी रमासमेत दर्शन कह रहे हैं। परंतु ब्रह्माजीका शारदासहित दर्शन करना नहीं लिखा गया, 'निरखि राम छबि बिधि हरषाने' इतना ही लिखा गया। कारण यह कि इनकी शक्ति शारदा तो श्रीरामजीके घोड़ेके वर्णनमें लग गयी हैं, यथा—'जेहि बर बाजि राम असवारा। तेहि सारदउ न बरनै पारा॥'

निरखि राम छबि बिधि हरषाने। आठै नयन जानि पछिताने॥ ४॥
सुर सेनप उर बहुत उछाहू। बिधि ते डेवढ़* लोचन लाहू॥ ५॥
रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥ ६॥

शब्दार्थ—सेनप=सेनापति। सुरसेनप=षट्‌वदन; कार्तिकेयजी। डेवढ़=डेवढ़े; डेढ़गुणा; किसी पदार्थसे आधा और अधिक। लाहू=लाभ।

अर्थ—श्रीरामजीकी छबि देखकर ब्रह्माजी हर्षित हुए। (अपने) आठ ही नेत्र जानकर पछताने लगे (कि और न हुए जो दर्शनका विशेष-से-विशेष आनन्द ले सकते)॥ ४॥ देव-सेनापतिके मनमें बड़ा उत्साह है कि (हम) ब्रह्माजीसे डेवढ़े नेत्रोंका लाभ उठा रहे हैं॥ ५॥ सुजान सुरपति श्रीरामजीको देख रहे हैं और (महर्षि) गौतमके शापको परम हितकर मान रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'निरखि राम छबि·····' इति। (क) इससे जनाया कि प्रथम ब्रह्माजी आठों नेत्रोंसे देखकर हर्षित हुए पर जब शिवजीके पंद्रह नेत्र देखे तो पछताने लगे कि हमारे आठ ही नेत्र हैं। (ख) भगवान् शंकरने श्रीरामजीको स्वामीभावसे देखा और स्वामीमें अनुराग किया, यथा—'संकर राम रूप अनुरागे।' भगवान् विष्णुने मित्रभावसे देखा इसीसे 'हित सहित जोहे' कहा गया। और ब्रह्माजीने वात्सल्यभावसे देखा इसीसे उनके सम्बन्धमें 'हित' या 'अनुराग' नहीं कहा। केवल छबि देखकर प्रसन्न होना कहा। प्रथम दास्यरसको कहा, तब सख्य और तब वात्सल्यको।

टिप्पणी—२ 'सुर सेनप उर बहुत···' इति। (क) 'सुरसेनप' अर्थात् देवताओंके सेनापति। कहनेका भाव कि देवताओंके सेनापति होनेकी प्रतिष्ठा पानेपर भी ऐसा सुख न हुआ था जैसा आज श्रीरामरूपके दर्शनोंसे हुआ। (ख) 'बिधि तें डेवढ़ लोचन लाहू' इति। नेत्रोंका लाभ श्रीरामजीका दर्शन है, यथा—'लेव भली बिधि लोचन लाहू। ३१०। ६।' सुरसेनपके छः मुख और बारह नेत्र हैं। ब्रह्माजीके चार मुख और आठ नेत्र हैं। इस तरह षट्‌वदनके ब्रह्माजीसे डेवढ़े नेत्र हुए। शंकरजीके पन्द्रह नेत्र देखकर विधिको पछतावा हुआ कि हमारे आठ ही नेत्र हैं और विधिको देखकर कार्तिकेयको हर्ष हुआ कि हमारे विधिसे डेवढ़े नेत्र हैं, हमें उनसे दर्शनका ड्योढ़ा आनन्द मिल रहा है—इस कथनसे सूचित हुआ कि देवलोकमें मत्सर-डाह बहुत है। एक दूसरेका परोत्कर्ष नहीं सह सकता। यह भी दिखाया कि अपनेसे कम ऐश्वर्य देखनेसे सुख

---

* डेवढ़े लोचन—को० रा०। डेवढ़ सुलोचन—रा० प्र०, भा० दा०। डेवढ़ लोचन—१६६१। 'ढ़' को खींचकर पढ़ना चाहिये।

और अधिक देखनेसे दुःख होता है। भगवान् शंकरकी सबसे श्रेष्ठता यहाँ दिखायी। इनको किसीसे न ईर्ष्या हुई और न किसीके कम नेत्र देखकर इनको उत्साह हुआ। ये तो जितने भी नेत्र इन्हें मिले हैं उतनेहीसे संतुष्ट श्रीरामदर्शनमें अनुरक्त हैं। उन्हें तो इतने ही नेत्र अति प्रिय लगे। [यहाँ शंकरजीमें रामभक्तके लक्षण दिखाये। 'आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखहिं परदोषा॥ ३। ३६। ४॥' अन्य किसीमें यदृच्छालाभसंतुष्टत्व नहीं है। इन्द्र तो स्वार्थीशिरोमणि है, वह तो भौतिक लाभ में ही हित जानता है कि आज मेरी कुरूपता नष्ट हो जायगी। हजार भगका रूपान्तर हजार नेत्रमें हो जायँगे। (प० प० प्र०)। यहाँ शिवजीसे लेकर 'देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं' तक भगवत्प्रेमकी विविध भूमिकाएँ क्रमसे दिखायी हैं। (प० प० प्र०)] यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

३ 'रामहि चितव सुरेस सुजाना…।' इति। (क) शाप अहित है। उसे हित माना। अतः 'सुजान' कहा। पुनः गौतमजीके शापको परम हित माना, यह इन्द्रकी कृतज्ञता है। कृतज्ञ होनेसे 'सुजान' कहा, यथा—'हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥ ६। ६१। १॥' (ख) 'गौतम श्राप'—दोहा २१०। १२ में कथा दी गयी है। गौतमजीने इन्द्रको शाप दिया था कि तेरे शरीरमें एक सहस्र भग हो जायँ। बहुत प्रार्थना करनेपर महर्षिने शापानुग्रह किया कि जब सगुण ब्रह्म श्रीरामजीके दूलहरूपका तुम विवाहके समय जनकपुरमें दर्शन करोगे तब ये सब भग नेत्र हो जायँगे। (ग) 'परम हित माना' इति। 'परम हित' कहनेका भाव कि प्रथम शाप देकर हित किया कि जिसमें अब आगे किसी पर-स्त्रीके पास न जाय और अब उनके अनुग्रहसे वह शाप आशीर्वाद हो गया। सहस्र भग सहस्र नेत्र हो गये जिनसे आज श्रीरामजीका दर्शन हो रहा है, यह परम हित मुनिके शाप और उनके अनुग्रहसे हुआ। 'माना' अर्थात् इन्द्र इस समय हजार नेत्रोंसे श्रीरामरूपके दर्शनोंका आनन्द मुनिकी कृपासे मान रहे हैं, मुनिकी कृपाके लिये कृतज्ञता जना रहे हैं। श्रीरामजीकी प्राप्ति जिससे हो वही परम हित है, यथा—'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥ ४। ७। १९।' (गौतमजीके शापसे ही आज यह अपूर्व आनन्द जिसके लिये सब ईर्ष्या करते है, मिला; अतः शाप 'परम हित' है। अहल्याजीने भी श्रीरामजीके दर्शन और पदरजस्पर्शकी प्राप्तिपर ऐसा ही माना है, यथा—'मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना। देखेउँ भरि लोचन हरि भव मोचन…॥ १। २११।' ☞ श्रीरामजीकी प्राप्ति, श्रीरामजीका साक्षात्कार, उनकी भक्ति इत्यादि जिसके भी द्वारा हो, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो, परम हित है। तथा चाहे शत्रुभावसे हो, चाहे मित्र या किसी भी भावसे हो, सब परम हित ही है)। यहाँ 'अनुज्ञा अलंकार' है। (वीरकवि)।

देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥ ७॥
मुदित देवगन रामहि देखी। नृप समाज दुहुँ हरषु बिसेषी॥ ८॥

छं०—अति हरषु राजसमाज दुहुँ दिसि दुंदुभी बाजहिं घनी।
बरषहिं सुमन सुर हरषि कहि जय जयति जय रघुकुलमनी॥
येहि भाँति जानि बरात आवत बाजने बहु बाजहीं।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन हेतु मंगल साजहीं॥

दोहा—सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछनि करन गजगामिनि बर नारि॥ ३१७॥

शब्दार्थ—सिहाना=ईर्ष्या करना, स्पर्धा करना, पानेको ललचाना। इस शब्दमें ईर्ष्या और अभिलाषासहित दूसरेकी ओर देखना और उसकी प्रशंसा करना इन सब बातोंका समावेश है। पुरन्दर=शत्रुके पुरको तोड़नेवाला=इन्द्र।

अर्थ—सभी देवता देवराज इन्द्रको सिहाते हैं कि आज इन्द्रके समान कोई (भाग्यवान्) नहीं है। ७। श्रीरामचन्द्रजीको देखकर देवसमाज आनन्दित है और दोनों राजसमाजोंमें विशेष हर्ष है। ८। दोनों ओर राजसमाजोंमें अत्यन्त प्रसन्नता है, दोनों ओर बहुत-से नगाड़े घमाघम बज रहे हैं। देवता हर्षपूर्वक 'रघुकुलमणिकी जय हो! जय हो! जय हो!' ऐसा कहकर फूल बरसा रहे हैं। इस प्रकार बारातको आती हुई जानकर बहुतसे बाजे बजने लगे और रानी सौभाग्यवती स्त्रियोंको

बुलाकर परछनके लिये मङ्गल सजाने लगीं। अनेक प्रकारकी आरती सजकर, सम्पूर्ण मङ्गलोंको सजाकर गजगामिनी सुन्दर स्त्रियाँ आनन्दपूर्वक परिछन करने चलीं। ३१७।

टिप्पणी—१ (क) 'देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं'—भाव कि किसी देवताके हजार नेत्र नहीं हैं, इसीसे 'सिहाते' हैं। (ख) 'आज' कहनेका भाव कि और सब दिन आजके पूर्व पुरन्दर कुछ भी न थे, उनकी देहभरमें भग-ही-भग थे, इससे 'सिहाने' योग्य न थे। दूसरे इन्द्रके दो ही नेत्र थे, अबतक जो देवता बहुत नेत्रोंसे श्रीरामजीका दर्शन करते थे, वे इन्द्रसे अधिक थे, पर आज इस समय उनके हजार नेत्र हो गये, वे हजार नेत्रोंसे दर्शन कर रहे हैं, अतः 'आज' उनके समान कोई नहीं है। परंतु श्रीरामदर्शनके आगे इन्द्रपदका सुख कुछ नहीं है। जबतक इन्द्र दो ही नेत्रसे दर्शन कर पाते थे, तबतक अधिक नेत्रोंवाले देवता उनसे अधिक ही थे, क्योंकि उनको विशेष लोचनलाभ था। (यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप अलंकार' है)।

२ 'मुदित देवगन रामहि देखी''' ' इति। देवगण मुदित हैं और राजसमाज विशेष हर्षित है, कारण कि देवता आकाशमें हैं, दूरसे देख रहे हैं और दोनों राजसमाज समीपसे देख रहे हैं, इससे उनका हर्ष सामान्य और इनका विशेष है। यथा—'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी॥ २६४। ४।' 'दुहुँ समाज' अर्थात् श्रीजनकजीका समाज मन्त्री, ब्राह्मण, ज्ञातिजन, निमिवंशी तथा पुरवासी आदि, वैसे ही श्रीदशरथ महाराजका समाज।

३ 'अति हरषु राज समाज दुहुँ दिसि'' ' इति। (क) ऊपर लिखा कि 'नृपसमाज दुहुँ हरष बिसेषी' अब उस 'बिसेषी' का यहाँ अर्थ स्पष्ट करते हैं। विशेष=अति। राजसमाजमें बहुत दुन्दुभियाँ हैं, इससे 'घनी' कहा। ('घनी' के दोनों अर्थ होते हैं—'संख्यामें बहुत अधिक' और 'बहुत जोरसे धमाधम')। 'दुहुँ दिसि' अर्थात् दोनों राजसमाजोंमें। (ख) 'बरसहिं सुमन'''''—दोनों समाज हर्षमें दुन्दुभी बजाते हैं और उधर देवता हर्षसे पुष्पोंकी वर्षा और जय-जयकार करते हैं। तन, मन, वचन तीनोंसे अपना अनुराग प्रकट कर रहे हैं। तनसे फूल बरसाते, मनसे हर्षित और वचनसे 'जयति जय रघुकुलमनी' का उच्चारण कर रहे हैं। (ग) 'येहि भाँति' अर्थात् बहुत नगाड़े बजाते, फूलोंकी वृष्टि और जय-जयकारकी ध्वनि करते हुए। ['जानि'—दुन्दुभी आदिके शब्दोंको सुनकर जान गये।] (घ) 'बाजने बहु बाजहीं'—बारातमें केवल दुन्दुभियाँ बज रही हैं और यहाँ जनक महाराजके यहाँ सब प्रकारके (ढोल, नफीरी, शहनाई आदि) बहुत-से बाजे बजाये गये। (ङ) 'सुआसिनि बोलि'—सुहागिनियोंको बुलानेका भाव कि परछनमें सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही रहती हैं, यह लोकरीति है। पिताके घरमें कन्याएँ भी सुवासिनी कहलाती हैं। (सधवा ही मङ्गल सजाती हैं।) (च) 'मंगल सकल सँवारि'—'मङ्गल' अर्थात् दधि, दुर्वादल, गोरोचन, नव तुलसीदल, फल, फूल आदि। इन मङ्गल द्रव्योंको अच्छी तरहसे थालमें भरकर रखना मङ्गल सजाना वा सँवारना कहलाता है, यथा—'दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगल मूला॥ भरि भरि हेम थार भामिनी। ७। ३।'

४ (क) 'सजि आरती अनेक बिधि' इति। आरती पञ्चवर्तिका (पाँच बत्तियोंकी), सप्तवर्तिका दशवर्तिका, (पञ्चदशवर्तिका, सहस्रवर्तिका) आदि अनेक बत्तियोंकी होती हैं। फिर ऊर्ध्वशिखा, तिर्छीशिखाकी भी होती हैं। बत्तियोंके अतिरिक्त कपूरकी भी होती है। (विवाहमें शीतल आरतीका व्यवहार नहीं होता। आरतीमें पुष्प आदि सजाये अवश्य जाते हैं। सासुएँ अनेक हैं, प्रत्येकने अपने-अपने थाल नये-नये ढंगके सजाये। अतः 'अनेक बिधि' कहा। विवाहमें आरतीका थाल खूब सजाया जाता ही है।) (ख) आरती परिछनके लिये सजायी जाती है, आरती उतारना ही परिछन है। यथा—'नयन नीर हटि मंगल जानी। परिछनि करहिं मुदित मन रानी॥ (३३९। १) वेद-कुलरीतिके लिये मङ्गल सजाती हैं, यथा—'बेद बिहित अरु कुल आचारू। कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू॥ ३१९। २।' यह कहीं ही है। (ग) 'गजगामिनि बर नारि' से सूचित किया कि सब स्त्रियाँ युवा अवस्थाकी हैं और (बर अर्थात्) सावित्री हैं। हाथीकी-सी चालसे चल रही हैं, इससे गजगामिनी कहा। (यहाँ वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार है।)

बिधु बदनी सब सब मृगलोचनि। सब निज तन छबि रति मदु मोचनि॥ १॥
पहिरे बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा॥ २॥
सकल सुमंगल अंग बनाए। करहिं गान कलकंठि लजाए॥ ३॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चालि बिलोकि काम गज लाजहिं॥ ४॥

बाजहिं बाजने बिबिध प्रकारा। नभ अरु नगर सुमंगलचारा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—चीर=वस्त्र। सुमंगलचार=सुन्दर मङ्गलाचार। चारा (चार)=आचार, रीति, रस्म। जैसे ब्याहचार, द्वारचार, रानचार। विशेष नोटमें देखिये।

अर्थ—सभी चन्द्रमुखी और सभी मृगलोचनी हैं, सभी अपने-अपने शरीरकी छबिसे (कामदेवकी स्त्री) रतिके गर्वको छुड़ानेवाली हैं ॥ १ ॥ रंग-बिरंगके सुन्दर वस्त्र पहिने हैं। सभी सब आभूषण शरीरमें सजाये हुए हैं ॥ २ ॥ सभी सुन्दर मङ्गलोंसे अङ्गोंका बनाव किये हुए कोकिलको भी लज्जित करती हुई (मधुर स्वरसे) गा रही हैं ॥ ३ ॥ कंकण, किंकिणी और नूपुर बज रहे हैं। चालको देखकर कामदेवरूपी हाथी लज्जित होते हैं ॥ ४ ॥ अनेक प्रकारके बाजे बज रहे हैं, आकाश और नगर दोनोंमें मङ्गलाचार हो रहे हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'बिधुबदनीं सब···' इति। (क) ऊपर 'गजगामिनि बरनारि' से चाल, अवस्था और अहिवातकी शोभा कही, अब तनकी शोभा कहते हैं। चन्द्रमुखी मृगनयनी आदिसे तनकी शोभा कही। (ख) 'सब' का भाव कि सब स्त्रियाँ विधुवदनी, मृगनयनी और रतिमदमोचनी नहीं हुआ करतीं, पर जनकपुरकी सभी स्त्रियाँ ऐसी हैं। (इसीसे तीनों विशेषणोंके साथ पृथक्-पृथक् 'सब' शब्द दिया)। (ग) 'निज तन छबि' अर्थात् अपने शरीरकी द्युति, कान्ति वा शोभासे। इससे जनाया कि शरीरमें दामिनिकी-सी द्युति है। यथा—'जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नवसप्त सकल दुति दामिनि ॥ २९७। १।' (घ) 'रति मदु मोचनि'—जनकपुर ब्रह्माजीकी करनीसे पृथक् है—'निज करनी कछु कतहुँ न देखी। ३१४। ८।' इसीसे यहाँ सब रतिसे कहीं विशेष हैं, सामान्य कोई नहीं है। 'बिधुबदनीं मृगलोचनि' में वाचक-धर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

२ (क) 'पहिरे बरन बरन बर चीरा····' इति। 'बिधुबदनी····' से तनकी शोभा कहकर अब शृङ्गार और आभूषणकी शोभा कहते हैं। 'बरन बरन' से कपड़ोंके रंग कहे और 'बर' से वस्त्रोंके बनावटकी सुन्दरता कही। अर्थात् जनाया कि अच्छे बने हैं, सुन्दर हैं और बड़े मूल्यके हैं। [(ख) 'सकल बिभूषन' सभी आभरण, अलंकार, आभूषण वा गहने। इनकी गणना १२ है; यथा—(१) नूपुर। (२) किंकिणी। (३) चूड़ी। (४) अँगूठी। (५) कंकण। (६) बिजायट। (७) हार। (८) कंठश्री। (९) बेसर। (१०) बिरिया। (११) टीका। (१२) सीताफूल। पुनः आभरणके चार भेद हैं—(१) आवेध्य अर्थात् जो छिद्रद्वारा पहिना जाय, जैसे कर्णफूल, बाली इत्यादि। (२) बंधनीय अर्थात् जो बाँधकर पहिने जायँ, जैसे बाजूबंद, पहुँची, शीशफूल इत्यादि। (३) क्षेप्य अर्थात् जिसमें अंग डालकर पहिना जाय। जैसे कड़ा, छड़ा, चूड़ी, मुँदरी इत्यादि। (४) आरोप्य अर्थात् जो किसी अंगमें लटकाकर पहिने जायँ, जैसे हार, कंठश्री, चम्पाकली, सिकरी आदि। आभूषणोंका नाम न देकर 'सकल' कह देनेसे समयानुकूल सभी आभूषणोंका समावेश इसमें हो जाता है।

३ 'सकल सुमंगल अंग बनाए।···' इति। (क) पहले वस्त्र पहने, फिर आभूषण पहने तब अंगोंमें सुमङ्गल बनाये अर्थात् षोडश शृङ्गार किया। [महावर, मेहँदी, अरगजा, सेंदूर, रोरी, कज्जल आदि सकल सुन्दर मङ्गल हैं। (वै०)। इन माङ्गलिक द्रव्योंको अंगमें लगाये हैं] अथवा बाहर आभूषण ही सुमंगल हैं, इन्हींको अंगोंमें बनाये हैं। (ख) 'करहिं गान कलकंठि लजाए' कहकर जनाया कि स्त्रियोंके कण्ठका शब्द अत्यन्त मधुर है, यदि कोकिलके समान ही मधुर होता तो कोयल लज्जित न होती।

४ 'कंकन किंकिनि नूपुर···' इति। (क) शरीरमें सभी आभूषण सजे हुए हैं, उनमेंसे जो बजनेवाले हैं उनके नाम यहाँ गिनाये। कंकणादिका बजना कहकर 'चाल बिलोकि' लिखनेसे सूचित हुआ कि चलनेसे कंकणादि बज रहे हैं। 'चलीं मुदित परिछन करन गजगामिनि बरनारि। ३१७।' उपक्रम है और 'चाल बिलोकि काम गज लाजहिं' पर उसका उपसंहार है। (ख) कंकण-किंकिणि-नूपुरकी ध्वनि कामके नगाड़ेके समान मधुर है, यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ॥ मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥ १। २३०।' नगाड़ा तालसे बजता है, कंकणादि भी तालसे बजते हैं। यथा—'मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल-गति बर बाजहीं। १। ३२२।' इसीने चाल देखकर काम-गजका लज्जित होना कहा। (ग) तनकी छबिसे कामकी स्त्री रतिका लज्जित होना कहा—'सब निज तन छबि रतिमदु मोचनि'। गान सुनकर 'कलकंठि (अर्थात् कामकोकिल) लज्जित होती है— 'करहिं

गान कलकंठि लजाए'। (कोयल भी कामकी सहायक है, यथा—'कलहंस पिक सुक सरसरव करि गान नाचहिं अपछरा। १। ८६।' आगे दोहा ३२२ में जो 'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं' कहा है, वैसे ही यहाँ भी 'कलकंठि' से 'कामकोकिल' ही समझना चाहिये। आदि और अन्त दोनोंमें कामका सम्बन्ध है, अतः यहाँ बीचमें भी वही सम्बन्ध समझना चाहिये)। चाल देखकर कामगज लज्जित होते हैं। उपमेयसे तीनों जगह उपमानका निरादर होनेसे प्रतीप अलंकार है। [इस तरह दिखाया कि इनकी छबि, गान और चाल आदि सभी व्यवहार काम (रूप उपमानों) को लज्जित करनेवाले हैं। (प्र० सं०)]

प० प० प्र०—'बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि।'''सुमंगलचारा' इति। (१) इसमेंसे पहली चौपाईका उच्चार ठीक करनेमें जो विशिष्ट गति आती है, वह अति कर्णमधुर, और गजगामिनि शब्दकी यथार्थता बतानेवाली है। सम्पूर्ण चौपाईके दो-दो मात्राओंके अलग-अलग विभाग पड़ते हैं। आरम्भमें गति जरा मन्द है, यह बात 'नी' और 'लो' पर दो बार ताल आनेसे सूचित होती है। दूसरी अर्धालीमें जल्दी हो गयी। इन पाँच चौपाइयोंमें इतनी मधुरता कैसे पैदा हुई यह विचार करनेसे आनन्द होता है। यथा—इनमें सब मिलकर १२७ अक्षर हैं। ब १७; र १४; न १६; क १२; ल १०; म ६; (अनुस्वार ६); स ९; ज ८; ग ७; च ५; ह ४; प ३; अ २; ए ३; थ २; ष ७; भ २; त २; द १; ठ १; छ १;=१२७। (२) सभी चरणोंके यमकोंमें उपान्त्य अक्षर दीर्घ है। थ, ष, ठ—इन कठोरता-उत्पादक अक्षरोंके पूर्व एक दीर्घ अक्षर या दो ह्रस्व होनेसे उनकी कठोरता एकदम कम हो गयी। 'च' पाँच बार है तथापि दो जगह दीर्घ पूर्व ह्रस्व और दो बार यमकमें उपान्त्य दीर्घ और एक बार चरणारम्भमें दीर्घ होनेसे माधुर्य भङ्ग नहीं हुआ। रसके अनुकूल वर्णरचना मानसमें सर्वत्र पायी जाती है। इधर शृङ्गारका माधुर्यरस प्रधान होनेसे संयुक्ताक्षर, टवर्ग, ए, क्ष, ख, ध, फ, थ, ठ, क्ष, ढ, ग इत्यादिका अभाव-सा ही होनेसे मधुरता निर्मित हो गयी है।

टिप्पणी—५ 'बाजहिं बाजने बिबिध प्रकारा''''' इति। (क) गान करना लिख आये। गानके साथ बाजा चाहिये सो यहाँ कहते हैं। जहाँ गिनतीके बाजे बजते हैं वहाँ बाजोंके नाम लिखते हैं, यथा—'संख निसान पनव बहु बाजे। ३१३। ३।' 'सरस राग बाजै सहनाई' इत्यादि। और जहाँ बहुत बाजे बजते हैं वहाँ नाम नहीं देते, यथा—'येहि भाँति जानि बरात आवत बाजने बहु बाजहीं। ३१३। ३।,' तथा यहाँ [(ख) 'सुमंगल चारा'—लोग मङ्गलका आचार कर रहे हैं, अर्थात् मङ्गल कर रहे हैं। मङ्गलसूचक आचरण ये हैं—कदलीके पंखे झलना, फूल बरसाना, माला पहनाना, चावल छिड़कना, बताशा-लावा आदि बरसाना इत्यादि। (प्रोफे० दीनजी)। मधुर गान, पुष्पवृष्टि, विविध प्रकारके बाजोंका बजना, स्त्रियोंका मंगल गीत गाना यह सब सुमङ्गलचार है।

सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी॥ ६॥
कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहि जाई॥ ७॥
करहिं गान कल मंगल बानी। हरष बिबस सब काहु न जानी॥ ८॥

शब्दार्थ—कपट—अभिप्राय साधनके लिये हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्तिको 'कपट' कहते हैं। कपट वेष=बनावटी, असलियत छिपाये हुए जिसमें कोई पहचान न सके।

अर्थ—इन्द्राणी, सरस्वती, लक्ष्मी और भवानीजी (इत्यादि) जो देवताओंकी स्त्रियाँ स्वाभाविक ही पवित्र और चतुर हैं॥ ६॥ वे कपटसे श्रेष्ठ नारियों (मनुष्योंकी स्त्रियों) का सुन्दर वेष बनाकर सब रनवासमें जा मिलीं॥ ७॥ मनोहर वाणीसे सुन्दर मङ्गल-गान कर रही हैं। सब आनन्दके वश हैं (इससे) किसीने न जाना॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'सची सारदा रमा भवानी।''''' इति। (क) यहाँ प्रधान देवताओंकी स्त्रियोंका नाम दिया, क्योंकि ये जाकर रनवासमें मिलेंगी। रनवासमें मिलना है, इसीसे प्रथम रानीहीका नाम दिया। शची सुरराज इन्द्रकी रानी हैं। (ख)—'सुचि' कहनेका भाव कि स्वर्गकी अप्सराएँ भी 'सुरतिय' कहलाती हैं, यथा 'रंभादिक सुरनारि नबीना। सकल असमसर कला प्रबीना। १२६। ४।' 'शुचि' कहकर जनाया कि ये अप्सराएँ नहीं हैं। किंतु विवाहिता स्त्रियाँ हैं। पुनः (इनका 'कपट-नारि बेष' बनाना आगे कह रहे हैं, इससे सम्भव है कि कोई संदेह करे कि ये सब कपटी हैं। इस संदेहके निवारणार्थ 'शुचि' विशेषण दिया); भाव यह है कि ये पवित्र हैं। इनके हृदयमें कपट नहीं है। इन्होंने इतने ही भरके लिये कपट-नारिवेष बनाया कि

जिसमें कोई जान न पावे। अथवा स्त्रियाँ स्वाभाविक अपावनी होती हैं, यथा—'सहज अपावनि नारि। ३।५॥' अतः 'शुचि' कहकर इस दोषका निराकरण किया। (ग) 'सहज' देहलीदीपक है अर्थात् शुचि और सयानी दोनोंके साथ है। सहज शुचि और सहज सयानी। (घ) 'सयानी' का भाव कि ये देवताओंकी स्त्रियाँ बड़ी चतुर हैं। श्रीरामजीका दर्शन भलीभाँति समीपसे करनेके लिये रनवासमें जा मिलीं, दूसरे मौका देखकर रनवासमें जा मिलीं कि इस समय सब आनन्द-विभोर हैं, किसीको अपनी सुध नहीं है, कोई लख न सकेगा, यथा—'को जान केहि आनंदबस सब ब्रह्म बर परिछनि चलीं।' अतः 'सयानी' कहा। अथवा नारी सहज जड़ और अयानी कही गयी है, यथा—'अबला अबल सहज जड़ जाती। ७। ११५॥' 'जदपि सहज जड़ नारि अयानी। १२०। ४॥' अतः 'सयानी' कहकर जनाया कि इन्होंने वैसा रूप नहीं धारण किया और न ये वैसी हैं, ये तो सहज शुचि और सहज सयानी हैं।

२ 'कपट नारि बर बेष''''' इति। (क) 'बर बेष' इति। वेषकी श्रेष्ठता यही है कि कोई लख न सके, भाँप न पावे; इसीसे ऐसे सब स्थलोंमें 'बर बेष' पद दिया है। यथा—'ब्रह्मादि सुर बर बिप्र बेष बनाइ कौतुक देखहीं। १। ३१९॥' 'बिधि हरि हरु दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ॥ कपट बिप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए। १। ३२१॥' 'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु॥ २८९॥' तथा यहाँ 'कपट नारि बर बेष।' [(ख) बनावटी वेष ऐसा था कि कोई लख न सके। यद्यपि आगे राजा-रानीके विषयमें लिखेंगे कि—'पूजे जनक देव सम जाने। ३२१। ८॥' 'उमा रमा सारद सम जानी। ३२२। ७॥' सो इनका अनुभव भारी है तथापि साक्षात् कोई न जान सका। यहाँ एक शंका यह होती है कि न पहिचाना तो न सही, पर पूछातक नहीं, यह कैसे सम्भव है? इसका समाधान स्वयं कविने कर दिया है कि 'हरष बिबस सब' दूसरे यह कि शारदा तो स्वयं वहाँ हैं। इन्होंने सबकी मति ऐसी कर दी कि कोई पूछे ही नहीं। (प्र० सं०)। पुनः वे अपने स्वरूपसे इसलिये नहीं गयीं कि इन्हींकी 'पूजा-मान्यता-बड़ाई' रनवासको प्रथम करनी पड़ती, वरकी तरफका ध्यान न्यून हो जाता, रसमें बिरस हो जाता। वधू और वर विवाहके समय लक्ष्मी-नारायणरूप माने जाते हैं, उनका ही मान-सम्मान प्रथम करना चाहिये। यह उपदेश है। (प० प० प्र०)] (ग) 'मिलीं सकल' इति। भाव कि जब श्रीरामजी मण्डपमें आये तब ब्रह्मादि देव ब्राह्मण बनकर आये, यथा—'ब्रह्मादि सुर बर बिप्र बेष बनाइ कौतुक देखहीं।' जब सामध हो गया और राजा जनकने मण्डप तले सब मुनियोंकी पूजा की तब विधि-हरि-हर आदि प्रधान देवता विप्रवेषमें आये, अतः उनकी भी पूजा राजाने की। वैसे ही इधर देवताओंकी स्त्रियाँ प्रधान एवं सामान्य सभी एक संग जाकर रनवासमें मिल गयीं।

३ 'करहिं गान कल मंगल बानी।''''' इति। 'सुरनारियोंने ऐसा श्रेष्ठ वेष बनाया कि वैसा स्वरूप किसीका नहीं, ऐसा मधुर गान किया कि जैसा किसी स्त्रीका गान नहीं, यह विलक्षणता देखकर भी कोई न पहचान सका, यह कैसे? इसका समाधान करते हैं कि 'हरष बिबस सब।' विवश कहनेका भाव कि सामान्य हर्ष होता तो पहचान ली जातीं, पर विशेष होनेसे न पहचाना।

(हरिगीतिका)

छंद—को जान केहि आनंद बस सब ब्रह्मु बर परिछन चलीं।
कल गान मधुर निसान बरषहिं सुमन सुर सोभा भली॥
आनंदकंदु बिलोकि दूलहु सकल हिय हरषित भईं।
अंभोज अंबक अंबु उमगि सुअंग पुलकावलि छईं॥

दोहा—जो सुखु भा सियमातु मन देखि राम बर बेषु।
सो न सकहिं*कहि कलप सत सहस सारदा सेषु॥३१८॥

शब्दार्थ—अंभोज=कमल। अंबक=नेत्र।

अर्थ—कौन किसे पहिचाने? सभी तो आनन्दवश हैं। सब ब्रह्म दूलहका परिछन करने चली जा रही हैं। सुन्दर मधुकर गान हो रहा है। नगाड़े (भी) मधुर-मधुर बज रहे हैं। देवता फूल बरसा रहे हैं। अनोखी शोभा हो रही है॥

* कहहिं—१६६१।

आनन्दकन्द दूलहको देखकर सभी हृदयमें हर्षित हुईं। कमल (समान) नेत्रोंमें जल उमड़ आया और सुन्दर अङ्गोंमें पुलकावली छा गयी। श्रीसीताजीकी माताके मनमें जो सुख दूलह श्रीरामजीका सुन्दर वेष देखकर हुआ उसे लाखों शारदा और शेष लाखों कल्पोंतक भी नहीं कह सकते॥ ३१८॥

नोट—१ 'सची सारदा'''पुलकावलि छई' इति। शची-शारदादि रनवासमें उस समय जा मिलीं जब सब सुमङ्गल-साज सज रही थीं, सारा रनवास आनन्दोत्साहवश था, मङ्गल-गान हो रहा था। इत्यादि। यथा—'सजहिं सुमंगल साज रहस रनिवासहिं। गान करहिं पिक बैन सहित परिहासहिं॥ ८१॥ उमा रमादिक सुरतिय सुनि प्रमुदित भईं। कपट नारि-बर-बेष बिरचि मंडप गईं। मंगल आरति साजि बरहि परिछन चलीं। जनु बिगसी रबि-उदय कनक पंकज-कलीं॥ ८२॥' (जा० मं०)।

टिप्पणी—१ (क) 'आनंद बस' और 'ब्रह्म-बर' कहकर सूचित किया कि सबको ब्रह्मानन्द प्राप्त है। 'को केहि जान' कौन किसे जानता है, इसके दो कारण कहे। एक तो 'आनंद' दूसरे 'सब ब्रह्म बर परिछन चलीं।' अर्थात् सबोंकी दृष्टि दूलहकी ओर है, ध्यान परिछनमें है, जान-पहचान करनेका उस समय मौका ही कहाँ था। (ख) 'कल गान मधुर निसान'' ' मधुर गानके साथ मधुर निशान बज रहा है। यह मधुर गान देवताओंकी स्त्रियोंका है। देवियाँ गाती हैं, देवता निशान बजाते, फूल बरसाते हैं। फूलोंकी वृष्टि भी मधुर-मधुर हो रही है। फूलोंको मधुर वचनकी उपमा दी जाया करती है, यथा—'बोलत बचन झरत जनु फूला॥ २८०। ४॥' [सुन्दर गान हो रहा था। नगाड़े बजानेवाले देवता भी उसका आनन्द ले रहे थे, उनको भी उसका रस मिलता था, इसीसे वे मधुर गानके अनुकूल नगाड़ोंको मधुर-मधुर बजा रहे हैं। पुष्पवृष्टि भी मधुर है जिसमें दर्शनोंका आनन्द चला न जाय।] (ग) 'आनंदकंदु बिलोकि दूलहु''''' इति। पहले कहा कि 'ब्रह्म बर' का परिछन करने चलीं, अब ब्रह्म-बरके पास पहुँच गयीं, इसीसे देखना कहा। ब्रह्म आनन्दकन्द है, वह आनन्दकन्द ब्रह्म ही दूलहरूपमें है। उसे देखकर नेत्रोंमें जल और शरीरमें पुलकावली हो आना प्रेमकी दशा है, यथा—'प्रेम बिबस सीता पहिं आई॥ तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नयन॥ २२८॥' पहले जब परिछन करने चलीं तब यह जानकर कि श्रीरामजीका दर्शन करेंगी सब 'आनन्दके वश' हो रही थीं और जब दर्शन हुआ तब यह दशा हो गयी। ['कंद' का अर्थ समूह, घना, मेघ और मूल, जलके देनेवाले हैं। इस तरह आनन्दकंद=आनन्दघन; आनन्दसमूह, ठोस आनन्दरूप; आनन्दके मेघ, आनन्दरूपी जलकी वर्षा करनेवाले; यथा—'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप' (७। ४७), 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (आनन्द ही ब्रह्म है; भृगुने इस प्रकार निश्चयपूर्वक जाना। तैत्ति० भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक), 'वन्दे कन्दावदातं। ६। मं० १॥' 'यज्ञोपवीत बिचित्र हेममय मुकुतामाल उरसि मोहि भाई। कंद तड़ित बिच जनु रतिपतिधनु निकट बलाक पाँति चलि आई।' (गी० १। १०६)। 'आनन्दकंद' हैं इसीसे सबपर आनन्दरूपी जलकी वर्षा हो रही है, सब ब्रह्मानन्दमें भीग गये हैं। आनन्दके समूह वा मूल हैं, अतः इन्हींसे सबको आनन्द मिल रहा है, सबके आनन्दकी जड़ ये ही हैं। 'सकल हिय हरषित भई' में जा० मं० के 'नखसिख सुंदर रामरूप जब देखहिं। सब इन्द्रिन्ह महँ इन्द्र बिलोचन लेखहिं। ८३।' का भी भाव आ गया।

२—'जो सुख भा'''' इति। (क) 'सिय मातु' कहनेका भाव कि श्रीरामजीके दर्शनका जो सुख मिला वह सीताजीके सम्बन्धसे मिला, न सीताजीकी माता होतीं न यह सुख मिलता। सुखके यहाँ दो कारण बताये। एक तो 'राम बर बेष' अर्थात् श्रीरामजीका सुन्दर वेष देखनेसे हुआ, दूसरे यह देखकर कि हमारी कन्या सीताको ऐसा सुन्दर वर मिला। 'जो सुख भा सिय मातु मन'''' का भाव कि सुख तो सभी स्त्रियोंको हुआ, सबको ब्रह्मानन्दका सुख हुआ, सब प्रेम-विवश हुईं; यह ऊपर कह आये हैं, पर जो श्रीसुनयना अम्बाजीको हुआ वह सब सुखोंसे अधिक है। जो जैसा अधिकारी होता है उसको वैसा ही सुख मिलता है। श्रीसुनयनाजीका अधिकार सबसे अधिक है। (ब्रह्मकी परमशक्तिकी माता होनेका सौभाग्य इन्हींको प्राप्त हुआ है) [(ख)—'सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेष' इति। पं० रामकुमारजी तथा अन्य टीकाकारोंने 'हजार शारदा, हजार शेष सौ कल्पतक नहीं कह सकते' प्रायः यही अर्थ किया है। हमने 'सत सहस' को देहली-दीपकन्यायसे दोनोंमें लगाकर अर्थ किया है। लाखों कल्पोंतक लाखों शारदा-शेष। (ग) इस कथनसे जनाया कि औरोंका सुख कहा जा सकता है और कुछ कहा भी गया।] 'संकरु रामरूप अनुरागे' ३१७ (१) से 'मुदित देवगन रामहि देखी।' ३१७ (८) तक श्रीशङ्करादि देवताओंका, फिर 'नृप समाज दुहुँ हरष बिसेषी'। ३१७ (८) से 'बाजने बहु

बाजहीं। ३१७ छन्दतक दोनों राजसमाजोंका, तत्पश्चात् 'पुलकावलि छई'। ३१८ छन्द १।' तक शची आदिका आनन्द वर्णन किया गया। पर इनका सुख अकथनीय है।

नयन नीरु हटि मंगल जानी। परिछन करहिं मुदित मन रानी॥ १॥
बेद बिहित अरु कुल आचारू*। कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू॥ २॥
पंच सबद धुनि मंगल गाना। पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना॥ ३॥
करि आरती अरघु तिन्ह दीन्हा। राम गमनु मंडप तब कीन्हा॥ ४॥

शब्दार्थ—हटि=रोककर। बिहित=दिया हुआ, जिसका विधान किया गया हो। वेदविहित=जिसका वेदोंमें विधान है। जैसे कि गौरी-गणेशपूजन, भूमिपूजन इत्यादि। आचार=आचरण, रीति। व्यवहार=कार्य, काम, रीति-भाँति। 'आचार, व्यवहार', 'रीति' पर्याय हैं। 'पंच शब्द'—पाँच मंगल-सूचक बाजे जो मंगल कार्योंमें बजाये जाते हैं—तंत्री, ताल, झाँझ, नगाड़ा और तुरही। (२)—पाँच प्रकारकी ध्वनि—वेदध्वनि, बंदीध्वनि, जयध्वनि, शंखध्वनि और निशानध्वनि। यथा—'जय धुनि बंदी बेदधुनि मङ्गलगान निसान' १। ३२४। 'अरघ' (अर्घ्य)—षोडशोपचारमेंसे एक यह भी है, जल, दूध, दही, कुशाग्र, सरसों, तंदुल और जलको मिलाकर देवताको अर्पण करना, सामने जल गिराना।

अर्थ—मंगल (का अवसर) समझकर नेत्रोंके जलको रोककर रानी प्रसन्न मनसे परिछन कर रही हैं॥ १॥ रीति और कुलरीतिके अनुसार उन्होंने सभी व्यवहार भली प्रकार किये॥ २॥ पंचशब्द, पंचध्वनि और मंगलगान हो रहा है, नाना प्रकारके वस्त्र पाँवड़े पड़ (बिछाये जा) रहे हैं॥ ३॥ उन्होंने आरती करके अर्घ्य दिया, तब श्रीरामचन्द्रजी मण्डपको चले॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'नयन नीरु हटि·····' इति (क) ऊपर कह आये कि आनन्दकन्द दूलहको देखकर सब स्त्रियोंके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु आ गये, यथा—'अंभोज अंबक अंबु उमगि'। मंगलके समय आँसू गिराना अनुचित है, यह जानकर सबने आँसुओंको रोका। यथा—'सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं। ७। ७।' आरती केवल रानीने की और नेत्रोंका जल सभीने रोका। (ख) 'मुदित मन' शब्द देकर रानीकी शोभा कही, यथा—'भरी प्रमोद मातु सब सोहीं'। (ग) 'चलीं मुदित परिछनि करन। ३१७' उपक्रम है और 'परिछनि करहिं मुदित मन रानी' उपसंहार है।

२ (क) 'कीन्ह भली बिधि' से जनाया कि वेदरीति और कुलाचार दोनोंमें रानीकी बड़ी श्रद्धा है। (ख) 'करहिं गान कल मंगल बानी। ३१८। ८।' उपक्रम है, 'पंच सबद धुनि मंगल गाना' उपसंहार है। पञ्चशब्दध्वनि वेद-ध्वनि है जो ब्राह्मण कर रहे हैं और मंगलगान स्त्रियोंका है जो पूर्व कह आये हैं, यथा—'सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेदधुनि बिप्र पुनीता। ३१३। ४।' (ग) 'पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना' इति। इससे सूचित हुआ कि परिछन आदि आचार घोड़ेपर चढ़े हुए ही हुए। अब श्रीरामजी घोड़ेसे उतरे तब पृथ्वीपर वस्त्र बिछाये गये। 'परहिं' से जनाया कि उतरनेके साथ ही पाँवड़े पड़ने लगे और जैसे-जैसे वे चलते हैं और भी पाँवड़े पड़ते जाते हैं। 'बिधि नाना' से जनाया कि जितने वस्त्र हैं वे सब उतने ही (भिन्न-भिन्न) प्रकारके हैं। पाँवड़ेके वस्त्रोंकी प्रशंसा पूर्व कर आये हैं, यथा—'बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनदु धन मद परिहरहीं॥ ३०६। ५।', इसीसे यहाँ नहीं लिखा।

३ 'करि आरती अरघु·····' इति। (क) प्रथम आरती (परिछन) की, फिर वेद और लोक-रीतियाँ कीं, अब पुनः आरती करके अर्घ्य दिया। [यह अर्घ्य षोडशोपचारमेंका नहीं है। यह विशेष अर्घ्य होता है और षोडशोपचारका अर्घ्य सामान्य होता है। इस विशेषार्घ्यमें गन्ध, पुष्प, यव, अक्षत, कुशाग्र, तिल, दूब और सरसों ये द्रव्य अर्घ्यपात्रके जलमें डालकर उस जलसे अर्घ्य दिया जाता है, यथा—'तत्रार्घ्यपात्रे दातव्या गन्धपुष्पयवाक्षताः। कुशाग्रतिलदूर्वाश्च सर्षपाश्चार्घ्य-सिद्धये॥' इति रामार्चनचन्द्रिकायाम्। (प० प० प्र०)। वरकी प्रथम आरती 'परिछन' कहलाती है। इसीसे प्रथम आरतीको 'परिछनि' कहा। दूसरी आरती आरती कहलाती है। जब श्रीरामजी घोड़ेसे उतरे तब यह आरती की गयी और अर्घ्य दिया गया (प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'तिन्ह' शब्दसे सबका आरती उतारना और अर्घ्य देना जनाया। पर वस्तुतः यह रीति है नहीं।) (ख)—'राम गमनु मंडप तब कीन्हा'—अभी केवल दूलह मण्डपमें गया है, राजा आदि

* ब्यवहारु—१६६१।

नहीं, क्योंकि अभी सामध नहीं हुआ है। प्र० सं० में यह अर्थ किया था, किंतु पुनर्विचारसे 'गवन कीन्हा' का अर्थ 'चले' ही ठीक जान पड़ा। यही अर्थ आगे 'येहि बिधि राम मंडपहि आये' से संगत होता है। यह भी हो सकता है कि मण्डपमें प्रवेश करनेसे 'गमन किया' कहा, बीचमें विधि कही और जहाँ बैठना है वहाँ पहुँचनेपर 'आये' कहा गया।]

दसरथु सहित समाज बिराजे। बिभव बिलोकि लोकपति लाजे॥ ५॥
समय समय सुर बरषहिं फूला। सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला॥ ६॥
नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपनि पर कछु सुनै न कोई॥ ७॥
येहि बिधि रामु मंडपहि आए। अरघु देइ आसन बैठाए॥ ८॥

शब्दार्थ—'शान्ति'—शान्ति वा स्वस्तिवाचन उस मन्त्रपाठको कहते हैं जो ग्रह आदिसे उत्पन्न होनेवाले अमङ्गलोंको दूर करनेके लिये किया जाता है। यथा—'ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!'—इति शान्तिपाठः (तैत्ति० शिक्षावल्ली, प्रथम अनुवाक)। इसी तरह केनोपनिषद्, ईशावास्योपनिषद्, कठोपनिषद् आदिमें शान्तिपाठ दिये हुए हैं।

अर्थ—श्रीदशरथजी अपने समाजसहित विशेष शोभित हुए। उनका वैभव देखकर लोकपाल लज्जित हो गये॥ ५॥ देवता समय-समयपर फूल बरसाते हैं। ब्राह्मणलोग (समयके अनुकूल शान्तिपाठ करते हैं॥ ६॥' आकाश और नगरमें कोलाहल (शोर) मच रहा है। अपनी-परायी कोई कुछ भी नहीं सुनता॥ ७॥ इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी मण्डपमें आये। अर्घ्य देकर आसनपर बैठाये गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम श्रीरामजी मण्डपको चले, पीछे श्रीदशरथजी समाजसहित चले। बिराजे अर्थात् द्वारपर शोभित हुए। (ख) 'बिभव बिलोकि लोकपति लाजे' इति। राजाका वैभव देखकर प्रथम इन्द्रको अति लघु कहा, यथा—'**अति लघु लाग तिन्हहिं सुरराजू**। ३१३। ६।', फिर ब्रह्मादि देवताओंका अपने जन्मको व्यर्थ मान दशरथजीके भाग्य-वैभवका सराहना कहा, यथा—'लगे सराहन सहस मुख जानि जनम निज बादि। ३१३।', और अब लोकपालोंका लजाना कहते हैं। 'इन्द्र लघु लगे, लोकपाल लज्जित हुए' कहकर जनाया कि राजाके मुकाबलेमें इन्द्र कुछ है, पर अति लघु है, और लोकपाल तो कुछ भी नहीं हैं, इसीसे वे लजा गये।

२ '**समय समय सुर बरषहिं**……' इति। (क) 'समय-समय' पर फूल बरसाते हैं। भाव कि जब राजा बारात-सहित जनवासेसे चले तब फूल बरसाये। यथा—'सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन……। ३१४। १।', फिर श्रीरामजीको जब देखा तब बरसाये, यथा—'पुनि रामहि बिलोकि हिय हरषे। नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे॥' (३१५। ८), तत्पश्चात् जब राजा जनकके द्वारपर पहुँचे तब बरसाये, यथा—'बरषहिं सुमन सुर हरषि कहि जय जयति जय रघुकुलमनी। ३१७।', पुनः जब स्त्रियाँ परिछन करने चलीं तब पुष्पोंकी वृष्टि की, यथा—'को जान केहि……**बरषहिं सुमन सुर सोभा भली**। ३१८।' परंतु जब श्रीरामजी मण्डपको चले तब पुष्पोंकी वृष्टि नहीं कही गयी और न उस समय कही गयी जब समाजसहित दशरथजी मण्डपको चले। यहाँ अन्तमें 'समय समय……' लिखकर उस त्रुटिको पूरी कर दी अर्थात् सूचित किया कि इन अवसरोंपर भी पुष्पोंकी वृष्टि हुई। (ख) एक चरणमें फूलोंकी वर्षा कहकर दूसरेमें ब्राह्मणोंका शान्तिपाठ करना लिखकर जनाया कि स्वर्गके सुर फूल बरसाते हैं, वैसे ही महिसुर) वेदपाठ क्या करते हैं मानो फूल बरसाते हैं। [(ग)—'अनुकूला' अर्थात् विवाहमें समयके अनुकूल। वि० टी० कार 'अनुकूला' का अर्थ 'प्रसन्न होकर' लिखते हैं। 'समय समय'—जब दूलह-दुलहिनि मण्डपमें आते हैं तब शान्तिपाठ पढ़ा जाता है, यह वही अवसर है। (प्र० सं०)]

३ '**नभ अरु नगर कोलाहल होई**।……' इति। (क) जब स्त्रियाँ परिछनके लिये चलीं तब कोलाहलका होना न लिखा था, कोलाहलका हेतुभर लिख दिया था कि 'बाजहिं बाजन बिबिध प्रकारा। नभ अरु नगर सुमंगलचारा। ३१८। ५', और यहाँ केवल कोलाहल होना कहा, हेतु नहीं कहा। (एक-एक जगह एक-एक बात लिखकर दोनों जगह दोनों बातोंका होना जनाया। ☞ यह ग्रन्थकारकी शैली है) यह कविकी बुद्धिमत्ता है कि सब बात कथनमें आ जाय और ग्रन्थ न बढ़े।

[(ख) 'आपनि पर कछु सुनै न कोई' न अपनी ही कही बात सुनायी देती है न दूसरेकी। यह मुहावरा है। अर्थात् बहुत भारी शोर मचा है]

४ 'येहि बिधि राम'''' इति। अर्थात् पाँवड़े पड़ते हैं, पुष्पोंकी वृष्टि हो रही है, शान्तिपाठ पढ़ा जा रहा है और बाजे बज रहे हैं, इस प्रकार श्रीरामजी मण्डपमें आये। इससे जनाया कि मण्डपमें आनेकी यह विधि है। 'राम मंडपहि आए' से जनाया कि अभी कोई बाराती मण्डपतले नहीं आये; क्योंकि राजा द्वारमें खड़े हैं जब सामध हो जाय तब वे भीतर आवें।

(हरिगीतिका)

छंद—बैठारि आसन आरती करि निरखि बरु सुखु पावहीं।
मनि बसन भूषन भूरि वारहिं नारि मंगल गावहीं॥
ब्रह्मादि सुरबर बिप्र बेष बनाइ कौतुक देखहीं।
अवलोकि रघुकुल कमल रबि छबि सुफल जीवन लेखहीं॥

दो०—नाऊ* बारी भाट नट राम निछावरि पाइ।
मुदित असीसहिं नाइ सिर हरषु न हृदय समाइ॥ ३१९॥

अर्थ—आसनपर बिठाकर, आरती उतारकर दूलहको देखकर स्त्रियाँ सुख पा रही हैं, बहुत-बहुत मणि, वस्त्र और आभूषण निछावर करती और मङ्गल गा रही हैं। ब्रह्मादि श्रेष्ठ-श्रेष्ठ देवता ब्राह्मणवेष धारण किये हुए कौतुक देख रहे हैं और रघुकुलरूपी कमलके प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य श्रीरामजीकी छवि देखकर अपने जीवनको सफल मान रहे हैं। नाई, बारी, भाट और नट श्रीरामजीकी निछावर पाकर प्रसन्न हो माथा नवाकर आशीर्वाद दे रहे हैं। उनके हृदयमें हर्ष नहीं समाता। ३१९।

टिप्पणी—१ 'बैठारि आसन'''' इति। (क) आरती करके अर्घ्य दिया गया, तब मण्डपमें श्रीरामजी गये यह मण्डपगवनकी विधि कही। अब बैठनेकी विधि कहते हैं। अर्घ्य देकर आसनपर बैठाया तब आरती की, यथा—'अरघ देइ आसन बैठारे। बैठारि आसन आरती''''। आरती करके निछावर करना चाहिये अतः 'मनि बसन'''' कहा। (ख) मणि और भूषणके बीचमें 'बसन' को कहकर जनाया कि जो मूल्य मणि और आभूषणका है वही मूल्य वस्त्रोंका है। तात्पर्य कि वस्त्र भारी मूल्यके हैं।

नोट—१ मिलान कीजिये—'परम प्रीति कुलरीति करहिं गज गामिनि। नहिं अघाहिं अनुराग भाग भरि भामिनि। ८३। नेग-चारु कहँ नागरि गहरु लगावहिं। निरखि निरखि आनंद सुलोचनि पावहिं। करि आरती निछावर बरहि निहारहिं। प्रेममगन प्रमदागन तनु न सम्हारहिं। ८४। नहि तनु सम्हारहिं छबि निहारहिं निमिष रिपु जनु रन जए। चक्कवै लोचन रामरूप सुराज सुख भोगी भए।। (जा० मं०)। ये सब भाव 'बैठारि आसन''''गावहीं' में आ गये। जब यह सब कौतुक हो रहा था, उसी समय ब्रह्मादिक विप्ररूपसे कौतुक देखने लगे।

टिप्पणी—२ (क) 'ब्रह्मादि सुरबर'''' अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दिक्पाल और सूर्य आदि जो श्रीरघुनाथजीका परत्व जानते हैं, ये ही 'सुरबर' हैं, इन्हींको ब्रह्माजीको आदि देकर विप्र बने हुए आगे कहा है। यथा—'बिधि हरि हरु दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ॥ कपट बिप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए॥ १। ३२१॥' (इसीसे यहाँ केवल ब्रह्मादि कहा)। (ख) 'कौतुक देखहीं' कहनेका भाव कि देवताओंकी स्त्रियोंका कपटवेष धारणकर स्त्रियोंमें मिलकर मङ्गल गाना कह आये हैं, यथा—'कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं जाई॥ करहिं गान कल मंगल बानी।' (इसीसे यह अनुमान होता है कि देवता ब्राह्मणवेष बनाये ब्राह्मणोंमें मिलकर शान्तिपाठ पढ़ रहे होंगे। इनके समान वेदोंका ज्ञाता कोई नहीं है। ब्रह्माको स्वयं भगवान्से वेद प्राप्त हुए। यथा—'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः। भा० १। १। १।' सूर्यभगवान्से श्रीयाज्ञवल्क्य, हनुमान्जी

* नाउ—१६६१। 'ना' को खींचकर पढ़नेसे छन्द बैठ जाता है।

और भरद्वाजजीने कुछ प्राप्त किया। 'कौतुक देखहीं' कहकर कवि इस समय शान्तिपाठ पढ़नेका निराकरण करते हैं), देवता वेदपाठ नहीं करते। [प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि 'यदि वे शान्तिपाठ न करते तो दूसरे विप्र उनको अवश्य टोकते कि आप क्यों मूक हैं, इससे उनका मर्म खुल जाना विशेष सम्भव था। वे वेषके अनुकूल पाठ भी करनेको समर्थ थे—'जस काछिय तस चाहिय नाचा।' मेरी समझमें पं० रामकुमारजीके मतानुसार ब्रह्मादिका विप्रवेष बनाना श्रीरामजीके मण्डपमें बैठ जानेके पश्चात् कहनेसे पाया जाता है कि शान्तिपाठ जो हो रहा था उसके बाद ये विप्रवेषमें मण्डपमें ही पहुँच गये और ब्रह्म 'बर' का दूलहरूप और आरती, निछावर तथा दर्शनका सुख ले रहे हैं। ब्रह्मका दूलह बनकर ये सब विवाहके कृत्य कराना 'कौतुक' ही है। इससे इनका विप्रोंमें मिलकर शान्तिपाठमें सम्मिलित होना नहीं कहा जैसे शची आदिका रनवासमें मिलकर गाना कहा था।' पण्डितजीके भावकी पुष्टि आगे दो० ३२१ (७) से भी होती है। वहाँ भी इस प्रसंगमें कौतुक देखना ही कहा है। यथा—'कपट विप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए॥' (ख) जैसे शची-शारदादिको 'शुचि सहज सयानीं' विशेषण दिये वैसे ही ब्रह्मादिको 'वर' विशेषण दिया]। (ग) 'सुफल जीवन लेखहीं'—ब्रह्मादि देवताओंका भी जीवन जब श्रीरामदर्शन बिना निष्फल है तब भला मनुष्यके जीवनकी कौन कहे। (यह हमलोगोंके लिये उपदेश है)। [(घ) ब्रह्मादि अपने रूपसे न गये; क्योंकि इससे ऐश्वर्य खुल जायगा और प्रभु उसे खोलना नहीं चाहते। दूसरे मूलरूपसे जानेसे इन्हींका मान-सत्कार होने लगेगा। तीसरे श्रीरामजीको लौकिक व्यवहारोंमें संकोच होगा, नर-नाट्यका सुख न मिलेगा। (रा० प०, पं०)]

३ 'नाऊ बारी भाट…' इति। (क) प्रथम मणि-वसन-भूषणका निछावर करना लिखा, अब उनके पानेवालोंको कहते हैं। निछावर पानेवालों, उसके अधिकारियोंमें नाई मुख्य हैं, इसीसे उनको प्रथम कहा। (ख) 'राम निछावरि पाइ' कहनेका भाव कि यह उनकी निछावर है कि जिनकी निछावर लेनेके लिये देवतालोग हठ करके भिखारी बनते हैं, यथा—'भूमिदेव देव देखिकै नरदेव सुखारी। बोलि सचिव सेवक सखा पटधारि भँडारी॥ देहु जाहि जोइ चाहिए सनमानि सँभारी। लगे देन हिय हरषि कै हेरि-हेरि हँकारी॥ ११॥ राम निछावरि लेनको हठि होत भिखारी।' (गी० । १ । ६)। (ग) 'मुदित असीसहिं…हरषु न हृदय समाइ' इति। एक तो बहुत (मणिवसन भूषण भूरि) निछावर पायी, दूसरे जिसके लिये देवता भिक्षुक बनकर आते हैं, वही निछावर अपनेको प्राप्त हुई यह समझकर मुदित हैं, प्रणाम करते हैं, आशीर्वाद देते हैं, हृदयमें (इतना करनेपर भी) हर्ष नहीं समाता। (अर्थात् प्रणाम करने तथा आशीर्वाद देनेपर भी तृप्ति नहीं होती, चाहते हैं कि हजारों मुख हो जायँ तो भी सदा आशीर्वाद देते ही रहें) जब हृदयमें हर्ष नहीं समाता, तब उसे मुखके द्वारा 'आशीर्वाद' के रूपमें निकालते हैं। (घ) नाई-बारी आदिका हर्ष मन, कर्म, वचन तीनों प्रकारसे दिखाते हैं। 'हरषु न हृदय समाइ' यह मन, 'नाइ सिरु' यह कर्म और 'असीसहिं' यह वचनका हर्ष है।

मिले जनकु दसरथु अति प्रीती। करि बैदिक लौकिक सब रीती॥ १॥
मिलत महा दोउ राज बिराजे। उपमा खोजि खोजि कबि लाजे॥ २॥
लही न कतहु हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी॥ ३॥
सामध देखि देव अनुरागे। सुमन बरषि जसु गावन लागे॥ ४॥

शब्दार्थ—सामध=समधियोंका मिलाप। वर और कन्याके पिता परस्पर समधी कहलाते हैं।

अर्थ—राजा जनक और राजा दशरथजी, वैदिक और लौकिक सब रीतियोंको करके बड़े ही प्रेमसे मिले॥ १॥ दोनों महाराज मिलते हुए अत्यन्त शोभित हुए। कवि उपमा ढूँढ़-ढूँढ़कर लज्जित हो गये॥ २॥ कहीं भी उपमा न पायी (तब) हृदयमें हार मानकर उन्होंने यह उपमा हृदयमें निश्चित की कि इनके समान ये ही हैं॥ ३॥ समधौरा (समधियोंका मिलाप) देखकर देवता अनुरक्त हो गये और फूल बरसाकर (दोनोंका) यश गाने लगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'मिले जनकु दसरथु…' इति। (क) पहले कन्याके पिताको आगे आकर मिलना चाहिये, इसीसे मिलनेमें श्रीजनकजीका नाम पहले लिखा। (ख) 'अति प्रीती' से मिलनेका भाव कि केवल सामधकी ही रीति नहीं की किंतु अत्यन्त प्रीतिसे मिले। [अर्थात् कुछ वेद-विहित नेगही भर नहीं बरता या भेंटकी सामग्रीमात्र धरकर, चन्दन-अतर लगाकर कन्धे-से-कन्धा छुआकर ही नहीं मिले किंतु हृदयकी 'अति प्रीती' से मिले। 'अति प्रीति' के सम्बन्धसे 'बिराजे' पद दिया,

'राजे' के साथ 'वि' उपसर्ग देकर विशेष शोभित होना कहा। (प्र० सं०)] (ग) 'करि बैदिक लौकिक सब रीती' इति। कुलरीति, लोकरीति और वेदरीति जहाँ जो चाहिये वहाँ वैसी करते हैं, और वैसा ही गोस्वामीजी लिखते हैं, यथा–'गुरहि पूछि करि कुल बिधि राजा। चले संग मुनि साधु समाजा॥ ३१२। ८॥' (यहाँ केवल कुलरीति की जाती है। अतः 'कुल बिधि' ही लिखा); 'बेद बिहित अरु कुल आचारू। कीन्ह भली बिधि सब व्यवहारू॥ ३१९। २॥' (यहाँ वेद-रीति और कुलरीति दोनों की जाती हैं। यह द्वारचारका समय है); 'करि बैदिक लौकिक सब रीती' (यहाँ कुलरीति नहीं है। वैदिक रीति जो लोकमें प्रचलित है, वही की जाती है); 'अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइकै। १। ३२७।' (यह कोहबरका समय है, यहाँ केवल लोकरीति होती है, इससे यहाँ केवल 'लौकिक रीति' कहा) इत्यादि। [(घ) 'अति प्रीती' देहली-दीपकन्यायसे दोनों ओर है। वैदिक-लौकिक रीतियाँ सब बड़ी श्रद्धासे की गयीं]।

२—'मिलत महा दोउ ···' इति। (क) दोनोंको 'महाराज' कहकर दोनोंको समान बताया। समान हैं, इसीसे दोनों विशेष शोभित हुए, न्यूनाधिक होते तो विशेष शोभा न होती। (ख) 'उपमा खोजि···' इति। उपमा खोजनेवाले कवि बहुत हैं, इसीसे 'खोजि खोजि' कहा और 'लाजे' बहुवचन दिया। (ग) 'लाजे' इति। कविलोग जब उपमा नहीं पाते तब लज्जित होते हैं। यथा—'आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥', 'निरवधि गुन निरुपम पुरुष भरतु भरत सम जानि। कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि॥ २। २८८॥' [अपना काम न निकला, बहुत खोजनेपर भी सफल न हुए, अतः लज्जित हुए। पर कवि हैं, कुछ कहा अवश्य ही चाहें, अतः कहा कि 'इन्ह सम एइ' उपमा हैं। यहाँ 'अनन्वयोपमा अलंकार' है। (प्र० सं०)]

नोट—१ मिलान कीजिये—'गुन सकल सम समधी परस्पर मिलत अति आनँद लहे। जय धन्य जय जय धन्य धन्य बिलोकि सुर नर मुनि कहे॥ ८॥ तीनि लोक अवलोकहिं नहि उपमा कोउ। दसरथ जनक समान जनक दसरथ दोउ॥' (जानकीमंगल)। जा० मं० के 'सनमानि सब बिधि जनक दसरथ किये प्रेम कनावड़े।' का भाव 'मिले अति प्रीती' में है।

टिप्पणी—३ (क) 'लही न कतहुँ हारि हिय मानी' से जनाया कि कवियोंने बड़ा परिश्रम किया फिर भी उपमा न पायी, हार मान गये। हार माननेपर भी कवियोंने अपना (कविका) काम किया ही, वह यह कि 'इन्ह सम एइ' यह उपमा दी। उपमा नहीं मिलती रही, सो खोज लाये। (ख) 'सामध देखि ' इति। 'मिले जनकु दसरथु अति प्रीती' यह दोनों समधियोंका मिलना ही 'सामध' है। सामध देखकर अनुरक्त होनेका कारण यह कि देवताओंने इसके पहले कभी ऐसे 'सम समधी' देखे न थे, आज एक नयी बात देखनेसे मनमें अनुराग हुआ, तबसे फूल बरसाने लगे और वचनसे यश गाने लगे—यह सब अनुरागके लक्षण हैं। क्या यश गाते हैं यह आगे लिखते हैं—'जग बिरंचि···।' यह भी पुष्पवृष्टिके योग्य समय था, अतः फूल बरसाये।

जगु बिरंचि उपजावा जब ते। देखे सुने ब्याह बहु तब तें॥ ५॥
सकल भाँति सम साजु समाजू। सम समधी देखे हम आजू॥ ६॥
देव गिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची॥ ७॥
देत पाँवड़े अरघु सुहाए। सादर जनकु मंडपहिं ल्याए॥ ८॥

अर्थ—जबसे ब्रह्माजीने संसार (वा, संसारमें हमको) उत्पन्न किया तबसे हमने बहुतसे ब्याह देखे-सुने हैं॥ ५॥ (परन्तु) सब प्रकारसे समान साज और समाज तथा बराबरीके समधी हमने आज ही देखे॥ ६॥ देवताओंकी सुन्दर सच्ची वाणी सुनकर दोनों ओर अलौकिक प्रीति छा गयी॥ ७॥ सुन्दर पाँवड़े और अर्घ्य देते हुए जनकमहाराज श्रीदशरथ-जी महाराजको आदरपूर्वक मण्डपमें ले आये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिरंचि'—आदि-ब्रह्माका नाम विरंचि है। 'जगु बिरंचि उपजावा··' अर्थात् आदि (सृष्टिके) ब्रह्मासे लेकर आजतक। 'देखे सुने' अर्थात् बहुत-से देखे हैं और जिन्होंने नहीं देखे उन्होंने सुने हैं। [जगत्के उत्पन्न होनेके साथ ही देवता भी अधिकारसहित तभी उत्पन्न हुए। विवाहादिमें देवताओंका आवाहन होता है, वे बुलाये जाते हैं। जिनका आवाहन होता है वे आते हैं और देखते ही हैं।

उनके लिये 'देखे' कहा। और जिनका आवाहन नहीं होता, अथवा जो किसी कारणसे न गये, उनका सुनना कहा। (पं० रामवल्लभाशरणजी)। प० प० प्र० का मत है कि 'आदि 'ब्रह्मा' अर्थ अयुक्त है। रामविवाहके समयके ब्रह्मा भी आदिसृष्टिकालसे नहीं हैं तब दूसरे देवोंकी बात ही क्या ?' पं० रामकुमारजीके मतानुसार 'सुने' में वे भी आ जाते हैं।]
(ख) साज=ऐश्वर्य। समाज अर्थात् निमिवंशी और रघुवंशी दोनों समाज। 'सम समधी'—अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, भक्ति इत्यादिमें दोनों समान हैं। यहाँ ब्रह्मका अवतार, तो वहाँ परम शक्तिका अवतार। (श्रीरामजी तथा श्रीसीताजी दोनों अभिन्न हैं, तत्त्वतः एक हैं, यथा—'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न')।

२ 'देव गिरा सुनि सुंदर साँची।....' इति। (क) 'सुन्दर' अर्थात् श्रवण-सुखदायी, श्रवण-रोचक। सुनकर सबको प्रिय लगी अतः 'सुन्दर' कहा। 'साँची' कहनेका भाव कि बहुत बढ़ाकर बड़ाई करनेसे मनमें असत्यका प्रवेश होता है (अर्थात् असत्यताकी प्रतीति होती है, यही जान पड़ता है कि बड़ाई करते हैं) इसीपर कहते हैं कि 'देव गिरा' है (देववाणी असत्य नहीं होती। सदा सत्य होती है। क्योंकि यदि देवता असत्य बोलें तो देवलोकसे उनका पतन हो जाय, उनका देवत्व जाता रहे)। देवगिरा है, अतः उसे सत्य माना। (अर्थात् इसमें मुबालगा नहीं है, बात बढ़ाकर नहीं कही गयी है, यथार्थतः ऐसी ही है)। (ख) 'सुंदर साँची' दोनों कहनेका भाव कि वाणीके दो गुण हैं—प्रिय और सत्य। यथा—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' इति मनुः, 'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। २। १३०। ४।' वाणीकी प्रशंसा यह है कि वह सत्य और प्रिय हो, देववाणीमें ये दोनों गुण यहाँ कहे, सुन्दर अर्थात् प्रिय है और सत्य है। (ग) 'प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माची' इति। इससे सूचित हुआ कि देवताओंने दोनों राजाओंको 'अलौकिक' कहा, इसीसे दोनों ओरके राजसमाजोंमें अलौकिक प्रीति हुई। 'माची' गहोरादेशकी बोली है। माची=हुई, यथा—'कीरति जासु सकल जग माची'। १। १६। ४।' ('माची' 'मची' का अपभ्रंश है।=फैली, मची, छा गयी)।

३ 'देत पाँवड़े अरघ....' इति। (क) इस कथनसे स्पष्ट कर दिया कि श्रीरामजीको पाँवड़े और अर्घ्य पृथक् दिये गये और राजाको पृथक्। श्रीरामजीकी आरती, अर्घ्य और पाँवड़े स्त्रियोंद्वारा हुए—'पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना। करि आरती अरघु तिन्ह दीन्हा। राम गमनु मंडप तब कीन्हा॥ ३१९। ४॥' और, दशरथजी महाराजको श्रीजनकजी-महाराज पाँवड़े अर्घ्य स्वयं देते हुए लाये। यह 'देत' शब्दसे सूचित किया। जहाँ सेवकोंद्वारा पाँवड़े बिछाये जाते हैं वहाँ 'परत' या 'परहीं' लिखते हैं। यथा—'बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। ३०६। ५।' (यहाँ अगवानीमें राजा साथ नहीं हैं) श्रीरामजीको रानी आदि स्त्रियाँ ले आयीं, वहाँ 'परहिं' कहा, यथा—'पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना'। (ख) 'सुहाए' से जनाया कि वस्त्र बहुत विचित्र हैं, जैसा पूर्व कह आये। (ग) 'सादर जनकु मंडपहिं ल्याए' इति। भाव कि श्रीरामजीकी रानी श्रीसुनयनाजी मण्डपमें लायीं और महाराजको जनकजी लाये।

(हरिगीतिका)

छं०—मंडपु बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनिमन हरे।
निज पानि जनक सुजान सब कहुँ आनि सिंघासन धरे॥
कुल इष्ट सरिस बसिष्ठु पूजे बिनय करि आसिष लही।
कौसिकहि पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही॥

दो०—बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस।
दिए दिब्य आसन सबहि सब सन लही असीस॥ ३२०॥

अर्थ—मण्डपकी अनूठी रचना और सुन्दरता देखकर मुनियोंके मन मोहित हो गये। सुजान (चतुर) राजा जनकने अपने हाथोंसे ला-लाकर सबके लिये सिंघासन रक्खे। अपने कुल-देवताके समान वसिष्ठजीकी पूजा की, (उनकी) विनती करके उनसे आशीर्वाद पाया। श्रीविश्वामित्रजीको अत्यन्त प्रेमसे पूजते हैं। (उस) परम प्रीतिकी रीति तो कहते नहीं बन पड़ती। (फिर) प्रसन्नतापूर्वक राजाने वामदेव आदि ऋषियोंकी पूजा की। सबको दिव्य आसन दिये और सबसे आशीर्वाद प्राप्त किया॥ ३२०॥

टिप्पणी—१ (क) 'विचित्र रचना रुचिरता मुनि मन हरे' इति । राजा जब मण्डपमें लाये गये तब उनके साथ मुनिसमाज भी मण्डपमें आया । राजाके साथ अनेक मुनि हैं, यथा—'साधु समाज संग महिदेवा । जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा ॥ ३१५ । ५ ॥'; उन्हीं मुनियोंका मन हरण करना कहा । मुनियोंके मनको मोहित करना कहनेसे मण्डपकी बड़ाई हुई । [मुनियोंके मन विषयरससे रूखे होते हैं । वे अपना मन बाह्य पदार्थोंसे हटाये हुए सदा परमात्मचिन्तनमें लगाये रखते हैं । जब इन्हींके मनको बाहरकी सुन्दरताने लुभा लिया, तब औरोंकी बात ही क्या ? इसीसे केवल 'मुनि मन हरे' कहा । (प्र० सं०)] यहाँ राजाके मनका हरना नहीं लिखते, क्योंकि राजाका ऐश्वर्य कम नहीं है । यदि 'नृप मन हरे' लिखते तो राजाके ऐश्वर्यमें न्यूनता पायी जाती, उससे समझा जाता कि राजाने ऐसा ऐश्वर्य कभी देखा ही नहीं, तभी तो देखकर ठगे-से रह गये । (ख) 'निज पानि जनक सुजान''''' इति । 'सुजान' का भाव कि वे जानते हैं कि महात्माओंकी सेवा अपने हाथसे करनी चाहिये, फिर ये तो बाराती हैं और समस्त बारातियोंके पूज्य भी हैं तब इनका अत्यन्त सम्मान योग्य ही है, इसीसे उन्होंने अपने हाथसे सिंघासन रक्खे हैं । (पंजाबीजी लिखते हैं कि 'सुजान' का भाव यह है कि यद्यपि वे योगेश्वर हैं तथापि व्यवहारमें चूकनेवाले नहीं; उसमें भी बड़े निपुण हैं । समझते हैं कि हमारा (अर्थात् कन्यावालेका) पक्ष न्यून है, हमें योग्य है कि वर-पक्षके लोगोंका आदर-सत्कार स्वयं करें) । पुनः, पहलेहीसे सिंहासन यथायोग्य इस प्रकार सजा रखे हैं कि सबके आनेपर कठिनता न पड़े और न विलम्ब हो, इससे भी 'सुजान' कहा । (ग) 'धरे' भूतकालिक क्रिया देकर सूचित किया कि पहलेहीसे मण्डपतले सबोंके लिये सिंहासन लगा रक्खे थे । यदि उसी समय रखना अभिप्रेत होता तो 'धरैं' वर्तमानकालिक क्रिया देते, उसी समय सबको सिंहासन ला-लाकर देते तो सब लोग खड़े रहते जो अयोग्य है । दूसरे समय बहुत लग जाता, लग्नको देर हो जाती, वह थोड़ी ही देरकी है, बीती जा रही है, इसीमें बीत जाती । ('धरे' में यह भाव आ सकता है कि 'लीजिये भगवन्! इस आसनपर विराजिये' । उनके सामने सिंहासनको पकड़कर बैठनेको कहना बड़े आदमियोंके लिये 'धरे के' ही समान है) ।

२ (क) 'कुल इष्ट सरिस बसिष्ट पूजे''''' इति । निमिवंशियोंके कुलके इष्ट भगवान् हैं । भगवान्‌के समान श्रीवशिष्ठजीकी पूजा की । [पूजाके अन्तमें स्तुति होती है, वैसे ही यहाँ पूजा करके विनती की । वशिष्ठजी राजा निमिके भी पुरोहित थे । वशिष्ठजीकी अनुपस्थितिमें एक बार उन्होंने महर्षि गौतमसे यज्ञ कराया था, जिसपर वशिष्ठजीने राजाको शाप दिया, राजाने भी वशिष्ठजीको शाप दिया । यह कथा पूर्व २३० (४) में आ चुकी है । उस समयसे वशिष्ठजी निमिकुलके पुरोहित न रह गये । गौतमजी और उनके पश्चात् शतानन्दजी इस कुलके पुरोहित हुए । मयङ्ककारका मत है कि उस शापाशापी आदिके कारण जनकमहाराजने अत्यन्त विनती की, जिससे वशिष्ठजी प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया] । (ख) 'कौसिकहिं पूजत परम प्रीति''''' इति । 'परम प्रीति' का भाव कि और सब ऋषियोंकी भी पूजा प्रेमके साथ की पर इनकी पूजा 'परम प्रीति' से की; क्योंकि इनके द्वारा श्रीरामजीकी प्राप्ति हुई, सब सुख और सुयश मिला । (इस विवाहके, इस सम्बन्धके मुख्य कारण भी ये ही हैं), यथा—'जो सुखु सुजसु लोकपति चहहीं । करत मनोरथ सकुचत अहहीं । सो सुखु सुजसु सुलभ मोहि स्वामी । सब विधि तव दरसन अनुगामी ॥ ३४३ । ४-५ ॥' (ग) वशिष्ठजीसे आशिष पाना लिखा, विश्वामित्रसे आशिष पाना नहीं लिखा, फिर आगे सब ऋषियोंसे भी आशीर्वाद मिलना कहा गया । ('बिनय कर आसिस लही' को देहलीदीपकन्यायसे दोनोंके साथ लेनेसे शंका नहीं रह जाती) । यहाँ आशयसे समझ लेना चाहिये कि राजाने सबसे विनय की और सबसे आशिष पाया, विश्वामित्रजीसे भी आशीर्वाद पाया ।

३—(क) 'बामदेव आदिक रिषय''''' इति । श्रीवशिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजीका पृथक्-पृथक् षोडशोपचार पूजन किया (क्योंकि ये दोनों श्रीरामजीके गुरु हैं । वशिष्ठजी तो रघुकुलमात्रके गुरु हैं । राजाके भी गुरु हैं । अतएव उनका पूजन प्रथम किया । पूजनका भी भेद स्पष्ट है । वशिष्ठजीका पूजन 'इष्टदेवके भावसे', विश्वामित्रजीका 'परम प्रीतिसे' और अन्य ऋषियों-का मुदित होकर पूजन किया । यथायोग्य जिसका जैसा चाहिये वैसा क्रमशः किया) । दोनोंकी पूजा अलग-अलग करके तब और जितने ऋषि थे, समष्टिका पूजन किया, सबकी एक साथ पूजा की और सबको एक साथ आसन दिये; जिसमें महात्माओं-को देरतक खड़े न रहना पड़े और लग्न भी न बीतने पाये । (ख) 'दिए दिब्य आसन सबहि''''' इति । वशिष्ठजी और विश्वामित्रजीकी आशिषें अलग-अलग हैं और वामदेवादिकी इनसे पृथक् हैं । पूजा भी तीनोंकी पृथक्-पृथक् हुई, पर आसन

सबको एक साथ दिये गये। इससे पाया गया कि सबका पूजन खड़े हुए ही किया गया, तब सबोंको आसन बता दिये जो क्रमसे यथायोग्य लगे हुए थे। सब क्रमसे बैठ गये। (अथवा, दोनों गुरुओंको ले जाकर प्रधान आसनपर बिठाया और सबोंको कह दिया कि ये सब आसन आपलोगोंके लिये हैं, इनपर विराजमान हो जाइये। यही आसन देना है।) (ग) यहाँतक ऋषियोंका पूजन हुआ, आगे इसी प्रकार राजा और बरातियोंकी पूजा लिखते हैं।

बहुरि कीन्हि कोसलपति पूजा। जानि ईस सम भाउ न दूजा॥ १॥
कीन्हि जोरि कर बिनय बड़ाई। कहि निज भाग्य बिभव बहुताई॥ २॥
पूजे भूपति सकल बराती। समधी सम सादर सब भाँती॥ ३॥
आसन उचित दिये सब काहू। कहउँ काह मुख एक उछाहू॥ ४॥
सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी॥ ५॥

अर्थ—फिर कौशलेश दशरथजीकी पूजा की किसी दूसरे भावसे नहीं, (किंतु) 'ईश' के समान जानकर॥ १॥ हाथ जोड़कर अपने भाग्य-वैभवका बड़प्पन (सराहना) कहकर उनकी विनय और स्तुति की॥ २॥ राजाने समधीके समान सादर सब प्रकारसे सब बरातियोंका पूजन किया॥ ३॥ सबको उचित आसन दिये। मैं एक मुँहसे उस उत्साहको क्या कहूँ ?॥ ४॥ राजा जनकने दान, मान, विनती और सुन्दर वाणीसे सब बारातका आदर-सत्कार किया॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'बहुरि कीन्हि कोसलपति....' इति। (क) 'कोसलपति' का भाव कि जैसी कोसलराजकी पूजा करनी चाहिये वैसी की। (ख) 'जानि ईस सम' इति। वशिष्ठजीकी पूजा कुल-इष्ट अर्थात् भगवान्‌के समान की। राजाकी पूजा शंकरजीके समान की। भाव कि शिवजी भगवान्‌को पूजते हैं, (भगवान् श्रीरामजीके सेवक हैं) और राजा दशरथ वशिष्ठजीको पूजते हैं (अर्थात् वशिष्ठजीके सेवक शिष्य हैं); अतः वशिष्ठजीकी भगवान्‌की भावनासे और दशरथजीकी शंकर-भावनासे पूजा की। [शंकरजीहीके देनेसे रामजी प्राप्त होते हैं; अतएव राजाको शिव-समान माना, क्योंकि इनके 'देनेसे कौतुक-मिस अनायास प्रचण्ड राघव प्राप्त हुए'। (मा० म०, मा० त० वि०)] (ग) वशिष्ठजीमें कुल-इष्टकी भावना की, पर विश्वामित्रादि अन्य ऋषियोंमें किसीकी भावना नहीं लिखी; इसका कारण यह है कि वशिष्ठजी सबसे बड़े हैं, यदि अन्य ऋषियोंमें भगवान्‌की भावना करें तो वे सब वशिष्ठजीके बराबरीके हुए जाते हैं। यदि उनमें ब्रह्माजीकी भावना रखते तो वशिष्ठजीके पिता-समान हुए जाते हैं। यदि ईश-समानकी भावना करें तो वे राजाके बराबर होते हैं, यह भी अनुचित होगा; अतः ऋषियोंको राजाके समान नहीं कह सकते, वे राजासे विशेष हैं। और, यदि उनमें देवताओंकी भावना करें तो वे राजासे न्यून हो जायँगे, क्योंकि राजामें ईशकी भावना कर चुके, ईश (शंकर) सब देवताओंसे बड़े हैं, अतएव देवभावना भी न कर सके। इसीसे इनमें किसीकी भावना नहीं की गयी। (घ) 'भाउ न दूजा' अर्थात् समधी वा अपने बराबरीके भावसे नहीं और न किसी अन्य भावसे किंतु ईशभावसे ही।

२—'कीन्हि जोरि कर बिनय बड़ाई।....' इति। (क) पूजा करके स्तुति करना चाहिये, स्तुति हाथ जोड़कर की जाती है। अतः हाथ जोड़कर विनय-बड़ाई करना कहा। ईश-भावनासे पूजा की, अतः 'जोरि कर' उचित ही है। हाथ जोड़नेसे देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं, यथा—'अंजलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी', और शंकरजी तो दीनको हाथ जोड़े देख ही नहीं सकते, यथा विनये—'सकत न देखि दीन कर जोरें (पद ६)'। अतः हाथ जोड़कर विनय की। (ख) 'कहि निज भाग्य बिभव बहुताई'—अर्थात् आपके आगमनसे हमारे बड़े भाग्य उदय हुए और आपकी कृपादृष्टिसे हमारे वैभवकी उन्नति हुई। ईशकी भावनासे पूजा की है और ईशकी आराधनासे भाग्य और वैभवकी प्राप्ति होती ही है, यथा—'सिव की दई संपदा देखत श्री सारदा सिहानी। जिन्ह के भाल लिखी लिपि मेरी सुखकी नहीं निसानी॥ तिन्ह राँकन्ह कहुँ नाक सँवारत हौं आयो नकबानी।' (विनय० ५)। इसीसे अपने भाग्य और वैभवकी 'बहुताई' कही। यहाँ यथासंख्य अलंकार है। विनय करके भाग्यकी बड़ाई की, और विभवकी बड़ाई करके अपने वैभवकी बड़ाई की। पुनः अपने भाग्य और वैभवकी सराहना करना भी राजाकी बड़ाई करना है। (इसमें लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्यध्वनि है।)

३—'पूजे भूपति सकल बराती।....' इति। (क) जैसे समधी पूज्य हैं, वैसे ही बाराती पूज्य हैं, इसीसे समधीसम पूजना कहा। जैसे वशिष्ठ और विश्वामित्रजीकी पूजा पृथक्-पृथक् करके तब अन्य समस्त ऋषियोंका एक साथ पूजन किया

गया, वैसे ही राजाका पृथक्-पूजन करके समस्त बारातियोंका एकत्र पूजन किया। (राजाकी पूजा कोशलपति और ईश-भावसे हुई और बारातियोंकी समधी-समान पूजा हुई। क्योंकि राजा बारातियोंद्वारा पूज्य हैं। राजाकी पूजा समधी-भावसे नहीं हुई यह विशेषता है।) (ख) 'सादर' कहनेका भाव कि समूहमें आदर नहीं बन पड़ता, इसीपर कहते हैं कि यहाँ यह बात नहीं है, यहाँ सबका सब भाँति सादर पूजन किया गया। (ग) 'सब भाँति' अर्थात् पूजाके जितने प्रकार हैं, वे सब प्रकार सादर किये गये। पुनः भाव कि सब बारातियोंका आदर-सत्कार समधीके समान कहीं नहीं होता, पर जनकजीने सबका सम्मान समधी-समान ही किया। पुनः, पूजा, विनय, बड़ाई, आसन इत्यादि यही 'सब भाँति' हैं।

४—'आसन उचित दिये सब काहू।····' इति। (क) जैसे वशिष्ठादि समस्त ऋषियोंको सबकी पूजाके अन्तमें एक साथ आसन दिये गये वैसे ही राजा और सब बारातियोंका पूजन कर चुकनेपर तब सबको एक साथ आसन दिये गये; अतः 'सब काहू' कहा। (ख) सब बारातियोंकी समधी-समान सादर पूजा की, इससे सबको एक-सा आसन भी दिया होगा, यही निश्चय होता है। इसके निराकरणके लिये 'उचित' शब्द दिया। भाव यह कि सम्मान तो समधी-समान किया यह उचित था। पर एक-सा आसन देना अनुचित था, अनुचित काम राजाने नहीं किया। (क्योंकि बारातमें सभी श्रेणीके लोग हैं। अधिकार, वर्ण, कुल, छोटे, बड़े इत्यादिके अनुसार यथायोग्य आसन सबको दिया गया।) (ग) 'कहउँ काह मुख एक उछाहू' इति। अर्थात् श्रीजनकजीके हृदयमें जो उत्साह है वह एक मुखसे कहते नहीं बनता। 'मुख एक' का भाव कि इस उत्साहके कथनके लिये अनन्त मुख चाहिये। (घ) श्रीवशिष्ठादि महर्षियों, राजा और बारातियोंकी पूजा, विनय, बड़ाई और आसन देनेके पश्चात् 'उछाह' का कथन करके जनाया कि जनकजीने सबकी पूजा आदि उत्साहपूर्वक की।

५—'सकल बरात जनक सनमानी।····' इति। (क) मान=आदर-सत्कार। बरबानी=बड़ाई। यथा—'सनमानि सकल बरात आदर दान विनय बड़ाइ कै। १। ३२६।' (जैसे दोहा ३२६ में आदर, दान, विनय और बड़ाई चार प्रकारसे सम्मान करना कहा है वैसे ही यहाँ भी वही चार हैं—दान, मान, विनती और बर बानी। जो वहाँ आदर और बड़ाई है वही यहाँ मान और बरबानी हैं)। चारोंसे बारातका आदर-सत्कार किया। बड़ाई की, यही बाणीसे सत्कार करना है। (ख) 'दान, मान, बिनती, बर बानी' इति। चारोंसे सबका सत्कार किया। अथवा, दान-मानसे ब्राह्मणोंका और विनती एवं बड़ाई (उत्तम वाणी) से क्षत्रियोंका सम्मान किया। क्रमसे प्रथम वशिष्ठ-वामदेवादिकी पूजा, फिर राजा और बरातियोंकी पूजा की, तत्पश्चात् लिखा कि 'सकल बरात जनक सनमानी।' सकल बरातमें ब्राह्मण और क्षत्रिय सभी हैं। अतएव उसी क्रमसे दान-मान और विनती-बरबानी कहे गये। [अथवा, ब्राह्मणोंका दान, वैश्य-शूद्रादिका मान (अर्थात् प्रतिष्ठा करते हुए बोलकर) और राजा आदिका विनयपूर्वक श्रेष्ठ वचनोंद्वारा सम्मान किया। (रा० प्र०)। बैजनाथजीका मत है कि याचकोंको दान दिया, श्रेष्ठ लोगोंको मान दिया, ऋषियोंसे विनती की और सचिवादिका श्रेष्ठ वाणीसे सत्कार किया। पंजाबीजीका मत है कि क्षत्रियोंमें जो लघु थे उनको दान-मानसे, वैश्य-शूद्रोंको हाथ जोड़कर विनय करके, अन्त्यजोंको दूरसे हाथ जोड़कर वचनसे; इस तरह 'सकल बरात' का सम्मान किया]। (ग) ऋषियोंने आशीर्वाद दिया। बरातियोंका आशीर्वाद देना नहीं कहा, क्योंकि आशीर्वाद ब्राह्मण देते हैं, क्षत्रिय नहीं।

बिधि हरि हरु दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ॥ ६॥
कपट बिप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए॥ ७॥
पूछे जनक देव सम जाने। दिए सुआसन बिनु पहिचाने॥ ८॥

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दिक्पाल और सूर्य (आदि) जो रघुवीर श्रीरामजीका प्रभाव जानते हैं॥ ६॥ वे कपटसे ब्राह्मणोंका सुन्दर वेष बनाये हुए अत्यन्त सुख पाते हुए कौतुक देख रहे हैं॥ ७॥ श्रीजनकजीने देवसमान जानकर उनकी पूजा की और बिना पहचाने ही सुन्दर आसन दिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'बिधि हरि हरु····' इति। (क) पूर्व जो कहा था कि 'शिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा।····चले बिलोकन राम बिआहू। १। ३१४।', अब उसका विभाग कहते हैं। 'दिसिपति' से दसों दिक्पाल सूचित किये। [यथा—'इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्॥' इत्यमरः। पूर्व दिशाके इन्द्र, अग्निकोणके वह्नि, दक्षिणके यम, नैर्ऋतिकोणके नैर्ऋति, पश्चिमके वरुण, वायव्यकोणके मरुत्, उत्तरके कुबेर, ईशानकोणके

ईश, ऊर्ध्व दिशाके ब्रह्मा और अधो दिशाके अनन्त। 'दिनराऊ' से अष्ट लोकपाल सूचित किये। [रविको अष्टलोकपालोंकी गणनामें प्रथम (आदिमें) रक्खा गया है] यथा-'रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ १८२। १०॥' (ख) 'जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ' कहनेका भाव कि ये सब प्रभाव जानते हैं। जानते हैं कि श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं, हमको भी पूजा और आसन मिलेगा, इसीसे आनन्दसे कौतुक देखते हैं। यथा—'रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी॥ जाना प्रताप ते रहे निर्भय कपिन्ह रिपु माने फुरे। ६। ९५।' यहाँ विद्यावीरता और दयावीरता गुणोंके लक्ष्यसे 'रघुबीर' कहा।

२ 'कपट बिप्रबर बेष....' इति। (क) देवता निजरूपसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं करते, इसीसे विप्रका रूप धारण किया है। 'कपट बिप्र' बननेका भाव कि जिसमें कोई पहचाने नहीं। (ख) शंका—कपट भगवान्‌को नहीं भाता;—'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'; तब इन्होंने कपटरूप क्यों धारण किया? समाधान—यदि श्रीरामजीसे कपट करें अथवा किसीको छलनेके लिये कपट करें, तो वह श्रीरामजीको नहीं भाता और यहाँ तो देवताओंने प्रभुके दर्शनोंका लाभ लेने तथा औरोंसे अपनेको छिपानेके लिये कपट किया है, किसी और मनके विकारसे नहीं। (इस कपटसे किसीकी हानि नहीं सोची गयी और न है। दूसरे, इसमें श्रीरामजीका ऐश्वर्य भी न खुले यह भी अभिप्राय है। प्रत्यक्ष देवरूपसे आते तो ऐश्वर्य खुल जाता जो भगवान् नहीं चाहते। यथा—'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ। ४८।' कपट विप्र-वेषसे श्रीरामजी प्रसन्न ही होंगे और हुए भी जैसा आगे स्पष्ट है] (ग)—'अति सचु पाए'—'अति आनंद' का भाव कि कौतुक देखनेसे आनन्द हुआ और श्रीरामजीका प्रभाव जानने तथा उनके दर्शनसे अति आनन्द हुआ, प्रभुका दर्शन आनन्दकी सीमा है। अतः 'अति सचु पाये' कहा।

३ 'पूजे जनक देव सम....' इति। (क) ब्राह्मणरूपधारी देवताओंमें देवभावना की, इससे जनाया कि श्रीजनकजीका अनुभव व्यर्थ नहीं है। [तेजस्वी पुरुष दूसरा रूप बनाकर अपनेको कितना ही क्यों न छिपावे, उसका तेज झलक ही पड़ता है। जिनके अन्तःकरण शुद्ध हैं और जो परम भागवत हैं, उनका अनुभव यथार्थ ही होता है। अनुभवी लोग लख लेते हैं। इसीसे जनक महाराजने उनको 'देव सम' जाना। इसी प्रकार श्रीराम-लक्ष्मणको प्रथम बार देखते ही उनका अनुभव यह हुआ कि 'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥ २१६। २॥' और श्रीहनुमान्‌जीको भी ऐसा ही अनुभव हुआ था, यथा—'की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार। ४। १।'] (ख) 'दिए सुआसन बिनु पहिचाने' इति। देवसम जाना, इसीसे उत्तम आसन दिये। आसन देनेमें कवि भेद दिखा रहे हैं। ऋषियोंको 'दिव्य आसन' दिये, यथा—'दिए दिव्य आसन सबहि सब सन लही असीस। ३२०।' क्षत्रियोंको 'आसन' दिये, यथा—'आसन उचित दिए सब काहू। ३२१। ४।' और देवताओंको 'सुआसन' दिये। विप्ररूपधारी देवताओंको सुन्दर आसन देनेसे रघुवंशी प्रसन्न हुए; इसमें श्रीजनकजीकी जानकारी 'सुजानता' पायी गयी। (ग) श्रीजनकजीने क्रमसे श्रीवशिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी, श्रीवामदेवादि ऋषिगण, श्रीदशरथजी और बारातियोंकी पूजा की; तब अज्ञात अनजाने ब्राह्मणोंकी की। देवता अपनेको पहचनवाना नहीं चाहते थे, इसीसे न पहचाने गये। यदि पहचाने जाते तो उनकी पूजा सबसे पहले करते।

छं०—पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई।
आनंदकंदु बिलोकि दूलहु उभय दिसि आनँदमई॥
सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए।
अवलोकि सीलु सुभाउ प्रभुको बिबुध मन प्रमुदित भए॥

दो०—रामचंद्र मुख-चंद्र-छबि लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल प्रेमु प्रमोदु न थोर॥ ३२१॥

शब्दार्थ—'अपान' (यह सर्वनाम है)=अपनी 'मानसिक' (मानसी)=वह पूजा जो बिना द्रव्यके केवल मनकी कल्पनासे की जाय।

अर्थ—कौन पहचाने और किसको पहिचाने (वा, कौन किसको जाने-पहिचाने) सबको अपनी ही सुध बुध भूल गयी। आनन्दकन्द दूलहको देखकर दोनों ओर (के समाज) आनन्दमय हो रहे हैं॥ सुजान (सबकी जाननेवाले) श्रीरामचन्द्रजीने देवताओंको लख लिया और उनकी मानसिक पूजा करके उनको मानसिक आसन दिये। प्रभुका शील-स्वभाव देखकर देवता मनमें बहुत आनन्दित हुए। श्रीरामचन्द्रजीके मुखचन्द्रकी छबिको सभीके सुन्दर नेत्ररूपी सुन्दर चकोर आदरसहित पान कर रहे हैं, और प्रेम और प्रमोद कुछ थोड़ा नहीं है॥ ३२१॥

नोट—१ ऊपर कहा था कि, 'दिए सुआसन बिनु पहिचाने'। अब नहीं पहिचाननेका कारण कहते हैं। 'सबहि' शब्द देकर जनाया कि श्रीजनकजी ही नहीं वरन् और भी कोई न पहचान सका। क्योंकि कोई आपेमें है ही नहीं। यह क्यों? इसका उत्तर है कि 'आनंदकंद…'। 'आनन्दकन्द' का भाव ३१८ छन्दमें देखिये, वहाँ भी यही शब्द ज्यों-के-त्यों हैं।

टिप्पणी—१ (क) देवताओंकी स्त्रियों और देवताओंको न पहचाननेका कारण एक ही है।

उधर	(दोनोंका मिलान)	इधर
आनंदकंद बिलोकि दूलह सकल हिय हरषित भई।	१	आनंदकंद बिलोकि दूलह उभय दिसि आनंदमई।
को जान केहि आनंदबस सब ब्रह्मबर परिछनि चली॥	२	पहिचान को केहि जान सबहिं अपान सुधि भोरी भई॥

(ख) 'को केहि' देहलीदीपक है। 'उभय दिसि आनँदमई' अर्थात् कुछ एक जनकजी ही नहीं किंतु सभी लोग विदेह हो गये, इसीसे किसीने न पहिचाना। [(ग)—'सुर लखे' अर्थात् वेष छिपाये होनेपर भी श्रीरामजीसे न छिप सके, उन्होंने लख ही लिया। कोई न लख सका, इन्होंने लख लिया, अतः 'सुजान' कहा। श्रीरामजी स्वतः सर्वज्ञ हैं। सारा ब्रह्माण्ड यथार्थरूपमें इनकी दृष्टिमें सदा रहता है। इनको ध्यान धरकर जाननेकी आवश्यकता नहीं जैसी प्रज्ञावस्थावाले योगीश्वरों, मुनियों आदिको होती है। सुजान हैं, अतः यह भी जान गये कि हमको देखकर श्रीजनकजी विदेह हो गये हैं, इसीसे इन्होंने देवताओंको नहीं पहचाना और इसीसे उनका उचित आदर न हो सका; सबसे प्रथम उनका पूजन होना चाहिये था सो सबके पीछे हुआ। 'मानसिक' देहलीदीपक है। मानसिक पूजा की और मानसिक आसन दिये। जैसे जनकजीने प्रथम पूजा की तब आसन दिया, वैसे ही श्रीरामजीने पूजन करके पीछे आसन दिया। (घ) पूजनेका कारण यह था कि देवता सब बारातके पीछे पूजे गये थे, उनका अनादर समझकर श्रीरामजीने उनका मानसी पूजाद्वारा आदर किया। [मानसिक पूजाका फल भी विशेष है। (पं०)] (ङ)—'अवलोकि सील…' शील=मुलाहजा; संकोच। शीलके कारण जनकजीसे न कह सके और अनादर भी न सह वा देख सके, अतः स्वयं आदर-मान दिया। [शील यह कि समस्त ब्रह्माण्डोंके तथा हमारे स्वामी होकर भी ये हमारी इतनी आदरपूर्वक सेवा कर रहे हैं। यथा—'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंटेउ केवट उठि॥' (विनय० १३५)। 'प्रभु' शब्दसे भी यही भाव सिद्ध होता है। देवता जब जान गये कि प्रभुने हमारा मानसिक आदर किया, तब उन्हें 'बि-बुध' (विशेष बुद्धिमान् वा पण्डित) यह नाम यहाँ दिया गया। शील-स्वभाव देखा, इसीसे विशेष आनन्दित हुए। 'मन प्रमुदित'—मनमें क्योंकि अपनेको छिपाये हुए हैं। 'प्रमुदित' यह कि मुदित तो दर्शनसे ही हुए थे, यथा—'मुदित देवगन रामहि देखी', और शील-स्वभाव देखकर प्रमुदित (प्रकर्ष करके मुदित) हुए। श्रीरामजीके मनकी भला कौन जान सकता है, परंतु यहाँ वे देवताओंको यह बात जना देना चाहते थे इससे वे जान गये और आनन्दित हुए। हाँ, देवता मृत्युलोकके जीवोंके हृदयकी जान लेते हैं, इसमें संदेह नहीं।

२ 'रामचंद्र मुखचंद्र छबि…' इति। (क) यहाँ 'रामचंद्र' कहकर जनाया कि श्रीरामजीका मुख ही चन्द्रमाके समान है यह बात नहीं है, उनका सर्वाङ्ग चन्द्रसमान सुखदाता है। (इसीसे यहाँ 'राम' के साथ भी 'चन्द्र' शब्द दिया और फिर मुखके साथ अलग दिया)। (ख)—'मुखचंद्र छबि' इति। मुख चन्द्रमा है, मुखकी छबि अमृत है, यथा—'जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। २४७। ७।' (ग) 'लोचन चारु चकोर' इति। 'चारु' विशेषण देकर जनाया कि नेत्र चकोरोंसे सुन्दर हैं क्योंकि चकोर तो चन्द्रमाको ही देखते हैं और यहाँ तो सबके नेत्र श्रीरामजीके मुखकी छबिका दर्शन कर रहे हैं। (घ) चन्द्र-चकोरका दृष्टान्त देनेका भाव कि पहले देवता कौतुक देखते रहे, जब श्रीरामजीने उनकी मानसिक पूजा की और मानसिक आसन दिये तब वे प्रभुका शील-स्वभाव देखकर प्रसन्न हुए और कौतुक देखना छोड़कर एकटक श्रीरामजीका मुख देखने लगे। इससे यह भी जनाया कि श्रीरामजी सबको सम्मुख देख पड़ रहे हैं, जैसे चन्द्रमा सर्वत्र

सबको सम्मुख ही देख पड़ता है। यथा—'मुनि समूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥ ३। १२')। (ङ) 'प्रेम प्रमोद न थोर' इति। अर्थात् बहुत है। प्रथम जो कह आये कि 'बिबुध मन प्रमुदित भये' उसी प्रमोदको कहते हैं कि थोड़ा नहीं है, अर्थात् अधिक बढ़ा। प्रेम मुखचन्द्रमें है और प्रमोद छबिके पान करनेमें हुआ। 'प्रेम प्रमोद न थोर' से सूचित किया कि चन्द्रमासे मुखचन्द्र सुन्दर है, यथा—'सरदचंद निंदक मुख नीके। २४३। २।' क्योंकि मुखचन्द्रको देखनेसे प्रेम-प्रमोद बहुत बढ़ा; चन्द्रको देखकर प्रेम-प्रमोद बहुत थोड़ा होता है।

समउ बिलोकि बसिष्ठ बोलाए। सादर सतानंदु सुनि आए॥ १॥
बेगि कुअँरि सब आनहु जाई। चले मुदित मुनि आयेसु पाई॥ २॥
रानी सुनि उपरोहित बानी। प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी॥ ३॥
बिप्रबधू कुलबृद्ध बोलाई। करि कुल रीति सुमंगल गाई॥ ४॥
नारि बेष जे सुर बर बामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा॥ ५॥
तिन्हहिं देखि सुखु पावहिं नारीं। बिनु पहिचानि प्रानहु ते प्यारीं॥ ६॥

अर्थ—समय जानकर वसिष्ठजीने शतानन्दजीको सादर बुलाया, वे सुनकर आदरपूर्वक आये॥ १॥ (वसिष्ठजी बोले कि) अब जाकर कन्याको शीघ्र लाइये। मुनिकी आज्ञा पाकर वे प्रसन्न होकर चले॥ २॥ चतुर रानी पुरोहितके वचन सुनकर सखियोंसमेत बड़ी सुखी हुईं॥ ३॥ ब्राह्मणियों और कुलकी बूढ़ी स्त्रियोंको बुलाकर सुन्दर मंगल गाती हुई उन्होंने कुलरीति की॥ ४॥ श्रेष्ठ देवताओंकी श्रेष्ठ स्त्रियाँ जो (कपट) नारिवेषमें हैं वे सभी स्वाभाविक ही सुन्दरी और श्यामा हैं॥ ५॥ उन्हें देखकर स्त्रियाँ सुख पाती हैं। बिना पहिचानी होनेपर भी प्राणोंसे प्यारी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'समउ बिलोकि बसिष्ठ''''' इति। अर्थात् कन्यादानका समय देखकर। वसिष्ठजी रघुकुलके पुरोहित हैं और यह काम पुरोहितका है कि ठीक मुहूर्तपर मंगल कार्य हो। 'समउ बिलोकि''''' कहकर दिखाया कि वे अपने कर्तव्यमें बड़े सावधान हैं। 'सादर आए' कहकर जनाया कि शीघ्र आये और प्रसन्नतापूर्वक आये। विलम्ब करनेसे अनादर पाया जाता है। (ख) 'बेगि' का भाव कि विलम्ब करनेसे लग्न बीत जायगी। 'आनहु जाई' का भाव कि आप ही जाकर ले आइये, दूसरे किसीको न भेजिये। 'चले मुदित मन' क्योंकि इस विवाहसे सभीको आनन्द हो रहा है। इसीसे आगे और सबका मुदित होना लिखते जा रहे हैं। यथा—'रानी सुनि उपरोहित बानी। प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी॥,' 'सीय सँवारि समाजु बनाई। मुदित''''' और 'एहि बिधि सीय मंडपहि आई। प्रमुदित सान्ति पढ़हिं मुनिराई॥'

२ (क) 'रानी सुनि उपरोहित''''' इति। 'सुनि''''' से जनाया कि शतानन्दजीने स्वयं आकर रानीसे कहा जिसमें शीघ्र श्रीजानकीजीको भेजें, विलम्ब न हो। 'प्रमुदित' से जनाया कि शतानन्दजीसे अधिक आनन्द इनको हुआ। शतानन्दजी 'मुदित' हुए और ये 'प्रमुदित'। 'सयानी' का भाव कि रानी बड़ी बुद्धिमान् हैं, जानती हैं कि विलम्ब करनेसे लग्न बीत जायगी, इससे उन्होंने शीघ्रता की। सयानपन आगे दिखाते हैं। (ख) शतानन्दजीने वसिष्ठजीकी वाणीका आदर किया,—'चले मुदितमन आयसु पाई'; और रानीने शतानन्दजीकी वाणीका आदर किया,—'प्रमुदित'''''। (वाणी सुनकर आनन्दित होना और उसके अनुकूल आचरण करना वाणीका आदर है। यह दोनोंने किया)। (ग) 'बिप्रबधू कुलबृद्ध''''' इति। कुलरीति मंगल गीत गा-गाकर की जाती है। इस समय वेदोंका काम नहीं है, स्त्रियाँ ही मंगल गाया करती हैं। मंगल गान करनेके लिये विप्रवधू और कुलरीति बताने और करानेके लिये कुलकी बूढ़ी पुरखिनी बुलायी गयीं। (पहलेहीसे ये सब वहाँ हैं)। शंका हो सकती है कि सखियाँ तो साथमें विद्यमान ही हैं, यथा—"प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी', तब उन्हींसे क्यों न गवाया ?' समाधान यह है कि कुलरीति ब्राह्मणियोंके मुखसे मंगलगान कराके की जाती है। एक तो वे 'सुमंगल गीत' हैं, दूसरे ब्राह्मणियोंके मुखसे गाये गये, अतः ये अवश्य कुलके लिये मंगलदाता होंगे। (राजाओंकी वंशावलीसे स्पष्ट है कि विप्रपत्नियोंकी आयु क्षत्राणियोंसे बहुत अधिक होती थी, इससे कुलाचारमें रानियोंसे भी अधिक जानकार होती थीं। उनका साहाय्य लेनेसे कुलपरम्परा अविच्छिन्न रहती थी। (प० प० प्र०)।

३ (क) 'नारि बेष जे सुर बर बामा।''''' इति। 'नारि बेष जे' अर्थात् जिनके नाम पूर्व दे आये, यथा—

'सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी॥ कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहि जाई॥ १। ३१८।', अब उनका सम्मान कहते हैं। 'सुभाय सुंदरी' अर्थात् बिना शृङ्गार और बिना भूषणके ही सुन्दर हैं। 'श्यामा' अर्थात् सब सोलह-सोलह वर्षकी हैं। (ख) 'तिन्हहि देखि सुख पावहिं नारी।' इति। जब देवताओंकी स्त्रियाँ रनवासमें गयीं तब किसीको भी अपनी ही सुधबुध न थी, इसीसे वहाँ देखना सम्मान करना नहीं कहा। 'देखि' से जनाया कि अब सब अपने आपेमें हुईं, इसीसे अब देखना और सुख पाना कहा। सुख पानेका हेतु ऊपर कह आये कि सब सहज ही सुन्दर और श्यामा हैं, अर्थात् उनकी सुन्दरता देखकर सुख पाती हैं। अद्भुत रूप है, इसीसे 'तिन्हहि देखि' कहा। देखना नेत्रेन्द्रियका विषय है। (ग) 'बिनु पहिचानि प्रानहु ते प्यारी' इति। देवियाँ अपना रूप छिपाये हुए हैं, इसीसे कोई पहचान नहीं सकता। बाह्येन्द्रियोंमें नेत्र प्रबल हैं और भीतरकी इन्द्रियोंमें मन प्रबल है। देवताओंकी स्त्रियोंने अपने रूपसे सबके मन और नेत्रोंको आकर्षित कर लिया, 'तिन्हहिं देखि सुख पावहिं नारी' से नेत्रेन्द्रियका आकर्षण कहा और 'बिनु पहिचानि प्रानहु ते प्यारी' से मनका। प्रिय लगना मनका धर्म है। यथा—'लगे संग लोचन मनु लोभा'। (घ) —प्राणसे भी प्रिय लगती हैं, तब पूछती क्यों नहीं कि आप कौन हैं, किसके घरकी हैं, कहाँसे आयी हैं, इत्यादि ? कारण कि सरस्वती भी साथ हैं, इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें उन्होंने इनकी वाचाशक्ति ही बंद कर दी है, क्योंकि यदि वे इस विषयमें बोलतीं तो पूछनेपर देवियोंको सत्य बात कहनी पड़ती, जिससे प्रभुका ऐश्वर्य प्रकट हो जाता।

बार बार सनमानहिं रानी। उमा रमा सारद सम जानी॥ ७॥
सीय सँवारि समाजु बनाई। मुदित मंडपहि चलीं लवाई॥ ८॥
छं०—चलि ल्याइ सीतहिं सखीं सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसप्त साजे सुंदरी सब मत्त कुंजर गामिनी॥
कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं।
मंजीर नूपुर कलित कंकन तालगति बर बाजहीं॥

दो०—सोहति बनिताबृंद महुँ सहज सुहावनि सीय।
छबि ललनागन मध्य जनु सुषमा तिय कमनीय॥ ३२२॥

शब्दार्थ—भामिनी=दीप्तिवाली, कान्तिवाली, सुन्दर स्त्रियाँ। नवसप्त=षोडशशृङ्गार। २९७। (१) देखिये। पुनः, यथा—'प्रथम अंग शुचि एक विधि, मज्जन द्वितीय बखान। अमल बसन पहिरन तृतीय, जावक चारि सुजान॥ पंचम केस सँवारिबो, षष्ठहि माँग सिंदूर। भालखौरि सप्तम कहत, अष्ट चिबुक तिल पूर॥ मेंहदी कर पद रचन नव, दसम अरगजा अंग। ग्यारह भूषन नग जटित, बारह पुष्प प्रसंग॥ बास राग मुख तेरहो, चौदह रंगिबो दाँत। अधरराग गनि पंचदस, कज्जल षोडश भाँत॥' (रा० प्र०)। समाज=मण्डली। मंजीर=कटिभूषण, किंकिणी। टि० ३ (घ) देखिये। ललना=सुन्दर स्त्री; कामिनी। सुषमा (सं०)-परमा शोभा, अत्यन्त सुन्दरता। कमनीय=कामना करने योग्य; मनोहर, सुन्दर।

अर्थ—उमा, रमा और शारदाके समान जानकर रानी उनका आदर-सत्कार बारम्बार करती हैं॥ ७॥ श्रीसीताजीका शृङ्गार करके और अपना समाज बनाकर वे उनको आनन्दपूर्वक मण्डपमें लिवा चलीं॥ ८॥ सुन्दर मंगलका साज सजाकर सुन्दर कान्तिवाली स्त्रियाँ और सखियाँ श्रीसीताजीको सादर लिवा ले चलीं। सभी सुन्दरियाँ सोलहों शृङ्गार किये हुए हैं और सभी मतवाले हाथियोंकी-सी चाल चलनेवाली हैं। उनका मनोहर गान सुनकर मुनि ध्यान छोड़ देते हैं और कामदेवरूपी-कोकिल लज्जित होते हैं। मंजीर, नूपुर और सुन्दर कंकण तालकी गतिपर खूब सुहावने (शब्दसे) बज रहे हैं। सहज ही सुन्दर श्रीसीताजी स्त्रियोंके झुण्डमें ऐसी सोह रही हैं मानो छबिरूपी स्त्रीसमाजके बीचमें कमनीय परमाशोभारूपी स्त्री शोभित है॥ ३२२॥

टिप्पणी—१ 'बार बार सनमानहिं रानी ।····' इति । (क) ऊपर सुर-नारियोंको देखकर स्त्रियोंका सुख पाना कहा, यथा—'तिन्हहिं देखि सुख पावहिं नारी' । और यहाँ कहते हैं कि रानी उनका उमा-रमा-शारदाकी भावनासे, सम्मान करती हैं । भाव यह कि देवियाँ रानीके घर आयी हैं, इसलिये रानीको ही उनका सम्मान करना उचित है, अतः रानीद्वारा सम्मान कहा । 'बार-बार' सम्मान करना कहकर जनाया कि केवल अन्य स्त्रियाँ ही नहीं सुख पा रही हैं किंतु उन देवियोंकी देखकर रानीको भी वे प्राणोंसे प्यारी लग रही हैं और सुख हो रहा है इसीसे बारम्बार सम्मान करती हैं । (ख) देवता विप्ररूपसे आये । राजाने उनको देव-समान जानकर उनका सम्मान किया, पूजन किया और आसन दिया। उनकी स्त्रियाँ नारीवेष बनाकर रनवासमें आयीं, तो रानीने इनका सम्मान इनको उमा-रमा-शारदा सम जानकर किया । इसीसे जनाया कि राजा और रानी दोनों विवेकसिंधु हैं । पूजा करना, आसन देना यही सम्मान है । रानीद्वारा इनके सम्मानमें कई विशेषताएँ दिखायीं । जनकजीने देव समान जानकर (एक बार) सम्मान किया । रानीने 'उमा रमा सारदा सम' जानकर (केवल देवी जानकर नहीं) और बारम्बार सम्मान किया । देवियाँ रानीको प्राण समान प्यारी लग रही हैं, यह बात राजाके सम्बन्धमें नहीं कही गयी ।

☞ राजाकी त्रुटि श्रीरामजीने मानसिक पूजासे पूरी कर दी ।

२—'सीय सँवारि समाजु बनाई ।····' इति । (क) 'समाजु बनाई' अर्थात् अपना शृङ्गार करके जैसा आगे छन्दमें कहते हैं । अथवा मंगलकी सामग्री सजाकर, अथवा सिंदूरका पात्र, अक्षत, पुष्प, द्रव्य कन्याकी अञ्जलिमें धरकर ले चलीं । [अथवा, अपना समाज ठीक करके अर्थात् यह ठीक करके कि कौन दाहिने रहेंगी, कौन बायें, कौन आगे, कौन पीछे, कौन क्या मंगल-द्रव्य लेकर चलेंगी, गानमें कौन अगुआ रहेगी, इत्यादि । (प्र० सं०)] (ख) देवीका पूजन करके मण्डपतले ले जानेकी विधि है, वैसा ही यहाँ हुआ । रानी और सखियाँ दोनों पुरोहितकी वाणी सुनकर 'प्रमुदित' हुई थीं, यह पूर्व कहकर दोनोंके कृत्य कहते जा रहे हैं । रानी कुलरीति करने लगी और उधर सखियाँ श्रीसीताजीका शृङ्गार करने लगीं । (ग) 'मुदित मंडपहि चलीं लवाई'—मुदित होनेका भाव कि यहाँ श्रीसीताजीका शृङ्गार देखा, अब मण्डपतले श्रीरामजीका शृङ्गार देखेंगी, दूसरे, चलनेके समय हर्ष शकुन है, यथा—'हरषि राम तब कीन्ह पयाना । सगुन भए सुंदर सुभ नाना ॥', [बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ रस-युद्धका समय है । अर्थात् देवसमाजसहित जहाँ प्रभु आसीन हैं वहाँ शक्तियोंसहित श्रीकिशोरीजी जा रही हैं । देखिये किसकी पराजय हो] ।

३—'चलि ल्याइ सीतहि····' इति । (क) रानीने कुलरीति की, सबका सम्मान किया और सखियाँ तथा और स्त्रियाँ श्रीसीताजीको मण्डपमें ले गयीं । रानी साथ नहीं गयीं, क्योंकि अभी मण्डपतले उनके जानेका समय नहीं है । (ख) 'सादर' अर्थात् श्रीसीताजीको आगे करके चलीं, यथा—'सादर तेहि आगे करि बानर । चले जहाँ रघुपति करुनाकर ॥ ५। ४५ ।' 'सजि सुमंगल' अर्थात् अपने-अपने अङ्गोंमें मंगल सजकर, यथा—'सकल सुमंगल अंग बनाए ।' ३१८ । ३ देखिये । [पाँड़ेजी 'सुमंगल भामिनी' का अर्थ 'भाग्य भरी स्त्रियाँ' करते हैं । 'सजि सुमंगल' के दो अर्थ यहाँ प्रसंगानुकूल हैं—एक तो जैसा 'सकल सुमंगल अंग बनाए' में कहा गया; दूसरे मङ्गल द्रव्य सिंधौरा, दही, अक्षत इत्यादि ।—(बैजनाथजी)] 'नव सप्त साजे' कहकर सबको सावित्री, 'मत्तकुंजरगामिनी' से सबको युवा जनाया । 'मत्तकुंजरगामिनी' कहकर यह भी जनाया कि सीताजीको लेकर धीरे-धीरे चल रही हैं । (ग) 'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं' इति । कोकिलकी ध्वनि सुनकर मुनियोंके ध्यान छूट जाते हैं, यथा—'कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं । सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥ ३।४४।' और यहाँ सखियों आदिका कल-गान सुनकर काम-कोकिल लजित हो जाते हैं; इसीसे वहाँ 'ध्यान टरहीं' अर्थात् ध्यानका छूटना कहा और यहाँ अपनी ओरसे ध्यानको त्याग देना कहा, यह विशेषता है । पूर्व 'कलकंठ' (अर्थात् सुन्दर कण्ठवाली सरस ध्वनि करनेवाली) कह आये, इसीसे यहाँ 'काम कोकिल' कहा । पूर्व 'चाल बिलोकि काम गज लाजहिं' कहा था, इसीसे अब 'मत्त कुंजर गामिनी' कहा । कविका अभिप्राय यह है कि एक जगहकी बात सब जगह समझ लेनी चाहिये । पूर्व कह आये कि 'बिधु बदनी सब सब मृगलोचनि । सब निज तन छबि रति मद मोचनि ॥ पहिरे बरन बरन बर चीरा ।' इसीसे यहाँ नहीं लिखा ।—['काम कोकिल लाजहीं' इति ।—'लाजहीं' बहुवचन है । भाव यह कि कामदेवने अनेक कोकिलोंका रूप धरकर अपना स्वर उनके स्वरसे मिलाना चाहा तो भी न मिला; अतः वह बहुत लज्जित हुआ । साधा-

गन कोकिलकी तो गिनती ही क्या। जब काम ही कोकिल बनकर आता है तो उसकी यह दशा हो जाती है। ☞ पूर्व जनकपुरकी सौभाग्यवती 'बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि' के गानके सम्बन्धमें 'कलकण्ठि' का लजाना कहा था, उस समय शची आदि देवियाँ उनमें नहीं थीं, जैसा वर्णनके क्रमसे स्पष्ट है। और इस समय 'नारि बेष जे सुर बर बामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा ॥' भी साथमें गान कर रही हैं; अतः यहाँ 'काम कोकिल' का लजाना कहा। ये देवियाँ षोडशवर्षकी स्त्रियोंके वेषमें हैं, इसीसे 'मत्त कुंजरगामिनी' कही। यह उठती जवानीकी मस्ती है] (घ) 'मंजीर नुपूर कलित कंकन' इति। 'मंजीर' कटिभूषण है, नूपुर चरणका भूषण है और कंकण हाथका। गीतावलीमें भी 'मंजीर' कटिभूषणके लिये आया है (यथा—'हाटक घटित जटित मनि कटितट रट मंजीर। ७। २१।')। जैसे यहाँ तीन आभूषण कहे हैं वैसे ही तीन अंगोंके भूषण कई जगह कहे गये हैं। यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। २३०। १।', 'कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। ३१८। ४।', 'मंजीर नूपुर बलय धुनि जनु···करत ब्योम बिहार' (गी० ७। १८)। इससे 'मंजीर' से कटिभूषण किंकिणी ही अभिप्रेत है। पुष्पवाटिकामें भी तीन ही भूषण बजनेवाले थे, वे ही यहाँ हैं। ('नूपुर' यहाँ कहा ही है, इसलिये शब्दसागरमें दिया हुआ वह अर्थ यहाँ संगत नहीं)। (ङ) गानके साथ बाजा चाहिये वही यहाँ कहते हैं कि मंजीर, नूपुर और कंकण तालकी गतिपर बज रहे हैं। चाल देखकर काम-गज लज्जित होते हैं, यह पूर्व कह आये। गाना सुनकर काम-कोकिल लजाते हैं। कंकण, किंकिणी, नूपुरकी ध्वनि कामके नगाड़े हैं, यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥ मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। १। २३०।'

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि 'जो निर्गुण ब्रह्ममें ध्यान लगाये थे, वे मुनि ध्यान त्यागकर लीलाके प्रेम-प्रवाहमें पड़े, इति। किशोरीजीका आगमन सुनते ही मुनिरूप प्रभुकी प्रजा प्रथम ही श्रीकिशोरीजीके यहाँ हाजिर हुई। मञ्जीर आदिका बजाना मानो विजयके लिये डंका बजाते आना है।

टिप्पणी—४ 'सोहति बनिता-बृंद महुँ····' इति। (क) 'बनिता बृंद' पद देकर जनाया कि सखियोंके अतिरिक्त और भी स्त्रियाँ साथमें हैं। यदि केवल सखियाँ होतीं तो 'बनिता बृंद' न कहकर 'सखिन्ह बृंद' कहते, जैसा कि पूर्व २६४। १। 'सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसें। छबिगन मध्य महाछबि जैसें ॥' में कहा था। यहाँ सखियाँ भी हैं और उनसे भिन्न और वनिताएँ भी हैं जैसा ऊपर 'चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी' में कहा गया। 'भामिनी' के संगसे यहाँ 'बनिता बृंद' कहा, क्योंकि सखी और भामिनी सब 'बनिता' हैं। [प्र० सं० में लिखा था कि पूर्व जिन्हें 'भामिनि' और 'स्यामा' लिखा था उन्हीं दोनोंका बोध यहाँ 'बनिता' शब्दसे कराया] (ख) 'सहज सुहावनि सीय' इति। 'सोहति बनिता बृंद महुँ' कहनेसे पाया जाता कि वनितावृन्दके साहचर्यसे श्रीसीताजीकी शोभा होती होगी, अतः 'सहज सुहावनि' कहकर उसका निराकरण किया। अर्थात् श्रीसीताजी उनके योगसे नहीं शोभित हैं, किंतु स्वाभाविक ही शोभित हैं, यही आगे उत्प्रेक्षाद्वारा कहते हैं। (ग) 'छबि ललना गन···' इति। अर्थात् छबियोंके बीचमें जैसे महा-छबिकी शोभा होती है। छबि भला 'महाछबि' की क्या शोभा करेगी? महाछबिसे ही छबिकी शोभा है, यथा—'सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबि गृह दीपसिखा जनु बरई ॥ २३०। ७॥'.

नोट—२-पूर्व २४७। २ में कह चुके हैं कि 'उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी ॥ अब उपमा कहीं है नहीं तो उत्प्रेक्षा करते हैं कि यदि 'छबि' जो वस्तु है वही मूर्तिमान् होकर सुन्दर स्त्री बने और वह भी एक नहीं बहुत-से रूप धारण करे और उनके बीचमें परमा शोभा और वह भी कमनीय स्त्रीका रूप धरकर विराजे, तो जैसी शोभा होगी वैसी शोभा हो रही है। २३०। ७ और २६४। १ देखिये।

३—वैजनाथजी लिखते हैं कि द्युति, लावण्य, स्वरूप, सुन्दरता, रमणीकता, कान्ति, माधुरी और सुकुमारता आदि जो छबिके अङ्ग हैं वे ही मूर्तिमान् उत्तम युवतीगण हैं। उनके बीचमें सुषमा अर्थात् सम्पूर्ण अङ्गोंकी शोभा कमनीय स्त्रीका रूप धारणकर विराजमान है। तात्पर्य कि और सब शोभाके अङ्ग हैं और किशोरीजी अङ्गी हैं।

सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई ॥ १ ॥
आवत दीखि बरातिन्ह सीता। रूपरासि सब भाँति पुनीता ॥ २ ॥
सबहि मनहिं मन किए प्रनामा। देखि राम भए पूरन कामा ॥ ३ ॥

हरषे दसरथ सुतन्ह समेता। कहि न जाइ उर आनँदु जेता ॥ ४ ॥
सुर प्रनामु करि बरिसहिं फूला। मुनि असीस धुनि मंगलमूला ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पूरनकामा (पूर्णकाम)= जिसको किसी बातकी चाह न रह गयी हो, आप्तकाम, सफलमनोरथ, तृप्त। जेता = जितना।

अर्थ—श्रीसीताजीकी सुन्दरता वर्णन नहीं की जा सकती, बुद्धि तो बहुत ही तुच्छ (क्षुद्र) है और सुन्दरता बहुत है ॥ १ ॥ रूपराशि और सब प्रकारसे पवित्र श्रीसीताजीको बरातियोंने आते हुए देखा ॥ २ ॥ सभीने मन-ही-मन (उनको) प्रणाम किया और श्रीरामचन्द्रजी (वा, रामचन्द्रजीको) देखकर पूर्णकाम हो गये ॥ ३ ॥ पुत्रोंसहित श्रीदशरथजी हर्षित हुए, उनके हृदयमें जितना आनन्द है वह कहा नहीं जाता ॥ ४ ॥ देवता प्रणाम करके फूल बरसा रहे हैं। मंगलकी मूल मुनियोंके आशीर्वादोंकी ध्वनि हो रही है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सिय सुंदरता बरनि न जाई' इति। भाव कि जब सखियोंकी शोभा समय जानकर वर्णन की तो श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन भी अवश्य ही करना चाहिये था, यही उसका उचित समय है, इसीसे कहते हैं कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। (ख) 'लघु मति बहुत मनोहरताई'—यहाँ बहुत देहलीदीपक है। मनोहरता बहुत है, मति बहुत लघु है। अर्थात् जितनी ही अधिक सुन्दरता है उतनी ही अधिक बुद्धिकी लघुता है, तब कैसे वर्णन करते बने ? [जैसे श्रीरामजी 'चिदानंदमय' वैसे ही श्रीसीताजी 'अप्राकृत, चिदानन्दमय' हैं। किसीकी भी मति क्यों न हो, वह होगी तो प्राकृतजन्य ही, तब वह प्रकृतिपार वस्तुका वर्णन कैसे कर सकेगी ? दोहा २४७ में अभूतोपमा देकर कुछ वर्णन किया तथापि उसमें भी कविको संकोच ही लगा, यथा—'येहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल। तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल ॥ २४७ ॥'; फिर यहाँ उत्प्रेक्षा द्वारा वर्णनका प्रयत्न किया। अब तो कविकी मति कुण्ठित हो गयी। हुआ ही चाहे। जिनके विवाहमण्डपका वर्णन करनेमें 'सकुचहिं सादर सेष' उन सीताजीकी सुन्दरताका वर्णन कैसे हो सकता है। (प० प० प्र०)] (ग) 'रूपरासि…' इति। राशिके चारों ओर रेखा खींच दी जाती है। यहाँ सखियाँ चारों ओर हैं, यही चारों ओर छबिकी रेखा है। सखियाँ छबिरूपा हैं। उनके मध्यमें महाछबिकी राशि हैं। 'पुनीता' क्योंकि हलकी रेखासे उत्पन्न हुई हैं, रजवीर्यसे नहीं, दूसरे शरीरमें कोई कुलक्षण नहीं है; आचरण भी पवित्र हैं, देवाराधन आदि करती हैं। 'सब भाँति' अर्थात् रूप, शील, व्रत, नियम सब पुनीत हैं, यथा—'हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥ ३। ३० ॥', 'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला', 'तैसइ सील रूप सुबिनीता। ३। २४।' पुनः, मन-कर्म-वचनसे पुनीत हैं, यथा—'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥ ६। १०८ ॥', 'तन मन बचन मोर पनु साँचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा ॥ २५९। ४ ॥', इत्यादि 'सब भाँति' पुनीता हैं श्रीजानकीजीको 'सब भाँति पुनीता' कहा, क्योंकि उन्हें आगे 'तुरीयावस्था' कहना है। 'तुरीयावस्था' सब प्रकारसे पुनीत है।

२ 'सबहि मनहि मन किए प्रनामा।' इति। (क) सबने मन-ही-मन प्रणाम किया, अर्थात् न तो मस्तक नवाया और न वचनसे प्रणाम कहा; क्योंकि लोकमें कन्याको प्रणाम करनेकी चाल (रीति) नहीं है। इसीसे सबने ऐश्वर्यभावसे प्रणाम किया, माधुर्यभावसे नहीं। माधुर्यभावमें प्रणाम विरुद्ध है। ज्ञानी लोगोंने इस भावसे प्रणाम किया कि जैसे श्रीरामजी ब्रह्मके अवतार हैं, वैसे ही श्रीसीताजी उनके परमशक्तिका अवतार हैं। अन्य लोगोंने इस भावसे प्रणाम किया कि श्रीरामजी हमारे स्वामी हैं; और श्रीसीताजी हमारी स्वामिनी हैं, [अथवा, जैसे लोहेको चुम्बक खींच लेता है, उसी प्रकार 'रूपराशि' छबिने सबकी दृष्टि अपनी ओर आकर्षित कर ली। सबके मनमें पूज्य भावना सहसा उठ पड़ी, अतः सबने एक साथ मन-ही-मन प्रणाम किया। (वै०) । जैसे श्रीजनकमहाराज और उनके साथके वामदेवादि मन्त्री और सब समाज श्रीराम-लक्ष्मणजीको देखकर उठकर खड़े हो गये थे, यथा—'उठे सकल जब रघुपति आए' वैसे ही श्रीसीताजीका तेज-प्रताप-प्रभाव दिखाया। उनको देखते ही प्रणाम करनेकी अनावर स्फूर्ति प्राणोंमें उत्पन्न हो गयी। (प० प० प्र०) । १२५ (६) देखिये] (ख)—'देखि राम भये पूरनकामा' इति। श्रीरामजीको देखकर पूर्णकाम होनेका भाव कि अवधवासियोंके मनमें यह कामना थी बन रही है कि जैसे श्रीरामजी अत्यन्त सुन्दर हैं, वैसी ही उनके योग्य स्त्री भी मिले, वह कामना पूर्ण हो गयी। 'देखि राम' कहनेका भाव कि पहले जानकीजीको देखकर फिर श्रीरामजीको देखा, इस प्रकार देखा कि एक दूसरेके योग्य हैं। अथवा,

श्रीजानकीजीको देखकर श्रीरामजीको देखनेका भाव कि श्रीजानकीजीकी परमाशोभा देखकर विचारने लगे कि श्रीरामजी इनके योग्य हैं कि नहीं, ये इतनी सुन्दर हैं कि इनके सदृश होना कठिन है (अतः समतामें बीच तो नहीं है ? ऐसा सोचकर श्रीरामजीको देखा तब निश्चित किया कि उनके योग्य हैं। तब पूर्णकाम हुए)। (ग) दूसरा अर्थ यह भी होता है कि श्रीरामजी देखकर पूर्णकाम हुए। [इस अर्थमें भाव यह है कि जिस लिये अवतार हुआ है उस कार्यके लिये जिस वस्तुकी आवश्यकता थी वह ही अब आ मिली। (पं० राम० व० श०)। नहीं तो श्रीरामजी तो सदा पूर्णकाम ही हैं। वैजनाथजीने यही अर्थ किया है। श्रीकिशोरीजीकी प्राप्तिसे श्रीरामजी पूर्णकाम हुए। यह बारातसहित प्रभुका परास्त होना है। (वै०)]

टिप्पणी—३ 'हरषे दसरथ सुतन्ह समेता' इति। (क) जिसका जितना सगा (निकटका) नाता है, उतना ही अधिक उसका सुख है। श्रीरामजी दशरथजीके पुत्र हैं और श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजीके बड़े भाई हैं, इसीसे पिता और भाइयोंको सबसे अधिक आनन्द हुआ। जब सबोंने प्रणाम किया तब इन भाइयोंको भी प्रणाम करना चाहिये था, पर उन्होंने प्रणाम न किया क्योंकि वे आनन्दमें डूब गये थे, प्रणाम करना भूल गये। [श्रीदशरथजी तथा भरतादि भ्राता सत्त्वभावापन्न हो गये। (प० प० प्र०)]

४ 'सुर प्रनामु करि बरिसहिं फूला' इति। (क) देवता स्वर्ग (आकाश) में हैं, इसीसे उन्होंने प्रकट प्रणाम किया उनको माधुर्यमें (प्रणामके) विरुद्ध होनेका डर नहीं है। [वे जानते हैं कि ये ब्रह्मकी आदिशक्ति हैं, जगजननी हैं। उनका प्रणाम ऐश्वर्यभावसे है। दूसरे, वे विमानोंमें हैं, नीचेवाले लोग उन्हें देख नहीं सकते। तीसरे, बराती-जनाती सब युगलमाधुरी दर्शनमें मग्न हैं, ऊपर देखेगा कौन ?] (ख) देवता तो विप्रवेषसे मण्डपतले बैठे हैं, फूल कैसे बरसायें ?' इसका समाधान यह है कि देवताओंमें यह शक्ति है कि एक रूपसे वे एक जगह बैठे रहें और दूसरे रूपसे दूसरी जगह भी उसी समय दूसरा कार्य करते रहें। अथवा मण्डपतले विप्रवेषमें तो इने-गिने वे ही देवता हैं जो श्रीरघुवीरका प्रभाव जानते हैं, शेष सब आकाशमें विमानोंपर हैं; ये ही फूल बरसाते हैं। (ग)–पुष्पवृष्टि मङ्गल है, यथा–'बरषहिं सुमन सुमंगल-दाता।' और मुनियोंका आशिष मंगलका मूल है। इसीसे सुमनकी वृष्टि और मुनियोंके आशिष एक दूसरेके समीप लिखे। जब देवताओंने प्रणाम किया और फूल बरसाये तब मुनियोंने भी प्रणाम करके आशीर्वाद दिये, (दोनोंको एक पंक्तिमें देनेसे ऐसा पाया जाता है)। आशिष भी पुष्पोंकी वृष्टिके समान है। (देवताओंने सीताजीको प्रणाम किया। श्रीरामजीको प्रणाम नहीं किया, केवल जयजयकार किया है ? श्रीरामजीने देवताओंको मानसिक आसन दिया, पूजा की। श्रीसीताजीने यह नहीं किया। देवियाँ सखीभावसे सीताजीके साथ हैं। षोडश वर्षकी अवस्थामें हैं और सीताजीका शृङ्गार करने तथा मण्डपमें ले जानेमें सम्मिलित हैं। उसपर भी ब्रह्मादि विप्रवेषमें हैं और शची आदि क्षत्राणियोंके वेषमें हैं। अतः श्रीरामजीका विप्रोंको पूजना योग्य ही था। और क्षत्राणी तथा सखी होनेसे इनका पूजन योग्य न था। इत्यादि]

गान निसान कोलाहलु भारी। प्रेम प्रमोद मगन नर नारी॥ ६॥
येहि बिधि सीय मंडपहि आई। प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई॥ ७॥
तेहि अवसर कर बिधि ब्यवहारू। दुहुँ कुलगुर सब कीन्ह अचारू॥ ८॥

अर्थ—गान और नगाड़े (के शब्द) का भारी शोर मचा है। (सब) स्त्री-पुरुष प्रेम और आनन्दमें मग्न हैं। ६। इस विधानसे श्रीसीताजी मण्डपमें आयीं। मुनिराज बहुत ही आनन्दित होकर शान्तिपाठ पढ़ रहे हैं। ७। उस समयका जो विधि, व्यवहार था वह सब आचार दोनों कुलगुरुओं (श्रीवशिष्ठजी और श्रीशतानन्दजी) ने किये। ८।

टिप्पणी—१ 'गान निसान·····' इति। (क) देवता जब फूल बरसाते हैं, तब नगाड़े भी बजाते हैं, पर यहाँ 'सुर प्रनामु करि बरिसहिं फूला' के साथ-साथ नगाड़ोंका बजाना नहीं कहा गया। नगाड़ोंका बजाना उसके पीछे अब कहनेसे पाया जाता है कि उधर आकाशमें देवताओंने जब निशान बजाये उसी समय यहाँ पुरवासियोंने भी बजाये, इसीसे यहाँ एक साथ कह दिया। दोनोंने साथ-साथ बजाये इसीसे 'भारी कोलाहल' हुआ। 'कोलाहलु भारी' अर्थात् ऐसा शोर है कि अपना-पराया कुछ सुनायी नहीं देता। यथा—'नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपनि पर कछु सुनै न कोई। ३१९। ७।' (ख) 'प्रेम प्रमोद मगन नर नारी' इति। बारातियोंका आनन्द कहा, पुत्रोंसहित श्रीदशरथ महाराजका आनन्द कहा, अब

नगरवासियोंका आनन्द कहते हैं। 'प्रमोद' का भाव कि श्रीरामजीके आगमनपर 'मोद' हुआ और श्रीजानकीजीके आगमनसे विशेष आनन्द हुआ, इसीसे 'प्रमोद' कहा।

२ 'येहि बिधि सीय मंडपहि आई।''' इति। (क) 'सीय सँवारि समाज बनाई। मुदित मंडपहि चलीं लवाई। ३२२। ८' उपक्रम है और 'येहि बिधि सीय मंडपहि आई' उपसंहार है। इतनेमें जो कुछ कहा (अर्थात् सीताजीका शृंगार करके वनितावृन्द साथमें गाती हुई उन्हें लिये आ रही हैं, पुष्पोंकी वृष्टि हो रही हैं, मुनि आशीर्वाद दे रहे हैं, गान निशानके शब्दका कोलाहल मचा है, सब आनन्द पा रहे हैं) 'येहि बिधि'। यही सब विधि है। पुनः, प्रथम श्रीरामजीका आगमन कहा (फिर समधी और बारातका) तब श्रीसीताजीका मण्डपमें आगमन कहा, यही वेद-विधि है; इति 'येहि बिधि'। (ख) 'प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई' इति। 'प्रमुदित' का भाव कि श्रीरामागमनपर 'मुदित' हुए, [क्योंकि अब विवाहका कार्य ठीक मुहूर्तमें प्रारम्भ हो गया, अभीतक वे खाली बैठे श्रीसीताजीके आगमनकी राह देखते थे कि कब आवें और कार्यारम्भ हो। अथवा, 'प्रमुदित' होनेका कारण यह है कि ऋग्वेदका शान्तिपाठ पढ़नेमें अन्य अवसरोंपर पढ़ते समय वह बात प्रत्यक्ष नहीं होती थी जो इस समय मन्त्रके अनुसार साक्षात् हुई। (पं० राम ब० श०)]। पूर्व जिनका आशिष देना कहा वे 'मुनि' थे, यथा—'मुनि असीस धुनि मंगल मूला' और जो शान्ति पाठ पढ़ रहे हैं वे 'मुनिराई' हैं, श्रीवशिष्ठ-वामदेव-शतानन्द आदि सब मण्डपतले चौकपर विवाह करानेके लिये बैठे हैं, इसीसे वे ही शान्तिपाठ पढ़ रहे हैं, क्योंकि यह समय 'शान्तिपाठ' का है। ये ही मुनिराज हैं। (ग) ☞ जिस विधानके साथ श्रीरामजीका आगमन मण्डपमें हुआ, उसी विधानसे श्रीसीताजीका आगमन हुआ।

श्रीसिय-राम-मण्डपागमनका मिलान

श्रीसियमण्डपागमन		श्रीराम-मण्डपागमन
मुदित मंडपहि चलीं लवाई	१	राम गमनु मंडप तब कीन्हा। ३१९। ४।
सजि सुमंगल भामिनी	२	सकल सुमंगल अंग बनाए। ३१८। ३।
नव सप्त साजे सुंदरी	३	'सकल बिभूषन सजे' और 'पहिरे बरन बरन बर चीरा। ३१८। २।'
मत्त कुंजर गामिनी	४	चालि बिलोकि काम गज लाजहिं। ३१८। ४।
कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं	५	करहिं गान कलकंठि लजाए। ३१८। ३।
मंजीर नूपुर ललित कंकन ताल गति बर बाजहीं	६	कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। ३१८। ४।
सोहति बनिता बृंद महुँ सहज सुहावनि सीय	७	बंधु मनोहर सोहहिं संगा। ३१६। ५।
सिय सुंदरता बरनि न जाई	८	सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मनही मन भाई॥ ३१६। ४।
सुर प्रनामु करि बरिसहिं फूला	९	बरषहिं सुमन सुर हरषि कहि जय जयति जय रघुकुलमनी। ३१७।
मुनि असीस धुनि मंगल मूला	१०	मुदित असीसहिं नाइ सिर। ३१९।
गान निसान कोलाहल भारी	११	नभ अरु नगर कोलाहल होई। ३१९। ७।
प्रेम प्रमोद नगर नर नारी	१२	नृप समाज दुहुँ हरष बिसेषी। ३१७। ८।
एहि बिधि सीय मंडपहिं आई	१३	एहि बिधि रामु मंडपहिं आए। ३१९। ८।
प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई	१४	सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला। ३१९। ६।

यह मिलान और भी बढ़ाया जा सकता है। पाठक स्वयं कर सकते हैं!

३ 'तेहिं अवसर कर बिधिब्यवहारू।''' इति। (क) 'बिधि' अर्थात् वेदविधि। 'ब्यवहारू' अर्थात् लोकरीति, यथा—'करि कुलरीति बेद बिधि राऊ। ३०२। ३।' [विधि=कार्यक्रम, कर्त्तव्यनिर्देश, कार्य करनेकी रीति। व्यवहार= कार्य, कुलरीति। आचार=रीतिरस्म।] बैजनाथजीके मतानुसार 'विधिपूर्वक जो कर्तव्य अर्थात् श्रीजनकजीको आचमन कराके कुशमुद्रिका देकर आसनपर बैठना इत्यादि हैं, यह विधिव्यवहार है, यह सब आचार अर्थात् वेदरीति कुलगुरुने करायी।

वीरकवि और बाबू श्यामसुन्दरदासजी 'व्यवहारकी विधि और कुलाचार' ऐसा अर्थ करते हैं। श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी 'उस अवसरकी सब रीति व्यवहार और कुलाचार' ऐसा अर्थ करते हैं] (ख) 'दुहुँ कुलगुरु सब कीन्ह अचारू' इस कथनसे पाया गया कि यह रीति ब्राह्मणोंद्वारा ही होती थी। व्यवहार और आचार पर्याय हैं। ['आचार' शब्दमें लोकाचार और वेदविहित दोनोंका समावेश है। वाल्मी० १। ७३। १९-२४ में लिखा है कि जनकजीके यह कहनेपर कि आप श्रीरामचन्द्रजीके विवाहकी क्रिया सम्पन्न कराइये, श्रीवशिष्ठजीने श्रीविश्वामित्र और शतानन्दजीको साथ लेकर यज्ञ-मण्डपके मध्यमें विधिपूर्वक विवाहकी वेदी बनायी और उसे गन्ध, पुष्प, सुवर्णपालिका चित्रित घड़े तथा यवके पीले अङ्कुरोंसे सजाया। अङ्कुर जमाये हुए सकोरे, धूपपात्र, शङ्ख, स्रुवा, स्रुच्, अर्घ्य आदिके उत्तम पात्र, लावासे भरे हुए उत्तम पात्र और उत्तम अक्षत आदिसे वेदीको अलंकृत किया। हरिद्रा आदिसे शोभित समान कुश विधिपूर्वक मन्त्रोंसे वेदीपर बिछाये। मन्त्र और विधानसे युक्त अग्निकी उन्होंने वेदीपर स्थापना की और महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी उस अग्निमें हवन करने लगे। तदनन्तर श्रीसीताजी वहाँ लायी गयीं।—यह सब 'तेहि अवसर कर बिधिब्यवहारू' में आ सकता है क्योंकि यह दोनों कुलगुरुओंद्वारा इसी अवसरपर किया गया है। यथा और भी जो वैदिक-लौकिक आचार होते हों तथा अन्य ऋषियोंने लिखे हों, वे भी इन शब्दोंमें आ गये]

छं०—आचारु करि गुर गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं।
सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुखु पावहीं॥
मधुपर्क मंगल द्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महुँ चहैं।
भरे कनक कोपर कलस सो तब लिये हि परिचारक रहैं॥
कुलरीति प्रीति समेत रबि कहि देत सबु सादर किये।
येहि भाँति देव पुजाइ सीतहि सुभग सिंघासनु दिये॥
सियराम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै॥

दो०—होम समय तनु धरि अनलु अति सुख आहुति लेहिं।
बिप्रबेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं॥३२३॥

अर्थ—गुरुने आचार कराया। ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक गौरी-गणेशका पूजन करा रहे हैं। देवता प्रकट होकर पूजा लेते, आशिष देते और अत्यन्त सुख पा रहे हैं॥ मधुपर्क आदि जिस मङ्गल द्रव्यकी जिस समय मुनि मनमें चाह करते हैं उसे उसी समय सेवक लोग, सोनेके परातों और कलशोंमें भरे हुए (खड़े, मिलते वा) रहते हैं अर्थात् देते हैं। सूर्य भगवान् प्रेमपूर्वक सब कुल-रीतियाँ बता देते हैं और वे सब सादर (प्रेमसहित) किये गये। इस प्रकार देवताओंकी पूजा करके सीताजीको सुन्दर सिंहासन दिया। श्रीसीतारामजी जिस प्रेमसे आपसमें एक दूसरेको देख रहे हैं वह किसीको नहीं लख पड़ता, वह मन, बुद्धि, श्रेष्ठ वाणी आदि इन्द्रियोंसे परे है (अर्थात् इनकी दृष्टिमें नहीं आ सकता), तब कवि उसे क्योंकर प्रकट करे? होमके समय अग्नि तन धरकर अर्थात् मूर्तिमान् होकर बड़े ही सुखसे आहुतियाँ लेते हैं। सब वेद विप्रवेष धरकर विवाह-पद्धति बता देते हैं॥ ३२३॥

नोट—१ 'आचारु करि गुर''''' इति। यहाँ 'करि' शब्दसे अर्थमें अड़चन पड़ती है। क्योंकि यह अपूर्ण क्रिया है। इधर गुरुको कहकर फिर 'बिप्र पुजावहीं' लिखते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि 'तेहि अवसर कर बिधि ब्यवहारू' यह सब गुरुने किया। गौरी-गणेशपूजन उसके बाहर है, वह अन्य ब्राह्मणोंद्वारा कराया गया। इस तरह 'करि' को पूर्ण क्रिया समान मानकर अर्थ करना होगा। ऐसे प्रयोग और भी आये हैं। जैसे 'बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ' में बंदि=बंदउँ। अथवा, यों अर्थ करें कि आचार करके गुरु प्रसन्न होकर ब्राह्मणोंद्वारा गौरी-गणेशका पूजन करवाने लगे। अथवा, गुरु और विप्र एक ही हैं।

टिप्पणी—१ (क) गौरी-गणेशका पूजन वर और कन्या दोनोंसे कराया जाता है, यथा 'मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजे संभु भवानि। १००।', 'लै लै नाउँ सुआसिनि मंगल गावहिं। कुँवर कुँवरि हित गनपति गौरि पुजावहिं।' (जा० मं० ८९)। 'मुदित' इससे कि मन्त्र पढ़ते ही देवता प्रकट हो जाते हैं, उनका दर्शन पाकर ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं।' (ख) 'सुर प्रगटि···' इति। देवता पहले कपटसे विप्रवेष बनाकर आये जिसमें श्रीरामजीका ऐश्वर्य न खुले तो अब कैसे हुए? इसका उत्तर यह है कि इस समय प्रकट होनेसे ऐश्वर्य खुलनेका भय वा संदेह नहीं होगा, क्योंकि मन्त्रके प्रभावसे देवता प्रकट होते हैं, यह सब जानते हैं। [यहाँ वशिष्ठ-वामदेव-विश्वामित्रादि ऐसे-ऐसे ऋषि सब कार्य करा रहे हैं, देवताओंके प्रकट होनेसे लोग उन्हींकी बड़ाई करेंगे कि यह इनके ही मन्त्रोच्चारणका प्रभाव है। इसी प्रकार शृङ्गी ऋषिद्वारा जब पुत्रेष्टि यज्ञ हुआ था तब अग्निका प्रकट होना कहा था, यथा—'भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥' (१८९। ६)। अतः किसीको संदेह न हो सकता था। श्रीसीतारामजीके कर-कमलोंसे पूजा लेनेको अपना बड़ा सौभाग्य मानते हैं, अतः प्रकट होकर पूजा ग्रहण करते तथा आशीर्वाद देते हैं] (ग) 'अति सुख पावहीं'—भाव कि जब देवता पूजा लेनेके लिये प्रकट हुए तब दर्शन पानेसे सुख हुआ, और आसिष देने लगते हैं तब 'अति सुख' होता है (वा, पूर्व छिपे देखते थे तब सुख था, अब निस्संकोच और समीपसे दर्शन होनेसे 'अति सुख' होता है) [(घ) 'मधुपर्क'—'आज्यमेकं पलं ग्राह्यं दधि त्रिपलमेव च। मधुपलमेकन्तु मधुपर्कः स उच्यते॥' अर्थात् तीन भाग दही, एक भाग शहद और एक भाग घी एकमें मिलानेसे जो द्रव्य बनता है उसे मधुपर्क कहते हैं। देवताओंपर चढ़ानेसे वे बहुत प्रसन्न होते हैं। इसका दान करनेसे सुख और सौभाग्यकी वृद्धि कही जाती है। तान्त्रिक पूजनमें इसका उपयोग बहुत होता है। दही, घी, शहद, जल और चीनी पाँचोंके समूहको भी मधुपर्क कहते हैं।—(श० सा०)। विवाह-समय कन्याका पिता वरके ओठमें इसे स्पर्श कराता है। 'मधुपर्क' को प्रथम कहकर जनाया कि 'आचार' में प्रथम इसीका काम पड़ा। 'आचारु करि' जो कहा गया, उसमें मधुपर्क भी आ गया। यथा—'अरघ देइ मनि आसन बर बैठारयो। पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अचवाएउ॥' पा० मं० ७५।' 'मंगलद्रव्य' अर्थात् ओषधि, चन्दन, कुश, तीर्थजल इत्यादि। इस समय ये मङ्गल द्रव्य जलमें भी छोड़े जाते हैं। (ङ) 'मुनि मन महुँ चहैं' अर्थात् उनको मुखसे कहना नहीं पड़ता, मनमें चाह आयी कि सेवक तुरत दे देते हैं। तात्पर्य कि सेवकोंका सब जाना हुआ है कि किस समयमें कौन मंगल द्रव्यका काम पड़ता है। 'रहैं' और 'चहैं' बहुवचन हैं, इससे सूचित किया कि बहुतसे मुनि इस यज्ञमें हैं, वैसे ही परिचारक भी बहुत हैं, कोई वसिष्ठजीके पास हैं, कोई शतानन्दजीके पास हैं, इत्यादि। कोई मङ्गल द्रव्य भरे हुए कोपर लिये हैं, कोई जल भरे हुए कलश लिये हैं।

२ (क) 'कुल रीति प्रीति समेत रबि कहि देत' इति। (क) रघुवंशी सब सूर्यकुलके हैं (विवस्वत् इस कुलके आदि पुरुषा हैं। इसीसे इसे भानुवंश, सूर्यवंश कहा जाता है। यथा—'भानु बंस राकेस कलंकू॥' २७३। २। 'उदय करहु जनि रबि रघुकुल गुर। अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥ २। ३७।' (यहाँ रघुकुलगुर=रघुकुलके पुरुषा)। कुलवृद्ध ही कुलकी रीति बताते हैं, यथा—'बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुर बेद बिदित आचारु॥ २८६।' 'बिप्रबधू कुलबृद्ध बोलाई। करि कुलरीति सुमंगल गाई॥ ३२२। ४।' आदि पुरुषा होनेसे इनसे वृद्ध कोई नहीं है। अपने कुलमें प्रभुने अवतार लिया, अतः ये स्वयं सब रीति प्रेमपूर्वक बताते जाते हैं। (ख) 'प्रीति समेत' इति। सूर्यकी कुलदेवताओंमें प्रीति है, इसीसे कुलरीति प्रीति समेत कह देते हैं। सूर्य सब कुलरीति जानते हैं, इसीसे कुलदेवमें इनका विश्वास है और विश्वाससे प्रीति होती है, यथा—'जाने बिन न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥' (ग)—'सब सादर किये' भाव यह कि सूर्यने भक्तिपूर्वक बताया, इसीसे श्रीसीतारामजीने आदर अर्थात् भक्तिपूर्वक पूजन किया। (घ) 'येहि भाँति देव पुजाइ' अर्थात् जैसा-जैसा सूर्य बताते गये वैसे-ही-वैसे वे देवताओंका पूजन करते गये। प्रथम गौरी-गणेशका पूजन, फिर कुलदेवका पूजन कराया। (प० प० प्र० का मत है कि यह सब पूजन श्रीसीतारामजीसे ही कराया गया। 'गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं' उपक्रम है और 'येहि भाँति देव पुजाइ' उपसंहार है। यह पूजा वेदीपर हुई, तत्पश्चात् वे सिंहासनपर बिठायी गयीं।' पं० रामकुमारजीने जो लिखा है वह इस समय भी इस प्रान्तमें प्रचलित रीति है। शङ्कर-पूजन इस समय नहीं होता। (ङ) 'सुभग सिंघासन दिये' अर्थात् जैसा दिव्य सिंहासन श्रीवसिष्ठजी आदि महर्षियों और विप्रवेषधारी देवताओं आदिको दिया वैसा ही दिव्य सिंहासन इनको बैठनेको दिया।

३ 'सियराम अवलोकनि परसपर·····' इति । (क) श्रीरामजानकीजी तो अत्यन्त संकोची हैं, यथा—'मातु समीप कहत सकुचाहीं ॥ २ । ६१ ।' 'गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि ॥ १ । २४८ ।' (परन्तु उस समयतक धनुर्भङ्ग हुआ नहीं था, यह निश्चय न था कि कौन तोड़ेगा । अतः उस समय 'गुरजन लाज···' समुचित ही था । धनुर्भङ्गके बाद 'तन सकोचु मन परम उछाहू ॥' कहा है । फिर भी 'जाइ समीप राम छबि देखी । रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी' पर उस समय चारों ओर सखियाँ भी थीं और परस्पर अवलोकन न था) । कहाँ तो वह संकोचसमुद्र और कहाँ यह कि पिता, कुलगुरु, मुनि-विप्र आदिकी भारी सभामें सबके सामने नजर लड़ावें ? इसका कारण है । विवाहपद्धतिमें ऐसा उल्लेख है, आदेश है कि वर और कन्या सम्मुख होकर परस्पर अवलोकन करें, वर दुलहिनको नखसे शिखतक और दुलहिन वरको देखे । यह 'समंजन' कहलाता है । (वही रीति यहाँ करायी गयी । श्रीसीताजीको शतानन्दजीने और श्रीरामजीको श्रीवसिष्ठजीने अवलोकन करनेकी आज्ञा दी) । (ख) 'प्रेम काहु न लखि परै·····' इति । यह प्रेम किसीको लख नहीं पड़ता, क्योंकि वह मन, बुद्धि और वर वाणीको भी अगोचर है । अर्थात् मन, बुद्धि और वाणीकी पहुँच वहाँ नहीं है । यहाँ मुनियोंके मन और बुद्धिके अगोचर और 'बर बानी' से वेदका अगोचर कहा, यथा—'बेद बचन मुनि मन अगम····॥ २ । १२६ ।' बर बानी=वेद । 'तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ॥ यह श्रीरामजीका संदेश हनुमान्‌जीने कहा है; वे ही जानते हैं दूसरा नहीं, तब कोई कैसे लख सके ? [श्रीजानकीमङ्गलमें धनुर्यज्ञके समय परस्पर अवलोकनका वर्णन इस प्रकार है—'राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक । दोउ तन तकि तकि मयनु सुधारत सायक ॥ ५२ ॥ प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहिं । जनु हिरदय गुनग्राम थूनि थिर रोपहिं ॥' पं० रामवल्लभाशरणजी कहते हैं कि जो परस्पर अवलोकन हो रहा था और जो आपसका प्रेम था उसको कोई जान-समझ नहीं सकता था; अर्थात् किसीको यह पता न चला कि आपसमें नजाराबाजी और प्रेम हो रहा है । बैजनाथजी लिखते हैं कि 'दोनों स्नेहवश परस्पर एकटक निहार रहे हैं । ☞ इस आलम्बनविभागमें जो प्रेमकी संक्रान्त दशा है, यथा—'तृतिय भेद संक्रान्त जो तन मन मिलन समाय । द्विरागमन इव लोकमें दंपति प्रथम मिलाय ॥' यह प्रेम किसीको देख नहीं पड़ता । क्योंकि मन, बुद्धि और श्रेष्ठ परावाणीके अगोचर है'] (ग) 'प्रगट कबि कैसे करै'—भाव कि कविको मन बुद्धि और वाणीहीका बल है, जब ये ही वहाँ नहीं पहुँच पाते, तब कवि किस बलसे कहे ?

टिप्पणी—४ 'होम समय तनु धरि अनलु·····' इति । (क) 'होम समय' अर्थात् जब होमका समय आया तब । 'आहुति लेहिं' से जनाया कि अगणित तन धरकर आहुतियाँ ले-लेकर भोजन करते हैं । [होममें अग्निकी ज्वालाका उठ-उठकर आहुति लेना शकुन है, इससे अग्निदेवकी प्रसन्नता प्रकट होती है । और यहाँ तो अग्निदेव मारे आनन्दके साक्षात् मूर्तिमान्‌रूपसे प्रकट होते हैं । (पं० राम० च० श०)] (ख) 'अति सुख' का भाव कि आहुति लेनेसे सुख होता है और श्रीरामजीके हाथकी आहुति पानेसे 'अति सुख' होता है । (ग) 'बिप्र बेष धरि बेद सब·····' इति । जब जैसा काम पड़ता है तब तैसा वेष वेद धारण कर लेते हैं । राज्याभिषेकके समय श्रीरामजीकी स्तुति करनी थी, इससे वहाँ बंदी (भाट) का वेष धरकर आये, यथा—'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम ॥ ७ । १२ ।' विवाहकी विधि ब्राह्मणोंके मुखसे कथन होनेसे सफल है, यथा—'ब्राह्मणवचनात् सर्वं परिपूर्णमस्तु ॥' अतः विवाह विधि बतानेके लिये 'विप्र वेष' से आये । (घ) इसपर शंका होती है कि 'जहाँ वसिष्ठ, शतानन्दादि वेदविधिके उत्तम ज्ञाता तथा वेदोंके ऋषि ही उपस्थित हैं वहाँ वेदोंके विप्रवेष धारण करके विधि बतानेकी क्या आवश्यकता ?' इसका समाधान यह है कि इस समय सभी देवता श्रीसीतारामजीकी प्रसन्नताके लिये अपनी-अपनी सेवा करते हैं । गौरी-गणेश प्रकट होकर आहुति लेते हैं, सूर्य प्रकट होकर कुलरीति कहते हैं, अग्नि प्रकट होकर आहुति लेते हैं, देवता नगाड़े बजाते और पुष्पोंकी वृष्टि कर-करके जय-जयकार कर रहे हैं—यह सब सेवा है । यथा—'अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा । बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा ॥ १९१ । ८ ।' 'बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा ।' 'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा । करहिं सिद्ध मुनि प्रभु कै सेवा ॥ ४ । १३ । ४ ।' 'रमेउ राम मनु देवन्ह जाना । चले सहित सुर थपति प्रधाना ॥ कोल किरात बेष सब आए ॥ रचे परन तृन सदन सुहाए ॥ २ । १३३ ।' जब जिस प्रकारकी सेवा करनी होती है तब उसीके अनुकूल वेष धारण करके देवताओंने सेवा की है । वैसे ही इस समय विप्ररूप धरकर समस्त वेद अपनी सेवा जनाते हैं । इस समय यही उनकी सेवा है । [ब्रह्मलोकाधिपति ही स्वयं विप्ररूपमें आये हैं, अतः ब्रह्मलोकनिवासी वेदोंको भी इच्छा हो गयी—'देखन हेतु राम बैदेही । कहहु लालसा होइ न केही' । (प० प० प्र०)]

जनक पाट महिषी जग जानी। सीय मातु किमि जाइ बखानी॥ १॥
सुजसु सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥ २॥
समउ जानि मुनिबरन्ह बोलाईं। सुनत सुआसिनि सादर ल्याईं॥ ३॥

शब्दार्थ—पाट=सिंहासन, गद्दी, पट्टा। पाट-महिषी=वह रानी जो राजाके साथ सिंहासनपर बैठ सकती हो, जिसके नाम पट्टा होता है वही सब कामोंमें राजाके साथ रहेगी, दूसरी नहीं=प्रधान रानी। सुआसिनि=सुवासिन, पासकी बैठनेवाली, सखियाँ।=उसी नगरकी कन्या जिसका विवाह हो चुका हो।=सौभाग्यवती, सधवा।

अर्थ—जनक महाराजकी जगत्-विख्यात पटरानी, श्रीसीताजीकी माँ क्योंकर बखानी जायँ। १। विधाताने सब सुयश, सुख और सुन्दरता समेटकर इन्हें बनाकर (अच्छी तरह सँभारकर) रचा है। २। समय जानकर मुनिवरोंने उन्हें बुलवाया। सुनते ही सुवासिनें उन्हें सादर ले आयीं। ३।

टिप्पणी—१ 'जनक पाटमहिषी⋯' इति। (क) 'पाटमहिषी' कहकर जनाया कि राजा जनककी और भी बहुत-सी रानियाँ हैं, यथा—'सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनकराज रनिवासू।' (२। २८१) 'रनिवास' कहनेसे पाया गया कि सब रानियाँ आयीं। और यहाँ केवल पटरानीका काम है, श्रीसुनयनाजी पटरानी हैं। (ख) 'जग जानी' का भाव कि श्रीसुनयनाजी जगत्में प्रसिद्ध हैं, अन्य रानियाँ प्रसिद्ध नहीं हैं। [वे विवेकनिधि राजा जनककी वल्लभा हैं, भक्ति, विवेक और प्रेममें उन्हींके समान हैं, यथा—'को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि।' (२। २८३)। अतः जग जानता है] (ग) 'पाट महिषी' और 'सीयमातु' कहकर सूचित किया कि श्रीजनकजीके साथ कन्यादान करनेका अधिकार इन्हींको है। (घ) 'सीयमातु किमि जाइ बखानी' का भाव कि श्रीसीताजी जगज्जननी हैं, ब्रह्माण्डभरकी माता हैं, श्रीसुनयनाजीको उनकी माता होनेका सौभाग्य प्राप्त है, इससे वे महिमाकी अवधि हैं, अतः उनका बखान कैसे किया जा सकता है? यथा—'जिन्हहि बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥' (१। १६। ८)।

२—'सुजसु सुकृत सुख सुंदरताई⋯' इति। (क) 'सुकृत' कारण है। सुयश, सुख और सुन्दरता उसके कार्य हैं। सुकृतसे ही ये तीनों होते हैं, यथा—'पावन जस कि पुन्य बिनु होई। ७। ११२' 'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।' (७। १०२), 'चारिउ चरन धरम जग माहीं।⋯सब सुंदर सब बिरुज सरीरा। ७। २१।' 'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नरनारी। १। १५५।'—(धर्म, सुकृत और पुण्य पर्याय शब्द हैं)। (ख) 'सब समेटि⋯' इति। अर्थात् कार्य और कारण दोनोंको समेटकर ब्रह्माने इन्हें रचा। (ग) यहाँतक श्रीसुनयनाजीकी पति-सम्बन्ध, संतान-सम्बन्ध और जन्म-सम्बन्धसे बड़ाई की। 'जनक पाट महिषी जग जानी' यह पति-सम्बन्ध, 'सीयमातु किमि जाइ बखानी' यह संतान-सम्बन्ध और 'सुजस सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥ यह जन्म-सम्बन्धसे बड़ाई है। ऐसे ही 'जय जय गिरिबरराजकिसोरी। जय महेस मुखचंद चकोरी॥ जय गजबदन षडानन माता। १। २३५' में इन्हीं तीनों सम्बन्धोंसे स्तुति की गयी है। पुनः, (घ) उत्तमता चार प्रकारसे जानी जाती है-जन्म, संग, शरीर और स्वभावसे। यहाँ चारों प्रकारसे श्रीसुनयनाजीकी उत्तमता दिखायी गयी है। 'सब समेटि बिधि रची बनाई' यह जन्मकी, 'जनक पाट महिषी' से संगकी, 'सुजस सुकृत सुख सुंदरताई' यह शरीरकी और 'सीयमातु' से स्वभावकी उत्तमता कही गयी (यथा—'रावरी सुभाव रामजन्म ही ते जानियत, भरतु मातु को कि ऐसो चहियतु है। क० २०४।' ऐसे ही 'जनम सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंक। २३८' में इन्हीं चारोंसे चन्द्रमाकी लघुता कही गयी है)। पुनः, (ङ) चारोंको समेटकर बनाया, इससे जनाया कि श्रीसुनयनाजी चारोंकी मूर्ति हैं। सुयशकी मूर्ति हैं, इसीसे जगत् जानता है। सुकृतकी मूर्ति श्रीसीताजीकी माता हैं, यथा—'जनक सुकृति मूरति बैदेही। ३१०। १।' और, सुख-सुन्दरताकी मूर्ति हैं, इसीसे श्रीजनकजीकी पटरानी हैं। श्रीजनकजीकी पटरानी तथा श्रीसीताजीकी माता होनेसे बड़ाईकी अवधि हैं। (च) (श्रीसीताजीकी माता होनेमें) बड़ाई, सुयश, सुकृत, सुख और सुन्दरता—ये पाँच गुण यहाँ कहनेका भाव यह है कि जीवका यह शरीर ब्रह्मने पञ्चतत्त्वसे बनाया, पर श्रीसुनयनाजीका शरीर इन पाँच गुणोंको समेटकर बनाया।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि 'अपने बलसे जो परहित करनेपर प्रशंसा होती है उसे 'सुयश' कहते हैं। श्रीकिशोरीजीको पाल-पोसकर उदार रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजीको दान देकर पूर्णकाम किया, यह सुयश दूसरेको प्राप्त नहीं हुआ।

सत्कर्मरीतिसे धर्मपथमें परिश्रम करना 'सुकृत' है। ऐसा सुकृती कौन है कि परमशक्ति श्रीसीताजी जिसकी कन्या और ब्रह्म श्रीराम जिसके जामाता हों। भोजन, वस्त्र, शय्या, पान, सुगन्ध, पति-पुत्रादि उत्तम प्राप्त होना 'सुख' है, सो इन्हें मिथिला-सा राज्य, विवेकनिधि जनकसे पति, लक्ष्मी-निधिसे पुत्र, सिद्धिकुँवरि-सी पतोहू और श्रीजानकी पुत्री, श्रीरामजी जामाता, दिव्य ऐश्वर्यसे परिपूर्ण ऐसा अद्वितीय सुख है। 'सुन्दरता' तो उनके नामसे प्रसिद्ध है, सर्वाङ्ग सुठौर बने हैं। अतः इनको चारोंकी मूर्ति कहा।'

टिप्पणी—३ 'समउ जानि''''' इति। (क) भाव कि स्त्रियाँ प्रथमसे ही नहीं बुलायी जातीं। प्रथम कन्याका पिता अपना सब कृत्य कराता है, कन्यादानके समय माता बुलायी जाती है। वही कन्यादानका समय आनेपर वे बुलायी गयीं। 'मुनिबरन्द' से जनाया कि विवाह करानेके लिये बहुत-से मुनि बैठे हैं (सबके बुलानेसे सबकी विवाहपद्धतिमें निपुणता तथा सभीकी सावधानता जनायी)। (ख) 'सुनत सुआसिनि''''' से जनाया कि वे सब भी समय जानती थीं। इससे पहलेसे ही तैयार रही हैं, सुनते ही तुरत ले आयीं। ☞ सब अपने-अपने काममें सावधान हैं।

जनक बाम दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मैना॥ ४॥

अर्थ—श्रीजनकमहाराजकी 'वाम दिशा' में श्रीसुनयनाजी (ऐसी) सुशोभित हैं मानो हिमाचलराजके साथ मैनाजी सुशोभित हैं। ४।

'जनक बाम दिसि सोह सुनयना' इति

शंका—पुण्यकालमें (शुभकार्योंमें) स्त्री दाहिने चाहिये, वाम दिशामें बैठनेसे शास्त्र-विरोध पड़ता है। यथा 'सर्वयज्ञे दक्षिणे पत्नी चतुः कर्मसु वामतः। शय्यायां द्विरागमने सिन्दूरे चित्ररोहने॥'

इस शङ्काको उठाकर पं० रामकुमारजी उसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि (यहाँ यह समझना चाहिये कि जैसे दसों दिशाओंके पृथक्-पृथक् नाम हैं वैसे ही यहाँ एक दिशाका नाम दिया है। यहाँ 'वाम' से उस 'वाम दिशा' का तात्पर्य है। ईशानकोणको 'वाम दिशि' कहा है। 'वाम' नाम महादेवजीका है; इस प्रकार) 'वाम-दिशि'=महादेवजीकी दिशा=ईशान कोण। (इस प्रकार अर्थ करनेसे सुनयनाजीका जनकजीके ईशान दिशामें बैठना कहनेसे वे दाहिनी ओर हुईं। क्योंकि वर पूर्वकी ओर मुँह करके बैठता है और कन्यादानके समय कन्याका पिता पश्चिम ओर मुख करके बैठता है। जब वे जनकजीके ईशान दिशामें बैठायी जायँगी तब वे उनके दाहिने दिशामें हुईं।

पंजाबीजी 'सुनयनाजीकी वाम-दिशामें जनकजी शोभित हैं'—ऐसा अर्थ करते हैं।

बैजनाथजीने भी यही अर्थ किया है और कहते हैं कि यहाँ चौपाइयोंमें श्रीसुनयनाजीका वर्णन है, इसीसे प्रधानता उन्हींका शोभित होना कहते हैं। प्रधान होनेसे 'सुनयनाजी अङ्गी हुईं और राजा अङ्ग हुए। अङ्ग होनेसे राजा वाम दिशामें हैं।'''।' अथवा, अभी बायीं ओर बैठी हैं, जब कन्यादान होने लगेगा तब दक्षिण ओर हो जायँगी।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'पत्नी तिष्ठति दक्षिणे' इस स्मृतिवाक्य तथा लोकरीतिसे दक्षिण ओर बैठना ही ठीक है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान् है; इस नियमके अनुसार 'सुनयनाजीकी वाम दिशामें जनकजी शोभित हैं' यह अर्थ होगा।

कोई कहते हैं कि 'वाम=शिव=कल्याण'। 'वाम दिसि'=कल्याण दिशा=दक्षिण दिशा। और कोई कहते हैं कि 'वाम=सुन्दर अर्थात् दक्षिण दिशामें'। तथा किसी-किसीका कहना है कि यदि गोस्वामीजीको दक्षिण लिखना होता तो 'बाम-दिसि' कदापि न लिखते, फिर कुछ ऋषियोंका मत है कि वाम-दिशामें ही बैठना चाहिये। अतः ग्रन्थकारने यहाँ इसी मतका ग्रहण किया है।

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ विरोधके लिये स्थान है ही नहीं। यथा—'आशीर्वचनकालेषु नित्योपासन-मार्जने। एतेषु वामतस्तिष्ठेत्पत्नी त्वन्यत्र दक्षिणे॥' अर्थात् आशीर्वाद देते-लेते समय, अग्निहोत्र, मार्जन अर्थात् स्नान, पादप्रक्षालन, अभिषेकके समय पत्नी बायीं ओर रहे, दूसरे कार्योंमें दक्षिण ओर। इस समय सुनयनाजी प्रथम ही मण्डपमें आती हैं, ऐसे अवसरपर गुरु-विप्र-वृद्धोंको वन्दन करनेकी प्रथा है, वन्दनोत्तर आशीर्वाद मिलते हैं, इससे यह आशीर्वचन-काल होनेसे बायीं ओर रहना शास्त्रानुकूल है। इसके अनन्तर पादप्रक्षालन होता है जिसका अन्तर्भाव मार्जनमें होता ही है।

नोट—स्मृतिकारोंमें मत-भेद है। किसी ऋषिके मतानुसार इस अवसरपर पतिके दक्षिण ओर और किसीके मतानुसार बायीं ओर स्त्रीको बैठाना चाहिये। यहाँ गोस्वामीजीने 'बामदिसि' पद देकर दोनोंके मतोंकी रक्षा की है। एक अर्थ तो स्पष्ट

ही है कि 'बायीं ओर' सुशोभित हैं। परन्तु दूसरा अर्थ 'वाम' का 'सुन्दर' लेनेसे, दक्षिण वा बायीं, दोनोंमेंसे कोई अर्थ महानुभाव अपने-अपने मतानुसार जो उत्तम वा सुन्दर और ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित समझें ले सकते हैं। साधारणतः तो 'बायीं ओर' ही अर्थ होगा (प्र० सं०)। विनयपत्रिकामें भी विन्दुमाधवजीकी स्तुतिमें 'वाम भाग' पाठ प्राचीनतम सं० १६६६ वाली पोथीमें है, परंतु सम्भवतः पण्डितोंने कुछ स्मृतियोंके अनुसार उसको अशुद्ध समझकर 'दक्ष' वा 'दच्छ' भाग कर दिया है। विनय पद ६१, यथा—'देव सकल सौभाग्य संयुक्त त्रैलोक्य श्री वाम दिसि रुचिर वारीस कन्या')।

स्त्री कब-कब दक्षिण भागमें रहे और कब-कब वाम भागमें, इसके सम्बन्धमें खोज करनेपर हमें कुछ प्रमाण मिले हैं। यथा—'सीमन्ते च विवाहे च तथा चातुर्थ्यकर्मणि। मखे दाने व्रते श्राद्धे पत्नी दक्षिणतो भवेत्॥ सम्प्रदाने भवेत्कन्या घृतहोमे सुमङ्गली॥ वाममागे भवेदार्या पत्नी चातुर्थ्यकर्मणि। व्रतबन्धे विवाहे च चतुर्थी सह भोजने॥ व्रते दाने मखे श्राद्धे पत्नी तिष्ठति दक्षिणे। सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः शुभा॥ अभिषेके विप्रपादक्षालने चैव वामतः॥' पुनश्च यथा—'सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः सदा। विप्रपादक्षालने च ह्यभिषेके तु वामतः। वामे पत्नी त्रिषु स्थाने पितॄणां पादशौचने। रथारोहणकाले तु ऋतुकाले सदा भवेत्॥' (संस्कारकौस्तुभ), 'वामे सिन्दूरदाने च वामे चैव द्विरागमे। वामभागे च शय्यायां नामकर्म तथैव च॥ शान्तिकेषु च सर्वेषु प्रतिष्ठोद्यापनादिषु। वामे ह्युपविशेत्पत्नी व्याघ्रस्य वचनं यथा॥' (वायुनन्दन मिश्र)।

इन श्लोकोंमें 'विप्रपादक्षालन' में वामभागमें होना कहा है। 'विप्र' से पूज्यका भाव ले सकते हैं। वर-कन्या विवाहके समय लक्ष्मी-नारायणरूप माने गये हैं। पदप्रक्षालनकार्य करनेको दम्पति उपस्थित हैं; अतः इस समय वाम-दिशामें होना ही ठीक है।

टिप्पणी—१ 'हिमगिरि संग बनी जनु मैना' इति। (क) हिमाचल और मेनाकी उपमा देनेका भाव कि हिमाचलने गिरिजाजीको शिवजीकी शक्ति जानकर अर्पण किया था, यथा—'गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपी जानि भवानी॥ १०१। २।' वैसे ही श्रीजनकजीने श्रीसीताजीको श्रीरामजीकी शक्ति जानकर उन्हें अर्पण किया। यही आगे स्पष्ट कहते हैं, यथा—'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥' पुनः दूसरा भाव यह है कि समधीके सामने समधिन प्रकट नहीं होती, यह चाल छोटे-बड़े सभीमें है और ये तो रानी हैं, इनको परदा अवश्य करना चाहिये, वह परदा इस उत्प्रेक्षाके द्वारा दिखा रहे हैं। गिरिके संग जैसे मेना सोहती हैं, तात्पर्य कि पर्वतके पास स्त्री नहीं देख पड़ती, वैसे ही जनकजीके पास सुनयनाजी देख नहीं पड़तीं। [पुनः भाव कि जैसे जगज्जननी भवानीकी माता मेनाकी शोभा थी वैसे ही श्रीकिशोरी जगज्जननीकी माता होनेसे यहाँ इनकी शोभा है—(मा० त० वि०)]

कनक कलस मनि कोपर रूरे। सुचि सुगंध मंगल जल पूरे॥ ५॥
निज कर मुदित राय अरु रानी। धरे राम के आगे आनी॥ ६॥
पढ़हिं बेद मुनि मंगलबानी। गगन सुमन झरि अवसरु जानी॥ ७॥
बरु बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे॥ ८॥

शब्दार्थ—रूरे=उत्तम, अच्छे श्रेष्ठ, सुन्दर। पूरे=भरे हुए। पाय=चरण, पैर। 'पखारना'-प्रक्षालन करना, धोना।

अर्थ—पवित्र, सुगन्धित और माङ्गलिक (तीर्थ) जलसे भरे हुए सोनेके सुन्दर कलश और मणियोंके उत्तम कोपर॥ ५॥ राजा-रानीने प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथोंसे लाकर रामचन्द्रजीके आगे रक्खे॥ ६॥ मुनि मङ्गलवाणीसे (स्वरके साथ गाते हुए) वेद पढ़ रहे हैं, अवसर जानकर आकाशसे फूलोंकी झड़ी होने लगी॥ ७॥ दूलहको देखकर राजा-रानी प्रेममें मग्न हो गये और पवित्र चरणोंको धोने लगे॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'कनक कलस मनि कोपर रूरे।…' इति। (क) पूर्व 'कनक कोपर' कह आये हैं, यथा—'भरे कनक कोपर कलस सो तब लिएहिं परिचारक रहैं। १। ३२३।' यहाँ 'मनि कोपर रूरे' कहते हैं। भेदमें भाव यह है कि सोनेके परात मङ्गल द्रव्य भरकर रखनेके लिये हैं और श्रीरामजीके पदप्रक्षालनके लिये सुन्दर मणिके कोपर लाये। यहाँ 'रूरे' 'पूरे' द्विवचन हैं; यथा—'राज समाज बिराजत रूरे। उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे॥ २४१। ३'। इससे जनाया

कि चरण-प्रक्षालनके लिये दो परात लाये गये हैं, एकमें श्रीरामजीके चरण धोयेंगे, और दूसरेमें श्रीजानकीजीके। कारण कि श्रीरामजीके चरणोदकके ऊपर श्रीसीताजी अपना चरण नहीं धुलावेंगी (वे तो श्रीरामजीके चरणरेखपर, जो मार्गमें चलते समय पृथ्वीपर बन जाते हैं, अपना चरण नहीं रखतीं।) यथा—'प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥ २। १२३। ५।' (तब भला अपने चरणप्रक्षालनका जल उनके चरणप्रक्षालन जलपर कैसे पड़ने देंगी)। राजारानी श्रीजानकीजीके इस भावको जान गये हैं, इसीसे वे दो कोपर लाये। इसी प्रकार चित्रकूटमें उनके मनका भाव रानीने जानकर राजासे कहा था, यथा—'कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥ लखि रुख रानि जनायउ राऊ। हृदय सराहत सीलु सुभाऊ॥ २। २८७।' (ख) 'सुचि सुगंध मंगल जल पूरे' इति। 'शुचि जल' अर्थात् पवित्र तीर्थोंका जल। सुगन्ध अर्थात् अतर, गुलाब, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यमिश्रित। 'मंगल' अर्थात् हरिद्रादि (हल्दी आदि) मिश्रित।

२—'निज कर मुदित राय·····' इति। (क) 'निज कर' और 'मुदित' राजा और रानी दोनोंकी श्रीराम-पद-प्रक्षालनमें बड़ी श्रद्धा दिखायी। यथा—'अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥ २। १०१'। (ख) 'धरे राम के आगे आनी' इति। 'आनी' से जनाया कि ये अन्यत्र रक्खे हुए थे, जब चरणप्रक्षालनका समय आया तब उठाकर श्रीरामजीके आगे रक्खे। यदि एक कोपर होता तो दोनों मिलकर क्यों उठाते? श्रीरामजीके आगे रखना कहकर जनाया कि प्रथम श्रीरामजीका पूजन और पदप्रक्षालन होगा।)

३—'पढ़हिं वेद मुनि मंगल बानी।···' इति। (क) जिस वाणीसे वेद पढ़ा जाता है वह मंगल वाणी है। ['वेदानां सामवेदोऽस्मि। गीता १०। २२।' 'सा च असौ अमश्च सामः।' सामवेद गायन करने लगे। ऋग्वेदका संगीत पद्धतिसे गायन 'साम' गायन है। (प० प० प्र०)। 'मंगल बानी' से सूचित किया कि गा-गाकर पढ़ते हैं (प्र० सं०)] (ख) 'गगन सुमन झरि अवसरु जानी' इति। पदप्रक्षालन बड़ा भारी कृत्य है, इस समय अवश्य ही पुष्पोंकी वृष्टि होनी चाहिये, यथा—'बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं॥ २। १०१।' (देवता आकाशमें विमानोंपर हैं। पदप्रक्षालन मण्डपतले हो रहा है। अतः जब मुनि मंगलवाणीसे वेद पढ़ने लगे तब उस वेदध्वनिको सुनकर देवोंने जाना कि प्रक्षालन हो रहा है, क्योंकि ये मन्त्र चरणप्रक्षालनके समयके हैं। अतः पुष्पवृष्टिका अवसर जानकर फूलोंकी झड़ी लगा दी। (ग) जब निषादने चरण धोया तब देवताओंने फूल बरसाये और जब राजा-रानी पदप्रक्षालन करने लगे तब उन्होंने फूलोंकी झड़ी लगा दी, क्योंकि केवट सामान्य अधिकारी है और राजा-रानी विशेष अधिकारी हैं।

४—'बर बिलोकि दंपति अनुरागे।····' इति। (क) यथा—'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥ २१६। ५।' [वैसे ही यहाँ दम्पति, राजा-रानी दोनोंकी उस साँवली सूरतकी ओर दृष्टि गयी नहीं कि वे उस शृङ्गारयुक्त बाँकी छबिको देख उसी सुखसागरमें डूब गये। दोनों मिलकर चरण धो रहे हैं। इस बातको कविने कैसी खूबीके साथ एक शब्द 'दम्पति' (जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों मिले हैं) ही देकर सूचित कर दिया। पुनः 'पखारन लागे' से धीरे-धीरे विलम्बके साथ धोना लक्षित किया। अर्थात् तीन बार अञ्जलिमें जल लेकर चरणोंसे स्पर्श करके सिर और नेत्रोंमें लगाया]। यहाँ दोनों ('राजा-रानी) चरण धो रहे हैं; 'लागे' द्विवचन कहा। केवटने अकेले धोया, इससे वहाँ एकवचन 'लागा' शब्द दिया। यथा—'चरन सरोज पखारन लागा।' निषाद आँखोंसे देख-देखकर कि ये कमल-समान हैं, उन्हें धो रहा है और श्रीजनकजी प्रभाव जानते हैं कि इनसे गङ्गाजी निकली हैं, ये पुनीत हैं।

नोट—१ इस प्रसङ्गका मिलान केवटके चरण-प्रक्षालन-प्रसङ्गसे कीजिये। यहाँ देवताओंका केवल 'गगन सुमन झरि अवसरु जानी' कहा और वहाँ कहते हैं कि—'बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं।' इस भेदका कारण यह है कि निषादने जोरावरीसे चरण धुलवा लिया, उसने आडम्बर फैलाया कि पदरज धो डालेंगे और फिर उसमें नावपर चढ़ते समयतक रज न लगने देंगे, वह कुछ अधिकारी न था, अतः उसके भाग्यको देवता सिहाते थे। और राजा जनक एवं अम्बा सुनयनाजी तो परम सुकृती और इन चरणोंके अधिकारी हैं। पुनः इन्होंने अपनी कन्या भी दानमें दी तब इन्हें यह अवसर प्राप्त हुआ। २—दूसरा भेद उस प्रसङ्गमें और इसमें यह है कि यहाँ पाय पुनीत और पाय पंकज कहा और केवटके प्रसङ्गमें पुनीत विशेषण नहीं दिया। वह उन चरणारविन्दोंका प्रभाव नहीं जानता था, केवल चरणोंकी ललाई और कोमलतापर उसकी

दृष्टि है; इसलिये उसके प्रसङ्गमें पद सरोज कहा और ये राजा-रानी चरणोंको सरोजवत् तो देखते ही हैं, यथा—'लागे पखारन पाय पंकज' साथ ही इनका प्रभाव भी जानते हैं कि 'मकरंद जिनको संभु सिर ···'; अतः इनके सम्बन्धमें चरणोंको पुनीत और पंकज दोनों विशेषण दिये गये।

छंद—लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली।
नभ नगर गान निसान जय धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली॥
जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं।
जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥ १॥
जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंदु जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बर नई*॥
करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।
ते पद पखारत भाग्य भाजनु जनकु जय जय सब कहैं॥ २॥

अर्थ—दम्पति पदकमलोंको धोने लगे। प्रेमसे शरीरमें पुलकावली हो रही है। आकाश और नगरमें गान, निशान और जयकी ध्वनि मानो चारों दिशाओंमें उमड़ चली। जो पदकमल कामदेवके शत्रु श्रीमहादेवजीके हृदयरूपी तालाबमें सदा ही विराजते हैं, जिनका एक बार 'भी' स्मरण करनेसे मनमें निर्मलता आ जाती है और कलिके सब पाप भाग जाते हैं, जिनका स्पर्श पाकर मुनिकी स्त्री अहल्याने सद्गति पायी कि जो पापमयी (अर्थात् पापका रूप महापापिनी) थी, जिन (चरण-कमलों) का मकरंद पवित्रताकी सीमा देवताओंकी श्रेष्ठ नदी (गङ्गाजी) श्रीशिवजीके सिरपर (सुशोभित) है, मुनि और योगी लोग अपने मनको भौंरा बनाकर जिन चरणकमलोंका सेवन करके इच्छित गति पाते हैं, उन्हीं चरणोंको भाग्य-भाजन भाग्यके पात्र अर्थात् अतिशय बड़भागी श्रीजनकजी धो रहे हैं और सब लोग जय-जयकार कर रहे हैं॥ १-२॥

टिप्पणी—१ (क) **'लागे पखारन···'** इति। जब पदप्रक्षालन करने लगे तब शरीरमें पुलकावली होनेका भाव कि श्रीरामजीके अङ्गके स्पर्शसे पुलकावली होती है, यथा—'सब सिसु येहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात। तन **पुलकहिं अति हरषु हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥ २२४॥'** (ख) 'पाय पंकज' कहकर जनाया कि वे चरण-कमलको देखते हैं (कि कमल समान हैं)। 'प्रेम तन···' कहनेका भाव कि चरणोंको देखनेमें तो तीर्थोंके जलसे धो रहे हैं पर वे वस्तुतः अन्तःकरणके प्रेमके जलसे प्रक्षालन करते हैं। (ग) 'नभ नगर उमगि जनु···' अर्थात् आकाश और नगर ध्वनिसे पूर्ण हो गये। नगरके बाहर आवाज (ध्वनि, शब्द) का जाना ही उमगकर चलना है, यथा—'बहुत उछाह भवन अति **थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा॥'** (घ) 'जे पद सरोज मनोज अरि उर···' इति। पहले कहा कि 'पाय पंकज' करसे प्रक्षालन करने लगे, अब बताते हैं कि यह पंकज कहाँका है। यह श्रीशिवजीके हृदयरूपी तड़ागका कमल है। 'मनोज अरि उर' का भाव कि काम मनसे उत्पन्न होता है सो उसके ये शत्रु हैं अर्थात् इनके मनमें काम नहीं उत्पन्न होने पाता, इसीसे ये चरण-कमल इनके हृदय—तड़ागमें सदा विराजते हैं। क्योंकि यदि काम हृदयमें आ जाय तो फिर ये पद—कमल वहाँ नहीं आते। यथा—'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।' (वि० १८५)। तब मनमें कामके न आनेका तथा उसके निर्मल रहनेका क्या उपाय है, यह अगले चरणमें बताते हैं—'जे सकृत सुमिरत ···'। पुनः 'सदैव बिराजहीं' का भाव कि कमल तालाबमें सदा नहीं रहता, पर ये कमल कामारिके हृदयसरमें सदैव रहते हैं। ['सदैव···' का भाव कि वह कमल रातमें संपुटित हो जाता है और यह सदा 'बिराजहीं', सदा सुशोभित रहते हैं। अर्थात्

* नई—यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है और इसका प्रयोग प्रान्तीय है। संज्ञा स्त्रीलिङ्ग है। इस तरह सुर-बर नई देवताओंकी श्रेष्ठ नदी यह अर्थ पं० रामकुमारजीने किया है। प्र० सं० में हमने अर्थ इस प्रकार किया था—'जिन चरण-कमलोंका मकरंदरस (अर्थात्, चरणोदक गङ्गाजी) शिवजी शिरपर धारण किये हुए हैं। जिसको देवता पवित्रताकी सीमा वर्णन करते हैं।' प्रायः सभी टीकाकारोंने यही अर्थ लिखा है, जो हमने लिखा था। इस बार पण्डितजीका अर्थ देखकर हमने कोश देखा तो उसमें 'नई' का अर्थ नदी मिला। यह अर्थ उत्तम जँचता है, इससे इस संस्करणमें दे रहे हैं।

[illegible] वियोगरूपी रात्रिके कारण भी संपुटित नहीं हुए। 'बिराजहीं' का कारण 'मनोजभरि' है, यथा—'जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम ॥' (दोहावली) (प्र० सं०)] (ङ) 'जे सकृत सुमिरत·····' इति। अर्थात् चरणके स्मरणसे मन निर्मल हो जाता है, कामादि विकार उत्पन्न नहीं होते और प्रथमके किये हुए समस्त कलिमलका नाश हो जाता है। 'सकल कलिमल' अर्थात् मन-कर्म-वचन तीनोंसे किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। पाप मन-वचन-कर्मसे उत्पन्न होते हैं, यथा—'जे पातक उपपातक अहहीं। करम वचन मन भव कबि कहहीं ॥ २। १६७।'

२ (क) 'जे परसि मुनि बनिता लही·····' इति। ऊपर जो कहा कि 'सकल कलिमल भाजहीं' उसका अब उदाहरण भी देते हैं कि जो अहल्या पापमयी थी उसने सद्गति पायी। भाव यह कि अहल्याने जो पाप किया उसका फल सौ कल्पतक नरक भोग है, यथा—'पतिबंचक परपति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई ॥ ३। ५।' (अहल्याने जान-बूझकर यह पाप किया था। यह पूर्व उनकी कथामें दोहा २१०। १२ में लिखा जा चुका है। इसीसे उसे 'पातकमयी' कहा) (ख) 'लही गति रही जो पातकमई', यथा—'परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥ २२३। ५।' 'कृत अघभूरी' इसीसे 'पातकमई' कहा। ('लही गति' से जनाया कि स्पर्श होते ही तुरत उसका सब मन-कर्म वचनसे किया हुआ, घोर पाप नष्ट हो गया, यथा—'परसत पदपावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही। १। २११।' 'रही' से जनाया कि बहुत दिनकी पापिणी थी)। (ग) ऊपर कहा था कि 'जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं' (अर्थात् कमल और उसका तालाब कह आये), अब उस कमलका मकरन्द कहते हैं—'मकरंद जिन्ह को·····।' शम्भु कारण और कार्य दोनोंको धारण किये हुए हैं। चरण कारण हैं; गङ्गा कार्य हैं (उन चरणोंका धोवन हैं, मकरन्द हैं)। चरणोंको भीतर हृदयमें धारण किया और, गङ्गाजीको अपने स्वामीके चरणोंका धोवन समझकर शिरपर धारण किया। पुनः भाव कि गङ्गाजी ब्रह्मलोकमें रहीं। ब्रह्मलोक (विश्वरूप ब्रह्मका) सिर (कहा गया) है, यथा—'पद पाताल सीस अज धामा। ६। १५। १।' अतः अपने सिर (ब्रह्माण्ड) पर उनको वास दिया। (घ) गङ्गाजी चरणमकरन्द हैं, पापसमूहका नाश करती हैं; यथा—'विष्नुपदकंज मकरंद इव अंबुवर बहसि दुख दहसि अघबृंद बिद्रावनी' (विनय० १८)।

३ 'करि मधुप मन मुनि·····' इति। (क) कमल, सर, मकरन्द कहे गये। अब मकरन्दके पान करनेवाले चाहिये, सो उनको यहाँ कहते हैं। मकरन्दका पान मधुप करता है, यहाँ मुनियों और योगियोंके मन मधुप हैं, ये उस चरणमकरन्दका पान करते हैं। अर्थात् मुनि और योगी लोग मन लगाकर श्रीगङ्गाजीका सेवन करते हैं। (ख) 'अभिमत गति लहैं' अर्थात् सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्य जिस भी मुक्तिकी इच्छा होती है, वही उनको प्राप्त हो जाती है। मुनि और योगी अर्थ, धन, और कामकी चाह नहीं करते, इसीसे 'गति' की प्राप्ति कही। गङ्गाजीके मज्जन और पान दोनोंका माहात्म्य है; यथा—'मज्जन पान पाप हर एका। १। १५।' अतएव यहाँ दोनों कहे। 'मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर-बर-नई' यह मज्जन है, और 'करि मधुप मन·····' यह पान है। (ग) 'ते पद पखारत भाग्य भाजनु जनकु' इति। भाव कि जिन चरणोंका सेवन शिवजी हृदयमें करते हैं (अर्थात् मनमें ध्यान करते हैं, साक्षात् चरणकी प्राप्ति उनको नहीं है) और जिस पदके धोवनका सेवन मुनि और योगी मन लगाकर करते हैं, साक्षात् उन चरणोंको जनकजी धो रहे हैं। चरण-सेवा एवं चरणोंकी साक्षात् प्राप्तिसे 'भाग्यभाजन' विशेषण दिया। 'अतिसय बड़भागी चरनन्ह लागी' १। २११ छन्द १ देखिये। (घ) 'जय जय सब कहैं' इति। ऊपर जो कहा था कि 'नभ नगर गान निसान जय धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली' उसको यहाँ स्पष्ट किया कि वह जय-जयकार किसके लिये थी और कौन कर रहा था। श्रीजनकजीके अतिशय बड़भागी होनेकी जयध्वनि थी और सभी लोग उनको धन्यवाद दे रहे हैं, वही ध्वनि सर्वत्र फैली हुई थी।

नोट—मिलान कीजिये—'सभार्यो जनकः प्रायाद्रामं राजीवलोचनम्। पादौ प्रक्षाल्य विधिवत्तदपो मूर्ध्न्यधारयत् ॥ अ० रा० १। ६। ५१। या धृता मूर्ध्नि शर्वेण ब्रह्मणा मुनिभिः सदा।·····५२।' अर्थात् रानीसहित राजा जनक राजीवलोचन श्रीरामजीके पास आये और विधिपूर्वक उनके चरण धोकर उन्होंने पदतीर्थको शिरपर रक्खा, जिसे शिव, ब्रह्मा और अन्यान्य मुनिजन भी सदा मस्तकपर धारण करते हैं।

छं०—बर कुँअरि करतल जोरि साखोचारु दोउ कुलगुर करैं।
भयो पानि गहनु बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनँद भरे ॥

सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तन हुलस्यो हिये।
करि लोक वेद विधानु कन्या दानु नृप भूषन किये॥ ३॥

शब्दार्थ—शाखोच्चार=विवाहके समय वंशावलीका कथन। वंशोंके आदि वा कई पीढ़ीके पुरुषोंके नाम, गोत्र, वेदशाखा-सूत्रादि कथन 'शाखोच्चार' है—(बैजनाथजी)। पानिगहन=पाणिग्रहण। वरके हाथमें नीचे कुछ लोहा और ऊपर कुछ द्रव्य रक्खा जाता है और कन्याका हाथ मध्यमें। पिता कन्याका हाथ वरके हाथपर उलट देता है, यहाँ पाणि-ग्रहणसे इतना ही व्यवहार दिखाया।

अर्थ—वर और कन्याकी हथेलियोंको मिलाकर (अर्थात् वरके दक्षिण हथेलीपर कन्याकी दक्षिण हथेलीको रखवाकर) दोनों कुलगुरु शाखोच्चार करने लगे। पाणिग्रहण हुआ, यह विधि देखकर ब्रह्मा (आदि) देवता, मनुष्य और मुनि आनन्दसे भर गये। सुखके मूल दूलहको देखकर दंपति (राजा और रानी दोनों) का शरीर पुलकित हुआ और हृदयमें आनन्द उमड़ आया। राजाओंमें भूषणस्वरूप श्रीजनकजीने लोक और वेद (दोनोंकी) विधियाँ करके कन्यादान किया॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'शाखोचार दोउ कुलगुर करैं···' इति। पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीनोंका नाम लेना 'शाखोच्चार' है।

नोट—१ वल्मीकीयमें विवाहके एक दिन पूर्व ही महर्षि वशिष्ठजीने इक्ष्वाकुकुलकी वंश-परम्पराका वर्णन किया। श्रीजनक महाराजने, यह कहते हुए कि कन्यादानके सम्बन्धमें कुलीन मनुष्योंको अपने कुलका आद्यन्त वर्णन करना चाहिये, अपने कुलका वर्णन किया है। गीतावलीमें भाँवरी फिरते समय शाखोच्चार हुआ है, यथा—'कनक कलस कहँ देत भाँवरीं निरखि रूप सारद भइ भोरी॥ ३॥ इत बसिष्ठ मुनि उतहि सतानंद बंस बखान करैं दोउ ओरी।' (१। १०३)। पार्वती-मंगल उमा-शिव-विवाहमें शाखोच्चार होते समय या होनेके पश्चात् कन्यादान हुआ है। यथा—'साखोचार समय सब सुर मुनि बिहँसहिं। लोक-बेद-बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर। कन्यादान संकलप कीन्ह धरनीधर॥ ७९॥' कन्यादानके बाद भाँवरें हुईं। ऐसा ही यहाँ हुआ। श्रीशिवपार्वती-विवाहमें कन्यादान होनेपर पाणिग्रहण जान पड़ता है, यथा—'गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपी जानि भवानी॥ पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥ १०१। २-३।' और यहाँ पाणिग्रहण विधि होनेपर कन्यादान हुआ। वाल्मीकीयमें कन्यादान इस प्रकार हुआ। जनकजीने श्रीरामजीसे कहा 'यह सीता मेरी कन्या है, तुम्हारे साथ धर्माचरण करनेके लिये तुम्हें दी जाती है, तुम इसको ग्रहण करो, तुम्हारा कल्याण हो, इसका हाथ अपने हाथमें लो, यह पतिव्रता, सौभाग्यवती और तुम्हारी छायाके समान होगी। यथा—'इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥ २६॥ प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना। पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥ २७॥' (सर्ग ७३)। मानसकथित पाणिग्रहणसे यह विधि ही कही गयी जान पड़ती है। वहाँ श्रीजनकजीके ऐसा कहनेपर देवता और ऋषियोंका साधुवाद, नगाड़ोंका बजना और पुष्पवृष्टि हुई। यथा—'साधु साध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा। ७३। २८-२९।', वैसे ही यहाँ इस विधिके होते ही 'सुर मनुज मुनि आनंद भरे।' वहाँ इस विधिके अनन्तर राजाने मन्त्र और जलके साथ कन्यादान किया, वैसा ही यहाँ हुआ।

☞ वस्तुतः करतल जोड़ना, शाखोच्चार करना, इत्यादि सब कन्यादान कर्मकाण्डके अङ्ग हैं। ये सब एक ही समय होते हैं, पर कवि एक है, लेखनीसे वे आगे-पीछे लिखे ही जायँगे।

विवाहपद्धतिमें समंजनके पश्चात् विप्रोंद्वारा प्रथम शाखोच्चार वर और कन्या दोनों पक्षोंमें होना कहा गया है। इसके अनन्तर कुछ मंगलकारक मन्त्रोंका पठन होता है, तब कन्यादानका विधान इस प्रकार है—वरके दहिने हाथपर कन्याका दक्षिण हाथ रखकर दान करनेवाला प्रार्थना करता है और उसके बाद वह कन्यादानका संकल्प करता है। यथा—'जामातृदक्षिणकरोपरि कन्यादक्षिणकरं निधाय॥ प्रार्थना—'दाताहं वरुणो राजा द्रव्यमादित्यदैवतम्। वरोऽसौ विष्णुरूपेण प्रतिगृह्णात्वयं विधिः। प्रतिज्ञासंकल्पः····।' कन्यादान करनेवाला इस सङ्कल्पमें वर और कन्या दोनोंका शाखोच्चार तीन बार करता है। जिसमें दोनोंके पिता, पितामह और प्रपितामहका नाम आता है। (श्रीवासुनन्दनमिश्रकृत विवाह-पद्धति)।

टिप्पणी—२ 'भयो पानि गहनु बिलोकि बिधि····' इति। यहाँ कहते हैं कि पाणिग्रहण हुआ, पर अभी पाणिग्रहण नहीं हुआ, क्योंकि अभी तो सङ्कल्प, होम, भाँवरी, सिंदूर-वन्दन सभी बाकी हैं। इसका समाधान यह है कि शाखोच्चारके

पश्चात् संकल्प होता है। संकल्पमें पिताका हाथ, कन्याका हाथ और वरका हाथ तीनों एकत्र होते हैं, यथा—'वरहस्तेषु सपिण्डं पिताहस्ते कुशोदकम् ॥ तयोर्मध्ये कन्याहस्तमेतत्संकल्पको विधिः। यह पाणिग्रहणकी विधि देखकर सुर-नर-मुनि सुखी हुए। शाखोच्चार करके संकल्प करना चाहिये; वही यहाँ 'भयो पानिगहनु·····' में कहा। [पूर्व संस्करणमें हमने विधिका अर्थ ब्रह्मा आदि लिखा। इस संस्करणमें हमने विधि और ब्रह्मा दोनों अर्थ लिये हैं। प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने ब्रह्मा आदि अर्थ किया है। पं० रामकुमारजी और बाबा हरिहरप्रसादजीने विधि अर्थ लिखा है और यह ठीक भी जान पड़ता है।]

३ 'सुखमूल दूलह देखि·····' इति। (क) सुखमूल, यथा—'आनँदहूके आनँददाता ॥ २१७। ३।' 'नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल ॥ ३४१।' (यह स्वयं जनकजीने कहा है), 'सुखाकरं सतां गतिम् ॥ ३। ४।' (अत्रिवाक्य), इत्यादि। २१६ (७) देखिये। दूलह सुखके मूल हैं, इसीसे दम्पति इनको बार-बार देखते हैं। यथा—'बर बिलोकि दंपति अनुरागे।·····' यथा यहाँ 'सुखमूल दूलह देखि'। (ख) 'सुखमूल' कहकर 'हुलस्यो' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। हुलस्यो=सुख हुआ। सुर-नर-मुनि यह झाँकी देखकर आनन्दित हुए और दम्पति श्रीरामजीको देखकर आनन्दित हुए। (ग) 'नृपभूषन' इससे कहा कि श्रीरामजीको भी इन्होंने दान दिया। [चक्रवर्ती महाराज दशरथको तथा महादानिशिरोमणि श्रीरामजीको भी दान दिया। अतः 'नृपभूषण' कहा। (प्र० सं०)। यथा—'प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा। वाल्मी० १। ६९। १४।' श्रीदशरथजीने श्रीजनकजीसे कहा है कि मैंने सुना है कि दान दाताके अधीन होता है। पर यह स्मरण रहे कि ये वाक्य श्रीजनकजीके 'दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम् ॥ ११ ॥ राघवैः सह सम्बन्धाद्वीर्यश्रेष्ठैर्महाबलैः ॥·····' अर्थात् भाग्यकी बात है कि मेरे सब विघ्न दूर हुए, मेरा कुल पवित्र हुआ, पराक्रमी रघुवंशियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे मेरा कुल उन्नत हुआ;—इन वचनोंके उत्तरमें कहे गये हैं। श्रीसीताजी धनुष टूटनेसे श्रीरामजीकी हो गयीं, कन्यादानसे नहीं। यह तो केवल विवाहका विधानमात्र था।]

नोट—'करि लोक बेद बिधानु·····'। यथा—'अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ। कन्यादान बिधान संकल्प कीन्हेउ ॥ ८९।' (जानकीमङ्गल)।

छं०—हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई ॥
क्यों करै बिनय बिदेहु कियो बिदेहु मूरति साँवरी।
करि होमु बिधिवत गाँठि जोरी होन लागीं भाँवरी ॥ ४ ॥

दो०—जय धुनि बंदी बेद धुनि मंगल गान निसान।
सुनि हरषहिं बरषहि बिबुध सुरतरु सुमन सुजान ॥ ३२४ ॥

अर्थ—जैसे हिमाचलने महादेवजीको पार्वतीजी दीं और सागरने भगवान् विष्णुको लक्ष्मीजी दीं, वैसे ही श्रीजनकजीने श्रीरामजीको श्रीसीताजी समर्पण कीं (जिससे) संसारमें सुन्दर नवीन कीर्ति हुई। श्रीजनकजी क्योंकर विनती करें ? उन्हें तो उस साँवली मूर्त्तिने विदेह ही कर दिया है (अर्थात् उनको तो देहकी सुधबुध ही नहीं रह गयी है)। विधिपूर्वक होम करके गँठ-बन्धन किया गया और भाँवरें होने लगीं ॥ ४ ॥ जयध्वनि, भाटोंकी ध्वनि, वेदध्वनि, मङ्गल गान और निशानोंकी ध्वनि सुनकर सुजान देवता हर्षित हो रहे हैं और कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥ ३२४ ॥

'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि·····।' इति।

१ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि हिमाचल और सागरका दृष्टान्त देनेका भाव यह है कि हिमवान्‌ने गिरिजाको शिवजीकी शक्ति जानकर शिवजीको दिया, यथा—'गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपी जानि भवानी ॥ १०१। २।' (देवर्षि नारदसे उनको और मेनाको गिरिजाके शिवशक्ति होनेकी बात मालूम हुई थी, यथा—'जगदंबा तव सुता भवानी ॥ अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि। सदासंभु अरधंग निवासिनि ॥ अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति

लागि दारुन तपु किया। अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्वदा संकर प्रिया॥ १। ९८।')। सागरने 'श्री' (लक्ष्मीजी) को हरिकी शक्ति जानकर हरिके ही करकमलोंमें उनको समर्पण किया; वैसे ही श्रीजनकजीने श्रीसीताजीको श्रीरामजीकी शक्ति जानकर श्रीरामजीके ही करकमलोंमें उन्हें समर्पण किया। तात्पर्य यह कि दानाभिमानी, दातृत्वके अहङ्कारी नहीं बने, यह समझकर नहीं दिया कि हमारी कन्या है, हम दान दे रहे हैं (किन्तु इस भावसे कि आपकी ही वस्तु है, सो आपको समर्पण करता हूँ—'त्वदीयं वस्तु श्रीराम तुभ्यमेव समर्पितम्'—भावसे)।

नोट—क्षीरसिंधुके मंथनसे निकले हुए रत्नोंमेंसे एक 'लक्ष्मीजी' भी थीं। लक्ष्मीजीको सागरने भगवान्‌के करकमलोंमें समर्पण किया, यह अध्यात्मरामायणसे भी पाया जाता है। वहाँ भी यह दृष्टान्त इस प्रसङ्गमें आया है। यथा—'दीयते मे सुता तुभ्यं प्रीतो भव रघुनंदन। इति प्रीतेन मनसा सीतां रामकरेऽर्पयन्॥ ५४॥ मुमोद जनको लक्ष्मीं क्षीराब्धिरिव विष्णवे।' (अ० रा० १। ६); अर्थात् हे रघुश्रेष्ठ! मैं अपनी पुत्री आपको देता हूँ; आप प्रसन्न हूजिये। इस प्रकार प्रसन्न चित्तसे सीताजीको श्रीरामजीके करकमलोंमें सौंपकर राजा जनक ऐसे आनन्दमग्न हो गये जैसे क्षीरसागर श्रीविष्णुभगवान्‌के करकमलोंमें लक्ष्मीजीको सौंपकर हुआ था।—'करेऽर्पयन्' से शक्ति जानकर अर्पण करनेका भाव ले सकते हैं। सागरने शक्ति जानकर समर्पण किया, इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मालूम है।

श्रीजनकजी श्रीसीताजीको श्रीरामजीकी शक्ति जानते थे, इसका प्रमाण अयोध्याकाण्डमें श्रीसुनयनाजीके वचनोंमें मिलता है। यथा—'राम जाइ बनु करि सुर काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥ अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥ यह सब जागबलिक कहि राखा॥ २। २५८।' श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीरामजीको जैसा जानते हैं वह श्रीरामचरितमानससे ही प्रकट है। उन्होंने श्रीजनकजीसे ब्रह्म रामके अवतार और चरित कहे थे। अतः जानते हैं। दूसरे, श्रीविश्वामित्रजीसे प्रश्न करनेपर कि क्या ये ब्रह्म ही तो नहीं हैं—'उभय रूप धरि की सोइ आवा' उन्होंने उत्तर दिया था कि 'बचन तुम्हार न होइ अलीका' अर्थात् ये ब्रह्म ही हैं। धनुषयज्ञमें धनुष इन्हींने तोड़ा। अतः निश्चय हुआ कि श्रीसीताजी उनकी शक्ति हैं। परशुरामजीका पराजय भी श्रीरामके ब्रह्म होनेका निश्चय करानेवाला है। स्तुतिसे स्पष्ट है—'जय सुर धेनु बिप्र हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रमहारी॥····जय महेस मन मानस हंसा॥ १। २८५।' आगे बारातके बिदा होनेपर इसी भावसे जनकजीने श्रीरामजीकी स्तुति की है। और अध्यात्मरामायणमें तो स्पष्ट ही यह बात राजाने श्रीवशिष्ठ और विश्वामित्रजीसे कही है, यथा—'परमात्मा हृषीकेशो भक्तानुग्रहकाम्यया। देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं रावणस्य वधाय च॥ ६३॥ जातो राम इति ख्यातो मायामानुषवेषधृक्। आस्ते दाशरथिर्भूत्वा चतुर्धा परमेश्वरः॥ ६४॥ योगमायापि सीतेति जाता वै तव वेश्मनि। अतस्त्वं राघवायैव देहि सीतां प्रयत्नतः॥ ६५॥ नान्येभ्यः पूर्वभार्यैषा रामस्य परमात्मनः' (अ० रा० १। ६)। यह बात श्रीनारदजीने जनकजीसे कही थी कि 'परमात्मा भक्तोंपर कृपा करने और देवकार्य-सिद्ध तथा रावणवधके लिये मायामानुषरूपसे अपने चार अंशोंसहित दशरथजीके यहाँ प्रकट हुए हैं और उनकी शक्ति सीता तुम्हारी पुत्री हुई हैं। अतः आप प्रयत्नपूर्वक इनका पाणिग्रहण उन्हीं 'राम के' साथ ही करना और किसीसे नहीं, क्योंकि ये पूर्वसे ही श्रीरामजीकी ही भार्या हैं। इसके आगे श्रीजनकजीका वाक्य है कि तबसे मैं सीताजीको भगवान्‌की शक्ति ही समझता हूँ।

२—मयङ्ककार लिखते हैं कि हिमवंत और क्षीरसागरसे राजा जनकको रूपक देनेका कारण है कि 'जैसे हिमवन्त तुषारमय है और जैसे क्षीरसागर पयोमय है वैसे ही राजा जनक ज्ञानमय और निर्मल भक्तिरसके अगाधसागर हैं। और जैसे उन्होंने देव-विवाह-विधिसे पार्वती और लक्ष्मीको शिव और नारायणको दिया उसी प्रकार प्रथम जनकजीने देव-विवाह-विधिसे जानकीजीको रामचन्द्रजीको अर्पण किया। यथा—'भयो पानि गहनु बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनँद भरें', 'करि लोकबेद बिधान कन्या दान नृपभूषन किये'। तत्पश्चात् मनुष्य-विवाह-विधि हुई। यथा—'कुअँर कुअँरि कल भाँवरि देहीं···' 'राम सीय सिर सेंदुर देहीं····'।

३—प्रज्ञानानन्दस्वामीजी मयङ्ककारके भावको संशोधित और परिवर्धितरूपमें इस प्रकार लिखते हैं कि एक उपमासे अर्थ पूर्ण न होनेसे दो उपमाएँ दीं। 'हिमवंत' से ज्ञानसम्पन्न और क्षीरसागरसे निर्मल भक्तिरससम्पन्न जनाया, क्योंकि जैसे हिमालय दुर्गम है वैसे ही 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका' और क्षीरसागर रसमय है वैसे ही प्रेमभक्ति रस है— 'हरिपद रति रस····'। श्रीजनकजी ज्ञान और प्रेमभक्ति दोनोंसे सम्पन्न हैं, अतः दो उपमाएँ दीं। पुनः जैसे हिमालय नगाधिराज, शान्त, निर्मल,

गम्भीर, परमोच्च, शीतल वैसे ही राजा नृपभूषण, शान्त, मायामलरहित इत्यादि। क्षीरसागर अगाध है, उससे अमृत निकला; वैसे ही राजाकी भक्ति अगाध है। ये मुनियोंको भी मोक्षरूपी अमृत दे सकते हैं। यथा—'उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। २। २८६।,' 'जासु ग्यान रबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ २। २७७। १।' पार्वतीजी औरस कन्या हैं; उनको हिमवंतने पाल-पोसकर बड़ा किया है, किन्तु सीताजी औरस कन्या नहीं हैं, ये तो अयोनिजा हैं; अतः 'अयोनिजा' के लिये लक्ष्मीकी उपमा देनी पड़ी। पर लक्ष्मीजीको पालना-पोसना न पड़ा था और न उनका विवाह धूमधामसे हुआ था। दोनों बातोंकी एक उपमा पर्याप्त न होनेसे दो उपमाएँ दी गयीं।

४—किसी महानुभावका यह मत है कि यहाँ दो उदाहरण दिये जानेका भाव यह है कि उपासक दो प्रकारके हैं—एकके मतानुसार तो श्रीजानकीजी जनकपुरहीमें रहीं, अवध आयी ही नहीं और रामजी भी जनकपुरमें रह गये; इस बातके लिये 'श्रीसागर दई' कहा, अर्थात् जैसे विष्णु भगवान् लक्ष्मीको पाकर क्षीरसागरमें रह गये। और दूसरे, लोकप्रसिद्ध तथा रामायणोंसे प्रमाणित मतानुसार श्रीसीताजीको व्याहकर श्रीरामजी अवध लाये (और यही श्रीरामचरितमानसका मत है)। जैसे श्रीशिवजी पार्वतीजीको ब्याहकर कैलाशको ले गये। इसके लिये 'हिमवंत-महेसहि' का दृष्टान्त दिया।

५—किसीने लिखा है कि 'सागरको बिना परिश्रम अलभ्य लाभ हुआ कि लक्ष्मी ऐसी पुत्री और भगवान् ऐसे दामाद घर बैठे मिल गये; अतः उनके आनन्दका ठिकाना नहीं था। इसी प्रकार भूमिशोधनमें अनायास राजा-रानीको आदिशक्ति श्रीसीताजीकी प्राप्ति हुई और घर बैठे ब्रह्मको दामाद कर पाया। अतः इनके आनन्दका ठिकाना नहीं। यह कथा ब्रह्मवैवर्त प्रकृतिखण्ड अध्याय ३६ में है' (प्र० सं० में हमने बैजनाथजीका उद्धरण लिखा था। परंतु इस समय जो संस्करण हमारे सामने है उसमें यह नहीं है और न रा० प्र०, मा० त० वि०, पं० पां० में है)।

नोट—ऐसा ही 'जानकीमंगल' में गोस्वामीजीने कहा है। यथा—'**संकलपि सिय रामहि समरपी सील सुख सोभा मई। जिमि संकरहि गिरिराज गिरिजा, हरिहि श्रीसागर दई॥ ८०॥**'

टिप्पणी— १ 'बिस्व कल कीरति नई' इति। [दातृत्वके अहंकारी न बनकर उन्हींकी शक्ति समझकर उनको देनेसे क्या 'कलकीरति नई' हुई? किसीकी थाती (धरोहर) किसीको पुनः दे देनेमें क्या कीर्ति हो सकती है? वस्तुतः जिसकी वस्तु है उसीको सौंप देनेमें कोई कीर्तिकी बात ही नहीं, ऐसा न करनेसे वह अधर्मी, बेईमान ही कहायेगा और करनेसे उसने केवल कर्तव्यका पालन किया; कोई कीर्तिकी बात नहीं? कीर्ति तो अपनी वस्तुको देनेसे होती है! इस सम्भावित शङ्काके निराकरणार्थ ही कहते हैं कि 'बिस्व कल कीरति नई']। भाव यह है कि यद्यपि इन तीनोंने उनकी-उनकी शक्ति जानकर उनको-उनको अर्पण की तथापि तीनों (हिमाचल, सागर और श्रीजनकजी) की सुन्दर नवीन कीर्ति हुई। तात्पर्य यह कि विश्व इस बातको तथा इनके भावको नहीं जानता, वह तो यही कहता है कि इन लोगोंने अपनी-अपनी कन्याएँ दीं। 'नई' कहनेका भाव कि यह पुरानी बात कि ये उनकी शक्ति हैं, कोई नहीं जानता, सब इसी समयकी बात जानते हैं कि ये इनकी कन्या हैं और इन्होंने इनको दी। यदि पुरानी बात सब लोग जानते तो इनकी कीर्ति न होती। [प० प० प्र० का मत है कि कीर्ति तो पहले भी थी पर वह 'नई' अर्थात् अपूर्व हुई। कारण कि रघुवंशसे सम्बन्ध हो गया। इस भावकी पुष्टि वाल्मी० १। ६७। २२ से होती है। यथा—'**जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति मे सुता। सीताभर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम्॥**' जनकजी धनुर्भंग होनेपर विश्वामित्रजीसे कहते हैं कि यह मेरी कन्या कुलकी कीर्ति बढ़ावेगी क्योंकि राजा दशरथके पुत्र श्रीरामको इसने पति पाया।]

२ (क) 'क्यों करैं बिनय बिदेहु·····' —भाव यह कि श्रीजानकीजीको अर्पण करके श्रीजनकजीको श्रीरामजीसे कुछ विनती करनी चाहिये थी। जैसे कि आप तो पूर्णकाम हैं, हम आपको देने योग्य नहीं हैं, ये तो आपकी ही शक्ति हैं जिन्होंने हमलोगोंपर असीम कृपा करके हमें वात्सल्यका सुख दिया, आपकी प्राप्ति करायी, आपकी वस्तुको ही हमने आपके करकमलोंमें समर्पण की है और सुन्दर कीर्ति पा रहे हैं इत्यादि। पर इन्होंने विनती नहीं की, इसपर कहते हैं कि वे विनती कैसे करें, कारण कि (एक तो वे ऐसे ही विदेह हैं दूसरे वे उस) साँवली मूर्तिको देखकर और भी विशेष विदेह हो गये, यथा—'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ २१५। ८।' (यह दशा उस समय हुई थी जब यह भी न जानते थे कि किसके पुत्र हैं, कौन हैं, और अब तो सब जानते हैं, तबकी विदेहताको क्या कहा जाय?) उस आनन्दमें विनय करनेकी सुधि न रह गयी। [यह प्रेमकी क्रान्त दशा है। (वै०)] (ख) '**करि होम बिधिवत गाँठि**

जोरी''' इति ।—'विधिवत्' देहलीदीपक है। विधिपूर्वक होम किया और विधिवत् गाँठ जोड़ी। विवाहपद्धतिमें क्रमसे देवताओंका होम लिखा है, उसी क्रमसे किया, यही 'विधिवत्' करना है। चौथी भाँवरीमें गाँठ जोड़ी जाती है, यही विधिवत् जोड़ना है। यथा—'चतुर्थी ग्रंथिबन्धनम्'। [वरके पीताम्बरका एक छोर कन्याके चूनरीके एक छोरमें बाँधा जाता है, इसीको 'गँठबंधन' कहते हैं। यथा—'मंगलमय दोउ अंग मनोहर ग्रथित चूनरी पीत पिछोरी। कनक कलस कहँ देत भाँवरी निरखि रूप सारद भइ भोरी ॥ गी० १ । १०३ ।' मानस तथा गीतावलीमें गाँठ जोड़ने और भाँवरीके क्रमसे तो यही जान पड़ता है कि गाँठ जोड़नेके पश्चात् भाँवरें फेरी गयीं। हाँ, उमा-शिव-विवाहमें भाँवरीके बाद गठबन्धनका क्रम पार्वतीमंगलमें है, यथा—'लावा होम बिधान बहुरि भाँवरि परी। बंधन बंदि ग्रंथिविधि करि ध्रुव देखेउ ॥ ८० ॥'

३ 'जय धुनि बंदी बेदधुनि''' इति। (क) 'धुनि' का अन्वय मंगल गान निसान सबमें है। जब भाँवरी होती है तब स्त्रियाँ मङ्गल गाती हैं, भाँवरी गिन-गिनकर बाजा बजाते हैं, पण्डित लोग वेद पढ़ते हैं, इत्यादि। वही उत्साह यहाँ गोसाईंजी लिख रहे हैं। जय-जयकारकी ध्वनि, भाटोंकी यशोगानकी ध्वनि, वेदध्वनि, मङ्गलगानकी ध्वनि और नगाड़ोंकी ध्वनि इन सबोंकी सुहावनी ध्वनि हो रही है, इसीसे देवता 'सुनि हरषहिं'''। (ख) यह समय सबसे श्रेष्ठ है, अतः इस समय सबसे श्रेष्ठ कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षा करते हैं। (जान पड़ता है कि इस समयके लिये देवताओंने कल्पवृक्षके फूल लाकर रख लिये थे, अथवा संकल्पमात्रसे इसी समय उन्होंने कल्पवृक्षके पुष्प प्राप्त कर लिये)। देवता समय-समयपर फूल बरसाते ही हैं, पर भाँवरोंका समय सर्वश्रेष्ठ है, इसपर कल्पवृक्षके फूल बरसाये, इसीसे उन्हें यहाँ 'बिबुध' (विशेष बुद्धिमान्) नाम दिया और 'सुजान' कहा। (भाँवरें होनेसे अब अपने मनोरथकी पूर्ण तैयारी हो गयी यह समझकर कल्पवृक्षके फूल बरसाये। स्वार्थी हैं, इसीसे रावणवधके अनन्तर सीतामिलनके समय और राज्याभिषेकके समयमें फूल नहीं बरसाये। प० प० प्र० ।)

कुअँरु कुअँरि कल भाँवरि देहीं। नयन लाभु सब सादर लेहीं ॥ १ ॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी ॥ २ ॥
राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं। जगमगात मनि खंभन माहीं ॥ ३ ॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत राम बिआहु अनूपा ॥ ४ ॥
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ॥ ५ ॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे ॥ ६ ॥

अर्थ—सुन्दर वर और कन्या संख्या-पूर्वक सुन्दर भाँवरें फेर रहे हैं। सब लोग आदरपूर्वक नेत्रोंका लाभ ले रहे हैं । १ । मनोहर जोड़ीका वर्णन नहीं हो सकता, जो कुछ भी उपमा कहूँ तो वह लघु एवं थोड़ी ही होगी । २ । श्रीराम और श्रीसीताजीकी सुन्दर परछाहीं मणिखम्भोंमें झलक रही है (ऐसी जान पड़ती है) । ३ । मानो कामदेव और रति बहुतसे रूप धारण करके उपमारहित श्रीरामविवाहको देख रहे हैं । ४ । दर्शनकी लालसा और संकोच (दोनों ही कुछ) कम नहीं हैं। अर्थात् बहुत हैं। (इसीलिये) बार-बार प्रकट होते और छिपते हैं । ५ । सब देखनेवाले आनन्दमें मग्न हो गये, राजा जनकके समान सभी अपनी सुध भूल गये । ६ ।

प० प० प्र०—'कुअँर कुअँरि' इति। यहाँ वर-वधू अथवा वर-कन्या न कहकर 'कुअँर कुअँरि' शब्द देनेका भाव यह है कि इस समय समस्त देखनेवालोंके हृदयमें इस नूतन दांपत्यके लिये वात्सल्यभाव भर रहा है। अब अवधवासी सीताजीको अपनीही स्नुषा मानते हैं और जनकपुरवासी श्रीरामजीको अपना ही दामाद समझते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'कल भावँरि देहीं' इति। यहाँ 'कल संख्याने' धातु है अर्थात् कल=संख्या करके। सब जनकपुरवासियोंका मनोरथ यही रहा है कि 'पुनि देखब रघुबीर बिआहू। लेब भली बिधि लोचन लाहू । ३१० । ६, उस मनोरथकी यहाँ पूर्ति हुई कि दोनोंको भाँवरी देते देख रहे हैं। 'नयन लाभ सब सादर लेहीं' अर्थात् मनोरथके अनुसार सब भली प्रकार नेत्रोंका लाभ ले रहे हैं। 'लेब भली''' यहाँ चरितार्थ हुआ। (ख) 'जाइ न बरनि''' इति। अर्थात् देखते ही बनती है, कहते नहीं बनती। 'जो उपमा कछु कहौं''' अर्थात् पहले तो कुछ कहते बनती ही नहीं और यदि कुछ उपमा कहूँ भी तो वह थोड़ी ही लगती है। पुनः भाव कि इनमेंसे एककी तो उपमा है ही नहीं जैसा पूर्व दिखा आये हैं तब

जोड़ीकी उपमा कहाँसे मिल सकती है ? (ग) 'रामसीय सुंदर प्रतिछाहीं। जगमगात मनि खंभन माहीं' श्रीरामसीताकी जोड़ी सुन्दर है, इसीसे परछाहींको भी सुन्दर कहा। (घ) 'मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा।....' इति। जोड़ीकी जो भी उपमा सोचते हैं वह थोड़ी सिद्ध होती है, अतः परछाहींकी उपमा देते हैं कि मानो काम और रति हैं, पर ये परछाहींकी सुन्दरताके समान भी नहीं ठहरते। इनका थोड़ा होना आगे कहते हैं, यथा—'दरस लालसा सकुच न थोरी'। 'धरि बहु रूपा' का भाव कि एक रूपसे देखकर तृप्ति नहीं होती, इसीसे अनेक रूप धरकर देखते हैं। 'अनूपा' क्योंकि 'जो उपमा कछु कहौं सो थोरी' पूर्व कह आये हैं। अनुपमका भाव क० १। १५-१६ से स्पष्ट हो जायगा। यथा—'देखे हैं अनेक ब्याह, सुने हैं पुरान बेद, बूझे हैं सुजान साधु नर-नारि पारखी। ऐसे समसमधी समाज ना बिराजमान, राम से न बर दुलही न सीय सारिखी। १५।', 'बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुंडि बहु बारिषो। चारिदस भुवन निहारी नर-नारि सब नारदको परदा न नारद सो पारिखो॥ तिन कही जगमें जगमगाति जोरी एक, दूजो को कहैया औ सुनैया चष चारि खो। रमा रमारमन सुजान हनुमान कही, सीय-सी न तीय, न पुरुष राम-सारिखो।१६।' ['बहु रूपा'—खंभे चारों ओर हैं और बहुत हैं। फिर प्रत्येक खंभेमें अनेक रत्न जो स्वयं विचित्र रंगके हैं लगे हुए हैं। इसीसे एक साथ कई-कई खंभोंमें और अनेक रत्नोंमें युगल जोड़ीका प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। अतः बहु रूप धरना कहा। (मा० सं०)। पुनः भाव कि काम और रतिके तो दो-ही-दो नेत्र हैं, इससे समाधान नहीं होता। मणि-रत्नोंमें पहलू होते हैं, प्रत्येक पहलूमें प्रतिबिम्ब पड़ता है और रत्नोंके वर्णानुसार ही प्रतिबिम्बका वर्ण देख पड़ता है; इससे भी 'बहुरूपा' कहा। (प० प० प्र०)]

नोट—'राम सीय सुंदर प्रतिछाँही।....बहोरी' इति। श्रीरामजी और श्रीसीताजी दूलह-दुलहिनवेषमें भाँवरी फेर रहे उस समयकी मनोहरता इस जोड़ीकी अनुपम है। कोई उपमा नहीं मिली तब कविने उनकी परछाहीं—जो चलतेमें मणिके खंभोंमें जगमगाती देख पड़ती है और फिर ज्यों ही जोड़ी आगे बढ़ती है और पिछले खंभे आड़में पड़ जाते हैं तो उनमेंसे वह प्रतिबिम्ब गायब हो जाता है और जिन खम्भोंके सामने अब पहुँचे उनमें वही प्रतिबिम्ब पुनः प्रकट हो जाता है—इसकी उपमा देना चाही, वह भी न मिली, तब इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो यह जोड़ीका प्रतिबिंब नहीं है किन्तु यह कामदेव और उसकी स्त्री हैं। वे यहाँ खंभोंमें क्यों आये और क्यों कभी देख पड़ते हैं और फिर छिप जाते हैं, फिर देख पड़ते हैं, फिर गायब हो जाते हैं ?—उसका उत्तर देते हैं कि उनको मनोहर जोड़ीके दर्शनकी बड़ी लालसा है, इससे बहुतसे रूप धरकर देखने लगते हैं, साथ ही जब कुछ संकोच होता है तब छिप जाते हैं। क्या संकोच है ? इसके कारण टीकाकारोंने अपने-अपने मतानुसार यह कहे हैं—

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि संकोचका कारण है अपने रूपकी तुच्छता। [पुनः कारण यह है कि लोग जान लेंगे कि हम खंभोंमें छिप-छिपकर देख रहे हैं तो वे हमें देखकर हँसेंगे, कि अरे! हमने तो काम और रतिकी सुन्दरताकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, पर ये तो कुछ भी नहीं हैं]।

बैजनाथजी कहते हैं कि 'संकोच यह है कि इस मनोहर जोड़ीके सामने अपने सौन्दर्यका अभिमान न रह गया, अपनी सुन्दरता तुच्छ समझ रहे हैं, इसी लज्जासे प्रकट होते डरते हैं। पर संकोचसे तो लालसा पूरी नहीं हो सकती और लालसा है तो मानापमानका विचार कैसा ? अतः समझना चाहिये कि ईश्वरतत्त्व एक है, काम भगवान्‌का पुत्र है—'कृष्ण तनय होइहि पति तोरा'। पुत्रको माता-पिताका विवाह देखनेमें संकोच हुआ ही चाहे।'

श्रीसंतसिंहजी पंजाबी लिखते हैं कि 'कामदेवके शत्रु महादेवजी यहाँ उपस्थित हैं; उनके डरसे छिपा फिरता है। इसीलिये वह मानो श्रीरामचन्द्रजीके संग-संग फिरता है। अर्थात् जिस ओर प्रभु जाते हैं, उसी ओरसे मणिखम्भोंमें वह प्रकट होता है, दूसरी ओरसे छिप जाता है।'

टिप्पणी—२ 'बहोरि बहोरी' अर्थात् बार-बार। भाव यह कि काम और रतिने यद्यपि बहुत रूप धारण किये हैं, तब भी उनकी तृप्ति नहीं होती, इसीलिये दर्शनके लिये बारंबार प्रकट होते हैं।

३ 'भये मगन सब....' इति। भाव कि श्रीरामजानकीजी उपमेय और काम रति उपमान दोनों उपमेय उपमानकी अवधि हैं, दोनोंको देखकर सब मग्न हो गये। ['जनक समान अपान बिसारे' का अर्थ यह भी है कि 'जनक ऐसे लोग जो

अपनपौ भूले हुए थे, वे भी माधुर्यके आनन्दमें डूब गये, तब औरोंकी क्या कही जाय ? (रा० प्र०)। जानकीमंगलमें इस स्थानपर कहा है—'सिंदूरबंदन होम लावा होन लागी भावँरी। सिलपोहनी करि मोहनी मन हर्यो मूरति साँवरी ॥ ९० ॥' इस तरह 'अपान बिसारे' का अर्थ है कि सबके मन हर लिये गये, बिना मनके तनकी सुध कहाँ ?]

प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। नेग सहित सब रीति निबेरी ॥ ७ ॥
राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाति बिधि केहीं ॥ ८ ॥
अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के ॥ ९ ॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन। बरु दुलहिनि बैठे एक आसन ॥ १० ॥

शब्दार्थ—नेग=वह वस्तु या धन जो विवाह आदि शुभ अवसरोंपर सम्बन्धियों, पुरोहितों, नौकर-चाकरों तथा नाई-बारी आदि काम करनेवालोंको उनकी प्रसन्नताके लिये नियमानुसार दिया जाता है। बँधा हुआ पुरस्कार। निबेरी=निबटाई, समाप्त की, चुकायी।

अर्थ—मुनियोंने आनन्दपूर्वक भाँवरी फिरवायीं। ७। श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजीके सिरमें सिंदूर दे रहे हैं। वह शोभा किसी प्रकार भी नहीं कही जाती। ८। (मानो) कमलमें भली प्रकार लाल पराग भरकर सर्प अमृतके लोभसे चन्द्रमाको भूषित कर रहा है। ९। फिर वशिष्ठजीने आज्ञा दी (तब) दूलह और दुलहिन (दोनों) एक आसनपर बैठे। १०।

टिप्पणी—१ (क) 'प्रमुदित मुनिन्ह भावँरी फेरी' इति। (उपमेय, उपमान, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त श्रीरामजानकी और काम-रति दोनों एकत्र हो गये, यह देख 'भये मगन सब देखनिहारे', और भाँवरी फिरानेवाले मुनि आनन्दमें मग्न होते हुए भी कुछ सावधान हैं; इससे उनको सबसे अलग 'प्रमुदित' कहा)। 'प्रमुदित····भाँवरी फेरी' कहनेसे पाया गया कि इनको नेग परिपूर्ण मिला, इससे इन्होंने बड़े आनन्दसे भावँरी फिरायी। (ख) 'नेग सहित सब रीति निबेरी' कहनेका भाव कि चौथी भाँवरी रोकी जाती है, जबतक पुरोहित अपना पूरा नेग नहीं ले लेते तबतक वे चौथी भाँवरी नहीं फिरने देते, जब नेग पा जाते हैं तभी फिरने देते हैं। 'नेग सहित' कहकर जनाया कि पूरा नेग मिल गया। 'निबेरी' से जनाया कि सफाईसे (बड़ी सुन्दर रीतिसे) समाप्त की। [प्र० सं० में हमने लिखा था कि अन्तिम भाँवरीपर पुरोहितका नेग होता है। जबतक नेग नहीं मिलता पुरोहित उसे रोके रहता है] (ग) 'कुँअर कुँअरि कल भाँवरि देहीं' उपक्रम है और 'भाँवरी फेरी' उपसंहार। (उपक्रममें 'कल' शब्द देकर संख्या करना सूचित किया था, पर यह न जान पड़ा कि कै भाँवरें हुईं। इस प्रसङ्गमें युक्तिसे यह बात भी कविने जना दी है)। उपक्रमसे उपसंहार तक सात चौपाइयाँ हैं। सात चौपाइयोंमें भाँवरीका उल्लेख करके सात भाँवरें होना लक्षित कर दिया। (घ) 'सोभा कहि न जाति बिधि केहीं' इति। किसी प्रकारसे नहीं अर्थात् न उपमेयद्वारा न उपमानद्वारा, न अपनी उक्तिसे न ग्रन्थ देखकर और न अनुभवसे। (ङ) भाँवरीके पश्चात् सिंदूरबन्दन (सिंदूरदान) होता है वही यहाँ कहते हैं।

'अरुन पराग जलजु भरि नीके····' इति।

पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि 'कमलमें अच्छी तरहसे लाल परागको भरकर सर्प चन्द्रमाको भूषित करता है।' इस अर्थमें अरुण पराग सिंदूर है; कमल श्रीरामजीका हाथ है। 'नीके भरना' पाँचों उँगलियोंसे भरना है, सिंदूर पाँचों उँगलियोंसे भरा जाता है। चन्द्रमा श्रीजानकीजीका ललाट है। भूषित करना सिंदूरका लगाना है (माँग भरना है)। अहि श्रीरामजीकी भुजा है, यथा—'भुजंग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई' (विनय ६२ बिन्दुमाधवछबि)। अमृत सुहाग है; अमृतकी प्राप्तिसे मृत्यु नहीं होती, इसीसे सुहाग अमृत-समान है। पतिकी मृत्यु न हो इसलिये सिंदूर-वन्दन होता है। चन्द्रमाको देखकर कमल सम्पुटित होता है, सिंदूर भरनेमें पाँचों उँगलियाँ सम्पुटित हुई हैं।

यही अर्थ बैजनाथजी, पाँड़ेजी, बाबा हरिहरप्रसादजीने भी किया है। इनके मतानुसार मुखछबि, मंदहास, प्रेमरस इत्यादि अमृत है, श्रीसीताजीका मुखमण्डल चन्द्रमा है। लाल-लाल करतल कमल है, उँगलियाँ कमलदल हैं। शेष सब वही है जो ऊपर लिखे गये।

यहाँ केवल उपमान कहकर उससे उपमेयका अर्थ प्रकट किया गया है। अरुणपराग, जलज, मनि
अहि, अमी और भूष ये सब उपमान हैं। इनसे जो उपमेयका अर्थ प्रकट होता है वह ऊपर लिखा गया है।
तिशयोक्ति अलंकार' और 'गौणीसाध्यवसानलक्षणा' वीरकविजीके मतसे है। बैजनाथजी कहते हैं कि अ
अभूतोपमा है। बाबू श्यामसुन्दरदासजीने यहाँ लुप्तोपमा अलंकार कहा, वीरकविजीने उसका विरोध किया है।
कि यहाँ बिना वाचक पदके 'गम्य असिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा अलंकार' है। पंजाबीजी इस अर्थमें यह दोष
'सर्प भुजदण्डके लिये कहकर फिर हथेलीके लिये भिन्न पद जलज देना ठीक नहीं बनता। दूसरे, विवाह मंग
और यहाँ सीताजीको रामचन्द्रजीका प्रथम स्पर्श है। इस प्रथम ही अवसरपर सर्पकी उपमा भुजाओंको देना
अतः उनके मतानुसार 'भूषअहि' किया है, जिसका अर्थ है—भूषित करता है। कमल भूषित करता है
कि अब हम तुम वैर छोड़कर मित्र हो जायँ। वह जलमें सदा रहता ही है। अमृतका लोभ है जिसमें कभी
हो, सूखे नहीं।

संत उन्मुनी टीकाकारका मत है कि 'अहिर्दैत्यविशेषः स्यात्सूर्योऽप्यहिरहिध्वजः' इति। 'अहि'
सूर्य है। भाव यह है कि सूर्य यों तो सदा अपनी किरणोंसे चन्द्रमाका पोषण करता ही रहा, पर आज उसे
अमृतका लोभ हो आया है; इससे वह अनूठेसे अनूठा अरुण रंगका केशर अपने प्रियवर कमलमें ही भरक
भूषित करने लगा है। यहाँ सूर्यके स्थानमें रामजी, चन्द्रमा किशोरीजी, जलज हस्तकमल और अरुण पराग

प० प० प्र०—१ सीतामुख शशि है। मुखछवि वा मुखका रूप सुधा है, यथा—'जौं छबि सुधा पय
'पियत नयनपुट रूप पिऊषा।' श्रीरामजीका कर कमल है। कमलको सुधाकर सुधाका लाभ तीनों लोकमें न
इस समय मानो वह चन्द्रबिम्बमें ही अमृत पानेके लोभसे प्रयत्न कर रहा है। और, इस (कर) कमलने अ
कर ही लिया तभी तो जटायुके विषयमें 'कर सरोज सिर परसेउ', और कह सके कि 'तन राखहु ताता'
सिरपर हाथ फेरकर कह सके कि 'अचल करौं तन' और हनुमान्‌जी और विभीषणजीको तो चिरञ्जीव कर ही
समयसे 'कर' अमृतमय हो गया।

२—अहिका अर्थ सर्प लेनेमें बड़ी हानि है और विरोध भी। क्योंकि सूर्यकी संनिधिमें तो कमल
रहता है और चन्द्रमा निस्तेज, इससे उसमेंसे अमृत लाभ करनेकी इच्छा अविवेक है। रामविवाह प्रसङ्ग
से ३२५ तक) में केवल एक बार 'रघुकुलकमलरबि' की उपमा श्रीरामजीको दी गयी है और वह भी सुख
में। विधुवदनियोंका जहाँ सम्बन्ध है वहाँ रविकी उपमा विसङ्गत है।

३—'अहि' पाठ लेनेमें भी काव्यसौन्दर्यहानि है। आनन्दमय वात्सल्यरसपूर्ण, शृङ्गारमय वातावरण
लानेमें रसहानि होगी। भुजको अहिकी उपमा देते हैं पर संभोगशृङ्गारके वर्णनमें। यथा—'स्त्रिय उरगेन्द्र
विषक्तधियः।' (वेदस्तुति श्रीभागवत)। एक बार सर्पोंने अमृत लाभका प्रयत्न किया तो द्विजिह्व हो ग
प्रयत्न करनेका साहस कैसे करेंगे ?

नोट—प्र० सं० में हमने लिखा था कि पं० रामकुमारजी और पंजाबीजीका एक मत है पर उनके
पत्रेमें जो है वह हमने ऊपर दिया है जिससे उनका मत 'भूप अहि' पाठकी ओर है। वे लिखते हैं कि यहाँ न
सर्प और न अमृत ही है। सर्प अमृतके लिये चन्द्रमाके समीप जाता है, इसकी उपमा (गोस्वामीजीने गीतावली
यथा—'देखु सखी हरिबदन इंदु पर। चिक्कन कुटिल अलक अवली छवि, कहि न जाइ सोभा अनूपयर॥
निकर मनहु मिलि रहीं घेरि रस जानि सुधाकर'। (कृष्णगीतावली २१)। प्र० सं० में हमने पंजाबीजीक
ठीक समझा था। उसीको अर्थमें दिया था। परन्तु अब विचार करनेसे 'भूषिअहि' को एक शब्द माननेमें
है। ऐसा प्रयोग गोस्वामीजीने कहीं और किया हो, सो हमको नहीं मालूम। गोस्वामीजी यदि यहाँ इसे एक
तो 'भूपिअहि' पाठ होता, जैसे 'देखिअहि', 'जनिअहि'।

टिप्पणी—२ 'बर दुलहिनि बैठे एक आसन' इति। प्रथम श्रीजानकीजी दाहिने बैठी थीं, सिंदूरवंदन
और [illegible]

(हरिगीतिका)

छंद—बैठे बरासनु रामु जानकि मुदित मन दसरथु भये।
तनु पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत सुरतरु फल नये॥
भरि भुवन रहा उछाहु राम बिवाहु भा सबही कहा।
केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक एहु मंगलु महा॥ १॥
तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह साजु सँवारि कै।
मांडवी श्रुतिकीरति उर्मिला कुँअरि लै हँकारि कै॥
कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभा मई।
सब रीति प्रीति समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई॥ २॥

शब्दार्थ—लई हँकारि कै=बुला लिया। कुसकेतु=राजा जनकके छोटे भाई कुशध्वज राजा।

अर्थ—श्रीराम-जानकीजी श्रेष्ठ आसनपर बैठ गये। राजा दशरथ मनमें आनन्दित हुए, अपने सुकृतरूपी कल्प-वृक्षमें नये फल देख उनका शरीर बारंबार पुलकित हो रहा है। चौदहों लोकोंमें उत्साह भर गया, सभी कहने लगे कि रामचन्द्रजीका ब्याह हो गया। जिह्वा एक है और यह मङ्गल महान् (बहुत बड़ा) है, (भला वह) किस प्रकार वर्णन करके समाप्त कर सके ? ॥ १॥ तब वशिष्ठजीकी आज्ञा पाकर और विवाहका सामान सजाकर राजा जनकने श्रीमाण्डवी, श्रीश्रुतिकीर्ति और श्रीउर्मिलाजी इन कन्याओंको बुला लिया। फिर पहले राजा कुशध्वजकी बड़ी कन्याको जो गुण, शील, सुख और शोभाका रूप ही थीं, प्रेमपूर्वक सब रीति करके राजाने श्रीभरतजीको ब्याह दिया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) **'अपने सुकृत सुरतरु फल नये'** इति। भाव कि कल्पवृक्षमें तीन फल लगते हैं—अर्थ, धर्म और काम। [सुरतरु धर्म और मोक्ष नहीं दे सकता। स्वर्गमें कल्पवृक्षोंका वन होनेपर भी इन्द्रको स्वर्गसे भी जाना पड़ा। (प० प० प्र०)] उसमें श्रीरामजानकीदर्शनरूपी फल नहीं लगता। इसी प्रकार सुकृतरूपी कल्पवृक्षसे चार फलोंकी प्राप्ति होती है, श्रीराम-जानकीजीकी प्राप्ति नया फल है। (पुनः भाव कि अभीतक और जितने सुकृती हुए उनको सुकृतरूपी कल्पतरुसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये ही चार अधिक-से-अधिक मिले, पर इनके सुकृतकल्पतरुमें नवीन-नवीन फल मिलते जाते हैं जो किसीको नहीं मिले। पहले श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न मिले, अब श्रीजानकीजी मिलीं। श्रीसीतारामजी 'किसी औरके पुत्र-पतोहू न हुए। अभी आगे और नये फल मिलेंगे। 'नये' बहु वचन है। श्रीराम और श्रीजानकीजी ये दो नये फल हैं)। (ख)—**'भरि भुवन रहा उछाहु'** इति। एक बार पूर्व उत्साहका चौदहों भुवनोंमें भरना कह चुके हैं, यथा—**'भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनकसुता रघुबीर बिआहू॥'** (२९६। ३); इसीसे यहाँ 'चारिदस' चौदह नहीं कहा, यहाँ भी वही जान लेना चाहिये। (ग) **'राम बिवाह भा सबही कहा'** इति। ('सबही कहा' का क्या प्रयोजन है ? क्या सब न कहते तो विवाहमें कुछ कसर रह जाती ? उत्तर—यह विवाहकी अन्तिम रीति है। इससे सब विवाहके साक्षी हो जाते हैं)। विवाह-पद्धतिमें लिखा है कि सब लोग कहें कि विवाह हुआ। 'ततो ग्रामवचनं च कुर्युः' यहाँतक जब वेद-वाक्य हो गया तब ग्राम (जनकपुर) निवासियों आदिने कहा कि 'विवाह हो गया', वही बात गोस्वामीजी महाराजने लिखी। (जैसा-जैसा विवाहमें होता गया वैसा-ही-वैसा क्रमसे लिखते आ रहे हैं। सब बातें साभिप्राय हैं, निरर्थक कोई नहीं)। (घ)—**'केहि भाँति बरनि सिरात···'** इति। भाव यह कि यह महान् मङ्गल है, अनेक जिह्वावाले तो इसका वर्णनकर पार नहीं पा सकते; यथा—'प्रभु बिवाह जस भयउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥ ३६१। ६।' तब मेरे तो एक ही जीभ है, मैं कैसे कह सकूँ ? (ङ) यहाँ श्रीरामविवाह-वर्णनकी इति लगायी—'केहि भाँति···'।

२—**'तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु···'** इति। (क) 'तब' अर्थात् जब श्रीरामविवाह हो गया तब। (ख) **'बसिष्ठ आयसु पाइकै'** कहनेका भाव कि श्रीजनकजी अपनी ओरसे नहीं कह सकते थे कि हमारी अन्य कन्याओंसे अपने अन्य पुत्रोंका विवाह कर लीजिये (यद्यपि यह चाह उनके तथा सभी पुरवासियोंके मनमें तभीसे रहा है कि जबसे उन्होंने जब

भाइयोंको देखा है। यथा—'पुर-नर-नारि सकल पसारि अंचल विधिहि बचन सुनावहीं। ब्याहिअहुँ चारिउ भाइ येहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥'''सखि सब करब पुरारि पुन्य पयोनिधि भूप दोउ। ३११।' विशेष आगे नोटमें देखिये)। (ग) 'सँवारि कै'—भाव कि जिस श्रद्धासे श्रीसीताजीका विवाह किया था, उसी श्रद्धासे तीनों लड़कियोंका विवाह करते हैं। (अतः जैसे श्रीसीताजी सँवारकर मण्डपमें लायी गयी थीं वैसे ही ये सब सँवारकर लायी गयीं, यथा—'सीय सँवारि समाजु बनाई। मुदित मंडपहिं चलीं लवाई॥ ३२२। ८)।' (घ) 'लई हँकारि कै' इति। जनकजीके बुलानेका भाव यह है कि ये बड़े भाई हैं। इनके सामने कुशध्वजजी अपनी कन्याको न बुला सकते थे—(यह हिंदू वा पुरानी आर्य-संस्कृति थी)। बड़े भाई होनेसे प्रधानता श्रीजनकजीकी ही है। उन्होंने बुलाया और उन्होंने ब्याह दिया। रहा कन्यादान, सो कुशध्वजजीने किया, क्योंकि आगे कहते हैं कि, 'जसि रघुबीर ब्याह बिधि बरनी। सकल कुँअर ब्याहे तेहि करनी॥' विधि यही है कि पिता कन्यादानका सङ्कल्प करे। यथा—'पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा।' (ङ) 'मांण्डवी श्रुतिकीरति उर्मिला'—यहाँ तीनों बहिनोंके बुलानेमें क्रम नहीं है, क्रम होता तो 'माण्डवी उर्मिला श्रुतिकीरति' ऐसा लिखते (छोटे बड़ेके विचारसे)। आगे विवाह क्रमसे लिखा है (क्योंकि बड़ी कन्याके रहते पहले छोटीका विवाह नहीं हो सकता) और क्रमका कोई प्रयोजन न था इससे यहाँ क्रमसे नहीं लिखा। श्रीमाण्डवीजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी दोनों सगी बहिनें हैं, इससे इनको एक साथ लाये, श्रीमाण्डवीजी बड़ी हैं, इससे उनको प्रथम बुलाया, श्रीउर्मिलाजी उनसे छोटी हैं। (श्रीश्रुति-कीर्तिजीको पहले बुलाकर यह भी दिखाया कि हमारी संस्कृतिमें बड़े भाईका अपने छोटे भाई आदिपर कितना प्रेम रहता था)।

नोट—'कुसकेतु'—निमिकुल राजर्षि स्वर्णरोमाके पुत्र ह्रस्वरोमा हुए। इनके दो पुत्र शीरध्वज और कुशध्वज हुए। श्रीशीरध्वजजी बड़े हैं। इनको राज्य देकर पिता वनको चले गये। यही राजा जनक हैं। श्रीउर्मिलाजी इनकी औरस कन्या हैं। संकाश्यनगरके राजा सुधन्वाने मिथिलाको घेर लिया, (यह कथा पूर्व २४४ (५) में लिखी गयी है), और अन्तमें मारा गया। तब उस नगरका राज्य श्रीजनकजीने श्रीकुशध्वजजीको दे दिया। (वाल्मी० १। ७१। १२-१९)। श्रीमाण्डवीजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी इन्हींकी अनुपम सुन्दरी कन्याएँ हैं। श्रीविश्वामित्रजीने श्रीवशिष्ठजीकी सम्मतिसे राजा-जनकसे श्रीभरत-शत्रुघ्नजीके लिये श्रीकुशध्वजजीकी दोनों कन्याएँ देकर इक्ष्वाकुकुलको सम्बन्धमें बाँध लेने और कन्याओंके विवाहसे निश्चिन्त हो जानेकी बात कही, जिसको उन्होंने शिरोधार्य किया। यथा—'उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धेनानुबध्यताम्। इक्ष्वाकुकुलमव्यग्रं भवतः पुण्यकर्मणः॥ ८॥'''एवं भवतु'''११।' (वाल्मी० १। ७२)।

टिप्पणी—२ 'कुसकेतु कन्या'''' इति। (क) 'प्रथम जो' अर्थात् जो ज्येष्ठा कन्या है। प्रथम कन्या कहनेका भाव कि श्रीरामजी ज्येष्ठ भ्राता हैं, उनको अपनी ज्येष्ठा कन्या 'सीताजी' ब्याह दीं। अन्य भाइयोंमें श्रीभरतजी ज्येष्ठ हैं और इधर माण्डवीजी जेठी कन्या हैं; अतः इनका विवाह भरतजीसे हुआ। 'प्रथम जो' कहकर जनाया कि बड़े-छोटेके क्रमसे विवाह हुआ जिसमें परिवेत्ता-परिवेत्ती दोष न लगे। (ख) 'गुन-सील-सुख-सोभा-मई' इति। माण्डवीजीको सुखमयी कहा; क्योंकि आगे इनको सुषुप्ति अवस्था कहेंगे। सुषुप्ति अवस्था सुखमयी है। जैसे ३२३। २ में श्रीसीताजीको 'सब भाँति पुनीता' कहकर तुरीयावस्थारूप जनाया था।

छं०—जानकी लघु भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै।
सो तनय* दीन्ही ब्याहि लषनहि सकल बिधि सनमानि कै॥
जेहि नामु श्रुतकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप सील उजागरी॥ ३॥

---

* जनक—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। तनय—१६६१, १७०४। ☞ पं० रामकुमारजी भागवतदासजीकी पुस्तकसे पाठ करते थे। उसमें यहाँ 'जनक' पाठ है 'जनक' पाठको लेकर वे एक भाव यह कहते हैं कि 'जनकजीकी दो कन्याएँ, श्रीसीता और श्रीउर्मिलाजी हैं, इसीसे इनके संकल्पमें 'जनक' नाम दिया गया है, यथा—'तिमि जनक रामहि सिय समरपी''' तथा यहाँ 'सो जनक दीन्हीं ब्याहि लषनहि'''।' श्रीमाण्डवी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्रीकुशध्वजजीकी कन्याएँ हैं अतः इनके संकल्पमें जनक-का नाम नहीं दिया। 'नृप' और 'भूपति' का देना कहा। 'नृप' और 'भूपति' से राजा कुशध्वजका संकल्प करना सूचित किया।

अनुरूप बर दुलहिनि परस्पर लखि सकुचि हिय हरषहीं।
सब मुदित सुंदरता सराहहिं सुमन सुरगन बरषहीं॥
सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—तनय (तनया)=पुत्री, कन्या। आगरी=घर, खान। उजागरी=प्रसिद्ध, विख्यात। अनुरूप=उपयुक्त, अनुकूल, सदृश।

अर्थ—श्रीजानकीजीकी छोटी बहिन (श्रीउर्मिलाजी) को सब सुन्दरी स्त्रियोंकी शिरोमणि जानकर, उस पुत्रीको (श्रीजनकजीने) सब प्रकारसे सम्मान करके श्रीलक्ष्मणजीको ब्याह दिया। जिसका नाम श्रुतिकीर्ति है, जो सुलोचना, सुमुखी, सब गुणोंकी खान और रूप तथा शीलमें विख्यात है, उसे राजाने श्रीशत्रुघ्नजीको (ब्याह) दिया॥ ३॥ (चारों) दूलह-दुलहिनें आपसमें अपने-अपने उपयुक्त जोड़ोंको देखकर सकुचते हुए हृदयमें हर्षित हो रहे हैं। सब लोग आनन्दित होकर सुन्दरताकी प्रशंसा कर रहे हैं और देवगण फूल बरसा रहे हैं। सब सुन्दरी (दुलहिनें) सुन्दर दुलहोंके साथ एक ही मण्डपमें ऐसी शोभित हो रही हैं मानो जीवके हृदयमें चारों अवस्थाएँ अपने-अपने स्वामियोंसहित विराजमान हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'जानकी लघु भगिनी···' इति। श्रीसीताजीकी सुन्दरताके विषयमें कहा था 'सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई॥' (३२३। ५), वही सुन्दरतागुण उनकी छोटी बहिनमें वर्णन करते हैं। (प० प० प्र० जी कहते हैं कि श्रीमाण्डवी-उर्मिलादिके सम्बन्धमें, 'सोभा किमि जाइ बखान।' 'सुंदरता बरनि न जाई' निरुपम आदि कहीं नहीं कहा गया है। अतः उनकी गुण-रूप-सुख-शील-शोभा आदिमें सीताजीकी समानता करना अनुचित है। तुरीयाके सुखकी समानता शेष तीनों अवस्थाओंसे कैसे हो सकती है ?)। लक्ष्मणजी शत्रुघ्नजीसे बड़े हैं, इसी तरह उर्मिलाजी श्रुतिकीर्तिजीसे बड़ी हैं, इसीसे उर्मिलाजी लक्ष्मणजीको ब्याही गयीं। (ख) 'जेहि नाम श्रुतिकीरति' इति। श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्रीमाण्डवीजीकी छोटी बहिन हैं, इसीसे जो गुण माण्डवीजीमें हैं वही श्रुतकीर्तिजीमें कहते हैं। उनको '**गुन सील सुख सोभा मई**' कहा था, वैसे ही '**सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी**' और 'रूप सील उजागरी' इनको कहते हैं। दोनों एक-से हैं—

माण्डवीजी—शोभामयी	। गुणमयी	। शीलमयी	। सुखमयी—सुषुप्ति
श्रुतिकीर्तिजी—सुलोचनि-सुमुखि	। गुण-आगरी	। शील-उजागरी	। रूप-उजागरी—जाग्रत्

श्रीशत्रुघ्नजी सबसे छोटे, वैसे ही श्रुतिकीर्तिजी सबसे छोटी। अतः इन दोनोंका ब्याह हुआ। (ग) श्रीरामचन्द्रजीकी शक्ति श्रीसीताजी अर्थात् चन्द्रकी चन्द्रिका हैं। चन्द्र शीतल और श्रीसीताजी भी शीतल। श्रीभरतजीकी शक्ति श्रीमाण्डवीजी हैं। '**बिस्वभरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥ १९६। ६।**' भरतजी विश्वका भरण-पोषण करनेवाले हैं और विश्वभरणपोषणसे शोभा होती है। (इसीसे शोभारूप माण्डवी उनकी शक्ति हैं। माण्डवी शब्द मडि भूषायाम् धातुसे बना है, माण्डवी=भूषणरूप)। श्रीलक्ष्मणजी शेष वा शेषके अधिपति हैं, इससे उनकी शक्ति उर्मिलाजी हैं। ऊर्मि=लहर। 'ला आदाने' धातु है। इस प्रकार, उर्मिला=जो लहरको ग्रहण करे। 'जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम **सत्रुहन बेद प्रकासा॥ १९७। ८।**' रिपुसूदन=शत्रुको मारनेवाला। शत्रुके मारनेसे कीर्ति 'श्रुति' (कानों) में आती है अर्थात् कीर्ति सुन पड़ती है। अतः श्रुतिकीर्ति शत्रुघ्नजीकी शक्ति हैं, इनको ब्याही गयीं। [ये भाव आधिभौतिक-दृष्ट्या नामसादृश्यसे सम्मत हैं। (प० प० प्र०)]

अ० रा० में जनकका ही चारों बेटियाँ ब्याहना कहा है। वाल्मीकीयमें प्रथम राजा जनकने श्रीभरत-शत्रुघ्नजीसे श्रीमाण्डवी-श्रुतिकीर्तिका पाणिग्रहण करनेको कहा है। तदनन्तर विधिपूर्वक विवाह होना लिखा है जिससे कुशध्वजजीका कन्यादान करना लिया जा सकता है। मानसमें भी यहाँ ब्याह देना कहकर आगे 'जसि रघुबीर ब्याह बिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी॥' और फिर 'कर जोरि जनक बहोरि बंधु समेत कोसलराय सों। बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों। संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भए।' कहा है। इन शब्दोंसे वेदविधि-अनुसार कुशध्वजजीका अपनी कन्याओंका दान करना लिया जा सकता है।

नोट—१ 'अनुरूप वर दुलहिनि' अर्थात् वरके अनुरूप दुलहिन है और दुलहिनके अनुरूप वर है। इस तरह परस्पर एक दूसरेके अनुरूप हैं। पुनः, श्रीरामजी और श्रीभरतजी श्याम वर्ण हैं तथा उनकी दुलहिनें श्रीसीताजी और श्रीमाण्डवीजी गौरवर्णा हैं। वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी गौरवर्ण हैं, उनकी दुलहिनें श्रीउर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्यामवर्णा हैं। इस प्रकार वर्णके अनुसार श्याम गौर वर्णकी चार जोड़ियाँ हैं। प्रमाण यथा—'सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ स्याम गौर सब अंग सुहाए'''भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ लखनु सत्रुसूदन एकरूपा॥ १। ३११।' 'हिरण्यवर्णां सीतां च माण्डवीं पाटलप्रभाम्। उर्मिलां श्यामवर्णाभां श्रुतिकीर्तिं समप्रभाम्॥ इति नारदपञ्चरात्रे'। रूप, गुण, स्वभाव और अवस्था आदिसे दूलह-दुलहिन एक दूसरेके योग्य हैं। टिप्पणी १ (ग) में जो लिखा गया वह भी परस्परकी अनुरूपता ही है।

टिप्पणी—२ (क) 'परस्पर लखि सकुच हिय हरषहीं' यथा—'तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परै न काहू॥' (२६४। ३)। (गुरुजन सब बैठे हुए हैं, इससे परस्पर अवलोकन करनेमें संकोच होता है, यथा—'गुरुजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।' भीतरसे हर्ष है, बाहर संकोच है यथा—'पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मनु सकुचै न।'''३२६।' छोटा भाई बड़े भाईके सामने अपनी दुलहिनको देखकर सकुचेगा ही)। (ख) 'सब मुदित''' इति। सुन्दरता देखकर सब मुदित होकर सराहने लगे, तब देवताओंने फूल बरसाये। पहले श्रीरामजीके विवाहमें फूल बरसाये थे, अब तीनों भाइयोंका विवाह हो जानेपर बरसाया। (चारों जोड़ियोंको देखकर उचित समय जानकर फूल बरसाया)।

३ 'सुंदरी सुंदर बरन्ह सब''' इति। (क) चारों बहिनें चार अवस्थाएँ हैं और चारों भाई विभु हैं।

अवस्थाएँ—	जाग्रत् (श्रुतिकीर्तिजी)	स्वप्न (उर्मिलाजी)	सुषुप्ति (माण्डवीजी)	तुरीया (श्रीसीताजी)
विभु—	विश्व (शत्रुघ्नजी)	तैजस (लक्ष्मणजी)	प्राज्ञ (श्रीभरतजी)	अन्तर्यामी (श्रीरामजी)

'जनु' का भाव यह है कि सब जीवोंके हृदयमें चारों अवस्थाएँ एक साथ नहीं होतीं। मण्डप जैसा दिव्य और अलौकिक है, ऐसा ही दिव्य पुरुष यदि कोई है तो उसके हृदयमें चारों अवस्थाएँ अपने-अपने विभुओंसहित विराजती हैं। जिस निशामें सब सोते हैं उसी निशामें योगी जागते हैं, यह जाग्रत् अवस्था हुई। जिस निशामें सब कोई जागता है उसमें योगी सोते हैं, यह स्वप्नावस्था है। स्वरूपके आनन्दमें मग्न होनेपर देहाध्यास न रह गया, यह सुषुप्ति-अवस्था है। स्वरूपकी प्राप्ति 'तुरीयावस्था' है। जैसे श्रीलक्ष्मण शत्रुघ्नजी एक रूप, वैसे ही विश्व और तैजसका एकरूप है; और जैसे श्रीराम भरतजी एकरूप वैसे ही प्राज्ञ और अन्तर्यामी एकरूप।

परमार्थपक्षमें वेदान्तदर्शनके अनुसार जीवात्माकी चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। तत्त्वबोधकार प्रथम तीन ही अवस्थाएँ मानते हैं। यथा—'अवस्थात्रयं किम्? जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः'। चारों अवस्थाओंके चार विभु (स्वामी) माने गये हैं।*

जाग्रत्—यह अवस्था चौबीस तत्त्वों, पञ्च प्राण, दश कर्म और ज्ञान-इन्द्रियाँ, पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अर्थात् पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे मिलकर बनती है। इनके द्वारा बुद्धि बाहरी पदार्थोंमें फैली रहती है। इस अवस्थामें इन्द्रियद्वारा सब प्रकारके विषयों-व्यवहारों और कार्योंका अनुभव मनुष्यको होता रहता है। ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषयोंसे उस अवस्थाका ज्ञान होता है; जैसे कानसे शब्दका, नेत्रसे रूपका, नासिकासे गन्धका, जिह्वासे रसका और त्वचासे स्पर्शका ज्ञान जाग्रत्हीमें होता है। इसी अवस्थामें सब बातोंका ज्ञान होता है, यथा—'जाग्रदवस्था का? श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दादिविषयैश्च ज्ञायते इति यत्र सा जाग्रदवस्था॥' (तत्त्वबोध)

यह स्थूल अवस्था है। बाह्यज्ञानका जहाँतक विस्तार है वह सब विश्व कहलाता है। इसलिये विश्वनिष्ठ होनेसे इस अवस्थाका अभिमानी स्वामी चेतन विश्व कहलाता है। अर्थात् इस अवस्थामें रहनेवाले जीवात्माकी संज्ञा विश्व होती है।

---

* चार अवस्थाओं और उनके चार विभुओंका उल्लेख माण्डू० ९, १०, ११, १२ और श्रीरामोत्तरतापिनी उपनिषदोंमें आया है। १। १९७ में देखिये।

यथा—'**स्थूलशरीराभिमानी आत्मा विश्व इत्युच्यते**' । (तत्त्वबोध) ।

स्वप्न—यह अवस्था पञ्च प्राण, दश इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वोंसे बनी हुई होती है । इसमें बुद्धिकी वृत्ति भीतरकी ओर फैली रहती है । अर्थात् इन्द्रियाँ मनमें लीन हो जाती हैं । जाग्रत्-अवस्थामें जो देखा-सुना जाता है उस देखने-सुननेसे जो वासना वा संस्कार उत्पन्न हुए उससे जो प्रपञ्च प्रतीत होता है, विषयोंसहित जो भासमान प्रतीति होती है, वही स्वप्नावस्था है । यथा—'स्वप्नावस्था केति चेत् ? जाग्रदवस्थायां यद्दृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये यः **प्रपञ्चः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था** ।' (तत्त्वबोध) ।

यह सूक्ष्म है । यह सूक्ष्म शरीराभिमानी जीवात्माकी 'तैजस' संज्ञा है । अर्थात् स्वप्नावस्थाका स्वामी 'तैजस' है । यथा—'**सूक्ष्मशरीराभिमानी आत्मा तैजस इत्युच्यते** ।' (तत्त्वबोध) ।

सुषुप्ति—यह अवस्था समाधि वा मूर्च्छाकी-सी होती है । इसमें अपनेसे चित्तको प्रकर्ष नहीं करना पड़ता । इसमें **जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थाओंके सब** तत्त्वोंका लय हो जाता है । इसमें सूक्ष्म शरीरमें सूक्ष्म भोग होता है । 'इसमें सब **प्रकारसे ज्ञानका उपसंहार होता है** । बुद्धि कारणरूपमें प्रतिष्ठित रहती है । (प० प० प्र०) ।' इसमें जीव नित्य ब्रह्मकी **प्राप्ति करता है**, पर उसको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि मैंने ब्रह्मकी प्राप्ति की है । (श० सा०) । पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार यह चित्तकी एक वृत्ति या अनुभूति है । (श० सा०) । 'मैं कुछ नहीं जानता । मैंने सुखसे निद्राका अनुभव किया । इस प्रकारका ज्ञान जब होता है उसीको सुषुप्त्यवस्था कहते हैं ।' यथा—'अतः सुषुप्त्यवस्था का ? अहं किमपि न **जानामि सुखेन मया निद्रानुभूयते** इति सुषुप्त्यवस्था ।' (तत्त्वबोध) ।

इस कारण-शरीरके अभिमानी आत्माको प्राज्ञ कहते हैं । अर्थात् इस अवस्थामें जीवात्माकी 'प्राज्ञ' संज्ञा है । इसका स्वामी है 'प्राज्ञ' अर्थात् प्रकर्ष करके अज्ञ है, उसको कोई ज्ञान नहीं रहता, जैसे सुखकी गाढ़ निद्रामें ।—'**कारण-शरीराभिमानी आत्मा प्राज्ञ इत्युच्यते** ।' (तत्त्वबोध) ।

तुरीय—'यह चौथी अवस्था मोक्ष, अद्वैत, कैवल्य वा कल्याणरूप है जिसमें समस्त भेदज्ञानका नाश हो जाता है । **इसमें** परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं देख पड़ता । जीव उसीमें लय हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है । (श० सा०) । यह केवल शुद्ध निर्विषयानन्दमय मोह—अज्ञान-रहित जीव ब्रह्मकी तादात्म्यावस्था है, यह सहज स्थिति है । इसका स्वामी अन्तर्यामी है । (प० प० प्र०) । 'तुरीया' यथा—'**स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराद्व्यतिरिक्तः पञ्चकोशातीतस्सन् अवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपस्सन्यस्तिष्ठति स आत्माधारस्तुरीय अवस्था अन्तर्यामी देवता** ।' (वै०) । '**स्थूल**...**स आत्मा**' इतना अंश तत्त्वबोधका है, शेष वैजनाथजीकी टीकामें है) ।

पूर्व दोहा १९७ में लिखा जा चुका है कि प्रणवकी मात्राएँ वा पाद अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके वाचक वा रूप हैं । और यह भी बताया गया है कि लक्ष्मणजी जाग्रत्के अभिमानी 'विश्व' के रूपमें भावना करनेयोग्य हैं । शत्रुघ्नजीका आविर्भाव 'उकार' से होनेसे वे स्वप्नके अभिमानी 'तैजस' रूप हैं । श्रीभरत-जी सुषुप्तिके अभिमानी 'प्राज्ञ' रूप हैं और श्रीरामजी ब्रह्मानन्दके विग्रह हैं । (माण्डू० ९, १०, ११, १२ । श्रीरामोत्तर-तापिनी उ० । विशेष दो० १९७ में देखिये ।) इन श्रुतियोंके आधारपर श्रीउर्मिलाजी जाग्रत्, श्रीश्रुतिकीर्तिजी स्वप्न, श्री-माण्डवीजी सुषुप्ति और श्रीसीताजी तुरीया अवस्था हुईं । ये अपने-अपने स्वामियोंसहित मण्डपमें विराजमान हैं । इतनी ही उत्प्रेक्षा है ।

'जनु जीव उर चारिउ अवस्था...' इति ।

मानसमयङ्क—मण्डपमें तीन आवरण हैं । वे ही तीन आवरण जीवके स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकारके देह हैं । आत्मा वा जीव चक्रवर्ती महाराज हैं । इस शरीररूपी मण्डपमें जीवरूपी दशरथ चारों पुत्रों और पुत्रवधुओंसे संयुक्त कैसे शोभित हैं मानो चारों अवस्थाएँ स्वामीसंयुक्त विराजमान हों । (इस प्रकार दशरथ और जीव, मण्डप और शरीर उपमेय-उपमान हैं) ।

अ० दीपकमें इसका भाव इस प्रकार कहा है—'**मंडप त्रय त्रय देह उर नृप चूड़ामणि जीव । चारि अवस्था उर**

निकट राजत संयुत पीव ॥ १०१ ॥' जिसका भावार्थ यह है कि श्रीजनकजीने विवाहके लिये जो तीन मण्डप बनवाये हैं वे ही मानो स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन देह हैं। उसके बीचमें चक्रवर्तीजी मानो जीव हैं। उनका उर मण्डपकोष है। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'कोई-कोई मण्डपको जीव कहते हैं। वे सम्प्रदाय तथा सत्संगविहीन हैं, क्योंकि धर्ममें प्रत्यक्ष विरोध पड़ता है'। (अ० दी० च०)।

वैजनाथजी—(१) चारों भाइयों और इधर चारों बहिनोंका एक ही साथ विवाह एक ही मण्डपमें और चारों जोड़ियोंका एक साथ विराजमान होना, ऐसा संयोग आश्चर्यमय है; इससे वैसी ही आश्चर्यमय उत्प्रेक्षा यहाँ की गयी। जनक महाराजके मण्डपमें चारों जोड़ियाँ इस समय सुशोभित हैं। यहाँ राजकुमार अङ्ग और राजकुमारी अङ्गी हैं। कन्याकी प्रधानतासे यहाँ सम्बन्ध जनकजीका जानिये अर्थात् कैसा आनन्द हुआ मानो जनकजीके जीवके उरमें स्वामियोंसमेत चारों अवस्थाएँ विराजमान हैं। (२) लक्ष्मण विश्वरूप हैं क्योंकि रामकार्यमें सदा सजग रहते हैं और सदा चैतन्य उर्मिलाजी जाग्रत्-अवस्था हैं। तैजसरूप शत्रुघ्न तथा स्वप्नावस्था श्रुतिकीर्ति हैं। प्राज्ञ आनन्दरूप भरतजी तथा सुषुप्ति माण्डवीजी हैं। अन्तर्यामी परब्रह्मरूप रघुनाथजी और तुरीयावस्था श्रीजानकीजी हैं। (३)—जैसे पतियोंसहित चारों कन्याओंको एक मण्डपमें देखा वैसे ही मिथिलेशजीको चारों अवस्थाएँ भी साथ ही सदा प्राप्त हैं, क्योंकि वे सदा तुरीयावस्थामें रहते—विदेह कहलाते और राजभोग भी करते हैं, इससे तीन अवस्थाएँ सुगम ही प्राप्त हैं।

कुछ महानुभाव कहते हैं कि पं० रामकुमारजीने जो कहा वह अद्वैतवादी वेदान्तियोंका एकदेशीय मत है जो जीवको अनित्य और झूठा मानते हैं, परंतु अन्य वेदान्तियोंका मत यह नहीं है, ये जीवको ब्रह्मसे पृथक् और नित्य मानते हैं। इसके मतानुसार चक्रवर्तीजी और जनकजीका जीव स्थानपर होना ही ठीक है और मण्डप देह-स्थान हुआ। मानसमयङ्कके टीकाकार भी लिखते हैं कि 'मण्डपको जीवसे रूपक करनेमें प्रत्यक्ष विरोध पड़ता है। प्रथम तो चेतनका जड़से रूपक अलग्न है, दूसरे जीव देहहीमें चारों अवस्थाओंको प्राप्त होता है सो देहका रूपक दूसरा क्या होगा ?'

वीरकविजीका मत मा० म० से मिलता है। वे लिखते हैं कि 'जीव और दशरथजी, उर और मण्डप, जाग्रत्-अवस्थाएँ और श्रीजानकीजी आदि बहुएँ, ब्रह्म आदि चारों विभु और श्रीरामादि चारों भाई क्रमशः उपमान-उपमेय हैं। एक ही मण्डपमें वर और दुलहिनोंका शोभित होना उत्प्रेक्षाका विषय है। सिद्ध होनेपर जीवोंके हृदयमें विभुओंसहित चारों अवस्थाएँ शोभित होती ही हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

बाबा हरिहरप्रसादजी मण्डपको जीव मानते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—(१) एक मण्डप कहनेका भाव यह है कि एक मण्डपमें एक ही वर-कन्याका संयोग होता है। परंतु यहाँ एक ही मण्डपमें चारों वरों और चारों कन्याओंका संयोग है। पुनः अवस्थाका भी एक साथ संयोग नहीं होता, इसीलिये 'जनु' शब्द दिया है। (२)–यहाँ ग्रन्थकार मण्डपमें दुलहिनोंकी शोभा कह रहे है, दुलहोंको साथमें रक्खा है—'सुंदर बरन्हि सह'। क्योंकि 'प्रथम मण्डप और कुमारियोंका संयोग हुआ है तत्पश्चात् दुलहोंका मण्डपसे संयोग हुआ किंतु दूलह सब दुलहिनोंके शोभा-हेतुमें लिखे गये हैं—'अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं।' इसीलिये मण्डपमें दुलहिनोंकी शोभा लिखी गयी है क्योंकि जो प्रथमसे उपस्थित है वहाँ दूसरा गया तो जो प्रथमसे उपस्थित है उसीकी प्राप्तिमें दूसरा लिखा जायगा, न कि दूसरेकी प्राप्तिमें प्रथम लिखा जायगा। अतः कुमारियोंके लिये अवस्थाओंकी उपमा दी गयी।' पुनः, (३) जैसे अवस्थाएँ क्रमशः ऐश्वर्यमें एक-से-एक श्रेष्ठ हैं वैसे ही कुमारियोंमें भाव है। श्रुतिकीर्तिजीसे उर्मिलाजी, उर्मिलाजीसे माण्डवीजी और माण्डवीजीसे श्रीसीताजी श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार भाइयोंमें श्रेष्ठता है। पुनः; (४) अवस्थाओंका स्वरूप इस प्रकार है—जाग्रदवस्था वह है जिसमें मोह निवृत्त है, यथा—'जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥', 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' (गी० २। ६९) स्वप्नावस्था वह है जिसमें कभी-कभी संयोगवश मनके द्वारा संसारका स्फुरण होता रहता है। सुषुप्तिमें मन और इन्द्रियाँ दोनों करके संसारका अभाव हो जाता है। तुरीया मोक्षस्वरूप है जो विदेहदशा कहलाती है। पुनः, (५) और अवस्थामें एकके साथ दूसरीका अभाव रहता है, पर तुरीयामें तीनों लीन रहती हैं क्योंकि वह समर्थ है। पुनः (६) जैसे प्रथम तीन अवस्थाएँ तीनों विभुओंसहित मोक्षकी सहायक हैं और तुरीया

मोक्षस्वरूपा है ही, इसी प्रकार तीनों कुमारियाँ तीनों कुमारोंसहित मोक्षपदकी सहायक हैं पर श्रीजानकीजी तो श्रीरामजीके सहित मोक्षकी स्वरूप ही हैं।

कोई महाशय मण्डप और जीवकी समतामें धर्म-विरोध कहते हैं, पर यह नहीं बताते कि कौन-सा धर्म-विरोध है ? यदि कहिये कि सामान्यविशेषका धर्म-विरोध है तो उपमा अथवा समतामें सामान्य विशेषका भाव ग्रन्थकार नहीं लेते हैं, रूपकका भाव लेते हैं। प्रमाण, यथा—'जाहिं सनेह-सुरा सब छाके' (में श्रीरामस्नेहको मदिरापानकी समता दी गयी है); **'चले जहाँ रावन ससि राहू'** (में रावणको चन्द्रमा और श्रीरामजीको राहु कहा है), इत्यादि। जब ऐसी समतामें धर्म-विरोध नहीं है, तब मण्डप और जीवकी समतामें कैसे धर्म-विरोध हो सकता है। फिर मण्डपका ऐश्वर्य भी तो सामान्य नहीं है। यथा—'सो बरनै असि मति कवि केही'; 'सो बितान तिहुँ लोक उजागर'। मूलका शब्द है 'सह एक मंडप राजहीं'; कैसे एक मण्डप राजहीं ? 'जनु जीव उर अवस्था'। इसमें न दशरथजीके लिये कोई शब्द है, न जनकजीके लिये। फिर जनकजीमें चारों अवस्थाएँ कहनेमें विरोध होगा, क्योंकि चारों कन्याएँ उनकी नहीं हैं और दशरथजीको लेनेमें तो सर्वथा विरोध है क्योंकि कन्याओंके लिये अवस्थाओंकी उपमा है।

'जनु जीव उर चारिउ अवस्था……'

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यहाँ कविने सीता, माण्डवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्तिके क्रमशः राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ एक मण्डपमें विराजमान होनेकी छविकी प्रशंसा की है। उपमा देते हैं कि जैसे जीवके उरमें तुरीया, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्-अवस्थाएँ क्रमशः अपने-अपने विभु, ब्रह्म, प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानरके साथ विराजमान हों।

इन्द्रियोंद्वारा अर्थोपलब्धिको 'जागरित' अवस्था कहते हैं। इन्द्रियोंके उपरत होनेपर जागरितके संस्कारसे उत्पन्न विषयोंकी अनुभूतिको 'स्वप्न' कहते हैं। एक प्रकारके ज्ञानोंके उपसंहार होनेपर बुद्धिके कारण कार्यरूप अवस्थानको 'सुषुप्ति' कहते हैं, और ब्रह्ममें अभेदरूपसे अवस्थानको 'तुरीया या समाधि' कहते हैं।

पञ्चीकृत महाभूत, तथा उनके कार्यको 'विराट्' कहते हैं। यही आत्माका स्थूल शरीर है। सो विराट् और जागरितावस्थाके अभिमानी आत्माको वैश्वानर कहते हैं। ये तीनों अकार हैं।

अपञ्चीकृत महाभूत, पञ्चतन्मात्रा और उसके कार्य, पञ्च प्राण, दश इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सत्रहको 'हिरण्य-गर्भ' कहते हैं, यही आत्माका 'सूक्ष्म शरीर' है। हिरण्यगर्भ और स्वप्नावस्थाके अभिमानी आत्माको 'तैजस' कहते हैं। ये तीनों उकार हैं। उपर्युक्त दोनों शरीरोंके कारण, आत्माके अज्ञानको, जो कि आभाससे युक्त होता है, 'अव्याकृत' कहते हैं। यह आत्माका 'कारण शरीर' है। अव्याकृत और सुषुप्ति अवस्था, इन दोनोंके अभिमानीको प्राज्ञ कहते हैं। ये तीनों मकार हैं। साक्षी केवल चिन्मात्रस्वरूप नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव परमानन्दाद्वय आत्माको ब्रह्म कहते हैं। यह तुरीय पद अमात्र है।*

कविने जनकजीके मण्डपकी उपमा जीवके हृदयसे दी है। बृहदारण्यकश्रुति कहती है कि इस ब्रह्मपुरीमें छोटा-सा कमलरूपी गृह (मण्डप) है। उसमें जो दहराकाश है, वह उतना ही है, जितना कि यह आकाश है। उसके भीतर द्यावा-पृथ्वी है, अग्नि और वायु हैं, सूर्य और चन्द्रमा हैं, बिजली है, नक्षत्रमण्डल है, जो कुछ यहाँ है सो सब है और जो यहाँ नहीं है, वह सब भी है। जिस मण्डपकी शोभा देखकर ब्रह्मदेव चक्कर खाते हैं, उसकी उपमा इससे न दी जाय तो किससे दी जाय, और ऐसी सुन्दरियों और सुन्दर वरोंकी उपमा सिवा चारों अवस्थाओं और उनके विभुओंके अन्यत्र कहाँ मिल सकती है ? परंतु अध्यात्म-दृष्टिसे वस्तुतः यहाँ 'अनन्वयालंकार' है। यहाँ उपमा और उपमेय वस्तुतः एक हैं। तापनीय श्रुति कहती है कि लक्ष्मणजी अकारके, शत्रुघ्नजी उकारके, भरतजी मकारके अवतार हैं और ब्रह्मानन्दैकविग्रह श्रीरामजी अर्धमात्रात्मक हैं। शुभम्। (दोहा १९७ नोट ४ देखिये)।

---

* अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म ''यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि। यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमस्ति। छां० ८। १।

☞ वेदान्तभूषणजीने एक तालिका बनायी है उसे हम नीचे पृष्ठ ७८४, ७८५ में देते हैं—※

प० प० प्र०—विवाहप्रकरणमें यह उत्प्रेक्षा क्यों की गयी, यह इन अवस्थाओं और विभुओंको रामायणसे तात्त्विक

शरीर १	विवरण २	अवस्था. (वधू) ३	तत्सम्बन्धी कर्म ४
स्थूल	पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्चमहाभूत, पञ्चविषय, मन, अहंकार, बुद्धि और महत्तत्त्व इन २४ तत्त्वोंका व्यापार। यथा—'**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥**' (गीता १३।५)	जाग्रत् (उर्मिला)	क्रियमाण
सूक्ष्म	पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय (पञ्चकर्मेन्द्रिय), मन और बुद्धि—इन १७ सत्रह तत्त्वोंका व्यापार। यथा—'पञ्चप्राण-मनोबुद्धिर्बद्धजीवस्य बन्धनम्। अपञ्चीकृतमस्थूलं सूक्ष्मं भोगसाधनम्॥' (जिज्ञासापञ्चक)	स्वप्न (श्रुतिकीर्ति)	प्रारब्ध भोगमात्र
कारण (वासना)	मोह एव='अविद्या भगवच्छक्तिबद्धजीवस्य बन्धनम्। सदसद्भ्यामनिर्वाच्यं शरीरे सास्ति कारणम्॥' (जिज्ञासापञ्चक)	सुषुप्ति (माण्डवी)	संचित्
मुक्त शरीर	जीवके संकल्पसे प्राप्त होनेवाला भगवच्छेषत्वका साधनीभूत भगवत्प्रदत्त दिव्य विग्रह जो सच्चिदानन्द है।—'**ईश्वर अंश जीव अबिनाशी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥**'	तुरीया (श्रीसीताजी)	दिव्यशेषत्व भोग

दृष्ट्या मिलान करनेसे मालूम हो जायगा और इससे रामायणका आध्यात्मिक तत्त्वविचार भी समझमें आ जायगा।

दशों इन्द्रियोंका सम्बन्ध विषयोंके साथ होनेसे ही विश्व (जगत्प्रपञ्च) का ज्ञान होता है। अन्तःकरणमें लहरें उठती हैं, वृत्तियाँ विषयोंतक जाती हैं और विषयाकार होकर लौट आती हैं। यह अवस्था (वृत्तिका आना-जाना उर्मिमय अर्थात् उर्मिला है। **विश्वविभुको ही सामर्थ्य है कि वह जाग्रत् अवस्थाको छोड़कर वृत्तिको भगवान्की** ले जाय, यदि स्वप्न और सुषुप्तिमें न पड़ जाय। **इसी तरह लक्ष्मणजी उर्मिला,** माण्डवी और श्रुतिकीर्तिको श्रीसीतारामजीके साथ गये। जीव जाग्रत्से ही तुरीयामें प्रवेश करता है। इसीलिये श्रीसीता और उर्मिलाजी **जनककी कन्यायें हैं (सगी बहनें हैं)।**

श्रुतकीर्ति=श्रुत (जो सुना जाय और उपलक्षणसे जो देखा जाय उसकी) कीर्ति (अर्थात् उसका ऐसा कीर्तन करना।

विवरण ५	विभुके नियामक (वर) ६	अवस्था विजयका उपाय ७
जब श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे तत्तद्विषयोंका ज्ञान हो । तात्पर्य यह कि जब जीव जगत्की ममतारूपी रात्रिमें जग जाये— **जानिय तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ यहि जग जामिनि जागहिं योगी। परमारथी प्रपंच बियोगी ॥**	श्रीलक्ष्मणजी । श्रीलक्ष्मणजी ही संकर्षण व्यूहके कारण (उत्पादक) एवं नियामक हैं ।	श्रीरामजीकी वनयात्रा समय जैसे विचारसहित श्रीलक्ष्मणजीने 'सब तजि राम चरण लय लावा', वैसे विचारसहित—'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (मुण्डकोपनि०) ॥ जगत्-सम्बन्ध-त्यागपूर्वक भजनपरायण होना, नवधाभक्ति करना ॥
जाग्रत्में देखे सुने अनुभवे विषयोंका साक्षाद्रूपेण (स्वप्न-अर्द्धनिद्रामें) भान होना । तात्पर्य कि जगत्के साक्षात्-सम्बन्ध-त्याग रहनेपर भी पूर्व अनुभवित तत्तत्कार्यों का भान होना ।	श्रीशत्रुघ्नजी । श्रीशत्रुघ्नजी अनिरुद्ध व्यूहके कारण (उत्पादक) एवं नियामक हैं ।	श्रीशत्रुघ्नजीकी तरह श्रीभरतवद्विवेकी परम भागवत आचार्यकी सेवा करना सत्सङ्ग एवं प्रेमाभक्ति करना ।
घोर निद्रा तात्पर्य बुद्धादिसे जगद्व्यापार आदिसे सम्पूर्णतया पृथक् रहना, अर्थात् जगत्का भान किञ्चित् मात्र नहीं रहता ।	श्रीभरतजी । श्रीभरतजी प्रद्युम्न व्यूहके कारण (उत्पादक) एवं नियामक हैं ।	श्रीभरतजीके समान विवेक और श्रीरामस्नेह तथा पराभक्ति करना ।
पूर्ण ज्ञानमयी आनन्दावस्था	श्रीरामजी । श्रीरामजी वासुदेव व्यूहके कारण एवं नियामक हैं— **'वासुदेवादिमूर्तीनां चतुर्णां कारणं परम् ॥ (नारद पं०)**	(तुरीयावस्था त्याज्य-हेय नहीं है, इसीसे उसके विजयकी बात न सोचकर उसीमें मग्न रहना ।) श्रीरामजीके राज्य-सिंहासनारूढ़ होनेपर श्रीविभीषणाङ्गदादिके समान परिकरानन्द प्राप्त करनेवाले, (गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म शक्ति बिराजते) ।

कि जाग्रत्के विषय मनरूपचक्षुके आगे प्रत्यक्ष हो जायँ) । यही स्वप्नावस्था है । ग्राह्य विषयका, सत्यवत् ग्रहण दुःखका कारण होनेसे शत्रुवत् है । इस शत्रुका नाश तैजसात्मा करता है । इसलिये शत्रुघ्न नाम यथार्थ है । शत्रुघ्नजी भरतानुगामी हैं, वैसे ही श्रुतकीर्तिजी माण्डवीजीकी बहिन हैं ।

यद्यपि लक्ष्मण और शत्रुघ्न सहोदर भ्राता हैं तथापि शत्रुघ्नजी उनके अनुगामी न बनकर भरतके अनुगामी हुए । क्योंकि स्वप्न अवस्था और सुषुप्ति सम्बन्धी हैं । जीव स्वप्नसे सुषुप्तिमें प्रवेश करता है। लक्ष्मण-शत्रुघ्न दोनों सहोदर भ्राता हैं, क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें विषय-प्रवृत्तिकी समानता है । जाग्रत्में प्रत्यक्ष व्यावहारिक सत्तासे विषयोंमें प्रवृत्ति होती है तो स्वप्नमें प्रातिभासिक विषयोंमें प्रवृत्ति होती है, तथापि स्वप्नकालमें इन विषयोंकी सत्ता व्यावहारिक सत्यवत् ही प्रतीत होती है । जाग्रत् और स्वप्नमें विषयप्रतीति एक रूप-सी होनेसे 'लखन सत्रुसूदन एक रूपा' हैं ।

जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें अज्ञान और विपरीत ज्ञानका अस्तित्व रहता है। सुषुप्तिमें केवल अज्ञान होता है, विपरीत ज्ञान नहीं होता। प्राज्ञ अज्ञानावरणसंयुक्त होता है और प्रत्यगात्मा शुद्ध केवलानन्दमय अज्ञानरहित इत्यादि होता है; फिर भी ऊपरसे दोनों आनन्दमय दीखते हैं इससे दोनोंका एक रूप कहा गया—'भरत रामही की अनुहारी'। भरतजी कैकयीपुत्र हैं, तमोगुणवृत्तिजन्य 'प्राज्ञ' हैं। कैकेयी तमोगुणमय अज्ञानमय है—'नींद बहुत प्रिय सेज तुराई', 'दाहिन बाम न जानउँ काऊ।

माण्डवी सुषुप्त्यवस्था है। सुषुप्तिका आनन्द भूषणरूप लगता है। निद्राका नाश होनेपर स्वप्न और जाग्रतिजन्य सुख भी भाररूप लगता है। इसीसे तो निद्राके लिये जीव विह्वल हो जाता है। निद्रामें निर्विषयानन्द-ब्रह्मानन्दमें ही बुद्धिके साथ तादात्म्य पाता है, पर अज्ञानका आवरण साथ ही रहता है। इससे माण्डवी तीनोंमें बड़ी, जैसे भरतजी तीनोंमें बड़े। माण्डवी भूषणरूप हैं (मण्ड-मण्डन-माण्डवी)।

जैसे प्रत्यगात्मा, आत्मा सच्चिदानन्दरूप, नित्य, इत्यादि वर्णित की जाती है वैसे ही श्रीरामजी सच्चिदानन्दघन इत्यादि हैं। श्रीसीताजी 'क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी' हैं। तुरीयामें ही सब क्लेशोंका नाश, मोक्षदायक ग्रन्थिभेद होता है—'छोरन ग्रन्थि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥' अतः सीताजी तुरीया हुईं। सीताजी ही ब्रह्माकार अखण्ड वृत्ति हैं ब्रह्मविद्या हैं। सीता और राम जल और तरङ्गके समान हैं, वैसे ही ब्रह्म और ब्रह्माकार वृत्ति।

दो०—मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपालमनि क्रियन्ह* सहित फल चारि॥३२५॥

अर्थ—सब पुत्रोंको बहुओंसमेत देखकर श्रीअवधेशजी ऐसे आनन्दित हुए मानो भूपतियोंके शिरोमणि श्रीदशरथजीने क्रियाओंसहित चारों फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) पाये हैं॥ ३२५॥

टिप्पणी—१ (क) ऊपर 'सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं' कहा अर्थात् 'सुन्दरी' को प्रथम कहकर तब 'सुंदरबरन्ह' को कहा, इस तरह कन्याओंकी प्रधानता हुई। और यहाँ 'सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि' में पुत्रोंकी प्रधानता कही। क्योंकि पिताके भवनमें कन्याका प्राधान्य है, इसीसे मण्डपतले सुशोभित कहनेमें कन्याओंकी प्रधानता रक्खी, और वरके यहाँ वरकी प्रधानता रहती है इससे अवधपतिके समीप पुत्रोंकी प्रधानता कही। (बैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्व कुमारियोंको अंगी और कुमारोंको अंग कहा था और अब यहाँ कुमारियोंको अंग और कुमारोंको अंगी सूचित किया है। कुमारोंकी प्रधानतासे यहाँ दशरथजी महाराजका आनन्द कह रहे हैं)। (ख) 'मुदित अवधपति सकल सुत''' निहारि' इति। सब पुत्रोंको बहुओंसहित देखकर मुदित हुए, इस कथनका भाव कि एक पुत्रको वधूसमेत देख आनन्दित हुए थे, यथा 'बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दशरथ भए' वैसे ही अब सब पुत्रोंको बहुओंसमेत देख आनन्दित हुए। (ग) 'जनु पाये महिपालमनि' इति। क्रियाओंसहित चारों फलोंकी प्राप्ति कर रहे हैं, इसीसे 'महिपालमनि' कहा, क्योंकि क्रियाओंसहित सब फल सब राजाओंको नहीं मिलते, राजा दशरथ समस्त राजाओंमें मणिरूप हैं, इससे इनको वे सब प्राप्त हुए।

नोट—१ चारों पुत्रोंको बहुओंसहित देखनेसे जो आनन्द हुआ वह यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है। चारों पुत्र उपमेय हैं और चारों फल उपमान हैं, क्योंकि पुत्र और फल दोनों पुँल्लिङ्ग हैं। इसी प्रकार चारों पुत्रवधुएँ उपमेय हैं और चारों क्रियाएँ उपमान हैं, क्योंकि वधू और क्रिया दोनों स्त्रीलिंग हैं। फल चार हैं और क्रियाएँ भी चार हैं। वैसे ही यहाँ चार पुत्र हैं और चार ही बहुएँ। अर्थ-धर्मादि चारों फलोंकी चाह और आवश्यकता राजाओंको हुआ करती है, इसीसे यहाँ 'अवधपति' और 'महिपालमनि' शब्दोंका प्रयोग किया गया।

२ जितने भी कर्म हैं उनके फल चार ही हैं। कोई अर्थ चाहता है, कोई धर्म, कोई काम और कोई मोक्ष। कोई-कोई एक साथ इनमेंसे कई चाहते हैं। चार क्रियाएँ कौन हैं? अर्थात् किस क्रियासे कौन फल प्राप्त होता है?—इसमें मतभेद है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि—चार फलकी चार क्रियाएँ हैं, यथा—'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च

* क्रियन्ह—१६६१।

शाश्वती। विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ।* आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयी स्थितौ ''' वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ। वार्ता चतुर्विधा लोके वेदे च परिनिष्ठिता। कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं कुसीदं तुर्यमुच्यते ॥' श्रीसीताजी आन्वीक्षिकी हैं, श्रीरामजी मोक्ष हैं। श्रीमाण्डवीजी त्रयी हैं, श्रीभरतजी धर्म हैं; यथा—'भरतहि धरम धुरंधर जानी। २।२५९।' श्रीउर्मिलाजी वार्ता हैं और लक्ष्मणजी काम हैं। श्रीश्रुतकीर्तिजी दण्डनीति हैं और श्रीशत्रुघ्नजी अर्थरूप कहे गये। पुनः, यथा—'अर्थ चातुरी सों मिले, धर्म सुश्रद्धा जान। काम मित्रता ते मिले, मोक्ष भक्ति ते मान॥' (इसके अनुसार अर्थकी क्रियाचातुरी, धर्मकी उत्तम श्रद्धा, कामकी मित्रता और मोक्षकी क्रिया भक्ति है।

वैजनाथजीका मत है कि 'अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी क्रियाएँ क्रमशः उद्यम, अनुष्ठान, रति और भक्ति हैं। अर्थ=द्रव्य। शत्रुनाशसे धन बढ़ता है अतः शत्रुघ्नजी अर्थ हैं। उद्यम [तप, दान आदि] से कीर्ति बढ़ती है अतः श्रुतकीर्तिजी उद्यम हैं। धर्म=सत्य, शौच, तप और दानकी पूर्णता। भरतजी धर्म हैं क्योंकि इनमें ये सब हैं। क्षत्रियोंका अनुष्ठानपूर्वक कर्म, जैसे कि शास्त्रमें दक्षता, युद्धमें अचलता, दानमें उदारता, शूरता, धीरता, तेज आदि धर्मकी क्रियारूप माण्डवीजी हैं। काम=लोकसुखकी परिपूर्णता। पूर्णकाम फलरूप लक्ष्मणजी हैं, कामकी क्रिया तपस्या वा रति श्रीउर्मिलाजी हैं। मोक्ष=जीवका भवबन्धनसे छूटना। मोक्षफल श्रीरामजी हैं; मोक्षकी क्रिया भक्ति श्रीजानकीजी हैं।

श्रीदेवतीर्थस्वामीजीने 'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः' शार्ङ्गधरके इस प्रमाणसे फलोंका क्रम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह देकर उनकी क्रियाएँ क्रमशः विधिपूर्वक अनुष्ठान, योग, रति और विरति लिखी हैं।

पाँड़ेजी कहते हैं कि सेवा, श्रद्धा, तपस्या और भक्ति चार क्रियाएँ हैं। सेवासे अर्थकी, श्रद्धासे धर्मकी, तपस्यासे कामकी और भक्तिसे मोक्षकी सिद्धि होती है।

मयङ्ककार लिखते हैं कि 'त्रयी वेद रु दंडनीति वाते आतमज्ञान। अर्थ धर्म कामे मुकुति कली ललन्ह को जान॥' अर्थात् वेदत्रयी, दण्डनीति, प्रियवार्ता और आत्मज्ञान ये—चार क्रियाएँ हैं सो क्रमसे श्रुतकीर्ति, उर्मिला, माण्डवी और सीताको जानो और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष क्रमसे शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और रामचन्द्रको जानो।' वे ही मानस-अभिप्राय-दीपकमें यों लिखते हैं कि—'मेधा श्रद्धा मैत्रता शान्ति स्वकर मिथिलेश। अर्पेउ फल सह प्राप्ति लखि प्रेम मगन अवधेश॥'

चारों पुत्रोंको पुत्रवधूसंयुक्त पाया मानो क्रियासंयुक्त चारों फलोंकी प्राप्ति हुई। अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—ये चारों फल मानो मेधा, श्रद्धा, मैत्रता और शान्तिसंयुक्त मिले। अभिप्राय यह कि राजा जनकने तपोबलसे चार क्रियाओं स्वरूप चार पुत्रियोंको प्राप्त किया जिनके द्वारा शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और रामरूपी अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी प्राप्ति हुई। पुनः, उन फलोंको क्रिया-सहित राजा दशरथको अर्पण कर दिया क्योंकि क्रिया फल बिना निष्फल प्रतीत होती है और फल क्रिया-बिना क्रियाहीन है।—(इनके मतानुसार लक्ष्मणजी धर्म और भरतजी काम है। मा० त० वि० कारने धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यको चार फल मानकर कर्म, योग दृष्टानुश्रविक विषयदोषदर्शनादि, संयमको क्रियाएँ मानी हैं।)।

प० प० प्र० स्वामीजी यह कहकर कि शत्रुघ्नको अर्थ और भरतको कामसे उत्प्रेक्षित करनेको जी नहीं चाहता, वे धर्म, विराग, भगवत्धर्मानुराग और भजनको चार फल और श्रद्धा, स्वकर्मनिष्ठा, सत्संग तथा नवधा भक्तिको उनकी क्रिया मानते हैं।

☞ (वस्तुतः अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—ये ही चार फल हैं। जहाँ चार फलोंकी चर्चा एक साथ आती है वहाँ सर्वत्र इन्हीं चारका ग्रहण होता है)।

---

* यह श्लोक रघुवंशकी मल्लिनाथसूरिकृत टीकामें मिलता है। वहाँ यह 'कामन्दक' से उद्धृत बताया गया है। रघुमहाराजको चार विद्याएँ पढ़ायी गयीं। उसी सम्बन्धमें यह श्लोक उद्धृत किया गया है। आगेके श्लोक कहाँके हैं, इसका पता नहीं लगा। सम्भव है कि 'कामन्दक' के ही हों। वह ग्रन्थ इस समय हमें नहीं मिला। भा० १०।२४।२१ में चार प्रकारकी वार्ताका प्रसंग आया है। यथा—'कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते। वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥'—पर इन श्लोकोंसे मानसके इस प्रकरणका अर्थ कुछ मेरे समझमें नहीं आया। विद्वान् लोग लगा लें और यदि पं० रामकुमारजीका भाव समझ सकें तो मुझे लिख दें।

	पं०रा०कु०	मा० म०	पं०रा०कु०	पाँ०, शिला०	वै०	रा० प०	पोद्दारजी
अर्थकी क्रिया	दंडनीति	वेदत्रयी	चातुरी	सेवा	उद्यम	उद्योग	यज्ञ
धर्मकी क्रिया	त्रयी	दंडनीति	सुश्रद्धा	श्रद्धा	अनुष्ठान	विधिपूर्वक अनुष्ठान	श्रद्धा
कामकी क्रिया	वार्ता	प्रियवार्ता	मित्रता	तपस्या	रति वा तपस्या	रति	योग
मोक्षकी क्रिया	आन्वीक्षिकी	आत्मज्ञान	भक्ति	भक्ति	भक्ति	विरति	ज्ञान

टिप्पणी—दोहेका भाव यह है कि जिनको योगीलोग देखते हैं वे ही श्रीदशरथजी महाराजको क्रियाओंसहित चार फलके समान मिले हैं।

जसि रघुबीर ब्याह बिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी॥ १॥
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडपु पूरी॥ २॥
कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे॥ ३॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी॥ ४॥
बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा॥ ५॥
लोकपाल अवलोकि सिहाने। लीन्ह अवधपति सबु सुखु माने॥ ६॥
दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। उबरा सो जनवासेहि आवा॥ ७॥

शब्दार्थ—भूरी=अधिकता, बहुतायत। कंबल=ऊनी वस्त्र। करनी=विधि, रीति। उबरा=बचा।

अर्थ—जैसी विधि श्रीरामचन्द्रजीके विवाहकी वर्णन की गयी, उसी रीतिसे सब कुमार ब्याहे गये। १। दहेजकी अधिकता कुछ कही नहीं जा सकती। मण्डप स्वर्ण और मणियोंसे भर गया। २। भाँति-भाँतिके बहुतसे ऊनी वस्त्र कम्बल विचित्र सूती वस्त्र और विचित्र पाटाम्बर (रेशमी कपड़े) जो बहुमूल्यके थे और थोड़े न थे (अर्थात् बहुत थे)।३। हाथी, रथ, घोड़े, दास और दासियाँ अलङ्कारोंसे सजी हुई कामधेनु-सरीखी गायें, इत्यादि॥ ४॥ अनेक वस्तुएँ थीं, उनका उल्लेख कैसे किया जा सके? जिन्होंने देखा वे ही जानते हैं, कही नहीं जा सकतीं॥ ५॥ लोकपाल देखकर सिहाने लगे। अवधेशजीने सभीको सुख मानकर ले लिया॥ ६॥ जिस याचकको जो भाया वही उसको दिया गया। जो बच रहा वह जनवासेमें आया॥ ७॥

टिप्पणी—१ [(क) ऊपर तीनों भाइयोंका विवाह तो कहा गया, पर कोई रीति व्यवहार नहीं कहे गये। केवल 'ब्याहि नृप भरतहि दई', 'सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि' और 'सो दई रिपुसूदनहि' इतना ही कहा गया। उस कमीको पूरा करने और संदेहनिवारणार्थ कहते हैं कि 'जसि...करनी।' इस कथनसे पूर्वकी सब विधियोंका वर्णन इन सबोंके विवाहमें भी आ गया] (ख) 'रहा कनक मनि मंडप पूरी' इति। कनक मणि चारों जोड़ियोंका उपमान है, यथा—'मरकत कनक बरन बर जोरी। ३१५। ७।', इसीसे इन्हें प्रथम लिखा। ये अन्य सब वस्तुओंसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि इनमें चारों जोड़ियोंकी उपमा मिली है,—'जो बड़ होत सो राम बड़ाई।' 'मनि' कहनेसे सब प्रकारकी मणियोंका ग्रहण हो गया। 'रहा मंडप पूरी' कहकर जनाया कि अब वहाँ और कनक तथा मणि रखनेकी जगह नहीं रह गयी। (ग) 'कंबल बसन पटोरे' कहकर जनाया कि वस्तु अनेक हैं, 'बिचित्र' से अनेक रंगके और 'भाँति-भाँति' से अनेक प्रकारके अर्थात् भिन्न-भिन्न बनावटके जनाये। 'बहु मोल'से कामदारी, जरकशी, कारचोबी आदि तथा स्वर्ण और मणियोंसे युक्त जनाया। (घ) 'गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत....' इति। गऊको अलङ्कृत करके (सींग, खुर सब सुवर्ण आदिसे भूषित किये जाते हैं, झूल ऊपरसे पहनायी जाती है, इत्यादि) दान करनेकी विधि है। यहाँ गऊको अलंकृत कहा और उसी पंक्तिमें गज, रथ, तुरग, दास और दासीको गिनाकर सूचित किया कि ये सब भी अलंकृत हैं। दास-दासी सेवाके लिये दिये। रानीकी सेवाके लिये दासियाँ और राजाकी सेवाके लिये दास दिये गये। 'गज' और 'तुरग' के बीचमें 'रथ' को लिखकर जनाया कि गजरथ दिये और तुरङ्ग रथ दिये। रथ हाथी और घोड़े जुते हुए दिये गये। (ङ) 'बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा'—भाव कि कुछ वस्तुओंका उल्लेख किया, इतनी अगणित वस्तुएँ हैं कि उनको गिनाया नहीं जा सकता। 'कहि न जाइ जानहिं

जिन्ह देखा' का भाव कि वस्तु देखते ही बनती है, कहते नहीं बनती; पुनः भाव कि जिन्होंने देखा है उनसे भी कहते नहीं बनती (तब मुझसे कैसे कहते बन पड़े ?—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का भाव इसमें आ गया)।

२ (क) 'लोकपाल अवलोकि' का भाव कि वहाँ सब लोकपाल (विप्रवेषमें) विद्यमान हैं, यथा—'बिधि हरिहरु दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ॥ कपट बिप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए॥ १। ३२१।' प्रथम कहा कि 'कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा', अब देखनेवालोंका हाल कहते हैं कि लोकपालोंने देखा तो ललचाने लगे, ईर्ष्यापूर्वक प्रशंसा करने लगे। (ख) 'लीन्ह अवधपति…'—'अवधपति' कहनेका भाव कि अवधमें बड़ा भारी ऐश्वर्य है, यथा—'अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥ ७। २६।', 'अवधराजु सुरराजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनद लजाई॥ २। ३२४।' ऐसे ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीअवधके वे स्वामी हैं तब इनको कोई क्या देगा ? 'लीन्ह सब सुख माने' का भाव कि उनको कोई कमी न थी कि लेते, परंतु वे बड़े कृपालु चित्तके हैं, उन्होंने (केवल राजा जनकके सम्मानार्थ) सब ले लिया और उसमें बहुत सुख माना। अर्थात् संतुष्ट हो गये कि जनकजीने हमें बहुत दिया। (ग) 'दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा' इति। भाव यह कि इतना दायज दिया गया कि उसको लेनेभरको याचक भी न मिले तब जनवासेमें आया। याचक यही 'कंबल बसन बिचित्र पटोरे' बिछा-बिछाकर मणि और सोना बाँध-बाँधकर लाद-लादकर ले-ले गये।

गौड़जी—यहाँ राजा जनकका तो वह वैभव वह ऐश्वर्य कि उनके दानके धनको देखकर कुबेर दाँतों तले अँगुली दबाते हैं; उधर 'अवधपति' की वह बेपरवाई कि बेतकल्लुफ लेकर आम हुक्म दे देते हैं कि भाई, जिसे जो कुछ पसन्द आये ले ले। विरागी राजा जनकके अप्रतिम ऐश्वर्यको देखकर राजा दशरथको लेशमात्र आश्चर्य, राग वा मोह न हुआ, मानो उन्होंने जो कुछ दिया उसकी कोई कीमत न थी। वहीं लुटा दिया। परंतु वह धन भी इतना अधिक था कि याचकोंके ले-लेनेपर और तृप्त हो जानेपर भी बच रहा। एक अर्द्धालीमें कविने जनक और दशरथ दोनोंका अतुल ऐश्वर्यका खुले हाथों दान व्यंजित किया है। बेटेको बापसे बढ़ा हुआ होना ही है। आगे जाकर कहेंगे—'जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥'

तब कर जोरि जनकु मृदु बानी। बोले सब बरात सनमानी॥ ८॥

छंद—सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै।
प्रमुदित महामुनिबृंद बंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कै॥
सिरु नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किए।
सुर साधु चाहत भाउ सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए॥ १॥
कर जोरि जनकु बहोरि बंधु समेत कोसलराय सों।
बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों॥
संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये।
येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये॥ २॥
ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई*।
अपराधु छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यौं कई†॥

* मई—१७२१, १७६२, को० रा०। नई—१६६१, १७०४।

† कई—१६६१, रा० प्र०, १७०४, को० रा०। दई—१७२१, १७६२, छ०। 'ढीठ्यौं०' भाववाचक कर्मकारक है। परंतु इस तरहका भाववाचकरूप इस ग्रन्थमें अन्यत्र प्रयुक्त हुआ याद नहीं पड़ता, सम्भवतः इसीसे 'दई' पाठ कर दिया गया हो। 'दई' पाठका अन्वयार्थ होगा—'हे दई (देव)! मैं बहुत ढीठ हूँ।' यदि 'दई' को ठीक मानें तो 'ढीठ्यौं' पाठ चिन्त्य है। अन्वयके साथ 'ढीठो' ही ठीक होता। 'हे' सम्बोधन चिह्न विवक्षित है। दई = देव।

मुनि भानुकुलभूषन सकल सनमान निधि समधी किए।
कहि जाति नहिं बिनती परस्पर प्रेम परिपूरन हिए॥ ३॥

शब्दार्थ—प्रेम लड़ाइकै=बड़े लाड़-प्रेमसहित। संपुट किये=अंजलि बाँधे हुए। सम्बन्ध-नातेदारी। गथ=मूल्य, दाम, यथा—'बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए। ७। २८।'

अर्थ—(राजा जनकने) आदर, दान, विनती और बड़ाई करके सब बारातका सम्मान कर बड़े ही आनन्दपूर्वक महामुनियोंके समाजकी बहुत प्रेमसंयुक्त पूजा करके वन्दना की। (वे) प्रणाम करके, देवताओंको मनाकर, हाथ जोड़े हुए सबसे कहते हैं कि देवता और सन्त तो भाव चाहते हैं (भावके भूखे हैं), कहीं एक अंजलि जल देनेसे समुद्र संतुष्ट (तृप्त) हो सकता है?॥ १॥ फिर भाईसहित जनकमहाराज हाथ जोड़कर कोसलराज दशरथजीसे प्रेम और शील-स्वभावसे सने हुए मनोहर वचन बोले कि 'हे राजन्! आपके सम्बन्धसे अब हम सब प्रकारसे बड़े हुए, इस राजसाजसमेत हमको बिना दामका लिया हुआ सेवक समझिये॥ २॥ इन लड़कियोंको टहलनी मानकर इनका पालन-पोषण नित्यनवीन दया करके कीजियेगा। मेरा अपराध क्षमा कीजिये, मैंने बहुत बड़ी ढिठाई की कि आपको यहाँ बुला भेजा। फिर रघुकुलभूषण श्रीदशरथजीने समधीको सम्पूर्ण सम्मानका निधि कर दिया। उनकी आपसकी विनती कही नहीं जाती, दोनोंके हृदयमें प्रेम परिपूर्ण भरा है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'तब कर जोरि···' अर्थात् जब दहेज दे चुके (याचक चले गये और दहेज जनवासेमें चला गया) तब बारातका सम्मान किया। (ख) 'सनमानि···आदर दान बिनय बड़ाइ कै'—'आदरदान' करके सम्मान किया, मृदु वाणीसे विनय और बड़ाई की। यथा—'सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी॥ ३२१। ५।' (ग) 'प्रमुदित महामुनिबृंद बंदे' कहनेसे सूचित हुआ कि बारातियोंकी अपेक्षा मुनियोंमें विशेष भाव है। (महामुनियोंके समाजकी 'प्रेम लड़ाइ' 'प्रेम लड़ाकर' पूजा की और वन्दना की। प्रेम लड़ानेका विशेष अभिप्राय यह है कि केवल राजाकी ओरसे प्रेम-पूर्ण पूजा थी यह बात नहीं है। महामुनियोंके समाजको भी विदेहराजसे घनिष्ठ प्रेम है। दोनों ओरसे अधिकाधिक प्रेमका मुकाबला हो रहा है, इसी अभिप्रायसे 'लड़ाना' शब्दका प्रयोग है। 'प्रमुदित' दोनोंमें लगता है। प्रेम लाड़से वे भी प्रमुदित हुए)। (घ) 'सिरु नाइ देव मनाइ' अर्थात् प्रणाम करके और प्रार्थना करके। (ङ) 'सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये', यथा—'भावमिच्छन्ति देवताः', 'अपांनिधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्य प्रतिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूर्णता स्याद् भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः॥' भाव यह कि आप समुद्र हैं, हमारा यह सब आदर-दान आदि अञ्जलिभर जल है। तात्पर्य कि जैसे समुद्रका अञ्जलिभर जल लेकर समुद्रको दिया जाय, वैसे ही हमारा सब द्रव्य सुरसाधुके प्रसादसे है, आपका दिया हुआ है, तब मैं भला आपको क्या दे सकता हूँ!

नोट—१ बाबा हरिदासजीने 'सिंधु' के बदले 'भानु' पाठ दिया है। वे कहते हैं कि समुद्रको जलाञ्जलि नहीं दी जाती और सूर्यको जल दिया ही जाता है। परंतु सर्वत्र 'सिंधु' ही पाठ मिलता है। दूसरे समुद्र तीर्थपति है, उसकी देवताओंमें गिनती है। उपर्युक्त श्लोक भी 'सिंधु' पाठका पोषक है।

२ गौड़जी—समुद्र देवता है। उसकी पूजामें यदि हम अर्घ्यके लिये तीन अञ्जलि जल दें, तो उसे हमारे पूजा-भावसे 'तोष' अवश्य होगा, उसे जलकी मात्रासे तोष नहीं होगा। क्योंकि वह तो स्वयं जलनिधि है। भाव यह है कि मैं आपको क्या देने लायक हूँ। जो देनेकी हिम्मत (साहस) कर रहा हूँ उसके तो आप सागर हैं। मैं तो केवल अपना सद्भाव इस रूपमें प्रकट कर रहा हूँ। एक अञ्जलि जलसे समुद्रकी कौन-सी कमी पूरी होगी, या कौन-सा जल-धन बढ़ जायगा?

टिप्पणी—२ (क) 'कर जोरि जनक बहोरि···' इति। (बहोरिसे जनाया कि पहले भी विनती की थी, अब भाई-सहित विनती करते हैं। अथवा, महामुनिवृन्द और देवताओंसे विनय करनेके पश्चात् अब कोसलराजसे विनय करते हैं)। 'कर जोरि' यह तन वा कर्म है, 'बोले मनोहर बयन' यह वचन और 'सनेह' मनका कर्म है; अर्थात् विनयमें तन-मन-वचन तीनों लगाये हैं। (ख) राजाने बारातियोंको 'दान, मान, विनती, बर बानी' से और मुनियों तथा देवताओंको प्रेमसे संतुष्ट किया, दशरथजी महाराजको दहेज देकर और बन्धुसहित मनोहर वाणीसे संतुष्ट किया। (ग) 'एहि राजसाज समेत···' अर्थात् जहाँतक यह राज्य है और जितना हमारा साज (अर्थात् लक्ष्मीका विलास) है, इसको अपना जानिये।

'बिनु गथ लये' अर्थात् हम बिना मोलके आपके हाथ बिके हैं।

३ (क) 'बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यों कई' इति। बुलाकर कन्या दी, यह हमारी बड़ी भारी ढिठाई (धृष्टता) है। तात्पर्य कि हमें उचित था कि कन्या लेकर आपके यहाँ जाकर देते। हम आपके दास हैं, आप स्वामी हैं। सेवकको उचित है कि स्वामीको न बुलावे, स्वयं स्वामीके पास जाय। (ख) 'पुनि भानुकुलभूषन सकल सनमाननिधि...' इति। भानुकुलभूषणका भाव कि भानुवंश बहुत ही महिमावाला है, उसके भी आप भूषण हैं, इसीसे आपने बड़ा सम्मान किया, जैसे आप समुद्रके समान बड़े हैं वैसे ही समुद्रके समान सम्मान किया। ☞ यहाँ यह दिखाते हैं कि जो जैसा ही अधिक बड़ा है, कुलवान् है, वह वैसा ही दूसरेका सम्मान करता है। यथा—'सनमाने प्रिय बचन कहि रबिकुल-कैरव-चंद।', 'राम कस न तुम्ह कहहु अस हंसबंस अवतंस। २। ९', 'गए जनकु रघुनाथ समीपा। सनमाने सब रघुकुलदीपा॥ २। २९६।' वैसे ही हंस-वंश-अवतंस श्रीदशरथजीने श्रीजनकजी और श्रीकुशध्वजजीका बड़ा भारी सम्मान किया। ['सकल सनमाननिधि समधी किये' का भाव यह है कि उनके आदर-सत्कारकी इतनी प्रशंसा की, मानो उनको सम्मानका समुद्र ही बना दिया। जैसे, कहा कि दान देनेवाला बड़ा होता है न कि लेनेवाला, दाता प्रतिगृहीतासे सदा ही बड़ा है। आपने हमें कन्या दानमें दी, भला आपके बराबर कौन हो सकता है? आप दोनों भाइयोंके असंख्य गुण हैं। आपने ऋषियों और सब बारातियोंका बड़ा उत्तम सत्कार किया। आपकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, इत्यादि रीतिसे उनका सम्मान किया, यथा—'प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा॥' (वाल्मी० १। ६९। १४), 'युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ। ऋषयो राजसङ्घाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः॥ १। ७२। १८।']। (ग) 'कहि जाति नहिं बिनती परस्पर...' इति। शंका—'परस्पर विनती करना कैसे कहा? राजा जनकका विनती करना योग्य ही है, पर दशरथजी महाराजका विनती करना तो उचित नहीं हो सकता?' समाधान—श्रीदशरथजी महाराजका सम्मान और श्रीजनकजीकी विनती परस्पर कही नहीं जाती (यह अर्थ है)। 'कर जोरि जनक बहोरि बंधु समेत...' यहाँसे प्रारम्भ किया और 'कहि जाति नहिं बिनती परस्पर' पर समाप्ति की। अथवा, श्रीदशरथमहाराजने सम्मानका समुद्र कर दिया और जनकजीकी विनती कही नहीं जाती अर्थात् यह भी समुद्रवत् है। परस्परके प्रेमसे दोनोंके हृदय परिपूर्ण हैं, (इस प्रकार अर्थ है)।

छं०—बृंदारकागन सुमन बरिसहिं राउ जनवासेहि चले।
दुंदुभी जय धुनि बेदधुनि नभ नगर कौतूहल भले॥
तब सखी मंगल गान करत मुनीस आयेसु पाइ कै।
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै॥

दो०—पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मनु सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छबि प्रेम पिआसे नैन॥३२६॥

शब्दार्थ—बृंदारक=देवता। कौतूहल=कुतूहल=कौतुक=तमाशा=आनन्द। कोहबर=वह स्थान या घर जहाँ विवाहके समय कुलदेवता स्थापित किये जाते हैं और जहाँ कई प्रकारकी कुलरीतियाँ और अनेक हास-विलासकी बातें की जाती हैं। काष्ठजिह्वास्वामी इसे 'कौतुकघर' कहते हैं। ऐसा भी कहते हैं कि यहाँ वर नेगके लिये रूठता है इससे इसका नाम कोहबर हुआ।

अर्थ—राजा जनवासेको चले, देवतावृन्द फूल बरसाने लगे, आकाश और नगरमें नगाड़ेकी ध्वनि, जयध्वनि और वेदध्वनि हो रही है। आकाश और नगर दोनोंमें खूब कौतूहल हो रहा है। तब मुनीश्वरकी आज्ञा पाकर सुन्दरी सखियाँ मंगलगान करती हुई दुलहिनोंसहित दुलहोंको लिवा लेकर कोहबरको चलीं। सीताजी बारंबार रामजीको देखती हैं। (फिर) सकुचा जाती हैं, पर मन नहीं सकुचता, प्रेमपियासे नेत्र सुन्दर मछलीकी छबिको हर रहे हैं॥ ३२६॥

टिप्पणी—१ (क) 'बृंदारकागन सुमन...' इति। जब राजा जनवासेको चले तब देवता आदि सभी उनको प्रसन्न करनेके लिये अपनी-अपनी सेवा करने लगे। देवता फूल बरसाते और नगाड़े बजाते तथा जय-जयकार कर रहे हैं, मुनि लोग वेदध्वनि करते हैं और (नट आदि) कौतुकी लोग कौतुक दिखा रहे हैं। ['कौतूहल भले' के भाव कि सर्वत्र भली प्रकार आनन्द छा रहा है। अथवा, अनेक प्रकारके अच्छे-अच्छे तमाशे हो रहे हैं। 'भले' के दोनों

अर्थ होते हैं। भली प्रकार, खूब या बहुत; और अच्छे-अच्छे]। (ख) 'तब सखी''' कोहबर ल्याइ कें'—विवाह पश्चात् बारात तो जनवासेको लौट जाती है, पर दूलह कोहबरमें जाता है, यह लोकरीति है।

२ 'पुनि पुनि रामहि चितव सिय''' इति। (क) समञ्जन (परस्पर अवलोकन) की रीति-रस्मको छोड़ जबतक श्रीसीताजी मण्डपतले रहीं, तबतक उन्होंने लज्जाके मारे श्रीरामजीकी ओर नहीं देखा। अब एकान्त है, केवल सखियाँ हैं, सो भी चलती फिरती हैं, गान करती हैं, हास्य कर रही हैं, अतः यह अच्छा मौका समझकर समय पाकर पुनः देख रही हैं, पर यहाँ भी सखियोंका संकोच है, लोकलाजको निबाहना है; (अतः संकोचसे दृष्टि श्रीरामजीकी ओरसे हटाकर नीचे कर लेती हैं। पर मनमें तो दर्शनोंकी भारी लालसा होनेसे फिर देखने लगती हैं। नेत्रोंको संकोच होता है, फिर भी मनकी उत्सुकता और प्रेमजलकी प्यास दृष्टिको बारंबार उधर कर देती है। देखती हैं फिर दृष्टि हटा लेती हैं, फिर मौका पाकर देखती हैं, इत्यादि। अतः 'पुनि पुनि चितव' कहा)। (ख) 'हरत मनोहर मीन छबि' इति। मीनके दृष्टान्तका भाव कि जैसे मछली स्थिर नहीं रहती वैसे ही श्रीरामजीके दर्शनोंके लिये नेत्र थिर नहीं हैं; जैसे मीनकी छबि जलके प्रेमसे है, वैसे ही नेत्र श्रीरामजीके प्रेमके प्यासे हैं, (जैसे मछली जलके लिये छटपटाती है, वैसे ही नेत्र दर्शनजलके लिये आकुल हैं)। नेत्रोंकी उपमा मीन है। 'नेत्र मनोहर मीनकी छबिको हरते हैं' यह कहकर जनाते हैं कि मनोहरसे भी अधिक मनोहर हैं। (ग) 'प्रेम पिआसे नैन''' इति। यहाँ श्रीरामजीके प्रति जो प्रेम है वही जल है। नेत्र प्यासे हैं, इसीसे पलभर भी नहीं छोड़ सकते, जैसे मछली जलको पलभर भी नहीं छोड़ सकती। प्रेमके प्यासे नेत्र मीनकी छबिको हरण करते हैं यह कहकर जनाया कि मीनसे उनमें विशेषता है; वह यह कि मछली जब जलमें रहती है तब प्यासी नहीं रहती पर श्रीजानकीजीके नेत्र श्रीरामजीको देखते हुए भी प्यासे हैं, देखनेसे तृप्ति नहीं होती। (घ) भीतरकी इन्द्रियोंमें मन प्रबल है, सो श्रीराम-जीमें लगा हुआ है, वह नहीं सकुचाता। बाह्येन्द्रियोंमें नेत्र प्रबल हैं, सो वे दर्शनके प्यासे हैं। यथा—'दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन॥ २। २६०।' 'निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन। ५। ८।' 'बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥' अतः मन और नेत्र दोनों ही पलभर भी दर्शन नहीं छोड़ना चाहते, इसीसे बार-बार देखते हैं।

प० प० प्र०—'हरत मनोहर मीन छबि''' इति। मछली जलमें रहकर भी उसके अंदर जल नहीं पी सकती। वैसे ही श्रीसीताजी भी श्रीरामरूपसागरमें तैरती तो थीं पर मनसे, नेत्रोंकी प्यास बुझानेके लिये नयन—मीनोंको ऊपर उड़ाना पड़ता है किन्तु संकोचसे मीनरूपी नेत्रोंको फिर नीचे गिराना पड़ता है जैसे जलाशयमें पानी पीनेको मीन। यह मछलीका स्वभाव है। ☞ इससे बताया कि स्त्रीसमाजमें स्त्रीस्वभावसुलभ लज्जा और सुशीलता कितनी थी।

स्याम सरीरु सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥ १॥
जावक-जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥ २॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बालरबि दामिनि जोती॥ ३॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥ ४॥

शब्दार्थ—सुभाय=स्वाभाविक, बिना किसी शृङ्गारके ही। जावक (यावक)=महावर।

अर्थ—साँवला शरीर स्वाभाविक ही सुन्दर है। करोड़ों कामदेवोंकी शोभाको लज्जित करनेवाला है॥ १॥ महावरसे युक्त (अर्थात् महावर लगे हुए) चरण-कमल शोभा दे रहे हैं कि जिनमें मुनियोंके मनरूपी भौंरे छाये रहते हैं॥ २॥ पवित्र मन हरनेवाली सुन्दर पीली धोती प्रातःकालके उदयकालीन सूर्य और बिजलीकी ज्योतिको हरे लेती है॥ ३॥ सुन्दर किंकिणी और कटिसूत्र (करधनी, तागड़ी) मनको हरनेवाले हैं। विशाल (घुटनेपर्यन्त लम्बी भुजाओंमें सुन्दर विभूषण पहने) हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'स्याम सरीरु सुभाय''' इति। (क) स्त्रियोंकी भावना शृङ्गारकी है, और शृङ्गारका वर्ण श्याम है—'श्यामो भवति शृङ्गारः'। इसीसे शृङ्गारवर्णनमें प्रथम श्यामरंगका ही वर्णन किया। (ख) 'सुभाय सुहावन' कहनेका भाव कि आगे आभूषणोंसे श्यामशरीरकी शोभा कहनेको हैं (इससे कोई यह न समझ बैठे कि शरीर स्वयं सुहावन नहीं है), इसीसे यहाँ प्रथम ही कहे देते हैं कि श्यामशरीर स्वाभाविक ही सुन्दर है, कुछ आभूषणोंसे नहीं। (ग) यहाँ श्यामशरीरकी

कोई उपमा नहीं दी, क्योंकि पूर्व लिख चुके हैं, यथा—'नीलसरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ॥ १४६ ।' ('केकि-कंठदुति स्यामल अंगा ॥ ३१६ । १') । (घ) 'सोभा कोटि मनोज लजावन' इति । कामदेवको लजानेवाला कहनेका भाव कि कामदेव श्याम है और श्रीरामजीका शरीर भी श्याम है, इसीसे सर्वत्र कामका ही लज्जित होना लिखते हैं । यथा—'नील सरोरुह ···। लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥ १४६ ।' तथा यहाँ ।

२ (क) 'जावक जुत·····' इति । 'पद कमल' कहनेका भाव कि चरणोंकी ललायी कमलकी ललायीके समान है, उनकी-सी ललायी महावरमें नहीं है । यहाँ चरणोंकी शोभा महावरसे नहीं कहते, वे सहज ही सुन्दर हैं । 'मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए'—चरणोंमें मुनिके मन छाये रहते हैं । यह भी चरणोंकी शोभा है । 'जावकजुत पद कमल सुहाए' यह चरणोंके रूपकी शोभा है—(महावर चरणोंके ऊपरी भागमें, उँगलियोंमें और पैरके चारों ओर लगाया जाता है । यह लाल रंगका होता है जो लाखसे बनाया जाता है । विवाह आदि मङ्गल अवसरोंपर ही दूलहके चरण इससे चित्रित किये जाते हैं, नहीं तो केवल सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही इससे अपने चरणोंको चित्रित करती हैं । प्रायः नाइनोंद्वारा महावर लगवाया जाता है । महावरकी विचित्र रचना भी सुन्दर लगती है, यह विवाह-समयकी शोभा है । 'मुनिमन···' यह चरणोंके माहात्म्यकी शोभा है । (ध्यान तलवों और नखोंका किया जाता है । विशेषकर तलवों और चरणचिह्नोंका ध्यान पाया जाता है; इस तरह 'मुनि मन··' से पदतलकी शोभाको ले सकते हैं) । (ख) 'मुनि मन मधुप रहत·····' इति । (मुनिके मन मधुप हैं । भौंरे कमलमकरंदका पान करते हैं) । मन पदकमलके मकरंदका पान करते हैं, इसीसे पदको 'सुहाये' कहते हैं । पदकमलोंकी शोभा ही उनका मकरन्द है, यथा—'मुख सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान ॥ २३१ ।' छबि और शोभा पर्याय हैं । (ग) 'छाये' का भाव कि भ्रमर कमलको छोड़कर चला भी जाता है पर मुनिके मन-मधुप प्रभुके चरणोंका दिन और रात बराबर सेवन करते हैं, कभी साथ नहीं छोड़ते । यथा—'रामचरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजै न पासू ॥ १ । १७ ।' (अथवा, जैसे भौंरा दिन-रात साथ नहीं छोड़ता, वैसे ही मुनि-मन सदा साथ रहते हैं । भौंरा रात्रिमें कमलके भीतर बंद हो जाता है, मुनिके मन चरणोंके ध्यानमें सोते हैं । भौंरा रात्रिमें मकरन्द पान नहीं करता पर मुनियोंके मन रात्रिमें भी सेवन करते हैं, यह विशेषता है) ।

३ 'पीत पुनीत मनोहर धोती·····' इति । (क) विवाहमें वर पीला वस्त्र धारण करता है (और श्रीरामजीके ध्यानमें सर्वत्र पीताम्बर धोती कही गयी है) । 'पुनीत' कहकर रेशमी सूचित किया । 'पीतपुनीत' अर्थात् पीताम्बरी है । (बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि पीतरंग और दोनों ओर अँचरावली होनेसे 'पुनीत' कहा) । 'मनोहर' अर्थात् बनावट सुन्दर है । (ख) 'हरति बालरबि दामिनि जोती' इति । 'हरति' का भाव कि जैसे सूर्यकी द्युतिके आगे चन्द्रमाकी द्युति हर जाती है वैसे ही पीताम्बरी धोतीकी द्युतिके आगे बालरवि और दामिनीकी द्युति हर जाती है । बालरविकी ज्योतिको हरण करती है अर्थात् बहुत प्रकाशमान है, उसमेंसे किरणें उत्पन्न होती हैं । 'हरति दामिनि जोती' से जनाया कि बहुत चमचमाती है । 'बालरबि' कहकर सूचित किया कि कुछ अरुणता लिये हुए है । [बालरविकी किरणें सुनहली होती हैं, इससे रङ्ग लिया और बिजलीसे चमक और चकाचौंधका भाव लिया । 'हरति बालरबि···' का भाव कि रङ्ग और चमकमें दोनों मिलकर भी पीताम्बरके सादृश्यको नहीं पहुँच सकते । (गौड़जी)]

४ 'कल किंकिनि कटि सूत्र मनोहर ।···' इति । 'कल' कहकर मधुर ध्वनि करनेवाली जनाया, यथा—'कलो तु मधुरध्वनिः' । 'कटिसूत्र' को मनोहर कहकर सूचित किया कि यह बड़ी कारीगरीसे बनाया गया है । 'बिभूषन'=विशेष भूषण हैं अर्थात् भारी मूल्यके हैं, सुन्दर हैं, बनावट उत्तम है ।

पीत जनेउ महाछबि देई । कर मुद्रिका चोरि चितु लेई ॥ ५ ॥
सोहत ब्याह साज सब साजे । उर आयत उर भूषन राजे ॥ ६ ॥
पिअर उपरना काँखा-सोती । दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती ॥ ७ ॥
नयन कमल कल कुंडल काना । बदनु सकल सौंदर्ज निधाना ॥ ८ ॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा । भाल तिलकु रुचिरता निवासा ॥ ९ ॥
सोहत मौरु मनोहर माथें । मंगलमय मुकुता मनि गाथें ॥ १० ॥

शब्दार्थ—मुद्रिका=वह अँगूठी जिसपर नाम या चिह्न नगमें खुदा होता है। पिअर=पीला। उपरना=दुपट्टा। कॉंखाधोती=दुपट्टा डालनेका एक ढङ्ग जिसमें दुपट्टेको बाएँ कंधे और पीठपरसे ले जाकर दाहिने बगलके नीचेसे निकालते हैं और फिर बाएँ कंधेपर डाल लेते हैं। जनेऊकी तरह दुपटा डालनेका ढङ्ग। आँचर, (आँचल, अंचल)=बिना सिले हुए वस्त्रोंके दोनों छोरोंपरका भाग, पल्ला, छोर।

अर्थ—पीला जनेऊ बड़ी ही छवि दे रहा है। हाथकी अँगूठी चित्तको चुराये लेती है॥ ५॥ ब्याहसाज साजे हुए सोह रहे हैं। छाती चौड़ी है, उसपर उर-भूषण विराजमान हैं॥ ६॥ पीला दुपट्टा कॉंखासोती पड़ा है, उसके दोनों किनारों (छोरों) पर मणि और मोती लगे हुए हैं॥ ७॥ सुन्दर कमल-समान नेत्र हैं, कानोंमें सुन्दर कुण्डल हैं और मुख तो सम्पूर्ण सुन्दरताका खजाना ही है॥ ८॥ भौंहें सुन्दर हैं, नासिका मनोहर है। माथेपर तिलक सुन्दरताका निवासस्थान है॥ ९॥ माथेपर मङ्गलमय मणि-मुक्ताओंसे गुँथा हुआ सुन्दर मनोहर मौर सोह रहा है॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) 'पीत जनेउ""' इति। बाहुका वर्णन किया। बाहुके समीप यज्ञोपवीत है, इसीसे यहाँ यज्ञोपवीतका वर्णन किया। यथा—'केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ॥ १४७। ७।' 'पीत जनेउ'—श्रीरामजी सदा पीत जनेऊ धारण करते हैं, यथा—'पीत यज्ञ उपबीत सुहाए। २४४। २।' और विवाहमें तो पीत जनेऊ पहननेकी विधि ही है। 'महाछबि देई'—भाव कि श्याम रंगपर पीत रंगकी शोभा बहुत होती है, यही श्याम शरीरमें पीत जनेऊका महाछवि देना है। (ख) 'कर मुद्रिका चोरि चितु लेई' इति। 'करमुद्रिका' कहनेका भाव कि मुद्रिका मुहर छापकी भी होती है तथा एक नवग्रह-शान्तिकी भी होती है और हाथमें पहननेकी होती है; यह मुद्रिका हाथमें पहननेवाली है। 'चोरि चितु लेई' का भाव कि यह श्रीरघुनाथजीके हाथकी है उसपर भी अत्यन्त सुन्दर है, इसीसे चित्तको चुरा लेती है। 'चुरा लेने' का भाव कि मुद्रिकाको देखकर लोग विदेह हो जाते हैं तब वह चित्तको खींच लेती है।

२ (क) 'उर आयत उर भूषन राजे' इति। उर विस्तृत है। यहाँ अङ्गका लक्षण कहनेसे पाया गया कि सब अङ्गोंके लक्षण भी दिखाये गये हैं। पद कमल अर्थात् अरुण हैं, 'कटि सूत्र मनोहर' से कटिका पतली होना कहा, बाहु विशाल अर्थात् लम्बे हैं, वक्षःस्थल विस्तृत है। इसी तरह आगे 'नयन कमल' से कमलदलसमान बड़े-बड़े जनाये। ये सब अङ्गोंके लक्षण हैं, यथा—'राज लषन सब अंग तुम्हारे। २। ११२।' उर आयत है; इसीसे भूषण शोभा पा रहे हैं। 'उर-भूषण' बहुत हैं, इसीसे उनकी गणना न की। [मुक्तामाल, मणिहार, पदिक, मूँगमाल, वनमाल, वैजयन्तीहार इत्यादि; यथा—'उर मुकुतामनिमाल मनोहर मनहुँ हंस अवली उड़ि आवति॥ हृदय पदिक भृगुचरन चिन्ह बर""' (गी० ७। १७), 'भृगु पद चिन्ह पदिक उर सोभित मुकुतमाल कुंकुम अनुलेपन' (गी० ७। १६), 'रुचिर उर उपबीत राजत पदिक गजमनिहारु' (गी० ७। ८), 'बिबिध कंकनहार उरसि गजमनिमाल मनहुँ बगपाँति जुग मिलि चली जलद ही।' (गी० ७। ६); 'उरसि राजत पदिक ज्योति रचना अधिक, माल सुबिसाल चहु पास बनि गजमनी। श्याम नव जलद पर निरखि दिनकर कला, केतुकी मनहुँ रही घेरि उडुगन अनी॥' (गी० ७। ५), 'उरसि तरुन तुलसिमाल, मंजुल मुकुतावलि जुत जागति जिय जोहैं। जनु कलिंदनंदिनी मनि-इंद्रनील सिखर परसि धँसति लसति हंसस्रेनि संकुल अधिको हैं'। (गी० ७। ४), 'भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई' (गी० ७। ३)। हमने गीतावलीके उदाहरण कई एक इसलिये दिये हैं कि इनमें उत्प्रेक्षाएँ सुन्दर-सुन्दर हैं जिनसे 'राजे' का भाव निकल आता है]। (ख) 'राजे' अर्थात् दीप्तिमान् हैं, मणियोंका प्रकाश हो रहा है। 'राज दीप्तौ'।

३ 'पिअर उपरना काँखा सोती।""' इति। (क) पीत रङ्ग माङ्गलिक है। विवाहमें पीतवस्त्र धारण किये जाते हैं, इसीसे ग्रन्थकार सर्वत्र पीत लिखते हैं, यथा—'पीत पुनीत मनोहर धोती', 'पीत जनेउ महा छबि देई', 'पीत उपरना' इत्यादि। (ख) 'दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती'—मणि-मोतीके लगनेसे पाया गया कि दुपट्टा कामदार है, कारचोबीका काम है, छोरोंपर मणि-मोतीका काम है। (ग) 'पीत' से रङ्गकी, 'काँखासोती' से पहनावेकी और 'लगे मनि मोती' से बनावटकी शोभा कही। (घ) सर्वत्र सुन्दरतावाचक शब्द दिये, परंतु यहाँ 'पिअर उपरना""' में नहीं दिया। भाव यह कि 'पीत' की शोभा दो बार लिख आये—'पीत पुनीत मनोहर धोती।""' और 'पीत जनेउ महाछबि देई।""', इसीसे यहाँ शोभावाचक शब्द नहीं लिखा। (यहाँ भी समझ लेना चाहिये)।

४ 'नयन कमल कल कुंडल·····' इति। (क) 'कल' देहलीदीपक है। नयन कमलदलके समान बड़े और कर्ण-पर्यन्त हैं, यथा—'अरुन-राजीव दल नयन करुनाअयन' (गी० ७। ६), 'अरुन अंभोज-लोचन बिसाल' (विनय), 'कर्णान्त-दीर्घ-नयनं' (स्तोत्र)। (ख) नेत्र कर्णपर्यन्त हैं, इसीसे उनके समीपस्थित कर्णोंकी शोभा वर्णन की। (ग) 'बदन सकल सौंदर्ज निधाना' इति। 'सकल' देहलीदीपक है, सकल वदन और सकल सौंदर्य। 'सकल बदन' अर्थात् ठोढ़ी (चिबुक), ओष्ठ, दंतपंक्ति, कपोल ये सब सौन्दर्यनिधान हैं। 'सकल सौंदर्य' अर्थात् बनावकी सुन्दरता, द्युतिकी सुन्दरता और लालित्यकी सुन्दरता। (अथवा माधुर्य, लावण्य आदि जितने सुन्दरताके अङ्ग हैं वे सब)।

गौड़जी—जगज्जननी श्रीजानकीजीकी शोभाके प्रसङ्गमें कहा था कि 'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई॥' अर्थात् कविगण जिसे सुन्दरता कहते हैं वह कैसी कल्पना हो सकती है और जिसे छवि कहते हैं वह कैसी शोभा हो सकती है, यह पहले कल्पनामें आ नहीं सकती थी। यहाँ कल्पनातीत महासुन्दरता और अगोचर छविने प्रत्यक्ष होकर दिखा दिया कि देखो प्रकृत अलौकिक सौन्दर्य यह है जो कि सुन्दरताकी कल्पनासे भी अत्यन्त ऊँचा है, देखो प्रकृत अलौकिक छवि यह है, इसी छविके एक रश्मिमात्रसे स्थूल सौन्दर्य सुशोभित है। वहाँ तो सुन्दरता-सुखमूलकी चर्चा है। यहाँ मुख 'सारे सौन्दर्यका खजाना' है। जो कुछ जहाँ कहीं सौन्दर्य है, इसी खजानेसे बरामद हुआ है, मगर यह वह खजाना है जिसके लिये श्रुति कहती है ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥' इसीमेंसे प्रकृतिका पूर्ण सौन्दर्य श्रीमैथिलीजीके रूपमें दूसरी ओर प्रकट है। पूर्णसे पूर्ण निकला फिर भी पूर्ण ही बचा।

टिप्पणी—५ (क) 'सुंदर भृकुटि मनोहर नासा' इति। 'भृकुटि मनोज चाप छबिहारी। १४९। ४।' में भृकुटि-की शोभाकी उपमा दे चुके हैं, इसीसे यहाँ 'सुंदर भृकुटि' इतना ही कहा। (ख) 'भाल तिलक रुचिरता निवासा' का भाव कि तिलककी शोभाका निवास समस्त भाल (ललाट) में है, यथा—'तिलक ललाट पटल दुतिकारी। १४७। ४।'. (मिलान कीजिये—'तिलक-रेख सोभा जनु चाकी। २१९। ८।' गीतावलीमें उत्प्रेक्षाद्वारा तिलककी शोभा यों कही गयी है—'भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु। भ्रमर द्वै रबि किरनि ल्याए करन जनु उनमेखु॥' (७। ९) 'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलक रेख रुचि राजे। मनहु मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजे। ५। १२।')

६ 'सोहत मौरु मनोहर·····' इति। (क) 'मनोहर' देहलीदीपक है। मौर भी मनोहर और मस्तक भी मनोहर। ऐसा ही पूर्व कहा है, यथा—'रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस। २१९।' में चौतनी भी सुन्दर और सिर भी सुन्दर कहा गया। (ख) 'मंगलमय मुकुता मनि' इति। 'मंगलमय' कहनेसे पाया गया कि मुक्ता और मणि अमङ्गलमय भी होते हैं। मौर मङ्गलकी चीज है, इससे उसमें मङ्गलमय मुक्तामणि गुँथे हैं। मुक्ता और मणि पृथक्-पृथक् हैं। मणि अनेक रंगकी होती है, मौरमें अनेक रंगकी मणियाँ लगती हैं; इसीसे आगे छन्दमें मणिको पृथक् कहा है, यथा—'गाथे महामनि मौरु मंजुल'।

छंद—गाथें महामनि मौरु मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुरनारि सुर सुंदरी बरहि बिलोकि सब तिन तोरहीं॥
मनि बसन भूषन वारि आरति करहिं मंगल गावहीं।
सुर सुमन बरिसहिं सूत मागध बंदि सुजसु सुनावहीं॥ १॥
कोहबरहि आने*कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइकै।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइकै॥
लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहैं।
रनिवासु हास बिलास रस बस जन्म को फलु सब लहैं॥ २॥

शब्दार्थ—तिन तोरहीं=बुरी नजरसे बचानेके लिये तिनका तोड़नेकी रस्म है। लहकौर=(कौर लहना), विवाहमें यह भी एक रीति है कि कोहबरमें दूलह और दुलहिन एक दूसरेके मुँहमें घी वा दही-बताशा इत्यादिका कौर डालते हैं।=लह

* आनि—१६६१।

(=लघु) + कौर (=ग्रास) =छोटे कौर—(मा० त० वि०)

अर्थ—सुन्दर मौरमें महामणि गुँथे हुए हैं, सभी अंग चित्तको चुराये लेते हैं। नगरकी स्त्रियाँ और देवताओंकी स्त्रियाँ सभी दूलहको देख-देखकर तिनका तोड़ती हैं। मणि, वस्त्र और आभूषणोंको निछावर कर-करके आरती उतारती और मंगल गीत गाती हैं। देवता फूल बरसाते हैं। सूत, मागध और भाट सुयश सुनाते हैं। १। सुहागिनी स्त्रियाँ सुखपूर्वक कुँअर और कुमारीको कोहबरमें लायीं और मंगल गीत गा-गाकर बड़े प्रेमसे लौकिक रीति करने लगीं। गौरीजी रामचन्द्रजीको लहकौर सिखाती हैं और सरस्वतीजी सीताजीसे कहती हैं, अर्थात् सिखाती हैं कि श्रीरामजीको कौर खिलाओ। रनवास हास-विलासके आनन्दमें मग्न है, सभी जन्म लेनेका फल पा रही हैं। २।

टिप्पणी—१ (क) 'गाथें महामनि मौरु, इति। प्रथम मुक्तामणि कह आये, यथा—'मंगलमय मुकुता मनि गाथें'। अब उनसे पृथक् 'महामणि' को कहते हैं। मौरमें अनेक रंग होते हैं, वैसे ही महामणि भी अनेक रंगोंकी होती हैं, सब रंगोंकी महामणियाँ 'इसमें गुँथी हैं। मौरकी शोभा दो बार कही—'सोहत मौरु मनोहर·····' और 'गाथें महामनि मौरु मंजुल'। एक बार 'मनोहर माथें' के सम्बन्धसे और एक बार मुक्ता-मणिके सम्बन्धसे। (ख) 'अंग सब चित चोरहीं'—सर्वाङ्गका वर्णन कर आये, इसीसे अब अन्तमें कहते हैं कि सभी अंग चितचोर हैं। 'सब अंग' का भाव कि समस्त मूर्तिकी, संपूर्ण शरीरकी कौन कहे, प्रत्येक अंग पृथक्-पृथक् चित्तको चुरा लेता है। (ग) 'पुर नारि सुर-सुंदरी बरहि बिलोकि' इति। भाव कि 'पुनि पुनि रामहि चितव सिय·····। ३२६' से लेकर यहाँतक श्रीजानकीजीका देखना कहा; अब स्त्रियोंका देखना कहते हैं। ये सब वरको देखकर तिनका तोड़ती हैं कि कहीं हमारी नजर न लग जाय। (घ) 'मनि बसन भूषन वारि ···' इति। ऊपर जो कहा था कि 'अंग सब चित चोरहीं' उसीको यहाँ चरितार्थ कर रहे हैं। सब स्त्रियोंके चित्तोंको चुरा लिया है, इसीसे निछावर कर-करके आरती करती हैं, चित्त सावधान नहीं है, नहीं तो आरती करके निछावर करतीं जैसा विधान है। [प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'प्रथम निछावर और पीछे आरतीको 'चित चोरहीं' का परिणाम बताना कहाँतक ठीक होगा जब कि मानसमें अन्यत्र तीन स्थानोंमें यही अनुक्रम है।'; अतः उन तीनों प्रसङ्गोंपर विचार किया जाता है। दो० ३४८ (६-७) में निछावरके पश्चात् आरतीका उल्लेख अवश्य है, पर वहाँ पुरवासी पहले दर्शन पाते और निछावर करते हैं। यह निछावर आरती करनेवाली स्त्रियोंकी नहीं है। स्त्रियोंका आरती करना आगे है। यथा—'पुरबासिन्ह तब राउ जोहारे। देखत रामहि भए सुखारे॥ करहिं निछावरि मनिगन चीरा। बारि बिलोचन पुलक सरीरा॥ आरति करहिं मुदित पुरनारी।' बालकाण्डमें केवल एक और स्थानपर निछावर शब्द पहले है, यथा—'रूपसिंधु सब बंधु लखि हरषि उठी रनिवासु। करहिं निछावरि आरती महामुदित मन सासु। ३३५।' पर यहाँ सासुएँ प्रेमविवश हैं, यथा—'प्रेमबिबस पुनि पुनि पद लागीं', इससे निछावर पहले करें या पीछे इसका विचार नहीं रह गया। उत्तरकाण्डमें ९। ५-७ में भी निछावरके पश्चात् आरतीका प्रसङ्ग है। यथा—'जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं। देहिं असीस हरष उर भरहीं॥ कंचन थार आरती नाना। जुबती सजें करहिं कल गाना॥ करहिं आरती आरतिहर कें।' परन्तु प्रसंगसे स्पष्ट है कि आरती करनेवाली युवतीगण दूसरी हैं और निछावर करनेवाली दूसरी हैं। अन्य सभी स्थानोंमें, १९४ (५), ३१९ छंद, ३४९ (१-२), ३५० (४-५) तथा ७। ७ (५-६) में आरती और निछावरका क्रम ठीक ही है। अतः मेरी समझमें पं० रामकुमारजीके भावमें कोई असंगति नहीं है।] (ङ) 'सुर सुमन बरिसहिं'—जब श्रीरामजी कोहबरमें जाने लगे तब उनके ऊपर फूल बरसाये और बंदी आदि सुयश सुनाने लगे।

२ 'कोहबरहिं आने कुँअर कुँअरि···' इति। (क) 'दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै। ३२६ छंद ४।' उपक्रम है और 'कोहबरहिं आने···' उपसंहार है। उपक्रममें 'दुलहिनिन्ह' बहुवचन कहा और यहाँ 'कुँअर कुँअरि' एकवचन कहते हैं, इसमें अभिप्राय यह है कि चौकपरसे चारों जोड़ियोंको एक साथ लेकर चली थीं, इसीसे वहाँ ले चलनेके समय बहुवचन शब्द दिया। परन्तु जब कोहबरके भीतर जाने लगीं तब चारों जोड़ियाँ पृथक्-पृथक् हो गयीं; क्योंकि चारों जोड़ियोंके लिये कोहबर पृथक्-पृथक् बने हैं, अतएव 'कोहबरहि आने' के साथ एकवचन 'कुँअर कुँअरि' कहा। 'सुआसिनिन्ह' बहुवचन कहकर जनाया कि प्रत्येक जोड़ीके साथ बहुत-बहुत सुवासिनी स्त्रियाँ हैं। (ख) 'सुख पाइकै' इति। कोहबरमें कोई पुरुष नहीं है जिनको देखकर संकोच हो, अतः सुवासिनियाँ सुख पा रही हैं कि एकान्तमें खूब अच्छी

तरह दर्शन करेंगी, बोलेंगी, बातचीत करेंगी और हास्य करेंगी। इनका हास्य करना उचित है, इसीसे सुखी हो रही हैं। (ग) 'अति प्रीति·····' इति। कोहबरमें वेदरीति या कुलरीति नहीं होती केवल लोकरीति होती है, वसो मिलायी जाती है, अर्थात् एक दीपकमें दो बत्तियाँ जलायी जाती हैं, वरसे उन दोनोंको मिलानेको कहा जाता है, इत्यादि। 'अति प्रीति' से जनाया कि लौकिक रीति करनेमें स्त्रियोंको बड़ा प्रेम होता है। ['लौकिक रीति' कहकर जनाया कि इसमें जो उचित-अनुचित व्यवहार होते हैं, वह हास्यनिमित्त किये जाते हैं, इससे वे दोष नहीं माने जाते। कोहबरकी रीति प्रान्त-प्रान्तकी कौन कहे थोड़ी-ही-थोड़ी दूरमें नयी-नयी देखनेमें आती है। कन्याके मुखमें गरी, सुपारी आदि रखकर फिर उसीको पानमें रखकर वरको खिला देती हैं, कहीं मिस्सी पानमें छोड़कर खिलाती हैं और उसके द्वारा फिर बहुत हास्य करती हैं। कहीं कन्याके वस्त्र बिछावनके नीचे बिछा देती हैं और उसीसे वरका मुँह पोंछती हैं। कहीं दूध और पानी मिलाकर थालमें रखती हैं और उसमें अँगूठी छोड़कर वर और कन्या दोनोंसे ढूँढ़नेको कहती हैं, कन्याने पहले निकाल लिया तो उसकी जीत हुई। वर निकाल ले तो उसकी जीत। इस तरह सात बार खेल खिलाती हैं, और गालियाँ देती हैं।] (घ) 'लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहैं' 'सीय सन सारद कहैं' इति। श्रीरामजानकीजीको गौरी और शारदा सिखाती हैं, इस कथनसे यह सूचित किया कि और भाइयों और दुलहिनोंको अन्य देवताओंकी स्त्रियाँ लहकौर सिखाती हैं। पूर्व कह आये हैं कि 'सची सारदा रमा भवानी।·····मिलीं सकल रनिवासहि जाई॥ १। ३१८।' इनमेंसे भवानी श्रीरामजीको और शारदा श्रीसियजूको सिखाती हैं। भवानीके समीप रमाको चौपाईमें कहा है और शचीको शारदाके समीप, इससे सिद्ध हुआ कि रमा दूलहके पक्षकी और शची दुलहिनके पक्षकी हैं। रमा भरतजीको सिखाती हैं और शची माण्डवीजीको। अब रहीं दो जोड़ियाँ इनको सिखानेवाली देवाङ्गनाएँ कौन हैं? पूर्व कह आये कि 'बिधि हरि हर दिसिपति दिनराऊ' कपट वेषसे बारातमें मिल गये। इनमेंसे विधि, हरि और हर तीनकी शक्तियोंको कह चुके। दिशिपतियोंमें पूर्वादिके क्रमसे पूर्वके स्वामी इन्द्र हैं, इनकी शक्ति शची हैं, सो भी ऊपर आ गयीं। इसके पश्चात् क्रमसे अग्निकोण, दक्षिण, नैर्ऋत्य हैं। अग्नि, यम और राक्षस क्रमसे इनके स्वामी हैं। अग्निकी शक्ति स्वाहा, यमकी मृत्यु और राक्षसोंकी राक्षसी हैं—ये सिखानेके योग्य नहीं हैं। तत्पश्चात् पश्चिमके पति वरुण और उत्तरके कुबेर हैं। वरुणकी स्त्री उर्मिलाजीको सिखाती हैं और कुबेरकी स्त्री लक्ष्मणजीको। 'दिनराऊ' से अष्टलोकपालका अर्थ किया गया था। इनमेंसे और तो आ गये, सूर्य और चन्द्रमा शेष रहे। सूर्यकी स्त्री संज्ञा है, यह श्रुतिकीर्तिजीको सिखाती हैं और चन्द्रमाकी स्त्री रोहिणी शत्रुघ्नजीको सिखाती हैं। (ङ) 'रनिवास हास बिलास रस बस' अर्थात् रनवास हास्यरसके विलास अर्थात् आनन्दके वश है। (हमने 'हास बिलासके आनन्दके वश' अर्थात् उसमें मग्न ऐसा अर्थ किया है)। रनवास कहनेसे समस्त स्त्रियोंका ग्रहण हुआ क्योंकि सभी रनवासमें मिली हैं, यथा—'मिलीं सकल रनवासहि जाई। ३१८। ७।' सब स्त्रियाँ हँस रही हैं। हँसनेमें आशय यह है कि जब श्रीरामजी ग्रास लेनेके लिये मुँह फैलाते हैं तब श्रीजानकीजी ग्रासका हाथ खींच लेती हैं, मुखके सामने ग्रास ले गयीं और फिर दिये नहीं तब सब हँसने लगती हैं।

नोट—'लहकौर·····हास बिलास रस बस' इति। भाव यह कि शारदाजीने श्रीसीताजीसे कहा कि कौर हाथसे उठाकर श्रीरामजीको खिलाओ, जब कौर उठाकर श्रीसीताजीका हाथ पकड़े हुए सरस्वतीजी पास ले जाती हैं और श्रीरामजी मुँह खोलते हैं, बस तभी ये सीताजीका हाथ हटा लेती हैं। इसी प्रकार रामजी हास करते हैं। यह कौतुक देख हास-विलासका आनन्द हो रहा है। कोहबरमें वरसे कई प्रकारसे हास-विलास किया जाता है। यथा—कपड़ेमें छिपाकर उसकी जूती उसीसे धोखेसे पुजाना चाहतीं, वरको दूलहिनका जूठा खिलानेका प्रयत्न करती हैं, लहकौर खिलानेपर हँसी करती हैं कि दुलहिनके जूठनमें आज जैसा स्वाद मिला होगा वैसा क्यों कभी मिला होगा और खा लो इत्यादि। श्रीजानकीमङ्गलसे मिलान कीजिये—'चतुर नारि वर कुँवरिहिं रीति सिखावहिं। देहिं गारि लहकौर समय सुख पावहिं॥ जुआ खेलावत कौतुक कीन्ह सयानिन्ह। जीतिहारि मिस देहिं गारि दुहुँ रानिन्ह॥ ९३॥' देवतीर्थस्वामीजीका एक पद इसपर यह है—'करन लगे राम सिया गुरयानी। हँसि हँसि गौरि सिखावति रामहिं सियहिं सिखावति हैं महारानी॥ पंचभूत पाँचों कर साधा लेइ कवर समसानी। समता सो सियमुखमें रघुपति देत ब्रह्मरस जानी॥ १॥ सिया देति रघुपतिके मुखमें पंचामृत रससानी। रही एकता छिपि दोउन की सो यहि थल फरिआनी॥ २॥ गुड़ सो रस दधि से नहिं ढाविहैं प्रेम अटूट निसानी। मुदित होहिं गुन शक्ति देवता यह रहस्य पहिचानी॥ ३॥' (श्रीरामरंगग्रन्थे)।

कोहबरमें वरसे सरहजें आदि हँसी करती हैं। देवतीर्थस्वामीके ये पद इसपर हैं—(क) 'हँसि हँसि पूँछति हैं रघुबर से कौतुकघरमें नारी। तुमहि जगतको सार कहत मुनि, कहि न सकहिं हम डर सें ॥ १ ॥ तुम्ह नहिं पुरुष न नारि कहत श्रुति, खेलउ खेल मकर सें। सोइ लखि परत मकर कुंडल से और किशोर उमर में ॥ २ ॥ दशरथ गौर कौशिला गोरी तुम साँवर केहि घर सें। दोउनकौ हरि ध्यान प्रगट भा अस हमरीं अँटकर सें ॥ ३ ॥ बिंग चतुरता गारी सुनि कै देखा राम नजर सें। भईं कृतारथ देव मनावहिं जिनि ये जाहिं नगर सें ॥ ४ ॥ (रामरंग। ईमन)। (ख) 'मिथिला अवध कै हास विलासु सुनि सुनि बढ़त हुलास ॥ अहँरत पर पुरुषहि से तुमहुँ रहहु जनकके पास। अहाँ अयोध्या तुमहुँ बिदेहा तनिक न हीस हवास ॥ १ ॥ जरिहा तवटा लोग अहाँके उहऊँ विदग्ध नेवास। अहँके देस कनीक अनरसा राउर दही मिठास ॥ २ ॥ अहँ कै वचन अहमकारे कस तोहरिउ छी परकास। अहँ कै दसरथ राव तुम्हारेउ निमि औ नेम दुहाँस ॥ ३ ॥ अहँके छवि चकवै प्रिय तोहरिव चक्रधरहि की आस। देव मुदित सियराम मुदित मन मुदित होत रनिवास ॥ ४ ॥ (जानकीबिंदु। धनाश्री)।

छन्द—निज पानि मनि महुँ देखियति* मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी ॥
कौतुक बिनोद प्रमोदु प्रेम न जाइ कहि जानहिं अलीं।
बर कुँअरि सुंदर सकल सखी लवाइ जनवासेहि चलीं ॥ ३ ॥
तेहि समय सुनिअ असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँदु महा।
चिरु जिअहु जोरी चारु चारयो मुदित मन सब ही कहा ॥
जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनीं।
चले हरषि बरषि प्रसून निजनिज लोक जय जय जय† भनी ॥ ४ ॥

दो०—सहित बधूटिन्ह कुँअर सब तब आए पितु पास।
सोभा मंगल मोद भरि उमगेउ जनु जनवास ॥ ३२७ ॥

शब्दार्थ—मूरति (मूर्ति)=प्रतिबिम्ब, परछाहीं; सूरत शकल। चालना=चलाना, हिलाना डुलाना। भुजबल्ली=भुजलता। स्त्रियोंकी भुजाओंको 'बल्ली वा लता' कहते हैं। 'दण्ड' पुरुषोंकी भुजाओंके साथ और 'बल्ली' स्त्रियोंकी भुजाओंके साथ प्रयुक्त होता है। लता कोमल और सुकुमार होती है, दण्ड कठोर और बलवान् होता है।

अर्थ—अपने हाथकी मणियोंमें स्वरूपनिधान श्रीरामचन्द्रजीका प्रतिबिम्ब देखकर श्रीजानकीजी दर्शनमें वियोग होनेके डरके वश भुजवल्ली और दृष्टिको हटाती नहीं, हास-विलास, विनोद, प्रकर्ष, आनन्द और प्रेम कहा नहीं जा सकता, सखियाँ ही जानती हैं। सब सखियाँ सब सुन्दर दूलह-दुलहिनोंको जनवासेको लिवा ले चलीं ॥ ३ ॥ उस समय नगर और आकाशमें जहाँ देखिये तहाँ ही आशीर्वाद सुनायी दे रहा है, सर्वत्र महान् आनन्द छा रहा है, सभी प्रसन्न मनसे कहते हैं कि सुन्दर चारों जोड़ियाँ चिरजीवी हों। योगीश्वर, सिद्ध, मुनीश्वर और देवताओंने प्रभुको देखकर नगाड़े बजाये और फूल बरसाकर जय जय जय कहते हुए हर्ष-पूर्वक अपने-अपने लोकोंको चले ॥ ४ ॥ तब सब कुँवर बहुओंसमेत पिताके पास आये। शोभा और आनन्द मङ्गलसे भरकर मानों जनवासा उमड़ पड़ा ॥ ३२७ ॥

टिप्पणी—१ 'निज पानि मनि महुँ देखियति''''' इति। [(क) सखियों और कुलवृद्धाओंकी लज्जासे सम्मुख देखनेमें संकुचित होती हैं, इससे हाथकी अंगूठी, आरसी इत्यादिके नगोंमें अपने प्रियतम प्यारेकी छबिका दर्शन करती हैं। हाथ हटाने वा हिलानेसे दर्शन न होगा, दर्शन न होनेसे विरह सतावेगा; इसी भयसे कि दर्शनका वियोग न हो जाय वे हाथ नहीं चलातीं, न उठाती हैं, न हिलाती डुलाती हैं, यद्यपि सखियाँ कहती हैं। हाथ न उठानेसे उनके भाईकी स्त्रियाँ उनसे हँसी करती हैं] श्रीजानकीजी लज्जावश साक्षात् श्रीरामजीको नहीं देख सकतीं, केवल चित्रका दर्शन करती हैं। (ख) 'चालति

* देखि प्रतिमूरति—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। देखि पति मूरति—१७०४। देखियति मूरति—१६६१।
† जय जय भनी—१६६१।

न भुजवल्ली' कहनेका भाव कि शारदा सीताजीसे कहती हैं कि ग्रास उठाकर श्रीरामजीको खिलाओ तब वे भुजा नहीं उठातीं। न उठानेका कारण बताते हैं—'बिरह भय बस'। विरहके वश हो जानेका भय है। 'भुजवल्ली' का भाव कि जैसे बल्ली जड़ है, वैसे ही भुजा जड़ हो गयी है। 'चालति न भुजवल्ली बिलोकनि' अर्थात् न भुजा हिलाती हैं और न दृष्टि ही चलाती हैं; इस कथनका तात्पर्य यह है कि अनेक भूषण हैं और उनमें अनेक मणियाँ हैं, अनेक मणियोंमें अनेक मूर्तियाँ हैं, परंतु वे एक मूर्तिको छोड़कर दूसरीको नहीं देखतीं (क्योंकि एक नगसे दूसरेपर दृष्टि डालनेमें जितना समय लगेगा उतनी देर मूर्तिका वियोग हो जायगा और वियोगसे विरह होगा); अभिप्राय यह है कि एक पलभरका विक्षेप नहीं करतीं। मिलान कीजिये—'दूलह श्रीरघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं। गावहिं गीत सबै मिलि सुंदरि बेद जुआ जुरि बिप्र पढ़ाहीं॥ रामको रूप निहारति जानकि कंकनके नगकी परिछाहीं। यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥ क० १। १७।')। (ग) 'कौतुक बिनोद प्रमोदु' इति। लहकौरमें कौतुक (हास आदि) हुआ। जूआ खिलाती हैं, थालमें या परातमें आभूषण छोड़ती हैं और कहती हैं कि देखें दोनोंमेंसे कौन प्रथम उठा लेता है। उनमें भी खूब हँसी-दिल्लगी होती है—यह विनोद अर्थात् क्रीड़ा है। प्रमोद अर्थात् प्रकर्षआनन्दका भाव कि विवाह देखकर 'मोद' हुआ और कोहबरमें कौतुक-विनोदसे प्रकर्ष मोद हुआ: कारण कि विवाहमें श्रीरामजीके दर्शनोंसे सुख हो रहा था और यहाँ एक तो एकान्तका दर्शन दूसरे उसपर भी हास्य रसका आनन्द मिला। (घ) 'न जाइ कहि जानहिं अली' इति। भाव यह कि सखियाँ जानती हैं पर वे भी कह नहीं सकतीं (दूसरा जानता ही नहीं तब कहेगा क्या?) 'न जाइ कहि' कहकर कोहबरकी कथामें इति लगाते हैं। (ङ) 'बर कुँअरि सुंदर सकल सखीं लवाइ''' इति। यहाँ लिवा ले चलनेका क्रम दिखाते हैं। जिस क्रमसे वे चलीं वही यहाँ लिखते हैं—वर सबसे आगे हैं, उसके पीछे 'कुँअरि' हैं और कुँअरिके पीछे सखियाँ हैं। 'सकल' देहली-दीपक है। सकल वर और सकल कुँअरि अर्थात् चारों जोड़ियाँ, और 'सकल सखी' अर्थात् चारों बहनोंकी सखियाँ। (च) 'लवाइ जनवासेहि चलीं'—यह रीति क्षत्रियोंकी है, उनके यहाँ विवाहमें दुलहिन (कोहबरके पश्चात्) विदा होती है, यही रीति यहाँ कहते हैं।

२ (क) 'तेहि समय सुनिअ असीस''' इस चरणका अर्थ अगले चरणमें स्पष्ट करते हैं। 'चिरु जिअहु जोरीं चारु चारयो' यह आशिष सुन पड़ता है। 'सब ही कहा' यह 'असीस जहँ तहँ' का अर्थ खुला। अर्थात् सब आशीर्वाद दे रहे हैं, जो जहाँ है वह वहींसे आशिष दे रहा है। पुनः, 'जहँ तहँ नभ नगर' कहकर जनाया कि सब जगह नभमें, नगरमें, उस स्थानपर, द्वारपर, इत्यादि सब जगह आशीर्वाद सुन पड़ता है। 'तेहि समय' कहनेका भाव कि यह ऐसा समय ही है कि आशीर्वाद दिया जाय, फूल बरसाये जायँ, नगाड़े बजाये जायँ, इत्यादि। जैसे जब श्रीदशरथजी महाराज पुत्रोंका विवाह कराके बाहर निकले तब 'बृन्दारकागन सुमन बरिसहिं राउ जनवासेहि चले। दुंदुभी जयधुनि बेदधुनि नभनगर कौतूहल भले॥ १। ३२६।', वैसे ही जब श्रीरामजी भाइयोंसहित बाहर निकले तब आशीर्वाद और नभ-नगरमें महान् आनन्द हुआ। 'सुनिय असीस' का भाव कि उस समय सब दिशाओंमें आशिष ही आशिष सुनायी पड़ता और कुछ नहीं सुन पड़ता था। (ख) 'नगर नभ आनँदु महा' इति। नगरमें मनुष्योंको और आकाशमें देववृन्दको महान् आनन्द है। इस महान् आनन्दकी प्राप्तिमें देवताओंसे मनुष्य विशेष हैं, इसीसे 'नगर' को प्रथम कहा। (ग) 'चिरुजिअहु जोरी चारु चारयो मुदित''''—चारों जोड़ियोंको चिरजीवी होनेका आशीर्वाद देनेसे ज्ञात हुआ कि चारों जोड़ियोंको देखकर महान् आनन्द हुआ। यथा—'दीन्हि असीस देखि भल जोटा। २६९। ७।', 'चिरजिअहु' यह आशीर्वाद देनेका भाव कि सब सुख पूर्णरूपसे हैं ही, पर सुखका भोग करनेके लिये बहुत आयु चाहिये; इसीसे बहुत कालतक जीवित रहनेका आशीर्वाद देते हैं। 'जोरी चारु' कहनेका भाव कि चारों जोड़ियोंको देखकर महान् आनन्द हुआ, इसीसे जोड़ीकी सुन्दरताकी प्रशंसा करते हुए आशीर्वाद देते हैं 'मुदित मन सबही कहा' का भाव कि प्रसन्न मनसे जो आशीर्वाद दिया जाता है वह सफल होता है।

३ (क) 'जोगीन्द्र सिद्ध मुनीस देव' इति। पूर्व कहा था कि 'बिधि हरि हर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ॥' उसमेंसे देवताओंमें जो श्रीरामजीका प्रभाव जानते हैं उन देवविशेषोंके नाम तो वहाँ स्पष्ट कहे गये—'बिधिहरिहर दिकपाल और लोकपाल'। इनके अतिरिक्त कौन हैं जो श्रीरघुबीर प्रभाव जानते हैं। यह वहाँ न कहा था। उसे यहाँ कहते हैं। योगीन्द्र सिद्ध और मुनीश ये प्रभाव जानते हैं। योगीन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ योगी, सामान्य नहीं मुनीश अर्थात्

श्रेष्ठ मुनि सामान्य नहीं। और सिद्ध तो विशेष हैं ही। प्रथम विशेष देवताओंके नाम दे चुके, इसीसे यहाँ 'देव' के साथ विशेषतावाचक शब्द नहीं मिलाया गया। [योगीन्द्र जैसे कि याज्ञवल्क्य आदि, सिद्ध लोमशादि और मुनीश नारद सनकादि (वै०)] (ख)—'बिलोकि प्रभु' से जनाया कि 'प्रभु भाव' से देखा अर्थात् ये हमारे स्वामी हैं इस भावसे देखकर। 'दुंदुभी हनीं' नगाड़े बजाये, यह अपनी सेवा जनायी। (ग) 'चले हरषि बरषि प्रसून'—फूल बरसाकर चले क्योंकि विवाहोत्सवमें फूलके बरसानेके अवसर समाप्त हो गये, अब पुष्पवृष्टिका प्रयोजन नहीं रह गया अतः जाते समय फूल बरसाते गये। जब श्रीरामजी श्रीअवधको प्रस्थान करेंगे तब फूल बरसानेका अवसर होगा, तभी फिर आवेंगे। 'हरषि' का भाव कि जैसे 'मुदित मन' से चिरञ्जीवी होनेका आशीर्वाद दिया वैसे ही हर्षित होकर 'जय जय जय' कहा। 'जय जय जय भनी' अर्थात् बहुत दिन जियो और सबसे बड़े रहो (सबपर सदा विजयी हो)। तीन बार जय कहनेका भाव कि 'त्रिसत्या हि देवाः' देवता सत्य सूचित करनेके लिये तीन बार कहते हैं। यथा —'सत्य सत्य पन सत्य हमारा। १५२। ५।'

४—'सहित बधूटिन्ह कुअँर सब···' इति। (क) 'सहित बधूटिन्ह' अर्थात् अपनी-अपनी स्त्रीके साथ गाँठ जोड़े (गठबन्धन किये) हुए। 'तब आए' अर्थात् जब देवता लोग अपने-अपने लोकोंको चले गये तब पिताके पास आये। इस कथनसे जनाया कि यहाँतक देवता लोग फूल बरसाते नगाड़े बजाते आये। 'पितु पास' कहकर जनाया कि चारों भाई पिताके पास ही रहते हैं, पृथक् डेरा नहीं है। (ख) 'सोभा मंगल···उमगेउ जनु जनवास' इति। जनवासेका उमगना कहकर सूचित किया कि जनवासा पहले ही से शोभा-मंगल-मोदसे भरा हुआ रहा है। अब बहुओंसहित चारों भाइयोंके आनेसे शोभा आदि अधिक हो गये। अथवा, चारों भाइयोंको देखकर जनवासे-वाले उठकर खड़े हो गये यही उमगना है ['चारों पुत्रोंकी शोभा और मङ्गल मोदसे जनवासा भरा हुआ था। जब वे चारों बधूटियोंसमेत आये तब वह उमग उठा और देवताओंका जय जय करके जाना उस उमङ्गका प्रभाव है।' (पाँड़ेजी)। जनवासेको ले चलनेमें 'बर कुँअरि लवाइ चलीं' कहा था। वर आगे हैं दुलहिनें पीछे हैं। अतः जनवासेमें पहुँचनेपर 'सहित बधूटिन्ह' कुअँरोंका पहुँचना कहा। जनवासेमें दूलहकी प्रधानता हुआ ही चाहे]

प० प० प्र— वाल्मीकीयमें चारों भाइयोंके विवाह साथ ही हो गये हैं। मानसमें वरके परिछनकी तैयारीसे विवाहकी समाप्ति तक बारह छन्दोंका उपयोग किया गया है। तीनों भाइयोंके विवाह और विवाहके अङ्गोंका वर्णन भी बारह छन्दोंमें हुआ है। एक छन्द (३१६) उपक्रममें लगा है। इस रीतिसे विवाहमें पचीस छन्दोंका उपयोग हुआ। भाव यह कि—(क) मूल तत्त्व 'एक' ही है। यह तत्त्व 'अवतार वर' रूपमें रविकुलमें हुआ, और रवि द्वादशकलात्मक हैं। अतः बारह छन्दोंका प्रयोग हुआ। (ख) भरतादि भी परमात्मांश रविकुलमें ही प्रकट हुए, अतः इनके विवाहमें भी बारह छन्द हुए। शिवविवाहमें ११ छन्द हैं। (ग) हविके अर्धांशसे श्रीरामजी और शेष अर्धांशसे तीनों भ्राता हुए, इस कारण भी दोनोंमें छन्दोंकी समान संख्या हुई। (घ) विवाह साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण हो जानेपर उत्साह तो सदा कम हो जाता है, वैसे ही यहाँ भी देख लीजिये—दोहा ३२८ से ३३५ तक एक भी छन्द नहीं है। दोहा ३३६ के साथ फिर एक छन्द आता है जब श्रीसुनयनाजी श्रीसीताजीको श्रीरामजीको समर्पित करके विनय करती हैं। (ङ) ☞ कवि छंदोंका प्रयोग तभी तब किया करते हैं जब-जब वे किसी भी रसका परिपोष सीमातक करना चाहते हैं।

पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठए जनक बोलाइ बराती॥ १॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा॥ २॥
सादर सब के पाय पखारे। जथा जोगु पीढ़न्ह बैठारे॥ ३॥

शब्दार्थ—जेवनार=जो वस्तु जेंई अर्थात् खायी जाय; भोजनके पदार्थ; रसोई।

अर्थ—फिर बहुत प्रकारकी रसोयी बनी (अर्थात् बहुत प्रकारके भोजन तैयार हुए। तब) श्रीजनकजीने बरातियोंको बुला भेजा॥ १॥ राजा दशरथजी पुत्रोंसहित चले। अनुपम वस्त्रोंके पाँवड़े पड़ते जाते हैं॥ २॥ आदर-पूर्वक चरण धोये और यथायोग्य सबको पीढ़ोंपर बैठाया॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'पुनि जेवनार भई···' इति। (क) 'पुनि' अर्थात् विवाह हो जानेपर। रसोयी (बननेका प्रारम्भ कब हुआ और कितनी देरमें रसोई कब तैयार हो गयी, यह सब इस चौपाईसे सूचित हो जाता है। इस प्रकारकी) गोधूलि-

बेलामें विवाहका प्रारम्भ हुआ, तबसे लेकर रात्रिभरमें चारों भाइयोंके विवाह हुए। सवेरे जेवनार बनने लगी और मध्याह्नके पूर्व रसोई तैयार हो गयी। (क्योंकि यदि रात्रिमें रसोई बनाते तो बासी हो जाती, वह स्वाद न रहता। दूसरे, बराती भी बिना स्नान-पूजन किये हुए भोजन करेंगे नहीं। जितनी देरमें सब लोगोंने अपने नित्यके आह्निक कर्म किये इतनी देरमें इधर पूरी रसोई तैयार हो गयी)। (ख) 'बहु भाँति' का अर्थ आगे कवि स्वयं स्पष्ट करेंगे, यथा—'भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने॥···चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥ ३२९। २-५।' (ग) 'पठए जनक बोलाइ बराती' इति। भोजनके लिये बुलानेमें समधीको बारातसहित बुलाना न कहकर बारातियोंको बुलाना कहा। कारण यह कि भोजनमें बाराती ही मुख्य हैं। (भाव यह कि समधी दहेजसे प्रसन्न होता है, वर दुलहिन पाकर संतुष्ट होता है और बाराती उत्तम भोजन पाकर प्रसन्न होते हैं। अतः भोजनके लिये बुलानेमें बारातियोंको प्रधान रखा। यथा—'भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र जस कछु ब्यवहारा॥···सादर बोले सकल बराती॥ १। ९९।')।

२ 'परत पाँवड़े बसन अनूपा।···' इति। (क) प्रथम बार (द्वारचारके समय) जब द्वारपर आये तब सब सवारीपर आये, क्योंकि प्रथम बार सवारियोंपर ही आनेकी चाल (रीति) है। अब भोजन करने चले हैं, इसीसे जनवासेसे राजमहलतक पाँवड़े पड़े। 'परत पाँवड़े' कहनेका भाव कि जब चले तभी पाँवड़े बिछाये जाने लगे। पहलेसे नहीं बिछाये गये; क्योंकि यदि पहलेसे ही बिछा देते तो उनका अनेक प्रकारसे अशुद्ध हो जाना सम्भव है। जैसे कि उनपरसे कोई पशु-पक्षी ही निकल आये, अथवा ऊपरसे ही पक्षियोंने विष्ठा कर दी, कोई [illegible] शूद्र निकल गया, इत्यादि। [श्रीअवधेशजीकी पूजा श्रीशङ्करजीके समान मानकर की गयी और बारातियोंका पूजन समधी समान जानकर किया गया, श्रीवसिष्ठजीकी पूजा कुल-इष्टभावसे की गयी। इत्यादि पूर्व कह आये हैं—(दोहा ३२०, ३२१ में)। जिस वस्तुको दूसरेने बरता वह फिर भगवान् अथवा पूज्य महात्माके कामकी नहीं रह जाती। यदि पाँवड़े पहलेसे ही बिछे रहते तो उनपरसे कोई-न-कोई चलता ही, जिससे वे साधुबोलीके अनुसार अमनिया न रह जाते] पुनः, 'परत पाँवड़े' से दूसरा प्रयोजन दिखाते हैं कि जब जनकजी सामध करके राजाको मण्डपतले ले गये, तब उन्होंने स्वयं ही वस्त्र बिछाये; इसीसे उस समय 'देत पाँवड़े' कहा, यथा—'देत पाँवड़े अरघु सुहाए। सादर जनकु मंडपहिं ल्याए॥ ३२०। ८।' उस समय द्वारसे मण्डपतक ही पाँवड़े बिछाने थे, इससे स्वयं बिछाया था और इस समय जनवासेसे घरतक बिछाना है, इसीसे सेवकोंने बिछाये। (अथवा, उस समय जनकजी साथ-साथ महाराजको मण्डपमें ले गये थे, इससे स्वयं पाँवड़े देते लाये थे और इस समय वे घरपर हैं, वे जनवासेमें बुलाने नहीं गये, किन्तु दूसरोंको बुलाने भेजा था। जो लोग जनवासेमें उनको लेने आये उन्होंने स्वयं बिछाया। बुलानेवालोंके नाम नहीं दिये हैं, इसीसे 'देत' न कहकर 'परत' कहा। बुलाने या बिछानेवालोंके नाम देते तब 'देत' ही कहते)। पुनः दूसरा भाव 'परत' का यह कि जिसे एक ठौर बिछाया उसीको फिर उठाकर दूसरी ठौर बिछावें सो नहीं, आगे दूसरे वस्त्र बिछाते हैं; वा, जिनको बिछाया वे जहाँ-के-तहाँ पड़े रहने दिये। 'परत' से जनाया कि जैसे-जैसे बाराती चलते जाते हैं तैसे-तैसे उनके आगे पाँवड़े बिछते जाते हैं (प्र० सं०)

☞ पाँवड़े बिछानेका उल्लेख मानसमें पाँच स्थानोंमें है। यथा—(१) 'बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं॥ ३०६।५।' (अगवानी लेकर जनवासेमें ले जाते समय)। (२) 'पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना॥ ३१९। ३।' (द्वारचार हो जानेपर मण्डपको जाते समय)। (३) 'देत पाँवड़े अरघु सुहाए। सादर जनकु मंडपहिं ल्याए॥ ३२०। ८।' (दशरथजीको मण्डपको जाते समय)। (४) यहाँ और (५) 'निगम नीति कुल रीति करि अरघु पाँवड़े देत। बधुन्ह सहित सुत परिछि सब चलीं लवाइ निकेत॥ ३४९' (कौसल्या आदि माताएँ परिछन और आरती करके बधुओंसहित पुत्रोंको घरमें ले जा रही हैं)। इनमेंसे तीनमें 'परहिं' और दोमें 'देत' शब्द प्रयुक्त हुआ।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत है कि 'देत' शब्दका 'अपने हाथसे' ऐसा भाव निकालनेमें बड़ी असम्बद्धता निर्माण होगी। कारण कि 'तब मानना होगा कि सुनयनाजी अपने हाथ पाँवड़े न बिछाकर दामादको मण्डपमें ले जाती हैं और कौसल्यादि अपने हाथोंसे बिछाकर ले जाती हैं।' मेरी समझमें श्रीसुनयनाजीके हाथमें आरती है, इसीसे उन्होंने पाँवड़े स्वयं नहीं बिछाये। इसीसे 'पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना' कहकर 'करि आरती अरघु तिन्ह दीन्हा' कहा गया। कौसल्यादि माताएँ

परिछन और आरती कर चुकी हैं, यथा—'मुदित मातु परिछनि करहिं'''॥ ३४८ ॥ करहिं आरती बारहिं बारा ॥' [हाथ खाली हैं, अतः उनका स्वयं अर्घ्य और पाँवड़े देना कहा गया ।] (ख) 'अनूप' अर्थात् विचित्र हैं, बहुमूल्य हैं, रेशमी हैं, इत्यादि । यथा—'बसन विचित्र पाँवड़े परहीं । देखि धनद धन मदु परिहरहीं ॥ ३०६ । ५ ।' (ग) 'सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा' इति । 'सुतन्ह समेत' से राजाकी शोभा कही जो पूर्व कह आये हैं, यथा—'सोहत साथ सुभग सुत चारी । जनु अपबरग सकल तनु धारी ॥ ३१५ । ६ ।' 'नृप समीप सोहहिं सुत चारी । जनु धन धर्मादिक तनुधारी ॥ ३०९ । २ ।' (घ) भोजनार्थ बुलानेमें बारातियोंको प्रधान रक्खा था और चलनेमें राजाकी प्रधानता कही, क्योंकि पाँवड़ोंपर चलना राजाओंको सोहता है । ['भूपा' पद देकर जनाया कि ये राजा हैं, अतः इनके साथ पुत्रोंके अतिरिक्त मन्त्री ब्राह्मण साधु और परिजन सभी हैं । (प्र० सं०) । बारात भोजनके लिये तभी जाती है जब समधी (वरका पिता) जाता है । आगे वह होता है, पीछे वा साथमें बाराती होते हैं । (जेवनारमें वर भी रहता है । जब वह भोजन करना प्रारम्भ करता है, तब और सब भोजन करते हैं । इन कारणोंसे राजाकी यहाँ प्रधानता चलनेमें कही, उनके साथ पुत्र और बाराती क्रमसे हैं । यह रीति है कि वरका पिता सबको लेकर जाता है ।)]

३ 'सादर सबके पाय''' इति । (क) 'सादर' का अन्वय दोनों चरणोंमें है । ['सादर' यह कि सोनेकी चौकी जिसपर मखमलके गद्दे पड़े हैं, उनपर बिठाकर मणि वा सोनेके कोपरमें चरणोंको रखकर अनुकूल सुगन्धित जलसे उनको धोकर अँगोछेसे पोंछते थे] (ख)—'पखारे' इति । यहाँ मुनियोंके चरणोंका प्रक्षालन कह रहे हैं, आगे पुत्रोंसहित राजाके चरणोंका प्रक्षालन कहते हैं । इस तरह प्रक्षालनमें दो कोटियाँ कीं । इसीसे प्रक्षालनका शब्द पृथक्-पृथक् रक्खा । मुनियोंके चरण 'पखारे' । राजा और श्रीरामजी तथा तीनों भाइयोंके चरणोंको 'धोये' । ['सबके' से यदि महर्षियोंको ही लेते हैं तो और बाराती रह जाते हैं, क्योंकि आगे और बारातियोंके चरणप्रक्षालनका वर्णन नहीं लिखा गया है । पूर्व सामधके पश्चात् जो बारातियोंके पूजनका क्रम है उसमें प्रथम वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी, वामदेवादि ऋषि; फिर कोसलपति, और 'सकल बाराती' का पूजन है । (३२० छन्दसे ३२१ । ४ तक) । यदि वही क्रम यहाँ चरणप्रक्षालनमें बरता गया हो तब तो 'सबके' से ऋषियोंका ही अर्थ होगा । उस हालतमें यह समझा जायगा कि अन्य क्षत्रियगणके चरण धोनेकी रीति न थी, इससे उनका चरण-प्रक्षालन नहीं कहा गया । जो ठीक नहीं जँचता । प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'पखारे' और 'धोए' इस शब्दभेदसे भाव-भेद निकालनेसे 'पखारे' शब्दको अधिक गौरवसूचक मानना पड़ेगा, जिससे यह कहना पड़ेगा कि कन्यादानके पूर्व जब जनकजी 'पाय पुनीत पखारन लागे', 'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली' 'ते पद पखारत भाग्यभाजनु जनकु' तब श्रीरामजीके चरणोंका अधिक गौरव था और अब उतना गौरव नहीं है, इसीसे इस समय उन्हींके चरणप्रक्षालन समय 'बहुरि रामपद पंकज धोए' कहते हैं । वस्तुतः 'पखारे' और 'धोये' पर्याय शब्द हैं । और 'सबके' सभी बारातियोंके लिये हैं । जनकजीने स्वयं किनके चरण धोये यह बतानेके लिये 'धोये जनक अवधपति चरना' से उपक्रम किया और 'धोये चरन निज पानी' से उपसंहार किया गया ।] (ग) 'जथाजोगु पीढ़न्ह बैठाए' इति । 'जथायोग' भी देहली-दीपक है । यथायोग्य सबके चरण पखारे और यथायोग्य पीढ़ोंपर बैठाया । 'यथायोग्य'से सूचित किया कि जिस क्रमसे पूर्व मण्डपतले मुनियोंका पूजन हुआ था उसी क्रमसे यहाँ पद-प्रक्षालन हुआ और आसन दिया गया । प्रथम श्रीवसिष्ठजीका चरण-प्रक्षालन करके तब श्रीविश्वामित्रजी और तत्पश्चात् वामदेवादि समस्त ऋषियोंका चरण-प्रक्षालन हुआ, यह क्रम पूर्व कह चुके हैं, इसीसे यहाँ क्रम नहीं लिखा । पीढ़े भी सामान्य और विशेष हैं । ये क्रमसे रक्खे हुए हैं, ऋषियोंको ला-लाकर क्रमसे यथायोग्य बैठाया । 'बैठाया' शब्दसे आदरपूर्वक बिठाना पाया गया । जैसे आदरसहित चरण धोये वैसे ही आदरसहित बैठाया गया । यदि अपनेहीसे जा-जाकर बैठ जाते तो बैठानेमें आदर न समझा जाता । ('पीढ़न्ह'''पखारे' पर विशेष आगे गौड़जीकी टिप्पणी है । 'आसन उचित' चौ० ७ में देखिये) ।

धोये जनक अवधपति चरना । सीलु सनेहु जाइ नहिं बरना ॥ ४ ॥
बहुरि रामपद पंकज धोए । जे हर हृदय कमल महुँ गोए ॥ ५ ॥
तीनिउ भाइ राम सम जानी । धोए चरन जनक निज पानी ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीजनकजीने अवधपति श्रीदशरथजीके चरण धोये । (उनका) शील और स्नेह वर्णन नहीं किया जा

सकता ॥ ४ ॥ फिर (उन्होंने) श्रीरामजीके चरण-कमल धोये जिन्हें शिवजी (अपने) हृदय-कमलमें छिपाये रखते हैं ॥ ५ ॥ तीनों भाइयोंको श्रीरामजीके समान जानकर जनकजीने अपने हाथोंसे (उनके भी) चरण धोये ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'धोए जनक अवधपति चरना·····' इति । (क) 'अवधपति' का भाव कि जिस अवधपुरीके दर्शन-मात्रसे समस्त पाप दूर हो जाते हैं, यथा—'देखत पुरी अखिल अघ भागा । वन उपवन वापिका तड़ागा ॥ ७ । २९ । ८ ।' (और जो श्रीरामजीको अति प्रिय है), उसके ये पति हैं; इनके चरण-प्रक्षालनसे सम्पूर्ण पापोंका नाश होता है, इस भावनासे चरण धोये । (ख) 'सील' से विनम्र, सिर नीचा किये हुए, और संकोचयुक्त सूचित किया । अर्थात् जैसा बड़ों-के आगे अदब-लिहाज-कायदा (शिष्टाचार) होना चाहिये वैसा ही अदब-कायदा रखते हुए चरण धो रहे हैं । यथा—'गुर नृप भरत सभा अवलोकी । सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥ सील सराहि सभा सब सोची । कहुँ न रामसम स्वामि सँकोची ॥ २ । ३१३ ।'—(चित्रकूटमें गुरु और राजा जनक सभामें हैं । शीलसे श्रीरामजीने सकुचाकर सिर नीचा कर लिया, इसीको यहाँ शीलकी मुद्रा कही गयी है । यही शील है ।) (ग) 'सील सनेह'—शीलसे नम्रता, संकोच आदि बाहरकी शोभा कही और स्नेहसे भीतरकी शोभा कही । (श्रीदशरथजीपर इस 'शील सनेह' का इतना प्रभाव पड़ा कि बारात लौटनेपर भी उनका वर्णन करते थे, यथा—'जनक सनेह साल करतूती । नृप सब भाँति सराह बिभूती ॥ ३३२ । २'—यह तो जनकपुरकी बात है, और, 'जनकराज गुन सीलु बड़ाई । प्रीति रीति संपदा सुहाई ॥ बहु बिधि भूप भाट जिमि बरनी । ३५४ । ७-८', यह अवधमें रनिवासमेंकी बात है) ।

२—'बहुरि राम पद पंकज धोए····' इति । (क) 'जे हर हृदय कमल महँ गोए' अर्थात् जिन चरणोंका शिवजी ध्यान करते हैं, उन्हीं चरणोंको श्रीजनकजी प्रत्यक्ष इस भावसे धो रहे हैं कि ये चरण अत्यन्त दुर्लभ हैं, ये सदा श्रीशिवजीके हृदयमें बसते हैं, वही आज हमको साक्षात् प्राप्त हैं, हमारे धन्य भाग्य हैं । यथा—'हर उर सर सरोज पद जेई । अहो भाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥ ५ । ४२ ।' (ख) 'गोए' कहनेका भाव कि श्रीरामजीके चरणकमलोंके योग्य सबका हृदय नहीं है । सबके हृदय कठोर हैं, मलिन हैं, अनेक वासनाएँरूपी मल उनमें लगा है तथापि सब कोई उन्हें अपने हृदयमें बसाना ही चाहता है, इसीसे वे श्रीशिवजीके हृदयमें जाकर छिप गये हैं । चरण कमल है और शिवजीका हृदय भी कमल है, अतः चरण कमलके बसनेके योग्य है अर्थात् कोमल है, सुन्दर है और पवित्र है । पुनः 'गोए' का भाव कि जिसको महादेवजी कृपा करके दिखावें वही इन चरणोंको देख सकता है । (ग) 'पदपंकज' और 'हृदयकमल' अर्थात् चरणको और हर-हृदय दोनोंको कमल कहकर सूचित किया कि श्रीरामजीके चरण और श्रीशिवजीका हृदय एक हो रहा है, उनका हृदय श्रीरामचरणोंमें लीन हो गया है । (शिवजीने ही जनकजीको आज्ञा दी थी कि धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा श्रीसीताजीके विवाहके लिये करो । वही जनकजीने किया । अतः शङ्करजीकी कृपासे उन छिपे हुए चरणोंके स्पर्श और प्रक्षालनका सौभाग्य प्राप्त हुआ । पुनः, 'जे हर हृदय कमल महुँ गोए' यह विशेषण देनेका भाव कि श्रीरामजीके चरण उनमें पर-मात्मबुद्धि रखकर, धोये, जामातृभावसे नहीं धोये ।)

प० प० प्र०—श्रीशिवजी अवढर दानी हैं, इसीसे वे इन चरणोंको हृदयमें छिपाकर रखते हैं । यदि ऐसा न करते तो अनधिकारीको भी देना पड़ता । कमलको कमलमें रखनेसे दूसरे कमलका ज्ञान किसीको न हो सकेगा । इतना छिपाकर रखनेसे वे जनकजीको प्रत्यक्ष तनधारी होकर मिल गये और उन्हें उनके धोनेका असाधारण सौभाग्य प्राप्त हो गया । यह भाग्य श्रीशिवजीको नहीं मिला ।

टिप्पणी—३ 'तीनिउ भाइ राम सम जानी ।····' इति । (क) 'राम सम जानी' अर्थात् परमेश्वर-बुद्धिसे । (श्रीरामजीमें परमेश्वर भाव रखकर ही उनके चरण धोये थे । इसीसे 'जे हर हृदय कमल महँ गोए' विशेषण दिया था) । वैसे ही इनके चरण धोये, जामातृ-भावसे नहीं किन्तु परमात्म-भावसे । 'राम सम' अर्थात् सब रामरूप हैं, चतुर्व्यूह अवतार हैं, सब एक पिण्डसे उत्पन्न हैं । (ख) 'निज पानी'—भाव कि तीनोंमें ईश्वरबुद्धि है, तीनोंको रामसमान जानते हैं । अतः इनकी चरण-सेवाको परम दुर्लभ जानकर, यह समझते हुए कि ब्रह्मादि देवता भी इन चरणोंकी सेवाकी लालसा करते हैं, श्रीजनकजीने अपने हाथसे इनके चरण धोये, दूसरेसे नहीं धुलवाया । 'निज पानी' से श्रीजनकजीकी भक्ति दिखायी । (बड़ेको छोटेका पैर धोना उचित नहीं; इस दोषके निवारणार्थ 'राम सम जानी' कहा यह भी भाव लोग कहते हैं; परंतु जामाताके चरण श्वशुर धोता ही है, यह रीति है ।)

नोट—☞ पं० रामकुमारजीके मतानुसार 'पखारे' केवल ऋषियोंके लिये कहा गया। उस मतानुसार यहाँ यह भाव भी निकला कि जिस परातमें ऋषियोंके चरण धोये गये, उसी परातमें अथवा उस चरणोदकपर राजा और उनके पुत्र अपने चरण नहीं धुला सकते, उनके चरण अलग परातमें धोये गये—यह पृथक् शब्द देकर ही जना दिया गया।

आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी* सब लीन्हे॥ ७॥
सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनिपान सवाँरे॥ ८॥

दो०—सूपोदन सुरभी सरपि सुंदर स्वादु पुनीत।
छन महुँ सबके परुसिगे चतुर सुआर बिनीत॥ ३२८॥

शब्दार्थ—सूपकारी=सूप (दाल) बनानेवाला। रसोईमें दाल मुख्य है, इसलिये रसोइयेको 'सूपकार' कहते हैं। पनवारे=पत्तल। पान=पत्ते। सूपोदन=सूप+ओदन दाल-भात। सुरभी (सुरभि)=गऊ।=सुगन्धित, बढ़िया। सरपि=घी, यथा—'घृतमाज्यं हविः सर्पिर्नवनीतं नवोद्धतमित्यमरः।' सुआर=सूपकार, रसोइया। बिनीत=जिसमें उत्तम शिक्षाका संस्कार और शिष्टता हो, सुशील, विनययुक्त, विनम्र, शिष्ट। परुसिगे=परस गये। परसना। (सं० परिवेषणसे)= किसीके सामने भोज्य पदार्थ रखना। इस क्रियाका प्रयोग भोजन और भोजन करनेवाले दोनोंके लिये होता है।

अर्थ—राजाने सबको उचित आसन दिये। (फिर) सब रसोइयोंको बुला लिया। ७। आदरसहित पत्तलें पड़ने लगीं, जो मणियोंके पत्तोंसे सोनेकी कीलें लगाकर बनायी गयी थीं। ८। चतुर और विनीत रसोइये पवित्र और सुन्दर स्वादिष्ट दाल, भात और गायका सुगन्धित बढ़िया घी क्षणमात्रमें सबके सामने परस गये। ३२८।

नोट—१ **'आसन उचित सबहि नृप दीन्हे'**। (क) आसन और पीढ़ा दोनोंका यहाँ एक ही अर्थ है, परन्तु यहाँ ऋषियोंकी पंगतको अलग दिखानेके विचारसे उनके लिये 'पीढ़न्ह बैठारे' कहा और क्षत्रियोंकी पंगतिमें **'आसन दीन्हे'** कहा। भिन्नता दिखानेके लिये भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया। श्रीमान् गौड़जी कहते हैं कि पीढ़ा ब्राह्मणके लिये उपयुक्त था, जहाँ सात्त्विकता, सादापन आदिकी आवश्यकता थी। आसन, वैभव ऐश्वर्यके अनुकूल कीमती जरी, मणिमुक्ता, हीरे आदिसे जटित राजाओंके लिये दिये गये। 'उचित' शब्द ऐसे अवसरपर अत्यन्त साभिप्राय है।

टिप्पणी—१ (क) **'आसन उचित सबहि नृप दीन्हे'** अर्थात् जैसे ब्राह्मणोंको यथायोग्य पीढ़ोंपर बैठाया; वैसे ही सब क्षत्रियोंको 'उचित' अर्थात् यथायोग्य आसन दिये। 'यथायोग्य' का अर्थ 'यथा उचित' है, यह यहाँ स्पष्ट किया। आसन अर्थात् पीढ़ा। **'दीन्हा'** से जनाया कि आदरपूर्वक सबको बैठाया जैसे ब्राह्मणोंको सादर बैठाया था। [यहाँ **'नृप'** शब्दसे कुशध्वजराजाको समझना उचित होगा क्योंकि वे भी समधी हैं। ऐसे अवसरपर उन्हें भी सेवाका लाभ उठाने देना उचित है। (प० प० प्र०)] (ख) **'बोलि सूपकारी सब लीन्हे'** इति। चरण धोना, आसनपर बैठाना यह सेवा राजाने स्वयं की, क्योंकि इसमें राजाकी शोभा है, भोजन परसनेमें राजाकी शोभा नहीं है, इसीसे रसोइयोंको बुलाया। भोजनके पदार्थ बहुत भाँतिके हैं और बारात भी बहुत बड़ी है। अतः 'सब' रसोइयोंको बुलाया जिसमें परसनेमें देर न हो, लोगोंको बहुत देर बैठना न पड़ जाय। (ग) **'सब'** से यह भी सूचित किया कि व्यंजन बहुत हैं, यथा—**'छरस रुचिर ब्यंजन बहु भाँती। एक एक रस अगनित भाँती'**। जितने प्रकारके व्यंजन हैं उतने सूपकार हैं; एक-एक पदार्थ परसनेके लिये एक-एक रसोइया है। (पंगति बहुत बड़ी होनेपर एक ही व्यंजन दो, तीन या अधिक लोग परसते हैं)।

२ 'सादर लगे परन पनवारे।…' इति। (क) 'सादर' से सूचित करते हैं कि एक मूर्ति बहुत पत्तलें लिये हुए है और दूसरा दोनों हाथोंसे बरातियोंके आगे सँभालकर धीरेसे रखता है जिसमें शब्द न हो, क्योंकि मणियोंकी ही भूमि है और मणिके ही पत्तल हैं। (ख) बड़े लोग आदरसे प्रसन्न होते हैं, इसीसे सब सेवा आदरसे की गयी। आदरसे सबको बुलाया गया। यथा—'परत पाँवड़े बसन अनूपा' (पाँवड़े देते लाना आदर है)। आदरसे सबोंके चरण धोये और सबको आसनपर बैठाया। यथा—'सादर सबके पाय पखारे। जथाजोगु पीढ़न्ह बैठारे।' आदरसे पनवारे पड़े;—**'सादर लगे परन…'**। और आदरसहित आचमन कराया। यथा—'आदर सहित आचमन दीन्हा। ३२९। ८'।—['आदर' शब्द आदि, मध्य

* सूपकारक—१७२१, छ०। सूपकारी—१६६१, १७०४, १७६२, को० रा०।

और अन्त तीनोंमें देकर एकरस सत्कार सूचित किया। भोजनके पूर्व 'सादर' चरण धोये, भोजनके लिये बैठनेपर पत्तलें 'सादर' बिछायीं अर्थात् रक्खी गयीं और भोजनके अन्तमें 'आदर सहित' आचमन कराया गया।—(प्र० सं०)। 'लगे परन' —पत्तल पड़ना मुहावरा है। भोजनके लिये पत्तल बिछाना, खानेवालेके सामने रखना 'पत्तल पड़ना' है] (ग) 'पनवारे'— बारातका भोजन विवाह आदिमें पत्तलोंमें ही करानेकी रीति है, इसीसे मणिपत्रोंके पत्तल बनवाये गये, नहीं तो मणिकी थालियाँ या परात बनवाते। (रा० प्र० का मत है कि 'मणि' से पन्ना समझना चाहिये) (घ) 'सवाँरे' से पत्तलोंके बनावको अत्यन्त सुन्दर जनाया।

नोट—२ 'सूपोदन सुरभी सरपि सुंदर स्वादु पुनीत' इति। (क) "नाता मिलानेके विचारसे प्रथम 'सूपोदन' दाल-भात कहा और स्नेह हेतु 'सुरभी सरपि' कहा।" (बाबा रामदासजी रामायणी)। अर्थात् स्नेह चिकनाई स्निग्ध पदार्थका भी नाम है, और घृत भी चिकनाई है; अतः स्नेह-वृद्धि दोनोंमें हो, इसलिये 'सरपि' कहा। (ख) जब तक कच्ची रसोई अर्थात् दाल भात रोटी इत्यादि दूलह और उसके परिवारवाले कन्याके यहाँ न पावें तब तक यह नहीं कह सकते कि सम्बन्ध पक्का हो गया। स्नेह और सम्बन्ध इसीसे समझा जाता है। पुनः, इससे जान पड़ता है कि आज भातकी रस्मका दिन था, इसीसे प्रथम दाल-भातका परोसना कहा। (ग)—यहाँ भोजन परोसनेका क्रम भी दिखाते हैं। पहले दाल परसी गयी तब भात और तब घी। यहाँ घृतमें सुगंध दिखानेके लिये 'सुरभी सरपि' कहा। 'सुरभि' सुगंधको भी कहते हैं, यथा— 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।' (पं० रामकुमारजी)। (घ)—'सुंदर स्वादु पुनीत' इति। अर्थात् नवीन ताजा घी, बहुत दिनोंका रक्खा हुआ नहीं। पुराने घीमें न तो वह सुगंध रहती है और न वह स्वाद जो ताजे घीमें होता है। पुराने घीकी रंगत भी कुछ न कुछ बदल जाती है। 'सुंदर स्वादु पुनीत' का भाव कि घी देखनेमें सुंदर है, खानेमें स्वादिष्ट है और सबके ग्रहण करने योग्य है। 'पुनीत' से जनाया कि शास्त्रवर्जित नहीं है। दूध बच्चावाली गऊका हो जिसे ब्याये हुए २१ दिन हो गये हों, गऊ नीरोग हो, ऐसी सवत्सा गऊके दूधका घी 'पुनीत' कहलाता है। गर्भवती हो जानेपर भी जो दूध निकाला जाता है वह भी पवित्र नहीं होता और न वह दूध पवित्र है जो बच्चेका पूरा भाग न देकर दुह लिया जाता है, इत्यादि। अंग्रेजी राज्यके समय डेयरीफार्मसे जो दूध प्राप्त होता था और अब भी जहाँ-तहाँ वही रीति प्रचरित है, वह दूध अपुनीत है, क्योंकि बच्चा पैदा होते ही खौलते पानीमें डालकर मार डाला जाता था और दूध यन्त्रोंद्वारा निकाला जाता था)। मृतवत्सा जो 'तोरियाँ' कहलाती हैं, उन गायोंका घी निषिद्ध है। नवसूतिका गऊका घी 'अपुनीत' है, क्योंकि उसके दूधका पीना शास्त्र-वर्जित है। (ङ) 'घी' को दाल-भातके पश्चात् कहा, क्योंकि दाल और भातमें घी छोड़कर मिलाकर खाया जाता है। (च) 'सुंदर स्वादु पुनीत' दाल-भात घी सबके साथ भी लगता है।—देखनेमें सुन्दर, खानेमें स्वादिष्ट और शास्त्रसे वर्जित नहीं। छिलकासहित दाल देखनेमें सुन्दर नहीं होती, मसूरकी दाल पवित्र नहीं, धानको उबालकर जो चावल निकाला जाता है अर्थात् भुजिया वा उसना चावलका भात पुनीत नहीं माना जाता। (छ) 'छन महँ सबके परुसगे' से जनाया कि रसोइये बहुत थे, इसीसे समस्त व्यंजनके परस जानेमें कुछ भी समय न लगा। (ज) 'चतुर सुआर बिनीत' इति। चतुर अर्थात् परसनेमें प्रवीण हैं। इधर-उधर गिरे नहीं, ठीक जहाँपर जो पदार्थ परसना चाहिये उसी जगह वह परसी जाय, कहीं कम कहीं बहुत ऐसा न हो, सबको एक समान परसें, और देर भी न लगे इत्यादि चतुरता है। 'विनीत' से जनाया कि स्वभाव अत्यन्त नम्र है, वचनमें भी नम्रता है, और परसते समय शरीर भी नम्र है (अर्थात् नीचेको झुकाये हुए परस रहे हैं)। 'सुआर' सूपकारका अपभ्रंश है, जैसे स्वर्णकारसे सुनार, लोहकारसे लोहार, चर्मकारसे चमार, वैसे ही सूपकारसे सुआर।

पंचकवल करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति* अनुरागे॥ १॥
भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने॥ २॥
परुसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन बिबिध नाम को जाना॥ ३॥
चारि भाँति भोजन बिधि† गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई॥ ४॥
छरस रुचिर बिंजन बहु जाती‡। एक एक रस अगनित भाँती§॥ ५॥

शब्दार्थ—पंचकवल—पाँच ग्रास अन्न जो स्मृतिके अनुसार खानेके पूर्व कुत्ते, पतित, कोढ़ी, रोगी और कौवे आदिके

---

* गारी गान सुनहिं अनुरागे—छ०। † श्रुति गाई—को० रा०। ‡ भाँती। § जाती—को०।

लिये अलग निकाल दिया जाता है। यह कृत्य पञ्चमहायज्ञोंमेंसे चौथे भूतयज्ञका, जिसे बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, अंग माना जाता है; इसीको अग्राशन भी कहते हैं। (श० सा०)। इसमें गृहस्थ पाकशालामें पके अन्नसे एक-एक ग्रास लेकर मन्त्रपूर्वक घरके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें मूसल आदिपर तथा काकादि प्राणियोंके लिये भूमिपर रखता है (श० सा०)। पुनः, भोजनके पहले आचमन करके प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा और समानाय स्वाहा इन मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए जो पाँच ग्रास खाये जाते हैं, उन्हें भी पञ्चकवल कहते हैं। इन पञ्चग्रासोंके पश्चात् पुनः आचमन किया जाता है। तत्पश्चात् भोजन किया जाता है। इन पञ्चग्रासोंसे पञ्चप्राणोंको शक्ति पहुँचती है। जेवना=भोजन करना, खाना परे=परसे गये। पकवान (पक्वान्न)=घीमें पकाये हुए पदार्थ। बिंजन (व्यञ्जन)=भोज्य पदार्थ; पका हुआ भोजन।

अर्थ—पञ्चग्रास (की विधि) करके सब लोग खाने लगे। गालियोंका गान सुनकर सब अत्यन्त अनुरागमें मग्न हो गये॥ १॥ अनेकों प्रकारके अमृतके समान (स्वादिष्ट) पकवान परसे गये, जो बखाने नहीं जा सकते॥ २॥ चतुर रसोईये परसने लगे। व्यञ्जन नाना प्रकारके हैं। नाम कौन जानता है?॥ ३॥ (शास्त्रोंमें) भोजनकी विधि चार प्रकारकी कही गयी है। (उनमेंसे) एक-एक विधि (के व्यञ्जनों) का भी वर्णन नहीं हो सकता॥ ४॥ छहों रसोंके बहुत प्रकारके सुन्दर व्यञ्जन हैं, जिनमेंसे एक-एक रसके अगणित प्रकारके हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) **'पंचकवल करि जेवन लागे'** से सूचित किया कि बिना पञ्चकवल बलिवैश्व-देव किये भोजन न करना चाहिये। इससे स्मार्तधर्मको पुष्ट कर रहे हैं। (अभी तो केवल दाल-भात और घी ही परसा गया और लोग भोजन करने लगे? पञ्चकवल भी इन्हीं तीन व्यञ्जनोंका किया गया? जान पड़ता है कि भोजन करानेकी यही विधि होगी)। केवल दाल-भात-घी भोजन करने लगे, यह लोकरीति है। दाल-भात मिलाकर खाया जाता है जिसमें नातेमें मेल-मिलाप रहे और घी मिलाया जिसमें स्नेह बना रहे। इसीसे पहले दाल-भात-घी परसा और खिलाया जाता है। तोड़नेवाली कोई वस्तु पहले नहीं परसी जाती और न कड़वी ही, जिसमें नाता टूटे नहीं और न बदमजगी, कड़वापन, वैमनस्य हो। विवाहमें यह रीति भोजनके प्रारम्भमें की जाती है। जब कुछ भोजन हो चुकता है तब और सब व्यञ्जन परसे जाते हैं जैसा आगे लिखते हैं। (ख) **'गारि गान सुनि अति अनुरागे'** इति। इससे जनाया कि गाली-गान सुनकर सबको बड़ा आनन्द हुआ। यथा—**'गारि मधुर स्वर देहिं सुंदर बिंग्य बचन सुनावहीं। भोजन करहिं सुर अति बिलंबु बिनोदु सुनि सचु पावहीं॥ जेंवत जो बढ्यो अनंदु सो मुख कोटिहूँ न परै कह्यो॥ ९९॥ छं०॥'**

२ **'भाँति अनेक परे पकवाने।…'** इति। (क) दाल-भात खानेके पीछे मीठे पकवान परसे गये। इसीसे मीठेकी उपमा देते हैं। अथवा, जो कच्ची रसोई खानेवाले थे उनको दाल-भात-घी परसा गया और जो कच्ची नहीं खा सकते, पक्की रसोईके खानेवाले हैं उनको पकवान परसे गये। रघुवंशी क्षत्रिय तथा जातिके बिरादरी (भैयाचारावाले) का भोजन दाल-भात-घी प्रथम कहा और ब्राह्मण पक्की रसोईके खानेवालोंका भोजन पीछे कहा। क्योंकि लोकरीति है कि बारातमें दूलह प्रथम भोजनका आरम्भ करता है तब, बाराती भोजन करते हैं। (ख) **'सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने'** इति। **'सुधा सरिस'** से स्वादिष्ट और मधुर इत्यादि जनाया। अमृतका स्वाद भारी है, इससे स्वाद कहा नहीं जाता (जिसने अमृत पिया हो वही भले कह सके, दूसरा कैसे कह सकता है?) और पकवान नाना भाँतिके हैं, इससे भाँति भी नहीं कही जा सकती। (ग) अगवानीके समय जो पकवान भेजे गये थे, जान पड़ता है कि वैसे ही पकवान इस समय परसे गये; क्योंकि उस समय कहा था कि 'भरे सुधा १ सम सब पकवाने २। नाना ३ भाँति ४ न जाहिं ५ बखाने॥ ३०५। २', वैसे ही यहाँ कहते हैं 'भाँति४ अनेक३ परे पकवाने२। सुधा १ सरिस नहि जाहिं५ बखाने॥', यहाँ और वहाँके शब्दोंमें कुछ भी भेद नहीं पाया जाता।

३ **'परुसन लगे सुआर सुजाना।…'** इति। (क) भोजनके पदार्थोंका यहाँ तीन बार परसना लिखा—एक **'सूपोदन सुरभी…छन महुँ सबके परुसि गे चतुर सुआर बिनीत॥ ३२८'**, दूसरे **'भाँति अनेक परे पकवाना'** और तीसरे यहाँ तीन बार परसना कहकर जनाया कि भोजनके पदार्थकी तीन कोटियाँ हैं—एक दाल-भात-घी, दूसरी पक्वान और तीसरी व्यञ्जनोंकी। इसीसे तीन बार परसना कहा। (ख) 'सुजान' का भाव कि मनकी रुचि जान लेते हैं, माँगना नहीं पड़ता, जिसको जिस व्यञ्जनमें रुचि है उसको वही बिना माँगे देते हैं, जितनी रुचि है उतनी ही देते हैं, कच्ची-पक्की रसोईका विचार रखते हुए परसते हैं, किसीका स्पर्श नहीं होने पाता। (ग) दोहेमें कहा था कि **'छन महुँ सबके परुसिगे'** और यहाँ कहते हैं **'परुसन लगे'**। भेदमें भाव यह है कि प्रथम दाल-भात-घी तीन ही पदार्थ परसे गये थे, इससे बहुत शीघ्र वे परस दिये

गये थे, अब 'लगे' कहकर परसनेमें विलम्ब दिखला रहे हैं क्योंकि व्यञ्जन विविध प्रकारके हैं। (विलम्बका कारण भी है। गाली-गानमें बारातियोंको आनन्द मिल रहा है, वे भोजन करनेमें विलम्ब लगा रहे हैं, वैसे ही इधर भी धीरे-धीरे परसा जा रहा है। इसी तरह उमाशम्भुविवाहमें 'भोजन करहिं सुर अति बिलंबु चिनोद सुनि सचु पावहीं')। (घ) 'बिंजन बिबिध' अर्थात् इनकी गिनती नहीं हो सकती। 'नाम को जाना' अर्थात् कोई नाम भी नहीं जान सकता। इस कथनसे सूचित करते हैं कि जनकपुरमें जो व्यञ्जन परसे गये, मुनियोंके ग्रन्थोंमें उनके नाम नहीं लिखे हैं, तब हम कैसे लिखें।

४—'चारि भाँति भोजन बिधि गाई।···' इति। (क) पाकशास्त्रमें चार प्रकारकी विधि ये कही गयी हैं—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य। यथा—'भक्ष्यं भोज्यं तथा चोष्यं लेह्यं चैव चतुर्विधम्'—[परंतु गर्भोपनिषद्दीपिकामें 'लेह्य, पेय, खाद्य, चोष्य लक्षण चतुर्विधाहार विकार इति' चार नामोंका उल्लेख है। (मा० त० वि०)] भक्ष्य अर्थात् अनेक प्रकारके साग; भोज्य अर्थात् पूरी, कचौरी, मोहनभोग आदि। ['भक्ष्य' वह वस्तु है जो दाँतसे काटकर खायी जाय। (वैजनाथजीका मत है कि भक्ष्य वह है जो चर्वण (चबेना) की तरह रूखी और स्वादिष्ट हो। जैसे—बूँदी, खुरमा, पापड़, समोसा, पिड़ाक, मठरी, खाझा, बताशफेनी, शकरपाला, लड्डू, दालमोठ, सेव इत्यादि) भोज्य=वह पदार्थ जो मुँहमें रखकर खाया जाय, अर्थात् सरस खाने योग्य पदार्थ। इसमें वैजनाथजीके अनुसार दाल, भात, रोटी, पूरी, मालपूवा, अमरती, जलेबी आदि हैं। चोष्य वह है जो चूसकर खाया जाय। रसवाले पदार्थ इसमें आ जाते हैं। 'पेय' (पीनेवाले) भी इसीमें गिने जायँगे। जैसे दूध, शिखरन, लस्सी, मीठा रायता आदि। वैजनाथजी सालन, साग, भाजी, तरकारीको चोष्यमें गिनते हैं। 'लेह्य' वह पदार्थ हैं जो चाटे जाते हैं। जैसे चटनी, फीरीनी, अचार आदि]। (ख) यहाँ भोजनकी चार विधियाँ कहकर फिर आगे 'छरस बिंजन' भी कहते हैं। इससे सूचित करते हैं कि व्यञ्जन चारों विधिके हैं और षट्रसके हैं। एक-एक विधिके अगणित हैं और एक-एक रसके अगणित हैं।

५—'छरस रुचिर बिंजन बहुजाती।···' इति। (क) व्यञ्जन बहुत जातिके हैं। एक-एक व्यञ्जन एक-एक रसके अनेक भाँतिके हैं। यहाँ तक चार चौपाइयोंमें बताया कि पकवान अनेक भाँतिके हैं, व्यञ्जन अनेक भाँतिके हैं, विधि अनेक भाँतिकी हैं, यथा—'एक एक बिधि बरनि न जाई', और रस अनेक भाँतिके हैं, यथा—'एक एक रस अगनित भाँती।' (ख) छरस यथा—'कटुकं लवणं चैव तिक्तं मधुरमेव च। आम्लश्चैव कषायं च षड्विधाश्च रसाः स्मृताः॥' [अर्थात् कटु, लवण (नमकीन), तिक्त, मधुर, अम्ल और कषाय ये छः रस हैं। कटु=कड़ुवा जैसे कि मिर्च-मिर्चा आदिका स्वाद होता है, तिक्त=तीता। कटु और तीतामें भेद है। तिक्त जैसे नीम, चिरायता और गुर्च आदिका स्वाद होता है, यह स्वाद कुछ अरुचिकर होता है और कटु स्वाद चरफरा और रुचिकर होता है जैसे सोंठ, मिर्च आदि। अमिलतास, हरदी, कटुकी, ब्राह्मी आदि तिक्तवर्णके अन्तर्गत हैं। आजकल कटु और तिक्त प्रायः एक ही अर्थमें व्यवहृत होते हैं। आम्ल= आँवलेके स्वादका। खट्टा भी इसीमें आ जाता है। कषाय=कसैला, बकटा, जिसके खानेसे जीभमें एक प्रकारकी ऐंठन या सङ्कोच मालूम होता है जैसे हड़, बहेड़ा, सुपारी आदिका स्वाद]। (ग) ['रुचिर' शब्द देकर जनाया कि षट्रसमें तिक्त और कषाय तो स्वादमें अच्छे नहीं होते पर व्यञ्जन जो इन रसोंके बने हैं वे सुन्दर हैं, स्वादिष्ट हैं, रुचिकर हैं।] (घ) छरस और बहु भाँती तथा 'एक एक रस अगनित भाँती' कहकर सूचित किया कि व्यञ्जनोंके नाम, जाति, भाँति सभी अनंत हैं।

जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी॥ ६॥
समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा॥ ७॥
एहि बिधि सबही भोजनु कीन्हा। आदर सहित आचमनु दीन्हा*॥ ८॥

दो०—देइ पान पूजे जनक दसरथु सहित समाज।
जनवासेहि गवने मुदित सकल भूप सिरताज॥ ३२९॥

शब्दार्थ—मधुर=मीठा, धीमा। धुनि (ध्वनि)=स्वर, आवाज। मधुर ध्वनि अर्थात् मीठी आवाजसे गाकर। 'गारीं मधुर स्वर देहिं सुंदर' ९९ छंद देखिये। बिराजा=सोहती थीं, फबती या शोभित होती थीं। आचमन=शुद्धिके लिये मुँहमें

* लीन्हा—छ०, रा० प०, भा० दा०।

जल लेना। आचमन दीन्हा=कुल्ली करायी, हाथ-मुँह धुलाया। सिरताज=मुकुट, शिरोमणि।

अर्थ—भोजन करते समय पुरुषों और स्त्रियोंके नाम ले-लेकर मधुर स्वरसे गाली दे (अर्थात् गा) रही हैं॥ ६॥ समयकी गाली (भी) सुहावनी और सोहती थीं। (उन्हें) सुनकर राजा समाजसहित हँसते थे॥ ७॥ इस रीतिसे सभीने भोजन किया। आदर सहित उन्हें आचमन दिया गया॥ ८॥ पान देकर राजा जनकने समाजसहित दशरथ महाराजकी पूजा की। समस्त राजाओंके सिरताज चक्रवर्तीजी प्रसन्न होकर जनवासेको चले॥ ३२९॥

टिप्पणी—१ 'जेंवत देहिं···' इति। (क) भोजनमें प्रथम [प्रारम्भमें गान होता है और अन्तमें (अर्थात् जब कुछ भोजन कर चुकते हैं तब) भी गालियाँ गायी जाती हैं और 'पंचकवल करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे॥' यह भोजनके प्रारम्भ समयकी गालियाँ हैं और 'जेंवत देहिं···' यह अन्तका गालीगान है। (ख) 'मधुर धुनि' कहनेका भाव कि कठोर ध्वनिसे गाली कठोर (कटु) हो जाती है; उसमें शोभा नहीं रहती। मधुर स्वरसे व्यङ्ग्ययुक्त गाली देना अमृत समान माना जाता है और कठोर ध्वनिसे व्यङ्गरहित गाली देना विष समान है, यथा—'**अमिय गारि गारेउ गरल, गारि कीन्ह करतार। प्रेम बयर की जननि जुग, जानहिं बुध न गँवार॥**' (दोहावली ३२८)। (ग) '**लै लै नाम पुरुष अरु नारी**' अर्थात् जनकपुरमें पुरुषों और अयोध्याजीकी स्त्रियोंके नाम ले-लेकर गाली देती हैं। ऐसा व्यङ्गसे कहते हैं, यथा—'**गारी मधुर स्वर देहिं सुंदरि बिंग्य बचन सुनावहीं।**' (९९ छंद)। ('**लै लै नाम पुरुष अरु नारी**' अर्थात् राजा जनक, उनके भाई और परिवारके पुरुषोंका नाम लेकर उनके साथ कौसल्या, कैकेयी, सुमित्रा इत्यादि रानियों और बारातियोंकी स्त्रियोंका सम्बन्ध वर जोड़ा मिला-मिलाकर गाती थीं। राजा और सभी बारातियोंको गाली देती थीं)।

२ '**समय सुहावनि गारि बिराजा···**' इति। (क) गालियाँ न तो सुहावनी होती हैं और न किसीको सुहाती हैं। वे सदा 'असुहावनी' होती हैं। गाली देनेसे शोभा भी नहीं होती, यथा—'**गारी देत न पावहु सोभा।**' (२७४। ८)। इसीसे कहते हैं—'**समय सुहावनि···**' । अर्थात् जब गाली-गान विवाह आदिके समय होता है, तब गाली भी 'सुहावनी' अर्थात् सुखद होती है और शोभा भी देती है। 'सुहावनि' और 'बिराजा' दो विशेषण देनेका भाव यह है कि मधुर ध्वनिसे गायी जा रही हैं, इससे सुहावनी अर्थात् श्रवण-सुखद हैं और स्त्री-पुरुषोंका नाम ले-लेकर व्यङ्गसे गाली दे रही हैं, इसीसे विशेष शोभित हैं। (यों भी अर्थ कर सकते हैं कि—(विवाह) समयकी सुहावनी गालियाँ शोभा दे रही हैं अर्थात् विवाहका समय है, इस समयके योग्य जो गाली-गान होता है वह सुहावना लगता ही है। अन्य समयमें यही गाली सुहावनी नहीं लग सकती। यथा—'**फीकी पै नीकी लगै, कहिये समय बिचारि। सबके मन हर्षित करै, ज्यों बिबाह में गारि॥ नीकी पै फीकी लगै, बिनु अवसर की बात। जैसे बर्नन युद्ध में रस सिंगार न सुहात॥**' यह विवाह समय है इसीसे गालियाँ सुहावनी लगती हैं)। '**हँसत राउ सुनि सहित समाजा**' इति। सहित समाज हँसनेका भाव कि स्त्रियाँ राजाको समाज सहित गालियाँ दे रही हैं, इसीसे सब समाज भी हँसता है। जब गाली-गान हुआ तब अनुरक्त हो गये, यथा—'**गारि गान सुनि अति अनुरागे**'। और जब स्त्री-पुरुषोंका नाम ले-लेकर गाली गाने लगीं तब व्यङ्ग सुनकर हँसी आ जाती है। [(ग) कुछ महानुभाव कहते हैं कि स्त्रियाँ गाली गाते-गाते श्रीरामजीकी छवि देखकर भूलकर उलटी गाली गा गयीं अर्थात् जनकपुरकी स्त्रियोंमेंसे किसीका सम्बन्ध अवधेशजीसे लगा गयीं, इसीपर सब-के-सब हँस पड़े। अथवा गाते-गाते रुक गयीं तो सब हँस पड़े कि बस अब चुक गयीं। इत्यादि। (घ) मयङ्ककार लिखते हैं कि रनवासकी सखियाँ महाराज दशरथको गाली देती हैं कि रामलला श्याम हैं और आप गोरे जान पड़ते हैं कि वे तुम्हारे पुत्र नहीं, तब महाराजने कहा कि हमारे यहाँ पृथ्वीमें हल चलाकर संतान नहीं पैदा की जाती, ऐसा कहकर समाजसहित हँसे)।

३ '**एहि बिधि सबही भोजनु कीन्हा।···**' इति। (क) बारात बहुत बड़ी है। जहाँपर राजा समाजसहित बैठे हैं, वहाँके भोजन विधिका वर्णन किया। जहाँ बड़े विस्तारसे लोग बैठे हैं, वहाँका वर्णन नहीं किया गया। वहाँका वर्णन '**एहि बिधि सब ही भोजनु कीन्हा**' से हो गया। अर्थात् जिस विधिसे राजाने भोजन किया उसी विधिसे सबने किया। भाव यह है कि पंक्तिभेद नहीं हुआ। ('**एहि बिधि**' से तात्पर्य यह कि '**पंच कवल करि जेवन लागे**' से '**हँसत राउ सुनि सहित समाजा**' तक जो कहा वही '**एहि बिधि**' है। '**सबही**'से राजा, चारों भाई श्रीरामभरतादि, तथा समस्त बारातको सूचित किया। क्योंकि यदि 'सबहीं' में राजा आदि नहीं हैं तो उनका आचमन करना भी इनसे पृथक् कहना चाहिये था)। '**आचमन दीन्हा**' से जनाया कि करानेवाले सबको आचमनके लिये जल दे रहे हैं, यथा—'**अँचवाइ दीन्हे पान गवने बास**

जहँ जाको रह्यो' (९९ छंद) ।

४ 'देइ पान पूजे जनक····' इति । (क) [नोट—'पूजा' प्रायः जल फूल फल इत्यादिका देवी-देवता महात्मा आदिपर चढ़ाने या उनको समर्पण करनेका नाम है, पर इसका प्रयोग 'आदर-सत्कार' के अर्थमें भी होता है । वही अर्थ यहाँ समझना चाहिये । इसमें भोजनके पश्चात् भेंट आदि जो कुछ दी जाय वह भी आ जाती है और अतर-फूल इत्यादिसे खातिर करना भी आ जाता है] 'पूजे' अर्थात् फूलमाला पहनाया, अतर-चन्दन लगाया, इत्यादि । यथा—'अँचै पान सब काहू पाए । स्रग सुगंध भूषित छबि छाए ॥ ३५५ । २ ।' (ख) 'सहित समाज' का भाव कि जैसा आदर-सत्कार दशरथजीका किया वैसा ही सब समाजका । (ग) 'दसरथु सहित समाज' देहलीदीपक है, 'पूजे दसरथु सहित समाज' और 'दसरथु सहित समाज जनवासेहि गवने मुदित' । 'मुदित सकल भूप सिरताज' का भाव कि जो पदार्थ किसी राजा-को प्राप्त नहीं वह सब इनको प्राप्त है, फिर भी ये श्रीजनकजीकी पहुनाईसे मुदित हुए ।

नित नूतन मंगल पुर माहीं । निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं ॥ १ ॥
बड़े भोर भूपतिमनि जागे । जाचक गुनगन गावन लागे ॥ २ ॥
देखि कुअँर बर बधुन्ह समेता । किमि कहि जात मोदु मन जेता ॥ ३ ॥
प्रात क्रिया* करि गे गुरु पाहीं । महाप्रमोदु प्रेमु मन माहीं ॥ ४ ॥
करि प्रनामु पूजा कर जोरी । बोले गिरा अमिय जनु बोरी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—जामिनी (यामिनी)=रात । प्रात क्रिया=शौच, स्नान, सन्ध्यावन्दन इत्यादि ।

अर्थ—जनकपुरमें नित्य नये मङ्गल हो रहे हैं । दिन-रात पलके समान बीतते जा रहे हैं ॥ १ ॥ बहुत तड़के राजशिरोमणि श्रीदशरथजी जगे, याचक गुणगण गाने लगे ॥ २ ॥ सुन्दर (चारों) राजकुमारोंको सुन्दर बहुओंसहित देखकर जो आनन्द उनके मनमें है वह कैसे कहा जा सके ? ॥ ३ ॥ प्रातःकालकी नित्य क्रिया करके वे गुरुजीके पास गये । उनके मनमें महान् आनन्द और प्रेम भरा हुआ है ॥ ४ ॥ प्रणाम और पूजा करके हाथ जोड़कर वे मानो अमृतमें डुबोयी हुई वाणी बोले ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'नित नूतन मंगल पुर माहीं ।···' इति (क) श्रीजनकमहाराजके यहाँका मङ्गल कहकर अब पुरका मङ्गल कहते हैं । जब जनकजीके घरका मण्डप-माँड़व कहा था तब पुरका भी मण्डप कहा था, यथा—'जनक भवन कै सोभा जैसी । गृह गृह प्रति पुर देखिअ तैसी ॥'—२८९ । ६ देखिये । राजाके मङ्गलको पुरवासी अपना मङ्गल मानकर सभी अपने-अपने घरमें मङ्गल करते हैं । पुनः; 'नित नूतन····' का भाव कि जितने राजकुमार ['छरे छबीले छयल····' जिन्हें पूर्व कह आये तथा और भी कुमार जो बारातमें आये उन सबका विवाह जनकपुरमें नित्यप्रति होता जाता है, अतः नित्य नया मङ्गल पुरमें होना कहा । अथवा, पुरमें सब कोई बारात अपने यहाँ रखना चाहता है, सबके घर विवाहोत्सव होता है, उसमें सब कोई बारातको निमन्त्रित करता है, यह भाव दर्शित करनेके लिये 'नित नूतन मंगल पुर माहीं' कहा । पूर्व कह आये हैं कि 'सूर सचिव सेनप बहुतेरे । नृपगृह सरिस सदन सब केरे ॥ २१४ । ३ ।' ये अवश्य ही बारातको अपने यहाँ प्रीतिभोजननिमित्त निमन्त्रण देते होंगे । चारों भाई जब पुरमें निकलते होंगे तब नित्य ही पुर-भरको आनन्द मिलता होगा । इत्यादि] । (ख)—'निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं' भाव कि सुखके दिन शीघ्र बीतते हैं, यथा—'सुख समेत संबत दुइ साता । पल सम होहिं न जनिअहिं जाता ॥'

२ 'बड़े भोर भूपतिमनि जागे ॥····' इति । (क) 'बड़े भोर' अर्थात् एक पहर रात रहे । यथा—'पछिले पहर भूप नित जागा ॥' (२ । ३८) । तीन पहर रात बीतनेपर जो चौथा पहर आता है, उसकी गिनती 'बड़े भोर' में है । रात तीन ही पहरकी मानी जाती है, 'त्रियामा' रात्रिका एक नाम ही है; इसीसे चौथा पहर 'भोर' में गिना जाता है । (ख) भूपतिमणि अर्थात् सब राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, यथा—'बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा । बरनहिं सब दसरथ गुनगाथा ॥' यही बात दूसरे चरणमें कहते हैं—'जाचक··· ।' याचकोंने राजाका उदार गुण आँखों देखा है कि विवाहके समय उन्होंने

* क्रिया—१६६१ ।

ऐसा दान किया कि याचकोंके लिये न लिया गया। यथा—'दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। उबरा सो जनवासेहि आवा॥ ३२६। ७।' इसीसे राजाके उदारता आदि गुण गाते हैं।

३ 'देखि कुअँर बर बधुन्ह समेता।····' इति। (क) 'देखि' से सूचित करते हैं कि चारों कुमार और चारों वधुएँ राजासे पहले ही जागकर राजाको प्रणाम करने गये हैं; यथा—'प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥ २०५। ७।' 'गुर ते पहिले जगतपति जागे राम सुजान॥ २२६।' यहाँ चारों भाइयोंका प्रणाम करना नहीं लिखा, क्योंकि यहाँ राजाका नित्य कृत्यका वर्णन कर रहे हैं। यहाँ चारों भाइयोंके कृत्यके वर्णनका प्रकरण नहीं है; इसीसे यहाँ आशयसे प्रणाम करना सूचित किया है। अथवा, एक जगह प्रातःकाल प्रणाम करना लिख चुके हैं, उसीसे नित्यका यह कर्म बता चुके हैं, इसीसे यहाँ नहीं लिखा। (ख) 'बर' देहलीदीपक है। (ग) 'किमि कहि जात मोदु मन जेता' अर्थात् वह मन और वाणीसे परेकी बात है, इसीसे कहते नहीं बनता। यथा—'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।' 'बर कुअँर' के अनुरूप ही 'बर बधू' हैं, जैसे श्रेष्ठ ये चारों भाई हैं, वैसी ही श्रेष्ठ चारों बहुएँ हैं, यह देख बड़ा मोद हुआ।

४ 'प्रात क्रिया करि गे गुरु पाहीं·····' इति। (क) प्रातःक्रिया श्रीरामजीके द्वारा कह चुके हैं, यथा—'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥ २२७। १।' (ख) 'महाप्रमोदु' का भाव कि वधुओंसमेत पुत्रोंको देखनेसे 'मोद' हुआ और गुरुके दर्शनसे 'महाप्रमोद' हुआ। गुरुदर्शनसे अधिक आनन्द हुआ, क्योंकि वाल्मीकिजीका वचन है कि 'तुम्ह तें अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥ सब करि माँगहिं एक फलु राम चरन रति होउ। तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ २। १२९।' (गुरुकी कृपा और आशीर्वादसे ये सब प्राप्त हुए हैं, यथा—'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी॥ संगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥ १। १८९।' 'तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥····२०८। ८।' अतः गुरुके दर्शनसे महाप्रमोद हुआ)। पुनः, माधुर्यमें यह भाव है कि स्वार्थमें अधिक प्रीति है, इसीसे गुरुदर्शनमें अधिक आनन्द होता है। 'महा' प्रमोद और प्रेम दोनोंका विशेषण है।

२ 'करि प्रनाम पूजा कर जोरी।'—'करि' का अन्वय प्रणाम और पूजा दोनोंमें है। इससे जनाया कि पूजनकी सामग्री पुष्प, माला, चन्दन, अतर आदि साथमें लिये हुए गये हैं। यहाँ राजाकी गुरुजीमें मन, तन और वचन तीनोंसे भक्ति दिखाते हैं—'महा प्रमोदु प्रेम मन माहीं' यह मनकी भक्ति है, 'करि प्रनाम पूजा कर जोरी' यह तनकी और 'बोले गिरा अमिअ जनु बोरी' यह वचनकी भक्ति है।

तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा। भयेउँ आजु मैं पूरन काजा॥ ६॥
अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाई॥ ७॥
सुनि गुर करि महिपाल बड़ाई। पुनि पठए मुनिबृंद बोलाई॥ ८॥

दो०—बामदेउ अरु देवरिषि बालमीकि जाबालि।
आये मुनिबर निकर तब कौसिकादि तपसालि॥ ३३०॥

अर्थ—हे मुनिराज! सुनिये! मैं आपकी कृपासे आज पूर्णकाम हुआ॥ ६॥ हे गोसाईं! अब सब ब्राह्मणोंको बुलाकर सब प्रकारसे गौओंको अलंकृत करके उन्हें दीजिये॥ ७॥ गुरुने यह सुनकर राजाकी बड़ाई करके फिर मुनियोंको बुलवा भेजा॥ ८॥ वामदेव, देवर्षि नारद, वाल्मीकि, जाबालि और विश्वामित्र आदि तपस्वी श्रेष्ठ मुनियोंके समूह आये॥ ३३०॥

टिप्पणी—१ (क) पूरनकाजा=पूर्णकाम; सफल मनोरथ; कृतकृत्य। 'मुनिराज' कहनेका भाव कि जैसे आप बड़े हैं वैसे ही आपकी कृपा बड़ी है। कृपाकी बड़ाई कहनेके लिये ही यहाँ मुनिकी बड़ाई की (जैसे आगे विश्वामित्रजीसे कहा है,—'यह सबु सुख मुनिराज तव कृपा कटाच्छ पसाउ॥ ३३१।' वहाँ भी 'मुनिराज' सम्बोधन देकर 'कृपा' की बड़ाई की है कि कृपा-कटाक्षके प्रसादसे यह सब सुख हुआ)। 'पूरन काजा' कहनेका भाव कि राजाके मनमें यह कामना रही है कि हमारे पुत्रोंके योग्य, उन्हींके अनुरूप पुत्रवधुएँ मिलें, यह कामना पूर्ण हो गयी। 'आजु' कहनेका भाव कि आज सबेरे प्रातःकाल ही बहुओंसहित पुत्रोंको देखा है, इसीसे 'आज' पूर्णकाम होना कहते हैं, यथा—'आजु सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा॥' (ख) 'अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं' इति। वसिष्ठजीसे ब्राह्मणोंको बुलवानेको

कहते हैं क्योंकि गऊ अधिकारी ब्राह्मणोंको दी जाती है, अनधिकारीको देनेसे पाप होता है। इसीने ब्राह्मणोंका बुलाना उनके अधीन रक्खा, वे ही अधिकारी जान सकते हैं। [वेदपाठी, कुलीन, यज्ञादि कर्मधर्मनिष्ठ, क्षमावान्, पापसे डरनेवाला, इत्यादि गुण विशिष्ट ब्राह्मण इस दानके अधिकारी हैं। (पं०)] अथवा, वसिष्ठजीके बुलानेसे सब ऋषि-मुनि आ सकते हैं, इसीसे उन्हींसे बुलवानेको कहा। 'गोसाईं' बड़ेको कहते हैं, यह 'स्वामी' का पर्याय है। फिर भी यहाँ प्रसङ्गानुकूल 'गोसाईं' का अर्थ यह है कि आप सब 'गायोंके स्वामी' हैं, जिसको आप चाहें उसको दें। (ग) 'देहु धेनु'—सवत्सा दूध देनेवाली गऊको 'धेनु' कहते हैं। राजाने गायोंकी संख्या नहीं कही, क्योंकि वसिष्ठजी जानते ही हैं मण्डपतले चार लक्ष गौका संकल्प राजा कर चुके हैं। (घ) 'सब भाँति बनाई'—यह आगे स्पष्ट किया है, यथा—'चारि लक्ष बर धेनु मँगाई। काम सुरभि सम सील सुहाई॥ सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही॥ ३३१। २-३।' अर्थात् सुवर्णके शृङ्ग (सींग) सींगोंमें पहनाकर, ताँबेकी पीठ, चाँदीके खुर, सुवर्णकी दोहनी, मणिपुष्पोंकी माला, ओढ़नेका बढ़िया वस्त्र इत्यादि 'सब भाँति' का बनाव वा शृङ्गार है। [यथा वाल्मीकीये—'गवां शतसहस्रं च ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः। एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः॥ २२। सुवर्णशृङ्गयः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः। गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभः॥ २३॥ (१। ७२।)।' अर्थात् अपने एक-एक पुत्रके लिये एक-एक लक्ष गऊ संकल्प करके दीं। इस तरह चार लक्ष गौएँ दीं। इन गौओंकी सींगें सोनेसे मढ़ी थीं, सब सवत्सा और भरी-पूरी थीं। साथमें काँसेकी दोहनी भी थीं।]

२ 'सुनि गुर करि महिपाल बड़ाई।…' इति। (क) 'महिपाल बड़ाई' का भाव कि पृथ्वीका पालन-पोषण-धर्म लेकर राजाकी बड़ाई की। पृथ्वीका पालन धर्मसे होता है, यथा—'चाहिअ धरमसील नर नाहू। २। १७९'। राजाकी धर्ममें अत्यन्त श्रद्धा देख मुनिने राजाकी प्रशंसा की, अतः 'महिपाल' शब्द दिया। 'महिपाल' शब्दसे ही यह भी जनाया कि क्या बड़ाई की। यह कहा कि हे महिपाल! आप ऐसा क्यों न कहें, आपके ही धर्मसे पृथ्वीका पालन हो रहा है। (श्रीरामजीने भरतजीसे कहा है—'भरत भूमि रह राउरि राखी। २। २६४। १।' यहाँ वसिष्ठजीने राजाको 'महिपाल' कहकर वही भाव दरसाया है)। (ख) राजाकी बड़ाई करनेमें भाव यह है कि मुनि राजाके अमृत-समान वचन सुनकर इतने प्रसन्न हुए कि उनकी बड़ाई करने लगे, प्रशंसा किये बिना रहा न गया। राजाने कहा था कि 'अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु'। मुनि राजाका आशय समझ गये कि राजा 'सब' ब्राह्मणोंको इसलिये बुलाकर गौ देना चाहते हैं कि जिसमें उन्हें सब मुनियोंके दर्शन हो जायँ और सबसे आशीर्वाद मिले नहीं तो सब मुनियोंके यहाँ गायें भेज देते, अतः वसिष्ठजी प्रसन्न हुए। (ग) 'मुनिवृन्द' को बुलाया क्योंकि राजाने 'सब बिप्र' कहा था। विप्रसे मुनि जनाया।

३ 'बामदेव अरु देवरिषि…' इति। (क) वामदेवजी ऋषियोंकी गणनामें आदिमें (प्रथम) गिने जाते हैं, यथा—'बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस। ३२०।' इसीसे इनका नाम आदिमें दिया। तपमें विश्वामित्रजीकी प्रथम गणना है, इससे 'कौसिकादि तपसालि' कहा। तपसालि अर्थात् तपद्वारा शोभित। इस दोहेमें पाँच मुनियोंके नाम लिखकर फिर 'आए मुनिबर निकर' कहनेसे सूचित हुआ कि सब मुनि इन पाँचों मुनियोंके समान ही हैं। सब मुनि अग्रगण्य हैं। (इससे कहीं किसीको आदिमें और कहीं किसीको आदिमें लिखते हैं) यथा—'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ ७। २७।', 'जान आदि कबि नाम प्रतापू। १। १९।', 'कौसिकादि मुनि सचिव समाजू।' विश्वामित्रजी तपस्वियोंमें अग्रगण्य हैं, तपद्वारा क्षत्रियसे ब्रह्मर्षि हुए हैं। चारों वेद और गायत्री सभीने रूप धारण कर विश्वामित्रके पास आकर उनसे कहा था कि आप ब्राह्मण हो गये, हम आपको प्राप्त हैं। वसिष्ठजी भी उनकी प्रशंसा करते हैं, यथा—'मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥ ३५९। ६।' कोई-कोई 'मुनिवर' को वामदेव, नारद, वाल्मीकि और जाबालिका विशेषण और 'तपसालि' को 'कौसिकादि' का विशेषण मानते हैं। परंतु 'आदि' शब्द अन्तमें देनेसे मुनिवर और तपसालि सभीके विशेषण जान पड़ते हैं। हाँ 'तपसालि' कौशिकके पश्चात् इससे दिया कि तपमें ये सबसे बढ़े हुए हैं। इन्हें शरीरधारी तपस्या, तपस्याकी मूर्ति ही कहा गया। यथा—'एष राम मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः। वाल्मी० १। ६५। २९।' ये शतानन्दजीके वाक्य हैं।

प० प० प्र०—दशरथजीने विप्रोंको बुलानेको कहा। वसिष्ठजीने मुनिवृन्दको बुला भेजा। और कविने 'आए मुनिबर निकर' कहा। इससे जनाया कि इस गोदानके अधिकारी तपस्वी मुनिवर ही थे। ये सब विप्र हैं और मुनिवर। इसीको वसिष्ठ-

जीने बुलाया था। प्रतिग्रह और लोकमान्यता तपकाननको जला डालता है, यह जानते हुए भी देवर्षि नारद-सरीखे महाभागवत लेने आये, क्योंकि वे जानते हैं कि राम कौन हैं और वह दान श्रीरामविवाहाङ्गभूत है।

दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे॥ १॥
चारि लच्छ बर धेनु मँगाई। कामसुरभि सम सील सुहाई॥ २॥
सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही॥ ३॥
करत बिनय बहु बिधि नरनाहू। लहेउँ आजु जग जीवन लाहू॥ ४॥
पाइ असीस महीसु अनंदा। लिये बोलि पुनि जाचक बृंदा॥ ५॥

अर्थ—राजाने सबोंको दण्डवत् प्रणाम किया और प्रेमसहित पूजा करके उनको उत्तम आसन (बैठनेको) दिये॥ १॥ चार लाख उत्तम गौएँ मँगायीं जो कामधेनुके समान सुन्दर चरित्रवाली,॥ २॥ सब प्रकार सब सजायी हुई थीं। राजाने (उन गौओंको) प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मणोंको दिया॥ ३॥ राजा बहुत तरहसे विनती कर रहे हैं कि संसारमें आज ही मैंने जीनेका लाभ पाया॥ ४॥ आशीर्वाद पाकर राजा आनन्दित हुए। फिर भिक्षुकोंके समूहोंको बुलवा दिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'दंड प्रनाम' अर्थात् साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम। २६९ (२) में देखिये। तात्पर्य कि जैसे मन-वचन-कर्म तीनों गुरुभक्तिमें लगाये वैसे ही इन तीनोंसे ही मुनियोंको प्रणाम किया। 'दण्ड प्रणाम' से निरभिमानता शालीनता और विप्रोंमें अत्यन्त प्रीति दिखायी। लज्जा छोड़कर साष्टाङ्ग पड़ गये। (प्र० सं०)। (ख) 'पूजि सप्रेम' क्योंकि महानुभाव भक्तिसे संतुष्ट होते हैं। यथा—'भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः।' 'बरासन दीन्हे'—भाव कि जैसे ये सब 'मुनिवर' श्रेष्ठ मुनि हैं वैसे ही इनको श्रेष्ठ आसन दिये। मुनि 'बर' हैं अतः उनके योग्य आसन भी 'बर' है। [यहाँ प्रथम (पूजा) कहकर आसन देना लिखनेसे सूचित हुआ कि पहले अर्घ्य दिया फिर आसनपर बिठाकर आसनादि पूजोपचार किये गये। यथा—'सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥ २। ९। ३', 'अरघ देइ आसन बैठारे,' 'पद पखारि बर आसनु दीन्हा। ६६। ६।' (प० प० प्र०)। (ग) 'चारि लच्छ बर धेनु मँगाई' इति। चार पुत्रोंके विवाह हुए हैं, इसीसे (एक-एकके निमित्त एक-एक लक्ष इस तरह) चार लक्ष गौओंका संकल्प मण्डपतले किया था, अब दे रहे हैं, इसीसे यहाँ संकल्प करना नहीं लिखते। जैसे 'मुनिबर' के सम्बन्धसे 'बरासन' कहा, वैसे ही यहाँ 'बरधेनु' का देना कहते हैं। राजाने वसिष्ठजीसे 'धेनु' देनेको कहा था,—'धेनु देहु सब भाँति बनाई'। वसिष्ठजीने राजाके चित्तके अनुकूल उनके कहेसे अधिक किया कि 'बर धेनु' मँगायीं। धेनु अर्थात् सवत्सा सदुग्धा गऊ। सील (शील)=आचरण, स्वभाव। समसील=समान स्वभाववाली। अर्थात् जब दूधकी इच्छा हो तभी दे देनेवाली तथा मनोवाञ्छित कामनाओंकी पूर्ण करनेवाली इत्यादि।)

२ (क) **'सब बिधि सकल अलंकृत कीन्हीं'** अर्थात् सब प्रकारसे सब गायें अलंकृत की हुई हैं, कामदार आदि सेवक गहने आदिसे सजाकर लाये हैं। 'मुदित'—गायोंको सब प्रकार अलंकृत देखकर 'मुदित' हुए और मुदित होकर दिया। (ख) 'मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही' इति। श्रीरामजीका स्मरण करते, दान देते और गुरुको प्रणाम करनेमें हर्ष होना चाहिये, यथा—'रामहि सुमिरत रन भिरत, देत, परत गुर पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु ते जग जीवत जाय॥' (दोहावली ४२)। इसीसे तीनोंमें हर्ष लिखते हैं। यथा—'देखि कुँअर बर बधुन्ह समेता। कहि किमि जात मोद मन जेता॥ ३३०। ३'—यह श्रीरामजीके दर्शनमें हर्ष हुआ। 'प्रात क्रिया करि गे गुरु पाहीं। महा प्रमोदु प्रेमु मन माहीं॥ करि प्रनाम पूजा कर जोरी'।—यह गुरुको प्रणाम करनेमें हर्ष हुआ। और 'मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही'—यहाँ दान देनेमें हर्ष दिखाया। (ग) 'महिप महिदेवन्ह' का भाव कि राजा महिकी रक्षा करते हैं, इसीसे उन्होंने (महिके देवताओं) महिदेवोंको प्रसन्न किया, क्योंकि इन्हींकी कृपासे महिकी रक्षा होती है।

३ 'करत बिनय बहुबिधि नरनाहू।...' इति (क) श्रीदशरथजी महाराजकी मुनियोंमें गुरुभावना है, यह यहाँ दिखाते हैं। जैसे उन्होंने गुरुको प्रणाम किया, उनका पूजन किया और हाथ जोड़े, यथा—'करि प्रनामु पूजा कर जोरी', वैसे ही मुनियोंको प्रणाम किया, उनकी पूजा की और आसन दिया—'दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे॥' (वसिष्ठजीके आसनपर गये थे, इसीसे वहाँ आसन देना न कहा।) गुरुसे विनय की थी,—'तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा। भयउँ आजु मैं पूरनकाजा॥'; वैसे ही मुनियोंसे विनय करते हैं—'लहेउँ आजु जग जीवन लाहू।' (ख) **'करत बिनय'**

का भाव कि बड़े लोग पदार्थ देकर विनय करते हैं, यथा—'दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो। का देउँ पूरन काम संकर चरन पंकज गहि रह्यो ॥ १०१ ॥', 'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥ क्यों करैं बिनय बिदेह कियो बिदेहु मूरति साँवरी। ३२४ ।' वैसे ही यहाँ राजा गौएँ देकर विनती करते हैं। (दान देकर विनय करना आदर दान सूचित करता है। इससे देनेमें निरभिमानता पायी जाती है)। (ग) 'बहु बिधि' यह कि मैं आपको कुछ देने योग्य नहीं हूँ, आप तो पूर्णकाम हैं; साधु भावसे प्रसन्न होते हैं, यही सोचकर यह कुछ आपको समर्पण करता हूँ; आपके दर्शनोंसे मुझे जीवनका लाभ मिल गया, जीवन सफल हुआ; आपके आगमनसे मेरे बड़े भाग्य उदय हुए, यथा—'भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी ॥ ३५२ । २ ।' इत्यादि 'बहुविधि' है।

४ (क) 'पाइ असीस' से जनाया कि राजाकी विनती सुनकर सबने आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद पाकर राजा प्रसन्न हुए; क्योंकि मुनियोंका आशीर्वाद अमोघ है, उसका मिलना भी बड़ा दुर्लभ है। बड़ा सौभाग्य जानकर आनन्दित हुए। (ख) 'लिए बोलि पुनि जाचक बृंदा' इति। पूर्व कहा था कि 'बड़े भोर भूपति मनि जागे। जाचक गुनगन गावन लागे ॥ ३३० । २ ।' उन्हींको अब बुलाया। 'पुनि' अर्थात् विप्रोंको देनेके पश्चात् इनको बुलाया। गोदान देनेमें बहुत बातोंका विचार करना होता है, इसीसे मुनियोंको गुरुजीके द्वारा बुलवाया और याचकोंको स्वयं बुलाया। (याचक गोदान लेनेके अधिकारी नहीं हैं, इससे उनको अब बुलाया)। 'पुनि' का दूसरा भाव कि पूर्व कई बार याचकोंको दे चुके हैं, यथा—'प्रेम समेत राय सबु लीन्हा। मै बकसीस जाचकन्हि दीन्हा ॥ ३०६ । १ ।', 'दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। उबरा सो जनवासेहि आवा ॥ ३२६ । ७'; अब फिर देनेके लिये बुलाया।

नोट—यहाँ कन्यादान लिया गया है। परिग्रह दान जो लेता है उसीको अपने हाथसे प्रायश्चित्तका दान करना चाहिये। यहाँ पुत्रोंसे न करवाकर राजाने किया, इसका क्या प्रयोजन ? इस प्रश्नको उठाकर पंजाबीजी इसका उत्तर देते हैं कि ऋषि जानते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी ब्रह्म हैं, सीताजी उनकी आदिशक्ति हैं; उनके विषयमें परिग्रह दान और प्रायश्चित्त कहना नहीं बनता, रहे तीनों भाई सो वे भी तद्रूप हैं, इन्हींके अंश हैं इसीसे कन्यादानके समय समर्पण करना कहा गया। यथा—'तिमि जनक रामहि सिय समरपी…' (३२४ छंद)।

कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रबिकुलनंदन ॥ ६ ॥
चले पढ़त गावत गुनगाथा। जय जय जय दिनकर कुलनाथा ॥ ७ ॥
येहि बिधि राम बिआह उछाहू। सकै न बरनि सहस मुख जाहू ॥ ८ ॥

दो०—बार बार कौशिक चरन सीसु नाइ कह राउ।
येह सबु सुखु मुनिराज तव कृपा कटाक्ष पसाउ ॥ ३३१ ॥

शब्दार्थ—नंदन=आनंद देनेवाले। कटाक्ष=चितवन, दृष्टि। प्रायः तिरछी चितवनके अर्थमें आता है। पसाउ= प्रसाद; प्रसन्नता; यथा—'सपनेहु साचेहु मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ ॥ १ । १५ ।'

अर्थ—सूर्यकुलको आनन्द देनेवाले श्रीदशरथजीने उनकी इच्छा पूछ-जानकर उन्हें स्वर्ण, वस्त्र, मणि (रत्न), घोड़े, हाथी, रथ (जो जिसने चाहा वह) दिये ॥ ६ ॥ वे पढ़ते, गुणगाथा गाते चले। सूर्यकुलके नाथकी जय हो जय हो जय हो !! ॥ ७ ॥ इस प्रकार रामचन्द्रजीके विवाहका उत्सव हुआ। जिसके सहस्रमुख हैं वह भी उसे वर्णन नहीं कर सकता ॥ ८ ॥ विश्वामित्रजीके चरणोंमें बारंबार प्रणाम करके राजा कहते हैं 'हे मुनिराज ! यह सब सुख आपकी कृपा-कटाक्षका प्रसाद है' ॥ ३३१ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कनक बसन…' इति। इस क्रमका भाव यह है कि कनक, वस्त्र और मणि पहननेकी चीजें हैं और घोड़े, हाथी, रथ सवारीकी चीजें हैं। पहले सबको वस्त्र और आभूषण पहनाकर और जो-जो वस्तु उन्होंने चाही उसे रथादिमें रखकर उनको रुचि अनुकूल सवारीपर चढ़ाकर तब विदा किया। कनक और मणिसे आभूषण सूचित किये। यथा—'नृप करि बिनय महाजन फेरे। सादर सकल मागने टेरे ॥ भूषन बसन बाजि गज दीन्हें। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हें ॥ १ । ३४० ।' कनक और मणिके बीचमें 'बसन' को कहकर बहुमूल्य जरकशी कामदारके वस्त्र जिनमें मणि-मोती लगे हैं सूचित किये। [(ख) 'बूझि रुचि' से आदरपूर्वक दान सूचित हुआ। जिसमें रुचि नहीं है वह वस्तु पानेसे प्रसन्नता नहीं होती।

मनकी वस्तु मिलनेसे चित्त प्रसन्न होता है] । (ग) 'रविकुल नंदन' का भाव कि उदारता देखकर रविकुल प्रसन्न होता है । राजा ज्यों-ज्यों उदारता दिखाते हैं त्यों-त्यों रघुवंशी सुखी होते हैं । पुनः भाव कि जैसे राजा सब वस्तु देकर रघुवंशियोंको आनन्द देते हैं, वैसे ही याचकोंको देकर आनंदित किया । तात्पर्य कि राजाने अपने घरके लोगोंके समान याचकोंको दिया । (भाव यह कि इस कुलमें उदारता सदासे प्रसिद्ध चली आती है कि 'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं । २३१ । ८ ।' रघुवंशी सदा उदारतामें आनन्द मानते आये हैं । सारा राज्य प्रसन्नतापूर्वक दे दिया है) ।

२ (क) 'चले पढ़त गावत गुन गाथा ।' इति । भाव यह कि भाट पढ़ते चले, गुणनायक गुण गाते चले, इनके अतिरिक्त और जो याचक हैं वे जय-जयकार करते चले । [यहाँ 'पढ़त' और 'गावत' दो शब्द दिये हैं । क्योंकि जो पढ़े हैं वे आशीर्वाद आदिके श्लोक पढ़ते हुए चले, भाट आदि गुणगाथा गाते हुए चले । और सभी जय-जयकार कर रहे हैं । पुनः ऐसा भी हो सकता है कि गोदान पाकर मुनियोंका जाना नहीं कहा गया था, यहाँ एक साथ ही सबका जाना कहा गया । इस प्रकार 'चले पढ़त' यह विप्रबृंदके सम्बन्धमें कहा गया और 'गावत गुन गाथा' याचकोंके लिये । (प्र० सं०)] (ख) 'जय जय जय दिन कर कुलनाथा'—भाव कि सूर्यकुल उदार है, आप उस कुलके नाथ हैं, अतः ऐसी उदारता आपके योग्य ही है । पुनः भाव कि ऊपर 'रबिकुलनंदन' अर्थात् सूर्यवंशके आनन्ददाता कहा गया, उसी सम्बन्धसे याचक कहते हैं कि रविकुलनाथकी जय हो, जिसमें रविकुल सदा आनन्दित रहे । (तीन बार जय कहकर सदा जय सूचित की । तीनं बहुवचन है) ।

३ 'येहि बिधि राम बिआह उछाहू ।....' इति । (क) जनकपुरमें जो विवाहोत्सव हुआ यहाँ उसकी इति लगाते हैं । अयोध्याजीमें जो विवाहका उत्सव हुआ उसकी इति बालकाण्डकी समाप्तिमें लगावेंगे । यथा—'प्रभुबिबाह जस भयेउ उछाहू । सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू ॥ ३६१ । ६ ।' दोनों इतियोंका स्वरूप एक ही तरहका कहकर सूचित किया कि जनकपुरवासी और अवधवासी दोनोंने समान (एक-सा) उत्सव किया । (ख) 'सकै न बरनि सहस मुख जाहू'—भाव कि दो हजार जिह्वा और एक हजार मुखवाले नहीं कह सकते तब मेरे तो एक ही जिह्वा और एक ही मुख है, मैं क्योंकर कह सकता हूँ ?

४—'बार बार कौशिक चरन....' इति । (क) चरणोंमें बारबार सिर नवानेसे राजाका प्रेम सूचित हुआ । यथा—'पद अंबुज गहि बारहि बारा । हृदय समात न प्रेम अपारा ॥', 'देखि राम छबि अति अनुरागीं ॥ प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं ॥ ३३६ । १ ।' अथवा, उपकार मानकर बार-बार चरणवन्दन करते हैं, कृतज्ञता जनाते हैं । यथा—'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा । बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥ ७ । १२५ ।'; और मुखसे उपकार कहते हैं कि 'यह सबु सुखु....' (ख) 'मुनिराज' सम्बोधनका भाव कि जैसे आप बड़े हैं वैसे ही आपके कृपा-कटाक्षका प्रसाद भी बड़ा भारी है । यथा—'तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा । भयेउँ आजु मैं पूरन काजा ॥ ३३० । ६ ।' (ग) मुनियों और याचकोंके चले जानेके पश्चात् विश्वामित्रजीके चरणोंकी वंदना की, क्योंकि ये तो अपने साथ जनवासेमें ही हैं, इन्हें अभी कहीं जाना नहीं है और सब बाहरसे बुलाये गये थे और उन्हें अपने-अपने स्थानोंको लौट जाना था ।

जनक सनेहु सीलु करतूती । नृपु सब भाँति* सराह बिभूती ॥ १ ॥
दिन उठि बिदा अवधपति मागा । राखहिं जनकु सहित अनुरागा ॥ २ ॥
नित नूतन आदरु अधिकाई । दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई ॥ ३ ॥
नित नव नगर अनंद उछाहू । दशरथ गवनु सोहाइ न काहू ॥ ४ ॥
बहुत दिवस बीते एहि भाँती । जनु सनेह रजु बँधे बराती ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बिभूती (विभूति)=बहुतायत, वृद्धि; ऐश्वर्य । दिन=नित्य प्रति; प्रति दिन । बिदा (सं० विदाय)= चलनेकी आज्ञा या अनुमति । रजु (रज्जु)=रस्सी । सोहावा । (सुहाना)=अच्छा लगना ।

अर्थ—श्रीजनकजीके स्नेह, शील, करनी और विभूतिकी राजा सब प्रकार सराहना करते हैं ॥ १ ॥ प्रतिदिन उठकर अवधेशजी महाराज विदा (चलनेकी आज्ञा) माँगते हैं । जनकजी अनुरागपूर्वक (उनको रोक) रखते हैं ॥ २ ॥ नित्य नया आदर-सत्कार बढ़ता जाता है, प्रतिदिन हजारों प्रकारसे खातिर-तवाजों होती है ॥ ३ ॥ नगरमें नित्य नवीन आनन्द

* राति सराह बिभूती—१७२१, १७६२, को० रा० । राति सराहत बीती—छ०, भा० दा०, पं० रा० व० श० । भाँति सराह बिभूती—१६६१, १७०४ । (१६६१ में 'भाती' है । लेखक प्रमाद है ।)

उत्सव होता है। श्रीदशरथजीका जाना किसीको नहीं सुहाता ॥ ४ ॥ इस प्रकार बहुत दिन बीत गये, मानो बराती प्रेमरूपी रस्सीसे बँधे हुए हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'जनक सनेह सीलु करतूती।…' इति। (क) राजाने जनकजीका शील-स्नेह देखा है। यथा—'**कर जोरि जनकु बहोरि बंधु समेत कोसलराय सों। बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों॥ संबंध राजन रावरें हम बड़े अब सब बिधि भए। येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लए॥** ३२६ छंद।' इसीसे शील और स्नेहकी सराहना करते हैं। नित्य पहुनाई करते हैं, नाना प्रकारके पदार्थ अर्पण करते हैं, इत्यादि 'करतूति' है, जिसकी प्रशंसा करते हैं। (ग) शील, स्नेह मनकी वृत्ति है और करतूत तनकी। इस तरह मन और तन दोनोंकी सराहना करना कहा। शील और स्नेहका संग है। जहाँ शील है वहाँ स्नेह है और जहाँ स्नेह है वहाँ शील है, यथा—'को रघुबीर सरिस संसारा। **सील सनेह निबाहनि हारा** २। २४।', 'करुनानिधानु सुजानु सीलु सनेह जानत रावरो॥ १। २३६।', '**सीलु सनेहु छाड़ि नहिं जाई। असमंजस बस** भे रघुराई॥ २। ८५। ५।', 'बोले रामु सुअवसरु जानी। सील सनेह **सकुचमय बानी** ॥ ३३६। ५।', इत्यादि।

२—(क) '**दिन उठि बिदा अवधपति मागा**' इति। [दिन=नित्यप्रति, प्रतिदिन, रोज, सदा। यथा—'**गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवौं दीनबंधु दिन दानी** ॥ १। १५।', 'दानी बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी' (विनय ५)] '**दिन उठि**' का भाव कि बहुत टिके-टिके जी घबड़ा गया। बारात लग्नसे बहुत दिन पहले आयी थी और विवाह हो जानेपर भी कई दिन हो गये, जनकजी अब भी बिदा नहीं करते। अतः नित्य प्रति बिदा माँगते हैं। पुनः भाव कि प्रातःकाल उठकर नित्य क्रिया करनी चाहिये सो न करके उठते ही प्रथम बिदा माँगते हैं कि यदि बिदा कर दें तो नित्य कर्म न होगा तो मार्गमें ही कर लेंगे। 'अवधपति' का भाव कि अवधके लिये बिदा माँगते हैं। [अथवा, राजाको अवध अत्यन्त प्रिय है, उसका बारंबार स्मरण हो रहा है, अवध छोड़े बहुत दिन हो गये, इसीसे बिदा माँगनेमें अवधपति कहा। (पं०)] (ख) '**राखहिं जनकु सहित अनुरागा**'—भाव कि बड़े लोग अनुरागके वश होते हैं जैसा आगे स्पष्ट है, 'जनु सनेह रजु **बँधे**…'। इसीसे 'अनुराग सहित' रोक रखना कहा।

३—'नित नूतन आदरु अधिकाई' अर्थात् आदर नित्य नवीन है और नित्य अधिक है। तात्पर्य कि भाव सहित जो पहुनाई होती है उसीकी प्रशंसा होती है, यथा—'दिन दिन सय गुन भूपति भाऊ। देखि सराह महामुनि राऊ॥ ३६०। ४' तथा 'जनक सनेह सील करतूती।…'। 'दिन प्रति' अर्थात् दिनोंदिन, प्रतिदिन। यथा—'दिन दिन सय **गुन** …'। 'सहस' अर्थात् अगणित।

४—'**नित नव नगर अनंद उछाहू।**…' इति (क) '**दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई**' कहकर फिर '**नित नव नगर अनंद उछाहू**' कहनेका भाव कि जैसे श्रीजनकजी पहुनाई करते हैं वैसे ही जनकपुरके लोग भी राजाकी पहुनाई करते हैं। यही अभिप्राय प्रथमसे दिखाते आये हैं। यथा—'**येहि बिधि सबही भोजनु कीन्हा। आदर सहित आचमनु दीन्हा॥ देइ पान पूजे जनक दसरथ सहित समाज।**…॥ ३२९'—यह जनकजीके यहाँकी पहुनाई है। इसके पश्चात् पुरवासियोंके यहाँकी पहुनाई कहते हैं। यथा—'**नित नूतन मंगल पुर माहीं। निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं** ॥ ३३०। १।' वैसे ही यहाँ '**नित नूतन आदर अधिकाई। दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई**॥' यह जनकजीके यहाँकी पहुनाई कही, और उसके पीछे '**नित नव नगर**…' यह पुरवासियोंके यहाँकी पहुनाई कही। (ख) नित्य नवीन आनन्द उत्सव होता है, इसीसे '**दसरथ गवनु सोहाइ न काहू**'। न राजाहीको भाता है और न नगरवासियोंको ही भावै।

५—'**बहुत दिवस बीते एहि भाँती।**…' इति। (क) 'एहि भाँती' का भाव कि पहले तो बारात विवाहके लिये टिकी रही, अब विवाहका दिन आया तब विवाह हुआ। कुछ दिन तो इस प्रकार बीत गये, यथा—'**गए बीति कछु दिन एहि भाँती** । ३१२। ४'। विवाह हो जानेपर राजा नित्य प्रति बिदा माँगते हैं पर जनकजी अनुरागसहित उनको रख लेते हैं, जाने नहीं देते। इस भाँतिसे बहुत दिन बीत गये। प्रथम बार '**गए बीति कछु दिन**' और अबकी '**बहुत दिवस**' कहकर सूचित करते हैं कि विवाहके पूर्व जितने दिन बारात ठहरी रही, उससे अधिक विवाह हो जानेपर टिकी रह गयी। '**एहि भाँती**' कहकर जनाया कि बारात दो भाँतिसे टिकी रही। [बैजनाथजीका मत है कि विश्वामित्रजीने बारातकी बिदाईके लिये पौष शु० १० कहा। विवाह मार्गशीर्ष शु० ५ को हुआ। इस तरह पहलेसे इधर दिन कम ही हुए। पहले सवा महीना हो

गया तब तो उसे 'कुछ' ही कहा और विवाहसे इधर एक मास पाँच दिन भी पूरे नहीं हुए फिर भी इसे 'बहुत' कहते हैं। कारण यह है कि पूर्व तो लग्नके दिनकी चाह थी, उसकी खुशीमें सवा महीना 'कुछ' ही जान पड़ा और विवाह होनेपर कोई काम रह नहीं गया, श्रीअयोध्याजीको लौट जानेको राजा उतावले हो रहे हैं, इसीसे तो प्रतिदिन उठते ही बिदा माँगते हैं और बिना अनुमतिके चले जाना शिष्टाचारके प्रतिकूल है। चित्त उचाट हो गया है, अवधके लिये व्याकुल हैं, अतः एक दिन भी बहुत लगता है और यहाँ तो एक मास हो गया। 'एहि भाँती' अर्थात् नित्य राजाके यहाँ अथवा पुरवासियोंके यहाँ पहुनाई होती और नित्य राजा बिदा माँगते। सब पुरवासी आनन्दमें भरे इत्यादि भाँतिसे]। (ख) 'जनु सनेह रजु बँधे' इति। भाव कि स्नेह करना तो बहुत अच्छा है, रहा इस समयमें तो बारातको रोके रखना ऐसा ही है जैसे कोई किसीको रस्सीमें बाँध रक्खे, उस प्रेमरूपी रस्सीको काट नहीं सकते। [स्नेह बड़ा कठिन बन्धन है। देखिये भौंरा लकड़ीको छेद डालता है फिर भी वही भौंरा रातको कमलमें बंद हो जाता है, चाहे तो वह कमलको काटकर बाहर निकल आवे, पर वह इसके स्नेह-वश ऐसा मुग्ध रहता है कि कमलको काटता नहीं अपनी इच्छासे उसीमें बंद पड़ा रहता है। परन्तु बरातियोंकी दशा इससे कठिन है; उनकी इच्छा अब रहनेकी नहीं है तो भी वे जबरदस्ती स्नेहपाशमें बाँधे हुए हैं निकल नहीं पाते। स्नेहपाश ऐसा ही है जैसा कहा है—(श्लोक)—'बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुदृढबंधनमाहुः। दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोशे॥' (यह श्लोक इस प्रकार भी लिखा मिलता है—'बन्धनानि बहून्यपि सन्ति प्रेमरज्जुमिह बन्धनमन्यत्।'''भवति पंकजबद्धः।'

कौसिक सतानंद तब जाई। कहा बिदेह नृपहि समुझाई॥ ६॥
अब दसरथ कहँ आयेसु देहू। जद्यपि छाँड़ि न सकहु सनेहू॥ ७॥
भलेहि नाथ कहि सचिव बोलाए। कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए॥ ८॥

दो०—अवधनाथु चाहत चलन भीतर करहु जनाउ।
भए प्रेम बस सचिव सुनि बिप्र सभासद राउ॥ ३३२॥

अर्थ—तब श्रीकौशिक (विश्वामित्रजी) और श्रीशतानन्दजीने जाकर राजा विदेहको समझाकर कहा कि अब दशरथजीको आज्ञा दीजिये, यद्यपि स्नेह छोड़ नहीं सकते॥६-७॥ 'हे स्वामिन्! बहुत अच्छा' ऐसा कहकर (श्रीजनकजीने) मन्त्रियोंको बुलाया। 'जय जीव' ऐसा कहकर उन्होंने मस्तक नवाया॥ ८॥ (राजाने कहा—) श्रीअवधनाथ चलना चाहते हैं, भीतर (रनवासमें) खबर कर दो। यह सुनकर मन्त्री, ब्राह्मण, सभाके लोग और राजा प्रेमके वश हो गये। ३३२।

टिप्पणी—१ 'कौसिक सतानंद तब जाई।''' इति। (क) तब अर्थात् जब बहुत दिन बीत गये और राजा जनक बिदा नहीं करते तब। कौशिक-शतानन्द दोनों ओरके महात्मा समझाने गये। कौशिकजी दशरथजीकी ओरके और शतानन्दजी जनकजीकी ओरके हैं। श्रीदशरथजीने विश्वामित्रजीको भेजा, क्योंकि जनकजी कृतज्ञ हैं, विश्वामित्रजीका बड़ा उपकार मानते हैं, [इनका जनकजीपर बड़ा एहसान और दबाव है, क्योंकि इन्हींके साथ राम-लक्ष्मण आये थे, विवाह और जनकपुरमें बारातसहित दशरथजीके आगमनके मुख्य कारण ये ही हैं] अतः वे विश्वामित्रजीका वचन अवश्य मानेंगे और शतानन्दजी जनकजीके कुलगुरु हैं, पुरोहित हैं, इनके वचन विशेषकर मानेंगे। (अतः ये दोनों साथ-साथ गये। चाहे विश्वामित्रजीने ही इन्हें साथ लिया हो। इस तरह दोनों ओरके एक-एक महात्माके समझानेका विशेष प्रभाव पड़ेगा। अतः ये दोनों आज्ञा दिलानेके लिये गये)। (ख) 'कहा बिदेह नृपहि समुझाई' इति। 'बिदेह नृपहि' भाव कि आप राजा हैं, अतः जानते हैं कि बिना राजाके राज्यका कार्य नहीं चलता, प्रजा दुखी होती है और प्रजाके दुःखसे राजाका भला नहीं होता। [पुनः, विदेह नाम देकर जनाया कि जैसे आप देह-सुध भूले रहते हैं, वैसे ही आपने बिदा करना भी भुला दिया। 'समुझाई' अर्थात् राज-कार्यमें बड़ा विघ्न होता होगा, आप फिर बुलावेंगे ये फिर आवेंगे, इत्यादि। पंजाबीजी कहते हैं कि भाव यह है कि यद्यपि आप विदेह हैं तथापि व्यवहार बरतना उचित ही है। प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि 'विदेह शब्दमें व्यंग है। ये अब विदेह नहीं हैं, समधी और दामादोंके बन्धनमें पड़े हैं। जो विदेह है, वह स्नेहमें कभी नहीं बँधता तथापि यहाँ ऐसा हुआ जैसा आगेके 'जद्यपि छाड़ि न सकहु सनेहू' से स्पष्ट है, यह 'महिमा सिय रघुबर सनेह की' है मिलान कीजिये''' 'धीरजु धरिअ नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन। २। २७३।' 'मुनि बहु बिधि बिदेहु समुझाए।']

२ (क) 'अब दसरथ कहँ आयेसु देहू' इति। यहाँ सवारी (रथ) के सम्बन्धका नाम कहकर सूचित किया कि महाराज चलना चाहते हैं। 'आयेसु देहू' कहनेका भाव कि राजा आपके अधीन हैं, आपकी आज्ञा चाहते हैं। ('अब' अर्थात् बहुत दिन हो गये, अतः अब)। (ख) 'जद्यपि छाँड़ि न सकहु सनेहू' इति। स्नेह क्यों नहीं छोड़ना चाहते? क्योंकि इसीके संकोचसे राजा टिके रहेंगे, यथा—'सीलु सनेहु छाड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥ २। ८५।' अतः कहते हैं कि आप राजापर स्नेह छोड़ नहीं सकते और राजा आपके स्नेह-रज्जुमें बँधे हैं, वे स्नेह तोड़ नहीं सकते। आशय यह कि आप ही अपने स्नेहरूपी रज्जुसे उन्हें छोड़िये।

३ (क) 'भलेहि नाथ' कहकर दोनों महात्माओंके वचनोंका आदर किया, उनकी आज्ञा मानी। 'सचिव बोलाए' से सूचित हुआ कि इनकी वार्ता एकान्तमें हुई। मन्त्री उनके पास न थे, बात-चीत हो जानेपर मन्त्रियोंको पास बुलाया। सभामें मन्त्री कुछ दूरीपर बैठे हैं इसीसे बुलाना कहा। 'कहि जय जीव'—[प्रणाम करते समय मन्त्री प्रायः इन्हीं शब्दोंके साथ प्रणाम करते हैं, यथा—'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई। २। ३८।', 'देखि सचिव जय जीव कहि कीन्हेउ दंड प्रनामु। २। १४८।', 'सेवक सचिव सुमंत्र बुलाए॥ कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए॥ २०५॥' इत्यादि। यह मन्त्रियोंका अदब-कायदा है। 'जयजीव' एक प्रकारका अभिवादन है, जिसका अर्थ है 'जय हो और जियो' इसका प्रयोग प्रणाम आदिके समान होता था।—(श० सा०)। कोई-कोई ये अर्थ करते हैं—'सब जीवोंके जयकर्ता', 'आपका सदा जीवन जयमान रहे' (प्र० सं०)]

४ 'अवधनाथ चाहत…' इति। (क) अवधपर कृपा करके अवधके लिये चलना चाहते हैं। (पुनः अवधवासियोंको श्रीराम-लक्ष्मणादि भाइयों और बहुओंका दर्शन कराके उनको सनाथ करना चाहते हैं तथा उनको भी आनन्दित करना चाहते हैं; अतः अवधनाथ कहा)। (ख) 'भीतर करहु जनाउ'—रनवासको चलनेकी सूचना देनेका तात्पर्य यह कि सब कन्याओंकी विदाईकी तैयारी कर दें। (ग) 'भए प्रेम बस सचिव सुनि बिप्र सभासद राउ' इति। राजाने प्रथम मन्त्रियोंसे वियोगकी बात कही, इसीसे प्रथम मन्त्री प्रेमवश हुए, फिर क्रमसे ब्राह्मण, सभासद और राजा स्वयं प्रेमके वशीभूत हुए। जैसा दोहेमें क्रम लिखा है, इसी क्रमसे सभामें लोग बैठे हैं। मन्त्री, विप्र और सभासद यह क्रम है, उसी क्रमसे लोग सुनकर प्रेमके वश हुए। मन्त्री, विप्र, सभासदका प्रेमवश होना कहकर जनाया कि जब विश्वामित्रजी तथा शतानन्दजी जनकजीके पास गये तब वे सभामें ही बैठे थे। राजाका प्रेमवश होना अन्तमें कहकर जनाया कि राजाने बहुत धैर्य धारण करके वियोगकी बात कही थी, पीछे वे भी प्रेमके वश हो गये।

पुरबासी सुनि चलिहि बराता। बूझत* बिकल परस्पर बाता॥ १॥
सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने। मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने॥ २॥
जहँ जहँ आवत बसे बराती। तहँ तहँ सिद्ध चला बहु भाँती॥ ३॥
बिबिध भाँति मेवा पकवाना। भोजन साजु न जाइ बखाना॥ ४॥
भरि भरि बसह अपार कहारा। पठई जनक अनेक सुसारा†॥ ५॥

शब्दार्थ—बिलखाना (यह 'बिलखना' का सकर्मक रूप है पर यहाँ 'बिलखना' ही के अर्थमें है)=विषादयुक्त होना, उदास होना, दुखी होना। सकुचाना=सिकुड़ना। सिद्ध=सीधा, आटा, दाल, चावल, घी इत्यादि कच्चा अन्न। रसद। साजु=सामग्री। सुसारा=सुन्दर शय्या (पलङ्ग)। (पोद्दार)। ☞ इस प्रान्तमें विशेषकर कान्यकुब्जोंमें 'सुआर' उस अनेक प्रकारके अन्न आदि सामग्रीको कहते हैं जो बारातकी विदाईके समय कन्या पक्षवाला वरपक्षको देता है (मा० सम्पादक)।

अर्थ—यह सुनकर कि बारात चलेगी, पुरवासी व्याकुल होकर एक दूसरेसे आपसमें बात पूछते हैं॥ १॥ सच ही जायँगे, यह सुनकर सब ऐसे उदास हो गये, मानो सायंकालके समय कमल संकुचित हो गये॥ २॥ आते समय जहाँ-जहाँ बराती ठहरे थे (मंजिल की थी), तहाँ-तहाँ बहुत प्रकारका सीधा गया। बहुत प्रकारके मेवे, पक्वान्न, भोजनकी सामग्री जो बखानी नहीं जा सकती अगणित बैलों और कहारोंपर भरपूर लादकर तथा बहुत-सी 'सुआर' राजा जनकने भेजी॥ ३-५॥

* बूझत—यही पाठ प्रायः सब प्राचीन पोथियोंमें है। पूछत—रा० प्र०, रा० व० दा०, गौड़जी।

† पठए जनक अनेक सुआरा—१७२१, छ०, को० रा०। पठई…सुसारा—१६६१, १७६२, १७०४। 'सुआरा' पाठमें भाव यह होगा कि भोजनकी सामग्री, सीधा भेजा और भोजन बनानेके लिये रसोइये भी भेजे जिसमें बराती टिकानपर पहुँचते ही भोजन कर लें।

टिप्पणी—१ 'पुरबासी सुनि चलिहि बराता।…' इति। (क) पुरवासियोंका सुनना कहकर सूचित किया कि श्रीदशरथमहाराजका चलना सुनकर श्रीजनकजीने सभा बरखास्त कर दी। (विसर्जन कर दिया)। तब विप्रों और सभासदोंने पुरमें आकर लोगोंसे कहा, इसीसे प्रथम पुरवासियोंने सुना, मन्त्री महलमें पीछे पहुँचे, इसीसे रानियोंका सुनना पीछे लिखते हैं। (ख) 'बूझत बिकल परस्पर बाता' इति। परस्पर पूछनेका भाव यह है कि बारातका चलना सत्य है या झूठ? यह निश्चय करना चाहते हैं जैसा आगेके 'सत्य गवन सुनि' से स्पष्ट है। 'बिकल' हैं क्योंकि राजाका जाना किसीको नहीं सुहाता जैसा पूर्व कह आये हैं। जनकपुरवासियोंको निधि प्राप्त हुई है, यथा—'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी॥ २२०। २।' अब वह निधि छिनी जा रही है, इसीसे व्याकुल हैं, यथा—'मिटा मोदु मन भए मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥ २। ११८।' (मगवासी यह जानकर कि श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी अब जाते हैं बड़े दुखी हुए थे। वही दशा जनकपुरवासियोंकी हो रही है, समाचाररूपी वचन-वियोगसे ही व्याकुल हो गये। मिलान कीजिये—'समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ। २। ५७।' 'बचन बियोगु न सकी सँभारी। २। ६८। १।' 'समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥ 'कंप पुलक तन नयन सनीरा। २। ७०।' पुरवासी बिदाकी बातको अभी सत्य नहीं समझते हैं तो भी व्याकुल हो गये हैं कि कदाचित् सत्य ही न हो।)

२ 'सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने।…' इति। (क) 'सत्य गवन' का भाव कि बारातका प्रस्थान नित्य झूठ होता रहा पर आज सत्य हुआ। [तात्पर्य यह कि बिदा होनेकी बात तो प्रतिदिन होती थी पर राजा जाने न पाये थे, इससे सबको विश्वास था कि और दिनोंकी तरह आज भी चलनेकी बात सत्य नहीं होगी, पर अब परस्पर पूछ-जाँच करनेसे निश्चय हो गया कि आज सत्य ही जायँगे और दिनकी तरह आजकी बात झूठी नहीं है। 'बिलखाने'—पहले तो 'बिकल मात्र' थे कि कहीं यह बात सत्य न हो, सत्य जाननेपर 'बिलखाने' अर्थात् विषादयुक्त हो गये। किसीके पासकी 'निधि' धन-सम्पत्ति जा रही हो तो जैसा उसको विषाद होगा वैसा ही विषाद सबको हुआ]। (ख) 'मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने' इति। संध्या समयके कमलकी उपमा देनेका भाव कि संध्याके कमलमें संकोच और विकास दोनों भाव रहते हैं वैसे ही बारातका चलना सुनकर पुरवासियोंको विषाद हुआ, परंतु अभी (कुछ देर) संयोग है, इससे (अभी) हर्ष भी है (कि अभी जबतक हैं तबतक तो सुख लूट लें जैसा आगे स्पष्ट है, यथा—'निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन फनि मूरति मनि करहू॥ ३३५। ७।' कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि जैसे कमल सबेरे फिर खिल जाता है वैसे ही इन्हें आशा है कि ये बार-बार सीताजीको लेने आया करेंगे तब दर्शन हुआ करेंगे, अतः कमलकी उपमा दी क्योंकि फिर दर्शन पानेपर विकसित हो जायँगे)।

३ 'जहँ जहँ आवत बसे बराती।…' इति। (क) आते समय बारात रास्तेमें कई जगह टिकी थी, जहाँ-जहाँ बारात ठहरी थी उन सब जगहोंपर सीधा और पक्वान्न एक साथ ही एक ही दिनमें पहुँचा दिया, क्योंकि महाराजको जनकपुरमें टिके हुए बहुत दिन हो गये हैं, इससे वे अयोध्याजीको लौटनेमें बहुत शीघ्रता करेंगे, सब मंजिलों मुकामोंमें टिकनेका भरोसा नहीं है न जाने किस टिकावपर ठहरें, अतः जनकजीने सब जगह सीधा-पकवान भेजा। यह इनकी सावधानता दिखायी। (ख) 'तहँ तहँ सिद्ध चला…' इति। बारातके आनेके समय सभी सामान टिकनेके स्थानोंमें भेजे थे, यथा—'बीच बीच बर बासु बनाये। सुरपुर सरिस संपदा छाए॥ असन सयन बर बसन सुहाए। पावहिं सब निज निज मन भाए॥ १। ३०४॥ इसीसे इस समय और वस्तुओंको भेजनेका विशेष प्रयोजन नहीं है, वे सब वहाँ हैं ही, केवल सीधा और पकवान भेजा। बहुत दिनका रखा हुआ सीधा और पक्वान्न बिगड़ जाता है, इससे ये दोनों नवीन (ताजे) भेजे। (ग) 'बहु भाँती' शब्द सीधा और पकवानकी बहुतायत सूचित करते हैं, आगे इसे स्पष्ट कहते हैं।

४ 'बिबिध भाँति मेवा पकवाना…' इति। मेवाके साथ पकवान कहनेका भाव कि सब पकवान मेवाके समान पवित्र हैं, सबके खाने योग्य हैं। (पुनः भाव कि पकवानमें भी मेवा पड़ा है एवं मेवेके भी पकवान हैं)। 'भोजन साज' अर्थात् तैयार भोजन नहीं, किंतु भोजनका सामान बननेपर भोजन तैयार होगा। पूर्व कहा था कि 'चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई॥ छरस रुचिर ब्यंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥' जब भोजन-की एक-एक विधिका वर्णन असम्भव है तब भला भोजनके सामानका वर्णन कैसे हो सकता है, अतः 'भोजन साजु न जाइ बखाना' कहा।

५ 'भरि भरि बसह अपार कहारा।····' इति (क) 'भरि भरि' अर्थात् जितना उनपर अधिक-से-अधिक लादा जा सकता था उतना पूरा भरकर लदवाकर भेजा। बैलोंपर सीधा और कहारोंपर मेवा पक्वान्न भेजा गया। केवल बैलोंपर सीधा भेजा, गाड़ियोंपर नहीं; क्योंकि गाड़ियाँ खाली नहीं हैं। वे सब सुवर्ण, वस्त्र और मणियोंसे भरी गयी हैं, यथा—'कनक बसन मनि भरि भरि जाना।····' कारण यह कि भोजन और जिनिससे कनक वसन मणि विशेष हैं, इससे उन्हें गाड़ियोंमें लादकर भेजा। (ख) 'पठई जनक अनेक सुसारा'—सीधा, मेवा, पकवान आदिको भेजनेका काम बहुत आवश्यक था, इससे यह काम जनकजीने स्वयं किया, दूसरोंपर नहीं छोड़ा। इसीसे 'पठई जनक' कहा।

तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा॥ ६॥
मत्त सहसदस सिंधुर साजे। जिन्हहिं देखि दिसिकुंजर लाजे॥ ७॥
कनक बसन मनि भरि भरि जाना। महिषीं धेनु बस्तु बिधि नाना॥ ८॥

दोहा—दाइज अमित न सकिय कहि दीन्ह बिदेह बहोरि।
जो अवलोकत लोकपति लोक संपदा थोरि॥ ३३३॥

सबु समाजु येहि भाँति बनाई। जनक अवधपुर दीन्ह पठाई॥ १॥

शब्दार्थ—महिषी (महिषका स्त्रीलिंग)=भैंस।

अर्थ—एक लाख घोड़े और पचीस हजार रथ सब नखसे शिखातक (ऊपरसे नीचेतक) सजाये हुए। ६। सजे हुए दस हजार मतवाले हाथी जिन्हें देखकर दिशाओंके हाथी भी लज्जित होते हैं। ७। रथों (अथवा गाड़ियों, छकड़ों) में भर-भरकर सुवर्ण, वस्त्र और मणि (रत्न, जवाहिरात, मुक्ता आदि), भैंसें, सवत्सा सदुग्धा गायें तथा और भी अनेक प्रकारकी वस्तुएँ। ८। इत्यादि अमित दायज राजा जनकने फिरसे दिया जो कहा नहीं जा सकता और जिसे देखकर लोकपालोंके लोकोंकी सम्पत्ति (भी) थोड़ी ही जान पड़ती थी। ३३३। इस प्रकार सब सामान सजाकर श्रीजनकजीने श्रीअयोध्यापुरीको भेजवा दिया। १।

टिप्पणी—१ 'तुरग लाख···' इति। (क) पचीस हजार रथोंके लिये एक लाख घोड़े दिये गये। चार-चार घोड़े एक-एक रथके हैं। 'सकल सँवार नख अरु सीसा' अर्थात् सब घोड़ोंके नख सुवर्ण और मणिसे जटित हैं, सबकी शिखामें मणि-मुक्तायुक्त कलँगी लगी है और अन्य सब अङ्गोंमें जहाँ जैसा शृङ्गार चाहिये वहाँ वैसा शृङ्गार है। ('सकल' से जनाया कि रथ भी सजाये हुए हैं। ऊपरसे नीचेतक। रथोंमें ध्वजा-पताका-मसनद-तकिये आदि सब बढ़िया सजे हुए हैं)। (ख) 'मत्त सहसदस सिंधुर साजे'—'मत्त' से युवा अवस्थाके जनाये, बाल और वृद्ध हाथी मतवाले नहीं होते, युवावस्थामें मदके कारण मत्त होते हैं। 'साजे' कहकर नख-शिखसे सँवारे जनाया। अर्थात् मस्तकपर विचित्र शृङ्गार है, मुक्तायुक्त हैं, सुवर्ण मणिजटित सोनेका हौदा उनपर कसा हुआ है, अमारी पड़ी है जो अमूल्य मुक्ता-मणिसे गुम्फित है। यथा—'कलित करिबरन्हि परी अँवारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी॥ ३००। १।' (ग) 'दिसिकुंजर लाजे' इति। 'दिसिकुंजर' कहनेसे अमूल्य सूचित हुए, जैसे उनका मूल्य नहीं वैसे ही इन सब हाथियोंका मूल्य नहीं हो सकता। यहाँ हाथियोंकी तीन प्रकारसे शोभा कही। 'साजे' से शृङ्गारकी शोभा, 'मत्त' से अवस्थाकी और 'दिसिकुंजर' से उनके डील-डौल, बड़ाईकी शोभा कही। (घ)—प्रथम जो दहेज दिया था उसके सम्बन्धमें कुछ लेखा (गणना) न हो सका, यथा—'गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत काम दुहा सी॥' बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा। १। ३२६।' (वहाँ कोई गिनती नहीं लिखते। यहाँ इस दहेजमें कुछ 'लेखा' करते हैं—'तुरग लाख रथ सहस पचीसा।····मत्त सहसदस सिंधुर साजे।' पर बहुतका लेखा यहाँ भी नहीं हो सकता जैसा आगे कहते हैं—'दाइज अमित न सकिअ कहि।')

२ 'कनक बसन मनि····' इति। (क) कनक और मणिके बीचमें 'बसन' को रखकर जनाया कि वे भी सुवर्ण और मणिके मूल्यके हैं, इनमें कनक मणि लगे हैं, यथा—'दुदु आचरन्हि लगे मनि मोती। ३२७। ५।' (ख) हाथी, घोड़े और रथ सवारीके लिये दिये। महिषी धेनु दूध पीने, दही खाने तथा घृतके लिये दीं। कनक-बसन-मणि पहननेके लिये दिये और अन्य नाना प्रकारकी जो वस्तुएँ दी गयीं वे भी काममें लानेके लिये दी गयीं। (ग) 'महिषीं धेनु बस्तु

बिधि नाना' इति 'नाना बिधि' का अन्वय सबमें है, क्योंकि सभी वस्तु नाना विधिके कहे हैं। यथा—'तहँ तहँ सिख बछा बहु भाँती', 'बिबिध भाँति मेवा पकवाना', वैसे ही यहाँ भी 'महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना' कहा।

३—'दाइज अमित…' इति। (क) 'न सकिअ कहि'—जो दहेज पहले दिया उसे भी वक्ता कह न सके, यथा—'कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडप पूरी॥ ३२६। २।', और जो अबकी दिया गया उसको भी नहीं कह सकते। पहले दायजको देखकर लोकपाल ललचाते थे, ईर्ष्यापूर्वक प्रशंसा करते थे, यथा—'लोकपाल अवलोकि सिहाने। ३२६। ६', और अबकी बारके दहेजके सम्बन्धमें लिखते हैं 'जो अवलोकत लोकपति लोक संपदा थोरि'। इस तरह दिखाया कि दोनों बारके दहेज एक-से थे, पहलेसे दूसरेमें कम नहीं है। (ख) 'बहोरि' कहा क्योंकि प्रथम भी दे चुके हैं। पहले अमित दिया, अबकी भी अमित दिया। [(ग) 'जो अवलोकत…'—यह कथन वक्ताओंका है जिन्होंने लोकपालोंकी सम्पदा देखी है और दहेज भी देखा है। शंकरजी और महर्षि याज्ञवल्क्यजी दोनों ही ऐसे हैं। वाल्मीकिजी भी वहाँ सम्भवतः थे, यथा—'बामदेउ अरु देवरिषि बालमीकि जाबालि। आए मुनिबर निकर तब कौसिकादि तपसालि॥ ३३०।'; और वाल्मीकिजी ही 'कुटिल जीव निस्तार हित तुलसी भए'; इस तरह ये भी देखी कह सकते हैं] (घ) 'लोकपति लोक संपदा थोरि' कहनेका भाव कि लोकपालोंके घरकी कौन कहे, उनके पूरे लोकोंकी सारी सम्पदा मिलकर भी थोड़ी ही लगती है। यह बात श्रीजनकजीने स्वयं अपने मुखसे कही है, यथा—'जो सुख सुजसु लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं॥ सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी। सब सिधि तव दरसन अनुगामी॥ ३४३। ४-५।'

४—'अवधपुर दीन्ह पठाई' इति।—अयोध्याजीको सीधे भेज दिया, क्योंकि यदि यहाँ चक्रवर्ती महाराजको देते तो वे यहीं सब लुटा देते। अवधवासियोंको, जो बरातमें नहीं आये थे, क्या जान पड़ता कि क्या-क्या दायज दिया गया। वहाँ भेजनेसे घरवाले भी सब देखेंगे।—(पंजाबीजी)। कोई-कोई कहते हैं कि आदर-दान इसीका नाम है कि जिसको दान दिया जाय उसके घर अपने खर्चसे पहुँचा दिया जाय।

> **चलिहि बरात सुनत सब रानी। बिकल मीनगन जनु लघु पानी॥ २॥**
> **पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं। देइ असीस सिखावनु देहीं॥ ३॥**
> **होयेहु संतत पिअहि पिआरी। चिरु अहिवात असीस हमारी॥ ४॥**
> **सासु ससुर गुरु सेवा करेहू। पतिरुख लखि आयेसु अनुसरेहू॥ ५॥**
> **अति सनेह बस सखी सयानी। नारि-धरमु सिखवहिं मृदु बानी॥ ६॥**

शब्दार्थ—अहिवात=सौभाग्य, सोहाग। चिरु=बहुत दिनोंका, दीर्घकालवर्ती। अखण्ड। नारिधरम=पतिव्रत धर्म (काशी-खण्ड अध्याय ४ इस विषयमें देखने योग्य है। १०२। ३ देखिये।) अरण्यकाण्डमें अनसूयाजीका सीताजीके मिष पातिव्रत्यका उपदेश भी देखिये।

अर्थ—'बरात चलेगी' सब रानियाँ यह सुनते ही ऐसी व्याकुल हो गयीं मानो मछलियोंका समूह थोड़े जलमें छटपटा रहा हो। २। वे श्रीसीताजीको बार-बार गोदमें लेती हैं और आशीर्वाद देकर शिक्षा देती हैं। ३। सदा पतिको प्यारी हो, तुम्हारा सोहाग अखण्ड हो यह हमारी आसिषा है। ४। सास, ससुर और गुरुकी सेवा करना और पिताका रुख देखकर आज्ञाका पालन करना। ५। सयानी सखियाँ अत्यन्त स्नेहवश कोमल वाणीसे स्त्रियोंके धर्म सिखाती हैं। ६।

टिप्पणी—१ 'चलिहि बरात सुनत…' इति। (क) पुरवासियोंको कमलकी उपमा दी थी, यथा—'सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने। मनहु साँझ सरसिज सकुचाने॥ ३३३। २', और रानियोंको मछलीकी उपमा देते हैं—'बिकल मीन गन…'। इस तरह पुरवासियोंसे रनवासकी विकलता अधिक दिखायी। कमल और मछली दोनों ही जलके आश्रित हैं, फिर भी जलमें मछलीका प्रेम कमलसे अधिक है। (वैसे ही रानियोंका प्रेम पुरवासियोंकी अपेक्षा अधिक है, इसीसे ये अधिक विकल हुईं। 'सब रानी' से जनाया कि जनक महाराजका रनवास भी बड़ा है। उनके भी अनेक रानियाँ हैं। इसीसे 'मीन गन' की उपमा दी)। (ख) 'लघु पानी' कहनेका भाव कि अब बारातका रहना थोड़े ही समयतक और है। (ग) ☞ देश, काल और वस्तु तीनोंके सम्बन्धसे जनकपुरवासियोंकी विकलता दिखाते हैं,

यथा—'अवधनाथ चाहत चलन भीतर करहु जनाउ। भए प्रेम बस सचिव सुनि बिप्र सभासद राउ॥ ३३२।'; अवधनाथ अवधको चलना चाहते हैं यह देश-सम्बन्धसे व्याकुलता कही। 'सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने। मनहु साँझ सरसिज सकुचाने॥' यहाँ कालका सम्बन्ध कहा। जितने दिन बारातके रहनेके थे वे सब बीत गये 'चलिहि बरात सुनत सब रानी। बिकल मीन गन जनु लघु पानी॥' यहाँ वस्तुके सम्बन्धसे विकलता कही।

२ 'पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं....' इति। (क) सीताजीको पुनः-पुनः गोदमें लेनेका भाव कि रानियोंको मीनगणकी उपमा दी है जैसे जलके बिना मछली व्याकुल होकर बार-बार जलका स्पर्श करे वैसे ही श्रीजानकीजी जलरूप हैं; उनका भावी वियोग समझकर रानियाँ विकल हो गयीं, इसीसे बार-बार गोदमें लेती हैं, यही जलका स्पर्श करना है। बाराती जलरूप नहीं हैं, क्योंकि रानियाँ बारातियोंके वियोगसे नहीं विकल हुईं किन्तु चारों भाइयों और चारों कन्याओंके वियोगसे विकल हुईं। इसीसे चारों कन्याओंको हृदयसे लगाती हैं और चारों भाइयोंको देखकर सुखी हुई हैं; यथा—'रूपसिंधु सब बंधु लखि हरषि उठा रनिवासु।' ३३५। ऊपर जो बारातका चलना सुनकर विकल होना कहा वह इस कारण कि बारात प्रधान है, चारों भाइयों और चारों कन्याओंका चलना अथवा रहना बारातके अधीन है। (ख)—'देहिं असीस सिखावनु देहीं, इति। क्या आसिष देती हैं यह कवि आगे स्वयं लिखते हैं और सिखावन भी। 'असीस' 'सिखावन' को एक साथ लिखकर जनाया कि जो सिखावन देती हैं उसीका आशीर्वाद देती हैं। 'पतिको प्रिय हो' यह कहकर 'पति बहुत कालतक जीवित रहे' यह आसिष देती हैं।

३ 'होयेहु संतत पिअहि पिआरी।....' इति। (क) अर्थात् पतिकी सेवा करना, पातिव्रत्यका पालन करना, ऐसा करनेसे अहिवात बहुत कालतक रहता है। 'चिरु अहिवात' का यही साधन है। (पतिव्रताके पतिको कोई मार नहीं सकता, यथा—'परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहि पुरारी॥' १२३। ८'। सावित्री तथा शैव्या सतीकी कथा प्रसिद्ध ही है कि उसने सूर्यका उदय रोक दिया था)। 'चिरु अहिवात' देहलीदीपक है। पतिकी प्यारी हो, इससे अहिवात बहुत काल रहता है और हमारा आसिष भी यही है कि तुम्हारा अहिवात बहुत कालतक रहे। क्या करनेसे पतिको निरन्तर प्रिय होंगी, यह आगे कहती हैं। (ख) 'पिअ' ('पिय') प्रियका अपभ्रंश है। 'पिअहि पिआरी' कहनेका भाव कि जब स्त्रीको पति प्रिय हो (तब वह पिय है और) तब पियको (अर्थात्) पतिको स्त्री प्यारी होती है। (ग) 'चिरु अहिवात' इति। श्रीजानकीजीको बहुत काल जीनेका आशीर्वाद नहीं देतीं, किंतु 'अहिवात चिर हो, बहुत कालतक सुहाग रहे' यह आसिष देती हैं। कारण कि स्त्रीका जीवन अहिवात ही है। बिना अहिवातके स्त्री मृतक (वत्) है, यथा—'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥ २। ६५॥' [होयेहु संतत पिअहि पिआरी' यह सिखावन है और 'चिरु अहिवात' यह आसिष है। प० पु० पातालखण्ड सर्ग ८४ में कहा है कि 'पतिव्रता स्त्रियोंका तो पति ही देवता है। इन्हें पतिमें ही विष्णुके समान भक्ति करनी चाहिये। पतिका प्रिय करनेमें लगी हुई स्त्रियोंके लिये पतिकी सेवा ही विष्णुकी उत्तम आराधना है। यह सनातन श्रुतिका आदेश है। यथा—'स्त्रीणां पतिव्रतानां तु पतिरेव हि दैवतम्। स तु पूज्यो विष्णुभक्त्या मनोवाक्कायकर्मभिः॥ ५१॥ स्त्रीणामयाधिकतया विष्णोराराधनादिकम्। पतिप्रियरतानां च श्रुतिरेषा सनातनी॥ ५२॥'—यही भाव 'होयेहु संतत पिअहि पिआरी' का है। हिंदू-संस्कृतिमें आर्य महिलाओंको 'पतिको प्रिय हो और अहिवात अचल रहे' इन्हीं दो बातोंकी चाह होती थी। और आज तो पतिको तलाक देकर दूसरा पति बनवानेकी चाह, आर्यसंस्कृतिको नष्ट करनेका उत्साह कुछ पाश्चात्यशिक्षाप्राप्त स्वार्थी पुरुषोंमें होने लगा है।]

४ (क) 'सास ससुर गुर सेवा करेहू'—ये तीनों क्रमसे बड़े हैं। यथा—'उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥' इति मनुः॥ २। १४५॥ अर्थात् उपाध्यायसे दशगुना आचार्य मान्य है। आचार्यसे सौगुना पिता मान्य है और पितासे हजारगुणी माता मान्य है। सास-ससुर-गुरुकी सेवा करना भी पतिव्रताका धर्म है। (ख) 'पति रुख लखि आयेसु अनुसरेहू' अर्थात् आज्ञा न होने पावे, जो रुख हो वही काम करना। भाव कि इशारेसे काम करना, कहना न पड़े। पुनः 'रुख लखि' का भाव कि बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं कि प्रकट नहीं कही जा सकतीं और कभी ऐसा भी होता है कि कहा कुछ जाता है पर उसका तात्पर्य कुछ और ही होता है, अतः रुख देखकर काम करनेको कहा। (रा० प्र०)। (ग) 'पति रुख....'—इस वचनके भीतर पतिव्रताके सब धर्म कह दिये गये (क्योंकि यावत् धर्म है वह पतिकी रुचि रखनेमें ही है)। सेवाके कुछ उदाहरण अयोध्याकाण्ड दोहा ६९ 'सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा।

मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ॥', दोहा २५२ 'सीय सासु प्रति बेषु बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई। ''सीय सासु सेवा बस कीन्ही ॥' उत्तरकाण्ड दोहा २४ में 'पति अनुकूल सदा रह साता।'''सेवति चरन कमल मन लाई ॥'''निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥ जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ॥ कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं ॥' इत्यादि हैं।

नोट—अध्यात्मरामायणमें 'सीतामालिङ्ग्य रुदतीं मातरः साश्रुलोचनाः ॥ ८० ॥ श्वश्रूशुश्रूषणपरा नित्यं राममनुव्रता। पातिव्रत्यमुपालम्ब्य तिष्ठ वत्से यथासुखम् ॥ १। ६। ८१ ॥' ऐसा कहा है अर्थात् रोती हुई सीताको गलेसे लगाकर नेत्रोंमें आँसू भरकर माताने कहा—'वत्से! तुम सासकी सेवा करती हुई सदा श्रीरामजीकी अनुगामिनी रह पातिव्रत्यका अवलम्बनकर सुखपूर्वक रहना।'

टिप्पणी—५ 'अति सनेह बस सखी सयानी''' इति। (क) 'अति सनेह बस' का भाव कि सखियाँ श्रीजानकीजीको उपदेश करनेमें समर्थ नहीं हैं (श्रीसीताजी तो सब जानती ही हैं। उनको कोई क्या सिखावेगा। उनको सिखलाना कैसा और क्या? दूसरे सखियाँ यह नहीं जानतीं कि इनका संयोग-वियोग है ही नहीं, ये तो परम शक्ति हैं। अतः वे माधुर्यमें सिखा रही हैं। अत्यन्त स्नेहका यही लक्षण है, यही स्वभाव है। 'अति स्नेह' के वश होनेसे वे सिखा रही हैं। नहीं तो श्रीअनसूयाजी ऐसी महान् पतिव्रता भी श्रीसीताजीको उपदेश देनेमें संकोचको प्राप्त हुई हैं, यथा—'सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ॥ ३। ५ ॥' (ख) 'सयानी' अर्थात् जो उम्र (अवस्था) में बड़ी और ज्ञानमें सयानी (चतुर बुद्धिवाली) हैं वे ही उपदेश करती हैं। (ग) 'नारि धर्म'—(३। ५) 'नारि धर्म कछु ब्याज बखानी ॥ ४ ॥' से 'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय' तक श्रीअनसूयाजीने पातिव्रत्यका कुछ वर्णन किया है)। स्त्रियोंके धर्म ऊपर माताओंके उपदेशमें लिख चुके,—'होयेहु संतत पिअहि पिआरी।', 'सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥', इसीसे यहाँ फिर नहीं लिखते। (घ) 'मृदु बानी'—क्योंकि उपदेश जो कोमल वाणीसे किया जाता है वही लगता है।

सादर सकल कुअँरि समुझाई। रानिन्ह बार बार उर लाई ॥ ७ ॥
बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी। कहहिं बिरंचि रची कत नारी ॥ ८ ॥

दोहा—तेहि अवसर भाइन्ह सहित रामु भानुकुलकेतु।
चले जनकमंदिर मुदित बिदा करावन हेतु ॥ ३३४ ॥

अर्थ—रानियोंने सब कुमारियोंको आदरपूर्वक (पातिव्रत्यधर्म) समझाया और बारंबार हृदयसे लगाया ॥ ७ ॥ माताएँ फिर-फिर भेटती (गले लगाकर मिलती) हैं और कहती हैं कि विधाताने स्त्रीको क्यों बनाया ॥ ८ ॥ (ठीक) उसी समय सूर्यकुलकी ध्वजा श्रीरामचन्द्रजी भाइयोंसमेत प्रसन्नतापूर्वक विदा करानेके लिये श्रीजनकजीके महलमें गये ॥ ३३४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सादर' अर्थात् जैसे श्रीजानकीजीको गोदमें ले लेकर सिखावन देती थीं, वैसे ही इनको गोदमें बैठाकर पातिव्रत्यका उपदेश करती हैं, समझाती हैं। 'बार बार उर लाई' से सूचित करते हैं कि जब एक रानी हृदयसे लगा चुकी, तब दूसरीने हृदयसे लगाया, इस तरह जब सब हृदयसे लगा चुकती हैं तब फिर हृदयसे लगाती हैं, इस प्रकार बार-बार सब रानियाँ भेंटती हैं। (ख) श्रीसीताजीको प्रथम हृदयसे लगाकर सूचित किया कि सब कन्याओंको क्रमसे गले लगाकर मिलीं, पहले श्रीसीताजीको, तब माण्डवीजीको, फिर उर्मिलाजीको और अन्तमें श्रीश्रुतिकीर्तिजीको।

२ (क)—'बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी' इति। सब रानियोंके भेंटनेके पश्चात् माता कन्याओंको भेंटती हैं, क्योंकि माताको सबसे पीछे अधिकार है। विमाता मातासे दशगुणा मान्य है, यथा—'मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा।' (ख) 'कहहिं बिरंचि रची कत नारी' इति। भाव कि स्त्री जन्मभर पराधीन ही रहती है, सुख नहीं पाती; यथा—'कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुखु नाहीं ॥ १०२। ५ ॥' पुनः भाव कि अभी सब कन्याएँ बहुत छोटी हैं परन्तु पिता इन्हें विदा किये देते हैं, यहाँ पिताके अधीन हैं, वहाँ पतिके अधीन रहेंगी। पुनः भाव कि इतनी छोटी अवस्थामें दूसरेके घर जाने योग्य नहीं है, फिर भी इनको विदा करना पड़ता है। [पुनः भाव कि यदि हम लोग मर्द (पुरुष) होतीं

तो चाहे जाकर देख भी आतीं एवं पुरुष तो चाहे जाकर देख भी आवें, पर हम अबलाओंके ऐसे भाग्य कहाँ ? कन्याएँ पराये घरकी होती हैं, माताओंको उनके वियोग-विरहका दुःख उठाना ही पड़ता है। (प्र० सं०)। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि ये आर्तवचन हैं और 'आरत कहहिं विचारि न काऊ'। (प० प० प्र०)]।

प० प० प्र०—१ 'राम भानुकुलकेतु' का भाव कि अबतक भानुकुलकीर्तिका पताका फहरानेकी जिम्मेदारी (भार) दशरथजीपर थी, यथा—'आवत जानि भानुकुलकेतू। सरितन्हि जनक बँधाए सेतू॥ ३०४। ५॥', अब वह भार श्रीरामजीपर आ गया। २—'चले जनक मंदिर मुदित' इति। अभीतक श्रीजनकजीके निवासस्थानको 'मंदिर' केवल एक बार कहा था। यथा—'भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चली॥ २३६ छंद॥' विवाह समयसे सब रनवास श्रीरामजीका गुणगान, पूजा, सेवा-चिन्तन ही सतत कर रहा है; इससे सारा रनवास श्रीरामजीका मन्दिर हो गया है। 'मन्दिर' शब्दके प्रयोगकी विशेषता पूर्व २८७। ४ में और परशुराम-प्रसंगमें बतायी गयी है।

नोट—'चले जनक····मुदित बिदा करावन हेतु' इति। (क) पाँड़ेजी कहते हैं कि 'जनक-मन्दिरको मुदित होकर चलना करुणासे विपरीत है, परंतु राजा दशरथ अपने स्थानको पुत्रोंका विवाह करके जानेवाले हैं, इसलिये करुणा मंद हो गयी है—दूसरा अर्थ यह है कि मुदित अर्थात् आनन्दमूर्ति (जानकी आदि जो चार पुत्री हैं उनको) विदा करानेके लिये जनकमन्दिरको चले—इसकी पुष्टता इस दोहेसे होती है—'मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुना बिरह निवास'। (ख) अवधमें माताओंको पुत्रवधुओंसहित पुत्रोंके दर्शनकी अत्यन्त लालसा है, मुनिके साथ जबसे अवधसे श्रीराम-लक्ष्मणजी आये हैं, तबसे दर्शन नहीं हुए हैं, पुरवासियोंको भी श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं, वे भी वियोग सह रहे हैं। अवधमें विवाहमण्डप सूना पड़ा है, यहाँ सबको विवाहका आनन्द दे चुके, अब अवधके सब भक्तोंको भी आनन्द देनेके लिये विदा कराने जा रहे हैं, अतः 'मुदित' हैं। (ग) वरपक्षको अपने-अपने घर लौटते समय आनन्द होता ही है। और कन्याके घर इस समय करुणा-विरहका अवतार होता ही है। फिर अपनी माताओंकी चिन्ता जाग्रत् हो गयी हैं, उनको अपार सुख देनेका लाभ मिलेगा, अतः मुदित हैं। [पुनः, मुदित इससे कि सब रनवास अब परम भक्त हो गया है, इनके अन्तःकरणरूपी मन्दिरोंकी मन्दिरता विरहसे अब अधिक दृढ़ हो जायगी। (प० प० प्र०)]।

चारिउ भाइ सुभाय सुहाए। नगर नारि नर देखन धाए॥ १॥
कोउ कह चलन चहत हहिं आजू। कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू॥ २॥
लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूप सुत चारी॥ ३॥
को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥ ४॥
मरनसीलु जिमि पाव पिऊषा। सुरतरु लहै जनम कर भूखा॥ ५॥
पाव नारकी हरिपदु जैसे। इन्ह कर दरसनु हम कहँ तैसे॥ ६॥

शब्दार्थ—प्रिय पाहुने=प्यारे मेहमान। पाहुनोंमें प्रिय। (रा० प्र०)। अतिथि=मेहमान; घरमें आया हुआ अज्ञातपूर्व व्यक्ति। मरनसील (मरणशील)=मरणप्राय; जिसकी मृत्यु निकट हो। जिसके सम्बन्धमें ऐसा प्रतीत होता है कि अब मरा, अब मरा, क्षण-क्षणमें यही दशा होती है। पिऊषा (पीयूष)=अमृत। नारकी=नरकमें जाने योग्य पापी एवं नरक भोगनेवाला। हरिपद=भगवद्धाम, सद्गति, वैकुण्ठादि।

अर्थ—सहज ही सुन्दर चारों भाइयोंको देखनेके लिये नगरके स्त्री-पुरुष दौड़े॥ १॥ कोई कहता है कि आज ही जानेवाले हैं, विदेहने विदाका साज (सामान) कर दिया है। २। चारों प्रिय पाहुन राजकुमारोंके रूपको नेत्रभर देख लो। ३। हे सयानी! कौन जानता है किस पुण्यसे विधाताने इनको यहाँ लाकर हमारे नेत्रोंका अतिथि (मेहमान) बनाया है। ४। जैसे मरनेवाला अमृत पा जाय, जन्मका भूखा कल्पवृक्ष पा जाय। ५। नरकगामी या नरकमें बसनेवाला प्राणी जैसे हरिपद पा जाय वैसा ही इनका दर्शन हमको प्राप्त हुआ। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'पुरबासी सुनि चलिहि बराता। पूछत बिकल परस्पर बाता। ३३३। १' पर पुरवासियोंका प्रसंग छूटा है, अब वहींसे पुनः प्रसंग उठाते हैं। 'सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने' यह पूर्व ही कह चुके, अब उसीके सम्बन्धसे कहते हैं कि 'नगर नारि नर देखन धाए' धावेका भाव कि लोग अकुलाकर उठ दौड़े कि अब जाने ही चाहते हैं, शीघ्र

दर्शन कर लें, ऐसा न हो कि चले जायँ। 'सत्य गवनु' सुनकर अकुला उठे। चारों भाइयोंकी सुन्दर छवि देखनेके लिये 'धाए'। इसका ब्योरा एक बार कर चुके हैं कि 'जुवती भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं रामरूप अनुरागीं। २२०।४।' इसीसे यहाँ स्त्रियोंका झरोखेमें बैठना नहीं कहते। (पूर्वकी तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि पुरुष दौड़कर बाहर गये, स्त्रियाँ झरोखेसे देखने दौड़ीं)। सुन्दर शोभा देखने गये, इसीसे 'धाए' का कारण प्रथम चरणमें कहा—'चारिउ भाइ सुभाय सुहाए'। 'सुभाय' अर्थात् शृङ्गारादिसे सुन्दर नहीं हैं किंतु स्वाभाविक बिना शृङ्गारके ही सुन्दर हैं। 'धाए'—'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।२२०।२।' देखिये।

२ (क) 'कोउ कह चलन चहतहहिं आजू' इति। इस कथनका प्रयोजन अगली चौपाइयोंमें लिखते हैं—'लेहु नयन भरि रूप निहारी' इत्यादि। अर्थात् आज ही जा रहे हैं, अतः नेत्र भरकर रूपका दर्शन कर लो, नहीं तो फिर दर्शन दुर्लभ है। पुनः, 'आजू' का भाव कि कल इनका दर्शन नहीं होगा, क्योंकि आज ही चले जायँगे। (ख) 'कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू' इति। (भाव यह कि यह 'बिदेह' हीका काम है, भला और कोई इन्हें कैसे बिदा करता? 'बिदेह' शब्दमें यह व्यंग है कि इन्हें न तो अपनी देहकी सुध है न किसीके देहमें ममत्व है, अतः उसके बिदा करनेमें आश्चर्य ही क्या? यहाँ 'अविवक्षित वाच्यध्वनि' है)। पुनः, भाव यह कि विदेहजीने बिदाका सामान कर दिया है, इसीसे चारों भाई बिदा कराने आ रहे हैं। 'विदेह' का भाव कि किसीको बारातका बिदा होना भाता नहीं, यथा—'दसरथ गवनु सोहाइ न काहू', इसीसे सब कहते हैं कि वे तो विदेह हैं इसीसे उन्होंने बिदाका साज कर दिया, नहीं तो जिसे देहकी खबर होगी वह तो ऐसे प्राणप्रिय पाहुनको कदापि न बिदा करेगा। [पुनः भाव कि अपने विदेहके बिदा करनेका साज किया है। आशय यह कि (बिदाका साज करनेसे) अब विदेहपना छोड़कर वियोगसे मर जायँगे, जैसा आगे कहा है—'मिटी महा मरजाद ग्यानकी'। अथवा, भाव कि सबके विदेह होनेका साज किया है···(पाँड़ेजी)]।

३ (क) 'लेहु नयन भरि रूप निहारी'—यहाँ रूप सिन्धु है, यथा—'रूप सिंधु सब बंधु लखि····३३४'। नयन पात्र हैं। 'नयन भरि' रूप देख लेना नेत्ररूपी पात्रोंमें छबिसिंधुको भर लेना अर्थात् नेत्रोंसे भरपूर छबिका देखना है, यथा—'भरि लोचन छबि लेहु निहारी। २४६। ३', 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। १४६। ६'। लेहु नयन भरि रूप निहारी' कहकर उसका कारण बताते हैं कि ये 'प्रिय पाहुने' हैं, प्रियको देखा ही जाता है, पुनः ये भूपके पुत्र हैं अतः इनकी भेंट, इनका दर्शन, दुर्लभ है। (ख) 'को जानै केहि सुकृत सयानी' इति। 'को जानै' का भाव कि कर्मकी गति ब्रह्मा ही जानते हैं, सब कोई नहीं जानते। यथा—'कठिन करम गति जान बिधाता। २। २८२'। सुकृत भी कर्म हैं, अतः इनकी व्यवस्था वे ही जानें। जानकारी (बुद्धिमानी) की बात जानकर (बुद्धिमान्) से कही जाती है, वह सखी 'सयानी' थी, इसीसे उससे बुद्धिमानीकी बात कहती है। पुनः, 'सयानी' है, इससे यहाँ इतना संकेतमात्र कहती है, आगे फिर श्रीरामचन्द्रजीकी मूर्तिको हृदयमें धरनेको कहेगी। 'केहि सुकृत' कहनेका भाव कि श्रीरामजी सुकृतसे मिलते हैं, बड़े सुकृत होते हैं तब इनके दर्शन होते हैं। यथा—'सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा। २। २१०'। (ग) 'नयन अतिथि कीन्हे'—भाव कि जैसे अतिथि दुर्लभ हैं, वैसे ही ये चारों भाई दुर्लभ हैं। ब्रह्माने इन्हें लाकर प्राप्त कर दिया, क्योंकि वे ही कर्मका फल देते हैं, उन्होंने अतिथिको नेत्रोंके सामने पहुँचा दिया। अतिथिका आदर करना धर्म है, कर्तव्य है, अतः नेत्र इनका आदर करें, आदरपूर्वक इनका दर्शन करें। यथा—'लेहु नयन भरि रूप निहारी'। [पुनः भाव कि इनका दर्शन अचानक प्राप्त हो गया—(प्र० सं०)]

प०प०प्र०—'नयन अतिथि कीन्हे' इति। 'अतिथि' के लक्षण ये हैं—१ जो अनपेक्षित रीतिसे, गृहस्थोंके प्रयत्न बिना, यदृच्छासे आता है। २ जो दूरसे आया हो, श्रान्त हो, वैश्वदेवके समयपर आ जाय, अपरिचित हो, पहले न आया हो। अतिथिका आगमन पूर्व-पुण्यसे होता है। गृहस्थोंका धर्म है कि उसे एक दिन अपने यहाँ ठहराकर भोजनादिसे संतुष्ट करें।—अतिथिके सब लक्षण श्रीराम-लक्ष्मणजीमें घटते हैं। दूरसे आये हैं, पूर्व-परिचित नहीं हैं, पहले कभी नहीं आये, पुरवासियोंने इनको लानेका प्रयत्न नहीं किया, ये धनुषयज्ञके समय आये हैं (वैश्वदेव एक यज्ञ ही है)। भेद इतना ही है कि किसी एक गृहस्थके अतिथि नहीं हैं, नगरके नेत्रोंके अतिथि हैं, इसीसे नयनरूपी यजमान अपने हृदयरूपी घरमें इनको रखनेका प्रयत्न करते हैं, यथा—'निरखि राम सोभा उर धरहू'। तीन दृष्टान्तोंद्वारा दिखाते हैं कि यह दर्शन कितना अमूल्य, कैसा अनपेक्षित और कितना अपूर्वफलदायी है।

टिप्पणी—४ 'मरन सीलु जिमि पाव पिऊषा···' इति। (क) मरणकालमें वैद्य अच्छे रस देते हैं, उस रसके बदले यदि रोगी अमृत पा जाय तो मृत्यु ही दूर हो। 'जन्मका भूखा' अर्थात् सबसे माँगनेपर भी जिसे कुछ न मिला। '**सुरतरु लहै**' अर्थात् उसको कल्पवृक्ष मिल गया, अब जो भी माँगता है वही प्राप्त होने लगा। कल्पवृक्ष भी माँगनेसे ही देता **है, यथा—'जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच॥ २। २६७।'**

५—'पाव नारकी हरिपदु जैसे···' इति। (क) नारकीको हरिपदप्राप्तिका भाव कि नरकमें बड़ा दुःख है और भगवद्धाममें बड़ा सुख है, अतः आशय है कि बड़े दुःखका अधिकारी जैसे बड़ा सुख पावे। बड़े दुःखमें जो सुख मिलता है उस सुखमें बड़ा आनन्द होता है, यथा—'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥ ७। ६९। ३।' (ख) यहाँतक तीन दृष्टान्त दिये। मरणशील, जन्मका भूखा और नारकी। ये तीनों बड़े कष्टमें रहे, सो इन तीनोंको बड़ा सुख मिला। मरणशीलको अमृत मिला, जन्मदरिद्रको कल्पवृक्ष मिला, और नारकीको हरिपद प्राप्त हो गया। वैसे ही हमको **इनका** दर्शन मिला। तात्पर्य कि इनके दर्शनके लिये हम अति आर्त्त थे, यथा—'**सखि हमरे आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥ २२२। ८।**' अतएव हमें इनके दर्शनसे बड़ा सुख प्राप्त हो रहा है। पुनः भाव कि जैसे मरणशीलको अमृत दुर्लभ है, दरिद्रको कल्पवृक्ष दुर्लभ है और नारकीको हरिपद दुर्लभ है वैसे ही इनका दर्शन हमको दुर्लभ है। तात्पर्य यह कि हमको अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ। कल्पवृक्षकी प्राप्ति कहकर हरिपदकी प्राप्ति उससे पृथक् कही; क्योंकि कल्पवृक्ष हरिपद नहीं दे सकता।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि 'मरनसील जिमि पाव पिऊषा' 'सुरतरु लहै जनम कर भूखा' और 'पाव नारकी **हरिपद जैसे**' इन तीनों दृष्टान्तोंका तत्त्व यह है कि जब स्वयंवरमें बड़े-बड़े वीरोंसे भी धनुष न उठा तब सीताजीके अविवाहित रहनेके भयसे हम लोग ऐसा भी चाहती थीं कि चाहे कोई कुरूप पुरुष ही क्यों न धनुष तोड़े तो भी भला ही है जिसमें ब्याह तो हो जाय, सो भगवान्‌ने ऐसी कृपा की कि सब गुणोंका निधि स्वामी सीताजीको प्राप्त हुआ, और ऐसा सुन्दर विवाह हुआ। हम भी पवित्र हुईं। इससे जान पड़ा कि हमारे बड़े पुण्य थे।'

गौड़जी—'**मरनसील···तैसे**'—जनकपुरकी नारियाँ वेदकी ऋचाएँ हैं। ये साधारण बातें भी करती हैं तो गूढ़ रहस्यसे खाली नहीं। अनेक ऐसे भक्त हैं जो जन्म-जन्मसे भगवद्-दर्शनोंकी लालसा लिये आये हैं, जिन्हें वरदान है कि जनकपुरीमें दर्शन होंगे। बूढ़े हो रहे थे, निराश हो रहे थे, उनके आध्यात्मिक जीवनका अन्त हो रहा था, उसी समय न केवल उन्हें दर्शन ही न हुए वरन् महीनों दर्शन और बातचीततक सुननेका उन्हें मौका मिला। उन्होंने ब्याहतक देखा। मरनकालमें जहाँ एक घूँट जल अलभ्य है वहाँ उन्हें अमृत मिल गया। जो भक्त सदा दर्शनके भूखे थे, भरपेट दर्शन नहीं नसीब हुए थे, उन्होंने भरपेट दर्शन किये। और जो जनकनगरीमें किसी पुण्योदयसे उस समय आ गये थे उन्हें आकस्मिक दर्शन लाभ हुआ, सो वस्तुतः हरिपद मिला। स्त्रियाँ जो केवल उत्प्रेक्षासे हरिपद कहती हैं वस्तुतः ठीक ही बात कह जाती हैं।

इन तीनों दृष्टान्तोंसे यह स्पष्ट देख पड़ता है कि तीनों बातें अत्यन्त दुर्लभ हैं, भगवत्-कृपा या पूर्व सुकृतोंके संस्कारसे भले ही प्राप्त हो जायँ, नहीं तो असम्भव-सी हैं। सखियोंका इन दृष्टान्तोंके देनेका भी यही अभिप्राय जान पड़ता है जैसा उनके '**को जानै केहि सुकृत सयानी।**···' इन वचनोंसे समर्थन होता है। या यों कहिये कि '**को जानै केहि सुकृत**···' ही की व्याख्या इन दृष्टान्तोंको देकर कर रही हैं। अयोध्याकाण्ड दोहा २२३ में मगवासियोंके वचनोंसे मिलान कीजिये। **यथा—'कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी। लघु तिय कुल करतूति मलीनी॥ ६॥ बसहिं कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ यह दरस पुन्य परिनामा॥ ७॥ अस अनंदु अचिरिजु प्रति ग्रामा। जनु मरुभूमि कल्पतरु जामा॥ ८॥ भरत दरस देखत खुलेउ मगलोगन्ह कर भागु। जनु सिंघलबासिन्ह भयउ बिधिबस सुलभ प्रयागु॥'**

जनकपुरवासियोंका श्रीरामजीमें कैसा गाढ़ प्रेम है वह इन चौपाइयोंसे प्रकट हो रहा है जितनी ही कठिनता या दुःखसे कोई वस्तु प्राप्त होती है, उतनी ही अधिक उसमें प्रीति होती है।

श्रीनंगे परमहंसजी—भाव यह कि हमलोग मानसरोगसे मरनेवाले थे, अब अमृतरूपी श्रीरामजीकी प्रेमाभक्ति प्राप्त हो गयी। अब नहीं मरेंगे अर्थात् पुनर्जन्म न होगा। पुनः हम लोगोंको भूखेकी तरह जन्मभर सुखकी प्राप्ति न हुई थी, अब श्रीराम-नाम कल्पतरु प्राप्त हो गया जिससे समस्त वाञ्छित सुख प्राप्त होंगे। पुनः हम लोग चौरासी लक्ष योनिरूप नरकमें पड़े रहते, अब श्रीरामजीके नाम और रूपकी भक्ति करके हरिपद प्राप्त कर लेंगे।

प० प० प्र०—अमृतका पृथ्वीपर प्रयत्न करनेपर भी मिलना असम्भव है। उसका मिल जाना अतिथिके आगमनके समान अनपेक्षित और अकस्मात् है। इस दृष्टान्तसे इन लोगोंकी पूर्व स्थिति भी सूचित की कि इनको दैहिक सुखकी किंचित् आशा न थी, जीवन भाररूप हो रहा था। इससे मोक्ष और शारीरिक पूर्ण सुखलाभ ध्वनित किया। 'सुरतरु लहै जन्म कर भूखा'—इससे सूचित किया कि इनकी ऐहिक सुखकी आकांक्षाएँ अब पूरी हो गयीं। इसमें मानस-सुख-लाभ ध्वनित किया। 'पाव नारकी हरि पदु जैसे' से इनको 'मुनि दुर्लभ हरिभक्ति' की अनायास अनपेक्षित प्राप्ति दिखायी।

निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन फनि मूरति मनि करहू॥ ७॥
येहि बिधि सबहि नयन फलु देता। गये कुँअर सब राज निकेता॥ ८॥

दोहा—रूप सिंधु सब बंधु लखि हरषि उठी रनिवासु।
करहिं निछावरि आरतीं महा मुदित मन सासु॥ ३३५॥

अर्थ—श्रीरामजीकी शोभा देखकर हृदयमें धर लो। अपने मनको सर्प और (श्रीरामजीकी) मूर्तिको मणि बना लो। ७। इस प्रकार सबको नेत्रोंका फल देते हुए सब राजकुमार राजमहलमें गये। ८। रूपके समुद्र सब भाइयोंको देखकर रनिवास प्रसन्न होकर उठा। सासुएँ महान् आनन्दित मनसे निछावर और आरती कर रही हैं। ३३५।

टिप्पणी— 'निरखि राम सोभा···' इति। (क) अर्थात् शोभाको अच्छी तरह देखकर शोभामयी मूर्तिको भीतर रख लो, यथा—'लोचन मग रामहि उर आनी।···'। (ख) जब चारों भाई राजमन्दिरको चले तब रूप निहारनेको कहा, यथा—'लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूपसुत चारी॥ चौ० ३।' और जब राजमन्दिरके भीतर जाने लगे तब कहती हैं कि श्रीरामजीकी शोभा देखकर हृदयमें रख लो। इससे जनाया कि राजमहलके भीतर सबको जानेका अधिकार नहीं है, इसीसे जब सब लोग भीतर न जा सके तब उन्होंने मूर्तिको हृदयमें धारण किया। (ग) '**निज मन फनि मूरति मनि करहू**' अर्थात् जैसे सर्प मणिको धारण करता है, क्षणभर भी नहीं भूलता और मणि बिना मर जाता है, यथा—'**मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥**'

नोट—१ 'निज मन फनि मूरति मनि करहू' इति। अपने मनको सर्प और श्रीरामजीकी मूर्तिको मणि बनानेका भाव यह है कि मणिवाले सर्पका ध्यान निरन्तर मणिपर रहता है। वह मणिको कभी भी नहीं भूलता, वैसे ही सदा इनका ध्यान हृदयमें धारण किये रहो, कभी यह मूर्ति बिसरे नहीं। पुनः जैसे सर्प बिना मणिके छटपटाता है, उसका जीवन कठिन हो जाता है और जबतक जीता रहता है व्याकुल और बिहाल रहता है, यथा—'**मनि लिये फनि जियें ब्याकुल बिहाल रे**' इति विनये (पद ६७), वैसे ही इनकी मूर्ति जिस समय हृदयसे अलग हो तो छटपटाकर मर ही जाओ, इस प्रकार प्रियत्व इनमें दृढ़ करो, हृदयसे इनका विस्मरण कदापि न होने पावे।

टिप्पणी—२ यहाँ श्रीरामजीके दर्शनको चारों फलोंकी प्राप्तिके समान कहती हैं। '**को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥**' में धर्म-फलकी प्राप्ति कही, क्योंकि पूर्व कहा ही है कि सुकृत ही रूप धरकर 'राम' हुआ है, यथा—'दसरथ सुकृत रामु धरें देही॥ ३१०। १॥' ('सुकृत' और 'अतिथि' धर्मके सूचक हैं)। '**सुरतरु लहै जनम कर भूखा**' से 'काम-फल' की प्राप्ति कही। '**पाव नारकी हरिपदु जैसे**' से मोक्ष और '**निज मन फनि मूरति मनि करहू**' से अर्थ-फलकी प्राप्ति कही, क्योंकि मणि द्रव्य है। [पूर्व चारों भाइयोंको चार फल कह आये हैं, यथा—'**नृप समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धरमादिक तनु धारी॥ ३०९। २॥**' इसीसे यहाँ चार उपमाओंके विचारसे चार चौपाइयाँ दीं। (प्र० सं०)]

३—'येहि बिधि सबहि नयन फलु···' इति। (क) इससे जनाया कि चारों भाई बहुत धीरे-धीरे राजमन्दिरको गये, जिसमें सब लोगोंको अच्छी तरह दर्शन हो, यही 'नयनका फल' देना है, यथा—'**निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई।** (अ०)।' (ख) ऊपर '**लेहु नयन भरि रूप निहारी**' से लेकर '**मूरति मनि करहू**' तक श्रीरामजीके प्रति जो पुरवासियोंका प्रेम है वह कहकर अब 'येहि बिधि···' से श्रीरामजीकी उनपर कृपा दिखायी। (ग) '**चले जनक मंदिर मुदित**' उपक्रम है और '**गये कुँअर सब राजनिकेता**' उपसंहार है।

४ 'रूपसिंधु सब बंधु लखि···' इति । (क) 'रूपसिंधु···' का भाव कि प्रथम रानियोंका थोड़े जलमें पड़ी हुई मछलीके समान विकल होना कहा था, यथा—'चलिहि बरात सुनत सब रानीं । बिकल मीनगन जनु लघु पानीं ॥ ३३४ । २ ॥' थोड़े पानीमें विकल थीं, अब रूपसिंधुकी प्राप्ति हो गयी, अतः हर्षित हुईं । (ख) 'हरषि उठीं रनिवासु'—'उठीं' से सूचित होता है कि सब रानियाँ कन्याओंसे मिल भेंटकर बैठ गयी थीं, अब चारों भाइयोंको देखकर उठीं । अथवा, 'हरषि उठीं'=हर्षित हुईं । यथा—'सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है ।' (विनय० २७९) । (पहले जलके संकोचसे मछली विकल थी, अब समुद्र मिल गया, अतः वह व्याकुलता दूर हो गयी और सुख हुआ, यथा—'सुखी मीन जे नीर अगाधा' । 'रूप सिंधु' का भाव कि रूप ऐसा है कि जिसकी थाह कोई नहीं पा सकता) । (ग)—'करहिं निछावरि आरती' इति । आरती करके तब निछावर करना चाहिये, यह नियम है, यथा—'करहिं आरती पुर नर नारी । देहिं निछावरि बित्त बिसारी ॥ २६५ । ६ ॥' 'करहिं आरती बारहिं बारा । प्रेम प्रमोदु कहै को पारा ॥ भूषन मनि पट नाना जाती । करहिं निछावरि अगनित भाँती ॥ १ । ३४९ ॥' पर यहाँ 'महा मुदित' होनेसे नियमका विचार न रह गया, प्रेमवश पहले निछावर करने लगीं । प्रेमका स्वरूप आगे दिखाते हैं, यथा —'देखि राम छबि अति अनुरागीं । प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं ॥ रही न लाज प्रीति उर छाई ॥' (घ) 'महा मुदित मन सासु'—भाव कि उनके इस समयके सुखका वर्णन कोई कर नहीं सकता, इतना महान् सुख है । (पूर्व भी कहा था—'जो सुख भा सियमातु मन देखि राम बर बेषु । सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेषु ॥ ३१८ ॥', वैसा ही वा उससे अधिक सुख इस समय है । रनवासभर हर्षित हुआ और आरती कन्याकी माताएँ कर रही हैं । सम्भवतः इसीसे हर्षमें रनवासभरको कहा और आरतीमें 'सासु' शब्द दिया)।

देखि राम छबि अति अनुरागी । प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी ॥ १ ॥
रही न लाज प्रीति उर छाई । सहज सनेहु बरनि किमि जाई ॥ २ ॥
भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए । छरस असन अति हेतु जेंवाए ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—उबटन=शरीरपर मलनेके लिये सरसों तिल चिरौंजी इत्यादिका लेप=अंगराग, अभ्यंग, बटना । उबटि= उबटन लगाकर । हेतु=प्रेम, यथा—'चले संग हिमवंतु तब पहुँचावन अति हेतु ॥ १०२ ॥'

अर्थ—(सब रानियाँ) श्रीरामजीकी छविको देखकर अत्यन्त अनुरागको प्राप्त हो गयीं । प्रेमके विशेष वश होनेसे बार-बार चरणोंमें लगीं अर्थात् चरण पकड़े ॥ १ ॥ हृदयमें प्रीति छा गयी है (इसीसे) लज्जा न रह गयी । (वह) स्वाभाविक स्नेह कैसे वर्णन किया जा सकता है ? ॥ २ ॥ उन्होंने भाइयोंसहित (उनको) उबटन लगाकर स्नान कराया (और) अत्यन्त प्रेमसे षट्रस भोजन खिलाया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'देखि राम छबि अति अनुरागी'—भाव कि सब भाइयोंको देखकर हर्षित हुई थीं और श्रीरामजीकी छवि देखकर 'अत्यन्त' अनुरक्त हुईं । श्रीरामजी सब भाइयोंसे अधिक सुन्दर हैं । यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा । तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥ १९८ । ६ ॥'; इसीसे भाइयोंकी छवि देखकर अनुराग हुआ और श्रीरामछवि देखकर 'अति अनुराग' हुआ । (ख) 'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं'—भाव कि सासुओंको जामाता (दामाद) के चरणोंमें लगना माधुर्यमें उचित नहीं है, पर वे प्रेमके विशेष वश हैं, अत्यन्त अनुरक्त हो गयी हैं; इसीसे चरण पकड़कर रह जाती हैं, (अत्यन्त प्रेममें ऐसा हो जाता है, उचित-अनुचितका विचार नहीं रह जाता । अत्यन्त प्रेमके वश होनेपर लोग 'बार-बार' चरणोंसे लगते हैं, चरण पकड़ लेते हैं, इत्यादि) । यथा—'पद अंबुज गहि बारहिं बारा । हृदय समात न प्रेमु अपारा ५ । ४९ ॥', 'प्रेम मगन मुख बचन न आवा । पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा ॥'

२ 'रही न लाज प्रीति उर छाई ।···' इति । (क) 'रही न लाज' से सूचित होता है कि शरीरपरके वस्त्रका सँभाल नहीं रह गया । अत्यन्त प्रेममें वस्त्रका सँभाल नहीं रह जाता, यथा—'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥ २ । २४० ॥' (ख)—'प्रीति उर छाई,' 'सहज सनेहु' इति । प्रथम 'अति अनुरागीं' फिर 'प्रेम बिबस' और फिर 'प्रीति' 'सनेह' शब्द देकर जनाया कि ये सब पर्याय हैं अर्थात् सब एक ही हैं । [(ग) लज्जा न रह गयी, इसका कारण 'प्रीति उर छाई' कहा । प्रीतिको नदीकी उपमा दी जाती है, नदीके प्रवाहमें जो कुछ पड़ता है वह बह जाता है । वैसे ही यहाँ श्रीरामप्रीतिरूपिणी सरिताके प्रवाहमें लज्जा और नियम बह गये । यथा—'उर कछु प्रथम बासना रही ।

प्रभुपद प्रीति सरित सो बही ॥ ५ । ४९ ॥'] (घ) 'सहज सनेह बरनि किमि जाई' इति । भाव कि यदि प्रेमीके मुखसे वह निकले तो कविसे कहते बने । हृदयके भीतरका प्रेम कैसे कहते बने ? यथा—'कहहु सुपेम प्रगट को करई । केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥ कबिहि अरथ आखर बल साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥ २ । २४१ ॥' 'रामहिं चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहिं कथनीया ॥ उर अनुभवति न कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहै कबि कोऊ ॥ १ । २४२ ॥' (ङ) पदकी प्रीति गङ्गा है, यथा—'प्रभु पद प्रीति सरित सो बही' । अतः प्रथम प्रीतिरूपिणी गङ्गामें स्नान किया तब चारों भाइयोंसहित इनको स्नान कराया; क्योंकि प्रेमा भक्तिके बिना अभ्यन्तरका मैल जाता नहीं, यथा—'प्रेम-भगति जल बिनु रघुराई । अभिअंतर मल कबहुँ न जाई ॥ ७ । ४९ ॥'

३ 'भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए···।' इति । (क) 'देखि राम छबि···' से केवल श्रीरामजीके वर्णनका प्रसंग है, इसीसे यहाँ 'भाइन्ह सहित' कहा, नहीं तो यह पाया जाता कि केवल श्रीरामजीके उबटन लगाया और स्नान कराया गया । उबटन पहले लगाकर तब स्नान होता है, उसी क्रमसे यहाँ कहा । 'उबटि अन्हवाए' से पाया गया कि (दिनमें) भोजनके समय पुनः स्नान किया करते हैं, क्योंकि यदि यह प्रथम स्नान होता तो बिना संध्या-पाठ-पूजा किये भोजन न करते, यहाँ पाठ-पूजा कुछ भी नहीं लिखते, क्योंकि पहर रात रहे चारों भाई स्नान-पूजा आदि सब कृत्य कर चुके हैं (जैसा पूर्व एक बार दिखा चुके हैं। 'बड़े भोर भूपतिमनि जागे ।···देखि कुअँर बर ···॥ ३३० । २-३ ॥ तथा 'गुरतें पहिलेहिं जगतपति जागे राम सुजान ॥ २२६' देखिये) । (ख) 'छरस असन'—यहाँ इतना ही कहा क्योंकि पहले विस्तारसे कह चुके हैं, यथा—'छरस रुचिर बिंजन बहु जाती । एक एक रस अगनित भाँती ॥ ३२९ । ५ ॥' (ग) 'अति हेतु जेवाएँ' इति । भोजन करानेका भाव यह कि दूलहको कलेवा करानेकी रीति है, वही रीति यहाँ बरती । बिदाईके पूर्व कलेवा कराके नेग दिया जाता है, वह सब यहाँ जना दिया । 'अति हेतु' कहकर भोजन करानेमें अत्यन्त प्रेमके अतिरिक्त भोजनके अन्तमें आचमन देना, फिर फूल-माला, अतर, पान (बीड़ी गलौंड़ी), बीड़ीके साथ पुनः नेग इत्यादि सब भोजनके अंग भी जना दिये । पूर्व लिख चुके हैं, अतः यहाँ विस्तारके भयसे नहीं लिखा । यथा—'अँचै पान सब काहू पाए । स्रक सुगंध भूषित छबि छाए ॥' 'आदर सहित आचमनु दीन्हा ॥ देइ पान पूजे जनक दसरथु सहित समाज ॥ ३२९ ॥' श्रीरामजी प्रेमहीको लेते हैं । 'अतिहेतु जेवाँए' कहकर जनाया कि माताके समान स्नेहसे खिला रही हैं ।

बोले रामु सुअवसरु जानी । सील सनेह सकुचमय बानी ॥ ४ ॥
राउ अवधपुर चहत सिधाए । बिदा होन* हम इहाँ पठाए ॥ ५ ॥
मातु मुदित मन आयेसु देहू । बालक जानि करब नित नेहू ॥ ६ ॥

अर्थ—उत्तम अवसर (मौका) जानकर श्रीरामचन्द्रजी शील, स्नेह और संकोचयुक्त वाणी बोले । ४ । राजा श्री-अयोध्यापुरीको चलना चाहते हैं, विदा होनेके लिये हमें यहाँ भेजा है । ५ । माताजी ! प्रसन्न मनसे आज्ञा दीजिये । अपना बालक जानकर सदा स्नेह बनाये रखियेगा । ६ ।

टिप्पणी—१ (क) 'बोले राम'—श्रीरामजी सब भाइयोंमें बड़े हैं, इसीसे वे ही बोले, उनके सामने छोटे भाई नहीं बोल सकते । यह शिष्टाचार है, प्राचीन आर्यसंस्कृति है । 'सुअवसरु जानी' अर्थात् उबटन, स्नान, भोजन आदि करा चुकनेपर जब सब सावधान हुईं तब बिदाकी चर्चा चलायी । श्रीरामजी सदा अवसरसे ही काम करते हैं । यहाँ भी जब रानियाँ कन्याओंको पातिव्रत्यका उपदेश देकर मिल-भेंट चुकीं तब विदा कराने (जनवासे) चले, यथा—'तेहि अवसर भाइन्ह सहित रामु भानुकुलकेतु । चले० । ३३४ ।' उस (चलनेके) 'अवसर' से (विदा करानेकी चर्चाका) यह अवसर विशेष (कोमल) है; अतः यहाँ 'सुअवसरु' देखकर बोलना पड़ा । बोलनेमें 'सुअवसर' देखकर भी बोलना चाहिये । विभीषणजी भी रावणके पास उपदेश कहनेके लिये 'सुअवसर' से आये थे, परंतु उपदेश 'सुअवसर' देखकर ही कहा था, यथा—'अवसर जानि बिभीषन आवा ।···। ५ । ३८ ।···मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात । तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात ॥ ३९ ।'] (ख) 'सील सनेह सकुचमय बानी' इति । शील, स्नेह और संकोच तीनों आगे-की वाणीमें दिखाते हैं । 'राउ अवधपुर चहत सिधाए ।···' यह 'शील सकुचमय' वाणी है । यहाँ मारे संकोच और शीलके

* हित हमहि—छ०, १७०४ । हम इहाँ—१६६१, १७२१, १७६२ को० रा० ।

प्रकट (शब्दोंसे) विदा नहीं माँगते, कहते हैं कि राजाने हमें विदा होनेके लिये भेजा है, 'हम विदा कराने आये हैं' ऐसा नहीं कहते। शील और संकोचसे ही 'विदा कराने' का नाम नहीं लेते, अपनी विदा माँगते हैं, सो वह भी राजाकी ओटसे। यहाँ शील और संकोच दोनों साथ ही हैं। जैसे 'गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥ २। २९२।' में श्रीरामजीका सबको देखकर सकुचना कहा, फिर उसी संकोचको 'शील और सकुच' कहकर सराहना कहा, वैसे ही यहाँ शील और संकोच दोनों ही साथ-साथ हैं। 'मातु मुदित मन आयेसु देहू।…नेहू' यह स्नेहमय वाणी है। [प्र० सं० में 'राउ अवधपुर चहत सिधाए' को शीलमय और 'विदा होन हम …' को सकुचमय वाणी लिखा गया था]

२ (क) 'राउ अवधपुर चहत सिधाए' इति। श्रीरामजी अपनी विदा माँगना चाहते हैं, इसीसे प्रथम राजाका विदा होना कहते हैं। अर्थात् राजा विदा हो चुके, बारातको जानेकी आज्ञा मिल गयी, तब उन्होंने हमको यहाँ विदा होनेके लिये भेजा है। 'बिदा होन हम इहाँ पठाए' इति। जनवासेसे 'विदा कराने' चले थे, यथा—'चले जनक मंदिर मुदित बिदा करावन हेतु।' परंतु संकोचवश 'विदा कराने' का नाम न लेकर अपनी विदा माँगते हैं, सो भी पिताकी आज्ञा सुनाकर। पुनः 'बिदा होन हम…' का भाव कि समधी समधीसे विदा होता है और जामाता सासुसे विदा होता है, अतः हमें यहाँ विदा होनेको भेजा। (ख)—'मातु मुदित मन आयेसु देहू' इति। 'मुदित मन' का भाव कि मुदित मनसे आज्ञा देनेसे मुदमङ्गल होता है, यथा—'आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥ २। ५३।' पुनः भाव कि श्रीरामजीका जाना सुनकर सब रानियाँ व्याकुल हैं, यथा—'चलिहि बरात सुनत सब रानी। बिकल मीनगन जनु लघु पानी॥ ३३४। २।' तब वे हर्षपूर्वक जानेकी आज्ञा कैसे देंगी, यह समझकर उनसे 'मुदित मन' से आयसु देनेको कहते हैं। पुनः भाव कि जब श्रीरामजीने कहा कि राजाने हमें विदा होनेके लिये भेजा है, तब रानियाँ ये वचन सुनकर बहुत उदास हो गयीं, यह देखकर श्रीरामजीने कहा कि, माताजी! हमें आनन्दित होकर आशिष और आज्ञा दीजिये। वचन सुनकर उदास होना आगे स्पष्ट है, यथा—'सुनत वचन बिलखेउ रनिवासू'। (ग) 'बालक जानि करब नित नेहू' इति। बालकमें माताका स्नेह सबसे अधिक होता है, यथा—'सुतकी प्रीति प्रतीति मीत की…' इति विनय। अतः 'बालक' जानकर स्नेह करना कहा। पुनः स्नेह किसी-न-किसी कारणसे होता है, इसीसे स्नेह करनेका हेतु कहते हैं कि 'बालक जानि' अर्थात् बालक जानना। बालक जाननेसे स्नेह स्वाभाविक ही होगा।

सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू। बोलि न सकहिं प्रेम बस सासू॥ ७॥
हृदय लगाइ कुअँरि सब लीन्हीं। पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्हीं॥ ८॥
छं०—करि बिनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहुँ बिदित गति सबकी अहै॥
परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानिबी।
तुलसीस* सील सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी॥

अर्थ—(श्रीरामजीके) वचनोंको सुनते ही रनवास उदास हो गया। सासें प्रेमवश बोल नहीं सकतीं। ७। (उन्होंने) सब कन्याओंको छातीसे लगा लिया (और फिर उन्हें) पतियोंको सौंपकर अत्यन्त विनती की। ८। (भाइयोंकी) विनती करके सीताजीको श्रीरामचन्द्रजीके समर्पण किया और हाथ जोड़कर बार-बार कहने लगीं—हे तात! हे सुजान! मैं बलैया लेती हूँ, तुमको सबकी गति मालूम है। परिवारको, पुरवासियोंको, मुझको और राजाको सीता प्राणोंसे भी प्यारी जानियें। हे तुलसीके ईश! इसका सुन्दर शील और स्नेह लखकर इसे अपनी दासी करके मानियेगा।

टिप्पणी—१ (क) बिलखना=उदास होना, यथा—'अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना॥ २। २१४' 'सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने। मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने॥ ३३३। २।' (ख) 'बोलि न सकहिं प्रेम बस सासू' इति। श्रीरामजी विदा अर्थात् चलनेकी आज्ञा माँग रहे हैं, इसपर कुछ बोल नहीं सकतीं, अर्थात्

* तुलसी सुसील—१७०४, १७२१, छ०, भा० दा०, रा० बा० दा०, रा० व० श०, को० रा०। तुलसीस सिसु—१६६१। 'स'-स्पष्ट है, इससे 'तुलसीस' पाठ है और यह भावमें उत्तम भी है। 'सि' लेखप्रमाद है, 'सी' चाहिये।

कुछ उत्तर नहीं देतीं, इसका कारण 'प्रेम बस' बताया, अर्थात् प्रेमके वश होनेसे वचन नहीं निकलता। 'प्रेम बस' का दूसरा भाव यह है कि प्रेमी कभी अपने प्यारेको जानेको नहीं कहता, इसीसे 'बोलि न सकहिं' कहा। पुनः भाव कि जब प्रियका वियोग होने लगता है, तब प्रेम अधिक बढ़ जाता है, इसीसे 'प्रेम बस' होना कहा। अथवा प्रेमके वश तो पहलेही-से हैं, यथा—'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं' उसीसे 'प्रेम बस' कहा। प्रेमके वश होनेसे मुखसे वचन नहीं निकलता, यथा—'प्रेम बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी॥' (उदास होना रनवासका कहा और बोल न सकना 'सास' का कहा, क्योंकि विदा करना, बोलना यह सब सासका काम है।)

२ 'हृदय लगाइ कुअँरि···' इति। (क) पहले हृदयसे लगाकर तब कन्याओंको उनके पतियोंके कर-कमलोंमें समर्पण करनेका भाव कि ये कन्याएँ हमको अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—'नाथ उमा मम प्रान सम गृहकिंकरी करेहु। १०१।' (श्रीमेनाजीने यह जो बात कही थी वही बात यहाँ श्रीसुनयनाजीके 'हृदय लगाइ लीन्हीं' में सूचित की गयी है)। (ख) 'पतिन्ह सौंपि···' अर्थात् श्रीभरतजीको 'माण्डवी' श्रीलक्ष्मणजीको 'उर्मिला' और श्रीशत्रुघ्नजीको 'श्रुतिकीर्ति' समर्पण करके तब अंतमें सबसे विनती की। 'अति बिनती' वही है जो श्रीरामजीसे की है, वही इनसे भी की। क्या विनती की, यह आगे लिखा है।

३ 'करि बिनय सिय रामहि समरपी···' इति। (क) तीनों भाइयोंकी विनती करके तब श्रीरामजीके करकमलोंमें श्रीसीताजीको समर्पण किया। "श्रीरामजीकी विनती करके तब 'सीता' उनको समर्पण कीं" ऐसा अर्थ नहीं है, क्योंकि आगे श्रीरामजीसे विनय करती हैं। दूसरे, छन्दके आदिमें (पहले) जो चौपाई होती है उसीका अर्थ छन्दके आरम्भमें रहता है। 'पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्ही' यह छन्दके पहले है। अतः वही अर्थ छन्दमें आया। यहाँ सूचीकटाहन्यायसे श्रीरामजीकी विनती की (अर्थात् पहले औरोंकी विनती की। वह काम इस कामसे सहज था, इससे प्रथम उसे किया)। (ख) 'जोरि कर पुनि पुनि कहै'—विनती करनेके लिये हाथ जोड़ती हैं, यथा—'बिनती करउँ जोरि कर रावन। ५। २२।', 'पुनि पुनि कहै' अर्थात् बारम्बार विनती करती हैं जिसमें विनती मान लें, यथा—'बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥ २५७। ८'। (ग) 'बलि जाउँ तात'—यह स्त्रियोंके बोलनेकी रीति है। (प्रायः अपने प्रियके सम्बन्धमें स्त्रियाँ 'बलि जाउँ', बलिहारी जाती हूँ, बलैया लेती हूँ, इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करती हैं। यथा—'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥ ३५७। १।', 'तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥ पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥ २। ५३॥', 'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। २। ५७।', 'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥ २। ५५।')। 'सुजान'—श्रीसीताजीका सील और स्नेह लखने तथा सबकी गति जाननेके सम्बन्धसे 'सुजान' कहा, यथा—'करुनानिधानु सुजानु सील सनेह जानत रावरो। १। २३६'। (घ) 'तुम्ह कहुँ बिदित गति सबकी अहै'—भाव कि (जो सबकी गति जानता है) ऐसे सुजानसे बहुत कहनेका प्रयोजन नहीं होता, यथा—'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि। २। ३००।', अतः थोड़ा ही कहती हूँ, वह यह कि 'परिवारु पुरजन···'।

४ 'परिवारु पुरजन···' इति। (क) परिवार अर्थात् निमिवंशी। "परिवार, पुरजन, मुझको और राजाको सभीको 'सीता' प्राणप्रिय है।" कहनेका भाव कि हमारी विनय सुनकर इसे आप भी अपनी प्यारी बनावें, आप भी इसको प्यार करें जिसमें यह सुखी रहे। इसके सुखी रहनेसे हम सब सुखी रहेंगे। [(ख) 'तुलसीस' का भाव आगे नोट १ में देखिये]। 'सील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी' इति। शील और स्नेह 'लख' कर किंकरी मानियेगा, इस कथनसे सूचित करते हैं कि शील और स्नेह होनेसे श्रीरामजी अपना किंकर मान लेते हैं, क्योंकि ये दोनों भारी गुण हैं, यथा—'शीलं परं भूषणम्' 'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।' किंकरमें यदि ये गुण न हों तो वह कैंकर्यके योग्य नहीं है। श्रीसीताजी तो पटरानी होंगी, इनको किंकरी माननेकी विनती करती हैं, इसमें अभिप्राय यह है कि श्रीरामजीको दास अत्यन्त प्रिय है। यथा—'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥ ७। १६।'

नोट—१ 'तुलसी—स—सील सनेह लखि' इति। पुरानी लिपियोंमें अक्षर अलग-अलग लिखनेकी रीति पायी जाती

है, जिससे कहीं-कहीं किसी अक्षरको आगे या पीछे ले लेनेसे भावोंमें भिन्नता आ जाती है। कभी-कभी प्रसंगानुकूल दोनों शब्द और भाव लग जाते हैं और कभी नहीं भी लगते, जिससे शुद्ध पाठ विदित हो जाता है। विनयपत्रिकामें तो ऐसी भूलसे लोगोंने 'तनु-ज तऊ' को 'तनु जतऊ' पढ़कर अर्थ 'बैठानेके लिये 'तनु जनेऊ', 'तनु तजेऊ' 'त्वच तजेऊ' इत्यादि पाठ रखकर अर्थ लगानेमें सिरको पचा डाला। वस्तुतः पाठ 'तनुज तऊ' है। इस तरहकी भूल हो जाना संभव है। यहाँ पाठ 'तुलसीस सील' है। यह पाठ संवत् १६६१ की पोथीका है। संभवतः 'तुलसी ससीलु' पढ़ा गया हो, और 'ससीलु' का 'सुसील' हो गया हो। 'सुसील' पाठ प्रायः सभी छपी पुस्तकोंमें है। गीताप्रेसने सं० १६६१ का ही पाठ लिया है। 'तुलसीस' पाठ वाला भाव हमें इसी ग्रन्थमें अन्यत्र भी मिलता है, यथा—'सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदास के ईस। १। १९६', 'तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। २। ७५', 'तब लगि न तुलसीदास-नाथ कृपालु पार उतारिहौं। १००।', यह कविकी शैली है कि उत्तम अवसर और प्रसंग पाकर अपना सम्बन्ध भी प्रेमी पात्रोंद्वारा प्रभुसे जोड़ देता है। यह 'भाविक अलंकार' है। यहाँपर भी श्रीसुनयना अंबाजीके मुखसे यह अपना भावी नाता दृढ़ करा रहा है।

अन्य प्रेमियोंका पाठ 'सुसीलु' है। उस पाठके अनुसार अर्थ होगा—'तुलसीदासजी कहते हैं कि सुन्दर शील और स्नेह लखकर'। इस पाठसे 'तुलसीस सीलु' को हम समीचीन समझते हैं, क्योंकि 'शील' संज्ञा है और 'सुशील' जब एक शब्द माना जाता है तब वह विशेषण ही है। 'सुसील' पाठ यदि कविका मानेंगे, तो उसे सु + शील=सुन्दर शील, ऐसा अर्थ करना होगा।

'तुलसी सुसील' पाठमें भाव यह कहेंगे कि किंकर बननेके प्रकरणमें कविने अपना नाम रक्खा कि मुझे भी किंकर मान लें।

२—बाबा हरिहरप्रसादजी 'सुसील और स्नेह' को श्रीरामजी, श्रीसुनयनाजी और श्रीसीताजी तीनोंमें लगाकर ये भाव लिखते हैं कि—'अपने शील और स्नेहकी ओर देखकर इसको अपनी दासी करके मानियेगा। अर्थात् इससे जो कुछ न बने, उसपर दृष्टि न डालियेगा। पुनः हमारे मुलाहजा और स्नेहकी ओर देखकर इससे जो अपराध हो उसे क्षमा कीजियेगा। पुनः इसकी सुशीलता और स्नेहको देख इसको दासी करके मानियेगा। भाव यह कि इनका शील और स्नेह तो इनको प्रियतमा माननेके योग्य है, पर आप दासी ही जानियेगा।'

सोरठा—तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भाव प्रिय।
जन गुन गाहक राम दोष दलन करुनायतन* ॥३३६॥

अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेमपंक जनु गिरा समानी॥ १॥

शब्दार्थ—परिपूरन (परिपूर्ण) =खूब लबालब भरा हुआ; पूर्णतृप्त। 'परि' उपसर्ग 'सर्वतोभावेन', 'सब प्रकारसे', 'अच्छी तरह' का अर्थ देता है। काम=कामना। भाव=अन्तःकरणका प्रेम आदि सद्भाव। गाहक=ग्राहक; ग्रहण करनेवाले।

अर्थ—हे श्रीरामजी! आप सर्वतोभावेन पूर्णकाम हैं, ज्ञानियों एवं जानकारोंमें श्रेष्ठ हैं, आपको (भक्तोंका) भाव ही प्रिय है, आप भक्तोंके गुणोंको ही ग्रहण करते (लेते) हैं, दोषोंके नाश करनेवाले और करुणाके निवास स्थान हैं। ३३६। ऐसा कहकर रानी (श्रीसुनयनाजी श्रीरामजीके चरणोंको पकड़कर रह गयीं, वाणी मानो प्रेमरूपी कीचड़में समा (अर्थात् फँस) गयी। १।

टिप्पणी—१ पूर्व जो चार बातें छन्दमें कही गयीं उन्हींके सम्बन्धसे सोरठेमें सब विशेषण दिये गये हैं। श्रीसीता-जीको जो समर्पण करना कहा—'सिय रामहि समर्पी', उसपर कहती हैं कि 'तुम्ह परिपूरन काम' अर्थात् आपको कोई क्या दे सकता है? (जिसके पास कोई वस्तु न हो अथवा जिसको किसी वस्तुकी चाह हो वह उनको दी जाय, सो आपको सब वस्तुएँ प्राप्त हैं, आपको किसी वस्तुकी न चाह है और न आवश्यकता ही है क्योंकि आप परिपूर्णकाम हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'परिपूर्णकाम' का भाव यह है कि यदि हम दानसे आपको रिझाना चाहें तो संभव नहीं है। आप हमारे दानसे अथवा श्रीसीताजीके (शील आदि गुण) सौंदर्यसे प्रसन्न हो सकें यह बात नहीं है)। 'परिवार पुरजन मोहि राजहि

* करुनाअयन—पाठान्तर।

प्रानप्रिय सिय जानिबी' इस कथनके सम्बन्धसे कहती हैं कि आप 'जानशिरोमणि' हैं [पुनः भाव कि यदि हम चाहें कि अपने ज्ञानसे आपको प्रसन्न कर सकें तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि आप ज्ञानियोंमें शिरोमणि हैं' । प्र० सं०)] 'तुलसीस सीलु सनेह लखि निज किंकरी करि मानिबी' यह जो विनती की थी उसपर कहती हैं कि आप 'भाव-प्रिय' हैं। (अर्थात् हम किसी प्रकार आपको रिझा नहीं सकतीं। हाँ, भरोसा है तो केवल एक यही है कि आप 'भाव प्रिय' हैं) अतः आप 'सीता' का शील और स्नेह लखकर उसे अपनी किंकरी कीजिये। 'किंकरी करि मानिबी' अर्थात् किंकरी करनेको कहा था इसीसे 'जनगुनगाहक, दोषदलन, करुनायतन' कहा। आशय यह है कि अपनी किंकरी 'सीता' के अपराध क्षमा कीजियेगा, गुणोंको ग्रहण करके उसपर करुणा कीजियेगा। (सोरठेका भाव यह है कि मैं आपको क्या समझाऊँगी। यह मेरी विनय सेवकोंके रीतिकी है, सेवकका धर्म है विनय करना। वही मैंने किया है। मिलान कीजिये—'बार बार रघुनाथहिं निरखि निहोरहिं, तात तजिय जनि छोह मया राखबि मन। अनुचर जानब राउ सहित पुर परिजन ॥ १०४। जानि करब सनेह बलि दीन बचन सुनावहीं।' श्रीजानकीमङ्गल)। 'गुनगाहक' यथा—'देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥ २। २९९।' 'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।' (विनय २०६)। 'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिए की ॥ २९। ५।'

२—'अस कहि रही चरन गहि रानी।....' इति। (क) 'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी। ३३६। १।' उपक्रम है और 'अस कहि रही चरन गहि' उपसंहार है। 'बोलि न सकहि प्रेम बस सासू। ३३६। ७।' उपक्रम और 'प्रेम पंक जनु गिरा समानी' उपसंहार है। [करुणा-प्रेमवश होनेसे ऐसा किया था, यथा—'माँगेउ बिदा राम तब सुनि करुना भरी। परिहरि सकुच सप्रेम पुलकि पायन्ह परी ॥ १०३।' (जानकीमङ्गल)]

नोट—१ 'प्रेम पंक जनु गिरा समानी' इति। (क) पूर्व कहा था कि 'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी' अर्थात् पूर्व बारंबार सिर नवानेकी सावधानता थी, पुनः-पुनः चरण लगनेका होश था, पर जब बिदा माँगी गयी तब वे ऐसी करुणा-वश हो गयीं कि 'रही चरन गहि' अर्थात् वह सावधानता भी जाती रही, चरण पकड़े रह गयीं। जलसे मनुष्य निकल आता है पर कीचड़ दलदलमें फँसनेसे बाहर निकलना कठिन हो जाता है, वैसे ही यहाँ वाणीकी दशा हुई, मुँहसे वचन नहीं निकलता ऐसी प्रेमसे बेबस हो गयी हैं। प्रेमको कीचड़का रूपक दिया है। प्रथम 'बोलि न सकहि प्रेमबस' कहा था, भाव यह कि पहले भी बोल न सकती थीं, फिर भी कुछ बोली थीं, अब करुणा-प्रेम अधिक हो गया, इससे अब कुछ भी नहीं बोल सकतीं, बोलनेका सामर्थ्य न रह गया। (प्र० सं०)। (ख) पहले 'बिकल मीनगन जनु लघु पानी' यह अवस्था हो गयी थी, अब वह 'लघु पानी' भी उड़ गया, केवल दलदल रह गया जिसमें फँस गयीं। बाहर निकलनेमें दूसरेकी सहायता-की जरूरत है। वह अब श्रीरामजी देंगे। (प० प० प्र०)

प० प० प्र०—मानसमें यह पाँचवीं स्तुति है। नक्षत्रमण्डलमें पाँचवाँ नक्षत्र मृगशीर्ष है। इसका आकार मृगके मुखका-सा है, इसमें तीन तारे हैं, देवता शशि है। और इस नक्षत्ररूपी स्तुतिकी फलश्रुति है 'जननि सिय राम प्रेम के'। अब दोनोंका साम्य देखिये—(१) नामसादृश्य। नेत्र मस्तकका एक भाग ही होता है, इसीसे नवद्वारोंमेंसे ग्रीवके ऊपरके सात द्वारोंको सप्तशीर्षण्यानि कहा है। यह सुनयनाकृत स्तुति है और सुनयनाजी तो 'बिधुबदनी सब सब मृगलोचनिर्थी' में मुख्य हैं। (२) मृग समान लोचनवाले मुखसे ही स्तुति की गयी। यह आकार-साम्य है। मृगमुख साम्य है। (३) सुनयनाजीकृत तीन क्रियाएँ, 'सिय रामहि समर्पी' 'कर जोरि बिनय' और 'चरन गहि रहना' ही तीन तारे हैं। यह तारा संख्या-साम्य है। किसी-किसीने संख्या १३ कही हैं पर तीन ही दिखायी देते हैं। (४) यहाँ रामचन्द्र हैं और सुनयनाजी भी बिधुबदनी हैं। यह देवतासाम्य हुआ। (५) फलश्रुति और स्तुतिमें साम्य है। सुनयनाजी सिय-जननी तो हैं ही और 'रामसिय प्रेम इतना बढ़ गया कि दलदल हो गया, सब उसमें फँस गयीं। इससे जो इस स्तुतिको गान करेगा उसमें 'सियराम-प्रेम उत्पन्न हो जायगा।

सुनि सनेह सानी बर बानी। बहु बिधि राम सासु सनमानी ॥ २ ॥
राम बिदा मागत* कर जोरी। कीन्ह प्रनामु बहोरि बहोरी ॥ ३ ॥
पाइ असीस बहुरि सिरु नाई। भाइन्ह सहित चले रघुराई ॥ ४ ॥

* माँगा—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। मागत—१६६१।

अर्थ—प्रेममें सनी हुई श्रेष्ठ वाणी सुनकर श्रीरामजीने सासका बहुत प्रकारसे सम्मान किया। २। श्रीरामजीने हाथ जोड़े विदा माँगते हुए बारंबार प्रणाम किया। ३। आशीर्वाद पाकर पुनः भाइयोंसहित सिर नवाकर श्रीरघुनाथजी चले। ४।

टिप्पणी—१ (क) **'सुनि सनेह सानी बर बानी'** इति। 'बलि जाउँ तात' से लेकर 'किंकरी करि मानिबी' तक जो छन्दमें वचन हैं वह **'स्नेह सानी'** वाणी है और सोरठेमें कहे हुए (ऐश्वर्यसूचक) वचन 'बर बानी' हैं, क्योंकि इनमें भगवद्गुणका वर्णन है। अथवा, सब वचन **'बलि जाउँ'** से 'करुनायतन' तक प्रेममय हैं इससे सबको **'बर बानी'** कहते हैं। (ख) **'बहु बिधि···सासु सनमानी'** इति। भाव यह कि सुनयनाजीके **'तुम्ह परिपूरन काम'** के उत्तरमें कहा कि आपने हमको **बहुत** दिया, **हम** बहुत संतुष्ट हैं; आप तो हमारी माता हैं, अपना बालक जानकर हमपर सदा कृपा बनाये रखियेगा। 'सीताको अपनी किंकरी करके मानना' सासकी इस प्रार्थनाके उत्तरमें श्रीरामजी कुछ न कह सके। इसका उत्तर संकोचवश न दे सके। 'बहु बिधि सनमानी' में ही इसका उत्तर भी आ गया, क्योंकि जो जिसका सम्मान करता है उसका वचन भी मानता है। 'सनमानी' अर्थात् कहा कि माताजी आपकी आज्ञा सिरपर है।

२ **'राम बिदा मागत कर जोरी।'···** इति। (क) हाथ जोड़कर प्रणाम करनेका भाव कि दोनों हाथ जोड़कर माथेमें लगाकर प्रणाम किया। श्रीरामजी अत्यन्त विनम्र हैं, इसीसे उन्होंने अत्यन्त नम्रताका आचरण किया कि बार-बार प्रणाम कर रहे हैं। जैसे **'बहु बिधि'** से सम्मान किया वैसे ही बहुत विधिसे आदर किया—हाथ जोड़े, बार-बार प्रणाम किया, **यह सब आदर-सम्मान है।** (ख) सुनयनाजीने जो **'जानसिरोमनि भाव प्रिय'** विशेषण दिये थे वे यहाँ घटित हुए। **'बहु बिधि राम सासु सनमानी'** में **'जानसिरोमनि'** विशेषण घटित हुआ, क्योंकि बड़ी जानकारीसे सम्मान किया। **'राम बिदा मागत कर जोरी'** में **'भाव प्रिय'** विशेषण घटित हुआ। श्रीरामजीको भाव प्रिय है इसीसे उन्होंने भी मातामें बड़ा भाव किया। (ग) **'मातु मुदित मन आयसु देहू। बालक जानि करब नित नेहू॥'** जो पूर्व कहा था वह वचनकी नम्रता है और **'कीन्ह प्रनाम बहोरि बहोरी'** यह तनकी नम्रता है। [(घ) लज्जावश मुँहसे तो कह न सकते थे, प्रणामसे ही सूचित **करते हैं** कि आपका सब कथन प्रमाण है।' (पं०)]

३ **'पाइ असीस बहुरि सिरु नाई।'···** इति। (क) श्रीरामजी विदा माँगते हैं। सास कैसे कहें कि जाओ, चारों ही भाई आँखोंकी ओट होने योग्य नहीं हैं, यथा—**'जौं मागा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥** २। १२१।' (ये यमुनातट ग्रामवासियोंके वचन हैं)। अतः उन्होंने जानेको नहीं कहा। आशीर्वाद दिया, आशिषके अभ्यन्तर आज्ञा हो चुकी। (कवि 'असीस' देना भी प्रकट शब्दोंमें नहीं कहते, क्योंकि उसमें भी आज्ञाका आशय रहता है। इसीसे **'पाइ असीस'** में आशीर्वादका दिया जाना सूचित किया। प्रभु भी बिना विदा मिले जायँ कैसे? इसीसे **'पाइ असीस'** कहा। आशीर्वाद विदा होनेके समय दिया ही जाता है)। (आशीर्वाद पाकर प्रसन्न हुए, अतः पुनः प्रणाम किया। **'भाइन्ह सहित'** देहलीदीपक है। भाइयोंसहित सिर नवाया और भाइयोंसहित चले। (ग) आते समय भाइयों-सहित आना कहा था। यथा—**'तेहि अवसर भाइन्ह सहित राम भानुकुल केतु। चले जनक मंदिर मुदित···॥ ३३४'**—यह उपक्रम है। वैसे ही विदा होनेपर भाइयोंसहित जाना कहा। 'भाइन्ह सहित चले रघुराई' यह उपसंहार है।

मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सनेह सिथिल सब रानी॥ ५॥
पुनि धीरजु धरि कुअँरि हँकारी। बार बार भेटहिं महतारी॥ ६॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥ ७॥
पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥ ८॥

शब्दार्थ—मञ्जु=सुन्दर, मनोहर। मधुर=मनोरंजक; मनको प्रसन्न करने, आनन्द देनेवाली।

अर्थ—सब रानियाँ सुन्दर मधुर मूर्तिको हृदयमें लाकर प्रेमसे शिथिल हो गयीं॥५॥ फिर धैर्य धारण करके लड़कियोंको बुलाकर माताएँ बारंबार गलेसे लगाकर मिलती हैं॥६॥ कन्याओंको पहुँचाती हैं, * लौटते फिरकर पुनः मिलती हैं। आपसमें कुछ थोड़ी प्रीति नहीं बढ़ी (अर्थात् बहुत बढ़ी। दोनों ओरसे प्रेम बहुत बढ़-चढ़ रहा है) ॥ ७ ॥ पुनः-पुनः मिलतेमें सखियोंने (माता और कन्याको) अलग किया जैसे नयी ब्यायी हुई गौसे उसके बाल-बच्छको (लोग अलग कर देते हैं) ॥ ८ ॥ †

* प्र० सं० में अर्थ था—'वे फिरकर फिरसे मिलती हैं'।

† प्र० सं० में अर्थ था—'सखियोंको अलग करके फिर-फिर मिलती हैं जैसे नयी ब्यायी हुई बछिया नयी ब्यायी गउसे और ५९

टिप्पणी—१ 'मंजु मधुर मूरति···' इति । (क) ['मंजु' अर्थात् देखनेमें सुन्दर, नेत्रोंको रुचिकर । (पं०) । अथवा, विकाररहित, निर्मल । (वै०) । अथवा, मनको हरण करनेवाला । 'मधुर' अर्थात् जिनसे सम्भाषण करनेमें रस मिलता है । (पं०) । अथवा, मन और नेत्रोंको प्रिय आनन्ददायक । (वै०) । अथवा न बहुत ऊँची न बहुत नीची । (रा० प्र०) । अथवा, चित्तको आनन्द देनेवाली तथा आकर्षक] 'उर आनी' कहनेका भाव कि जब बाहरसे वियोग हुआ तब उस साँवली सुन्दर मधुर मूर्तिको हृदयमें लाकर रख लिया । हृदयमें मूर्तिके धारण करनेसे मारे प्रेमके सब अंग शिथिल हो जाते हैं, यथा—'राम लषन उर कर बर चीठी । रहि गये कहत न खाटी मीठी ॥ पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची ॥ २९० । ५-६ ॥', 'मोद प्रमोद बिबस सब माता । चलहिं न चरन सिथिल भये गाता ॥ ३४६ । १ ॥'; अतः 'मूरति उर आनी' कहकर 'भईं सनेह सिथिल सब रानी' कहा । (ख) 'भईं सनेह सिथिल' कहकर जनाया कि देहकी सुध न रह गयी । यथा—'मूरति मधुर मनोहर देखी । भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥ २१५ । ८ ॥' स्नेहसे शिथिल होना कहकर आगे शिथिलताका स्वरूप दिखाते हैं—'पुनि धीरजु धरि कुअँरि हँकारी' । [(ग) जैसे पुरवासियोंने श्रीरामजीको राजमहलमें प्रवेश करते देख उनकी शोभाको हृदयमें धारण करनेकी चर्चा करते हुए, यथा—'निरखि राम सोभा उर धरहू । निज मन फनि मूरति मनि करहू ॥ ३२५ । ८ ॥', उस शोभाको हृदयमें रखा, वैसे ही यहाँ रानियोंने श्रीरामजीको जाते देख उनकी छविमय मूर्तिको हृदयमें रख लिया । (प्र० सं०) । 'भईं सनेह सिथिल' यह रानियोंके प्रेममें विशेषता दिखायी ।]

२ 'पुनि धीरज धरि कुअँरि हँकारी ।···' इति । (क) 'धीरजु धरि'—यह लड़कियोंको बिदा करनेका समय है, शिथिल होकर बैठ रहनेका समय नहीं है, यह सोचकर मूर्तिके ध्यानकी मग्नताको धैर्य धारण करके हटाया । यथा—'भै अति प्रेम बिकल महतारी । धीरजु कीन्ह कुसमय बिचारी ॥ १०२ । ६ ॥' (श्रीपार्वतीजीकी बिदाईके समय मेनाजीने जैसे धीरज धरा था वैसे ही यहाँ श्रीसुनयनाजीने 'कुसमय' विचारकर धैर्य धारण किया । (ख) 'कुअँरि हँकारी' से सूचित करते हैं कि रानियाँ प्रेममें इतनी शिथिल हैं कि चल नहीं सकतीं, इसीसे वे कन्याओंके पास न जा सकीं, उनको अपने पास बुलाकर उनसे भेंटीं—यह शिथिलताका स्वरूप है । 'हँकारी' से सूचित होता है कि जब रानी चारों कन्याओंको उनके पतियोंको सौंपकर विनती करने लगीं तब सब कन्याएँ लज्जावश कुछ दूर जाकर खड़ी हो गयी थीं, इसीसे उनको बुलाना पड़ा । यदि वे चारों भाइयोंके पास खड़ी होतीं तो बुलानेका कोई काम न पड़ता, क्योंकि चारों भाई तो समीप ही खड़े थे । (ग) 'बार बार भेटहिं महतारी'—'बार बार' भेंटनेपर प्रसंग छोड़ा, यथा—'रानिन्ह बार बार उर लाईं । बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी ॥ ३३४ । ७-८ ॥', वही दशा अब फिर कह रहे हैं ।

३ (क) 'पहुँचावहिं फिरि मिलहिं···' इति । सखियाँ कन्याओंको पहुँचाती हैं, यह आगे स्पष्ट करते हैं: यथा—'पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई' । सखियाँ ही पहुँचाती हैं और सखियाँ ही मातासे कन्याको अलग करती हैं, माताएँ प्रेमके कारण अलग नहीं करतीं और कन्याएँ प्रेमके कारण अलग नहीं होतीं । यही बात आगे कहते हैं—'बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी ।' [बिदा करनेमें माता और सखियाँ आदि सब द्वारतक जाती हैं ! माताको कन्यासे सखियाँ आदि अलग करती हैं । कन्या माँको रोकर पुकारती है, माता फिर लौटकर सबको अलग करके मिलती है इत्यादि । यह रीति अबतक प्रचलित है । दूसरे 'पहुँचावहिं फिरि मिलहिं' का कर्ता यहाँ 'महतारी' ही देहली-दीप-न्यायसे होता है । माता और कन्यामें वियोगके कारण प्रीति अधिक बढ़ जाती ही है ।]

(ख) 'बढ़ी परस्पर प्रीति' का भाव कि पहुँचानेसे प्रीति अधिक बढ़ी, यह सोचकर कि अब वियोग होना ही चाहता है । 'न थोरी' अर्थात् प्रीति बहुत है, इसीसे दोनों एक दूसरेसे अलग नहीं होतीं, यदि प्रीति थोड़ी होती तो अलग हो जातीं । (विशेष आगे टि० ४ में) ।

४ (क) 'पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई' इति । सखियोंने दोनोंको अलग किया क्योंकि माता और कन्या दोनों

उसमें (मिला करती है) ।' प्र० सं० में पाठ था 'मिलति'; परन्तु सं० १६६१ में 'मिलत' पाठ है । मिलतका अर्थ 'मिलतेमें, मिलती हुई' होगा । यदि यह अर्थ अभिप्रेत होता कि 'मिलती हैं' तो 'मिलति' पाठ होता । दूसरे बिदा हो जाना, अलग होना आगे कहा नहीं गया, इससे भी सखियोंका अलग करना अर्थ ही ठीक है । हाँ, 'सखिन्ह बिलगाई' का दूसरा अर्थ भी साथ-साथ भावार्थमें ले सकते हैं कि सखियोंको अलग कर-करके मिलती हुई माँ-बेटियोंको सखियोंने अलग किया ।

अपनी ओरसे अलग नहीं हो सकतीं। माताएँ पहुँचाती हैं फिर लौटकर मिलती हैं फिर पहुँचाती हैं फिर मिलती हैं, इस प्रकार जब वे पुनः-पुनः मिलती हैं, एक दूसरेको छोड़ती नहीं, तब सखियोंने (कई एकने मिलकर) कन्याओंको माताले अलग किया। (ख) ऊपर जो कहा कि **'बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी'** उसको 'बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई' के उदाहरणसे दिखाते हैं। 'बाल बच्छ' पदसे कन्याकी प्रीति (मातामें) कही, क्योंकि मातामें बालबच्छकी प्रीति बहुत होती है और **'धेनु लवाई'** से माताकी प्रीति कही क्योंकि धेनुकी प्रीति बाल बच्छमें बहुत होती है। 'बार बार भेटहिं महतारी' यह माताकी प्रीति है और 'पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाईं' यह कन्याकी प्रीति है, इसीसे 'परस्पर प्रीति' कहा (ग) **'बाल बच्छ'** की उपमासे सूचित किया कि कन्याएँ माताकी ओर फिर-फिरकर देखती हैं; यथा—'फिरि फिरि बिलोकति मातु **तन तब सखीं लै सिव पहिं गईं ॥ १ । १०२ ॥'** [('बाल बच्छ' से हालकी ब्यायी बछियाका अर्थ होगा। इस शब्दसे पुँल्लिङ्गका भी बोध होता है परंतु यहाँ पुँल्लिङ्ग अर्थ असंगत है)। **'बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई'** के भाव टीकाकारोंने ये लिखे हैं— (१) माता सखियोंको अलग कर-करके लड़कियोंसे इस तरह मिल रही हैं जैसे कोई नयी ब्यायी हुई गाय अपने बछड़ेसे। (२) 'राजकुमारियाँ बारंबार सखियोंसे पृथक्-पृथक् मिलती हैं जैसे बाल बच्छ लवाई धेनुसे'—(पंजाबीजी)। (३) 'बार-बार भेंटतेमें सखियाँ इनको पृथक् करती हैं जैसे तुरत ब्यायी गायसे बाल-बछड़ेको लोग अलग करते हैं'—(रा० प्र०)। (४) 'मिलते समय सखियोंसे बिलगायी बारंबार माताको पुत्री कैसे मिलती हैं जैसे बालबच्छको लवाई गाय मिलती'—(बैजनाथजी)]

दोहा—प्रेम बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु।
मानहु कीन्ह बिदेहपुर करुनाबिरह निवासु ॥ ३३७ ॥

अर्थ—सब स्त्री-पुरुष और सखियोंसहित सब रनवास प्रेमके विशेष वश हो गया है, (ऐसा जान पड़ता है) मानो 'विदेहपुर' में करुणा और विरहने डेरा डाल दिया है (भाव यह कि सब स्त्री-पुरुष करुणा-विरहके रूप हो रहे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये नर-नारि नहीं हैं किंतु करुणा और विरह ही अगणित रूप धारणकर मूर्तिमान् होकर यहाँ निवास कर रहा है)। ३३७।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम नर-नारियोंका दर्शनके लिये आतुर हो दौड़ना लिख आये हैं, *यथा*—**'धारिउ भाइ सुभाय सुहाए। नगर नारि नर देखन धाए ॥ ३३५ । १ ॥'**, यहाँ 'प्रेम बिबस नर नारि सब' से उन्हींकी दशा दिखाते हैं। [**'पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाईं। बालबच्छ जिमि धेनु लवाई'** यह दशा देखकर सब स्त्री-पुरुष आर्त और विह्वल हो गये। जो पुरवासी दर्शन करते हुए राजद्वारतक आये थे, वे पुनः चारों भाइयोंके लौटनेकी प्रतीक्षामें वहीं खड़े रहे, इसीसे बिछुड़न-समयकी दशा देखकर वे भी करुणा-विरहके विशेष वश हो गये]। (ख) 'मानहु कीन्ह बिदेहपुर''' इति। 'विदेहपुर'का भाव कि यह तो ज्ञानियों (योगियों, विरक्तों) का पुर है, यहाँ तो करुणा और विरह किंचित् भी न होने चाहिये थे, यह जो करुणाविरह हुआ है यह श्रीसीतारामजीके स्नेहकी शोभा है [अर्थात् श्रीसीतारामजीके सम्बन्धसे यहाँ करुणा और विरहका होना ज्ञानकी शोभा है—(प्र० सं०)] यथा—"जासु ज्ञानु रबि भव-निसि नासा। बचन **किरन मुनिकमल बिकासा ॥ तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सियराम सनेह बड़ाई ॥'''सोह न रामपेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥ २ । २७७ ।"** (ग) 'करुना-बिरह' इति।—करुणा और विरह एक ही हैं। करुणा स्त्रीलिङ्ग है और विरह पुँल्लिङ्ग है। स्त्रियाँ करुणारूपा हैं और पुरुष विरहरूप हैं, यह दरसानेके लिये 'करुणा' और 'विरह' दो शब्द दिये। [करुणा, यथा—'छूटि जात केशौ जहाँ सुख के सबै उपाइ। उपजत करुणा रस तहाँ आपुन **ते अकुलाइ ॥'** (केशव। वै०)। विशेष २५ । १-२ भाग १ में देखिये। (घ)—'कीन्ह निवास'— भाव यह है कि संसारमें लोगोंको करुणाविरह होता है पर कुछ दिनोंमें जाता रहता है, पर जनकपुरमें तो उसने डेरा ही डाल दिया, बस ही गया, यहाँसे आजन्म अब नहीं जानेका। आशय यह है कि यह (श्रीराम-जानकी-सम्बन्धका) करुणा-विरह जन्मभर निवृत्त नहीं होनेका। (इससे जनाया कि जनकपुरवासी वियोग-शृङ्गारके उपासक हैं। 'प्रियतम' का विरह ही वे प्रेमका सर्वस्व समझते हैं। गोपियोंकी भी ऐसी ही उपासना थी)।

मानस-मयंक—"भाव यह है कि बिना जानकीजीसे बिछुड़े लोक-लाज होगी अर्थात् ससुराल अवश्य जाना चाहिये और बिछुड़नेसे प्राणका कष्ट पहुँचता है तिसपर भी मिलना अपने वशमें नहीं है, यही करुणा-विरह जानो।"

सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥ १॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरै न केही॥ २॥
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसे कहि जाती॥ ३॥

अर्थ—श्रीजानकीजीने जिन तोताओं-मैनाओंको जिलाया (अर्थात् खिला-पिलाकर पाल-पोसकर बड़ा किया था) और सोनेके पिंजड़ोंमें रखकर पढ़ाया था। १। वे व्याकुल होकर कह रहे हैं कि वैदेही कहाँ है? यह सुनकर धैर्य किसको न छोड़ देगा?। २। पशु-पक्षी इस प्रकार व्याकुल हो गये हैं (तब भला) मनुष्योंकी दशा कैसे कही जा सकती है?। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'सुक सारिका'—ये दोनों पक्षी पढ़नेमें श्रेष्ठ हैं। इसीसे इनके नाम लिखे। पक्षी तो और भी बहुत हैं पर वे पढ़नेमें वैसे श्रेष्ठ नहीं हैं, इससे उनके नाम नहीं दिये, इतना ही मात्र आगे उनके विषयमें कहते हैं कि '**भये बिकल खग**…'। (ख) '**जानकी ज्याए**' कहनेका भाव कि जो श्रीजानकीजीके पाले-पोसे हुए हैं उन्हींका विलाप लिखते हैं। इसी प्रकार श्रीमाण्डवी-उर्मिला-श्रुतिकीर्तिजीके पाले-पोसे हुए शुक-सारिका भी हैं, वे भी इसी प्रकार विलाप करते हैं। (ग) '**कनक पिंजरन्हि राखि**…' का भाव कि इन पक्षियोंको बड़े दुलारसे रक्खा और स्वयं पढ़ाया है। (घ) '**ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही**'—भाव कि जब सखियाँ सीताजीको मातासे अलग करके ले चलीं और वे देख न पड़ीं तब पक्षी व्याकुल होकर 'वैदेही कहाँ हैं, वैदेही कहाँ हैं' ऐसा विलाप करने लगे। [मयंककार लिखते हैं कि 'शुक-सारिका साथ नहीं दिये गये, अतएव व्याकुल होकर बोलती हैं कि वैदेही कहाँ हैं? शुक-सारिकाके न देनेका कारण यह है कि जानकीके नामको लेकर शुक-सारिका उनको पुकारती थीं, अतएव नहीं दिया कि अयोध्यामें नाम लेकर पुकारना उचित नहीं, वहाँ प्यारी लाड़िली वधू और सुतवधू कहके पुकारी जायँगी।' ये तोते पढ़ाये हुए हैं। दूसरे ये दूसरोंके वचनोंकी नकल भी करते हैं जैसा सुनते हैं वैसा स्वयं भी कहते हैं। '**ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही**' से यह भी प्रकट करते हैं कि इनको श्रीसीताजी कितनी प्रिय हैं। जब आँखोंकी ओट होती रही होंगी तब वे इसी तरह पुकारते होंगे, पुकार सुनकर वे तुरत आ जाती होंगी। पर आज आती नहीं, अतः व्याकुल हैं। शरीर सामने नहीं है, इसीसे 'वैदेही' कहकर विलाप करते हैं। प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि '**कहाँ बैदेही**' का भाव यह कि "अबतक हम व्यर्थ ही 'सीता' 'जानकी' कहकर पुकारा करते थे पर यह तो सचमुच वैदेही ही है, जानकी नहीं। उसे बुला तो दो, हम पूछ लें कि वह क्या है? जानकी हो तो हमें साथ ले जाय, वैदेही हो तो पिंजड़ेसे छोड़ दे, हम उड़ते-उड़ते वहाँ आ जायँगे, हमको न खिलाना-पिलाना, हम स्वतन्त्र रहकर ही दो-एक बार दर्शन कर जाया करेंगे। जो कहो कि वहाँ तुम 'जानकी सीता' नाम लेकर पुकारोगे, हम ऐसा न करेंगे, मौन रहेंगे, जबतक कि वहाँके नामोंसे परिचित न हो जायँगे।…"] (ङ) '**सुनि धीरज परिहरै न केही**' इति। भाव कि लोग धीरजको नहीं छोड़ते पर धैर्य स्वयं ही उनको त्यागे देता है। पक्षियोंकी व्याकुलता देखकर धैर्य किसे नहीं छोड़ देता (अर्थात् मूर्तिमान् धैर्य स्वयं ही भाग जाता है, यथा—'**धीरजहू कर धीरज भागा**'। भाव यह कि बड़े-बड़े धीरजवानोंका धैर्य छूट जाता है।

२ '**भए बिकल खग मृग एहि भाँती।**…' इति। (क) स्त्री-पुरुषोंकी व्याकुलताकी विशेषता दिखानेके लिये खग-मृगकी व्याकुलताका वर्णन किया। यथा—'**जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसे॥ २। १००।**', '**जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी॥ ८५। ३**'। मनुष्योंकी दशा कहनेके लिये खग-मृगके विरहका वर्णन किया गया। भाव कि जब पशु-पक्षी वियोगसे अकुला उठे और विलाप कर रहे हैं तब भला माता परिजन आदिको तो प्राण निकलनेका दुःख हुआ होगा, कैसी दशा है कौन सह सकता है? (ख) शुक-सारिकाके विलापका वर्णन किया गया, परंतु अन्य पशु-पक्षियोंका केवल विकल होना कहा गया; क्योंकि अन्य खग-मृग वैखरी वाणी कहकर विलाप नहीं कर सकते। (तोता-मैनाको पढ़ाया गया है। वे मनुष्योंकी-सी वाणीमें बोल लेते हैं। अतः उनका बोलना कहा। अन्य पशु-पक्षी मनुष्यकी बोली नहीं बोल सकते, इससे उनका बोलना नहीं कहते)।

बंधु समेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए॥ ४॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥ ५॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यान की॥ ६॥

अर्थ—तब जनकजी भाईसहित आये । प्रेमकी उमंगसे नेत्रजल (प्रेमाश्रु) से भर गये । ४ । कहलाते (तो) ये परम वैराग्यवान् (परंतु आज) सीताजीको देखकर उनका धैर्य भाग गया । ५ । राजाने श्रीजानकीजीको हृदयसे लगा लिया । ज्ञानकी महान् मर्यादा मिट गयी । ६ ।

टिप्पणी—१ (क) 'बंधु समेत जनकु···' इति । विदा करनेमें लड़कीसे भेंट करनी चाहिये, इसीसे राजा जनक और उनके भाई दोनों आये, क्योंकि दोनोंकी लड़कियाँ हैं । 'तब' अर्थात् जब चारों भाई विदा होके चले गये और चारों कन्याएँ रनवाससे विदा होकर महलके बाहर आयीं तब आनेका समय देखकर आये । जबतक स्त्रियोंका व्यवहार रहा तबतक आनेका मौका नहीं था । (ख) 'प्रेम उमगि'—प्रेमका उमड़ना कहनेका भाव कि जब प्रेम उमड़ता है तब ज्ञान-वैराग्यादि सब डूब जाते हैं, यही आगे कहते हैं । 'प्रेम उमगि लोचन जल छाए' कहनेका भाव कि नेत्रोंमें जो जल आ गया वह मोहसे नहीं, किंतु श्रीजानकीजीके प्रेमसे भर आया है, यथा—'मोह मगन मति नहिं बिदेह की । महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥ २ । २८६ ।' [जब कन्याएँ राजद्वारपर आयीं तब कन्याओंको दर्शन देनेके लिये प्रेम उमड़ा ।]

२ (क) 'सीय बिलोकि धीरता भागी' इति । पूर्व लिखा था कि 'सुनि धीरजु परिहरै न केही' यहाँ उसको चरितार्थ करते हैं कि 'सीय बिलोकि···' अर्थात् जनक-ऐसे महानुभावको भी छोड़कर धीरज भाग गया । और लोगोंको तो धीरजने छोड़ा भर था,—'धीरजु परिहरै न केही', पर जनकजीको छोड़कर 'भागा' । वहाँ 'परिहरै' और यहाँ 'भागी' कहनेका भाव यह है कि और लोग प्रेमी हैं और जनकजी सबसे अधिक प्रेमी हैं, इससे इनका धैर्य अधिक छूटा । [ये अति प्रीति-के कारण अति व्याकुल हो गये । (मा० म०) । रा० प्र० कार लिखते हैं कि श्रीजानकीजीको देखकर वैराग्यकी धीरता भागी । भाव यह कि वैराग्य तो श्रीसीतारामजीकी प्राप्तिके हेतु किया जाता है सो उनके त्यागमें वैराग्य कैसे रहे !'] । (ख) 'रहे कहावत परम बिरागी' इति । भाव कि इस समय परम वैराग्य कुछ भी न देख पड़ा । 'धीरता भागी' से पाया गया कि पूर्व धैर्य रहा है । 'रहे कहावत···' का भाव कि ऐसा जान पड़ता है कि वैराग्यवान् तो थे ही नहीं, कहलाते भर थे । (ग) प्रथम धीरताका छूटना कहा, धीरजके छूटनेसे ज्ञान-वैराग्य छूट गये, यदि धैर्य न छूटता तो ज्ञान-वैराग्य भी न छूटते ।

३ 'लीन्हि राय उर लाइ जानकी ।··' इति । (क) प्रेम उमड़ा । प्रेमसे श्रीजानकीजीको हृदयमें लगा लिया । 'मिटी महामरजाद ज्ञान की' इति । ज्ञानकी महान् मर्यादा श्रीजनकजीतक थी । (अर्थात् श्रीजनकजी बड़े ज्ञानी विख्यात थे । इनके समान कोई भी ज्ञानी नहीं है । ये उसकी महान् मर्यादा थे) जब वे ही विलाप करने लगे, तब ज्ञानकी मर्यादा न रह गयी । भाव यह कि ज्ञानीके हृदयमें करुणा-विरह न होने चाहिये । ज्ञानकी मर्यादा यही है कि ज्ञानीमें विषयादि विकार न आवें, यदि वह विह्वल हो जाय तो फिर ज्ञान कहाँ रह गया ? यही बात कह रहे हैं । पहले धीरज छूटा, उससे ज्ञान और वैराग्य भी न रह गये अर्थात् वे बहुत विह्वल हो गये, अज्ञानीकी तरह विलाप करने लगे ।—यही 'मिटी मरजाद' का भाव है । यथा—'सोक बिकल दोउ राज समाजा । रहा न ज्ञानु न धीरजु लाजा ॥···रोवहिं सोकसिंधु अवगाही (२।२७६) ' (ख) प्रेमसे ज्ञानकी 'मर्यादा मिटी' इससे ज्ञानकी शोभा कही, यथा—'सोह न राम पेम बिनु ज्ञानू । करनधार बिन जिमि जलजानू ॥ २ । २७७ ।' 'जोगु कुजोगु ग्यान अग्यानू । जहँ नहिं राम पेम परधानू ॥ २ । २९१ ।' प्रेमसे ज्ञान न रहा, इससे स्नेहकी बड़ाई की । यथा—'जासु ज्ञान रबि भवनिसि नासा । बचन किरन मुनि कमल बिकासा ॥ तेहि कि मोह ममता निअराई । यह सियराम सनेह बड़ाई ॥ २ । २७७ ।' ऐसे महान् ज्ञानको भी स्नेहने डुबा दिया यह स्नेहकी बड़ाई है । ['मर्यादा' सीमा, मेंड़, हदको कहते हैं । महामर्यादा मिट गयी अर्थात् ज्ञानकी पक्की मेंड़ टूट गयी ।]

नोट—१ रा० प्र० कार लिखते हैं कि ज्ञानकी महामर्यादा मिटी अर्थात् अभेदबुद्धिकी मर्यादा मिटी । अभेदबुद्धिकी मर्यादा तबतक है जबतक श्रीजानकी-रघुनाथजी हृदयमें न लगें । चित्रकूटमें भी श्रीजनकजीने इन्हें हृदयमें लगाया है । तब भी ऐसी ही दशा हो गयी थी, यथा—'लीन्हि लाइ उर जनक जानकी । पाहुनि पावन प्रेम प्रानकी ॥ ४ ॥ उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू । भयउ भूप मनु मनहु पयागू ॥ ५ ॥ सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा । तापर रामपेम सिसु सोहा ॥ ६ ॥ चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु । बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ॥ ७ ॥ मोह मगन मति नहिं बिदेह की । महिमा सिय-रघुबर सनेह की ॥ ८ ॥ २ । २८६ ॥'

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'जनकजीने जानकीजीको हृदयमें लगा लिया। इस हेतुसे कि रक्ष ब्रह्मानन्दसे हृदय रखा था अब राम-स्नेह—रससे हृदय भक्तिरसका गाहक हुआ सो जानकी आह्लादिनी पराशक्ति भक्तिरूपको उरमें लगाकर बाहर-भीतर भक्तिपूर्ण किया, तब ज्ञानकी महामर्याद जो विषयवारि रोकनेको पुष्ट मेंड़ थी सो मिटी, प्रेमप्रवाहमें बह गयी। वा बिना इनके रामरूप नहीं रह सकता, अतः इनको उरमें लगाकर रामरूप दृढ़ रक्खा, अथवा भक्तिरूप उरमें लगा ज्ञानको असार जान त्याग दिया।'

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि ज्ञानकी बड़ी भारी मर्यादा है 'निष्ठुरता' अर्थात् किसीसे भी स्नेह न करना। श्रीसीता-रामजीका प्रेम भी बड़ा भारी है, इसीसे उसने निष्ठुरतारूपी ज्ञानकी मर्यादाको मिटाकर अपने वश कर दिया। '**रहे कहावत परम बिरागी**' यह श्रीरामभक्तका ज्ञानी भक्तपर 'दंश' (कटाक्ष) है।

पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यद्यपि राजा परम विरक्त और ज्ञानवान् थे तथापि सीताजी महामाया हैं, इससे उन्होंने राजाको अधीर कर दिया। यद्यपि ज्ञानियोंके चित्त दृढ़ हैं तथापि देवी भगवती महामाया बलात्कारसे उनको खींचकर मोह-की प्राप्ति कर देती है। यथा—'**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥** (सप्तशती १। ५५-५६)'। शोकका न होना ज्ञानकी मर्यादा है। शोकसे मर्यादा टूट गयी जैसे आँधीके बलसे सुन्दर चक्षु-वालेकी भी दृष्टि मलिन हो जाती है।'

समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह बिचारु अनवसर* जाने॥ ७॥
बारहिं बार सुता उर लाईं। सजि सुंदर पालकीं मँगाईं॥ ८॥

दोहा—प्रेम बिबस परिवारु सबु जानि सुलगन नरेस।
कुअँरि चढ़ाईं पालकिन्ह सुमिरे सिद्धि गनेस॥ ३३८॥

शब्दार्थ—अनवसरु=कुसमय, बेमौका। सिद्धिगणेश—शक्तिसहित गणेशजी। टीकाकारोंने प्रायः 'सिद्धिके देने-वाले गणेशजी' ऐसा अर्थ किया है। सिद्धि गणेशजीकी शक्ति है—मं० सो० १ भाग १ देखिये।

अर्थ—सब वयोवृद्ध चतुर बुद्धिमान् मन्त्री समझाते हैं। तब राजाने विचार किया और (विषादको) बेमौका जाना। (अर्थात् जाना कि इस समय विषाद करनेका अवसर नहीं है)। ७। बारंबार पुत्रियोंको हृदयसे लगाकर, सुन्दर सजी हुई पालकियाँ मँगाकर। ८। सब परिवार प्रेमके विशेष वश एवं प्रेमसे बेबस है यह जानकर और सुन्दर मुहूर्त समझकर सिद्धि-गणेशका स्मरण करके राजाने कन्याओंको पालकियोंपर चढ़ाया। ३३८।

टिप्पणी—१ (क) '**समुझावत**' इति। अर्थात् जब राजाको शोकमें डूबे हुए विलाप करते देखा तब समझाने लगे। '**सब सचिव**'—भाव कि कन्याके विदा होनेके समय मुनियों और पुरोहितोंको वहाँ आनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता इसीसे वहाँ कोई मुनि न थे, मन्त्री थे; अतः उन्होंने समझाया। मन्त्रियोंके समझानेसे स्पष्ट हो गया कि राजा अधीर होकर विलाप करने लगे थे। (राजा अत्यन्त विषादयुक्त थे यह इससे स्पष्ट है कि सभी मन्त्रियोंके समझानेपर उनको चेत हुआ, एक-दो मन्त्री उनको समझानेमें समर्थ न हुए)। 'सयाने' से जनाया कि जो वयोवृद्ध हैं, जनकजीसे उमरमें बड़े हैं तथा जिनका अधिकार है वे सब मन्त्री समझाते हैं। (ख) '**समुझावत**…'—समझाते हैं कि राजन्! अब धैर्य धारण कीजिये, यह विकल होनेका अवसर नहीं है। [आपकी व्याकुलता देखकर सारी प्रजा, परिवार, रनवास आदि सब अत्यन्त विकल हो जायँगे। आपके धीरज धरनेसे सबको धीरज बँधेगा। आप तो ज्ञानियोंके सिरताज हैं, ज्ञानीलोग अवश्य 'दंश' करेंगे, ताना मारेंगे, कटाक्ष करेंगे तथा लज्जित होंगे कि संसार ज्ञानियोंकी हँसी करेगा, यद्यपि आपको मोह नहीं, आप तो श्रीसीतारामजी-के स्नेहमें मग्न हैं जिसके बिना ज्ञान व्यर्थ है], यह सुनकर राजाने विचार किया और समझ गये कि यह शोकका अवसर नहीं है (लग्न बीती जा रही है। दूसरे, महाराजकी विदाई करना है, हमारे धीरज न धरनेसे सब काम बिगड़ जायगा। इत्यादि।)

२ '**बारहिं बार सुता उर लाईं**…' इति। (क) '**सुता उर लाईं**'—श्रीजानकीजीको हृदयसे लगा चुके, यथा—

* १६६१ वाली पोथीमें 'अनवसर' है। जिससे न अवसरु पाठ हुआ। अन्य सभी पोथियोंमें अनवसरु है।

'कीन्हि राय उर लाइ जानकी' अब श्रीमाण्डवीजी, और श्रीउर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजीको हृदयमें लगाया। 'मुनि' से इन तीनोंको जनाया। तीनोंको बारंबार हृदयमें लगानेसे सूचित हुआ कि ये तीनों श्रीजानकीजीसे अधिक प्रिय हैं तभी तो इनको बार-बार हृदयसे लगाया और जानकीजीको एक ही बार। भाईकी लड़कीको अपनी लड़कीसे अधिक 'प्रिय' (प्यार) करना चाहिये, इसीसे उनका अधिक प्यार किया। (ख) श्रीजानकीजीको प्रथम हृदयसे लगाया। इससे पाया गया कि सब कन्याओंको क्रमसे मिले। (ग) 'सजि सुंदर पालकी'—पालकी एक तो बनावमें प्रथमसे ही सुन्दर है, उसपर भी सुन्दरता साजी गयी है, सुन्दर ओहार पड़े हैं, दिव्य कोमल बिछौने बिछे हैं, मसनद, तकिया, शृङ्गारदान, पीकदान आदि प्रयोजनकी सब वस्तुएँ उसमें ठीक-सी सजी हुई रक्खी हैं।

३ 'प्रेम बिबस परिवारु सब' ' ' ' इति। सबका प्रेमविवश होना पूर्व कह चुके हैं, यथा—'प्रेम बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु ॥ ३३७ ॥' 'नर नारि' कहनेसे सबका ग्रहण हो गया, अब यहाँ उनसे पृथक् परिवारका प्रेमविवश होना कहनेका भाव यह है कि इस समय परिवारका ही काम था, परिवारवालोंको उचित था कि कन्याको पालकीमें चढ़ाते, सो वे सब प्रेमके विशेष वश हैं, किसीको इसकी खबर नहीं है, होश नहीं है और रानियाँ महलके भीतर रह गयीं; बाहर आ न सकीं, तब कन्याओंको पालकीमें कौन चढ़ावे और इधर सुन्दर मुहूर्त्त भी बीता जा रहा है, यह सब सोचकर जनकजीने स्वयं सबको पालकियोंमें चढ़ाया। ('राजाने पालकीमें चढ़ाया' कहनेका भाव कि कन्याको परिवारके लोग पालकीमें चढ़ाते हैं, पिता नहीं चढ़ाता। पर यहाँ उपर्युक्त कारणवश पिताको ही यह कठोर काम करना पड़ा)।

मानसमयङ्क—भक्ति दो प्रकारकी है—ऐश्वर्यमय, माधुर्यमय। ऐश्वर्यमय भक्तिवालेको ज्ञान अधिक रहता है, प्रेम गौण रहता है। उसे प्रभुकी माधुर्य-लीलामें भी ऐश्वर्यका ज्ञान रहनेसे उसमें अश्रुपातादि दशाएँ कम होती हैं। माधुर्यमय भक्त प्रेमकी दशाओंमें सराबोर रहता है, उसे ऐश्वर्य भूला रहता है, इससे उसे धैर्य नहीं रहता। 'दशरथजी और सुनयनाजी दोनों पराभक्तिमें मग्न हैं। राजा जनक और कौशल्याजी पर-विज्ञानमें मग्न हैं। वहाँ वनगमनके समय कौशल्या पर-विज्ञान धारण किये थीं, अतएव धीरज बना रहा, परंतु महाराज दशरथ प्रेममें मग्न थे, अतएव धैर्यरहित हो गये। यहाँ जानकीजीकी बिदाईके समय श्रीसुनयनाजी परमप्रेममें मग्न हो गयी थीं और राजा जनक पर-विज्ञानके अवलम्बसे धीरज धारण किये थे, इसी कारण जानकीजीको राजाहीने पालकीपर चढ़ाया माताको सुधि नहीं थी'।

नोट—'जानि सुलगन' इति। मुनियों, ज्योतिषियोंकी बतायी हुई शुभ लग्न। ''पौष शुक्ल दशमी, सोमवार, रेवती नक्षत्र, दाहिने चन्द्रमा, मीन लग्न उसके स्वामी गुरु पंचम स्थानमें, रवि और भौम दशम स्थानमें, लग्नमें चन्द्र श्रीजानकीजीके तृतीय स्थानमें इति शुभ लग्न वार इष्टपर जानकर।'' (वै०)।

श्रीजनक ऐसे महान् ज्ञानी भी मुहूर्तादिका विचार करते थे। हम लोगोंको इससे उपदेश लेना चाहिये।

बहु बिधि भूप सुता समुझाई। नारि-धरम कुलरीति सिखाई ॥ १ ॥
दासी दास दिए बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे ॥ २ ॥
सीय चलत ब्याकुल पुरबासी। होहिं सगुन सुभ मंगलरासी ॥ ३ ॥
भूसुर सचिव समेत समाजा। संग चले पहुँचावन राजा ॥ ४ ॥

अर्थ—राजाने पुत्रियोंको बहुत प्रकारसे समझाया, स्त्रियोंके धर्म और कुलकी रीति सिखायी ॥ १ ॥ बहुतसे दासी और दास दिये जो श्रीसीताजीके प्रिय और पवित्र सच्चे विश्वासपात्र सेवक थे ॥ २ ॥ श्रीसीताजीके चलते समय पुरवासी व्याकुल हो गये। मङ्गलकी राशि शुभ शकुन हो रहे हैं ॥३॥ ब्राह्मणों, मन्त्रियों और समाजसहित राजा साथ-साथ पहुँचाने चले ॥४॥

टिप्पणी—१ 'बहु बिधि भूप सुता समुझाई' ' ' ' इति। (क) समझानेका कारण यह है कि सब कन्याएँ पिताको देखकर प्रेमके वश व्याकुल हैं, इसीसे उनको समझाना पड़ा। 'बहु बिधि'—यह कि हम तुमको बहुत शीघ्र ले आवेंगे, तुम्हारे प्रिय दास-दासी सब तुम्हारे साथ जा रहे हैं, वहाँ तुमको बहुत सुखसे सब रखेंगे इत्यादि। [तुम चार बहिनें साथ-साथ हो, साथमें तुम्हें वियोगका दुःख न रहेगा, कन्याएँ ससुरालमें पतिके घरमें रहती ही हैं; वहीं उनका घर है। तुम चक्रवर्ती महाराजकी बहू हो, वहाँ तुम्हें सब प्रकारका सुख मिलेगा। तुम्हारे भाई तुम्हें जब-तब देखने जाया करेंगे। (प० सं०)। वहाँके सब लोग बड़े ही शीलवान् (सुशील) हैं, तुमको कोई कष्ट न होगा। (वै०)] व्याकुलता दूर करनेके लिये बहुत

प्रकार समझाना पड़ा । समझानेसे व्याकुलता निवृत्त हुई तब 'नारिधर्म' और 'कुलरीति' की शिक्षा दी, क्योंकि व्याकुलतामें सिखावन नहीं लगता । (ख) 'नारिधर्म', यथा—'नारि धरम पतिदेव न दूजा' । अर्थात् पातिव्रत्यका उपदेश दिया । जैसा अनुसूयाजीने बखानकर कहा है ॥ ३ । ५ ॥ में देखिये ॥ १ । ३३४ । ६ ॥ 'नारि धरम सिखवहिं मृदु बानी' भी देखिये । '**एकै धर्म एक व्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा**' ॥ ३ । ५ । १०) ॥ श्रीसीताजी बहुत बुद्धिमती हैं, सब जानती हैं । फिर श्रीजनकजी यह भी जानते हैं कि ये श्रीरामजीकी परम शक्ति हैं । उनको समझाना कैसा ? पर ये सिखावन माधुर्यमें है । माता-पिताका धर्म है कि वे कन्याको उसका धर्म सिखावें । लोकशिक्षार्थ भी सिखावन है । ऐसा करके जनाते हैं कि 'स्त्रियोंके धर्म' और 'कुलरीति' दोनों ही कन्याको अवश्य सिखाने चाहिये । इसीलिये जनकजीका भी यहाँ माधुर्यमें सिखाना लिखा गया । नारिधर्म मुख्य है, इसीसे उसको प्रथम सिखाया तब कुलरीति सिखायी—(यह क्रमका भाव है) ।

नोट—१ बाबा हरिदासजी नारिधर्मका सिखाना और भी इस प्रकार लिखते हैं कि—"देखो, नारिधर्म पुरुषधर्मसे श्रेष्ठ है । पुरुष धर्मपर टिकनेसे स्वयं ही तरता है पर स्त्री अपने धर्ममें दृढ़तापूर्वक रत रहनेसे दोनों कुलोंको तार देती है और लोक-परलोक दोनोंमें उसका यश होता है । पुरुष यदि अधर्मरत हुआ तो लोकमें निन्दित होता है और यदि स्त्री अधर्ममें रत हुई तो उसके दोनों कुलोंकी निन्दा लोकमें होती है । पुनः, देखो कि एक राजाके बहुत रानियाँ होती हैं, पर एक रानीका तो एक ही राजा है, उसीमें वह मन-तन-वचनसे लगकर सती हो स्वर्गको जाती है, पुरुष पत्नीके लिये नहीं जल जाता, इस तरह भी नारिधर्म श्रेष्ठ है । पुनः, हे पुत्रि ! पातिव्रत्य सब धर्मोंका शिरमौर है, क्योंकि इससे भगवान् वशमें हो जाते हैं । वृन्दाकी कथा जानती हो, वह पातिव्रत्यके बलसे तुलसी होकर भगवान्‌के संग रहती है, उनपर चढ़ायी जाती है । पुनः उत्तम पतिव्रता वह है जो पतिके मनकी जानकर उसकी आज्ञाका पालन करे और अनन्यभावसे उसमें प्रीति करे ।"

२ 'कुलरीति' इति । अर्थात् जैसी माता-पिताकी कुलकी सनातन रीति देखी है उसी मार्गपर चलना धर्म है । (शीलावृत्ति) । अथवा, समता, सुशीलता, क्षमा, उदारता, दीनोंको दान और गुरुजनोंका मान इत्यादि । (वै०) । अथवा, कुलरीति अर्थात् कुलवधूधर्म' यथा—'**अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम् । सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः ॥**' (वि० टी०) अर्थात् गृहस्वामीके आगमनपर उठ खड़ी हो जाना, उनसे नम्रतापूर्वक भाषण करना, उनके चरणोंपर सदा दृष्टि रखना, उनको आसन देना, स्वयं उनकी सेवा करना, उनके सोनेपर सोना और पहले ही उठना, प्राचीन शास्त्रोंमें कुलवधूकी दिनचर्याका प्रतिपादन इस प्रकार किया है ।

टिप्पणी—२ 'दासी दास दिए'''' इति । (क) भीतरकी सेवाके लिये दासियाँ और बाहरकी सेवा करनेके लिये दास दिये । 'बहुतेरे' बहुत-से दिये, क्योंकि श्रीसीताजीका ऐश्वर्य बड़ा भारी है, बहुत काम है, थोड़े दास-दासियोंसे होने योग्य नहीं है । 'सुचि सेवक' अर्थात् जो सेवा करनेमें निश्छल हैं, काम नहीं बिगाड़ते, चोरी नहीं करते, घूस नहीं लेते, स्वामीका काम अपना ही काम जानते हैं, विश्वासपात्र हैं—यह सेवकका धर्म है । 'जे प्रिय सिय केरे'—यह स्वामीका धर्म है कि सेवकका प्यार करे । (ख)—यहाँ प्रथम-प्रथम श्रीसीताजीकी दासी-दासोंका देना कहकर जनाया कि इसी प्रकार श्रीमाण्डवीजी, श्रीउर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजीको दिये गये । 'शुचि सेवक' कहकर 'जे प्रिय' कहनेका भाव कि 'शुचि' होनेसे ही वे प्रिय हैं ।

३ 'सीय चलत ब्याकुल पुरबासी ।''''' इति । (क) पुरवासियोंकी व्याकुलता कहनेका भाव यह है कि जब 'पुर' से जानकीजी चलीं तब पुरवासी व्याकुल हुए । मङ्गल-समय जानकर गोस्वामीजी किसीका रुदन करना, विलाप करना नहीं लिखते; किंतु केवल प्रेमके विशेष वश होना, व्याकुल होना कहते हैं । मङ्गलसमयमें रोना अमङ्गल है, यथा—'**मंगल आनि नयन जल रोकहिं ।**' । [जानकीमंगलमें भी कहा है—'**सिय चलत पुरजन नारि हय गय बिहग मृग ब्याकुल भए ॥१७५ ॥**'] '**सीय चलत**' का भाव कि जनकजीने जबतक पुत्रियोंको पालकियोंमें बैठाया, नारिधर्म सिखाया, तबतक पालकी उठायी नहीं गयी, राजद्वारपर ही रही । जब कहार पालकीको ले चले तब '**सीय चलत**' कहा । (ख) '**होहिं सगुन सुभ मंगल रासी**' इति । 'होहिं' कहनेका भाव कि पुरवासी तो सभी व्याकुल हैं । विदाईके समय मङ्गल वस्तु मङ्गल कलश आदि लेकर खड़े होना चाहिये था, पुष्पोंकी वृष्टि करनी थी, इत्यादि । व्याकुलताके कारण पुरवासी यह कुछ न कर सके । शकुन और मङ्गल पूर्व कह चुके हैं—'**तदपि प्रीति कै रीति सुहाई । मंगल रचना रची बनाई ॥**'''१ । २९६ ।' तथा '**होहिं सगुन सुंदर सुभदाता । धारा चापु बाम दिसि लेई ॥**''' । १ । ३०३ ।' देखिये ।—ये सब मङ्गल शकुन आप ही होने लगे ।

४ 'भूसुर सचिव समेत समाजा।'...' इति। (क) जब विश्वामित्रजी आये थे तब 'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ग्याति। चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ येहि भाँति॥ २१४।' जैसे मिलने और उनका स्वागत करने गये थे, वैसे ही अब विदा होनेपर उन्हें पहुँचाने चले। पहुँचानेमें किसीका नाम नहीं लेते कि किसको पहुँचाने चले। केवल 'संग चले' कहते हैं, क्योंकि सभीको पहुँचाने जा रहे हैं—कन्याओंको, राजाको, बारातको, विश्वामित्र-वसिष्ठादि मुनियोंको, राजकुमारोंको इत्यादि सबको पहुँचाने चले। जैसे राजाकी अगवानी की थी, यथा—'सतानंद अरु बिप्र सचिवगन। मागध सूत बिदुष बंदी जन॥ सहित बरात राउ सनमाना। आयसु मागि फिरे अगवाना॥ ३०९। ५-६।' (वैसे ही आदरपूर्वक पहुँचाने चले)। 'समाज' से भाई, बन्धुवर्ग, ज्ञातिवर्ग इत्यादिका साथ होना जनाया। (ख) जब विश्वामित्रजीको लेने गये थे तब 'मुदित' कहा था पर यहाँ मुदित होना नहीं कहते। कारण कि राजा पालकीके सङ्ग चले जिसमें लड़कियाँ व्याकुल न हों। इसीसे मुदित होना नहीं कहते।

समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ गज बाजि बरातिन्ह साजे॥ ५॥
दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दान मान परिपूरन कीन्हे॥ ६॥
चरन सरोज धूरि धरि सीसा। मुदित महीपति पाइ असीसा॥ ७॥
सुमिरि गजाननु कीन्ह पयाना। मंगल मूल सगुन भये नाना॥ ८॥

दोहा—सुर प्रसून बरषहिं हरषि करहिं अपछरा गान।
चले अवधपति अवधपुर मुदित बजाइ निसान॥ ३३९॥

अर्थ—समय देखकर बाजे बजने लगे। बारातियोंने रथ, हाथी और घोड़े सजाये।५। राजा दशरथजीने सब ब्राह्मणोंको बुला लिया और उनको दान-मानसे परिपूर्ण कर दिया। ६। राजाने उनके चरण-कमलोंकी रजको सिरपर धर और आशा पाकर आनन्दित हो गणेशजीका स्मरणकर प्रस्थान किया। (उस समय) अनेकों मङ्गल शकुन हुए। ७-८। देवता प्रसन्न होकर फूल बरसा रहे हैं। अप्सराएँ गा रही हैं। अवधपुरीके राजा श्रीदशरथ महाराज अवधपुरीको डंका बजाकर आनन्दपूर्वक चले। ३३९।

टिप्पणी—१ (क) 'समय बिलोकि बाजने बाजे' इति। अर्थात् बजनियोंको जब मालूम हुआ कि बहुओंकी पालकियाँ आ रही हैं, बाजा बजानेका समय है, पुरवासी विकल हैं, इससे उधर बाजे नहीं बजे, अतः समय देखकर बाजेवालोंका बाजा बजाना कहा। (ख) 'रथ गज बाजि बरातिन्ह साजे' इति। बाजोंका बजना सुनकर बाराती जान गये कि बारातके प्रस्थानका समय आ गया। अतएव वे चलनेकी तैयारी करने लगे। अभी चले नहीं, क्योंकि अभी राजा चले नहीं हैं, जब ये चलेंगे तब बारात साथ चलेगी। (ग) 'दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे' इति। पूर्व गो-दान करनेके लिये गुरुद्वारा ब्राह्मणोंको बुलवाया था और इस समय स्वयं बुला लिया। इससे जनाया कि यह साधारण दान है, गो-दान नहीं है, गो-दानमें बहुत विचार करना पड़ता है, इसीसे उसमें गुरुसे गो-दानके अधिकारी ब्राह्मणोंको बुलवाया था। साधारण दानमें विशेष विचार नहीं होता। (घ) 'दान मान परिपूरन कीन्हे' इति।—अर्थात् बहुत दान दिया और बहुत सम्मान किया, क्योंकि ब्राह्मण दान-सम्मानके अधिकारी हैं। यहाँ दानका नाम न देकर जनाया कि अनेक प्रकारके दान दिये। और मानसे पूर्ण किया, अर्थात् सबको दण्डवत् प्रणामकर प्रेमपूर्वक पूजा की, उत्तम आसन बैठनेको दिये जैसा गो-दानके समय किया था, यथा—'दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हें। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हें॥ ३३१। १।' 'परिपूरन कीन्हे'—भाव कि प्रथम तो गो-दान ही किया था, अब और भी सब वस्तुओंका दान दिया और बहुत दिया; अब ब्राह्मणोंको किसी बातकी कमी नहीं रह गयी। पुनः भाव कि जैसी शास्त्रमें दानकी विधि है वैसा ही परिपूर्ण किया, खण्डित नहीं किया। [पुनः भाव कि जो दानके अधिकारी थे, उन्हें दान देकर परिपूर्ण किया और जो सम्मानके योग्य थे उनको सम्मानसे परिपूर्ण किया। अथवा, मानसहित दानसे परिपूर्ण किया। (रा० प्र०)। पुनः भाव कि सबको दान दिया और सबका सम्मान किया। दानके पीछे 'मान' को कहा क्योंकि दानके पीछे विनय की जाती है वह कि.. । दान बिना मानका व्यर्थ होता है]।

२—'चरन सरोज धूरि धरि सीसा।'...' इति। (क) ब्राह्मणोंके चरणोंमें राजाका बहुत बड़ा भाव है। उन्होंने

बड़े भावसे दान दिया, सम्मान किया और चरणरजको सिरपर धारण किया, इसीसे चरणोंको सरोज विशेषण देकर उसका महत्त्व दिखाया। पुनः भाव कि सरोजमें लक्ष्मीका वास है और चरणकी रजमें लक्ष्मीका वास है। अतः सरोज विशेषण दिया। ब्राह्मणोंको धन दिया, और उनके चरणरजको मस्तकपर धरकर विभवको वशमें किया। (ख) **'मुदित महीपति'** देहली-दीपक है, चरणरजको शिरोधार्य करके मुदित हुए और आशीर्वाद पाकर मुदित हुए। **'मुदित महीपति'** का भाव कि जैसे महीपति होनेसे मुदित हैं वैसे ही ब्राह्मणोंका आशीर्वाद पानेसे 'मुदित' हैं, क्योंकि ब्राह्मणोंका आशीर्वाद अमोघ है और वाञ्छितका दाता है। (ग) **'सुमिरि गजाननु'** इति। कोई नाम ऐश्वर्यवाचक होते हैं, जैसे 'गणेश' कोई गुणवाचक होते हैं जैसे 'कृपासिंधु' और कोई मूर्तिवाचक होते हैं। **'गजानन'** मूर्तिवाचक नाम है। **'सुमिरि गजानन'** कहनेका भाव कि गणेशजीकी मूर्तिका ध्यान करके उनका स्मरण किया। गणेशजी मङ्गलके दाता हैं—**'मोदक प्रिय मुद मंगल दाता'** (विनय० १); इसीसे उनके स्मरणके पश्चात् मङ्गलके मूल शकुनोंका होना कहा। मङ्गलका होना आगे कहते हैं—**'सुर प्रसून…'**।

३ (क) **'सुर प्रसून…'** इति। राजाको अनायास मङ्गल हुए—देवताओंने फूल बरसाये, अप्सराओंने गान किया। फूलका बरसाना मङ्गल है, यथा—**'बरषहिं सुमन सुमंगल दाता।'** गान और नगाड़ोंका बजना यह सब शकुन है। यथा—**'भेरीमृदङ्गमृदुमर्दलशंखवीणावेदध्वनिर्मधुरमङ्गलगीतघोषाः'**। यात्राके समय जनकपुरमें बाजे बजने तथा गान होना चाहिये था, पर वह न हो सका, क्योंकि सब व्याकुल थे, इसीसे यह काम देवताओं और अप्सराओंने किया, बारातमें बाजे बजे। (ख) **'चले अवधपति अवधपुर मुदित…'** इति। अवधपति हैं, इसीसे अयोध्याजीके लिये प्रस्थान करनेसे हर्षित हुए, क्योंकि बहुत दिनसे अयोध्याजी छूटी हुई थीं। **'चले मुदित'**—जैसे और सब शकुन हुए, वैसे ही मनका मुदित होना भी शकुन है। [चारों पुत्रोंका विवाह कराके पुत्रवधुओं और पुत्रोंसहित श्रीअयोध्याजीको जा रहे हैं यह भी कारण 'मुदित होने' का है]।

नृप करि बिनय महाजन फेरे। सादर सकल मागने टेरे॥ १॥
भूषन बसन बाजि गज दीन्हे। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हे॥ २॥
बार बार बिरिदावलि भाषी। फिरे सकल रामहि उर राखी॥ ३॥
बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं। जनकु प्रेम बस फिरै न चहहीं॥ ४॥
पुनि कह भूपति बचन सुहाए। फिरिअ महीस दूरि बड़ि* आए॥ ५॥

अर्थ—राजा दशरथजीने विनती करके 'महाजनों' को लौटाया। आदरसहित मँगताओंको बुलाया। १। सबको भूषण, वस्त्र, घोड़े और हाथी दिये और प्रेमसे संतुष्ट करके सबको खड़ा किया। २। वे सब बारंबार विरदावली (रघुवंशके राजाओं तथा श्रीदशरथजी महाराजके उदारता आदि गुणोंकी प्रशंसा) का वर्णन कर-करके और श्रीरामचन्द्रजीको हृदयमें रखकर लौटे। ३। श्रीदशरथजी बारंबार कहते हैं पर श्रीजनकजी प्रेमवश लौटना नहीं चाहते। ४। राजा पुनः सुन्दर वचन बोले—हे राजन्! बहुत दूर निकल आये, (अब) लौटिये। ५।

टिप्पणी—१ (क) **'नृप करि बिनय महाजन फेरे।'** इति। यहाँ 'महाजन' से ब्राह्मण अभिप्रेत हैं। (पाँड़ेजीने भी 'ब्राह्मण' अर्थ लिखा है)। जिन ब्राह्मणोंको दान दिया था वे ही प्रेमसे साथ हो लिये, उन्हींको राजाने लौटाया। ब्राह्मणोंको 'महाजन' कहनेका भाव यह है कि राजाने ब्राह्मणोंको महान् पुरुष समझकर लौटाया कि इनका विदा करनेके लिये साथ चलना अनुचित है। यदि 'महाजन' द्रव्यवाले (धनाढ्य) लोग होते तो राजा उनकी विनती न करते। यथा—**'बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिर नाए॥ २८७। ३'**। (मा० पी० प्र० सं० में हमने 'महाजन' से 'ब्राह्मण, मन्त्री, रईस आदि प्रतिष्ठित लोग' जो पहुँचाने आये थे, यह अर्थ लिया था। हमारी समझमें जो साथमें प्रतिष्ठित लोग गये थे उन्हींका लौटना यहाँ कहा गया। इसीसे आगे राजाके साथ इनका लौटाना नहीं कहा गया। यथा—**'फिरे महीस आसिषा पाई। ३४३। ६'**। परंतु जिन ब्राह्मणोंको दान दिया था उनका भी लौटना पूर्व नहीं लिखा गया, इससे उनका भी लौटाना दरसानेके लिये यहाँ 'महाजन' शब्द दिया गया हो, यह संभव है। इसमें दोनों आ जाते हैं)। (ख) **'सादर सकल मागने टेरे'** इति। 'सादर' का भाव कि मँगतालोग बिना आदरके ही आते हैं, पर दशरथजी महाराजने उनको

* बड—१६६१।

आदरसहित बुलाया। भाव यह कि जिनका आदर कोई भी नहीं करता, उनका भी आदर किया। 'सकल'—सबको बुलानेका भाव कि जिसमें किसीको दुःख न हो कि राजाने हमको नहीं बुलाया, हमें कुछ न दिया। इसी तरह जब दान देनेको हुए थे तब सब ब्राह्मणोंको बुलाया था, यथा—'दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। ३३९। ६'। [(ग) पाँड़ेजी 'टेर' का भाव यह कहते हैं कि जनकपुरके मँगता भी ऐसे हैं कि बुलानेसे आये। (मुं० रोशनलाल)

२ 'भूषन बसन बाजि गज दीन्हे।…' इति। (क) भूषण-वस्त्र पहनने और घोड़ा-हाथी चढ़नेको दिये। बिना भूषण-वस्त्र पहने हाथी-घोड़ेपर चढ़नेसे शोभा नहीं होती। इसी तरह भूषण-वस्त्र पहने पैदल चलनेमें शोभा नहीं, इसीसे दोनों दिये। (ख) 'प्रेम पोषि' अर्थात् प्रेमसे संतुष्ट किया। ब्राह्मणोंको दान-मानसे परिपूर्ण किया और याचकोंको प्रेमसे पुष्ट किया; क्योंकि ब्राह्मण सम्मानपूर्वक और याचक प्रेमसे देनेपर संतुष्ट होते हैं। (ग) 'ठाढ़े सब कीन्हे' इति। भाव कि सब याचक प्रेमसे संगमें चले आते हैं, इसीसे सबको खड़ा किया (कि बस अब आगे न चलो)। ब्राह्मणोंको विनती करके लौटाया और याचकोंको मुखसे प्रेमके वचन कहकर खड़े किये। जब ब्राह्मणोंको दान दिया, तब वे साथ चले थे, इससे उनको लौटाया, जब याचकोंको दिया तब वे भी साथ चले, इससे उनको रोका। [पुनः भाव कि उदारताके साथ-साथ इतना अधिक प्रेम दरसाया कि याचकोंके सुखकी मात्रा बहुत बढ़ गयी। वे अनुरागसे पुष्ट हो गये। (प्र० सं०)। पुनः, प्रेमसे पुष्ट करके सबको सम्पन्न अर्थात् बलयुक्त कर दिया। (मानसाङ्क)

३ (क) 'बार बार बिरिदावलि भाषी'—भाव कि राजाके प्रेमसे संतुष्ट हुए हैं, इसीसे बार-बार वंशकी प्रशंसा सुनाते हैं, यथा—'बंस प्रसंसक बिरिद सुनावहिं'। 'रामहि उर राखी' इति। 'निरखि राम सोभा उर धरहू।'—यह वचन कई जगह चरितार्थ हुआ है, यथा—'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥', तथा यहाँ 'फिरे सकल रामहि उर राखी'। ('चले सकल रामहि उर राखी' से जनाया कि ये याचक धनके लोभी न थे। प० प० प्र०।)। (ख) 'कोसलपति'का भाव कि जो जैसा बड़ा होता है वह वैसा ही शीलवान् होता है। इसीसे 'बहुरि बहुरि' पुनः-पुनः कहते हैं, उनसे राजा जनककी तकलीफ (कष्ट) सही नहीं जाती। राजा जनक पालकियोंके साथ राजमहलसे पैदल चले और इधर जनवासेसे चक्रवर्ती महाराजकी सवारी आयी। बीचमें दोनोंकी भेंट हुई। जहाँ भेंट हुई, वहींसे महाराज जनकजीको लौटाने लगे। यदि जनवासेमें भेंट होती तो वहींसे लौटाते, इतनी दूरतक आनेका परिश्रम न करने देते। (ग) 'जनकु प्रेम बस फिरै न चहहीं',—भाव कि राजाके वचन मानकर वे अवश्य लौटते पर प्रेमके वश नहीं फिरते। 'फिरै न चहहीं' का भाव कि वे चक्रवर्ती महाराजको प्रसन्न करनेके लिये इतनी दूर नहीं आये किंतु प्रेमवश चले जा रहे हैं, फिरनेकी चाह किंचित् नहीं है। (घ) 'बचन सुहाए' इति। 'फिरिअ महीस दूरि बड़ि आए' ये वचन दयामय, कृतज्ञतामय हैं, इसीसे इन्हें 'सुहाए' कहा। दशरथजी महाराजके हृदयमें दया आयी, इतनी दूर आनेका बोझा (एहसान, कृतज्ञता) अपने ऊपर मानते हैं, उनका परिश्रम न सह सके।

राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े। प्रेम प्रबाह बिलोचन बाढ़े॥ ६॥
तब बिदेह बोले कर जोरी। बचन सनेह सुधा जनु बोरी॥ ७॥
करौं कवन बिधि बिनय बनाई। महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई॥ ८॥

दोहा—कोसलपति समधी सजन सनमाने सब भाँति।
मिलनि परसपर बिनय अति प्रीति न हृदय समाति॥ ३४०॥

अर्थ—फिर उतरकर खड़े हो गये, दोनों नेत्रोंमें प्रेम-प्रवाहकी बाढ़ आ गयी। ६। तब विदेहजी हाथ जोड़कर मानो स्नेहरूपी अमृतमें डुबाकर वचन बोले। ७। मैं किस प्रकार बनाकर विनती करूँ! हे महाराज! आपने मुझे बड़ाई दी है। ८। कोसलपति श्रीदशरथजीने अपने स्वजन समधीका सब प्रकार सम्मान किया। वह अत्यन्त मिलन और अत्यन्त विनय परस्परका है, अत्यन्त प्रीति हृदयमें नहीं समाती॥ ३४०॥

टिप्पणी—१ 'राउ बहोरि उतरि…'—अर्थात् जब बार-बार कहनेसे भी न लौटे तब सवारीसे उतरकर खड़े हो गये (भाव यह कि हम अब आगे न जायँगे, जबतक आप न लौटेंगे)। 'जनक प्रेम बस फिरै न चहहीं' श्रीजनकजीका

यह प्रेम देखकर श्रीदशरथजी महाराजके हृदयमें प्रेम उमड़ आया। दोनों नेत्रोंमें प्रेमका प्रवाह चला, इसीसे प्रवाहका बढ़ना कहा, प्रवाहका बहना न कहा। श्रीदशरथजीका तन-मन-वचन तीनोंसे प्रेम दिखाया। **'पुनि कह भूपति बचन सुहाए'** यह वचन, **'उतरि भये ठाढ़े'** यह तन और **'प्रेम प्रवाह बिलोचन बाढ़े'** यह मनका प्रेम है।

२ (क) **'तब बिदेह बोले कर जोरी।'''** इति। 'तब' अर्थात् जब दशरथजी सवारीसे उतर पड़े तब बोले। सवारीपर चढ़े चलनेमें विनयका मौका न देखा, इससे विनय न की। (अथवा, विनय तो विदा होते समय की जाती है। अब राजा नहीं मानेंगे, अवश्य लौटना पड़ेगा, अतः अब विनय की)। 'विदेह' शब्द देनेका भाव कि प्रेममें इस समय शरीरकी सुध नहीं है। यहाँ राजा जनकजीकी श्रीदशरथजीमें तन-मन-वचनसे भक्ति दिखाते हैं। श्रीदशरथजीने तन-मन-वचनसे उनका सम्मान किया, इसीसे इन्होंने भी तन-मन-वचनसे उनकी भक्ति की। तनसे हाथ जोड़े, मनसे प्रेम किया और वचनसे मधुर बोले। (ख) **'करौं कवन बिधि बिनय बनाई'**—अर्थात् आपके गुण अनन्त हैं, मैं किस प्रकार कहूँ। यथा—**'दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥ जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।'''** २। २०९' [यह भरद्वाजजीका वाक्य है। पुनः भाव कि विधि-हरि-हर आदि आपके गुणोंकी गाथा वर्णन किया करते हैं, मैं मनुष्य हूँ, मैं किन शब्दोंमें आपकी विनती करूँ, आपकी बड़ाई कौन कर सकता है, यथा—**'बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहि सब दसरथ गुन गाथा॥ कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु। राम लषन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु॥** २। १७३।'—ये वशिष्ठजीके वचन हैं। 'बनाई'=पूर्णरूपेण, भलीभाँति, उत्तम रीतिसे। अर्थात् कितनी ही और कैसे भी शब्दोंमें मैं विनय क्यों न करूँ वह सब अत्यन्त लघु ही होगी] (ग)—**'महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई'** इति। भाव कि आप बड़े हैं, इसीसे आपने मुझे बड़ाई दी। 'बड़ाई' यथा—**'संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये।** ३२६' (आपने हमारे साथ सम्बन्ध किया यह बड़ाई आपने हमें दी)। 'मोहि' कहकर अपनेको छोटा जनाया।

३ **'कोसलपति समधी सजन'''** इति। (क) कोसलके पति हैं, अर्थात् बड़े हैं, इसीसे उन्होंने समधीका सम्मान किया। जो बड़ा है वही दूसरेका सम्मान करता है, इसीसे श्रीजनकजीका सम्मान करनेसे बड़ाईसूचक **'कोसलपति'** शब्द दिया। यथा—**'पुनि भानुकुलभूषन सकल सनमाननिधि समधी किये।** ३२६ छंद।' (ख) राजा जनक महाराज दशरथजीकी 'अति विनय' करते हैं और चक्रवर्ती महाराज अत्यन्त मिलते हैं। यह मिलन और विनय परस्पर है।

वैजनाथजी—परस्पर मिलाप और मुखसे विनती जो की गयी, उससे जो प्रीति दोनोंमें बढ़ी, वह उनके हृदयमें नहीं समाती। अश्रु-रोमाञ्चादिद्वारा प्रकट हो रही है—(रा० प्र०)।

मुनिमंडलिहि जनक सिरु नावा। आसिरबादु सबहि सन पावा॥ १॥
सादर पुनि भेटे जामाता। रूप सील गुन निधि सब भ्राता॥ २॥
जोरि पंकरुह पानि सुहाए। बोले बचन प्रेम जनु जाए॥ ३॥

अर्थ—राजा जनकने मुनिसमाजको प्रणाम किया और सभीसे आशीर्वाद पाया। १। फिर आदरपूर्वक रूप, शील और गुणोंके निधान सब भाइयों (अपने) दामादोंसे गले लगकर मिले। २। सुन्दर कर-कमलोंको जोड़कर मानो प्रेमसे उत्पन्न किये हुए वचन बोले। ३।

टिप्पणी—१ (क) **'मुनिमंडलिहि जनक सिरु नावा'** इति। राजासे मिलकर मुनिमण्डलीको प्रणाम किया। इससे जनाया कि मुनियोंकी मण्डली राजाके साथ है। राजा साधु ब्राह्मणोंको सदा साथमें रखते हैं यथा—**'गुरहि पूछि करि कुलबिधि राजा। चले संग मुनि साधु समाजा॥** ३१३। ८।, **'साधु समाज संग महिदेवा। जनु तनु धरें करहिं सुख सेवा॥** ३१५। ५।' [बारातमें सब साथ आये हैं, ये सब बाराती हैं, इसीसे साथ हैं। यथा—**'तिन्ह चढ़ि चले बिप्रबर बृंदा। जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा॥** ३००। ४।'] मण्डलको सिर नवानेका भाव कि राजाके पयानका समय है, बारात चल रही है, सब मुनियोंको पृथक्-पृथक् प्रणाम करनेसे विलम्ब हो जायगा, इसीसे समाजभरको एक साथ सिर नवाकर प्रणाम किया। (ख) **'आसिरबादु'''पावा'** इति। मुनिलोग प्रायः किसीको आसिष वा शाप नहीं देते। मुनियोंका आशीर्वाद दुर्लभ है, इसीसे 'पावा' कहा। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है, यथा—**'पाइ असीस महीसु अनंदा।** ३३०। ५।' **'मुदित महीपति पाइ असीसा।** ३३९। ७।'

२ (क)—'सादर पुनि भेंटे जामाता' इति। 'सादर'—अर्थात् सबको पृथक्-पृथक् हृदयमें लगा-लगाकर। 'पुनि' अर्थात् प्रथम उनके पितासे मिले क्योंकि वे सबसे बड़े हैं, फिर मुनिसमाजको प्रणाम किया, तत्पश्चात् चारों दामादोंसे मिले। (यह जनाया कि इसी क्रमसे बारात चल रही है)। 'रूप सील गुन निधि सब भ्राता' कहकर सूचित किया कि चारों भाइयोंके रूप, शील और गुण देखकर जनकजी मग्न हो गये। (ख) [श्रीसुनयनाकृत स्तुतिके अन्तमें 'प्रेम पंक जनु गिरा समानी' कहा है। यहाँ श्रीजनकजीकृत स्तुतिका प्रारम्भ 'जोरि पंकरुह पानि सुहाए' से करके जनाया कि दोनों एकरूप हैं, कारण कि दोनों स्तुतियोंकी फलश्रुति 'जननि जनक सियराम प्रेमके' एक-सी है। भाव यह कि जिस प्रेम-पङ्कमें सुनयनाजीकी 'गिरा समानी' उसी प्रेमपङ्कसे इस स्तुतिकी उत्पत्ति है—'बोले बचन प्रेम जनु जाए'। (प० प० प्र०)] (ग) 'बोले बचन प्रेम जनु जाए' इति। श्रीदशरथजीसे विनय करनेमें 'बचन सनेह सुधा जनु बोरी' कहा और श्रीरामजीसे विनय करनेमें वचनोंको 'प्रेम जनु जाए' कहते हैं। भेद साभिप्राय है। राजासे मधुर वाणीसे बोलना चाहिये, यह नीति है। अतः वचनकी मधुरता दिखानेके लिये 'सुधा जनु बोरी' कहा। और श्रीरामजीको प्रेम प्रिय है, यथा—'रामहि केवल प्रेम पियारा।' अतः उनसे विनय करनेमें 'प्रेम जनु जाए' कहा। (घ) यहाँ श्रीजनकजीके तन, मन, वचन तीनोंकी सुन्दरता दिखाते हैं। 'जोरि पंकरुह पानि सुहाए' से तन (कर्म), 'प्रेम जनु जाए' से मन और 'बोले बचन प्रेम जनु जाए' से वचनकी सुन्दरता कही। (ङ) जिस क्रमसे चारोंसे भेंटे वह यहाँ दरसाते हैं कि प्रथम श्रीरामजीसे मिले इसीसे उनसे प्रथम विनय की।

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥ ४॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। क्रोहु मोहु ममता मद त्यागी॥ ५॥
ब्यापक ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुन-रासी॥ ६॥

अर्थ—हे राम! मैं किस प्रकार आपकी प्रशंसा करूँ। आप (तो) मुनियों और महादेवजीके मनरूपी मानससरोवरके हंस हैं। ४। जिसके लिये योगी लोग क्रोध, ममता और मदका त्यागकर योग-साधन करते हैं। ५। जो ब्रह्म व्यापक, अलक्ष्य, अविनाशी, चैतन्य, आनन्दस्वरूप, अव्यक्त गुणवाला तथा मायिक गुणोंसे रहित, दिव्य गुणोंकी राशि। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'करौं केहि भाँति प्रसंसा' इति। भाव कि किसी भी भाँतिसे प्रशंसा नहीं हो सकती। जिस बातकी जो भी प्रशंसा की जाय वह सब कुछ भी नहींके बराबर है। आपके नाम, रूप, गुण और लीला सभी अनन्त हैं। प्रशंसा करना वैसा ही है जैसे करोड़ों जुगुनूकी उपमा सूर्यके लिये दें। न कोई उपमेय है, न कोई उपमान है, न कोई समान है न कोई अधिक है—तब किस प्रकार प्रशंसा की जाय? (ख) 'मुनि महेस मन मानस हंसा' इति। भाव कि ये दोनों आपके उपासक हैं, इनके मनमें आपकी मूर्ति बसती है जैसे मानसमें हंस रहते हैं। हंसकी उपमा देनेका भाव कि हंस (मानससरके) जलमें बसते हैं। मन मानस-सर है, मनमें जो प्रेम है वही जल है। (इनके हृदय निर्मल निर्विकार हैं, इसीसे इनके मनको मानसका रूपक दिया। हंस मानसरोवर छोड़ कहीं नहीं जाते, वैसे आप इनके हृदयमें सदा निवास करते हैं।)—[पुनः भाव कि एक हंस होकर मानसरोवरोंमें रहते हैं, अथवा आप सूक्ष्म मनके निवासी हैं तब स्थूल वाणी आपकी प्रशंसा कैसे करे? अथवा, शिव और मुनि आदि जिनका ध्यान धरते हैं उनकी स्तुति मैं क्यों कर सकूँ।' (रा० प्र०, पं०)। अथवा, आपकी महिमा सिन्धुवत् है, मेरा मुख पिपीलिकावत् है, अतः प्रशंसा कैसे कर सकता हूँ। (वै०)]

२ (क) 'करहिं जोग जोगी···' इति। सगुण ब्रह्मके उपासकोंको कहकर अब निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंको कहते हैं। श्रीजनकजी उपासक हैं और योगी भी, यथा—'जनको योगिनां वरः'। इसीसे उपासना और योग दोनोंकी बात कहते हैं। 'कोहु मोहु ममता मद त्यागी'—भाव कि क्रोध, मोह, ममता और मद रात्रिवत् हैं, यथा—'मद मोह महा ममता रजनी। ७। १४।' 'घोर क्रोध तम निसि जो जागा। ४। २१।' इनको त्यागकर अर्थात् क्रोधादिरूपिणी रात्रिसे जागकर योग करते हैं। यथा—'पश्यन्ति यं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा। ३। ३२।' 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं। ४। १०।' 'करहिं' से यह भी जनाया कि यह सब करते हैं तब भी ध्यानमें भी दर्शन दुर्लभ है। क्रोधसे मोह, मोहसे ममता और ममतासे मद होता है, अतः उसी क्रमसे लिखा। धन-धामादिमें अपनपौ ममता है और जाति-विद्या-गुण-ऐश्वर्यादिका गर्व मद है)। 'जेहि लागी'—'जेहि' का सम्बन्ध आगे है। (ख) 'ब्यापक ब्रह्म अलखु अबिनासी' इति। व्यापक कहकर अलख अविनाशी कहनेका भाव कि सब कोई लख पड़ता है, सबका नाश होता है और ब्रह्म सबमें

व्यापक है, इससे पाया जाता है कि सबको ब्रह्म भी लख पड़ता है, और ब्रह्मका नाश भी होता है, अतः कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वह व्यापक होते हुए भी अलक्ष्य और अविनाशी है। (ग) 'चिदानंदु' अर्थात् सच्चिदानन्द है। यहाँ 'सत्' शब्दका अध्याहार है। ब्रह्म सत् है और सब असत् है, ब्रह्म चैतन्य है और सब जड़ हैं, ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और सब दुःखरूप हैं। (घ) 'निरगुन गुनरासी'—निर्गुण कहनेसे जाना गया कि ब्रह्म गुणरहित है, अतः 'गुनरासी' कहा, अर्थात् ब्रह्म त्रिगुणसे परे है, दिव्य गुणोंकी राशि है। निर्गुण गुणराशि कहनेका (अद्वैतमतानुसार) भाव कि ब्रह्म निर्गुण है और गुणराशि है अर्थात् सगुण होता है, सगुण ब्रह्ममें अनन्त गुण हैं पुनः भाव कि आप ही निर्गुण ब्रह्म हैं और आप ही सगुण ब्रह्म हैं। (ङ) ब्रह्म व्यापक है इसीसे अलख है, अलख है इसीसे अविनाशी है और अविनाशी है इसीसे सच्चिदानन्द है, इत्यादि क्रमका भाव है।

मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥ ७ ॥
महिमा निगमु नेति कहि* कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई ॥ ८ ॥

दो०—नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल।
सबइ लाभु† जग जीव कहँ भए ईसु अनुकूल ॥३४१॥

शब्दार्थ—तरकना (तर्कणा)=तर्क करना, विवेचना करना। अनुमानी=अनुमान करनेवाले, नैयायिक।

अर्थ—जिसको मनसहित वाणी नहीं जानती, सब अनुमान करनेवाले जिनकी तर्कणा नहीं कर सकते ॥ ७ ॥ जिनकी महिमाको निगम (वेद) 'न इति' कह-कहकर वर्णन करता है। जो तीनों कालोंमें एक समान रहता है ॥ ८ ॥ वही सम्पूर्ण सुखोंका मूल मेरे नेत्रोंका विषय हुआ। ईश्वरके अनुकूल होनेपर जीवको संसारमें सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३४१ ॥

टिप्पणी—१ (क) मनसमेत वाणी कहनेका भाव कि प्रथम मन जाता है तत्पश्चात् वाणी कहती है। निर्गुण ब्रह्ममें मन नहीं जाता, वाणी उसे कह नहीं सकती। यथा—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक ४। ब्रह्मके परम आनन्दस्वरूपके सम्बन्धमें यह श्रुति है। अर्थात् जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है। यहाँ 'मनसमेत वाणी' से समस्त इन्द्रियोंका समुदायरूप मनोमय शरीर अभिप्रेत है)। (ख) '**तरकि न सकहिं सकल अनुमानी**' इति। मनसे परे वाणी है और वाणीसे परे बुद्धि है। अनुमान बुद्धिसे किया जाता है। '**सकल अनुमानी**' कहनेसे पाया गया कि अनुमानी बहुत हैं और सब अनुमानियोंके अनुमान भिन्न-भिन्न हैं। इन सभी अनुमानोंसे ब्रह्म पृथक् है। यहाँ मन, वाणी और बुद्धि तीनोंहीकी पहुँच नहीं है—यह जनाया।

२ '**महिमा निगम नेति कहि कहई।**···' इति। (क) सबसे पीछे वेदको कहा, क्योंकि वेद सबसे विशेष (श्रेष्ठ) हैं, इनसे अधिक कोई नहीं कह सकता। अनुमानी एक-से-एक अधिक श्रेष्ठ हैं पर वेद सबसे श्रेष्ठ हैं। (ख) प्रथम कहा कि '**राम करौं केहि भाँति प्रसंसा**' उसका अर्थ यहाँ खोला कि जिसकी महिमाको वेद नहीं कह सकते उसकी प्रशंसा मैं किस विधिसे करूँ। 'न इति'=इतना ही नहीं, यही नहीं, ऐसा ही नहीं।=इति नहीं है। विशेष पूर्व लिखा गया है।

नोट—१ 'कहि' की जगह 'नित' भी पाठान्तर है। परंतु 'कहि' इसलिये उत्तम है, कि यद्यपि '**राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी**' सही है, तो भी वेद गुण गाते ही हैं, यह क्यों और कैसे? वे तो निरन्तर नेति-नेति कहकर लाचारी दिखाते रहते हैं, तो भी कहते जाते हैं; क्योंकि '**भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा।**' यहाँ जानने, सोचनेके साथ कहना ही सुसंमत हैं, इसीलिये '**कहि कहई**' उत्तम पाठ है—(गौड़जी)।

टिप्पणी—३ '**जो तिहुँ काल एकरस रहई**' इति। ब्रह्म भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें एकरस रहता है, न उसका आदि है, न मध्य और न अन्त है अर्थात् वह न तो उत्पन्न हो, न बढ़े और न उसका कभी नाश ही हो। वह कभी षट्विकारको नहीं प्राप्त होता। ऊपरसे लेकर यहाँतक यह दिखाया कि कोई उनका मनसे सेवन करता है, कोई उनके लिये कर्म करता है और कोई वाणीसे उनका कथन करता है। अतः तीनोंको यहाँ कहा गया। '**मुनि महेस मन मानस हंसा**'—ये मनसे सेवन करनेवाले हैं। '**करहिं जोग**···' यह कर्मवाले और '**महिमा निगम**···' यह वाणीसे कहनेवाले हैं।

* नित। † सुलभ—१७२१, १७६२, छ०। लाभ—१६६१, १७०४।

४ 'नयन बिषय मो कहुँ···' इति । (क) भाव कि मुनि, महेश, योगी और वेद किसीको नयनका विषय नहीं होते, पर मुझे हुए अर्थात् मुझे अपने साक्षात् दर्शन दिये । मुझे नेत्रोंसे देख पड़े । (ख) 'सो समस्त सुखमूल' यथा—'सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तन हुलस्यो हिये ॥ ३२४ ॥ 'आनंदकंद बिलोकि दूलहु···॥ ३१८ । ३२१ ॥' 'आनन्देन जातानि जीवन्ति' (तैत्ति० भृगु० अनु० ६) अर्थात् उस आनन्दमयके आनन्दका लेश पाकर सब प्राणी जी रहे हैं), 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० ४ । ३ । ३२) । अर्थात् यह इसका परमानन्द है । इस आनन्दकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं) । (ग) 'सबै सुलभ'—भाव कि आप अत्यन्त दुर्लभ हैं, मुझे सुलभ हो गये । 'भये ईस अनुकूल' भाव कि महादेवजीकी कृपासे श्रीरामजीका दर्शन होता है । पूर्व कहा ही है—इन्ह सम काहु न सिव अवराधे ।'

नोट—२ 'नयन बिषय···।' (क)—नेत्रका विषय रूप-दर्शन है । भाव यह कि जिसको मन-वाणी भी नहीं जान सकते वे ही हमें प्रत्यक्ष नेत्रोंसे दिखायी पड़े । इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि ईश्वरके अनुकूल होनेसे 'सबै' सुलभ है—(रा० प्र०) । (ख)—'ईश' का दूसरा अर्थ शिव है । पाँड़ेजी यह अर्थ करते हैं कि—'सब जीवोंको तुम्हारी प्राप्ति सुलभ करनेके लिये शङ्कर अनुकूल हुए ।' राजा जनकने धनुषभङ्गकी प्रतिज्ञा शिवजीकी आज्ञासे की थी और जनकजीके विषयमें कहा भी है कि 'इन्ह सम कोउ न सिव अवराधे ।' अतः वह भी भाव हो सकता है कि शिवजीकी अनुकूलतासे सभी सुलभ हो जाता है । पर यहाँ श्रीरामजीकी स्तुति कर रहे हैं इससे उन्हींके लिये 'ईश' शब्द विशेष संगत प्रतीत होता है । आगेके 'निज जन जानि लीन्ह अपनाई' से भाव स्पष्ट है ।

गौड़जी—श्रीजनकजी रामजीकी प्रशंसा करनेमें लाचारी यों प्रकट करते हैं कि मुनि, शिव, योगी, ज्ञानी सभी आपको प्राप्त करनेमें यत्नवान् हैं । ज्ञानी हैरान है कि मन-वचन-बुद्धिसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, अनुमान करके सब मिलकर भी तर्कणा (ख्याल) में नहीं ला सकते । आपकी प्रशंसा वेद करते भी हैं तो भी नेति-नेति कहकर—लाचारी जाहिर करके वह सच्चिदानन्द तीनों कालमें एकरस रहता है (अर्थात् कभी गुप्त कभी प्रकट, कभी कुछ कभी कुछ, नहीं होता, अविकारी है, नयन-विषय नहीं हो सकता), सो वही सब सुखोंका मूल मुझे प्रत्यक्ष हो गया । जब शङ्कर प्रसन्न हों तो जगत्‌में भी उनके भक्तको सब कुछ सुलभ (असम्भव भी सम्भव) हो सकता है ।

टिप्पणी—५ प्रमाण चार हैं—उपमान, अनुमान, शब्द और प्रत्यक्ष । यथा—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् चतुर्विधं प्रमाणं नैयायिकमते ।' यहाँ चारों प्रमाण कहते हैं । 'मुनि महेस मन मानस हंसा' जैसे मानसमें हंस रहते हैं वैसे ही आप मुनि और महेशके मनमें रहते हैं, यह उपमान है । 'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी' यह अनुमानकी दशा कही । 'महिमा निगम नेति कहि कहही' यह शब्दप्रमाणका हाल कहा । 'नयन बिषय मो कहुँ भयेउ' यह प्रत्यक्षप्रमाण कहा ।

नोट—३ 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥ १ । ३ ॥' (अर्थात् वहाँ न तो नेत्र जा सकें, न वाणी, न मन, इसलिये हमें उसे नहीं कह सकते कि ऐसा है या वैसा है या कैसा है), केनोपनिषद्‌की इस श्रुतिसे मिलान कीजिये । इसके अनुसार 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' से प्रत्यक्ष, 'न वाग्गच्छति' से शब्द, 'नोमनो' से अनुमान, 'न विद्मो' से बुद्धि और 'न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' से उपमानसे भी अगम्य जनाया है । प्रमाण कितने हैं इसपर पूर्व ५१ (८) भाग २ में लिखा जा चुका है ।

सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई । निज जन जानि लीन्ह अपनाई ॥ १ ॥
होहिं सहसदस सारद सेषा । करहि कलप कोटिक भरि लेखा ॥ २ ॥
मोर भाग्य राउर* गुन गाथा । कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा ॥ ३ ॥
मैं कछु कहौं एकु बल मोरे । तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥ ४ ॥
बार बार माँगौं कर जोरें । मनु परिहरै चरन जनि भोरें ॥ ५ ॥

अर्थ—आपने मुझे सभी प्रकार बड़ाई दी । अपना जन जानकर (मुझे) अपना लिया ॥ १ ॥ (यदि) दस हजार

* रउरे—छ० ।

(भी) शारदा और शेष हों और करोड़ों कल्पोंतक लिखते रहें ॥ २ ॥ (तो भी) हे श्रीरघुनाथजी ! सुनिये । मेरा भाग्य और आपके गुणोंकी गाथा कहकर (अर्थात् कहनेसे) समाप्त नहीं हो सकती ॥ ३ ॥ मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह अपने इस एक बलपर कि आप अत्यन्त थोड़े प्रेमसे रीझते (प्रसन्न हो जाते) हैं ॥ ४ ॥ मैं हाथ जोड़े बारम्बार (यह वर) माँगता हूँ कि मेरा मन भूलकर भी (आपके) चरणोंको न छोड़े ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सबहि भाँति···' अर्थात् मुझे मुनियोंसे, योगियोंसे, राजाओंसे तथा जातिसे इत्यादि सब प्रकारसे बड़ाई दी । मुनियों, योगियों आदिके हृदयमें बसते हो और मुझको साक्षात् दर्शन दिया । श्रीरामजी जिसको अपनाते हैं, उसकी जगत्‌में प्रशंसा और बड़ाई होती है, यथा—'राम कीन्ह आपन जब ही तें। भयउँ भुवन भूषन तब ही तें ॥ २ । १९६ ।' इसीसे बड़ाई देना कहकर अपनाना भी कहते हैं । 'निज जन जानि' का भाव कि आप अपनाये हुए तो सभीको हैं, यथा—'सब मम प्रिय सब मम उपजाए', पर मुझे अपना जन जानकर अपनाया है (यह विशेषता है) । पुनः, 'बिना बुलाये स्वयं कृपा करके आये, मैंने रोषभरे वचन कहे उसपर भी मुझपर कुपित न हुए, मेरे वचन सह लिये और पिताके समान मेरा सम्मान करते आये, इति 'सब भाँति' । (पं०) । अथवा, 'लोक वेद सब भाँति से' । (वै०)] । (ख) 'होहिं सहसदस सारद सेषा'—शारदा और शेष दोके नाम यहाँ कहनेका प्रयोजन आगे कहते हैं—'मोर भाग्य राउर गुनगाथा···' । दो बातोंके कहनेके लिये दो वक्ता चुने । मेरे सौभाग्यका कथन शारदा करें और आपके गुणगाथाको शेष कहें । दो वक्ता बताये जिसमें शीघ्र कहकर समाप्त कर दें । एक ही वक्ता दोनोंके गुण कहे तो विलम्ब होगा । 'होहिं' कहनेका भाव कि एक ब्रह्माण्डमें एक ही शारदा और एक ही शेष होते हैं, दस-दस हजार नहीं हैं, इतने जब हों तब । (ये ही दो प्रधान वक्ता हैं । एक स्वर्गमें, एक पातालमें, इसीसे इन्हीं दोको कहा । मर्त्यलोकमें कोई ऐसा है ही नहीं, इससे यहाँ किसीका नाम न दिया) ।

२ 'मोर भाग्य राउर गुनगाथा ।···' इति । (क) अपना जन जानकर अपनाया, यह मेरा 'भाग्य' है । अपने भाग्यको और श्रीरामजीके गुणोंको एक साथ मिलाकर कहनेमें भाव यह है कि आपके गुणोंहीने मुझे भाग्यवान् किया । आशय यह कि आपने अपने गुणोंसे मुझे अपना जन बनाया, इसीसे आपके गुणोंकी बड़ाई है और इसीसे मेरे भाग्यकी बड़ाई है। यथा—'सोइ भरोस मोरे मन आवा । केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ॥' (ख) 'कहि न सिराहिं' से जनाया कि दोनों अनन्त हैं, दोनोंका पार कोई नहीं पा सकता । (ग) 'सुनहु रघुनाथा' इति । भाव कि श्रीरामजी अपना गुण सुननेमें सकुचाते हैं, 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं । ६ । ४६ ।' (यह सन्तका लक्षण श्रीरामजीने नारदजीसे कहा है । वह गुण अपनेमें अनेक स्थानोंमें उन्होंने चरितार्थ कर दिखाया है) । इसीसे जनकजी सुननेको कहते हैं । (हो सकता है जब ऐश्वर्य वर्णन करने लगे तब श्रीरघुनाथजीने सकुचाकर आँखें नीची कर ली हों, इसीसे ऐसा कहा) । 'रघुनाथा' का भाव कि इस रघुनाथ-रूपके गुण अनन्त हैं । (घ)—प्रथम जो कहा था कि 'रूप सील गुन निधि सब भ्राता' उन्हीं तीनोंकी क्रमसे बड़ाई की है—'राम करौं केहि भाँति प्रसंसा' से लेकर 'नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल ।' तक रूपकी, 'सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई । निज जन जानि लीन्ह अपनाई ॥' में शीलकी और 'मोर भाग्य राउर गुन गाथा ।' में गुणकी प्रशंसा की ।

३—'मैं कछु कहौं एक बल मोरें···' इति । (क) 'मैं' कहकर अपनी लघुता दिखाते हैं । 'कछु' का भाव कि शेष-शारदा बहुत कहते हैं, मैं तो कुछ ही कहता हूँ । अथवा, आपके अनन्त गुणोंमेंसे मैं कुछ कहता हूँ । 'एक बल मोरें' अर्थात् यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आप स्नेहसे रीझते हैं । अथवा, मुझमें एक ही बल है, वह यह कि मुझमें स्नेह है; मेरे स्नेहको देखकर आपने मुझपर बड़ी कृपा की –वही एक गुण मैं कहता हूँ कि 'तुम्ह रीझहु···' । ['एक बल मोरें' अर्थात् मुझे यह विश्वास और भरोसा है और हमारे पास यही एक वस्तु है भी । (प्र० सं०) [(ख) अनन्त गुणोंमेंसे एक गुण कहनेका भाव यह है कि अनन्त गुण एक ओर हैं और 'अत्यन्त थोड़े स्नेहसे रीझना' यह गुण एक ओर है (अर्थात् ये दोनों तोले जायँ तो यह एक गुण भारी निकलेगा । अनन्त गुण मिलकर भी इस एक गुणके बराबर नहीं हो सकते) । ☞ उपदेश—'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे' यह कहकर श्रीजनकमहाराजने जगत्‌भरको कृतार्थ कर दिया । लोग इस वाक्यको लेकर स्नेह करें और कृतार्थ हो जायँ ।

४—'बार बार माँगौं कर जोरें···' इति । (क) बार-बार माँगनेका भाव यह है कि भक्ति परम दुर्लभ वस्तु है, शीघ्र नहीं मिलती । [आप सब सुख दे देते हैं पर रीझनेपर भी अपनी भक्ति शीघ्र नहीं देते, बिना माँगे देते ही नहीं ।

यथा—'कागभुसुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि । अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि । ७ । ८३। ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना ।''''प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥'] (ख) 'कर जोरें'—श्रीजनकजी प्रथमसे ही हाथ जोड़े हुए हैं, यथा—'जोरि पंकरुह पानि सुहाए । बोले बचन''''॥ ३४१ । ३ ।' इसीसे 'कर जोरें' कहा । 'जोरि पंकरुह पानि' उपक्रम है और 'बार बार माँगौं कर जोरें' उपसंहार है । वहाँ स्तुति करनेके लिये हाथ जोड़े और यहाँ वर माँगनेके लिये जोड़े । (ग) 'मन परिहरै चरन जनि भोरें' इति । जिस स्नेहकी बड़ाई की वही स्नेह माँगते हैं; परंतु 'मन परिहरै''''' में स्नेहका नाम नहीं लिया । कारण कि श्रीरामजीमें जो जनकजीका स्नेह है वह गुप्त है, यथा—'जाहि रामपद गूढ़ सनेहू । जोग भोग महुँ राखेउ गोई'''' । १ । १७ ।', इसीसे ग्रन्थकारने भी अक्षरोंमें गुप्त रक्खा । ['परिहरै जनि' से सूचित हुआ कि इन चरणोंमें प्रेम तो है ही और गुप्त भी है, अब उसकी अचलताका वर माँग रहे हैं । (घ) इस वरके माँगनेसे सिद्ध हुआ कि तत्त्व-ज्ञान स्नेहके समान आनन्ददाता नहीं है । (रा० प्र०) । अथवा मोक्षसुख 'रहि न सकइ हरिभगति बिहाई' इसीसे अन्य सुजान मुनियोंकी तरह विदेहजी भी 'पदरति' माँगते हैं । मोक्ष फल है, उस फलमें यदि हरिपदरतिरूपी रस न हुआ तो उस फलका कुछ भी मूल्य नहीं है । (प० प० प्र०)]

सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे । पूरनकामु रामु परितोषे ॥ ६ ॥
करि बर बिनय ससुर सनमाने । पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥ ७ ॥
बिनती बहुरि भरत सन कीन्ही । मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही ॥ ८ ॥

अर्थ—(श्रीजनकजीके) श्रेष्ठ वचनोंको, जो मानो प्रेमसे पोसे (पुष्ट) किये हुए थे, सुनकर पूर्णकाम श्रीरामचन्द्रजी सन्तुष्ट हुए ॥ ६ ॥ सुन्दर श्रेष्ठ विनती करके उन्होंने ससुरका सम्मान किया । उनको पिता, कौशिक (विश्वामित्रजी) और वसिष्ठजीके समान जाना ॥ ७ ॥ फिर (राजा जनकने) भरतजीसे विनती की । प्रेमपूर्वक मिलकर फिर आशीर्वाद दिया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बोले बचन प्रेम जनु जाए । ३४१ । ३ ।' उपक्रम है । 'बर बचन प्रेम जनु पोषे', उपसंहार है । उपक्रममें 'जाए' और उपसंहारमें 'पोषे' कहनेका भाव कि राजाके वचन उनके प्रेमसे उत्पन्न हुए हैं और उन्हींके प्रेमसे पुष्ट हुए हैं । वचन 'बर' अर्थात् श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनमें भगवान्‌के रूप और गुणोंका कथन है और प्रेमसे वे बलयुक्त किये हुए हैं । [पुनः थोड़े अक्षरोंमें अर्थ बहुत और गूढ़ आशय विलक्षण देशकालानुकूल सुहावने श्रवणरोचक तथा स्नेहवर्धक होनेसे वचनको 'बर' कहा (वै०)] । पुनः प्रेमसे उत्पन्न हुए और उसीसे पुष्ट हुए होनेसे 'बर' कहा । श्रीजनकजीने स्नेहकी प्रशंसा की —'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें'; इसीसे स्वयं प्रेमसे उत्पन्न और पुष्ट किये हुए वचन बोले । (ख) 'पूरनु कामु रामु परितोषे' इति । तात्पर्य कि श्रीरामजीकी सब कामनाएँ पूर्ण हैं; वे एकमात्र प्रेमके भूखे हैं, केवल प्रेमसे संतुष्ट होते हैं, इसीसे प्रेमके वचन सुनकर संतुष्ट हुए । यथा—'रीझत राम सनेह निसोतें । १ । २८ । ('प्रेम जनु जाए' और 'प्रेम जनु पोषे' कहकर आद्यन्त प्रेममय जनाये । 'पूर्णकाम' और 'परितोषे' से जनाया कि कोई भी कामना न रहनेपर भी वे भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये प्रेमसे प्रसन्न होते हैं) । (ग) 'राम परितोषे'—इस कथनसे श्रीजनकजीके वचनोंकी स्वीकृति जनायी, अर्थात् उनको चरणोंकी भक्ति दी । क्योंकि देवताका संतुष्ट होना व्यर्थ नहीं होता । माधुर्यकी मर्यादा रक्खी, इसीसे प्रकटरूपसे 'एवमस्तु' न कहा । [इसी प्रकार जब गुरु श्रीवसिष्ठजीने 'नाथ एक बर माँगउँ राम कृपा करि देहु । जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु ॥ ७ । ४९ ॥' कहा, तब भी कविने 'कृपासिंधु मन अति भाए' कहकर माधुर्यका निर्वाह करते हुए भी वरका देना गुप्तरूपसे दिखाया है । कोई-कोई 'श्रीरामजीने उनका परितोष किया', यह अर्थ करते हैं ।

२ 'करि बर बिनय''''' इति । (क) श्रीजनकजीके 'बर बचन प्रेम जनु पोषे' के सम्बन्धसे 'बर बिनय' करना कहा । अर्थात् उन्होंने सुन्दर श्रेष्ठ वचन कहे थे, इसीसे इन्होंने भी श्रेष्ठ विनय की, क्योंकि यह भगवान्‌का विरद है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥' (गीता ४ । ११) भगवान्‌को जो जिस प्रकार भजता है, भगवान् भी उसी प्रकार उसे भजते हैं । (ख) 'पितु कौतुक बसिष्ठ सम जाने' इति । अर्थात् जैसा इनको मानते हैं वैसा ही जनकजीको माना, वैसा ही नम्र हुए, वैसी ही विनय की और मुखसे कहा कि आप हमारे पिताके समान हैं, कौशिकजीके समान हैं, गुरु वशिष्ठजीके समान हैं—ऐसा कहकर सम्मान किया । (ग) पिता, कौशिक और वशिष्ठ तीनको कहनेका भाव कि कर्म, ज्ञान और उपासना (वेदोंमें ये) तीन ही हैं (वही तीनों यहाँ दिखाते हैं) पिताके समान उपासक जाना, यथा—

'सुत बिषइक तव पद रति होऊ । १५१ । ५ ।' (श्रीमनुजीने 'पद रति' माँगा था) तथा यहाँ श्रीजनकजी भी माँगते हैं कि 'मन परिहरै चरन जनि भोरे ।' राजा दशरथजी और राजा जनकजी दोनोंकी श्रीचरणोपासना गुप्त है, प्रत्यक्षमें वात्सल्य है। कौशिक समान कर्मकाण्डी जाना; क्योंकि जैसे कौशिकजीने यज्ञको प्रधान रक्खा, श्रीरामजीको यज्ञका रक्षक बनाया, वैसे ही जनकजीने धनुषयज्ञको प्रधान रक्खा और श्रीरामजीको सामान्य (गौण) रक्खा। वशिष्ठ-समान जाननेका भाव कि जैसे श्रीवशिष्ठजी ज्ञानी हैं, वैसे ही श्रीजनकजी ज्ञानी हैं। (वशिष्ठजीने अपने प्रेमको ज्ञानमें गुप्त रक्खा, वैसे ही जनकजीने अपने प्रेमको योगमें गुप्त रक्खा। वशिष्ठजीको ज्ञानी विशेषण जहाँ-तहाँ दिया गया ही है; जैसे नामकरण-संस्कारमें, यथा— 'नामकरन कर अवसरु जानी । भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी ॥ १९७ । २ ॥' (प्र० सं०)]

नोट—१ 'पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने' के और भाव—(१) धर्मशास्त्रने श्वशुरको पिता-समान कहा है; अतः 'पितु सम जाने' विश्वामित्रजी तपोनिधि हैं, तपपुञ्ज हैं, वैसे ही जनकजीने भी पूर्व-जन्ममें और इस जन्ममें भी ज्ञानके निमित्त यमनियमादि कठिन साधन किये हैं, अतः 'कौसिक सम जाने ।' 'बसिष्ठ सम जाने' क्योंकि जैसे वसिष्ठजीको एकरसस्वरूपकी अपरोक्षता है वैसे ही राजाको भी है। (पं०) । दोनों एकरस ज्ञानी हैं (रा० प्र०) ।

२ 'राम-जानकी एक अङ्ग हैं, इसलिये जनकको पिताके समान जाना। विश्वामित्रके समान इसलिये जाना कि जैसे उनके हेतु विजय मिली ऐसे ही जानकीजी विजयरूपा हैं सो उनसे मिलीं। प्रथम विद्या वसिष्ठसे मिली है, इसलिये जानकीजी जो ब्रह्मविद्यारूपा हैं उनकी प्राप्तिसे वसिष्ठसमान जाना।' (पाँ०) । आशय यह है कि श्रीराम और श्रीजानकी एक ही हैं, देखने वा कहनेमात्रमें दो हैं—'कहिअत भिन्न न भिन्न ।' अतः श्रीजानकीजीके पिता होनेसे श्रीरामजीके भी पिताके तुल्य हैं। अथवा जानकीजी श्रीरामजीकी धर्मपत्नी हैं और जनकजी श्रीजानकीजीके पिता हैं अतः इनके भी पिताके समान हैं। विश्वामित्रजीके कारण यज्ञरक्षामिष तथा अहल्योद्धारद्वारा श्रीरामजीने विजय और कीर्ति पायी, यथा—'कीरति रही भुवन भरि पूरी । ३५७ । ३ ।' वैसे ही श्रीजनकजीके कारण शुल्क स्वयंवर धनुषयज्ञके मिष 'विजय कीर्ति' रूपा श्रीजानकीजीकी प्राप्ति हुई, यथा—'बिस्व बिजय जसु जानकि पाई । ३५७ । ५ ।' अतः 'कौसिक सम जाने ।'

३ 'पितु' से वात्सल्यभाव, यथा—'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी । सिसु सम प्रीति''' ॥ २४२ । ३ ॥', कौशिकसे राजर्षितुल्यता, महान् तपस्या इत्यादि और 'वसिष्ठ' से ब्रह्मर्षितुल्यता सूचित की (प० प० प्र०) ।

प० प० प्र०—यह स्तुति मानसकी छठी स्तुति है और नक्षत्रमण्डलमें आर्द्रा छठा नक्षत्र है। यह स्तुति आद्यन्त प्रेमरससे आर्द्र है और उसका नाम ही आर्द्रा है, यह साम्य है। पुनः जैसे आर्द्रामें एक तारा है, उसका आकार मणिका-सा और देवता शर्व है, वैसे ही स्तुतिमें 'ईशकी अनुकूलता' ही तारा है। शिवजीकी कृपा होनेपर इस स्तुतिका अवसर मिला है। मणि प्रकाशमय होती हैं और यहाँ शिव-कृपाप्रकाशमें चलनेपर ही रामभक्ति प्राप्त हो गयी है। शर्व=संहारकर्ता। शिवचापके संहारका फल यह स्तुति है। फलश्रुति है 'जनक सियराम प्रेम के' और यहाँ स्वयं सिय-जनक ही स्तुति कर रहे हैं। जो इस स्तुतिका गान करेगा उसे सियरामपद प्रेम होगा।

टिप्पणी—३ (क) पिता गुरुसे श्रेष्ठ हैं इससे प्रथम पिताको कहा। फिर पिताका भाव कौशिकजीमें है, यथा—'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ । २०८ । १० ।', अतः पिताके पश्चात् कौशिकजीको कहा तब वसिष्ठजीको। (ख) 'बिनती बहुरि भरत सन कीन्ही''''।' इति। भरतजी श्रीरामजीके रूप हैं, इससे भी विनती की जैसे रामजीसे विनती की, वैसे ही इनसे भी की। 'मिली सप्रेम' अर्थात् प्रेमपूर्वक गले लगाकर मिले, श्रीरामजीमें ईश्वरभाव माना, इससे उनसे विनय की और भरतजीमें ईश्वरभाव और शिशुभाव दोनों भाव माने इससे विनय किया और फिर आशीर्वाद भी दिया।

दो०—मिले लषन रिपुसूदनहि दीन्हि असीस महीस।
भये परसपर प्रेमबस फिरि फिरि नावहिं सीस ॥ ३४२ ॥

अर्थ—राजा (श्रीजनकजी) श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजीसे मिले (अर्थात् इनको हृदयमें लगाया) और आशीर्वाद दिया। ये परस्पर प्रेमवश हो गये। फिर-फिरकर शिर नवाते हैं (प्रणाम करते हैं) । ३४२ ।

टिप्पणी—१ (क) 'मिले लषन रिपुसूदनहि' अर्थात् पहले श्रीलक्ष्मणजीसे मिलकर उनको आशीर्वाद दिया तब श्रीशत्रुघ्नजीसे मिले और आशीर्वाद दिया। 'दीन्हि असीस' से जनाया कि केवल शिशुभाव मानकर इनको आशीर्वाद दिया,

इनसे विनय न की। [इस प्रसंगमें तीन तरहका मिलाप दिखाया है। श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर विनती की, रामजीने 'करि बर बिनय ससुर सनमाने'; अर्थात् उत्तरमें विनम्र वचन कहे। शीश नवाना इनका न कहा। राजाने श्रीरामजीको आशीर्वाद नहीं दिया। इस प्रकार इनसे पूर्ण ऐश्वर्यभावसे मिले। भरतजीसे विनती की और फिर उनको आशीर्वाद दिया, इस प्रकार इनके मिलापसे ऐश्वर्य-माधुर्य दोनों दिखाये। और लक्ष्मण-शत्रुघ्नमें केवल माधुर्य दिखाया, इनसे विनती करना नहीं दिखाया। (प्र० सं०)। इससे बताया कि भरतजीका महत्त्व लक्ष्मण-शत्रुघ्नसे ऐश्वर्यभावदृष्ट्या अधिक है। प्राज्ञकी महत्ता विश्व और तैजससे अधिक है ही। (प० प० प्र०)] (ख) श्रीजनकजीका प्रेम, सब भाइयोंमें बराबर है, इसीसे सब जगह (चारों भाइयोंके प्रसङ्गोंमें) कविने प्रेम लिखा है। श्रीरामजीमें प्रेम, यथा—'बोले बचन प्रेम जनु जाए' (एवं 'सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे')। श्रीभरतजीमें प्रेम, यथा—'बिनती बहुरि भरत सन कीन्ही। मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही॥' श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजीमें प्रेम, यथा—'भये परसपर प्रेम बस।' (ग) 'भये परसपर प्रेम बस''''' इति। इससे सूचित किया कि राजा बार-बार दोनों भाइयोंको हृदयमें लगाते हैं और आशीर्वाद देते हैं, इसीसे दोनों भाई 'फिरि फिरि' शीश नवाते हैं—यही 'परस्पर प्रेमवश' होना है। [बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि परस्पर प्रेमवश हो जानेसे बड़ाई-छुटाईका विचार भूलकर एक दूसरेको प्रणाम करते हैं। (घ) प्रेमवश होना मनका भाव है, शिर नवाना तनका काम है, विनय करना वचन है। इस तरह मन, तन, वचन तीनोंसे प्रेम दिखाया।

प० प० प्र०—धनुर्यज्ञारम्भसे श्रीजनकजी तथा सुनयनाजी माधुर्य भक्तिभावसे सब व्यवहार करते रहे। विदाके समय दोनोंमें ऐश्वर्यभावकी जागृति हो गयी। तथापि रानी बहुत देर ऐश्वर्यभावमें न टिक सकीं। भगवान्‌के वचनोंसे उनका माधुर्यभाव फिरसे बलवान् हो गया। किंतु राजाका माधुर्यभाव फिरसे जागृत न हुआ। इसीसे उन्होंने श्रीरामजीको न तो आशीर्वाद ही दिया न फिर मिले।

श्रीबैजनाथजी—श्रीजनकजी दोनों भाइयोंसे मिले, जब उन्होंने प्रणाम किया तब राजाने आशीर्वाद दिया। लक्ष्मणजीको देख रङ्गभूमिमें अपने करुणावश होने और श्रीलक्ष्मणजीके वीरताके वचन सुनकर शोक मिटनेका प्रसंग स्मरण हो आनेसे महाराज प्रेमके वश हो गये। उधर दोनों भाई इनको बड़ा और श्रीरामप्रेमपरिपूर्ण जानकर प्रेमवश हुए। अतः परस्पर प्रेमवश होना कहा। लक्ष्मणजीने जो सरोष वचन कहे थे, उनके क्षमार्थ बार बार प्रणाम करते हैं।

बार बार करि बिनय बड़ाई। रघुपति चले संग सब भाई॥ १॥
जनक गहे कौसिकपद जाई। चरनुरेनु सिर नयनन्ह लाई॥ २॥
सुनु मुनीसबर दरसन तोरे। अगमु न कछु प्रतीति मन मोरे॥ ३॥
जो सुखु सुजसु लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं॥ ४॥
सो सुखु सुजसु सुलभ मोहि स्वामी। सब बिधि तव दरसन अनुगामी॥ ५॥
कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिरु नाई। फिरे महीसु आसिषा पाई॥ ६॥

अर्थ—बार-बार विनती और बड़ाई (प्रशंसा) करके सब भाई रघुनाथजीके साथ चले॥ १॥ श्रीजनकजीने जाकर श्रीविश्वामित्रजीके चरण पकड़े और चरणोंकी धूलि सिर और नेत्रोंमें लगायी (और बोले—)॥ २॥ हे मुनीश्वरोंमें श्रेष्ठ! सुनिये। आपके दर्शनोंसे कुछ भी दुर्लभ नहीं (ऐसा) मेरे मनमें विश्वास है॥ ३॥ लोकपाल जिस सुख और सुयशकी चाह करते हैं, (पर जिसका) मनोरथ करते हुए सकुचाते हैं॥ ४॥ हे स्वामिन्! वही सुख और सुयश मुझे सुलभ (सुगमतासे प्राप्त) हो गया। सब सिद्धियाँ आपके दर्शनोंकी अनुगामी (अर्थात् पीछे-पीछे चलनेवाली) हैं॥ ५॥ (इस प्रकार) बारम्बार विनती की और बारम्बार सिर नवाकर आशीर्वाद पाकर राजा लौटे॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'बार बार' क्योंकि प्रेमके वश हैं। 'बिनय बड़ाई'—भाव कि श्रीरामजीने श्रीजनकजीकी विनय और बड़ाई की, यथा—'करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने॥' (पिता आदिके समान जाना यह बड़ाई है)। इसीसे सब भाइयोंने भी विनय और बड़ाई की। (ख) 'रघुपति चले संग सब भाई' इति। यहाँ किसीका सवारीपर सवार होना नहीं लिखते; क्योंकि अयोध्याजीमें सवारियोंका विस्तारसे वर्णन कर चुके हैं, सबोंकी वही सवारियाँ यहाँ भी हैं; इसीसे यहाँ सवारियोंका विस्तारसे वर्णन न करके संक्षेपसे कह दिया कि 'रथ गज बाजि बरातिन्ह साजे। ३३९। ६'

'चले' अर्थात् चारों भाई अपने-अपने घोड़ोंपर सवार हुए। 'संग सब भाई'—सब भाई श्रीरघुनाथजीके साथ ही रहते हैं, इसीसे सर्वत्र भाइयोंसहित कहते हैं, यथा—'तेहि अवसर भाइन्ह सहित राम भानुकुल केतु। ३३४।', 'पाइ असीस बहुरि सिरु नाई। भाइन्ह सहित चले रघुराई। ३३७।' तथा यहाँ 'संग सब भाई'। (इससे यह भी जनाया कि जबतक कि जनकजी सब भाइयोंसे मिलकर विदा न हुए तबतक श्रीरामजी खड़े रहे)।

२ 'जनक गहे कौसिक पद जाई।''''' इति। (क) जनकजीका मुनिमण्डलीको प्रणाम करना लिख आये, यथा—'मुनि मंडलिहि जनक सिरु नावा। आसिरबादु सबहि सन पावा। ३४१। १।' यहाँ विश्वामित्रजीके चरणोंकी सबसे पृथक् वन्दना की गयी। इससे जनाया कि ये मुनि-मण्डलीमें नहीं थे, श्रीरामजीके निकट ही थे, इसीसे चारों भाइयोंसे मिलकर कौशिकजीसे मिले। (ख) 'गहे कौसिक पद'—चरण पकड़ना अत्यन्त प्रेम सूचित करता है, यथा—'पदु अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥''''', 'अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेम पंक जनु गिरा समानी। ३३७। १।' चरणरजका आँखोंमें लगाना भी अत्यन्त प्रेमका स्वरूप है, यथा—'चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई'। २। १९९।' (ग) 'जाई' से जनाया कि विश्वामित्रजी श्रीरामजीके समीप नहीं थे, कुछ दूरीपर थे। यदि कौशिकजी समीप होते तो पहले इन्हींके चरण पकड़ते तब चारों भाइयोंसे मिलते।

३ (क) 'सुनु मुनीस बर'—'मुनीस बर' कहकर अत्यन्त श्रेष्ठता दिखायी। मुनियोंसे श्रेष्ठ मुनीश हैं और आप तपस्याके कारण सब मुनीश्वरोंसे श्रेष्ठ हैं, यथा—'मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥ ३५९। ६।' 'तोरे' छन्दहेतु कहा। यहाँ यह अनादरका वचन नहीं है। (ख) 'अगम न कछु प्रतीति मन मोरे' इति। भाव यह कि मुझे आपके दर्शनका प्रत्यक्ष फल मिला इसीसे मुझे विश्वास है। फलकी प्राप्ति आगे कहते हैं—'जो सुखु''''' विश्वामित्रजीके दर्शनका भारी फल कहा, इसीसे विश्वामित्रजीको 'मुनीश्वर' कहा। जैसी मूर्ति है वैसा ही दर्शनका फल है। (ग) 'लोकपति चहहीं' से सुख-सुयशकी बड़ाई दिखाते हैं कि इतना भारी है कि जो सुख-सुयशसे पूर्ण हैं वे भी इसका मनोरथ करते सकुचाते हैं। [भाव यह है कि वह सुख कि ब्रह्म हमारे जामाता हों अलभ्य है, इस प्रकारके सुखका मनोरथ भी इन्द्रादिक करते सकुचते हैं। जो इतने बड़े ऐश्वर्यवान् हैं वे भी अपनेको इस सुखके योग्य नहीं समझते, वह सुख मुझे आपके द्वारा प्राप्त हुआ और जगत्‌में मुझे यश मिला। ऐसा कहकर यह भी सूचित किया कि आप अलभ्य-सुख-सुयश-युक्त हैं। (प्र० सं०)। सुख और सुयशकी प्राप्ति जनकजीने स्वयं कही है, यथा 'नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुखमूल। सबुइ लाभु जग'''''। ३४१।' 'सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई।' में देखिये। पुनश्च यथा—'सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंदु चकोरा॥'''''इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा। १। २१६।', 'जनकु लहेउ सुख सोच बिहाई। २६३। ४।', 'सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जन्म दरिद्र मनहु निधि पाई॥ जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा॥ मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। १। २८६।' (यहाँ भी कौशिकजीकी कृपासे कृतकृत्य होना कहा है), इत्यादि। सुयशकी प्राप्ति पूर्व 'तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई। १। ३२४ छन्द ४।' में विस्तारसे लिखी गयी है। जानकीमङ्गलमें भी कहा है—'प्रभु प्रसाद जास जाति सकल सुख पायऊँ। १०८।' जैसे राजा जनकने इनकी कृपासे सुखकी प्राप्ति कही, वैसे ही श्रीअवधेशजीने भी कही है, यथा—'येहु सबु सुखु मुनिराज तव कृपा कटाच्छ पसाउ। ३३१'] विशेष टि० ४ में देखिये।

४ (क)—'सो सुखु सुजसु सुलभ मोहि स्वामी।''''' इति। भाव कि लोकपालोंको दुर्लभ था और मुझे सुलभ हो गया। 'दरसन अनुगामी'—अर्थात् आपके दर्शन प्रथम हुए तब श्रीरामजीका दर्शन हुआ, वे मिले, उन्होंने धनुष तोड़ा, विवाह हुआ, यह सब सुख आपके दर्शनके पीछे हुआ। आपके दर्शनके पश्चात् सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। (ख) 'कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिरु नाई।''''' इति। 'सुनु मुनीस बर दरसन तोरें' से 'सब सिध तव दरसन अनुगामी' तक विनय है। विनयके आदिमें प्रणाम किया था, यथा—'जनक गहे कौसिक पद जाई'—यह उपक्रम है। 'कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिरु नाई' उपसंहार है। (ग) श्रीजनकजीके यहाँ जो सुख हुआ उसके सम्पुट श्रीविश्वामित्रजी हैं, इसीसे सबके आदिमें इनका मिलन और सबके अन्तमें इनकी विदा कही गयी। 'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ग्याति। चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ येहि भाँति। २१४' उपक्रम है और 'कीन्ह'''''। फिरे महीसु आसिषा पाई।' उपसंहार है। इसके बीचमें सब सुख है। इसीसे सबके अन्तमें विश्वामित्रके चरणोंमें सिर नवाया।

चली बरात निसान बजाई। मुदित छोट बड़ सब समुदाई॥ ७॥
रामहि निरखि ग्राम नर नारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी॥ ८॥

दो०—बीच बीच बर बास करि मग लोगन्ह सुख देत।
अवध समीप पुनीत दिन पहुँची आइ जनेत॥ ३४३॥

शब्दार्थ—जनेत=बारात। यह देहलीके पश्चिम हरिहरपुरकी बोली है। पं० रामकुमारजीका मत है कि यह शब्द 'जनता' शब्द है, अनुप्रासके लिये 'जनता' का 'जनेत' कर दिया है। 'जनानां समूहो जनता' अर्थात् लोगोंके समूहको जनता कहते हैं। बास=निवासस्थान, टिकाव।=निवास।

अर्थ—बारात डंका (नगाड़ा) बजाकर चली। छोटे और बड़े सभी तथा छोटे-बड़े सबोंके समुदाय (समाज, गोह, समूह) प्रसन्न हैं॥ ७॥ (मार्गमें) ग्रामोंके स्त्री-पुरुष श्रीरामजीको देखकर नेत्रोंका फल पाकर सुखी होते हैं॥ ८॥ बीच-बीचमें श्रेष्ठ निवास-स्थानोंमें निवास करके मार्गके लोगोंको सुख देती हुई बारात श्रीअयोध्यापुरीके समीप पवित्र (शुभ) दिनपर आ पहुँची॥ ३४३॥

टिप्पणी—१ (क) 'चली बरात निसान बजाई' इति। प्रथम राजा निशान बजाकर चले, यथा—'चले अवधपति अवधपुर मुदित बजाइ निसान॥ ३६९॥' जब राजा चले तब बारात नहीं चली। बारात श्रीरामजीकी राह देखती रही क्योंकि सब श्रीरामजीके प्रेमी हैं। यथा—'रामहि देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥ ३०९। १॥' बारातमें दूलह ही मुख्य है, उसको लेकर बारात चलती है)। अतः जब विश्वामित्रसहित चारों भाई चले तब बारात चली। इस चौपाईका सम्बन्ध 'समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ गज बाजि बरातिन्ह साजे॥ ३३९। ५॥' से है, वहाँ सजकर तैयार होना कहा था, अब यहाँ उसका चलना कहते हैं। [(ख) यहाँ बारातके चलनेका क्रम भी दिखाते हैं कि आगे अवधपति हैं, उनके साथ मुनि-मण्डली है, फिर भाइयोंसहित श्रीरामचन्द्रजी हैं; तब विश्वामित्रजी हैं और उनके पीछे बारात है। इसी क्रमसे श्रीजनकमहाराज सबसे मिलते हुए पीछे लौटे। 'सब समुदाई' में सब समाज बराती, हाथी घोड़े, सेवक इत्यादि सभी समाज आ गये। (प्र० सं०)] (ग) 'मुदित छोट बड़ सब समुदाई' अर्थात् बड़ोंके समूह और छोटोंके समूह। अर्थात् घोड़ों, हाथियों और रथोंके समूह, ब्राह्मणोंके समूह, मागधों-सूतों-वन्दियोंके समूह, कहारोंके समूह, सेवकोंके समूह, इत्यादि। (घ) दोहा—'उपक्रम उपसंहार पुनि दुहुँ दिसि बजे निसान। चलन सबन को क्रम कथन तेहि कर भाव बखान।' ☞बारातके श्रीजनकपुरसे प्रस्थानके समयकी चौपाइयोंमें इतनी बातें कही गयी हैं।]

२ 'रामहि निरखि ग्राम-नर-नारी।''''' इति। (क) पहले दशरथजी महाराजकी सवारी निकली तब श्रीरामजी-की, इनके पीछे बारात निकली। श्रीरामजी बारातसे आगे हैं, इसीसे सबको दर्शन होते हैं। यदि वे बारातके बीचमें होते तो सब ग्रामवासियोंको दर्शन न होता। सब श्रीरामजीको देखते हैं, इस कथनसे पाया गया कि ग्रामवासी स्त्री-पुरुष बारात देखनेके लिये ग्रामसे निकलकर बाहर खड़े हुए हैं। (जैसा वनवासके समय वर्णन किया गया है)। यथा—'सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥ सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काजु बिसारी॥ राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयनु फलु होहिं सुखारी' (२। ११४)। (ख)—'पाइ नयनु फलु' बारातका देखना नेत्रोंका फल नहीं है, श्रीरामजीका दर्शन नयनोंका फल है, यह दिखानेके लिये ही 'रामहि निरखि' कहा। (भुशुण्डिजीने भी कहा है—'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥ ७। ७५)॥'

३ 'बीच बीच बर बास करि''''' इति। (क) बीच-बीचमें टिकनेके लिये श्रेष्ठ निवास-स्थान बने हैं, यथा—'बीच बीच बर बासु बनाए। सुरपुर सरिस संपदा छाए। ३०४। ६॥' उनमें आरामका सब सामान है, रसोई तैयार है; अतः उनको सफल करनेके लिये बीच-बीचमें उन स्थानोंमें वास किया। 'बास' शब्द देहलीदीपक है—'बर बास हैं, उनमें बास करके' इस प्रकार अर्थ होगा। (ख) 'बीच-बीच''''सुख देत' से सूचित किया कि बारात बहुत धीरे-धीरे आयी है, नहीं तो सब सवारियाँ बड़ी शीघ्रगामी हैं, बहुत शीघ्र श्रीअयोध्यापुरीमें पहुँच जाते। (ग) 'अवध समीप' का भाव कि अभी अवधपुरीमें नहीं पहुँची। श्रीअवधकी मङ्गल रचना कहकर तब श्रीअवधपुरीमें बारातका पहुँचना कहेंगे।

हने निसान पनव बर बाजे। भेरि संख धुनि हय गय गाजे॥ १॥
झाँझि बीन* डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥ २॥
पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता॥ ३॥
निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे॥ ४॥
गली सकल अरगजा सिंचाईं। जहँ तहँ चौकें चारु पुराईं॥ ५॥

शब्दार्थ—'भेरि'=बड़े ढोल, पनव (पणव)=छोटा ढोल या छोटा नगाड़ा। 'डिंडिमी' यह रोशनचौकीके साथ बजती है। नगाड़ेके साथ छोटी नगाड़ी होती है, एक चोट नगाड़ेपर और एक इस छोटे नगाड़ेपर साथ-साथ एकके पीछे एकपर पड़ती है। इसीको डिंडिमी कहते हैं। सहनाई (शहनाई)=बाँसुरी या अलगोजेके आकारका, पर उससे कुछ बड़ा, मुँहसे फूँककर बजाया जानेवाला एक प्रकारका बाजा जो प्रायः रोशनचौकीके साथ बजाया जाता है।=नफीरी। चौहट=चौराहा। अरगजा=केशर, चन्दन, कपूर आदि मिश्रित सुगन्धित द्रव्य जो पीले रंगका होता है। टिप्पणी ४ (क) में देखिये।

अर्थ—डंकोंपर चोटें पड़ने लगीं, सुन्दर ढोल सुन्दर बजने लगे। भेरी और शङ्खकी ध्वनि हो रही है। घोड़े हिनहिनाते और हाथी चिघाड़ते हैं॥ १॥ सुन्दर झाँझ, वीणा और डुगडुगियाँ तथा शहनाई रसीले रागसे बज रही हैं॥ २॥ बारातको आती हुई सुनकर सब पुरवासी आनन्दित हैं, सबके शरीरोंमें पुलकावली हो रही है॥ ३॥ सबोंने अपने-अपने सुन्दर घरों, बाजारों, मार्गों, चौराहों और नगरके फाटकोंको सजाया॥ ४॥ सब गलियाँ अरगजासे सिंचाई गयीं। जहाँ-तहाँ सुन्दर चौकें पुरायी गयीं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'हने निसान' कहनेका भाव कि जैसे बारातके जानेके समय नगाड़े बजाये गये थे, वैसे ही बारातके (लौटकर) आनेके समय बजाये। यथा—'येहि बिधि कीन्ह बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना॥' (३०४। ४), तथा यहाँ 'हने निसान…हय गय गाजे।' [(प्र० सं०)—जैसा बारातके अवधपुरसे चलनेके समय हुआ था वैसा ही इस समय भी हो रहा है। यथा—'येहि बिधि….' दोहा ३०० से ३०४। ४ तक देखिये] (ख) निशान, पणव, भेरी और शङ्ख उच्च स्वरके बाजे हैं, इसलिये इन सबोंको एक साथ लिखा (और इसीसे इन्हें 'हय गय गाजे' के साथ उसी पंक्तिमें रक्खा), आगे मध्यम स्वरके सब बाजोंको इकट्ठे लिखते हैं—'झाँझि…।' (ख) 'गाजे' शब्दसे जनाया कि मेघोंके समान गरज रहे हैं, यथा—'गज रथ तुरग चिकार कठोरा। गर्जहिं मनहुँ बलाहक घोरा।'

२ (क) 'झाँझि बीन…' इति। जैसे गवैयेके साथ मृदङ्ग, मजीरा और सितार बजते हैं, वैसे ही यहाँ शहनाईके साथ झाँझ, वीणा और खँजरी बजते हैं। झाँझ, वीणा और डिंडिमी तीनोंके अन्तमें 'सुहाई' शब्द देनेका भाव यह है कि जैसे सरसरागसे शहनाई बजती है वैसे ही सुन्दर झाँझ, वीणा और खँजरी बजती हैं। 'सरस राग बाजहिं' देहलीदीपक न्यायसे दोनों ओर है। शहनाई गानेके स्थानमें है और झाँझ, वाणी तथा डिंडिमी गानके साथके बाजे हैं। (ख) 'पुरजन आवत अकनि बराता' इति। पूर्व जो कहा था कि 'हने निसान पनव बर बाजे। भेरि संख धुनि हय गय गाजे॥' वही शब्द सुनकर बारातका आगमन जाना। 'मुदित सकल' से भीतरका आनन्द कहा और 'पुलकावलि गाता' से बाहरका, इस तरह भीतर-बाहर दोनोंका आनन्द कहा।

३ 'निज निज सुंदर सदन सँवारे।…' इति। (क) 'निज निज' कहनेका भाव कि पहले अपना-अपना घर सजाया तब हाट-बाट-चौहट-पुरद्वारको सब लोगोंने मिलकर सँवारा। घर अपने-अपने हैं, इससे सदनके साथ निज-निज कहा और हाट-बाटादि सब राजाके हैं। (ख) 'सुंदर सदन सँवारे' का भाव यह कि सबके घर तो प्रथमसे आप ही सुन्दर हैं, उनमें सजावटमात्र अर्थात् मङ्गल रचना करते हैं यथा—'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥ १। २९३॥' (ग) 'पुरद्वार'—नगरके चारों ओर कोट (किला, दुर्ग) है, कोटके द्वार ही पुरद्वार हैं, यथा—'पुर चहु पास कोट अति सुंदर।' 'पुर और द्वार' यह अर्थ नहीं है, क्योंकि समस्त अवधवासियोंके घर और हाट-बाट चौहट ये सब मिलकर ही तो 'पुर' होता है, इनसे पृथक् पुर कहाँ है;

* बीरव—१६६१। गीताप्रेसने 'बिरव' को 'झाँझि' का विशेषण मानकर उसका 'विशेष शब्द करनेवाला झाँझ' ऐसा अर्थ किया है। बीरि—१७२१। बीन-छ०। भेरि—१७०४, को० रा०, १७६२।

पुरद्वार पुरके बाहरके फाटक हैं जिनसे पुरके भीतर प्रवेश करते हैं यथा—'अर्द्धराति पुरद्वार पुकारा।' (४। ६)। (घ) ☞यह चौपाई सूत्ररूप है, इसीकी व्याख्या आगे विस्तारसे करते हैं।

४ (क) 'गली सकल अरगजा सिंचाई' इति। 'सकल' कहनेका भाव कि राजमार्ग और घर-घरको जो गलियाँ गयी हैं, वे सब सिंचाई गयी हैं, केवल वही गलियाँ नहीं जो बारातके आनेवाले मार्गकी हैं, जहाँसे बारात आनेको है, किंतु समस्त गलियाँ। [अरगजा—'बीथीं सींची चतुरसम चौकें चारु पुराइ। २९६।' में 'चतुरसम' के अर्थमें देखिये। सुगन्धित-द्रव्ययुक्त जलसे गलियाँ सींची जाती थीं, यथा—'मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥१९४।८॥', 'बीथिन्ह कुंकुम कीच अरगजा अगर अबीर उड़ाई।' (गी० १। १), 'सींचि-सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार।' (गी० १। २)] (ख) 'जहँ तहँ चौकैं' अर्थात् घर-घर, आँगन, गली और बाजार सभी जगह चौकें पूरी गयीं। (गी० १। २ उपर्युक्त)। 'चारु' कहकर जनाया कि चौकें मणियोंसे पूरी गयी हैं और बड़ी विचित्रताके साथ पूरी गयी हैं। यथा—'चौकें चारु सुमित्रा पूरीं। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरीं॥ २। ८॥', 'रचहु मंजु मनि चौकें चारू। २। ६७।' (ग) जानकीमङ्गलमें भी कहा है—'घाट बाट पुरद्वार बजार बनावहिं। बीथी सींचि सुगंध सुमंगल गावहिं॥ ११३॥ चौकें पूरें चारु कलस ध्वज साजहिं।' दोहा २९६। ४ से दोहा २९६ तकसे मिलान कीजिये तो मालूम हो जायगा कि किस स्थानपर क्या सजावट है।]

बना बजारु न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना॥ ६॥
सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला॥ ७॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनिमय आलबाल कल करनी॥ ८॥

दोहा—बिबिध भाँति मंगल कलस गृह गृह रचे सँवारि।
सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब रघुबरपुरी निहारि॥३४४॥

शब्दार्थ—पूग=सुपारीका पेड़। पूगफल=सुपारी। रोपना=पौधेको एक स्थानसे उखाड़कर दूसरे स्थानपर लगाना। आलबाल=थाल्हा। करनी=कारीगरी, कला-कौशल।

अर्थ—बन्दनवारों, ध्वजा-पताकाओं-वितानोंसे बाजार ऐसा सजा है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ६॥ फलसहित सुपारी, केला और आम तथा मौलसिरी, कदम्ब और तमालके वृक्ष लगाये गये॥ ७॥ वे लगे हुए सुन्दर वृक्ष (फलोंसे लदे होनेके कारण) पृथ्वीको छू रहे हैं। उनके थाले मणिमय हैं जो बड़ी उत्तम कारीगरी कला-कौशलके साथ बनाये गये हैं॥ ८॥ अनेक प्रकारके मङ्गल और मङ्गल-कलश घर-घर सजाकर रचे गये हैं। ब्रह्मा आदि देवता श्रीरघुनाथजीकी सुन्दर श्रेष्ठ पुरीको देखकर सिहाते हैं॥ ३४४॥

टिप्पणी—१ (क) 'बना बजारु…' इति। इससे सूचित किया कि बाजारकी शोभा सबसे अधिक है; क्योंकि बाजार बड़े भारी विस्तारसे है। बन्दनवार, ध्वजा-पताका, वितान आदि सबकी शोभा एकट्ठा देख पड़ती है। चारों ओर बन्दनवार हैं, ध्वजाके नीचे पताका है और पताकाके नीचे वितान है। 'तोरन केतु पताक बिताना'—अर्थात् इनसे पुरभर छाया हुआ है, यथा—'ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम बिचित्र बजारू॥' (२९६। ७)। वितान अर्थात् चन्दोवा ताने गये हैं। (ख) 'सफल पूगफल कदलि रसाला' इति। पुरवासियोंने सफल वृक्ष इस निमित्त लगाये कि चारों भाई-बन्धुओंसहित घर आकर इसी प्रकार फलें-फूलें। [इससे उन्होंने अपने हृदयका भाव दर्शित किया है कि हम इस शुभ कामनाके साथ आपका स्वागत करते हैं। बड़े-बड़े पेड़ फल फूलसहित इस प्रकार तुरत-के-तुरत लग नहीं सकते, पर यहाँ श्रीराम-प्रतापसे 'धरनी परसत' लग गये। (प्र० सं०)] सुपारी, केला और आम ये फलवाले वृक्ष हैं, इसीसे इनको एक साथ लिखा। मौलसिरी, कदम्ब और तमाल ये फूलवाले वृक्ष हैं, अतः इनको उनसे अलग करके दूसरे चरणमें रक्खा। (ग) यहाँ 'रोपे' मात्र लिखा, कहाँ इनको लगाया इसका वर्णन यहाँ नहीं किया क्योंकि आगे अयोध्याकाण्डमें लिखेंगे, यथा—'सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा॥ २। ६। ६॥' अर्थात् नगरभरमें चारों तरफ सफल वृक्ष रोपे गये।

२ (क) ['लगे' से जनाया कि ज्यों ही वे थालोंमें लगाये गये त्यों ही जम गये मानो यहीं उगे थे, दूसरे स्थानसे उखाड़कर नहीं लगाये गये थे। सुभग अर्थात् फूले-फले पल्लवित। (पाँ०)] पुनः, 'सुभग तरु' का भाव कि सब वृक्ष सुन्दर हैं और 'सु + भग' सुन्दर ऐश्वर्यसे युक्त हैं। वृक्षोंका ऐश्वर्य फल-फूल है, यथा—'नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए ॥ २२७। ५ ॥,' इसीसे पृथ्वीका स्पर्श करते हैं अर्थात् जैसे सम्पत्ति पाकर परोपकारी पुरुष विनम्र होते हैं वैसे ही ये फूल-फल (पल्लव) रूपी सम्पत्ति पाकर उसके भारसे नमित हो रहे हैं। यथा—'फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ। पर उपकारी पुरुष जिमि नवहि सुसंपति पाइ ॥ ३। ४० ॥' (ख) 'मनिमय आलबाल कल करनी' इति। मणिमय कहकर जनाया कि जैसे ऐश्वर्ययुक्त वृक्ष हैं, वैसे ही उनके रहनेका स्थान मणिमय ऐश्वर्ययुक्त है। वृक्षकी शोभा फल-फूलसे कही और थालोंकी शोभा उसके बनावटद्वारा कही।

३ 'बिबिध भाँति मंगल·····' इति। (क) अनेक प्रकारके मङ्गल सजाये, यथा —'कनक कलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अच्छत माला ॥ २९६। ८ ॥' कलश सँवारकर रचे, यथा—'कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबहि धरे सजि निज निज द्वारे ॥ ७। ९ ॥' यहाँ यह नहीं बताया कि कलश कहाँ रक्खे गये क्योंकि आगे उत्तरकाण्डमें श्रीरामजीके आगमनके समय लिखेंगे कि सबने अपने-अपने द्वारपर मङ्गल कलश रक्खे हैं, वैसा ही यहाँ जानो। (ख) 'सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब·····' इति। इस कथनसे जनाया कि श्रीअयोध्यापुरी ब्रह्मलोक तथा समस्त देवलोकोंसे कहीं अधिक सुन्दर है। पुरीकी सुन्दरता कहनेके लिये 'रघुबरपुरी' कहा अर्थात् जैसे रघुवंशियोंमें श्रीरामजी श्रेष्ठ हैं वैसे ही समस्त लोकोंमें यह पुरी सर्वश्रेष्ठ है। रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीकी पुरी है इसीसे ऐसी श्रेष्ठ है। (ग) ऊपर जो कहा था—'निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुरद्वारे ॥ ३४४। ४ ॥,' उसकी व्याख्या यहाँतक हुई, अर्थात् उन सबोंके सजानेका वर्णन यहाँतक किया गया। यथा—'गली सकल अरगजा सिंचाई' यह 'बाट' का वर्णन किया, 'बना बजारु न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना ॥' यह 'हाट' का, 'सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला ॥' यह 'चौहट' का और 'बिबिध भाँति मंगल कलस गृह-गृह रचे सँवारि' यह 'निज निज सुंदर सदन सँवारे' का वर्णन किया।

भूप भवनु तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदनु मन मोहा ॥ १ ॥
मंगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई ॥ २ ॥
जनु उछाह सब सहज सुहाए। तनु धरि धरि दसरथगृह छाए* ॥ ३ ॥
देखन हेतु राम बैदेही। कहहु लालसा होहि न केही ॥ ४ ॥

अर्थ—उस समय राजाका महल (ऐसा) शोभित था (कि उसकी) रचनाको देखकर कामदेवका मन मोहित हो गया ॥ १ ॥ मङ्गल, शकुन, मनोहरता, ऋद्धि (अन्न आदि), अष्ट सिद्धियाँ, सुख और सम्पदा अर्थात् नवों निधियाँ (सभी) सुन्दर हैं ॥ २ ॥ (ऐसा जान पड़ता है) मानो सब उत्साह स्वाभाविक ही सुन्दर शरीर धर-धर श्रीदशरथजीके घरमें छा रहे हैं ॥ ३ ॥ श्रीराम-जानकीजीके दर्शनोंके लिये कहिये (तो भला) लालसा किसे नहीं होगी ? अर्थात् सभीको होती है।

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि अवसर' अर्थात् जिस समय राजभवनकी रचना हुई उस समय। 'मदन मन मोहा' कहनेका भाव कि कामदेव सबके मनको मोह लेता है सो उसके भी मनको राजभवनने मोहित कर लिया। ऊपर दिखाया कि ब्रह्मादि देवताओंके स्थानोंसे अयोध्यापुरी अधिक सुन्दर है, इसीसे ब्रह्मादि सिहाते हैं। अयोध्यापुरीसे राजभवन सुन्दर है, इससे कामदेव मोहित हुआ। [२९७। ४ में जो कहा था कि 'भूप भवन किमि जाइ बखाना। बिस्व बिमोहन रचेउ बिताना ॥' वह शोभा वितानके सम्बन्धसे कही गयी थी और यहाँ रचनासे उसकी जो शोभा हो रही है उसे कहते हैं। वितान विश्वमोहन था और भूपभवनकी रचना त्रैलोक्यविजयी कामदेवके मनको मोहनेवाली है।] (ख) 'मंगल-सगुन·····' इति। 'सुहाई' सबका विशेषण है। मङ्गलके समय मङ्गल-रचना की गयी है, इसीसे प्रथम 'मङ्गल' को भी लिखा। पुनः, 'सगुन' के पहिले 'मंगल' को कहनेका भाव कि शकुनसे मंगल होता है, यथा—'मंगलमूल सगुन भए नाना। ३३९। ८।,' सो मंगल यहाँ पहलेसे ही प्राप्त है, शकुन पीछे हैं। इसी प्रकार ऋद्धि-सिद्धि सम्पदाके आनेसे मनोहरता होती है सो मनोहरता यहाँ पहलेसे ही

* आए-ए०, को० रा०। छाए—१६६१ (नीचे कुछ और था ऊपर गाढ़ी स्याहीसे 'वाए' ऐसा बना है) १७२१, १७६२।

मूर्तिमान् होकर प्राप्त है। 'संपदा सुहाई' कहकर जनाया कि श्रीदशरथ-भवनकी सब सम्पदा न्यायसे प्राप्त की हुई है, इसीसे 'सुहाई' है।

२—'जनु उछाह सब सहज सुहाए।…' इति। (क) 'सहज सुहाए' का भाव कि सुन्दर रूप धारण कर लिया है यह बात नहीं है, किंतु वे सब स्वाभाविक ही सुन्दर हैं। (ख) 'तनु धरि धरि दसरथ गृह आए' का भाव कि मंगल, शकुन, मनोहरता, ऋद्धि, सिद्धि, सुख और सम्पदा सभी उत्साह श्रीअवधपुरीमें तो घर-घर हैं, पर राजाके घरमें ये सब मूर्तिमान् होकर उपस्थित हैं। इस कथनके द्वारा पुरवासियोंके स्थानों-भवनोंसे राजाके स्थानकी और उनकी सम्पदासे राजाकी सम्पदाकी विशेषता दिखायी। (ख) 'यहाँ किसकी उत्प्रेक्षा की गयी है? उत्प्रेक्ष्य कौन है?' इसका उत्तर यह है कि राजाके भवनमें रचना की गयी है (जिसे देखकर मदन मोहित हो गया। यह जो कहा है उसीको यहाँ दिखाते हैं कि) कारीगरने ऐसी रचना की है कि मंगल, शकुन आदि सभीकी मूर्तियाँ बना दी हैं। इसीसे यहाँ साक्षात्‌की उत्प्रेक्षा करते हैं कि ये मूर्तियाँ नहीं हैं मानो मंगल आदिने साक्षात् रूप धारणकर यहाँ छावनी डाल दी है।

३ 'देखन हेतु राम बैदेही…' इति। (क) 'जनु उछाह सब सहज सुहाए। तनु धरि धरि दसरथ गृह छाए'—इस वाक्यकी पुष्टिके लिये अब दशरथजीके भवनमें इन सबोंके तन धर-धरकर आनेका हेतु (कारण) कहते हैं। क्यों आये? वैदेहीजी और श्रीरामजीके दर्शनोंके लिये (आगेसे ही आकर जम गये हैं)। 'देखन हेतु राम बैदेही' कहकर फिर इस वचनकी भी पुष्टिके लिये कहते हैं, 'कहहु लालसा होहि न केही?' अर्थात् इनका जब आवाहन किया जाता है तब ये आते हैं, परंतु यहाँ बिना आवाहनके अपनी लालसाके कारण स्वयं ही आये हैं। [प० प० प्र०—यहाँ 'वैदेही' से आदिशक्ति और 'राम' से शक्तिमान् 'रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि' परमात्माको सूचित किया है।] (ख) यहाँतक पुरुषोंका कृत्य वर्णन किया गया, आगे स्त्रियोंका कृत्य कहते हैं।

> जूथ जूथ मिलि चलीं सुआसिनि। निज छबि निदरहिं मदन-बिलासिनि॥ ५॥
> सकल सुमंगल सजे आरती। गावहिं जनु बहु बेष भारती॥ ६॥
> भूपति भवन कोलाहलु होई। जाइ न बरनि समउ सुखु सोई॥ ७॥
> कौसल्यादि राम महतारी। प्रेम बिबस तनु दसा बिसारी॥ ८॥

> **दो०—दिए दान बिप्रन्ह बिपुल पूजि गनेस पुरारि।**
> **प्रमुदित परम दरिद्र जनु पाइ पदारथ चारि॥ ३४५॥**

शब्दार्थ—'विलासिनी'=सुन्दरी, युवा स्त्री, कामिनी, विहार करनेवाली, आनन्द देनेवाली, अत्यन्त छवियुक्त स्त्री। भारती = सरस्वती।

अर्थ—सुहागिनी स्त्रियाँ टोली-की-टोली मिल-मिलकर चलीं। वे अपने छविसे मदन (कामदेव) की अत्यन्त छबीली स्त्री रतिका निरादर कर रही हैं॥ ५॥ सम्पूर्ण सुन्दर मंगलों और आरतीको सजाये हुए गा रही हैं, मानो सरस्वती (ही) बहुत-से वेष धारण किये हुए गा रही हैं॥ ६॥ राजाके महलमें कोलाहल (शोर) मच रहा है। उस समय और सुख (अथवा, समयके सुख) का वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ७॥ श्रीकौसल्याजी आदि सब श्रीरामजीकी माताएँ प्रेमके विशेष वश हो देहकी दशा (अर्थात् सुध) भूल गयी हैं॥ ८॥ उन्होंने श्रीगणेशजी और त्रिपुरारि श्रीशिवजीका पूजन करके ब्राह्मणोंको बहुत दान दिया और परम आनन्दित हैं, मानो परम दरिद्री (अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष) चारों पदार्थ पाकर (आकस्मिक प्राप्त हो जानेसे) आनन्दित है॥ ३४५॥

टिप्पणी—१ (क) 'जूथ जूथ मिलि चलीं सुआसिनि' इति। यहाँ शोभाके वर्णनका प्रकरण चल रहा है। यूथ-यूथ मिलकर चलना यह भी स्त्रियोंकी शोभा है (स्त्रियाँ प्रायः सदा कई-कई मिलकर ही चला करती हैं। साथमें गानकी भी शोभा होती है) अतः यूथ-यूथका मिलकर चलना कहा। ('जूथ-जूथ'—२९८। १ 'जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि' में देखिये)। परिछन आरतीमें सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही बुलायी जाती हैं, यथा—'रानी सुआसिनि बोलि परिछनि हेतु मंगल साजहीं। ३१७ छन्द।' इसीसे सुहागिनोंका ही चलना कहा। (ख) 'निज छबि निदरहिं मदन-बिलासिनि' इति। विलासिनि-का भाव कि कामकी स्त्री जो सबसे विशेष छवियुक्त है। यह शब्द 'लस कान्तौ' धातुसे बना है। विलासिनी=कान्ति (छवि)

वाली स्त्री। यहाँ 'पञ्चम प्रदीप अलंकार' है, क्योंकि 'सुआसिनि' उपमेयद्वारा 'मदनबिलासिनि' उपमानका निरादर कहा गया है। [निरादर होनेके कारण ही 'मदन'का सम्बन्ध दिया गया। भाव कि रतिका अपने छविका मद जाता रहा। (ग) प० प० प्र०—पूर्व बारातकी तैयारीके समय कहा था कि 'बिधुबदनीं मृग सावकलोचनि। निज सरूप रति मान बिमोचनि। २९७।२।' अर्थात् रतिको जो अपने लावण्यका मद था उसका छूटना वहाँ कहा था। और यहाँ 'निदरहिं मदनबिलासिनि' कहकर जनाया कि इस समय अपने विलासोंद्वारा उसका निरादर करती हैं, अर्थात् मानो उससे कह रही हैं कि ऐसा विभव-विलास क्या तेरे भाग्यमें कभी भी लिखा है।]

२ (क) 'सकल सुमंगल', यथा—'हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला। अच्छत अंकुर लोचन लाजा। मंजुर मंजरि तुलसि बिराजा। १। ३४६।'; ये सब मङ्गल हैं। (ख) 'गावहिं जनु बहु बेष भारती' इति। गान मधुर है, अक्षर स्पष्ट और शुद्ध हैं; इस भावसे सरस्वतीके समान कहा। सुहागिनें बहुत हैं, इसीसे सरस्वतीके बहुत वेष कहे। (ग) 'भूपति भवन कोलाहलु होई' इति। बहुत-सी स्त्रियाँ गान कर रही हैं इसीसे कोलाहल मच रहा है। [सुवासिनियोंका मधुर गान, निशानादिका भारी शब्द जिससे अपना-पराया कुछ नहीं सुन पड़ता, इत्यादि सब शोर उत्सवके आनन्दका 'कोलाहल' है। उत्सवमें गान आदिसे आनन्द छा रहा है। (प्र० सं०)। सभी आनन्दोत्साहमें भरे हैं। उसी आनन्दोत्साहका यह कोलाहल है]। (घ) 'कौसल्यादि राम महतारी' कहनेका भाव कि सब माताएँ कौसल्या-जीके ही समान श्रीरामजीको अपना पुत्र जानती हैं, इसीसे सब श्रीरामजीके प्रेमके वश हैं। (परछनके लिये प्रथम माताओंको आगे चलना चाहिये था सो वे प्रेमके विवश हैं)।

३ 'दिए दान बिप्रन्ह''' इति। (क) गणेशजी प्रथमपूज्य हैं, इसीसे प्रथम उनका पूजन करके तब शिवजीकी पूजा की। (ख) 'प्रमुदित परम दरिद्र जनु''' इति। परम दरिद्र दुःखकी अवधि (सीमा) है, यथा—'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। ७। १२१। १३॥' और चारों पदार्थोंकी (आकस्मिक एक साथ) प्राप्ति सुखकी सीमा है। (ग) ब्राह्मण, गणेश और शिवजीके पूजनके पश्चात् 'प्रमुदित परम दरिद्र जनु''' कहनेसे सूचित होता है कि सब ब्राह्मणों और देवताओंने चारों पुत्रोंको आशीर्वाद दिया, यही चारों पदार्थोंकी प्राप्ति है। जैसे दरिद्रको चारों पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुख मिले वैसा ही सुख माताओंको देवताओंके आशीर्वादसे मिला। [देवताओंका आशीर्वाद देना अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—'अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥' 'परम दरिद्र' के सम्बन्धसे 'प्रमुदित' कहा। दरिद्र मुदित होता, परम दरिद्र परम मुदित होता है। पदारथ चारि—३०९ (२) और दोहा ३२५ देखिये]

प० प० प्र०—उत्प्रेक्षाका भाव यह है कि जैसे परमदरिद्र कभी भरपेट अन्न न मिलनेसे शरीररक्षणार्थ वस्त्र आदि न होनेसे परम दुखी रहता है, वैसे ही माताओंने श्रीरामवियोगमें अन्न त्याग दिया था, सुन्दर वस्त्रों-आभूषणों आदिका पहनना छोड़ दिया था, सदा चिन्तामें मग्न रहती थीं, इत्यादि परम दुःख भोग रही थीं। जैसे बुद्धिमान् परम दरिद्र धन-प्राप्तिके लिये परम तपस्याका आश्रय लेता है, यथा—'धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्। उभावप्सु प्रवेष्टव्यौ कण्ठे बध्वा दृढां शिलाम्॥' वैसे ही माताएँ विविध देवताओंको मनाती रहती थीं। दरिद्र तो केवल धनके लिये मनाता है, पर धर्म, काम, मोक्ष भी उसे मिल जाय तो कैसा अवर्णनीय आनन्द उसे होता है। वैसे ही माताओंको तो श्रीरामविवाहकी ही आशा थी और इस समय सुना कि चारों भाइयोंका विवाह हो गया, चारों पुत्र चारों बहुओंसहित आ रहे हैं अतः इनको अवर्णनीय सुख हुआ।

मोद* प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता॥ १॥
राम दरस हित अति अनुरागीं। परिछनि साजु सजन सब लागीं॥ २॥
बिबिध बिधान बाजने बाजे। मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥ ३॥
हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला॥ ४॥
अक्षत अंकुर लोचन लाजा। मंजुर† मंजरि‡ तुलसि बिराजा॥ ५॥

* प्रेम—को० रा०, पं० रामकुमार। मोद—१६६१, १७०४, १७२१, छ०। † मंजुल—१७२१, १७६२, को० रा०। मंजुर—१६६१, १७०४। ‡—मंगल—छ०।

शब्दार्थ—अच्छत (अक्षत)=बिना टूटा हुआ चावल (यही देवपूजनके काममें आता है, खण्डित नहीं)। अंकुर=अँखुआ। जौ (यव), गेहूँ, चना, मूँग आदिको फुलाते हैं जिससे अंकुर निकलते हैं, ये माङ्गलिक द्रव्य माने जाते हैं। जवारे। लोचन (गोरोचन)—पीले रंगका एक प्रकारका सुगन्धित द्रव्य जो गौके हृदयके पास पित्तसे [अथवा किसी-किसी गायके भ्रूमध्यसे—(प० प० प्र०)] निकलता है। यह अष्टगन्धके अन्तर्गत है और बहुत पवित्र माना जाता है। कभी-कभी यह लड़कोंकी घोंटीमें भी पड़ता है और इसका तिलक लगाया जाता है।—'चुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन आँजे, चिर रुचि तिलक गोरोचन कियो है।' (गीतावली १। १०। १)। तान्त्रिक इसे मङ्गलजनक, कान्तिदायक, दरिद्रतानाशक और वशीकरण करनेवाला मानते हैं।—(श० सा०)। भोजपत्रादिपर इससे यन्त्रादि बनाये और लिखे जाते हैं। यह बहुत हलका पर बहुत महँगा होता है। (प० प० प्र०)। कहते हैं कि स्वातिबुन्द गौके कानमें पड़कर गोरोचन हो जाता है। 'रोचन' का अर्थ 'रोरी' भी किया गया है। लाजा (सं०)=लावा, खील, भूनकर फुलाया हुआ धान। मंजुर=मंजुल, सुन्दर। मंजरि (मंजरी)—तुलसी, आम आदि कुछ विशिष्ट पौधों और वृक्षोंमें फूलों या फलोंके स्थानमें एक सींकेमें लगे हुए बहुतसे दानोंका समूह।

अर्थ—सब माताएँ मोद-प्रमोदके विशेष वश हैं। उनके शरीर शिथिल पड़ गये, चरण चलते नहीं॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनोंके लिये सब माताएँ अत्यन्त अनुरागमें भरी हुई परिछनका सब साज (सामग्री) सजने लगीं॥ २॥ अनेक प्रकारके बाजे बजने लगे। श्रीसुमित्राजीने आनन्दपूर्वक मङ्गल (द्रव्य) सजाये॥ ३॥ हल्दी, दूब (दूर्वादल), (गायका) दही, (आम आदिके) पल्लव (पत्ते), फूल, पान (का पत्ता) सुपारी आदि जो मङ्गलकी मूल (वस्तुएँ) हैं॥ ४॥ अक्षत, अंकुर, गोरोचन, लावा और सुन्दर (नवीन) मंजरीयुक्त तुलसीदल सुशोभित हैं अर्थात् सजाई गयी हैं॥ ५॥

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी **'प्रेम प्रमोद बिबस'** पाठ देते हैं और उसके अनुसार भाव कहते हैं कि माताएँ प्रथम प्रेमके वश हुईं, यथा—**'प्रेम बिबस तन दसा बिसारी।'** फिर उनका प्रमुदित होना कहा, यथा—**'प्रमुदित परम दरिद्र जनु…'** अब दोनोंके बस होकर चलीं। (ख) **'मोद प्रमोद बिबस'** इति। यहाँ मोद और प्रमोद दोनों शब्द आये हैं। दोनोंका अर्थ साधारणतया एक ही है और ये दोनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। पर दोनों एक साथ आये हैं इससे एकसे दूसरेमें अधिक (प्र=प्रकर्ष) आनन्द जनाते हैं। यह पाठ पंजाबीजी, रा० प्र० ने भी दिया है। पंजाबीजीका मत है कि अन्य सम्बन्धियोंके दर्शनके लिये 'मोद' अर्थात् आनन्द है और श्रीरामदर्शनके लिये परम (महान्) आनन्द है। बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि पुत्रोंसे मिलनेके लिये मोद और नयी-नयी बहुओं-दुलहिनोंको देखनेके लिये 'प्रमोद' है। दोनों आनन्दोंमें मग्न हैं। कोई-कोई 'मोद-प्रमोद' का अर्थ 'सुख और आनन्द' अथवा 'आनन्द सुख' करते हैं। अधिकता जनानेके लिये भी दो पर्याय शब्द एक साथ बोले जाते हैं, वैसे ही यहाँ 'मोद-प्रमोद' से 'महान् आनन्द' का अर्थ ले सकते हैं। (ग) **'चलहिं न चरन…'** भाव कि सब (मङ्गल) वस्तुएँ सजानेको हैं, पर चरण नहीं चलते, सब अङ्ग शिथिल हो गये हैं, इसीसे परछनका साज नहीं सजते बनता।

२ (क) **'रामदरस हित…'** इति। 'राम दरस हित' कहनेका भाव कि मोद प्रमोद-वश सब शरीर शिथिल हो गये हैं, परछनका साज सजानेमें विलम्ब हो रहा है, परंतु श्रीरामजीके दर्शनके अनुरागके बलसे सब मिलकर शीघ्रातिशीघ्र साज सजने लगीं। **'अति अनुरागी'** कहनेका भाव कि सब भाइयोंके दर्शनका 'अनुराग' है और श्रीरामजीके दर्शनोंका 'अति अनुराग' है। इसीसे सब मिलकर सजने लगीं। (ऊपर **'प्रमुदित परम दरिद्र जनु पाइ पदारथ चारि'** कहा, उसके सम्बन्धसे यहाँ **'अति अनुरागी'** कहकर जनाते हैं कि माताओंको चारों पदार्थोंकी प्राप्ति भी श्रीरामदर्शनके आगे तुच्छ लगती है। पुनः जैसे पुरवासी बारातियोंको श्रीरामदर्शनके लिये निर्भर हर्ष था, वैसे ही माताओंको है। यथा—**'सब के उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि रामु लषनु दोउ बीर॥ ३०० ॥'**)। परछनका साज स्वयं ही सब रानियाँ सजने लगीं, यह अति अनुरागका धर्म है। यहाँ सबका एकट्ठा (परछन साज सजाना) कहकर आगे श्रीसुमित्राजीका और सब रानियोंका पृथक्-पृथक् सजाना कहते हैं।

(ख) **'बिबिध बिधान बाजने बाजे'** इति। विविध प्रकारके बाजे प्रथम लिख आये हैं, यथा—**'झाँझि बीन डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥'** (इनके अतिरिक्त निशान, पणव, भेरी और शङ्ख भी कहे गये हैं, यथा—**'हने निसान पनव बर बाजे। भेरि संख धुनि…।'** इनके अतिरिक्त ताशा, मृदङ्ग, रबाब, पखावज आदि भी 'विविध

विधान' में आ सकते हैं। जो भी उस समय बज रहे हों उन सबोंका ग्रहण इससे हो गया)। (ग) 'मंगल मुदित सुमित्रा साजे' कहकर जनाया कि श्रीसुमित्राजी मङ्गल-द्रव्य तथा परछनसाज सजानेमें परम प्रवीणा हैं। इसीसे जब-जब मङ्गल सजानेका काम पड़ता है तब-तब इन्हींका नाम वहाँ सुना जाता है, यथा—'चौकें चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी। २। ८। ३॥' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'श्रीसुमित्राजीके सजानेका कारण यह है कि जब रावणने यह सुनकर कि कौशल्याके पुत्रसे मेरी मृत्यु है तब वह लग्न तैलादि चढ़ जानेपर, उनको हर ले गया और राघव मत्स्यको सौंप आया। जब ब्याहके दिन राजा दशरथ गये तब राजाने कौशल्याका हाल कहकर अपनी छोटी कन्या सुमित्राका विवाह उनसे कर दिया। तत्पश्चात् गरुड़को भेजकर राजा दशरथने राघव मत्स्यके यहाँसे, उसको गाफिल पा, वह मंजूषा जिसमें कौशल्याजी बंद थीं मँगाया। तब कौशल्याजीसे विवाह हुआ। यद्यपि सब बड़ाईका अधिकार इन्हींको रहा तथापि इत्तिफाकन (अकस्मात्) प्रथम पाणिग्रहण तो सुमित्राजीका ही हुआ। इससे देवपूजन-कार्यमें अधिकार इन्हींको रहा। यह पौराणिक कथा रामरक्षाके तिलकमें पाया है'। [श्रीसुमित्राजी ही ऐसे कार्योंमें अग्रसर होती हैं, इससे उनकी सत्त्वप्रधान रजोगुणी वृत्ति ज्ञात होती है। (प० प० प्र०)] (घ)—परिछन साज सब रानियोंने सजाया और मङ्गल सुमित्राजीने सजाये, इससे जनाया कि 'परिछन' और 'मङ्गल' भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। परछनका साज आरती है, 'मङ्गलसाज' अनेक द्रव्य हैं। यथा—'सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि। चलीं मुदित परिछनि करन गजगामिनि बर नारि।' मङ्गल द्रव्यके नाम आगे लिखते हैं। [(ङ) 'हरद दूब दधि पल्लव' ये भिन्न-भिन्न रंगके मंगल द्रव्य हैं। हल्दी पीली, दूब हरी, दधि श्वेत, आम्रपल्लव नीले हैं। फूल रंग-बिरंगके हैं। पान हरे तथा पीत। सुपारीका रंग भूरा-सा होता है। (च) 'तुलसि बिराजा' का भाव कि सब मङ्गल-द्रव्य राजते (शोभित) हैं और तुलसी मञ्जरी विशेष शोभित है अर्थात् सब मङ्गल-द्रव्योंसे श्रेष्ठ है, क्योंकि श्रीरामजीको प्रिय है, यथा—'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। ३१। १२'।

छुहे पुरट घट सहज सुहाए। मदन सकुन* जनु नीड़ बनाए॥ ६॥
सगुन सुगंध न जाहिं बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी॥ ७॥
रची आरती बहुत बिधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना॥ ८॥

दो०—कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्हि लिये मात।
चलीं मुदित परिछनि करन पुलक पल्लवित गात॥ ३४६॥

शब्दार्थ—छुहे,—छुहना=रँगा जाना। छुहे=रँगे हुए। विवाह आदि मङ्गल कार्योंमें कलश रंग-बिरंगके रँगे जाते हैं, ऐपनसे पोते जाते हैं, और उनपर गोबरसे भी खाने बनाये जाते हैं, गोठे जाते हैं, बीच-बीचमें पक्षी आदि भी बनाये जाते हैं; ये खूब चित्रित होते हैं, इन्हीं रँगे हुए चित्रित कलशोंको 'छुहे' कहते हैं। पुरट=सोनेके। सकुन (शकुन)=पक्षी। शकुन पक्षीमात्रको कहते हैं, यथा—'सकुनाधम सब भाँति अपावन। ७। १२३', परंतु यहाँ घट उपमेयके सम्बन्धसे 'बया पक्षी' अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इसके घोंसले बहुत सुन्दर और लंबे होते हैं तथा उनका मुँह छोटा और पेट बड़ा होता है, जैसे घटका आकार हो। नीड़=घोंसला, खोंता। पल्लवित=रोमाञ्चयुक्त। यथा—'कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह। २। १५२।'

अर्थ—गोठे हुए चित्रित सोनेके घड़े स्वाभाविक ही सुन्दर हैं, मानो कामदेवरूपी बया पक्षीने (अपने रहनेके लिये) घोंसले बनाये हैं। ६। शकुन और सुगंध (जैसे कि गुलाब, केवड़ा, चन्दन, कपूर, कस्तूरी, अतर आदि सुगन्धित द्रव्य) का वर्णन नहीं हो सकता। अर्थात् वे अगणित प्रकारके हैं, इससे कहते नहीं बनता)। सब रानियाँ सब मङ्गल सजा रही हैं। ७। बहुत विधानकी आरतियाँ रची हैं और हर्षित होकर सुन्दर मधुर मङ्गल गान कर रही हैं। ८। सोनेके थाल मङ्गलोंसे भरकर माताएँ कमल-समान हाथोंमें लिये हुए आनन्दपूर्वक परछन करने चलीं, उनके शरीर पुलकसे फूले हुए हैं। ३४६।

टिप्पणी—१ (क) 'छुहे पुरट घट…' इति। घटकी शोभा दो प्रकारकी कहते हैं। एक तो वे 'सहज सुहाए'

* सकुच—१७०४, १७६२। सकुन—१६६१ ('च' के निचले भागपर हरताल है। सम्भवतः 'च' को 'न' बनानेके लिये उतने अंशपर हरताल दिया गया है), १७२१, छ०, को० रा०।

हैं अर्थात् उनका बनाव सुन्दर है, दूसरे वे रंजित हैं, उनमें रचना की गयी है, इस चित्रित रचनासे भी सुन्दर हैं। (मणि, माणिक्य, मोती आदिसे उनमें चित्रकारी की गयी है। यथा—'कंचन कलस विचित्र सँवारे। सबहिं धरे सजि निज निज द्वारे। ७। ९।') 'बिचित्र रचना' 'छुहे' से सूचित की। (ख) रचना सुन्दर है, इसीसे कामदेवके रहनेकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो कामदेवरूपी बया पक्षीने अपने रहनेके लिये झोंझ बनाये हैं कि इनमें बैठकर छिपे-छिपे श्रीरामजीका दर्शन करूँगा, संकोचवश प्रकट नहीं देख सकता (क्योंकि लोग कहेंगे कि अरे! यही कामदेव हैं जिसके शोभा-सौन्दर्यकी ब्रह्माण्ड-भरमें वाह-वाह होती रही है, यह तो कुछ भी सुन्दर नहीं है। श्रीरामजी 'काम सत कोटि सुभग तन' हैं, इसीसे वह प्रत्यक्ष होनेमें सकुचाता है) [(ग)—यहाँ गोबरसे छुहे हुए स्वर्णके कलशोंमें जो चौकोर खाने बने हैं वे ही उत्प्रेक्षाके विषय हैं। पक्षी रहनेके लिये घोंसला बनाते ही हैं, परंतु कामदेव पक्षी नहीं है। यहाँ प्रौढ़ोक्तिद्वारा यह कविकी कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। सभाकी प्रतिमें 'सकुच' पाठ है। परंतु 'सकुच' शब्दसे उपमामें रोचकता नहीं आती और मदन पक्षी नहीं है, जिसने सकुचाकर घोंसला बनाया हो। इससे 'सकुन' पाठ ठीक है। (वीरकविजी) । (घ) पाँड़ेजीका मत है कि 'सोनेके घट ऐसे बनाये कि मानो पेट बड़ा मुँह छोटा देख काम उनमें सकुच करके छिप बैठा है—इस डरसे कि श्रीराम-जानकीजीकी सुन्दरताके सामने उसकी सुन्दरता मंद पड़ जायगी']

२ (क) 'मंगल सकल सजहिं सब रानी' इति। पूर्व कह आये कि 'मंगल मुदित सुमित्रा साजे' और यहाँ सब रानियोंका मङ्गल सजना कहते हैं। इससे जनाया कि श्रीसुमित्राजी मङ्गल सजानेमें परम प्रवीणा हैं, उन्होंने प्रथम सजाया, पीछे और सब रानियोंने भी देखकर वैसे ही सब मंगल सजाये। 'सकल' अर्थात् जितने और जो-जो मङ्गल द्रव्य श्रीसुमित्राजीने सजाये वही सब सबने सजाये। (ख) 'रची आरती' कहकर जनाया कि आरती बहुत सुन्दरताके साथ सजायी गयी है। (ग) 'बहुत बिधाना' इति। बहुत प्रकारकी हैं अर्थात् पञ्चवर्त्तिका, सप्तवर्त्तिका, दशवर्त्तिका आदि। (आरती बहुत प्रकारकी होती हैं। एक सम-बत्तियोंवाली अर्थात् ४, ६, ८ इत्यादि बत्तियोंकी, दूसरी विषम अर्थात् ३, ५, ७ इत्यादि बत्तियोंवाली; फूलबत्ती, सीधी बत्ती आदि भी कुछ प्रकार हैं। घृत, कपूर आदिकी बत्ती। और भी बहुत विधानकी आरतियोंका उल्लेख नारद-पञ्चरात्रमें कहा जाता है)। (घ) यहाँ क्रम दिखाते हैं—प्रथम सुमित्राजीने मङ्गल साजे, फिर सब रानियोंने। मङ्गल सजनेके पश्चात् आरती सजी, जब आरती भी सज गयी तब मधुर गान करने लगीं। पूर्व जो कहा था कि 'परिछन साजु सजन सब लागीं' उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया। परिछन अर्थात् आरती सजने लगीं। (परिछनमें आरती भी सम्मिलित है, पर सब आरती परिछन नहीं हैं। परिछनमें और भी कुछ कृत्य होते हैं जो पूर्व लिखे गये हैं)।

३ 'कनक थार भरि मंगलन्हि···' इति। (क) मङ्गल द्रव्य गिनाये, मङ्गलोंका सजाना कहा। अब यहाँ सजानेका स्वरूप कहते हैं। वह यह कि थालमें सब मङ्गल-द्रव्य भरपूर रक्खे। 'कमल करन्हि' से जनाया कि हाथ कमलसमान सुन्दर हैं, हाथोंके ऊपर सुवर्णके थालोंकी शोभा है और थालोंके ऊपर मङ्गल द्रव्योंकी शोभा है। 'चलीं मुदित···'—श्रीरामजीके दर्शनके लिये अत्यन्त अनुराग है, इसीसे मुदित हैं कि चलकर अब उनको देखेंगी, यही समझकर सर्वाङ्ग पुलकावलीसे छा गया। यथा—'सबके उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिये नयन भरि राम लखन दोउ बीर। ३००।' (पुरवासियोंको दो ही भाइयोंके दर्शनका उत्साह था, क्योंकि दो भाई साथ थे। और माताओंको तो चारों भाइयों और चारों बहुओंके दर्शनका उत्साह है, तब इनकी यह दशा क्यों न हो ?)। यहाँतक स्त्रियोंके कृत्यका वर्णन किया।

☞ मिलान कीजिये—'मंगल बिटप मंजुल बिपुल दधि दूब अच्छत रोचना। भरि थार आरति सजहिं सब सारंग सावक लोचना। जा० मं० ११५।'

धूप धूम नभु मेचकु भयेऊ। सावन घन घमंडु जनु ठयेऊ॥ १॥
सुरतरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं॥ २॥
मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे॥ ३॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि॥ ४॥
दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा॥ ५॥

शब्दार्थ—'ठयऊ'=किया, यथा—'सोरह जोजन मुख तेइँ ठयऊ' (सु०), 'जबतें कुमति कुमत जिय ठयऊ।'

(२ । १६२) ।=ठहर गये=स्थित हो गये, जम गये, छा गये । 'घमंड=घुमड़कर, उमड़कर । बलाक=बगुला । पाकरिपु= इन्द्रका नाम है । वामनपुराणमें पाक नामक असुरके इन्द्रद्वारा मारे जानेकी चर्चा है । देवासुर-संग्राममें भी इसका नाम आया है । पाकरिपु चाप=इन्द्रधनुष । 'पाकः'—देवासुर-संग्राममें जम्भासुरके मारे जानेपर उसके भाई-बन्धु नमुचि, बल और पाक झटपट रणभूमिमें आ पहुँचे । पाकने अपने बाणोंसे मातलि (सारथि) और उसके एक-एक अङ्गको छेद डाला। इन्द्रकी सेना रौंद डाली । इन्द्रने अपने आठ धारवाले वज्रसे बल और पाकका सिर काट डाला । (भा० ८ । ११)

अर्थ—धूपके धुएँसे आकाश ऐसा काला हो गया मानो सावनके बादल घुमड़-घुमड़कर आ ठहरे हैं ॥ १ ॥ देवता कल्पवृक्षके फूलोंकी मालाएँ बरसा रहे हैं, मानो बगुलोंकी पाँति है जो मनको खींच लेती है ॥ २ ॥ सुन्दर मणियोंसे युक्त बन्दनवार ऐसे मालूम होते हैं मानो इन्द्रधनुष सजाये गये हैं ॥ ३ ॥ स्त्रियाँ अटारियोंपर प्रकट होती और छिपती (ऐसी जान पड़ती) हैं मानो सुन्दर चञ्चल बिजलियाँ दमक रही हैं ॥ ४ ॥ नगाड़ोंकी ध्वनि बादलोंका घोर गर्जन है । भिक्षुक पपीहा मेंढक और मोर हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'धूप धूम नभु…' इति । श्रीअयोध्यापुरीका वर्णन करके अब अयोध्यापुरीके ऊपर आकाशकी शोभा कहते हैं । यहाँ (का रूपक) कह रहे हैं । वर्षामें मेघ मुख्य हैं । इसीसे मेघोंका आगमन कहते हैं, यथा—'**बरषा काल मेघ नभ छाए । गरजत लागत परम सुहाए ॥ ४ । १२ ।**', '**देखि चले सनमुख कपि भट्टा । प्रलय काल के जनु घन घट्टा ॥**' (लं०) । सावनके मेघ श्याम होते हैं, इसीसे सावनके मेघोंकी उपमा दी । 'घन घमंडु जनु ठयेऊ'=मेघोंने मानो घमण्ड किया अर्थात् घिर आये हैं । [रा० प्र० कार लिखते हैं कि इस उपमासे जनाया कि 'सावनमें जैसे तृण भी सुखी होता है वैसे ही इस समय चराचरको सुख है । तृणका भाव कि अति दीन-दुखी जैसे सूखे उकठे काठ भी सावनकी वर्षा पाकर हरे हो जाते हैं वैसे ही जो पूर्वानुरागी रहे (अर्थात् सीताराम-दर्शनाभिलाषी वा जो अवधवासी विरही रहे, वे युगल चम्पकवरण और घनश्यामसे हरे हुए']

२ (क) 'सुरतरु सुमन-माल सुर…' इति । सुरतरुके फूलोंकी उपमा बलाककी दी, इससे सूचित हुआ कि कल्प-वृक्षके फूल श्वेत होते हैं और बड़े-बड़े भी । 'बरषहिं' कहकर जनाया कि देवता फूल-मालाओंकी अखण्ड वृष्टि कर रहे हैं। जब देवता बहुत प्रसन्न होते हैं तब कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा करते हैं, यथा—'**जय धुनि बंदी बेद धुनि मंगल गान निसान । सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध सुरतरु सुमन सुजान ॥३२४॥**' '**सुरतरु-सुमन माल…**' (यहाँ), '**भरत राम संबादु सुनि सकल सुमंगल मूल । सुर स्वारथी सराहि कुल बरसत सुरतरु फूल ॥ २ । ३०८ ॥**' (विशेष दो० ३२४ में देखिये) । (ख) '**मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं**' इति । (फूलमालाओंकी अखण्ड वृष्टिसे उनकी एक पंक्ति बन जाती हैं और बगले भी एक पंक्ति बाँधकर चलते हैं । ऐसा दीखता है मानो बगलोंकी पंक्ति-की-पंक्ति मेघोंमें उड़ी हुई चली जा रही है)। भाव यह है कि फूल-मालाओंकी ऐसी सुन्दर शोभा हो रही है कि मन खिंचकर उसे देखनेमें लग जाता है ।

३ (क) 'मंजुल मनिमय बंदनिवारे' इति । 'मनिमय' कहनेका भाव कि बंदनवार आमके पत्तोंके होते हैं, पर ये बन्दनवार मणिमय हैं । (मणियोंके ही आम्र-पल्लव बनाये गये हैं । श्रीजनकपुरमें लिख आये हैं, इसीसे यहाँ नहीं लिखा। यथा—'**सौरभ पल्लव सुभग सुठि किए नीलमनि कोरि । हेम बौर मरकत घवरि लसत पाटमय डोरि ॥ २८८ ॥**'; वैसा ही यहाँ है। नीलमको कोरकर पत्ते बनाये हैं, सोनेके बौर, मरकतमणिकी घौर, रेशमकी डोरीमें गुँथ-पिरोये हैं । इन्द्रधनुषमें सात रंग होते हैं—बनफशयी, नीलका-सा, नीला, हरा, नारङ्गीका-सा, पीत और लाल । इन्द्रधनुषकी उपमा देकर जनाया कि ये सब रंग बंदनवारोंमें हैं, बंदनवार अनेक रंग-बिरंगकी मणियोंसे बने हैं) । (ख) 'मनहु पाकरिपु चाप सँवारे' इति । भाव कि धनुष शत्रुके मारनेके लिये सँवारा जाता है, (अतः यहाँ इन्द्रके लिये 'पाकरिपु' नाम दिया) बंदनवार ऐसे दीखते हैं मानो इन्द्रने पाक दैत्यके मारनेके लिये धनुष सजाये हैं । [वर्षाका यहाँ रूपक चल रहा है और वर्षाकालमें इन्द्र-धनुष प्रायः दिखायी देता ही है । अतः यहाँ इन्द्रधनुष भी कहा गया । यह सात रंगोंका बना हुआ अर्द्धवृत्त सूर्यके विरुद्ध दिशामें आकाशमें देख पड़ता है । जब सूर्यकी किरणें बरसते हुए जलसे पार होती हैं तब उनकी प्रतिछायामें यह इन्द्रधनुष बनता है] (ग) इन्द्रधनुषकी उपमा देकर सूचित किया कि श्रीअयोध्यापुरीके घर बहुत ऊँचे हैं (चौदह-सोलह मंजिल-मरातबेके हैं । सतखण्डे, अठखण्डे तो साधारण ही हैं) । इन्द्रधनुष बहुत ऊँचेपर उदय होता है, और बंदनवार धरोंके दर-

वाजोंके ऊपरकी चौखटमें लगाये जाते हैं। (घ) यहाँ बंदनवारोंकी शोभामें तीन बातें, 'मंजुल' 'मनिमय' और 'पाकरिपु-चाप', तीन भावोंसे कही गयीं। बनावटमें 'मंजुल' हैं, स्वरूपमें मणिमय हैं और उपमामें इन्द्रधनुषके समान हैं।

नोट—१ वर्षाकालमें इन्द्रधनुष भी प्रायः दिखायी देता है। पर किष्किन्धामें वर्षाके वर्णनमें श्रीरामजीने इसका नाम भी न लिया, कारण यह कि इन्द्रधनुषका देखना और दिखाना दोनोंहीका निषेध शास्त्रोंमें किया गया है और यहाँ केवल रूपक बाँधा गया है, इससे रूपकमें कह दिया गया। इसी प्रकार लङ्काकाण्डमें भी रूपकहीद्वारा कहा गया, यथा—'जनु इंद्रधनुष **अनेक** की वर बारि तुंग तमालही' (६। १०० छंद)

टिप्पणी—४ 'प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर···' इति। [(क) बारंबार कोठेपर आना-जाना खिड़कियों और दरवाजोंसे दिखायी देता है। सामने दिखायी पड़ना प्रकट होना है और ओटमें पड़ जाना छिपना है। बिजली बड़ी शीघ्रताके साथ चमककर गायब हो जाती है, इसी तरह वे दिखायी नहीं दीं कि छिपीं। (प्र० सं०)] (ख) 'प्रगटहिं दुरहिं' का भाव कि स्त्रियोंका स्वभाव चञ्चल होता है, वे स्थिर नहीं रहतीं। 'अटन्ह पर भामिनि'—श्रीअयोध्यापुरीकी स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़कर बारात देखती हैं कि कहाँतक आयी है। (इनके शीघ्र-शीघ्र प्रकट होने और तुरत छिपनेकी उत्प्रेक्षा बिजलीकी दमकसे करते हैं) बिजली मेघके पास चमकती है; और मेघ आकाशमें बहुत ऊँचाईपर होते हैं। इधर श्रीअयोध्यापुरीकी अटारियाँ भी बहुत ऊँचाईपर हैं, आकाशको मानो चूम रही हैं, यथा—'धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। ७। २७।' उतनी ऊँचाईपर स्त्रियाँ हैं। स्त्रियोंके आभूषण और देहकी द्युति विद्युत्के समान हैं, यथा—'जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। **सजि नवसप्त सकल दुति दामिनि॥** (२९७। १) 'भामिनी' का अर्थ ही दीप्तिमती है। प्रकट होना और छिप जाना तथा चञ्चल दमक ये सब बिजलीके धर्म हैं, ये ही सब धर्म स्त्रियोंमें कहते हैं। पहले बिजलीकी चमक देख पड़ती है तब मेघोंका गर्जन सुनायी पड़ता है, यह गर्जन आगे लिखते हैं।

नोट—२ भावार्थान्तर यह हैं—(१) बाबू श्यामसुन्दरदास—'जैसे बिजली बार-बार चमककर फिर अँधेरा हो जाता है, इसी तरह स्त्रियाँ बार-बार झाँक-झाँककर फिर भीतर चली जाती हैं'। (२) बैजनाथजी—गौराङ्गिणी स्त्रियाँ देखनेके लिये अटारियोंपर प्रकट होती हैं और लज्जाके कारण छिप जाती हैं। (३) पीले वस्त्र बिजलीके समान चमकते हैं।

टिप्पणी—५ 'दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा···।' इति। (क) मेघ और बिजली कहे। इनके समीप ही गर्जन होनी चाहिये, वही अब कहते हैं। बड़े-बड़े ऊँचे पर्वताकार हाथियोंके ऊपर नगाड़े बज रहे हैं, यही मानो घनके समीप ही आकाशमें गर्जनका होना है। पहुँची हुई बारातमें नगाड़े बहुत जोर-जोर बजाये जाते हैं, यथा—'हने निसान पनव बर **बाजे**।' इसीसे गर्जनको घोर कहा। चातक, दादुर और मोर मेघोंके स्नेही हैं। इसीसे मेघोंकी गर्जनके पीछे इनको लिखते हैं। (ख) 'जाचक चातक दादुर मोरा' इति। इसका ब्योरा कवि आगे स्वयं लिखते हैं, यथा—'**मागध सूत बंदि नट नागर। गावहिं जस तिहु लोक उजागर॥**' 'जय धुनि बिमल बेद बर बानी।' (१। ३४८)। बन्दी (भाट) 'चातक' हैं, यथा—'**चातक बंदी गुनगन बरना।**' (३। ३८। ८)। 'बेद बर बानी' अर्थात् वेदध्वनि करनेवाले दादुर हैं, यथा—'**दादुर धुनि चहु दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥**' (४। १५। १))। नट नाचते हैं, वे ही मोर हैं, यथा—'**नृत्य करहिं नट नटी नारि नर अपने अपने रंग।**' (गी०)।

नोट—३ (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि जो केवल रामदर्शन-जलके प्यासे हैं वे पपीहा हैं; क्योंकि पपीहा सदा स्वाति-जलका प्यासा 'पी कहाँ, पी कहाँ ?' रटा करता है। बन्दीजन जय-जयकार कर रहे हैं सो मेढक हैं जो वर्षा आते ही अपनी ध्वनि बाँध देते हैं। और ढाढ़ी आदि जो नृत्य कर रहे हैं वे मोर हैं; क्योंकि मोर मेघोंको देखकर नाचने लगता है। (ख)—पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'चातक इसलिये कहा कि जैसे यह बादलहीको चाहता है ऐसे ही वह याचक केवल रामसे प्रयोजन रखते हैं। दादुर जय-जयके उच्चारणसे कहा और मोर इसलिये कि वह अन्तःकरणसे नृत्य करते हैं। (ग) प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि याचकोंमें तीन प्रकारके लोग हैं 'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ ···रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।' चातक है तो प्रेमी तथापि स्वातिजलके एक बूँदका ही क्यों न हो उसकी कामना रहती है। वह बड़ा स्वाभिमानी और टेक निबाहनेवाला होता है। ऐसे अल्प-संतुष्ट स्वाभिमानी याचक चातक हैं। दादुरको अल्प जलसे समाधान नहीं होता, उसी तरह बहुत धनकी आकांक्षावाले याचक दादुर हैं। मोर केवल मेघके दर्शनसे नाचने लगता है। भगवान्‌के दर्शनकी आकांक्षासे ही प्रसन्न होकर उनका कीर्तन करते हुए नाचनेवाले याचक मोर हैं।

सुर सुगंध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर नर नारी॥ ६॥
समउ जानि गुर आयेसु दीन्हा। पुर प्रवेसु रघुकुलमनि कीन्हा॥ ७॥
सुमिरि संभु गिरिजा गन राजा। मुदित महीपति सहित समाजा॥ ८॥

शब्दार्थ—ससि (शस्य)=खेती, फसल, धान्य।

अर्थ—देवता पवित्र और सुगन्धित जलकी वर्षा करते हैं। पुर-नरनारीरूपी सब खेती सुखी है॥ ६॥ (पुर-प्रवेश-का) समय जानकर गुरुजीने आज्ञा दी, तब रघुकुलमणि (राजा दशरथजी तथा श्रीरामजी) ने नगरमें प्रवेश किया॥ ७॥ भगवान् शंकर, गिरिजा और गणपतिका स्मरण करके राजा समाजसहित आनन्दित हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ जलकी वर्षा देवता करते हैं, यथा—'देव न बरषहिं धरनि जल। ७। १०१।' ('देव न बरषहिं धरनी' यह पाठ भा० दा० का है)। धूपका धुआँ जल नहीं बरसाता। इसीसे देवताओंका बरसाना नहीं लिखा। **'सुगंध सुचि'** कहनेका भाव कि पवित्र गङ्गाजलमें सुगन्ध घोलकर बरसा रहे हैं। गुलाब, केवड़ा आदि सुगन्ध हैं, शुचि नहीं हैं। जलकी वर्षासे कृषि सुखी होती है, वैसे ही सुगन्धित जलके पड़नेसे पुर-नरनारी सुखी हो रहे हैं।—[देवता जो सुगन्धकी वर्षा कर रहे हैं वही मेघोंका जल है। स्त्री-पुरुषोंपर धानकी खेतीका आरोप किया गया, क्योंकि यहाँ सावनकी वर्षाका साङ्गोपाङ्ग रूपक बाँधा गया है और सावन-भादोंके ही जलसे धान हरे-भरे होते हैं। (प्र० सं०)]

२—**'समउ जानि गुर…'** इति। (क) 'समउ जानि' अर्थात् पुरमें प्रवेश करनेका मुहूर्त जानकर। (बैजनाथजी 'माघ कृ० २ बुध पुष्य नक्षत्रमें पुर-प्रवेश कहते हैं और कोई पौष कृ० २ कहते हैं)। 'गुरु आयसु दीन्हा'—राजा गुरुजीकी आज्ञा पाकर पुरसे निकले थे, यथा—'सुमिरि राम गुर आयेसु पाई। चले महीपति संख बजाई॥ ३०२। ३।'; वैसे ही अब गुरुकी आज्ञा होनेपर पुरमें प्रवेश करते हैं। (यह गुरुभक्ति है। ३०२। ३ उपक्रम है, उसका उपसंहार यहाँ है)। (ख) **'पुर प्रवेस रघुकुलमनि कीन्हा'** इति। वर्षा कहकर तब पुरमें प्रवेश करना कहा, क्योंकि (वर्षा ऋतुकी) वर्षा मंगल है, अन्य ऋतुओंमें मेघाच्छन्न होना दुर्दिन है—'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्'। वर्षाऋतुमें मेघच्छन्न होना दुर्दिन नहीं है। इसीसे वर्षाऋतुका रूपक बाँधा। पुनः, वर्षाऋतुका रूपक करनेका दूसरा भाव यह है कि वर्षाऋतुमें राजा नगरसे बाहर नहीं जाते, इसी प्रकार श्रीचक्रवर्ती महाराज पुत्रोंसहित नगरसे बाहर न जायँ, सदा श्रीअयोध्यापुरीहीमें बने रहें, इस भावनासे वर्षाका रूपक करके तब पुरमें प्रवेशका वर्णन किया। (ग) 'रघुकुलमनि' से श्रीदशरथजीका अर्थ किया गया [यथा—'अवधपुरीं रघुकुलमनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ॥ १८८। ४), इससे 'श्रीरामजी' का भी अर्थ कर सकते हैं। अर्थात् रघुकुलमणि श्रीरामजीने पुरमें प्रवेश किया। पुत्रोंका पुरमें प्रवेश देखकर राजाने श्रीशिव, गिरिजा, गणेशजीका स्मरण किया और समाजसहित प्रसन्न हुए।

३ **'सुमिरि संभु गिरिजा…'** इति। (क) स्मरण किया कि चारों पुत्रोंको मङ्गलदाता हों। इन्हींका स्मरण करके जनकपुरको प्रस्थान किया था, यथा—'आप चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि हर गुर गौरि गनेसु। ३०१।' [वैसे ही यहाँ पुरप्रवेशके समय चारोंका स्मरण कहा। 'गुर आयेसु दीन्हा' में गुरुका स्मरण भी आ गया और शंभु, गिरिजा, गणेशका स्मरण तो स्पष्ट ही कहा।] पूजामें गणेशजी प्रथम पूज्य हैं, परंतु यहाँ पूजन नहीं है, स्मरणमात्र है। इसीसे क्रमसे पहले श्रीशिवजीको फिर गिरिजाजीको और तब गणेशजीको स्मरण किया। (ख) **'मुदित महीपति सहित समाजा'** इति। यहाँ रघुकुलमनि-का अर्थ खोला कि राजा 'रघुकुलमनि' हैं। (विशेष टि० २ (ग) में लिखा गया है) शंभु, गिरिजा और गणेशजीके स्मरणके पीछे 'मुदित' होनेका भाव कि इनका स्मरण करते ही अनेक मङ्गल देख पड़े जैसा आगे स्पष्ट है—**'होहिं सगुन…'** इसीसे समाजसहित राजाको हर्ष हुआ। 'मुदित' होना भीतरका शकुन है और बाहरके शकुन आगे दोहेमें कहते ही हैं। बाह्यान्तर दोनों शकुन सबको हुए, इसीसे सबका मुदित होना कहा।

दो०—होहिं सगुन बरषहिं सुमन सुर दुंदुभी बजाइ*।
बिबुध-बधू नाचहिं मुदित मंजुल मंगल गाइ*॥ ३४७॥

* बजाई, गाई—१६६१।

अर्थ—शकुन हो रहे हैं, देवता नगाड़े बजा-बजाकर फूल बरसाते हैं। देवाङ्गनाएँ, अप्सराएँ प्रसन्न होकर सुन्दर मङ्गल (गीत) गा-गाकर नाच रही हैं ॥ ३४७ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'होहिं सगुन'—जो शकुन बारातके प्रयाण-समय हुए थे, वे ही सब पुर-प्रवेशके समयमें हुए। सुमनकी वृष्टि, नगाड़ोंका बजाना और मङ्गलगीतोंका गान ये सभी शकुन हैं। शकुनोंका वर्णन 'होहिं सगुन सुंदर सुभदाता। ३०३। १।' से 'मंगलमय कल्यानमय'''। ३०३' तक है। (ख) 'बरषहिं सुमन सुर दुंदुभी बजाइ' इति। नगाड़ा बजा-बजाकर फूल बरसानेका भाव यह है कि वर्षाका रूपक ऊपरसे कहते आ रहे हैं, वही रूपक यहाँ भी चल रहा है। जैसे मेघ गरज-गरजकर बरसते हैं वैसे ही देवता नगाड़ा बजा-बजाकर फूल बरसाते हैं। नगाड़ोंका बजना मेघोंका गर्जन है, यथा—'दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा।' (ऊपर कहा है)। (ग) 'बिबुध बधू नाचहिं' इति। 'बिबुध' का भाव कि ये विशेष बुद्धिमानोंकी स्त्रियाँ हैं; (नृत्य-गान) विद्यामें बड़ी प्रवीणा हैं, सुन्दर नृत्य और गान कर रही हैं। (घ) 'मुदित' का भाव कि जैसे रानियोंको श्रीरामजीके आगमनमें सुख हुआ है, वैसे ही देववधूटियोंको भी सुख हो रहा है। रानियाँ मुदित होकर मङ्गल गा रही हैं, यथा—'रची आरती बहुत बिधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना ॥ ३४६। ८', वैसे ही देवाङ्गनाएँ मुदित होकर मङ्गल गा रही हैं। (ङ) 'मंजुल'—मधुर, ताल और स्वरसे युक्त होनेसे 'मंजुल' कहा।

मागध सूत बंदि नट नागर। गावहिं जस तिहुँ लोक उजागर ॥ १ ॥
जय धुनि बिमल बेद बर बानी। दस दिसि सुनिय सुमंगल सानी ॥ २ ॥
बिपुल बाजने बाजन लागे। नभ सुर नगर लोग अनुरागे ॥ ३ ॥
बने बराती बरनि न जाहीं। महामुदित मन सुख न समाहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—चतुर मागध (वंशप्रशंसक), सूत (पौराणिक), भाट और नट (राजा दशरथजी और श्रीरामजीका त्रैलोक्यप्रसिद्ध) तीनों लोकोंमें जगमगाता हुआ निर्मल यश गा रहे हैं ॥ १ ॥ जयध्वनि और निर्मल वेदोंकी श्रेष्ठ वाणी अर्थात् वेदध्वनि सुन्दर मङ्गलोंसे सानी हुई दसों दिशाओंमें सुनायी दे रही है। २। बहुतसे बाजे बजने लगे। आकाशमें देवता और नगरमें लोग अनुरागको प्राप्त हुए (अर्थात् प्रेममें मग्न हो गये)। ३। बाराती (ऐसे) बने-ठने हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता। मनमें महान् आनन्दित हैं, सुख मनमें नहीं समाता है। ४।

टिप्पणी—१ (क) मागध, सूत, बंदी—३०० (५) देखिये। 'नागर' सबका विशेषण है। 'नागर' कहनेका भाव कि ये सब नगरके ही हैं और सब चतुर हैं, बड़ी चतुरतासे यश गाते हैं। 'गावहिं जस''' किसका यश गाते हैं यह यहाँ नहीं कहा। राजाका यश तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है, यथा—'तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं। २। २। ४ ॥' 'बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा। २। १७३। ८ ॥' श्रीरामजीका यश भी तीनों लोकोंमें उजागर है, यथा—'महि पातालु नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा। २६५। ५ ॥' मागधादि श्रीरामजी और श्रीदशरथजी दोनोंका यश गाते हैं; इसीसे किसीका नाम नहीं लिखा। 'तिहुँ लोक उजागर' कहनेका भाव कि इनका यश कुछ बढ़ाकर नहीं कह रहे हैं, इनका यश तो आप ही बढ़ा हुआ है, तीनों लोकोंमें व्याप्त है, उसीको गाते हैं।

(ख) 'जय धुनि '''' इति। पुरमें प्रवेश करते समय बहुत लोगोंने जय-जयकार किया, ब्राह्मण शान्तिपाठ पढ़ने लगे। 'बिमल' ब्राह्मणोंकी वाणी निर्मल अर्थात् अठारह दोषोंसे रहित है और वर (श्रेष्ठ) है अर्थात् गम्भीर है। वेदवाणी भी सबसे श्रेष्ठ वाणी है और विमल अर्थात् सत्य है। 'सुमंगल सानी' कहनेका भाव कि जयध्वनि और वेदध्वनि सुनते ही मङ्गलकी प्राप्ति होती है। 'दस दिसि सुनिय' से सूचित हुआ कि चारों दिशाओं और चारों उपदिशाओंमें ऊपर सिद्ध मुनि देवता और नीचे ब्राह्मण मागध सूत आदि सर्वत्र जयध्वनि और वेदध्वनि कर रहे हैं। [वाग्दोष, यथा—('इति वाक्यगुणानाह) वाग्दोषान्द्विनव शृणु। अपेतार्थमभिन्नार्थमप्रवृत्तं तथाधिकम् ॥ ६९ ॥ अश्लक्ष्णं चापि संदिग्धं पदान्ते गुरु चाक्षरम्। पराङ्मुखमुखं यच्च अनृतं चाप्यसंस्कृतम् ॥ ७० ॥ विरुद्धं यत्त्रिवर्गेण न्यूनकष्टादि शब्दकम्। व्युत्क्रमाभिहतं यच्च सशेषं चाप्यहेतुकम् ॥ ७१ ॥ निष्कारणं च वाग्दोषान् (बुद्धिजाञ्छृणु त्वं च यान् ॥' स्कन्दपु० माहेश्वरखण्डे (कुमारिकाखण्ड अ० ४५)। अर्थात् वाणीके अठारह दोष सुनो। अपेतार्थ (जिसके उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो), अभिन्नार्थ

(जिससे अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो), अप्रवृत्त (जो व्यवहारमें कम आता हो), अधिक (जिसके न होनेपर भी अर्थका बोध हो जाता है), अश्लक्षण (अस्पष्ट वा अपरिमार्जित), संदिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण, पराङ्मुख (वक्ताके अभीष्ट अर्थके विपरीत अर्थसूचक), अनृत, असंस्कृत (व्याकरणसे अशुद्ध), त्रिवर्गविरुद्ध (अर्थ, धर्म, कामके विपरीत विचार होना), न्यून (अर्थबोधके लिये पर्याप्त शब्दका न होना), कष्टशब्द (क्लिष्ट उच्चारणवाले), अतिशब्द (अतिशयोक्तिपूर्ण), व्युत्क्रमाभिहत (क्रमका उल्लङ्घन जिसमें हो), सशेष (जहाँ वाक्य पूरा होनेपर भी बात पूरी न हो), अहेतुक (उचित तर्क या युक्तिका अभाव) और निष्कारण ये वाणीके अठारह दोष हैं ।]

२ (क) 'बिपुल बाजने' इनके नाम पूर्व लिख चुके हैं, यथा—'हने निसान पनव बर बाजे । भेरि संख धुनि…' 'झाँझि बीन डिमडिमी सुहाई । सरस राग बाजहिं सहनाई । १ । ३४४ ।।' इसीसे यहाँ नाम नहीं लिखे । इसी तरह पूर्व भी कहा था—'बिबिध बिधान बाजने बाजे । ३४६ । ३ ।।'

(ख) 'घने बराती बरनि न जाहीं' यह बाहरकी शोभा कही और 'महामुदित मन सुख न समाहीं' यह भीतरकी शोभा है । यहाँ 'अधिक' अलंकार है । मन भारी आधार है और सुख आधेय है सो मनमें नहीं समाता, यही आधारसे आधेयकी अधिकता है । सुख बहुत हैं, इसीसे 'समाहीं' बहुवचन क्रिया दी । चारों भाइयोंको पुरमें प्रवेश करते देख सुख हुआ, फिर शकुन देखकर सुख हुआ । परस्पर बारातकी शोभा देखकर सुख हुआ, जयध्वनि, वेदध्वनि सुनकर, पुरीकी शोभा और पुरवासियोंका अनुराग देखकर सुख हुआ, इसीसे मनमें सुख नहीं समाते और इसीसे महामुदित हैं ।

☞ श्रीसियरघुबीर विवाह कराके बारातका श्रीअयोध्यामें पुनरागमन प्रसङ्ग समाप्त हुआ ।

पुरबासिन्ह तब राय जोहारे । देखत रामहि भये सुखारे ।।५।।
करहिं निछावरि मनिगन चीरा । बारि बिलोचन पुलक सरीरा ।।६।।
आरति करहिं मुदित पुर-नारी । हरषहिं निरखि कुअँर बर चारी ।।७।।
सिबिका सुभग ओहार उघारी । देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी ।।८।।

दो०—येहि बिधि सबही देत सुखु आए राजदुआर ।
मुदित मातु परिछन करहिं बधुन्ह समेत कुमार ।।३४८।।

अर्थ—तब पुरवासियोंने राजाको प्रणाम किया और रामचन्द्रजीको देखते ही सुखी हुए । ५ । मणिगण और वस्त्र निछावर करते हैं । नेत्रोंमें जल है और शरीर पुलकित है । ६ । पुरकी स्त्रियाँ आनन्दपूर्वक आरती कर रही हैं । सुन्दर चारों कुमारोंको देखकर प्रसन्न हो रही हैं । सुन्दर पालकीके सुन्दर परदे खोल-खोलकर दुलहिनोंको देख-देख सुखी होती हैं । ८ । इस प्रकार सभीको सुख देते हुए राजकुमार बहुओंसहित राजद्वारपर आये, माताएँ आनन्दपूर्वक उनका परिछन करने लगीं ।। ३४८ ।।

टिप्पणी—१ (क) 'तब' अर्थात् जब रघुकुलमणिने पुरमें प्रवेश किया तब । राजाको प्रणाम करना और श्रीरामजीको देख सुखी होना कहनेसे सूचित किया कि चारों भाई राजाके समीप ही हैं । जैसे बाराती श्रीरामजीको देखकर सुखी हुए थे, यथा—'रामहि देखि बरात जुड़ानी । ३०९ । १ ।।' वैसे ही ये पुरवासी (जो बारातमें नहीं गये थे) श्रीरामजीको देखकर सुखी हुए । (ख) 'करहिं निछावरि…' इति । इस समय पुरुषोंको आरती न करनी चाहिये । यदि आरतीके पीछे पुरुष निछावर करते तो वह परछनका भाव हो जाता, इसीसे पुरुषोंने प्रथम ही निछावरें दीं । इसी तरह इस समय स्त्रियोंको निछावर न देनी चाहिये, क्योंकि यदि वे आरती करके निछावरें दें तो भी उसमें परछनका भाव आ जाता है । इसीसे पुरुषोंने प्रथम ही निछावरें दीं और स्त्रियोंने पीछे आरती की । (ग) यहाँ निछावर लेनेवालोंका नाम नहीं दिया, क्योंकि इनको प्रथम ही लिख आये हैं, 'मागध सूत बंदि नट नागर ।' ये ही निछावर लेते हैं । और परछनके समय पालकी उठानेवाले कहार निछावर पाते हैं ।

२ (क) 'आरति करहिं मुदित…' इति । पुरवासिनी स्त्रियाँ केवल कुमारोंकी आरती करती हैं, इसीसे उसे आरती कहते हैं, माताएँ बहुओंसमेत कुमारोंकी आरती करती हैं, इससे उनकी आरतीको 'परिछन' कहा है, 'मुदित मातु परिछनि

करहिं बधुन्ह समेत कुमार।' लौटी हुई बारातमें प्रथम माता ही बर-दुलहिनकी आरती करती है जिसे परछन कहते हैं, इसीसे पुरनारियोंने बहुओंसमेत कुमारोंकी आरती नहीं की। (ख) 'हरषहिं निरखि कुँअर बर चारी' इति। चारों कुमारोंकी आरती की, क्योंकि चारों कुमार ब्याह करके घर आये हैं। 'बर' का भाव कि अद्भुत रूप है, अद्भुत शृङ्गार है। अथवा 'बर' अर्थात् दूलहरूप है। दूलहरूप देखकर हर्षित होती हैं। रूपके दर्शनसे हर्ष उत्पन्न होता है, यथा—'रूपसिंधु सब बंधु लखि हरषि उठा रनिवासु॥ ३३४॥'

३ 'सिबिका सुभग ओहार उघारी।''' इति। 'सुभग' देहलीदीपक है। पालकी और ओहार दोनों सुन्दर हैं। 'सुभग' शब्द देनेमें भाव यह है कि पालकी और ओहार सुन्दर हैं और सुन्दर ऐश्वर्यसे युक्त हैं अर्थात् अनेक रंगकी मणिमुक्ताओंसे युक्त हैं। प्रथम सुन्दर वरोंको देखकर तब दुलहिनोंको देखने लगीं कि वर तो बहुत सुन्दर है, देखें दुलहिनें कैसी हैं। 'देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी'—भाव कि देखा कि जैसे वर सुन्दर हैं वैसे ही दुलहिनें भी सुन्दर हैं, अतः सुखी हुईं॥

४ (क) 'येहि बिधि' अर्थात् द्वार-द्वारपर निछावर और आरती होती है। (इससे जनाते हैं कि राजाकी सवारी धीरे-धीरे चल रही है, सब स्त्रियाँ अपने-अपने घरोंमें आरती लिये खड़ी हैं, जैसे-जैसे उनके द्वारसे निकलते हैं, वहाँ रुक जाते हैं, पुरुष निछावर कर लेते हैं और स्त्रियाँ आरती उतार लेती हैं, तब आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार सबके द्वार-द्वारपर रुकते हुए सबको सुख देते चल रहे हैं। राजद्वारपर पहुँचनेपर माताएँ परछन करती हैं)। (ख) 'मुदित मातु परिछनि करहिं''' इति। 'चलीं मुदित परिछनि करन''। ३४६।' पर प्रसङ्ग छोड़ा था, अब वहींसे पुनः कहते हैं 'मुदित मातु परिछनि करहिं'। (ग) श्रीरामजीके पुरमें प्रवेश करनेपर सबका मुदित होना लिखा। यथा—'मुदित महीपति सहित समाजा', 'बिबुधबधू नाचहिं मुदित', 'बने बराती बरनि न जाहीं। महामुदित मन सुख न समाही', 'पुरबासिन्ह तब राय जोहारे। देखत रामहिं भये सुखारे', 'आरति करहिं मुदित पुरनारी' और 'मुदित मातु परिछनि करहिं'। आदिमें पिताका और अन्तमें माताका मुदित होना लिखकर जनाया कि माता-पिता हर्षकी सीमा है। परिछनमें दूलह-दुलहिन दोनोंकी आरती होती है, इसीसे 'बधुन्ह समेत कुमार' कहा। इससे सूचित करते हैं कि जब एक-एक पालकीमें एक-एक दूलह-दुलहिन बैठे तब 'बधुन्हसमेत' कुमारोंकी आरती हुई। [मयङ्ककार लिखते हैं कि श्रीरामजी और श्रीजानकीजी भिन्न-भिन्न पालकियोंपर सवार थे, परंतु राजद्वारके निकट वर-दुलहिन दोनों एक ही पालकीमें सवार हो गये।]

करहिं आरती बारहिं बारा। प्रेमु प्रमोदु कहै को पारा॥ १॥
भूषन मनि पट नाना जाती। करहिं निछावरि अगनित भाँती॥ २॥
बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानंद मगन महतारी॥ ३॥
पुनि पुनि सीय-राम-छबि देखी। मुदित सफल जग जीवन लेखी॥ ४॥
सखी सीयमुख पुनि पुनि चाही। गान करहिं निज सुकृत सराही॥ ५॥

अर्थ—(माताएँ) बारंबार आरती कर रही हैं। (उस) प्रेम और आनन्दको कौन कह सकता है॥ १॥ अनेक जातिके और अगणित प्रकारके आभूषण, रत्न और वस्त्र अगणित प्रकारके निछावर करती हैं॥ २॥ बहुओंसमेत चारों पुत्रोंको देखकर माताएँ परमानन्दमें मग्न हैं॥३॥ बारंबार श्रीसीता-रामजीकी छबिको देखकर जगत्‌में अपने जीवनको सफल समझकर सुखी हैं॥ ४॥ सखियाँ बारंबार श्रीसीता-रामजीका मुख देखकर अपने पुण्योंकी सराहना कर-करके गान कर रही हैं॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'करहिं आरती बारहिं बारा' इति। अत्यन्त प्रेम और हर्षसे भरी हैं, इसीसे 'बार बार' आरती करती हैं, यथा—'सुत बिलोकि हरषी महतारी। बार बार आरती उतारी॥ ७। १२।' पुनः भाव कि पूर्व लिख आये हैं कि 'रची आरती बहुत बिधाना'। जितने प्रकारकी आरतियाँ रची गयी हैं उतने बार (प्रत्येक बार एक-एक विधिकी) आरती करती हैं, अतः 'बारहि बार' कहा (ख) 'प्रेम प्रमोद कहै को पारा' इति। जब श्रीरामजीका आगमन सुना तब प्रेम-प्रमोदके वश हो गयी थीं, सब अङ्ग शिथिल हो गये थे, यथा—'प्रेम बिबस तन दसा बिसारी। ३४५। ८।', 'मोद प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता॥ ३४६। १।' अब जब श्रीरामजी आ गये और वे आरती करने ही लगीं तबके प्रेम-प्रमोदका पार कौन पा सके। [उस समय प्रेमविवशताका कुछ वर्णन 'चलहिं न चरन' इत्यादि रीतिसे हो भी सका था किंतु इस समय चारों नवपरिणीत दाम्पत्योंके प्रत्यक्ष दर्शनसे जो आनन्द हुआ उसका वर्णन असम्भव है। (प० प० प्र०)]

२ (क) 'नाना जाती', 'अगनित भाँती' इति। कड़ा, छड़ा, लच्छा, बिजायठ, गोफ, गुंज, कंठश्री, गुलूबंद, बेसर, कटिसूत्र इत्यादि अनेक 'जाति' के आभूषण हैं। एक-एक आभूषण अगणित प्रकारके हैं, बनावमें भेद है, जैसे 'छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥ ३२९। ५।', वैसे ही यहाँ बहुत जातिके आभूषण हैं और प्रत्येक जातिके अनेक प्रकारके हैं। (ख) 'बधुन्ह समेत देखि सुत चारी' इति। इससे जनाया कि माताएँ आरती करके पुत्रों और बहुओंको देखने लगीं। पुरनारियोंने केवल चारों कुमारोंकी आरती की, इसीसे वे चारों भाइयोंको देखती हैं—'आरति करहिं मुदित पुरनारी। हरषहिं निरखि कुअँर बर चारी'॥ और माताओंने बहुओंसमेत चारों भाइयोंकी आरती की, इससे ये बहुओंसमेत चारों भाइयोंको देखती हैं। (ग) 'परमानंद मगन महतारी' इति। भाव कि पुत्रोंको देखकर आनन्द होता ही था, उनको बहुओंसमेत देखनेसे परमानन्द हुआ। अथवा पुरनारियोंको आनन्द हुआ, यथा—'देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी', 'हरषहिं निरखि कुअँर बर चारी' और माताएँ परमानन्दमें मग्न हुईं। अथवा 'प्रेम प्रमोद कहै को पारा' अर्थात् प्रकर्ष—मोद है, यही परमानन्द है। प्रमोद और परमानन्द एक ही हैं। [मिलान कीजिये—'बधुन्ह सहित सुत चारिउ मातु निहारहिं। बारहिं बार आरती मुदित उतारहिं॥ करहिं निछावरि छिनु-छिनु मंगल मुदभरीं। दूलह-दुलहिनिन्ह देखि प्रेम पयनिधि परीं॥ ११६।' (श्रीजानकीमङ्गल)]

३ 'पुनि पुनि सीयराम छबि देखी···' इति। चारों जोड़ियोंको देखकर तब श्रीसीता-रामजीकी जोड़ी पृथक् पुनः-पुनः देखती हैं क्योंकि सब जोड़ियोंमें यह जोड़ी अधिक सुन्दर है, यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥ १९८। ६।' 'पुनि पुनि' देखनेका भाव कि इस जोड़ीकी छबिके दर्शनोंसे तृप्ति नहीं होती, नेत्र अघाते नहीं। निरन्तर एकटक नहीं देखती हैं कि कहीं नजर न लग जाय, इसीसे पुनः-पुनः देखती हैं, यथा— 'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥ १९८। ५।' 'मुदित सफल जग जीवन लेखी', यथा—'नैन लाहु लहि जनम सफल करि लेखहिं। ११७।' (जानकीमङ्गल)।

४ 'सखी सीयमुख पुनि पुनि चाही।···' इति। (क) यहाँ उत्तरोत्तर शोभाकी अधिकता दिखायी है। प्रथम चारों जोड़ियोंकी शोभा कही, फिर चारोंमें श्रीराम-जानकीजीकी शोभा अधिक कही और अब श्रीरामजीसे भी अधिक श्रीजानकीजीके मुखकी शोभा कहते हैं। (ख) 'गान करहिं' इति। यहाँ सखियोंका गान करना कहते हैं। भाव यह है कि जबतक रानियाँ महलके भीतर रहीं, तबतक तो वे स्वयं गाती रहीं, यथा—'रची आरती बहुत बिधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना॥ ३४६। ८।' अब परछन करनेको बाहर द्वारपर हैं, इसीसे अब वे नहीं गातीं, सखियाँ गाती हैं। (ग) 'निज सुकृत सराही'—अपने पुण्योंको सराहती हैं, अर्थात् कहती हैं कि हमारे बड़े सुकृत उदय हुए हैं कि हमें सदा इनके समीप ही रहनेको मिला, सदा इनके मुखारविन्दका हमको दर्शन होता रहेगा, हमारे महान् भाग्य हैं।

बरषहिं सुमन छनहिं छन देवा। नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा॥ ६॥
देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी॥ ७॥
देत न बनहिं निपट लघु लागी। एकटक रही रूप अनुरागी॥ ८॥

दो०—निगम-नीति कुलरीति करि अरघ पाँवड़े देत।
बधुन्ह सहित सुत परिछि सब चलीं लवाइ निकेत॥ ३४९॥

अर्थ—देवता क्षण-क्षणपर फूल बरसाते, नाचते, गाते, अपनी सेवा लगाते हैं॥ ६॥ चारों मनहरण जोड़ियोंको देखकर सरस्वतीने सब जगह एवं सभी उपमाएँ खोज डालीं, पर कोई उपमा देते नहीं बन पड़ती, सभी निपट तुच्छ जान पड़ीं (तब हारकर) रूपको एकटक अनुराग-पूर्वक देखती रह गयीं॥ ७-८॥ वेदका विधान और कुलकी रीति करके अर्घ-पाँवड़े देती हुई सब माताएँ बहुओंसमेत पुत्रोंका परछन करके सबको घरमें लिवा ले चलीं॥ ३४९॥

टिप्पणी—१ (क) 'बरषहिं सुमन छनहिं छन···' इति। यह क्षण-क्षणपर फूल बरसानेका समय है, इसीसे क्षण-क्षणपर बरसाते हैं, यथा—'समय समय सुर बरषहिं फूला'। श्रीरामजीके पुरप्रवेशके समय फूल बरसाये, यथा—'होहिं सगुन बरषहिं सुमन सुर दुंदुभी बजाइ। ३४७।', फिर जब पुरनारियोंने आरती की तब बरसाये। इसी तरह जब श्रीरामजी

राजद्वारपर आये तब तथा परछनके समय और फिर जब श्रीरामजी महलमें गये तब; इति 'छन-छन' पर बरसाये। ('नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा' से जनाया कि फूल बरसाना, नाचना, गाना यह सब सेवा-भावसे करते हैं)। (ख) 'देखि मनोहर चारिउ जोरी' कहनेका भाव कि सब देवता अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित बारातके साथ जनकपुरको छोड़कर अयोध्याजीमें चले आये हैं, इसीसे सरस्वतीजीका देखना कहते हैं। 'उपमा सकल ढँढोरी' इति। छूछे पात्रमें खोजनेको 'ढँढोरना' कहते हैं। चारों जोड़ियोंकी उपमा तीनों लोकोंमें नहीं है, यथा—'मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥ ३११। ८।' जहाँ है ही नहीं वहाँ खोजती हैं, इसीसे 'ढँढोरी' कहा।

(ग) 'देत न बनहि' कहनेका भाव कि उपमा देनेसे अपयश होगा, मूर्खता प्रकट होगी। 'निपट लघु लागी' अर्थात् जैसे सूर्यके लिये कोई खद्योतकी उपमा दे तो जैसे वह नितान्त लघु लगती, वैसे ही कोई भी उपमा इन जोड़ियोंकी नितान्त लघु होगी। यथा—'जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै। ७। ९२।', वैसे ही ये जोड़ियाँ निरुपम हैं; इनकी उपमा है ही नहीं। ['एकटक रही रूप अनुरागी' इति।—भाव यह कि उसने सोचा कि ढूँढ़नेमें समय नष्ट न करें इनको भरनेत्र देख लें। वा, जब हार गयी तब एकटक इसी रूपको देखती रह गयी कि इनके समान तो ये ही हैं। 'एकटक रही' अर्थात् पलभरका भी विक्षेप नहीं होने देती, एकतार-बराबर रूप देख रही है। यही रूपमें अनुराग है।]

२ 'निगम नीति कुलरीति···' इति। (क) 'नीति अर्थात् जैसा वेद कहते हैं। वेदविधि गुरुजीने और लोकरीति कुलवृद्धाओंने जैसी कही वैसा करके। 'अरघ पाँवड़े देत' से सूचित किया कि चारों भाइयोंको अलग-अलग अर्घ्य और पाँवड़े दिये गये। क्योंकि एक ही पाँवड़ेपर सब नहीं चल सकते। सबका स्पर्श होना अनुचित है, इससे सेवकभाव बिगड़ता है। जिस पाँवड़ेपर श्रीसीतारामजी चलते हैं, उसपर छोटे भाई पैर नहीं रख सकते। यथा—'सीयराम पद अंक बराए। लखन चलहिं मगु दाहिन लाए। २। १२३। ६।', 'हरषहिं निरखि रामपद अंका। मानहु पारस पायउ रंका॥ रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं। २। २३८।' (श्रीभरतजी और श्रीलक्ष्मणजीका यह भाव है और शत्रुघ्नजी तो इन दोनोंसे भी छोटे हैं। जब ये उस पाँवड़ेको प्रभुका रूप ही मानेंगे तब उसपर चरण कैसे रख सकते हैं ?)। (ख) 'बधुन्ह सहित सुत परिछि सब' इति। इससे सूचित हुआ कि पहले सवारीमें बैठी हुई चारों जोड़ियोंका परछन किया। अब सवारीसे सब उतरे, तब पुनः परछन किया। अथवा, ऊपर 'मुदित मातु परिछनि करहिं···'करहिं निछावर अगनित भाँती' में परछन कहा, बीचमें माताओंका सुख, देवताओंका सुख और सेवा करने लगे थे। अतः यहाँ 'बधुन्ह सहित सुत परिछि' कहकर पूर्वप्रसंगसे सम्बन्धमात्र मिलाया है।] 'पाँवड़े देत' से सूचित किया कि यहाँसे सब पैदल चले। आगे श्रीराम-जानकीजी हैं, उनके पीछे श्रीभरत-माण्डवीजी, फिर श्रीलक्ष्मण-उर्मिलाजी और सबसे पीछे श्रीशत्रुघ्नजी-श्रुतिकीर्तिजी हैं।

चारि सिंघासन सहज सुहाए। जनु मनोज निज हाथ बनाए॥ १॥
तिन्ह पर कुअँरि कुअँर बैठारे। सादर पाय पुनीत पखारे॥ २॥
धूप दीप नैबेद बेद बिधि। पूजे बर दुलहिनि मंगलनिधि॥ ३॥
बारहिं बार आरती करहीं। ब्यजन चारु चामर सिर ढरहीं॥ ४॥
बस्तु अनेक निछावरि होहीं। भरीं प्रमोद मातु सब सोहीं॥ ५॥

अर्थ—मानो कामदेवने अपने ही हाथोंसे बनाये हैं ऐसे चार सहज ही सुन्दर सिंहासनोंपर कुमार और कुमारियोंको बिठाया और आदरपूर्वक उनके पवित्र चरण धोये। १-२। वेदरीतिके अनुसार मङ्गलके निधान दूलह-दुलहिनोंको धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादिसे पूजा की। ३। बारंबार आरती कर रही हैं। सिरपर सुन्दर पंखे, चँवर डुलाये जा रहे हैं। ४। अनेक वस्तुएँ निछावर हो रही हैं, सभी माताएँ बड़े आनन्दमें भरी सुशोभित हो रही हैं। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'सिंघासन सहज सुहाए।···' इति। चारों जोड़ियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं, उनके योग्य सुन्दर सिंहासन चाहिये, इसीसे सिंहासनकी सुन्दरता कही। 'सहज सुहाए' अर्थात् बनावटमें सुन्दर हैं, रचना या सजावटद्वारा सुन्दर हो गये हों यह बात नहीं है (जैसे 'चारिउ भाइ सुभाय सुहाए' हैं वैसे ही उनके सिंहासन भी 'सहज सुहाए' हैं। यथायोग्यका संग है। श्रीसीताजी भी 'सहज सुहावनि' (दो० ३२२) हैं और श्रीमाण्डवीजी, श्रीउर्मिलाजी तथा श्रीश्रुतिकीर्तिजी

क्रमशः 'शोभामई', 'सकल सुन्दरि शिरोमणि' और 'रूप उजागरी' हैं। चारों जोड़ियाँ अनुपम हैं—'सारद उपमा सकल ढँढोरी'; वैसे ही सिंहासन भी अनुपम हैं)। बनावट सुन्दर है इसीसे मनोजके निज हाथसे बनानेकी उत्प्रेक्षा करते हैं। जहाँ-जहाँ अत्यन्त सुन्दरताका प्रयोजन होता है वहाँ-वहाँ कामदेवका बनाना कहते हैं। यथा—'छुहे पुरट घट सहज सुहाए। मदन सकुन जनु नीड़ बनाए। ३४६। ६।' इत्यादि।

(ख) 'तिन्हपर कुअँरि कुअँर बैठारे' इति। भाव कि एक तो सिंहासन ही अत्यन्त सुन्दर हैं, फिर उनपर चारों मनोहर जोड़ियाँ बैठी हैं; अतएव शोभा अपार है, कौन कह सकता है?

(ग) 'सादर पाय पुनीत पखारे' इति। 'आदरसहित' यह कि मणियोंकी परातोंमें अलग-अलग सबके चरण धीरे-धीरे धोये, फिर उत्तम वस्त्रसे पोंछे। 'सादर पखारना' भक्ति है। 'पाय पुनीत' का भाव कि पवित्रताके लिये नहीं धोये, चरण तो आप ही पवित्र हैं। [पुनः भाव कि त्रैलोक्य-पावनी गङ्गाजी इन्हीं चरणोंसे निकली हैं, इन्हीं चरणोंके मकरन्दको शिवजी सिरपर धारण किये हैं, इन्हीं चरणोंमें मुनिजन अपने मनको भौंरा बनाये रहते हैं, इन्हींकी धूलिके स्पर्शसे अहल्या तुरंत शापमुक्त हो गयी, इन्हींके चरणोदकको सिरपर धारणकर ब्रह्माजी सृष्टिचक्रके प्रवर्तक हुए और बलि इन्द्र-पदको प्राप्त हुए, इत्यादि भावनासे चरण धोये। यथा—'पाय पुनीत पखारन लागे ॥''जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं।' से लेकर 'ते पद पखारत भाग्यभाजन''१। ३२४।' तक 'त्वत्पादाम्बुधरो ब्रह्मा सृष्टिचक्रप्रवर्तकः। ७२। बलिस्त्वत्पादसलिलं धृत्वाभूद्दिविजाधिपः। त्वत्पादपांसुसंस्पर्शादहल्या भर्तृशापतः। ७३। सद्य एव विनिर्मुक्ता कोऽन्यस्त्वत्तोऽधिरक्षिता। ७४।' (अ० रा० १। ६)]

२ (क) 'धूप दीप नैबेद बेद बिधि।''' इति। 'बेद बिधि' कहकर सूचित किया कि वेदसूक्तकी रीतिसे षोडशोपचार पूजन किया। क्योंकि वर-दुलहिनकी पूजा श्रीलक्ष्मी-नारायण-भावसे होती है। पूजाके कुछ अंग पूर्व कह आये हैं। 'अरघ पाँवड़े देत' यह अर्घ्य है। 'चलीं लवाइ निकेत' यह आवाहन है। 'तिन्ह पर कुअँरि कुअँर बैठारे' यह आसन है। सादर पाय पुनीत पखारे' यह स्नानके स्थानमें है। अब धूप, दीप और नैवेद्य कहते हैं। (ये सब सात अंग हुए। निधियाँ नौ हैं। इस प्रकार 'मङ्गलनिधि' शब्दसे नौ अंग शेष भी जना दिये)। (ख) 'मङ्गलनिधि' का भाव कि अन्य धर्मोंसे जो मङ्गल होते हैं उनकी इति है और ये वर-दुलहिन मङ्गलके समुद्र हैं, उनके पूजनसे अमित मङ्गल होते हैं। [पुनः भाव कि धूप, दीप, नैवेद्यादि जितने मङ्गलके समूह हैं उनसे मङ्गलके लिये 'मङ्गलनिधि' की पूजा की। (प्र० सं०)। वा वर-दुलहिनको मङ्गलनिधिकी प्राप्ति मानकर पूजा। (वै०)]

३ 'बारहिं बार आरती करहीं।''' इति। (क) यह आरती षोडशोपचार पूजनकी है। इसीसे यहाँ केवल 'आरती' कहते हैं; परछन नहीं कहते। धूप, दीप और नैवेद्य कह चुके, उसके पश्चात् आरती होती है, यही 'नीराजन' है। यह कपूरकी आरती है। (ख) बिना तिलक (राज्याभिषेक) हुए सिंहासनपर बैठनेपर चँवर नहीं हो सकता। सिंहासनपर राजाको ही चँवर डुलाया जाता है। परंतु यहाँ लक्ष्मीनारायणभावसे वर-दुलहिनका पूजन हुआ है, इसीसे सिरपर चँवरका ढलना कहा। पंखा और चँवर राजाओंकी शोभा हैं। ढरना=ढलना, लहरना, लहर खाकर इधर-से-उधर हिलना। (ग) पंखा झलनेका दूसरा भाव यह सूचित होता है कि अगहन शु० ५ को विवाह हुआ। पौष खरवाँस है (पौष और चैतमें सूर्य धन और मीनका होता है, इससे इनमें माङ्गलिक कार्य करना वर्जित है। येही 'खरवाँस' का भाव है)। बहुओंकी विदा है, इससे राजाने महीनाभर विदा न माँगी। माघ-फागुन विदा माँगते-माँगते बीत गये—'बहुत दिवस बीते एहि भाँती'। फिर चैत खरवाँस लग गया, विदा माँगनेका समय न रह गया। वैशाखमें बारात बिदा हुई, इसीसे पंखा होना लिखा। [परंतु बैजनाथजीका मत है कि माघ कृ० २ को बारात लौट आयी। और यही ठीक जान पड़ता है। प० प० प्र० जीका भी मत है कि राजोपचारपूजामें व्यजन आदिका उपयोग बारहों मास होता है। वैशाख मास माननेसे 'सुंदर बधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई ॥' से विरोध होगा। श्रीअवधमें पौष कृ० २ को गौना माना जाता है।]

४ (क) 'बस्तु अनेक निछावर होहीं' इति। आरतीके पीछे निछावर होती है। प्रथम परछन करके निछावरें दीं, यथा—'करहिं आरती बारहि बारा। प्रेम प्रमोदु कहै को पारा॥ भूषन मनि पट नाना जाती। करहिं निछावरि अगनित भाँती॥ १। ३४९।' अब पूजाकी आरती करके निछावरें देती हैं। पूर्व निछावरकी वस्तुओंके नाम दिये थे, इससे यहाँ 'बस्तु अनेक' कहकर वही सब निछावरें यहाँ भी सूचित कीं। (ख) 'भरीं प्रमोद मातु सब सोहीं' इति। अर्थात् प्रमोदके

भरनेसे देह प्रफुल्लित हो गयी है, इसीसे शोभा हो रही है। 'प्रमोद भरी' कहा क्योंकि बारम्बार प्रमोद भरता गया है, यथा—'मोद प्रमोद बिबस सब माता' (परछन साज सजनेके समय), 'प्रेम प्रमोदु कहै को पारा' (परछनकी आरती करते समय) और यहाँ पूजाकी आरतीमें भी 'भरी प्रमोद'…'।

पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृतु लहेउ जनु संतत रोगी॥ ६॥
जनम-रंकु जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा॥ ७॥
मूक बदन जनु* सारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई॥ ८॥

दो०—एहि सुख ते सतकोटि गुन पावहिं मातु अनंदु।
भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुल-चंदु॥
लोकरीति जननी करहिं बरदुलहिनि सकुचाहिं।
मोदु बिनोदु बिलोकि बड़ रामु मनहि मुसुकाहिं॥३५०॥

अर्थ—मानो योगीने परम तत्त्व पाया, (वा) मानो जन्मके रोगीको अमृत मिल गया॥ ६॥ वा, मानो जन्मके दरिद्रीने पारस पाया, वा अन्धेको सुन्दर नेत्रोंका लाभ हुआ॥ ७॥ मानो गूँगेके मुखमें (जिह्वापर) सरस्वती आ बसी हो, अथवा मानो लड़ाईमें शूरवीरने जय पायी हो॥ ८॥ इन सुखोंसे सौ करोड़ (अगणित) गुणा सुख माताएँ पा रही हैं। रघुकुलके चन्द्र श्रीरामजी भाइयोंसहित ब्याह करके घर आये। माताएँ लौकिक रीति करती हैं और दूलह-दुलहिनें सकुचाते हैं। इस महान् आनन्द-विनोदको देखकर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन मुस्कुराते हैं॥ ३५०॥

टिप्पणी—१ 'पावा परम तत्व जनु जोगी'…' इति। (क) परम तत्त्वसे अधिक लाभ और कुछ नहीं है, इसीसे प्रथम परम तत्त्वका पाना कहा। पुनः, परम तत्त्वकी प्राप्ति परमार्थ है, स्वार्थसे परमार्थ श्रेष्ठ है, इससे 'पावा परम तत्व'…' प्रथम कहा तब 'अमृत लहेउ'…' आदि कहे गये। (ख) योगीको योगके साधनमें क्लेश हुआ, क्लेशके पश्चात् उसे परम तत्त्वकी प्राप्ति हुई। इसी तरह रोगी रोगसे व्याकुल है, संतत रोगीको बहुत बड़ा क्लेश रहता है, उसे अमृत मिल गया। इन दोनों उत्प्रेक्षाओंसे सूचित किया कि क्लेशके पीछे सुख मिला। यहाँ (माताओंके) सुखकी अधिकता कहनी अभिप्रेत है और बड़े क्लेशके पीछे सुख मिलनेसे बड़ा सुख होता ही है, यथा—'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई। ७। ६९।'; इसीसे यहाँ प्रथम कष्ट कहकर तब सुखका मिलना कहा। (ग) 'परम तत्व'—परमात्माका अनुभव परमतत्त्वकी प्राप्ति है, यथा—'जोगिन्ह परम तत्व मय भासा। शांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥ २४२। ४।' 'संतत रोगी' अर्थात् जो मरणको प्राप्त होने ही चाहता है (पर मरता नहीं, कष्ट झेल रहा है), यथा—'मरनसील जिमि पाव पिऊषा'। (परमतत्त्वके अनुभवसे माताओंका सुख अधिक है, क्योंकि जिस परमतत्त्वका योगियोंको भासमात्र होता है, वह यहाँ प्रत्यक्ष ही नहीं किंतु उसके साथ आनन्द-विनोदका भी सुख हो रहा है।) रोगीको अमृत मिला, अमृतसे श्रीरामजी अधिक हैं, क्योंकि अमृत मिलनेपर भी कल्पान्तमें नाश अवश्य होता है और श्रीरामजीके मिलनेपर फिर नाश कभी नहीं होता, जैसा भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'न मे भक्तः प्रणश्यति।' रोगीको 'राम' नहीं मिले। अतः उसके अमृत-प्राप्तिके सुखसे माताओंका सुख अधिक है। यथा—'सुक से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस ते अधिकाने। ऐसे भए जो कहा तुलसी जो पै राजिव-लोचन राम न जाने॥' (क० ७। ४३)

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीकौसल्यादि माताएँ मानो श्रीराम-लक्ष्मणके वियोगमें दुखी रहती थीं। उन दुःखोंकी निवृत्ति-को ग्रन्थकारने श्रीरामजीके पुनः आनेपर छः दृष्टान्तोंसे छः प्रकारके सुख-वर्णनद्वारा प्रकट किया है। योगी परमतत्त्वकी प्राप्ति-हेतु दुःखके चिन्तवनमें रहते हैं, परमतत्त्वकी प्राप्तिसे सुखी होते हैं। इसी तरह माताएँ श्रीरामप्राप्तिहेतु दुःखसे चिन्तवनमें सदा रहती थीं। श्रीरामजीकी प्राप्तिसे योगीके सुखसे शतकोटिगुना सुख प्राप्त हुआ। बहुत दिनोंका रोगी रोगसे दुःखी वैसे ही माताएँ मानसरोग अर्थात् मोहसे दुःखी रहती थीं, खाना-पीना अच्छा नहीं लगता था। अमृत मिलनेसे रोगीका रोग गया,

* जस—को० रा०। जनु—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०।

वह सुखी हुआ। इसी तरह माताओंको सुखसमुद्र रामकी प्राप्तिसे समस्त व्याधियोंके मूल मोहसे जायमान दुःख जाता रहा और शतकोटिगुना सुख हुआ।

प० प० प्र०—परमतत्त्वप्राप्ति—अपरोक्षब्रह्मसाक्षात्कार। परमतत्त्वप्राप्तिसे लाभ है—दोष (त्रिविध संचित और क्रियमाण पाप), दुःख, दारिद्रय (मोह जो समस्त मानसरोगोंका मूल है) और त्रितापका नाश। यथा—'करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा। २। २३९। ३।', 'नाथ आजु' (रामदर्शनसे) मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥' (२। १०२। ५)। इससे सूचित हुआ कि परमतत्त्वप्राप्तिके पूर्व दोष-दुःखादि रहते ही हैं। योगीको इसकी प्राप्तिके लिये यम-नियमादि जटिल साधना करनी पड़ती है। इस उत्प्रेक्षासे सिद्ध हुआ कि जबसे मुनिके साथ दोनों भाई गये थे तबसे माताएँ उनके ध्यानमें यम-नियमादिका पालन करती और उदासीन रहती थीं। पर योगी तो परिमित आहार-निद्रादिका सेवन करते ही हैं और माताओंने वह भी छोड़ दिया, यह बतानेके लिये 'अमृत लहेउ जनु संतत रोगी' यह उत्प्रेक्षा की। सतत रोगी प्रयत्न करता है फिर भी उसे न नींद आवे न भूख लगे, शरीर विवर्ण और निस्तेज हो जाता है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है, इत्यादि। वैसे ही माताएँ व्रतादि करतीं देवादिको मनातीं, पुत्रोंकी कुशलकी चिन्तामें विवर्ण हो रही थीं। जैसे सतत रोगीको अमृत मिलनेसे वह सर्वरोगमुक्त होनेपर उत्सवादि करता व्रत-मानता इत्यादिकी सांगताके लिये देवादिको पूजता, वैसे ही माताओंने 'देव पितर पूजे बिधि नीकी'। अमृतलाभसे शारीरिक सुख हुआ तथापि धन न होनेपर दुःख सतावेगा ही, इससे तीसरी उत्प्रेक्षा करते हैं।

टिप्पणी—२ 'जनम रंकु जनु पारस···' इति। (क) जन्मके दरिद्रको जैसे पारस पानेसे सुख हो। पारसकी प्राप्तिमें बड़ा सुख होता है, इसीसे श्रीरामजीके चरणचिह्नकी उपमा (उत्प्रेक्षा) में इसको लिखते हैं, यथा—'हरषहिं निरखि रामपद अंका। मानहु पारस पायउ रंका॥ २। २३८॥' श्रीरामानुरागी पारसको हाथसे नहीं छूते, यथा—'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥ २। ३२४॥' पारस रमाका विलास है। श्रीरामजीकी प्राप्तिके आगे पारस कुछ भी नहीं है। वैसे ही माताओंका सुख जन्म-दरिद्रके पारसकी प्राप्तिके सुखसे कहीं अधिक है। पारस तो श्रीरामजीके चरणकी धूलिकी उपमा है, श्रीरामजीसे इतना कम है (तब वह माताओंके सुखकी उपमा कैसे हो सकता है) (ख) 'अंधहि लोचन लाभु सुहावा'—अन्धेको नेत्र मिले और कौसल्यादि माताओंको तो जो नेत्रोंके होनेका फल है वह मिला। नेत्रोंका फल श्रीरामजी हैं, यथा—'देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन लाभ अवधि अनुमानी॥' अन्धेको नेत्रकी प्राप्ति हुई पर उनका जो लाभ है, श्रीरामदर्शन, वह न मिला। (ग) 'सुहावा' का भाव कि अच्छे नेत्र और अच्छी दृष्टि मिली, सामान्य नहीं।

श्रीनंगे परमहंसजी—माताओंको दरिद्रकी समता देकर जनाया कि जैसे दरिद्री द्रव्यहीन खाने-पहननेसे दुखी, वैसे ही माताओंके वियोगमें (खाना-पहनना) अच्छा नहीं लगता था, गरीबोंकी-सी दशा बनी रहती थी। जैसे अन्धा नेत्र-विहीन होनेसे दुखी वैसे ही माताएँ वियोगसे दुखी होकर बैठी रहती थीं, कोई बात भी बुद्धिसे नहीं सूझती थी कि क्या करूँ। रामरूपी नेत्र पाकर सुखी हुईं। श्रीरामको नेत्रकी समता दी गयी है, यथा—'निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिष चाहति चीखा॥' (प्रज्ञानानन्द स्वामीजीने प्रायः यही भाव इन शब्दोंमें लिखा है—'जन्मदरिद्रको सम्पत्तिजनक उपभोगोंका अभाव होता है, उसकी दशा दीन होती है। वैसे ही माताओंने जान-बूझकर रमा-विलासका त्याग कर दिया था, दीन हो रही थीं। इससे ऐहिक ऐश्वर्य और तज्जनित सुखकी प्राप्ति बतायी। 'अंधहि लोचन लाभ' से जनाया कि माताओंने अपने नेत्र बंद-से कर रक्खे थे कि नेत्रोंकी सफलता जिनके दर्शनसे होती है, जब वे ही यहाँ नहीं हैं तब किसे देखूँ)।

टिप्पणी—३ 'मूक बदन जनु सारद छाई···।' इति। (क) शारदाका मुखमें निवास कर लेना बड़ा सुख है, यथा—'मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगहि गिरा प्रसादू॥' शारदाकी प्राप्तिसे श्रीरामजीकी प्राप्ति अनन्त गुण अधिक है। गूँगेको शारदाकी प्राप्ति हुई और कौशल्यादि माताओंको श्रीरामजीकी प्राप्ति हुई। श्रीरामजी शारदासे अमितकोटि गुण अधिक हैं, यथा—'सारद कोटि अमित चतुराई। ७। ९२।' (अतः माताओंका सुख गूँगेके सुखसे अमित-कोटि गुण अधिक है)। (ख) 'मानहु समर सूर जय पाई'—सूरने जय पायी और कौशल्याजीने रामजीको पाया। जयसे श्रीरामजी अनन्तगुण अधिक हैं, क्योंकि जय पाकर लोग भवसागरसे पार नहीं होते और श्रीरामजीको पाकर जीव तर जाते हैं। यथा—'जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धरमनिरत पंडित बिज्ञानी॥ तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि

नमामि नमामी ॥' (७ । १२४) । (ग) समरमें जय पाना सुखकी अवधि (सीमा) है, इसीसे इसे अन्तमें लिखा और इससे भक्तिकी उपमा दी, यथा—'बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि । जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि ॥' (७ । १२०) । (घ) 'मूक बदन जनु सारद छाई' यह ब्राह्मणका सुख है, 'मानहु समर सूर जय पाई' यह क्षत्रियका सुख है और 'जनम रंक जनु पारस पावा' यह वैश्यका सुख है । धनवान् होना, अतिथि-सेवा करना यह वैश्यका धर्म है, यथा—'सोचिअ बयसु कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥ २ । १७२ ॥'

श्रीनंगे परमहंसजी—गूँगेकी समता देनेका भाव कि जैसे गूँगा वाणी बिना दुःख सहता है (क्योंकि वह अपने दिलकी बात किसीसे कह नहीं सकता) वैसी ही दशा माताओंकी हो गयी थी । उनको किसी दूसरेसे बोलना अच्छा नहीं लगता था, चुपचाप बैठी रहती थीं । गूँगेको वाणी मिलनेसे जो सुख होता है उसके शतकोटिगुण सुख माताओंको श्रीराम-प्राप्तिसे हुआ (क्योंकि श्रीरामजी शारदासे अनन्तगुण अधिक हैं, यथा—'शारद कोटि अमित चतुराई') । जैसे वीर समरमें प्रथम प्राण अर्पण कर देता है, पीछे जय पाता है । वैसे ही माताओंने प्रथम अपने प्राणरूप श्रीराम-लक्ष्मणजीको ताड़का-सुबाहु आदिके वधके लिये मुनिको अर्पण किया । जैसे वीरोंको युद्धमें प्राणोंसहित विजय प्राप्त होनेसे सुख होता है, वैसे ही माताओंको प्राणरूप श्रीरामजीके साथ त्रिभुवन-विजयरूपा श्रीजानकीजीकी प्राप्ति होनेसे शतकोटि गुण सुख प्राप्त हुआ ।

प० प० प्र०—'मूक बदन''''जय पाई' । मूककी उत्प्रेक्षासे जनाया कि जिनके नाम-रूप-लीला आदिके कीर्तनका अभ्यास माताओंको पड़ा हुआ था, उनके दृष्टिसे बाहर चले जानेपर उन्होंने बोलना ही बंद कर दिया था, इससे कर्मेन्द्रियकी तृप्ति बतायी । 'सूर जय पाई' से जनाया कि जैसे जयसे कीर्ति, नूतन ऐश्वर्य आदिकी प्राप्ति होती है, वैसे ही राम-माता होनेसे इनकी कीर्ति, पुत्र-वधुओं और आनन्दोत्सव आदिकी प्राप्ति हुई । [हमने विस्तार अनावश्यक समझकर सारांश लिख दिया है । मा० सं०]

टिप्पणी—४ 'एहि सुख तें सत कोटि गुन पावहिं मातु अनंदु''''।' इति । (क) परमतत्त्वसे शतकोटि गुण माताओंको आनन्द है । भाव यह कि योगियोंको परमतत्त्व भासित होता है और माताएँ चारों भाइयोंको बहुओंसहित आँखोंसे देख रही हैं, ब्रह्मसुखकी अपेक्षा श्रीरामजीका प्रत्यक्ष दर्शन बहुत अधिक है, यथा—'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा ॥ २१६ । ५ ॥' इसी तरह उपर्युक्त सब सुखोंसे श्रीरामजीकी प्राप्तिका गुण अनन्तगुण अधिक है । (ख) 'भाइन्ह सहित बिआहि घर आये''''' इति । 'घर आए' का भाव कि जबसे श्रीविश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मणजीको राक्षसोंसे युद्ध करनेको लिवा ले गये तबसे माताओंको बड़ा शोच रहा है कि न जाने हमारे पुत्र कुशलसे हैं (या क्या हाल है) कभी पुनः घर लौटकर आयँगे ।

नोट—१ जितना ही क्लेश अधिक होता है उतना ही उसकी निवृत्तिसे अधिक सुख होता है । माताएँ कितनी अधिक चिन्तातुर थीं यह गीतावली बालकाण्डके निम्न पदोंसे कुछ अनुभवमें आ जायगा, यथा—(पद ९७) 'मेरे बालक कैसे धौं मग निबहिंगे । भूख पियास सीत श्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहहिंगे ॥ १ ॥ को भोरहीं उबटि अन्हवैहै काढ़ि कलेऊ दैहै । को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख लहिहै ॥ २ ॥ नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु परिजन महतारी । ते पठए रिषि साथ निसाचर मारन मख रखवारी ॥ ३ ॥ सुंदर सुठि सुकुमार सुकोमल काकपच्छधर दोऊ । तुलसी निरखि हरषि उर लैहौं बिधि होइहै दिन सोऊ ॥ ४ ॥', (पद ९८) यथा—'रिषि नृपसीस ठगौरी-सी डारी । कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी ॥ १ ॥ सिरिस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी । पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनुधारी ॥ २ ॥ अति सनेह कातरि माता कहैं सुनि सखि बचन दुखारी । बादि बीर जननी जीवन जग छत्रि जाति गति भारी ॥ ३ ॥ जो कहिहैं फिरे राम लखन घर करि मुनि मख रखवारी । सो तुलसी प्रिय मोहि लागिहै ज्यों सुभाय सुत चारी ॥ ४ ॥', (पद ९९) यथा—'जब तें लै मुनि संग सिधाए । रामलखन के समाचार सखि तब तें कछुअ न पाए ॥ १ ॥ बिन पानही गमन फल भोजन भूमि सयन तरु छाहीं । सर सरिता जलपान सिसुन के संग सुसेवक नाहीं ॥ २ ॥ कौसिक परम कृपालु परम हित समरथ सुखद सुचाली । बालक सुठि सुकुमार सकोची समुझि सोच मोहि आली ॥ ३ ॥ बचन सप्रेम सुमित्रा के सुनि सब सनेह बस रानी''''।' ऐसी सोच-चिन्तारत थीं, इससे श्रीरामदर्शन और फिर बहुओंसहित चारों भाइयोंके दर्शनसे निस्सीम सुख हुआ ही चाहे ।

२ बैजनाथजीका मत है कि 'मुख्य माताएँ तीन हैं । यहाँ छः प्रकारके सुखोंका उल्लेख किया गया है । तीनों माताओं-मेंसे प्रत्येकके लिये यहाँ दो-दो प्रकारके लाभ और सुख दिखाते हैं । वेदोंमें ज्ञान, उपासना और क्रिया—ये तीन शक्तियाँ

हैं। दशरथजी वेदके अवतार हैं और तीनों रानियाँ क्रमसे तीनों शक्तियाँ हैं, यथा—शिवसंहितायाम्—'ज्ञेयो दशरथो वेद-स्साध्यसाधनदर्शनः। क्रिया ज्ञानं तथोपास्तिरिति शक्तित्रयी सताम्॥ तासां क्रियां तु कैकेयीं सुमित्रोपासनात्मिकाम्। ज्ञानशक्तिं च कौसल्यां वेदो दशरथो नृपः॥' (क) ज्ञानशक्ति कौसल्याजी हैं। ज्ञानके साधनदेशमें जीवके भवरोग है। जब साधन करके स्वरूपका ज्ञानरूप अमृत पाया तब जीव आत्मारूप अमर हुआ। वैसे ही यथा जन्मरोगीने अमृत पाया, वैसा आनन्द श्रीकौसल्याजीको हुआ। पुनः सिद्धदेशमें परमात्मरूपकी प्राप्तिमें अचल आनन्द, तथा 'पावा परम तत्व जनु जोगी' ऐसा आनन्द हुआ। (ख) सुमित्राजी उपासना हैं। उपासनाके साधनदेशमें जीव रंक है। नवधादि साधनसे भक्तिरूप पारस पा संतोषी हुआ। सिद्धदेशमें जो जीव अन्धा रहा उसे रामरूपदर्शन नेत्रोंका लाभ हुआ। (ग) कैकेयीजी क्रिया हैं। साधनदेशमें जीव मूक रहा। विद्याध्ययन—पूजा-पाठकर विद्वान् हुआ पुनः सिद्धदेशमें पुरश्चरण आदि कर कार्य-सिद्धिरूप जय पायी। कर्मकर्तव्यता समर है, कर्त्ता शूर है, कार्य-सिद्धि जय है। तथा कैकेयीजीको आनन्द हुआ।'

इसपर नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'यहाँ सब उपमाएँ माताओंके लिये हैं। उपमा यथार्थ वस्तुकी होती है। उपमामें अन्धा है, मूक है, योगी है, रङ्क है, शूर है और उपमान माताएँ हैं। जो-जो धर्म उपमामें हैं, वही धर्म उपमानमें लगाया जायगा तब उपमेयका स्वरूप होगा। यहाँ जीवका भाव लेना अयोग्य है'।

३ पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'पिछली चौपाइयोंमें दशरथका वर्णन है कि मनु-शतरूपा-शरीरमें इन्द्रियोंको जीत जोग किया, उसका फल यह पाया कि चारों पुत्र उत्पन्न हुए और सदैवसे जो यह पुत्र-वासनाके रोगी थे उनको मानो अमृत प्राप्त हुआ। वंश बिना जो-जो दरिद्री जन्मके थे सो पारसस्थानमें पुत्रोंको पाया और उपाय न सूझनेसे अन्धे हो रहे थे सो पुत्र पाके मानो लोचनके लाभको प्राप्त हुए। और समरमें जयरूपा जानकी प्राप्त हुईं। सो इन बातोंसे जैसा आनन्द उन्हें हुआ उससे सौ कोटि गुना आनन्द माताओंको उस समय हुआ जब रघुकुलचन्द विवाह करके घर आये।'

टिप्पणी—५ 'रघुकुलचंदु' का भाव कि चन्द्रमा सुखदाता है, यथा—'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुसारू॥ १६। ५।', 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥' (२३७। ८)। 'रघुकुल चंद' को देखकर माताओंको सुख मिला, इसीसे 'रघुकुलचंदु' कहा।

६ 'लोकरीति जननी करहिं·····' इति। (क) यहाँ केवल लोकरीति करना कहा, क्योंकि कुलरीति और वेदरीति ये दो रीतियाँ कर चुकी हैं, यथा—'निगम नीति कुलरीति करि अरघ पाँवड़े देत। ३४९।'; रही लोकरीति, वह माताएँ अब करती हैं। लोकरीति अर्थात् कोहबरमें ले जाकर वर और दुलहिनको आपसमें जुआ खेलाती हैं। [निज कुलदेव श्रीरङ्गजीके मन्दिरमें चौक पूरकर उसपर सदीप-धान्य-पल्लव कलश स्थापित किया हुआ है। वर-दुलहिनकी गाँठ जोड़कर वहाँ लेजा कर प्रथम गणेश-गौरीका पूजन कराके फिर ग्रामदेव आदिका पूजन कराके सबको प्रणाम कराया। तत्पश्चात् श्रीरङ्गदेवजीको प्रणाम कराया। लहकौरकी रसम-रीति की, फिर थालमें भूषण डालकर जूआ खिलाती हैं—(वै०)। यह न तो वेदरीति है और न कुलरीति। (ख) 'बर दुलहिनि सकुचाहिं' इति। आपसमें जूआ खेलनेमें माताओंको सकुचाते हैं। [बैजनाथजीका मत है कि श्रीभरतादि भाई अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ जूआ खेलनेमें श्रीरामजीको सकुचाते हैं, तीनों दुलहिनें अपने जेठों (पतिके बड़े भाइयों) को सकुचाती हैं। फिर हार-जीत देखकर सखियाँ गाली गाती हैं, जो हारता है वह सकुचाता है। मयङ्ककारजी लिखते हैं कि 'सकुचानेका भाव यह है कि—जनकपुरमें छबीली सखियोंके साथ शृङ्गाररसवश हास होता था। अतएव वहाँ सकुच नहीं मालूम होता था, परंतु यहाँ वात्सल्यरसपूरित माताओंके सम्मुख लोकरीति होनेसे सकुचाते हैं।'] (ग) 'मोद बिनोद बिलोकि बड़' इति। 'बिनोद' शब्द कहकर लोकरीतिको स्पष्ट कर दिया कि विनोद अर्थात् क्रीड़ा करते हैं अर्थात् जूआ खेलते हैं। (घ) 'रामु मनहि मुसुकाहिं' इति। भाव कि श्रीरामजी इतना सकुचाते हैं कि प्रकट नहीं हँसते। 'मुसुकाने' का भाव कि कभी बहुएँ हार जाती हैं और कभी जीत जाती हैं, तब मनमें मुसकाते हैं। जनकपुरमें क्रीड़ा (जूआ-खेल) कराके सब स्त्रियाँ हँसती थीं; यथा—'रनिवास हास बिलास रस बस जन्म को फल सब लहैं। ३२७ छंद'। क्योंकि जनकपुरकी स्त्रियोंका हँसी करना उचित है। यहाँ माताओंका हँसी करना उचित नहीं है, इसीसे माताएँ क्रीड़ा कराती हैं, पर हँसती नहीं हैं।

नोट—४ मयङ्ककार लिखते हैं कि 'श्रीरामचन्द्रजी कोहबरमें मोद-विनोदको देखकर मन-ही-मन मुसकाते हैं, इसका भाव यह है कि रामचन्द्रजी यह विचार कर मुसकाते हैं कि (अति सर्वत्र वर्जयेत्) अत्यन्त आनन्द भी वर्जनीय है,

अत्यन्त आनन्दमें मिथिलावासी मग्न थे तो अन्ततः उनको उस सुखका अनुभव होनेसे दुःख भी भोगना पड़ा, इसी प्रकार अवधवासी भी बारह वर्षके उपरान्त वैसे ही दुःख भोगेंगे यह जानकर मुसुकाते हैं।' बैजनाथजी लिखते हैं कि 'विनोद' अर्थात् लौकिक लीलाका बड़ा भारी आनन्द देखकर श्रीरघुनाथजी मनमें मुसुकाते हैं कि जो योगियोंको ध्यानमें भी अगम हैं वे ही हम लौकिक रीतिमें बाँधे हुए फिरते हैं, सब देवता हमसे पैर पुजाते हैं। अथवा यह आनन्द ही ऐसा है, जीव बेचारा इसमें कैसे न भूल जाय, यह सोचकर मुस्कराते हैं। अथवा यह सुख साकेतमें नहीं था, इसी सुखके लिये तो हमें पुत्र करके माँगा है, यह सोचकर मन-ही-मन हँसते हैं'। प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका मत है कि प्रभु जब मुस्कराते हैं तब मायाका आकर्षण करके ऐश्वर्यभावको निगूढ़ करते हैं। मुस्काते हैं जिसमें माताओंके हृदयमें माधुर्यभाव ही रह जाय, ऐश्वर्यभाव न प्रकट होने पाये।

नोट—यहाँ छः दृष्टान्त दिये गये। इस विषयमें कुछ महानुभावोंके ये मत हैं कि जीवके छः शत्रु हैं, वा विकार छः हैं, अतः छः दृष्टान्त दिये। अथवा आनन्दको विचारकर दृष्टान्त देते गये किसीसे जी नहीं भरा। अन्तमें छः उपमाएँ देकर फिर उपमा देना छोड़ दिया।

देव पितर पूजे बिधि नीकीं। पूजी सकल बासना जी कीं॥ १॥
सबहि बंदि माँगहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम कल्याना॥ २॥
अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥ ३॥
भूपति बोलि बराती लीन्हे। जान बसन मनि भूषन दीन्हे॥ ४॥
आयेसु पाइ राखि उर रामहि। मुदित गये सब निज निज धामहि॥ ५॥

शब्दार्थ—पूजना=पूरा होना। (यह सं० पूर्यते। प्रा० पुजति से बना है)। अंतरहित (अन्तर्हित)=अदृश्य-रूपसे, गुप्त, छिपे हुए।

अर्थ—जीकी सब कामनाएँ पूरी हुईं (अतः माताओंने) देवता और पितरोंकी बहुत अच्छी तरह (विधि-पूर्वक) पूजा की॥ १॥ सबकी वन्दना करके (वे) यही वरदान माँगती हैं कि भाइयोंसहित श्रीरामजीका कल्याण हो॥ २॥ देवता छिपे हुए ही 'आशीर्वाद दे रहे हैं' और माताएँ प्रसन्न होकर (आशीर्वादोंको) अंचल (पसारकर) भर-भरकर लेती हैं॥ ३॥ राजा श्रीदशरथजीने बारातियोंको बुलवा लिया (और उनको) सवारियाँ, वस्त्र, रत्न और आभूषण दिये॥ ४॥ आज्ञा पाकर श्रीरामजीको हृदयमें रखकर वे सब आनन्दित हो अपने-अपने घरोंको गये॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'पूजे बिधि नीकीं' इति। भाव कि वासनाएँ बहुत ही अच्छी प्रकारसे और खूब पूर्ण हुईं, इसीसे बहुत अच्छी प्रकारसे पूजा की। इससे जनाया कि माताओंने मानता मानी थी कि 'यदि हमारे पुत्र यज्ञरक्षा करके मारीचादि राक्षसोंपर विजय पाकर कुशलपूर्वक घर लौट आवें तो हम बहुत भलीभाँतिसे आपकी पूजा करेंगी।' वे जानती हैं कि विश्वामित्रजी लड़कोंको राक्षसोंसे युद्ध करनेके लिये ले गये हैं, यथा—'असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाँचन आयउँ नृप तोही॥ अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचरबध मैं होब सनाथा॥' (१। २०७)। इसीसे उनके मनमें शोच रहा है। (जानकीमंगलमें भी कहा है—'पुरबासी नृप रानिन्ह संग दिये मन। बेगि फिरेउ करि काज कुसल रघुनंदन। १७। ईस मनाइ असीसहिं जय जस पावहु। न्हात खसै जनि बार गहरु जनि लावहु')। (ख) 'पूजी सकल बासना जीकीं' इति।—राक्षसोंपर विजय हो, मुनिके यज्ञकी रक्षा हो, कुशलपूर्वक घर लौटें, पुत्रोंके योग्य बहुएँ मिलें, यश प्राप्त हो। इत्यादि समस्त वासनाएँ हैं। [शंकरजीने आगमीरूपसे आकर 'जनम प्रसंग कहेउ कौसिक मिस, सीय स्वयंवर गायो। राम भरत रिपुदवन लखनको जय सुख सुजस सुनायो॥' तब 'तुलसिदास रनिवास रहसबस भयो सबको मन भायो।' (गीतावली १। १४)। इससे विवाहकी भी वासना सिद्ध होती है। विशेष पूर्व लिखा जा चुका है। २०८ (८), दो० २०८ देखिये]। सब पुत्र बहुओंसहित कुशलपूर्वक विजय और यश पाकर लौट आये, इससे माताओंके आनन्दका पार नहीं।

२ 'सबहि बंदि मागहिं बरदाना।....' इति। प्रथम पूजाकी मन्नत मानी, तब चारों भाई ब्याह करके घर आये। अब वर माँगती हैं कि आपकी कृपासे चारों भाई बहुओंसहित कुशल रहें। 'भाइन्ह सहित राम कल्याना' कहनेका भाव कि जब सब भाइयोंका कल्याण हो तब श्रीरामजीका कल्याण है। (इससे जनाया कि श्रीरामजी अपने भाइयोंके सुखसे सुखी होते हैं; बिना भाइयोंके सुख भी भोगना नहीं चाहते। यथा—'जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥

करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥ बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥ प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।' (२। १०)। यह भी सूचित किया कि माताओंको चारों भाई प्रिय हैं)।

३ 'अंतरहित सुर आसिष देहीं।....' इति। (क) देवताओंके गुप्त रहनेका भाव यह है कि देवता मन्त्रद्वारा प्रकट होते हैं। विवाहमें जब ब्राह्मणोंने मन्त्र पढ़कर उनका आवाहन किया तब सब देवता प्रकट हुए। जब रानियोंने देव और पितृका पूजन किया तब वे गुप्त रहे। इसीसे उन्होंने गुप्त आशीर्वाद दिया। माताने सबका कल्याण माँगा और देवताओंने कल्याण होनेका आशीर्वाद दिया। ['अंतरहित' अर्थात् देख नहीं पड़ते; केवल उनकी वाणी सुनायी देती है। मूर्तिका बोलना अमङ्गल माना जाता है, परंतु यहाँ मूर्ति नहीं बोल रही है, देवता स्वयं अदृश्यरूपसे आशीर्वाद दे रहे हैं। पंजाबीजी कहते हैं कि 'अंतरहित' में यह भाव है कि 'वह आशीर्वाद 'अन्त-रहित है वा अन्तःकरणसे हितपूर्वक' है। प्रीतिके वास्ते आशीर्वाद देते हैं। वा, अन्त-रहित अविनाशी होनेका वर देते हैं। वा, अन्तरहित अमर जो देवता वे आशीर्वाद देते हैं।' 'पंजाबीजी कहते हैं कि अवधमें तो सदा देवता प्रकट होते हैं, यहाँ छिपकर वरदान देनेका कोई हेतु नहीं जान पड़ता, अतः वे ऐसे अर्थ करते हैं। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि देवता श्रीरामजीका मर्म जानते थे कि वे कौन हैं इससे श्रीसीतारामजीको आशीर्वाद देना उनको लज्जास्पद था, तथापि माताओंके आन्तरिक प्रेमके कारण उनको आशीर्वाद दिया जिसमें उनका समाधान हो जाय।] (ख) 'अंचल भरि लेहीं'—यह स्त्रियोंकी रीति है, नहीं तो आशीर्वाद अञ्चलमें कैसे लिया जा सकता है, वह कोई स्थूल पदार्थ तो है नहीं। (ग) यहाँतक रानियोंका कृत्य कहकर आगे राजाका कृत्य कहते हैं।'

४ (क) 'भूपति बोलि बराती लीन्हे' इति। जब रानियाँ चारों भाइयोंको बहुओंसहित भीतर ले गयीं, तब राजाने बारातियोंको बुलाकर विदा किया। 'बने बराती बरनि न जाहीं। महा मुदित मन सुख न समाहीं। ३४८। ४।' पर बारातियोंका प्रसंग छोड़ा था, अब वहींसे पुनः कहते हैं—'भूपति बोलि....'। 'जान' (यान) रथ, हाथी, घोड़ा, पालकी, नालकी आदि सभी सवारियोंका वाचक है, यथा—'मागध सूत बंदि गुनगायक। चले जान चढ़ि जो जेहि लायक॥ ३००। ५।' 'बसन'—ऊनी, रेशमी, कार्पासी, कौशेय आदि सभी प्रकारके वस्त्रका ग्रहण इस शब्दसे हो गया। इसी तरह 'मनि' से सब प्रकारके रत्न और भूषणसे सब प्रकारके भूषण जना दिये। (ख) 'आयेसु पाइ राखि उर रामहि।....' इति। राजाने बारातियोंको बुलाकर उनका सत्कार किया और बाराती राजाकी आज्ञासे आ गये; यह दोनों ओर परस्पर अन्योन्य भाव दिखाया। राजाने बारातियोंमें भाव किया वैसे ही बारातियोंने राजामें किया। श्रीरामजी महलके भीतर हैं, यह पूर्व कह चुके हैं—'बधुन्ह सहित सुत परिछि सब चलीं लवाइ निकेत। ३४९।', इसीसे बाराती श्रीरामजीका ध्यान करके, उनको हृदयमें रखकर चले। 'मुदित गये सब....' का भाव कि यान, वसन, मणि और आभूषणोंके पानेसे बाराती मुदित न हुए, जब श्रीरामजीको हृदयमें रक्खा तब मुदित हुए। इससे जनाया कि श्रीअयोध्यावासियोंकी प्रीति श्रीरामजीमें है, पदार्थोंमें नहीं है।

पुर नर नारि सकल पहिराए। घर घर बाजन लगे बधाए॥ ६॥
जाचक जन जाचहिं जोइ जोई*। प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई*॥ ७॥
सेवक सकल बजनिआ नाना। पूरन किये दान सनमाना॥ ८॥

दो०—देहिं असीस जोहारि सब गावहिं गुनगन गाथ।
तब गुर भूसुर सहित गृह गवनु कीन्ह नरनाथ॥३५१॥

अर्थ—(बारातियोंको विदा करके राजाने) श्रीअयोध्याजीके सब स्त्री-पुरुषोंको (भूषण-वस्त्र) पहनाये। घर-घर बधावे बजने लगे। ६। याचक लोग जो-जो माँगते हैं राजा अत्यन्त आनन्दित हो वही-वही देते हैं। ७। सभी (नाऊ, बारी, कहार आदि) सेवकों और सभी अनेक बाजा बजानेवालोंको (राजाने) दान-सम्मानसे पूर्ण (भरपूर प्रसन्न वा संतुष्ट) कर दिया। ८। सब प्रणाम कर-करके आशिष देते और गुणगणोंकी कथा गाते हैं। (इतना कृत्य करके) तब राजाने गुरु और ब्राह्मणोंसहित गृह-प्रवेश किया (घरमें गये)। ३५१।

* जोइ....सोइ १६६१।

टिप्पणी—१ (क) 'पुरनरनारि सकल पहिराए।' इति। 'पहिरावन' अर्थात् पहननेकी वस्तुओंके नाम आगे कवि **स्वयं लिखते हैं**, यथा—'बिप्रबधू सब भूप बोलाईं। चैल चारु भूषन पहिराईं। ३५२। ४।' 'पुर नर नारि' कहकर **बताया** कि नगरमें कोई न बचा, प्रत्येक घरमें जितने स्त्री और पुरुष हैं सबोंको सब पहरावन (अर्थात् सिरसे पैरतकके **पाँचों कपड़े**) और नखसे शिखतक जितने आभूषण पहने जाते हैं, वे सब आभूषण पहनाये। (ख) **'घर घर बाजन लगे बधाए'**—जब घर-घर पहरावन पहुँचा तब घर-घर बधाई होने लगी। सुखके अवसरपर बाजोंका बजना 'बधाई' कहलाता **है**। यथा—'गये जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा। १७२। ५।' जब श्रीरामजीका समाचार मिला तब बधाई बजी, जब वे ब्याह करके घर आये तब बजी, यथा—'समाचार सब लोगन्ह पाए। लागे घर घर होन बधाए॥ २९६। २।', 'घर घर बाजन लगे बधाए'। (ग) 'जाचक जन जाचहिं···' इति। याचक हैं, इसीसे याचना करना **कहते हैं**। 'प्रमुदित' कहनेका भाव कि याचना करना अशोभित है, पर याचकोंका याचना करना शोभित है, (यथा नाम तथा गुण), इसीसे याचकोंका माँगना सुनकर राजा प्रसन्न होते हैं, यह राजाकी उदारता है। पुनः भाव कि एक याचक **अनेक वस्तुओंको माँगता है** तो भी रुष्ट नहीं होते किन्तु विशेष प्रसन्न होकर देते हैं। पुनः भाव कि एक वस्तु माँगता है **तब मुदित होते हैं** और जब अनेक वस्तुएँ माँगता है तब 'प्रमुदित' होते हैं। (ज्यों-ज्यों माँगते हैं त्यों-त्यों अधिक **आनन्द होता है**)।

२ (क) **'सेवक सकल···'** इति। ये सेवक भीतर जानेवाले नहीं हैं, इसीसे इन्हें द्वारपर ही विदा किया। सब सेवकों और बाजेवालोंका 'दान-सनमान' से पूर्ण करना कहते हैं। इसपर शंका होती है कि 'दान तो वही कहलाता है जो ब्राह्मणोंको दिया जाय, तब यहाँ सेवक और बाजेवालोंको 'दान' से पूर्ण करना कैसे कहा ?' इसका समाधान यह है कि यहाँ 'धर्मवाला दान' अर्थ नहीं है। किसी वस्तुके देनेको भी दान कहते हैं, यथा—'साम दाम अरु दंड बिभेदा' में 'दाम' (इसमें 'शत्रुको कार्यसिद्धिके लिये कुछ देना' दान (नीति) कहा गया।) (ख) 'पूरन किये' कहनेका भाव कि (सेवक वेतन पाते हैं और बाजेवाले अपनी मेहनत-मजूरी पाते हैं परंतु) उनको उनके वेतन, महनत-मजूरीसे अधिक दिया। (ग) 'दान सनमाना' इति। पुरके स्त्री-पुरुषों, सुहागिनों और ब्राह्मणियोंको जो दिया जाता है वह 'पहरावन' कहलाता है, इसीसे उनके सम्बन्धमें 'पहिराए' वा पहिरावन शब्दोंका प्रयोग किया गया। यथा—'पुर नर नारि सकल पहिराए' 'बिप्रबधू सब भूप बोलाईं। चैल चारु भूषन पहिराईं। २५२। ४।' 'बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्हीं। रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही। २५२। ५।' सेवकों और बाजेवालोंको देना पहरावन नहीं है, वह तो उनकी मेहनत है, इसीसे उनके देनेमें यह शब्द नहीं दिया—

३ **'देहिं असीस जोहारि सब···'** इति। (क) सबको दान-सम्मानसे पूर्ण किया, इसीसे अब आशिष देते हैं। 'जोहारि' (अर्थात् प्रणाम करके) कहनेका भाव कि राजासे विदा होकर चलना चाहते हैं, इसीसे प्रणाम किया। यहाँतक बाहरका जितना काम था वह पूरा हुआ। तब राजा घरको चले। (ख) 'गवन कीन्ह नरनाथ' इति। 'नरनाथ' का भाव कि सब पुरुषोंपर ममत्व रखते हैं, ये सब हमारे हैं यह भाव रखते हैं, इसीसे सबको सम्मान करके सुखी करके तब भीतर गये। गुरु और ब्राह्मणोंको साथ ले जानेका तात्पर्य आगे लिखते हैं—

> जो बसिष्ठ अनुसासन दीन्ही। लोक बेद बिधि सादर कीन्ही॥ १॥
> भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी॥ २॥
> पाय पखारि सकल अन्हवाये। पूजि भली बिधि भूप जेंवाए॥ ३॥
> आदर दान प्रेम परिपोषे। देत असीस चले* मन तोषे॥ ४॥

अर्थ—श्रीवसिष्ठजीने जो आज्ञा दी उसे लोक और वेद-विधिके अनुसार राजाने आदरपूर्वक किया॥ १॥ ब्राह्मणोंकी भीड़ देखकर अपना बड़ा भारी भाग्य जानकर सब रानियाँ आदरपूर्वक उठीं॥ २॥ चरण धोकर उन्होंने सबको स्नान कराया और भली प्रकार पूजा करके राजाने उनको भोजन कराया॥ ३॥ आदर, दान और प्रेमसे परिपुष्ट हुए मनसे संतुष्ट वे आशीर्वाद देते हुए चले॥ ४॥

---

* सकल—१७२१, १७६२, छ०। चले—१६६१, १७०४, को० रा०।

टिप्पणी—१ (क) 'जो बसिष्ठ अनुसासन''''' इति। जब चारों भाई भवनमें आये तब रानियोंने वेदरीति और कुलरीति की 'निगम नीति कुलरीति करि अरघ पाँवड़े देत।' अब राजाने भवनमें प्रवेश किया, तब राजा वसिष्ठजीकी आज्ञासे लोक-वेद-विधि करते हैं। वसिष्ठजी पुरोहित हैं और यह काम पुरोहितका है, इसीसे उनकी आज्ञासे किया। 'सादर' शब्दसे जनाया कि लोक-वेदविधि करनेमें राजाको बड़ी श्रद्धा है। गुरुजीको सङ्गमें लाये, उनका काम कह चुके। आगे गुरुजीकी पूजा होगी। ब्राह्मणोंको साथमें लाये हैं, उनका काम आगे कहते हैं। (ख) 'भूसुर भीर देखि''''' इति। गुरुको देखकर उठना न कहा क्योंकि उसमें ब्राह्मणोंका निरादर होता। 'भूसुर भीर' देखकर उठीं, इस कथनसे गुरुजीका अनादर न हुआ, क्योंकि वसिष्ठजी भी तो ब्राह्मण हैं। ('भूसुर' शब्द देकर जनाया कि देव-भावसे उनको देखकर उठीं)। पतिको भी देखकर उठना न कहा, क्योंकि भूसुरको देखकर उठनेसे पतिका निरादर नहीं हुआ, किंतु वे भी यह ब्राह्मणभक्ति देखकर प्रसन्न हैं, (फिर वे सबके साथ हैं ही। अभिवादन सबका ही हो गया)। (ग) 'सादर उठीं भाग्य बड़ जानी' इति। देखकर शीघ्र ही उठना, किंचित् विलम्ब न करना 'सादर उठना' है। देरसे उठतीं तो अनादर होता। 'सब रानी' सबका उठना कहनेसे पाया गया कि ब्राह्मणोंमें सबको प्रेम है। दूसरे ब्राह्मण बहुत हैं, सबका पूजन करना है, इससे भी सब उठीं। तीसरे सभी उनका पूजन करनेके लिये उठीं। 'भाग्य बड़ जानी' भाव कि विप्रोंका समाज बड़े भाग्यसे प्राप्त होता है, यथा—'बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग बड़ राउ अनंदे॥' 'बड़े भाग्य' जाननेका भाव कि एक ही ब्राह्मणके आगमनसे भाग्यका उदय हो आता है और हमारे यहाँ तो ब्राह्मणोंकी भीड़ आ गयी है, तब हमारे भाग्यका क्या कहना! [केवल एक ब्राह्मण विश्वामित्रजीके आनेसे कितना सुख प्राप्त हुआ और अब तो बहुतसे एक साथ ही आये हैं, तब हमें न जाने क्या मङ्गल मोद प्राप्त हो जाय। (प्र० सं०)]

२ (क) 'पाय पखारि सकल अन्हवाये' इति। स्नान करनेका भाव यह है कि ब्राह्मण बारातसे आये हैं, सबका स्पर्श हुआ है, बिना स्नान किये वे भोजन नहीं कर सकते, अतः स्नान कराया। दूसरे षोडशोपचार पूजनमें स्नान भी है। राजा ब्राह्मणोंको लिवा लाये हैं, यह आवाहन है। रानीने उनको चौकीपर बिठाया, यह आसन है। चरण धोये, यह पाद्य है। कुल्ली करनेको जल दिया, यह आचमन है। ब्राह्मणोंके आगे जल छोड़ा, यह अर्घ्य है। नहलाया, यह स्नान है।—यहाँतक रानियोंका कृत्य हुआ, आगे राजाका कृत्य कहते हैं। रानियोंने स्नान कराया, और राजाने भली प्रकार पूजा करके उनको भोजन कराया। रानियोंने स्नान कराया, इसका कारण यह है कि गुरुजीने राजाको लोक-वेद-विधि करनेकी आज्ञा दी थी, राजा लोक-वेद-विधि करने लगे। जितनी देर उन्हें लोक-वेद-विधिके करनेमें लगी उतनी ही देरमें इधर रानियोंने ब्राह्मणोंको स्नान करा दिया। यदि राजाको लोक-वेद-विधि कृत्य न करना रहा होता तो स्नान आदि सब काम स्वयं राजा ही करते-कराते। (ख) 'पूजि भली बिधि' 'भली विधि' देहलीदीपक है। भली विधिसे (अर्थात् षोडशोपचार) पूजन किया और अच्छी प्रकार भोजन कराया।

३ 'आदर दान प्रेम परिपोषे।''''' इति। (क) ब्राह्मण मानकी इच्छा रखते हैं, इसीसे उनका आदर किया। ब्राह्मण दानके अधिकारी हैं। इसीसे उनको दान दिया। प्रेमके बिना भक्ति अपूर्ण रहती है इसीसे प्रेम किया। आदर-दान-प्रेमसे ब्राह्मणोंके शरीर पुष्ट अर्थात् प्रफुल्लित हुए। (ख) तन-मन-वचन तीनोंसे ब्राह्मणोंकी प्रसन्नता दिखायी। तनसे प्रफुल्लित हुए, मनसे संतुष्ट हुए और वचनसे प्रसन्नताके कारण आशीर्वाद दिया। (ग) 'चले मन तोषे' अभिप्रायसे सूचित होता है कि राजाने वचनसे आदर किया, तनसे दान दिया और मनसे प्रेम किया, इसीसे ब्राह्मण तन-मन-वचनसे प्रसन्न हुए।

बहु बिधि कीन्हि गाधिसुत पूजा। नाथ मोहि सम धन्य न दूजा॥ ५॥
कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी। रानिन्ह सहित लीन्हि पग धूरी॥ ६॥
भीतर भवन दीन्ह बर बासू। मन जोगवत रह नृपु रनिवासू॥ ७॥
पूजे गुर-पद-कमल बहोरी। कीन्हि बिनय उर प्रीति न थोरी॥ ८॥

दो०—बधुन्ह समेत कुमार सब रानिन्ह सहित महीसु।
पुनि पुनि बंदत गुर चरन देत असीस मुनीसु॥ ३५२॥

शब्दार्थ—धन्य=पुण्यवान्, सुकृती, भाग्यवान्। जोगवना=मनकी इच्छाको यत्नपूर्वक जोहते, देखकर पूर्ण करते, रहना।

अर्थ—गाधिमहाराजके पुत्र विश्वामित्रजीकी बहुत विधिसे पूजा की (और बोले) हे नाथ! मेरे समान धन्य दूसरा कोई नहीं है। ५। राजाने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और रानियोंसहित उनके चरणोंकी धूलि ली अर्थात् शिरोधार्य की। ६। महलके भीतर (उनको ठहरनेके लिये) उत्तम स्थान दिया जिसमें राजा और रनवास उनका मन जोहते रहें। ७। फिर उन्होंने श्रीगुरुजीके चरणकमलोंकी पूजा और विनती की। उनके हृदयमें थोड़ी प्रीति नहीं है (अर्थात् यह सब उन्होंने बड़े ही प्रेमसे किया)। ८। बहुओंसमेत सब चारों राजकुमारों और सब रानियोंसहित राजा बारंबार श्रीगुरुजीके चरणोंकी वन्दना करते हैं और मुनिराज आशीर्वाद दे रहे हैं। ३५२।

टिप्पणी—१ 'बहु बिधि कीन्हि गाधिसुत पूजा।…' इति। (क) राजाके साथ विश्वामित्रजीका भीतर आना नहीं लिखा गया, परंतु यहाँ पूजा करनेमें भीतर लिख रहे हैं। इससे सूचित होता है कि 'गुर' शब्दमें श्रीवसिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजी दोनोंका ग्रहण है (पूर्व कहा है कि 'तब गुर भूसुर सहित गृह गवनु कीन्ह नरनाथ। ३५१।' राजाके गुरु वसिष्ठजी ही हैं। इससे राजाके साथ जानेमें 'गुर' शब्दसे श्रीवसिष्ठजीको लेना उचित जान पड़ता है। 'भूसुर' में श्रीविश्वामित्र भी आ गये। 'विप्र' शब्दका प्रयोग इनके लिये हुआ भी है, यथा—'बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी। २०८। २' 'अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाईं…आए मुनिबर निकर तब कौसिकादि तपसालि। ३३०।')। (ख)—'बहु बिधि' अर्थात् षोडश प्रकारसे। 'कीन्हि गाधिसुत पूजा'—'गाधिसुत' कहकर जनाया कि पूजा करते समय राजाके मनमें यह भाव रहा कि ये पहलेके राजपुत्र हैं, अपने घोर तपसे ये ब्रह्मर्षि हुए, ये बड़े भारी तपस्वी मुनि हैं और इसी भावको रक्खे हुए उन्होंने पूजा की। (ग) 'नाथ मोहि सम धन्य न दूजा' इति। विप्रपदपूजाके समान दूसरा पुण्य नहीं है, यथा—'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा। ७। ४५। ७।' मैंने आज यह (विप्रपदपूजारूपी) अद्वितीय पुण्य किया, इसीसे अद्वितीय पुण्यवाला हुआ। पुनः भाव कि जैसा ही भारी महात्मा मिलता है वैसा ही जीव भारी धन्य होता है। आपकी बराबरीका कोई महात्मा नहीं है (तपस्वी मुनीश्वरोंमें आपकी प्रथम गणना है, यथा—'आए मुनिबर निकर तब कौसिकादि तपसालि। ३३०।', 'सुनु मुनीस बर दरसन तोरे। अगमु न कछु प्रतीति मन मोरे। ३४३। ३।'), इसीसे हमारे समान धन्य कोई नहीं है।

२ 'कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी…'। इति। (क) पूजा करके स्तुति करनी चाहिये, अतः प्रशंसा अर्थात् स्तुति की। 'भूरि' (बहुत) प्रशंसा करनेका भाव कि विश्वामित्रजीका पुरुषार्थ भारी है, यथा—'मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी। ३५९। ६', दूसरे, विश्वामित्रजीके द्वारा राजाका बड़ा उपकार हुआ (विश्वामित्रजीने पूर्व ही कहा था—'देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान। धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान। २०७।' वह सब हुआ। राजा-रानियोंके मनोरथ भली प्रकार पूर्ण हुए। 'पूजी सकल बासना जी की')। उस उपकारको मानकर कृतज्ञता सूचित करनेके लिये बहुत स्तुति की। (ख) 'रानिन्ह सहित लीन्हि पग धूरी' इति। 'रानिन्ह सहित' कहनेका भाव कि जैसा राजा विप्रसेवी हैं वैसे ही सब रानियाँ विप्रसेवी हैं, यथा—'तुम्ह गुरु बिप्र धेनु सुर सेबी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ २९४। ४।' इससे सब रानियाँ ब्राह्मणोंकी पूजामें सम्मिलित रहीं—'पाय पखारि सकल अन्हवाए। पूजि भली बिधि भूप जेंवाए॥' श्रीविश्वामित्रजीकी पूजामें भी साथ रहीं—'रानिन्ह सहित लीन्हि पग धूरी'। और आगे गुरुपूजामें भी सम्मिलित होंगी—'बधुन्ह समेत…'। (ग) पदकी धूलि लेनेका भाव कि राजाको विभव चाहिये सो गुरुचरणरजसे सब विभव वशमें करते हैं। यथा—'जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जन सकल बिभव बस करहीं। २। ३।'

प० प० प्र०— जिन दशरथजीने वचनबद्ध होकर भी कहा था कि 'राम देत नहिं बनै गोसाईं' वही आज यह प्रशंसा कर रहे हैं, इससे दो सिद्धान्त चरितार्थ हुए—'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई।' और 'जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥'

टिप्पणी—३ 'भीतर भवन दीन्ह बर बासू।…' इति। (क) महलके भीतर वास देनेका भाव यह है कि यह सब सम्पदा आपकी है, मैं स्त्री-पुत्रोंसहित आपका सेवक हूँ। यथा—'नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी॥ ३६०। ६।' इसीसे न तो बाहर वास दिया और न सेवकोंसे सेवा करायी। पुनः भाव कि राजा विश्वामित्रजीको पिता कर

चुके हैं, यथा—'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ । २०८ । १० ।' इसीसे महलके भीतर वास दिया । आशय यह सब स्थान मुनिका समझकर मुनिको वहाँ ठहराया । (ख) 'बर बास' अर्थात् जो देखनेमें बहुत सुन्दर है और सब काल सुखद है, यथा—'सुंदर सदनु सुखद सब काला । तहाँ बासु लै दीन्ह भुआला । २१७ । ७ ।' (ग) 'मन जोगवत' अर्थात् मुनिके मनको देखा करते हैं, मुखसे कहना नहीं पड़ता । यथा—'दासी दास साजु सब लीन्हे । जोगवत रह मनहिं मन दीन्हें । २ । २१४ । ६ ।'

४ 'पूजे गुर पद कमल बहोरी ।''''' इति । (क) राजाने गुरुचरणोंमें तन-मन-वचनसे भक्ति की । तनसे श्रीगु पदकमलकी पूजा की, मनसे प्रीति की और वचनसे विनती की । तात्पर्य कि गुरुकी सब भाँतिसे सेवा करनी चाहिये, यथ 'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी । सकल भायँ सेवहिं सनमानी । २ । १२९ ।' वैसे ही राजाने की । 'गुर पद कम कहकर जनाया कि गुरुपदकमलकी पूजा तीसरी भक्ति है, यथा—'गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान । ३ । ३५ गुरुपदपूजा करके जनाया कि भगवान्‌की तीसरी भक्ति की । (ख) श्रीजनकजीने प्रथम वसिष्ठजीकी पूजा की, तब विश्वामित्रजीकी और उनके पीछे ब्राह्मणोंकी, यथा—'कुलइष्ट सरिस बसिष्ठ पूजे बिनय करि आसिष लही । कौसिकहि पू परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही ॥ बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस । ३२० ।'; और राजा दशरथजीने प्र ब्राह्मणोंकी, फिर विश्वामित्रजीकी और तब वसिष्ठजीकी पूजा की । इससे सूचित किया कि प्रधानका पूजन चाहे आ करे चाहे अन्तमें, दोनों विधान हैं । श्रीवसिष्ठजी प्रधान हैं, इसीसे श्रीजनकजीने इनकी पूजा प्रथम की और श्रीदशरथज अन्तमें की । (ग) 'कीन्हि बिनय उर प्रीति न थोरी' इति । गुरु, देवता और ब्राह्मण आदिकी विनय प्रेमसे करनी चाहि यथा—'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी । प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी ॥' (२ । १२९) । अतः प्रीतिसे विनय क (प० प० प्र० का मत है कि 'बहोरी' का अर्थ यहाँ 'फिरसे' 'दूसरी बार' करना चाहिये । प्रथम ब्राह्मणोंके साथ साम पूजन किया, अब विशेष पूजन करते हैं) ।

५ 'बधुन्ह समेत कुमार सब रानिन्ह''''' इति । (क) 'बधुन्ह समेत कुमार सब' से जनाया कि चारों भाई सिं सनोंसे उतरकर स्त्रियोंसहित आकर गुरुजीकी सेवामें सम्मिलित हुए । गुरु-सेवा भारी यज्ञ समान है । यज्ञ स्त्रीस किया जाता है । इसीसे चारों भाई स्त्रियोंसहित सेवा करते हैं, राजा भी रानियोंसहित सेवामें तत्पर हैं । (ख) 'पुनि बंदत गुरचरन'—इससे पाया गया कि प्रेममें मग्न हैं, इसीसे बार-बार प्रणाम करते हैं, यथा—'प्रेम मगन मुख बचन आवा । पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा ॥ ३ । ३४ । ९ ।' इत्यादि । ऊपर चौपाईमें गुरुजीकी पूजा और विनय क लिख चुके, अब यहाँ वन्दन अर्थात् प्रणाम करना लिखते हैं । (ग) 'देत असीस' कहकर सूचित करते हैं कि गुरु सबको पृथक्-पृथक् आसिष दे रहे हैं । (घ) वन्दनमें अभिवादन और स्तुति दोनों आ जाते हैं—'वदि अभिवादनस्तुत्यो

बिनय कीन्हि उर अति अनुरागे । सुत संपदा राखि सब आगे ॥ १ ॥
नेगु मागि मुनिनायक लीन्हा । आसिरबादु बहुत बिधि दीन्हा ॥ २ ॥
उर धरि रामहि सीय समेता । हरषि कीन्ह गुर गवनु निकेता ॥ ३ ॥
बिप्र बधू सब भूप बोलाईं । चैल* चारु भूषन पहिराईं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—नेग=विवाह आदि शुभ अवसरोंपर कार्य वा कृत्यमें योग देनेवालोंको जो वस्तु या धन उनकी प्रसन्न लिये दिया जाता है ।=बँधा हुआ दस्तूर वा हक; देने-पानेका हक वा दस्तूर । चैल (सं०)=पहननेके योग्य बना हु कपड़ा; वस्त्र ।

अर्थ—अब पुत्रों और सब सम्पत्तिको (गुरुजीके) आगे रखकर हृदयमें अत्यन्त अनुरागसे भरे हुए (राजा विनती की ॥ १ ॥ मुनिराजने अपना नेग माँग लिया और बहुत प्रकारसे आशीर्वाद दिया ॥ २ ॥ श्रीसीताजीसहित श्री जीको हृदयमें धारण करके गुरु हर्षपूर्वक घरको गये ॥ ३ ॥ राजाने सब ब्राह्मणियोंको बुलाया और सबको सुन्दर वस्त्र सुन्दर भूषण पहनाये ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'बिनय कीन्हि''''' इति (क) ऊपर विनय करना एक बार कह चुके हैं—'कीन्हि बिनय

* चीर—छ०, को० रा० । चैल—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२ ।

प्रीति न थोरी ।' अब फिर विनय कैसी ? प्रथम जो विनय की थी वह पूजाका अङ्ग है, यह विनय पूजाके पीछेकी स्तुति है। पूजाके अन्तमें विनय करनी चाहिये, वह की थी और अब जो विनय है वह सुत-सम्पदा लेने (स्वीकार करने) के लिये है, इसीलिये सुत-सम्पदाको गुरुजीके सामने रखकर विनय करना कहते हैं। (ख) 'अति अनुरागे' का भाव कि सुत-सम्पदामें अनुराग है और गुरुमें 'अति अनुराग' है, इसीसे सुत-सम्पदा सब उनको अर्पण कर रहे हैं । (ग) 'सुत संपदा राखि सब आगे' इति । भाव कि 'नाथ ! यह सब आपके हैं, यथा—'नाथ सकल संपदा तुम्हारी । मैं सेवक समेत सुत नारी ॥' 'आगे रखने' का भाव कि कोई यह न समझे कि कहते भर हैं, करेंगे नहीं, इसीसे सबको पहले आगे रखकर तब विनती करते हैं कि इसे ग्रहण कीजिये । (घ) राजाके साथ रानियाँ, पुत्र और पुत्रवधू सभी हैं, सबने साथ-साथ सेवा की; परंतु इनमेंसे केवल पुत्रों और सम्पदाको आगे रक्खा, इसमें राजाकी बुद्धिमत्ता प्रकट होती है। वे वशिष्ठजीसे यह नहीं कहते कि हम सब रानियाँ और सब बहुएँ आपको देते हैं, आप इन्हें ग्रहण करें; क्योंकि ऐसा कहना अनुचित है; सुत-सम्पदाका देना उचित है; अतः उसीको कहा ।

२ 'नेगु माँगि मुनिनायक लीन्हा'...।' इति । (क) 'नेगु' माँग लिया । अर्थात् जो 'पद' है वह माँगकर ले लिया, जो 'पद' नहीं है वह देनेपर भी न लिया । (पुराणोंमें दानके लिये पदत्राण, छाते, कपड़े, कमण्डलु, आसन, बरतन, मुद्रिका और भोजनका समूह जो दिया जाना कहा गया है उसे 'पद' कहते हैं । सम्भवतः पण्डितजीका कुछ ऐसा ही अभिप्राय है । 'नेग' से तात्पर्य है कि जो विवाहके इस अवसरपर पुरोहितको मिलनेका दस्तूर है, जो उनका हक है वही लिया; इससे उनकी कर्तव्यपरायणता और निःस्पृहता प्रकट होती है) । (ख) 'मुनिनायक' इति । जो सम्पदा कुबेरके पास भी नहीं है, जिसे देखकर इन्द्र भी ललचाते हैं, यथा—'अवधराजु सुरराजु सिहाई । दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ॥ २ । ३२४ ॥' ऐसी सम्पदा राजाने वशिष्ठजीको अर्पण की, तब भी वशिष्ठजीने न लिया । क्योंकि 'मुनिनायक' हैं, ऐसी सम्पदा तो इनके कृपा-कटाक्षमात्रसे प्राप्त हो जाती है (इनके लिये यह कौन बड़ी नामत है । इससे उनका वैराग्य भी दिखाया कि ऐसे ऐश्वर्यसे भी मोहित न हुए । (ग) 'आसिरबाद बहुत बिधि दीन्हा' इति । बहुत प्रकारका आशीर्वाद यह कि बहुओं और रानियोंको सावित्री होनेका आशीर्वाद दिया, पुत्रोंको चिरंजीवी होने और राजाको पुत्रवान् सम्पदावान होनेका आशीर्वाद दिया, क्योंकि राजाने सुत-सम्पदा मुनिके आगे रक्खी थी । (राजाओंको प्रायः विजयी, वैभववान् होने और स्त्री-पुत्रादिकी चाह होती है) ।

३ 'उर धरि रामहि सीय समेता'...।' इति । (क) श्रीसीताजीसहित श्रीरामजी आगे विद्यमान हैं, इसीसे श्रीसीता-सहित श्रीरामजीको हृदयमें धारण किया । (दूलहरूप बड़ा सुन्दर है । अभी श्रीरामजी दूलहरूपमें ही हैं, कोहबरसे आये हैं, अभी कंकण छोड़े नहीं गये हैं । 'श्रीसीताजी' अद्वैतवादियोंवाली 'माया' नहीं हैं । 'मायाको परम विज्ञानी मुनीश्वर हृदयमें न धारण करते') । (ख) राजाने सुत और सम्पदा अर्पण की, मुनीश्वरने उसे नहीं लिया । श्रीसीतारामजीको हृदयमें धारण करके चले । इस प्रकार (केवल भावसे) उन्होंने सुत-सम्पदाको लिया । (सम्पदा सब श्रीसीताजीका कटाक्षमात्र है, यथा—'जाकी कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ ।' (ग) 'हरषि कीन्ह गुर गवनु निकेता' इति । मुनीश्वर राजाकी सेवासे तृप्त हुए हैं, इसीसे हर्षपूर्वक गये । पुनः भाव कि राजा सुत-सम्पदा देते थे, उससे उन्हें हर्ष न हुआ । हर्ष हुआ तो 'रामहिं सीय समेता' सीतासहित श्रीरामजीको हृदयमें धारण करनेसे । (इससे जनाया कि श्रीसीतारामजी ही उनको अत्यन्त प्रिय हैं, शरीर-से अलग हो रहे हैं, अतः हृदयमें बसाकर चले) ।

४ 'बिप्रबधू सब भूप बोलाईं'...।' इति । (क) राजाने प्रथम सब ब्राह्मणोंका सत्कार किया तब ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंको बुलाकर उनका सम्मान किया । (ख) 'चैल चारु भूषन पहिराईं' इति । राजाने सुहागिनियों और नेगियोंको रुचिके अनुसार दिया है जैसा आगे कहते हैं—'रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही', 'रुचि अनुरूप भूपमनि देहीं'; परंतु ब्राह्मणियोंको देनेमें 'रुचि अनुरूप' देना नहीं कहते । इस भेदसे यह सूचित करते हैं कि उनको रुचिसे बहुत अधिक दिया है । 'चारु' शब्द देकर जनाया कि ऐसे सुन्दर, दिव्य वस्त्र और आभूषण पहनाये कि जितनी रुचि न थी । वे परम संतुष्ट हो गयीं । इसी प्रकार ब्राह्मणोंको इतना दिया था कि वे सब मनसे संतुष्ट हो गये थे, यथा—'आदर दान प्रेम परिपोषे । देत असीस सकल मन तोषे ॥ ३५२ । ४ ॥'

बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्हीं । रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्हीं ॥ ५ ॥
नेगी नेग जोग सब लेहीं । रुचि अनुरूप भूपमनि देहीं ॥ ६ ॥

प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने। भूपति* भली भाँति सनमाने ॥ ७ ॥
देव देखि रघुबीर बिबाहू। बरसि प्रसून प्रसंसि उछाहू ॥ ८ ॥

दो०—चले निसान बजाइ सुर निज निज पुर सुख पाइ।
कहत परस्पर रामजसु प्रेम न हृदय समाइ ॥ ३५३ ॥

अर्थ—फिर सुहागिनी स्त्रियोंको बुलवा लिया। उनकी रुचिको (मनमें) समझ-विचारकर उनको पहरावनी दी ॥५॥ (नाई, बारी आदि) सब नेगी (अपना-अपना) नेगचारा लेते हैं और राजशिरोमणि दशरथजी उनकी रुचिके अनुसार देते हैं ॥ ६ ॥ प्रिय पाहुनोंमें जिनको राजाने पूज्य जाना उनका बहुत अच्छी प्रकार सम्मान किया ॥ ७ ॥ देवता श्रीरघुबीर (रामजी) का विवाह देखकर फूल बरसाकर और उत्सवकी प्रशंसा करके ॥ ८ ॥ निशान बजाकर और सुख पाकर अपने-अपने लोकोंको चले। वे आपसमें श्रीरामजीका यश कह रहे हैं, (उनके) हृदयमें प्रेम नहीं समाता ॥ ३५३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बहुरि बोलाइ सुआसिनि…' इति। ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंको पहरावन देकर तब अपने वंशकी सौभाग्यवती स्त्रियोंको बुलाया। (बहिनें, बेटियाँ, भतीजियाँ तथा इनकी कन्याएँ जितनी रघुवंशियोंकी थीं वे सब इनमें आ गयीं)। (ख) 'रुचि बिचारि…' इति। अर्थात् उनसे यह नहीं पूछते कि क्या लोगी, जो इच्छा हो बताओ वही दें, क्योंकि रुचि पूछनेसे वे लज्जित होंगी। (ये रघुवंशकी वे कन्याएँ तथा उनकी संतानें हैं जो दूसरी जगह ब्याही हैं। सब अच्छे कुलीन घरोंमें ब्याही हैं और सावित्री हैं। रुचि पूछने तथा रुचि कहने दोनोंहीमें संकोच होनेकी बात है) अतएव राजा स्वयं अपने मनसे विचारकर कि उनकी रुचि क्या-क्या हो सकती है, उनको वैसी ही पहरावन देते हैं। पुरुषोंसे रुचि पूछते हैं, यथा—'कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रबिकुलनंदन ॥ १। ३३१। ६ ॥' स्त्रियोंसे रुचि नहीं पूछते। (सावित्री सती स्त्रियाँ प्रायः वही लेना चाहेंगी जिसमें उनके पतिको सुख मिले। क्योंकि वे अपने पतिकी प्रसन्नता और सुखमें ही प्रसन्न और सुखी होती हैं। इसीसे रुचि कहनेमें संकोच होगा। अतः स्त्रियोंसे रुचि नहीं पूछते)।

२ (क) 'नेगी नेग जोग सब लेहीं…।' इति। (नाई, बारी, माली, बढ़ई, लोहार, कुम्हार, कहार, पटवा, बरई, दरजी आदि सब विवाहादि मङ्गल-कार्योंमें नेग पानेके अधिकारी हैं, इसीसे इनको 'नेगी' कहते हैं। पं० रामकुमारजी 'नेग जोग' का अर्थ 'नेगके योग्य' लिखते हैं। 'नेगयोग' एक शब्द है, इसीको 'नेगचार' भी कहते हैं। काम करनेवालों तथा सम्बन्धियोंको जो विवाहादि अवसरोंपर उनकी प्रसन्नताके लिये देनेकी रीति है उसीको 'नेगजोग' 'नेगचार' कहते हैं)। राजा पूछते हैं कि तुम अपने नेगके योग्य क्या वस्तु चाहते हो, जो नेगी कहते हैं वही राजा देते हैं, इसीसे 'भूपमणि' कहा। (ख) 'प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने…' इति। पाहुन तो सभी प्रिय हैं, उनमें भी जो ससुरालके हैं जैसे साले, सालोंके लड़के इत्यादि भी प्रिय पाहुन हैं। [राजाके तीन सौ साठ रानियाँ वाल्मीकिजीके मतानुसार, सात सौ गीतावलीके अनुसार हैं और मानसके अनुसार तीन पटरानियाँ मुख्य हैं और उनके अतिरिक्त और भी हैं, इन सबोंके भाई-भतीजे आये हैं, इसी तरह और भी रघुवंशियोंके साले आदि आये हैं। ये सब प्रिय पाहुने हैं। 'पूज्य जे जाने' कहकर जनाया कि पाहुने अपूज्य भी होते हैं। उपर्युक्त सब पाहुन अपूज्य हैं अर्थात् राजा इनको पूज नहीं सकते। और रघुवंशियोंकी कन्याएँ जहाँ ब्याही हैं, अर्थात् जहाँ बहनें, पुत्रियाँ, फूफू आदि ब्याही हैं वे सब भी प्रिय पाहुन हैं और राजाद्वारा पूज्य हैं, ये सब 'मान्य' कहलाते हैं।] (ग) पहले सुवासिनोंका सम्मान करके अब उनके पति, देवर, पुत्र आदिका सम्मान करते हैं, ये पूज्य प्रिय पाहुन कन्याओंके ससुरालके हैं, एवं उनके पति आदि हैं। पहले सुवासिनियोंका सम्मान किया, तब उनके पति आदिका, क्योंकि पिताके घरमें कन्याकी प्रधानता है। [पंजाबीजी लिखते हैं कि पाहुन शब्दसे विदेशी और मान्ययोग्य सूचित किया। भाव यह कि जो माता कौशल्यादिके भाई-बन्धु आदिक हैं जो कुछ ले नहीं सकते, उनका बहुत भाँतिसे सम्मान किया।]

३ 'देव देखि रघुबीर बिबाहू…' इति। 'रघुबीर बिबाहू' का भाव कि (यह शुल्कस्वयंवर विवाह था। इसमें धनुष तोड़नेपर विवाह होनेका संकल्प था। यह काम वीरताका था) श्रीरामजीने वीरतासे धनुष तोड़कर श्रीसीताजीको ब्याहा, अतः

* ते सब—पं० रा० व० श०।

'रघुबीर बिबाहू' कहा। 'देव देखि···' से सूचित किया कि देवताओंने धनुर्यज्ञसे लेकर विवाहतक देखा है, क्योंकि धनुषको तोड़ना भी विवाह ही है, यथा—'टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू। २८६। ८।' देवताओंने धनुषका तोड़ना और भाँवरीका पड़ना दोनों तरहका विवाह देखा। 'प्रसंसि उछाहू' कहनेका भाव कि इस ब्याहमें ऐसा भारी उत्सव हुआ कि देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं।

४ 'चले निसान बजाइ···' इति। (क) फूल बरसाना, निशान बजाना देवताओंकी सेवा है। जब श्रीराम-जानकीजी रंगभूमिमें आये तब उन्होंने फूल बरसाये और नगाड़े बजाये, यथा—'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई। २४८। ५।'—यह 'उछाह' (उत्सव) का आदि है। इसी प्रकार धनुष टूटनेपर परशुरामजीकी पराजयपर, श्रीअयोध्याजीसे बारातके प्रस्थानपर, विवाह होनेपर, सब अवसरोंपर उन्होंने फूलोंकी वर्षा की और नगाड़े बजाये।—यह उत्सवका मध्य है। बारात श्रीअयोध्याजीमें लौटकर आयी, अवधवासियोंने उत्सव मनाया और राजाने सबका सम्मान किया, यह देखकर फूल बरसाये और नगाड़े बजाये।—यह उत्सवका अन्त है। इस प्रकार देवताओंने उत्सवके आदिसे अन्ततक सेवा की। (ख) 'सुख पाई'—मानस-प्रकरणमें श्रीरामजीके विवाहोत्सवको कीर्ति-नदीका सुखद शुभ उमग कहा है, यथा—'सानुज राम बिबाह उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू। ४१। ५।' यह सबको सुखदाता है। अतः इसे देखकर देवताओं-का भी सुख पाना कहा। (ग) 'कहत राम जसु प्रेम···' इति। श्रीरामयश कहते हैं इसीसे प्रेम हृदयमें नहीं समाता। मानसप्रकरणमें कहा था कि जो इसे कहते-सुनते हर्षित होते हैं वे ही सुकृती लोग हैं जो इस नदीकी शुभ उमगमें मुदित मनसे स्नान करते हैं, यथा—'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। ४१। ६।' (यहाँ उसको चरितार्थ करते हैं) श्रीराम-विवाहोत्सवरूपी कीर्तिनदीकी बाढ़में देवता स्नान कर रहे हैं। देवताओंकी तन-मन-वचनसे भक्ति दिखायी। 'तन' से 'चले निसान बजाइ' (नगाड़ा बजाना शरीरका कर्म है), वचनसे 'कहत परसपर राम जसु' और मनमें प्रेम नहीं समाता (यह मनकी भक्ति है)।

> **सब बिधि सबहि समदि नरनाहू। रहा हृदय भरि पूरि उछाहू॥ १॥**
> **जहँ रनिवास तहाँ पगु धारे। सहित बहूटिन्ह* कुँअर निहारे॥ २॥**
> **लिये गोद करि मोद समेता। को कहि सकै भएउ सुखु जेता॥ ३॥**
> **बधू सप्रेम गोद बैठारीं। बार बार हिय हरषि दुलारीं॥ ४॥**
> **देखि समाजु मुदित रनिवासू। सब के उर अनंदु कियो बासू॥ ५॥**

शब्दार्थ—समदि=भलीभाँति आदर-सत्कार इत्यादिसे वशमें अर्थात् सब प्रकार सबको प्रसन्न करके।=सम्मान करके।

अर्थ—सबको सब प्रकार भलीभाँति आदर-सत्कारसे प्रसन्न करनेपर राजाका हृदय पूर्ण उत्साहसे भर गया। १। जहाँ रनवास था वे वहाँ पधारे और बहुओंसहित कुमारोंको देखा। २। और आनन्दसहित (चारों पुत्रोंको) गोदमें ले लिया। उन्हें जितना सुख हुआ उसे कौन कह सकता है?। ३। (फिर) प्रेमसहित बहुओंको गोदमें बैठाया और बारंबार हृदयमें हर्षित होकर उनका दुलार (लाड़-प्यार) किया। ४। यह समारोह देखकर रनवास आनन्दित हुआ। सबके हृदयमें आनन्दने निवास किया। ५।

टिप्पणी—१ (क) सबका सम्मान कहकर तब प्रसंग छोड़ा था, यथा—'प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने। भूपति भली भाँति सनमाने। ३५३। ८', बीचमें देवताओंका स्वर्गगमन स्वर्गयात्रा कहने लगे थे, अब पुनः जहाँ प्रसंग छोड़ा था वहींसे उठाते हैं, सबके सम्मानकी बात कहते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि 'समदि' का अर्थ 'सम्मान करके' है। उत्सवका आनन्द हृदयमें भरा है, वही उमगकर मुखसे निकलेगा; आगे कहते हैं—'कहेउ भूप जिमि भयेउ बिबाहू। सुनि सुनि हरष होइ सब काहू॥' (ख)—'जहँ रनिवास तहाँ पगु धारे' इति। इससे सूचित हुआ कि राजभवनसे रनिवास पृथक् है। पहले राजद्वारपर जितना कृत्य था वह करके राजा भवनमें आये थे। भवनमें जितना काम था वह करके अब रनवासमें आये। 'सहित बहूटिन्ह कुँअर निहारे' इस कथनसे जनाया कि जब राजा गुरुपूजा कर चुके और गुरु सबको आशीर्वाद देकर घर

* बधूटिन्ह—प्रायः सबोंमें। बहूटिन्ह—१६६१।

चले गये, तब रानियाँ बहुओंसमेत राजकुमारोंको लेकर रनवासमें चली आयीं। गुरुजीकी बिदाई राजभवनमें ही हुई थी, उस समय सब वहीं थे। (मण्डप और कोहबर रनवाससे पृथक् राजभवनमें था)। यहाँ शंका होती है कि बहुओंसहित चारों भाई तो राजभवनमें भी थे, तब वहाँ राजाने क्यों न देखा। इसका समाधान यह है कि उस समय गुरु-ब्राह्मणकी सेवामें प्रेम था। गुरु-ब्राह्मणके प्रेमके आगे अपने लड़कोंमें प्रेम नहीं किया। (करते तो गुरु-महिसुर-भक्तिमें बट्टा लगता। दूसरे, उस समय राजाको बहुत काम और भी थे। विप्रवधुओं, सुआसिनों, नेगियों, प्रियपूज्य पाहुनोंको भी देना-दिलाना सम्मान करना था। उनका सम्मान करना प्रथम कर्तव्य था। उसे करके अब सब कामोंसे छुट्टी पाकर तब यह सुख लेने चले। अब निश्चिन्ततासे बैठकर आनन्द लेंगे)। (ग) 'बहूटिन्ह' से बहुओंकी सुन्दरता कही और 'कुअँर' से चारों भाइयोंकी।

२ (क)—'लिए गोद करि···'इति। बहुओंको गोदमें बिठाना आगे कहते हैं, यहाँ केवल पुत्रोंको गोदमें बिठाना कहते हैं। 'को कहि सकै' अर्थात् अत्यन्त आनन्द है, कोई उसे कह नहीं सकता। (ख) 'बधू सप्रेम गोद बैठारीं।···' इति। पुत्रोंको गोदमें बैठानेसे हर्ष हुआ—'मोद समेता' (मोद हर्षका वाचक है); वैसे ही बहुओंको गोदमें बैठानेसे हर्ष हुआ। (दोनोंमें समान भाव दिखाया)। 'बार बार हिय हरषि' से जनाया कि श्रीसीताजी, श्रीमाण्डवीजी, श्रीउर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी चार बहुएँ हैं, चारोंको देख-देख हर्षित होते हैं, इसीसे 'बार-बार' कहा। (ग) 'देखि समाज मुदित रनिवासू'—राजाका आनन्द कहकर अब रानियोंका आनन्द कहते हैं और 'सबके उर अनंदु कियो बासू' से सब सखियों, दासियों आदिका आनन्द कहा। 'समाजु' का अर्थ प्रथम कह चुके—'सहित बधूटिन्ह कुअँर निहारे'। ('समाजु' से बहुओं और राजकुमारोंका गोदमें बैठाना, सारे रनवासका आनन्द लेना, सखियों आदिका आनन्द लेना यह सब समारोह दरसाया है)

कहेउ भूप जिमि भयउ बिबाहू। सुनि सुनि हरषु होत सब काहू॥ ६॥
जनकराज गुन सीलु बड़ाई। प्रीति रीति संपदा सुहाई॥ ७॥
बहु बिधि भूप भाट जिमि बरनी। रानी सब प्रमुदित सुनि करनी॥ ८॥

दो०—सुतन्ह समेत नहाइ नृप बोलि बिप्र गुर ग्याति।
भोजन कीन्हि अनेक बिधि घरी पंच* गइ राति॥३५४॥

अर्थ—राजाने जिस प्रकार विवाह हुआ था (वह सब) कहा। सुन-सुनकर सब किसीको हर्ष हो रहा है॥ ६॥ राजा (दशरथजी) ने भाटकी तरह जनकमहाराजके गुण, शील, बड़ाई और सुन्दर प्रीति, रीति और सम्पत्तिका वर्णन किया। श्रीजनकजीका कृत्य सुनकर सब रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं॥ ७-८॥ पुत्रोंसहित स्नान करके राजाने ब्राह्मणों, गुरु और जाति-बिरादरीके लोगोंको बुलाकर अनेक प्रकारके भोजन किये। (यह सब कृत्य करते-करते) पाँच घड़ी रात्रि बीत गयी॥३५४॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहेउ भूप जिमि भयेउ बिबाहू···' इति। राजा बहुओंका दुलार करते हैं और उनके विवाहका वर्णन करते हैं। चारों भाइयोंका विवाह अलग-अलग हुआ, सबके विवाहकी कथा अलग-अलग कही, इसीसे 'सुनि सुनि होत हरष' कहा। 'हरष सब काहू' कहकर मानस-प्रकरणके 'सानुज राम बिबाह उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू॥ ४१। ५।' को चरितार्थ किया। नदीकी उमगमें स्नान भी कहते हैं, हर्षित होना स्नान है, यथा—'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥' (ख) 'जनकराज गुन सील···' इति। (ये जो शील आदि सब गुण श्रीजनकजीके कहे वह वे हैं जो दशरथजीने अपने साथमें उन्हें बर्तते हुए देखे हैं)। शील, यथा—'धोये जनक अवधपति चरना। सीलु सनेहु जाइ नहिं बरना॥ ३२८। ४।' 'बड़ाई' यथा—'संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये। येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये॥ ३२६ छंद २'—यह नम्रताकी बड़ाई है। प्रीति, यथा—'मिले जनकु दसरथु अति प्रीती। करि बैदिक लौकिक सब रीती॥ ३२०।१।', 'बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं। जनकु प्रेम बस फिरै न चहहीं॥ ३४०। ४।' 'रीति', यथा—'बहुरि कीन्हि कोसलपति पूजा। जानि ईस सम भाउ न दूजा॥ ३२१। १।'—इस रीतिसे पूजन किया। 'संपदा', यथा—'कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि

* पाँच—वंदनपाठक, पं० रा० व० श०।

मंजु पुरी ॥'''लोकपाल अवलोकि सिहाने। ३२६। २–६।', 'निज निज बास बिलोकि बराती। सुर सुख सकल सुलभ सब भाँती॥ ३०७। १।' ['जो अवलोकत लोकपति लोक-संपदा थोरि। ३३३।'–(प्र० सं०) । परंतु यह दहेज राजाको बिना जनाये अयोध्याजी सीधे भेज दिया गया था। इससे यह उदाहरण विशेष संगत नहीं है।]

२ 'बहु बिधि भूप भाट जिमि'''' इति। (क) 'बहु बिधि' कहनेका भाव कि प्रथम श्रीजनकजीके सब (शील, प्रीति, रीति आदि) अपने सम्बन्धमें दिखाये, फिर पृथक्-पृथक् और सबोंके सम्बन्धमें कहे। अर्थात् कहा कि हमको सम्पत्ति दी और सब ब्राह्मणों और बारातियोंको दी, हमारे साथ जैसे शील, प्रेम आदि बरते वैसे ही सबके साथ बरते। अलग-अलग सब कहा, इसीसे 'बहु बिधि' का वर्णन हुआ। (ख) 'भाट जिमि बरनी' इति। भाव कि जैसे भाट प्रसन्न होनेपर बहुत बड़ाई कहते हैं, वैसे ही राजा दशरथजी जनकजीके गुणोंसे बहुत प्रसन्न हुए हैं, इसीसे अपने मुखसे बारबार उनके गुणोंको कहते हैं। [पुनः भाव कि जैसे भाट कहनेमें थकते नहीं वैसे ही ये बराबर कहते जाते हैं, थकते नहीं किंतु कहनेमें उत्साह बढ़ता ही जाता है। (रा० प्र०)] जिन राजा दशरथके गुणगण ब्रह्मादि देवता वर्णन करते हैं, यथा—'बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुनगाथा॥ २। १७३।', वे ही श्रीजनकजीके गुणोंका वर्णन करते हैं; यह श्रीजनकमहाराजके गुणोंकी बड़ाई है। (ग) 'रानी सब प्रमुदित सुनि करनी' इति। 'प्रमुदित' का भाव कि रानियाँ पहले 'मुदित' थीं, यथा—'देखि समाजु मुदित रनिवासू', अब श्रीजनकजीकी करनी सुनकर 'प्रमुदित' हुईं। [रानियोंको इसके सुननेकी बड़ी लालसा थी, राजा बिना पूछे ही कहकर सुनाने लगे, अतः बहुत हर्ष हुआ। पंजाबीजीका मत है कि रानियोंके प्रमुदित होनेका कारण यह है कि वे अपने बड़े भाग्य समझती हैं कि ऐसे समधी मिले, उनकी कन्याएँ भी अवश्य परम श्रेष्ठ और घरकी मर्यादा होंगी, ये भी वैसे ही शील, प्रेम आदि गुणोंसे युक्त होंगी। (प्र० सं०)]

३—'सुतन्ह समेत नहाइ'''' इति। (क) इससे जनाया कि स्नान करके भोजन करना चाहिये। गुरु-ब्राह्मण ज्ञातिवर्ग अपने-अपने घरसे स्नान करके आये, इससे उनका स्नान न कहा। (अथवा, जबसे बारात आयी है, अर्थात् सबेरे-हीसे बराबर काममें लगे रहे, स्नानका अवकाश न मिला, इससे इस समय स्नान किया। इसी प्रकार भूसुरवृन्द बारातके साथ आये थे, मार्गके चले हुए थे, इसीसे उन्होंने भी स्नान किया तब पूजन किया गया, यथा—'पाय पखारि सकल अन्हवाए। पूजि भली बिधि भूप जेंवाए॥' (ख) 'बोलि बिप्र गुर ज्ञाति' इति। यह बारातकी लौटतीका भोजन है। बारातके लौटनेपर जाति-बिरादरीके लोगोंको भोजन करानेकी रीति है। इसीसे ज्ञातिके लोगोंको बुलवाना कहा, नहीं तो राजा वैसे ही नित्य ब्राह्मण गुरु ज्ञातिसहित भोजन करते ही हैं। (ग) 'भोजन कीन्ह अनेक बिधि' अर्थात् सब प्रकारके सब रसोंके भोजन किये। (घ) 'घरी पंच गइ राति' कहनेका प्रयोजन यह है कि आगे श्रीरामजीका शयन वर्णन करना चाहते हैं, इसीसे पहले शयनका समय कह दिया। जैसे राजकुमारोंका जनकनगरदर्शन कहनेके पूर्व नगर-दर्शन करनेका समय कहा था, यथा—'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजनु बिश्रामु। बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवसु रहा भरि जामु॥ २१७।' पहरभर दिन रहे नगर देखने गये। वैसे ही यहाँ शयनका समय कहा।

नोट—१ पंजाबीजी कहते हैं कि पाँच घड़ी रातका भाव यह है कि 'भोजन करना प्रथम पहरहीमें प्रमाण है। भाव यह कि राजा ऐसे व्यवहारमें भी समयसे नहीं चूकते हैं।' रामायणपरिचर्याकार लिखते हैं कि 'सवा पहरमें निशिभोजन है, आगे असुर अहार'। प० प० प्र० जी लिखते हैं कि सूर्यास्तके अनन्तरकी तीन घड़ियाँ संध्याकाल होनेसे उसमें भोजनादि दैहिक कार्य करना निषिद्ध है। धर्मसिंधु आदि धर्मग्रन्थोंमें बताया है कि सूर्यास्तके पश्चात् डेढ़ पहरके भीतर ही भोजन करके सो जाना चाहिये। यहाँ केवल पाँच घड़ी होते ही भोजनविधि समाप्त हो गयी, यह कहकर जनाया कि दिनभर इतना भारी काम करनेपर भी शास्त्रीय भोजनकालका उल्लङ्घन नहीं हुआ, रात्रिके भोजनके लिये जो उचित समय है उसीमें भोजन हुआ। पुरुषोंके बाद स्त्रियों और फिर सेवकों, रसोइयों आदिका भोजन भी निषिद्ध कालमें न हो इसके लिये भी पर्याप्त समय बच रहे, इसलिये इतनी शीघ्रता आवश्यक थी, सो भी बरती गयी।

मंगल गान करहिं बर भामिनि। भै सुखमूल मनोहर जामिनि॥ १॥
अचै पान सब काहू पाए। स्रग सुगंध भूषित छबि छाए॥ २॥
रामहि देखि रजायेसु पाई। निज निज भवन चले सिर नाई॥ ३॥

अर्थ—सुन्दर श्रेष्ठ स्त्रियाँ मङ्गल गान कर रही हैं। रात्रि सुखकी मूल (उपजानेवाली) और मनोहारिणी हो गयी ॥ १ ॥ सबोंने आचमन (हाथ-मुँह धो कुल्ली) करके पान पाये। फूलोंकी माला और (चन्दन अतर आदि) सुगन्धित द्रव्योंसे भूषित होकर शोभासे छा गये ॥ २ ॥ श्रीरामजीको देखकर और राजाकी आज्ञा पाकर सब लोग प्रणाम कर-करके अपने-अपने घरको चले ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'मंगल गान' इति। यह मङ्गल-गान भोजन-समयका है, क्योंकि आगे कहते हैं कि 'अचै पान सब काहू पाए'। भोजन और आचमनके बीचमें मङ्गल गान है। 'मंगल गान' कहनेका भाव कि यह गाली-गान नहीं है। जनकपुरमें भोजनके समय जो गान हुआ वह गाली-गान था, क्योंकि ससुरालमें गाली गायी जाती है। यहाँ घरके भोजनमें गाली नहीं गायी जाती, इसीसे 'मंगल गान' कहा। (ख) 'बर भामिनि' कहकर जनाया कि ये गान स्वर, अवस्था और स्वरूप सभीमें श्रेष्ठ हैं, यथा—'जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नवसप्त सकल दुति दामिनि॥ बिधुबदनीं मृगसावक लोचनि। निज सरूप रति मानु बिमोचनि॥ गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठि लजानी॥ २९७।१-३।' (ग) 'भै सुखमूल मनोहर जामिनि' इति। रात्रिको सुखमूल और मनोहारिणी कहनेका भाव कि रात्रिमें दो अवगुण हैं—दोष और दुःख। यथा—'मिटहिं दोष दुख भवरजनी के। १। १। ७।', 'सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥ १। २४। ५।' यह रात्रि दोनों दोषोंसे रहित है। रात्रिमें दुःख है पर यह रात्रि सुखमूल है, रात्रि अशोभित होती है, यह मनोहारिणी है। इस रात्रिमें सुख पैदा हुआ, इसे 'सुखमूल' कहा। अथवा आजकी यह रात्रि सुखकी प्रथम रात्रि है, इससे सुखमूल कहा। (आगे माताओंने कहा ही है—'आजु सुफल जग जनमु हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा॥ जे दिन गए तुम्हहि बिनु देखें। ते बिरंचि जनि पारहि लेखें॥३५७।८।') [अन्धकार दोष है, उसके सम्बन्धसे 'मनोहर' कहा। 'मनोहर' विशेषणसे पूर्णिमाकी रात्रि भी सूचित होती है, क्योंकि इसमें अन्धकार बिल्कुल नहीं होता। (प्र० सं०)। आजकी रात मनोहर और सुखकी मूल हुई—यह बहुओंके आनेसे। (रा० प्र०)]

२ (क) 'अचै पान सब काहू पाए।…' इति। भोजनके अन्तमें आचमन करनेपर पान (बीड़ी) अवश्य चाहिये, इसीसे सर्वत्र भोजनके पश्चात् पानका दिया जाना लिखा है। यथा—'अचवाइ दीन्हें पान गवनें बास जहँ जाको रह्यो। ९९ छंद' 'देइ पान पूजे जनक दसरथु सहित समाज। ३२९।' तथा यहाँ 'अचै पान…' लिखा। प्रथम पान दिये फिर फूल-माला पहनायी तब चन्दन अतर सुगन्धित द्रव्य लगाये—यह क्रम सूचित किया। सुगन्ध चन्दन है, यथा—'स्रक चंदन बनितादिक भोगा। २। २१५।'।

(ख) 'रामहिं देखि…' इति। श्रीरामजीको देखकर अर्थात् हृदयमें रखकर चले। यथा—'आयेसु पाइ राखि उर रामहि। मुदित गये सब निज निज धामहि॥३५१।५' 'उर धरि रामहि सीय समेता। हरषि कीन्ह गुर गवनु निकेता॥ ३५३।३' इत्यादि। 'रजायेसु पाई'—अर्थात् राजाकी आज्ञा पाकर। बड़ेकी आज्ञाको 'रजायसु' कहते हैं ('रजायसु' शब्द 'राजा' और 'आयसु' से मिलकर बना है। अर्थात् राजाकी आज्ञा। बड़ोंकी आज्ञाके लिये भी इसका प्रयोग होता है)। बड़ेके आगे छोटेकी आज्ञा माँगकर चलें यह शोभा नहीं देता, क्योंकि यह नीतिके विरुद्ध है। (ग) 'निज निज भवन चले' इति। बारातसे लौटे हुए थके-माँदे हैं, फिर अब भोजन किया है और पाँच घड़ी रात्रि बीत गयी है, अब विश्रामका समय है। अतः 'निज निज भवन' को गये। (घ)— 'सिर नाई' इति। राजाने विप्र, गुरु और जाति-बिरादरीके लोगोंको भोजन कराया, विप्र और गुरु राजाको सिर कैसे नवायेंगे? इसका समाधान यह है कि यहाँ सिर नवाना परस्पर सब लोगोंका है। सब लोग आपसमें एक-दूसरेको प्रणाम करके गये। यह प्रणाम राजाको नहीं है। बारातियोंके सम्बन्धमें भी श्रीरामजीको देखकर राजाकी आज्ञा पाकर जाना कहा है, वहाँ भी राजाको प्रणाम करना नहीं कहा गया है, यथा—'भूपति बोलि बराती लीन्हे। जान बसन मनि भूषन दीन्हे॥ आयेसु पाइ राखि उर रामहि। मुदित गये सब निज निज धामहि॥ १। ३५१' वैसे-ही यहाँ भी समझना चाहिये। अथवा, अर्थ प्रसङ्गके अनुकूल लगा लेना चाहिये। वह इस तरह कि जातिवर्गने राजाको प्रणाम किया, गुरु और ब्राह्मणोंने नहीं। ब्राह्मणोंने परस्पर एक दूसरेको प्रणाम किया, ('सिर नवाया' सबने परंतु किसको सिर नवाया, यह कविने नहीं लिखा। प्रसङ्गके अनुकूल लगा लेना चाहिये। जैसे 'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥ २३७। १' में यदि अर्थ करें कि 'दोनों भाई हृदयमें सीताजीके सौन्दर्यकी सराहना करते हुए गये', तो यह अनर्थ होगा, अर्थ नहीं, क्योंकि प्रसङ्गके विरुद्ध है। वहाँ श्रीरामजीका ही हृदयमें सराहना अर्थ किया जायगा, पर

गुरु-समीप दोनों भाइयोंका जाना कहा जायगा । वैसे ही यहाँ श्रीरामजीको हृदयमें रखकर राजाकी आज्ञा पाकर घर जाना तो सबका कहा गया । राजाको प्रणाम केवल ज्ञातिवर्गका कहा गया) । ब्राह्मणोंके परस्पर प्रणामके वर्णनका प्रयोजन यह है कि जैसा वहाँ व्यवहार हुआ वैसा कविने लिखा ।

प्रेमु प्रमोदु बिनोदु बड़ाई । समउ समाजु मनोहरताई ॥ ४ ॥
कहि न सकहिं सत सारद सेसू । बेद बिरंचि महेस गनेसू ॥ ५ ॥
सो मैं कहौं कवन बिधि बरनी । भूमिनागु सिर धरै कि धरनी ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—भूमिनाग=केंचुआ ।

अर्थ—(उस) प्रेम, परम आनन्द, विनोद, बड़ाई, समय, समाज और मनोहरताको ।४। सैकड़ों शारदा, शेष, वेद, ब्रह्मा, महेश और गणेशजी (भी) नहीं कह सकते । ५ । (तब भला) मैं किस प्रकारसे बखानकर कहूँ ? क्या केंचुआ अथवा पृथ्वीका सर्प (भी कभी) पृथ्वीको सिरपर धारण कर सकता है ? (कदापि नहीं) । ६ ।

टिप्पणी—१ (क) प्रेम-प्रमोदका वर्णन यथा—'करहिं आरती बारहिं बारा । प्रेम प्रमोदु कहै को पारा ॥ ३४९ । १ ।' विनोद अर्थात् हास्यका वर्णन, यथा—'लोकरीति जननी करहिं बर दुलहिनि सकुचाहिं । मोदु बिनोदु बिलोकि बर रामु मनहिं मुसुकाहिं ॥ ३५० ।' बड़ाईका वर्णन, यथा—'भाग्य बिभव अवधेस कर देखि देव ब्रह्मादि । लगे सराहन सहस-मुख जानि जनम निज बादि ॥ ३१३ ।' समय-वर्णन; यथा—'समय जानि गुर आयेसु दीन्हा । पुर प्रबेस रघुकुल-मनि कीन्हा ॥ ३४७ । ७ ।' 'मंगल गान करहिं बर भामिनि । भै सुखमूल मनोहर जामिनि ॥ ३५५ । १' इत्यादि । समाज-वर्णन, यथा—'देखि समाजु मुदित रनिवासू । सबके उर अनंदु कियो बासू ॥ ३५४ । ५' इत्यादि । मनोहरताई अर्थात् शोभाका वर्णन, यथा—'अचै पान सब काहू पाए । स्रक सुगंध भूषित छबि छाए ॥ ३५५ । २' इत्यादि । (ख)—यहाँ प्रेम-प्रमोदादि सात बातें कहीं । भाव यह कि पृथ्वी सप्तद्वीपवती है, इससे सात ही कहीं । ये सब पृथ्वीरूप हैं । इन बातोंका कहना पृथ्वीका धारण करना है ।

२ 'कहि न सकहिं सत सारद सेसू ···' इति । 'सत' का अन्वय सबके साथ है । पृथ्वी धारण करनेवाले छः हैं—प्रभुकी सत्ता, कूर्म, कोल, शेष, दिग्गज और पर्वत (पर्वत भी भूको धारण करते हैं, इसीसे पर्वतका नाम भूधर है), इसीसे कहनेवाले भी छः गिनाये, पृथ्वीको धारण करनेवालोंमें मुख्य शेष हैं पर यहाँ साक्षात् पृथ्वी नहीं है और न साक्षात् धारण करना है, यहाँ तो पृथ्वीका रूपक-मात्र है, यहाँ कथन करना ही धारण करना है, इसीसे यहाँ सरस्वतीको प्रथम कहा तब शेषको, क्योंकि कहनेमें सरस्वतीजी ही मुख्य हैं । (यथा—'होहिं सहस दस सारद सेषा । करहिं कलप कोटिक भरि लेखा ॥३४२।२' 'सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान । नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान ॥ १ । १२' 'बरनहिं सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस । ७ । १२' इत्यादि कथनके सम्बन्धमें प्रायः शारदाकी ही प्रथम गणना है) ।

३ 'सो मैं कहौं कवन बिधि' इति । भाव कि वे सब देवता हैं, मैं मनुष्य हूँ, वे सौ-सौ हैं, मैं अकेला हूँ, उनके अनेक मुख हैं (वे बहुमुख हैं) मेरे एक ही मुख है (इतना सामर्थ्य होनेपर भी जब वे नहीं कह सकते तब सब प्रकारसे बलहीन मैं कैसे कह सकता हूँ ?) । इस कथनसे अपने कहनेमें बड़ी अगमता दिखायी । इसी तरह अगमतासूचक दृष्टान्त देते हैं । (ग) 'भूमिनागु सिर···' 'भूमिनागु' अर्थात् जो सर्प पृथ्वीके ऊपर रहते हैं, वे धरणीको सिरपर नहीं धारण कर सकते । 'धरनी' का भाव कि समुद्र तथा पर्वत आदि सभीका भार धारण किये हुए है, उसे भूमिनाग क्योंकर धारण कर सकता है ? ('भूमिनाग' का अर्थ कोशमें केंचुआ मिलता है । यही अर्थ हमने पूर्व संस्करणमें भी दिया था और नितान्त असमर्थता सूचित करनेके लिये यह अर्थ उत्तम भी है । हाँ, उनके सिर वैसे नहीं हैं जैसे सर्पोंके । सिरके विचारसे 'पृथ्वीका सर्प' अर्थ भी अच्छा घट जाता है । वे सब दिव्य लोकोंके रहनेवाले हैं, मैं पृथ्वीका रहनेवाला हूँ । मुं० रोशनलालने भी 'केंचुआ' अर्थ लिखा है) ।

नोट—प्रेम, प्रमोद आदि सात बातें कहीं । क्योंकि प्रधान समुद्र भी सात ही कहे गये हैं । अगाधता, अपारता आदि दरसानेमें समुद्रका उदाहरण दिया जाता है । जैसे सात बातें कहीं वैसे ही इधर सात वक्ता भी गिनाये गये—शारदा, शेष, वेद, ब्रह्मा, महेश, गणेश और 'मैं' (तुलसीदास) । (प्र० सं०) । सात 'शारदा, शेष आदि पृथ्वीके धारण करनेवाले उपर्युक्त छः समर्थ लोग हैं और मैं (तुलसीदास) केंचुओंके समान हूँ ।

नृप सब भाँति सबहि सनमानी। कहि मृदु बचन बोलाई रानी ॥ ७ ॥
बधू लरिकनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं ॥ ८ ॥

दो०—लरिका श्रमित उनीद बस सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिश्रामगृह रामचरन चितु लाइ ॥३५५॥

अर्थ—राजाने सब तरह सबका आदर-सत्कारकर कोमल वचन कह रानीको बुलाया। ७। बहुएँ—लड़कियाँ पराये घर आयी हैं, इन्हें नेत्र और पलकके सदृश रखना। ८। लड़के थके हुए नींदके वश हैं, इन्हें जाकर सुलाओ—ऐसा कहकर राजा श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें चित्तको लगाकर विश्रामगृह (आरामगाह, शयनागार) में गये ॥ ३५५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नृप सब भाँति सबहि सनमानी' इति 'अचै पान सब काहू पाए। स्रग-सुगंध भूषित छबि छाए। चौ० २।' पर प्रसङ्ग छोड़ा था, अब वहींसे प्रसङ्ग फिर उठाते हैं। भोजन कराया, पानकी बीड़ी सबको दी, फूल-माला पहनायी, चन्दन-अतर लगाया, यह सब सम्मान राजाने किया। 'बोलाई रानी' इस कथनसे पाया गया कि जब राजा इधर सबके सम्मानमें लगे तब रानियाँ सब भीतर चली गयी थीं, इसीसे उनको बुलाना पड़ा। (ख) [पंजाबीजी 'कहि मृदु बचन' का भाव यह लिखते हैं कि उत्तम पुरुषोंकी रीति ही है 'मृदु बोलना' अथवा राजा इस समय बड़े ही आनन्दको प्राप्त हैं, अतः मृदु बोले, जिसमें वे सब अधिक प्रसन्न हों। अथवा ये सब ऐसे रत्न (रूप) पुत्रोंकी जननी हैं अतः मृदु वचन कहे। अथवा पुत्रोंको शिक्षा हो कि वे भी अपनी-अपनी स्त्रियोंसे मृदु बोलें, इस विचारसे कोमल बोले। अथवा रानियोंको शिक्षा देनेके लिये कि वे सब दुलहिनोंसे इसी तरह मृदु बोला करें।]

२ 'बधू लरिकनी पर घर आईं।…' इति। (क) यहाँ बहुओंके सकुचानेके कारण प्रथम ही कहते हैं कि एक तो वे वधू हैं, नववधू ससुरालमें पहले-पहल आती है तब अत्यन्त सकुचाती हैं, फिर वे अभी बहुत छोटी हैं; किसीको पहचानती नहीं है, बच्चे अनचीन्हे-से बहुत सकुचाते हैं, उसपर भी वे पराये घरमें आयी हैं, दूसरेके घरमें विशेष संकोच होता ही है, कुछ कह नहीं सकतीं। यह समझाकर तब कहते हैं कि 'राखेहु नयन पलककी नाईं।' अर्थात् जैसे पलक नेत्रोंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम इनकी रक्षा करना, (इनको कोई कष्ट न होने पावे)। (ख) 'राखेहु नयन पलक की नाईं' यह वचन अयोध्याकाण्डमें चरितार्थ किया है, यथा—'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहि लाई। २। ५९।' सोतेमें पलकें नेत्रोंको छिपा लेती हैं, वैसे ही सोते समय माताएँ (रानियाँ) बहुओंको गोदमें छिपा लेती हैं। ☞ यथा—'सुंदर बधू सासु लै सोईं। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोईं। ३५८। ४।' इस प्रकार राजाने जो आज्ञा रानियोंको दी उसका उन्होंने पूर्णरूपेण पालन किया।

३ 'लरिका श्रमित उनीद बस सयन करावहु…' इति। (क) 'श्रमित' हैं अर्थात् सवारीपर बैठे-बैठे बहुत समय बीता है, इससे थक गये हैं। 'उनीद बस' अर्थात् मार्गमें बिलकुल निद्रा नहीं हुई, अथवा ठीकसे सो न सके, इससे निद्रा लगी है। ('सयन करावहु जाइ' से जनाया कि शयनागार दूसरी जगह है, रनवासमें जहाँ सोनेका स्थान है वहाँ जाकर सुलाओ। 'जाइ' से जनाया कि केवल रानियाँ ही यहाँ आयी थीं, बहुएँ और चारों भाई साथमें नहीं हैं, नहीं तो कहते कि इनको ले जाकर शयन कराओ)। पुनः 'करावहु जाइ' से सूचित किया कि तुम स्वयं जाकर शयन कराओ, यह काम दास-दासियोंपर न छोड़ देना। (ख) 'अस कहि गे बिश्रामगृह' ऐसा रानियोंसे कहकर विश्रामघरमें गये। इस कथनका आशय यह है कि यदि ऐसा कहकर न जाते तो राजाको विश्रामघरमें भी विश्राम न मिलता। लड़कोंमें बराबर चित्त लगा रहता, चिन्ता लगी रहती कि हमने सबको विश्राम करानेके लिये कहा नहीं, न जाने अभी सोये हों या न सोये हों। (ग) 'रामचरन चितु लाइ' इति। श्रीरामजीके चरणोंमें चित्त लगाना 'ऐश्वर्य-भाव' है और 'लरिका श्रमित उनीद बस' यह कथन माधुर्यमें है। ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों इकट्ठे कैसे हुए? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि मनु-शरीरमें राजाने वरदान माँगा था कि ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों इकट्ठे रहें, यथा—'सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ। १५१। ५ 'एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ।' सुत-भावसे प्रीति होना माधुर्य है और चरणमें रति होना ऐश्वर्य है, यही माधुर्य-ऐश्वर्यका इकट्ठे होना है। [उस वरदानके अनुसार ही यहाँ प्रथम 'लरिका श्रमित…जाइ' यह सुतभावका प्रेम माधुर्यमें दिखाया और

'राम चरन चितु लाइ'। यह चरण-रति ऐश्वर्य भावमें है। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि राजा दिनमें तो माधुर्यरसमें भीगे रहते हैं और सोते समय हृदयमें चरणोंका ध्यान धारण करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि यह पद जनाता है कि यद्यपि राजा वात्सल्यरसमें डूबे हैं तथापि शान्तरस लिये हैं। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि इसमें भी माधुर्य भक्ति भावना ही है। जो कोई ऐश्वर्यभावसे चिन्तन-ध्यान करेगा उसको कोई सज्जन मूढ़ नहीं कह सकता। हाँ, जो पुत्रका, धनका, स्त्रीका ध्यान करता है, वही सज्जनोंकी दृष्टिमें मूढ़ है। दशरथजीके हृदयमें श्रीरामजीके विषयमें ऐश्वर्य भाव तो क्षणभङ्गुररूपसे ही एक-दो बार पैदा हो गया है।]

भूप बचन सुनि सहज सुहाए। जरित कनक मनि पलँग डसाए॥ १॥
सुभग सुरभि पयफेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना॥ २॥
उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनि मंदिर माहीं॥ ३॥
रतनदीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनै जान जेहि जोवा॥ ४॥

अर्थ—राजाके स्वाभाविक ही सुन्दर वचन सुनकर रानियोंने मणिजटित स्वर्णके पलंग बिछाये। १। सुन्दर गऊके दूधके फेनके समान अनेक कोमल सुन्दर बढ़िया सफेद चादरें (तोशकें अर्थात् गुदगुदे बिछौने और उनके ऊपर चादरें) बिछायीं। २। तकिये बहुत बढ़ियाँ हैं, उनका वर्णन नहीं हो सकता। मणिके महलमें फूलोंकी मालाएँ (टँगी हुई हैं) और (अनेक प्रकारके) सुगन्धित द्रव्य हैं (अर्थात् सजाये हुए रक्खे हैं, भीनी-भीनी सुगन्ध आ रही है)। रत्नोंके दीपक और अत्यन्त सुन्दर चँदोवे हैं। कहते नहीं बनता, जिसने देखा है वही जानता है (पर कह वह भी नहीं सकता)॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'भूप बचन सुनि सहज सुहाए···' इति। (क) 'सहज सुहाए' कहनेका भाव कि राजाके वचन स्वाभाविक ही मधुर हैं, उसपर भी मधुर वचनोंमें बातें भी सुन्दर कही गयीं कि 'बधू लरिकनी···सयन करावहु जाइ।' बहुओंसमेत चारों भाइयोंको आराम (विश्राम एवं सुख) देनेकी बात इन वचनोंमें कही गयी; अतः वचनोंको 'सहज सुहाए' कहा। (ख) 'सहज सुहाए' देहलीदीपकन्यायसे 'वचन' और 'पलंग' दोनोंका विशेषण है। 'सुहाए' बहुवचन है, यथा—'कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए।३।३८।' 'नाना तरु फल फूल सुहाए' 'कंद मूल फल पत्र सुहाए। भए बहुत जब ते प्रभु आए।४।१३।' 'बरषा काल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए।४।१३।' 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए। ३। १।' 'सुहावा' एकवचन है, यथा—'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। २३७। ७।' 'सिंघासनु अति दिव्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा। १००। ३।' 'यह प्रभुचरित पवित्र सुहावा। ७। ५५। १।' 'देखहु तात बसंत सुहावा। ३। ३७।' इत्यादि। बहुवचन विशेषण देकर जनाया कि चारों भाइयोंके अलग-अलग चार पलँग बिछाये। (ग) 'कनक जरित मनि' अर्थात् सोनेका पलँग है, उसपर मणि जड़े हुए हैं। सोनेपर मणिकी पचीकारी होती है, यथा—'जातरूप मनि रचित अटारीं। ७। २७।' 'कनक कोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना। ५। ३।' (घ) वचन सुनकर पलँग बिछाये अर्थात् पतिके वचनका प्रतिपालन किया। (ङ) ['डसाए' दीप-देहरी-न्यायसे अगली अर्धालीके साथ भी है।]

२ 'सुभग सुरभि पयफेन समाना।···' इति। (क) 'सुरभि पयफेन' सुरभीके दूधके फेनमें सुगन्ध है। सुगन्ध कहनेके लिये गऊको 'सुरभि' कहा। और 'सुरभि' सुगन्धको भी कहते हैं, यथा—'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। १। ३२८ देखिये। सुरभीका पयफेन सुगन्धयुक्त, सुन्दर, कोमल और शुक्ल वर्ण है, वैसे ही 'सुपेती भी सर्वगुण युक्त हैं' [भा० ७।४।१० में भी इन्द्रभवनमें शय्याको पयफेनके सदृश कहा है, यथा—'पयःफेननिभाः शय्याः।' और ओढ़नेके वस्त्रोंमें मोतियोंकी लड़ियाँ लगी हुई कही गयी हैं 'मुक्तादामपरिच्छदाः।' 'सुपेती' में ओढ़नेकी भी चादरें आ जाती हैं। और 'सुभग' में मुक्तादामयुक्तका भाव आ जाता है। 'सुभग' से ऐश्वर्ययुक्त अर्थात् बहुमूल्य भी जनाया] (ख) 'नाना'=बहुत। 'सुपेती' बिछौनेको अत्यन्त कोमल बनानेके लिये बिछाई गयीं।

३ 'उपबरहन बर···' इति। (क) तकिये श्रेष्ठ हैं। जैसे 'सुपेती' दूधके फेनके समान कोमल, सुन्दर और उज्ज्वल हैं, वैसे ही सब तकिये हैं, यथा—'बिबिध बसन उपधान तुराई। छीरफेनु मृदु बिसद सुहाई॥ २। ९१॥' (ख) 'स्रग सुगंध···' इति। यहाँ 'सुगंध' से अतर, गुलाब, केवड़ा आदि सब सुगन्धित द्रव्योंका वहाँ रक्खे होना सूचित किया, क्योंकि

यहाँ किसीके अङ्गमें लगाना नहीं है। (कमरा इन सुगन्धोंसे महक रहा है। भीनी-भीनी, मन और मस्तिष्कको सुख देने, प्रसन्न करनेवाली सुगन्ध कमरेमें फैली हुई है)। 'अचै पान सब काहू पाए। स्रग सुगंध भूषित छबि छाए॥ ३५५। २॥' में सुगन्धसे 'चन्दन' का ग्रहण है, क्योंकि ब्राह्मण (आदि) के अङ्गमें लगानेको है। भोजनके अन्तमें चन्दन लगाकर फूल माला पहनानेकी विधि है। बहुत अतर-तेल है, ब्राह्मण लोग तेलका स्पर्श नहीं करते। (समयानुकूल खस, गुलाब, हिना, केवड़ा, आदिका अतर लगाया जाता है। इसलिये मैंने वहाँपर 'अतर' अर्थ भी दिया है और ठीक समझता भी हूँ)।

४ 'रतन दीप सुठि चारु चँदोवा''।' इति। (क) 'रतन दीप' कहनेसे सूचित होता है कि जिन मणियोंसे मन्दिर बना है उनसे 'रत्न दीप' वाली मणि बहुत विशेष है, क्योंकि यदि ये विशेष न होतीं तो मणियोंके मन्दिरमें मणियोंके दीपक रखनेका काम ही क्या था। (ख) 'सुठि चारु' का भाव कि सुन्दर तो सभी वस्तुएँ हैं पर चँदोवा अत्यन्त सुन्दर है। 'कहत न बनै' इस अपने कथनको ग्रन्थकारने सिद्ध रक्खा, इसीसे चँदोवेका रङ्ग, बनाव, लम्बाई-चौड़ाई कुछ भी न कही, न यही कहा कि किस वस्तुका या किस वस्त्रका बना है, उसमें कैसे मणि-माणिक्य लगे हैं। (ग) 'जान जेहि जोवा' इति। भाव कि वसिष्ठ, वामदेव आदि मुनीश्वरोंने देखा है, महादेवजी और भुशुण्डिजीने देखा है, सो वे भी नहीं कह सके, उनके ग्रन्थोंमें भी 'चँदोवा' का वर्णन नहीं है, तब मैं कहाँसे एवं क्योंकर वर्णन करूँ।

प० प० प्र—१ 'मंदिर' शब्द इसलिये प्रयुक्त हुआ कि कौसल्याजीके इस भवनमें श्रीरामजी हैं। जिस कमरेमें रुचिर शय्या रची गयी है उसमें शय्या रचते समय माता कौसल्या विविध प्रकारसे श्रीरामजीका चिन्तन करती हुई शय्याकी रचना करती हैं (यह सूचित करनेके लिये इसे 'मन्दिर' कहा गया)। २ 'जान जेहि जोवा' इति। मिलान कीजिये, यथा—'भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥ मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥ सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास। पलँग मंजु मनिदीप जहँ सब बिधि सकल सुपास॥ २। ९०॥' 'बिबिध बसन उपधान तुराईं। छीरफेन मृदु बिसद सुहाईं॥ तहँ सिय राम सयन निसि करहीं।' (इसमें मन्दिर शब्द नहीं है क्योंकि इस समय श्रीरामजी वहाँ नहीं हैं)।

> सेज रुचिर रचि रामु उठाए। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाए॥ ५॥
> अग्या पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही॥ ६॥
> देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥ ७॥
> मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥ ८॥

दो०—घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु॥ ३५६॥

अर्थ—(इस प्रकार) शय्या सजाकर (माताओंने) श्रीरामजीको उठाया और प्रेमसहित (उनको) पलँगपर लिटाया॥ ५॥ (श्रीरामजीने) भाइयोंको बारंबार आज्ञा दी (तब) उन्होंने अपनी-अपनी शय्यापर शयन किया॥ ६॥ साँवले, कोमल और सुन्दर अङ्गोंको देखकर सब माताएँ प्रेमसहित वचन कह रही हैं॥ ७॥ हे तात! मार्गमें जाते हुए (तुमने) भारी भयावनी ताड़काको किस प्रकार मारा?॥ ८॥ दुष्ट मारीच और सुबाहु घोर निशाचरोंको, जो बड़े ही विकट योद्धा थे और जो संग्राममें किसीको कुछ नहीं गिनते थे, सहायकोंसहित कैसे मारा?॥ ३५६॥

टिप्पणी—१ (क) 'सेज रुचिर रचि''' इति। प्रथम रुचिर सेजकी रचना कहा—'जरित कनकमनि पलँग डसाए' से 'उपबरहन बर बरनि न जाहीं' तक। बीचमें मन्दिर, रत्नदीप, चँदोवा आदिका वर्णन करने लगे थे, अब फिर वहींसे कहते हैं। नाना प्रकारकी सुन्दर कोमल सुगन्धयुक्त तोसकें, चादरें, बिछायी गयीं, तकिये सिराहने एवं दोनों बगल दाहिने-बायें रक्खे गये, पुष्पोंकी मालाएँ लटकायी गयी हैं, इत्यादि; यह सेजकी रचना है जो पूर्व कह आये। सेज एक तो स्वयं ही 'रुचिर' (सुन्दर) है, उसपर भी रचकर सजायी गयी है। अतः 'रुचिर रचि' कहा। 'राम उठाए। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाए'—अर्थात् श्रीरामजीको उठाकर पलँगके पास लिवा लायीं। 'प्रेम समेत' अर्थात् हाथ फेरकर मुँह पोंछकर बहुत धीरेसे पलँगपर लिटाया।

२ 'आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही'...' इति । (क) 'पुनि पुनि' आज्ञा देनेका भाव यह है कि तीनों भाइयोंका श्रीरामजीमें ऐसा प्रेम है कि वे इनका संग नहीं छोड़ सकते । पुनः भाव कि सब भाई इस आशामें खड़े हुए हैं कि आज्ञा हो तो हम चरणसेवा करें । (जनकपुरमें चरणसेवा दिखा आये हैं, यथा—'रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥ चापत चरन लखन उर लाए । सभय सप्रेम परम सचु पाए ॥ पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता । १ । २२६ ।' वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये) । श्रीरामजीके पाससे जाते नहीं, यह भाइयोंका प्रेम है और श्रीरामजी उनको बार-बार शयन करनेको आज्ञा देते हैं, यह श्रीरामजीका भाइयोंमें प्रेम दिखाया । (ख) 'निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही' इति । इससे सूचित हुआ कि जब श्रीरामजीकी शय्या सजायी गयी, उसी समय साथ-साथ सब भाइयोंकी शय्याएँ भी सजायी गयी थीं । यदि श्रीरामजीकी तरह तीनों भाइयोंको उठाकर माताएँ सेजपर लिटातीं तो स्वामी-सेवक भावकी सुन्दरता न रह जाती, इसीसे श्रीरामजीकी आज्ञासे सोना कहा । (यह प्राचीन हिंदू-संस्कृति है) । 'निज निज सेज' का भाव कि बड़े भाईकी सेजपर छोटा भाई नहीं बैठता और न छोटे भाईकी सेजपर बड़ा भाई बैठे, इसीसे सब भाइयोंकी शय्या पृथक्-पृथक् है ।

३ 'देखि स्याम मृदु'...' इति । (क) 'श्याम' से शरीरके वर्णनकी शोभा कही, यथा—'श्याम सरीर सुभाय सुहावन । सोभा कोटि मनोज लजावन ॥ ३२७ । १ ॥' 'मंजुल गात' से अङ्गोंकी शोभा कही कि सब अङ्ग लक्षणयुक्त हैं । ('मृदु' से सुकुमारता कही) । 'देखि स्याम'...' कहनेका भाव कि सुन्दर शरीर सुन्दर अङ्ग देखने ही योग्य हैं, मृदु हैं अर्थात् राक्षसोंसे युद्ध करनेयोग्य नहीं हैं । (ये तो ऐसे हैं कि बस इन्हें देखा ही करे) श्याम मृदु सुन्दर अङ्गोंको देखकर वचन कहनेका भाव कि ऐसे अङ्गोंसे घोर निशाचरोंको कैसे मारा । यथा—'कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि । चितवति कृपासिंधु रनधीरहि ॥ हृदय बिचारति बारहिं बारा । कवन भाँति लंकापति मारा ॥ अति सुकुमार जुगल मेरे बारे । निसिचर सुभट महाबल भारे ॥ ७ । ७ ॥' (ख) 'कहहिं सप्रेम बचन सब माता' इति । सब माताओंको श्रीरामजीमें एक-सा प्रेम है, इसीसे सब प्रेमसे पूछती हैं ।

४ (क) 'मारग जात' का भाव कि ऐसी घोर राक्षसीको रास्ता चलते-चलते मार डाला, कुछ परिश्रम न हुआ । (ख) 'भयावनि भारी' अर्थात् जिसके देखनेहीसे भय होता था और जो पर्वताकार थी । अथवा अत्यन्त भयावनी थी । (ग) 'केहि बिधि' कहनेका भाव कि मारनेकी कोई भी विधि देख नहीं पड़ती । अर्थात् तुम मनुष्य हो वह राक्षसी । तुम छोटे हो वह भारी । तुम कोमल हो वह कठोर और तुम सुन्दर हो वह भयावनी, इत्यादि कोई भी विधि उसके मारनेकी नहीं समझ पड़ती । [(घ) इसकी भयावनता वाल्मीकीयमें इस प्रकार वर्णित है, यथा—(' तां दृष्ट्वा राघवः) क्रुद्धो विकृतां विकृताननाम् । प्रमाणेनाति वृद्धां (च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत । १ । २६ । ९ । पश्य लक्ष्मण) यक्षिण्या भैरवं दारुणं वपुः । भिद्येरन्दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च ॥ १० ।'...' अर्थात् उसका स्वरूप भयानक था, मुँह तो और भी अधिक भयावना था । प्रमाणसे भी उसका शरीर बहुत बड़ा था । उसको देखते ही भीरु पुरुषोंका हृदय काँप जाता था ।

५ 'घोर निसाचर'...' इति । (क) 'घोर निसाचर' कहकर स्वरूपसे भयदायक और 'विकट भट' से पुरुषार्थमें कराल जनाया । विकट हैं इसीसे 'समर गनहिं नहिं काहु' । 'खल' हैं अर्थात् सुरमुनिद्रोही हैं, यथा—'सुनि मारीच निसाचर कोही । लै सहाय धावा मुनिद्रोही । २१० । ३ ।' (ख) मारीच और सुबाहु भट थे, संग्रामके अभिमानी थे, भयानक थे और खल थे अर्थात् छलसे युद्ध करते थे और सहाय (सेना) सहित थे और तुम दोनों भाई सुकुमार हो, कभी किसीसे युद्ध नहीं किया, सुन्दर और सरल स्वभावके हो, छल-प्रपञ्च जानते नहीं । तब तुमने उनको कैसे मारा ?

मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी । ईस अनेक करवरैं टारी ॥ १ ॥
मख रखवारी* करि दुहुँ भाई । गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई ॥ २ ॥
मुनितिय तरी लगत पग धूरी । कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥ ३ ॥
कमठ पीठि पबि कूट कठोरा । नृप समाजु महुँ सिवधनु तोरा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—करवरैं=अरिष्ट बाधाएँ, बलाएँ, कठिनाइयाँ, जानजोखिम । कूट=पर्वत ।

अर्थ—हे तात ! मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, बलैया लेती हूँ । मुनिकी कृपासे श्रीमहादेवजीने अनेक बलायें टालीं

* रखवारि करी—छ० ।

हैं ॥ १ ॥ दोनों भाइयोंने यज्ञकी रक्षा करके गुरुदेवजीकी कृपासे सब विद्या पायी ॥ २ ॥ (गौतम) मुनिकी स्त्री अहल्या चरणोंकी धूलि लगते ही तर गयी । ब्रह्माण्डमें कीर्ति पूर्ण भर रही है ॥ ३ ॥ कच्छप भगवान्‌की पीठ, वज्र और पर्वतसे भी कठोर शिवधनुषको तुमने राजसमाज (के बीच) में तोड़ा ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'मुनि प्रसाद बलि…' इति । (क) 'मुनि प्रसाद' का भाव कि मुनिकी कृपा होनेसे महादेवजी कृपा करते हैं, यथा —'सीय स्वयंबर देखिअ जाई । ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥ लखन कहा जस भाजनु सोई । नाथ कृपा तव जापर होई ॥ १ । २४० ।' [इसी तरह श्रीजनकजीने धनुर्भंगका और श्रीदशरथजीने सर्व पराक्रमोंका श्रेय विश्वामित्रजीको दिया है । यहाँपर परमावधिका मर्यादापालन और माधुर्यभावकी चरमसीमा बतायी है । (प० प० प्र०)] (ख) 'बलि तात तुम्हारी'—भाव कि तुम्हारे ऊपर मुनिकी कृपा है तथा श्रीशिवजीकी कृपा है, मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ । जैसे मुनिकी तथा शिवजीकी कृपाने तुम्हारी करवरें टाली, वैसे ही मैं तुम्हारी बलाएँ हरती हूँ । 'तुम्हारी' देहलीदीपक है । 'तुम्हारी बलिहारी', 'तुम्हारी अनेक करवरें ईश टारी' । (ग) 'ईस करवरें टारी'—भाव कि ईशकी कृपासे करवरें टलती हैं । महादेवजी मृत्युञ्जय हैं । राक्षसोंसे युद्ध करना 'करवर' है । (घ) 'अनेक करवरें'—भाव कि ताड़कासे बचे; मारीचसे बचे; सुबाहुसे बचे; उनकी सेनासे बचे— ये सब अनेक प्रकारकी करवरें हैं । मृत्युसे बचना करवरका टलना है । [जो उत्तर श्रीरामजी देते वही वे स्वयं ही दे रही हैं]

२ 'मख रखवारी करि दुहुँ भाई ।…' इति । अर्थात् गुरुके यज्ञकी रक्षा करके अपनी सेवासे उनको प्रसन्नकर विद्या प्राप्त की । यहाँ 'सब विद्या' की प्राप्तिका हेतु गुरुप्रसाद और गुरुप्रसादका हेतु यज्ञरक्षा बताते हैं । परंतु श्रीरामजी तो सब विद्या प्रथम ही प्राप्त कर चुके थे और यहाँ कहते हैं कि यज्ञरक्षाके पश्चात् सब विद्या पायी ? कल्पभेदसे दोनों बातें हो सकती हैं । मुनियोंके रामायणोंमें दोनों लिखी हैं; इसीसे गोस्वामीजी दोनों लिखते हैं । [यहाँ जो सब विद्या पाना लिखते हैं वह बला, अतिबला आदि विद्याएँ हैं जिनका उल्लेख २०९, ७-८ में किया गया है और जिसका विस्तृत वर्णन वाल्मीकीयमें है । गोस्वामीजीने लिखा है—'बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही । जाते लाग न छुधा पिपासा ॥ अतुलित बल तनु तेज प्रकासा ॥' वही यहाँकी 'सब विद्या' है । क्रमभङ्गका समाधान यों भी कर सकते हैं कि मखरक्षाका श्रीगणेश ताड़कावधसे हुआ । इससे भी 'मख रखवारी करि' कहा जा सकता है; क्योंकि ताड़कावधपर ही इन्द्रादि देवताओंने प्रसन्न होकर विश्वामित्रजीसे इनको पारितोषिक देनेको कहा है और मुनि भी ताड़कावधसे बहुत प्रसन्न हुए थे, यथा—'तोषिताः कर्मणानेन स्नेहं दर्शय राघवे । वाल्मी० १ । २६ । २९ ।' 'ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावधतोषितः ॥ ३२ ॥'' मानसमें भी मुनिकी प्रसन्नता ताड़कावधपर 'तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही' इन शब्दोंसे सूचित की गयी है । अथवा, माताएँ प्रेममें मग्न हैं, जैसे-जैसे श्रीरामजीके चरित याद आते हैं उन्हें कहती जाती हैं । पुनः, मखरक्षा श्रीरामजीका चरित है, इससे उसे गा रही हैं, यह मुख्य है, विद्या पाना और गुरुप्रसाद गौण है । यह भी क्रमभङ्गका कारण हो सकता है ।]

३ 'मुनितिय तरी…' इति । (क) 'लगत पग धूरी'—भाव यह कि पदरज लगनेसे कुछ दिनके पश्चात् वह कृतार्थ होती, यह बात नहीं है, धूलिका स्पर्श होते ही वह कृतार्थ हो गयी । यहाँ चरणका स्पर्श कराना नहीं कहतीं, क्योंकि श्रीरामजीको चरण स्पर्श करानेका पछतावा हुआ है (जैसा विनयके 'सिला पाप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ । दई सुगति सो न हेरयु हिय चरन छुए को पछिताउ ॥ १०० ।' इसीसे पदकी धूलिका लगना कहती हैं । अहल्याने चरणका सिरपर धरना कहा है, यथा—'सोइ पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी । २११ छन्द ।') । (ख) 'कीरति रही भुवन भरि पूरी'—'ब्रह्माण्डमें भरकर पूरि रही' (भरपूर छायी हुई है) । भाव यह कि अब नष्ट न होगी । इस कथनसे सूचित करते हैं कि तुम्हारी कीर्ति (यश) रूपी चन्द्रमाका जगत्‌में उदय हुआ है, अब यह अस्त नहीं होगा । यथा—'नव बिधु बिमल तात जसु तोरा । रघुबर किंकर कुमुद चकोरा ॥ उदित सदा अथइहि कबहूँ ना । घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना । २ । २०९ ।' (यह श्रीभरतजीके सम्बन्धमें कहा है ।)

४ 'कमठ पीठि पबि कूट कठोरा ।…' इति । (क) यहाँ तीन प्रकारकी कठोरता कही—कमठ, पीठ, पवि और कूट । कमठ-पीठसे पातालकी कठोरता, पवि (वज्र) से स्वर्गकी कठोरता और कूट (पर्वत) से मर्त्यलोककी कठोरता कही। इस प्रकार शिवजीके धनुषमें तीनों लोकोंकी कठोरता दिखायी । भाव यह कि तीनों लोकोंमें ये तीन कठोरताकी अवधि (सीमा) है, सो ये तीनों मिलकर भी धनुषकी कठोरताको नहीं पाते । [कोई-कोई 'पविकूट' को एक शब्द मानकर उसका अर्थ

'वज्र समूह' करते हैं। परंतु गीतावलीके 'पन पिनाक पबि मेरु ते गुरुता कठिनाई। १। १०१।' से 'कूट' का अर्थ यहाँ 'पर्वत' ही सिद्ध होता है। पुनः यहाँ उत्तरोत्तर एकसे दूसरेकी विशेष कठोरता दिखाती हैं। पर्वतसे वज्र अधिक कठोर है और वज्रसे कमठपीठ अधिक कठोर है। कच्छपभगवान्‌की पीठ सबसे कठोर है सो न सही, तो वज्र-समान ही सही, यह भी नहीं तो पर्वत-समान ही सही, तब भी तो कठोर है और तुम अत्यन्त सुकुमार हो। (प्र० सं०)। यह भी भाव कह सकते हैं कि पातालके राजाओंने इसे कमठपीठसे अधिक, स्वर्गवाले राजाओंने पविसे और पृथ्वीवालोंने पर्वतसे अधिक कठोर पाया जिसका जिसको अनुभव था। (ग) बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि कमठपीठ, पवि और कूटके समान कठोर कहनेमें भाव यह है कि 'धनुष नवानेमें कमठकी पीठके समान कठिन था। सो उसके दोनों गोशे नवाकर धनुषको नभमण्डलसम कर दिया। तोड़नेमें वह इन्द्रके वज्रके समान कठोर था, उसे तुमने तृणवत् शीघ्र ही तोड़ डाला। और, उठानेमें मन्दराचल आदि पर्वतोंके समान भारी था, उसे तुमने तिलके समान उठा लिया।' प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि 'कमठपीठ' से दुर्भेद्य और विशाल, पविसे कठोर और तीक्ष्ण और कूटसे मेरु पर्वतके समान विशाल और भारी जनाया। यथा—'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा', 'मनहु पाइ भट बाहुबल अधिक अधिक गरुआइ'।] (घ) 'नृप समाज महुँ शिव धनु तोरा' इति। भाव कि सब राजाओंका गर्व दूर करके धनुषको तोड़ा, कोई राजा इसको तोड़ न सका तब तुमने तोड़ा। यथा—'संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरिआरा। २९२। ५।'

बिश्व बिजय जसु जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥ ५॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौशिक कृपा सुधारे॥ ६॥
आजु सुफल जग जनमु हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा॥ ७॥
जे दिन गए तुम्हहि बिनु देखे। ते बिरंचि जनि पारहिं लेखे॥ ८॥

दो०—राम प्रतोषीं मातु सब कहि बिनीत बर बयन।
सुमिरि संभु गुरु बिप्र पद किये नींद बस नयन॥३५७॥

अर्थ—विश्वकी विजय, यश (कीर्ति) और जानकी पायी। सब भाइयोंको व्याहकर घर आये। तुम्हारे सभी कर्म अमानुष हैं (अर्थात् मनुष्योंकेसे नहीं हैं, मनुष्योंसे होने योग्य नहीं हैं)। केवल विश्वामित्रजीकी कृपाने सुधारा है। ६। हे तात! आज तुम्हारा चन्द्रवदन देखकर संसारमें हमारा जन्म सफल हुआ। ७। जो दिन तुम्हारे दर्शनोंके बिना बीते ब्रह्मा उनको लेखेमें न लावें, उनकी गणना आयुमें न करें। ८। श्रीरामजीने बहुत ही नम्र श्रेष्ठ वचन कहकर सब माताओंका संतोष किया और शम्भु-गुरु-विप्रके चरणोंका स्मरण करके नेत्रोंको नींदके वश किया। ३५७।

टिप्पणी—१ 'बिश्व बिजय जसु···' इति। (क) 'विश्वविजय, यश और जानकी पायी' कहनेका भाव यह है कि तीनोंकी प्राप्ति दुर्लभ है। यथा—'कुअँरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय। पावनहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय। २५१ [।' गीतावलीमें भी यह तीनों बातें कही गयी हैं, यथा—'भंजि सरासन संभुको जग जय कल कीरति, तिय तियमनि सिय पाई। १। १०१। ४।' श्रीजानकीजीके सम्बन्धमें श्रीहनुमान्‌जीके विचार ये हैं कि यदि त्रैलोक्यके राज्य और श्रीजनकनन्दिनीजीकी तुलना की जाय तो वह श्रीसीताजीकी एक कलाके बराबर भी तो नहीं हो सकता। यथा—'राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा। त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीतया नाप्नुयात्कलाम्॥ वाल्मी० ५। १६। १४।' रा० प्र०—कार 'बिश्वविजय जसु' का अर्थ—'विश्वविजयरूप यश अर्थात् जो परशुरामजी सबसे जीते थे सो भी हार गये', वा जो धनुष किसीसे न टूटा उसे तोड़ डाला यह यश, वा 'विश्वभरके विजयका यश'—ऐसा करते हैं। (ख)—'विश्वविजय' कहकर यह भी जनाया कि तीनों लोकोंमें इसकी कठोरता प्रसिद्ध है। विश्वभर (अर्थात् तीनों लोकों) के देवता, दैत्य, मनुष्य यहाँ एकत्र हुए थे, सबका 'जस प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहिं संग सिधाई', वह सब इनको प्राप्त हुआ] (ग)—यहाँतक श्रीरामजीकी वीरता, प्रताप, बल और बड़ाई सब कहे हैं। यथा—'घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु। मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु। ३५६'—यह वीरता है। 'मुनितिय तरी लगत पग धूरी' यह प्रताप है। 'कमठ पीठि पबि कूट कठोरा। नृप समाजु महुँ शिवधनु तोरा।'—यह बल है। और 'बिश्वबिजय जसु जानकि

पाई'—यह बड़ाई है। (घ) श्रीरामजीके सब कर्म और उनका फल कहती हैं। 'मख रखवारी करि दुहुँ भाई' यह कर्म कहकर उसका फल 'गुरु प्रसाद सब बिद्या पाई' कहा। 'मुनि तिय तरी लगत पग धूरी' इस कर्मका फल 'कीरति रही भुवन भरि पूरी' कहा। और 'कमठ पीठि पबि कूट कठोरा। नृप समाज महुँ सिव धनु तोरा।' इस कर्मका फल 'बिस्व-विजय जसु जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई।'

२ 'सकल अमानुष करम तुम्हारे।···' इति। (क) 'सकल'—जहाँसे कहना प्रारम्भ किया वहाँ (अर्थात् 'मारग जात भयावनि' से लेकर 'बिस्वबिजय जसु जानकि पाई' तक) जितने कर्म कहे वे सब कर्म अमानुष हैं। यथा—'जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खर दूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड। ३२५।' (ख) 'केवल कृपा' का भाव कि (जहाँ) कृपा होती है। (वहाँ) कुछ पुरुषार्थ भी होता है, परंतु यहाँ केवल मुनिकी कृपासे सब हुआ, बच्चोंमें पुरुषार्थ कहाँ। (ग) [परशुरामजीका गर्व चूर्ण करना भी दूतोंने कहा ही था—'करि बहु बिनय गवनु बन कीन्हा। २९३। १-२'; परंतु यहाँ] माताएँ परशुरामको जीतनेकी बात नहीं कहतीं, क्योंकि श्रीरामजी ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणको जीतनेकी बात कहतीं तो उनको अच्छा न लगता, यह माता जानती हैं; इसीसे उन्होंने और सब चरित कहे पर इसको न कहा, परशुरामजीको जीतनेकी बात श्रीरामजीसे किसीने नहीं कही। औरोंसे कही है। [गीतावलीमें माताओंने कहा है, यथा—'कहौ धौं तात! क्यों जीति सकल नृप बरी है बिदेह कुमारी। दुसह रोष मूरति भृगुपति अति नृपति निकर खयकारी। क्यौं सौंप्यो सारंग हारि हियँ करी है बहुत मनुहारी। १। १०७।' मानसमें मर्यादाका पूर्ण विचार रक्खा गया है। क्योंकि इसमें साकेतविहारीका अवतार है)। प० प० प्र० जी 'अमानुष' का अर्थ 'अतिमानुष्य' करते हैं और इसी तरह 'असंका' का अर्थ 'अति शंका' करते हैं।]

३ 'आजु सुफल जग जनमु ···' इति। 'आजु सुफल' कहनेका भाव कि अनेक संकटोंसे तुम बचकर आज घर आये। आज तुम्हारा मुखचन्द्र देखनेको मिला, इसीसे आज हमारा जन्म सुफल हुआ। 'देखि तात बिधु बदन···'—मुखको चन्द्रमा कहनेका भाव कि जैसे चन्द्रमा दिनके तापको हरता है वैसे ही तुम्हारे मुखचन्द्रको देखकर हमारे ताप दूर हो गये, यथा—'बदन मयंक तापत्रय-मोचन' ।२१८।६)। 'देखि' कहकर जनाया कि मुखचन्द्रके दर्शनसे नेत्र शीतल हो गये। श्रीरामजीके दर्शनसे जन्म और नेत्र दोनों सफल होते हैं, यथा—'रामचरन बारिज जब देखौं तब निज जन्म सफल कर लेखौं।' (७। ११०), 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी।' (७। ७५), 'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ। २१८।'

४ 'जे दिन गये तुम्हहि बिनु···' इति। (क) जितनी कथा रानियाँ कह आयीं, 'मारग जात भयावनि भारी' से लेकर 'आये भवन ब्याहि सब भाई' तक, उतने दिन बिना दर्शनके बीते। इतने दिनोंके लिये प्रार्थना है। [(ख) 'ते बिरंचि जनि पारहि लेखे' इति। ब्रह्मा उन दिनोंको गिनतीमें न लावें, उनकी गिनती न करें। ये वचन ऐश्वर्यसूचक हैं, पर यह विनती ब्रह्मासे है कि जितने दिन वियोग रहा ब्रह्माजी उन्हें आयुकी गिनती करनेमें हिसाबमें न जोड़ें, इस प्रकार उतने दिन इनके दर्शनका सुख और मिल जायगा। स्मरण रहे कि आयु प्रारब्ध-शरीरके साथ निश्चितरूपसे दी जाती है; उतने दिनोंसे अधिक कोई नहीं जीता।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यह प्रार्थना श्रीरघुनाथजीसे है वे कहते हैं कि माताओंकी बातको श्रीराघवजीने स्वीकार कर लिया। अपने जन्मके पहले जो दिन बीते रहे उनको भी लेखासे उठा दिया, नहीं तो माताने तो केवल उतने ही दिनोंके लिये प्रार्थना की थी जितने दिन वे विश्वामित्रजीके साथ आश्विन कृ० १२ से माघ कृ० २ तक बाहर रहे थे। इतना ही नहीं वनवासके १४ वर्ष भी आयुमें न गिने, अतएव माता रघुनाथजीके साथ पधारीं, नहीं तो त्रेतामें आयु केवल दश हजार वर्षकी होती थी। पर राजा दशरथजी तो ६० हजार वर्षके हो चुके थे जब उनके पुत्र हुए। यदि दश हजार वर्षकी ही आयु सबकी होती थी तो कौशल्या आदिका साकेतवास भी कभीका हो गया होता।)]

(ग) मुखचन्द्रके दर्शनसे जन्म सफल होता है और दर्शन बिना जन्म निष्फल है। बिना दर्शनवाले दिनोंमें जीना मरे हुए-के समान जीना है, यथा—'जो पै रहनि रामसों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं' (वि० १७५)। इसीसे कहती हैं कि ब्रह्मा निष्फल दिन सफल जन्ममें न मिलावें।

५ 'राम प्रतोषीं मातु सब···' इति। (क) सब माताओंने प्रश्नके वचन कहे थे, यथा—'कहहिं सप्रेम बचन सब

माता'; इसीसे सब माताओंका परितोष किया। 'बिनीत बर' वचन कहे अर्थात् कहा कि श्रीकौशिक महाराजजीकी कृपासे और आप सबोंके पुण्य-प्रभावसे, आपकी शुभकामना और दयासे हमें सदा मंगल है। इन वचनोंसे सबको संतोष हो गया। [पंजाबीजी लिखते हैं कि इस प्रकार संतुष्ट किया कि गुरुओंकी कृपासे, पिताके धर्मबलसे और आपके पातिव्रत्यकी सहायतासे ये सब कार्य हुए। मानसमयंककार लिखते हैं कि माताके इन वचनोंको सुनकर कि विधि आयुष्यके लेखमें उन दिनोंको न लें जो बिना तुम्हारे बीते हैं। रामचन्द्रजीने माताका प्रबोध किया कि जबतक मैं लीला-आविर्भाववश अवधमें रहूँगा तबतक नित्य दर्शन दूँगा] (ख) 'सुमिरि संभु गुर बिप्र पद' इति। इन तीनोंका स्मरण करके सोना यह विधि है। इससे सूचित किया कि सोते-जागते इन तीनोंकी शरण रहे। यह शिक्षा देनेके लिये श्रीरामजीने सोते और जागते दोनों समय तीनोंका स्मरण किया। यहाँ सोते समय तीनोंका स्मरण किया और जब जागे तब भी 'बंदि बिप्र सुर गुर पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता॥ ३५८। ७।' सोते-जागते दोनोंमें इनकी शरण रहना चाहिये यह बताया।

नोट—१ (क) शम्भु आदिके स्मरणमें जगत्‌की रीति दिखायी और इनको प्रतिष्ठा दी जिसमें शयनके समय इनका स्मरण लोग अवश्य करें। (रा० प्र०)। (ख) मर्यादापुरुषोत्तमकी शंकर, गुरु और विप्रभक्तिके उदाहरण मानसमें बारम्बार पाठकोंने पढ़े ही हैं! स्कन्द पु० ब्रा० धर्मारण्यखण्डमें श्रीरामजीकी विप्रभक्तिके सम्बन्धमें स्वयं उनके ही वचन हैं कि मैं ब्राह्मणोंके प्रसादसे ही कमलापति हूँ, धरणीधर हूँ, जगत्पति हूँ और उन्हींके प्रसादसे मेरा नाम 'राम' है। यथा—'विप्रप्रसादात्कमलावरोऽहं विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्। विप्रप्रसादाज्जगतीपतिश्च विप्रप्रसादान्मम राम नाम॥ ३२। ३०।' (ग) गौड़जी कहते हैं कि 'माधुर्यमें भगवान् रामचन्द्रजीकी उपासनामें भगवान् शङ्करका नम्बर पहला है। वह 'सेवक स्वामि सखा सियपीके' हैं। अपनी ओरसे शिवजी अपनेको सेवक, श्रीरामचन्द्रजीकी ओरसे शिवजी उनके स्वामी और अनेक भक्तोंकी ओरसे सखाका परस्पर भाव अथवा अभेद भाव है। रामेश्वर ही ठहरे। इसीलिये सोनेके पहिले भगवान् शङ्करका स्मरण करते हैं, फिर गुरुके चरणोंको स्मरण करते हैं। गुरु और ईश्वरमें भी अभेद ही है। विप्रचरणको नारायणरूपमें वक्षःस्थलपर धारण किया है। इसीसे तीनोंका स्मरण करके सोये। (घ)—'किये नीद बस नयन' अर्थात् नेत्र बंद कर लिये, किंचित् निद्राका भाव आ गया।

नींदउँ बदन सोह सुठि लोना। मनहु साँझ सरसीरुह सोना॥ १॥
घर घर करहिं जागरन नारी। देहिं परसपर मंगल गारी॥ २॥
पुरी बिराजति राजति रजनी। रानीं कहहिं बिलोकहु सजनी॥ ३॥

शब्दार्थ—लोना=लावण्यमय; सुन्दरता। सोना (शोण)=लाल। यथा—'सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक ताप त्रय मोचन॥ २१९। ६।' जागरन (जागरण)=रातभर जागनेका कर्म। बिराजति=विशेष राजती है। राजना=शोभित होना। सजनी=प्रिय सखी।

अर्थ—नींदमें भी अत्यन्त सलोना सुन्दर मुख (ऐसा) शोभित हो रहा है मानो सायंकालका लाल कमल है॥ १॥ (नगरमें) घर-घरमें स्त्रियाँ जागरण कर रही हैं और परस्पर एक दूसरेको मङ्गल गालियाँ दे रही हैं॥ २॥ रानियाँ कहती हैं—हे सखी! देखो (आज) रात्रि शोभित है और पुरी विशेष शोभित हो रही है॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'नींदउँ बदन सोह''' इति। (क) 'नींदउँ' का भाव कि जागतेमें तो सुन्दर रहता ही है, नींदमें भी अत्यन्त सोहता है। पुनः भाव कि नींदमें लोगोंके मुखकी शोभा प्रायः नहीं रहती, परंतु श्रीरामजीके मुखकी शोभा नींदमें भी अत्यन्त है। (ख) 'साँझ सरसीरुह सोना' इति। संध्यासमयके कमलकी उपमा देनेका भाव यह है कि सायंकालके कमलमें संकोच और विकास दोनों रहते हैं, वैसे ही श्रीरामजीका मुख सोते समय कुछ संकुचित हुआ है पर शोभा जैसी थी वैसी ही है। जैसे संध्यासमयका कमल कुछ संकुचित होता है पर उसकी शोभा कम नहीं होती। इसीसे नींदमें भी अत्यन्त लावण्यमय कहा। दोहेमें निद्रावस्था कही थी, अब निद्रावस्थाकी दशा कहते हैं कि 'नींदउँ बदन सोह'।

नोट—१ 'मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना' इति। इसके अर्थ महानुभावोंने अनेक किये हैं—(१) 'निद्रायुक्त मुख अति लोना ऐसा शोभित हो रहा है मानो साँझ समयका शोण अर्थात् लाल कमल है; भाव यह कि कुछ संध्याकी ललाई और कुछ अपनी ललाई दोनों मिलकर कमल अधिक शोभा पाता है। वा संध्या-समयमें कमल कुछ खुला कुछ मुँदा रहता है

वैसा।'—(रा० प्र०)। (२) 'मानो रात्रिमें कमल सोया हुआ है। (पं०)। (३) 'औंघाई सहित संपुटित चेष्टामय मुख अत्यन्त लावण्यतासे भरा हुआ सोह रहा है मानो साँझ समयमें लाल कमल सोहता है। 'जाग्रत् अवस्था रवि अस्त, शय्या सर और मुख कमल है'। (वै०)। (४) भाव कि मुखारविन्द नहीं है किंतु सन्ध्यासमय शोणकमलरूप सन्ध्या समयका सूर्य है जिसे शफ़क़ कहते हैं—'शोणोऽरुणे' नानार्थमें कहा है—(मा० त०)।

☞ यहाँ 'सोना' शब्द सो जानेके अर्थमें नहीं आया है। गोस्वामीजीकी भाषामें इस अर्थमें 'सोउब' होता। क्रियाके इस रूपका प्रयोग मानसभरमें कहीं नहीं है। इस अर्थमें इसे लेनेकी जरूरत भी नहीं है। साँझके समय कमल संकुचित होता ही है। 'साँझ' काफी है। 'सोना' का अर्थ है 'लाल'। नेत्रोंको राजीवसे उपमा देते ही हैं। वदनकी शोभा और लावण्यता कैसी है? लक्षणासे वदनके मुख्यांश आँखोंहीपर उत्प्रेक्षा की गयी। आँखें अधमुँदी-सी हैं। सुर्खीकी कुछ-कुछ वैसी ही झलक है जैसे हरे दलोंके भीतरसे लाल दलोंकी लालिमा संकुचित राजीवमें झलकती है।

श्रीनंगेपरमहंसजीने 'बदन' का अर्थ 'आँखें' किया है। वे कहते हैं कि 'बदन' का अर्थ मुँह करनेसे अनर्थ हो जायगा। क्योंकि उपमा मुँहके लिये नहीं है, लाल कमलका नेत्रके लिये है। अतः बदनका अर्थ नेत्र होगा। पुनः अर्थ प्रसंगाधीन रहता है, स्वतन्त्र नहीं। और प्रसङ्ग नींदका है। अतः प्रसंगानुकूल बदनका अर्थ नेत्र होगा। प्रज्ञानानन्दस्वामीजी लिखते हैं कि 'साँझ समय'=सन्ध्या-समय जब सूर्यका अस्त नहीं हुआ है। यथा—'देखि भानु जनु मनु सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी'॥ इस समय लाल कमल अर्धोन्मीलित रहता है। वैसे ही भगवान्‌के राजीवाक्ष अर्धोन्मीलित हैं। पलकोंके ऊपरका भाग राजीव दलके बाहरके समान नील श्यामवर्ण है। मुखमें नेत्र ही सौन्दर्यका मुख्य निधान होता है।

टिप्पणी—२ (क) जहाँतक चरित्रके वर्णन करनेकी सीमा है वहाँतक उसका वर्णन किया। अब सोते समय उनका चरित्र कुछ नहीं हो रहा है, जब जागेंगे तब फिर चरित्र करेंगे, तब कवि पुनः वर्णन करेंगे। इधरसे सावकाश पाकर अब (आगे) पुरीका मंगल वर्णन करते हैं—'घर घर···'। (ख) 'घर घर करहिं जागरन नारी।···' इति। 'मंगल गान करहिं वर भामिनि। भै सुखमूल मनोहर जामिनि॥ ३५५। १।', यह जागरण राजाके घरका कहा गया था, अब घर-घरका जागरण कहते हैं। जिस दिन बारात लौटकर आती है उस दिन जागरण करनेकी रीति है, इसीसे आज जागरण कर रही हैं। (ग) 'देहिं परस्पर मंगल गारीं' इति। मंगल गाती हैं। गीतहीमें गाली देती हैं। अपने भाईका नाम और जिस स्त्रीको गाली देती हैं उसका नाम मिलाकर गाली गाती हैं (जैसे भावज नन्दको गाली देती है)। (घ) अवधवासियोंके घर-घरमें सब मंगल मनाये जाते हैं (जो राजाके यहाँ मनाये जाते हैं), इसीसे जागरण भी घर-घर हो रहा है। यथा—'निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे।', 'बिबिध भाँति मंगल कलस गृह गृह रचे सँवारि। ३४४।', 'घर घर बाजन लगे बधाए। ३५१। ६।', तथा यहाँ 'घर घर करहिं जागरन।' (ङ) इन दो चरणोंमें पुरीका हाल कहकर, आगे पुनः राजमहलका हाल कहते हैं।

४—'पुरी बिराजति राजति रजनी।···' इति। (क) राजमहलमें मंगल-गानसे रात्रिकी शोभा कही थी—'मंगल गान करहिं बर भामिनि। भै सुखमूल मनोहर जामिनि॥' अब पुरीके मंगल-गानसे रात्रिकी शोभा कहते हैं। घर-घर मंगल गान होता है, इसीसे पुरी विशेष शोभित हो रही है। (ख) 'राजति रजनी' कहनेसे सूचित होता है कि शुक्लपक्षकी रात्रि है। शुक्लपक्षकी रात्रि शोभित होती है। चाँदनी फैली है, इसीसे रात्रिकी शोभा है, यथा—'भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥ १। १५।' [बैजनाथजीका मत है, कि यह माघकृष्ण द्वितीयाकी रात्रि है। इसमें दो घड़ीके पश्चात् सारी रात्रिमें चाँदनी रहती है। भोजन करते समयतक पाँच घड़ी रात बीत गयी थी, अतः रात्रि प्रकाशमय है]। (ग) यहाँ रात्रिको 'राजति' और पुरीको 'बिराजति' कहा। अर्थात् रात्रिकी शोभासे पुरीकी शोभाको अधिक कहती हैं। तात्पर्य यह कि रात्रि केवल चाँदनीसे शोभित है और पुरीकी शोभा बनावटसे, सजावटसे, मङ्गल-रचनासे, चाँदनीसे तथा मङ्गल-गानसे (चुहल-पहलसे और श्रीरामजीके सम्बन्धसे) शोभित हो रही है, इसीसे उसकी विशेष शोभा है। (पंजाबीजीका मत है कि पुरीभरमें दीपमालासे विशेष शोभा है)।

नोट—२ श्रीराम-लक्ष्मणजी आश्विनमें मुनिके साथ गये। तबसे अयोध्यापुरीमें दशहरा, दीपावली, वैकुण्ठचतुर्दशी, त्रिपुरपौर्णिमा इत्यादि अनेक अवसरोंपर दीपोत्सव, जागरण इत्यादि अनेक प्रकारके उत्साह और मङ्गल कार्य हो गये होंगे

तथापि आजहीकी रात्रि माताओंको आनन्दपूर्ण प्रकाशित देख पड़ती है । [इससे जनाया कि श्रीरामजीके वियोगमें पुरी शून्यरूप, भयावनी और निरुत्साह ही लगती थी । विशेष ३५० (६-८) में देखिये । (प० प० प्र०)] ।

टिप्पणी—४ 'रानी कहहिं बिलोकहु सजनी' इति । रानी अपने महलसे सखियोंको पुरीकी शोभा दिखा रही हैं । इससे सूचित होता है कि महल बहुत ऊँचा है, उससे पुरीकी शोभा देख पड़ती है । रानियोंके कहनेका भाव यह है कि गोस्वामीजी-ने सब स्त्रियोंका जागरण कहा है, यथा—'मंगल गान करहिं बर भामिनि' पुनश्च 'घर घर करहिं जागरन नारी' किंतु रानियों-का जागरण नहीं कहा, वह 'रानी कहहिं' से जनाते हैं । रानियाँ सखियोंसहित श्रीअवधपुरीकी शोभा और बहुओंकी शोभा देख-देखकर जागरण कर रही हैं । [पुरीमें मङ्गल गान करती हुई सब स्त्रियाँ जागरण कर रही हैं । पर महलमें मङ्गल-गानद्वारा जागरण नहीं कर रही हैं, क्योंकि राजा, भाइयोंसहित श्रीरामजी और बहुएँ सभी समीप ही शयन कर रहे हैं, गानसे इनकी निद्राके भङ्ग हो जानेका भय है । माताएँ इनकी सेवाके लिये समीप ही हैं । अतएव रानियाँ शोभा देखती हैं और दिखाती हैं, इस तरह जागरण कर रही हैं] । (ङ) 'रानी कहहिं बिलोकहु सजनी' यह देहलीदीपक है । रानियाँ कहती हैं कि 'सखि ! पुरीकी शोभा देखो और 'सुंदर बधुन्ह सासु लै सोई' हैं उन्हें देखो ।

सुंदर बधुन्ह* सासु लै सोई । फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई ॥ ४ ॥
प्रात पुनीत काल प्रभु जागे । अरुनचूड़ बर बोलन लागे ॥ ५ ॥
बंदि† मागधन्हि गुनगन गाए । पुरजन द्वार जोहारन आए ॥ ६ ॥
बंदि बिप्र सुर गुर पितु माता । पाइ असीस मुदित सब भ्राता ॥ ७ ॥

अर्थ—सासें सुन्दर बहुओंको लेकर सोयीं, मानो सर्पोंने शिरके मणिको हृदयमें छिपा रखा है । ४ । प्रातःकाल पवित्र समय (ब्रह्ममूहूर्त्तमें) प्रभु जागे । सुन्दर मुर्गे सुन्दर बोलने लगे । ५ । भाट और मागध आदिने गुण-गण गाये । पुरवासी द्वारपर प्रणाम करने आये । ६ । ब्राह्मण, देवता, गुरु, पिता और माताको प्रणामकर आशीर्वाद पा सब भाई प्रसन्न हुए । ७ ॥

टिप्पणी—१ 'सुंदर बधुन्ह सासु'''' इति । (क) बहुएँ चार हैं, सास बहुओंको लेकर सोयीं, इस कथनसे सूचित होता है कि चार सासुएँ चारको लेकर सोयीं । श्रीकौसल्या, कैकेयी और सुमित्राजी तीनको लेकर सोयीं, किसी और एकने एक बहूको अपने साथ सुलाया, शेष सब रानियाँ जागरण करती हैं । बहुओंको सुलानेके लिये चार सासुओंको सोना पड़ा । (ख) राजाकी आज्ञा थी कि 'लरिका श्रमित उनीद बस सयन करावहु जाइ' इस आज्ञाका प्रतिपालन किया । पहले श्रीरामजी-को शयन कराया । जब वे सो गये, तब बहुओंको सुलाया । (ग) 'फनिकन्ह जनु सिर मनि' इति । 'फनिकन्ह' पुँल्लिङ्ग और बहुवचन है । बहुओंको लेकर चार सासु सोयी हैं, इससे बहुवचन शब्द दिया । पुँल्लिङ्ग इससे दिया कि मणि सर्पके सिरमें होती है, नागिन (सर्पिणी) के सिरमें मणि नहीं होती । बहुवचन 'फनिकन्ह' फणिमणिसम कहकर सूचित करते हैं कि एक सर्पके सिरमें एक ही मणि होती है, दो नहीं, इसी तरह एक सास एक ही वधूको लेकर सोयी है । बहू सुन्दर है, इसीसे मणिकी उपमा दी है, यथा'निज मन फनि मूरति मनि करहू । ३३५ । ७ ।' (घ) 'गोई' का भाव कि सर्पको मणि बहुत प्रिय है, इसीसे वह उसे हृदयमें छिपाये है, इसी तरह रानियोंको बहुएँ बहुत प्रिय हैं, इसीसे वे उन्हें हृदयसे लगाकर सोयी हैं ।

नोट—१ मणि सर्प सोते समय चारों ओरसे पिंडी-सी बाँधकर मणिको हृदयमें छिपाये इस तरह बैठता है कि बीचमें फन रहे । वह अपने मणिकी रक्षा प्राणके समान करता है, क्योंकि मणिके निकल जानेसे वह छटपटाकर मर ही जाता है । राजाने जो आज्ञा दी थी कि 'राखेहु नयन पलककी नाईं' उसका यहाँ प्रतिपालन दिखाया । पलक नेत्रोंको छिपा लेता है, इस तरह वह नेत्रकी सेवा एवं रक्षा करता है, वैसे ही इन्होंने बहुओंको हृदयमें छिपाया, हृदयसे लगाकर लेटी हैं । अ० दी० च० कारका मत है कि ''बारात श्रीरामनवमीको अयोध्यामें आयी । उस रात्रिमें रानियोंको गारीगान (झुमर गान) करते साढ़े तीन पहर रात्रि बीत गयी । जब उन्होंने सखियोंसे सुना कि इतनी रात्रि बीत गयी तब रानियोंने बहुओंको उरमें

* बधू—१७२१, १७६२, छ०, १७०४ । बधून्ह (न्ह बनाया है)—१६६१, को० रा० ।
† बन्दी मागध—को० रा० ।

छिपाकर शयन किया। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि सोनेकी रीतिसे अनुमान होता है कि जाड़ेके दिन थे। सूर्य मकरमें थे ऐसा मानना उचित है, क्योंकि तब रात्रिमें सोनेके कालमें शरीर 'धनुषि धनुराकारं मकरे कुण्डलाकृति' होता है और फणि भी शरीरको कुण्डलाकार बनाकर ही सोता है।

टिप्पणी—२ 'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे।…' इति। (क) 'प्रातःका' पुनीत काल है अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त है। [दो घण्टा (पाँच घड़ी) रात रहे 'प्रातःकाल' प्रारम्भ होता है।] महान् पुरुषोंके जागनेका यही समय है। 'प्रभु' अर्थात् श्रीरामजी। (ख) 'अरुनचूड़ बर बोलन लागे' इति। पहले चरणमें श्रीरामजीका जागना कहकर तब दूसरे चरणमें मुर्गेका बोलना कहनेका भाव कि श्रीरामजी पहले ही जगे, मुर्गे पीछे बोले। तात्पर्य यह कि श्रीरामजी स्वतः ज्ञानरूप हैं, उनको कुछ मुर्गेकी बोलीसे प्रातःकालका ज्ञान नहीं हुआ, श्रीरामजीमें अज्ञानका लेश भी नहीं है, यथा—'रामसच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥ सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥ ११६। ६।' मुर्गेका बोलना सुनकर प्रातःकालका ज्ञान होना जीवका धर्म है, यथा—'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥ ११६। ७।' (ग) 'बर बोलन लागे' इति। 'बर' से जनाया कि उसकी बोली सुहावनी है। अथवा, मुर्गे दशरथ शब्द बोलते हैं इससे बोलीको 'बर' कहा। अथवा, बर=बड़ा। जो मुर्गा बड़ा है वही बोलता है, जब जूड़ा निकल आता है तभी बोलना होता है' (इसीसे अरुणचूड़ नाम दिया) (घ) 'लागे' बहुवचन देकर जनाया कि बहुत मुर्गे बोलने लगे। (अरुणचूड़—दोहा २२६ देखिये)।

३—'बंदि मागधन्हि गुन गन गाए…' इति। (क) मुर्गोंके बोलनेके पीछे इन्हें लिखकर जनाया कि मुर्गोंके बोलनेसे इन लोगोंने जाना कि प्रातःकाल हो गया, अतः ये बोली सुनते ही आये। 'मागधन्हि' बहुवचन देकर जनाया कि मागध आदि बहुतसे गुणगायक आये। यथा—'मागध सूत बंदिगन गायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक॥ १। १९४। ६।' बंदीजन, मागध, सूत आदिका गुणगान करनेका समय है, अतः वे द्वारपर आकर गुणगान गाने लगे। (ख) 'पुरजन द्वार जोहारन आये' इति। पुरजनोंको अभी प्रणाम करनेका मौका नहीं है, जब राजा महलसे निकलेंगे, तब प्रणाम करेंगे, इसीसे उनका आना मात्र कहा। ये सब आकर अभी द्वारपर खड़े हैं। बंदी मागधादि याचकों और पुरवासियोंकी भीड़ द्वारमें लग रही है।

४ 'बंदि बिप्र सुर गुर पितु माता।…' इति। (क) प्रातःकाल जागनेपर जो कृत्य करते हैं वह बताया। शंभु-गुर-बिप्रपदका स्मरण करके शयन किया था, यथा—'सुमिरि संभु गुर बिप्र पद किये नींद बस नयन'। अब उन्हींको जागकर वन्दन किया। यहाँ 'सुर' शब्दसे 'शंभु' का ग्रहण है। 'बंदि बिप्र…' से पाया गया कि ये सब प्रातःकाल ही श्रीरामजीको दर्शन देनेके लिये महलमें आया करते हैं, यथा—'प्रातकाल उठिकै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥ २०५। ७।' महादेवजीकी मूर्ति रहती है। (ख) 'पाइ असीस मुदित सब भ्राता' इति। 'सब भ्राता' कहनेसे पाया कि सब भाई श्रीरामजीसे पहले ही जागे। सबने आके श्रीरामजीको प्रणाम किया। उनके साथ गुरु विप्र आदिको प्रणाम किया है, इसीसे सब भाइयोंको आशीर्वाद मिला। 'मुदित' कहकर जनाया कि सब भाइयोंको विप्र, गुरु, माता, पिताके वचनमें विश्वास है, इसीसे प्रसन्न हुए। [इन पाँचोंका सम्बन्ध 'पाइ असीस' से लगाना अयुक्त होगा। कारण कि भले ही कोई विप्र दर्शन देने आवें तथापि गुरु वशिष्ठ, विश्वामित्र और देवताओंका आना सम्भव नहीं है। इससे इसे प्रातःस्मरणाङ्गभूत मानसिक वन्दन मानना होगा। शयनागारसे बाहर जाकर माताओं और पिताको वन्दनकर आशीर्वाद पाकर प्रसन्न होते थे। इस प्रकार अर्थ करना ठीक होगा। (प० प० प्र०)] (ग) अभी श्रीरामजी द्वारपर नहीं आये, द्वारपर आना आगे लिखते हैं।

जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति संग द्वार पगु धारे॥ ८॥

दो०—कीन्हि सौच सब सहज सुचि सरित पुनीत नहाइ।
प्रात क्रिया करि तात पहिं आए चारिउ भाइ॥ ३५८॥

अर्थ—माताओंने आदरपूर्वक मुखका दर्शन किया। (तब) राजाके साथ द्वारपर गये। ८। स्वाभाविक ही पवित्र चारों भाइयोंने सब शौच-क्रिया की। (फिर) पवित्र नदी (श्रीसरयूजी) में स्नानकर प्रातःक्रिया करके चारों भाई पिताजीके पास आये। ३५८।

टिप्पणी—१ (क) 'जननिन्ह' बहुवचन है। सब माताओंने मुख देखा, वे इसीसे अपना जन्म सफल मानती हैं। यथा—'आजु सुफल जग जनमु हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा। ३५७। ७।' इसीसे सबने सादर मुखारविन्दका दर्शन किया। (ख) 'सादर बदन निहारे' कहकर सूचित किया कि सब माताओंके नेत्ररूपी भौंरे और चारों भाइयोंकी मुख-रूपी कमलोंकी छविरूपी मकरन्दका पान कर रही हैं, अर्थात् प्रेमसे मुखकी छवि देख रही हैं। यथा—'देखि राम मुखपंकज मुनिबर लोचन भृंग। सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग। ३। ७।' श्रीरामजीका मुख कमल है। छवि कमलका मकरंद है, यथा—'मुख सरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान। २३१।' (ख) 'भूपति संग द्वार पगु धारे' इति। इन शब्दोंसे दोनोंकी प्रधानता रक्खी। भूपतिके साथ श्रीरामजी आये, इस कथनमें राजाकी प्रधानता हुई और 'द्वार पगु धारे' इस कथनमें श्रीरामजीकी प्रधानता हुई कि श्रीरामजी द्वारपर आये। पिताकी प्रधानता रखनी उचित है, इसीसे पिताकी प्रधानता कही। द्वारपर आनेमें श्रीरामजीकी प्रधानता कही, क्योंकि द्वारपर सबको श्रीरामजीके दर्शनोंकी चाह है—जैसा आगे कहते हैं—'देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन लाभ अवधि अनुमानी॥'

२ (क) 'कीन्हि सौच सब''' यथा—'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए। २२७। १।' 'सब सौच' का भाव कि शौच बारह हैं, वे सब किये। (ख) 'सहज सुचि' कहनेका भाव कि स्वाभाविक ही शुचि होते हुए भी सब शौच करते हैं—इससे जगत्‌को उपदेश देते हैं कि ये कर्म अवश्य करने चाहिये। बड़ेका आचरण जगत्‌में धर्मका सारांश होता है। यथा—'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई। २। ३२३।' [श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि आपका अवतार केवल राक्षसोंके वधके लिये नहीं होता, किंतु मर्त्यलोकके प्राणियोंको शिक्षा देनेके लिये भी होता है। यथा—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। भा० ५। १९। ५।' (ग) 'सरित पुनीत नहाइ' कहनेका भाव कि श्रीसरयूजीका माहात्म्य स्मरण करके कि ये अत्यन्त पुनीत हैं, इनकी अमित महिमा है, स्नान किया। यथा—'दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना। नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमल मति। १। ३५।' अथवा 'सरित' कहकर कूप, तड़ाग, बावली आदिका निराकरण किया और 'पुनीत' कहकर अन्य नदियोंका निराकरण किया। सई, गोमती आदि नदियाँ भी अयोध्याजीकी सीमामें हैं (आजकलकी अयोध्या ही उस समयकी अयोध्या नहीं है। उस समय इसकी सीमा बहुत बड़ी थी)। श्रीसरयूजी पुनीत नदी कहलाती हैं, यथा—'नदी पुनीत अमित महिमा अति। १। ३५।' 'नदी पुनीत सुमानसनंदिनि। १। ३९।' तथा यहाँ 'सरित पुनीत' इत्यादि। (घ) 'प्रात क्रिया' इति। सन्ध्या, पाठ, प्राणायाम, दान, दर्शन आदि श्रीसरयूजीके किनारे जो मन्दिर या घाटपर जो स्थान बने हुए हैं उनमें किये। (ङ) सब शौच करके नदी स्नान किया—यह बाह्यशुद्धि है। प्रातक्रिया करना अन्तःशुद्धि है। इस तरह बाह्यान्तर शुद्धिके पश्चात् पिताके पास गये। (च) शंका—'पूर्व कहा है कि 'नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए। २२७। १।' पर यहाँ नित्यक्रिया करके पिताको प्रणाम नहीं कहा गया?' समाधान यह है कि स्नानके पूर्व पिताको प्रणाम कर चुके हैं 'बंदि बिप्र सुर गुर पितु माता' और जनकपुरमें स्नानके पूर्व मुनिके पास नहीं गये और न प्रणाम किया था; इसीसे वहाँ नित्यक्रियाके पश्चात् जाना और प्रणाम करना कहा है। (छ) 'राम प्रतोषी मातु सब कहि बिनीत मृदु बयन' यह शील है। 'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे' यह सावधानता है। 'बंदि बिप्र सुर गुर पितु माता' यह धर्म है। 'भूपति संग द्वार पगु धारे' बड़ेके पीछे चलना यह कायदा (शिष्टाचार) है। 'कीन्हि सौच''' नाइ' यह नित्यका नियम है।

भूप बिलोकि लिये उर लाई। बैठे हरषि रजायेसु पाई॥ १॥
देखि रामु सब सभा जुड़ानी। लोचन लाभु अवधि अनुमानी॥ २॥
पुनि बसिष्ट मुनि कौसिकु आए। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाए॥ ३॥
सुतन्ह समेत पूजि पद लागे। निरखि रामु दोउ गुर अनुरागे॥ ४॥
कहहिं बसिष्टु धरम इतिहासा। सुनहिं महीसु सहित रनिवासा॥ ५॥

अर्थ—राजाने (उन्हें) देखकर हृदयसे लगा लिया। (वे) हर्षित होकर आज्ञा पाकर बैठ गये। १। श्रीरामचन्द्रजीको देखकर (उनके दर्शनको) नेत्रोंके लाभकी सीमा अनुमानकर सारी सभा शीतल हो गयी। २। फिर मुनि वसिष्ठ और

कौशिकजी (आदि मुनि) आये। (राजाने) मुनियोंको सुन्दर दिव्य आसनोंपर बैठाया। ३। (और) पुत्रोंसहित उनका पूजन करके (उनके) चरणोंमें लगे अर्थात् चरणोंपर सिर रक्खा। श्रीरामजीको देखकर दोनों गुरु अनुरागसे भर गये। ४। श्रीवशिष्ठजी धार्मिक इतिहास कहते हैं और रनवाससहित राजा सुनते हैं। ५।

टिप्पणी—१ (क) **'भूप बिलोकि लिये उर लाई'** इति। हृदयसे लगाया, आशीर्वाद न दिया, क्योंकि आशीर्वाद पहले दे चुके हैं, यथा—**'पाइ असीस मुदित सब भ्राता।'** हृदयमें लगानेका भाव कि चारों भाई स्नान करने गये, इतनी देरका भी वियोग राजा सह न सके, इसीसे जब वे स्नानादिसे निवृत्त होकर आये तब उन्हें हृदयसे लगा लिया, मानो बहुत दिनोंपर मिले हैं, यथा—**'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे। ३०८। ४।'** (ख) **'बैठे हरषि'** भाव कि पिताने हृदयसे लगाया, इससे हर्ष हुआ। इसी तरह जब पिताने आशीर्वाद दिया था तब हर्षित हुए थे, यथा—**'पाइ असीस मुदित सब भ्राता।'** (ग) 'रजायेसु' भाव यह कि पिताकी आज्ञा सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है, यथा—**'पितु आयसु सब धरम क टीका। २। ५५।'** अतः आप सदा पिताकी आज्ञाकी चाह रखते हैं। इसीसे आज्ञा पाकर हर्षित हुए। पुनः इससे यह भी दिखाया कि श्रीरामजी पिताका कितना संकोच करते हैं कि बिना आज्ञा बैठते भी नहीं। (घ) यहाँ बैठनेके लिये आसनका देना नहीं कहा गया, क्योंकि इस समय कथा होती है। कथा ऊँचे आसनपर बैठकर न सुननी चाहिये, इसीसे वे साधारण आसनपर बैठ गये। अतः आसनका वर्णन नहीं किया गया।

२ (क) **'देखि राम सब सभा जुड़ानी।…'** इति। भाव कि जबसे श्रीरामजी विश्वामित्रजीके साथ गये तबसे इनका दर्शन न होनेसे सब अवधवासी व्याकुल थे, संतप्त थे, आज उन्हें सभामें बैठे देखकर हृदय शीतल हुआ। यह प्रीतिकी रीति है, यथा—**'रामहि देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी।३०९।१।'** **'लाभु अवधि अनुमानी'**—भाव कि लोचन मिलनेका लाभ बस इतना ही है, यथा—**'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥ २। १०७'।** (प० प० प्र० का मत है कि 'जुड़ानी' का अर्थ 'जुट गयी' 'इकट्ठा हो गयी' लेना ठीक होगा, क्योंकि सभीका संतप्त होना मानना ठीक नहीं है। पर मानसमें 'जुड़ाना' 'शीतल होना'— अर्थमें बराबर आया है। यथा—**'अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती। ३। ८। ३।'** **'राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने। २७७। ५।'**, **'नाथ बचाइ जुड़ावहु छाती'। ५। ५६। १।'**)। (ख) **'पुनि बसिष्ट मुनि कौसिक आए'** इति।। 'पुनि' कहनेका भाव कि जब सब सभासद और चारों पुत्रोंसहित राजा आकर सभामें बैठ गये तब दोनों मुनि आये। सबके पीछे आनेका भाव यह है कि श्रोता प्रेमी हैं, वक्ताके आनेके पहले ही आ गये जिसमें कथाका कोई अंश छूट न जाय। 'मुनि' शब्द देहली-दीपक है। श्रीवशिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजी दोनोंका विशेषण है। (ग) **'सुभग आसनन्हि'** अर्थात् दिव्य आसनोंपर; यथा—**'बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस। दिए दिव्य आसन सबहि''। ३२०'**। 'आसनन्हि' बहुवचन है, इससे सूचित किया कि दोनों मुनियोंको पृथक्-पृथक् आसनपर बैठाया। (घ) **'मुनि बैठाए'**—'मुनि' एकवचन है, परंतु 'आसनन्हि' और 'बैठाए' बहुवचन हैं, इनके साहचर्यसे 'मुनि' भी यहाँ बहुवचन वाचक हो गया। एक मुनि बहुतसे आसनपर एक ही समय नहीं बैठ सकता पर एक आसनपर बहुतसे मुनि बैठ सकते हैं; इसीसे पृथक्-पृथक् आसन बतानेके लिये 'आसनन्हि' बहुवचन शब्द दिया। (यहाँ 'मुनि' को दीपदेहलीन्यायसे और स्वतन्त्र भी ले सकते हैं। क्योंकि आगे वामदेवजीका भी नाम आया है। वे भी मुनि हैं)

३ **'सुतन्ह समेत पूजि पद लागे…'** इति। [(क) महलमें रानियाँ और बहुएँ भी थीं, इससे वहाँ पूजनमें वे भी सम्मिलित थीं, यथा—**'बधुन्ह समेत कुमार सब रानिन्ह सहित महीसु। पुनि पुनि बंदत गुर चरन''॥ ३५२ ॥'** यहाँ सभा है। इसलिये पुत्रोंसहित पूजा की]। (ख) **'निरखि रामु दोउ गुर अनुरागे'** इति। माता और पिताके लिये सब लड़के बराबर हैं, इसीसे माताओंने चारोंका मुखारविन्द देखा और पिताने चारोंको हृदयसे लगाया, यथा—**'जननिन्ह सादर बदन निहारे', 'भूप बिलोकि लिये उर लाई'**। इनके सम्बन्धमें केवल श्रीरामजीको देखना या हृदयमें लगाना नहीं कहते। परंतु सभाके लोग श्रीरामजीको देखकर शीतल हुए और दोनों गुरु भी श्रीरामजीको ही देखकर अनुरागको प्राप्त हुए। कारण यह है कि श्रीरामजीका दर्शन सुखकी सीमा है—**'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी॥ २। १०७॥'**, **'बारिद सील-रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥ १९८। ६॥'** (ग) श्रीरामजीको देखनेका अभिलाष सभीको है, इसीसे देखना सबका कहते हैं, यथा—**'जननिन्ह सादर बदन निहारे।', 'भूप बिलोकि लिये उर लाई।', 'देखि राम सब सभा

भवानी', 'निरखि राम दोउ गुर अनुरागे', 'जाइ समीप रामछबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी॥' (२६४। ४)। श्रीसीताजी जैसे समीपसे देखकर अनुरक्त हो गयी थीं, वैसे ही दोनों गुरु अनुरागमें मग्न हो गये, शरीरमें पुलकावली होने लगी, नेत्रोंमें जल भर आया।

४ **'कहहिं बसिष्टु धरम इतिहासा'**''' इति। (क) श्रीवसिष्ठजी कुलगुरु हैं। ये बारहों मास कथा सुनाते हैं, यथा—**'बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥** ७। २६॥' (ख) 'धरम इतिहासा' इति। केवल 'धर्म' कहकर सब धर्म सूचित किये। वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, दानधर्म, मोक्षधर्म, स्वामिधर्म, स्त्रियोंके धर्म इत्यादि सब धर्मोंके इतिहास कहते हैं। 'इतिहास' कहनेका भाव कि धर्मात्माओंके द्वारा धर्मका निरूपण करते हैं। अर्थात् धर्मात्माओंकी कथा कहते हैं। (ग) **'सुनहिं महीसु सहित रनिवासा'** इति। भाव कि वसिष्ठजी स्त्री-पुरुष दोनोंके धर्मोंका वर्णन करते हैं, धर्म सबको प्रिय है, इसीसे रनवाससहित सुनते हैं। [राजाको विशेषकर धर्मका ही प्रयोजन रहता है, इससे धर्मके ही इतिहास कहते हैं और नहीं। इतिहासद्वारा कहनेसे धर्मकी बातें हृदयमें विशेष दृढ़ हो जाती हैं, कथा भी रोचक हो जाती है; अतः इतिहास कहते हैं]

मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ट बिपुल बिधि बरनी॥ ६॥
बोले बामदेउ सब साँची। कीरति कलित लोक तिहुँ माची॥ ७॥
सुनि आनंदु भयेउ सब काहू। राम लषन उर अधिक उछाहू॥ ८॥

दो०—मंगल मोद उछाह नित जाहिं दिवस येहि भाँति।
उमगी अवध अनंद भरि अधिक अधिक अधिकाति॥ ३५९॥

अर्थ—श्रीवशिष्ठजीने आनन्दित होकर राजा गाधिके पुत्र विश्वामित्रजीकी करनीको, जो मुनियोंके मनको भी अगम्य है, बहुत प्रकारसे वर्णन किया॥ ६॥ वामदेवजी बोले कि सब बातें सत्य हैं। (विश्वामित्रजीकी) कीर्ति तीनों लोकोंमें फैली हुई है॥ ७॥ (यह) सुनकर सब किसीको आनन्द हुआ (और) श्रीराम-लक्ष्मणजीके हृदयमें अधिक उत्साह (आनन्द) हुआ॥ ८॥ नित्य ही मंगल-मोद-उत्सव होते हैं, इस प्रकार दिन बीतते जा रहे हैं। अयोध्यापुरी आनन्दसे भरकर उमड़ पड़ी। (यह आनन्दकी उमङ्ग) अधिक-से-अधिक- बढ़ती जाती है॥ ३५९॥

टिप्पणी—१ (क) धर्मात्माओंके इतिहास कहते-कहते विश्वामित्रजीका प्रसङ्ग आया, इसीसे विश्वामित्रजीकी करनीका वर्णन करने लगे। (ख) **'मुनि मन अगम'**—अर्थात् वहाँतक मुनियोंका मन भी नहीं पहुँच पाता, तनकी तो बात ही क्या। (चाण्डालको इसी देहसे स्वर्गतक पहुँचा दिया, फिर उसके लिये दूसरा स्वर्ग रच दिया। तप करके क्षत्रियसे ब्राह्मण हुए। इत्यादि)। **'मुनि मन अगम'** से उनकी करनी बहुत भारी सूचित की, महिमा अतुलित दिखायी। (ग) **'गाधिसुत करनी'** इति। भाव कि प्रथम ये राजपुत्र थे, अपनी करनीसे ब्राह्मण हुए। (घ) 'मुदित' इति। विश्वामित्रजी और वशिष्ठजीसे वैर था। विश्वामित्रजीने वशिष्ठजीके सौ पुत्र अपने तपोबलसे मार डाले। यह करनी भी प्रसन्नतापूर्वक विस्तारसे कही। तात्पर्य कि वशिष्ठजीके हृदयमें न तो अपने पुत्रोंके मरनेका और न विश्वामित्रजीके मारनेका किञ्चित् भी दुःख है। इनके अन्तःकरणमें किञ्चित् भी वैरभाव नहीं है; इसीसे सारी कथा आनन्दित होकर वर्णन की। (ङ) **'बिपुल बिधि बरनी'** इति। बहुत विधि यह कि—जैसे वशिष्ठजीसे विश्वामित्रजीकी लड़ाई हुई; जैसे विश्वामित्रजीने हारकर तप किया; जैसे तपस्यामें विघ्न हुआ; जैसे भारी तप करके ब्राह्मण हुए; जैसे त्रिशंकुको स्वर्ग पहुँचाया; जैसे दूसरे ब्रह्माण्डकी रचना करने लगे; इत्यादि **'बिपुल बिधि'** की करनी कही। [मानसमें विश्वामित्रजीकी कथा वशिष्ठजीने कही है और वाल्मीकीयमें शतानन्दजीने कही वह भी जनकपुरमें केवल श्रीराम-लक्ष्मणजीसे।]

*** श्रीविश्वामित्रजीकी कथा ***

वाल्मीकीय रामायण (सर्ग ५१ श्लोक १७ से सर्ग ६५ श्लोक २९ तक) में श्रीशतानन्दजी महाराजने श्रीरामचन्द्रजीसे श्रीविश्वामित्रजीकी कथा कही है। एक बार राजा विश्वामित्र अक्षौहिणी दल लेकर पृथ्वीका परिभ्रमण करने निकले। नगरों, नदियों, पर्वतों, जंगलों और आश्रमोंको देखते हुए वे वशिष्ठजीके आश्रममें पहुँचे। कुशलप्रश्न करनेके पश्चात् मुनिने राजाको

अतिथि-सत्कार ग्रहण करनेको निमन्त्रित किया और अपनी कपिलागऊको बुलाकर सबकी रुचिके अनुसार भोजनकी वस्तु एकत्र करके उनका सत्कार करनेकी आज्ञा दी। सत्कृत होनेपर प्रसन्नतापूर्वक राजाने कोटि गऊ अलंकृत तथा और भी अनेक रत्न आदिका लालच देकर कहा कि यह कपिलागऊ हमको दे दो। मुनिने कहा कि मैं इसे किसी प्रकार न दूँगा, यह मेरा धन है, सर्वस्व है, जीवन है।—'**एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम्। एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम्॥ १। ५३। २३॥**' राजा उसे बलपूर्वक ले चले, वह छुड़ाकर मुनिके पास आ रोने लगी। मुनिने कहा कि यह राजा है, बलवान् है, क्षत्रिय है, मेरे बल नहीं। तब गऊ आशय समझकर बोली मुझे आज्ञा हो—आज्ञा पाते ही भयंकर सेना उत्पन्न करके उसने सब सेना नष्ट कर दी। तब विश्वामित्रके सौ पुत्रोंने क्रोधमें भरकर वशिष्ठजीपर आक्रमण किया। मुनिकी एक हुंकारसे राजाके सौ पुत्र और घोड़े-रथ-सेना सब भस्म हो गये। राजा पङ्ख कटे पक्षीके समान अकेला रह गया। उसको वैराग्य हुआ। राज्य एक पुत्रको देकर तप करके उसने शिवजीको प्रसन्न कर वर माँग लिया कि 'अङ्गोपाङ्ग मन्त्र तथा रहस्यके साथ धनुर्वेद आप मुझे दें। देव-दानव-महर्षि-गन्धर्वादि सभीके जो कुछ अस्त्र हों सब मुझे मालूम हो जायँ। इन्हें पाकर अभिमानसे राजाने मुनिके आश्रममें जा उसे क्षणभरमें ऊसरके समान शून्य कर दिया। ऋषियोंको भयभीत देख मुनिने अपना दण्ड उठाया कि इसे अभी भस्म किये देता हूँ। और राजाको ललकारा। राजाकी समस्त विद्या ब्रह्मदण्डके सामने कुछ काम न दे सकी। समस्त अस्त्रोंके व्यर्थ हो जानेपर राजाने ब्रह्मास्त्र चलाया, उसे भी ब्राह्मतेज ब्रह्मदण्डसे मुनिने शान्त कर दिया। वशिष्ठजीके प्रत्येक रोमकूपसे किरणोंके समान अग्निकी ज्वालाएँ निकलने लगीं, ब्रह्मदण्ड उनके हाथमें कालाग्निके समान प्रज्वलित था। मुनियोंने उनकी स्तुतिकर विनय की कि आप अपना तेज अपने तेजसे शान्त करें और अपना अस्त्र हटाइये, प्राणीमात्र उससे पीड़ित हो रहे हैं। उनकी विनय सुनकर उन्होंने दण्डको शान्त किया। पराजित राजा लंबी साँस भरकर अपनेको धिक्कारने लगा '**धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।** १। ५६। २३॥' और ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये तपस्या करने चले। कठिन तपस्या की; ब्रह्माजीने आकर कहा कि आजसे तुम्हें हम सब राजर्षि समझने लगे। एक बारकी तपस्या त्रिशंकुने ले ली तब पुष्कर क्षेत्रमें जा तपस्या करने लगे। वहाँ ऋचीकके मँझले पुत्र शुनःशेपने अपने मामा विश्वामित्रको तप करते देख उनकी शरण ली कि अम्बरीषके यज्ञमें बलि दिये जानेसे बचाइये। एक तपस्या इसमें गयी। (सर्ग ६२)। एक हजार वर्ष तपस्या करनेपर ब्रह्माजीने आकर तपस्याका फलस्वरूप इनको 'ऋषि' पद दिया। फिर कठिन तप करने लगे। बहुत समय बीतनेपर मेनका पुष्कर क्षेत्रमें स्नान करने आयी उसको देख ये कामके वश हो गये। दस वर्ष उसके साथ रहे, फिर ग्लानि होनेपर उसका त्यागकर उत्तर पर्वतपर कौशिकीके तटपर जा कठोर तपस्या करने लगे। कठिन तप देख देवताओंकी प्रार्थनापर ब्रह्माजीने इनको 'महर्षि' पद दिया और कहा कि ब्रह्मर्षि पद पानेके लिये इन्द्रियोंको जीतो। तब महर्षि विश्वामित्रजी निरवलम्ब वायुका आधार ले कठिन तप करने लगे। इन्द्र डरा और रम्भाको बुला उसने विघ्न करने भेजा। (सर्ग ६३)। महर्षि जान गये, पर क्रोध न रोक सके, रम्भाको शाप दिया कि पत्थर हो जा। क्रोधवश होनेसे तपस्या भङ्ग हो गयी। इससे महर्षिका मन अशान्त हुआ। अब उन्होंने निश्चय किया कि मैं सौ वर्षतक श्वास ही न लूँगा, इन्द्रियोंको वशमें करके अपनेको सुखा डालूँगा''। ऐसा दृढ़ निश्चयकर वे पूर्व दिशामें जा एक हजार वर्षतक मौनकी प्रतिज्ञा कर घोर तप करने लगे—समस्त विघ्नोंको जीता। व्रत पूर्ण होनेपर ज्यों ही अन्न भोजन करना चाहा इन्द्रने विप्ररूप धर उनके पास आ उस अन्नको माँग लिया, उन्होंने दे दिया और पुनः श्वास खींचकर पुनः तपस्या करने लगे। मस्तकसे धुआँ और फिर अग्निकी ज्वालाएँ निकलने लगीं। सब देवता डरकर ब्रह्माजीके पास दौड़े कि शीघ्र उनके मनोरथको पूर्ण कीजिये, अब उनमें कोई विकार नहीं है, उनके तेजके आगे लोगोंका तेज मन्द पड़ गया''ब्रह्माजीने आकर उन्हें ब्रह्मर्षि पद दिया। और फिर वशिष्ठजीसे भी उनकी मित्रता करा दी और उनसे भी उनको ब्रह्मर्षि कहला दिया। (सर्ग ६४, ६५)। (☞ आजकलके अभिमानी संहारक विज्ञानियोंको विश्वामित्रके अस्त्र-शस्त्रोंको पढ़ना चाहिये, जिससे ज्ञात होगा कि हमारा देश अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें कितना बढ़ा-चढ़ा था।)

टिप्पणी—२ (क) '**बोले बामदेव सब साँची**' इति। श्रीवशिष्ठजीने श्रीविश्वामित्रजीकी भारी करनीका वर्णन किया। (बहुत भारी महत्त्व-कथनसे झूठकी सम्भावना है) सुनकर लोगोंको विश्वास न होगा सबको झूठ ही लगेगी, अतः (संदेहके निवारणार्थ) वामदेवजीने (श्रीवशिष्ठजीका समर्थन करते हुए) कहा कि यह सब बातें सत्य हैं, तीनों लोकोंमें इनकी सुन्दर कीर्ति फैली हुई है। (ख) '**कीरति कलित**'—'कलित' कहकर जनाया कि उनकी कीर्ति चन्द्रमाके समान उदय हो रही

है। 'लोक तिहुँ माची' कहनेका भाव कि चन्द्रमा तो एक ही लोकमें उदय होकर उसीको प्रकाशित करता है और इनकी कीर्ति तीनों लोकोंमें उदय होकर प्रकाशमान है। आशय यह कि श्रीविश्वामित्रजीकी कीर्ति और उनकी करनीको तीनों लोक जानता है। (बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वह सुन्दर कीर्ति वाल्मीकिरचित रामायणद्वारा तीनों लोकोंमें फैली है। सुर-नर-नाग उनकी कीर्तिका गान कर रहे हैं')। (ग) 'मुनि आनंदु भयेउ सब काहू' वामदेवजीने जब साक्षी दी, वसिष्ठजीका समर्थन किया, तब सबको विश्वास हुआ कि यह प्रशंसा नहीं की किंतु सब सत्य-ही-सत्य कहा है। (यह अर्थवाद नहीं है—रा० प्र०)। 'सत्य समझकर सबको आनन्द हुआ। पुनः सबको यह समझकर आनन्द हुआ कि हमें घर बैठे महान् पुरुषके दर्शन हुए, हम बड़े सुकृती हैं, हमारे बड़े भाग्य हैं। (घ) 'राम लखन उर अधिक उछाहू' इति। श्रीविश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मणजीके गुरु हैं, इसीसे गुरुका भारी महत्त्व सुनकर उनको अत्यन्त उत्साह हुआ। 'अधिक' का भाव कि औरोंको 'आनन्द' हुआ और इनको सबसे अधिक आनन्द हुआ। [सबको आनन्द हुआ और इनको 'अति आनंद' हुआ। एक तो गुरुकी बड़ाई सुनी इससे; दूसरे सुना था कि श्रीवसिष्ठ और विश्वामित्रजीमें परस्पर विरोध था इससे शंकित थे दोनों गुरु हैं, दोनोंकी सेवकाई कैसे बनेगी; एककी सेवासे दूसरेको दुःख होगा। सो वसिष्ठजीके मुखसे सुननेसे वह शंका दूर हो गयी। (रा० प्र०)]

३ 'मंगल मोद उछाह नित···' इति। (क) मङ्गलका वर्णन, यथा—'बिबिध भाँति मंगल कलस गृह गृह रचे सँवारि। ३४४॥' 'मंगल कलस सजहिं सब रानी। ३४६। ७॥' 'मुदित करहिं कल मंगल गाना। ३४६। ८॥' 'मंगल रचना रची बनाई। २९६। ६॥' मङ्गल कलश, मङ्गल द्रव्य, मङ्गल गान और मङ्गल रचना यह सब मङ्गल है। (ख) मोद (अर्थात् हर्ष, आनन्द। 'मुद हर्षे') का वर्णन, यथा—'आरति करहिं मुदित पुरनारी। हरषहिं निरखि कुअँर बर चारी। ३४८। ७॥' 'भरी प्रमोद मातु सब सोहीं। ३५०। ५॥' 'मुदित महीपति सहित समाजा। ३४७। ८॥' 'बने बराती बरनि न जाहीं। महामुदित मन सुख न समाहीं॥' (३४८। ४)। (ग) 'उछाह' का वर्णन, यथा—'जनु उछाहु सब सहज सुहाए। तनु धरि धरि दसरथ गृह छाए। ३४५। ३॥' (घ) 'नित' कहनेका भाव कि हमने एक दिनके मङ्गल, मोद और उत्साहका वर्णन किया है, इसी प्रकारसे नित्य होता है, प्रत्येक दिन इसी प्रकार बीतता है। (ङ) 'उमगी अवध'—भाव कि नित्यप्रति अयोध्यापुरी मङ्गल-मोद-उछाहसे भरती है। इसीसे उमगी (मङ्गलादिकी बाढ़ आ गयी) यह उमङ्ग नित्यप्रति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

सुदिन सोधि* कल† कंकन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे॥१॥
नित नव सुखु सुर देखि सिहाहीं। अवध जन्म जाचहिं बिधि पाहीं॥२॥
बिश्वामित्रु चलन नित चहहीं। राम सप्रेम‡ बिनय बस रहहीं॥३॥
दिन दिन सयगुन भूपति भाऊ। देखि सराह महामुनिराऊ॥४॥

अर्थ—शुभ दिन शोधकर सुन्दर कङ्कण छोड़े गये। मङ्गल, मोद और विनोद कुछ थोड़े नहीं हुए। १। देवता नित्य नया सुख देखकर ललचाते हैं और ब्रह्माजीसे अवधपुरीमें जन्म माँगते हैं। २। विश्वामित्रजी नित्य ही चलना (बिदा होना) चाहते हैं (पर) श्रीरामचन्द्रजीके सप्रेम विनतीके वश रह जाते हैं। ३। दिनों-दिन राजाका सौगुना प्रेम देखकर महामुनिराज सराहते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'सुदिन सोधि कल कंकन छोरे···' इति। [(क) 'कंकण' एक धागा है, जिसमें सरसों आदिकी पुटली पीले कपड़ेमें बाँधकर एक लोहेके छल्लेके साथ विवाहके समयसे पहले दूलह वा दुलहिनके हाथमें रक्षार्थ बाँधते हैं। विवाहमें देशाचार-अनुसार चोकर, सरसों, अजवायन आदिकी पीले कपड़ेमें नौ पोटलियाँ लाल-पीले तागेसे बाँधते हैं। एक तो लोहेके छल्लेके साथ दूलहके हाथमें बाँधते हैं। शेष आठ मूसल, चक्की, ओखली, पीढ़ा-हरिस, लोढ़ा, कलश आदिमें बाँधी जाती हैं। कंकण छोड़ना भारी उत्सव है। विवाहके पश्चात् बारात लौटनेपर शुभ मुहूर्त विचारकर कंकण छोड़नेकी रीति की जाती है] कंकण छोड़े गये अर्थात् माईं सिराई गयीं। माईं (छोटे-छोटे पूए जिनसे मातृका-पूजा होती है) शुभ मुहूर्तमें सिरायी जाती हैं; इसीसे 'सुदिन' का विचारना कहा। (ख) प्रथम लिखा कि 'मंगल मोद उछाह नित जाहिं दिवस येहि भाँति' और अब कहते हैं कि 'सुदिन सोधि कल कंकन छोरे'; इससे पाया गया कि बहुत दिन बीत जानेपर कंकण छोड़नेका

* साधि—छ०। † कर—को० रा०। ‡ सनेह—ना० प्र०, १७०४।

मुहूर्त बना। 'सोधि' कहनेका भाव कि इसमें विचार करना पड़ता है कि भद्रा न हो, चित्रा, विशाखा, शततारका, अश्विनी इत्यादि नक्षत्र न हों। (वैजनाथजी लिखते हैं कि माघ कृष्ण सप्तमी गुरुवार हस्त नक्षत्रमें कंकण खोले गये)। (ग) **कंकण बहुत हैं**—कलशका, मगरोहनिका, पीढ़ेका, हाथका, माईके पात्रका। इसीसे यहाँ 'कंकन' कहा। हाथका कंकण नहीं कहा। (घ) 'कल' देहलीदीपक है। सुदिन सुन्दर है और कंकण भी सुन्दर हैं। कंकण जनकपुरमें बाँधे गये हैं (क्योंकि दूलह श्रीराम और श्रीलक्ष्मणजी वहीं थे। श्रीभरत-शत्रुघ्नजीके विवाहका भी वहीं निश्चय हुआ, इससे उनके भी कंकण वहीं बाँधे गये)। जनकपुरकी सब रचना विचित्र है, इसीसे कंकण भी विचित्र हैं। (ङ) **'मंगल मोद बिनोद न थोरे'** इति। अर्थात् बड़े मंगल गान इत्यादि, बड़े हर्ष और बड़े विनोदके साथ कंकण छोड़नेकी रीति हुई। इसमें स्त्रियाँ सब मंगलद्रव्य लिये हुए गाती हैं, पुरुषोंके ऊपर जल छोड़ती हैं। (प्र० सं० में हमने लिखा था कि स्त्रियाँ परस्पर एक दूसरेपर जल छिड़कती हैं यह विनोद है)। बड़ी हँसी होती है, इसीसे विनोद है। बड़ा हर्ष (आनन्द) होता है। कविने ये सब बातें **'मंगल मोद बिनोद'** से सूचित कर दीं। कंकण छोड़नेपर विवाहोत्सवकी परिसमाप्ति होती है। जबतक कंकण नहीं छोड़े जाते तबतक वधू-वरोंमें लक्ष्मी-नारायणका निवास होता है (प० प० प्र० ।)

२—**'नित नव सुख सुर देखि'**''' इति। (क) **'नित नव सुख'** प्रथम कह चुके हैं, यथा—**'मंगल मोद उछाह नित जाहिं दिवस येहि भाँति ॥ ३४९ ॥'** (ख) **'सुर देखि सिहाहीं'** इति। भाव कि देवता सुखके भोक्ता हैं। देवताओंका सुख सबसे अधिक है, परंतु श्रीअयोध्यापुरीका सुख उससे कहीं अधिक है, इसीसे देवता सिहाते हैं (ललचाते हैं कि यह सुख हमको भी मिलता)। अवधवासियोंको बड़ा सुख है, यह सुख हमको नहीं है यह सोचना (और उसकी चाह करते हुए प्रशंसा करना) 'सिहाना' कहलाता है। (ग) **'अवध जन्म जाचहिं बिधि पाहीं'** इति। अवधमें जन्म चाहते हैं, क्योंकि बिना अवधमें जन्म हुए अवधके सुखके भोक्ता नहीं हो सकते। 'विधि' से जन्म माँगनेका भाव कि कर्मसे (कर्मानुसार) शरीर मिलता है, यथा—**'जेहि जेहि जोनि कर्मबस भ्रमहीं।'**, **'जेहि जोनि जनमौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥ ४ । १० ॥'** और, कर्मकी गति ब्रह्मा जानते हैं, इसीसे वे जन्म देते हैं, यथा—**'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता ॥ २ । २८२ ॥'** अतः विधिसे माँगते हैं। (घ) शंका—देवता अपने अंशसे देह धारण करके श्रीअयोध्याजीमें अवतार क्यों नहीं ले लेते जैसे वानर होकर प्रकट हुए थे, यथा—**'बनचर देह धरी छिति माहीं ॥१८८ । ३॥'**, विधातासे माँगनेका कौन प्रयोजन? समाधान यह है कि उस समय ब्रह्माकी आज्ञासे अवतार लिया था, यथा—**'जो कछु आयेसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥ १८८ । २ ॥'**

३ **'बिस्वामित्र चलन नित चहहीं।'**''' इति। (क) शंका—जिस सुखके लिये देवता श्रीअयोध्यापुरीमें जन्मकी याचना करते हैं, उस अयोध्यापुरीसे विश्वामित्रजी क्यों नित्य चलना चाहते हैं? (श्रीरामदर्शन और श्रीअवधका सुख छोड़कर वे क्यों वनको जाना चाहते हैं?—प्र० सं०)। समाधान—देवता इन्द्रियोंका सुख चाहते हैं, उनका प्रेम विषयसुख-भोगहीमें रहता है, यथा—**'बिषय भोगपर प्रीति सदाई ॥ ७ । ११८ । १५ ॥'** सुख भोगनेके लिये ही वे अवधमें जन्म माँगते हैं। विश्वामित्रजी महामुनिराज हैं। मुनिलोग विषयसुख नहीं चाहते, इसीसे विश्वामित्र नित्य ही चलना चाहते हैं। पुनः विश्वामित्रजीके चलनेका दूसरा भाव यह है कि व्यवहारकी मर्यादा भी रखनी ही है। व्यवहारमें ऐसा ही किया जाता है और ऐसा ही करना चाहिये। विवाहके पश्चात् सभी पाहुन (मेहमान, न्योतहारी, विवाहमें आये हुए लोग) बिदा होते हैं, वैसे ही ये भी बिदा हो रहे हैं। [अथवा, जिस भजनसे श्रीरामजी ऐसे शिष्य मिले, उसीके निमित्त चलना चाहते हैं। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि क्षत्रियोंके आश्रित होकर रहना निस्पृही विप्रोंके लिये दूषण है। दूसरे, मुनिके आश्रित शिष्य भी बहुत हैं, उनके कल्याणका नैतिक उत्तरदायित्व भी सिरपर है। फिर अयोध्याके समान राजधानीमें निवास करनेसे व्यावहारिक उपाधि भी बढ़ती है, मनचाहा भजन नहीं होता। अति परिचयसे प्रेम भी न्यून हो जाता है, विरहसे प्रेम बढ़ता है। (प० प० प्र०)] (ख) **'राम सप्रेम बिनय बस रहहीं'** इति। 'सप्रेम' का भाव कि प्रेम बन्धन है, यथा—**'बन्धनानि बहून्यपि सन्ति प्रेमरज्जुमिह बन्धनमन्यत्। दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिः निष्क्रियो भवति पंकजबद्धः।'** (यथा—**'जनु सनेहरजु बँधे बराती ॥ ३३२ । ५ ॥'** देखिये) देवता भी प्रेम विनयके वश हो जाते हैं, यथा—**'बिनय प्रेम बस भई भवानी ॥ २३६ । ५ ॥'** विश्वामित्रजी श्रीरामजीके सप्रेम विनयके वश हो गये इसीसे **'बस रहहीं'** कहा ।

४ (क)—'दिन दिन सय गुन भूपति भाऊ' इति। विश्वामित्रजीमें जो श्रीरामजीका प्रेम है उसे कहकर अब राजाका प्रेम कहते हैं। 'दिन दिन' कहनेका भाव कि यदि ऐसा न कहते तो राजाका भाव श्रीरामजीके भावसे सौगुना समझा जाता, क्योंकि श्रीरामजीका भाव प्रथम कहके (तुरत उसके पीछे) राजाका सौगुण भाव कहा; इसीसे 'दिन दिन सय-गुन भाऊ' कहा। तात्पर्य यह कि अपना भाव अपने ही भावसे सौगुना बढ़ता है। यहाँ राजाकी अपेक्षा श्रीरामजीका भाव अधिक दिखाते हैं। राजाके भावकी मिति (दिन-दिन, सौ गुन) लिखते हैं और रामजीके भावकी मिति नहीं लिखते। मिति न लिखकर इनके प्रेमको अमित जनाया। (ख) 'देखि सराह'—भाव कि नित्यप्रति सौगुना बढ़ता है, इससे सराहने योग्य है; अतः सराहते हैं।

माँगत बिदा राउ अनुरागे। सुतन्ह समेत ठाढ़ भे आगे॥ ५॥
नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवकु समेत सुत नारी॥ ६॥
करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसनु देत रहब मुनि मोहू॥ ७॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी। परेउ चरन मुख आव न बानी॥ ८॥

अर्थ—(अन्तिम) बिदा माँगते समय राजा प्रेममें मग्न होकर पुत्रोंसहित (मुनिके) आगे खड़े हो गये (और बोले-) ॥ ५॥ हे नाथ! (यह) सब सम्पदा आपकी है। स्त्री और पुत्रोंसहित मैं (आपका) सेवक हूँ॥ ६॥ सदा लड़कोंपर दया अनुग्रह करते रहियेगा और, हे मुनि! मुझे भी दर्शन देते रहियेगा॥ ७॥ ऐसा कहकर राजा पुत्रों और रानियों सहित (मुनिके) चरणोंपर पड़ गये, उनके मुखसे वचन नहीं निकलते॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'माँगत बिदा राउ अनुरागे···' इति। (क) श्रीरामजीके प्रेमवश रहना और राजासे बिदा माँगना कहा। क्योंकि रामजीके बिदा कर देनेसे मुनि बिदा नहीं हो सकते (जबतक राजा न बिदा करें क्योंकि घरके मुखिया राजा हैं), हाँ, उनके रखनेसे रह सकते हैं। इसीसे श्रीरामजीका रखना लिखा और राजासे बिदा माँगना कहा। (ख) 'माँगत बिदा'—यह अन्तिम बिदाकी माँग है। बिदा होनेकी माँग तो नित्य ही होती थी, पर अब आगे नहीं ठहरेंगे, इस निश्चयसे जब बिदा माँगी तब। (ग) 'अनुरागे' से जनाया कि नेत्रोंमें जल भर आया, कण्ठ गद्गद हो गया इत्यादि। बिदा माँगनेपर 'अनुरागे' कहनेका भाव कि वियोगके समय यह समझकर कि अब साथ छूटने ही चाहता है अनुराग बढ़ गया। (घ)—'सुतन्ह समेत' यहाँ स्त्रियोंको नहीं कहा, परंतु पुत्रों और स्त्रियोंसमेत अर्थमें लगा लेना चाहिये, क्योंकि आगे उनका भी साथ होना लिखते हैं (यह ग्रन्थकारकी शैली है। आगे लिखते हैं। इससे यहाँ नहीं लिखा)। यथा - 'मैं सेवकु समेत सुत नारी', 'अस कहि राउ सहित सुत रानी। परेउ चरन ···'। (ङ) 'ठाढ़ भे आगे'–आगे खड़े होनेका भाव यह कि हम सब तुम्हारे सेवक हैं, जैसा आगे कहते हैं।

२—'नाथ सकल संपदा तुम्हारी ·····' इति। (क) 'सकल संपदा तुम्हारी' अर्थात् इसे अपनी जानिये-मानिये, जो काम पड़े उसमें इसे खर्च कीजिये। मैं सेवक समेत सुत नारी अर्थात् हमें परिवारसहित अपना सेवक जानिये, सेवकका जो काम पड़े उसके सेवाकी हमें आज्ञा दी जाय। (ख) सब सम्पत्ति समर्पण करके स्वयं परिवारसहित सेवक बने, यह आत्मसमर्पण भक्ति है। यथा—'देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥' २। ८८। जो बात राजा मुखसे कह रहे हैं, उसे उन्होंने तनसे किया भी है, यथा—'भीतर भवन दीन्ह बर बासू। मन जोगवत रह नृप रनिवासू॥' ३५२। ७॥

३ 'करब सदा लरिकन्ह पर छोहू।····' इति। (क) महात्माओंके छोहसे मंगल कल्याण होता है। सदा छोह रखनेसे सदा कल्याण होता है; इसीसे सब कोई 'सदा छोह' माँगता है, यथा—'कुटिल कर्म लै जाइ मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई। तहँ तहँ जनि छिन छोह छाड़िए कमठ अंड की नाईं॥' (विनय० १०३)। (ख) 'दरसनु देत रहब'—'रहब' रहियेगा, इस शब्दसे 'सदा देते रहियेगा' यह भावार्थ पाया गया। 'दर्शन देते रहियेगा' से स्पष्ट किया कि जैसे लड़कोंपर सदा छोह रखियेगा वैसे ही सदा मुझे भी दर्शन देते रहियेगा। (ग) राजा मुनिके तन और मनकी याचना करते हैं। मनसे लड़कोंपर छोह कीजिये और तनसे मुझे दर्शन देते रहिये। लड़कोंपर छोह करना मुख्य है, इसीसे उसे पहले माँगते हैं। 'मुनि मोहू'—'मोहू' कहकर अपनेको दर्शन देनेकी बात गौण रक्खी, क्योंकि लड़कोंपर छोह करनेसे सब कल्याण हो चुका, केवल दर्शन रहा सो उनके लिये याचना करते हैं।

४ 'अस कहि राउ ···' इति । (क) चरणोंपर पड़नेमें राजा मुख्य हैं, इसीसे 'परेउ' एकवचन कहते हैं। जो रानियाँ और पुत्र भी मुख्य होते तो 'परे चरन' ऐसा कहते । 'मुख आव न बानी' कहकर सूचित किया कि वे कुछ और कहते, परन्तु मुखसे वाणी नहीं निकलती, राजा प्रेमकी दशाको प्राप्त हैं। (ख) राजाके मन, वचन, तनकी भक्ति दिखाते हैं । 'माँगत बिदा राउ अनुरागे' यह मनकी भक्ति है, क्योंकि अनुराग मनमें होता है । 'नाथ सकल संपदा तुम्हारी । मैं सेवकु समेत सुत नारी ॥' यह वचनकी भक्ति है; क्योंकि वचनसे कहा है । और, 'राउ सहित सुत रानी । परेउ चरन···' यह तनकी भक्ति है, तन चरणपर पड़ा है ।

दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती । चले न प्रीति रीति कहि जाती ॥ ९ ॥
रामु सप्रेम संग सब भाई । आयेसु पाइ फिरे पहुँचाई ॥ १० ॥

दोहा—रामरूपु भूपति भगति ब्याहु उछाहु अनंदु ।
जात सराहत मनहि मन मुदित गाधिकुलचंदु ॥ ३६० ॥

अर्थ—ब्राह्मण (श्रीविश्वामित्रजी) ने बहुत प्रकारके आशीर्वाद दिये और चल पड़े । प्रीतिकी रीति कही नहीं जाती । ९ । श्रीरामजी सब भाइयोंको संगमें लेकर प्रेमसहित उनको पहुँचाकर आज्ञा पाकर लौटे । १० । राजा गाधिके कुलके चन्द्रमा (श्रीविश्वामित्रजी) बड़े ही हर्षके साथ मन-ही-मन श्रीरामजीके रूप, दशरथ महाराजकी भक्ति, ब्याहके उत्सवके आनन्द (वा ब्याह, उत्साह और आनन्द) को सराहते जा रहे हैं । ३६० ।

टिप्पणी—१'दीन्हि असीस बिप्र···' इति । [(क) आशीर्वाद देना विप्रका काम है, अतः यहाँ 'विप्र' शब्द दिया] 'बहु भाँती' इति । बहुत प्रकारके आशीर्वाद देनेका भाव कि चरणोंपर पड़नेवाले बहुत लोग हैं–राजा, चारों पुत्र और रानियाँ । इसीसे बहुत भाँतिके आशीर्वाद देना पड़े । राजाको ऐश्वर्यमान होनेका आशीर्वाद दिया, क्योंकि राजाने सम्पदा अर्पण की थी । पुत्रोंको चिरजीव और रानियोंको सावित्री होनेका आशीर्वाद दिया । (ख)—'चले' इति । 'आसिष देकर चल पड़े', कहनेका भाव कि यद्यपि राजाने मुनिको सब सम्पदा अर्पण की—'नाथ सकल संपदा तुम्हारी', तथापि मुनिने कुछ भी न लिया, क्योंकि विरक्त हैं । इसी प्रकार वसिष्ठजीको सब सम्पदा अर्पण की गयी, यथा—'बिनय कीन्हि उर अति अनुरागें । सुत संपदा राखि सब आगें ॥' ३५३ । १, किंतु उन्होंने कुछ न लिया, केवल अपना नेग माँगकर लिया, क्योंकि पुरोहित हैं, उनका नेग लेना उचित है । (ग) 'न प्रीति रीति कहि जाती' इति । अर्थात् राजा और विश्वामित्रजीने जितना परस्पर प्रीतिका व्यवहार किया उतना कहते नहीं बनता । अन्तःकरणकी प्रीति कैसे कहते बने—'कहहु सुपेम प्रगट को करई । केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥ २ । २४१' राजाका प्रेम (जो मुनिप्रति है वह) कह आये, महामुनिने उनको पहुँचाने चलने न दिया यह मुनिका प्रेम राजाके प्रति है । यही सब प्रीतिकी रीति है ।

२ 'राम सप्रेम संग सब भाई ।····' इति । (क) 'सप्रेम' कहनेका भाव कि श्रीरामजी प्रेमके मारे फिरते नहीं, बड़ी दूरतक पहुँचाने चले गये । (जैसे जनकजी प्रेमके मारे फिरते न थे) यथा—'बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं । जनकु प्रेम बस फिरै न चहहीं ॥ पुनि कह भूपति बचन सुहाए । फिरिअ महीस दूरि बड़ि आए । ३४० । ४-५' (ख) 'संग सब भाई'—भाइयोंसहित पहुँचाने गये, इस प्रकार मुनिका अत्यन्त आदर किया । श्रीरामजी भाइयोंसहित पहुँचाने गये, इस कथनसे सूचित होता है कि मुनिने महाराजको अत्यन्त वृद्ध समझकर पहुँचानेके लिये चलने नहीं दिया (यह मुनिकी प्रीति दिखायी) । (ग 'आयेसु पाइ फिरे पहुँचाई' इति । यहाँ आयसु पाना प्रथम कहते हैं और पहुँचाना पीछे । ऐसा लिखकर जनाते हैं कि विश्वामित्रजीने थोड़ी ही दूरपर श्रीरामजीको लौटनेकी आज्ञा दी, परंतु वे न फिरे, बहुत दूरतक पहुँचाकर तब फिरे । यह सेवकका धर्म है कि वह गुरुजीकी सब आज्ञा माने, पर सेवा करनेमें आज्ञा न माने । यथा—'बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥····,' 'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता । पौढ़े धरि उर पद जलजाता । १ । २२६ ।'

३ 'राम रूप भूपति भगति····' इति । (क) श्रीरामजी दूरतक पहुँचाकर तुरत अभी फिरे हैं इससे श्रीरामरूप हृदयमें समा रहा है; इसीसे रामरूपको प्रथम कहते हैं । 'भूपति भगति', यथा—'दिन दिन सय गुन भूपति भाऊ । देखि

सराह महामुनिराऊ ॥' । वहाँ वचनसे सराहते थे और यहाँ मन-ही-मन सराहते हैं। 'मनहि मन' सराहनेका भाव कि श्रीरामरूप, भूपति-भक्ति और ब्याहके उछाहका आनन्द तीनों अकथ्य हैं। अथवा, मुनिके साथ इस समय कोई दूसरा नहीं है जिससे कहें, इससे मन-ही-मन सराहते हैं। 'मनहि मन'—यह गहोरादेशकी बोली है। (यह मुहावरा है। इसका अर्थ है—हृदयमें चुपचाप; बिना कुछ कहे।)। (ख) 'रामरूप भूपति भगति ···' से यह भी जनाया कि यहाँके कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी सराहना करते हैं। रामका रूप ज्ञान है, भूपतिकी भक्ति उपासना है और ब्याह-उछाह कर्म है। सराहते हैं कि ऐसे कर्म, ज्ञान और उपासना त्रैलोक्यमें नहीं हैं। श्रीरामजीका-सा रूप नहीं है, यथा—'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं ॥ २२०। ६' 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥ ३, १९'। दशरथजीकी-सी भक्ति नहीं है, यथा—'तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेबी। तसि पुनीत कौसल्या देबी ॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥ १। २९४'। श्रीरामजीका-सा विवाह नहीं, यथा—'प्रभु बिबाह जस भयेउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू ॥ ३६१। ६'। (ग) 'मुदित' इति। जब श्रीरामजी मुनिको पहुँचाकर लौट गये तब उनके रूपको मुनि मनमें सराहने लगे अर्थात् मनमें उनके रूपको ले आये; इसीसे मुदित हुए। ☞ ऐसे ही जो श्रीरामजीको हृदयमें लाये, वे मुदित हुए हैं, यथा—'आयेसु पाइ राखि उर रामहि। मुदित गए सब निज निज धामहि ॥ ३५१।५', 'उर धरि रामहि सीय समेता। हरषि कीन्ह गुर गवनु निकेता ॥ ३५३। ३', तथा यहाँ 'जात सराहत मनहि मन मुदित···' पुनः भाव कि श्रीरामरूपसे मुदित हैं, भूपतिकी भक्ति और ब्याह-उछाह-आनन्दसे मुदित हैं—ये तीनों ही मुदके दाता हैं। (घ)—'गाधिकुलचंदु' इति। भाव कि चन्द्रमा तापको हरता है और विश्वामित्रजीने श्रीरामजीके रूप और लीलाका स्मरणकर कुलके तापको हर लिया और उसे प्रकाशित कर दिया। अथवा, विश्वामित्रजी चन्द्रमा हैं और चन्द्रमा श्रीरामजीका मन है, तो रामजीके रूपको मन-ही-मन सराहते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे श्रीरामजीका शुद्ध मन श्रीरामजीको भजता है वैसे ही शुद्ध मनसे विश्वामित्रजी श्रीरामजीको भजते हैं।

पंजाबीजी—'गाधिकुलचंद' विशेषणका आशय यह है कि मुनीश्वर विचारते हैं कि "हमारा पिता भी बड़ा भारी राजा था और हम उसके ज्येष्ठ पुत्र थे। हमने वहाँ भी सन्तसेवा और विवाहादिककी रचनाएँ देखी थीं, परंतु दशरथजीकी भक्ति और रामविवाहको देखकर हमें आश्चर्य हो रहा है।"

टिप्पणी—४ जनकपुरमें राजा दशरथजीकी बिदाईका और यहाँ श्रीविश्वामित्रजीकी बिदाईका एकरूप है। दोनोंका मिलान,* यथा—

राजा दशरथजीकी बिदाई		श्रीविश्वामित्रजीकी बिदाई
दिन उठि बिदा अवधपति मागा	१	विश्वामित्रु चलन नित चहहीं
राखहिं जनकु सहित अनुरागा	२	राम सप्रेम बिनय बस रहहीं
दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई	३	दिन दिन सय गुन भूपति भाऊ
नृपु सब भाँति सराह बिभूती	४	देखि सराह महामुनिराऊ
राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े	५	सुतन्ह समेत ठाढ़ भे आगे
प्रेम प्रबाह बिलोचन बाढ़े	६	माँगत बिदा राउ अनुरागे
येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये	७	नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी ॥
कोसलपति समधी सजन सनमाने सब भाँति	८	दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती
प्रीति न हृदय समाति	९	चले न प्रीति रीति कहि जाती
फिरे महीसु आसिषा पाई	१०	आयेसु पाइ फिरे पहुँचाई
जनकराज गुन सीलु बड़ाई।····बिधि भूप भाट जिमि बरनी	११	रामरूप भूपति भगति ब्याहु उछाहु अनंदु। जात सराहत

बामदेव रघुकुल गुर ग्यानी। बहुरि गाधिसुत कथा बखानी ॥ १ ॥

---

* यह मिलान मेरी समझमें पूरा उतरता हुआ नहीं जँचता।

सुनि मुनि सुजसु मनहि मन राऊ। बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ ॥ २ ॥
बहुरे लोग रजाएसु भएऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गएऊ ॥ ३ ॥
जहँ तहँ रामु ब्याहु सबु गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रीवामदेवजी और रघुकुलके ज्ञानी गुरु (श्रीवशिष्ठजी) ने पुनः महाराजा गाधिके पुत्र श्रीविश्वामित्रजीकी कथा बखानकर कही। १। मुनिका सुयश सुनकर राजा मन-ही-मन अपने पुण्योंके प्रभावका वर्णन कर रहे हैं। २। आज्ञा हुई, सब लोग लौटे (अपने-अपने घर गये)। राजा पुत्रोंसहित घर गये। ३। सभी लोग जहाँ-तहाँ श्रीरामविवाह गा रहे हैं। तीनों लोकोंमें पवित्र सुयश छा गया। ४।

टिप्पणी—१ 'बामदेव रघुकुल गुर ज्ञानी'।''' इति। (क) वामदेवजीकी बड़ाई (उनका महत्त्व) दिखानेके लिये उन्हें वशिष्ठजीके पहले लिखा और वशिष्ठजीकी बड़ाईके लिये 'रघुकुल गुर ज्ञानी' विशेषण दिया। तात्पर्य कि वामदेव-वशिष्ठजी ऐसे महामुनि भी विश्वामित्रजीकी बड़ाई करते हैं, इससे विश्वामित्रजीके सुयशकी अत्यन्त बड़ाई हुई। (वामदेवजीको प्रथम रखनेसे यह भी सूचित होता है कि अबकी बार वामदेवजीने ही स्वयं विश्वामित्रजीकी कथा प्रथम कही, पूर्व समर्थनमात्र किया था)। वामदेवजी और वशिष्ठजी दोनोंका बखान करनेका भाव यह है कि प्रथम वशिष्ठजीने विश्वामित्रजीकी कथा कही तब वामदेवजीने वशिष्ठजीका समर्थन किया था, इसीसे अब वशिष्ठजीकी वाणीको पुनः पुष्ट करते हैं क्योंकि यदि पुनः पुष्ट न करते तो प्रथमवाला कथन शिथिल पड़ जाता। (ख) 'बहुरि'''बखानी'—विश्वामित्रजीकी कथाको पुनः कहनेका भाव यह है कि किसीकी बड़ाई उसके मुखपर करनेसे उस बड़ाईकी कुछ विशेषता नहीं ही होती, पीठ पीछे बड़ाई करनेसे ही उसकी विशेषता समझी जाती है। [मुँहपर प्रशंसा करनेसे समझा जाता कि उनकी प्रसन्नताके लिये बड़ाई की गयी, वास्तवमें वे इतनी प्रशंसाके योग्य नहीं हैं, उनकी इतनी महिमा नहीं है। (मा० सं०)। अथवा, आनन्दमें दो बार कहा। वा, पहले संक्षिप्त कथा कही थी अब विस्तारसे कही। (रा० प्र०)]

२—'सुनि मुनि सुजसु''' इति। (क) 'मनहि मन'—मन-ही-मन वर्णन करते हैं क्योंकि अपना पुण्य अपने मुखसे कहनेसे पुण्य क्षीण हो जाता है, अपने मुखसे अपने सुकृत न कहने चाहिये; यथा—'छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती ॥ ६। ७२। ३' (ख) 'बरनत आपन पुन्य प्रभाऊ' अर्थात् सोचते हैं कि ये महामुनिराज हमारे पुण्यके प्रभावसे मिले हैं। (हमारे बड़े भारी सुकृत उदय हुए हैं जिससे ये मिले)। संत पुण्योंसे मिलते हैं, यथा—'मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सब मम पुन्य प्रभाउ। २। १२५।', 'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। ७। ४५।'

३ 'बहुरे लोग रजाएसु भएऊ''' इति। (क) 'बहुरे' से सूचित हुआ कि जब राजा घरको चले तब लोग उन्हें पहुँचाने चले, जब राजाकी आज्ञा हुई तब वे फिरे। (ख) 'सुतन्ह समेत नृपति गृह गएऊ' इति। पुत्रोंके साथ राजा बाहर आये थे, यथा—'भूपति संग द्वार पगु धारे। ३५८। ८'; और अब पुत्रोंसमेत घरमें जाना कहा। भाव यह है कि राजाने मनु-शरीरमें वर माँगा था कि 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना ॥ १५१। ६।' अतएव जैसे सर्प अपना मणि लिये रहता है, क्षणभर भी नहीं छोड़ता, वैसे ही ये चारों पुत्र राजाके प्राण हैं, राजा इनको सदा आँखोंके सामने रखते हैं। इसीसे सर्वत्र पुत्रोंको राजाके समीप लिखते हैं। यथा—'नृप समीप सोहहिं सुत चारी। ३०९। २', 'सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। ३०९। ३', 'सोहत साथ सुभग सुत चारी। ३१५। ६', 'सुतन्ह समेत नहाइ नृप बोलि बिप्र गुर ज्ञाति। ३५४', 'भूपति संग द्वार पगु धारे। ३५८। ८', 'सुतन्ह समेत पूजि पद लागे। ३५९। ४', 'सुतन्ह समेत ठाढ़ भे आगे। ३६०। ५', 'सुतन्ह समेत नृपति गृह गयऊ'। (ग) बाहर आनेमें श्रीरामजी प्रधान हैं—'भूपति संग द्वार पगु धारे' और भीतर जानेमें राजा प्रधान हैं—'नृपति गृह गएऊ'। (इस तरह दोनोंकी प्रधानता रक्खी)।

४ 'जहँ तहँ राम ब्याहु सब गावा।''''' इति। (क) 'जहँ तहँ' का अर्थ अगले चरणमें स्पष्ट करते हैं—'लोक तिहुँ छावा'। अर्थात् तीनों लोकोंमें गाया जा रहा है। 'सबु गावा' का अर्थ भी आगे स्पष्ट करते हैं—'सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू ॥ कबिकुल जीवन पावन जानी। राम सीय जसु मंगल खानी ॥' गिरा स्वर्गकी, शेषजी पातालके और कवि मर्त्यलोकके। इन सबोंने रामायण बनाये और गाये। (ख) 'सुजसु पुनीत लोक तिहुँ छावा' इति। प्रथम धनुष

तोड़नेका यश तीनों लोकमें व्याप्त हो गया, यथा—'महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा। २६५। ५'। अब ब्याहका यश त्रैलोक्यमें छा गया। तात्पर्य कि दोनों प्रकारके विवाह (शुल्क स्वयंवर-विवाह और लौकिक व्यवहारका विवाह) का यश तीनों लोकोंमें छा गया। 'पुनीत' कहनेका भाव कि तीनों लोकोंके वक्ता और श्रोता इससे पवित्र हो गये। पुनः भाव कि श्रीराम-विवाहको मानसमुखबंदमें नदीकी बाढ़ कहा है, यथा—'सानुज राम बिबाह उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू॥ ४१। ५' नदीकी बाढ़ रजस्वला है, अपावनी है; इसीसे 'पुनीत' विशेषण दिया। यह अपावन नहीं है, किंतु पावनी है।

प० प० प्र०—श्रीसिय-रघुवीर-विवाहका मुख्य वर्णन दो० ३१७ से ३२५ तक नौ दोहोंमें हुआ, वैसे ही तीनों भाइयोंका ३२६ से ३३४ तक नौ दोहोंमें हुआ। बारातकी बिदाईसे लेकर अवधसमीप बारात पहुँचनेमें भी ९ दोहे लगे, दो० ३३५ से ३४३ तक। और, फिर उस दिनका सम्पूर्ण उत्साह भी नौ ही दोहोंमें पूरा हो जाता है। अन्तमें काण्डकी समाप्तितक शेष नौ दोहे ही हैं। यह अंक (९) अविकारी होनेसे गोसाईंजीको बहुत प्रिय है। क्यों न हो? श्रीरामजी तथा श्रीजनककिशोरीजीके अवतार-तिथिका अंक भी तो ९ ही है।

आये ब्याहि रामु घर जब ते। बसै अनंद अवध सब तब तें॥ ५॥
प्रभु बिबाह जस भयेउ उछाहू। सकहि न बरनि गिरा अहिनाहू॥ ६॥
कबिकुल जीवनु पावनु जानी। राम सीय जसु मंगल खानी॥ ७॥
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥ ८॥

अर्थ—जबसे श्रीरामचन्द्रजी ब्याह करके घर आये तबसे अवध (अवधवासी) आनन्दसे बस रहा है एवं तबसे सब (प्रकारके) आनन्द अवध (अयोध्यापुरी) में आकर बस गये हैं। ५। प्रभुके विवाहमें जैसा आनन्दोत्साह हुआ उसे सरस्वती और सर्पराज शेषजी (भी) नहीं कह सकते। ६। श्रीसीतारामजीके यशको कवि-समाजका जीवन, पवित्र करनेवाला और मङ्गलोंकी खान जानकर। ७। इससे अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये मैंने कुछ बखानकर कहा। ८।

टिप्पणी—१ 'बसै अनंद अवध सब तब तें' इति। 'तबसे सब अवधवासी आनन्दसे बस रहे हैं' इस अर्थका भाव यह है कि श्रीरामजीके बिना सब दुखी थे। मुनि श्रीरामजीको राक्षसोंसे युद्ध करनेके लिये ले गये, यह समझकर सबको संदेह था (कि न जाने अब पुनः उनके दर्शन होंगे कि नहीं)। जब वे घर आ गये तब अवधवासियोंके दुःख दूर हुए, सबको आनन्द हुआ। 'बसै' कहनेका भाव कि श्रीरामजीके रहनेसे अवधवासी बसते हैं और उनके न रहनेसे उजड़ते हैं। यथा—'जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥ २। ८४।'—(बाबा हरिहरप्रसादजी ये भाव लिखते हैं कि—'श्रीजानकीजीके मिथिलामें और श्रीरघुनाथजीके अवधमें रहनेसे बहुतेरे आनन्द मिथिलाजीमें और बहुतेरे श्रीअयोध्याजीमें रहे, अब श्रीजानकीजीके श्रीअयोध्यामें आगमनसे 'सब' आनन्दोंने जुटकर यहीं डेरा डाल दिया। वा, तबसे सब अवधवासी आनन्दपूर्वक बसे अर्थात् परशुराम आदिके भयसे रहित हुए। वा, श्रीरघुनाथजीके वियोगजनित दुःख दूर होनेसे सब लोग आनन्दमें बसे। ये सब आनन्द क्या हैं, इसकी व्याख्या अयोध्याकाण्डमें है, यथा—'जब तें रामु ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाए॥ ...सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुख चंदु निहारी॥....। १-८।')

२ 'प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू।....' इति। (क) 'प्रभु बिबाह' का भाव कि सामर्थ्यसे जैसा विवाह हुआ है, भाव यह कि धनुषके तोड़नेसे विवाह हुआ है—धनुष तोड़ना भी विवाह है यथा—'टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू' २८६। ८।' 'प्रभु बिबाह' कहकर सूचित किया कि धनुष टूटने (धनुर्भङ्ग) से लेकर बालकाण्डकी समाप्तितक सब विवाहका उत्सव है। इसीसे 'प्रभु' शब्द दिया। (ख) ऊपर 'जहँ तहँ राम ब्याहु सब गावा।....' हम प्रभुके विवाहकी बड़ाई कह चुके और यहाँ श्रीरामजीके विवाहके उत्साहकी बड़ाई करते हैं। (ग) श्रीजनकपुरमें एक बार विवाहोत्सवकी इति लगा चुके हैं, यथा-'येहि बिधि राम बिआह उछाहू। सकै न बरनि सहस मुख जाहू॥ ३३१। ८।' और यहाँ फिर इति लगाते हैं इसका कारण यह है कि विवाहोत्सवके दो भाग हुए। एक तो जनकपुरमें उत्साह हुआ, दूसरे अवधमें हुआ। जनकपुरके विवाहोत्सवकी इति 'येहि बिधि राम बिआह उछाहू' पर लगा चुके। अब यहाँ श्रीअयोध्यापुरीके विवाहोत्सवकी इति लगाते हैं। (घ) विशेष ३३१। ८ में देखिये।

३ 'कबिकुल जीवन पावनु जानी ।...' इति । (क) 'कबिकुल जानी' का भाव कि श्रीरामजीका सुयश सभी कवियोंका जीवन है । हमको भी शिवजीने कृपा करके कवि बनाया, यथा—'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरितमानस कबि तुलसी ॥ ३६ । १' इससे यह हमारा भी जीवन है । (ख) 'पावन' है अर्थात् कलिके पापोंका नाशक है, 'मंगल खानी' है अर्थात् मङ्गल करती है, यथा—'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथकी १ । १०।' (ग) 'कबिकुल जीवन' 'पावन' और 'मंगल खानी' के क्रमशः कथनका भाव कि प्रथम कविलोग गाते हैं, तब जनसमुदाय गाकर सुनकर पावन होते हैं, पावन होनेपर मङ्गल होते हैं ।

४ 'तेहि ते मैं कछु कहा...' इति । (क) प्रथम शेष-शारदाको कहा—'सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू' । तत्पश्चात् कविसमुदायको कहा—'कबिकुल जीवनु पावनु जानी' । सबके पीछे अपनेको कहते हैं—'मैं कछु कहा' । तात्पर्य कि गोस्वामीजीकी दैन्य शरणागति है, इसीसे अपनेको सबसे पीछे कहा । (ख) 'कछु' का भाव कि श्रीरामयश समुद्र है जैसा आगे कहते हैं—'रघुबीरचरित अपार बारिधि...' । मैंने उसमेंसे कुछ कहा । (ग) 'कछु कहा बखानी' का भाव कि यद्यपि हमने विस्तारसे कहा तब भी वह श्रीरामसुयश-समुद्रके एक सीकरके बराबर भी नहीं हुआ । (घ) 'करन पुनीत हेतु निज बानी'-भाव कि हमने जो कुछ कहा वह सम्पूर्ण रामयश कहनेके लिये नहीं कहा, किंतु अपनी वाणी पवित्र करनेके लिये कहा ।

छं०—निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कह्यो ।
रघुबीर चरित अपार बारिधि पारु कबि कौनें लह्यो ॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं ।
बैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं ॥

सो०—सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं ।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु ॥ ३६१ ॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने प्रथमः सोपानः समाप्तः । शुभमस्तु ।*

अर्थ—मुझ तुलसीदासने अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये रामयश कहा (नहीं तो) श्रीरघुवीरचरित अपार समुद्र है, किस कविने पार पाया है ? जो लोग यज्ञोपवीत, विवाह, उत्साह और मङ्गलको सुनकर सादर गावेंगे, वे लोग श्रीविदेहनन्दिनी और श्रीरामजीकी प्रसन्नतासे सदा सुख पावेंगे, श्रीसीय-रघुवीर-विवाहको जो प्रेमसहित गाते-सुनते हैं उनको सदा ही उछाह होगा—रामयश मङ्गलका धाम ही है ॥ ३६१ ॥ सम्पूर्ण कलिके पापोंका नाशक श्रीरामचरितमानसका प्रथम सोपान समाप्त हुआ । शुभमस्तु ।

टिप्पणी—१ (क) 'निज गिरा पावनि करन कारन...' इति । ऊपर जो कहा था—'करन पुनीत हेतु निज बानी' उसीको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि 'हेतु' का अर्थ 'कारण' है । यह रामयश—गानका फल बताया । (ख) 'तुलसी कह्यो'—पहले कहा था कि 'तेहि ते मैं कछु कहा बखानी' उसमें 'मैं' का अर्थ न स्पष्ट हुआ कि यह किस वक्ताकी उक्ति है । सब वक्ता अपनेको 'मैं' कहते हैं, यथा-'प्रथमहि मैं कहि शिवचरित बूझा मरम तुम्हार । १०४' इति याज्ञवल्क्यः 'रामकथा गिरिजा मैं बरनी । ७ । १२९ ।' इति शिवः, 'निज मति सरिस नाथ मैं गाई । ७ । ९१ ।' इति भुशुण्डिः । 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई । १ । ३१' इति तुलसीदासः । यह भ्रम दूर करनेके लिये कहते हैं—'रामजस तुलसी कह्यो' 'रघुबीर चरित अपार बारिधि...' इसपर शंका होती है कि जब तुम ऐसा जानते हो तब तुमने क्यों वर्णन किया, इसीसे समाधानके लिये प्रथम ही कहते हैं कि 'निज गिरा...' मैंने अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये इसका वर्णन किया, पार पानेके लिये नहीं । (ग) 'रघुबीर चरित' कहनेका भाव कि श्रीरामचन्द्रजीके सब चरित्र वीरताके हैं—युद्धवीर, दानवीर और दयावीर । सातों काण्डोंमें युद्ध, दान और दया यही सब हैं । 'अपार बारिधि' इति । रघुवीरचरित सात काण्डोंमें (विभक्त) हैं । प्रधान समुद्र सात माने गये हैं (क्षीरोदधि, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद, स्वादूदकोद । अर्थात् दूध, इक्षुरस, मदिरा, घी,

* शुभमस्तुके बाद १६६१ की प्रतिमें ये शब्द हैं—'संवत् १६६१ वैशाष शुदि ६ बुधे ।'

दूध, मट्ठा और मीठे जलके समुद्र जो क्रमशः उत्तरोत्तर एकसे दूसरा दुगुना है) वैसे ही रामचरितके सातों काण्ड सातों समुद्र हैं। श्रीरघुवीरचरित्रको 'अपार वारिधि' कहनेका भाव कि सातों समुद्रोंका तो पार भी है (उनके लम्बान-चौड़ान-का उल्लेख है), पर श्रीरामजीका पार नहीं। सौ करोड़ रामायण बने तो भी उसे अपार ही कहा गया, यथा—'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा। १। ३३।' 'रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥ ॥ ७। ५२'। [शतकोटि श्लोकोंकी रामायणका प्रमाण मिलता है। वही अर्थ हमने किया है। १। ३३। ६ और 'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। १। २५' में देखिये]। पुनः 'अपार' कहकर जनाया कि समुद्र विस्तृत और गम्भीर है, वैसे ही श्रीरामचरित भी विस्तृत और गम्भीर है, परंतु श्रीरामचरितके विस्तारका पार नहीं (यह बात 'पार कवि कौने लह्यो' से बताया), और न उसके गम्भीरताकी थाह ही है, यथा—'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥ ७। ९१॥'

२ (क)—'उपबीत ब्याह उछाह मंगल···' इति। उपवीत अर्थात् व्रतबन्ध और विवाहके 'उछाह मंगल' को आदरपूर्वक सुनना और गाना यहाँ लिखते हैं, परंतु 'इस ग्रन्थमें तो ग्रन्थकारने 'उपवीतका उछाह मंगल' कुछ लिखा नहीं, केवल आधी चौपाईमें व्रतबन्धका होना कहा है, यथा—'भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥ २०४। २॥'; तब व्रतबन्धका उछाह मंगल लोग क्योंकर गावें ?" इस शंकाका समाधान यह है कि विवाह और व्रतबन्धका उत्सव मंगल एक ही प्रकारका होता है, विवाहके सब अङ्ग व्रतबन्धमें होते हैं। कण्डिकापूजन, मण्डपरचना, तेल, मायण, बारात यह सब उपनयन-संस्कारमें भी होता है। इसीसे ग्रन्थकारने व्रतबन्धके मंगल उत्सवको पृथक् नहीं लिखा। (विवाहमें भाँवरी होती हैं, इसमें जनेऊ)। (ख) 'मङ्गल'—बन्दनवार, पताका, केतु, वितान, दधि, दूर्वा, रोचन, फल, नवीन तुलसीदल आदि मंगल हैं। ['मंगल' की व्याख्या पूर्व बहुत हो चुकी है। पुनः, 'प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥ वृहस्पतिः' (पं० रा० व० श०)] सबको भोजन कराना, दान देना, गान करना, बाजा बजाना, निछावरें देना, विनोद इत्यादि सब 'उछाह' है। (ग) प्रथम व्रतबन्ध होता है, पीछे विवाह होता है, इसीसे प्रथम उपवीत कहकर तब ब्याह कहा। 'उपबीत व्याह उछाह मंगल' कहकर सूचित किया कि यह माहात्म्य बालकाण्डका है, क्योंकि ये दोनों संस्कार बालकाण्डमें हुए हैं। 'सादर सुनना अथवा गाना' क्या है, यह पूर्व २ (१२-१३), १४ (२), ३३ (८), ३५ (१३) में बताया जा चुका है। मन-बुद्धि-चित्त लगाकर श्रद्धा-प्रेमसे सुनना सादर सुनना है।

३ 'बैदेहि रामप्रसाद ते जन···' इति। (क प्रथम वैदेहीजीका प्रसाद कहा, क्योंकि उत्सव मंगल प्रथम वैदेहीजीके यहाँ (जनकपुरमें) हुए। वहीं धनुष टूटा। कण्डिकापूजन, मण्डपरचना, तेल, मायण, कंकणबन्धन आदि सब प्रथम वहीं हुए। इसीसे प्रथम वैदेहीजी प्रसन्न हुईं। तत्पश्चात् अवधमें मंगलोत्सव हुए। इसीसे पीछे श्रीरामजी प्रसन्न हुए। [पुनः वैदेहीजी जीवोंके कल्याणमें मुख्य हैं, ये जीवोंको प्रभुके सम्मुख करती हैं (यह विस्तृतरूपसे पूर्व लिखा जा चुका है), यथा—'कबहुँक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ' (विनय० ४१)। अतः पहले इनकी प्रसन्नता कही। वैदेहीजीको भी कहकर जनाया कि वैदेहीजी अद्वैतवादियोंकी माया नहीं हैं।]

(ख) 'जन' कहकर किसी वर्णाश्रमका नियम नहीं करते। तात्पर्य कि इस ग्रन्थको सुनने और पढ़नेका अधिकार सबको है। (ग) 'सर्बदा सुख पावहीं' इति। सुकृतसे सुख होता है, यथा—'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥ २। १॥' 'मङ्गल उछाह' के गान (श्रवण और कीर्तन) का सुकृत अनन्त है, इसीसे सुख भी अनन्त है। और वैदेहिरामका प्रसाद अमोघ है (उनकी प्रसन्नता कभी निष्फल नहीं जाती), इसीसे जन सुख पावेंगे। अर्थात् इस लोकमें भी सुख पावेंगे। और परलोकमें भी। यथा—'सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपतिपुर जाहीं॥ ७। १५॥'

४ 'सिय रघुबीर बिबाहु···' इति। ऊपर 'उपबीत व्याह उछाह मंगल सुनि···' में विवाहके उत्साह और मंगलका माहात्म्य कहकर अब विवाहका माहात्म्य कहते हैं। पहलेमें 'सुनि जे सादर गावहीं' कहा था, यहाँ अब 'सप्रेम गावहिं सुनहिं' कहकर 'सादर' का अर्थ स्पष्ट किया कि प्रेमसहित गाना सुनना ही 'सादर' गाना सुनना है। 'सुनि जे सादर गावहीं' में सुनना प्रथम कहकर तब गाना और यहाँ 'गावहिं' कहकर तब 'सुनहिं' कहते हैं, इस प्रकार सूचित किया कि गाने अथवा सुनने दोनोंका माहात्म्य एक ही है। विवाह गाने-सुननेसे सदा मङ्गलोत्सव होते हैं और 'उपबीत व्याह उछाह मंगल' के सुनने अथवा गानेसे श्रीराम-जानकीजी सुख देते हैं—[विवाहसे उछाहकी वृद्धि और उछाहसे सुख। (प्र० सं०)]

प० प० प्र०—१ 'जे यह कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥ १५॥। १०-११॥ में जिस फलश्रुतिका उपक्रम किया था, उसीकी यह पुनरावृत्ति अभ्यास है, उपसंहार उत्तरकाण्डमें होगा।

२—'मंगलायतन रामजस' इति। बालकाण्डके मं० श्लो० में 'मङ्गलानां' शब्दसे उपक्रम किया, 'मंगल करनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथकी' से अभ्यास और 'मङ्गलायतन' से उपसंहार किया। 'मङ्गलानां' से इस काण्डका विषय लक्षित किया गया है। देखिये इस काण्डमें मङ्गल-ही-मङ्गल कैसा भर दिया है—(१) नाम 'मंगलभवन अमंगल हारी', (२) रघुनाथ-कथा 'मंगल करनि कलिमलहरनि', (३) 'जगमंगल गुनग्राम रामके', (४) पुरी 'सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी' (५) 'सरयू नाम सुमंगलमूला' (६) बालरूप 'मंगल भवन अमंगलहारी' (७) 'मंजुल मंगलमूल बाम अंग' सीताजीके (८) 'मंगलमूल लगन दिनु आवा' (९) 'धेनुधूरि बेला बिमल सकल सुमंगलमूल' (१०) 'कहि असीस धुनि मंगलमूला' (११) 'मंगलमूल सगुन भए नाना' (१२) 'पूजे बर दुलहिनि मंगलनिधि' (१३) 'रामसीय जसु मंगलखानी' (१४) मंगलायतन रामयश' (१५) 'राम जनम जग मंगल हेतू' (१६) 'सत्संगति मुद मंगलमूला' (१७) 'संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगलमूल' (१८) गुरुपदरज 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती' (१९) रामकथा 'सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी' (२०) 'मुद मंगलमय संत समाजू' (२१) 'बरनब राम बिबाह समाजू। सोइ मुद मंगलमय रितुराजू' (२२) 'मंगलमय मंदिर सब केरे' (२३) 'रामपुरी मंगलमय पावनि' (२४) 'मंगलमय सुफामनि गाथे' (२५) 'मंगलमय निज निज भवन·····' (२६) शकुन 'मंगलमय कल्यानमय अभिमत·····' (२७) हरिहर-कथा 'सुनत सकल मुद मंगल देनी'।—ये सत्ताईस अवतरण केवल बालकाण्डमें ही हैं। अन्य काण्डोंमें इतने मंगलोंका उल्लेख नहीं है।

टिप्पणी—५ 'इति श्रीरामचरितमानसे·····' इति। (क) रामचरितमानसकी इति नहीं है, यह ग्रन्थकार स्वयं ही कह चुके हैं—'रघुबीर चरित अपार बारिधि पारु कबि कौनें लह्यो'। यह बालकाण्डकी इति है, अर्थात् यहाँतक मुनि लोग बालकाण्ड (प्रथम सोपान) कहते हैं। (ख) 'सकलकलिकलुषविध्वंसने'—सत्कर्मसे कलिमलका नाश होता है, यथा—'बिधि निषेध मय कलिमलहरनी। करमकथा रबिनंदनि बरनी॥ १।२।९॥' बालकाण्ड (प्रथम सोपान) में श्रीरामजीके (जातकर्म), नामकरण, चूड़ाकरन, कर्णवेध, उपवीत और विवाह इन सब संस्कारोंका वर्णन है, इस काण्डमें कर्मकी प्रधानता है, इसीसे इसके कथन-श्रवण करनेवालोंके कलिकलुषका विध्वंस होता है। (ग) श्रीरामचरितमानसमें सात सीढ़ियाँ हैं—'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना'। उनमेंसे यह बालकाण्ड प्रथम सीढ़ी है सो समाप्त हुई।

प्र० सं०—(क) 'इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलि·····'—अब अपने ग्रन्थके इस भागकी इति लगाते हैं। रामचरितमानस अपार है। उसकी इति नहीं लगा सकते। अतः अपने कृतिकी इति लगाते हैं। व्याह-उपवीतादि कर्म हैं कर्म पापका नाशक है।—(ख)—भाषामें सोरठा-छन्दसे प्रारम्भ करके सोरठा-छन्दपर ही ग्रन्थके प्रथम सोपानको समाप्त किया। श्रीपार्वतीजीके चौथे प्रश्नका उत्तर यहाँ पूर्ण हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

॥ श्रीहरिः ॥
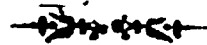
परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा विरचित ३५ ग्रन्थ साहित्य

१. साधक-संजीवनी—गीताकी विस्तृत टीका (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
२. गीता-माधुर्य (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, नेपाली, गुजराती, तमिल, बँगला, कन्नड़, उर्दू
३. गीता-दर्पण (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
४. वासुदेवः सर्वम्
५. नित्ययोगकी प्राप्ति
६. सहज साधना
७. महापापसे बचो (हिन्दी, बँगला)
८. सन्तानका कर्तव्य (हिन्दी, बँगला)
९. आवश्यक शिक्षा
१०. सच्चा गुरु कौन ?
११. एकै साधै सब सधै
१२. सत्संगकी विलक्षणता
१३. साधकोंके प्रति
१४. कल्याणकारी प्रवचन (हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती)
१५. तात्त्विक प्रवचन (हिन्दी, गुजराती)
१६. मानसमें नाम-वन्दना
१७. वास्तविक-सुख
१८. भगवन्नाम (हिन्दी, अँग्रेजी)
१९. कर्म-रहस्य (हिन्दी, तमिल)
२०. गृहस्थमें कैसे रहें ? (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, बँगला)
२१. भगवान्से अपनापन
२२. जीवनका सत्य
२३. भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
२४. स्वाधीन कैसे बनें ? (हिन्दी, अँग्रेजी)
२५. शरणागति
२६. सत्संगका प्रसाद
२७. अच्छे बनो
२८. जीवनका कर्तव्य
२९. जीवनोपयोगी कल्याणमार्ग
३०. सच्चा आश्रय
३१. नाम-जपकी महिमा
३२. मूर्ति-पूजा (हिन्दी, बँगला)
३३. हम ईश्वरको क्यों मानें ? (हिन्दी, बँगला)
३४. दुर्गतिसे बचो (हिन्दी, बँगला)
३५. साधन और साध्य
३६. मातृशक्तिका घोर अपमान
३७. जिन खोजा तिन पाइया

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकृत
कुछ जीवनोपयोगी पुस्तकें

महत्त्वपूर्ण शिक्षा
परम साधन
आत्मोद्धारके साधन
कर्मयोगका तत्त्व
भक्तियोगका तत्त्व
प्रेमयोगका तत्त्व
ज्ञानयोगका तत्त्व
मनुष्यका परम कर्तव्य भाग १ व २
मनुष्य-जीवनकी सफलता
परम शान्तिका मार्ग
स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा
महाभारतके कुछ आदर्श पात्र
रामायणके कुछ आदर्श पात्र
आत्मोद्धारके सरल उपाय
कल्याणप्राप्तिके उपाय
शीघ्र कल्याणके सोपान
ईश्वर और संसार
अमूल्य वचन
भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा
समता अमृत और विषमता विष
भक्ति-भक्त-भगवान्
व्यवहारमें परमार्थकी कला
श्रद्धा-विश्वास और प्रेम
धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि
तत्त्वचिन्तामणि
परमानन्दकी खेती
उद्धार कैसे हो ?
सच्ची सलाह
साधनोपयोगी पत्र
शिक्षाप्रद पत्र
भगवानके रहनेके पाँच स्थान
शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ
अध्यात्मविषयक पत्र
आदर्श भ्रातृप्रेम
बालशिक्षा
आदर्श नारी सुशीला
भरतजीमें नवधा भक्ति
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप
सत्संगकी सार बातें
नारी-धर्म
आदर्श देवियाँ
गीता-निबन्धावली
सत्यकी शरणसे मुक्ति
परलोक और पुर्नजन्म
हमारा कर्तव्य
प्रेमका सच्चा स्वरूप
गीतोक्त संन्यास या सांख्योगका स्वरूप
सामयिक चेतावनी
व्यापार सुधारकी आवश्यकता
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है
भगवान्‌की दया
चेतावनी
भगवान् क्या हैं ?
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय
संत-महिमा
सच्चा सुख
अवतारका सिद्धान्त
त्यागसे भगवत्प्राप्ति
शोकनाशके उपाय
गीताका तात्त्विक विवेचन
भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारी-धर्म

|| श्रीहरिः ||

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित तथा अनुवादित सत्साहित्य

श्रीराधा-माधव-चिन्तन
पद-रत्नाकर
संत-वाणी
दाम्पत्य-जीवनका आदर्श
सुखी बननेके उपाय
सत्संगके बिखरे मोती
भगवन्नाम-चिन्तन
व्यवहार और परमार्थ
भवरोगकी रामबाण दवा
उपनिषदोंके चौदह रत्न
साधन-पथ
दिव्य सुखकी सरिता
दैनिक कल्याण सूत्र
अमृत-कण
महाभाव-कल्लोलिनी
तुलसी-दल
भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति
महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर
भगवच्चर्चा
नैवेद्य
साधकोंका सहारा
दुःख क्यों होते हैं ?
लोक-परलोकका सुधार
शान्ति कैसे मिले ?
आनन्दका स्वरूप
कल्याण-कुञ्ज
मानव-जीवनका लक्ष्य
नारी-शिक्षा
प्रेम-दर्शन
ईश्वरकी सत्ता और महत्ता
सुख-शान्तिका मार्ग
मधुर
परमार्थकी मंदाकिनी
मानव-धर्म
गो-सेवाके चमत्कार
प्रार्थना
गोपी-प्रेम
श्रीभगवन्नाम
राधा-माधव-रस-सुधा ब्रजभाषा
कल्याणकारी आचरण
वर्तमान शिक्षा
स्त्रीधर्म-प्रश्नोत्तरी
मनको वश करनेके उपाय
आनन्दकी लहरें
ब्रह्मचर्य
गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य
दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य
सिनेमा विनाशका साधन
भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा
विवाहमें दहेज
नारद-भक्ति सूत्र
सत्संग सुधा
प्रेम सत्संग-सुधामाला

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेसकी निजी दूकानें

	☎
१. गोविन्दभवन-कार्यालय,	
१५१ महात्मागांधी रोड, कलकत्ता-७	३८६८९४
२. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,	
२६०९, नयी सड़क, दिल्ली-६	३२६९६७८
३. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,	
अशोक राजपथ, पटना-४	
४. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,	
२४/५५, बिरहाना रोड, कानपुर-९	२५२३५१
५. गीताप्रेस पेपर एजेन्सी, ५९/९,	
नीचीबाग, वाराणसी	६३०५०
६. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,	
सब्जीमण्डी, मोतीबाजार, हरिद्वार	
७. गीताभवन, गंगापार, स्वर्गाश्रम	१२२

गीताप्रेसकी स्टेशन स्टालें

१-दिल्ली जंक्शन, प्लेटफार्म नं० १; २-नयी दिल्ली, प्लेटफार्म नं० ८ । ९; ३-अन्तर्राज्यीय बस अड्डा (दिल्ली), ४-कानपुर, प्लेटफार्म नं० १; ५-गोरखपुर, प्लेटफार्म नं० १; ६-वाराणसी, प्लेटफार्म नं० ३; ७-हरिद्वार, प्लेटफार्म नं० १; ८-पटना, प्लेटफार्म नं०—१

अन्य अधिकृत पुस्तक विक्रेता

श्रीगीताप्रेस पुस्तक प्रचार केन्द्र,
"बुलियन बिल्डिंग", जौहरी बाजार, जयपुर—३